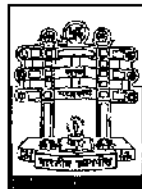


जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश

भाग-३

[प - व]

क्षु. जिनेन्द्र वर्णी



भारतीय ज्ञानपीठ

छठा संस्करण : 2002 □ मूल्य : 180 रुपये

भारतीय ज्ञानपीठ

(स्थापना . फाल्गुन कृष्ण 9, वीर नि. सं. 2470, विक्रम स. 2000, 18 फरवरी 1944)

पुण्यश्लोका माता मूर्तिदेवी की स्मृति में
साहू शान्तिप्रसाद जैन द्वारा सस्थापित
एव

उनकी धर्मपत्नी श्रीमती रमा जैन द्वारा सम्पोषित

मूर्तिदेवी जैन ग्रन्थमाला

इस ग्रन्थमाला के अन्तर्गत प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश, हिन्दी, कन्नड़, तमिल आदि प्राचीन भाषाओं में उपलब्ध आगमिक, दार्शनिक, पौराणिक, साहित्यिक, ऐतिहासिक आदि विविध विषयक जैन साहित्य का अनुसन्धानपूर्ण सम्पादन तथा उनके मूल और यथासम्भव अनुवाद आदि के साथ प्रकाशन हो रहा है। जैन-भण्डारों की ग्रन्थसूचियों, शिलालेख-संग्रह, कला एवं स्थापत्य पर विशिष्ट विद्वानों के अध्ययन-ग्रन्थ और लोकहितकारी जैन साहित्य ग्रन्थ भी इस ग्रन्थमाला में प्रकाशित हो रहे हैं।



प्रधान सम्पादक (प्रथम संस्करण)
डॉ. हीरालाल जैन एव डॉ. आ.ने. उपाध्ये

प्रकाशक

भारतीय ज्ञानपीठ

18, इन्स्टीट्यूशनल एरिया, लोदी रोड, नयी दिल्ली-110 003

मुद्रक बी.के. ऑफसेट, नवीन शाहदरा, दिल्ली-110 032

© भारतीय ज्ञानपीठ द्वारा सर्वाधिकार सुरक्षित

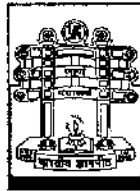
JAINENDRA SIDDHĀNTA KOŚĀ

[PART-III]

[प – व]

by

Kshu. JINENDRA VARNI



BHARATIYA JNANPITH

Sixth Edition : 2002 □ Price : Rs. 180

BHARATIYA JNANPITH

(Founded on Phalguna Krishna 9, Vira N Sam 2470, Vikrama Sam 2000, 18th Feb 1944)

MOORTIDEVI JAIN GRANTHAMALA

FOUNDED BY

Sahu Shanti Prasad Jain

In memory of his illustrious mother Smt. Moortidevi
and

promoted by his benevolent wife
Smt. Rama Jain

In this Granthamala critically edited Jain agamic, philosophical,
puranic, literary, historical and other original texts in Prakrit,
Sanskrit, Apabhramsha, Hindi, Kannada, Tamil etc
are being published in the original form with their
translations in modern languages
Catalogues of Jain bhandaras,
inscriptions, studies on art and architecture by
competent scholars and popular
Jain literature are also being published



General Editors (First Edition)

Dr Hiralal Jain and Dr A N Upadhye

Published by

Bharatiya Jnanpith

18, Institutional Area, Lodi Road, New Delhi-110 003

Printed at B K Offset, Naveen Shahdara, Delhi-110 032

© All Rights Reserved by Bharatiya Jnanpith

संकेत - सूची

अ.ग.श्रा. .../	अमितगति श्रावकाचार अधिकार स /श्लोक सं , प. वंशधर शोलापुर, प्र.सं., वि.सं. १९७६
अनध . . / . . / . .	अनगरधर्ममृत अधिकार सं / श्लोक सं./पृष्ठ सं., पं. खूबचन्द शोलापुर, प्र.सं., ई. १६.१६२७
आ.अनु .	आत्मानुशासन श्लोक सं
आ.प. .../.../ ..	अलापपद्धति अधिकार स /सूत्र स /पृष्ठ सं , चौरासी मथुरा, प्र. सं., बी. नि. २४५६
आप्त प ../.../ ..	आप्तपरीक्षा श्लोक सं./प्रकरण सं./पृष्ठ सं , बीरसेवा मन्दिर सरसावा, प्र. स., वि. सं २००६
आप्त मो.	आप्तमीमांसा श्लोक सं,
इ.उ./सू. ../ ..	इष्टोपदेश/मूल या टीका श्लो.सं /पृष्ठ सं.(समाधिदशतकके पीछे)पं.आशाधरजी कृत टीका, बीरसेवा मन्दिर दिल्ली
क.पा . /§. ../ . . / . .	कषायपाहुड पुस्तक सं. भाग स./प्रकरण स /पृष्ठ सं./पंक्ति सं., दिगम्बर जैनसंघ, मथुरा, प्र.सं., वि.सं २०००
का.अ./सू.	कार्तिकेयानुप्रेक्षा/मूल या टीका गाथा स , राजचन्द्र ग्रन्थमाला, प्र.स. ई.१९६०
कुरल. . / . .	कुरल काव्य परिच्छेद सं./श्लोक सं , प. गोविन्दराज जैन शास्त्री, प्र.सं., बी.नि.सं. २४८०
क्रि.क. . / /	क्रियाकलाप मुख्याधिकार स./प्रकरण स./श्लोक सं./पृष्ठ सं , पन्नालाल सोनी शास्त्री आगरा, वि.सं.१९९३
क्रि.को. .	क्रियाकोश श्लोक सं , प. दौलतराम
क्ष.सा /सू. . /	क्षपणसार/मूल या टीका गाथा सं /पृष्ठ सं., जैन सिद्धान्त प्रकाशनी संस्था, कलकत्ता
गुण.श्रा. ...	गुणभद्र श्रावकाचार श्लोक सं.
गो.क./सू. .../.../ ..	गोम्मटसार कर्मकाण्ड/मूल गाथा सं./पृष्ठ सं., जैन सिद्धान्त प्रकाशनी संस्था. कलकत्ता
गो.क./जो प्र .../ . .	गोम्मटसार कर्मकाण्ड/जीव तत्त्व प्रदीपिका टीका गाथा सं /पृष्ठ सं./पंक्ति सं., जैन सिद्धान्त प्रका, संस्था
गो.जो /सू. .../.../ ..	गोमट्टसार जीवकाण्ड/मूल गाथा सं./पृष्ठ सं., जैनसिद्धान्त प्रकाशनी संस्था, कलकत्ता
गो.जो./जो प्र .../.../ .	गोमट्टसार जीवकाण्ड/जीव तत्त्वप्रदीपिका टीका गाथा सं./पृष्ठ सं./पंक्ति सं., जैनसिद्धान्त प्रकाशनी संस्था
ज्ञा. .../.../.../ ..	ज्ञानार्णव अधिकार सं./दोहक सं./पृष्ठ सं राजचन्द्र ग्रन्थमाला, प्र.सं./ई. १९०७
ज्ञा.सा . .	ज्ञानसार श्लोक सं.
चा.पा /सू. .../ . .	चारित्त पाहुड/मूल या टीका गाथा सं /पृष्ठ सं., माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला, बम्बई, प्र.सं., वि.सं. १९७७
चा.सा .../.../ ..	चारित्रसार पृष्ठ सं./पंक्ति सं., महावीर जी, प्र.सं., बी.नि. २४८८
ज.प. .../.../ ..	जंबूदोवपणत्तिस गहो अधिकार सं./गाथा सं., जैन संस्कृति संरक्षण सच. शोलापुर, वि.सं.२०१४
जै.सा. ../.../ ..	जैन साहित्य इतिहास खण्ड सं./पृष्ठ सं., गणेशप्रसाद वर्णी ग्रन्थमाला, बी.नि. २४८९
जै.पी ...	जैन साहित्य इतिहास/पूर्व पीठिका पृष्ठ सं गणेशप्रसाद वर्णी ग्रन्थमाला, बी.नि. २४८९
त.अनु ...	तत्त्वानुशासन श्लोक सं , नागसेन सूरिकृत, बीर सेवा मन्दिर देहली, प्र.स., ई. १९६३
त.वृ. .../.../.../ ..	तत्त्वार्थवृत्ति अध्याय सं./सूत्र सं /पृष्ठ सं /पंक्ति सं , भारतीय ज्ञानपीठ, बनारस, प्र.स. , ई १९४६
त.सा .../.../.../ ..	तत्त्वार्थसार अधिकार सं /श्लोक सं./पृष्ठ सं , जैनसिद्धान्त प्रकाशनी संस्था कलकत्ता, प्र.स. ई.स.१९२६
त.सू. . /.../ ..	तत्त्वार्थसूत्र अध्याय सं /सूत्र सं
ति.प. .../.../ ..	तिलोयपणत्ति अधिकार सं /गाथा सं., जीवराज ग्रन्थमाला, शोलापुर, प्र.स., वि.सं. १९६६
ती. ...	तीर्थकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा, पृष्ठ सं., दि. जैन विद्वद्परिषद्, सागर, ई. १९७४
त्रि.सा. ...	त्रिलोकसार गाथा सं., जैन साहित्य बम्बई, प्र. स., १९९८
द.पा./सू. .../.../ ..	दर्शनपाहुड/मूल या टीका गाथा सं./पृष्ठ सं , माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला, बम्बई, प्र.स. , वि.सं. १९७७
द.सा. ...	दर्शनसार गाथा सं., नाथूराम प्रेमी, बम्बई, प्र.सं., वि. १९७४
द्र.सं./सू. .../ . .	द्रव्यसंग्रह/मूल या टीका गाथा सं /पृष्ठ सं., देहली, प्र.स. ई १९५३
ध.प.	धर्म परीक्षा श्लोक सं.
ध. .../.../.../ ..	धवला पुस्तक सं /खण्ड सं , भाग, सूत्र/पृष्ठ सं./पंक्ति या गाथा सं , अमरावती, प्र. स.
न.च.वृ. ...	नयचक्र बृहद् गाथा सं श्रोदेमेवनाचार्यकृत, माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला, बम्बई प्र.स. , वि. स १९७७
न.च./श्रुत /.../ ..	नयचक्र/श्रुत भवन दीपक अधिकार सं /पृष्ठ सं., सिद्ध सागर, शोलापुर
नि.सा./सू. ...	नियमसार/मूल या टीका गाथा सं,
नि.सा./ता.वृ. .../क. ...	नियमसार/तात्पर्य वृत्ति गाथा सं./कलश सं,
न्या.ही .../§. ../.../.../ ..	न्यायदीपिका अधिकार सं./प्रकरण सं /पृष्ठ सं /पंक्ति सं, बीरसेवा मन्दिर देहली, प्र.सं, वि.सं २००२
न्या.वि /सू. ...	न्यायबिन्दु/मूल या टीका श्लोक सं., चौखम्बा संस्कृत सीरीज, बनारस
न्या.वि /सू. .../.../.../ ..	न्यायबिनिश्चय/मूल या टीका अधिकार सं /श्लोक सं /पृष्ठ सं /पंक्ति सं , ज्ञानपीठ बनारस
न्या.सू./सू. .../.../ . .	न्यायदर्शन सूत्र/मूल या टीका अध्याय सं /आह्निक/सूत्र सं./पृष्ठ सं गुजपफरनगर, द्वि सं., ई. १९३४
पं.का./सू. .../ . .	पंचास्तिकाय/मूल या टीका गाथा सं /पृष्ठ सं., परमश्रुत पभावक मण्डल, बम्बई, प्र.सं., वि १९७२
पं.ध./पू. .	पंचाध्यायी/पूर्वार्ध श्लोक सं , पं. देवकीनन्दन. प्र.सं., ई. १९३२
पं.ध./उ. .	पंचाध्यायी/उत्तरार्ध श्लोक सं., प. देवकीनन्दन, प्र.सं. ई १९३२
पं.त्रि. .../.../ ..	पद्मनन्द पंचविंशतिका अधिकार सं /श्लोक सं जीवराज ग्रन्थमाला, शोलापुर, प्र.सं., ई १९३२
प.सं./श्रा. .../.../ ..	पंचसंग्रह/प्राकृत अधिकार सं /गाथा सं. ज्ञानपीठ, बनारस प्र. सं. ई. १९६०
पं.सं./सं. .../.../ ..	पंचसंग्रह/संस्कृत अधिकार सं./श्लोक सं , प. सं./प्रा. की टिप्पणी, प्र. सं , ई १९६०

प पु .../ ..
 प मु / / .
 प प्र/मू. / / /
 पा.पु. / / .
 पु.सि
 प्र सा./मू. / / ..
 प्रति सा . /
 बा.अ. ..
 बो पा /मू. / / ..
 वृ जे श .
 भ आ /मू. / /
 भा.पा./मू. / / .
 म पु. / / ..
 म बं.../§. / /
 मूला ...
 मो पं. ..
 मो.पा /मू. / / ..
 मो.मा.प्र. / / ..
 यु अनु. .
 यो.सा.अ .../ ..
 यो सा यो ...
 र क था .
 र.सा...
 रा.बा. / / / / .../ ...
 रा.बा.हि .../ / / ..
 ल.सा./मू. / / ..
 ला स. / / .../ ...
 लि.पा /मू. / / ..
 वसु आ...
 वै.द.../.../ / / ...
 शी.पा./मू. / /
 श्लो.बा. / / / / / / ..

पद्मपुराण सर्ग/श्लोक सं., भारतीय ज्ञानपीठ बनारस, प्र.सं., वि.स. २०१६
 परीक्षामुख परिच्छेद स /सूत्र सं./पृष्ठ स., स्याद्वाद महाविद्यालय, काशी, प्र. सं.
 परमात्मप्रकाश/मूल या टीका अधिकार सं./गाथा सं /पृष्ठ सं., राजचन्द्र ग्रन्थमाला, द्वि.सं., वि.स. २०१७
 पाण्डवपुराण सर्ग स./श्लोक स.. जीवराज ग्रन्थमाला, शोलापुर, प्र.सं., ई. १६६२
 पुरुषाथ सिद्ध्युपाय श्लोक सं.
 प्रवचनसार/मूल या टीका गाथा सं./पृष्ठ स.
 प्रतिष्ठासारोद्धार अध्याय स./श्लोक सं.
 बारस अणुवेक्त्वा गाथा सं.
 बोधपाहुड/मूल या टीका गाथा स /पृष्ठ सं. माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला, बम्बई, प्र. सं., वि. सं. १६७७
 बृहत् जैन शब्दान्वय/द्वितीय खंड/पृष्ठ सं., मूलचंद्र किशनदास कापडिया, सुरत, प्र. सं., वी.नि. २४६०
 भगवती आराधना/मूल या टीका गाथा स /पृष्ठ स /पक्ति सं., सखाराम दोशी, सोलापुर, प्र.सं., ई. १६३६
 भाव पाहुड/मूल या टीका गाथा सं /पृष्ठ सं., माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला, बम्बई, प्र.सं., वि.सं. १६७७
 महापुराण सर्ग सं./श्लोक स., भारतीय ज्ञानपीठ, बनारस, प्र. सं., ई. १६६१
 महाबन्ध पुस्तक सं./§ प्रकरण सं./पृष्ठ सं., भारतीय ज्ञानपीठ, बनारस, प्र.सं., ई. १६६१
 मूलाचार गाथा सं., अनन्तकीर्ति ग्रन्थमाला, प्र. सं., वि. स १६७६
 मोक्ष पचाशिका श्लोक स.
 मोक्ष पाहुड/मूल या टीका गाथा सं /पृष्ठ सं., माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला, बम्बई, प्र. सं., वि. सं. १६७७
 मोक्षमार्गप्रकाशक अधिकार स./पृष्ठ सं /पक्ति सं., सस्ती ग्रन्थमाला, देहली, द्वि.सं., वि. स. २०१०
 युक्त्यनुशासन श्लोक सं. वीरसेवा मन्दिर, सरसावा, प्र. सं. ई १६६१
 योगसार अमितगति अधिकार सं /श्लोक सं., जैनसिद्धान्त प्रकाशिनी संस्था, कलकत्ता, ई सं. १६१८
 योगसार योगेन्दुदेव गाथा स., परमात्मप्रकाशके पीछे छपा
 रत्नकरण्ड भावकाचार श्लोक सं.
 रयणसार गाथा सं.
 राजवार्तिक अध्याय सं./सूत्र सं /पृष्ठ सं./पक्ति स., भारतीय ज्ञानपीठ, बनारस, प्र.सं., वि.स. २००८
 राजवार्तिक हिन्दी अध्याय सं./पृष्ठ सं /पक्ति सं.
 लब्धिसार/मूल या टीका गाथा सं /पृष्ठ सं., जैन सिद्धान्त प्रकाशिनी संस्था, कलकत्ता, प्र. सं.
 लाटी संहिता अधिकार सं /श्लोक सं./पृष्ठ सं.
 लिंग पाहुड/मूल या टीका गाथा सं /पृष्ठ सं., माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला, प्र.सं., वि. सं. १६७७
 वसुनन्दि भावकाचार गाथा सं., भारतीय ज्ञानपीठ, बनारस, प्र. सं., वि. सं. २००७
 वैशेषिक दर्शन/अध्याय स./आह्निक/सूत्र स /पृष्ठ सं., देहली पुस्तक भण्डार देहली, प्र. सं., वि.सं. २०१७
 शोला पाहुड/मूल या टीका गाथा सं /पक्ति स., माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला बम्बई, प्र. सं., वि.स. १६७७
 श्लोकवार्तिक पुस्तक सं /अध्याय स /सूत्र स /वार्तिक सं /पृष्ठ स., कुन्धुसागर ग्रन्थमाला शोलापुर, प्र.सं.,
 ई १६४६-१६६६

ष.ख.../।।। / .
 स भ.त .../...
 स.म.../.../ .
 स.श./मू. / / .
 स.सा./मू.../ / / ...
 स.सा/आ. /क
 स.सि. / / /
 स स्तो
 सा ध.../ ..
 सा.पा...
 सि.सा सं. / /
 सि वि./मू. / / / / ..
 सु.र सं...
 सू.पा /मू. / / .
 ह पु. / / .

षट्खण्डागम पुस्तक सं./खण्ड सं., भाग, सूत्र/पृष्ठ सं.
 सप्तभङ्गीतरङ्गिनी पृष्ठ सं /पक्ति सं., परम श्रुत प्रभावक मण्डल, द्वि.सं., वि.सं. १६७२
 स्याद्वादमञ्जरी श्लोक सं./पृष्ठ सं./पक्ति सं., परम श्रुत प्रभावक मण्डल, प्र. स १६६१
 समाधिशतक/मूल या टीका श्लोक सं /पृष्ठ स., इष्टोपवेश युक्त, वीर सेवा मन्दिर, देहली, प्र.सं., २०२१
 समयसार/मूल या टीका गाथा स./पृष्ठ स /पक्ति सं., अहिंसा मन्दिर प्रकाशन, देहली, प्र.सं. ३१.१२.१६६८
 समयसार/आत्मख्याति गाथा सं./कलश स.
 सर्वार्थसिद्धि अध्याय सं /सूत्र सं /पृष्ठ सं., भारतीय ज्ञानपीठ, बनारस, प्र.सं. ई. १६६६
 स्वयम्भू स्तोत्र श्लोक सं., वीरसेवा मन्दिर सरसावा, प्र. सं., ई. १६६१
 सागर धर्मामृत अधिकार सं./श्लोक सं.
 सामायिक पाठ अमितगति श्लोक सं
 सिद्धान्तसार संग्रह अध्याय स./श्लोक स., जीवराज जैन ग्रन्थमाला, शोलापुर, प्र. सं. ई. १६६७
 सिद्धि विनिश्चय/मूल या टीका प्रस्ताव सं./श्लोक सं./पृष्ठ सं /पक्ति सं., भारतीय ज्ञानपीठ, प्र.सं. ई १६६१
 सुभाषित रत्न सद्दोह श्लोक सं (अमितगति), जैन प्रकाशिनी संस्था, कलकत्ता, प्र.स. ई. १६१७
 सूत्र पाहुड/मूल या टीका गाथा स /पृष्ठ स., माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला बम्बई, प्र.सं., वि.सं. १६७७
 हरिवंश पुराण सर्ग/श्लोक/स., भारतीय ज्ञानपीठ, बनारस, प्र.सं.

नोट भिन्न-भिन्न कोष्ठकों व रेखा चित्रोंमें प्रयुक्त संकेतोंके अर्थ मसे उस-उस स्थल पर ही दिये गये हैं ।

जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश

भाग- ३

जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश

[क्षु० जिनेन्द्र वर्णो]

[५]

पंकप्रभा—१. पंकप्रभा नरकका लक्षण

स. सि./३/२/२०३/८ पङ्कप्रभासहचारता भूमिः पङ्कप्रभा । = जिसकी प्रभा कीचड़के समान है, वह पंकप्रभा (नाम चतुर्थ) भूमि है । (ति. प./२/२९); (रा. वा./३/२/२/१५६/१८); (ज. प./११/११३)

★ धाकार व अवस्थानादि—दे० नरक/५ । लोक/२ ।

२. इसके नामकी सार्थकता

ति. प./२/२१ सक्करबालुवपंकाधूमतमातमतमं च समचरियं । जेण अब-सेसाओ छप्पुढवीओ वि गुणणामा । २१ । = रत्नप्रभा पृथिवीके नीचे शर्कराप्रभा, बालुकाप्रभा, पंकप्रभा ये शेष छह पृथिवियाँ क्रमशः शक्कर, बालु, कीचड़ की प्रभासे सहचरित हैं । इसलिए इनके भी उपर्युक्त नाम सार्थक है । २१ ।

पंकभाग—ति. प./२/६, १६ खरपंकमहुलभागारयणप्पहाए पुढवीए । ६ । पंकाजिरो य दीसदि एवं पंकमहुलभागो वि । १६ । [पङ्कमहुल-भागे अगुरराक्षसानामावासा । रा. वा.] = अधोलोकमें सबसे पहली रत्नप्रभा पृथ्वी है । उसके तीन भाग हैं—खरभाग, पंकभाग व अण्महुल भाग । पंकमहुलभाग भी जो पंकसे परिपूर्ण देखा जाता है । १६ । इसमें अगुरकुमारों और राक्षसोंके आवास स्थान है । (रा. वा./३/१/८/१६०/२०); (ज. प./११/११५-१२३)

★ लोकमें पंकभाग पृथिवीका अवस्थान—दे० भवेन/४ ।

पंकावती—पूर्व विदेहकी एक विभंग नदी । दे० लोक/४/८ ।

पंचकल्याणक—दे० कल्याणक ।

पंचकल्याणकव्रत—दे० कल्याणकव्रत ।

पंचानद—वर्तमान पंजाब (म. पु./प्र./४६ पं. पन्नालाल) ।

पंचानसकारमंत्रमाहात्म्य—आ० सिंहनन्दी (ई० श० १६) कृत एक कथा ।

पंचपोरियाव्रत—व्रतविधान सं./१२६—भादो सुदी पाँच दिन जान, घर पचचीस बाँटे पकवान । = भादो सुदी पंचमीको पचोस घरोंमें पकवान बाँटे । (यह व्रत स्वैतान्बर व स्थानकवासी आम्नायमें प्रचलित है ।)

पंचमकाल—दे० काल/४ ।

पंचमोक्षत—पाँच वर्ष तक प्रतिवर्ष भाद्रपद शु० ५ को उपवास तथा नमस्कारमन्त्रका त्रिकाल जाप । (व्रतविधान सं./८५) (किशनासह क्रियाकोश)

पंचमुष्ठी—शरीरके पाँच अंग । दे०—नमस्कार/१ में घ/८ ।

पंचवर्ण—एक ग्रह । दे०—ग्रह ।

पंचविंशतिकल्याणभावनाव्रत—

ह. पु./३४/११३-११६ पचीस कल्याण भावनाएँ हैं, उन्हें लक्ष्यकर पचीस उपवास करना तथा उपवासके बाद पारणा करना, यह पंचविंशतिकल्याणभावनाव्रत है । ११३ । १. सम्यक्त्व, २. विनय, ३. ज्ञान, ४. शील, ५. सत्य, ६. श्रुत, ७. समिति, ८. एकान्त, ९. गुप्ति, १०. ध्यान, ११. शुक्लध्यान, १२. संक्लेशनिरोध, १३. इच्छा-निरोध, १४. सबर, १५. प्रशस्तयोग, १६. संवेग, १७. करुणा, १८. उद्वेग, १९. भोगनिर्वेद, २०. संसारनिर्वेद, २१. भुक्तिवैराग्य, २२. मोक्ष, २३. मैत्री, २४. उपेक्षा और २५. प्रमोदभावना, ये पचीस कल्याण भावनाएँ हैं । ११४-११६ ।

पंचविंशतिका—दे० पद्मनन्द पंचविंशतिका ।

पंचशिखरी—पाँच कूटोंसे सहित होनेके कारण हिमवात्, महाहिमवात् और निषधपर्वत पंचशिखरी नामसे प्रसिद्ध है । (ति. प./४/१६६२, १७३२, १७६७)

पंचशिर—कुण्डलपर्वतस्थ वज्रप्रभकूटका स्वामी जैनेन्द्रदेव । दे० लोक/५/१२ ।

पंचश्रुतज्ञानव्रत—एक उपवास एक पारणाक्रमसे १६८ उपवास पूरे करे । 'ओ ह्रीं पञ्चश्रुतज्ञानाय नमः' इस मन्त्रका त्रिकाल जाप करे । (व्रतविधान संग्रह/७२) (वर्धमान पु./...)

पंचसंग्रह—(पं. सं./प्र. १४/A, N, Up) दिगम्बर आम्नायमें पंचसंग्रहके नामसे उल्लिखित कई ग्रन्थ उपलब्ध हैं । सभी कर्मसिद्धान्त विषयक हैं । उन ग्रन्थोंकी तालिका इस प्रकार है—१. दिगम्बर प्राकृत पंचसंग्रह—यह सबसे प्राचीन है । इसमें पाँच अधिकार हैं, १३२४ गाथाएँ हैं, और ६०० श्लोकप्रमाण गद्यभाग भी है । इस ग्रन्थके कर्ताका नाम व समय ज्ञात नहीं, फिर भी वि. श. ५-८ का अनुमान किया जाता है । (पं. सं./प्र. १६/A, N, Up) २. श्वैताम्बर प्राकृत पंचसंग्रह—यह १००५ गाथा प्रमाण है । रचयिता ने स्वयं

जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश

इसपर ५००० श्लोक प्रमाण स्वोपज्ञवृत्तिलिखी है जिसपर मलयगिरि कृत एक संस्कृत टीका भी है। इसका रचनाकाल वि० श० १० है। ३ दि० संस्कृत पंचसंग्रह प्रथम—पंचसंग्रह प्रा. १ के आधारपर आचार्य अमितगतिने वि० १०७३ (ई० १०९६) में रचा है। इसमें भी पाँच प्रकरण है, तथा इसका प्रमाण १४५६ श्लोक पद्य व, १००० श्लोक प्रमाण गद्य भाग है। ४ दि० संस्कृत पंचसंग्रह द्वि०—पंचसंग्रह प्रा० १ के आधारपर श्रीपाल सुत श्री उड्डा नामके एक जैन गृहस्थने वि० श० ११ में रचा था। इसकी समस्त श्लोक संख्या १२४३ तथा गद्यभाग ७०० श्लोक प्रमाण है। ५ पंचसंग्रह टीका—पंचसंग्रहम् १ पर दो संस्कृत टीकाये उपलब्ध है। एक वि० १५२६ में किसी अज्ञात आचार्य द्वारा लिखित है और दूसरी वि० १६२० में सुमति कीर्ति भट्टारक द्वारा लिखित है। विविध ग्रन्थों से उद्धृत प्रकरणों का संग्रह होने से यह वास्तव में एक स्वतन्त्र ग्रन्थ जैसी है जिसे रचयिता ने 'आराधना नामादिया है। चूर्णियों का शैली में रचित ५४६ श्लोक प्रमाण तो इसमें गद्य भाग है और ४००० श्लोक प्रमाण पद्य भाग। अधिकार संख्या पाँच ही है। आ० पद्य नन्दि कृत जम्बू दीवपण्णति के एक प्रकरण को पूरा का पूरा आत्मसात कर लेने के कारण यह पद्यनन्दि कृत प्रसिद्ध हो गई है। ६. इनके अतिरिक्त भी कुछ पंचसंग्रह प्रसिद्ध हैं जैसे गोमट्ट सार का अपर नाम पंचसंग्रह है। श्री हरि दामोदर बेलंकर ने अपने स्मिन् रत्नकोष में 'पंचसंग्रह दीपक' नाम के किसी ग्रन्थ का उल्लेख किया है जो कि उनके अनुसार गोमट्ट सार का इन्द्र बाभदेव कृत पद्यानुवाद है। विशेष दे० परिशिष्ट।

पंचस्तूपसंघ—दे० इतिहास/५/३।

पंचांक—घ. १२/४, २, ७, २१४/१७०/६ संखेज्जभागवड्डो पंचांको . ति श्चेत्तवो। =संख्यात भाग वृद्धिकी पंचांक संज्ञा जाननी चाहिए। (गो, जी./मू./३२५/६५४)

पंचाग्नि—पंचाग्नि का अर्थ पंचाचार। दे०—अग्नि।

पंचाध्यायी—प. राजमलजी (वि. १६५० ई १५६२) द्वारा संस्कृत श्लोकों में रचित एक दर्शन शास्त्र। इस के दो ही अध्याय पूरे करके पण्डितजी स्वर्ग सिधार गये। अतः यह ग्रन्थ अधूरा है। पहले अध्याय में ७६८ तथा दूसरे में ११४४ श्लोक है। (ती./४/८१)

पंचास्तिकाय—विषय—दे० अस्तिकाय। ग्रन्थ—राजा शिव कुमार महाराज के लिए आ० कुन्द कुन्द (ई० १२७-२७६) द्वारा लिखित १७३ प्राकृत गाथा प्रमाण उत्तरार्थ विषयक ग्रन्थ। (जै० २/२११)। इस पर आठ टीकायें उपलब्ध हैं—१. आ० अमृत चन्द्र (ई० ६०५-६५५) कृत तन्त्र प्रदीपिका। २. आ० पभा चन्द्र न० ४ (ई० ६५०-१०२०) कृत पञ्चास्तिकाय प्रदीप। (जै० २/३४७)। ३. आ० जयसेन (ई० श० ११ अन्त १२ पूर्व) कृत सारपर्य वृत्ति (जै० २/१६२)। ४. मन्त्रिण भट्टारक (ई० ११२८) कृत टीका। ५. बाल चन्द्र (ई० श० १३ पूर्व) कृत कन्नड टीका (जै० २/१६४)। ६. पर हेमचन्द्र (ई० १६४३-१६७०) कृत भाषा वचनिका। ७. भट्टारक ज्ञान चन्द्र (ई० १७२८) कृत टीका (पं० का०/प० ३ प० पन्नालाल)। ८. बुधजम (ई० १८३४) कृत भाषा टीका (ती०/४/२६८)।

पंचेन्द्रिय जाति—दे० जाति/१।

पंचेन्द्रिय जीव—दे० इन्द्रिय/४।

पंजिका—क. पा. २/२, २२/१४/५ वित्तिसूक्तविसमपयभंजियाए पंजियववसादो। - वृत्तिसूत्रोंके विषय पदोंको स्पष्ट करनेवाले विवरणको पंजिका कहते हैं।

पंडित—प. प्र/मू/१२/१४ देहविभिण्णउ णाणमउ जो परमधु णिएइ। परमसमाहि-परिट्ठियउ पंडित सो जि हवेइ। १४। = जो पुरुष परमात्माको शरीरसे जुदा केवलज्ञानकर पूर्ण जानता है वही परमसमाधिमें तिष्ठता हुआ पंडित अर्थात् अन्तरात्मा है।

पंडितमरण—दे० मरण/१।

पंप—राजा अरिकेसरीके समयके एक प्रसिद्ध जैन कन्नड कवि। कृतियों—आदिपुराणचम्पू (म. पु/प्र. २० प पन्नालाल), भारत या विक्रमार्जुनविजय। समय—वि. ६६८ (ई ६४९) में 'विक्रमार्जुन-विजय' लिखा गया था—(यशस्तिलकचम्पू/प्र २०/पं सुन्दरलाल)।

पउमचरिउ—दे० पञ्चपुराण।

पक्ष—विश्वासके अर्थमें

म. पु/३६/१४६ तत्र पक्षो हि जैनाना कुस्नहि साविर्जन्मम्। मैत्रीप्रमोद-कारुण्यमाध्यस्थैरुपबृंहितम्। १४६। = मैत्री, प्रमोद, कारुण्य और माध्यस्थ्यभावसे वृद्धिको प्राप्त हुआ समस्त हिंसाका त्याग करना जैनियोंका पक्ष कहलाता है। (सा. ध./१/१६)।

पक्ष—न्यायविषयक

प. सु/३/२५-२६ साध्यं धर्मं क्वचित्तद्विशिष्टो वा धर्मो। २५। पक्ष इति यावत्। २६। = कही तो (व्याप्ति कालमें) धर्म साध्य होता है और कही धर्मविशिष्ट धर्मो साध्य होता है। धर्मोंको पक्ष भी कहते हैं। २५-२६।

स्या म/३०/३३४/१७ पच्यते व्यक्तोक्रियते साध्यधर्मवैशिष्ट्येन हेत्वा-दिभिरिति पक्षः। पक्षीकृतधर्मप्रतिष्ठापनाय साधनोपन्यास। = जो साध्यसे युक्त होकर हेतु आदिके द्वारा व्यक्त किया जाये उसे पक्ष कहते हैं। जिस स्थलमें हेतु देखकर साध्यका निश्चय करना हो उस स्थलको पक्ष कहते हैं।

जैन सिद्धान्त प्रवेशिका—जहाँ साध्यके रहनेका शक हो। 'जैसे इस कोठेमें धूम है' इस दृष्टान्तमें कोठा पक्ष है।

२. साध्यका लक्षण

न्या. वि./मू/२/३/८ साध्यं शक्यमभिप्रेतमप्रसिद्धम्। १०। १३। न्या. दो./३/१२०/६६/६ यत्प्रत्यक्षादिप्रमाणाबाधितत्वेन साध्यितुं शक्यम् वाद्यभिमतत्वेनाभिप्रेतम्, सदेहाचाक्रान्तत्वेनाप्रसिद्धम्, तदेव साध्यम्। = शक्य अभिप्रेत और अप्रसिद्धको साध्य कहते हैं। (श्लो. वा. ३/१/२३/१२२/२६६)। शक्य वह है जो प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे बाधित न होनेसे सिद्ध किया जा सकता है। अभिप्रेत वह है जो वादीको सिद्ध करनेके लिए अभिमत है इष्ट है। और अप्रसिद्ध वह है जो सन्देहादिसे युक्त होनेसे अनिश्चित है। वही साध्य है। प. मु./३/२०-२४ इष्टमबाधितमसिद्धं साध्यम्। २०। सदिग्धविपर्यस्ता-व्युत्पन्नानां साध्यत्वं यथा स्यादित्यसिद्धपदम्। २१। अनिष्टाध्यक्षादि-बाधितयो साध्यत्वे ना भूदित्तीष्टाबाधितवचनम्। २२। न चासिद्धव-दिष्ट प्रतिवादिनः। २३। प्रत्यायनाय हि इच्छा वक्तुरेव। २४। = जो वादीको इष्ट हो, प्रत्यक्षादि प्रमाणांसे बाधित न हो, और सिद्ध न हो उसे साध्य कहते हैं। २०। -सन्दिग्ध, विपर्यस्त और अव्युत्पन्न पदार्थ ही साध्य हो इसलिए सूत्रमें असिद्ध पद दिया है। २१। वादीको अनिष्ट पदार्थ साध्य नहीं होता इसलिए साध्यको इष्ट विशेषण लगाया है। तथा प्रत्यक्षादि किसी भी प्रमाणसे बाधित पदार्थ भी साध्य नहीं होते, इसलिए अबाधित विशेषण दिया है। २२। इनमेंसे 'असिद्ध' विशेषण तो प्रतिवादीकी अपेक्षासे और 'इष्ट' विशेषण वादीकी अपेक्षासे है, क्योंकि दूसरेकी समझानेकी इच्छा वादीको ही होती है। २३-२४।

३. साध्याभास या पक्षाभासका लक्षण

न्या. वि./मु./२/३/१२ ततोऽपरस्य साध्याभास विरुद्धादिसाधनाविषय-
* त्वत् १३ इति = साध्यसे विपरीत विरुद्धादि साध्याभास है।
आदि शब्दसे अनभिप्रेत और प्रसिद्धका ग्रहण करना चाहिए, क्योंकि
ये तीनों ही साधनके विषय नहीं हैं, इसलिए ये साध्याभास है।
(न्या. दी./३/१२०/७०/३)।

प. सु./६/१२-१४ तत्रानिष्टादिपक्षाभास' १२१ अनिष्टो मीमांसकस्या-
नित्यशब्द १२३ सिद्धः श्रावण. शब्द. १२४ = इष्ट असिद्ध और
अबाधित इन विशेषणोसे विपरीत—अनिष्ट सिद्ध व बाधित ये
पक्षाभास हैं १२२। शब्दकी अनित्यता मीमांसकको अनिष्ट है; क्योंकि,
मीमांसक शब्दको नित्य मानता है १२३। शब्द कानसे सुना जाता है
यह सिद्ध है १२४।

* बाधित पक्षाभास या साध्याभासके भेद व लक्षण
— दे० बाधित।

४. अनुमान योग्य साध्योंका निर्देश

प. सु./३/३०-३३ प्रमाणोभयसिद्धे तु साध्यधर्मविशिष्टता ३०। अग्नि-
मानय देश' परिणामी शब्द इति यथा ३१। व्याप्तौ तु साध्यं धर्म
एव ३२। अन्यथा तदघटनात् ३३। = [कही तो धर्म साध्य होता
है और कही धर्म साध्य होता है (दे० पक्ष/१)।] तहाँ—प्रमाण-
सिद्ध धर्म और उभयसिद्ध धर्मोंमें (साध्यरूप) धर्मविशिष्ट धर्मों
साध्य होता है। जैसे—'यह देश अग्निवाला है', यह प्रमाण सिद्ध
धर्मोंका उदाहरण है; क्योंकि यहाँ देश प्रत्यक्ष प्रमाणसे सिद्ध है।
'शब्द परिणमन स्वभाववाला है' यह उभय सिद्ध धर्मोंका उदाहरण
है; क्योंकि, यहाँपर शब्दका धर्म उभय सिद्ध है ३०-३१। व्याप्तिमें
धर्म ही साध्य होता है। यदि व्याप्तिकालमें धर्मको छोड़कर धर्मों
साध्य माना जायेगा तो व्याप्ति नहीं बन सकेगी ३२-३३।

५. पक्ष व प्रतिपक्षका लक्षण

न्या. सू./टी./१/४/४१/४०/१६ तौ साधनोपालम्भौ पक्षप्रतिपक्षाभयौ
व्यतिषक्तावनुबन्धेन प्रवर्तमानौ पक्षप्रतिपक्षावित्युच्यते ४१।
न्या. सू./टी./१/२/१/४१/२९ एकाधिकरणस्थौ विरुद्धौ धर्मौ पक्षप्रतिपक्षौ
प्रत्यनीकभावादस्त्यात्मा नास्त्यात्मेति । नानाधिकरणौ विरुद्धौ न
पक्षप्रतिपक्षौ यथा नित्य आत्मा अनित्या बुद्धिरिति । = साधन और
निषेधका क्रमसे आश्रय (साधनका) पक्ष है। और निषेधका आश्रय
प्रतिपक्ष है। (स्या, मं./३०/३३४/१६)। एक स्थानपर रहनेवाले
परस्पर विरोधी दो धर्मपक्ष (अपना मत) और प्रतिपक्ष (अपने
विरुद्ध वादीका मत अर्थात् प्रतिवादीका मत) कहते हैं। जैसे कि
—एक कहता है कि आत्मा है, दूसरा कहता है कि आत्मा नहीं है।
भिन्न भिन्न स्थानमें रहनेवाले परस्पर विरोधी धर्म पक्ष प्रतिपक्ष नहीं
कहाते; जैसे—एकने कहा आत्मा नित्य है और दूसरा कहता है कि
बुद्धि अनित्य है।

६. साध्यसे अतिरिक्त पक्षके ग्रहण का कारण

प. सु./३/३४-३६। साध्यधर्माधारसंदेहापनोदाय गम्यमानस्यापि पक्षस्य
वचनम् ३४। साध्यधर्मिणि साधनधर्मावबोधनाय पक्षधर्मोपसंहार-
वत् ३५। को वा त्रिधा हेतुमुक्त्वा समर्थयमानो न पक्षयति ३६। =
साध्यविशिष्ट पर्वतादि धर्मोंमें हेतुरूप धर्मको समझानेके लिए जैसे
उपनयका प्रयोग किया जाता है, उसी प्रकार साध्य (धर्म) के
आधारमें सन्देह दूर करनेके लिए प्रत्यक्ष सिद्ध होनेपर भी पक्षका
प्रयोग किया जाता है। क्योंकि ऐसा कौन वादी प्रतिवादी है, जो
कार्य, व्यापक, अनुपलम्भके भेदसे तीन प्रकारका हेतु कहकर समर्थन

करता हुआ भी पक्षका प्रयोग न करे? अर्थात् सबको पक्षका प्रयोग
करना ही पडेगा।

* अन्य सम्बन्धित विषय

१ प्रत्येक पक्षके लिए परपक्षका निषेध—दे० सप्तमंगी/४। २, पक्ष
विपक्षोंके नाम निर्देश—दे० अनेकांत १४। ३ कालका एक प्रमाण—दे०
गणित/११/४।

पक्षपात—१. लक्षण व विषय आवि—दे० अज्ञान १५। २ सम्यग्दृष्टि-
को पक्षपात नहीं होता—दे० सम्यग्दृष्टि १४।

पक्षेप—शलाका।

पटच्चर—भरतक्षेत्र मध्य आर्य खण्डका एक देश। दे० मनुष्य/४।

पटल—१ त्रि. सा./४७६/भाषा तिर्यकरूप बरोबर क्षेत्र विषै जहाँ
विमान पाईए ताका नाम पटल है। २ Dix (ज. प/प्र. १०७)विशेष दे.

पट्टन—दे० पत्तन। नरक/५/३; स्वर्ग/५/२३।

पट्टावली—दे० इतिहास/४,६।

पण्टी—(२६६)^२ = ६६५३६। दे० गणित/१/१/११।

पण्यभवन—सुरेरु पर्वतके नन्दनादि वनोंके पूर्वमें स्थित सोमदेवका
भवन/दे० लोक/७।

पण्हसवण—धरसेनाचार्यका ही दूसरा नाम पण्हसवण भी है,
क्योंकि 'प्रज्ञाश्रमण' का प्राकृत रूप 'पण्हसवण' है। यह एक ऋद्धि
है, जो सम्भवतः धरसेनाचार्यको थी, जिसके कारण उन्हें भी
कदाचित् 'पण्हसवण' के नामसे पुकारा गया है। वि० १५५६ में
लिखी गयी बृहट्टिप्पणिका नामकी ग्रन्थ सूचीमें जो 'योनि प्राभूत'
ग्रन्थका कर्ता 'पण्हसवण'को बताया है, वह वास्तवमें धरसेनाचार्य की
ही कृति थी। क्योंकि सूचीमें उसे भूतलिके लिए लिखा गया
सूचित किया गया है। (प. खं. १/प्र. ३०/H L) दे०—धरसेन।

पत्तन—ति. प/४/१३६६ वररयणाणं जोणीपट्टणणामं विणिहिदुह ।
= जो उत्तम रत्नोंकी योनि होता है उसका नाम पट्टन कहा गया है
१३६६। त्रि. सा./भाषा./६७६।

घ १३/५,६,६३/३३५/६ नावा पादप्रचारेण च यत्र गमनं तत्पत्तनं नाम ।
= नौकाके द्वारा और दैरोसे चलकर जहाँ जाते हैं उस नगरकी पत्तन
मंज्ञा है।

पत्ति—सेनाका एक अंग—दे० सेना।

पत्नी—दे० स्त्री।

पत्रचारणऋद्धि—दे० ऋद्धि/४।

पत्रजाति—पत्रजाति वनस्पतिमें भक्ष्याभक्ष्यविचार—दे० भक्ष्या-
भक्ष्य/४।

पत्रपरीक्षा—आ० विद्यानन्द (ई० ७७५-८४०) द्वारा संस्कृत भाषामें
रचित न्याय विषयक ग्रन्थ है। इस पर पं जयचन्द छाबड़ा
(ई० १८०६-१८३४) कृत संक्षिप्त भाषा टीका प्राप्त है। (ती ३/६५७)।

पद—१. गच्छ अर्थात् Number of Terms.

२. सिद्ध पद आदिकी अपेक्षा

न्या./वि/टी./१/७/१४०/१६ पद्यन्ते ज्ञायन्तेऽनेनेति पद । = जिसके
द्वारा जाना जाता है वह पद है।

घ १०/४,२,४,१/१८/६ जस्स जम्हि अवट्ठानं तस्स तं पदं.. जहा सिद्धि-
खेत्तं सिद्धाणं पदं । अत्थात्तावो अत्थात्तावमस्स पद । पद्यते गम्यते
परिच्छिद्यते इति पदम् । = जिसका जिसमें अवस्थान है वह उसका
पद अर्थात् स्थान कहलाता है। जैसे सिद्धिक्षेत्र सिद्धोंका पद है।

अर्थात्प्राप अर्थपरिज्ञानका पद है। ...पद शब्दका निरुत्तर्यर्थ है जो जाना जाय वह पद है।

३. अक्षर समूहकी अपेक्षा

न्या. सू. सू. २/२/५५/१३७ ते विभक्त्यन्ता. पदम् ५५। = वर्णोंके अन्त-में यथा शास्त्रानुसार विभक्ति होनेसे इनका नाम पद होता है।

२. पदके भेद

१. अर्थपदादिकी अपेक्षा

क. पा. १/१, १/१/१०१/१०१ प्रमाणपदं अर्थपदं मज्जिमपदं चेदि त्रिविहं पदं होदि । = प्रमाणपद, अर्थपद और मध्यपद इस प्रकार वह तीन प्रकारका है। (घ. १/४, १, ४५/१६६/गा. ६६); (घ. २/२, २, ४५/२६५/१३); (गो. जी./जी. प्र./३३६/७३३/१)

क. पा. २/२-२२/१३४/१७/५ एत्थ पदं चउविवह, अर्थपदं, प्रमाणपदं, मज्जिमपदं, वक्त्वापदं चेदि । = पद चार प्रकारका है—अर्थपद, प्रमाणपद, मध्यमपद और व्यवस्थापद।

घ. १/४, २, ४, १/१५/६ पदं दुविहं—वक्त्वापदं भेदपदमिदि । ..उत्क-स्साणुक्कस्स - जहण्णाजहण्ण-सादि-अणादिधुव-अद्धुव-ओज-जुम्म-आम-विसिट्ठ-णोमणोविसिट्ठपदभेदेण एत्थ तेरस पदाणि । = पद दो प्रकार है—व्यवस्था पद और भेदपद । ..उत्कृष्ट, अनुत्कृष्ट, जघन्य, अजघन्य, सादि, अनादि, धुव, अधुव, ओज, युग्म, ओम, विशिष्ट और नोओम, नो विशिष्ट पदके भेदसे यहाँ-तेरह पद हैं।

२. नाम उपक्रमकी अपेक्षा

क. पा. १/१, १/चूर्णिसूत्र/१२३/३० णामं छत्विहं ।

क. पा. १/१, १/१२४/३१/१ एदस्स सुत्तस्स अर्थपरुवणं करिस्सामो । तं तहा-गोणपदे णोगोणपदे आदानपदे पडिवक्खपदे अवचयपदे उवचय-पदे चेदि । = नाम छह प्रकारका है। अब इस सूत्रके अर्थका कथन करते हैं। वह इस प्रकार है—गौण्यपद, नोगौण्यपद, आदानपद, प्रतिपक्षपद, अपचयपद और उपचयपद ये नामके छह भेद हैं।

घ. १/१, १, १/७४/४ णामस्स दस ढाणाणि भवन्ति । तं जहा, गोणपदे णोगोणपदे आदानपदे पडिवक्खपदे अणादियसिद्धं तपदे पाधणपदे णामपदे प्रमाणपदे अवयवपदे संजोगपदे चेदि ।

घ. १/१, १, १/७७/४ सोऽवयवो द्विविधः, उपचितोऽपचित इति । स संयोगश्चतुर्विधो द्रव्यक्षेत्रकालभावसंयोगभेदात् । = नाम उपक्रमके दस भेद हैं। ये इस प्रकार हैं—गौण्यपद, नोगौण्यपद, आदानपद, प्रतिपक्षपद, अनादिसिद्धान्तपद, प्राधान्यपद, नामपद, प्रमाणपद, अवयवपद और संयोगपद। अवयव (अवयवपद) दो प्रकारके होते हैं—उपचितावयव और अपचितावयव। तथा द्रव्यसंयोग, क्षेत्र-संयोग, कालसंयोग और भाव संयोगके भेदसे संयोग चार प्रकारका है। (घ. १/४, १, ४५/१३५/४)

३. बीजपदका लक्षण

घ. १/४, १, ४४/१२७/१ सवित्तसद्दरयणमणं तत्थावगमहेदुध्भूदाणेगल्लिग-संगय बीजपद णाम । = सक्षिप्त शब्द रचनासे सहित अनन्त अर्थोंके ज्ञानके हेतुभूत अनेक चिह्नोंके संयुक्त बीजपद कहलाता है।

४. अर्थ पदादिके लक्षण

ह. पु. १०/२३-२५ एकद्वित्रिचतु. पञ्चषट्सप्तअक्षरमर्थवत् । पदमाथं द्वितीयं तु पदमष्टाक्षरात्मकम् । २३। कोटशरचैव चतुस्त्रिंशद् तच्छ-तान्यपि षोडश । २४। श्यशीतिश्च पुनर्लक्षा शतान्यष्टौ च सप्तति । २५। अष्टाशीतिश्च वर्णा स्थुर्मध्यमे तुपदे स्थित । पूर्वज्ञपदसख्या-स्यान्मध्यमेन पदेन सा २५। = इनमें एक, दो, तीन, चार, पाँच, छ, और सात अक्षर तकका पद अर्थपद कहलाता है। आठ अक्षर रूप

प्रमाण पद होता है। और मध्यमपदमें (१६३४८३०७८८) अक्षर होते हैं और अंग तथा पूर्वोंके पदकी संख्या इसी मध्यम पदसे होती है । २३-२५।

घ. १/१, १, ४८/२६५/१३ तत्थ जेत्तिएहि अत्थोवल्लदी होदि तमरथपदं णाम । [यथा दण्डेन शालिभ्यो गां निवारय, त्वमग्निमानय इत्यादय (गो, जी)] एदं च अणवद्विद, अणियअक्खरेहिती अत्थुवल-द्विदंसणादो । ण चेदमसिद्धं, अ विष्णु, इ काम, क ब्रह्मा हच्चेव-मादिश्र एगेगक्खरादो चैव अत्थुवलभादो । अट्टक्खरणिष्फणं पमाण-पदं । एदं च अवद्विदं, णियदट्टसखादो ।—सोलससदचोतीसं कोडी तेसीदि चैव लक्खाह । सत्तसहस्सट्टसदा अट्ठासीदा य पदवण्णा । १८। एत्तियाणि अक्खराणि घेत्तूण एणं मज्जिमपदं होदि । एदं पि संजो-गक्खरसखाए अवद्विद, बुत्तपमाणो अक्खरेहि वड्ढि-हाणोणम-भावादो । = जितने पदोंके द्वारा अर्थ ज्ञान होता है वह अर्थपद है। [यथा 'गण्यकौ घेरि सुफेदकौ दंड करि' इसमें चार पद भये। ऐसे ही 'अग्निको रथाओ' ऐ दो पद भये।] यह अनवस्थित है, क्योंकि अनियते अक्षरोंके द्वारा अर्थका ज्ञान होता हुआ देखा जाता है। और यह बात असिद्ध भी नहीं है, क्योंकि 'अ' का अर्थ विष्णु है, 'इ' का अर्थ काम है, और 'क' का अर्थ ब्रह्मा है; इस प्रकार इत्यादि स्थलों-पर एक एक अक्षरसे ही अर्थकी उपलब्धि होती है। आठ अक्षरसे निष्पन्न हुआ प्रमाणपद है। यह अवस्थित है, क्योंकि इसकी आठ संख्या नियत है। सोलहसौ चौतीस करोड तिरासी लाख साठ हजार आठ सौ अठासी (१६३४८३०७८८८) इतने मध्यपदके वर्ण होते हैं ॥१८॥ इतने अक्षरोंको ग्रहण कर एक मध्यम पद होता है। यह भी संयोगी अक्षरोंकी संख्याकी अपेक्षा अवस्थित है, क्योंकि, उसे उक्त प्रमाणसे संख्याकी अपेक्षा वृद्धि और हानि नहीं होती। (क. १/१, १/१०१/१०/२), (क. पा. २/२-२२/१३४/१७/६), (गो. जी./जी. प्र./३३६/७३३/१)

क. पा. २/२-२२/१३४/१७/८ जत्तिरण वक्कसमूहेण अहियारो समप्पहि तं वक्त्वापदं सुवंतमिगंतं वा । = जितने वाक्योंके समूहसे एक अधिकार समाप्त होता है उसे व्यवस्थापद कहते हैं। अथवा सुबन्त और मिगन्त पदको व्यवस्थापद कहते हैं।

क. पा. २/२, २२/१३४/७ जहण्णुक्कस्सपदविसयणिच्छए खिवदि पावेत्ति त्ति पदणिक्खेवो । = जो जघन्य और उत्कृष्ट पद विषयक निरचयमें ले जाता है उसे पदनिक्षेप कहते हैं।

५. गौण्यपदादिके लक्षण

घ. १/१, १, १/७४/७ गुणानां भावो गौण्यम् । तद् गौण्यं पदं स्थानमाश्रयो येषां नाम्नां तानि गौण्यपदानि । यथा, आदित्यस्य तपनो भास्कर इत्यादीनि नामानि । नोगौण्यपदं नाम गुणनिरपेक्षमनन्वर्थमिति यावत् । तद्यथा, चन्द्रस्वामी सूर्यस्वामी इन्द्रगोप इत्यादीनि नामानि । आदानपदं नाम आत्तद्रव्यनिबन्धनम् । पूर्णकलश इत्येतदादानपदम् । अविधवेत्यादि । .. प्रतिपक्षपदानि कुमारी बन्धेश्वरैवमादीनि आदान-प्रतिपक्षनिबन्धनत्वात् । अनादिसिद्धान्त-पदानि धर्मास्तिरधर्मास्तिरित्येवमादीनि । अपौरुषेयत्वतोऽनादिः सिद्धान्तं स पदं स्थानं यस्य तदनादिसिद्धान्तपदम् । प्राधान्य-पदानि आश्रयनं निम्बवनमित्यादीनि । वनान्तं सारस्वप्यन्येष्व-विवक्षितवृक्षेषु विवक्षाकृतप्राधान्यचूतपिचुमन्दनिबन्धनत्वात् । नाव-पदं नाम गौडोऽन्धो द्रमिल इति गौडान्धद्रमिलभाषानामधामत्वात् । प्रमाणपदानि शतं सहस्रं द्रोणं खारी पलं सुला कर्षादीनि प्रमाण-नाम्ना प्रमेयेषूपलम्भात् । .. उपचितावयवनिबन्धनानि यथा मलगण्डः शिलीपदं लम्बकर्ण इत्यादीनि नामानि । अवयवापचयनिबन्धनानि यथा, छिन्नकर्ण, छिन्ननासिक इत्यादीनि नामानि । .. द्रव्यसंयोग-पदानि, यथा, इभ्य गौथं दण्डो छत्री गभिणी इत्यादीनि द्रव्यसंयोग-निबन्धनत्वात् तेषां । नासिपररवाद्यस्तेवामादानपदेऽन्तर्भावात् । ..

क्षेत्रसंयोगपदानि, माथुर बालभ दाक्षिणात्य औदीच्य इत्यादीनि । यदि नामत्वेनाविबक्षितानि भवन्ति । कालसंयोगपदानि यथा, शारद वासन्तक इत्यादीनि । न वसन्तशरद्धेमन्तादीनि तेषां नाम-पदेऽन्तर्भावत् । भावसंयोगपदानि, क्रोधी मानी मायावी लोभीरत्यादीनि । न शीलसादृश्यनिबन्धनयमसिहाग्निरावणादीनि नामानि तेषां नामपदेऽन्तर्भावत् । न चैतेभ्यो व्यतिरिक्तं नामास्त्यनुप-लम्भात् । = गुणोके भावको गौण्य कहते हैं । जो पदार्थ गुणोंकी मुख्यतासे व्यवहृत होते हैं वे गौण्यपदार्थ हैं । वे गौण्यपदार्थ-पद अर्थात् स्थान या आश्रय जिन नामोंके होते हैं उन्हें गौण्यपद नाम कहते हैं । जैसे—सूर्यको तपन और भास गुणकी अपेक्षा तपन और भास्कर इत्यादि संज्ञाएँ हैं । जिन संज्ञाओंमें गुणोंकी अपेक्षा न हो अर्थात् जो असार्थक नाम हैं उन्हें नोगौण्यपद नाम कहते हैं । जैसे—चन्द्रस्वामी, सूर्यस्वामी, इन्द्रगोप इत्यादि नाम । ग्रहण किये गये द्रव्यके निमित्तसे जो नाम व्यवहारमें आते हैं, उन्हें आदानपद नाम कहते हैं । 'पूर्णकलश' इस पदको आदानपद नाम समझना चाहिए । इस प्रकार 'अविधवा' इस पदको भी विचारकर आदानपदनाममें अन्तर्भाव कर लेना चाहिए । •कुमारी बन्ध्या इत्यादिक प्रतिपक्षनामपद हैं क्योंकि आदानपदमें ग्रहण किये गये दूसरे द्रव्यकी निमित्तता कारण पडती है और यहाँपर अन्य द्रव्यका अभाव कारण पडता है । इसलिए आदानपदनामोंके प्रतिपक्ष कारण होनेसे कुमारी या बन्ध्या इत्यादि पद प्रतिपक्ष पदनाम जानना चाहिए । अनादिकालसे प्रवाह रूपसे चले आये सिद्धान्तवाचक पदोंको अनादिसिद्धान्तपद नाम कहते हैं जैसे—धर्मस्तिकाय, अधर्मस्तिकाय इत्यादि । अपौरुषेय होनेसे सिद्धान्त अनादि है । वह सिद्धान्त जिस नामरूपपदका आश्रय हो उसे अनादिसिद्धान्तपद कहते हैं । बहुतसे पदार्थोंके होनेपर भी किसी एक पदार्थकी बहुलता आदि द्वारा प्राप्त हुई प्रधानतासे जो नाम बोले जाते हैं उन्हें प्राधान्यपदनाम कहते हैं जैसे—आश्रवन निम्बवन इत्यादि । इनमें अन्य अविबक्षित पदोंके रहनेपर भी विवक्षासे प्रधानताको प्राप्त आश्र और निम्बके वृक्षोंके कारण आश्रवन और निम्बवन आदि नाम व्यवहारमें आते हैं । जो भाषाके भेदसे बोले जाते हैं उन्हें नामपद नाम कहते हैं जैसे—गौड, आन्ध्र, द्रमिल इत्यादि । गणना अथवा मापकी अपेक्षासे जो संज्ञाएँ प्रचलित हैं उन्हें प्रमाणपद नाम कहते हैं । जैसे—सौ, हजार, द्रौण, खारी, पल, तुला, कर्ष इत्यादि । ये सब प्रमाणपद प्रमेयोंमें पाये जाते हैं । • रोगादिके निमित्त मिलनेपर किसी अवयवके बढ जानेसे जो नाम बोले जाते हैं उन्हें उपचितावयवपद नाम कहते हैं । जैसे—गलगंड, शिलोपक्ष, लम्बकर्ण इत्यादि । जो नाम अवयवोंके अपचय अर्थात् उनके छिन्न हो जानेके निमित्तसे व्यवहारमें आते हैं उन्हें अपचिता-वयवपद नाम कहते हैं । जैसे—छिन्नकर्ण, छिन्ननासिक इत्यादि नाम । • इभ्य, गौथ, दण्डी, छत्रो, गर्भिणी इत्यादि द्रव्य संयोगपद नाम हैं, क्योंकि धन, गूथ, दण्डा, छत्ता इत्यादि द्रव्यके संयोगसे ये नाम व्यवहारमें आते हैं । असि, परशु इत्यादि द्रव्यसंयोगपद नाम नहीं हैं, क्योंकि, उनका आदानपदमें अन्तर्भाव होता है । • माथुर, बालभ, दाक्षिणात्य और औदीच्य इत्यादि क्षेत्रसंयोगपद नाम हैं, क्योंकि माथुर आदि संज्ञाएँ व्यवहारमें आती हैं । जब माथुर आदि संज्ञाएँ नाम रूपसे विबक्षित न हों तभी उनका क्षेत्रसंयोगपदमें अन्तर्भाव होता है अन्यथा नहीं । शारद वासन्त इत्यादि काल संयोगपद नाम हैं । क्योंकि शरद और वसन्त ऋतुके संयोगसे यह संज्ञाएँ व्यवहारमें आती हैं । किन्तु वसन्त शरद हेमन्त इत्यादि संज्ञाओंका कालसंयोगपद नामोंमें ग्रहण नहीं होता, क्योंकि—उनका नामपदमें अन्तर्भाव हो जाता है । क्रोधी, मानी, मायावी और लोभी इत्यादि नाम भावसंयोगपद हैं, क्योंकि, क्रोध, मान, माया और लोभ आदि भावोंके निमित्तसे ये नाम व्यवहारमें आते हैं । किन्तु

जिनमें स्वभावकी सदृशता कारण है ऐसी यम, सिंह, अग्नि और रावण आदि संज्ञाएँ भावसंयोगपद रूप नहीं हो सकती हैं, क्योंकि उनका नामपदमें अन्तर्भाव होता है । उक्त दश प्रकारके नामोंसे भिन्न और कोई नामपद नहीं है, क्योंकि व्यवहारमें इनके अतिरिक्त अन्य नाम पाये जाते हैं । (घ. १/४, १, ४४/१३४/४), (क पा. १/१, १/४२४/३१/१) ।

१. श्रुतज्ञानके भेदोंमें कथित पदनामा ज्ञान व इस 'पद' ज्ञानमें अन्तर

घ. ६/१, १-१, १४/२३/३ कुदो पदस्स पदसण्णा । सोलहसयचोत्तीसको-डीओ तेसीदिलक्खा अडुहत्तरिसदअट्ठासीदिवक्खरे च घेत्तण एगं दब्बमुदपदं होदि । एवेहितो उप्पण्णभावमुदं पि उवयारेण पदं ति उच्चदि । — प्रश्न—उस प्रकारसे इस (अल्पमात्र) श्रुतज्ञानके (पाँचवें भेदकी) 'पद' यह संज्ञा कैसे है ? उत्तर—सोलह सौ चौतीस करोड, तेरासी लाख, अठहत्तर सौ अठासी (१६३४८३०७८८८) अक्षरोंको लेकर द्रव्य श्रुतका एक पद होता है । इन अक्षरोंसे उत्पन्न हुआ भाव श्रुत भी उपचारसे 'पद' ऐसा कहा जाता है ।

पदज्ञान—दे० श्रुतज्ञान/II ।

पदधन—सर्वधन । दे०—गणित/II/४/३ ।

पदविभागी आलोचना—दे० आलोचना/१ ।

पदविभागी समाचार—दे० समाचार ।

पदसमासज्ञान—दे० श्रुतज्ञान/II ।

पदस्थध्यान—स्वर व्यंजनादिके अक्षर या 'ॐ ह्रीं' आदि बीज मन्त्र अथवा पंचपरमेष्ठीके वाचक मन्त्र अथवा अन्य मन्त्रोंको यथा विधि कमलोंपर स्थापित करके अपने नाभि हृदय आदि स्थानोंमें चिन्तन करना पदस्थ ध्यान है । इससे ध्याताका उपयोग स्थिर होता है और अभ्यास हो जानेपर अन्तमें परमध्यानकी सिद्धि होती है ।

१. पदस्थध्यानका लक्षण

द्र. सं./टी./४८/२०५ में उद्धृत—पदस्थं मन्त्रवाक्यस्थं । = मन्त्र वाक्योंमें जो स्थित है वह 'पदस्थध्यान' है । (प. प्र./टी./१/६/६ पर उद्धृत); (भा. पा./टी./८६/२३६ पर उद्धृत) ।

ज्ञा./३९/१ पदान्यवलम्ब्य पुण्यानि योगिभिर्यद्विधीयते । तत्पदस्थं मतं ध्यानं त्रिचित्रनयपारगैः । १। — जिसको योगीश्वर पवित्र मन्त्रोंके अक्षर स्वरूप पदोंका अवलम्बन करके चिन्तन करते हैं, उसको नयोंके पार पहुँचने वाले योगीश्वरोंने पदस्थ ध्यान कहा है । १।

मधु. श्रा./४६४ जं फ्राहज्जह उच्चरिउण परमेठ्ठमंतपयममलं । एयक्खरादि विविहं पयत्थफाणं मुणेयव्वं । ४६४। — एक अक्षरको आदि लेकर अनेक प्रकारके पंच परमेष्ठो वाचक पवित्र मन्त्रपदोंका उच्चारण करके जो ध्यान किया जाता है उसे पदस्थ ध्यान जानना चाहिए । ४६४। (गुण. श्रा./२३२) (द्र. सं. सू./४६/२०७) ।

द्र. सं./टी./५०-५५ की पातनिका—'पदस्थध्यानध्येयभूतमहत्सर्वज्ञस्वरूपं दर्शयामीति । — पदस्थध्यानके ध्येय जो श्री अर्हत सर्वज्ञ हैं उनके स्वरूपको दिखलाता है । (इसी प्रकार गाथा५१ आदिकी पातनिका-में सिद्धादि परमेष्ठियोंके लिए कही है ।)

नोट—पंचपरमेष्ठी रूप ध्येय । दे०—ध्येय ।

२. पदस्थ ध्यानके योग्य मूलमन्त्रोंका निर्देश

१. एकाक्षरी मन्त्र—१. 'अ' (ज्ञा./३९/५१); (द्र. सं./टी./४६) २. प्रणव मन्त्र 'ॐ' (ज्ञा./३९/३१); (द्र. सं./टी./४६) । ३. अनाहत

मन्त्र 'ह्रीं' (ज्ञा/३८/७-८)। ४. माया वर्ण 'ह्रीं' (ज्ञा/३८/६७)। ५. 'मन्त्री' (ज्ञा/३८/८१)। ६. 'स्त्री' (ज्ञा/३८/९०)। ७. दो अक्षरीमन्त्र—१. 'अहं' (म. पु./२१/२३२), (वसु. भा/४६६), (गुण. भा/२३३); (ज्ञा सा/२१), (आत्मप्रबोध/१९८-१९९) (त. अनु./१०१)। २. 'सिद्ध' (ज्ञा/३८/५२) (द्र. स/टी/४९)। ३. चार अक्षरी मन्त्र—'अरहंत' (ज्ञा/३८/५१) (द्र. स/टी/४९)। ४. पंचाक्षरी मन्त्र—१. 'अ सि. आ उ सा.' (वसु. भा/४६६), (गु. भा/२३४) (त. अनु./१०२), (द्र. सं/टी/४९) २. 'ॐ हा ह्रीं हूं ह्रीं ह, अ. सि. आ, उ. सा नम' (ज्ञा/३८/५५)। ३. 'णमो सिद्धाय' या 'नमः सिद्धेभ्यः' (म. पु./२१/२३३), (ज्ञा./३८/६२)। ४. छ अक्षरी मन्त्र—१. 'अरहंतसिद्ध' (ज्ञा/३८/५०) (द्र. स/टी/४९)। २. अहंभूम्यो नम (म. पु./२१/२३२)। ३. 'ॐ नमो अहंते' (ज्ञा./३८/६३)। ४. 'अहंभूम्य. नमोऽस्तु', 'ॐ नमः सिद्धेभ्यः' या 'नमो अहंति सिद्धेभ्यः' (त. अनु./भाषा/१०८) ६. सप्ताक्षरी मन्त्र—१. 'णमो अरहताय' (ज्ञा./३८/४०, ६५, ६६), (त. अनु./१०४)। २. नम सर्वसिद्धेभ्यः (ज्ञा./३८/११०)। ७. अष्टाक्षरी मन्त्र—'नमोऽहंतेपरमेष्ठिने' (म. पु./२१/२३४) ८. १३ अक्षरी मन्त्र—अहंतिसिद्धसयोगकेवली स्वाहा (ज्ञा/३८/५८)। ९. १६ अक्षरी मन्त्र—'अहं तिसिद्धाचार्योपाध्यायसाधुभ्यो नम' (म. पु./२१/२३६), (ज्ञा/३८/४८); (द्र. स/टी/४९)। १०. ३५ अक्षरी मन्त्र—'णमो अरहंताय, णमो सिद्धाय, णमो आइरीयाय, णमो उवज्जमायाय, णमो लोए सव्वसाहूणं' (द्र. स/टी/४९)।

३. पदस्थध्यानके योग्य अन्य मन्त्रोंका निर्देश

१. 'ॐ ह्रीं श्रीं अहं नम' (ज्ञा/३८/६०)। २. 'ह्रीं ॐ ॐ ह्रीं हंस' (ज्ञा/३८/८६)। ३. चत्वारि मंगलं। अरहन्तं गलं सिद्धमंगलं। साहुमंगलं। केवलपण्णत्तो धम्मो मंगलं। चत्वारि लोगुत्तमा। अरहन्तं लोगुत्तमा। सिद्धं लोगुत्तमा। साहु लोगुत्तमा। केवलपण्णत्तो धम्मो लोगुत्तमा। चत्वारि सरणं पव्वज्जामि। अरहंतं सरणं पव्वज्जामि। सिद्धसरणं पव्वज्जामि। साहुसरणं पव्वज्जामि। केवलपण्णत्तो धम्मो सरणं पव्वज्जामि (ज्ञा/३८/५७)। ४. 'ॐ जोगे मरगे तच्चं धूदे भव्के भविस्से अवखे पक्खे जिणपारिस्से स्वाहा' (ज्ञा./३८/६१)। ५. 'ॐ ह्रीं स्वहं नमो नमोऽहंताय ह्रीं नम' (ज्ञा./३८/६१)। ६. पापभक्षिणी मन्त्र—ॐ अहंमुखकमलवासिनी पापात्मक्षयकरि-श्रुतज्ञानज्वालासहस्रप्रज्वलिते सरस्वति मत्पाप हन हन दह दह क्षी क्षी धूं क्षी क्ष क्षीरवरधन्वे अमृतसंभवे व व हूं हूं स्वाहा। (ज्ञा/३८/१०४)।

ज्ञा./३८/१११ इसी प्रकार अन्य भी अनेको मन्त्र होते हैं, जिन्हें द्वाद-शांगसे जानना चाहिए।

४. मूल मन्त्रोंकी कमलोंमें स्थापना विधि

१. सुवर्ण कमलकी मध्य कर्णिकामें अनाहत (हं) की स्थापना करके उसका स्मरण करना चाहिए। (ज्ञा./३८/१०)। २. चतुर्दल कमलकी कर्णिकामें 'अ' तथा चारो पत्तोंपर क्रमसे 'सि. आ उ. सा.' की स्थापना करके पंचाक्षरी मन्त्रका चिन्तन करे। (वसु. भा./४६६) ३. अष्ट-दल कमल पर कर्णिकामें 'अ' चारो दिशाओवाले पत्तोंपर 'सि. आ. उ. सा.' तथा विदिशाओवाले पत्तोंपर दर्शन, ज्ञान, चारित्र्य व तपके प्रतीक 'द. ज्ञा. चा. त.' की स्थापना करे। (वसु. भा./४६७-४६८) (गुण. भा./२३३-२३६)। २. अथवा इन सब वर्णोंके स्थानपर णमो अरहन्ताय आदि पूरे मन्त्र तथा सम्यग्दर्शनाय नम, सम्यग्ज्ञानाय नम आदि पूरे नाम लिखे। (ज्ञा/३८/३६-४०) ३. कर्णिकामें 'अहं' तथा पत्र लेखाओपर पंचनमोकार मन्त्रके बलय स्थापित करके चिन्तन करे (वसु. भा./४७०-४७१); (गु. भा/२३८-२३९)।

५. ध्येयभूत वर्णमातृका व उसकी कमलोंमें स्थापना विधि

ज्ञा/३८/२ अकारादि १६ स्वर और ककारादि ३३ व्यंजनपूर्ण मातृका है। (इनमें 'अ' या 'स्वर' ये दोनो तो १६ स्वरोके प्रतिनिधि हैं। क, च, ट, त, प, ये पाँच अक्षर कर्वादि पाँच वर्णोंके प्रतिनिधि हैं। य 'और श' ये दोनो क्रमसे य, र, ल, व चतुष्क और श, ष, स, ह चतुष्क के प्रतिनिधि हैं। १ चतुर्दल कमलमें १६ स्वरोके प्रतीक रूपसे कर्णिकापर 'अ' और चारो पत्तोंपर 'ह, उ, ए, ओ' की स्थापना करे। (त. अनु./१०३) २. अष्टदल कमलके पत्तोंपर 'य, र, ल, व, श, ष, स, ह' इन आठ अक्षरोंकी स्थापना करे। (ज्ञा/३८/५) २. कर्णिकापर 'अहं' और आठों पत्तोंपर स्वर व व्यंजनोके प्रतीक रूपसे 'स्वर, क, च, ट, त, प, य, श,' इन आठ अक्षरोंकी स्थापना करे। (त. अनु./१०५-१०६) ३. १६ दल कमलके पत्तोंपर 'अ, आ, आदि १६ स्वरोकी स्थापना करे। (ज्ञा/३८/३) ४. २४ दल कमलकी कर्णिका तथा २४ पत्तोंपर क्रमसे 'क' से लेकर 'म' २५ वर्णोंकी स्थापना करे। (ज्ञा./३८/४)।

६. मन्त्रों व कमलोंकी शरीरके अंगोंमें स्थापना

दे, ध्यान/३/३ (शरीरमें ध्यानके आश्रयभूत १० स्थान हैं—नेत्र, कान, नासिकाका अग्रभाग, ललाट, मुख, नाभि, मस्तक, हृदय, तालु और भौहे। इनमेंसे किसी एक या अधिक स्थानोंमें अपने ध्येयको स्थापित करना चाहिए। यथा—

ज्ञा/३८/१०८-१०९ नाभिपङ्कजसंलीनमवर्णं विस्रवतोमुखम् १०८। सिवर्णं मस्तकाम्भोजे साकारं मुखपङ्कजे। आकारं कण्ठकक्षस्थे स्मरोकारं हृदि स्थितम् १०९। = पंचाक्षरी मन्त्रके 'अ' को नाभिकमलमें 'सि' को मस्तक कमलमें, 'आ' को कण्ठस्थ कमलमें, 'उ' का हृदयकमलमें, और 'सा' को मुखस्थ कमलमें स्थापित करे।

त. अनु./१०४ सप्ताक्षरं महामन्त्रं मुख-रन्ध्रेषु सप्रसु। पुरुषदेशतो ध्याये-दिच्छेत् दूरश्रवादिकम् १०४। = सप्ताक्षरी मन्त्र (णमो अरहंताय) के अक्षरोंको क्रमसे दोनो आँखों, दोनो कानों, नासिकाके दोनो छिद्रों व जिह्वा इन सात स्थानोंमें स्थापित करे।

७. मन्त्रों व वर्णमातृकाकी ध्यान विधि

१. अनाहत मन्त्र ('हं') की ध्यान विधि

ज्ञा/३८/१० १६-२१, २८ कनककमलगर्भे कर्णिकायां निषण्णं विगतमल-कलङ्कं सान्द्रचन्द्राशुगौरम्। गगनमनुसरन्तं संचरन्तं हरिस्तु, स्मरं जिनवरकल्पं मन्त्रराजं यतीन्द्र १०। स्फुरन्तं भ्रलतामध्ये विशन्तं वदनाम्बुजे। तालुरन्ध्रेण गच्छन्तं सवन्तममृताम्बुभिः ११। स्फुरन्तं नेत्रपत्रेषु कुर्वन्तमलके स्थितिम्। भ्रमन्तं ज्योतिषां चक्रे स्पर्द्धमानं सिताशुना १७। संचरन्तं दिशामास्थे प्रोच्छलन्तं नभस्तले। छेदयन्तं कलङ्कोर्वं स्फोटयन्तं भवभ्रमम् १८। अनन्य-शरणं साक्षात्तरसलीनैकमानसं। तथा स्मरत्यसौ ध्यानी यथा स्वप्नेऽपि न स्वप्नेत् १२०। इति मत्वा स्थिरीभूतं सर्वावस्थासु सर्वथा। नासायै निश्चलं धत्ते यदि वा भ्रूलतान्तरं १२१। क्रमात्प्र-च्याव्य लक्ष्येभ्यस्ततोऽलक्ष्ये स्थिरं मनः। दधतोऽस्य स्फुरन्त्यन्तर्ज्यो-तिरत्यक्षमक्षयम् १२२। = हे सुवीन्द्र। सुवर्णमय कमलके मध्यमें कर्णिकापर विराजमान, मल तथा कलङ्कसे रहित, शरद्-ऋतुके पूर्ण चन्द्रमाकी किरणोंके समान गौरवर्णके धारक, आकाशमें गगन करते हुए तथा दिशाओंमें व्याप्त होते हुए ऐसे श्री जिनेन्द्रके सदृश इस मन्त्रराजका स्मरण करे १०। ध्येयका धारक योगी कुम्भक प्राणायामसे इस मन्त्रराजको भौहकी लताओंमें स्फुरायमान होता हुआ, मुख कमलमें प्रवेश करता हुआ, तालुआके

छिद्रसे गमन करता हुआ, तथा अमृतमय जलसे भरता हुआ ।१६। नेत्रकी पलकोपर स्फुरायमान होता हुआ, केशोमें स्थिति करता तथा ज्योतिषियोंके समूहमें भ्रमता हुआ, चन्द्रमाके साथ स्पर्धा करता हुआ ।१७। दिशाओमें सचरता हुआ, आकाशमें उछलता हुआ, कलकके समूहको छेदता हुआ, संसारके भ्रमको दूर करता हुआ ।१८। तथा परम स्थानको (मोक्षस्थानको) प्राप्त करता हुआ, मोक्ष लक्ष्मीसे मिलाप करता हुआ ध्यावै ।१९। ध्यान करनेवाला इस मन्त्राधिपको अन्य किसीकी शरण न लेकर, इसहीमें साक्षात् तबलीन मन करके, स्वप्नमें भी इस मन्त्रसे च्युत न हो ऐसा दृढ होकर ध्यावै ।२०। ऐसे पूर्वोक्त प्रकार महामन्त्रके ध्यानके विधानको जानकर, मुनि समस्त अवस्थाओमें स्थिर स्वरूप सर्वथा नासिकाके अप्रभागमें अथवा भौंहलताके मध्यमें इसको निश्चल धारण करै ।२१। तत्पश्चात् क्रमसे (लेखने योग्य वस्तुओसे) छुड़ाकर अलक्ष्यमें अपने मनको धारण करते हुए ध्यानीके अन्तरंगमें अक्षय तथा इन्द्रियोंके अगोचर ज्योति अर्थात् ज्ञान प्रकट होता है ।२८। (ज्ञा./२६/८२/५३) (विशेष दे. ज्ञा./सर्ग २६) ।

२. प्रणव मन्त्रकी ध्यान विधि

ज्ञा./३५/३३-३६ हृत्कञ्जकर्णिकासीनं स्वरव्यञ्जनवेष्टितम् । स्फीत-
मत्यन्तदुर्द्धर्षं देवदैत्येन्द्रपूजितम् ।३३। प्रक्षरन्मूर्धिनसंक्रान्तचन्द्र-
लेखामृतप्लुतम् । महाप्रभावसंपन्नं कर्मकक्षहुताशनम् ।३४। महातत्त्वं
महाबीजं महामन्त्रं महत्पदम् । शरच्चन्द्रनिभं ध्यानी कुम्भकेन
विचिन्तयेत् ।३५। = ध्यान करनेवाला संयमी हृदय कमलकी
कर्णिकामें स्थिर और स्वर व्यञ्जन अक्षरोंसे वेदा हुआ, उज्ज्वल,
अत्यन्त दुर्द्धर्ष, देव और दैत्योके इन्द्रोंसे पूजित तथा भरते हुए
मस्तकमें स्थित चन्द्रमाकी (लेखा) रेखाके अमृतमें आद्रित, महा-
प्रभाव सम्पन्न, कर्म रूपी वनको दग्ध करनेके लिए अग्नि समान ऐसे
इस महातत्त्व, महाबीज, महामन्त्र महापदस्वरूप तथा शरइके
चन्द्रमाके समान गौर वर्णके धारक 'ओं' को कुम्भक प्राणायामसे
चिन्तवन् करे ।३३-३६।

३. मायाक्षर (ह्रीं) की ध्यान विधि

ज्ञा./३८/६८-७० स्फुरन्तमतिस्फीतं प्रभामण्डलमध्यगम् । संचरन्तं
मुखाम्भोजे तिष्ठन्तं कर्णिकोपरि ।६८। भ्रमन्तं प्रतिपत्रेषु चरन्तं
वियति क्षणे । छेदयन्तं मनोध्वान्तं सवन्तममृतान्बुभु ।६९। व्रजन्तं
तालुरन्ध्रेण स्फुरन्तं भूलतान्तरं । ज्योतिर्मयमिवाचिन्त्यप्रभावं
भावयेन्मुनि ।७०। = मायाबीज 'ह्रीं' अक्षरको स्फुरायमान होता हुआ,
अत्यन्त उज्ज्वल प्रभामण्डलके मध्य प्राप्त हुआ, कभी पूर्वोक्त मुखस्थ
कमलमें संचरता हुआ तथा कभी-कभी उसकी कर्णिकाके ऊपर
तिष्ठता हुआ, तथा कभी-कभी उस कमलके आठों दलोंपर फिरता
हुआ तथा कभी-कभी क्षण भरमें आकाशमें चलता हुआ, मनके
अज्ञान अन्धकारको दूर करता हुआ, अमृतमयी जलसे चूता हुआ
तथा तालुआके छिद्रसे गमन करता हुआ तथा भौंहोंकी लताओंमें
स्फुरायमान होता हुआ, ज्योतिर्मयके समान अचिन्त्य है प्रभाव
जिसका ऐसे माया वर्णका चिन्तवन् करे ।

४. प्रणव, शून्य व अनाहत इन तीन अक्षरोंकी ध्यान विधि

ज्ञा./३८/८६-८७ यदत्र प्रणवं शून्यमनाहतमिति त्रयम् । एतदेव विदुः
प्राज्ञास्त्रैलोक्यतिलकोत्तमम् ।८६। नासाग्रदेशसंलीनं कुर्वन्नत्यन्त-
निर्मलम् । ध्याता ज्ञानमवाप्नोति प्राग्र्यं पूर्वं गुणाष्टकम् ।८७। = प्रणव
और शून्य तथा अनाहत ये तीन अक्षर हैं, इनको बुद्धिमानोंने तीन
लोकके तिलकके समान कहा है ।८६। इन तीनोंको नासिकाके अप्र
भागमें अत्यन्त लीन करता हुआ ध्यानी अणिमा महिमा आदिक
आठ ऋद्धियोंको प्राप्त होकर, तत्पश्चात् अति निर्मल केवलज्ञानको
प्राप्त होता है ।८७।

५. आत्मा व अष्टाक्षरी मन्त्रकी ध्यान विधि

ज्ञा./३८-६६-६८ दिग्दलाष्टकसंपूर्णे राजीवे मुप्रतिष्ठितम् । स्मरत्वात्मान-
मत्यन्तस्फुरद्गीष्मार्कभास्करम् ।६५। प्रणवाद्यस्य मन्त्रस्य पूर्वादिषु
प्रदक्षिणम् । विचिन्तयति पत्रेषु वर्णकैकमनुक्रमात् ।६६। अधिकृत्य
छद पूर्व सर्वाशासमुख परम् । स्मरत्यष्टाक्षर मन्त्रं सहस्रैकं शताधि-
कम् ।६७। प्रत्यहं प्रतिपत्रेषु महेंद्राशाद्यनुक्रमात् । अष्टरात्रं जपेद्योगो
प्रसन्नामलमानस ।६८। = आठ दिशा सम्बन्धी आठ पत्रोंसे पूर्णकमल-
में भले प्रकार स्थापित और अत्यन्त स्फुरायमान गीष्मकृतके सूर्यके
समान देदीप्यमान आत्माको स्मरण करै ।६५। प्रणव है आदिमें
जिसके ऐसे मन्त्रको पूर्वादिक दिशाओमें प्रदक्षिणारूप एक एक पत्र
पर अनुक्रमसे एक एक अक्षरका चिन्तवन् करै वे अक्षर 'ॐ णमो
अरहताणं' ये हैं ।६६। इनमेंसे प्रथम पत्रको मुख्य करके, सर्व
दिशाओके सम्मुख होकर इस अष्टाक्षर मन्त्रको ग्यारह सै बार
चिन्तवन् करै ।६७। इस प्रकार प्रतिदिन प्रत्येक पत्रमें पूर्व दिशादिकके
अनुक्रमसे आठ रात्रि पर्यन्त प्रसन्न होकर जपै ।६८।

६. अन्तमें आत्माका ध्यान करे

ज्ञा./३८/११६ विलीनाशेषकर्माणं स्फुरन्तमतिनिर्मलम् । स्वं ततः पुरुषा-
कारं स्वाङ्गमर्भगतं स्मरेत् ।११६। = मन्त्रपदोके अभ्यासके पश्चात्
विलय हुए है समस्त कर्म जिसमें ऐसे अतिनिर्मल स्फुरायमान अपने
आत्माको अपने शरीरमें चितवन् करै ।११६।

६. धूम ज्वाला आदिका दीखना

ज्ञा./३५/७४-७७ ततो निरन्तराभ्यासान्मासै ऋद्धिभं स्थिराशयः ।
मुखरन्धाद्विनिर्यान्ती धूमवर्ति प्रपश्यति ।७४। ततः संवत्सरं यावत्त-
थेवाभ्यस्यते यदि । प्रपश्यति महाज्वालां निःसरन्ती मुखोदरात् ।७५।
ततोऽतिजातसंवेगो निर्बेदालम्बितो वशी । ध्यायन्पश्यत्यविश्रान्तं
सर्वज्ञमुखपङ्कजम् ।७६। अथाप्रतिहतानन्दप्रीणितारत्ना जितधमः ।
श्रीमत्सर्वज्ञदेवेशं प्रत्यक्षमिव वीक्षते ।७७। = तत्पश्चात् वह ध्यानी
स्थिरचित्त होकर, निरन्तर अभ्यास करनेपर छह महीनेमें अपने
मुखसे निकली हुई धूयेको वर्तिका देखता है ।७४। यदि एक वर्ष
पर्यन्त उसी प्रकार अभ्यास करै तो मुखमेंसे निकलती हुई महाग्नि-
की ज्वालाको देखता है ।७५। तत्पश्चात् अतिशय उत्पन्न हुआ है
धर्मानुराग जिसके ऐसा वैरायावलंबित जितेन्द्रिय मुनि निरन्तर
ध्यान करता-करता सर्वज्ञके मुख कमलको देखता है ।७६। यहाँसे आगे
वही ध्यानी अनिवारित आनन्दसे तृप्त है आत्मा जिसका और जीता
है दुख जिसने ऐसा होकर, श्रीमत्सर्वज्ञदेवको प्रत्यक्ष अवलोकन करता
है ।७७।

९. पदस्थ ध्यानका फल व महिमा

ज्ञा./३८/१श्लोक नं, अनाहत 'ह्रीं' के ध्यानसे इष्टकी सिद्धि ।२२। ऋद्धि,
ऐश्वर्य, आज्ञाकी प्राप्ति तथा ।२७। संसारका नाश होता है ।३०।
प्रणव अक्षरका ध्यान गहरे सिन्दूरके वर्णके समान अथवा मूँगेके
समान किया जाय तो मिले हुए जगत्को क्षोभित करता है ।३६।
तथा इस प्रणवको स्तम्भनके प्रयोगमें सुवर्णके समान पीला चितवन्
करै और द्वेषके प्रयोगमें कज्जलके समान काला तथा वरषादि प्रयोग-
में रक्त वर्ण और कर्मके नाश करनेमें चन्द्रमाके समान श्वेतवर्ण
ध्यान करै ।३७। मायाक्षर ह्रींके ध्यानसे—लोकाग्र स्थान प्राप्त होता
है ।५०। प्रणव, अनाहत व शून्य ये तीन अक्षर तिहूँ लोकके तिलक
है ।८६। इनके ध्यानसे केवलज्ञान प्रगट होता है ।८८। 'ॐ णमो
अरहताणं' का आठ रात्रि ध्यान करनेसे क्रूर जीव जन्तु भयभीत
हो अपना गर्व छोड़ देते हैं ।६६।

पदानुसारि ऋद्धि—६० ऋद्धि/२ ।

पदार्थ—न्या. सू./२/२/६३/१४२ व्यक्त्याकृतिजातयस्तु पदार्थः । ६३।
= 'व्यक्ति', 'आकृति', और 'जाति' ये सब मिलकर पदका अर्थ
(पदार्थ) होता है ।

न्या वि /टी /२/७/१४०/१५ अर्थोऽभिधेयः पदस्यार्थः पदार्थः । = अर्थ
अर्थात् अभिधेय । पदका अर्थ सो पदार्थ । (अर्थात् सामान्य रूपसे
जो कुछ भी शब्दका ज्ञान है वा शब्दका विषय है वह शब्द 'पदार्थ'
शब्दका वाच्य है ।

प्र. सा /त, प्र /१३ इह किल य. कश्चन परिच्छिद्यमान पदार्थ स सर्व
एव द्रव्यमय गुणात्मका पर्यायात्मका । = इस विश्वमें जो
जाननेमें आनेवाला पदार्थ है वह समस्त द्रव्यमय, गुणमय और
पर्यायमय है ।

१. नव पदार्थ निर्देश

प. का./मू./१०० जीवाजीवाभावा पुण्यं पावं च आसर्वं तेसि । संवर-
णित्तरबधो भोक्त्वो य हवति ते अट्टा । १००। = जीव और अजीव
दो भाव (अर्थात् मूल पदार्थ) तथा उन दोके पुण्य, पाप, आसर्व,
सवर, निर्जरा, बध और मोक्ष वह (नव) पदार्थ है । १००। (गो,
जी./मू./६२१/१०७५) ; (द. पा /टी./११६/१८) ।

न. च. वृ /१६० जीवाइ सततच्च पण्यत्तं जे जहत्थरूवेण । तं चैव णव-
पयत्था सपुण्यपावा पुणो होत्ति । १६०। = जीवादि सप्त तत्त्वोंको
यथार्थ रूपसे कहा गया है, उन्हींमें पुण्य और पाप मिला देनेसे नव
पदार्थ बन जाते हैं ।

* अन्य सम्बन्धित विषय

१. नव पदार्थका विषय—दे० तत्त्व ।
२. नव पदार्थ श्रद्धानका सम्यग्दर्शनमें स्थान—दे० सम्यग्दर्शन/II
३. द्रव्यके अर्थमें पदार्थ—दे० द्रव्य ।
४. शब्द अर्थ व ज्ञानरूप पदार्थ—दे० नय/II/४ ।

पद्धति—Method (ध. १/प्र. २०)

पद्धति—१ पद्धतिका लक्षण

क. पा. २/२.२२/१२६/१४/६ सुतवित्तविवरणाय पद्धईवषएसदो । = सूत्र
और वृत्ति इन दोनोंका जो विवरण है, उसको पद्धति संज्ञा है ।

२. भागम व अध्यात्म पद्धतिमें अन्तर

१. आगम व अध्यात्म सामान्यकी अपेक्षा

का./ता वृ./१७३/२६१/११ अर्थपदार्थानामभेदरत्नत्रयप्रतिपादकान-
नामनुकूलं यत्र व्याख्यानं क्रियते तदध्यात्मशास्त्रं भण्यते वीतराग-
सर्वज्ञप्रणीतषड्द्रव्यादिसम्यक्प्रदानज्ञानवृत्ताद्यनुष्ठानभेदरत्नत्रयस्वरूपं
यत्र प्रतिपाद्यते तदागमशास्त्रं भण्यते । = जिसमें अभेद रत्नत्रयके
प्रतिपादक अर्थ और पदार्थोंका व्याख्यान किया जाता है
उसको अध्यात्म शास्त्र कहते हैं । वीतराग सर्वज्ञ प्रणीत छ' द्रव्यों
आदिका सम्यक्प्रदान, सम्यक्ज्ञान, तथा व्रतादिके अनुष्ठान रूप
रत्नत्रयके स्वरूपका जिसमें प्रतिपादन किया जाता है उसको आगम
शास्त्र कहते हैं ।

प्र. सं./टी./१३/४०/६ पुढविजलतेउवाऊ इत्यादिगाथाहयेन, तृतीय-
गाथापदत्रयेण च "गुणजीवापञ्जस्ती पाणासण्का य मग्गजाओ य ।
उवओणो वि य कमसो बीस सु परूवणा भणिया । १।" इति गाथा-
प्रभृति कथितस्वरूपं धवलजयधवलमहाधवलप्रबन्धाभिधानसिद्धान्त-
त्रयबीजपदं सूचितम् । "सर्वे सुद्धा हु सुद्धणया" इति शुद्धात्मतत्त्व-
प्रकाशकं तृतीयगाथाचतुर्थपादेन पञ्चास्तिकायप्रवचनसारसमयसारा-

भिधानप्राभृतत्रयस्यापि बीजपदं सूचितमिति । = पुढवीजलतौयवाऊ
इत्यादि गाथाओं और तीसरी गाथा 'गिहम्मा अट्ठगुणा' के तीन
पदोंसे गुणस्थान, जीवसमास, पर्याप्त, प्राण, सज्ञा, चौदह मार्गणा
और उपयोगोंसे इस प्रकार क्रमसे बीस प्ररूपणा कही है । १। इत्यादि
गाथामें कहा हुआ स्वरूप धवल, जयधवल और महाधवल प्रबन्ध
नामक जो तीन सिद्धान्त ग्रन्थ हैं उनके बीजपदकी सूचना ग्रन्थकार-
ने की है । 'सर्वे सुद्धा हु सुद्धणया' इस तृतीय गाथाके चौथे पादसे
शुद्ध आत्म तत्त्वके प्रकाशक पञ्चास्तिकाय, प्रवचनसार और समय-
सार इन तीनों प्राभृतोंका बीजपद सूचित किया है ।

गो. जी./जी. प्र/२६६/६४६/२ अत्राहेतुवादरूपे आगमे हेतुवादस्या-
नधिकारात् । = अहेतुवादरूप आगमविषे हेतुवादका अधिकार नहीं ।
इहाँ तो जिनागम अनुस्मरि वस्तुका स्वरूप कहनेका अधिकार
जानना ।

सू. पा./पं, जयचन्द्र/१/५४/५ तहाँ सामान्य विशेषकरि सर्व पदार्थनिका
निरूपण करिये है सो आगम रूप (पद्धति) है । बहुदि जहाँ एक
आत्मा ही के आश्रय निरूपण करिये सो अध्यात्म है ।

रहस्यपूर्ण चिट्ठी पं. टोडरमल—समयसारादि ग्रन्थ अध्यात्म है और
आगमकी चर्चा गोम्मतसारमें है ।

परमार्थ वचनिका प. बनारसीदास—द्रव्य रूप तो पुद्गल (कर्मों) के
परिणाम हैं, और भाव रूप पुद्गलका आत्माकी असुद्ध परिणतिरूप
परिणाम है । वह दोनों परिणाम आगमरूप स्थापें । द्रव्यरूप तो
जीवत्व (सामान्य) परिणाम है और भावरूप ज्ञान दर्शन, सुख,
कीर्त्य आदि अनन्त गुण (विशेष) परिणाम है । यह दोनों परिणाम
अध्यात्मरूप जानने ।

२. पंच भावोंकी अपेक्षा

स. सा /ता वृ./३२०/४०५/२१ आगमभाषयौपशमिकक्षायोपशमिक-
क्षायिकं भावत्रय भण्यते । अध्यात्मभाषया पुनः शुद्धात्माभिमुखपरि-
णाम शुद्धोपयोग इत्यादि पर्यायसंज्ञा लभते । = आगम भाषासे
औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायिक तीन भाव कहे जाते हैं ।
और अध्यात्म भाषामें शुद्धात्माके अभिमुख परिणाम, वा शुद्धोपयोग
इत्यादि पर्याय नामको प्राप्त होते हैं । (द. सं./टी./४५/-
११४/६) ।

प्र सं./अधिकार २ की चूलिका/५४/४ आगमभाषया...भव्यत्वसंज्ञस्य
पारिणामिकभावस्य संबन्धिनी व्यक्तिर्भण्यते । अध्यात्मभाषया
पुनर्द्रव्यशक्तिरूपशुद्धपारिणामिकभावविषये भावना भण्यते, पर्याया-
नामन्तरेण निर्विकल्पसमाधिर्वा शुद्धोपयोगादिकं वेति । = आगम
भाषासे भव्यत्व संज्ञाधारक जीवके पारिणामिक भावसे सम्बन्ध
रखनेवाली व्यक्ति कही जाती है और अध्यात्म भाषा द्वारा द्रव्य
शक्ति रूप शुद्धभावके विषयमें भावना कहते हैं । अन्य पर्याय नामोंसे
इसी द्रव्य शक्ति रूप पारिणामिक भावकी भावनाको निर्विकल्प-
ध्यान, तथा शुद्ध उपयोगादिक कहते हैं ।

३. पंचलक्षिकी अपेक्षा

व. का./ता वृ./१६१/२१७/१४ यदायं जीवः आगमभाषया कालादि-
लक्षिरूपमध्यात्मभाषया शुद्धात्माभिमुखपरिणामरूपं स्वसंवेदनज्ञानं
लभते तदा -सरागसम्यग्दृष्टिर्भूत्वा -पराश्रितधर्मध्यानमहिररुगसह -
कारिस्वेनानन्तज्ञानादिसवरूपोऽहमित्यादिभावना - स्वरूपमात्माश्रित
धर्मध्यानं प्राप्य आगमकथितक्रमेण शुक्लध्यानमनुभूय...भावमोक्षं
प्राप्नोतीति । = जब यह जीव आगम भाषासे कालादि लक्षिक रूप
और अध्यात्म भाषासे शुद्धात्माभिमुख परिणाम रूप स्व संवेदन
ज्ञानको प्राप्त करता है तब सराग सम्यग्दृष्टि होकर पराश्रित धर्म-
ध्यानकी महिररुग सहकारि कारण रूप जो 'अनन्त ज्ञानादि स्वरूप में
हैं इत्यादि भावना स्वरूप आत्माश्रित धर्मध्यानको प्राप्त करके आगम

कथित क्रमसे शुक्लध्यानको अनुभव करते हुए --भावमोक्षको प्राप्त करता है। (द्र. सं./टी./३५/१५६/३)।

द्र. सं./टी./४१/१६५/११ समवसरणे मानस्तम्भावलोकनमात्रादेवागम-भाषया दर्शनचारित्रमोहनीयोपशमक्षयसङ्गेनाध्यात्मभाषया स्वशुद्धा-त्माभिमुखपरिणामसङ्गेन च कालादिलक्ष्मिविशेषेण मिथ्यात्व विलय गतं। = (इन्द्रभूति जष) समवसरणमे गये तत्र मानस्तम्भके देवने मात्रसे ही आगम-भाषामें दर्शन मोहनीय तथा चारित्र मोहनीयके क्षयोपशमसे और अध्यात्म भाषामें निज शुद्ध आत्माके सम्मुख परिणाम तथा कालादि लक्ष्मियोंके विशेषसे उनका मिथ्यात्व नष्ट हो गया। (द्र. सं./टी./४५/१६४/६)।

४. सम्यग्दर्शनकी अपेक्षा

स. सा./ता. वृ./१४५/२०८/१० अध्यात्मभाषया शुद्धात्मभावनां विना आगमभाषया तु वीतरागसम्यक्त्वं विना व्रतदानादिकं पुण्यबन्धकार-णमेव न च मुक्तिकारणम्। = अध्यात्म भाषामें शुद्धात्माकी भावनाके बिना और आगम भाषासे वीतराग सम्यक्त्वके बिना व्रत दानादिक पुण्यबंधके ही कारण है, मुक्तिके कारण नहीं।

द्र. सं./टी./३५/१५६/४ परमागमभाषया पञ्चविंशतिमलरहिता तथाध्यात्मभाषया निजशुद्धात्मोपादेयरुचिरूपा सम्यक्त्वभावनैव मुख्येति विज्ञेयम्। = परमागम भाषासे पञ्चोस दोषोंसे रहित सम्यग्दर्शन और अध्यात्म भाषासे निज शुद्धात्मा ही उपादेय है, इस प्रकार जो रुचि है उस रूप सम्यक्त्वकी भावना हो मुख्य है। ऐसा जानना चाहिए।

५. ध्यानकी अपेक्षा

स. सा./ता. वृ./२१५/२६५/१३ (अध्यात्मभाषया) परमार्थशब्दाभि-धेयं--शुद्धात्मसत्त्विलक्षणं परमागमभाषया वीतरागधर्मध्यानशुक्ल-ध्यानस्वरूपम्। = (अध्यात्म भाषासे) परमार्थ शब्दका वाच्य शुद्धात्म संवित्ति है लक्षण जिसका उसे ही परमागम भाषासे वीतराग धर्मध्यान और शुक्लध्यान कहते हैं।

पं. का./ता. वृ./१५०/२२६/१७ (अध्यात्मभाषया) शुद्धात्मानुभूतिलक्षण-निर्विकल्पसमाधिसाध्यागमभाषया रागादिविकल्परहितशुक्लध्यान-साधये वा। = (अध्यात्म भाषासे) शुद्धात्मानुभूति है लक्षण जिसका ऐसी निर्विकल्प समाधि साध्य है, और आगम भाषासे रागादि विकल्प रहित शुक्लध्यान साध्य है। (प. प्र./टी./१/१/६/२)।

द्र. सं./टी./४५/२०१,२०४ ध्यानस्य तावदागमभाषया विचित्रभेदाः। २०१। अध्यात्मभाषया पुनः सहजशुद्धपरमचैतन्यशालिनि निर्भरानन्दमालिनि भगवति निजात्मन्युपादेयबुद्धि कृत्वा पश्चादन्त-ज्ञानोऽहम् इत्यादिरूपमभ्यन्तरधर्मध्यानमुच्यते। तथैव स्वशुद्धात्मनि निर्विकल्पसमाधिलक्षण शुक्लध्यानमिति। = आगम भाषाके अनुसार ध्यानके नाना प्रकारके भेद हैं। २०१।...अध्यात्म भाषासे सहज-शुद्ध-परम चैतन्यशाली तथा परिपूर्ण ध्यानका धारो भगवान् निजात्मा है, उसमें उपादेय बुद्धि करके, फिर 'मैं अनन्त ज्ञानका धारक हूँ' इत्यादि रूपसे अन्तरंग धर्मध्यान है।...उसी प्रकार निज शुद्धात्माके निर्विकल्प ध्यानरूप शुक्लध्यान है।

६. चारित्रकी अपेक्षा

पं. का./ता. वृ./१५५/२२५/१६ [अध्यात्मभाषया] निजशुद्धात्मसंविद्य-नुचरणरूप परमागमभाषया वीतरागपरमसामायिकसंज्ञ स्वचरितं चरति अनुभवति। = (अध्यात्मभाषासे) निज शुद्धात्माकी संवित्ति रूप अनुचरण स्वरूप, परमागम भाषासे वीतराग परम सामायिक नामके स्वचारित्रको चरता है, अनुभव करता है।

पं. का./ता. वृ./१७१/२४४/१५ व' कोऽपि शुद्धात्मानमुपादेयं कृत्वा आगम-भाषया मोक्षं वा व्रततपश्चरणादिकं करोति। = जो कोई (अध्यात्म-

भाषासे) शुद्धात्माको उपादेय करके, आगम भाषासे मोक्षको आदेय करके व्रत तपश्चरणादिक करता है-।

६. तर्क व सिद्धान्त पद्धतिमें अन्तर

द्र. सं./टी./४४/१५६/४ तर्काभिप्रायेण सत्तावलोकनदर्शनं व्याख्यातम्। सिद्धान्ताभिप्रायेण उत्तरज्ञानोत्पत्तिनिमित्तं यत् प्रयत्न तद्रूप यत् स्वस्यात्मनः परिच्छेदनमवलोकनं तद्दर्शनं भण्यते। = तर्कके अभिप्रायसे सत्तावलोकनदर्शनका व्याख्यान किया। सिद्धान्तके अभिप्रायसे आगे होनेवाले ज्ञानकी उत्पत्तिके लिए प्रयत्न रूप जो आत्माका अवलोकन वह दर्शन कहलाता है।

द्र. सं./टी./४४/१६२/३ तर्कं मुख्यवृत्त्या परसमयव्याख्यानं स्थूलव्या-ख्यानं-सिद्धान्ते पुनः स्वसमयव्याख्यानं मुख्यवृत्त्या सूक्ष्म-व्याख्यानम्-। = तर्कमें मुख्यतासे अन्यमर्तोका व्याख्यान होता है। स्थूल अर्थात् विस्तृत व्याख्यान होता है। सिद्धान्तमें मुख्यतासे निज समयका व्याख्यान है, सूक्ष्म व्याख्यान है।

७. उत्सर्ग व अपवाद व्याख्यानमें अन्तर

पं. का./ता. वृ./१४६/२१२/६ सकलश्रुतधारिणा ध्यानं भवति तदुत्सर्ग-वचनं, अपवादव्याख्याने तु पञ्चसंमितित्रिगुप्तिप्रतिपादकश्रुतिपरि-ज्ञानमात्रेणैव केवलज्ञानं जायते। --वज्रवृषभनाराचसंज्ञप्रथमसहजनेन ध्यानं भवति तदप्युत्सर्गवचनं अपवादव्याख्यानं पुनरपूर्वादिगुण-स्थानवर्तिना उपशमक्षपकश्रेण्योर्यच्छुक्लध्यानं तदपेक्षया स नियमः अपूर्वादघस्तनगुणस्थानेषु धर्मध्याने निषेधकं न भवति। = सकल श्रुतधारियोंको ध्यान होता है यह उत्सर्ग वचन है, अपवाद व्याख्यान-से तो पाच संमिति और तीन गुप्तिको प्रतिपादन करनेवाले शास्त्रके ज्ञानसे भी केवलज्ञान होता है।...वज्रवृषभनाराच नामकी प्रथम संहननसे ही ध्यान होता है यह उत्सर्ग वचन है। अपवाद रूप व्याख्यानसे तो अपूर्वादि गुणस्थानवर्ती जीवोंके उपशम व क्षपक श्रेणीमें जो शुक्लध्यान होता है उसकी अपेक्षा यह नियम है। अपूर्व-करण गुणस्थानसे नीचेके गुणस्थानोंमें धर्मध्यानका निषेध नहीं होता है। (द्र. सं./टी./५७/२३२/६)।

* चारों अनुयोगोंकी कथन पद्धतिमें अन्तर

पद्धति-टीका— १. परिशिष्ट।

—दे० अनुयोग/१।

पद्य— १. चक्रवर्तीकी नव निधियोंमेंसे एक—दे० शलाकापुरुष/२। २. अपरविदेहस्थ एक क्षेत्र—दे० लोक/५/२ ३. कालका एक प्रमाण—दे० गणित/१/१४४। ४. स्वो बलदेव था। अपरनाम राम था—दे० राम। ५. स्वो बलदेव था। अपरनाम बल था।—दे० शलाका-पुरुष/३। ६. म. पु./६६/श्लोक नं. पूर्व भव नं. २ में श्रीपुर नगरके राजा प्रजापाल थे (७३)। फिर अच्युत स्वर्गमें देव हुए (७४)। वर्तमान भवमें ६वे चक्रवर्ती हुए। (अपरनाम महापद्य था (ह. पु./२०/१४)। विशेष परिचय—दे० शलाकापुरुष/२।

पद्यकीर्ति—पासणाहचरित (अपभ्रंश) के रचयिता सेनसंघी महारक। गुरु—जिनसेन। समय—शक ६६६ (ई. १०७७) (ती./३/२०६)।

पद्यकूट— १. पूर्व विदेहस्थ एक वक्षारगिरि—दे० लोक/५/३ २. पूर्व विदेहस्थ पद्यकूट वक्षारका एक कूट—दे० लोक/५/४ ३. कुण्डलबर पर्वतका एक कूट—दे० लोक/५/१२ ४. रुचक पर्वतस्थ एक कूट—दे० लोक/५/१३ ५. विद्युत्प्रभ गजदन्तस्थ एक कूट—दे० लोक/५/४।

पद्यगुलम—म. पु./५६/श्लोक विदेह क्षेत्रस्थ बरस देशकी सुसीमा नगरीके राजा थे (२-३)। धन्वन नामक पुत्रको राज्य देकर दीक्षा धारण कर ली (१५-१६)। विपाकसूत्र तक सब अंगोंका अध्ययन किया तथा चिरकाल तक घोर तपश्चरण कर तीर्थकर प्रकृतिका बन्ध किया।

जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश

तत्पश्चात् आरण स्वर्गमें देव हुआ (१७-१८)। यह शीतलनाथ भगवान्का पूर्वका दूसरा भव है—दे० तीर्थंकर।

पद्म(देव)—१ पद्मकूटवक्षारपर स्थित पद्मकूटका रक्षक देव—दे० लोक/१/४
२ श्रद्धानवात् वक्षारपर स्थित पद्मकूटका रक्षक देव—दे० लोक/१/४
३. रम्यकक्षेत्रका नाभिगिरि—दे० लोक/१/३
४. दक्षिण पुष्करार्थ द्वीपका रक्षक व्यन्तर देव—दे० व्यन्तर/४।
५. कुण्डल पर्वतस्थ रजतकूटका स्वामी नागेन्द्र देव—दे० लोक/१/२२।

पद्मनन्दि—विगम्बर जैन आम्नायमें पद्मनन्दि नामके अनेकों आचार्य हुए हैं। १. कुन्दकुन्दका अपर नाम (समय—वि० १८४-२३६ (ई० १२७-१७६)। दे० कुन्दकुन्द। (जै०/२/८६) २. नन्दिसव के देशीयगण में त्रैकाव्य योगी के शिष्य और कुलभूषण के गुरु थे। प्रमेयकमल मार्तण्ड के कर्ता प्रभाचन्द्र न० ४ इनके सहधर्मा तथा विद्या शिष्य थे। आभिद्रकरण तथा कौमारदेव इनके अपर नाम हैं। समय—ई० ६३०-१०५३। (दे० इतिहास/७/५)। (पं. वि/प्र. २८/A.N. Up.) के अनुसार इनका समय ई० ११८५-१२०३ है परन्तु ऐसा मानने से ये न तो प्रभाचन्द्र न० ४ (ई० ६५०-१०२०) के सहधर्मा ठहरते हैं और न ही माघनन्दि कोष्हापुरीय (ई० ११०८-११३६) के दादा गुरु ही सिद्ध होते हैं। ३. काष्ठा संघ की गुर्वावली के अनुसार आप हेमचन्द्र के शिष्य और यशःकीर्ति के गुरु थे। समय—वि० १००५ (ई० ६४८)। (दे० इतिहास/७/८)। ४. नन्दिसव देशीयगण में बीरनन्दि के प्रशिष्य, बालनन्दि के शिष्य और प्रमेयकमल मार्तण्ड के कर्ता प्रभाचन्द्र न० ४ के दीक्षा गुरु थे। माघनन्दि के प्रशिष्य श्रीनन्दि के लिये आपने 'जंबूदोव पण्णति' की रचना की थी। कृतिये—जंबूदोव पण्णति, धम्म रसायण, प्राकृत पच संग्रह की वृत्ति (संस्कृत टीका)। समय—लगभग ई० ६७७-१०४३। (दे० इतिहास/७/५)। (जै०/२/८४-८५)। (ती०/३/११०)। ५. आ० बीरनन्दि के दीक्षा शिष्य और ज्ञानार्णव रचयिता शुभचन्द्र के शिक्षा शिष्य। कृतिये—पच-विशतिका (संस्कृत), चरण सार (प्राकृत), धम्मरसायण (प्राकृत)। समय—वि० श० १२, ई० श० ११ का उत्तरार्ध। वि० १२३८ तथा १२४२ के शिला लेखों में आपका उल्लेख आता है। (जै०/२/८६/१६२) (ती०/३/१२५, १२६)। ६. त्रैविद्यदेव के शिष्य। समय—वि० १३७३ में स्वर्गवास हुआ। अत वि० १३६५-१३७३ (ई० १२५८-१२६६)। (पं. वि/प्र. २८/A.N. Up.) (जै०/२/८६)। ७. शुभ चन्द्र अध्यात्मिक के शिष्य। समय—ई० १२६३-१३२३। ८. लघु पद्मनन्दि नाम के भट्टारक। कृतिये—निघण्टु वैद्यक आवकाचार, यश्याचार कतिकुण्ड पारश्वनाथ विधान, देवपूजा, रत्नत्रय पूजा, अनन्त कथा, परमात्म-पकाश की टीका। समय—वि० १३६२ (ई० १३७५)। (जै०/२/८६)। (पं. वि०/१०/२८/A.N. Up.) (पं. का०/१० २/१० पन्ना लाल)। ९. शुभ चन्द्र अध्यात्मिक के शिष्य। शुभ चन्द्र का स्वर्गवास वि. १२७० में हुआ। तदनुसार उनका समय—वि० १३५०-१३८० (ई० १२६३-ई० १३२३)। (पं. वि/प्र. २८/A.N. Up.)। १०. नन्दि संघ बनातकार गण को दिल्ली गद्दी की गुर्वावली के अनुसार आप प्रभाचन्द्र न० ७ के शिष्य तथा देवेन्द्रकीर्ति के सकल कीर्तिके गुरु थे। ब्राह्मण कुल में उत्पन्न हुए थे। गिरनार पर्वत पर इनका श्वेताम्बरों के साथ विवाद चला था जिसमें इन्होंने ब्राह्मण देवी अथवा सरस्वती की मूर्ति को वाचाल कर दिया था (शुभचन्द्र कृत पाण्डव पुराण श्ल १४ तथा शुभचन्द्र की गुर्वावली श्ल ६३)। (परननन्दि कृत उपवेश तर गिनी पृ १४८)। कृतिये—जीरावली पारश्वनाथ स्तोत्र, भावना पद्धति, अनन्तवत् कथा, वर्द्धमान चरित्र। समय—वि १४५० में इन्होंने आदि माय भगवान् की प्रतिमा स्थापित कराई थी। अत वि. १३५६-१४६०। ई. १३२८-१३६६। (जै०/२/२११)। (ती०/३/२२२)।

पद्मनन्दि पंचविशतिका—आ० पद्मनन्दि (ई० ११ का उत्तरार्ध) द्वारा संस्कृत छन्दोंमें रचित गृहस्थधर्म प्ररूपक ग्रन्थ है। इसमें २५ अधिकार तथा कुल ८०० श्लोक हैं। (ती०/३/१२६-१४०)।

पद्मनाभ—भट्टारक गुणकीर्ति के शिक्षा शिष्य, संस्कृत के अधिकृत कवि। कृति—यशोधर चरित। समय—ई. १४०५-१४२५। (ती०/३/५४)।

पद्मनाभ—म.पु./५४/श्लोक पूर्व घातकीखण्डमें मगलावतीदेशके रत्नसंचय नामक नगरके राजा कनकप्रभका पुत्र था (१२१-१३१)। अन्तमें दीक्षा धारण कर ली। तथा ग्यारह अगोका पारगामी हो तीर्थंकर प्रकृतिका बन्ध किया। आयुके अन्तमें समाधिपूर्वक वैजयन्त विमानमें अहमिन्द्र हुआ (१५८-१६२)। यह चन्द्रप्रभु भगवान्के पूर्वका दूसरा भव है—दे० चन्द्रप्रभ।

पद्मनाभचरित्र—आ० शुभचन्द्र (ई० १५१६-१५५६) द्वारा रचित संस्कृत छन्दबद्धग्रन्थ।

पद्मपुराण—पद्मपुराणनामके कई ग्रन्थ उपलब्ध हैं, सभी राम रावणकी कथाके प्रतिपादक हैं।—१. आ. विमल सूरि (ई. श ४) कृत ७ अधिकारों में विभक्त ११८ सर्ग प्रमाण अपभ्रंश काव्य। (ती०/२/२५७)। २. आ. कीर्तिधर (ई० ६००) कृत 'रामकथा' के आधार पर आ. रविषेण द्वारा ई० ६७७ में रचित संस्कृत पद्यबद्ध 'पद्य चरित', जो छः खण्डों तथा १२ पत्रों में विभक्त २०,००० श्लोक प्रमाण है। (ती०/२/१७६) ३. कवि स्वयम्भू (ई० ७३८-८४०) कृत 'पद्म चरित' नामक अपभ्रंश काव्य, जो ६० सन्धियों में विभक्त १२००० श्लोक प्रमाण है। (ती०/३/६८)। ४. कवि रघु (ई. १४००-१४७६) कृत 'पद्म चरित' नामक अपभ्रंश काव्य (ती०/३/१६८)। ५. चन्द्र कीर्ति भट्टारक (ई. १५६७) कृत 'पद्मपुराण'। (ती०/३/४४२)।

पद्मप्रभ—म.पु./५२/श्लोक घातकीखण्डके पूर्वविदेहमें वत्सका-देशकी सुसीमानगरीके अपराजित नामक राजा थे (२-३)। फिर उपरिम त्रैवेयकके प्रीतिकरविमानमें अहमिन्द्र हुए (१२-१४)। वर्तमान भवमें छठे तीर्थंकर हुए हैं। विशेष परिचय—दे० तीर्थंकर/५।

पद्मप्रभ-मलधारीदेव—बीरनन्दि के शिष्य। कृतिये—पारश्वनाथ स्तोत्र, नियमसार टीका। समय—वि १२४२ में स्वर्गवास हुआ, अत वि श १३ का द्वि चरण (ई. ११४०-११८५)। (जै०/२/१६१)। (ती०/३/१४७)।

पद्ममाल—१. सौधर्मस्वर्गका २३वें पदल—दे० स्वर्ग/५/३; २. सौधर्मस्वर्गके २३वें पदलका इन्द्रक—दे० स्वर्ग/५।

पद्मरथ—१. म.पु./६०/श्लोक न घातकीखण्डमें अरिष्ट नगरीका राजा था (२-३)। धनरथ पुत्रको राज्य देकर दीक्षित हो गया। तथा ग्यारह अगोका पाठी हो तीर्थंकर प्रकृतिका बन्ध किया (११)। अन्तमें सल्लेखना पूर्वक मरणकर अच्युत स्वर्गमें इन्द्रपद प्राप्त किया (१२) यह अनन्तनाथ भगवान्का दूसरा पूर्वभव है—दे० अनन्तनाथ। २. ह.पु./२०/ श्लोक न 'हस्तिनापुरमें महापद्म चक्रवर्तीका पुत्र तथा विष्णुकुमारका बड़ा भाई था (१४)। इन्होंने ही सिंहबल राजाको पकड़ लानेसे प्रसन्न होकर बलि आदि मन्त्रियोंको

वर दिया था (१७) । इसी वरके रूपमें बलि आदि मन्त्रियोने सात दिनका राज्य लेकर अकम्पनाचार्यादि सात सौ मुनियोपर उपसर्ग किया था (२२) ।

पद्मलेश्या—दे० लेश्या ।

पद्मवान्—१. अपर विदेहस्थ एक क्षेत्र—दे० लोक/७ । २. विकृतवान् बक्षारका एक कूट—दे० लोक/७ । ३. पद्मवान् कूटका रक्षक देव । दे० लोक/७ ।

पद्मसिंह—ध्यानविषयक ज्ञानसार ग्रन्थके रचयिता एक मुनि । समय—वि. १०८६ (ई० १०२६) (त. अनु०/१०६ का भावार्थ प० युगलकिशोर) (लो०/३/२८८) ।

पद्मसेन—१. म पु. ५६/१लोक पश्चिम घातकीखण्डमे रम्यकावती देशके महानगरका राजा था (२-३) । दीक्षित होकर ११ अंगोका पारगामी हो गया । तथा तीर्थंकर प्रकृतिका बन्ध कर अन्तमे समाधिपूर्वक सहस्रार स्वर्गमें इन्द्रपद प्राप्त किया (८-१०) । यह विमलनाथ भगवान्का पूर्वका दूसरा भव है—दे० विमलनाथ । २ पञ्चस्तूपसघको गुर्वावलीके अनुसार (दे० इतिहास/५/१७) आप धवलकाकार वीरसेन स्वामीके शिष्य थे । (म पु. प्र. ३१/पं०) । ३ पुत्राटसघकी गुर्वावलीके अनुसार आप वीरवित्तके शिष्य तथा व्यासहस्तके गुरु थे ।—दे० इतिहास/५/१८ ।

पद्महृद—हिमवान् पर्वतस्थ एक हृद । जिसमेंसे गंगा, सिन्धु व रोहितास्या ये तीन नदियाँ निकलती है । श्रीदेवी इसमें निवास करती हैं—दे० लोक/३/६ ।

पद्मांग—कालका एक प्रमाणविशेष—दे० गणित/१/१४ ।

पद्मा—रुचक पर्वत निवासिनी दिक्कुमारी देवी—दे० लोक/५/१३ ।

पद्माल—विजयार्थकी उत्तर श्रेणीका नगर—दे० विद्याधर ।

पद्मावत—विद्युत्प्रभ गजदन्तस्थ एक कूट—दे० लोक/५/४ ।

पद्मावती—१. पूर्व विदेहस्थ रम्यका क्षेत्रकी मुख्य नगरी— दे० लोक/५/२. २. म. पु. ७३/१लोक अपने पूर्वभव सपिणीकी पर्यायमें कमठके आठवे उत्तर भव महीपाल द्वारा लवकडके जलानेपर मारी गयी (१०१-१०३) । परन्तु पार्ष्वनाथ भगवान्के उपदेशसे शान्तभावपूर्वक मरण करनेसे पद्मावती बनी (११८-११९) । इसीने भगवान् पार्ष्वनाथका उपसर्ग निवारण किया था (१३६-१४१) । अतः यह पार्ष्वनाथ भगवान्की शासक यक्षिणी है—दे० यक्ष ।

पद्मावती कल्प—मण्डलवैण भट्टारक (ई. श १८) कृत तान्त्रिक ग्रन्थ ।

पद्मासन—दे० आसन ।

पद्मोत्तर—१. भद्रशाल वनस्थ एक दिग्गजेन्द्र पर्वत—दे. लोक/५/३; २. कुण्डल पर्वतस्थ रजतप्रभ कूटका स्वामी नागेन्द्रदेव—दे. लोक/५/१२; ३. रुचक पर्वतके नन्द्यावर्तकूटपर रहनेवाला देव—दे० लोक/५/१३, ४. म पु. ५८/१लोक पुष्करार्थ द्वीपके बत्सकावती देशमे रत्नपुर नगरका राजा था (२) । दीक्षित होकर ११ अंगोका पारगामी हो गया । तीर्थंकर प्रकृतिका बन्ध कर आयुके अन्तमें संन्यासपूर्वक मरणकर महाशुक्र स्वर्गमें उत्पन्न हुआ (११-१३) । यह वासुपूज्य भगवान्का दूसरा पूर्व भव है—दे० वासुपूज्य ।

पनसा—भरतक्षेत्रस्थ आर्यखण्डकी एक नदी—दे० मनुष्य/४ ।

पन्नालाल—आप संघो गोत्री एक पण्डित थे । पं० सदासुखदासजी-के आप शिष्य थे । रत्नचन्द्रजी वैद्य दूनीवालेके पुत्र थे । कृतियाँ— १. राजवार्तिककी भाषावचनिका, २. उत्तरपुराणकी भाषावचनिका; ३—२७००० श्लोकप्रमाण विद्वद्भजन शोधक, ४. सरस्वती पूजा आदि । पं० सदासुखदासजी (ई० १७६५-१८६७) के अनुसार

आपका समय—ई० १७७०-१८४० आता है । (अर्थ प्रकाशिका/प्र. ५/ अं पन्नालाल), (र. क. श्री. प्र. २४/पं० परमानन्द) ।

परंपरा—१. व्यवहारनिश्चयका परम्परा कारण है ।—दे० नय, धर्म आदि वह वह विषय । २. आचार्य परम्परा—दे० इतिहास/४; ३. आगम परम्परा—दे० इतिहास/६ ।

परंपरा बंध—दे० बंध/१ ।

परंपराश्रय हेतुभास—दे० अन्योन्याश्रय ।

परंपरोपनिधा—दे० श्रेणी ।

पर—रा. वा /२/३७/१/१४७/२६ परशब्दोऽयमनेकार्थवचन । क्वचि-द्वयवस्थाया वर्तते—यथा पूर्व पर इति । क्वचिदन्यार्थे वर्तते—यथा परपुत्र परभार्येति अन्यपुत्रोऽन्यभार्येति गम्यते । क्वचिप्रधान्ये वर्तते—यथा परमियं कन्या अस्मिन्कुटुम्बे प्रधानमिति गम्यते । क्वचिद्विद्यार्थे वर्तते—यथा परंधाम गत इष्टं धाम गत इत्यर्थः ।

रा. वा. /३/६/७/१६७/१७ परोत्कृष्टेति पर्यायी । ७।—पर शब्दके अनेक अर्थ हैं जैसे—१. कही पर व्यवस्था अर्थमें वर्तता है जैसे—पहला, पिछला । २. कही पर भिन्न अर्थमें वर्तता है जैसे—'परपुत्र', 'परभार्या' । इससे 'अन्यका पुत्र', व 'अन्यकी स्त्री' ऐसा ज्ञान होता है । ३. कही पर प्राधान्य अर्थमें वर्तता है जैसे—इस कुटुम्बमें यह कन्या पर है । यहाँ 'प्रधान है' ऐसा ज्ञान होता है । ४. कही पर इष्ट अर्थमें वर्तता है जैसे—'परंधाम गत' अर्थात् अपने इष्ट स्थानपर गया ऐसा ज्ञान होता है । ५. पर और उत्कृष्ट ये पर्यायवाची नाम हैं । (प. प्र. / टी. / १/२४/२६/८) ।

स्या. मं. /४/१८/२७ परत्वं चान्यत्वं तच्चैकान्तभेदाविनाभावि ।

स्या. मं. /२७/३०५/२७ परशब्दो हि शत्रुपर्यायोऽप्यस्ति । = परत्वं शब्द एकान्तभेदका अविनाभावी है । इसका अर्थ अन्यपना होता है । 'पर' शब्द शत्रुशब्दका पर्यायवाची है ।

पं. अ. /३/३६७ स्वापूर्वार्थद्वयोरेव ग्राहक ज्ञानमेकशः । ३६७। = ज्ञान युगपत् स्व और अपूर्व अर्थात् पर दोनों ही अर्थोंका ग्राहक है ।

परकृति—न्या. सू. /टी /२/१/६३/१०१/४ अन्यकर्तृकस्य व्याहृतस्य विधेर्वादि. परकृति । हुत्वा वपामेवाग्नेऽभिधारयन्ति अथ पृषदाज्य तदुह चरकाध्वर्यवः पृषदाज्यमेवाग्नेऽभिधारयन्ति "अग्ने प्राणा" पृषदाउत्तोममित्येवमभिधधतीत्येवादि । = जो वाक्य मनुष्योंके कर्मोंमें परस्पर विरोध दिखावे उसे 'परकृति' कहते हैं । जैसे—कोई तो वपाको हू वेमें रखकर प्रणीता में डालते हैं और कोई घृतको हू वासे से प्रणीतामें डालते हैं, और उनकी प्रशंसा करते हैं ।

परक्षेत्र—दे० क्षेत्र/१ ।

परगणानुपस्थापना प्रायश्चित्त—दे० परिहारप्रायश्चित्त ।

परघातनामकर्म—स. सि. /८/११/६१/४ यन्निमित्त परशस्त्रा-देव्याघातस्तत्परघातनाम । = जिसके उदयसे परशस्त्रादिकका निमित्त पाकर व्याघात होता है, वह परघात नामकर्म है । (रा. वा. / ८/११/१४/५७८/३); (गो. क. / जी. प्र. / ३३/२६/१६) ।

ध. ६/१, ६-१, २८/५६/७ परेषां घातः परघातः । जस्त कम्मस्स उदएण परघादहेदु सरीरे पोगला णिप्फज्जति त कम्मं परघादं णाम । तं जहा—सम्पदादासु विसं, विच्छिद्यपुंछे परदुखहेउपोगलोवचओ, सिंह-वग्धच्छवलादिसु णहदता, सिगिवचणाहीधत्तरादओ च पर-घादुप्पायया । = पर जीवोके घातको परघात कहते हैं । जिस कर्मके उदयसे शरीरमें परको घात करनेके कारणभूत पुद्गल निष्पन्न होते हैं, वह परघात नामकर्म कहलाता है । (ध. / १३/५. ५. १०१/३६४/१३) जैसे—सौंपकी दाढोमें विष, बिच्छूकी पूँछमें पर दुःखके कारणभूत पुद्गलोका संचय, सिंह, व्याघ्र और छवत्त (शबल-चीता) आदिमें (तीक्ष्ण) नख और दन्त तथा सिंगी, बत्स्यनाभि और धतूरा आदि विषैले वृक्ष परको दुःख उत्पन्न करनेवाले हैं ।

★ परघात प्रकृतिकी बन्ध उदय सत्त्व प्ररूपणा तथा
तत्सम्बन्धी शंका समाधान—दे० वह वह नाम ।

परचतुष्टय—दे० चतुष्टय ।

परचारित्र—दे० चारित्र/१ ।

परन्त्रवाद—

१. मिथ्या एकान्तकी अपेक्षा

श्वेताश्वतरोपनिषद्/१/२ काल स्वभावो नियतिर्यदृच्छाभूतानि यानि
पुरुषेति चित्तम् । सयोग एषा न त्वात्मभावादात्माप्यनीश सुखदुःख-
हेतु' ।२। =आत्माको यह सुख व दुःख स्वयं भोगनेसे नहीं होते,
अपितु काल, स्वभाव, नियति, यदृच्छा, पृथ्वी आदि चार भूत,
योनिस्थान, पुरुष व चित्त इन नौ बातोंके संयोगसे होता है, क्योंकि
आत्मा दुःख-सुख भोगनेमें स्वतन्त्र नहीं है ।

२. सम्यगेकान्तकी अपेक्षा

प्र. सा । त. प्र । परि. / नय नं० २६, ३४ अस्वभावनयेनायस्कारनिशित-
तीक्ष्णविशालवत्सस्कारसार्थक्यकारि । २६। ईश्वरनयेन धात्रीहटा-
बलेह्यमानपान्थबालकवत्परतन्त्र्यभोक्तु । ३४। =आत्मद्रव्य अस्व-
भावनयसे सस्कारको सार्थक करनेवाला है (अर्थात् आत्माको अस्व-
भावनयसे संस्कार उपयोगी है), जिसकी (स्वभावसे नोक नहीं
होती, किन्तु सस्कार करके) लुहारके द्वारा नोक निकाली गयी हो
ऐसे पैने बाणकी भोंति । २६। आत्मद्रव्य ईश्वरनयसे परतन्त्रता
भोगनेवाला है, धायकी दुकानपर पिलाये जानेवाले राहगीरके
बालककी भोंति ।

★ उपादान कारणकी भी कथंचित् परतन्त्रता—

—दे० कारण/II/३ ।

परत्वापरत्व—वै. द. ७/२/२२/२५०/३ एकदिवकाभ्यामेककाला-
भ्यां सनिकृष्टविग्रकृष्टाभ्या परमपर च । २२। =परत्व और अपरत्व
दो प्रकारसे होते हैं । एक देशसम्बन्धसे दूसरे कालसम्बन्धसे ।
(स सि. / ५/२२/२६२/१०) ।

रा. वा. ५/२२/२२/४८१/२३ क्षेत्रप्रशसाकालनिमित्ते परत्वापरत्वे । तत्र
क्षेत्रनिमित्ते लावदाकाशप्रवेशारूपबहुत्वापेक्षे । एकस्यां दिशि बहुना-
काशप्रदेशानतीत्य स्थित पर', तत' अल्पानतीत्य स्थितोऽपर' ।
प्रशसाकृते अहिंसादिप्रशस्तगुणयोगात् परो धर्म', तद्विपरीतोऽधर्मो-
ऽपर, इति । कालहेतुके शतवर्ष पर, षोडशवर्षोऽपर इति । =
१. परत्व और अपरत्व क्षेत्रकृत भी है जैसे—दूरवर्ती पदार्थ 'पर'
और समीपवर्ती पदार्थ 'अपर' कहा जाता है । २. गुणकृत भी
होते हैं जैसे अहिंसा आदि प्रशस्तगुणोंके कारण धर्म 'पर' और अधर्म
'अपर' कहा जाता है । ३. कालकृत भी होते हैं जैसे—सौ वर्षबाला
वृद्ध 'पर' और सोलह वर्षका कुमार 'अपर' कहा जाता है ।

परद्रव्य—मो पा. / मू. / १७ आदसहावादणं सञ्चित्ताचित्तमिस्सियं
हवइ । तं परदव्वं भणियं अविस्सयं सव्वदरसीहि । १७। =आत्म स्व-
भावसे अन्य जो कुछ सचित्त (स्त्री, पुत्रादिक) अचित्त (धन,
धान्यादिक) मिश्र (आभूषण सहित मनुष्यादिक) होता है, वह
सर्व परद्रव्य है । ऐसा सर्वज्ञ भगवान्‌ने सरयार्थ कहा है । १७।

प. प्र. / मू. / १/१२३ जं गियदव्वहं भिण्णु जह तं पर-दव्वु वियाणि ।
पुगल्लु धम्माम्मु गहु कालु वि पंचमु जाणि । १२३।

प. प्र. / टी. / २/१०८/२२७/२ रागादिभावकर्म-ज्ञानावरणादिद्रव्यकर्म शरी-
रादिनोकर्म च बहिर्विषये भिष्यास्वरागादिपरिणतासंबुतजनोऽपि
परद्रव्यं भण्यते ।

प. प्र. / टी. / २/११०/२२८/१४ अपध्यानपरिणाम एव परसंसर्ग' । =जो
आत्म पदार्थसे जुदा जड़पदार्थ है, उसे परद्रव्य जानो । और वह
परद्रव्य पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और पाँचवाँ कालद्रव्य ये सब
परद्रव्य जानो । ११३। अन्दरके विकार रागादि भावकर्म और बाहर-
के शरीरादि नोकर्म तथा मिथ्यात्व व रागादिसे परिणत असंयत जन
भी परद्रव्य कहे जाते हैं । १०८। वास्तवमें अपध्यान रूप परिणाम ही
परसंसर्ग (द्रव्य) है । ११०।

परनिमित्त—दे० निमित्त/१ ।

परभविक प्रकृतियाँ—दे० प्रकृति बध/२ ।

परम—

१. पारिणामिकभावके अर्थमें

न च वृ. / ३५७-३६६ अस्थिताइसहावा सुसंठिया जत्थ सामणविसेसा ।
अवरुणपरमविरुद्धा तं गियतच्चं हवे परमं । ३५७। होऊण जत्थ णट्ठा
होसंति पुणोऽवि जत्थपज्जाया । वट्टंता वट्टंति हु तं गियतच्चं
हवे परमं । ३५८। णासतो वि ण णट्ठो उत्पण्णो णेव संभवं जंतो । सतो
तिमालविसये तं गियतच्चं हवे परमं । ३५९। =जहाँ सामान्य और
विशेषरूप अस्तित्वादि स्वभाव स्व व पर की अपेक्षा विधि निषेध
रूपसे अविरुद्ध स्थित रहते हैं, उसे निज परमतत्त्व या वस्तुका
स्वभाव कहते हैं । ३५७। जहाँ पूर्वकी पर्याय नष्ट हो गयी है तथा
बाबी पर्याय उत्पन्न होवेगी, और वर्तमान पर्याय वर्त रही है, उसे
परम निजतत्त्व कहते हैं । ३५८। जो नष्ट होते हुए भी नष्ट नहीं होता
और उत्पन्न होते हुए भी उत्पन्न नहीं होता, ऐसा त्रिकाल विषयक
जीव परम निजतत्त्व है ।

आ. प. / ६ पारिणामिकभावप्रधानत्वेन परमस्वभाव. । =वस्तुमें पारि-
णामिक भावप्रधान होनेसे वह परमस्वभाव कहलाता है ।

नि. सा । ता वृ. / ११० पारिणामिकभावस्वभावेन परमस्वभाव...स पञ्चम
भाव' ..उदयोदीरणक्षयोपशमविविधविकारविवर्जित' । असः
कारणादस्यैकस्य परमत्वस् इतरेषां चतुर्णां विभावानामपरमत्वम् ।
=(भव्यको) पारिणामिक भावरूप स्वभाव होनेके कारण परमस्वभाव
है । वह पंचमभाव उदय, उदीरण, क्षय, क्षयोपशम ऐसे विविध
विकारोंसे रहित है । इस कारणसे इस एकको परमपना प्राप्त है, शेष
चार विभावोंको अपरमपना है ।

२. शुद्धके अर्थमें

पं. का. / ता. वृ. / १०४/१६६/१६ परमानन्दज्ञानादिगुणाधारत्वात्परशब्देन
मोक्षो भण्यते । =परम आनन्द तथा ज्ञानादि गुणोंका आधार होनेसे
से 'पर' शब्दके द्वारा मोक्ष कहा जाता है ।

प. प्र. / टी. / १/१३/२१ परमो भावकर्मद्रव्यकर्मनोकर्मरहितः । =परम
अर्थात् भावकर्म, द्रव्यकर्म व नोकर्मसे रहित ।

द्र. सं. / टी. / ४६/१६७/६ 'परमं' परमोपेक्षालक्षणं - शुद्धोपयोगाविनाभूतं
परमं 'सम्मचारित' सम्यक्चारित्रं ज्ञातव्यम् । = 'परमं' परम
उपेक्षा लक्षणवाला (संसार, शरीर असंयमादिमें अनादर) तथा...
शुद्धोपयोगका अविनाभूत उत्कृष्ट 'सम्मचारित' सम्यक्चारित्र जानना
चाहिए ।

३. ज्येष्ठ व उत्कृष्टके अर्थमें

घ. १/४. १. ३/४१/६ परमो ज्येष्ठ. । =परम शब्दका अर्थ ज्येष्ठ है ।

घ. १३/५. ५. ६/२२३/३ किं परमम् । असंखिज्जलोगमेत्तसंयमवियत्ता ।
=यहाँ (परमावधिके प्रकरणमें) परम शब्दसे असंख्यात लोकमात्र
संयमके विकल्प अभीष्ट है ।

मो. पा. / टी. / ६/३०८/१८ परा उत्कृष्टा प्रत्यक्षलक्षणोपलक्षिता मा प्रमात्रं
यस्येति परम. अथवा परेषां भव्यप्राणिनां उपकारिणी मा जह्मीः

अनेन्द्र सिद्धान्त कोश

समवसरणविभूतिर्यस्येति परम' । = 'परा' अर्थात् उत्कृष्ट और 'मा' अर्थात् प्रत्यक्ष लक्षणसे उपलक्षित प्रमाण, ऐसा उत्कृष्ट प्रमाण (केवल-ज्ञान) जिसके पाया जाये सो परम है—वे अद्वैत है। अथवा 'पर' अर्थात् अन्य जो भव्यप्राणी 'मा' अर्थात् उनकी उपकार करनेवाली लक्ष्मी रूप समवसरण विभूति, यह जिसके पायी जाये ऐसे अद्वैत परम है।

४. एकार्थवाची नाम

न. च. वृ/४ तच्च तह परमटठ दव्वसहाव तहेव परमपरं ; धेयं सुद्ध' परमं एयद्धा हुंति अभिहाणा ।४। = तच्च, परमार्थ, द्रव्यस्वभाव, पर, अपर. ध्येय, शुद्ध और परम ये सब एक अर्थके वाचक हैं ।४।

त. अनु/१३६ माध्यस्थ्यं समतोपेक्षा वैराग्य साम्यमस्पृहा । वैतृष्यं परमः शान्तिरित्येकार्थोऽभिधीयते ।१३६। = माध्यस्थ्य, समता, उपेक्षा, वैराग्य, साम्य, अस्पृहा, वैतृष्य, परम, और शान्ति ये सब एक ही अर्थको लिये हुए हैं ।१३६।

परम अद्वैत—निर्विकल्प समाधिका अपरनाम—दे० मोक्षमार्ग/२/५ ।

परम एकत्व—

परमधि—दे० ऋषि ।

परमगुरु—दे० गुरु/१ ।

परमज्योति—निर्विकल्प समाधिका अपरनाम दे० मोक्षमार्ग/२/५ ।

परमतत्त्व—

परमतत्त्वज्ञान—

परमधर्म—दे० धर्म/१ ।

परमध्यान—निर्विकल्प समाधिका अपरनाम दे० मोक्षमार्ग/२/५ ।

परमब्रह्म—

परमभावग्राहकनय—दे० नय/1V/२।

परमभेदज्ञान—निर्विकल्प समाधिका अपरनाम—दे० मोक्षमार्ग/२/५ ।

परमविष्णु—

परमवीतरागता—

परमसमता—

परमसमरसोभाव—

परमसमाधि—

परमस्वरूप—

परमस्वास्थ्य—

परमहंस—

परमाणु—पुद्गल द्रव्यके अन्तिम छोटेसे छोटे भागको परमाणु कहते हैं। सूक्ष्मताका शीतक होनेसे चेतनके निर्विकल्प सूक्ष्म भाव भी कदाचित् परमाणु कह दिये जाते हैं। जैनदर्शनमें पृथिवी आदिके परमाणुओंमें कोई भेद नहीं है। सभी परमाणु स्पर्श, रस, गन्ध व वर्णवाले होते हैं। स्पर्श गुणकी हलकी, भारी या कठोर नरमरूप पर्याय परमाणुमें नहीं पायी जाती है, क्योंकि वह संयोगी द्रव्यमें ही होने सम्भव है। इनके परस्पर मिलनेसे ही पृथिवी आदि तत्त्वोंकी उत्पत्ति होती है। आदि, मध्य व अन्तकी कल्पनासे अतीत होते हुए भी एकप्रदेशी होनेके कारण यह दिशाओंवाला अनुमान करनेमें आता है।

१ परमाणुके भेद व लक्षण तथा अस्तित्वकी सिद्धि

१ परमार्थपरमाणु सामान्यका लक्षण ।

२ क्षेत्रका प्रमाणविशेष ।

३ परमाणुके भेद ।

४ कारण कार्य परमाणुका लक्षण ।

५ जघन्य उत्कृष्ट परमाणुके लक्षण ।

६ द्रव्य व भाव परमाणुके लक्षण ।

७ परमाणुके अस्तित्व सम्बन्धी शंका समाधान ।

८ आदि, मध्य, अन्तहीन भी उसका अस्तित्व है ।

९ परमाणुमें स्पर्शादि गुणोंकी सिद्धि ।

२ परमाणु निर्देश

* परमाणु मूर्त है । —दे० मूर्त/२ ।

१ वास्तवमें परमाणु ही पुद्गल द्रव्य है ।

२ परमाणुमें जाति भेद नहीं है ।

३ सिद्धोक्त परमाणु निष्क्रिय नहीं ।

४ परमाणु अशब्द है ।

५ परमाणुकी उत्पत्तिका कारण ।

६ परमाणुका लोकमें अवस्थान क्रम ।

७ लोक स्थित परमाणुओंमें कुछ चलित हैं कुछ अचलित ।

८ अनन्त परमाणु आजतक अवस्थित हैं ।

९ नित्य अवस्थित परमाणुओंका कथंचित् निषेध ।

१० परमाणुमें चार गुणकी पाँच पर्याय होती है ।

* परमाणुकी सीधी व तिरछी दोनों प्रकारकी गति सम्भव है । —दे० गति/१ ।

३ परमाणुमें कथंचित् सावयव व निरवयवपना

१ परमाणु आदि, मध्य व अन्तहीन होता है ।

२ परमाणु अविभागी व एकप्रदेशी होता है ।

३ अप्रदेशी या निरवयवपनेमें हेतु ।

४ परमाणुका आकार ।

५ सावयवपनेमें हेतु ।

६ निरवयव व सावयवपनेका समन्वय ।

* परमाणुमें परस्पर बन्ध सम्बन्धी । —दे० स्कंध/२ ।

* स्कन्धमें परमाणु परस्पर सर्वदेशेन स्पर्श करते हैं या एकदेशेन । —दे० परमाणु/३/५ ।

१. परमाणुके भेद व लक्षण तथा उसके अस्तित्वकी सिद्धि

१. परमार्थ परमाणु सामान्यका लक्षण

ति. प./१/६६ सत्थेण सुत्तिलेण छेसुं भेसुं च जं किरस्सक्कं । जल्लयण-
लादिहि णासं ण एदिसो होदि परमाणु ।६६। = जो अत्यन्त तीक्ष्ण

शस्त्रसे भी छेदा या भेदा नहीं जा सकता, तथा जल और अग्नि आदिके द्वारा नाशको प्राप्त नहीं होता, वह परमाणु है । १६।

स. सि. /सू. /पु. /१ प्रदिश्यन्त इति प्रदेशाः परमाणवः (२/२८/१६२/६) प्रदेशमात्रभाविस्पर्शादिपर्यायप्रसवसामर्थ्येनाप्यन्ते शब्दान्त इत्यणवः । (१/२५/२६७/३) = प्रदेश शब्दकी व्युत्पत्ति 'प्रदिश्यन्ते' होती है । इसका अर्थ परमाणु है । (२/३८) । एक प्रदेशमें होनेवाले स्पर्शादि पर्यायको उत्पन्न करनेकी सामर्थ्य रूपसे जो 'अप्यन्ते' अर्थात् कहे जाते हैं वे अणु कहलाते हैं । (रा. वा. /५/२५/१/४६१/११)

ज. प. /१३/१७ जस्स ण कोइ अणुदरो सो अणुओ होदि सब्बदव्वाणं । जावे परं अणुत्त तं परमाणु सुणेयव्वा । १७। = सब द्रव्योंमें जिसकी अपेक्षा अन्य कोई अणुत्तर न हो वह अणु होता है । जिसमें अत्यन्त अणुत्व हो उसे सब द्रव्योंमें परमाणु जानना चाहिए । १७।

२. क्षेत्रका प्रमाण विशेष

ज. प. /१३/२१ अट्ठहि तेहि णेया सण्णासण्हि तह य दब्बेहि । यवहारियपरमाणु णिद्विट्ठो सब्बदरिसीहि । २१। = आठ सन्नासन्न द्रव्योंसे एक व्यावहारिक परमाणु (त्रुटिरेणु) होता है । ऐसा सर्व-दशियोने कहा है । (विशेष दे० गणित/१/१/३)

३. परमाणुके भेद

न. च वृ /१०१ कारणरूपाणु कज्जरूवो या । १०१। = परमाणु दो प्रकारका होता है—कारण रूप और कार्यरूप । (नि. सा. /ता. वृ. /२५) (प्र. सा. /ता. वृ. /८०/१३६/१८) ।

नि. सा. /ता. वृ. /२५ अणवश्चतुर्भेदाः कार्यकारणजघन्योत्कृष्टभेदैः । = अणुओंके (परमाणुओंके) चार भेद हैं । कार्य, कारण, जघन्य और उत्कृष्ट ।

पं. का. /ता. वृ. /१५२/२११/१६ द्रव्यपरमाणु भावपरमाणु ॥ = परमाणु दो प्रकारका होता है—द्रव्य परमाणु और भाव परमाणु ।

४. कारण कार्य परमाणुका लक्षण

नि. सा. /पू. /१५ धाउचउक्कस्स पुणो जं हेऊ कारणंति तं णेयो । खंधाणं अवसाणो णादव्वो कज्जरपरमाणु । २५। = फिर जो (पृथ्वी, जल, तैज और वायु इन) चार धातुओंका हेतु है, वह कारण परमाणु जानना, स्कन्धोंके अवसानको (पृथक् हुए अविभागी अन्तिम अंशको) कार्य परमाणु जानना । २५।

पं. का. /ता. वृ. /८०/१३६/१७ योऽसौ स्कन्धानां भेदको भणितः स कार्य परमाणुरुच्यते यस्तु कारकस्तेषां स कारणपरमाणुरिति । = स्कन्धोंके भेदको करनेवाला परमाणु तो कार्यपरमाणु है और स्कन्धोंका निर्माण करनेवाला कारण परमाणु है । अर्थात् स्कन्धके विघटनसे उत्पन्न होनेवाला कार्य परमाणु और जिन परमाणुओंके मिलनेसे कोई स्कन्ध बने वे कारण परमाणु हैं ।

५. जघन्य व उत्कृष्ट परमाणुके लक्षण

नि. सा. /ता. वृ. /२५ जघन्यपरमाणुः स्निग्धरूक्षगुणानामानन्त्याभावात् समविषमबन्धयोरयोग्य इत्यर्थः । स्निग्धरूक्षगुणानामनन्त्यतस्त्रयोपरि द्वाभ्यां चतुर्भिः संबन्धः त्रिभिः पञ्चभिर्विषमबन्धः । अयमुत्कृष्ट-परमाणुः । = वही (कारण परमाणु), एक गुण स्निग्धता या रूक्षता होनेसे सम या विषम बन्धको अयोग्य ऐसा जघन्य परमाणु है—ऐसा अर्थ है । एक गुण स्निग्धता या रूक्षताके ऊपर—दो गुणवाले और चार गुणवालेका सम बन्ध होता है, तथा तीन गुणवालेका और पाँच गुणवालेका विषम बन्ध होता है—यह उत्कृष्ट परमाणु है ।

६. द्रव्य व भाव परमाणुका लक्षण

पं. का. /ता. वृ. /१५२/२११/१७ द्रव्यपरमाणुशब्देन द्रव्यसूक्ष्मत्वं ग्राह्यं भावपरमाणुशब्देन च भावसूक्ष्मत्वं न च पुद्गलपरमाणु । 'द्रव्य-शब्देनात्मद्रव्यं ग्राह्यं तस्य तु परमाणु । परमाणुरिति कोऽर्थः । रागाद्युपाधिरहिता सूक्ष्मावस्था । तस्या सूक्ष्मत्व कथमिति चेत् । निर्विकल्पसमाधिविषयादिति द्रव्यपरमाणुशब्दस्य व्याख्यानं । भाव-शब्देन तु तस्यैवात्मद्रव्यस्य स्वसंवेदनज्ञानपरिणामो ग्राह्यः तस्य भाव-स्य परमाणुः । परमाणुरिति कोऽर्थः । रागादिविकल्पपरहिता सूक्ष्मा-वस्था । तस्या सूक्ष्मत्व कथमिति चेत् । इन्द्रियमनोविकल्पाविषया-दिति भावपरमाणुशब्दस्य व्याख्यानं ज्ञातव्यं । = द्रव्यपरमाणुसे द्रव्य-की सूक्ष्मता और भाव परमाणुसे भावकी सूक्ष्मता कही गयी है । उसमें पुद्गल परमाणुका कथन नहीं है । 'द्रव्य' शब्दसे आत्म द्रव्य ग्रहण करना चाहिए । उसका परमाणु अर्थात् रागादि उपाधिसे रहित उसकी सूक्ष्मावस्था, क्योंकि वह निर्विकल्प समाधिका विषय है । इस प्रकार द्रव्य परमाणु कहा गया । भाव शब्दसे उसही आत्म द्रव्यका स्वसंवे-दन परिणाम ग्रहण करना चाहिए । उसके भावका परमाणु अर्थात् रागादि विकल्प रहित सूक्ष्मावस्था, क्योंकि वह इन्द्रिय और मनके विकल्पोंका विषय नहीं है । इस प्रकार भावपरमाणु शब्दका व्याख्यान जानना चाहिए । (प. प्र. /टी. /२/३३/१५३/२) ।

रा. वा. /हि. /१/२७/७३३ भाव परमाणुके क्षेत्रकी अपेक्षा तो एक प्रदेश है । व्यवहार कालका एक समय है । और भाव अपेक्षा एक अविभागी प्रतिच्छेद है । तहाँ पुद्गलके गुण अपेक्षा तो स्पर्श, रस, गन्ध, वर्णके परिणामका अंश लीजिए । जीवके गुण अपेक्षा ज्ञानका तथा कषाय-का अंश लीजिए । ऐसे द्रव्य परमाणु (पुद्गल परमाणु) भाव परमाणु (किसी भी द्रव्यके गुणका एक अविभागी प्रतिच्छेद) यथा सम्भव सम्भन ।

७. परमाणुके अस्तित्व सम्बन्धी शंका समाधान

रा. वा. /५/११/४/४५४/६ अप्रदेशत्वाद्भावः (परमाणु) खरविषाणवदिति चेत्, न उक्तत्वात् । ४। 'प्रदेशमात्रोऽणुः, न खरविषाणवदप्रदेश इति । रा. वा. /५/२५/१४-१५/४६२/२३ कथं पुनस्तेषामणुनामत्यन्तपरोक्षानाम् अस्तित्वावसीयत इति चेत् । उच्यते—तदस्तित्वं कार्यलिङ्गत्वात् । २३। नासत्सु परमाणुषु शरीरेन्द्रियमहाभूतादिलक्षणस्य कार्यस्य प्रादुर्भाव इति । = प्रश्न—अप्रदेशी होनेसे परमाणुका खरविषाणकी तरह अभाव है । उत्तर—नहीं, क्योंकि पहले कहा जा चुका है कि परमाणु एक प्रदेशी है न कि सर्वथा प्रदेश शून्य । प्रश्न—अत्यन्त परोक्ष जन परमाणुओंके अस्तित्वकी सिद्धि कैसे होती है । उत्तर—कार्यलिङ्गसे कारणका अनुमान किया जाना सर्व सम्मत है । शरीर, इन्द्रिय और महाभूत आदि स्कन्ध रूप कार्योंसे परमाणुओंका अस्तित्व सिद्ध होता है । क्योंकि परमाणुओंके अभावमें स्कन्ध रूप कार्य नहीं हो सकते ।

ध. १४/५,६,७६/५५/२ परमाणुणां परमाणुभावेण सब्बकालमवदुणाभावाद्दो दब्बभावो ण जुज्जदे । ण, पोग्गलभावेण उप्पादविषाणवद्विज्जएण परमाणुणां पि दब्बत्तसिद्धीदो । = प्रश्न—परमाणु सदाकाल परमाणु रूपसे अवस्थित नहीं रहते, इसलिए उनमें द्रव्यपना नहीं बनता । उत्तर—नहीं, क्योंकि परमाणुओंका पुद्गल रूपसे उत्पाद और विनाश नहीं होता इसलिए उनमें द्रव्यपना भी सिद्ध होता है ।

८. आदि मध्य अन्तहीन भी उसका अस्तित्व है

रा. वा. /५/११/५/४५४/६ आदिमध्यान्तव्यपदेशः परमाणोः स्याद्वा, न वा । यद्यस्तिः प्रदेशवत्त्वं प्राप्नोति । अथ नास्ति, खरविषाणवदस्याभावः स्यादिति । तन्न, कि कारणस् । विज्ञानवत् । यथा विज्ञानमादि-मध्यान्तव्यपदेशाभावेऽप्यस्ति तथापुरपि इति । उत्तरत्र च तस्या-

स्तित्वं वक्ष्यते । = प्रश्न—परमाणु क्या आदि, मध्य, अन्त सहित है । यदि सहित है तो उसको प्रदेशीपना प्राप्त हो जायेगा । और यदि रहित है तो उसका खरविषाणकी तरह अभाव सिद्ध होता है । उत्तर—ऐसा नहीं है, क्योंकि जैसे—विज्ञानका आदि मध्य व अन्त व्यवदेश न होनेपर भी अस्तित्व है उसी तरह परमाणुमें भी आदि, मध्य और अन्त व्यवहार न होनेपर भी उसका अस्तित्व है ।

९. परमाणुमें स्पर्शादि गुणोंकी सिद्धि

रा. वा. २/२०/१/१३३/१ सूक्ष्मेषु परमाण्वादिषु स्पर्शादिव्यवहारो न प्राप्नोति । नैष दोष, सूक्ष्मेष्वपि ते स्पर्शादिय सन्ति तत्कार्येषु स्थूलेषु दर्शानामुमीयमाना । न ह्यस्थन्तमसतां प्रादुर्भावोऽस्तीति । ध. १/१.१.३३/२३५/६ किन्तु इन्द्रियग्रहणयोग्या न भवन्ति । ग्रहणायोग्यानां कथं स व्यवदेश इति चेन्न, तस्य सर्वदायोग्यत्वाभावात् । परमाणुगत सर्वदा न ग्रहणयोग्यश्चेन्न, तस्यैव स्थूलकार्याकारेण परिणतौ योग्यत्वोपलम्भात् । = प्रश्न—सूक्ष्म परमाणुओंमें स्पर्शादिका व्यवहार नहीं बन सकता (क्योंकि उसमें स्पर्शन रूप क्रियाका अभाव है) उत्तर—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि सूक्ष्म परमाणु आदिमें भी स्पर्शादि है, क्योंकि परमाणुओंके कार्यरूप स्थूल पदार्थोंमें स्पर्शादि उपलब्धि देखी जाती है । तथा अनुमान भी किया जाता है, क्योंकि जो अत्यन्त असद होते हैं उनकी उत्पत्ति नहीं होती है । (ध. १/१.१.३३/२३५/४) । प्रश्न—जबकि परमाणुओंमें रहनेवाला स्पर्श इन्द्रियोंके द्वारा ग्रहण नहीं किया जा सकता तो फिर उसे स्पर्श सज्ञा कैसे दी जा सकती है ? उत्तर—नहीं, क्योंकि परमाणुगत स्पर्शके इन्द्रियोंके द्वारा ग्रहण करनेकी योग्यताका सर्वदा अभाव नहीं है । प्रश्न—परमाणुमें रहनेवाला स्पर्श इन्द्रियों द्वारा कभी भी ग्रहण करने योग्य नहीं है ? उत्तर—नहीं, क्योंकि, जब परमाणु स्थूल रूपसे परिणत होते हैं, तब तद्गत धर्मोंकी इन्द्रियों द्वारा ग्रहण करनेकी योग्यता पायी जाती है । (अथवा उनमें रूढिके वक्षसे स्पर्शादिका व्यवहार होता है । (रा. वा. २/२०) ।

पं. का. / त. प्र. ७८ द्रव्यगुणयोरविभक्तप्रदेशत्वात् य एव परमाणोः प्रदेशः, स एव स्पर्शस्य, स एव रसस्य, स एव गन्धस्य, स एव रूपस्येति । ततः क्वचित्परमाणो गन्धगुणो, क्वचित् गन्धरसगुणयोः, क्वचित् गन्धरसरूपगुणेषु अपकृष्यमाणेषु अविभक्तप्रदेशः परमाणुरेव विनश्यतीति । न तदपकर्षो युक्तः । ततः पृथिव्यन्तेजोवायुरूपस्य धातुचतुष्कस्यैक एव परमाणुः कारणम् । = द्रव्य और गुणके अभिन्न होनेसे जो परमाणुका प्रदेश है वही स्पर्शका है, वही रसका है, वही गन्धका है, वही रूपका है । इसलिए किसी परमाणुमें गन्ध गुण कम हो, किसी परमाणुमें गन्धगुण और रसगुण कम हो, किसी परमाणुमें गन्धगुण, रसगुण और रूपगुण कम हो, तो उस गुणसे अभिन्न अप्रदेशी परमाणु ही विनष्ट हो जायेगा । इसलिए उस गुणकी न्यूनता युक्त नहीं है । इसलिए धातु चतुष्कका एक परमाणु ही कारण है ।

२. परमाणु निर्देश

१. वास्तवमें परमाणु ही पुद्गल द्रव्य है

ति. प. १/१६६-१०० प्ररंति गलति जदो पूरणगलणेहि पोग्गला तेण । परमाणुच्चिय जादा इय दिट्ठं दिट्ठिवादिहि । १६६। वणरसगंधफासे पूरणगलणाइ सव्वकालमिहि । खदं पि व क्खणमाणा परमाणु पुग्गला तम्हा । १००। = क्योंकि स्कन्धोंके समान परमाणु भी पूरते हैं, और गलते हैं, इसलिए पूरण गलन क्रियाओंके रहनेसे वे भी पुद्गलके अन्तर्गत हैं, ऐसा दृष्टिवाद अंगमें निर्दिष्ट है । १६६। परमाणु स्कन्धकी तरह सर्वकालमें वर्ण, रस, गन्ध और स्पर्श, इन गुणोंमें पूरण-गलनको क्रिया करते हैं, इसलिए वे पुद्गल ही हैं । (ह. पु. ७/३६), (पं. का. / त. प्र. ७६) ।

रा. वा. ५/१/२४/२६/४३४/१६ स्यान्मतम्—अणूनां निरवयवत्वात् पूरण-गलनक्रियाभावात्, पुद्गलव्यपदेशाभावप्रसङ्ग इति; तत्र; कि कारणम् । गुणापेक्षया तत्सिद्धे । रूपरसगन्धस्पर्शयुक्ता हि परमाणव एकगुण-रूपादिपरिणता । द्वित्रिचतुः-संख्येयाऽसंख्येयाऽनन्तगुणत्वेन वर्धन्ते, तथैव हानिमपि उपयान्तीति गुणापेक्षया पूरणगलनक्रियोपपत्तेः परमाणुष्वपि पुद्गलत्वमविरुद्धम् । अथवा गुण उपचारकल्पनम् पूरण-गलनयोः भावित्वात् भूतत्वाच्च शक्यपेक्षया परमाणुषु पुद्गलत्वोप-चारः । अथवा पुमांसो जीवा, तैः शरीराहारविषयकरणोपकरणदि-भावेन गित्यन्त इति पुद्गलाः । अण्वादिषु तदभावात्पुद्गलत्वमिति चेद, उक्तोत्तरमेतत् । = प्रश्न—अणुओंके निरवयव होनेसे तथा उनमें पूरण गलन क्रियाका अभाव होनेसे पुद्गल व्यवदेशके अभावका प्रसंग आता है ? उत्तर—ऐसा नहीं है क्योंकि, गुणोंकी अपेक्षा उसमें पुद्गलपनेकी सिद्धि होती है । परमाणु रूप, रस, गन्ध, और स्पर्शसे युक्त होते हैं, और उनमें एक, दो, तीन, चार, संख्यात, असंख्यात और अनन्त गुणरूपसे हानि-वृद्धि होती रहती है । अतः उनमें भी पूरण-गलन व्यवहार माननेमें कोई बाधा नहीं है । अथवा पुरुष यानी जीव जिनको शरीर, आहार, विषय और इन्द्रिय उपकरण आदिके रूपमें निगले - ग्रहण करे वे पुद्गल हैं । परमाणु भी स्कन्ध दशामें जोवोंके द्वारा निगले जाते ही हैं, (अतः परमाणु पुद्गल हैं ।)

न च बृ. १/०१ सुक्तो एयपदेसी कारणरूढोणु कञ्जस्त्वो वा । तं खलु पोग्गलद्वय खधा ववहारदो भणिया । १०१। = जो मूर्त है, एक प्रदेशी है, कारण रूप है तथा कार्य रूप भी है ऐसा अणु ही वास्तवमें पुद्गल द्रव्य कहा गया है । स्कन्धको तो व्यवहारसे पुद्गल द्रव्य कहा है । (नि. सा. / ता. वृ. १६) ।

२. परमाणुमें जातिभेद नहीं है

सं. सि. ५/३/२६६/८ सर्वेषां परमाणूनां सर्वरूपादिमत्कार्यत्वप्राप्तियोग्य-त्वाभ्युपगमात् । न च केचित्पार्थिवदिजातिविशेषयुक्ताः परमाणवः सन्ति, जातिसंकरेणारम्भदर्शनात् । = सब परमाणुओंमें सब रूपादि गुणवाले कार्यके होनेकी योग्यता मानी है । कोई पार्थिव आदि भिन्न-भिन्न जातिके अलग-अलग परमाणु हैं यह बात नहीं है, क्योंकि जातिका सकर होकर सब कार्योंका आरम्भ देखा जाता है ।

३. सिद्धोवत् परमाणु निष्क्रिय नहीं

पं. का. / त. प्र. १५५ जीवानां सक्रियत्वस्य बहिरङ्गसाधनं कर्मनोकर्मो-पचयरूपा पुद्गला इति ते पुद्गलकरणा । तदभावान्निष्क्रियत्वं सिद्धानाम् । पुद्गलानां सक्रियत्वस्य बहिरङ्गसाधन परिणामनिर्व-र्तक काल इति ते कालकरणा । न च कर्मादीनामिव कालस्या-भाव । ततो न सिद्धानामिव निष्क्रियत्वं पुद्गलानामिति । = जीवोंको सक्रियपनेका बहिरंग साधन कर्म-नोकर्मके सचय रूप पुद्गल है; इसलिए जीव पुद्गलकरण वाले हैं । उसके अभावके कारण सिद्धोको निष्क्रियपना है । पुद्गलको सक्रियपनेका बहिरंग साधन परिणाम निष्पादक काल है; इसलिए पुद्गल कालकरण वाले हैं । कर्मादिक-की भाँति काल (द्रव्य) का अभाव नहीं होता, इसलिए सिद्धोकी भाँति पुद्गलोंको निष्क्रियपना नहीं होता ।

४. परमाणु अशब्द है

ति. प. १/१७०-सदकारणमसद्द । खदतरिदं दव्वं तं परमाणु भणंति बुध्म । १७०। = जो स्वयं शब्द रूप न होकर भी शब्दका कारण हो एक स्कन्धके अन्तर्गत हो ऐसे द्रव्यको परमाणु कहते हैं । (ह. पु. ७/३३), (वै० मूर्त / २/१) ।

पं. का. / त. प्र. ७८ यथा च तस्य (परमाणोः) परिणामवशाद्द्रव्यत्तो गन्धादिगुणोऽस्तीति प्रतिज्ञायते, न तथा शब्दोऽप्यव्यक्तोऽस्तीति

ज्ञात शक्यते तस्यैकप्रदेशस्यानेकप्रदेशात्मकेन शब्देन सहैकत्वविरोधादिति । = जिस प्रकार परमाणुको परिणामके कारण अव्यक्त गन्धादि गुण हैं ऐसा ज्ञात होता है उसी प्रकार शब्द भी अव्यक्त है ऐसा नहीं जाना जा सकता, क्योंकि एक प्रदेशी परमाणुको अनेकप्रदेशात्मक शब्दके साथ एकत्व होनेमें विरोध है ।

५. परमाणुकी उत्पत्तिका कारण

ध. १४/६/सू. ६८-६९/१२० ब्रह्मण्यिरुवण्णिदाए इमा एवपदेसियपरमाणुपोग्गलद्वववर्गणा णाम कि भेदेण कि सघादेण कि भेदसघादेण । ६८। उवरिल्लीणं दव्वाणं भेदेण । ६९। = प्रश्न—वर्णना निरूपणकी अपेक्षा एकप्रदेशी परमाणु पुद्गल-द्रव्य-वर्णना क्या भेदसे उत्पन्न होती है, क्या संघातसे होती है, या क्या भेद संघातसे होती है । ६८। उत्तर—ऊपरके द्रव्योंके (अर्थात् स्कन्धोंके) भेदसे उत्पन्न होती हैं । (त. सू. १५/२७), (स. सि. १५/२७/२६६/२), (रा. वा. १/२७/१/४६४/१०) ।

६. परमाणुका लोकमें अवस्थान क्रम

त. सू. १५/१४ एकप्रदेशादिषु भाज्य पुद्गलानाम् । १४।
रा. वा. १/१४/२/४६६/३२ तद्यथा—एकस्य परमाणोरैकत्रैव आकाशप्रदेशेऽवगाहः, द्वयोरैकत्रोभयत्र च बद्धयोरबद्धयोश्च, त्रयाणामेकत्र द्वयोस्त्रिषु च बद्धानामबद्धानां च । एवं संख्येयासंख्येयानन्तप्रदेशानां स्कन्धानामेकसंख्येयासंख्येयप्रदेशेषु लोकाकाशे अवस्थानं प्रयेतव्यम् । = पुद्गलोंका अवगाह लोकाकाशके एकप्रदेश आदिमें विकल्पसे होता है । १४। यथा—एक परमाणुका एक ही आकाशप्रदेशमें अवगाह होता है, दो परमाणु यदि बद्ध हैं तो एक प्रदेशमें यदि अबद्ध है तो दो प्रदेशोंमें, तथा तीनका बद्ध और अबद्ध अवस्थानमें एक दो और तीन प्रदेशोंमें अवगाह होता है । इसी प्रकार बन्धविशेषसे संख्यात-असंख्यात और अनन्त प्रदेशी स्कन्धोंका लोकाकाशके एक, संख्यात और असंख्यात प्रदेशोंमें अवगाह समझना चाहिए । (प्र. सा. / त. प्र. / १३६) ।

७. लोकस्थित परमाणुओंमें कुछ चलित हैं कुछ अचलित

गो. जी. / सू. १६३/१०३२ पोग्गलद्वव्विह अणू संखेज्जादि हवति चलिदाहु । चरिममहक्खं धम्मि य पलाचला हति पदेसा । = पुद्गल द्रव्यविषे परमाणु अर द्वयणुक आदि संख्यात-असंख्यात अनन्त परमाणुके स्कन्ध ते चलित हैं । बहुरि अन्तका महास्कन्धविषे केह परमाणु अचलित हैं, बहुरि केह परमाणु चलित हैं ते यथायोग्य चंचल हो हैं ।

८. अनन्तों परमाणु आज तक अवस्थित

ध. ६/१,६-१,२६/४६/६ एग-ने-तिण्णि समयाइ काऊण उक्कस्सेण मेरुपव्वदादिमु अणादि-अपज्जवसिदसख्खेण संट्टाणावट्टाणुवर्लभा । = पुद्गलोंका एक, दो, तीन समयोंको आदि करके उत्कर्षतः मेरु पर्वत आदिमें अनादि-अनन्त स्वरूपसे एक ही आकारका अवस्थान पाया जाता है ।

ध. ४/१,६/४/गा. १६/३२७ बंधह जहुत्तहेदू सादियमघ णादियं चावि । १६। [अदीकाले वि सब्वजीवेहि सब्वपोग्गलधेमणंतिभागी सब्वजीवरासीदो अणंतगुणो, सब्वजीवरासिउवरिमवग्गादो अणंतगुणहीणो, पोग्गलपुंजो भुत्तुज्जिहो । (ध. ४/१,६,४/३२६/३) । = पुद्गल परमाणु सादि भी होते हैं, अनादि भी होते हैं और उभय रूप भी होते हैं । १६। अतीत कालमें भी सर्व जीवोंके द्वारा सर्वपुद्गलोंका अनन्तर्वां भाग, सर्व जीवराशिसे अनन्तगुणो, और सर्व जीवराशिसे

उपरिम वर्गसे अनन्तगुणहीन प्रमाणवाला पुद्गलपुज भोगकर छोड़ा गया है । (अर्थात् शेषका पुद्गल पुज अनुपयुक्त है ।)

श्लो वा. २/भाषा / १/३/१२/८४ ऐसे परमाणु अनन्त, पडे हुए हैं जो आज-तक स्कन्धरूप नहीं हुए और आगे भी न होंगे । (श्लो वा. २/भाषा / १/४/८-१०/१७३/१०) ।

९. नित्य अधस्थित परमाणुओंका कथंचित् निषेध

रा. वा. १/२५/१०/४६२/११ न चानादिपरमाणुर्नाम कश्चिदस्ति भेदादणु' (त. सू. १५/२७) इति वचनात् । = अनादि कालसे अबतक परमाणुकी अवस्थानमें ही रहनेवाला कोई अणु-नहीं है । क्योंकि सूत्रमें स्कन्ध भेदपूर्वक परमाणुओंकी उत्पत्ति बताया है ।

१०. परमाणुमें चार गुणोंकी पाँच पर्याय होती हैं

पं. का. / सू. ८१ एयरसवण्णगंधं दो फासं । खंधतरिद दव्वं परमाण तं वियाणाहि । ८१। = वह परमाणु एक रसवाला, एक वर्णवाला, एक गन्धवाला तथा दो स्पर्शवाला है । स्कन्धके भीतर हो तथापि द्रव्य है ऐसा जानो । (ति. प. १/१७), (न. च. वृ. १/१०२), (रा. वा. १/३३/६/२०७/२६), (ह. पु. ७/३३), (म. पु. १/२४/१४८) ।

रा. वा. १/२५/१३-२४/४६५/१८ एकरसवर्णगन्धोऽणु' । १३। द्विस्पर्शो... । १४। कौ पुन' द्वौ स्पर्शौ । शीतोष्णस्पर्शयोरन्यतर स्निग्धरूक्षयो-रन्यतरश्च । एकप्रदेशत्वाद्द्विविरोधिना युगपदनवस्थानम् । गुरुलघु-मृदुकठिनस्पर्शानां परमाणुष्वभावः, स्कन्धविषयत्वात् । = परमाणुमें एक रस, एक गन्ध, और एक वर्ण है । तथा उसमें शीत और उष्णमेंसे कोई एक तथा स्निग्ध और रूक्षमेंसे कोई एक, इस तरह दो अविरोधी स्पर्श होते हैं । गुरु-लघु और मृदु व कठिन स्पर्श परमाणुमें नहीं पये जाते, क्योंकि वे स्कन्धके विषय है । (नि. सा. / ता. वृ. १/३७) ।

३. परमाणुओंमें कथंचित् सावयव निरवयवपना

१. परमाणु आदि, मध्य व अन्त हीन होता है

नि. सा. / सू. ३६ अत्तादि अत्तमज्जं अत्तंतं णेव इंदिए गेज्जं । अविभागी जं दव्वं परमाणु जं वियाणाहि । ३६।

नि. सा. / ता. वृ. १/२६ यथा जीवानां नित्यानित्यनिगोदादिसिद्धक्षेत्रपर्यन्तस्थितानां सहजपरमपारिणामिकभावसमाश्रयेण सहजनिश्चयनयेन स्वस्वरूपादप्रत्यवनवत्त्वसुक्तम्, तथा परमाणुद्रव्याणां पञ्चमभावेन परमस्वभावत्वादारमपरिणतेरात्मैवादि, मध्यो हि आरमपरिणतेरारमैव, अन्तोऽपि स्वस्यात्मैव परमाणु' । = स्वयं ही जिसका आदि है, स्वयं ही जिसका अन्त है (अर्थात् जिसके आदिमें, अन्तमें और मध्यमें परमाणुका निज स्वरूप ही है) जो इन्द्रियोंसे ग्राह्य नहीं है और जो अविभागी है, वह परमाणु द्रव्य जान । २६। (स. सि. १५/२५/२६७ पर उद्धृत); (ति. प. १/१८), (रा. वा. १/३३/६/२०७/२६) (रा. वा. १/२५/६/४६१/१४ में उद्धृत); (ज. प. १/३/१६); (गो. जी. / जी. प्र. १/६४/१००६ पर उद्धृत) जिस प्रकार सहज परम पारिणामिक भावकी विवक्षाका आश्रय करनेवाले सहज निश्चय नयकी अपेक्षासे निरय और अनित्य निगोदसे लेकर सिद्ध क्षेत्र पर्यन्त विद्यमान जीवोंको निजस्वरूपसे अच्युतपना कहा गया है, उसी प्रकार पंचम भावकी अपेक्षासे परमाणु द्रव्यका परम स्वभाव होनेसे परमाणु स्वयं ही अपनी परिणतिका आदि है, स्वयं ही अपनी परिणतिका मध्य है, और स्वयं ही अपनी परिणतिका अन्त भी है ।

पं. क. / त. प्र. ७८ परमाणोहि सूतंस्वनिबन्धनभूता' स्पर्शरसगन्धवर्णा आवेशमात्रेणैव भिद्यन्ते; मस्युतस्तु यथा तस्य स एव प्रवेशः आदिः, स एव मध्यः, स एवान्तः इति । = सूतत्वके कारणभूत स्पर्श-रस-गन्ध-वर्णका, परमाणुसे आवेश मात्र द्वारा ही भेद किया जाता है;

वस्तुतः...परमाणुका वही प्रदेश आदि है वही मध्य, और वही प्रदेश अन्त है ।

२. परमाणु अविभागी व एकप्रदेशी होता है

त.सू./५/११ नाणो १११=परमाणुके प्रदेश नहीं होते । ११।
 प्र.सा./सू.१३७ --अपदेशो परमाणु तेष पदेसुभवो भणितो । १३७। = पर-
 माणु अप्रदेशी है, उसके द्वारा प्रदेशोद्भव कहा है । (ति.प./१/१८८)
 पं. का./सू./७७ सर्वेसि खंधाणं जो अतो तं वियाण परमाणु । सो
 सस्सदो असदो एक्को अविभागी मुत्तिभवो । ७७। =सर्व स्कंधोंका
 अन्तिम भाग उसे परमाणु जानो । वह अविभागी, एक शाश्वत,
 सूर्तिप्रभव और अशुद्ध है । (नि.सा./सू./२६); (ति.प./१/१८८);
 (ह.पु./७/३२)
 पं.का./सू./७५...परमाणु चैव अविभागी । ७५। =अविभागी वह सचमुच
 परमाणु है । (सू.आ./२३१); (ति.प./१/१८५); (ध.१३/५.१.१३/गं.
 ३/१३) ।

३. अप्रदेशी या निरवयवपनेमें हेतु

स.सि./५/११/२७६/६ अणो 'प्रदेशा न सन्ति' इति वाक्यशेषः । कुतो न
 सन्तीति चेत् । प्रदेशमात्रत्वात् । यथा आकाशप्रदेशस्यैकस्य प्रदेश-
 भेदाभावादप्रदेशत्वमेवमणोरपि प्रदेशमात्रत्वात्प्रदेशभेदाभावः । किं च
 ततोऽल्पपरिणामाभावात् । न ह्यणोरन्वयानन्वयोऽस्ति, यतोऽस्य
 प्रदेशा भिदो र्त् । (अतः स्वयमेवाद्यन्तपरिणामत्वादप्रदेशोऽणु...
 यदि ह्यणोरपि प्रदेशाः स्युः; अणुत्वमस्य न स्यात् प्रदेशप्रचयरूपत्वात्,
 तत्प्रदेशानामेवाणुत्वं प्रसज्येत (रा.वा.) =परमाणुके प्रदेश नहीं होते,
 यहाँ सन्ति यह वाक्य शेष है । प्रश्न—परमाणुके प्रदेश क्यों नहीं
 होते । उत्तर—क्योंकि वह स्वयं एक प्रदेश मात्र है । जिस प्रकार एक
 आकाश प्रदेशमें प्रदेशभेद न होनेसे वह अप्रदेशी माना गया है उसी
 प्रकार अणु स्वयं एक प्रदेश रूप है इसलिए उसमें प्रदेश भेद नहीं
 होता । दूसरे अणुसे अल्प परिमाण नहीं पाया जाता । ऐसी कोई
 अन्य वस्तु नहीं जो परमाणुसे छोटी हो जिससे इसके प्रदेश भेदको
 प्राप्त होवे । (अतः स्वयमेव आदि और अन्त होनेसे परमाणु अप्रदेशी
 है । यदि अणुके भी प्रदेशप्रचय हों तो फिर वह अणु ही नहीं कहा
 जायेगा, किन्तु उसके प्रदेश अणु कहे जायेंगे । (रा.वा./५/११/
 १-३/४५४/३१) ।

ह. पु./७/३४-३५ नाशङ्कानार्थतत्त्वज्ञानभोऽशानां समन्तत । षट्केन
 युगपद्योगात्परमाणो षडशता । ३४। स्वल्पाकाशषडशस्य परमाणुश्च
 संहता । समांशाः स्युः कुतस्तु स्यात्परमाणो षडशता । ३५। =तत्त्वज्ञोंके
 द्वारा यह आशंका नहीं होनी चाहिए कि सब ओरसे आकाशके छह
 अंशोंके साथ सम्बन्ध होनेसे परमाणुमें षडशता है । ३४। क्योंकि ऐसा
 माननेपर आकाशके छोटे-छोटे छह अंश और एक परमाणु सब
 मिलकर सप्तमांश हो जाते हैं । अब परमाणुमें षडशता कैसे हो सकती
 है । ३५।

घ. १३/५.३.३२/२३/२ ण ताव सावयवो, परमाणुसद्वाहिहेयादो पुत्रभूद-
 अवयवाणुबलभादो । उवलंभे वा ण सो परमाणु, अपत्तभिज्ज-
 माणभेदपरत्तादो । ण च अवयवो चैव अवयवो होदि, अण-
 पदरथेण विणा बहुब्बीहिसमासाणुववत्तीदो संबंधेण विणा संबं-
 धिबंधण-इ-पच्चयाणुववत्तीदो वा । ण च परमाणुस्स उद्धाधो-
 मज्जभागाणवयववत्तमत्थि, तेहितो पुधभूदपरमाणुस्स अवयविस-
 णिदस्स अभावादो । एदम्हि ण ए अवलंभिज्जमाणे सिद्धं पर-
 माणुस्स गिरवयवत्तं । =१.परमाणुसावयवतो होनहीं सकता, क्योंकि
 परमाणु शब्दके वाच्यरूप उसके अवयव पृथक् पृथक् नहीं पाये
 जाते । २. यदि उसके पृथक् पृथक् अवयव माने जाते हैं तो वह
 परमाणु नहीं ठहरता, क्योंकि जितने भेद होने चाहिए उनके अन्तको

वह अभी प्राप्त नहीं हुआ है । ३. यदि कहा जाय कि अवयवोंको ही
 हम अवयव मान लेंगे । सो भी कहना ठीक नहीं है, क्योंकि एक तो
 बहुव्रीहि समास अन्यपदार्थ प्रधान होता है, कारण कि उसके बिना
 वह बन नहीं सकता । दूसरे सम्बन्धके बिना सम्बन्धका कारणभूत
 'णिनि' प्रत्यय भी नहीं बन सकता । ४. यदि कहा जाय कि
 परमाणुके ऊर्ध्व भाग अधोभाग और मध्य भाग रूपसे अवयव बन
 जायेंगे । सो भी बात नहीं है, क्योंकि इन भागोंके अतिरिक्त अवयवों
 सञ्जावाले परमाणुका अभाव है । इस प्रकार इस नयके अवलम्बन
 करनेपर परमाणु निरवयव है, यह बात सिद्ध होती है ।

घ. १४/५.६.७७/५६/१ (परमाणु) गिरवयवत्तादो (जे जस्स कज्जस्स
 आरभया परमाणु ते तस्स अवयवा होति । तदारद्धकज्ज पि अवयवी
 होदि । ण च परमाणु अण्णेहितो णिप्पज्जदि, तस्स आरंभयाणमण्णे-
 सिमभावादो । भावे वा ण एसो परमाणु; एत्तो सुहुमाणमण्णेसि
 संभवादो । ण च एगसंखंकियम्मि परमाणुम्मि 'विदियादिसंखा
 अत्थि; एक्कस्स तुग्भावविरोहादो । किं च जदि परमाणुस्स अवयवो
 अत्थि तो परमाणुणा अवयविणा अभावप्पसंगादो । पा च एवं, कारणा-
 भावेण सयलथूलकज्जणं पि अभावप्पसंगादो । ण च कप्पियस्सुवा
 अवयवा होति, अव्वत्थापसंगादो । तम्हा परमाणुणा गिरवयवेण
 होदव्वं । ण च गिरवयवपरमाणुहितो थूलकज्जस्स अणुप्पत्ती, गिरव-
 यवाणं पि परमाणुणं सव्वप्पणा समागमेण थूलकज्जुप्पत्तीए विरोहा-
 सिद्धीदो । =५. परमाणु निरवयव होता है । जो परमाणु जिस कार्यके
 आरम्भक होते हैं वे उसके अवयव हैं, उनके द्वारा आरम्भ किया
 गया कार्य अवयवी है । ६. परमाणु अन्यसे उत्पन्न होता है यह कहना
 ठीक नहीं है, क्योंकि उसके आरम्भक अन्य पदार्थ नहीं पाये जाते ।
 और यदि उसके आरम्भक अन्य पदार्थ होते हैं ऐसा माना जाता है
 तो वह परमाणु नहीं ठहरता, क्योंकि इस तरह इससे भी सूक्ष्म अन्य
 पदार्थोंका सञ्जाव सिद्ध होता है । ७. एक सख्यावाले परमाणुमें
 द्वितीयादि संख्या होती है यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि एकको
 दो रूप माननेमें विरोध आता है । ८. यदि परमाणुके अवयव होते
 हैं ऐसा माना जाय तो परमाणुको अवयवी होना चाहिए । परन्तु
 ऐसा है नहीं, क्योंकि अवयवके विभाग द्वारा अवयवोंके संयोगका
 विनाश होनेपर परमाणुका अभाव प्राप्त होता है । पर ऐसा है नहीं,
 क्योंकि कारणका अभाव होनेसे सब स्थूल कार्योंका भी अभाव प्राप्त
 होता है । ९. परमाणुके कल्पित रूप अवयव होते हैं, यह कहना
 भी ठीक नहीं है, क्योंकि इस तरह माननेपर अव्यवस्था प्राप्त होती
 है । इसलिए परमाणुको निरवयव होना चाहिए । १०. निरवयव
 परमाणुओंसे स्थूल कार्योंकी उत्पत्ति नहीं बनेगी यह कहना ठीक
 नहीं है, क्योंकि निरवयव परमाणुओंके सर्वात्मना समागमसे स्थूल
 कार्यकी उत्पत्ति होनेमें कोई विरोध नहीं आता ।

४. परमाणुका आकार

म. पु./२४/१४८ अणव... परिमण्डला । १४८। =वे परमाणु गोल
 होते हैं ।

आचारसार/३/१३.२४ अणुश्च पुद्गलोऽभेद्यावयवः प्रचयशक्तिः । कायश्च
 स्कन्धभेदोत्थचतुरस्रस्त्वतीन्द्रियः । १३। व्योमामूर्ते स्थितं नित्यं
 चतुरस्र समन्धनम् । भावावगाहहेतुश्चानन्तानन्तप्रदेशकम् । २४। =
 अणु पुद्गल है, अभेद्य है, निरवयव है, बन्धनेकी शक्तिसे युक्त होनेके
 कारण कायवान है, स्कन्धके भेदसे होता है । चौकोर और अतीन्द्रिय
 है । १३। आकाश अमूर्त है, नित्य अवस्थित है, चौकोर अवगाह देनेमें
 हेतु है, और अनन्तानन्त प्रदेशी है । २४। (तात्पर्य यह है कि सर्वत-
 महात् आकाश और सर्वतः लघु परमाणु इन दोनोंका आकार चौकोर
 रूपसे समान है)

५. सावयवपनेमें हेतु

प्र. सा/मू./१४४ जस्स ण सत्ति पदेसा पदेसमेत्तं व तच्चत्वे णादुं । सुण्ण जाण तमत्थं अत्थं तरभूदमत्थोदो । १४४। — जिस पदार्थ के प्रदेश अथवा एक प्रदेश भी परमार्थत ज्ञात नहीं होते, उस पदार्थको शून्य जानो, क्योंकि वह अस्तित्वसे अर्थान्तर है । १४४।

न्या. वि/मू./१/१०/३६६ तत्र दिग्भागभेदेन षडशाः परमाणवः । नो चैत्पिण्डोऽणुमात्रं स्यात् [न च ते बुद्धिगोचराः] । ४०। — दिशाओंके भेदसे छ. दिशाओंवाला परमाणु होता है, वह अणुमात्र ही नहीं है । यदि तुम यह कही कि अणुमात्र ही है, सो यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि वह बुद्धिगोचर नहीं है ।

घ. १३/५.३.१८/१८/८ परमाणुं गिरवयवत्तासिद्धीदो । 'अपदेसं णेव इंदिए गेज्झ इदि परमाणुं गिरवयवत्तं परिग्रामे वुत्तमिदि णासं-कणित्तं, पदेसो णाम परमाणु, सो जन्हि परमाणुमिह समवेदभावेण णत्थि सो परमाणु अपदेसोत्ति परिग्रामे वुत्तो तेण ण गिरवयवत्तं तत्तो गम्मदे । परमाणु सावयवोत्ति कत्तो णव्वदे । खधभावण्ण-हाणुववत्तीदो । जदि परमाणु गिरवयवो होज्ज तो खंधाणमणुप्पत्ती जायदे, अवयवाभावेण देसफासेण विणा सव्वफासमुवगएहितो खंधु-प्पत्तिविरोहादो । ण च एवं, उप्पणखंधुवल्भादो । तम्हा सावयवो परमाणुत्ति घेत्तव्वो । = परमाणु निरवयव होते है । यह बात असिद्ध है । 'परमाणु अपदेशो होता है और उसका इन्द्रियों द्वारा ग्रहण नहीं होता' इस प्रकार परमाणुओंका निरवयवपना परिकर्ममें कहा है । यदि कोई ऐसी आशका करे सो भी ठीक नहीं है, क्योंकि 'प्रदेशका अर्थ परमाणु है । वह जिस परमाणुमें समवेत भावसे नहीं है वह परमाणु अपदेशी है, इस प्रकार परिकर्ममें कहा है । इसलिए परमाणु निरवयव होता है, यह बात परिकर्मसे नहीं जानी जाती । प्रश्न—परमाणु सावयव होता है यह किस प्रमाणसे जाना जाता है ? उत्तर—स्कन्ध भावको अन्यथा वह प्राप्त नहीं हो सकता, इसीसे जाना जाता है कि परमाणु सावयव होता है । यदि परमाणु निरवयव होते तो स्कन्धोकी उत्पत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि जब परमाणुओंके अवयव नहीं होंगे तो उनका एक देश स्पर्श नहीं बनेगा और एक-देश स्पर्शके बिना सर्व स्पर्श मानना पडेगा जिससे स्कन्धोकी उत्पत्ति माननेमें विरोध आता है । परन्तु ऐसा है नहीं, क्योंकि उत्पन्न हुए स्कन्धोकी उपलब्धि है । इसलिए परमाणु सावयव है ऐसा यहाँ ग्रहण करना चाहिए । (घ. १३/५.३.२२/२३/१०) ।

घ १४/५.६.७६/५४/१३ एगपदेसं मोत्तूण विदियादिपदेसाणं तत्थ पडिसेहकरणादो । न विचन्ते द्वितीयादय प्रदेशा यस्मिन् सोऽप्रदेश, परमाणुरिति । अन्यथा खरविषाणवत् परमाणोरसत्त्वप्रसङ्गात् ।

घ. १४/५.६.७७/५६/११ पज्जट्ठियणए अवलंविज्जमाणे सिया एगदेसेण समागमो । ण च परमाणुणमवयवा णत्थि, उवरिमहेट्ठिममज्जिमोव-रिमोवरिमभागाणमभावे परमाणुस्स वि अभावप्पसंगादो । ण च एदे भागा सकप्पियसरूवा; उद्धाधोमज्जिमभागाणं उवरिमोवरि-मभागाण च कप्पणाए विणा अवलंभादो । ण च अवयवार्णं सव्वेत्थ-विभागेण होदव्वमेवेत्ति णियमो, सयलवत्थुणमभावप्पसंगादो । ण च भिण्णपमाणगेज्ज्माण भिण्णदिसाण च एयत्तमत्थि, विरोहादो (ण च अवयवैहि परमाणु णारद्धो, अवयवसमूहस्सेव परमाणुत्तदसंगादो । ण च अवयवण सजोभविणासेण होदव्वमेवेत्ति णियमो, अणादि-सजोगे तदभावादो । तदो सिद्धा द्रुपदेसियपरमाणुणोगलदव्ववगणा । —१. परमाणुके एक प्रदेशको छोड़कर द्वितीयादि प्रदेश नहीं होते इस बातका परिकर्ममें निषेध किया है । जिसमें द्वितीयादि प्रदेश नहीं है वह अप्रदेश परमाणु है यह उसकी व्युत्पत्ति है । (यदि 'अप्रदेश' पदका यह अर्थ न किया जाये तो जिस प्रकार गधेके सीगोंका असत्त्व है उसी प्रकार परमाणुके भी असत्त्वका प्रसंग आता है । २. पर्यायार्थिकनयका अवलम्बन करनेपर कथंचिद् एकदेशेन समागम

होता है । परमाणुके अवयव नहीं होते यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि यदि उसके उपरिम, अधस्तन, मध्यम और उपरिमोपरिम भाग नहीं तो परमाणुका ही अभाव प्राप्त होता है । ३. ये भाग कल्पित रूप होते है यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि परमाणुमें ऊर्ध्वभाग, अधोभाग, मध्यमभाग तथा उपरिमोपरिम भाग कल्पनाके बिना भी उपलब्ध होते है । तथा परमाणुके अवयव है इसलिए उनका सर्वत्र विभाग ही होना चाहिए ऐसा कोई नियम नहीं है, क्योंकि इस तरह माननेपर तो सब वस्तुओंके अभावका प्रसंग प्राप्त होता है । ४. जिनका भिन्न-भिन्न प्रमाणोंसे ग्रहण होता है और जो भिन्न-भिन्न दिशा वाले है वे एक है यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि ऐसा माननेपर विरोध आता है । ५. अवयवोंसे परमाणु नहीं बना है यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि अवयवोंके समूह रूप ही परमाणु दिखाई देता है । तथा—६ अवयवोंके संयोगका नाश होना चाहिए यह भी कोई नियम नहीं है, क्योंकि अनादि संयोगके होनेपर उसका विनाश नहीं होता । इसलिए द्विप्रदेशी परमाणु पुद्गल वर्गणा सिद्ध होती है ।

६. निरवयव व सावयवपनेका समन्वय

गो. जो./जी. प्र/५६४/१००६ पर उद्धृत "षट्केन युगपद्योगात् परमाणोः षडशता । षण्णां समानदेशित्वे पिण्डं स्यादणुमात्रकं ॥ सरयं, द्रव्या-र्थिकनयेन निरंशत्वेऽपि परमाणोः पर्यायार्थिकनयेन षडंशत्वे दोषा-भावात् । = प्रश्न—छह कोणका समुदाय होनेसे परमाणुके छह अंशपना संभव है । छहोंको समानरूप कहनेसे परमाणु मात्र पिण्ड होता है । उत्तर—परमाणुके द्रव्यार्थिक नयसे निरंशपना है, परन्तु पर्यायार्थिक नयसे छह अंश कहनेमें दोष नहीं है ।

घ. १४/५.६.७७/५७ पर विशेषार्थं 'यहाँ—परमाणु सावयव है कि निरव-यव इस बातका विचार किया गया है । परमाणु एक और अखण्ड है, इसलिए तो वह निरवयव माना गया है, और उसमें ऊर्ध्वादिभाग होते है इसलिए वह सावयव माना गया है । द्रव्यार्थिक नय अखण्ड द्रव्यको स्वीकार करता है और पर्यायार्थिकनय उसके भेदोंको स्वीकार करता है । यही कारण है कि द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा परमाणुको निरवयव कहा है और पर्यायार्थिकनयकी अपेक्षा सावयव कहा है । परमाणुका यह विश्लेषण वास्तविक है ऐसा यहाँ समझना चाहिए ।

परमात्मज्ञान—निर्विकल्प समाधिका अपर नाम—दे० मोक्ष-मार्ग/२/५ ।

परमात्मतत्त्व—ध्यान योग्य परमात्मतत्त्व—दे० शिवतत्त्व ।

परमात्मदर्शन—निर्विकल्प समाधिका अपर नाम—दे० मोक्ष-मार्ग/२/५ ।

परमात्मप्रकाश—समाधि तन्त्र के आधार पर प्रभाकर भट्ट के निमित्त, योगेन्दु देव (ईं श ६) द्वारा मुनियों के लक्ष्य से रचित, ३५३ बीहा प्रमाण आध्यात्मिक अपभ्र शरचना । टीकायें—
१. आ० पद्मनन्दि न० ७ (ई० १३०५) द्वारा रचित; २. आ० ब्रह्मदेव (वि० श० १२ पूर्व) कृत संस्कृत टीका; ३. आ० मुनिभद्र (ई० १३-१०-१३६०) कृत कन्नड टीका; ४. आ० बालचन्द्र (ई० श० १३) कृत कन्नड टीका; ५. ५० दौलतराम (ई० १७७०) कृत भाषा टीका ।

परमात्मभावना—निर्विकल्प समाधिका अपर नाम—दे० मोक्ष-मार्ग/२/५ ।

परमात्मस्वरूप—निर्विकल्प समाधिका अपर नाम । —दे० मोक्ष-मार्ग/२/५ ।

परमात्मा—परमात्मा या ईश्वर प्रत्येक मानवका एक काल्पनिक बना हुआ है। वास्तवमें ये दोनों शब्द शुद्धात्माके लिए प्रयोग किये जाते हैं। वह शुद्धात्मा भी दो प्रकारसे जाना जाता है—एक कारण रूप तथा दूसरा कार्यरूप। कारण परमात्मा देश कालावच्छिन्न शुद्ध चेतन सामान्य तत्त्व है, जो मुक्त व संसारी तथा चीटी व मनुष्य सबमें अन्वय रूपसे पाया जाता है। और कार्य परमात्मा वह मुक्तात्मा है, जो पहले संसारी था, पीछे कर्म काट कर मुक्त हुआ। अतः कारण परमात्मा अनादि व कार्य परमात्मा सादि होता है। एकेश्वरवादियोंका सर्व व्यापक परमात्मा वास्तवमें वह कारण परमात्मा है और अनेकेश्वरवादियोंका कार्य परमात्मा। अतः दोनोंमें कोई विरोध नहीं है। ईश्वरकर्तावादके सम्बन्धमें भी इसी प्रकार समन्वय किया जा सकता है। उपादान कारणकी अपेक्षा करनेपर सर्व विशेषोंमें अनुगताकार रूपसे पाया जानेसे 'कारण परमात्मा' जगतके सर्व कार्योंको करता है। और निमित्तकारणकी अपेक्षा करने पर मुक्तात्मा वीतरागी होनेके कारण किसी भी कार्यको नहीं करता है। जैन लोग अपने विभावोका कर्ता ईश्वरको नहीं मानते, परन्तु कर्मको मान लेते हैं। तहाँ उनमें व अजैनोंके ईश्वर कर्तृत्वमें केवल नाम मात्रका अन्तर रह जाता है। यदि कारण तत्त्वपर दृष्टि डाले तो सर्व विभाव स्वतः टल जाये और वह स्वयं परमात्मा बन जाये।

१. परमात्मा निर्देश

१. परमात्मा सामान्यका लक्षण

स. श./टी./६/२२५/१५ परमात्मा संसारिजीवेभ्यः उत्कृष्ट आत्मा।
=संसारी जीवोंमें सबसे उत्कृष्ट आत्माको परमात्मा कहते हैं।

२. परमात्माके दो भेद

१. कार्य कारण परमात्मा

नि. सा/ता. वृ./७ निजकारणपरमात्माभावनोत्पन्नकार्यपरमात्मा स एव भगवान् अर्हत् परमेश्वरः। =निज कारण परमात्माकी भावनासे उत्पन्न कार्य परमात्मा, वही अर्हन्त परमेश्वर है। अर्थात् परमात्माके दो प्रकार हैं—कारण परमात्मा और कार्यपरमात्मा।

२. सकल निकल परमात्मा

का. अ./मृ./११२ परमप्पा वि य दुविहा अरहंता तह य सिद्धा य ११२१।
=परमात्माके दो भेद है—अरहन्त और सिद्ध।

द्र. सं./टी./४४/४१/५ सयोग्योगिगुणस्थानद्वये विवक्षितैकदेशशुद्धनयेन सिद्धसदृश परमात्मा, सिद्धस्तु साक्षात् परमात्मेति। =सयोगी और अयोगी इन दो गुणस्थानोंमें विवक्षित एक देश शुद्ध नयकी अपेक्षा सिद्धके समान परमात्मा है, और सिद्ध तो साक्षात् परमात्मा है ही।

३. कारण परमात्माका लक्षण

नि. सा./मृ./१७७-१७८ कारणपरमतत्त्वस्वरूपाख्यानभेतत्—जाइजर-मरणरहित्य परम कम्मद्ववज्जियं सुद्धं। णाणाह चउसहाव अकल-यमविणासमच्छेद्य १७७। अब्बानाहमणिदियमणोत्रमं पुण्णपावणि-मुक्कं। पुणरागमणविरहित्यं णिच्चं अचलं अणालंबं १७८। =कारण परमतत्त्वके स्वरूपका कथन है—(परमात्म तत्त्व) जन्म, जरा, मरण रहित, परम, आठकर्म रहित, शुद्ध, ज्ञानादिक चार स्वभाव वाला, अक्षय अविनाशी और अच्छेद्य है १७७। तथा अब्बानाध, अतीन्द्रिय, अनुपम, पुण्यपाप रहित, पुनरागमन रहित, नित्य, अचल और निरालंब है १७८।

स. श./मृ./३०-३१ सर्वेन्द्रियाणि संगम्यास्तमितेनान्तरात्मा। यत्क्षणं पश्यते भाति तत्तत्त्व परमात्मनः ३०। य परमात्मा स एवाऽहं योऽहं स परमस्तत्। अहमेव मयोपास्यो नान्यः कश्चिदिति स्थिति। =सम्पूर्ण पाँचों इन्द्रियोंको विषयोंमें प्रवृत्तिसे रोककर स्थित हुए अन्तःकरणके द्वारा क्षणमात्रके लिए अनुभव करने वाले जीवोंके जो चिदानन्वस्वरूप प्रतिभासित होता है, वही परमात्माका स्वरूप है ३०। जो परमात्मा है वही मैं हूँ, तथा जो स्वानुभवगम्य मैं हूँ वही परमात्मा है। इसलिए मैं ही मेरे द्वारा उपासना किया जाने योग्य हूँ, दूसरा मेरा कोई उपास्य नहीं ३१।

प. प्र./मृ./१/३३ देहादेवलि जो वसह देउ अणाइ-अणंतु। केवल-णाण-फुरत-त्तणु सो परमप्पु णिभंतु ३३। =जो व्यवहार नयसे देहरूपी देवालयमें बसता है पर निश्चयसे देहसे भिन्न है, आराध्य देव स्वरूप है, अनादि अनन्त है, केवलज्ञान स्वरूप है, निःसन्देह वह अचलित पारिणामिक भाव ही परमात्मा है ३३।

नि. सा./ता. वृ./३८ औदयिकादिवचतुर्णा भावान्तराणामगोचरत्वाद् द्रव्यभावनोक्तमोपाधिसमुपजनितविभावगुणपर्यायरहितः, अनादि-निधनममूर्ततीन्द्रियस्वभावशुद्धसहजपरमपारिणामिकभावस्वभावक-णपरमात्मा ह्यात्मा। =औदयिक आदि चार भावान्तरोंको अगोचर होनेसे जो (कारण परमात्मा) द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्म रूप उपाधिसे जनित विभाव गुणपर्यायों रहित है, तथा अनादि अनन्त अमूर्त अतीन्द्रिय स्वभाव वाला शुद्ध-सहज-परम-पारिणामिक भाव जिसका स्वभाव है—ऐसा कारण परमात्मा वह वास्तवमें 'आत्मा' है।

४. कार्य परमात्माका लक्षण

मो. पा./मृ./५ कम्मकलंकविमुक्को परमप्पा भण्णए देवो ५। =कर्म कलंकसे रहित आत्माको परमात्मा कहते हैं ५।

नि. सा./मृ./७ णिस्सेसदोसरहिओ केवलणाणाइपरमविभवजुदो। सो परमप्पा उच्चइ तत्त्विवरीओ ण परमप्पा ७। =निःशेष दोषसे जो रहित है, और केवलज्ञानादि परम वैभवसे जो संयुक्त है, वह परमात्मा कहलाता है उससे विपरीत परमात्मा नहीं है ७।

प. प्र./मृ./१/१५-२५ अप्पा लद्ध उणाणमउ कम्म-विमुक्के जेण। मेळ्ळिवि सयल्लु वि दव्वु परु सो परु मुणहि मणेण १५। केवल-वंसण-णाणमउ केवल-सुक्ख सहाउ। केवल वीरिउ सो मुणहि जो जि परावरु भाउ १६। एयहि जुत्तउ लक्खणहिं जो परु णिक्कल्लु देउ। सो तहि णिव-सइ परम-पइ जो तइलोयहं भेउ १७। =जिसने अष्ट कर्मोंको नाश करके और सब देहादि पर-द्रव्योंको छोड़कर केवलज्ञानमयी आत्मा पाया है, उसको शुद्ध मनसे परमात्मा जानो १५। जो केवलज्ञान, केवलदर्शनमयी है, जिसका केवल सुख स्वभाव है, जो अनन्त वीर्य वाला है, वही उत्कृष्ट रूपवाला सिद्ध परमात्मा है १६। इन लक्षणों सहित, सबसे उत्कृष्ट, निःशरीरी व निराकार, देव जो परमात्मा सिद्ध है, जो तीन लोकका ध्येय है, वही इस लोकके शिखरपर विराजमान है १७।

नि. सा./ता. वृ./७, ३८ सकल विमलकेवलबोधकेवलदृष्टिपरमवीतरागात्मका-नन्दायनेकविभवसमृद्धः यस्त्वेवंविधः त्रिकालनिरावरणनित्यानन्दैक-स्वरूपनिजकारणपरमात्मभावनोत्पन्नकार्यपरमात्मा स एव भगवान् अर्हत् परमेश्वरः ७। आत्मन सहजवैराग्यप्रासादादिशिखरशिखामणे. परद्रव्यपराङ्मुखस्य पञ्चेन्द्रियप्रसवर्जितगामत्रापरिग्रहस्य परम-जिनयोगीश्वरस्य स्वद्रव्यनिशितमतेरुपादेयो ह्यात्मा। =सकल-विमल केवलज्ञान-केवलदर्शन, परम-वीतरागात्मक आनन्द इत्यादि अनेक वैभवसे समृद्ध हैं, ऐसे जो परमात्मा अर्थात् त्रिकाल निरावरण, नित्यानन्द—एक स्वरूप निज कारण परमात्माकी भावनासे उत्पन्न कार्य परमात्मा वही भगवान् अर्हन्त परमेश्वर है ७। सहज

वैराग्यरूपी महलके शिखरका जो शिखामणि है, पर-द्रव्यसे जो पराङ्मुख है, पाँच इन्द्रियोंके विस्तार रहित देहमात्र जिसे परिग्रह है, जो परम जिन योगीश्वर है, स्व द्रव्यमें जिसकी तीक्ष्ण बुद्धि है— ऐसे आत्माको 'आत्मा' वास्तवमें उपादेश है।

द्र सं /टी/१४/४७/४ विष्णु • परमब्रह्म • ईश्वर सुगत • शिव • जिन • इत्यादिपरमागमकथिताष्टौत्तरसहस्रसंख्यनाम—वाच्य पर-मात्मा ज्ञातव्य • = विष्णु, परमब्रह्म, ईश्वर, सुगत, शिव और जिन इत्यादि परमागममें कहे हुए एक हजार आठ नामोंसे कहे जाने योग्य जो है; उसको परमात्मा जानना चाहिए।

५. परमात्मामें कारण कार्य विभागकी सिद्धि

स श /मू/१७-१८ भिन्नात्मानमुपास्यात्मा परो भवति तादृशः । वर्ति-र्दीप यथोपास्य भिन्न भवति तादृशी । १७ उपास्यात्मानमेवात्मा जायते परमोऽथवा । मथित्वात्मानमात्मैव जायतेऽग्निर्गथा तरुः । १८ = यह आत्मा अपनेसे भिन्न अर्हन्त सिद्ध रूप परमात्माकी उपासना-आराधना करके उन्हींके समान परमात्मा हो जाता है जैसे—दीपकसे भिन्न अस्तित्व रखनेवाली बत्ती भी दीपककी आराधना करके उसका सामोप्य प्राप्त करके दीपक स्वरूप हो जाती है । १७ अथवा यह आत्मा अपने चित्स्वरूपको ही चिदानन्दमय रूपसे आराधन करके परमात्मा हो जाता है जैसे बौंसका वृक्ष अपनेको अपनेसे ही रगड़कर अग्नि रूप हो जाता है । १८।

न. च वृ./३६०, ३६१ कारणकज्जसहार्वा समय णाळण होइ ज्जायव्वं । कज्ज सुद्धसरुव कारणभूदं तु साहणं तस्स । ३६० सुद्धो कम्मखयादो कारणसमओ हु जीवसम्भावो । स्वय पुणु सहावभाणे तह्मा तं कारणं भेयं । ३६१ = कारण और कार्य स्वभाव रूप समय अर्थात् आत्माको जानकर उसका ध्यान करना चाहिए । उनमेंसे शुद्ध स्वरूप अर्थात् सिद्ध भगवान् तो कार्य है और कारणभूत जो स्वभाव वह उसका साधन है । ३६० वह कारण समय रूप जीवस्वभाव ही कर्मोंका क्षय हो जानेपर शुद्ध अर्थात् कार्य समय रूप हो जाता है । और वह क्षय स्वभावके ध्यानसे हीता है उस लिए वह उसका कारणभूत ध्येय है । ३६१।

६. सकल निकल परमात्माके लक्षण

का. अ./मू १६८ स-सरीरा अरहता केवल-णाणेण मुणिय सयलत्था । णाणसरीरा सिद्धा सव्वुत्तम-सुखसुसंपत्ता । १६८ = केवलज्ञानसे जान लिये है सकल पदार्थ जिन्होंने ऐसे शरीर सहित अर्हन्त तो सकल परमात्मा है । और सर्वोत्तम सुखकी प्राप्ति जिन्होंने ही गयी है तथा ज्ञान ही है शरीर जिनके ऐसे शरीर रहित सिद्ध निकल परमात्मा है । ति. सा /ता, वृ/४३ निश्चयेनौदारिकवैक्रियकाहारकतैजसकर्मणाभिधानपञ्चशरीरप्रपञ्चाभावात्निकल । = निश्चयसे औदारिक, वैक्रियिक, आहारक, तैजस, और कर्मण नामक पाँच शरीरोंके समूहका अभाव होनेसे आत्मा निकल अर्थात् नि.शरीर है ।

स श /टी./२/२२३/७ सकलात्मने सह कलया शरीरेण वर्तत इति सकलः स चासावात्मा । = कल अर्थात् शरीरके साथ जो बर्ते सो सकल कहलाता है और सकल भी हो और आत्मा भी हो वह सकलात्मा कहलाता है ।

७. वास्तवमें आत्मा ही परमात्मा है

ज्ञा./२१/७/२२ अयमात्मा स्वयं साक्षात्परमात्मेति निश्चय । विशुद्ध-ध्याननिर्धूत-कर्मन्धनसमुत्तर । ७ = जिस समय विशुद्ध ध्यानके बलसे कर्मरूपी इन्धनको भस्म कर देता है, उस समय यह आत्मा ही साक्षात् परमात्मा ही जाता है, यह निश्चय है । ७।

प्र. सा./त प्र./६८ स्वयमेव भगवानात्मापि स्वपरप्रकाशनसमर्थः । = भगवान् आत्मा स्वयमेव ही स्वपरको प्रकाशित करनेमें समर्थ है । (और भी दे० परमात्मा/१/३) ।

* अन्य सम्बन्धित विषय

१. परमात्माके प्रकार्यवाची नाम—दे० म. पु./१५/१००-२१७
२. पंच परमेष्ठीमें देवत्व —दे० देव/१/१ ।
३. सच्चे देव, अर्हन्त —दे० वह वह नाम ।
४. सिद्ध —दे० मोक्ष ।

२. भगवान् निर्देश

१. भगवान्का लक्षण

घ. १३/५, ६, ८, २/३४६/८ ज्ञानधर्ममाहात्म्यानि भग., सोऽस्यास्तीति भगवान् । = ज्ञान-धर्मके माहात्म्योका नाम भग है, वह जिनके है वे भगवान् कहलाते हैं ।

३. ईश्वर निर्देश

१. ईश्वरका लक्षण

द्र. सं./टी/१४/४७/७ केवलज्ञानादिगुणैश्वर्ययुक्तस्य सतो देवेन्द्रादयोऽपि तत्पदाभिलाषिणः सन्ती यस्याज्ञा कुर्वन्ति स ईश्वराभिधानो भवति । = केवलज्ञानादि गुण रूप ऐश्वर्यसे युक्त होनेके कारण जिसके पदकी अभिलाषा करते हुए देवेन्द्र आदि भी जिसकी आज्ञाका पालन करते हैं, अतः वह परमात्मा ईश्वर होता है ।

स. श /टी/६/२२५/१७ ईश्वर. इन्द्राद्यसंभविना अन्तरङ्गहिरण्येषु परमेश्वर्येण सदैव संपन्नः । = इन्द्रादिकको जो असम्भव ऐसे अन्तर-रंग और बहिरंग परम ऐश्वर्यके द्वारा जो सदैव सम्पन्न रहता है, उसे ईश्वर कहते हैं ।

२. अपनी स्वतन्त्र कर्ता कारण शक्तिके कारण आत्मा ही ईश्वर है

प्र. सा./त, प्र/३५ अपृथग्भूतकर्तृकरणत्वशक्तिपारमैश्वर्ययोगित्वादात्मनो य एव स्वयमेव जानाति. = आत्मा अपृथग्भूत कर्तृत्व और करणत्वकी शक्तिरूप परमैश्वर्यवाच है, इसलिए जो स्वयमेव जानता है ।

३. ईश्वरकर्तावादका निषेध

आप्त. प./६/९५१-६८/३२-४६ तनुकरणभुवनादौ निमित्तकारणत्वादीश्वर-स्य । न चैतदसिद्धम्, यत्कार्यं तद् बुद्धिमन्निमित्तकं दृष्टम्, यथा वस्त्रादि । = नैकस्वभावेश्वरकारणकृतं विचित्रकार्यत्वात् । = यत्र यदा यथा यत्कार्यमुत्पिच्छे तत्र तदा तथा तदुत्पादनेच्छा माहेश्वरस्यैकैव तादृशी समुत्पद्यते । = ततो नान्वयव्यतिरेकयोर्व्यापकयोरनुपलम्भोऽस्ति । = प्रश्न—ईश्वर शरीर इन्द्रिय व जगत्का निमित्त कारण है । उत्तर—नहीं, क्योंकि इनसे पृथक् कोई ईश्वर दिखाई नहीं देता । प्रश्न—वस्त्रादिकी भाँति शरीरादि भी किसी बुद्धिमात्रके बनाये हुए होने चाहिए । उत्तर—भिन्न स्वभाववाले पदार्थ एक स्वभाववाले ईश्वरसे उत्पन्न नहीं हो सकते । प्रश्न—यथावसर ईश्वरको वैसी वैसी इच्छा उत्पन्न हो जाती है जो विभिन्न कार्योंको उत्पन्न करती है । उत्तर—इस प्रकार या तो सर्व जगत्में एक ही प्रकारका कार्य होता रहेगा या इच्छाके स्थानसे अतिरिक्त अन्य स्थानोंमें कार्यका अभाव हो जायेगा । प्रश्न—ईश्वरके साथ भिन्न क्षेत्रोंमें रहने-

वाली विभिन्न सामग्रीके मिल जानेसे विभिन्न कार्योंकी सिद्धि हो जायेगी ? उत्तर—उपरोक्त हेतुमें कोई अन्वय व्यतिरेक हेतु सिद्ध नहीं होता ।

स्या, मं/६/पृ ४४-५६ यत्तावदुक्तं परैः 'क्षित्यादयो बुद्धिमत्कर्तृका', कार्यत्वाद् घटवदिति' तदयुक्तम् ।...स चायं जगन्ति सृजन् शरीरोऽशरीरो वा स्यात् । प्रथमपक्षे प्रत्यक्षबाधः । तन्मन्तरेणापि च जायमाने तृणतरुपुरन्दरधनुरभादौ कार्यत्वस्य दर्शनात् प्रमेयत्वादिवत् साधारणानैकान्तिको हेतुः । द्वितीयविकल्पे पुनरदृश्यशरीरत्वे तस्य माहात्म्यविशेषः कारणम् ।...इतरेतराश्रयदोषापत्तेश्च । सिद्धे हि माहात्म्यविशेषे तस्यादृश्यशरीरत्वं प्रत्येतव्यम् । तत्सिद्धौ च माहात्म्यविशेषसिद्धिरिति ।...अशरीरश्चेत् तदा दृष्टान्तदाष्टान्तिकयोर्वैषम्यम् । अशरीरस्य च सतस्तस्य कार्यप्रवृत्तौ कुतः सामर्थ्यम् आकाशादिवत् ।...बहूनामेकार्थकरणे वैमत्यसंभावना इति नायमेकान्तः । अनेककीटिकाशतनिष्पाद्यत्वेऽपि शक्रमूर्धनः ।...अथैतेष्वप्येक एवेश्वरः कर्तेति ब्रूषे । तर्हि कुबिन्दकुम्भकारादितिरस्कारेण पटघटादीनामपि कर्ता स एव किं न कल्प्यते । 'सर्वगतत्वमपि तस्य नोपपन्नम् । तद्धि शरीरात्मना, ज्ञानात्मना वा स्यात् । प्रथमपक्षे तदीयेनैव देहेन जगत्त्रयस्य व्याप्तत्वाद् इतरनिर्मेयपदार्थानाश्रयानवकाशः । द्वितीयपक्षे तु सिद्धसाध्यता । -स जगत्त्रयं निर्माणास्त-क्षादिवत् साक्षाद् देहव्यापारेण निर्मितीते, यदि वा संकल्पमात्रेण । आद्ये पक्षे एकस्यैव कालक्षेपस्य सभवाद् बहोयसाध्यनेहसा न परिसमाप्तिः । द्वितीयपक्षे तु संकल्पमात्रेणैव कार्यकल्पनायां नियतदेशस्थायित्वेऽपि न किञ्चिद् दूषणमुत्पश्यामः ।... स हि यदि नाम स्वाधीन सत् विश्वं विधत्ते, परमकारुणिकश्च स्वया वर्ण्यते, तत्कथं सुखितदुःखिताद्यवस्थाभेदवृन्दस्थ-पुटितं घटयति भुवनम् एकान्तशर्मसंपत्कान्तमेव तु किं न निर्मितीते । अथ जन्मान्तरापाजिततत्तत्तदीयशुभाशुभकर्मप्रेरित-सत् तथा करोतीति दत्तस्तर्हि स्ववशत्वाय जलाञ्जलिः ।... कर्मपिक्ष-श्चेदीश्वरो जगत्कारणं स्यात् तर्हि कर्मणीश्वरत्वम्, ईश्वरोऽनीश्वर-स्यादिति । स खलु नित्यत्वेनैकरूपः सत्, त्रिभुवनसर्गस्वभावोऽ-तस्त्वभावो वा । प्रथमविधायं जगन्निर्माणत् कदाचिदपि नोपरमेत् । तदुपरमे तस्त्वभावत्वहानि । एवं च सर्गक्रियाया अपर्यवसानाद् एकस्यापि कार्यस्य न सृष्टिः ।...अतस्त्वभावपक्षे तु न जातु जगन्ति सृजेत् तस्त्वभावयोगाद् गगनवत् । अपि च तस्यैकान्तनिरयस्वरूपत्वे सृष्टिवत् सहारोऽपि न घटते ।...एकत्वभावात् कारणादनेकस्वभाव-कार्योत्पत्तिविरोधात् । स्वभावान्तरेण चेद् नित्यत्वहानि । स्वभावभेद एव हि लक्षणमनित्यतायाः ।...अथास्तु नित्यं, तथापि कथं सततमेव सृष्टौ न चेष्टते । इच्छावशात् चेत्, ननु ता अपीच्छः स्वसत्तामात्र-निबन्धनात्मलाभाः सदैव किं न प्रवर्तयन्तीति स एवोपालम्भः ।... कार्यभेदानुमेयानां तदिच्छानामपि विषमरूपत्वाद् नित्यत्वहानि-केन वार्यते ।...तत्तत्तत्तत् जगत्सर्गे व्याप्रियते स्वार्थात्, कारुण्याद् वा । न तावद् स्वार्थात् तस्य कृतकृत्यत्वात् । न च कारुण्यात्, ...। ततः प्राक् सर्गाञ्जीवानामिन्द्रियशरीरविषयानुत्पत्तौ दुःखाभावेन कस्य प्रहाणेच्छा कारुण्यम् । सर्गोत्तरकाले तु दुःखिनोऽवलोक्य कारुण्याभ्यामुपगमे तदुत्तरमितरेतराश्रयम् कारुण्येन सृष्टिः सृष्ट्या च कारुण्यम् । इति नास्य जगत्कर्तृत्वं कथमपि सिद्धयति ।

—प्रश्न—पृथिवी आदि बुद्धिमातृके बनाये हुए हैं, कार्य होनेसे घटके समान । दृश्य शरीरसे ? उत्तर—शरीर दीखता नहीं है । दूसरे, घास वृक्षादिको ईश्वरने अपने शरीरसे नहीं रचा है । अतः कार्य हेतुपना साधारणैकान्तिक दोषका धारक है । प्रश्न—अदृश्य शरीरसे बनाये हैं । उत्तर—अदृश्य शरीरकी सिद्धिसे ईश्वरका माहात्म्य, तथा माहात्म्यसे शरीरकी सिद्धि होनेके कारण तथा दोनों ही होनेसे अन्योन्याश्रय दोष आता है । प्रश्न—ईश्वर शरीर रहित होकर बनाता है ? उत्तर—दृष्टान्त ही बाधित ही जाता है । दूसरे, शरीर

रहित आकाश आदिकमे कार्य करनेकी सामर्थ्य नहीं है । अतः अशरीरी ईश्वर भी कार्य कैसे कर सकता है । प्रश्न—वह अनेक है । अनेक हो तो मतभेदके कारण कोई कार्य ही न बने । उत्तर—मतभेद होनेका नियम नहीं । बहुतसी चीटियाँ मिलकर बिल बनाती है । प्रश्न—बिल आदिका कर्ता ईश्वर है ? उत्तर—तो घट-पट आदिका कर्ता भी इसे ही मानकर कुम्भकार आदिका तिरस्कार क्यों नहीं कर देते । प्रश्न—ईश्वर सर्वगत है इसलिए कर्ता है ? उत्तर—शरीरसे सर्वगत है या ज्ञानसे ? यदि शरीरसे तो जगदमे और पदार्थको ठहरनेका अवकाश न होगा । शरीर व्यापारसे बनाता है या सकल्प मात्रसे ? प्रश्न—शरीर व्यापारसे । उत्तर—तब तो एक कार्यमे अधिक काल लगनेसे सबका कर्ता नहीं हो सकता । प्रश्न—संकल्प मात्रसे । उत्तर—तब सर्वगतपनेकी आवश्यकता नहीं । परम करुणाभावके धारक ईश्वरने सुख-दुःखसे भरे इस जगत्को क्यों बनाया । केवल सुख रूप ही क्यों नहीं बना दिया । प्रश्न—ईश्वर जीवोके अन्य जन्मोंमें उपाजित कर्मोंसे प्रेरित होकर ऐसा करता है ? उत्तर—इस प्रकार तो ईश्वर स्वाधीन न रहा । और कर्मकी मुख्यता होनेसे हमारे मतकी सिद्धि हुई । दूसरे इस प्रकार कर्मोंका कर्ता ईश्वर न हुआ । जगत्के बनानेसे उसे कभी भो विश्राम न होगा । यदि विश्राम लेगा तो उसके स्वभावके घातका प्रसंग आयेगा । इस प्रकार कोई भी कार्य पूर्ण हुआ न कहलायेगा । प्रश्न—कर्तापना उसका स्वभाव नहीं है ? उत्तर—तो फिर वह जगत्का निर्माण ही कैसे करे, दूसरे एक ही प्रकारके स्वभावसे निर्माण तथा संहार दो (विरोधी) कार्य नहीं किये जा सकते । प्रश्न—संहार करनेका स्वभाव अन्य है ? उत्तर—नित्यताका नाश हो जायेगा । स्वभाव भेद ही अनित्यताका लक्षण है । कभी किसी स्वभाववाला और कभी किसी स्वभाववाला होगा । निरन्तर वह क्यों नहीं बनाता । शंका—जब इच्छा नहीं रहती तब बनाना छोड़ देता है ? उत्तर—इच्छासे ही कर्तापनेकी सिद्धि है, तो सदा इच्छा क्यों नहीं करता । दूसरे कार्योंकी नानारूपता उसकी इच्छाओंको भी नानारूपताको सिद्ध करती है । अतः ईश्वर अनित्य है । ईश्वरने जगत्को किसी प्रयोजनसे बनाया या करुणा से । शंका—प्रयोजनसे । उत्तर—कृतकृत्यता खण्डित हो जाती है । प्रश्न—करुणाभावसे । उत्तर—दुःख अनादि नहीं है, तो ईश्वरने इन्हे क्यों बनाया । प्रश्न—दुःख देखकर पीछेसे करुणा उत्पन्न हुई ? उत्तर—इससे तो इतरेतराश्रय दोष आया । करुणासे जगत् रचना और जगत् से करुणा उत्पन्न होना ।

वे० सद/१ (सत् स्वभाव ही जगत्का कर्ता है) ।

४. ईश्वरवादका लक्षण

१. मिथ्या एकान्तकी अपेक्षा

गो.क./मू./५५० अण्णाणी हु अण्णासो अण्णा तस्स य सुहं च दुक्खं च । सर्गं गिरयं गमणं सर्व्वं ईसरकयं होदि १५००।—आत्मा अज्ञानी है, अनाथ है । उस आत्माके सुख-दुःख, स्वर्ग-नरकादिक, गमनागमन सर्व्व ईश्वरकृत है, ऐसा मानना सो ईश्वरवादका अर्थ है । १५००। (स. सि./५/१/१ की टिप्पणी) ।

२. सम्यगेकान्तकी अपेक्षा

स.सा./मू./३२२ लोयस्स कुण्ह विण्हू समणाणवि अण्णो कुण्हं । —लोकके मतमें विष्णु करता है, वैसे ही श्रमणोंके मतमें आत्मा करता है ।

प.प्र./मू०/१/६६ अण्णा पंगुह अणुहरइ अण्णु ण जाइ ण एइ । भुवणत्तयहं वि मज्झि जिय विहि आणइ विहि गेइ ६६।—हे जीव ! यह आत्मा पंगुके समान है, आप कहीं न जाता और न आता है, तीनों लोकोंमें जीवको कर्म ही ले जाता है, कर्म ही लाता है । ६६।

बेनेन्द्र सियाम्स कोथ

प्र.सा./त.प्र./परि.न.प्र. ३४ ईश्वरनयने धात्रीहृदयलेह्यमानपान्थवाल-
कवत्पारतन्त्र्यभोक्तृ १३४।—आत्मद्रव्य ईश्वर नयसे परतन्त्रता
भोगनेवाला है। धायकी दुकानपर दूध पिलाये जानेवाले राहगीरके
बालककी भॉति। (दे० कर्म/३/१)।

५. वैदिक साहित्यमें ईश्वरवाद

१. ईश्वरके विविध रूप

१. वैदिक युगके लोग सर्व प्रथम सूर्य, चन्द्र आदि प्राकृतिक
पदार्थोंको ही अपना आराध्यदेव स्वीकार करते थे। २. आगे जाकर
उनका स्थान इन्द्र, वरुण आदि देवताओंको मिला, जिन्हें कि वे एक
साथ या एक-एक करके जगत्के सृष्टिकर्ता मानने लगे। ३. इससे भी
आगे जाकर वैदिक ऋषि ईश्वरको निश्चित रूप देनेके लिए सत्-
असत्, जीवन-मृत्यु आदि परस्पर विरोधी शब्दोंसे ईश्वरका वर्णन
करने लगे। ४. इससे भी आगे ब्राह्मणग्रन्थोंकी रचनाके युगमें ईश्वरके
सम्बन्धमें अनेकों मनोरंजक कल्पनाएँ जागृत हुईं। यथा—प्रजा-
पतिने एकसे अनेक होंनेकी इच्छा की। उसके लिए उसने तप किया।
जिससे क्रमशः धूप, अग्नि, प्रकाश आदिकी उत्पत्ति हुई। उसीके
अधुबिन्दुके समुद्रमें गिर जानेसे पृथिवीकी उत्पत्ति हुई। अथवा
उसके तपसे ब्राह्मण व जलकी उत्पत्ति हुई, जिससे सृष्टि बनी। ५.
उपनिषद् युगमें कभी तो असत्, मृत्यु, क्षुधा आदिसे जल, पृथ्वी
आदिकी उत्पत्ति मानी गयी है, कहीं ब्रह्मसे, और कहीं अक्षरसे
सृष्टिकी रचना मानी गयी है। (स्या.मं/परि.पृ.४११)।

२. ईश्वरवादी मत

भारतीय दर्शनोंमें चार्वाक, बौद्ध, जैन, मीमांसक, सांख्य और
योगदर्शन तथा वर्तमानका पार्श्वात्य जगत् इस प्रकारके सृष्टि
रचयिता किसी एक ईश्वरका अस्तित्व स्वीकार नहीं करता। परन्तु
न्याय और वैशेषिक दर्शनोंमें ईश्वरको सृष्टिकार रचयिता माना गया
है। (स्या.मं/परि.ग./पृ.४१३)।

३. ईश्वरकर्तृत्वमें युक्तियाँ

इसके लिए वे लोग निम्न युक्तियाँ देते हैं—१. नैयायिकोंका
कहना है कि सृष्टिका कोई कर्ता अत्रश्य होना चाहिए, क्योंकि वह
कार्य है। २. कुम्भ ईश्वरवादी पार्श्वात्य विद्वान् कहते हैं कि यदि
ईश्वर न होता तो उसके अस्तित्वकी भावना ही हमारे हृदयमें जागृत
न होती। ३. वैदिक जनोका कहना है कि बिना किसी सचेतन
नियन्ताके सृष्टिकी इतनी अद्भुत व्यवस्था सम्भव नहीं थी। अपने
ऊपर आये आक्षेपोंका उत्तर भी वे निम्न प्रकार देते हैं—१. कृतकृत्य
होकर भी केवल करुणानुद्धिसे उसने सृष्टिकी रचना की। २.
प्राणियोंके पुण्य-पापके अनुसार होनेके कारण वह रचना सर्वथा सुख-
मय नहीं हो सकती। ३. शरीर रहित होते हुए भी उसने इच्छा-
मात्रसे उसकी रचना की है। ४. प्रयत्न व अनुमान प्रमाणसे सिद्ध न
होनेपर भी वह शब्द प्रमाणसे सिद्ध है। (स्या.मं/परि.ग./४१३-
४१८)।

* अन्य सम्बन्धित विषय

१. लोगोंका ईश्वर कर्तावाद और जैनियोंका कर्म कर्तावाद एक ही
बात है—दे० कारक/कर्ता।

२. भक्ति प्रकरणमें ईश्वरमें कर्तापनेका आरोप निषिद्ध नहीं

—दे० भक्ति।

३. जीवका कथञ्चित् कर्ता-अकर्तापना—दे० चेतना/३।

परमाध्यात्मतरंगिनी—आ० अमृतचन्द्र (ई० १०५-१५५)

कृत संस्कृत छन्दबद्ध कलशोंकी आ० शुभचन्द्र भट्टारक (वि १५७३-

ई० १५१६)कृत संस्कृत टीका। यह ८ अधिकारी में विभक्त २३२
श्लोकप्रमाण है। विषय अध्यात्म है। (ती./३/२६६)।

परमानन्द—शुद्धात्मोपयोग अपर नाम—दे० मोक्षमार्ग/२/५।

परमानन्द विलास—पं. देवीदास (ई० १७५५-१७६७) द्वारा
रचित भाषापद संग्रह।

परमार्थ—शुद्धोपयोग अपर नाम—दे० मोक्षमार्ग/२/५।

परमार्थ—

सं./सा./मू./१५१ परमट्ठो खलु समओ सुद्धो जो केवली मुणी णाणी।
तम्मि द्दिठ्ठा सहावे मुणिणो पार्वत्ति णिव्वान्ण। १५१।—निश्चयसे
जो परमार्थ है, समय है, शुद्ध है, केवली है, मुनि है, ज्ञानी है, उस
स्वभावमें स्थित मुनि निर्वाणको प्राप्त होते है।

न.च.वृ./४ तच्च तह परमट्ठ इव्वसहावं तहेव परमपरं। धेयं सुद्धं
परमं एयट्ठा हति अभिहाणा। ४।—तत्त्व, परमार्थ, द्रव्यस्वभाव, पर,
अपर, ध्येय, शुद्ध, और परम ये सब एक ही अर्थको जनानेवाले है।

सं.सा./ता.वृ./१५१/२१४/११ उत्कृष्टार्थः परमार्थः धर्मार्थकाममोक्षलक्षणेषु
परमार्थेषु परमत्कृष्टो मोक्षलक्षणोऽर्थः परमार्थः अथवा मतिश्रुता-
वधिमत परमार्थकेवलज्ञानभेदरहितत्वेन निश्चयेनैकः परमार्थः सोऽपि
परमात्मैव।—उत्कृष्ट अर्थको परमार्थ कहते है। अर्थात् धर्म, अर्थ,
काम, मोक्ष लक्षणवाले परमार्थमें जो परम उत्कृष्ट है, ऐसा मोक्ष
लक्षणवाला अर्थ परमार्थ कहलाता है। अथवा मति, श्रुत, अवधि,
मनःपरमार्थ व केवलज्ञानके भेदसे रहित होनेसे निश्चयसे एक ही
परमार्थ है वह भी आत्मा ही है।

परमार्थ तत्त्व—शुद्धोपयोग अपर नाम—दे० मोक्षमार्ग/२/५।

परमार्थ प्रत्यक्ष—दे० प्रत्यक्ष/१।

परमार्थ बाह्य—सं.सा./ता.वृ./१५२-१५३/२१७ भेदज्ञानाभावात्
परमार्थबाह्या। १५२। परमसामायिकमलभमानाः परमार्थबाह्याः
१५३।—भेदज्ञानके न होनेके कारण परमार्थबाह्य कहलाते है। १५२।
परम सामायिकको नहीं प्राप्त करते हुए परमार्थ बाह्य होते है। १५३।

परमावगाढ सम्यग्दर्शन—दे० सम्यग्दर्शन/II/२।

परमावधिज्ञान—दे० अवधिज्ञान/१।

परमावस्था—दे० मोक्षमार्ग/२/५।

परमेश्वर—१. भूतकालीन सोलहवें तीर्थंकर—दे० तीर्थंकर/५।

२. आप एक कवि थे। आपने वागर्थसंग्रह पुराणग्रन्थ चम्पू रूपमें
लिखा था। समय—ई० ७६३ से पूर्ववर्ती (म.पु./प्र./४८ प. पन्नालाल)।
३. परमात्मके अर्थमें परमेश्वर—दे० परमात्मा।

परमेश्वर तत्त्व—ज्ञा./२६/७/२८ नाभिस्कन्धाद्विनिष्क्रान्तं हृत्प-
द्मोदरमध्यगम्। द्वादशान्ते सुविश्रान्तं तज्ज्ञेयं परमेश्वरम्। ७।—जो
नाभिस्कन्धसे निकाला हुआ तथा हृदय कमलमेंसे होकर द्वादशान्त
(तालुरंध्र) में विश्रान्त हुआ (उहरा हुआ) पवन है उसे परमेश्वर
जानो क्योंकि यह पवनका स्वामी है। ७।

परमेष्ठी—आप एक कवि थे। आपने वागर्थसंग्रह पुराणकी रचना की
थी। आपका समय आ० जिनसेनके महापुराण (वि.८६७) से पहले
बताया जाता है। (म.पु./प्र./२१/पं. पन्नालाल)।

परमेष्ठी—

स्व.न्तो/टी./११ परमपदे तिष्ठति इति परमेष्ठी परमात्मा।—जो परम-
पदमें तिष्ठता है वह परमेष्ठी परमात्मा होता है।

भा.पा./टी./१४६/२६३/८ परमे इन्द्रचन्द्रधरणेन्द्रवन्दिते पदे तिष्ठतीति

परमेष्ठी।—जो इन्द्र, चन्द्र, धरणेन्द्रके द्वारा वन्दित ऐसे परमपदमे तिष्ठता है वह परमेष्ठी होता है। (स.श./टी./६/२२५)।

२. निश्चयसे पंचपरमेष्ठी एक आत्माकी ही पर्याय है

मो.पा./मू./१०४ अरुहा सिद्धायरिया उज्झाया साहु पंच परमेष्ठी। ते वि हु चिट्ठहि आधे तम्हा आदा हु मे सरणं ।१०४। = अर्हन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय अर साधु ये पंचपरमेष्ठी हैं, ते भी आत्माविषे ही चेष्टा रूप है, आत्माकी अवस्था है, इसलिए निश्चयसे मेरे आत्मा ही का सरणा है ।१०४।

* अन्य सम्बन्धित विषय

१. पाँचों परमेष्ठीमें कथंचित् देवत्व—दे० देव/१/१।
२. अर्हन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय व साधु—दे० वह वह नाम ।
३. आचार्य, उपाध्याय, साधुमें कथंचित् एकता—दे० साधु/६।
४. सिद्धसे पहले अर्हन्तको नमस्कार क्यों—दे० मंत्र/२।

परमेष्ठी गुणव्रत—अर्हन्तोके ४६; सिद्धोंके ८; आचार्योंके ३६; उपाध्यायोंके २५ और साधुओंके २८ ये सब मिलकर १४३ गुण हैं। निम्न विशेष तिथियोंमें एकान्तरा क्रमसे १४३ उपवास करे और नमस्कार मन्त्रका त्रिकाल जाप्य करे। १४३ गुणोंकी पृथक् तिथियाँ—अर्हन्त भगवान्के १० अतिशयोकी १० दशमी; केवलज्ञानके अतिशयोकी १० दशमी, देवकृत १४ अतिशयोकी १४ चतुर्दशी, अष्ट प्रतिहार्योंकी ८ अष्टमी; चार अनन्तचतुष्टय की ४ चौथ = ४६। सिद्धोंके सम्यक्त्वादि आठ गुणोंकी आठ अष्टमी। आचार्योंके बारह तर्कोंकी १२ द्वादशी, छह आवश्यकोंकी ६ षष्ठी; पंचाचारकी ५ पंचमी, दश धर्मोंकी १० दशमी, तीन गुणियोंकी तीन तीज = ३६। उपाध्यायके चौदह पूर्वोंकी १४ चतुर्दशी, ११ अंगोंकी ११ एकादशी = २५। साधुओंके ५ व्रतकी पाँच पंचमी; पाँच समितियोंकी ५ पंचमी, छह आवश्यकोंकी ६ षष्ठी, शेष सात क्रियाओंकी ७ सप्तमी = २८। इस प्रकार कुल ३ तीज, ४ चौथ, २० पंचमी; १२ छठ, ७ सप्तमी, ३६ अष्टमी, नवमी कोई नहीं, ३० दशमी, ११ एकादशी, १२ द्वादशी, त्रयोदशी कोई नहीं, २८ चतुर्दशी = १४३। (व्रतविधान संग्रह/पृ.११८)।

परमेष्ठी मंत्र—दे० मंत्र/१/६।

परलोक—प.प्र./ती./११०/१०३/४ पर उत्कृष्टो वीतरागचिदानन्दै-कस्वभाव आरामा तस्य लोकोऽवलोकनं निर्विकल्पसमाधौ वानुभवन-मिति परलोकशब्दस्यार्थः, अथवा लोकयन्ते दृश्यन्ते जोवादिपदार्था-यस्मिन् परमात्मस्वरूपे यस्य केवलज्ञानेन वा स भवति लोकः, पररचासौ लोकश्च परलोकः व्यवहारेण पुनः स्वर्गापवर्गलक्षण परलोको भण्यते। = १. पर अर्थात् उत्कृष्ट चिदानन्द शुद्ध स्वभाव आरामा उसका लोक अर्थात् अवलोकन निर्विकल्पसमाधिमें अनुभवना यह परलोक है। २. अथवा जिसके परमात्म स्वरूपमें या केवलज्ञानमें जोवादि पदार्थ देखे जावे, इसलिए उस परमात्माका नाम परलोक है। ३. अथवा व्यवहार नयकर स्वर्गमोक्षको परलोक कहते हैं। ४. स्वर्ग और मोक्षका कारण भगवान्का धर्म है, इसलिए केवल भगवान्को मोक्ष कहते हैं।

परवश अतिचार—दे० अतिचार/१।

परवाद—ध. १३/५, ५०/२८८/१ “मस्करी-कणभक्षपाद-कपिल-शौद्धोदनि-चार्वक-जैमिनिप्रभृतयस्तद्दर्शनानि च परोचन्ते दूष्यन्ते अनेनेति परवादो राद्धान्तः। परवादो ति गदं।” = मस्करी, कण-भक्ष, अक्षपाद, कपिल, शौद्धोदनि, चार्वक और जैमिनि आदि तथा

उनके दर्शन जिनके द्वारा ‘परोचन्ते’ अर्थात् दूषित किये जाते हैं वह राद्धान्त (सिद्धान्त) परवाद कहलाता है। इस प्रकार परवादका कथन किया।

परव्यपदेश—स.सि./७/३६/३७२/१ अन्यदातृदेयार्पणं परव्यपदेशः। = इस दानकी वस्तुका दाता अन्य है यह कहकर देना परव्यपदेश है। (रा. वा. ७/३६/३/५५८/२४); (चा. सा./२७/५)

परव्यपदेश नय—दे० नय/III/५।

परशुराम—यमदग्नि तापसका पुत्र (बृहत् कथाकोष/कथा ५६/१०।

परसंग्रह नय—दे० नय/III/४।

परसमय—दे० मिथ्यादृष्टि। २ परसमय व स्वसमयके स्वाध्यायका क्रम—दे० उपदेश/३/४-५।

परस्त्री—दे० स्त्री; २ पर स्त्री गमनका निषेध—दे० ब्रह्मचर्य/३।

परस्थान सन्निकर्ष—दे० सन्निकर्ष।

परस्पर कल्याणक व्रत—दे० कल्याणक व्रत।

परस्पर परिहार लक्षण विरोध—दे० विरोध।

परा—का.अ./मू./१६६ णीसेस-कम्म-णासे अप्प-सहावेण जा समु-प्पत्ती। कम्मज-भाव-त्तए-विय सा विय पत्ती परा होदि। = समस्त कर्मोंका नाश होनेपर अपने स्वभावसे जो उत्पन्न होता है उसे परा कहते हैं। और कर्मोंसे उत्पन्न होनेवाले भावोंके क्षयमें जो उत्पन्न होता है उसे भी परा कहते हैं। १६६।

मो.पा./टी./६/३०८/१८ परा उत्कृष्टा। = परा अर्थात् उत्कृष्ट।

पराजय—शास्त्रार्थमें हार जीत सम्बन्धो—दे० न्याय/२।

परात्मा—स.श./टी./६/२२५/१५ परात्मा ससारिजीवेभ्यः उत्कृष्ट आत्मा। = ससारोमेसे जो उत्कृष्ट आत्मा बन जाती है उसे परात्मा कहते हैं।

परार्थ प्रमाण—दे० प्रमाण/१।

परार्थानुमान—दे० अनुमान/१।

परावर्त—अशुभ नामकर्मकी २६ प्रकृतिमें—दे० प्रकृति बंध/२।

पराशर—पा.पु./७/श्लोक— राजा शान्तनुका पुत्र (७६) तथा गाण्येय (भौष्म) का पिता था (७८-८०)। एक समय धीवरकी कन्या गुणावतीपर मोहित हो गया। और ‘उसकी सन्तानको ही राज्य मिलेगा’ ऐसा वचन देकर उससे विवाह किया (८३-११५)।

परिजा—भरत क्षेत्र आर्य खण्डका एक देश—दे० मनुष्य/४।

परिकर्म—दृष्टिप्रवाद अगका प्रथम भेद—दे० श्रुतज्ञान/III/२. आचार्य कुन्दकुन्द (ई. १२७-१७६) द्वारा षट्खण्डागमके प्रथम तीन खण्डोंपर प्राकृत भाषामें लिखी गयी टीका। (दे० कुन्दकुन्द), (विशेष दे० परिशिष्ट)।

परिकर्माष्टक—गणित विषयक-सकलन, व्यकलन, गुणकार, भाग-हार, वर्ग, वर्गमूल, घन और घनमूल ये ८ विषय परिकर्माष्टक कहलाते हैं (विशेष दे० गणित /II/१)।

परिगणित—Mathematics. (ज.प./प्र.१०७)।

परिगृहीता—स.सि./७/२८/३६८/१। या (स्त्री) एकपुरुषभर्ताका सा परिगृहीता। = जिसका कोई एक पुरुष भर्ता है वह परिगृहीता कहलाती है। (रा.वा./७/२८/२/५५४/२८)।

परिग्रह—परिग्रह दो प्रकारका है—अन्तरंग व बाह्य। जीवोंका राग अन्तरंग परिग्रह है और रागो जीवोंको नित्य ही जो बाह्य पदार्थों-

का ग्रहण व सग्रह होता है, वह सब बाह्य परिग्रह कहलाता है। इसका मूल कारण होनेसे वास्तवमें अन्तरंग परिग्रह ही प्रधान है। उसके न होनेपर ये बाह्य पदार्थ परिग्रह संज्ञाको प्राप्त नहीं होते, क्योंकि ये साधकको जबरदस्ती राग बुद्धि उत्पन्न करानेको समर्थ नहीं है। फिर भी अन्तरंग परिग्रहका निमित्त होनेके कारण श्रेयोमार्गमें इनका त्याग करना इष्ट है।

१	परिग्रह सामान्य निर्देश
१	परिग्रहके लक्षण।
*	परिग्रहके भेद —दे० ग्रंथ।
२	निज गुणोंका ग्रहण परिग्रह नहीं।
३	वातादिक विकाररूप (शारीरिक) मूर्च्छा परिग्रह नहीं।
४	परिग्रहकी अत्यन्त निन्दा।
*	परिग्रहका हिंसामें अन्तर्भाव —दे० हिंसा/१/४।
*	कर्मोंका उदय परिग्रह आदिकी अपेक्षा होता है —दे० उदय/२।
*	गृहस्थ के ग्रहण योग्य परिग्रह। —दे० परिग्रह/२।
५	साधुके ग्रहण योग्य परिग्रह।
२	परिग्रह त्याग व्रत व प्रतिमा
१	परिग्रह त्याग अणुव्रतका लक्षण।
२	परिग्रह त्याग महाव्रतका लक्षण।
३	परिग्रह त्याग प्रतिमाका लक्षण।
४	परिग्रह त्याग व्रतकी पाँच भावनाएँ।
*	व्रतकी भावनाओं सम्बन्धी विशेष विचार —दे० व्रत/२।
५	परिग्रह परिमाणानुव्रतके पाँच अतिचार।
६	परिग्रह परिमाण व्रत व प्रतिमामें अन्तर।
७	परिग्रह त्यागकी महिमा।
*	परिग्रह त्याग व व्युत्सर्ग तपमें अन्तर—दे० व्युत्सर्ग/२।
*	परिग्रह परिमाण व क्षेत्र वृद्धि अतिचारमें अन्तर —दे० दिग्व्रत।
*	परिग्रह व्रतमें कदाचित् किञ्चित् अपवादका ग्रहण व समन्वय —दे० अपवाद।
*	दानार्थ भी धन संग्रहकी इच्छाका विधिनिषेध दे० दान/६।
३	अन्तरंग परिग्रहकी प्रधानता
१	बाह्य परिग्रह नहीं अन्तरंग ही है।
२	तीनों काल सम्बन्धी परिग्रहमें इच्छाकी प्रधानता।
३	अभ्यन्तरके कारण बाह्य है, बाह्यके कारण अभ्यन्तर नहीं।
४	अन्तरंग त्याग ही वास्तवमें व्रत है।
५	अन्तरंग त्यागके बिना बाह्य त्याग अकिञ्चित्कर है।
६	बाह्य त्यागमें अन्तरंगकी ही प्रधानता है।
४	बाह्य परिग्रहकी कथंचित् मुख्यता व गौणता
१	बाह्य परिग्रहको परिग्रह कहना उपचार है।
२	बाह्य त्यागके बिना अन्तरंग त्याग अशक्य है।

३	बाह्य पदार्थोंका आश्रय करके ही रागादि उत्पन्न होते हैं।
४	बाह्य परिग्रह सर्वदा बन्धका कारण है।
५	बाह्याभ्यन्तर परिग्रह समन्वय
१	दोनोंमें परस्पर अविनाभावीपना।
२	बाह्य परिग्रहके ग्रहणमें इच्छाका सद्भाव सिद्ध है।
३	बाह्य परिग्रह दुःख व इच्छाका कारण है।
४	इच्छा ही परिग्रह ग्रहणका कारण है।
५	आकिञ्चन्य भावनासे परिग्रहका त्याग होता है।
६	अभ्यन्तर त्यागमें सर्वबाह्य त्याग अन्तर्भूत है।
७	परिग्रह त्यागव्रतका प्रयोजन।
८	निश्चय व्यवहार परिग्रहका नयार्थ।
*	अचैलकत्वके कारण व प्रयोजन —दे० 'अचैलकत्व'।

१. परिग्रह सामान्य निर्देश

१. परिग्रह के लक्षण

त.सू./७/१७ मूर्च्छा परिग्रह'। १७। = मूर्च्छा परिग्रह है। ७।
 स.सि./४/२१/२५/२/५ लोभकषायोदयाद्विषयेषु सङ्ग परिग्रह'।
 स.सि./६/१५/३३३/१० ममेदंबुद्धिलक्षण' परिग्रह'।
 स.सि./७/१७/३५५/१० रागादयः पुनः कर्मोदयतन्त्रा इति अनात्मस्वभावत्वाद्भेदाः। ततस्तेषु सङ्कल्पः परिग्रह इति युज्यते। = १. लोभकषायके उदयसे विषयोके मंगको परिग्रह कहते हैं। (रा.वा./४/२१/३/२३६/७), २. 'यह वस्तु मेरी है', इस प्रकारका संकल्प रखना परिग्रह है। (स.सि./७/१७/३५५/६); (रा.वा./६/१५/३/५२५/१७) (त.सा./४/७७); (सा.घ./४/५६)। ३. रागादि तो कर्मके उदयसे होते हैं, अतः वह आत्माका स्वभाव न होनेसे हेय है। इसलिए उनमें होनेवाला संकल्प परिग्रह है। यह बात बन जाती है। (रा.वा./७/१७/५/५४५/१८)।

रा. वा./६/१५/३/५२५/१७ ममेदं वस्तु अहमस्य स्वामीत्यात्मात्मीयाभिमान' संकल्पः परिग्रह इत्युच्यते। = 'यह मेरा है मैं इसका स्वामी हूँ' इस प्रकारका ममत्व परिणाम परिग्रह है।
 ध. १२/४.२.८.६/२८२/६ परिग्रह्यते इति परिग्रहः बाह्यार्थः क्षेत्रादि., परिग्रह्यते अनेनेति च परिग्रह, बाह्यार्थग्रहणहेतुरत्र परिणामः। = 'परिग्रह्यते इति परिग्रह' अर्थात् जो ग्रहण किया जाता है। इस निरुक्तिके अनुसार क्षेत्रादि रूप बाह्य पदार्थ परिग्रह कहा जाता है, तथा 'परिग्रह्यते अनेनेति परिग्रह' जिसके द्वारा ग्रहण किया जाता है वह परिग्रह है, इस निरुक्तिके अनुसार यहाँ बाह्य-पदार्थके ग्रहणमें कारणभूत परिणाम परिग्रह कहा जाता है।
 स. सा./आ./२१० इच्छा परिग्रह'। = इच्छा है वही परिग्रह है।

२. निज गुणोंका ग्रहण परिग्रह नहीं

स. सि./७/१७/३५५/६ यदि ममेदमिति संकल्प परिग्रहः; संज्ञानाचपि परिग्रहः प्राप्नोति तदपि हि ममेदमिति संकल्प्यते रागादिपरिणाम-वत्। नैष दोषः 'प्रमत्तयोगात्' इत्यनुवर्तते। ततो ज्ञानदर्शनस्वा-रित्रव्रतोऽप्रमत्तस्य मोहाभावात् मूर्च्छाऽस्तीति निष्परिग्रहत्व सिद्धं। किञ्च तेषां ज्ञानादीनामहेयत्वादात्मस्वभावत्वादपरिग्रहत्वम्।

—प्रश्न—'यह मेरा है' इस प्रकारका संकल्प ही परिग्रह है तो ज्ञानादिक भी परिग्रह ठहरते हैं, क्योंकि रागादि परिणामोके समान ज्ञानादिकमें भी 'यह मेरा है' इस प्रकारका संकल्प होता है। उत्तर—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि 'प्रमत्तयोगात्' इस पदकी अनुवृत्ति होती है, इसलिए जो ज्ञान, दर्शन और चारित्रवाला होकर प्रमाद रहित है उसके मोहका अभाव होनेसे मूर्च्छा नहीं है, अतएव परिग्रह रहितपना सिद्ध होता है। दूसरे वे ज्ञानादिक अहेय हैं और आत्माके स्वभाव हैं इसलिए उनमें परिग्रहपना नहीं प्राप्त होता। (रा.वा. ७/१७/२/१४५/१४)।

३. वातादि विकाररूप मूर्च्छा परिग्रह नहीं

स. सि. ७/१७/३५/१ लोके वातादिप्रकोपविशेषस्य मूर्च्छेति प्रसिद्धिरस्ति तद्ग्रहण कस्मात् भवति। सत्यमेवमेतत्। मूर्च्छिरय मोह सामान्ये वर्तते। "सामान्यचोदनाश्च विशेषेणवतिष्ठन्ते" इत्युक्ते विशेषे व्यवस्थित' परिग्रहते। = प्रश्न—लोकमें वातादि प्रकोप विशेषका नाम मूर्च्छा है ऐसी प्रसिद्धि है, इसलिए यहाँ इस मूर्च्छाका ग्रहण क्यों नहीं किया जाता? उत्तर—यह कहना सत्य है, तथापि मूर्च्छा घातुका सामान्य मोह अर्थ है, और सामान्य शब्द तद्गत विशेषो-मे ही रहते हैं, ऐसा मान लेनेपर यहाँ मूर्च्छाका विशेष अर्थ ही लिया गया है, क्योंकि यहाँ परिग्रहका प्रकरण है। (रा. वा. ७/१७/३५/३)।

४. परिग्रहकी अत्यन्त निन्दा

सू. पा. सू. १६ जस्य परिग्रहग्रहणं अप्यं बहुय च हवइ लिगस्तस। सो ग्रहणं जिणवयणे परिग्रहग्रहणो निरायारो १९६। = जिसके मतमें लिगधारीके परिग्रहका अप्यं वा बहुते ग्रहणपना कहा है सो मत तथा उस मतका श्रद्धावात् पुरुष निन्दा योग्य है जातै जिनमत विषे परिग्रह रहित है सो निरागार है निर्दोष है।

मो. पा. सू. ७६ जे पचचेलसत्ता गंथगाहीय जायणासीला। आधा-कम्ममि रया ते चत्ता मोक्खमग्गमि ७६। = जो पाँच प्रकारके (अपडज, कर्पासज, वक्कल, रोमज, चर्मज) वस्त्रमें आसक्त है, माँगनेका जिनका स्वभाव है, बहुरि अध कर्म अर्थात् पापकर्म विषे रत है, और सदोष आहार करते हैं ते मोक्षमार्गते च्युत है ७६।

लि. पा. सू. १६ सम्मूहदि रक्खेदि य अट्ट भाएदि बहुपयत्तेण। सो पावमादिदमदो त्तिरिक्खजोणो ण सो समणो १६। = जो निर्ग्रन्थ लिगधारी परिग्रह कृं सग्रह करे है, अथवा ताका चिन्तवन करे है, बहुत प्रयत्नसे उसकी रक्षा करे है, वह मुनि पापसे मोहित हुई है बुद्धि जिसकी ऐसा पशु है श्रमण नहीं १६। (भ. आ. सू. ११२६-११७३)।

र. सा. सू. १०६ धणघण्ण पडिग्गहणं समणान दूणण होइ १०६। = जो मुनि धनधान्य आदि सबका ग्रहण करता है वह मुनि समस्त मुनियोंको दूषित करनेवाला होता है।

सू. आ. ११८ मूल छित्ता समणो जो गिण्हादी य बाहिरं जोग। बाहिर-जोग सव्वे मूलविहूणस्स कि करिस्संति ११८। = जो साधु अहिंसादि मूलगुणोको छेद वृक्षमूलादि योगोको ग्रहण करता है, सो मूलगुण रहित है। उस साधुके सब बाहरके योग क्या कर सकते हैं, उनसे कर्माका क्षय नहीं हो सकता ११८।

स. सि. ७/१७/३५/११ तन्मूला. सर्वे दोषा' संरक्षणादय' सजायन्ते। तत्र च हिंसावश्यंभाविनी। तदर्थममूर्तं जल्पति। चौर्यं वा आचरति मैथुने च कर्मणि प्रयत्नते। तत्प्रभवा नरकादिषु दुःखप्रकारा'। = सब दोष परिग्रह मूलक ही होते हैं। 'यह मेरा है' इस प्रकारके संकल्प होने पर संरक्षण आदि रूप भाव होते हैं। और इसमें हिंसा अवश्यम्भाविनी है। इसके लिए असत्य बोधता है, चोरी करता है,

मैथुन कर्ममें रत होता है। नरकादिकमें जितन दुःख है वे सब इससे उत्पन्न होते हैं।

प. प्र. सू. १/२/५५-६० चेला-चेली-पुत्थियहि तूसइ मूढु णिभंतु। एयहि लज्जइ णाणियउ बघहं हेउ मुणहु ५५। चट्टहि पट्टहि कुंडियहि चेला-चेलियएहि। मोहु जणेविणु मुणिवरह उप्पहि पाटिय तेहि ५६। केण वि अप्पउ बंचियउ सिरु लंचि वि छारेण। सयल वि संग ण परिहरिय जिणवरलिगधरेण ५७। = अज्ञानी जन चेला चेला पुस्तकादिकसे हर्षित होता है, इसमें कुछ सन्देह नहीं है, और ज्ञानीजन इन बाह्य पदार्थोंसे शरमाता है, क्योंकि इन सबको बन्धका कारण जानता है ५५। पीछी, कमण्डलु, पुस्तक और मुनि श्रावक रूप चेला, अजिका, श्राविका इत्यादि चेला—ये संघ मुनिवरोको मोह उत्पन्न कराके वे उन्मार्गमें डाल देते हैं ५६। जिस किसीने जिनवरका भेष धारण करके भस्मसे सिरके केश लौच किये हैं, लेकिन सब परिग्रह नहीं छोड़े, उसने अपनी आत्माको ठग लिया ५७।

प्र. सा. त. प्र. २१३ २१६ सर्व एव हि परद्रव्यप्रतिबन्धा उपयोगोपरल्ल-कत्वेन निरुपरागोपयोगरूपस्य श्रामण्यस्य छेदायतनानि तदभावा-देवाच्छिन्नश्रामण्यम्। उपशे-च्छेदत्वमेकान्तिकमेव। = वास्तवमें सर्व ही परद्रव्य प्रतिबन्धक उपयोगके उपरंजक होनेसे निरुपराग उपयोग रूप श्रामण्यके छेदके आयतन है; उनके अभावसे ही अच्छिन्न श्रामण्य होता है २१३। उपधिमें एकान्तसे सर्वथा श्रामण्यका छेद ही है। (और छेद हिंसा है)।

पु. सि. उ. ११६ हिंसापर्यायत्वात्सिद्धा हिंसान्तरङ्गसङ्गेषु। बहिर-ङ्गेषु तु नियतं प्रयातु मूर्च्छेव हिंसात्वम् ११६। = हिंसाके पर्याय रूप होनेके कारण अन्तरंग परिग्रहमें हिंसा स्वयं सिद्ध है, और बहिरंग परिग्रहमें ममत्व परिणाम ही हिंसा भावको निश्चयसे प्राप्त होते हैं ११६।

ज्ञा. १६/१२/१७८ संगत्कामस्तत. क्रोधस्तस्माद्भिंसा तथाशुभम्। तेन श्वाभ्री गतिस्तस्यां दुःखं वाचामगोचरम् १२। = परिग्रहसे काम होता है, कामसे क्रोध, क्रोधसे हिंसा, हिंसासे पाप, और पापसे नरकगति होती है। उस नरकगतिमें बचनेके अगोचर अति दुःख होता है। इस प्रकार दुःखका मूल परिग्रह है १२।

प. वि. १/१५३ दुर्ध्यानार्थमवयकारणमहो निर्ग्रन्थताहानये, शय्याहेतु तृणाद्यपि प्रशमिना लज्जाकरं स्वीकृतम्। यत्तत्किं न गृहस्थयोग्यम-परं स्वर्णादिकं साप्रतं, निर्ग्रन्थेष्वपि चैतदस्ति नितरा प्राय' प्रविष्टः कलि' १५३। = जब कि शय्याके निमित्त स्वीकार किये गये लज्जाजनक तृण (प्याल) आदि भी मुनियोंके लिए आर्त-रौद्र स्वरूप दुर्ध्यान एवं पापके कारण होकर उनकी निर्ग्रन्थताको नष्ट करते हैं, तब फिर वे गृहस्थके योग्य अन्य सुवर्णादि क्या उस निर्ग्रन्थताके घातक न होंगे? अवश्य होंगे। फिर यदि वर्तमानमें निर्ग्रन्थ मुनि सुवर्णादि रखता है तो समझना चाहिए कि कलिकालका प्रवेश हो चुका है १५३।

५. साधुके ग्रहण योग्य परिग्रह

प्र. सा. सू. २२२-२२५ छेदो जेण ण विज्जदि गहणविसग्गेहु सेवमाणस्स। समणो तेणिह वट्टहु कालु खेत्त वियणित्ता २२२। अप्पडिक्कटं उवधि अपत्थणिज्ज असज्जजणेहि। सुच्छादिजणवरहिदं गेणहु समणो जदि वि अप्पं २२३। उवयरणं जिणमग्गे तिगं जहजादरूव-मिदि भणिदं। गुरुवयण पि य विणओ सुत्तज्जभयणं च पिहिदुट्ठं २२५। = जिस उपधिके (आहार-विहारादिकके) ग्रहण विसर्जनमें सेवन करनेमें जिससे सेवन करने वालेके छेद नहीं होता उस उपधि युक्त काल क्षेत्रको, जानकर इस लोकमें श्रमण भले वर्ते २२२। भले ही अप्यं हो तथापि जो अनिन्दित हो, असत्यजनोसे अप्रार्थनीय हो, और जो मूर्च्छादिकी जनन रहित हो, ऐसा ही उपधि श्रमण ग्रहण करो २२३। यथाजात रूप (जन्मजात-नग्न) लिग जिनमार्गमें

उपकरण कहा गया है, गुरुके वचन, सूत्रोंका अध्ययन, और विनय भी उपकरण कही गयी है (२२१)। (विशेष देखो उपरोक्त गाथाओंकी टोका)।

२. परिग्रह त्याग व्रत व प्रतिमा

१. परिग्रह त्याग अणुव्रतका लक्षण

र. क. आ. १/६१ धनधान्यादिग्रन्थ परिमाय ततोऽधिकेषु नि स्पृहता । परिमितपरिग्रह स्याद्विच्छापरिमाणानामपि । ६१। = धन धान्यादि दश प्रकारके परिग्रहकी परिमित अर्थात् उसका परिमाण करके कि 'इतना रखेगे' उससे अधिकमे इच्छा नहीं रखना सो परिग्रह परिमाण व्रत है। तथा यही इच्छा परिमाण वाला व्रत भी कहा जाता है । ६१। (स. सि. ७/२०/३५५/११), (स. सि. ७/२६/३६५/११)।
का. अ. १/३३९-३४० जो लोहं णिहणित्ता सतोस-रसायणेण सत्तुट्ठो । णिहणदि तिण्हा दुट्ठा मण्णतो विणस्सर सब्ब । ३३९। जो परिमाणं कुञ्चदि धण-धण्ण-सुवण्ण-खित्तमाईयं । उवओग जाणित्ता अणुव्वदं पचम तस्स । ३४०। = जो लोभ कषायको कम करके, सन्तोष रूपी रसायनसे सन्तुष्ट होता हुआ, सबको विनश्वर जानकर दुष्ट तृष्णाका धात करता है। और अपनी आवश्यकताको जानकर धन, धान्य, सुवर्ण और क्षेत्र वगेरहका परिमाण करता है उसके पाँचवाँ अणुव्रत होता है । ३३९-३४०।

२. परिग्रह त्याग महाव्रतका लक्षण

सु. आ. १/६.२६३ जोव णिब्रह्मा बद्धा परिग्रहहा जीवसभवा चैव । तेसि सकञ्चाओ इयरग्ग्हि य णिम्मओऽसगो । ६। गाम णगरं रण्णं थूल सच्चित्त बहु सपडिक्कस्य । अव्यत्थ बाहिरत्थ ति विहेण परिग्रहं बज्जे । २६३। = जीवके आश्रित अन्तरंग परिग्रह तथा चैतन परिग्रह, व अचेतन परिग्रह इत्यादिका शक्ति प्रगट करके त्याग, तथा इनसे इतर जो रुच्यम, ज्ञान शौचके उपकरण इनमे ममत्वका न होना परिग्रह त्याग महाव्रत है । ६। ग्राम, नगर वन क्षेत्र इत्यादि बहुत प्रकारके अथवा सूक्ष्म अचेतन एकरूप वस्त्र सुवर्ण आदि बाह्य परिग्रह और मिथ्यात्वादि अन्तरंग परिग्रह—इन सबका मन, वचन, काय कृत कारित अनुमोदनासे मुनिको त्याग करना चाहिए। यह परिग्रह त्याग व्रत है । २६३।

नि. सा. १/६० सब्बेसि गथाण तागोणिसेक्ख भावणापुञ्ज । पचम-वदमिदि भणिद चारित्तभर बहत्तस्स । ६०। = निरपेक्ष भावना पूर्वक सर्वा परिग्रहोंका त्याग उस चारित्र भार वहन करनेवालोंको पाँचवाँ व्रत कहा है । ६०।

३. परिग्रह त्याग प्रतिमाका लक्षण

र. क. आ. १/१४५ बाहोषु दशसु वस्तुषु ममत्वमुत्सृज्य निममत्वरत । स्वस्थ सतोषपर परिचितपरिग्रहाद्विरत । १४५। = जो मादके दश प्रकारके परिग्रहोंमे ममताको छोड़कर निर्ममतामे रत होता हुआ मायादि रहित स्थिर और संतोष वृत्ति धारण करनेमें तत्पर है वह सचित्त परिग्रहसे विरक्त अर्थात् परिग्रहत्याग प्रतिमाका धारक है । १४५। (चा. सा. ३५/६)।

वसु. आ. १/२६६ मोत्तूण वरथमेत्तं परिग्रह जो विवज्जए सेसं । तत्थ वि मुच्छ ण करेइ जाणइ सो सावओ णवमो । २६६। = जो वस्त्रमात्र परिग्रहकी रखकर शेष सब परिग्रहको छोड़ देता है और स्वीकृत वस्त्रमात्र परिग्रहमें भी मूर्च्छा नहीं करता, उसे नवमाँ श्रावक जानो । २६६। (गुण. आ. १/२६६) (द्र. स. टो. ४४/१६६/६)।

का. अ. १/३६६ जा परिवज्जइ गथ अन्धतर-बाहिरं च साणदो । पाव ति मण्णमाणो णिम्मथो सो हवे णाणो । ३६६। = जो ज्ञानो पुरुष पाप

मानकर अभ्यन्तर और बाह्य परिग्रहको आनन्द पूर्वक छोड़ देता है उसे निर्ग्रन्थ (परिग्रह त्यागी) कहते हैं । ३६६।

सा. ध. १/२/२३-२६ सम्यन्थविरतो य, प्राग्गतवातस्फुरद्भृति । नैते मे नाहमेतेषामित्युज्झति परिग्रहान् । २३। एव व्युत्सृज्य सर्वस्वं, मोहाभिभवहानये । किञ्चित्काल गृहे तिष्ठेदौदास्य भावयन्सुधी । २६। = पूर्वोक्त आठ प्रतिमा विषयक व्रतोंके समूहमे रफुरायमान है सन्तोष जिसके ऐसा जो श्रावक 'ये वास्तु क्षेत्रादिक पदार्थ मेरे नहीं हैं, और मैं इनका नहीं हूँ' ऐसा मकल्प करके वास्तु और क्षेत्र आदिक दश प्रकारके परिग्रहको छोड़ देता है वह श्रावक परिग्रह त्याग प्रतिमावान कहलाता है । २३। तत्त्वज्ञानी श्रावक इस प्रकार सम्पूर्ण परिग्रहको छोड़कर मगहेके द्वारा होनेवाले आक्रमणको नष्ट करनेके लिए उपेक्षाका विचारता हुआ कुछ कालतक धरमे रहे । २६।

ला. स. १/७/३६-४२ 'नवमप्रातिमास्थान व्रत चास्ति गृहाश्रये । यत्र स्वर्णादिद्रव्यस्य सर्वतस्त्यजनं स्मृतम् । ३६। अस्त्यात्मैकशरीरार्थं वस्त्रवेशमादि स्वीकृतम् । धर्मसाधनमात्रं वा शेषं नि शेषणीयताम् । ४१। स्यात्पुरस्तादितो यावत्स्वामित्वं सद्मयोषिताम् । तत्सर्वं सर्व-स्त्याज्यं नि शक्यो जीवनावधि । ४२। = ब्रह्मो श्रावककी नवम प्रतिमाका नाम परिग्रह त्यागप्रतिमा है। इस प्रतिमाको धारण करनेवाला श्रावक सोना, चाँदी आदि समस्त द्रव्यमात्रका त्याग कर देता है । ३६। तथा केवल अपने शरीरके लिए वस्त्र घर आदि आवश्यक पदार्थोंको स्वीकार करता है अथवा धर्म साधनके लिए जिन-जिन पदार्थोंकी आवश्यकता पडती है उनका ग्रहण करता है। शेष सबका त्याग कर देता है। भावार्थ—अपनी रक्षाके लिए वस्त्र, घर वा स्थान, अथवा अभिवेक पूजादिके वर्तन, स्वाध्याय आदिके लिए ग्रन्थ वा दान देनेके साधन रखता है। शेषका त्याग कर देता है । ४१। इस प्रतिमाको धारण करनेसे पूर्व वह घर व स्त्री आदिका स्वामी गिना जाता था परन्तु अब सबका जन्मपर्यन्तके लिए त्याग करके नि शक्य हो जाना पडता है । ४२।

४. परिग्रह त्याग व्रतकी पाँच भावनाएँ

त. सू. ७/८ मनोज्ञामनोज्ञेन्द्रियविषयरागद्वेषवर्जनानि पञ्च । ८। = मनोज्ञ और अमनोज्ञ इन्द्रियोंके विषयोंमे क्रमसे राग और द्वेषका त्याग करना ये अपरिग्रहव्रतकी पाँच भावनाएँ हैं । ८। (भ. आ. १/२२११) (चा. पा. सू. ३६)।

सू. आ. १/३४१ अपरिग्रहस्स मुणिणो सट्ठपरिसरसरूक्कधेसु । रागदोसादीण परिहारो भावणा पच । ३४१। = परिग्रह रहित मुनिके शब्द, स्पर्श, रस, रूप, गन्ध, इन पाँच विषयोंमे राग द्वेष न होना—ये पाँच भावना परिग्रह त्याग महाव्रत की हैं । ३४१।

स. सि. ७/६/३४६/४ परिग्रहवान् शकुनिरिव गृहीतमासखण्डोऽन्वेषा तदर्थिना पतत्त्रिणामिहैव तस्करादीनामभिभवनीयो भवति तदर्जन-रक्षणप्रक्षयकृताश्च दोषाश्च बहूनवाप्नोति न चास्य तृप्तिर्भवति इन्धनैरिजाग्ने लोभाभिभूतत्वाच्च कार्याकार्यानपेक्षो भवति प्रेत्य चाशुभा गतिमास्कन्दते लुब्धोऽयमिति गर्हितश्च भवतीति तद्विरमण-श्रेय । एव हिसादिष्वपायावच्छर्शन भावनीयम् । = जिस प्रकार पक्षी मासके टुकड़ेको प्राप्त करके उसको चाहनेवाले दूसरे पक्षियोंके द्वारा पराभूत होता है उसी प्रकार परिग्रहवाला भी इसी लोकमे उसको चाहनेवाले चोर आदिके द्वारा पराभूत होता है। तथा उसके अर्जन, रक्षण और नाशसे होनेवाले अनेक दोषोंको प्राप्त होता है, जैसे ईंधनसे अग्निकी तृप्ति नहीं होती। यह लोभातिरेकके कारण कार्य और अकार्यका विवेक नहीं करता, परलोकमे अशुभ गतिको प्राप्त होता है। तथा 'यह लोभी है' इस प्रकारसे इसका तिरस्कार भी होता है इसलिए परिग्रहका त्याग श्रेयस्कर है। इस प्रकार हिसा आदि दोषोंमे अपाय और अवचके दर्शनकी भावना करनी चाहिए।

५. परिग्रह प्रमाणानुव्रतके पाँच अतिचार

त मू ७/२६ क्षेत्रवास्तुहिरण्यसुवर्णधनधान्यदासीदासकुप्यप्रमाणति-
क्रमा १२६। = क्षेत्र और वास्तुके, हिरण्य और सुवर्णके, धन और
धान्यके, दासी और दासके, तथा कुप्यके प्रमाणका अतिक्रम ये परि-
ग्रह प्रमाण अनुव्रतके पाँच अतिचार हैं। १२६। (सा. घ ४/६४ मे
उद्धृत श्री सोमदेवकृत श्लोक)।

र क आ ६/६२ अतिवाहनातिसंग्रहविस्मयलोभातिभारवहनानि। परि-
मितपरिग्रहस्य च विक्षेपा पञ्च लक्ष्यन्ते। ६२। = प्रयोजनसे अधिक
सवारी रखना, आवश्यकीय वस्तुओंका अतिशय संग्रह करना, परका
विभन्न देखकर आश्चर्य करना, बहुत लोभ करना, और किसीपर
बहुत भार लादना ये पाँच परिग्रहव्रतके अतिचार कहे जाते हैं। ६२।

सा घ ४/६४ वास्तुक्षेत्रे योगाद् धनधान्ये बन्धनात् कनकसूत्रे। दाना-
त्कुप्ये भावान् — न गवादी गर्भतो मितमीतीयात्। ६४। = परिग्रह-
परिमाणानुव्रतका पालक धावक मकान और खेतके विषयमें अन्य
मकान और अन्य खेतके सम्बन्धसे, धन और धान्यके विषयमें
व्याना बंधनेसे, स्वर्ण और चाँदीके विषयमें भिन्नवातु वगैरहके
विषयमें मिश्रण या परिवर्तनसे तथा गाय बैल आदिके विषयमें गर्भसे
मर्यादाको उल्लङ्घन नहीं करे। ६४।

६. परिग्रह परिमाण व्रत व प्रतिमामे अन्तर

ला स ७/४०-४२ इत पूर्व सुवर्णादि सख्यामात्रापकर्षण। इत प्रवृत्ति-
वित्तस्य मूलादुन्मूलन व्रतम्। ४०। = परिग्रह त्याग प्रतिमाको स्वीकार
करनेवालेके पहले सोना चाँदी आदि द्रव्योंका परिमाण कर रखा था,
परन्तु अब इस प्रतिमाको धारण कर लेनेपर श्रावक सोना चाँदी आदि
धनका त्याग कर देता है। ४०।

७. परिग्रह त्यागकी महिमा

भ आ १/१९८ रागविवागसतृष्णादिगिद्धि अत्रतित्ति चक्रवद्विमुहं।
गिरसग गिन्नुवृहसुहसस क्व अत्रइ अणतभागं पि। १९८। = चक्र-
वर्तिका सुख राग भावको बढ़ानेवाला तथा तृष्णाको बढ़ानेवाला है।
इसलिए परिग्रहका त्याग करनेपर रागद्वेषरहित मुनिको जो सुख
होता है, चक्रवर्तीका सुख उसके अनन्त भागकी बराबरी नहीं कर
सकता। १९८। (भ आ १/१९७४-१९८२)।

ज्ञा १/१६/३३/१८९ सर्वसगविनिर्मुक्त सवृत्ताक्ष स्थिराशय। धत्ते ध्यान-
धुरा धीर सयमी वीग्वणिता। ३३। = समस्त परिग्रहोंसे जो रहित
हो और इन्द्रियोंको सवरूप करनेवाला हो ऐसा स्थिरचित्त सयमी
मुनि ही वर्धम न भगवान्की कही हुई ध्यानकी धुराको धारण कर
सकता है। ३३।

३. अन्तरंग परिग्रहकी प्रधानता

१. बाह्य परिग्रह, परिग्रह नहीं अन्तरंग हो है

स सि ७/२७/३४५/३ बाह्यस्य परिग्रहत्वं न प्राप्नोति, आध्यात्मिकस्य
संग्रहात्। सत्यमेवमेतत्, प्रधानत्वाद्भ्यन्तर एव संगृहीत असत्यपि
बाह्ये ममेदमिति संकल्पवात् सपरिग्रह एव भवति। = प्रश्न—बाह्य
वस्तुको परिग्रहपना प्राप्त नहीं होता क्योंकि 'मूर्च्छा' इस शब्दसे
अभ्यन्तरका संग्रह होता है। उत्तर—यह कहना सही है; क्योंकि
प्रधान होनेसे अभ्यन्तरका ही संग्रह किया है। यह स्पष्ट ही है कि
बाह्य परिग्रहके न रहनेपर भी 'यह मेरा है' ऐसा संकल्पवाला पुरुष
परिग्रह सहित ही होता है। (रा. वा ७/१७/३ ५४५/६)।

स सा आ १/२१७/क १४६ पूर्वबद्धनिजकर्मविपाकात् ज्ञानिनो यदि
भक्त्युपभोग। तद्भवत्वथ च रागवियोगात् नूनमेति न परिग्रह-
भावम्। १४६।

म. सा आ १/२१५ वियोगबुद्धिश्चैव केवलं प्रवर्तमानस्तु स किल न परिग्रह
स्यात्। = पूर्व बद्ध अपने कर्मके विपाकके कारण ज्ञानिके यदि उप-
भोग हो तो हो, परन्तु रागके वियोगके कारण वास्तवमें उपभोग
परिग्रह भावका प्राप्त नहीं होता। १४६। केवल वियोगबुद्धिसे (हेय
बुद्धिसे) ही प्रवर्तमान वह (उपभोग) वास्तवमें परिग्रह नहीं है।

यो सा अ ७/५७ द्रव्यमात्रनिवृत्तस्य नास्ति निवृत्तिरेनसा। भाव-
तोऽस्ति निवृत्तस्य तात्त्विकी सवृत्ति, पुन १५७। = जो मनुष्य केवल
द्रव्यरूपसे विषयोसे विरक्त है, उनके पापोंकी निवृत्ति नहीं, किन्तु
जो भावरूपसे निवृत्त है, उन्हीके वास्तविकरूपसे कर्मका सवर
होता है।

२. तीनों काल सम्बन्धी परिग्रहमें इच्छाकी प्रधानता

स. सा आ १/२१५ अतीतस्तावत् अतीतत्वादेव स न परिग्रहभाव
विभर्ति। अनागतस्तु आकाङ्क्षा एव परिग्रहभावा विभूयात् प्रयु-
त्पन्नस्तु स किल रागबुद्ध्या प्रवर्तमानो दृष्ट। = अतीत उपभोग है
वह अतीतके कारण ही परिग्रह भावको धारण नहीं करता। भविष्य-
का उपभोग यदि वाञ्छामे आता हो तो वह परिग्रह भावको धारण
करता है, और वर्तमानका उपभोग है वह यदि रागबुद्धिसे हो रहा हो
तो ही परिग्रह भावको धारण करता है।

प्र सा ता वृ २/२२०/२६६/२० विद्यमानेऽविद्यमाने वा बहिरङ्गपरिग्रहे-
ऽभिलाषे सति निर्मलशुद्धात्मानुभूतिरूपा चित्तशुद्धि कर्तुं नायाति।
= विद्यमान वा अविद्यमान बहिरंग परिग्रहकी अभिलाषा रहनेपर
निर्मल शुद्धात्मानुभूति रूप चित्तकी शुद्धि करनेमें नहीं आती।

३. अभ्यन्तरके कारण बाह्य है, बाह्यके कारण अभ्यन्तर नहीं

प्र सा ता वृ २/२१५/२६२/२० अध्यात्मानुसारेण मूर्च्छारूपरागादि-
परिणामानुसारेण परिग्रहो भवति न च बहिरङ्गपरिग्रहानुसारेण। =
अन्तरंग मूर्च्छारूप रागादिपरिणामोंके अनुसार परिग्रह होता है
बहिरंग परिग्रहके अनुसार नहीं।

रा वा १/हि ६/४६/७६७ विषयका ग्रहण तो कार्य है और मूर्च्छा ताका
कारण है जाका मूर्च्छा कारण नष्ट होयगा ताके बाह्य परिग्रहका
ग्रहण कदाचित्त नहीं होयगा। बहुरि जो विषय ग्रहण कृ तो कारण
कहे अर मूर्च्छा कं कारण न कहे, तिनके मत्तमें विषय रूप जो परि-
ग्रह तिनके न होतै मूर्च्छाका उदय नाही सिद्ध होय है। (तातै
नग्नलिगी भेषीको नग्नपनेका प्रसंग आता है।)

४. अन्तरंग त्याग ही वास्तवमें व्रत है

दे० परिग्रह/२/२ में नि. सा मू ६० निरपेक्ष भावसे किया गया त्याग
ही महाव्रत है।

दे० परिग्रह/१/२ प्रमाद हो वास्तवमें परिग्रह है, उसके अभावमें निज
गुणोंमें मूर्च्छाका भी अभाव होता है।

५. अन्तरंग त्यागके बिना बाह्य त्याग अकिंचित्कर है

भा. पा. मू ३/२.५६ बाहिरचाओ विहलो अर्धतरंगयुक्तस्स। ३।
परिणामन्मि असुद्धे गथे मुचेइ बाहरे य जई। बाहिरगंधचाओ
भावविहणस्स कि कुणइ। ५। बाहिरसगन्नाओ गिरिसरिदरिक्कराइ
आवासो। सयलो णाणाज्जयणो गिरत्थओ भावरहियाण ८६। = जो
अन्तरंग परिग्रह अर्थात् रागादिसे युक्त है उसके बाह्य परिग्रहका त्याग
निष्फल है। ३। जो मुनि होय परिणाम असुद्ध होतै बाह्य ग्रन्थ कू
छोडे तौ बाह्य परिग्रहका त्याग है सो भाव रहित मुनिके कहा करै।
कछु भी नहों करै। ५। जो पुरुष भावनारहित है, तिनिका बाह्य
परिग्रहका त्याग, गिरि, कन्दराओ आदिमें आवास तथा ध्यान
अध्ययन आदि सब निरर्थक है। ८६। (भा. पा. मू. ४८-५४)।

नि सा/मू/७५ चागो वैररग विणा एददो वारिया भणिया ७५।
=वैराग्यके बिना त्याग विडम्बना मात्र है ७५।

६. बाह्य त्यागमें अन्तरगकी ही प्रधानता है

स सा/मू/२०७ को णाम भणिज्ज बुहो परदव्व मम इम हवदि दव्व ।
अप्याणमपणे परिग्रह तु गियद वियाणतो १२०७।=अपने आत्मा-
को ही नियमसे पर द्रव्य जानता हुआ कौन सा ज्ञानी यह कहेगा
कि यह परद्रव्य मेरा द्रव्य है १२०७ (स.सा./मू./३४) ।

स.सा/आ./२०७-२१३ कुतो ज्ञानं परद्रव्यं न गृह्णातीति चेत् ।
आत्मानमात्मन परिग्रहं नियमेन विजानाति, ततो न ममेद स्वं
नाहमस्य स्वामी इति परद्रव्यं न परिगृह्णाति १२०७। इच्छा
परिग्रह' । तस्य परिग्रहो नास्ति यस्येच्छा नास्ति । इच्छा त्वज्ञान-
मयो भाव', अज्ञानमयो भावस्तु ज्ञानिनो नास्ति । ततो ज्ञानी
अज्ञानमयस्य भावस्य इच्छाया अभावादधर्म (अधर्म, अशनं, पानम्
२-११-२१३) नेच्छति । तेन ज्ञानिनो धर्म (आदि) परिग्रहो
नास्ति ।

स.सा/आ./२५५-२८६ यदेव निमित्तभूत द्रव्यं प्रतिक्रामति प्रत्याचष्टे च
तदेव नेमित्तिकभूत भावं प्रतिक्रामति च यदा तु भावं प्रतिक्रामति
प्रत्याचष्टे च तदा साक्षादकर्तव स्यात् १२८६। समस्तमपि परद्रव्यं
प्रत्याचक्षणस्तन्निमित्त ।

स सा आ/२६५ किमर्थो बाह्यवस्तुप्रतिषेध । अध्यवसानप्रतिषेधार्थः ।
भाव प्रत्याचष्टे १२६६।=प्रश्न—ज्ञानी परकी क्यो ग्रहण नहीं
करता । उत्तर—आत्माको ही नियमसे आत्माका परिग्रह जानता है,
इसलिए 'यह मेरा' 'स्व' नहीं है, मैं इसका स्वामी नहीं हूँ' ऐसा
जानता हुआ परद्रव्यका परिग्रह नहीं करता १२०७। २. इच्छा परिग्रह
है । उसको परिग्रह नहीं है—जिसके इच्छा नहीं है । इच्छा तो
अज्ञानमय भाव है, और अज्ञानमयभाव ज्ञानीके नहीं होता है ।
इसलिए अज्ञानमय भावरूप इच्छाके अभाव होनेसे ज्ञानी धर्मको,
(अधर्मको, अशनको, पानको) नहीं चाहता, इसलिए ज्ञानीके
धर्मादिका परिग्रह नहीं है १२१०-२१३। ३. जब निमित्तरूप परद्रव्य-
का प्रतिक्रमण व प्रत्याख्यान करता है, तब उसके नैमित्तिक रागादि
भावोका भी प्रतिक्रमण व प्रत्याख्यान हो जाता है, तब वह साक्षात्
अकर्ता ही है १२५५। समस्त परद्रव्यका प्रत्याख्यान करता हुआ
आत्मा उसके निमित्तसे होनेवाले भावका प्रत्याख्यान करता है १२६६।
४. अध्यवसानके प्रतिषेधार्थ ही बाह्यवस्तुका प्रतिषेध है ।

प्र. सा/त प्र/२२० उपधेविधीयमान प्रतिषेधोऽन्तरङ्गच्छेदप्रतिषेध एव
स्यात् ।=क्रिया जानेवाला उपधिका निषेध अन्तरंग छेदका ही
निषेध है ।

का अ/मू/३८७ बाहिरगथविहीणा दलिद मणुवा सहावदो होति ।
अभन्तर-गथ पुण ण सक्केदो विद्धडेदु १३०७।=बाह्य परिग्रहसे
रहित द्रव्यो मनुष्य तो स्वभावसे ही होते हैं, किन्तु अन्तरग
परिग्रहको छोड़नेमें कोई भी समर्थ नहीं होता १३०७।

४ बाह्य परिग्रहकी कथंचित् मुख्यता व गौणता

१. बाह्य परिग्रहको ग्रन्थ कहना उचित है

ध. १/४.१.६७/३२३/६ कथं खेत्तादोणं भावगथसण्णा । कारणे कज्जो-
वयारादो । व्यवहारणय पडुच्च खेत्तादो गथो, अभन्तरगथकारणत्तादो
एदस्स परिहरणं णिग्गतत्त । =प्रश्न—क्षेत्रादिको भावग्रन्थ सज्ञा
कैसे हो सकती है ? उत्तर—कारणमें कार्यका उपचार करनेसे क्षेत्रादि-
कोको भावग्रन्थ सज्ञा बन जाता है । व्यवहारणयकी अपेक्षा क्षेत्रादिक
ग्रन्थ है, क्योंकि वे अभन्तर ग्रन्थके कारण हैं, और इनका त्याग
करनेसे निर्ग्रन्थता है ।

२. बाह्य त्यागके बिना अन्तरग त्याग अशक्य है

म आ/मू./११२० जह कुडओ ण सको सोधेदुं तंदुलस्स सत्तुस्स । तह
जीवस्स ण सको मोहमल सगसत्तस्स ११२०।=ऊपरका छिलका
निकाले बिना चावलका अन्तरगमल नष्ट नहीं होता । वैसे बाह्य
परिग्रह रूप मल जिसके आत्मामें उत्पन्न हुआ है, ऐसे आत्माका
कर्ममल नष्ट होना अशक्य है ११२०। (प्र.सा/त.प्र/२२०)
(अ.ध/४/१०५) ।

प्र.सा.मू./२२० णहि णिरवेखो चागो ण हवदि भिक्खुस्स आसय-
विमुद्धो । अविमुद्धस्स य चित्ते कइ णु कम्मवखओ विहिओ १२२०।
=यदि निरपेक्ष त्याग न हो तो भिक्षुके भावकी विशुद्धि नहीं होती;
और जो भावमें अविशुद्ध है उसके कर्मक्षय कैसे हो सकता है १२२०।
भा पा.मू./३ भावविमुद्धि णिमित्तं बाहिरगथस्स कीरणं चाओ ।=बाह्य
परिग्रहका त्याग भाव विशुद्धिके अर्थ किया जाता है ।

क पा.मू./१/१/शा ५०/१०४ सक्क परिहरियव्व असक्कगिज्जिम्मि जिम्ममा
समणा । तम्हा हिसायदणे अपरिहरंती कथमहिंसा १५०।=साधुजन जो
त्याग करनेके लिए शक्य होता है उसके त्याग करनेका प्रयत्न करते
हैं, और जो त्याग करनेके लिए अशक्य होता है उससे निर्मम होकर
रहते हैं, इसलिए त्याग करनेके लिए शक्य भी हिसायतनके परिहार
नहीं करनेपर अहिंसा कैसे हो सकती है, अर्थात् नहीं हो सकती १५०।

स.सा/आ/२५४-२८७ यावन्नमित्तभूतं द्रव्यं न प्रतिक्रामति न प्रत्याचष्टे
च तावन्नैमित्तिकभूत भावं न प्रतिक्रामति न प्रत्याचष्टे च, यावन्तु
भावं न प्रतिक्रामति न प्रत्याचष्टे तावत्कर्तव्यं स्यात् १२५४-२८६।
समस्तमपि परद्रव्यमप्रत्याख्यानस्तन्निमित्तक भावं न प्रत्याचष्टे
१२५६-२५७।=१. जब तक उसके (आत्मके) निमित्तभूत परद्रव्यके
अप्रतिक्रमण-अप्रत्याख्यान है तब तक उसके रागादि भावोका
अप्रतिक्रमण-अप्रत्याख्यान है, और जब तक रागादि भावोका
अप्रतिक्रमण-अप्रत्याख्यान है, तब तक रागादि भावोका कर्ता ही है
१२५४-२८६। समस्त पर द्रव्यका प्रत्याख्यान न करता हुआ आत्मा
उसके निमित्तसे होनेवाले भावको नहीं त्यागता १२५६-२८७।

ज्ञा/१६/२६-२७/१८० अपि सूर्यस्त्यजेद्धाम स्थिरत्वं वा सुराचलं । न
पुन सगसंकीर्णो मुनिः स्यात्संवृतेन्द्रियः १२६। बाह्यानपि च य-
सङ्गान्परित्यक्तुमनीश्वरः । स क्लीबं कर्मणा सैन्यं कथमग्रे हनिष्यति
१२७।=कदाचित् सूर्य अपना स्थान छोड़ दे और सुमरु पर्वत स्थिरता
छोड़ दे तो सम्भव है, परन्तु परिग्रह सहित मुनि कदापि जितेन्द्रिय
नहीं हो सकता १२६। जो पुरुष बाह्यके भी परिग्रहको छोड़नेमें
असमर्थ है वह नर्पुंसक आगे कर्मोकी सेनाको कैसे हनेगा ? १२७।

रा.वा/हि/१/४६/०६६ बाह्य परिग्रहका मज्जाव होय तो अम्यन्तरके
ग्रन्थका अभाव होय नहीं । जातेविषयका ग्रहण तो कार्य है और
मूर्च्छा ताका कारण है । जो बाह्य परिग्रह ग्रहण करे है सो मूर्च्छा
तो करे है । सो जाका मूर्च्छा कारण नष्ट होगया ताके बाह्य परिग्रहका
ग्रहण कदाचित् नहीं होगया ।

३. बाह्य पदार्थोका आश्रय करके ही रागादि उत्पन्न होते हैं

स.सा/मू/२६५ वत्थु पडुच्च ज पुण अज्जवसाण तु होइ जीवाण । ण य
वत्थुदो दु बधो अज्जवसाणेण बधोत्थि १२६५।=जीवोके जो अध्य-
वसान होता है वह वस्तुको अवलम्बन कर होता है तथापि वस्तुसे
बन्ध नहीं होता, अध्यवसानसे ही बन्ध होता है १२६५। (क.पा १/
गा ५/१२०५) (दे राग./५/३) ।

प्र सा/मू/२२१ किध त्तिह णत्थि मुच्छा आरभो वा असज्जो तस्स ।
तध परदव्वम्मि रदो कथमप्याण पसाधयदि ।=उपधिके सज्जत्वमें
उस भिक्षुके मूर्च्छा, आरम्भ या असज्ज न हो, यह कैसे हो सकता

है १ (कदापि नहीं हो सकता) तथा जो पर द्रव्यमे रत हो वह आत्माको कैसे साध सकता है १

४. बाह्य परिग्रह सर्वदा बन्धका कारण है

प्र सा./मू./१२१६ हृदि वण हृदि बन्धो मदम्हि जीवेश्व काय चेटम्हि ।
बधो ध्रुवमुबधोदो इदिसमणा छद्दिहया सव्व १२१६। = (साधुके)
काय चेष्टा पूर्वक जीवके मरनेपर बन्ध होता है अथवा नहीं हाता,
(किन्तु) उपधिसे-परिग्रहसे निश्चय ही बन्ध होता है। इसलिए
श्रमणोने (सर्वज्ञदेवने) सर्व परिग्रहको छोड़ा है १२१६।

५. बाह्याभ्यन्तर परिग्रह समन्वय

१. दोनोंमे परस्पर अविनाभावीपना

भ.आ./मू./१६१५-१६१६ अम्भतरसोधीए गंथे गियमेग बाहिरे च यदि ।
अम्भतरमह्लो चैव बाहिरे गेण्हदि हु गथे १६१५। अम्भतर सोधीए
बाहिरसाधी वि होदि गियमेण । अम्भतरदोसेण हु कुणदि णरो
बाहिरे दोसे १६१६। = अन्तरगशुद्धिसे बाह्यपरिग्रहका नियमसे
व्याग होता है। अभ्यन्तर अशुद्ध परिणामोसे ही वचन और शरीर-
से दोषोकी उत्पत्ति होती है। अन्तरगशुद्धि होनेसे बाहिरगशुद्धि
भी नियमपूर्वक होती है। यदि अन्तरगपरिणाम नलिन होये
तो मनुष्य शरीर और वचनोसे अवश्य दोष उत्पन्न करेगा १६१५-
१६१६।

प्र सा./त प्र./२१६ उपधे, तस्य सर्वथा तदविनाभावित्वप्रसिद्ध-
दैकान्तिकाशुद्धोपयोगसद्भावस्यैकान्तिकबन्धत्वेन छेदत्वमैकान्तिक-
मेव अतएव चापरैरप्यन्तरहृच्छेदवत्तदनन्तरीयकत्वात्प्रागेव सर्व
एवोपाधि प्रतिषेध्य १२। = परिग्रह सर्वथा अशुद्धोपयोगके बिना नहीं
होता, ऐसा जो परिग्रहका सर्वथा अशुद्धोपयोगके साथ अविना-
भावित्व है उससे प्रसिद्ध होनेवाले एकान्तिक अशुद्धोपयोगके सद्भाव
के कारण परिग्रह तो एकान्तिक बन्ध रूप है, इसलिए उसे छेद ऐका-
न्तिक ही है। इसलिए दूसरोको भी, अन्तरगछेदकी भाँति प्रथम
ही सभी परिग्रह छोड़ने योग्य है, क्योंकि वह अन्तरग छेदके बिना
नहीं होता। (प्र सा./त प्र./२२१), (दे० परिग्रह/४/३,४)।

२. बाह्य परिग्रहके ग्रहणमे इच्छाका सद्भाव सिद्ध होता है

स.सा./आ./२२०-२२३/क. १५१ ज्ञानिन् कर्म न जातु कर्तुमुचितं
किञ्चित्थाप्युच्यते, मक्षे हत न जातु मे यदि पर दुर्भुक्त एवासि भो ।
बन्ध. स्यादुपभोगतो यदि न तत्कि कामचारोऽस्ति तै, ज्ञान सन्वस
बन्धमेध्यपरथा स्वस्यापराधाद्भ्रुवम् । = हे ज्ञानी ! तुझे कभी कोई
भी कर्म करना उचित नहीं है तथापि यदि तू यह कहे कि "पर-
द्रव्य मेरा कभी भी नहीं है और मैं उसे भोगता हूँ" तो तुझसे कहा
जाता है कि हे भाई, तू खराब प्रकारसे भोगने वाला है, जो तेरा नहीं
है उसे तू भोगता है, यह महा खेदकी बात है। यदि तू कहे कि "सिद्धा-
न्तमे यह कहा है कि परद्रव्यके उपभोगसे बंध नहीं होता इसलिए
भोगता हूँ" तो क्या तुझे भोगनेकी इच्छा है ? तू ज्ञानरूप होकर
निवास कर, अन्यथा (यदि भोगनेकी इच्छा करेगा) तू निश्चयत
अपराधसे बन्धको प्राप्त होगा।

३. बाह्यपरिग्रह दुःख व इच्छाका कारण है

भ.आ./मू./१६१४ जह पत्थरो पडंतो खोभेइ दहे पसणमवि पंकं ।
खोभेइ पसंत पि कसय जीवस्स तह गंथो १६१४। = जैसे ह्रदमें पाषाण
पडनेसे तलभागमें दबा हुआ भी कीचड़ क्षुब्ध होकर ऊपर आता है
वैसे परिग्रह जीवके प्रशान्त कषायोको भी प्रगट करते है १६१४। (भ.
आ./मू./१६१२-१६१३)।

कुरल/३५/१ मन्थे ज्ञानो प्रतिज्ञाय यत्किञ्चित् परिमुञ्चति । तदुत्पन्न-
महादुःखान्निजात्मा तेन रक्षित ११। = मनुष्यने जो वस्तु छोड़ दी है
उससे पैदा होने वाले दुःखसे उसने अपनेको मुक्त कर लिया है ११।

प प्र./मू./१०० परं जाणतु वि परम मुणि पर-संसग्गु चयति । पर-
सगई परमप्ययहं लवखह जेण चलति १००। = परम मुनि उत्कृष्ट
आत्म द्रव्यको जानते हुए भी परद्रव्यको छोड़ देते है, क्योंकि पर-
द्रव्यके संसर्गसे ध्यान करने योग्य जो परमपद उससे चलायमान हो
जाते है १००।

ज्ञा/१६/२० अपुमात्रादपि ग्रन्थान्मोहग्रन्थिर्हृदीभवेत् । विसर्पति
ततस्तृष्णा यस्या विश्व न शान्तये १२०। = अणुमात्र परिग्रहके रखने-
से मोहकर्मकी ग्रन्थि दृढ होती है और इससे तृष्णाकी ऐसी वृद्धि
हो जाती है कि उसकी शान्तिके लिए समस्त लोककी सम्पत्तिसे
भी पूरा नहीं पडता है १२०।

४. इच्छा ही परिग्रह ग्रहणका कारण है

भ. आ./मू./११२१ रागो लोभो मोहो सण्णाओ गारवाणि य उदिण्णा ।
तो तइया घेत्तुं जे गंथे बुद्धी णरो कुणह ११२१। = राग, लोभ और
मोह जब मनमें उत्पन्न होते है तब इस आत्मामे बाह्यपरिग्रह ग्रहण
करनेकी बुद्धि होती है ११२१। (भ आ/मू/१६१२)।

५. आकिचन्थ भावनासे परिग्रहका त्याग होता है

स. सा./आ./२२६-२२७ अध कर्मादीन् पुद्गलद्रव्यदोषान्न नाम करो-
त्यात्मा परद्रव्यपरिणामत्वे सति आत्मकार्यत्वाभावात्, ततोऽध-
कर्माद्देशिकं च पुद्गलद्रव्य न मम कार्यं नित्यमचेतनत्वे सति मत्का-
र्यत्वाभावात्, इति तत्त्वज्ञानपूर्वक पुद्गलद्रव्यं निमित्तभूत प्रत्या-
चक्षणाणे नैमित्तिकभूतं कथसाधक भावं प्रत्याचष्टे । = अधकर्म
आदि पुद्गलद्रव्यके दोषोको आत्मा वास्तवमे नहीं करता क्योंकि
वे परद्रव्यके परिणाम है इसलिए उन्हे आत्माके कार्यत्वका अभाव
है, इसीलिए अधकर्म और औद्देशिक पुद्गलकर्म मेरा कार्य नहीं
है क्योंकि वह नित्य अचेतन है इसलिए उसको मेरे कार्यत्वका
अभाव है," इस प्रकार तत्त्वज्ञान पूर्वक निमित्त भूत पुद्गल द्रव्यका
प्रत्याख्यान करता हुआ आत्मा जैसे नैमित्तिक भूत बन्ध साधक
भावका प्रत्याख्यान करता है।

यो. सा. अ/६/३० स्वरूपमात्मनो भाव्यं परद्रव्यजिहासया । न जहाति
परद्रव्यमात्मरूपाभिभावकं १३०। = विद्वानोंको चाहिए कि पर-
पदार्थोके त्यागकी इच्छासे आत्माके स्वरूपकी भावना करे, क्योंकि
जो पुरुष आत्माके स्वरूपकी पूर्वा नहीं करते वे परद्रव्यका त्याग
कहीं कर सकते है १३०।

सामायिक पाठ अमितगति/२४ न सन्ति बाह्या मम किचनार्था,
भवामि तेषा न कदाचनानहं । इत्थं विनिश्चिन्त्य विमुच्य बाह्य
स्वस्थ सदा र्वं भव भद्र मुक्त्यै १२४। = "किञ्चित् भी बाह्य पदार्थ
मेरा नहीं है, और न मैं कभी इनका हो सकता हूँ," ऐसा विचार
कर हे भद्र ! बाह्यको छोड़ और मुक्तिके लिए स्वस्थ हो जा १२४।

अन, ध/४/१०६ परिसुच्य करणगोचरमरीचिकामुज्झिताखिलारम्भ ।
त्याज्य ग्रन्थमशेष त्यक्त्वापरनिर्ममं स्वशर्म भजेत् १०६। = इन्द्रिय
विषय रूपी मरीचिकाको छोड़कर, समस्त आरम्भादिकको छोड़-
कर, समस्त गृहिणी आदि बाह्य परिग्रहको छोड़कर तथा शरीरदिक
परिग्रहोके विषयमें निर्मम होकर—'ये मेरे है' इस सकल्पको
छोड़कर साधुओंको निजात्मस्वरूपसे उत्पन्न सुखका सेवन करना
चाहिए १०६।

६. अभ्यन्तर त्यागमें सर्व बाह्य त्याग अन्तर्भूत है

स. सा./आ/४०४/क २३६ उन्मुक्तमुन्मोच्यमशेषतस्तत्, तथात्तमादेयम-
शेषतस्तत् । यदात्मन. संहतसर्वशक्तेः, पूर्णस्य संघारणमात्मनोह

।२३६। = जिसने सर्वशक्तियोंको समेट लिया है (अपनेमें लीन कर लिया है) ऐसे पूर्ण आत्माका आत्ममें धारण करना सो ही सब छोड़ने योग्य सब छोड़ा है, और ग्रहण करने योग्य ग्रहण किया है ।२३६।

७. परिग्रह त्याग व्रतका प्रयोजन

रा. वा. / ६/२६/१०/६२५/१४ निःसङ्गत्वं निर्भयत्वं जीविताशाव्युदास दोषोच्छेदो मोक्षमार्गभावनापरस्वमित्येवमाद्यर्थो व्युत्सर्गोऽभिधीयते द्विविधः । = निःसङ्गत्व, निर्भयत्व, जीविताशात्याग दोषोच्छेद और मोक्षमार्ग भावनातत्परत्व आदिके लिए दोनों प्रकारका व्युत्सर्ग करना अत्यावश्यक है ।

८. निश्चय व्यवहार परिग्रहका नयार्थ

घ. ६/४,१,६७/३२३/७ ब्रह्महारण्य पञ्च खेत्तादी गथो, अन्तर्गन्ध-कारणत्तादो । एदस्स परिहरणं णिग्गथत्त । णिच्छयणयं पञ्च मिच्छत्तादी गंथो, कम्मबंधकारणत्तादो । तेसि परिच्चागो णिग्गथत्त । णङ्गमणएण तिरयणाणुवजोगो बज्जन्तपरिग्रहपरिच्चाओ णिग्गथत्त । = व्यवहार नयकी अपेक्षा क्षेत्रादिक ग्रन्थ है, क्योंकि, वे अन्तर्गन्ध-कारण हैं, और इनका त्याग करना निर्ग्रन्थता है । निश्चयनयकी अपेक्षा मिथ्यात्वादिक ग्रन्थ है, क्योंकि वे कर्मबंधके कारण हैं और इनका त्याग करना निर्ग्रन्थता है । नैगमनयकी अपेक्षा तो रत्नत्रयमें उपयोगी पडने वाला जो भी बाह्य व अन्तर्गन्ध परिग्रहका परित्याग है, उसे निर्ग्रन्थता समझना चाहिए ।

परिग्रह संज्ञा—दे० संज्ञा ।

परिग्रहानंदी रौद्रध्यान—दे० रौद्रध्यान ।

परिग्राहिकी क्रिया—दे० क्रिया/३/२ ।

परिचारक—

भ. आ./मू./६४७,६४८,६७१ विद्यधम्मा दिठधम्मा सबेगावज्जभीरुणो धीरा । छंदणू पच्चइया पच्चक्खणम्मि य विदणू । ६४७। कप्पा-कप्पे कुसला समाधिकरणुज्जा सुवरहस्सा । गोदथा भयवता अड-दालीस तु णिज्जवया । ६४८। जो जारिसओ कालो भरदेरावदेसु होइ वासेसु । ते तारिसया तदिया चोहालीसं पि णिज्जवया । ६७१। = जिनका धर्मपर गाढ प्रेम है और जो स्वयं धर्ममें स्थिर है । संसारसे और पापसे जो हमेशा भययुक्त है । धैर्यवान् और क्षपकके अभिप्रायको जाननेवाले है, प्रत्याख्यानके ज्ञाता ऐसे परिचारक क्षपककी शुश्रूषा करने योग्य माने गये हैं । ६४७। ये आहारपानादिक पदार्थ योग्य है, इनका ज्ञान परिचारकोको होना आवश्यक है । क्षपकका चित्त समाधान करनेवाले, प्रायश्चित्त ग्रन्थको जाननेवाले, आगमज्ञ, स्वयं और परका उद्धार करनेमें कुशल, तथा जिनकी जगमें कीर्ति है ऐसे परिचारक यति हैं । ६४८। भरतक्षेत्र और ऐरा-वत क्षेत्रमें समस्त देशोमें जो जैसा काल वर्तता है, उसके अनुसार निर्यापक समझना चाहिए । ६७१।

★ सल्लेखनागत क्षपककी सेवामें परिचारकोंकी संख्या-का नियम—दे० सल्लेखना/५ ।

परिचित द्रव्य निक्षेप—दे० निक्षेप/५/८ ।

परिणमन—१. ज्ञेयार्थ परिणमनका लक्षण

प्र. सा / त प्र / ५२ उदयगतेषु पुद्गलकर्मांशेषु सत्सु संचेयमानो मोह-रागद्वेषपरिणतत्वात् ज्ञेयार्थपरिणमनलक्षणया क्रियया युज्यमान' क्रियाफलभूतं बन्धमनुभवति, न तु ज्ञानादिति । = उदयगत पुद्गल कर्मांशोंके अस्तित्वमें चेतित होनेपर—जाननेपर—अनुभव करनेपर

मोह राग द्वेषमें परिणत होनेसे ज्ञेयार्थ परिणमन स्वरूप क्रियाके साथ युक्त होता हुआ आत्मा क्रिया फलरूप बन्धका अनुभव करता है । किन्तु ज्ञानसे नहीं' (इस प्रकार प्रथम ही अर्थ परिणमन क्रियाके फलभूत बन्धका समर्थन किया गया है ।)

स. सा / ता वृ / ६५/१५२/१० धर्मास्तिकायोऽग्रिमत्यादि विकल्प यदा ज्ञेयतत्त्वविचारकाले करोति जीव' तदा शुद्धात्मस्वरूपं विस्मरति तस्मिन्विकल्पे कृते सति धर्मोऽहमिति विकल्प उपचारेण घटत इति भावार्थः । = 'यह धर्मास्तिकाय है' ऐसा विकल्प जब जीव, ज्ञेय-तत्त्वके विचार कालमें करता है, उस समय वह शुद्धात्माका स्वरूप भूल जाता है (क्योंकि उपयोगमें एक समय एक ही विकल्प रह सकता है ।); इसलिए उस विकल्पके किये जानेपर 'मैं धर्मास्तिकाय हूँ' ऐसा उपचारते घटित होता है । यह भावार्थ है ।

प्र सा / प जयचन्द/५२ ज्ञेय पदार्थरूपसे परिणमन करना अर्थात् 'यह हरा है, यह पीला है' इत्यादि विकल्प रूपसे ज्ञेयरूप पदार्थोंमें परिणमन करना यह कर्मका भोगना है, ज्ञानका नहीं ।... ज्ञेय पदार्थोंमें रुकना—उनके सन्मुख वृत्ति होना, वह ज्ञानका स्वरूप नहीं है ।

★ अन्य सम्बन्धित विषय

१. परिणमन सामान्यका लक्षण । —दे० विपरिणमन ।
२. एक द्रव्य दूसरे द्रव्यरूप परिणमन नहीं कर सकता । —दे० द्रव्य/५ ।
३. गुण भी द्रव्यवत् परिणमन करता है । —दे० गुण/२ ।
४. अखिल द्रव्य परिणमन करता है, द्रव्यांश नहीं । —दे० उत्पाद/३ ।
५. एक द्रव्य दूसरेको परिणमन नहीं करा सकता । —दे० कर्ता व कारण/III ।
६. शुद्ध द्रव्यको अपरिणामी कहनेकी विवक्षा । —दे० द्रव्य/२ ।

परिणम्य परिणामक शक्ति—

स सा / आ / परि / शक्ति न० १५ परात्मनिमित्तवज्ञेयज्ञानाकारग्रहण-ग्राहणस्वभावरूपा परिणम्यपरिणामकत्वशक्ति । = पर और आप जिनका निमित्त है ऐसे ज्ञेयाकार ज्ञानाकार उनका ग्रहण करना और ग्रहण कराना ऐसा स्वभाव जिसका रूप है, ऐसी परिणम्य परिणाम-कत्व नाम पन्द्रहवीं शक्ति है ।

परिणाम—Result (घ. ६/प्र, २७)

परिणाम—जीवके परिणाम ही संसारके या मोक्षके कारण है । वस्तुके भावको परिणाम कहते हैं, और वह दो प्रकारका है—गुण व पर्याय । गुण अप्रवर्तमान या अक्रमवर्ती है और पर्याय प्रवर्तमान व क्रमवर्ती । पर्यायरूप परिणाम तीन प्रकारके है—शुभ, अशुभ और शुद्ध । तहाँ शुद्धपरिणाम ही मोक्षका कारण है ।

१. परिणाम सामान्यका लक्षण

१. स्वभावके अर्थमें

- प्र. सा./मू./६६ सववद्विदं सहावे दव्वं दव्वस्स जो हि परिणामो । अत्थेसु सो सहावो द्विदिसंभवणाससंबद्धो । ६६।
- प्र. सा / त. प्र / १०६ स्वभावस्तु द्रव्यपरिणामोऽभिहित । -- द्रव्यवृत्तेर्हि त्रिकोटिसाम्यस्पर्शिन्याः प्रतिक्षणं तेन तेन स्वभावेन परिणमनाद् द्रव्यस्वभावभूत एव तावत्परिणामः । = स्वभावमें अवस्थित (होनेसे) द्रव्य सत् है; द्रव्यका जो उत्पादव्यय ध्रौव्य सहित परिणाम है; वह पदार्थोंका स्वभाव है । ६६। (प्र. सा./मू./१०६) द्रव्यका स्वभाव परिणाम कहा गया है । "द्रव्यकी वृत्ति तीन प्रकारके समयको (भूत, भविष्यत्' वर्तमान कालकी) स्पष्टित करती है, इसलिए (वह वृत्ति-

अस्तित्व) प्रतिक्षण उस उस स्वभावरूप परिणमित होनेके कारण द्रव्यका स्वभावभूत परिणाम है।

गो. जी./जी./२/१५ उदयादिनिरपेक्ष परिणाम। = उदयादिकी अपेक्षासे रहित सो परिणाम है।

२. भावके अर्थमें

त. सू./५/४२ तद्भाव परिणाम। ४२।

स. सि./५/४२/३१७/५ धर्मादीनि द्रव्याणि येनात्मना भवन्ति स तद्भावस्तत्त्व परिणाम इति आख्यायते। = धर्मादिक द्रव्य जिस रूपसे होते है वह तद्भाव या तत्त्व है और इसे ही परिणाम कहते है। (रा. वा./५/४२/१/५०३/५)।

ध. १५/१७२/७ को परिणामो। मिच्छतासज्जम-कसायादो। = मिथ्यात्व, असयम और कषायादिको परिणाम कहा जाता है।

३. आत्मलाभ हेतुके अर्थमें

रा. वा./२/१/५/१००/२१ यस्य भावस्य द्रव्यात्मलाभमात्रमेव हेतुर्भवति नान्यत्रिमित्तमस्ति सपरिणाम इति परिभाष्यते। = जिसके होनेमें द्रव्यका स्वरूप लाभ मात्र कारण है, अन्य कोई निमित्त नहीं है, उसको परिणाम कहा जाता है। (स. मि./२/१/१४६/६), (प. का./त. प्र./५६)।

४. पर्यायके अर्थमें

स. सि./५/२२/२६२/६ द्रव्यस्य पर्यायो धर्मान्तरनिवृत्तिधर्मान्तरों-पजनरूप अपरिस्पन्दात्मक परिणाम। = एक धर्मकी निवृत्ति करके दूसरे धर्मके पैदा करने रूप और परिस्पन्दसे रहित द्रव्यकी जो पर्याय है उसे परिणाम कहते है। (रा. वा./५/२२/२१/४८१/१६), (स. म./२७/३०४/१६)।

रा. वा./५/२२/१०/४७७/३० द्रव्यस्य स्वजात्यपरित्यागेन प्रयोगविसंसा-लक्षणो विकार परिणाम। १०। द्रव्यस्य चेतनस्येतरस्य वा द्रव्यार्थिक-नयस्य अविबक्षातो न्यग्भूतां स्वा द्रव्यजातिमजहत पर्यायार्थिक-नयार्थणात् प्राधान्यं निभ्रता केनचित् पर्यायेण प्रादुर्भाव पूर्वपर्याय-निवृत्तिपूर्वको विकार प्रयोगविसंसा लक्षण परिणाम इति प्रति-पत्तव्य। = द्रव्यका अपनी स्व द्रव्यत्व जातिको नहीं छोड़ते हुए जो स्वाभाविक या प्रायोगिक परिवर्तन होता है उसे परिणाम कहते है। द्रव्यत्व जाति यद्यपि द्रव्यसे भिन्न नहीं है फिर भी द्रव्या-र्थिककी अविबक्षा और पर्यायार्थिककी प्रधानतामें उसका पृथक् व्यवहार हो जाता है। तात्पर्य यह है कि अपनी मौलिक सत्ताको न छोड़ते हुए पूर्व पर्यायकी निवृत्तिपूर्वक जो उत्तरपर्यायका उत्पन्न होना है वही परिणाम है। (न. च. वृ./१७); (त. सा./३/४६)।

सि. वि./टी./११/५/७०२/१० व्यक्तं च तादात्म्यं परिणामलक्षणम्। = व्यक्तरूपसे तो तादात्म्य रखता हो, अर्थात् द्रव्य या गुणोंकी व्यक्तियों अथवा पर्यायोंके साथ तादात्म्य रूपसे रहनेवाला परिणामन, परिणामका लक्षण है।

न्या. वि./टी./१/१०/१७८/११ परिणामो विवर्तः। = उसीमेंसे उत्पन्न हो होकर उसीमें लीन हो जाना रूप विवर्त या परिवर्तन परिणाम है।

प. ध./पू./११७ स च परिणामोऽवस्था। = गुणोंकी अवस्थाका नाम परिणामन है। और भो दे० 'पर्याय'

२. परिणामके भेद

प्र. सा./मू./१९१ सुहपरिणामो पुष्णं असुहो पाव त्ति भणियमण्णेषु। परिणामो णणमदो दुक्खक्खयकारणं समये। = परके प्रति शुभ परिणाम पुण्य है और असुभ परिणाम पाप है, ऐसा कहा है। (और

भी देखो प्रणिधान) जो दूसरोंके प्रति प्रवर्तमान नहीं है, ऐसा परिणाम (शुभ परिणाम) समयपर दुःख क्षयका कारण है।

रा. वा./५/२२/१०/४७७/३४ परिणामो द्विविध — अनादिरादिमाश्च । आदिमान् प्रयोगजो वैज्ञसिकश्च । = परिणाम दो प्रकारका होता है—एक अनादि और दूसरा आदिमान्। (स. सि./५/४२/३१७/६), (रा. वा./५/४२/३/५०३/६) आदिमान् दो प्रकारके है—एक प्रयोग-जन्य और दूसरा स्वाभाविक।

घ. १२/४.२.७.३२/२७/६ अपरियत्तमाणा परिणामा परियत्तमाणा णाम। तत्थ उक्कस्सा मज्झिमा जहण्णा त्ति त्तिविहा परिणामा। = अपरिवर्तमान और परिवर्तमान दो प्रकारके परिणाम होते है। उनमें उत्कृष्ट, मध्यम व जघन्यके भेदसे वे परिणाम तीन प्रकारके है। (गो. क./जी. प्र./१७७/२०७/१०)।

पं. ध./पू./३२७.३२८ का भावार्थ — परिणाम दो प्रकारके होते है—सदृश और विसदृश।

३. परिणाम विशेषोंके लक्षण

१. आदिमान् व अनादिमान् परिणाम

रा. वा./५/२२/१०/४७७/४ अनादिलोकसंस्थानमन्दराकारादि। आदिमान् प्रयोगजो वैज्ञसिकश्च । तत्र चेतनस्य द्रव्यौपशमिकादिभाव कर्मोपशमाद्यपेक्षोऽपौरुषेयत्वाद् वैज्ञसिक इत्युच्यते। ज्ञानशीलभाव-नादिलक्षण आचार्यादिपुरुषप्रयोगनिमित्तत्वात्प्रयोगज। अचेतनस्य च मृदादे घटसंस्थानादिपरिणाम कुलालादिपुरुषप्रयोगनिमित्तत्वात् प्रयोगज। इन्द्रधनुरादिनानापरिणामो वैज्ञसिकः। तथा धर्मादिरपि योज्यः।

रा. वा./५/४२/३/२०३/१० तत्रानादिर्धर्मादीना गत्युपग्रहादि। न ह्येतदस्ति धर्मादीनि द्रव्याणि प्राक् पश्चाद्गत्युपग्रहादि, प्राग्वा गत्युपग्रहादि पश्चाद्दर्मादीनि इति। किं तर्हि अनादिरेषां सन्धः। आदिमाश्च बाह्यप्रत्ययापादितोत्पाद। = लोककी रचना सुमेरुपर्वत आदिके आकार इत्यादि अनादि परिणाम है। आदिमान् दो प्रकारके है—एक प्रयोगजन्य और दूसरे स्वाभाविक। चेतन द्रव्यके औपशमिकादिभाव जो मात्र कर्मोंके उपशम आदिकी अपेक्षासे होते है। पुरुष प्रयत्नकी जिममें आवश्यकता नहीं होती वे वैज्ञसिक परिणाम है। ज्ञान, शील, भावना आदि गुरु उपदेशके निमित्तसे होते है, अतः वे प्रयोगज है। अचेतन मिट्टी आदिका कुम्हार आदिके प्रयोगसे होनेवाला घट आदि परिणामन प्रयोगज है और इन्द्रधनुष मेघ आदि रूपसे परिणामन वैज्ञसिक है।

धर्मादि द्रव्योंके गत्युपग्रह आदि परिणाम अनादि है, जबसे ये द्रव्य है तभीसे उनके ये परिणाम है। धर्मादि पहले और गत्युपग्रहादि बादसे किसी समय हुए हों ऐसा नहीं है। बाह्य प्रत्ययोंके आधीन उत्पाद आदि धर्मादि द्रव्योंके आदिमान् परिणाम है।

२. अपरिवर्तमान व परिवर्तमान परिणाम

घ. १२/४.२.७.३२/२७/८ अणुसमय बद्धमाणा होयमाणा च जे सकिलेस-विसोहियपरिणामा ते अपरियत्तमाणा णाम। जत्थ पुण ट्ठाइदूण परिणामांतर गंतुण एग-दो आदिसमएहि आगमणं संभवदि ते परिणामा परियत्तमाणा णाम। = प्रति समय बढ़नेवाले या हीन होनेवाले जो सक्लेश या विशुद्धिरूप परिणाम होते है वे अपरिवर्त-मान परिणाम कहे जाते है। किन्तु जिन परिणामोंमें स्थित होकर तथा परिणामान्तरको प्राप्त हो पुन. एक दो आदि समयों द्वारा उन्हीं परिणामोंमें आगमन सम्भव होता है उन्हें परिवर्तमान परिणाम कहते है। (गो. क./जी. प्र./१७७/२०७/१०)

३ सृष्टि व विसृष्टि परिणाम

पं. ध./पू./१२२ सृष्टिशोत्पादो हि यथा स्यादुष्ण परिणमत् यथा वह्नि । स्यादित्यसृष्टिजनमा हरिततापीतं यथा रसालफलम् । १२२ = सृष्टि उत्पाद यह है कि जैसे परिणामन करती हुई अग्नि उष्णकी उष्ण ही रहती है, और आमका फल हरितवर्णसे पीतवर्ण रूप हो जाता है यह असृष्टि उत्पाद है । १८२।

पं. ध./पू./३२७-३३० जोवस्य यथा ज्ञान परिणाम परिणमस्तदेवेति । सृष्टिस्योवाहृतिरिति जातेरनतिक्रमत्वतो वाच्या । ३२७ यदि वा तद्विह ज्ञानं परिणामं परिणमन्त तदिति यत् । स्वावसरे यत्सत्त्वं तत्सत्त्वं परत्र नययोगात् । ३२८ अत्रापि च सृष्टि सन्ति च परिणाम-तोऽपि कालाशा । जातेरनतिक्रमत् सृष्टित्वनिबन्धना एव । ३२९ अपि नययोगाद्विसृष्टिसाधनसिद्धयै त एव कालाशा । समय समयः समय सोऽपीति बहुप्रतीतित्वात् । ३३० = जैसे जीवका ज्ञानरूप परिणाम परिणमन करता हुआ प्रति समय ज्ञानरूप ही रहता है यही ज्ञानस्वरूप जातिका उल्लंघन नहीं करनेसे सृष्टिका उदाहरण है । ३२७ तथा यहाँपर वही ज्ञानरूप परिणाम परिणमन करता हुआ यह वह नहीं है 'अर्थात् पूर्वज्ञानरूप नहीं है' यह विसृष्टिका उदाहरण है, क्योंकि विवक्षित परिणामका अपने समयमें जो सत्त्व है, दूसरे समयमें पर्यायार्थिकनयकी अपेक्षासे वह उसका सत्त्व नहीं माना जाता है । ३२८ और इस विषयमें भी खुजासा यह है कि परिणामसे जितने भी ऊर्ध्वाश कल्पनास्व स्वकालके अंश है वे सब अपनी अपनी द्रव्यत्व जातिको उल्लंघन नहीं करनेके कारणसे सृष्टिपनेके शोक्त है । ३२९ तथा वे ही कालके अंश 'वह भी समय है, वह भी समय है, वह भी समय है' इस प्रकार समयमें बहुतकी प्रतीति होनेसे पर्यायार्थिकनयकी अपेक्षासे विसृष्टिका सिद्धिके लिए भी समर्थ है । ३३०

४ तीव्र व मन्द परिणाम

स. सि./६/६/३२३/१० बाह्याभ्यन्तरहेतूदीरणवशादुद्विषत् परिणाम-स्तौत्र । तद्विपरीतो मन्द । = बाह्य और उदीरणा वश प्राप्त होनेके कारण जो उरकट परिणाम होता है वह तीव्रभाव है । मन्दभाव इससे उलटा है । (रा. वा./६/६/१/५९९/३२) ।

५. सल्लेखना सम्बन्धी परिणामन निर्देश

भ. आ./वि./६७/१६४/१० तद्भाव परिणाम इति वचनात्तस्य जीवादेर्द्र-व्यस्य क्रोधादिना दर्शनादिना वा भवनं परिणाम इति यद्यपि सामान्येनोक्तं तथापि यत् स्वेन कर्तव्यस्य कार्यस्यालोचनमिह परिणाम इति गृहीतम् । = 'तद्भाव' परिणाम' ऐसा पूर्वचार्थका वचन है अर्थात् जीवादिक पदार्थ क्रोधादिक विकारोसे अथवा सम्यग्दर्शनादिक पर्यायोसे परिणत होना यह परिणामशब्दका सामान्य अर्थ है । तथापि यहाँ यतिको अपने कर्तव्यका हमेशा खयाल रहना परिणाम शब्दक प्रकरण सगत अर्थ समझना चाहिए ।

५. परिणाम ही बन्ध या मोक्षका कारण

यो. सा यो./१४ परिणामै बंधु जि कहिउ मोक्ख वि तह जि वियाणि । इउ जाणेविणु जीव तहुं तह भाव हु परिआणि । १४ = परिणामसे ही जीवको बन्ध कहा है और परिणामसे ही मोक्ष कहा है ।—यह समझ कर, हे जीव । तू निश्चयसे उन भावोंको जान । १४।

६. माकाके दानोवत् सत्का परिणमन

प्र. सा./त. प्र./२६ स्वभावानतिक्रमात्त्रिलक्षणमेव सत्त्वमनुमोदनीयम् मुक्ताफलदामवत् । यथैव हि परिगृहीतद्राघिन्नि प्रलम्बमाने मुक्ता-फलदामनि समस्तेष्वपि स्वधामसूचकासृष्ट मुक्ताफलेपुत्रोत्तरेषु

धामसूत्रोत्तरमुक्ताफलानामुदयनात्पूर्वपूर्वमुक्ताफलानामुदयनात् सर्व-त्रापि परस्परास्तुतिस्त्रयकस्य सूत्रकस्यावस्थानात्त्रैलक्षण्य प्रसिद्धि-मवतरति, तथैव हि परिगृहीतनिरयवृत्ति निवर्तमाने द्रव्ये समस्तेष्वपि स्वावसरेपुत्रकवासृष्ट परिणामेषुत्तरोत्तरेष्ववसरेपुत्रोत्तरपरिणामा-नामुदयनात्पूर्वपूर्वपरिणामानामुदयनात् सर्वत्रापि परस्परास्तुति-सूत्रकस्य प्रवाहस्यावस्थानात्त्रैलक्षण्यं प्रसिद्धिमवतरति । = स्वभावसे ही त्रिलक्षण परिणाम पद्धतिमें (परिणामोकी परस्परामें) प्रवर्तमान द्रव्य स्वभावका अतिक्रम नहीं करता इसलिए सत्को त्रिलक्षण ही अनुमोदित करना चाहिए । मोतियोंके हारकी भाँति । जैसे—जिसने (अमुक) लम्बाई ग्रहण की है ऐसे लटकते हुए मोतियोंके हारमें, अपने-अपने स्थानोंमें प्रकाशित होते हुए समस्त मोतियोंमें, पीछे-पीछेके स्थानोंमें पीछे-पीछेके मोती प्रगट होते हैं इसलिए, और पहले-पहलेके मोती प्रगट नहीं होते इसलिए, तथा सर्वत्र परस्पर अनुस्मृतिका रचयिता सूत्र अवस्थित होनेसे त्रिलक्षणत्व प्रसिद्धिको प्राप्त होता है । इसी प्रकार जिसने नित्य वृत्ति ग्रहण की है ऐसे रचित (परिणमित) होते हुए द्रव्यमें, अपने-अपने अवसरोंमें प्रकाशित होते हुए समस्त परिणामोंमें पीछे-पीछेके अवसरोंपर पीछे-पीछेके परिणाम प्रगट होते हैं इसलिए और पहले-पहलेके परिणाम नहीं प्रगट होते हैं इसलिए, तथा सर्वत्र परस्पर अनुस्मृति रचनेवाला प्रवाह अवस्थित होनेसे त्रिलक्षणत्व प्रसिद्धिको प्राप्त होता है । (प्र. सा./त. प्र./२३), (प्र. सा./त. प्र./८०), (प. ध./पू./४७२-४७३) ।

१ का/त. प्र./१६ का भावार्थ-मालाके दानोके स्थानपर बाँसके पर्वसे सत्के परिणमनकी सिद्धि ।

* अन्य सम्बन्धित विषय

१. उपयोग अर्थमें परिणाम ।

—दे० उपयोग/II ।

२. शुभ व अशुभ परिणाम ।

—दे० उपयोग/II ।

३. अन्य व्यक्तिके गुण परिणाम भी जान लेने सम्भव है

—दे० विनय/५ ।

४. परिणामोंकी विचित्रता । निगोदसे निकलकर मोक्ष ।

—दे० जन्म/५ ।

५. अप्रमत्त गुणस्थानसे पहिलेके सर्व परिणाम अध. प्रवृत्तकरण रूप होते हैं ।

—दे० करण/४ ।

परिणाम प्रत्यय प्रकृतियों—दे० प्रकृति बन्ध/२ ।

परिणाम योगस्थान—दे० योग/५ ।

परिणाम शक्ति—स. सा./आ०/परि शक्ति नं १६ द्रव्यस्व-भावभूतध्रौव्यव्ययोत्पादांलिपितसृष्टिविसृष्टिरूपास्तित्वमात्रमयी परिणामशक्ति । = द्रव्यके स्वभावभूत ऐसे ध्रौव्य-व्यय-उत्पादोसे स्पर्शित जो समान रूप व असमान रूप परिणाम उन स्वरूप एक अस्तित्व मात्रमयी जन्नीसवी परिणाम शक्ति है ।

परिणाम शुद्धप्रत्याख्यान—दे० प्रत्याख्यान/१ ।

परिणामी—वह द्रव्योंमें परिणामी अपरिणामी विभाग—दे० द्रव्य/३ ।

परिदावन—ध. १३/५, ४, २१/४६/१२ संतापजनन परिदावणं णाम । संताप उत्पन्न करना परिदावण कहलाता है ।

परिदेवन—स. सि./६/११/३२६/२ सकलेशपरिणामावम्बनं गुण-स्मरणानुकीर्तनपूर्वकं स्वपरानुधामिलाषविषयमनुकम्पाप्रचुरं रोदनं परिदेवनम् । = सकलेशरूप परिणामोके होनेपर गुणोका स्मरण और दूसरेके उपकारकी अभिलाषा करुणाजनक रोना परिदेवन है । (रा. वा./६/११/६/५९६/३१) ।

परिधि—१ Circumference (ज प/प्र १०७) २ परिधि

निकालनेकी प्रक्रिया—दे० गणित/II/७/२।

परिपोडिन—कायोत्सर्गका एक अतिचार—दे० व्युत्सर्ग/१।

परिभोग—दे० भोग।

परिमह—वस्तिकाका एक दोष—दे० 'वस्तिका'।

परिमाण—Magnitude (घ ५/प्र २७)

परिमाणहीन—Dimensionless (घ ५/प्र २७)।

परिमित—Finite. (ज प/प्र १०७)।

परिलेखा—दे० परिलेखा।

परिवर्त—१ आहारका एक दोष—दे० आहार/II/४/४, २ वस्तिका का एक दोष—दे० वस्तिका।

परिवर्त २—१ अक्षसंचार—दे० गणित/II/३/१। २ पंच परिवर्तन-रूप संसार—दे० संसार।

परिवर्तना—घ ६/४,१,५५/२६२/११ अक्सरगट्टं पुणो पुणो भावागमपरिमलण परियङ्गणा गाम। =ग्रहण किया हुआ अर्थ विस्मृत न हो जावे, एतदर्थ बार-बार भावागमका परिशीलन करना परिवर्तना है। (घ, १४/५, ६, १२/६/५)।

परिशातन—घ ६/४,१,६६/३२७/१ तैसि चैव अपिदसरीरयोग-लक्ष्मणार्ण संचरण विणा जा णिज्जरा सा परिशादनकदी गाम। = (पाँचों शरीरोंमेंसे) विवक्षित शरीरके पुद्गलस्कन्धोंकी सचयके बिना जो निर्जरा होती है वह परिशातन कृति कहलाती है।

* अन्य सम्बन्धित विषय

१. पाँचों शरीरोंकी संवातन परिशातन कृति —दे० घ. ६/३५५-४५१)।
२. पाँचों शरीरोंकी जवन्य उत्कृष्ट परिशातन कृति —दे० घ. ६/३३६-४३८।
३. सवातन परिशातन (उभयरूप) कृति — दे० सवातन।

परिशेष न्याय—(घ १/१,१,४४/२७६/१) यह भी नहीं यह भी नहीं तो शेष यह ही रहा।

परिषह—गर्मी, सर्दी, भूख, प्यास, मच्छर आदिकी बाधाएँ आनेपर आर्त परिणामीकान होना अथवा ध्यानसे न चिगना परिषह जय है। यद्यपि अल्प भूमिकाओंमें साधकको उनमें पीडाका अनुभव होता है, परन्तु वैराग्य भावनाओं आदिके द्वारा वह परमार्थसे चलित नहीं होता।

१. भेद व लक्षण

१. परिषहका लक्षण

त सू ६/८ मार्गाच्चयवननिर्जरार्थं परिषाद्व्याः परीषहाः । = मार्गसे च्युत न होनेके लिए और कर्मोंकी निर्जरार्थके लिए जो सहन करने योग्य हो वे परिषह हैं । ८।

स. सि ६/२/४०६/८ क्षुधाविबेदनोत्पत्ती कर्मनिर्जरार्थं सहन परिषहः । = क्षुधादि बेदनाके होनेपर कर्मोंकी निर्जरा करनेके लिए उसे सह लेना परिषह है। (रा. वा ६/२/६/५६२/५)

रा. वा ६/२/६/५६२/२ परिषहात् इति परीषहः । ६। = जो सही जाय वह परिषह है।

२. परिषह जयका लक्षण

स सि ६/२/४०६/८ परिषहजय जय परिषहजय । = परिषहदा जयाना परिषहजय है। (रा. वा ६/२/६/५६२/५)।

म आ वि ६/१०९/११६६/१८ "दु खोपानपाते रुक्मेऽग्रहिता । परिषहजय ।" = दुःख आनेपर भी सबलेश परिणाम न होना ही परिषहजय है।

का अ/मू ६/८ सो विपरिमह-विजओ क्षुधादि-पीडाण अहरउहाण । सवणाण च मुणीण उवसम-भावेण ज सहण । = अत्यन्त भयानक भूख आदिकी बेदनाको ज्ञानो मुनि जो शान्तभावसे सहन करते हैं, उसे परिषहजय कहते हैं। ६८।

द्र स/टी ३५/१४६/१० "क्षुधाविबेदनाना तीव्रोदयेऽपि समतारूप परमसामायिकेन . निजपरमात्मभावनासंजातनिर्विकारनिन्द्यानन्द-लक्षणसुखामृतमवित्तेरचलनं स परिषहजय इति । = क्षुधादि बेदनाओंके तीव्र उदय होनेपर भी समतारूप परम सामायिकके द्वारा निज परमात्माकी भावनासे उत्पन्न, विकार रहित, निन्द्यानन्द रूप सुखामृत अनुभवसे, जो नहीं चलना सो परिषहजय है।

३. परिषहके भेद

त.सू ६/६ क्षुत्पिपासाशीतोष्णदंशमशुकानग्न्यारतिस्त्रीचर्यानिपद्या-शय्याक्रोशवधयाचनालाभरोगतृणस्पर्शमलसत्कारपुरस्कारप्रज्ञाज्ञाना - दर्शनानि । ६ । = क्षुधा, तृषा, शीत, उष्ण, दंशमशक, नग्नता, अरति, स्त्री, चर्या, निषद्या, शय्या, आक्रोश, वध, याचना, अज्ञान, रोग, तृणस्पर्श, मल, सत्कार-पुरस्कार, प्रज्ञा, अज्ञान और अदर्शन इन नाम वाले परिषह हैं । ६। (सू. आ/२५४-२५६), (चा.सा/१०८/३), (अन.घ./६/८६-११२), (द्र.सं/टी/३५/१४६/६)।

* परिषहजय विशेषके लक्षण—दे० वह वह नाम।

२. परिषह निर्देश

१. परिषहके अनुभवका कारण कषाय व दोष होते हैं

स सि. ६/१२/४३१/४ तेषु हि अक्षीणकषायप्रदोषत्वात्सर्वे संभवन्ति । = प्रमत्त आदि गुणस्थानोंमें कषाय और दोषोंके क्षीण न होने से सब परिषह सम्भव है।

२. परिषहकी ओर लक्ष्य न जाना ही वास्तविक परिषहजय है

स सि. ६/६/४२०/१० क्षुद्ब्रवाधा प्रत्यचिन्तनं क्षुद्विजय । = क्षुधाजन्य-बाधा का चिन्तन नहीं करना क्षुधा परिषह जय है।

नोट—इसी प्रकार पिपासादि परिषहोंकी ओर लक्ष्य न जाना ही वह वह नामकी परिषह जय है। —दे० वह वह नाम।

३. मार्गणाकी अपेक्षा परिषहोंकी सम्भावना

चा.सा./१३२/७ नरकतिर्यग्गत्यो सर्वे परिषहा. मनुष्यगताबाद्यभगा भवन्ति देवगती वातिकर्मोत्थपरिषहै सह वेदनीयोत्पन्नक्षुत्पिपासावधौ सह चतुर्दश भवन्ति । इन्द्रियकायमार्गणयो सर्वे परिषहा सन्ति वैक्रियकद्वितयस्य देवगतिभगा तिर्यग्मनुष्यापेक्षया द्वाविंशति. शेषयोगानां वेदादिमार्गणानां च स्वकीयगुणस्थानभङ्गा भवन्ति । = नरक और तिर्यग्गतिमें सब परिषह होती हैं। मनुष्यगतिमें ऊपर कहे अनुसार (गुणस्थानवत्) होती हैं। देवगतिमें वाती-कर्मके उदयसे होनेवाली सात परिषह और वेदनीयकर्मके उदयसे

होनेवाला क्षुधा, पिपासा और वध, इस प्रकार चौदह परिषह होती है। इन्द्रिय और कायमार्गणमें सब परिषह होती है। वैक्यिक और वैक्यिकमिथमे देवगतिकी अपेक्षा देवगतिके अनुसार और तिर्यच मनुष्योंकी अपेक्षा नाईस होती है। शेष योग मार्गणमें तथा वेदादि सब मार्गणोंमें अपने-अपने गुणस्थानोंकी अपेक्षा लगा लेना चाहिए।

४. गुणस्थानोंकी अपेक्षा परिषहोंको सम्भावना

(त.सू./६/१०-१२); (स.सि./६/१०-१२/४२५-४३१); (रा.वा./६/१०-१२/६१३-६१४); (चा.सा./१३०-१३२) ।

गुण-स्थान	गुणकी विशेष	प्रमाण	असम्भव	संभव	गुण-स्थान	गुणकी विशेष	प्रमाण	असम्भव	संभव
१-७	सामान्य	चा.सा.		२२	१२	सामान्य	चा.सा.	क्षुधा, पिपासा, शीत, उष्ण, दंश-मशक, चर्या, शय्या, वध, रोग, तृणस्पर्श, मल	११
८	"	"	अदर्शन	२१					
६-६	"	स.सि.		२२					
६	सवेद	चा.सा.	अदर्शन	२०					
			अरति						
"	अवेद	"	"	१६					
			"	स्त्री					
१०-१२	सामान्य	स.सि.	नाग्न्य, अरति, स्त्री, निषद्या, आक्रोश, याचना, सत्कार-पुरस्कार	१४ १३-१४	"	स.सि.	"		११
			अदर्शन	"	"	चा.सा.	"		११
६-१२	मान क०	चा.सा.	"	१४				उप-चार से।	
	रहित ६।		"	८					

५. एक समयमें एक जीवको परिषहोंका प्रमाण

त.सू./६/१७ एकादयो भाज्या युगपदेकस्मिन्कान्निविशतेः । १७ ।
= एक साथ एक आत्मामें उन्नीस तक परिषह विकल्पसे हो सकते हैं ॥ १७ ॥

स.सि./६/१७ शीतोष्णपरिषहयोरैकः शय्यानिषद्याचर्याणां नान्यत्तम एव भवति एकस्मिन्नात्मनि । कुतः । विरोधात् । तत्त्रयाणामपगमे युगपदेकात्मनोतरेषां संभवात्केनविशतिविकल्पा बोद्धव्याः ।
= एक आत्मामें शीत और उष्ण परिषहोंमें-से एक, शय्या, निषद्या और चर्या इनमें-से कोई एक परिषह ही होते हैं, क्योंकि शीत और उष्ण इन दोनोंके तथा शय्या, निषद्या और चर्या इन तीनोंके एक साथ होनेमें विरोध आता है। इन तीनोंके निकाल देनेपर एक साथ एक आत्मामें इतर परिषह सम्भव होनेसे सब मिलकर उन्नीस परिषह जानना चाहिए। (रा.वा./६/१७/२/६१३/२५) ।

६. परिषहोंके कारणभूत कर्मोंका निर्देश

त.सू./६/१३-१६ ज्ञानावरणे प्रज्ञाज्ञाने ॥ १३ ॥ दर्शनमोहान्तराययोर-दर्शनात्तामौ ॥ १४ ॥ चारित्रमोहे नाग्न्यारतिस्त्रीनिषद्याक्रोशयाचना-सत्कारपुरस्कारा ॥ १५ ॥ वेदनीये शेषा ॥ १६ ॥ = ज्ञानावरणके सद्भावमें प्रज्ञा और अज्ञान परिषह होते हैं ॥ १३ ॥ दर्शनमोह और अन्तरायके सद्भावमें क्रमसे अदर्शन और अलाभ परिषह होते हैं ॥ १४ ॥ चारित्रमोहके सद्भावमें नाग्न्य, अरति, स्त्री, निषद्या, आक्रोश, याचना और सत्कार-पुरस्कार परिषह होते हैं ॥ १५ ॥ बाकीके सब परिषह वेदनीयके सद्भावमें होते हैं ॥ १६ ॥ (चा.सा./१२६/३) ।

* परिषह आनेपर वैराग्य भावनाओंका माना भी कथंचित् परिषहजय है।—दे० अलोभ, आक्रोश व वध परिषह ।

७. परिषह जयका कारण व प्रयोजन

त.सू./६/८ मार्गाच्यवननिर्जरात् परिषोढव्याः परीषहा ।
स.सि./६/८/४१७/१३ जिनोपदिष्टान्मार्गादप्रच्यवमानास्तन्मार्गपरि-क्रमणपरिचयेन कर्मागमद्वारं संवृण्वन्त औपक्रमिक कर्मफलमनुभवन्तः क्रमेण निर्जोर्णकर्मणि मोक्षमाप्नुवन्ति । = जिनदेवके द्वारा कहे हुए मार्गसे नहीं च्युत होनेवाले, उस मार्गके सतत अभ्यास रूप परिचयके द्वारा कर्मागम द्वारको संवृत करनेवाले तथा औपक्रमिक कर्मफलको अनुभव करनेवाले क्रमसे कर्मोंकी निर्जरा करके मोक्षको प्राप्त होते हैं।
अन ध./६/५३ दुःखे भिक्षुरुपस्थिते शिवपथाद्भ्रश्यत्यदुःखाभितात् तत्तन्मार्गपरिग्रहेण दुरितं रोद्धुं सुमुक्षुर्नवद् । भोक्तु च प्रतपनक्षुदा-दिवपुषो द्वाविंशति वेदना, स्वस्थो यत्सहते परीषहजय साध्यः स धोरै परस् ॥ ५३ ॥ = संयमी साधु बिना दुःखोंका अनुभव किये ही मोक्षमार्गका सेवन करे तो वह उसमें दुःखोंके उपस्थित होते ही भ्रष्ट हो सकता है। जो सुमुक्षु पूर्ववद् कर्मोंकी निर्जरा करनेके लिए आत्म-स्वरूपमें स्थित होकर क्षुधादि २२ प्रकारकी वेदनाओंको सहता है, उसीको परिषह विजयी कहते हैं।

द्र. सं./टी/५७/२२६/४ परीषहजयश्चेति ध्यानहेतवः । = परिषहजय ध्यानका कारण है।

* परिषहजय भी संयमका एक अंग है—दे० कायक्लेश ।

३. शंका समाधान

१. क्षुदादिको परिषह व परिषहजय कहनेका कारण

भ.आ./सू. व टी./११७१/११५६ सीदुण्हदंसमसयादियाण दिण्णे परि-सहाण उरो । सीदादिणिवारणाए गंथे गिययं जहत्तेण ॥ ११७१ ॥
क्षुदादिजन्मदुःखविषयत्वात् क्षुदादिशब्दानाम् । तेन क्षुत्पिपासा-शीतोष्णदंशमशकनाग्न्यादीनां परीषहवाचो मुक्तिर्न विरुध्यते ।
= शीत, उष्ण इत्यादिको मिटानेवात्ता वस्त्रादि परिषह जिसने नियमसे छोड़ दिया है, उसने शीत, उष्ण, दंश-मशक वगैरह परि-षहोंको छाती आगे करके शूर पुरुषके समान जीत लिया है, ऐसा समझना चाहिए ॥ ११७१ ॥ क्षुदादिकोंसे उत्पन्न होनेवाला दुःख क्षुदादि शब्दोंका विषय है, इस वास्ते क्षुधा, पिपासा, शीत, उष्ण, दंशमशक, नाग्न्य इत्यादिकोंको परिषह कहना अनुचित नहीं है।

२. केशलौचको परिषहोंमें क्यों नहीं गिनते

स.सि./६/६/४२६/८ केशलुचसंस्काराभ्यामुत्पन्नखेदसहनं मलसामा-न्यसहनेऽन्तर्भवतीति न पृथगुक्तम् । = केश लुचन या केशोंका संस्कार न करनेसे उत्पन्न खेदको सहना होता है, यह मल परिषह सामान्यमें ही अन्तर्भूत है। अतः उसको पृथक् नहीं गिनाया है। (रा.वा./६/६/२४/६१२/१) ।

* परिषहजय व कायकलेशमें अन्तर—दे० कायकलेश ।

३. अवधि आदि दर्शन परिषहोंका भी निर्देश क्यों नहीं करते

रा. वा./६/६/३१/६१२/३३ धूमनस्मिस्तद्योग्या गुणा न सन्तीत्येवमादि-
वचनसहस्रमवध्यादिदर्शनपरीषहजय, तस्योपसख्यानं कर्तव्यमिति;
तन्न; कि कारणम् । अज्ञानपरीषहविरोधात् । तत्कथमिति चेत् ।
उच्यते—अवध्यादिज्ञानाभावे तत्सहचरितदर्शनाभाव, आदिस्यस्य
प्रकाशाभावे प्रतापभाववत् । तस्मादज्ञानपरीषहेऽवरोधः । = प्रश्न—
अवधिदर्शन आदिके न उत्पन्न होनेपर भी 'इसमें वे गुण नहीं हैं'
आदि रूपसे अवधिदर्शन आदि सम्बन्धी परिषह हो सकती है, अतः
उसका निर्देश करना चाहिए था । उत्तर—ऐसा नहीं है, क्योंकि ये
दर्शन अपने-अपने ज्ञानोंके सहचारी हैं अतः अज्ञानपरिषहमें ही
इनका अन्तर्भाव हो जाता है । जैसे—सूर्यके प्रकाशके अभावमें प्रताप
नहीं होता, उसी तरह अवधिज्ञानके अभावमें अवधिदर्शन नहीं
होता । अतः अज्ञानपरिषहमें ही उन उन अवधिदर्शनाभाव आदि
परिषहोंका अन्तर्भाव है ।

४. दसवें आदि गुणस्थानोंमें परिषहोंके निर्देश सम्बन्धी

स. ति./६/१०/४२५/८ आह युक्तं तावद्वीतरागच्छस्ये मोहनोया-
भावात् तत्कृतवक्ष्यमाणपरीषहाभावश्चतुर्दशानियमवचनम् ।
सूक्ष्मसाम्पराये तु मोहोदयसद्भावत्वात् 'चतुर्दश' इति नियमो
नोपपद्यत इति । तदयुक्तम्, सन्मात्रत्वात् । तत्र हि केवली लोभ-
संज्वलनकषायोदयः सोऽप्यतिसूक्ष्मः । ततो वीतरागच्छस्यकल्प-
त्वात् 'चतुर्दश' इति नियमस्तत्रापि युज्यते । ननु मोहोदयसहाया-
भावान्मन्दोदयत्वाच्च क्षुधादिवेदनाभावात्तत्सहनकृतपरिषहव्यपदेशो
न युक्तिमवतरति । तन्न । किं कारणम् । शक्तिमात्रस्य विवक्षि-
तत्वात् । सर्वार्थसिद्धिदेवस्य सप्तमपृथ्वीगमनसामर्थ्यव्यपदेशवत् ।
वीतरागच्छस्यस्य कर्मोदयसद्भावकृतपरीषहव्यपदेशो युक्तिमवत-
रति । = प्रश्न—वीतरागच्छस्यके मोहनोदयके अभावसे तत्कृत आगे
कहे जानेवाले आठ परिषहोंका अभाव होनेसे चौदह परिषहोंके
नियमका वचन तो युक्त है, परन्तु सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थानमें
मोहनोदयका उदय होनेसे चौदह परिषह होते हैं, यह नियम नहीं
भनता । उत्तर—यह कहना अयुक्त है, क्योंकि वहाँ मोहनोदयकी
सत्तामात्र है । वहाँपर केवल लोभ संज्वलनकषायका उदय होता है, और
वह भी अतिसूक्ष्मइसलिए वीतरागच्छस्यके समान होनेसे सूक्ष्मसाम्प-
रायमें भी चौदह परिषह होते हैं यह नियम बन जाता है । प्रश्न—
इन स्थानों में मोहके उदयकी सहायता न होनेसे और मन्द उदय
होनेसे क्षुधादि वेदनाका अभाव है, इसलिए इनके कार्यरूपसे 'परिषह'
संज्ञा युक्तिको प्राप्त नहीं होती ? उत्तर—ऐसा नहीं है, क्योंकि यहाँ
शक्तिमात्र विवक्षित है । जिस प्रकार सर्वार्थसिद्धिके देवके सातवी
पृथ्वीके गमनकी सामर्थ्यका निर्देश करते हैं, उसी प्रकार यहाँ भी
जानना चाहिए । अर्थात् कर्मोदय सद्भावकृत परिषह व्यपदेश हो
सकता है । (रा. वा./६/१०/२-३/६१३/१०) ।

* केवलीमें परिषहों सम्बन्धी शंकाएँ—दे० केवली/४ ।

परिस्पन्द—१. आत्मप्रदेशोंका परिस्पन्द—दे० योग/१ । २.
जीवके चलिताचलित प्रदेश—दे० जीव/४ । ३. परिस्पन्दारमक
भावका विषय—दे० भाव ।

परिहार—परस्पर परिहारलक्षणविरोध—दे० विरोध ।

परिहार प्रायश्चित्त—

स. ति./६/२२/४४०/६ पक्षमासादिभिर्भागेन दूरतः परिवर्जनं परिहारः ।
=पक्ष महीना आदिके विभागसे संवसे दूर रखकर रयाग करना

परिहार प्रायश्चित्त है । (रा. वा./६/२२/६/६२१/३२), (त. सा./७/२६)
(भा. पा./टी./७८/२२३/१३) ।

२. परिहार प्रायश्चित्तके भेद

ध. १३/६.४.२६/६२/४ परिहारो द्विविहो अणवद्गुणो परचिञ्चो चेदि ।
=परिहार दो प्रकारका होता है—अनवस्थाप्य और पारचिकः ।
(चा. सा./१४४/४) ।

चा. सा./१४४/४ तत्रानुपस्थापन निजपरगणभेदाद् द्विविधः । = उपरोक्त
दो भेदोंमें से अनुपस्थापन भी निजगण और परगणके भेदसे दो प्रकार-
का होता है ।

३. निज गणानुपस्थापन या अनवस्थाप्यका लक्षण

ध. १३/६.४.२६/६२/४ तत्र अणवद्गुणो जहण्णेण छम्मासकालो उद्ध-
स्सेण मारसवासपेरंती । कायभूमिदो परदो चैव कयविहारो पडि-
वंदणविरहिदो गुरुवदिरित्तासेसज्जेणु कयमोणाभिग्गहो खवणाय-
विलपुरिमइद्वेयद्वाणणिवियदीहि सोसिय-रस-रुहिर-मांसो होदि ।
=अनवस्थाप्यपरिहार प्रायश्चित्तका जघन्य काल छह महीना और
उत्कृष्ट काल बारह वर्ष है । वह काय भूमिसे दूर रहकर ही विहार
करता है, प्रतिबन्धनासे रहित होता है, गुरुके सिवाय अन्य सब
साधुओंके साथ मौन रखता है तथा उपवास, आचान्त, दिनके
पूर्वार्धमें एकासन और निर्विकृति आदि तपो द्वारा शरीरके रस,
रुधिर और मांसको शोषित करनेवाला होता है ।

चा. सा./१४६/१ तेन ऋण्याभमाइ द्वात्रिंशद्दण्डान्तरविहितविहारेण
बालमुनीनपि बंदमानेन प्रतिबन्धनाविरहितेन गुरुणा सहासोचयता
शेषजनेषु कृतमौनव्रतेन विधृतपराङ्मुखपिच्छेन जघन्यतः पञ्चपञ्चोप-
वासा उत्कृष्टतः षण्मासोपवासाः कर्त्तव्याः, उभयमप्याद्वादशवर्षा-
दिति । इषादनन्तरोक्तान्दोषानाचरतः निजगणोपस्थापनं प्राय-
श्चित्तं भवति । = जिनकी यह प्रायश्चित्त दिया जाता है वे मुनियों-
के आश्रमसे बत्तीस दण्डके अन्तरसे बैठते हैं, बालक मुनियोंको
(कम उम्रके अथवा थोड़े दिनके दीक्षित मुनियोंको) भी बन्धना
करते हैं, परन्तु बदलेमें कोई मुनि उन्हें बन्धना नहीं करता । वे
गुरुके साथ सदा आलोचना करते रहते हैं, शेष लोगोंके साथ बात-
चीत नहीं करते हैं परन्तु मौनव्रत धारण किये रहते हैं, अपनी
पीछीकी उलटी रखते हैं । कमसे कम पाँच-पाँच उपवास और
अधिकसे अधिक छह-छह महीनेके उपवास करते रहते हैं, और इस
प्रकार दोनों प्रकारके उपवास १२ वर्ष तक करते रहते हैं यह निज
गणानुपस्थापन नामका प्रायश्चित्त है ।

आचार सार/६/६४ यह प्रायश्चित्त उत्तम, मध्यम, व जघन्य तौन प्रकार-
से दिया जाता है । यथा—उत्तम—१२ वर्ष तक प्रतिवर्ष ६ महीनेका
उपवास । मध्यम—१२ वर्ष तक प्रतिवर्ष प्रत्येक मासमें ५ से अधिक
और १५ से कम उपवास । जघन्य—१२ वर्ष तक प्रतिवर्ष प्रत्येक मास-
में ५ उपवास ।

४. परगणानुपस्थापन प्रायश्चित्तका लक्षण

चा. सा./१४६/४ स सापराधः स्वगणाचार्येण परगणाचार्यं प्रति प्रहेलव्यः
सोप्याचार्यस्तस्यालोचनमाकर्ष्य प्रायश्चित्तमदत्त्वाचार्यान्तरं
प्रस्थापयति, सप्तम यावत् परिचमश्च प्रथमालोचनाचार्यं प्रति
प्रस्थापयति, स एव पूर्वः पूर्वोक्तप्रायश्चित्तनैममाश्चरयति । = अपने
संघके आचार्य ऐसे अपराधीको दूसरे संघके आचार्यके समीप भेजते
हैं, वे दूसरे संघके आचार्य भी उनकी आलोचना सुनकर प्रायश्चित्त
दिये बिना हो किसी तीसरे संघके आचार्यके समीप भेजते हैं, इसी
प्रकार सात संघोंके समीप उन्हें भेजते हैं अन्तके अर्थात् सातवें
संघके आचार्य उन्हें पहिले आलोचना सुननेवाले आचार्यके
समीप भेजते हैं तब वे पहले ही आचार्य उन्हें ऊपर लिखा हुआ
(निजगणानुपस्थापनमें कहा हुआ) प्रायश्चित्त देते हैं ।

५. पारचिक प्रायश्चित्तका लक्षण

ध. १३/४.४.२६/६२/७ जो सो पारचिको सो एवविहो चैव होदि, किन्तु साधर्मियवर्जियवलेते समाचरेयववो । एत्थ उक्कसेण छम्मा-सक्खवण पि उवइट्ठ । = पारचिक तप भी इसी (अवस्थाप्य जैसा) प्रकारका होता है । किन्तु इसे साधर्मि पुरुषोसे रहित क्षेत्रमें आचरण करना चाहिए । इसमें उत्कृष्ट रूपसे छह मासके उपवासका भी उपदेश दिया गया है ।

आचार सार/६/६२-६४ स्वधर्मरहितक्षेत्रे प्रायश्चित्ते पुरोदिते । चार पारचिकं जैनधर्मव्यन्तरतेमत्तम् । ६२। सघोर्वीशविरोधान्त-पुरस्त्रीपमनादिषु । दोषेष्ववगन्थ पाप्मेष पातकीति बहि कृत । ६३। चतुर्विधेन सधेन देशान्त्रिकासितोऽप्यद । = अपने धर्म से रहित अन्य क्षेत्रमें जाकर जहाँ लोग धर्मको नहीं जानते वहाँ पूर्ण कथित प्रायश्चित्त करना पारचिक है । ६२। संघ और राजासे विरोध और अन्त पुरकी स्त्रियोंमें जाने आदि दोषोंके होनेपर उस पापीको चतुर्विध सधके द्वारा देशसे निकाल देना चाहिए ।

चा. सा/१४६/३ पारचिकमुच्यते, चतुर्वर्ष्यश्रमणा संघ सभ्य तमा-ह्य एष महापातकी समयबाह्यो न वन्द्य इति घोषयित्वा दत्त्वानुप-स्थानं प्रायश्चित्तदेशान्निर्घाटयन्ति । = पारचिक प्रायश्चित्तकी क्रिया इस प्रकार है—कि आचार्य पहले चारों प्रकारके मुनियोंके संघको उकट्टा करते हैं, और फिर उस अपराधी मुनिको बुलाकर घोषणा करते हैं कि 'यह मुनि महापापी है अपने मतसे बाह्य है, इस-लिए वन्दना करनेके अयोग्य है' इस प्रकार घोषणा कर तथा अनुप-स्थान नामका प्रायश्चित्त देकर उसे देशसे निकाल देते हैं ।

★ परिहार प्रायश्चित्त किसको किस अपराधमें दिया जाता है—दे० प्रायश्चित्त/४।

परिहारविशुद्धि—परिहार विशुद्धि अत्यन्त निर्मल चारित्र है जो अत्यन्त धीर व उच्चदर्शी साधुओंको ही प्राप्त होता है ।

१. परिहारांशुद्धि चारित्रका लक्षण

स. सि/६/१२/४३६/७ परिहरणं परिहार प्राणिवघान्निवृत्ति । तेन विशिष्टा शुद्धिर्यस्मिस्तत्परिहारविशुद्धिचारित्रम् । = प्राणिवधसे निवृत्तिको परिहार कहते हैं । इस युक्त शुद्धि जिस चारित्रमें होती है वह परिहारविशुद्धि चारित्र है । (रा. वा./६/१२/५/६१७/२६) (त. सा./६/४७) ; (चा. सा./२३/५) ; (गो. क/प्र/५४७/७१४/७) ।

पं. सं/प्रा./१/१३१ पंचसमिदो त्रिगुप्तो परिहरइ सया वि जोहु सावज्ज । पंचजमेयजमो वा परिहारयसंजदो साहु । १३१। = पाँच समिति और तीन गुप्तियोंसे युक्त होकर सदा ही सर्व सावच्य योगका परिहार करना तथा पाँच यमरूप भेद सयम (छेदोपस्थापना) को अथवा एक यमरूप अभेद सयम (सामायिक) को धारण करना परिहार विशुद्धि सयम है, और उसका धारक साधु परिहार विशुद्धि संयत कहलाता है । (ध. १/१.१.१२३/गा. १८६/३७२), (गो जी./सू. ४७१), (पं. सं/१/२४१) ।

यो. सा. यो/१०२ मिच्छादिउ जो परिहरणु सम्मद्द'सण-सुद्धि । सो परिहारविशुद्धि सुणि लहु पावहि सिव-सिद्धि । १०२। = मिथ्यात्व आदिके परिहारसे जो सन्ध्यादर्शनकी विशुद्धि होती है, उसे परिहार-विशुद्धि समझो, उससे जीव शीघ्र मोक्ष-सिद्धिको प्राप्त करता है । १०२।

ध. १/१.६.२२३/३७०/८ परिहारप्रधानं शुद्धिसयतं परिहारशुद्धिसंयत । = जिसके (हिंसाका) परिहार ही प्रधान है ऐसे शुद्धि प्राप्त सयतोंको परिहार-शुद्धि-सयत कहते हैं ।

द्र. सं./टी./३६/१४८/३ मिथ्यात्वरगादिविकल्पमालानां प्रत्याख्यानेन परिहारेण विशेषेण स्वात्मनः शुद्धिर्नैर्मन्यपरिहारविशुद्धिश्चारित्र-

मिति ।— मिथ्यात्व रागादि विकल्प मलानां प्रत्याख्यान अर्थात् व्याग कर्के विशेष रूपमें जो आत्मशुद्धि अथवा निर्मलता, सो परिहार विशुद्धि चारित्र है ।

२. परिहारांशुद्धि संयम विधि

भ. आ./वि/१०७/३२४/२० जिन क्लेशस्थाममर्था कल्पस्थितमचार्य-मुक्त्वा परिहारसयम गृह्णन्ति इति परिहारिका भण्यन्ते । शेषास्ते-पामनपहारिका । वसतिमाहार च मुक्त्वा नान्यद् गृह्णन्ति । सय-मार्थं पतितेयवन् गृह्णन्ति । चतुर्विधानुपसर्गा-महन्ते । दृढधृतयो निरन्तर ध्यानानहितचित्ता । त्रय, पञ्च, सप्त, नव वैषणा निर्यान्ति । रोगेण वदनयोपद्रुताश्च तत्प्रतिहार च न कुर्वन्ति । रवाध्यायकालप्रतिलेखनादिनाश्च क्रिया न सन्ति तेषा । श्मशान-मध्येऽपि तेषा न ध्यान प्रतिषिद्ध । आवश्यकानि यथाकालं कुर्वन्ति । अनुज्ञाप्य देवकुलादिषु वसन्ति । आसीधिका च निषीधिका च निष्क्रमणे प्रवेशे च संपादयन्ति । निर्देशक मुक्त्वा इतरे दशविधे समाचारे वर्तन्ते । उपकरणादिशानं, ग्रहण, अनुपालन, विनयो, वंदना सञ्जापश्च न तेषामस्ति सधेन सह । तेषा परस्पर-रेणास्ति सभोग । मौनाभिग्रहरक्षारित्तो भाषा मुव वा प्रष्टव्या-हतिमनुज्ञाकरणी प्रश्ने च प्रवृत्ता च मार्गस्य शक्तिम्य वा योग्या-योग्यत्वेन शय्य, धरगृहस्य, वसतिरक्षामिनो वा प्रश्न । १०. व्याघ्रादि-कण्टकादिविद्धे स्वयं न निराकुर्वन्ति । परे यदि निराकुर्तुःस्त्स्त्रीमव-तिष्ठन्ते । तृतीययाम एव नियोगतो भिक्षार्थं गच्छन्ति । यत्र क्षेत्रे षट्ग चर्या अपुनरुक्ता भवन्ति तत्क्षेत्रमागसप्रयोग्य शेषमयःर्यामिति वर्जयन्ति । = त्रिनकल्पको धारण करनेमें असमर्थ चार या पाँच साधुसभमें परिहारविशुद्धि सयम धारण करते हैं । उनमें भी एक आचार्य कहलाता है । शेषमें जो पीढ़ीसे धारण करते हैं उन्हें अनुप-हारक कहते हैं । ये साधु वस्तिका, आहार, सरतर, पीछी व कमण्डल-के अतिरिक्त अन्य कुछ भी ग्रहण नहीं करते । धैर्य पूर्वक उपसर्ग सहते हैं । वेदना आदि आनेपर भी उसका प्रतिकार नहीं करते । निरन्तर ध्यान व स्वाध्यायमें मग्न रहते हैं । श्मशानमें भी ध्यान करनेका इनको निषेध नहीं । यथाकाल आवश्यक क्रियाएँ करते हैं । शरीरके अंगोंको पीछीसे पोछनेकी क्रिया नहीं करते । वस्तिकाके लिए उसके स्वामीसे अनुज्ञा लेता तथा नि सही असहीके नियमोंको पालता है । निर्देशको द्योडकर समस्त समाचारोंको पालता है । अपने साधर्मिके अतिरिक्त अन्य सबके साथ आदान, प्रदान, वन्दन, अनुभाषण आदि समस्त व्यवहारोंका त्याग करते हैं । आचार्य पदपर प्रतिष्ठित परिहार सयमी उन व्यवहारोंका त्याग नहीं करते । धर्म-कार्यमें आचार्यसे अनुज्ञा लेना, विहारमें मार्ग पूछना, वस्तिकाके स्वामीसे आज्ञा लेना, योग्य अयोग्य उपकरणोंके लिए निर्णय करना, तथा किसीका सन्देह दूर करनेके लिए उत्तर देना, इन कार्योंके अति-रिक्त वे मौनमें रहते हैं, उपसर्ग आनेपर स्वयं दूर करनेका प्रयत्न नहीं करते, यदि दूसरा दूर करे तो मौन रहते हैं । तीसरे पहर भिक्षाको जाते हैं । जहाँ छ भिक्षाएँ अपुनरुक्त मिल सके ऐसे स्थानमें रहना ही योग्य समझते हैं । ये त्रेदोपस्थापना चारित्रके धारी होते हैं ।

३. गुणस्थानोंकी अपेक्षा स्वामित्व

ध. ख. १/१.१/५ १२६/३७५ परिहार-सुद्धि-संजदा दोसु द्वाणेसु पमत्तसजद-द्वाणे अप्पमत्त-सजद-ट्ठाणे । १२६। = परिहार-शुद्धि-संयत प्रमत्त और अप्रमत्त इन दो गुणस्थानोंमें ही होते हैं । १२६। (द्र. सं/टी/३५/१४८/२), (गो जी./सू/४६७,६=१) ।

४. उत्कृष्ट व जघन्य स्थानोंका स्वामित्व

ध. ७/२.११.१६६/५६६/१ एया परिहारसुद्धिसजमलद्धी जहणिया कस्स होदि । सव्वसकिलिट्ठस्स मामाइयत्थेयत्थेयत्थावणः भिमुहचरिम-

सम्यपरिहारसुद्धिसंजदस्स । = यह जघन्य परिहारशुद्धि सयमलब्धि सर्व सवित्तष्ट सामायिक-छेदोपस्थापना शुद्धि संयमके अभिमुख हुए अन्तिम समयवर्ती परिहार शुद्धिसंयतके होती है ।

५. परिहार संयम धारणमें आयु सम्बन्धी नियम

घ. ४/१/८/२७१/३२७/१० तीसं वासेण विणा परिहारसुद्धिसंजमस्य संभवाभावा । = तीस वर्षके बिना परिहार विशुद्धि संयमका होना संभव नहीं है । (गो. जी./सू./४७३/५८१) ।

घ. ७/२,२,१४६/१६७/८ तीसं वस्साणि गमिय तदो वासपुधत्तेण तित्थय-यरपादमूले पच्चक्खवाणणामधेयपुव्व पडिदूण पुणो पच्छा परिहार-सुद्धिसज्जमं पडिबज्जिय देसूणपुव्वकोडिकालमक्खिदूण देवेषुपणस वत्तव्वं । एवमट्ठतीसवस्सेहि ङ्गणिया पुव्वकोडी परिहारसुद्धि-सज्जमस्स कालो बुत्तो । के वि आइरिया सोलसवस्सेहि के वि चावीसवस्सेहि ङ्गणिया पुव्वकोडी त्ति भणंति । = तीस वर्षोंको बिताकर (फिर संयम ग्रहण किया । उसके) पश्चात् वर्ष पृथक्त्वसे तीर्थकरके पादमूलमे प्रत्याख्यान नामक पूर्वको पढकर पुन' तत्पश्चात् परिहारविशुद्धि संयमको प्राप्तकर और कुछ कम पूर्व कौटि वर्ष तक रहकर देवोंमें उत्पन्न हुए जीवके उपर्युक्त काल प्रमाण कहना चाहिए । इस प्रकार अठतीस वर्षोंसे कम पूर्वकोटि वर्ष प्रमाण परिहार शुद्धि संयतका काल कहा गया है । कोई आचार्य सोलह वर्षोंसे और कोई बाईस वर्षोंसे कम पूर्वकोटि वर्षप्रमाण कहते हैं । (गो. जी./जी. प्र./४७३/८८१/१२, ७१५/११५४/११) ।

६. इसकी निर्मलता सम्बन्धी विशेषताएँ

घ. ७/२,२,१४६/१६७/८ सव्वसुही होदूण वासपुधत्तेण तित्थयरपाद-मूले पच्चक्खवाणणामधेयपुव्व पडिदूण पुणो पच्छा परिहारसुद्धिसंजमं पडिबज्जिय । = सर्व सुखी होकर पश्चात् वर्ष पृथक्त्वसे तीर्थकरके पाद मूलमे प्रत्याख्यान नामक पूर्वको—पढकर पुन. तत्पश्चात् परिहार विशुद्धि संयमको प्राप्त करता है । (गो. जी./जी. प्र./४७३/१६७/८) ।

७. इसके साथ अन्य गुणों व ऋद्धियोंका निषेध

पं. सं/प्रा/१/११४ मणपज्जवपरिहारो उवसमसम्मत्त दोण्णि आहारा । एदेसु एक्कपयदे णत्थि त्ति असेसयं जाणे । ११४ । = मन पर्ययज्ञान परिहार विशुद्धि संयम, प्रथमोपशम सम्यक्त्व और दोनों आहारक अर्थात् आहारकशरीर और आहारक अंगोपाग, इन चारोंमेंसे किसी एकके होनेपर, शेष तीन मार्गणाएँ नहीं होती ऐसा जानना चाहिए । ११४ । (गो. जी./सू./७३०/१३२५) ।

घ. ४/१,३,६७/१२३/७ (परिहारसुद्धिसंजदेसु) समत्तसंजदे तेजाहारं णत्थि । = परिहार विशुद्धि संयतके तैजससमुद्धात और आहारक समुद्धात ये दो पद नहीं होते ।

घ. ४/१,८,२७१/३२७/१० ण च परिहारसुद्धिसंजमच्छ'तस्स उवसम-सेडीचडणट्ठ वसणमोहणीयस्सुवसामण्णं पि संभवइ । = परिहार विशुद्धि संयमको नहीं छोड़नेवाले जीवके उपशमश्रेणीपर चढ़नेके लिए दर्शन मोहनीय कर्मका उपशम होना भी संभव नहीं है । अर्थात् परिहारविशुद्धि संयमके उपशम सम्यक्त्व व उपशमश्रेणी होना सम्भव नहीं । (गो. जी./जी. प्र./७१५/१२) ।

घ. १४/५,६,१५८/२४७/१ परिहारसुद्धिसंजदस्स विउव्वणरिद्धो(ए) आहाररिद्धीए च सह विरोहादो । = परिहारशुद्धिसंयतजीवके विक्रियाऋद्धि और आहारक ऋद्धिके साथ इस संयम होनेका विरोध है । (गो. जी./जी. प्र./७१५/११५४/११) ; (गो. क./जी. प्र./११६/११३/६)

८. अंका समाधान

घ. १/१,१,१२६/२७४/५ उपरिष्ठात्किमित्ययं सयमो न भवेदिति चेन्न, ध्यानामृतसागरान्तनिमग्नात्मना वाच्यमानामुपसंहतगमनागमनादिकायव्यापाराणा परिहारानुपपत्ते । प्रवृत्तः परिहरति नाप्रवृत्तस्ततो नोपरिष्ठात् संयमोऽस्ति ।

घ. १/१,१,१२६/३७६/२ परिहारर्षेपरिष्ठादपि सत्त्वात्त्रास्यास्तु सत्त्वमिति चेन्न, तत्कार्यस्य परिहरणलक्षणस्यासत्त्वतस्तत्र तदभावात् । = प्रश्न—ऊपरके आठवें आदि गुणस्थानोंमें यह संयम क्यों नहीं होता ? उत्तर—नहीं, क्योंकि, जिनकी आत्माएँ ध्यानरूपी सागरमें निमग्न है, जो वचन यमका (मौनका) पालन करते हैं और जिन्होंने आने जाने रूप सम्पूर्ण शरीर सम्बन्धी व्यापार सकुचित कर लिया है ऐसे जीवोंके शुभाशुभ क्रियाओंका परिहार बन ही नहीं सकता है । क्योंकि, गमनागमन रूप क्रियाओंमें प्रवृत्ति करनेवाला ही परिहार कर सकता है प्रवृत्ति नहीं करनेवाला नहीं । इसलिए ऊपरके आठवें आदि गुणस्थानोंमें परिहार शुद्धि संयम नहीं बन सकता है । प्रश्न—परिहार ऋद्धिकी आठवें आदि गुणस्थानोमें भी सत्ता पायी जाती है, अतएव वहाँपर इस संयमका सद्भाव मान लेना चाहिए । उत्तर—नहीं, क्योंकि, आठवें आदि गुणस्थानोमें परिहार ऋद्धि पायी जाती है, परन्तु वहाँपर परिहार करने रूप कार्य नहीं पाया जाता, इसलिए आठवें आदि गुणस्थानोंमें इस संयमका अभाव है ।

घ. ४/१,८,२७१/३२७/८ एत्थ उवसमसम्मत्तं णत्थि, तीसं वासेण विणा परिहारसुद्धिसंजमस्य संभवाभावा । ण च तैत्थिकालसुवसमसम्मत्त-स्सावट्ठणमत्थि, जेण परिहारसुद्धिसंजमेण उवसमसम्मत्तस्सुवसलद्धी होज्ज । ण च परिहारसुद्धिसंजमच्छ'तस्स उवसमसेडीचडणट्ठ वसणमोहणीयस्सुवसामण्णं पि संभवइ, जेषुवसमसेडिम्मि दोण्ह पि सजोगो होज्ज । = प्रश्न—(परिहारविशुद्धिसंयतके उपसम सम्यक्त्व क्यों नहीं होता ?) उत्तर—१. परिहार शुद्धि संयतके उपशम सम्यक्त्व नहीं होता है क्योंकि, तीस वर्षके बिना परिहार-शुद्धि संयमका होना सम्भव नहीं है । और न उतने कालतक उपशम सम्यक्त्वका अवस्थान रहता है, जिससे कि परिहारशुद्धि संयमके साथ उपशम सम्यक्त्वकी उपलब्धि हो सके । २. दूसरी बात यह है कि परिहारशुद्धि संयमको नहीं छोड़नेवाले जीवके उपशम श्रेणीपर चढ़नेके लिए दर्शन मोहनीय कर्मका उपशम हाना भी सम्भव नहीं है, जिससे कि उपशम श्रेणीमें उपशम सम्यक्त्व और परिहारशुद्धि संयम, इन दोनोंका भी संयोग हो सके ।

९. अन्य सम्बन्धित विषय

१. अप्रशस्त वेदके साथ परिहार विशुद्धिका विरोध —दे० बह/६ ।
२. परिहार विशुद्धि व अपहृत संयममें अन्तर । —सयम/२ ।
३. परिहार विशुद्धि संयमसे प्रतिपात संभव है । —दे० अन्तर/१ ।
४. सामायिक, छेदोपस्थापना व परिहार विशुद्धिमें अन्तर । —दे० छेदोपस्थापना ।
५. परिहार विशुद्धि संयममें क्षायोपशमिक भावों सम्बन्धी । —दे० सयत/२ ।
६. परिहार विशुद्धि संयममें गुणस्थान, जीवसमाप्त, मार्गणा-स्थानके स्वामित्व सम्बन्धी २० प्ररूपणाएँ । —दे० 'सत' ।
७. परिहार विशुद्धि संयतके सत्, संख्या, रक्षण, काल, अन्तर, भाव व अल्प बहुत्व रूप आठ प्ररूपणाएँ । —दे० बह बह नाम ।

- ८ परिहास विशुद्ध सम्बन्धमें कर्मोक्ता वचन, उदय व सख ।
—दे० वह वह नाम ।
९ मनी मार्गणाग्रामे आयके अनुसार व्यय होनेका नियम ।
— दे० मार्गणा ।

परीक्षा - -

न्या सू/टी/१/१/२/८/८ निश्चितम् गणलक्षणमुपापद्यते न वेति प्रमाणैस्वपारण परीक्षा । = उद्दिष्ट पदार्थके जो लक्षण कहे गये, 'वे टी' है या नहीं, इसको प्रमाण द्वारा निश्चय प्रमाण करनेको परीक्षा कहते हैं ।

तत्त्वार्थविगम भाष्य/१/१५ इहा ऊहा तर्क परीक्षा विचारणा जिज्ञासा इत्यनन्तम् । = ईहा, ऊहा, तर्क, परीक्षा, विचारणा और जिज्ञासा ये एकार्थवाची शब्द हैं । (और भी दे० विचय) ।

न्या, टी/१/१६/८ विरुद्धनाना युक्तिप्रबलप्रदौर्बलयावधारणाय प्रवर्तमानो विचार परीक्षा । सा खल्वेव चेदेव स्यादेव स्यादित्येव प्रवर्तते । = परस्पर विरुद्ध अनेक युक्तियोंमेंसे कौनसी युक्ति प्रबल है और कौनसी दुर्बल है इस बातके निश्चय करनेके लिए 'यदि ऐसा माना जायेगा तो ऐसा होगा, और उसके विरुद्ध ऐसा माना जायेगा तो ऐसा होगा' इस प्रकार जो विचार किया जाता है उसको परीक्षा कहते हैं ।

★ अन्य सम्बन्धित विषय

- १ तत्त्वज्ञानमें परीक्षाकी प्रधानता — दे० न्याय/२ ।
२ परीक्षामें हेतुका स्थान — दे० हेतु ।
३ श्रद्धानामें परीक्षाकी मुख्यता — दे० श्रद्धान/२ ।
४ देव, शास्त्र, गुरु आदिकी परीक्षा — दे० वह वह नाम ।
५ सायुकी परीक्षाका विधि निषेध व उपाय — दे० विनय/५ ।
६ परीक्षामें अनुभवकी प्रधानता — दे० अनुभव/३ ।

परीक्षामुख—आ० माणिक्यनन्दि (ई० १००३) द्वारा संस्कृत भाषामें रचित सूत्रनिबद्ध न्यायविषयक ग्रन्थ है । इसमें छह अधिकार हैं, और कुल २०० सूत्र हैं । इसपर दो टीकाएँ उपलब्ध हैं— प्रभाचन्द्र म० ४ (ई० १५०-१०२०) कृत प्रमेयकमलमार्ण्ड नामकी संस्कृत टीका और प जयचन्द्र छावडा (ई० १८०६) कृत भाषा टीका ।
(ती/३/४१)

परीक्षित—१. अभिमन्युका पुत्र था । कृष्णजीके द्वारा इसको राज्य मिला था । (पा पु./२२/३३) । २. कुरुवंशी राजा था । पाचालदेश (कुरुक्षेत्र) में राज्य करता था । (राजा जनमेजयका पिता था) समय—ई० पू० १४७०-१४५० (भारतीय इतिहास १/२८६) विशेष दे० इतिहास/३/३ ।

परोत—Grams (ज प/प्र, १०७) (दे० 'गणित'/I/१/१) ।

परोतानंत—दे० अनन्त ।

परीतासंख्यात—दे० असंख्यात ।

परीलेखा—भा आ/वि/६८/१६६ पडिलेहा आराधनाया व्याखेपेण विना सिद्धिर्भवेति न वा राज्याय देजरय ग्रामनगरादेस्तत्र प्रधानस्य या शोभनं वा नेति एव निरूपणम् । = पडिलेहा—आराधनामें यदि विघ्न उपस्थित हो तो आराधनाकी सिद्धि नहीं होती । अतः उभयोर्निर्विघ्नताके लिए राज्य, देश, गाँव, नगरका शुभ होगा या अशुभ होगा उसका परीक्षण करना ।

परीक्ष—प्रमाणके भेदामेंसे परीक्ष भी एक है । इन्द्रियो व विचारणा द्वारा जो कुछ भी जाना जाता है वह सब परीक्ष प्रमाण है । दृग्स्थी-को पदार्थ विज्ञानके लिए एकमात्र यही साधन है । स्मृति, तर्क, अनुमान आदि अनेको इसके रूप है । यद्यपि अविशद व इन्द्रियो आदिसे होनेके कारण इसे परीक्ष कहा गया है, परन्तु यह अप्रमाण नहीं है, क्योंकि इसके द्वारा पदार्थका निश्चय उतना ही दृढ होता है, जितना कि प्रत्यक्षके द्वारा ।

१. परीक्ष प्रमाणका लक्षण

१ इन्द्रियसापेक्षज्ञान

प्र. सा/सू/५८ जं परदो विण्णाणं त तु परोक्ख त्ति भणिदमट्ठेसु । ५८
= परके द्वारा होनेवाला जो पदार्थ सम्बन्धी विज्ञान है, वह परीक्ष कहा गया है । (प्र. सा./सू/४०), (स. सि./१/११/१०१/५); (रा. वा./१/११/७/५२/३०), (प्र. सा/त. व./५८/७६/१२)

रा. वा/१/११/६/५२/२४ उपात्तानुपात्तप्रधान्यादवगम' परीक्षम् । ६। उपात्तानीन्द्रियाणि मनश्च, अनुपात्तं प्रकाशोपदेशादि पर तस्या-धान्यादवगमः परीक्षम् । तथा मतिश्रुतावरणक्षयोपशमे सति ज्ञस्वभावस्यात्मन स्वमेवार्थानुपलब्धमसमर्थस्य पूर्वोक्तप्रत्ययप्रधानं ज्ञान परायत्तत्वात्तदुभय परीक्षमित्युच्ये । = उपात्त-इन्द्रियो और मन तथा अनुपात्त-प्रकाश उपदेशादि 'पर' है । परकी प्रधानतासे होनेवाला ज्ञान परीक्ष है । (स सा/आ/१३/क ८), (त. सा/१/१६) (ध. ६/४.१.४५/१४३/५); (ध. १३/५.५.२१/२१२/१), (प्र सा/त प्र./५५), (गो जी./जी. प्र/१६६/७६५/८) तथा उसी प्रकार मति-ज्ञानावरण और श्रुतज्ञानावरणका क्षयोपशम होनेपर ज्ञस्वभाव परन्तु स्वयं पदार्थोंको ग्रहण करनेके लिए असमर्थ हुए आत्माके पूर्वोक्त प्रत्ययोंकी प्रधानतासे उत्पन्न होनेवाला ज्ञान पराधीन होनेसे परीक्ष है । (स सि/१/१६/१०१/५), (ध. ६/४.१.४५/१४४/१) ।

प्र सा/त प्र/५८ यत् खलु परद्रव्यभूतादन्त करणादिन्द्रियात्परपे-देशाद्गुणलब्धे सस्कारादानोकादेर्या निमित्ततामुपगमात्स्वविषयमुप-गतस्थार्थस्य परिच्छेदन तत् परत प्रादुर्भूतपरीक्षमित्यालक्ष्यते । = निमित्तताके प्राप्त जो परद्रव्यभूत अन्त करण (मन) इन्द्रिय, परोपदेश, उन्नत विद्य (जाननेकी शक्ति) सस्कार या प्रकाशादिक है, उनमें द्वारा होनेवाला स्वविषयभूत पदार्थका ज्ञान परके द्वारा प्रगट होता है इसलिए परीक्षके रूपमें जाना जाता है । (द स/टी/५/३/१२) ।

२. अविशदज्ञान

प मु/२/१ (विशद प्रत्यय प मु/२/१) परीक्षमितरत् । १। = विशद अर्थात् स्पष्ट ज्ञानका प्रत्यक्ष कहते हैं । इससे भिन्न अर्थात् अविशद-को परीक्षप्रमाण वदते हैं ।

न्या टी/३/१/५१/१ अविशदप्रतिभास परीक्षम् । यस्म ज्ञानस्य प्रतिभासो विशदो न भवति तत्परीक्षमित्यर्थ । अविशद्यमस्पष्ट-मित्यर्थ । = अविशद प्रतिभासको परीक्ष कहते हैं । जिस ज्ञानका प्रतिभास विशद नहीं है वह परीक्षप्रमाण है । अविशदता अस्पष्टताको कहते हैं । (स भ त/४७/१०)

२. परीक्षज्ञानके भेद—१. मति श्रुतकी अपेक्षा

त सु/१/११ आको परीक्षम् । ११। = आदिके दो ज्ञान अर्थात् मति और श्रुतज्ञान परीक्ष प्रमाण है । (ध. ६/४.१.४५/१४३/५), (न च. व./१७१), (ज प/१३/५३) ।

प्र सा/टी/५/२५/२ शेषचतुष्टय परीक्षमिति । = शेष कुमति, कुश्रुत, मति और श्रुतज्ञान ये चार परीक्ष हैं ।

२. स्मृति आदिकी अपेक्षा

त म् /१/१३ मतिः स्मृतिः सज्ञा चिन्ताभिनिबोध इत्यन्तरम् ।
=मति, स्मृति, सज्ञा चिन्ता और अभिनिबोध ये पर्याप्तवाची नाम है ।

न्या स /मू/१/१/३/६ प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दा प्रमाणानि ।३।
न्या स /मू/२/२/१/१०६ न चतुष्टयमैतिह्यार्थापत्तिसम्भवाभाव-
प्रामाण्यात् ।१। =न्यायदर्शनमें प्रमाण चार होते हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान,
उपमान और शब्द ।३। प्रमाण चार ही नहीं होते हैं किन्तु ऐतिह्य,
अर्थापत्ति सम्भव और अभाव ये चार और मिलकर आठ प्रमाण हैं ।

प मु /३/२ प्रत्यक्षादिनिमित्त स्मृतिप्रत्यभिज्ञानतर्कानुमानागमभेद
।२। =वह परोक्षज्ञान प्रत्यक्ष आदिकी सहायतासे होता है और
उसके स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और आगम प्रे पाँच भेद
है ।२। (न्या म, /२८/३२१/२१); (न्या. दी. /३/१३/२३/१) ।

स्या म, /२८/३२२/२ प्रमाणान्तराणा पुनरर्थापत्त्युपमानसम्भवप्राति-
भैतिह्यादीनामत्रैव अन्तर्भावः । =अर्थापत्ति, उपमान, सम्भव,
प्रातिभ, ऐतिह्य आदिका अन्तर्भाव प्रत्यक्ष और परोक्ष प्रमाणोंमें हो
जाता है ।

३. परोक्षामासका लक्षण

प. मू. /६/७ वैशद्येऽपि परोक्ष तदाभास मीमांसकस्य करणस्य ज्ञानवत् ।
=परोक्षज्ञानको विशद मानना परोक्षभास है, जिस प्रकार परोक्ष-
रूपसे अभिमत मीमांसकोंका इन्द्रियज्ञान विशद होनेसे परोक्षभास
कहा जाता है ।

★ मति श्रुत ज्ञान—दे० वह वह नाम ।

★ स्मृति आदि सम्बन्धी विषय—दे० मति ज्ञान/३ ।

★ स्मृति आदिमें परस्पर कारणकार्यभाव

—दे० मतिज्ञान/३ ।

९. मति श्रुत ज्ञानकी परोक्षताका कारण

प्र सा /मू/५७ परद्वयं ते अस्मा णेव सहावो च्छि अप्यणो भगिदा ।
उवल्लङ्घ तैहि कथ पच्चमख अप्यणो होदि ।५७। —वे इन्द्रियों पर-
द्वय है, उन्हें आत्मस्वभावरूप नहीं कहा है, उनके द्वारा ज्ञात आत्मा-
का प्रत्यक्ष कैसे हो सकता है अर्थात् नहीं हो सकता ।५७।

रा. वा /२/५/१८/१२२/६ अप्रत्यक्षा घटादयोऽग्राहकनिमित्तग्राह्यत्वाद्
धूमाद्यनुमितानिवत् । अग्राहकमिन्द्रियं तद्विगमेऽपि गृहीतरमरणात्
गवाक्षवत् । =इन्द्रियों अग्राहक है, क्योंकि उनके नष्ट हो जानेपर
भी स्मृति देखी जाती है । जैसे खिडकी नष्ट हो जानेपर भी उसके
द्वारा देखनेवाला स्थिर रहता है उसी प्रकार इन्द्रियोंसे देखनेवाला
ग्राहक आत्मा स्थिर है, अतः अग्राहक निमित्तसे ग्राह्य होनेके कारण
इन्द्रिय ग्राह्य पदार्थ परोक्ष ही है ।

क पा १/१, १/१९ १६/२४/३ मदि-सुदणामणि परोक्ष्वाणि, पाएण तत्त्वा
अविसदभावदसणादो । =मति और श्रुत ये दोनों ज्ञान परोक्ष है,
क्योंकि इनमें प्रायः अस्पष्टता देखी जाती है ।

प मु /२/१२ सावरणत्वे करण जन्मत्वे च प्रतिबन्धसंभवात् ।१२। =आव-
रण सहित और इन्द्रियोंकी सहायतासे होनेवाले ज्ञानका प्रतिबन्ध
संभव है । (इसलिए वह परोक्ष है) ।

न्या. वि. /वृ/१/३/६६/२४ इदं तु पुनरिन्द्रियज्ञान परिस्फुःमपि
नात्ममात्रापेक्षं तदन्यस्येन्द्रियस्याप्यपेक्षणात् । अत एक इन्द्रिकलत्वा
परोक्षमेवेति मतम् । =इन्द्रियज्ञान यद्यपि विशद है परन्तु आत्ममात्र-
की अपेक्षासे उत्पन्न न होकर अन्य इन्द्रियादिककी अपेक्षासे उत्पन्न
होता है, अतः प्रत्यक्षज्ञानके लक्षणमें एकाग विकल होनेसे परोक्ष ही
माना गया है ।

नि, सा /ता वृ/१२ मतिश्रुतज्ञानद्वितयमपि परमार्थतः परोक्षम् ।
व्यवहारतः प्रत्यक्षं च भवति । = मति और श्रुतज्ञान दोनों ही
परमार्थसे परोक्ष है और व्यवहारसे प्रत्यक्ष होते हैं ।

प्र सा /ता वृ/५५/७३/१५ इन्द्रियज्ञान यद्यपि व्यवहारेण प्रत्यक्षं
भण्यते, तथापि निश्चयेन केवलज्ञानापेक्षया परोक्षमेव । = इन्द्रिय-
ज्ञान यद्यपि व्यवहारसे प्रत्यक्ष कहा जाता है, तथापि निश्चयनयसे
केवलज्ञानकी अपेक्षा परोक्ष ही है । (न्या. दी /२/१२/३४/२) ।

प. घ. /पू/७०० आभिनिबोधिकबोधो विषयविषयिसंनिकर्षजस्त-
स्मात् । भवति परोक्षं नियमादपि च मतिपुरस्सर श्रुत ज्ञानम् ।७००।
=मतिज्ञान विषय विषयीके सन्निकर्षसे उत्पन्न होता है, और श्रुत-
ज्ञान भी नियमसे मतिज्ञान पूर्वक होता है, इसलिए वे दोनों ज्ञान
परोक्ष कहलाते हैं ।७००। (प. घ./पू/७०१, ७०७) ।

★ इन्द्रिय ज्ञानकी परोक्षता सम्बन्धी शंका समाधान

—दे० श्रुतज्ञान/१/५ ।

★ मतिज्ञानका परमार्थमें कोई मूल्य नहीं

—दे० मतिज्ञान/२ ।

★ सम्यग्दर्शनकी कथंचित् परोक्षता

—दे० सम्यग्दर्शन/१/३ ।

५. परोक्षज्ञानको प्रमाणपना कैसे घटित होता है

रा वा /१/११/७/२२/२६ अत्राऽन्ये उपालभन्ते— परोक्ष प्रमाणं न
भवति, प्रतीयतेऽनेनेति हि प्रमाणम्, न च परोक्षेण किंचित्प्रतीयते-
परोक्षत्वादेव इति, सोऽनुपालम्भः । कुत । अतएव । यस्मात् 'परायत्तं
परोक्षम्' इत्युच्यते न 'अनवबोधः' इति । =प्रश्न—'जिसके द्वारा
निर्णय किया जाये उसे प्रमाण कहते हैं' इस लक्षणके अनुसार परोक्ष
होनेके कारण उससे (इन्द्रिय ज्ञानसे) किसी भी बातका निर्णय नहीं
किया जा सकता, इसलिए परोक्ष नामका कोई प्रमाण नहीं है ।
उत्तर—यह शंका ठीक नहीं है, क्योंकि यहाँ परोक्षका अर्थ अज्ञान
या अनवबोध नहीं है किन्तु पराधीन ज्ञान है ।

परोक्ष—परोक्ष्य बन्धो प्रकृतियों—दे० उदय/७ ।

परोपकार—दे० उपकार ।

पर्यकासन—दे० आसन ।

पर्यनुयोज्योपेक्षण निग्रहस्थान—

न्या सू /५/२/२१/३१७ निग्रहस्थानप्राप्तस्यानिग्रह पर्यनुयोज्योपेक्षणम् ।
।२१। =निग्रहस्थानमें प्राप्त हुएका निग्रह न करना 'पर्यनुयोज्योपेक्षण'
नामक निग्रहस्थान कहाता है । (श्लो वा, ४/न्या./२४४/४१४/२७ में
उद्धृत) ।

पर्यवसन्न—निश्चय । (स भं त /४/१) ।

पर्याप्ति—योनि स्थानमें प्रवेश करते ही जीव वहाँ अपने शरीरके-

योग्य कुछ पुद्गल वर्गणाओंका ग्रहण या आहार करता है । तत्पश्चात्
उनके द्वारा क्रमसे शरीर, स्वास, इन्द्रिय, भाषा व मनका निर्माण
करता है । यद्यपि स्थूल दृष्टिसे देखनेपर इस कार्यमें बहुत काल लगता
है, पर सूक्ष्म दृष्टिसे देखनेपर उपरोक्त छहों कार्यकी शक्ति एक अन्त-
मूर्तमें पूरी कर लेता है । इन्हे ही उसकी छह पर्याप्तियाँ कहते हैं ।
एकेन्द्रियादि जीवोंको उन-उनमें सम्भव चार, पाँच, छह तक पर्या-
प्तियाँ सम्भव हैं । जब तक शरीर पर्याप्ति निष्पन्न नहीं होती, तब
तक वह निवृत्ति अपर्याप्त सज्ञाको प्राप्त होता है, और शरीर पर्याप्ति
पूर्ण कर चुकनेपर पर्याप्त कहलाने लगता है, भले अभी इन्द्रिय आदि
चार पर्याप्तियाँ पूर्ण न हुई हों । कुछ जीव तो शरीर पर्याप्ति पूर्ण किये
बिना ही मर जाते हैं, वे क्षुद्रभवधारी, एक स्वासमें १८ बार जन्म-
मरण करनेवाले लघ्वपर्याप्त जीव कहलाते हैं ।

१	भेद व लक्षण
१	पर्याप्ति-अपर्याप्ति सामान्यका लक्षण ।
२	पर्याप्ति-अपर्याप्ति नामकर्मके लक्षण ।
३	पर्याप्तिके भेद ।
४	छहों पर्याप्तियोंके लक्षण ।
५	निवृत्ति पर्याप्तापर्याप्तिके लक्षण ।
६	पर्याप्त व अपर्याप्त निवृत्तिके लक्षण ।
७	लब्धपर्याप्तका लक्षण ।
८	अतीत पर्याप्तका लक्षण ।
२	पर्याप्ति निर्देश व तत्सम्बन्धी शंकाएँ
१	षट् पर्याप्तियोंके प्रतिष्ठापन व निष्ठापन काल सम्बन्धी नियम ।
*	गर्भमें शरीरकी उत्पत्तिका क्रम । —दे० जन्म/२/८ ।
२	कर्मोदयके कारण पर्याप्त व अपर्याप्त संका ।
*	पर्याप्तापर्याप्त प्रकृतियोंका बंध उदय व सत्त्व । —दे० वह वह नाम ।
३	कितनी पर्याप्ति पूर्ण होनेपर पर्याप्त कहलायें ।
४	विग्रहगतिमें पर्याप्त कहें या अपर्याप्त ।
५	निवृत्ति अपर्याप्तको पर्याप्त कैसे कहते हों ।
६	इन्द्रिय पर्याप्ति पूर्ण हो जानेपर भी बाह्यार्थका ग्रहण क्यों नहीं होता ।
७	पर्याप्ति व प्राणोंमें अन्तर ।
*	उच्छ्वास पर्याप्ति व उच्छ्वास प्राणोंमें अन्तर । —दे० उच्छ्वास ।
*	पर्याप्तापर्याप्त जीवोंमें प्राणोंका स्वामित्व । —दे० प्राण/१ ।
३	पर्याप्तापर्याप्तका स्वामित्व व तत्सम्बन्धी शंकाएँ ।
*	पर्याप्तियोंका काय मार्गणमें अन्तर्भाव । —दे० मार्गणा ।
*	सभी मार्गणोंमें आयेके अनुसार व्यय होनेका नियम । —दे० मार्गणा ।
*	पर्याप्तोंकी अपेक्षा अपर्याप्त जीव कम हैं । —दे० अव्यवहृतत्व/२/६/२ ।
१	किस जीवको कितनी पर्याप्तियाँ सम्भव हैं ।
२	अपर्याप्तोंको सम्यक्त्व उत्पन्न क्यों नहीं होता ।
*	जब मिश्रयोगी व समुद्घात केत्रलीमें सम्यक्त्व पाया जाता है, तो अपर्याप्तमें क्यों नहीं । —दे० आहारक/४/७ ।
*	एक जीवमें पर्याप्त अपर्याप्त दोनों भाव कैसे सम्भव हैं । —दे० आहारक/४/६ ।
*	लब्धपर्याप्त नियमसे सम्मूर्च्छिम ही होते हैं । —दे० संमूर्च्छन ।

*	अपर्याप्तकोंके जन्म व गुणस्थान सम्बन्धी । —दे० जन्म/६ ।
*	पर्याप्त अवस्थामें लेश्याएँ । —दे० लेश्या/१ ।
*	अपर्याप्त कालमें सर्वोत्कृष्ट सकलेश व विशुद्धि सम्भव नहीं । —दे० विशुद्धि ।
*	अपर्याप्तावस्थामें विभंग ज्ञानका अभाव । —दे० अवधिज्ञान/७ ।
*	पर्याप्तापर्याप्तमें गुणस्थान, जीवसमाप्त, मार्गणा स्थानके स्वामित्व सम्बन्धी २० प्ररूपणाएँ । —दे० सत् ।
*	पर्याप्तापर्याप्तके सत् (अस्तित्व, संख्या, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर, भाव, अल्पबहुत्वरूप आठ प्ररूपणाएँ । —दे० वह वह नाम ।
*	अपर्याप्तावस्थामें आहारक मिश्रकाययोगी, तिर्यच, नारक, देव आदिकोंमें सम्यक्त्व व गुणस्थानोंके विधि निषेध सम्बन्धी शंका समाधान ।—दे० वह वह नाम ।
*	अपर्याप्तकोंसे लौटे हुए जीवोंके सर्व लघु कालमें संयमादि उत्पन्न नहीं होता । —दे० संयम/२ ।
*	अपर्याप्त अवस्थामें तीनों सम्यक्त्वोंके सद्भाव व अभाव सम्बन्धी नियम आदि । —दे० जन्म/३ ।

१. भेद व लक्षण

१. पर्याप्ति-अपर्याप्ति सामान्यका लक्षण

- पं. सं/प्रा/१/४३ 'जह पुण्णापुण्णाइं गिह-घड-वत्थाइयाइं दब्बाइं । तह पुण्णापुण्णाओ पज्जत्तिररा मुणेयव्वा ।४३। = जिस प्रकार गृह, घट, बस्त्रादिक अचेतन द्रव्य पूर्ण और अपूर्ण दोनों प्रकारके होते हैं, उसी प्रकार जीव भी पूर्ण और अपूर्ण दोनों प्रकारके होते हैं । पूर्ण जीवोंको पर्याप्त और अपूर्ण जीवोंको अपर्याप्त जानना चाहिए । (ध. २/१.१/गा. २१६/४१७); (पं. सं./सं/१/१२७); (गो. जी./मू./११८/३२५) ।
- ध. १/१.१.३४/२५७/४ पर्याप्तिनामर्धनिष्पन्नावस्था अपर्याप्ति । = जीवन-हेतुत्वं तत्स्थमनपेक्ष्य शक्तिनिष्पत्तिमात्रं पर्याप्तिरुच्यते ।
- ध. १/१.१.७०/३११/६ आहारशरीर निष्पत्तिः पर्याप्तिः । = पर्याप्तियोंकी अपूर्णताको अपर्याप्ति कहते हैं । * इन्द्रियाधिमें विद्यमान जीवनके कारणपनेकी अपेक्षा न करके इन्द्रियादि रूप शक्तिकी पूर्णता-मात्रको पर्याप्ति कहते हैं । २५७ आहार, शरीरादिकी निष्पत्तिकी पर्याप्ति कहते हैं । ३११ (ध. १/१.१.२०/२६७/१०) ।
- का अ./मू/१३४-१३५ आहार-शरीरीन्द्रियिणस्सासुस्सास-भास-मण-साणं । परिणह-वावारेसु य जाओ छ च्चेव सत्तीओ । १३४। तस्सेव-कारणार्ण पुग्गलखंधाण जाहु णिप्पत्ती । सा पज्जत्ती भण्णादि ॥ १३५। = आहार शरीर, इन्द्रिय आदिके व्यापारोंमें अर्थात् प्रवृत्तियोंमें परिणमन करनेकी जो शक्तियाँ हैं, उन शक्तियोंके कारण जो पुद्गल स्कन्ध है उन पुद्गल स्कन्धोंकी निष्पत्तिकी पर्याप्ति कहते हैं ।
- गो. जी/जी. प्र/२/२१/६ परि-समन्तात्, आप्ति-पर्याप्तिः शक्तिनिष्पत्ति-रित्यर्थः । = चारों तरफसे प्राप्तिकी पर्याप्ति कहते हैं ।

२. पर्याप्त-अपर्याप्त नामकर्मके लक्षण

- स. सि./१/११/३६२/२ यदुदयाहारादिपर्याप्तिनिवृत्ति' तत्पर्याप्तिनाम ।
 'षड्विधपर्याप्त्यभावहेतुपर्याप्तिनाम । = जिसके उदयसे आहार
 आदि पर्याप्तियोंकी रचना होती है वह पर्याप्ति नामकर्म है । जो
 छह प्रकारकी पर्याप्तियोंके अभावका हेतु है वह अपर्याप्ति नामकर्म
 है । (रा. वा./१/११/३१, ३३/५७/११); (घ. ६/१.६-१, २५/६२/३);
 (गो. क./जी. प्र./३३/३०/१, २३) ।
- घ. १३/५.५, १०१/३६६/७ जस्स कम्मस्सुदण्ण जीवापज्जत्ता होत्ति तं
 कम्मं पज्जत्ता णाम । जस्स कम्मस्सुदण्ण जीवा अपज्जत्ता होत्ति तं
 कम्ममपज्जत्ता णाम । = जिस कर्मके उदयसे जीव पर्याप्त होते हैं वह
 पर्याप्त नामकर्म है । जिस कर्मके उदयसे जीव अपर्याप्त होते हैं वह
 अपर्याप्त नामकर्म है ।

३. पर्याप्तिके भेद

- सू. आ/१०४५ आहारे य सरोरे तह इंदिय आणवाण भासाए । होत्ति
 मणो वि य कम्मसो पज्जत्तीओ जिणमादा !१०४५। = आहार, शरीर,
 इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास, भाषा और मन पर्याप्ति—ऐसे छह पर्याप्ति
 कहे हैं । (बो पा/मू./३४), (पं. स./प्रा./१/४४), (स. सि/१/११/
 ३६२/३), (घ. २/१.१/गा २१८/४९७); (रा. वा/१/११/३१/५७/
 १३); (घ १/१.१, ३४/२५४/४); (घ. ३/१.१, ७०/३११/६); (गो.
 जी./मू./११६/३२६); (का. अ./मू./१३४-१३६), (प. सं./स./१/१२८),
 (गो. क./जी. प्र./३३/३०/१), (गो. जी./जी. प्र./११६/३२६/१०) ।

४. छह पर्याप्तियोंके लक्षण

- घ. १/१.१, ३४/२५४/६ शरीरनामकर्मोदयात् पुद्गलविपाकिन आहारवर्ग-
 गागतपुद्गलस्कन्ध समवेतान्तपरमाणुनिष्पादिता आत्मानष्टब्ध-
 क्षेत्रस्था कर्मस्कन्धसम्बन्धतो मूर्त्तीभूतमारमानं समवेतत्वेन समाश्र-
 यन्ति । तेषामुपगतानां खलरसपर्याप्तौ परिणमनशक्तेर्निमित्तानामा-
 म्पिराहारपर्याप्तिः । तं खलभाग तिलखलोपममस्यादिस्थिरावय-
 वैस्तिलतैलसमानं रसभागं रसरुधिरवसाशुक्रादिद्रव्यावयवैरौदारि-
 कादिशरीरत्रयपरिणामशक्त्युपेतानां स्कन्धानामवाप्तिः । शरीर-
 पर्याप्तिः । .. योग्यदेशस्थितरूपादिविशिष्टार्थग्रहणशक्त्युत्पत्ते-
 निमित्तपुद्गलप्रचयावाप्तिरिन्द्रियपर्याप्तिः । .. उच्छ्वासनिस्सरण-
 शक्तेर्निमित्तपुद्गलप्रचयावाप्तिरानपानपर्याप्तिः । .. भाषावर्गणायाः
 स्कन्धाच्चतुर्विधभाषाकारेण परिणमनशक्तेर्निमित्तनोकर्मपुद्गलप्रचया-
 वाप्तिर्भाषापर्याप्तिः । .. मनोवर्गणा स्कन्धनिष्पन्नपुद्गलप्रचयः अनु-
 भूतार्थशक्तिनिमित्तः मनःपर्याप्तिः । द्रव्यमनोऽवष्टम्भेनानुभूतार्थस्म-
 रणशक्तेरुत्पत्तिर्मनःपर्याप्तिर्वा । = शरीर नामकर्मके उदयसे जो
 परस्पर अनन्त परमाणुओंके सम्बन्धसे उत्पन्न हुए हैं, और जो
 आत्मासे व्याप्त आकाश क्षेत्रमे स्थित हैं, ऐसे पुद्गल विपाकी आहा-
 रवर्गणा सम्बन्धी पुद्गल स्कन्ध, कर्म स्कन्धके सम्बन्धसे कथं-
 चित् मूर्त्तपनेकी प्राप्त हुए हैं, आत्माके साथ समवाय रूपसे सम्बन्ध-
 को प्राप्त होते हैं, उन खल भाग और रस भागके भेदसे परिणमन
 करनेकी शक्तिसे बने हुए आगत पुद्गल स्कन्धोंकी प्राप्तिको आहार
 पर्याप्ति कहते हैं । तिलकी खलीके समान उस खल भागको
 हड्डी आदि कठिन अवयव रूपसे और तिल तेलके समान रस भाग-
 को रस, रुधिर, वसा, वीर्य आदि द्रव अवयव रूपसे परिणमन करने-
 वाले औदारिकादि तीन शरीरकी शक्तिसे युक्त पुद्गल स्कन्धोंकी
 प्राप्तिको शरीर पर्याप्ति कहते हैं । योग्य देशमें स्थित रूपादिसे युक्त
 पदार्थोंके ग्रहण करने रूप शक्तिकी उत्पत्तिके निमित्त भूत पुद्गल प्रचय-
 की प्राप्तिको इन्द्रियपर्याप्ति कहते हैं । .. उच्छ्वास और निःश्वास-
 रूप शक्तिकी पूर्णताके निमित्तभूत पुद्गल प्रचयकी प्राप्तिको आन-
 पान पर्याप्ति कहते हैं । .. भाषावर्गणाके स्कन्धोंके निमित्तसे चार

प्रकारकी भाषा रूपसे परिणमन करनेकी शक्तिके निमित्तभूत नो-
 कर्मपुद्गलप्रचयकी प्राप्तिको भाषापर्याप्ति कहते हैं । अनुभूत
 अर्थके स्मरण रूप शक्तिके निमित्तभूत मनोवर्गणाके स्कन्धोंसे
 निष्पन्न पुद्गल प्रचयकी मन पर्याप्ति कहते हैं । अथवा द्रव्यमनके
 आलम्बनसे अनुभूत अर्थके स्मरणरूप शक्तिकी उत्पत्तिको मन-
 पर्याप्ति कहते हैं ।

- गो. जी./जी. प्र./११६/३२६/१२ अत्र औदारिकवैक्रियिकाहारकशरीर-
 नामकर्मोदयप्रथमसमयादि कृत्वा तच्छरीरत्रयषट्पर्याप्तिपर्याप्तपरिण-
 मनयोग्यपुद्गलस्कन्धान् खलरसभागेन परिणमयित्वा पर्याप्तिनाम-
 कर्मोदयावष्टमसंभूतात्मनः शक्तिनिष्पत्तिराहारपर्याप्तिः । तथा
 परिणतपुद्गलस्कन्धानां खलभागम् अस्थ्यादिस्थिरावयवरूपेण रस-
 भागं रुधिरादिद्रव्यावयवरूपेण च परिणमयित्वा शक्तिनिष्पत्तिः शरीर-
 पर्याप्तिः । आवरणवीर्यान्तरायक्षयोपशमविवर्जितात्मनो योग्य-
 देशावस्थितरूपादिविषयग्रहणव्यापारे शक्तिनिष्पत्तिर्जातिनामकर्मो-
 दयजनितेन्द्रियपर्याप्तिः । आहारवर्गणायात्पुद्गलस्कन्धान् उच्छ्-
 वासनिश्वासरूपेण परिणमयित्वा उच्छ्वासनिश्वासनामकर्मोदय-
 जनितशक्तिनिष्पत्तिरुच्छ्वासनिश्वासपर्याप्तिः । स्वरनामकर्मोदय-
 वशाद् भाषावर्गणायात्पुद्गलस्कन्धान् सत्यासत्योभयानुभयभाषा-
 रूपेण परिणमयित्वा शक्तिनिष्पत्तिः भाषापर्याप्तिः । मनोवर्गणापुद्गल-
 स्कन्धात् अंगोपांगनामकर्मोदयवलाधानेन द्रव्यमनोरूपेण परिणम-
 यित्वा तद्द्रव्यमनोबलाधानेन नोद्विन्द्रियावरणवीर्यान्तरायक्षयोपशम-
 विशेषेण गुणदोषविचारानुस्मरणप्रणिधानलक्षणभावमन परिणमनशक्ति-
 निष्पत्तिर्मनःपर्याप्तिः । = औदारिक, वैक्रियक वा आहारक
 इनमेंसे किस ही शरीररूप नामकर्मकी प्रकृतिके उदय होनेका प्रथम
 समय से लगाकर, जो तीन शरीर और छह पर्याप्ति रूप पर्याप्त परिणमने
 योग्य पुद्गल स्कन्धको खलरस भागरूप परिणमनके पर्याप्ति-
 नामा नामकर्मके उदयसे ऐसी शक्ति निपजै-जैसी तिलको पिलकर
 खल और तेल रूप परिणमावै, तैसे कोई पुद्गलतो खल रूप परिण-
 मावै कोई पुद्गल रस रूप । ऐसी शक्ति होनेको आहार पर्याप्ति
 कहते हैं । खलरस भागरूप परिणत हुए उन पुद्गल स्कन्धोंमें से
 खलभाषको हड्डी, चर्म आदि स्थिर अवयवरूपसे और रसभागको
 रुधिर, शुक्र इत्यादि रूपसे परिणमानेकी शक्ति होइ, उसको शरीर
 पर्याप्ति कहते हैं । मति श्रुत ज्ञान और चक्षु-अचक्षु दर्शनका आव-
 रण तथा वीर्यान्तराय कर्मके क्षयोपशमसे उत्पन्न जो आरमाके यथा
 योग्य द्रव्येन्द्रियका स्थान रूप प्रवेशसे वर्णादिकके ग्रहणरूप उप-
 योगकी शक्ति जातिनामा नामकर्मसे निपजै सो इन्द्रिय पर्याप्ति
 है । आहारक वर्गणारूप पुद्गलस्कन्धोंकी श्वासोश्वास रूप परि-
 णमावनेकी शक्ति होइ, श्वासोश्वास नामकर्मसे निपजै सो श्वासो-
 र्वास पर्याप्ति है । स्वरनामकर्मके उदयसे भाषा वर्गणा रूप पुद्गल
 स्कन्धोंको सत्य, असत्य, उभय, अनुभय भाषारूप परिणमावनेकी
 शक्तिकी जो निष्पत्ति होइ सो भाषापर्याप्ति है । मनोवर्गणा रूप
 जो पुद्गलस्कन्ध, उनको अंगोपांग नामकर्मके उदयसे द्रव्यमनरूप
 परिणमावनेकी शक्ति होइ, और उसी द्रव्यमनके आधारसे मनका
 आवरण अर वीर्यान्तराय कर्मके क्षयोपशम विशेषसे गुणदोष विचार,
 अतीतका याद करना, अनुगतमें याद रखना इत्यादि रूप भावमनकी
 शक्ति होइ उसको मन पर्याप्ति कहते हैं ।

५. निवृत्ति पर्याप्तापर्याप्तिके लक्षण

- गो. जी./मू./१२१/३३१ पज्जत्तस्सय उदये णियणियपज्जत्ति णिवृत्ति-
 होदि । जाव सरीरमपुण्णं णिवृत्ति अपुण्णो भवति । १२१। = पर्याप्ति-
 नामकर्मके उदयसे एकेन्द्रियादि जीव अपने-अपने योग्य पर्याप्तियों-
 की सम्पूर्णताकी शक्तिसे युक्त होते हैं । जब तक शरीरपर्याप्ति पूर्ण
 नहीं होती, उतने काल तक अर्थात् एक समय कम शरीरपर्याप्ति
 सम्बन्धी अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त निवृत्ति अपर्याप्ति कहते हैं । अर्था-

पत्तिसे जब शरीर पर्याप्त पूर्ण हो जाती है तब निवृत्ति पर्याप्त कहते हैं। १२२१।

का. अ./मू./१३६ पञ्चत्ति गिण्हंतो मणु-पञ्चत्ति ण जाव समणोदि । ता गिण्वत्ति-अपुण्ण मण-पुण्णो भण्णदे पुण्णो । १३६। = जीव पर्याप्त को ग्रहण करते हुए जब तक मन पर्याप्तको समाप्त नहीं कर लेता तबतक निवृत्त्यपर्याप्त कहा जाता है। और जब मन पर्याप्तको पूर्ण कर लेता है तब (निवृत्ति) पर्याप्त कहा जाता है।

६. पर्याप्त व अपर्याप्त निवृत्तिके लक्षण

घ. १४/५.६.२७/३५२/२ जहण्णाउ अबधो जहण्णियापञ्चत्तिगिण्वत्ती-णाम भवस्स पढमसमयपहुट्टि जाव जहण्णाउवबधस्स चरिमसमयो त्ति ताव एसा जहण्णिया गिण्वत्ति त्ति भण्हं होदि । --जहण्ण-बधोवेत्तव्वो ण जहण्णं संतं । कुसो १ जीवणियट्ठाणणं विसेसा-हियत्तण्णहाणुववत्तीदो (पृ. ३५३/६) ।

घ. १४/५.६.६४६/५०४/६ घात खुद्दा भवग्गहणस्सुवरि तत्तो सखेज्जपुणं अद्धानं गत्तुण सुहुमणिगोदजीव अपञ्चत्तणं बधेण जहण्णं जं णिसे-यखुद्दा भवग्गहणं तस्स जहण्णिया अपञ्चत्तिगिण्वत्ति त्ति सण्णा ।

घ १४/५.६.६६२/५१६/१० सरीरपञ्चत्ती ए पञ्चत्तिगिण्वत्ती सरीरनिव्वत्ति-ट्ठाण णाम । = १. जघन्य आयुबन्धकी जघन्य पर्याप्तनिवृत्ति सज्ञा है। भवके प्रथम समयसे लेकर जघन्य आयुबन्धके अन्तिम समय तक यह जघन्य निवृत्ति होती है यह उक्त कथनका तात्पर्य है। यहाँ जघन्य बन्ध ग्रहण करना चाहिए जघन्यसत्त्व नहीं, क्योंकि अन्यथा जीवनीय स्थान विशेष अधिक नहीं बनते। २. घात क्षुल्लक भव ग्रहणके ऊपर उससे सख्यातगुणा अध्वान जाकर सूक्ष्म निगोद अपर्याप्त जीवोंके जघन्य निषेक क्षुल्लक भव ग्रहण होता है उसको जघन्य अपर्याप्त निवृत्ति सज्ञा है। ३. शरीरपर्याप्तिकी निवृत्तिका नाम शरीर निवृत्तिस्थान है।

७. लब्धपर्याप्तिका लक्षण

घ १/१.२.४०/२६७/११ अपर्याप्तनामकर्मोदयजनितशक्त्याविर्भावित-वृत्तय अपर्याप्ताः । = अपर्याप्त नामकर्मके उदयसे उत्पन्न हुई शक्तिसे जिन जीवोंकी शरीर पर्याप्त पूर्ण न करके मरने रूप अवस्था विशेष उत्पन्न हो जाती है, उन्हें अपर्याप्त कहते हैं।

गो. जी /मू./१२२ उदये वु अपुण्णस्स य सगसगपञ्चत्तिय ण गिण्वदि । अंतोमुहूत्तमरणं लद्धिअपञ्चत्तगो साहु । १२२। = अपर्याप्त नामकर्मके उदयसे एकेन्द्रियादि जे जीव अपने-अपने योग्य पर्याप्तियोंको पूर्ण न करके उच्छ्वासके अठारहवे भाग प्रमाण अन्तर्मुहूर्तमें ही मरण पावें ते जीव लब्धि अपर्याप्त कहे गये हैं।

का अ./मू./१३७ उस्सासट्ठारसमे भागे जो मरदि ण य समणोदि । एवको वि य पञ्चत्ती लद्धि अपुण्णो हवे सो हु । १३७। = जो जीव श्वासके अठारहवे भागमें मर जाता है, एक भी पर्याप्तिको समाप्त नहीं कर पाता, उसे लब्धि अपर्याप्त कहते हैं।

गो. जी /जो प्र /१२२/३३२/४ लब्धा स्वस्य पर्याप्तनिष्ठापनयोग्यतया अपर्याप्ता अनिष्पन्ना लब्धपर्याप्ता इति निरुक्ते । = लब्धि अर्थात् अपनी पर्याप्तियोंकी सम्पूर्णताकी योग्यता तीहिकरि अपर्याप्त अर्थात् निष्पन्न न भये ते लब्धि अपर्याप्त कहिए।

८. अतीत पर्याप्तिका लक्षण

घ. २/१.१/४१६/१३ एदासि छण्हमभावो अदीद-पञ्चत्ती णाम । = छह पर्याप्तियोंके अभावको अतीत पर्याप्त कहते हैं।

२. पर्याप्त निर्देश व तत्सम्बन्धी शंकाएँ

१. षट् पर्याप्तियोंके प्रतिष्ठापन व निष्ठापन काल सम्बन्धी नियम

१. सामान्य नियम

घ. १/१.१.३४/२५४/६ सा (आहारपर्याप्ति.) च नान्तर्मुहूर्तमन्तरेण समये-नैकेनैवोपजायते आत्मनोऽक्रमेण तथाविधपरिणामाभावाच्छरीरोपा-दानप्रथमसमयादारभ्यान्तर्मुहूर्तेनाहारपर्याप्तिनिष्पद्यत इति यावत् । •साहारपर्याप्ते पश्चादन्तर्मुहूर्तेन निष्पद्यते । सापि तत्. पश्चादन्तर्मुहूर्तद्विपजायते । • एषापि तस्मादन्तर्मुहूर्तकाले समुत्तीते भवेत् । एषापि (भाषापर्याप्ति. अपि) पश्चादन्तर्मुहूर्तद्विपजायते । • एतासा प्रारम्भोऽक्रमेण जन्मसमयादारभ्य तासां सत्त्वाभ्युपगमात् । निष्पत्तिस्तु पुन क्रमेण । = वह आहार पर्याप्त अन्तर्मुहूर्तके बिना केवल एक समयमें उत्पन्न नहीं हो जाती है, क्योंकि आत्माका एक साथ आहारपर्याप्त रूपसे परिणमन नहीं हो सकता है। इसलिए शरीरको ग्रहण करनेके प्रथम समयसे लेकर एक अन्तर्मुहूर्तमें आहारपर्याप्तपूर्ण होती है। वह शरीर पर्याप्त आहार पर्याप्तिके पश्चात् एक अन्तर्मुहूर्तमें पूर्ण होती है। • यह इन्द्रियपर्याप्त भी शरीरपर्याप्तिके पश्चात् एक अन्तर्मुहूर्तमें पूर्ण होती है। श्वासोच्छ्वास पर्याप्त भी इन्द्रियपर्याप्तिके एक अन्तर्मुहूर्त पश्चात् पूर्ण होती है। • भाषा पर्याप्त भी आनपान पर्याप्तिके एक अन्तर्मुहूर्त पश्चात् पूर्ण होती है...इन छहों पर्याप्तियोंका प्रारम्भ युगपत् होता है, क्योंकि जन्म समयसे लेकर ही इनका अस्तित्व पाया जाता है। परन्तु पूर्णता क्रम-से होती है। (गो. जी./मू. व. जी. प्र /१२०/३२८) ।

२. गतिकी अपेक्षा

मू. आ /१०४८ पञ्चत्तीपञ्चत्ता भिण्णमुहुत्तेण होति णायव्वा । अणु-समयं पञ्चत्ती सव्वेसि चोववादीण १०४८। = मनुष्य तिर्यंच जीव पर्याप्तियोंकर पूर्ण अन्तर्मुहूर्तमें होते हैं ऐसा जानना। और जो देव नारकी हैं उन सबके समय-समय प्रति पूर्णता होती है। १०४८।

ति. प /अधिकार/गाथा न पावेण गिरय जिले जादूर्ण ता मुहूत्तगमेत्ते । छप्पञ्चत्ती पाविय आकस्सिय भयजुदो होदि । २/११३। उप्पज्जेत्ते भवणे उववादपुरे महारिहे सयणे । पावति छपञ्चत्ति जादा अतो-मुहूत्तेण । ३/२०७। जायते सुरलोए उववादपुरे महारिहे सयणे । जादा य मुहूत्तेणं छप्पञ्चत्तीओ पावति । ८/५६७। = नारकी जीव... उत्पन्न होकर एक अन्तर्मुहूर्त कालमें छह पर्याप्तियोंको पूर्ण कर आकस्मिक भयसे युक्त होता है। (२/३१३)। भवनवासियोंके भवनमें (देव) उत्पन्न होनेके पश्चात् अन्तर्मुहूर्तमें ही छह पर्याप्तियोंको प्राप्त कर लेते हैं। (३/२०६)। देव सुरलोकके भीतर... एक मुहूर्तमें ही छह पर्याप्तियोंको प्राप्त कर लेते हैं। (८/५६८)।

२. कर्मोदयके कारण पर्याप्त व अपर्याप्त संज्ञा

घ. ३/१.२.७७/३११/२ एत्थ अपञ्चत्तवयणेण अपञ्चत्तणामकम्मोदय-सहिदजीवा वेत्तव्वा । अण्णहा पञ्चत्तणामकम्मोदयसहितगिण्वत्ति अपञ्चत्तणाम पि अपञ्चत्तवयणेण गहणप्पसगादो । एवं पञ्चत्ता इदि वुत्ते पञ्चत्तणामकम्मोदयसहिदजीवा वेत्तव्वा । अण्णहा पञ्चत्तणाम-कम्मोदयसहिद गिण्वत्तिअपञ्चत्तणं गहणाणुववत्तीदो । = यहाँ सूत्रमें अपर्याप्त पदसे अपर्याप्त नामकर्मके उदयसे युक्त जीवोंका ग्रहण करना चाहिए। अन्यथा पर्याप्त नामकर्मके उदयसे युक्त निवृत्त्यपर्याप्त जीवोंका भी अपर्याप्त इस वचनसे ग्रहण प्राप्त हो जायेगा। इसी प्रकार पर्याप्त ऐसा कहनेपर पर्याप्त नामकर्मके उदयसे युक्त जीवोंका ग्रहण करना चाहिए। अन्यथा पर्याप्त नामकर्मके उदयसे युक्त निवृत्त्यपर्याप्त जीवोंका ग्रहण नहीं होगा।

३. कितनी पर्याप्त पूर्ण होनेपर पर्याप्त कहलाये

घ. १/१.१.७६/३१२/१० किमेक्या पर्याप्त्या निष्पन्न उत साकल्येन निष्पन्न इति ? शरीरपर्याप्त्या निष्पन्न पर्याप्त इति भण्यते ।
= प्रश्न—(एकेन्द्रियादि जीव अपने-अपने योग्य छह, पाँच, चार पर्याप्तियोंमेंसे) किसी एक पर्याप्तसे पूर्णताको प्राप्त हुआ पर्याप्त कहलाता है या सम्पूर्ण पर्याप्तियोंसे पूर्णताको प्राप्त हुआ पर्याप्त कहलाता है ? उत्तर—सभी जीव शरीर पर्याप्तिके निष्पन्न होनेपर पर्याप्त कहे जाते हैं ।

४. विग्रह गतिमें पर्याप्त कहे या अपर्याप्त

घ. १/१.१.६४/३३४/४ अथ स्याद्विग्रहगतौ कार्मणशरीराणां न पर्याप्ति-
स्तथा पर्याप्तिना षणां निष्पत्तेरभावात् । न अपर्याप्तास्ते आरम्भात्प्र-
भृति आ उपरमादन्तरालावस्थायामपर्याप्त्यव्यपदेशात् । न
चानारम्भकस्य स व्यपदेश. अतिप्रसङ्गात् । तत्स्तुतीयमध्यवस्थान्तरं
वक्तव्यमिति नैष दोष. , तेषामपर्याप्तेश्चान्तर्भावात् । नातिप्रसङ्गोऽपि
कार्मणशरीरस्थितप्राणिनामिवापर्याप्तिकै सह सामर्थ्याभावोपपादे-
कान्तानुवृद्धियोगैर्गत्यायुप्रथमद्वित्रिसमयवर्तनेन च शेषप्राणिनां
प्रत्यासत्तेरभावात् । ततोऽशेषससारिणामवस्थाद्वयमेव नापरमिति
स्थितम् । = प्रश्न—विग्रह गतिमें कार्मण शरीर होता है, यह बात
ठीक है। किन्तु वहाँपर कार्मणशरीरत्रालोके पर्याप्त नहीं पायी
जाती है, क्योंकि, विग्रहगतिके कालमें छह पर्याप्तियोंकी निष्पत्ति
नहीं होती है ? उन्ही प्रकार विग्रहगतिके वे अपर्याप्त भी नहीं हो
सकते हैं, क्योंकि, पर्याप्तियोंके आरम्भसे लेकर समाप्ति पर्यन्त मध्य-
की अवस्थामें अपर्याप्त यह संज्ञा दी गयी है। परन्तु जिन्होंने
पर्याप्तियोंका आरम्भ ही नहीं किया है ऐसे विग्रह गति सम्बन्धी
एक दो और तीन समयवर्ती जीवोंको अपर्याप्त संज्ञा प्राप्त नहीं हो
सकती है, क्योंकि ऐसा मान लेनेपर अतिप्रसंग दोष आता है इसलिए
यहाँ पर्याप्त और अपर्याप्तसे भिन्न कोई तीसरी अवस्था ही कहना
चाहिए। उत्तर—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि ऐसे जीवोंका
अपर्याप्तोंमें ही अन्तर्भाव किया है, इससे अतिप्रसंग दोष भी नहीं
आता है, क्योंकि कार्मण शरीरमें स्थित जीवोंके अपर्याप्तोंके साथ
सामर्थ्याभाव, उपपादयोगस्थान, एकान्तवृद्धियोगस्थान और गति
तथा आयु सम्बन्धी प्रथम, द्वितीय और तृतीय समयमें होनेवाली
अवस्थाके द्वारा जितनी समीपता पायी जाती है, उतनी शेष
प्राणियोंके नहीं पायी जाती है। अतः सम्पूर्ण प्राणियोंकी दो
अवस्थाएँ ही होती हैं। इनसे भिन्न कोई तीसरी अवस्था नहीं
होती है।

५. निवृत्ति अपर्याप्तको पर्याप्त कैसे कहते हो

घ. १/१.१.३४/२५४/१ तदुदय (पर्याप्तिनामकर्मोदय) वतामनिष्पण-
शरीराणा कथं पर्याप्त्यव्यपदेशो घटत इति चेन्न, नियमेन शरीर-
निष्पादकानां भाविनि भूततदुपचारतस्तदविरोधात् पर्याप्तिनामकर्मो-
दयसहचराद्वा । = प्रश्न—पर्याप्त नामकर्मोदयसे युक्त होते हुए भी
जब तक शरीर निष्पन्न नहीं हुआ है तबतक उन्हें (निवृत्ति अप-
र्याप्त जीवोंको) पर्याप्त कैसे कह सकते हैं ? उत्तर— नहीं, क्योंकि,
नियमसे शरीरको उत्पन्न करनेवाले जीवोंके, होनेवाले कार्यमें यह
कार्य हो गया, इस प्रकार उपचार कर लेनेसे पर्याप्त संज्ञा कर लेनेमें
कोई विरोध नहीं आता है। अथवा, पर्याप्त नामकर्मके उदयसे युक्त
होनेके कारण पर्याप्त संज्ञा दी गयी है।

६. इन्द्रिय पर्याप्त पूर्ण हो जानेपर भी बाह्यार्थका ग्रहण क्यों नहीं होता

घ. १/१.१.३४/२५४/५ न चेन्द्रियनिष्पत्तौ सत्यामपि तस्मिन् क्षणे
बाह्यार्थविषयविज्ञानमुत्पद्यते तदा तदुपकरणाभावात् । = इन्द्रिय

पर्याप्त पूर्ण हो जानेपर भी उसी समय बाह्य पदार्थ सम्बन्धी ज्ञान
उत्पन्न नहीं होता है, क्योंकि उस समय उसके उपकरण रूप द्रव्ये-
न्द्रिय नहीं पायी जाती है।

७. पर्याप्त व प्राणोंमें अन्तर

१. सामान्य निर्देश

घ. १/१.१.३४/२५६-२५७/२ पर्याप्तियाणयो' को भेद इति चेन्न, अनयो-
हिमबद्धिन्ध्ययोरिव भेदोपलम्भात् । यत् आहारशरीरेन्द्रियानापान-
भाषामन.शक्तीना निष्पत्ते' कारणं पर्याप्तिः । प्राणोति एभिरात्मेति
प्राणा' पञ्चेन्द्रियमनोवाक्कायानापानायुषि इति । २५६। पर्याप्ति-
प्राणाना नाम्नि विप्रत्तिपत्तिर्न वस्तुनि इति चेन्न, कार्यकारणयो-
र्भेदात्. पर्याप्तिष्वायुषोऽसत्त्वान्मनोवाग्ब्रूवासप्राणानामपर्याप्ति-
कालेऽसत्त्वाच्च तयोर्भेदात् । तत्पर्याप्तियोंऽप्यपर्याप्तिकालेन सन्तीति
तत्र तदसत्त्वमिति चेन्न, पर्याप्तानामर्थनिष्पन्नावस्था अपर्याप्तिः,
ततोऽस्त तेषा भेद इति । अथवा जीवनेहेतुत्वं तत्त्वमनपेक्ष्यं
शक्तेर्निष्पत्तिमात्रं पर्याप्तिरुच्यते, जीवनहेतवः पुनः प्राणा इति
तयोर्भेद । = प्रश्न—पर्याप्त और प्राणमें क्या भेद है ? उत्तर—
नहीं, क्योंकि, इनमें हिमवान और विन्ध्याचलके समान भेद पाया
जाता है। आहार, शरीर, इन्द्रिय भाषा और मनरूप शक्तियोंकी
पूर्णताके कारणको पर्याप्त कहते हैं। और जिनके द्वारा आत्मा जीवन
संज्ञाको प्राप्त होता है उन्हें प्राण कहते हैं, यही इन दोनोंमें अन्तर
है । २५६। प्रश्न—पर्याप्त और प्राणके नाममें अर्थात् कहने मात्रमें
अन्तर है, वस्तुमें कोई विवाद नहीं है, इसलिए दोनोंका तात्पर्य एक
ही मानना चाहिए ? उत्तर—नहीं, क्योंकि कार्य कारणके भेदसे उन
दोनोंमें भेद पाया जाता है, तथा पर्याप्तियोंमें आयुका सद्भाव नहीं
होनेसे और मन, वचन, बल तथा उच्छ्वास इन प्राणोंके अपर्याप्त
अवस्थामें नहीं पाये जानेसे भी पर्याप्त और प्राणोंमें भेद समझना
चाहिए। प्रश्न—वे पर्याप्तियों भी अपर्याप्त कालमें नहीं पायी जाती
हैं, इससे अपर्याप्त कालमें उनका (प्राणोंका) सद्भाव नहीं रहेगा ?
उत्तर—नहीं, क्योंकि, अपर्याप्त कालमें अपर्याप्त रूपसे उनका
(प्राणोंका) सद्भाव पाया जाता है। प्रश्न—अपर्याप्त रूपसे इसका
तात्पर्य क्या है ? उत्तर—पर्याप्तियोंकी अपूर्णताको अपर्याप्त कहते
हैं, इसलिए पर्याप्त, अपर्याप्त और प्राण इनमें भेद सिद्ध हो जाता
है। अथवा इन्द्रियादिमें विद्यमान जीवनके कारणपनेकी अपेक्षा न
करके इन्द्रियादि रूप शक्तिकी पूर्णता मात्रको पर्याप्त कहते हैं और
जीवनके कारण है उन्हें प्राण कहते हैं। इस प्रकार इन दोनोंमें भेद
समझना चाहिए। (का. अ./टी./१४१/५०/१); (गो. जी./मं. प्र /
३४१/३४४/१४) ।

२. मित्र-मित्र पर्याप्तियोंकी अपेक्षा विशेष निर्देश

घ. २/१.१/४१२/४ न (एतेषां इन्द्रियप्राणाणां) इन्द्रियपर्याप्तावन्तर्भावः,
चक्षुरिन्द्रियाद्यावरणक्षयोपशमलक्षणैर्न्द्रियाणां क्षयोपशमापेक्षया
बाह्यार्थग्रहणशक्त्युत्पत्तिनिमित्तपुद्गलप्रचयस्य चैकत्वविरोधात् । न
च मनोबलं मन.पर्याप्तावन्तर्भवति, मनोवर्गणास्कन्धनिष्पन्न-
पुद्गलप्रचयस्य तस्मादुत्पन्नात्मबलस्य चैकत्वविरोधात् । नापि
वाग्बलं भाषापर्याप्तावन्तर्भवति; आहारवर्गणास्कन्धनिष्पन्न-
पुद्गलप्रचयस्य तस्मादुत्पन्नाया' भाषावर्गणास्कन्धाना श्रोत्रेन्द्रिय
ग्राह्यपर्यायेण परिणमनशक्तेश्च साम्याभावात् । नापि कायबलं शरीर-
पर्याप्तावन्तर्भवति; वीर्यान्तरायजनितक्षयोपशमस्य खलरसभाग-
निमित्तशक्तिनिबन्धनपुद्गलप्रचयस्य चैकत्वाभावात् । तथो-
च्छ्वासनिश्वासप्राणपर्याप्तियों' कार्यकारणयोरतमपुद्गलोपादानयो-
र्भेदोऽभिधातव्य इति । = उक्त (प्राणों सम्बन्धी) पाँचों इन्द्रियो-
का इन्द्रिय पर्याप्तिके भी अन्तर्भाव नहीं होता है, क्योंकि, चक्षु
इन्द्रिय आदिको आवरण करनेवाले कर्मोंके क्षयोपशम स्वरूप

इन्द्रियोंको और क्षयोपशमकी अपेक्षा बाह्य पदार्थोंको ग्रहण करनेकी शक्तिके उत्पन्न करनेमें निमित्तभूत पुद्गलको प्रचयको एक मान लेनेमें विरोध आता है। उसी प्रकार मनोबलका मन पर्याप्तमे अन्तर्भव नहीं होता है, क्योंकि मनोवर्गणाके स्कन्धोसे उत्पन्न हुए पुद्गल प्रचयको और उससे उत्पन्न हुए आत्मबल (मनोबल) को एक माननेमें विरोध आता है। तथा वचन बल भी भाषा पर्याप्तमे अन्तर्भूत नहीं होता है, क्योंकि आहार वर्गणाके स्कन्धोसे उत्पन्न हुए पुद्गलप्रचयका और उससे उत्पन्न हुई भाषा वर्गणाके स्कन्धोका भोत्रेन्द्रियके द्वारा ग्रहण करने योग्य पर्यायसे परिणमन करने रूप शक्तिका परस्पर समानताका अभाव है। तथा कायबलका भी शरीर पर्याप्तमे अन्तर्भव नहीं होता है, क्योंकि, बीर्यन्तरायके उदयाभाव और उपशमसे उत्पन्न हुए क्षयोपशमकी और खलरस भागकी निमित्तभूत शक्तिके कारण पुद्गल प्रचयकी एकता नहीं पायी जाती है। इसी प्रकार उच्छ्वास, निश्वास प्राण कार्य है और आत्मीपादान-कारणक है तथा उच्छ्वास निश्वास पर्याप्त कारण है और पुद्गलोपादान निमित्तक है। अतः इन दोनोंमें भेद समझ लेना चाहिए। (गो. जी./जी. प्र./१२६/२४९/११)।

३. पर्याप्तपर्याप्तिका स्वामित्व व तत्संबन्धी शंकाएँ

१. किस जीवको कितनी पर्याप्तियाँ सम्भव हैं

प. खं. १/१,१/सू-७१-७५ सण्णिमिच्छाद्दिट्ठ-प्पहुडि जाव असंजद-सम्माद्दिट्ठ ति ७१। पच पज्जत्तीओ पच अपज्जत्तीओ ७२। बोई-दिय-प्पहुड जाव अण्णपच्चिरिया ति ७३। चत्तारि पज्जत्तीओ चत्तारि अपज्जत्तीओ ७४। एद्दिमाण ७५। —सभी पर्याप्तियाँ (छह पर्याप्तियाँ) मिथ्यादृष्टिसे लेकर असंयत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान तक होती है ७१। पाँच पर्याप्तियाँ और पाँच अपर्याप्तियाँ होती हैं ७२। वे पाँच पर्याप्तियाँ द्वीन्द्रिय जीवोसे लेकर असंज्ञी पचेन्द्रियपर्यन्त होती है ७३। चार पर्याप्तियाँ और चार अपर्याप्तियाँ होती हैं ७४। उक्त चारो पर्याप्तियाँ एकेन्द्रिय जीवोके होती हैं। ७५। (सू. आ./१०४६-१०४७)।

ध. २/१,१/४१६/८ एदाआ छ पज्जत्तीओ सण्णि पज्जत्ताणं । एदेसि चैव अपज्जत्तकाले एदाओ चैव असमत्ताओ छ अपज्जत्तीओ भवति । मणपज्जत्तोए विणा एदाओ चैव पच पज्जत्तीओ असण्णि-पंचिदिय-पज्जत्तप्पहुडि जाव बोईदिय-पज्जत्ताण भवति । तेसि चैव अपज्जत्ताण एदाओ चैव अण्णपणाओ पच अपज्जत्तीओ बुच्चति । एदाओ चैव-भासा-मणपज्जत्तीहि विणा चत्तारि पज्जत्तीओ एद्दिमाण-पज्जत्ताण भवति । एदेसि चैव अपज्जत्तकाले एदाओ चैव असपुणाओ चत्तारि अपज्जत्तीओ भवति । एदासि छण्हमभावो अदीद-पज्जत्तीणाम् । —छहो पर्याप्तियाँ सञ्ज्ञी-पर्याप्तिके होती है। इन्ही सञ्ज्ञी जीवोके अपर्याप्तिकालमें पूर्णताको प्राप्त नहीं हुई ये ही छह अपर्याप्तियाँ होती हैं। मन पर्याप्तिके बिना उक्त पाँचो ही पर्याप्तियाँ असंज्ञो पचेन्द्रिय पर्याप्तोसे लेकर द्वीन्द्रिय पर्याप्तिक जीवो तक होती हैं। अपर्याप्तिक अवस्थाको प्राप्त उन्हीं जीवोके अपूर्णताको प्राप्त वे ही पाँच अपर्याप्तियाँ होती हैं। भाषा पर्याप्त और मन-पर्याप्तिके बिना ये चार पर्याप्तियाँ एकेन्द्रिय जीवोके होती हैं। इन्हीं एकेन्द्रिय जीवोके अपर्याप्त कालमें अपूर्णताको प्राप्त ये ही चार अपर्याप्तियाँ होती हैं। तथा इन छह पर्याप्तियोंके अभावको अतीत पर्याप्त कहते हैं।

२. अपर्याप्तोंको सम्यक्त्व उत्पन्न क्यों नहीं होता

ध. ६/१,१,६,११/४२६/४ एत्थवित्तं चैव कारणं । को अचंचांताभाव-करणपरिणामाभावो । —यहाँ अर्थात् अपर्याप्तिको भी पूर्वोक्त प्रतिषेध

रूप कारण होनेसे प्रथम सम्यक्त्वकी उत्पत्तिका अचंचांताभाव है। प्रश्न—अत्यन्ताभाव क्या है? उत्तर—करणपरिणामोका अभाव ही प्रकृतमें अत्यन्ताभाव कहा गया है।

पर्याप्तिकाल—दे० काल ।

पर्याय—पर्यायका वास्तविक अर्थ वस्तुका अंश है। ध्रुव अन्वयी या सहभूह तथा क्षणिक व्यतिरेकी या क्रमभावीके भेदसे वे अश दो प्रकारके होते हैं। अन्वयीको गुण और व्यतिरेकीको पर्याय कहते हैं। वे गुणके विशेष परिणमनरूप होती हैं। अंशकी अपेक्षा यद्यपि दोनों ही अंश पर्याय हैं, पर खड्डिसे केवल व्यतिरेकी अंशको ही पर्याय कहना प्रसिद्ध है। वह पर्याय भी दो प्रकारकी होती है—अर्थ व व्यंजन। अर्थपर्याय तो छोडो द्रव्योमें समान रूपसे होनेवाले क्षण-स्थायी सूक्ष्म परिणमनको कहते हैं। व्यंजन पर्याय जीव व पुद्गलकी संयोगी अवस्थाओंको कहते हैं। अथवा भावात्मक पर्यायोंको अर्थ-पर्याय और प्रवेशात्मक आकारोंको व्यंजनपर्याय कहते हैं। दोनों ही स्वभाव व विभावके भेदसे दो प्रकारकी होती हैं। शुद्ध द्रव्य व गुणोंकी पर्याय स्वाभाविक और अशुद्ध द्रव्य व गुणोंकी विभाविक होती हैं। इन ध्रुव व क्षणिक दोनों अंशोंसे ही उत्पाद व्यय ध्रुव्य-रूप वस्तुकी अर्थ क्रिया सिद्ध होती है।

१	भेद व लक्षण	
२	पर्याय सामान्यका लक्षण अंश व विकार ।	
३	पर्यायके भेद (द्रव्य-गुण; अर्थ-व्यंजन; स्वभाव विभाव; कारण-कार्य) ।	
*	कर्मका अर्थ पर्याय	दे० कर्म/१/१ ।
३	द्रव्य पर्याय सामान्यका लक्षण ।	
४	समान व असमान द्रव्य पर्याय सामान्यका लक्षण ।	
५	गुणपर्याय सामान्यका लक्षण ।	
६	गुणपर्याय एक द्रव्यात्मक ही होती हैं ।	
७	स्व व पर पर्यायके लक्षण ।	
८	कारण व कार्य शुद्ध पर्यायके लक्षण ।	
*	ऊर्ध्व क्रम व ऊर्ध्व प्रचय ।	—दे० क्रम ।
२	पर्याय सामान्य निर्देश	
१	गुणसे पृथक् पर्याय निर्देशका कारण ।	
२	पर्याय द्रव्यके व्यतिरेकी अंश हैं ।	
*	पर्यायमें परस्पर व्यतिरेक प्रदर्शन —दे० सप्तभंगी/५/३ ।	
३	पर्याय द्रव्यके क्रम भावी अंश है ।	
४	पर्याय स्वतन्त्र है ।	
५	पर्याय व क्रियामें अन्तर ।	
६	पर्याय निर्देशका प्रयोजन ।	
*	पर्याय पर्यायोंमें कथंचित् भेदाभेद	—दे० द्रव्य/४ ।
*	पर्यायोंको द्रव्यगुण तथा उन्हें पर्यायोंसे लक्षित करना	—दे० उपचार/३ ।
*	परिणमनका अस्तित्व द्रव्यमें, या द्रव्यांशमें या पर्यायोंमें	—दे० उत्पाद/३ ।
*	पर्यायका कथंचित् सत्पना या नित्यानित्यपना	—दे० उत्पाद/३ ।

३	स्वभाव-विभाव अर्थ व्यंजन व द्रव्य गुण पर्याय निर्देश
१	अर्थ व व्यंजन पर्यायके लक्षण व उदाहरण ।
२	अर्थ व गुणपर्याय एकार्थवाची है ।
३	व्यंजन व द्रव्य पर्याय एकार्थवाची है ।
४	द्रव्य व गुणपर्यायसे पृथक् अर्थ व व्यंजन पर्यायके निर्देशका कारण ।
५	सब गुण पर्याय ही हैं फिर द्रव्य पर्यायका निर्देश क्यों ।
६	अर्थ व व्यंजन पर्यायका स्वामित्व ।
७	व्यंजन पर्यायके अभावका नियम नहीं ।
८	अर्थ व व्यंजन पर्यायोंकी सूक्ष्मता स्थूलता :— (दोनोंका काल, २ व्यंजन पर्यायमें अर्थपर्याय, स्थूल; व सूक्ष्म पर्यायोंकी सिद्धि) ।
९	स्वभाव द्रव्य व व्यंजन पर्याय ।
१०	विभाव द्रव्य व व्यंजन पर्याय ।
११	स्वभाव गुण व अर्थपर्याय ।
१२	विभाव गुण व अर्थपर्याय ।
१३	स्वभाव व विभाव गुण व्यंजन पर्याय ।
१४	स्वभाव व विभाव पर्यायोंका स्वामित्व ।
*	सादि-अनादि व सदृश-विसदृश परिणमन —दे० परिणाम ।

यही सयह प्रस्तार क्षणिक रूपसे विवक्षित व शब्द भेदसे भेदको प्राप्त हुआ विशेष प्रस्तार या पर्याय है ।

स. सा./आ./३४५-३४८ क्षणिकत्वेऽपि वृत्त्यशानाम् । = वृत्त्यशो अर्थात् पर्यायोका क्षणिकत्व होनेपर भी—।

पं. घ./पू./२६, २१७ पर्यायाणामेतद्धर्म यत्त्वशकल्पनं द्रव्ये । २६। स च परिणामोऽवस्था तेषामेव (गुणानामेव) । २१७। = द्रव्यमें जो अंश कल्पना की जाती है यही तो पर्यायोका स्वरूप है । २६। परिणमन गुणोकी ही अवस्था है । अर्थात् गुणोकी प्रतिसमय होनेवाली अवस्थाका नाम पर्याय है ।

३. द्रव्य विकारके अर्थमे

त. सू./५/४२ तद्भाव परिणाम । ४२। = उसका होना अर्थात् प्रतिसमय बदलते रहना परिणाम है । (अर्थात् गुणोके परिणमनको पर्याय कहते हैं ।)

स. सि./५/३८-३९०/७ द्रव्य विकारो हि पञ्जवो भणितो । तेषा विकारा विशेषात्मना भिद्यमाना, पर्याया । = १. द्रव्यके विकारको पर्याय कहते हैं । २. द्रव्यके विकार विशेष रूपसे भेदको प्राप्त होते हैं इसलिए वे पर्याय कहलाते हैं । (न. च. वृ./१७) ।

न. च./श्रुत/पृ. ५७ सामान्यविशेषगुणा एकस्मिन् धर्मणि वस्तुत्व-निष्पादकार्थेषां परिणाम पर्याय । = सामान्य विशेषात्मक गुण एक द्रव्यमें वस्तुत्वके बतलानेवाले हैं उनका परिणाम पर्याय है ।

४. पर्यायके एकार्थवाची नाम

स. सि./१/३३/१४१ पर्यायो विशेषोऽपवादो व्यावृत्तिरित्यर्थः । = पर्यायका अर्थ विशेष, अपवाद और व्यावृत्ति है ।

गो. जी./पू./५७२/१०१६ व्यवहारो य वियत्पो भेदो तह पञ्जवोत्ति एयट्ठो । ५७२। = व्यवहार, विकल्प, भेद और पर्याय ये सब एकार्थ हैं । ५७२।

स. म./२३/२७२/११ पर्ययः पर्यव. पर्याय इत्यनर्थान्तरम् । = पर्यय, पर्यव और पर्याय ये एकार्थवाची हैं ।

पं. घ./पू./६० अपि चाशः पर्यायो भागो हारोविधा प्रकारश्च । भेदश्छेदो भंग शब्दाश्चैकार्थवाचका एते । ६०। = अश, पर्याय, भाग, हार, विधा, प्रकार तथा भेद, छेद और भंग ये सब एक ही अर्थके वाचक हैं । ६०।

२. पर्यायके दो भेद

१. सहभावी व क्रमभावी

श. वा./४/२/३३/६०/२४५/१ य. पर्यायः स द्विविधः क्रमभावी सहभावी चेति । = जो पर्याय है वह क्रमभावी और सहभावी इस ढंगसे दो प्रकार है ।

२. द्रव्य व गुण पर्याय

प्र. सा./त. प्र./६३ पर्यायास्तु द्रव्यात्मका अपि गुणात्मका अपि । = पर्याय गुणात्मक भी है और द्रव्यात्मक भी । (पं. घ./पू./२६, ६२-६३, १३५) ।

पं. का./ता. वृ./१६/३५/१२ द्विधा पर्याया द्रव्यपर्याया गुणपर्यायाश्च । = पर्याय दो प्रकारकी होती हैं—द्रव्य पर्याय और गुणपर्याय । (पं. घ./पू./११२) ।

३. अर्थ पर्याय व व्यंजन पर्याय

पं. का./ता. वृ./१६/३६/८ अथवा द्वितीयप्रकारेणार्थव्यंजनपर्यायरूपेण द्विधा पर्याया भवन्ति । = अथवा दूसरे प्रकारसे अर्थपर्याय व व्यंजन-पर्यायरूपसे पर्याय दो प्रकारकी होती है । (गो. जी./पू./५६१) (न्या. दो./३/९७७/१२०) ।

१. भेद व लक्षण

१. पर्याय सामान्यका लक्षण

१. निरुक्ति अर्थ

रा. वा./१/३३/१/६५/६ परि समन्तादायः पर्यायः । = जो सर्व ओरसे भेदको प्राप्त करे सो पर्याय है । (घ. १/१, १, १/५४/१); (क. पा १/१, १३-१४/६१८१/२१७/१); (नि. सा./ता. वृ. १४) ।

आ. प/६ स्वभावविभावरूपतया याति पर्येति परिणमतीति पर्याय इति पर्यायस्य व्युत्पत्तिः । = जो स्वभाव विभाव रूपसे गमन करती है पर्येति अर्थात् परिणमन करती है वह पर्याय है । यह पर्यायकी व्युत्पत्ति है । (न. च./श्रुत/पृ० ५७)

२. द्रव्याश या वस्तु विशेषके अर्थमें

स. सि./१/३३/१४१/१ पर्यायो विशेषोऽपवादो व्यावृत्तिरित्यर्थः । = पर्यायका अर्थ-विशेष, अपवाद और व्यावृत्ति है ।

रा. वा./१/२६/४/५६/४ तस्य मिथो भवनं प्रति विरोध्यविरोधिनां धर्माणामुपात्तानुपात्तहेतुकानां शब्दान्तरात्मलाभनिमित्तत्वाद् अपित-व्यवहारविषयोऽवस्थाविशेषः पर्यायः । ४। = स्वाभाविक या नैमित्तिक विरोधी या अविरोधी धर्मोंमें अमुक शब्द व्यवहारके लिए विवक्षित द्रव्यकी अवस्था विशेषको पर्याय कहते हैं ।

घ. ६/४, १, ४५/१७०/२ एष एव सदादिरविभागप्रतिच्छेदनपर्यन्तः संग्रह-प्रस्तारः क्षणिकत्वेन विवक्षित. वाचकभेदेन च भेदमापन्न. विशेष-विस्तार. पर्यायः । = सबको आदि लेकर अविभाग प्रतिच्छेद पर्यन्त

४. स्वभाव पर्याय व विभाव पर्याय

न. च. वृ. १७-१९ पञ्जय द्विविध. १७। सवभावं खुविहावं दव्वाण पञ्जयं जिणुद्धिट्ठं। १८। दव्वगुणाण सहावा पञ्जायंतह विहावदो जेर्यं। १९। = पर्याय दो प्रकारकी होती है—स्वभाव व विभाव। तहाँ द्रव्य व गुण दोनोंकी ही पर्याय स्वभाव व विभावके भेदसे दो-दो प्रकारकी जाननी चाहिए। (पं. का./ता. वृ. १६/३६/१६)।

आ. प./३ पर्यायास्ते द्वेधा स्वभावविभावपर्यायभेदात्। विभावद्रव्य-व्यजनपर्यायः • विभावगुणव्यजनपर्यायः स्वभावद्रव्यव्यजनपर्यायः • स्वभावगुणव्यजनपर्यायः। = पर्याय दो प्रकारकी होती है—स्वभाव व विभाव। ये दोनों भी दो-दो प्रकारकी होती है यथा—विभाव-द्रव्य व्यजनपर्याय, विभावगुण व्यजनपर्याय, स्वभाव द्रव्य-व्यजन पर्याय व स्वभाव गुण व्यजन पर्याय। (प. प्र./टी/१/५७)।

प्र.सा./त.प्र./१३ द्रव्यपर्याय । स द्विविध, समानजातीयोऽसमानजातीयश्च । • गुणपर्यायः । सोऽपि द्विविधः स्वभावपर्यायो विभावपर्यायश्च । = द्रव्य पर्याय दो प्रकारकी होती है—समानजातीय और असमान जातीय । • गुणपर्याय दो प्रकारकी है—स्वभाव पर्याय व विभाव पर्याय। (पं. का./ता.वृ./१६/३५/१३)।

५. कारण शुद्ध पर्याय व कार्य शुद्ध पर्याय

नि.सा./ता.वृ./१५ स्वभावविभावपर्यायाणां मध्ये स्वभावपर्यायस्तावत् द्विप्रकारेणोच्यते। कारणशुद्धपर्याय कार्यशुद्धपर्यायश्चेति। = स्वभाव पर्यायो व विभाव पर्यायोके बीच प्रथम स्वभाव पर्याय दो प्रकारसे कही जाती है—कारण शुद्धपर्याय, और कार्यशुद्धपर्याय।

३. द्रव्य पर्याय सामान्यका लक्षण

प्र.सा./त.प्र./१२ तत्रानेकद्रव्यात्मकैक्यप्रतिपत्तिनिबन्धनो द्रव्यपर्यायः । = अनेक द्रव्यात्मक एकताकी प्रतिपत्तिकी कारणभूत द्रव्य पर्याय है। (पं.का./ता. वृ./१६/३५/१२)।

पं.घ./पू./१३५ यतरे प्रदेशभागास्ततरे द्रव्यस्य पर्याया नाम्ना। १३५। = द्रव्यके जितने प्रदेश रूप अंश है, उतने वे सब नामसे द्रव्यपर्याय है।

४. समान व असमान जातीय द्रव्यपर्यायका लक्षण

प्र.सा./त.प्र./१३ तत्र समानजातीयो नाम यथा अनेकपुद्गलात्मको द्व्यणुकस्त्र्यणुक इत्यादि, असमानजातीयो नाम यथा जीवपुद्गलात्मको देवो मनुष्य इत्यादि। = समानजातीय वह है—जैसे कि अनेक पुद्गलात्मक द्विअणुक त्रिअणुक, इत्यादि; असमानजातीय वह है—जैसे कि जीव पुद्गलात्मक देव, मनुष्य इत्यादि।

प्र.सा./त.प्र./५२ स्वलक्षणभूतस्वरूपास्तित्वनिश्चितस्वैकस्यार्थस्य स्व-लक्षणभूतस्वरूपास्तित्वनिश्चित एवान्यस्मिन्नर्थे विशिष्टरूपतया संभावित्वात्मलाभोऽनेकद्रव्यात्मकः पर्यायः । • जीवस्य पुद्गले संस्थानादिविशिष्टतया समुपजायमान. संभाव्यत एव । = स्वलक्षण भूत स्वरूपास्तित्वसे निश्चित अन्य अर्थमें विशिष्ट (भिन्न-भिन्न) रूपसे उपपन्न होता हुआ अर्थ (असमान जातीय) अनेक द्रव्यात्मक पर्याय है। • जो कि जीवकी पुद्गलमें संस्थानादिसे विशिष्टतया उत्पन्न होती हुई अनुभवमें आती है।

पं.का./ता.वृ./१६/३५/१४ द्वे त्रीणि वा चत्वारीरयादिपरमाणुपुद्गल-द्रव्याणि मिलित्वा स्कन्धा भवन्तीत्यचेतनस्यापरेणाचेतनेन सवन्धा-रसमानजातीयो भण्यते। असमानजातीय कथ्यते-जीवस्य भवान्तर-गतस्य शरीरनोकर्मपुद्गलेन सह मनुष्यदेवादिपर्यायोत्पत्तिचेतन-जीवस्याचेतनपुद्गलद्रव्येण सह मेलनापकादसमानजातीयः द्रव्य-पर्यायो भण्यते । = दो, तीन वा चार इत्यादि परमाणु रूप पुद्गल द्रव्य मिलकर स्कन्ध बनते हैं, तो यह एक अचेतनकी दूसरे अचेतन

द्रव्यके सम्बन्धसे उत्पन्न होनेवाली समानजातीय द्रव्य पर्याय कही जाती है। अब असमान जातीय द्रव्य पर्याय कहते हैं—भवान्तरकी प्राप्त हुए जीवके शरीर नोकर्म रूप पुद्गलके साथ मनुष्य, देवादि पर्याय रूप जो उत्पत्ति है वह चेतन जीवकी अचेतन पुद्गल द्रव्यके साथ मेलसे होनेके कारण असमानजातीय द्रव्य पर्याय कही जाती है।

५. गुणपर्याय सामान्यका लक्षण

प्र.सा./त.प्र./१३ गुणद्वारेणायातानैक्यप्रतिपत्तिनिबन्धनो गुणपर्यायः। १३। = गुण द्वारा आयतकी अनेकताकी प्रतिपत्तिकी कारणभूत गुणपर्याय है। १३।

पं.का./ता.वृ./१६/३६/४ गुणद्वारेणान्वयरूपाया एकत्वप्रतिपत्तेर्निबन्धनं कारणभूतो गुणपर्यायः । = जिन पर्यायोंमें गुणोंके द्वारा अन्वयरूप एकत्वका ज्ञान होता है, उन्हे गुणपर्याय कहते हैं।

पं.घ./पू./१३५ यतरे च विशेषास्ततरे गुणपर्याया भवन्त्येव। १३५। = जितने गुणके अंश है, उतने वे सब गुणपर्याय ही कहे जाते हैं। १३५। (पं.घ./पू./६१)।

६. गुणपर्याय एक द्रव्यात्मक ही होती हैं

प्र.सा./त.प्र./१०४ एकद्रव्यपर्याया हि गुणपर्यायाः गुणपर्यायाणामेक-द्रव्यत्वात्। एकद्रव्यत्व हि तेषां सहकारफलवत्। = गुण पर्याये एक द्रव्य पर्याये हैं, क्योंकि गुणपर्यायोको एक द्रव्यत्व है। तथा वह द्रव्यत्व आज्ञफलकी भोंति है।

पं.का./ता.वृ./१६/३६/५ गुणपर्यायः स चैकद्रव्यगत एव सहकारफले हरितपाण्डुरादिवर्णवत्। = गुणपर्याय एक द्रव्यगत ही होती है, आज्ञमें हरे व पीले रंगकी भोंति।

७. स्व व पर पर्यायके लक्षण

मोक्ष च'चाशत/२३-२५ केवलप्रज्ञया तस्या जघन्योऽशंस्तु पर्यायः । तदाऽनन्त्येन निष्पन्नं सा च्युतिर्निजपर्यायाः। २३। क्षयोपशम-वैचित्र्य ज्ञेयवैचित्र्यमेव वा। जीवस्य परपर्यायाः पदस्थानपत्ति-तामी। २५। = केवलज्ञानके द्वारा निष्पन्न जो अनन्त अन्तर्द्युति या अन्तर्ज्ञ है वही निज पर्याय है। २३। और क्षयोपशमके द्वारा व ज्ञेयोके द्वारा चित्र-विचित्र जो पर्याय है सो परपर्याय है। दोनों ही पदस्थान पत्ति वृद्धि हानि युक्त है। २५।

८. कारण व कार्य शुद्ध पर्यायके लक्षण

नि.सा./ता.वृ./१५ इह हि सहजशुद्धनिश्चयेन अनाद्यनिधनामूर्ति-तीन्द्रियस्वभावशुद्धसहजज्ञानसहजदर्शनसहजचारित्रसहजपरमवीत - रागसुखात्मकशुद्धान्तस्तत्त्वस्वरूपस्वभावान्तचतुष्टयस्वरूपेण सहा-चित्तपंचमभावपरिणतिरेव कारणशुद्धपर्याय इत्यर्थः । साद्यनिधना-मूर्तीतीन्द्रियस्वभावशुद्धसहजभूतव्यवहारेण केवलज्ञान-केवलदर्शनकेवल-सुखकेवलशक्तियुक्तफलरूपान्तचतुष्टयेन साद्ध परमोत्कृष्टक्षायिक-भावस्य शुद्धपरिणतिरेव कार्यशुद्धपर्यायश्च । = सहज शुद्ध निश्चयसे, अनादि अनन्त, अमूर्त, अतीन्द्रिय स्वभाववाले और शुद्ध ऐसे सहज-ज्ञान-सहजदर्शन-सहजचारित्र-सहज परमवीतरागसुखात्मक शुद्ध अन्तस्तत्त्व रूप जो स्वभाव अनन्तचतुष्टयका स्वरूप उसके साथकी जो पूजित पंचम भाव परिणति वही कारण शुद्धपर्याय है। सादि-अनन्त, अमूर्त अतीन्द्रिय स्वभाववाले, शुद्धसहज व्यवहारसे, केवल-ज्ञान-केवलदर्शन-केवलसुख-केवलशक्तियुक्त फलरूप अनन्त चतुष्टयके साथकी परमोत्कृष्ट क्षायिक भावकी जो शुद्ध परिणति वही कार्य शुद्ध पर्याय है।

२. पर्याय सामान्य निर्देश

१. गुणसे पृथक् पर्याय निर्देशका कारण

न्या. दी./३/९७८/१२१/४ यद्यपि सामान्यविशेषौ पर्यायौ तथापि सङ्केतग्रहणनिबन्धनत्वाच्छब्दव्यवहारविषयत्वाच्च आगमप्रस्तावेत्तयो. पृथग्निर्देशः । = यद्यपि सामान्य और विशेष भी पर्याय हैं, और पर्यायोके कथनसे उनका भी कथन हो जाता है—उनका पृथक् निर्देश (कथन) करनेकी आवश्यकता नहीं है तथापि संकेतज्ञानमें कारण होनेसे और जुदा-जुदा शब्द व्यवहार होनेसे इस आगमप्रस्तावमें (आगम प्रमाणके निरूपणमें) सामान्य विशेषका पर्यायोसे पृथक् निरूपण किया है ।

२. पर्याय द्रव्यके व्यतिरेकी अंश हैं

स. सि./४/३८/३०६/५ व्यतिरेकिणः पर्यायाः । = पर्याय व्यतिरेकी होती है (न च श्रुत/पृ. ५७); (प. का./त. प्र./५); (प्र. सा./ता. वृ./६३/१२१/१५); (प. प्र./दो./१/५७); (पं. घ./पू. १६६) ।
प्र. सा./त. प्र./८०. ६५ अन्वयव्यतिरेका पर्यायाः । ८०। पर्याया आयत-विशेषाः । ६५। = अन्वय व्यतिरेक वे पर्याय हैं । ८०। पर्याय आयत विशेष है । ६५। (प्र. सा./त. प्र./६३) ।
पं. का./त. प्र./५ पदार्थास्तेषामवयवा अपि प्रदेशाख्याः परस्परव्यतिरे-किष्वात्पर्याया उच्यन्ते । = पदार्थोंके जो अवयव हैं वे भी परस्पर व्यतिरेकवाले होनेसे पर्याय कहलाती हैं ।
अध्यात्मकमल मार्तण्ड । बीरसेवा मन्दिर/२/६ व्यतिरेकिणो ह्यनि-त्यास्तत्काले द्रव्यतन्मयाश्चापि । ते पर्याया द्विविधा द्रव्यावस्था-विशेषधर्माः । ६। = जो व्यतिरेकी हैं और अनित्य हैं तथा अपने कालमें द्रव्यके साथ तन्मय रहती हैं । ऐसी द्रव्यकी अवस्था विशेष, या धर्म, या अंश पर्याय कहलाती हैं । ६।

३. पर्याय द्रव्यके क्रम भावी अंश है

आ. प./६ क्रमवर्तिन पर्यायाः । = पर्याय एकके पश्चात् दूसरी, इस प्रकार क्रमपूर्वक होती है । इसलिए पर्याय क्रमवर्ती कही जाती है । (स्या. म./२२/२६७/२२) ।
प. प्र./मू./५७ क्रम-भुव पञ्जउ वृत्तु । ५७। = द्रव्यकी अनेक रूप परि-णति क्रमसे हो अर्थात् अनित्य रूप समय-समय उपजे, वित्तसे, वह पर्याय कही जाती है । (प्र. सा./त. प्र./१०); (नि. सा./ता. वृ./१०७); (पं. का./ता. वृ./५/१४/६) ।
प. सु./४/८ एकस्मिन् द्रव्ये क्रमभाविनः परिणामाः पर्याया आत्मनि हर्षविषादादिवत् । = एक ही द्रव्यमें क्रमसे होनेवाले परिणामोंको पर्याय कहते हैं जैसे एक ही आत्मामे हर्ष और विषाद ।

४. पर्याय स्वतन्त्र हैं

पं. घ./पू./८६, ११७ वस्त्वस्ति स्वतःसिद्धं यथा तथा तत्स्वतश्च परिणामि । ८६। अपि नित्या. प्रतिसमर्थं विनापि यत्नं हि परि-णमन्ति गुणाः । ११७। = जैसे वस्तु स्वतःसिद्ध है वैसे ही वह स्वतः परिणमनशील भी है । ८६। = गुण नित्य है तो भी वे निश्चय करके स्वभावसे ही प्रतिसमर्थ परिणमन करते रहते हैं ।

५. पर्याय व क्रियामें अन्तर

रा. वा./६/२२/२१/४=१/१६ भावो द्विविधः—परिस्पन्दात्मकः अपरि-स्पन्दात्मकश्च । तत्र परिस्पन्दात्मक. क्रियेत्याख्यायते, इतरः परि-णामः । = भाव दो प्रकारके होते हैं—परिस्पन्दात्मक व अपरि-स्पन्दात्मक । परिस्पन्द क्रिया है तथा अन्य अर्थात् अपरिस्पन्द परि-णाम अर्थात् पर्याय है ।

६. पर्याय निर्देशका प्रयोजन

पं. का./ता. वृ./१६/४१/५ अत्र पर्यायरूपेणानित्यत्वेऽपि शुद्धद्रव्यार्थिक-नयेनाविनश्वरमनन्तज्ञानादिरूपशुद्धजीवास्तिकायाभिधानं रागादि-परिहारेणोपादेयरूपेण भावनीयमिति भावार्थः । = पर्याय रूपसे अनित्य होनेपर भी शुद्ध द्रव्यार्थिक नयसे अविनश्वर अनन्त ज्ञानादि रूप शुद्ध जीवास्तिकाय नामका शुद्धात्म द्रव्य है उसको रागादिके परिहारके द्वारा उपादेय रूपसे माना चाहिए, ऐसा भावार्थ है ।

३. स्वभाव विभाव, अर्थ व्यंजन व द्रव्य गुण पर्याय निर्देश

१. अर्थ व व्यंजन पर्यायके लक्षण व उदाहरण

घ. ४/१.५/३३७/८ वज्रसिलार्थभाविषु वंजणसण्णदस्स अवट्ठाणुव-लभादी । मिच्छत्तं पि वंजणपज्जाओ । = वज्रशिला, स्तम्भादिमें व्यंजन संज्ञिक उत्पन्न हुई पर्यायका अवस्थान पाया जाता है । मिथ्यात्व भी व्यंजन पर्याय है ।
प्र. सा./त. प्र./८७ द्रव्याणि क्रमपरिणामेनेयुतिप्रव्यै. क्रमपरिणामेना-र्यन्त इति वा अर्थपर्यायाः । = जो द्रव्यको क्रम परिणामसे प्राप्त करते हैं, अथवा जो द्रव्योंके द्वारा क्रम परिणामसे प्राप्त किये जाते हैं ऐसे 'अर्थपर्याय' हैं ।
नि. सा./ता. वृ./गा. षड्दानिवृद्धिरूपा सूक्ष्मा परमागमप्रामाण्यादभ्यु-पगमा अर्थपर्यायाः । १६८। व्यञ्जयते प्रकृटीक्रियते अनेनेति व्यञ्जन-पर्यायः । कुतः, लोचनगोचरत्वात् पटादिवत् । अथवा सादिसनि-धनमूर्तविजातीयविभावस्वभावत्वात्, दृश्यमानविनाशस्वरूपत्वात् । १६। नरनारकादिव्यञ्जनपर्याया जीवानां पंचसंसारप्रपञ्चानां, पुद्ग-लानां स्थूलस्थूल्लादिकस्कन्धपर्यायाः । १६८। = षट् हानि वृद्धि रूप, सूक्ष्म, परमागम प्रमाणसे स्वीकार करने योग्य अर्थ पर्यायें (होती हैं) । १६८। जिससे व्यक्त हो—प्रगट हो वह व्यंजन पर्याय है । किस कारण ? पटादिकी भाँति चक्षु गोचर होनेसे (प्रगट होती हैं) अथवा सादि-सात् मुर्त विजातीय विभाव-स्वभाववाली होनेसे दिक्कर नष्ट होनेवाले स्वरूप वाली होनेसे (प्रगट होती हैं) । नर-नारकादि व्यञ्जन पर्याय पाँच प्रकारकी संसार प्रपंच वाले जीवोंके होती हैं । पुद्गलोको स्थूल-स्थूल आदि स्कन्ध पर्यायें (व्यंजन पर्यायें) होती हैं । १६८। (नि. सा./ता. वृ./१६) ।
वसु. आ./२५ सुहृमा अवायविसया खणरवङ्गो अथपञ्जया द्विट्ठा । वंजणपज्जाया पुण थूलागिरगोयरा चिरविवत्था । २५। = अर्थ पर्याय सूक्ष्म है, अत्राय (ज्ञान) विषयक है, अतः शब्दसे नहीं कही जा सकती है और क्षण-क्षणमें बदलती हैं, किन्तु व्यंजन पर्याय स्थूल है, शब्द गोचर है अर्थात् शब्दसे कही जा सकती है और चिरस्थायी है । २५। (पं. का./ता. वृ./१६/३६/६) ।
न्या. दी./३/९७७/१२०/६ अर्थपर्यायो भूतत्वभविष्यत्वसंस्पर्शरहित-शुद्धवर्तमानकालावच्छिन्नवस्तुस्वरूपम् । तदेतद्वजुसूत्रनयविषयमाम-नन्त्यभियुक्ता । = व्यञ्जन व्यक्तिः प्रवृत्तिनिवृत्तिनिबन्धनं जलान-यनानाद्यर्थक्रियाकारित्वम् । तेनोपलक्षितं पर्यायो व्यञ्जनपर्यायः, मृदादेपिण्ड-स्थास-कोश-कुशूल-घट-कपालादयः पर्यायाः । = भूत और भविष्यत्के उल्लेखरहित केवल वर्तमान कालीन वस्तु-स्वरूपको अर्थपर्याय कहते हैं । आचार्योंने इसे ऋजुसूत्र नयका विषय माना है । व्यक्तिका नाम व्यंजन है और जो प्रवृत्ति-निवृत्तिमें कारण-भूत जलके ले आने आदि रूप अर्थ क्रियाकारिता है वह व्यक्ति है उस व्यक्तिसे युक्त पर्यायको व्यंजन पर्याय कहते हैं । जैसे—मिट्टी आदिकी पिण्ड, स्थास, कोश, कुशूल, घट और कपाल आदि पर्यायें हैं ।

प्र. सा./ता. वृ./५०/१०१/१७ शरीराकारेण यदात्मप्रदेशानामवस्थानं स व्यञ्जनपर्यायः, अगुरुलघुगुणषट्बृद्धिहानिरूपेण प्रतिक्षणं प्रवर्तमाना अर्थपर्यायाः । —शरीरके आकार रूपसे जो आत्म-प्रदेशोंका अवस्थान है वह व्यंजन पर्याय कहलाती है। और अगुरुलघु गुणकी षट् बृद्धि और हानिरूप तथा प्रतिक्षण बदलती है, वे अर्थ पर्याय होती हैं।

२. अर्थ व गुण पर्याय एकार्थवाची हैं

पं. घ./पू./६२ गुणपर्यायाणामिह केचिन्नामान्तरं वदन्ति बुधाः । अर्थो गुण इति वा स्यादेकार्थार्थपर्याया इति च । ६२। = यहाँ पर कोई-कोई विद्वान् अर्थ कहो या गुण कहो इन दोनोंका एक ही अर्थ-होनेसे अर्थ पर्यायोंको ही गुणपर्यायोंका दूसरा नाम कहते हैं । ६२।

१. व्यंजन व द्रव्य पर्याय एकार्थवाची हैं

घ. ४/१.२.४/३३७/६ वंजनपञ्जायस्स दव्वत्तभुवगमादो । = व्यंजन पर्यायके द्रव्यपना माना गया है। (मो जी./मू.५२)।

पं. घ./पू./६३ अपि चोद्दिष्टानामिह देशांशैर्द्रव्यपर्यायाणां हि । व्यञ्जन-पर्याया इति केचिन्नामान्तरं वदन्ति बुधाः । ६३। = कोई-कोई विद्वान् यहाँ पर देशांशके द्वारा निर्दिष्ट द्रव्यपर्यायोंका ही व्यंजन पर्याय यह दूसरा नाम कहते हैं । ६३।

४. द्रव्य व गुण पर्यायसे पृथक् अर्थ व व्यंजन पर्यायके निर्देशका कारण

पं. का./ता. वृ./१६/३६/१६ एते त्र्यर्थव्यंजनपर्यायाः... । अत्र गाथायां च ये द्रव्यपर्यायाः गुणपर्यायाश्च भणित्वास्तेषु च मध्ये तिष्ठन्ति । तर्हि किमर्थं पृथक्कथिता इति त्रैदिकसमयवर्तिनोऽर्थपर्याया भण्यन्ते चिरकालस्थायिनो व्यञ्जनपर्याया भण्यन्ते इति कालकृतभेदज्ञापनार्थम् । = प्रश्न—यह जो अर्थ व व्यंजन पर्याय कही गयी है वे इस गाथामें कथित द्रव्य व गुण पर्यायोंमें ही समाविष्ट है, फिर इन्हें पृथक् क्यों कहा गया ? उत्तर—अर्थ पर्याय एक समय स्थायी होती है और व्यंजन पर्याय चिरकाल स्थायी होती है, ऐसा काल कृत भेद दर्शानेके लिए ही इनका पृथक् निर्देश किया गया है।

५. सब गुण पर्याय ही हैं फिर द्रव्य पर्यायका निर्देश क्यों

पं. घ./पू./१३२-१३५ ननु चेद्द्रव्यसत्ति नियमाविह पर्यायाः भवन्ति यावन्तः । सर्वे गुणपर्याया वाच्या न द्रव्यपर्याया केचित् । १३२। तन्न यतोऽस्ति विशेषः सति च गुणानां गुणत्ववत्त्वेऽपि । चिदचिद्यथा तथा स्यात् क्रियावती शक्तिरथ च भाववती । १३३। यतरे प्रदेशभाग-स्ततरे द्रव्यस्य पर्याया नाम्ना । यतरे च विशेषास्ततरे गुणपर्याया भवन्त्येव । १३४। = प्रश्न—गुणोंके समुदायात्मक द्रव्यके माननेपर यहाँ पर नियमसे जितनी भी पर्यायें होती हैं, वे सब गुण पर्याय कही जानी चाहिए, किसीको भी द्रव्य पर्याय नहीं कहना चाहिए । १३२। उत्तर—यह शंका ठीक नहीं है, क्योंकि सामान्यपनेसे गुणवत्त्वके सदृश रहते हुए भी गुणोंमें विशेष भेद है, जैसे—आत्माके चिदात्मक शक्ति रूप गुण और अजीव द्रव्योंके अचिदात्मक शक्ति रूप गुण ऐसे तथा वैसे ही द्रव्यके क्रियावती शक्ति रूप गुण और भाववती शक्ति रूप गुण ऐसे गुणोंके दो भेद हैं । १३३। जितने द्रव्यके प्रदेश-रूप अंश है, वे सब नामसे द्रव्य पर्याय हैं और जितने गुणके अंश है वे सब गुण पर्याय कहे जाते हैं । १३४। भावार्थ—'अमुक द्रव्यके इतने प्रदेश हैं', इस कल्पनाको द्रव्यपर्याय कहते हैं। और प्रत्येक द्रव्य सम्बन्धी जो अनन्तानन्त गुण हैं। उनकी प्रतिसमय होनेवाली षट्गुणी हानि बृद्धिसे तरतमरूप अवस्थाको गुणपर्याय कहते हैं।

६. अर्थ व व्यंजन पर्यायका स्वामित्व

ज्ञा./६/४० धर्मधर्मनभ.काला अर्थपर्यायगोचरा । व्यञ्जनान्तरस्य नवन्धौ द्वावन्धौ जीवपुद्गलौ । ४०। = धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये चार पदार्थ तो अर्थ पर्याय गोचर हैं, और अन्य दो अर्थात् जीव पुद्गल व्यंजन पर्यायके सम्बन्ध रूप हैं । ४०।

प्र. सा./ता. वृ./१२६/१२२/२१ धर्मधर्माकाशकालानां मुख्यवृत्तैकसमय-वर्तिनोऽर्थपर्याया एव जीवपुद्गलानामर्थपर्यायव्यञ्जनपर्यायाश्च । = धर्म, अधर्म, आकाश, कालको तो मुख्य वृत्तिसे एक समयवर्ती अर्थ पर्याय ही होती है, और जीव व पुद्गलमें अर्थ व व्यंजन दोनों पर्याय होती हैं। (का अ./टो./२२०/१५४/६)।

७. व्यंजन पर्यायके अभाव होनेका नियम नहीं है

घ. ७/२.२.१८७/१७५/३ अभविय भावो जाम वियंजनपज्जाओ, तेणेदस्स विणासेण होदव्वमण्णहा दव्वत्तप्पसंगादो त्ति । होदु वियंजनपज्जाओ, ण च वियंजनपज्जायस्स सव्वस्स विणासेण होदव्वमिदि णियमो अत्थि, एयतवादप्पसंगादो । ण च ण विणस्सदि त्ति दव्वं होदि उप्पाय-टिट्ठिदि-भंग-संगयस्स दव्वभावव्वुवगमादो । = प्रश्न—अभव्य भाव जीवकी व्यंजन पर्यायका नाम है, इसलिए उसका विनाश अवश्य होना चाहिए, नहीं तो अभव्यत्वके द्रव्यत्व होनेका प्रसंग आ जायेगा ? उत्तर—अभव्यत्व जीवकी व्यंजनपर्याय भले ही हो, पर सभी व्यंजनपर्यायका अवश्य नाश होना चाहिए, ऐसा कोई नियम नहीं है, क्योंकि ऐसा माननेसे एकान्तवादका प्रसंग आ जायेगा। ऐसा भी नहीं है कि जो वस्तु विनष्ट नहीं होती वह द्रव्य ही होना चाहिए, क्योंकि जिसमें उत्पाद, धौव्य और व्यय पाये जाते हैं, उसे द्रव्यरूपसे स्वीकार किया गया है।

८. अर्थ व व्यंजन पर्यायोंकी स्थूलता सूक्ष्मता

२. दोनोंका काल

घ. ६/४.१.४५/२४२-२४४/६ अत्थ पज्जाओ एगादिसमयावट्ठाणो सण्णा सबंधं वज्जिओ अप्पकालावट्ठाणादो अविस्सोसादो वा । तत्थ जो सो जहण्णुक्सेहि अंतोमुट्टासंखेज्जलोगमैत्त कालावट्ठाणो अणाइ-अणतो वा । २४२-२४३। असुद्धो उज्जुमुदणओ सो चक्खुपासियवैज्ज-पज्जयविसओ । तैसिं कालो जहण्णो अंतोमुट्टसुक्कसेण छम्मासा संखेज्जा वासाणि वा । कुदो । चक्खिदिदयेज्जवेज्ज-पज्जायाणाम-प्पहाणो भूदव्वानमैत्तिर्यं कालमवट्ठाणुवलंभादो । = १. अर्थपर्याय थोड़े समय तक रहनेसे अथवा प्रतिसमय विशेष होनेसे एक आदि समयतक रहनेवाली और संज्ञा-संज्ञी सम्बन्धसे रहित है। और व्यंजन पर्याय जघन्य और उत्कर्षसे क्रमशः अन्तर्मुहूर्त और असंख्यात लोक मात्र कालतक रहनेवाली अथवा अनादि अनन्त है। (पू. २४२-२४३) २. अशुद्ध ऋजुसूत्र नय चक्षुरिन्द्रियकी विषयभूत व्यंजन पर्यायको विषय करनेवाला है। उन पर्यायोंका काल जघन्यसे अन्तर्मुहूर्त और उत्कर्षसे छह मास अथवा संख्यातवर्ष है क्योंकि चक्षुरिन्द्रियसे ग्राह्य व्यंजन पर्यायें द्रव्यकी प्रधानतासे रहित होती हुई इतने काल तक अवस्थित पायी जाती हैं।

वसु. धा./२५ खणखण्णो अत्थपज्जया दिट्ठा । २५। = अर्थपर्याय क्षण-क्षणमें विनाश होनेवाली होती है। अर्थात् एकसमयवर्ति होती है। (प्र. सा./ता. वृ./७/१०१/१५); (पं. का./ता. वृ./१६/३६/६ व १५)।

२. व्यंजनपर्यायमें विलीन अर्थपर्याय

प्र. सा./त प्र./५४/६४/१ (द्रव्य, क्षेत्र, काल) भावप्रच्छन्नेषु स्थूल-पर्यायान्तर्लीनसूक्ष्मपर्यायिषु सर्वेष्वपि 'द्रष्टृत्व' प्रत्यक्षत्वात् । = (द्रव्य, क्षेत्र, काल) व भावप्रच्छन्न स्थूलपर्यायोंमें अन्तर्लीन सूक्ष्म पर्यायि हैं - वास्तवमें वह उस अतीन्द्रिय ज्ञानके द्रष्टापन (दृष्टि-गोचर) हैं।

पं. ध./पृ./१७१ स्थूलेष्विव पर्यायेष्वन्तर्लीनाश्च पर्यायाः सूक्ष्माः । १७५।
=स्थूलोमें सूक्ष्मकी तरह स्थूल पर्यायोमें भी सूक्ष्म पर्याये अन्तर्लीन
होती है।

३. स्थूल व सूक्ष्म पर्यायोंकी सिद्धि

पं. ध./पृ./१७२, १७३, १७५ का भावार्थ—तत्र व्यतिरेक. स्यात् परस्पर
भावलक्षणेन यथा । अश्विभाग. पृथगिति सदृशांशानां सतामेव
। १७२। तस्मात् व्यतिरेकत्वं तस्य स्यात् स्थूलपर्यायः स्थूलः । सोऽयं
भवति न सोऽयं यस्मादेतावतैव ससिद्धिः । १७३। तदिदं यथा स
जीवो देवो मनुजान्मन्वन्नाप्यन्यः । कथमन्यथात्वभावं न लभेत स
गोरसोऽपि नयात् । १७५। =नरकादि रूप व्यजन पर्याये स्थूल है,
क्योंकि उनमें एकजातिपनेकी अपेक्षा सदृशता रहते हुए भी
व्यतिरेक देखा जाता है। अर्थात् 'यह वह है' यह वह नहीं है', ऐसा
लक्षण घटित होता है । १७२-१७३। परन्तु अर्थ पर्याये सूक्ष्म है। क्योंकि,
यद्यपि नित्यता तथा अनित्यता होते हुए भी क्रममें कथंचित्
सदृशता तथा विसदृशता होती है। परन्तु उसका काल सूक्ष्म होनेके
कारण क्रम प्रतिसमय लक्ष्यमें नहीं आता। इसलिए 'यह वह नहीं है'
तथा 'वह ऐसा नहीं है' ऐसी विवक्षा बन नहीं सकती।

९. स्वभाव द्रव्य व व्यंजन पर्याय

नि. सा./पृ./१५, २५ कर्मोपाधिध्विज्जय पञ्जाया ते सहावमिदि
भणिया । १५। अण्णगिरावेक्खो जो परिणामो सो सहावपञ्जावो । २८।
=कर्मोपाधि रहित पर्याये वे स्वभाव (द्रव्य) पर्याये कही गयी है
। १५। अन्यकी अपेक्षासे रहित जो (परमाणुका) परिणाम वह (पुद्गल
द्रव्यकी) स्वभाव पर्याय है । २५।

न. च. वृ./२१, २५, ३० दब्बाणं खु पयेसा जे जे सहाव संठिया लोए । ते
ते पुण पञ्जाया जाण तुम इविणसम्भावं । २१। देहायारपएसा जे
थक्का उहयकम्मणिम्मक्का । जीवस्स णिच्चला खल्लु ते सुद्धा दब्ब-
पञ्जाया । २५। जो खल्लु अणाइणिहणो कारणरूवो हु कज्जखूवो वा ।
परमाणुपोग्गलाणं सो दब्बसहावपञ्जाओ । ३०। =सब द्रव्योंकी
जो अपने-अपने प्रदेशोंकी स्वाभाविक स्थिति है वही द्रव्यकी
स्वभाव पर्याय जानो । २१। कर्मोंसे निर्मुक्त सिद्ध जीवोंमें जो देहाकार
रूपसे प्रदेशोंकी निश्चल स्थिति है वह जीवकी शुद्ध या स्वभाव
द्रव्य पर्याय है । २५। निश्चयसे जो अनादि निघन कारण रूप तथा
कार्य रूप परमाणु है वही पुद्गल द्रव्यकी स्वभाव द्रव्य पर्याय है । ३०।
(नि. सा./ता वृ./२५), (पं. का./ता वृ./१४/१३), (प. प्र. टी./५७)।

आ. प/३ स्वभावद्रव्यव्यञ्जनपर्यायाश्चरमशरीरात् किंचिन्न्यूनसिद्ध-
पर्यायाः । अविभागीपुद्गलपरमाणु स्वभावद्रव्यव्यञ्जनपर्यायः ।
=चरम शरीरसे किंचित् न्यून जो सिद्ध पर्याय है वह (जीव द्रव्यकी)
स्वभाव द्रव्य व्यंजन पर्याय है। अविभागी पुद्गल परमाणु द्रव्यकी
स्वभाव द्रव्य व्यंजन पर्याय है । (द. सं./टी/२४/६६/११)।

पं. का./ता. वृ./१६/३६/११ स्वभावव्यञ्जनपर्यायो जीवस्य सिद्धरूपः ।
=जीवकी सिद्ध रूप पर्याय स्वभाव व्यंजन पर्याय है ।

१०. विभाव द्रव्य व व्यंजन पर्याय

नि. सा./पृ./१५, २५ णरणारथतिरियसुरा पञ्जाया ते विभावमिदि
भणिया । १५। खधसरूवेण पुणो परिणामो सो विहावपञ्जाओ । २८।
=मनुष्य, नारक, तिर्यंच, और देवरूप पर्याये, वे (जीव द्रव्यकी)
विभाव पर्याये कही गयी है । १५। तथा स्कन्ध रूप परिणाम वह
(पुद्गल द्रव्यकी) विभाव पर्याय कही गयी है ।

न. च. वृ./२३, ३३ ज चट्टुगदिदेहीणं देहायारं पदेसपरिमाणं । अह
विग्गहाइजोवे तं दब्बविहावपञ्जायं । २३। जे सराई खंधा परि-

णामिआ दुअणुआदिखधेहि । ते विय दब्बविहावा जाण तुमं पोग्गलाणं
च । ३३। =जो चारो गतिके जीवोंका तथा विग्रहगतमें जीवोंका
देहाकार रूपसे प्रदेशोंका प्रमाण है, वह जीवकी विभाव द्रव्य
पर्याय है । २३। और जो दो अणु आदि स्कन्धसे परिणामित संख्यात
स्कन्ध है वे पुद्गलकी विभाव द्रव्य पर्याय तुम जानो । ३३। (प. प्र./
टी./५७), (प. का./ता वृ./५/१४/१३)।

आ. प/३ विभावद्रव्यव्यञ्जनपर्यायाश्चतुर्विधा नरनारकादिपर्याया
अथवा चतुरशीतिलक्षा योनय । पुद्गलस्य तु द्रव्यकादयो विभाव-
द्रव्यव्यञ्जनपर्यायाः । =चार प्रकारकी नर नारकादि पर्याये अथवा
चौरासी लाख योनियों जीव द्रव्यकी विभाव द्रव्य व्यंजन पर्याय
है । --तथा दो अणुकादि पुद्गलद्रव्यकी विभाव द्रव्य व्यंजन पर्याय
है । (पं. का./ता. वृ./१६/३६/१०, ११)।

पं. का./ता. प्र./१६ सुरनारकतिर्यङ्मनुष्यलक्षणा. परद्रव्यसंबन्धनिवृत्त-
त्वाद्दशुद्धाश्चेति । =देव-नारक-तिर्यंच-मनुष्य-स्वरूप पर्याये पर-
द्रव्यके सम्बन्धसे उत्पन्न होती है इसलिए अशुद्ध पर्याय है । (प. का./
ता. वृ./१६/३६/१५)।

नि. सा./ता. वृ./२८ स्कन्धपर्याय स्वजातीयबन्धलक्षणलक्षित्वाद्दशुद्ध-
इति । =स्कन्ध पर्याय स्वजातीय बन्धरूप लक्षणसे लक्षित होनेके
कारण अशुद्ध है ।

११. स्वभाव गुण व अर्थ पर्याय

न. च. वृ./२२, २७, ३१ अगुरुलहुगा अणता समय समयं स समुभवा जे
वि । दब्बाणं ते भणिया सहावगुणपञ्जाया जाण । २२। णाणं दसण
सुह वीरियं च ज उहयकम्मपरिहीणं । त सुद्ध जाण तुम जीवे गुण-
पञ्जयं सव्वं । २६। रूवरसगधफासा जे थक्का जेसु अणुकदब्बेसु । ते
चेव पोग्गलाणं सहावगुणपञ्जया पेया । ३१। =द्रव्योंके अगुरुलघु
गुणके अनन्त अविभाग प्रतिच्छेदोंकी समय-समय उत्पन्न होनेवाली
पर्याये है, वह द्रव्योंकी स्वभाव गुणपर्याय कही गयी है, ऐसा तुम
जानो । २२। द्रव्य व भावकर्मसे रहित शुद्ध ज्ञान, दर्शन, मुख व वीर्य
जीव द्रव्यकी स्वभाव गुणपर्याय जानो । २३। (प. प्र./टी/१/५७) एक
अणु रूप पुद्गल द्रव्यमें स्थित रूप, रस, गन्ध व वर्ण है, वह पुद्गल
द्रव्यकी स्वभाव गुण पर्याय जानो । ३१। (पं. का./ता वृ./१४-
१५/१३)।

आ. प/३ अगुरुलघुविकाराः स्वभावपर्यायास्ते द्वादशधा षड्वृद्धिरूपा
षडहानिरूपा । =अगुरुलघु गुणके विकार रूप स्वभाव पर्याय होती
है । वे १२ प्रकारकी होती है, छह वृद्धि रूप और छह हानि रूप ।

प्र. सा./ता. प्र./१३ स्वभावपर्यायो नाम समस्तद्रव्याणामात्मीयात्मीया-
गुरुलघुगुणद्वारेण प्रतिसमयसमुदीयमानषट्स्थानपतितवृद्धिहानिना-
नात्वानुभूतिः । =समस्त द्रव्योंके अपने-अपने अगुरुलघुगुण द्वारा
प्रतिसमय प्रगट होनेवाली षट् स्थानपतित हानिवृद्धि रूप अनेकत्वकी
अनुभूति स्वभाव गुण पर्याय है । (प. का./ता. प्र./१६), (पं. प्र./टी./
१/५७); (पं. का./ता. वृ./१६/३६/७)।

पं. का./ता. वृ./गा./पृ./पंक्ति—परमाणु · वर्णादिभ्यो वर्णान्तरादि-
परिणमन स्वभावगुणपर्याय (५/१४/१४) शुद्धार्थपर्याया अगुरुलघुगुण-
षडहानिवृद्धिरूपेण पूर्वमेव स्वभावगुणपर्यायव्याख्यानकाले सर्व-
द्रव्याणा कथिता (१६/१६/१४) । =वर्णसे वर्णान्तर परिणमन करना
यह परमाणुकी स्वभाव गुणपर्याय है । (५/१४/१४)। शुद्धगुण पर्यायकी
भाँति सर्व द्रव्योंकी अगुरुलघुगुणकी षट् हानि वृद्धि रूपसे शुद्ध अर्थ
पर्याय होती है ।

१२. विभाव गुण व अर्थ पर्याय

न. च./२४, ३४/मदिसुद्धओहीमणपञ्जयं च अण्णाणं तिण्णि जे भणिया ।
एवं जीवस्स इमे विभावगुणपञ्जया सव्वे । २४। रूपाइय जे उत्ता जे

दिष्टा दुष्णुआइस्वधम्मि । ते पुग्गलाण भणिया विहावगुणपज्जया सव्वे । २४। = मति, श्रुत, अवधि व मन पर्याय ये चार ज्ञान तथा तीन अज्ञान जो कहे गये है ये सब जीव द्रव्यकी विभावगुण पर्याय है । (२४) द्वि अणुकादि स्कन्धोमें जो रूपादिक कहे गये है, अथवा देखे गये हैं वे सब पुद्गल द्रव्यकी विभाव गुण पर्याय है । (पं का / ता वृ / २/१४/१२), (पं. का / ता वृ. / १६/३६/५), (प. प्र / टी. / १/५७) ।

प्र सा / त प्र. / १३ विभावपर्यायो नाम रूपादीनां ज्ञानादीनां वा स्वपर-प्रत्ययवर्तमानपूर्वोत्तरावस्थावतीर्णतारतम्योपदेशितस्वभावविशेषाने-कत्वापत्ति । = रूपादिके वा ज्ञानादिके स्व परके कारण प्रवर्तमान पूर्वोत्तर अवस्थामे होनेवाले तारतम्यके कारण देखनेमे आनेवाले स्वभावविशेष रूप अनेकत्वकी आपत्ति विभाव गुणपर्याय है ।

पं. का / ता. वृ / १६/३६/१२ अशुद्धार्थपर्याया जीवस्य षट्स्थानगत-कषायहानिवृद्धिविशुद्धिसक्लेशरूपशुभाशुभलेश्यास्थानेषु ज्ञातव्या । पुद्गलस्य विभावार्थपर्याया द्व्यणुकादिस्कन्धेष्वेव चिरकाल-रथायिनो ज्ञातव्याः । = जीव द्रव्यकी विभाव अर्थ पर्याय, कषाय, तथा विशुद्धि सक्लेश रूप शुभ व अशुभलेश्यास्थानो में षट् स्थान गत हानि वृद्धि रूप जाननी चाहिए । द्वि-अणुक आदि स्कन्धोमें ही रहने वाली, तथा चिर काल स्थायी रूप, रसादि रूप पुद्गल द्रव्य को विभाव अर्थ पर्याय जाननी चाहिए ।

१३. स्वभाव व विभाव गुण व्यञ्जन पर्याय

आ प. / ३ विभावगुणव्यञ्जनपर्याया मत्यादयः । स्वभावगुणव्यञ्जन-पर्याया अनन्तचतुष्टयस्वरूपा जीवस्य । रसरसान्तरगन्धगन्धान्तरादिविभावगुणव्यञ्जनपर्यायाः । वर्णगन्धरसैकैकाविरुद्धस्पर्शद्रव्यं स्वभावगुणव्यञ्जनपर्याया । = मति आदि ज्ञान जीव द्रव्यकी विभाव गुण व्यञ्जन पर्याय है, तथा केवलज्ञानादि अनन्त चतुष्टय स्वरूप जीवकी स्वभाव गुण व्यञ्जन पर्याय है । रससे रसान्तर तथा गन्धसे गन्धान्तर पुद्गल द्रव्यकी विभाव गुण व्यञ्जन पर्याय है । तथा पर-माणुमे रहने वाले एक वर्ण, एक गन्ध, एक रस तथा अघोरुद्र दो स्पर्श पुद्गल द्रव्यकी स्वभाव गुण व्यञ्जनपर्याय है ।

१४. स्वभाव व विभाव पर्यायोका स्वामित्व

प का / ता वृ / २७/५६/१४ परिणामिनौ जीवपुद्गलौ स्वभावविभाव-परिणामाभ्या शेषचस्वारि द्रव्याणि विभावव्यञ्जनपर्यायाभावाद् मुख्यवृत्त्या अपरिणामोनि ।

प. का / ता वृ / १६/३४/१७ एते समानजातीया असमानजातीयाश्च अनेकद्रव्यादिमकैकरूपा द्रव्यपर्याया जीवपुद्गलयोरेव भवन्ति अशुद्धा एव भवन्ति । कस्मादिति चेत् । अनेकद्रव्याणां परस्परसंश्लेषरूपेण सम्बन्धात् । धर्माद्यन्यद्रव्याणां परस्परसंश्लेषसम्बन्धेन पर्यायो न घटते परस्परसम्बन्धेनाशुद्रपर्यायोऽपि न घटते । = १ स्वभाव तथा विभाव पर्यायो द्वारा जीव व पुद्गल द्रव्य परिणामी है । शेष चार द्रव्य विभाव व्यञ्जन पर्यायके अभावको मुख्यतासे अपरिणामी है । २. ये समान जातीय और असमान जातीय अनेक द्रव्यात्मक एक रूप द्रव्य पर्याय जीव व पुद्गलमे ही होती है, तथा अशुद्ध ही होती है । क्योंकि ये अनेक द्रव्योके परस्पर संश्लेष रूप सम्बन्धसे होती है । धर्मादिक द्रव्योकी परस्पर संश्लेषरूप सम्बन्धसे पर्याय घटित नहीं होती, इसलिए परस्पर सम्बन्धसे अशुद्ध पर्याय भी उनमे घटित नहीं होती ।

प. प्र. / टी. / १/५७ धर्माधर्माकाशकालानां विभावपर्यायास्तूपचारेण घटाकाशमित्यादि । = धर्माधर्म, आकाश तथा काल द्रव्योके विभाव गुणपर्याय नहीं है । आकाशके घटाकाश, महाकाश इत्यादिकी जो कहावत है, वह उपचारमात्र है ।

पर्यायज्ञान—दे० श्रुतज्ञान/II ।

पर्यायनय—दे० नय/1/५/४ ।

पर्यायवत्त्व—रा. वा. / २/७/१३/११२/२२ पर्यायवत्त्वमपि साधारणं सर्वद्रव्याणां प्रतिनियतपर्यायोत्पत्ते । कर्मादियाद्यपेक्षाभावात्तदपि पारिणामिकम् । = प्रतिनियत पर्यायोकी उत्पत्ति होनेसे पर्यायवत्त्व भी सभी द्रव्योमे पाया जाता है । तथा कर्मादिय आदिकी अपेक्षाका अभाव होनेसे यह भी पारिणामिक है ।

पर्याय समासज्ञान—दे० श्रुतज्ञान/II ।

पर्यायार्थिक नय—१ दे० नय/IV/३,४, २. द्रव्यार्थिक व पर्यायार्थिकसे पृथक् गुणार्थिक नय नहीं है । दे० नय/1/१/६ ३. निक्षेपो-का पर्यायार्थिक नयमे अन्तर्भाव—दे० निक्षेप/२ ।

पर्युदासाभाव—दे० अभाव ।

पर्व—१. स. सि. / ७/२१/३६१/३ प्रोषधशब्द पर्ववाची । = प्रोषधका अर्थ पर्व है । २. कालका एक प्रमाण विशेष—दे० गणित/1/१ ।

पर्वत—लोकमे स्थित पर्वतोके नकशे—दे० लोक ३/५/८२. प. पु / ११/ श्लोक क्षीरकदम्बक गुरुका पुत्र था । 'अजैर्यष्टव्यम्' शब्दका राजा वसुके द्वारा विपरीत समर्थन कराने पर लोगोंके द्वारा धिक्कारा गया । उससे दुखी होकर कुतर्क करने लगा (७५) । अन्तमें मृत्युके पश्चात् राक्षस बनकर इस पृथ्वीपर हिसायज्ञकी उत्पत्ति की (१०३)/(म. पु / ६३/२५६-४६६) ।

पल—कालका प्रमाण विशेष—दे० गणित/1/१/४२ तोलका एक प्रमाण विशेष—दे० गणित/1/१/२ ।

पलायमरण—दे० मरण/१ ।

पलाशगिरि—भद्रशालवनमें स्थित एक दिग्गजेन्द्र पर्वत—दे० लोक/७ ।

पलिकुंचन—सामान्य अतिचारका एक भेद—दे० अतिचार/१ ।

पल्य—१ रा. वा. / ३/३५/७/२०८/११ पल्यानि कुशूला इत्यर्थः । = पल्यका अर्थ गड्ढा । २. पल्य प्रमाणके भेद व लक्षण तथा उनकी प्रयोग विधि—दे० गणित/1/१/५२, A measure of Time.

पल्लव—दक्षिणमे काचीके समीपवर्ती प्रदेश । यहाँ इतिहास प्रसिद्ध पल्लव वशी राजाओका राज्य था । (म पु / प्र ६०/प. पत्रालाल) ।

पल्लव विधान व्रत—इस व्रतकी विधि दो प्रकारसे कही गयी है—लघु व बृहत् । लघु विधि—क्रमशः १,२, ३,४,५,६,७,८,९,१० इस प्रकार २५ उपवास एका-न्तरा क्रमसे करे । नमस्कार मन्त्रका त्रिकाल जाप करे । (व्रत विधान सग्रह/पृ ६०) वर्द्ध-मान पुराण) ।

२. बृहत् विधे—बृहत् विधानसंग्रह/पृ. १०

मास	कृष्ण पक्ष		शुक्ल पक्ष	
	उपवास तिथि	बेला तिथि	उपवास तिथि	बेला तिथि
आश्विन	६, १३	१०-११	१४	
कार्तिक	१२		३, १२	
मंगसिर	१९		३, १३	
पौष	२, १५		५, ७, १५	
माघ	४, ७, १४		१०	७-८
फाल्गुन		६-७	१, ११	
चैत्र	४, ६, ८, १९	१-२	७, १०	
वैशाख	४, १०		६, १३	२-३
ज्येष्ठ	१०	१३-१४ का तैला	८, १०	
आषाढ	१३-१५ का तैला	१०	८-१०	
श्रावण	४, ६, ८, १४		३, १५	१२-१३
भाद्र	६-७	२, १२	६-१५	५-७ का तैला
				११-१३ का तैला

कुल—४ तैला, ७ बेला व ४८ उपवास ।

नमस्कार मन्त्रका निकाल जाप्य करना चाहिए । (किशनसिंह क्रिया कोष ।

पवनजय—प पु/१५/श्लोक आदित्यपुरके राजा प्रह्लादका पुत्र था (८) । हनुमानका पिता था (३०७) ।

पवन—दे० पवन ।

पवाइज्जमाण—जो उपदेश आचार्य सम्मत होता है और चिर-कालसे अविच्छिन्न सम्प्रदायके क्रमसे चला आता हुआ शिष्य परम्पराके द्वारा लाया जाता है वह पवाइज्जमाण कहा जाता है ।

पशु—१. ध. १३/५, ६, १४०/३११/१२ सरोमन्था पशवो नाम । = जो रौंधते हैं वे पशु कहलाते हैं । २. मुनियोंके लिए पशु सग निषेध । —दे० सगति ।

पश्चात् स्तुति—१ आहारका एक दोष—दे० आहार/II/४ । २. वस्तिका का एक दोष—दे० वस्तिका ।

पश्चातानुपूर्वी—दे० आनुपूर्वी ।

पश्यन्ती—दे० भाषा ।

पांचाल—१. भरतक्षेत्र मध्य आर्यखण्डका एक देश—दे० मनुष्य/४; २. कुरुक्षेत्रके पूर्ववर्ती देश । चर्मण्वती नदी तक विस्तृत था । दो भाग थे—उत्तर व दक्षिण । उत्तर पांचालकी राजधानी अहिच्छत्रा (अहिक्षेत्र) और दक्षिण पांचालकी राजधानी कम्पिला थी । (म. पु/प्र. ४६/पं पञ्चालाल) ।

पांडव—श्रुतावतारकी पट्टावलीके अनुसार भगवात् वीरके पश्चात् मूल परम्परामें तौसरे ११ अगधारी थे । समय—वी. नि. ३८३-४२०

(ई० पू० १४४-१०५)—दे० इतिहास/४/१ । २. पा. पु/सर्ग/श्लोक युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन, नकुल व सहदेव, ये पाँचों कुरुवंशी राजा पाण्डुके पुत्र होनेसे पाण्डव कहलाते थे (८/२१७) । भीमके बलसे अपमानित होने तथा इनका राज्य हड़पना चाहनेके कारण कौरव राजा दुर्योधन इनसे द्वेष करता था (१०/३४-४०) । उसी द्वेष वश उसने इनको लाक्षागृहमें जलाकर मारनेका षड्यन्त्र किया, पर किसी प्रकार पाण्डव वहाँसे बच निकले (१८/६०, ११५, १६६) । और अर्जुनने स्वयंवरमें द्रौपदी व गाण्डीव धनुष प्राप्त किया (१५/१०५) । वहाँ पर इनका कौरवोंसे मिलाप हुआ (१५/१४३, १८२-२०२) तथा आधा राज्य बाँटकर रहने लगे (१६/२-३) । परन्तु पुनः ईर्ष्यावश दुर्योधनने जुएमें इनका सर्व राज्य जीतकर इन्हे बारह वर्ष अज्ञातवास करनेपर बाध्य किया (१६/१४, १०५-१२५) । सहायवनमें इनकी दुर्योधनके साथ मुठभेड़ हो गयी (१७/८७-२२१) । जिसके पश्चात् इन्हे विराट नगरमें राजा विराटके यहाँ छत्रवेशमें रहना पडा (१७/२३०) । द्रौपदी-पर दुराचारी दृष्टि रखनेके अपराधमें वहाँ भीमने राजाके साले कीचक व उसके १०० भाइयोंको मार डाला (१७/२७८) । छत्रवेशमें ही कौरवोंसे भिड़कर अर्जुनने राजाके गोकुलको रक्षा की (१६/१५२) । अन्तमें कृष्ण जरासन्ध युद्धमें इनके द्वारा सब कौरव मारे गये (१६/६१, २०/२६६) । एक विद्याधर द्वारा हर ली गयी द्रौपदीकी अर्जुनने विद्या सिद्ध करके पुन प्राप्त किया (२१/११४, ११८) । तत्पश्चात् भगवात् नेमिनाथके समीप जिन दीक्षा धार (१५/१२) शत्रुजय गिरि पर्वतपर वोर तप किया (२५/१२) । दुर्योधनके भानजे कृत वुसह उपसर्गको जीत युधिष्ठिर, भीम व अर्जुन मुक्त हुए और नकुल व सहदेव सवर्धिसिद्धिमें देव हुए (२५/५२-१३६) ।

पांडव पुराण—१. देवप्रभ सूरि (वि. १२७०) कृत मूल पाण्डव पुराण के आधार पर मट्टारक शुभ चन्द्र (वि. १६०८, ई. १५५१) द्वारा रचित, २५ पर्वों में विभक्त ५१०४ श्लोक प्रमाण संस्कृत छन्द ब्रह्म ग्रन्थ (ती. ३/३६७) । २. यश कीर्ति (वि. १५३५-१६१३) कृत अपभ्रंश काव्य । (ती. ३/४११) । ३. वादि चन्द्र (ई. १६०१) कृत ।

पांडु—१. चक्रवर्तीकी नव विधियोंमें से एक ।—दे० शताका पुरुष । २. पा. पु/सर्ग/श्लोक भीष्मके सौतेले भाई व्यासका पुत्र था (७/११७) । अन्धकवृष्णिनी कुन्ती नामक पुत्रीसे छत्रवेशमें सम्भोग किया । उससे कर्ण नामक पुत्र उत्पन्न हुआ (७/१६४-१६६, ७/२०४) । तत्पश्चात् उसकी छोटी बहन मद्री सहित कुन्तीसे विवाह किया (८/३४-१०७) । कुन्तीसे युधिष्ठिर, अर्जुन व भीम, तथा मद्रीसे नकुल व सहदेव उत्पन्न हुए । ये पाँचो ही आगे जाकर पाण्डव नामसे प्रसिद्ध हुए (८/१४३-१७५) । अन्तमें दीक्षा धारण कर तीन मुक्त हुए और दो समाधि पूर्वक स्वर्गमें उत्पन्न हुए (६/१२७-१३८) ।

पांडुकंबलाशिला—सुमेरुपर्वतपर एक शिला, जिसपर पश्चिम विदेहके तीर्थंकरोंका जन्म कल्याणक सम्बन्धी अभिषेक किया जाता है ।—दे० लोक/३/६/४ ।

पांडुक—१. विजयार्धकी उत्तर श्रेणीका एक नगर—दे० विद्याधर; २. कुण्डल पर्वतस्थ माहेन्द्रकूटका स्वामी नागेन्द्र देव—दे० लोक/५/१२ ।

पांडुकवन—सुमेरु पर्वतका चतुर्थ वन । इसमें ४ चैत्यालय हैं ।—दे० लोक/३/६/४ ।

पांडुर—१. दक्षिण क्षीरवर द्वीपका रक्षक देव—दे० व्यन्तर । २. कुण्डल पर्वतस्थ हिमवत्कूटका स्वामी नागेन्द्र देव ।—दे० लोक/५/१२ ।

पांडुशिला—सुमेरु पर्वत पर स्थित एक शिला । जिसपर भरतक्षेत्रके तीर्थंकरोंका जन्म कल्याणके अवसर पर अभिषेक किया जाता है ।—दे० लोक/३/६/४ ।

पांड्य—मध्य आर्यखण्डस्थ देश—दे० मनुष्य/४।

पांड्यवाटक—मलयगिरिके मध्यभागमें एक पर्वत।—दे० मनुष्य/४।

पांड्य—मद्रासके अन्तर्गत वर्तमान केरल देश। (म. पु./प्र. ५०/पं. पत्रालाल)।

पांशुतापि—आकाशोपपन्न देव।—दे० देव/II/३।

पांशुमूल—विजयार्थकी दक्षिण श्रेणीका एक नगर—दे० विद्याधर।

पाक्षिक श्रावक—दे० श्रावक/३।

पाटलीपुत्र—बिहार प्रान्तकी राजधानी वर्तमान पटना (म. पु./प्र. ४६/पं. पत्रालाल)।

पाणिमुक्तागति—दे० विग्रहगति/२।

पाताल—१. विमलनाथ भगवान्का शासक यक्ष—दे० तीर्थकर/५/३
२ लवण समुद्रकी तलीमें स्थित बड़े-बड़े खड। ये तीन प्रकारके हैं—
उत्तम, मध्यम व जवन्य (दे० लोक/४/१)।

पातालवासी—रा. वा./४/२३/४/२४२/२४ पातालवासिनो लवणो-
दादिसमुद्रावासा सुस्थितप्रभासादय। = लवण आदि समुद्रोमें भली
प्रकार रहनेवाले प्रभास आदि देव पातालवासी कहलाते हैं।

पात्र—मोक्षमार्गमें दानादि देने योग्य पात्र सामान्य भिखारी लोग
नहीं हो सकते। रत्नत्रयसे परिणत अविरत सम्यग्दृष्टिसे ध्यानारूढ
योगी पर्यन्त ही यहाँ अपनी भूमिकातुसार जवन्य, मध्यम व उत्कृष्ट
भेदरूप पात्र समझे जाते हैं। महाव्रतधारी साधु भी यदि मिथ्या-
दृष्टि है तो कुपात्र है पात्र नहीं। सामान्य भिखारी जन तो यहाँ
अपात्रकी कोटिमें गिने जाते हैं। तहाँ दान देते समय पात्रके अनु-
सार ही दातारकी भावनाएँ होनी चाहिए।

१. पात्र सामान्यका लक्षण

र. सा./१२५-१२६ दसणसुद्धो धम्मज्झाणरदो संगवज्जिदो गिसल्लो।
पत्तविसेसो भणियो ते गुणहीणो दु विवरीदो।१२५। सम्माइ गुण-
विसेस पत्तविसेसं जिणेहि णिहिट्ठो।१२६। = जो सम्यग्दर्शनसे
शुद्ध है धर्मध्यानमें लीन रहता है, सब तरहके परिग्रह व मायादि
शक्योसे रहित है, उसको विशेष पात्र कहते हैं उससे विपरीत
अपात्र है।१२५। जिसमें सम्यग्दर्शनकी विशेषता है उसमें पात्रपनेकी
विशेषता समझनी चाहिए।१२६।

स. सि./७/३६/३७३/८ मोक्षकारणगुणसंयोग पात्रविशेषः। = मोक्षके
कारणभूत गुणोसे संयुक्त रहना यह पात्रकी विशेषता है। अर्थात्
जो मोक्षके कारणभूत गुणोसे संयुक्त होता है वह पात्र होता है।
(रा. वा./७/३६/५५६/३१)।

सा. ध./५/४३ यत्तारयति जन्माद्ये, स्वाश्रितान्मानपात्रवत्। मुक्त्यर्थ-
गुणसंयोग-भेदात्पात्र त्रिधा मतम्।४३। = जो जहाजकी तरह अपने
आश्रित प्राणियोंको ससाररूपी समुद्रसे पार कर देता है वह पात्र
वहलाता है, और वह पात्र मोक्षके कारणभूत सम्यग्दर्शनादि गुणोके
सम्बन्धसे तीन प्रकारका होता है।४३।

प्र. सा./ता. वृ./२६०/३६२/१६ शुद्धोपयोगशुभोपयोगपरिणतपुरुषा पात्रं
भवन्तीति। = शुद्धोपयोग अथवा शुभोपयोगसे परिणत जीव पात्र
कहलाते हैं।

२. पात्रके भेद

र. सा./१२३ अविरतदेसमहव्ययागमरुद्धं विचारतच्चण्हं। पत्ततरं
सहस्सं णिहिट्ठं जिणवदिदेहि।१२३। = अविरत सम्यग्दृष्टि, देश-
व्रती, श्रावक, महाव्रतियोंके भेदसे, आगममें रुचि रखनेवालों तथा

तत्त्वके विचार करनेवालोंके भेदसे जिनेन्द्र भगवान्ने हजारों प्रकारके
पात्र बतलाये हैं।

वसु. आ./१२१ सिविहं मुणेह पत्तं उत्तम-मज्झिम-जहण्णभेएण। = उत्तम
मध्यम व जवन्यके भेदसे पात्र तीन प्रकारके जानने चाहिए। (पु. सि,
उ./१७१); (प. वि./२/४८), (अ. ग. आ./१०/२)।

३. नाममात्रका जैन भी पात्र है

सा. ध./२/४४ नामत स्थापनातोऽपि, जैन पात्रायतेतराम्। स लभ्यो
द्रव्यतो धन्यैर्भावतस्तु महात्मभि'।५४। = नामनिकेपसे और
स्थापनानिकेपसे भी जैन विशेष पात्रके समान मात्तम होता है। वह
जैन द्रव्यनिकेपसे पुण्यात्माओंके द्वारा तथा भावनिकेपसे महा-
त्माओंके द्वारा प्राप्त किया जा सकता है।५४।

४. उत्तम, मध्यम व जवन्य पात्रके लक्षण

बा. अ./१७-१८ उत्तमपत्तं भणियं सम्मत्तगुणेण सजुद्धो साहू। सम्मादिट्ठी
सावय मज्झिमपत्तोहु विण्णयो।१७। णिहिट्ठो जिणसमये अवि-
रदसम्मो जहण्णपत्तोत्ति।१८। = जो सम्यक्त्व गुण सहित मुनि हैं,
उन्हें उत्तम पात्र कहा है, और सम्यक्त्वदृष्टि श्रावक है, उन्हें मध्यम
पात्र समझना चाहिए।१७ तथा व्रतरहित सम्यग्दृष्टिको जवन्य पात्र
कहा है।१८। (ज. प./२/१४६-१५१); (प. वि./२/४८); (वसु.
आ./२२१-२२२) (गुण. आ./१४८-१४९); (अ. ग. आ./१०/४);
(सा. ध./५/४४)।

र. स./१२४ उवसम णिरीह भाणज्झयणाइमहागुणाजहादिट्ठा। जेसि ते
मुणिणाहा उत्तमपत्ता तहा भणिया।१२४। = उपशम परिणामोको
धारण करनेवाले, बिना किसी इच्छाके ध्यान करने वाले तथा अष्य-
यन करने वाले मुनिराज उत्तम पात्र कहे जाते हैं।१२४।

५. कुपात्रका लक्षण

ज. प./२/१५० उअवाससोसियतपू णिस्संगो कामकोहपरिहीणो।
मिच्छत्तंसंसिदमणो णायव्वो सो अपत्तोत्ति।१५०। = उपवासोसे
शरीरको कृश करनेवाले, परिग्रहसे रहित, काम, क्रोधसे विहीन
परन्तु मनमें मिथ्यात्व भावको धारण करनेवाले जीवको अपात्र
(कुपात्र) जानना चाहिए।१५०।

वसु. आ./२२३ वय-तव-शीलसमगो सम्मत्तविवज्जियो कुपत्तं तु।२२३।
= जो व्रत, तप और शीलसे सम्पन्न है, किन्तु सम्यग्दर्शनसे रहित
है, वह कुपात्र है। (गुण. आ./१५०), (अ. ग. आ./१०/३४-३५);
(पं. वि./२/४८)।

६. अपात्रका लक्षण

बा. अ./१८ सम्मत्तरयणरहियो अपत्तमिदि संपरिक्खेउजो। = सम्य-
क्त्वरूपी रत्नसे रहित जीवको अपात्र समझना चाहिए।

वसु. आ./२२३ सम्मत्त-शील-वयवज्जियो अपत्त हवे जीओ। २२३।
= सम्यक्त्व, शील और व्रतसे रहित जीव अपात्र है। (पं. वि./२/
४८); (अ. ग. आ./१०/३६-३८)।

* अन्य सम्बन्धित विषय

१. पात्र अपात्र व कुपात्रके दानका फल — दे० दान।
२. नमस्कार योग्य पात्र अपात्र — दे० विनय/४।
३. ज्ञानके योग्य पात्र अपात्रका लक्षण — दे० श्रोता।
४. ज्ञान किसे देना चाहिए और किसे नहीं — दे० उपदेश/३।

पात्रकेसरी— १. आप ब्राह्मण कुलसे थे। न्यायशास्त्रमें पारंगत
थे। आचार्य विद्यानन्दकी भाँति आप भी समन्तभद्र रचित देवा-
गमस्तोत्र सुननेसे ही जैनानुयायी हो गये थे। आपने त्रिलक्षण-

कदर्शन, तथा जिनेन्द्रगुणस्तुति (पात्रकेसरी स्तोत्र) ये दो ग्रन्थ लिखे। समय—पूज्यपादके उत्तरवर्ती और अकलंकदेवसे पूर्ववर्ती है—ई श ६ (दे० इतिहास ७/१), (ती/२/२३८-२४०)। २. श्लोक-वार्तिककार आ, विद्यानन्दि (ई० ७७१-८४०) की उपाधि। (दे० विद्यानन्दि)। (जैन हितैषी, पं, नाथूराम)।

पात्रकेसरीस्तोत्र—आचार्य पात्रकेसरी (ई श ६-७) द्वारा संस्कृत श्लोकोमें निबद्ध जिनेन्द्रकी स्तुतिका पाठ है। इसमें ६० श्लोक है। (ती०/२/२४०)।

पात्र दत्ति—दे० दान।

पाद—१. क्षेत्रका प्रमाण विशेष—दे० गणित/१/३; २. १ (प्रत्येक शताब्दीमें चार पाद होते हैं। प्रत्येक पाद २५ वर्षका माना जाता है।); ३. वर्गमूलका अपरनाम—दे० गणित/१/७।

पादुकार—वसतिकाका एक दोष—दे० 'वसतिका'।

पाद्य स्थिति कल्प—भ. आ./वि/४२१/६१६/१० पञ्जो समण-कम्पो नाम दशम। वर्षाकालस्य चतुर्षु मासेषु एकत्रैवावस्थानं भ्रमण-त्यागः। स्थावरजंगमजीवाकुला हि तदा क्षिति। तदा भ्रमणे महान-संयमः; ..इति त्रिंशत्यधिक दिवसशतं एकत्रैवावस्थानमित्ययमुत्सर्गः। कारणपेक्षया तु होनाधिकं वावस्थानं, संयतानां आषाढशुद्धदशम्या स्थिताना उपरिष्ठाच्च कार्तिकपौर्णमास्यास्त्रिंशद्विवावस्थानं। वृष्टिबहुलतां, श्रुतग्रहणं, शक्त्यभाववैय्यावृत्त्यकरणं प्रयोजनमुद्दिश्य अवस्थानमेकत्रेति उत्कृष्ट काल। मार्या, दुर्भिक्षे, ग्रामजनपदचलने वा गच्छनाशनिमित्ते समुपस्थिते देशान्तरं याति। पौर्णमास्या-माषाढ्यामितिक्रान्तायां प्रतिपदादिषु दिनेषु याति। यावच्च त्यक्त्वा त्रिंशत्तदिवसा एतदपेक्ष्य हीनता कालस्य एष। =वर्षा कालमें चार मासमें एक ही स्थानमें रहना अर्थात् भ्रमणका त्याग यह पाद्य नाम-का दसवां स्थिति कल्प है। वर्षाकालमें जमीन स्थावर और त्रस जीवोसे व्याप्त होती है। ऐसे समयमें मुनि यदि विहार करेगे तो महा असयम होगा। इत्यादि दोषोसे बचनेके लिए मुनि एक सौ बीस दिवस एक स्थानमें रहते हैं, यह उत्सर्ग नियम है। कारण वश इससे अधिक या कम दिवस भी एक स्थानमें ठहर सकते हैं। आषाढ शुक्ला दशमीसे प्रारम्भ कर कार्तिक पौर्णमासीके आगे भी और तीस दिन तक एक स्थानमें रह सकते हैं। अध्ययन, वृष्टिकी अधिकता, शक्तिका अभाव, वैय्यावृत्त्य करना इत्यादि प्रयोजन हो तो अधिक दिन तक रह सकते हैं। .. मारी रोग, दुर्भिक्षमें ग्रामके लोगोंका अथवा देशके लोगोंका अपना स्थान छोड़कर अन्य ग्राम-दिकमें जाना, गच्छका नाश होनेके निमित्त उपस्थित होना, इत्यादि कारण उपस्थित होनेपर मुनि चातुर्मासमें भी अन्य स्थानों-पर जाते हैं। -इसलिए आषाढ पूर्णिमा व्यतीत होनेपर प्रतिपदा वगैरह तिथिमें अन्यत्र चले जाते हैं। इस प्रकार बीस दिन एकसौ बीसमें कम किये जाते हैं, इस तरह कालकी हीनता है।

* वर्षायोग स्थापना निष्ठापना विधि (दे० कृतिकर्म/४)

पान—सू.आ./६४४ पाणानमणुगर्हं तथा पाणं। १६४४। =अशनादि चार प्रकारके आहारमें-से, जिससे दस प्राणोंका उपकार हो वह पान है। ६४४।

पानक—१-आहारका एक भेद—दे० आहार/१/१

भ.आ./सू/७००/८८२ सत्यं बहलं लेवडमलेवडं च ससित्ययमसिरथं। छ्विहपाणयभेयं पाणयपरिकम्मपाओग्गं। ७००। = 'स्वच्छ (गर्म जल); बहल (इमलीका पानी आदि), लेवड (जो हाथको चिपके); अलेवड (जो हाथको न चिपके जैसे माड); ससित्य (भातके दानों

सहित माड) ऐसा छह प्रकारका पानक आगममें कहा है। [इन छहोंके लक्षण—दे० वह वह नाम।]

पानदशमी व्रत—व्रतविधान संग्रह/१३० पान दशमि बीरा दश पान। दश श्रावक दे भोजन ठान। =दश श्रावकोको भोजन कराकर फिर स्वयं भोजन करे, वह पान दशमी व्रत कहलाता है। (नवल साहकृत वर्द्धमान पुराण)

पानांग कल्पवृक्ष—दे० वृक्ष/१।

पाप—निरुक्ति.—

स.सि./६/३/३२०/३ पाति रक्षति आत्मानं शुभादिति पापम्। तद सद्देयादि। =जो आत्माको शुभसे बचाता है, वह पाप है। जैसे—असाता वेदनीयादि। (रा. वा/६/३/५०७/१४)।

भ. आ/वि/३८/१३४/२१ पाप नाम अनभिमतस्य प्रापक। =अनिष्ट पदार्थोंकी प्राप्ति जिससे होती है ऐसे कर्मको (भावोको) पाप कहते हैं।

२. अशुभ उपयोग

प्र सा/सू/१८१ सुहपरिणामो पुण्यं असुहो पावं त्ति भणियमण्येषु। =परके प्रति शुभ परिणाम पुण्य है, और अशुभ परिणाम पाप है।

द्र. सं/सु/३८ असुहभावजुत्तां पावं हर्बन्ति खलु जीवा। ३८। =अशुभ परिणामोंसे युक्त जीव पाप रूप होते हैं।

स. म./२७/३०२/१७ पापं हिंसादिक्रियासाध्यमशुभं कर्म। =पाप हिंसादिसे होनेवाले अशुभकर्म रूप होता है।

३. निन्दित आचरण

पं. का/सू/१४० सण्णाओ य तिलेस्सा इंदियवसदा य अत्तरुद्वाणि। णाणं च दुप्पउत्त मोहो पावप्पदा होंति। १४०। =चारो सजाएँ, तीन लेश्याएँ, इन्द्रिय वशता, आर्त रौद्रध्यान, दु प्रयुक्त ज्ञान और मोह—यह भाव पाप प्रद है। १४०।

न. च. वृ./१६२ अहवा कारणभूदा तेसि च वयववयाइ इह भणिया। ते खलु पुण्यं पावं जाण इम पवयणे भणिया। १६२। =अशुभ वेदादिके कारण जो अत्रतादि भाव हैं उनको शास्त्रमें पाप कहा गया है।

यो सा, अ/३/३८ निन्दकत्वं प्रतीक्ष्येषु नैवृण्यं सर्वजन्तुषु। निन्दिते चरणे राग. पापबन्धविधायक। ३८। =अर्हन्तादि पूज्य पुरुषोंकी निन्दा करना, समस्त जीवोंमें निर्दय भाव रहना, और निन्दित आचरणोंमें प्रेम रखना आदि बंधका कारण है।

२. पापका आधार बाह्य द्रव्य नहीं

स. सि./६/११/३३०/१ परमकरुणाशयस्य नि शक्यस्य संयतस्योपरि गण्डं पाटयतो दु खहेतुत्वे सत्यपि न पापबन्धो बाह्यनिमित्तमात्रादेव भवति। =अत्यन्त दयालु किसी वैद्यके फोड़ेकी धीर-फाड और मरहम पट्टी करते समय नि शक्य संयतको दुख देनेमें निमित्त होने-पर भी केवल बाह्य निमित्त मात्रसे पाप बन्ध नहीं होता। दे० पुण्य/१/४ (पुण्य व पापमें अन्तरंग प्रधान है)।

३. पाप (अशुभ नामकर्म) के बन्ध योग्य परिणाम

त. सू/६/३.२२० अशुभं पापस्य। ३। योगवक्रता विसंवादनं चाशुभस्य नाम्नं। २२। =अशुभ योग पापास्रवका कारण है। ३। योग वक्रता और विसंवाद ये अशुभ नामकर्मके आस्रव हैं। २२।

प. का/सू/१३६ चरिया पमादबहुला कालुस्सं लोलदा य विसयेसु। परपरितावपवादो पावस्स य आसवं कुणदि। १३६। =बहु प्रमाद-वाली चर्या, क्लृप्तता, विषयोके प्रति लोलुपता, परको परिताप करना तथा परके अपवाद बोलना—वह पापका आस्रव करता है। १३६।

सू. आ./२३६ पुण्यस्सासवभूदा अणुक्पा सुद्ध एव उवओगे। विवरीदं पावस्स दु आसवहेउं वियाणादि। २३६। = शुभसे विपरीत पावस्स दु आसवहेउं वियाणादि। २३६। = शुभसे विपरीत

निर्दयपना मिथ्याज्ञानदर्शनरूप उपयोग पापकर्मके आस्रवके कारण है। २३५।

रा. वा. /६/२२/४/५२५/१८ चशब्द' क्रियते अनुक्तस्यास्रवस्य समुच्च-
यार्थः । क. पुनरसौ । मिथ्यादर्शन-पिशुनताऽस्थिरचित्तस्वभावता-
कूटमानतुलाकरण - सुवर्णमणिररत्नाद्यकृति - कुटिलसाक्षित्वाङ्गोपाङ्ग -
च्यावनवर्णगन्धरसस्पर्शान्यथाभावन-यन्त्रपञ्जरक्रियाद्रव्यान्तरविषय -
सबन्धनिकृतिभूयिष्ठता - परनिन्दात्मप्रशसा-मृतवचन परद्रव्यादान -
महारम्भपरिग्रह - उज्ज्वलवेषरूपमद - परुषासम्भ्रलाप - आक्रोश -
मौख्य - सौभाग्योपयोगवशीकरणप्रयोगपरकुतूहलोत्पादनालकारा -
दर - चैत्यप्रदेशगन्धमाल्यधूपदिमोषण-बिलम्बनोपहास-इष्टिकापाक-
दद्याग्निप्रयोग-प्रतिमायतनप्रतिधरारामोद्यानविनाशनतीव्रक्रोधमान -
मायालोभ-पापकर्म्मोपजीवनादिलक्षण । स एष सर्वोऽशुभस्य नाम्न
आस्रवः । = च शब्द अनुक्तके समुच्चयार्थः है । मिथ्यादर्शन,
पिशुनता, अस्थिरचित्तस्वभावता, झूठे बात तराजू आदि रखना,
कृत्रिम सुवर्ण मणि रत्न आदि बनाना, झूठी गवाही, अग उपगोका
छेदन, वर्ण गन्ध रस और स्पर्शा विपरीतपना, यन्त्र पिजरा आदि
बनाना, माया बाहुल्य, परनिन्दा, आत्म प्रशसा, मिथ्या भाषण, पर
द्रव्यहरण, महारभ, महा परिग्रह; शौकीन वेष, रूपका धमण्ड,
कठोर असम्भ्र भाषण, गालो बकना, व्यर्थ बक्वास करना, वशीकरण
प्रयोग, सौभाग्योपयोग, दूसरेमें कौतूहल उत्पन्न करना, भूषणोंमें
रुचि, मंदिरके गन्धमाल्य या धूपदिका चुराना, लम्बी हसी, ईटो-
का भट्टा लगाना, वनमें दावाग्नि जलवाना, प्रतिमायतन विनाश,
आश्रय-विनाश, आराम-उद्यान विनाश, तौत्र क्रोध, मान, माया व
लोभ और पापकर्म जोतिका आदि भी अशुभ नामके आस्रवके कारण
है । (स. सि./६/२२/३३७/२); (ज्ञा /६/४-७) ।

४. पापका फल दुःख व कुगतियोंकी प्राप्ति

त. सू. /७/९-१० हिंसादिष्विहामुत्रापायव्यखरदर्शनम् । १। दुःखमेव वा
। १०। = हिंसादिक पाँच दोषोंमें ऐहिक और पारलौकिक उपाय और
अवयवका दर्शन भावने योग्य है । १। अथवा हिंसादिक दुःख ही है
ऐसी भावना करनी चाहिए । १०।

प्र. सा./प्र./१२ अगुहोदयेण आदा कुणरो तिरियो भवीय णेरइयो ।
दुखसहसेहि सदा अभिधुदो भमदि अचचता । १२। = अशुभ उदयसे
कुमानुष, तिप्रंच, और नारकी होकर हजारो दूखोंसे सदा पीड़ित
होता हुआ (संसारमें) अत्यन्त भ्रमण करता है । १२।

ध. १/१,१.२/१०५/५ काणि पावफलाणि । णिरय - तिरियकुमाणुस-
जोणीसु जाइ-जरा-मरण-बाहि-बैयणा-दालिहादीणि । = प्रश्न—पाप-
के फल कौनसे है ? उत्तर—नरक, तिर्यच और कुमानुषकी योनियों-
में जन्म, जरा, मरण, व्याधि, वेदना और दारिद्र्य आदिकी प्राप्ति
पापके फल है ।

५. पाप अत्यन्त हेय है

स. सा./आ./३०६ यस्तावदज्ञानिजनसाधारणोऽप्रतिक्रमणादि. स
शुद्धात्मसिद्धवाभावस्वभावत्वेन स्वयमेवापराधत्वाद्विषकुम्भ एव ।
= प्रथम तो जो अज्ञानजनसाधारण (अज्ञानी लोगोको साधारण ऐसे)
अप्रतिक्रमणादि है वे तो शुद्ध अत्माकी सिद्धिके अभाव रूप स्वभाव-
वाले हैं इसलिए स्वयमेव अपराध स्वरूप होनेसे विषकुम्भ ही है ।
(क्योंकि वे तो प्रथम ही त्यागने योग्य हैं ।)

प्र. सा./त. प्र./१२ ततश्चारित्रलवस्याप्यभावादत्यन्तहेय एवायमशुभोप-
योग इति । = चारित्रिके लेशमात्रका भी अभाव होनेसे यह अशुभोप-
योग अत्यन्त हेय है ।

६ अन्य सम्बन्धित विषय

- १ व्यवहार धर्म परमार्थतः पाप है । —दे० धर्म/४ ।
- २ पापानुबन्धी पुण्य । —दे० मिथ्यादृष्टि/४ ।
- ३ पुण्य व पापमें कथंचित् भेद व अभेद । —दे० पुण्य/२,४ ।
४. पापकी कथंचित् इष्टता । —दे० पुण्य/३ ।
- ५ पाप प्रकृतिविके भेद । —दे० प्रकृतिबन्ध/२ ।
६. पापका आस्रव व बन्ध तत्त्वमें अन्तर्भाव । —दे० पुण्य/२/४ ।
७. पूजादिमें कथंचित् सावध हे फिर भी वे उपादेय हैं । —दे० धर्म/५/१ ।
८. मिथ्यात्व सबसे बड़ा पाप है । —दे० मिथ्यादर्शन ।
- ९ मोह राग द्वेषमें पुण्य-पापका विभाग । —दे० राग/२ ।

पापोपदेश—दे० अनर्थदण्ड ।

पामिच्छ—वसतिकाका एक दोष । —दे० वसतिका ।

पामीर —ज. प/प्र/पृ /A, N, Up, H I. Jain "पामीरका पूर्व प्रदेश
चीनी तुर्किस्तान है । (१४०) । हिन्दुकुशपर्वतका विस्तार वर्तमान
भूगोलके अनुसार पामीर प्रदेश और काबुलके पश्चिम कोहे बाबा
तक माना जाता है । (४१) । वर्तमान भूगोलके अनुसार पामीरका
मान १६०×१५० मील है । वह चारों ओर हिन्दुकुश, काराकोरम,
काशार, कर्तार पहाडोंसे घिरा हुआ है । —पौराणिक कालमें इसका
नाम मेरुमण्डल या काबोज था ।

पारंचिक परिहार प्रायश्चित्त—दे० परिहार-प्रायश्चित्त ।

पारपरिमित—Transfinite Cardinals या finite Cardinals —(ध. ५/प्र/२५) ।

पारमार्थिक प्रत्यक्ष—दे० प्रत्यक्ष ।

पारा —भरत आर्य खण्डको एक नदी —दे० मनुष्य/४ ।

पारामृष्य—आहारका एक दोष—दे० आहार/II/४ ।

पाराशर—एक विनयवादी—दे० वैनयिक ।

पारिणामिक—प्रत्येक पदार्थके निरुपाधिक तथा त्रिकाली स्वभाव-
को उसका पारिणामिक भाव कहा जाता है । भले ही अन्य पदार्थों-
के संयोगकी उपाधिबश द्रव्य अशुद्ध प्रतिभासित होता हो, पर इस
अचलित स्वभावसे वह कभी च्युत नहीं होता, अन्यथा जीव घट
बन जाये और घट जीव ।

१. पारिणामिक सामान्यका लक्षण

स. सि./२/१/१४६/६ द्रव्यात्मलाभमात्रहेतुक' परिणाम. । [स. सि./२/७/
१६१/२] " पारिणामिकत्वम् कर्मोदयोपशमक्षयक्षयोपशमानपेक्षि-
त्वात् । = १. जिसके होनेमें द्रव्यका स्वरूप लाभ मात्र कारण है
वह परिणाम है । (पं का./त प्र/५६) । २. कर्मके उदय, उपशम,
क्षय और क्षयोपशमके बिना होनेसे पारिणामिक है । (रा. वा./२/१-
५/१००/२१) ।

रा. वा./१/७/२/११०/२२ तद्भावादनादिद्रव्यभवनसंबन्धपरिणामनिमि-
त्त्वात् पारिणामिका इति ।

रा. वा./२/७/१६/११३/१७ परिणाम स्वभाव. प्रयोजनमस्येति पारिणा-
मिक' इत्यन्वर्थसंज्ञा । = कर्मके उदय, उपशम, क्षय और क्षयोप-
शमकी अपेक्षा न रखनेवाले द्रव्यकी स्वभावभूत अनादि पारिणामिक
शक्तिसे ही आविर्भूत ये भाव पारिणामिक हैं । (ध. १/१.१.८/१६१/३) ;

(घ. १/१, ७, ३/१६६/११); (गो. क. / सू. / ५११/६८८); (नि. सा / ता. वृ / ४१), (गो. जी / जी. प्र. / ८/२६/१४)। परिणाम अर्थात् स्वभाव ही है प्रयोजन जिसका वह पारिणामिक है, यह अन्वर्थ संज्ञा है। (न च वृ / ३७५), (पं का / त प्र / ५६)।

घ. १/१, ७, १/१८/३ जो चउहि भावेहि पुनवुत्तेहि वदिरित्तो जीवाजीव-गओ सो पारिणामिओ णाम। = जो क्षायिकादि चारो भावोसे व्यतिरिक्त जीव अजीवगत भाव है, वह पारिणामिक भाव है।

न. च वृ / ३७४ कम्मज भावातीदं जाणगभावं विसेस आहारं। त परिणामो जीवो अचेयणं भवदि इदराण ३७४। = जो कर्मजनित औदयिकादि भावोसे अतीत है तथा मात्र ज्ञायक भाव ही जिसका विशेष आधार है, वह जीवका पारिणामिक भाव है, और अचेतन भाव शेष द्रव्योका पारिणामिक भाव है।

प. घ. / उ / १७१ कृत्स्नकर्मनिरपेक्ष. प्रोक्तावस्थाचतुष्टयात्। आत्मद्रव्य-त्वमात्रात्मा भाव. स्यात्पारिणामिक १७१। = कर्मके उदय, उप-शमादि चारो अपेक्षाओसे रहित केवल आत्म द्रव्यरूप ही जिसका स्वरूप है वह पारिणामिक भाव कहलाता है। १७१।

२. साधारण असाधारण पारिणामिक भाव निर्देश

त. सू. / २/७ जीवभव्याभव्यत्वानि च ७।

स सि. / २/७ जीवत्व भव्यत्वमभव्यत्वमिति त्रयो भावा. पारिणामिका अन्यद्रव्यासाधारणा आत्मनो वेदितव्या। ननु चास्तित्वनित्यत्व-प्रदेशवत्त्वादयोऽपि भावाः पारिणामिका सन्ति। अस्तित्वादय पुनर्जीवाजीवविषयत्वात्साधारणा इति चशब्देन पृथग्गृह्यन्ते। = जीवत्व, भव्यत्व और अभव्यत्व ये तीन पारिणामिक भावके भेद है ७। ये तीनों भाव अन्य द्रव्योमे नहीं होते इसलिए आत्माके (असाधारण भाव) जानने चाहिए। (रा वा / २/७/१/११०/१६), (घ १/१, ७, १/१६२/४), (गो. क / सू / ८१६/६६०); (त. सा / २/८), (नि. सा / ता. वृ / ४१)। अस्तित्व, नित्यत्व और प्रदेशवत्त्व आदिक भी पारिणामिक भाव है। ये अस्तित्व आदिक तो जीव और अजीव दोनोंमे साधारण है इसलिए उनका 'च' शब्दके द्वारा अलग-से ग्रहण किया है।

रा. वा. / २/७/१२/१११/२८ अस्तित्वान्यत्व-कर्तृत्व-भोक्तृत्व-पर्यायवत्त्वा-सर्वगतत्वानादिसंतिबन्धनब्रह्मत्व-प्रदेशवत्त्वारूपत्व - नित्यत्वादि - समुच्चयार्थशब्द' १२। = अस्तित्व, अन्यत्व, कर्तृत्व, भोक्तृत्व, पर्यायवत्त्व, असर्वगतत्व अनादिसन्तिबन्धनब्रह्मत्व, प्रदेशवत्त्व, अरूपत्व, नित्यत्व आदिके समुच्चयके लिए सूत्रमें च शब्द दिया है।

३. शुद्धाशुद्ध पारिणामिक भाव निर्देश

द्र. सं. / टी. / ६३/३८/११ शुद्धपारिणामिकपरमभावरूपशुद्धनिश्चयेन गुण-स्थानमार्गणास्थानरहिता जीवा इत्युक्तं पूर्वम्, इदानीं पुनर्भव्या-भव्यरूपेण मार्गणामध्येऽपि पारिणामिकभावो भणितं इति पूर्वापर-विरोध'। अत्र परिहारमाह—पूर्वं शुद्धपारिणामिकभावोपेक्षया गुण-स्थानमार्गणानिषेध' कृत इदानीं पुनर्भव्याभव्यत्वद्वयमशुद्धपारि-णामिकभावरूप मार्गणामध्येऽपि घटते। ननु-शुद्धाशुद्धभेदेन पारि-णामिकभावो द्विविधो नास्ति किन्तु शुद्ध एव, नैवं—यद्यपि सामान्य रूपेणोत्सर्गव्याख्यानेन शुद्धपारिणामिकभावः कथ्यते तथाप्य-पवादव्याख्यानेनाशुद्धपारिणामिकभावोऽप्यस्ति। तथाहि—'जीव-भव्याभव्यत्वानि च' इति तत्त्वार्थसूत्रे त्रिधा पारिणामिकभावो भणित', तत्र—शुद्धचैतन्यरूपं जीवत्वमविनश्वरत्वेन शुद्धद्रव्या-श्रित्वाच्छुद्धद्रव्याधिकसंज्ञं शुद्धपारिणामिकभावो भण्यते, यत्पुनः कर्मजनितदशाणरूपं जीवत्व, भव्यत्वम्, अभव्यत्वं चैति त्रयं, तद्विनश्वरत्वेन पर्यायाश्रितत्वात्पर्यायार्थिकसंज्ञस्त्वशुद्धपारिणामिक-भाव उच्यते। अशुद्धत्वं कथमिति चेत्—यद्यप्येतदशुद्धपारिणामिक-त्रयं व्यवहारेण संसारिजीवेऽस्ति तथा 'सर्वे सुद्धा हु सुद्धणया' इति

वचनाच्छुद्धनिश्चयेन नास्ति त्रय, मुक्तजीवे पुन सर्वथैव नास्ति, इति हेतोरशुद्धत्वं भण्यते। तत्र शुद्धाशुद्धपारिणामिकमध्ये शुद्ध-पारिणामिकभावो ध्यानकाले ध्येयरूपो भवति ध्यानरूपो न भवति, कस्मात् ध्यानपर्यायस्य विनश्वरत्वात्, शुद्धपारिणामिकस्तु द्रव्यरूपत्वाद्विनश्वर, इति भावार्थः। = प्रश्न—शुद्ध पारिणामिक परमभावरूप जो शुद्ध निश्चयनयकी अपेक्षासे जीव गुणस्थान तथा मार्गणा रथानोसे रहित है ऐसा पहले कहा गया है और अब यहाँ भव्य-अभव्य रूपसे मार्गणार्थ भी आपने पारिणामिक भाव कहा, सो यह तो पूर्वापर विरोध है। उत्तर—पूर्व प्रसंगमे तो शुद्ध पारि-णामिक भावकी अपेक्षासे गुणस्थान और मार्गणाका निषेध किया है, और यहाँपर अशुद्ध पारिणामिक भाव रूपसे भव्य तथा अभव्य ये दोनो मार्गणार्थ भी घटित होते है। प्रश्न—शुद्ध-अशुद्ध भेदसे पारिणामिक भाव दो प्रकारका नहीं है किन्तु पारिणामिक भाव शुद्ध ही है। उत्तर—वह भी ठीक नहीं, क्योंकि, यद्यपि सामान्य रूपसे पारिणामिक भाव शुद्ध है ऐसा कहा जाता है तथापि अप-वाद व्याख्यानसे अशुद्ध पारिणामिक भाव भी है। इसी कारण "जीव भव्याभव्यत्वानि च" (त सू. / २/७) इस सूत्रमें पारि-णामिक भाव तीन प्रकारका कहा है। उनमे शुद्ध चैतन्यरूप जो जीवत्व है वह अविनश्वर होनेके कारण शुद्ध द्रव्यके आश्रित होने-से शुद्ध द्रव्याधिक नयकी अपेक्षा शुद्ध पारिणामिक भाव कहा जाता है। तथा जो कर्मसे उत्पन्न दश प्रकारके प्राणो रूप जीवत्व है वह जीवत्व, भव्यत्व तथा अभव्यत्व भेदसे तीन तरहका है और मे तीनों विनाशशील होनेके कारण पर्यायके आश्रित होनेसे पर्यायाधिक नयकी अपेक्षा अशुद्ध पारिणामिक भाव कहे जाते है। प्रश्न—इसकी अशुद्धता किस प्रकारसे है। उत्तर—यद्यपि ये तीनों अशुद्ध पारिणामिक व्यवहार नयसे ससारी जीवमे है तथापि "सर्वे सुद्धा हु सुद्धणया" (द्र. स / सू / १३)। इस वचनसे तीनों भाव शुद्ध निश्चयनयकी अपेक्षा नहीं है, और मुक्त जीवोमे तो सर्वथा ही नहीं है, इस कारण उनको अशुद्धता कही जाती है। उन शुद्ध तथा अशुद्ध पारिणामिक भावोमे-से जो शुद्ध पारिणामिक भाव है वह ध्यानके समय ध्येय यानों—ध्यान करने योग्य होता है, ध्यान रूप नहीं होता। क्योंकि, ध्यान पर्याय विनश्वर है और शुद्ध पारि-णामिक द्रव्यरूप होनेके कारण अविनाशी है, यह साराश है। (स. सा / ता. वृ. / ३२०/४०८/१६), (द्र. स. / टी / ५७/२३६/६)।

४. पारिणामिक भाव अनादि निरुपाधि व स्वभाविक होता है

पं का / त. प्र. / ५८ पारिणामिकस्त्वनादिनिधनो निरुपाधि' स्वाभा-विक एव। = पारिणामिक भाव तो अनादि अनत, निरुपाधि, स्वा-भाविक है।

द्र. सं. टी. / ५७/२३६/८ यस्तु शुद्धद्रव्यशक्तिरूप शुद्धपारिणामिकपरम-भावलक्षणपरमनिश्चयमोक्षः स च पूर्वमेव जीवे तिष्ठतीदानीं भवि-ष्यतीत्येवं न। = शुद्ध द्रव्यकी शक्ति रूप शुद्ध पारिणामिक परमभाव रूप परमनिश्चय मोक्ष है वह तो जीवमे पहले ही विद्यमान है, वह परम निश्चय मोक्ष अब होगा ऐसा नहीं है।

* अन्य सम्बन्धित विषय

१. शुद्ध पारिणामिक भावके निर्विकल्प समाधि आदि अनेकों नाम। —मोक्षमार्ग/२/५।
२. जीवके सर्व सामान्य गुण पारिणामिक है। —दे० गुण/२।
३. जीवत्व व सिद्धत्व। —दे० वह वह नाम।

४. औदयिकादि भावोंमें भी कथंचित् पारिणामिक व जीवका स्वतरवपन । —दे० भाव/२ ।
 ५. सासादन, भव्यत्व, अभव्यत्व, व जीवत्वमें कथंचित् पारिणामिक व औदयिकवपना । —दे० वह वह नाम ।
 ६. सिद्धांमें कुछ पारिणामिक भावोंका अभाव —दे० मोक्ष/३ ।
 ७. मोक्षमार्गमें पारिणामिक भावकी प्रधानता । —दे० मोक्षमार्ग/५ ।
 ८. ध्यानमें पारिणामिक भावकी प्रधानता । —दे० ध्येय ।

पारितापिकी क्रिया—दे० क्रिया/३/२ ।

पारियात्र—विन्ध्य देशका उत्तरीय भाग (ज प/प्र/१४ A. N. Up. होरालाल) ।

पारिषद—१. पारिषद देवोंका लक्षण

स सि./४/४/२३६/४ वयस्यपोठमर्दसदशा पारिषदि भवा' पारिषदाः ।
 =जो सभामें मित्र और प्रेमी जनोके समान होते हैं वे पारिषद कहलाते हैं । (रा. वा./४/४/२१२/२६), (म. पु./२२/२६) ।

ति प/३/६७ बाहिरमज्जमत्तरत्तडयसरिसा ह्वंति तिप्परिसा ।६७।
 =राजाकी बाह्य, मध्य और अभ्यन्तर समितिके समान देवोंमें भी तीन प्रकारकी परिषद् होती है । इन परिषदोंमें बैठने योग्य देव कमश बाह्य पारिषद, मध्यम पारिषद और अभ्यन्तर पारिषद कहलाते हैं । (त्रि सा./२२४), (ज प./११/२७०) ।

ज प/११/२७१-३२२ सविदा चंदाय जदू परिसाणंतिणिण होंति णामाणि । अभतरमज्जिमवाहिरा य कमसो मुणेयव्वा (२७१) बाहिर-परिसा णेया अइरुंदा णिट्ठुरा पर्यडा य । बठा उज्जुदसत्था अवसारं तत्थ घोसति ।२८०। वेत्तलदागहियकरा मज्जिम आरूढवेसधारी य । कंचुइकद अतेउरमहदरा बहुधा ।२८१। वव्वरिचिलादिखुज्जा-कम्मत्तियदासिचैडिवग्गो य । अतेउराभिओगा वरति णाणाविधे वेमे ।२८२। =अभ्यन्तर, मध्यम और बाह्य, इन तीन परिषदोंके क्रमश समिता, चन्दा व जतु ये तीन नाम जानना चाहिए ।२७१। (ति सा./२२६) बाह्य पारिषद देव अत्यन्त स्थूल, निष्ठुर, क्रोधी, अविवाहित और शस्त्रोंसे उद्युक्त जानना चाहिए । वे वहाँ 'अपसर' (दूर हटो) की घोषणा करते हैं ।२८०। वेत रूपो सत्ताको हाथमें ग्रहण करनेवाले, आरूढ वेषके धारक तथा कंचुकीकी पोषाक पहने हुए मध्यम (पारिषद) बहुधा अन्त पुरके महत्तर होते हैं ।२८१। बर्बरी, किराती, कुब्जा, कर्मान्तिका, दासी और चेटो इनका समुदाय (अभ्यन्तर पारिषद) नाना प्रकारके वेषमें अन्त पुरके अभियोगको करता है ।२८२।

*** भवनवासी आदि इन्द्रोंके परिवारमें पारिषदोंका प्रमाण**
 —दे० भवनवासी आदि भेद ।

२. कल्पवासी इन्द्रोंके पारिषदोंकी देवियोंका प्रमाण

ति प/५/३२४-३२७ आदिमदो जुगलेसु बम्हादिदुसु चउसु आणद-चउकके न पुह पुह सज्जिदाण अभतरपरिसदेवीओ ।३२४। पचसय-चउसयाणि तिसया दोसयाणि एककसयं । पण्णासं पुव्वोदिदटाणिसुं मज्जिमपरिसा देवीओ ।३२६। सत्तच्छपंचचउत्तियदुगएककसयाणि पुव्वठाणिसु । सज्जिदाणं होंति हु बाहिरपरिसा देवीओ ।३२७। =आदिके दो युगल, ब्रह्मादिक चार युगल और आनतादिक चारमें सब इन्द्रोंकी अभ्यन्तर पारिषद देवियों क्रमशः पृथक्-पृथक् ५००, ४००, ३००, २००, १००, ५० और पचचीस जाननी चाहिए ।३२४-३२६। पूर्वोक्त स्थानोंमें मध्यम पारिषद देवियों क्रमसे ६००, ४००, ४००, ३००, २००, १००, और ५० हैं ।३२६। पूर्वोक्त स्थानोंमें सब इन्द्रोंके

बाह्य पारिषद देवियों क्रमसे ७००, ६००, ५००, ४००, ३००, २०० और १०० हैं ।३२७।

पार्थिवी धारण—दे० पृथिवी ।

पादव—नेमिनाथ भगवात्का शामक यक्ष—दे० तीर्थकर/५/३ ।

पाद्वंकृष्टि—दे० कृष्टि ।

पाद्वनाथ—म. पु/७३/१लोक पूर्वके नवमें भवमें विश्वभूति ब्राह्मण-के घरमें मरुभूति नामक पुत्र थे (७-६) । फिर वज्रघोष नामक हाथी हुए (११-१२) । वहाँसे सहस्रार स्वर्गमें देव हुए (१६-२४) । फिर पूर्वके छठे भवमें रश्मिदेव विद्याधर हुए (२५-२६) । तत्पश्चात् अच्युत स्वर्गमें देव हुए (२६-३१) । वहाँसे च्युत हो वज्रनाभि नामके चक्रवर्ती हुए (३२) । फिर पूर्वके तीसरे भवमें मध्यम ग्रैवेयकमें अहमिन्द्र हुए (४०) फिर आनन्द नामक राजा हुए (४१-४२) । वहाँसे प्राणत स्वर्गमें इन्द्र हुए (६७-६८) । तत्पश्चात् वहाँसे च्युत होकर वर्तमान भवमें २३ वे तीर्थकर हुए । अपरनाम 'सुभौम' था ।१०६। (और भी दे म. पु/७३/१६६) विशेष परिचय—दे० तीर्थकर/५ ।

पाद्वनाथ काव्य पंजिका—आचार्य शुभचन्द्र (ई० १५१६-१५५६) द्वारा रचित संस्कृत काव्य ग्रन्थ ।

पाद्व पंडित—पाद्वनाथ पुराण के रचयिता एक कन्नड़ कवि । समय— ई १२०५ । (ती./४/३११) ।

पाद्वपुराण—पाद्वपुराण नामके कई ग्रन्थ लिखे गये हैं । १. पद्य कीर्ति (ई ६४९) कृत संस्कृत काव्य जिसमें ६ अधिकार हैं । यह १६०० श्लोक प्रमाण है । कविवर भूधरदास जी (वि १७८६) ने इसका भाषानुवाद किया है । २. वादि राज (ई १०२५) कृत 'पाद्वनाथ चरित्र' नामक संस्कृत काव्य । (ती/३/६२) । ३. पद्यकीर्ति (ई. १०७७) कृत अपभ्रंश काव्य । (ती/३/२०५) । ४. सकलकीर्ति (ई १४०६-१४४२) कृत संस्कृत रचना । (ती/३/३३४) । ५. कवि रङ्गु (ई १४३६) कृत अपभ्रंश काव्य (ती/४/१६८) । ६. वादि चन्द्र (वि. १६३७-१६६४) कृत १५०० छन्द प्रमाण । (ती/४/७२) ।

पाद्वस्थ—

म. आ./मू./१२६६, १२६६ केई महिदा इंदियचोरेहि कसायसावदेहि वा । पथ छंडिय णिज्जति साधुसत्थस्स पासम्मि ।१२६६। इंदिय कसाय गुरुपसणेण चरण तणं व पस्सतो । णिज्जम्मो हु सवित्ता सेवदि पासरथ सेवाओ । १३०० । =कितनेक मुनि इन्द्रिय रूपी चोर और कषायरूप हिंस्र प्राणियोंसे जब पकड़े जाते हैं तब साधुरूप व्यापारियोंका त्याग कर पार्वस्थ मुनिके पासजाते हैं । १२६६। पार्वस्थ मुनि इन्द्रिय कषाय और विषयों से पराजित होकर चारित्र्य को तृण के समान समझता है । उसकी सेवा करने वासा भी पार्वस्थ तुल्य हो जाता है । १३०० ।

मू. आ./५६४ वसणणआचित्तवविणए णिच्चकाल पासत्था । एदे अवंदणिज्जा छिद्दप्पेही गुणधराणाम् ।५६४। =दर्शन, ज्ञान, चारित्र्य, और तप विनयसे सदा काल दूर रहनेवाले और गुणी संयमितियोंके सदा दोषोंको देखनेवाले पार्वस्थान्ति हैं । इसलिए नमस्कार करने योग्य नहीं हैं । ५६४।

म. आ./वि/१६५०/१७३२/३ निरतिचारसयममार्गं जानन्नपि न तत्र वर्तते, किंतु सयममार्गपार्वे तिष्ठति नैकान्तेनासंयतः, न च निरति-चारसयमः सोऽभिधीयते पार्वस्थ इति ।.... उत्पादनैषणादोषदुष्टं वा भुङ्क्ते, निरयमेकस्यां वसती वसति, एकस्मिन्नेव संस्तरे शेते, एकस्मिन्नेव क्षेत्रे वसति । गृहिणा गृहाभ्यन्तरे निषर्षां करोति,...

दुःप्रतिलेखमप्रतिलेखं वा गृह्णाति. सूचीकर्तारि न ग्राहो, सीवनप्रक्षा-
लनावधूननरञ्जनादिबहुपि कर्मव्यापृतश्च वा पार्श्वस्थः । क्षारचूर्णं
सौबीरलवणसर्पिरित्यादिक अनापादकरणेऽपि गृहीत्वा स्थापयन्
पार्श्वस्थः । = अतिचार रहित संयममार्गका स्वरूप जानकर भी उसमे
जो प्रवृत्ति नहीं करता है, परन्तु संयम मार्गके पास ही वह रहता है,
यद्यपि वह एकातसे असयमो नहीं है, परन्तु निरतिचार संयमका
पालन नहीं करता है, इसलिए उसको पार्श्वस्थ कहते हैं। जो
उत्पादन व एषणा बोध सहित आहार ग्रहण करते हैं, हमेशा एक ही
वस्तिकामें रहते हैं, एक ही सस्तरमें सोते हैं. एक ही क्षेत्रमें रहते हैं,
गृहस्थोके घरमें अपनी बैठक लगाते हैं। जिसका शोषना अशक्य
है अथवा जो सोधा नहीं गया उसको ग्रहण करते हैं। मुई, कैंची --
आदि वस्तुको ग्रहण करते हैं। सीना, धोना, उसको टकना, रंगाना
इत्यादि कार्योंमें जो तस्पर रहते हैं ऐसे मुनियोको पार्श्वस्थ कहते
हैं। जो अपने पास क्षारचूर्ण सोहाण चूर्ण, नमक, घी वगैरह पदार्थ
कारण न होनेपर भी रखते हैं उनको पार्श्वस्थ कहना चाहिए।

चा. सा. १४३/३ यो वसतिषु प्रतिबद्ध उपकरणोपजीवी च श्रमणाना
पार्श्वे तिष्ठतीति पार्श्वस्थः । = जो मुनि वसतिकाओमें रहते हैं,
उपकरणोंसे ही अपनी जीविका चलाते हैं, परन्तु मुनियोके समीप
रहते हैं उन्हें पार्श्वस्थ कहते हैं। (भा. पा. टी. १४/१३७/१७)।

* पार्श्वस्थ साधु सम्बन्धी विषय — दे० साधु/५।

पार्श्वान्युदय—आ० जिनसेन (ई० ८१८-८७८) द्वारा रचित संस्कृत
काव्य ग्रन्थ है। पार्श्वनाथ भगवात्का वर्णन करनेवाला यह काव्य
३६४ मन्दाक्राता वृत्तोंमें पूर्ण हुआ है। काव्य रचनाकी दृष्टिसे कवि
कालिदासके मेघदूतसे भी बढकर है। (तो. १२/३४०)।

पालंब—भगवात् वीरके तीर्थमें अन्तकृतकेवली हुए—दे० अन्तकृत।

पालक—राजा अवन्तिका पुत्र मालवा (मगध) का राजा था।
अवन्ती व उज्जैनी इनकी राजधानी थी, बडा धर्मात्मा था। वीर
निर्वाणके समय मगधपर इसीका राज्य था। मगधकी राज्य वंशा-
वलीके अनुसार इसके पश्चात् नन्द वशका राज्य प्रारम्भ ही गया।
तदनुसार इनका समय—बी. नि. पू. ६०-० ई० पू० ५८६-५२६ आता
है (ह. पु. ६०/४८८); (ति. प. ४/१४०६), (विशेष दे० इतिहास/३/४)।

पाहुड—१. दे० प्राभूत, २. आचार्य कुन्दकुन्द (ई० १२७-१७६) द्वारा
८५ पाहुड ग्रन्थोंका रचा जाना प्रसिद्ध है, पर उनमेंसे निम्न १२ ही
उपलब्ध हैं—१ समयसार, २ प्रवचनसार, ३ नियमसार, ४ पचा-
स्तिकाय, ५ दर्शन पाहुड, ६ सूत्रप्राहुड, ७ चारित्र पाहुड ८. बोध
पाहुड, ९. भावपाहुड, १०. मोक्षपाहुड, ११. लिगपाहुड, १२. शील
पाहुड।

—दर्शन पाहुडसे लेकर शील पाहुड पर्यन्त आठ ग्रन्थ अष्टपाहुडके
नामसे प्रसिद्ध है। इनमेंसे अन्तिम दो लिग पाहुड व शील पाहुडको
छोडकर शेष छ. षट्प्राभूत कहलाते हैं। षट्प्राभूतपर आ० श्रुत-
सागर (ई० १४७३-१५३३) कृत संस्कृत टीका उपलब्ध है। और आठों
ही पाहुडपर पं० जयचन्द छाबडाने ई० १८१० में देशभाषामय
वचनिका लिखी है।

पाहुडिक—वसतिकाका एक दोष—दे० वसतिका।

पिगल—चक्रवर्तीकी नव निधियोंमेंसे एक—दे० शलाकापुरुष /२।

पिजरा—घ. १३/५.३.३०/३४/६ तिच्चिरत्वादिधरण्ड रद्द-
कलिजकलावो पंजरो षाम। = तीतर और लाव आदिके पकडनेके
लिए जो अनेक छोटी-छोटी पचे लेकर बनाया जाता है उसे पिजरा
कहते हैं।

पिंड—द्र. स /टी /३५/११४/८ पिण्डस्य कोऽर्थः । मन्त्रत्वस्य बाहुव्य-
स्येति । = पिण्ड शब्दका अर्थ गहराई या मोटाई है।

पिंडस्थध्यान ~ पिण्डस्थ ध्यानकी विधिमें जीव अनेक प्रकारकी
धारणाओं द्वारा अपने उपयोगको एकाग्र करनेका उद्यम करता है।
उसीका परिचय इस अधिकारमें दिया गया है।

१ पिंडस्थध्यानका लक्षण व विधि सामान्य

१. पिंडस्थं स्वात्मचिन्तनम्

द्र. सं./टी./४५/२०५ पर उद्धृत—पिण्डस्थं स्वात्मचिन्तनम् ।
= निजात्माका चिन्तन पिण्डस्थ ध्यान है। (प प्र /टी /१/६/६ पर
उद्धृत), (भा. पा /टी./५६/२३६ पर उद्धृत)।

२. अर्हंतके तुल्य निजात्माका ध्यान

वसु. भा /४५६ सियकिरणविष्णुरंतं अट्टमहापाडिहेरपरियरियं ।
भाइज्जइ ङ गियय पिडरथ जाण त भाण १४५६। = श्वेत किरणोंसे
विस्फुरायमान और अष्ट महा प्रातिहार्योंसे परिवृत (संयुक्त) जो निज
रूप अर्थात् केवली तुल्य आत्मस्वरूपका ध्यान किया जाता है उसे
पिण्डस्थ ध्यान जानना चाहिए १४५६। (ज्ञा./३७/२८,३२);
(गुण० प्रा०/२२८)।

ज्ञानसार/१६-२१ निजनाभिकमलमध्ये परिस्थितं विस्फुरद्वितेजः ।
ध्यायते अर्हदूर्ध्वं ध्यानं तत् मन्वस्व पिण्डस्थं ११। ध्यायत निजकर-
मध्ये भालतले हृदयकन्ददेशे । जिनरूप रवितेज' पिण्डस्थं मन्वस्व
ध्यानमिदं १२० = अपनी नाभिमें, हाथमें, मस्तकमें, अथवा हृदयमें
कमलकी कल्पना करके उसमें स्थित सूर्यतेजवत् स्फुरायमान अर्हन्तके
रूपका ध्यान करना पिण्डस्थ ध्यान है ११६-२०।

३. तीन लोककी कल्पना युक्त निजदेह

वसु. भा./४६०-४६३ अहवा णाहि च वियप्पिऊण मेरुं अहोविहायम्मि ।
भाइज्ज अहोलोयं तिरियम्मं तिरियए वीए १४६०। उद्धम्मि उद्ध-
लोयं कम्पविमाणाणि संघपरियंते । गोविज्जमयागीवं अणुद्विसं अणु-
पएसम्मि १४६१। विजय च वइजयंतं जयंतमवराजियं च सव्वरथं ।
भाइज्ज मुहपएसे णिलाडवेसम्मि सिद्धसिला १४६२। तस्सुवरि सिद्ध-
णिलयं जह सिहुर जाण उत्तमगम्मि । एवं ज गियदेहं भाइज्जइ
तं पि पिडरथं १४६३। = अथवा अपने नाभि स्थानमें मेरु पर्वतकी
कल्पना करके उसके अधोविभागमें अधोलोकका ध्यान करे, नाभि
पार्श्ववर्ती द्वितीय तिर्यग्विभागमें तिर्यग्लोकका ध्यान करे। नाभिसे
ऊर्ध्व भागमें ऊर्ध्वलोकका चिन्तन करे। स्कन्ध पर्यन्त भागमें कल्प
विमानोंका, श्रोत्रा स्थानपर नवग्रैवेयकोका, हनुप्रदेश अर्थात् ठोडीके
स्थानपर नव अतुदिशोका, मुख प्रदेशपर विजय, वैजयन्त, जयन्त,
अपराजित, और सर्वार्थसिद्धिका ध्यान करे। ललाटदेशमें सिद्धशिला,
उसके ऊपर उत्तमांगमें लोक शिखरके तुल्य सिद्ध क्षेत्रको जानना
चाहिए। इस प्रकार जो निज देहका ध्यान किया जाता है, उसे भी
पिंडस्थध्यान जानना चाहिए १४६०-४६३। (गुण० प्रा०/२२६-२३१);
(ज्ञा./३७/३०)।

४. द्रव्य रूप ध्येयका ध्यान करना

त. अनु./१३४ ध्यातुं पिण्डे स्थितश्चैव ध्येयोऽर्थो ध्यायते यतः । ध्येयं
पिण्डस्थमित्याहुरतएव च केचन १३४। = ध्येय पदार्थ चूँकि ध्याता-
के शरीरमें स्थित रूपसे ही ध्यानका विषय किया जाता है, इसलिए
कुछ आचार्य उसे पिण्डस्थ ध्येय कहते हैं।

नोट—ध्येयके लिए—दे० ध्येय।

२. पिंडस्थ ध्यानकी पाँच धारणाएँ

१. पिंडस्थ ध्यानकी विधिमें पाँच धारणाओंका निर्देश

ज्ञा/३७/२-३ पिण्डस्थ पञ्च विज्ञेया धारणा वीरवर्णिता । सयमी यास्वस्मृद्धो जन्मपाशान्निःकृन्तति । २। पाथिवी स्यात्तथाग्नेयी श्वसना वाथ वारुणी । तत्त्वरूपवती चेति विज्ञेयास्ता यथाक्रमम् । ३। = पिंडस्थ ध्यानमें श्री वर्धमान स्वामीसे कही हुई जो पाँच धारणाएँ हैं, उनमें सयमी मुनि ज्ञानी होकर ससार रूपी पाशको काटता है । २। वे धारणाएँ पाथिवी, आग्नेयी तथा श्वसना, वारुणी और तत्त्वरूपवती ऐसे यथाक्रमसे होती हैं । २-३। (त अनु १८३) ।

२. पाँचों धारणाओंका संक्षिप्त परिचय

त, अनु/१८४-१८७ आकार मरुता पूर्य कुम्भित्वा रेफवह्निना । दग्ध्वा स्ववपुषा कर्म, स्वतो भस्म विरेच्य च । १८४। ह मन्त्रो नभसि ध्येय क्षरन्नमृतमात्मनि । तेनाऽन्यत्तद्विनिर्माय पीयूषमयमुज्ज्वलम् । १८५। ततः पञ्चनमस्कारैः पञ्चपिण्डाक्षरान्वितैः । पञ्चस्थानेषु विन्यस्तैर्विधाय सकला क्रियाम् । १८६। पश्चादात्मानमर्हन्त ध्यायेन्निर्दिष्टलक्षणम् । सिद्ध वा ध्वस्तकर्माणममृतं ज्ञानभास्वरम् । १८७। = (नाभिकमलकी कर्णिकामें स्थित) अर्ह मन्त्रके 'अ' अक्षरको पूरक पवनके द्वारा पूरित और (कुम्भक पवनके द्वारा) कुम्भित करके, रेफ (') की अग्निसे (हृदयस्थ) कर्मचक्रको अपने शरीर सहित भस्म करके और फिर भस्मको (रेचक पवन द्वारा) स्वयं विरेचित करके 'हृ' मन्त्रको आकाशमें ऐसे ध्याना चाहिए कि उससे आत्मामें अमृत भर रहा है और उस अमृतसे अन्य शरीरका निर्माण होकर वह अमृतमय और उज्ज्वल बन रहा है ; तत्पश्चात् पाँच पिंडाक्षरों (हाँ ही हूँ, हौ ह), से (यथाक्रम) युक्त और शरीरके पाँच स्थानोंमें विन्यस्त हुए पञ्च नमस्कार मन्त्रोंसे—(णमो अरहताण आदि पाँच पदोंसे) सकल क्रिया करके तदनन्तर आत्मको निर्दिष्ट लक्षण अर्हन्त रूप ध्यावे अथवा सकलकर्म-रहित अमूर्तिक और ज्ञानभास्कर ऐसे सिद्ध स्वरूप ध्यावे । १८४-१८७। — विशेष दे० वह वह नाम ।

३. तत्त्ववती धारणाका परिचय

ज्ञा/३७/२६-३० मृगेन्द्रविष्टारारूढ दिव्यातिशयसंयुतम् । कल्याणमहिमोपेत देवदैत्योरगांचितम् । २६। विलीनाशेषकर्माणं स्फुरन्तमति-निर्मलम् । स्व तत पुरुषाकार स्वाज्ञागर्भगतं स्मरेत् । २७। = तत्पश्चात् (वारुणी धारणाके पश्चात्) अपने आत्मके अतिशय युक्त, सिंहासन-पर आरूढ, कल्याणकी महिमा सहित, देव दानव धरणेन्द्रादिसे पूजित है ऐसा चिन्तन करे । २६। तत्पश्चात् विलय हो गये हैं आठ कर्म जिसके ऐसा स्फुरायमान अति निर्मल पुरुषाकार अपने शरीरमें प्राप्त हुए अपने आत्मका चिन्तन करे । इस प्रकार तत्त्वरूपवती धारणा कही गयी । ३०। (ज्ञा०/३७/२८) ।

* अर्हन्त चिन्तन पदस्थ आदि तीनों ध्यानमें

होता है—दे० ध्येय ।

४. पिण्डस्थ ध्यानका फल

ज्ञा/३७/३१ इत्यविरत स योगी पिण्डस्थे जातनिश्चलाभ्यासः । शिव-सुखमनन्यसाध्य प्राप्नोव्यचिरेण कालेन । ३१। = इस प्रकार पिण्डस्थ ध्यानमें जिसका निश्चल अभ्यास हो गया है वह ध्यानी मुनि अन्य प्रकारसे साधनेमें न आवे ऐसे मोक्षके सुखको शीघ्र ही प्राप्त होता है । ३१।

पिच्छिका—

भ, आ/मू./६८ रथसेयाणमगहणं महव सुकुमालदा लघुत्तं च । जत्थेदे पच गुणा तं पडिलिहण पसंसति । ६८। = जिसमें ये पाँच गुण हैं उस

सोधनोपकरण पिच्छिका आदिकी साधुजन प्रशंसा करते हैं—धूलि और पसेवमें मैली न हो, कोमल हो, कडी न हो । अर्थात् नमनशील हो, और हलकी हो । (मू. आ/६९०) ।

२. पिच्छिकाकी उपयोगिता

भ, आ/मू./६७-६८ हरियादाणखेवे विवेगठाणे णिसीयणे सयणे । उव्वत्तणपरिवत्तण पसारणा उ'टणामस्से । ६६। पडिलेहणेण पडिले-हिज्जइ चिण्ह च होइ सगपक्खे । विस्सासिय च लिगं संजदपडि-रुवदा चैव । ६७। = जब मुनि बैठते हैं, खड़े हो जाते हैं, सो जाते हैं, अपने हाथ और पाँव पसारते हैं, सकोच लेते हैं, जब वे उत्तान-शयन करते हैं, कर्बट बदलते हैं, तब वे अपना शरीर पिच्छिकासे स्वच्छ करते हैं । ६६। पिच्छिकासे ही जीव दया पाली जाती है । पिच्छिका लोगोमें यति विषयक विश्वास उत्पन्न करनेका चिह्न है । तथा पिच्छिका धारण करनेसे वे मुनिराज प्राचीन मुनियोंके प्रति-निधि स्वरूप हैं, ऐसा सिद्ध होता है । ६७। (मू. आ/६९१) ।

मू. आ/६९२, ६९४ उच्चार पस्सवण णिसि सुत्तो उट्ठिदोहु काऊण । अप्पडिलिहिय सुवती जीववहं कुणदि णियत्तु । ६९२। णाणे चकम-णादाणणिकखेवे सयणआसण पयत्ते । पडिलेहणेण पडिलेहिज्जइ लिगं च होइ सपक्खे । (६९४) । = रातमें सोतेसे उठा फिर मलका क्षेपण मृत श्लेष्मा आदिका क्षेपणकर सोधन बिना किये फिर सो गया ऐसा साधु पीछीके बिना जीवहिसा अवश्य करता है । ६९२। कायोत्सर्गमें गमनमें कमडलु आदिके उठानेमें, पुस्तकादिके रखनेमें, शयनमें, झूठनके साफ करनेमें यत्नसे पीछीकर जीवकी हिसा की जाती है, और यह मुनि मयमी है ऐसा अपने पक्षमें चिह्न हो जाता है । ६९४।

पिठरपाक—वैशेषिक दर्शनका एक सिद्धान्त ।

पितृकायिक—आकाशोपपन्न देव—दे० देव/II/३।

पित्त—औदारिक शरीरमें पित्त धातु निर्देश—दे० औदारिक/१/७ ।

पिपासा—१. पिपासा परीषहका लक्षण

स सि/६/४२०/१२ विरुद्धाहारग्रैष्मातपपित्तज्वरानशानादिभिरु-दीर्णा शरीरेन्द्रियोन्माथिनो पिपासा प्रत्यानाद्रियमाणप्रतिकारस्य पिपासानलशिखा धृतिनवमृदुघटपूरितशीतलसुगन्धिसमाधिवारिणा प्रशमयत पिपासामहर्नं प्रशस्यते । = जो अतिरूक्ष आदि विरुद्ध आहार, प्रीष्म कालीन आतप, पित्तज्वर और अनशन आदिके कारण उत्पन्न हुई तथा शरीर और इन्द्रियोका मथन करनेवाली पिपासा-का प्रतिकार करनेमें आदर भाव नहीं रखता और पिपासारूपी अग्निको सन्तोषरूपी नूतन मिट्टीके घडेमें भरे हुए शीतल सुगन्धि समाधि रूपी जलसे शान्त कर रहा है उसके पिपासाजय प्रशंसाके योग्य है । (रा वा/६/३/६०८/२४), (चा सा./१९०/३) ।

* क्षुधा व पिपासा परीषहमें अन्तर—दे० क्षुधा ।

पिशाच—कायोत्सर्गका एक अतिचार—दे० व्युत्सर्ग/१ ।

पिशाच—* पिशाचोंके वर्ण परिवार अवस्थानादि

—दे० व्यंतर/१/२ ।

१. पिशाचोंके भेद

ति प/६/४८-४९ कुंमंडजखरकखससंभोहा तारआ य चोवखखवा । कालमहकाल चोवखा सतालया देहमहदेहा । ४८। तुण्हअपवयणणामा ... । ४९। = कुम्माण्ड, यक्ष, राक्षस, समोह, तारक, अशुचिनामक काल, महाकाल, शुचि, सतालक, देह, महादेह, लूणीक, और प्रवचन नामक, इस प्रकार ये चौदह पिशाचोंके भेद हैं । ४८-४९ । (ति सा./२७१-२७२) ।

पिशुलि—गो. जी/भाषा/३२६/७००/१३ का भावार्थ (श्रुत ज्ञानके पर्याय, पर्याय-समास आदि २० भेदोंके प्रकरणमें, प्रक्षेपक प्रक्षेपक नामके श्रुतज्ञानको प्राप्त करनेके लिए अनंतका भाग देनेकी जो प्रक्रिया अपनायी गयी है) वैसे ही क्रममें जीवराशिमात्र अनंतका भाग दीए जो प्रमाण आवै सो सो क्रममें पिशुलि पिशुलि-पिशुलि जानने।

पिष्टपेसन—दे० अतिप्रसंग।

पिहित—१ आहारका एक दोष—दे० आहार/II/४/४; २, वसतिकाका एक दोष—दे० वसतिका।

पिहिताश्रव—१ (ह. प्र./२७/८) एक दिगम्बर आचार्य, २, एक जैन मुनि (ह. पु./२७/६३)। ३ पद्मप्रभ भगवान्के पूर्व भवके गुरु (ह. पु./६०/१५६) ४ बुद्धकीर्ति (महात्मा बुद्ध) के गुरु थे। पार्श्वनाथ भगवान्को परम्परामें दिगम्बराचार्य थे। (द. सा./प्रशस्ति/२६५, नाथूराम प्रेमी) इनके शिष्य बुद्धकीर्तिने बौद्धधर्म चलाया था (द. सा./पु./६-७)।

पीठ—दसवे रुद्र थे।—दे० शलाका पुरुष/७।

पीठिका मंत्र—दे० मंत्र/१/६।

पीड़ा—दे० वेदना।

पीत लेश्या—दे० लेश्या।

पुंडरीक—१. छठे रुद्र थे।—दे० शलाका पुरुष/७। २ अपने पूर्वके दूसरे भवमें शल्य सहित मर करके देव हुआ था। वर्तमान भवमें छठे नारायण थे। अपरनाम पुरुष पुण्डरीक था।—दे० शलाका-पुरुष/४। ३ श्रुतज्ञानका १२वाँ अंग बाह्य—दे० श्रुतज्ञान/III। ४ पुष्करवर द्वीपका रक्षक व्यन्तर देव—दे० व्यन्तर/४। ५ मातृघोत्तर पर्वतका रक्षक व्यन्तर—दे० व्यन्तर/४। ६ विजयार्थकी दक्षिण श्रेणीका एक नगर—दे० विद्याघर।

पुंडरीक हृद—शिखरी पर्वतस्थ एक हृद जिसमेंसे स्वर्णकूला, रक्ता व रक्तोदा ये तीन नदियों निकलती हैं। लक्ष्मीदेवी इसमें निवास करती हैं—दे० लोक/३/६।

पुंडरीकिणी—रुचक पर्वत निवासिनी दिक्कुमारी देवी।—दे० लोक/५/१३।

पुंडरीकनी—पूर्व विदेहस्थ पुष्कलावतीकी मुख्य नगरी। अपरनाम पुष्कलावती—दे० लोक/५/२।

पुंड्र—वर्तमान बंगालका उत्तर भाग। अपरनाम गौड्र या पौंड्र। भरतक्षेत्र पूर्व आर्य खण्डका एक देश—दे० मनुष्य/४।

पुंड्रवर्धन—पूर्व देशमें एक नगरी है। 'महिमा' नगरीका अपरनाम प्रतीत होता है। क्योंकि अर्हद्वलि आचार्य द्वारा यहाँ यति सम्मेलन बुलाया गया। और धरसेनाचार्यने महिमा नगरीमें साधुओंको बुलानेके लिए पत्र लिखा था। महिमा नगरीवाला साधु सध और अर्हद्वलि आचार्यका साधु सम्मेलन एकार्थवाची प्रतीत होते हैं। (ध. १/प्र. १४-३९)।

पुण्य—क्षौद्रवर द्वीपका रक्षक व्यन्तर देव—दे० व्यन्तर/४।

पुण्य—जीवके दया, दानादि रूप शुभ परिणाम पुण्य कहलाते हैं। यद्यपि लोकमें पुण्यके प्रति बड़ा आकर्षण रहता है, परन्तु मुसुक्षु जीव केवल बन्धरूप होनेके कारण इसे पापसे किसी प्रकार भी अधिक नहीं समझते। इसके प्रलोभनसे बचनेके लिए वह सदा इसकी अनिष्टताका विचार करते हैं। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि यह सर्वथा

पाप रूप ही है। लौकिकजनोंके लिए यह अवश्य ही पापकी अपेक्षा बहुत अच्छा है। यद्यपि मुसुक्षु जीवोंको भी निचली अवस्थामें पुण्य प्रवृत्ति अवश्य होती है, पर निदान रहित होनेके कारण, उनका पुण्य पुण्यानुबन्धी है, जो परम्परा मोक्षका कारण है। लौकिक जीवोंका पुण्य निदान व तृणा सहित होनेके कारण पापानुबन्धी है, तथा ससारमें डुबानेवाला है। ऐसे पुण्यका त्याग ही परमार्थसे योग्य है।

१ पुण्य निर्देश

- १ भावपुण्यका लक्षण।
- २ द्रव्य पुण्य वा पुण्यकर्मका लक्षण।
- ३ पुण्य जीवका लक्षण।
- ४ पुण्य व पापमें अन्तरंगकी प्रधानता।
- ५ पुण्य (शुभ नामकर्म) के बन्ध योस्य परिणाम।
- * पुण्य प्रकृतियोंके भेद (—दे० प्रकृतिबन्ध/२।
- * राम-द्वेषमें पुण्य-पापका विभाग।—दे० राग/२।
- * पुण्य तत्त्वका कर्तृत्व।—दे० मिथ्यादृष्टि/४।

२ पुण्य व पापमें पारमार्थिक समानता

- १ दोनों मोह व अज्ञानकी सन्तान हैं।
- २ परमार्थसे दोनों एक हैं।
- ३ दोनोंकी एकतामें दृष्टान्त।
- ४ दोनों ही बन्ध व संसारके कारण हैं।
- ५ दोनों ही दुःखरूप या दुःखके कारण हैं।
- ६ दोनों ही हेय हैं, तथा इसका हेतु।
- ७ दोनोंमें भेद समझना अज्ञान है।

३ पुण्यकी कथंचित् अनिष्टता

- * पुण्य कथंचित् विरुद्ध कार्य करनेवाला है।—दे० चारित्र/५/५।
- १ संसारका कारण होनेसे पुण्य अनिष्ट है।
- २ शुभ भाव कथंचित् पापबन्धके भी कारण हैं।
- ३ वास्तवमें पुण्य शुभ है ही नहीं।
- ४ अज्ञानीजन ही पुण्यको उपादेय मानते हैं।
- ५ शानी तो पापवत् पुण्यका भी तिरस्कार करते हैं।
- ६ शानी पुण्यको हेय समझता है।
- * शानी व्यवहार धर्मको भी हेय समझता है।—दे० धर्म/४/८।
- ७ शानी तो कथंचित् पापको ही पुण्यसे अच्छा समझता है।
- ८ मिथ्यात्वयुक्त पुण्य तो अत्यन्त अनिष्ट है ही।
- ९ मिथ्यात्वयुक्त पुण्य तीसरे भव नरकका कारण है।

४ पुण्यकी कथंचित् इष्टता

- १ पुण्य व पापमें महान् अन्तर है।
- २ इष्ट प्राप्तियोंमें पुरुषार्थसे पुण्य प्रधान है।

३	पुण्यकी महिमा व उसका फल ।
४	पुण्य करनेकी प्रेरणा ।
५	पुण्यकी दृष्टता व अनिष्टताका समन्वय
१	पुण्य दो प्रकारका होता है ।
२	भोगमूलक ही पुण्य निषिद्ध है योगमूलक नहीं ।
३	पुण्यके निषेधका कारण व प्रयोजन ।
*	पुण्य छोड़नेका उपाय व क्रम । —दे० धर्म/६।
*	हेय मानते हुए भी ज्ञानी विषय वचनार्थ व्यवहार-धर्म करता है । —दे० मिथ्यादृष्टि/४।
*	साधुकी शुभ क्रियाओंकी सीमा । —दे० साधु/२।
४	सम्यग्दृष्टिका पुण्य निरीह होता है ।
५	पुण्यके साथ पाप प्रकृतिके बन्धका समन्वय ।

१. पुण्य निर्देश

१. मान पुण्यका लक्षण

- प्र. सा./मू./१८२ सुहपरिणामो पुण्यं भणियमण्णेषु । = परके प्रति शुभ-परिणाम पुण्य है । (पं का./त.प्र./१०८) ।
- स. सि./६/३/३२०/२ पुनात्त्यात्मानं पूयतेऽनेनेति वा पुण्यम् । = जो आत्माको पवित्र करता है, या जिससे आत्मा पवित्र होता है वह पुण्य है । (रा.वा./६/३/४/५०७/११) ।
- न. च. वृ./१६२ अहवा कारणभूदा तेसि च वयव्वयाइ इह भणिया । ते खल्लु पुण्यं पाव जाण इम पवयणे भणियं । १६२ = उन शुभ वेदादिके कारणभूत जो व्रतादि कहे गये हैं, उसको निश्चयसे पुण्य जानो, ऐसा शास्त्रमें कहा है ।
- पं. का./ता. वृ./१०८/१७२/८ दानपूजाषडावश्यकादिरूपो जीवस्य शुभ-परिणामो भावपुण्यं । = दान पूजा षडावश्यकादि रूप जीवके शुभ-परिणाम भावपुण्य है ।
- दे० उपयोग/११/४ जीव दया आदि शुभोपयोग है । १। वही पुण्य है । ४।
- वे० धर्म/१/४ (पूजा, भक्ति, दया, दान आदि शुभ क्रियाओं रूप व्यव-बहारधर्म पुण्य है । (उपयोग/४/७), (पुण्य/१/४) ।

२. द्रव्य पुण्य या पुण्य कर्मका लक्षण

- भ. आ./वि./२८/१३४/२० पुण्य नाम अभिमतस्य प्रापक । = इष्ट पदार्थकी प्राप्ति जिससे होती हो वह कर्म पुण्य कहलाता है ।
- पं. का./ता. वृ./१०८/१७२/८ भावपुण्यनिमित्तेनोत्पन्न सद्देवादिशुभ-प्रकृतिरूप. पुद्गलपरमाणुपिण्डो द्रव्यपुण्य । = भाव पुण्यके निमित्तसे उत्पन्न होनेवाले साता वेदनीय आदि (विशेष दे० प्रकृतिबन्ध/२) शुभप्रकृति रूप पुद्गलपरमाणुओंका पिण्ड द्रव्य पुण्य है ।
- स. म./२७/३०२/१६ पुण्य दानादिक्रियोपार्जनीयं शुभकर्म । = दान आदि क्रियाओंसे उपाजित किया जानेवाला शुभकर्म पुण्य है ।

३. पुण्य जीवका लक्षण

- मू. आ./मू./२३४ सम्मत्तेण सुदेण य विरदीए कसायणिः गहणुणेहि । जो परिणदो सो पुण्णो... २३४ = सम्यक्वच, श्रुतज्ञान, व्रतरूप परि-

णाम तथा कषाय निग्रहरूप गुणोसे परिणत आत्मा पुण्य जीव है । (गो.जी./मू./६२२) ।

प्र. सं./मू./३८/१५८ सुहअसुहभावजुत्ता पुण्यं पाव हवति खल्लु जीवा । = शुभ परिणामोसे युक्त जीव पुण्य रूप होता है ।

४. पुण्य व पापमें अन्तरंगकी प्रधानता

आप्त. मा./६२-६५ पाप ध्रुव परे दु खत्त पुण्यं च सुखतो यदि । अचे-तनाकषायौ च बध्येयाता निमित्तत' ६२। पुण्य ध्रुवं स्वतो दु खा-त्पाप च सुखतो यदि । वीतरागो मुनिर्विद्वान्ताम्या युञ्ज्यात्त्रिमि-त्तत ६३। विरोधा ना भयैकात्म्य स्याद्वादन्यायविद्विषा । अवाच्य-तैकान्तेऽप्युक्तिर्नावाच्यमिति युज्यते ६४। विशुद्धिसंबलेशाङ्गं चैत, स्वपरस्व सुखासुखम् । पुण्यपापास्रवौ युक्तौ न चैद्वचर्थस्त्वार्हत्त. ६५। = यदि परका दुख उपजानेसे पाप और परको सुख उपजानेसे पुण्य होने का नियम हुआ होता तो कंटक आदि अचेतन पदार्थोंको पाप और दूध आदि अचेतन पदार्थोंको पुण्य हो जाता । और वीतरागी मुनि (ईर्यासमिति पूर्वक गमन करते हुए कदाचिद शुद्ध जीवोंके बन्धका कारण हो जानेसे बन्धको प्राप्त हो जाते ६२। यदि स्वयं अपनेको ही दुख या सुख उपजानेसे पाप-पुण्य होनेका नियम हुआ होता तो वीतरागी मुनि तथा विद्वान्जन भी बन्धके पात्र हो जाते; क्योंकि, उनको भी उस प्रकारका निमित्तपना होता है ६३। इसलिए ऐसा मानना ही योग्य है कि स्व व पर दोनोंको सुख या दुखमें निमित्त होनेके कारण, विशुद्धि व संक्लेश परिणाम उनके कारण तथा उनके कार्य ये सब मिलकर ही पुण्य व पापके आस्रव होते हुए पराश्रित पुण्य व पापरूप एकान्तका निषेध करते है ६४। यदि विशुद्धि व संक्लेश दोनों ही स्व व परको सुख व दुःखके कारण न हो तो आपके मतमें पुण्य या पाप कहना ही व्यर्थ है ६५।

नो. पा/पं. जयचन्द/६०/१५२/२५ केवलबाह्यसामायिकादि निरारम्भ कार्यका भेष धारि बैठे तो किछु विशिष्ट पुण्य है नाहीं । शरीरादिक बाह्य वस्तु तो जड है । केवल जडकी क्रिया फल तो आत्माको लाभ नाहीं । विशिष्ट पुण्य तो भावनिके अनुसार है । अतः पुण्य-पापके बन्धमें शुभाशुभ भाव ही प्रधान है ।

५. पुण्य (शुभ नामकर्म) के बन्ध योग्य परिणाम

- पं. का./मू./१३५ रागो जस्त पसरथो अणुकंपासंसिदो य परिणामो । चित्तमिह णरिथ कल्लस पुण्यं जीवस्स आसवदि १३५। = जिस जीव-को प्रशस्त राग है, अनुकम्पायुक्त परिणाम है, और चित्तमें कल्लषता-का अभाव है उस जीवको पुण्य आस्रव होता है ।
- मू. आ./मू./२३५ पुण्यस्सासवभूदा अणुकपा सुद्ध एव उवओगा । = जीवोपर दया, शुद्ध मन वचन कायकी क्रिया तथा शुद्ध दर्शन ज्ञानरूप उपयोग ये पुण्यकर्मके आस्रवके कारण है । (क पा. १/१,१/ गा. २/१०५) ।

त सू./६/२३ तद्विपरीत शुभस्य १२३।

स. सि./६/२३/३३७/९ कायवाइमनसामृजुस्वमविसंवादनं च तद्विप-रीतम् । 'च' शब्देन समुच्चित्तस्य च विपरीते प्राह्यम् । धार्मिकदर्शन-सभ्रमसद्भावोपनयनसंस्तरणाभीरुताप्रमादवर्जनादि' । तदेतच्छुभ-नामकर्मस्रवकारणं वेदितव्यम् । = काय, वचन और मनकी सरलता तथा अविसंवाद ये उस (अशुभ) से विपरीत है । उसी प्रकार पूर्व सूत्रकी व्याख्या करते हुए च शब्दसे जिनका समुच्चय किया गया है, उनके विपरीत आस्रवोंका ग्रहण करना चाहिए । जैसे—धार्मिक पुरुषों व स्थानोंका दर्शन करना, आदर संस्कार करना, सद्भाव रखना, उपनयन, संसारसे डरना, और प्रमादका त्याग करना आदि । ये सब शुभ नामकर्मके आस्रवके कारण है । (रा. वा./६/२३/१/५२८/ २८); (गो. क./मू./५०८/६८४); (त. सा./४/४८) ।

त. सा./४/५६ वृत्तात्किंलासवेत्पुण्यं। = वृत्तसे पुण्यकर्मका आसव होता है।

यो. सा./अ./४/३७ अर्हदादौ परा भक्ति कारुण्य सर्वजन्तुषु। पावने चरणे राग पुण्यबन्धनिबन्धनम् १३। = अर्हन्त आदि पाँचों परमेष्ठियोंमें भक्ति, समस्त जीवोंपर करुणा और पवित्रचारित्रमें प्रीति करनेसे पुण्य बन्ध होता है।

ज्ञा./३/३-७ यमप्रशमनिर्वेदतत्त्वचिन्तावलम्बितम्। मैत्र्यादिभावनारूढं मन सूते शुभास्रवम् १२। विश्वव्यापारनिर्मुक्तं श्रुतज्ञानावलम्बितम्। शुभास्रवाय विज्ञेय वच. सत्यं प्रतिष्ठितम् १५। सुगुप्तेन सुकायेन कायोत्सर्गेन वानिशात्। सचिनाति शुभ कर्म काययोगेन संयमी ७। = यम (व्रत), प्रशम, निर्वेद तथा तत्त्वोंका चिन्तन इत्यादिका अवलम्बन हो, एवम् मैत्री, प्रमोद, कारुण्य और माध्यस्थ्य इन चार भावनाओंकी जिसके मनमें भावना हो, वही मन शुभास्रव उत्पन्न करता है १३। समस्त विश्वके व्यापारोंसे रहित तथा श्रुतज्ञानके अवलम्बनयुक्त और सत्यरूप पारिणामिक वचन शुभास्रवके लिए होते हैं १५। भले प्रकार गुप्तरूप किये हुए अर्थात् अपने वशीभूत किये हुए कायसे तथा निरन्तर कायोत्सर्गसे संयमी मुनि शुभ कर्मको संचय करते हैं।

२. पुण्य व पापमें पारमार्थिक समानता

१. दोनों मोह व अज्ञानकी सन्तान हैं

पं. का./सू./१३१ मोहो रागो दोसो चित्तपसादो य जस्स भावन्मि। विज्जदि तस्स सुहो वा असुहो वा होदि परिणामो १३१। = जिसके भावमें मोह, राग, द्वेष अथवा चित्त प्रसन्नता है उसे शुभ अथवा अशुभ परिणाम होते हैं। (तहाँ प्रशस्त राग व चित्तप्रसादसे शुभ-परिणाम और अप्रशस्तराग, द्वेष और मिथ्यात्वसे अशुभ परिणाम होते हैं। (इसी गाथाकी त. प्र. टीका)।

प. प्र./सू./२/५३ बंधं मोक्षहं हेउ णिउ जो ण्वि जणइ कोइ। सो पर मोहिं करइ जिय पुण्यु वि पाउ वि दोइ १३। = बन्ध और मोक्षका कारण अपना विभाव और स्वभाव परिणाम है, ऐसा भेद जो नहीं जानता है, वही पुण्य और पाप इन दोनोंको मोहसे करता है। (न. च. वृ./२६६)।

२. परमार्थसे दोनों एक हैं

स. सा./आ./१४५ शुभोऽशुभो वा जीवपरिणाम केवलज्ञानमयत्वादेकस्तदेकत्वे सति कारणाभेदात् एकं कर्म। शुभोऽशुभो वा पुद्गलपरिणाम. केवलपुद्गलमयत्वादेकस्तदेकत्वे सति स्वभावाभेदादेक कर्म। शुभोऽशुभो वा फलपाक केवलपुद्गलमयत्वादेकस्तदेकत्वे सत्यनुभवाभेदादेक कर्म। शुभाशुभौ मोक्षबन्धमार्गौ तु प्रत्येकं जीवपुद्गलमयत्वादेकौ तदनेकत्वे सत्यपि केवलपुद्गलमयबन्धमार्गाश्रितत्वेनाश्रयाभेदादेक कर्म। = शुभ व अशुभ जीवपरिणाम केवल अज्ञानमय होनेसे एक है, अतः उनके कारणमें अभेद होनेसे कर्म एक ही है। शुभ और अशुभ पुद्गलपरिणाम केवल पुद्गलमय होनेसे एक है, अतः उनके स्वभावमें अभेद होनेसे कर्म एक है। शुभ व अशुभ फलरूप विपाक भी केवल पुद्गलमय होनेसे एक है, अतः उनके अनुभव या स्वादमें अभेद होनेसे दोनों एक है। यद्यपि शुभरूप (व्यवहार) मोक्षमार्ग केवल जीवमय और अशुभरूप बन्धमार्गकेवल पुद्गलमय होनेसे दोनोंमें अनेकता है, फिर भी कर्म केवल पुद्गलमयी बन्धमार्गके ही आश्रित है अतः उनके आश्रयमें अभेद होनेसे दोनों एक हैं।

३. दोनोंकी एकतामें दृष्टान्त

स. सा./सू./१४६ सोवण्णियं पि णियल बंधदि कालायसं पि जह पुरिसं। कधदि एवं जीवं सुहमसुहं वा कदं कम्म १४६। = जैसे

लोहेकी बेड़ी पुरुषको बाँधती है, वैसे ही सोनेकी बेड़ी भी पुरुषको बाँधती है। इसी प्रकार अपने द्वारा किये गये शुभ व अशुभ दोनों ही कर्म जीवको बाँधते हैं। (यो. सा./यो./७२), (प्र. सा./त. प्र./७७); (प. प्र./टी./१/१६६-१६७/२७६/१६)।

स. सा./आ./१४४/क. १०१ एको दूरात्त्यजति मदिरां ब्राह्मणत्वाभिमानादन्यं द्यूद. स्वयमहमिति स्नाति नित्यं तथैव। द्वावप्येतौ युगपदुदरात्रिगीतौ द्यूद्रिकाया, द्यूद्रौ साक्षादपि च चरती जातिभेदभ्रमेण १०१। = (द्यूद्राके पेटसे एक ही साथ जन्मको प्राप्त दो पुत्रोंमेंसे एक ब्राह्मणके यहाँ और दूसरा द्यूद्रके यहाँ पला (उनमेंसे) एक तो 'मै ब्राह्मण हूँ' इस प्रकार ब्राह्मणत्वके अभिमानसे दूरसे ही मदिराका त्याग करता है, उसे स्पर्श तक नहीं करता, और दूसरा 'मै स्वयं द्यूद्र हूँ' यह मानकर नित्य मदिरासे ही स्नान करता है, अर्थात् उसे पवित्र मानता है। यद्यपि दोनों साक्षात् द्यूद्र है तथापि वे जातिभेदके भ्रमसहित प्रवृत्ति करते हैं। (इसी प्रकार पुण्य व पाप दोनों ही यद्यपि पूर्वोक्त प्रकार समान हैं, फिर भी माहृदृष्टिके कारण भ्रमवश अज्ञानीजीव इनमें भेद देखकर पुण्यको अच्छा और पापको बुरा समझता है)।

स. सा./आ./१४७ कुशीलशुभाशुभकर्ममया सह रागसंसर्गो प्रतिषिद्धौ बन्धहेतुत्वात् कुशीलमनोरमामनोरमकरणकुट्टनीरागसंसर्गवत्। = जैसे कुशील—मनोरम और अमनोरम हथिनीरूप कुट्टनीके साथ (हाथीका) राग और संसर्ग उसके बन्धनका कारण है, उसी प्रकार कुशील अर्थात् शुभाशुभ कर्मोंके साथ राग और संसर्ग बन्धके कारण होनेसे, शुभाशुभ कर्मोंके साथ राग और संसर्ग करनेका निषेध किया गया है।

४. दोनों ही बन्ध व संसारके कारण हैं

स. मि./१/४/१५/३ इह पुण्यपापग्रहणं कर्तव्य 'नव पदार्था' इत्यन्यैरप्युक्तत्वात्। न कर्तव्यम्, आस्रवे बन्धे चान्तर्भावात्। = प्रश्न—सूत्रमें (सात तत्त्वोंके साथ) पुण्य पापका ग्रहण करना चाहिए, क्योंकि, 'पदार्थ नौ है' ऐसा दूसरे आचार्योंने भी कथन किया है? उत्तर—पुण्य और पापका पृथक् ग्रहण नहीं करना चाहिए, क्योंकि, उनका आस्रव और बन्धमें अन्तर्भाव हो जाता है। (रा. वा./१/४/२५/२७/३०), (द्र. सं./टी./अधि० २/चूलिका/पृ. ८१/१०) ध. १२/४, २, ५, ३/२७६/७ कम्मबन्धो हि णाम सुहासुहपरिणामेहितो जायदे। = कर्मका बन्ध शुभ व अशुभ परिणामोंसे होता है।

न. च. वृ./२६६, ३७६ असुह सुह चिय कम्मं दुविहं तं पि दव्वभावभेयगयं। त पिय पडुच्च मोहं संसारां तेण जीवस्स १२६६। भेदुवयारे जइया वडुदि सुो विय सुहासुहाधीणो। तइया कत्ता भणियो संसारी तेण सो आदा १३७६। = कर्म दो प्रकारके हैं—शुभ व अशुभ। ये दोनों भी द्रव्य व भावके भेदसे दो-दो प्रकारके हैं। उन दोनोंकी प्रतीतिसे मोह और मोहसे जीवको संसार होता है १२६६। जबतक यह जीव भेद और उपाचाररूप व्यवहारमें वर्तता है तबतक वह शुभ और अशुभके आधीन है। और तभी तक वह कर्ता कहलाता है, उससे ही आत्मा संसारी होता है १३७६।

त. सा./४/१०४ ससारकारणत्वस्य द्वयोरप्यविशेषतः। न नाम निश्चये नास्ति विशेष. पुण्यपापयो १०४। = निश्चयसे दोनों ही संसारके कारण हैं, इसलिए पुण्य व पापमें कोई विशेषता नहीं है। (यो. सा./अ./४/४०)।

प्र. सा./त. प्र./१५१ तत्र पुण्यपुद्गलबन्धकारणत्वात् शुभपरिणामं पुण्यं, पापपुद्गलबन्धकारणत्वाद्दशुभपरिणामं. पापम्। = पुण्यरूप पुद्गलकर्मके बन्धका कारण होनेसे शुभपरिणाम पुण्य है और पापरूप पुद्गलके बन्धका कारण होनेसे अशुभपरिणाम पाप है।

स. सा./आ./१५०/क. १०३ कर्म सर्वमपि सर्वविदो यद्, बन्धसाधनमुशन्त्यविशेषात्। तेन सर्वमपि तत्प्रतिषिद्धं, ज्ञानमेव विहितं

शिवहेतु. १०३। = क्योकि सर्वज्ञदेव समस्त (शुभाशुभ) कर्मको अविशेषतया बन्धका साधन कहते हैं, इसलिए उन्होंने समस्त ही कर्मोंका निषेध किया है। और ज्ञानको ही मोक्षका कारण कहा है। (प. ध./उ./३७४)।

पं. ध./उ./७६३ नेहा प्रज्ञापरिधत्वात्रिर्जराहेतुरङ्गत् । अस्ति नाबन्ध-
हेतुर्वा शुभो नाप्यशुभावहात् ७६३। = बुद्धिकी मन्दतासे यह भी आशंका नहीं करनी चाहिए कि शुभापयोग एकवेकसे निर्जराका कारण हो सकता है। कारण कि, निश्चयनयसे शुभापयोग भी ससारका कारण होनेसे निर्जरादिकका हेतु नहीं हो सकता और न वह शुभ ही कहा जा सकता है।

५. दोनों ही दुःखरूप या दुःखके कारण है

स. सा./मू./४५ अद्विविहं पि य कम्म सव्व पुण्णलमय जिणा विति ।
जस्स फलं त बुद्धं दुक्खं ति विपच्चमाणस्स ४५। = आठों प्रकारका कर्म सब पुण्यलमय है, तथा उदयमें आनेपर सबका फल दुःख है, ऐसा जिनेन्द्र भगवान्ने कहा है। (प. ध./उ./२४०)।

प्र. सा./मू./७२-७५ णरणारयतिरियसुरा भजति जदि देहसभव दुक्ख ।
कि सो सुहो वा असुहो उवओगो ह्वदि जीवाण ७२। कुलिसाउह-
चक्रधरा सुहोवओगप्पगेहि भोगेहि । देहादीण विद्धि करे ति सुहिदा
इवाभिरदा ७३। जदि सति हि पुव्वाणि य परिणामसमुम्भवाणि
विविहाणि । जणयति विसयतण्हं जीवाण देवतान्ताना ७४।
ते पुण्ण उदिण्णतिण्हा दुविहा तण्हाहि विसयसोक्खाणि । इच्छन्ति
अणुभवति य आमरण दुक्खसत्ता ७५। = मनुष्य, नारकी, तिर्यच
और देव सभी यदि देहात्पन्न दुःखको अनुभव करते हैं तो जीवो-
का वह (अशुद्ध) उपयोग शुभ और अशुभ दो प्रकारका कैसे हो
सकता है ७२। वज्रधर और चक्रधर (इन्द्र व चक्रवर्ती) शुभाप-
योगमूलक भोगोंके द्वारा देहादिकी पुष्टि करते हैं और भागोंमें
रत वर्तते हुए सुखों-जैसे भासित हाते हैं ७३। इस प्रकार यदि
पुण्य नामकी कोई वस्तु विद्यमान भा है तो वह देवों तकके जीवों-
का विषय तृष्णा उत्पन्न करते हैं ७४। और जिनकी तृष्णा उदित
है ऐसे वे जीव तृष्णाओंके द्वारा दुःखों होते हुए मरण पर्यन्त
विषयसुखोंको चाहते हैं, और दुःखोंसे सन्तप्त हाते हुए और दुःख-
दाहको सहन न करते हुए उन्हें भोगते हैं ७५। (देवादिकाके वे
सुख पराश्रित, बाधासहित और बन्धके कारण होनेसे वास्तवमें दुःख
ही है—दे० सुख/१)।

यो.सा./अ./६/२५ धर्मतोऽपि भवो भोगो दत्ते दुःखपरम्परा । चन्दनादपि
सपन्नं पावक, प्लोषते न किम् २५। = जिस प्रकार चन्दनसे उत्पन्न
अग्नि भी अवश्य जलाती है, उसी प्रकार धर्मसे उत्पन्न भी भोग
अवश्य दुःख उत्पन्न करता है।

पं. ध./उ./२५० न हि कर्मोदय कश्चिद् जन्तार्य, स्यात्सुखावह ।
सर्वस्य कर्मणस्तत्र वैलक्षण्यात् स्वरूपतः २५०। = कोई भी कर्मका
उदय ऐसा नहीं जो कि जीवको सुख प्राप्त करानेवाला हो, क्योंकि
स्वभावसे सभी कर्म आत्माके स्वभावसे विलक्षण है।

मो. मा. प्र./४/१२१/११ दोन्यौ ही आकुलताके कारण हैं, तातै बुरे
ही है। १०००परमार्थतै जहाँ आकुलता है तहाँ दुःख ही है, तातै पुण्य-
पापके उदयको भला-बुरा जानना भ्रम है।

दे० सुख/१ (पुण्यसे प्राप्त लौकिक सुख परमार्थसे दुःख है।)

६. दोनों ही हेय हैं तथा इसका हेतु

स. सा./मू./१५० रत्तो न धदि कम्म मुचदि जीवो विरागसपत्तो ।
एसो जिणोवदेसो तम्हा कम्मेषु मा रज्ज १५०। = रागी जीव
कर्म बांधता है और वैराग्यको प्राप्त जीव कर्मसे छूटता है, यह
जिनेन्द्र भगवाण्का उपदेश है। इसलिए तू कर्ममें प्रीति मत कर।

अर्थात् समस्त कर्मोंका त्याग कर। (और भी दे० पुण्य/२/३ मे स.सा./
आ/१४७, तथा पुण्य/२/४ मे स.सा./आ/१५०/क १०३)।

स. सा./आ./१६३/क.१०६ संन्यस्तमिदं समस्तमपि तत्कर्मैव मोक्षा-
र्थिना, संन्यस्ते सति तत्र का किल कथा पुण्यस्य पापस्य वा ।
सम्यक्त्वादिनिजस्वभावभवानामोक्षस्य हेतुर्भवत्, नैष्कर्म्यप्रति-
बद्धमुद्धतरस ज्ञानं स्वय धावति १०६। = मोक्षार्थीको यह समस्त
ही कर्ममात्र त्याग करने योग्य है। जहाँ समस्त कर्मोंका त्याग किया
जाता है, तो फिर वहाँ पुण्य व पाप (को अच्छा या बुरा कहने)
की क्या बात है? समस्त कर्मोंका त्याग होनेपर, सम्यक्त्वादि अपने
स्वभावरूप होनेसे, परिणमन करनेसे मोक्षका कारणभूत होता हुआ,
निष्कर्म अवस्थाके साथ जिसका उद्धतरस प्रतिबद्ध है, ऐसा ज्ञान
अपनेआप दौड़ा चला आता है।

स. सा./आ./१५० सामान्येन रक्तवनिमित्तत्वाच्छुभशुभभयकर्म-
विशेषेण बन्धहेतुं साधयति, तदुभयमपि कर्म प्रतिषेद्यति ।
= सामान्यपने रागीपनकी निमित्तताके कारण शुभ व अशुभ
दोनों कर्मोंको अविशेषतया बन्धके कारणरूप सिद्ध करता है, और
इसलिए (आगम) दोनों कर्मोंका निषेध करता है।

प्र. सा./त. प्र./२१२ यतस्तदविनाभाविना अप्रयताचारत्वेन प्रसिद्धचद-
शुद्धोपयोगसद्भाव षट्कायप्राणव्यपरोपप्रत्ययबन्धप्रसिद्धया हिसकं
एव स्यात् । ततस्तैस्ते सर्वप्रकारै शुद्धोपयोगरूपोऽन्तरङ्गच्छेदः
प्रतिषेधो यैर्यस्तदायतनमात्रभूत, प्राणव्यपरोपरूपो बहिरङ्गच्छेदो
दूरादेव प्रतिषिद्ध स्यात् । = जो अशुद्धोपयोगके बिना नहीं होता
ऐसे अप्रयत आचारके द्वारा प्रसिद्ध (ज्ञात) होनेवाला अशुद्धोपयोग-
का सद्भाव हिसक ही है, क्योंकि, तहाँ छह कायके प्राणोंके व्यपरोपके
आश्रयसे होनेवाले बन्धकी प्रसिद्धि है। (दे० हिसा/१)। इसलिए
उन-उन सर्व प्रकारोंसे अशुद्धोपयोगरूप अन्तरगच्छेद निषिद्ध है,
जिन-जिन प्रकारोंसे कि उसका आयतनमात्रभूत परप्राणव्यपरोपरूप
बहिरगच्छेद भी अत्यन्त निषिद्ध हो।

प्र. स./टो./३८/१५६/७ सम्यग्दृष्टिर्जीवस्य पुण्यपापद्वयमपि हेयम् ।
= सम्यग्दृष्टि जीवके पुण्य और पाप दोनों हेय है। (पं. का./ता,
वृ./१३१/१६४/१४)।

पं. ध./उ./३७४ उक्तमाक्षर्यं सुखं ज्ञानमनादेयं दृगात्मन । नादेय कर्म
सर्वं च तद्वद् दृष्टोपलब्धित. ३७४। = जैसे सम्यग्दृष्टिको उक्त इन्द्रिय-
जन्य सुख और ज्ञान आदेय नहीं होते हैं, वैसे ही आत्मप्रत्यक्ष होने-
के कारण सम्पूर्ण कर्म भी आदेय नहीं होते हैं।

७. दोनोंमें भेद समझना अज्ञान है

प्र. सा./मू./७७ ण हि मण्णदि जो एव णत्थि त्रिसेसो त्ति पुण्णपावाणं ।
हिडदि घोरमपार ससार मोहसच्छन्नो ७७। = 'पुण्य और पाप इस
प्रकार कोई भेद नहीं है' जो ऐसा नहीं मानता है, वह मोहाच्छा-
दित होता हुआ घोर अपार ससारमें परिभ्रमण करता है। (प. प्र./-
मू./२/५५)।

यो सा./अ./४/१६ सुखदुःखविधानेन विशेषः पुण्यपापयो । नित्यं
सौख्यमपर्याङ्गमन्यते मन्दबुद्धिभि १६। = अविनाशी निराकुल
सुखको न देखनेवाले मन्दबुद्धिजन ही सुख व दुःखके करणरूप विशे-
षतासे पुण्य व पापमें भेद देखते हैं।

३. पुण्यकी कथंचित् अनिष्टता

१. ससारका कारण होनेसे पुण्य अनिष्ट है

स. सा./मू./१४५ कम्ममसुह कुशीलं सुहकम्मं चावि जाणह सुशीलं ।
कह त होदि सुशील ज ससारं पवेसेदि १४५। = अशुभकर्म कुशील
है और शुभकर्म सुशील है, ऐसा तुम (मोहवश) जानते हो।

किन्तु वह भला सुशील कैसे हो सकता है, जब कि वह संसारमें प्रवेश करता है।

प्र. सा./त.प्र./७७ यस्तु पुनरनयो विशेषमभिमन्यमानो धर्मानुराग-मवलम्बते स खल्वपरक्तचित्तभित्तितया तिरस्कृतशुद्धोपयोगशक्तिरा-ससार शारीर दुःखमेवानुभवति । = जो जीव उन दोनों (पुण्य व पाप) में अन्तर मानता हुआ धर्मानुराग अर्थात् पुण्यानुरागपर अवलम्बित है, वह जीव वास्तवमें चित्तभूमिके उपरक्त होनेसे, जिसने शुद्धोपयोग शक्तिका तिरस्कार किया है, ऐसा वर्तता हुआ, ससार पर्यन्त शारीरिक दुःखका ही अनुभव करता है।

का. अ/मू./४१० पुण्यं पि जो समिच्छदि ससारो तेण ईहिदो होदि । पुण्यं सुगईहेदुं पुण्यखणेषेण पिच्छाण १४१०। = जो पुण्यको भी चाहता है, वह ससारको चाहता है, क्योंकि, पुण्य सुगतिका कारण है। पुण्यका क्षय होनेसे ही मोक्ष होता है।

२. शुभ भाव कथंचित् पापबन्धके भी कारण हैं

रा. वा/६/३/७/१०७/२६ शुभ पापस्यापि हेतुरित्यविरोध । = शुभ-परिणाम पापके भी हेतु हो सकते हैं, इसमें कोई विरोध नहीं है। (विशेष दे० पुण्य/५)।

३. वास्तवमें पुण्य शुभ है ही नहीं

प. ध/उ/७६३ शुभो नाप्यशुभावहात् ७६३। = निश्चयनयसे शुभोप-योग भी ससारका कारण होनेसे शुभ कहा ही नहीं जा सकता।

४. अज्ञानीजन ही पुण्यको उपादेय मानते हैं

स. सा./मू./१५४ परमट्ठ बाहिरा जे ते अण्णाणेण पुणमिच्छति । ससारगमणहेतु वि मोक्खहेतु अजाणतो १५४। = जो परमार्थसे बाह्य है, वे मोक्षके हेतुको न जानते हुए ससार गमनका हेतु होने पर भी, अज्ञानसे पुण्यको (मोक्षका हेतु समझकर) चाहते हैं। (ति प./६/५३)।

मो. पा/मू./५४ सुहजोएण सुभाव परदब्बे कुणइ रागदो साहू । सो तेण दु अण्णाणी गाणी एत्तो हु विवरीओ ५४। = इष्ट वस्तुओंके संयोगमें राग करनेवाला साधु अज्ञानी है। ज्ञानी उससे विपरीत होता है अर्थात् वह शुभ व अशुभ कर्मके फलरूप इष्ट अनिष्ट सामग्रीमें राग-द्वेष नहीं करता।

प. प्र./मू./२/५४ दसण्णाणचरित्तमल जो णवि अप्पु मुणेइ । मोक्खहं कारणु भणिवि जिय सो पर ताई करेइ ५४। = जो सम्यग्दर्शनज्ञान चारित्रमयी आत्माको नहीं जानता वही है जीव। उन पुण्य व पाप दोनोंको मोक्षके कारण जानकर करता है। (मो. मा प्र/७/२२६/१७)।

५. ज्ञानी तो पापवत् पुण्यका भी तिरस्कार करता है

ति. प./६/५२ पुणेण होइ विहओ विहवेण मओ मएण मइमोहो । मइ-मोहेण य पावं तम्ह । पुणो वि वज्जेओ ५२। = जो कि पुण्यसे विभक्त, विभवसे मद, मदसे मतिमोह और मतिमोहसे पाप होता है, इसलिए पुण्यको भी छोड़ना चाहिए—(ऐसा पुण्य हमें कभी न हो—प. प्र.) (प.प्र./मू./२/६०)।

यो. सा./यो/७१ जो पाउ वि सो पाउ मुणि सञ्जु को वि मुणेइ । जो पुण्यु वि पाउ वि भणइ सो बुह को वि हवेइ ७१। = पापको पाप तो सब कोई जानता है, परन्तु जो पुण्यको भी पाप कहता है ऐसा पण्डित कोई बिरला ही है।

६. ज्ञानी पुण्यको हेय समझता है

स. सा./मू./२१० अपरिग्गहो अणिच्छो भणियो पाणी य णिच्छदे धम्म । अपरिग्गहो दु धम्मस्स जाणमो तेण स होई २१०। = ज्ञानी

परिग्रहसे रहित है, इसलिए वह परिग्रहकी इच्छासे रहित है। इसी कारण वह धर्म अर्थात् पुण्य (ता वृ टीका) को नहीं चाहता इस-लिए उसे धर्म या पुण्यका परिग्रह नहीं है। वह तो केवल उसका ज्ञायक ही है।

का अ/मू./४०६,४१२ एदे दहप्पयारा पावं कम्मस्स णासिया भणिया । पुण्यस्स य सज्जया परपुण्यत्थ ण कायव्वं ४०६। पुणे वि ण आयरं कुणह ४१२। = ये धर्मके दश भेद पापकर्मका नाश और पुण्यकर्म-का बन्ध करनेवाले कहे जाते हैं, परन्तु इन्हें पुण्यके लिए नहीं करना चाहिए ४०६। पुण्यमें आदर मत करो ४१२।

नि. सा./ता वृ/४१/क. ५६ सुकृतमपि समस्त भोगिनां भोगमूलं, त्यजतु परमत्त्वाम्यासनिष्णातचित्त. । भवविमुक्तये.. ५६। = समस्त पुण्य भोगियोंके भोगका मूल है। परमत्त्वके अभ्यासमें निष्णात चित्तवाले मुनीश्वर भवसे विमुक्त होनेके हेतु उस समस्त शुभकर्मको छोड़ो।

७. ज्ञानी तो कथंचित् पापको ही पुण्यसे अच्छा समझते हैं

प. प्र./मू./२/५६-५७ वर जिय पावई सुंदरई णाणिय ताई भणति । जोवहं दुक्खई जणिवि लहु सिक्कमइ जाई कुणति ५६। म पुणु पुण्यई भक्खाई णाणिय ताई भणति । जोवहं रज्जई देवि लहु दुक्खई जाई जणति ५७। = हे जीव। जो पापका उदय जीवको दुःख देकर शीघ्र ही मोक्षके जाने योग्य उपायोंमें बुद्धि कर देवे, तो वे पाप भी बहुत अच्छे हैं ५६। और फिर वे पुण्य भी अच्छे नहीं जो जीवको राज्य देकर शीघ्र ही नरकादि दुःखोंको उपजाते हैं (दे० अगला शीर्षक) ऐसा ज्ञानी जन कहते हैं।

८. मिथ्यात्वयुक्त पुण्य तो अत्यन्त अनिष्ट हैं

म आ/मू./५७-६०/१८२-१८७ जे वि अहिंसादिगुणा मरणे मिच्छत्त-कडुगिदा होति । ते तस्स कडुगदोद्धिग्गदं च बुद्धं हवे अफला ५७। जह भेसज पि दोस आवहइ विसेण संभुद सते । तह मिच्छत्तविस-जुदा गुणा वि दोसावहा होति ५८। दिक्खेण जोयणसयं पि गच्छ-माणो सग्गिच्छद वेस । अण्णतो गच्छतो अह पुरिसो णेव पाउण्णादि ५९। धण्णिदं पि सजमतो मिच्छादिट्ठो लहा ण पावेई । इट्ठं णिव्वुइ मग्गं उाणेण तवेण जुत्तो वि ६०। = अहिंसा आदि पाँच व्रत आत्माके गुण हैं, परन्तु मरण समय यदि ये मिथ्यात्वसे संयुक्त हो जायें तो कडवी तुम्बोमें रखे हुए दूधके समान व्यर्थ हो जाते हैं ५७। जिस प्रकार विष मिल जानेपर गुणकारी भी औषध दोषयुक्त हो जाता है, इसी प्रकार उपरोक्त गुण भी मिथ्यात्वयुक्त हो जानेपर दोषयुक्त हो जाते हैं ५८। जिस प्रकार एक दिनमें सौ योजन गमन करनेवाला भी व्यक्ति यदि उलटी दिशामें चले तो कभी भी अपने इष्ट स्थानको प्राप्त नहीं होता, उसी प्रकार अच्छी तरह व्रत तप आदि करता हुआ भी मिथ्यादृष्टि कदापि मोक्षको प्राप्त नहीं हो सकता ५९-६०।

प. प्र./मू./२/५९ जे णिय-दंसण-अहिंसुहा सोवखु अणत्तु लडति । ति विणु पुणु करंता वि दुक्खु अणत्तु सहंति ५९। = जो सम्यग्दर्शनके संमुख है, वे अनन्त सुखको पाते हैं, और जो जीव सम्यक्त्व-रहित है वे पुण्य करते हुए भी, पुण्यके फलसे अल्पसुख पाकर संसारमें अनन्त दुःख भोगते हैं ५९।

प प्र/मू./२/५८ वर णियदसण अहिंसुह मरणु वि जीव लहेसि । मा णियदंसणविम्महुड पुणु वि जीव करेसि ५८। = हे जीव। अपने सम्यग्दर्शनके समुख होकर मरना भी अच्छा है, परन्तु सम्यग्दर्शन-से विमुख होकर पुण्य करना अच्छा नहीं है ५८। दे० भोग—(पुण्यसे प्राप्त भोग पापके मित्र है)।

दे० पुण्य/५/१ (प्रशस्त भो राग कारणकी विपरीतता से विपरीत रूपसे फलित होता है।

पं. धं. उ/४४४ नापि धर्मः क्रियामात्र मिथ्यादृष्टेरिहार्थतः । नित्यं रागादिसद्भावत् प्रत्युताधर्म एव स १४४४। = मिथ्यादृष्टिके सदा रागादिभावका सद्भाव रहनेसे केवल क्रियारूप व्यवहार धर्मका अर्थात् शुभयोगका पाया जाना भी धर्म नहीं है। किन्तु अधर्म ही है १४४४।

भा पा/पं. जयचन्द/११७ अन्यमतके भ्रष्टानिके जो कदाचित् शुभ लेश्याके निमित्तत्तं पुण्य भी बन्ध होय तौ ताकू पाप हीमें गिणिये।

९. मिथ्यात्व युक्त पुण्य तीसरे भव नरकका कारण है

भ. आ/वि./५५/१५५/६ मिथ्यादृष्टेर्गुणा पापानुबन्धि स्वल्पमिन्द्रिय-सुखं दत्त्वा बह्वारम्भपरिग्रहादिषु आसक्तं नरके पातयन्ति । = मिथ्या-दृष्टिके ये अहिंसादि गुण (या व्रत) पापानुबन्धी स्वल्प इन्द्रियसुख-की प्राप्ति तो कर देते हैं, परन्तु जीवको बहुत आरम्भ और परिग्रहमें आसक्त करके नरकमें ले जाते हैं।

प प्र टी/२/५७/१७२/८ निदानबन्धोपाजितपुण्येन भवान्तरे राज्यादि-विभूतौ लब्धाया तु भोगात् त्यक्तुं न शक्नोति तेन पुण्येन नरकादि-दुःख लभते रावणादिवत् । = निदान बन्धसे उत्पन्न हुए पुण्यसे भवान्तरमें राज्यादि विभूतिकी प्राप्ति करके मिथ्यादृष्टि जीव भोगोका त्याग करनेमें समर्थ नहीं होता, अर्थात् उनमें आसक्त हो जाता है। और इसलिए उस पुण्यसे वह रावण आदिकी भाँति नरक आदिके दुःखोको प्राप्त करता है। (प्र सं./टी./३८/१६०/६), (स. सा./ता. वृ./२२४-२२७/३०५/१७)।

४. पुण्यकी कथंचित् इष्टता

१. पुण्य व पापमें महान् अन्तर है

भ. आ/मू./६१ जस्स पुणं मिच्छद्विद्विस्स णरिथि सील वदं गुणो चावि । सो मरणे अण्णाणं कह ण कुणह दीहसंसार ६१। = जब व्रतादि सहित भी मिथ्यादृष्टि संसारमें भ्रमण करता है (दे० पुण्य/३/८) तब व्रतादिसे रहित होकर तो क्यो दीर्घसंसारी न होगा ?

मो. पा/मू./२५ वर वयतवेहि सग्गो मा दुक्ख होउ णिरइ इयरेहि । छायातवट्टियाणं पडिवालंताण गुरुभेय २५। जिस प्रकार छाया और आतपमें स्थित पथिकोके प्रतिपालक कारणोंमें बड़ा भेद है, उसी प्रकार पुण्य व पापमें भी बड़ा भेद है। व्रत, तप आदि रूप पुण्य श्रेष्ठ है, क्योंकि उससे स्वर्गकी प्राप्ति होती है और उससे विपरीत अत्रत व अतप आदिरूप पाप श्रेष्ठ नहीं है, क्योंकि उसमें नरककी प्राप्ति होती है। (इ उ/३); (अन. ध./८/१५/७४०)।

त. सा/४/१०३ हेतुकार्यविशेषाभ्यां विशेष पुण्यपापयोः । हेतु शुभा-शुभौ भावौ कार्ये चैव सुखासुखे १०३ = हेतु और कार्यकी विशेषता होनेसे पुण्य और पापमें अन्तर है। पुण्यका हेतु शुभभाव है और पापका अशुभभाव है। पुण्यका कार्य सुख है और पापका दुःख है।

२. इष्ट प्राप्तिमें पुरुषार्थसे पुण्य प्रधान है

भ. आ/मू./१७३/१५६२ पाओदण अत्थो हत्थ पत्तो वि णस्सदि णरस्स । दूरादो वि सपुणस्स एदि अत्थो अयत्तेण १७३। = पाप-का उदय आनेपर हस्तगत द्रव्य भी नष्ट हो जाता है और पुण्यका उदय आनेपर प्रयत्नके बिना ही दूर देशसे भी धन आदि इष्ट सामग्री-की प्राप्ति हो जाती है। (कुरल काव्य/३५/६); (पं. वि/१/१५५)। और भी. नियति/३/५ (दैव ही इष्टानिष्टको सिद्धिमें प्रधान है। उसके सामने पुरुषार्थ निष्फल है।)

आ. अनु./३७ आयु श्रीर्वपुरादिक यदि भवेत्पुण्य पुरोपाजितं, स्यात् सर्वं न भवेत्त तत्र नितरामायासितेऽप्यात्मनि ३७। = यदि पूर्वोपाजित पुण्य है तो आयु, लक्ष्मी और शरीरादि भी यथेच्छ प्राप्त हो सकते हैं, परन्तु यदि वह पुण्य नहीं है तो फिर अपनेको भलेशित करनेपर भी वह सब बिलकुल भी प्राप्त नहीं हो सकता। (पं. वि/१/१५४)। प. वि/३/३६ वाञ्छत्येव सुखं तदत्र विधिना दत्तं परं प्राप्यते। = संसारमें मनुष्य सुखकी इच्छा करते हैं परन्तु वह उन्हें विधिके द्वारा दिया गया प्राप्त होता है।

का अ/मू./४२५,४३४ लच्छि वंछेइ णरो जेव सुधम्मोसु आयरं कुणइ । बीएण विणा कत्थ वि कि दीसदि सस्स णिपत्ती ४२५। उज्जमर-हिए वि लच्छिअपत्ती। धम्मपहावेण ४३४। = यह जीव लक्ष्मी तो चाहता है, किन्तु सुधर्मसे (पुण्यक्रियाओंसे) प्रीति नहीं करता। क्या कहीं बिना बीजके भी धान्यकी उत्पत्ति देखी जाती है ? ४२५। धर्मके प्रभावसे उद्यम न करनेवाले मनुष्यको भी लक्ष्मीकी प्राप्ति हो जाती है ४३४। (पं. वि./१/१५६)।

अन. ध/१/३७,६० विश्राम्यत स्फुरत्पुण्या गुडखण्डसितामृतै । स्पर्ध-माना फलिष्यन्ते भावा स्वयमितस्तत ३७। पुण्यं हि समुखीनं चेतसुखोपायशतेन किम् । न पुण्य समुखीनं चेतसुखोपायशतेन किम् । ६०। = हे पुण्यशालियो ! तनिक विश्राम करो अर्थात् अधिक परिश्रम मत करो। गुड, खण्ड, मिश्री और अमृतसे स्पर्धा रखनेवाले पदार्थ तुमको स्वयं इधर उधरसे प्राप्त हो जायेंगे ३७। पुण्य यदि उदयके सम्मुख है तो तुम्हें दूसरे सुखके उपाय करनेसे क्या प्रयोजन है, और वह सम्मुख नहीं है तो भी तुम्हें दूसरे सुखके उपाय करनेसे क्या प्रयोजन है ? ६०।

स. सा/ता. वृ./प्रक्षेपक २१६-१/३०१/१३ अनेन प्रकारेण पुण्योदये सति सुवर्णं भवति न च पुण्याभावे । = इस प्रकारसे (नागफणिकी जड, हथिनीका मूत, सिन्दूर और सीसा इन्हें भट्टीमें धौकनीसे धौकनेके द्वारा) सुवर्ण केवल तभी बन सकता है, जब कि पुण्यका उदय हो, पुण्यके अभावमें नहीं बन सकता।

३. पुण्यकी महिमा व उसका फल

कुरल काव्य/४/१-२ धर्मात् साधुतर कोऽन्यो यतो विन्दन्ति मानवा । पुण्य स्वर्गप्रदं नित्य निर्वाणं च सुदुर्लभम् १। धर्मान्नास्त्यपरा काचित् सकृत्तिर्वेहधारिणाम् । तत्र्यागान्न परा काचिद् दुकृत्तिर्वेहभागिनाम् २। = धर्मसे मनुष्यको स्वर्ग मिलता है और उसीसे मोक्षकी प्राप्ति भी होती है, फिर भला धर्मसे बढकर लाभदायक वस्तु और क्या है ? १। धर्मसे बढकर दूसरी और कोई नेकी नहीं, और उसे भुला देनेसे बढकर और कोई बुराई भी नहीं २।

ध. १/१,२/२०६/४ काणि पुण्ण-फलाणि । तित्थयरगणहर-रिसि-चक्रवर्ति-बलदेव-वासुदेव-सुर-विज्जाहर-रिद्धीओ । = प्रश्न—पुण्यके फल कौनसे हैं ? उत्तर—तीर्थंकर, गणधर, ऋषि, चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव, देव और विद्याधरोकी ऋद्धियाँ पुण्यके फल हैं।

म. पु./३७/१६१-१६६ पुण्याइ विना कुतस्ताहगरूपसंपदनीदृशी । पुण्याइ विना कुतस्ताहग् अभेचगात्रबन्धनम् १६१। पुण्याइ विना कुतस्ताहइ निधिरत्तमिद्धिरूजिता । पुण्याइ विना कुतस्ताहग् इभाशवा-दिपरिच्छद १६२। = पुण्यके बिना चक्रवर्तीके समान अनुपम रूप, सम्पदा, अभेच शरीरका बन्धन, अतिशय उत्कट निधि, रत्नोंकी ऋद्धि, हाथी घोडे आदिका परिवार १६१-१६२। (तथा इसी प्रकार) अन्त पुरका वैभव, भोगोपभोग, द्वीप समुद्रोंकी विजय तथा सर्व आज्ञा व ऐश्वर्यता आदि १६३-१६६। ये सब कैसे प्राप्त हो सकते हैं। (पं. वि/१/१८८)।

पं. वि/१/१८६ कोऽप्यन्धोऽपि सुलोचनोऽपि जरसा ग्रस्तोऽपि लावण्य-वाच्, नि.प्राणोऽपि हरिर्विरूपतनुरप्याद्यु ष्यते मन्मथः । उद्योगोऽभक्त-

चेष्टितोऽपि नितरामालिङ्ग्यते च श्रिया, पुण्यादन्यदपि प्रशस्तमखिलं जायेत यद्बुधर्षट्म् १२६। = पुण्यके प्रभावसे कोई अन्धा भी प्राणी निर्मल नेत्रोंका धारक हो जाता है, बृद्ध भी लावण्ययुक्त हो जाता है, निर्बल भी सिंह जैसा बलिष्ठ हो जाता है, विकृत शरीरवाला भी कामदेवके समान सुन्दर हो जाता है। जो भी प्रशंसनीय अन्ध समस्त पदार्थ यहाँ दुर्लभ प्रतीत होते हैं, वे सब पुण्योदयसे प्राप्त हो जाते हैं १२६।

का. अ./मू./४३४ अलियवयणं पि सच्चं... धम्मपहावेण णरो अणओ वि सुहं करो होदि १४३४। = धर्मके प्रभावसे जीवके झूठ वचन भी सच्चे हो जाते हैं, और अन्यान्य भी सब सुखकारी हो जाता है।

४. पुण्य करनेकी प्रेरणा

कुरल काव्य/४/३ सत्कृत्यं सर्वदा कार्यं यदुदकं सुखावहम् । पूर्णशक्तिं समाधाय महोत्साहेन धीमता १। = अपनी पूरी शक्ति और पूरे उत्साहके साथ सत्कर्म सदा करते रहो।

म. पु./३७/२०० तत' पुण्योदयोद्भूता मत्वा चक्रभूतः श्रियम् । चिनुध्वं भो बुधा' पुण्यं यत्पुण्यं सुखसंपदाम् १२००। = इसलिए हे पण्डित जनो ! चक्रवर्तीकी विभूतिको पुण्यके उदयसे उत्पन्न हुई मानकर, उस पुण्यका संचय करो, जो कि समस्त सुख और सम्पदाओंकी दुकानके समान है १२००।

आ. अनु १२३, ३१, ३७ परिणाममेव कारणमाहुः । खलु पुण्यपापयोः प्राज्ञाः । तस्मात्पापापचयः पुण्योपचयश्च सुविधेयः । १२३। पुण्यं कुरुष्व कृतपुण्यमनीदृशोऽपि, नोपद्रवोऽभिभवति प्रभवेच्च भूत्यै । संतापयज्ञगणेशेषमशीतरश्मिः, पद्मेषु पश्य विदधाति विकासलक्ष्मीम् १२१। इत्यार्याः सुविचार्य कार्यकुशलाः कार्येऽत्र मन्दोद्यमा द्रागागामिभवाथमेव सततं प्रीत्या यतन्ते तराम् १३७। = विद्वांसु मनुष्य निश्चयसे आत्मपरिणामको ही पुण्य और पापका कारण बतलाते हैं, इसलिए अपने निर्मल परिणामके द्वारा पूर्वोपार्जित पापकी निर्जरा, नवीन पापका निरोध और पुण्यका उपार्जन करना चाहिए १२३। हे भव्य जीव ! तू पुण्य कार्यको कर, क्योंकि, पुण्यवाद् प्राणीके ऊपर असाधारण उपद्रव भी कोई प्रभाव नहीं डाल सकता है। छलटा वह उपद्रव ही उसके लिए सम्पत्तिका साधन बन जाता है १३१। इसलिए योग्यायोग्य कार्यका विचार करनेवाले श्रेष्ठ जन भले प्रकार विचार करके इस लोकसम्बन्धी कार्यके विषयमें विशेष प्रयत्न नहीं करते हैं, किन्तु आगामी भवोंको सुन्दर बनानेके लिए ही वे निरन्तर प्रीति पूर्वक अतिशय प्रयत्न करते हैं १३७।

पं. वि./१/१८३-१८८ नो धर्मादपरोऽस्ति तारक इहाश्रान्तं यत्तुध्वं बुधा' १८३। निधू' ताखिलदुःखदापदि सुहृद्वर्मे मतिर्धार्मिताम् १८६। अन्यतरं प्रभवतीह निमित्तमात्रं, पात्रं बुधा भवत निर्मल-पुण्यराशे । १८८। = इस संसारमें जूझते हुए प्राणियोंका उद्धार करनेवाला धर्मको छोड़कर और कोई दूसरा नहीं है। इसलिए हे विद्वज्जनो ! आप निरन्तर धर्मके विषयमें प्रयत्न करें १८३। निश्चयसे समस्त दुःखदायक आपत्तियोंको नष्ट करनेवाले धर्ममें अपनी बुद्धिको लगाओ १८६। (पुण्य व पाप ही वास्तवमें इष्ट संयोग व वियोगके हेतु हैं) अन्य पदार्थ तो केवल निमित्त मात्र हैं। इसलिए हे पण्डित जन ! निर्मल पुण्यराशिके भाजन होओ अर्थात् पुण्य उपार्जन करो १८८।

का. अ./मू./४३७ इय पञ्चकवं पेच्छह धम्माहम्माण विविहमाहण्यं । धम्मं आयरह सया पावं दूरेण परिहरह ४३७। = हे प्राणियो ! इस प्रकार धर्म और अधर्मका अनेक प्रकार माहात्म्य प्रत्यक्ष देखकर सदा धर्मका आचरण करो, और पापसे दूर ही रहो।

दे० धर्म/५/२ (सावद्य होते हुए भी पूजा आदि शुभ कार्य अवश्य करने कर्तव्य है)

५. पुण्यकी अनिष्टता व इष्टताका समन्वय

१. पुण्य दो प्रकारका होता है

प्र. सा./मू./२५५ व त, प्र./२५६ रागो पसस्थभूदो वस्थुविसेसेण फलदि विवरीदं । गाणाभूमिगवाणिह बीजाणिव सस्सकालम्हि १२५५। शुभोपयोगस्य सर्वज्ञव्यवस्थापितवस्तुषु प्रणिहितस्य पुण्योपचयपूर्वकोऽपुनर्भवोपलम्भः किल फलं, तत्तु कारणवैपरीत्याद्विपर्यय एव । तत्र छद्मस्थव्यवस्थापितवस्तुनि कारणवैपरीत्यं तेषु व्रतनियमाध्ययन-ध्यानदानरत्नप्रणिहितस्य शुभोपयोगस्यापुनर्भवान्यकेवलपुण्यापसदप्राप्तिः । फलवैपरीत्यं तस्सुदेवमनुजस्वं । = जैसे इस जगत्में अनेक प्रकारकी धूमियोंमें पड़े हुए बीज धान्यकालमें विपरीततया फलित होते हैं, उसी प्रकार प्रशस्तभूत राग वस्तु भेदसे विपरीततया फलता है १२५५। सर्वज्ञ स्थापित वस्तुओंमें युक्त शुभोपयोगका फल पुण्यसंचय पूर्वक मोक्षकी प्राप्ति है। वह फल कारणकी विपरीतता होनेसे विपरीत ही होता है। वहाँ छद्मस्थ स्थापित वस्तुमें कारण-विपरीतता है, (क्योंकि) उनमें व्रत, नियम, अध्ययन, ध्यान, दान आदि रूपसे युक्त शुभोपयोगका फल जो मोक्षस्य केवल पुण्यास्पदकी प्राप्ति है, वह फलकी विपरीतता है। वह फल सुदेव मनुष्यत्व है। (अर्थात् पुण्य दो प्रकारका है—एक सम्यग्दृष्टिका और दूसरा मिथ्यादृष्टिका। पहिला परम्परा मोक्षका कारण है और दूसरा केवल स्वर्ग सम्पदाका)।

दे० मिथ्यादृष्टि/४ (सम्यग्दृष्टिका पुण्य पुण्यानुबन्धी होता है और मिथ्यादृष्टिका पापानुबन्धी)।

दे० धर्म/७/८-१२ (सम्यग्दृष्टिका पुण्य तीर्थकर प्रकृति आदिके अन्धका कारण होनेसे विशिष्ट प्रकारका है)।

दे० पुण्य/३/६ (और मिथ्यादृष्टिका पुण्य निदान सहित व भोगमूलक होनेके कारण आगे जाकर कुगतियोंका कारण होता है, अतः अत्यन्त अनिष्ट है)।

दे० मिथ्यादृष्टि/४ (मिथ्यादृष्टि भोगमूलक धर्मकी श्रद्धा करता है। मोक्षमूलक धर्मको वह जानता ही नहीं)।

२. भोगमूलक पुण्य ही निषिद्ध है योगमूलक नहीं

पं. वि./७/२५ पंसोऽर्थेषु चतुर्षु निश्चलतरो मोक्षः परं सरसुखं, शेषास्तद्विपरीतधर्मकलिता हेया मुमुक्षोरतः । तस्मात्तपससाधनत्वधरणो धर्मोऽपि नो संमतः, यो भोगादिनिमित्तमेव स पुनः पापं बुधैर्मन्यते १२५। = धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चार पुरुषार्थोंमें केवल मोक्ष पुरुषार्थ ही समीचीन सुखसे युक्त होकर सदा स्थिर रहनेवाला है। शेष तीन पुरुषार्थ उससे विपरीत (अस्थिर) स्वभाववाले हैं। अतएव वे मुमुक्षुजनके लिए छोड़नेके योग्य हैं। इसलिए जो धर्मपुरुषार्थ उपर्युक्त मोक्षपुरुषार्थका साधक होता है वह हमें अभीष्ट है, किन्तु जो धर्म केवल भोगादिका ही कारण होता है, उसे विद्वज्जन पाप ही समझते हैं।

दे. धर्म/७ (यद्यपि व्यवहार धर्म पुण्य प्रधान होता है, परन्तु यदि निश्चय धर्मकी ओर झुका हुआ हो तो परम्परासे निर्जरा व मोक्षका कारण होता है)।

पं. प्र./टी./२/६०/१८२/१ इदं पूर्वोक्तं पुण्यं भेदाभेदरत्नत्रयाराधनारहितं दृष्टभुतानुभूतभोगाकाङ्क्षारूपनिदानबन्धपरिणामसहितं जीवेन यदुपार्जितं पूर्वभवे तदेव मदमङ्गकारं जनयति बुद्धिविनाशं च करोति । न च पुनः सम्यक्त्वादिगुणसहितं भरतसगररामपाण्डवादिपुण्यबन्धवत् । मदाङ्गकारादिविकल्पं त्यक्त्वा मोक्षं गताः । = भेदाभेद रत्नत्रयकी आराधनासे रहित तथा दृष्ट श्रुत व अनुभूत भोगोंकी आकाङ्क्षारूप निदानबन्धसे सहित होनेके कारण ही, जीवोंके द्वारा पूर्वमें उपार्जित किया गया वह पूर्वोक्त पुण्य मद व अहंकार

उत्पन्न करता है तथा बुद्धिको भ्रष्ट करता है, परन्तु सन्यक्त्वादि गुणोसे सहित पुण्य ऐसा नहीं करता। जैसे कि भरत, सगर, राम व पाण्डवादिका पुण्य, जिसको प्राप्त करके भी वे मद और अहं-कारादि विकल्पोंके त्यागपूर्वक मोक्षको प्राप्त हो गये। (प प्र./टी./२/५७/१७६/८)।

३. पुण्यके निषेधका कारण व प्रयोजन

प्र सा/मू/११ धर्ममेण परिणदग्गा अप्पा जदि सुद्धसंपयोगजुदो। पावदि णिव्वाणसुह सुहोवजुतो व सम्गसुद्ध ११। = धर्मसे परिणत स्वरूप-वाला आत्मा यदि शुद्ध उपयोगमें युक्त हो तो मोक्ष सुखको प्राप्त करता है, और यदि शुभोपयोग वाला हो तो स्वर्ग सुखको प्राप्त करता है (इसलिए मुमुक्षुको शुद्धोपयोग ही प्रिय है शुभोपयोग नहीं।) (बा अ/४९), (ति.प/६/५७)।

दे० पुण्य/२/६—(अशुद्धोपयोग होनेके कारण पुण्य व पाप दोनों रथाज्य है।)

का. अ/मू./४९० पुण्ण पि जो समिच्छदि ससारो तेण ईहिदो होदि। पुण्णं सुगई-हेतु पुण्ण-खएणेव णिव्वाणं १४१०। = जो पुण्यको चाहता है वह ससारको चाहता है क्योंकि पुण्य सुगतिका कारण है। पुण्य क्षय होनेसे ही मोक्ष होता है। (अतः मुमुक्षु भव्य पुण्यके क्षयका प्रयत्न करता है, उसकी प्राप्ति नहीं।)

नि. सा/ता. वृ/४१/क १६ सुकृतमपि समस्तं भोगिना भोगमूलं, त्यजतु परमतत्त्वाम्यासनिष्णातचित्तं। उभयसमयसारं सारतत्त्व-स्वरूपं, भजतु भवविमुक्त्यै कोऽत्र दोषो मुनीश' १६। = समस्त सुकृत (शुभ कर्म) भोगियोंके भोगका मूल है, परमतत्त्वके अन्यास-में निष्णात चित्तवाले मुनीश्वर भवसे विमुक्त होनेके हेतु उस समस्त शुभकर्मको छोड़ो और सारतत्त्वस्वरूप ऐसे उभय समयसारको भजो। इसमें क्या दोष है?

प्र सा/ता वृ/१८०/२४३/१६ अय परिणामं सर्वोऽपि सोपाधित्वात् बन्धहेतुरिति ज्ञात्वा बन्धे शुभाशुभसमस्तरागद्वेषविनाशार्थं समस्त-रागाद्युपाधिरहिते सहजानन्दैकलक्षणसुखामृतस्वभावे निजात्मद्रव्ये भावना कर्त्तव्येति तात्पर्यम्। = दे शुभ व अशुभ समस्त ही परि-णाम उपाधि सहित होनेके कारण बन्धके हेतु है (दे० पुण्य/२/४)। ऐसा जानकर, बन्धरूप समस्त शुभाशुभ रागद्वेषका विनाश करने-के लिए, समस्त रागादि उपाधिसे रहित सहजानन्द लक्षणवाले सुखामृत स्वभावी निजात्मद्रव्यमें भावना करनी चाहिए ऐसा तात्पर्य है। (प का./ता.वृ/१२८-१३०/१६३/११)।

दे० धर्म/४/२ (शुद्धभावका आश्रय करनेपर ही शुभभावोंका निषेध किया है सर्वथा नहीं।)

मो. मा प्र/७/३१/१४ प्रश्न—शास्त्रविषै शुभ-अशुभ कौ समान कहा है (दे० पुण्य/२), तातै हमको तौ विशेष जानना युक्त नाहीं। उत्तर—जे जीव शुभोपयोगको मोक्षका कारण मानि, उपादेय मानै, शुद्धोपयोगको नाही पहिचानै है, तिनिकौ शुभ-अशुभ दोऊनिकौ अशुद्धताकी अपेक्षा वा बन्धकारणकी अपेक्षा समान दिखाये है, बहुदि शुभ-अशुभका परस्पर विचार कीजिए, तौ शुभभावनि विषै कषाय मद हो है, तातै बन्ध हीन हो है। अशुभ भावनिविषै कषाय तीव्र हो है, तातै बन्ध बहुत हो है। ऐसे विचार किए अशुभकी अपेक्षा सिद्धान्त विषै शुभको मला भी कहिये है। (दे० पुण्य/४/१ तथा पुण्य/४/५)।

४. सन्यग्दृष्टिका पुण्य निरीह होता है

इ. उ/४ यत्र भाव शिव दत्ते द्यौः कियद्दूरवतिनी। यो नयत्याशु गव्यति कोशाद्धं किं स सीदति १४। = जो मनुष्य किसी भारको स्वेच्छासे शीघ्र दो कोस ले जाता है, वह उसी भारको आधाकोस ले जानेमें कैसे खिन्न हो सकता है? उसी प्रकार जिस भावमें मोक्ष-

सुख प्राप्त करनेकी सामर्थ्य है उसे स्वर्गसुखकी प्राप्ति कितनी दूर है अर्थात् कौन बड़ी बात है?

का. अ./४११-४१२ जो अहिलसेदि पुण्णं सकसाओ विसयसोवखत-ण्हाए। वूरे तस्स विसोही विसोहिमूलाणि पुण्णाणि ४११। पुण्णासाए ण पुण्ण जदो णिरीहस्स पुण्णसंपत्ती। इय जाणिऊण जइणो पुण्णो वि म(ण) आयरं कुणह ४१२। = जो कषाय सहित होकर विषय-तृष्णासे पुण्यकी अभिलाषा करता है उससे विशुद्धि और, विशुद्धि-मूलक पुण्य दूर है ४११। तथा पुण्यकी इच्छा करनेसे पुण्य नहीं होता, बल्कि निरीह (इच्छा रहित) व्यक्तिको ही उसकी प्राप्ति होती है; अतः ऐसा जानकर हे यतीश्वरो। पुण्यमें भी आदरभाव मत करो ४१२।

५. पुण्यके साथ पाप प्रकृतियोंके बन्ध सम्बन्धी समन्वय

रा. वा/६/३/७/५०७/२३ स्यादेतत्-शुभ. पुण्यस्येत्यनिर्देश', . . . कुत'। धातिकर्मबन्धस्य शुभपरिणामहेतुत्वादिति; तत्र; कि कारणम्। इतरपुण्यपापापेक्षत्वात्, अनातिकर्मस्य पुण्यं पापं चापेक्षेदमुच्यते। कुत'। धातिकर्मबन्धस्य स्वविषये निमित्तत्वात्। अथवा नैवमव-धारणं क्रियते—शुभ. पुण्यस्यैवेति। कथं तर्हि। शुभ एव पुण्यस्येति। तेन शुभ' पापस्यापि हेतुरित्यविरोधः। यद्येव शुभ' पापस्यापि [हेतु] भवति; अशुभ. पुण्यस्यापि भवतीत्यभ्यु-पगम' कर्तव्य', सर्वोत्कृष्टस्थितीनाम् उत्कृष्टसंक्लेशहेतु-कत्वात्। . . . तत' सूत्रद्वयमनर्थकमिति; नानर्थकम्, अनुभागबन्धं प्रत्येतदुक्तम्। अनुभागबन्धो हि प्रधानभूतः तन्निमित्तत्वात् सुख-दुःखविपाकस्य। तत्रोत्कृष्टविशुद्धपरिणामनिमित्तं सर्वशुभप्रकृती-नामुत्कृष्टानुभागबन्धः। उत्कृष्टसंक्लेशपरिणामनिमित्तं सर्वाशुभ-प्रकृतीनामुत्कृष्टानुभागबन्धः। शुभपरिणाम, अशुभजघन्यानुभाग-बन्धहेतुत्वेऽपि भूयस शुभस्य हेतुरिति शुभ' पुण्यस्येत्युच्यते, यथा अल्पाकारहेतुरपि बहुकारसंज्ञावातुपकार इत्युच्यते। एवमशुभ' पापस्येत्यपि। = प्रश्न—जब धाति कर्मोंका बन्ध भी शुभ परि-णामोंसे होता है तो 'शुभ. पुण्यस्य' अर्थात् 'शुभपरिणाम पुण्या-सर्वके कारण है' यह निर्देश व्यर्थ हो जाता है? उत्तर—१, अधा-तिया कर्मोंमें जो पुण्य और पाप प्रकृतियाँ हैं, उनको अपेक्षा ही यहाँ पुण्य व पाप हेतुताका निर्देश है, धातियोंकी अपेक्षा नहीं। २, अथवा शुभ पुण्यका ही कारण है ऐसा अवधारण नहीं करते हैं, किन्तु 'शुभ ही पुण्यका कारण है' यह अवधारण किया गया है। इससे ज्ञात होता है कि शुभ पापका भी हेतु हो सकता है। प्रश्न—यदि शुभ पापका और अशुभ पुण्यका भी कारण होता है; क्योंकि सब प्रकृतियोंका उत्कृष्ट स्थितिबन्ध उत्कृष्ट संक्लेशसे होता है (दे० स्थिति/४), अतः दोनों सूत्र निरर्थक हो जाते हैं? उत्तर—नहीं, क्योंकि यहाँ अनुभागबन्धकी अपेक्षा सूत्रोंको लगाना चाहिए। अनुभागबन्ध प्रधान है, वही सुख-दुःखरूप फलका निमित्त होता है। समस्त शुभ प्रकृतियोंका उत्कृष्ट अनुभागबन्ध उत्कृष्ट विशुद्ध परिणामोंसे और समस्त अशुभ प्रकृतियोंका उत्कृष्ट अनुभागबन्ध उत्कृष्ट संक्लेश परिणामोंसे होता है (दे० अनुभाग/२/२)। यद्यपि उत्कृष्ट शुभ परिणाम अशुभके जघन्य अनुभागबन्धके भी कारण होते हैं, पर बहुत शुभके कारण होनेसे 'शुभ पुण्यस्य' सूत्र सार्थक है; जैसे कि षोडा अपकार करनेपर भी बहुत उपकार करनेवाला उपकारक ही माना जाता है। इसी तरह 'अशुभ' पापस्य' इस सूत्रमें भी समझ लेना चाहिए।

पुण्यप्रभ—क्षौद्रवर द्वीपका रक्षक देव—दे० व्यतर/४।

पुण्यास्रव कथाकोश—४५०० श्लोकोंमें रचित। (ती./३/७१)।

पुद्गल—जो एक दूसरेके साथ मिलकर बिल्लुडता रहे, ऐसा पूरण गलन स्वभावी मूर्तिक जड पदार्थ 'पुद्गल' ऐसी अन्वर्थ संज्ञाको प्राप्त होता है। तहाँ भी मूलभूत पुद्गल पदार्थ तो अविभागी परमाणु ही है। उनके परस्पर बन्धसे ही जगत्के विचित्र विचित्र पदार्थोंका निर्माण होता है, जो स्कन्ध कहलाते हैं। स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण ये पुद्गलके प्रसिद्ध गुण हैं।

१. पुद्गल सामान्यका लक्षण

१. निरुक्तार्थ

रा. वा. १/१/२४.२६/४३४/१२ पूरणगलनान्वर्थमंलत्वात् पुद्गलात् १२४। भेदसघाताभ्यां च पूर्वान्ते गलन्ते चेति पूरणगलनारिभका क्रियामन्त-र्भाव्य पुद्गलशब्दोऽन्वर्थः ... पुद्गलानाद्वा १२६। अथवा गुमांसो जीवाः, तै. शरीराहारविषयकरणोपकरणदिभावेन गिल्यन्त इति पुद्गलात् १। = भेद और संघातसे पूरण और गलनको प्राप्त हो वे पुद्गल हैं यह पुद्गल द्रव्यकी अन्वर्थ संज्ञा है १२४। अथवा पुरुष यानी जीव जिनको शरीर, आहार विषय और इन्द्रिय-उपकरण आदिके रूपमें मिलते अर्थात् ग्रहण करें वे पुद्गल हैं १२६।

नि. सा. ता. वृ. १/६ गलनपूरणस्वभावसंघातः पुद्गलात् १। = जो गलन-पूरण स्वभाव सहित है, वह पुद्गल है। (द्र. सं./टी. १/१४/५०/१२); (द्र. सं./टी. १/२६/७४/१)।

२. गुणोंकी अपेक्षा

त. सू. १/१/२३ रपर्शरसगन्धवर्णवन्तः पुद्गलात् १२३। = स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण वाले पुद्गल होते हैं।

२. पुद्गलके भेद

१. अणु व स्कन्ध

त. सू. १/१/२५ अणवः स्कन्धाश्च १२५। = पुद्गलके दो भेद हैं—अणु और स्कन्ध।

२. स्वभाव व विभाव

नि. सा. ता. वृ. १/२० पुद्गलद्रव्यं तावद् विकल्पद्वयसमाधत्तम्। स्वभाव-पुद्गलो विभावपुद्गलश्चेति १। = पुद्गल द्रव्यके दो भेद हैं—स्वभाव-पुद्गल और विभाव पुद्गल।

३. देश प्रदेशादि चार भेद—वे० स्कन्ध/१।

३. स्वभाव विभाव पुद्गलके लक्षण

नि. सा. ता. वृ. १/२० तत्र स्वभावपुद्गलः परमाणुः विभावपुद्गलः स्कन्धः। = उनमें, परमाणु वह स्वभावपुद्गल है और स्कन्ध वह विभाव पुद्गल है।

४. पुद्गलके २१ सामान्य विशेष स्वभाव

आ. प. ४ स्वभावा कथ्यन्ते। अस्ति स्वभावः नास्ति स्वभावः नित्यस्वभावः अनित्यस्वभावः एकस्वभावः अनेकस्वभावः भेदस्वभावः अभेदस्वभावः भव्यस्वभावः अभव्यस्वभावः परमस्वभावः द्रव्याणामेकादशसामान्य-स्वभावाः। चैतनस्वभावः, अचेतनस्वभावः मूर्त्तस्वभावः अमूर्त्तस्वभावः एकप्रदेशस्वभावः अनेकप्रदेशस्वभावः विभावस्वभावः शुद्धस्वभावः अशुद्धस्वभावः उपचरितस्वभावः एते द्रव्याणां दश विशेषस्वभावाः। जीवपुद्गलयोरेकविशतिः। = स्वभावोंको कहते हैं। १. अस्तिस्वभाव, २. नास्तिस्वभाव, ३. नित्यस्वभाव, ४. अनित्यस्वभाव, ५. एकस्वभाव, ६. अनेकस्वभाव, ७. भेदस्वभाव, ८. अभेदस्वभाव, ९. भव्यस्वभाव, १०. अभव्यस्वभाव, और ११. परमस्वभाव, ये द्रव्योंके ११ सामान्य स्वभाव हैं। १२. चैतनस्वभाव, १३. अचेतनस्वभाव, १४.

मूर्त्तस्वभाव, १५. अमूर्त्तस्वभाव, १६. एकप्रदेशस्वभाव, १७. अनेकप्रदेश-स्वभाव, १८. विभावस्वभाव, १९. शुद्धस्वभाव, २०. अशुद्धस्वभाव, और २१. उपचरितस्वभाव। (तथा २२. अनुपचरित स्वभाव, २३. एकान्तस्वभाव, और २४. अनेकान्त स्वभाव (न, च, वृ./७० की टी) ये द्रव्योंके विशेष स्वभाव हैं। उपरोक्त कुल २४ स्वभावोंमेंसे अमूर्त्त, चैतन्य व अभव्य स्वभावसे रहित पुद्गलके २१ सामान्य विशेष स्वभाव हैं (न, च वृ./७०)।

५. पुद्गल द्रव्यके विशेष गुण

त. सू. १/२३ रपर्शरसगन्धवर्णवन्तः पुद्गलात् १२३। = पुद्गल स्पर्श, रस, गन्ध और वर्णवाले होते हैं। (न, च, वृ./१३); (ध. १/३३/६); (प्र. सा./त. प्र./१३२)।

न, च, वृ./१४ वण्ण रस पंच गंधा दो फासा अट्ट णायत्वा १४। = पाँच वर्ण, पाँच रस, दो गन्ध, और आठ स्पर्श ये पुद्गलके विशेष गुण हैं। आ. प. १/२ पुद्गलस्य स्पर्शरसगन्धवर्णाः मूर्त्तस्वमचेतनत्वमिति षट्। = पुद्गल द्रव्यके स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण, मूर्त्तत्व और अचेतनत्व, ये छह विशेष गुण हैं।

प्र. सा./त. प्र./१२६, १३६ भाववन्तौ क्रियावन्तौ च पुद्गलजीवी परिणामाद्भेदसघाताभ्यां चोत्पद्यमानावतिष्ठमानभज्यमानत्वात् १२६। पुद्गलस्य बन्धहेतुभूतस्निग्धरुक्षगुणधर्मत्वाच्च १३६। = पुद्गल तथा जीव भाववाले तथा क्रियावाले हैं। क्योंकि परिणाम द्वारा तथा संघात और भेदके द्वारा वे उत्पन्न होते हैं टिकते हैं और नष्ट होते हैं १२६। (पं. का./ता. वृ. १/२७/५७/६); (पं. ध./उ./२५)। बन्धके हेतुभूत स्निग्ध व रुक्षगुण पुद्गलका धर्म है १३६।

६. पुद्गलके प्रदेश

नि. सा./मू. १/३५ संखेज्जासंखेज्जाणं तप्रदेशा हवंति मुत्तस्स १३५। = पुद्गलोंके संख्यात, असंख्यात और अनन्त प्रदेश हैं। १२०। (त. सू./५/१०); (प. प्र./मू./२/२४); (द्र. सं./मू./२५)।

प्र. सा./त. प्र./१३५ द्रव्येण प्रदेशमात्रत्वादप्रदेशत्वेऽपि द्विप्रदेशादिसंख्येयासंख्येयानन्तप्रदेशपययिणानवधारितप्रदेशत्वात्पुद्गलस्य १। = पुद्गल द्रव्य यद्यपि द्रव्य अपेक्षासे प्रदेशमात्र होनेसे अप्रदेशी है। तथापि दो प्रदेशोंसे लेकर संख्यात, असंख्यात और अनन्त प्रदेशवाली पर्यायो-की अपेक्षासे अनिश्चित प्रदेशवाला होनेसे प्रदेशवान है (गो. जी./मू. १/५५/१०२५)।

७. शब्दादि पुद्गल द्रव्यकी पर्याय हैं

त. सू. १/२४ शब्दबन्धसौक्ष्म्यस्थौष्यसंस्थानभेदतमरुद्धायाऽऽतपोद्योत-वन्तश्च १२४। = तथा वे पुद्गल शब्द, बन्ध, सूक्ष्मत्व, स्थूलत्व, संस्थान, भेद, अन्धकार, छाया, आतप, और उद्योतवाले होते हैं। १२४। अर्थात् ये पुद्गल द्रव्यकी पर्याय हैं। (द्र. सं./मू./१६)।

रा. वा. १/१/२४/२४/४५०/२४ स्पर्शादियः परमाणुना स्कन्धानां च भवन्ति शब्दादयस्तु स्कन्धानामेव व्यक्तिरूपेण भवन्ति १०० सौक्ष्म्यं तु अन्त्य-मणुष्वेव आपेक्षिकं स्कन्धेषु १। = स्पर्शादि परमाणुओंके भी होते हैं स्कन्धोंके भी पर शब्दादि व्यक्त रूपसे स्कन्धोंके ही होते हैं १०० सौक्ष्म्य पर्याय तो अणुमें ही होती है, स्कन्धोंमें तो सौक्ष्म्यपना आपेक्षिक है। (और भी वे० - स्कन्ध/१)।

८. शरीरादि पुद्गलके उपकार हैं

त. सू. १/१६-२० शरीरवाङ्मनप्राणापाना पुद्गलानाम् ११६। सुख-दुःखजीवितमरणोपग्रहाश्च १२०।

स. सि./१/२०/२५६/२ एतानि सुखादीनि जीवस्य पुद्गलकृत उपकारः, मूर्त्तिमद्हेतुसंनिधाने सति तदुत्पत्तेः। = शरीर, वचन मन और प्राणापान यह पुद्गलोंका उपकार है ११६। सुख, दुःख, जीवित और

मरण ये भी पुद्गलके उपकार है। २०। ये सुखादि जीवके पुद्गलकृत उपकार है, क्योंकि मूर्त कारणोंके रहनेपर ही इनकी उत्पत्ति होती है।

९. पुद्गलमें अनन्त शक्ति है

पं. ध./उ./१२५ नेबं यवोऽनभिज्ञोऽसि पुद्गलाचिन्त्यशक्तिषु। प्रतिकर्म प्रकृता यैर्नानारूपासु वस्तुतः। १२५। —इस प्रकार कथन ठीक नहीं है क्योंकि वास्तवमें प्रत्येक कर्मकी प्रकृति, प्रवेश, स्थिति और अनु-भागके द्वारा अनेक रूप पुद्गलकी अचिन्त्य शक्तियोंके विषयमें तुम अनभिज्ञ हो। १२५।

१०. पृथिवी जल आदि सभीमें सर्वगुणोंकी सिद्धि

प्र. सा./मू./१३२ वर्णरसगंधफासा विज्जंते पुग्गलस्स सुहुमादो। पुढ्वी-परियत्तस्स य सहो सो पोग्गलो चित्तो। १३२। —वर्ण, रस, गन्ध और स्पर्श (गुण) सूक्ष्मसे लेकर पृथ्वी पर्यन्तके (सर्व) पुद्गलके होते हैं, जो विविध प्रकारका शब्द है वह पुद्गल अर्थात् पौद्गलिक पर्याय है। १३२।

रा. वा./५/२५/१६/४९३/९ पृथिवी तावत् घटादिलक्षणा स्पर्शादि-शब्दाद्यात्मिका सिद्धा। अम्भोऽपि तद्विकारत्वात् तदात्मकम्, साक्षात् गन्धोपलब्धेश्च। तत्संयोगिनां पार्थिवद्रव्याणां गन्धः तद्गुण इवोपलभ्यत इति चेत्, न; साध्यत्वात्। तद्वियोगकालादर्शनात् तदविनाभावाच्च तद्गुण एवेति निश्चयः कर्तव्यः—गन्धव-दम्भ रसवत्त्वात् आम्रफलवत्। तथा तेजोऽपि स्पर्शादिशब्दादि-स्वभावकं तद्वत्कार्यत्वात् घटवत्। स्पर्शादिमतां हि काष्ठादीनां कार्यं तेजः। किञ्च तत्परिणामात्। उपयुक्तस्य हि आहारस्य स्पर्शादिगुणस्य वातपित्तश्लेष्मविपरिणामः। पित्तं च जठराग्निः, तस्मात् स्पर्शादिमत्तेजः। तथा स्पर्शादिशब्दादिपरिणामो वायुः स्पर्शवत्त्वात् घटादिवत्। किञ्च, तत्परिणामात्। उपयुक्तस्य हि आहारस्य स्पर्शादिगुणस्य वातपित्तश्लेष्मविपरिणामः। वातरश्च प्राणादि, ततो वायुरपि स्पर्शादिमात् इत्यवसेयः। एतेन 'चतुस्त्रि-द्वयेकगुणाः पृथिव्यादयः पार्थिवादिजातिभिन्नाः' इति दर्शनं प्रत्युक्तम्। —घट, पट आदि स्पर्शादिमात् पदार्थ पृथिवी है। जल भी पुद्गलका विकार होनेसे पुद्गलात्मक है। उसमें गन्ध भी पायी जाती है। 'जलमें संयुक्त पार्थिव द्रव्योंकी गन्ध आती है, जल स्वयं निर्गन्ध है' यह पक्ष असिद्ध है। क्योंकि कभी भी गन्ध रहित जल उपलब्ध नहीं होता और न पार्थिव द्रव्योंके संयोगसे रहित ही। गन्ध स्पर्शका अविनाभावी है। अर्थात् पुद्गलका अविनाभावी है। अतः वह जलका गुण है। जल गन्धवाला है, क्योंकि वह रसवाला है जैसे कि आम। अग्नि भी स्पर्शादि और शब्दादि स्वभाववाली है क्योंकि वह पृथिवीत्ववाली पृथ्वीका कार्य है जैसे कि घड़ा। स्पर्शादिवाली लकड़ीसे अग्नि उत्पन्न होती है यह सर्व विदित है। पुद्गल परिणाम होनेसे खाये गये स्पर्शादिगुणवाले आहारका वात पित्त और कफरूपसे परिणाम होता है। पित्त अर्थात् जठराग्नि। अतः तेजको स्पर्श आदि गुणवाला ही मानना ठीक है। इसी तरह वायु भी स्पर्शादि और शब्दादि पर्यायवाली है, क्योंकि उसमें स्पर्श गुण पाया जाता है जैसे कि घटमें। खाये हुए अन्नका वात पित्त श्लेष्म रूपसे परिणाम होता है। वात अर्थात् वायु। अतः वायुको भी स्पर्शादिमान मानना चाहिए। इस प्रकार नैयायिकोंका यह मत खण्डित हो जाता है कि पृथ्वीमें चार गुण, जलमें गन्ध रहित तीज गुण, अग्निमें गन्ध रस रहित दो गुण, तथा वायुमें केवल स्पर्श गुण है। (रा. वा./२/२०/४/१३३/१७), (रा. वा./५/३/३/४४२/६); (रा. वा./५/२३/३/४५४/२०)।

पं. सा./त. प्र./१३२ सर्वपुद्गलानां स्पर्शादिचतुष्कोपेतत्वाभ्युपगमात्। व्यक्तस्पर्शादिचतुष्कानां च चन्द्रकान्तारणियवानामारम्भकैरेव पुद्ग-

लैरव्यक्तगन्धाव्यक्तगन्धरसाव्यक्तगन्धरसवर्णानामब्ज्योतिरुदरमरुता-मारम्भदर्शनात्। —सभी पुद्गल स्पर्शादि चतुष्क युक्त स्वीकार किये गये हैं। क्योंकि जिनके स्पर्शादि चतुष्क व्यक्त है ऐसे चन्द्र-कान्त मणिको, अरणिको और जौ को जो पुद्गल उत्पन्न करते हैं उन्हींके द्वारा जिसको गन्ध अव्यक्त है ऐसे पानी की, जिसकी गन्ध तथा रस अव्यक्त है ऐसी अग्निकी, और जिसकी गन्ध, रस तथा वर्ण अव्यक्त है ऐसी उदर वायुकी उत्पत्ति होती देखी जाती है।

११. अन्य सम्बन्धित विषय

१. पुद्गलका स्वपरके साथ उपकार्य उपकारक भाव।

—दे० कारण/III/१।

२. पुद्गल द्रव्यका अस्तिकायपना।

—दे० अस्तिकाय।

३. वास्तवमें परमाणु ही पुद्गल द्रव्य है।

—दे० परमाणु/२।

४. पुद्गल मूर्त है।

—दे० मूर्त/४।

५. पुद्गल अनन्त व क्रियावान है।

—दे० द्रव्य।

६. अनन्तों पुद्गलोंका लोकमें अवस्थान व अवगाह।

—दे० आकाश/३।

७. पुद्गलकी स्वभाव व विभाव गति।

—दे० गति/१।

८. पुद्गलमें स्वभाव व विभाव दोनों पर्यायोंकी सम्भावना।

—दे० पर्याय/३।

९. पुद्गलके सर्वगुणोंका परिणामन स्व जातिको

उल्लंघन नहीं कर सकता।

—दे० गुण/२।

१०. संसारी जीव व उसके भाव भी पुद्गल कहे जाते हैं।

—दे० मूर्त।

११. जीवको कर्षचित् पुद्गल व्यपदेश।

—दे० जीव/१/३।

१२. पुद्गल विपाकी कर्म प्रकृतियाँ।

—दे० प्रकृति बंध/२।

१३. द्रव्यभावकर्म, कर्मणशरीर, द्रव्यभाव मन,

व वचनमें पुद्गलपना।

—दे० मूर्त/२।

पुद्गल क्षेप—स. सि./७/३१/३६६/११ लोष्टादिनिपात. पुद्गल-क्षेपः। —प्रमाणके किये हुए स्थानसे बाहर डेला आदि फेंकवाकर अपना प्रयोजन सिद्ध करना पुद्गलक्षेप नामका देशव्रतका अतिचार है।

पुद्गल परिवर्तन—दे० संसार/२।

पुद्गल बन्ध—दे० स्कन्ध/२।

पुनरुक्त निग्रहस्थान—

न्या सू./मू. व टी./५/२/१४-१५/३१५ शब्दार्थयोः पुनर्वचनं पुनरुक्तम-न्यत्रानुवादात्। १४। अर्थादापन्नस्य स्वशब्देन पुनर्वचनम्। १५। —पुनरुक्त दो प्रकारका है—शब्द पुनरुक्त व अर्थ पुनरुक्त। उनमेंसे अनुवाद करनेके अतिरिक्त जो शब्दका पुनः कथन होता है, उसे शब्द पुनरुक्त कहते हैं। १४। एक शब्दसे जिस अर्थकी प्रतीति हो रही हो उसी अर्थको पुनः अन्य शब्दसे कहना अर्थपुनरुक्त है। १५। (श्लो. वा. ४/न्या./२३२/४०८/१३ पर उद्धृत)।

स. भं. त./१४/४ स्वजन्यबोधसमानाकारबोधजनकवाक्योत्तरकालीन-वाक्यत्वमेव हि पुनरुक्तत्वम्। —एक वाक्य जन्य जो बोध है, उसी बोधके समान बोध जनक यदि उत्तरकालका वाक्य हो तो यही पुनरुक्त बोध है। (प. प्र./टी./२।२११)।

पुनर्वसु नक्षत्र—दे० नक्षत्र।

पुद्भाग—मध्य आर्य खण्डका एक देश—दे० मनुष्य/४।

पुष्पाट—कर्नाटक (मैसूरके समीपवर्ती प्रदेश) (ह, पु./प्र./४) ।

पुष्पाट संघ—दे० इतिहास/५/३; ७/८ ।

पुमान्—जीवको पुमान् कहनेकी विवक्षा—दे० जीव/१/३ ।

पुर—दे० नगर ।

पुराकल्प—न्या सू/टी./२/१/६४/१०१/६ ऐतिहासमाचरितो विधि. पुराकल्प इति।—ऐतिहास सहचरित विधिको पुराकल्प कहते हैं ।

पुराण—हरिवंश आदि १२ पुराणोंके नाम निर्देश (दे० इतिहास/१० में राज्यवंशोंके नाम निर्देश) ।

पुराण संग्रह—२४ तीर्थंकरोंके जीवन चरित्रके आधारपर रचे गये पुराण संग्रह नामके कई ग्रन्थ उपलब्ध हैं—१. आचार्य दामनान्दि कृत ग्रन्थमें ६ चरित्रोंका संग्रह है । आदिनाथ, चन्द्रप्रभु, शान्तिनाथ, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ, वर्धमान चरित्र । कुल ग्रन्थ १६६४ श्लोक प्रमाण है । इसका काल ज्ञात नहीं है । २ आचार्य श्रीचन्द्र द्वारा वि. सं. १०६६में रचा गया । (ती/४/१३१) । ३. आचार्य सकलकीर्ति द्वारा (ई. १४०६-१४४२) में रचा गया । (ती./३/३३४) ।

पुराणसार—आ० श्रीचन्द्र (ई० १४६५-१५१८) द्वारा रचित ग्रन्थ ।

पुर—विजयार्थकी उत्तर श्रेणीका एक नगर—दे० विद्याधर ।

पुरुड वंश—मालवा (मगध देश) के राज्यवंश । इस वंशका दूसरा नाम मुरुड वंश या मौर्यवंश भी है । (दे० इतिहास/३/४) ।

पुरुरवा—(म, पु/६२/८७-८८ एक भील था) एक समय मुनिराजके दर्शनकर मद्य, मांस व मधुका त्याग किया। इस व्रतके प्रभावसे सौधर्म स्वर्गमें देव हुआ। यह महावीर भगवान्का दूरवर्ती पूर्व भव है। उनके मरीचिके भवकी अपेक्षा यह दूसरा पूर्व भव है।—दे० महावीर ।

पुरुष—भरतक्षेत्रस्थ दक्षिण आर्य खण्डका एक देश—दे० मनुष्य/४ ।

पुरुष—१. उत्तम कर्मकी सामर्थ्य युक्त

पं. सं./प्रा./१/१०६ पुरु गुण भोगे सेदे करेदि लोयमिह पुरुगुणं कर्मम् । पुरु उत्तमो य जम्हा तम्हा सो वणिणओ पुरिसो । १०६।—जो उत्तम गुण और उत्कृष्ट भोगमें शयन करता है, लोकमें उत्तम गुण और कर्मको करता है, अथवा यतः जो स्वय उत्तम है, अतः वह पुरुष इस नामसे वर्णित किया गया है । १०६। (घ, १/१, १, १०१/गा, १७१/३४१); (गो. जी./मू./२७३) ।

ध. १/१.२.१०१/३४१/४ पुरुगुणेषु पुरुभोगेषु च सेते स्वपितोति पुरुषः । सुषुप्तपुरुषवदनुगतगुणोऽप्राप्तभोगश्च यदुदयाज्जीवो भवति स पुरुषः अङ्गनाभिलाष इति यावत् । पुरुगुणं कर्म सेते करोतीति वा पुरुषः । कथं स्थभिलाष पुरुगुणं कर्म कुर्यादिति चेन्न, तथाभूतसामर्थ्यान्निद्र-जीवसहचरितत्वावुपचारेण जीवस्य तत्कृत्वाभिधानात् ।—जो उत्कृष्ट गुणोंमें और उत्कृष्ट भोगोंमें शयन करता है उसे पुरुष कहते हैं अथवा, जिस कर्मके उदयसे जीव, सोते हुए पुरुषके समान, गुणोंसे अनुगत होता है और भोगोंको प्राप्त नहीं करता है उसे पुरुष कहते हैं । अर्थात् स्त्री सम्बन्धी अभिलाषा जिसके पायी जाती है, उसे पुरुष कहते हैं । अथवा जो श्रेष्ठ कर्म करता है, वह पुरुष है । (घ, ६/१.६-१.२४/४६/६) । प्रश्न—जिसके स्त्री-विषयक अभिलाषा पायी जाती है, वह उत्तम कर्म कैसे कर सकता है । उत्तर—नहीं, क्योंकि, उत्तम कर्मको करने रूप सामर्थ्यसे युक्त जीवके स्त्रीविषयक अभिलाषा पायी जाती है अतः वह उत्तम कर्मको करता है, ऐसा कथन उपचारसे किया गया है ।

२. चेतन आत्मा

पु. सि. ७/६ अस्ति पुरुषश्चिदात्मा विवर्जितः स्पर्शगन्धरसवर्णः । गुणपर्याय-समवेतः समाहितः समुदयव्ययधौव्ये । =पुरुष अर्थात् आत्मा चेतन स्वरूप है। स्पर्श, गन्ध, रस व वर्णादिकसे रहित अमूर्तिक है। गुण पर्याय संयुक्त है। उरपाद, व्यय, धौव्य युक्त है । ६।

गो. जी./जी. प्र./२७३/५६५/१ पुरुगुणे सम्यग्ज्ञानाधिकगुणसमूहे प्रवर्तते, पुरुभोगे नरेन्द्रनागेन्द्रदेवेन्द्राद्यधिकभोगचमे, भोगकृत्वेन प्रवर्तते, पुरुगुणं कर्म धर्मार्थकाममोक्षलक्षणपुरुषार्थसाधनरूपदिव्यानुष्ठान करोति च । पुरुत्तमे परमेष्ठिपदे तिष्ठति पुरुत्तमः सन् तिष्ठति इत्यर्थः तस्मात् कारणात् स जीवः पुरुष इति ।—जो उत्कृष्ट गुण सम्यग्-ज्ञानादिका स्वामी होय प्रवर्ते, जो उत्कृष्ट इन्द्रादिकका भोग तीहि विषे भोक्ता होय प्रवर्ते, बहुरि पुरुगुणकर्म जो धर्म, अर्थ, काम, मोक्षरूप पुरुषार्थको करै । और जो उत्तम परमेष्ठीपदमें तिष्ठे, तातै वह जीव पुरुष है ।

२. भाव पुरुषका लक्षण

गो. जी./जी. प्र./२७१/५६१/१५ पुंवेदोदयेन स्त्रियां अभिलाषरूपमेथुन-संज्ञाक्रान्तो जीवो भावपुरुषो भवति ।—पुरुष वेदके उदयतै पुरुषका अभिलाष रूप मैथुन संज्ञाका धारक जीव सो भाव पुरुष हो है ।

३. द्रव्य पुरुषका लक्षण

स. सि./२/५२/२००/६ पुंवेदोदयात् सूते जनयत्यपत्यमिति पुमात् ।—पुंवेदके उदयसे जो अपत्यको जनता है वह पुरुष है । (रा. वा./२/५२/१/१५७/४) ।

गो. जी./जी. प्र./२७१/५६१/१८ पुंवेदोदयेन निर्माणनामकर्मोदययुक्ताङ्गो-पाङ्गनामकर्मोदयवशेन श्मश्रुकूर्चशिशनादिलिगाङ्कितशरीरवि-शिष्टो जीवो भवप्रथमसमयादि कृत्वा तद्भवचरमसमयपर्यन्तं द्रव्यपुरुषो भवति ।—निर्माण नामकर्मका उदय संयुक्त पुरुष वेद रूप आकारका विशेष लिये अंगोपांग नामकर्मका उदय तै मूँछ दाढी लिगादिक चिह्न संयुक्त शरीरका धारक जीव सो पर्यायका प्रथम समयतै लगाय अन्त समय पर्यंत द्रव्य पुरुष हो है ।

४. पुरुष वेद कर्मका लक्षण

स. सि./८/६/३८६/२ यस्योदयात्पौस्तान्भवानास्कन्दति स पुंवेदः ।—जिसके उदयसे पुरुष सम्बन्धी भावोंको प्राप्त होता है वह पुंवेद है ।

★ अन्य सम्बन्धी विषय

१. पुरुष वेद सम्बन्धी विषय । —दे० वेद ।
२. जीवको पुरुष कहनेकी विवक्षा । —दे० जीव/१/३ ।
३. आदि पुरुष । —दे० ऋषभ ।
४. ऊर्ध्वमूल अधःशाखा रूप पुरुषका स्वरूप । —दे० मनुष्य/२ ।
५. पुरुषवेदके बन्ध योग्य परिणाम । —दे० मोहनोय/३/६ ।

पुरुषतत्त्व—सारूप्य व शैव मान्य पुरुष तत्त्व—दे० वह वह नाम ।

पुरुषदत्ता—१. एक विद्या—दे० विद्या; २. भगवान् सुपार्श्वनाथकी शासक यक्षिणी—दे० तीर्थंकर/६/३ ।

पुरुष पुंडरीक—दे० पुंड्रीक ।

पुरुषपुर—वर्तमान पेशावर नगर (म. पु. प्र. ५०/५० पञ्जालाल) ।

पुरुषप्रभ—व्यन्तर देवोका एक भेद—दे० व्यन्तर ।

पुरुषवाद—दे० अद्वैतवाद ।

पुरुष व्यभिचार—दे० नय/III/६/८ ।

पुरुष सिंह—म. पु. ६१/श्लोक पूर्वके दूसरे भवमे राजगृह नगरका राजा सुमित्र था (५७) । फिर महेन्द्र स्वर्गमें देव हुआ (६३-६५) । वहाँसे च्युत होकर वर्तमान भवमें ५ वों नारायण हुआ (७१) । (विशेष दे० शलाकापुरुष) ।

पुरुषाद्वैत—दे० अद्वैत ।

पुरुषार्थ—पुरुष पुरुषार्थ प्रधान है, इसलिए लौकिक व अलौकिक सभी क्षेत्रोंमें वह पुरुषार्थसे रिक्त नहीं हो सकता । इसीसे पुरुषार्थ चार प्रकारका है—धर्म, अर्थ, काम व मोक्ष । इनमें से अर्थ व काम पुरुषार्थका सभी जीव रुचि पूर्वक आश्रय लेते हैं और अकल्याणको प्राप्त होते हैं । परन्तु धर्म व मोक्ष पुरुषार्थका आश्रय लेनेवाले जीव कल्याणको प्राप्त करते हैं । इनमेंसे भी धर्म पुरुषार्थ पुण्य रूप होनेसे मुख्यतः लौकिक कल्याणको देनेवाला है, और मोक्ष पुरुषार्थ साक्षात् कल्याणप्रद है ।

१. चतुःपुरुषार्थ निर्देश

१. पुरुषार्थका लक्षण

स. म. १५/११२/८ विवेकव्याप्तिश्च पुरुषार्थः । = (सांख्य मान्य) पुरुष तथा प्रकृतिमें भेद होना ही पुरुषार्थ है ।

अष्टशती—पौरुष पुनरिह चेष्टितम् । = चेष्टा करना पुरुषार्थ है ।

२. पुरुषार्थके भेद

ज्ञा. ३/४ धर्मश्चार्थश्च कामश्च मोक्षश्चेति महर्षिभिः । पुरुषार्थोऽयमुद्दिष्टश्चतुर्भेद पुरातनैः । ४ = महर्षियोंने धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष यह चार प्रकारका पुरुषार्थ कहा है । ४। (प. वि. ७/३५) ।

३. अर्थ व काम पुरुषार्थ हेय हैं

भ. आ. मू. १८२३-१८२४/१६२८ असुहा अत्था कामा य... १८२३। इहलोगियपरलोगियदोसे पुरिसस्स आबहइ णिच्चं । अत्थो अणत्थमूलं महाभयं मुत्तिपडिपथो १८२४। कुणिमकुडिभवा लहुगत्तकारथा अप्पकालिया कामा । उवधो लोए दुवस्ववहा य ण य होति सुलहा १८२५। = अर्थ पुरुषार्थ और काम पुरुषार्थ अशुभ है । १८२३। इस लोकके दोष और परलोकके दोष अर्थ पुरुषार्थसे मनुष्यको भोगने पडते हैं । इसलिए अर्थ अनर्थका कारण है, मोक्ष प्राप्तिके लिए यह अर्गलाके समान है । १८२४। यह काम पुरुषार्थ अपवित्र शरीरसे उत्पन्न होता है, इससे आत्मा हक्की होती है, इसकी सेवासे आत्मा दुर्गतिमें दुख पाती है । यह पुरुषार्थ अल्पकालमें ही उत्पन्न होकर नष्ट होता है और प्राप्त होनेमें कठिन है । १८२५।

* पुण्य होनेके कारण निश्चयसे धर्म पुरुषार्थ हेय है

—दे० धर्म/४/५ ।

४. धर्म पुरुषार्थ कथंचित् उपादेय है

भ. आ. मू. १८१३ एओ चैव सुभो णवरि सव्वसोकखायरो धम्मो । = एक धर्म (पुरुषार्थ) ही पवित्र है और वही सर्वसौख्योका दाता है । १८१३। (प. वि. ७/२५) ।

५. मोक्ष पुरुषार्थ ही महान् व उपादेय है

प. प्र. मू. २/३ धम्महँ अत्थहँ कम्महँ वि एयहँ सयलहँ मोक्खु । उच्चमु पभणहि णाणि जिय अण्णे जेण ण सीक्खु । ३। = हे जीव ! धर्म, अर्थ और काम इन सब पुरुषार्थोंमें से मोक्षको उत्तम ज्ञानी पुरुष कहते हैं, क्योंकि अन्य धर्म, अर्थ कामादि पुरुषार्थोंमें परमसुख नहीं है । ३।

ज्ञा. ३/५ त्रिवर्गं तत्र सापायं जन्मजातद्वृषितम् । ज्ञात्वा तत्त्वविदः साक्षाद्यतन्ते मोक्षसाधने । ५। = चारों पुरुषार्थोंमें पहिले तीन पुरुषार्थ नाश सहित और ससारके रोगोंसे दूषित हैं, ऐसा जानकर ज्ञानी पुरुष अन्तके परम अर्थात् मोक्षपुरुषार्थके साधन करनेमें ही लगते हैं । क्योंकि वह अविनाशी है ।

प. वि. ७/२५ पुंसोऽर्थेषु चतुर्षु निश्चलतरो मोक्षः परं सरसुख । शेषास्ताद्विपरीतधर्मकलिता हेया मुसुक्षोरत । २५। = चारो पुरुषार्थोंमें केवल मोक्ष पुरुषार्थ ही समीचीन मुखसे युक्त होकर सदा स्थिर रहनेवाला है । शेष तीन इससे विपरीत स्वभाव वाले होनेसे छोड़ने योग्य है । २५।

६. मोक्षमार्गका यथार्थ पुरुषार्थ क्या है

प्र. सा. मू. १२६ कत्ता करणं कम्मं फलं च अप्प त्ति णिच्छिदो सम्मो । परिणमदि णेव अण्णं जदि अप्पाणं लहदि सुद्धं । = यदि भ्रमण 'कर्ता, कर्म, करण और कर्मफल आत्मा है' ऐसा निश्चय वाला होता हुआ अन्यरूप परिणमित नहीं हो तो वह शुद्धात्माको उपलब्ध करता है । १२६।

त. सू. १/१ सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः । १। = सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, और सम्यक्चारित्र ये तीनों मिलकर मोक्षका मार्ग है ।

प्र. सा. त. प्र. ५१५, य एव... आत्मानं परं च... निश्चयतः परिच्छिनत्ति, स एव सम्यग्वाप्तस्वपरिवेकः सकलं मोहं क्षययति । = जो निश्चयसे... आत्माको और परको जानता है । वही (जीव), जिसने कि सम्यग्रूपसे स्व परके विवेकको प्राप्त किया है, सम्पूर्ण मोहका क्षय करता है ।

प्र. सा. त. प्र. १२६ एवमस्य बन्धपद्धतौ मोक्षपद्धतौ चात्मानमेकमेव भावयतः परमाणोरिवैकत्वभावनोन्मुखस्य परद्रव्यपरिणतिर्न जातु जायते । २६। ततः परद्रव्यासंपृक्तत्वात्सुविशुद्धो भवति । = इस प्रकार (बंधकारकी रूपसे) बन्धमार्ग तथा मोक्षमार्गमें आत्मा अकेला ही है, इस प्रकार भानेवाला यह पुरुष, परमाणुकी भाँति एकत्व भावनामें उन्मुख होनेसे, उसे परद्रव्यरूप परिणति किंचित् नहीं होती । २६। इसलिए परद्रव्यके साथ असम्बद्धताके कारण सुविशुद्ध होता है ।

पु. सि. उ. ११.१५ सर्वविवर्त्तोत्तीर्णं यदा स चैतन्यमचलमप्नोति । भवति तदा कृतकृत्यः सम्यग्पुरुषार्थसिद्धिमापन्नः । १५। विपरीताभिनिवेशं निरस्य सम्यग्व्यवस्थं निजतत्त्वं । यत्तस्मादविचलनं स एव पुरुषार्थसिद्ध्युपायोऽयं । १५। = जिस समय भले प्रकार पुरुषार्थकी सिद्धिको प्राप्त उपर्युक्त अशुद्ध आत्मा सम्पूर्ण विभावोके पारको प्राप्त करके अपने निष्कंप चैतन्यस्वरूपको प्राप्त होता है, तब यह आत्मा कृतकृत्य होता है । १५। विपरीत भ्रद्धानको मष्ट कर निज स्वरूपको यथावत् जानके जो अपने उस स्वरूपसे च्युत न होना वह ही पुरुषार्थसिद्धिका उपाय है । १५।

७. मोक्षमें भी कथंचित् पुरुषार्थका सद्भाव

स. म. ८/८१/२० प्रयत्नश्च क्रियाभ्यापारगोचरो नास्त्येव, कृतकृत्यत्वात् । वीर्यान्तरायक्षयोत्पन्नतस्त्वस्यैव प्रयत्नः दानादिलिखिवत् । = प्रश्न—मुक्त जीवके कोई प्रयत्न भी नहीं होता, क्योंकि मुक्त जीव कृतकृत्य है । उत्तर—दानादि पाँच लब्धिधोकी तरह वीर्यान्तरायकर्मके क्षयसे उत्पन्न वीर्य लब्धि रूप प्रयत्न मुक्त जीवके होता है ।

२. पुरुषार्थको मुख्यता व गौणता

१. ज्ञान हो जानेपर भी पुरुषार्थ ही प्रधान है

प्र. सा./मू./टी/८८ जो मोहरागदोसे णिहणदि उवलब्ध जोषुह-मुवदेसं । सो सव्वदुक्खमोक्ख पावदि अचिरेण कालेण ८८ अत एव सर्वारम्भेण मोहसपणाय पुरुषकारे निषीदामि । = जो जिनेन्द्रके उपदेशको प्राप्त करके मोह-राग-द्वेषको हनता है वह अल्प कालमें सर्व दुखोंसे मुक्त होता है । ८८ । इसलिए सम्पूर्ण प्रयत्नपूर्वक मोहका क्षय करनेके लिए मैं पुरुषार्थका आश्रय ग्रहण करता हूँ ।

२. यथार्थ पुरुषार्थसे अनादिके कर्म क्षण भरमें नष्ट हो जाते हैं

कुरल./६२/१० शश्वत्कर्मप्रसक्तो यो भाग्यचक्रे न निर्भर । जय एवास्ति तस्याहो अपि भाग्यविपर्यये । १० । = जो भाग्यके चक्रके भरोसे न रहकर लगातार पुरुषार्थ किये जाता है वह विपरीत भाग्यके रहनेपर भी उसपर विजय प्राप्त करता है । १० ।

प. प्र./मू./२७ जं दिट्ठे तुट्ठंति लहु कम्मइं पुव्व-कियाइं । सो परु जाणहि जोइया देहि वसंतु ण काइं । २७ । = जिस परमात्माको देखनेसे शीघ्र ही पूर्व उपाजित कर्म चूर्ण हो जाते हैं । उस परमात्माको देखनेसे बसते हुए भी हे योगी ! तु क्यो नही जानता । २७ । (प. प्र./मू./३२) ।

३. पुरुषार्थ द्वारा अथवा काल भी कर्मोंका विपाक हो जाता है

ज्ञा./३६/२७ अपभवपाक क्रियतेऽस्ततद्वैस्तपोभिरुग्रैर्वरशुद्धियुक्तैः । क्रमाद्गुणश्रेणिसमाश्रयेण सुसंवृतान्त करणैर्मुनीन्द्रैः । २७ । = नष्ट हुआ प्रमाद जिनका ऐसे मुनीन्द्र उत्कृष्ट विशुद्धता सहित होते हुए तपके द्वारा अनुक्रमसे गुणश्रेणी निर्जराका आश्रय करके बिना पके कर्मोंको भी पकाकर स्थिति पूर्ण हुए बिना ही निर्जरा करते हैं । २७ । (ज्ञा./३६/३६) ।

दे. पूजा निर्जरा, तप, उदय, उदीरणा, धर्मध्यान आदि = (इनके द्वारा असमयमें कर्मोंका पाक होकर अनादिके कर्मोंको निर्जरा होनेका निर्देश किया गया है ।

४. पुरुषार्थकी विपरीतता अनिष्टकारी है

स सा./आ./१६० ज्ञानमनादिस्वपुरुषापरार्थं प्रवर्तमानकर्ममलावच्छन्न-त्वादेव बन्धावस्थायां सर्वत सर्वमप्यात्मानमविजानदज्ञानभावेनैवेद-मेवमवतिष्ठते । = ज्ञान अर्थात् आत्मद्रव्य, अनादि कालसे अपने पुरुषार्थके अपराधसे प्रवर्तमान कर्ममलके द्वारा लिप्त या व्याप्त होनेसे ही, बन्ध अवस्थामें सर्वप्रकारसे सम्पूर्ण अपनेको जानता हुआ, इस प्रकार प्रत्यक्ष अज्ञान भावसे रह रहा है ।

५. स्वामाविक क्रियाओंमें पुरुषार्थ गौण है

प. घ./उ./३७६, ८१७ प्रयत्नमन्तरेणापि हृद्मोहोपशमो भवेत् । अन्त-मुहूर्तमात्रं च गुणश्रेण्यनतिक्रमात् । ३७६ । नेदं स्यात्पौरुषायसं किन्तु नून स्वभावतः । ऊर्ध्वमूर्ध्वं गुणश्रेणी घतं सिद्धिर्यथोत्तरम् । ८१७ । = भव्यस्व, काललब्धि आदि सामग्रीके मिलनेपर प्रयत्नके बिना भी गुण श्रेणी निर्जराके अनुसार अन्तर्मुहूर्तमें ही दर्शन मोहका उपशम हो जाता है । ३७६ । = निश्चयसे तरतमरूपसे होनेवाली शुद्धताका उत्कर्षपना पौरुषाधीन नहीं होता, स्वभावसे ही सम्पन्न होता है, कारण कि उत्तरोत्तर गुणश्रेणी निर्जरामें स्वयमेव शुद्धताकी तरतमता होती जाती है । ८१७ ।

दे० केवली (केवलीके आसन, विहार व उपदेशादि बिना प्रयत्नके ही होते हैं ।

६. अन्य सम्बन्धित विषय

१. कर्मोदयमें पुरुषार्थ कैसे चले । — दे० मोक्ष ।
२. मन्दोदयमें ही सम्यक्त्वोत्पत्तिक्रा पुरुषार्थ कार्यकारी है । — दे० उपशम/२/३ ।
३. नियति, भवितव्यता, दैव व काललब्धिके सामने पुरुषार्थकी गौणता व समन्वय । — दे० नियति ।
४. पुरुषार्थ व काललब्धिमें भाषाका ही भेद है । — दे० पद्धति ।

पुरुषार्थ नय—प्र.सा./आ./परि नय नं. ३२ पुरुषकारनयेन पुरुषा-कारोपलब्धमधुकुक्कुटीकपुरुषकारवादीवद्वयत्नसाध्यसिद्धि । ३२ । = आत्मद्रव्यपुरुषकार नयसे जिसकी सिद्धि यत्न साध्य है ऐसा है, जिसे पुरुषकारसे नीबूका वृक्ष प्राप्त होता है ऐसे पुरुषकारवादीकी भौति ।

पुरुषार्थवाद—गो क./मू./८६० आलसद्धो णिरुच्छाहो फलं किंचि ण भुज्जे । धणखीरादिपाणं वा पउरुसेण विणा ण हि । ८६० । = आलस्यकरि संयुक्त होय उत्साह उद्यम रहित होइ सो क्विहू भी फलको भोगवै नाही । जैसे—स्तनका दूध उद्यमहीतै पीवनेमे आवै है पौरुष बिना पीवनेमें न आवै । तैसे सर्व पौरुष करि सिद्धि है, ऐसा पौरुषवाद है । ८६० ।

पुरुषार्थ सिद्धचुपाय—आ० अमृतचन्द्र (ई० ६०६-६६६) द्वारा रचित संस्कृत छन्द बद्ध ग्रन्थ । इसमें २४३ श्लोक हैं । इस पर प० टोडरमल (ई० १७६६) ने भाषामें टीका लिखी है । परन्तु उसे पूरी करनेसे पहिले ही विधिने उनसे शरीर छीन लिया । उनकी इस अधूरी कृतिको उनके पीछे प० दौलतराम (ई० १७७०) ने पूरा किया । (जे १/२/१७३) । (ती १/२/४०८) ।

पुरुषोत्तम—१. व्यन्तर देवोंका एक भेद—दे० व्यन्तर । २. म. पु / ६०/५०-६६ पूर्वभवन, २ में पौदनपुरका राजा वसुषेण था फिर अगले भवमे सहस्रार स्वर्गमें देव हुआ । वर्तमान भवमे चौथा नारा-यण हुआ । विशेष परिचय—दे० शलाका पुरुष/४ ।

पुरुस्कार परिषह—दे० सत्कार ।

पुरोत्तम—विजयार्थकी दक्षिण श्रेणीका एक नगर—दे० विशाधर ।

पुरोहित—चक्रवर्तिके चौदह रत्नोंमेंसे एक—दे० शलाका पुरुष/२ ।

पुलवि—घ १४/५, ६, ६३/पृष्ठ नं./पंक्ति पुलवियाओ णिगोदा स्ति भणंति (८५/१४) । आवासम्भन्तरे संदुटिदाओ कच्छउडंडरवक्खार-तोदुटियपिसिवियाहि समाणाओ पुलवियाओ णाम । एक्केक्कम्हि आवासे ताओ असखेज्जलोगमेत्ताओ होति । एक्केक्कम्हि एक्केक्कस्से पुलवियाए असखेज्जलोगमेत्ताणि णिगोदसरीराणि ओरालिय-तेजा-कम्मइयपीगलोवायाणकारणाणि कच्छउडंडरवक्खारपुलवियाए अंतो-दुटिदद्वसमाणाणि पुधपुध अणंताणंतेहि णिगोदजीवेहि आउण्णाणि होति । (८६/८८) । = पुलविओंको ही णिगोद कहते हैं । (८५/१४), (घ. १४/५, ६, ५२/४७०/१) । जो आवासके भीतर स्थित है और जो कच्छउडंडरवक्खारके भीतर स्थित पिशवियोंके समान है उन्हें पुलवि कहते हैं । एक-एक आवासमें वे असख्यात लोक प्रमाण होती हैं । तथा एक-एक आवासकी अलग-अलग एक-एक पुलविमें असख्यात लोक प्रमाण शरीर होते हैं जो कि औदारिक तैजस और कार्मण पुद्गलको उपादान कारण होते हैं और जो कच्छउडंडर-

वक्खार पुलविके भोतर स्थित द्रव्योंके समान अलग-अलग अनन्ता-
नन्त निगोद जीवोसे आपूर्ण होते है। (विशेष दे० वनस्पति/३/७)।

पुलाक—

स. सि./१६/४६/४६०/५ उत्तरगुणभावनापेतमनसो व्रतेष्वपि क्वचिदकदा-
चित्परिपूर्णतामपरिप्राप्तुवन्तोऽविशुद्धपुलाकसादृश्यात्पुलाका इत्यु-
च्यन्ते।

स. सि./१६/४७/४६१/११ प्रतिसेवना-पञ्चानां मूलगुणानां रात्रिभोजन-
वर्जनस्य च पराभियोगाद् बलादन्यतमं प्रतिसेवमानं पुलाको
भवति। = १. जिनका मन उत्तर गुणोंकी भावनासे रहित है, जो
कही पर और कदाचित् व्रतोंमें भी परिपूर्णताको नहीं प्राप्त होते है
वे अविशुद्ध पुलाकके समान होनेसे पुलाक कहे जाते है। (रा. वा./
१/४६/१/६३६/१६), (चा. सा./१०१/१)। २. प्रतिसेवना—दूसरों-
के दबाव वश जबरदस्तीसे पाच मूल गुण और रात्रि भोजन वर्जन-
व्रतमेंसे किसी एक की प्रतिसेवना करनेवाला पुलाक होता है (रा. वा./
१/४७/६३८/४) (चा. सा./१०४/१)

रा. वा. हि/१६/४६/७६३ मूलगुणानि विषै कोइ क्षेत्र कालके वशतै
विराधना होय है तातै मूलगुणमें अन्यमिलाप भया, केवल न भये।
तातै परालसहित शाली उपमा दे संज्ञा कही है।

★ पुलाकादि पाँचों साधु सम्बन्धी विषय—दे० साधु/५।

पुष्कर—१. मध्य लोकका द्वितीय द्वीप—दे० लोक/४/४। २. मध्य
लोकका तृतीय सागर—दे० लोक/५/१।

३. पुष्कर द्वीपके नामकी सार्थकता

स. सि./३/३४/४ यत्र जम्बूवृक्षस्तत्र पुष्करं सपरिवारम्। तत एव तस्य
द्वीपस्य नाम रूढे पुष्करद्वीप इति। मानुषोत्तरशैलेन विभक्तार्ध-
त्वारपुष्करार्धसंज्ञा। = जहाँ पर जम्बू द्वीपमें जम्बू वृक्ष है पुष्कर द्वीप
में अपने वहाँ परिवारके साथ पुष्करवृक्ष है। और इसीलिए इस द्वीप-
का नाम पुष्करद्वीप रूढ हुआ है।...इस द्वीपके (मध्य भागमें मानु-
षोत्तर पर्वत है उस, मानुषोत्तर पर्वतके कारण (इसके) दो विभाग
हो गये है अतः आधे द्वीपको पुष्करार्ध यह संज्ञा प्राप्त हुई।

★ पुष्कर द्वीपका नरुशा—दे० लोक/४/२।

पुष्करावर्त—वर्तमान हस्तनगर। अफगानिस्तानमें है। (म. पु./-
प्र. ५०/प. पत्रालाल)।

पुष्कल—१. पूर्व विदेहका एक क्षेत्र—दे० लोक/५/२; २. पूर्व विदेहस्थ
एकशिल वक्षारका एक कूट—दे० लोक/५/४; ३. पूर्व विदेहस्थ एक-
शिल वक्षारपर स्थित पुष्कलकूटका रक्षक देव—दे० लोक/५/४।

पुष्कलावती—पूर्व विदेहके पुष्कलावर्त क्षेत्रकी मुख्य नगरी। अपर-
नाम पुण्डरीकिनी।—दे० लोक/५/२।

पुष्कलावर्त—१. पूर्व विदेहस्थ एक क्षेत्र—दे० लोक/७। २. पूर्व
विदेहस्थ एकशिल वक्षारका एक कूट व उसका रक्षक देव।—दे०
लोक/७।

पुष्प—पुष्प सम्बन्धी भक्ष्याभक्ष्य विचार—दे० भक्ष्याभक्ष्य/४।

पुष्पक—आनत प्राणत स्वर्गका तृतीय पटल व इन्द्रक।—दे०
स्वर्ग/५/३।

पुष्पक विमान—राजा वैश्रवणको जीतकर राजगणे अत्यन्त मुन्दर
पुष्पक विमानको प्राप्त किया। (प. पु./८/२५५)।

पुष्पचारण ऋद्धि—दे० ऋद्धि/४।

पुष्पचूल—विजयार्धकी उत्तर श्रेणीका एक नगर।—दे० विद्या-
धर।

पुष्पदंत—१. उत्तर क्षीरवर द्वीपका रक्षक व्यन्तर देव।—दे०
व्यन्तर/४। २. म. पु./५०/२-२२ “पूर्वके दूसरे भवमें पुष्कर द्वीप-
के पूर्व दिग्विभागमें विदेह क्षेत्रकी पुण्डरीकिणी नगरीके राजा
महापद्म थे। फिर प्राणत स्वर्गमें इन्द्र हुए। वर्तमान भवमें इवें
तीर्थंकर हुए। अपरनाम सुविधि था। विशेष परिचय—दे० तीर्थ-
कर/५। ३. यह एक कवि तथा काश्यप गोत्रीय ब्राह्मण थे। केशव
उनके पिता और सुग्धा उनकी माता थी। वे दोनों शिवभक्त
थे। उपरान्त जैनी हो गये थे। पहले भैरव राजाके आश्रय थे,
पीछे मान्यखेट आ गये। वहाँके नरेश कृष्ण तृ० के भरतने इन्हें
अपने शुभतुङ्ग भवनमें रखा था। महापुराण ग्रन्थ श. १६५ (ई०
१०४३) में समाप्त किया था। इसके अतिरिक्त यशोधर चरित्र व
नागकुमार चरित्रकी भी रचना की थी। यह तीनों ग्रन्थ अप-
भ्रंश भाषामें थे। समय—ई. श. ११ (जै. हि. सा. इ/२७ कामता)
ई. १६५ (जीवन्धर चम्पू/प्र. ८/A N. U. p.); ई. १५६ (पञ्चम
चरित्र/प्र. देवेन्द्रकुमार), (म. पु./प्र. २०/पं. पत्रालाल)। ४. आप
राजा जिनपालितके समकालीन तथा उनके मामा थे। इस परसे
यह अनुमान किया जा सकता है कि राजा जिनपालितकी राजधानी
वनवास ही आपका जन्म स्थान है। आप वहाँसे चलकर पुण्ड्रवर्धन
अर्हइन्बलि आचार्यके स्थान पर आये और उनसे दीक्षा लेकर तुरत
उनके साथ ही महिमानगर चले गये जहाँ अर्हइन्बलिने बृहद् यति
सम्मेलन एकत्रित किया था। उनका आदेश पाकर ये वहाँसे ही
एक अन्य साधु भूतबलि (आचार्य) के साथ धरसेनाचार्यकी सेवार्थ
गिरनार चले गये, जहाँ उन्होंने धरसेनाचार्यसे षट्खण्डका ज्ञान
प्राप्त किया। इनकी साधुजासे प्रसन्न होकर भूत जातिके व्यन्तर
देवोंने इनकी अस्त-व्यस्त दन्तपंक्तिको सुन्दर कर दिया था।
इसीसे इनका नाम पुष्पदन्त पड गया। विबुध शोधर के श्रुताव-
तारके अनुसार आप वसुन्धरा नगरी के राजा नरवाहन थे। गुरु से
ज्ञान प्राप्त करके अपने सहधर्मा भूतबलिजी के साथ आप गुरु से
विदा लेकर आषाढ शु ११ को पर्वत से नीचे आ गए और उसके
निक्ट अंकलेश्वर में चातुर्मास कर लिया। इसकी समाप्ति के
पश्चात् भूतबलि को वहाँ ही छोड़कर आप अपने स्थान ‘वनवास’
लौट आये, जहाँ अपने भानजे राजा जिनपालित को दीक्षा देकर
आपने उन्हें सिद्धान्त का अध्ययन कराया। उसके निमित्त से आपने
‘वीसदि सूत्र’ नामक एक ग्रन्थ की रचना की जिसे अवलोकन के
लिये आपने उन्हीं के द्वारा भूतबलि जी के पास भेज दिया। समय—
बी. नि. ५६३-६३३ (ई० ६६-१०६)। (विशेष दे० कोश १
परिशिष्ट २/११)।

पुष्पदंत पुराण—आ. गुणवर्म (ई. १२३०) कृत (ती./४/३०६)।

पुष्पनदि—१. आप तोरणाचार्यके शिष्य और प्रभाचन्द्रके गुरु थे।
समय—वि ७६० (ई. ७०३) (जैन सिद्धान्त प्रकाशिनी संस्था
द्वारा प्रकाशित समयसारकी प्रस्तावनामें K. B. Pathak)। २.
राष्ट्रकूट वंशी राजा गोविन्द तृतीयके समयके अर्थात् श. स. ७२४
और ७१६ केदों ताम्र पत्रोंके अनुसार आप तोरणाचार्यके शिष्य और
प्रभाचन्द्र नं. २ के गुरु थे। तथा कुन्दकुन्दान्वयमें थे। तदनुसार
आपका समय शक सं. ६५० (ई. ७२८) होना चाहिए। (प. प्रा./-
प्र. ४-६/पैमीजी), (स. सा./प्र./K. B. Pathak)।

पुष्पमाल—विजयार्धकी उत्तरश्रेणीका एक नगर—दे० विद्याधर।

पुष्पमाला—नन्दन वनमें स्थित सागर कूटकी स्वामिनी दिक्कुमारी
देवी—दे० लोक/५/५

पुष्पसेन—आप एक विगम्बर आचार्य थे। मूल संघकी गुर्वावलीके

अनुसूत अकलंक भट्ट के सधर्मा और छत्रचूडामणिके कर्ता वादीभ सिंहके गुरु थे। समय-ई०७२०-७८०-दे० इतिहास/७/१।

पुष्पांजली—भूतकालीन चौदहवें तीर्थकर—दे० तीर्थकर/५।

पुष्पांजली व्रत—इस व्रतकी विधि तीन प्रकारसे वर्णन की गयी है—उत्तम, मध्यम व जघन्य। पाँच वर्ष तक प्रतिवर्ष भाद्रपद, माघ व चैत्रमें शुक्लपक्षकी—उत्तम—१-१ तक लगातार पाँच उपवास। मध्यम—१,७,१६ को उपवास तथा ६,८ को एकाशन। जघन्य—१,६ को उपवास तथा ६-८ तक एकाशन 'ओ ही पंचमेरुस्थ अस्सी जिनालयेभ्यो नमः' इस मन्त्रका त्रिकाल जाप्य। (व्रत विधान सं./पृ. ४१), (क्रियाकोष)।

पुष्य—एक नक्षत्र—दे० नक्षत्र।

पुष्यमित्र—१, मगधदेशकी राज्य वंशावलीके अनुसार यह शक जातिका सरदार था। जिसने मौर्य कालमें ही मगधके किसी भागपर अपना अधिकार जमा लिया था। तदनुसार इनका समय बी. नि. २५६-२८६ (ई. पू. २७१-२४६) है। विशेष (दे० इतिहास/३/४) २, म. पु./७४/७१ यह वर्धमान भगवात्का दूरवर्ती पूर्व भव है—दे० वर्धमान।

पूजा—राग प्रचुर होनेके कारण गृहस्थोंके लिए जिन पूजा प्रधान धर्म है, यद्यपि इसमें पंच परमेष्ठीकी प्रतिमाओंका आश्रय होता है, पर तहाँ अपने भाव ही प्रधान है, जिनके कारण पूजकको असंख्यात गुणी कर्मकी निर्जरा होती रहती है। निरय नैमित्तिकके भेदसे वह अनेक प्रकारकी है और जल चन्दनादि अष्ट द्रव्योंसे की जाती है। अभिषेक व गान नृत्य आदिके साथ की गयी पूजा प्रचुर फलप्रदायी होती है। सच्चित्त, व अचित्त द्रव्यसे पूजा, पंचामृत व साधारण जलसे अभिषेक, चाबलोंकी स्थापना करने व न करने आदि सम्बन्धी अनेकों मतभेद इस विषयमें दृष्टिगत हैं, जिनका समन्वय करना ही योग्य है।

१	भेद व लक्षण
१	पूजाके पर्यायवाची नाम।
२	पूजा के भेद—१, इत्यादि ३ भेद; २, नाम स्थापनादि ६।
३	इत्यादि पाँच भेदोंके लक्षण।
४	नाम, स्थापनादि पूजाओंके लक्षण।
५	निश्चय पूजाके लक्षण।
१	पूजा सामान्य निर्देश व उसका महत्त्व
१	पूजा करना श्रावकका नित्य कर्तव्य है।
*	सान्ध होते हुए भी पूजा करनी चाहिए —दे० धर्म/५/२।
*	सम्यग्दृष्टि पूजा क्यों करे —दे० विनय/३।
*	प्रोषधोपवासके दिन पूजा करे या न करे —दे० प्रोषध/४।
*	पूजाकी कथंचित् इष्टता अनिष्टता —दे० धर्म/४-६।
२	नंदीश्वर व पंचमेरु पूजा निर्देश।
३	पूजामें अन्तरंग भावोंकी प्रधानता।
४	जिन पूजाका फल निर्जरा व मोक्ष।
*	जिन पूजा सम्यग्दर्शनका कारण है —दे० सम्यग्दर्शन/III/१।

३	पूजा निर्देश व मूर्ति पूजा
१	एक जिन या जिनालयकी बन्दनासे सबकी बन्दना हो जाती है।
२	एककी बन्दनासे सबकी बन्दना कैसे हो जाती है।
३	देव व शास्त्रकी पूजामें समानता।
४	साधु व प्रतिमा भी पूज्य है।
५	साधुकी पूजासे पाप कैसे नाश होता है।
*	सम्यग्दृष्टि गृहस्थ भी पूज्य नहीं —दे० विनय/४।
६	देव तो भावोंमें हैं मूर्तिमें नहीं।
७	फिर मूर्तिको क्यों पूजते हैं।
*	पूजा योग्य प्रतिमा —दे० चैत्य चैत्यालय/१।
८	एक प्रतिमामें सर्वका संकल्प।
९	पाश्वर्नाथकी प्रतिभापर फण लगानेका विधि निषेध।
१०	बाहुबलिकी प्रतिमा सम्बन्धी शंका समाधान।
*	क्षेत्रपाल आदिकी पूजाका निषेध —दे० मूढता।
४	पूजा योग्य द्रव्य विचार
१	अष्ट द्रव्यसे पूजा करनेका विधान।
२	अष्ट द्रव्य पूजा व अभिषेकका प्रयोजन व फल।
३	पंचामृत अभिषेक निर्देश व विधि।
४	सच्चित्त द्रव्यों आदिसे पूजाका निर्देश।
*	चैत्यालयमें पुष्य वाटिका लगानेका विधान —दे० चैत्य चैत्यालय/२।
५	सच्चित्त व अचित्त द्रव्य पूजाका समन्वय।
६	निर्माल्य द्रव्यके ग्रहणका निषेध।
५	पूजा विधि
१	पूजाके पाँच अंग होते हैं।
२	पूजा दिनमें तीन बार करनी चाहिए।
*	एक दिनमें अधिक बार भी बन्दना करे तो निषेध नहीं —दे० बन्दना।
३	रात्रिकी पूजा करनेका निषेध।
४	चाबलोंमें स्थापना करनेका निषेध।
५	स्थापनाके विधि निषेधका समन्वय।
६	पूजाके साथ अभिषेक व नृत्य गानादिका विधान।
७	द्रव्य व भाव दोनों पूजा करनी योग्य है।
८	पूजा विधानमें विशेष प्रकारका क्रियाकाण्ड।
*	पूजा विधानमें प्रयोग किये जानेवाले कुछ मन्त्र —दे० मन्त्र।
*	पूजामें भगवान्को कर्ता हर्ता बनाना —दे० भक्ति/१।
*	पंच कल्प्याणक —दे० करयाणक।
*	देव बन्दना आदि विधि —दे० बन्दना।
*	स्तव विधि —दे० भक्ति/३।
*	पूजामें कायोत्सर्ग आदिकी विधि —दे० बन्दना।
९	पूजासे पूर्व स्नान अवश्य करना चाहिए।
*	पूजाके प्रकरणमें स्नान विधि —दे० स्नान।

१. भेद व लक्षण

१. पूजाके पर्यायवाची नाम

म. पु./६७/१६३ यागो यज्ञः क्रतुः पूजा सपर्येज्याध्वरो मख । मह इत्यपि पर्यायवचनान्यर्चनाविधे ११६३। = याग, यज्ञ, क्रतु, पूजा, सपर्या, इज्या, अध्वर, मख और मह ये सब पूजाविधिके पर्यायवाची शब्द हैं ११६३।

२. पूजाके भेद

१. इज्या आदिकी अपेक्षा

म. पु./३८/२६ प्रोक्ता पूजाहतामिज्या सा चतुर्धा सदार्चनम् । चतुर्मुख-महः कल्पद्रुमारचाष्टाहिकोऽपि च १२६। = पूजा चार प्रकारकी है सदार्चन (नित्यमह), चतुर्मुख (सर्वतोभद्र), कल्पद्रुम और अष्टाहिक । (घ. ८/३, ४२/१२/४) (इसके अतिरिक्त एक ऐन्द्रध्वज महायज्ञ भी है जिसे इन्द्र किया करता है। तथा और भी जो पूजाके प्रकार हैं वे इन्हीं भेदोंमें अन्तर्भूत हैं। (म. पु./३८/३२-३३), (चा. सा./४३/१); (सा घ./१/१८; २/२५-२६)

२. निक्षेपोंकी अपेक्षा

वसु. भा./३८१ णाम-द्ववणा-द्ववे-त्विक्ते काले वियाणाभावे य । छवि-हृप्या भणिया समासओ जिणवरिदेहि १३८१। = नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावकी अपेक्षा संक्षेपसे छह प्रकारकी पूजा जिनेन्द्रदेवने कही है १३८१। (गुण. भा./२१२)।

३. द्रव्य व भावकी अपेक्षा

म. आ./वि./४७/१५६/२० पूजा द्विप्रकारा द्रव्यपूजा भावपूजा चेति । = पूजाके द्रव्यपूजा और भावपूजा ऐसे दो भेद हैं।

३. इज्या आदि पाँच भेदोंके लक्षण

म. पु./३८/२७-३३ तत्र नित्यमहो नाम शश्वज्जिनग्रहं प्रति । स्वगृहान्नीयमानार्चा गन्धपुष्पाक्षतादिका १२७। चैत्यचैत्यालयोदीनां भवत्या निर्माणं च यत् । शासनीकृत्य दानं च ग्रामादीना सदार्चनम् १२८। या च पूजा सुनीन्द्राणां नित्यदानानुषङ्गिणी । स च नित्यमहो ज्ञेयो यथाशक्त्युपकल्पितः १२९। महामुकुटबद्धश्च क्रियमाणो महामहः । चतुर्मुखः स विज्ञेयः सर्वतोभद्र इत्यपि १३०। दत्त्वा किमिच्छकं दानं सत्राद्भिर्यः प्रवर्त्यते । कल्पद्रुममहः सोऽयं जगदा-शाप्रपूरणः १३१। आष्टाहिको महः सर्वजनिको रूढ एव सः । महानैन्द्रध्वजोऽन्यस्तु सुरराजं कृती महः १३२। बलिस्नपनमित्यन्यः त्रिसन्ध्यासेवया समम् । उक्तैष्वेव विकल्पेषु ज्ञेयमन्यच्च तादृशम् । १३३। = प्रतिदिन अपने घरसे गन्ध, पुष्प, अक्षत आदि ले जाकर जिनालयमें श्री जिनेन्द्रदेवकी पूजा करना सदार्चन अर्थात् नित्यमह कहलाता है १२७। अथवा भक्ति पूर्वक अर्हन्त देवकी प्रतिमा और मन्दिरका निर्माण करना तथा दानपत्र लिखकर ग्राम, खेत आदि-का दान भी देना सदार्चन कहलाता है १२८। इसके सिवाय अपनी शक्तिके अनुसार नित्यदान देते हुए महामुनियोंकी जो पूजा की जाती है उसे भी नित्यमह समझना चाहिए १२९। महामुकुटबद्ध राजाओंके द्वारा जो महायज्ञ किया जाता है उसे चतुर्मुख यज्ञ जानना चाहिए । इसका दूसरा नाम सर्वतोभद्र भी है १३०। जो चक्रवर्तियोंके द्वारा किमिच्छक दान देकर किया जाता है और जिसमें जगत्के सर्व जीवोंकी आशाएँ पूर्ण की जाती हैं, वह कल्पद्रुम नामका यज्ञ कहलाता है १३१। चौथा अष्टाहिक यज्ञ है जिसे सब लोग करते हैं और जो जगत्में अत्यन्त प्रसिद्ध है । इनके सिवाय एक ऐन्द्रध्वज महायज्ञ भी है जिसे इन्द्र किया करता है । (चा. सा./४३/२); (सा. घ./२/२५-२६) । बलि अर्थात् नैवेद्य चढाना, अभिषेक करना, तीन

सन्ध्याओंमें उपासना करना तथा इनके समान और भी जो पूजाके प्रकार हैं वे उन्हीं भेदोंमें अन्तर्भूत हैं १३२-३३।

४. नाम, स्थापनादि पूजाओंके लक्षण

१. नामपूजा

वसु. भा./३८२ उच्चारिऊण णामं अरुहार्णं विसुद्धदेसम्मि । पुष्पाणि जं खिविज्जति वणिण्या णामपूया सा १३८२। = अरहन्तादिका नाम उच्चारण करके विसुद्ध प्रदेशमें जो पुष्प क्षेपण किये जाते हैं वह नाम पूजा जानना चाहिए १३८२। (गुण. भा./२१३)।

२. स्थापना पूजा

वसु. भा./३८३-३८४ सत्भावासम्भावा दुविहा ठवणा जिणेहि पणत्ता । सायारवंतवस्थुम्मि जं गुणारोवणं पढमा १३८३। अस्वय-वराडओ वा अमुगो एसो त्ति णियबुद्धोए । संकप्पऊण वयणं एसा विइया अस-म्भावा १३८४। = जिन भगवात्ने सद्भाव स्थापना और असद्भाव स्था-पना यह दो प्रकारकी स्थापना पूजा कही है। आकारवात् वस्तुमें अरहन्तादिके गुणोंका जो आरोपण करना, सो यह पहली सद्भाव स्थापना पूजा है। और अक्षत, वराटक (कौडी या कमलगट्टा आदिमें अपनी बुद्धिसे यह अमुक देवता है, ऐसा संकल्प करके उच्चारण करना, सो यह असद्भाव स्थापना पूजा जानना चाहिए १३८३-३८४। (गुण. भा./२१४-२१५)।

३. द्रव्यपूजा

म. आ./वि./४७/१५६/२१ गन्धपुष्पधूपपाक्षतादिदानं अर्हदाच्च द्विसय द्रव्यपूजा । अभ्युत्थानप्रदक्षिणीकरण-प्रणमनादिका-कायक्रिया च । वाचा गुणसंस्तवनं च । = अर्हदादिकोके उद्देश्यसे गंध, पुष्प, धूप, अक्षतादि समर्पण करना यह द्रव्यपूजा है। तथा उठ करके खड़े होना, तीन प्रदक्षिणा देना, नमस्कार करना वगैरह शरीर क्रिया करना, वचनोंसे अर्हदादिके गुणोंको स्तवन करना, यह भी द्रव्य-पूजा है। (अ. ग. भा./१२/१२)।

वसु. भा./४४८-४५१ दव्वेण य दव्वस्स य जा पूजा जाण दव्वपूजा सा । दव्वेण गंध-सलिलाहपुष्पभणिएण कायव्वा १४४८। तिविहा दव्वे पूजा सच्चित्तचित्तमिस्सभेएण । पच्चक्खजिणार्णं सच्चित्तपूजा जहाजोगं । १४४९। तैसि च सररीरणं दव्वसुदस्सवि अचित्तपूजा सा । जा पुण दोण्हं कौरइ णायव्वा मिस्सपूजा सा १४५०। अहवा आगम-णोआग-माइभेएण बहुविहं दव्वं । णाऊण दव्वपूजा कायव्वा सुत्तमणेण । १४५१। = जलादि द्रव्यसे प्रतिमादि द्रव्यकी जो पूजा की जाती है, उसे द्रव्यपूजा जानना चाहिए । वह द्रव्यसे अर्थात् जल गन्धादि पूर्वमें कहे गये पदार्थ समूहसे करना चाहिए १४४८। (अ. ग. भा./१२/१३) द्रव्यपूजा, सचित्त, अचित्त और मिश्रके भेदसे तीन प्रकारकी है। प्रत्यक्ष उपस्थित जिनेन्द्र भगवात् और गुरु आदिका यथायोग्य पूजन करना सो सचित्तपूजा है। उनके अर्थात् जिन तीर्थंकर आदिके शरीरकी और द्रव्यभूत अर्थात् कागज आदिपर लिपिबद्ध शास्त्रकी जो पूजा की जाती है, वह अचित्तपूजा है। और जो दोनोंकी पूजा की जाती है वह मिश्रपूजा जानना चाहिए १४४९-४५०। अथवा आगम-द्रव्य और नोआगमद्रव्य आदिके भेदसे अनेक प्रकारके द्रव्य निक्षेप-को जानकर शास्त्र प्रतिपादित मार्गसे द्रव्यपूजा करना चाहिए । १४५१। (गुण. भा./२१६-२२१)।

४. क्षेत्रपूजा

वसु. भा./४५२ जिणजम्मण-णिक्खमणे णापुप्पत्तीए तित्थचिण्हेसु । णिसिहीसु खेतपूजा पुष्पविहाणेण कायव्वा । = जिन भगवात्की जन्म कल्याणक भूमि, निष्क्रमण कल्याणक भूमि, केवलज्ञानोत्पत्तिस्थान, तीर्थ चिह्न स्थान और निधीधिका अर्थात् निर्वाण भूमियोंमें पूर्वोक्त

प्रकारसे पूजा करना चाहिए यह क्षेत्रपूजा कहलाती है। ४५२। (गुण, आ./२२२)।

५. कालपूजा

वसु, आ./४५३-४५५ गवभावयार-जन्माहिसेय-धिकखमण गाण-णिवार्णं । जन्हि दिणे सजाद जिणणहवणं तद्विणे कुज्जा ४५३। णंदीसरदुदिवसेसु तहा अण्णेसु उच्चियपव्वेसु । जं कीरह जिणमहिमा विण्णेया कालपूजा सा ४५५। = जिस दिन तीर्थकरोके गर्भावतार, जन्माभिषेक, निष्क्रमणकल्याणक, ज्ञानकल्याणक और निर्वाणकल्याणक हुए हैं, उसदिन भगवात्- का अभिषेक करे। तथा इस प्रकार नन्द, शवर पर्वके आठ दिनोंमें तथा अन्य भी उचित पर्वोंमें जो जिन महिमा की जाती है, वह कालपूजा जानना चाहिए। ४५५। (गुण, आ./२२३-२२४)

६. भावपूजा

भ. आ./वि./४७/१५६/२२ भावपूजा मनसा तद्गुणानुस्मरणं । = मनसे उनके (अर्हन्तादिके) गुणोंका चिन्तन करना भावपूजा है। (अ. ग. आ./१२/१४)।

वसु, आ./४५६-४५८ काऊणार्णतचउट्टयाइ गुणकित्तणं जिणार्इणं । ज वंदणं तियाल कीरह भावच्चणं तं खु ४५६। पंचणमोक्कारयएहि अहवा जाव कुणिज्ज सत्तीए । अहवा जिणित्थोत्तं वियाण भावच्चणं तं पि ४५७। ज माइज्जइ भाणं भावमहं तं विणिदिट्ठं ४५८। = परम भक्तिके साथ जिनन्द्र भगवात्के अनन्त चतुष्टय आदि गुणोंका कीर्तन करके जो त्रिकाल वन्दना की जाती है, उसे निश्चयसे भावपूजा जानना चाहिए। ४५६। अथवा पंच णमोकार पदोंके द्वारा अपनी शक्तिके अनुसार जाप करे। अथवा जिनन्द्रके स्तोत्र अर्थात् गुणगानको भाव-पूजन जानना चाहिए। ४५७। और जो चार प्रकारका ध्यान किया जाता है वह भी भावपूजा है। ४५८।

५. निश्चय पूजाका लक्षण

स. श./मू./३१ य' परात्मा स एवाहं योऽहं स परमस्तत' । अहमेव मयो-पास्यो नाम्य कश्चिदिति स्थिति । ३१। = जो परमात्मा है वह ही मैं हूँ तथा जो स्वानुभवगम्य मैं हूँ वही परमात्मा है, इसलिए मैं ही मेरे द्वारा उपासना किया जाने योग्य हूँ, दूसरा कोई अन्य नहीं। इस प्रकार ही आराध्य-आराधक भावकी व्यवस्था है।

प. प्र./मू./१/१२३ मणु मिलियउ परमेसरहं परमेसरु वि मणस्स । बीहि वि समरसि-हूबाहं पुज्ज चडावउ कस्स । = विकल्प-रूप मन भगवात् आत्मारामसे मिल गया और परमेश्वर भी मनसे मिल गया तो दोनों ही को समरस होनेपर किसकी अब मैं पूजा करूँ । अर्थात् निश्चयनयकर अब किसीको पूजना सामग्री चढाना नहीं रहा। १२३।

दे० परमेष्ठी-पाँचों परमेष्ठी आत्मामें ही स्थित हैं, अतः वही मुझे शरण है।

२. पूजा सामान्य निर्देश व उसका महत्त्व

१. पूजा करना श्रावकका नित्य कर्तव्य है

वसु, आ./४७८ एसा छविवा पूजा णिच्चं घम्मापुरायरत्तेहिं । जह जोग्गं कायववा सव्वेहि पि देसविरएहि ४७८। = इस प्रकार यह छह प्रकार (नाम, स्थापनादि) की पूजा धर्मानुरागरक्त सर्व देशवती श्रावकोको यथायोग्य नित्य ही करना चाहिए। ४७८।

पं. वि./६/१५-१६ ये जिनन्द्रं न पश्यन्ति पूजयन्ति स्तुवन्ति न । निष्फलं जीवितं तेषां तेषां धिक् च गृह्णाथमम् १५। प्रातरुथाय कर्तव्यं देवतागुरुदर्शनम् । भक्त्या तद्बन्दना कार्या धर्मभूतिरुपासकैः ।

१६। = जो जीव भक्तिके जिनन्द्र भगवात्का न दर्शन करते हैं, न पूजन करते हैं, और न ही स्तुति करते हैं उनका जीवन निष्फल है, तथा उनके गृहस्थको धिक्कार है। १५। श्रावकोको प्रातःकालमें उठ करके भक्तिके जिनन्द्रदेव तथा निर्ग्रन्थ गुरुका दर्शन और उनकी वन्दना करके धर्म श्रवण करना चाहिए। तत्पश्चात् अन्य कार्योंको करना चाहिए। १६।

बो. पा./टी./१७/८५ पर उद्धृत—उत्तं सोमदेव स्वामिना—अपूजयित्वा यो देवात् मुनीननुपचर्य च । यो भुञ्जीत गृहस्थः सद् स भुञ्जीत परं तमः । = आचार्य सोमदेवने कहा है—कि जो गृहस्थ जिनदेवकी पूजा और मुनियोंकी उपचर्या किये बिना अन्नका भक्षण करता है। वह सतत्वे नरकके कुम्भीपाक बिलमें दुःखको भोगता है। (अ. ग. आ./१/५६)।

पं. ध./उ./७३२-७३३ पूजामप्यर्हतां कुर्याद्यद्वा प्रतिमासु तद्विया । स्वरव्यञ्जनानि संस्थाप्य सिद्धानप्यर्चयेत्सुधीः । ७३२। सूर्युपाध्याय-साधूनां पुरस्तत्पादयोः स्तुतिम् । प्राग्विधाय्याष्टधा पूर्जा विदध्यात्स त्रिशुद्धितः । ७३३। = उत्तम बुद्धिवाला श्रावक प्रतिमासोंमें अर्हन्तकी बुद्धिके अर्हन्त भगवात्की और सिद्ध यन्त्रमें स्वर व्यञ्जन आदि रूपसे सिद्धोंकी स्थापना करके पूजन करे। ७३२। तथा आचार्य उपाध्याय साधुके सामने जाकर उनके चरणोंकी स्तुति करके त्रिकरणकी शुद्धिपूर्वक उनकी भी अष्ट द्रव्यसे पूजा करे। ७३३। (इस प्रकार नित्य होनेवाले जिनबिम्ब महोत्सवमें शिथिलता नहीं करना चाहिए। (७३६)।

२. नन्दीश्वर व पंचमेरु पूजा निर्देश

ति. प./५/८३.१०१.१०३ वरिसे वरिसे चउविहदेवा णंदीसरम्मि दीवम्मि । आसाढकत्तिएसु फग्गुणमासे समायन्ति । ८३। पुब्बाए कप्प-वासी भवणसुरा दक्खिणाए वेतरया । पच्छिमदिसाए तेसु जोइसिया उत्तरदिसाए । १००। णियणियविभूदिजोग्गं महिम्मं कुव्वंति थोत्त-बहलसुहा । णंदीसरजिणमंदिरजत्तासु विउलभत्तिजुहा । १०१। पुव्वण्णे अवरण्णे पुव्वणिसाए वि पच्छिमणिसाए । पहराणि दोण्णि-दोण्णि वरभत्तीए पसत्तमणा । १०२। कमसो पदाहिणेणं पुण्णिमयं जाव अट्ठमीदु । तदो देवा विविहं पूजा जिणिदण्डिमाण कुव्वंति । १०३। = चारों प्रकारके देव नन्दीश्वरद्वीपमें प्रत्येक वर्ष आषाढ, कार्तिक और फाल्गुन मासमें आते हैं। ८३। नन्दीश्वरद्वीपस्थ जिन-मन्दिरोंकी यात्रामें बहुत भक्तिके युक्त कल्पवासी देव पूर्व दिशामें, भवनवासी दक्षिणमें, व्यन्तर पश्चिम दिशामें और ज्योतिषदेव उत्तर दिशामें मुखसे बहुत स्तोत्रोंका उच्चारण करते हुए अपनी-अपनी विभूतिके योग्य महिमाको करते हैं। १००-१०१। ये देव आसक्त चित्त होकर अष्टमीसे लेकर पूर्णिमा तक पूर्वाह्न, अपराह्न, पूर्वाह्न और पश्चिमरात्रिमें दो-दो पहर तक उत्तम भक्ति पूर्वक प्रदक्षिण क्रमसे जिनन्द्र प्रतिमाओंकी विविध प्रकारसे पूजा करते हैं। १०२-१०३।

ज. प./६/११२ एवं आगंतूणं अट्ठमिदिवसेसु मंदरगिरिस्स । जिण-भवणेषु य पडिमा जिणिदण्डाणं प्रयंति । ११२। = इस प्रकार अर्थात् बड़े उत्सव सहित आकर वे (चतुर्निकायके देव) अष्टाहिक दिनोंमें मन्दर (सुमेरु) पर्वतके जिन भवनोंमें जिनन्द्र प्रतिमाओंकी पूजा करते हैं। ११२।

अन. ध./६/६३ कुर्वन्तु सिद्धनन्दीश्वरगुरुशान्तिस्तवैः क्रियामष्टौ । सुच्युर्जतपस्यसिताष्टम्यादिदिनानि मध्याह्ने । = आषाढ, कार्तिक और फाल्गुन शुक्ला अष्टमीसे लेकर पूर्णिमा पर्यन्तके आठ दिनों तक पौर्वाह्निक स्वाध्याय ग्रहणके अनन्तर सन संघ मिला कर, सिद्ध-भक्ति, नन्दीश्वर चैत्यभक्ति, पंचगुरुभक्ति और शान्तिभक्ति द्वारा अष्टाहिक क्रिया करे। ६३।

सर्व पूजाकी पुस्तकमें अष्टाहिकपूजा 'सवौषडाह्य निवेश्य ठाभ्या साधिध्यमनीय वषड्पदेन । श्रीपञ्चमेरुस्थजिनालयानां यजाम्यशीति-प्रतिभाः समस्ताः'। आहूय सवौषडिति प्रणेत्य ताभ्यां प्रतिष्ठाप्य सुनिष्ठितार्थात् । वषड्पदेनैव च संनिधाय नन्दीश्वरद्वीपजिना-न्समर्चं । २। = 'सवौषट्' पदके द्वारा बुलाकर, 'ठ' 'ठ' पदके द्वारा ठहराकर, तथा 'वषट्' पदके द्वारा अपने निकट करके पाँचों मेरु-पर्वतोंपर स्थित अस्सी चैत्यालयोंकी समस्त प्रतिमाओंकी मै पूजा करता हूँ । १। इसी प्रकार 'सवौषट्' पदके द्वारा बुलाकर, 'ठ' 'ठ' पदके द्वारा ठहराकर, तथा 'वषट्' के द्वारा अपने निकट करके हम नन्दीश्वरद्वीपके जिनेन्द्रोंकी पूजा करते हैं ।

३. पूजामें अन्तरंग भावोंकी प्रधानता

ध. ६/४, १, १/८/७ ण ताव जिणो सगवदणाए परिणयाणं चैव जीवाणं पावस्स पणासओ, वीयरायत्तस्साभावप्पसगादो । ** परिसेसत्तणेण जिणपरिणयभावो च पावपणासओ त्ति इच्छियव्वो, अण्णाहा कम्म-वखयाणुववत्तीदो । = जिन देव वन्दन-जीवोंके पापके विनाशक नहीं है, क्योंकि ऐसा होनेपर वीतरागताके अभावका प्रसंग आवेगा । ** तब पारिशेष रूपसे जिन परिणत भाव और जिनगुण परिणामको पापका विनाशक स्वीकार करना चाहिए ।

४. जिनपूजाका फल निर्जरा व मोक्ष

भ. आ./पू./७४६, ७५० एया वि सा समत्था जिणभत्ती दुग्गहं णिवारेण । पुण्णाणि य पूरेदु आसिद्धि परपरसुहाण । ७४६। बीएण विणा सत्सं इच्छदि सो वासमम्भएण विणा । आराधणमिच्छन्तो आरा-धणभक्तिमकरंतो । ७५०। = अकेली जिनभक्ति ही दुर्गतिका नाश करनेमें समर्थ है, इससे विपुल पुण्यकी प्राप्ति होती है और मोक्ष-प्राप्ति होने तक इससे इन्द्रपद, चक्रवर्तीपद, अहमिन्द्रपद और तीर्थ-करपदके मुख्योंकी प्राप्ति होती है । ७४६। आराधना रूप भक्ति न करके ही जो रत्नत्रय सिद्धि रूप फल चाहता है वह पुरुष बीजके बिना धान्य प्राप्तिकी इच्छा रखता है, अथवा मेघके बिना जलवृष्टिकी इच्छा करता है । ७५०। (भ. आ./पू./७५६), (र. सा./१२-१४); (भा. पा./टी./८/१३२ पर उद्धृत), (वसु. भा./४८६-४८३) ।

भा पा./पू./१५३ जिणवरचरणंबुद्धं णमंति जे परमभत्तिराएण । ते जम्मवेलिमूलं खणंति वरभावसत्थेण । १५३। = जे पुरुष परम भक्तिसे जिनवरके चरणकू नमें है ते श्रेष्ठ भावरूप शस्त्रकरि संसाररूप बैलि-का जो मूल मिथ्यात्व आदिकर्म ताहि खणें है ।

मू आ./५०६ अरहत्तणमोक्कारं भावेण य जो करेदि पयदमदी । सो सव्वदुत्तखमोक्खं पावदि अचिरेण कालेण । ५०६। = जो विवेकी जीव भावपूर्वक अहन्तको नमस्कार करता है वह अति शीघ्र समस्त दु खोंसे मुक्त हो जाता है । ५०६। (क. पा. १/१/गा. २/६), (प्र. सा./ता. वृ./७६/१०० पर उद्धृत) ।

क. पा. १/१/६/२ अरहत्तणमोक्कारो संपहियबंधादो असंखेज्जगुणकम्मवख-यकारओ त्ति । = अरहन्त नमस्कार तत्कालीन बन्धकी अपेक्षा असंख्यातगुणो कर्म निर्जराका कारण है । (ध. १०/४, २, ४, ६६/-२५६/४) ।

घ. ६/१, ६-६, २२/गा. १/४२८ दर्शनेन जिनेन्द्राणां पापसंघातकुंजरम् । शतधा भेदमायाति गिरिर्वज्रहतो यथा ।

घ. ६/१, ६-६, २२/४२७/६ जिणजिबद्धंसणेण णिधत्तणिकाचिदस्स वि मिच्छत्तादिकम्मकलावस्स खयदंसणादो । = जिनेन्द्रोंके दर्शनसे पाप सघात रूपी कुंजरके सौ टुकड़े हो जाते हैं, जिस प्रकार कि बज्रके आघातसे पर्वतके सौ टुकड़े हो जाते हैं । १। जिन बिम्बके दर्शनसे निधत्त और निकाचित रूप भी मिथ्यात्वादि कर्म कलापका क्षय देखा जाता है ।

पं. वि./१०/४२ नाममात्रकथया परात्मनो भूरिज्ज-मकूतपापसक्षय. ४२। = परमात्मके नाममात्रकी कथासे ही अनेक जन्मोंके संचित किये पापोंका नाश होता है ।

पं. वि./६/१४ प्रपश्यन्ति जिन भक्त्या पूजयन्ति स्तुवन्ति ये । ते च दृश्याश्च पूज्याश्च स्तुत्याश्च भुवनत्रये । १४। = जो भव्य प्राणी भक्तिसे जिन भगवात्का पूजन, दर्शन और स्तुति करते हैं वे तीनों लोकोंमें स्वयं ही दर्शन, पूजन और स्तुतिके योग्य हो जाते हैं अर्थात् स्वयं भी परमात्मा बन जाते हैं ।

सा. ध./२/३२ दृक्पूतमपि यष्टारमर्हंतोऽभ्युदयभियः । श्रयन्त्यहम्पूर्वि-कया, कि पुनत्र तभूषितम् । ३२। = अर्हन्त भगवात्की पूजाके माहा-त्म्यसे सम्यग्दर्शनसे पवित्र भी पूजकको पूजा, भ्राह्मा, आदि उत्कर्ष-कारक सम्पत्तियों 'मै पहले, मै पहले', इस प्रकार ईष्यसे प्राप्त होती है, फिर व्रत सहित व्यक्तिका तो कहना ही क्या है । ३२।

दे० धर्म/७/६ (दान, पूजा आदि सम्यक् व्यवहारधर्म कर्मोंकी निर्जरा तथा परम्परा मोक्षका कारण है ।)

३. पूजा निर्देश व मूर्ति पूजा

१. एक जिन या जिनालयकी वन्दनासे सबकी वन्दना हो जाती है

क. पा १/१, १/५=७/११२/५ अणंतेसु जिणेषु एयवदणाए सव्वेसि पि वंदणुववत्तीदो । ११२। एगजिणवदणाफलेण समाणफलत्तादो सेसजिण-वदणा फलवता तदो सेसजिणवदणासु अहियफलाणुववत्तीदो एक्कस्स चैव वदणा कायव्वा, अणंतेसु जिणेषु अक्कमेण छद्दुमत्थुप-जोगपड्डीए विसेसरूवाए असंभवादो वा एक्कसेव जिणस्स वदणा कायव्वा त्ति ण एसो वि एयंतगहो कायव्वो; एयंतावहारणस्स सव्वहा दुणयत्तप्पसंगादो । = एक जिन या जिनालयकी वन्दना करनेसे सभी जिन या जिनालयकी वन्दना हो जाती है । प्रश्न— एक जिनकी वन्दनाका जितना फल है शेष जिनोंकी वन्दनाका भी उतना ही फल होनेसे शेष जिनोंकी वन्दना करना सफल नहीं है । अतः शेष जिनोंकी वन्दनामें फल अधिक नहीं होनेके कारण एक ही जिनकी वन्दना करनी चाहिए । अथवा अनन्त जिनोंमें छद्दस्थके उपयोगकी एक साथ विशेषरूप प्रवृत्ति नहीं हो सकती, इसलिए भी एक जिनकी वन्दना करनी चाहिए । उत्तर— इस प्रकारका एकान्ताग्रह भी नहीं करना चाहिए, क्योंकि इस प्रकारका निश्चय करना दुर्नय है ।

२. एककी वन्दनासे सबकी वन्दना कैसे होती है

क. पा १/१, १/५=६-७/१११-११२/५ एकजिण-जिनालय-वदणा ण कम्मवखयं कुण्ह, सेसजिण-जिनालय-चत्सण- । १११। ण ताव पवख-वाओ अत्थि; एक्कं चैव जिणं जिनालयं वा वदामि त्ति णियमा-भावादो । ण च सेसजिणजिनालयाणं णियमेण वदणा ण कया चैव; अणंतणण-वंसण-विरिय-सुहादिवुवारेण एयत्तभावणेसु अणंतेसु जिणेषु एयवदणाए सव्वेसि पि वंदणुववत्तीदो । ११२। = प्रश्न— एक जिन या जिनालयकी वन्दना कर्मोंका क्षय नहीं कर सकती है, क्योंकि इससे शेष जिन और जिनालयोंकी आसादना होती है । उत्तर— एक जिन या जिनालयकी वन्दना करनेसे पक्ष-पात तो होता नहीं है, क्योंकि वन्दना करनेवालेके 'मै एक जिन या जिनालयकी वन्दना करूँगा अन्यकी नहीं' ऐसा प्रतिज्ञा रूप नियम नहीं पाया जाता है । तथा वन्दना करनेवालेने शेष जिन और जिनालयोंकी वन्दना नहीं की ऐसा भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि अनन्त ज्ञान, दर्शन, वीर्य, सुख आदिके द्वारा अनन्त जिन एकत्वको प्राप्त है । इसलिए उनमें गुणोंकी अपेक्षा कोई भेद नहीं

है अतएव एक जिन या जिनालयकी वन्दनासे सभी जिन या जिनालयकी वन्दना हो जाती है।

३. देव व शास्त्रकी पूजामें समानता

सा. ध./२/४४ ये यजन्ते श्रुतं भक्त्या, ते यजन्तेऽज्जसा जिनम् । न किञ्चिदन्तरं प्राहुराप्ता हि श्रुतदेवयोः ॥४४॥ = जो पुरुष भक्तिसे जिनवाणीको पूजते है, वे पुरुष वास्तवमें जिन भगवात्को ही पूजते है, क्योंकि सर्वज्ञदेव जिनवाणी और जिनेन्द्रदेवमें कुछ भी अन्तर नहीं कहते है ॥४४॥

४. साधु व प्रतिमा भी पूज्य है

बो. पा./मू./१७ तस्य य करइ पणाम सर्वं पुज्ज च विणयवच्छल्लं । जस्स य दसण णाणं अत्थि धुवं चैयणा भावो ॥१७॥ = ऐसे जिनबिम्ब अर्थात् आचार्य कू प्रणाम करो, सर्व प्रकार पूजा करो, विनय करो, वात्सल्य करो, काहै तैं—जाके धुव कहिये निश्चयतैं दर्शन ज्ञान पाइये है बहुरि चेतनाभाव है।

बो. पा./टी./१७/५५/६ जिनबिम्बस्य जिनबिम्बमूर्तेराचार्यस्य प्रणामं नमस्कारं पञ्चाङ्गमष्टाङ्गं वा कुरुत । चकारावुपाध्यायस्य सर्वसाधोश्च प्रणामं कुरुत तयोरेपि जिनबिम्बस्वरूपत्वात् । सर्वं पूजामष्टविधमर्चनं च कुरुत यूयमिति, तथा विनय - दैयावृत्यं कुरुत यूयम् । चकारावुपाध्यायदिघाटितस्य जिनबिम्बस्य पञ्चामूर्ते स्तपन, अष्टविधैः पूजाद्रव्यैश्च पूजनं कुरुत यूयम् । = जिनेन्द्रकी मूर्ति स्वरूप आचार्यको प्रणाम, तथा पंचाङ्ग वा अष्टांग नमस्कार करो। च शब्दसे उपाध्याय तथा सर्व साधुओंको प्रणाम करो, क्योंकि वह भी जिनबिम्ब स्वरूप है। इन सबकी अष्टविध पूजा, तथा अर्चना करो, विनय, एवं दैयावृत्य करो। चकारसे पाषाणादिमें उकेरे गये जिनेन्द्र भगवात्के बिम्बका पंचामूर्तसे अभिषेक करो और अष्टविध पूजाके द्रव्यसे पूजा करो, भक्ति करो। (और भी दे० पूजा/२५)।

दे० पूजा/१/४ आकारवान व निराकार वस्तुमें जिनेन्द्र भगवात्के गुणोंकी कल्पना करके पूजा करनी चाहिए।

दे० पूजा/२/१ (पूजा करना श्रावकका नित्य कर्तव्य है।)

५. साधुको पूजासे पाप नाश कैसे हो सकता है

ध. ६/४,९,१/११/१ होषु णाम सयलजिणमोक्कारो पावप्पणासओ, तत्थ सव्वगुणाणमुवलंभादो । ण देसजिणणभेदेसु तदणुवलभादो त्ति । ण, सयलजिणेषु व देसजिणेषु तिण्हं रयणाणमुवलंभादो । तदो सयलजिणमोक्कारो व देसजिणमोक्कारो वि सव्वकम्मसखयकारओ त्ति दट्ठवो । सयलसयलजिणट्ठियतिरयणाण ण समाणत्तं । संपुण्णतिरयणकज्जमसंपुण्णतिरयणाणि ण करेत्ति, असमणत्तादो त्ति ण, णाण-दसण-चरणाणमुप्पणसमाणत्तुवलंभादो । ण च असमाणाणं कज्जं असमाणमेव त्ति गियमो अत्थि, संपुण्णग्गया कीरमाणदाह-कज्जस्स तदवयवे वि उवलंभादो, अमियवडसएण कीरमाण णिव्विसीकरणादि कज्जस्स अमियस्स चलुवे वि उवलंभादो वा । = प्रश्न—सकलजिन नमस्कार पापका नाशक भले ही हो, क्योंकि उनमें सब गुण पाये जाते हैं। किन्तु देशजिनोंकी क्रिया गद्या नमस्कार पाप प्रणाशक नहीं हो सकता, क्योंकि इनमें वे सब गुण नहीं पाये जाते ? उत्तर—नहीं, क्योंकि सकलजिनोंके समान देशजिनोंमें भी तीन रत्न पाये जाते हैं। इसलिए सकलजिनोंके नमस्कारके समान देशजिनोंका नमस्कार भी सब कर्मोंका क्षयकारक है, ऐसा निश्चय करना चाहिए। प्रश्न—सकलजिनों और देशजिनोंमें स्थित तीन रत्नोंकी समानता नहीं हो सकती। क्योंकि सम्पूर्ण रत्नत्रयका कार्य असम्पूर्ण रत्नत्रय नहीं करते, क्योंकि, वे असमान है। उत्तर—नहीं, क्योंकि ज्ञान, दर्शन और चारित्रिके

सम्बन्धमें उत्पन्न हुई समानता उनमें पायी जाती है। और असमानोंका कार्य असमान ही हो ऐसा कोई नियम नहीं है, क्योंकि सम्पूर्ण अग्निके द्वारा किया जानेवाला दाह कार्य उसके अवयवमें भी पाया जाता है, अथवा अमृतके सैकड़ों षडोंसे किया जानेवाला निर्विषीकरणदि कार्य चुल्हू भर अमृतमें भी पाया जाता है।

६. देव तो भावोंमें है मूर्तिमें नहीं

प. प्र./मू./१/१२३/१ देउ ण देउले णवि सिलए णवि लिप्पइ णवि चित्ति । अखउ णिरजणु णाणमउ सिउ संठिउ सम-चित्ति ॥१२३॥ = आत्म देव देवालयमें नहीं है, पाषाणकी प्रतिमामें भी नहीं है, लेपमें भी नहीं है, चित्रामकी मूर्तिमें भी नहीं है। वह देव अविनाशी है, कर्म अंजनसे रहित है, केवलज्ञान कर पूर्ण है, ऐसा निज परमात्मा समभावमें तिष्ठ रहा है ॥१२३॥ (यो. सा यो./४३-४४)

यो. सा. यो./४२ तित्थहि देवलि देउ णवि इम सुइकेवलि वुत्तु । देहा-देवलि देउ जिणु एहउ जाणि णिरुत्तु ॥४२॥ = श्रुतकेवलीने कहा है कि तीर्थोंमें देवालयोंमें देव नहीं है, जिनदेव तो देह देवालयमें विराजमान हैं ॥४२॥

बो. पा./टी./१६२/३०२ पर उद्धृत—न देवो विद्यते काष्ठे न पाषाणे न मृण्मये । भावेषु विद्यते देवस्तस्माद्भावो हि कारणं । भावविहूणउ जीव तुहं जइ जिणु वहहि सिरेण । पत्थरि कमलु कि निप्पजइ जइ सिचहि अमिएण । = काष्ठकी प्रतिमामें, पाषाणकी प्रतिमामें अथवा मिट्टीकी प्रतिमामें देव नहीं है। देव तो भावोंमें है। इसलिए भाव ही कारण है। हे जीव । यदि भाव रहित केवल शिरसे जिनेन्द्र भगवात्को नमस्कार करता है तो वह निष्फल है, क्योंकि क्या कभी अमृतसे सौंचनेपर भी कमल पत्थरपर उत्पन्न हो सकता है। (२)

दे० पूजा/१/५ (निश्चयसे आत्मा ही पूज्य है।)

७. फिर मूर्तिको क्यों पूजते हैं

भ. आ./वि./४७/१६०/१३ अर्हदादयो भव्याना शुभोपयोगकारणतामुपायन्ति । तद्ददेतान्यपि तदीयानि प्रतिबिम्बानि । यथा...स्वपुत्रसदृशदर्शनं पुत्रस्मृतेरालम्बनं । एवमर्हदादिगुणानुस्मरणनिबन्धनं प्रतिबिम्बम् । तथानुस्मरणं अभिनवाशुभप्रकृतेः संवरणे, क्षममिति सकलाभिमत्पुरुषार्थसिद्धिहेतुतया उपासनीयानीति । = जैसे अर्हदादि भव्योंको शुभोपयोग उत्पन्न करनेमें कारण हो जाते हैं, वैसे उनके प्रतिबिम्ब भी शुभोपयोग उत्पन्न करते हैं। जैसे-अपने पुत्रके समान ही दूसरेका सुन्दर पुत्र देखनेसे अपने पुत्रकी याद आती है। इसी प्रकार अर्हदादिके प्रतिबिम्ब देखनेसे अर्हदादिके गुणोंका स्मरण हो जाता है, इस स्मरणसे नवीन अशुभ कर्मका संवरण होता है। इसलिए समस्त इष्ट पुरुषार्थकी सिद्धि करनेमें, जिन प्रतिबिम्ब हेतु होते हैं, अतः उनकी उपासना अवश्य करनी चाहिए।

भ. आ./वि./३००/५११/१५ चेदिग्भत्ता य चैत्यानि जिनसिद्धप्रतिबिम्बानि कृत्रिमाकृत्रिमाणि तेषु भक्ता । यथा शत्रूणां मित्राणां वा प्रतिकृतिदर्शनाद्द्वेषो रागश्च जायते । यदि नाम उपकारोऽनुपकारो वा न कृतस्तथा प्रतिकृत्या तत्कृतापकारस्योपकारस्य वा अनुसरणे निमित्ततास्ति तद्दृज्जनसिद्धगुणा । अनन्तज्ञानदर्शनसम्यक्स्ववीतरागत्वादयस्तत्र यद्यपि न सन्ति, तथापि तद्गुणानुस्मरणं संपादयन्ति सादृश्यात्तच्च गुणानुस्मरणं अनुरागात्मकं ज्ञानदर्शने संनिधापयति । ते च संवरनिर्जरे महत्स्यौ संपादयतः । तस्माच्चैत्यभक्तिमुपयोगिनो कुरुत । = हे मुनिगण ! आप अर्हन्त और सिद्धकी अकृत्रिम और कृत्रिम प्रतिमाओंपर भक्ति करो। शत्रुओं अथवा मित्रोंकी फोटो अथवा प्रतिमा दीख पड़नेपर द्वेष और प्रेम उत्पन्न होता है। यद्यपि उस फोटोने उपकार अथवा अनुपकार कुछ भी नहीं किया है, परन्तु वह शत्रुकृत उपकार और मित्रकृत उपकारका स्मरण होनेमें कारण

है। जिनेश्वर और सिद्धोके अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, सम्यग्दर्शन, वीतरागतादिक गुण यद्यपि अर्हत्प्रतिमामें और सिद्ध प्रतिमामें नहीं है, तथापि उन गुणोंका स्मरण होनेमें वे कारण अवश्य होती है, क्योंकि अर्हत् और सिद्धोका उन प्रतिमाओंमें सादृश्य है। यह गुण स्मरण अनुरागस्वरूप होनेसे ज्ञान और श्रद्धानको उत्पन्न करता है, और इनसे नवीन कर्मोंका अपरिमित सवर और पूर्वसे बंधे हुए कर्मोंकी महानिर्जरा होती है। इसलिए आत्म स्वरूपकी प्राप्ति होनेमें सहायक चैत्य भक्ति हमेशा करो। (ध, ६/४.१.१/८/४), (अन ध, ६/१५)।

८. एक प्रतिमामें सर्वका संकल्प

र. क आ/पं, सदासुख/११६/१७३/३ एक तीर्थकरके हू निरुक्ति द्वारै चौबीसका नाम सम्भव है। तथा एक हजार आठ नामकरि एक तीर्थकरका सौधर्म इन्द्र स्तवन किया है, तथा एक तीर्थकरके गुण-निके द्वारै असंख्यात नाम अनन्तकालतें अनन्त तीर्थकरके हो गये है। तातैं हूँ एक तीर्थकरमें एकका भी संकल्प अर चौबीसका भी संकल्प सम्भव है। अर प्रतिमाके चिन्ह है सो नामादिक व्यवहारके अर्थ है। अर एक अरहन्त परमात्मा स्वरूपकरि एक रूप है अर नामादि करि अनेक स्वरूप है। सत्यार्थ ज्ञानस्वभाव तथा रत्नत्रय रूप करि वीतराग भावकरि पंच परमेष्ठी रूप हो प्रतिमा जाननी।

९. पार्श्वनाथकी प्रतिमापर फण लगानेका विधि विषेध

र. क आ/पं, सदासुख/२३/३६/१० तिनके (पद्मावतीके) मस्तक ऊपर पार्श्वनाथ स्वामीका प्रतिबिम्ब अर ऊपर अनेक फणनिका धारक सर्पका रूप करि बहुत अनुराग करि पूजै है, सो परमागमते जानि निर्णय करो। मूढलोकनिका कहिवो योग्य नहीं।

चर्चा समाधान/चर्चा नं, ७० = प्रश्न—पार्श्वनाथजीके तपकाल विषे धरणेन्द्र पद्मावती आये मस्तक ऊपर फणका मण्डप किया। केवल-ज्ञान समय रहा नाही। अब प्रतिमा विषे देखिये। सो क्योंकर सम्भवै। उत्तर—जो परम्परा सौ रीति चली आवै सो अयोग्य कैसे कही जावै।

१०. बाहुबलिकी प्रतिमा सम्बन्धी शंका समाधान

चर्चा समाधान/शंका नं ६६ = प्रश्न—बाहुबलिकी की प्रतिमा पूज्य है कि नहीं। उत्तर—जिनलिग सर्वत्र पूज्य है। धातुमें, पाषाणमें जहाँ है तहाँ पूज्य है। याही तैं पाँचो परमेष्ठीकी प्रतिमा पूज्य है।

४. पूजायोग्य द्रव्य विचार

१. अष्टद्रव्यसे पूजा करनेका विधान

ति, प. ३/२२३-२२६ भिगार फलसदपणकृतत्तयचमरपहुदिदवेहि। पूजंति फलिहदडोवमाणवरवारिधारेहि। १२२३। गोसोरमलयचंदण-कुकुमकेहि परिमलिलेहि। मृत्ताहल पूजेहि स लीए तंदुलेहि सयलेहि। १२२४। वरविहिकुसुममालासरहि धूर्वरंगगंधेहि। अमयादो मुहुरेहि णाणाविहदिव्वभयलेहि। १२२५। ध्रुवेहि सुगंधेहि रयणपईवेहि दित्तकरणेहि। पवकेहि फणसकदलोवाडिमदववादिय-फलेहि। १२२६। = वे देव भारी, कलश, दर्पण, तीन छत्र और चाम-रादि द्रव्योंसे, स्फटिक मणिमय दण्डके तुर्य उत्तम जलधाराओंसे, सुगन्धित गोशीर, मलय, चन्दन, और कुंकुमके पंकोसे, मोतियोंके पुंजरूप शालिधान्यके अखण्डित तन्दुलोंसे, जिनका रंग और गन्ध फैल रहा है ऐसी उत्तमोत्तम विविध प्रकारकी सैकड़ों मालाओंसे; अमृतसे भी मधुर नाना प्रकारके दिव्य नैवेद्योंसे, सुगन्धित धूपोंसे,

प्रदीप्त किरणोंसे युक्त रत्नमयी दीपकोंसे, और पके हुए कटहल, केला दाडिम एव दाख इत्यादि फलोंसे पूजा करते हैं। १२२३-२२६। (ति. प. ५/१०४-१११, ७/४६; ८/५६)।

ध. ८/३, ४२/६२/३ चरु-बलि-पुष्प-फल-गंधध्रुवदीवादीहि सगभक्तिप-गासो अचचना णाम। = चरु, बलि, पुष्प, फल, गन्ध, धूप और दीप आदिकोंसे अपनी भक्ति प्रकाशित करनेका नाम अर्चना है। (ज. प. ५/११७)।

वसु. आ./४२०-४२१. अक्खयचरु-दीवेहि-य ध्रुवेहि फलेहि विविहेहि। ४२०। बलिवत्तिएहि जावारएहि य सिद्धत्थपणरुक्खेहि। पुब्बुत्तु-वयरणेहि य रएज्जपुज्जं सविहवेण। ४२१। = (अभिषेकके पश्चात्) अक्षत-चरु, दीपसे, विविध धूप और फलोंसे, बलि बर्तियोंसे अर्थात् पूजार्थ निर्मित अग्रभक्तियोंसे जवारकोंसे, सिद्धार्थ (सरसो) और पर्ण वृक्षोंसे तथा पूर्वोक्त (भेरी, घंटादि) उपकरणोंसे पूर्ण वैभवेके साथ या अपनी शक्तिके अनुसार पूजा रचै। ४११-४२१। (विशेष दे० वसु. आ. (४२३-४४१), (सा. ध./२/२५, ३१); (बो. पा./टी./१७/८५/२०)।

२. अष्ट द्रव्य पूजा व अभिषेकका प्रयोजन व फल

वसु. आ./४८३-४६२ जलधारणिकखेवेण पावमलसोहणं हवे णिय। चंदणवेवेण णरो जावइ सोहग्गसंपणो। ४८३। जायइ अक्खयणिहि-रयणसामियो अक्खएहि अक्खोहो। अक्खीणलद्विजुत्तो अक्खयसोक्खं च पावेइ। ४८४। कुसुमेहि कुसेसयवयणु तरुणीजणजयण कुसुमवर-माला। बलएणच्चियवेहो जयइ कुसुमाउहो चव। ४८५। जायइ णिवि-ज्जादाणेण सत्तिगो कंत्ति-तेय सपणो। लावणजलहिबेलातर गसंपा-वियसरीरो। ४८६। दीवेहि दीवियासेसजीवदव्वाइतच्चसम्भावो। सम्भावजणियकेवलपईवतेएण होइ णरो। ४८७। ध्रुवेण सिसिरयर-धवलकित्तिधवलियजयत्तओ पुरिसो। जायइ फलेहि संपत्तपरम-णिब्बाणसोक्खफलो। ४८८। घंटाहि घंटसहाउलेसु पवरच्छराणमज्ज-म्मि। सकीडइ सुरसंघायसेवियो वरविमाणेसु। ४८९। छत्तेहि एय-छत्तं भुजइ पुहवी सवत्तपरिहीणो। चामरदाणेण तहा विज्जज्जइ चमरणिवहेहि। ४९०। अहिसियफलेण णरो अहिसिचिज्जइ सुदंसण-स्सुवरि खीरोयजलेण सुरिदप्पसुहवेवेहि भत्तीए। ४९१। विजयपडाएहि णरो सगाममुहसु विजइओ होइ। छक्खंविजयणाहो णिप्पडिववरवो जसस्ती य। ४९६। = पूजनके समय नियमसे जिन भगवात्के आगे जलधारके छोड़नेसे पापरूपी मैलका संशोधन होता है। चन्दन रसके लेपसे मनुष्य सौभाग्यसे सम्पन्न होता है। ४८३। अक्षतोंसे पूजा करनेवाला मनुष्य अक्षय नौ निधि और चौदह रत्नोंका स्वामी चक्र-वर्ती होता है, सदा अक्षीभ और रोग शोक रहित निर्भय रहता है, अक्षीण लब्धिसे सम्पन्न होता है, और अन्तमें अक्षय मोक्ष सुखको पाता है। ४८४। पुष्पोंसे पूजा करनेवाला मनुष्य कमलके समान सुन्दर मुखवाला, तरुणीजनके नयनोंसे और पुष्पोंकी उत्तम मालाओंके समूहसे समर्चित देहवाला कामदेव होता है। ४८५। नैवेद्यके चढानेसे मनुष्य शक्तिमान, कान्ति और तेजसे सम्पन्न, और सौन्दर्य रूपी समुद्रकी बेलावर्ती तरंगोंसे सप्लावित शरीरवाला अर्थात् अति सुन्दर होता है। ४८६। दीपोंसे पूजा करनेवाला मनुष्य, सद्भावोंके योगसे उत्पन्न हुए केवलज्ञानरूपी प्रदीपके तेजसे समस्त जीव द्रव्यादि तत्त्वोंके रहस्यको प्रकाशित करनेवाला अर्थात् केवलज्ञानी होता है। ४८७। धूपसे पूजा करनेवाला मनुष्य चन्द्रमाके समान त्रैलोक्यव्यापी यशवाला होता है। फलोंसे पूजा करनेवाला मनुष्य परम निर्वाणका सुखरूप फल पानेवाला होता है। ४८८।—जिन मन्दिरमें घंटा समर्पण करनेवाला पुरुष घटाओंके शब्दोंसे व्याप्त श्रेष्ठ विमानोंमें सुर समूहसे सेवित होकर अप्सराओंके मध्य क्रोडा करता है। ४८९। छत्र प्रदान करनेसे मनुष्य, शत्रु रहित होकर पृथ्वीको एक-छत्र भोगता है। तथा

चमरोंके दानसे चमरोंके समूहों द्वारा परिवीजित किया जाता है। जिन भगवात्के अभिषेक करनेसे मनुष्य सुदर्शन मेरुके ऊपर क्षीर-सागरके जलसे सुरेन्द्र प्रमुख देवोंके द्वारा अभिषिक्त किया जाता है। १४६१। जिन मन्दिरमें विजय पताकाओंके देनेसे संग्रामके मध्य विजयी होता है तथा षट्खण्डका निष्प्रतिपक्ष स्वामी और यशस्वी होता है १४६२।

सा. ध./२/३०-३१ वाधारा: रजस' शमाय पदयो', सम्यक्प्रयुक्ताहृत' सद्गन्धस्तनुसौरभाय विभवा-च्छेदाय सन्त्यक्षता। यद्गुः स्रिद-विजसजे चरुमा-स्वाम्याय दीपस्त्वेषे। धूपो विश्वहृगुस्ववाय फलमिष्टार्थयि चार्थयि सः १३०। नीराद्यैश्चारुकाव्यस्फुरदनणुगुण-ग्रामरज्यन्मनोभि-र्भव्योऽर्चन्द्विग्विशुद्धि प्रबलयतु यया, कल्पते तत्प-दाय १३१। = अरहन्त भगवात्के चरण कमलोंमें विधि पूर्वक चढाई गयी जलकी धारा पूजकके पापोंके नाश करनेके लिए, उत्तम चन्दन शरीरमें सुगन्धिके लिए, अक्षत विभूतिकी स्थिरताके लिए, पुष्प-माला मन्दिरमालाकी प्राप्तिके लिए, नैवेद्य लक्ष्मीपतित्वके लिए, दीप कान्तिके लिए, धूप परम सौभाग्यके लिए, फल इच्छित वस्तुकी प्राप्तिके लिए और वह अर्घ अनर्घपदकी प्राप्तिके लिए होता है १३० .. सुन्दर गद्य पद्यका काव्यों द्वारा आश्चर्यान्वित करनेवाले बहुत-से गुणोंके समूहसे मनको प्रसन्न करनेवाले जल चन्दनादिक द्रव्यों द्वारा जितेन्द्रदेवको पूजनेवाला भव्य सम्यग्दर्शनकी विशुद्धिको पुष्ट करे है, जिस दर्शनविशुद्धिके द्वारा तीर्थकरपदकी प्राप्तिके लिए समर्थ होता है १३१।

३. पंचामृत अभिषेक निर्देश व विधि

सा. ध./६/२२ आश्रुत्य स्नपन विशोध्य तदिलां, पीठयां चतुष्कुम्भयुक्त कोणायामा सकुशभियां जिनपतिं न्यस्तान्तमाप्येष्टदिक्-नीराज्या-म्बुरसाज्यदुग्धदधिभिः, सिक्त्वा कृतोद्धर्तनं, सितं कुम्भजलैश्च गन्धसलिलैः संपूज्य नृत्वा स्मरेत् १२२। = अभिषेककी प्रतिज्ञा कर अभिषेक स्थानको शुद्ध करके चारों कोनोंमें चार कलशसहित सिंहासनपर जितेन्द्र भगवात्को स्थापित करके आरती उत्तारकर इष्ट दिशामें स्थित होता हुआ जल, इक्षुरस, घी, दुग्ध, और दही के द्वारा अभिषिक्त करके चन्दनानुलेपन युक्त तथा पूर्व स्थापित कलशोंके जलसे तथा सुगन्ध युक्त जलसे अभिषिक्त जिनराजकी अष्टद्रव्यसे पूजा करके स्तुति करके जाप करे १२२। (बो. पा /टी./१७/५५/१६) (दे० सावद्य/७)।

४. सचित्त द्रव्यों आदिसे पूजाका निर्देश

१. विलेपन व सजावट आदिका निर्देश

ति. प./४/१०५ कुंकुमकप्पूरेहि चदणकालागरुहि अणोहि। तार्ण विले-वणाई ते कुम्बते सुगंधेहि १२०५। = वे इन्द्र कुंकुम, कर्पूर, चन्दन, कालागुरु और अन्ध सुगन्धित द्रव्योंसे उन प्रतिमाओंका विलेपन करते है १२०५। (वसु० भा०/४२७); (ज. प /४/११५); (दे० सावद्य/७)।

वसु. भा./३६५-४०० पडिचोणेतपडाइएहि वत्थेहि बहुविहेहि तहा। उल्लोविज्जण उन्नरि चंदोवयमणिविहाणेहि १३६५। सभूसिज्जण चंदद-चंदवुब्बुयवरायलाईहि। मुत्तादामेहि तहा किंकिणजालेहि विवि-हेहि १३६६। छत्तेहि चामरेहि य दप्पण-भिगार तालवट्टेहि। कसत्तेहि पुप्फवडिलिय-सुपइदुयदीवणिवहेहि १४००। = (प्रतिमाकी प्रतिष्ठा करते समय मंडपमें चबूतरा बनाकर वहाँ पर) चीनपट्ट (चाइना सिक्क) कोशा आदि नाना प्रकारके नेत्रार्कषक वस्त्रोंसे निर्मित चन्द्रकान्त मणि तुल्य चतुष्कोण चंदोवेको तालकर, चन्द्र, अर्धचन्द्र, बुद्बुद, वराटक (कौडी) आदिसे तथा मोतियोंकी मालाओंसे, नाना प्रकारकी छोटी धंटियोंके समूहसे, छत्रोंसे, चमरोंसे, दर्पणोंसे,

भृङ्गरसे, तालवृन्तोसे, कलशोंसे पुष्पपटलोंसे सुप्रतिष्ठक (स्वस्तिक) और दीप समूहोंसे आभूषित करे १३६५-४००।

२. हरे पुष्प व फलोंसे पूजन

ति. प./४/१०७, १११ सयवतगा य चंपयमाला पुष्पायणायपहुदीहि। अर्चति ताओ देवा सुरहीहि कुसुममालाहि १२०७। दसखादाडिम-कदलीणारंगयमाहुलिंगवुदेहि। अणोहि वि पक्केहि फलेहि पूजति जिणणाहं १२११। = वे देव सेवन्ती, चम्पकमाला, पुंनग और नाग प्रभृति सुगन्धित पुष्पमालाओंसे उन प्रतिमाओंकी पूजा करते है १२०७। (ज. प./४/११५); (बो. पा./टी./१६/७८/पर उद्धृत), (दे० सावद्य/७)। दाख, अनार, केला, नारंगी, मातुलिंग, आम तथा अन्य भी पके हुए फलोंसे वे जिननाथकी पूजा करते है १२११। (ति. प./३/२२६)।

प. पु./११/३४५ जिनेन्द्रः प्रापित् पूजामरैः कनकाम्बुजैः। द्रुमपुष्पा-विभि कि न पूज्यतेऽस्मद्विधैर्जनैः १३४५। = देवोंने जितेन्द्र भगवात्की सुवर्ण कमलसे पूजा की थी, तो क्या हमारे जैसे लोग उनकी साधारण वृक्षोंके फूलोंसे पूजा नहीं करते है ! अर्थात् अवश्य करते है १३४५।

म. पु./१७/२५२ परिणतफलभेदेराजजम्बुककपित्थैः पनसलकुचमोचै-दाडिमैर्मतुलिङ्गैः। क्रमुकरुचिरगुच्छैर्नालिकेरैश्च रम्यैः गुरुचरण-सपर्यामातनोदाततथी. १२५२।

म. पु./७८/४०६ तद्विलोक्य समुत्पन्नभक्ति. स्नानविशुद्धिभाक्। तत्सरो-वरसंभूतप्रसवैर्बहुभिर्जिनात् १४६६। (अम्यर्च्य) = जिनकी लक्ष्मी बहुत विस्तृत है ऐसे राजा भरतने पके हुए मनोहर आम, जामुन, कैथा, कटहल, बडहल, केला, अनार, बिजौरा, सुपारियोंके सुन्दर गुच्छे और नारियलोंसे भगवात्के चरणोंकी पूजा की थी १२५२। (जिन मन्दिरके स्वयमेव किवाड खुल गये) यह अतिशय देख, जीवन्धर कुमारकी भक्ति और भी बढ गयी, उन्होंने उसी सरोवर में स्नान कर विशुद्धता प्राप्त की और फिर उसी सरोवरमें उत्पन्न हुए बहुतसे फूल ले जितेन्द्र भगवात्की पूजा की १४०६।

वसु. भा./४३१-४४१ मालह कर्णकणयारि-चंपयासोय-वउल-तिलएहि। मंदार-णायचंपय-पउमुष्पल-सिंदुवारैहि १४३१। कणवीर-मल्लियाहि कचणारमचकुंद-किंकराएहि। सुरवणज जुहिया-पारिजातय-जासवण-टगरेहि १४३२। सोवण-रुप्पि-मेहिय-मुत्तादामेहि बहुवियप्पेहि। जिणपय-पंकयजुयलं पुज्जिज्ज सुरिदसममहियं १४३३। जंबीर-मोच-दाडिम-कविथ-पणस-णालिपरैहि। हिंताल-ताल-खज्जूर-णिबु-नारग-चारेहि १४४०। पूईफल-तिंदु-आमलय-जंबु-विस्लाइसुरहि-मिट्ठेहि। जिणपयपुरओ रयणं फलेहि कुज्जा सुपक्केहि १४४१। = मालती, कदम्ब, कर्णकार (कनैर), चंपक, अशोक, बकुल, तिलक, मन्दार, नागचम्पक, पद्म (लाल कमल) उत्पल (नील कमल) सिंदुवार (वृक्ष विशेष या निर्गुण्डी) कर्णवीर (कनैर), मल्लिका, कचनार, मचकुन्द, किंकरात (अशोक वृक्ष) देवोंके नन्दन वनमें उत्पन्न होनेवाले कल्पवृक्ष, जुही, पारिजातक, जपा-कुसुम और तगर (आदि उत्तम वृक्षोंसे उत्पन्न) पुष्पोंसे, तथा सुवर्ण चाँदीसे निर्मित फूलोंसे और नाना प्रकारके मुत्ताफलोंकी मालाओंके द्वारा, सौ जातिके इन्द्रोंसे पूजित जितेन्द्रके पद-पकज युगलको पूजे १४३१-४३३। जंबीर (नीबू विशेष), मोच (केला), अनार, कपित्थ (कबीट या कैथ), पनस, नारियल, हिंताल, ताल, खजूर, निम्बू, नारंगी, अचार (चिरौजी), पूगीफल (सुपारी), तैन्दु, आँवला, जामुन, विष्वफल आदि अनेक प्रकारके सुगन्धित मिष्ट और सुपक्व फलोंसे जिन चरणोंकी पूजा करे १४४०-४४१। (र. क. आ./-पं. सदासुख दास/११६/१७०/६)।

सा. ध./२/४०/१२६ पर फुटनोट-पुष्पाके लिए पुष्पोंकी आवश्यकता पड़ती है। इससे मन्दिरमें वादिकाएँ होनी चाहिए।

३. भक्ष्य नैवेद्यसे पूजन

ति. प./५/१०८ बहुविहरसर्वतेहि वरभवखेहि विचित्तरुवेहि । अमय-सरिच्छेहि सुरा जिणिदपडिमाओ महयति । १०८। = ये देवगण बहुत प्रकारके रसोसे संयुक्त, विचित्र रूप वाले और अमृतके सदृश उत्तम भोज्य पदार्थोंसे (नैवेद्यसे) जिनेन्द्र प्रतिमाओंकी पूजा करते हैं । १०८। (ज. प./५/११६) ।

वसु. आ./४३४-४३५ दहि-दुद्धसम्पिनिस्सेहि कलमभत्तेहि बहुप्पया-रेहि । तैवट्टि-विजणेहि य बहुविहपक्कणभेएहि । ४३४। रूपय-सुवण-कसाइयालि णिहिएहि विविहमक्खेहि । पुज्ज वित्थारिज्जो भत्तीए जिणिदपयपुरओ । ४३५। = चाँदी, सोना, और काँसे आदिकी थालियोंमें रखे हुए दही, दूध और घीसे मिले हुए नाना प्रकारके चावलके भातसे, तिरैसठ प्रकारके व्यंजनोंसे तथा नाना प्रकारकी जातिवाले पकवानोसे और विविध भक्ष्य पदार्थोंसे भक्तिके साथ जिनेन्द्र चरणोंके सामने पूजन करे । ४३४-४३५।

र. क. आ./प. सदासुख/११६/१६६/१७ कोई अष्ट प्रकार सामग्री बनाय चढावै, केई सूका जव, गेहूँ, चना, मक्का, बाजरा, उडद, मूँग, मोठ इत्यादि चढावै, केई रोटी, राबडी, बावडीके पुष्प, नाना प्रकारके हरे फल, तथा दाल-भात अनेक प्रकारके व्यंजन चढावै । केई मेवा, मोतिनीके पुष्प, दुग्ध, दही, घी, नाना प्रकारके घेवर, लाडू, पीडा, बर्फी, पूडी, पूवा इत्यादि चढावै है ।

५. सचित्त व अचित्त द्रव्य पूजाका समन्वय

ति. प./३/२२५ ...। अमयादो मुहुरेहि णाणाविहदिव्वभवखेहि । २२५। = अमृतसे भी मधुर दिव्य नैवेद्योसे । २२५। ..

नि. सा./६७५ दिव्वफलपुष्पहत्था । ६७५। = दिव्य फल पुष्पादि पूजन द्रव्य हस्त विषे धारै हैं । (अथत्ति—देवोंके द्वारा ग्राह्य फल पुष्प दिव्य थे ।)

र. क. आ./पं. सदासुख दास/११६/१७०/६ यहाँ जिनपूजन सचित्त-द्रव्यनितै हूँ अर अचित्त द्रव्यनितै हूँ.. करिये है । दो प्रकार आगम-की आज्ञा-प्रमाण सनातन मार्ग है अपने भावनिके अधीन पुण्यबन्ध-के कारण है । यहाँ ऐसा विशेष जानना जो इस दुषमकालमें विकलत्रय जीवनीकी उत्पत्ति बहुत है । ताते ज्ञानी धर्मबुद्धि है ते तो पक्षपात छाँडि जिनेन्द्रका प्ररूपण अहिंसा धर्म ग्रहण करि जेता कार्य करो तेता यत्नाचार रूप जीव-धिराधना टालि करो इस कलिकालमें भगवाद्का प्ररूपण नयविभाग तो समझे नाहीं... अपनी कल्पना ही तै यथेष्ट प्रवर्तै है ।

६. निर्माल्य द्रव्यके ग्रहणका निषेध

नि. सा./मू./३२ जिणुद्धारपत्तिट्टा जिणपूजातित्थवंदण विसयं । धणं जो भुजइ सो भुजइ जिणदिट्ठं णरयगयदुस्सं । ३२। = श्री जिन-मन्दिरका जीर्णोद्धार, जिनबिम्ब प्रतिष्ठा, मन्दिर प्रतिष्ठा, जिनेन्द्र भगवाद्की पूजा, जिन यात्रा, रथोत्सव और जिन शासनके आय-तनोकी रक्षाके लिए प्रदान किये हुए दानको जो मनुष्य लोभवश ग्रहण करे, उससे भविष्यत्में होनेवाले कार्यका विध्वंस कर अपना स्वार्थ सिद्ध करे तो वह मनुष्य नरकगामी महापापी है ।

रा. वा./६/२२/४/५२८/२३ चेत्यप्रदेशगन्धमात्यधूपादिमोषण...अशुभस्य नाम्न आसव' ।

रा. वा./६/२७/१/५३१/३३ देवतानिवेद्यानिवेद्यग्रहण (अन्तरायस्थासवः) । = १. मन्दिरके गन्ध माल्य धूपादिका चुराना, अशुभ नामकर्मके आसवका कारण है । २. देवताके लिए निवेदित किये या अनिवेदित किये गये द्रव्यका ग्रहण अन्तराय कर्मके आसवका कारण है । (त. सा./४/५६) ।

५. पूजा-विधि

१. पूजाके पाँच अंग होते हैं

र. क. आ./पं. सदासुख दास/११६/१७३/१५ व्यवहारमें पूजनके पाँच अंगनिकी प्रवृत्ति देखिये है—आह्वानन १; स्थापना २, संनिधिकरण ३; पूजन ४, विसर्जन ५ ।

२. पूजा दिनमें तीन बार करनी चाहिए

सा. ध./२/२५० भक्त्या ग्रामगृहादिशासनविधा दानं त्रिसन्ध्याश्रया सेवा स्वैऽपि गृहेऽर्चनं च यमिनां, नित्यप्रदानानुगम् । २५। = शास्त्रोक्त विधिसे गौँव, घर, बुकान आदिका दान देना, अपने घरमें भी अरि-हन्तकी तीनों सन्ध्याओंमें की जानेवाली तथा मुनियोंको भी आहार दान देना है बादमें जिसके, ऐसी पूजा नित्यमह पूजा कही गयी है । २५।

३. रात्रिकी पूजा करनेका निषेध

ला. स./६/१८७ तत्रार्द्ध रात्रके पूजा न कुर्यादर्थतामपि । हिंसाहेतोरवश्यं स्याद्वात्रौ पूजाविवर्जनम् । १८७। = आधी रातके समय भगवान् अरहन्त देवकी पूजा नहीं करनी चाहिए क्योंकि आधी रातके समय पूजा करनेसे हिंसा अधिक होती है । रात्रिमें जीवोका संचार अधिक होता है, तथा यथोचित रीतिसे जीव दिखाई नहीं पडते, इसलिए रात्रिमें पूजा करनेका निषेध किया है (र. क. आ./पं. सदासुख दास/११६/१७१/२) ।

मो. मा. प्र./६/२८०/२ पापका अंश बहुत पुण्य समूह विषै दोषके अर्थ नाहीं, इस छलकरि पूजा प्रभावनादि कार्यनिविषै रात्रिविषै दीपकादिकरि वा अनन्तकायादिकका संग्रह करि वा अयत्नाचार प्रवृत्तिकरि हिंसादिक रूप पाप तौ बहुत उपजावै, अर स्तुति भक्ति आदि शुभ परिणामनिविषै प्रवर्तै नाहीं, वा थोरे प्रवर्तै, सो टोटा घना नफा थोरा वा नफा किछू नाहीं । ऐसा कार्य करनेमें तो बुरा ही देखना होय ।

४. चावलोंमें स्थापना करनेका निषेध

वसु. आ./३५५ हुँडावसम्पिणोए विद्द्या ठवणा ण होदि कायव्वा । लोए कुलिगमइमोहिए जदो होइ संदेहो । ३५। = हुँडावसर्पिणी कालमें दूसरी असंज्ञाव स्थापना पूजा नहीं करना चाहिए, क्योंकि, कुलिग-मतियोंसे मोहित इस लोकमें संदेह हो सकता है । (र. क. आ./पं. सदासुख दास/११६/१७३/७) ।

र. क. आ./पं. सदासुख दास/११६/१७२/२१ स्थापनाके पक्षपाती स्थापना बिना प्रतिमाका पूजन नाहीं करे । बहुरि जो पीत तन्दुलानिकी अतदाकार स्थापना ही पूज्य है तो तिन पक्षपातीनिके धातु पाषाण-का तदाकार प्रतिबिम्ब स्थापन करना व्यर्थ है । तथा अकृत्रिम चैत्यालयके प्रतिबिम्ब अनादि निधन है तिनमें हू पूज्यपना नाहीं रहा ।

५. स्थापनाके विधि निषेधका समन्वय

र. क. आ./प. सदासुख/११६/१७३/२४ भावनिके जोडके अर्थ आह्वान-नादिकमें पुष्प क्षेपण करिये है, पुष्पनि कूँ प्रतिमा नहीं जानै । ए तो आह्वाननादिकनिका संकल्पकै पुष्पाजलि क्षेपण करिये है । पूजनमें पाठ रचया होय तो स्थापना कर ले नहीं होय तो नाहीं करै । अनेकतिनिके सर्वथा पक्ष नाहीं ।

६. पूजाके साथ अभिषेक व नृत्य गान आदिका विधान

ति. प./५/५८४-५८७ खीरद्विसल्लिपूरिदकंचणकलसेहि अट्ठ सह-स्सेहि । देवा जिणाभिसेयं महाविभूदीए कुव्वंति । ५८४। वज्जंतसु

मङ्गलजयघंटापङ्कजहलादीसुं दिव्येषु तुरेसु ते तिणपूज पकुर्वन्ति ॥५५॥ भिंगारकलसदपणखत्तचयचमरपहुदिदवेहि । पूज काद्रुण तदो जलगाधादीहि अचचति ॥५६॥ ततो हरिसेण सुरा णाणाविहणाडयाई दिव्वाइं । नहुरसभावजुदाइ णचचति विचित्त भगोहि ॥५७॥ = उक्त (वैमानिक) देव क्षीरसागरके जलसे पूर्ण एक हजार आठ सुवर्ण कलशोके द्वारा महाविभूतिके साथ जिनाभिषेक करते हैं ॥५८॥ मर्दल, जयघंटा, पट्ट और काहल आदिक दिव्य वादित्रोके बजते रहते वे देव जिनपूजाको करते हैं ॥५५॥ उक्त देव भृंगार, कलश, दर्पण, तीन छत्र और चामरादि द्रव्योसे पूजा करके पश्चात् जल, गन्धादिकसे अर्चन करते हैं ॥५६॥ तत्पश्चात् हर्षसे देव विचित्र शैलियोसे बहुत रस व भावोसे युक्त दिव्य नाना प्रकारके नाटकोको करते हैं । उत्तम रत्नोसे विभूषित दिव्य कन्याएँ विविध प्रकारके नृत्योको करती हैं । अन्तमें जिनेन्द्र भगवात्के चरितोका अभिनय करती हैं । (१/११४), (ति. प ३/२१८-२२७), (ति प ५/१०४-११६); (और भी दे० पूजा/४/३) ।

७. द्रव्य व भाव दोनों पूजा करनी योग्य हैं

अ. ग. आ १२/१५ द्वेषापि कुर्वत पूजां जिनाना जितर्जन्मनाम् । न विद्यते द्वेषे लोके दुर्लभं वस्तु पूजितम् ॥१५॥ = जीता है ससार जिनने ऐसे जिन देवनिकी द्रव्य भावकरि दोऊ ही प्रकार पूजा कौ करता जो पुरुष ताकौ इसलोक परलोकविषे उत्तम वस्तु दुर्लभ नाहो ॥१५॥

८. पूजा विधानमें विशेष प्रकारका क्रियाकाण्ड

म. पु. ३/३८/७१-७५ तत्रार्चनाविधौ चक्रत्रयं छत्रत्रयान्वितम् । जिनार्चनमित् स्थाय्य समं पुण्याग्निभित्त्रिभिः । ७१। त्रयोऽनयोऽर्हद्गणभृच्छेषकेवलनिवृत्तौ । मे हुतास्ते प्रणेतव्या सिद्धार्चविद्युपाश्रया ॥७२। तेष्वर्हदिज्याशेषांशे । आहुतिर्मन्त्रपूर्विका । विषेया शुचिभिर्द्रव्यैः पृष्णुत्रोत्पत्तिकाम्यया ॥७३। तन्मन्त्रास्तु यथात्मनायं वक्ष्यन्तेऽन्यत्र पर्वणि । सप्रथा पीठिकाजातिमन्त्रादिप्रविभागतः ॥७४। विनियोगस्तु सर्वसि क्रियास्वेषा मतो जिनै । अव्यामोहावतस्तज्ज्ञैः प्रयोज्यास्त उपासकैः ॥७५। = इस आधान (गर्भाधान) क्रियाकी पूजामें जिनेन्द्र भगवात्को प्रतिमाके दाहिनी ओर तीन चक्र, बाँयी ओर तीन छत्र और सामने तीन पवित्र अग्नि स्थापित करें ॥७१। अर्हन्त भगवात्के (तीर्थकर) निर्वर्णिके समय, गणधर देवोके निर्वाणके समय और सामान्य केवलियोके निर्वाणके समय जिन अग्नियोमें होम क्रिया गया था ऐसी तीन प्रकारकी पवित्र अग्नियोँ सिद्ध प्रतिमाकी वेदोके समीप तैयार करनी चाहिए ॥७२। प्रथम ही अर्हन्त देवकी पूजा कर चुकनेके बाद शेष बचे हुए द्रव्यसे पुत्र उत्पन्न होनेकी इच्छा कर मन्त्रपूर्वक उन तीन अग्नियोमें आहुति करनी चाहिए ॥७३। उन आहुतियोके मन्त्र पीठिका मन्त्र, जातिमन्त्र आदिके भेदसे सात प्रकारके हैं ॥७४। श्री जिनेन्द्र देवने इन्हीं मन्त्रोंका प्रयोग समस्त क्रियाओंमें (पूजा विधानादिमें) बतलाया है । इसलिए उस विषयके जानकार श्रावकोको व्यामोह (प्रमाद) छोडकर उन मन्त्रोंका प्रयोग करना चाहिए ॥७५। (और भी देखो यज्ञमें आर्ष यज्ञ); (म. पु ४/४७/३४७-३४४) ।

म. पु. ४/४०/८०-८१ सिद्धार्चसिनिधौ मन्त्राच्च जपेदष्टोत्तरं शतम् । गन्धपुष्पाक्षतार्घादिनिवेदनपुर सरम् ॥८०। सिद्धविद्यस्ततो मन्त्रैरेभिः कर्म समाचरेत् । शुषलबासाः शुचिर्मज्ञोपवीत्यव्यग्रमानसः ॥८१। = सिद्ध भगवात्की प्रतिमाके सामने पहले गन्ध, पुष्प, अक्षत और अर्घ आदि समर्पण कर एक सौ आठ बार उक्त मन्त्रोंका जप करना चाहिए ॥८०। तदनन्तर जिसे विधाएँ सिद्ध हो गयी हैं, जो सफेद वस्त्र पहने हैं, पवित्र हैं, यज्ञोपवीत धारण किये हुए हैं, जिसका चित्त आकुलतासे रहित है ऐसा द्विज इन मन्त्रोंसे समस्त क्रियाएँ करें ॥८१।

दे० अग्नि/३ गार्हपत्य आदि तीन अग्नियोका निर्देश व उनका उपयोग ।

९. गृहस्थोंकी पूजासे पूर्व स्नान अवश्य करना चाहिए

यशस्तिलक चम्पू/३२८ स्नानं विधाय विधिवत्कृतदेवकार्यम् । = विवेकी पुरुषको स्नान करनेके पश्चात् शास्त्रोक्त विधिसे ईश्वर-भक्ति (पूजा-अभिषेकादि) करनी चाहिए । (र. क. श्र. पं. सदासुख दास/११६/१६८/१६) ।

चर्चा समाधान/शकानं, ७३ केवलज्ञानकी साक्षात्पूजा विषे न्होन नाही, प्रतिमाकी पूजा न्हवन पूर्वक ही कही है । (और भी दे० स्नान) ।

पूजाकल्प—दे० पूजापाठ ।

पूजापाठ—जिन आम्नायमें पूजा विधान आदि सम्बन्धी कई रचनाएँ प्रसिद्ध हैं—१. आचार्य पूज्यपाद (ई० श० ५) कृत जैनाभिषेक । २. अभयनन्द (ई० श० १०-११) कृत श्रेयोविधान । ३. आ० अभयनन्द (ई० श० १०-११) कृत पूजाकल्प । ४. आ० इन्द्रनन्द (ई० श० १०-११) कृत अकुरारोपण । ५. आ० इन्द्रनन्द (ई० श० १०-११) कृत प्रतिमासंस्कारारोपण । ६. आ० इन्द्रनन्द (ई० श० १०-११) कृत मातृकायन्त्र पूजा । ७. आ० इन्द्रनन्द (ई० श० १०-११) कृत शान्तिचक्रपूजा । ८. आ० नयनन्द (ई० १६३-१०४३) कृत सकल विधि विधान । ९. आ० श्रुतसागर (ई० १४७-१५३३) कृत सिद्धचक्राष्टक पूजा । १०. आ० श्रुतसागर (ई० १४८७-१५३३) कृत श्रुतस्कन्धपूजा । (ती. ३/४००) ।

११. आ० मल्लिषेण (ई० ११२५) द्वारा विरचित ज्वालाम्नी कल्प । १२. आ० मल्लिषेण (ई० ११२५) द्वारा विरचित पद्मावती कल्प । १३. आ० मल्लिषेण (ई० ११२८) द्वारा विरचित वज्रपंजर विधान । १४. प. आशाधर (ई० ११७३-१२४३) द्वारा रचित जिनयज्ञ कल्प । १५. पं. आशाधर (ई० ११७३-१२४३) द्वारा रचित नित्यमहोद्योत । १६. आ० पद्मनन्द (ई० १२५०-१३३०) कृत कलिकुण्डपाश्वरनाथ विधान । १७. आ० पद्मनन्द (ई० १२५०-१३३०) कृत देवपूजादि । १८. पं. आशाधरके नित्यमहोद्योतपर आ० श्रुतसागर (ई० १४७३-१५३३) कृत महाभिषेक टीका । १९. कवि देवी दयाल (ई० १७५५-१७६७) द्वारा भाषामें रचित चौबीसी पाठ । २०. कवि वृन्दावन (ई० १७६१-१८४८) द्वारा भाषामें रचित चौबीसी पाठ । २१. कवि वृन्दावन (ई० १७६१-१८४८) द्वारा हिन्दी भाषामें रचित समवसरण पूजापाठ । २२. पं. सतलाल (ई० श० १७-१८) द्वारा भाषा छन्दोंमें रचित सिद्धचक्र विधान, जो श्री जिनेसेनाचार्य द्वारा महापुराणमें रचित जिन सहस्रनामके आधारपर लिखा गया है । २३. प. संतलाल (ई० श० १७-२८) कृत दशलक्षणी अग । २४. पं. सदासुख (ई० १७६३-१८६३) कृत नित्य पूजा । २५. पं. पन्नालाल (ई० १७६३-१८६३) कृत हिन्दी भाषामें रचित सरस्वती पूजा । २६. पं. मनरंग लाल (ई० १८००) द्वारा रचित भाषा छन्द बद्ध चौबीसी पाठ पूजा । २७. पं. मनरंग लाल (ई० १७६३-१८४३) द्वारा रचित सप्तऋद्धिपूजा ।

पूज्यपाद—१. आप कर्णाटक देशस्थ 'कोले' नामक ग्रामके माधव भद्र नामक एक ब्राह्मणके पुत्र थे । माताका नाम श्रीदेवी था । सर्पके मुँहमें फँसे हुए मेहकको देखकर आपको वैराग्य आया था । आपके सम्बन्धमें अनेक चमत्कारिक दन्तकथाएँ प्रचलित हैं । अग्रोक्त शिलालेखके अनुसार आप पाँचमें गगनगामी लेप लगाकर विदेह क्षेत्र जाया करते थे । श्रवणबेलगोलके निम्न शिलालेख नं० १०८ (श. सं. ११३५) से पता चलता है कि आपके चरण प्रक्षालनके जलके स्पर्शसे लोहा भी सोना बन जाता था । जैसे—श्रीपूज्यपादमुनिर-प्रतिमौषधधिर्जीयाद्विदेहदर्शनपूतगात्रः । यत्पादधौतजलसंस्पर्श-प्रभावात्कालायसं किल तदा कनकीचकार । = घोर तपश्चरण आदिके

जिनेन्द्र सिद्धान्त कोश

भा० ३-११

द्वारा आपके नेत्रोंकी ज्योति नष्ट हो गयी थी। शान्त्यष्टकके पाठसे वह पुन प्रगट हो गई। आपका असली नाम देवनन्द है। नन्दिसध की पट्टावली के अनुसार आप यशोनन्द के शिष्य हैं (दे इतिहास ७/३) बुद्धि की प्रखरता से आप जिनेन्द्रबुद्धि और देवों के द्वारा पूजितचरण होने से यूज्यवाद कहलाते थे। आपके द्वारा रचित निम्न कृतियाँ हैं—१. जैनेन्द्र व्याकरण, २. सुधबोध व्याकरण, ३. शब्दावतार, ४. छन्दशास्त्र, ५. वैद्यसार (वैद्यकशास्त्र), ६. सर्वार्थसिद्धि, ७. इष्टोपदेश, ८. समाधिशातक, ९. सारसंग्रह, १०. जन्माभिषेक, ११. दशभक्ति, १२. शान्त्यष्टक। समय—पट्टावली में श. स. २५२-३०८ (वि. १८७-४४३) (दे इतिहास/७/२), कोथ—वि. ७३५, प्रेमीजी—वि. श. ६, आई.एस. पवते—वि. ५२७, मुख्तार साहब—गगराज दुर्विनोत (वि. ५००-५३५) के गुरु तथा इनके शिष्य वज्रनन्दिनन्द ने वि. ५२६ में द्रविडसभ की नीव डाली इसलिये वि. श. ६, युधिष्ठिर मीमासा—जैनेन्द्र व्याकरण में लिखित महेन्द्र-राज वि. ४७०-५२२ के गुप्त वशीय चन्द्रगुप्त द्वि० थे इसलिये वि. श. ५ का अन्त और ६ का पूर्व। प. केलाशचन्द्र इससे सहमत है (जै. २/२६२-२६४) डा. नेमिचन्द्र ने इन्हें वि. श. ६ में स्थापित किया है। (ती. १/२२५)।

पूति—आहारका एक दोष—दे० आहार/II/४/४।

पूतिक—वसतिकाका एक दोष—दे० वसतिका।

पूतिकर्म—दे० कर्म/१/५।

पूरक—

ज्ञा०/२९/४ द्वादशान्तात्समाकृष्य य समीर प्रपूर्यते। स पूरक इति ज्ञेयो वायुविज्ञानकोविदै. १४। =द्वादशान्त कहिए ताखुवेके छिद्रसे अथवा द्वादशअंगुल पर्यन्तसे खैचकर पवनको अपनी इच्छानुसार अपने शरीरमें पूरण करै, उसको वायुविज्ञानी पण्डितोंने पूरक पवन कहा है। १४।

* पूरक प्राणायाम सम्बन्धी विषय—दे० प्राणायाम।

पूरण—अन्तर पूरणकरण—दे० अन्तरकरण/२।

पूरणकाल—दे० काल/१/६/२।

पूरनकश्यप—पूरन कश्यपका परिचय—१. बौद्धग्रन्थ महापरि-निर्वाण सूत्र, महावग्ग, औदिव्यावाहन आदिके अनुसार यह महात्मा बुद्धके समकालीन ई. तीर्थकरोमेसे एक थे। एक म्लेच्छ स्त्रीके गर्भसे उत्पन्न हुए थे। कश्यप इनका नाम था। इससे पहले ६६ जन्म धारण करके अब इनका सौवा जन्म हुआ था इसीलिए इनका नाम पूरन कश्यप पड गया था। गुरुप्रदत्त नाम द्वारपाल था। वह नाम पसन्द न आया। तब गुरुसे पृथक् होकर अकेला वनमें नग्न रहने लगे और अपनेको सर्वज्ञ व अर्हत आदि कहने लगे। ५०० व्यक्ति उनके शिष्य हो गये। बौद्धोंके अनुसार वह अबीचि नामक नरकके निवासी माने जाते हैं। सुत्तपिटकके दीर्घनिकाय (बौद्धग्रन्थ) के अनुसार वह असत्कर्ममें पाप और सत्कर्ममें पुण्य नहीं मानते थे। कृत कर्मका फल भविष्यत्में मिलना प्रामाणिक नहीं। बौद्ध मतवाले इसे मखलि गोशाल कहते हैं। २. श्वेताम्बरसूत्र 'उवासकदसाग'के अनुसार वह श्रावस्तीके अन्तर्गत शरवणके समीप उत्पन्न हुआ था। पिताका नाम 'मखलि' था। एक दिन वर्षामे इसके माता-पिता दोनों एक गोशालमें ठहर गये। उनके पुत्रका नाम उन्होंने गोशाल रखा। अपने स्वामीसे भगडकर वह भागा। स्वामीने वस्त्र खैचे जिससे वह नग्न हो गया। फिर वह साधु हो गया। उसके हजारों शिष्य हो

गये। बुद्ध कहते हैं कि वह मरकर अबीचि नरकमें गया। (द. सा./प्र. ३२-३४/प्रेमीजी)। ३. द. सा./प्र. ५२ पर पं. बामदेव कृत संस्कृत-भावसंग्रहका एक निम्नउद्धरण है... वीरनाथस्य संसदि १८५। जिनेन्द्रस्य ध्वनिग्राहिभाजनाभावतस्तत। शक्रेणात्र समानीतो ब्राह्मणो गोतमाभिध १८६। सद्य' स दीक्षितस्तत्र सध्वने' पात्रता ययौ। तत देवसभा त्यक्त्वा निर्ययौ मस्करी मुनि १८७। सन्त्य-स्माददयोऽप्यत्र मुनय' श्रुतधारिण। तास्वयक्त्वा सध्वने' पात्र-मज्ञानी गोतमोऽभवत् १८८। सचिन्त्यैव' क्रुधा तेन दुविदग्धेन जल्पितम्। मिथ्यात्वकर्मण' पाकादज्ञानत्वं हि देहिनाम् १८९। हेयोपादेय-विज्ञान देहिना नास्ति जातुचित्त। तस्मादज्ञानतो मोक्ष इति शास्त्र-स्य निश्चय' १९०। =वीरनाथ भगवान्के समवशरणमें जब योग्य पात्रके अभावमें दिव्यध्वनि निर्गत नहीं हुई, तब इन्द्र गोतम नामक ब्राह्मणको ले आये। वह उसी समय दीक्षित हुआ और दिव्य ध्वनिको धारण करनेकी उसी समय उसमें पात्रता आ गयी, इससे मस्करि-पूरण मुनि सभाको छोडकर बाहर चला आया। यहाँ मेरे जैसे अनेक श्रुतधारी मुनि हैं, उन्हें छोडकर दिव्यध्वनिका पात्र अज्ञानी गोतम हो गया, यह सोचकर उसे क्रोध आ गया। मिथ्यात्व कर्मके उदयसे जीवधारियोंको अज्ञान होता है। उसने कहा देहियोंको हैयोपादेयका विज्ञान कभी हो ही नहीं सकता। अतएव शास्त्रका निश्चय है कि अज्ञानसे मोक्ष होता है। पूरणकश्यपका मत—उसके मतसे समस्त प्राणी बिना कारण अच्छे-बुरे होते हैं। संसारमें शक्ति सामर्थ्य आदि पदार्थ नहीं हैं। जीव अपने अदृष्टके प्रभावसे यहाँ-वहाँ संचार करते हैं। उन्हें जो सुख-दुःख भोगने पडते हैं, वे सब उनके अदृष्टपर निर्भर हैं। १४ लाख प्रधान जन्म, ५०० प्रकारके सम्पूर्ण और असम्पूर्ण कर्म, ६२ प्रकारके जीवनपथ, ८ प्रकारकी जन्मकी तहे, ४६०० प्रकारके कर्म, ४६०० भ्रमण करनेवाले संन्यासी, ३००० नरक, और ८४ लाख काल हैं। इन कालोंके भीतर पण्डित और मूर्ख सबके कष्टोंका अन्त हो जाता है। ज्ञानी और पण्डित कर्मके हाथसे छूटकारा नहीं पा सकते। जन्मकी गतिसे सुख और दुःखका परिवर्तन होता है। उनमें हास और वृद्धि होती है।

पूरिमद्रव्य निक्षेप—दे० निक्षेप/५/६।

पूर्ण—१. क्षौद्रवर समुद्रका रक्षक व्यन्तरदेव (ति. प.)—दे० व्यन्तर/४, २. इक्षुवर द्वीपका रक्षक व्यन्तरदेव (ह. पु.)—दे० व्यन्तर/४।

पूर्णघन—प. पु./५/श्लोक विजयार्थकी दक्षिण श्रेणीमें चक्रवाल नगरका विधाधर राजा था। राजा मुलोचनके द्वारा अपनी पुत्री इसको न देकर सगर चक्रवर्तीको दिये जानेपर, इसने राजा मुलोचनको मार दिया। (७७-८०) और स्वयं उसके पुत्र द्वारा मारा गया (८६)। इसीके पुत्र मेघवाहनको राक्षसोंके इन्द्र द्वारा राक्षस द्वीपकी प्राप्ति हुई थी, जिसकी सन्तानपरम्परासे राक्षसवंशकी उत्पत्ति हुई—(दे० इतिहास/७/१२)।

पूर्णप्रभ—उत्तर क्षौद्रवर समुद्रका रक्षक व्यन्तर देव (ति. प.)—दे० व्यन्तर/४; २. इक्षुवर द्वीपका रक्षक व्यन्तर देव (ह. पु.)—दे० व्यन्तर/४।

पूर्णभद्र—यक्ष जातिके व्यन्तर देवोंका एक भेद—दे० यक्ष; २. इन यक्ष जातिके देवोंने बहुरूपिणी विद्या सिद्ध करते समय रावणकी रक्षा की थी। ३. ह. प./४३/१४६-१५८ अयोध्या नगरीके समुद्रवत्त सेठका पुत्र था। अणुवत्त धारण कर सौधर्मस्वर्गमें उत्पन्न हुआ। यह कृष्णके पुत्र प्रद्युम्नकुमारका पूर्वका पाँचवाँ भव है।—दे० प्रद्युम्न।

पूर्णभद्रकूट—१. विजयार्थ पर्वतस्थ एक कूट—दे० लोक/५/४; २. मातृयवान् पर्वतस्थ एक कूट—दे० लोक/५/४।

पूर्णभद्रदेव—१ विजयार्थं पर्वतस्थ पूर्णभद्र कूटका स्वामी देव
—दे० लोक/४/२. माख्यवान पर्वतस्थ पूर्णभद्र कूटका रक्षक एक देव
—दे० लोक/४/४ ।

पूर्णांक—Integar (घ. ६/प्र. २८) ।

पूर्णिमा—चन्द्रमाके भ्रमणसे पूर्णिमा प्रकट होनेका क्रम—दे०
ज्योतिषी/२/८ ।

पूर्व—कालका प्रमाणविशेष—दे० गणित/१/१/४ ।

पूर्वकृष्टि— दे० कृष्टि ।

पूर्वगत—१. दृष्टि प्रवाद अगका चौथा भेद —दे० श्रुतज्ञान/III/१ ।
२. घ. १/१,१,२/११४/७ पुष्पाण गयं पत्त-पुष्प-सख्य वा पुष्पगय-
मिदि । = जो पूर्वको प्राप्त हो, अथवा जिसने पूर्वको स्वरूपको प्राप्त
कर लिया हो उसे पूर्वगत कहते हैं ।

पूर्वज्ञान—दे० श्रुतज्ञान/III/१ ।

पूर्वचरहेतु—दे० हेतु ।

पूर्वदिशा—पूर्व दिशाकी प्रधानता—दे० दिशा ।

पूर्वमीमांसा—दे० दर्शन ।

पूर्ववत् अनुमान—दे० अनुमान/१ ।

पूर्वविद्—स. सि./१/३७/४३/४ पूर्वविद्...श्रुतकेवलिन इत्यर्थ ।
= पूर्वविद् अर्थात् श्रुतकेवली । (रा. वा. /१/३७/१/६३२/३०) ।
रा. वा. हि./१/३७/७४८ प्रमत्त-अप्रमत्त मुनि भी पूर्वके वेत्ता हैं ।

पूर्वविदेह—१. सुमेरु पर्वतकी पूर्व दिशामें स्थित कच्छादि १६
क्षेत्रोंको पूर्व विदेह कहते हैं । २. निषध व नील पर्वतस्थ एक कूट
व उसका स्वामी देव—दे० लोक/७, २ सौमनस गजदन्तस्थ एक
कूट व उसका रक्षक देव—दे० लोक/७ ।

पूर्वसमासज्ञान—दे० श्रुतज्ञान/II/१ ।

पूर्व स्तुति—वसतिकका एक दोष—दे० वसतिका । आहारका एक
दोष—दे० आहार/II/४/४ ।

पूर्व स्पर्धक—दे० स्पर्धक ।

पूर्वांग—कालका एक प्रमाण विशेष—दे० गणित/II/१/४ ।

पूर्वानुपूर्वी—दे० आनुपूर्वी ।

पूर्वापर संबंध—दे० संबंध ।

पूर्वाभाद्रपद—एक नक्षत्र—दे० नक्षत्र ।

पूर्वाषाढ—एक नक्षत्र—दे० नक्षत्र ।

पूर्वमांडी—भगवान् नेमिनाथकी शासक यक्षिणी—दे० यक्ष ।

पृच्छना—स. सि./१/२५/४४३/४ संशयच्छेदाय निश्चितबला-
धानाय वा परानुयोग पृच्छना । = संशयका उच्छेद करनेके लिए
अथवा निश्चित बलको पुष्ट करनेके लिए प्रश्न करना पृच्छना है ।
(रा. वा. /१/२५/२/६२४/११), (त सा. /७/१८); (अन. घ. /७/८४);
(घ १४/५.६.१३/६/३) ।

रा. वा. /१/२५/२/६२४/११ आत्मोन्नतिपरातिसंधानोपहाससंघर्षप्रहस-
नारिविधजित संशयच्छेदाय निश्चितबलाधानाय वा ग्रन्थस्या-
र्थस्य तदुभयस्य वा परं प्रत्यनुयोगं पृच्छनमिति भाष्यते । = आत्मो-
न्नतिपरातिसन्धान परोपहास संघर्ष और प्रहसन आदि दोषोंसे
रहित हो संशयच्छेद या निर्णयकी पुष्टिके लिए ग्रन्थ अर्थ या उभय-
का दूसरेसे पृच्छना पृच्छना है । (चा. सा. /१५३/१) ।

घ. १/४,१,५५/२६२/८ तत्र आगमे अमुणिवत्पृच्छा वा उवजोगो ।
= आगममे नहीं जाने हुए अर्थके विषयमें पृच्छना भी उपयोग है ।

पृच्छनी भाषा—दे० भाषा ।

पृच्छाविधि—घ. १३/५.५/५०/२८५/६ द्रव्य-गुण-पर्याय-विधि-
निषेधविषयप्रश्न पृच्छा, तस्या. क्रम अक्रमश्च अक्रमप्रायश्चित्त च
विधीयते अस्मिन्निति पृच्छाविधि' श्रुतम् । अथवा पृष्ठोऽर्थ' पृच्छा,
सा विधीयते निरूप्यतेऽस्मिन्निति पृच्छाविधि' श्रुतम् । एवं पृच्छा-
विधि त्ति गर्द । विधानं विधि, पृच्छायाः विधि. पृच्छाविधि,
स विशिष्यतेऽनेनेति पृच्छाविधिविशेष । अहंदाचार्योपाध्याय-
साधवोऽनेन प्रकारेण प्रष्टव्या' प्रश्नभङ्गाश्च इयन्त एवेति यत्
सिद्धान्ते निरूप्यन्ते ततस्तस्य पृच्छाविधिविशेष इति संज्ञेत्युक्त
भवति । = १ द्रव्य गुण और पर्यायके विधि निषेध विषयक
प्रश्नका नाम पृच्छा है । उसके क्रम और अक्रमका तथा प्रायश्चित्त-
का जिसमें विधान किया जाता है वह पृच्छा विधि अर्थात् श्रुत
है । २ अथवा पूछा गया अर्थ पृच्छा है, वह जिसमें विहित को
जाती है अर्थात् कही जाती है वह पृच्छाविधि श्रुत है । इस प्रकार
पृच्छाविधिका कथन किया । ३ विधान करना विधि है, पृच्छा-
की विधि पृच्छाविधि है । वह जिसके द्वारा विशेषित की जाती है
वह पृच्छाविधि विशेष है । अरिहन्त, आचार्य, उपाध्याय और
साधु इस प्रकारसे पूछे जाने योग्य है तथा प्रश्नोके भेद इतने ही हैं,
ये सब 'चूँकि सिद्धान्तमें निरूपित किये जाते हैं अतः उसकी पृच्छा-
विधिविशेष यह संज्ञा है, यह उक्त कथनका तात्पर्य है ।

पृतना—सेनाका एक अंग—दे० सेना ।

पृथक्त्व—

१ अन्यत्वके अर्थमें ।

प्र. सा. /त. प्र /१०६ प्रविभक्तप्रदेशत्वं हि पृथक्त्वस्य लक्षणम् । = विभक्त
(भिन्न) प्रदेशत्व पृथक्त्वका लक्षण है ।
द्र. स /टी. /४८/२०३/६ द्रव्यगुणपर्यायाणां भिन्नत्व पृथक्त्व भण्यते ।
= द्रव्य, गुण और पर्यायके भिन्नपनेको पृथक्त्व कहते हैं ।

२. एकसे नौके बीचकी गणना

स. सि. /१/८/३४/४ पृथक्त्वमित्यागमसंज्ञा तिरुणा कोटीनामुपरिनवाना-
मध' । = पृथक्त्व यह आगमिक संज्ञा है । इससे तीनसे ऊपर और
नौके नीचे मध्यकी किसी संख्याका बोध होता है ।

पृथक्त्व विक्रिया—दे० विक्रिया ।

पृथक्त्व वितर्क विचार—दे० शुक्लध्यान ।

पृथिवी—रुचक पर्वतनिवासिनी दिक्कुमारी देवी—दे० लोक/५/१३ ।

पृथिवी—यद्यपि लोकमें पृथिवीको तत्त्व समझा जाता है, परन्तु
जैन दर्शनकारोंने इसे भी एकेन्द्रिय स्थावरकी कोटिमें गिना है ।
इसी अवस्था भेदसे उसके कई भेद हो जाते हैं । इसके अतिरिक्त
योगिक अनुष्ठानोंमें भी विशेष प्रकारसे पृथिवी मण्डल या पार्थिवेयी
धारणाकी कल्पना की जाती है । सात नरकोकी सात पृथिवियोंके
साथ निर्गोद मिला देनेसे आठ पृथिवियों कही जाती हैं (दे० भूमि)
सिद्धलोकको भी अष्टम भूमि कहा जाता है । ता है ।

* **पृथिवी सामान्यका लक्षण**—दे० भूमि/१ ।

१. **पृथिवीके भेद**

१. कायिकादि चार भेद ।

स. सि. /२/१३/१७२/३ पृथिव्यादीनामार्थं चातुर्विध्यमुक्त प्रत्येकम् ।
तत्कथमिति चेत् १ उच्यते—पृथिवी-पृथिवीकाय पृथिवीकायिक'

पृथिवीजीव इत्यादि) = प्रश्न—आर्धमें पृथिवी आदिक अलग-अलग चार प्रकारके कहे हैं। सो ये चार-चार भेद किस प्रकार प्राप्त होते हैं। उत्तर—पृथिवी, पृथिवीकाय, पृथिवीकायिक और पृथिवीजीव ये पृथिवीके चार भेद हैं। (रा. वा./२/१३/१/६२७/२२), (गो. जी./जी. प्र./१८२/४६६/६)।

२. मिट्टी आदि अनेक भेद

सू. आ./२०६-२०७ पुढवी य बालुगा सक्करा य उवले सिला य लोणे य । अय त्वं तउ य सोसय रूप्ण सुवण्णे य वहरे य । २०६। हरिदाले हिगुले मणोसिला सस्सगजण पवाले य । अब्भपडलव्भवालु य वादरकाया मणिविधीया । २०७। गोमज्जणे य रज्जणे अंके फलहे य लोहिदके य । चदप्पभ वेरुले जलकंते सूरकंते य । २०८। गेरुय चदण वव्वग वगमोए तह मसारगल्लो य । ते जाण पुढविजीवा जाणित्ता परिहरेदव्वा । २०९। = १. मिट्टी आदि पृथिवी, २. बाष्प, ३. तिकोन चौकोन रूप शर्करा, ४. गोल पत्थर, ५. बडा पत्थर, ६. समुद्रादिका लवण (नमक), ७. लोहा, ८. ताँबा, ९. जस्ता, १०. सीसा, ११. चाँदी, १२. सोना, १३. हीरा, १४. हरिताल, १५. ईगुल, १६. मैनासिल, १७. हरारगवाला सस्यक, १८. सुरमा, १९. मूँगा, २०. भोडल (अबरख), २१. चमकती रेत, २२. गोरोचन वाली कर्कतनमणि, २३. अलसो पुष्पवर्ण राजवर्तकमणि, २४. पुलकवर्णमणि, २५. स्फटिक मणि, २६. पञ्चरागमणि, २७. चन्द्रकातमणि, २८. वैदूर्य (नील) मणि, २९. जलकांतमणि, ३०. सूर्यकांत मणि, ३१. गेरुवर्ण रुधिराक्षमणि, ३२. चन्दनगन्धमणि, ३३. विलावके नेत्रसमान मरकत्तमणि, ३४. पुखराज, ३५. नीलमणि, तथा ३६. विद्रुमवर्णवाली मणि इस प्रकार पृथिवीके छत्तीस भेद हैं। इनमें जीवोंको जानकर सजीवका रयाग करे । २०६-२०९। (प. स./प्रा./१/७७), (ध. १/१.१.४२/गा. १४६/२७२), (त.सा./२/५८-६२); (पं.स./सं./१/१६४); (और भी दे० चित्रा)

३. पृथिवीकायिकादि भेदोंके लक्षण

स. सि./२/१३/१७२/४ तत्र अचेतना वैश्रसिकपरिणामनिवृत्ता काठिन्यगुणात्मिका पृथिवी । अचेतनत्वादसत्यपि पृथिवीनामकर्मोदये प्रथनक्रियोपलक्षितवैयम् । अथवा पृथिवीति सामान्यम्, उत्तरत्रयेऽपि सद्भावात् । काय' शरीरम् । पृथिवीकायिकजीवपरित्यक्त' पृथिवीकायो मृतमनुष्यादिकायवत् । पृथिवीकायोऽस्यास्तीति पृथिवीकायिक । तत्कायसंबन्धवशीकृत आत्मा । समाप्तपृथिवीकायानामकर्मोदय कर्मणकाययोगस्थो यो न तावत्पृथिवी कायत्वेन गृह्णाति स पृथिवीजीव । = अचेतन होनेसे यद्यपि इसमें पृथिवी नामकर्मका उदय नहीं है तो भी प्रथम क्रियासे उपलक्षित होनेके कारण अर्थात् विस्तार आदि गुणवाली होनेके कारण यह पृथिवी कहलाती है । अथवा पृथिवी यह सामान्य भेद है, क्योंकि आगेके तीन भेदोंमें यह पाया जाता है । कायका अर्थ शरीर है, अतः पृथिवीकायिक जीवके द्वारा जो शरीर छोड़ दिया जाता है वह पृथिवीकाय कहलाता है । यथा मरे हुए मनुष्य आदिकका शरीर । जिस जीवके पृथिवी रूप काय विद्यमान है उसे पृथिवीकायिक कहते हैं । तात्पर्य यह है कि यह जीव पृथिवीरूप शरीरके सम्बन्धसे युक्त है । कर्मण योगमें स्थित जिस जीवने जबतक पृथिवीको काय रूपसे ग्रहण नहीं किया है तबतक वह पृथिवीजीव कहलाता है । (रा. वा./२/१३/१/१२७/२३); (गो. जी./जी. प्र./१८२/४६६/६)।

३. पृथिवीकायिकादिके लक्षणों सम्बन्धी शंका-समाधान

ध. १/१.१.३६/२६५/१ पृथिव्येव काय पृथिवीकाय' स एषामस्तीति पृथिवीकायिका । न कर्मणशरीरमात्रस्थितजीवानां पृथिवीकायत्वा-

भाव', भाविनि भूतवदुपचारतस्तेषामपि तद्व्यपदेशोपपत्तेः । अथवा पृथिवीकायिकनामकर्मोदयवशीकृता' पृथिवीकायिकाः । = पृथिवी रूप शरीरको पृथिवीकाय कहते हैं, वह जिनके पाया जाता है उन जीवोंको पृथिवीकायिक कहते हैं । प्रश्न—पृथिवीकायिकका इस प्रकार लक्षण करनेपर कर्मणकाययोगमें स्थित जीवोंके पृथिवीकाय पना नहीं हो सकता । उत्तर—१. यह बात नहीं है, क्योंकि, जिस प्रकार जो कार्य अभी नहीं हुआ है, उसमें यह हो चुका है इस प्रकार उपचार किया जाता है, उसी प्रकार कर्मणकाय योगमें स्थित पृथिवीकायिक जीवोंके भी पृथिवीकायिक यह संज्ञा बन जाती है । २ अथवा जो जीव पृथिवीकायिक नामकर्मके उदयके वशवर्ती है उन्हें पृथिवीकायिक कहते हैं ।

४. प्राणायाम सम्बन्धी पृथिवी मण्डलका लक्षण

ज्ञा./२६/१६ क्षितिबीजसमाक्रान्त द्रुतहेमसमप्रभम् । स्याद्वज्रलच्छन्नो-पेत चतुरस्र' धरापुरम् । १६। = क्षितिबीज जो पृथ्वी बीजाक्षर सहित गाले हुए सुवर्णके समान पीतरक्त प्रभा जिसकी और वज्रके चिन्ह संयुक्त चौकोर धरापुर अर्थात् पृथिवीमण्डल है ।

ज्ञा./२६/२४ धोणाविवरमापूर्य किञ्चिदुष्ण पुरंदर । वहत्यष्टाङ्गुल. स्वस्थ' पीतवर्णः शनैः शनैः । २४। = नासिकाके छिद्रको भले प्रकार भरके कुछ उष्णता लिये आठ अंगुल बाहर निकलता, स्वस्थ, चपलता रहित, मन्द-मन्द बहता, ऐसा हृन्द्र जिसका स्वामी है ऐसे पृथिवी-मण्डलके पवनको जानना । २४।

ज्ञा./सा./५७ चतुष्कोणं अपि पृथिवी श्वेतं जल शुद्धं चन्द्रार्भं । ५७। = श्वेत जलवत् शुद्ध चन्द्रमाके सदृश तथा चतुष्कोण पृथिवी है ।

५. पार्थिवीधारणाका लक्षण

ज्ञा./३७/४-६ तिर्यग्लोकसमं योगी स्मरति क्षीरसागरम् । नि'शब्द' शान्तकल्लोल हारनीहारसंनिभम् । ४। तस्य मध्ये मुनिमणिं सहस्र-दलमम्बुजम् । स्मरत्यमितभादीप्तं द्रुतहेमसमप्रभम् । ५। अब्जराग-समुद्रभूतकेसरालिविराजितम् । जम्बूद्वीपप्रमाणं च चित्तभ्रमररञ्जकम् । ६। स्वर्णाचलमयी दिव्या तत्र स्मरति कर्णिकाम् । स्फुरत्पिङ्गप्रभा-जालपिशङ्गितदिगन्तराम् । ७। शरच्चन्द्रनिभं तस्यामुन्नतं हरि-विष्टरम् । तत्रात्मानं सुखासीनं प्रशान्तमिति चिन्तयेत् । ८। राग-द्वेषादिनि'शेषकलङ्कक्षपणक्षमम् । उ त्तं च भवोद्भूतं कर्मसंतान-शासने । ९। = प्रथम ही योगी तिर्यग्लोकके समान नि.शब्द, कल्लोल रहित, तथा बरफके सदृश सफेद क्षीर समुद्रका ध्यान करे । ४। फिर उसके मध्य भागमें सुन्दर है निमणि जिसका और अमित फैलती हुई दीप्तिसे शोभायमान, पिघले हुए सुवर्णकी आभावाले सहस्र दल कमलका चिन्तवन करे । ५। उस कमलको केसरीकी पंक्तिसे शोभायमान चित्तरूपी भ्रमरको रंजायमान करनेवाले जम्बूद्वीपके बराबर लाख योजनका चित्तवन करे । ६। तत्पश्चात् उस कमलके मध्य स्फुरायमान पीत रंगकी प्रभासे युक्त सुवर्णाचलके समान एक कर्णिकाका ध्यान करे । ७। उस कर्णिकामें शरद् चन्द्रके समान श्वेतवर्ण एक ऊँचा सिंहासन चित्तवन करे । उसमें अपने आत्मको सुख रूप, शान्त स्वरूप, शोभ रहित । ८। तथा समस्त कर्मोंका क्षय करनेमें समर्थ है ऐसा चिन्तवन करे । ९।

६. अन्य सम्बन्धित विषय

१. पृथिवीमें पुद्गलके सर्वगुणोंका अस्तित्व । —दे० पुद्गल/२ ।
२. अष्टपृथिवी निर्देश । —दे० भूमि/१ ।
३. मोक्षभूमि वा अष्टम पृथिवी —दे० मोक्ष/१ ।
४. नरक पृथिवी । —दे० नरक ।

५. सूक्ष्म तैजसकायिकादिकोंका लोकमें सर्वत्र अवस्थान । —दे० सूक्ष्म/३ ।
६. बादर तैजसकायिकादिकोंका भवनवासियोंके विमानोंमें व नरकोंमें अवस्थान । —दे० काय/२/५
७. मार्गणाओंमें भावमार्गणाकी इष्टता तथा वहाँ आयके अनुसार ही व्यय होनेका नियम । —दे० मार्गणा ।
८. बादर पृथिवीकायिक निर्वृत्यपर्याप्तमें सासादन गुणस्थानकी सम्भावना । —दे० जन्म/४ ।
९. कर्मोंका बन्ध उदय व सख । —दे० बह-वह नाम ।
१०. पृथिवीकायिक जीवोंमें गुणस्थान, जीवसमास, मार्गणा स्थान आदि सम्बन्धी २० प्ररूपणाएँ । —दे० सत् ।
११. पृथिवीकायिक जीवोंकी सत् (अस्तित्व), सख्या, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर, भाव, अल्प बहुत्व रूप आठ प्ररूपणाएँ । —दे० बह-वह नाम ।

पृथिवी कोंगणि—अपरनाम श्री पुरुष—दे० श्री पुरुष ।

पृथिवीपाल—पानीपतका निवासी था । वि. १६६२ में श्रुत पंचमी रासकी रचना की । (हि. जै. सा. इ./१३५/कामता) ।

पृथिवीसह—जयपुर नरेश । समय—वि. स. १८२७ (ई० १७७७); (मो. मा. प्र./प्र. २६/पं. परमानन्द शास्त्री) ।

पृथु—कृष्णके भाई बलदेवका १५वाँ पुत्र —दे० इतिहास/७/१० ।

पृष्ठक—सौधर्म स्वर्गका २८ वाँ पटल व इन्द्रक —दे० स्वर्ग/५ ।

पेय—अन, घ./७/१३ जलादिकम् पेय । =जल, दुग्धादि पदार्थ पेय कहे जाते हैं । (सा. सं /२/१७) ।

पेशि—औदारिक शरीरमें मांस पेशियोंका प्रमाण—दे० औदारिक/१/७

पैपलाद—एक अज्ञानवादी—दे० अज्ञानवाद ।

पैशुन्य—रा. वा./१/२०/१२/७५/१२ पृष्ठतो दोषाविष्करणं पैशुन्यम् । =पीछेसे दोष प्रकट करनेको पैशुन्य वचन कहते हैं । (घ. १/१,१,२/११६/१२); (घ. ६/४/१,४५/२९७/३) ।

घ. ६/४,२,८,१०/२८५/५ परेषा क्रोधादिना दोषोद्भवान्न पैशुन्यम् । =क्रोधादिके कारण दूसरोंके दोषोंको प्रकट करना पैशुन्य कहा जाता है । (गो. जी./जी. प्र./३६५/७७८/२०) ।

नि. सा./ता. वृ./६२ कर्णेजपमुखविनिर्गतं नृपतिकर्णाम्यर्णगतं चैक-पुरुषस्य एककुटुम्बस्य एकग्रामस्य वा महद्विपत्कारणं वचं पैशुन्यम् । =चुगलखोर मनुष्यके मुँहसे निकले हुए और राजाके कान तक पहुँचे हुए, किसी एक पुरुष, किसी एक कुटुम्ब अथवा किसी एक ग्रामको महाविपत्तिके कारणभूत ऐसे वचन वह पैशुन्य है ।

रा. वा. हि/६/११/५०० पैशुन्यं कहिये पर तै अदेख सका भावकरि खोटी कहना ।

पोत—

स. सि/२/३३/१६०/१ किञ्चित्परिवरणमन्तरेण पत्तिपूर्णावियवो योनि-निर्गतमात्र एव परिस्पन्दादिसामर्थ्योपेतः पोतः । =जिसके सब अवयव बिना आवरणके पूरे हुए हैं और जो योनिसे निकलते ही हलन-चलन आदि सामर्थ्यसे युक्त है उसे पोत कहते हैं । (रा. वा./२/३३/३/१४४/१); (गो. जी./जी. प्र./८४/२०७/५) ।

* **पोतज जन्म विषयक**—दे० जन्म/२ ।

पोतकर्म—दे० निक्षेप/४ ।

पोदन—भरतक्षेत्रका एक नगर—दे० मनुष्य/४ ।

पोन्न—कृष्णराज तृतीयके समयमें शान्ति पुराण जिनाक्षर माले के रचयिता एक प्रतिभाशाली कन्नड कवि । समय—वि. १०२६ (ई० १७२); (यशस्तिलक चम्पू./प्र. २०/पं. सुन्दरलाल) । (ती/४/३०७) ।

पौंड्र—दे० पुंड्र ।

पौर—सौराष्ट्र देशमें वर्तमान पोरबन्दर (नेमिचरित/प्र./प्रेमी) ।

पौरुष—दे० पुरुषार्थ ।

पौरुषेय—आगमका पौरुषेय व अपौरुषेत्वपना—दे० आगम/६ ।

पौलोमपुर—भरत क्षेत्रका एक नगर । सम्भवत. वर्तमान पालमपुर —दे० मनुष्य/४ ।

प्रकरणसम जाति—न्या सू/सू. व टी./५/१/१३/२६४ उभय-साधर्म्यात् प्रक्रियासिद्धे' प्रकरणसम । १६। अनित्यशब्द' प्रयत्नानन्तरीयकत्वाद् घटवदित्येक पक्षं प्रवर्तयति द्वितीयश्च नित्य-साधर्म्यात् । एवं च सति प्रयत्नानन्तरीयकत्वादिति हेतुरनित्य-साधर्म्येणोच्यमानेन हेतौ तदिदं प्रकरणानतिवृत्त्या प्रत्यवस्थानं प्रकरणसम । =उभयके साधर्म्यसे प्रक्रियाकी सिद्धि हो जानेसे प्रकरण समा जाति है । (कहीं-कहीं उभयके वैधर्म्यसे भी प्रक्रियाकी सिद्धि हो जानेके कारण प्रकरणसम जाति मानी जाती है ।) । १६। जैसे—शब्द अनित्य है प्रयत्नानन्तरीयकत्वसे (प्रयत्नकी समानता होनेसे) घटकी नाई । इस रीतिसे एक पक्षको प्रवृत्त करता है और दूसरा नित्यके साधर्म्यसे शब्दको नित्य सिद्ध करता है ऐसा होनेसे प्रयत्नानन्तरीयकत्व हेतु अनित्यत्व साधर्म्यसे कथन करनेपर प्रकरण-की अनतिवृत्तिसे प्रत्यवस्थान हुआ इसलिए 'प्रकरणसम' है । (श्लो वा. ४/न्या./३८१-३८३/५०८-५०९) ।

प्रकरणसम हेत्वाभास—

न्या सू./सू. व.टी./१/२/७/४६ यस्मात्प्रकरणचिन्ता स निर्णयार्थमपदिष्टः प्रकरणसम । ७। प्रज्ञापनं र्वनित्य' शब्दो नित्यधर्मानुपलब्धेरित्यनु-पलभ्यमान-सोऽयमहेतुरुभौ पक्षौ प्रवर्तयन्नन्यतरस्य निर्णयाय प्रकल्पते । =विचारके आश्रय अनिश्चित पक्ष और प्रतिपक्षको प्रकरणसम कहते हैं । ७। जैसे—किसीने कहा कि 'शब्द अनित्य है, नित्यधर्मके ज्ञान न होनेसे' यह प्रकरणसम है । इससे दो पक्षोंमेंसे किसी पक्षका भी निर्णय नहीं हो सकता । =जो दो धर्मोंमें एकका भी ज्ञान होता कि शब्द अनित्य है कि नित्य ? तो यह विचार ही क्यों प्रवृत्त होता । (श्लो वा. ४/न्या./पु. ४/२७३/४२६/१६) ।

न्या. टी./३४४०/८७/६ प्रतिसाधनप्रतिरुद्धो हेतुः प्रकरणसम । यथा... अनित्य शब्दो नित्यधर्मरहितत्वात् इति । अत्र हि नित्यधर्मरहि-तत्वादिति हेतु' प्रतिसाधनेन प्रतिरुद्धः । कि तत्प्रतिसाधनम् । इति चेत्; नित्य' शब्दोऽनित्यधर्मरहितत्वादिति नित्यत्वसाधनम् । तथा चासत्प्रतिपक्षत्वाभावात्प्रकरणसमत्वं नित्यधर्मरहितत्वादिति हेतो' । =विरोधी साधन जिसका मौजूद हो वह हेतु प्रकरणसम अथवा सत्प्रतिपक्ष हेत्वाभास है । जैसे शब्द अनित्य है, क्योंकि वह नित्य-धर्म रहित है यहाँ नित्यधर्म रहितत्व हेतुका प्रतिपक्षी साधन मौजूद है । वह प्रतिपक्षी साधन कौन है ? शब्द नित्य है, क्योंकि वह अनित्यके धर्मोंसे रहित है इस प्रकार नित्यताका साधन करना उसका प्रतिपक्ष साधन है । अतः असत्प्रतिपक्षताके न होनेसे 'नित्य धर्म-रहितत्व' हेतु प्रकरणसम हेत्वाभास है ।

प्रकार—पं. घ./पू./६० अपि चाश. पर्यायो भागो हारो विधा प्रका-रश्च । भेदशब्दो भङ्ग' शब्दाश्चैकार्थवाचका एते । ६०। =और अंश,

पर्याय, भाग, हार, विधा, प्रकार तथा भेद, छेद और भंग ये सब शब्द एक ही अर्थके वाचक हैं। ६०।

प्रकारक सूरि—दे० प्रकुर्वी।

प्रकाश—ध १/१, १, ४/१४५/६ स्वतो व्यतिरिक्तबाह्यार्थाविगति' प्रकाशः। = अपनेसे भिन्न बाह्य पदार्थके ज्ञानको प्रकाश कहते हैं।

प्रकाश शक्ति—स, सा /आ /परि /शक्ति नं १२ स्वयं प्रकाशमान विशदस्वसंविस्मिन्मयो प्रकाशशक्ति। = अपने आप प्रकाशमान स्पष्ट अपने अनुभवमयी प्रकाश नामा बारहवी शक्ति है।

प्रकीर्णक—

त्रि, सा /४७५ सेढीणं विच्चाले पुष्पपङ्कणय इव द्वियविमणा। ह्येति पङ्कणङ्गणामा सेद्धिदयहीणरासिसमा। ४७५। = श्रेणी अद्भ विमानोंके अन्तरालमें बिखरे हुए पुष्पोंकी भँति पंक्ति रहित जहाँ-तहाँ स्थित हो उन विमानों (वा बिलों) को प्रकीर्णक कहते हैं। ४७५। (त्रि, सा, /१६६)।

द्र. सं. /टी /३५/११६/२ दिग्विदिगघकान्तरेषु पङ्क्तिरहितस्त्वेन पुष्प-प्रकरवत् यानि तिष्ठन्ति तेषा प्रकीर्णकसंज्ञा। = चारों दिशा और विदिशाओंके बीचमें, पंक्ति बिना, बिखरे हुए पुष्पोंके समान... जो बिले हैं, उनको 'प्रकीर्णक' संज्ञा है।

प्रकीर्णक तारे—

ति, प, /७/४६४ द्विविहा चररअचराओ पङ्कणताराओ। = प्रकीर्णक तारे चर और अचर दो प्रकारके होते हैं।

* प्रकीर्णक तारोंका अवस्थान व संख्या— दे० ज्योतिष२/३-४

प्रकीर्णक देव—

स, सि, /४/४/२३६/६ प्रकीर्णका पौरजानपदकल्पा। = जो गाँव और शहरमें रहनेवालोंके समान हैं उन्हें प्रकीर्णक कहते हैं। (रा वा / ४/४/८/२१३/८); (म, पु, /२२/२६)।

ति, प, /३/६७ पङ्कणया पुरिजणसरिच्छा। = प्रकीर्णक देव पौर जन अर्थात् प्रजाके सदृश होते हैं। (त्रि, सा /२२३-२२४)।

* भवनवासी आदिके इन्द्रोंके परिवारमें प्रकीर्णकोंका

प्रमाण — दे० भवनवासी आदि देव । वह वह नाम ।

प्रकीर्णक बिल—दे० नरक/५/३।

प्रकीर्णक विमान—दे० विमान/१। स्वर्ग/५/५।

प्रकुर्वी—भ. आ /४५५, ४५७ जो णिकस्वव्रणपवेसे सेज्जासंथार उवधि-सभोगे। ठाणणिसेज्जागासे अगदूण विकिचणाहारे। ४५५। इय अप्प-परिस्सममगणित्ताखवयस्स सव्वपडिचरणे। वट्टं तो आयरिओ पकुव्वओ णाम सो होइ। ४५७। = क्षपक जन्म वस्तिकामें प्रवेश करता है; अथवा बाहर आता है उस समयमें, वस्तिका, सस्तर और उप-करण इनके शोधन करनेमें, खडे रहना, बैठना, सोना, शरीर मल दूर करना, आहार पानी लाना आदि कार्यमें जो आचार्य क्षपकके ऊपर अनुग्रह करते हैं। सर्व प्रकार क्षपककी शुश्रूषा करते हैं, उसमें बहुत परिश्रम पडनेपर भी वे खिन्न नहीं होते हैं ऐसे आचार्यको प्रकुर्वी आचार्य कहते हैं।

प्रकृति—सारथ्य व शैव मत मान्य प्रकृति तत्त्व—दे० वह-वह दर्शन।

प्रकृति बंध—राग-द्वेषादिके निमित्तसे जीवके साथ पौद्गलिक कर्मोंका बन्ध निरन्तर होता है। (दे० कर्म) जीवके भावोंकी विचित्रताके अनुसार वे कर्म भी विभिन्न प्रकारकी फलदान शक्तिको लेकर आते हैं, इसीसे वे विभिन्न स्वभाव या प्रकृतिवाले होते हैं। प्रकृतिकी

अपेक्षा उन्म कर्मोंके मूल ८ भेद है, और उत्तर १४८ भेद है। उत्तरोत्तर भेद असंख्यात हो जाते हैं। सर्व प्रकृतियोंमें कुछ पापरूप होती है, कुछ पुण्य रूप, कुछ पुद्गल विभागी, कुछ क्षेत्र व भवविपाकी, कुछ ध्रुवबन्धी, कुछ अध्रुव बन्धी इत्यादि।

१	भेद व लक्षण
१	प्रकृतिका लक्षण—१. स्वभावके अर्थमें, २. एकार्थ-वाची नाम।
२	प्रकृति बन्धका लक्षण।
३	कर्मप्रकृतिके भेद—१. मूल व उत्तर दो भेद; २ मूल प्रकृतिके आठ भेद; ३. उत्तर प्रकृतिके १४८ भेद; ४. असंख्यात भेद।
४	सादि-अनादि व ध्रुव-अध्रुवबन्धी प्रकृतियोंके लक्षण।
५	सान्तर-निरन्तर, व उभयबन्धी प्रकृतियोंके लक्षण।
६	परिणाम, भव व परभविक प्रत्यय रूप प्रकृतियोंके लक्षण।
७	बन्ध व सत्त्व प्रकृतियोंके लक्षण।
८	भुज्जगार व अल्पतर बन्धादि प्रकृतियोंके लक्षण।
२	प्रकृतियोंका विभाग निर्देश
१	पुण्य पाप प्रकृतियोंकी अपेक्षा।
२	जीव, पुद्गल, क्षेत्र व भवविपाकीकी अपेक्षा।
३	परिणाम, भव व परभविक प्रत्ययकी अपेक्षा।
४	बन्ध व अबन्ध योग्य प्रकृतियोंकी अपेक्षा।
*	उदय व सख व संक्रमण योग्य प्रकृतियों। —दे० वह वह नाम।
५	सान्तर, निरन्तर व उभय बन्धीकी अपेक्षा।
६	सादि अनादि बन्धी प्रकृतियोंकी अपेक्षा।
७	ध्रुव व अध्रुवबन्धी प्रकृतियोंकी अपेक्षा।
८	सप्रतिपक्ष व अप्रतिपक्ष प्रकृतियोंकी अपेक्षा।
*	प्रकृतियोंमें घाती अघातीकी अपेक्षा।—दे० अनुभाग।
९	अन्तर्भाव योग्य प्रकृतियों।
*	स्वोदय परोदय बन्धी प्रकृतियों। —दे० उदय/७।
*	उदय व्युच्छित्तिके पहले, पीछे वा युगपत् बन्ध व्युच्छित्तिवाली प्रकृतिया। —दे० उदय/७।
३	प्रकृति बन्ध निर्देश
*	द्रव्यकर्मकी सिद्धि आदि। —दे० कर्म/३।
१	आठ प्रकृतियोंके आठ उदाहरण।
*	सिद्धोंके आठ गुणोंमें किस-किस प्रकृतिका निमित्त है। —दे० मोक्ष/३।
२	पुण्य व पाप प्रकृतियोंका कार्य।
३	अघातिया कर्मोंका कार्य।
*	प्रकृति बन्धमें योग कारण है। —दे० बन्ध/५/१।
*	किस प्रकृतिमें १० करणोंसे कितने करण संभव है। —दे० करण/२।

* प्रत्येक प्रकृतिकी वर्गणा भिन्न है। —दे० वर्गणा/२।
* कर्म प्रकृतियोंके साकेतिक नाम। —दे० उदय/६/१।
४ प्रकृति बंध विषयक शंका समाधान
१ वध्यमान व उपशान्त कर्ममें 'प्रकृति' व्यपदेश कैसे।
२ प्रकृतियोंकी संख्या सम्बन्धी शंका।
३ एक ही कर्म अनेक प्रकृति रूप कैसे हो जाता है।
४ एक ही पुद्गल कर्ममें अनेक कार्य करनेकी शक्ति कैसे।
५ आठों प्रकृतियोंके निर्देशका यही धर्म क्यों।
६ ध्रुवबन्धी व निरन्तर बन्धी प्रकृतियोंमें अन्तर।
७ प्रकृति व अनुभागमें अन्तर।
५ प्रकृति बन्ध सम्बन्धी कुछ नियम
१ युगपत् बन्ध योग्य सम्बन्धी।
२ सान्तर निरन्तर बन्धी प्रकृतियों सम्बन्धी।
३ ध्रुव अध्रुव बन्धी प्रकृतियों सम्बन्धी।
४ विशेष प्रकृतियोंके बन्ध सम्बन्धी कुछ नियम।
५ सान्तर निरन्तर बन्धी प्रकृतियों सम्बन्धी नियम।
६ मोह प्रकृति बन्ध सम्बन्धी कुछ नियम।
१. क्रोधादि चतुष्ककी बन्ध व्युच्छित्ति सम्बन्धी दृष्टिभेद।
२. हास्यादिके बन्ध सम्बन्धी शंका-समाधान।
७ नामकर्मकी प्रकृतियोंके बन्ध सम्बन्धी कुछ नियम।
* तीर्थकर प्रकृति बन्ध सम्बन्धी नियम। — दे० तीर्थकर।
* आयु प्रकृतिबन्ध सम्बन्धी प्ररूपणा नियमादि।
—दे० आयु।
* प्रकृतियोंमें सर्वधाती देशधाती सम्बन्धी विचार।
—दे० अनुभाग।
६ प्रकृति बन्धके नियम सम्बन्धी शंकाएँ
१ प्रकृति बन्धको व्युच्छित्तिका निश्चित क्रम क्यों।
२ तिर्यग्दिकके निरन्तर बन्ध सम्बन्धी।
३ पंचेन्द्रिय जाति औदारिक शरीरादिके निरन्तर बन्ध सम्बन्धी।
४ तिर्यग्गतिके साथ साताके बन्ध सम्बन्धी।
५ हास्यादि चारों उत्कृष्ट संक्लेशमें क्यों न बंधें।
* विकलेन्द्रियोंमें हुण्डक संस्थानके बन्ध सम्बन्धी।
—दे० उदय/५
७ प्रकृति बन्ध विषयक प्ररूपणाएँ
१ सारणीमें प्रयुक्त संकेतोंका परिचय।
२ बन्ध व्युच्छित्ति ओष प्ररूपणा।
३ सातिशय मिथ्यादृष्टिमें बन्ध योग्य प्रकृतियाँ।
४ सातिशय मिथ्यादृष्टिमें प्रकृतियोंका अनुबन्ध।
५ बन्ध व्युच्छित्ति आदेश प्ररूपणा।

६ सामान्य प्रकृति बन्धस्थान ओष प्ररूपणा।
७ विशेष प्रकृति बन्धस्थान ओष प्ररूपणा।
* आयु प्रकृति बन्ध सम्बन्धी प्ररूपणा। —दे० आयु।
८ मोहनीय बन्ध स्थान ओष प्ररूपणा।
९ नामकर्म प्ररूपणा सम्बन्धी संकेत।
१० नामकर्म बन्धके योग्य आठ स्थानोंका विवरण।
११ नामकर्म बन्ध स्थान ओष प्ररूपणा।
१२ जीव समासोंमें नामकर्म बन्धस्थान प्ररूपणा।
१३ नामकर्म बन्ध स्थान आदेश प्ररूपणा।
* बन्ध, उदय व सत्त्वकी संयोगी प्ररूपणाएँ।
—दे० उदय/८।
१४ मूल उत्तर प्रकृतियोंमें जघन्योत्कृष्ट बन्ध तथा अन्य सम्बन्धी प्ररूपणाओंकी सूची।
* मूल उत्तर प्रकृति बन्ध व बन्धको विषयक सत्त्व, संख्या, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर व अल्पबहुत्व प्ररूपणाएँ।
—दे० वह-वह नाम।

१. भेद व लक्षण

१. प्रकृतिका लक्षण—१. स्वभावके अर्थमें

पं. सं./प्रा./४/१४-४१५ पयडी एरथ सहावो...१५१४ एकस्मि महुर-पयडी १...५१५। = प्रकृति नाम स्वभावका है। १...१५१४ जैसे—किसी एक वस्तुमें मधुरताका होना उसकी प्रकृति है। १५१५। (पं. सं./सं./३६६-३६७)। (घ. १०/४,२,४,२१३/५१०/८)।

स. सि./८/३/३७८/१ प्रकृति. स्वभावः। निम्बस्य का प्रकृति। तिवसता। गुडस्य का प्रकृति। मधुरता। तथा ज्ञानावरणस्य का प्रकृतिः। अर्थानवगम'। १...इत्यादि। = प्रकृतिका अर्थ स्वभाव है। जिस प्रकार नीमकी क्या प्रकृति है। कडुआपन। गुडकी क्या प्रकृति है। भीठापन। उसी प्रकार ज्ञानावरण कर्मकी क्या प्रकृति है। अर्थका ज्ञान न होना। इत्यादि। (रा. वा./८/३/४/५६७/१)। (पं. घ./३/१३६)।

घ. १२/४,२,१०,२/३०३/२ प्रक्रियते अज्ञानादिकं फलमनया आत्मन. इति प्रकृतिशब्दव्युत्पत्ते'। १. जो कम्मखंधो जीवस्स वट्टमाणकाले फलं देह जो च देहस्सदि, एदेसि दोणं पि कम्मखंधाण पयडित्तं सिद्धं। = १. जिसके द्वारा आत्माको अज्ञानादि रूप फल किया जाता है वह प्रकृति है, यह प्रकृति शब्दकी व्युत्पत्ति है। १. २. जो कर्म स्कन्ध वर्तमानकालमें फल देता है और जो भविष्यत्तमें फल देगा, इन दोनों ही कर्म स्कन्धोकी प्रकृति संज्ञा सिद्ध है।

२. एकार्थवाची नाम

गो. क./मू./२/३ पयडी सोलसहावो-...१२। = प्रकृति, शील और स्वभाव ये सब एकार्थ है।

पं. घ./पू./४८ शक्तिर्लक्ष्म विशेषो धर्मो रूपं गुण. स्वभावश्च। प्रकृतिः शीलं चाकृतिरेकार्थवाचका अमी शब्दाः। ४८। = शक्ति, लक्षण, विशेष, धर्म, रूप, गुण तथा स्वभाव, प्रकृति, शील और आकृति ये सब एकार्थवाची है।

२. प्रकृति बन्धका लक्षण

वि. सा./ता. वृ./४० ज्ञानावरणाद्यष्टविधकर्मणां तत्त्वयोग्यपुद्गलद्रव्य-स्वीकार' प्रकृतिबन्धः। = ज्ञानावरणादि अष्टविध कर्मोंके उस कर्मके योग्य ऐसा जो पुद्गल द्रव्यका स्व-आकार वह प्रकृति बन्ध है।

३. कर्म प्रकृतिके भेद

१. मूल व उत्तर दो भेद

भू आ./१२२१ दुविहो य पयडिबधो मूलो तह उत्तरो चैव । = प्रकृति बन्ध मूल और उत्तर ऐसे दो प्रकारका है । १२२१। (प. सं./प्रा./२/१) (क. पा. २/२-२२/ चूर्ण सूत्र/४४१/२०) (रा. वा./५/३/११/५६७/२०); (घ. ६/१,६-१,३/५/६); (पं. सं./सं/२/१)

२. मूल प्रकृतिके आठ भेद

घ. खं. १३/५.५/सू १६/२०५...कम्मपयडो णम सा अट्टविहा-णाणावरणीयकम्मपयडो एवं वंसणावरणीय-वैयणीय-मोहणीय-आउअ-णामा-गोद-अंतराहयकम्मपयडो चेदि ११६। = नोआगम कर्म द्रव्य प्रकृति आठ प्रकारकी दर्शनावरणीय, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय कर्म प्रकृति । ११६। (घ खं. ६/१,६-१/सू. ४-१२/६-१३); (तं. सू./५/४); (सू आ./१२२२); (पं. सं./प्रा./२/२); (न. च. वृ./५४); (गो. क./मू./८/७); (द्र. स./टी/३१/१०/६)।

३. उत्तर प्रकृतिके १४८ भेद

त. सू./५/५ पञ्चनवहयष्टाविशतिचतुर्द्विचत्वारिंशद्द्विपञ्चभेदा यथाक्रमम् । ५। = आठ मूल प्रकृतियोंके अनुक्रमसे पाँच, नौ, दो, अट्ठाईस, चार, व्यालीस, दो और पाँच भेद है । ५। (विशेष देखो-उस उस मूल प्रकृतिका नाम) (घ खं ६/१,६-१/सू./पृ. १३/१४; १५/३१, १७/३४; १६/३७; २५/४८; २६/४९; ४५/७७; ४६/७८); (घ खं. १३/५.५/सू./पृ. २०/२०६; ५४/३६३; ५५/३५६; ६०/३५७; ६६/३६२, १०१/३६३; १३५/३५५; १३७/३५६), (पं सं प्रा/२/४), (गो क./मू./२२/१५), (पं. सं/सं/२/३-३५)।

४. असंख्यात भेद

गो. क./मू./७/६ तं पुण अट्टविहं वा अड्डालसयं असंखलोगं वा । ताणं पुण वादित्ति अ-घादित्ति य होति सण्णाओ । ७। = सामान्य कर्म आठ प्रकार है, वा एक सौ अड्डतालीस प्रकार है, वा असंख्यात लोक प्रमाण प्रकार है । तिनकी पृथक्-पृथक् घातिया व अघातिया ऐसी सज्ञा है । ७।

पं. घ./उ/१००० उत्तरोत्तरभेदैश्च लोकासंख्यातमात्रकम् । शक्तितोऽ-नन्तस्रश्च सर्वकर्मकदम्बकम् । १०००। (अवश्यं सति सम्यक्त्वे तल्लब्ध्यावरणक्षति (प घ ८/६) = उत्तरोत्तर भेदोंकी अपेक्षासे कर्म असंख्यात लोक प्रमाण है । तथा अपने अविभाग प्रतिच्छेदोंके शक्तिकी अपेक्षासे सम्पूर्ण कर्मोंका समूह अनन्त है । १०००। (ज्ञानसे चेतनावरण-स्वाप्नभ्रम्यावरण कर्मका नाश अवश्य होता है । इत्यादि और भी दो नमकर्म)।

४. सादि-अनादि व ध्रुव-अध्रुवबन्धी प्रकृतियोंके लक्षण

पं. स/प्रा/४/२३३ साह अकथान्धइ अणाइन्धो य जीवकम्मणं । ध्रुवन्धो य अभव्त्वे बंध-विणालेण अइध्रुवो होज्ज १२३३। = विवक्षित कर्म प्रकृतिके अबन्ध अर्थात् बन्ध विच्छेद हो जानेपर पुनः जो उसका बन्ध होता है, उसे सादिबन्ध कहते हैं । जीव और कर्मके अनादि कालीन बन्धको अनादिबन्ध कहते हैं । अभव्यके बन्धको ध्रुवबन्ध कहते हैं । एक बार बन्धका विनाश होकर पुनः होनेवाले बन्धको अध्रुवबन्ध कहते हैं । अथवा भव्यके बन्धको अध्रुवबन्ध व हते हैं ।

घ ५/३,६/१७/७ जिस्से पयडीए पच्चओ जस्थ कस्थ वि जीवो अणादि-ध्रुवभावेण लम्भइ सा ध्रुवन्धीपयडी । = जिस प्रकृतिका प्रत्यय जिस किसी भी जीवमें अनादि एव ध्रुव भावसे पाया जाता है वह ध्रुव-बन्ध प्रकृति है ।

गो. क./मू. व टो./१२३/१२४ सादि-अबंधधे सेट्टिअणारूढो अणादीहु । अभव्वसिद्धिह ध्रुवो भवसिद्धे अइध्रुवो बंधो । १२३। सादिबन्धः अबन्धपतितस्य कर्मणं पनर्बन्धे सति स्यात्, यथा ज्ञानावरणपञ्चकस्य

उपशान्तकषायादवतरत् सूक्ष्मसापराये । यत्कर्म यस्मिन् गुणस्थाने व्युच्छिद्यते तदनन्तरोपरितनगुणस्थानं श्रेणिं तत्रानारूढे अनादिबन्ध-स्यात्, यथा सूक्ष्मसापरायचरमसमयादधस्तत्पञ्चकस्य । तु-पुन. अभ-व्यसिद्धे ध्रुवबन्धो भवति निष्प्रतिपक्षणां बन्धस्य तत्रानाखनन्तत्वात् । भव्यसिद्धे अध्रुवबन्धो भवति । सूक्ष्मसापराये बन्धस्य व्युच्छिद्यता तत्पञ्चकादीनामिव । = जिस कर्मके बन्धका अभाव होकर फिर बन्ध होइ तहाँ तिस कर्मके बन्ध को सादि कहिये । जैसे—ज्ञानावरणको पाँच प्रकृतिका बन्ध सूक्ष्म साम्पराय गुणस्थान पर्यन्त जीवके था । पीछे वही जीव उपशान्त कषाय गुणस्थानको प्राप्त भया तब ज्ञानावरणके बन्धका अभाव भया । पीछे वही जीव उत्तर कर सूक्ष्म-साम्परायको प्राप्त हुआ वहाँ उसके पुन. ज्ञानावरणका बन्ध भया तहाँ तिस बन्धको सादि कहिये । ऐसे ही और प्रकृतिनिका जानना । जिस गुण स्थानमें जिस कर्मकी व्युच्छिन्ति होइ, तिस गुणस्थानके अनन्तर ऊपरिके गुणस्थानको अप्राप्त भया जो जीव ताके तिस कर्मका अनादि बन्ध जानना । जैसे—ज्ञानावरणकी व्युच्छिन्ति सूक्ष्मसाम्परायका अन्त विषै है । ताके अनन्तर ऊपरके गुणस्थानको जो जीव अप्राप्त भया ताके ज्ञानावरणका अनादिबन्ध है । ऐसे ही अन्य प्रकृतियोंका जानना । —बहुरि अभव्यसिद्ध जो अभव्यजीव तीहिविषै ध्रुवबन्ध जानना । जातै नि.प्रतिपक्ष जे निरन्तर बन्धी कर्म प्रकृतिका बन्ध अभव्यके अनादि अनन्त पाइए है । बहुरि भव्यसिद्धविषै अध्रुव बन्ध है जातै भव्य जीवके बन्धका अभाव भी पाइए वा बंध भी पाइए। जैसे—ज्ञानावरण पंचककी सूक्ष्म साम्पराय विषै बन्धकी व्युच्छिन्ति भई । नोट—(इसी प्रकार उत्कृष्ट, अनुकृष्ट तथा जघन्य व अजघन्य बन्धकी अपेक्षा भी सादि अनादि ध्रुव अध्रुव विकल्प यथा सम्भव जानना । (गो. क./जी./प्रा/११/७५/१५) । गो. क./भाषा/१०/७४/४ विवक्षित बन्धका बीचमें अभाव होइ बहुरि जो बन्ध होइ सो सादिबन्ध है । बहुरि कदाचित् अनादि तै बन्धका अभाव न हूवा होइ तहाँ अनादिबन्ध है । निरन्तर बन्ध हुआ करे सो ध्रुवबन्ध है । अन्तर सहित बन्ध होइ सो अध्रुवबन्ध कहते है ।

५. सान्तर, निरन्तर व उभय बन्धी प्रकृतियोंके लक्षण

घ. ५/३,६/१७/८ जिस्से पयडीए पच्चओ णियमेण सादि अइध्रुओ अतोमुहुत्तादिकालावट्टाई सा णित्तरबंधपयडी । जिस्से पयडीए अट्टावखण बंधवोच्छेदो संभवइ सा सात्तरबंधपयडी । = जिस प्रकृतिका प्रत्यय नियमसे सादि एवं अध्रुव तथा अन्तर्मुहूर्त आदि कालतक अवस्थित रहनेवाला है, वह निरन्तर बन्धी प्रकृति है । जिस प्रकृतिका काल क्षयसे बन्ध व्युच्छेद सम्भव है वह सान्तरबन्धी प्रकृति है ।

गो. क/भाषा/ ४०६-४०७/५७०/१७ जैसे—अन्यगतिका जहाँ बन्ध पाइये तहा तौ देवगति सप्रतिपक्षी है सो तहाँ कोई समय देवगतिका बन्ध होई कोइ समय अन्य गतिका बन्ध होइ तातै सान्तरबन्धी है । जहाँ अन्य गतिका बन्ध नाहीं केवल देवगतिका बन्ध है तहाँ देवगति निष्प्रतिपक्षी है सो तहाँ समय समय प्रति देवगतिका बन्ध पाइए तातै निरन्तर बन्धी है । तातै देवगति उभयबन्धी है ।

६. परिणाम, मव व परमविक प्रत्यय रूप प्रकृतियोंके लक्षण

स. सा./जी. प्रा./३०६-३०७-३५५ पञ्चविशतिप्रकृतयः परिणामप्रत्ययाः, आत्मनो विशुद्धिसंक्लेशपरिणामहानिवृद्धयनुसारेण एतत्प्रकृतमनुभा-गस्य हानिवृद्धिसंज्ञावात् । ३०६। चतुस्त्रिंशत्प्रकृतयो, भवप्रत्यया । एता-सामनुभागरय विशुद्धिसंक्लेशपरिणामहानिवृद्धिनिरपेक्षतया विवक्षित-भवाश्रयेणैव षट्स्थानपतितहानिवृद्धिसंभवात् । अतः कारणादवस्थित-विशुद्धिपरिणामेऽप्युपशान्तकषाये एतच्चतुस्त्रिंशत्प्रकृतीनां अनुभागो-दयस्त्रिस्थानसंभवो भवति । कदाचिद्धीयते कदाचिद्धर्षते कदाचिद्धा-निवृद्धिभ्यां विना एकादशं एवावतिष्ठते । ३०७। = पच्चीस प्रकृति परि-णाम प्रत्यय है । इनका उदय होनेके प्रथम समयमें आत्माके विशुद्धि

संक्लेश परिणाम हानि वृद्धि लिये जैसे पाइए तैसे हानि वृद्धि लिये इनका अनुभाग तहाँ उदय होइ। वर्तमान परिणामके अनुसार इनका अनुभाग उत्कर्षण अपकर्षण हो है। १३०६। चौतीस प्रकृति भव प्रत्यय है। आत्माके परिणाम जैसे होई। तिनकी अपेक्षा रहित पर्याय हीका आश्रय कर इनका अनुभाग विषे षट् स्थान रूप हानि वृद्धि पाइये है ताते इनका अनुभागका उदय इहाँ (उपशान्तकषाय गुण स्थान में) तीन अवस्था लीएँ है। कदाचित् हानि रूप, कदाचित् वृद्धि रूप, कदाचित् अवस्थित जैसा का तैसा रहे है। १३०७।

ध. ६/१,६-८,१४/२६३/२५ विशेषार्थ—नामकर्मकी जिन प्रकृतियोंका परभव सम्बन्धी देवगतिके साथ बन्ध होता है उन्हें परभक्तिक नामकर्म कहा है।

७. बन्ध व सत्त्व प्रकृतियोंके लक्षण

घ. १२/४,२,१४,३८/४६५/११ जासि पयडीण ट्टिदिसतादो उवरि कम्हि विकाले ट्टिदिबधो संभवदि ताओ बंधपयडोओ णाम। जासि पुण पयडीण बधो चैव णस्थि, बधे संते वि जासि पयडीण ट्टिदि संतादो उवरि सब्बकाल बंधो ण संभवदि, ताओ संतपयडीओ, संतपहाणत्तादो। ण च आहारदुग-तिथ्यराण ट्टिदिस्तदादो उवरि बधो अस्थि, सम्माइट्टीसु तदणुवलभादो तम्हा सम्मामिच्छत्ताणं व एदाणि तिण्णि वि सत्तकम्माणि। =जिन प्रकृतियोंका स्थिति सत्त्वसे अधिक किसी भी कालमे बन्ध सम्भव है, वे बन्ध प्रकृतियाँ कही जाती है। परन्तु जिन प्रकृतियोंका स्थिति सत्त्वसे अधिक सदा काल बन्ध सम्भव नहीं है वे सत्त्व प्रकृतियाँ है, क्योंकि सत्त्वकी प्रधानता है। आहारक द्विक और तीर्थकर प्रकृतिका स्थिति सत्त्वसे अधिक बन्ध सम्भव नहीं है, क्योंकि वह सम्यग्दृष्टियोगे नहीं पाया जाता है। इस कारण सम्यक्त्व व सम्यग्मिथ्यात्वके समान तीनों ही सत्त्व प्रकृतियों है।

८. भुजगार व अल्पतर बन्धादि प्रकृतियोंके लक्षण

घ न. १९/२७०/१४५/२ याओ एण्णि ट्टिदीओ बंधदि अणंतरादिसक्का-विदविदिककंते समये अप्पदरादो बहुदरं बंधदि त्ति एसो भुजगार-बंधो णाम। याओ एण्णि ट्टिदीओ बंधदि अणंतरउत्सक्काविद-विदिककंते समये बहुदरादो अप्पदरं बंधदि त्ति एसो अप्पवरबंधो णाम। याओ एण्णि ट्टिदीओ बंधदि अणंतरओसक्काविदउत्स-क्काविदविदिककंते समये तत्तियाओ तत्तियाओ चैव बंधदि त्ति एसो अवट्टिदिबधो णाम। अबंधदो बंधदि त्ति एसो अवत्तव्वबधो णाम। =वर्तमान समयमें जिन स्थितियोंको बाँधता है उन्हें अनन्तर अतिक्रान्त समयमें घटी हुई बाँधी गयी अल्पतर स्थितिसे बहुतर बाँधता है यह भुजगारबन्ध है। --वर्तमान समयमें जिन स्थितियोंको बाँधता है, उन्हें अनन्तर अतिक्रान्त समयमें बढी हुई बाँधी गयी बहुतर स्थितिसे अल्पतर बाँधता है यह अल्पतरबन्ध है। --वर्तमान समयमें जिन स्थितियोंको बाँधता है, उन्हें अनन्तर अतिक्रान्त समयमें घटी हुई या बढी हुई बाँधी गयी स्थितिसे उतनी ही बाँधता है, यह अवस्थित बन्ध है। अर्थात्—प्रथम समयमें अल्प-का बंध करके अनन्तर बहुतका बन्ध करना भुजगारबन्ध है। इसी प्रकार बहुतका बन्ध करके अल्पका बन्ध करना अल्पतरबन्ध है। पिछले समयमें जितना बन्ध किया है, अगले समयमें उतना ही बन्ध करना अवस्थितबन्ध है। (गो. क./मू./४६६/६१५; ५६३-६६४/७६४) (गो. क./जी. प्र./४५३/६०२/५)। बंधका अभाव होनेके बाद पुनः बाँधता है यह अवत्तव्वबन्ध है।

गो. क./जी प्र./४७०/६१६/१० सामान्येन भङ्गविवक्षामकृत्वा अवत्तव्व-बन्ध। =सामान्यपनेसे भङ्ग विवक्षाको किये बिना अवत्तव्वबन्ध है।

२. प्रकृतियोंका विभाग निर्देश

१. पुण्य पाप रूप प्रकृतियोंकी अपेक्षा

त.सू./८/२५-२६ सत्त्वशुभाशुर्नामगोत्राणि पुण्यम्। १२५। अतोऽन्यत्पापम्।

१२६। =साता वेदनीय, शुभ आयु, शुभ नाम और शुभ गोत्र ये प्रकृतियों पुण्यरूप है। १२५। इनके सिवा शेष सब प्रकृतियों पाप रूप है। १२६। (न. च. वृ./१६१), (द्र. सं/मू./३८), (गो जी/जी प्र./६४३/१०६५/३)।

पं. सं./प्रा./४५३-४५६ सायं तिण्णेवाज्ज मणुयदुग देववुज य जाणाहि। पंचसरीरं पविदियं च संठाणमाईय १४५३। तिण्णि य अंगोवग पसत्थविहायगइ आइसत्रयण। वण्णचउक्कं अगुरु य परघादुस्सास उज्जोत्रं १४५४। आदाव तसचउक्कं थिर सुह सुभग च सुस्सर णिमिणं। आदेज्जं असकित्ती तिथ्यदरं उच्च वादात् १४५५। णाणा-तरायदस्यं दंसणणव मोहणीय छन्वीसं। णिरयगइ तिरियदोण्णि य तेसि तह आणुपुक्वीयं १४५६। संठाणं पंचेव य सत्रयण चैव होति पंचेव। वण्णचउक्कं अपसत्थविहायगइ य उवधायं १४५७। एईदिय-णिरयाज्ज तिण्णि य वियलियं असायं च। अप्पज्जत्त थावर सुहुमं साहारणं णाम १४५८। दुग्गम दुस्सरमजस अणाइज्जं चैव अथिरमसुहं च। णीचागोदं च तहा वासीदो अप्पसत्थं तु १४५९।

गो. क./मू./४२,४४/४४-४५ अट्टसट्टी बादालमभेदो सत्था १४२। बंधुदयं पडिभेदे अडणउदि सयं बुचदुरसीदिदरे १४४। =पुण्य-प्रकृतियों—साता वेदनीय, नरकायुके बिना तीन आयु, मनुष्य द्विक, देवद्विक, पाँच शरीर, पंचेन्द्रिय जाति, आदिका समचतुरस्र संस्थान, तीनों अंगोपांग, प्रशस्त विहायोगति, आदिका वज्रवृषभ-नाराच संहनन, प्रशस्तवर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, अगुरुलघु, परघात, उच्चोत्थास, उद्योत, आत्प, त्रस चतुष्क, स्थिर, शुभ, सुभग, सुस्वर, निर्माण, आदेय, यशस्कीर्ति, तीर्थकर और उच्चगोत्र, ये व्यासी प्रशस्त, शुभ या पुण्य प्रकृतियों है। १४५३-४५५। २ पाप प्रकृतियों—ज्ञानावरणकी पाँच, अन्तरायकी पाँच, दर्शनावरणकी नौ, मोहनीयकी छन्वीस, नरकगति, नरकगत्यानुपूर्वी, तिर्यग्गति, तिर्यग्गत्यानुपूर्वी, आदिके बिना शेष पाँच संस्थान आदिके बिना शेष पाँचो सहनन, अप्रशस्त वर्ण चतुष्क, अप्रशस्त विहायोगति, उपघात, एकेन्द्रिय जाति, नरकायु, तीन विकलेन्द्रिय जातियों, असाता वेदनीय, अपर्याप्त, स्थावर, सूक्ष्म, साधारण, दुर्भग, दुस्वर, अयश कीर्ति, अनादेय, अस्थिर, अशुभ, और नीचगोत्र, ये व्यासी (८२) अप्रशस्त, अशुभ या पापप्रकृतियों है। १४५६-४५६। ३. भेद अपेक्षासे ६८ प्रकृति पुण्य रूप है और अभेद विवक्षाकरि पाँच बन्धन, ५ संघात और १६ वर्णादिक घटाइये ४२ प्रकृति प्रशस्त है। १४२। भेद विवक्षाकरि बन्ध रूप ६८ प्रकृतियों है, उदयरूप १०० प्रकृतियों है। अभेद विवक्षाकरि वर्णादि १६ घटाइ बन्धरूप ८२ प्रकृति है उदयरूप ८४ प्रकृति है। १४४। (स.सि/८/२५-२६/४०४/३), (रा.वा./८/२५-२६/३८६/६,१५), (गो.क./मू./४१-४४/४४), (द्र.सं./टी./३८/१५८/१०), (पं.सं./स./४२/७५-२८४)।

२. जीव, पुद्गल, क्षेत्र व भवविपाकीकी अपेक्षा

पं. सं./प्रा./४६०-४६३ षण्णरसं छ तिय छ पंच दोण्णि पंच य हवति अट्ठेव। सरीरादिय फासंता। य पयडीओ आणुपुक्वीर १४६०। अगुरुलघुगुवघाया परघाया आदबुज्जोव णिमिणणाम च। पत्तेय-थिर-सुहेदरणामाणि य पुंगल विवागा १४६०। आऊणि भवविवागी खेत्तविवागी उ आणुपुक्वी य। अवसेसा पयडीओ जीवविवागी सुणेयव्वा १४६२। वेयणोय-गोय-घाई-णभगई जाइ आण नित्थयरं। तस-जस-त्रायर-पुण्णा सुस्सर-आदेज्ज-सुभगजुयलाइ १४६३। = १. शरीर नामकर्मसे आदि लेकर स्पर्श नामकर्मतककी प्रकृतियों आनुपूर्वीसे शरीर ५, बन्धन ५ और संघात ५, इस प्रकार १५, संस्थान ६, अंगोपांग ३, संहनन ६, वर्ण ५, गन्ध २, रस ५, और स्पर्श आठ, तथा अगुरुलघु, उपघात, परघात, आत्प, उद्योत, निर्माण, प्रत्येक शरीर, साधारण शरीर, स्थिर, अस्थिर, शुभ और अशुभ; ये सर्व ६२ प्रकृतियों पुद्गल विपाकी है, (क्योंकि इन प्रकृ-

तियोंका फल स्वरूप विपाक पुद्गल रूप शरीरमें होता है।) २ आयु कर्मकी चारों प्रकृतियों भवविपाकी है (क्योंकि इनका विपाक नरकादि भवोमे होता है।) ३. चारों आनुपूर्वी प्रकृतियों क्षेत्रविपाकी है (क्योंकि इनका विपाक विग्रह गतिरूपमे होता है) ४ शेष ७८ प्रकृतियाँ जीवविपाकी जानना चाहिए, (क्योंकि उनका विपाक जीवमे होता है।) ४६०-४६२। वेदनीयकी २, गोत्रकी २, घाति कर्मकी ४७, विहायोगति २, गति ४, जाति ६, इवासो-च्छ्वास १, तीर्थंकर १, तथा त्रस, यश कोति, बादर, पर्याप्त, सुस्वर, आदेय और सुभग, इन सात युगलोकी १४ प्रकृतियाँ; इस प्रकार सर्व मिलाकर ७८ प्रकृतियाँ जीव विपाकी है। ४६३। (रा. वा./८/२३/७/५४/३३), (घ. १४/गा. १-४/१३-१४), (गो. क./मू./४७-५०/४७), (प. स./स./४/३२६-३३३)।

३. परिणाम, भव व परभक्तिक प्रत्ययकी अपेक्षा

ल. सा/जी प्र/३०६-३०७ ध्रुवोदयप्रकृतयस्तीजसकार्मणशरीरवर्णगन्ध-रसस्पर्शस्थिगस्थिरशुभाशुभाशुभारुल्लघुनिर्माणनामानो द्वादश, सुभगा-देययशस्कीर्तय उच्चैर्गोत्रं पञ्चान्तरायप्रकृतय. केवलज्ञानावरणोय निद्रा प्रचला चेति पञ्चविंशतिप्रकृतय परिणामप्रत्यया। ३०६। मतिश्रुतवधिमनःपर्ययज्ञानावरणचतुष्टयं चक्षुरचक्षुरवधदर्शना-वरणत्रयं सातासातवेदनोयद्वयं मनुष्यायुर्मनुष्यगतिपञ्चेन्द्रियजात्यौ-दारिकशरीरतदङ्गोपाङ्गाद्यसंहननत्रयषट्संस्थानोपघातपरघातोच्छ्-वासविहायोगतिद्वयप्रत्येकत्रसबादरपर्याप्तस्वरद्वयनामप्रकृतयश्चतुर्विं-शतिरिति चतुस्त्रिंशत्प्रकृतिभवप्रत्यया। ३०७। = १. तैजस, कार्माणि शरीर, वर्णादि ४, स्थिर, अस्थिर, शुभ, अशुभ, अगुरुलघु, निर्माण ये नामकर्मकी ध्रुवोदयो १२ प्रकृति अरु सुभग, आदेय, यश कीर्ति, उच्चगोत्र, पाँच अन्तराय, केवलज्ञानावरण, केवलदर्शनावरण अरु निद्रा, प्रचला ये पचीस प्रकृति परिणाम प्रत्यय है। ३०६। २. अव-शेष ज्ञानावरणकी ४, दर्शनावरणकी ३, वेदनीयकी २, मनुष्यायु, मनुष्यगति, पचेन्द्रिय जाति, औदारिक शरीर, औदारिक अगो-पाग, आदिके तीन संहनन, ६ संस्थान, उपघात, परघात, उच्छ्-वास, विहायोगति दो, प्रत्येक, त्रस, बादर, पर्याप्त, स्वरकी दोय ऐसे ३४ प्रकृति भव प्रत्यय है।

घ. ६/१,६-८, १४/२६३/२६ पर विशेषार्थ-परभक्तिक नामकर्म की प्रकृ-तियाँ कमसे कम २७ और अधिकसे अधिक ३० होती है।—१. देव-गति, २. पचेन्द्रिय जाति, ३-६ औदारिक शरीरको छोड़कर चार शरीर, ७ समचतुरस्रस्थान, ८, वैक्रियिक और ९, आहारक अगोपाग, १० देवगत्यानुपूर्वी, ११. वर्ण, १२. गन्ध, १३. रस, १४. स्पर्श, १५-१८. अगुरुलघु आदि चार, १९. प्रशस्त विहायोगति, २०-२३. त्रसादि चार, २४. स्थिर, २५. शुभ, २६. सुभग, २७. सुस्वर, २८. आदेय, २९ निर्माण और ३०. तीर्थंकर। इनमेसे आहारक शरीर, आहारक अगोपाग और तीर्थंकर, ये तीन प्रकृतियाँ जब नहीं बँधती तब शेष २७ ही बँधती है।

४. बन्ध व अबन्ध योग्य प्रकृतियोंकी अपेक्षा

१. बन्ध योग्य प्रकृतियों

पं सं/प्रा./२/५ पंच णव दोणिण छब्बीसमलिय चउरो कमेण सत्तही। दोणिण य पंच य भणियं एयाओ बंधपयडीओ। ५। = ज्ञानावरणीय-की पाँच, दर्शनावरणकी नौ, वेदनीयकी दो, मोहनीयकी छब्बीस, आयुकर्मकी चार, नामकर्मकी सडसठ, गोत्रकर्मकी दो और अन्तरायकर्मकी पाँच, इस प्रकार १२० बंधने योग्य उत्तर प्रकृतियाँ कही गयी है। ५। (गो क./मू./३६/४०)।

गो. क./मू./३७/४१ भेदे छादालस्यं इदरे बंधे हवति वीससयं। = भेद विवक्षासे मिश्र और सम्यक्त्व प्रकृति बिना १४६ प्रकृतियाँ बन्ध योग्य है। अरु अभेद विवक्षासे १२० प्रकृतियाँ बन्ध योग्य है।

२. बन्ध अयोग्य प्रकृतियों

पं. सं./प्रा./२/६ वर्ण-रस-गंध-फासा चउ चउ इगि सत्त सम्म-मिच्छत्त। होति अबधा बधण पण पण सघाय सम्मत्तं। ६। = चार वर्ण, चार रस, एक गन्ध, सात स्पर्श, सम्यग्मिथ्यात्व, सम्यक्त्वप्रकृति, पाँच बन्धन और पाँच सघात, ये अष्टाईस (२८) प्रकृतियाँ बन्धके अयोग्य होती है। ६।

५. सान्तर निरन्तर व उभय बन्धीकी अपेक्षा

पं. सं./३/७४-७७ तित्थयराहास्सुअ चउ आउ धुवा य वेइ चउवण्णं। एयाणं सन्वाण पयडीण गिरतरो बधो। ७४। सठाण संधयणं अंतिमदसयं च साइ उज्जोयं। इगिगिगलियिदिय थावर सद्धित्थी अरइ सोय अयसं च। ७५। दुब्भग दुस्सरमसुभ सुहुम साहारणं अप्प-ज्जत्तं। गिरयदुअमणादेयं असायमथिर विहायमपसत्थ। ७६। चउ-तीसं पयडीणं बधो गियमेण संतरो भणियो। बत्तीस सेसियाणं बंधो समयम्मि उभओ वि। ७७।

ध. ८/३,६/१८/२ तासि णामणिइं सो कीरदे। त जहा—सादावेदणीय-पुरिसवेद-हस्स-रदि-तिरिक्खगड-मणुस्सगइ-देवगइ-पंचिदिय-जादि -ओरालिय-वेउव्विय-सरीर - समचउरससठाण-ओरालिय-वेउव्विय - सरीर - अगोबंग-वज्जरिसह-वइरणारायणसरीरसंघउण-तिरिक्खगइ - मणुस्सगइ-देवगइपाओग्गणुपुव्वि-परघादुस्सास-पसत्थ-विहा यगड - तस-बादर-पज्जत्त-पत्तेयसरीर-थिर-सुह-सुभग-सुस्सर - आवेज्ज-जस-कित्ति-णीच्छागोवमिदि सातर-गिरतरेण बउक्कमाणपयडीओ। = १. तीर्थंकर, आहारकद्विक, चारो आयु, और ध्रुवबन्धी सैतालीस प्रकृतियाँ, इन सब चौवन प्रकृतियोंका निरन्तर बन्ध होता है। ७४। २. अन्तिम पाँच संस्थान, अन्तिम पाँच संहनन, साता मेदनीय, उद्योत, एकेन्द्रिय जाति, तीन विकलेन्द्रिय जातियाँ, स्थावर, नपुंसक वेद, स्त्रीवेद, अरति, शोक, अयश कोति, दुर्भग, दुस्स्वर, अशुभ, सूक्ष्म, साधारण, अपर्याप्त, नरकद्विक, अनादेय, असाता वेदनीय, अस्थिर, और अप्रशस्त विहायोगति; इन चौतीस प्रकृतियोंका नियमसे सान्तर बन्ध कहा गया है। ७५-७६। (घ. ८/३,६/१६/६)। ३. शेष बची बत्तीस प्रकृतियोंका बन्ध परमा-गममें उभय रूप अर्थात् सान्तर और निरन्तर कहा गया है। ७७। उनका नाम निर्देश किया जाता है। वह इस प्रकार है—साता-वेदनीय, पुरुष वेद, हास्य, रति, तिर्यग्गति, मनुष्यगति, देवगति, पंचेन्द्रियजाति, औदारिक शरीर, वैक्रियिक शरीर, समचतुरस्र-संस्थान, औदारिक शरीरअगोपाग, वैक्रियिक शरीरअगोपाग, बज्र-र्षभनाराचशरीर संहनन, तिर्यग्मनुष्य व देवगति प्रायोग्यानुपूर्वी, परघात, उच्छ्वास, प्रशस्तविहायोगति, त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक शरीर, स्थिर, शुभ, सुभग, सुस्वर, आदेय, यशकीर्ति, नीच गोत्र, उच्चगोत्र, ये सान्तर-निरन्तर रूपसे बंधनेवाली है। (घ ८/३,६/गा./-१७-१६/१७), (गो क./मू./४०४-४०७/५६८), (पं. सं./सं./३/६३-१०१)

६. सादि अनादि बन्धी प्रकृतियोंकी अपेक्षा

पं. सं./प्रा./४/२३५-२३६ साइ अणाइ य धुव अद्धुवो य बंधो दु कम्म-छक्कत्स। तइए साइयसेसा अणाइधुव सेसओ आऊ। २३५। उत्तर-पयडीसु तथा धुवियाणं बंध चउवियप्पो दु। सादिय अद्धुवियाओ सेसा परियत्तमाणीओ। २३६। = १. मूल प्रकृतियोंकी अपेक्षा—ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय, नाम, गोत्र और अन्तराय, इन छह कर्मोंका सादि, अनादि, ध्रुव और अध्रुव चारों प्रकारका बन्ध होता है। वेदनीय कर्मका सादि बन्धको छोड़कर शेष तीन प्रकारका बन्ध होता है। आयुकर्मका अनादि और ध्रुव बन्धके सिवाय शेष दो प्रकारका बन्ध होता है। २३५। २. उत्तर प्रकृतियोंकी अपेक्षा—उत्तर प्रकृतियोंमें जो सैतालीस ध्रुवबन्धी प्रकृतियाँ हैं, उनका चारो प्रकारका बन्ध होता है। तथा शेष बची जो तेहत्तर प्रकृतियाँ हैं, उनका सादिबन्ध और अध्रुव बन्ध होता है। २३६। (गो क./मू./१२४/१२६)।

७. ध्रुव व अध्रुव बन्धी प्रकृतियोंकी अपेक्षा

प सं/प्रा/४/२३७ आवरण निग्ध सब्बे कमाय मिच्छत्त णिमिण वण्णचद् । भयणिदागुरुतेयाकम्मुवघाय धुवाउ सगदात्त । २३७।
 १ ध्रुवबन्धी प्रकृतियों—पाँच ज्ञानावरण, नौ दर्शनावरण, पाँच अन्तराय, सभी अर्थात् सोलह कषाय, मिथ्यात्व, निर्माण, वर्णादि चार, भय, जुगुप्सा, अगुरुलघु, तैजस शरीर, कर्मण शरीर, और उपघात, ये सैंतालीस ध्रुवबन्धी प्रकृतियों है । २३७। (पं. स/प्रा./२/६), (प स/स./२/४२-४३); (पं. स/स/४/१०७-१०८); (गो क/जी प्र./१२४/१२६/६)।

२. अध्रुवबन्धी प्रकृतियों—निष्प्रतिपक्ष और सप्रतिपक्षके भेदसे परिवर्तमान (अध्रुवबन्धी) प्रकृतियोंके दो भेद है। अत देखो 'अगला शीर्षक'।

८. सप्रतिपक्ष व अप्रतिपक्ष प्रकृतियोंकी अपेक्षा

प, स/प्रा./२३८-२४० परवादुस्सासाणं आयावुज्जोवमाउ चत्तारि । तिथ्यराहारवुयं एकारस होति सेसाओ । २३८। सादिपरं वेयावि हस्साइचउक्क पच जाईओ । संठाणं संघयणं छच्छक्क चउक्क आणु-पुब्बीय य । २३९। गइ चउ दोय सरीरं गोयं च य दोण्णि अंगबंगा य । २४०। दह जुयलाण तसाइ गयणगइहुअं विसट्ठिपरिवत्ता । २४०।

१. निष्प्रतिपक्ष प्रकृतियों—परघात, उच्छ्वास, आतप, उद्योत, चारो आयु, तोथंकर और आहारक द्विक ये ग्यारह अध्रुव निष्प्रतिपक्ष प्रकृतियों हैं । २३८। (पं. सं/प्रा./२१०); (गो, क/मू./१२५); (पं. सं./स/२/४४), (पं. स/स/४/१०६-११०)।

२. सप्रतिपक्ष प्रकृतियों—साता वेदनीय, असाता वेदनीय, तीनों वेद, हास्यादि चार (हास्य, रति, अरति, और शोक), एकेन्द्रियादि ५ जातियों, छह संस्थान, छह सहनन, ४ आनुपूर्वी, ४ गति, औदारिक और वैक्रियक ये दो शरीर तथा इन दोनोंके दो अंगोपांग, दो गोत्र, त्रसादि दश युगल (त्रिस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक, स्थिर, शुभ, सुस्वर, सुभग, आदेय यश'कीति ये २०) और दो विहायोगति, ये बासठ सप्रतिपक्ष अध्रुवबन्धी प्रकृतियों है । २३९-२४०। (प. स/प्रा/२/११-१२), (गो. क./मू./१२५/१२७); (प. सं/स/२/४५-४६); (प. सं./स/४/१११-११२)

९. अन्तर्भाव योग्य प्रकृतियों

गो. क/मू./३४/३६ देहे अविणाभावी बंधणसंघाद इदि अनंधुदया । वण्णचउक्केडभिण्णे गहिदे चत्तारि बधुदेये । ३४। = पाँचों प्रकारके शरीरोंका अपना-अपना बन्धन व संघात अविनाभावी है। इसलिए बन्ध और उदयमें पाँच बन्धन व पाँच संघात ये दशों जुदे न कहे शरीर प्रकृति विषे परिचित किये। तथा अभेद विवक्षासे वर्णादिककी मूलप्रकृति चार ही ग्रहण की, २० नहीं।

३. प्रकृति बन्ध निर्देश

१. आठ प्रकृतियोंके आठ उदाहरण

प, सं/प्रा./२/३ पड पडिहारसिमज्जाहडि चित्त कुलालमंडयारीणं । जह एदेसि भावा तह वि य कम्मा मुणेयव्वा । ३। = पड (देव-सुखका आच्छादक वस्त्र) प्रतीहार (राजद्वारपर बैठा हुआ द्वारपाल) असि (मधुलिप्त तलवार) मय (मदिरा) हडि (पैर फँसानेका खोडा) चित्रकार (चिह्नेर) कुम्भकार और भण्डारी (कोषाध्यक्ष) इन आठोंके जैसे अपने-अपने कार्य करनेके भाव होते हैं, उस ही प्रकार क्रमशः कर्मोंके भी स्वभाव समझना चाहिए । ३। (गो. क./मू./२१/१५), (गो. क./जी. प्र./२०/१३/१३); (द. सं/टी./३३/६२/८)।

२. पुण्य व पाप प्रकृतियोंका कार्य

प, प्र./मू./२/६३ पावे णारउ तिरिउ जिउ पुण्णे अमरु वियाणु । मित्से माणुस-गइ लहइ दोहि वि खइ णिव्वाणु । ६३। = यह जीव पापके उदयसे नरकगति और तिर्यंच गति पाता है, पुण्यसे देव होता है, पुण्य और पापके मेलसे मनुष्य गतिको पाता है, और दोनोंके क्षयसे मोक्षको पाता है। (और भी दे०—'पुण्य' व 'पाप'।

३. अघातिथा कर्मोंका कार्य

क. पा, १/१,१/७०/१६ पर विवोषार्थं—जिनके उदयका प्रधानतया कार्य संसारकी निमित्तभूत सामग्रीको प्रस्तुत करना है, उन्हें अघातिथा-कर्म कहते हैं।

दे० वेदनीय/२ (वेदनीयकर्मके कारण नाना प्रकारके शारीरिक सुख दुख-के कारणभूत बाह्य सामग्रीकी प्राप्ति होती है।)

४. प्रकृति बन्ध विषयक शंका-समाधान

१. बध्यमान व उपशान्त कर्ममें 'प्रकृति' व्यपदेश कैसे

घ. १२/४,२,१०,२/३०३/२ प्रक्रियते अज्ञानादिक फलमनया आत्मनः इति प्रकृतिशब्दव्युत्पत्तेः । उदीर्णस्य भवतु नाम प्रकृतिव्यपदेशः, फलदातृत्वेन परिणतत्वात् । न बध्यमानोपशान्तयोः, तत्र तदभावा-दिति । न, त्रिष्वपि कालेषु प्रकृति शब्दसिद्धेः । तेण जो कम्मबन्धो जीवस्स वट्टमाणकाले फलं देइ जो च देहस्सदि, एदेसि दोणं पि कम्मबन्धोपघाणं पयडित्तं सिद्धं । अधवा, जहा उदिण्ण वट्टमाणकाले फलं देदि, एवं वज्जमण्णुवसंतापि वि वट्टमाणकाले वि देदि फल, तेहि विणा कम्मोदयस्स अभावादी । ...भूदभविस्सपज्जायाणं वट्टमाणत्तवुवगमादो वा णेगमणयम्मि एसवुप्पत्ती घड्ढे । = जिसके द्वारा आत्माको अज्ञानादि रूप फल किया जाता है वह प्रकृति है, यह प्रकृति शब्दकी व्युत्पत्ति है। प्रश्न—उदीर्ण कर्म पुद्गल स्कन्धकी प्रकृति संज्ञा भले ही हो, क्योंकि वह फलदान स्वरूपसे परिणत है। बध्यमान और उपशान्त कर्म-पुद्गल स्कन्धों-को यह संज्ञा नहीं बन सकती, क्योंकि, उनमें फलदान स्वरूपका अभाव है। उत्तर—१. नहीं, क्योंकि तीनों ही कालोंमें प्रकृति शब्दकी सिद्धि की गयी है। इस कारण जो कर्म-स्कन्ध वर्तमान कालमें फल देता है और भविष्यत्तमें फल देगा, इन दोनों ही कर्म स्कन्धोंकी प्रकृति संज्ञा सिद्ध है। २. अथवा जिस प्रकार उदय प्राप्त कर्म वर्तमान कालमें फल देता है, उसी प्रकार बध्यमान और उपशम भावको प्राप्त कर्म भी वर्तमान कालमें भी फल देते हैं, क्योंकि, उनके बिना कर्मोदयका अभाव है। ३. अथवा भूत व भविष्यत् पर्यायोको वर्तमान रूप स्वीकार कर लेनेसे नैगम नयमें यह व्युत्पत्ति बैठ जाती है।

२. प्रकृतियोंकी संख्या सम्बन्धी शंका

घ ६/१,६-१,१२/१४/१ अट्ठेव मूलपयडीओ । त कुदो णव्वदे । अट्ठ-कम्मजणिदकज्जेहिता पुधुभूदकज्जस्स अणुवलंभादो । = प्रश्न—यह कैसे जाना जाता है कि मूल प्रकृतियों आठ ही हैं ? उत्तर—आठ कर्मोंके द्वारा उत्पन्न होनेवाले कार्योंसे पृथग्भूत कार्य पाया नहीं जाता, इससे जाना जाता है कि मूल प्रकृतियों आठ ही हैं।

नोट—(उत्तर प्रकृतियोंकी संख्या सम्बन्धी शंका समाधान—दे०—उस उस मूल प्रकृतिका नाम)।

३. एक ही कर्म अनेक प्रकृति रूप कैसे हो जाता है

स. सि./८/४/३२/१/२ एकेनात्मपरिणामेनादीयमानाः पुद्गला ज्ञाना-वरणाद्यनेकभेदं प्रतिपद्यन्ते सकृदुपभुक्तानपरिणामरसरुधिरादिबद् । = एक बार खाये गये अन्नका जिस प्रकार रस, रुधिर आदि रूपसे अनेक प्रकारका परिणमन होता है उसी प्रकार एक आत्मपरिणामके द्वारा ग्रहण किये गये पुद्गल ज्ञानावरणादि अनेक भेदोंको प्राप्त होते हैं। (गो. क/जी, प्र/३३/२७/४)।

रा वा ६/२/३,७/५६/६ यथा अन्नादेरभ्यवह्नियमाणस्यानेकविकार-समर्थवात्पित्तश्लेष्मखलरसभावेन परिणामविभाग तथा प्रयोगा-पेक्षया अनन्तरमेव कर्माणि आवरणानुभवन-मोहापादन-भवधारण-तानाजातिनामगोत्र-व्यवच्छेदकरणसामर्थ्यवैश्वरूप्येण आत्मनि सनिधानं प्रतिपद्यन्ते । ३। यथा अम्भो नभस' पतदेकरसं भाजनविशेषात् विष्वग्ग्रसत्वेन विपरिणमते तथा ज्ञानशक्त्युप-राधस्वभावाविशेषात् उपनिपत्तत् कर्म प्रयासत्वं सामर्थ्यभेदात् मर्यादावरणभेदेन व्यवतिष्ठते । ७। = १. जिस प्रकार खाये हुए

भोजनका अनेक विकारमे समर्थ वात, पित्त, श्लेष्म, खल, रस आदि रूपसे परिणमन हो जाता है। उसी तरह बिना किसी प्रयोगके कर्म आवरण, अनुभव, मोहापादन, नाना जाति नाम गोत्र और अन्तराय आदि शक्तियोसे युक्त होकर आत्मासे बन्ध जाते हैं। ३। २, जैसे—मेघका जल पात्र विशेषमें पडकर विभिन्न रसोमे षरिणमन कर जाता है (अथवा हरित पल्लव आदि रूप परिणमन हो जाता है। (प्र सा.) उसी तरह ज्ञान शक्ति का उपरोध करनेसे ज्ञानावरण सामान्यतः एक होकर भी अवान्तर शक्ति भेदसे मत्यावरण श्रुतावरण आदि रूपसे परिणमन करता है। इसी तरह अन्य कर्मोंका भी मूल और उत्तर प्रकृति रूपसे परिणमन हो जाता है।

घ १२/४,२,५,११/२५७/१० कम्मइयवग्गणाए पोग्गलक्खंधा एयसरूवा कध जीवसन्धेण अट्ठभेदमादउक्कते। ण, मिच्छत्तासजम-कसाय-जोगपच्चयावट्ठंभवलेण समुप्पण्णट्ठसत्तिसंयुत्तजीवसन्धेण कम्म-इयपोग्गलक्खंधाणं अट्ठकम्मायारेण परिणमण पडिविरोहाभावादे।
—प्रश्न—कर्मण वर्गणाके पौद्गलिक स्कन्ध एक स्वरूप होते हुए जीवके सम्बन्धसे कैसे आठ भेदको प्राप्त होते हैं? उत्तर—नहीं, क्योंकि मिथ्यात्व, असयम, कषाय और योगरूप प्रत्ययोके आश्रयसे उत्पन्न हुई आठ शक्तियोसे सयुक्त जीवके सम्बन्धसे कर्मण पुद्गल-स्कन्धो-का आठ कर्मोंके आकारसे परिणमन होनेमें कोई विरोध नहीं है।

४. एक ही पुद्गल कर्ममें अनेक कार्य करनेकी शक्तिकैसे

रा. वा./८/४/६-१४/१६८/२६ पुद्गलद्रव्यप्रत्येकस्यावरणसुखदुःखादिनिमित्तत्वानुपपत्तिविरोधात्। ६। न वा, तस्वाभाव्यादग्नेर्देहिपाकप्रताप-प्रकाशसामर्थ्यवत्। १०। अनेकपरमाणुस्निग्धरुक्षबन्धापादितानेकात्मकस्कन्धपर्यायाथादेशात् स्यादनेकम्। ततश्च नास्ति विरोधः। ११। पराभिप्रायेणैन्द्रियाणां भिन्नजातीयाना क्षीराद्युपयोगे वृद्धिवत्।
...यथा पृथिव्यप्तेजोवायुभिरारब्धानामिन्द्रियाणां भिन्नजातीयाना क्षीरघृतादिष्वेकमप्युपयुज्यमानम् अनुग्राहकं दृष्ट तथेदमपि इति। १२। वृद्धिरेकैव, तस्या घृताद्यनुग्राहकमिति न विरोध इति, तन्न, कि कारणम्। प्रतीन्द्रियं वृद्धिभेदात्। यथैवेन्द्रियाणि भिन्नानि तथैवेन्द्रियवृद्धयोऽपि भिन्ना। १३। यथा भिन्नजातीयेन क्षीरेण तेजोजातीयस्य चक्षुषोऽनुग्रह, तथैव आत्मकर्मणोश्चेतनाचेतनत्वात् अनुव्यजातीय कर्म आत्मनोऽनुग्राहकमिति सिद्धम्। = प्रश्न—पुद्गल द्रव्य जब एक है तो वह आवरण और सुख-दुःखादि अनेक कार्योका निमित्त नहीं हो सकता? उत्तर—ऐसा ही स्वभाव है। जैसे एक ही अग्निमे दाह, पाक, प्रताप और सामर्थ्य है उसी तरह एक ही पुद्गलमे आवरण और सुख दुःखादिमे निमित्त होनेकी शक्ति है, इसमे कोई विरोध नहीं है। २. द्रव्य दृष्टिसे पुद्गल एक होकर भी अनेक परमाणुके स्निग्धरुक्ष बन्धसे होनेवाली विभिन्न स्कन्ध पर्यायो-की दृष्टिसे अनेक है, इसमे कोई विरोध नहीं है। ३ जिस प्रकार वैशेषिकके यहाँ पृथिवी, जल, अग्नि और वायु परमाणुओसे निष्पन्न भिन्न जातीय इन्द्रियोका एक ही दूध या घी उपकारक होता है उसी प्रकार यहाँ भी समझना चाहिए। ४, जैसे इन्द्रियो भिन्न है जैसे उनमें होनेवाली वृद्धियो भी भिन्न-भिन्न है। जैसे पृथिवी जातीय दूधसे तेजो जातीय चक्षुका उपकार होता है उसी तरह अचेतन कर्मसे भी चेतन आत्माका अनुग्रह आदि हो सकता है। अतः भिन्न जातीय द्रव्योमे परस्पर उपकार माननेमे कोई विरोध नहीं है।

५. आठों प्रकृतियोंके निर्देशका यही क्रम क्यों

रा. वा./८/४/१६-२३, ५६६/२० क्रमप्रयोजनं ज्ञानेनात्मनोऽधिगमात्। ततो दर्शनावरणमनाकारोपलब्धे। साकारोपयोगाद्भि अनाकारोपयोगो निकृष्यते अनभिष्यक्तग्रहणात्। उत्तरेभ्यस्तु प्रकृष्यते अर्थोपलब्धितन्त्रत्वात्। १७। तदनन्तरं वेदनावचनं तदव्यभिचारात्। ज्ञानदर्शनाव्यभिचारिणी हि वेदना घटादिष्वप्रवृत्तेः। १८। ततो मोहाभिधानं तद्विरोधात्। ...वचिद्विरोधदर्शनात्... न सर्वत्र। मोहाभिभूतस्य हि वस्यचित्तं हिताहितविवेकादिनास्ति। १९। आयु-

वचनं तत्समीपे तन्निबन्धनत्वात्। .. आयुर्निबन्धनानि हि प्राणिनां सुखादीनि। २०। तदनन्तरं नामवचनं तदुदयपेक्षत्वात् प्रायो नामोदयस्य। २१। ततो गोत्रवचनं प्राप्तशरीरादिलाभस्य सशब्दनाभिव्यक्तेः। २२। परिशेषादन्ते अन्तरायवचनम्। २३। = १. ज्ञानसे आत्माका अधिगम होता है अतः स्वाधिगमका निमित्त होनेसे वह प्रधान है, अतः ज्ञानावरणका सर्वप्रथम ग्रहण किया है। १६। २, साकारोपयोग रूप ज्ञानसे अनाकारोपयोगरूप दर्शन अप्रकृष्ट है परन्तु वेदनीय आदिसे प्रकृष्ट है क्योंकि उपलब्धि रूप है, अतः दर्शनावरणका उसके बाद ग्रहण किया। १७। ३. इसके बाद वेदनाका ग्रहण किया है, क्योंकि, वेदना ज्ञान-दर्शनकी अव्यभिचारिणी है, घटादि रूप विपक्षमें नहीं पायी जाती। १८। ४ ज्ञान, दर्शन और सुख-दुःख वेदनाका विरोध होनेसे उसके बाद मोहनीयका ग्रहण किया है। यद्यपि मोही जीवोके भी ज्ञान, दर्शन, सुखादि देखे जाते हैं फिर भी प्राय मोहाभिभूत प्राणियोको हिताहितका विवेक आदि नहीं रहते। अतः मोहका ज्ञानादिसे विरोध कह दिया है। १९। ५, प्राणियोको आयु निमित्तक सुख-दुःख होते हैं। अतः आयुका कथन इसके अनन्तर किया है। तात्पर्य यह है कि प्राणधारियोको ही कर्म निमित्तक सुखादि होते हैं और प्राण धारण आयुका कार्य है। २०। ६ आयुके उदयके अनुसार ही प्राय गति आदि नामकर्मका उदय होता है अतः आयुके बाद नामकर्मका ग्रहण किया है। २१। ७ शरीर आदिकी प्राप्तिके बाद ही गोत्रोदयसे शुभ अशुभ आदि व्यवहार होते हैं। अतः नामके बाद गोत्रका कथन किया गया है। २२। ८. अन्य कोई कर्म बचा नहीं है अतः अन्तमें अन्तराय का कथन किया गया है। २३।

गो. क./शु./१६-२० अन्तरहिदादु पुष्पं गणं ततो हि दसणं होदि। सम्मत्तमदो विरिय जीवाजीवगदमिदि चरिमे। १६। आउवलेण अबट्ठिदि भवस्स इदि णाममाउपुष्पं तु। भवमस्सिय णीचुच्च इदि गोदं णामपुष्पं तु। १७। णाणस्स दंसणस्स य आवरणं वेयणीयमोहणीयं। आउगणामं गोदतरायमिदि पडिदमिदि सिद्धं। २०। = १. आत्माके सब गुणोंमें ज्ञानगुण पूज्य है, इस कारण सबसे पहले कहा। उसके पीछे दर्शन, तथा उसके भी पीछे सम्यक्त्वको कहा है। तथा वीर्य शक्ति रूप है। वह जीव व अजीव दोनोमें पाया जाता है। जीवमें तो ज्ञानादि शक्तिरूप, और अजीव-पुद्गलमें शरीरादिकी शक्ति रूप रहता है। इसी कारण सबसे पीछे कहा गया है। इसी-लिए इन गुणोंके आवरण करनेवाले कर्मोका भी यही क्रम माना है। १६। २, (अन्तराय कर्म कथचित् अघातिया है, इसलिए उसको सर्व कर्मोंके अन्तमे कहा है) दे० अनुभाग/३/५। ३. नामकर्मका कार्य चार गति रूप शरीरकी स्थिति रूप है। वह आयुर्कर्म बलसे ही है। इसलिए आयुर्कर्मको पहले कहकर पीछे नामकर्मको कहा है। और शरीरके आधारसे ही नीचपना व उत्कृष्टपना होता है, इस कारण नामकर्मको गोत्रके पहले कहा है। १८। ४. (वेदनीयकर्म कथंचित् घातिया है। इसलिए उसको घातिया कर्मोंके मध्यमें कहा। दे० अनु-भाग/३/४)। ५. इस प्रकार ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय यह कर्मोंका पाठक्रम सिद्ध हुआ। २०।

६. भ्रुवबन्धी व निरन्तरबन्धी प्रकृतियोंमें अन्तर

घ ८/३,६/१७/७ णिरंतरबधस्स भ्रुवबंधस्स को विसेसो। जिस्से पयडीए पच्चओ जत्थ कथे वि जीवे अणादिषुवभावेण लब्धइ सा भ्रुवबंधपयडी। जिस्से पयडीए पच्चओ णियमेण सादि-अइधुओ अंतोसुहुत्तादिकाला-वट्ठई सा णिरंतरबंधपयडी। = प्रश्न—निरन्तर बन्ध और भ्रुवबन्धमें क्या भेद है? उत्तर—जिस प्रकृतिका प्रत्यय जिस किसी भी जीवमें अनादि एवं भ्रुव भावसे पाया जाता है। वह भ्रुवबन्ध प्रकृति है, और जिस प्रकृतिका प्रत्यय नियमसे सादि एवं अर्धु व तथा

अन्तर्मुहूर्त आदि काल तक अवस्थित रहनेवाला है वह निरन्तर बन्धी प्रकृति है।

७. प्रकृति और अनुभागों अन्तर

घ. १२/४,२,७,१६६/६१/७ पयडी अणुभागो किण्ण होदि । ण, जोगादो उप्पज्जमाणपयडीए कसायदो उप्पत्तिविरोहादो । ण च भिण्णकारणार्ण कज्जाणमेयत्तं, विप्पडिसेहादो । कि च अणुभागवुड्डी पयडि-वुड्ढिणिमित्ता, तीए महतीए संतीए पयडिकज्जस्स अण्णाणादियस्स

५. प्रकृति बन्ध सम्बन्धी कुछ नियम

१. युगपत् बन्ध योग्य सम्बन्धी—(गो. क./जी. प्र./५००/६७६/५)।

(प्रत्यनीक, अन्तराय, उपघात, प्रद्वेष, निहव, आसादन) मे छहो युगपत् ज्ञानावरण वा दर्शनावरण दोनोंके बन्धको कारण है।

२. सान्तर निरन्तर बन्धी प्रकृतियों सम्बन्धी—(घ. ८/३३/५)।

(विवक्षित उत्तर प्रकृतिके बन्धकालके क्षीण होनेपर नियमसे (उसी मूल प्रकृतिको उत्तर) प्रतिपक्षी प्रकृतियोंका बन्ध सम्भव है।

३. ध्रुव अध्रुव बन्धी प्रकृतियों सम्बन्धी—(घ. ८/२६/४०)।

मूल नियम—(ओष अथवा आदेश जिस गुणस्थानमें प्रतिपक्षी प्रकृतियोंका बन्ध होता है उस ओष या मार्गणा स्थानके उस गुण-स्थानमें उन प्रकृतियोंका अध्रुव बन्धका नियम जानना। तथा जिस स्थानमें केवल एक ही प्रकृतिका बन्ध है, प्रतिपक्षीका नहीं, उस स्थानमें ध्रुव ही बन्ध जानो। यह प्रकृतियाँ ऐसी है जिनका बन्ध एक स्थानमें ध्रुव होता है तथा किसी अन्य स्थानमें अध्रुव हो जाता है।

४. विशेष प्रकृतियोंके बन्ध सम्बन्धी कुछ नियम—(घ. ८/५) ; (गो. क./जी. प्र./भा./५)।

प्रमाण	प्रकृति	बन्ध सम्बन्धी नियम	प्रमाण	प्रकृति	बन्ध सम्बन्धी नियम
१-० ज्ञान दर्शनावरण गो./५००/६८६	{ ज्ञानावरणी दर्शनावरणी	दोनों युगपत् बँधती है।	गं. स./प्र./३/६८ गं. सं / प्रा./३/६८ गो./५२८/६८६	तीर्थंकर आ० द्विक अगोपाग सा०	सम्यक्त्व सहित ही बँधे। संयम " " त्रस पर्याप्त व अपर्याप्त सहित ही बँधे।
३. वेदनीय घ./११८/४०	साता	नरकगतिके साथ न बँधे शेष गतिके साथ बँधे।	घ./६६	वैक्रि० अगोपाग औ० "	नरक देव गति सहित ही बँधे तिर्यंच मनुष्यगति सहित ही बँधे। त्रस पर्याप्त व अपर्याप्त प्रकृति सहित ही बँधे।
घ./११८ घ. ११/३१२	असाता साता, असाता	चारों गति सहित बँधे। दोनों प्रतिपक्षी है एक साथ न बँधे।	घ./६६	आनुपूर्वी सामान्य	उस उस गति सहित ही बँधे, अन्य गति सहित नहीं।
४. मोहनीय घ./५४ घ./६०	पुरुष भेद हास्य, रति	नरक गति सहित न बँधे।	गो./५२८/६८६ गो./५२४/६८३ गो./५२४/६८३	परघात आतप उद्योत	त्रस स्थावर पर्याप्त सहित ही बँधे। पृथिवीकाय पर्याप्त सहित ही बँधे। तेज, वात, साधारण वनस्पति, बादर, सूक्ष्म तथा अन्य सर्व सूक्ष्म नहीं बाँधते अन्यत्र बँधती है।
विशेष दे० आगे शीर्षक न० ६			गो./५२८/६८६	उच्छ्वास	त्रस स्थावर पर्याप्त सहित ही बँधे।
५. आयु गो./६३६/५३६ गो./६३६/६०५ घ./६३,६६	तिर्यंचायु मनुष्यायु आयु सामान्य	सप्तम पृथ्वीमें नियमसे बँधे। तेज, वात, कायको न बँधे। उस उस गति सहित ही बँधे।	"	{ प्रशस्त अप्रशस्त विहायोगति	त्रस पर्याप्त सहित ही बँधे।
६. नाम गो./७४५/५६६	नरक, देवगति	मनुष्य तिर्यंच पर्याप्त ही बँधे अपर्याप्त नहीं।	"	सुस्वर-दुस्वर स्थिर	"
गो./७४५/६०३	एकेन्द्र० जाति अप०	देव नारकी न बँधे अन्य त्रस स्थावर बाँधते है।	घ./७४	शुभ	नरक गतिके साथ न बँधे।
गो./७४६/७०८	औ० व औ० मिश्र शरीर	देव नरक गति सहित न बँधे।	घ./२८ घ./७४	यश कीर्ति तीर्थंकर	"
घ./६६	वै० शरीर	देव नरक गति सहित ही बँधे।	विशेष दे० आगे शीर्षक न० ७ ७. गोत्र	उच्चगोत्र	नरक व तिर्यंचगतिके साथ न बँधे।
			घ./२२	उच्चगोत्र	नरक तिर्यंच गतिके साथ न बँधे।
			नोट—जहाँ नियम नहीं कहा वहाँ सर्वत्र ही बन्ध सम्भव जानना।		

५. सान्तर निरन्तर बन्धी प्रकृतियों सम्बन्धी नियम—(घ. ८/५)

प्रमाण	प्रकृति	निरन्तर बन्धके स्थान	प्रमाण	प्रकृति	निरन्तर बन्धके स्थान
१. वेदनीय साता २. मोहनीय ५८, २८२, ३६४	पुरुष वेद	पद्म शुक्ल लेश्यावाले तिर्यंच मनुष्य १-२ गुणस्थान तक ७-८ गुणस्थान	—	वै० शरीर	कोई भी मार्गणागत जीव । तेज, वात काय । देवगतिवत् ।
६०	हास्य		६८, २६६	औ०वै० अंगोपांग	औदारिक वैक्रियक शरीरवत् देवगतिवत्
६०	रति		४७	समचतुरस्र सं०	सर्वदेवनारकी । उस उस गतिवत्
३. नाम ३३, १६६, १६८, १६४, ३३२	तिर्यंचगति	तेज, वात, काय, सप्त प०, तेज, वात कायसे उत्पन्न हुए, नि. अप, जीव या अन्य यथायोग्य मार्गणागत जीव ।	—	वज्र ऋषभ नाराच	
२११, २३४, २६२, ३१६, ३२२, २१८	मनुष्यगति	आनतादि देव, तथा सासादनसे ऊपर, तथा आनतादिसे आकर उत्पन्न हुए यथा योग्य प. व नि. अप. आदि कोई जीव ।	६६, १६१	ति०, मनु० देव- गत्यानुपूर्वी	पंचेन्द्रिय जातिवत्
६८, २६६, ३१४,	देवगति पंचे० जाति	भोग भूमिया वि. मनुष्य तथा सासादनसे ऊपर । सन- त्कुमारादिदेव, नारकी, भोग भूमिज, तिर्यंच, मनुष्य । तथा सासादनसे ऊपर । तथा उपरोक्त देवोंमें आकर उत्पन्न हुए पर्याप्त व नि अप, जीव (पृ. २५६) अन्य कोई भी योग्य मार्गणागत जीव ।	६६, २११	परघात	
६६, २०८			६८, २६६, ३१४	उच्छ्वास	
			६६, २११	प्र० विहायोगति	देवगतिवत्
			६६	प्रत्येक	पंचेन्द्रियजातिवत्
			६६, २६६, ३१४	त्रस	
			६६	सुभग	देवगतिवत्
			६६	सुस्वर	
			६६	नादर	पंचेन्द्रियवत्
			६६	पर्याप्त	
			६६	स्थिर	प्रमत्त सयतसे ऊपर
			६६	आदेय	देवगतिवत्
			६६	शुभ	प्रमत्त सयतसे ऊपर
				यशःकीर्ति	
				४. गोत्र	
७, २११, ३८२, ३१६	औ० शरीर	सनत्कुमारादि देव, नारकी व वहाँसे आकर उत्पन्न हुए यथा-योग्य प. नि. अप. जीव । तथा सासादनसे ऊपर या अन्य	२४४, २८२, ३१४	उच्च गोत्र	पद्म, शुक्ल लेश्यावाले तिर्यंच मनुष्य १-२ गुणस्थान । नरक व तिर्यंचगतिके साथ नहीं बंधता । तिर्यंचगतिवत् ।
			२८	नीच गोत्र	तेज व वायुकाय तथा सप्तम पृथिवीमें निरन्तर बन्ध होता है ।
			१६६-१७६, ३४		

६. मोह प्रकृति बन्ध सम्बन्धी कुछ नियम

१. क्रोधादि चतुष्करी बन्ध व्युच्छित्ति सम्बन्धी दृष्टि भेद

घ. ८/३, २४/५६/७ क्रोधसंजलणे विणट्टे जो अबसेसो अणियट्ठिअद्धार संखेज्जादिभागो तन्हि संखेज्जे खंडे कदे तत्थ बहुभागे गतूण एय-
भागवसेसे माणसंजलणस्स बंधवोच्छेदो । पुणो तन्हि एगखंडे संखेज्जेखंडे कदे तत्थ बहुखंडे गतूण एगखंडावसेसे मायासंजलणबध-
वोच्छेदो त्ति । कधमेदं णव्वदे । 'सेसे सेसे संखेज्जे भागो गंतूणोत्ति' विच्छाणिद्वेसादो । कसायपाहुडमुत्तेणेद मुत्तं विरुज्जादि त्ति बुत्ते सच्च विरुज्जइ, किंतु एयंतग्गहो एत्थ ण कायव्वो, इदमेव तं च्च सच्चमिदि सुदकेवलीहि पच्चववणाणोहि वा विणा अवहारिज्जमाणे मिच्छत्तप्पसंगादो । = संज्वलन क्रोधके विनष्ट होनेपर जो शेष अनिवृत्तिनादरकालका संख्यातर्वा भाग रहता है उसके संख्यात खण्ड करनेपर उनमें बहुत भागोंको बिताकर एक भाग शेष रहनेपर संज्वलन मानका बन्ध व्युच्छेद होता है । पुनः एक खण्डके संख्यात खण्ड करनेपर उनमें बहुत खण्डोंको बिताकर एक खण्ड शेष रहनेपर

संज्वलन मायाका बन्ध व्युच्छेद होता है । प्रश्न—यह कैसे जाना जाता है ? उत्तर—'शेष शेषमें संख्यात बहुभाग जाकर' इस वीप्सा अर्थात् दो बार निर्देशसे उक्त प्रकार दोनों प्रकृतियोंका व्युच्छेद काल जाना जाता है । प्रश्न—कषाय प्राभूतके सूत्रसे तो यह सूत्र विरोधको प्राप्त होता ? उत्तर—ऐसी आशंका होनेपर कहते हैं कि सचमुचमें कषाय प्राभूतके सूत्रसे यह सूत्र विरुद्ध है, परन्तु यहाँ एकान्तग्रह नहीं करना चाहिए, क्योंकि, 'यही सत्य है' या 'वही सत्य है' ऐसा श्रुतकेवलियों अथवा प्रत्यक्ष ज्ञानियोंके बिना निश्चय करनेपर मिथ्यात्वका प्रसंग होगा ।

२. हास्यादिके बन्ध सम्बन्धी शंका-समाधान

घ. ८/३, २८/६०/१० णवरि हस्स-रदोओ तिगइसंजुत्तं बंधइ, तब्बंधस्स गिरयगइअधेण सह विरोहादो । = इतना विशेष है कि हास्य और रतिको तीन गतियोंसे संयुक्त बाँधता है, क्योंकि इनके बन्धका नरकगतिके बन्धके साथ विरोध है ।

क. पा. ३/३, २२/१६८/७ एदाणि चत्तारि वि कम्मणि उक्कस्ससंक्किलेसेण किण्णं बंज्जंति । ण साहावियादो । = प्रश्न—ये स्त्री वेदादि चारो

कर्म उत्कृष्ट सबलेशसे क्यों नहीं बँधते ? उत्तर—नहीं, क्योंकि उत्कृष्ट सबलेशसे नहीं बँधनेका इनका स्वभाव है।

क. पा. ३/३.२२/४४८७/२७१६ उक्तसट्ठिदिबधकाले एदाओ किण्ण बज्झति । अक्खमुहत्ताभावाद्दो साहाविधादो वा । =प्रश्न—उत्कृष्ट स्थितिके बन्धकालमें ये चारो (क. पा. ३/३.२२/चूर्णसूत्र/४४८५/२७०) (स्त्रोवेद, पुरुषवेद, हास्य और रति) प्रकृतियों क्यों नहीं बँधती है ? उत्तर—१. क्योंकि यह प्रकृतियों अत्यन्त अशुभ नहीं है इसलिए उस कालमें इनका बन्ध नहीं होता। २. अथवा उस समय न बँधनेका इनका स्वभाव है।

७. नामकर्मकी प्रकृतियोंके बन्ध सम्बन्धी कुछ नियम

१. गति नामकर्म

ध. ८/३.८/३३/८ तेउक्काइया-वाउक्काइयमिच्छाडट्टीणं सत्तमपुट्टविणेर-इयमिच्छाडट्टीणं च भवपडिबद्धसकिल्लेसेण गिरंतरबंधोवल्लभादो ।

.. सत्तमपुट्टविसासाणण तिरिक्खगई मोत्तूणणगईणं बंधाभावाद्दो ।

ध. ८/३.१५/४७/४ आणदादिदेवेसु गिरतरबंधं लद्धूण अण्णरथ सातर-बधुवलभादो ।

ध. ८/३.१४६/२०८/१० अपज्जत्तद्धाए तासिं बंधाभावाद्दो । =तैजस-कायिक और वायुकायिक मिथ्यादृष्टियों तथा सप्तम पृथ्वीके नारकी मिथ्यादृष्टियोंके भवसे सम्बन्ध सबलेशके कारण उक्त दोनों (तिर्य-न्द्रय) प्रकृतियोंका निरन्तर बन्ध पाया जाता है। .. सप्तम पृथ्वीके सासादन सम्यग्दृष्टियोंके तिर्यग्गतिको छोड़कर अन्य गतियोंका बन्ध नहीं होता/३३/८) आनतादि देवोंमें (मनुष्यद्विकको) निरन्तर बन्धको प्राप्तकर अन्यत्र सान्तर बन्ध पाया जाता है /४७/४) अपर्याप्त कालमें उनका (देव व नरक गतिका) बन्ध नहीं होता। (गो. क./जी. प्र. १/४४६/७०८/१)।

ध. ६/१.६-२.६२/१०३/३ गिरयगईए सह जासिमवकमेण उदओ अस्थि ताओ गिरयगईए सह बधमागच्छति त्ति केइं भणंति, तण्ण घड्ढे । =कितने ही आचार्य यह कहते हैं कि नरकगति नामक नामकर्मकी प्रकृतिके साथ जिन प्रकृतियोंका युगपत् उदय होता है, वे प्रकृतियों नरकगति नामकर्मके साथ बन्धको प्राप्त होती हैं। किन्तु उनका यह कथन घटित नहीं होता।

गो. क./जी. प्र./७४५/५६६/१ अष्टाविंशतिकं नरकदेवगतियुतत्वादसंज्ञि-संज्ञितिर्यकर्मभूमिमनुष्या एव विग्रहगतिशरीरमिश्रकालावतीत्य पर्याप्तशरीरकाले एव बध्नन्ति । =अठाईसका बन्ध नरक-देवगति युत है। इसलिए असंज्ञी संज्ञी तिर्यच वा मनुष्य है, ते विग्रहगति मिश्रशरीरको उल्लसकर पर्याप्त कालमें बँधता है।

२. जाति नामकर्म

गो. क./जी. प्र./७४५/५६६/१ देवेषु भवनत्रयसौधर्मद्वयजानामेवैकेन्द्रिय-पर्याप्तयुतमैव बधं २५ एव । =भवनत्रिक सौधर्म द्विक देवनिक्के एके-न्द्रिय पर्याप्त युत ही पचीसका बन्ध है।

३. शरीर नामकर्म

ध. ८/३.३७/७२/१० अपुव्वस्सुवरिमसत्तमभागे किण्ण बंधो । ण । गो. क./जी. प्र./५२५/६५४/३ आहारकद्वयं देवगरयैव बध्नन्ति । कुलः । सयत्तबन्धस्थानमितराभिर्गतिभिर्न बध्नातीति कारणत्वात् ।

गो. क./जी. प्र./५४६/७०८/१ नाध देवगरयाहारकद्वययुतं अप्रमत्ताकरण-योरेव तद्बन्धसंभवात् । =अपूर्वकरणके उपरिम सप्तम भागमें इन (आहारक द्विक) का बन्ध नहीं होता/ध./५) आहारक द्विक देवगति सहित ही बान्धे जातें सयत्तके योग्य जो बन्धस्थान सो देवगति बिना अन्धगति सहित बान्धे नहीं। (गो. क./५२५)। देवगति आहारक द्विक सहित स्थान न संभव है जातें इसका बन्ध अप्रमत्त अपूर्वकरण विधै ही सम्भव है।

४. अंगोपांग नामकर्म

ध. ६/१.६-२.७६/११२ एइंदियाणमंगोवंगं किण्ण परूविदं । ण । गो. क./जी. प्र./५२८/६५४/११ त्रसापर्याप्तत्रसपर्याप्तियोरन्यतरबन्धेनैव षट्संहननानां त्र्यङ्गोपाङ्गानां चैकतरं बन्धयोग्यं नान्येन । =१. एकेन्द्रिय जीवोंके अंगोपांग नहीं होते। २. त्रस पर्याप्त वा अपर्याप्तनि विधै एक किसी प्रकृति सहित छह संहनन, तीन अंगोपांग विधै एक-एक बंध ही है।

५. सस्थान नामकर्म

ध. ६/१.६-२.१८/१०८/७ विगल्लिदियाणं बधो उदओ वि हुंडसंठाण-मेवेत्ति ।

ध. ६/१.६-२.७६/११२/८ एइंदियाणं छ संठाणाणि किण्ण परूविदाणि । ण पञ्चवयवपरूविदल्लखणपंचसंठाणाणं समूहसरूवाणं छ संठाण-स्थित्तविरोहा । =१. विकलेन्द्रिय जीवोंके हुंडकसस्थान इस एक प्रकृतिका ही बन्ध और उदय होता है। (भावार्थ—तथापि सम्भव अवयवोंकी अपेक्षा अन्य भी संस्थान हो सकते हैं, क्योंकि प्रत्येक अवयवमें भिन्न-भिन्न संस्थानका प्रतिनियत स्वरूप माना गया है। किन्तु आज यह उपदेश प्राप्त नहीं है कि उनके किस अवयवमें कौनसा संस्थान किस आकार रूपसे होता है। (ध. ६/१.६-२.१८/१०७८ भावार्थ)। २. एकेन्द्रिय जीवोंके छहों संस्थान नहीं बतलाये क्योंकि प्रत्येक अवयवमें प्ररूपित लक्षणवाले पाँच संस्थानोंको समूह-स्वरूपसे धारण करनेवाले एकेन्द्रियोंके पृथक् पृथक् छह संस्थानोंके अस्तित्वाका विरोध है। (अर्थात् एकेन्द्रिय जीवोंके केवल हुंडक-संस्थान ही होता है।)

६. संहनन नामकर्म

ध. ६/१.६-२.६६/१२३/७ देवगदीए सह छ संघडणाणि किण्ण बज्झति । ण ।

गो. क./जी. प्र./५२५/६५४/१० त्रसापर्याप्तत्रसपर्याप्तियोरन्यतरबन्धेनैव षट्संहननानां चैकतरं बन्धयोग्यम् । =देवगतिके साथ छहो संहनन नहीं बँधते। २. त्रस पर्याप्त वा अपर्याप्तमेंसे एक किसी प्रकृति सहित छह संहननमेंसे—एकका बन्ध होता है।

७. उपघात व परघात नामकर्म

गो. क./जी. प्र./५२५/६५४/१२ पर्याप्तैतैव समं वर्तमानसर्वत्रसस्थान-राम्या नियमाकुच्छ्वासपरघातौ बन्धयोग्यौ नान्येन । =पर्याप्तके साथ वर्तमान सबही त्रस स्थावर तिनिकर सहित उच्छ्वास परघात बन्ध योग्य है, अन्य सहित नहीं।

८. आतप उद्योत नामकर्म

ध. ६/१.६-२.१०२/१२६/१ देवगदीए सह उज्जोवस्स किण्ण बंधो होदि । ण । =देवगतिके साथ उद्योत प्रकृतिका बन्ध नहीं होता।

गो. क./मू. व टी./५२४/६५३ भूवादरपज्जत्तेणादाव बंधजोग्गमुज्जोव । तेउत्तियुणतिरिक्खपसत्थाणं एयदरणेण । ५२४। पृथ्वीकायबादर-पर्याप्तैनातप बन्धयोग्यो नान्येन । उद्योतस्तेजोवातसाधारणवनस्प-तिसंबन्धिबादरसूक्ष्माण्यन्यसंबन्धिसूक्ष्माणि च अप्रशस्तत्वात् त्यक्त्वा शेषतिर्यकसंबन्धिबादरपर्याप्तविप्रशस्तानामन्यतरेण बन्धयोग्यः, तत् पृथ्वीकायबादरपर्याप्तैनातपोद्योतान्यतरयुतं, बादराप्कायपर्याप्त-प्रत्येकवनस्पतिपर्याप्तियोरन्यतरेणोद्योतयुतं च षड्विंशतिकं, द्वीन्द्रियत्रोन्द्रियचतुरिन्द्रियासंज्ञिपञ्चेन्द्रियसंज्ञिपञ्चेन्द्रियकमान्य-तरणोद्योतयुतं त्रिशकं च भवति । =पृथ्वीकाय बादरपर्याप्त सहित ही आतप प्रकृति बन्धयोग्य है अन्य सहित बन्धे नहीं। बहुरि उद्योत प्रकृति है सो तेज वायु साधारण वनस्पति सम्बन्धी बादर सूक्ष्म अन्य सबन्धी सूक्ष्म ये अप्रशस्त हैं तातें इन बिना अवशेष तिर्यच सम्बन्धी बादर पर्याप्त आदि प्रशस्त प्रकृतिनिविधै किसी

प्रकृति सहित बन्ध योग्य है तातै पृथ्वीकाय बादरपर्याप्त सहित अल्प उद्योत विषै एक प्रकृति संयुक्त छब्बीस प्रकृति रूप बन्ध स्थान है, वा बादर अप्कायिक पर्याप्त, प्रत्येक वनस्पति पर्याप्त विषै किसी करि सहित उद्योत प्रकृति संयुक्त छब्बीस प्रकृति रूप बन्ध स्थान हो है। और बेन्द्रो, तेन्द्रो, चौन्द्रो, पंचेन्द्रयसज्जो, पंचेन्द्रय असज्जो विषै किसी एक प्रकृतिकरि सहित उद्योत प्रकृतिसंयुक्त तीस प्रकृतिरूप बन्धस्थान सम्भव है।

९ उच्छ्वास नामकर्म

गो. क./जो. प्र/५२८/६८६/१२ पर्याप्तैव समं वर्तमानसर्वत्रसथा-वराभ्यां नियमावृच्छ्वासपरघातो बन्धयोग्यौ नान्येन। = पर्याप्त सहित वर्तमान सर्व ही त्रस स्थावर तिनिकर सहित उच्छ्वास पर-घात बन्धयोग्य है अन्य सहित नहीं।

१०. विहायोगति नामकर्म

गो. क./जो. प्र/५२८/६८६/११ त्रसपर्याप्तबन्धेनैव सुस्वरदुस्वरयोः प्रशस्तविहायोगरयोश्चैकतर बन्धयोग्यं नान्येन। = त्रस पर्याप्त सहित ही सुस्वर दुस्वर विषै एकका वा प्रशस्त अप्रशस्तविहायोगतिविषै एकका बन्ध योग्य है अन्य सहित नहीं। (देवगतिके साथ अशुभ प्रकृति नहीं बँधती। (ध. ६/१,६-२,६८/१२४/४)।

११ सुस्वर-दुस्वर, दुर्भग-सुभग, आदेय-अनादेय

ध. ६/१,६-२,६६/११८/१ दुर्भग-दुस्वर-अणादेज्जाणं ध्रुवबंधित्वादो सकल्लेसकाले वि बज्जमाणेण तिर्ययरेण सह किण्ण बंधो। ण तेसि बंधाणं तिस्थयरबधेण सम्मत्तेण य सह विरोहादो। संकल्लेसकाले वि सुभग-सुस्वर-आदेज्जाणं चैव बंधुवलभा। = संकलेश कालमें भी बँधनेवाले तीर्थकर नामकर्मके साथ ध्रुवबन्धी होने (पर भी) दुर्भग, दुस्वर और अनादेय इन प्रकृतियोंका बन्ध नहीं होता है, क्योंकि उन प्रकृतियोंके बन्धका तीर्थकर प्रकृतिके साथ और समय-दर्शनके साथ विरोध है। संकलेश-कालमें भी सुभग-दुस्वर और आदेय ८ कृतियोंका ही बन्ध पाया जाता है।

ध. ६/१,६-२,६८/१२४/४ का भावार्थ—(देवगतिके साथ अप्रशस्त प्रकृतियोंका बन्ध नहीं होता है।)

गो. क./जो. प्र/५२८/६८६/१२ त्रसपर्याप्तैव सुस्वर-दुस्वरयोः... एक-तरं बंधयोग्यं नान्येन। = त्रस पर्याप्त सहित ही सुस्वर-दुस्वर विषै एकका बन्ध योग्य है अन्य सहित नहीं।

१२. पर्याप्त अपर्याप्त नामकर्म

गो. क./जो. प्र/७४५/८६८/३ एकेन्द्रियापर्याप्तयुतत्वाद्देवनारकेभ्योऽन्ये त्रसस्थावरमनुष्यमिथ्यादृष्टय एव बध्नन्ति। = एकेन्द्रिय अपर्याप्त सहित है तातै इस स्थानको देव नारकी बिना अन्य त्रस स्थावर तिर्यंच या मनुष्य मिथ्यादृष्टि ही बँधे है।

१३. स्थिर-अस्थिर नामकर्म

ध. ६/१,६-२,६३/१२४/४ संकल्लेसद्धाए बज्जमाण अप्पज्जत्तेण सह धिरादीणं विसोहिपयडीणं बंधविरोहा।

ध. ६/१,६-२,६३/१२४/४ एत्थ अत्थिरादीणं किण्ण बंधो होदि। ण एदासि विसोहीए बंधविरोहा। = संकलेशकालमें बँधनेवाले अपर्याप्त नामकर्मके साथ स्थिर आदि विशुद्धि कालमें बँधनेवाली शुभ प्रकृतिके बन्धका विरोध है। २ इन अस्थिर आदि अशुभ प्रकृतियों-का (देवगति रूप) विशुद्धिके साथ बँधनेका विरोध है।

१४. यशः अयशः नामकर्म

ध. ६/१,६-२,६८/१२४/४ का भावार्थ (देवगतिके साथ अप्रशस्त कृतियोंके बँधनेका विरोध है।)

ध. ८/३,६/२८/७ जसकित्ति पुण गिरयगई मोत्तूण तिगइसजुत्तं बंधदि। = यशःकीतिको नरकगतिको छोडकर तीन गतियोंसे संयुक्त बँधता है।

६. प्रकृति बन्धकी नियम सम्बन्धी शंकाएँ

१. प्रकृति बन्धकी व्युच्छित्तिका निश्चित क्रम क्यों

ध. ६/१,६-२,२/१३३/७ कुदो एस बंधवोच्छेदकमो। असुह-असुहयर-असुहत्तमभेएण पयडीणमवट्ठाणादो। = प्रश्न—यह प्रकृतियोंके बन्ध-व्युच्छेदका क्रम किस क्रारणसे है? उत्तर—अशुभ, अशुभतर और अशुभतमके भेदसे प्रकृतियोंका अवस्थान माना गया है। उसी अपेक्षासे यह प्रकृतियोंके बन्ध व्युच्छेदका क्रम है।

२. तिर्यंगति द्विकके निरन्तर बन्ध सम्बन्धी

ध. ८/३,३/२,८/३३/७ होदु सांतरबंधो पडिवक्खपयडीणं बंधुवलभादो; ण गिरतरबंधो, तस्स कारणाणुवल्लंभादो त्ति बुत्ते बुत्तच्चे—ण एस दोसो, तेजक्काइया-वाउक्काइयमिच्छाइट्ठीणं सत्तमपुडविणेइय-मिच्छाइट्ठीणं च भवपडिवक्खसंकिसेण गिरंतरं बंधोवल्लंभादो। = प्रश्न—प्रतिपक्षभूत प्रकृतियोंके बन्धकी उपलब्धि होनेसे (तिर्यंगति व तिर्यंगति प्रायोग्यानुपूर्वी प्रकृतियोंका) सान्तर बन्ध भले ही हो, किन्तु निरन्तर बन्ध नहीं हो सकता, क्योंकि उसके कारणका अभाव है। उत्तर—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, तेजकायिक और वायुकायिक मिथ्यादृष्टियों तथा सप्तम पृथिवीके नारकी मिथ्यादृष्टियोंके भवसे सम्बद्ध संकलेशके कारण उक्त दोनों प्रकृतियोंका निरन्तर बन्ध पाया जाता है।

३. पंचेन्द्रय जाति औदारिक शरीरादिके निरन्तर बन्ध सम्बन्धी

ध. ८/३,३२४/३३३/१ पंचिदियजादि-ओरालियसरीर-अंगोवंग-परघादु-स्सास-तस-बादर-पञ्च-पत्तेयसरीरणं मिच्छाइट्ठिंमिह सांतर-गिरंतरो, सणक्कुमारादिदेवणेइएसु गिरंतरबंधुवल्लंभादो। विग्गह-गदीए कथं गिरंतरदा। ण, सत्ति पडुक्क गिरंतरत्तुबदेसादो। = पंचेन्द्रय जाति, औदारिक शरीरांगोपांग, परघात, उच्छ्वास, त्रस, बादर, पर्याप्त और प्रत्येक शरीरका मिथ्यादृष्टि गुणस्थानमें सान्तर-निरन्तर बन्ध होता है, क्योंकि, सनत्कुमारादि देव और नारकीयोंमें उनका निरन्तर बन्ध पाया जाता है। प्रश्न—विग्रह-गतिमें बन्धकी निरन्तरता कैसे सम्भव है? उत्तर—नहीं, क्योंकि, शक्तिकी अपेक्षा उसकी निरन्तरताका उपदेश है।

४. तिर्यंगतिके साथ साताके बन्ध सम्बन्धी

ध. ८/३,३३/४०/१ अप्पसत्थाए तिरिक्खगईए सह कथं सादबंधो। ण, गिरयगई व अच्चतिय अप्पसत्थत्ताभावादो। = प्रश्न—अप्रशस्त तिर्यंगतिके साथ कैसे साता वेदनीयका बन्ध होना सम्भव है। उत्तर—नहीं, क्योंकि तिर्यंगति नरकगतिके समान अत्यन्त अप्रशस्त नहीं है।

५. हास्यादि चारों उत्कृष्ट संकलेशमें क्यों न बँधे

क. पा. ३/३,२२/१६८/७ एदाणि चत्तारि वि कम्मणि उक्कस्ससंकिसे-सेण किण्ण बज्जन्ति। ण, साहावियादो। = प्रश्न—ये स्त्रीवेद आदि (स्त्रीवेद, पुरुषवेद, हास्य और रति) चारों कर्म उत्कृष्ट संकलेशसे क्यों नहीं बँधते हैं? उत्तर—नहीं, क्योंकि उत्कृष्ट संकलेशसे नहीं बँधनेका इनका स्वभाव है।

७. प्रकृति बन्ध विषयक प्ररूपणाएँ

१. सारणीमें प्रयुक्त संकेतोंका परिचय

मिथ्या०	मिथ्यात्व
सम्य०	सम्यक्त्वमोहनीय
मिश्र०	मिश्र मोहनीय
अनन्तानु०	अनन्तानुबन्धी चतुष्क
अप्र०	अप्रत्याख्यान चतुष्क
प्र०	प्रत्याख्यान चतुष्क
सं०	संज्वलन
नपु०	नपुंसक वेद
पु०	पुरुष वेद
हा० चतु०	हास्य, रति, अरति, शोक
तिर्य०	तिर्यँच
मनु०	मनुष्य
नरक, तिर्य०, मनु०	वह वह गति व आनुपूर्वीय
देव द्वि०	

नरक, तिर्य०, मनु०,	
देव, त्रिक०	
" " चतु०	
आनु०	
औ०	
वै०	
आ०	
औ०, वै०, आ० द्विक	
" चतु०	
तीर्थ०	
धु०	
ब०	
वैक्रि० षट्क	

वह वह गति, आनुपूर्वी व आयु
वह वह गति, आनुपूर्वी, यथायोग्य शरीर व अंगोपांग
आनुपूर्वीय
औदारिक
वैक्रियक
आहारक
वह वह शरीर व अंगोपांग
शरीर, अंगोपांग, बन्धन व संघात
तीर्थकर
भुज्यमान आयु
बध्यमान आयु
नरक गति व आनुपूर्वी, देवगति व आनुपूर्वी, वैक्रियक शरीर व अंगोपांग ।

२. बन्ध व्युत्पत्ति ओघ प्ररूपणा

(व. खं. ८/सू. १-३८/३०-७३); (म. बं. १/१ १६-३६/३२-४१); (पं. सं./प्रा. ३/१-२६; ४/३०७-३२५, ५/४७७-४८९)
 (रा. वा. १/१/२४-२६/५६०-५६९); (गौ. क./६५-१०२/८२-८६); { पं. सं./सं. ३/१६-३६; ४/१६४ } ।

१. कुल बन्ध योग्य प्रकृतियाँ

दृष्टि नं० १ वर्णादिक ४ की २० उत्तर प्रकृतियोंमेंसे एक समयमें अन्यतम चारका ही बन्ध होता है । तातै १६का ग्रहण नहीं । बन्धन, संघात-की १० प्रकृतियोंका स्व स्व शरीरमें अन्तर्भाव हो जानेसे इन १० का भी ग्रहण नहीं । सम्यक्त्व व मिश्र मोहनीय उदय योग्य है परबन्ध योग्य नहीं, मिथ्यात्वके ही तीन टुकड़े हो जानेसे इनका सत्त्व हो जाता है । तातै कुल बन्ध योग्य प्रकृतियाँ १४—(१६+१०+२)—=२८ । देखो (प्रकृति बन्ध) ।

दृष्टि नं० २ (पं. सं./सं/२) १४८ प्रकृतियाँ ही अपने-अपने निमित्तको पाकर बन्ध और उदयको प्राप्त होती है ।

गुण स्थान	व्युत्पत्तिको प्रकृतियाँ	अबन्ध-प्रकृतियाँ	पुनः बन्ध प्रकृतियाँ	कुलबन्ध योग्य	अबन्ध	पुनः बन्ध	बन्ध	व्युत्पत्ति	वैष बन्ध योग्य
मिथ्यात्व	मिथ्यात्व, नपु०, हुंडक, सृपाटिका, १-४ इन्द्रिय, स्थावर, आतप, सूक्ष्म अपर्याप्त, साधारण, नरक त्रिक = १६	तीर्थ०, आ० द्वि०=३		१२०	३		११७	१६	१०१
सासावन	अनन्तानु० चतु०, स्त्यान० त्रिक०, दुर्भंग, दुस्वर, अनादेय, न्य० परि०, स्वाति, कुञ्ज, वामन, वज्रनाराच, नाराच, अर्धनाराच, कीलित, अप्रशस्त विहायो०, स्त्रीवेद०, तिर्यक्त्रिक, उद्योत, नीचगोत्र = २५			१०१			१०१	२५	७६
मिश्र		देव व मनुष्यायु		७६	२		७४	७४	
असंयत	अप्रत्याख्यान ४, वज्रचूषभ नाराच, औ० द्विक, मनुष्य त्रिक = १०		देव व मनु० तीर्थकर	७७	३		७७	१०	६७
संयतासंयत	प्रत्याख्यान ४ = ४			६७			६७	४	६३
प्रमत्त	अस्थिर, अशुभ, अयशःकीर्ति, आसाता, अरति, शोक = ६			६३			६३	६	५७
अप्रमत्त	देवायु = १		आहारकदिक	५७	२		५६	१	५८
अपूर्व०/१	निद्रा, प्रचला = २			५८			५८	२	५६
अपूर्व०/२-५				५६			५६		५६
अपूर्व०/६	तीर्थकर, निर्माण, शुभ विहायो०, पंचेन्द्रिय, तैजस, कार्माण, आ० द्वि, वैक्रि० द्वि०, समचतु०, देव द्वि०, वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, अगुरुलघु, उपघात, परघात, उच्छ्वास, त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक, स्थिर, शुभ, शुभग, सुस्वर, आदेय । = ३०			५६			५६	३०	२६
अपूर्व०/७	हास्य, रति, भय, जुगुप्सा । = ४			२६			२६	४	२२

गुण स्थान	व्युच्छित्तिकी प्रकृतियाँ						अबन्ध	पुनः बन्ध	कुलबन्ध योग्य	अबन्ध	पुनः बन्ध	बन्ध	व्युच्छित्तिकी	शेष बन्ध योग्य
	सत्त्व स्थान	पुरुष वेद सहित षडा	सत्त्व स्थान	स्त्री वेद सहित षडा	सत्त्व स्थान	नपुंसक वेद सहित								
अनि०/१	२१		२१		२१			२२			२२		२१	
" /ii	२१		२१		२१			२२			२२		२२	
" /iii	१३		१३		१३			२२			२२		२२	
" /iv	१२		१३		१३			२२			२२		२२	
" /v	११	पुरुष वेद	१२	पुरुष वेद	१३	पुरुष वेद		२२			२२	१	२१	
" /vi	६	संज्वलन क्रोध	११	संज्वलन क्रोध	११	संज्वलन क्रोध		२१			२१	१	२०	
" /vii	४	" मान	४	" मान	४	" मान		२०			२०	१	१६	
" /viii	३	" माया	३	" माया	३	" माया		१६			१६	१	१८	
" /ix	२	" लोभ	२	" लोभ	२	" लोभ		१५			१५	१	१७	
सू० सा० उपशान्त क्षीण सयोगी	ज्ञानावरणी ६, दर्शनावरणी ४, अन्तराय ६, यशःकीर्ति, उच्चगोत्र = १६ × × साता वेदनीय							१७ १ १ १			१७ १ १ १	१६ १ १ १	१ १ १ १	

३. सात्त्विक मिथ्यादृष्टिमें बन्ध योग्य प्रकृतियाँ

(घ. ६/१३४); (ल. स./११-१५/४६-५२)

गति मार्गणा	कुल बन्ध योग्य	बन्धके अयोग्य प्रकृतियाँ	बन्ध योग्य प्रकृतियाँ
मनुष्यगति	११७	असाता, स्त्रीवेद, नपुंसक वेद, आयु चतुष्क, अरति, शोक, नरकगति, तिर्यग्गति, मनुष्यगति, एकेन्द्रिय जाति, द्विन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय जाति, औदारिक शरीर, आहारक शरीर, न्यग्रोधादि ६ संस्थान. औदारिक अंगोपांग, आहारकांगोपांग, छहों संहनन, नरकआनुपूर्वी, तिर्यग्गतिआनुपूर्वी, मनु० आनुपूर्वी, आतप, उद्योत, अप्र० वि० गति, स्वावर, सूक्ष्म, अपर्याप्त, सा० शरीर, अस्थिर, अशुभ, दुर्भग, दुस्वर, अनादेय, अयशःकीर्ति, तीर्थकर, नीचगोत्र। = ४६	६ ज्ञानावरणी, ६ दर्शनावरणी, साता, मिथ्यात्व, अनन्तानु० १६, पुरुष वेद, हास्य, रति, भय, जुगुप्सा, देवगतिद्विक, पंचे० जाति, वै क्रियक शरीर द्विक २, तैजस व कार्माण शरीर, समचतुरस सं०, वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, अगुरुलघु, उपघात, परघात, उच्छ्वास, प्रशस्त विहायो०, त्रस, चादर, पर्याप्त, प्रत्येक शरीर, स्थिर, शुभ, सुभग, सुस्वर, आदेय, यशःकीर्ति, निर्माण, उच्चगोत्र, ६ अन्तराय। = ७१
तिर्यग्गति	"	"	"
देवगति	१०३	४६—मनुष्य चतुष्क तथा वज्र शृषभ नाराच संहनन + देव चतुष्क। = ४८	७१—देव चतुष्क + मनुष्य चतुष्क + वज्रशृषभ नाराच संहनन = ७२
नरक गति— १-६ पृथिवी ७वीं पृथिवी	१०० ६६	" ४८—तिर्यच द्विक, नीचगोत्र + मनुष्य द्विक उच्चगोत्र = ४८	" ७२—मनुष्यद्विक, उच्चगोत्र + तिर्यच द्विक नीच गोत्र = ७२
"	६६	४८—उद्योत = ४७	७२ + उद्योत = ७३

जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश

४. सातिसाथ मिथ्यादृष्टिमें प्रकृतियोंका चतुःबन्ध—(ध. ६/२००-२११)

संकेत—उत्त. = उत्कृष्ट; अनु. = अनुकृष्ट; द्विस्थान = निम्ब व काञ्जोर रूप अनुभाग; चतुःस्थान = गुड, खाण्ड, शर्करा, अमृतरूप अनुभाग; अन्त को, को, = अन्तःकोटाकोटी सागर।

नं.	प्रकृति	बन्ध				नं.	प्रकृति	बन्ध			
		प्रकृति	स्थिति	अनुभाग	प्रदेश			प्रकृति	स्थिति	अनुभाग	प्रदेश
१	ज्ञानावरणीय— पाँचों	है	अंत को, को,	द्वि स्थान	अनुकृष्ट	३	औदारिक शरीर देव, नारकीका वै, ति, मनु को आ, तैजस' शरीर	है	अंत को, को.	चतुःस्थान	अनुकृष्ट
२	दर्शनावरणीय—										
१-३	स्थान० त्रिक	"	"	"	उत्त. वा अनु.	४	अगोपांग	"	"	"	"
४-६	शेष ६	"	"	"	अनुकृष्ट	५	निर्माण	है	अंत को, को.	चतुःस्थान	अनुकृष्ट
३	वेदनीय—					६	बन्धन				
१	साता	"	"	चतुःस्थान	"	७	संघात				
२	असाता	नहीं	नहीं	नहीं	नहीं	८	समचतुरस्र, सं, शेष पाँच संस्थान	है	अंत को, को.	चतुःस्थान	उत्त. वा अनु.
४	मोहनीय—					९	संहनन (देव व नारकी हीको) वज्र- शुभ नाराच	नहीं	नहीं	नहीं	नहीं
१	दर्शन मोह :- सम्यक्त्व प्रकृति	"	"	"	"	१०	वज्र नाराच	है	अंत को, को.	चतुःस्थान	उत्त. वा अनु.
२	मिथ्यात्व	है	अंत को, को,	द्वि स्थान	उत्त. वा अनु	११	वज्र नाराच	"	"	द्वि स्थान	"
३	सम्यग्मिथ्यात्व	नहीं	नहीं	नहीं	नहीं	१२	शेष चार	"	"	"	"
	चारित्र्य मोह :-					१०-	स्पर्शादि चतु, प्रश,	है	"	चतुःस्थान	अनुकृष्ट
१	अनन्तानु० चतु०	है	अंत को, को,	द्वि स्थान	उत्त. वा अनु.	११	" " अग्र.	"	"	द्वि स्थान	"
२	अप्रत्या० चतु०	"	"	"	अनुकृष्ट	१४	नरकानुपूर्वी	"	"	"	"
३	प्रत्या० चतु०	"	"	"	"		(सप्त पृथिवीमें ही) तिर्यगानुपूर्वी	"	"	"	"
४	संज्ञ० चतु०	"	"	"	"		(देव व नारकीको ही) मनुष्यानुपूर्वी	"	"	चतुःस्थान	"
१७	स्त्री वेद	नहीं	नहीं	नहीं	नहीं		तिर्यग् मनुष्यको ही देवानुपूर्वी	"	"	"	उत्त. वा अनु.
१८	पुरुष वेद	है	अंत को, को,	द्वि स्थान	अनुकृष्ट	१५	अगुरुलघु	है	अंत को, को,	चतुःस्थान	अनुकृष्ट
१९	नपुंसक वेद	नहीं	नहीं	नहीं	नहीं	१६	उपधात	"	"	द्वि स्थान	"
२०-	हास्य, रति	है	अंत को, को,	द्वि स्थान	अनुकृष्ट	१७	परधात	"	"	चतुःस्थान	"
२१						१८	आतप	नहीं	नहीं	नहीं	नहीं
२२-	अरति, शोक	नहीं	नहीं	नहीं	नहीं	१९	(सप्त पृथिवीमें ही) उद्योत	है	अंत को, को,	चतुःस्थान	अनुकृष्ट
२३						२०	उच्छ्वास	है	"	"	"
२४-	भय, जुगुप्सा	है	अंत को, को,	द्वि स्थान	अनुकृष्ट	२१	विहायोगति ग्र	"	"	"	उत्त. वा अनु.
२५							" अग्र.	नहीं	नहीं	नहीं	नहीं
५	आयु—					२२	प्रत्येक	है	अंत को, को,	चतुःस्थान	अनुकृष्ट
	घाशों	नहीं	नहीं	नहीं	नहीं	२३	संधारण	नहीं	नहीं	नहीं	नहीं
६	नाम—					२४	त्रस	है	अंत को, को,	चतुःस्थान	अनुकृष्ट
१	नरक गति	"	"	"	"	२५	स्थावर	नहीं	नहीं	नहीं	नहीं
	{ तिर्यच गति	है	अंत को, को,	द्वि स्थान	अनुकृष्ट	२६	सुभग	है	अंत को, को,	चतुःस्थान	अनुकृष्ट
	{ सप्त पृथिवीके नारकीको ही बाँधती है अन्यको नहीं।					२७	दुर्भग	नहीं	नहीं	नहीं	नहीं
	{ मनुष्य गति	है	अंत को, को,	चतुःस्थान	अनुकृष्ट	२८	सुस्वर	है	अंत को, को,	चतुःस्थान	अनुकृष्ट
	{ देवनारकी ही बाँधते है तिर्यच नहीं।					२९	दु.स्वर	नहीं	नहीं	नहीं	नहीं
	{ देव गति	है	अंत को, को,	द्वि स्थान	अनुकृष्ट	३०	शुभ	है	अंत को, को,	चतुःस्थान	अनुकृष्ट
	{ तिर्यच मनुष्य बाँधते हैं, देवनारकी नहीं।					३१	अशुभ	नहीं	नहीं	नहीं	नहीं
२	१-४ इन्द्रिय जाति	नहीं	नहीं	नहीं	नहीं						
	पंचेन्द्रिय जाति	है	अंत को, को,	चतुःस्थान	अनुकृष्ट						

नं.	प्रकृति	बन्ध				नं.	प्रकृति	बन्ध			
		प्रकृति	स्थिति	अनुभाग	प्रवेश			प्रकृति	स्थिति	अनुभाग	प्रवेश
३२	मादर	है	अंत को, को	चतु'स्थान	अनुत्कृष्ट	४१	अयश'कीर्ति	नहीं	नही	नहीं	नहीं
३३	सूक्ष्म	नहीं	नहीं	नहीं	नहीं	४२	तीर्थ'कर	"	"	"	"
३४	पर्याप्त	है	अंत को, को	चतु'स्थान	अनुत्कृष्ट	७	गोत्र—				
३५	अपर्याप्त	नहीं	नहीं	नहीं	नहीं		उच्च	है	अंत को, को	चतु'स्थान	अनुत्कृष्ट
३६	स्थिर	है	अंत को, को	चतु:स्थान	अनुत्कृष्ट		(सप्तम पृ० में ही)	"	"	द्वि'स्थान	उत्त. वा अनु,
३७	अस्थिर	नहीं	नहीं	नहीं	नहीं		नीच	"	"		
३८	आदेय	है	अंत को, को	चतु'स्थान	अनुत्कृष्ट	८	अन्तराय—				
३९	अनादेय	नहीं	नहीं	नहीं	नहीं		पाँचों	है	अंत को, को	द्वि'स्थान	अनुत्कृष्ट
४०	यश' कीर्ति	है	अंत को, को	चतु'स्थान	अनुत्कृष्ट						

५. बन्ध व्युच्छित्ति भादेश प्ररूपणा

मार्गणा	गुण स्थान	व्युच्छित्तिकी प्रकृतियाँ	अबन्ध	पुनः बन्ध	कुल बन्ध योग्य	अबन्ध	पुनः बन्ध	बन्ध	व्युच्छित्ति	शेष बन्ध योग्य
१ गति मार्गणा										
१ नरक गति—(म. बं. १/१ ३७/४१); (प. खं. =/सू. ४३-६२/६३-९२) (गो. क./१०५-१०७/८६-६२) ।										
सामान्य बन्ध योग्य—१२० (देव त्रिक, वैक्रि० द्वि, आहा० द्वि०, १-४ इन्द्रिय, स्थावर, आत्म, सूक्ष्म, अप०, साधारण, नरकत्रिक)										
१६=१२०-१६=१०४; गुण स्थान=४										
	१	मिथ्यात्व, हुंडक, नपुं०, सृपाटिका = ४	तीर्थ'कर		१०१	१		१००	४	६६
	२	ओघवत् = २५			६६			६६	२५	७१
	३		मनुष्यायु		७१	१		७०		७०
	४	ओघवत् = १०		मनुष्यायु तीर्थ'०	७०		२	७२	१०	६२
—सामान्यवत्—										
१-३ पृथिवी पर्याप्त		बन्ध योग्य = १०१—तीर्थ'कर = १००, गुणस्थान = ४								
४-६ " "	१	मिथ्यात्व, हुंडक, नपुं०, सृपाटिका = ४			१००			१००	४	६६
	२-४	प्रथम पृथिवी पर्याप्तवत्—								
७ पृथिवी पर्याप्त		बन्ध योग्य = १०१—मनुष्यायु, तीर्थ'कर = ६६; गुणस्थान = ४								
	१	मिथ्यात्व, हुंडक, नपुं०, सृपाटिका, तिर्यगायु = ५	उच्च, मनु० दि०		६६	३		६६	५	६१
	२	ओघवत् २५—तिर्यगायु = २४			६१			६१	२४	६७
	३		उच्च, मनु० दि०		६७		३	७०		७०
	४	ओघवत् १०—मनुष्यायु = ६			७०			७०	६	६२
१ पृथिवी अप०		बन्धयोग्य = १०१—मनुष्य व तिर्यगायु (मिश्रयोगमें आयु नहीं बँधे) = ६६; गुणस्थान = २;								
	१	(नरक अपर्याप्त सासादन न होय) मिथ्यात्व, हुंडक, नपुं०, सृपाटिका+सासादनकी २५—तिर्यगायु = २८	तीर्थ'कर		६६	१		६८	२८	७०
	४	ओघवत् १०—मनुष्यायु = ६		तीर्थ'कर	७०		१	७१	६	६२

मार्गणा	गुण स्थान	व्युच्चिस्तिकी प्रकृतियाँ	अबन्ध	पुनः बन्ध	कुल बन्ध योग्य	अबन्ध	पुनः बन्ध	बन्ध	व्युच्चिस्तिकी	बोध बन्ध योग्य
२-६ पृथिवी अप०		बन्धयोग्य = १०१ - मनुष्यायु, तिर्यचायु, तीर्थकर = ६८, गुणस्थान = १.								
	१	मिथ्यात्व, हुंडक, नपुं०, सृपा-टिका + सासादनकी २५ - तिर्यचायु = २८			६८			६८	२८	७०
७ वीं पृथिवी अप०		बन्धयोग्य = १०१ - मनुष्य तिर्यचायु, तीर्थकर, मनुष्य द्वि०, उच्चगोत्र = ६५; गुणस्थान = १								
	१	उपरोक्त = २८			६५			६५	२८	६७
२ तिर्यच गति - (म. बं./१/९ ३=४२); (प. खं./८/यू. ६३-७४/११२-१६०); (गो. क./१०८-१०९/६३-६६) सामान्य प०		बन्धयोग्य = १२० - तीर्थकर, आहारक द्विक = ११७; गुणस्थान ५								
	१	ओघवत् = १६			११७			११७	१६	१०१
	२	ओघवत् २५ + वज्र ऋषभ, औ० द्वि०, मनुष्य त्रिक = ३१			१०१			१०१	३१	७०
	३	x	देवायु		७०	१		६६		६६
	४	अप्रत्याख्यान ४ = ४		देवायु	६६		१	७०	४	६६
	५	प्रत्याख्यान ४ = ४			६६			६६	४	६२
पंचेन्द्रिय प०										
पं. योनिमती प०										
पंचेन्द्रिय नि. अप०		बन्धयोग्य = १२० - तीर्थकर, आहारक द्विक, चारों आयु, नरक द्विक १११; गुणस्थान १, २, ४								
	१	ओघवत् १६ - नरक त्रिक = १३	देव द्वि०, वैक्रि० द्वि०		१११	४		१०७	१३	६४
	२	ओघवत् २५ + वज्र ऋषभ, औ० द्वि०, मनु० द्वि० - तिर्यगायु = २६			६४			६४	२६	६५
	४	अप्रत्याख्यान ४ = ४	देव द्वि०, वैक्रि० द्वि०		६५		४	६६	४	६५
तिर्यच ल० अप०		बन्धयोग्य = १२० - तीर्थकर आहारक द्वि०, देव त्रिक, नरक त्रिक, वैक्रि० द्विक = १०६; गुणस्थान = १								
३ मनुष्य गति : सामान्य प०		बन्धयोग्य = १२०; गुणस्थान = १४								
	१	ओघवत् = १६	तीर्थ०, आ० द्वि०		१२०	३		११७	१६	१०१
	२	ओघवत् २५, वज्र ऋषभ, औ० द्वि०, मनु० त्रिक = ३१			१०१			१०१	३१	७०
	३	x	देवायु		७०	१		६६		६६
	४	अप्रत्याख्यान ४ = ४		देवायु तीर्थ०	६६		२	७१	४	६७
	५	प्रत्याख्यान ४ = ४			६७			६७	४	६३
मनुष्यणी प०	६-१४									
मनु० नि० अप०		बन्धयोग्य = १२० - ४ आयु, नरक द्विक, आ० द्वि = ११२; गुणस्थान = १, २, ४, ६, १३								
	१	ओघवत् १६ - नरक त्रिक = १३	देवद्विक, वैक्रि० द्वि०, तीर्थ०		११२	५		१०७	१३	६४
	२	ओघवत् २५ + वज्र ऋषभ + औ० द्वि + मनु० द्वि०, - तिर्यगायु = २६			६४			६४	२६	६५
	४	अप्रत्याख्यान ४, प्रत्याख्यान ४ = ८	देव द्विक, वैक्रि० द्वि०, तीर्थ०,		६५		५	७०	८	६२

मार्गणा	गुण स्थान	व्युच्छित्तिकी प्रकृतियों	अबन्ध	पुनः बन्ध	कुल बन्ध योग्य	अबन्ध	पुनः बन्ध	बन्ध	व्युच्छित्तित्ति	शेष बन्ध योग्य
मनु. ल. अप.	६	अपूर्वकरण ओषवत् ३६-आ० द्वि=२४+६वें की ५, १०वें की १६, ६ठें की ६=६१			६२			६२	६१	१
	१३	साता वेदनीय १			१			१	१	
देवगतिः— सामान्य										
{ भवनत्रिक- देव पर्याप्त										
कल्प. देवी. प.	१	मिथ्या, हुंडक, नपुं०, सृपा- टिका, एकेन्द्र०, स्थावर, आतप =७			१०३			१०३	७	६६
	२	ओषवत् २५			६६			६६	२५	७१
	३	X	मनुष्यायु		७१	१		७०		७०
	४	ओषवत् =१०		मनुष्यायु	७०		१	७१	१०	६१
{ सौधर्म ईशान पर्याप्त										
सनस्कृमा- रादि १० स्वर्ग पर्याप्त	१	मिथ्या, हुंडक, नपुं०, सृपाटिका, एकेन्द्र०, स्थावर, आतप =७	तीर्थकर		१०४	१		१०३	७	६६
	२	ओषवत् =२५			६६			६६	२५	७१
	३	X	मनुष्यायु		७१	१		७०		७०
	४	ओषवत् =१०		मनुष्यायु, तीर्थ०.	७०		२	७२	१०	६२
{ आनतादि- ४ स्वर्ग व नव ग्रै. प.										
पंच अनुत्तर व नव अनु- दिश प०	१	मिथ्यास्व, हुंडक, नपुं०, सृपाटिका =४	तीर्थकर		१०१	१		१००	४	६६
	२	ओषकी २५—तिर्यक्त्रिक, उद्योत =२१			६६			६६	२५	७१
	३	X	मनुष्यायु		७१	१		७०		७०
	४	ओषवत् =१०		मनुष्यायु, तीर्थ.	७०		२	७२	१०	६२

मार्गणा	गुण स्थान	व्युच्छित्तिकी प्रकृतियाँ	अबन्ध	पुन. बन्ध	कुल बन्ध योग्य	अबन्ध	पुनः बन्ध	बन्ध	व्युच्छि.	बन्ध योग्य	
भवन. त्रि. अप.		बन्ध योग्य = १०४—तीर्थकर, मनुष्य व तिर्यगायु = १०१; गुणस्थान = १, २									
	१	भवनत्रिक पर्याप्तवत् = ७			१०१			१०१	७	१०८	
	२	ओषवत् २५—तिर्यचायु = २४ नोट—सन्ध्यदृष्टि यहाँ नहीं उपजते।			१४			१४	२४	३८	
		←— भवनत्रिक अपर्याप्तवत् —→									
करुण. वेवी. अप. सौधर्म ईशान अप०		बन्ध योग्य = सामान्य देवकी १०४—मनुष्य, तिर्यचायु = १०२; गुणस्थान = १, २, ४									
	१	सौधर्मपर्याप्तवत् = ७	तीर्थकर		१०२	१		१०२	७	१०९	
	२	ओषवत् २५—तिर्यचायु = २४			१४			१४	२४	३८	
	४	ओषवत् १०—मनुष्यायु = ९		तीर्थकर	७०		१	७१	९	८०	
{ समलकुमा- रादि १० स्वर्ग अप०		बन्ध योग्य = सामान्य देवकी १०४—एकेन्द्रि०, स्थावर, आतप, मनुष्य, तिर्यचायु = ९६; गुणस्थान १, २, ४									
	१	मिथ्यात्व, हुंडक, नपुं०, सृपाटिका = ४	तीर्थकर		९६	१		९६	४	१००	
	२	ओषवत् २५—तिर्यचायु = २४			१४			१४	२४	३८	
	४	ओषवत् १०—मनुष्यायु = ९		तीर्थकर	७०		१	७१	९	८०	
आनतादि ४ स्वर्ग व नव ग्रै० अप०		बन्ध योग्य = सामान्यकी १०४—एकेन्द्रि०, स्थावर, आतप, तिर्यचत्रिक, उद्योत, मनुष्यायु = ९६; गुणस्थान = १, २, ४									
	१	मिथ्यात्व, हुंडक, नपुं०, सृपाटिका = ४	तीर्थकर		९६	१		९६	४	१००	
	२	ओषवत् २५—तिर्यक्त्रिक व उद्योत = २१			११			११	२१	३७	
	४	ओषवत् १०—मनुष्यायु = ९		तीर्थकर	७०		१	७१	९	८०	
६ अनुदिश व ६ अनुत्तर अप०		बन्ध योग्य = सौधर्म पर्याप्त या नि० अपर्याप्तवत् ४ थे को ७०; गुणस्थान - केवल = १ (चतुर्थ)									
२. इन्द्रिय मार्गणा—(प. खं. ५/वृ. १०२-१३६/१५८-१६२); (गो. क./११३-११४/१०२-१०४)		बन्ध योग्य = ओषकी १२०—तीर्थकर, आहार द्वि०, देवत्रिक, नरकत्रिक, वैक्रि० द्वि० = १०६; गुणस्थान २									
सर्व एकेन्द्रिय	१	ओषवत् १६—नरकत्रिक + मनु० ति० आयु = १५			१०६			१०६	१६	१२२	
	२	ओषकी २५ + वज्र ऋषभ, औ० द्वि०, मनु० द्वि ३०—तिर्यगायु = २६			१४			१४	२६	४०	
सर्व विकलेन्द्रिय		←— एकेन्द्रियवत् —→									
पंचे० पर्याप्त		←— ओषवत् —→									
पंचे. नि. अप		बन्ध योग्य = ओषकी १२०—४ आयु, नरक द्विक, आहा० द्वि० = ११२ गुणस्थान = १, २, ४, ६, १३									
	१	ओषवत् १६—नरकत्रिक = १३	देव द्विक, वैक्रि० द्वि० तीर्थ०		११२	४		१०७	१३	१२०	
	२	ओषवत् २५—तिर्यचायु = २४			१४			१४	२४	३८	
	४	अप्रस्थाख्यान ४, प्रत्या० ४, औ० द्वि०, वज्र ऋषभ० मनु० द्वि० = १३		देव द्वि० वै० द्वि० तीर्थ०	७०		५	७५	१३	८८	

मार्गणा	गुण स्थान	व्युच्छित्तिकी प्रकृतियाँ	अबन्ध	पुन बन्ध	कुल बन्ध योग्य	अबन्ध	पुन बन्ध	बन्ध	व्युच्छि०	शेष बन्ध योग्य
पंचे० ल० अप०	६	अपूर्वकरणकी ओघवत् ३६-आ० द्वि०=३४+१वें की ६, १०वें की १६, ६ठे की ६=६१			६२			६२	६१	१
	१२	साता वेदनीय १			१			१	१	
बन्ध योग्य=ओघकी १२०-देवत्रिक, नरकत्रिक, वै० द्वि०, आ० द्वि०, तीर्थ०=१०६; गुणस्थान=१										

३. काय मार्गणा—(ष. खं. ५/सू. १३७-१३६/१६२-२००), (गो. क./११४-११५/१०४-१०६)

पृथिवी, अप व प्रथेक वन, तेज, वात काय										
वन० काय साधारण										
त्रसकाय प० त्रसकाय नि० अप० त्रसकाय ल० अप०										
४ योग मार्गणा—										
सामान्य मन वचन योग										
दोनोके सरय व अनुभय										
दोनोके असरय व उभय										
सामान्य काययोग										
औ० काययोग										
औ० मि० काययोग										
१	मिथ्या०, मर्षु०, हुंडक, सुपा- टिका, १-४ इन्द्रिय, स्थावर, आतप, सूक्ष्म, अपर्याप्त, साधा- रण, तिर्यग्, मनुष्यायु = १५	तीर्थंकर, देव द्वि०, वै० द्वि०			११४	५		१०६	१५	६४
२	अनन्तानु० ४, स्त्यानत्रिक०, दुर्मग, दुस्वर, अनादेय, न्यग्रो० परि०, स्वाति, कुब्ज, वामन, वज्रनाराच, नाराच, अर्धनाराच कीलित, अप्रशस्त विहायो०, स्त्रीवेद, तिर्यग् द्विक, उद्योत, नीचगोत्र, मनुष्यद्विक, औ० द्वि०, वज्र वृषभ = २६				६४			६४	२६	६५
४	देव द्विक, वै० द्वि०, तीर्थंकर, तथा शेष सर्व = ६६				६६		५	७०	६६	१
१३	साता = १				१			१	१	×

मार्गणा	गुण स्थान	व्युच्छिन्तिकी प्रकृतियों	अबन्ध	पुनः बन्ध	कुल बन्ध योग्य	अबन्ध	पुनः बन्ध	बन्ध	व्युच्छिन् ^०	शेष बन्ध योग्य
वैक्रि० काय० योग		बन्धयोग्य=सामान्य देववत् १०४, गुणस्थान=४								
वै० मि० काययोग		बन्धयोग्य=नि० अप० देववत्=१०२, गुणस्थान=१, २, ४								
आहारक काययोग		बन्धयोग्य=ओषके छठे गुणस्थानवत्=६३, गुणस्थान=केवल १ (छठा)								
आ० मि० काययोग		बन्धयोग्य=ओष प्रमत्त गुणस्थानकी = ६३-देवायु=६२, गुणस्थान=केवल १ (छठा)								
कार्माण काययोग		बन्धयोग्य=औ० मि० की ११३-मनुष्य, तिर्यचायु=१११; गुणस्थान=१, २, ४, १३								
		उपरोक्त दो आयु रहित औ० मि० वत् →								
५ वेद मार्गणा:—(घ. खं./सू. १६६-१८७/२४२-२६६) (गो. क./सू./११६/११४)										
स्त्री वेद पर्याप्त		बन्धयोग्य=ओषवत्=१२०-तीर्थकर, आहारक द्विक, देवगति=११६; गुणस्थान=६								
		←— देवगति, आ० द्वि०, तीर्थ०, रहित ओषवत् →								
स्त्री वेद नि० अप०		बन्धयोग्य=ओषवत् १२०-चारों आयु, आ० द्वि०, तीर्थ०, नरक द्वि०, देव द्वि०, वै० द्वि०=१०७ गुणस्थान=२								
	१	ओषवत्=१६-नरकत्रिक=१३			१०७			१०७	१३	६४
	२	ओषवत्=२५-तिर्यचायु=२४			६४			६४	२४	७०
पुरुष वेद पर्याप्त		बन्धयोग्य=ओषकी १२०; गुणस्थान=६								
		←— ओषवत् →								
पुरुष वेद नि० अप०		बन्धयोग्य=ओषकी १२०-४ आयु, नरक द्विक, आ० द्वि०=११२; गुणस्थान=१, २, ४								
	१	ओषकी १६-नरकत्रिक=१३	देव द्वि०, तीर्थ०, वैक्रि० द्वि०		११२	५		१०७	१३	६४
	२	ओषवत्=२५-तिर्यचायु=२४			६४			६४	२४	७०
	४	ओषवत्=१०-मनुष्यायु=६	तीर्थ०, देव द्वि०, वै० द्वि०		७०		५	७५	६	६६
नपु० वेद प०		बन्धयोग्य=ओषकी १२०-तीर्थ०, आ० द्वि०, देवगति=११६ गुणस्थान=६								
		←— उपरोक्त ४ प्रकृति रहित ओषवत् →								
नपु० वेद नि० अप०		बन्धयोग्य=ओषकी १२०-चारों आयु, आ० द्वि०, नरक द्वि०, देव द्वि०, वै० द्वि०=१०८ गुणस्थान १, २, ४,								
	१	ओषवत् १६-नरकत्रिक = १३	तीर्थकर		१०८	१		१०७	१३	६४
	२	ओषवत् २४-तिर्यचायु = २४			६४			६४	२४	७०
	४	ओषवत् १०-मनुष्यायु = ६	तीर्थकर		७०		१	७१	६	६२
		(यह स्थान केवल प्रथम पृथ्वी नारकीको ही सम्भव है।)								
६. कषाय मार्गणा— (घ/सू १८८-२०६/२६६-२७९), (गो क/भाषा/११६/१२५)										
क्रोध, मान, माया		बन्धयोग्य=ओषवत् १२०; गुणस्थान ६								
लोभ		बन्धयोग्य=ओषवत् १२०; गुणस्थान=१०								
अकषायी		बन्धयोग्य=साता वेदनीय १, गुणस्थान=११, १२, १३								
		←— ओषवत् →								
७. ज्ञान मार्गणा:— (घ/सू २०७-२२४/२७९-२९७) (गो क/भा/११६/११५/१६)										
{ मति, श्रुत अज्ञान व विभ्रम ज्ञान		बन्धयोग्य=१२०-आ० द्वि०, तीर्थ०=११७, गुणस्थान=२								
		←— ओषवत् →								

मार्गणा	गुण स्थान	व्युच्छित्तिकी प्रकृतियाँ	अबन्ध	पुनः बन्ध	कुल बन्ध योग्य	अबन्ध	पुनः बन्ध	बन्ध	व्युच्छित्त	शेष बन्ध योग्य
मति, श्रुत अवधिज्ञान		बन्धयोग्य = ओषके चतुर्थ गुणस्थानकी = ७७ - आ० द्वि० = ७६, गुणस्थान ४-१२								
मनःपर्ययज्ञान		बन्ध योग्य = ओषके दैते गुणस्थानकी ६३ + आहारक द्वि० = ६६; गुणस्थान ६-१२								
केवलज्ञान		बन्धयोग्य = ओषके १३ वें गुणस्थानवत् = १; गुणस्थान २ (१३, १४)								
←----- ओषवत् -----→										
८. संयम मार्गणा—(घ. खं. ८/सु./२२६-२६२/२६८-३१८); (गो. क./भा./१११/११६/१०)										
सामायिक व छेदो		बन्धयोग्य = ओषके दैते गुणस्थानकी = ६३ + आ० द्वि० = ६६; गुणस्थान = ६-६								
परिहार विशुद्धि		बन्धयोग्य = ओषके दैते गुणस्थानकी = ६३ + आ० द्वि० = ६६; गुणस्थान = ६-७								
सूक्ष्म साम्पराय		बन्धयोग्य = ओषके १० वें गुणस्थानवत् = १७; गुणस्थान = १० वॉ								
यथाख्यात		बन्धयोग्य = साता वेदनीय १; गुणस्थान ११-१४								
संयमासंयम		बन्धयोग्य—ओषके पंचम गुणस्थानवत् = ६७; गुणस्थान ५ वॉ								
असंयत		बन्धयोग्य = ओषकी १२०—आ० द्वि० = ११८, गुणस्थान १-४								
←----- ओषवत् (आ० द्वि०रहित) -----→										
९. दर्शन मार्गणा—(घ. खं. ८/सु./२६३-२६७/३१८-३१६); (गो. क./भावा/१११/११७/३)										
चक्षु अचक्षु		बन्धयोग्य = १२०; गुणस्थान = १२								
अवधि		बन्धयोग्य = ओषके चतुर्थ गुणस्थानकी = ७७ + आ० द्वि० = ७६, गुणस्थान = ४-१२								
←----- ओषवत् -----→										

मार्गणा	गुण स्थान	व्युच्छिस्तिकी प्रकृतियाँ	अबन्ध	पुन' बन्ध	कुल बन्ध योग्य	अबन्ध	पुन बन्ध	बन्ध	व्युच्छि.	बोध बन्ध योग्य
केवल		बन्ध योग्य = ओषके १३ वे गुणस्थानवत् = १ साता; गुणस्थान = १३-१४		←			ओषवत्			→
१०. लेख्या मार्गणा—(ष. ख. ८/सू. २५८-२७४/३२०-३५८) (गो. क./भा. /११६-१२०/११७-१२०)										
कृष्ण, नील, कपोत		बन्धयोग्य = ओषकी १२०—आ० द्वि० = ११८; गुणस्थान = १-४		←			ओषवत्			→
पीत		बन्ध योग्य = ओषकी १२०—सूक्ष्म, अपर्याप्त, साधारण, २-४ इन्द्रिय, नरक त्रिक = ११९; गुणस्थान = ७								
	१	मिथ्या, हुंडक, नपुं, सृपाटिका	तीर्थकर, आ० द्वि०		११९	३		१०८	७	१०९
	२-७	एकेन्द्रिय, स्थावर, आतप = ७		←			ओषवत्			→
पद्म		बन्धयोग्य = ओषकी १२०—१-४ इन्द्रिय, स्थावर, आतप, सूक्ष्म, अपर्याप्त, साधारण, नरक त्रिक = १०८ गुणस्थान = ७								
	१	मिथ्या हुंडक, नपुं सृपाटिका = ४	तीर्थ०, आ० द्वि०		१०८	३		१०५	४	१०९
	२-७			←			ओषवत्			→
शुक्ल		बन्धयोग्य = पद्म लेख्याकी १०८—तिर्यग् त्रिक, उद्योत = १०४; गुणस्थान = १३								
	१	मिथ्या०, हुंडक, नपुं०, सृपाटिका = ४	तीर्थ०, आ० द्वि०		१०४	३		१०१	४	१०७
	२	ओषकी २५—तिर्यग् त्रिक उद्योत = २१			६७			६७	२१	७६
	३-१३			←			ओषवत्			→
अलेख्या		बन्धयोग्य = ×; गुणस्थान = १४ वीं		←			ओषवत्			→
११. भव्य मार्गणा—(ष. ख. ८/सू. २७५-२७७/३५८-३६३); (गो. क./भा. /१२०-१२१/१२१/७)										
भव्य		बन्धयोग्य = ओषवत् १२०; गुणस्थान = १४		←			ओषवत्			→
अभव्य		बन्धयोग्य = ओषवत् १२०—आ० द्वि०, तीर्थ० = ११७; गुणस्थान = १		←			ओषवत्			→
१२. सम्यक्त्व मार्गणा—(ष. ख. ८/सू. २७६-२९६/३६३-३८६); (गो. क./भा. /१२०-१२१/१०)										
सायिक सम्यक्त्व		बन्धयोग्य = ओषके चतुर्थ गुणस्थानकी ७७ + आहा० द्वि० = ७६; गुणस्थान = ४-१४		←			ओषवत्			→
वेदक सम्यक्त्व		बन्धयोग्य = ओषके चतुर्थ गुणस्थानकी ७७ + आहा० द्वि० = ७६; गुणस्थान = ४-७		←			ओषवत् (४-६ तक आ० द्वि० का बन्ध नहीं)			→

मार्गणा	गुण स्थान	व्युच्छित्तिकी प्रकृतियों	अबन्ध	पुन बन्ध	कुल बन्ध याग्य	अबन्ध	पुन. बन्ध	बन्ध	व्युच्छि.	शेष बन्ध योग्य
प्रथमोपशम	४	बन्धयोग्य = ओषके चतुर्थ गुणस्थानकी ७७+ आ० द्वि० = मनुष्य, देवासु = ७७, गुणस्थान = ४-७								
	४	ओषवत् १० - मनुष्यायु = ६	आ० द्वि०		७७	२		७५	६	६६
	५	प्रत्यास्थान ४ = ४			६६			६६	४	६२
	६	अस्थिर, अशुभ, अयश, असाता, अरति, शोक, = ६			६२			६२	६	५६
	७	×		आ० द्वि०	५६		२	५५		५५
द्वितीयोपशम		बन्धयोग्य = प्रथमोपशमकी = ७७, गुणस्थान = ४-११ (ल. सा./जी प्र./२२०/२६६)								
	४-७									← प्रथमोपशमवत् →
	५-११									← ओषवत् →
सम्यग्मिथ्यादृष्टि सासादन मिथ्यादर्शन		बन्धयोग्य = ओषके ३ रे गुणस्थानवत् = ७४, गुणस्थान = ३ रा								
		बन्धयोग्य = ओषके दूसरे गुणस्थानवत् १०१; गुणस्थान २ रा								
		बन्धयोग्य = ओषकी १२० - तीर्थ०, आ० द्वि० = ११७, गुणस्थान = पहला								
१३. संघी मार्गणा— (प. ख. ँ/सू. ३२०-३२२/३८६ ३६०), (गो. क/भा/१२१/१२३/४)										
संज्ञी		बन्धयोग्य = अ घवत् १२०, गुणस्थान = १-१२								← ओषवत् →
असंज्ञी		बन्धयोग्य = ओषकी १२० - तीर्थ०, आ० द्वि० = ११७, गुणस्थान = २								
	१	ओषवत् १६ + नरक बिना = १६			११७			११७	१६	१५
	२	ओषवत् २५ + वज्र ऋषभ०, औ० द्वि०, मनु० त्रिक, = २६			६५			६८	२६	६६
१४. आहारक मार्गणा—										
आहारक		बन्धयोग्य = १२०, गुण सं० १३								← ओषवत् →
अनाहारक										← कार्मणि काययोगवत् →

३. सामान्य प्रकृतिबन्ध स्थान ओष प्ररूपणा

प्रमाण— (पं स/प्रा०/३/४ ५, ४/२१६-२२०: ३/२४१), (प स/स/३/११-१२, ४/५४-८६, ४/११३), (शतक/२७, ४२)।

गुण स्थान	बन्ध स्थान	गुण स्थान	बन्ध स्थान
१	आयु रहित ७ कर्म अथवा आयु सहित ८ कर्म	५	आयु बिना ७
२	"	६	"
३	आयुके बिना ७ कर्म	१०	आयु व मोह रहित ६
४	आयु रहित ७ कर्म अथवा आयु सहित ८ कर्म	११	एक वेदनीय
५	"	१२	"
६	"	१३	"
७	"	१४	×

७. विशेष प्रकृतिबन्ध स्थान औघप्ररूपणा

सं.	गुण स्थान	प्रति स्थान कुल स्थान	प्रति स्थान प्रकृति	प्रति स्थान भंग	प्रकृतियोंका विवरण	सं०	गुणस्थान	प्रति स्थान कुल स्थान	प्रति स्थान प्रकृति	प्रति स्थान भंग	प्रकृतियोंका विवरण	
१	ज्ञानावरणीय— १-१२ गुणस्थान	(पं. सं./प्रा./४/४-२४); (पं. सं./सं./४/४-३०); (घ. ६/८९); (गो. क./४५८)	१	५	×	पौचो-प्रकृतियाँ	५	आयुः— १ २ ३ ४ १-७	(घ./६/६८-१०९) १ १ × १ २	१ १ × २ १	४ ३ × २ १	चारोंमें अन्यतमसे ४ भग नरक रहित अन्यतम एक × देव, मनुष्यायुमें एक देवायु
२	दर्शनावरणीय— १-२ गुणस्थान ३-८/१ ८/११	(पं. सं./प्रा./४/२४३), (पं. सं./सं./४/११५); (शतक/४३); (घ. खं./६/सू./७-१६/८२-८७), (गो. क./४६६-४६२/६०६-६०६)	१	६	×	सर्व प्रकृतियाँ	६	नाम कर्म— देखो पृथक् सारणी	१	६	×	१-स्थान० त्रिक
३	वेदनीय— १-६ गुणस्थान ७-१३ "	(घ. ६/८९); (गो. क./४५८)	१	४	×	चक्षु, अचक्षु, अवधि, केवल	७	गोत्र— { मिथ्यादृष्टि सामान्य व सासादन { सातिशय मिथ्या० ३-१०	(घ. ६/१३१-१३२) १ १	१	२	अन्यतम एक
४	मोहनीय— नोट—देखो पृथक् सारणी	(घ. ६/८९-८८), (गो. क./४५८)	१	१	२	दोनोंमें अन्यतमसे २ भग केवल साता का एक भग	८	अन्तराय— १-१२	१	१	२	सर्व प्रकृतियाँ

८. मोहनीयबन्ध स्थान औघ प्ररूपणा

(घ. खं./६/सू. २०-४६/८८-९८), (पं. सं./प्रा./४/२४६-२५९); (पं. सं./प्रा./४/—२६-२६,३००-३०२), (पं. सं./सं./४/१९८-१२३), (पं. सं./सं./४/—३३-३७,३२७-३२६); (सप्ततिका/१४. ४२); (गो. क./४६३-६७०/६०६-६७८)

सं	गुण स्थान	कुल बन्ध योग्य कुल स्थान	प्रति स्थान प्रकृति	प्रति स्थान भंग	प्रकृतियों व भगोंका विवरण	सं	गुणस्थान	कुल बन्ध योग्य कुल स्थान	प्रति स्थान प्रकृति	प्रति स्थान भंग	प्रकृतियों व भगोंका विवरण
१	मिथ्यादृष्टि— सामान्य	२६	(सम्यक् प्रकृति व मिश्र रहित) १ २२ ६	हास्य रति तथा अरति शोक में से १ युगल × अन्यतम वेद = २ × ३ = ६	५	संयत्तासंबन्ध— उपरोक्त ४ सम्यक् सहित ६ प्रमत्त संयत्— चारों प्रकारके सम्यक् सहित	१५	(मिश्रवत् १६-अप्रत्या० ४ = १५) १ १३ २	१	२	मिश्रवत्
२	सातिशय २ सासादन	२२	१ २२ १	२६-अरति, शोक, स्त्री, नपुं. = २२ (मिथ्यात्व व नपुं रहित)	२	अप्रमत्त संयत्— ६	१	२ २	२	२	(प्रत्या० चतु० रहित) मिश्रवत्
३	मिश्र	१६	(अनन्ता० चतु० व स्त्री वेद रहित) १ १७ २	(हास्य युगल या अरति युगल) × (स्त्री वेद या पुरुष वेद) = ४	६	अपूर्व करण— १-४/११ ६ अनिवृत्ति करण ६/१-६/४ ६/४/११ ६/४/११ ६/४/११ ६/४/११ ६/४/११	६	१ १ १ १ १ १ १ १ १	१ १ १ १ १ १ १ १ १	१ १ १ १ १ १ १ १ १	अप्रमत्तवत् (सं० चतु०, पुरुष वेद) सं० चतु०, पुरुष वेद सं० चतु० सं० मान. माया, लोभ सं० माया, लोभ सं० लोभ
४	अविरत सम्यक् क्षा०, वेदक, कृत- कृत्य, वे०, उप०	१६	(अनन्ता० चतु० व स्त्री वेद रहित) १ १७ २	मिश्रवत्	१०	सूक्ष्म साम्पराय	१०	१ १ १ १ १ १ १ १ १ १	१ १ १ १ १ १ १ १ १ १	१ १ १ १ १ १ १ १ १ १	

९. नाम कर्म प्ररूपणा सम्बन्धी संकेत

सं०	समूहीकरण	संकेत	कुल प्रकृति	बन्ध प्रकृति	प्रकृतियोंका विवरण
१	ध्रुव बन्धी	ध्रु/६	६	६	तैजस, कार्माण, अगुरुलघु, उपघात, निर्माण, वर्ण, रस, गन्ध, स्पर्श=६
२	प्रतिपक्षी युगल	यु०/६	१८	६	त्रस-स्थावर, बादर-सूक्ष्म, पर्याप्त-अपर्याप्त, प्रत्येक-साधारण, स्थिर-अस्थिर, शुभ-अशुभ, सुभग-दुर्भग, आदेय-अनादेय, यश-अयश, (इन ६ युगलोंकी १८ में से प्रतियुगल अन्यतम बन्ध होनेसे=६)
३	समूहोंमें से अन्यतम	समूह/६	२२	६	चार गति, पाँच जाति, तीन शरीर, ६ संस्थान, चार आनुपूर्वी (अन्यतम बन्ध होनेसे ६) ।
४	त्रस सहित ही बँधने योग्य समूह	त्रस/२	६	२	छ' संहनन, ३ अंगोपांग (त्रसकी बन्धने योग्य २) (संहनन औदारिक-के साथ बँधते हैं ।
५	त्रसमें बँधने योग्य	त्रस यु/२	४	२	दुस्वर-सुस्वर, प्रशस्त-अप्रशस्त विहायोगति, (इनमें से २) ।
६	त्रस स्थावर दोनोंको	उ. परघात/२	२		उरवास, परघात, ।
७	विशेष प्रकृतियों	ती. आ./३	३		तीर्थंकर व आहारक द्वय (देव नारकके मनुष्य सहित व मनुष्यके देवगति सहित ही बँधे) ।
८		पृ. वा/१	१		आतप (पृथ्वी काय बादर पर्याप्त सहित ही बँधे)
९		उद्योत/१	१		उद्योत (पृथ्वी, अप, प्रत्येक वनस्पति, बादर पर्याप्त व त्रस सहित ही बँधे ।

१०. नाम कर्म बन्धके भाट स्थानोंका विवरण

(पं. सं/प्रा./—४/२६६-३०४/५/१३-६६); (गो. क./१३०/६५५); (पं सं/स./४/१३६-१८८); (पं. सं./सं/५/६२-१११);

नोट—ध्रुव/६ आदि संकेत=दे० सारणी नं० ६

सं०	स्थानमें प्रकृतियों	कुल भंग	कुल स्वामी	नं०	भाग नं०	प्रत्येक भगमें प्रकृतियों व स्वामियोंका विवरण	
						प्रकृतियोंका विवरण	स्वामियोंका विवरण
१	१	१	३		१	यशःकीर्ति	८/७, ६, १० गुणस्थान
२	२३	३	११	१	१	ध्रु./६, स्थावर, अपर्याप्त, सूक्ष्म, साधारण, अस्थिर, अशुभ, दुर्भग, अनादेय, अयश, तिर्य० द्वि०, एकेन्द्रिय, औ० शरीर हुंडक =२३	सूक्ष्म अप०(पृथिवी, अप, तेज, वायु)+ साधारण वनस्पति के बन्धक =६
					११	उपरोक्त २३-सूक्ष्म+बादर =२३	बा० अप०(पृ०, तेज, अप०, वायु)+साधा० वन० के बन्धक =६
					१११	.. —सूक्ष्म, साधारण+बादर, प्रत्येक =२३	बा० अप० प्रत्येक वनस्पतिके बन्धक =६
३	२५	६४	१७	१	१-४	ध्रु./६, स्थावर, पर्याप्त, सूक्ष्म, साधारण, स्थिर, शुभ या अस्थिर अशुभ, दुर्भग, अनादेय, अयश., तिर्य० द्वि०, एकेन्द्रिय, औ० शरीर, हुंडक =२५ (स्थिर, अस्थिर, शुभ व अशुभ, इन दो युगलोंकी अन्यतम दो से चार भंग)	सू०प०प्र०(पृ०, तेज, अप, वायु,)+ साधा० वन० के बन्धक =६
					११	उपरोक्त २५-सूक्ष्म+बादर उपरोक्तवत् ४ भंग =२५	बा० प० साधारण वनस्पतिके बन्धक =१
					१११	उपरोक्त (स्थिर, शुभ, यश इन तीन युगलोंसे ८ भंग =२५	आतप रहित बा० प०(पृ० अप, तेज वायु) =४

नं०	स्थानमें प्रकृतियों	कुल भंग	कुल स्वामी नं०	भग	प्रत्येक भंगमें प्रकृतियों व स्वामियोंका विवरण		
					प्रकृतियोंका विवरण	स्वामियोंका विवरण	
४	२६	४८	८	iv	१७-२४	उपरोक्त २५-सूक्ष्म, साधारण + बादर, प्रत्येक=२५ (स्थिर, शुभ, यश इन तीन युगलोंसे ८ भंग)	बादर पर्याप्त प्रत्येक वनस्पति (उद्योत रहित) =१
				v	२५-४८	ध्रु/६, त्रस, अप०, बादर, प्रत्येक, दुर्भंग, अनादेय, स्थिर, शुभ व यश इन तीन युगलोंमें अन्यतम = ८	
					४६-५६	तिर्य० द्वय, २-५ इन्द्रिय (४) में अन्यतम, आ० द्वय, सृपाटिका, हुंडक (३२ भंग) = २५	अप०, द्वी, त्री, चतुरेन्द्रिय (उद्योतरहित) संज्ञी, असंज्ञी, पंचेन्द्रियके बन्धक = ५
				vi	७५-६४	उपरोक्त २५-तिर्य० द्वय + मनुष्य द्वय = ८ भंग (उपरोक्त) बा० प० पृ० की २५ + आतप (उसी वत् ८ भंग) = २६	अप० मनुष्यके बन्धक = १ बा० प० पृथिवी (आतप युत) = १
५	२८	६	२	i	१-८	(उपरोक्त) बा० प० पृ० की २५ + उद्योत (उसी वत् ८ भंग) = २६	बा०प० पृ० अप, वनस्पति (उद्योत युत) = ३
				iii	१७-४८	विकल्पत्रय अप० की २५ (उसीवत् ३२ भंग) = २६	बा०द्वी० त्री० चतुरेन्द्रिय उद्योत सहित) × असंज्ञी पंचे (,) = ४ देवगतिके बन्धक = १
				ii	९	ध्रु/६, त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक, शुभंग, अनादेय स्थिर, शुभ व यश इन तीन युगलोंमें अन्यतम ३ से (८ भंग), देवद्वय, पंचेन्द्रिय, वैक्रि० द्वय, समचतुरस्र, सुस्वर व प्रशस्त विहायो०, उच्छ्वास, परघात (८ भंग) = २८	नरक गतिके बन्धक = १
६	२६	७	३	1	१-३२	ध्रु/६, त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक दुर्भंग, अनादेय स्थिर शुभ व यश इन तीन युगलोंमें अन्यतम ३ से (८ भंग), तिर्य० द्वय, औ० द्वय, २-५ इन्द्रिय, इन ४ में अन्यतमसे (४ भंग) हुंडक, सृपाटिका, दुस्वर अप्रशस्त विहायो०, उच्छ्वास, परघात (८×४ = ३२ भंग) = २६	बा० प० द्वी० त्री० चतुरेन्द्रिय तथा असंज्ञी पंचेन्द्रियका बन्धक (उद्योत रहित), = ४
				ii	३३-४६४०	ध्रु/६, त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक शुभंग, अनादेय, स्थिर, शुभ, यश इन पाँच युगलोंमें अन्यतम ५ से (३२ भंग) - तिर्य० द्वय, औ० द्वय, पंचेन्द्रिय, ६ संस्थानोंमें अन्यतम १ से (६ भंग), ६ संज्ञानमें अन्यतम १ से (६ भंग), स्वर द्वय व, विहायोगति द्वय इन दो युगलोंमें अन्यतम २ से (४ भंग), उच्छ्वास, परघात (३२×६×६×४ = ४६०८ भंग) = २६	प० संज्ञी पंचेन्द्रियका बन्धक = १
				iii	४६४१-६२८०	उपरोक्त २६-तिर्य० द्वय + मनुष्य द्वय, (उसी वत् ४६०८ भंग) = २६	प० मनुष्यका बन्धक नारकी = १

नं०	स्थान में प्रकृति	कुल भग	कुल स्वामी	नं०	भंग नं०	प्रत्येक भंगमें प्रकृतियों व स्वामियोंका विवरण	
						प्रकृतियों व भंगोंका विवरण	स्वामियोंका विवरण
७	३०	३२८	६	IV	६२८१- ६२८१- -१२४८० ६२८८	ध्रु०/६ त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक, सुभग, आदेय, स्थिर, शुभ, यश इन ३ युगलोंमें अन्यतम ३ के ८ भंग, देव द्वय, वैक्रि० द्वय, पंचेन्द्रिय, समचतुरस्र, सुस्वर, प्रशस्त विहायो०, उच्छ्वास, परघात, तीर्थकर (३२०० भंग) (८ भग) = २६	देवगति व तीर्थकरके बन्धक = १
				1	१-३२	(नं ६/1 की २६ + उद्योत) (उसीवत् भंग = ३२) = ३०	प० द्वी, त्री, चक्र, असंज्ञी पं, (उद्योतयुत) = ४
				11	३३-३२०	ध्रु०/६ त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक, स्थिर, शुभ, सुभग, यश, आदेय, अनादेयमें अन्यतम १ के २ भंग, मनुष्य द्वय, औ०द्वय, पंचेन्द्रिय, ईसस्थानों में अन्यतम १ के ६ भंग, ई सहननोंमें अन्यतम १ के ६ भंग, स्वर द्वय, विहायोगति द्वय इन दो युगलोंमें अन्यतम २ से चार भंग, उच्छ्वास, परघात = (२×६×६×४ = २८८ भंग) + तीर्थ = ३०	मनुष्य व तीर्थकरका बन्धक = १
८	३१	=	१	111	३२१-३३८	नं ६/IV की २६— तीर्थकर + आहार० द्वि० (उसीवत् भंग = ८) = ३०	देव व आहारक का बन्धक = १
				1	१-८	नं. ६/IV की २६ + आहार० द्वि०, (उसीवत् भंग ८) = ३१	देव गति, आहारक व तीर्थकर का बन्धक = १

११. नाम कर्म बन्ध स्थान ओष प्ररूपणा—(पं. सं./प्रा./५/४०३-४१७) (पं. सं./सं./५/४१६-४२८)

गुण स्थान	बन्ध स्थान	गुण स्थान	बन्ध स्थान	गुण स्थान	बन्ध स्थान
१	२३/1-111, २४/1-VI, २६/1-111, २८/1-11, २९/1-111, ३०/1	५	२८/1, २९/1V	१०	१/1
२	२८/1, २९/1-111, ३०/1	६	२८/1, २९/1V		नोट—इनकी विशेषता यथायोग्य सत्त्व तथा व्युच्छिन्ति वाला सारणियोंसे जानना आदेशकी अपेक्षा भी यथायोग्य लगा लेना।
३	२८/1, २९/1V	७	२८/1, २९/1V, ३०/111, ३१/1		
४	२८/1, २९/1V, ३०/11	८	२८/1, २९/1V, ३०/111, ३१/1, १/1		
		९	१/1		

१२. जीव समासोंमें नामकर्म बन्ध स्थान प्ररूपणा—(गो. क/७०४-७११/८७८-८८१)

सं०	जीव समास	कुल स्थान	प्रति स्थान प्रकृतियाँ	सं०	जीव समास	कुल स्थान	प्रति स्थान प्रकृतियाँ
१	अपर्याप्त सातों जीव समास पर्याप्त	५	२३, २४, २६, २९, ३०	२	एकेन्द्रिय बादर	५	२३, २४, २६, २९, ३०
१	एकेन्द्रिय सूक्ष्म	५	"	३	विकलेन्द्रिय	५	"
				४	असंज्ञी पंचेन्द्रिय	६	२३, २४, २६, २८, २९, ३०
				५	संज्ञी पंचेन्द्रिय	८	२३, २४, २६, २८, २९, ३०, ३१, १

१३. नाम कम बन्ध स्थान आदेश प्ररूपणा—(पं. स./प्रा./५/४१६-४७२);(गो. क./७१८-७२८/८४-८६४)

नं०	मार्गणा	कुल स्थान	प्रतिस्थान प्रकृतियाँ	नं०	मार्गणा	कुल स्थान	प्रतिस्थान प्रकृतियाँ
१. गति मार्गणा—				८. सयम मार्गणा—			
१	नरक गति	२	२६,३०	१	सा० छेदो०	५	२८,२६,३०,३१,१
२	तिर्यच	६	२३,२५,२६,२८,२९,३०	२	परि० वि०	४	२८,२६,३०,३१
३	मनुष्य	८	२३,२५,२६,२८,२९,३०,३१,१	३	सूक्ष्म सा०	१	१
४	देव	४	२५,२६,२६,३०	४	यथाख्यात	×	×
२. इन्द्रिय मार्गणा—				९. दर्शन मार्गणा—			
१	एकेन्द्रिय	६	२३,२५,२६,२८,३०,३१	१	चक्षु	८	२३,२५,२६,२८,३०,३१,१
२	विकलेन्द्रिय	६	"	२	अचक्षु	८	"
३	पंचेन्द्रिय	८	२३,२५,२६,२८,२९,३०,३१,१	३	अवधि	५	२८,२६,३०,३१,१
३. काय मार्गणा—				१०. लेश्या मार्गणा—			
१	पृ० अप वनस्प०	६	२३,२५,२६,२८,३०,३१	१	कृष्णादि तीन	६	२३,२५,२६,२८,२९,३०
२	तेज, वायु	६	"	२	पीत	६	२५,२६,२८,२९,३०,३१
३	त्रस	८	२३,२५,२६,२८,२९,३०,३१,१	३	पद्म	४	२८,२६,३०,३१
४. योग मार्गणा—				११. भव्य मार्गणा—			
१	सर्व मन, वचन	८	२३,२५,२६,२८,२९,३०,३१,१	१	भव्य	८	२३,२५,२६,२८,२९,३०,३१,१
२	औदारिक	८	"	२	अभव्य	६	२३,२५,२६,२८,२९, उद्योत सहित के ३०
३	औ० मिश्र	६	२३,२५,२६,२८,२९,३०	१२. सम्यक्त्व मार्गणा—			
४	वैक्रि०	४	२५,२६,२६,३०	१	क्षायिक	५	२८,२६,३०,३१,१
५	वै० मिश्र	४	"	२	वेदक	४	२८,२६,३०,३१
६	आहारक	२	२८,२६	३	उपशम	५	२८,२६,३०,३१,१
७	आ० मिश्र	२	"	४	सम्य० मि०	२	२८,२६
८	कार्माण	६	२३,२५,२६,२८,२९,३०	५	सासादन	३	२८,२६,३०
५. वेद मार्गणा—				१३. संज्ञी मार्गणा—			
१	स्त्री वेद	८	२३,२५,२६,२८,२९,३०,३१,१	१	सञ्ज्ञी	८	२३,२५,२६,२८,२९,३०,३१,१
२	नपु० वेद	८	"	२	असंज्ञी	६	२३,२५,२६,२८,२९,३०
३	पुरुष वेद	८	"	१४. आहारक मार्गणा—			
६. कषाय मार्गणा—				१५. आहारक मार्गणा—			
१	सर्व सामान्य	८	(यथा योग्य) २३,२५,२६,२८,२९, ३०,३१,१	१	आहारक	८	२३,२५,२६,२८,२९,३०,३१,१
७. ज्ञान मार्गणा—				१६. अना० सयोगी			
१	मति, श्रुत अज्ञान	६	२३,२५,२६,२८,२९,३०	२	अना० अयोगी	×	×
२	विभग	६	"	१७. अना० अयोगी			
३	मति, श्रुत, अवधि	५	२८,२६,३०,३१,१	१८. अना० अयोगी			
४	मनःपर्यय	५	"	१९. अना० अयोगी			
५	केवल	×	×	२०. अना० अयोगी			

१४. मूल उत्तर प्रकृतियोंमें जघन्योत्कृष्ट बन्ध तथा अन्य सम्बन्धी प्ररूपणाओंकी सूची

नं.	विषय	प्रमाण
१	मूल व उत्तर प्रकृतियोंकी स्वस्थान व परस्थान सन्निकर्ष प्ररूपणा ।	म.बं. १/१५-१३२
२	मूल व उत्तर प्रकृतिके द्रव्य, क्षेत्रादि या प्रकृति प्रदेशादि चार प्रकार बन्ध अपेक्षा उत्कृष्ट जघन्यादि रूप स्वस्थान व परस्थान सन्निकर्ष प्ररूपणाएँ ।	घ २/३७०-४७६
३	सर्व-असर्व, उत्कृष्ट-अनुत्कृष्ट, जघन्य-अजघन्य, आदि-अनादि, और ध्रुव-अध्रुव प्रकृति बन्ध प्ररूपणाओंकी ओष आदेश समुत्कीर्तना ।	म. बं. १/२६-३१
४	नाना जीवोंकी अपेक्षा उत्तर प्रकृतियोंका भंगविचय ।	म. बं १/१३३-१४०

प्रकृतिवाद—दे० सांख्य दर्शन ।

प्रक्रम—दे० उपक्रम ।

प्रक्रिया—१. Process, २. Operation. (घ. ५/प्र. २८) ।

प्रक्षेपक—(गो जी./भाषा/३२६/७००/८ का भावार्थ—पर्यायसमास ज्ञानका प्रथम भेद विषय पर्याय ज्ञानतः जितने बंधे तितने जुदे कीएँ पर्याय ज्ञानके जेते अविभाग प्रतिच्छेद है तैहि प्रमाण मूल विवक्षित जानना । यह जघन्य ज्ञान है इस प्रमाणका नाम जघन्य स्थाप्या । इस जघन्यको जीवराशि मात्र अनंतका भाग दीए जो प्रमाण आवै ताका नाम प्रक्षेपक जानना । इस प्रक्षेपकको जीवराशि मात्र अनंतका भाग दीए जो प्रमाण आवै जो प्रक्षेपक-प्रक्षेपक जानना ।

प्रगणना—घ ११/४, २, ६, २४६/३४६/१० तत्त्व पगणना णाम इमिस्से इमिस्से द्विदीए बंधकारणभूदाणि ट्ठिदिवंधउभवसाणट्ठणाणि एत्तियाणि एत्तियाणि होति त्ति ट्ठिदिवंधउभवसाणट्ठणाणपमाणं परूवेदि । = प्रगणना नामक अनुयोगद्वार असुक असुक स्थितिके बन्धके कारणभूत स्थितिवन्धाध्यवसानस्थान इतने इतने होते है, इस प्रकार स्थितिवन्धाध्यवसानस्थानोंके प्रमाणकी प्ररूपणा करता है ।

प्रज्ञप्ति—१. प्रगवात्सम्भवनाथकीशासकयक्षिणी—दे० तीर्थकर ५/३, २, एक विद्या - दे० विद्या ।

प्रज्ञा—प्रज्ञा व ज्ञानमे अन्तर—दे० ऋद्धि/२/७ ।

प्रज्ञाकरगुप्त—एक बौद्ध भ्रमण था । धर्मकीर्ति इसके गुरु थे । प्रमाणवार्तिकालंकारकी इन्होंने रचना की थी । समय—ई सं. ६६०-७२० (सि. वि./प्र. ३१/५ महेंद्र) ।

प्रज्ञापन नय—दे० नय/१/५ ।

प्रज्ञापरीषह—

स सि/१/१/४२७/४ अङ्गपूर्वप्रकीर्णकविशारदस्य शब्दन्यायाध्यात्म-निपुणस्य मम पुरस्तादितरे भास्करप्रभाभिभूतखद्योतोद्योतवन्नितरा नावभासन्त इति विज्ञानमदनिरास प्रज्ञापरिषहजय प्रत्येतव्य । = मै अंग, पूर्व और प्रकीर्णक शास्त्रोंमें विशारद हूँ तथा शब्दशास्त्र, न्यायशास्त्र और अध्यात्मशास्त्रमें निपुण हूँ । मेरे आगे दूसरे जन सूर्य-

की प्रभासे अभिभूत हुए खद्योतके उद्योतके समान बिलकुल नहीं सुशोभित होते है इस प्रकार विज्ञानमदका निरास होना प्रज्ञापरिषह जय मानना चाहिए । (रा. वा./१/१/२६/६२२/१९), (चा. सा./१२७/४) ।

२. प्रज्ञा व अज्ञान परीषहमें अन्तर

स, सि/१/१७/४३५/७ प्रज्ञाज्ञानयोरपि विरोधाद्भ्युगपदसंभवः । श्रुत-ज्ञानापेक्षया प्रज्ञापरिषह' अवधिज्ञानाद्यभावपेक्षया अज्ञानपरिषह इति नास्ति विरोध' । = प्रश्न—प्रज्ञा और अज्ञान परीषहमें भी विरोध है, इसलिए इन दोनोंका एक साथ होना असम्भव है ! उत्तर—एक साथ एक आत्मामें श्रुतज्ञानकी अपेक्षा प्रज्ञापरीषह और अवधि-ज्ञान आदिके अभावकी अपेक्षा अज्ञान परीषह रह सकते है, इसलिए कोई विरोध नहीं है । (रा. वा./१/१७/३/६१५/२८) ।

३. प्रज्ञा व अदर्शन परीषहमें अन्तर

रा. वा./१/१/३१/६१३/२ यद्येवं श्रद्धानदर्शनमपि ज्ञानाविनाभावीति प्रज्ञापरीषहे तस्यान्तर्भावः प्राप्नोतीति ; नैष दोषः, प्रज्ञायाम् सत्यामपि क्वचित्तत्त्वार्थश्रद्धानाभावाद् व्यभिचारोपलब्धे । = प्रश्न—श्रद्धान रूप दर्शनको ज्ञानाविनाभावो मानकर उसका प्रज्ञा परीषहमें अन्तर्भाव किया जा सकता है ! उत्तर—नही, क्योंकि कभी-कभी प्रज्ञाके होने-पर भी तत्त्वार्थ श्रद्धानका अभाव देखा जाता है, अतः व्यभिचारी है ।

४. प्रज्ञा व अज्ञान दोनोंका एक ही कारण क्यों

रा. वा./१/१/३३/१-२/६१४/१४ ज्ञानावरणे अज्ञानं न प्रज्ञेति, न; अन्य-ज्ञानावरणसद्भावे तद्भावात् । १। प्रज्ञा हि क्षायोपशमिकी अन्य-स्मिन् ज्ञानावरणे सति मदं अनयति न सकलावरणक्षय इति प्रज्ञा-ज्ञाने ज्ञानावरणे मति प्रावुस्त इत्यभिसंबध्यते ॥ मोहादिति चेत्, न; तद्भेदानां परिगणितत्वात् । २। मोहभेदा हि परिगणिता दर्शनचारित्रव्याघातहेतुभावेन, तत्र नायमन्तर्भवति, चारित्रवतोऽपि प्रज्ञापरीषहसद्भावात्, ततो ज्ञानावरण एवेति निश्चयः कर्तव्यः । = १. ज्ञानावरणके उदयसे प्रज्ञा और अज्ञान परीषह होती है । क्षायोपशमिकी प्रज्ञा अन्य ज्ञानावरणके उदयमें मद उत्पन्न करती है, समस्त ज्ञानावरणका क्षय होनेपर मद नहीं होता । अतः प्रज्ञा और अज्ञान दोनों ज्ञानावरणसे उत्पन्न होते है । २. मोहनीयकर्मके भेद गिने हुए है और उनके कार्य भी दर्शन चारित्र आदिका नाश करना सुनिश्चित है अतः 'मै बडा विद्वान् हूँ । अत यह प्रज्ञामदमोहका कार्य न होकर ज्ञानावरणका कार्य है । क्योंकि चारित्रवालाके भी प्रज्ञा-परिषह होती है ।

प्रज्ञापिनी भाषा— दे० भाषा ।

प्रज्ञाश्रवण ऋद्धि—दे० ऋद्धि/२/७ ।

प्रचय—१. दे० क्रम/१, २ Common difference, (ज, प./ प्र १०७) ।

प्रचला—दे० निद्रा ।

प्रच्छना—दे० पृच्छना ।

प्रच्छन्न—आलोचनाका एक दोष—दे० आलोचना/२ ।

प्रजापाल—सुकच्छ देशके श्रीपुर नगरका राजा था । जिन दीक्षा धारण कर ली थी । आयुके अन्तमें समाधि सहित मरणकर अच्युत स्वर्गमें उत्पन्न हुआ । (म, प्र/६६/६७-७५) यह पद्म चक्रवर्तीका पूर्व तीसरा भव है—दे० पद्म ।

प्रज्वलित—तीसरे नरकका छठा पटल—दे० नरक/५ ।

प्रणय—गो. जी./जी. प्र./३४/६४/६ बाह्यार्थेषु ममत्वरूपं प्रणयः ।
—बाह्य पदार्थनिविर्षे ममत्वरूप भाव सो प्रणय कहिए स्नेह है ।

प्रणाम—दे० नमस्कार ।

प्रणिधान—भ. आ./सू./११६-११८/२७१ प्रणिधानं पि य दुर्विहं
इन्द्रिय णोईदियं च बोधव्वं । सद्वादि इन्द्रियं पुण कोधाईयं भवे इदर
।११६। सद्दरसरुवगंधे फासे य मणोहरे य इयरे य । नं रागदोसगमणं
पंचविहं होदि प्रणिधानं ।११७। णोईदियप्रणिधानं कोधो माणो
तधेव माया य । लोभो य णोकसाया मणप्रणिधानं तु त वज्जे ।११८।
—प्रणिधानके इन्द्रिय प्रणिधान, नोइन्द्रिय प्रणिधान ऐसे दो भेद है ।
स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण और शब्द ये इष्ट और अनिष्ट ऐसे दो प्रकारके
है । इनसे आत्मामें रागद्वेषकी उत्पत्ति होती है, इसको इन्द्रिय
प्रणिधान कहते हैं । स्पर्शनेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय, चक्षु-
रिन्द्रिय और श्रोत्रेन्द्रिय प्रणिधान ऐसे पाँच भेद है ।११६-११७।
क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा
तथा तीनों वेद, इन सर्वके परिणामको नोइन्द्रिय प्रणिधान कहते
है । (सू. आ./२६६-३००) ।

सू. आ./२६८ प्रणिधानं पि य दुर्विहं पसत्थं तह अपसत्थं च । समिदीसु
य गुत्तीसु य सत्थं सेसमपसत्थं तु ।२६८। —प्रणिधानके भी दो भेद
है—शुभ और अशुभ । पाँच समिति और तीन गुणियोंमें जो परि-
णाम है वे शुभ होते हैं और शेष इन्द्रियविषयोंमें जो परिणाम है
वह अशुभ है ।२६८।

रा. वा./७/३३/२/५२७/७ दुष्णु प्रणिधानमन्यथा वा दु प्रणिधानम् ।२।
प्रणिधानं प्रयोग परिणाम इत्यनर्थान्तरम् । दुष्णु पापं प्रणिधानं
दुःप्रणिधानम्, अन्यथा वा प्रणिधानं दु प्रणिधानम् । तत्र क्रोधादि-
परिणामवशात् दुष्णु प्रणिधानं शरीरावयवानाम् अनिभूतमवस्थानम्,
वर्णसंस्काराभावाऽर्थगमकत्वचापलाद्विवाग्गतम्, मनसोऽनपितत्वं
चेत्यन्यथा प्रणिधानम् । —परिणाम, प्रयोग व प्रणिधान ये एकार्थ-
वाची शब्द है । दु प्रणिधानका अर्थ दुष्ट या पापरूप प्रणिधान है या
अन्यथा प्रणिधानको दुःप्रणिधान कहते हैं । तहाँ क्रोधादि कषायोंके
वश होकर दुष्ट प्रणिधान होता है और शरीरका विचित्र विकृति
रूपसे हो जाना, निरर्थक अशुद्ध वस्त्रोंका प्रयोग करना और मनका
उपयोग न लगाना ये अन्यथा प्रणिधान है । (और भी दे० उपयोग/
II/४/१,२ तथा मनोयोग/५) ।

न्या. सू./टी./३/२/४३/२०८/१४ सुस्मूर्षया मनसो धारणं प्रणिधानं
सुस्मृषितलिङ्गचिन्तनं चार्थ-स्मृतिकारणम् । —स्मरणकी इच्छासे
मनको एक स्थानमें लगानेका 'नाम' प्रणिधान है ।

प्रणिधि—मायाका एक भेद—दे० माया/२ ।

प्रतर—१. area अथवा (Particular unit)^२ २ जगत् प्रतर,
राजू प्रतर व तिर्यक् प्रतर—दे० गणित/II/२/७, १/३ ।

प्रतरसमुद्घात—दे० केवली/७ ।

प्रतरांगुल—(अंगुल)^२ —दे० गणित/II/१/३ ।

प्रतरात्मक अनंत आकाश—Infimite Plane area.

प्रतिकुंचन—मायाका एक भेद—दे० माया/२ ।

प्रतिक्रमण—द्रव्यश्रुतके १४ पूर्वोक्त-से चौथा अंग-बाह्य—दे० श्रुत-
ज्ञान/III/१ ।

प्रतिक्रमण—व्यक्तिको अपनी जीवन यात्रामें कषाय वश पद पद
पर अन्तरग व बाह्य दोष लगा करते हैं, जिनका शोधन एक श्रेयो-
मार्गके लिए आवश्यक है । भूतकालमें जो दोष लगे हैं उनके शोध-
नार्थ, प्रायश्चित्त पश्चात्ताप व गुरुके समक्ष अपनी निन्दा-गर्हा करना

प्रतिक्रमण कहलाता है । दिन, रात्रि, पक्ष, मास, सवत्सर आदिमें
लगे दोषोंको दूर करने की अपेक्षा वह कई प्रकार है ।

१. भेद व लक्षण

१. प्रतिक्रमण सामान्यका लक्षण

१. निरुक्तयर्थ

स सि./६/२२/४४०/६ मिथ्यादुष्कृताभिधानादभिव्यक्तप्रतिक्रिय प्रति-
क्रमणम् = 'मेरा दोष मिथ्या ही' गुरुसे ऐसा निवेदन करके अपनी
प्रतिक्रिया व्यक्त करना प्रतिक्रमण है । (रा वा./६/२२/३/६२१/१८)
(त सा/७/२३६)

गो. जी./जी. प्र./३६७/७६०/२ प्रतिक्रम्यते प्रमादकृतद्वैवसिकादिदोषो
निराक्रियते अनेनेति प्रतिक्रमणं । —प्रमादके द्वारा किये दोषोंका
जिसके द्वारा निराकरण किया जाता है, उसको प्रतिक्रमण कहते हैं ।

२. दोष निवृत्ति

रा. वा./६/२४/११/५३०/१३ अतीतदोषनिवर्तनं प्रतिक्रमणम् । —कृत
दोषोंकी निवृत्ति प्रतिक्रमण है । (स. सा./ता. वृ./३०६/३८८/६)
(भा. पा./टी./७७/२२१/१४) ।

ध. ८/३.४१/८४/६ पंचमहव्वपसु चउरासोदिलक्खणगुणगणकल्लिएसु
समुपपण्णकलकपव्वखालणं पडिक्कमणं णाम । —चौरासी लाख गुणोंके
समूहसे संयुक्त पाँच महाव्रतोंमें उत्पन्न हुए मलको धोनेका नाम
प्रतिक्रमण है ।

भा आ/वि./४२१/६१५/१२ अचेलतादिकरूपस्थितस्य यद्यत्तिचारो भवेत्
प्रतिक्रमणं कर्तव्यमित्येषोऽष्टमः स्थितिकरूपः । —अचेलतादि करूपमें
रहते हुए जो मुनिको अतिचार लगते हैं उनके निवारणार्थ प्रतिक्रमण
करना अष्टम स्थितिकरूप है ।

३. मिथ्यामें दुष्कृत

सू. आ./२६ दब्बे खेत्ते काले भावे य किदावराहसोहणय । गिदणगरहण-
जुत्तो मणवचकायेण पडिक्कमणं ।२६। —द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावमें
किया गया जो व्रतमें दोष उसका शोधना, आचार्यादिके समीप
आलोचनापूर्वक अपने दोषोंको प्रकट करना, वह मुनिराजका प्रति-
क्रमण गुण होता है ।२६।

नि. सा./सू./१५३ वयणमयं पडिक्कमणं०० जाण सज्झाउ ।१५३। —वचन-
मय प्रतिक्रमण० यह स्वाध्याय जान ।

ध./१३/५.४.२६/६०/८ गुरुणमालोचणाएविणा ससंवेणजिद्वेयस्स पुणो ण
करेमि त्ति जमवराहादो णियत्तणं पडिक्कमणं णाम पायच्चिच्छत्त । —
गुरुओंके सामने आलोचना किये विना सवेग और निर्वेदसे युक्त
साधुका फिर कभी ऐसा न करूँगा यह कहकर अपने अपराधसे
निवृत्त होना प्रतिक्रमण नामका प्रायश्चित्त है । (अन ध./७/४७)
(भा. पा./७८/२२३/५) ।

भा. आ/वि./६/३२/१६ स्वकृतादशुभयोगात्प्रतिनिवृत्ति' प्रतिक्रमण । —
स्वतः के द्वारा किये हुए अशुभ योगसे परावर्त होना अर्थात् 'मेरे
अपराध मिथ्या होवे' ऐसा कहकर पश्चात्ताप करना प्रतिक्रमण है ।

२. निश्चय प्रतिक्रमणका लक्षण

१. शुद्ध नयकी अपेक्षा

सा. सा./सू./३८३ कम्म जं पुव्वकयं सुहासुहमणेयवित्थरविसेस । ततो
णियत्तए अपपर्यं तु जो सो पडिक्कमणं ।३८३। —पूर्वकृत जो अनेक
प्रकारके विस्तार वाला शुभ व अशुभ कर्म है, उससे जो आत्मा अपने-
को दूर रखता है वह आत्म प्रतिक्रमण है ।३८३।

नि. सा./सू./८३-८४ मोत्तूण वयणरयण रागादीभाववरणणं किच्चा ।
अपपाणं जो भायदि जस्स दु होदित्ति पडिक्कमणं ।८३। आराहणाइ

वहृद् मोक्षं विराहणं विसेषेण । सो पडिकमणं उच्चइ पडिकमण-
मओ हवे जम्हा । ५४। = वचन रचनाको छोडकर, रागादि भावोका
निवारण करके, जो आत्माको ध्याता है, उसे प्रतिक्रमण होता है ।
। ५३। जो (जीव) विराधनाको विशेषतः छोडकर आराधनामे वर्तता
है, वह (जीव) प्रतिक्रमण कहलाता है, कारण कि वह प्रतिक्रमण
मय है । ५४। (इषी प्रकार अनाचारको छोडकर आचारमे, उन्मार्गका
त्याग करके जिनमार्गमे, शक्य भावको छोडकर नि शक्य भावसे,
अगुप्ति भावको छोडकर त्रिगुप्ति गुप्तसे, आर्त-रौद्र ध्यानको छोडकर
धर्म अथवा शुक्ल ध्यानको, मिथ्यादर्शन आदिको छोडकर सम्यक्-
दर्शनको भाता है वह जीव प्रतिक्रमण है । (नि. सा./सू./५५-६१) ।
भ. आ./वि./१०/४६/१० कृतातिचारस्य यतेस्तदतिचारपराङ्मुखतो योग-
त्रयेण हा दुष्टं कृतं चिन्तितमनुमन्तं चेति परिणाम. प्रतिक्रमणम् ।
= जब मुनिको चारित्र्य पालते समय दोष लगते हैं तब, मन बचन-
योगसे मैने हा । दुष्ट कार्य किया कराया व करनेवालोंका अनुमोदन
किया यह अयोग्य किया ऐसे आत्माके परिणामको प्रतिक्रमण
कहते है ।

२. निश्चय नयकी अपेक्षा

नि. सा./सू./५२ उत्तमअट्ठं आदा तम्हि हिदा हणदि मुणिवराकम्मं ।
तम्हा दु भाणमेव हि उत्तम अट्ठस्स पडिकमणं । ६२। = उत्तमार्थ
(अर्थात् उत्तम पदार्थ सच्चिदानन्द रूप कारण समयसार स्वरूप)
आत्माके स्थित मुनिवर कर्मका वात करते हैं, इसलिए ध्यान ही
वास्तवमें उत्तमार्थका प्रतिक्रमण है । ५२। (न. च. वृ./३४६) ।
ति. प./६/४६ पडिकमणं पडिसरणं पडिहरणं धारणा णियत्ती य ।
णिदणगरुहणसोही लभंति णियादभावणए । ४६। = निजात्मा
भावनासे प्रतिक्रमण, प्रतिसरण, प्रतिहरण, धारणा, निवृत्ति, निन्दन,
गर्हण और शुद्धिको प्राप्त होते है । ४६।
यो. सा. अ./५/५० कृताना कर्मणा पूर्व सर्वेषां पाकमीयुषां । आत्मीय-
स्वपरित्याग प्रतिक्रमणमीर्यते । ५०। = पहिले किये हुए कर्मोंके प्रदत्त
फलोको अपना न मानना प्रतिक्रमण कहा जाता है । ५०।
प्र. सा./ता वृ./२०७/२८१/१४ निजशुद्धात्मपरिणतिलक्षणः या तु क्रिया
सा निश्चयेन बृहत्प्रतिक्रमणा भण्यते । = निज शुद्धात्म परिणति है
लक्षण जिसका ऐसी जो क्रिया है, वह निश्चय नयसे बृहत्प्रतिक्रमण
कही जाती है ।

३. प्रतिक्रमणके भेद

१. दैवसिक आदिकी अपेक्षा

सू. आ./१२०.६१३ पढमं सञ्चदिचारं विदियं तिविह हवै पडिकमणं ।
पाणस्स परिच्चयण जावज्जीवुत्तमट्ठं च । १२०। पडिकमण देवसियं
रादिय हरियापधं च बोधव्व । पविस्सय चादुम्मासिय संवच्छरमुत्त-
मट्ठं च । ६१३। = पहला सर्वातिचार प्रतिक्रमण है अर्थात् दीक्षा
ग्रहणसे लेकर सब तपश्चरणके कालतक जो दोष लगे हो उनकी शुद्धि
करना, दूसरा त्रिविध प्रतिक्रमण है वह जलके बिना तीन
प्रकारका आहारका त्याग करनेमें जो अतिचार लगे थे उनका शोधन
करना और तीसरा उत्तमार्थ प्रतिक्रमण है उसमें जीवन पर्यंत जल-
पीनेका त्याग किया था, उसके दोषोकी शुद्धि करना है, । १२०।
अतिचारोसे निवृत्ति होना वह प्रतिक्रमण है वह दैवसिक रात्रिक,
ऐर्यापथिक, पाक्षिक, चतुर्मासिक, सात्रत्सरिक, और उत्तमार्थ
प्रतिक्रमण ऐसे सात प्रकार है । ६१३। (क. पा १), (६.१/६५/११३/६)
(गो. जो/जी. प्र/३६७/७१०/३) ।

२. द्रव्य क्षेत्र आदिकी अपेक्षा

भ. आ./वि./१२६/२७५/१४ प्रतिक्रमणं प्रतिनिवृत्ति षोडा भिचते नाम-
स्थापनाद्रव्यक्षेत्रकालभावविकल्पेन । केषाच्चिद्व्याख्यान । चतुर्वि-

धमित्यपरे । = अशुभसे निवृत्त होना प्रतिक्रमण है, उसके छह भेद
हैं—नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव प्रतिक्रमण । ऐसे
कितने आचार्योंका मत है । कोई आचार्य प्रतिक्रमणके चार भेद
कहते है ।

४. नाम स्थापनादि प्रतिक्रमणका लक्षण

भ. आ./वि./१२६/२७५/१४ अयोग्यनाम्नामनुच्चारणं नामप्रतिक्रमणं ।
• आप्ताभासप्रतिमार्थां पुरः स्थिताया यदभिमुखतया कृताञ्जलिपुटता,
शिरोवनति न कर्तव्यम् । एवं सा स्थापना परिहृता भवति । त्रस-
म्थावरस्थापनानामविनाशनं अमर्दनं अताडनं वा परिहारप्रति-
क्रमण । • उद्गमोत्पादनैषणादोषदुष्टन वसतीनां उपकरणानां,
भिक्षाणां च परिहरणं, अयोग्याना चाहारादीना, गूढदर्पस्य च
कारणानां सक्लेशहेतूनां वा निरसनं द्रव्यप्रतिक्रमण । उदक-
कर्मत्रसस्थावरनिचितेषु क्षेत्रेषु गमनादिवर्जनं क्षेत्रप्रतिक्रमणं ।
यस्मिन्ना क्षेत्रे वसतो रत्नत्रयहानिर्भवति तस्य वा परिहार । • •
रात्रिसंध्यात्रयस्वाध्यायावश्यककालेषु गमनागमनादिव्यापारा-
कारणात् कालप्रतिक्रमणं । आर्त-रौद्रमित्यादयोऽशुभपरिणामां,
पुण्यास्रवभूताश्च शुभपरिणामाः इह भावशब्देन गृह्यन्ते, तेभ्यो निवृत्ति-
र्भावप्रतिक्रमणं इति । = अयोग्य नामोका उच्चारण न करना यह
नाम प्रतिक्रमण है । • आप्ताभासकी प्रतिमाके आगे खड़े होकर
हाथ जोडना, मस्तक नवाना, द्रव्यसे पूजा करना, इस प्रकारके
स्थापनाका त्याग करना, अथवा त्रस, वा स्थावर जीवोकी स्थापनाओ
का नाश करना, मर्दन तथा ताडन आदिका त्याग करना स्थापना
प्रतिक्रमण है । • • उद्गमादि दोष युक्त वसतिका, उपकरण व आहारका
त्याग करना, अयोग्य अभिलाषा, उन्मत्तता तथा संक्लेश परिणामको
बहाने वाले आहारादिका त्याग करना, यह सब द्रव्य प्रतिक्रमण है ।
पानी, कीचड, त्रसजीव, स्थावर जीवोसे व्याप्त प्रदेश, तथा रत्नत्रय-
की हानि जहाँ हो ऐसे प्रदेशका त्याग करना क्षेत्र प्रतिक्रमण है । • •
रात्रि, तीनों सन्ध्याओमें, स्वाध्यायकाल, आवश्यक क्रियाके कालोंमें
आने जानेका त्याग करना यह काल प्रतिक्रमण है । • • आर्त-रौद्र
इत्यादिक अशुभ परिणाम व पुण्यास्रवके कारणभूत शुभ परिणाम-
का त्याग करना भाव प्रतिक्रमण है ।

भ. आ./वि./५०६/७२५/१४ हा दुष्कृतमिति वा मन प्रतिक्रमणं । सूत्रो-
च्चारणं वाक्य-प्रतिक्रमणं । कायेन तदनाचरणं कायप्रतिक्रमणं । =

किये हुए अतिचारोका मनसे त्याग करना यह मन-प्रतिक्रमण है ।
हाय मैने पाप कार्य किया है ऐसा मनसे विचार करना यह मन-प्रति-
क्रमण है । सूत्रोका उच्चारण करना यह वाक्य प्रतिक्रमण है । शरीरके
द्वारा दुष्कृतयोका आचरण न करना यह कायकृत प्रतिक्रमण है ।

★ आलोचना व प्रतिक्रमण रूप उभय प्रायश्चित्त

—दे० प्रायश्चित्त

५. अप्रतिक्रमणका लक्षण

स. सा./ता वृ./३०७/३८६/१७ अप्रतिक्रमण द्विविध भवति ज्ञानि-
जनाश्रितं अज्ञानिजनाश्रितं चेति । अज्ञानिजनाश्रितं यदप्रतिक्रमणं
तद्विषयकषायपरिणतिरूपं भवति । ज्ञानिजीवाश्रितमप्रतिक्रमणं तु
शुद्धात्मसम्यक्शुद्धानुष्ठानलक्षणं त्रिगुप्तिरूपं । = अप्रतिक्रमण
दो प्रकारका है—ज्ञानीजनोके आश्रित और अज्ञानी जनोके आश्रित ।
अज्ञानी जनोके आश्रित जो अप्रतिक्रमण है वह विषय कषायकी
परिणति रूप है अर्थात् हेयोपादेयके विवेकशून्य सर्वथा अत्याग रूप
निरर्गल प्रवृत्ति है । परन्तु ज्ञानी जीवोके आश्रित जो अप्रतिक्रमण है
वह शुद्धात्माके सम्यग्शुद्धान ज्ञान व आचरण लक्षण वाले अभेद
रत्नत्रयरूप या त्रिगुप्ति रूप है ।
स. सा./ता वृ./२५३/३६३/५ पूर्वानुभूतविषयानुभवरागादिसमरणरूपम-
प्रतिक्रमणं द्विविधः द्रव्यभावरूपेण । = पूर्वानुभूत विषयोका

अनुभव व रागादि रूप अप्रतिक्रमण दो प्रकारका है—द्रव्य व भाव अप्रतिक्रमण।

स. सा./पं. जयचन्द्र/२५४-२८५ अतीत कालमें जो पर द्रव्योंका ग्रहण किया था उनको वर्तमानमें अच्छा जानना, उनका संस्कार रहना, उनके प्रति ममत्व भावका होना सो द्रव्य अप्रतिक्रमण है। उन द्रव्योंके निमित्तसे जो रागादि भाव (अतीत कालमें) हुए थे, उनको वर्तमान में भले जानना, उनका संस्कार रहना, उनके प्रति ममत्व भाव रहना सो भाव अप्रतिक्रमण है।

२. प्रतिक्रमण विधि

१. आदि व अन्त तीर्थोंमें प्रतिक्रमणकी मितान्त आवश्यकता

सू. आ./६२५-६३० इरियागोयसरमुनिणादिसंभवमाचरदु मा व आचरदु। पुरिमचरिमादु सव्वे सव्वं णियमा पडिकर्मदि।६२८। पुरिमचरिमादु जम्हा चलचित्ता चेव मोहलक्खा य। तो सव्वपडिक्रमण अधल-घोडय दिट्ठतो।६३०। = ऋषभदेव और महावीर प्रभुके शिष्य इन सब ईर्यागोचरी स्वप्नादिसे उत्पन्न हुए अतीचारोंको प्राप्त हो अथवा मत प्राप्त हो तो भी प्रतिक्रमणके सब ढङ्गको उच्चारण करते हैं। ६२८। आदि अन्तके तीर्थकरके शिष्य चलायमान चित्त वाले होते हैं, मूढ बुद्धि होते हैं इसलिए वे सब प्रतिक्रमण ढङ्गक उच्चारण करते हैं। इसमें अन्धे घोडेका दृष्टान्त है कि सब ओषधियोंके करनेसे वह सूकता है। ६३०। (सू. आ./६२६) (म, आ./वि./४२१/६१६/५)।

२. शिष्योंका प्रतिक्रमण आलोचना पूर्वक और गुरुका आलोचनाके बिना ही होता है

सू. आ./६१८ काऊण य किदियग्गं पडिलेहिय अजल्लोकरणसुद्धो। आलोचिज्ज सुविहिदो गारव भाण च मोत्तूण।६१८। = विनयकर्म करके, शरीर आसनको पीछी व नेत्रसे शुद्ध करके, अंजलि क्रियामें शुद्ध हुआ निर्मल प्रवृत्ति वाला साधु ऋद्धि आदि गौरव और जाति आदिके मानको छोड़कर गुरुसे अपने अपराधोंका निवेदन करे। ६१८।

रा. वा./१/२२/४/६२१/२२ इदमयुक्त वर्तते। 'किमत्रायुक्तम्। अनालो-च्यत' न किचिदपि प्रायश्चित्तम्' इत्युक्तम्, पुनरुपदिष्टम्—'प्रति-क्रमणमात्रमेव शुद्धिकरम्' इति एतदयुक्तम्। अथ तत्राप्यालोचना-पूर्वकत्वमभ्युपगम्यते, तदुभयोपवेशो व्यर्थः, नैष दोषः, सर्वं प्रति-क्रमणमालोचनापूर्वकमेव, किंतु पूर्वं गुरुणाम्यनुज्ञात शिष्येणैव कर्तव्यम्, इदं पुनर्गुरुणोपदेशो व्यर्थः। = शका—पहिले कहा है कि आलोचना किये बिना कुछ भी प्रायश्चित्त नहीं होता और अब कह रहे हैं कि प्रतिक्रमण मात्र हो शुद्धिकारी है। इसलिए ऐसा कहना अयुक्त है। यहाँ भी आलोचना पूर्वक ही जाना जाता है इसलिए तदुभय प्रायश्चित्तका निर्देश करना व्यर्थ है। उत्तर— यह कोई दोष नहीं है—वास्तवमें सभी प्रतिक्रमण आलोचना पूर्वक हो होते हैं। किन्तु यहाँ इतनी विशेषता है कि तदुभय प्रायश्चित्त गुरुकी आज्ञासे शिष्य करता है। जहाँ केवल प्रतिक्रमणसे दोष शुद्धि होती है वहाँ वह स्वयं गुरुके द्वारा ही किया जाता है, क्योंकि गुरु स्वयं किसी अन्यसे आलोचना नहीं करता।

३. अल्प दोषमें गुरु साक्षी आवश्यक नहीं

घ. १३/५.४.२६/६०/१० एद (पडिक्रमण प्रायश्चित्तं) कथं होदि। अप्पावराहे गुरुहि विणा वट्टमाणमिह होदि = जब अपराध छोटा सा हो और गुरु समीप न हो, तब यह (प्रतिक्रमण नामका) प्रायश्चित्त है। चा. सा./१४१/४ अस्थिताना योगाना धर्मकथादिव्याक्षेपहेतुसंनिधानेन

विस्मरणे सत्यालोचन पुनरनुष्ठायकस्य सवेगनिर्वेदपदस्य गुरुविरहित-स्यास्याल्पपराधस्य पुनर्न करोमि मिथ्या मे वृष्कृतमित्येवमादि-भिर्दोषान्निवर्तनं प्रतिक्रमणं। = धर्म कथादिमें कोई बिचनके कारण उपस्थित हो जानेपर यदि कोई मुनि अपने स्थिर योगीको भूल जाय तो पहिले आलोचना करते हैं और फिर वे यदि संवेग और वैराग्यमें तत्पर रहे समीपमें गुरु न हो तथा छोटा सा अपराध लगा हो तो मैं फिर कभी ऐसा नहीं करूँगा यह मेरा पाप मिथ्या हो' इस प्रकार दोषोंसे अलग रहना प्रतिक्रमण कहलाता है।

४. प्रतिक्रमण करनेका विषय व विधि

सू. आ./६१६-६१७ पडिकमिद्वब्बं दव्वं सच्चित्ताचित्तमिरिसय तिविह। खेत्तं च गिहादीय कालो दिवसादिकालमिह।६१६। मिच्छत्त-पडिक्रमण वह चेव असंजमे पडिक्रमण। कसाएसु पडिक्रमणं लोकेसु य अप्पसत्थेसु।६१७। = सचित्त अचित्त मिश्ररूप जो त्यागने योग्य द्रव्य है वह प्रतिक्रमितव्य है, धर आदि क्षेत्र है, दिवस सुहूर्त आदि काल है। जिस द्रव्य आदिसे पापासव हो वह त्यागने योग्य है। ६१६। मिथ्यात्वका प्रतिक्रमण, उसी तरह असंयमका प्रतिक्रमण, क्रोधादि कषायोंका प्रतिक्रमण, और अशुभ योगीका प्रतिक्रमण करना चाहिए। ६१७।

दे० प्रतिक्रमण/२/२ (गुरु समक्ष विनय सहित, शरीर व आसनको पीछी व नेत्रसे शुद्ध करके करना चाहिए)।

दे० कृति कर्म/४ (दैवसिकादि प्रतिक्रमणमें सिद्ध भक्ति आदि पाठोंका उच्चारण करना चाहिए)।

सू. आ./६६३-६६५ भक्ते पाणे गामंतरे य चतुमासिबिरिसचरिमेसु। णाऊण ठति धीरा वणिदं दुक्खखयद्वाए।६६३। काओसग्गमिहठिदो चित्तिवु इरियवधस्स अतिचार। तं सव्वं समाणित्ता धम्म सुक्क च चित्तेज्जो।६६४। तह दिवसियरादियपक्खिवचतुमासिबिरिसचरिमेसु। तं सव्वं समाणित्ता धम्मं सुक्क च भायेज्जो।६६५। = भक्त पान प्रामान्तर, चातुर्मासिक, वार्षिक, उत्तमार्थ जानकर धीर पुरुष अतिशय कर दुखके क्षय निमित्त कायोत्सर्गमें तिष्ठते हैं। ६६३। कायोत्सर्गमें निष्ठा, ईर्यापथके अतिचारके नाशको चित्तवन करता मुनि उन सब नियमोंको समाप्तकर धर्मध्यान और शुक्लध्यान चिन्तवन करो। ६६४। इसी प्रकार दैवसिक, रात्रिक, पाक्षिक, चातु-र्मासिक, वार्षिक, उत्तमार्थ—इन सब नियमोंको पूर्ण कर धर्मध्यान और शुक्लध्यान ध्यावै। ६६५।

५. प्रतिक्रमण योग्य काल

दे० प्रतिक्रमण/१/३ (दिन, रात्रि, पक्ष, वर्ष, व आयुके अन्तमें दैव-सिकादि प्रतिक्रमण किये जाते हैं)।

अन. घ./१/४४ योगप्रतिक्रमविधि प्रागुक्ती व्यावहारिक'। कालक्रम-नियमोऽत्र न स्वाध्यायादिवद्यत'।४४। = रात्रि योग तथा प्रतिक्रमण-का जो पहले विधान किया गया है, वह व्यावहारिक है। क्योंकि इनके विषयमें कालके क्रमका अर्थात् समयानुपूर्वीका या काल और क्रमका नियम नहीं है। जिस प्रकार स्वाध्यायादि (स्वाध्याय, देव वन्दन और भक्त प्रत्याख्यान) के विषयमें काल और क्रम नियमित माने गये हैं उस प्रकार रात्रियोग और प्रतिक्रमणके विषयमें नहीं। ४४।

* प्रतिक्रमणमें कायोत्सर्गके कालका प्रमाण

—दे० व्युत्सर्ग / १।

* प्रतिक्रमण प्रायश्चित्त किसको कब दिया जाता है,

तथा प्रतिक्रमणके अतिचार

—दे० प्रायश्चित्त/४/२।

३. प्रतिक्रमण निर्देश

१. प्रतिक्रमण व सामायिकमें अन्तर

भ. आ/वि/११६/२७६/८ सामायिकस्य प्रतिक्रमणस्य च को भेद । सावद्ययोगनिवृत्तिः सामायिक । प्रतिक्रमणमपि अशुभमनोवाक्काय-निवृत्तिरेव तत्कथं षड्वारयकव्यवस्था । अत्रोच्यते—सर्व सावज्जजोगं पञ्चक्रवापाति वचनान्द्विसादिभेदमनुवादाय सामान्येन सर्वसावद्य-योगनिवृत्तिः सामायिक । हिसादिभेदेन सावद्ययोगविकल्प कृत्वा ततो निवृत्ति प्रतिक्रमण । इदं त्वन्याय्य प्रतिविधानं । योगशब्देन वीर्यपरिणाम उच्यते । स च क्षयोपशमिको भावस्ततो निवृत्तिर-शुभकर्मदाननिमित्तयोगरूपेण अपरिणतिरात्मनः सामायिकं । मिथ्यात्वानयमकषायारश्च दर्शनचारित्रमोहोदयजा औदयिका । तेभ्यो विरतिव्यावृत्तिः प्रतिक्रमण । = प्रश्न—सामायिक और प्रतिक्रमणमे क्या भेद है ? सावद्य मन वचन कायकी प्रवृत्तियोसे विरक्त होना यह सामायिकका लक्षण है । और अशुभ मनोवाक्कायकी निवृत्ति होना यह प्रतिक्रमण है । अर्थात् प्रतिक्रमण और सामायिक इनमें कुछ भी भेद नहीं है । इसलिए छ आवश्यक क्रियाओकी व्यवस्था कैसे होगी ? उत्तर—‘सर्वसावद्य योगोका मै त्याग करता हूँ’ ऐसा वचन अर्थात् प्रतिज्ञा सामायिकमे की जाती है । हिसादिको-के भेद पृथक् न ग्रहण कर सामान्यसे सर्व पापोंका त्याग करना सामायिक है । और हिसादि भेदसे सावद्य योगके विकल्प करके उससे विरक्त होना प्रतिक्रमण है । इस रीतिसे ऊपरके प्रश्नका कोई विद्वान उत्तर देते है परन्तु यह उनका उत्तर अयोग्य है । योग शब्द-से वीर्य परिणाम ऐसा अर्थ होता है । वह वीर्य परिणाम वीर्यान्तराय कर्मके क्षयोपशमसे उत्पन्न होता है, इसलिए वह क्षयोपशमिक भाव है । ऐसे योगसे निवृत्त होना यह सामायिक है । मिथ्यात्व, असंयम और कषाय ये दर्शन च चारित्र मोहनीय कर्मके उदयसे आत्मानं उत्पन्न होते है । ऐसे परिणामोसे विरक्ति होना यह प्रतिक्रमण कहा गया है ।

२. प्रतिक्रमण व प्रत्याख्यानमें अन्तर

क. पा. १/१.१/११५/१ पञ्चक्रवाणपडिक्रमणण को भेओ । उच्चदे, सर्ग-गटिठयदोसाणं दब्ब-खेत्त-काल-भावविसयाणं परिच्छाओ पञ्चक्रवाणं णाम । पञ्चक्रवाणादो अपञ्चक्रवाणं गतूण पुणोपञ्चक्रवाणस्साममण पडिक्रमणं । = प्रश्न—प्रत्याख्यान और प्रतिक्रमणमें क्या भेद है । उत्तर—द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावके निमित्तसे अपने शरीरमे लगे हुए दोषोका त्याग करना प्रत्याख्यान है । तथा प्रत्याख्यानसे अप्रत्याख्यानको प्राप्त होकर पुनः प्रत्याख्यानको प्राप्त होना प्रतिक्रमण है ।

३. प्रतिक्रमणके भेदोंका परस्परमें अन्तर्भाव

क. पा. १/१.१/११५/११३/६ सव्वायिचारिय-तिविहाहारचायियपडिक्रम-णाणि उत्तमद्वानपडिक्रमणम्मि णिवदंति । अट्ठावीसमूलगुणाइचार-विसयसव्वपडिक्रमणाणि इरियावहयपडिक्रमम्मि णिवदंति, अवगय-अइचारविसप्रत्तादो । = सर्वातिचारिक और त्रिविधाहार त्यागिक नामके प्रतिक्रमण उत्तम स्थान प्रतिक्रमणमे अन्तर्भूत होते है । अट्ठाईस मूलगुणोंके अतिचारविषयक समस्त प्रतिक्रमण ईर्यापथ प्रतिक्रमणमे अन्तर्भूत होते है, क्योंकि प्रतिक्रमण अवगत अतिचारो-को विषय करता है ।

★ निश्चय व्यवहार प्रतिक्रमणकी मुख्यता गौणता

—दे० चारित्र ।

प्रतिज्ञान्तर—न्या.सू/मू.व.टी/५/३/३१० प्रतिज्ञातार्थप्रतिषेधे धर्म-विकल्पात्तदर्थनिर्देश. प्रतिज्ञान्तरम् । ३। प्रतिज्ञातार्थोऽनित्य' शब्द ऐन्द्रियकत्वाद् घटवदित्युक्ते योऽस्य प्रतिषेध प्रतिदृष्टान्तेन हेतु-

व्यभिचार. सामान्यमैन्द्रियक नित्यमिति तस्मिन्च प्रतिज्ञातार्थ-प्रतिषेधे धर्मविकल्पादिति दृष्टान्तप्रतिदृष्टान्तयो साधर्म्ययोगे धर्म-भेदात्सामान्यमैन्द्रियक सर्वगतमैन्द्रियकस्त्वसर्वगतो घट इति धर्म-विकल्पात्तदर्थनिर्देश इति साध्यसिद्धयर्थं कथं यथा घटोऽसर्वगत एव शब्दोऽप्यसर्वगतो घटवदेवानिस्थ इति तत्रानित्य' शब्द इति पूर्वा प्रतिज्ञा असर्वगत इति द्वितीया प्रतिज्ञा प्रतिज्ञान्तरं तत्कथं निग्रहस्थानमिति न प्रतिज्ञाया' साधनं प्रतिज्ञान्तरं किंतु हेतु-दृष्टान्तौ साधनं प्रतिज्ञाया तदेतदसाधनोपादानमनर्थकमिति । अनार्थक्यान्निग्रहरथानमिति । ३। =वादी द्वारा प्रतिज्ञात हो चुके अर्थका प्रतिवादी द्वारा प्रतिषेध करनेपर वादी उस दूषणका उद्धार करनेकी इच्छासे धर्मका यानी धर्मान्तरका विशिष्ट कल्प करके उस प्रतिज्ञात अर्थका अन्य विशेषणसे विशिष्टपने करके कथन कर देता है, यह प्रतिज्ञान्तर है । ३। जैसे—शब्द अनित्य है ऐन्द्रियक होनेसे घटके समान, इस प्रकार वादीके कहनेपर प्रतिवादी द्वारा अनित्यपने-का निषेध किया गया । ऐसी दशामें वादी कहता है कि जिस प्रकार घट असर्वगत है, उसी प्रकार शब्द भी अव्यापक हो जाओ और उस ऐन्द्रियक सामान्यके समान यह शब्द भी नित्य हो जाओ । इस प्रकार धर्मकी विकल्पना करनेसे ऐन्द्रियकत्व हेतुका सामान्य नाम-को धारनेवाली जाति करके व्यभिचार हो जानेपर भी वादी द्वारा अपनी पूर्वकी प्रतिज्ञाकी प्रसिद्धिके लिए शब्दके सर्वव्यापकपना विकल्प दिखलाया गया कि तब तो शब्द असर्वगत हो जाओ । इस प्रकार वादीकी दूसरी प्रतिज्ञा तो उस अपने प्रकृत पक्षको साधनेमें समर्थ नहीं है । इस प्रकार वादीका निग्रह होना माना जाता है । किन्तु यह प्रशस्त मार्ग नहीं है । (श्लो वा. ४/न्या १३०/३५४/१६ में इसपर चर्चा की गयी है) ।

प्रतिज्ञा—न्या.टी/१/१/१३१/७६/४ तत्र धर्मधर्मिसमुदायरूपस्य पक्षस्य वचनं प्रतिज्ञा । यथा—पर्वतोऽयमग्निमात् इति । = धर्म और धर्मिके समुदायरूप पक्षके कहनेको प्रतिज्ञा कहते है । जैसे—यह पर्वत अग्निवाला है ।

न्या. सू/टी/१/१/३६/३८/१० साध्यस्य धर्मस्य धर्मिणा संबन्धोपादानं प्रतिज्ञार्थ । अनित्य शब्द इति प्रतिज्ञा । = धर्मिके द्वारा साध्य धर्मका सिद्ध करना प्रतिज्ञाका अर्थ है । जैसे—किसीने कहा कि शब्द अनिवार्य है ।

प्रतिज्ञाविरोध—न्या.सू/मू. व.टी/५/२/४/३११ प्रतिज्ञाहेत्वो-विरोध. प्रतिज्ञाविरोध । ४। गुणव्यतिरिक्तद्रव्यमिति प्रतिज्ञा । रूपादितोऽर्थान्तरस्यानुपलब्धेरिति हेतु' सोऽय प्रतिज्ञाहेत्वोविरोध कथं यदि गुणव्यतिरिक्तं द्रव्य रूपादिभ्योऽर्थान्तरस्यानुप-लब्धिर्नोपपद्यते । रूपादिभ्योऽर्थान्तरस्यानुपलब्धि गुण-व्यतिरिक्त द्रव्यमिति नोपपद्यते गुणव्यतिरिक्तं च द्रव्यं रूपादि-भ्यश्चार्थान्तरस्यानुपलब्धिरिति विरुध्यते व्याहन्यते न संभवतीति । = प्रतिज्ञावाक्य और हेतुवाक्यका विरोध हो जाना प्रतिज्ञाविरोध है । ४। द्रव्य, गुणसे भिन्न है यह प्रतिज्ञा हुई और रूपादिकोसे अर्थान्तर-की अनुपलब्धि होनेसे, यह हेतु है । ये परस्पर विरोधी है क्योंकि जो द्रव्य गुणसे भिन्न है, तो रूपादिकोसे भिन्न अर्थकी अनुपलब्धि इस प्रकार कहना ठीक नहीं होता है । और जो रूप आदिकोसे भिन्न अर्थकी अनुपलब्धि हो तो 'गुणसे भिन्न द्रव्य' ऐसा कहना नहीं बनता है । इसको प्रतिज्ञाविरोध नामक निग्रहस्थान कहते है । (श्लो वा. ४/न्या, १४२/३५६/२२ मे इसपर चर्चा) ।

प्रतिज्ञा संन्यास— (श्लो वा. ४/मू व.टी/५/२/५/३११ पक्षप्रति-षेधे प्रतिज्ञातार्थानपनयन प्रतिज्ञासंन्यास. ३। अनित्य शब्द ऐन्द्रियकत्वादित्युक्ते परो ब्रूयात्सामान्यमैन्द्रियक न चानित्यमेव शब्दोऽप्यैन्द्रियको न चानित्य इति । एव प्रतिषिद्धे पक्षे यदि ब्रूयात्

क' पुनराह अनित्य. शब्द इति । सोऽयं प्रतिज्ञातार्थं निह्वय' प्रतिज्ञा-सन्ध्यास इति । = पक्षके निषेध होनेपर प्रतिज्ञात 'माने हुए' अर्थका छोड़ देना' 'प्रतिज्ञा सन्ध्यास कहलाता है। जैसे—इन्द्रिय विषय होनेसे शब्द अनित्य है इस प्रकार कहनेपर दूसरा कहे कि 'जाति इन्द्रिय विषय है और अनित्य नहीं। इसी प्रकार शब्द भी इन्द्रिय विषय है पर अनित्य न हो। इस प्रकार पक्षके निषेध होनेपर यदि कहे कि कौन कहता है कि शब्द अनित्य है, यह प्रतिज्ञा किये हुए अर्थका छिपाना है। इसीको प्रतिज्ञासन्ध्यास कहते हैं (श्लो. वा. ४/न्या. १७८/३७४/१६ में इसपर चर्चा) ।

प्रतिज्ञा हानि—न्या. सू./पू. व टी./४/२/३०६ प्रतिदृष्टान्तधर्माभ्यानुज्ञा स्वदृष्टान्ते प्रतिज्ञाहानि । २। ऐन्द्रियकत्वादनित्यः शब्दो घटवदिति कृते अपर आह । दृष्टमैन्द्रियकत्वं सामान्ये नित्ये कस्मान्न तथा शब्द इति प्रत्यवस्थिते इदमाह यद्यैन्द्रियकं सामान्यं नित्यं कामं घटो नित्योऽस्त्विति । =साध्यधर्मके विरुद्ध धर्मसे प्रतिषेध करनेपर प्रति दृष्टान्तमें माननेवाला प्रतिज्ञा छोड़ता है इसको 'प्रतिज्ञाहानि' कहते हैं। जैसे—'इन्द्रियकेविषयहोनेसे घटकी नाह' शब्द अनित्य है' ऐसी प्रतिज्ञा करनेपर दूसरा कहता है कि 'नित्य जातिमें इन्द्रिय विषयत्व है। तो वैसे ही शब्द भी क्यों नहीं'। ऐसे निषेधपर यह कहता है कि 'जो इन्द्रिय विषय जाति नित्य है तो घट भी नित्य हो', ऐसा माननेवाला साधक दृष्टान्तका मिश्रत्व मानकर 'निगमन' पर्यन्त ही पक्षको छोड़ता है। पक्षका छोड़ना प्रतिज्ञाका छोड़ना है, क्योंकि पक्ष प्रतिज्ञाके आशय है। (श्लो. वा. ४/न्या./१०२/३४५/६ में इसपर चर्चा) ।

प्रतिग्रह— दे० भक्ति/२/६ ।

प्रतिघात—स. सि /२/४०/१६३/६ सूर्तिमतो सूर्यन्तरेण व्याघात' प्रतिघात' । = एक सूर्तीक पदार्थका दूसरे सूर्तीक पदार्थके द्वारा जो व्याघात होता है, उसे प्रतिघात कहते हैं। (रा.वा./२/४०/१/१४६/४) ।

प्रतिघाती—स्थूल व सूक्ष्म पदार्थोंमें प्रतिघाती व अप्रतिघातीपना —दे० सूक्ष्म/३ ।

प्रतिच्छन्न—भूत जातिके अन्तर देवोंका एक भेद—दे० भूत ।

प्रतिजीवीगुण—दे० गुण/१ ।

प्रतितंत्र सिद्धान्त—दे० सिद्धान्त ।

प्रतिदृष्टान्तसमा—न्या सू./पू. व टी./५/१/६/२६१ दृष्टान्तस्य कारणानपदेशात् प्रत्यवस्थानाच्च प्रतिदृष्टान्तेन प्रसगप्रतिदृष्टान्तसमौ । १। क्रियाहेतुगुणयोगी क्रियावात् लोष्ट इति हेतुर्नापदिश्यते न च हेतुमन्तरेण सिद्धिरस्तीति प्रतिदृष्टान्तेन प्रत्यवस्थान प्रतिदृष्टान्त-समः । क्रियावानात्मा क्रियाहेतुगुणयोगाद् लोष्टवदित्युक्ते प्रतिदृष्टान्त-उपादीयते क्रियाहेतुगुणयुक्तमाकाश निष्क्रियं दृष्टमिति । क' पुनरा-काशस्य क्रियाहेतुगुणो वायुना संयोग. संस्कारापेक्ष' वायुवनस्पति-संयोगवदिति । =वादीके द्वारा कहे गये दृष्टान्तके प्रतिकूल दृष्टान्त स्वरूप करके प्रतिवादी द्वारा जो दूषण उठाया जाता है, वह प्रति-दृष्टान्तसमा जाति इष्ट की गयी है। इसका उदाहरण यों है कि (क्रियावत्त्व गुणके कारण आत्मा क्रियावाला है जैसे कि लोष्ट) इस ही आत्माके क्रियावत्त्व साधनेमें प्रयुक्त किये गये दृष्टान्तके प्रतिकूल दृष्टान्त करके दूसरा प्रतिवादी प्रत्यवस्थान देता है कि क्रियाके हेतु-भूत गुणके (वायुके साथ) युक्त ही रहा आकाश तो निष्क्रिय देखा जाता है। उस हीके समान आत्मा भी क्रिया रहित हो जाओ। यदि यहाँ कोई प्रश्न करे कि क्रियाका हेतु आकाशका कौनसा गुण है। प्रतिवादीकी ओरसे उत्तर यों है कि वायुके साथ आकाशका जो संयोग है, वह क्रियाका कारण गुण है। जैसे—कि वेग नामक

संस्कारकी अपेक्षा रखता हुआ, वृक्षमें वायुका संयोग क्रियाका कारण हो रहा है। अत आकाशके समान आत्मा क्रिया हेतुगुणके सञ्जाव होनेपर भी क्रियारहित हो जाओ। (श्लो. वा ४/न्या. ३६४/४६६/१ में इसपर चर्चा) ।

प्रतिनीत—कायोत्सर्गका एक अतिचार—दे० व्युत्सर्ग/१ ।

प्रतिपक्ष—दे० पक्ष ।

प्रतिपत्तिक ज्ञान—दे० श्रुतज्ञान /II

प्रतिपत्तिक समास ज्ञान—दे० श्रुतज्ञान /II

प्रतिपद्यमान स्थान—दे० लब्धि/५ ।

प्रतिपात—

स सि./१/२४/१३०/८ प्रतिपतनं प्रतिपात' । = गिरनेका नाम प्रतिपात है। (रा. वा./१/२४/१/५५/१६) ।

रा. वा./१/२२/४/५२/४ प्रतिपत्तीति विनाशी विद्युत् प्रकाशवत् । = प्रतिपाती अर्थात् विजलीकी चमककी तरह विनाशशील बीचमें ही छूटनेवाला (अवधिज्ञान) ।

प्रतिपाती—प्रतिपाती संयम लब्धि स्थान—दे० लब्धि/५ ।

प्रतिपाती अवधिज्ञान—दे० अवधिज्ञान/६ ।

प्रतिपाती मनःपर्यय ज्ञान—दे० मनःपर्यय/२ ।

प्रतिपृच्छना—दे० समाचार ।

प्रतिबंध—प्रतिबंध निमित्त या कारण—दे० निमित्त/१ ।

प्रतिबंध्य—प्रतिबंध्य प्रतिबंधक विरोध—दे० विरोध ।

प्रतिबुद्धता—१. क्षण लव प्रतिबुद्धताका लक्षण

घ./८/३/४१/८५/१० खण-लव नाम कालविसेसा । सम्मह'सण-णाण-वद-सील-गुणाणमुज्जालण कलक'पक्खालण संधुक्खणं वा पडिबुज्झणं णाम, तस्य भावो पडिबुज्झणदा । खण-लव' पडि पडिबुज्झणदा खण-लवपडिबुज्झणदा । = क्षण और लव ये काल विशेषके नाम है। सम्यग्दर्शन, ज्ञान, व्रत और शील गुणोंको उज्ज्वल करने, मल को धोने, अथवा जलानेका नाम प्रतिबोधन है और इसके भावका नाम प्रतिबोधनता है। प्रत्येक क्षण व लवमें होने वाले प्रतिबोधको क्षण-लव प्रतिबुद्धता कहा जाता है।

२. एक इसी भावनामें शेष भावनाओंका समावेश

घ./८/३/४१/८५/१२/तीए एककाए वि तित्थयरणाकम्मस्स बंधो । एत्थ वि पुव्वं व सेसकारणाणमंतबभावो वरिसेदव्वो । तदो एवं तित्थयर-णाकम्मबन्धस्स पंचमं कारणं । = उस एक ही क्षण-लव प्रतिबुद्धतासे तीर्थकर नामकर्मका बन्ध होता है। इसमें भी पूर्वके समान शेष कारणोंका अन्तर्भाव दिखलाना चाहिए। इसलिए यह तीर्थकर नामकर्मके बन्धका पौंचवौ कारण है।

प्रतिबोध—घ./३/४१/८५/१० सम्मह'सण-णाण-वद-सील-गुणाणमु-ज्जालण कलक'पक्खालणं संधुक्खणं वा पडिबुज्झणं णाम । = सम्यग्दर्शन-ज्ञान, व्रत और शील गुणों को उज्ज्वल करने, मलको धोने अथवा जलानेका नाम प्रतिबोधन है।

प्रतिभग्न—क. पा./३/२,२२/४४०६/२३१/६ उक्कस्सट्ठिदि नघतो पडिहग्गपढमादिसमएसु सम्मत्त ण गेणहदि त्ति जाणावणट्ठमतीमुहु-त्तद्ध' पडिभग्गो त्ति भणिद । = प्रतिभग्न शब्दका अर्थ उत्कृष्ट स्थिति बंधके योग्य उत्कृष्ट संबलेश रूप परिणामोंसे प्रतिनिवृत्त होकर विशुद्धिकी प्राप्ति हुआ होता है।

प्रतिभा—श्लो० वा 13/1/20/128/662/3 उत्तर-प्रतिपत्ति. प्रतिभा कैश्चिदुक्ता सा श्रुतमेव, न प्रमाणान्तरं, शब्दयोजनासद्भावात् । अत्यन्ताभ्यासादाशुप्रतिपत्तिशब्दजा कूटद्रुमादावकुताभ्यासस्याशु-प्रवृत्ति प्रतिभापरै प्रोक्ता । सा न श्रुत, सादृश्यप्रत्यभिज्ञानरूपस्वा-त्तस्यास्तयो पूर्वोत्तरयोर्हि दृष्टदृश्यमानयो कूटद्रुमयोः सादृश्यप्रत्य-भिज्ञा ऋटित्येकतां परामृषन्ती तदेवेत्युपजायते । सा च मतिरेव निश्चितेत्याह ।—उत्तरकी समीचीन प्रतिपत्ति हो जाना प्रतिभा है । किन्ही लोगोंने उसको न्यारा प्रमाण माना है । किन्तु हम जैनोंके न्यारे प्रमाणस्वरूप नहीं है क्योंकि वाचक शब्दोंकी योजनाका सद्भाव है । किन्तु अत्यन्त अभ्यास हो जानेसे ऋटिति, कूट, वृक्ष, जल आदिमें उस प्रतिभाके अनुसार प्रवृत्ति हो जाती है । जो यह अनभ्यासी पुरुषकी प्रतिभा है, वह तो श्रुत नहीं है । क्योंकि पहिले कहीं देख लिये गये और अब उत्तर कालमें देखे जा रहे कूट, वृक्ष आदिके एकपनमें ऋट सादृश्य प्रत्यभिज्ञा उपज जाती है । अतः वह मतिज्ञान ही है ।

प्रतिभाग—लब्ध (घ/प्र०३) ।

प्रतिभूत—भूत जातिके व्यन्तर देवोका एक भेद—दे० भूत ।

प्रतिमा—१. मूर्ति रूप प्रतिमा—दे० चैत्य चैत्यालय । २. सल्लेखना गत साधुकी १२ प्रतिमाएँ—दे० सल्लेखना/४/११/२ । ३. श्रावककी ११ प्रतिमाएँ—दे० श्रावक/१ ।

प्रतिमान प्रमाण—दे० प्रमाण/६ ।

प्रतियोगी—१. जिस धर्ममें जिस धर्मका अभाव होता है वह धर्म उस अभावका प्रतियोगी कहलाता है जैसे—घटमें पटत्व । २. वह वस्तु जो अन्य वस्तुपर आश्रित हो ।

प्रतिरूप—भूत जातिके व्यन्तर देवोका भेद—दे० भूत । व्यन्तर२/१ ।

प्रतिरूपक—स सि /७/२७/३६७/८ कृत्रिमैर्हिरण्यादिभिर्वचनपूर्व-को व्यवहार प्रतिरूपकव्यवहार ।—बनावटो चोदो आदिसे कपट पूर्वक व्यवहार करना प्रतिरूपक व्यवहार है । (रा.वा. /७/२७/७/४५४/१७) इसमें मायाचारीका भी दोष आता है—दे० माया/२ ।

प्रतिलेखन—दे० पिच्छ ।

प्रतिलोम क्रम—प घ /५०/२८७ भाषा—सामान्यकी मुख्यता तथा विशेषकी गौणता करनेसे जो अस्ति-नास्ति रूप वस्तु प्रतिपादित होती है उसे अनुलोम क्रम कहते हैं । तथा विशेषकी मुख्यता और सामान्यकी गौणता करनेसे जो अस्ति नास्ति रूप वस्तु प्रतिपादित होती है उसे प्रतिलोम क्रम कहते हैं ।

प्रति विपला—कालका एक प्रमाण विशेष—दे० गणित 1/१/४ ।

प्रति विपलांस—कालका एक प्रमाण विशेष—दे० गणित 1/१/४ ।

प्रतिश्रमण अनुमति—दे० अनुमति ।

प्रतिश्रुति—म पु. २/६३-६६ प्रथम कुलत्तर थे । सूर्य चन्द्रमाको देख-कर भयभीत हुए लोगोंके भयको इन्होंने दूर किया था । विशेष दे.—शलाका पुरुष/६ ।

प्रतिषेध—दे० निषेध ।

प्रतिष्ठा—ष.व. १३/१.५/सू ४०/२४३ धरणी धारणा दृष्टवणा कोट्टा पट्टिठा 180 प्रतिष्ठन्ति विनाशेन विना अस्यामर्था इति प्रतिष्ठा ।—धारणी, धारणा, स्थापना, कोष्ठा और प्रतिष्ठा ये एकार्थ नाम है । 180 जिसमें विनाशके बिना पदार्थ प्रतिष्ठित रहते हैं वह बुद्धि प्रतिष्ठा है ।

प्रतिष्ठाचार्य—दे० आचार्य/३ ।

प्रतिष्ठा विधान—१ प्रतिष्ठाविधान क्रम—प्रमाण—(क) वसु-नन्दि प्रतिष्ठापाठ परिशिष्ट 18 (ख) वसुनन्दिश्रावकाचार्यः (ग) वसु-नन्दिप्रतिष्ठापाठ । १ आठ दस हाथ प्रमाणप्रतिष्ठानिर्माण। (ख /३६३५/४०१) २. प्रतिष्ठाचार्यमें इन्द्रका सकल्प (ख/४०२-४०४) ३. मण्डपमें सिंहासनकी स्थापना (ख /४०५-४०६) ४ मण्डपकी ईशान दिशामें पृथक् वेदीपर प्रतिष्ठाका धूलिकलशाभिषेक (ख./४०७-४०८); ५. प्रतिष्ठाकी प्रोक्षण विधि (ख./४०९); ६. आकारकी प्रोक्षण विधि (ख./४१०), ७. गुणारोपण, चन्दनतिलक, मुखवर्ण, मन्त्र न्यास व मुखपट (ख /४११-४२१) ८ प्रतिष्ठाके कंकण बन्धन, काण्डक स्थापन, यव (जौ) स्थापन, वर्ण पूरक, और इक्षु स्थापन, विशेष मन्त्रोच्चारण पूर्वक मुग्धोद्घाटन (ग./११२/११६), ९. रात्रि जागरण, चार दिन तक पूजन (ख /४२२-४२३); १० नेत्रोन्मीलन ।

२. उपरोक्त अंगोंके लक्षण

१. प्रतिष्ठा सदांग मुन्दर और शुद्ध होनी चाहिए । अन्यथा प्रतिष्ठा कारकके धन जन हानिको सूचक होती है । (क./१-८१) २. जलपूर्ण घटमें डालकर हुई शुद्ध मिट्टीसे कारीगर द्वारा प्रतिष्ठापर लेप कराना धूलिकलशाभिषेक कहलाता है । (ग./७०-७१) ३. सधवा स्त्रियों द्वारा मँजा जाना प्रोक्षण कहलाता है । (ग./७२); ४. सर्वाँषध जलसे प्रतिष्ठाको शुद्ध करना आकर शुद्धि है । (ग./७३-८६); ५. अरहं-तादिकी प्रतिष्ठामें उन उनके गुणोंका संकल्प करना गुणारोपण है । (ग./८६-१००); ६. प्रतिष्ठाके विभिन्न अंगोंपर बीजाक्षरोका लिखना मन्त्र संन्यास है । (ग./१०१-१०३) ७. प्रतिष्ठाके मुखको वस्त्रसे ढाँकना मुखपट विधान है । (ग./१०७); ८. प्रतिष्ठाकी आँखमें काजल डालना नेत्रोन्मीलन कहलाता है । नोट—यह सभी क्रियाएँ यथायोग्य मन्त्रोच्चारण द्वारा निष्पन्न की जाती है ।

३. अचलप्रतिष्ठा प्रतिष्ठा विधि

स्थिर या अचल प्रतिष्ठा की स्थापना भी इसी प्रकार की जाती है । केवल इतनी विशेषता है कि आकर शुद्धि स्वस्थानमें ही करें । (भित्ति या विशाल पाषाण और पर्वत आदिपर) चित्रित अर्थात् उकेरी गयी, रंगादिसे बनायी गयी या छापी गयी प्रतिष्ठाका दर्पणमें प्रतिबिम्ब दिखाकर और मस्तकपर तिलक देकर तत्परचात प्रतिष्ठाके मुख वस्त्र देवे । आकर शुद्धि दर्पणमें करे अथवा अन्य प्रतिष्ठामें करे । इतना मात्र ही भेद है, अन्य नहीं । (ख/४४३-४४५)

प्रतिष्ठा तिलक—आ० ब्रह्मदेव (ई श ११अन्त) द्वारा रचित संस्कृत भाषाका एक ग्रन्थ । (ती /३/३१३)

प्रतिष्ठापना शुद्धि—दे० समिति/१ ।

प्रतिष्ठापना समिति—दे० समिति/१ ।

प्रतिष्ठा पाठ—१ आ० इन्द्रनन्दि (ई श. १०मध्य) कृत वेदी तथा प्रतिष्ठा की शुद्धि व प्रतिष्ठा विधान विषयक ग्रन्थ है । २ आ० वसुनन्दि (जयसेन) (ई. १०६८-१११८) कृत ३२४ संस्कृत श्लोक प्रमाण प्रतिष्ठा सारसंग्रह (ती /३/२३१) । ३. पं० आशाधर (ई. ११७३-१२४३) कृत संस्कृत ग्रन्थ ।

प्रतिष्ठित—प्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पति—दे० वनस्पति/३ ।

प्रतिसरण—स.सा./ता.वृ /३०६/३८८/१० प्रतिसरणं सम्यक्त्वादि-गुणेषु प्रेरणं ।—सम्यक्त्वादि गुणोंकी प्रेरणा करना प्रतिसरण है ।

प्रतिसारी ऋद्धि—दे० ऋद्धि/२/४ ।

प्रतिसूय—यह हनुमानजीका मामा था । जो कि हनुमानकी माता अञ्जनाको जन्मसे लाया था । (प.पु /१७/३४५-३४६) ।

प्रतिसेवना कुशील साधु— दे० कुशील ।

प्रतिसेवी अनुमती— दे० अनुमति ।

प्रतिहरण— स.सा /ता वृ./३०६/३८८/१० प्रतिहरणं मिथ्यास्वरागा-
दिदोषेषु निवारणं । = मिथ्यास्व रागादि दोषोका निवारण करना
प्रतिहरण कहलाता है ।

प्रतींद्र— दे० इंद्र ।

प्रतीक— Symbol (ज.प./प्र./१०६) ।

प्रतीच्छना— घ.६/४.१.१५/२६२/८ आहरियभडाइएहि परविज्ज-
माणत्थावहरणं पडिच्छणा णाम । = आचार्य भट्टारकों द्वारा कहे जाने
वाले अर्थके निरचय करनेका नाम प्रतीच्छना है ।

घ.१४/५.६.१२/६/४ आहरिएहि कहिज्जमाणत्थाणं सुणणं पडिच्छणा
णाम । = आचार्य जिन अर्थोंका कथन कर रहे हों उनका सुनना
प्रतीच्छना है ।

प्रतीच्य— पश्चिम दिशा ।

प्रतीति— घ.१/१.१.११/१६६/७ दृष्टिं श्रद्धा रुचिः प्रत्यय इति
यावत् । = दृष्टि, श्रद्धा, रुचि और प्रत्यय (प्रतीति) ये पर्यायावाची
नाम है ।

पं.ध./उ./४१२ प्रतीतिस्तु तथेति स्यात्स्वीकार...४१२। = तत्त्वार्थका
स्वरूप जिस प्रकार है, वह उसी प्रकार है, ऐसा स्वीकार करना
प्रतीति कहलाती है ।

प्रतीत्य सत्य— दे० सत्य/१ ।

प्रत्यक्— पश्चिम दिशा ।

प्रत्यक्ष— विशद ज्ञानको प्रत्यक्ष कहते हैं । वह दो प्रकारका है—
सांख्यव्यवहारिक व पारमार्थिक । इन्द्रिय ज्ञान सांख्यव्यवहारिक प्रत्यक्ष है,
और इन्द्रिय आदि पर पदार्थोंसे निरपेक्ष केवल आत्मामें उत्पन्न होने
वाला ज्ञान पारमार्थिक प्रत्यक्ष है । यद्यपि न्यायके क्षेत्रमें सांख्यव्यवहारिक
ज्ञानको प्रत्यक्ष मान लिया गया है, पर परमार्थसे जैन दर्शनकार उसे
परोक्ष ही मानते हैं । पारमार्थिक प्रत्यक्ष भी दो प्रकारका है—सकल व
विकल । सर्वज्ञ भगवाद्का त्रिलोक व त्रिकालवर्ती केवलज्ञान सकल
प्रत्यक्ष है, और सीमित द्रव्य, क्षेत्र, काल व भाव विषयक अवधि व
मनःपर्ययज्ञान विकल या देश प्रत्यक्ष है ।

१	भेद व लक्षण
१	प्रत्यक्ष ज्ञान सामान्यका लक्षण— १. आत्माके अर्थमें; २. विशद ज्ञानके अर्थमें; ३. परा- पेक्ष रहितके अर्थमें ।
२	प्रत्यक्ष ज्ञानके भेद— १. सांख्यव्यवहारिक व पारमार्थिक, २. कैवी, पदार्थ व आत्म प्रत्यक्ष ।
३	प्रत्यक्ष ज्ञानके उत्तर भेद— १. सांख्यव्यवहारिक प्रत्यक्षके भेद; २. पारमार्थिक प्रत्यक्ष- के भेद; ३. सकल व विकल प्रत्यक्षके भेद ।
४	सांख्यव्यवहारिक व पारमार्थिक प्रत्यक्षके लक्षण ।
*	सांख्यव्यवहारिक प्रत्यक्ष ज्ञानकी विशेषताएँ— दे० मतिज्ञान ।

५	देश व सकल प्रत्यक्षके लक्षण ।
*	देश प्रत्यक्ष ज्ञानकी विशेषताएँ— दे० अवधि व मनःपर्यय ।
*	सकल प्रत्यक्ष ज्ञानकी विशेषताएँ— दे० केवलज्ञान ।
६	प्रत्यक्षाभासका लक्षण ।
२	प्रत्यक्ष ज्ञान निर्देश तथा शंका समाधान
१	प्रत्यक्षज्ञानमें सकलपादि नहीं होते ।
*	स्वसंवेदन प्रत्यक्ष ज्ञानकी विशेषताएँ— दे० अनुभव ।
*	मति व श्रुतज्ञानमें भी कथंचित् प्रत्यक्षता परोक्षता— दे० श्रुतज्ञान/१/५ ।
*	अवधि व मनःपर्ययकी कथंचित् प्रत्यक्षता परोक्षता— दे० अवधिज्ञान/३ ।
*	अवधि व मतिज्ञानकी प्रत्यक्षतामें अन्तर— दे० अवधिज्ञान/३ ।
२	केवलज्ञानको सकल प्रत्यक्ष और अवधिज्ञानको विकल प्रत्यक्ष क्यों कहते हैं ।
३	सकल व विकल दोनों ही प्रत्यक्ष पारमार्थिक हैं ।
*	सांख्यव्यवहारिक प्रत्यक्षकी पारमार्थिक परोक्षता— दे० श्रुतज्ञान/१/५ ।
४	इन्द्रियोंके बिना भी ज्ञान कैसे सम्भव है ।
*	इन्द्रिय निमित्तिक ज्ञान प्रत्यक्ष और उससे विपरीत परोक्ष होना चाहिए— दे० श्रुतज्ञान/१/५ ।
*	सम्यग्दर्शनकी प्रत्यक्षता परोक्षता— दे० सम्यग्/१/३ ।

१. भेद व लक्षण

१. प्रत्यक्ष ज्ञान सामान्यका लक्षण

१. आत्माके अर्थमें

प्र. सा./भू/५८ यदि केवलेण णादं हवदि हि जीवेण पच्चवस्सं /५८। =
यदि मात्र जीवके (आत्माके) द्वारा ही जाना जाये तो वह ज्ञान
प्रत्यक्ष है ।

स सि./१/१२/१०३/१ अक्ष्णोति व्याप्नोति जानातीत्यक्ष आत्मा ।
तमेव प्रतिनिधत्तं प्रत्यक्षम् । = अक्ष, ज्ञा और व्याप् धातुएं एकार्थ-
वाची होती हैं, इसलिए अक्षका अर्थ आत्मा होता है । ...केवल
आत्मासे होता है वह प्रत्यक्षज्ञान कहलाता है । (रा. वा /१/१२/२/
५३/११/) (घ.६/४.१.१५/४/४) (प्र. सा./त, प्र./५७) (स सा./
आ./१३/ क ८ के पश्चात्) (स म./२८/३२१/५) (न्या. दी./२/९
११/३६/१) (गो जी./जी. प्र./३६६/७६५/७) ।

प्र. सा./त, प्र./२१ संवेदनालम्बनभूता सर्वद्रव्यपर्याया प्रत्यक्षा एव
भवन्ति । = संवेदनकी (प्रत्यक्ष ज्ञानकी) आलम्बनभूत समस्त द्रव्य
पर्याये प्रत्यक्ष ही है ।

प्र. सा./त प्र./५८ यत्पुनरन्तकरणमिन्द्रियं परोपदेश...आदिकं वा
समस्तमपि परद्रव्यमनपेक्ष्यात्मस्वभावंमेवैकं कारणत्वेनोपादाय सर्व-
द्रव्यपर्यायजातमेकपद एवाभिध्याप्य प्रवर्तमानं परिच्छेदनं तत्
केवलादेवात्मन संभूतत्वात् प्रत्यक्षमित्यालक्ष्यते । = मन, इन्द्रिय,
परोपदेश आदिक सर्व परद्रव्योकी अपेक्षा रखे बिना एकमात्र
आत्मस्वभावकी ही कारणरूपसे ग्रहण करके सर्व द्रव्य पर्यायोके

समूहमे एक समय ही व्याप्त होकर प्रवर्तमान ज्ञान केवल आत्माके द्वारा ही उत्पन्न होता है, इसलिए प्रत्यक्षके रूपमे माना जाता है।

२. विशद ज्ञानके अर्थमें

न्या. वि./मु./१/३/५७/१६ प्रत्यक्षलक्षणं प्राहुः स्पष्टं साकारमञ्जसा । द्रव्यपर्यायसामान्यविशेषार्थात्मवेदनम् ।३। = स्पष्ट और सविकल्प तथा व्यभिचार आदि दोष रहित होकर सामान्य रूप द्रव्य और विशेष रूप पर्याय अर्थोंको तथा अपने स्वरूपका जानना ही प्रत्यक्षका लक्षण है ।३। (श्लो. वा./३/१/१२/४.१७/१७४.१८६) ।

सि. वि./मु./१/१६/७८/१६ प्रत्यक्ष विशदं ज्ञानं । = विशद ज्ञान (प्रति भास) को प्रत्यक्ष कहते है । (प. मु./२/३) (न्या. दी./२/११/२३/४) स. भ./त./४७/१० प्रत्यक्षस्य वैशद्यं स्वरूपम् । = वैशद्य अर्थात् निर्मलता वा स्वच्छता पूर्वक स्पष्ट रीतिसे भासना प्रत्यक्ष ज्ञानका स्वरूप है ।

३. परापेक्ष रहितके अर्थमें

रा. वा./१/१२/१/२३/४ इन्द्रियानिन्द्रियानपेक्षमतोतव्यभिचार साकार-ग्रहणं प्रत्यक्षम् ।१। = इन्द्रिय और मनको अपेक्षाके बिना व्यभिचार रहित जो साकार ग्रहण होता है, उसे प्रत्यक्ष कहते है । (त. सा./१/१७/१४) ।

प. घ./पू./६६६ असहायं प्रत्यक्षं ।६६६। = असहाय ज्ञानको प्रत्यक्ष कहते है ।

२. प्रत्यक्ष ज्ञानके भेद

१. सांख्यवहारिक व पारमार्थिक

स्या म./२८/३२१/६ प्रत्यक्ष द्विधा-सांख्यवहारिक पारमार्थिकं च । = सांख्यवहारिक और पारमार्थिक ये प्रत्यक्षके दो भेद है । (न्या. दी./२/१२१/३१/६) ।

२. देवी, पदार्थ व आत्म प्रत्यक्ष

न्या. वि./टी./१/३/११५/२५ प्रत्यक्ष त्रिविधं देवै दीप्यतामुपपावितम् । द्रव्यपर्यायसामान्यविशेषार्थात्मवेदनम् ।३६०। = प्रत्यक्ष तीन प्रकारका होता है—१ देवी द्वारा प्राप्त दिव्य ज्ञान, द्रव्य व पर्यायोंको अथवा सामान्य व विशेष पदार्थोंको जानने वाला ज्ञान तथा आत्माको प्रत्यक्ष करनेवाला स्वसंवेदन ज्ञान ।

३. प्रत्यक्ष ज्ञानके उत्तर भेद

१. सांख्यवहारिक प्रत्यक्षके भेद

न्या. मं./२८/३२१/६ सांख्यवहारिकं द्विविधम् इन्द्रियानिन्द्रियनिमित्त-भेदात् । तद् द्वितयम् अवग्रहेहावायधारणाभेदाद् एकैकशशचतुर्विकल्पम् । = सांख्यवहारिक प्रत्यक्ष इन्द्रिय और मनसे पैदा होता है । इन्द्रिय और मनसे उत्पन्न होनेवाले उस सांख्यवहारिक प्रत्यक्षके अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा चार चार भेद है । (न्या. दी./२/१११-१२/३१-३२) ।

२. पारमार्थिक प्रत्यक्षके भेद

स. सि./१/२०/१२५/१ तद् द्वेषा-देशप्रत्यक्ष सर्वप्रत्यक्षं च । = वह प्रत्यक्ष (पारमार्थिक प्रत्यक्ष) दो प्रकारका है—देश प्रत्यक्ष और सर्व प्रत्यक्ष । (रा. वा./१/२१ उर्थानिका १०८/२५) (ज. प./१३/४६) (द्र. स./टी./५/१५/१), (प. घ./मु./६६७) ।

घ. ६/४.१.४५/१४२/६ तत्र प्रत्यक्षं द्विविधं, सकलविकलप्रत्यक्षभेदात् । = प्रत्यक्ष सकल प्रत्यक्ष व विकल प्रत्यक्षके भेदसे दो प्रकारका है । (न्या. दी./२/१११/३४/१०) ।

स्या. म./२८/३२१/८ तद् द्विविधम् क्षयोपशमिकं क्षायिकं च । = वह (पारमार्थिक प्रत्यक्ष) क्षयोपशमिक और क्षायिकके भेदसे दो प्रकारका है ।

३. सकल और विकल प्रत्यक्षके भेद

स. सि./१/२०/१२५/२ देशप्रत्यक्षमवधिमत पर्यग्रहाने । सर्वप्रत्यक्षं केवलम् । = देश प्रत्यक्ष अवधि और मन पर्यय ज्ञानके भेदसे दो प्रकारका है । सर्व प्रत्यक्ष केवलज्ञान है । (वह एक ही प्रकारका होता है ।) (रा. वा./१/२१/७८/२६ की उर्थानिका) (घ. ६/४.१.४५/१४२-१४३/७) (न. च. वृ./१७९), (नि. सा./ता. वृ./१२२)-(त. प./१३/४७), (स्या. म./२८/३२१/६), (द्र. सं./टी./५/१५/१) (प. घ./पू./६६६) ।

४. सांख्यवहारिक व पारमार्थिक प्रत्यक्षके लक्षण

प. मु./२/५ इन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तं देशतः सांख्यवहारिकं । = जो ज्ञान स्पर्शनादि इन्द्रिय और मनकी सहायतासे होता हो उसे सांख्यवहारिक प्रत्यक्ष कहते है ।

स्या. म./२८/३२१/८ पारमार्थिकं पुनरुत्पत्तौ आत्ममात्रापेक्षम् । = पारमार्थिक प्रत्यक्षकी उत्पत्तिमें केवल आत्मा मात्रकी सहायता रहती है ।

द्र. स./टी./५/१५/६ समीचीनो व्यवहारः सव्यवहारः । प्रवृत्तिनिवृत्तिलक्षणं सव्यवहारो भण्यते । सव्यवहारे भव सांख्यवहारिकं प्रत्यक्षम् । यथा घटरूपमिदं मया दृष्टमित्यादि । = समीचीन अर्थात् जो ठीक व्यवहार है वह सव्यवहार कहलाता है; सांख्यवहारका लक्षण प्रवृत्ति निवृत्तिरूप है । सांख्यवहारमें जो हो सो सांख्यवहारिक प्रत्यक्ष है । जैसे घटका रूप मैंने देखा इत्यादि ।

न्या. दी./२/१११-१३/३१-३४/७ यज्ज्ञानं देशतो विशदमीपनिर्मलं तत्सांख्यवहारिकप्रत्यक्षमित्यर्थः ।११। लोकसंख्यवहारे प्रत्यक्षमिति प्रसिद्धत्वात्सांख्यवहारिकप्रत्यक्षमुच्यते । ' इव' चासुर्यप्रत्यक्षम्, उपचारसिद्धत्वात् । वस्तुतस्तु परोक्षमेव मतिज्ञानत्वात् ।१२। सर्वतो विशदं पारमार्थिकप्रत्यक्षम् । यज्ज्ञानं साकल्येन स्पष्टं तत्पारमार्थिकप्रत्यक्षं मुख्यप्रत्यक्षमिति यावत् ।१३। = १ जो ज्ञान एक देश स्पष्ट, कुछ निर्मल है वह सांख्यवहारिक प्रत्यक्ष है ।११। यह ज्ञान लोक व्यवहारमें प्रत्यक्षप्रसिद्ध है, इसलिए सांख्यवहारिक प्रत्यक्ष कहा जाता है । यह सांख्यवहारिक प्रत्यक्ष असुर्य अर्थात् गौणरूपसे प्रत्यक्ष है, क्योंकि उपचारसे सिद्ध होता है । वास्तवमें परोक्ष ही है, क्योंकि मतिज्ञान है ।१२। २ सम्पूर्णरूपसे प्रत्यक्ष ज्ञानको पारमार्थिक प्रत्यक्ष कहते है । जो ज्ञान सम्पूर्ण प्रकारसे निर्मल है, वह पारमार्थिक प्रत्यक्ष है । उसीको मुख्य प्रत्यक्ष कहते है ।

५. देश व सकल प्रत्यक्षके लक्षण

घ. ६/४.१.४५/१४२/७ सकलप्रत्यक्षं केवलज्ञानम्, विषयीकृतत्रिकाल-गोचरार्थोपार्थत्वात् अतीन्द्रियत्वात् अक्रमवृत्तित्वात् निर्व्यवधानात् आत्मार्थसन्निधानमात्रप्रवर्तनात् । अवधिमत पर्यग्रहाने विकल-प्रत्यक्षम्, तत्र साकल्येन प्रत्यक्षलक्षणाभावात् । = १ केवलज्ञान सकल प्रत्यक्ष है, क्योंकि, वह त्रिकालविषयक समस्त पदार्थोंको विषय करनेवाला, अतीन्द्रिय, अक्रमवृत्ति, व्यवधानसे रहित और आत्मा एवं पदार्थकी समीपता मात्रसे प्रवृत्त होनेवाला है । (ज. प./१३/४६) २ अवधि और मन पर्यय ज्ञान विकल प्रत्यक्ष है, क्योंकि उनमें सकल प्रत्यक्षका लक्षण नहीं पाया जाता (यह ज्ञान विनश्वर है । तथा मूर्त पदार्थोंमें भी इसकी पूर्ण प्रवृत्ति नहीं देखी जाती । (क. पा. १/१.१/११६/१) ।

ज. प./१३/५० दृक्वे खेत्ते काले भावे जो परिमितो दु अवबोधो । बहु-विधभेदपभिण्णो सो होदि य विव्यलपञ्चकलो ।५०। = जो ज्ञान द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावमें परिमित तथा बहुत प्रकारके भेद प्रभेदोंसे युक्त है वह विकल प्रत्यक्ष है ।

न्या. दी./२/११३-१४/३४-३६ तत्र कतिपयविषय विकलं ।१३। सर्वद्रव्य पर्यायविषय सकलम् । = १. कुछ पदार्थोंको विषय करनेवाला ज्ञान-विकल पारमार्थिक है ।१३। २ समस्त द्रव्यो और उनकी समस्त पर्यायोंको जाननेवाले ज्ञानको सकल प्रत्यक्ष कहते हैं ।१४। (स भ. त./४७/१३) ।

प. ध./पू/६६८-६६९ अयमर्थो यज्ज्ञान समस्तकर्मक्षयोद्भवं साक्षात् । प्रत्यक्ष क्षायिकमिदमज्ञातोत्तुख तदक्षायिकम् ।६६८। देशप्रत्यक्ष-मिहाप्यवधिमन पर्यय च यज्ज्ञानम् । देशं नोऽन्द्रिय मनउत्थात् प्रत्यक्षमितरनिरपेक्षात् ।६६९। = १. ज्ञान सम्पूर्ण कर्मोंके क्षयसे उत्पन्न होनेवाला साक्षात् प्रत्यक्षरूप अतीन्द्रिय तथा क्षायिक सुखरूप है वह यह अविनश्वर सकल प्रत्यक्ष है ।६६८। २. अवधि व मन पर्यय रूप जो ज्ञान है वह देशप्रत्यक्ष है क्योंकि वह केवल अतीन्द्रिय रूप मनसे उत्पन्न होनेके कारण देश तथा अन्य बाह्य पदार्थोंसे निरपेक्ष होनेके कारण प्रत्यक्ष कहलाता है ।६६९।

६. प्रत्यक्षाभासका लक्षण

प.मु./६/६ अवेशयो प्रत्यक्षं तदाभासं बौद्धस्याकस्माद्दर्शनाद्द्विविज्ञान-वत् ।६। = प्रत्यक्ष ज्ञानको अविशद स्वीकार करना प्रत्यक्षाभास कहा जाता है । जिस प्रकार बौद्ध द्वारा प्रत्यक्ष रूपसे अभिमत—आकस्मिक धूमदर्शनसे उत्पन्न अग्निका ज्ञान अविशद होनेसे प्रत्यक्षाभास कहलाता है ।

२. प्रत्यक्ष ज्ञान निर्देश तथा शंका समाधान

१. प्रत्यक्ष ज्ञानमें संकल्पादि नहीं होते

श्लो. वा. ३/१/१२/२०/१८५/२३ संकेतस्मरणोपाया दृष्टसंकल्पनात्मिका । नैषा व्यवसिति स्पष्टा ततो युक्ताक्षजन्मनि ।२०। = जो कल्पना संकेत ग्रहण और उसके स्मरण आदि उपायोसे उत्पन्न होती है, अथवा दृष्ट पदार्थमें अन्य सम्बन्धियोंका या दृष्ट-अनिष्टपनेका संकल्प करना रूप है, वह कल्पना श्रुत ज्ञानमें सम्भवती है । प्रत्यक्षमें ऐसी कल्पना नहीं है । हाँ, स्वार्थ निर्णयरूप स्पष्ट कल्पना तो प्रत्यक्षमें है । जिस कारण इन्द्रियजन्य प्रत्यक्षमें यह कल्पना करना समुचित है ।

२. केवलज्ञानको सकल प्रत्यक्ष और अवधिज्ञानको विकल प्रत्यक्ष क्यों कहते हो

क पा १/१,१/११६/१ ओहिमणपञ्चवणाणिवियलपञ्चवलाणि, अत्थेग-देसम्मि विसदसरुवेण तेसि पउत्तिदंसणादो । केवल सयलपञ्चवर, पञ्चवकीकयतिकालविसयासेसदव्वपञ्जयभावादो । = अवधि व मन-पर्ययज्ञान विकल प्रत्यक्ष है, क्योंकि पदार्थोंके एकदेशमें अर्थात् मूर्तीक पदार्थोंको कुछ व्यजन पर्यायोमें स्पष्ट रूपसे उनकी प्रवृत्ति देखी जाती है । केवलज्ञान सकल प्रत्यक्ष है, क्योंकि केवलज्ञान त्रिकालके विषयभूत समस्त द्रव्यो और उनकी समस्त पर्यायोंको प्रत्यक्ष जानता है ।

दे० प्रत्यक्ष/१५ (परापेक्ष, अक्रमसे समस्त द्रव्योको जानता है वह केवलज्ञान है । कुछ ही पदार्थोंको जाननेके कारण अवधि व मन पर्यय ज्ञान विकल प्रत्यक्ष है ।)

३. सकल व विकल दोनों ही प्रत्यक्ष पारमार्थिक हैं

न्या दी./२/११६/३७/१ नन्वस्तु केवलस्य पारमार्थिकत्वम्, अवधिमन-पर्यययोस्तु न युक्तम्, विकलत्वादिति चेत् न; साकर्यवैक्ययोरत्र विषयोपाधिकत्वात् । तथा हि—सर्वद्रव्यपर्यायविषयमिति केवल सकलम् । अवधिमन पर्ययौ तु कतिपयविषयत्वाद्द्विकलौ । नैतावता तयो पारमार्थिकत्वाद्युति । केवलवत्तदोरपि वैशद्य स्वविषये

साकर्येण समस्तीति तावपि पारमार्थिकावेव । = प्रश्न—केवलज्ञानको पारमार्थिक कहना ठीक है, परन्तु अवधि व मन पर्ययको पारमार्थिक कहना ठीक नहीं है । कारण, वे दोनों विकल प्रत्यक्ष हैं । उत्तर—नहीं, सकलपना और विकलपना यहाँ विषयकी अपेक्षासे है, स्वरूपत नहीं । इसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—चूँकि केवलज्ञान समस्त द्रव्यो और पर्यायोंको विषय करनेवाला है, इसलिए वह सकल प्रत्यक्ष कहा जाता है । परन्तु अवधि और मन-पर्यय कुछ पदार्थोंको विषय करते हैं, इसलिए वे विकल कहे जाते हैं । लेकिन इतनेसे उनमें पारमार्थिकताकी हानि नहीं होती । क्योंकि पारमार्थिकताका कारण सकलार्थविषयता नहीं है—पूर्ण निर्मलता है और वह पूर्ण निर्मलता केवलज्ञानकी तरह अवधि और मन-पर्ययमें भी अपने विषयमें विद्यमान है । इसलिए वे दोनों भी पारमार्थिक हैं ।

४. इन्द्रियोंके बिना भी ज्ञान कैसे सम्भव है

रा. वा./१/१२/४-५/६३/१६ करणात्यये अर्थस्य ग्रहणं न प्राप्नोति, न ह्यकरणस्य कस्यचित् ज्ञानं दृष्टमिति; तन्न, कि कारणम् । दृष्टत्वात् । कथम् । ईशवत् । यथा रथस्य कर्ता अनीशः उपकरणपेक्षो रथं करोति, स तदभावे न शक्त, य पुनरीशः तपोविशेषात् परिप्रासद्धि-विशेषः स बाह्योपकरणगुणानपेक्षः स्वशक्त्यैव रथं निर्वर्तयन् प्रतीतः, तथा कर्ममलीमस आत्मा क्षायोपशमिकेन्द्रियानिन्द्रियप्रकाशाद्युप-करणापेक्षोऽर्थात् सवेत्ति, स एव पुन क्षयोपशमविशेषे क्षये च सति करणानपेक्षः स्वशक्त्यैवार्थात् वेत्ति को विरोधः । ४। ज्ञानदर्शन-स्वभावत्वाच्च भास्करादिवत् । ५। = प्रश्न—इन्द्रिय और मन रूप बाह्य और अभ्यन्तर करणोंके बिना ज्ञानका उत्पन्न होना ही असम्भव है । बिना करणके तो कार्य होता ही नहीं है । उत्तर—१. असमर्थके लिए बसूला करीत आदि बाह्य साधनोंकी आवश्यकता होती है । जैसे—रथ बनानेवाला साधारण रथकार उपकरणोंसे रथ बनाता है किन्तु समर्थ तपस्वी अपने ऋद्धि बलसे बाह्य बसूला आदि उपकरणोंके बिना संकल्प मात्रसे रथको बना सकता है । उसी तरह कर्ममलीमस आत्मा साधारणतया इन्द्रिय और मनके बिना नहीं जान सकता पर वही आत्मा जब ज्ञानावरणका विशेष क्षयोपशम रूप शक्तिवाला हो जाता है, या ज्ञानावरणका पूर्ण क्षय कर देता है, तब उसे बाह्य उपकरणोंके बिना भी ज्ञान हो जाता है । ४। २. आत्मा तो सूर्य आदिकी तरह स्वयंप्रकाशी है, इसे प्रकाशनमें परकी अपेक्षा नहीं होती । आत्मा विशिष्ट क्षयोपशम होनेपर या आवरण क्षय होनेपर स्वशक्तिसे ही पदार्थोंको जानता है । ५।

ध. १/१,१,२२/१६८/४ ज्ञानत्वान्मत्यादिज्ञानवत्कारकमपेक्षते केवलमिति चेन्न, क्षायिकक्षायोपशमिकयो साधर्म्यभावात् । = प्रश्न—जिस प्रकार मति आदि ज्ञान, स्वयं ज्ञान होनेसे अपनी उत्पत्तिमें कारककी अपेक्षा रखते हैं, उसी प्रकार केवलज्ञान भी ज्ञान है, अतएव उसे भी अपनी उत्पत्तिमें कारककी अपेक्षा रखनी चाहिए । उत्तर—नहीं, क्योंकि क्षायिक और क्षायोपशमिक ज्ञानमें साधर्म्य नहीं पाया जाता ।

ध. ७/२,१,१७/६६/४ गाणसहकारिकारणइदियाणामभावे कथं गाणस्स अत्थिस्समिदि चे ण, गाणसहावपोगलदव्वाणुत्पण्णउत्पाद-व्वय-धुअत्तुवलशिवयजीवदव्वरस विणासाभावा । ण च एकं कज्जं एकादो चैव कारणदो सव्वत्थ उत्पज्जदि, इदियाणि खीणावरणे भिण्णजादोए णाणुत्पत्तिमिह सहकारिकारणं होति ति णियमो, अइत्पसंगादो, अण्णहा मोक्खाभावत्पसंगा । तमहा अणिविएसु करणकमव्ववहणादीदं पाणमत्थ ति धेतव्वं । ण च तण्णिकारणं अप्पट्टसण्णिहाणेण तदुत्पत्तीदो । = प्रश्न—ज्ञानके सहकारी कारण-भूत इन्द्रियोंके अभावमें ज्ञानका अस्तित्व किस प्रकार हो सकता है । उत्तर—नहीं, क्योंकि ज्ञान स्वभाव और प्रदुगल द्रव्यसे अनुत्पन्न, तथा उत्पाद, व्यय एव धौव्यसे उपलक्षित जीव द्रव्यका विनाशन

होनेमें इन्द्रियोंके अभावमें भी ज्ञानका अस्तित्व ही सकता है। एक कार्य सर्वत्र एक ही कारणसे उत्पन्न नहीं होता। इन्द्रियोंकी क्षीण-वर्ण जीवके भिन्न जातीय ज्ञानकी उत्पत्तिमें सहकारी कारण हो, ऐसा नियम नहीं है, क्योंकि ऐसा माननेपर अतिप्रसंग दोष आ जायेगा, या अन्यथा मोक्षके अभावका प्रसंग आ जायेगा। इस कारण अनिन्द्रिय जीवोंमें करण, क्रम और व्यवधानसे अतीत ज्ञान होता है, ऐसा ग्रहण करना चाहिए। यह ज्ञान निष्कारण भी नहीं है, क्योंकि आत्मा और पदार्थके सन्निधान अर्थात् सामीप्यसे वह उत्पन्न होता है।

ध. ६/४.१.४५/१४३/३ अतीन्द्रियाणामवधि-मन पर्ययकेवलज्ञाना कथं प्रत्यक्षता। नैष दोषः, अक्ष आत्मा, अक्षमं प्रति वर्तत इति प्रत्यक्ष-मवधि-मन-पर्ययकेवलज्ञानाति तेषां प्रत्यक्षत्वसिद्धेः = प्रश्न— इन्द्रियोंकी अपेक्षासे रहित अवधि, मन पर्यय और केवलज्ञानके प्रत्यक्षता कैसे सम्भव है। उत्तर—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, अक्ष शब्दका अर्थ आत्मा है, अतएव अक्ष अर्थात् आत्माकी अपेक्षा कर जो प्रवृत्त होता है वह प्रत्यक्ष है। इस निरुक्तिके अनुसार अवधि, मन-पर्यय, और केवलज्ञान प्रत्यक्ष है। अतएव उनके प्रत्यक्षता सिद्ध है। (न्या. दी./२/९१-९६/३८), (न्या. दी. की टिप्पणीमें उद्धृत न्या. कु./पृ. २६; न्या. वि./पृ. ११)।

प्र. सा./त. प्र./१६/ उत्थानिका—कथमिन्द्रियैर्विना ज्ञानानन्दाविति। अयं स्वप्नत्वात्मा शुद्धोपयोगसामर्थ्यात् प्रक्षीणघातिकर्मा, स्वपर-प्रकाशकत्वलक्षणं ज्ञानमनाकुलत्वलक्षणं सौख्यं च भूत्वा परिणमते। एवमात्मनो ज्ञानानन्दो स्वभाव एव। स्वभावस्य तु परानपेक्षादि-न्द्रियैर्विनाऽप्यात्मनो ज्ञानानन्दो संभवतः। = प्रश्न—आत्माके इन्द्रियोंके विना ज्ञान और आनन्द कैसे होता है। उत्तर—शुद्धोप-योगकी सामर्थ्यसे जिसके घातिकर्म ४ अक्षों प्राप्त हुए हैं, स्वयमेव, स्वपर प्रकाशकता लक्षण ज्ञान और अनाकुलता लक्षण सुख होकर परिणमित होता है। इस प्रकार आत्माका ज्ञान और आनन्द स्वभाव ही है। और स्वभाव परसे अनपेक्षा है, इसलिए इन्द्रियोंके विना भी आत्माके ज्ञान आनन्द होता है।

न्या. दी./२/९२,२८/४२-४०/८ तत्पुनरतीन्द्रियमिति कथम्। इत्थम्— यदि तज्ज्ञानमैन्द्रियिकं स्यात् अशेषविषयं न स्यात् इन्द्रियाणां स्वयोर्यविषय एव ज्ञानजनकरवशक्ते सूक्ष्मादीनां च तदयोग्यत्वा-दिति। तस्मात्सिद्धं तदशेषविषय ज्ञानमनैन्द्रियकमेवेति। २२। तदे-वमतीन्द्रियं केवलज्ञानमर्हत एवेति सिद्धम्। तद्वचनप्रामाण्याच्चा-वधिमन-पर्ययोरतीन्द्रिययोः सिद्धिरित्यतीन्द्रियप्रत्यक्षमनवद्यम्। = प्रश्न—(सूक्ष्म पदार्थोंका प्रत्यक्ष ज्ञान) अतीन्द्रिय है यह कैसे। उत्तर—इस प्रकार यह ज्ञान इन्द्रियजन्य है तो सम्पूर्ण पदार्थोंको जाननेवाला नहीं हो सकता है, क्योंकि इन्द्रियों अपने योग्य विषयमें ही ज्ञानको उत्पन्न कर सकती है। और सूक्ष्मादि पदार्थ इन्द्रियोंके योग्य विषय नहीं है। अतः वह सम्पूर्ण पदार्थ विषयक ज्ञान अतीन्द्रियक ही है। २२। इस प्रकार अतीन्द्रिय केवलज्ञान अरहन्तके ही है, यह सिद्ध हो गया। और उनके वचनोंकी प्रमाण होनेसे उनके द्वारा प्रतिपादित अतीन्द्रिय अवधि और मन पर्यय ज्ञान भी सिद्ध हो गये। इस तरह अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष है उसके माननेमें कोई दोष या बाधा नहीं है।

प्रत्यक्ष बाधित पक्षाभास—दे० बाधित।

प्रत्यक्ष बाधित हेत्वाभास—दे० बाधित।

प्रत्यनोक—गो. क./जो. प्र/१००/१०९/८ श्रुततद्वरादिषु अविनय-वृत्तिं प्रत्यनोकं प्रतिकूलैतरर्थः। = श्रुत व श्रुतधारकोमें अविनय रूप प्रवृत्तिका प्रतिकूल होना प्रत्यनोक कहलाता है।

प्रत्यभिज्ञान—

स. सि./५/३१/३०२/३ तदेवेदमिति स्मरण प्रत्यभिज्ञानम्। तदकस्मात् भवतीति योऽप्य हेतुः स तद्भावः। भवन् भवः। तस्य भावस्तद्भावः। येनात्मना प्राग्दृष्ट वस्तु तेनैवात्मना पुनरपि भावात्तदेवेदमिति प्रत्यभिज्ञायते। = 'वह यही है' इस प्रकारके स्मरणको प्रत्यभिज्ञान कहते हैं। वह अकस्मात् तो होता नहीं, इसलिए जो इसका कारण है वही तद्भाव है। तात्पर्य यह है कि पहले जिस रूप वस्तुको देखा था, उसी रूप उसके पुन होनेसे 'वही यह है' इस प्रकारका प्रत्यभिज्ञान होता है। (न्या. म./१८/२४५/६) (न्या. सू./मू. व. टी./२/२/२/१५)।

प. सु./२/५ दर्शनस्मरणकारणकं संकलनं प्रत्यभिज्ञानं। १५। = प्रत्यक्ष और स्मरणकी सहायतासे जो जोड़ रूप ज्ञान है, वह प्रत्यभिज्ञान है। न्या. म./२८/३२१/२५ अनुभवस्मृतिहेतुकं तिर्यग्ध्वत्तासामान्यादिगोचर संकलनात्मकं ज्ञानं प्रत्यभिज्ञानम्। यथा तज्जातीय एवागं गोपिण्ड-गोसदृशो गवयः स एवायं जिनदत्त इत्यादि। = वर्तमानमें किसी वस्तुके अनुभव करनेपर और भूत कालमें देखे हुए पदार्थका स्मरण होनेपर तिर्यक् सामान्य और ऊर्ध्वता सामान्य आदिको जानने वाले जोड़ रूप ज्ञानको प्रत्यभिज्ञान कहते हैं। जैसे—यह गोपिण्ड उसी जातिका है, यह गवय गौके समान है, यह वही जिनदत्त है इत्यादि (न्या. दी./३/९८/५६/२)।

न्या. दी./३/९०/५०/३ केचिदाहुः—अनुभवस्मृतिव्यतिरिक्तं प्रत्यभिज्ञानं नास्तीति, तदसत्, अनुभवस्य वर्तमानकालवर्ति विवर्त्तमात्रप्रकाशक-त्वम् स्मृतेश्चातीतविवर्त्तद्योतकत्वमिति तावद्भ्रस्तुगतिः। कथं नाम तयोः रतीतवर्त्तमानः। = कोई कहता है कि अनुभव व स्मृतिसे अति-रिक्त प्रत्यभिज्ञान नामका कोई ज्ञान नहीं है। सो ठीक नहीं है क्योंकि अनुभव केवल वर्तमान कालवर्ती होता है और स्मृति अतीत विवर्त्त द्योतक है, ऐसी वस्तुस्थिति है। (परन्तु प्रत्यभिज्ञान दोनों का जोड़ रूप है)।

२. प्रत्यभिज्ञानके भेद

न्या. वि./टी./२/५०/७६/२४ प्रत्यभिज्ञा द्विधा मिथ्या तथा चेति द्विप्रकारा = प्रत्यभिज्ञा दो प्रकारकी होती है—१. सम्यक् व २. मिथ्या।

प. सु./३/५० प्रत्यभिज्ञानं तदेवेदं तत्सदृशं तद्विलक्षणं तत्प्रतियोगी-त्यादि। १। = १. यह वही है, २. यह उसके सदृश है, ३. यह उससे विलक्षण है, ४. यह उससे दूर है, ५. यह वृक्ष है इत्यादि अनेक प्रकारका प्रत्यभिज्ञान होता है।

न्या. दी./३/९६/५६/६ तदिदमेकत्वं सादृश्यं तृतीये तु पुन वैसा-दृश्यम्. प्रत्यभिज्ञानम्। एवमन्येऽपि प्रत्यभिज्ञाभेदा यथाप्रतीति स्वयमुत्पेक्ष्या। = वस्तुओंमें रहने वाली १. एकता २. सादृश्यता और ३. विसदृश्यता प्रत्यभिज्ञाके विषय है। इसी प्रकार और भी प्रत्यभि-ज्ञानके भेद अपने अनुभवसे स्वयं विचार लेना।

३. प्रत्यभिज्ञानके भेदोंके लक्षण

न्या. वि./मू. व. टी./२/५०-५१/७६ प्रत्यभिज्ञा द्विधा [काचित्सादृश्य-विनिबन्धना]। ५०। काचित् जलविषया न तच्चक्रादिगोचरा सादृ-शस्य विशेषेण तन्मात्रातिशायिना रूपेण निबन्धनं व्यवस्थापन यस्या सा तथेति। सैव कस्मात्तथा इत्याह—प्रमाणपूर्विका नान्या [हृष्टिमान्धाविदोषत] इति। ५१। प्रमाण प्रत्यक्षादिपूर्वं कारणं यस्या सा काचिदेव नान्या तच्चक्रविषया यतः दृष्टेर्मरीचिवा-दर्शनस्य मान्द्यं यथावस्थितत्परिच्छिन्ति प्रत्यापाटवम् आदिर्यस्य जलाभिलाषादेः स एव दोषस्तत इति। = १. सम्यक् प्रत्यभिज्ञान प्रमाण पूर्वक होता है जैसे—जलमें उठने वाले चक्रादिको न देखकर केवल जल मात्रमें, पूर्व गृहीत जलके साथ सादृश्यता देखनेसे 'यह

जल ही है' ऐसा निर्णय होता है। २, मिथ्या प्रत्यभिज्ञान प्रमाण पूर्वक नहीं होता, बल्कि दृष्टिकी मन्दता आदि दोषोंके कारणसे कदाचित् मरीचिकामें भी जलकी अभिलाषा कर बैठता है।

प.सु./१/१-१० प्रत्यभिज्ञान तदेवेदं तत्सदृश तद्विलक्षणं तत्प्रतियोगी-स्यादि। १। यथा स एवायं देवदत्तः। ६। गोसदृशो गवयः। ७। गोविलक्षणो महिषः। ८। इदमस्माद्दूरः। ९। वृक्षोऽयमित्यादि। १०।

न्या. दी./३/४८-६/५६/५ यथा स एवाऽयं जिनदत्तः, गोसदृशो गवयः, गोविलक्षणमहिष इत्यादि। ८। अत्र हि पूर्वस्मिन्तु-दाहरणे जिनदत्तस्य पूर्वोत्तरदशाद्वयव्यापकमेकत्वं प्रत्यभिज्ञानस्य विषयः। तदिदमेकत्वप्रत्यभिज्ञानम्। द्वितीये तु पूर्वानुभूतगोप्रति-योगिकं गवयनिष्ठ सादृश्यम्। तदिदं सादृश्यप्रत्यभिज्ञानम्। तृतीये तु पुनः प्रागनुभूतगोप्रतियोगिकं महिषनिष्ठं वैसादृश्यम्। तदिदं वैसादृश्यप्रत्यभिज्ञानम्। = जैसे वही यह जिनदत्त है, गौके समान गवय होता है, गायसे भिन्न भैंसा होता है, इत्यादि। यहाँ १, पहले उदाहरणमें जिनदत्तकी पूर्व और उत्तर अवस्थाओंमें रहने वाली एकता प्रत्यभिज्ञानका विषय है। इसीको एकत्व प्रत्यभिज्ञान कहते हैं। २, दूसरे उदाहरणमें, पहले अनुभव की हुई गायको लेकर गवयमें रहने वाली सदृशता प्रत्यभिज्ञानका विषय है। इस प्रकारके ज्ञानको सादृश्य प्रत्यभिज्ञान कहते हैं। ३, तीसरे उदाहरणमें पहले अनुभव की हुई गायको लेकर भैंसामें रहनेवाली विसदृशता प्रत्यभिज्ञानका विषय है, इस तरहका ज्ञान वैसादृश्य प्रत्यभिज्ञान कहलाता है। ४ यह प्रदेश उस प्रदेशसे दूर है इस प्रकारका ज्ञान तत्प्रतियोगी नामका प्रत्यभिज्ञान कहलाता है। ५ यह वृक्ष है जो हमने सुना था। इत्यादि अनेक प्रकारका प्रत्यभिज्ञान होता है।

★ स्मृति आदि ज्ञानोंकी उत्पत्तिका क्रम—दे० मतिज्ञान/३।

★ स्मृति व प्रत्यभिज्ञानमें अन्तर—दे० मतिज्ञान/३।

४. प्रत्यभिज्ञानाभासका लक्षण

प.सु./६/१ सदृशे तदेवेदं तस्मिन्नेव तेन सदृशं यमलकवदित्यादि प्रत्य-भिज्ञानाभासः। १। = सदृशमें यह वही है ऐसा ज्ञान; और यह वही है इस जगह है—यह उसके समान है, ऐसा ज्ञान प्रत्यभिज्ञानाभास कहा जाता है जैसे—एक साथ उत्पन्न हुए पुरुषमें तदेवेदंकी जगह तत्सदृश और तत्सदृशकी जगह तदेवेदं यह ज्ञान प्रत्यभिज्ञानाभास कहा जाता है। १।

प्रत्यय—वैसे तो प्रत्यय शब्दका लक्षण कारण होता है, पर रूढ़ि वश आगममें यह शब्द प्रधानतः कर्मके आस्रव व बन्धके निमित्तोके लिए प्रयुक्त हुआ है। ऐसे वे मिथ्यात्व अविरति आदि प्रत्यय हैं, जिनके अनेक उत्तर भेद हो जाते हैं।

१	भेद व लक्षण
१	प्रत्यय सामान्यका लक्षण।
२	प्रत्ययके भेद-प्रभेद बाह्य-अभ्यन्तर, मोह-राग-द्वेष, मिथ्यात्वादि ४ वा ५, प्राणातिपातादि २८, चारके ५७ भेद।
३	प्रमादका कषायमें अन्तर्भाव करके पाँच प्रत्यय ही चार बन जाते हैं।
४	प्राणातिपातादि अन्य प्रत्ययोंका परस्परमें अन्तर्भाव नहीं होता।
५.६	५ अविरति व प्रमादमें अन्तर, ६ कषाय व अविरति-में अन्तर।

२	प्रत्यय विषयक प्ररूपणाएँ
१	सारणीमें प्रयुक्त सकेतोंका अर्थ।
२	प्रत्ययोंकी उदय व्युच्छित्ति (सामान्य व विशेष) ओष प्ररूपणा।
३	प्रत्ययोंकी उदय व्युच्छित्ति आदेशप्ररूपणा।
४	प्रत्यय स्थान व भंग प्ररूपणा। १, एक समय उदय आने योग्य प्रत्ययों सम्बन्धी सामान्य नियम। २, उक्त नियमके अनुसार प्रत्ययोंके सामान्य भंग। ३, उक्त नियम के अनुसार भंग निकालनेका उपाय। ४, गुणस्थानोंकी उपेक्षा स्थान व भंग।
५	किस प्रकृतिके अनुभाग बंधमें कौन प्रत्यय निर्मित है।
*	कर्मबंधके रूपमें प्रत्ययों सम्बन्धी शकाएँ—दे० बध/५।

१. प्रत्ययके भेद व लक्षण

१. प्रत्यय सामान्य का लक्षण

रा.वा./१/२१/२/७६/८ अयं प्रत्ययशब्दोऽनेकार्थः। क्वचिज्ज्ञाने वर्तते, यथा 'अर्थाभिधानप्रत्ययाः' इति। क्वचिच्छपथे वर्तते, यथा पर-द्रव्यहरणादिषु सत्पुपालम्भे 'प्रत्ययोऽनेन कृतः' इति। क्वचिद्धेतौ वर्तते, यथा 'अविद्याप्रत्ययाः संस्काराः' इति। = प्रत्यय शब्दके अनेक अर्थ हैं। कहींपर ज्ञानके अर्थमें वर्तता है जैसे—अर्थ, शब्द, प्रत्यय (ज्ञान)। कहींपर कसम शब्दके अर्थमें वर्तता है जैसे—पर आदिके चुराये जानेके प्रसंगमें दूसरेके द्वारा उलाहना मिलनेपर 'प्रत्ययोऽनेन कृत' अर्थात् उसके द्वारा कसम खायो गयी। कहींपर हेतुके अर्थमें वर्तता है जैसे—अविद्याप्रत्यया संस्काराः। अर्थात् अविद्याके हेतु संस्कार है।

ध. १/१,१,११/१६६/७ दृष्टि श्रद्धा रुचिः प्रत्यय इति यावत्। = दृष्टि, श्रद्धा, रुचि और प्रत्यय ये पर्यायवाची नाम हैं।

भ.आ./वि/८२/२१२/१ प्रत्ययशब्दोऽनेकार्थः। क्वचिज्ज्ञाने वर्तते यथा घटस्य प्रत्ययो घटज्ञानं इति यावत्। तथा कारणवचनोऽपि 'मिथ्यात्वप्रत्ययोऽनन्त संसार' इति गदिते मिथ्यात्वहेतुक इति प्रतीयते। तथा श्रद्धावचनोऽपि 'अयं अत्रास्य प्रत्ययः' श्रद्धेति-गम्यते। = प्रत्यय शब्दके अनेक अर्थ हैं जैसे 'घटस्य प्रत्यय' घटका ज्ञान, यहाँ प्रत्यय शब्दका ज्ञान ऐसा अर्थ है। प्रत्यय शब्द कारण-वाचक भी है जैसे—'मिथ्यात्वप्रत्यय अनन्तसंसार' अर्थात् इस अनन्त संसारका मिथ्यात्व कारण है। प्रत्यय शब्दका श्रद्धा ऐसा भी अर्थ होता है जैसे 'अयं अत्रास्य प्रत्ययः' इस मनुष्यकी इसके ऊपर श्रद्धा है।

२. प्रत्ययके भेद-प्रभेद

१. बाह्य व अभ्यन्तर रूप दो भेद

क.पा. १/१,१३-१४/२८४/१ तत्त्व अभ्यन्तरो कोधादिदृक्कर्मवत्त्वधा... बाहिरौ कोधादिभावकसायसमुपपत्तिकारण जीवाजीवपर्यं बज्ज-दत्तं। = क्रोधादि रूप द्रव्यकर्मके स्कन्धको आभ्यन्तर प्रत्यय कहते हैं। तथा क्रोधादि रूप भाव कषायकी उत्पत्तिका कारणभूत जो जीव और अजीव रूप बाह्य द्रव्य है वह बाह्य प्रत्यय है।

२. मोह राम द्वेष तीन प्रत्यय

न.च.वृ./३०२ पञ्चयवतो रागा दोसामोहे य आसवा तेसि । १३०१। =
राम, द्वेष और मोह ये तीन प्रत्यय हैं, इनसे कर्मोंका आसव
होता है १३०१।

३. मिथ्यात्वादि चार प्रत्यय

स.सा./मू./१०६-११० सामणपच्चया खलु चउरो भण्णंति बंधकत्तारो ।
मिच्छन् अविरमण कसाय जोगाय बोद्धव्वा १०६। तेसि पुणो वि य
इमो भणियो भेदो दु तेरस विअणो । मिच्छादिदृष्टीआदी जाव
सजोगिस्स चरमंत ११०। = चार सामान्य प्रत्यय निश्चयसे बन्धके
कर्ता कहे जाते हैं, वे मिथ्यात्व अविरमण तथा कषाय और योग
जानना १०६। (प सं./प्रा./४/७७) (घ.७/२ १७ गा./२/६)
(ध ५/३ ६/१६/१२) (न.च.वृ./३०२) (यो.सा./३/२) (पं का /-
त प्र./१४६) और फिर उनका यह तेरह प्रकारका भेद कहा गया है
जो कि—मिथ्यादृष्टिसे लेकर सयोगकेवली (गुणस्थान) पर्यंत है ११०।

४. मिथ्यात्वादि पाँच प्रत्यय

त.सू./५/१ मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोग बन्धहेतव १। =
मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग ये बन्धके हेतु हैं
१। (सू.आ./१२१६) ।

५. प्राणातिपात आदि २८ प्रत्यय

ष. खं./१२/४,२,५/सू.२-११/२७५ जोगम-ववहार-संगहाणं णाणावरणीय-
वेयणा पाणादिवादपच्चए १२। सुसावादपच्चए १३। अदत्तादानपच्चए
१४। मेहुणपच्चए १५। परिग्गहपच्चए १६। रादिभोगणपच्चए १७। एवं
कोह-माण-माया-लोह-राग-दोस-मोह-पेम्मपच्चए १८। णिदानपच्चए
१९। अम्भस्वाण-कलह-पेसुण-रइ-अरइ-उवहि-णियदि-माण-माय-
मोस-मिच्छाणण-मिच्छदंसण-पओअपच्चए १०। एवं सत्तणं
कम्मणं ११। = नैगम, व्यवहार, और संग्रह नयकी अपेक्षा ज्ञानावर-
णीय वेदना—प्राणातिपात प्रत्ययसे; मृषावाद प्रत्ययसे; अदत्तादान
प्रत्ययसे; मैथुन प्रत्ययसे; परिग्रह प्रत्ययसे, रात्रि भोजन प्रत्ययसे,
क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष, मोह और प्रेम प्रत्ययोंसे; निदान
प्रत्ययसे; अभ्याख्यान, कलह, वैशुन्य, रति, अरति, उपधि, निकृति,
मान, मेय, मोष, मिथ्याज्ञान, मिथ्यादर्शन, और प्रयोग इन प्रत्ययोंसे
होती है १२-१०। इसी प्रकार शेष सात कर्मोंके प्रत्ययोंकी प्ररूपणा
करनी चाहिए ११।

६. चार प्रत्ययोंके कुल ५७ भेद

पं सं./प्रा/४/७७ मिच्छासंजम हुंति हु कसाय जोगा य बंधहेऊ ते ।
पच दुवालस भेया कमेण पणुवोस पणस्सं १७७। = मिथ्यात्व, अस-
यम, कषाय और योग ये चार कर्मबन्धके मूल कारण हैं। इनके
उत्तर भेद क्रमसे पाँच, बारह, पच्चीस और पन्द्रह हैं। इस प्रकार
सब मिलकर कर्म बन्धके सत्तावन उत्तर प्रत्यय होते हैं १७७।
(ध ५/३,६./२१/१) (गो.क/मू./७५६/६५०)

३. प्रमादका कषायमें अन्तर्भाव करके पाँच प्रत्यय ही
चार बन जाते हैं

घ/७/२,१,७/११/११ चहुण्हं बंधकारणां मज्जे कथपमादसंतंभाधो ।
कसायेसु, कसायवदिरित्तपमादावणुवल भादो । = प्रश्न—पूर्वोक्त

(मिथ्यात्व, प्रमाद, कषाय, और योग) चार बन्धके कारणोंमें प्रमाद-
का कहीं अन्तर्भाव होता है १ उत्तर—कषायोंमें प्रमादका अन्तर्भाव
होता है, क्योंकि, कषायोंसे पृथक् प्रमाद पाया नहीं जाता । (घ.१२/
४,२,५,१०/२८६/१०)

४. प्राणातिपात आदि अन्य प्रत्ययोंका परस्परमें अन्त-
र्भाव नहीं किया जा सकता

घ. १२/४,२,५-६/पु./पं. ण च पाणदिवाद-मुसावाद-अदत्तादानाणमंत-
रंगणं क्रोधादिपच्चएसु अतम्भावो, वधंचि तत्तो तेसि भेदुवलंभादो
(२५२/५) । ण च मेहुणं अतरंगराणे णिपददि, तत्तो कधंचि एदस्स
भेदुवलंभादो (२५२/७) । मोहपच्चयो कोहादिमु पविसदि त्ति किण्णा-
वणिज्जदे । ण, अवयवावयवीणं वदिरेगणयसरूपाणमणेगेगसंखाणं
कारणकज्जाणं एगाणेगसहावावाणमेगत्तविरोहादो (२५४/१०) ।
पेम्मपच्चयो लोभ-राग-पच्चएसु पविसदि त्ति पुणरुत्तो किण्ण
जायदे । ण, तेहितो एदस्स कधंचि भेदुवलंभादो । तं जहा बज्जत्थेसु
ममेदं भावो लोभो । ण सो पेम्म, ममेदं बुद्धीए अपडिगहिदे वि
दवखाहले परदारो वा पेम्मवुवलंभादो । ण रागो पेम्मं, माया-लोह-
हस्स-रदि-पेम्म-समूहस्स रागस्स अवयविणो अवयवसरूवपेम्मत्त-
विरोहादो (२५४/३) । ण च एसो पच्चओ मिच्छत्तपच्चए पविसदि,
मिच्छत्तसहचारिस्स मिच्छत्तेण एयत्तविरोहादो । ण पेम्मपच्चए
पविसदि, संपयासंपयविसयम्मि पेम्मम्मि संपयविसयम्मि णिदा-
णस्स पवेसविरोहादो । = १. प्राणातिपात, मृषावाद और अदत्तादान
इन अतरंग प्रत्ययोंका क्रोधादिक प्रत्ययोंमें अन्तर्भाव नहीं हो
सकता, क्योंकि, उनसे इनका कथंचित् भेद पाया जाता है । २.
मैथुन अन्तरंग रागमें गर्भित नहीं होता, क्योंकि, उससे इसमें कथं-
चित् भेद पाया जाता है (२५२/७) । ३. प्रश्न—मोह प्रत्यय चूँकि
क्रोधादिकमें प्रविष्ट है अतएव उसे कम क्यों नहीं किया जाता है ?
उत्तर—नहीं, क्योंकि क्रमशः व्यतिरेक व अन्वय स्वरूप, अनेक व
एक संख्या वाले, कारण व कार्य रूप तथा एक व अनेक स्वभावसे
संयुक्त अवयव अवयवोंके एक होनेका विरोध है (२५३/१०) ।
४. प्रश्न—चूँकि प्रेम प्रत्यय लोभ व राग प्रत्ययोंमें प्रविष्ट है अतः
वह पुनरुक्त क्यों न होगा ? उत्तर—नहीं, क्योंकि उनसे इसका कथं-
चित् भेद पाया जाता है । वह इस प्रकारसे—बाह्य पदार्थोंमें 'यह मेरा
है' इस प्रकारके भावकी लोभ कहा जाता है । वह प्रेम नहीं हो
सकता, क्योंकि, 'यह मेरा है' ऐसी बुद्धिके अविषयभूत भी द्राक्षाफल
अथवा परस्त्रीके विषयमें प्रेम पाया जाता है । राग भी प्रेम, नहीं हो
सकता, क्योंकि, माया, लोभ, हास्य, रति और प्रेमके समूह रूप
अवयवी कहलाने वाले रागके अवयव स्वरूप प्रेम रूप होनेका विरोध
है । (२५४/३) । ५. यह (निदान) प्रत्यय मिथ्यात्व प्रत्ययमें प्रविष्ट
नहीं हो सकता, क्योंकि वह मिथ्यात्वका सहचारी है, अतः मिथ्या-
त्वके साथ उसकी एकताका विरोध है । वह प्रेम प्रत्ययमें भी प्रविष्ट
नहीं होता, क्योंकि, प्रेम सम्पत्ति एवं असंपत्ति दोनोंको विषय
करने वाला है, परन्तु निदान केवल सम्पत्तिको ही विषय करता है,
अतएव उसका प्रेममें प्रविष्ट होना विरुद्ध है ।

५. अविरति व प्रमादमें अन्तर

रा. वा./५/१/३२/६६/४ अविरते प्रमादस्य चाविशेष इति चेत्, न;
विरतस्यापि प्रमाददर्शनात् १३२। विरतस्यापि पच्चदश प्रमादाः
स भवन्ति-विकथाकषायेन्द्रियनिद्राप्रणयलक्षणा । = प्रश्न—अविरति
और प्रमादमें कोई भेद नहीं है ? उत्तर—नहीं, क्योंकि विरतके भी

विकथा, कषाय, इन्द्रिय, निद्रा और प्रणय ये पन्द्रह प्रमादस्थान देखे जाते हैं, अतः प्रमाद और अविरति पृथक्-पृथक् है।

६. कषाय व अविरतिमें अन्तर

रा. वा १/२/३३/५६४/७ स्यादेतद-कषायाविरत्योर्नास्ति भेदः उभयो-रपि हिंसादिपरिणामरूपत्वादिति; तन्न, कि कारणम्। कार्यकारण-भेदोपपत्तेः। कारणभूता हि कषायाः कार्यात्मिकाया हिंसाद्यविरते-रर्थान्तरभूता इति। = प्रश्न—हिंसा परिणाम रूप होनेके कारण कषाय और अविरतिमें कोई भेद नहीं है? उत्तर—ऐसा नहीं है, क्योंकि इनमें कार्य कारणकी दृष्टिसे भेद है। कषाय कारण है और हिंसादि अविरति कार्य।

घ. ७/२,१,७/१३/७ असज्जमो यदि क्साएस्तु चैत्र पददि तो पुष तदुवदेसो किमट्ठं कीरवे। ण एस दोसो, ववहारणयं पडुच्च तदुवदेसादो। = प्रश्न—यदि असंयम कषायोमें ही अन्तर्भूत होता है तो फिर उसका पृथक् उपदेश किस लिए किया जाता है? उत्तर—यह कोई दोष नहीं, क्योंकि व्यवहार नयकी अपेक्षासे उसका पृथक् उपदेश किया गया है।

दे. प्रत्यय/४ (प्राणातिपात्तादि अन्तरम प्रत्ययोंका क्रोधादि प्रत्ययोंसे कथंचित् भेद है)।

२. प्रत्यय विषयक प्ररूपणाए

१. सारणीमें प्रयुक्त लंकेतोंका अर्थ

अनं० चतु०	अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ
अनु० मन० वच०	अनुभय मन, व अनुभय वचन
वच०	भय वचन
अवि०	अविरति
आ० द्वि०	आहारक व आहारक मिश्र
आ० मि०	आहारक मिश्र
औ० द्वि०	औदारिक व औदारिक मिश्र
उ० मन० वच०	उभय मन व वचन
नपु०	नपुसक वेद
पु०	पुरुषवेद
प्रत्यय० चतु०	प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ
मन० ४	सत्य, असत्य, उभय व अनुभय मनोयोग
मि० पचक	पाचो प्रकारका मिथ्यात्व
वच० ४	चार प्रकारका वचनयोग
वै० द्वि०	वैक्रियक व वैक्रियक मिश्र
स क्रोध	संज्वलन क्रोध
हास्यादि ६	हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा

२. प्रत्ययोंकी उदय व्युच्छिति ओष प्ररूपणा

१. सामान्य ४ वा ५ प्रत्ययोंकी अपेक्षा

कुल बन्ध योग्य प्रत्यय—१ स सि ८/१/३७६/५ मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग—५, २. पं सं / प्रा ४/७८-७९ मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग—४, (घ. ८/३ ६/गा. २०-२१/२४); (पं. सं./सं ४/१८-२१) (गो क./सू. (७८७-७८८) ।

गुण स्थान	पाँच प्रत्ययोंकी अपेक्षा (सं. सि.)				चार प्रत्ययोंकी अपेक्षा (पं. सं.)			
	व्युच्छिति प्र०	कुल बन्ध	व्यु	शेष	व्युच्छिति प्र०	कुल बन्ध	व्यु	शेष
१	मिथ्यात्व	५	१	४	मिथ्यात्व	४	१	३
२-४	त्रस अविरति	४	×	४	त्रस अविरति	३	×	३
५	अविरति	४	१	३	अविरति	३	१	२
६	प्रमाद	३	१	२	×	२	×	२
७-१०	कषाय	२	१	१	कषाय	२	१	१
११-१३	योग	१	१	×	योग	१	१	×
१४	×	×	×	×	×	×	×	×

२. विशेष ५७ प्रत्ययोंकी अपेक्षा

प्रमाण—(पं. सं./प्रा ८०-८३); (घ ८/३,६/२२-२४/१); (गो. क./सू./ ७८६-७९०/६५२)

कुल बन्ध योग्य प्रत्यय—मिथ्यात्व ५; अविरति १२, कषाय २५, योग १५=५७ ।

गुणस्थान	व्युच्छिति	अनुदय	पुन उदय	कुल उदय योग्य अनुदय	पुनः उदय	उदय	व्युच्छिति	कुल उदय योग्य
१	मि० पंचक	आ० द्वि०		५७	२	५५	५	५०
२	अनन्ता० चतु०			५०		५०	४	४६
३	×	औ०वै०मि० व शर्मण		४६	३	४३	×	४३
४	अप्रत्या० चतु० त्रसहिंसा, वै० द्वि०=७		औ० वै० मिश्र व कर्मण	४३	३	४६	७	३६
५	प्रत्या० चतु० शेष ११ अवि-रति=१५	औ० मि० कर्मण		३६	२	३७	१५	२२
६	आ० द्वि०		आ०द्वि०	२२	२	२४	२	२२
७	×			२२		२२	×	२२

गुण स्थान	व्युच्छित्ति	अनुदय	पुनः उदय	कुल उदय योग्य अनुदय	पुनः उदय	उदय	व्युच्छित्ति	विशेष उदय योग्य
८	हार्स्यादि ६			२२		२२	६	१६
६/i	नपुं०			१६		१६	१	१६
६/ii	स्त्री वेद			१५		१५	१	१४
६/iii	पुरुष वेद			१४		१४	१	१३
६/iv	सं० क्रोध			१३		१३	१	१२
६/v	सं० मान			१२		१२	१	११
६/vi	सं० माया			११		११	१	१०
६/vii	बादर लोभ			१०		१०		१०
१०	सूक्ष्म लोभ			१०		१०	१	९
११	x			९		९		९
१२	असत्य व उ० मन व वचन			९		९	४	५
१३	सत्य, अनु० मन वचन औ० द्वि० व कर्मण	औ०मि० व कर्मण		६	२	७	७	
१४	x							

३. प्रत्ययोंकी उदय व्युच्छित्ति भादेश प्ररूपणा

पं. सं./प्रा/४/८४-१०० कुल उदय योग्य प्रत्यय=१७

नोट—यहाँ प्रत्येक मार्गणामें केवल उदय योग्य प्रत्ययोंके निर्देश रूप सामान्य प्ररूपणा की गयी है। गुणस्थानोंकी अपेक्षा उनकी प्ररूपणा तथा यथा योग्य ओष प्ररूपणाके आधारपर जानी जा सकती है।

नं०	मार्गणा	गुण स्थान	उदयके अयोग्य प्रत्ययोंके नाम	उदय योग्य
१	गति—			
	१ नरक	४	औ० द्वि, आ० द्विक, स्त्री, पुरुष वेद = ६	६१
	२ तिर्यंच	५	वै० द्वि, आ० द्वि० = ४	६३
	३ मनुष्य	१४	वै० द्विक = २	६५
	४ देव	४	औ० द्विक, आ०द्वि०नपुं० = ५	६२
२	इन्द्रिय—			
	१ एकेन्द्रिय	२	वै० द्वि०, आ० द्विक०, वच०४, मन०४,स्पर्शसे अतिरिक्त ५ अविरति, स्त्री, पुरुष वेद = १६	३८
	२ द्वीन्द्रिय	२	उपरोक्त १६-रसनेन्द्रिय + अनु० वचन = १७	४०
	३ त्रीन्द्रिय	२	उपरोक्त १७-माणेन्द्रिय = १६	४१
	४ चतुरिन्द्रिय	२	उपरोक्त १६-चक्षुरिन्द्रिय = १५	४२
	५ पंचेन्द्रिय	१४	x	५७

नं०	मार्गणा	गुण स्थान	उदयके अयोग्य प्रत्ययोंके नाम	उदय योग्य
३	काय—			
	१. स्थावर	१	वै० द्वि०, आ० द्वि०, मन ४, वच०४, स्पर्शरहित ५, अविरति, स्त्री, पुरुष = १६	३८
	२. व्रस	१४	x	५७
४	योग—			
	१ आहारक द्विक के बिना शेष	१-१३	स्व स्व उदय योग्यके बिना शेष १४ (विशेष दे, उदय)	४३
	२. आहारक द्विक	६	५ मिथ्यात्व, १२ अविरति, सं० चतु०के अतिरिक्त १२ कषाय, स्त्री व नपुं० वेद, आ० द्विकके बिना १४ योग। (दे०—सद) = ५ + १२ + १२ + २ + १४ = ४५	१२
५	वेद—			
	१. पुरुष	६	स्त्री, व नपुं० वेद = २	६५
	२. स्त्री	"	आहारक द्विक, स्त्री व नपुं० वेद = ४	६३
	३. नपुंसक	"	" = ४	६३
६	कषाय—			
	कुल कषाय १६	६	अनन्तानु० क्रोधादि कषायोंमें अपने अपने चार के बिना शेष १२ = १२	४५
७	ज्ञान—			
	१. कुमति व कुश्रुत	२	आ० द्वि० = २	६६
	२ विभंग		औ० मि०, वै० मि०, कर्मण, आ० द्वि० = ५	६२
	३. मति, श्रुत व अत्रधि	४-१२	मिथ्यात्व पंचक, अनतानु० चतु० = ६	४८
	४. मन. पर्यय	६-१२	मि० पंचक, अविरति १२, संज्व० चतुके बिना १२ कषाय, स्त्री व नपुं० वेद, औ० मिथ, आ० द्वि०, वै० द्वि०, कर्मण = ५ + १२ + १२ + २ + ६ = ३७	२०
	५. केवलज्ञानी	१३, १४	मि० पंचक, १२ अविरति, २५ कषाय, वै० द्विक, आ० द्विक, असत्य व अनु० मन व वचन ४ = ५ + १२ + २५ + ४ + ४ = ५०	७
८	संयम			
	१ सामायिक व छेदोपस्थापना	६-६	मि० पंचक, १२ अविरति, सं० चतुके बिना १२ कषाय, औ० मि०, वै० द्वि०, कर्मण = ५ + १२ + १२ + १ + २ + १ = ३३	२४
	२. परिहार वि०	६-७	उपरोक्त ३३, स्त्री व नपुं०, आ० द्वि० = ३७	२०

नं०	मार्गणा	गुण स्थान	उदयके अयोग्य प्रत्ययोंके नाम	उदय योग्य
३	सूक्ष्म सा०	१० वौं	मि० पंचक, १२ अविरति, कषाय २५ सूक्ष्म लोभ २४, औ० मि०, वै० द्वि०, आ० द्विक, कार्मण १+१२+२४+१+२+२,१ =४७	१०
४	यथाख्यात	११-१४	मि० पंचक, अविरति, २५ कषाय, वै० द्वि०, आ० द्वि० =४६	११
५	अस्यमी	१-४	आ० द्वि० =२	५५
६	देशसंयमी	५	अनन्ता० व अप्रत्या० चतु०, मि० पंचक, वै० द्वि०, औ० मि०, आ० द्वि०, कार्मण ८+५+२+१+२+१=२०	३७
९	दर्शन—			
१.	चक्षु व अचक्षु	१२	×	५७
२.	अवधि द०	४-१२	मिथ्यात्व पंचक, अनन्तानु० चतु० =६	४८
३.	केवलदर्शन	१३-२४	मि० पंचक, १२ अविरति, २५ कषाय, वै० द्वि०, आ० द्वि० असत्य व अनु० मन वच० ४=५०	७
१०	लेख्या—			
१	कृष्णादि ३	१-४	आ० द्वि० =२	५५
२.	पीतादि ३	१-७	×	५७
११	भव्य—			
१	भव्य	१४	×	७७
२.	अभव्य	१	आ० द्वि० =२	५५
१२	सम्यक्त्व—			
१.	उपशम	४-७	अनन्तानु० चतु०, मिथ्यात्व पंचक, आ० द्वि० =११	४६
२.	वेदक, क्षायिक		मिथ्या० पंचक, अनन्तानु० चतु० =६	४८
३	सासादन	२ रा	मिथ्या० पंचक, आ० द्वि० =७	५०
४.	मिथ्यादर्शन	१	आ० द्वि० =२	५५
५.	मिश्र	३ रा	मिथ्या० पंचक, अनन्तानु०, चतु०, आ० द्वि०, औ० मि० वै० मि०, कार्मण =१४	४३
१३	संज्ञी—			
१.	असंज्ञी	२	मन सम्बन्धी अविरति, ४ मन०, अनुग्रहके बिना ३ वचन०, वै० द्वि०, आ० द्वि० १+४+३+२+२=१२	५
२	संज्ञी	१२	×	५७
१४	आहारक—			
१	आहारक	१३	कार्मण =१	५६
२	अनाहारक		कुल योग १५ - कार्मण =१४	४३

४. प्रत्यय स्थान व भंग प्ररूपणा

१. एक समय उदय आने योग्य प्रत्ययों सम्बन्धी सामान्य नियम

१. पाँच मिथ्यात्वोंमेंसे एक काल अन्यतम एक ही मिथ्यात्वका उदय सम्भव है। २. छ इन्द्रियोंकी अविरतिमेंसे एक काल कोई एक ही इन्द्रियका उदय सम्भव है। छ कायकी अविरतिमेंसे एक काल एकका, दोका, तीनका, चारका, पाँचका या छहोका युगपत् उदय सम्भव है। ३. कषायोंमें क्रोध, मान माया, व लोभमेंसे एक काल किसी एक कषायका ही उदय सम्भव है। अनन्तानुबन्धी अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण और संज्वलन इन चारोंमें गुणस्थानोंके अनुसार एक काल अनन्ता० आदि चारोंका अथवा अप्रत्या० आदि तीनका, अथवा प्रत्या० व संज्वलन दो का अथवा केवल संज्वलन एकका उदय सम्भव है। हास्य-रति अथवा शोक-अरति इन दोनों युगलोमेंसे एक काल एक युगलका ही उदय सम्भव है। भय व जुगुप्सा में एक काल दोनोंका अथवा किसी एकका अथवा दोनोंका ही नहीं, ऐसे तीन प्रकार उदय सम्भव है। ४ पन्द्रह योगोंमें गुणस्थानानुसार किसी एकका ही उदय सम्भव है।

२. उक्त नियमके अनुसार प्रत्ययोंके सामान्य भंग

नोट - बटामें दर्शाया गया ऊपरका अंक एक काल उदय आने योग्य प्रत्ययोंकी गणना और नीचे वाला अंक उस विकल्प सम्बन्धी भंगोंकी गणना सूचित करता है।

मूल प्रत्यय	संकेत	विवरण	एक कालिक प्रत्यय	भंग
मिथ्या०	मि १/१	पाँचो मिथ्यात्वोंमेंसे अन्यतम एकका उदय	१	५
	इं १/६	छहो इन्द्रियोंकी अविरतिमेंसे अन्यतम एकका उदय	१	६
	का १/१	पृथ्वीकाय सम्बन्धी अविरति	१	१
	का २/१	पृथ्वी व अप् काय सम्बन्धी अविरति	२	१
	का ३/१	पृथ्वी, अप् व तेज काय सम्बन्धी अविरति	३	१
	का ४/१	पृथ्वी, अप्, तेज व वायु काय सम्बन्धी अविरति	४	१
	का ५/१	पाँचों स्थावर काय सम्बन्धी अविरति	५	१
	का ६/१	छहो काय सम्बन्धी अविरति	६	१
कषाय	अनन्त ४/४	अनन्तानु० आदि चारो सम्बन्धी क्रोध या, मान, या माया, या लोभ	४	४
	अमा. ३/४	अप्रत्याख्यान आदि तीनों सम्बन्धी क्रोध, या मान, या माया, या लोभ	३	४
	प्रत्या २/४	प्रत्याख्यान व संज्वलन सम्बन्धी क्रोध, या मान, या माया, या लोभ	२	४
	सं० १/४	संज्वलन क्रोध, या मान, या माया, या लोभ	१	४
	यु० २/२	हास्य-रति, या शोक अरति, इन दोनों युगलोंमेंसे किसी एक युगलका उदय	२	२
	वै० १/३	तीनों वेदोंमेंसे किसी एकका उदय	१	३
	भय १/२	भय व जुगुप्सा मेंसे किसी एकका उदय	१	३
	भय २/१	भय व जुगुप्सा दोनोंका उदय	२	१

मूल प्रत्यय	संकेत	विवरण	एक कालिक प्रत्यय	भग
योग	यो० १/१३	४ मन, ४ वचन, औदारिक, औदारिक मिश्र, वैक्रियक, वैक्रियक मिश्र व कार्मण इन तेरहमेसे किसी एकका उदय	१	१३
	यो० १/२	आहारक व आहारक मिश्रमेसे एक	१	११
	यो० १/१०	४ मन, ४ वचन औदारिक व वैक्रियक इन दोनोमेसे किसी एकका उदय	१	१०
	यो० १/६	४ मन, ४ वचन, औदारिक इन नौ मेसे एक	१	६
	यो० १/७	सत्य व अनुभय मन, सत्य व अनुभय, औदारिक, औदारिक मिश्र व कार्मण इन सातमेसे एक योग		

३. उक्त नियमके अनुसार भग निकालनेका उपाय

कुछ प्रत्यय ध्रुव हैं और कुछ अध्रुव। विवक्षित गुणस्थानके सर्व स्थानोमे उदय आने योग्य प्रत्यय ध्रुव है और स्थान प्रति स्थान परिवर्तित किये जाने वाले अध्रुव है। तहाँ मिथ्यात्व, इन्द्रिय अधिरति, वेद, ह्याम्यादि दोनों युगल, अनन्तानुबन्धी आदि क्रोध, मान, माया, लोभ और योग ये ध्रुव हैं। क्योंकि सर्व स्थानोमे इनका एक एक ही विकल्प रहता है। काय अधिरति और भय व जुगुप्सा अध्रुव हैं क्योंकि प्रत्येक स्थानमे इनके विकल्प घट या बढ़ जाते हैं। कही एक कायकी हिंसा रूप अधिरति है और कहीं दो आदि कायोकी। कहीं भयका उदय है और कहीं नहीं और कहीं भय व जुगुप्सा दोनोंका उदय है। विवक्षित गुण स्थानके आगे तहाँ उदय आने योग्य ध्रुव प्रत्ययोका निर्देश कर दिया गया है। उन ध्रुवोदयी प्रत्ययोकी गणनामें क्रमसे निम्न प्रकार ध्रुवोदयी प्रत्ययोको जोडनेसे उस उस स्थानके भग निकल आते हैं।

स्थान न०	भग	विवरण
१	१	ध्रुव+का १/१
२	३	ध्रुव+का २/१, ध्रुव+का १/१+भय १/२
३	४	ध्रुव+का ३/१, ध्रुव+का २/१+भय १/२, ध्रुव+का १/२+भय २/१
४	४	ध्रुव+का ४/१, ध्रुव+का ३/१+भय, ध्रुव+का २/१+भय २/१
५	४	ध्रुव+का ५/१, ध्रुव+का ४/१+भय, ध्रुव+का ३/१+भय २/१
६	४	ध्रुव+का ६/१, ध्रुव+का ५/१+भय, ध्रुव+का ४/१+भय २/१
७	३	ध्रुव+का ६/१+भय १/२, ध्रुव+का ५/१+भय २/१
८	१	ध्रुव+का ६/१, भय २/१

४. गुणस्थानकी अपेक्षा स्थान व भग

प्रमाण—(पं. सं / प्रा. १/४/१०१-२०३) (गो क/मू. व. टी./७६२-७६४/-६५७-६६८) ।

गुण स्थान	प्रत्यय स्थान	कुल भग	विवरण
१	ध्रुव	—	मि. १/५+इं १/६+वे. १/३+यु. २/२ +अप्र. ३/४+यो १/१० =६
अनंत विसं	८	२४	१०, ११, १२, १३, १४, १५, १६, १७, १८, १९, २०, २१, २२, २३, २४, २५, २६, २७, २८, २९, ३०
१	ध्रुव	—	मि. १/५+इं १/६+वे. १/३+यु. २/२ +अनन्त ४/४+यो. १/१२ =१०
सामान्य	८	२४	११, १२, १३, १४, १५, १६, १७, १८, १९, २०, २१, २२, २३, २४, २५, २६, २७, २८, २९, ३०
२	ध्रुव	—	इं. १/६+वे. १/३+यु. २/२+अनन्त ४/४+यो. १/१२
	८	२४	१०, ११, १२, १३, १४, १५, १६, १७, १८, १९, २०, २१, २२, २३, २४, २५, २६, २७, २८, २९, ३०
३	ध्रुव	—	इं. १/६+वे. १/३+यु. २/२+अप्र. ३/४+यो. १/१०
	८	२४	६, १०, ११, १२, १३, १४, १५, १६, १७, १८, १९, २०, २१, २२, २३, २४, २५, २६, २७, २८, २९, ३०
४	८	२४	→ मिश्रवत् ←
५	ध्रुव	—	इ. १/६+वे. १/३+यु. २/२+प्र. २/४ +यो. १/६
	७	२०	६, ६, १०, ११, १२, १३, १४, १५, १६, १७, १८, १९, २०, २१, २२, २३, २४, २५, २६, २७, २८, २९, ३०
६	५	१	वे १/३+यु. २/२+ संज्व. १/४+यो. १/६ अथवा पुरुष वे +यु २/२+ संज्व. १/४+यो. १/२
	६	२	५+भय १/२
	७	१	५+भय २/१
	७	५-७	→ प्रमत्तवत् ←
	८	५-७	→ .. ←
६/१	१	३	वे. १/३+सं. १/४+यो. १/६
६/११	१	३	वे. १/२+स्त्री या पुरुष+स. १/४+ यो १/६
६/१११	१	३	पुरुषवेद+सं. १/४+यो १/६
६/११४	१	२	स १/४+यो १/६
६/११५	१	२	स १/३ (मान, या माया, या लोभ)+ यो. १/६
६/११६	१	२	स. १/२ (माया या लोभ)+यो १/६
६/११७	१	२	स लोभ+यो. १/६
१०	१	२	स लोभ (सूक्ष्म)+यो. १/६
११	१	१	यो. १/६
१२	१	१	"
१३	१	१	"
१४	×	×	×

५ किस प्रकृतिके अनुभाग बन्धमें कौन प्रत्यय निमित्त है

पं सं/प्रा १/४/१०५-४८६ सायं च उपपच्चइयो मिच्छो सोलहदुपच्चया पणुतीसं। सेसा तिपच्चया खलु तिथ्यराहार वज्जा दु १४८५ सम्मत्त-

गुणनिमित्त तित्थयरं सजमेण आहारं। बज्भक्ति सेसियाओ मिच्छताई हेअहि १४८६। =साता वेदनीयका अनुभाग बन्ध चतुर्थ (योग) प्रत्ययसे होता है। मिथ्यात्व गुणस्थानमे बन्धसे व्युच्छिन्न होने वाली (दे० प्रकृतिबन्ध/७/४) सोलह प्रकृतियाँ मिथ्यात्व प्रत्ययक है। दूसरे गुणस्थानमे बन्धसे व्युच्छिन्न होने वाली पच्चीस और चौथेमे बन्धसे व्युच्छिन्न होने वाली दस, (दे० प्रकृति बन्ध /७/४) ये पैतीस प्रकृतियाँ द्विप्रत्ययक है। क्योंकि इनका पहले गुण-स्थानमे मिथ्यात्वकी प्रधानतासे, और दूसरेसे चौथे तक अस्यमकी प्रधानतासे बन्ध होता है। तीर्थकर और आहारकद्विकके जिना शेष सर्व प्रकृतियाँ (दे० प्रकृतिबन्ध/७/४) त्रिप्रत्ययक है। क्योंकि उनका पहले गुणस्थानमे मिथ्यात्वकी प्रधानतासे, दूसरेसे चौथे गुणस्थानमे अस्यमकी प्रधानतासे, और आगे कषायकी प्रधानतासे बन्ध होता है १४८८। तीर्थकर प्रकृतिका बन्ध सम्यक्त्व गुणके निमित्तसे और आहारक द्विकका स्यमके निमित्तसे होता है १४८६।

प्रत्यय नाम— दे० नाम।

प्रत्यय मल— दे० मल/१।

प्रत्ययिक बन्ध— दे० बन्ध/१।

प्रत्यवेक्षण—स सि/७/३४/३७०/६ जन्तवः सन्ति न सन्ति वेति प्रत्यवेक्षणं चक्षुर्व्यापारः। =जोव है या नहीं है इस प्रकार आँखसे देखना प्रत्यवेक्षण कहलाता है। (रा. वा./७/३४/१/५५७/२२) (चा. सा./२२/५)।

प्रत्याख्यान—आगामी कालमें दोष न करनेकी प्रतिज्ञा करना प्रत्याख्यान है। अथवा सीमित कालके लिए आहारादिका त्याग करना प्रत्याख्यान है। त्याग प्रारम्भ करते समय प्रत्याख्यानकी प्रतिष्ठापना और अवधि पूर्ण होने पर उसकी निष्ठापना की जाती है। बीतराग भाव सापेक्ष किया गया प्रत्याख्यान ही वास्तविक है।

१. भेद व लक्षण

१. प्रत्याख्यान सामान्यका लक्षण

१. व्यवहार नयकी अपेक्षा

मू आ./२७ णामादीणं छण्ण अजोगपरिवज्जणं तिकरणेण। पच्च-क्खाण णेयं अणागयं चागमे काले १२७। =नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव इन छहोमे शुभ मन, वचन व कायसे आगामी कालके लिए अयोग्यका त्याग करना प्रत्याख्यान जानना १२७।
रा. वा./६/२४/११/५३०/१४ अनागतदोषोपाह्वनं प्रत्याख्यानम्। =भविष्यत्मे दोष न होने देनेके लिए सन्नद्ध होना प्रत्याख्यान है। (भा. आ./वि/११६/२७६/२१) (भा. पा./टी./१७/२२१/१५)।
ध. ६/१.६-१.२३/४४/४ पच्चक्खाण सजमो महव्वयाई ति एयट्ठो। = प्रत्याख्यान, संयम और महाव्रत एक अर्थ वाले हैं।
ध. ८/३,४१/८५/१ महव्वयाण विणासण-मलारोहणकारणाणि तहा ण होसंति तहा करेमि त्ति मणेणालोचिम चउरासीदिलवखवदसुद्धिप-डिग्गहो पच्चक्खाणं णाम। =महाव्रतके विनाश व मनोत्पादनके कारण जिस प्रकार न होंगे वैसा करता हूँ, ऐसी मनसे आलोचना करके चौरासी लाख व्रतकी शुद्धिके प्रतिग्रहका नाम प्रत्याख्यान है।
नि. सा./ता वृ/१५ व्यवहारनयादेशात् मुनयो भुक्त्वा दैनं दैन पुनर्योग्यकालपर्यन्त प्रत्यादिष्ठान्नपानखाद्यलेह्यरुचय, एतद् व्यव-हारप्रत्याख्यानस्वरूपम्। =मुनि दिन दिनमे भोजन करके फिर योग्य काल पर्यन्त अन्न, पान, खाद्य, और लेह्यकी रुचि छोड़ते हैं यह व्यवहार प्रत्याख्यानका स्वरूप है।

२. निश्चय नयकी अपेक्षा

स. सा./मू/३८४ कम्म ज सुहमसुहं जम्हि य भावम्हि वज्भइ भविस्सं तत्तो णियत्तए जो सो पच्चक्खाण हवइ चेया १२८। =भविष्यत् कालका शुभ व अशुभ कर्म जिस भावमें बन्धता है, उस भावसे जो आत्मा निवृत्त होता है, वह आत्मा प्रत्याख्यान है १२८।

नि. सा./मू./गा मोत्तूण सयलजप्पमणागयसुहमसुहवारणं किच्चा। अप्पाणं जो ऋयादि पच्चक्खाण हवे तस्स १६५। णियभावं णवि मुच्चइ परभावं णेव गेण्हे केइ। जाणदि पस्सदि सव्वं सोह इदि चित्तए णाणी १६७। सम्म मे सव्वभूदेसु वेरं मज्झं ण केणवि। आसाए वोसरित्ता णं समाहि पडिवज्जए १७४। =समस्त जल्पको छोड़कर और अनागत शुभ व अशुभका निवारण करके जो आत्माको ध्याता है, उसे प्रत्याख्यान कहते हैं १६५। जो निजभावको नहीं छोड़ता, किंचित भी परभावको ग्रहण नहीं करता, सर्वको जानता देखता है, वह मैं हूँ—ऐसा ज्ञानी चितवन करता है १६७। सर्व जीवोंके प्रति मुझे समता है, मुझे किसीके साथ वैर नहीं है; वास्तवमें आशाको छोड़-कर मैं समाधिको प्राप्त करता हूँ १७४।

यो. सा. अ/५/५१ आगम्यागोनिमित्तानां भावानां प्रतिषेधनं। प्रत्या-ख्यानं समादिष्टं विविक्तात्मविलोकिन १५१। =जो महापुरुष समस्त कर्मजनित वासनाओसे रहित आत्माको देखने वाले है, उनके जो पापोंके आनेमे कारणभूत भावोंका त्याग है, उसे प्रत्याख्यान कहते हैं।

२. द्वादशांगका एक अंग

द्वादशांगके १४ पूर्वोंमेसे एक पूर्व है। दे० श्रुतज्ञान/III/१।

प्रत्याख्यानके भेद

१. सामान्य भेद

मू आ./६३७-६३६ अणागदसदिकत्त कोडीसदिदं णिखंडिदं चेव। सागारमणागार परिमाणगदं अपरिसेस १६३७। अद्धानगदं णवम दसमं तु सहेदुण वियाणाहि। पच्चक्खाणवियप्पा णिरुत्तिजुत्ता जिणमदह्मि १६३८। विणय तहाणुभासा हवदि य अणुपालणाय परिणामे। एवं पच्चक्खाण चदुव्विध होदि णादव्वं। =भविष्यत् कालमें उपवास आदि करना जैसे चौदसका उपवास तैरसको वह १, अनागत प्रत्याख्यान है। २. अतिक्रान्त, ३. कोटीसहित, ४. निखंडित, ५. साकार, ६. अनाकार, ७. परिमाणगत, ८. अपरिषेध, ९. अणवगत १० सहेतुक प्रत्याख्यान है। इस प्रकार सार्थक प्रत्याख्यानके दस भेद जिनमत्तमे जानने चाहिए १६३७-६३८। १. विनयकर, २, अनुभा-षाकर, ३, अनुपालनकर, ४, परिणामकर सुद्ध यह प्रत्याख्यान चार प्रकार भी है १६३६।

२ नाम स्थापनादि भेद

भा आ/वि/११६/२७६/२१ तच्च (प्रत्याख्यानं) नामस्थापनाद्रव्यक्षेत्रकाल भावविकल्पेन षड्विधं। =यह प्रत्याख्यान नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल, और भाव ऐसे विकल्पसे छ प्रकारका है।

३. प्रत्याख्यानके भेदोंके लक्षण

सामान्य भेदोंके लक्षण

मू. आ/६४०-६४३ कदियम्मं उवचारिय विणओ तह णाण-दंसण-चरित्ते। पच्चविधविणयजुत्तं विणयसुद्ध हवदि तं तु १६४०। अणुभासदि गुरुवयणं अक्खरपदवज्जणं कमविसुद्ध घोसविसुद्धी सुद्ध एद अणुभा-सणासुद्ध १६४१। आदके उवसागे समे य दुम्भिकखवुत्ति कतारि। तं पालिद ण भग्गं एदं अणुपालणासुद्ध १६४२। राणेण व दोसेण व मण-

परिणामे ण दूस्सिदं ज तु । त पुण पच्चक्खवाणं भावविमुद्धं तु णादव्व । ६४३। = १ सिद्ध भक्ति आदि सहित कायोत्सर्ग तपरूप विनय, व्यवहार-विनय, ज्ञान-विनय, दर्शन व चारित्र-विनय—इस तरह पाँच प्रकारके विनय सहित प्रत्याख्यान वह विनयकर शुद्ध होता है । ६४०। २ गुरु जैसा कहे उसी तरह प्रत्याख्यानके अक्षर, पद व व्यञ्जनोंका उच्चारण करे, वह अक्षरादि क्रमसे पढ़ना, शुद्ध गुरु लघु आदि उच्चारण शुद्ध होना वह अनुभाषणा शुद्ध है । ६४१। २. रोगमे, उपसर्गमे, भिक्षाकी प्राप्तिके अभावमे, वनमें जो प्रत्याख्यान पालन क्रिया भग्न न हो वह अनुपालना शुद्ध है । ६४२। ३. राग परिणामसे अथवा द्वेष परिणामसे मनके विकारकर जो प्रत्याख्यान दूषित न हो वह प्रत्याख्यान भावविशुद्ध है ।

२. निक्षेप रूप भेदोंके लक्षण

भ आ /वि./११६/२७६/२२ अयोग्यं नाम नोच्चारयिष्यामीति चिन्ता नामप्रत्याख्यान । आप्ताभासाना प्रतिमा न पूजयिष्यामीति, योगत्रयेण त्रसस्थावरस्थापनापीडा न करिष्यामीति प्रणिधानं मनसः स्थापनाप्रत्याख्यानं । अथवा अर्हदादीना स्थापनां न विनशयिष्यामि, नैवानादरं तत्र करिष्यामीति वा । अयोग्याहारोपकरण-द्रव्याणि न ग्रहीष्यामीति चिन्ताप्रबन्धो द्रव्यप्रत्याख्यान । अयोग्यानि वानिष्टप्रयोजनानि, संयमहानि संक्लेशं वा सपादयन्ति यानि क्षेत्राणि तानि त्यक्ष्यामि इति क्षेत्रप्रत्याख्यान । कालस्य दु परिहायत्वात् कालसध्याया क्रियायां परिहृतायां काल एव प्रत्याख्यातो भवतीति ग्राह्य । तेन सध्याकालादिष्वध्ययनगमनादिकं न सपादयिष्यामीति चेत कालप्रत्याख्यानं । भावोऽशुभपरिणामः तं न निर्वर्तयिष्यामि इति संकल्पकरणं भावप्रत्याख्यानं तद्द्विविधं मूलगुणप्रत्याख्यानमुत्तरगुणप्रत्याख्यानमिति । = अयोग्य नामका मै उच्चारण नहीं करूँगा ऐसे संकल्पको नाम प्रत्याख्यान कहते है । २. आप्ताभासके हरिहरादिकोकी प्रतिमाओकी मै पूजा नहीं करूँगा, मनसे, वचनसे और कायसे त्रस और स्थावर जीवोकी स्थापना मै पीडित नहीं करूँगा ऐसा जो मानसिक संकल्प वह स्थापना प्रत्याख्यान है । अथवा अर्हदादि परमेष्ठियोकी स्थापना — उनकी प्रतिमाओका मै नाश नही करूँगा, अनादर नहीं करूँगा, यह भी स्थापना प्रत्याख्यान है । ३. अयोग्य आहार, उपकरण वगैरह पदार्थोको ग्रहण मै न करूँगा ऐसा संकल्प करना, यह द्रव्य प्रत्याख्यान है । ४. अयोग्य व जिनसे अनिष्ट प्रयोजनकी उत्पत्ति होमी, जो संयमकी हानि करेगे, अथवा संक्लेश परिणामोको उत्पन्न करेगे, ऐसे क्षेत्रोको मै त्यागूँगा, ऐसा संकल्प करना क्षेत्र प्रत्याख्यान है । ५. कालका त्याग करना शक्य ही नहीं है, इसलिए उस कालमें होनेवाली क्रियाओको त्यागनेसे कालका ही त्याग होता है, ऐसा यहाँ समझना चाहिए । अर्थात् सध्याकाल रात्रिकाल वगैरह समयमें अध्ययन करना, आना-जाना इत्यादि कार्य मै नही करूँगा, ऐसा संकल्प करना काल प्रत्याख्यान है । ६. भाव अर्थात् अशुभ परिणाम उनका मै त्याग करूँगा ऐसा संकल्प करना वह भाव प्रत्याख्यान है । इसके दो भेद है मूलगुण प्रत्याख्यान और उत्तरगुण प्रत्याख्यान । (इनके लक्षण दे० प्रत्याख्यान/३) ।

३. मन, वचन, काय प्रत्याख्यानके लक्षण

भ आ /वि /५०१/७२५/१५ मनसातिचारादीन्न करिष्यामि इति मन - प्रत्याख्यानं । वचसा तत्राचरिष्यामि इति उच्चारणं । कायेन तन्नाचरिष्यामि इत्यंगीकार । = १ मनसे मै अतिचारोको भविष्यत् कालमें नही करूँगा ऐसा विचार करना यह मन-प्रत्याख्यान है । २. अतिचार मै भविष्यत्में नहीं करूँगा ऐसा बोलना (कहना) यह वचन प्रत्याख्यान है । ३. शरीरके द्वारा भविष्यत् कालमे अति-चार नही करना यह काय प्रत्याख्यान है ।

२. प्रत्याख्यान विधि

१. प्रत्याख्यान प्रतिष्ठापना व निष्ठापना विधि

अन.घ./१/३६ प्राणयात्राचिकीर्ष्यायां प्रत्याख्यानमुपोषितम् । न वा निष्ठाप्य विधिवद्भुक्त्वा भूय प्रतिष्ठयेत् । ३६। = यदि भोजन करनेकी इच्छा हो तो पूर्व दिन जो प्रत्याख्यान अथवा उपवास ग्रहण किया था उसकी विधि पूर्वक क्षमापणा (निष्ठापना) करनी चाहिए । और उस निष्ठापनाके अनंतर शास्त्रोक्त विधिके अनुसार भोजन करके अपनी शक्तिके अनुसार फिर भी प्रत्याख्यान या उपवासकी प्रतिष्ठापना करनी चाहिए । (यदि आचार्य पास हों तो उनके समक्ष प्रत्याख्यानकी प्रतिष्ठापना वा निष्ठापना करनी चाहिए ।)
दे० कृतिकर्म/४/२ प्रत्याख्यान प्रतिष्ठापन व निष्ठापनमें भक्ति आदि पाठोका क्रम ।)

२. प्रत्याख्यान प्रकरणमें कायोत्सर्गके कालका प्रमाण

दे० व्युत्सर्ग/१ (ग्रन्थादिके प्रारंभमें, पूर्णताकालमें, स्वाध्यायमें, वंदना-मे, अशुभ परिणाम होनेमें जो कायोत्सर्ग उसमें सत्ताईस उच्छ्वास करने योग्य है) ।

३. प्रत्याख्यान निर्देश

१. ज्ञान व विराग ही वास्तवमे प्रत्याख्यान है

स.सा /सू./३४ सव्वे भावे जम्हा पच्चक्खवाईं परेत्ति णादूणं । तम्हा पच्चक्खवाण णाण णियमा मुपेयव्व । ३४। = जिससे अपने अतिरिक्त सर्वपदार्थोको 'पर है' ऐसा जानकर प्रत्याख्यान करता है, उससे प्रत्याख्यान ज्ञान ही है, ऐसा नियमसे जानना । अपने ज्ञानमें त्याग रूप अवस्था ही प्रत्याख्यान है, दूसरा कुछ नहीं ।
नि.सा./सू./१०५-१०६ णिक्कसायरस वंतस्स सूरस्स ववसाग्णिणो । संसारभयभीदस्स पच्चक्खवाणं सुह हवे । १०५। एवं भेदभासं जो कुव्वइ जीवकम्मणो णिच्चं । पच्चक्खवाण सक्कदि धरिदे सो संजमो णियमा । १०६। = जो नि कषाय है, दान्त है, शूरवीर है, व्यवसायी है और संसारसे भयभीत है, उसे सुखमय (निरचय) प्रत्याख्यान है । १०५। इस प्रकार जो सदा जीव और कर्मके भेदका अभ्यास करता है, वह संयत नियमसे प्रत्याख्यान धारण करनेको शक्तिमान है । १०६।
स. सा /ता वू /२५३-२५५ निर्विकारस्वसंवित्तिलक्षणं प्रत्याख्यानं । = निर्विकार स्वसंवेदन ज्ञानको प्रत्याख्यान कहते है ।

* निश्चय व्यवहार प्रत्याख्यानकी मुख्यता गौणता — दे० चारित्र

२ सम्यक्त्व रहित प्रत्याख्यान प्रत्याख्यान नहीं

भ.आ./वि./११६/२७७/१० सति सम्यक्त्वे चैतदुभयं प्रत्याख्यानं । = सम्यक्त्व यदि होगा तभी यह दो तरहका (दे० अगला शीर्षक) प्रत्याख्यान गृहस्थ व मुनिको माना जाता है । अन्यथा वह प्रत्याख्यान इस नामको नहीं पाता ।

३. मूल व उत्तर गुण तथा साधु व गृहस्थके प्रत्याख्यानमें अन्तर

भ. आ./वि./११६/२७७/३ उत्तरगुणानां कारणत्वान्मूलगुणव्यपदेशो व्रतेशु वर्तते व्रतोत्तरकालभावित्त्वादनशानादिकं उत्तरगुण इति उच्यते । अत्र सयतानां जीवितावधिकं मूलगुणप्रत्याख्यानं । सयतासयताना अणुव्रतानि मूलगुणव्रतव्यपदेशभांज भवन्ति तेषां द्विविधं प्रत्याख्यानं अल्पकालिकं, जीवितादिकं चैति । पश्मास-

षण्मासादिरूपेण भविष्यत्काल सावधिक कृत्वा तत्र स्थूलहिसानृत-
स्तेत्याग्रहपरिग्रहात् चरिष्यामि इति प्रत्याख्यानमल्पकालम् । आमर-
णमवधि कृत्वा च करिष्यामि स्थूलहिसादीनि इति प्रत्याख्यान
जीवितावधिक च । उत्तरगुणप्रत्याख्यान सयतसयतासयतयोरपि
अल्पकालिक जीवितावधिक वा । परिगृहीतसयमस्य सामायिका-
दिक अनशनादिक च वर्तते इति उत्तरगुणत्वं सामायिकादेस्तपसश्च ।
भविष्यत्कालगोचराशनादित्यागात्मकत्वात्प्रत्याख्यानत्वं । = १.
उत्तरगुणोको कारण होनेसे व्रतीमें मूलगुण यह नाम प्रसिद्ध है, मूल-
गुण रूप जो प्रत्याख्यान व मूलगुण प्रत्याख्यान है । व्रतीके अनंतर
जो पाले जाते है ऐसे अनशनादि तपोको उत्तरगुण कहते है । २.
मुनियोको मूलगुण प्रत्याख्यान आमरण रहता है । सयतासयतके
अणुव्रतोको मूलगुण कहते है । गृहस्थ मूलगुण प्रत्याख्यान अल्प-
कालिक और जीवितावधिक ऐसा दो प्रकार कर सकते है । पक्ष, मास,
एह महीने आदि रूपसे भविष्यत् कालकी पर्यादा करके उसमें स्थूल
हिसा, असत्य, चोरी, मैथुन सेवन, और परिग्रह ऐसे पंच पातक में
नहीं करूंगा ऐसा सकल्प करना यह अल्पकालिक प्रत्याख्यान है ।
'मैं आमरण स्थूल हिसादि पापोको नहीं करूंगा' ऐसा सकल्प कर
त्याग करना यह जीवितावधिक प्रत्याख्यान है । ३ उत्तर गुण
प्रत्याख्यान तो मुनि और गृहस्थ जीवितावधिक और अल्पावधिक
भी कर सकते है । जिसने सयम धारण किया है, उसको सामायि-
कादि और अनशनादिक भी रहते है, अत सामायिक आदिकोको
और तपको उत्तरगुणपना है । भविष्यत्कालको विषय करके अन-
शनादिकोका त्याग किया जाता है । अत उत्तरगुण रूप प्रत्याख्यान
है, ऐसा माना जाता है । (और भी दे० भ. आ./वि./११६/२७७/१८)
★ प्रत्याख्यान द्व प्रतिक्रम.म.में अन्तर— दे० प्रतिक्रमण/३ ।

४. प्रत्याख्यानका प्रयोजन

अन. ध./१/३८ प्रत्याख्यानं विना दैवात् क्षीणायु स्याद्विराधक ।
तदल्पकालमप्यल्पमप्यर्थपुथुचण्डवत् । ३८ । = प्रत्याख्यानानादिके ग्रहण
विना यदि कदाचित् पूर्ववद् आयुर्कर्मके वशसे आयु क्षीण हो जाय
तो वह साधु विराधक समझना चाहिए । किन्तु इसके विपरीत
प्रत्याख्यान सहित तत्काल मरण होनेपर थोड़ी देरके लिए और
थोड़ा सा ग्रहण किया हुआ प्रत्याख्यान चण्ड नामक चाण्डालकी
तरह महात् फल देनेवाला है ।

प्रत्याख्यानानवरण—मोहनीय प्रकृतिके उत्तर भेद रूप यह एक
कर्म विशेष है, जिसके उदय होनेपर जीव विषयोका त्याग करनेको
समर्थ नहीं हो सकता ।

१. प्रत्याख्यानानवरणका लक्षण

स. सि./८/१/३८६/१ यदुदयाद्विरति कृत्स्ना सयमाख्या न शक्नोति
कर्तुं ते कृत्स्न प्रत्याख्यानमावृण्वन्त प्रत्याख्यानानवरणा क्रोधमान-
मायालोभा । = जिसके उदयसे सयम नामवाली परिपूर्ण विरतिको
यह जीव करनेमें समर्थ नहीं होता है वे सकल प्रत्याख्यानको आवृत
करने वाले प्रत्याख्यानानवरण क्रोध, मान, माया और लोभ है । (रा.
वा./८/१/३७५/२) (ष. स./प्रा./१/११०, ११५) (गो. क., सू./२८३)
(गो. जी./मू./४५) ।

ध. १३/५.५.६५/३६०/११ पञ्चवखाण महव्वयाणि तेसिमावारण मम्म
पञ्चकखाणानवरणीय । तं चउविग्रह कोह-माण-माया-लोभहेएण । =
प्रत्याख्यानका अर्थ महाव्रत है । उनका आवरण करनेवाला कर्म
प्रत्याख्यानानवरणीय है । वह क्रोध, मान, माया और लोभके भेदसे
चार प्रकारका है । (ध. ६/१.६-१, २३/४४/४) (गो. जी./जी. प्र/
२८३/६०८/१५) । (गो. क./जी. प्र./३३/२८/४) (गो. ४./जी. प्र/
४५/४६/१३ ।

२. प्रत्याख्यानानवरणमें भी कथंचित् सम्यक्त्व धातक शक्ति

गो. क./जी. प्र./४४६/७०८/१६ अनन्तानुबन्धिना तदुदयसहचरिताप्रत्या-
ख्यानादीना च चारित्रमोहत्वेऽपि सम्यक्त्वसयमघातकत्वमुक्त तेषा
तदा तच्छक्तेबोदयात् । अनन्तानुबन्ध्यप्रत्याख्यानोदयरहितप्रत्या-
ख्यानसज्ज्वलनोदया सकलसंयम (घनति) । = अनन्तानुबन्धीके और
इसके उदयके साथ अप्रत्याख्यानानादिकके चारित्र मोह-पना होते हुए
भी सम्यक्त्व और सयमका घातकपना कहा है । अनन्तानुबन्धी
और अप्रत्याख्यानके उदय रहित, प्रत्याख्यान और सज्ज्वलनका
उदय है तो वह सकल सयमको घातती है ।

३. प्रत्याख्यानानवरण कषायका वासना काल

गो. क./मू. व टी./४६/४७/१० उदयाभावेऽपि तत्संस्कारकालो वासना-
काल स च प्रत्याख्यानानवरणानामेकपक्ष । = उदयका अभाव होते
हुए भी कषायोका संस्कार जितने काल रहे, उसको वासना काल
कहते है । उसमें प्रत्याख्यानानवरणका वासना काल एक पक्ष है ।

४. अन्य सम्बन्धित विषय

- १ प्रत्याख्यानानवरण प्रकृतिकी श्रुन्ध उदय सत्त्वं प्ररूपणा तत्सम्बन्धी
नियम व शंका समाधान आदि । दे० वह ब्रह नाम ।
२. कषायोकी तीव्रता-मन्दतामें प्रत्याख्यानानवरण नहीं बल्कि लेख्या
कारण है । —दे० कषाय/३ ।
- ३ प्रत्याख्यानानवरणमें दर्शो करण सम्भव हैं —दे० करण/२ ।
- ४ प्रत्याख्यानानवरणका सर्वधातीपना —दे० अनुभाग/४ ।

प्रत्याख्यानानवरणी भाषा—दे० भाषा ।

प्रत्यागाल—दे० आगाल ।

प्रत्यामुंडा—प ख. १३/५-५/सू. ३६/२४३ आवायो ववसायो बुद्धी
विष्णाणी आउडी पच्चाउडी । ३६ । प्रत्यर्थमामुण्डयते सकोच्यते
मीमांसितोऽर्थ अनवेति प्रत्यामुण्डा । = अवाय, व्यनसाय, बुद्धि,
विज्ञाप्ति, आमुंडा और प्रत्यामुंडा ये पर्याय नाम है । ३६ । जिसके
द्वारा मीमांसित अर्थ अलग अलग 'आमुण्डयते' अर्थात् सकोचित
किया जाता है, वह प्रत्यामुंडा है ।

प्रत्यावलि—दे० आवलि ।

प्रत्यास—ध १२/४.२.१४.४३/४६७/१० प्रत्यास्यते अस्मिन्निति प्रत्यास
जीवेण ओदुद्वेखेत्तस्स खेत्तपच्चासे त्ति .सण्णा । = जहाँ समीपमें
रहा जाता है वह प्रत्यास कहा जाता है । जीवके द्वारा अवलम्बित
क्षेत्रकी क्षेत्रप्रत्यास सज्ञा है ।

प्रत्यासत्ति

रा. वा हि./१/७/६४ निकटताका नाम प्रत्यासत्ति है । वह द्रव्य, क्षेत्र,
काल व भावके भेदसे चार प्रकार है । तिनके लक्षण निम्न प्रकार है —
१ कोई पर्यायके कोई पर्यायकार समवाय तै निकटता है । जैसे
स्मरणके और अनुभवके एक आत्मा विषै समवाय है (यह द्रव्य
प्रत्यासत्ति है) । २. बगुलाकी पत्तिके और जलके क्षेत्र प्रत्यासत्ति
है । ३. सहचर जो सम्यग्दर्शन ज्ञान सामान्य, तथा शरीर विषै जीव
और स्पर्शन विशेष, तथा पहले उदय होय भ्रणी-कृतिका नक्षत्र,
तथा कृतिका-रोहिणी नक्षत्र-इनके काल प्रत्यासत्ति है । ४. गज—
गवयका एक रूप, केवली-सिद्धके केवलज्ञानका एक स्वरूपपना ऐसे
भाव प्रत्यासत्ति है ।

प्रत्याहार

म. पु. २१/२३० प्रत्याहारस्तु तस्योपसंहृतौ चित्तनिर्वृति ॥२३०॥ = मन-
की प्रवृत्तिका सकोच कर लेने पर जो मानसिक सन्तोष होता है
उसे प्रत्याहार कहते हैं ॥२३०॥

ज्ञा./३०/१-३ समाकृष्येन्द्रियार्थम्य साक्षं चेतः प्रशान्तधी । यत्र
यत्रेच्छया धत्ते स प्रत्याहार उच्यते ॥१॥ नि सङ्गसवृतस्वान्तः
कर्मवत्सवृतेन्द्रियः । यमी समस्त्रमायन्नो ध्यानतन्त्रे स्थिरीभवेत् ॥२॥
गोचरेभ्यो हृषीकाणि तेभ्यश्चित्तमनाकुलम् । पृथक्कृत्य वशी धत्ते
ललाटेऽत्यन्तनिश्चलम् ॥३॥ = जो प्रशान्त बुद्धि विशुद्धता युक्त मुनि
अपनी इन्द्रियों और मनको इन्द्रियोंके विषयोसे खींच कर जहाँ जहाँ
अपनी इच्छा हो तहाँ तहाँ धारण करे सो प्रत्याहार कहा जाता
है ॥१॥ नि सग और सवर रूप हुआ है मन जिसका कण्ठके समान
सकोच रूप है इन्द्रियों जिसकी ऐसा मुनि ही राग द्वेष रहित होकर
ध्यान रूपी तन्त्रमें स्थिर स्वरूप होता है ॥२॥ वशी मुनि विषयोसे
तो इन्द्रियोंको पृथक् करे और इन्द्रियोंको विषयोसे पृथक् करे,
अपने मनको निराकुल करके अपने ललाटपर निश्चलता पूर्वक
धारण करे । यह विधि प्रत्याहारमें कही है ॥३॥

★ प्रत्याहार योग्य नेत्र ललाट आदि •• स्थान—

दे० ध्यान/३/३ ।

प्रत्युत्पन्न नय—दे० नय/१/५ ।

प्रत्यूष काल—प्रातः का सन्धि काल ।

प्रत्येक बुद्ध—दे० बुद्ध ।

प्रत्येक बुद्धि ऋद्धि—दे० बुद्ध ।

प्रत्येक शरीर नामकर्म—दे० वनस्पति/१ ।

प्रत्येक शरीर वर्गणा—दे० वनस्पति/१ ।

प्रथम स्थिति—दे० स्थिति/१ ।

प्रथमानुयोग—१ आगम सम्बन्धी प्रथमानुयोग—दे० अनुयोग/१,
२ दृष्टिप्रवादका तीसरा भेद । दे० श्रुतज्ञान/III ।

प्रथमोपशम विधि—दे० उपशम/२ ।

प्रमथोपशम सम्यक्त्व—दे० सम्यग्दर्शन/IV/२ ।

प्रदक्षिणा—

ध. १३/५.४.२८/५६/१ वदणकाले गुरुजिणजिणहराण पदविराण काऊण
णमसण पदाहिण णाम । = वन्दना करते समय गुरु, जिन और
जिनगुहकी प्रदक्षिणा करके नमस्कार करना प्रदक्षिणा है ।

अन. ध. ८/६२ दीयते चैत्यनिर्वाणयोगिनन्दीश्वरेषु हि । वन्दमानेष्व-
धीयानैस्तत्तद्भक्ति प्रदक्षिणा ॥६२॥ = जिस समय सुमुक्ष संयमी चैत्य
वन्दना या निर्वाण वन्दना अथवा योगिवन्दना यद्वा नन्दीश्वर
चैत्य वन्दना किया करते हैं, उस समय उस सम्बन्धी भक्तिका पाठ
बोलते हुए वे प्रदक्षिणा दिया करते हैं ।

★ प्रदक्षिणा प्रयोग विधि—दे० वन्दना ।

प्रदुष्ट—कायोत्सर्ग का एक अतिचार—दे० व्युत्सर्ग/१ ।

प्रदेश—१ Space Point (ज प/प्र. १०७) ।

२ Location, Points or Place as decimal Place (ध
५/प्र. २०) ।

प्रदेश—आकाशके छोटेसे छोटे अविभागी अंशका नाम प्रदेश है,
अर्थात् एक परमाणु जितनी जगह घेरता है उसे प्रदेश कहते हैं ।
जिस प्रकार अखण्ड भी आकाशमें प्रदेश भेदकी कल्पना करके अनन्त
प्रदेश बताये गये हैं, उसी प्रकार सभी द्रव्योंमें पृथक् पृथक् प्रदेशोंकी
गणनाका निर्देश किया गया है । उपचारसे पुद्गल परमाणुको भी
प्रदेश कहते हैं । और इस प्रकार पुद्गल कर्मोंके प्रदेशोंका जीवके
प्रदेशोंके साथ बन्ध होना प्रदेश बन्ध कहा जाता है ।

१	प्रदेश व प्रदेश बन्ध निर्देश
१	प्रदेशका लक्षणः— १. परमाणुके अर्थमें; २. आकाशका अंश; ३. पर्यायके अर्थमें ।
*	स्कन्धका भेद प्रदेश —दे० स्कंध/१ ।
*	पृथक् पृथक् द्रव्योंमें प्रदेशोंका प्रमाण —दे० वह वह द्रव्य ।
*	द्रव्योंमें प्रदेश कल्पना सम्बन्धी युक्ति —दे० द्रव्य ४ ।
*	लोकके आठ मध्य प्रदेश —दे० लोक/२ ।
*	जीवके चलिताचलित प्रदेश —दे० जीव/४ ।
२	प्रदेश बन्धका लक्षण ।
३	प्रदेश बन्धके भेद ।
*	कर्म प्रदेशोंमें रूप, रस व गन्वादि —दे० ईर्यापथ ।
*	अनुभाग व प्रदेश बन्धमें परस्पर सम्बन्ध —दे० अनुभाग/२ ।
*	स्थिति बन्ध व प्रदेश बन्धमें सम्बन्ध —दे० स्थिति/३ ।
२	प्रदेश बंध सम्बन्धी नियम व प्ररूपणाएँ
१	विस्रसोपचयोमें हानि वृद्धि सम्बन्धी नियम ।
२	एक समयप्रबद्धमें प्रदेशोंका प्रमाण ।
३	समयप्रबद्ध वर्गणाओंमें अल्पबहुत्व विभाग ।
*	पाँचों शरीरोंमें बद्ध प्रदेशोंमें व विस्रसोपचयोमें अल्प-बहुत्व —दे० अल्पबहुत्व ।
*	प्रदेशबन्धका निमित्त योग है —दे० बंध/५ ।
*	प्रदेश बंधमें योग सम्बन्धी शक्याएँ —दे० योग/२ ।
*	योग स्थानों व प्रदेश बंधमें सम्बन्ध —दे० योग/५ ।
४	योग व प्रदेश बंधमें परस्पर सम्बन्ध ।
५	स्वामित्वकी अपेक्षा प्रदेश बंध प्ररूपणा ।
६	प्रकृतिबंधकी अपेक्षा स्वामित्व प्ररूपणा ।
७	एक योग निमित्तक प्रदेशबन्धमें अल्पबहुत्व क्यों ।
८	सम्यक्त्व व मिश्र प्रकृतिकी अन्तिम फालिमें प्रदेशों सम्बन्धी दो मत ।
९	अन्य प्ररूपणाओं सम्बन्धी विषय सूची ।
*	मूलोत्तर प्रकृति, पंच शरीर, व २३ वर्गणाओंके प्रदेशों सम्बन्धी संख्या, क्षेत्र, स्पर्शन काल अंतर, भाव व अल्पबहुत्व रूप प्ररूपणाएँ —दे० वह वह नाम ।
*	प्रदेश सत्त्व सम्बन्धी नियम —दे० सत्त्व /२ ।

१. प्रदेश व प्रदेश बन्ध निर्देश

१. प्रदेशका लक्षण

१. परमाणुके अर्थमें

स. सि./२/३८/१६२/६ प्रदिश्यन्त इति प्रदेशा' परमाणु' । = प्रदेश शब्दकी व्युत्पत्ति 'प्रदिश्यन्ते' होती है। इसका अर्थ परमाणु है। (स सि/५/८/२७४/७) (रा वा/२/३८/१/१४७/२८)।

२ आकाशका अंश

प्र. सा/मू/१४० आगासमणुणिविट्ठ आगासपदेससण्णया भणितं । सव्वेसि च अपूण सक्कदि तं देहुमवगासं । १४०। = एक परमाणु जितने आकाशमे रहता है उतने आकाशको 'आकाश प्रदेश'के नामसे कहा गया है। और वह समस्त परमाणुओंको अवकाश देनेमे समर्थ है १४०। (रा वा/५/१/८/४३२/३३) (न च वृ./१४१) (द्र सं./मू./२७) (गो जी/मू/५६१/१०२६) (नि सा./ता, वृ/३५-३६)।

क. पा/२/२/११२/७/१० निर्भाग आकाशावयव (प्रदेश) = जिसका दूसरा हिस्सा नहीं हो सकता ऐसे आकाशके अवयवको प्रदेश कहते हैं।

४ पर्यायके अर्थमें

पं. का/त. प्र./५ प्रदेशाख्या' परस्परव्यतिरेकित्वात्पर्याया उच्यन्ते । = प्रदेशनामके उनके जो अत्रयव है वे भी परस्पर व्यतिरेकवाले होनेसे पर्याय कहलाती हैं।

२. प्रदेश बन्धका लक्षण

त. सू/८/२४ नामप्रत्यया सर्वतोयोगविशेषात्सूक्ष्मैकक्षेत्रावगाहस्थिता' सर्वात्मप्रदेशेष्वनन्तानन्तप्रदेशा. १२४। = कर्म प्रकृतियोंके कारणभूत प्रति समय योग विशेषसे सूक्ष्म, एकक्षेत्रावगाही और स्थित अनन्तानन्त पुद्गलपरमाणु सब आत्म प्रदेशोमे (सम्बन्धको प्राप्त) होते हैं १२४। (सू आ./१२४१), (विशेष विस्तार दे० स. सि/८/२४/४०२), (प घ/उ/६३३)।

स. सि/८/३/३७६/७ इयत्तावधारणं प्रदेश । कर्मभावपरिणतपुद्गलस्कन्धाना परमाणुपरिच्छेदेनावधारण प्रदेश' । = इयत्ता (सख्या) का अवधारण करना प्रदेश है। (प स./प्रा./४/५१४)। अर्थात् कर्म रूपसे परिणत पुद्गलस्कन्धोका परमाणुओंकी जानकारी करके निश्चय करना प्रदेश बन्ध है। (रा वा/८/३/७/५६७/१२)।

३. प्रदेश बन्धके भेद

(प्रदेश बन्ध चार प्रकारका होता है—उत्कृष्ट, अनुत्कृष्ट, जघन्य व अजघन्य।)

२. प्रदेश बन्ध सम्बन्धी नियम व प्ररूपणाएँ

१. विस्त्रसोपचयोंमें हानि वृद्धि सम्बन्धी नियम

ष खं. १४/५.६/सू ५२०-५२८/४३८ ४४४ विस्त्रसुवचयप्ररूपणदाए एवकेवकम्हि जीवपदेसे केवडिया विस्त्रसुवचया उवचिदा । ५२०। अणता विस्त्रसुवचया उवचिदा सव्वजीवेहि अणतगुणा । ५२१। ते च सव्वलोगागदेहि बद्धा । ५२२। तेसि चउव्विहा हाणी-दव्वहाणी खेत्तहाणी कालहाणी भावहाणी चेदि । ५२३। दव्वहाणिप्ररूपणदाए ओरालियसरीरस्स जे एयपदेसियवग्गणाए दव्वा ते बहुआ अणंतेहि विस्त्रसुवचएहि उवचिदा । ५२४। जे दुपदेसियवग्गणाए दव्वा ते विसेसहीणा अणंतेहि विस्त्रसुवचएहि उवचिदा । ५२५। एवं तिपदेसिय-चदुपदेसिय-पंचपदेसिय - छपदेसिय-सत्तपदेसिय - अट्ठपदेसिय - णवपदेसिय - दसपदेसिय - सत्तेअपदेसिय-असत्तेअपदेसिय-

अणत्तपदेसिय-अणंताणंत्तपदेसियवग्गणाए दव्वा ते विसेसहीणा अणंतेहि विस्त्रसुवचएहि उवचिदा । ५२६। तदो अणुलस्स अस-खेज्जदिभाग गंतुणं तेसि पंचविहा हाणी—अणतभागहाणी असं-खेज्जभागहाणी संखेज्जभागहाणी संखेज्जगुणहाणी असंखेज्जगुणहाणी । ५२७। [टीका—तत्थ एवकेक्किस्से हाणीए अद्धाणमंणुलस्स असं-खेज्जदिभागो ।] एवं चदुण्णं सरीराण । ५२८। = चार शरीरोमें बन्धी नोकर्म वर्गणाओंकी अपेक्षा—विस्त्रसोपचय प्ररूपणाकी अपेक्षा एक-एक जीव प्रदेशपर कितने विस्त्रसोपचय उपचित है । ५२०। अनन्त विस्त्रसोपचय उपचित है जो कि सब जीवोसे अनन्त गुणे है । ५२१। वे सब लोकमेंसे आकर बद्ध हुए हैं । ५२२। उनकी चार प्रकारकी हानि होती है—द्रव्यहानि, क्षेत्रहानि, कालहानि और भावहानि । ५२३। द्रव्यहानि प्ररूपणाकी अपेक्षा औदारिक शरीरकी एक प्रदेशी वर्गणाके जो द्रव्य है वे बहुत है जो कि अनन्त विस्त्रसोपचयोसे उपचित है । ५२४। जो द्विप्रदेशी वर्गणाके द्रव्य है वे विशेषहीन है जो अनन्त विस्त्रसोपचयोसे उपचित है । ५२५। इसी प्रकार त्रिप्रदेशी, चतुःप्रदेशी, पंचप्रदेशी, छहप्रदेशी, सातप्रदेशी, आठप्रदेशी, नौ-प्रदेशी, दसप्रदेशी, सख्यातप्रदेशी, असख्यातप्रदेशी, अनन्तप्रदेशी और अनन्तानन्तप्रदेशी वर्गणाके जो द्रव्य है विशेषहीन है जो प्रत्येक अनन्त विस्त्रसोपचयोसे उपचित है । ५२६। उसके बाद अणुलके असंख्यात्वे भाग प्रमाण स्थान जाकर उनकी पाँच प्रकारकी हानि होती है—अनन्त भागहानि, असख्यात भागहानि, सख्यात भागहानि, संख्यात गुणहानि और असख्यात गुणहानि । ५२७। [टीका—उनमेंसे एक-एक हानिका अध्वान अणुलके असख्यातवे भाग प्रमाण है ।] इसी प्रकार चार शरीरोकी प्ररूपणा करनी चाहिए । ५२८।

नोट—विलकुल इसी प्रकार अन्य तीन हानियोंका कथन करना चाहिए । (ष. खं. १४/५.६/सू ५२६-५२३/४४५-४६३)।

२. एक समयप्रबद्धमें प्रदेशोंका प्रमाण

प सं/प्रा/४/४६५ पंचरस-पंचवण्णेहि परिणयदुग्ंध चदुहि फासेहि । दवियमणत्तपदेसं जीवेहि अणंतगुणहीणं । ४६५। = पाँच रस, पाँच वर्ण, दो गन्ध और शीतादि चार स्पर्शसे परिणत, सिद्ध जीवोसे अनन्तगुणितहीन, तथा अभव्य जीवोसे अनन्तगुणित अनन्तप्रदेशी पुद्गल द्रव्यको यह जीव एक समयमें ग्रहण करता है । ४६५। (गो. क/मू./१६१), (द्र. स./टी./३३/६४/१), (पं. सं./सं./४/३३७)।

३. समयप्रबद्ध वर्गणाओंमें अल्पबहुत्व विभाग

ध. ६/१.६-७.४३/२०१/६ ते च कम्मपदेसा जहूणवग्गणाए बहुआ, तत्तो उव्वरि वग्गणं पडि विसेसहीणा अणतभागोण । भागहारस्स अद्धं गंतुण दुगुणहीणा । एवं पेदव्व जाव चरिमवग्गणेत्ति । एव चत्तारि य बंधा परूविदा होत्ति । = वे कर्मप्रदेश जघन्य वर्गणामें बहुत होते हैं उससे ऊपर प्रत्येक वर्गणाके प्रति विशेषहीन अर्थात् अनन्तवे भागसे हीन होते जाते हैं । और भागाहारके आधे प्रमाण दूर जाकर दुगुणहीन अर्थात् आधे, रह जाते हैं । इस प्रकार यह क्रम अन्तिम वर्गणा तक ले जाना चाहिए । इस प्रकार प्रकृति बन्धके द्वारा यहाँ चारों ही बन्ध प्ररूपित हो जाते हैं ।

४. योग व प्रदेश बन्धमें परस्पर सम्बन्ध

म. बं ६/६२-१३४ का भावार्थ—उत्कृष्ट योगसे उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध तथा जघन्य योगसे जघन्य प्रदेशबन्ध होता है ।

५. स्वामित्वकी अपेक्षा प्रदेशबन्ध प्ररूपणा

पं सं/प्रा./४/५०२-५१२), (गो. क/मू./२१०-२१६/२५६)। संकेत—१ सज्जी=सज्जी, पर्याप्त, उत्कृष्ट योगसे युक्त, अल्प प्रकृतिका बन्धक उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध करता है । २ असज्जी=असज्जी, अपर्याप्त,

जघन्य योगसे युक्त, अधिक प्रकृतिका बन्धक, जघन्य प्रदेशबन्ध करता है। १. सू. ल./१=सूक्ष्म निगोद लब्धपर्याप्त, जघन्य योगसे युक्त जीवके अपनी पर्याप्तका प्रथम समय। ४. सू ल/२=सूक्ष्म-निगोद लब्धपर्याप्तकी आयु बन्धके त्रिभाग प्रथम समय। ५. सू. ल./च=चरम भवस्थ तथा तीन विग्रहमेसे प्रथम विग्रहमे स्थित निगोदिया जोव।

३. प्रकृति बन्धकी अपेक्षा स्वामित्व प्ररूपणा

प्रमाण तथा संकेत—(दे० पूर्वोक्त प्रदेशबन्ध प्ररूपणा नं० १)।

उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध		जघन्य प्रदेशबन्ध	
गुण स्थान	प्रकृतिका नाम	गुण स्थान व स्वामित्व	प्रकृतिका नाम
१. मूल प्रकृति प्ररूपणा			
१.२,४-६	आयु	सू.ल./१	आयुके बिना
१-६	मोह		सात कर्म
१०	ज्ञानावरणी, दर्शनावरणी, वेद-नीय, नाम, गोत्र, अन्तराय	सू.ल./२	आयु
२. उत्तर प्रकृति प्ररूपणा			
१	स्वस्थान०, निद्रानिद्रा, प्रचला-प्रचला, अनन्ता० चतु, स्त्री व नप० वेद, नरकतिर्यग् व देव-गति, पचेन्द्रियादि पाँच जाति, औदारिक, तैजस, व कर्मण शरीर, न्यग्रोधादि ५ सस्थान, वज्रनाराचआदि ५ सहनन, औदारिक अंगोपाग, स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण, नरकानुपूर्वी, तिर्यग्-गानुपूर्वी, मनुष्यगत्यानुपूर्वी, अगुरुलघु, उपधात, परधात, उच्छ्वास आतप, उद्योत, अपशस्त विहा०, त्रस, स्थावर, बादर, सूक्ष्म, पर्याप्त, अपर्याप्त, प्रत्येक, साधारण, स्थिर, अस्थिर, शुभ, अशुभ, दुर्भग, दुस्वर, अनादेय, अयश, निर्माण, नीचगोत्र =६६	अविरत सम्य०	देवगति, व आनुपूर्वी, वैक्रियक शरीर व अंगोपाग, तीर्थ-कर =५
		अप्रमत्त सयत असञ्जी	आहारक द्वय
		सू.ल./च	उपरोक्तके अतिरिक्त शेष बची =१०६
१-६	असाता, देव व मनुष्यायु, देव-गति, देवगत्यानुपूर्वी, वैक्रियक शरीर व अंगोपाग, समचतुरस्र सस्थान, आदेय, सुभग, सुस्वर, प्रशस्तविहायोगति, वज्रशुभ नाराचसहनन =१३		
४	अप्रत्याख्यान चतुष्क =४		
४-६	हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, निद्रा, प्रचला, तीर्थकर =६		
५	प्रत्याख्यान चतुष्क =४		
७	आहारक द्विक		
६	पुरुष वेद, सज्वलन चतुष्क =५		
१०	ज्ञानावरणकी ५, दर्शनावरणकी चक्षु आदि ४, अन्तराय ५, साता, यशस्कीर्ति, उच्चगोत्र =१७		

नं०	प्रकृतिका नाम	स्वामित्व व गुणस्थान	
		उत्कृष्ट	जघन्य
१	ज्ञानावरण—		
	पाँचो	१०	सू.ल./च
२	दर्शनावरण—		
१-४	चक्षु, अचक्षु अवधि व केवल दर्शन	१०	"
५	निद्रा	१०	"
६	निद्रानिद्रा	१	"
७	प्रचला	१०	"
८	प्रचला प्रचला	१	"
३	वेदनीय—		
१	साता	१०	"
२	असाता	१-६	"
४	मोहनीय—		
१	मिथ्यात्व	१	"
२-५	अनन्ता० चतु०	१	"
६-१०	अप्रत्या० चतु०	४	"
११-१४	प्रत्या० चतु०	५	"
१४-१७	सज्वलन चतु०	६	"
१७-२३	हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा	४-६	"
२४	स्त्री वेद	१	"
२५	पुरुष "	१०	"
२६	नप० "	१	"
५	आयु—		
१	नरकायु	१	असञ्जी
२	तिर्यग्	१	सू.ल./च
३	मनुष्य	१-६	"
४	देवायु	"	"
६	नामकर्म—		
१	गति—		
	नरक	१	असञ्जी
	तिर्यग्	१	सू.ल./च
	मनुष्य	१	सू.ल./च
	देव	१-६	अविरति सम्य०
२	जाति—		
	एकन्द्रियादि पाँचो	१	सू.ल./च
३	शरीर—		
	औदारिक	१	"
	वैक्रियक	१-६	अविरत सम्य०
	आहारक	७	अप्रमत्त
	तैजस	१	सू. ल./च

नं०	प्रकृतिका नाम	स्वामित्व व गुणस्थान	
		उत्कृष्ट	जघन्य
४	कार्मण	१	सू.ल./च
	अंगोपांग—		
	औदारिक	१	"
	वैक्रियक	१-६	अविरत
५	आहारक	७	अप्रमत्त
	निर्माण	१	सू.ल./च
६	बन्धन	"	"
७	संघात	"	"
८	संस्थान—		
	समचतुरस्र	१-६	"
९	शेष पाँचो	१	"
	संहनन—		
१०-१३	वज्र वृषभ नाराच	१-६	"
	शेष पाँचो	१	"
१४	स्पर्श, रस, गन्ध वर्ण	"	"
	आनुपूर्वी—		
१५	नरक	१	असंज्ञी
	तिर्यग व मनुष्य	"	सू.ल./च
१६	देव	१-६	अविरत
			सम्य०
१७	अगुरुलघु	१	सू.ल./च
१८	उपघात	"	"
१९	परघात	"	"
२०	आत७	१	"
२१	उद्योत	"	"
२२	उच्छ्वास	"	"
२३	विहायीगति—		
	प्रशस्त	१-६	"
२४	अप्रशस्त	१	"
			"
२५	प्रत्येक	"	"
२६	त्रस	"	"
२७	सुभग	१-६	"
२८	सुस्वर	"	"
२९	शुभ	१	"
३०	सूक्ष्म	"	"
३१	पर्याप्त	"	"
३२	स्थिर	"	"
३३	आदेय	१-६	"
३४	यश कीर्ति	१०	"
३५	साधारण	१	"
३६	स्थावर	१	"
३७	दुर्भग	"	"
३८	दु.स्वर	"	"
३९	अशुभ	"	"
४०	बादर	"	"
४१	अपर्याप्त	"	"
४२	अस्थिर	"	"

नं०	प्रकृतिका नाम	स्वामित्व व गुणस्थान	
		उत्कृष्ट	जघन्य
४०	अनादेय	१	स.ल./च
४१	अयश-कीर्ति	"	"
४२	तीर्थकर		
७	गोत्र—		
१	उच्च	१०	"
२	नीच	१	"
८	अन्तराय—		
१	पाँचो	१०	"

७. एक योग निमित्तक प्रदेश बंधमें अल्पबहुत्व क्यों

घ १०/४,२,४,२१३/१११/३ यदि जोगादो पदेसबधो होदि तो सब-कर्मण पदेसपिडस्स समाणत्तं पावदि, एगकारणत्तादो। ण च एवं, पुव्विल्लप्पावहुएण सह विरोहादो त्ति। एवं पच्चवहुदस्सिस्सत्थ-मुत्तरसुत्तावयो आगदो 'णवरि पयडिविसेसेण विसेसाहियाणि' त्ति। पयडो णाम सहाओ, तस्स विसेसो भेदो, तेण पयडिविसेसेण कम्मणं पदेसबधुणाणि समाणकारणत्ते वि पदेसेहि विसेसाहियाणि। = प्रश्न—यदि योगसे प्रदेश बन्ध होता है तो सब कर्मोंके प्रदेश समूहके समानता प्राप्त होती है, क्योंकि उन सबके प्रदेशबन्धका एक ही कारण है। उत्तर—परन्तु ऐसा है नहीं, क्योंकि, वैसा होनेपर पूर्वोक्त अल्पबहुत्वके साथ विरोध आता है। इस प्रत्यवस्था युक्त शिष्यके लिए उक्त सूत्रके 'णवरि पयडिविसेसेण विसेसाहियाणि' इस उत्तर अवयवका अवतार हुआ है। प्रकृतिका अर्थ स्वभाव है, उसके विशेषसे अभिप्राय भेदका है। उस प्रकृति विशेषसे कर्मोंके प्रदेश बन्धस्थान एक कारणके होनेपर भी प्रदेशोंसे विशेष अधिक है।

८. सम्यक्त्व व मिश्र प्रकृतिकी अन्तिम फालिमें प्रदेशों सम्बन्धी दो मत

क पा ४/३,२२/४६३६/३३४/११ जइवसहाहरिएण उवलद्धा वे उवएसा। सम्मत्तचरिमफालीदो सम्मामिच्छत्तचरिमफाली असखे० गुणहीणा त्ति एगो उवएसो। अवरगे सम्मामिच्छत्तचरिमफाली तत्तो विसेसाहिया त्ति। एत्थ एदेसि दोण्ह पि उवएसाण णिच्छयं काउम-समत्थेण जइवसहाहरिएण एगो एत्थ विलिहिदो अवरगे द्विट्ठिसंक्रमे। तेणेद वे वि उवदेसा थप्प काट्टण वत्तवा त्ति। = यतिवृषभाचार्य-को दो उपदेश प्राप्त हुए। सम्यक्त्वकी अन्तिम फालिसे सम्यग्-मिथ्यात्वकी अन्तिम फालि असंख्यातगुणी हीन है यह पहला उपदेश है। तथा सम्यग्मिथ्यात्वकी अन्तिम फालि उससे (सम्यक्त्वकी अन्तिम फालिसे) विशेष अधिक है यह दूसरा उपदेश है। इन दोनों ही उपदेशोंका निश्चय करनेमें असमर्थ यतिवृष-भाचार्यने एक उपदेश यहाँ लिखा और एक उपदेश स्थिति सक्रममें लिखा, अतः इन दोनों ही उपदेशोंकी स्थिति करके उपदेश करना चाहिए।

९. अन्य प्ररूपणार्थो सम्बन्धी विषय सूची

(म. बं. ६/६-पृ.)

नं.	मूल उत्तर	विषय	ज. उ. पद	भुजगारावि-पद	ज. उ. वृद्धि हानि	षट्-गुण वृद्धि
ओष व आदेशसे अष्ट कर्म प्ररूपणा						
१	मूल	समुत्कीर्तना		६/१०-१०२/५३-५४	६/१४६-१४७/७९	
		भंगविचय		६/१२५-१२६/६५-६६		
		जीवस्थान व अध्यवसाय-स्थान	६/१४४-१५६/८३, ८४			
	उत्तर	सन्निकर्ष	६/२६६-५६५/१७०			
		भंग विचय	६/५६६-५६६/३५०-३५४			

प्रदेशत्व—

रा. वा. २/७/१३/११३/१ प्रदेशवत्त्वमपि साधारणं संख्येयासंख्येया-नन्तप्रदेशोपेतत्वात् सर्वद्रव्याणाम् । तदपि कर्मोदयाद्यपेक्षाभावात् पारिणामिकम् । = प्रदेशवत्त्व भी सर्व द्रव्यसाधारण है, क्योंकि सर्व द्रव्य अपने अपने संख्यात, असंख्यात वा अनन्त प्रदेशोंको रखते हैं । यह कर्मोंके उदय आदिको अपेक्षाका अभाव होनेसे पारिणामिक है । आ. प. ६ प्रदेशस्य भावः प्रदेशत्वं क्षेत्रत्वं अविभागिपुद्गलपरमाणु-नावष्टयम् । = प्रदेशके भावको प्रदेशत्व अर्थात् क्षेत्रत्व कहते हैं । वह अविभागी पुद्गल परमाणुके द्वारा घेरा हुआ स्थान मात्र होता है ।

★ षट् द्रव्योंमें सप्रदेशी व अप्रदेशी विभाग—

दे० द्रव्य/३ ।

प्रदेश विरच—घ. १४/५.६.२८७/३५२/३ कर्मपुद्गलप्रदेशो विरच्यते अस्मिन्निति प्रदेशविरचः कर्मस्थितिरिति यावत् । अथवा विरच्यते इति विरचः प्रदेशश्चासौ विरचश्च प्रदेशविरचः विरच्यमानकर्मप्रदेश इति यावत् । = कर्म पुद्गल प्रदेश जिसमें विरचा जाता है अर्थात् स्थापित किया जाता है वह प्रदेश विरच कहलाता है । अभिप्राय यह है कि यहाँपर प्रदेशविरचसे कर्मस्थिति ली गयी है । अथवा विरच पदकी निरुक्ति यह है—विरच्यते अर्थात् जो विरचा जाता है उसे विरच कहते हैं । तथा प्रदेश जो विरच वह प्रदेश विरच कहलाता है । प्रदेशविरच्यमान कर्म प्रदेश यह उसका अभिप्राय है ।

प्रदोष—स. सि. ६/१०/३२७/१० तत्त्वज्ञानस्य मोक्षसाधनस्य कीर्तने कृत्ये कस्यचिदनभिव्याहरतः अन्तःपैशुन्यपरिणामः प्रदोषः । = तत्त्व-ज्ञान मोक्षका साधन है, उसका गुणमान करते समय उस समय नहीं बोलने वालेके जो भीतर पैशुन्य रूप परिणाम होता है वह प्रदोष है । (रा. वा. ६/१०/१/५१७) (गो. क./जी. प्र. १००/१७६/६) । गो. क./जी. प्र. १००/१७६/६ तत्प्रदोषः तत्त्वज्ञाने हर्षाभावः । = तत्त्व ज्ञानमें हर्षका अभाव होना प्रदोष है । रा. वा. हि. ६/१०/४६४-४६५ कोई पुरुष (किसी अन्यकी) प्रशंसा करता होय, ताकूँ कोई सराहै नहीं. ताकूँ सुनकरि आप मौन शब्दै अन्तरंग विषै वा सूँ अद्वैतसका भाव करि तथा (वाकूँ) दोष लगावनेके अभिप्राय करि वाका साधक न करे ताके ऐसे परिणाम कूँ प्रदोष कहिए ।

प्रद्युम्न—ह. पु./सर्ग/श्लोक—अपने पूर्वके सातवें भवमें शृंगाल था (४३/११५) छठे भवमें ब्राह्मणपुत्र अग्निभूति (४३/१००), पाँचवें भवमें सौधर्म स्वर्गमें देव (४६/१३६), चौथे भवमें सेठ पुत्र पूर्णभद्र (४३/१५८) तीसरे भवमें सौधर्म स्वर्गमें देव (४३/१५८), दूसरे भवमें मधु (४३/१६०) पूर्व भवमें आरणेन्द्र था (४३/४०) । वर्तमान भवमें कृष्णका पुत्र था (४३/४०) जन्मते ही पूर्व वैरी असुरने इसको उठाकर पर्वतपर एक शिलाके नीचे दबा दिया (४३/४४) तत्पश्चात् कालसंवर विद्याधरने इसका पालन किया (४३/४७) युवा होनेपर पोषक माता इनपर मोहित हो गयी (४३/५५) । इस घटनापर पिता कालसंवरको युद्धमें हरा कर द्वारका आये तथा जन्ममाताको अनेकों बालक्रीड़ाओं द्वारा प्रसन्न किया (४७/६७) । अन्तमें दीक्षा धारण की (६१/३६), तथा गिरनार पर्वतपरसे मोक्ष प्राप्त किया (६५/१६-१७)

प्रद्युम्न चरित्र— १. आ० सोमकीर्ति (ई० १४७४) द्वारा विरचित संस्कृत छन्द ब्रह्म ग्रन्थ । इसमें १६ सर्ग तथा कुल ४८०० श्लोक हैं । २. आ० शुभचन्द्र (ई० १५१६-१५५६) द्वारा रचित संस्कृत छन्द ब्रह्म ग्रन्थ ।

प्रधान वाद—दे० सांख्यदर्शन ।

प्रध्वंसाभाव—दे० अभाव ।

प्रबंध काल—दे० काल/१ ।

प्रभंकर—सौधर्म स्वर्गका २७ वाँ पटल व इन्द्रक—दे० स्वर्ग/५/३ ।

प्रभंजन—१. मानुषोत्तर पर्वतका एक कूट व उसका स्वामी भवन-वासी वायुकुमारदेव—दे० लोक/५/१० ।

प्रभ—सौधर्म स्वर्गका २१ वाँ पटल व इन्द्रक १—दे० स्वर्ग/५ ।

प्रभा—रा. वा. ३/१/४/१५६/२३ न दीप्तिरूपैव प्रभा । किं तर्हि । द्रव्याणां स्वात्मैव मृजा प्रभा यत्संनिधानात् मनुष्यादीनामयं संव्यवहारो भवति स्निग्धकृष्णप्रभमिदं रूक्षकृष्णप्रभमिदमिति । = केवल दीप्तिका नाम ही प्रभा नहीं है किन्तु द्रव्योंका जो अपना विशेष विशेष सन्नोनापन होता है, उसीको कहा जाता है कि यह स्निग्धकृष्णप्रभावाला है । यह रूक्ष कृष्ण प्रभा वाला है ।

प्रभाकर भट्ट—१. योगेन्दुदेवके शिष्य दिगम्बर साधु थे । योगेन्दु देवके अनुसार इनका समय भी ई. श. ६ आता है । (प. प्र. प्र. १००/Α. N. Up) मीमांसकोंके गुरु थे । कुमारिल भट्टके समकालीन थे । समय—(ई० ६००-६२५) (प. प्र. प्र. १००/Α. N. up (स्याद्वाद सिद्धि/प्र. २०/ पं. दरबारी लाल कोठिया) (विशेष दे. मीमांसा दर्शन) ।

प्रभाकर मत—दे० मीमांसक दर्शन ।

प्रभाचंद्र—इस नाम के अनेकों आचार्य हुए हैं— १. नन्दिसंघ बला-स्कारगण की गुर्वावली के अनुसार लोकचन्द्र के शिष्य और नेमिचन्द्र के गुरु । समय—शक ४५३-४७८ (ई० ५३१-५५६) । (वे. इतिहास/ ७/२) । २. अकलंक भट्ट (ई० ६२०-६८०) के परवर्ती एक आचार्य जिन्होंने गुड्डपिच्छ कृत तत्त्वार्थ सूत्र के अनुसार एक द्वितीय तत्त्वार्थ सूत्र की रचना की । (ती. /३/३००) । ३. राष्ट्रकूट के नरेश गोविन्द तृ. के वो ताम्रपत्रों (शक ७१६-७२४) के अनुसार आप तोरणाचार्य के शिष्य और पुष्पनन्दि के शिष्य थे । समय—लगभग शक ७१०-७५४ (ई० ७८८-८३२) । (जै. /२/११३) । ४. महापुराण के कर्ता जिनमेन (ई० ८१८-८७८) से पूर्ववर्ती जो कुमारसेन के शिष्य थे । कृति—न्याय का ग्रन्थ 'चन्द्रोदय' । समय— ई० ७९७ (ह. पु. प्र. ८/पं. पन्ना लाल) । ५. नन्दिसंघ देशीयगण गीलाचार्य आप्नाय में आप ए३नन्दि

जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश

सैद्धान्तिक के शिष्य और आबिद्धकरण पञ्चनन्दि कौमारदेव के सधर्मा थे। परीक्षामुख के कर्ता माणिक्यनन्दि आपके शिक्षा गुरु थे। कृतियों—प्रमेयकमल मार्तण्ड, न्याय कुमुद चन्द्र, तत्त्वार्थवृत्ति पद विवरण, शाकटायन न्यास, शब्दाम्भोज भास्कर, समाधितन्त्र टीका, आत्मानुशासन टीका, समयसार टीका, प्रवचनसार सरोज भास्कर, पञ्चास्तिकाय प्रदीप, लघु द्रव्य संग्रह वृत्ति, महापुराण टिप्पणी गद्य कथा कोष, क्रिया कलाप टीका और किन्हीं विद्वानों के अनुसार रत्नकरण्ड श्रावकाचार की टीका भी। समय—पं. महेंद्र कुमार के अनुसार वि. १०३७-११२२; पं. कैलाश चन्द्रजी के अनुसार ई० १५०-१०२०। (दे. इतिहास/७/५); (जै. १/२३४८, १/३८८); (ती. १/२४६, ५०)। ६. नन्दिसंघ वैशेषिक में मेघचन्द्र त्रैविद्य द्वि. के शिष्य और वीरनन्दि व शुभचन्द्र के सहधर्मा। (दे. इतिहास/७/५)। ७. रेणुगण के भट्टारक बाल चन्द्र के शिष्य। कृतियों—सिद्धान्तसार की कन्नड़ टीका और पं. कैलाश चन्द्रजी के अनुसार रत्नकरण्ड श्रावकाचार की टीका। समय—वि. श. १३ (ई० ११८५-१२४३)। ८. नन्दिसंघ बलात्कार गण की अजमेर गद्दी के अनुसार आप रत्न कीर्ति भट्टारक के शिष्य और पञ्चनन्दि के शिष्य थे। समय—वि. श. १३ पूर्व अथवा वि. १३१०-१३२५ (ई० १२५३-१३२८)। (दे. इतिहास/३/४)। (दे० इतिहास/७/३)। ९. श्रुत मुनि (ई० १३४१, वि० १३६८) के शिक्षा गुरु। समय—वि. श. १४ का उत्तरार्ध (ई० श. १४ पूर्व)। (जै. २/१६५, ३४६)। १०. काष्ठासंधी आचार्य। गुरु परम्परा—हैमकीर्ति, धर्मचन्द्र, प्रभाचन्द्र; कृति—तत्त्वार्थ रत्न प्रभाकर। समय—वि. १४८६ (ई० १४३२)। (जै. २/३६६-३७०)। ११. नन्दिसंघ बलात्कार गण दिल्ली शाखा जो पीछे चित्तौड़ शाखा के रूप में रूपान्तरित हो गई। गुरु—जिनचन्द्र। समय—वि. १५७१-१५८६ (ई० १५१४-१५२९)। (ती. १/३/३८४)।

प्रभाव—स. सि. १/४/२०/२५१/७ शापानुग्रहशक्तिः प्रभावः। = शाप और अनुग्रह रूप शक्तिको प्रभाव कहते हैं। (रा. वा. १/४/२०/२/२/२३५/१३)।

प्रभावती—पूर्व विदेहस्थ बत्सकावती देशकी मुख्य नगरी। दे० लोक/७।

प्रभावना—१. प्रभावना अंगका लक्षण

१. निश्चयकी अपेक्षा

स. सा./मू./२३६ विज्जारहमारूढो मणोरहप्रेसु भमइ जो चेदा। सो जिगणणपहावी सम्मदिट्ठा मुण्येव्वो। २३६। = जो चेतयिता विद्या-रूपी रथपर आरूढ हुआ, मन रूपी रथके पथमें (ज्ञानरूपी रथके चलनेके मार्गमें) भ्रमण करता है, वह जिनेन्द्र भगवात्सके ज्ञानकी प्रभावना करनेवाला सम्यग्दृष्टि जानना चाहिए। २३६।

रा. वा. ६/२४/१/५२६/१५ सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्ररत्नत्रयप्रभावेन आत्मनः प्रकाशार्थं प्रभावनम्। = सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र रूप रत्नत्रयके प्रभावसे आत्माको प्रकाशमान करना प्रभावना है। (चा. सा. १/४) (पु. सि. उ./२०)।

द्र. सं./टी./४१/१७७/६ निश्चयेन पुनस्तस्यैव व्यवहारप्रभावना गुणस्य बलेन मिथ्यात्वविषयकषायप्रभृतिसमस्तविभावपरिणामरूपपरसम-यानां प्रभावं हत्वा शुद्धोपयोगलक्षणस्वसंवेदनज्ञानेन विशुद्धज्ञानदर्शन-स्वभावनिजशुद्धात्मनः प्रकाशनमनुभवनमेव प्रभावेति। = व्यवहार प्रभावना गुणके बलसे मिथ्यात्व-विषय कषाय आदि सम्पूर्ण विभाव परिणामरूप परसमयके प्रभावको नष्ट करके शुद्धोपयोग लक्षणवाले स्वसंवेदन ज्ञानसे, निर्मल, ज्ञान, दर्शन रूप स्वभाव वाली निज

शुद्धात्माका जो प्रकाशन अथवा अनुभवन, वह निश्चयसे प्रभावना है।

पं. घ./उ./५६ मोहारतिक्षतेः शुद्धः शुद्धाच्छुद्धतरस्ततः। जीवः शुद्धतमः कश्चिदस्तीत्यात्मप्रभावना। ८१६। = कोई जीव मोह रूपी शत्रुके नाश होनेसे शुद्ध और कोई जीव शुद्धसे शुद्धतर तथा कोई जीव शुद्धतम हो जाता है, इसी तरह उत्तरोत्तर शुद्धताका प्रकर्ष ही आत्मप्रभावना कहलाती है। ८१६।

स. सा./पं. जयचन्द्र/२३६ प्रभावनाका अर्थ प्रकट करना है, उच्यत करना है इत्यादि; इसलिए जो अपने ज्ञानको निरन्तर प्रगट करता है—बढ़ाता है, उसके प्रभावना अंग होता है।

२. व्यवहारकी अपेक्षा

र. क. श्रा./१८ अज्ञानतिमिरव्याप्तिमपाकृत्य यथायथम्। जिनशासन-माहात्म्यप्रकाशः स्यात्प्रभावना। १८। = अज्ञान रूपी अन्धकारके विनाशको जिस प्रकार बने उस प्रकार दूर करके जिनमार्गका समस्त मतावलम्बियोंमें प्रभाव प्रगट करना सो प्रभावना नामका आठवाँ अंग है। १८। (का. अ./४२२-४२३)।

मू. आ./२६६ धम्मकहाकहणेण य वाहिरजोगेहि चाविणवज्जेहि। धम्मो पहाविदव्वो जीवेसु दयाणुकपाए। २६६। = महापुराणादि धर्मकथाके व्याख्यान करनेसे, हिंसा दोष रहित तपश्चरण कर, जीवोंकी दया व अनुकम्पा कर, जैन धर्मकी प्रभावना करनी चाहिए। आदि शब्दसे परवादियोंको जीतना, अष्टांगनिमित्त ज्ञान, पूजा, दान आदिसे भी प्रभावना करनी चाहिए। २६६।

रा. वा./६/२४/१२/५३०/१७ ज्ञानरविप्रभया परसमयखद्योतोद्योतितिर-स्कारिण्या, सत्तपसा महोपवासादिलक्षणेन सुरपतिविष्टरप्रकम्पन-हेतुना, जिनपूजया वा भव्यजनकमलषण्डप्रबोधनप्रभया, सद्धर्म-प्रकाशनं मार्गप्रभावनमिति संभाव्यते। = पर समय रूपी जुगुनुओंके प्रकाशको पराभूत करनेवाले ज्ञानरविकी प्रभासे, इन्द्रके सिंहासनको कँपा देनेवाले महोपवासादि सम्यक् तपोंसे तथा भव्यजन रूपी कमलोंको विकसित करनेके लिए सूर्यप्रभाके समान जिन पूजाके द्वारा सद्धर्मका प्रकाश करना मार्ग प्रभावना है। (स. सि./६/२४/३३६/५) (पु. सि. उ./३०) (चा. सा./५/३) (द्र. सं./टी./४१/१७७/२) (भा. पा./टी./७७/२२१/१६)।

घ. ८/३,४१/६१/१ आगमदृष्टस्स पवयणमिदि सण्णा। तस्स पहावणं णाम वण्णजणणं तव्वुडिद्धकरणं च, तस्स भावो पवयणपपहावणदा। = आगमार्थका नाम प्रवचन है, उसके वर्णजनन अर्थात् कीर्ति विस्तार या वृद्धि करनेको प्रवचनकी प्रभावना और उसके भावको प्रवचन-प्रभावनता कहते हैं।

भा. आ./वि./४५/१५०/५ धर्मस्थेषु मातरि पितरि भ्रातरि वानुरागो वात्सल्यं, रत्नत्रयादरो वात्मनः। प्रभावना माहात्म्यप्रकाशनं रत्नत्रयस्य तद्वतां वा। = रत्नत्रय और उसके धारक श्रावक और मुनिगणका महत्त्व बतलाना, यह प्रभावना गुण है। ऐसे गुणोंसे सम्यक्त्वकी वृद्धि होती है।

पं. घ./उ./८१८-८१९ बाह्यः प्रभावनाज्ञोऽस्ति विद्यामन्त्रादिभिर्बलैः। तपोदानादिभिर्जनधर्मोत्कर्षो विधीयताम्। ८१८। परेषामपकर्षाय मिथ्यात्वोत्कर्षशालिनाम्। चमत्कारकरं किञ्चित्तद्विधेयं महात्मभिः। ८१९। = विद्या और मन्त्रोंके द्वारा, बलके द्वारा, तथा तप और दानके द्वारा जो जैन धर्मका उत्कर्ष किया जाता है, वह प्रभावना अंग कहलाता है। तत्त्वज्ञानियोंको यह करना चाहिए। ८१९। मिथ्यात्वके उत्कर्षको बढ़ाने वाले मिथ्यादृष्टियोंका क्षपकर्ष करनेके लिए जो कुछ चामत्कारिक क्रियाएँ हैं, वे भी महात्माओंको करनी चाहिए। ८१९।

२. इस एक भावनामें शेष १५ भावनाओंका समावेश

ध. ५/३.४१/६१/३ उक्तदृष्यवयणपहावणसस दसणविसुजभदादीहि अविणाभावादो । तेणेदं पणरसमं कारणं =व्योकि, उत्कृष्ट, प्रवचन प्रभावनाका दर्शनविशुद्धितादिकोके साथ अविनाभाव है । इसलिए यह पन्द्रहवाँ कारण है ।

*** एक मार्ग प्रभावनासे तीर्थकरत्व बंध संभव**

दे०—भावना/२

प्रभास—१ लवण समुद्रकी नैऋत्य व वायव्य दिशामे स्थित द्वीप व उसके स्वामी देव—दे० लोक/४/१ २. दक्षिण लवण समुद्रका स्वामी देव—दे० लोक/४/१ । ३ धातकी खण्डका रक्षक उपन्तर देव—दे० लोक/४/२ ।

प्रभु—न च.वृ/१०८ घाईकम्मखयादो केवलणाणेण विदिदपरमट्टो । उवदिदुसयलतत्तो लद्धसहावो पहू होई । १०८ =घाति कर्मोंके क्षयसे जिसने केवलज्ञानके द्वारा परमार्थको जान लिया है, सकल तत्त्वोंका जिसने उपदेश दिया है, तथा निजस्वभावको जिसने प्राप्त कर लिया है, वह प्रभु होता है । १०८

पं. का./त.प्र /२७ निश्चयेन भावकर्मणा, व्यवहारेण द्रव्यकर्मणामास्व-
णबधनसंवरणनिर्जरणमोक्षेषु स्वयमोशत्वात् प्रभु । =निश्चयसे भाव कर्मोंके आसव, बध, सवर, निर्जरा और मोक्ष करनेमें स्वयं समर्थ होनेसे आत्मा प्रभु है । व्यवहारसे द्रव्यकर्मोंके आसव, बध आदि करनेमें स्वयं ईश होनेसे वह प्रभु है ।

पं. का./ता.वृ./२७/६०/१६ निश्चयेन मोक्षमोक्षकारणरूपशुद्धपरिणाम-
परिणमनसमर्थत्वात्तथैव चाशुद्धनयेन संसारससारकारणरूपशुद्ध-
परिणामपरिणमनसमर्थत्वात् प्रभुर्भवति । =निश्चयसे मोक्ष और मोक्षके कारण रूप शुद्ध परिणामसे परिणमनमे समर्थ होनेसे, और अशुद्ध नयसे ससार और संसारके कारण रूप परिणामसे परिणमनमें समर्थ होनेसे यह आत्मा प्रभु होता है ।

प्रभुत्व शक्ति—स सा /आ /परि /शक्ति नं ७ अखण्डितप्रताप-
स्वातन्त्र्यशालित्वलक्षणा प्रभुत्वशक्ति । =जिसका प्रताप अखण्डित है, ऐसा स्वातन्त्र्यसे शोभायमानपना जिसका लक्षण है, ऐसी प्रभुत्व शक्ति है । ७

पं. का./त.प्र /२८ निर्वर्तितसमस्ताधिकारशक्तिमात्रं प्रभुत्वं । =प्राप्त किये हुए समस्त (आत्मिक) अधिकारोंकी शक्ति मात्र रूप प्रभुत्व होता है ।

प्रसक्त संयत—दे० संयत ।

प्रमाण—स्व व पर प्रकाशक सम्यग्ज्ञान प्रमाण है । जैनदर्शनकार नैयायिकोंकी भीति इन्द्रियविषय व सन्निकर्षको प्रमाण नहीं मानते । स्वार्थ व परार्थके भेदसे अथवा प्रत्यक्ष व परोक्षके भेदसे वह दो प्रकार है । परार्थ तो परोक्ष ही होता है, पर स्वार्थ प्रत्यक्ष व परोक्ष दोनों प्रकारका होता है । तहाँ मतिज्ञानात्मक स्वार्थ प्रमाण तो साव्यवहारिक प्रत्यक्ष है, और श्रुतज्ञानात्मक स्वार्थ परोक्ष है । अवधि, मनःपरम्य और केवल ये तीनों ज्ञान पारमार्थिक प्रत्यक्ष है । नैयायिकोंके द्वारा मान्य अनुमान, उपमान, अर्थापत्ति, ऐतिह्य व शब्दादि सब प्रमाण यहाँ श्रुतज्ञानात्मक परोक्ष प्रमाणमे गभित हो जाते हैं । पहले न जाना गया अपूर्वपदार्थ प्रमाणका विषय है, और वस्तुकी सिद्धि अथवा हित प्राप्ति व अहित परिहार इसका फल है ।

१	भेद व लक्षण
१	प्रमाण सामान्यका लक्षण ।
२	प्रमाणके भेद ।
*	अन्य अनेकों भेद—अनुमान, उपमान, आगम, तर्क प्रत्यभिज्ञान, शब्द, स्मृति, अर्थापत्ति आदि । —दे० वह वह नाम
*	न्यायकी अपेक्षा प्रमाणके भेदादिका निर्देश । —दे० परोक्ष
३	प्रमाणके भेदोंके लक्षण ।
*	प्रत्यक्ष व परोक्ष प्रमाण । —दे० वह वह नाम
*	परार्थ प्रमाण । —दे० अनुमान, हेतु
४	प्रमाणके भेदोंका समीकरण ।
५	प्रमाणाभासका लक्षण ।
२	प्रमाण निर्देश
१	ज्ञान ही प्रमाण है ।
२	सम्यग्ज्ञान ही प्रमाण है मिथ्याज्ञान नहीं ।
*	सध्यक् व मिथ्या अनेकान्तके लक्षण ।—दे० अनेकात/१
*	प्रमाण व नय सम्बन्ध । —दे० नय/1/२ व II/१
३	परोक्षज्ञान देशतः और प्रत्यक्ष ज्ञान सर्वतः प्रमाण है ।
४	सम्यग्ज्ञानी आत्मा ही कथंचित् प्रमाण है ।
५	प्रमाणका विषय ।
६	प्रमाणका फल ।
*	वस्तु विवेचनमे प्रमाण नयका स्थान । —दे० न्याय/१
७	प्रमाणका कारण ।
*	उपचारमें कथंचित् प्रमाणता । —दे० उपचार/४
८	प्रमाणाभासके विषयादि ।
३	प्रमाणका प्रामाण्य
१	प्रामाण्यका लक्षण ।
*	प्रमाण ज्ञानमें अनुभवका स्थान । —दे० अनुभव/३
२	स्वतः व परतः दोनोंसे होता है ।
*	प्रमाण ज्ञान स्व-पर व्यवसायात्मक होता है । —दे० ज्ञान /1/३
३	वास्तवमे आत्मा ही प्रामाण्य है ज्ञान नहीं ।
४	प्रमाण, प्रमेय, प्रमाताके भेदाभेद संबन्धी शंका
१	ज्ञानको प्रमाण कहनेसे प्रमाणका फल किसे मानोगे ।
२	ज्ञानको प्रमाण माननेसे मिथ्याज्ञान भी प्रमाण हो जायेगा ।
३	सन्निकर्ष व इन्द्रियको प्रमाण माननेमें दोष ।
४	प्रमाण व प्रमेयको सर्वथा भिन्न माननेमे दोष ।
५	ज्ञान व आत्माको भिन्न माननेमे दोष ।

६	प्रमाणको लक्ष्य और प्रमाकरणको लक्षण माननेमें दोष ।
७	प्रमाण और प्रमेयमें कथञ्चित् भेदाभेद ।
८	प्रमाण व उसके फलोंमें कथञ्चित् भेदाभेद ।
५	गणनादि प्रमाणनिर्देश
१	प्रमाणके भेद—१ गणनाको अपेक्षा; २ निक्षेपकी अपेक्षा ।
*	अन्य अनेकों भेद—अंगुल, सख्यात, असख्यात, अनन्त, सागर, पत्य आदि प्रमाण । —दे० वह वह नाम ।
२	गणना प्रमाणके भेदोंके लक्षण ।
३	निक्षेप रूप प्रमाणोंके लक्षण ।
*	गणना प्रमाण सम्बन्धित विषय । —दे० गणित ।

१. भेद व लक्षण

१ प्रमाण सामान्यका लक्षण

१. निरुक्ति अर्थ

स.सि./१/१०/१८/२ प्रमिणोति प्रमीयतेऽनेन प्रमितिमात्र वा प्रमाणम् । = जो अच्छी तरह मान करता है, जिसके द्वारा अच्छी तरह मान किया जाता है या प्रमितिमात्र प्रमाण है । (रा.वा./१/१०/१/४६/१३)

क.पा./१/१.१/२७/३७/६ प्रमीयतेऽनेनेति प्रमाणम् । = जिसके द्वारा पदार्थ जाना जाता है उसे प्रमाण कहते हैं । (आ.प./६) (स.म./२८/३०७/१८) (न्या.दी./१/११०/११)

२. अन्य अर्थ

१. आहारका एक दोष—दे० आहार /II/४ । २. वसतिकाका एक दोष—दे० वसतिका; ३. Measure (ज.प./प्र. १०७)

२. प्रमाणके भेद

त.सू./१/१०-१२ भावार्थ—प्रमाण दो प्रकारका है—प्रत्यक्ष व परोक्ष (ध.६/४.१.४५/१४२/६) (न.च.वृ./१७०) (प.सु./१/१०,२/१) (ज.प./१३/४७) (गो.जी./मू.व.जी.प्र./२६६/६४८) (स.सा./आ./१३/क.८ की टीका) (स.म./३८/३३१/५) (स्या.म./२८/३०७/१६) (न्या.दी./२/११/२३)

स.सि./१/६/२०/३ तत्र प्रमाणं द्विविधं स्वार्थं परार्थं च । = प्रमाणके दो भेद हैं—स्वार्थ और परार्थ । (रा.वा./१/६/४/३३/११)

न्या.सू./मू./१/१/३/६ प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दाः प्रमाणानि । = प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्दके भेदसे प्रमाण चार प्रकारका है ।

३. प्रमाणके भेदोंके लक्षण

स.सि./१/६/२०/४ ज्ञानात्मकं स्वार्थं वचनात्मकं परार्थम् । = ज्ञानात्मक प्रमाणको स्वार्थ प्रमाण कहते हैं और वचनात्मक प्रमाण परार्थ प्रमाण कहलाता है । (रा.वा./१/६/४/३३/११) (सि.वि./मू./२/४/१२३) (स.भ.त./१/६)

४. प्रमाणके भेदोंका समीकरण

स.सि./१/६/२०/३ तत्र स्वार्थं प्रमाणं श्रुतवर्जम् (वज्यम्) । श्रुत पुनः स्वार्थं भवति परार्थं च । = श्रुतज्ञानका छोड़कर शेष सब (अर्थात् शेष चार) ज्ञान स्वार्थ प्रमाण है । परन्तु श्रुतज्ञान स्वार्थ और पदार्थ दोनों प्रकारका है । (इस प्रकार स्वार्थ व परार्थ भी प्रत्यक्ष व परोक्षमें अन्तर्भूत हैं ।)

रा.वा./१/२०/१५/७८/१० एतान्यनुमानादीनि श्रुते अन्तर्भवन्ति तस्मात्तेषां पृथगुपदेशो न क्रियते । स्वपरप्रतिपत्तिविषयत्वादक्षरानक्षरश्रुते अन्तर्भवति । = अनुमानादिका (अनुमान, उपमान, शब्द, ऐतिह्य, अर्थापत्ति, सभव और अभाव प्रमाणका) स्वप्रतिपत्तिकालमें अक्षर श्रुतमें और परप्रतिपत्तिकालमें अक्षर श्रुतमें अन्तर्भाव होता है । इसलिए इनका पृथक् उपदेश नहीं किया है ।

आ.प./६ सविकल्प मानस तच्चतुर्विधम् । मतिश्रुतावधिमानपर्ययरूपम् । निर्विकल्पं मनोरहितं केवलज्ञानं । = मति, श्रुत, अवधि व मन.पर्यय ये चार सविकल्प हैं, और केवलज्ञान निर्विकल्प और मन-रहित है । (इस प्रकार ये भेद भी प्रत्यक्ष व परोक्षमें ही गर्भित हो जाते हैं ।)

५. प्रमाणाभासका लक्षण

स.म.त./७४/४ मिथ्यानेकान्तः प्रमाणाभासः । = मिथ्या अनेकान्त प्रमाणाभास है ।

दे० प्रमाण/४।२ (सशयादि रहित मिथ्याज्ञान प्रमाणाभास है ।)

दे० प्रमाण/२/८ (प्रमाणाभासके विषय संख्यादि ।)

२. प्रमाण निर्देश

१. ज्ञान ही प्रमाण है

ति.प./१/८३ गणं होवि पमाण । = ज्ञान ही प्रमाण है । (सि.वि./मू./२/३/१२; १/२३/६६; १०/२/६६३) (ध. १/१.१.१/गा. ११/१७) (न.च.वृ./१७०) (प.सु./१/१) (प.ध./पू./५४१)

२. सम्यग्ज्ञान ही प्रमाण है मिथ्याज्ञान नहीं

श्लो. वा ३/१/२०/३८/६५ मिथ्याज्ञानं प्रमाणं न सम्यगित्यधिकारतः । यथा यत्राविसंवादस्तथा तत्र प्रमाणता । ३८ । = सूत्रमें सम्यक्का अधिकार चला आ रहा है, इस कारण संशयादि मिथ्याज्ञान प्रमाण नहीं है । जिस प्रकार जहाँपर अविस्वादा है वहाँ उस प्रकार प्रमाण-पना व्यवस्थित है ।

त.सा./१/३५ मतिः श्रुतावधिश्चैव मिथ्यात्वसमवायिनः । मिथ्याज्ञानानि कथ्यन्ते न तु तेषां प्रमाणता । ३५ । = मिथ्यात्वरूप परिणाम होनेसे मति, श्रुत व अवधिज्ञान मिथ्याज्ञान कहे जाते हैं । ये ज्ञान मिथ्या हो तो प्रमाण नहीं माने जाते ।

दे० प्रमाण/४/२ सशयावि सहित ज्ञान प्रमाण नहीं है ।

३. परोक्षज्ञान देशतः और प्रत्यक्षज्ञान सर्वतः प्रमाण है

श्लो. वा ३/१/१०/३६/६६ स्वार्थे मतिश्रुतज्ञानं प्रमाणं देशतः स्थितं । अवध्यादि तु कात्स्न्येन केवलं सर्ववस्तुषु । ३६ । = स्व विषयमें भी एक-देश प्रमाण है मति, श्रुतज्ञान। अवधि व मन पर्यय स्व विषयमें पूर्ण प्रमाण है । और केवलज्ञान सर्वत्र प्रमाण है ।

श्लो. वा २/१/६/१८-२६/३८३ में भाषाकार द्वारा समन्तभद्राचार्यका उद्धृत वाक्य—मिथ्याज्ञान भी स्वाशकी अपेक्षा कथञ्चित् प्रमाण है । दे० ज्ञान/III/२/८ (ज्ञान वास्तवमें मिथ्या नहीं है बल्कि मिथ्यात्वरूप अभिप्रायवश उसे मिथ्या कहा जाता है ।

४. सम्यग्ज्ञानी आत्मा ही कथञ्चित् प्रमाण है

ध. ६/४,२,४५/१४१/६ किं प्रमाणम् । निर्वाधबोधविशिष्ट आत्मा प्रमाणम् । = प्रश्न—प्रमाण किसे कहते हैं । उत्तर—निर्वाध ज्ञानसे विशिष्ट आत्माको प्रमाण कहते हैं । (ध ६/४,२,४५/१४१/६) ।

द. स. /टी./४४/१६०/१० सशयविमोहविभ्रमरहितवस्तुज्ञानस्वरूपारम्भैव प्रमाणम् । स च प्रदीपवत् स्वपरगतं सामान्यं विशेषं च जानाति । तेन कारणेनाभेदेन तस्यैव प्रमाणत्वमिति । = सशय-विमोह-विभ्रमसे रहित जो वस्तुका ज्ञान है, उस ज्ञानस्वरूप आत्मा ही प्रमाण है । जैसे—प्रदीप स्व-पर प्रकाशक है, उसी प्रकार आत्मा भी स्व और परके सामान्य विशेषको जानता है, इस कारण अभेदसे आत्माके ही प्रमाणता है ।

५. प्रमाणका विषय

ध. ६/४,२,४५/१६६/१ प्रकर्षेण मान प्रमाणम्, सकलादेशोत्थं । तेन प्रकाशितानां प्रमाणगृहीतानामित्यर्थ । = प्रकर्ष अर्थात् संशयादिसे रहित वस्तुका ज्ञान प्रमाण है, अभिप्राय यह कि जो समस्त धर्मोंको विषय करनेवाला हो वह प्रमाण है । (क पा. १/१६७४/२०/३) ।

ध. १/४,२,६३,२६४/४५७/१२ संतविसयाण पमाणामसते वाचरविरो-हादो । = सत्को विषय करनेवाले प्रमाणोंके असत्में प्रवृत्त होनेका विरोध है ।

प. मु. १/१ स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मकं ज्ञानं प्रमाण । = अपना और अपूर्व पदार्थका निश्चय करानेवाला ज्ञान प्रमाण है ।

प. मु. ४/१ सामान्यविशेषात्मा तदर्थो विषय । = सामान्य और विशेष-स्वरूप अर्थात् द्रव्य और पर्यायस्वरूप पदार्थ प्रमाणका विषय होता है । १ ।

दे० नय. /I/३ { सकलादेशी, अनेकान्तरूप व सर्व नयात्मक है । }

६. प्रमाणका फल

सि वि /मू./१/३/१२ प्रमाणस्य फल साक्षात् सिद्धि स्वार्थविनिश्चय । = स्व व पर दोनों प्रकारके पदार्थोंकी सिद्धिमें जो अन्य इन्द्रिय आदिकी अपेक्षा किये बिना स्वयं होता है वह ज्ञान ही प्रमाण है ।

न. च. वृ /१६६ कञ्ज सयलसमत्थ जीवो साहेइ वस्तुगहणेण । वस्तू पमाणसिद्धं तस्मात् जाण णियमेण । १६६ । = वस्तुके ग्रहणसे ही जीव कार्यकी सिद्धि करता है, और वह वस्तु प्रमाण सिद्ध है । इसलिए प्रमाण ही सकल समर्थ है ऐसा तुम नियमसे जानो ।

प. मु. १/२ हिताहितप्राप्तिपरिहारसमर्थं हि प्रमाणं । १२ ।

प. मु. ५/१ अज्ञाननिवृत्तिर्हानोपादानोपपेक्षाश्च फलं । १ । = प्रमाण ही हितकी प्राप्ति और अहितके परिहार करनेमें समर्थ है । २ । अज्ञान-की निवृत्ति, त्यागना, ग्रहण करना और उपेक्षा करना यह प्रमाणके फल है । १ । (और भी—दे० /४/१) ।

७. प्रमाणका कारण

पं ध /पू./६७ हेतुस्तत्त्वबुधुत्सो सदिग्धस्याथवा च वालस्य । सार्थ-मनेक द्रव्यं हस्तामलकवद्भवेत्तु कामस्य । ६७ । = हाथमें रखे हुए ऑक्लेको भाँति अनेक रूप द्रव्यको युगपत् जालनेकी इच्छा रखने-वाले सदिग्धको अथवा अज्ञानीको तत्त्वोंकी जिज्ञासा होना प्रमाण-का कारण है । ६७ ।

८. प्रमाणाभासके विषय आदि

प. मू. /६/५५-७२ प्रत्यक्षमेवैक प्रमाणमित्यादिसंख्याभास । ५५ । लौकाय-तिकस्य प्रत्यक्षतः परलोकादिनिषेधस्य परबुद्धवादेश्चासिद्धैरतद्विषय-

त्वात् । ५६ । सौगतसार्वभ्ययौगप्रभाकरजैमिनीयानां प्रत्यक्षानुमाना-गमोपमार्थापत्त्यभावेरेकैकाधिकैर्व्याप्तिवत् । ७७ । अनुमानादेस्तद्वि-षयत्वे प्रमाणान्तरत्वं । ५८ । तर्कस्यैव व्याप्तिगोचरत्वे प्रमाणांतरत्वं । ५९ । अप्रमाणस्याव्यवस्थापकत्वात् । प्रतिभासभेदस्य च भेदकत्वात् । ६० । विषयाभास सामान्यं विशेषो द्वयं वा स्वतन्त्रं । ६१ । तथाऽप्रति-भासनात् कार्यकिरणाच्च । ६२ । समर्थस्य करणे सर्वदोषोत्पत्तिरनपेक्षत्वात् । ६३ । परापेक्षणे परिणामित्वमन्यथा तदभावात् । ६४ । स्वयमसमर्थ-स्याकारकत्वात्पूर्ववत् । ६५ । फलाभासं प्रमाणादभिन्नं भिन्नमेव वा । ६६ । अभेदे तद्व्यवहारानुपपत्तेः । ६७ । व्यावृत्त्यापि, न तत्कल्पना फलान्तराद् व्यावृत्त्याऽफलत्वप्रसंगात् । ६८ । प्रमाणान्तराद् व्यावृत्त्येवा-प्रमाणत्वस्य । ६९ । तस्माद्वास्तवो भेद । ७० । भेदे त्वात्मान्तरवत्तदनुप-पत्तेः । ७१ । समवायेऽतिप्रसंगः । ७२ । = १ संख्याभास—प्रत्यक्ष ही एक प्रमाण है । इस प्रकार एक या दो आदि प्रमाण मानना संख्या-भास है । ५५ । चार्वाक लोग एक प्रत्यक्ष प्रमाण मानते हैं, परन्तु उसके द्वारा न तो वे परलोक आदिका निषेध कर सकते हैं और न ही पर बुद्धि आदिका, क्योंकि, वे प्रत्यक्षके विषय ही नहीं हैं । ५६ । बौद्ध लोग प्रत्यक्ष व अनुमान दो प्रमाण मानते हैं । सांख्य लोग प्रत्यक्ष, अनुमान व आगम तीन प्रमाण मानते हैं । नैयायिक लोग प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम व उपमान ये चार प्रमाण मानते हैं । प्रभाकर लोग प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम, उपमान व अर्थापत्ति ये पाँच प्रमाण मानते हैं, और जैमिनी लोग प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम उपमान, अर्थापत्ति व अभाव ये छह प्रमाण मानते हैं । इनका इस प्रकार दो आदिका मानना संख्याभास है । ५७ । चार्वाक लोग परलोक आदिके निषेधके लिए स्वमान्य एक प्रमाणके अतिरिक्त अनुमानका आश्रय लेते हैं । ५८ । इसी प्रकार बौद्ध लोग व्याप्तिकी सिद्धिके लिए स्वमान्य दो प्रमाणोंके अतिरिक्त एक तर्कको भी स्वीकार कर लेते हैं । ५९ । यदि संख्या भगके भयसे वे उस तर्कको प्रमाण न कहे तो व्याप्तिकी सिद्धि ही नहीं हो सकती । दूसरे प्रत्यक्षादिसे विसंख्य जो तर्क उसका प्रति-भास जुदा ही प्रकारका होनेके कारण वह अवश्य उन दोनोंसे पृथक् है । ६० । २. विषयाभास—प्रमाणका विषय सामान्य ही है या विशेष ही है, या दोनों ही स्वतन्त्र रहते प्रमाणके विषय है, ऐसा कहना विषयाभास है । ६१ । क्योंकि, न तो पदार्थमें वे धर्म इस प्रकार प्रति-भासित होते हैं, और न इस प्रकार माननेसे पदार्थमें अर्थक्रियाकी सिद्धि हो सकती है । ६२ । यदि कहोगे कि वे सामान्य व विशेष पदार्थमें अर्थक्रिया करानेको स्वयं समर्थ है तो उसमें सदा एक ही प्रकारके कार्यकी उत्पत्ति होती रहनी चाहिए । ६३ । यदि कहोगे कि निमित्तों आदिकी अपेक्षा करके वे अर्थक्रिया करते हैं, तो उन धर्मोंकी परिणामी मानना पड़ेगा, क्योंकि परिणामी हुए बिना अन्य-का आश्रय सम्भव नहीं है । ६४ । यदि कहोगे कि असमर्थ रहते ही स्वयं कार्य कर देते हैं तो भी ठीक नहीं है, क्योंकि असमर्थ धर्म कोई भी कार्य नहीं कर सकता । ६५ । ३. फलाभास—प्रमाणसे फल भिन्न ही होता है या अभिन्न ही होता है, ऐसा मानना फलाभास है । ६६ । क्योंकि सर्वथा अभेद पक्षमें तो 'यह प्रमाण है और यह उसका फल' ऐसा व्यवहार ही सम्भव नहीं है । ६७ । यदि व्यावृत्ति द्वारा अर्थात् अन्य अफलसे जुदा प्रकारका मानकर फलकी कल्पना करोगे तो अन्य फलसे व्यावृत्त होनेके कारण उसीमें अफलकी कल्पना भी क्यों न हो जायेगी । ६८ । जिस प्रकार कि बौद्ध लोग अन्य प्रमाण-की व्यावृत्तिके द्वारा अप्रमाणपना मानते हैं । इसलिए प्रमाण व फलमें वास्तविक भेद मानना चाहिए । ६९-७० । सर्वथा भेद पक्षमें 'यह इस प्रमाणका फल है' ऐसा नहीं कहा जा सकता । ७१ । यदि समवाय द्वारा उनका परस्पर सम्बन्ध बैठानेका प्रयत्न करोगे तो अतिप्रसंग होगा, क्योंकि, एक, नित्य व व्यापक समवाय नामक पदार्थ भला एक ही आत्मामें प्रमाण व फलका समवाय क्यों करने लगा । एकदम सभी आत्माके साथ उनका सम्बन्ध क्यों न जोड़ देगा । ७२ ।

३. प्रमाणका प्रामाण्य

१. प्रामाण्यका लक्षण

न्या.दी. १/११०/११/७ पर प्रत्यक्ष निर्णयसे उद्भूत—इदमेव हि प्रमाणस्य प्रमाणत्वं यत्प्रमितिक्रिया प्रति साधकतमत्वेन करणत्वम् । = प्रमाण वही है जो प्रमिति क्रियाके प्रति साधकतमरूपसे करण (नियमसे कार्यका उत्पादक) हो ।

न्या.दी. १/११५/१४/११ किमिदं प्रमाणस्य प्रामाण्यं नाम । प्रतिभात-विषयाव्यभिचारित्वम् । = प्रश्न—प्रमाणका यह प्रामाण्य क्या है, जिसमें 'प्रमाण' प्रमाण कहा जाता है, अप्रमाण नहीं। उत्तर—जाने हुए विषयमें व्यभिचार (अन्यथापन)का न होना प्रामाण्य है। इसके होनेसे ही ज्ञान प्रमाण कहा जाता है और इसके न होनेसे अप्रमाण कहा जाता है।

२. स्वतः व परतः दोनोंसे होता है

श्लो. वा. ३/१/१०/१२६-१२७/११६ तत्राभ्यासात्प्रमाणत्वं निश्चितं स्वत एव नः । अनभ्यासे तु परत इत्याहुः । = अतः अभ्यासदशामें ज्ञान स्वरूपका निर्णय करते समय ही युगपद उसके प्रमाणपनका भी निर्णय कर लिया जाता है। परन्तु अनभ्यासदशामें तो दूसरे कारणोंसे (परत.) ही प्रमाणपना जाना जाता है। (प्रमाण परीक्षा), (प. मु. १/१३), (न्या. दी. १/१२०/१६)।

दे० ज्ञान/१/३ (प्रमाण स्व-पर प्रकाशक है ।)

३. वास्तवमें आत्मा ही प्रामाण्य है ज्ञान नहीं

ध. १/४.१.४६/१४२/२ ज्ञानस्यैव प्रामाण्यं किमिति नेष्यते । न, जानाति परिच्छिनत्ति जीवादिपदार्थानिति ज्ञानात्मा, तस्यैव प्रामाण्याभ्युपगमात् । न ज्ञानपर्यायस्य स्थितिरहितस्य उत्पाद-विनाशलक्षणस्य प्रामाण्यम्, तत्र त्रिलक्षणाभावतः । अवस्तुनि परिच्छेदलक्षणार्थक्रिया-भावात्, स्मृति-प्रत्यभिज्ञानसुषधानप्रत्ययादीनामभावप्रसंगाच्च । = प्रश्न—ज्ञानको ही प्रमाण स्वीकार क्यों नहीं करते। उत्तर—नहीं, क्योंकि 'जानातीति ज्ञानम्' इस निरुक्तिके अनुसार जो जीवादि पदार्थोंको जानता है वह ज्ञान अर्थात् आत्मा है, उसीको प्रमाण स्वीकार किया गया है। उत्पाद व व्ययस्वरूप किन्तु स्थितिसे रहित ज्ञान पर्यायके प्रमाणता स्वीकार नहीं की गयी, क्योंकि उत्पाद, व्यय और ध्रुव्यरूप लक्षणत्रयका अभाव होनेके कारण अवस्तु स्वरूप उसमें परिच्छित्तिरूप अर्थक्रियाका अभाव है, तथा स्थिति रहित ज्ञान पर्यायको प्रमाणता स्वीकार करनेपर स्मृति प्रत्यभिज्ञान व अनुसन्धान प्रत्ययोंके अभावका प्रसंग आता है।

४. प्रमाण, प्रमेय, प्रमाताके भेदाभेद सम्बन्धी शंका समाधान

१. ज्ञानको प्रमाण कहनेसे प्रमाणका फल किसे मानोगे

स. सि. १/१०/२७/१ यदि ज्ञानं प्रमाणं फलाभावः ।... नैव दोष, अर्थाधिगमे प्रीतिदर्शनात् । ज्ञानस्वभावस्यात्मन कर्ममलीमसस्य करणालम्बनादर्थनिश्चये प्रीतिरुपजायते । सा फलमित्युच्यते । अपेक्षा अज्ञाननाशो वा फलम् । = प्रश्न—यदि ज्ञानको प्रमाण मानते हैं तो फलका अभाव हो जायेगा । (क्योंकि उसका कोई दूसरा फल प्राप्त नहीं होता ।) उत्तर—... यह कोई दोष नहीं है; क्योंकि पदार्थके ज्ञान होनेपर प्रीति देखी जाती है। वही प्रमाणका फल कहा जाता है। अथवा अपेक्षा या अज्ञानका नाश प्रमाणका फल है। (रा. वा. १/१०/६-७/५०/४); (प. मु. १/२)।

२. ज्ञानको ही प्रमाण माननेसे मिथ्याज्ञान भी प्रमाण हो जायेगे

क. पा. १/१.१/११५/४२/२ णाणस्स पमाणत्ते भण्णमाणे संसायाणज्झव-सायविवज्जयणाणाण पि पमाणत्तं पसज्जदे, ण; 'प सद्देण तेसि पमाणत्तस्स ओसारित्तादो । = प्रश्न—ज्ञान प्रमाण है ऐसा कथन करने पर सशय, अनध्यवसाय, और विपर्यय ज्ञानोंको भी प्रमाणता प्राप्त होती है। उत्तर—नहीं, क्योंकि, प्रमाणमें आये हुए 'प्र' शब्दके द्वारा संशयादिक प्रमाणता निषेध कर दिया है।

दे० प्रमाण/२/२ सूत्रमें सम्यक् शब्द चला आ रहा है इसलिए सम्यग्ज्ञान ही प्रमाण हो सकते हैं, मिथ्याज्ञान नहीं। (न्या. दी. १/१४८/६)।

३. सन्निकर्ष व इन्द्रियको प्रमाण माननेमें दोष

स. सि. १/१०/५०/५, अथ सन्निकर्षे प्रमाणे सति इन्द्रिये वा को दोषः । यदि सन्निकर्ष प्रमाणम् सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टानामग्रहणप्रसङ्ग । न हि ते इन्द्रिये सन्निकृष्यन्ते । अतः सर्वज्ञताभाव स्यात् । इन्द्रिय-मपि यदि प्रमाण स एव दोष, अल्पविषयत्वात् चक्षुरादीनां ज्ञेयस्य चापरिमाणत्वात् । सर्वेन्द्रियसन्निकर्षाभावश्च; १६६/७ सन्निकर्षे इन्द्रिये वा प्रमाणे सति अधिगमः फलमर्थान्तरभूतं युज्यते इति तदयुक्तम् । यदि सन्निकर्ष प्रमाणं अर्थाधिगमफलं, तस्य द्विष्टत्वात्तत्फलेनाधिगमेनापि द्विष्टेन भवितव्यमिति अर्थादीनाम-प्याधिगम प्राप्नोतीति । = प्रश्न—सन्निकर्ष या इन्द्रियको प्रमाण माननेमें क्या दोष है। उत्तर—१. यदि सन्निकर्षको प्रमाण माना जाता है तो सूक्ष्म व्यवहित और विप्रकृष्ट पदार्थोंके ग्रहण न करनेका प्रसंग प्राप्त होगा; क्योंकि इनका इन्द्रियोंसे सम्बन्ध नहीं होता। इसलिए सर्वज्ञताका अभाव हो जाता है। २. यदि इन्द्रियको प्रमाण माना जाता है तो वही दोष आता है, क्योंकि, चक्षु आदिका विषय अल्प है और ज्ञेय अपरिमित है। ३. दूसरे सब इन्द्रियोंका सन्निकर्ष भी नहीं बनता क्योंकि चक्षु और मन प्राण्यकारी नहीं हैं। इसलिए भी सन्निकर्षको प्रमाण नहीं मान सकते। प्रश्न—(ज्ञानको प्रमाण माननेपर फलका अभाव है) पर सन्निकर्ष या इन्द्रियको प्रमाण माननेपर उससे भिन्न ज्ञान रूप फल बन जाता है। उत्तर—यह कहना युक्त नहीं है, क्योंकि यदि सन्निकर्षको प्रमाण और अर्थके ज्ञानको फल मानते हैं, तो सन्निकर्ष दोमें रहने वाला होनेसे उसके फल रूप ज्ञानको भी दो में रहने वाला होना चाहिए इसलिए घट, पटादि पदार्थोंके भी ज्ञानकी प्राप्ति होती है। (रा. वा. १/१०/१६-२२/५१/५), (प. ध. १/७२५-७३३)।

४. प्रमाण व प्रमेयको सर्वथा भिन्न माननेमें दोष

स. सि. १/१०/२५/३ यदि जीवादिरधिगमे प्रमाणं प्रमाणाधिगमे च अन्यत्प्रमाण परिकल्पयितव्यम् । तथा सत्यनवस्था । नानवस्था प्रदीपवत् । यथा घटादीना प्रकाशने प्रदीपो हेतुः स्वस्वरूपप्रकाशनेऽपि स एव, न प्रकाशान्तरंमृग्यं तथा प्रमाणमपीति अवश्यं चैतदभ्युपगन्तव्यम् । प्रमेयवत्प्रमाणस्य प्रमाणान्तरपरिकल्पनाया स्वाधिगमा-भावात् स्मृत्यभावः । तदभावाद् व्यवहारलोप स्यात् । = प्रश्न—यदि जीवादि पदार्थोंके ज्ञानमें प्रमाण कारण है तो प्रमाणके ज्ञानमें अन्य प्रमाणको कारण मानना चाहिए। और ऐसा माननेपर अनवस्था दोष प्राप्त होता है। उत्तर—जीवादि पदार्थोंके ज्ञानमें कारण मानने पर अनवस्था दोष नहीं आता, जैसे दीपक। जिस प्रकार घटादि पदार्थोंके प्रकाश करनेमें दीपक हेतु है और अपने स्वरूपको प्रकाश करनेमें भी वही हेतु है, इसके लिए प्रकाशान्तर नहीं डूँडना पडता है। उसी प्रकार प्रमाण भी है, यह बात अवश्य मान लेनी चाहिए। अब यदि प्रमेयके समान प्रमाणके लिए अन्य प्रमाण माना जाता है तो

स्वका ज्ञान नहीं होनेसे स्मृतिका अभाव हो जाता है, और स्मृतिका अभाव हो जानेसे व्यवहारका लोप हो जाता है। (रा. वा. १/१०/१०/२०/१६)।

५. ज्ञान व आत्माको भिन्न माननेमें दोष

स. सि. १/१०/६७/५ आत्मनश्चेतनत्वात्तत्रैव समवाय इति चेत् । न, ज्ञस्वभावाभावे सर्वेषामचेतनत्वात् । ज्ञस्वभावाभ्युपगमे वा आत्मनः स्वमतविरोध स्यात् । = प्रश्न—आत्मा चेतन है, अतः उसीमे ज्ञानका समवाय है । उत्तर—नहीं, क्योंकि आत्माको ज्ञस्वभाव नहीं मानने पर सभी पदार्थ अचेतन प्राप्त होते हैं । यदि आत्माको 'ज्ञ' स्वभाव माना जाता है, तो स्वमतका विरोध होता है ।

रा. वा. १/१०/६/५०/१६ स्यादेतत्—ज्ञानयोगाज्ज्ञातृत्वं भवतीति; तन्न, कि कारणम् । अतस्त्वभावत्वे ज्ञातृत्वाभावः । कथम् । अन्धप्रदीप-सयोगवत् । यथा जात्यन्धस्य प्रदीपसयोगेऽपि न द्रष्टृत्वं तथा ज्ञान-योगेऽपि अज्ञस्वभावस्यात्मनो न ज्ञातृत्वम् । = प्रश्न—ज्ञानके योगसे आत्माके ज्ञातृत्व होता है । उत्तर—ऐसा नहीं है, क्योंकि अज्ञ स्वभाव होनेपर ज्ञातृत्वका अभाव है । जैसे—अन्धको दीपकका सयोग होने पर भी दिखाई नहीं देता यतः वह स्वयं दृष्टि शून्य है, उसी तरह ज्ञ स्वभाव रहित आत्मामे ज्ञानका सम्बन्ध होने पर भी भी ज्ञत्व नहीं आ सकेगा ।

६. प्रमाणको लक्ष्य और प्रमाकरणको लक्षण माननेमें दोष

पं. ध. १/५/३४-५३५ स यथा चेत्प्रमाणं लक्ष्यं तल्लक्षणं प्रमाकरणम् । अव्याप्तिको हि दोषः सदेश्वरे चापि तदयोगात् ॥७३४॥ योगिज्ञानेऽपि तथा न स्यात्तल्लक्षण प्रमाकरणम् । परमाण्वादिवु नियमोन्न स्यात्तत्स-निकर्षश्च । = यदि प्रमाणको लक्ष्य और प्रमाकरणको उसका लक्षण माना जाये तो निश्चय करके अव्याप्ति नामक दोष आयेगा, क्योंकि प्रमाणभूत ईश्वरके सदैव रहने पर भी उसमे 'प्रमाकरण प्रमाण' यह प्रमाणका लक्षण नहीं घटता है ॥७३४॥ तथा योगियोके ज्ञानमे भी प्रमाका करणरूप प्रमाणका लक्षण नहीं जाता है, क्योंकि नियमसे परमाणु बगैरह सूक्ष्म पदार्थोंमें इन्द्रियोका सन्निकर्ष भी नहीं होता है ॥७३५॥

७. प्रमाण और प्रमेयमें कथंचित् भेदाभेद

रा. वा. १/१०/१०-१३/५०/१६ प्रमाणप्रमेययोरन्यत्वमिति चेत्, न; अनवस्थानात् ॥१०॥ प्रकाशवदिति चेत्, न; प्रतिज्ञाहाने ॥११॥ अनन्य-त्वमेवेति चेत्, न; उभयाभावप्रसङ्गात् । यदि ज्ञातुरनन्यत्वप्रमाणं प्रमाणाच्च प्रमेयम्, अन्यतराभावे तदविनाभावविनोऽवशिष्टस्याप्य-भाव इत्युभयाभावप्रसङ्गः । कथं तर्हि सिद्धि ॥१२॥ अनेकान्तात् सिद्धि ॥१३॥ स्यादन्यत्वं स्यादनन्यत्वमित्यादि । सञ्ज्ञालक्षणादिभेदात् स्यादनन्यत्वम्, व्यसिरेकेणापुपलब्धे स्यादनन्यत्वमित्यादि । तत् सिद्धमेतत्-प्रमेयं नियमात् प्रमेयम्, प्रमाणं तु स्यात्प्रमेयम् इति । = प्रश्न—जैसे दीपक जुदा है और बड़ा जुदा है, उसी तरह जो प्रमाण है वह प्रमेय नहीं हो सकता और जो प्रमेय है वह प्रमाण नहीं है । दोनोंके लक्षण भिन्न-भिन्न है । उत्तर—१. जिस प्रकार बाह्य प्रमेयोसे प्रमाण जुदा है उसी तरह उसमें यदि अन्तरङ्ग प्रमेयता न हो तो अनवस्थादूषण होगा । २ यदि अनवस्थादूषण निवारणके लिए ज्ञानको दोषककी तरह स्व-परप्रकाशी माना जाता है, तो प्रमाण और प्रमेयके भिन्न होनेका पक्ष समाप्त हो जाता है । ३ यदि प्रमाता प्रमाण और प्रमेयसे अनन्य माना जाता है, तो एकका अभाव होने पर, दूसरेका भी अभाव हो जाता है । क्योंकि दोनों अविनाभावो है, इस प्रकार दोनोंके अभावका प्रसंग आता है । प्रश्न—तो फिर

इनकी सिद्धि कैसे हो । उत्तर—वस्तुतः संज्ञा, लक्षण, प्रयोजन आदि-की भिन्नता होनेसे प्रमाता, प्रमाण और प्रमेयमें भिन्नता है तथा पृथक्-पृथक् रूपसे अनुपलब्धि होनेके कारण अभिन्नता है । निष्कर्ष यह है कि प्रमेय प्रमेय ही है किन्तु प्रमाण प्रमाण भी है और प्रमेय भी ।

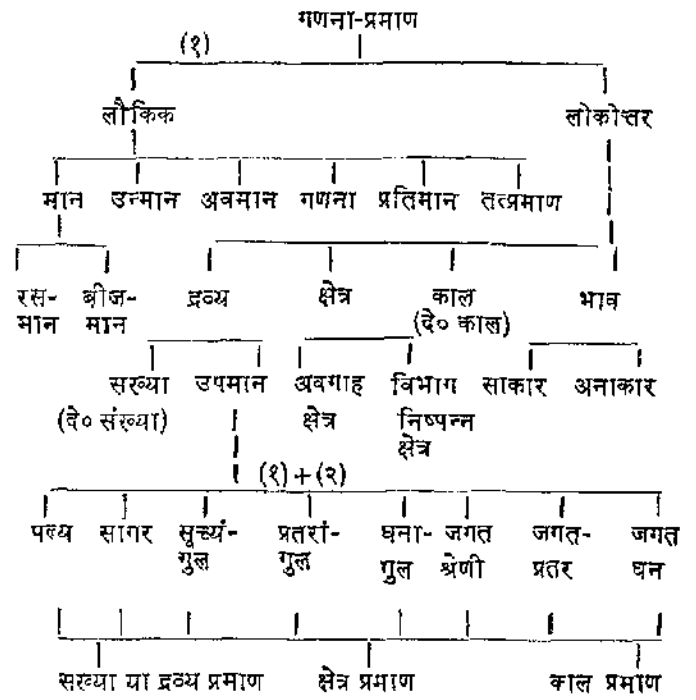
८. प्रमाण व उसके फलमें कथंचित् भेदाभेद

पं. सु. १/२-३ प्रमाणादभिन्न भिन्न च ॥२॥ यः प्रमिमीते स एव निवृत्ता-ज्ञानो जहात्यादत्त उपेक्षते चेति प्रतीते ॥३॥ = फल प्रमाणसे कथंचित् अभिन्न और कथंचित् भिन्न है । क्योंकि जो प्रमाण करता है—जानता है उसीका अज्ञान दूर होता है और वही किसी पदार्थका त्याग वा ग्रहण अथवा उपेक्षा करता है इसलिए तो प्रमाण और फल-का अभेद है किन्तु प्रमाण फलकी भिन्न-भिन्न भी प्रतीति होती है इसलिए भेद भी है ॥२-३॥

९. गणनादि प्रमाण निर्देश

१. प्रमाणके भेद

१. गणना प्रमाणकी अपेक्षा



संदर्भ न. १—(रा. वा. ३/३८/२-५/२०५-२०६/१६) (गो. जी/भाषा/पृ. २६०) । संदर्भ नं. २—(सू. आ. १/१२२६) (ति. प. १/६३-६४) (ध. ३/१,२,१७/ग. ६६/१२२) (घ. ४/१,३,२/ग. ५/१०) (गो. जी/भाषा./३१२/७) ।

२. निक्षेप रूप प्रमाणोंकी अपेक्षा

ध. १/१,१,१/८०/२ प्रमाणं पंचविहं द्रव-खेत्त-काल-णयत्प्रमाण-भेदेहि । भाव-पमाण पंचविहं, आभिणिन्नोहियणानं सुदणानं ओहिणानं मणपज्जवणानं केवलणानं चेदि णय-त्प्रमाणं सत्तविहं, णेम-सगह-ववहारुज्जुसुद-सह-समभिरुद-एवभूदभेदेहि । = द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और नयके भेदसे प्रमाणके पाँच भेद है । -- मति, भ्रुत, अवधि, मन-पर्यय और केवलज्ञानके भेदसे भावप्रमाण पाँच प्रकार है । (क. पा. १/१,१/१२०/३७/१.१२८/४२/१); (ध. १/१, १,२/६२/४) नैगम, सग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरुद

और एवंभूतनयके भेदसे नयप्रमाण सात प्रकार का है। दे० निक्षेप/१ नाम स्थापनादिकी अपेक्षा भेद।

२. गणना प्रमाणके भेदोंके लक्षण

रा.वा./३/२८/३/२०४/२३ तत्र मानं द्वेषा रसमानं बीजमानं चेति । घृतादिद्रव्यपरिच्छेदकं षोडशिकादि रसमानम् । कुडवादि बीजमानम् । कुष्ठतरादिभाण्डं येनोरिक्षय्य मीयते तदुन्मानम् । निवर्तनादिविभागेन क्षेत्रं येनावगाह्य मीयते तद्वमानं दण्डादि । एकद्वित्रिचतुरादिगणितमान गणनामानम् । पूर्वमानापेक्षं मानं प्रतिमानं प्रतिमल्लवद । चत्वारि महिधिकातृणफलानि श्वेतसर्षप एकः, .. इत्यादि मागधकप्रमाणम् । मणिजात्यजात्यश्वादेर्द्रव्यस्य दीप्त्युच्छ्रायगुणविशेषादिसूत्रपरिमाणकरणे प्रमाणमस्येति तत्प्रमाणम् । तद्यथा—मणिरत्नस्य दीप्तिर्यावत्क्षेत्रमुपरि व्याप्नोति तावत्प्रमाणं सुवर्णकूटं मूल्यमिति । अश्वस्य च यावानुच्छ्रायस्तावत्प्रमाणं सुवर्णकूटं मूल्यम् । = १. मानके दो भेद हैं—रसमान व बीजमान । घी आदि तरल पदार्थोंकी मापनेकी छटंकी आदि रसमान है । और धान्य मापनेके कुडव आदि बीजमान है । २. तगर आदि द्रव्योको ऊपर उठाकर जिनसे तोला जाता है वे तराजू आदि उन्मान है । ३. खेत मापनेके डंडा आदि अवमान है । ४ एक दो तीन आदि गणना है । ५. पूर्वकी अपेक्षा आगेके मानोकी व्यवस्था प्रतिमान है जैसे—चार मेंहदीके फलोका एक सरसो • इत्यादि भगध देशका प्रमाण है । ६. मणि आदिकी दीप्ति, अश्वादिकी ऊँचाई गुण आदिके द्वारा मूल्य निर्धारण करनेके लिए तत्प्रमाणका प्रयोग होता है जैसे—मणिकी प्रभा ऊपर जहाँ तक जाये उतनी ऊँचाई तक सुवर्णका ढेर उसका मूल्य होगा । षोडा जितना ऊँचा हो उतनी ऊँची सुवर्ण मुद्राएँ षोडेका मूल्य है । आदि । नोट—लोकोत्तर प्रमाणके भेदोके लक्षण दे० अगला शीर्षक ।

३. निक्षेप रूप प्रमाणोंके लक्षण

नोट—नाम स्थापनादि प्रमाणोंके लक्षण—दे० निक्षेप ।
 रा. वा./३/३८/४/२०६/१० द्रव्यप्रमाणं जघन्यमध्यमोत्कृष्टम् एकपरमाणु द्वित्रिचतुरादिप्रदेशात्मकम् आमहास्कन्धात् । क्षेत्रप्रमाणं जघन्यमध्यमोत्कृष्टमेकाकाशद्वित्रिचतुरादिप्रदेशनिष्पन्नमासर्वलोकात् । कालप्रमाणं जघन्यमध्यमोत्कृष्टमेकद्वित्रिचतुरादिसमयनिष्पन्नम् आ अनन्तकालात् । भावप्रमाणमुपयोग, साकारानाकारभेदः जघन्यसूक्ष्मनिगोतस्य, मध्यमोऽन्यजीवानाम्, उत्कृष्टं केवलिन । = द्रव्य प्रमाण एक परमाणुसे लेकर महास्कन्ध पर्यन्त, क्षेत्र प्रमाण एक प्रदेशसे लेकर सर्व लोक पर्यन्त, और काल प्रमाण एक समयसे लेकर अनन्त काल पर्यन्त जघन्य, मध्यम और उत्कृष्टके भेदसे तीन तीन प्रकारका है । भाव प्रमाण अर्थात् ज्ञान दर्शन उपयोग । वह जघन्य सूक्ष्म निगोदके, उत्कृष्ट केवलीके, और मध्यम अन्य जीवोके होता है ।
 घ. १/१,१,१/५०/२ तस्य दब्ब-पमाणं संखेज्जमसंखेज्जमणतय चेदि । खेत्तपमाणं एय-पदेसादि । कालपमाणं समयवलिियादि । = संख्यात, असंख्यात और अनन्त यह द्रव्य प्रमाण है । एकप्रदेश आदि क्षेत्र प्रमाण है । एक समय एक आबली आदि काल प्रमाण है । (क. पा./१/१,१/१२७/४१/१) ।
 क. पा./१/१,१/१२७/३५-३६/६ पल-तुला-कुडवादीणि दब्ब-पमाणं, दब्बतरपरिच्छित्तकारणत्तादो । दब्बपमाणेहि मविदज्व-गोहूम .. आदिसण्णाओ उवयारणिबधणाओ त्ति ण तैसि पमाणत्तं कित्तु पमेयत्तमेव । अगुलादि-ओगाहणाओ खेत्तपमाणं, 'प्रमीयन्ते अवगाहन्ते अनेन शेषद्रव्याणि' इति अस्य प्रमाणत्वसिद्धे । = पल, तुला और कुडव आदि द्रव्यप्रमाण है । क्योंकि, ये सोना, चाँदी, गेहूँ आदि दूसरे पदार्थोंके परिमाणके ज्ञान करानेमें कारण पडते है ।

किन्तु द्रव्यप्रमाण रूप पल, तुला आदि द्वारा मापे गये जी गेहूँ .. आदिमें जो कुडव और तुला आदि सजाएँ व्यवहृत होती है, वे उपचार निमित्तक है, इसलिए उन्हें प्रमाणता नहीं है, किन्तु वे प्रमेय रूप ही हैं । अंगुल आदि रूप अवगाहनाएँ क्षेत्रप्रमाण है, क्योंकि, जिसके द्वारा शेष द्रव्य प्रमित (अवगाहित) किये जाते है, उसे प्रमाण कहते है, प्रमाणकी इस व्युत्पत्तिके अनुसार अंगुल आदि रूप क्षेत्रको भी प्रमाणता सिद्ध है ।

प्रमाणनयतत्त्वालंकार—आ० माणिक्यनन्दि (ई०१००३-१०२८) द्वारा रचित परीक्षामुख ग्रन्थकी श्वेताम्बराचार्य वादिदेव सूरि (ई० १११७-११६६) द्वारा रचित टीका । न्यायविषयक ग्रन्थ है । इस ग्रन्थका दूसरा नाम स्याद्वादरत्नाकर भी है ।

प्रमाण निर्माण नामकर्म—दे० नामकर्म ।

प्रमाण पद—दे० पद ।

प्रमाण परीक्षा—आ० विद्यानन्दि सं० १ (ई० ७७५-८४०) कृत संस्कृत छन्दबद्ध न्यायविषयक ग्रन्थ । (ती/३/३५४)

प्रमाण मीमांसा—१, आ० विद्यानन्दि (ई० ७७५-८४०) द्वारा संस्कृत भाषामे रचित न्यायविषयक ग्रन्थ है । २. श्वेताम्बराचार्य हेमचन्द्र सूरि (ई० १०५५-११७१) द्वारा रचित न्यायविषयक ग्रन्थ ।

प्रमाण योजन—क्षेत्रका प्रमाण विशेष—दे० गणित/II/१/३ ।

प्रमाण राशि—गणितमें विवक्षित प्रमाण कर जो फल या उत्तर प्राप्त होवे ।—विशेष दे० गणित/III/४/२ ।

प्रमाण विस्तार—आ० धर्मभूषण (ई० १०१४) द्वारा संस्कृत भाषामें रचित न्यायविषयक ग्रन्थ ।

प्रमाण संग्रह—आ० अकलंक भट्ट (ई० ६२०-६५०) रचित न्याय विषयक यह ग्रन्थ बहुत जटिल है । संस्कृत गद्य व पद्य निबद्ध है, तथा इनकी अन्तिम कृति है । इसपर आ० अनन्तवीर्य (ई० १७५-१०२५) कृत प्रमाण सग्रहालंकार नामकी एक संस्कृत टीका उपलब्ध है । इसमें ६ प्रस्ताव तथा कुल ५७३ कारिकाएँ है । स्वयं-अकलंक-देवने इन कारिकाओंपर एक विवृत्ति लिखी है । दोनोका मिलकर कुल गद्य व पद्य प्रमाण ५०० श्लोक प्रमाण है ।

प्रमाण सप्तभंगी—दे० सप्तभंगी/२ ।

प्रमाणंगुल—क्षेत्र प्रमाणका एक भेद--दे० गणित/II/१/३, ६ ।

प्रमाता—

न्या सू./पृ.१/प, १० तत्र यस्येप्सा जिहासाप्रयुक्तस्य प्रवृत्तिः स प्रमाता । = जो वस्तुको पाने या छोडनेकी इच्छा करता है उसे प्रमाता कहते है ।

*** प्रमाता व प्रमाणमें कथचित् भेदाभेद**—दे० प्रमाण/४ ।

प्रमाद—१. कषायके अर्थमें

स, सि./७/१३/३५१/२ प्रमादं सकषायत्वं । = प्रमाद कषाय सहित अवस्थाको कहते है ।

घ, ७/२,१,७/११/११ चतुसंजलण-णवणोकसायाण तित्त्वोदओ । = चार सज्वलन कषाय और नव नोकषाय, इन तेरहके तीस उदयका नाम प्रमाद है ।

२ अनुत्साहके अर्थमें

स, सि./५/१/३७४/५ स च प्रमाद कुणलेष्वनादर' । = अच्छे कार्योंके करनेमें आदर भावका न होना यह प्रमाद है । (रा. वा./५/१/३०-५६४/००) ।

. पु/६२/३०५ कायमाकृतेतसां वृत्तिर्वातानां मनकारिणी । या सा षष्ठगुणस्थाने प्रमादो बन्धवृत्तये । ३०५। = छठवें गुणस्थानमें व्रतोंमें सशय उत्पन्न करनेवाली जो मन, वचन, कायकी प्रवृत्ति है उसे प्रमाद कहते हैं, यह बन्धका कारण है ।

१. सा/आ./१०७/क. ११० कषायभरगौरवादलसता प्रमादो यतः । = कषायके भारके भारी होनेको आलस्यका होना कहा है, उसे प्रमाद कहते हैं ।

१. सा./५/१० शुद्धबुद्धके तथा धर्मै क्षान्त्यादिदशलक्षणे । योऽनुस्साह' स सर्वज्ञैः प्रमाद परिकीर्तित ११०। = आठ बुद्धि और दश धर्मोंमें जो उत्साह न रखना उसे सर्वज्ञदेवने प्रमाद कहा है ।

१. सं./टी/३०/८८/४ अभ्यन्तरे निष्प्रमादशुद्धात्मानुभूतिचलनरूप., बहिर्विषये तु मूलोत्तरगुणमलजनकश्चेति प्रमाद' । = अन्तरगमें प्रमाद रहित शुद्धात्मानुभवसे दिगाने रूप, और बाह्य विषयमें मूलगुणो तथा उत्तरगुणोंमें मूल उत्पन्न करने वाला प्रमाद है ।

२. अप्रमादका लक्षण

घ. १४/५, ६, ६२/५६/११ पंच महव्यग्राणि पंच समदीयो तिष्ठिण गुप्तीओ णिस्सेसकसायाभावो ष अप्पमादो णाम । = पाँच महाव्रत, पाँच समिति, तीन गुप्ति और समस्त कषायोंके अभावका नाम अप्रमाद है ।

३. प्रमादके भेद

पं. सं./पा/१/१५ विकहा तथा कसाया इंदियणिद्वा तहेव पणओ य । चदु चदु पण एगेग हौति पमादा हु पणरसा । १५। = चार विकथा, चार कषाय, पाँच इन्द्रिय, एक निद्रा, और एक प्रणय ये पन्द्रह प्रमाद होते हैं । १५। (घ. १/१, २, २४/गा. ११४/१७८) (गो. जी/मू/३४/६४) (पं. सं./स./१/३३) ।

रा. वा./१/१/३०/५६४/२६ प्रमादोऽनेकविध । ३०। भावकायविनयेर्या-पथभैक्ष्यशयनासनप्रतिष्ठापनवाक्यशुद्धिलक्षणाष्टविधसयम - उत्तम - क्षमामार्द वार्जवशौचसत्यसयमतपस्त्रयागाकिचन्यब्रह्मचर्यादिविध - यानुत्साहभेदादनेकविधं प्रमादोऽवसेय । = भाव, काय, विनय, ईर्यापथ, भैक्ष्य, शयन, आसन, प्रतिष्ठापन और वाक्यशुद्धि इन आठ शुद्धियों तथा उत्तम क्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच, सत्य, सयम, तप, त्याग, आकिचन्य और ब्रह्मचर्य इन धर्मोंमें अनुत्साह या अना-दर भावके भेदसे प्रमाद अनेक प्रकारका है । (स सि/५/१/३०६/१) ।

भ. आ./वि/६/१२/५२२/४ प्रमाद पञ्चविध' । विकथा, कषाया', इन्द्रियविषयासत्ता, निद्रा, प्रणयश्चेति । अथवा प्रमादो नाम संकिलष्टहस्तकर्म, कुशीलानुवृत्ति, बाह्यशास्त्रशिक्षणं, काव्यकरणं, समितिष्वनुपयुक्तता । = प्रमादके पाँच प्रकार हैं—विकथा, कषाय, इन्द्रियोंके विषयोंमें आसक्ति, निद्रा और स्नेह, अथवा संकिलष्ट हस्त-कर्म, कुशीलानुवृत्ति, बाह्यशास्त्र, काव्यकरण और समितिमें उप-योग न देना ऐसे भी प्रमादके पाँच प्रकार हैं ।

* अन्य सम्बन्धित विषय

१. प्रमादके ३७५०० भेद तथा इनकी अक्षसंचार विधि ।
—दे० गणित/II/३ ।
२. प्रमाद कर्मबन्ध प्रत्ययके रूपमें ।
—दे० बन्ध/१ ।
३. प्रमादका कषायमें अन्तर्भाव ।
—दे० प्रत्यय/१ ।
४. प्रमाद व अविरति प्रत्ययमें अन्तर ।
—दे० प्रत्यय/१ ।
५. साधुको प्रमाद वश लगनेवाले दोषोंकी सीमा —दे० सयत/३ ।

प्रमाद अतिचार—दे० अतिचार/१ ।

प्रमाद चरित—दे० अनर्थघण्ट ।

प्रमार्जन—दे० प्रमार्जित ।

प्रमार्जित—स सि/७/३३/३७०/१ मृदूपकरणेन यत्कियते प्रयोजनं तत्प्रमार्जितम् । = कोमल उपकरणसे जो (जीवोंको बचानेका) प्रयो-जन साधा जाता है । वह प्रमार्जित (या प्रमार्जन) कहा जाता है । (रा. वा/७/३४/२/५५७/२४) (चा. सा./२२/५) ।

प्रमिति—न्या. सू./गु. १/११ यदर्थविज्ञानं सा प्रमिति । = जाँचने-पर जो ज्ञात हो उसे प्रमिति कहते हैं ।

प्रमृशा—भरत क्षेत्र आर्य खण्डकी एक नदी—दे० मनुष्य/४ ।

प्रमेय—स्या. मं/१०/११०/२६ द्रव्यपर्यायात्मकं वस्तु प्रमेयम्, इति तु समीचीनं लक्षणं सर्वसंग्राहकत्वात् । = द्रव्य पर्याय रूप वस्तु ही प्रमेय है यही प्रमेयका लक्षण सर्व संग्राहक होनेसे समीचीन है ।

न्या. सू./वृ. १/११ योऽर्थ. प्रमीयते तत्प्रमेयं । = जो वस्तु जाँची जावे उसे प्रमेय कहते हैं ।

प्रमेयकमलमार्तण्ड—आ० माणिक्यनन्द (ई० ६२५-१०२३) कृत परीक्षामुखपर आ० प्रभाचन्द (ई० ६५०-१०२०) द्वारा रचित विस्तृत टीका । यह न्याय विषयक ग्रन्थ है । (जै/१/३८८) ।

प्रमेयत्व गुण—आ. प./६ 'प्रमेयस्य भाव. प्रमेयत्वम् । प्रमाणेन स्वपरस्वरूप परिच्छेद्यं प्रमेयम् । = प्रमेयके भावको प्रमेयत्व कहते हैं । प्रमाणके द्वारा जो जानने योग्य स्व पर स्वरूप वह प्रमेय है ।

प्रमेयरत्न कोश—आ० चन्द्रप्रभ सूरि (ई० ११०२) द्वारा विर-चित न्यायविषयक ग्रन्थ ।

प्रमेय रत्नाकर—पं० आशाधर (ई० ११७३-१२४३) द्वारा रचित न्याय विषयक संस्कृत भाषा बद्ध ग्रन्थ ।

प्रमोद—स. सि./७/११/३४६/७ बदनप्रसादादिभिरभिव्यज्यमाना-न्तर्भावितरागं प्रमोद' । = मुखकी प्रसन्नता-आदिके द्वारा भीतर भक्ति और अनुरागका व्यक्त होना प्रमोद है । (रा. वा./७/११/२/-५३५/१६) ।

भ आ/वि./१६१६/१५१६/१५ सुदिता नाम यतिगुणचिन्ता यतयो हि विनीता, विरागा, विभया, विमाना, विरोषा, विलोभा इत्यादिका । = यतियोंके, गुणोंका विचार करके उनके गुणोंमें हर्ष मानना यह प्रमोद भावनाका लक्षण है । यतियोंमें नश्रता, वैराग्य, निर्भयता, अभिमान रहितपना, निर्दोषता और निर्लोभपना ये गुण रहते हैं । (ज्ञा०/२७/११-१२)

प्रयोग—घ १४/४, २, ५६/२८६/६ पञ्चोएण जोगपक्कओ परस्विदो । = मन, वचन एवं काय रूप योगोंको प्रयोग शब्दसे ग्रहण किया गया है ।

प्रयोग कर्म—दे० कर्म/१ ।

प्रयोग क्रिया—दे० क्रिया/३/२ ।

प्रयोग बन्ध—दे० बध/१ ।

प्रयोजन—न्या सू./मू/टी/१/१/२४/३० यमर्थमधिकृत्य प्रवर्तते तत्प्रयोजनम् । २४। यमर्थमाप्तये हातव्यं बाध्यवसाय तदास्ति हानो-पायमनुतिष्ठति प्रयोजनं तद्वैदितव्यम् । = जिस अर्थको पाने या छोड़ने योग्य निश्चय करके उसके पाने या छोड़नेका उपाय करता है, उसे प्रयोजन कहते हैं ।

प्रयोज्यता—प्रयोजनके वश ।

प्ररूपणा—

घ. १/१.१.८/१५६/६ प्ररूपणा निरूपणा प्रज्ञापनेति यावत् । = प्ररूपणा, निरूपणा और प्रज्ञापना ये एकार्थवाची नाम हैं ।

घ. २/१.१/४११/८ पररूपणा णाम कि उक्त होदि । ओघादेसेहि गुणेषु जीवसमासेषु पञ्जत्तापञ्जत्तविसैसणेहि विसैसिज्जण जा जीवपरिवखा सा पररूपणा णाम । = प्ररूपण—प्ररूपणा किसे कहते हैं । उत्तर—सामान्य और विशेषको अपेक्षा गुणस्थानोमे (२० प्ररूपणाओ में) पर्याय और अपर्याय विशेषणोसे विशेषित करके जो जीवोको परीक्षा की जाती है, उसे प्ररूपणा कहते हैं ।

२. बीस प्ररूपणाओंके नाम निर्देश

प. सं/प्रा/२/२ गुणजोवा पञ्जत्ती पाणा सण्णा य मग्गणाओ य । उवओगो वि य कमसो बीस तु पररूपणा भणिया । २। = गुणस्थान, जीवसमास, पर्याय, प्राण, सञ्जा, चौदह मार्गणाएँ और उपयोग, इस प्रकार क्रमसे ये बीस प्ररूपणा कही गयी हैं । २। (गो, जी/मू./२/३१), (पं. सं./सं./१/११) विशेष दे० अनुयोग/२ ।

*** प्ररूपणाओंका मार्गणा स्थानोंमें अन्तर्भाव**

प्रलंब—१. एक ग्रह—दे० ग्रह ।

२. भ. आ./वि./११२३/११३०/१६ प्रलम्ब द्विविधं मूलप्रलम्ब, अग्रप्रलम्ब च । कंदमूलफलाख्यं, भूम्यनुप्रवेशि कन्दमूलप्रलम्बं, अङ्कुरप्रवालफलपत्राणि अग्रप्रलम्बानि । = प्रलम्बके मूल प्रलम्ब और अग्र प्रलम्ब ऐसे दो भेद हैं । कन्द मूल और अंकुर जो भूमिमें प्रविष्ट हुए हैं उनको मूल प्रलम्ब कहते हैं । अंकुर, कोमल पत्ते, फल, और कठोर पत्ते इनको अग्रप्रलम्ब कहते हैं ।

प्रलय—१. जैन मान्य प्रलयका स्वरूप

ति. प./४/१५४४-१५५४ उणवण्णदिवसविरहिदइगिनीससहस्सवस्स-विच्छेदे । जतुभयकरकालो पलयो त्ति पयइवे घोरो । १५४४) ताहे गरुवगभीरो पसरदि पवणो रउहसवट्टो । तरुगिरिसिलपहुदीण कुणोदि चुण्णाइ सत्तदिणे । १५४५) तरुगिरिभगेहि णरा तिरिया य लहंति गुरुवदुवखाइ । इच्छंति वसणठाण विसवति बहुप्पयारेण । १५४६) गंगासिधुणदीण वेयइव्वणंतरम्मि पविसति । पुह पुह सखेज्जाइ बाहत्तरि सयलज्जुवलाइ । १५४७) देवा विज्जाहरया कारुणपरा णराण तिरियाण । सखेज्जजीवरासि खिवति तैसुं पएसेसुं । १५४८) ताहे गभीरगज्जी मेध मुचति तुहिणवारजलं । विससलिलं पत्तेक्क पत्तेक्क सत्तदिवसाणि । १५४९) धूमा धूली वज्जं जलंतजाला य दुप्पेच्छा । वरिसंति जलदणिवहा एक्केक्कं सत्त दिवसाणि । १५५०) एव कमेण भरहे अज्जाखडम्मि जोयणं एक्कं । चित्ताए उवरि ठिदा दज्जइ वड्ढिगदा भूमो । १५५१) वज्जमहण्णिग-बलेण अज्जखडस्स वड्ढिया भूमो । पुठ्ठिक्कखधरुव मुत्तूण जादि लोयत्तं । १५५२) ताहे अज्जाखड दप्पणत्तलत्तुलिदक्कत्तिसमवट्ट । गयधूलिपककलुस होइ सम् सेसभूमोहि । १५५३) तत्थुवत्थिदणरणं हत्थ उदओ य सोलस वस्सा । अहवा पण्णरसाऊ विरियादी तदपु-रुवा य । १५५४) = अवसर्पिणी कालमें दुखमदुखमा कालके उनचास दिन कम इक्कीस हजार वर्षोंके बीत जानेपर जन्तुओको भयदायक घोर प्रलयकाल प्रवृत्त होता है । १५४४) उस समय पर्वत व शिलादिको चूर्ण कर देनेवाली सात दिन सत्रर्षक वायु चलती है । १५४५) वृक्ष और पर्वतोंके भग होनेसे मनुष्य एवं तिर्यंच वस्त्र और स्थानको अभिलाषा करते हुए बहुत प्रकारसे विनाप करते हैं । १५४६) इस समय पृथक्-पृथक् मर्यात व सम्पूर्ण बहत्तर युगल गंगा-सिन्धु नदियोंकी वेदी और विजयाईवनमें प्रवेश करते हैं । १५४७) इस समय देव और विद्याधर दयार्द्र होकर मनुष्य और तिर्यंचो मेसे संख्यात जीव राशि-

को उन प्रदेशोमें ले जाकर रखते हैं । १५४८) उस समय गम्भीर गर्जनासे सहित मेघ तुहिन और क्षार जल तथा त्रिष जलमेसे प्रत्येक सात दिन तक बरसाते हैं । १५४९) इसके अतिरिक्त वे मेघोंके समूह धूम, धूलि, वज्र एवं जलती हुई दुष्प्रेक्ष्य ज्वाला, इनमेसे हर एकको सात दिन तक बरसाते हैं । १५५०) इस क्रमसे भरत क्षेत्रके भीतर आर्यखण्डमें चित्रा पृथ्वीके ऊपर स्थित वृद्धिगत एक योजनकी भूमि जलकर नष्ट हो जाती है । १५५१) वज्र और महागिनके बलसे आर्य-खण्डकी बढी हुई भूमि अपने पूर्ववर्ती स्कन्ध स्वरूपको छोड़कर लोकान्त तक पहुँच जाती है । १५५२) उस समय आर्य खण्ड शेष भूमियोंके समान दर्पण तलके सदृश कान्तिसे स्थित और धूलि एवं कीचडकी क्लृषतासे रहित हो जाता है । १५५३) वहाँपर उपस्थित मनुष्योंकी ऊँचाई एक हाथ, आयु सोलह अथवा पन्द्रह वर्ष प्रमाण और बीर्यादिक भी तदनुसार ही होते हैं । १५५३) (म. पु./७३/४४७-४५६), (त्रि. सा/८६४-८६७) ।

* प्रलयके पश्चात् युगका प्रारम्भ—दे० काल/४ ।

* अन्य मत मान्य प्रलयका स्वरूप—दे० वैशेषिक व सांख्य दर्शन ।

प्रलाप—दे० वचन ।

प्रवक—भरत क्षेत्र पूर्व आर्य खण्डका एक देश—दे० मनुष्य/४ ।

प्रवचन—१. पिशाच जातीय व्यन्तर देवोका भेद—दे० पिशाच ।
२. श्रुतज्ञानका अपरनाम—दे० श्रुतज्ञान 1/२ ।

प्रवचन—

घ. १/१.१.१/२०/७ आगमो सिद्धंतो पवयणमिदि एयट्टो । = आगम, सिद्धान्त और प्रवचन, ये शब्द एकार्थवाची हैं ।

घ. ८/३.४१/६०/१ सिद्धंतो बारहगाणि पवयणं, प्रकृष्ट प्रकृष्टस्य वचनं प्रवचनमिति व्युत्पत्ते । • पवयणं सिद्धंतो बारहगाइ, तस्य भवा देस-महव्वइणो असजदसम्माइट्ठिणो च पवयणा । = सिद्धान्त या बारह अंगोंका नाम प्रवचन है, क्योंकि, 'प्रकृष्ट वचन प्रवचन, या प्रकृष्ट (सवज्ञ) के वचन प्रवचन है' ऐसी व्युत्पत्ति है । सिद्धान्त या बारह अंगोंका नाम प्रवचन है, तो इसमें हानेवाले देशव्रती, महानती और असंयत सम्यग्दृष्टि प्रवचन कहे जाते हैं । (चा. सा/५६४) ।

घ. १३/५.५.५०/२८३/६ प्रकर्षेण कुतीर्थ्यानालीढतया उच्यन्ते जीवादय. पदार्था. अनेनेति प्रवचनं वर्णपडक्त्त्यात्मक द्वादशाङ्गम् । अथवा, प्रमाणावविरोधेन उच्यतेऽर्थोऽनेन करणभूतेनेति प्रवचनं द्वादशाङ्गं भावश्रुतम् । = प्रकर्षसे अर्थात् कुतीर्थ्योंके द्वारा नहीं स्पर्श किये जाने स्वरूपसे जीवादि पदार्थोंका निरूपण करता है, इसलिए वर्ण-पवत्यात्मक द्वादशागको प्रवचन कहते हैं । (भ.आ. वि./३२/१२१/२२) अथवा कारणभूत इस ज्ञानके द्वारा प्रमाण आदिके अधिरोध रूपसे जीवादि अर्थ कहे जाते हैं, इसलिए द्वादशाग भावश्रुतको प्रवचन कहते हैं ।

भ. आ./वि/४६/१५४/२२ रत्नत्रय प्रवचनशब्देनोच्यते । तथा चोक्तम्— णाणदसणचरित्तमेगं पवयणमिति । = प्रवचनका अर्थ यहाँ रत्नत्रय है 'रत्नत्रयको प्रवचन कहते हैं', आगमके ऐसे वाक्यसे भी यह सिद्ध होता है । (भ. आ/वि./११८६/११७१/१४) ।

गो. जी./जी. प्र/१८/४२/१७ प्रकृष्टं वचनं यस्यासौ प्रवचनं आप्तः, प्रकृष्टस्य वचनं प्रवचनं-परमागमः, प्रकृष्टमुच्यते—प्रमाणेन अभिधी-यते इति प्रवचनपदार्थ, इति निरुक्त्वा प्रवचनशब्देन तत्रयस्याभि-धानात् । = प्रकृष्ट है वचन जिसके ऐसे आप्त प्रवचन कहलाते हैं, अथवा प्रकृष्ट अर्थात् उस आप्तके वचन रूप परमागमको प्रवचन कहते हैं, अथवा प्रकृष्ट अर्थात् प्रमाणके द्वारा जिसका निरूपण किया जाता है ऐसे पदार्थ प्रवचन है । इस प्रकार निरुक्तिके द्वारा प्रवचनके आप्त, आगम और पदार्थ ये तीन अर्थ होते हैं ।

२. अष्ट प्रवचन माताका लक्षण

मू. आ./२६७ प्रणिधानजोगजुत्तो पचसु समिदीसु तीसु गुत्तीसु । स चरित्ताचारो अट्टविधो होइ गायव्वो ।२६७ = आठ प्रवचन मातासे आठ भेद चारित्रके होते है—परिणामके सयोगसे पाँच समिति तीन गुप्तियोमें न्याय रूप प्रवृत्ति वह आठ भेद वाला चारित्राचार है ऐसा जानना ।२६७।

भ. आ./वि/११८५/११७१/१४ एव पञ्च समितय तिस्रो गुप्पयश्च प्रवचनमातुकाः । =तीन गुप्ति और पाँच समितियोंको प्रवचन माता कहते है ।

३. इन्हें माता कहनेका कारण

भ. आ./मू/१२०५ एदाओ अट्टवयणमादाओ णाणदसणचरित्तं । रक्खंति सदा सुण्णिओ मादा पुत्त व पयदाओ ।१२०५। =ये अष्ट प्रवचन माता मुनिके ज्ञान, दर्शन और चारित्रकी सदा ऐसे रक्षा करती है जैसे कि पुत्रका हित करनेमें सावधान माता अपायोसे उसको बचाती है ।१२०५। (मू.आ./३३६) (भ.आ./वि./११८५/११७१/१४)

*** मोक्षमार्गमें अष्ट प्रवचन माताका ज्ञान ही पर्याप्त है**
दे० ध्याता/१; श्रुतकेवली/२।

प्रवचन प्रभावना—दे० प्रभावना ।

प्रवचन भक्ति—दे० भक्ति/२ ।

प्रवचन वात्सल्य—दे० वात्सल्य ।

प्रवचन संनिकर्ष—ध. १३/५.५.५०/२८४/४ उच्यन्ते इति वचनानि जीवाद्यर्था. प्रकर्षेण वचनानि सन्निकृष्यन्तेऽस्मिन्निति प्रवचनसंनिकर्षो द्वादशाङ्गश्रुतज्ञानम् । क संनिकर्षः । एकस्मिन् वस्तुन्येकरिम्भं धर्मे निरुद्धे शेषधर्माणां तत्र सत्त्वासत्त्वविचार सत्त्वय्येकरिम्भं नृत्कर्षमुपगते शेषाणामुत्कर्षानृत्कर्षविचारश्च संनिकर्षः । अथवा प्रकर्षेण वचनानि जीवाद्यर्था. संन्यस्यन्ते प्ररूप्यन्ते अनेकान्तात्मतया अनेनेति प्रवचनसंन्यासः । = 'जो कहे जाते हैं' इस व्युत्पत्तिके अनुसार वचन शब्दका अर्थ जीवादि पदार्थ है । प्रकर्ष रूपसे जिसमें वचन सन्निकृष्ट होते है, वह प्रवचन संनिकर्ष रूपसे प्रसिद्ध द्वादशांग श्रुतज्ञान है । प्रश्न—संनिकर्ष क्या है । उत्तर—१. एक वस्तुमें एक धर्मके विवक्षित होनेपर उसमें शेष धर्मोंके सत्त्वासत्त्वका विचार तथा उसमें रहनेवाले उक्त धर्मोंमेंसे किसी एक-धर्मके उत्कर्षको प्राप्त होनेपर शेष धर्मोंके उत्कर्षानृत्कर्षका विचार करना संनिकर्ष कहलाता है । २. अथवा, प्रकर्षरूपसे वचन अर्थात् जीवादि पदार्थ अनेकान्तात्मक रूपसे जिसके द्वारा संन्यस्त अर्थात् प्ररूपित किये जाते है, वह प्रवचन संन्यास अर्थात् उक्त द्वादशांग श्रुतज्ञान ही है । श्रुतज्ञानका अपरनाम है—दे० श्रुतज्ञान/१/२ ।

प्रवचनसार—आ० कुन्दकुन्द (ई० १२७-१७६) कृत २७५ प्राकृत गाथा प्रमाण, ज्ञान ज्ञेय व चारित्र विषयक प्राकृत ग्रन्थ (ती./२/१११) । इस पर अनेक टीकाये उपलब्ध है— १. अमृत चन्द्र (ई० १०५-१६५) कृत 'तत्त्व प्रदीपिका' (संस्कृत) । (जै./२/१७३) । २. प्रभाचन्द्र (ई० १५०-१०२०) कृत 'प्रवचन सरोज भास्कर' (संस्कृत) । (जै./२/१६६) । ३. मल्लिषेण (ई० ११२८) कृत संस्कृत टीका । ४. आ. जयसेन (ई.श १९-१२अथवा १२-१३) कृत 'तात्पर्य वृत्ति' (संस्कृत) । (जै./२/२६२) । ५. प. हेमचन्द्र (ई० १६५२) कृत भाषा टीका ।

प्रवचनमारोद्धार— श्वेताम्बराम्नायमें श्री नेमिचन्द्रसूरि (ई. श. ११) द्वारा विरचित लोकके स्वरूपका प्ररूपक गाथा बद्ध ग्रन्थ है । इसमें २७६ द्वार तथा १५६६ गाथाएँ है । (जै /२/१८-६३) ।

प्रवचनाद्धा—ध. १३/५.५.५०/२८४/२ अद्धा काल, प्रकृष्टाना शोभनाना वचनानामद्धा काल. यरया श्रुती सा पवयणद्धा श्रुतज्ञानम् । = अद्धा कालको कहते है, प्रकृष्ट अर्थात् शोभन वचनोका काल जिस श्रुतिमें होता है, वह प्रवचनाद्धा अर्थात् श्रुतज्ञान है ।

प्रवचनार्थ—ध. १३/५.५.५०/२८१/१२ द्वादशाङ्गवर्णकलापो वचनम् अर्थते गम्यते परिच्छिद्यते इति अर्थो नव पदार्था वचन च अर्थश्च वचनार्थो, प्रकृष्टौ निरवद्यौ वचनार्थो यस्मिन्नागमे स प्रवचनार्थः ।... अथवा, प्रकृष्टवचनैरव्ययते गम्यते परिच्छिद्यते इति वचनार्थो द्वादशाङ्गभावश्रुतम् । सकलसयोगाक्षरै विशिष्टवचनरचनारचितैर्बद्धैर्विशिष्टोपादानकारणै विशिष्टाचार्यसहायैः द्वादशाङ्गमुत्पाद्यत इति यावत् । = १ द्वादशांग रूप वर्णोंका समुदाय वचन है, जो 'अर्थते गम्यते परिच्छिद्यते' अर्थात् जाना जाता है वह अर्थ है । यहाँ अर्थ पदसे नौ पदार्थ लिये गये है । वचन और अर्थ ये दोनों मिलकर वचनार्थ कहलाते है । जिस आगममें वचन और अर्थ ये दोनो प्रकृष्ट अर्थत्ति निर्दोष है उस आगमकी प्रवचनार्थ संज्ञा है । २. • अथवा, प्रकृष्ट वचनोके द्वारा जो 'अर्थते गम्यते परिच्छिद्यते' अर्थात् जाना जाता है वह प्रवचनार्थ अर्थात् द्वादशांग भावश्रुत है । जो विशिष्ट रचनासे आरचित है, बहुत अर्थवाले है, विशिष्ट उपादान कारणोसे सहित है, और जिनको हृदयंगम करनेमें विशिष्ट आचार्योंकी सहायता लगती है, ऐसे सकल सयोगी अक्षरोंसे द्वादशांग उत्पन्न किया जाता है । यह कथनका तात्पर्य है ।

प्रवचनी—ध. १३/५.५.५०/२८३/६ प्रकृष्टानि वचनान्यस्मिन् सन्तीति प्रवचनी भावागमः । अथवा प्रोच्यते इति प्रवचनीऽर्थः., सोऽत्रास्तीति प्रवचनी द्वादशाङ्गग्रन्थः वर्णोपादानकारण । = १, जिसमें प्रकृष्ट वचन होते है वह प्रवचनी है, इस व्युत्पत्तिके अनुसार भावागमका नाम प्रवचनी है । २ अथवा जो कहा जाता है वह प्रवचन है, इस व्युत्पत्तिके अनुसार प्रवचन अर्थको कहते है । वह इसमें है इसलिये वर्णोपादानकारणक द्वादशांग ग्रन्थका नाम प्रवचनी है ।

प्रवचनीय—ध. १३/५.५.५०/२८१/३ प्रवचनेन वचनीय व्याख्येयं प्रतिपादनीयमिति प्रवचनीयम् । = प्रबन्ध पूर्वक जो वचनीय अर्थात् व्याख्येय या प्रतिपादनीय होता है, वह प्रवचनीय कहलाता है ।

प्रवरवाद—ध. १३/५.५.५०/२८७/८ स्वर्गापवर्गमार्गात्त्वादत्तमत्रयं प्रवरः । स उच्यते निरूप्यते अनेनेति प्रवरवाद । = स्वर्ग और अपवर्गका मार्ग होनेसे ररनत्रयका नाम प्रवर है उसका वाद अर्थात् कथन इसके द्वारा किया जाता है, इसलिये इस आगमका नाम प्रवरवाद है ।

प्रवर्तक साधु—भ. आ./मूलाराधना/६२६/८३१/४ पवती अल्पश्रुतः सन्सर्वसंघमर्यादाचरितज्ञः प्रवर्तकः । = जो ज्ञानसे अल्प है, परन्तु सर्व सघकी मर्यादा योग्य रहेगी, ऐसे आचरणका जिसको ज्ञान है उसको प्रवर्तक साधु कहते है ।

प्रवाद—स्या.म./३०/३३४/१४ प्रकर्षेण उच्यते प्रतिपाद्यते स्वाभ्युपगतोऽर्थो यैरिति प्रवादा । = जिसके द्वारा इष्ट अर्थको उच्यतासे प्रतिपादित किया जाय, उसे प्रवाद कहते है ।

प्रवाल—मानुषोत्तर पर्वतस्थ एक कूट—दे० लोक/१/१० ।

प्रवाल चारणवृद्धि—दे० ऋद्धि/४ ।

प्रवाह क्रम—दे० क्रम/२ ।

प्रवाहण जैवलि—पाचाल देश (कुरुक्षेत्र) का कुरुवंशी राजा था । जनमेजयका पोता था तथा शतानीकका पुत्र था । समय—ई पू.

१४०० (१३८० ?) (भारतीय इतिहास/पु.१/पृ.१८६) विशेष दे० इतिहास /३/२।

प्रविचार—स. सि /४/७-१/२४१-२४२/३ प्रविचारो मैथुनोपसेवनम् । ७।२४१। प्रविचारो हि वेदनाप्रतिकारः । ६।२४२। = मैथुनके उपसेवन-को प्रविचार कहते हैं । ७।२४१। प्रविचार वेदनाका प्रतिकार मात्र है । (रा. वा /४/७/१/२१४/१६), (रा. वा. /४/६/२/२१५/३२), (घ. १/१.१.६८/३३-३३६/६. ४) ।

प्रविष्ट—कायोत्सर्गका एक अतिवार—दे० व्युत्सर्ग/१।

प्रवृत्ति—

न्या. सू. /उत्थानिका/१/१/१/२ तस्य (ज्ञातुः) ईप्साजिहासा-प्रयुक्तस्य समीहा प्रवृत्तिरित्युच्यते । = (प्रमाणसे किसी वस्तुको जानकर) ज्ञाताके पाने या छोड़नेकी इच्छा सहित चेष्टाका नाम प्रवृत्ति है ।

२. प्रवृत्तिके भेद व उनके लक्षण

न्या. सू. टी. /१/१/२/८/६ त्रिविधा चास्य शास्त्रस्य प्रवृत्तिरुद्देशो लक्षणं परीक्षा चेति । तत्र नामधेयेन पदार्थमात्रस्याभिधानमुद्देश तत्रोद्दिष्टस्य तत्त्वव्यवच्छेदको धर्मो लक्षणम् । लक्षितस्य यथालक्षण-मुपापद्यते न वेति प्रमाणैरवधारणं परीक्षा । = शास्त्रकी प्रवृत्ति तीन प्रकारकी है—जैसे उद्देश्य, लक्षण और परीक्षा, इनमेंसे पदार्थके नाममात्र कथनको उद्देश्य कहते हैं । उद्दिष्ट पदार्थके अर्थबोधके निवारण करनेवाले धर्मको लक्षण कहते हैं । उद्दिष्ट पदार्थके जो लक्षण किये गये हैं, वे ठीक हैं या नहीं, इसको प्रमाण द्वारा निश्चय कर धारण करनेको परीक्षा कहते हैं ।

* प्रवृत्तिमें निवृत्ति अंश—दे० संवर/२।

* प्रवृत्ति व निवृत्तिसे अतीत भूमिका ही व्रत है

—दे० व्रत/३।

प्रवेणी—भरतक्षेत्र आर्य खण्डको एक नदी—दे० मनुष्य/४।

प्रव्रज्या—वैराग्यकी उत्तम भूमिकाको प्राप्त होकर सुमुक्त व्यक्ति अपने सब सगे सम्बन्धियोंसे क्षमा माँगकर, गुरुकी शरणमें जा, सम्पूर्ण परिग्रहका त्याग कर देता है और ज्ञाता द्रष्टा रहता हुआ साम्प्र जीवन वितानेकी प्रतिज्ञा करता है । इसे ही प्रव्रज्या या जिन दीक्षा कहते हैं । पंचम कालमें भी उत्तम कुलका व्यक्ति प्रव्रज्या ग्रहण करनेके योग्य है ।

५	प्रव्रज्या निर्देश
१	प्रव्रज्याका लक्षण ।
२	जिन दीक्षायोग्य पुरुषका लक्षण ।
३	म्लेच्छ भूमि भी कदाचित् दीक्षाके योग्य है ।
४	दीक्षाके अयोग्य पुरुषका स्वरूप ।
५	पंचम कालमें भी दीक्षा सम्भव है ।
*	छहों संहननमें दीक्षाकी सम्भावना । - दे० संहनन ।
*	स्त्री व नपुंसकको निर्ग्रन्थ दीक्षाका निषेध । —दे० वेद/७/४ ।
*	सत् शूद्रमें भी दीक्षाकी योग्यता ।—दे० वर्णव्यवस्था/४ ।
६	दीक्षाके अयोग्य काल ।
७	प्रव्रज्या धारणका कारण ।

*	दीक्षा योग्य ४८ संस्कार ।	—दे० संस्कार/२ ।
*	भरत चक्रोने भी दीक्षा धारण की थी ।—दे० लिग/३ ।	
२	प्रव्रज्या विधि	
१	तत्त्व ज्ञान होना आवश्यक है ।	
२	बन्धु वर्गसे विदा लेनेका विधि निषेध ।	
३	सिद्धोंको नमस्कार ।	
*	दीक्षा दान विषयक कृतिकर्म ।	- दे० कृतिकर्म/४ ।
*	द्रव्य व भाव दोनों लिग युगपत् ग्रहण करता है ।	— दे० लिग/२,३ ।
*	पहले अग्रमत्त गुणस्थान होता है, फिर प्रमत्त ।	—दे० गुणस्थान/२ ।
*	आर्यिकाको भी कदाचित् नग्नताकी आशा ।	—दे० लिग/१/४ ।

१. प्रव्रज्या निर्देश

१. प्रव्रज्याका लक्षण

बो. पा /मू./गाथा न. गिहगंथमोहमुक्ता बाबीसपरीषहा जियकषाया । पावार भविमुक्ता पञ्चजा एरिसा भणिया । ४५। सत्सू मित्ते य समा पसंसणिहा अलद्विलद्विसमा । तणकणए समभावा पञ्चजा एरिसा भणिया । ४७। जहजायसखससरिसा अबलविय गिराउहा संता । परकियणिलयणिवासा पव्वजा एरिसा भणिया । ५१। सरीरसंस्कार-वज्जिया रूख्खा । ५२। = गृह और परिग्रह तथा उनके ममत्वसे जो रहित है, बाईस परीषह तथा कषायोको जिसने जीता है, पापारम्भसे जो रहित है, ऐसी प्रव्रज्या जिनदेवने कही है । ४५। जिसमें शत्रु-मित्रमें, प्रशसा-निन्दामें, लाभ व अलाभमें तथा तृण व काचनमें समभाव है, ऐसी प्रव्रज्या कही है । ४७। यथाजात रूपधर लम्बायमान भुजा, निरायुध, शान्त, दूसरोंके द्वारा बनायी हुई वस्तिकामे वास । ५१। शरीरके संस्कारसे रहित, तथा तैलादिके मर्दनसे रहित रूक्ष शरीर सहित ऐसी प्रव्रज्या कही गयी है । ५२।—(विशेष दे० बो. पा/मू. व. टी /४५-५६) ।

२. जिन दीक्षा योग्य पुरुषका स्वरूप

म. पु. /३१/१५८ विशुद्धकुलगोत्रस्य सद्बृत्तस्य वपुष्मतः । दीक्षायोग्य-त्वामान्नात सुपुत्रस्य सुमेधसः । १५८। = जिसका कुल गोत्र विशुद्ध है, चात्रि उत्तम है, मुख सुन्दर है और प्रतिमा अच्छी है, ऐसा पुरुष ही दीक्षा ग्रहण करनेके योग्य माना गया है । १५८।

यो सा आ /८/११ शान्तस्तपःशर्मोऽकुत्सो वर्णोऽवेकतमस्त्रिषु । कल्या-णाङ्गो नरो योग्यो लिङ्गस्य ग्रहणे मतः । ११। = जो मनुष्य शान्त होगा, तपके लिए समर्थ होगा, निर्दोष ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य इन तीन वर्णोंमेंसे किसी एक वर्णका और सुन्दर शरीरके अवयवोंका धारक होगा वही निर्ग्रन्थ लिगके ग्रहण करनेमें योग्य है अन्य नहीं । (अन घ /६/८८), (दे० वर्णव्यवस्था/१/४) ।

प. सा /ता. वृ /२२। प्रक्षेपक गा० १०/१०५ बण्णेषु तीसु एको कल्ला-णगो तवोसहो वयसा । सुमुह कुट्टारहिदो लिगगहणे हवदि जोग्गो । = ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य इन तीन वर्णोंमेंसे किसी एक

वर्णका, नोरोग, तपमें समर्थ, अति बालत्व व वृद्धत्वसे रहित योग्य आयुका, सुन्दर, बुराचारादि लोकोपवादसे रहित, पुरुष ही जिन लिंगको ग्रहण करनेके योग्य होता है । १०।

३. म्लेच्छ व सत्शूद्र भी कदाचित् दीक्षाके योग्य है

ल. सा./जी प्र./१६६/२४६/१६ म्लेच्छभूमिजमनुष्याणा सकलसंयम-ग्रहणं कथं सभवतीति नाशङ्कितव्य दिग्विजयकाले चक्रवर्तिना सह आर्यखण्डमागताना म्लेच्छराजाना चक्रवर्त्यादिभिः सहजातैर्वाहिक-सन्नधानां संयमप्रतिपत्तेरविरोधात् । अथवा तत्कन्यकाना चक्रवर्त्यादिपरिणीताना गर्भधृत्पन्नस्य सातृपक्षामेक्षया म्लेच्छव्यपदेश-भाजः संयमसंभवात् तथाजातीयकाना दीक्षार्हत्वे प्रतिषेधाभावात् ।
= प्रश्न—म्लेच्छ भूमिज मनुष्यके सकलसंयमका ग्रहण कैसे सम्भव है । उत्तर—ऐसी शंका नहीं करनी चाहिए । जो मनुष्य दिग्विजय-के कालमें चक्रवर्तिके साथ आर्य खण्डमें आते हैं, और चक्रवर्ती आदिके साथ उनका वैवाहिक सम्बन्ध पाया जाता है, उनके संयम ग्रहणके प्रति विरोधका अभाव है । अथवा जो म्लेच्छ कन्याएँ चक्रवर्ती आदिके विवाही गयी हैं, उन कन्याओंके गर्भसे जो पुत्र उत्पन्न होते हैं वे माताके पक्षसे म्लेच्छ हैं, उनके दीक्षा ग्रहण सम्भव है ।

दे० वर्णव्यवस्था/४/२ (सत्शूद्र भी क्षुल्लकदीक्षाके योग्य है) ।

४. दीक्षाके अयोग्य पुरुषका स्वरूप

भ आ /वि /७७/२०७/१० यदि प्रशस्त शोभनं लिङ्गं मेहन भवति । चर्मरहितत्वं, अतिदीर्घत्वं, स्थूलत्व, असकृदुत्थानशीलत्वेवमादि-दोषरहित यदि भवेत् । पुसत्वलिङ्गता इह गृहोतेति बोजयोरपि लिङ्ग-शब्देन ग्रहणं । अतिलम्बमानतादिदोषरहितता । = यदि पुरुष लिंग-में दोष न हो तो औत्सर्गिक लिंग धारण कर सकता है । गृहस्थके पुरुष लिंगमें चर्म न होना, अतिशय दीर्घता, बारम्बार चेतना होकर ऊपर उठना, ऐसे दोष यदि हो तो वह दीक्षा लेनेके लायक नहीं है । उसी तरह यदि उसके अण्ड भी यदि अतिशय लम्बे हों, बड़े हों तो भी गृहस्थ नग्नताके लिए अयोग्य है । (और भी दे० अचेलकम्ब/४) ।

मो. सा आ /५/५२ कुलजातिवयोदेहकृत्यबुद्धिक्रुधादय । नरस्य कुत्सिता व्यङ्गारतदन्ये लिङ्गयोग्यता । ५२। = मनुष्यके निन्दित कुल, जाति, वय, शरीर, कर्म, बुद्धि, और क्रोध आदिक व्यग-हीनता है—निर्ग्रन्थ लिंगके धारण करनेमें बाधक है, और इनसे भिन्न उसके ग्रहण करनेमें कारण है ।

मो. पा /टी/४६/११४/१ कुरूपिणो हीनाधिकारस्य कुष्ठाविरोगिणश्च प्रव्रज्या न भवति । = कुरूप, हीन वा अधिक अंग वालेके, कुष्ठ आदि रोगों वालेके दीक्षा नहीं होती है ।

५. पंचम कालमें भी दीक्षा सम्भव है

म पु /४१/७५ तरुणस्य वृषस्योच्चैः नदतो विहृतीक्षणात् । तारुण्य एव श्रामण्ये स्थास्यन्ति न दशान्तरे । ७५। = समवशरणमें भरत चक्रवर्ती-के स्वप्नीका फल बताते हुए भगवान्ने कहा कि—ऊँचे सारसे शब्द करते हुए तरुण बैलका विहार देखनेसे सूचित होता है कि लोण तरुण अवस्थामें ही मुनिपदमें ठहर सकेंगे, अन्य अवस्थामें नहीं । ७५।

नि सा /ता वृ /१४३/क २४१ कोऽपि कापि मुनिर्बभूव सुकृती काले कलावप्यल, मिथ्यात्वादिकलङ्कपङ्कुरहित सद्धर्मरक्षामणिः । सोऽय सप्रति भूतले दिवि पुनर्देवैश्च संपूज्यते, मुक्तानेकपरिग्रहव्यतिकरः पापाटवीपावकः । २४१। = कलिकालमें भी कहीं कोई भाग्यशाली जीव मिथ्यात्वादि रूप मल फीचडसे रहित और सद्धर्म रक्षा मणि ऐसा समर्थ मुनि होता है । जिसने अनेक परिग्रहके विस्तारको छोड़ा है, और जो पापरूपी अटवीको जलानेवाली अग्नि है, ऐसा यह मुनि इस काल भूतलमें तथा देव लोकमें देवोंसे भी भली भाँति पूजता है ।

६. दीक्षाके अयोग्य काल

म पु./६६/१५६-१६० ग्रहोपरागग्रहणे परिवेषेन्द्रचापयो' । वक्रग्रहोदये मेघपटलस्थगितेऽम्बरै । १५६। नष्टाधिमासदिनयो संक्रान्तौ हानि-मत्तिथौ । दीक्षाविधि मुमुक्षुणा नेच्छन्ति कृतबुद्धय । १६०। = जिस दिन ग्रहोका उपराग हो, ग्रहण लगा हो, सूर्य चन्द्रमापर परिवेष (मण्डल) हो, इन्द्रधनुष उठा हो, दुष्ट ग्रहोका उदय हो, आकाश मेघ पटलसे ढका हुआ हो, नष्ट मास अथवा अधिक मासका दिन हो, संक्रान्ति हो अथवा क्षय तिथिका दिन हो, उस दिन बुद्धिमान् आचार्य मोक्षकी इच्छा करनेवाले भव्योंके लिए दीक्षाकी विधि नहीं करना चाहते अर्थात् उस दिन किसी शिष्यको नवीन दीक्षा नहीं देते हैं । १५६-१६०।

७. प्रव्रज्या धारणका कारण

ज्ञा./४/१०.१२ शक्यते न वशीकर्तुं गृहिभिश्चपलं मनः । अतश्चित्तप्रशा-न्त्यर्थं सद्भिस्त्यक्ता गृहे स्थिति । १०। निरन्तरात्तानलदाहदुर्गमे कुवासनाध्वान्तविलुप्तलोचने । अनेकाचिन्ताज्वरजिह्वितात्मनां, नृणां गृहे नात्महितं प्रसिद्धयति । १२। = गृहस्थगण घरमें रहते हुए अपने चपलमनको वश करनेमें असमर्थ होते हैं, अतएव चित्तकी शान्तिके अर्थ सत्पुरुषोंने घरमें रहना छोड़ दिया है और वे एकान्त स्थानमें रहकर ध्यानस्थ होनेको उद्यमी हुए हैं । १०। निरन्तर पीडा रूपी आर्त ध्यानकी अग्निके दाहसे दुर्गम, बसनेके अयोग्य, तथा काम क्रोधादि-की कुवासना रूपी अन्धकारसे विलुप्त हो गयी है नेत्रोंकी दृष्टि जिसमें, ऐसे गृहोंमें अनेक चिन्ता रूपी ज्वरसे विकार रूप मनुष्योंके अपने आत्माका हित कदापि सिद्ध नहीं होता । १२। (विशेष दे० ज्ञा /४/५-१०) ।

२. प्रव्रज्या विधि

१. तत्त्वज्ञान होना आवश्यक है

मो. मा, प्र /६/२६४/२ मुनि पद लेनेका क्रम तौ यह है—पहले तत्त्वज्ञान होय, पीछे उदासीन परिणाम होय, परिषदादि सहनेकी शक्ति होय तत्र वह स्वयमेव मुनि बना चाहे ।

२. बन्धुवर्गसे विदा लेनेका विधि निषेध

१ विधि

प्र. सा./पु./२०२ आपिच्छ बन्धुवर्गं विमोचिदो गुरुक्लस्तपुत्तेहि । आसिज्ज णाणद सणचरित्तवकीरियायारं । २०२। = (श्रामण्यार्थी) बन्धुवर्गसे विदा मागकर बड़ोंसे तथा स्त्री और पुत्रसे मुक्त होता हुआ ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तपाचार और वीर्याचारको अनीकार करके । २०२। (म. पु./१७/१६३) ।

म पु /३५/१५१ सिद्धार्चना पुरस्कृत्य सर्वाणाहूय सम्मतात् । तत्साक्षि सूत्रे सर्वं निवेद्यातो गृहं त्यजेत् । १५१। = गृहत्याग नामकी क्रियामें सबसे पहले सिद्ध भगवात्का पूजनकर समस्त इष्ट जनको बुलाना चाहिए और फिर उनकी साक्षी पूर्वक पुत्रके लिए सब कुछ सौंपकर गृहत्याग करना चाहिए । १५१।

२. निषेध

प्र सा /ता, वृ /२०२/२७३/१० तत्र नियमो नास्ति । कथमिति चेत् ।... तत्परिवारमध्ये यदा कोऽपि मिथ्यादृष्टिर्भवति तदा धर्मस्योपसर्गं करोतीति । यदि पुन कोऽपि मन्वते गोत्रसम्मलं कृत्वा पश्चात्त-पश्चरणं करोमि तस्य प्रचुरेण तपश्चरणमेव नास्ति कथमपि तपश्चरणे गृहीतेऽपि यदि गोत्रादि ममत्वं करोति तदा तपोधन एव

न भवति । = बन्धुवर्गसे विदा लेनेका कोई नियम नहीं है । क्योंकि .. यदि उसके परिवारमें कोई मिथ्यादृष्टि होता है, तो वह धर्मपर उपसर्ग करता है । अथवा यदि कोई ऐसा मानता है कि पहले बन्धुवर्गको राजी करके पश्चात् तपश्चरण करूँ 'तो उसके प्रचुर रूपसे तपश्चरण ही नहीं होता है । और यदि जैसे जैसे तपश्चरण ग्रहण करके भी कुलका ममत्व करता है, तो तब वह तपोधन ही नहीं होता है ।

प्र. सा./प. हेमराज/२०२/२७३/३१ यहाँपर ऐसा मत समझना कि विरक्त होवे तो कुटुम्बको राजी करके ही होवे । कुटुम्ब यदि किसी तरह राजी न होवे तब कुटुम्बके भरोसे रहनेसे विरक्त कभी होय नहीं सकता । इस कारण कुटुम्बसे पूछनेका नियम नहीं है ।

३. सिद्धोंको नमस्कार

म. पु./१७/२०० तत पूर्वमुख स्थित्वा कृतसिद्धनमस्क्रिय । केशानलुञ्चदाबद्धपण्यङ्क पञ्चमुष्टिकम् । २००। तदनन्तर भगवान् (वृषभदेव) पूर्व दिशाकी ओर मुहकर पद्मासनसे विराजमान हुए और सिद्ध परमेष्ठोंको नमस्कार कर उन्होंने पंच मुष्टियोंमें केश लोच किया । २०० । और भी दे० कल्याणक/२ ।

स्या म/३१/३३६/१२ न च हीनगुणत्वमसिद्धम् । प्रव्रज्यावसरे सिद्धोभ्यस्तेषा नमस्कारकरणश्रवणात् । = अर्हन्त भगवात्तमें सिद्धोंकी अपेक्षा कम गुण है, अर्हन्त दीक्षाके समय सिद्धोंको नमस्कार करते हैं ।

प्रव्रज्याकाल—दे० काल/१ ।

प्रव्रज्या क्रिया—दे० संस्कार/२ ।

प्रव्रज्यागुरु—दे० गुरु/३ ।

प्रशंसा प्रशम—

स. सि./६/२५/३३६/१२ गुणोद्भावनाभिप्राय प्रशंसा । = गुणोंको प्रगट करनेका भाव प्रशंसा है । (स. सि./७/२३/३६४/१२) (रा. वा / ६/२५/२/५३०/३०) (रा. वा./७/२३/१/५६२/१२) ।

* अन्य सम्बन्धित विषय

१. प्रशंसा व स्तुतिमें अन्तर दे० अन्यदृष्टि ।
२. अन्य दृष्टि प्रशंसा दे० ,, ।
३. स्व प्रशंसाका निषेध दे० निदा ।

प्रशम—प घ/उ/४२६-४३० प्रशमो विषयेषूच्चैर्भाविकोधादिकेषु च । लोकासख्यातमात्रेषु स्वरूपार्च्छिथिलं मनः । ४२६। सख्यं कृतापराधेषु यद्वा जीवेषु जातुचित् । तद्गधादिविकाराय न बुद्धि-प्रशमो-मतः । ४२७। हेतुस्तत्रोदयाभाव स्यादनन्तानुबन्धिनाम् । अपि शेष-कषायाणा नून मन्दोदयोऽशत । ४२८। सम्यक्त्वेनाविनाभूत प्रशम परमो गुणः । अन्यत्र प्रशममन्येऽप्याभासः त्यात्तदत्ययात् । ४३०। = पचेन्द्रियोंके विषयोमें और लोकके असंख्यातवे भाग प्रमाण तीव्र भाव क्रोधादिकोंमें स्वरूपसे शिथिल मनका होना ही प्रशम भाव कहलाता है । ४२६। अथवा उसी समय अपराध करनेवाले जीवोंपर कभी भी उनके वधादि रूप विकारके लिए बुद्धिका नही होना प्रशम माना गया है । ४२७। उस प्रशम भावकी उत्पत्तिमें निश्चयसे अनन्तानुबन्धो कषायोंका उदयाभाव और प्रत्याख्यानादि कषायोंका मन्द उदय कारण है । ४२८। (द. पा./प. जयचन्द्र/२) सम्यक्त्वका अविनाभावो प्रशम भाव सम्यग्दृष्टिका परम गुण है । प्रशम भावका झूठा अहकार करनेवाले मिथ्यादृष्टिके सम्यक्त्वका सद्भाव न होनेसे प्रशमाभास होता है ।

प्रशस्त—स सि./६/२५/४४६/१ कर्मनिर्दहनसामर्थ्यप्रशस्तम् । = जो (ध्यान) कर्मोंको निर्दहन करनेकी सामर्थ्यसे युक्त है, वह प्रशस्त है । (रा. वा./६/२५/४/६२७/३४)

प्रशस्त उपशम—दे० उपशम/१ ।

प्रशस्तपाद—बैशेषिकसूत्रके भाष्यकार—समय ई० श ५-६ (स. म./परि-ग/पृ ४१५/१२) ।

प्रशान्ति क्रिया—दे० संस्कार/२ ।

प्रश्न—१ स. भं. त./४/६ प्राश्निकनिष्ठजिज्ञासाप्रतिपादकं वाक्यं हि प्रश्न इत्युच्यते । = प्रश्नकर्ताके पदार्थको जाननेकी जो इच्छा है, उस इच्छाके प्रतिपादक जो वाक्य है, उनको ही प्रश्न कहते हैं । २ Problem (घ. १/प्र०/२५) ।

प्रश्न कुशल साधु—भ आ/वि/४०३/५६२/१० प्रश्नकुशलतोच्यते चैत्यसयतानायिका. श्रावकाश्च, बालमध्यमवृद्धाश्च पृष्ट्वा कृत-गवेषणो याति इति प्रश्नकुशल । = चैत्य, मुनि, आश्रमिका, श्रावक, बाल मध्यम और वृद्धोंको पूछकर निर्यापकाचार्य गवेषण करता है, यह प्रश्न कुशल साधु कहलाता है ।

प्रश्न व्याकरण—द्वादशांग श्रुतज्ञानका दसवा अंग— दे० श्रुतज्ञान/III ।

प्रश्नोत्तर श्रावकाचार—आ. सकलकीर्ति (ई० १४०६-१४४२) द्वारा विरचित संस्कृत ग्रन्थ है । इसमें २४ सर्ग और ४६२५ पद्य हैं । जिनमें २५४१ प्रश्नोंका उत्तर देकर श्रावकोंके आचारका विशद वर्णन किया गया है । (ली/३/३३३) ।

प्रसंग—न्या सू./टी/१/२/१८/५३/२२ स च प्रसंग साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां प्रत्यवस्थानमुपालम्भ प्रतिषेध इति । उदाहरणसाधर्म्यात्साध्य-साधनहेतुरित्यस्योदाहरणवैधर्म्येण प्रत्यवस्थानम् । = वादी द्वारा व्यतिरेक दृष्टांत रूप उदाहरणके विधर्मपिन करके ज्ञापक हेतुका कथन कर चुकनेपर प्रतिवादी द्वारा साधर्म्य करके, अथवा वादी द्वारा अन्वय दृष्टांत रूप उदाहरणके समान धर्मपिन करके ज्ञापक हेतुका कथन करनेपर पुन प्रतिवादी द्वारा विधर्मपिन करके प्रत्यवस्थान (उदाहना) देना प्रसंग है । (श्लो. वा. ४/न्या./३१०/४५७/१ में इस पर चर्चा) ।

* अति प्रसंग दोष—दे० अतिप्रसंग ।

प्रसंगसमा जाति—न्या सू./धु व. टी/५/१/६/२६१ दृष्टान्तस्य कारणानपदेशात् प्रत्यवस्थानाच्च प्रतिदृष्टान्तेन प्रसंगप्रतिदृष्टान्तसमौ । ६। साधनस्यापि साधनं वक्तव्यमिति प्रसङ्गेन प्रत्यवस्थानं प्रसङ्ग-सम प्रतिषेध । क्रियाहेतुगुणयोगी क्रियावान् लोष्ट इति हेतुर्नापिदि-श्यते न च हेतुमन्तरेण सिद्धिरस्तीति । = वादीने जिस प्रकार साध्यका भी साधन कहा है, वैसे ही साधनका भी साधन करना या दृष्टान्तकी भी वादीको सिद्धि करनी चाहिए इस प्रकार प्रतिवादी द्वारा कहा जाना प्रसंगसमा जाति है । जैसे—क्रियाके हेतुभूत गुणोंका सम्बन्ध रखने वाला डेल क्रियावान् किस हेतुसे माना जाता है । दृष्टान्तकी भी साध्यसे विशिष्टपने करके प्रतिपत्ति करनेमें वादीको हेतु कहना चाहिए । उस हेतुके बिना तो प्रमेयको व्यवस्था नहीं हो सकती है । (श्लो. वा ४/न्या./३५६-३६३/४५७ में इसपर चर्चा) ।

प्रसज्याभाव—दे० अभाव ।

प्रसेनजित—१. यह तेरहवें कुलकर हुए हैं । (म. पु./३/१४६)— विशेष दे० शालाका पुरुष/५ । २ यादववंशी कृष्णका १६वाँ पुत्र—दे० इतिहास/६/१० ।

प्रस्तर—ध. १४/५.६.६४२/४६५/७ समग्लोअसेडिबद्धपङ्कणया विमाणपत्थडाणि णाम । तत्थ (गिरय) तण-पङ्कणया गिरयपत्थ-डाणि णाम । = स्वर्गलोकके श्रेणीबद्ध और प्रकीर्णक विमान प्रस्तर कहलाते हैं और वहाँके (नरकके) प्रकीर्णक नरक प्रस्तर कहलाते हैं । विशेष दे. नरक/५/३, स्वर्ग/५/१३ ।

प्रस्तार—अक्ष संचार गणितमें अंकोंका स्थापन करना प्रस्तार है ।— विशेष दे० गणित/II/३/१ ।

प्रस्ताव—न्या.वि./टी./१/१६५/५३१/३ प्रस्तूयते प्रमाण-फलत्वेनाधिक्रियते इति प्रस्ताव । = प्रस्तूयते अर्थात् प्रमाणके फल रूपसे जिसका ग्रहण किया जाता है, ऐसा हेयोपादेय तत्त्वका निर्णय प्रस्ताव है ।

प्रस्थ—१. रा.वा/१/३३/७/६७/११ प्रतिष्ठन्तेऽस्मिन्निति प्रस्थ । = जिसमे धान्य आदि मापे जा रहे हैं उसको प्रस्थ कहते हैं । २. तोलका एक प्रमाण विशेष—दे० गणित/II/१/२ ।

प्रस्थापक—ध. ६/१.६-८.१२/२४७/७ कदकरणिज्जपठमसमयप्पहुडि उवरि णिट्ठवगी उच्चदि । = कृतकृत्य वेदक होनेके प्रथम समयसे लेकर ऊपरके समयमें दर्शनमोहकी क्षपणा करनेवाला जीव निष्ठापक कहलाता है ।

गो.क./जी.प्र./५५०/७४४/१० दर्शनमोहक्षपणाप्रारम्भप्रथमसमयस्थापित-सम्यक्त्वप्रकृतिप्रथमस्थित्यान्तर्मुहूर्तविशेषे चरमसमयप्रस्थापक' अनन्तरसमयादाप्रथमस्थितिचरमनिषेकं निष्ठापक । = दर्शनमोह क्षपणाके प्रारम्भ समयमें स्थायी गयी सम्यक्त्व प्रकृतिकी प्रथम स्थितिका अन्तर्मुहूर्त अवशेष रहनेपर, उसके अन्त समय पर्यन्त तो प्रस्थापक कहलाता है । और उसके अनन्तर समयसे प्रथम स्थितिके अन्त निषेक पर्यन्त निष्ठापक कहलाता है ।

प्रहरण—दे० बलीन्द्र ।

प्रहरा—भरत क्षेत्रस्थ आर्य खण्डकी एक नदी—दे० मनुष्य/४ ।

प्रहसित—१ हनुमात्के पिता पवनरज्यका मित्र (प.पु/१६/१२७) २. मातङ्ग वंशका एक राजा—दे० इतिहास/७/६ ।

प्रहार संक्रामिणी—एक मन्त्र विद्या—दे० विद्या ।

प्रह्लाद—१. राजा पद्मका मन्त्री—विशेष दे० बलि । २. आदित्यपुरका राजा । हनुमात्का बाबा था । (प.पु/१५/७-८) ।

प्राक्—पूर्व दिशा ।

प्राकाम्य ऋद्धि—दे० ऋद्धि/३ ।

प्राकार—ध. १४/५.६.४२/४०/७ जिणहरादोणं रक्खट्ठं पासेसु ट्ठविदओलित्तीओ पागारा णाम । पक्खिटाहि घडिदवरं डा वा पागारा णाम । = जिनगृह आदिकी रक्षाके लिए पार्श्वमे जो भीते बनायी जाती है वे प्राकार कहलाते हैं, अथवा पकी हुई ईंटोसे जो बरण्डा बनाये जाते हैं वे प्राकार कहलाते हैं ।

प्राकृत संख्या—Natural Number (ज.प्र./प्र.१०७) ।

प्रागभाव—दे० अभाव ।

प्राच्य—१. पूर्व दिशा, २. प्राची दिशाकी प्रधानता—दे० दिशा ।

प्राण—कालका प्रमाण विशेष—दे० गणित/II/१/४ ।

प्राण—जीवमे जीवितव्यके लक्षणोको पाण कहते हैं, वह दो प्रकार है—निश्चय और व्यवहार । जीवकी चेतनत्व शक्ति उसका निश्चय प्राण है और पाँच इन्द्रिय, मन, वचन, काय, आयु व श्वासोच्छ्वास

ये दस व्यवहार प्राण हैं । इनमेंसे एकेन्द्रियादि जीवोंके यथा योग्य ४,६,७ आदि प्राण पाये जाते हैं ।

१. प्राण निर्देश व तत्सम्बन्धी शंकाएँ

१. प्राणका लक्षण

१ निरुक्ति अर्थ

पं.सं./प्रा/१/४५ बाहिरपाणे हि जहा तहेव अर्धतरेहि पाणेहि । जीवति जेहि जीवा पाणा ते होंति बोहव्वा ४५ । = जिस प्रकार आह्रा प्राणके द्वारा जीव जीते हैं उसी प्रकार जिन अर्धन्तर प्राणोके द्वारा जीव जीते हैं, वे प्राण कहलाते हैं ४५ । (ध./१.१.३४/गा.१४१/२५६) (गो. जी/सू./१२६/३४१) (प.सं./सं./१/४५) ।

ध./२/१.१/४१२/२ प्राणिति जीवति एभिरिति प्राणा । = जिनके द्वारा जीव जीता है उन्हें प्राण कहते हैं ।

गो.जी./जी.प्र./२/२१/९ जीवन्ति-प्राणति जीवितव्यवहारयोग्या भवन्ति जीवा येस्ते प्राणा । = जिनके द्वारा यह जीव जीवितव्य रूप व्यवहारके योग्य है, उनको प्राण कहते हैं ।

२ निश्चय अथवा भाव प्राण

प्र.सा./त.प्र./१४५ अस्य जीवस्य सहजविजृम्भितानन्तज्ञानशक्ति-हेतुके...वस्तुस्वरूपतया सर्वदानपायिनि निश्चयजीवत्वे... । = इस जीवको, सहजरूपसे प्रगट अनन्त ज्ञान शक्ति जिसका हेतु है...वस्तुका स्वरूप होनेसे सदा अविनाशी निश्चय जीवत्व होनेपर भी...

पं.का./त.प्र./३० इन्द्रियबलायुरुच्छ्वासलक्षणा हि प्राणा । तेषु चित्सा-मान्यानवयिनो भावप्राणा । = प्राण इन्द्रिय, बल, आयु तथा उच्छ्वास रूप हैं । उनमें (प्राणोंमें) चित्सामान्य रूप अन्वय वाले वे भाव प्राण हैं । (गो.जी./जी.प्र./१२६/३४१/११)

दे जीव/१/१ निश्चयसे आरमाके ज्ञानदर्शनोपयोग रूप चैतन्य प्राण है । स्या.मं/२७/३०६/६ सम्यग्ज्ञानादयो हि भावप्राणा प्रावचनिकैर्गी-यन्ते । = पूर्व आचार्योंने सम्यग्दर्शन ज्ञान व चारित्रको भाव प्राण कहा है ।

३. व्यवहार वा द्रव्य प्राण

पं.का./त.प्र./३० पुद्गलसामान्यानवयिनो द्रव्यप्राणा । = पुद्गल सामान्य रूप अन्वयवाले वे द्रव्यप्राण हैं ।

गो.जी./जी.प्र./१२६/३४१/१० पौद्गलसिद्धव्येन्द्रियादिव्यापाररूपाः द्रव्यप्राणा । = पुद्गल द्रव्यसे निपजी जो द्रव्य इन्द्रियादिक उनके प्रवर्तन रूप द्रव्य प्राण हैं ।

२. अतीत प्राणका लक्षण

ध. २/१.१/४१६/१ दसण्हं पाणाणमभावो अदीदपाणो णाम । = दशों प्राणोके अभ वको अतीत प्राण कहते हैं ।

३. दश प्राणोंके नाम निर्देश

सू.आ/११६१ षं चय इंदियपाणा मणवचकाया दु तिणिण बलपाणा । आणप्पाणप्पाणा आउगपाणेण होंति दस पाणा ११६१ । = पाँच इन्द्रिय प्राण, मन, वचन काय बल रूप तीन बल प्राण, श्वासोच्छ्वास प्राण और आयु प्राण इस तरह दस प्राण हैं । (पं.सं./प्रा./१/४६) (ध./१.१.४१२/२) (गो.जी./सू./१३०/३४३) (प्र.सा./त.प्र./१४६) (का.अ./सू./१३६) (प.सं./सं./१/१२४) (पं.ध./उ./५३६) ।

४. इन्द्रिय व इन्द्रिय प्राणमें अन्तर

ध. २/१.१/४१२/३ नैतेषामिन्द्रियाणामेकेन्द्रियादिष्वन्तर्भावा चक्षुरादि-क्षयोपशमनिबन्धनानामिन्द्रियाणामेकेन्द्रियादिजातिभिः साम्या-

भावत। = इन पाँचो इन्द्रियो (इन्द्रिय प्राणो)का एकेन्द्रिय जाति आदि पाँच जातियोमें अन्तर्भाव नहीं होता है, क्योंकि चक्षुरिन्द्रियावरण आदि कर्मोंके क्षयोपशमके निमित्तसे उत्पन्न हुई इन्द्रियोकी एकेन्द्रिय जाति आदि जातियोके साथ समानता नहीं पायी जाती है।

★ उच्छ्वास व प्राणमें अन्तर—दे० उच्छ्वास।

★ पर्याप्ति व प्राणमें अन्तर—दे० पर्याप्ति/२।

५. आनपान व मन, वचन कथको प्राणपना कैसे है

घ. १/१.१.३४/२५६/४ भवत्स्विन्द्रियायुष्काया, प्राणव्यपदेशभाज तेषामाजन्मन आमरणाद्भवधारणत्वेनोपलम्भात्। तत्रैकस्याप्यभावतोऽस्यमतां मरणसंदर्शनाच्च। अपि उच्छ्वासमनोवचसां न प्राणव्यपदेशो युज्यते तान्यन्तरेणापि अपर्याप्तिवस्थाया जीवनोपलम्भादिति चेन्न, तैर्विना पश्चाज्जीवतामनुपलभ्यतस्तेषामपि प्राणत्वविरोधात्। = प्रश्न—पाँचो इन्द्रियो, आयु और काय बल, ये प्राण संज्ञाको प्राप्त हो सकते हैं, क्योंकि वे जन्मसे लेकर मरण तक भव धारण रूपसे पाये जाते हैं। और उनमेंसे किसी एकके अभाव हो जानेपर मरण भी देखा जाता है। परन्तु उच्छ्वास, मनोबल और वचन बल इनको प्राण मज्ञा नहीं दी जा सकती है, क्योंकि इनके बिना भी अपर्याप्त अवस्थामें जीवन पाया जाता है। उत्तर—नहीं, क्योंकि उच्छ्वास, मनोबल और वचन बलके बिना अपर्याप्त अवस्थाके पश्चात् पर्याप्त अवस्थामें जीवन नहीं पाया जाता है, इसलिए उन्हें प्राण माननेमें कोई विरोध नहीं है।

६. प्राणोंके त्यागका उपाय

प्र. सा./मू./१५१ उस्थानिका—अथ पुद्गलप्राणसंततिनिवृत्तिहेतुमन्तरङ्गग्राह्यति—जो इन्द्रियादिविजई भवीय उवओगमपुर्णं क्वादि। कन्नेहि सो ण रजदि किह तं पाणा अणुचरंति। १५१। = अथ पौद्गलिक प्राणोंकी संततिकी निवृत्तिका अन्तरग हेतु समझाते हैं—जो इन्द्रियादिका विजयी होकर उपयोग मात्रका ध्यान करता है, वह कर्मोंके द्वारा रजित नहीं होता, उसे प्राण कैसे अनुसरण कर सकते हैं। अर्थात् उसके प्राणोंका सम्बन्ध नहीं होता।

७. प्राणोंका स्वामित्व

१. स्थावर जीवोंकी अपेक्षा

स. सि/२/१३/१७२/१० कति पुनरेषा (स्थावराणां) प्राणा। चत्वारः स्पर्शनेन्द्रियप्राणा कायबलप्राणा उच्छ्वासनिश्चयसप्राणा आयु-प्राणश्चेति। = स्थावरोंके चार प्राण होते हैं—स्पर्शनेन्द्रिय, कायबल, उच्छ्वास-निश्वास और आयु प्राण। (रा वा/२/१३/१/१२५/१६) (घ. २/१.१/४१८/११), (का. अ./मू./१४०)।

२. त्रस जीवोंकी अपेक्षा

स. सि/२/१४/१७६/६ द्वीन्द्रियस्य तावत् षट् प्राणा, पूर्वोक्ता एव रसनवाक्प्राणाधिका। त्रीन्द्रियस्य सप्त त एव प्राणप्राणाधिका। चतुरिन्द्रियस्याष्टौ त एव चक्षु प्राणाधिका। पञ्चेन्द्रियस्य तिरश्चोऽसंज्ञिनो नत्र त एव श्रोत्रप्राणाधिका। संज्ञिनो दश त एव मनोबलप्राणाधिका। = पूर्वोक्त (स्पर्शनेन्द्रिय, कायबल, उच्छ्वास, और आयु प्राण इन) चार प्राणोंमें रसना प्राण और वचन प्राण इन दो प्राणोंके मिला देनेपर दोइन्द्रिय जीवोंके छह प्राण होते हैं। इनमें प्राणोंके मिला देनेपर तीन इन्द्रिय जीवोंके सात प्राण होते हैं। इनमें चक्षु प्राणोंके मिला देनेपर चौइन्द्रिय जीवोंके आठ प्राण होते हैं। इनमें श्रोत्र प्राणोंके मिला देनेपर तिर्यच असंज्ञीके नौ प्राण होते हैं। इनमें मनोबलके मिला देनेपर सज्ञी जीवोंके दस प्राण होते हैं। (रा वा/

२/१४/१२६/१), (पं. सं./प्रा./१/४७-४६), (घ. २/१.१/४१८/१), (गो. जी./मू./१३३/१४६), (का. अ./मू./१४०)।

३. पर्याप्तपर्याप्तकी अपेक्षा

पं. सं./प्रा./१/५० पंचवक्त्र-नुए पाणा मण वचि उस्सास ऊणिया सव्वे। कण्णक्खिगंधरसणारहिया सेसेसु ते अणोसु। ५०। = अपर्याप्त पंचेन्द्रियद्विकमें मन-वचन-बल और श्वासोच्छ्वास इन तीनसे कम शेष सात प्राप्त होते हैं। अपर्याप्त चतुरिन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, द्वीन्द्रिय तथा एकेन्द्रियके क्रमसे कर्णेन्द्रिय, चक्षुरिन्द्रिय, प्राणेन्द्रिय और रसनेन्द्रिय कम करनेपर छह, पाँच, चार और तीन प्राण होते हैं। (घ. २/१.१/४१८/१), (गो. जी./मू. व टी/१३३/३४६), (का. अ./मू./१४१), (पं. सं./स./१/१२५)।

४. सयोग अयोग केवलीकी अपेक्षा

दे० केवली/६/१०-१३, १. सयोगकेवलीके चार प्राण होते हैं—वचन, श्वासोच्छ्वास, आयु, और काय। उपचारसे तो सात प्राण कहे जाते हैं। २. अयोगकेवलीके केवल एक आयु प्राण ही होता है। ३. समुद्धात अवस्थामें केवली भगवांसके ३, २ व १ प्राण होते हैं—श्वासोच्छ्वास, आयु और काय। ये तीन, श्वासोच्छ्वास कम करनेपर दो, तथा काय बल कम करनेपर केवल एक आयु प्राण होता है।

८. अपर्याप्तवस्थामें भाव मन क्यों नहीं

घ. ५/१.१.३६/२६६/५ भावेन्द्रियाणामिव भावमनस उत्पत्तिकाल एव सत्त्वात्पर्याप्तकालेऽपि भावमनस, सत्त्वमिन्द्रियाणामिव किमिति नोक्तमिति चेन्न, बाह्येन्द्रियैरग्राह्यद्रव्यस्य मनसोऽपर्याप्तवस्थाया-मस्तित्वेऽङ्गीक्रियमाणे द्रव्यमनसो विद्यमाननिरूपणस्यासत्त्वप्रसङ्गात्। पर्याप्तनिरूपणात्तदस्तित्वं सिद्धयेदिति चेन्न, बाह्यार्थस्मरणशक्तिनिष्पत्तौ पर्याप्तव्यपदेशतो द्रव्यमनसोऽभावेऽपि पर्याप्तनिरूपणोपपत्तेः। न बाह्यार्थस्मरणशक्तौ प्राणस्तित्वं योग्यस्य द्रव्यस्योत्पत्ते प्राक् सत्त्वविरोधात्। ततो द्रव्यमनसोऽस्तित्वस्य ज्ञापकं भवति तस्यापर्याप्तवस्थायामस्तित्वनिरूपणमिति सिद्धम्। = प्रश्न—जीवके नवीन भवको धारण करनेके समय ही भावेन्द्रियोकी तरह भाव मनका भी सत्त्व पाया जाता है, इसलिए जिस प्रकार अपर्याप्त कालमें भावेन्द्रियोका सद्भाव कहा जाता है उसी प्रकार वहाँ पर भावमनका सद्भाव क्यों नहीं कहा। उत्तर नहीं, क्योंकि, बाह्य इन्द्रियोंके द्वारा नहीं ग्रहण करने योग्य वस्तुभूत मनका अपर्याप्तनिरूपण अवस्थामें अस्तित्व स्वीकार कर लेनेपर, जिसका निरूपण विद्यमान है ऐसे द्रव्यमनके असत्त्वका प्रसंग आ जायेगा। प्रश्न—पर्याप्तके निरूपणसे ही द्रव्यमनका अस्तित्व सिद्ध हो जायेगा। उत्तर—१ नहीं क्योंकि, बाह्यार्थकी स्मरण शक्तिकी पूर्णतामें ही पर्याप्त इस प्रकारका व्यवहार मान लेनेसे द्रव्यमनके अभावमें भी मन, पर्याप्तिका निरूपण बन जाता है। २ बाह्य पदार्थोंकी स्मरणरूप शक्तिके पहले द्रव्य मनका सद्भाव बन जायेगा ऐसा कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि मन्य मनके योग्य द्रव्यकी उत्पत्तिके पहले उसका सत्त्व मान लेनेमें विरोध आता है। अतः अपर्याप्तिरूप अवस्थामें भावमनके अस्तित्वका निरूपण नहीं करना द्रव्यमनके अस्तित्वका ज्ञापक है, ऐसा समझना चाहिए।

★ गुणस्थान, मार्गणारथान, जीवसमास आदि २०

प्ररूपणाओंमें प्राणोंका स्वामित्व—दे० सत्।

★ प्राणोंका यथायोग्य मार्गणा स्थानोंमें अन्तर्भाव

—दे० मार्गणा।

★ जीवको प्राणोंके रहनेकी विवक्षा—दे० जीव/१/३।

२. निश्चय व्यवहार प्राण समन्वय

१. प्राण प्ररूपणार्थे निश्चय प्राण अभिप्रेत है

ध. २/१.१/४०४/३ द्रव्येन्द्रियाणं णिप्पत्ति पडुच्च के वि दस पाणे भणति । तण्ण घडदे । कुदो । भाविदियाभावादो । अध दन्विदियस्स जदि गहणं कीरदि तो सण्णीणमपज्जत्तकाले सत्त पाणा पोडिडूण दो चव पण्णा भवन्ति, पंचण्ह द्रव्येन्द्रियाणामभावादो । = कितने ही आचार्य द्रव्येन्द्रियोंकी पूर्णताकी अपेक्षा (केवलीके) दस प्राण कहते हैं, परन्तु उनका ऐसा कहना घटित नहीं होता है, क्योंकि सयोगी जिनके भावेन्द्रियों नहीं पायी जाती है । यदि प्राणोंमें द्रव्येन्द्रियोंका ही ग्रहण किया जावे तो सच्ची जीवोंके अपर्याप्त कालमें सात प्राणोंके स्थानपर कुल दो ही प्राण कहे जायेंगे, क्योंकि उनके द्रव्येन्द्रियोंका अभाव है ।

२. दश प्राण पुद्गलात्मक हैं जीवका स्वभाव नहीं

प्र. सा/त प्र./१४७ तत्र जीवस्य स्वभावस्वभावान्ति पुद्गलद्रव्यनिर्वृत्तत्वात् । = वह उसका (प्राण जीवका) स्वभाव नहीं है, क्योंकि वह पुद्गल द्रव्यसे रचित है ।
प्र. सा/ता. वृ/१४५ व्यवहारेण... आयुराद्यशुद्धप्राणचतुष्केनापि सबद्धं सत् जीवति । तच्च शुद्धनयेन जीवस्वरूप न भवति । = व्यवहार नयसे आयु आदि चार अशुद्ध प्राणोंसे सम्बद्ध होनेसे जीता है । वह शुद्ध नयसे जीवका स्वरूप नहीं है ।

३. दश प्राणोंका जीवके साथ कथंचित् भेदाभेद

स. सा./ता वृ/३३२ ३४४/४२३/२४ कायादिप्राणै सह कथंचिद् भेदाभेद । कथ । इति चैत्, तन्नायपिण्डवद्वर्तमानकाले पृथक्त्वं कर्तुं नायाति तेन कारणेन व्यवहारेणाभेद । निश्चयेन पुनर्मरणकाले कायादिप्राणा जीवनेन सहैव न गच्छन्ति तेन कारणेन भेद । = कायादि प्राणोंके साथ जीवका कथंचित् भेद व अभेद है । वह ऐसे है कि तपे हुए लोहेके गोलेकी भाँति वर्तमान कालमें वे दोनों पृथक् नहीं किये जानेके कारण व्यवहार नयसे अभिन्न है । और निश्चय नयसे क्योंकि मरण कालमें कायादि प्राण जीवके साथ नहीं जाते इसलिए भिन्न है ।
प. प्र./टी/२/१२७/२४४/४ स्वकीयप्राणहते सति दु खोत्पत्तिदर्शनाद्-व्यवहारेणाभेद । यदि पुनरेकान्तेन देहात्मनोर्भेदा एव तर्हि परकीय-वेहधाते दु ख न स्यान्न च तथा । निश्चयेन पुनर्जीवे गतेऽपि देहो न गच्छतीति हेतोर्भेद एव । = अपने प्राणोंका घात होनेपर दुखकी उत्पत्ति होती है अतः व्यवहार नयकर प्राण और जीवको अभेद है ।
यदि एकान्तमें प्राणोंका सर्वथा जुड़े माने तो जैसे परके शरीरका घात होनेपर दु ख नहीं होता वैसे अपने देहका घात होनेपर दु ख नहीं होना चाहिए । इसलिए व्यवहार नयसे एकत्व है निश्चयसे नहीं, क्योंकि देहका विनाश होनेपर भी जीवका विनाश नहीं होता है । इसलिए भेद है ।

४. निश्चय व्यवहार प्राणोंका समन्वय

प्र. सा./त प्र./१४५ अथास्य जीवस्य सहजविजृम्भितानन्तज्ञानशक्ति-हेतुके त्रिसमयावस्थायित्वलक्षणे वस्तुस्वरूपभूततया सर्वदानपायिनि निश्चयजीवत्वे सत्यपि ससारावस्थायामनादिप्रवाहप्रवृत्तपुद्गल-सश्लेषदूषितात्मतया प्राणचतुष्काभिसंबद्धत्वं व्यवहारजीवत्वहेतुर्वि-भक्तयोऽस्ति । = अब इस जीवकी सहज रूप (स्वाभाविक) प्रगट अनन्त ज्ञान शक्ति जिसका हेतु है, और तीनों कालोंमें अवस्थायित्व जिसका लक्षण है, ऐसा वस्तुका स्वरूपभूत होनेसे सर्वदा अविनाशी जीवत्व होनेपर भी, ससारावस्थामें अनादि प्रवाह रूपसे प्रवर्तमान पुद्गल सश्लेषके द्वारा स्वयं दूषित होनेसे उसके चार प्राणोंसे संयुक्तता है, जो कि व्यवहार जीवत्वका हेतु है और विभक्त करने योग्य है ।

स्या. मं/२७/३०६/६ ससारिणो दशविधद्रव्यप्राणधारणाद् जीवा' सिद्धाश्च ज्ञानादि भावप्राणधारणाद् इति सिद्धम् । = संसारी जीव द्रव्य प्राणोंकी अपेक्षासे और सिद्ध जीव भाव प्राणोंकी अपेक्षासे जीव कहे जाते हैं ।

५. प्राणोंको जाननेका प्रयोजन

प. का/ता. वृ./३०/६५/७ अत्र शुद्धचैतन्यादिशुद्धप्राणसहित' शुद्ध-जीवास्तिकाय एवोपादेयरूपेण ध्यातव्य इति भावार्थः । = यहाँ शुद्ध चैतन्यादि शुद्ध प्राणोंसे सहित शुद्ध जीवास्तिकाय ही उपादेय रूपसे ध्याना चाहिए, ऐसा भावार्थ है ।
प्र. स/टी./१२/३१/६ अत्रेतेभ्यो भिन्नं निजशुद्धात्मतत्त्वमुपादेयमिति भावार्थः । = अभिप्राय यह है कि इन पर्याप्त तथा प्राणोंसे भिन्न अपना शुद्धात्मा ही उपादेय है ।

प्राणत—१. कल्पवासी देवोंका एक भेद—दे० स्वर्ग/३ । २. कल्पवासी देवोंका स्वस्थान—दे० स्वर्ग/५/२ । ३. कल्प स्वर्गोंका १४वाँ कल्प—दे० स्वर्ग/५/३ । ४. आनतप्राणत स्वर्गका द्वितीय पटल—दे० स्वर्ग/५/३ ।

प्राणवाद—द्वादशांग श्रुतज्ञानका ११वाँ पूर्व—दे० श्रुतज्ञान/III ।

प्राण संयम—दे० संयम ।

प्राणातिपात—

ध १२/४,२,८,२/२७५/११ पाणादिवादो णाम पाणेहितो पाणीणं विजोमो । सो जत्तो मण-वयण-कायवावारादीहितो ते वि पाणा-दिवादो । पाणादिवादो णाम हिसाविसयजीववावारी । = प्राणाति-पातका अर्थ प्राणोंसे प्राणियोंका वियोग करना है । वह जिन मन, वचन या कायके व्यापारोंकोसे होता है, वे भी प्राणातिपात ही कहे जाते हैं । प्राणातिपातका अर्थ हिसाविसयक जीवका व्यापार है ।

प्राणातिपातिकी क्रिया—दे० क्रिया/३ ।

प्राणापान—दे० उच्छ्वास ।

प्राणायाम—श्वासको धीरे-धीरे अन्दर खींचना कुम्भक है, उसे रोक रखना पूरक है, और फिर धीरे-धीरे उसे बाहर छोड़ना रेचक है । ये तीनों मिलकर प्राणायाम सज्ञाको प्राप्त होते हैं । जैनेतर लोग ध्यान व समाधिमें इसको प्रधान अंग मानते हैं, पर जैनाचार्य इसको इतनी महत्ता नहीं देते, क्योंकि चित्तकी एकाग्रता हो जानेपर श्वास निरोध स्वतः होता है ।

१. प्राणायाम सामान्यका लक्षण

म. पु/२१/२२७ प्राणायामो भवेद् योगनिग्रह शुभभावन' । = मन, वचन और काय इन तीनों योगोंका निग्रह करना तथा शुभभावना रखना प्राणायाम कहलाता है ।

२. प्राणायामके तीन अंग

ज्ञा/२६/३ त्रिधा लक्षणभेदेन संस्मृत पूर्वसूरिभि । पूरक कुम्भकरचैव रेचकस्तदनन्तरम् । २६ । = पूर्वाचार्योंने इस पवनके स्तम्भन स्वरूप प्राणायामको लक्षण भेदसे तीन प्रकारका कहा है—पूरक, कुम्भक और रेचक ।

३. प्राणायामका स्वरूप

ज्ञा/२६/६ पर उद्भूत—समाकृष्य यदा प्राणधारणं स तु पूरक । नाभिमध्ये स्थिरीकृत्य रोधन स तु कुम्भक । १ । यत्कोष्ठदितियत्नेन नासावहारात्तनै । बहिः प्रक्षेपणं वायो स रेचक इति स्मृत । २ ।

ज्ञा./२६/१०,१७ शनैः शनैर्मनोऽजस्रं वितन्दं सह वायुना । प्रवेश्य हृदयाम्भोजकर्णिकायां नियन्त्रयेत् । १०। अचिन्त्यमतिदुर्लक्ष्यं तन्मण्डलचतुष्टयम् । स्वरं वेद्यं प्रजायेत महाभ्यासात्कथञ्चन । १७।
= जिस समय पवनको तालुरन्ध्रमे खेचकर प्राणको धारण करे, शरीरमे पूर्णतया थामे सो पूरक है, और नाभिके मध्य स्थिर करके रोकै सो कुम्भक है, तथा जो पवनको कोठेसे बड़े यत्नसे बाहर प्रक्षेपण करे सो रेचक है, इस प्रकार नासिका ब्रह्मके जाननेवाले ब्रह्म पुरुषोने कहा है । १-२। इस पवनका अभ्यास करनेवाला योगी निष्प्रमादी होकर बड़े यत्नसे अपने मनको वायुके साथ मन्द मन्द निरन्तर हृदय कमलकी कर्णिकामें प्रवेश कराकर वही ही नियन्त्रण करे । १०। यह मण्डलका चतुष्टय (पृथ्वी आदि) है, सो आर्च्य है, तथा दुर्लक्ष्य है, इस प्राणायामके बड़े अभ्याससे तथा बड़े कष्टसे कोई प्रकार अनुभव गोचर है । १७।

* ध्यानमें प्राणायामका स्थान—दे० पदस्थ ध्यान/७/१ ।

४. प्राणायामके चार मण्डलोंका नाम निर्देश

ज्ञा./२६/१८ तत्रादौ पार्थिव ज्ञेयं वारुणं तदनन्तरम् । मरुत्पुरं ततः स्फीतं पर्यन्ते बह्निमण्डलम् । १८। = उन चारोमेसे प्रथम तौ पार्थिव मण्डलको जानना, पश्चात् वरुण (अ०) मण्डल जानना, तत्पश्चात् पवन मण्डल जानना और अन्तमे बड़े हुए बह्नि मण्डलको जानना । इस प्रकार चारोके नाम और अनुक्रम है ।

* चारों मण्डलोंका स्वरूप—दे० वह वह नाम ।

५. मोक्षमार्गमें प्राणायाम कार्यकारी नहीं

रा. वा./६/२७/२३/६२७/ प्राणायाननिग्रहो ध्यानमिति चेत्, न; प्राणायाननिग्रहे सति तद्बुद्धवैदानप्रकर्षात् आश्वेन शरीरस्य पात, प्रसज्येत । तस्मान्मन्दमन्दप्राणायानप्रचारस्य ध्यानं युज्यते । = प्रश्न— श्वासोच्छ्वासके निग्रहको ध्यान कहना चाहिए ? उत्तर—नहीं, क्योंकि इसमें श्वासोच्छ्वास रोकनेकी वेदनासे शरीरपात होनेका प्रसंग है । इसलिए ध्यानावस्थामें श्वासोच्छ्वासका प्रचार स्वाभाविक होना चाहिए ।

ज्ञा./३०/४-६ सम्यक्समाधिसिद्धयर्थं प्रशयाहारः प्रशस्यते । प्राणायामेन विक्षिप्त मनः स्वास्थ्यं न विन्दति । ४। वायो संचारचातुर्यमणि-माद्यज्ञसाधनम् । प्रायः प्रत्यूहबीजं स्यान्मुनेर्मुक्तिमभीप्सतः । ६। किमनेन प्रपञ्चेन स्वसदेहात्तहेतुना । सुविचार्यैव तज्ज्ञेयं यन्मुक्तेर्बीजमग्रिमम् । ७। संविग्नस्य प्रशान्तस्य बीतरागस्य योगिनः । वशीकृताक्षवर्गस्य प्राणायामो न शस्यते । ८। प्राणस्यायमने पीडा तस्यां स्यादार्त्तसंभवः । तेन प्रच्याव्यते नूनं ज्ञाततत्त्वोऽपि लक्षितः । ९। = प्राणायाममें पवनके साधनसे विक्षिप्त हुआ मन स्वास्थ्यको नहीं प्राप्त होता, इस कारण भले प्रकार समाधिकी सिद्धिके लिए प्रत्याहार करना प्रशस्त है । ४। पवनका चातुर्य शरीरको सूक्ष्म स्थूलादि करनेरूप अंगका साधन है, इस कारण मुक्तिकी वाधा करनेवाले मुक्तिके प्राय विघ्नका कारण है । ६। पवन संचारकी चतुराईके प्रपञ्चसे क्या लाभ, क्योंकि यह आत्माको सन्देह और पीडाका कारण है । ऐसे भले प्रकार विचार करके मुक्तिका प्रधान कारण होय सो जानना चाहिए । ७। जो मुनि समार देह और भोगोंसे विरक्त है, कषाय जिसके मन्द हैं, विशुद्ध भाव युक्त है, बीतराग और जितेन्द्रिय है, ऐसे योगीको प्राणायाम प्रशंस करने योग्य नहीं । ८। प्राणायाममे प्राणोंको रोकनेसे पीडा होती है, पीडासे आर्त्त ध्यान होता है । और उस आर्त्त ध्यानसे तत्त्वज्ञानी मुनि भी अपने लक्ष्यसे छूटाया जाता है । ९।

प. प्र./टी./२/१६२ न च परकल्पितवायुधारणरूपेण श्वासनासो ग्राह्यः । कस्मादिति चेत् वायुधारणा तावदीहापूर्विका, ईहा च मोह-

कार्यरूपो विकल्पः । स च मोहकारणं भवतीति । वायुधारणस्य च कार्यं न च मुक्तिरिति । यदि मुक्तिरपि भवति तर्हि वायुधारणाकारकाणामिदानींतनपुरुषाणां मोक्षो किं न भवतीति भावार्थः । = पातजलिमत्तवाले वायु धारणा रूप श्वासोच्छ्वास मानते हैं, वह ठीक नहीं है, क्योंकि वायु धारणा वाछापूर्वक होती है, और वाछा है वह मोहसे उत्पन्न विकल्प रूप है, वाछा मोहका कारण है । वायु धारणासे मुक्ति नहीं होती, क्योंकि वायु धारणा शरीरका धर्म है, आत्माका नहीं । यदि वायु धारणासे मुक्ति होवे तो वायु धारणाको करनेवालोंको इस दुखम कालमें मोक्ष क्यों न होवे ? अर्थात् कभी नहीं होती ।

६. प्राणायाम शारीरिक स्वास्थ्यका कारण है ध्यानका नहीं

ज्ञा./२६/१००-१०१ कौतुकमात्रफलोऽयं परपुरप्रवेशो महाप्रयासेन । सिद्धयति न वा कथं चिन्महतामपि कालयोगेन । १००। - समस्तरोगक्षयं वपुःस्थैर्यम् । पवनप्रचारचतुरः करोति योगी न सदेहः । १०१। = यह पुर प्रवेश है सो कौतुक मात्र है फल जिसका ऐसा है, इसका पारमार्थिक फल कुछ भी नहीं है । और यह बड़े-बड़े तपस्वियोंके भी बहुत कालमें प्रयास करनेसे सिद्ध होता है । १००। समस्त रोगका क्षय करके शरीरमें स्थिरता करता है, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है । १०१।

प. प्र./टी./२/१६२/२७४/१० कुम्भकपूरकरेचकादिसंज्ञा वायुधारणा क्षणमात्रं भवत्येवात्र किन्तु अभ्यासवशेन घटिकाप्रहरदिवसादिष्वपि भवति तस्य वायुधारणस्य च कार्यं देहारोगत्वलघुत्वादिकं न च मुक्तिरिति । = कुम्भक, पूरक और रेचक आदि वायु धारणा क्षणमात्र होती है, परन्तु अभ्यासके वशसे घड़ी, पहर, दिवस आदि तक भी होती है । उस वायुधारणाका फल ऐसा है, देह अरोग्य होती है, सब रोग मिट जाते हैं, शरीर हलका हो जाता है, परन्तु इस वायु धारणासे मुक्ति नहीं होती है ।

७. ध्यानमें वायु निरोध स्वतः होता है करना नहीं

पड़ता

प. प्र./टी./२/१६२/२७४/५ यदायं जीवो रागादिपरभावशून्यनिर्विकल्प-समाधौ तिष्ठति तदायमुच्छ्वासरूपो वायुर्नासिकाछिद्रद्वयं वर्जयित्वा स्वयमेवानीहितवृत्त्या तालुप्रदेशे यत् केशात् बोधाष्टमभागप्रमाणं छिद्रं तिष्ठति तेन क्षणमात्रं दशमद्वारेण तदनन्तरं रन्ध्रेण कृत्वा निर्गच्छतीति । = जब यह जीव रागादि परभावसे शून्य निर्विकल्प समाधिमें होता है, तब यह श्वासोच्छ्वासरूप पवन नासिकाके दोनो छिद्रोंको छोड़कर स्वयमेव अर्वाञ्छीक वृत्तिसे तालुवाके बालकी अनीके आठवे भाग प्रमाण अति सूक्ष्म छिद्रमें (दसवे द्वारमें) होकर बारीक निकलती है, नासिकाके छेदको छोड़कर तालुरन्ध्रमें (छेदमें) होकर निकलती है । वह संयमीके वायुका निरोध स्वयमेव स्वाभाविक होता है वाछा पूर्वक नहीं ।)

८. प्राणायामकी कथंचित् उपादेयता व कारण

ज्ञा./२६/श्लोक नं—सुनिर्णीतसुसिद्धान्तैः प्राणायामः प्रशस्यते । मुनिभिर्ध्यानसिद्धयर्थं स्थैर्यार्थं चान्तरामन । १। अतः साक्षात्संविज्ञेय पूर्वमेव मनीषिभिः । मनागप्यन्यथा शक्यो न कर्तुं चित्तनिर्जय । २। शनैः शनैर्मनोऽजस्रं वितन्दं सह वायुना । प्रवेश्य हृदयाम्भोज-कर्णिकायां नियन्त्रयेत् । १०। विकल्पान् प्रमुञ्चन्ते विषयाणां निवर्तते । अन्तःस्फुरति विज्ञानं तत्र चित्ते स्थिरीकृतं । ११। एव भावयत स्वान्ते आरयविद्या क्षयं क्षयात् । विमदीस्युस्तथाक्षाणि कषायरिपुभिः समम् । १२। स्थिरीभवन्ति चैतानि प्राणायामावलम्बिताम् । जगद्बृत्त

च निशेषं प्रत्यक्षमिव जायते ।१४। स्मरगरलमनोविजय 'पवनप्रचार-
चतुर करोति योगी न संदेह १०१। = भले प्रकार निर्णय रूप
क्रिया है सत्यार्थ सिद्धान्त जिन्होंने ऐसे सुनियोंने ध्यानकी सिद्धिके
तथा मनकी एकाग्रताके लिए प्राणायाम प्रशंसनीय कहा है ।१।
ध्यानकी सिद्धिके लिए, मनको एकाग्र करनेके लिए पूर्वाचार्योंने
प्रशंसा की है । इसलिए बुद्धिमात् पुरुषोको विशेष प्रकारसे जानना
चाहिए, अन्यथा मनको जोतनेमें समर्थ नहीं हो सकती ।२। साधुओं-
को अप्रमत्त होकर प्राणवायुके साथ धीरे-धीरे अपने मनको अच्छी
तरह भीतर प्रविष्ट करके हृदयकी कर्णिकामें रोकना चाहिए । इस
तरह प्राणायामके सिद्ध होनेसे चित्त स्थिर हो जाया करता है, जिससे
कि अन्तरगमें संकल्प विकल्पोका उत्पन्न होना बन्द हो जाता है,
विषयोकी आशा निवृत्त हो जाती है, और अन्तरगमें विज्ञानकी
मात्रा बढ़ने लगती है ।१०-११। और इस प्रकार मन वश करके भावना
करते हुए पुरुषके अविद्या तो क्षणमात्रमें क्षय हो जाती है, इन्द्रियों मंद
रहित हो जाती है, कषाय क्षीण हो जाती है ।१२। प्राणायाम करने
वालोके मन इतने स्थिर हो जाते हैं कि उनको जगत्का सम्पूर्ण
वृत्तान्त प्रत्यक्ष देखने लगता है ।१४। प्राणायामके द्वारा प्राण वायुका
प्रचार करनेमें चतुर योगी कामदेव रूप विष तथा अपने मनपर विजय
प्राप्त कर लिया करता है ।१०१।

प्राणासंयम—दे० संयम ।

प्रातर—मध्य आर्यखण्डका एक देश—दे० मनुष्य/४ ।

प्रातिहार्य—दे० अहंत ।

प्रात्ययकी क्रिया—दे० क्रिया/३/२ ।

प्राथमिक—Elementary, Primitive (ध./५/पू/२८) ।

प्रादुष्कार—१, आहारका एक दोष—दे० आहार/११/४/४ ।
२, वसतिकाका एक दोष—दे० वसतिका ।

प्रादोषिक काल—सू. आ/२७० का भावार्थ — जिसमें रातका भाग
है वह प्रदोषकाल है अर्थात् रातके पूर्वभागके समीप दिनका पश्चिम
भाग वह सुबह शाम दोनों कालोमें प्रदोषकाल जानना ।

प्रादोषिकी क्रिया—दे० क्रिया/३/२ ।

प्राप्ति ऋद्धि—दे० ऋद्धि/३ ।

प्राप्ति समा जाति—न्या. सू/सू./५/१/७/२६० प्राप्य साध्यम्-
प्राप्य वा हेतोः प्राप्त्याविशिष्टतत्त्वाप्राप्त्यासाधकत्वाच्च प्राप्य-
प्राप्तिसमा १७। = हेतुको साध्यके साथ जो प्राप्ति करके प्रत्यवस्थान
दिया जाता है, वह प्राप्ति समा जाती है । और अप्राप्ति करके जो फिर
प्रत्यवस्थान दिया जाता है, वह अप्राप्ति समा जाति है । (दृष्टान्त—
जैसे कि 'पर्वतो वह्निमात् धूमात्' इत्यादि समीचीन हेतुका वादी
द्वारा कथन किये जा चुकनेपर प्रतिवादी दोष उठाता है कि यह हेतु
क्या साध्यको प्राप्त होकर साध्यकी सिद्धि करावेगा क्या अन्य प्रकार-
से भी । साध्य और हेतु जब दोनों एक ही स्थानमें प्राप्त हो रहे हैं,
तो गायके डेरे और सूधे सींगके समान भला उनमेंसे एकको हेतुपना
और दूसरेको साध्यपना कैसे युक्त हो सकता है । अप्राप्तिसमाका
उदाहरण यो है कि वादीका हेतु यदि साध्यको नहीं प्राप्त होकर
साध्यका साधक होगा तब तो सभी हेतु प्रकृत साध्यके साधन बन
बैठेंगे अथवा वह प्रकृत हेतु अकेला ही सभी साध्यको साध्य डालेगा
(श्लो. वा. ४/न्या/३५३-३५८/४५५ में इसपर चर्चा) ।

प्राप्य कर्म—दे० कर्ता/१ ।

प्राप्यकारी इंद्रियाँ—दे० इन्द्रिय/२ ।

प्राभृत—१, आहारका एक दोष—दे० आहार/११/४/४ । २, समय
प्राभृत या षट् प्राभृत आदि नामके ग्रन्थ—दे० पाहुड ।

१. पाहुड या प्राभृत सामान्यका लक्षण

क पा./सु. १,१२-१३/१२६६/३२६ चूर्णसूत्र—पाहुडे त्ति का गिरुत्ती ।
जन्हा पदेहि पुद (फुड) तम्हा पाहुड ।

क. पा १/१,१२-१३/१२६७/३२५/१० प्रकृष्टेन तीर्थकरेण आभृतं प्रस्था-
पित इति प्राभृतम् । प्रकृष्टेराचार्यैर्विद्यावित्तवद्भिराभृतं धारित
व्याख्यातमानीतमिति वा प्राभृतम् । = पाहुड इस शब्दकी क्या
निरुक्ति है ? चूँकि जो पदोसे स्फुट अर्थात् व्यक्त है, इसलिए वह
पाहुड कहलाता है । जो प्रकृष्ट अर्थात् तीर्थकरके द्वारा आभृत अर्थात्
प्रस्थापित किया गया है वह प्राभृत है । अथवा जिनके विद्या ही धन
है, ऐसे प्रकृष्ट आचार्योंके द्वारा जो धारण किया गया है, अथवा
व्याख्यान किया गया है, अथवा परम्परासे लाया गया है, वह
प्राभृत है ।

सा, सा/ता, वृ/परिशिष्ट/पृ. ५२३ यथा कोऽपि देवदत्तो राजदर्शनार्थं
किञ्चित्सारभूतं वस्तु राज्ञे ददाति तत्प्राभृतं भण्यते । तथा परमात्मा-
राधकपुरुषस्य निर्दोषपरमात्मराजदर्शनार्थमिदमपि शास्त्रं प्राभृतं ।
कस्मात् । सारभूतत्वात् इति प्राभृतशब्दस्यार्थः । = जिस प्रकार कोई
देवदत्त नामका पुरुष राजाके दर्शनार्थ कोई सारभूत वस्तु भेंट देता
है, उसे प्राभृत कहते हैं । उसी प्रकार परमात्माके आराधक पुरुषके
लिए निर्दोष परमात्म राजाके दर्शनार्थ यह शास्त्र प्राभृत है, क्योंकि
यह सारभूत है । ऐसा प्राभृत शब्दका अर्थ है ।

२. निक्षेप रूप भेदोंके लक्षण

नोट—नाम स्थापनादिके लक्षण—दे० निक्षेप ।

क. पा. १/१,१३-१४/१२६२-२६६/३२३-३२४ तत्त्वं सच्चित्तपाहुडं नाम
जहा कोसल्लियभावेण पट्टविज्जमाणं ह्यगयविलयायिया । अचित्त-
पाहुडं जहा मणि-कणयरयणाईणि उवायणाणि । मिस्सयपाहुडं जहा
समुवण्णकरितुरयाणं कोसल्लियपेसणं । १२६२। आण तहेउदव्वपट्टवणं
पसत्थभावपाहुडं । वइरकलहादिहेउदव्वपट्टवणमपसत्थभाव-
पाहुडं । मुहियभावपाहुडस्स पेसणोवायाभावादी १२६४। जिण-
वइणा उच्चिअयरायदोसेण भव्वाणमणवज्जबुहाहरियणालेण पट्ठ-
विददुवाल्लसगवयणकल्लावो तदेगवेसो वा । अवर आणदमेत्ति पाहुड
१२६५। कलहणिमित्तगदह-जर-खेटयादिदव्वमुवयारेण कलहो, तस्स
विसज्जणं कलहपाहुडं । = उपहार रूपसे भेजे गये हाथी घोडा और
स्त्रो आदि सच्चित्त पाहुड है । भेंट स्वरूप दिये गये मणि, सोना
और रत्नादि अचित्त पाहुड है । स्वर्णके साथ हाथी और घोडेका
उपहार रूपसे भेजना मिश्र पाहुड है । १२६२। आनन्दके कारणभूत
द्रव्यका उपहार रूपसे भेजना प्रशस्त नोआगम भाव पाहुड है । तथा
वैर और कलह आदिके कारणभूत द्रव्यका उपहार रूपसे भेजना
अप्रशस्त नोआगम भाव पाहुड है । -मुख्य नोआगम भाव पाहुड
(ज्ञाताका शरीर) भेजा नहीं जा सकता है, इसलिए यहाँ औपचारिक
(बाह्य) औपचारिक नोआगमभाव पाहुडका उदाहरण दिया गया है ।
१२६४। जो राग और द्वेषसे रहित है ऐसे जिन भगवान्के द्वारा निर्दोष
श्रेष्ठ विद्वान् आचार्योंकी परम्परासे भव्य जनोके लिए भेजे गये
बारह अंगोके वचनोका समुदाय अथवा उनका एकदेश परमानन्द
दोग्रन्थिक पाहुड कहलाता है । इससे अतिरिक्त शेष जिनागम
आनन्दमात्र पाहुड है । १२६५। गधा, जीर्ण वस्तु और विष आदि द्रव्य
कलहके निमित्त है, इसलिए उपचारसे इन्हें भी बरह कहते हैं ।
इस कलहके निमित्तभूत द्रव्यका भेजना कलह पाहुड कहलाता
है । १२६६।

प्राभृतक ज्ञान—दे० श्रुतज्ञान/११ ।

प्राभूतकप्राभूतकज्ञान—दे० श्रुतज्ञान/II ।

प्राभूतक प्राभूतक समास ज्ञान—दे० श्रुतज्ञान/II ।

प्राभूतक समास ज्ञान—दे० श्रुतज्ञान/II ।

प्रामाण्य—१ न्या वि /टी./१/२२८/४८१/२० प्रमाणकर्म प्रामाण्यं परिच्छित्तिलक्षण ।=प्रमाणका कर्म से प्रामाण्य है, वह पदार्थके निश्चय करने रूप लक्षण वाला होता है ।

प्रामृष्य—आहार का एक दोष—दे आहार II/४/४ ।

प्रायश्चित्त—प्रतिरामय लगनेवाले अन्तरंग व बाह्य दोषोंकी निवृत्ति करके अन्तर्शोधन करनेके लिए किया गया पश्चात्ताप या दण्डके रूपसे उपवास आदिका ग्रहण प्रायश्चित्त कहलाता है, जो अनेक प्रकारका होता है । बाह्य दोषोंका प्रायश्चित्त पश्चात्ताप मात्रसे हो जाता है । पर अन्तरंग दोषोंका प्रायश्चित्त गुरुके समस्त सरल मनसे आलोचना पूर्वक दण्डको स्वीकार किये बिना नहीं हो सकता है । परन्तु इस प्रकारके प्रायश्चित्त अर्थात् दण्ड शास्त्रमें अत्यन्त निपुण व कुशल आचार्य ही शिष्यकी शक्ति व योग्यताको देखकर देते हैं, अन्य नहीं ।

३	शंका समाधान
१	दूसरेके परिणाम कैसे जाने जा सकते हैं ।
२	तदुभय प्रायश्चित्तके पृथक् निर्देशकी क्या आवश्यकता ।
४	प्रायश्चित्त विधान
१	प्रायश्चित्तके योग्य कुछ अपराधोंका परिचय ।
२	अपराधोंके अनुसार प्रायश्चित्त विधान ।
३	शूद्रादि छूनेके अवसर योग्य प्रायश्चित्त ।
*	अयोग्य आहार ग्रहण सम्बन्धी प्रायश्चित्त । —दे० भक्ष्याभस्य/१ ।
*	यथा दोष प्रायश्चित्तमें कायोत्सर्गके कालका प्रमाण । —दे० व्युत्सर्ग/१ ।

१	भेद व लक्षण
१	प्रायश्चित्त सामान्यका लक्षण—१ निरुक्त्यर्थ, २. निश्चयकी अपेक्षा, ३ व्यवहारकी अपेक्षा ।
२	प्रायश्चित्तके भेद ।
३	प्रायश्चित्तके भेदोंके लक्षण ।
*	आलोचना, प्रतिप्रमण, विवेक, व्युत्सर्ग, तप व परिहार प्रायश्चित्त सम्बन्धी विषय ।— दे० वह वह नाम ।
२	प्रायश्चित्त निर्देश
१	प्रायश्चित्तकी व्याप्ति अन्तरंगके साथ है ।
२	प्रायश्चित्तके अतिनार ।
३	अपराध होते ही प्रायश्चित्त लेना चाहिए ।
४	बाह्य दोषका प्रायश्चित्त स्वयं तथा अन्तरंग दोषका गुरुके निकट लेना चाहिए ।
*	शिष्यके दोषोंको गुरु अन्यपर प्रगट न करे । —दे० गुरु/२ ।
५	आत्म भावनासे न्युत होनेपर पश्चात्ताप ही प्रायश्चित्त है ।
६	दोष लगनेपर प्रायश्चित्त होता है सर्वदा नहीं ।
७	प्रायश्चित्त शास्त्रको जाने बिना प्रायश्चित्त देनेका निषेध ।
*	प्रायश्चित्त ग्रन्थके अध्ययनका अधिकार सबको नहीं । —दे० श्रोता ।
८	शक्ति आदिके सापेक्षा ही देना चाहिए ।
९	आलोचना पूर्वक ही लिया जाता है ।
१०	प्रायश्चित्तके योग्यायोग्य काल व क्षेत्र ।
११	प्रायश्चित्तका प्रयोजन व माहात्म्य ।

१. भेद व लक्षण

१. प्रायश्चित्त सामान्यका लक्षण

१. निरुक्ति अर्थ

रा. वा. /१/२२/१/६२०/२८ प्रायः साधुलोक, प्रायस्य यस्मिन्कर्मणि चित्तं तत्प्रायश्चित्तम् ।* अपराधो वा प्रायः, चित्तं बुद्धिः, प्रायस्य चित्तं प्रायश्चित्तम्, अपराधविशुद्धिरित्यर्थ ।=प्रायः साधु लोक, जिस क्रियामें साधुओंका चित्त हो वह प्रायश्चित्त । अथवा प्राय-अपराध उसका शोधन जिससे हो वह प्रायश्चित्त ।

ध. १३/५ ४, २६/गा ६/५६ प्राय इत्युच्यते लोकश्चित्तं तस्य मनो भवेत् । तच्चित्तग्राहकं कर्म प्रायश्चित्तमिति स्मृतम् ।६।=प्रायः यह पद लोकवाची है और चित्तसे अभिप्राय उसके मनका है । इसलिए उस चित्तको ग्रहण करनेवाला कर्म प्रायश्चित्त है, ऐसा समझना चाहिए ।६। (भ. आ. /वि. /५२६/७४७ पर उद्धृत गा)

नि. सा /ता. वृ /११३, ११६ प्रायः प्राचुर्येण निर्विकारं चित्तं प्रायश्चित्तम् ।११३। बाधो ज्ञानं चित्तमित्यनर्थान्तरम् ।११६। =प्रायश्चित्त अर्थात् प्राय चित्त-प्रचुर रूपसे निर्विकार चित्त ।११३। बोध, ज्ञान और चित्त भिन्न पदार्थ नहीं हैं ।११६।

अन ध. /७/३७ प्रायो लोकस्तस्य चित्तं मनस्तच्छुद्धिकृत्क्रिया । प्राये तपसि वा चित्तं निश्चयस्तत्रिरुच्यते ।३७। =प्राय शब्दका अर्थ लोक और चित्त शब्दका अर्थ मन होता है । जिसके द्वारा साधर्मि और सधर्म रहनेवाले लोगोंका मन अपनी तरफसे शुद्ध हो जाये उस क्रिया या अनुष्ठानको प्रायश्चित्त कहते हैं । (का अ /टी./४६१) पञ्चचन्द्र काष्ठ/पृ २५८ प्रायस् + चित् + क्त । प्रायस्-तपस्या, चित्त-निश्चय । अर्थात् निश्चय सयुक्त तपस्याको प्रायश्चित्त कहते हैं ।

२ निश्चयकी अपेक्षा

नि सा /मु. /गा. कोहादिसंभावयत्प्रहृदिभावणए पिग्गहणं । प्रायश्चित्तं भणितं पियगुणचित्ता य पिच्छयदो ।११४। उक्किट्ठो जो बोहो पाण तरसेव अत्पणो चित्तं । जो धरइ मुणी पिच्च प्रायश्चित्तं हवे तरस ।११६। कि बहुणा भणिएण दु वरत्तवचरणं महेसिणं सब्बं । प्रायश्चित्तं जाणह अणेयकम्मण खयहेउ ।११७। अत्पससुखालंबण-भावेण दु सुव्वभावपरिहारं ; सक्कदि काउ जीवो तम्हा भाणं हवे सब्बं ।११६। =क्रोधादि स्वकीय भावोंके (अपने विभावभावोंके) क्षयादिकी भावनामें रहना और निज गुणोंका चित्तवन करना वह निश्चयसे प्रायश्चित्त कहा है ।११४। उसी (अनन्त धर्मवाले)

आत्माका जो उत्कृष्ट ज्ञान अथवा चित्त उसे जो मुनि नित्य धारण करता है, उसे प्रायश्चित्त है । ११६। बहुत कहनेसे क्या ? अनेक कर्मोंके क्षयका हेतु ऐसा जो महर्षियोंका उत्तम तपश्चरण वह सब प्रायश्चित्त जान । ११७। आत्म स्वरूप जिसका अक्षयमन्त्र है, ऐसे भावोंसे जो व सर्व भावोंका परिहार कर सकता है, इसलिए ध्यान सर्वस्व है । ११८। (विशेष विस्तार दे० नि, सा / मू व ता वृ, / ११३-१२१) ।

का अ / मू, / ४५५ जो चित्त अप्पाण गाण-सख्व पुणो पुणो जाणी । विकह-विरत्त चित्तो पायच्छित्तं वरं तस्स । ४५५। = जो ज्ञानी मुनि ज्ञान स्वरूप आत्माका वारम्बार चिन्तन करता है, और विकथादि प्रमादोंसे जिसका मन विरक्त रहता है, उसके उत्कृष्ट प्रायश्चित्त होता है । ४५५।

३ व्यवहारकी अपेक्षा

मू आ. / ३६१, ३६३ प्रायश्चित्तं तित्तवो जेण विमुज्जमदि हु पुव्वकयपावं । प्रायश्चित्तं पत्तोति तेण वुत्तं । ३६१। पोरणवम्मखमणं खिवणं णिज्जरणं सोधणं धुमणं । पुच्छणमुच्छिवणं छिदणं तित्तं प्रायश्चित्तस्स णामाहं । ३६३। = अतमें लगे हुए दोषोंको प्राप्त हुआ यति जिससे पूर्व किये पापोंसे निर्दोष हो जाय वह प्रायश्चित्त तप है । ३६१। पुराने कर्मोंका नाम, क्षेपण, निर्जरा, शोधन, धावन, पुच्छन (निराकरण) उत्क्षेपण, छेदन (द्वैधीकरण) ये सब प्रायश्चित्त के नाम हैं । ३६३।

स सि / ६/२०/४३६/६ प्रमाददोषपरिहार प्रायश्चित्तम् । = प्रमाद जन्य दोषका परिहार करना प्रायश्चित्त तप है । (वा सा / १३७/२) (अन घ. / ७/३४) ।

ध. १३/५, ४, २६/५६/८ कयावराहेण ससवेयणिवेण सगावराहणिराय-रहणट्ठं जमणुट्ठानं कीरदि तप्पायच्छित्तं णाम तवोकम्म । = सवेग और निर्वेदसे युक्त अपराध करनेवाला साधु अपने अपराधका निराकरण करनेके लिए जो अनुष्ठान करता है वह प्रायश्चित्त नामका तप-कर्म है ।

का. अ. / मू, / ४५१ दोसं ण करेदि सय अण्ण पि ण कारएदि जो तिविहं । कुव्वाण पि ण इच्छदि तस्स विसोही परा होदि । ४५१। = जो तपस्वी मुनि मन वचन कायसे स्वयं दोष नहीं करता, अन्यसे भी दोष नहीं कराता तथा कोई दोष करता हो तो उसे अच्छा नहीं मानता, उस मुनिके उत्कृष्ट विशुद्धि (प्रायश्चित्त) होती है । ४५१।

२. प्रायश्चित्तके भेद

मू. आ. / ३६२ आलोच्यण पडिकमणं उभय विवेगो तथा विउस्सग्गो । तव छेदो मूलं विप्र परिहारो चैव सहहणा । ३६२। = आलोचना, प्रतिक्रमण, तदुभय, विवेक, व्युत्सर्ग, तप, छेद, मूल, परिहार और श्रद्धान ये दश भेद प्रायश्चित्तके हैं । ३६२। (घ १३/५, ४, २६/गा ११/६०) (चा, सा, / १३७/३) (अन, घ. / ७/३७ की भाषा अथवा ३७-५७) ।

त स. / ६/२२ आलोचनप्रतिक्रमणतदुभयविवेकव्युत्सर्गतपश्छेदपरिहारो-पस्थापना । २२। आलोचना, प्रतिक्रमण, तदुभय, विवेक, व्युत्सर्ग, तप, छेद, परिहार और उपस्थापना यह नव प्रकारका प्रायश्चित्त है । २२।

अन. घ. / ७/५६ व्यवहारनयादित्थं प्रायश्चित्तं दशात्मकम् । निश्चया-त्तदसख्येप्रलोकमात्रभिदिष्यते । ५६। = व्यवहार नयसे प्रायश्चित्तके दश भेद हैं । किन्तु निश्चयनयसे उसके असख्यात लोक प्रमाण भेद होते हैं ।

३. प्रायश्चित्तके भेदोंके लक्षण

१ तदुभय

स सि / ६/२२/४४०/७ (तदुभय) संसर्गे सति विशोधनात्तदुभयम् । = आलोचना और प्रतिक्रमण इन दोनोंका संसर्ग होनेपर दोषोंका शोधन होनेसे तदुभय प्रायश्चित्त है । (रा, वा / ६/२२/७/६२१/२०) (अन, घ. / ७/४८) ।

घ. १३/५, ४, २६/६०/१० सगावराहं गुरुणमालोच्य गुरुसखिवया अव-राहादो पडिणियत्ती उभय णाम पायच्छित्तं । = अपने अपराधकी गुरुके सामने आलोचना करके गुरुकी साक्षिपूर्वक अपराधसे निवृत्त होना उभय नामका प्रायश्चित्त है ।

२. उपस्थापना या मूल

स. सि / ६/२२/४४०/१० पुनर्वीक्षाप्रापणमुपस्थापना । = पुन, वीक्षा वेना उपस्थापना प्रायश्चित्त है । (रा वा. / ६/२२/१०/६२१/३४) (घ. १३/५, ४, २६/६२/२) (चा सा / १४४/३) (अन, घ. / ७/५५) ।

३ श्रद्धान

घ. १३/५, ४, २६/६३/३ मिच्छत्तं गत्तूण द्वियस्स महव्वयाणि वेत्तूण अत्ता-गम-पयथसद्दहणा चैव (सहहणा) प्रायश्चित्तं । = मिथ्यात्वको प्राप्त होकर स्थित हुए जीवके महात्मको स्वीकार कर आप्त आगम और पदार्थोंका श्रद्धान करने पर श्रद्धान नामका प्रायश्चित्त होता है । (चा सा / १४७/२) (अन घ. / ७/५७) ।

२. प्रायश्चित्त निर्देश

१. प्रायश्चित्तकी व्याप्ति अन्तरंगके साथ है

भ. आ. / मू, / ४०५/५६४ आलोचनापरिणदो सम्म सपच्छिओ गुरुसयासं । अदि अतरम्मि काल करेज्ज आराहओ होई । = मैं अपने अपराधोंका स्वरूप गुरुके चरण समीप जाकर कहूँगा, ऐसा मनमें विचारकर निकला मुनि यदि मार्गमें ही मरण करे तो भी वह आराधक होता है । ४०५। (भ आ / मू / ४०५-४०७/५६५) ।

दे० प्रतिक्रमण/१/२/२ निजात्म भावनासे ही निन्दन गर्हण आदि शुद्धिको प्राप्त होता है ।

२. प्रायश्चित्तके अतिचार

भ आ. / वि / ४०७/७०७/२० प्रायश्चित्तातिचारनिरूपणा-तत्रातिचाराः । आर्कपियअणुमाणिग्रमित्यादिकारश्च । धृतातिचारेऽस्य मनसा अजुप्सा । अज्ञानत, प्रमादात्कर्मगुरुत्वादात्तरयाच्चेद अशुभकर्मबन्ध-ननिमित्त अनुष्ठित, दुष्टं कृतमिति एवमादिक' प्रतिक्रमणातिचार' । उक्तोभयातिचारसमवायस्तदुभयातिचार' । = प्रायश्चित्त तपके अति-चार-आर्कपित अनुमानित वगैरह दोष (दे० आलोचना/२) इस तपके अतिचार हैं । ये अतिचार होनेपर इसके विषयमें मनमें स्तानि न करना अज्ञानसे, प्रमादसे, तीव्र कर्मके उदयसे और आलस्यसे मैंने यह अशुभ कर्मका बंध करनेवाला कर्म किया है, मैंने यह दुष्ट कर्म किया है, ऐसा उच्चारण करना प्रतिक्रमणके अतिचार है । आलोचना और प्रतिक्रमणके अतिचारको उभयातिचार कहते हैं । नोट-विवेक, आलोचना आदि तपके अतिचार - दे० वह वह नाम ।

३. अपराध होते ही प्रायश्चित्त लेना चाहिए

भ. आ. / मू. व. वि. / ५४१/७५७ उत्थानिका-जाते अपराधे तदानीमेव कथितव्यं न कालक्षेप कार्य इति शिक्षयति क्वले परे व परदो काहं दंसणचरित्तसोधिन्ति । इय सकप्पमदीया गर्घं पि काल ण यार्णति । ५४१। तत सशब्द मरणं तेषा भवति इति । व्याधय., कर्माणि, शत्रवश्चोपेक्षितानि बद्धमूलानि पुनर्न सुखेन विनाश्यन्ते । अथवा अतिचारकाल गतं चिरात्किन्तु नैव जानन्ति । ये हि अतिचारा' प्रतिदिनं जातास्तेषां कालं, संध्या रात्रिदिन इत्यादिक पश्चादालो-चनाकाले गुरुणा पृष्ठास्तावन्न वदन्तु जानन्ति विस्मृत्त्वाच्चिराती-तस्य । अपि शब्देन क्षेत्रभावौ वातिचारम्य हेतू न जानन्ति । इह स्मृतिज्ञानागोचर इति केषांचिद्द्वयारयानं । = आराधनामें अतिचार होनेपर उसी क्षणमें उनका गुरुके समक्ष कथन करना चाहिए, कालक्षेप करना योग्य नहीं, ऐसा उपदेश देते हैं । - १ वल परसो अथवा

नरसोमे दर्शन-ज्ञान व चारित्रिकी शुद्धि करूँगा, ऐसा जिन्होंने अपने मनमें सकल कृपा है, ऐसे मुनि अपना आयु कितना नष्ट हुआ है यह नहीं जानते अर्थात् उनका सशक्य मरण होता है। १४४१। रोग, शत्रु और इनकी उपेक्षा करनेसे ये दृढमूल होते हैं। पुनः उनका नाश सुखसे कर नहीं सकते। अथवा जो अतिचार होकर बहुत दिन व्यतीत हो चुके हैं, उनका स्मरण होता नहीं। जो अतिचार हुए हैं, उनके सन्ध्या, दिन, रात्रि, इत्यादि रूप कालका स्मरण गुरुके पूछनेपर शिष्योंको होता नहीं, क्योंकि अतिचार होकर बहुत दिन व्यतीत हो चुके हैं। इसी प्रकार क्षेत्र, भाव और अतिचारके कारण इनका भी स्मरण नहीं होता, वे अतिचार स्मृतिज्ञानके अगोचर हैं। ऐसा कोई आचार्य इस गाथाका व्याख्यान करते हैं।

४. बाह्य दोषका प्रायश्चित्त स्वयं तथा अन्तरंग दोषका गुरुके निकट लेना चाहिए

प्र. सा/सू/२११-२१२ पयदन्दिह समारद्धे छेदो समणस्स कायचेट्ठमिह। जायदि जदि तस्स पुणो आलोयणपुत्रियया किरिया। २११। छेदुवजुत्ता समणो समणं बवहारिणं जिणमदमिह। आसेज्जालोचित्ता उवदिट्ठं तेण कायव्वं। २१२। = यदि श्रमणके प्रयत्न पूर्वक की जानेवाली कायचेट्टामें छेद होता है तो उसे आलोचना पूर्वक क्रिया करना चाहिए। २११। किन्तु यदि श्रमण छेदमें (अन्तरंग छेदमें) उपयुक्त हुआ हो तो उसे जैनमतमें व्यवहार कुशल श्रमणके पास जाकर आलोचना करके (दोषका निवेदन करके) जैसा उपदेश दें वैसा करना चाहिए। २१२।

५. आत्म भावनासे च्युत होनेपर पश्चात्ताप ही प्रायश्चित्त है

इ. उ/सू/३६ निशामयति निशेषमिन्द्रजालोपमं जगत्। स्पृहयत्यात्मलाभाय गत्वान्यत्रानुत्प्यते। ३६। = योगीजन इस समस्त जगत्को इन्द्रजालके समान देखते हैं, क्योंकि उनके आत्म स्वरूपकी प्राप्तिकी प्रबल अभिलाषा उदित रहती है। यदि कारणवश अन्य कार्यमें प्रवृत्ति हो जाती है, तब उसे संताप होता है।

६. दोष लगनेपर प्रायश्चित्त होता है सर्वदा नहीं

रा. वा/१६/२२/१०/६२२/१ भयस्वरणविस्मरणानवबोधोपाशक्तिव्यसनादिभिर्महाव्रतातिचारैः सति प्राक् छेदात् षड्विधं प्रायश्चित्तं विधेयं। = डरकर भाग जाना, सामर्थ्यकी हीनता, अज्ञान, विस्मरण, यवनादिकोंका आतंक, इसी तरहके रोग अभिभव आदि और भी अनेक कारणोंसे महाव्रतोंमें अतीचार लग जानेपर तपस्वियोंके छेदसे पहलेके छहों प्रायश्चित्त होते हैं। (चा. सा./१४२/५); (अन. ध. ७/५३)।

७. प्रायश्चित्त शास्त्रको जाने बिना प्रायश्चित्त देनेका निषेध

भ. आ/सू/४५१ ४५३/६७८ मोत्तूण रागदोसे बवहारं पट्टवेइ सो तस्स। बवहारकरणकुसलो जिणवयणविसारदो धीरो। ४५१। बवहारमयणतो बवहारणिज्ज च बवहरतो खु। उस्सीयदि भवपके अयसं कम्म च आदियदि। ४५२। जहण करेदि तिगिच्छं वाधिसस तिरिच्छओ अणिम्मदो। बवहारमयणतो ण सोधिकामो विमुज्जेइ। ४५३। = जिन प्रणीत आगममें निपुण, धैर्यवाद्, प्रायश्चित्त शास्त्रके ज्ञाता ऐसे आचार्य राग-द्वेष भावना छोड़कर मध्यस्थ भाव धारण कर मुनिको प्रायश्चित्त देते हैं। ४५१। ग्रन्थसे, अर्थसे और कर्मसे प्रायश्चित्तका स्वरूप जिसको मात्स्य नहीं है वह मुनि यदि नव प्रकारका प्रायश्चित्त देने लगेगा तो वह संसारके कीचड़में फँसेगा और जगत्में

उसकी अकीर्ति फैलेगी। ४५२। जैसे—अज्ञवैद्य रोगका स्वरूप न जाननेके कारण रोगकी चिकित्सा नहीं कर सकता। वैसे ही जो आचार्य प्रायश्चित्त ग्रन्थके जानकार नहीं है वे रत्नत्रयको निर्मल करनेकी इच्छा रखते हुए भी निर्मल नहीं कर सकते। ४५३।

८. शक्ति आदिसे सापेक्ष ही देना चाहिए

रा. वा/१६/२२/१०/६२२/८ तदेतन्नवविधं प्रायश्चित्तं देशकालशक्तिसंयमाद्यविरोधेनाहपावपापराधानुरूपं दोषप्रशमनं चिकित्सितवद्विधेयं। जीवस्यासंख्येयलोचमात्रपरिणामा परिणामत्रिकल्पा, अपराधाश्च तावन्त एव न तेषां तावद्विकल्पं प्रायश्चित्तमस्ति व्यवहारनयापेक्षया पिण्डीकृत्य प्रायश्चित्तविधानमुक्तं। = देश, काल, शक्ति और समयमें किसी तरहका विरोध न आने पावे और छोटा बड़ा जैसा अपराध हो उसके अनुसार वैद्यके समान दोषोंका शमन करना चाहिए। प्रत्येक जीवके परिणामोंके भेदोंकी संख्या असंख्यात लोक मात्र है, और अपराधोंकी संख्या भी उतनी है, परन्तु प्रायश्चित्तके उतने भेद नहीं कहे हैं। ऊपरके लिखे (६ वा १०) भेद तो केवल व्यवहार नयकी अपेक्षासे समुदाय रूपसे कहे गये हैं। (भ. आ./त्रि./६२६/२२८/२०), (चा. सा./१४७/२), (अन. ध./७/५८)।

९. आलोचना पूर्वक ही लिखा जाता है

भ. आ/सू./६२०-६२१ एत्थं तु उज्जुगभावा ववहारिदव्वा भवन्ति ते पुरिसा। सका परिहरिदव्वा सो से पट्टाहिं जहिं विमुद्धा। ६२०। पडिसेवणादिचारे जदि आजपदि तहाकम्मं मव्वे। कुव्वन्ति तहो सोधिं आगमववहारिणो तस्स। ६२१। = जो ऋजु भावसे आलोचना करते हैं, ऐसे पुरुष प्रायश्चित्त देने योग्य हैं और जिनके विषयमें शंका उत्पन्न हुई हो उनको प्रायश्चित्त आचार्य नहीं देते हैं। इससे सिद्ध हुआ कि सर्वातिचार निवेदन करनेवालोंमें ही ऋजुता होती है, उसको ही प्रायश्चित्त देना योग्य है। ६२०। यदि द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावके आश्रयसे हुए सम्पूर्ण दोष क्षपक अनुक्रमसे कहेगा तो प्रायश्चित्त दानकुशल आचार्य उसको प्रायश्चित्त देते हैं। ६२१।

१०. प्रायश्चित्तके योग्यायोग्य काल व क्षेत्र

भ. आ/सू./५५४-५५६ आलोयणादिया पुण होइ पसत्थे य सुद्धभावस्स। पुव्वण्हे अवरण्हे व सोमतिहिरवखवेलाए। ५५४। णिप्पत्तकंठइत्तं विज्जुहुदं सुवखरुवखकडुदइत्तं। सुण्णधररुद्धतेउलपत्थररासिद्धियापुंज। ५५५। तणपत्तकट्टुछारिय अमुइ सुसाणं च भग्गपडिद वा। रुद्धान् खुद्धानं अधिउत्ताण च ठाणाणि। ५५६। अण्णं व एवमादी य अप्पसत्थ हवेज्ज जं ठाणं। आलोचणं ण पडिच्छदि तत्थ गणीसे अविग्गत्थं। ५५७। अरहतसिद्धसागरपउमसर खीरपुणफलभरियं। उज्जाणभवणतोरणपासादं पाणजक्खधरं। ५५८। अण्णं च एवमादिया सुपसत्थ हवइ ज ठाणं। आलोयणं पडिच्छदि तत्थ गणीसे अविग्गत्थं। ५५९। = १ विशुद्ध परिणामवाले इस क्षपककी आलोचना प्रतिक्रमणादिक क्रियाएँ दिनमें और प्रशस्त स्थानमें होती हैं। दिवसके पूर्व भागमें अथवा उत्तर भागमें, सौम्य तिथि, शुभ नक्षत्र, जिस दिनमें रहते हैं उस दिन होती है। ५५४। २ जो क्षेत्र पत्तोसे रहित है, कौटोसे भरा हुआ है, बिजली गिरनेसे जहाँ जमीन फट गयी है, जहाँ शुष्क वृक्ष है, जिसमें कट्टरससे वृक्ष भरे हैं, जो जल गया है, शून्य घर, रुद्रका मन्दिर, पत्थरोंका ढेर और ईंटोका ढेर है, ऐसा स्थान आलोचनाके योग्य नहीं है। ५५५। जिसमें सूखे पान, तुण, काठके पुंज है, जहाँ भस्म पड़ा है, ऐसे स्थान तथा अपवित्र श्मशान, तथा फूटे हुए पात्र, गिरा हुआ घर जहाँ है वह स्थान भी वर्ज्य है। रुद्र देवताओं, और क्षुद्रदेवताओं इनके स्थान भी वर्ज्य समझने चाहिए। ५५६। ऊपरके स्थान वर्ज्य हैं वैसे ही अन्य भी जो अयोग्य स्थान हैं, उनमें भी क्षपककी आलोचना आचार्य मुनते

नहीं। क्योंकि ऐसे स्थानोंमें आलोचना करनेसे क्षपककी कार्य-सिद्धि नहीं होगी। १५५७। ३ अर्हन्तका मन्दिर, सिद्धोका मन्दिर, समुद्रके समीपका प्रवेश, जहाँ क्षीरवृक्ष है, जहाँ पुष्प व फलोंसे खदे वृक्ष है ऐसे स्थान, उद्यान, तोरण द्वार सहित मकान, नागदेवताका मन्दिर, यक्ष मन्दिर, ये सब स्थान क्षपककी आलोचना सुननेके योग्य हैं। १५५८। और भी अन्य प्रशस्त स्थान आलोचनाके योग्य हैं, ऐसे प्रशस्त स्थानोंमें क्षपकका कार्य निर्विघ्न सिद्ध हो इस हेतुसे आचार्य बैठकर आलोचना सुनते हैं। १५५९।

११. प्रायश्चित्तका प्रयोजन व माहात्म्य

रा. वा. १/२२/१/६२०/२६ प्रमाददोषव्युदास भावप्रसादो नै.शक्यम् अनवस्थावृत्ति मर्यादास्याग सयमादादर्थमाराधनमित्येवमादीनां सिद्धयर्थं प्रायश्चित्तं नवविधं विधीयते। = प्रमाद दोष व्युदास, भाव प्रसाद, नि शक्यत्व, अव्यवस्था निवारण, मर्यादाका पालन, संयमकी दृढता, आराधना सिद्धि आदिके लिए प्रायश्चित्तमें विशुद्ध होना आवश्यक है। (भा. पा./टी/७८/२२४/६)।

घ./१३/४.४.२६/गा. १०/६० कृतानि कर्माण्यतिदारुणानि तन्नुभवन्त्यात्मविगर्हणेन। प्रकाशनात्सवरणाच्च तेषामत्यन्तभूलोद्धरणं वदामि। १०। = अपनी गर्हा करनेसे, दोषोंका प्रकाशन करनेसे और उनका संवर करनेसे किये गये अतिदारुण कर्म कृश हो जाते हैं। अब उनका समूल नाश कैसे हो जाता है, यह कहते हैं। १०। (का. अ./मू./-४५१-४५२)।

३. शंका समाधान

१. दूसरेके परिणाम कैसे जाने जाते हैं

भ. आ./वि./६२६/८२८/२० कथं परिणामो ज्ञायते इति चेत् सहवासेन तीव्रक्रोधस्तीव्रमान इत्यादिकं सुज्ञातमेव। तत्कार्योपलम्भात्, तमेव वा परिपृच्छय, कोट्भ्रवत् परिणामोऽतिचारसमकालं वृत्तः। = प्रश्न—दूसरेके परिणाम कैसे जाने जा सकते हैं? उत्तर—१. सहवाससे परिणाम जाने जा सकते हैं, २. अथवा उसके कार्य देखनेपर उसके तीव्र या मन्द क्रोधादिकका स्वरूप मालूम होता है। ३. अथवा जब तुमने अतिचार किये थे तब तुम्हारे परिणाम कैसे थे, ऐसा उसको पूछकर भी परिणामोंका निर्णय किया जा सकता है। (विशेष—दे० विनय/५/१)।

२. तदुभय प्रायश्चित्तके पृथक् निर्देशकी क्या आवश्यकता

दे. प्रतिक्रमण/२/२ सभी प्रतिक्रमण नियमसे आलोचना पूर्वक होते हैं। गुरु स्वयं अन्य किसीसे आलोचना नहीं करता है। इसलिए गुरुसे अतिरिक्त अन्य शिष्योंकी अपेक्षासे तदुभय प्रायश्चित्तका पृथक् निर्देश किया गया है।

४. प्रायश्चित्त विधान

१. प्रायश्चित्तके योग्य कुछ अपराधोंका परिचय

भ. आ./वि./४५०/६७६/८ पृथिवी, आपस्तेजो वायुः...सचित्त द्रव्य...तृणफलकादिकं... अचित्तम्। ससर्क उपकरण मिश्रम्। एवं त्रिविधा द्रव्यप्रतिसेवना। वर्षासु...अर्थयोजनम्। ततोऽधिकक्षेत्रगमनं... प्रति-षिद्धक्षेत्रगमनं, विरुद्धराजगमनं, छिन्नाध्वगमनं, ततो रक्षणीया गमनम्। ...उन्मार्गेण वा गमनम्। अन्त'पुरप्रवेश'। अनुज्ञातगृहभूमि-गमनम्—इत्यादिना क्षेत्रप्रतिसेवना। आवश्यककालादन्यस्मिन्काले आवश्यककरणम्। वर्षाव्यवहातिक्रम—इत्यादिना कालप्रतिसेवना। दर्पः, प्रमाद., अनाभोग भयं, प्रदोष इत्यादिकेषु परिणामेषु प्रवृत्ति-भाविसेवा। = पृथ्वी, पानी आदि सचित्त द्रव्य, तृणका सस्तर फलक

वगैरे अचित्त द्रव्य, जीव उत्पन्न हुए हैं ऐसे उपकरणरूप मिश्राद्रव्य, ऐसे तीन प्रकारके द्रव्योंका सेवन करनेसे दोष लगते हैं यह द्रव्य प्रति-सेवना है। वर्षाकालमें (मुनि) आधा योजनसे अधिक गमन करना, ... निषिद्ध स्थानमें जाना, विरुद्ध राज्यमें जाना, जहाँ रास्ता टूट गया ऐसे प्रदेश में जाना, उन्मार्गसे जाना, अन्त'पुरमें प्रवेश करना, जहाँ प्रवेश करनेकी परवानगी नहीं है ऐसे गृहके जमीनमें प्रवेश करना यह क्षेत्रप्रति-सेवना है। आवश्यकके नियत कालको उल्लंघन कर अन्य समयमें सामायिकादि करना, वर्षाकाल योगका उल्लंघन करना यह काल प्रतिसेवना है। दर्प, उन्मत्तता, असावधानता, साहस, भय इत्यादि रूप परिणामोंमें प्रवृत्त होना भाव प्रतिसेवना है।

२. अपराधोंके अनुसार प्रायश्चित्त विधान

१. आलोचना

रा. वा. १/२२/१०/६२१/३६ विद्यायोगोपकरणग्रहणादिषु प्रश्नविनय-मन्तरेण प्रवृत्तिरेव दोष इति तस्य प्रायश्चित्तमालोचनमात्रम्। = विद्या और ध्यानके साधनोंके ग्रहण करने आदिमें प्रश्न विनयके बिना प्रवृत्ति करना दोष है, उसका प्रायश्चित्त आलोचना मात्र है।

भा. वा. टी/७८/२२३/१४ आचार्यमपृष्ट्वा आतापनादिकरणे पुस्तक-पिच्छादिपरोपकरणग्रहणे परपरोक्षे प्रमादत आचार्यादिवचनाकरणे सधनामपृष्ट्वा स्वसंघगमने देशकालनियमेनावश्यकव्यवहृतविशेषस्थ धर्मकथादि व्यासगेन विस्मरणे सति पुन करणे अन्यत्रापि चैवंविधे आलोचनमेव प्रायश्चित्तम्। = आचार्यके बिना पूछे आतापनादि करना, दूसरे साधुकी अनुपस्थितिमें उसकी पीछी आदि उपकरणोंका ग्रहण करना, प्रमादसे आचार्यादिकी आज्ञाका उल्लंघन करना, आचार्यसे बिना पूछे सधमें प्रवेश करना, धर्म कथादिके प्रसंगसे देश काल नियत आवश्यक कर्तव्य व व्रत विशेषोंका विस्मरण होनेपर उन्हें पुन. करना, तथा अन्य भी इसी प्रकारके दोषोंका प्रायश्चित्त आलोचना मात्र है। (अन. घ./७/५३ भाषा)।

२. प्रतिक्रमण

रा. वा. १/२२/१०/६२१/३७ देशकालनियमेनावश्यं कर्तव्यमित्यास्थि-ताना योगानां धर्मकथादिव्याक्षेपहेतुसन्निधानेन विस्मरणे सति पुनरनुष्ठाने प्रतिक्रमणं तस्य प्रायश्चित्तम्। = देश और कालके नियम-से अवश्य कर्तव्य विधानोंको धर्म कथादिके कारण भूल जानेपर पुन' करनेके समय प्रतिक्रमण प्रायश्चित्त है।

घ. १३/४.४.२६/६०/६ एवं (पडिक्कमणं पायच्छित्तं) कथं होदि। अप्पा-वराहे गुरुहि विणा वट्टमाणमिह होदि। = जब अपराध छोटा सा हो, गुरु पाम न हो तब यह प्रतिक्रमण प्रायश्चित्त होता है।

भा. पा. टी/७८/२२३/१८ षडिन्द्रियवागादिदुष्परिणामे, आचार्यादिषु हस्तपादादिसवृत्ते, व्रतसमित्तुगुप्तिषु, स्वल्पातिचारे, वैशुन्यकल-हादिकरणे, वैयावृत्यस्वाध्यायादिप्रमादे, गोचरगतस्य लिंगोत्थाने, अन्यसंक्लेशकरणादौ च प्रतिक्रमणप्रायश्चित्तं भवति। दिवसान्ते रात्र्यन्ते भोजनगमनादौ च प्रतिक्रमणप्रायश्चित्तं। = छहों इन्द्रिय तथा वचनादिकका दुष्प्रयोग, आचार्यादिके अपना हाथ-पैव आदि-का टकरा जाना, व्रत, समिति गुप्तिमें छोटे-छोटे दोष लग जाना, वैशुन्य तथा कलह आदि करना, वैयावृत्य तथा स्वाध्यायादिमें प्रमाद करना, गोचरीको जाते हुए लिंगोत्थान हो जाना, अन्यके साथ संक्लेश करनेवाली क्रियाओंके होनेपर प्रतिक्रमण करना चाहिए। यह प्रायश्चित्त सायंकाल, और प्रातःकाल तथा भोजनादिके जानेके समय होता है। (अन. घ./७/५३ भाषा)।

३. तदुभय

घ. १३/४.४.२६/६०/११ उभयं णाम प्रायश्चित्तं। एवं कथं होदि। दुस्सुमिणदसणादिषु। = दुःस्वप्न देखने आदिके अवसरोंपर तदुभय प्रायश्चित्त होता है। (च. सा./१४१/६)।

भा. पा./टी/७७/२२४/१ लोचनखच्छेदस्वप्नेन्द्रियातिचाररात्रिभोजनेषु पक्षमांससर्वत्सरादिकोषादौ च उभयं आलोचनप्रतिक्रमणप्रायश्चित्त । = केश लोच, नखका छेद, स्वप्नदोष, इन्द्रियोंका अतिचार, रात्रि भोजन, तथा पक्ष, मांस व सर्वत्सरादिके दोषोंमें तदुभय प्रायश्चित्त होता है । (अन. ध./७/५३ भाषा) ।

४. विवेक

रा. वा./६/२२/१०/६२२/२ शक्तयनिगूहनेन प्रयत्नेन परिहरत' कुतश्चित्कारणात्प्राप्तुं कर्मग्रहणग्राहणयो प्राप्तुकस्यापि प्रत्याख्यातस्य विस्मरणत्वात् प्रतिग्रहे च स्मृत्वा पुनस्तदुत्सर्जनं प्रायश्चित्तम् । = शक्तिको न छिपाकर प्रयत्नसे परिहार करते हुए भी किसी कारणवश अप्राप्तुकके स्वयं ग्रहण करने या ग्रहण करानेमें छोड़े हुए प्राप्तुकका विस्मरण हो जाये और ग्रहण करनेपर उसका स्मरण आ जाये तो उसका पुन उत्सर्ग करना (ही विवेक) प्रायश्चित्त है । (चा. सा./१४२/२) ।

ध. १३/५.४.२६/६०/१२ एवं (विवेको नाम पायच्छिन्नं) कथं होदि । जिह्म सते अणियत्तदोसो सो तन्निहोदि । = जिस दोषके होनेपर उसका निराकरण नहीं किया जा सकता, उस दोषके होनेपर यह विवेक नामका प्रायश्चित्त होता है ।

५. व्युत्सर्ग

रा. वा./६/२२/१०/६२२/४ दुःस्वप्नदुश्चिन्तनमलोत्सर्जनमुत्रातिचारमहानदीमहाद्वीतरणादिषु व्युत्सर्गप्रायश्चित्तम् । = दुस्वप्न, दुश्चिन्ता, मलोत्सर्ग, मूत्रका अतिचार, महानदी और महाद्वीके पार करने आदिमें व्युत्सर्ग प्रायश्चित्त है । (चा. सा./१४२/३) ।

ध. १३/५.४.२६/६१/३ विउत्सर्गो नाम पायच्छिन्नं । सो कस्स होदि । कयावराहस्स पाणेण दिट्ठणवट्टस्स वज्जसंघडणस्स सीदवादादवसहस्स ओधमूरस्स साहस्स होदि । = यह व्युत्सर्ग प्रायश्चित्त जिसने अपराध किया है, किन्तु जो अपने विमल ज्ञानसे नौ पदार्थोंके स्वरूपको समझता है, वज्र संहननवाला है; शीत-वात और आतपको सहन करनेमें समर्थ है, तथा सामान्य रूपसे शूर है, ऐसे साधुके होता है ।

भा. पा./टी/७८/२२४/३ मौनादिना लोचकरणे, उदरकृमिनिर्गमे, हिममशकादिमहावातादिसहर्षातिचारे, स्निग्धभूहरिततृणपकोपरिगमने, जानुमात्रजलप्रवेशकरणे, अन्यनिमित्तवस्तुस्वोपयोगकरणे, न्नावादिनदीतरणे, पुस्तकप्रतिभाषातने, पंचस्थावरविघाते, अदृष्टदेशतनुमल-विसर्गादौ, पक्षादिप्रतिक्रमणक्रियाया, अन्तर्ग्याख्यानप्रवृत्त्यन्तादिषु कायोत्सर्ग एव प्रायश्चित्तम् । उच्चारप्रसवणादौ च कायोत्सर्ग प्रसिद्ध एव । = मौनादि धारण किये बिना ही लौच करनेपर; उदरमेंसे कृमि निकलनेपर; हिम, दंश-मशक यद्वा महावातादिके संघर्षसे अतिचार लगनेपर, स्निग्ध भूमि, हरित तृण, यद्वा कर्दम आदिके ऊपर चलनेपर, घोटुओंतक जलमें प्रवेश कर जानेपर, अन्य निमित्तक वस्तुको उपयोगमें ले आनेपर; नावके द्वारा नदी पार होनेपर; पुस्तक या प्रतिमा आदिके गिरा देनेपर, पंचस्थावरोंका विघात करनेपर, बिना देखे स्थानपर शारीरिक मल छोड़नेपर, पक्षसे लेकर प्रतिक्रमण पर्यन्त व्याख्यान प्रवृत्त्यन्तादिकोमे केवल कायोत्सर्ग प्रायश्चित्त होता है । और शूकने और पेशाब आदिके करनेपर कायोत्सर्ग करना प्रसिद्ध ही है । (अन. ध./७/५३ भाषा) ।

६. तप

ध. १३/५.४.२६/६१/६ एवं (तपो पायच्छिन्नं) कस्स होदि । तिव्विदियस्स जोव्वणभरत्थस्स बलवत्तस्स सत्तसहायस्स कयावराहस्स होदि । = जिसकी इन्द्रियों तीम है, जो जवान है, बलवान् है, और सशक्त है, ऐसे अपराधी साधुको दिया जाता है । (चा. सा./१४२/५) ।

७. छेद

ध. १३/५.४.२६/६१/६ छेदो नाम पायच्छिन्नं । एवं कस्स हादि । उववासादित्थमस्स ओव्वन्नलस्स ओधमूरस्स गव्वियस्स कयावराहस्स

साहस्स होदि । = जिसने (बार-बार) अपराध किया है । (रा. वा./६/२२/१०/६२२/५) । जो उपवास आदि करनेमें समर्थ है, सब प्रकार बलवान् है, सब प्रकार शूर और अभिमानी है, ऐसे साधुको दिया जाता है । (चा. सा./१४३/१) ; (अन. ध./७/५४) ।

८ मूल

भ. आ./मू/२६२/५०६ पिंड उवधिं सेजामविसोधिं यो खु भुंजमाणो हु । मूलदूठार्णं पत्तो बालोत्तिय णो समणबालो । २६२ । = उद्गमादि दोषोंसे युक्त आहार, उपकरण, वसतिका इनका जो साधु ग्रहण करता है वह मूलस्थानको प्राप्त होता है । वह अज्ञानी है, केवल नग्न है, न यति है न गणधर ।

ध. १३/५.४.२६/६२/२ मूल नाम पायच्छिन्नं । एद कस्स होदि । अवशिमिय अवराहस्स पासत्थोसण्ण-कुसीलसच्छदादिउव्वहृट्ठयस्स होदि । = अपरिमित अपराध करनेवाला जो साधु (रा. वा./६/२२/१०/६२२/५) । पार्श्वस्थ, अवसन्न, कुशील, और स्वच्छन्द आदि होकर कुमार्गमें स्थित है, उसे दिया जाता है । (चा. सा./१४२/३) ; (अन. ध./७/५५) , (आचारसार/पृ. ६३) ।

९. अनवस्थाप्य परिहार

चा. सा./१४४/४ प्रमादादन्यमुनिसंभन्धनमृषिं छात्र गृहस्थं वा पर-पालण्डिप्रतिबद्धचेतनाचेतनद्रव्यं वा परस्त्रियं वा स्तैनयता मुनीन् प्रहरतो वाऽन्यदप्येवमादिविरुद्धाचरितमाचरतो नवदशपूर्वधरस्यापि त्रिकसहननस्य जितपरिषहस्य दृढधर्मिणो धीरस्य भवभीतस्य निजगणानुपस्थापनं प्रायश्चित्तं भवति । दर्पादनन्तरोक्तान्दोषानाचरत' परगणोपस्थापनं प्रायश्चित्तं भवति । = १. प्रमादसे अन्य मुनि सम्बन्धी ऋषि, विद्यार्थी, गृहस्थ वा दूसरे पार्ष्णीके द्वारा रोके हुए चेतनात्मक वा अचेतनात्मक द्रव्य, अथवा परस्त्री आदिको चुरानेवाले, मुनियोंको मारनेवाले, अथवा और भी ऐसे ही विरुद्ध आचरण करनेवाले, परन्तु नौ वा दस पूर्वोंके जानकर, पहले तीन संहननको धारण करनेवाले परीषहोको जोतनेवाले, धर्ममें दृढ रहनेवाले, धीर, वीर और संसारसे डरनेवाले मुनियोंके निजगणानुपस्थापन नामका प्रायश्चित्त होता है । २. जो अभिमानसे उपरोक्त दोषोंको करते हैं, उनके परगणानुपस्थापना प्रायश्चित्त होता है । (आचार सार/पृ. ६४), (अन. ध./७/६६ भाषा) ।

दे० आगे पारंशिकमें ध/१३ विरुद्ध आचरण करनेवालोंको दिया जाता है ।

१०. पारंशिक परिहार

भ. आ./मू/१६३७/१४८३ तित्थयरपवयणसुदे आइरिए गणहरे महद्वोए । एवे आसावतो पावइ पारच्चिय ठाणं । १६७ । = तीर्थकर, रत्नत्रय, आगम, आचार्य, गणधर, और महद्विक मुनिराज इनकी आसादना करनेवाला पारंशिक नामक प्रायश्चित्तको प्राप्त होता है । १६६७ ।

ध. १३/५.४.२६/६२/१ एदाणि दो वि पायच्छिन्ताणि णरिदिविरुद्धाचरिदे आइरियाण णव-दसपुव्वहरे ण होदि । = ये दोनो (अनवस्थाप्य, तथा पारंशिक) दो प्रकारके प्रायश्चित्त राजाके विरुद्ध आचरण करनेपर (रा. वा./६/२२/१०/६२२/५) नौ और दश पूर्वोंको धारण करनेवाले आचार्य करते हैं ।

चा. सा./१४६/३ तीर्थकरणधूरगणिप्रवचनसथाद्यासादनकारकस्य नरेन्द्रविरुद्धाचरितस्य राजानमभिमतामात्पादीना दत्तदीक्षस्य तृपकुलवनितासेवितस्यैवमाश्रयैर्दोषैश्च धर्मदूषकस्य पारंशिकं प्रायश्चित्तं भवति । = जो मुनि, तीर्थकर, गणधर, आचार्य और शास्त्र व संव आदिकी भूठी निन्दा करनेवाले हैं, विरुद्ध आचरण करते हैं, जिन्होंने किसी राजाको अभिमत ऐसे मन्त्री आदिको दीक्षा दी है, जिन्होंने राजकुलकी स्त्रियोंका सेवन किया है, अथवा ऐसे

अन्य दोषोंके द्वारा धर्ममें दोष लगाया है, ऐसे मुनियोंके पारं चिक प्रायश्चित्त होता है। (आचारसार/पृ० ६४), (अन. ध /७/५६ भाषा)।

११. श्रद्धान या उपस्थापन

अन. ध /७/५७ गवा स्थितस्य मिथ्यात्वं यद्दीक्षाग्रहणं पुन.। तच्छ्रद्धानमिति ख्यातमुपस्थापनमित्यपि। ५७ = जो माधु सम्यग्दर्शनको छोड़कर मिथ्यात्वमें (मिथ्यामार्गमें) प्रवेश कर गया है। उसको पुन दीक्षा रूप यह प्रायश्चित्त दिया जाता है। इसका दूसरा नाम उपस्थापन है। कोई-कोई महाव्रतका मूलोच्छेद होनेपर पुन दीक्षा देनेको उपस्थापन कहते हैं।

३. शूद्रादि छूनेके अवसर योग्य प्रायश्चित्त

आराधनासार/२/७० कपाली, चाण्डाल, रजस्वला स्त्रीको छूनेपर सिरपर कमण्डलसे पानीको धार डाले जो पैरोतक आ जाये। उपवास करे तथा महामन्त्रका जाप करे।

प्रायोगिक बन्ध—दे० बन्ध/१।

प्रायोगिक शब्द—दे० शब्द।

प्रायोगिको क्रिया—दे० क्रिया/२/४।

प्रायोग्य लब्धि—दे० लब्धि/२।

प्रायोपगमन चारित्र्य—दे० सल्लेखना/३।

प्रायोपगमन मरण—दे० सल्लेखना/३।

प्रारम्भ क्रिया—दे० क्रिया/३/२।

प्रावचन—१. श्रुतज्ञानका अपर नाम है—दे० श्रुतज्ञान/१/२।

२. ध. १३/५.५.५०/२५०/११ प्रवचने प्रकृष्टशब्दकलापे भव ज्ञानं द्रव्यश्रुत वा प्रावचनं नाम। = प्रवचन अर्थात् प्रकृष्ट शब्द कलापमें होनेवाला ज्ञान या द्रव्य श्रुत प्रावचन कहलाता है।

प्राविष्कृत—वसतिकका एक दोष—दे० वसतिका।

प्रासाद—ध १४/५.६.६१/३६/३ पक्कसइला सइला आवासा पासादा णाम। = ईंटों और पत्थरोंके बने हुए पत्थरबहुल आवासोंको प्रासाद कहते हैं।

प्रासुक—

सू. आ./४८५ पगदा असथो जहा तह्यादो दव्वदात्ति तं दव्वं। प्रासुकमिदि। = जिसमेंसे एकेन्द्रिय जीव निकल गये हैं वह प्रासुक द्रव्य है।

ध. ८/३.४१/५७/५ पगदा ओसरिदा आसवा जम्हा त प्रासुअं, अथवा जं णिखज्ज तं प्रासुअं। कि १ णाणदंसण-चरित्तादि। = जिससे आस्रव दूर हो गये हैं उसका नाम (वह जीव) प्रासुक है, अथवा जो निरवच्य है उसका नाम प्रासुक है। वह ज्ञानदर्शन व चारित्र्यादिक ही हो सकते हैं।

नि.सा./ता वृ /६३ हरितकायात्मकमूक्षमप्राणिसचारागोचरं प्रासुकमित्यभिहितम्। = हरितकायमय मूक्षम प्राणियोंके सचारको अगोचर वह प्रासुक (अन्न) ऐसा (शास्त्रमें) कहा है।

★ जलादि प्रासुक करनेकी विधि—दे० जलगालन।

★ वनस्पति आदि को प्रासुक करनेकी विधि—दे० सचित्त।

★ बिहारके लिए प्रासुक मार्ग—दे० बिहार/१।

प्रास्थल - भरत क्षेत्र उत्तर आर्य खण्डका एक देश—दे० मनुष्य/४।

प्रिय - १ क पा./१/१.१३-१४/४२१६/२७१/६ स्वरुचिविषयीकृत वस्तु प्रिय, यथा पुत्रादि। = जो वस्तु अपनेको रुचे उसे प्रिय कहते हैं।

जैसे—पुत्र आदि। २. उत्तरधातकीखण्ड द्वीपका रक्षक देव—दे० व्यतर/४।

प्रियकारिणी—भगवाद् महावीरकी माता—दे० तीर्थकर/५।

प्रियदर्शन—१ महोरग नामा जाति व्यन्तर देवोका एक भेद—दे० महोरग, २. सुमेरु पर्वतका अपरनाम—दे० सुमेरु। ३ उत्तरधातकी खण्ड द्वीप रक्षक देव—दे० लोक/४/२।

प्रियमित्र—एक राजपुत्र था। (म पु./७४/२३४-२४०) यह वर्धमान भगवाद्का पूर्वका चौथा भव है—दे० वर्धमान।

प्रियोद्भव क्रिया—दे० संस्कार/२।

प्रौतिकर—१. म.पु /सर्ग/१श्लोक पुण्डरीकिणी नगरीके राजा प्रियसेनका पुत्र था (६/१०८)। स्वयंप्रभु मुनिराजसे दीक्षा ले अवधिज्ञान व आकाशगमन विद्या प्राप्त की (६/११०)। ऋषभ भगवात्को जबकि वे भोग भूमिज पर्यायमें थे (दे० ऋषभनाथ) सम्बोधनेके लिए भोगभूमिमें जाकर अपना परिचय दिया (६/१०५)। तथा सम्यग्दर्शन ग्रहण कराया (६/१४८)। अन्तमें केवलज्ञान प्राप्त किया (१०/१)। २ म पु /७६/१श्लोक अपनी पूर्वकी शृगालीकी पर्यायमें रात्रि भोजन त्यागके फलसे वर्तमान भवमें कुबेरदत्तसेठके पुत्र हुए (२३८-२५१)। बाल्यकालमें ही मुनिराजके पास शिक्षा प्राप्त की (२४४-२४८)। विदेशमें भाहयों द्वारा धोखा दिया जानेपर गुरुभक्त देवोंने रक्षा की (२४६-३८४)। अन्तमें दीक्षा ले मोक्ष प्राप्त किया (३८७-३८८)। ३ प.पु./७७/१श्लोक अरिदम राजाका पुत्र था (६५)। पिताके कीट बन जानेपर पिताकी आज्ञानुसार उसको (कीटको) मारने गया। तब कीट विष्टामें घुस गया (६७)। तब मुनियोंसे प्रबोधको प्राप्त हो दीक्षा धारण की (७०)। ४. नव प्रौवेयकका नवा पटल व हन्द्रक—दे० स्वर्ग/५/३।

प्रौतिक्रिया—दे० संस्कार/२।

प्रेत्य भाव—न्या.सू /मृ /१/१/१६/२२ पुनरुत्पत्ति प्रेत्यभावः। = मरकर फिर किसी शरीरमें जन्म लेनेको प्रेत्यभाव कहते हैं।

प्रेम—ध./१४/४.२.८.६/२८४/१ प्रियत्वं प्रेम। = प्रियताका नाम प्रेम है।

★ अन्य सम्बन्धित विषय

- १. प्रेम सम्बन्धी विषय — दे० वात्सल्य।
- २. प्रेमप्रत्यय बन्ध कारणके रूपमें — दे० बंध/५।
- ३. प्रेम व कृपायादि प्रत्ययोंके रूपमें। — दे० प्रत्यय/१।

प्रेरक निमित्त—दे० निमित्त/१।

प्रेष्य प्रयोग—स सि /७/३२/३६६/१० एव कुर्विति निधाग. प्रेष्यप्रयोग। = ऐसा करो इस प्रकार काममें लगाना प्रेष्यप्रयोग है। रा वा./७/३१/२/५५६/४ परिच्छिन्नदेशाद्बहिः स्वयमगत्वा अन्यमप्यनीय प्रेष्यप्रयोगेणैवाभिप्रेतव्यापारसाधन प्रेष्यप्रयोग। = स्वीकृत मर्यादासे बाहर स्वयं न जाकर और दूसरेको न बुलाकर भी नौकरवे द्वारा इष्ट व्यपार सिद्ध करना प्रेष्य प्रयोग है। (चा सा./१६/१)

प्रोक्षण विधि—प्रतिष्ठाके समय प्रतिमाकी प्रोक्षण विधि—दे० प्रतिष्ठा विधान।

प्रौषधोपवास—पर्वके दिनमें चारो प्रकारके आहारका त्याग करके धर्म ध्यानमें दिन व्यतीत करना प्रौषधोपवास कहलाता है, उस दिन आरम्भ करनेका त्याग होता है। एक दिनमें भोजनकी दो बेला मानी जाती है। पहले दिन एक बेला, दूसरे दिन दोनो बेला और

हिसरे दिन पुन एक बेला, इस प्रकार चार बेलामें भोजनका त्याग होनेके कारण उपवासको चतुर्भक्त बेलेको षष्ठभक्त आदि कहते हैं। व्रत प्रतिमामें प्रोषधोपवास सात्विचार होता है, और प्रोषधोपवास प्रतिमामें निरतिचार।

१. भेद व लक्षण

१. उपवास सामान्यका लक्षण

१. निश्चय

का.अ./मू./४३६ उवसमणो अखवाणं उववासी वण्णदोसमासेण । जम्हा भुजता वि य जिदिदिया होति उववासा ॥४३६॥—तीर्थकर, गणधर आदि मुनिन्द्रोने उपशमनको उपवास कहा है, इसलिए जितेन्द्रिय पुरुष भोजन करते हुए भी उपवासी है।

अन.ध./७/१२ स्वार्थाहुपेस्य शुद्धात्मन्यक्षाणा वसनाल्लयात् । उपवासो-सनस्वास्वाशयपेयविवर्जनम् ॥१२॥—उप पूर्वक वस् धातुसे उपवास बनता है अर्थात् उपसर्गका अर्थ उपेय हट तथा वस् धातुका अर्थ निवास करना या लीन होना होता है। अतएव इन्द्रियोके अपत्ते-अपने विषयसे हटकर शुद्धात्म स्वरूपमें लीन होनेका नाम उपवास है ॥१२॥

२. व्यवहार

स.सि./७/२१/३६१/३ शब्दादिग्रहण प्रति निवृत्तौत्सुक्यानि पञ्चापीन्द्रियाण्युपेत्य तस्मिन् वसन्तोत्सुपवासः । चतुर्विधाहारपरित्याग इत्यर्थः ।—पाँचो इन्द्रियोके शब्दादि विषयोसे हटकर उसमें निवास करना उपवास है। अर्थात् चतुर्विध आहारका त्याग करना उपवास है। (रा.वा./७/२१/५/४४५/त सा./७/१०)

२. उपवासके भेद

बसु.श्रा./२८० उत्तम मज्झ जहणं तिविहं पोसण विहाणमुद्धिट्ठं ।—तीन प्रकारका प्रोषध विधान कहा गया है—उत्तम, मध्यम, जघन्य। अन.ध./७/१४ उपवासो वरो मध्यो जघन्यशंख त्रिधापि सः । कार्यो विरक्तेः ।—विरक्त पुरुषोका उत्तम, मध्यम व जघन्यमें से कौन सा भी उपवास प्रचुर पातकोकी भी शीघ्र निर्भरा कर सकता है।

★ अक्षयनिधि आदि अनेक प्रकारके व्रत—दे० व्रत/१।

३. प्रोषधोपवासका लक्षण

र.क.श्रा./मू./१०६ चतुराहारविसर्जनमुपवासः प्रोषधः सकृद्भुक्तिः । स प्रोषधोपवासो यदुपोष्यारम्भमाचरति ॥१०६॥—चार प्रकारके आहारका त्याग करना उपवास है। एक बार भोजन करना प्रोषध है। जो धारणे पारनेके दिन प्रोषधसहित गृहार भादिको छोड़कर उपवास करके आरंभ करता है, वह प्रोषधोपवास है।

स.सि./७/२१/३६१/३ प्रोषधशब्द पर्व पर्यायवाची। प्रोषधे उपवासः प्रोषधोपवासः ।—प्रोषधका अर्थ पर्व है।—पर्वके दिनमें जो उपवास किया जाता है उसे प्रोषधोपवास कहते हैं। (रा.वा./७/२१/५/४४६/६), (सा.ध./५/३४) ।

का.अ./मू./३५५-३५६ ण्हाण-विलेपण-भूसण-इरथी-ससग्ग-गंधधुवादी । जो परिहरेदी णाणी वेरग्गाभूसण किच्च ॥३५५॥ दोसु वि पव्वेसु सय। उववास एय-भक्त-णिवियडो । जो कुणदि एवमाई तसस वय पोसह विदियं ॥३५६॥—जो श्रावक सदा दोनो पर्वमें स्नान, विलेपन, भूषण, स्त्री संसर्ग, गंध, धूप, दीपादिका त्याग करता है। वैराग्यरूपी भूषणसे भूषित होकर, उपवास या एक बार भोजन, वा निविकृति भोजन करता है। उसके प्रोषधोपवास नामका शिक्षाव्रत होता है ॥३५५-३५६॥

४. प्रोषधोपवास सामान्यका स्वरूप

र.क.श्रा./मू./१६-१८ पर्वण्यष्टम्या च ज्ञातव्यः । प्रोषधोपवासस्तु । चतुरभ्यवहार्याणां प्रत्याख्यान सदेच्छाभिः ॥१६॥ पञ्चाना पापानामर्ज-क्रियारम्भगन्धपुष्पाणाम् । स्नानाञ्जननस्यानामुपवासे परिहृति कुर्यात् ॥१७॥ धर्माभूतं सत्सृष्ण श्रवणाभ्या पिवतु पाययेद्धान्यात् । ज्ञान-ध्यानपरो वा भवत्पवसन्नतन्द्रास्तु ॥१८॥—चतुर्दशी तथा अष्टमीके दिन सदाव्रत विधानकी इच्छासे चार तरहके भोजनके त्याग करनेको प्रोषधोपवास जानना चाहिए ॥१६॥ उपवासके दिन पाँचो पापोंका—शुद्धार, आरम्भ, गन्ध, पुष्प, स्नान, अञ्जन तथा नश्य (सूँघने योग्य) वस्तुओंका त्याग करे ॥१७॥ (बसु.श्रा./२६३) उपवासके दिन आलस्य रहित हो कानोसे अतिशय उत्कंठित होता हुआ धर्म रूपी अमृतको पीवै, तथा दूसरोंको पिलावै अथवा ज्ञान-ध्यानमें तत्पर होवै ॥१८॥ (ला.स./६/१६५-१६७) ।

स.सि./७/२१/३६१/४ स्वशरीरसस्कारकारणस्नानगन्धमाख्याभरणादि-विरहित शुचावकाशे साधुनिवासे चैत्यालये स्वप्रोषधोपवासगृहे वा धर्मकथाश्रवणश्रावणचिन्तनविहितान्त करणः सन्तुपवसेन्निरारम्भ-श्रावकः ।—प्रोषधोपवासी श्रावकको अपने शरीरके सस्कारके कारण, स्नान, गन्ध, माला और आभरणादिका त्याग करके किसी पवित्र स्थानमें, चैत्यालयमें, या अपने प्रोषधोपवासके लिए नियत किये गये घरमें धर्मकथाके सुनने-सुनाने और चिन्तन करनेमें मनको लगाकर उपवास करना चाहिए और सब प्रकारका आरम्भ छोड़ देना चाहिए। (रा.वा./७/२१/३६१/४४६/३६), (का.अ./३५८) ।

ला.सं./६/२०४ ब्रह्मचर्यं च कर्तव्यं धारणादि दिनत्रयम् । परयोषिन्नि-षिद्धा प्रागिदं त्वात्मकलत्रके ॥२०४॥—धारणाके दिनसे लेकर पारणाके दिन तक, तीन दिन उसे ब्रह्मचर्य पालना चाहिए। यह ध्यानमें रखना चाहिए। व्रती श्रावकके लिए परस्त्रीका निषेध तो पहले ही कर चुके हैं, यहाँ तो धर्मपत्नीके त्यागकी बात बतायी जा रही है।

व्रत विधान सग्रह/पृ. २२ पर उद्धृत प्रातःसामायिक कुर्यात्ततः तात्कालिकीं क्रियाम् । धौताम्बरधरो धीमात् जिनध्यानपरायणम् ॥१॥ महाभिवेकमद्भुत्यैजिनागारे व्रतान्विते । कर्तव्यं सह संघेन महा-पूजादिकोत्सवम् ॥२॥ ततो स्वगृहमागत्य दानं दद्यात् सुनीशने । निर्दोषं प्रासुकं शुद्धं मधुरं तृप्तिकारणम् ॥३॥ प्रत्याख्यानोद्यतो भूत्वा ततो गत्वा जिनालयम् । त्रि-परीक्ष्य ततः कार्यास्तद्विधुक्तजिना-लयम् ॥४॥—विवेकी, व्रती, श्रावक प्रातःकाल ब्राह्म मुहूर्तमें उठकर सामायिक करे, और बादमें शौच आदिसे निवृत्त होकर शुद्ध साफ वस्त्र धारण कर श्रीजिनेन्द्र देवके ध्यानमें तत्पर रहे ॥१॥ श्री मन्दिर-जोमें जाकर सबको आश्चर्य करे, ऐसा महाभिवेक करे, फिर अपने संघके साथ समारोह पूर्वक महा पूजन करे ॥२॥ व्रत विधान स./पृ. २७ पर उद्धृत। पश्चात् अपने घर आकर मुनियोको निर्दोष प्रासुक, शुद्ध, मधुर और तृप्ति करनेवाला आहार देकर शेष बचे हुए आहार सामग्रीको अपने कुटुम्बके साथ सानन्द स्वयं आहार करे ॥३॥ फिर मन्दिरजोमें जाकर प्रदक्षिणा देवे और व्रत विधानमें कहे गये मन्त्रोका जाप्य करे ॥४॥

५. उत्तम, मध्यम व जघन्य प्रोषधोपवासका स्वरूप

पु.सि.उ./१५२-१५६ मुक्तसमस्तारम्भः प्रोषधदिनपूर्ववासरस्याद्धे । उपवासं गृहीत्यान्ममत्वमपहाय देहादौ ॥१५२॥ श्रित्वा विविक्तवसति समस्तसावद्योगमानीय । सर्वेन्द्रियार्था विरत कायमनोवचन-गुप्तिभिस्तिष्ठेत् ॥१५३॥ धर्मध्यानाशक्तो वासरमतिबाह्यविहित-सान्ध्यविधिम् । शुचिसंस्तरे त्रियामां गमयेत्स्वाध्यायजित्निद्रः ॥१५४॥ प्रातः प्रोरथाय ततः कृत्वा तात्कालिक क्रियाकल्पम् । निर्वर्त-येद्यथोक्तं जिनपूर्वा प्राशुकैर्द्रव्यैः ॥१५५॥ उक्तेन ततो विधिना नीत्वा

दिवस द्वितीयरात्रि च । अतिवाह्येत्प्रयत्नादर्द्धं च तृतीयदिवसस्य ११६६। = उपवाससे पूर्व दिन मध्याह्नको समस्त आरम्भसे मुक्त होकर, शरीरादिकमें ममत्वको त्यागकर उपवासको अंगीकार करे ११६२। पश्चात् समस्त सावद्य क्रियाका त्यागकर एकान्त स्थानको प्राप्त होवे । और सम्पूर्ण इन्द्रिय विषयोसे विरक्त हो त्रिगुप्तिमें स्थित होवे । यदि कुछ चेष्टा करनी हो तो प्रमाणानुकूल क्षेत्रमें धर्मरूप ही करे ११६३। कर ली गयी है प्रातः काल और सन्ध्याकालीन सामायिकादि क्रिया जिसमें ऐसे दिनको धर्मध्यानमें आसक्ततापूर्वक बिता कर, पठन-पाठनसे निद्राको जोतता हुआ पवित्र सथारे पर रात्रिको बितावे ११६४। तदुपरान्त प्रातः को उठकर तात्कालिक क्रियाओसे निवृत्त हो प्रासुक द्रव्योसे जिन भगवात्की पूजा करे ११६५। इसके पश्चात् पूर्वोक्त विधिसे उस दिन और रात्रिको प्राप्त होके तीसरे दिनके आधेको भी अतिशय यत्नाचार पूर्वक व्यतीत करे ११६६।

वसु. श्रा./२८१-२६२ सत्तमि-तेरसि दिवसम्मि अतिहिजणभोयणा-वसाणम्मि । भोत्तूण भंजणिज्जं तत्थ वि काउण सुहसुद्धि १२८१। पक्खालिउण वयणं कर-चरणे णिग्गमिउण तत्थेत्थं । पच्छा जिणिव-भवण गंतूण जिणं णमसिन्ता १२८२। गुरुपुरओ किदियम्मं वदणपुव्वं कमेण काउण । गुरुस्खियमुववास गहिउण चउत्विहं विहिणा १२८३। वायण-कहाणुपेहण-सिक्खवावण-चित्तणोवओगेहि । पेउण दिवससेसं अवगण्हिय वदणं किच्चं १२८४। रयणि समयम्मि ठिच्चा काउसग्गेण णिययसत्तीए । पडिलेहिउण भूमि अप्पमाणेण सथारं १२८५। दाउण किच्चि रत्ति सइउण जिणालए णियधरे वा । अहवा सयलं रत्ति काउसग्गेण पेउण १२८६। पच्चूसे उट्ठित्ता वंदण-विहिणा जिणं णमसिन्ता । तह दव्व-भावपुज्ज णिय-सुय साहूण काउण १२८७। उत्तविहाणेण तहा दिवहं रत्ति पुणो वि गमिउण । पारणदिवसम्मि पुणो पूयं काउण पुव्व व १२८८। गतूण णिययगेह अतिहिविभाग च तत्थ काउण । जो भुजइ तस्स फुड पोसहविहि उत्तमं होइ १२८९। जह उक्कसं तह मज्झिम वि पोसहविहाणमुद्धिट्ठं । णवर विसेसो सल्लि छंडिस्ता वज्जेण सेसं १२९०। मुणिउण गुरु-वकज्जं सावज्जविज्जिय णियारंभ । जइ कुणइ तं पि कुज्जा सेस पुव्वं व णायव्व १२९१। आयवित णिव्वयडी एयट्ठाण च एय भत्तं वा । जं कीरइ तं गेय जहण्णयं पोसहविहाणं १२९२। = १. उत्तम—सप्तमी और त्रयोदशीके दिन अतिथिजनके भोजनके अन्तमें स्वयं भोज्य वस्तुका भोजन कर और वही पर मुखमुद्रिको करके, मुँहको और हाथ-पैँवको धोकर वहाँ ही उपवास सम्बन्धी नियमको करके पश्चात् जिनेन्द्र भवन जाकर और जिन भगवात्की नमस्कार करके, गुरुके सामने वन्दना पूर्वक क्रमसे कृतिकर्म करके, गुरुकी साक्षीसे विधिपूर्वक चारो प्रकारके आहारके त्याग रूप उपवासको ग्रहण कर शास्त्र-वाचन, धर्मकथा-श्रवण-श्रावण, अतुप्रेक्षा चिन्तन, पठन-पाठनादिके उपयोग द्वारा दिवस व्यतीत करके, तथा अपराहिक वन्दना करके, रात्रिके समय अपनी शक्तिके अनुसार कायोत्सर्गसे स्थित होकर, भूमिका प्रतिलेखन करके और अपने शरीरके प्रमाण बिस्तर लगाकर रात्रिमें कुछ समय तक जिनालयमें अथवा अपने घरमें सोकर, अथवा सारी रात्रि कायोत्सर्गसे निताकर प्रातः काल उठकर वन्दना विधिसे जिन भगवात्को नमस्कार कर तथा देव-शास्त्र और गुरुकी द्रव्य वा भाव पूजन करके पूर्वोक्त विधानसे उसी प्रकार सारा दिन और सारी रात्रिको भी बिताकर पारणाके दिन अर्थात् नवमी या पूर्णमासीको पुनः पूर्वके समान पूजन करनेके पश्चात् अपने घर जाकर और वहाँ अतिथिको दान देकर जो भोजन करता है, उसे निश्चयसे उत्तम प्रोषधोपवास होता है । २८१-२८६ । २ मध्यम—जिस प्रकार उत्कृष्ट प्रोषधोपवास विधान कहा गया है, उसी प्रकारसे मध्यम भी जानना चाहिए । विशेषता यह है कि जलको छोड़कर शेष तीनों प्रकारके आहारका त्याग करना

चाहिए १२९०। जस्सरी कार्यको समझकर सावद्य रहित यदि अपने घर आरम्भको करना चाहे, तो उसे भी कर सकता है, किन्तु शेष विधान पूर्वके समान है १२९०-२९१। ३. जघन्य—जो अष्टमी आदि पर्वके दिन आचान्त निर्विकृति, एक स्थान अथवा एकभक्तको करता है, उसे जघन्य प्रोषधोपवास समझना १२९२। = (गुण. श्रा / १७०-१७४), (का अ / सू / ३७३-३७४); (सा. घ / ५/३४-३६), (अन. घ / ७/१५), (चा. पा / टी. / २५/४५/१६) ।

६. प्रोषधोपवास प्रतिमाका लक्षण

र क. श्रा./१४० पर्वदिनेषु चतुर्विंशति मासे मासे स्वशक्तिमनिगुह्य । प्रोषधनियमविधायो प्रणिधिपर प्रोषधानशन. १४०। = जो महीने महीने चारो ही पर्वोंमें (दो अष्टमी और चतुर्दशीके दिनोमें) अपनी शक्तिको न छिपाकर शुभ ध्यानमें तत्पर होता हुआ यदि अन्तमें प्रोषधपूर्वक उपवास करता है वह चौथी प्रोषधोपवास प्रतिमाका धारी है १४०। (चा सा / ३७/४) (द्र स / ४५/१६६) ।

७. एकभक्तका लक्षण

सू. आ./३५ उदयत्थमणे काले णालीतियवज्जियम्मिह मज्झम्मिह । एकम्मिह दुअ तिये वा मुहुत्तकालेय भत्त तु ३५। = सूर्यके उदय और अस्त-कालकी तीन घड़ी छोड़कर, वा मध्याह्न कालमें एक मुहूर्त, दो मुहूर्त, तीन मुहूर्त कालमें एक बार भोजन करना वह एकभक्त मूल गुण है ३५।

८. चतुर्थभक्त आदिके लक्षण

ह. पु / ३४/१२५ विधीनामिह सर्वेषामेवा हि च प्रदर्शना । एकश्चतुर्थ-काभिख्यो द्वौ षष्ठ तु त्रयोऽष्टम । दशमाद्यास्तथा वेद्या षण्मास्य-न्तोपवासका. १२५। = उपवास विधिमें चतुर्थक शब्दसे एक उपवास, षष्ठ शब्दसे बेला, और अष्ट शब्दसे बेला लिया गया है, तथा इसी प्रकार आगे दशम शब्दसे चौड़ा आदि छह मास पर्यन्त उपवास समझने चाहिए । (भ. आ / भाषा / २०६/४२५) ।

सू. आ./भाषा / ३४८ एक दिनमें दो भोजन बेला नही है । (एक बेला धारणके दिनकी, दो बेला उपवासके दिनकी और एक बेला पारणके दिनकी, इस प्रकार) चार भोजन बेलाका त्याग चतुर्थ भक्त अथवा उपवास कहलाता है । छह बेलाके भोजनका त्याग षष्ठ भक्त अथवा बेला (२ उपवास) कहलाता है । इसी प्रकार आगे भी चार-पाँच आदि दिनोसे लेकर छह उपवास पर्यन्त उपवासोके नाम जानने चाहिए ।

व्रतविधान सं / पृ २६ मात्र एक बार परोसा हुआ भोजन सन्तोष पूर्वक खाना एकलठाना कहलाता है ।

२. प्रोषधोपवास व उपवास निर्देश

१. प्रोषधोपवासके पाँच अतिचार

त. सू./७/३४ अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितोत्सर्गादानसंस्तरोपक्रमणानादरस्मृ-त्यनुपस्थानानि ३४। = अप्रत्यवेक्षित अप्रमार्जित भूमिमें उत्सर्ग, अप्रत्यवेक्षित अप्रमार्जित वस्तुका आदान, अप्रत्यवेक्षित अप्रमार्जित संस्तरका उपक्रमण, अनादर और स्मृतिका अनुपस्थान ये प्रोषधोप-वास व्रतके पाँच अतिचार है । (र. क. श्रा./११०) ।

२. प्रोषधोपवास व उपवास सामान्यमें अन्तर

र. क. श्रा./१०६ चतुराहारविसर्जनमुपवास प्रोषध सकृद्भुक्ति । स प्रोषधोपवासो यंदुपोष्यारम्भमाचरति १०६। = चारो प्रकारके आहार-का त्याग करना उपवास है । और एक बार भोजन करना प्रोषध है ।

तथा जो एकाशन और दूसरे दिन उपवास करके पारणाके दिन एकाशन करता है, वह प्रोषधोपवास कहा जाता है । १०६।

३. प्रोषधोपवाद व प्रोषध प्रतिमाओंमें अन्तर

चा.सा./३७/४ प्रोषधोपवास' मासे चतुर्ष्वपि पर्वदिनेषु स्वकीया शक्ति-मनिगुह्य प्रोषधनियम मन्यमानो भवतीति व्रतिकस्य यदुक्त शीलं प्रोषधोपवासस्तदस्य व्रतमिति । = प्रोषधोपवास प्रत्येक महीनेके चारों पर्वोंमें अपनी शक्तिको न छिपाकर तथा प्रोषधके सब नियमोंको मानकर करना चाहिए । व्रती श्रावकके जो प्रोषधोपवास शील रूपसे रहता था वही प्रोषधोपवास इस चौथी प्रतिमावालेके व्रत रूपसे रहता है ।

ला. सं./७/१२-१३ अस्त्यत्रापि समाधानं वेदितव्यं तदुक्तवत् । सातिचारं च तत्र स्यादत्रातिचारव्रजितम् । १२। द्वादशव्रतमध्येऽपि विद्यते प्रोषधं व्रतम् । तदेवात्र समाख्यान विशेषस्तु विवक्षित । १३। = व्रत प्रतिमामें भी प्रोषधोपवास कहा है तथा यहाँ पर चौथी प्रतिमामें भी प्रोषधोपवास व्रत बतलाया है इसका समाधान वही है कि व्रत प्रतिमामें अतिचार सहित पालन किया जाता है । तथा यहाँ पर चौथी प्रतिमामें वही प्रोषधोपवास व्रत अतिचार रहित पालन किया जाता है । तथा व्रत प्रतिमा वाला श्रावक कभी प्रोषधोपवास करता था तथा कभी कारणवश नहीं भी करता था परन्तु चतुर्थ प्रतिमा वाला नियमसे प्रोषधोपवास करता है यदि नहीं करता तो उसकी चतुर्थ प्रतिमाकी हानि है । यही इन दोनोंमें अन्तर है । १२।

वसु. शा./टी./३७८/२७७/४ प्रोषधप्रतिमाधारी अष्टम्यां चतुर्दश्या च प्रोषधोपवासमङ्गीकरोतीत्यर्थः । व्रते तु प्रोषधोपवासस्य नियमो नास्तीति । = प्रोषध प्रतिमाधारी अष्टमी और चतुर्दशीका उपवास नियमसे करता है और व्रत प्रतिमामें जो प्रोषधोपवास व्रत बतलाया है उसमें नियम नहीं है ।

४. उपवास अपनी शक्तिके अनुसार करना चाहिए

घ. १३/४, ४, २६/५६/१२ पित्तपकोषेण उववास अक्वभेहि अद्वाहरेण उववासादो अहियपरिस्समेहि । = जो पित्तके प्रकोषवश उपवास करनेमें असमर्थ है, जिन्हे आधा आहारकी अपेक्षा उपवास करनेमें अधिक थकान होती है, उन्हे यह अवमौदर्य तप करना चाहिए ।

चा. पा./टी./२५/४५/१६ तदपि त्रिविधं प्रोषधोपवास भवति यथा कर्तव्यम् । = वह प्रोषधोपवास भी उत्तम, मध्यम व जघन्यके भेदसे तीन प्रकार का है । उनमेंसे कोई भी यथाशक्ति करना चाहिए ।

सा. घ./५/३५ उपवासाक्षमै कार्याऽनुपवासस्तदक्षमै । आचाम्ल-निर्विकृत्यादि, शक्या हि श्रेयसे तप । ३५। = उपवास करनेमें असमर्थ श्रावकोंके द्वारा जलको छोड़कर चारों प्रकारके आहारका त्याग किया जाना चाहिए, और उपवास करनेमें असमर्थ श्रावकोंके द्वारा आचाम्ल तथा निर्विकृति आदि रूप आहार किया जाना चाहिए, क्योंकि शक्तिके अनुसार किया गया तप कल्याणके लिए होता है । ३५।

* उपवास साधुको भी करना चाहिए—दे० सयत/३ ।

* व्रत मंग करनेका निषेध—दे० व्रत/१ ।

* उपवासमें फलेच्छाका निषेध—दे० अनशन/१ ।

५. अधिकसे अधिक उपवासोंकी सीमा

घ. ६/४, १, २२/८७-८६/५ जो एवकोववास काऊर्णं पारिय दो उववासे करेदि, पुणरवि पारिय तिण्ण उववासे करेदि । एवमेगुत्तरवड्हीए जाव जीविदत्तं तिगुत्तिपुत्तो हांदूण उववासे करेत्तो उगुगगतवो णाम । एव सत्ते छम्मासेहितो वड्ढिड्ढया उववासा हौति । तदो

णेद घड्ढि त्ति । ण एस दोसो, घादाउआणं मुणीणं छम्मासोववास-णियमब्भुवगमादो, णाप्पादाउआणं, तेसिमकाले मरणाभावो । अवादाउआ वि छम्मासोववासा चेव हौति, तदुवरि सकिलेमुप्पत्तोदो त्ति उत्ते होदु णाम एसो णियमो ससकिलेसाणं सोवक्कमाउआणं च, ण सकिलेसविरहिदणिरुवक्कमाउआणं तवोबलेणुप्पणविरियंत राह-यक्खओवसमाणं तववलेणेव मदीकसायादावेदणीओदयाणामेस णियमो, तरथ तव्विरोहादो । तवोबलेण एरिसी सत्ती महा-णम्मुप्पज्जदि त्ति कथ णव्वदे । एदम्हादो चेव मुत्तादो । कुदो । छम्मासेहितो उवरि उववासाभावे उगुगगतवाणुववत्तीदो । = जो एक उपवासको करके पारणा कर दो उपवास करता है, पश्चात् फिर पारणा कर तीन उपवास करता है । इस प्रकार एक अधिक वृद्धिके साथ जीवन पर्यन्त तीन गुप्तियोंसे रक्षित होकर उपवास-करनेवाला उग्रोत्तम श्रद्धिका धारक है । प्रश्न—ऐसा होनेपर छह माससे अधिक उपवास हो जाते हैं । इस कारण यह घटित नहीं होता ? उत्तर—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, घातायुष्क सुनियोंके छह मासके उपवासका नियम स्वीकार किया है, अघातायुष्क सुनियोंके नहीं, क्योंकि, उनका अकालमें मरण नहीं होता । प्रश्न—अघातायुष्क भी छह मास तक उपवास करनेवाले ही होते हैं, क्योंकि, इसके आगे सक्लेशभाव उत्पन्न हो जाता है ? उत्तर—इसके उत्तरमें कहते हैं कि सक्लेश सहित और सोपक्रमायुष्क सुनियोंके लिए यह नियम भले ही हो, किन्तु सक्लेशभावसे रहित निरुपक्रमायुष्क और तपके बलसे उत्पन्न हुए वीर्यन्तरायके क्षयोपशमसे सयुक्त तथा उसके बलसे ही असाता वेदनोयके उदयको मन्द कर चुकनेवाले साधुओंके लिए यह नियम नहीं है, क्योंकि उनमें इसका विरोध है । प्रश्न—तपके बलसे ऐसी शक्ति किसी महाजनके उत्पन्न होती है, यह कैसे जाना जाता है ? उत्तर—इसी सूत्रसे ही यह जाना जाता है, क्योंकि छह माससे ऊपर उपवासका अभाव माननेपर उग्रोत्तम तप बन नहीं सकता ।

घ १३/४, ४, २६/५६/१२ तत्थ चउत्थ-छट्ठट्ठम-दसम-दुवालसपक्ख-मास-उद्दु-अयण-सत्रच्छरेसु एसणपरिच्चाओ अणेसणं णाम तवो । = चौथे, छठे, आठवें, दसवें और बारहवें एषणका ग्रहण करना तथा एक पक्ष, एक मास, एक ऋतु, एक अयन अथवा एक वर्ष तक एषणका त्याग करना अनेषण नामका तप है ।

म पु./१०/२५-२६ का भावार्थ—आदिनाथ भगवान्ने छह महीनेका अनशन लेकर समाधि धारण की । उसके पश्चात् छह माह पर्यन्त अन्तराय होता रहा । इस प्रकार ऋषभदेवने १ वर्षका उत्कृष्ट तप किया ।

म पु./३६/१०६ गुरोरनुमतेऽधीतो वधदेकविहारिताम् । प्रतिमायोग-मावर्षम् आतस्थे किल सवृत । १०६। = गुरुकी आज्ञामें रहकर शास्त्रोंका अध्ययन करनेमें कुशल तथा एक विहारीपन धारण करने-वाले जितेन्द्रिय ब्राह्मवर्तीने एक वर्ष तक प्रतिमा योग धारण किया । १०६। (एक वर्ष पश्चात् उपवास समाप्त होनेपर भरतने स्तुति की तब ही कैवलज्ञान प्रगट हा गया) । (म. पु./३६/१५५) ।

६. उपवास करनेका कारण व प्रयोजन

पु. सि उ/१५१ सामायिकसस्कार प्रतिदिनमारोपितं स्थिरीकर्तुम् । पक्षार्द्धयोर्द्वयारपि कर्तव्योऽवश्यमुपवास । १५१। = प्रतिदिन अंगी-कार किये हुए सामायिक रूप सस्कारको स्थिर करनेके लिए पक्षोंके अर्ध भाग-अष्टमी चतुर्दशीके दिन उपवास अवश्य ही करना चाहिए । १५१।

७. उपवासका फल व महिमा

पु. सि उ/१५७-१६० इति य षोडशायामास् गमयति परिमुक्तसकल-सावद्य । तस्य तदानीं नियत पूर्णमहिमाव्रत भवति । १५७। भोगो-

पभोगहेतोः। म्थावरहिंसा भवेत्किंलामीषाम् । भोगोपभोगविरहाद्भवति न लेशोऽपि हिंसायाः । १५५। धागुप्तैर्नस्त्यनृतं न समस्तादानविरहत्, स्तेयम् । नात्रह्यमैथुनरुचः सङ्गो नाद्गोऽप्यमूर्खस्य । १५६। इत्थमशेषितहिंस' प्रयाति स महाव्रतित्वमुपचारात् । उदयति चरित्रमोहे लभते तु न संयमस्थानम् । १५७। = जो जीव इस प्रकार सम्पूर्ण पाप क्रियाओंसे परिमुक्त होकर १६ पहर गमाता है, उसके इतने समय तक निश्चय पूर्वक सम्पूर्ण अहिंसा व्रत होता है । १५७। भोगोपभोगके हेतुसे स्थावर जीवोंकी हिंसा होती है, किन्तु उपवासधारी पुरुषके भोगोपभोगके निमित्तसे जरा भी हिंसा नहीं होती है । १५८। क्योंकि बचनगुप्ति होनेसे झूठ बचन नहीं है, मैथुन, अदत्तादान और शरीरमें ममत्वका अभाव होनेसे क्रमशः अब्रह्म, चोरी व परिग्रहका अभाव है । १५९। उपवासमें पूर्ण अहिंसा व्रतकी पालना होनेके अतिरिक्त अवशेष चारों व्रत भी स्वयमेव पलते हैं । इस प्रकार सम्पूर्ण हिंसाओंसे रहित व प्रोषधोपवास करनेवाला पुरुष उपचारसे महाव्रतीपनेको प्राप्त होता है । अन्तर केवल इतना रह जाता है कि चारित्र्यमोहके उदय रूप होनेके कारण संयम स्थानको प्राप्त नहीं करता है । १६०।

व्रत विधान सं./पृ. २५ पर उद्धृत—अनेकपुण्यसंतानकारणं स्वनिबन्धनम् । पापघ्नं च क्रमादेतत् व्रतं मुक्तिवशीकरम् । १। यो विधत्ते व्रतं सारमेतत्सर्वसुखावहम् । प्राप्य धोडशमं नाकं स गच्छेत् क्रमशः शिवम् । २। = व्रत अनेक पुण्यकी सन्तानका कारण है, स्वर्गका कारण है, सूसारके समस्त पापोंका नाश करनेवाला है । १। जो महानुभाव सर्व सुखोत्पादक श्रेष्ठ व्रत धारण करते हैं, वे सोलहवें स्वर्गके सुखोंको अनुभव कर अनुक्रमसे अविनाशी मोक्ष सुखको प्राप्त करते हैं । २।

★ उपवास भी कथंचित् सावद्य है—दे० सावद्य ।

३. उपवासमें उद्यापनका स्थान

१. उपवासके पश्चात् उद्यापन करनेका नियम

धर्म परीक्षा/२०/२२ उपवासोंको विधि पूर्वक पूरा करनेपर फलकी वांछा करनेवालोंको उद्यापन भी अवश्य करना चाहिए । २२। सा. ध./२/७८ पञ्चम्यादिविधि कृत्वा, शिवान्ताभ्युदयप्रदम् । उद्भ्योतयेद्यथासंपन्नित्तिं प्रोत्सहेऽननः । ७८। = मोक्ष पर्यन्त इन्द्र चक्रवर्ती आदि पदोंको प्राप्त करानेवाले पंचमी, षष्ठी, सप्तमी तथा रत्नत्रय आदिक व्रत विधानोंको करके आर्थिक शक्तिके अनुसार उद्यापन करना चाहिए, क्योंकि नैमित्तिक क्रियाओंके करनेमें मन अधिक उत्साहको प्राप्त होता है ।

व्रत विधान संग्रह/पृ. २३ पर उद्धृत—सम्पूर्णे ह्यनुकर्तव्यं स्वशक्त्योद्यापनं बुधैः । सर्वथा येऽप्यशक्त्यादिव्रतोद्यापनसद्विधौ । = व्रतकी मर्यादा पूर्ण हो जानेपर स्व शक्तिके अनुसार उद्यापन करे, यदि उद्यापनकी शक्ति न होवे तो व्रतका जो विधान है उससे दूने व्रत करे ।

२. उद्यापन न हो तो दुगुने उपवास करे

धर्म परीक्षा/२०/२३ यदि किसीकी विधि पूर्वक उद्यापन करनेकी सामर्थ्य न हो तो द्विगुण (दुगुने काल तक दुगुने उपवास) विधि करनी चाहिए क्योंकि यदि इस प्रकार नहीं किया जाय तो व्रत विधि कैसे पूर्ण हो । (व्रत विधान सं./पृ. २३ पर उद्धृत) ।

३. उद्यापन विधि

व्रत विधान संग्रह/पृ. २३ पर उद्धृत—कर्तव्यं जिनागारे महाभिषेकमद्भुतम् । सर्वैश्चतुर्विधैः सार्धं महापूजादिकोत्सवम् । १। घण्टाचामरचन्द्रोपकभृङ्गार्थार्थिकादयः । धर्मोपकरणान्येव देय भक्त्या स्वशक्तित् । २। पुस्तकादिमहादानं भक्त्या देयं वृषाकरम् । महोत्सव यिथेय

सुवाद्यगीतादिनमंनै । ३। चतुर्विधाय सघायाहारदानादिकं मुदा । आमन्त्र्य परमभक्त्या द्वेषं सम्मानपूर्वकम् । ४। प्रभावना जितेन्द्राणां शासनं चैत्यधामनि । कुर्वन्तु यथाशक्त्या स्तोक चोद्यापनं मुदा । ५। = खूब ऊँचे-ऊँचे विशाल जिन मन्दिर बनवाये और उनमें बड़े समारोह पूर्वक प्रतिष्ठा कराकर जिन प्रतिमा विराजमान करे । पश्चात् चतु प्रकार सघके साथ प्रभावना पूर्वक महाभिषेक कर महापूजा करे । १। पश्चात् घण्टा, झालार, चमर, छत्र, सिंहासन, चन्दोवा, झारी, भृंगारी, आरती आदि अनेक प्रकार धर्मोपकरण शक्तिके अनुसार भक्ति पूर्वक देवे । २। आचार्य आदि महापुरुषोंको धर्मवृद्धि तथा ज्ञानवृद्धि हेतु शास्त्र प्रदान करे । और उत्तमोत्तम बाजे, गीत और नृत्य आदिके अत्यन्त आयोजनसे मन्दिरमें महात् उत्सव करे । ३। चतुर्विध संघको विशिष्ट सम्मानके साथ भक्ति पूर्वक झुलाकर अत्यन्त प्रमोदसे आहारादिक चतुःप्रकार दान देवे । ४। भगवात् जितेन्द्रके शासनका माहात्म्य प्रगट कर खूब प्रभावना करे । इस प्रकार अपनी शक्तिके अनुसार उद्यापनका व्रत विसर्जन करे । ५।

४. उपवासके दिन श्रावकके कर्तव्य अकर्तव्य

१. निश्चय उपवास ही वास्तवमें उपवास है

ध. १२/४.४.२६/५५/३ ण च चउव्विहआहारपरिच्चागो चैव अणेषणं, रागादीहि सह तच्चात्थस अणेषणभावम्भुवगमादो । अत्र श्लोकः—अप्रवृत्तस्य द्रोणेभ्यस्साहवासो गुणैः सह । उपवासस्स विज्ञेयो न शरीरविशोषणम् । ६। = पर इसका यह अर्थ नहीं कि चारो प्रकारके आहारका त्याग ही अणेषण कहलाता है । क्योंकि रागादिके त्यागके साथ ही उन चारोंके त्यागको अणेषण स्वीकार किया है । इस विषयमें एक श्लोक है—उपवासमें प्रवृत्ति नहीं करनेवाले जीवको अनेक दोष प्राप्त होते हैं और उपवास करनेवालेको अनेक गुण, ऐसा यहाँ जानना चाहिए । शरीरके शोषणको उपवास नहीं कहते ।

दे० प्रोषधोपवास/१/१ (इन्द्रिय विषयोंसे हटकर आत्मस्वरूपमें लीन होनेका नाम उपवास है ।)

२. उपवासके दिन आरम्भ करे तो उपवास नहीं लंघन होता है

का.आ./मू./१७८ उपवास कुर्वन्तो आरंभं जो करेदि मोहादो । सो गिय वेहं सोसदि ण भाडए कम्मसेसं पि । ३७८। = जो उपवास करते हुए मोहवश आरम्भ करता है वह अपने शरीरको सुखाता है उसके लेशमात्र भी कर्मोंकी निर्जरा नहीं होती । ३७८।

व्रतविधान संग्रह/पृ. २७ पर उद्धृत—कषायविषयारम्भस्यागो यत्र विधीयते । उपवास' स विज्ञेयो शेषं लङ्घनं विदुः । = कषाय, विषय और आरम्भका जहाँ संकल्प पूर्वक त्याग किया जाता है, वहाँ उपवास जानना चाहिए । शेष अर्थात् भोजनका त्याग मात्र लंघन है ।

३. उपवासके दिन स्नानादि करनेका निषेध

इन्द्रनन्दि संहिता/१४ पव्वदिणे ण वयेसु वि ण वंतकट्ठं ण अचमंतत्पं । ण हाणंजणणस्साणं परिहारां तस्स सण्णोओ । १४। = पर्व और व्रतके दिनमें स्नान, अंजन, नस्य, आचमन और तर्पणका त्याग समझना चाहिए । १४।

दे. प्रोषधोपवास/१/४ (उपवासके दिन स्नान, माला आदिका त्याग करना चाहिए ।)

४. उपवासके दिन श्रावकके कर्तव्य

दे प्रोषधोपवास/१/४.५ (गृहस्थके सर्दारम्भको छोड़कर मन्दिर अथवा निर्जन प्रसतिकामें जाकर निरन्तर धर्मध्यानमें समय व्यतीत करना चाहिए ।)

५. सामायिकादि करे तो पूजा करना आवश्यक नहीं

ला. सं./६/२०२ यदा सा क्रियते पूजा न दोषोऽस्ति तदापि वै । न क्रियते सा तदाप्यत्र दोषो नास्तीह कश्चन ।२०२।—प्रोषधोपवासके दिन भगवान् अरहन्सवेदको पूजा करे तो भी कोई दोष नहीं है । यदि उस दिन वह पूजा न करे (अर्थात् सामायिकादि साम्यभाव रूप क्रियामें जिताने) तो भी कोई दोष नहीं है ।२०२।

६. रात्रिको मन्दिरमें सोनेका कोई नियम नहीं

बसु.श्रा./२२६ दाऊण किंचि रत्ति सहज्जणं जिणालए णियघरे वा । अहवा सयलं रत्ति काउरसेण गेळण ।२२६।—रात्रिमें कुछ समय तक जिनालय अथवा अपने घरमें सोकर, अथवा सारी रात्रि कायोस्सर्गमें बिताकर अर्थात् बिलकुल न सोकर ।२२६।

प्रोष्ठिल—१. यह भाषि कालीन नवें तीर्थकर हैं । अपरनाम प्रश्न-कीर्ति व उदक है ।—दे० तीर्थकर/५ । २. श्रुतावतारकी पढावलीके अनुसार आप भद्रबाहु प्रथम (श्रुतकेवली) के पश्चात् ११ अंग व दश पूर्वधारी हुए । आपका समय—बी. नि. १७२-१६९. (ई. पू. ३५५-३३६) इष्टि नं. ३ के अनुसार बी. नि. २३२-२५९.—दे० इति४/४

प्लवंग संवत्—दे० इतिहास/२ ।

प्लुत स्वर—दे० अक्षर ।

[फ]

फल—१. फल वनस्पतिके भेद प्रभेद व लक्षण —दे० वनस्पति/१ । २. फलोंका भक्ष्याभक्ष्य विचार—दे० भक्ष्याभक्ष्य/४ । ३. कर्मोंका फल दान—दे० उदय; ४. कर्म फल चेतना—दे० चेतना/१ ।

फल चारण ऋद्धि—दे० ऋद्धि /४

फलदशमी व्रत—फलदशमी फल दश कर लेय । दश भावकके घर घर देय । यह व्रत श्वेताम्बर आम्नायमें प्रचलित है । (व्रतविधान सं./पृ. १३०) (नवलसाहस्रत वर्धमान पु०) ।

फल रस—दे० रस ।

फल राशि—त्रैराशिक विधानमें जो उत्तर या फलके रूपमें प्राप्त होता है ।—विशेष दे० गणित/II/५/२ ।

फालि—दे० काण्डक ।

फाहियान—चीनी यात्री था । ई० ४०२में भारतमें आया था । ई० ४०५ तक भारतमें रहा । (वर्तमान भारत इतिहास) (हिन्दू आरु कैनेडीज लिटरेचर) ।

फिलिप्स—यूनान देशका राजा था । मकदूनिया राजधानी थी । सश्राट् सिकन्दर इसका पुत्र था । समय—ई० पू० ३६०-३३६ (वर्तमान भारत इतिहास) ।

फूल दशमी व्रत—यह व्रत श्वेताम्बर आम्नायमें प्रचलित है । फूल दशभि दश फूलनि भाल । दश सुपात्र पहिनाय आहार । (व्रत विधान सं./पृ. १३०) (नवलसाहस्रत वर्धमान पु०) ।

फेनमालिनी—अपर विवेहस्थ एक विभ्रंग नदी—दे० लोक/५/८ ।

[ब]

बंग—भारत क्षेत्र पूर्व आर्यखण्डका एक देश —दे० मनुष्य/४ । २. वर्तमान बंगाल । मुह्यदेशके पूर्ववर्ती क्षेत्र । प्राचीन राजधानी कर्ण

सुवर्ण (बनसेना) थी, और वर्तमान राजधानी कालीघटपुरी (कलकत्ता) है ।

बन्ध—अनेक पदार्थोंका मिलकर एक हो जाना बन्ध कहलाता है । वह तीन प्रकारका है, जीवबन्ध, अजीवबन्ध और उभयबन्ध । संसार व धन आदि बाह्य पदार्थोंके साथ जीवको बँध देनेके कारण जीवके पर्याय भूत मिथ्यात्व व रागादि प्रत्यय जीवबन्ध या भावबन्ध है । स्कन्धनिर्माणका कारणभूत परमाणुओंका पारस्परिक बन्ध अजीव बन्ध या पुद्गलबन्ध है । और जीवके प्रवेशोंके साथ कर्म प्रवेशोंका अथवा शरीरका बन्ध उभयबन्ध या द्रव्यबन्ध है । इनके अतिरिक्त भी पारस्परिक संयोगसे बन्धके अनेक भेद किये जा सकते हैं । द्रव्य व भावबन्धमें भावबन्ध ही प्रधान हैं, क्योंकि इसके बिना कर्मों व शरीरका जीवके साथ बन्ध होना सम्भव नहीं है । मिथ्यात्व आदि प्रत्ययोंके निरोध द्वारा द्रव्य बन्धका निरोध हो जानेसे जीवको मोक्ष प्रगट होती है ।

१	बन्ध सामान्य निर्देश
१	बन्ध सामान्य निर्देश — १. निरुक्ति अर्थ; २. गति निरोध हेतु; ३. जीव व कर्म प्रवेशोंका परस्पर बन्ध ।
२	बन्धके भेद प्रभेद — १. बन्धके सामान्य भेद; २. नो आगम द्रव्य बन्धके भेद; ३. नो आगम भाव बन्धके भेद ।
३	वैज्ञानिक व प्रायोगिक बन्धके भेद १. वैज्ञानिक व प्रायोगिक सामान्य; २. सादि अनादि वैज्ञानिक ।
४	कर्म व नोकर्म बन्धके लक्षण — १. कर्म व नोकर्म सामान्य; २. आलापनादि नोकर्म-बन्ध
५	जीव व अजीव बन्धके लक्षण १. जीव भावबन्ध सामान्य; २. भावबन्धरूप जीवबन्ध ३. द्रव्यबन्ध रूप उभयबन्ध * अजीव बन्ध । —दे० स्कन्ध ।
*	बन्ध और युतिमें अन्तर । —दे० युति ।
६	अनन्तर व परम्परा बन्धका लक्षण ।
७	विपाक व अविपाक प्रत्ययिक जीव भावबन्धके लक्षण ।
८	विपाक व अविपाक प्रत्ययिक अजीव भावबन्ध ।
९	बन्ध अबन्ध व उपरतबन्धके लक्षण ।
*	एक सामयिक बन्धको बन्ध नहीं कहते । —दे० स्थिति/२ ।
*	प्रकृति स्थिति आदि । —दे० वह वह नाम ।
*	स्थिति व अनुभागबन्धकी प्रधानता । —दे० स्थिति/२ ।
*	आस्रव व बन्धमें अन्तर । —दे० आस्रव/१ ।
*	बन्धके साथ भी कथंचित् संवरका अंश । —दे० संवर/२/५ ।
*	मूल उत्तर प्रकृतियोंके बन्धकी प्ररूपणाएँ । —दे० प्रकृतिबन्ध/६ ।

- * सत्त्वके साथ बन्धका सामानाधिकरण्य नहीं है।
—दे० सत्त्व/२।
- * बन्ध उदय व सत्त्वमें अन्तर। —दे० उदय/२।
- २ **द्रव्यबन्धकी सिद्धि**
- १ शरीरसे शरीरधारी अभिन्न कैसे है।
- २ जीव व कर्मका बन्ध कैसे जाना जाये।
- ३ जीव प्रदेशोंमें कर्म स्थित है या अस्थित।
- ४ जीवके साथ कर्मोंका गमन कैसे समभव है।
- ५ अमूर्त जीवसे मूर्त कर्म कैसे बँधे—
१. क्योंकि जीव भी कथञ्चित् मूर्त है; २. जीव कर्म-
बन्ध अनादि है।
- ६ मूर्त कर्म व अमूर्त जीवके बन्धमें दृष्टान्त।
- ७ कर्म जीवके साथ समवेत होकर बँधते हैं या असमवेत
होकर।
- ८ कमबद्ध जीवमें चेतनता न रहेगी।
- * जीव व शरीरका एकत्व व्यवहारसे है।
—दे० कारक/२/२

- ९ बन्ध पदार्थकी क्या प्रामाणिकता।
- १० विस्रसोपचय रूपसे स्थित वर्णगणों ही बँधती है।

३ कर्म बन्धमें रागादि भावबन्धकी प्रधानता

- * द्रव्य व भाव कर्म सम्बन्धी। —दे० कर्म/३।
- १ द्रव्य, क्षेत्रादिकी अपेक्षा कर्मबन्ध होता है।
- २ अज्ञान व रागादि ही वास्तवमें बन्धका कारण है।
- ३ ज्ञानआदि भी कथञ्चित् बन्धके कारण है।
- ४ ज्ञानकी कमी बन्धका कारण नहीं, तत्सहभावी
कर्म ही बन्धका कारण है।
- ५ जघन्य कषायांश स्वप्रकृतिका बन्ध करनेमें असमर्थ है।
- ६ परन्तु उससे बन्ध सामान्य तो होता ही है।
- ७ भावबन्धके अभावमें द्रव्यबन्ध नहीं होता।
- ८ कर्मोदय बन्धका कारण नहीं रागादि ही है।
- ९ रागादि बन्धके कारण हैं तो बाह्य द्रव्यका निषेध क्यों।

४ द्रव्य व भावबन्धका समन्वय

- १ एक क्षेत्रावगाहमात्रका नाम द्रव्यबन्ध नहीं।
- २ जीव व शरीरकी भिन्नतामें हेतु।
- ३ जीव व शरीरमें निमित्त व नैमित्तिकपना भी
कथञ्चित् मिथ्या है।
- ४ जीव व कर्मबन्ध केवल निमित्तकी अपेक्षा है।
- ५ निश्चयसे कर्म जीवसे बँधे ही नहीं।
- ६ बन्ध अवस्थामें दोनों द्रव्योंका विभाव परिणमन ही
जाता है।

- ७ जीवबन्ध बतानेका प्रयोजन।
- ८ उभयबन्ध बतानेका प्रयोजन।
- ९ उभयबन्धका मतार्थ।
- १० बन्ध टालनेका उपाय।
- * अनादिके कर्म कैसे कटे। —दे० मोक्ष/६।
- ५ **कर्मबन्धके कारण प्रत्यय**
- * बन्धके कारण प्रत्ययोंका निर्देश व स्वामित्वादि।
—दे० प्रत्यय।
- १ कर्मबन्धमें सामान्य प्रत्ययोंका कारणपना।
- २ प्रत्ययोंके सद्भावमें वर्णगणोंका युगपत् कर्मरूप परि-
णमन क्यों नहीं होता।
- ३ एक प्रत्ययसे अनन्त वर्णगणोंमें परिणमन कैसे।
- ४ बन्धके प्रत्ययोंमें मिथ्यात्वकी प्रधानता क्यों।
- ५ कषाय और योग दो प्रत्ययोंसे बन्धमें इतने भेद क्यों।
- ६ अविरति कर्मबन्धमें कारण कैसे।
- * योगमें बन्धके कारणपने सम्बन्धी शंका समाधान।
—दे० योग।

१. बन्ध सामान्य निर्देश

१. बन्ध सामान्यका लक्षण

१. निरुक्ति अर्थ

- रा. वा. १/४/१०/२६/३ बध्यतेऽनेन बन्धनमात्रं वा बन्धः । १०।
- रा. वा. १/४/१७/२६/३० बन्ध इव बन्धः ।
- रा. वा. १/४/१७/२६/१० बध्नाति, बध्यतेऽसौ, बध्यतेऽनेन बन्धन-
मात्रं वा बन्धः ।
- रा. वा. १/२/१९/५६/१४ करणादिसाधनेष्वयं बन्धशब्दो द्रष्टव्यः । तत्र
करणसाधनस्तावत्—बध्यतेऽनेनात्मैति बन्धः = १. जिनसे कर्म बँधे
वह कर्मोंका बँधना बन्ध है। (१/४/१०) । २. बन्धकी भाँत होनेसे
बन्ध है। (१/४/१७) । ३. जो बन्धे या जिसके द्वारा बँधा जाये या
बन्धनमात्रको बन्ध कहते हैं। (५/२४/१) । ४ बन्ध शब्द करणादि
साधनमें देखा जाता है। करण साधनकी विवक्षामें जिनके द्वारा
कर्म बँधता है वह बन्ध है।

२ गति निरोध हेतु

- स. सि. ७/२५/३६६/२ अभिमतदेशगतिनिरोधहेतुबन्धः । = किसीको
अपने इष्ट स्थानमें जानेमें रोकनेके कारणको बन्ध कहते हैं।
- रा. वा. ७/२५/१/५६३/१६ अभिमतदेशगमनं प्रत्युत्सुकस्य तत्प्रतिबन्ध-
हेतु कालादिषु रज्ज्वादिभिर्बन्धित्तद्गो बन्ध इत्युच्यते। = खूँटा
आदिमें रस्सीमें इस प्रकार बँध देना जिससे वह इष्ट देशको गमन
न कर सके, उसको बन्ध कहते हैं। (चा. सा. ५/६) ।

३ जीव व कर्म प्रदेशोंका परस्पर बन्ध

- रा. वा. १/४/१७/२६/२६ आत्मकर्मणोरन्योन्यप्रवेशानुप्रवेशलक्षणा
बन्धः । १७। = कर्म प्रदेशोंका आत्मा प्रदेशोंमें एक क्षेत्रावगाह ही
जाता बन्ध है।

घ. १४/५.६.१/३ द्रव्यस्स द्रव्येण द्रव्य-भावाणं वा जो संजोगो सम-
बाओ वा सो बधो णाम । = द्रव्यका द्रव्यके साथ तथा द्रव्य और
भावका क्रमसे जो संयोग और समवाय है वही बन्ध कहलाता है ।
विशेष—दे० बन्ध/१/५ ।

२. बन्धके भेद-प्रभेद

१. बन्ध सामान्यके भेद

रा वा १/१/१४/४/५ बन्धः सामान्यादेशात् एकः, द्विविधः, शुभाशुभ-
भेदात्, त्रिधा द्रव्यभावोभयविकल्पात्, चतुर्धा प्रकृतिस्थित्यनुभाग-
प्रदेशभेदात्, पञ्चधा मिथ्यादर्शनादिहेतुभेदात्, षोडश नामस्थापना-
द्रव्यक्षेत्रकालभावै, सप्तधा तैरेव भवाधिकै, अष्टधा ज्ञानावरणादि-
मूलप्रकृतिभेदात् । एवं संख्येयासंख्येयानन्तविकल्पश्च भवति
हेतुफलभेदात् ।

रा. वा. १/२/१०/२/१२४/२४ बन्धो द्विविधो द्रव्यबन्धो भावबन्धश्चेति ।

रा. वा. ५/२४/६/४८७/१७ बन्धोऽपि द्विधा विससाप्रयोगभेदात् । ६ ।

रा. वा. ५/४/१५/२६६/१० एकादयः संख्येया विकल्पा भवन्ति—शब्दत्

तत्रैकस्तावत् सामान्यादेकः, कर्मबन्ध स एव पुण्यपापभेदाद्

द्विविधः, त्रिविधो बन्धः अनादिः सान्तः, अनादिरनन्तः, सादि

सान्ताश्चेति, भुजाकारारूपतरावस्थितभेदाद्वा । प्रकृतिस्थित्यनुभव-

प्रदेशाच्चतुर्विधः । द्रव्यक्षेत्रकालभावनिमित्तभेदात् पञ्चविधः ।

षड्जीवनिकायविकल्पात् षोडश व्यपदिश्यते । रागद्वेषमोहक्रोधमान-

मायालोभहेतुभेदात् सप्ततयी वृत्तिमनुभवति । ज्ञानावरणादिविक-

ल्पादष्टधा । एव संख्येया विकल्पा शब्दतो योज्याः । च-

शब्देनाध्यवसायस्थानविकल्पात् असंख्येया । अनन्तानन्तप्रदेश-

स्कन्धपरिणामविधिरनन्तः, ज्ञानावरणाद्यनुभवाविभागपरिच्छेदा-

पेक्षया वा अनन्तः । = १ सामान्यसे एक प्रकार है—(रा. वा. १/१

तथा रा. वा. ५/५) । २, पुण्य-पापके भेदसे दो प्रकार है—(रा. वा. १/१

तथा रा. वा. ५/५) । अथवा द्रव्यभावके भेदसे दो प्रकारका है—(रा.

वा. १/२) । अथवा वैश्वसिक या प्रायोगिकके भेदसे दो प्रकार है—(घ.

ख. १४/५.६/सू. २६/२५), (स. सि. ५/२४/२६५/७), (रा. वा. ५/५) ;

(त. सा. १/३/६७) । ३ द्रव्य, भाव व उभय या जीव, पुद्गल व

उभयके भेदसे तीन प्रकार है । (रा. वा. १/१), (प्र. सा. ५/१७७),

(घ. १३/५.६.८२/३४७/७), (पं. घ. ३/५६) । अथवा अनादि सान्त

अनादि अनन्त व सादि सान्तके भेदसे तीन प्रकार है । (रा. वा. ५/५),

४. प्रकृति, स्थिति, अनुभव व प्रदेशके भेदसे चार प्रकार है—(सू.

आ. १/२२१), (त. सू. ५/३), (रा. वा. १/१ तथा रा. वा. ५/५), (मा.

क. सू. ५/६/७३), (द्र. स. सू. ३/३), (प. घ. ३/६३५) ; ५. मिथ्यात्व,

अविरत, प्रमाद, कषाय और योगके भेदसे पाँच प्रकारका है । (रा.

वा. १/१) । अथवा द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव व भवके भेदसे पाँच प्रकार

है । (रा. वा. ५/५) । ६ नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल व भावके

भेदसे छह प्रकार है । (रा. वा. १/१) । अथवा षट्काय जीवोके भेदसे

छह प्रकार है—(रा. वा. ८/८) । ७ नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल,

भाव व भवके भेदसे सात प्रकार है—(रा. वा. १/१) । अथवा राग,

द्वेष, मोह, क्रोध, मान, माया, लोभके भेदसे सात प्रकार है—(रा.

वा. ८/८) । ८ ज्ञानावरणादि मूल प्रकृतियोंके भेदसे आठ प्रकार है ।

(रा. वा. १/१ तथा रा. वा. ८/८), (प्रकृति बन्ध/१) । ९. वाचक शब्दों-

की अपेक्षा संख्यात; अध्यवसाय स्थानीकी अपेक्षा असंख्यात, तथा

कर्म प्रदेशोकी अथवा कर्मोंके अनुभाग प्रतिच्छेदोकी अपेक्षा अनन्त

प्रकार है । (रा. वा. १/१ तथा रा. वा. ५/५) ।

२. नोआगम द्रव्यबन्धके भेद

घ. ख. १४/५.६/सूत्र नं. /पृष्ठ नं. जो सो णो आगमदो द्रव्यबंधो सो
दुविहो—पञ्चोअबंधो चैव विससाबंधो चैव (२६/२५) । जो सो
विससाबंधो णाम सो दुविहो—सादियविससाबंधो चैव अणादिय-

विससाबंधो चैव (२५/२५) । जो सो थप्पो पञ्चोअबंधो णाम सो
दुविहो—कम्मबंधो चैव णोकम्मबंधो—चैव (३५/३६) । जो सो
णोकम्मबंधो णाम सो पञ्चविहो—आलावणबंधो अल्लीवणबंधो
संसिलेसबंधो सरीरबंधो सरीरिबंधो चेदि (४०/३७) । जो
सो सरीरबंधो णाम सो पञ्चविहो—ओरासियसरीरबंधो
वेडवियसरीरबंधो आहारसरीरबंधो तेषासरीरबंधो
कम्मइयसरीरबंधो चेदि (४४/४१) । जो सो सरीरबंधो णाम
सो दुविहो—सादियसरीरबंधो चैव अणादियसरीरबंधो चैव
(६१/४४) । जो सो थप्पोकम्मबंधो णाम यथा कम्मंति तहा णेदब्बं
(६४/४६) । = १. नोआगम द्रव्यबन्ध दो प्रकारका है—प्रायोगिक व
वैश्वसिक (स. सि. ५/२४/२६५/७), (रा. वा. ५/२४/६/४८७/१७) ;
(त. सा. १/३/६७) । २ वैश्वसिक दो प्रकारका है—सादि व अनादि ।
(रा. वा. ५/२४/७/४८७/१६) । ३. प्रायोगिक दो प्रकार है—कर्म नो-
कर्म (स. सि. ५/२४/२६५/१०), (रा. वा. ५/२४/६/४८७/३४), (त.
सा. १/३/६७) । ४. नोकर्म बन्ध पाँच प्रकारका है—आलापन, अल्ल
लीवन, संश्लेष, शरीर व शरीरी (रा. वा. ५/२४/६/४८७/३५)
५ शरीरबन्ध पाँच प्रकार है—औदारिक, वैश्वसिक, आहारक, तैजर
व कार्मण (रा. वा. ५/२४/६/४८७/३), (विशेष—दे० शरीर)
६ शरीरी बन्ध दो प्रकार है—सादि व अनादि (रा. वा. ५/२४/६/
४८८/१४) । ७. कर्म बन्ध कर्म अनुयोग द्वारवत् जानना अर्थात्
ज्ञानावरणादि रूप मूल व उत्तर प्रकृतियोंकी अपेक्षा अनेक भेद-प्रभेद
रूप है । (रा. वा. ५/२४/६/४८७/३४), (विशेष—दे० प्रकृतिबंध/१) ।

३. नो आगम भावबन्धके भेद

घ. ख. १४/५.६/सूत्र नं. /पृष्ठ नं. जो सो णोआगमदो भावबंधो णाम सो
दुविहो—जीवभावबंधो चैव अजीवभावबंधो चैव (१३/१५) । जो
सो जीवभावबंधो णाम सो तिविहो—विवागपञ्चइयो जीवभावबंधो
चैव अविवागपञ्चइयो जीवभावबंधो चैव तदुभयपञ्चइयो जीवभाव-
बंधो चैव (१४/१६) । जो सो अविवागपञ्चइयो जीवभावबंधो णाम
सो दुविहो—उवसमिधो अविवागपञ्चइयो जीवभावबंधो चैव खइयो
अविवागपञ्चइयो जीवभावबंधो चैव (१६/१२) । जो सो अजीवभाव-
बंधो णाम सो तिविहो विवागपञ्चइयो अजीवभावबंधो चैव अविवाग-
पञ्चइयो अजीवभावबंधो चैव तदुभयपञ्चइयो अजीवभावबंधो चैव
(२/२२०) । = १. नो आगम भावबन्ध दो प्रकारका है—जीव भाव
बन्ध और अजीव भावबन्ध (१३/१५) । २ जीव भावबन्ध तीन
प्रकारका है—विपाक प्रत्ययिक जीवभावबन्ध अविपाक प्रत्ययिक
जीवभावबन्ध, और तदुभय प्रत्ययिक जीवभावबन्ध (१४/१६) ।
३. अविपाक प्रत्ययिक जीवभावबन्ध दो प्रकारका है—औपशमिक
अविपाक प्रत्ययिक जीवभावबन्ध और क्षादिक अविपाक प्रत्ययिक
जीवभावबन्ध (१६/१२) । ४. अजीव भावबन्ध तीन प्रकारका है—
विपाक प्रत्ययिक अजीवभावबन्ध, अविपाक प्रत्ययिक अजीव भाव-
बन्ध और तदुभय प्रत्ययिक अजीवभावबन्ध (२/१२२) ।

३. वैश्वसिक व प्रायोगिक बन्धके लक्षण

१. वैश्वसिक व प्रायोगिक सामान्य

स. सि. ५/२४/२६५/७ पुरुषप्रयोगानपेक्षो वैश्वसिक । पुरुषप्रयोग-
निमित्त प्रायोगिक । = पुरुष प्रयोगसे निरपेक्ष वैश्वसिक है और
पुरुष प्रयोग सापेक्ष प्रायोगिक । (रा. वा. ५/२४/५-६/४८७/३०),
(घ. १४/५.६/३५/३७/१), (त. सा. १/३/६७) ।

२. सादि, अनादि वैश्वसिक

घ. ख. १४/५.६/सूत्र नं. /पृष्ठ नं. जो सो अणादियविससाबंधो णाम सो
तिविहो—धम्मत्थिया अधम्मत्थिया अणासत्थिया चेदि (२६/२६) ।

जो सो थपवो सादियविस्ससाबंधो णाम तस्स इमो णिहोसो—वेमादा णिहदा वेमादा वहुवखदा बंधो (३२/३०) । से त बंधणपरिणामं पप्प से अन्धाणं वा मेहाणं वा सज्झाणं वा विज्जुणं वा उक्काणं वा कणयाणं वा दिसादाहणं वा धूमकेदूणं वा इंदाउहाणं वा से छेत्तं पप्प कालं पप्प उडु पप्प अघणं पप्प पोग्गलं पप्प जे चामण्णे एवमादिया अमंगलपहुडोणि बंधणपरिणामेण परिणमति सो सब्बो सादियविस्ससाबंधो णाम (३७/३४) । = अनादि वैज्ञसिक बन्ध तीन प्रकारका है—धर्म, अधर्म तथा आकाश (३०/२६) । इनके अतिरिक्त इनके भी तीन-तीन प्रकार है—सामान्य, देश व प्रदेशमें परस्पर बन्ध । सिन्ध रुक्ष गुणके कारण पुद्गल परमाणुमें बंध सादि वैज्ञसिक है (३२/३०) वे पुद्गल बन्धनको प्राप्त होकर विविध प्रकारके अन्ध-रूपसे, मेघ, सन्ध्या, बिजली, उल्का, कनक, दिशादाह, धूमकेतु, इन्द्रधनुष रूपसे, तथा क्षेत्र, काल, ऋतु, अयन और पुद्गलके अनुसार जो बन्धन परिणामरूपसे परिणत होते हैं, तथा इनको लेकर अन्य जो अमंगलप्रभृति बन्धन परिणाम रूपसे परिणत होते हैं, वह सब सादि विज्ञसाबंध हैं । (३७/३४), (रा. वा. /५/२४/७/४८७/१६) ।

रा. वा. /५/२४/७/४८७/२५ कालाणूनामपि सतत परस्परविरलेषाभावाद अनादिः । = इसी प्रकार काल, द्रव्य आदिमें भी बन्ध अनादि है ।

४. कर्म व नोकर्मबंधके लक्षण

१. कर्म व नोकर्म सामान्य

रा. वा. /५/२४/६/४८७/३४ कर्मबन्धो ज्ञानावरणादिरष्टतयो वक्ष्यमाणः । नोकर्मबन्धः औदारिकादिविषयः । = ज्ञानावरणादि कर्मबन्ध है—विशेष दे०—प्रकृतिबन्ध । और औदारिकादि नोकर्मबन्ध है—विशेष दे० शरीर ।

रा. वा. /५/भूमिका/५६१/५ मातापितृपुत्रस्नेहसंबन्धः, नोकर्मबन्धः । = माता, पिता पुत्र आदिका स्नेह सम्बन्ध नोकर्म बन्ध है ।

दे० आगे बंध. २/५/३ (जीव व पुद्गल उभयबन्ध भी कर्मबन्ध कहा-लाता है ।)

२. आलापन आदि नोकर्म बन्ध

ष. ख. १४/५.६/सू. ४१-६३/३८-४६ जो सो आलापणबंधो णाम तस्स इमो णिहोसो—सेसगहाणं वा जाणणं वा जुगाणं वा गड्डीणं वा गिह्णीणं वा रहाणं वा संदणायणं वा सिवियाणं वा गिहाणं वा पासा-दाणं वा गेधुराणं वा तोरणायणं वा से कट्टेण वा लोहेण वा रज्जुणा वा वम्भेण वा दम्भेण वा जे चामण्णे एवमादिया अण्णदव्वाणमण्ण-दव्वेहि आलावियाणं बंधो होदि सो सब्बो आलापणबंधो णाम । ४१। जो सो अल्लोवणबंधो णाम तस्स इमो णिहोसो से कडयाणं वा कुडुणं वा गोबरपीडाणं वा पागाराणं वा साडियाणं वा जे चामण्णे एवमादिया अण्णदव्वाणमण्णदव्वेहि अल्लोविदाणं बंधो होदि सो सब्बो अल्लोवणबंधो णाम । ४२। जो सो ससिलेसबंधो णाम तस्स इमो णिहोसो—जहा कट्ट-जदणं अण्णोणससिलेसिदाणं बंधो संभवदि सो सब्बो संसिलेसबंधो णाम । ४३। जो सा सरीरबंधो णाम सो पंच-विहो—ओरालियसरीरबंधो वेउव्वियसरीरबंधो आहारसरीरबंधो तेयासरीरबंधो कम्मइयसरीरबंधो चेदि । ४४। ओरालिय-ओरालिय-सरीरबंधो । ४५। ओरालिय-तेयासरीरबंधो । ४६। ओरालिय-कम्मइय-सरीरबंधो । ४७। ओरालिय-तेयाकम्मइयसरीरबंधो । ४८। वेउव्विय-वेउव्वियसरीरबंधो । ४९। वेउव्विय-तेयासरीरबंधो । ५०। वेउव्विय-कम्मइयसरीरबंधो । ५१। वेउव्विय-तेया-कम्मइयसरीरबंधो । ५२। आहार-आहारसरीरबंधो । ५३। आहार-तेयासरीरबंधो । ५४। आहार-कम्मइयसरीरबंधो । ५५। आहार-तेया-कम्मइयसरीरबंधो । ५६। तेया-तेयासरीरबंधो । ५७। तेया-कम्मइयसरीरबंधो । ५८। कम्मइय-कम्मइय-सरीरबंधो । ५९। सो सब्बो सरीरबंधो णाम । ६०। जो सो सरीरबंधो

णाम सो वुविहो—सादियसरीरबंधो चैव अणादियसरीरबंधो चैव । ६१। जो सो मादियसरीरबंधो णाम सो जहा सरीरबंधो तथा पेदव्वो । ६२। जो अणादियसरीरबंधो णाम यथा अरूठणं जीवमउक्क-पदेसाण अण्णोणपदेसबंधो भवदि सो सब्बो अणादियसरीरबंधो णाम । ६३। (इतरेषां प्रवेशानां कर्मनिमित्तसंहरणविसर्पणरवभाव-खादिमात् । रा. वा.) । = १. जो आलापनबन्ध है उसका यह निर्देश है—जो शकटोका, यानोका, युगोका, गड्डियोका, गिह्णियो-का, रथो, स्यन्दनी, शिविकाओ, गृहो, प्रासादी, गोपुरो, और तोरणोका काष्ठसे, लोह, रस्सी, चमडेकी रस्सी और दर्भसे जो बन्ध होता है तथा इनसे लेकर अन्य द्रव्योसे आलापित अन्य द्रव्योका जो बन्ध होता है वह सब आलापनबन्ध है । ४१। २. जो अल्लोवणबन्ध है उसका यह निर्देश है—कटकोका, कुण्डो, गोबरपीडो, प्राकारो और शाटिकाओका तथा इनसे लेकर और जो दूसरे पदार्थ हैं उनका जो बन्ध होता है अर्थात् अन्य द्रव्यसे सम्बन्धको प्राप्त हुए अन्य द्रव्यका जो बन्ध होता है वह सब अल्लोवणबन्ध है । ४२। ३. जो संश्लेषबन्ध है उसका यह निर्देश है—जैसे परस्पर संश्लेषको प्राप्त हुए काष्ठ और लाखका बन्ध होता है वह सब संश्लेषबन्ध है । ४३।—विशेष दे० श्लेष । ४. जो शरीरबन्ध है वह पाँच प्रकारका है—औदारिक, वैक्रियिक, आहारक, तैजस और कर्मण शरीरबन्ध । ४४। औदारिक-औदारिक शरीरबन्ध । ४५। औदारिक-तैजसशरीरबन्ध । ४६। औदा-रिक-कर्मण शरीरबन्ध । ४७। औदारिक-तैजस कर्मण शरीरबन्ध । ४८। वैक्रियिक-वैक्रियिक शरीरबन्ध । ४९। वैक्रियिक-तैजस शरीर-बन्ध । ५०। वैक्रियिक-कर्मण शरीरबन्ध । ५१। वैक्रियिक-तैजस कर्मण शरीरबन्ध । ५२। आहारक-आहारक शरीरबन्ध । ५३। आहा-रकतैजस शरीरबन्ध । ५४। आहारक-कर्मण शरीरबन्ध । ५५। आहारक-तैजस-कर्मण शरीरबन्ध । ५६। तैजस-तैजस शरीरबन्ध । ५७। तैजस-कर्मण शरीरबन्ध । ५८। कर्मण-कर्मण शरीरबन्ध । ५९। वह सब शरीरबन्ध है । ६०। ५. जो शरीरबन्ध है वह दो प्रकारका है—सादि शरीरबन्ध और अनादि शरीरबन्ध । ६१। जो सादि शरीरबन्ध है—वह शरीरबन्धके समान जानना चाहिए । ६२। जो अनादि शरीरबन्ध है । यथा—जीवके आठ मध्यप्रवेशोका परस्पर प्रवेश-बन्ध होता है यह सब अनादि शरीरबन्ध है । ६३। (जीवके इतर प्रवेशोका बन्ध सादि शरीरबन्ध है रा. वा.), (रा. वा. /५/२४ ६/४८७/३६) ।

५. जीव व अजीवबन्धके लक्षण

१. जीवबन्ध सामान्य

ध. १३/५ ५.८२/३४७/८.११ एगसरोरटिठदाणमणं ताणं ताणं णिगोवजीवाणं अण्णोणबंधो सो' (तथा) जेण कम्मणेण जीवा अणं ताणं ता एक्कम्मि सरीरे अच्छंति तं कम्मं जीवबंधो णाम । = एक शरीरमें स्थित अनन्तानन्त निगोद जीव तथा जिस कर्मके कारणसे वे इस प्रकार रहते हैं, वह कर्म भी जीवबन्ध है ।

२. भावबन्ध रूप जीवबन्ध

प्र. सा /सू. १७५ उवओगमओ जीवो मुडुक्खि रउजेदि वा पडुस्सेदि । पप्पा विविधे विसये जो हि पुणो तेहि सबंधो । १७५। = जो उपयोग-मय जीव विविध विषयोको प्राप्त करके मोह-राग-द्वेष करता है, वह जीव उनके द्वारा बन्धरूप है ।

रा. वा. /२/१०/२/१२४/२४ क्रोधादिपरिणामवशीकृतो भावबन्धः । = क्रोधादि परिणाम भावबन्ध है ।

भ. आ. /वि. ३८/१३४/१६ बध्यन्ते अस्वतन्त्रीक्रियन्ते कर्मणद्रव्याणि येन परिणामेन आरमन्तः स बन्धः । = कर्मको परतन्त्र करनेवाले आत्म-परिणामोका नाम बन्ध-भावबन्ध है ।

प्र. सा./त. प्र./१७६-१७७ येनेव माहुरूपेण रागरूपेण द्वेषरूपेण वा भावेण पश्यति जानाति च तेनैवोपरज्यते एव । योऽयमुपराम' स खलु स्निग्धरूक्षस्वस्थानीयो भावबन्ध' । १७६। यस्तु जीवस्यौपाधिकमोह-रागद्वेषपर्यायैरेकत्वपरिणाम' स केवलजीवबन्ध' । १७७। = जिस मोह-राग वा द्वेषरूप भावसे देखता और जानता है, उसीसे उपरक्त होता है, यह तो उपराम है यह वास्तवमें स्निग्ध रूक्षस्व स्थानीय भावबन्ध है । १७६। जोवका औपाधिक मोह-राग-द्वेषरूप पर्यायके साथ जो एकत्व परिणाम है, सो केवल जीवबन्ध है ।

प्र. सं./मू. ३२ वज्रकदि कम्मं जेण द्दु चेदणभावेण भावबन्धो सो । ३२। = जिस चेतन परिणामसे कर्म बंधता है, वह भावबन्ध है । ३२।

द्र. सं./टी./३२/११/१० मिथ्यास्वरागादिपरिणतिरूपेण वाशुद्धचेतन-भावेन परिणामेन बध्यते ज्ञानावरणादि कर्म येन भावेन स भावबन्धो भण्यते । = मिथ्यास्व रागादिमें परिणति रूप अशुद्ध चेतन भाव स्वरूप जिस परिणामसे ज्ञानावरणादि कर्म बंधते हैं, वह परिणाम भावबन्ध कहलाता है ।

१. द्रव्यबन्धरूप जीवपुद्गल उभयबन्ध

त. सू./८/२ सकषायस्वाञ्जीवः कर्मणो योग्यात् पुद्गलानादत्ते स बन्धः । २। = कषाय सहित होनेसे जीव कर्मके योग्य पुद्गलोंको ग्रहण करता है, वह बन्ध है । २।

स. सि./१/४/१४/४ आत्मकर्मणोरन्योन्यप्रवेशानुप्रवेशात्मकोऽजीवः । = आत्मा और कर्मके प्रवेशोंका परस्पर मिल जाना अजीव बन्ध है । (रा. वा. /१/४/१७/२६/२६) ।

स. सि./८/२/३७७/११ अतो मिथ्यादर्शनाद्यावेशादाद्रीकृतस्यात्मनः सर्वतो योगविशेषात्तेषां सूक्ष्मैकक्षेत्रावगाहिनामनन्तानन्तप्रवेशानां पुद्गलानां कर्मभावयोग्यानामभिभागेनोपश्लेषो बन्ध इत्याख्यायते । यथा भाजनविशेषे प्रक्षिप्तानां विविधरसकीजपुष्पफलानां मदिरा-भावेन परिणामस्तथा पुद्गलानामप्यात्मनि स्थितानां योगकषाय-वशात्कर्मभावेन परिणामो वेदितव्यः । = मिथ्यादर्शनादिके अभिनि-वेश द्वारा गीले किये गये आत्माके सब अवस्थाओंमें योगविशेषसे, उन सूक्ष्म एक क्षेत्रावगाही अनन्तानन्त कर्मभावको प्राप्त होने योग्य पुद्गलोंका उपश्लेष होना बन्ध है । यह कहा गया है । जिस प्रकार पात्र विशेषमें प्रक्षिप्त हुए विविध रसवाले बीज, फल और फलोंका मदिरा रूपसे परिणमन होता है, उसी प्रकार आत्मामें स्थित हुए पुद्गलोंका भी योग और कषायके निमित्तसे कर्मरूपसे परिणमन जानना चाहिए । (रा. वा. /८/२/८-६/६६/६) ; (क. पा. /१/१३. १४/ /१३५०-२६१/४) (घ. १३/६. ६. २/३४७/१३) ; (द्र. सं. /मू. व. टी. /३२) ; (गो. क. /जी प्र. /३३/२७/२) ।

न. च. वृ./१५४ अपपपरसामुत्ता पुद्गलसस्ती तहाविहा णेया । अण्णोण्णं भिक्खलता बंधो खलु होइ णिदाइ । १५४। = आत्म प्रवेश और पुद्गल-का अन्योन्य मिलन बन्ध है (जीव बन्ध है का. अ.) ; (का. अ. /मू. / २०३) ; (द्र. सं. /टी. /२८/५६/११) ।

घ. १३/६. ६. २/३४७/१० आरालिय-वेडविय-आहार-तैया-कम्मइयव-ग्गणं जोवणं जो बंधो सो जीवपोगलबंधो णाम । = औदारिक-वैक्रियक-आहारक-सैजस और कर्मण वर्गणाएँ ; इनका और जीवों-का जो बंध है वह जीव-पुद्गलबंध है ।

भ. आ./वि./३/१३४/१० बध्यते परवशातामापद्यते आत्मा येन स्थिति-परिणतेन कर्मणां तरकर्म बन्धः । = स्थिति परिणत जिस कर्मके द्वारा आत्मा परतन्त्र किया जाता है, वह कर्म 'बन्ध' है ।

प्र. सा./त. प्र./१७७ यः पुनः जीवकर्मपुद्गलयोः परस्परपरिणामनिमित्त-मात्रेण विशिष्टतरः परस्परभवगाह' स तदुभयबन्धः । = जीव और कर्म पुद्गलके परस्पर परिणामके निमित्तमात्रसे जो विशिष्टतर परस्पर अवगाह है सो उभयबंध है । (पं. घ. /उ. /४७) ।

गो. क. /जी प्र. /४३८/६६१/१४ मिथ्यात्वादिपरिणामैर्यत्पुद्गलद्रव्यं ज्ञाना-वरणादिवरूपेण परिणमति तच्च ज्ञानादीन्यादृणोतीत्यादि संबन्धो बन्धः । = मिथ्यात्वादि परिणामोंके द्वारा जो पुद्गल द्रव्य ज्ञानावर-णादि रूप परिणमित होकर ज्ञानादिको आवरण करता है । इनका यह संबंध है सो बंध है ।

पं. घ. /उ. /१०४ जीवकर्मोभयो बन्ध' स्यान्मिथः साभिलापुकः । जीव' कर्मनिबद्धो हि जीवबद्ध' हि कर्म तत् । १०४। = जो जीव और कर्मका परस्परमें एक दूसरेकी अपेक्षासे बन्ध होता है, वह उभयबन्ध कह-लाता है । क्योंकि जीव कर्मसे बंधा हुआ है तथा वह कर्म जीवसे बंधा हुआ है ।

२. अनन्तर व परम्पराबन्धका लक्षण

घ. १२/४. २. १२. १/३७०/७ कम्मइयवग्गणाए दिट्ठधोगलवखंधा मिच्छ-त्तादिपच्चएहि कम्मभावेण परिणदपढमसमए अणंतरबंधा । कधमेदिसि-मणंतरबंधत्तं । कम्मइयवग्गणपज्जयपरिच्चत्ताणंतरसमए चैव कम्म-पच्चएण परिणयत्तादो । ...बंधविदियसमयपहुट्ठि कम्मपोगलवखं-धाणं जीवपवेसाणं च जो बंधो सो परंपरबंधो णाम । ...पढमसमए बंधो जादो, विदियसमये वि तैसि पोगल्लाणं बंधो चैव, तिदिय-समये वि बंधो चैव, एव बंधस्स णिरंतरभावो बंधपरपरा णाम । ताए बंधापरंपराबंधा त्ति दट्ठव्वा ।

घ. १२/४. २. १२. ४/३७२/२ णाणावरणीयकम्मवखंधा अणंताणंता णिरं-तरमणोणोहि संबद्धा होवूण जे दिट्ठा ते अणंतरबंधा णाम । ...अणं-ताणंता कम्मपोगलवखंधा अणोणसंबद्धा होवूण सेसकम्मवखंधेहि असंबद्धा जीवदुवारेण इदरेहि संबंधमुवगया परंपरबंधा णाम । = १. कर्मण वर्गणा स्वरूपसे स्थित पुद्गल स्कन्धोंका मिथ्यात्वादिप्रत्ययकोके द्वारा कर्म स्वरूपसे परिणत होनेके प्रथम समयमें जो बन्ध होता है उसे अनन्तरबन्ध कहते हैं । ...चूँकि वे कर्मण वर्गणा रूप पर्यायको छोड़नेके अनन्तर समयमें ही कर्म रूप पर्यायसे परिणत हुए हैं, अतः उनकी अनन्तरबन्ध संज्ञा है । ...बन्ध होनेके द्वितीय समयसे लेकर कर्म रूप पुद्गल स्कन्धों और जीवप्रदेशोंका जो बन्ध होता है उसे परम्परा बन्ध कहते हैं । ...प्रथम समयमें बन्ध हुआ, द्वितीय समयमें भी उन पुद्गलोंका बन्ध ही है, तृतीय समयमें भी बन्ध ही है, इस प्रकारसे बन्धकी निरन्तरताका नाम बन्ध परम्परा है । उस परम्परासे होनेवाले बन्धोंको परम्परा बन्ध समझना चाहिए । २ जो अनन्तानन्त ज्ञानावरणीय कर्म रूप स्कन्ध निरन्तर परस्परमें सम्बद्ध होकर स्थित हैं वे अनन्तर बन्ध हैं । ...जो अनन्ता-नन्त कर्म-पुद्गल स्कन्ध परस्परमें संबद्ध होकर शेषकर्म संबद्धोंसे असंबद्ध होते हुए जीवके द्वारा इतर स्कन्धोंसे सम्बन्धको प्राप्त होते हैं, वे परम्परा बन्ध कहे जाते हैं ।

३. विपाक व अविपाक प्रत्ययिक जीव भाव बन्धके लक्षण

घ. १४/६. ६. १४/१०/२ कम्माणमुदयो उदीरणा वा विवागो णाम । विवागो पच्चओ कारणं जस्स भावस्स सो विवागपच्चइओ जीवभाव-बंधो णाम । कम्माणमुदयउदीरणाणमभावो अविवागो णाम । कम्माणमुवससो खओ वा अविवागो त्ति भणिदं होदि । यविवागो पच्चओ कारणं जस्स भावस्स सो अविवागपच्चइयो जीवभावबंधो णाम । कम्माणमुदय-उदीरणाहितो तदुवसमेण च जो उप्पज्जइ भावो सो तदुभयपच्चइयो जीवभावबंधो णाम । = कर्मोंके उदय और उदीरणाको विपाक कहते हैं; और विपाक जिस भावका प्रत्यय अर्थात् कारण है उसे विपाक प्रत्ययिक जीवभावबन्ध कहते हैं (अर्थात् जीवके औदयिक भाव वे० उदय/१) । कर्मोंके उदय और उदीरणाके अभावको अविपाक कहते

है। कर्मिके उपशम और क्षयको अविपाक कहते हैं, यह उक्त कथन-का तात्पर्य है। अविपाक जिस भावका प्रत्यय है उसे अविवाक प्रत्ययिक जीव भावबन्ध कहते हैं। (अर्थात् जीवके औपशमिक व क्षायिक भाव (दे० उपशम/६)। कर्मिके उदय और उदीरणासे तथा इनके उपशमसे जो भाव उत्पन्न होता है, उसे तदुभय प्रत्ययिक जीवभावबन्ध कहते हैं। (अर्थात् जीवके क्षायोपशमिक भाव—दे० क्षायोपशम)।

८. विपाक अविपाक प्रत्ययिक अजीवभावबन्ध

प. ख. १४/५, ६/सू. २१-२३/२३-२६—पओगपरिणदा वण्णा पओगपरिणदा सद्दा पओगपरिणदा गधा पओगपरिणदा रस्ता पओगपरिणदा फासा पओगपरिणदा गदी पओगपरिणदा ओगाहणा पओगपरिणदा संठाणा पओगपरिणदा खंधा पओगपरिणदा खंधदेसा पओगपरिणदा खंधपदेशा जे चामण्णे एवमादिया पओगपरिणदसजुत्ता भावा सो सब्बो विवागपच्चइओ अजीवभावबन्धो णाम १२१। जे चामण्णे एवमादिया विस्ससापरिणदा सजुत्ता भावा सो सब्बो अविवागपच्चइओ अजीवभावबन्धो णाम १२२। जे चामण्णे एवमादिया पओअविस्ससापरिणदा सजुत्ता भावा सो सब्बो तदुभयपच्चइओ अजीवभावबन्धो णाम १२३।

घ. १४/५, ६, २०/२२/१३ मिच्छत्तासजम-कसाय-जोगेहितो पुरिसपओ-नेहि वा जे णिप्पण्णा अजीवभावा तेसि विवागपच्चइओ अजीवभावबन्धो त्ति सण्णा। जे अजीवभावा मिच्छत्तादिकारणेहि विणा समुप्पण्णा तेसिमविवागपच्चइओ अजीवभावबन्धो त्ति सण्णा जे दोहि वि कारणेहि समुप्पण्णा तेसि तदुभयपच्चइयो अजीवभावबन्धो त्ति सण्णा। = १. मिथ्यात्व, असग्रम, कषाय और योगसे या पुरुषके प्रयत्नसे जो अजीव भाव उत्पन्न होते हैं उनकी विपाक प्रत्ययिक अजीवभावबन्ध सज्ञा है। जैसे प्रयोग परिणत वर्ण, प्रयोग परिणत शब्द, प्रयोग परिणत गन्ध, प्रयोग परिणत रस, प्रयोग परिणत स्पर्श, प्रयोग परिणत गति, प्रयोग परिणत अवगाहना, प्रयोगपरिणत सस्थान, प्रयोग परिणत स्कन्ध, प्रयोगपरिणत-स्कन्धदेश और प्रयोग परिणत स्कन्धप्रदेश, ये और इनसे लेकर जो दूसरे भी प्रयोग परिणत संयुक्त भाव होते हैं वह सब विपाक प्रत्ययिक अजीवभावबन्ध है। २ जो अजीव भाव मिथ्यात्व आदि कारणोके बिना उत्पन्न होते हैं उनकी अविवाक प्रत्ययिक अजीव भाव बन्ध यह सज्ञा है। जैसे पूर्व कथित वर्ण, गन्ध आदिसे लेकर इसी प्रकारके विससा परिणत जो दूसरे संयुक्त भाव हैं वह अविपाक प्रत्ययिक अजीव भावबन्ध है। ३. जो दोनों ही कारणोसे उत्पन्न होते हैं उनकी तदुभय प्रत्ययिक अजीव भावबन्ध यह सज्ञा है। यथा पूर्व कथित ही वर्ण-गन्ध आदिसे लेकर प्रयोग और विससा दोनोंसे परिणत जितने भी संयुक्त भाव हैं वह सब तदुभय प्रत्ययिक अजीव भावबन्ध है।

९. बन्ध अबन्ध व उपरतबन्धके लक्षण

गो. क./भावा/६४४/८२८ वर्तमान काल विषे जहाँ पर नव सम्बन्धो आगामो आयुका बन्ध होई तहाँ बन्ध कहिये जो आगामी आयुका अतीतकाल विषे बन्धन भया, वर्तमान काल विषे भी न हो है तहाँ अबन्ध कहिये। जहाँ आगामी आयुका पूर्व बन्ध भया हो और वर्तमान काल विषे बन्ध न होता हो तहाँ उपरतबन्ध कहिये।

२. द्रव्य बन्धकी सिद्धि

१. शरीरसे शरीरधारी अभिन्न कैसे है

घ. ६/४, १, ६३/२७०/५ कथ सरोरादो सरीरी अभिण्णो। सरीरदाहे जीवे दाहोपलभादो, सरीरे भिज्जमाणे छिज्जमाणे च जीवे वेयणोवलभादो

सरोरागरिसणे जीवागरिसणवसणादो, सरीरगमणागमणेहि जीवस्स गमणागमणवसणादो, पडियारखडयाणं व दोष्णं भेदाणुवलभादो, एगीभूददुद्धोदय व एगत्तेणुवलभादो। = प्रश्न—शरीरसे शरीरधारी जीव अभिन्न कैसे है। उत्तर—चूँकि शरीरका दाह होनेपर जीवमे दाह पाया जाता है, शरीरके भेदे जाने और छेदे जानेपर जीवमें वेदना पायी जाती है, शरीरके खींचनेमे जीवका आकर्षण देखा जाता है, शरीरके गमनागमनमें जीवका गमनागमन देखा जाता है, प्रत्याकार (म्यान) और खण्डक (तलवार) के समान दोनोंमे भेद नहीं पाया जाता है। तथा एकरूप हुए दूध और पानीके समान दोनों एकरूपसे पाये जाते हैं। इस कारण शरीरसे शरीरधारी अभिन्न है।

२. जीव व कर्मका बन्ध कैसे जाना जाये

क पा १/१, १/४०/५७/७ तं च कम्म जीवसबद्धं चैव। तं कुदो णव्वदे। मुत्तेण सरीरेण कम्मकज्जेण जीवस्स सबधण्णहणुववत्तीदो। ण च सबधो; सरीरे छिज्जमाणे जीवस्स दुवखुवलभादो। जीवे गच्छन्ते ण सरीरेण गंतव्व, जीवे स्ट्ठे कं प पुल्लउगम-धम्मादओ सरीरम्मि ण होज्ज सब्वेसि जीवाणं केवलणणं सम्मत्तादओ होज्ज; सिद्धाण वा तदो चैव अणत्तण्णादिगुण ण होज्ज। ण च एव, तहाणभुवगमादो। = प्रश्न—कर्म जीवसे सम्बद्ध ही है यह कैसे जाना जाता है? उत्तर—१. यदि कर्मको जीवसे सम्बद्ध न माना जाये तो कर्मके कार्यरूप मूर्त शरीरसे जीवका सम्बन्ध नहीं बन सकता है, इस अन्यथानुपपत्तिसे प्रतीत होता है कि कर्म जीवसे सबद्ध ही है। २. शरीरादिके साथ जीवका सबन्ध नहीं है ऐसा कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि शरीरके छेदे जानेपर जीवको दुःखकी उपलब्धि होती है। ३. जीवके गमन करनेपर शरीरको गमन नहीं करना चाहिए। ४. जीवके रुष्ट होनेपर शरीरमे कप, दाह पसीना आदि कार्य नहीं होने चाहिए। ५. जीवकी इच्छासे शरीरका गमन सिर और अगुलियोका संचालन नहीं होना चाहिए। ६. सम्पूर्ण जीवोके केवलज्ञान-सम्यक्त्वादि गुण हो जाने चाहिए। ७. या सिद्धोके भी (यह केवलज्ञानादि गुण) नहीं होने चाहिए। ८. यदि कहा जाये कि अनन्तज्ञानादि गुण सिद्धोके नहीं होते हैं तो मत होओ सो भी कहना ठीक नहीं है, क्योंकि ऐसा माना नहीं गया है।

३. जीवप्रदेशोमें कर्म स्थित है या अस्थित

घ १२/४, २, ११, १/३६४/६ यदि कम्मपदेसा टिठदा चैव होति तो जीवेण देसतरगदेण सिद्धसमामेण होदव्व। कुदो। सयलकम्मा-भावादो।

घ. १२/४, २, ११, २/३६४/७ जीवपदेसेसु टिठवअद्वजल व संचरतेसु तत्थ समवेदकम्मपदेसाण पि सचरणुवलभादो। जीवपदेसेसु पुणो कम्मपदेसा टिठदा चैव, पुटिवलदेस मीत्तूण देसतरे टिठदजीवपदेसेसु समवेदकम्मवखधुवलभादो।

घ १२/४, २, ११, ३/३६६/६ छदुमत्थस्स जीवपदेसाण केसि पि चलणा-भावादो तत्थ टिठदकम्मखधानि टिठदा चैव होति, तत्थेव केसि जीवपदेसाणं संचालुवलभादो तत्थ टिठदकम्मखंधा वि सचलत्ति, तेण ते अटिठदा त्ति भण्णत्ति। = प्रश्न—(जीव प्रदेशमे समवायको प्राप्त कर्म प्रदेश स्थित है कि अस्थित) उत्तर—१. यदि कर्म प्रदेश स्थित ही हो तो देशान्तरको प्राप्त हुए जीवको सिद्ध जीवके समान हो जाना चाहिए, क्योंकि उस समय उसके समस्त कर्मोका अभाव है। २. नेधोमें स्थित जलके समान जीव प्रदेशोका संचार होनेपर उनमे समवायको प्राप्त कर्मप्रदेशोका भी संचार पाया जाता है। परन्तु जीव प्रदेशोमे कर्म प्रदेश स्थित ही रहते हैं, क्योंकि, जीव प्रदेशोके पूर्वके देशको छोड़कर देशान्तरमे जाकर स्थित

होनेपर उनमें समवायको प्राप्त कर्म स्कन्ध पाये जाते हैं। इससे जाना जाता है कि जीवप्रदेशोंके देशान्तरको प्राप्त होनेपर उनमें कर्मप्रदेश स्थित ही रहते हैं। ३ अमस्थके किन्हीं जीव प्रदेशोंका चूँकि संचार नहीं होता अतएव उनमें स्थित कर्म प्रदेश भी स्थित ही होते हैं। तथा उसी अमस्थके किन्हीं जीव प्रदेशोंका चूँकि संचार पाया जाता है अतएव उनमें स्थित कर्मप्रदेश भी संचारको प्राप्त होते हैं, इसलिए वे अस्थित कहे जाते हैं।

४. जीवके साथ कर्मोंका गमन कैसे सम्भव है

घ. १२/४, २, ११, २/३६४/४ कथं कम्मणां जीवपदेशेषु समवेदानं गमनं जुज्जवे। ण एस दोसो, जीवपदेशेषु जोगवसेण संचरमाणेसु तदपुध-भूदानं कम्मवबंधाणं पि संचरणं पडि विरोहाभावाद्दो।

घ. १२/४, २, ११, २/३६४/११ अट्ठणं म जम्भजोवपदेशाणं सकोचो त्रिकोचो वा णत्थि त्ति तत्थं टिठ्ठकम्मपदेशाणं पि अटिठ्ठत्तं णत्थि त्ति। तदो सञ्जे जीवपदेशां कम्मिहं वि काले अट्ठिदा होति त्ति सुत्त-वयणं ण घडवे। ण एस दोसो, ते अट्ठमज्झितजीवपदेशे मोत्तूप सेसजीवपदेशे अरिसवूण एवस्स सुत्तस्स पवुत्तीदो। = प्रश्न—जीव प्रदेशोंमें समवायको प्राप्त कर्मोंका गमन कैसे सम्भव है? उत्तर—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि योगके कारण जीवप्रदेशोंका संचरण होनेपर उनमें अपृथग्भूत कर्मस्कन्धोंके भी संचारमें कोई विरोध नहीं आता। प्रश्न—यत जीवके आठ मध्यप्रदेशोंका रंकोच अथवा विस्तार नहीं होता अतः उनमें स्थित कर्मप्रदेशोंका भी अस्थितपना नहीं बनता और इसलिए सब जीवप्रदेश किसी भी समय अस्थित होते हैं, यह सूत्र वचन घटित नहीं होता। उत्तर—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, जीवके उन आठ मध्य प्रदेशोंको छोड़कर शेष जीव-प्रदेशोंका अधिष्ठान करके इस सूत्रको प्रवृत्ति हुई है।

५. अमूर्त जीवसे मूर्त कर्म कैसे बँधे

१. क्योंकि जीव भी कर्तृचिन् मूर्त है

स. सि./२/१६१/६ न चामूर्ते कर्मणा बन्धो युज्यत इति। तन्न, अनेकान्तात्। नाग्रमेकान्तं अमूर्तिरेवात्मेति। कर्मबन्धपर्यायापेक्षया तदावेशात्सामूर्तं। शुद्धस्वरूपापेक्षया स्यादमूर्तं। = प्रश्न—अमूर्त आत्माके कर्मोंका बन्ध नहीं बनता है? उत्तर—आत्माके अमूर्तत्वके विषयमें अनेकान्त है। यह कोई एकान्त नहीं कि आत्मा अमूर्ति ही है। कर्म बन्धरूप पर्यायको अपेक्षा उससे युक्त होनेके कारण कर्तृचिन् मूर्त है और शुद्ध स्वरूपको अपेक्षा कर्तृचिन् अमूर्त है। (त. सा./४/१६), (पं. का/त प्र./२७), (द्र. स./टी./७/२०/१)।

घ. १३/५, ३, १२/११/६ जीव-पोगलदव्याणममुत्त-मुत्ताणं कथमेयत्तेण संबधो। ण एस दोसो, रासारावत्थाए जीवाणममुत्तत्ताभावाद्दो। जदि ससारावत्थाए मुत्तो जीवो, कथं णिव्वुओ सतो अमुत्त-मल्लियइ। ण एस दोसो, जीवस्स मुत्तत्तणिकबंधणकम्मभावे तज्ज-णिदमुत्तत्तस्म वि तत्थं अभावेण सिद्धाणममुत्तभावसिद्धीदो। = प्रश्न—जीवद्रव्य अमूर्त है और पुद्गलद्रव्य मूर्त है। इनका एकमेक सम्बन्ध कैसे हो सकता है? उत्तर—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि ससारअवस्थामें जीवोंके अमूर्तपना नहीं पाया जाता। = प्रश्न—यदि संसारअवस्थामें जीव मूर्त है, तो युक्त होनेपर वह अमूर्तपनेको कैसे प्राप्त हो सकता है? उत्तर—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि जीवमें मूर्तत्वका कारण कर्म है अतः कर्मका अभाव होनेपर तज्जनित मूर्तत्वका भी अभाव हो जाता है और इसलिए सिद्ध जीवोंके अमूर्तपनेकी सिद्धि हो जाती है। (यो सा अ./४/३५)।

घ. १३/५, ५, ६३/३३/६ मुत्तदकम्मिहं अणादिबंधणवद्वस्स जीवस्स

अमुत्तत्ताणुवत्तीदो। = क्योंकि संसारी जीव मूर्त आठ कर्मोंके द्वारा अनादि कालीन बन्धनसे बद्ध है, इसलिए वह अमूर्त नहीं हो सकता। (घ. १५/३२/८)।

घ. १५/३३-३४/१ ण च वट्टमाणबंधधडावणट्ठं जीवस्स वि रूचित्तं बोत्तु जुत्तं, —मिच्छत्तासज्जम-कसायजोगा जीवादो अपुधभूदा कम्मइयव-गणकवधानं तत्तो पुधभूदानं कथं परिमातरं मंपादेत्ति। ण एस दोसो, युत्तं च—राग-द्वेषाद्दुग्गमासयोग-वत्थाम्मदीप आवर्ते। स्कन्धानादाय पुन परिणमयत्ति ताश्च कर्मतया। १८। = प्रश्न—वर्तमान बन्धको घटित करानेके लिए पुद्गलके समान जीवको भी रूपी कहना योग्य नहीं है तथा मिथ्यात्व, अमयम, कषाय और योग ये जीवसे अभिन्न होकर उससे पृथग्भूत कर्मण वर्गणके स्कन्धोंके परिणामान्तर (रूपित्व) को कैसे उत्पन्न करा सकते हैं? उत्तर—यह कोई दोष नहीं है। कहा भी है—ससारमें रागद्वेष रूपी उष्णतासे संयुक्त वह आत्मारूपी दीपक योग रूप बत्तीके द्वारा (कर्मण वर्गणके) स्कन्धों (रूप तैल) को ग्रहण करके फिर उन्हें कर्मरूपी (कज्जल) स्वरूपसे परिणामाता है। दे० मूर्त/६-२० (कर्मबद्ध जीव व भावकर्म कथंचित् मूर्त है।)

२. जीव कर्मबन्ध अनादि है

स. सि./८/२/३७/४ कर्मणो जीव. सकषायो भवतीत्येक वाक्यम्। एतदुक्तं भवति—'कर्मण' इति हेतुनिर्देशं कर्मणो हेतोर्जीव' सकषायो भवति नामकर्मस्य कषायलेपोऽस्ति। ततो जीवकर्मणोरनादि-संबन्ध इत्युक्तं भवति। तेनामूर्तो जीवो मूर्तेन कर्मणा कथं बध्यते इति चोद्यमपाकृतं भवति। इतरथा हि बन्धस्यादिमत्त्वे आत्यन्तिकी शुद्धि दधत सिद्धस्यैव बन्धाभाव प्रसज्येत। = 'कर्मणो जीव' सकषायो भवति' यह एक वाक्य है। इसका अभिप्राय है कि 'कर्मण' यह हेतुपरक निर्देश है। जिसका अर्थ है कि कर्मके कारण जीव कषाय सहित होता है, कषाय रहित जीवके कषायका लेप नहीं होता। इससे जीव और कर्मका अनादि सम्बन्ध है यह कथन निष्पन्न होता है। और इससे अमूर्त जीव मूर्त कर्मके साथ कैसे बँधता है इस प्रश्नका निराकरण हो जाता है। अन्यथा बन्धको सादि माननेपर आत्यन्तिक शुद्धिको धारण करनेवाले सिद्ध जीवके समान ससारी जीवके बन्धका अभाव प्राप्त होता है। (रा. वा./८/२/४/५६५/२२), (क. पा. १/१, १/४४१/५६/३), (त. सा./४/१७-१८) (द्र. स./टी./७/२०/४)।

प. प्र./मू./१/५६ जीवहे कम्म उणाइ जिय जणियउ कम्म ण तेण। कम्मं जीउ वि जणियउ णवि दोहिं वि आइ ण तेण। १५६। = हे आत्मा। जीवोंके कर्म अनादि कालसे हैं, उस जीवने कर्म नहीं उत्पन्न किये, कर्मने भी जीव नहीं उपजाया, क्योंकि जीव कर्म इन दोनोंका ही आदि नहीं है, किन्तु अनादिके है। १५६।

पं. का./त प्र./१३४ अथ निश्चयनयेनामूर्तो जीवोऽनादिमूर्तकर्मनिमित्त-रागादिपरिणामस्निग्धं सत् विशिष्टतया मूर्तानि कर्मण्यवगाहते, तत्परिणामनिमित्तलब्धात्मपरिणामे मूर्तकर्मभिरपि विशिष्टतयाऽव-गाह्यते च। अयं त्वन्वोन्यावगाहात्मको जीवमूर्तकर्मणोर्बन्धप्रकारः। एवममूर्तस्यापि जीवस्य मूर्तेन पुण्यपापकर्मणा कर्तृचिद्बन्धो न त्रिरुध्यते। १३४। = निश्चयनयसे अमूर्त है ऐसा जीव, अनादि मूर्त कर्म जिसका निमित्त है, ऐसे रागादि परिणामके द्वारा स्निग्ध वर्तता है, मूर्तकर्मोंको विशिष्ट रूपसे अवगाहता है, और उस परिणामके निमित्तसे अपने परिणामको प्राप्त होते हैं, ऐसे मूर्तकर्म भी जीवको विशिष्ट रूपसे अवगाहते हैं। यह जीव और मूर्तकर्मका अन्योन्य अवगाह स्वरूप बन्ध प्रकार है। इस प्रकार अमूर्त ऐसे जीवका भी मूर्त पुण्य-पापके साथ कर्तृचिन् बन्ध विरोधको प्राप्त नहीं होता। १३४।

गो क/सू/२/३ जीवंगाण अणाइ संबधो । कणयोवलेमल वा ताण-
स्थितं सयं सिद्धं । २। = जिस प्रकार सुवर्ण और पाषाण यद्यपि भिन्न-
भिन्न वस्तु है, तथापि इनका सम्बन्ध अनादि है, नये नहीं मिले
है । उसी प्रकार जीव और कर्मका सम्बन्ध भी अनादि है । २।
इनका अस्तित्व स्वयं सिद्ध है ।

प ध/उ/१५ तथानादि स्वतो बन्धो जीवपुद्गलकर्मणो । कुत केन
कृत कुत्र प्रश्नोऽयं व्योमपुष्पवत् । १५। = जीव और पुद्गल स्वरूप
कर्मका बन्ध स्वयं अनादि है, इसलिए किस कारणसे हुआ, किसने
किया तथा कहाँ हुआ, यह प्रश्न आकाशके फूलकी तरह व्यर्थ है ।
(पं. ध/उ/६, १-७०) ।

६. मूर्त कर्म व अमूर्त जीवके बन्धमें दृष्टान्त

प्र सा./सू. व त, प्र./१७४ उरथानिका—अर्थे वममूर्तस्याप्यात्मनो
बन्धो भवतीति सिद्धान्तयति—रूपादिरहिरहिवो पेच्छदि जाणादि
रूपमादीणि । इवाणि गुणे य जधा सह बंधो तेण जाणीहि । १७४।
दृष्टान्तद्वारेणात्रालगोपालप्रकटितम् । तथाहि—यथा बालकस्य
गोपालस्य वा पृथगवस्थितं मृद्वलीवर्दं बलीवर्दं वा पश्यतो जान-
तश्च न बलीवर्दनं सहस्ति मन्ध, विषयभावावस्थितबलीवर्दनि-
मित्तोपयोगाधिरूढबलीवर्दाकारदर्शनज्ञानसम्बन्धो बलीवर्दसम्बन्ध-
व्यवहारसाधकस्त्वस्त्येव, तथा किलात्मनो नीरूपत्वेन रपर्शान्तरात्
कर्मपुद्गलैः सहस्ति संबध, एकावगाहभावावस्थितकर्मपुद्गल-
निमित्तोपयोगाधिरूढरागद्वेषादिभावसम्बन्ध, कर्मपुद्गलसम्बन्धव्यव-
हारसाधकस्त्वस्त्येव । = अथ यह सिद्धान्त निश्चित करती है कि
आत्माके अमूर्त होनेपर भी इस प्रकार बन्ध होता है—जैसे रूपादि
रहित (जीव) रूपादिक द्रव्योंको तथा गुणोंको देखता है और
जानता है, उसी प्रकार उसके साथ बन्ध जानी । १७४। आबाल-
गोपाल सभीको प्रगट हो जाय इसलिए दृष्टान्त द्वारा समझाया गया
है । यथा—बाल-गोपालका पृथक् रहनेवाले मिट्टीके बैलको अथवा
(सच्चे) बैलको देखने और जाननेपर बैलके साथ सम्बन्ध नहीं है
तथापि विषय रूपसे रहनेवाला बैल जिनका निमित्त है ऐसे उप-
योग रूढ व्यवहार दर्शन ज्ञानके साधक सम्बन्ध बैलके साथके
सम्बन्ध रूप व्यवहारका साधक अवश्य है । इसी प्रकार आत्मा
अरूपित्वके कारण रपर्श शून्य है । इसलिए उसका कर्मपुद्गलको
साथ सम्बन्ध नहीं है, तथापि एकावगाह रूपसे रहनेवाले यम पुद्गल
जिनके निमित्त है, ऐसे उपयोगारूढ राग द्वेषादि भावोंके साधक
सम्बन्ध कर्मपुद्गलके साथके बन्धरूप व्यवहारका साधक अवश्य है ।

७. कर्म जीवके साथ समवेत होकर बँधते हैं या अस- मवेत होकर

ध. १२/४, २, २, २/७७/११ कम्मइयवखधा कि जीवेण समवेदा सता
णाणावरणीयपज्जाएण परिणमंति आहो असमवेदा । णादिपवखो
णोकम्मवदिरित्तस्स कम्मइयवखधस्स कम्मसरूवेण अपरिणदस्स
जीवे समवेदस्स अणुवलभादो । ण त्रिदिओ वि पवखो जुज्जेवे, जीवे
असमवेदाण कम्मइयवखधाण णाणावरणीयसरूवेण परिणमणविरो-
हादो । अविरोहे वा जीवो संसारावस्थाए अमुत्तो होज्ज, मुत्तदब्बेहि
संबंधाभावादो । ण च एव, जीवमणे शरीरस्स संबंधाभावेण आग-
मणप्पसंगादो, जीवालोपुधभूदं सरीरमिदि अणुहवाभावादो च ।
ण पच्छा दोणं पि संबंधो, एत्थ परिहारो बुच्चवे—जीव समवेद-
काले चैव कम्मइयवखधा ण णाणावरणीयसरूवेण परिणमंति (त्ति)
ण पुव्वुत्तदोसा तुक्क ति । = प्रश्न—कर्मण स्कन्ध वया जीवमें समवेत
होकर ज्ञानावरणीय पर्याय रूपसे परिणमते है, अथवा असमवेत
होकर ? १. प्रथम पक्ष तो सम्भव नहीं है, क्योंकि नो कर्मसे भिन्न
और कर्म स्वरूपसे अपरिणत हुआ कर्मण स्कन्ध जीवमें समवेत नहीं

पाया जाता । २. दूसरा पक्ष भी युक्तिमगत नहीं है, क्योंकि
जीवमें असमवेत कर्मण स्कन्धके ज्ञानावरणीय स्वरूपसे परिणत
होनेका विरोध है । यदि विरोध न माना जाय तो ससार अवस्था-
में जीवको अमूर्त होना चाहिए, क्योंकि, मूर्त द्रव्योंसे उसका कोई
सम्बन्ध नहीं है । परन्तु ऐसा है नहीं क्योंकि, जीवके गमन करने-
पर शरीरका सम्बन्ध न रहनेसे उसके गमन न करनेका प्रसंग आता
है । दूसरे, जीवसे शरीर पृथक् है, ऐसा अनुभव भी नहीं होता ।
पीछे दोनोंका सम्बन्ध होता है, ऐसा भी सम्भव नहीं है । उत्तर—
जीवसे समवेत होनेके समयमें ही कर्मण स्कन्ध ज्ञानावरणी स्वरूपसे
नहीं परिणमते है । अतएव पूर्वोक्त दोष यहाँ नहीं दूँ कते ।

८. कर्मबद्ध जीवमें चेतनता न रहेगी

ध १२/४, २, १, ६/२६७/२ णिच्चेयण-मुत्तपोगलवख धसमवाएण भट्टसग-
सरूवस्स कथ जीवत्त जुज्जेवे । ण, अविणट्टणाण-द सणणाणमुवलभेण
जीवत्थित्तसिद्धीदो । ण तत्थ पोगलवख धो वि अत्थि, पहाणीकय-
जीवभावादो । ण च जीवे पोगलत्पवेसो बुद्धिकओ चैव, परमत्थेण
वितत्तो तेसिममेद्वलभादो । = प्रश्न—चेतना रहित मूर्त पुद्गल
स्कन्धोंके साथ समवाय होनेके कारण अपने स्वरूप (चैतन्य व
अमूर्तत्व) से रहित हुए जीवके जीवत्व स्वीकार करना कैसे युक्ति-
युक्त है ? उत्तर—नहीं, क्योंकि, विनाशको नहीं प्राप्त हुए ज्ञान
दर्शनके पाये जानेसे उसमें जीवत्वका अस्तित्व सिद्ध है । वस्तुतः
उसमें पुद्गल स्कन्ध भी नहीं है, क्योंकि, यहाँ जीव भावकी प्रधानता
की गयी है । दूसरे, जीवमें पुद्गल स्कन्धोंका प्रवेश बुद्धि पूर्वक नहीं
किया गया है, क्योंकि, यथार्थत भी उससे उनका अभेद पाया
जाता है ।

९. बन्ध पदार्थकी क्या प्रमाणिकता

स सि/५/२६/४०५/३ एव व्याख्यात सप्रपञ्च बन्धपदार्थ । अवधि-
मन पर्ययकेवलज्ञानप्रत्यक्षप्रमाणगम्यस्तदुपदिष्टगमाचुमेय । = इस
प्रकार विस्तारसे बन्ध पदार्थका व्याख्यान किया । यह अवधिज्ञान,
मन पर्ययज्ञान, और वैवलज्ञान रूप प्रत्यक्ष प्रमाणगम्य है और इन
ज्ञानवाले जीवों द्वारा उपदिष्ट आगमसे अनुमेय है ।

१०. विसोपचय रूपसे स्थित वर्गणाएँ ही बँधती हैं

त सू/५/२५ नामप्रत्यया. सर्वतोयोगविशेषासूक्ष्मैकक्षेत्रावगाहस्थिताः
सर्वान्प्रदेशेष्वनन्तानन्तप्रदेशा । २४। = वरम प्रकृतियोंके कारणभूत
प्रतिसमय योग विशेषसे सूक्ष्म, एक क्षेत्रावगाही और स्थित अनन्तान-
न्तपुद्गल परमाणु सब आत्मप्रदेशोंमें (सम्बन्धको प्राप्त) होते है ।
प्र सा./सू/१६८. १७० ओगाहगाहणिचिदो पुगलकायेहि सव्वदो
लोगो । सुहुमेहि वादरेहि य अप्पाआग्गेहि जोगेहि । १६८। ते ते
कम्मत्तगदा पोगलकाया पुणो वि जीवरस्स । सजायते देहा वेहंतर-
सव्वमं पप्पा । १७०। = लोक सर्वत सूक्ष्म तथा वादर और कर्मत्वके
अयोग्य तथा योग्य पुद्गल स्कन्धोंके द्वारा (विशिष्ट प्रकारसे) अव-
गाहित होकर गाह भरा हुआ है । १६८। (इसमें निश्चित होता है
कि पुद्गल पिण्डोंका जानेवाला आत्मा नहीं है । (प्र सा./टी/१६८)
कर्मरूप परिणत वे वे पुद्गलपिंड देहान्तररूप परिवर्तनको प्राप्त करके
पुन-पुन जीवके शरीर होते है ।

३. कर्म बन्धमे रागादि भाव बन्धकी प्रधानता

१. द्रव्य, क्षेत्रादि की अपेक्षा कर्म बन्ध होता है

रा. वा./३/३७/२/२०५/४ द्रव्य-भव-क्षेत्र-कालभावापेक्षत्वात् कर्म-
बन्धमपि । = द्रव्य, भव, क्षेत्र, काल और भावकी अपेक्षासे कर्मका
बन्ध हाता है ।

२. अज्ञान व राग ही वास्तवमें बन्ध है

१. अज्ञान

स सा./मू./११३ उल्थानिका—अथ ज्ञानाज्ञाने मोक्षबन्धहेतु नियमयति—
वदणियमाणि धरता सीलाणि तथा तत्र च कुर्वता । परमदृष्टाहिरा
जे गिष्वाणं से ण विदंति ॥१५३॥ = ज्ञान ही मोक्षका हेतु है और
अज्ञान ही बन्धका हेतु है यह नियम है—वत नियमको धारण करते
हुए भी तथा झील और तप करते हुए भी जो परमार्थसे बाह्य है वे
निर्वाणको प्राप्त नहीं होते । (पं. घ./उ./१०३५) ।

स सा./आ./३११/क ११५ तथाप्यस्यासौ स्याच्चदिह किल बन्धः प्रकृ-
तिभिः स खन्वज्ञानस्य स्फुरति महिमा कोऽपि गहन ॥११५॥ = इस
जगतमें प्रकृतियोंके साथ यह (प्रगट) बन्ध होता है, सो वास्तवमें
अज्ञानकी कोई गहन महिमा स्फुरायमान है ।

२. रागादि

पं.का./मू./१२८,१४८ जो खलु ससारत्थो जीवो ततो दु परिणामो । परि-
णामादो कम्मं कम्मादो होदि गदिसु गदी ॥१२८॥ भावणिमित्तो बधो
भावो रदिरागदो समोह जुदो ॥१४८॥ = १ जो वास्तवमें संसार स्थित
जीव है, उससे (स्निग्ध) परिणाम होता है । परिणामसे कर्म और
कर्मसे गतियोंमें भ्रमण होता है ॥१२८॥ (पं. का./मू./१२८-१२०) ।
२. बन्धका निमित्त भाव है । भाव रति-राग-द्वेष मोहसे युक्त है
॥१४८॥ (प्र. सा./मू./१७६) ।

स. सा./मू./२३७-२४१ जह णाम को वि पुरिसो णेयम्भत्तो दु रेणु बहु-
लम्मि । ठणम्मि ठणम्मि य करेइ सत्थेहि वायामं ॥२३७॥ जो
सो दु णेह भावो तम्मि णरे तेष तस्स रयम्भो । णिच्छयदो विण्णेयं
ण कायचेट्ठाहि सेसाहि ॥२४०॥ एवं मिच्छादिट्ठी वट्टन्तो बहुविहासु
चिट्ठासु । रायाई उवओगे कुर्वन्तो लिप्पइ रयेण ॥२४१॥ = जैसे कोई
पुरुष (अपने शरीरमें) तैलादि स्निग्ध पदार्थ लगाकर और बहुत-सी
धूलिवाले स्थानमें रहकर शस्त्रोंके द्वारा व्यायाम करता है ॥१३७॥
उस पुरुषमें जो वह तैलादिकी चिकनाहट है उससे उसे धूलिका बन्ध
होता है, ऐसा निश्चयसे जानना चाहिए, शेष शारीरिक चेष्टाओंसे
नहीं होता ॥२४०॥ इसी प्रकार बहुत प्रकारकी चेष्टाओंमें अर्थात् हुआ
मिथ्यादृष्टि अपने उपयोगमें रागादि भावोंको करता हुआ कर्मरूपी
रजसे लिप्त होता है ॥२४१॥ (अतः निश्चित हुआ कि उपयोगमें जो
राग आदिक हैं, वही बन्धके कारण है ।) (यो सा. अ./४/४-५) ।

मू. आ./१२१६ मिच्छादंसण अविरदि कसाय जोगा हवन्ति बधस्स ।
आऊसज्जवसाणं हेदव्वो ते दु णायव्वा ॥१२१६॥ = मिथ्यादर्शन
अविरति, कषाय, योग और आयुका परिणाम—ये कर्मबन्धके कारण
जानने चाहिए ।

क. पा. १/१,१/गा. ५१/१०५ वस्थुं पञ्च त पुण अज्भवसाणं त्ति भणइ
ववहारो । ण य वस्थुदो हु अधो बधो अज्भवसाणं । = यद्यपि वस्तुकी
अपेक्षा करके अध्यवसान होते हैं, ऐसा व्यवहार प्रतिपादन करता है,
परंतु केवल वस्तुके निमित्तसे बन्ध नहीं होता, बन्ध तो आत्मपरि-
णामो (रागादि) से होता है । (स. सा./आ./२६५) ।

घ. १२/४,२,८/२८०/१ ण च पमादेण विणा तियरण साहणट्ठ गहिद-
वज्जट्ठो णाणावरणीयपच्चओ, पच्चयादो अणुपण्यस्स पच्चयत्तविरो-
हादो । = प्रमादके बिना रक्षणकर्मसे सिद्ध करनेके लिए ग्रहण किया
गया बाह्य पदार्थ ज्ञानावरणीयके बन्धका प्रत्यय नहीं हो सकता,
क्योंकि जो प्रत्ययसे उत्पन्न नहीं हुआ है, उससे प्रत्यय स्वीकार करना
विरुद्ध है ।

न. च वृ/३६६ अशुद्धसंवेयणेण अप्पा बधेइ कम्म णोकम्मं । = अशुद्ध
संवेदनसे अर्थात् रागादि भावोंसे आत्मा कर्म और नोकर्मका बन्ध
करता है । (पं. का./ता. वृ./१४७/३१३) ।

प्र. सा./त. प्र./१७६ योऽयमपुरागः स खलु स्निग्धरूक्षत्वस्थानीयो भाव-
बन्धः । अथ पुनस्तैनैव पौद्गलिकं कर्म बध्यत एव । = जो यह राग
है वह वास्तवमें स्निग्ध रूक्षत्व स्थानीय भावबन्ध है । और उसीसे
अवश्य पौद्गलिक कर्म बंधता है । (प्र. सा./ता. प्र./१७८) ।

प्र. सा./त. प्र./१७६ अभिनवेन द्रव्यकर्मणा रागपरिणतो न मुच्यते...
बध्यत एव संस्पृशतैवाभिनवेन द्रव्यकर्मणा चिरसंचितेन पुराणेन च
न मुच्यते रागपरिणतः । ततोऽवधार्यते द्रव्यबन्धरय साधकतम-
त्वाद्वागपरिणाम एव निश्चयेन बन्धः । = राग परिणत आत्मा नवीन
द्रव्यकर्मसे मुक्त नहीं होता । राग परिणत जीव संस्पर्श करनेमें
आनेवाले नवीन द्रव्यकर्मसे और चिरसंचित पुराने द्रव्यकर्मसे
बंधता ही है, मुक्त नहीं होता । इससे निश्चित होता है कि द्रव्य-
बन्धका साधकतम होनेसे राग परिणाम ही निश्चयसे बंध है ।

त. अनु./८ स्युर्मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्राणि समासत । बन्धस्य हेतवो-
ऽन्यस्तु त्रयाणामेव विस्तरः ॥८॥ = मिथ्यादर्शन-ज्ञान व चारित्र ये
तीनों सक्षेपसे बन्धके कारण हैं । बन्धके कारण रूपमें अन्य जो कुछ
कथन है वह सब इन तीनोंका विस्तर है ॥८॥

द्र. सं./टी/३२/११/१० परमात्मनो...निर्मलानुभूतिस्तद्विषयभूतेन
मिथ्यास्वरागादिपरिणतिरूपेण बाहुल्यचेतनभावेन परिणामेन बध्यते
ज्ञानावरणादि कर्म ॥ = परमात्माकी निर्मल अनुभूतिसे विरुद्ध
मिथ्यात्व रागादिमें परिणतिरूप अशुद्ध-चेतन-भावस्वरूप परिणामसे
ज्ञानावरणादि कर्म बंधते हैं ।

दे० बंध./२/५/१ में घ. १५ (राग-द्वेषसे संयुक्त आत्मा कर्मबन्ध करता
है ।)

३. ज्ञान आदि भी कथंचित् बन्धके कारण हैं

स सा./मू./१७१ जम्हा तु जहण्णादो णाणगुणादो पुणोवि परिणमदि ।
अण्णसं णाणगुणो तेण दु सो बंधगो भणिदो ॥१७१॥ = क्योंकि ज्ञान-
गुण जघन्य ज्ञानगुण (क्षायोपशमिक ज्ञान) के कारण फिरसे भी
अन्य रूपसे परिणमन करता है, इसलिए (यथाख्यात चारित्र अव-
स्थासे नीचे) वह (ज्ञानगुण) कर्मोंका बंधक कहा गया है ।

दे० आयु/३ (सरागसंयम, संयमासंयम तथा सन्यग्दर्शन देवायुके
आसवका कारण है । (पं. घ./उ/१०६) ।

दे० प्रकृति बंध/५/७/३ (आहारक शरीरके बंधमें ६-७ गुणस्थानका
संयम ही कारण है ।)

४. ज्ञानकी कमी बन्धका कारण नहीं, तत्सहभावी कर्म ही बन्धका कारण है

स. सा./आ./१७२ यावज्ज्ञान सर्वोत्कृष्टभावेन द्रष्टुं ज्ञातुमनुचरित
वाशक्त सत् जघन्यभावेनैव ज्ञानं पश्यति जानात्यनुचरति तावत्त-
स्यापि जघन्यभावान्यथानुपपत्त्यानुमीयमानाबुद्धिपूर्वक कर्म कलङ्क-
विपाकसद्भावत्वाद् पुद्गलकर्मबन्ध स्यात् । = ज्ञानी जबतक ज्ञानकी
सर्वोत्कृष्ट भावसे देखने, जानने और आचरण करनेमें अशक्त वर्तता
हुआ जघन्यभावसे ही ज्ञानको देखता है, जानता और आचरण
करता है, तबतक उसकी अन्यथा अनुपपत्तिके द्वारा जिसका अनुमान
हो सकता है ऐसे अबुद्धिपूर्वक कर्मकलके विपाकका सद्भाव होनेसे,
पुद्गल कर्मका बंध होता है ।

५. जघन्य कषायांश स्वप्रकृतिका बन्ध करनेमें अस- मर्थ है

घ. ८/३,२२/५४/७ उवसमसेडिप्पिह कोधपरिमाणुभागेदयादो अणत्त-
गुणहाणेण वृणाणुभागेदएण कोधसलजणस्स बंधाणुवलभादो । = उप-
शम श्रेणीमें क्रोधके अन्तिम अनुभागीदयकी अपेक्षा अनन्तगुण हीन,

अनुभागेदयसे संज्वलन क्रोधका बन्ध नहीं पाया जाता। (इसी प्रकार मान, भाया लोभमे भी जानना)।

प्र सा/ता, वृ/१६५/२२७/११ परमचैतन्यपरिणतिलक्षणपरमात्मतत्त्व-भावनारूपधर्म्यध्यानशुक्लध्यानबलेन यथा जघन्यस्निग्धशक्तिस्थानीये क्षीणरागत्वे सति जघन्यरूक्षशक्तिस्थानीये क्षीणद्वेषत्वे च सति जलवायुकरयोरिव जीवस्य बन्धो न भवति। = परम चेतन्य परिणति है लक्षण जिसका ऐसे परमात्म तत्त्वको भावनारूप धर्मध्यान और शुक्लध्यानके बलसे जैसे जघन्य-स्निग्ध, शक्ति स्थानीय क्षीण राग होनेपर, और जघन्य-रूक्ष-शक्ति स्थानीय क्षीण द्वेष होनेपर जल और रेतको भोंति जीवके बन्ध नहीं होता है।

६. परन्तु उससे बन्धसामान्य तो होता ही है

घ ८/३,३६/७७/३ सोलसकसायाणि सामण्यपञ्चहयाणि, अणुमेत्तकसाए वि सते तसि बहुबलभादो। = सोलह (५ ज्ञानावरण, ५ अन्तराय, ४ दर्शनावरण, यज्ञ कीर्ति, उच्च गोत्र) कर्म कषाय सामान्यके निमित्तसे बंधनेवाले हैं, क्योंकि, अणुमात्र कषायके भी होनेपर उनका बन्ध पाया जाता है।

७. भावबन्धके अभावमें द्रव्यबन्ध नहीं होता

प सा/मू/२७० एदाणि णत्थि जेसि अञ्जवसाणाणि एवमादीणि। ते असुहेण सुहेण व कम्मेण मुणो ण लिप्पति। २७० = यह (अज्ञान-मिथ्यादर्शन-अचारित्र) तथा ऐसे और भी अध्यवसान (जनके नहीं है वे मुनि अशुभ या शुभकर्मसे लिप्त नहीं होते) २७०।

८. कर्मोदय बन्धका कारण नहीं रागादि ही है

प्र सा/ता वृ/४३/५६/१२ उदयगता ज्ञानावरणादि मूलोत्तर कर्म प्रकृतिभेदा स्वकीयशुभाशुभफलं दत्त्वा गच्छन्ति न च रागादिपरिणामरहिता सन्तो बन्ध कुर्वन्ति। तेषु उदयागतेषु सस्य कर्मो-शेषु मूढोरक्तो दुष्टो व भवति स बन्धनमनुभवति। तत स्थित-मेतत् ज्ञानं बन्धकारणं न भवति कर्मोदयेऽपि, किन्तु रागादयो बन्धकारणमिति ४३।

प्र सा/ता वृ/४५/५८/१६ औदयिका भावा बन्धकारणम् इत्यागम-वचनं तर्हि वृथा भवति। परिहारमाह—औदयिका भावा बन्धकारण भवन्ति, पर किन्तु मोहोदयसहिताः। द्रव्यमोहोदयेऽपि सति यदि शुद्धात्मभावनाबलेन भावमोहेन न परिणमति तदा बन्धो न भवति। यदि पुनः कर्मोदयमात्रेण बन्धो भवति तर्हि संसारिणा सर्वदेव कर्मोदयस्य विद्यमानत्वात्सर्वदेव बन्ध एव न मोक्ष इत्यभिप्रायः। = १. उदयको प्राप्त ज्ञानावरणादि मूलोत्तर प्रकृतिके भेद अपने-अपने शुभ वा अशुभ फलको देकर भङ्ग जाते हैं। रागादि परिणाम होनेके कारण बन्ध नहीं करते हैं। परन्तु जा उदयको प्राप्त कर्मोदयमें मोही, रागी व द्वेषी होता है वह बन्धको प्राप्त होता है। इसलिए ग्रह निश्चय हुआ कि ज्ञान बन्धका कारण नहीं होता, न ही कर्मका उदय बन्धका कारण होता है, किन्तु रागादि ही बन्धके कारण होते हैं। प्रश्न—औदयिक भावबन्धके कारण है, यह आगमका वचन वृथा हो जायेगा। उत्तर—औदयिक भावबन्धके कारण होते हैं, किन्तु मोहके उदय सहित होनेपर ही। द्रव्य मोहके उदय होनेपर भी शुद्धात्म भावनाके बलसे भाव मोहरूपसे परिणमन नहीं करता है, तो बन्ध नहीं होता है। यदि कर्मोदय मात्रसे बन्ध हुआ होता तो ससारो जीवके सर्वदा ही कर्मका उदय विद्यमान होनेके कारण सदा ही बन्ध होता रहता, मोक्ष कभी न होती।

दे० उदय/६/३,४ (मोह जनित औदयिक भाव ही बन्धके कारण है अन्य नहीं। वास्तवमे मोहजनित भाव ही औदयिक है, उसके विना सब श्रायिक है।)

पं, घ/उ/१०६४ जले जम्बालवन्तून स भावो मलिनो भवेत्। बन्धहेतु

स एव स्यादद्वैतश्चाष्टकर्मणाम् १०६४ = जलमे काईकी तरह निश्चयसे वह औदयिक भाव मोह ही मलिन होता है, और एक वह भावमोह ही आठो कर्मके बन्धका कारण है।

९. रागादि बन्धके कारण है तो बाह्यद्रव्यका निषेध क्यों

घ १२/४,२,५,४/२५१/२ एवंविहववहारो किमट्ठ कीरदे सुहेण णाणा-वरणीयपञ्चमपडिबोहणट्ठ कज्जपडिसेहदुवारेण कारणपडिसेहट्ठं च। = प्रश्न—इस प्रकारका व्यवहार (व्रतादि) किस लिए किया जाता है। उत्तर—सुखपूर्वक ज्ञानावरणीयके प्रत्ययोका प्रतिबोध करानेके लिए तथा कार्यके प्रतिषेध द्वारा कारणका प्रतिषेध करनेके लिए भी उपर्युक्त व्यवहार किया जाता है।

स, सा/आ/२६५ अध्यवसानमेव बन्धहेतुर्न तु बाह्यवस्तु। तर्हि किमर्थो बाह्यवस्तुप्रतिषेधः। अध्यवसानप्रतिषेधार्थः। अध्यवसानस्य हि बाह्यवस्तु आश्रयभूतं, न हि बाह्यवस्त्वनाश्रित्य अध्यवसानमात्मानं लभते। = अध्यवसान ही बन्धका कारण है, बाह्य वस्तु नहीं। प्रश्न—यदि बाह्यवस्तु बन्धका कारण नहीं है, तो बाह्यवस्तुका निषेध किस लिए किया जाता है। उत्तर—अध्यवसानके निषेधके लिए बाह्य-वस्तुका निषेध किया जाता है। अध्यवसानको बाह्यवस्तु आश्रयभूत है, बाह्यवस्तुका आश्रय किये बिना अध्यवसान अपने स्वरूपको प्राप्त नहीं होता, अर्थात् उत्पन्न नहीं होता।

४. द्रव्य व भाव बन्धका समन्वय

१. एक क्षेत्रावगाह मात्र का नाम द्रव्य बन्ध नहीं

पं, घ/उ/४४ न केवलं प्रदेशाना बन्धः सम्बन्धमात्रतः। सोऽपि भावैरशुद्धै स्यात्सापेक्षस्तद्द्वयोरिति ४४। = इस प्रकार उन जीव और कर्मके अशुद्ध भावोंसे अपेक्षा रखनेवाला वह बन्ध भी केवल प्रदेशके सम्बन्ध मात्रसे ही नहीं होता है ४४। (पं, घ/उ/१११)

२. जीव व शरीरकी मिलातामें हेतु

घ, १/४,१,६३/२७१/४ जीवशरीरादो भिण्णो, अणादि-अणत्तादो शरीरे सादि-सातभावदंसणादो, सब्बशरीरेसु जीवस्स अणुगमदसणादो शरीरस्स तदणुवलभादो, जीवशरीराणमकारणत्त [सकारणत्त] दसणादो। सकारण शरीर, मिच्छत्तादि आसवफलत्तादो, णि-कारणो जीवो, जीवभावेण धुवत्तादो शरीरदाहच्छेद-भेदे हि जीवस्स तदणुवलभादो। = १. जीव शरीरसे भिन्न है, क्योंकि वह अनादि अनन्त है, परन्तु शरीरमे सादि सान्तता पायी जाती है। २. सब शरीरोंमें जीवका अनुगम देखा जाता है, किन्तु शरीरके जीवका अनुगम नहीं पाया जाता। ३. तथा जांव अकारण और शरीर सकारण देखा जाता है। शरीर सकारण है, क्योंकि वह मिथ्यात्वादि आसवो-का कार्य है, जीव कारण रहित है, क्योंकि वह चेतन भावकी अपेक्षा नित्य है। ४. तथा शरीरके दाह और छेदन भेदनसे जीवका दाह एव भेदन नहीं पाया जाता।

३. जीव व शरीरमें निमित्त व नैमित्तिकपना भी कथंचित् मिथ्या है

घ १/१,१,३३/२३४/१ तज्ज (जीवप्रदेशस्य) भ्रमणावस्थाया तत् (शरीरस्य) समवायाभावात्। = जीव प्रदेशकी भ्रमणरूप अवस्थामें शरीरका उनसे समवाय सम्बन्ध नहीं रहता।

पं, घ/पू०/२७०-२७१ अपि भवति बध्यबन्धकभावो यदि वानयोर्न शङ्क्यमिति। तदनेकत्वे नियमात्तद्बन्धस्य स्वतोऽप्यसिद्धत्वात् २७०। अथ चेदवश्यमेतन्निमित्तनैमित्तिकत्वमस्ति मिथ,। न यत् स्वय स्वतो वा परिणममानस्य किं निमित्ततया २७१। = शरीर और आत्माके बन्ध्यबन्धक भाव है यह भी आशका नहीं करनी चाहिए,

क्योंकि नियमसे दोनोंमें एकत्व होनेपर स्वयं उन दोनोंका बन्ध भी असिद्ध है (२७०) यदि कहो कि परस्पर इन दोनोंमें निमित्त नैमित्तिकपना अवश्य है तो यह भी ठीक नहीं है क्योंकि स्वयं अथवा स्वतःपरिणममान वस्तुके निमित्तपनेसे क्या फायदा । २७१।

४. जीव व कर्म बन्ध केवल निमित्त की अपेक्षा है

प्र सा./त.प्र./१७४ आत्मनो नीरूपत्वेन स्पर्शशून्यत्वान्न कर्मपुद्गलैः सहास्ति संबन्धः, एकावगाहभावस्थितकर्मपुद्गलनिमित्तोपयोगाधिस्वरगद्वेषादिभावसम्बन्धः कर्मपुद्गलसम्बन्धव्यवहारसाधकस्त्वस्त्येव ।—आत्मा अरूपित्वके कारण स्पर्शशून्य है, इसलिए उसका कर्मपुद्गलके साथ सम्बन्ध नहीं है, तथा एकावगाह रूपसे रहनेवाले कर्मपुद्गल जिनके निमित्त है, ऐसे उपयोगरूढ रागद्वेषादि भावके साथका सम्बन्ध कर्मपुद्गलके साथके बन्धरूप व्यवहारका साधक अवश्य है ।

५. निश्चयसे कर्म जीवसे बँधे ही नहीं

स. सा./मू./५७ एएहि य सभंधो जहेव खीरोदयं मुपेदव्वो । ण य हुंति तस्स ताणि दु उवओगगुणाधिगो जम्हा ।—इन वर्णादि भावोंके साथ जीवका सम्बन्ध दूध और पानीका एक क्षेत्रावगाह रूप संयोग सम्बन्ध है ऐसा जानना । क्योंकि जीव उनसे उपयोगगुणसे अधिक है । ५७। (वा. अनु./६) ।

स सा./मू./१६६ पुढवीपिडसमाणा पुव्वणिबद्धा दुपच्चया तस्स । कम्मसरिरेण दु ते बद्धा सव्वे वि गाणिस्स । १६६।—उस ज्ञानीके पूर्व बद्धकर्म समस्त प्रत्यय मिट्टीके डेलके समान है, और वे कर्मण शरीरके साथ बँधे हुए हैं । १६६। (पं. घ./उ./१०५६) ।

६. बन्ध भवस्थामें दोनों द्रव्योंका विभाव परिणमन ही जाता है

पं. घ./४६.१०६-११० अयस्कान्तोपलाकृष्टसूचीवत्तद्द्वयो पृथक् । अस्ति शक्तिविभावरूपा मिथो बन्धाधिकारिणो । ४६। जीवभावविकारस्थ हेतुः स्याद्द्रव्यकर्म तत् । तद्भेदेतुस्तद्विकारश्च यथा प्रत्युपकारक । १०६। तन्निमित्तात्पृथग्भूतोऽप्यर्थः स्यात्तन्निमित्तक । ११०।—दोनों जीव और कर्ममें भिन्न-भिन्न परस्परमें बन्धको करानेवाली चुम्बक पस्थकके द्वारा लिखनेवाली लोहेकी सुईके समान विभावनामकी शक्ति है । ४६। वह द्रव्यकर्म जीवके ज्ञानादिक भावोंके विकारका कारण होता है, और जीवके भावोंका विकार द्रव्यकर्मके आस्रवका कारण होता है । १०६। अर्थात् जीवके वैभाविक भावके निमित्तसे पृथक् भूत कर्मण पुद्गल ज्ञानावरणादि कर्मरूप परिणत हो जाते हैं । ११०।

दे, अशुद्धता (दोनों अपने गुणोंसे च्युत हो जाते हैं) ।

७. जीवबन्ध बतानेका प्रयोजन

प्र सा./ता वृ/१७६/२४३/६ एवं रागपरिणाम एव बन्धकारण ज्ञात्वा समस्तरागादिविकल्पजालत्यागेन विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावनिजात्मतत्त्वे निरन्तर भावना कर्त्तव्येति ।—इस प्रकार राग परिणाम ही बन्धका कारण है, ऐसा जानकर समस्त रागादि विकल्पके त्याग द्वारा विशुद्ध-ज्ञान-दर्शन स्वभाव है जिसका ऐसे निजात्मतत्त्वमें ही निरन्तर भावना करनी चाहिए । ५७।

८. उभय बन्ध बतानेका प्रयोजन

स. सा./ता वृ./२०-२२/४८/५ पर उद्दुत्त गा. १ को टीका—अत्रैव ज्ञात्वा सहजानन्दैकस्वभावे निजात्मनि रतिः कर्त्तव्या । तद्विलक्षणे परद्रव्ये

विरतिरित्यभिप्रयः ।—यहाँ इस प्रकार (उभयबन्धको) जानकर सहज आनन्द एक निज आत्मस्वभावमें ही रति करनी चाहिए । उससे अर्थात् निजात्म स्वभावसे विलक्षण ऐसे परद्रव्यमें विरति करनी चाहिए, ऐसा अभिप्राय है । (द्र. सं./टी./३३/६४/१०) ।

द्र. सं./टी./७/२०/६ अयमत्रार्थः—यस्यैवामूर्तस्यात्मन प्राप्यभावाद्नादिससारे भ्रमितोऽय जीवः स एवामूर्तो मूर्तपञ्चेन्द्रियविषयत्यागेन निरन्तरं ध्यातव्यः ।—इसका तात्पर्य यह है कि जिस अमूर्त आत्माको प्राप्तिके अभावसे इस जीवने अनादि संसारमें भ्रमण किया है, उसी अमूर्तिक शुद्ध स्वरूप आत्माको मूर्त पाँचों इन्द्रियोंके विषयोंका त्याग करके ध्याना चाहिए ।

९. उभय बन्धका मतार्थ

पं. का./ता. वृ./२७/६१/२३ द्रव्यभावकर्मसंयुक्तत्वव्याख्यानं च सदा-मुक्तनिराकरणार्थमिति मतार्थो ज्ञातव्यः ।—द्रव्य भाव कर्मके संयुक्तपनेका व्याख्यात आत्माको सदा मुक्त माननेवाले सदाशिववादियोंके निराकरणार्थ किया गया है, ऐसा मतार्थ जानना चाहिए । (पं. का./ता वृ./१२२/१६२।) (प प्र/टी/१/२६) ।

१०. बन्ध टालनेका उपाय

स सा./मू./वआ/७१ जह्या इमेण जीवेण अप्पणो आसवाण य तहेव । णादं होदि विसंस्तर तु तह्मा ण बधो से । ७१। ज्ञानमात्रादेव बन्ध-निरोधः सिध्येत् ।

स. सा./आ/७१/क० ४७ परपरिणतिमुज्झत् खंडयद्भेदवादानिदमुदि-तमखण्डं ज्ञानमुच्चण्डमुच्चै । ननु कथमवकाशः कर्तृकर्मप्रवृत्तेरिह भवति कथं वा पौद्गल कर्मबन्धः । ४७।—जब यह जीव आत्माका और आस्रवोंका अन्तर और भेद जानता है तब उसे बन्ध नहीं होता । ७१। ऐसा होनेपर ज्ञान मात्रसे बन्धका निरोध सिद्ध होता है । परपरिणतिको छोड़ता हुआ, भेदके कथनोंको तोड़ता हुआ, यह अखण्ड और अत्यन्त प्रचण्ड ज्ञान प्रत्यक्ष उदयको प्राप्त हुआ है । अहो ! ऐसे ज्ञानमें (परद्रव्यके) कर्त्तकर्मकी प्रवृत्तिका अवकाश कैसे हो सकता है ? तथा पौद्गलिक कर्मबन्ध भी कैसे हो सकता है ?

प. वि./११/४८ बद्धं पश्यन् बद्धो मुक्त मुक्तो भवेत्सदास्मानम् । याति यदीयेन यथा तदेव पुरमश्नुते पान्थ । ४८।—जो जीव आत्माको निरन्तर कर्मसे बद्ध देखता है वह कर्मबद्ध ही रहता है, किन्तु जो उसे मुक्त देखता है, वह मुक्त हो जाता है । ठीक है पथिक जिस मार्गसे जाता है उसी मार्गको प्राप्त हो जाता है । ४८।

५. कर्म बन्धके कारण प्रत्यय

१. कर्मबन्धमें सामान्य प्रत्ययोंका कारणपना

प खं./१२/४.२.४/सू २१३/५०५ जाणि चैव जोगहाणाणि ताणि चैव पदेसंबंधट्ठाजाणि । ०- १२१३।—जो योगस्थान है वे ही प्रवेशबन्ध स्थान है ।

प स. प्रा./४/११३ जोगा पयडि-पदेसा ट्ठिदि-अणुभागा कसायदो कुणह । ११३।—जोव प्रकृति बन्ध और प्रवेशबन्धको योगसे, तथा स्थिति बन्ध और अनुभागबन्धको कषायसे करता है । (स. सि/८/३/३७९ पर उद्भवृत) (घ १२/४.२.८.१३/गा ४/२८६) (रा. वा. ८/३/६/१०/६६७/१६.१८) (न च वृ/१५६) (द्र स/मू.३३) (गो क./मू/२५७/३६४) (प स./सं/४/६६५) (दे० अनुभाग/२/१) ।

२. प्रत्ययोंके सद्भावमें वर्गणाओंका युगपत् कर्मरूप परिणमन क्यों नहीं

ध. १२/४, २, २, २/२७६/६ पाणादिवादो यदि पाणावरणीयबन्धस्स पञ्चओ-होज्ज तो तिहुवणेट्ठिदकम्मइयखंधा पाणावरणीयपञ्चएण अक्कमेण किण्ण परिणमते, कम्मजोगत्तं पडिविसेसाभावादो । ण, तिहुवणव्भं-तरकम्मइयखंधोहि देसविसयपञ्चासत्तीए अभावादो यदि एव्वेत्तो-गढाकम्मइयखंधा पाणादिवादो कम्मपञ्जाएण परिणमत्ति तो सव्ववलीगमयजीवाणं पाणादिवादपच्चवण सव्वे कम्मइयखंधा, अक्कमेण पाणावरणीयपञ्जाएण परिणदा होत्ति । पञ्चासत्तीए एगो-हणविसयाए संतीए वि ण सव्वे कम्मइयखंधा पाणावरणीयसरूवेण एगसमएण परिणमत्ति, पत्त इउक्क इहमाणइहणम्मि व जीवम्मि तहाविहसत्तीए अभावादो । कि कारणं जीवम्मि तारिस्सी सत्ती णत्थि । साभावियादो । = प्रश्न—यदि प्राणातिपात (या अन्य प्रत्यय ही) ज्ञानावरणीय (आदि) के बन्धका कारण है तो तीनों लोकोमें स्थित कर्मण स्कन्ध ज्ञानावरणीय पर्यायस्वरूपसे एक साथ क्यों नहीं परिणत होते हैं, क्योंकि, उनमें कर्म योग्यताकी अपेक्षा समानता है ? उत्तर—नहीं, क्योंकि, तीनों लोकोके भीतर स्थित कर्मण स्कन्धोमें देश विषयक प्रत्यासत्तिका अभाव है । प्रश्न—यदि एक क्षेत्रावगाह रूप हुए कर्मण स्कन्ध प्राणातिपातके निमित्तसे कर्म पर्याय रूप परिणमते हैं तो समस्त लोकमें स्थित जीवोके प्राणाति-पात प्रत्ययके द्वारा सभी कर्मण स्कन्ध एक साथ ज्ञानावरणीय रूप पर्यायसे परिणत हो जाने चाहिए । उत्तर—एक अवगाहनाविषयक प्रत्यासत्तिके होनेपर भी सब कर्मण स्कन्ध एक समयमें ज्ञानावरणीय स्वरूपसे नहीं परिणमते हैं, क्योंकि, प्राप्त ईधन आदि दाह्य वस्तुको जलानेवाली अग्निके समान जीवमे उस प्रकारकी शक्ति नहीं है । प्रश्न—जीवमे वैसी शक्ति न होनेका कारण क्या है ? उत्तर—उसमें वैसी शक्ति न होनेका कारण स्वभाव ही है ।

ध. १५/३४/६ यदि मिच्छत्तादिपच्चएहि कम्मइयवग्गणखंधा अट्ठ-कम्मगारेण परिणमत्ति तो एगसमएण सव्वकम्मइयवग्गणखंधा कम्मगारेण [कि ण] परिणमत्ति, णियमाभावादो । ण; दव्व-लेत्त-काल-भावे स्ति चट्ठुहि णियमेहि णियमिदाण परिणामुबलभादो । दव्वेण अभवसिद्धिएहि अणत्तगुगाओ सिद्धाणमणत्तभागमेत्ताओ चेव वग्ग-णाओ एगसमएण एगजीवादो कम्म सरूवेण परिणमत्ति । = प्रश्न—यदि मिथ्यात्वादिक प्रत्ययोंके द्वारा कर्मण वर्गणाके स्कन्ध आठ कर्मरूपसे परिणमन करते हैं, तो समस्त कर्मण वर्गणा के स्कन्ध एक समयमे आठ कर्मरूपसे क्यों नहीं परिणत हो जाते, क्योंकि, उनके परिणमनका कोई नियामक नहीं है ? उत्तर—नहीं, क्योंकि द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव, इन चार नियामको द्वारा नियामको प्राप्त हुए उक्त स्कन्धोका कर्मरूपसे परिणमन पाया जाता है । यथा—द्रव्यकी अपेक्षा अभवसिद्धिक जीवोसे अनन्तगुणी और सिद्ध जीवोके अनन्तवे भाग मात्र ही वर्गणाएँ एक समयमें एक जीवके साथ कर्म स्वरूपसे परिणत होती है ।

३. एक प्रत्ययसे अनन्त वर्गणाओंमें परिणमन कैसे

ध. १२/४, २, २/२७८/१२ कथमेगो पाणादिवासो अणत्ते कम्मइयखंधे णाणावरणीय सरूवेण अवक्केण परिणमावेदि, बहुसु एक्कस्य अक्कमेण वुत्तिविरोहादो । ण, एयस्स पाणादिवादस्स अणत्तसत्तिजुत्तस्स तदविरोहादो । = प्रश्न—प्राणातिपात रूप एक ही कारण अनन्त कामण स्कन्धोका एक साथ ज्ञानावरणीय स्वरूपसे कैसे परिणमाता है, क्योंकि, बहुतामें एककी युगपत् वृत्तिका विरोध है ? उत्तर—नहीं, क्योंकि, प्राणातिपात रूप एक ही कारणके अनन्त शक्तियुक्त होनेसे वैसा होनेमें कोई विरोध नहीं आता ।

४ बन्धके प्रत्ययोंमें मिथ्यात्वकी प्रधानता क्यों

प. ध./उ./१०३७-१०३८ सर्वे जीवमया भावा दृष्टान्तो बन्धसाधक । एकत्र व्यापकं कस्मादन्यत्राव्यापकः कथम् । १०३७ अथ तत्रापि केषांचित्संज्ञिना बुद्धिपूर्वक । मिथ्याभावो गृहीताख्यो मिथ्यार्था-कृतिसंस्थितः । १०३८ । = प्रश्न—जबकि सब ही भाव जीवमय हैं तो कहींपर कोई एक भाव (मिथ्यात्व भाव) व्यापक रूपसे बन्धका साधक दृष्टान्त क्यों, और कहीं पर कोई एक भाव (इतर भाव) व्याप्य रूपसे ही बन्धके साधक दृष्टान्त क्यों ? उत्तर—उसमें व्यापक रूपसे बन्धके साधक भावोंमें भी किन्ही संज्ञी प्राणियोंके वस्तुके स्वरूपको मिथ्याकारमें गृहीत रखनेवाला गृहीत नामक बुद्धिपूर्वक मिथ्यात्व भाव पाया जाता है । १०३८ ।

५. कषाय और योग दो प्रत्ययोंसे बन्धमें इतने भेद क्यों

ध. १२/४, २, २, १४/२६०/४ कथं दो चेव पच्चयो अट्ठणं कम्मणं वत्तीसाणं पयडि-ट्ठिदि-अणुभाग-पदेसबंधाण कारणत्तं पडिवज्जंते । ण, असुद्धपज्जवट्ठिए उजुसुदे अणत्तसत्तिसंजुत्तेगदव्वरिथत्तं पडि-विरोहाभावादो । = प्रश्न—उक्त दो ही (योग व कषाय ही) प्रत्यय आठ कर्मोंके प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रवेश रूप वत्तीस बन्धोंकी कारणताको कैसे प्राप्त हो सकते हैं ? उत्तर—नहीं, क्योंकि असुद्ध पर्यायार्थिक रूप अणुसूत्र नयमें अनन्त शक्ति युक्त एक द्रव्यके अस्तित्वमें कोई विरोध नहीं है ।

६. भविरति कर्म बन्धमें कारण कैसे

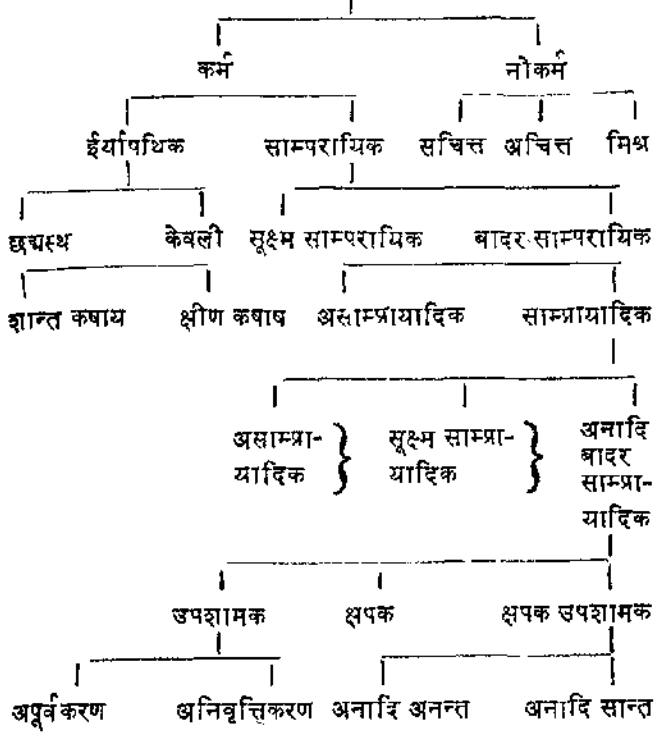
ध. १२/४, २, २, २/२७६-२८१/६ कम्मबंधो हि णाम, सुहासुहपरिणामेहितो जायदे, असंतवयण पुण ण सुहपरिणामो, णो असुहपरिणामो योग्गलस्स तत्परिणामस्स वा जीवपरिणामत्तविरोहादो । तदो णासंतवयणं पाणावरणीयबंधस्य कारणं । ण पाणादिवाद-पच्चओ वि, भिण्ण जीवविसयस्स पाण-पाणिविओगस्स कम्मबंध-हेउत्तविरोहादो । पाणावरणीयबंधणपरिणामजणिदो वहदे पाण-पाणिवियोगो वयणकलावो च । तम्हा तदो तेसिमभेदो तेणेव कारणेण पाणावरणीयबंधस्स तेसि पच्चयत्त पि सिद्धं । = प्रश्न—कर्मका बन्ध शुभ व अशुभ परिणामोंसे होता है । १. परन्तु असत्य वचन न तो शुभ परिणाम है और न अशुभ परिणाम है, क्योंकि पुद्गलके अथवा उसके परिणामके जीव परिणाम होनेका विरोध है । इस कारण असत्य वचन ज्ञानावरणीयके बन्धका कारण नहीं हो सकता । २. इसी प्रकार प्राणातिपात भी ज्ञानावरणीयका प्रत्यय नहीं हो सकता, क्योंकि, अन्य जीव विषयक प्राण—प्राणि वियोगके कर्म बन्धमें कारण होनेका विरोध है । उत्तर—प्रकृतमें प्राण-प्राणि वियोग और वचन कलाप चूँकि ज्ञानावरणीय बन्धके कारणभूत परिणामसे उत्पन्न होते हैं अतएव उससे अभिन्न है । इस कारण वे ज्ञानावरणीय बन्धके प्रत्यय भी सिद्ध होते हैं ।

बंधक—१. बन्धकके भेद

नोट—नाम स्थापनादि भेद । दे० निक्षेप ।

घ. ७/२.१.१/३-५/६

तद्व्यतिरिक्त नोआगम द्रव्यनिक्षेप



२. बन्धकके भेदोंके लक्षण

घ. ७/२.१.१/५/५, तत्थ सच्चित्तणोकम्मदब्धबंधया जहा हृथीणं बंधया, अस्साणं बंधया इच्चेवमादि । अचित्तणोकम्मदब्धबंधया तहा कट्ठाणं बंधया, सुप्पाणं बंधया कडयाणं बंधया इच्चेवमादि । मिसणोकम्मदब्धबंधया जहा साहरणाण हृथीणं बंधया इच्चेवमादि । (४/८) । तत्थ जे बंधपाहुडजाणया उवजुत्ता आगमभावबंधया णाम । णोआगमभावबंधया जहा कोह-माण-माय-लोहपेम्माइं अप्पाणाइं करे ता । (५/११) । = सच्चित्तनोकर्मद्रव्यबन्धक जैसे—हाथी बाँधनेवाले, घोड़े बाँधनेवाले इत्यादि । अचित्तनोकर्मद्रव्यबन्धक जैसे—लकड़ी बाँधनेवाले, सूपा बाँधनेवाले, कट (चटाई) बाँधनेवाले इत्यादि । मिश्र नोकर्म द्रव्य बन्धक जैसे—आभरणो सहित हाथियोंके बाँधनेवाले इत्यादि । (४/८) । उनमें बन्धप्राभूतके जानकार और उसमें उपयोग रखनेवाले आगमभाव बन्धक है । नो आगम भावबन्धक जैसे—क्रोध, मान, माया, लोभ व प्रेमको आत्मसाद करनेवाले ।

नोट—इनके अतिरिक्त शेष भेदोंके लक्षण—दे० निक्षेप ।

बंधन—१. बन्धन नामकर्मका लक्षण

स. सि १/२१/२८/१२ शरीरनामकर्मोदयवशादुपात्तानां पुद्गला-नामन्योन्यप्रदेशसंश्लेषण यतो भवति तद्बन्धननाम । (तस्याभावे शरीरप्रदेशानां दारुनिचयवत् असपर्क स्यात् वा ०) । = शरीर नामकर्मके उदयसे प्राप्त हुए पुद्गलोंका अन्योन्य प्रदेश संश्लेषण जिसके निमित्तसे होता है, वह बन्धन नामकर्म है । इसके अभावमें शरीर लकड़ियोंके ढेर जैसा हो जाता है । (रा वा) (रा वा १/८/११/६/५७६/२४) (घ ३३/५.६.१०१/३६४/१) (गो क/जी प्र./३३/२६/१) ।

घ. ६/१.६-१.२८/५२/११ सरीरटठमागयाण पोग्गलक्खधाण जीवसंबद्धाण जेहि पोग्गलेहि जीवसबद्धेहि पत्तोदएहि परोप्पर कीरइ तेसि पोग्गलक्खधाणं सरीरबन्धणसणा. कारणे कज्जुवयारादो, कत्तार-गिहेसादो वा । जइ सरीरबन्धणणामकम्मं जीवस्स ण होज्ज, तो वालुवाकाय पुरिससरीर व सरीरं होज्ज परमाणुणमणोणो बधा-

भावा । = शरीरके लिए आये हुए जीव सम्बद्ध पुद्गल स्कन्धोंका जिन जीव सम्बद्ध और उदय प्राप्त पुद्गलोंके साथ परस्पर बन्ध किया जाता है उन पुद्गल स्कन्धोंको शरीर बन्धन संज्ञा कारणमें कार्यके उपचारसे, अथवा कर्तृ निर्देशसे है । यदि शरीर बन्धन नामकर्म जीवके न हो, तो बालुका द्वारा बनाये पुरुष-शरीरके समान जीवका शरीर होगा, क्योंकि परमाणुओंका परस्परमे बन्ध नहीं है ।

२. बन्धन नामकर्मके भेद

घ. खं. ६/१.६-१/सू. ३२/७० जं तं शरीरबन्धणणामकम्म तं पंचतिह, ओरालियसरोरबंधणणामं वेउव्वियसरीरबंधणणामं आहारसरीरबंधणणामं तेजासरीरबंधणणाम कम्मइयसरीरबंधणणामं चेदि । ३२ = जो शरीर बन्धन नामकर्म है वह पाँच प्रकारका है—औदारिक शरीर बन्धन नामकर्म, वैक्रियिक शरीर बन्धन नामकर्म, आहारक शरीर बन्धननामकर्म, तेजसशरीर बन्धननामकर्म और कामणशरीर बन्धन नामकर्म । (घ खं. १३/५.६/सू. १०५/३६७), (पं. सं./प्रा./११), (प. सं./प्रा./२/४/पृ. ४७/पं. ६); (म. बं./१/३६/२६), (गो. क/जी. प्र./३३/२६/१) ।

* बन्धन नामकर्मकी बन्ध उदय सत्त्व प्ररूपणाएँ तथा तत्सम्बन्धी नियम शंकादि—दे० वह वह नाम ।

बंधन बद्धत्व—रा. वा. १/२/७/१३/११२/२७ अनादिसंततिबन्धन-बद्धत्वमपि साधारणम् । कस्मात् । सर्वद्रव्याणां स्वात्मीयसंतान-बन्धनबद्धत्वं प्रत्यनादित्वात् । सर्वाणि हि द्रव्याणि जीवधर्मधर्मा-काशपुद्गलाख्यानि प्रतिनियतानि पारिणामिकचैतन्योपयोग-गतिस्थित्यवकाशदान-वर्तनापरिणाम-वर्ण-गंध-रस-स्पर्शादिपर्याय-संतानबन्धनबद्धानि । कर्मोदयाद्यपेक्षाभावात्तदपि पारिणामिकम् । यदस्मान्नादिकर्मसत्तित्वबन्धनबद्धत्वं तदसाधारणमपि सन्न पारि-णामिकम्; कर्मोदयनिमित्तत्वात् । = अनादि बन्धन बद्धत्व भी साधारण गुण है । सभी द्रव्य अपने अनादिकालीन स्वभाव सन्तति-से बद्ध है, सभीके अपने-अपने स्वभाव अनादि अनन्त है । अर्थात् जीव, धर्म, अधर्म, आकाश, काल और पुद्गल नामके द्रव्य क्रमशः पारिणामिक चैतन्य उपयोग, गतिदान, स्थितिदान, अवकाशदान, वर्तनापरिणाम, और वर्ण-गन्ध-रस और स्पर्शादि पर्याय सन्तानके बन्धनसे बद्ध है । इस भावमे कर्मोदय आदिकी अपेक्षा न होनेसे पारिणामिक है । और जो यह अनादिकालीन कर्म बन्धन बद्धता जीवमें पायी जाती है, वह पारिणामिक नहीं है, किन्तु कर्मोदय निमित्तक है ।

बंध विधान—घ. १४/६ ६.१/२/५ पयडि-द्विदिअणुभाग-पदेसभेद-भिण्णा बंधवियप्पा बंधविहाण णाम । = प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेशके भेदमे भेदको प्राप्त हुए बन्धके भेदोंको बन्ध विधान कहते हैं ।

बंधसमुत्पत्तिक स्थान—दे० अनुभाग/१ ।

बंध स्थान—स. सा /आ /५३-५५ यानि प्रतिविशिष्टप्रकृतिपरि-णामलक्षणानि बन्धस्थानानि । = भिन्न-भिन्न प्रकृतियोंके परिणाम जिनका लक्षण है ऐसे जो बन्ध स्थान* ।

बंध स्पर्श—दे० स्पर्श ।

बंधावलि—दे० आवली ।

बकुश

स. सि १/४६/४६०/६ नैर्ग्रन्थ्यं प्रतिस्थिता अखण्डितवता शरीरोप-करणविभूषणानुवर्तिनोऽविविक्तपरिवारा मोहकबलदृष्टा बकुश । शबलपर्यायवाची बकुश । = जो निर्ग्रन्थ होते हैं, त्रतोंका अखण्ड

रूपसे पालन करते हैं, शरीर और उपकरणोंकी शोभा बढ़ानेमें लगे रहते हैं, परिहारसे धिरे रहते हैं (अद्वि और यशकी कामना रखते हैं, सात और गौरवके आधार है (रा. वा.) और विविध प्रकारके मोहसे युक्त हैं, वे बकुश कहलाते हैं। यहाँ पर बकुश शब्द 'शबल' (चित्र-विचित्र) शब्दका पर्यायवाची है। (रा. वा./६/४६/२/६३६/-२१) (चा सा/१०१/२)।

२. बकुश साधुके भेद

स. सि./६/४७/४६१/१२ बकुशो द्विविध-उपकरण-बकुश शरीर-बकुश-श्चेति। तत्रोपकरणबकुशो बहुविधोपकरणकाङ्क्षी। शरीर-संस्कारसेवी शरीरबकुश। = बकुश दो प्रकारके होते हैं—उपकरण बकुश और शरीरबकुश। उनमेंसे अनेक प्रकारकी विशेषताओंको लिये हुए उपकरणोंको चाहनेवाला उपकरण बकुश होता है, तथा शरीरका संस्कार करनेवाला शरीर-बकुश है।

रा वा/६/४७/४६३८/१ बकुशो द्विविध—उपकरणबकुश शरीर-बकुशश्चेति। तत्र उपकरणाभिष्वक्तचित्तो विविधविचित्रपरिग्रहयुक्त-बहुविधोपकरणकाङ्क्षी तत्संस्कारप्रतीकारसेवी भिक्षुरूपकरण-बकुशो भवति। शरीरसंस्कारसेवी शरीरबकुश। = बकुश दो प्रकारके हैं—उपकरण-बकुश और शरीर-बकुश। उपकरणोंमें जिसका चित्त आसक्त है, जो विचित्र परिग्रह युक्त है, जो सुन्दर सजे हुए उपकरणोंकी आकांक्षा करते हैं तथा इन संस्कारोंके प्रतीकारकी सेवा करनेवाले भिक्षु उपकरण बकुश हैं। शरीर संस्कारसेवी शरीर बकुश हैं। (चा सा/१०४/१)।

भ. आ./वि.१/१६६०/१७२२/५ रात्रौ श्रेष्ठ शोने, सस्त्र च यथाकाम बहुतरं करोति, उपकरणबकुशो। देहबकुश दिवसे वा शोते च य पार्श्वस्थ। = जो रातमें सोता है, अपनी इच्छाके अनुसार बिलौना भी बड़ा बनाते हैं, उपकरणोंका संग्रह करते हैं, उनको उपकरण बकुश कहते हैं। जो दिनमें सोता है उसको देहबकुश कहते हैं।

* बकुश साधु सम्बन्धी विषय—दे० साधु/५।

बड़ा नगर—राजस्थानमें कोटाका प्रदेश। (जैन साहित्य इति-हास। पृ २५६/प्रेमी जी)।

बहु—प ध ७/६६ मोहकर्मवृत्तौ बहु। = मोहती व कर्मसे आवृत ज्ञानको बहु कहते हैं।

बध—स. सि./६/११/३२६/२ = आयुरिन्द्रियबलप्राणवियोगकारण बध।

स. सि./७/२४/३६६/२ दण्डकशास्त्रेवमिभिरभिघात प्राणना बध, न प्राणव्यपन्नपणम्, तत प्राणेश्च्यो विनिवृत्तत्वात्। = १ आयु, इन्द्रिय और श्वासोच्छ्वासका जुदा कर देना बध है। (रा. वा./६/११/४/४९६/२८), (प. प्र/टी/२/१२७)। २ डडा, चातुक और बेंत आदिसे प्राणियोंको मारना बध है। यह बधका अर्थ प्राणोंका वियोग करना नहीं लिया गया है, क्योंकि अतिचारके पहले ही हिसाका दण्ड कर दिया जाता है। (रा. वा./७/२४/३६६/२८)।

प. प्र/टी/२/१२७/२४/६ निश्चयेन मिथ्यात्वविषयकषायपरिणाम स्वरूपं चक्रिय। = निश्चयकर मिथ्यात्व विषय कषाय परिणामरूप निजघात।

बध परिषह—स. सि./६/६/४२४/६ निश्चितमिशसनमुजलमुद्गरा-त्रिप्रहरणाडनपीडनादिभयैवापामनाशरीरस्य व्यापदकेषु मनापि

मनोविकारमकुर्वती मम पुराकृतदुष्कर्मफलमिदमिमे वराका कि कुर्वन्ति, शरीरमिदं जलबुद्बुद्बुद्विशरणस्वभावं व्यसनकारणमैतै-र्बाध्यते, सज्ञानदर्शनचारित्राणि मम न केनचिदुपहन्यते इति चिन्त-यतो वासिलक्षणचन्दनानुलेपनसमदर्शिनो बधपरिषहक्षमा मन्यते।

= तीक्ष्ण तलवार, मूसर और मुद्गर आदि अस्त्रोंके द्वारा ताड़न और पीडन आदिसे जिसका शरीर तोडा मरोडा जा रहा है तथापि मारने वालोंपर जो लेशमात्र भी मनमें विकार नहीं लाता, यह मेरे पहले किये गये दुष्कर्मका फल है, ये बेचारे क्या कर सकते हैं, यह शरीर जलके बुलबुलेके समान विशरण स्वभाव है, दुखके कारणकी ही ये अतिशय बाधा पहुँचाते हैं, मेरे सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक् चारित्रको कोई नष्ट नहीं कर सकता इस प्रकार जो विचार करता है वह बसूलीसे छीलने और चन्दनसे लेप करनेमें समदर्शी होता है, इसलिए उसके बध परीषह जय माना जाता है। (रा. वा./६/६/१८/६११/४), (चा सा./१२६/२)।

बध वचन—दे० वचन।

बधघातक विरोध—दे० विरोध।

बध्यमान आयु—दे० आयु।

बध्यमान कर्म—ध. १२/४, २, १०, २/२०३/४ मिथ्यात्वाविरति-प्रमादकषाय-शोभे कर्मरूपतामापाद्यमानं कर्मण्युद्गलस्कन्धो बध्यमान। = मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योगके द्वारा कर्म स्वरूपको प्राप्त होने वाला कर्मण्युद्गलस्कन्ध बध्यमान कहा जाता है।

बनवारो लाल—माखनपुरके निवासी जैन पण्डित थे। खलौलीके चैत्यालयमें वि. १६६६ में भविष्यदत्तचरित्र रचा जो कि कवि धनपालके अपभ्रंश ग्रन्थका पद्यानुवाद है। (हि. जै. सा. ३/१०५ कामता)।

बनारसीदास—अगरा निवासी श्रीमान वैश्य थे। इनका जन्म जौनपुरमें खरगसेनके घर माघ शु १९ वि १६४३में हुआ था। पहिले आप श्वेतान्तर आमनायमें थे बादमें दिग्भर ही गये। कुछ समय तक जवाहरातका व्यापार भी किया। वेदान्ती विचारोंके कारण अध्यात्मी कहलाते थे। महाकवि गोस्वामी तुलसीदासके समकालीन थे। आपकी निम्न कृतियों प्रसिद्ध हैं—१ नवरस पद्यावली (यह एक शू गार रसपूर्ण रचना थी जो पीछे त्रिवेक जागृत होनेपर इन्होंने जमुनामें फेंक दी)। २ नाममाला, ३ नाटक समयसार (वि १६६३) ४ बनारसी विलास (वि १७०१), ५ कर्म प्रकृति विधान (वि १७००) : ६. अर्ध कथामन्द (वि १६६८)। समय—वि १६४३-१७०० (ई १६८७-१६४४)। (जै./२/२०३)। (ती/४/२४८)।

बनारसी विलास—प बनारसीदास (ई० १७०१) द्वारा रचित आध्यात्मिक भाषा पद्य संग्रह। (ती/४/२४४)।

वपदेव—उत्कलिका ग्रामके समीप 'मण्डल्ली' ग्राममें आपने आचार्य शुभनिच व ग्विनन्दसे ज्ञान व उपदेश प्राप्त करके षट्खण्डके प्रथम ५ खण्डोंपर ६००० श्लोक प्रमाण व्याख्या प्रज्ञप्ति नामकी टीका, तथा कषाय पाहुडकी भी एक उच्चारणा नामकी संक्षिप्त टीका लिखी। पीछे नाटग्राम (बडौदा) के जिनालयमें इसटीका के दर्शन करके श्री बीरसेनस्वामीने षट्खण्डके पाँच खण्डोंपर धवला नामकी टीका रची थी। समय—ई० श० १ (विशेष दे, परिशिष्ट)।

बल—१ मन, वचन, व काय बल—दे० वह वह नाम । २. तुल्य बल विरोध—दे० विरोध ।

बल ऋद्धि—दे० ऋद्धि/६ ।

बलचंद्र—श्रवणबेलगोलाके शिलालेख नं. ७ के अनुसार आप दिगम्बराचार्य धर्मसेन नं २ (ई० ६७५)के शिष्य थे । समय—वि. ७५७ (ई० ७००) (भ. आ/प्र. १६/प्रेमी) ।

बलदेव—१. पुष्पाट संघकी गुर्वावलीके अनुसार आप मित्रवीरके शिष्य तथा मित्रकके गुरु थे । समय—(ई० १०००) (दे० इति ७५); २ श्रवण बेलगोलाके शिलालेख नं. १५ के आधारपर कनकसेनके गुरु थे । समय—वि. ७०७ (ई० ६५०) (भ. आ./प्र. १६/प्रेमी) ३ श्रवणबेलगोलाके शिलालेख नं. ७ के आधारपर आप धर्मसेनके गुरु थे । समय—वि० ७५७ (ई० ७००) (भ. आ/प्र. १६/प्रेमी जी) ४. ह. पु/सर्ग/श्लोक नं वसुदेवका पुत्र था (३२/१०) कृष्णको जन्मते ही नन्द गोपके घर पहुँचाया (३५/१२) वहाँ जाकर उसको शिक्षित किया (३५/६४) द्वारकाकी रक्षाके लिए द्वैपायन मुनिसे प्रार्थना करनेपर केवल प्राण भिक्षा मिली (६१/४८-५६) जंगलमें जरतकुमार द्वारा कृष्णने मारे जानेपर (६३/७) ६ माह तक कृष्णके शवको लिये फिरे (६३/११-६०) । फिर देवके (जो पहले सिद्धार्थ नामक सारथि था) सम्बोधे जानेपर (६३/६१-७१) वीक्षा धारण कर (६३/७२) घोर तप किया (७५/११४) । सौ वर्ष तपश्चरण करनेके पश्चात् स्वर्गमें देव होकर (६५/३३) नरकमें जाकर कृष्णको सम्बोधा (६५/४२-५४)—विशेष दे० शलाका पुरुष/३ ।

बलदेव सूरि—आप भगवती आराधनाकार आचार्य शिवकोटि (शिवार्य) के गुरु बताये जाते हैं । आप स्वयं चन्द्रनन्दि नामक आचार्यके शिष्य थे । तदनुसार आपका समय—ई० १००० पूर्वार्ध आता है । (भ. आ/प्र./१६/प्रेमी जी) ।

बलभद्र—१ सुमेरु सम्बन्धी नन्दन वनमें स्थित एक प्रधान कूट व उसका स्वामी देव । अपरनाम मणिभद्र है ।—दे० लोक ३/६ । २. सनत्कुमार स्वर्गका छठा पटल व इन्द्रक—दे० स्वर्ग/५/३ ।

बलमद—दे० मद ।

बलमित्र—श्वेताम्बर आम्नायके अनुसार इनका अपरनाम वसुमित्र था ।—दे० वसुमित्र ।

बलाक पिच्छ—मूल सघकी गुर्वावलीके अनुसार आप आचार्य उमास्वामीके शिष्य थे । समन्तभद्र आचार्यके समकालीन तथा लोहाचार्य तृतीयके सहधर्मा थे । लोहाचार्यका नाम मूल नन्दिसंघमें आता है । पर इनका नाम उसी नन्दिसंघके देशीय गण नं० २ में आता है । अर्थात् ये देशीय गण न. २ के अग्रणी थे । समय—वि. २७७-२८८ (ई २२०-२३१) विशेष दे० इतिहास/७/१, ५ ।

बलात्कार गण—नन्दि सघकी एक शाखा—दे० इतिहास/५/२ ।

बलाधान कारण—दे० निमित्त/१ ।

बलि—१. पूजा (प प्र/२/१३६); २. आहारका एक दोष—दे० आहार/४/४ ३. वसुतिकका एक दोष—दे० वसुतिका । ४. ह. पु/२०/शलाक नं० उज्जयनी नगरीके राजा श्रीधर्मके ४ मन्त्री थे । बलि, प्रह्लाद, बृहस्पति व नमुचि । (४) एक समय राजाके संग मुनि वन्दनार्थ जाना पडा (८) । आते समय एक मुनिसे वाद-विवाद हो गया जिसमें इनकी परास्त होना पडा (१०) ।

इससे क्रुद्ध हो प्रतिकारार्थ रात्रिको मुनि हत्यका उद्यम करनेपर वनदैवता द्वारा कील दिये गये । तथा देशसे निकाल दिये गये (११) । तत्पश्चात् हस्तनागपुरमें राजा पद्मके मन्त्री हो गये । वहाँ उनके शत्रु सिहरथको जीतकर राजासे वर प्राप्त किया (१७) । मुनि सघके हस्तनागपुर पधारनेपर वरके बदलेमें सात दिनका राज्य ले (२२) नरमेध यज्ञके बहाने, सकल मुनिसंघको अग्निमें होम दिया (२३) । जिस उपसर्गको विष्णु कुमार मुनिने दूर कर इन चारोको देश निकाला दिया (६०) ।

बलींद्र—वर्तमानकालीन सातवें प्रतिनारायण थे । अपरनाम प्रहरण व प्रह्लाद था । (म. पु/६६/१०६) विशेष परिचय—दे० शलाका पुरुष/५ ।

बल्लाक देव—कर्नाटक देशस्थ होयसलका राजा था । इसके समयमें कर्नाटक देशमें जैन धर्मका प्रभाव खूब बढ़ा । विष्णुवर्धनके उत्तराधिकारी नारसिंह और उसके उत्तराधिकारी बल्लाक देव हुए । विष्णुवर्धन द्वारा किया गया जैनियोपर अत्याचार इसने दूर किया । यद्यपि घ. ३/प्र. ४ के अनुसार इनका समय ई० ११०० बताया गया है, परन्तु उपरोक्त कथनके अनुसार इनका समय—ई० ११६३-११६० आना चाहिए । (घ. खं. ३/प्र ४/ H. L. Jain) ।

बहल—भ. आ/वि/७००/८८२/६ तिर्तिणीकाफलरसप्रभृतिकं च अन्यद्बहलं । = कांजी, द्राक्षारस, इमलीका सार, वगैरह गाढ पानक-को बहल कहते हैं ।

बहिरात्मा—

मो पा./मू/५६ बहिरत्ये फुरियमणो इदियदारेण णियसरुत्तणे । णियदेहं अप्पाण अउभसदि सूढदिट्ठीओ । ८। णियदेहसारिथं पिच्छिऊण परविग्गह पयत्तेण । अच्चेयणं पि गहिणं भाइज्जइ परमभाएण । ९। = बाह्य धनादिकमें स्फुरत अर्थात् तत्पर है मन जिसका, वह इन्द्रियोंके द्वारा अपने स्वरूपसे ऋतुत है अर्थात् इन्द्रियोंको ही आत्मा मानता हुआ अपनी देहको ही आत्मा निश्चय करता है, ऐसा मिथ्यादृष्टि बहिरात्मा है । ८। (स श/७) (प. प्र./मू./१/१३) वह बहिरात्मा मिथ्यात्व भावसे जिस प्रकार अपने देहको आत्मा मानता है, उसी प्रकार परका देहको देख अचेतन है फिर भी उसको आत्मा माने है, और उसमें बडा यत्न करता है । ९।

नि. सा./मू/१४६ १५२ आवासयपरिहीणो समणो सो होदि बहिरप्पा १४६। अतरबाहिरजप्पे जो बट्टइ सो हवेइ बहिरप्पा १४६। ०० भाणविहीणो समणो बहिरप्पा इदि विजाणीहि १४६। = षट् आवश्यक क्रियाओसे रहित श्रमण वह बहिरात्मा है । १४६। और जो अन्तर्बाह्य जल्पमें वर्तता है, वह बहिरात्मा है । १४६। अथवा ध्यानसे रहित आत्मा बहिरात्मा है ऐसा जान । १४६।

र. सा/१३६-१३७ अप्पाणाणज्झाणज्झमणसुहमिगरसायणप्पाण । मोत्तूणख्खाणसुह जो भुजइ सो हु बहिरप्पा १३६। देहकलत्त पुत्त मित्ताइ विहावचेदणारूव । अप्पसरूव भावइ सो चैव हवेइ बहिरप्पा १३६। = आत्मके ज्ञान, ध्यान व अध्ययन रूप सुखामृतको छोडकर इन्द्रियोंके सुखको भोगता है, सो ही बहिरात्मा है । १३६। देह, कलत्र, पुत्र व मित्रादिक जो चेतनाके विभाबिक रूप है, उनमें अप्पापनेकी भावना करनेवाला बहिरात्मा होता है । १३७।

यो सा यो/७ मिच्छा-वसण-मोहियउ परु अप्पा ण सुणेइ । सो बहिरप्पा जिण भणित्त पुण ससार भमेइ । ७। = जो मिथ्यादर्शनसे मोहित जीव परमात्माको नहीं समझता, उसे जिन भगवान्ने बहिरात्मा कहा है, वह जीव पुन पुन ससारमें परिभ्रमण करता है । ७।

ज्ञानसार/३० मदमोहमानसहित' रागद्वेषैर्निरयसंतप्त' । विषयेषु तथा शुद्ध' बहिरात्मा भण्यते सैष । ३०। = जो मद्, मोह व मान सहित है, राग-द्वेषसे निरय संतप्त रहता है, विषयोंमें अति आसक्त है, उसे बहिरात्मा कहते हैं । ३०।

का./अ./सू./१६३ मिच्छन्त-परिणष्टपा तिव्व-कसाएण सुदुत्तु आविद्धो । जीवं देह एवकं मण्णंती होदि बहिरप्पा । १६३। = जो जीव मिथ्यात्व कर्मके उदय रूप परिणत हो, तीव्र कषायमे अच्छी तरह आविष्ट हो, और जीव तथा देहको एक मानता हो, वह बहिरात्मा है । १६३।

प्र. सा./ता. वृ./२३८/३२६/१२ मिथ्यात्वरागादिरूपा बहिरात्मावस्थाः । = मिथ्यात्व व राग-द्वेषादि कषायोंसे मलीन आत्माकी अवस्थाको बहिरात्मा कहते हैं ।

प्र. स./टी./१४/४६/८ स्वशुद्धात्मसंवित्तिसमुत्पन्नबास्तवसुखारप्रतिपक्ष-भूतेनेन्द्रियसुखेनासक्तो बहिरात्मा. . . अथवा देहरहितनिजशुद्धात्म-द्रव्यभावनालक्षणभेदज्ञानरहितत्वेन देहादिपरद्रव्यैकैकस्वभावना-परिणतो बहिरात्मा. . . अथवा हेयोपादेयविचारकचित्तं निर्दोषपर-मात्मनो भिन्ना रागादयो दोषाः, शुद्धचैतन्यलक्षण आत्मा, इत्युक्त-लक्षणेषु चित्तदोषात्मासु त्रिषु बीतरागसर्वज्ञप्रणीतेषु अन्येषु वा पदार्थेषु यस्य परस्परसापेक्षनयविभागेन भ्रजानं ज्ञानं च नास्ति स बहिरात्मा । = १. निज शुद्धात्माके अनुभवसे उत्पन्न यथार्थ सुखसे विरुद्ध जो इन्द्रिय सुख उसमें आसक्त सो बहिरात्मा है । २. अथवा देह रहित निज शुद्धात्म द्रव्यकी भावना रूप भेदविज्ञानसे रहित होनेके कारण देहादि अन्य द्रव्योंमें जो एकस्व भावनासे परिणत है यानी - देहको ही आत्मा समझता है सो बहिरात्मा है । ३. अथवा हेयोपादेयका विचार करनेवाला जो 'चित्त' तथा निर्दोष परमात्मासे भिन्न रागादि 'दोष' और शुद्ध चैतन्य लक्षणका धारक 'आत्मा' इन (चित्त, दोष व आत्मा) तीनोंमें अथवा सर्वज्ञ कथित अन्य पदार्थोंमें जिसके परस्पर सापेक्ष नयों द्वारा भ्रजान और ज्ञान नहीं है वह बहिरात्मा है ।

२. बहिरात्मा विशेष

का. अ./टी./१६३ उत्कृष्टा बहिरात्मा गुणस्थानादिमे स्थिताः । द्वितीये मध्यमा, मिश्रे गुणस्थाने जघन्यका इति । = प्रथम मिथ्यात्व गुण-स्थानमें जीव उत्कृष्ट बहिरात्मा है, दूसरे सासादन गुणस्थानमें स्थित मध्यम बहिरात्मा है, और तीसरे गुणस्थान वाले जघन्य बहिरात्मा है ।

बहिर्यानक्रिया—वे० संस्कार/२ ।

बहु—मतिज्ञानका एक भेद—वे० मतिज्ञान/४ ।

बहुकेतु—विजयार्थकी दक्षिण श्रेणीका एक नगर—वे० विद्याधर ।

बहुजनपुच्छा दोष—वे० आलोचना/४ ।

बहुमान—सू आ./२८३ सुसर्थं जपन्तो वायंती चावि गिज्ज-राहेवु' । आसावर्ण ण कुज्जा तेण किञ् होदि बहुमाणे । २८३। = अंग-पूर्वाधिका सम्यक् अर्थ उच्चारण करता वा पढ़ता, पढ़ाता हुआ जो भव्य कर्म निर्जराके लिए अन्य आचार्योंका वा शास्त्रोंका अपमान नहीं करता है वही बहुमान गुणको पालता है ।

भ. आ./वि./१४३/२६१/३ बहुमाणे सन्मानं । पुचिः कृताञ्जलिपुटस्य अनाक्षिप्तमनसः सादरमध्ययनम् । = पवित्रतासे, हाथ जोड़कर, मन-को एकाग्र करके बड़े आदरमे अध्ययन करना बहुमान विनय है ।

बहुमुखी—विजयार्थकी दक्षिण श्रेणीका एक नगर—वे० 'विद्याधर' ।

बहुरूपिणी—भगवाद् नेमोनाथकी यक्षिणी—वे० तीर्थंकर/५/३ ।

बहुसूत्रा—भरत क्षेत्रस्थ आर्य खण्डकी एक नदी—वे० मनुष्य/४ ।

बहुविय—मतिज्ञानका एक भेद—वे० मतिज्ञान/४ ।

बहुश्रुत—ध. ८/३, ४१/८६/७ बारसंगपारयाबहुसुदाणाम । = जो बारह अंगोंके पारगामी हैं वे बहुश्रुत कहे जाते हैं ।

बहुश्रुत भक्ति—वे० भक्ति/२ ।

बाकी—Substraction (ध. ५/प्र. २८) ।

बाण—१. H ght of a segment (ज. ५/प्र. १०७) २. बाण निकालनेकी प्रक्रिया—वे० गणित/II/७/३ ।

बाणभट्ट—१. इन्होंने कादम्बरी व हर्ष चरितकी रचना की थी । समय—वि० ६६७-७०७ (क्षत्र चूडामणि/प्र. ८/प्रेमी) ।

बाणा—भरतक्षेत्रस्थ आर्य खण्डकी एक नदी—वे० मनुष्य/४ ।

बावर—वे० सूक्ष्म । सहनानी—वे० गणित/II/२/५ ।

बावरायण—एक अज्ञानवादी थे—वे० अज्ञानवाद । वेदान्तके सर्व प्रधान ग्रन्थसूत्रोंके ई० ४०० में कर्ता हुए हैं—वे० वेदान्त ।

बावाल—(पण्टी) २ = ४२६४६६०२६६—वे० गणित/II/१/१ ।

बाधित—१. बाधित विषयके भेद

प. सु./६/१५ बाधितः प्रत्यक्षानुमानागमलोकस्ववचनैः । १५। = प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम, लोक एवं स्ववचन बाधितके भेदसे बाधित पाँच प्रकार हैं । १५। (न्या. टी./३/९६३/१०२/१४) ।

२. बाधितके भेदोंके रक्षण

प. सु./६/१६-२० तत्र प्रत्यक्षबाधितो 'यथा—अनुष्णोऽग्निर्द्रव्यस्वाज्ज-लवत् । १६। अपरिणामी शब्दः कृतकरवाह घटवत् । १७। प्रेत्यासुख-प्रदो धर्मः पुरुषाभितस्वादधर्मवत् । १८। सुचि नरदारः कपालं प्राण्य-ङ्गस्वाच्छुक्तिवत् । १९। माता मे बन्ध्या पुरुषसंयोगेऽप्यगर्भवत्कार-सिद्धबन्ध्यावत् । २०। = १. अग्नि ठण्डी है क्योंकि द्रव्य है जैसे जल । यह प्रत्यक्ष बाधितका उदाहरण है । क्योंकि स्पर्शन प्रत्यक्षसे अग्नि-की शीतलता बाधित है । १६। शब्द अपरिणामी है, क्योंकि वह किया जाता है जैसे 'घट', यह अनुमानबाधितका उदाहरण है । १७। धर्म परभवमें दुःख देनेवाला है क्योंकि वह पुरुषके अधीन है जैसे अधर्म । यह आगम बाधितका उदाहरण है, क्योंकि यहाँ उदाहरण रूप 'धर्म' तो परभवमें सुख देनेवाला है । १८। मनुष्यके मस्तककी खोपड़ी पवित्र है क्योंकि वह प्राणीका अंग है, जिस प्रकार हाँक, सीप प्राणीके अंग होनेसे पवित्र गिने जाते हैं, यह लोकबाधितका उदाहरण है । १९। मेरी माँ बाँक है क्योंकि पुरुषके संयोग होनेपर भी उसके गर्भ नहीं रहता । जैसे प्रसिद्ध बंध्या स्त्रीके पुरुषके संयोग रहनेपर भी गर्भ नहीं रहता । यह स्ववचनबाधितका उदाहरण है, क्योंकि मेरी माँ और बाँक ये बाधित वचन हैं । २०। (न्या. टी./३/९६३/१०२/१४) ।

बानमुक्त—भरत क्षेत्रमें दक्षिण आर्यखण्डका एक देश—वे० मनुष्य/४।

बानर—बानर मनुष्य नहीं तिर्यक्य होते हैं (म. पु./८/२३०) ।

बारस अनुवैक्या—आ. कुन्दकुन्द (ई० १२७-१७६) कृत वैराग्य विषयक ६१ प्राकृत गायत्रीमें निबद्ध ग्रन्थ है । इस ग्रन्थमें बारह वैराग्य भावनाओंका कथन है । इसपर कोई टीका उपलब्ध नहीं है । (ती०/२/११४) ।

बारह तप व्रत—शुक्ल पक्षकी किसी तिथिको प्रारम्भ करके प्रथम १२ दिनमें २२ उपवास, आगे १२ एकाशन, १२ कांजिक (जल व भातजा आहार), १२ निगोरस (गोरसरहित भाजन), १२ अल्पाहार, १२ एक लठाना (एक स्थानपर मौन सहित भोजन),

१२ मूंगके आहार, १२ मोठके आहार, १२ चोलाके आहार, १२ चनाके आहार, १२ में मात्र जल, १२ घृत रहित आहार। इस प्रकार ६ क्रमोंमें बारह-बारह दिनका अन्तराय चलकर मौन सहित भोजन करे। तथा नमस्कार मन्त्रका त्रिकाल जाप्य करना। इस प्रकार कुल १४४ दिनमें व्रत समाप्त होता है। (व्रतविधान सं./पृ.११६); (किशनसिंह क्रियाकोष)।

बारह बिजोरा व्रत—एक वर्षकी २४ द्वादशियोंके २४ उपवास करे तथा नमस्कार मन्त्रका त्रिकाल जाप्य करे (व्रतविधान संग्रह। पृ. ६६) (वर्द्धमान पुराण)।

बारह दशमी व्रत—यह व्रत श्वेताम्बर आम्नायमें प्रचलित है। 'बारा दशमी सुहारी लेय, बारा बारा दश घर देय।' (व्रत विधान संग्रह। पृ. १३१); (नवलसाहकृत वर्द्धमान पु.)।

बाल—रा. वा./६/१२/७/५२२/२८ यथार्थप्रतिपत्त्यभावादज्ञानिनो बाला मिथ्यादृष्ट्याद्यः—यथार्थ प्रतिपत्तिका अभाव होनेसे मिथ्यादृष्टि आदिको अज्ञानी अथवा बाल कहते हैं।

बालक्रिया—दे० क्रिया/३/३।

बालचंद्र—१. ई० ७०० के एक विगम्बराचार्य (दे. बलचन्द्र)। २. समयसार, प्रवचनसार, पञ्चास्तिकाय, सार्वार्थसूत्र व परमात्म-प्रकाश के कन्नड़ टीकाकार। समय—वि. सं. १२ का अन्त (ई. स. १३ पूर्व)। (जै./२/१६४)। ३. अभयचन्द्र के शिष्य, श्रुतमुनि के शिक्षा गुरु। भावप्रिभंगी तथा द्रव्य संग्रह की टीका के कर्ता। समय—सक ११६५-१२३३ (ई० १२७३-१३११)। (जै./२/६६, ३७८)।

बालतप—दे० धर्म/२/६/।

बालनन्दि—नन्दिसंघ देशीयगण के अनुसार आप वीरनन्दि नं, ३ के शिष्य तथा जम्बूद्वीपगणतिके कर्ता पद्मनन्दि नं, ४ (ई. ६६३-१०४३) के गुरु थे। पद्मनन्दि नं, ४ के अनुसार इनका समय ई. ६६८-१०२३ आता है।—दे० इतिहास/७/५ (पं.सं./प्र.३६/A.N. Up.); (पं. वि./प्र./१२/A. N. Up.); (ज.प./प्र. १३/A.N Up.); (व. सु. आ./प्र./१८/पं. गजाधरलाल)।

बाल मरण—दे० मरण/१।

बालव्रत—दे० चारित्र/३/१०।

बालाय—क्षेत्रका प्रमाण विशेष/अपरनाम केक्षाय—दे० गणित/1/१।

बालाचार्य—दे० आचार्य/३।

बालावित्य—ई. स. ६ में एक बौद्धमत्तानुयायी राजा था। इसने नालन्दाके मठ बनवाये थे।

बालावित्य—कुबेर देशका राजा था। एक बार म्लेच्छों द्वारा पकड़ा गया। इसकी अनुपस्थितिमें इसकी पुत्रीने पुरुषके वेशमें राज्य किया। बहुत समय पीछे बनवासी रामने इसे मुक्त करवाया। (प पु/३४/३६-६७)।

बालिस्त—क्षेत्रका प्रमाण विशेष, अपरनाम विलिस्त।—दे० गणित/1/१।

बाली—प. पु./६/श्लोक नं, किष्किन्धपुरके राजा सूर्यरजका पुत्र था (१) राम व रावणके युद्ध होनेपर विरक्त हो वीक्षा धारण कर ली (२०)। एक समय रावणने क्रुद्ध हो तपश्चरण करते समय इनको पर्वत सहित उठा लिया। तब मुनि बालीने जिन मन्त्रिकोंकी रक्षार्थ पैरका अंगूठा दबाकर पर्वतको स्थिर किया (१३२) अन्तमें इन्होंने निर्वाण प्राप्त किया (२२९)।

२. बालीकी दीक्षा सम्बन्धी दृष्टिभेद

प. पु./६/६० के अनुसार सुग्रीवके भाई बालीने दीक्षा धारण कर ली थी। परन्तु म, पु/६/१६४ के अनुसार बाली लक्ष्मणके हाथों मारा गया था।

बालुकाप्रभा—स. सि./३/१/२०३/८ बालुकाप्रभासहचरिता भूमि-बालुकाप्रभा।—जिसकी प्रभा बालुकाकी प्रभाके समान है, वह बालुका प्रभा है। (इसका नाम सार्थक है); (ति. प./२/२१); (रा. वा./३/१३/१६८/१८)।

* **बालुका प्रभा पृथिवीका आकार व अवस्थान**—दे० नरक/५/११।

बासी भोजन—बासी भोजनका निषेध—दे० भक्ष्याभक्ष्य/२।

बाहुबली—१. नागकुमार चरित के रचयिता एक कन्नड़ कवि। समय—ई० १६६०। (ती./४/३११)२. न. पु./सर्ग/श्लोक नं, अपने पूर्व भव नं, ७ में पूर्व विदेह बत्सकावती देशके राजा प्रीतिवर्धनके मन्त्री थे (८/२११) फिर छठे भवमें उत्तरकुर्ममें भोग भूमिज हुए (८/२१२), पाँचवें भवमें कनकाभदेव (८/२१३) चौथे भवमें वज्रजंघ (आदिनाथ भगवाद्का पूर्व भव) के 'आनन्द' नाम पुरोहित हुए (८/२१७) तीसरे भवमें अधोमैत्रेयकमें अहमिन्द्र हुए (६/६०) दूसरे भवमें वज्रसेनके पुत्र महाबाहु हुए (११/१२) पूर्व भवमें अहमिन्द्र हुए (४७/३६५-३६६) वर्तमान भवमें ऋषभ भगवाद्के पुत्र बाहुबली हुए (१६/६) बड़ा होनेपर पौदनपुरका राज्य प्राप्त किया (१७/७७)। त्यागमानो होनेपर भरतको नमस्कार न कर उनको जल, मल्ल व दृष्टि युद्धमें हटा दिया (३६/६०) भरतने क्रुद्ध होकर इनपर चक्र चला दिया, परन्तु उसका इनपर कुछ प्रभाव न हुआ (३६/३६)। इससे विरक्त हो इन्होंने दीक्षा ले ली (३६/१०४)। एक वर्षका प्रतिमा योग धारण किया (३६/१०६) एक वर्ष पश्चात् भरतने आकर भक्तिपूर्वक इनकी पूजा की तभी इनको केवललम्बिकी प्राप्ति हो गयी (३६/१८४)। अन्तमें मुक्ति प्राप्त की। ३. बाहुबलीजीके एक भी शिष्य न थी—दे० शिष्य ४। बाहुबलीजीकी प्रतिमा सम्बन्धी दृष्टिभेद—दे० पूजा/३/१०।

बाहुल्य—१. Hight, (त्रि. सा./टी./१७०) २. Width (ज. प./प्र./१०७)।

बाह्य—१. स. सि./६/११/४९१/३ बाह्यद्रव्यापेक्षस्वात्परप्रत्यक्षत्वाच्च बाह्यत्वम्।—बाह्य द्रव्यके आलम्बनसे होता है, और दूसरोंके देखनेमें आता है, इसलिए इसे बाह्य (तप) कहते हैं। २. परमार्थ बाह्य—दे० परमार्थ।

बाह्य उपकरण इन्द्रिय—दे० इन्द्रिय/१।

बाह्यकारण—दे० कारण/1/१।

बाह्यतप—दे० वह वह नाम।

बाह्यनिर्वृति इन्द्रिय—दे० इन्द्रिय/१।

बाह्य परिग्रह आदि—दे वह वह विषय।

बाह्य वर्गणा—दे० वर्गणा।

बिबुसार—मगध सम्राट् अशोकका पिता था। समय—जैन के अनुसार ई.पू. ३०२-२७७; लोक इतिहासके अनुसार ई.पू. २६८-२७३—दे० इतिहास/३/४।

बिंब—१. Disc. (ज. प./प्र. १०७)। २. ओ. पा./सू./१६ जिणधिवं णामयं सजमसुद्धं सुवीयारयं च। जं देईं विनखसिकया वम्मवखय-कारणे सुद्धा। १६।—जो ज्ञानमयी है, संयमसे शुद्ध है, अतिशय वीर-

राग है, और कर्मके क्षयका कारण है, मुक्त है ऐसी दीक्षा और शिक्षा देता है। ऐसा जिनविम्ब अर्थात् जिनेन्द्र भगवाण्का प्रतिविम्ब-स्वरूप आचार्य का स्वरूप है।

त्रिजसार—मगधराज ब्रजेन्द्रका अपर नाम। समय—ई. पू. ६०४-६५२। (दे. इतिहास/३/४)।

विल—नारीकियोंके जन्म स्थान। दे० तरक/५/३।

बीज—१ बीजरूप वनस्पतिके भेद व लक्षण—दे० वनरपति/१।
२ बीजोवा भक्ष्य, भक्ष्य विचार—दे० सचित्त/५। ३. बीजमें जीवका जन्म होने सम्बन्धी नियम—दे० जन्म/२।

बीजगणित—Algebra (ज प/प्र. १०७), (घ. ५/प्र २८)।

बीजपद—दे० पद।

बीजबुद्धिऋद्धि—दे० ऋद्धि/२।

बीजमानप्रमाण—दे० प्रमाण/५।

बीजसम्भवत्व—दे० सम्यग्दर्शन/१/१।

बीजा—आर्यखण्ड की नदी—दे० मनुष्य/४।

बीजाक्षर—दे० अक्षर।

बीथी—Orbit (ज प/प्र. १०७)।

बीसीय—ल. सा./भाषा/२२२/२०५/७ जिन (कर्मनि) की बीस कोडाकोडी (सागर) उत्कृष्ट स्थिति है, ऐसे नाम गोत्र तिनि कूँ बांसिय कहिए।

बुद्ध—१. बुद्ध सामान्यका लक्षण

प. प्र/टी/१/२३/२१/५ बुद्धोऽनन्तज्ञानादिचतुष्टयसहित इति। =केवल-ज्ञानादि अनन्तचतुष्टय सहित होनेसे अन्मा बुद्ध है। (ब्र. स/चूलिका/२८/८०/१)।

भा पा/टी/१/४६/२६३/१४ बुद्धयत् सर्वं जागताति बुद्ध। =बुद्धिके द्वारा सब कुछ जानता है, इसलिए बुद्ध है।

२ प्रत्येकबुद्ध व बोधितबुद्धके लक्षण

स. मि/१०/१/४७२/६ स्वशक्तिपरापदेशनिमित्तज्ञानभेदात् प्रत्येकबुद्ध-बाधितविकल्पा। =अपनी शक्तिरूप निमित्तसे होनेवाले ज्ञानके भेद-से प्रत्येक बुद्ध होती है। और परापदेशरूप निमित्तसे होनेवाले ज्ञानके भेदसे बाधित बुद्ध होते हैं। (रा वा/१०/६/८/६७/११)।

ति. प./४/१०२२ कम्माण उपसमेण यं गुरुवदेस विणा वि पावेदि। सण्णाणसवप्पगम जीए पत्तेयबुद्धा सा। १०२२। =जिसके द्वारा गुरु उपदेशके बिना ही कर्मोंके उपशमसे सम्यग्ज्ञान और तपके विषयमे प्रगति होती है, वह प्रत्येकबुद्ध ऋद्धि कहलाती है। (रा वा/३/२६/३/२०२/२४), (म आ/वि/३४/२२५/११)।

* स्वयं बुद्धका लक्षण—दे० स्वयंभू।

बुद्धगुप्त—ई.श ५ में एक बौद्ध मतानुसारी राजा था, इसने नालन्दा-के मठ बनवाये थे।

बुद्धस्वामी—ई.श ८ में बुद्धकथा श्लोक सग्रहके रचयिता एक जैन कवि थे। (जीवधरचम्पू/प्र १८/A, N. Up.)।

बुद्धि—

ष. खं १३/५/५/४ ४०/२४३ आवायो ववसायो बुद्धी विण्णाणी आउडी पञ्चाउडी। ३६। ऊहितोऽथो बुद्धयते अवगम्यते अनया इति बुद्धि। =अवाय, व्यवसाय, बुद्धि, विज्ञप्ति, आमुण्डा और प्रत्यामुण्डा ये पर्याय नाम हैं। ३६। -जिसके द्वारा ऊहित अर्थ 'बुद्धयते' अर्थात् जाना जाता है वह बुद्धि है।

यो सा अ/८/८२ बुद्धिमक्षाश्रया। =जो इन्द्रियोंके अवलम्बनसे हो वह बुद्धि है।

स म/१/८८/३० बुद्धिशब्देन ज्ञानमुच्यते। =बुद्धिका अर्थ ज्ञान है। न्या. सू./सू/१/१/१५/२० बुद्धिरूपलब्धिर्ज्ञानमित्यनथान्तरम्। =बुद्धि, उपलब्धि और ज्ञान इनका एक ही अर्थ है। केवल नामका भेद है।

बुद्धिऋद्धि—दे० ऋद्धि/२।

बुद्धिकीर्ति—अपरनाम महात्मा बुद्ध था—दे० बुद्ध। (द सा./पू/७-८), (द स/प्रशस्ति २६/पं नाथूराम)।

बुद्धिकूट—रुक्मि पर्वतस्थ एक कूट—दे० लोक/७।

बुद्धिदेवी—रुक्मि पर्वतस्थ महापुण्डरीक हृद व बुद्धिकूटकी स्वामिनी देवी—दे० लोक/३/६/५/४।

बुद्धिल—दे० बुद्धिलिग।

बुद्धिलिग—श्रुतावतारकी पहावलीके अनुसार अपका अपरनाम बुद्धिल या। आप भद्रबाहु श्रुतकेवलीके पश्चात् नवे ११ अग व ६० पूर्वधारी रूप है। समय—वी. नि. २६५-३१५ (ई पू २३२-२१२)—इन्द्रि नं० ३के अनुसार बी नि. ३५५-३७५।—दे० इतिहास/४/४।

बुद्धेशभवनठयास्थान—आ विद्यानन्दि (ई ७७५-८४०) कृत संस्कृत भाषाबद्ध न्याय विषयक ग्रन्थ।

बुध—१ एक ग्रह—दे० 'ग्रह', २ बुध ग्रहका लोकमें अवस्थान—दे० ज्योतिष/२। ३ स्या म/२-२८२/२६ बुध्यन्ते यथावस्थित वस्तु-तत्त्वं सारैतरिद्विषयविभागविचारणया इति बुधः। =यथावस्थित वस्तु तत्त्वको सार व असारके विषय विभागकी विचारणके द्वारा जो जानते हैं, वे बुध हैं।

बुधजन—आप जयपुर निवासी खण्डेलवाल जैन पण्डित थे। असली नाम बुद्धिचन्द। अपर नाम बुधजन, विधिचन्द। कृतिये—तत्त्वार्थ बोध (वि. १८७१), बुधजन सतसई (वि १८७६); पञ्चास्तिकाय भाषा (वि. १८६१); बुधजन विलास (वि. १८६२); योगसार भाषा; पदसंग्रह। समय—वि. १८७१-१८६२ (ई० १८१४-१८३५)। (ती. ४/२६८)।

बुधजनविलास—१ बुधजन द्वारा (ई. १८३५) में रचित भाषा पदसंग्रह। (ती. ४/२६८)।

बुधजनसतसई—१. बुधजन द्वारा (ई. १८२२) में रचित भाषा पदसंग्रह। (ती. ४/२६८)।

बुलाहीदास—आगरे निवासी गीयलगोत्री अग्रवाल दिगम्बर जैन हिन्दी कवि। इनकी माता जेनी पण्डित हेमचन्दकी पुत्री थी। पिताका नाम नन्दलाल था। आपने भारत भाषामें पाण्डव पुराणकी रचना की थी। समय—वि १७५४ (ती०/४/२६३)।/१७० कामता)।

बूवीराज—१. शुभचन्द्र सिद्धान्तिक के शिष्य एक गृहस्थ। समय—शक १०१५-१०३७ (ई० १०६३-१११५)। (घ० २/प्र ११)। २. अपभ्रंश कवि। कृतिये—मयणजुञ्ज (मदनयुद्ध); सन्तोष तिलक जयमाल, चेतनयुद्धल घमाल, टंडाणागीत इत्यादि। समय—वि. १५८६ (ई० १५३२)। (ती. ४/२३०)।

बृहत् कथा—बृहत् कथाकोष, बृहत् कथा मञ्जरी, बृहत् कथा सरित् सागर—दे० कथा कोष।

बृहत् क्षेत्र समास—त्रिलोकप्रज्ञप्ति के समक्षक, पांच अधिकार तथा ६५६ प्राकृत गाथाबद्ध, त्रिलोक प्ररूपक, श्वेताम्बर ग्रन्थ। रचयिता जिनभद्र गणी क्षमाधर्मण (वि ६२०) जै./२/६२।

बृहत् त्रयम्—अकलक भट्ट रचित संस्कृत भाषाबद्ध न्याय विषयक ग्रन्थ (दे अकलक भट्ट)।

बृहत् संहिणी सूत्र—जिनभद्र गणी क्षमाश्रमण (वि. ई२०) द्वारा रचित प्राकृत भाषामुद्र श्वेताम्बर ग्रन्थ । अपर नाम संघायणी । (जै./२/६२) ।

बृहत् सर्वज्ञ सिद्धि—अनन्तकीर्ति (ई. श. ६) द्वारा रचित, संस्कृत भाषामुद्र न्याय विषयक ग्रन्थ । (ती./३/१६७) ।

बृहद्गृह—विजयार्धकी दक्षिण श्रेणीका एक नगर । —दे० विद्याधर ।

बृहद् बल—रामाकृष्ण द्वारा संशोधित इक्ष्वाकु वंशावली के अनुसार त्रैलोक्यम की १०२वीं पीढ़ी में विद्यमान राजा जो महाभारत युद्ध में मारा गया । समय—ई. पू. १५५०—ई. महाभारत ।

बृहस्पति—१ एक ग्रह—दे० ग्रह, २ इसका लोकमें अवस्थान—दे० ज्योतिष/२ । ३, पद्म चक्रमूर्तिका मन्त्री और बलिका सहवर्ती । —दे० बलि ।

बेलंधर—१ लवण समुद्रस्थ कौस्तुभ व कौस्तुभाभास पर्वतके स्वामी-देव—दे० लोक/७ । लवण समुद्रके अपर बेलंधर नामवाले नागकुमार जातिके भवनवासी देवोंकी ४२००० नगरियाँ हैं ।

बेलडो—वतविधान सं./पृ. २६ केवल पानी और मिर्च मिलाकर खाना सो बेलडो कहलाता है ।

बेलन—Cylinder. (ज. प./प्र. १०७) ।

बेलनाकार—Cylindrical, (ध ५/प्र. २८)—दे० गणित/II/७/६

बेलाव्रत—प्रथमदिन दोपहरको एकाशन, विद्यक्षित दो दिनमें उपवास तथा अगले दिन दोपहरको एकाशन करे । (ह. पु /३४/) (वतविधान स/पृ. १२३) ।

बोद्धनराय—राष्ट्रकूटका राजा था । अपरनाम अमोघवर्ष था—दे० अमोघवर्ष ।

बोधपाहुड़—आ. कुन्दकुन्द (ई १२७-१७६) कृत आयतन चैत्य-गृह आदि ११ विषयों सम्बन्धी सक्षिप्त परिचायक ६२ प्राकृत गाथाओंमें निबद्ध ग्रन्थ है । इसपर आ० श्रुतसागर (ई १४८१-१४६६) कृत संस्कृत टीका और पं. जयचन्द छावड़ा (ई १८६७) कृत देश-भाषा वचनिका उपलब्ध है । (ती./२/११४) ।

बोधायन—ब्रह्मसूत्रके टीकाकार—दे० वेदान्त ।

बोधि प. प्र/टी./१/६/१६/८ सम्म्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणामप्राप्तप्रापण बोधि । =सम्म्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्रिकी प्राप्ति नहीं होती और इनका पाना ही बोधि है । (द्र. सं /टी./३५/१४४/६) ।

बोधिदुर्लभ अनुप्रेक्षा—दे० अनुप्रेक्षा ।

बोधितबुद्ध— दे० बुद्ध ।

बौद्धदर्शन—१. सामान्य परिचय

१. इस मतका अपरनाम सुगत है । सुगतको तीर्थंकर, बुद्ध अथवा धर्म-धस्तु कहते हैं । ये लोग सात सुगत मानते हैं—त्रिपर्यायि, शिखी, विश्वभू, क्रकृच्छन्द, काचन, काश्यप और शाक्यसिंह । ये लोग बुद्ध भगवाद्को सर्वज्ञ मानते हैं । २ बुद्धोंके कण्ठ तीन रेखाओंसे चिह्नित होते हैं । बौद्धसाधु चमर, चमडेका आसन, व कमण्डलु रखते हैं । मुण्डन कराते हैं । सारे शरीरको एक गेरुवे वस्त्रसे ढके रहते हैं ।

२. उत्पत्ति व आचार-विचार

१. कान व उपदेशकी समानताके कारण जैन व बौद्धमतको कोई-कोई एक मानता है, पर वास्तवमें मे ऐसा नहीं है । जैन शास्त्रोंमें इसकी उत्पत्ति सम्बन्धी दो दृष्टियाँ प्राप्त हैं ।

२. उत्पत्ति सम्बन्धी दृष्टि नं १

द. सा./मू./६-७ श्री पार्श्व नाथतीर्थे सरयूतीरे पलाशननगरस्थ । पिहिता-सवस्य शिष्यो महाश्रुती बुद्धिकीर्तिमुनि ।६। तिमिपुर्णशिनै. अत्रिगतप्रवचन्यात् परिध्रष्टः । रक्ताम्बरं धृत्वा प्रवर्तितं तेन एकान्तम् ।७।

गो. जी./जी. प्र./१६ बुद्धदर्शनादय.एकान्तमिध्यादृष्टय. । =श्रीपार्श्वनाथ भगवात्के तीर्थमे सरयू नदीके तटवर्ती पलाश नामक नगरमें पिहिता-श्रव साधुका शिष्य बुद्धिकीर्ति मुनि हुआ, जो महाश्रुत व बड़ा भारी शास्त्रज्ञ था ।६। मछलियोंका आहार करनेसे वह ग्रहण की हुई दीक्षासे भ्रष्ट हो गया और रक्ताम्बर (लाल वस्त्र) धारण करके उसने एकान्त मतकी प्रवृत्ति की ।७। बुद्धदर्शन आदिक ही एकान्त मिध्यादृष्टि है ।

द. सा /प्र /२६ प्रेमी जी, बुद्धकीर्ति सम्भवतः बुद्धदेव (महात्मा बुद्ध) का ही नामान्तर था । दीक्षासे भ्रष्ट होकर एकान्त मत चलानेसे यह अनुमान होता है कि यह अवश्य ही पहले जैन साधु था । बुद्धिकीर्तिको पिहितस्रव नामक साधुका शिष्य बतलाया है । स्वयं ही आत्मारामजी ने लिखा है कि पिहितस्रव पार्श्वनाथकी शिष्य परम्परामें था । श्वेताम्बर ग्रन्थोंसे पता चलता है कि भगवाद् महावीरके समयमें पार्श्वनाथकी शिष्य परम्परा मौजूद थी ।

३. उत्पत्ति सम्बन्धी दृष्टि नं. २

धर्म परीक्षा/१/६ रुष्ट श्रीवीरनाथस्य तपस्वी मौडिलायन. । शिष्य श्रीपार्श्वनाथस्य विरुधे बुद्धदर्शनम् ।६। शुद्धोदनसुतं बुद्ध परमात्मानमब्रवीत् । =भगवाद् पार्श्वनाथकी शिष्य परम्परामें मौडिलायन नामका तपस्वी था । उसने महावीर भगवात्से रुष्ट होकर बुद्धदर्शनको चलाया और शुद्धोदनके पुत्र बुद्धको परमात्मा कहा ।

द. सा./प्र /२७ प्रेमी जी नं. १ व नं. २ दृष्टियोंमें कुछ विरोध मालूम होता है, पर एक तरहसे उनकी संगति बैठ जाती है । महावग्य आदि बौद्ध ग्रन्थोंसे मालूम होता है कि मौडिलायन और सारीपुत्र दोनों बुद्धदेवके शिष्य थे । वे जब बुद्धदेवके शिष्य होने जा रहे थे, तो उनके साथी सजय परिव्राजकने उन्हें रोका था । इससे मालूम होता है कि 'धर्म' परीक्षाकी मान्यताके अनुसार ये अवश्य पहले जैन रहे होंगे ।

परन्तु इस प्रकार वे बुद्धके शिष्य थे न कि मतप्रवर्तक । सम्भवतः बौद्धधर्मके प्रधान प्रचारकोंमें से होनेके कारण इन्हें प्रवर्तक कह दिया गया हो । बस न. १ व नं. २ की संगति ऐसे बैठ जाती है कि भगवाद् पार्श्वनाथके तीर्थमे पिहितस्रव मुनि हुए । उनके शिष्य बुद्धदेव हुए, जिन्होंने बौद्धधर्म चलाया, और उनके शिष्य मौडिलायन हुए जिन्होंने इस धर्म का बहुत अधिक प्रचार किया ।

४. बौद्ध लोगोंने आचार-विचार

द. सा /मू /८-६ मासस्य नास्ति जीवो यथा फले दधिदुग्धशर्करायां च । तस्मात्त वाच्छत् तं भक्षन् न पापिष्ठ । ८। मलं न वर्जनीयं द्रवद्रव्यं यथा जलं तथा एतत् । इति लोके घोषयित्वा प्रवर्तितं सर्वसावद्यं । ९। =फल, दूध, दही, शक्कर आदिके समान मासमें भी जीव नहीं है । अतएव उसकी इच्छा करने और भक्षण करनेमें पाप नहीं है । ८। जिस प्रकार जल एक तरल पदार्थ है उसी प्रकार मद्य भी तरल पदार्थ है, वह द्रव्यज्य नहीं है । इस प्रकारकी घोषणा करके उस (बुद्धकीर्ति) ने संसारमें सम्पूर्ण पापकर्मकी परिपाटी चलायी । ९।

द. सा /प्र /२७ प्रेमी जी, उपरोक्त बात ठीक मालूम नहीं होती, क्योंकि बौद्धधर्म प्राणिवधका तीव्र निषेध करता है, वह 'मांसमें जीव नहीं है' यह कैसे कह सकता है । दूसरे बौद्ध साधुओंके विनयपिटक आदि ग्रन्थोंमें दक्षशील ग्रहण करनेका आदेश है, जो एक प्रकारसे बौद्धधर्मके मूलगुण है, उनमेंसे पाँचवीं शील इन शब्दोंमें ग्रहण करना पडता है । 'मे मद्य या किसी भी मादक द्रव्यका सेवन नहीं करूँगा', ऐसी

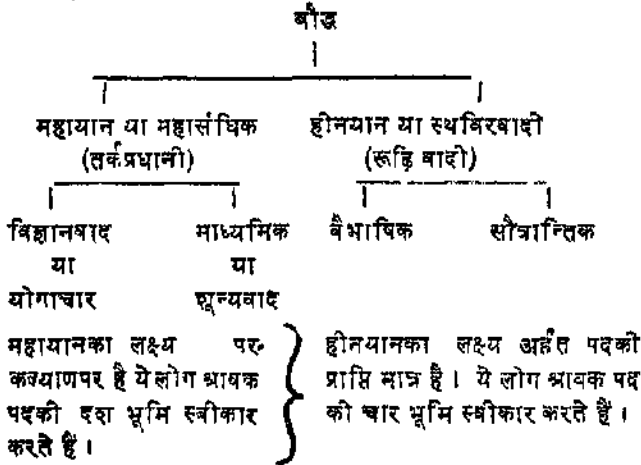
दशमं मद्य सेवनकी आज्ञा बुद्धदेवने दी होगी, यह नहीं कहा जा सकता।

स. म./परि० ख/३८५ यद्यपि बौद्ध साधु जीव दया पालते हैं, चलते हुए भूमिको खुहार कर चलते हैं, परन्तु भिक्षा पात्रोंमें आये हुए मांसको भी शुद्ध मानकर खा लेते हैं। ब्रह्मचर्य आदि क्रियाओंमें दृढ रहते हैं।

३. बौद्ध सम्प्रदाय

१. बुद्ध निर्वाणके पश्चात् बौद्ध लोगोंमें दो सम्प्रदाय उत्पन्न हो गये। महासंघिक व स्थविर। ई० पू० ४०० की वैशाली परिषद्में महासंघिक ६ शाखाओंमें विभक्त हो गये—महासंघिक, एक व्यक्तहारिक, लोकोत्तरवादी, कुकुलिक, बहुश्रुतीय, प्रहसिवादी, चैतिक, अपर-दील, और उत्तरदील। स्थविरवादी ११ संघोंमें विभक्त हुए—सैमवत, सर्वास्तिवाद, धर्मगुप्तिक, महोशासक, कार्यपीय, सौत्रान्तिक, वात्सीपुत्रीय, धर्मोत्तरीय, भद्रयानीय, सम्भतीय, और छत्रागरिका। सर्वास्तिवादी (वैभाषिक) और सौत्रान्तिकके अतिरिक्त इन शाखाओंका कोई विशेष उल्लेख अब नहीं मिलता। (परि. ख/३८५)।

२. बौद्धोंके प्रधान सम्प्रदाय निम्न प्रकार हैं—



४. प्रवर्तक साहित्य व समय

स. म./परि. ख/३८६-३८९ १. दिनय पिटक, सुत्तपिटक, और अभि-धम्म पिटक ये पिटकत्रय ही बौद्धोंका प्रधान आगम है। इनमेंसे सुत्तपिटकके पाँच खण्ड हैं—दीघनिकाय, मज्झिम निकाय, संयुक्त निकाय, अंगुत्तरनिकाय और खड्कनिकाय। (भारतीयदर्शन)। २. सौत्रान्तिकोंमें धर्मत्राता (ई० १००) कृत पंचवस्तु विभाषा शास्त्र, संयुक्ताभिधर्मद्वयशास्त्र, अवदान सूत्र, बोध (ई० १५०) कृत अभि-धर्मावृत शास्त्र; बुद्धवेद्य (ई० १००) का कोई शास्त्र उपलब्ध नहीं है; वसुमित्र (ई० १००) कृत अभिधर्मप्रकरणपाद्, अभिधर्म धातुकाय पद, अष्टादश निकाय तथा आर्यवसुमित्र, बोधिसत्त्व, संगीत शास्त्र—ये चार विद्वाद् व उनके ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं। (स. म./परि. ख/३८८)। ३. वैभाषिकोंमें—कल्यायनी पुत्रका ज्ञानप्रस्थानशास्त्र या विशाखा; सारीपुत्रका धर्मस्कन्ध; पूर्णका धातुकाय, मौद्गलायनका प्रहसि शास्त्र; वेवलेनका विज्ञानकाय; सारीपुत्रका संगीतिपर्याय और वसुमित्रका प्रकरणवाद प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं। इनके अतिरिक्त भी ई० ४२०-५०० में ब्रह्मवन्धुने अभिधर्म कोशा (वैभाषिक कारिका तथा उसका भाष्य लिखा) यक्षोमित्रने इस ग्रन्थपर अभिधान धर्मकोश ठ्याख्या लिखी। सपभद्रने समय प्रदीप, न्यायानुसार नामक ग्रन्थ लिखे। दिङ्नागने भी प्रमाणसमुच्चय, न्यायप्रवेश, हेतुसकहमक, प्रमाणसमुच्चय वृत्ति, आलम्बन परीक्षा, त्रिकाल-परीक्षा आदि न्याय ग्रन्थोंकी रचना की। ४ इनके अतिरिक्त भी धर्मकीर्ति (ई० ६१५)

विनिवर्धन, शान्तभद्र, धर्मोत्तर (ई० ५४१) रत्नकीर्ति, पण्डित अशोक, रत्नाकर, शान्ति आदि विद्वाद् इन सम्प्रदायोंके उल्लेखनीय विद्वाद् हैं।

५. मूळ सिद्धांत विचार

१. बौद्ध दर्शनमें दुःखसे निवृत्तिका उपाय ही प्रधान है तत्त्व या प्रमेयोंका विचार नहीं। ये लोग चार आर्य सत्य मानते हैं—संसार दुःखमय है, दुःख ससुदय अर्थात् दुःखका कारण, दुःख निरोध अर्थात् दुःखनाशकी सम्भावना और दुःख निरोधगामिनी प्रतिपद अर्थात् दुःखनाशका उपाय। २. संसार दुःखमय है। दुःख परम्पराका मूल अविद्या है। अविद्या हेतुक परम्पराको प्रतीत्य ससुत्पाद कहते हैं। वह निम्न प्रकार १२ भागोंमें विभाजित है। १ अविद्यासे संस्कार, २ संस्कारसे विज्ञान, ३ विज्ञानसे नामरूप, ४ नामरूपसे षडायतन (मन सहित पाँच इन्द्रियाँ), ५ षडायतनसे स्पर्श, ६ स्पर्शसे वेदना, ७ वेदनासे तृष्णा, ८ तृष्णासे उपादान, ९ उपादानसे भव (संसारमें होनेकी प्रवृत्ति) १०, भवसे जाति, ११ जातिसे जरा, १२ जरासे मरण। ३. १. सम्मादिट्ठि (आर्य सत्योंका ज्ञान), २. सम्मा संकप (रागादिके त्यागका दृढ़ निश्चय), ३. सम्मानाचा (सत्य वचन), ४. सम्मकम्मन्त (पापोंका त्याग), ५. सम्माआजीव (न्यायपूर्वक आजोविका), ६. सम्मा वायाम (अशुभसे निवृत्ति और शुभमें प्रवृत्ति), ७. सम्मासत्ति (चित्त शुद्धि), ८. सम्मा समाधि (चित्तकी एकाग्रता)। ये आठ दुःख निवृत्तिके उपाय हैं। ४. बुद्धत्व प्राप्तिकी श्रेणियाँ हैं—श्रावकपद, प्रत्येक बुद्ध अर्थात् जन्मसे ही सम्यग्दृष्टि व बोधिसत्त्व अर्थात् स्व व पर कल्याणकी भावना।

६. श्रावककी भूमियाँ

१. हीनयान (स्थविरवादी) चार भूमियाँ मानते हैं—स्रोतापन्न (सम्यग्दृष्टि आदि साधक); सकृद्गामी (एक भवावतारी), अना-गामी (चरम शरीरी), अर्हत् (बोधिकी प्राप्त)। २. महायान (महासंघिक) दस भूमियाँ मानते हैं—१. सुदिया (पर कल्याणकी भावनाका उदय), २. विमला (मन, वचन, काय द्वारा शोलापार-मिताका अभ्यास व साधना), ३. प्रभाकरी (धैर्यपारमिताका अभ्यास अर्थात् तृष्णाओंकी क्षति), ४. अचिन्मती (वीर्य पारमिताका अभ्यास अर्थात् चित्तकी साम्यता); ५. अभिमुक्ति (प्रज्ञा पारमिताका अभ्यास अर्थात् समताका अनुभव, सबपर समान दयाका भाव) ७. वूरंगमा (सर्वज्ञत्वकी प्राप्ति), ८. अचला (अपनेको जगत्से परे देखता है), ९. साधमति (लोगोंके कल्याणार्थ उपाय सोचता है), १०. धर्ममेय (समाधिनिष्ठ होकर अन्तमें बुद्धत्वकी प्राप्त अवस्था)।

७. हीनयान वैभाषिककी अपेक्षा सत्त्वविचार

जगत् व चित्त सन्तति दोनोंकी पृथक्-पृथक् सत्ताकी स्वीकार करते हैं। तहाँ जगत्की सत्ता बाहरमें है जो इन्द्रियों द्वारा जाननेमें आती है, और चित्त सन्ततिकी सत्ता अन्तरगमें है। यह लोग क्षणभंगवादी हैं। १. सनस्त जगत् तीन भागोंमें विभक्त है—स्कन्ध, आयतन, धातु। २. स्कन्ध पाँच हैं—चार स्कन्धोंका सम्बन्ध मानसिक दृष्टियोंसे है। ३. आयतन १२ हैं—मन सहित छह इन्द्रियाँ तथा छह इनके भविष्य। इन्हें धातु कहते हैं। इनसे छह ही प्रकारका ज्ञान उत्पन्न होता है। आत्माका ज्ञान इन्द्रियोंसे नहीं होता, इसलिए आत्मा कोई वस्तु नहीं है। मनमें ६४ धर्म हैं और शेषमें एक-एक है। ४. धातु १८ हैं—६ इन्द्रिय धातु (चक्षु धातु, श्रोत्र धातु, घ्राण-धातु, रसनाधातु, कायधातु, मनोधातु), ६ इन्द्रियोंके विषय (रूप-धातु, शब्द, गन्ध, रस, स्पृश्य तथा धर्मधातु), ६ विज्ञान (चक्ष-

विज्ञान, श्रोत्रं, घ्राण, रसना, काय, और मनाविज्ञान या अतर्हृद्भयके भावोंका ज्ञान। ५. धर्म—भूत और चित्तके उन सूक्ष्म तत्त्वोंको धर्म कहते हैं जिनके आघात व प्रतिघातसे समस्त जगत्की स्थिति होती है। सभी धर्म सत्तारमक हे तथा क्षणिक है। ये दो प्रकारके हैं—असंस्कृत व संस्कृत। निरय, स्थायी, शुद्ध व अहेतुक (पारिजातिक) धर्मोंको असंस्कृत कहते हैं। ६. असंस्कृत धर्म तीन हैं—प्रतिसंख्या निरोध, अप्रतिसंख्या निरोध तथा आकाश। प्रज्ञाद्वारा-रागादिक सास्त्र धर्मोंका निरोध (अर्थात् धर्मध्यान) प्रतिसंख्या निरोध कहलाता है। बिना प्रज्ञाके सास्त्र धर्मोंका निरोध (अर्थात् बुद्धध्यान) अप्रतिसंख्यानिरोध कहलाता है। अप्रतिसंख्या ही वास्तविक निरोध है। आवरणके अभावको आकाश कहते हैं। यह निरय व अपरिवर्तनशील है। ७. संस्कृतधर्म चार हैं—रूप, चित्त, चैतसिक, तथा चित्त विप्रमुक्त इनमें भो रूपके ११, चित्तका १, चैतसिकके ४६ और चित्त विप्रमुक्तके १६ भेद हैं। पाँच इन्द्रिय तथा पाँच उनके विषय तथा अविद्यासि मे ग्यारह रूप अर्थात् भौतिक पदार्थोंके भेद हैं। इन्द्रियों व उनके विषयोंके परस्पर आघातसे चित्त उत्पन्न होता है। यहा मुख्य तत्त्व है।

इसीमें सष संस्कार रहते हैं। इसका समतन्त्र सत्ता नहीं है, क्योंकि हेतु प्रत्ययमे उत्पन्न होता है। यह एक है, पर उपाधियोंके कारण इसके अनेक भेद-प्रभेद हैं। यह प्रतिक्षण बदलता है। इस लोक व परलोकमें यही आता-जाता है। चित्तसे धर्मिष्ठ सम्बन्ध रखनेवाले मानसिक व्यापारको चैतसिक या चित्त संप्रयुक्त धर्म कहते हैं। इसके ४६ प्रभेद हैं। जो धर्म न रूप धर्मों और न चित्त धर्मोंमें परिगणित हा, उन्हें चित्त विप्रमुक्त धर्म कहते हैं। इनकी संख्या १४ है। ८. निर्वाण—एक प्रकारका असंस्कृत या स्वाभाविक धर्म है, जिसे अर्द्ध जन सत्य मार्गके अनुसरणसे प्राप्त होते हैं। यह स्वतन्त्र, सद व निरय है। यह ज्ञानका आधार है। यह एक है तथा सर्व भेद इसमें विलीन हो जाते हैं। यह आकाशवत् अनन्त, अपरिमित व अनिर्वचनीय है।

६. हीनयान सौत्रान्तिककी अपेक्षा तत्त्व विचार

१. अस्तर जगत् सत् है पर बाह्य जगत् नहीं। वह केवल चित्तमें उत्पन्न होने वाले धर्मोंपर निर्भर है। २. इनके मतमें बुद्धे हुए दीपकवत् 'निर्वाण' धर्मोंके अनुत्पाद रूप है, यह असंस्कृत धर्म नहीं है, क्योंकि मार्गके द्वारा उत्पन्न होता है। ३. इनके मतमें उत्पत्तिसे पूर्व व विनाशके परचात शब्दकी स्थिति नहीं रहती, अतः वह अनिरय है। ४. सत्तागत दो वस्तुओं में कार्यकारण भाव ये लोग नहीं मानते। ५. वर्तमान कालके अतिरिक्त भूत, भविष्यत् काल भी नहीं है। ६. इनके मतमें परमाणु निरवयव होता है। अतः इनके संबन्धित होनेपर भी यह पृथक् ही रहते हैं। केवल उनका परिमाण ही बढ़ जाता है। ७. प्रतिसंख्या व अप्रतिसंख्या धर्मोंमें विशेष भेद नहीं मानते। प्रतिसंख्या निरोधमें प्रज्ञा द्वारा रागादिकका निरोध हो आनेपर भविष्यमें उसे कोई बलैश न होगा। और अप्रतिसंख्या निरोधमें क्लेशोंका नाश हो जानेपर दुःखको आरम्भितकी निवृत्ति हो जायेगी, जिससे कि वह भव चक्रसे छूट जायेगा।

७. महायान योगाचार वा विज्ञानवादकी अपेक्षा तत्त्व-विचार

१. बाह्य जगत् असत् है। २. चित्त या विज्ञान ही एक मात्र परम तत्त्व है। चित्त ही की प्रवृत्ति व मुक्ति होती है। सभी वस्तुएँ एक मात्र चित्तके विकल्प हैं। अविद्याके कारण ज्ञाता, ज्ञान व ज्ञेयमें भेद माद्वय होता है। वह दो प्रकारका है—प्रवृत्ति विज्ञान व आलय

विज्ञान। ३. आलय विज्ञानको तथागत गर्भ भी कहते हैं। समस्त कायिक, वाचिक व मानसिक विज्ञानोंके (वासना रूप बीज आलय विज्ञानरूप चित्तमें शान्त भावसे पड़े रहते हैं, और समय आनेपर व्यवहाररूप जगत्में प्रगट होते हैं। पुनः इसीमें उसका लय भी हो जाता है। एक प्रकारसे यही आलय विज्ञान व्यावहारिक जीवारमा है। ४. आलय विज्ञान क्षणिक विज्ञानोंकी सत्तति मात्र है। इसमें शुभ तथा अशुभ सभी वासनाएँ रहती हैं। इन वासनाओंके साथ-साथ इस आलयमें सात और भी विज्ञान हैं, जैसे—चक्षुर्विज्ञान, श्रोत्र, घ्राण, रसना, काय, मनो तथा बिलघ मनो विज्ञान। इन सबमें मनो विज्ञान आलयके साथ सदैव कार्यमें लगा रहता है और साथ ही साथ अन्य छह विज्ञान भी कार्यमें लगे रहते हैं। व्यवहारमें आनेवाले ये सात विज्ञान 'प्रवृत्तिविज्ञान' कहलाते हैं। वस्तुतः प्रवृत्ति विज्ञान आलय विज्ञानपर ही निर्भर है।

१०. महायान माध्यमिक वा शून्यवादकी अपेक्षा तत्त्व-विचार

१. तत्त्व दृष्टिसे न बाह्य जगत्की सत्ता है न अन्तर्जगत्की। २. सभी शून्यके गर्भमें विलीन हो जाते हैं। यह न सत् है और न असत्, न उभय है न अनुभय। वस्तुतः यह अलक्षण है। ऐसा शून्य ही एक मात्र परम तत्त्व है। यह स्वलक्षण मात्र है। उसकी सत्ता दो प्रकारकी है—संवृति सत्य और परमार्थ सत्य। ३. संवृति सत्य पारमाथिक स्वरूपका आवरण करनेवाली है। इसीको अविद्या मोह आदि कहते हैं। यह संवृति भी दो प्रकारकी है—तथ्य संवृति व मिथ्या संवृति। जिस घटनाको सत्य मानकर लोकका व्यवहार चलता है उसे लोक संवृति या तथ्य संवृति कहते हैं। और जो घटना यद्यपि किसी कारणसे उत्पन्न अवश्य होती है पर उसे सभी लोग सत्य नहीं मानते, उसे मिथ्या संवृति कहते हैं। ४. परमार्थ सत्य निर्वाण स्वरूप है। इसे शून्यता, तथता, भूतकोटि, धर्मधातु आदि भी कहते हैं। निःस्वभावता ही वस्तुतः परमार्थ सत्य है। अनिर्वचनीय है। (और भी ६० शून्यवाद)।

११. प्रमाण विचार

१. हीनयान वैभाषिक सम्यग्ज्ञानको प्रमाण कहते हैं। वह दो प्रकार है—प्रत्यक्ष व अनुमान। २. कल्पना व भ्रान्तिसे रहित ज्ञान प्रत्यक्ष है। यह चार प्रकारका है—इन्द्रियज्ञान, मनोविज्ञान (सुतज्ञान), आत्मसंवेदन (सुख-दुःख आदि चैतसिक धर्मोंका अपने स्वरूपमें प्रगट होना); योगिज्ञान (सद्भूत अर्थोंकी चरमसीमा वाला ज्ञान), प्रत्यक्ष ज्ञान स्वलक्षण है, यही परमार्थ सत्य है। ३. अनुमान दो प्रकार है—स्वार्थ व परार्थ। हेतु, सपक्ष व विपक्षको ध्यानमें रखते हुए जो ज्ञान स्वतः हो उसे स्वार्थ कहते हैं। उपवेशावि द्वारा दूसरेसे प्राप्त किया गया ज्ञान परार्थानुमान है। ४. इसमें तीन प्रकारके हेतु होते हैं—अनुपलब्धि, स्वभाव व कार्य। किसी स्थान विशेषपर घटका न मिलना उसकी अतुपलब्धि है। स्वभाव सत्तामात्र भावी हेतु स्वभाव हेतु है। धुएँ रूप कार्यको देखकर अग्नि रूप साध्यका अनुमान करना कार्य हेतु है। इन तीनोंके अतिरिक्त अन्य हेतु नहीं हैं। अनुमान ज्ञान आवास्तविक है। हेतुमें पक्ष, सपक्ष और विपक्ष व्यावृत्ति ये तीनों बातें रहनी चाहिए, अन्यथा वह हेत्वाभास होगा। ५. हेत्वाभास तीन प्रकार है—असिद्ध, विरुद्ध और अनैकान्तिक। ६. अनुभव दो प्रकार है—ग्रहण व अध्यवसाय। ज्ञानका निर्विकल्प रूप (दर्शन) ग्रहण कहलाता है। तत्परचात होनेवाला साकार ज्ञान अध्यवसाय कहलाता है। चक्षु, मन व श्रोत्र दूर होसे अपने विषयका ज्ञान प्राप्त करता है। किन्तु अन्य इन्द्रियोंके लिए अपने-अपने विषयके साथ सन्निकर्ष करना आवश्यक है।

१२. जैन व बौद्ध धर्मकी तुलना

शुद्ध पर्यायार्थिक ऋजुसूत्र नयकी अपेक्षा बौद्धवद जैनदर्शन भी एक निरवयव, अविभागी, एक समयवर्ती तथा स्वलक्षणभूत निर्विकल्प ही तत्त्व मानता है। अहिंसाधर्म तथा धर्म व शकलध्यानकी अपेक्षा भी दोनोंमें समानता है। अनेकान्तवादी होनेके कारण जैनदर्शन तो उसके विपक्षी द्रव्यार्थिक नयसे उसी तत्त्वको अनेक सावयव, विभागी, नित्य व गुण पर्याय युक्त आदि भी स्वीकार कर लेता है। परन्तु एकान्तवादी होनेके कारण बौद्धदर्शन उसे सर्वथा स्वीकार नहीं करता है। इस अपेक्षा दोनोंमें भेद है। बौद्धदर्शन ऋजुसूत्र नयाभासी है। (दे० अनेकान्त/२/६) एकत्व अनेकत्वका विधि निषेध व समन्वय दे० द्रव्य/४) निश्चयत्व व अनिरयत्वका विधि निषेध व समन्वय दे० उत्पाद/२।

ब्रह्म—१ पुष्पदन्त भगवात्का शासकाम्य—दे० तीर्थंकर/५ २ कल्पभासी देवोंका एक भेद—दे० स्वर्ग/३, ३ ब्रह्मयुगल का तृ० पदल—दे० स्वर्ग/५; ४. कल्पभासी स्वर्गोंका पाँचवा कल्प—दे० स्वर्ग/५/२।

१. ब्रह्मका लक्षण

स. सि./७/१६/३४/४ अहिंसादयो गुणा यस्मिन् परिपाज्यमाने बृंहन्ति वृद्धिमुपयान्ति तद् ब्रह्म। =अहिंसादि गुण जिसके पालन करनेपर बढ़ते हैं वह ब्रह्म कहलाता है। (चा. सा/६५/२।

घ. ६/४.१.२६/१४/२ ब्रह्मचारित्रं पंचव्रत-समिति-त्रिगुण्यत्प्रमत्सु, शान्तिपुष्टिहेतुत्वात्। =ब्रह्मका अर्थ पाँच व्रत, पाँच समिति और तीन गुण स्वरूप चारित्र है, क्योंकि, वह शान्तिके पोषणका हेतु है।

द स/टी/१४/४७/५ परमब्रह्मसत्त्वनिजशुद्धात्मभावनासमुत्पन्नसुखा-मृतत्वप्रस्य सत उर्वशीरम्भातिलोत्तमाभिर्दे०कन्याभिरपि यस्य ब्रह्मचर्यव्रतं न खण्डितं स परमब्रह्म भण्यते। =परमब्रह्म नामक निज शुद्ध आत्माकी भावनासे उत्पन्न सुखामृतसे तृप्त होनेके कारण उर्वशी, तिलोत्तमा, रंभा आदि देवकन्याओं द्वारा भी जिसका ब्रह्मचर्य खण्डित न हो सका अतः वह 'परम ब्रह्म' कहलाता है।

२. शब्द ब्रह्मका लक्षण

स सा./आ./५ इह किल सकलोज्जासि स्यात्पदमुव्रित शब्दब्रह्म। =समस्त वस्तुओंको प्रकाश करनेवाला और स्यात् पदसे चिह्नित शब्द ब्रह्म है।

*** अन्य सम्बन्धित विषय**

- १. सर्व जीव एक ब्रह्मके अंश नहीं हैं—दे० जीव/२।
- २. परम ब्रह्मके अपरनाम—दे० मोक्षमार्ग/२/५।
- ३. आदि ब्रह्मा—दे० ऋषभ।

ब्रह्म ऋषि—दे० ऋषि।

ब्रह्मचर्य—अध्यात्म मार्गमें ब्रह्मचर्यको सर्व प्रधान माना जाता है, क्योंकि, ब्रह्ममें रमणता ही वास्तविक ब्रह्मचर्य है। निश्चयसे देखने-पर क्रोधादि निग्रहका भी इसीमें अन्तर्भाव हो जानेसे इसके १२०० भंग हो जाते हैं। परन्तु स्त्रीके स्थागरूप ब्रह्मचर्यकी भी लोक व परमार्थ दोनों क्षेत्रोंमें बहुत महत्ता है। वह ब्रह्मचर्य अणुव्रत रूपसे भी ग्रहण किया जाता है महाव्रत रूपसे भी। अब्रह्म सेवनसे चित्त भ्रम आदि अनेक दोष होते हैं, अतः विवेकी जनको सदा ही अपनी-अपनी शक्तिके अनुसार दुराचारिणी स्त्रियोंके अथवा पर स्त्रियोंके, वा स्त्रियोंके भी साथसे बचकर रहना चाहिए, और इसी प्रकार स्त्रीका पुरुषोंसे बचकर रहना चाहिए। यद्यपि ब्रह्मचर्यको भी कथंचित् सावध कहा जाता है, परन्तु फिर भी इसका पालन करना अत्यन्त जरूरी है।

१	भेद व लक्षण
१	ब्रह्मचर्य सामान्यका लक्षण।
२	ब्रह्मचर्य विशेषके लक्षण।
३	ब्रह्मचर्य महाव्रत व अणुव्रतके लक्षण।
४	ब्रह्मचर्यप्रतिमाका लक्षण।
५	घोर व अघोरगुण ब्रह्मचर्य तप ऋद्धि—दे० ऋद्धि/५।
६	शीलके लक्षण।
७	शीलके १८००० संग व भेद।
८	ब्रह्मचर्य निर्देश
९	दश धर्मोंमें ब्रह्मचर्य निर्देश—दे० धर्म/८।
१०	ब्रह्मचर्य व्रतकी पाँच भावनाएँ।
११	ब्रह्मचर्य धर्मके पालनाथे कुछ भावनाएँ।
१२	ब्रह्मचर्य अणुव्रतके अतिचार।
१३	शीलके दस दोष।
१४	व्रतकी भावनाओं व अतिचारों सम्बन्धी विशेष विचार—दे० व्रत/२।
१५	अब्रह्मका निषेध व ब्रह्मचर्यकी प्रधानता
१६	वेश्या गमनका निषेध।
१७	परस्त्री निषेध।
१८	दुराचारिणी स्त्रीका निषेध।
१९	धर्मपत्नीके अतिरिक्त मगरत स्त्रीका निषेध—दे० स्त्री।
२०	स्त्रीके लिए पर पुरुषादिका निषेध।
२१	अब्रह्म सेवनमें ढाष।
२२	काम व कामके १० विकार—दे० काम।
२३	अब्रह्मका हिसागें अन्तर्भाव—दे० हिसा/१/४।
२४	ब्रह्मचर्य भी कथंचित् सावध है—दे० सावध।
२५	शीलकी प्रधानता।
२६	ब्रह्मचर्यकी महिमा।
२७	शंभा समाधान
२८	स्त्री पुरुषादिका सहवास मात्र अब्रह्म नहीं हो सकता।
२९	मैथुनके लक्षणसे हस्तक्रिया आदिमें अब्रह्म सिद्ध न होगा।
३०	परस्त्री त्याग सम्बन्धी।
३१	ब्रह्मचर्य व्रत व प्रतिमामें अन्तर।

१. भेद व लक्षण

१. ब्रह्मचर्य सामान्यका लक्षण—१. निश्चय

- म. आ/म/१८७८ जीवो बंभा जीवमि चैव चरियाह्विज्ज जा जगिदो।
- ५ जाण बभचेर विमुक्करदेहत्तित्तिस्स १८७८। =जीव ब्रह्म है, जीव ही मे जो मुक्तिकी चर्या होती है उसको परदेहकी सेवा रहित ब्रह्मचर्य जान। (द स/टी/१५/१०६ पर उद्धृत)।
- ६ वि/१२/२ आत्मा ब्रह्म विविक्तबोधनिलयो यत्तत्र चर्य पर। स्वाङ्गा-मगविवजित्कमनसस्तद्ब्रह्मचर्यं मुने. १०। १२। =ब्रह्म शब्दका अर्थ

निर्मल ज्ञानस्वरूप आत्मा है, उस आत्मामें लीन होनेका नाम ब्रह्मचर्य है। जिस मुनिका मन अपने शरीरके भी सम्बन्धमें निर्मलत्व हो चुका है, उसीके ब्रह्मचर्य होता है। (अन घ/४/६०)।

अन घ./६/२५ चरणं ब्रह्मणि गुरावस्वातन्त्र्येण यन्मुदा। चरणं ब्रह्मणि परे तत्स्वातन्त्र्येण वर्णिनः। १५१। =मैथुन कर्मसे सर्वथा निवृत्त वर्णोंकी आत्मतत्त्वके उपदेष्टा गुरुओंकी प्रीति पूर्वक अधीनता स्वीकार कर ली गयी है, अथवा ज्ञान और आत्मके विषयमें स्वतन्त्रता की गयी प्रवृत्तिको ब्रह्मचर्य कहते हैं।

२. व्यवहारकी अपेक्षा

बा अ/५० सटवंगं पेच्छन्तो इत्थीण तासु सुयदि दुग्भावस्। सो बन्ध-चेरभावं मुक्कदि खलुदुद्धरं धरदि। ५०। =जो पुण्यात्मा स्त्रियोंके सारे सुन्दर अंगोंको देखकर उनमें रागरूप बुरे परिणाम करना छोड़ देता है वही पुद्धर ब्रह्मचर्यको धारण करता है। (प. वि./१/१०४)।

स सि./१६/४१३/३ अनुभूताङ्गनास्मरणकथाश्रवणस्त्रीससक्तशयना-सनादिवर्जनाइ ब्रह्मचर्यं परिपूर्णभवतिष्ठते। स्वतन्त्रवृत्तिनिवृत्त्यर्थो वा गुरुकुलवासो ब्रह्मचर्यम्। =अनुभूत स्त्रीका स्मरण न करनेसे, स्त्री विषयक कथाके सुननेका त्याग करनेसे और स्त्रीसे सटकर सोने व बैठनेका त्याग करनेसे परिपूर्ण ब्रह्मचर्य होता है। अथवा स्वतन्त्र वृत्तिका त्याग करनेके लिए गुरुकुलमें निवास करना ब्रह्मचर्य है। (रा. वा/१६/२२/५६८/२७)।

भ आ/वि/४६/१५४/१६ ब्रह्मचर्यं नवविधब्रह्मपालनं। =नव प्रकारके ब्रह्मचर्यका पालन करना ब्रह्मचर्य है।

पं. वि/१२/२ स्वाङ्गासंगविवर्जितैकमनसस्तद्ब्रह्मचर्यं मुने'। एवं सत्यबला' स्वमातृभगिनीपुत्रीसमा प्रेक्षते, वृद्धाद्या विजितेन्द्रियो यदि तदा स ब्रह्मचारी भवेत्। २। =जो अपने शरीरमें निर्मलत्व हो चुका है, वह इन्द्रिय विजयी होकर वृद्धा आदि स्त्रियोंको क्रमसे माता, बहन और पुत्रीके समान समझता है, तो वह मुनि ब्रह्मचारी होता है।

का अ/मू./४०३ जो परिहरेदि सर्गं महिलाण णेव पस्सदे रूवं। काम-कहादि-गिरीहो णव-विह-बंभ हवे तस्स। ४०३। जो मुनि स्त्रियोंके सगसे बचता है, उनके रूपको नहीं देखता, काम कथादि नहीं करता उसके नवधा ब्रह्मचर्य होता है। ४०३।

२. ब्रह्मचर्य विशेषके लक्षण

१. दस प्रकारका ब्रह्मचर्य

भ. आ./मू./५७६-५८१ उत्थानिका—मनसा वचसा शरीरेण परशरीर-गोचरव्यापारातिशयं त्यक्तवत् दशविधाब्रह्मत्यागात् दशविधं ब्रह्मचर्यं भवतीति वस्तुक्रामो ब्रह्मभेदमाचष्टे—इच्छिविसयाभिलासो वच्छि-विमोक्त्वो य पणिदरसेवा। ससत्तद्वसेवा तदिदियालोयणं चैव। ५७६। सकारो संकारो अदीदसुमरणमणमदभिलासे। इट्ठविसयसेवा वि थ अम्भ भं दसविह एदं। ५८०। एवं विसगिगमूदं अम्भं भ दस-विहं पि णादव्व। आवादे मधुरम्मिव होदि विवाणे य कडुयदरं। ५८१। =मनसे, वचनसे और शरीरसे परशरीरके साथ जिसने प्रवृत्ति करना छोड़ दिया है, ऐसा मुनि दस प्रकारके अब्रह्मका त्याग करता है। तब वह दस प्रकारके ब्रह्मचर्यका पालन करता है। ग्रन्थकार अब दस प्रकारके अब्रह्मका वर्णन करते हैं—१ स्त्री सम्बन्धी विषयोंकी अभिलाषा, २ वस्थिमोक्त्वो—अपने इन्द्रिय अर्थात् लिंगमें विकार होना, ३ वृष्यरसेवा—पौष्टिक आहारका ग्रहण करना, जिससे बल व वीर्यकी वृद्धि हो। ४ संसक्तद्रव्यसेवा—स्त्रीका स्पर्श अथवा उसकी शय्या आदि पदार्थोंका सेवन करना। ५ तदिदियालोचन—स्त्रियोंके सुन्दर शरीरका अवलोकन करना। ६ सत्कार—स्त्रियोंका

सत्कार करना, ७ सम्माण—उनके देहपर प्रेम रखकर वस्त्र आदिसे सत्कार करना। अतीत स्मरण—भूतकालमें की रति, क्रीडाओंका स्मरण करना, अनागताभिलाषा—भविष्यत् कालमें उनके साथ ऐसी क्रीडा करूंगा ऐसी अभिलाषा मनमें करना। इष्टविषय सेवा—मनोवाञ्छित सौध, उद्यान वगैरहका उपभोग करना। ये अब्रह्मके दस प्रकार हैं। ५७६-५८०। ये दस प्रकारका अब्रह्म विष और अग्निके समान है, इसका आरम्भ मधुर, परन्तु अन्त कडुआ है। (ऐसा जानकर जो इसका त्याग करता है वह दस प्रकारके ब्रह्मचर्यका पालन करता है।) ५८१। (अन घ/४/६१), (भा. पा/टी/१६/२४६ पर उद्धृत)।

२. नव प्रकारका ब्रह्मचर्य

का. अ/टी./४०३ तस्य मुने' ब्रह्मचर्यं भवेत्, नवप्रकारे कृतकारिदानुमत-गुणितमनोवचनकायै' कृत्वा स्त्रीसंगं वर्जयतीति ब्रह्मचर्यं स्यात्। = जो मुनि स्त्री संगका त्याग करता है उसीके मन, वचन, काय और कृतकारित अनुमोदनाके भेदसे नौ प्रकारका ब्रह्मचर्य होता है। (भ. पा/टी./१६/२४५/२२)।

३. ब्रह्मचर्य महाव्रत व अणुव्रतका लक्षण

१ महाव्रत

नि सा./मू./५६ दट्ठण इच्छिरूवं वाङ्माभावं णिवत्तदे तासु। मेहुण-सण्णविवज्जियपरिणामो अहव तुरीयवद। ५६। =स्त्रियोंका रूप देखकर उनके प्रति वाङ्मा भावकी निवृत्ति अथवा मैथुनसंज्ञा रहित जो परिणाम वह चौथा व्रत है। (चा. पा/टी/२८/४७/२४)।

मू. आ./५,२६२ मादुमुदा भगिणीविद्य दट्ठणित्थित्तिच च पडिरूव। इत्थिकहादिणियत्ती तिलोयपुज्जं हवे बंभ। ८। अच्चित्तदेवमाणुस-तिरिक्खजादं च मेहुणं चबुधा। तिविहेण तं ण सेवदि णिच्चं पिसु-णीहि पयदमणो। २६२। =जो वृद्धा बाला यौवनवाली स्त्रीको देखकर अथवा उनकी तस्वीरोको देखकर उनको माता पुत्री बहन समान समझ स्त्री सम्बन्धी कथादिका अनुराग छोड़ता है, वह तीनों लोको-का पूज्य ब्रह्मचर्य महाव्रत है। ५। चित्र आदि अचेतन, देवी, मानुषी, तीर्थचनी सचेतन स्त्री ऐसी चार प्रकार स्त्रीको मन, वचन कायसे जो नहीं सेवता तथा प्रयत्न मनसे ध्यानादिमें लगा हुआ है, यही ब्रह्मचर्य व्रत है। २६२।

२. अणुव्रत

र. क/५६ न तु परदारान् गच्छति न परान् गमयति च पापभीतेर्यत्। सा परदारनिवृत्तिः स्वदारसत्तोषानामपि। ५६। =जो पापके भयसे न तो पर स्त्रीके प्रतिगमन करे और न दूसरीको गमन करावे, वह पर-स्त्री त्याग तथा स्वदार सन्तोष नामका अणुव्रत है। ५६। (सा. घ/४/५२)।

स सि/७/२०/३५५/१० उपात्ताया अनुपात्तायारच पराङ्गनाया' संगान्नि-वृत्तरतिगृहीति चतुर्थमणुव्रतम्। =गृहस्थके स्वीकार की हुई या बिना स्वीकार की हुई परस्त्रीका संग करनेसे रति हट जाती है इस-लिए उसके परस्त्री नामका चौथा अणुव्रत होता है। (रा. वा./७/२०/४/५४७/१३)।

वसु आ./२१२ पक्वेष्टु इत्थिसेवा अणमकीडा सया विवज्जन्तो। थूसयड-बंभयारी जिणेहि भणिओ पवयणम्मि। २१२। =अष्टमी, चतुर्दशी आदि पर्वके दिनोंमें स्त्री-सेवन और सदैव अनग क्रीडाका त्याग करनेवाले जाँवको प्रवचनमें भगवान्ने स्थूल ब्रह्मचारी कहा है। २१२। (गुण. आ./१३६)।

का अ/मू./३३७-३३८ असुह-मयं दुग्मं धं महिसा-वेष्ट विरत्तमाणो जो। रूव लावण्य पि य मण-मोहण-कारणं मुणइ। ३३७। जो मणदि पर-महिलं जणणी-वहिणी-मुआइ-सारिच्छं। मण-वयणे कायण वि बभ-

वई सो हवे थुनो १३३८ = जो स्त्रीके शरीरको अशुचिमय और दुर्गन्धित जानकर उसके रूप-लावण्यको भी मनमें भोहको पैदा करनेवाला मानता है। तथा मन-वचन और कायसे परायी स्त्रीको माता, बहन और पुत्रीके समान समझता है, वह श्रावक स्थूल ब्रह्मचर्यका धारी है।

चा. पा./२१/४३/२१ ब्रह्मचर्यं स्वदारसंतीषः परदारनिवृत्ति कस्य-चित्सर्वस्त्री निवृत्ति । = स्व स्त्री सन्तीष, अथवा परस्त्रीसे निवृत्ति-बा किसीके सर्वथा स्त्रीके त्यागका नाम ब्रह्मचर्य व्रत है।

४. ब्रह्मचर्य प्रतिमाका लक्षण

र. क. आ./१४३ मलबीजं मलयोनि गलन्मलं पूतिगन्धिबीभत्सा परयन्ममनङ्गाद्विरमति यो ब्रह्मचारी स' १४३। = जो मलके बीज-भूत, मलको उत्पन्न करनेवाले, मलप्रवाही, दुर्गन्ध युक्त, लज्जाजनक वा ग्लानियुक्त अंगको देखता हुआ काम-सेवनसे विरक्त होता है, वह ब्रह्मचर्य प्रतिमाका धारी ब्रह्मचारी है १४३।

वसु. आ./२६७ पुष्पुत्तणवविहारं पि मेहुणं सव्वदा विवज्जंतो । इत्थि-कहाइणिवित्तो सत्तमगुणवभयारी सो १२६७। = जो पूर्वोक्त नौ प्रकारके मैथुनको सर्वदा त्याग करता हुआ स्त्रीकथा आदिसे भी निवृत्त हो जाता है, वह सातवें प्रतिमा रूप गुणका धारी ब्रह्मचारी श्रावक है १२६७। (गुण. आ./१८०), (द्र. सं./टी./४५/८), (का अ./३८४), (सा. ध./७/१७), (ला. सं./६/२६)।

५. शीलके लक्षण

शील, पा./सू./४०...शीलं विसयविरागो १४०। = वंचेन्द्रियके विषयसे विरक्त होना शील कहलाता है।

ध. ८/३४१/८२/५ वद परिरक्खण सीलं णाम । = व्रतकी रक्षाको शील कहते हैं। (प. प्र/टी./२/६७)।

अन. ध./४/१७२ शीलं व्रतपरिरक्षणमुपैतु शुभयोगवृत्तिमितरहतिम् । संज्ञाक्षविरतिरोधौ क्षमादियममलात्यय क्षमादीरच १७२। = जिसके द्वारा व्रतकी रक्षा की जाय उसको शील कहते हैं। संज्ञाओंका परिहार और इन्द्रियोंका निरोध करना चाहिए, तथा उत्तमक्षमादि दस धर्मको धारण करना चाहिए १७२।

दे० प्रकृतिबन्ध/१/१ (प्रकृति, शील और स्वभाव ये एकार्थवाची हैं)।

६. शीलके १८००० संग व भेद

१. सामान्य भेद

भा. पा./पं. जयचन्द/१२०/२४०/१ शीलकी दोय प्रकार प्ररूपणा है—एक तो स्वद्रव्य परद्रव्यके विभाग अपेक्षा है अर दूसरी स्त्रीके ससर्गकी अपेक्षा है।

१. स्वद्रव्य परद्रव्यके विभागकी अपेक्षा

सू. आ./१०१७-१०२० जोए करणे सण्णा इंदिय भोम्मादि समणधम्मे य। अण्णोणेहि अमत्था अट्ठारहसोल सहस्साहं १०१७। तिगहं सुहसंजोगो जोगो करणं च अहसंजोगो। आहारादी सण्णा फासंदिय इदिया गेया १०१८। पुढविगदगागणिमारुदपत्तेयअणंतकारियिया चव । विगतिगचदुपचेदिय भोम्मादि हवदि दस पदे १०१९। स्वतो मव्वव अज्जय लाघव तत्र संजमो आकिचणदा । तह होटि बंधचेरं सच्च चंगो य दस धम्मा १०२०। = १. तीन योग तीन करण चार संज्ञा पाँच इन्द्रिय दस पृथ्वी आदिक काय, दस मुनि धर्म—इनको आपसमें गुणा करनेसे अठारह हजार शील होते हैं १०१७। २. मन, वचन, कायका शुभकर्मके ग्रहण करनेके लिए व्यापार वह योग है और अशुभके लिए प्रवृत्ति वह करण है। आहारादि चार संज्ञा हैं, स्पर्शन आदि पाँच इन्द्रियों हैं १०१८। पृथ्वी, जल, तेज, वायु, प्रत्येक वनस्पति, साधारण वनस्पति, दो इन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चौइन्द्रिय, पंचेन्द्रिय—ये पृथिवी आदि दस हैं १०१९। उत्तम क्षमा, मार्दव,

आर्जव, शौच, तप, संयम, आकिचन्य, ब्रह्मचर्य, सत्य, त्याग ये दस मुनिधर्म हैं १०२०। (भा. पा./टी./११८/२६७/६), (भा. पा./पं. जयचन्द/१२०/२४०/४)।

२. स्त्री संसर्गकी अपेक्षा

काष्ठ, पाषाण, चित्राम (३ प्रकार अचेतन स्त्री)×मन अर काय = (३×२ = ६) (यहाँ वचन नाही)। कृत कारित-अनुमोदना = (६×३ = १८)। पाँच इन्द्रिय (१८×५ = ९०)। द्रव्यभाव (९०×२ = १८०)। क्रोध-मान-माया-लोभ (१८०×४ = ७२०)। ये तो अचेतन स्त्रीके आश्रित कहे। वेदी, मनुष्यणी, तिर्यचिनी (३ प्रकार चेतन, स्त्री)×मन, वचन, काय (३×३ = ९)। कृत-कारित अनुमोदना (९×३ = २७)। पंचेन्द्रिय (२७×५ = १३५)। द्रव्य भाव (१३५×२ = २७०)। चार संज्ञा (२७०×४ = १०८०)। सोलह कषाय (१०८०×१६ = १७२८०)। इस प्रकार चेतन स्त्रीके आश्रित १७२८० भेद कहे। कुल मिलाकर (७२० + १७२८०) शीलके १८००० भेद हुए। (भा. पा./टी./११८/२६७/१४) (भा. पा./पं. जयचन्द/१२०/२४०)।

२. ब्रह्मचर्य निर्देश

१. ब्रह्मचर्य व्रतकी ५ भावनाएँ

भ. आ./सू./१२१० महिलालोयणपुष्परदिसरणं संसत्तवसहिविकहाहि । पणिदरसेहि य विरदी भावना पंच बंधस्स १२१०। = स्त्रियोंके अंग देखना, पूर्वानुभूत भोगादिका स्मरण करना, स्त्रियोंजहाँ रहती हैं वहाँ रहना, शृंगार कथा करना, इन चार बातोंसे विरक्त रहना, तथा बल व जन्मजता, उत्पादक पदार्थोंका सेवन करना, इन पाँच बातोंका त्याग करना ये ब्रह्मचर्यकी पाँच भावनाएँ हैं १२१०। (सू. आ./१३४०) (चा. पा./सू. (३६)।

त. सू./७/७ स्त्रीरागकथाश्रवणतन्मनोहराङ्गनिरीक्षणपूर्वरताऽस्मरण-वृष्येष्टरसस्वशरीरसंस्कारत्यागाः पञ्च १७। = स्त्रियोंमें रागको पैदा करनेवाली कथाके सुननेका त्याग, स्त्रियोंके मनोहर अंगोंको देखनेका त्याग, पूर्व भोगोंके स्मरणका त्याग, गरिष्ठ और इष्ट रसका त्याग तथा अपने शरीरके संस्कारका त्याग ये ब्रह्मचर्यव्रतकी पाँच भावनाएँ हैं १७।

स. सि/७/६/३४७/११ अत्रहचारी मद्विभ्रमोद्भ्रान्तचित्तो वनगज इव वासिता वच्छित्तो विवशो बध्वन्धनपरिक्लेशाननुभवति मोहा-भिभूतत्वाच्च कार्याकार्यानभिज्ञो न किञ्चित्कुशसमाचरति पराङ्गनालिङ्गनसङ्कतरतिश्चेद्वै वैरानुबन्धिनो लिङ्गच्छेदनबध्वन्धसर्व-स्वहरणादीनपायाद् प्राप्नोति प्रेत्य चाशुभां गतिमश्नुते गहितश्च भवति अतो विरतिरत्महिता । = जो अब्रह्मचारी है, उसका चित्त मदसे भ्रमता रहता है। जिस प्रकार वनका हाथी हथिनीसे जुदा कर दिया जाता है, और विवश होकर उसे वध, बन्धन, और क्लेश आदि दु खोंको भोगना पडता है, ठीक यही अवस्था अब्रह्मचारीकी होती है। मोहसे अभिभूत होनेके कारण वह कार्य अकार्यके विवेकसे रहित होकर कुछ भी उचित आचरण नहीं करता। पर स्त्रीके रागमें जिसकी रति रहती है, इसलिए वह वैरको बढ़ानेवाले लींगका छेदा जाना, मारा जाना, बाँधा जाना और सर्वस्वका अपहरण किया जाना आदि दु खोंको और परलोकमें अशुभगतिको प्राप्त होता है। तथा गहित होता है। इसलिए अब्रह्मका त्याग आत्महितकारी है।

२. ब्रह्मचर्य धर्मके पाठनार्थ कुछ भावनाएँ

भ. आ./सू./८८२/६६४ कामकदा इत्थिकदा दोसा अमुचित्तमुद्दसेवा य । संसग्गीदोसावियकरंति इत्थीषु वेरगं १८८२। = कामदोष, स्त्रीकृत दोष, शरीरकी अपवित्रता, वृद्धोंकी सेवा, और संसर्ग दोष इन पाँच कारणोंसे स्त्रियोंसे वैराग्य उत्पन्न होता है १८८२।

रा. वा./१६/२७/५६६/३० ब्रह्मचर्यमनुपालयन्तं हिंसादयो दोषा न स्पृशन्ति । नित्याभिरलगुरुकुलावासमधिवसन्ति गुणसंपदः । बराङ्गनाविलासविभ्रमविधेयीकृतः पापैरपि विधेयीक्रियते । अजितेन्द्रियता हि लोके प्राणिनामवमानदात्रीति । एवमुत्तमक्षमादिषु तत्प्रतिपक्षेषु च गुणदोषविचारपूर्विकायां क्रोधादिनिवृत्तौ सत्यां तन्नित्यन्धनकर्मसिवाभावात् महात् संवरो भवति ।—ब्रह्मचर्यको पालन करनेवालेके हिंसा आदि दोष नहीं लगते । नित्य गुरुकुल वासीको गुण सम्पदाएँ अपने-आप मिल जाती हैं । स्त्री विलास विभ्रम आदिका शिकार हुआ प्राणी पापोंका भी शिकार बनता है । संसारमें अजितेन्द्रियता बड़ा अपमान कराती है । इस तरह उत्तम क्षमादि गुणोंका तथा क्रोधादि दोषोंका विचार करनेसे क्रोधादिकी निवृत्ति होनेपर तन्निमित्तक कर्मोंका आसन्न रुककर महात् संवर होता है ।

पं. वि./१/१०५ अचिरतमिह तावत्पुण्यभाजो मनुष्याः । हृदि विरचितरागाः कामिनीनां वसन्ति । कथमपि न पुनस्ता जातु येषां तदङ्गी, प्रतिदिनमतिनम्रास्तेऽपि नित्यं स्तुवन्ति । १०५। = लोकेमें पुण्यवान् पुरुष रागकी उत्पन्न करके निरन्तर ही स्त्रियोंके हृदयमें निवास करते हैं । ये पुण्यवान् पुरुष भी जिन मुनियोंके हृदयमें वे स्त्रियाँ कभी और किसी प्रकारसे भी नहीं रहती हैं उन मुनियोंके चरणोंकी प्रतिदिन अत्यन्त नम्र होकर नित्य ही स्तुति करते हैं । १०५।

३. ब्रह्मचर्य अणुव्रतके अतिचार

१. स्वदार संतोष व्रतकी अपेक्षा

शे० ब्रह्मचर्य/१/१/२ (स्वस्त्री भोगाभिलाष, इन्द्रियविकार, पुष्टरससेवा, स्त्री द्वारा स्पर्श की हुई शय्याका सेवन करना, स्त्रीके अंगोपांगका अवलोकन करना, स्त्रीका अधिक सस्कार करना, स्त्रीका सम्मान करना, पूर्वभोगानुस्मरण, आगामी भोगाभिलाष, इष्ट विषय सेवन ये दस अब्रह्मके प्रकार हैं ।)

सू. आ./१६६-१६८ पदम विउलाहारं विदियं काय सोहृणं । तदियं गन्धमल्लाह चउत्थं गीयवाइयं । १६६। तह सयणसोधर्णपि य इत्थि-ससगपि अत्थसगहण । पुत्रवरदिसरणेमिदियविसयरदी पणीदर-ससेवा । १६७। दसविहमव्वंभविणं संसारमहादुहाणमावाहं । परिहरेइ जो महप्पा सो दढवंभवदो होदि । १६८। = १. बहुत भोजन करना, २. तैलादिसे शरीरका संस्कार करना, ३. सुगन्ध पुष्पमालादिका सेवन, ४. गीत-नृत्यादि देखना, ५. शय्या-क्रीडागृह या चित्र-शाला आदिकी खोज करना, ६. कटाक्ष करती स्त्रियोंके साथ खेलना, ७. आभूषण वस्त्रादि पहचानना, ८. पूर्व भोगानुस्मरण, ९. रूपादि इन्द्रियविषयोंमें प्रेम, १०. इष्ट व पुष्ट रसका सेवन, ये दस प्रकारका अब्रह्म सस्कारके महा दुःखोंका स्थान है । इसको जो महारत्ना सयमी त्यागता है, वही दृढ ब्रह्मचर्य व्रतका धारी होता है ।

त सू./७/२८ परविवाहकरणैत्वरिकापरिगृहीतापरिगृहीतागमनानङ्ग-क्रोडाकामतीव्राभिनवेशः । २८। = पर विवाहकरण, इत्वरिकापरि-गृहीतागमन, इत्वरिका-अपरिगृहीतागमन, अनङ्गक्रीडा, और काम तीव्राभिनवेश ये स्वदारसन्तोष अणुव्रतके पाँच अतिचार हैं । २८। (र. क. आ./६०) ।

ज्ञा./११/७-९ आद्यं शरीरसंस्कारो द्वितीयं वृष्यसेवनम् । तौर्यत्रिकं तृतीयं स्यात्सर्गस्तूर्यमिष्यते । ७। योषिद्विषयसकल्पः पञ्चम परि-कीर्तितम् । तदङ्गवीक्षणं षष्ठं संस्कार सप्तमं मतम् । ८। पूर्वानुभोग-सभोगस्मरणं स्यात्तदष्टमम् । नवमं भाविनी चिन्ता दशमं वस्त्रलो-क्षणम् । ९। = प्रथम तो शरीरका संस्कार करना, २. पुष्टरसका सेवन करना, ३. गीत-वादित्रादिका देखना-सुनना, ४. स्त्रीमें किसी प्रकार का संकल्प वा विचार करना, ५. स्त्रीके अंग देखना, ६. देखनेका संस्कार हृदयमें रहना, ७. पूर्वमें किये भोगका स्मरण करना, ८

आगामी भोगनेकी चिन्ता करनी, १०. शुक्रका क्षरण । इस प्रकार मैथुनके दश भेद हैं, इन्हें ब्रह्मचारीको सर्वथा त्यागने चाहिए । ७-९ ।

२. परस्त्री त्याग व्रतकी अपेक्षा

सा. ध./३/२३ कन्यादूषणगान्धर्व-विवाहादि विवर्जयेत् । परस्त्रीव्यसन-त्यागव्रतमुद्धिविधितसया । २३। = परस्त्री व्यसनका 'त्यागी' श्रावक परस्त्री व्यसनके त्यागरूप व्रतकी शुद्धिको करनेकी इच्छासे कन्याके लिए दूषण लगानेको और गान्धर्व विवाह आदि करनेको छोड़े । २३।

ला. सं./२/१८६, २०७ भोगपत्नी निषिद्धा स्यात्सर्वतो धर्मवेदिनाम् । ग्रहणस्याविशेषेऽपि दोषो भेदस्य संभवात् । १८६। एतत्सर्वं परिज्ञाय स्वानुभूति समक्षतः । पराङ्गनासु नादेयः बुद्धिधीधनशालिभिः । २०७। = धर्मके जाननेवाले पुरुषोंको भोगपत्नीका पूर्णरूपसे त्याग कर देना चाहिए, क्योंकि यद्यपि विवाहित होनेके कारण वह ग्रहण करने योग्य है, तथापि धर्मपत्नीसे वह सर्वथा भिन्न है, सब तरहके अधिकारोंसे रहित है, इसलिए उसका सेवन करनेमें दोष है । १८६। (धर्मपत्नी आदि भेद—दे० स्त्री०) । अपने अनुभव और प्रत्यक्षसे इन सबको स्त्रियोंके भेदोंमें समझकर बुद्धिमान् पुरुषोंको परस्त्रियोंका सेवन करनेमें अपनी बुद्धि कभी नहीं लगानी चाहिए । २०७।

३. वैश्या त्याग व्रतकी अपेक्षा

सा. ध./३/२० त्यजेत्तौर्यत्रिकासक्तिं, वृथाटणां विङ्गसङ्गतिम् । नित्यं पण्याङ्गनास्यागी, तद्गोहगमनादि च । २०। = वैश्या व्यसनका त्यागी, श्रावक गीत, नृत्य और वाद्यमें आसक्तिको, बिना प्रयोजन घूमनेको, व्यभिचारी पुरुषोंकी संगतिको, और वैश्याके घर आने-जाने आदि-को सदा छोड़ देवे । २०।

४. शीलके दस दोष

द. पा. टी./१६/४ कास्ताः शीलविरोधनाः स्त्रीसंसर्गः सरसाहारः सुग-न्धसंस्कारः कोमलशयनासनं शरीरमण्डनं गीतवादित्रश्रवणम् अर्थ-ग्रहणं कुशीलसंसर्गः राजसेवा रात्रिसंचरणम् इति दशशीलविराधना । = १. स्त्रीका संसर्ग, २. स्वादिष्ट आहार, ३. सुगन्धित पदार्थोंसे शरीरका संस्कार, ४. कोमल शय्या व आसन आदिपर सोना, बैठना, ५. अलंकारादिसे शरीरका शृङ्गार, ६. गीत वादित्र श्रवण, ७. अधिक धन ग्रहण, ८. कुशीले व्यक्तियोंकी संगति, ९. राजाकी सेवा, १०. रात्रि-में इधर-उधर घूमना, ऐसे दस प्रकारसे शीलकी विराधना होती है ।

३. अब्रह्मका निषेध व ब्रह्मचर्यकी प्रधानता

१. वैश्या गमनका निषेध

वसु. आ./८८-९१ कारुय-किराय-चडाल-डोब पारसियाणमुच्छिद्यत् । सो भवखेइ जो सह वसइ एयरत्ति पि वेस्साए । ८८। रत्तं णाऊण णरं सव्वस्सं हरइ वंचणसएहिं । काऊण सुयइ पच्छा पुरिस चम्मट्टिपरिसेसं । ८९। पभणइ पुरओएयस्स सामी मोत्तूण णत्थि मे अण्णो । उच्चइ अण्णस्स पुणो करेइ चाडूणि बहुयाणि । ९०। माणी कुलजा सूरौ वि कुणइ दासत्तणं पि णीचाण । वेस्सा कएण बहुग अजमाण सहइ कामधो । ९१। जे मज्जमंसदोसा वेस्सा गमणम्मि होत्ति ते सव्वे । पाव पि तत्थ-हिट्ठ पावइ णियमेण सविसेस । ९२। पावेण तेण दुक्ख पावइ संसार-सायरे धोरे । तम्हा परिहरियव्वा वेस्सा भण-वयण-काएहिं । ९३। = जो कोई भी मनुष्य एक रात भी वैश्याके साथ निवास करता है, वह कारु (लुहार), चमार, किरात (भोल), चण्डाल, डोब (भगी) और पारसी आदि नीच लोगोंका जूठा खाता है । क्योंकि, वैश्या इन सभी लोगोंके साथ समागम करती है । ८८। वैश्या, मनुष्यको अपने ऊपर आसक्त जानकर सैंकड़ो वचणाओंसे उसका सर्वस्व हर लेती है और पुरुषको अस्थि-चर्म परिशोध करके, छोड़ देती है । ८९।

यह एक पुरुषके सामने कहती है कि तुम्हें छोड़कर तुम्हारे सिवाय मेरा स्वामी कोई नहीं है। इसी प्रकार वह अन्यसे भी कहती है और अनेक खुशामदी बातें करती है। १६०। मानी, कुलीन, और शूरवीर भी मनुष्य वेश्यामें आसक्त होनेसे नीचे पुरुषोंकी दासताको करता है, और इस प्रकार वह कामान्ध होकर वेश्याके द्वारा किये गये अपमानोंको सहता है। १६१। जो दोष मद्य-मांसके सेवनमें होते हैं, वे सब दोष वेश्यागमनमें भी होते हैं। इसलिए वह मद्य और मांस सेवनके पापको तो प्राप्त होता ही है, किन्तु वेश्या-सेवनके विशेष अपर्णको भी नियमसे प्राप्त होता है। १६२। वेश्या सेवन जनित पापसे यह जीव घोर ससार सागरमें भयानक दुखोंको प्राप्त होता है, इसलिए मन, वचन और कायसे वेश्याका सर्वथा त्याग करना चाहिए। १६३।

ला. सं./२/१२६-१३२ पण्यस्त्री तु प्रसिद्धा या वित्तार्थं सेवते नरम् । तन्नाम दारिका दासी वेश्या पत्तननायिका । १२६। तत्त्याग सर्वत श्रेयान् श्रेयोऽर्थं यत्ततां नृणाम् । मद्य-मासादि दोषान्चै न्नि दोषान् त्यक्त्वमुच्छ्रिताम् । १३०। आस्ता तत्सङ्गमे दोषो दुर्गती पतनं नृणाम् । इहैव नरकं नूनं वेश्यासक्तचेतसाम् । १३१। उक्तं च या, खादन्ति पलं पिबन्ति च मुरां, जल्पन्ति मिथ्यावच । स्निह्यन्ति ब्रविणार्थमेव विदधत्यर्थप्रतिष्ठाक्षतिम् । नीचानामपि दूरवक्रमनसः पापात्मिका, कुर्वते, लालापानमहर्निशं न नरकं वेश्यां विहायापरम् । रजकशिला-सदृशीभि कुक्कुरकर्परसमानचरिताभि । वेश्याभिर्यदि संग कृत-मिव परलोकवार्ताभि । प्रसिद्धं बहुभिस्तस्या प्राप्ता दुःखपरंपराः । श्रेष्ठिना चारुदत्तेन विख्यातेन यथा परा, ॥ — जो स्त्री केवल धनके लिए पुरुषका सेवन करती है, उसको वेश्या कहते हैं, ऐसी वेश्याएँ ससारमें प्रसिद्ध हैं, उन वेश्याओंको दारिका, दामी, वेश्या वा नगर-नायिका आदि नामोंसे पुकारते हैं। १२६। जो मनुष्य मद्य, मांस आदिके दोषोंको त्यागकर अपने आत्माका कल्याण करना चाहते हैं, उनको वेश्या सेवनका त्याग करना चाहिए। १३०। वेश्या सेवनसे नरकादिक दुर्गतियोंमें पड़ना पड़ता है। और इस लोकमें भी नरकके सदृश यातनाएँ व दुःख भोगने पड़ते हैं। १३१। कहा भी है—यह पापिनी वेश्या मांस खाती है, शराब पीती है, झूठ बोलती है, धनके लिए प्रेम करती है, अपने घन और प्रतिष्ठाका नाश करती है और कुटिल मनसे वा बिना मनके नीचे लोगोंकी लारकी रात-दिन चाटती है, इसलिए वेश्याकी छोड़कर ससारमें कोई नरक नहीं है। वेश्या तो धोखीकी शिलाके सदृश है, जिसपर आकर ऊँचे-नीचे अनेक पुरुषोंके घृणितसे घृणित और अत्यन्त निन्दनीय ऐसे वीर्य वा लार आदि मन आकर बहते हैं, अथवा वह वेश्या कुत्तेके मुँहमें लगे हुए हड्डिके खप्परके समान आचरण करती है ऐसी वेश्याके साथ जो पुरुष समागम करते हैं, वे साथ-साथ परलोकको बातचीत भी अवश्य कर लेते हैं अर्थात् वह नरक अवश्य जाते हैं। इस वेश्या सेवनमें आसक्त जावोने बहुत दुःख जन्म-जन्मान्तर तक पाये हैं। जैसे अत्यन्त प्रसिद्ध सेठ चारुदत्तने इस वेश्या सेवनसे ही अनेक दुःख पाये थे। १३२।

२. परस्त्री निषेध

कुरल/१५/१० परमन्यस्कृत पापमवराधोऽपि वा वरम् । पर न साध्वी त्वरक्षे वाक्षित्वा प्रतिवेशिनी । १०। = तुम कोई भी अपराध और दूसरा केसा भी पाप क्यों न करो पर तुम्हारे पक्षमें यही श्रेयस्कर है कि तुम पड़ोसीकी स्त्रीसे सदा दूर रहो। वसु श्रा/गा, न निस्ससद् रुयइ गयइ गियवसिर हणइ महियले पडइ । परमहितमलभमाणो असप्पलाव पि जंपेहा । ११३। अहं भुज्ज परमहित अणिच्छ्रमाण बलाधरेज्जण । ११५। अहं कावि पाव बहुला असई गिण्णासिज्ज गियसीलं । सयमेव पच्छिवाओ उवरोहवसेण अण्णाण । ११६। जइ देड जइ वि तत्थ सुण्णहर खंडवेउन्नयमज्जम्मि । सच्चित्ते भ्रमोओ सावव कि तत्थ पाउणइ । १२०। सोऊण कि पि सइ सहसा

परिवेवमाणसवंगो । लुक्कइ पलाइ पखलइ चउद्विस गियइ भय-भीओ । १२१। जइ पुण्णेण वि दीसइ गिज्जइ ती बधिऊण गिवगेहं । चोरस्त गिगहं सो तत्थ वि पाउणइ सविसेसं । १२२। परलोयम्मि अणंत दुक्ख पाउणइ इह भव समुदम्मि । परयारा परमहिला तम्हा तिविहेण वज्जिज्जा । १२४। — पर स्त्री लम्पट पुरुष जब अभिलषित परमहिलाको नहीं पाता है, तब वह दीर्घ निश्वास छोड़ता है, रोता है, कभी गाता है, कभी सिरको फोड़ता है और कभी धूलपर गिरता है और असत्पलाप भी करता है। १२३। नहीं चाहनेवाली किसी पर-महिलाको जबर्दस्ती पकड़कर भोगता है। १२५। यदि कोई पापिनी दुराचारिणी अपने शीलको नाश करके उपरोधके वशसे कामी पुरुषके पास स्वयं उपस्थित भी हो जाय, और अपनेआपको सौंप भी देवे। १२६। तो भी उस शून्य गृह या खंडित देवकुलके भीतर रमण करता हुआ वह अपने चित्तमें भयभीत होनेसे वहाँपर क्या सुख पा सकता है। १२७। वहाँपर कुछ भी जरा-सा शब्द सुनकर सहसा थर-थर काँपता हुआ इधर-उधर छिपता है, भागता है, गिरता है और भयभीत हो चारों दिशाओंको देखता है। १२८। इस-पर यदि कोई देख लेता है तो वह बाँधकर राजदरबारमें ले जाया जाता है और वहाँपर वह चोरसे भी अधिक दण्डको पाता है। १२९। पर स्त्री-लम्पटी परलोकमें इस ससार समुद्रके भीतर अनन्त दुःखको पाता है। इसलिए परिगृहीत या अपरिगृहीत परस्त्रियोंको मन, वचन कायमें त्याग करना चाहिए। १२४।

ला. सं./२/२०७ एतत्सर्वं परिज्ञाय स्वानुभूमिसमक्षत । पराङ्गनामु नावेया बुद्धिर्धीघनशालिभि । २०७। — अपने अनुभव और प्रत्यक्षसे इन सब स्त्रियोंके भेदोंको (वे० स्त्री) समझकर बुद्धिमान् पुरुषोंको परस्त्रियोंके सेवन करनेमें अपनी बुद्धि कभी नहीं लगाना चाहिए। २०७। (ला सं / ६/६०) ।

३. दुराचारिणी स्त्रीका निषेध

सा घ/३/१० भजन् मद्यादि भाज स्त्री-स्तादृशी सह समृज् । भुक्त्वा-दौ चैति साकोत्ति मद्यादि विरतिक्षतिम् । १०। — मद्य, मांस आदिको खानेवाली स्त्रियोंको सेवन करनेवाला और भोजनादिमें मद्यादिके सेवन करनेवाले पुरुषोंके साथ ससर्ग करनेवाला व्रतधारी पुरुष निन्दा सहित मद्य-र गण आदि मूलगुणोंकी हानिको प्राप्त होता है। १०।

४. स्त्रीके लिए परपुरुषादिका निषेध

भ आ/मू/६६४ जह सीलरक्खयाण पुरिसाणं गिदिवाओ महिलाओ । तह सीलरक्खयाणं महिलाणं गिदिवापुरिसा । ६६४। = शीलका रक्षण करनेवाले पुरुषको स्त्री जैसे निन्दनीय अर्थात् त्याग करने योग्य है, वैसे शीलका रक्षण करनेवाली स्त्रियोंको भी पुरुष निन्दनीय अर्थात् त्याज्य है।

५. अब्रह्म सेवनमें दोष

भ आ/मू/६२२ अवि य वहो जीवाणं मेहुणसेवाए होइ बहुगाणं । तिलणालीए तत्ता सनायवेसो य जोणीए । ६२२। = मैथुन सेवन करनेसे वह अनेक जीवोंका वध करता है। जैसे तिलकी फलोंमें अग्निसे तपी हुई सलाई प्रविष्ट होनेसे सब तिन जलकर खाक होते हैं वैसे मैथुन सेवन करते समय योनिमें उत्पन्न हुए जीवोंका नाश होता है। ६२२। (विशेष विस्तार दे० भ आ/मू/८६०-११९०), (पु.सि / ३/१०८) । स्या मं / २३/२७६/१५ नर उद्धभुत मेहुण सण्णारूढो णवलक्ख हणेइ सुहुमजीवाण । केवल्लिणा पण्णस्ता सद्विअव्वा सया काल । ३। इत्थी-जोणीए संभवति वेइदिग्ग उ जे जीवा । इक्को व दो व तिण्णि व लक्खपुहुत्त उ उक्कोस । ४। पुरिमेण सह गयाए तेसि जीवाण होइ उद्वयण । वेणुगदिदु तेण तत्तायसनागणाएण । ५। पच्चिदिया मणुस्सा

एगणर भुत्तणारिगम्भम्मि ! उक्कोसं णवलक्खा जाप्रति एगवेलाए । ई। णव लवखणं मज्जे जायइ इक्कस्स दोण्ह व समत्ती । सेसा पुण एमेव य विलय वच्चति तत्थेव । ७। =केवली भगवात्ने मैथुनके सेवनमें नौ लाख सूक्ष्म जीवोंका घातकत्वताया है, इसमें सदा विश्वास करना चाहिए । ३। तथा स्त्रियोंकी योनिमें दो इन्द्रिय जीव उत्पन्न होते हैं । इन जीवोंकी संख्या एक, दो, तीनसे लगाकर लाखोंतक पहुँच जाती है । ४। जिस समय पुरुष स्त्रीके साथ सभोग करता है, उस समय जैसे अग्निसे तपायी हुई लोहेकी सलाईको बाँसकी नलीमें डालनेसे नलीमें रखे तिल भस्म हो जाते हैं, वैसे ही पुरुषके सस्यके योनिमें रहनेवाले सम्पूर्ण जीवोंका नाश हो जाता है । ५। पुरुष और स्त्रीके एक बार संयोग करनेपर स्त्रीके गर्भमें अधिकसे अधिक नौ लाख पंचेन्द्रिय मनुष्य उत्पन्न होते हैं । ६। इननौ लाख जीवोंमें एक या दो जीव जीते हैं बाकी सब जीव नष्ट हो जाते हैं । ७।

६. शीलकी प्रधानता

शी. पा./मू./१९ जीवदयादम सच्चं अचोरियं बभचेरसंतोसे । सम्म-इ सण णाणं तओ य सीलस्स परिवारो । १९। =जीव दया, इन्द्रिय दमन, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, सम्यग्दर्शन, ज्ञान, तप ये सर्व शीलके परिवार हैं । १९।

७. ब्रह्मचर्यकी महिमा

भ. आ./मू./१११५/११२३ तेल्लोकाडविडहणो कामग्गी विसयरुषखपञ्ज-लिओ । जोव्वणतंणिण्णचारी जं ण ड्हइ सो हवइ धणो । १११५। =कामाग्नि विषयरूपी वृशोक आश्रय लेकर प्रज्वलित हुआ है, त्रैलोक्यरूपी वनको यह महाग्नि जलानेको उद्यत हुआ है । परन्तु तारुण्य रूपी तृणपर संचार करनेवाले जिन महात्माओंको वह जलानेमें असमर्थ है वे महात्मा धन्य हैं । (अन. ध./४/६६) ।

अन./४/६० या ब्रह्मणि स्वात्मनि शुद्धबुद्धे चर्या परद्रव्यमुचप्रवृत्ति । तद्रहस्यचर्यं व्रतसार्वभौमं ये पान्ति ते यान्ति पर प्रमोदम् । ६०। =शुद्ध और बुद्ध अपने चित्स्वरूप ब्रह्ममें परद्रव्योंका त्याग करनेवाले व्यक्तिकी अप्रतिहत परिणति रूप जो चर्या होती है उसीको ब्रह्मचर्य कहते हैं । यह व्रत समस्त व्रतोंमें सार्वभौमके समान है जो पुरुष इसका पालन करते हैं । वे ही पुरुष सर्वोत्कृष्ट आनन्द-मोक्ष सुखको प्राप्त किया करते हैं । ६०।

स्या. म./२३/२७७/२६ पर उद्धृत एकरात्रौषितस्यापि या गति-र्ब्रह्मचारिणः । न सा ऋतुसहस्रेण प्राप्नु शक्यम युधिष्ठिरः । =हे युधिष्ठिर ! एक रात ब्रह्मचर्यसे रहनेवाले पुरुषको जो उत्तमगति मिलती है, वह गति हजारों यज्ञ करनेसे भी नहीं होगी ।

४. शंका-समाधान

१. स्त्री पुरुषादिका सहवास मात्र अब्रह्म नहीं हो सकता

रा. वा./७/१६/६/५४४/१४ मिथुनस्य भाव (मैथुन) इति चेन्न द्रव्यद्वय-भवनमात्रप्रसगादिति, तदसत् अभ्यन्तरपरिणामाभावे बाह्यहेतुर-फलत्वात् । अभ्यन्तरचारित्रमोहोदयापादितस्त्रैणपौस्तक्यकरति-परिणामाभावात् बाह्यद्रव्यद्वयभवेऽपि न मैथुनम् । स्त्रीपुमयो-कर्मति चेन्न पच्यादिक्रियाप्रसगात् इति, तदसाप्रतम्, कुतः तद्विषय-स्यैव ग्रहणात् । तयोरेव यत्कर्म तदिह गृह्यते, पच्यादिकर्म पुन अन्येनापि क्रियते । नमस्काराद्यप्युक्तस्य चन्दनाविमिथुनकर्मणि न मैथुनम् । = 'मिथुनस्य भाव' इस पक्षमें जो दो स्त्री-पुरुष रूप द्रव्योंकी सत्ता मात्रकी मैथुनत्वका प्रसंग दिया जाता है, वह उचित नहीं है, क्योंकि अभ्यन्तर चारित्र मोहोदय रूपी परिणामके अभावमें बाह्य कारण निरर्थक है । उसी तरह अभ्यन्तर चारित्रमोहोदयके

स्त्रैण पौस्तक्य रति परिणाम न होनेसे बाह्यमे रति परिणाम रहित दो द्रव्योंके रहनेपर भी मैथुनका व्यवहार नहीं होता । —स्त्री और पुरुषके कर्म पक्षमें पाकादि क्रिया और चन्दनादि क्रियामें मैथुनत्वका प्रसंग उचित नहीं है, क्योंकि स्त्री और पुरुषके संयोगसे होनेवाला कर्म वहाँ विवक्षित है, पाकादि क्रिया तो अन्यसे भी हो जाती है । (स. सि/७/१६/३५३/११) ।

२. मैथुनके लक्षणसे हस्तक्रिया आदिमें अब्रह्म सिद्ध नहीं होगा

रा. वा./७/१६/६-८/५४३-५४४/३३ न वेतद्युक्तम् । कुतः ? एकस्मिन्न-प्रसङ्गात् । हस्तपादपुद्गलसघट्टनादिभिरब्रह्मसेवमाने एकस्मिन्नपि मैथुनमिष्यते, तन्न सिद्ध्यति । १। यथा स्त्रीपुसयो रत्यर्थे सयोगे परस्पररतिकृतस्पर्शाभिमानात् सुख तथैकस्यापि हस्तादिसंघट्टनात् स्पर्शाभिमानस्तुल्यः । तस्मान्मुख्य एव तत्रापि मैथुनशब्दलाभः रागद्वेषमोहाविष्टत्वात् । ७। यथैकस्यापि पिशाचवशीकृतत्वात् सद्वितीयत्व तथैकस्य चारित्रमोहोदयाविष्कृतकामपिशाचवशीकृत-त्वात् सद्वितीयत्वसिद्धे, मैथुनव्यवहारसिद्धिः । = प्रश्न—यह मैथुन-का लक्षण युक्त नहीं है, क्योंकि एक ही व्यक्तिके हस्तादि पुद्गलके रगडसे अब्रह्मके सेवन करनेपर भी मैथुन क्रिया मानी गयी है । परन्तु इससे (मैथुनके लक्षणसे) वह सिद्ध न होगी । उत्तर—जिस प्रकार स्त्री और पुरुषका रतिके समय संयोग होनेपर स्पर्श सुख होता है, उसी तरह एक व्यक्तिका भी हाथ आदिके संयोगसे स्पर्श सुखका भान होता है, अतः हस्तमैथुन भी मैथुन कहा जाता है, यह औपचारिक नहीं है, क्योंकि राग, द्वेष, मोहसे आविष्ट है । (अन्यथा इससे कर्म बन्ध न होगा) । ७। यहाँ एक ही व्यक्ति चारित्र मोहके उदयसे प्रकट हुए काम-रूपी पिशाचके सम्पर्कसे दो हो गया है और दोके कर्मको मैथुन कहनेमें कोई बाधा नहीं है ।

३. परस्त्री त्याग सम्बन्धी

ला. सं/२/श्लोक नं ननु यथा धर्मपत्न्या यैव दास्यां क्रियैव सा । विशेषानुपलब्धेश्च कथं भेदोऽवधार्यते । १८६। मैव स्पर्शादि यद्रस्तु बाह्य विषयसंज्ञिकम् । तद्धेतुरतादृशो भावो जीवस्यैवास्ति निश्चयात् । १८६। दृश्यते जलमेवैकमेकरूपं स्वरूपतः । चन्दनादि-वनराजि प्राप्य नानात्वमध्यगात् । १८६। त्याज्यं वत्स परस्त्रीषु रति तृष्णोपशान्तये । विमृश्य चापदां चक्र लोकद्वयविध्वंसिनीम् । २०६। आस्तां यन्मरके दुःख भावतीत्राणुवेदिनाम् । जातं परांगुनासक्ते लोहांगनादिलिगनात् । २१२। इहैवानर्थसंदोहो यावान्स्ति सुदुस्सह' तावान्न शक्यते वक्तुमन्वयोषिन्मतेरित । २१३। = प्रश्न—विषय सेवन करते समय जो क्रिया धर्मपत्नीमें की जाती है वही क्रिया दासीमें की जाती है । अतः क्रियामें भेद न होनेसे उन दोनोंमें कोई भेद नहीं होना चाहिए । १८६। उत्तर—कर्मक्षेत्रमें वा परिणामोमें शुभ अशुभ-पना होनेमें स्वर्ग करना वा विषय सेवना आदि बाह्य वस्तु ही कारण नहीं है किन्तु जीवोंके जैसे परिणाम होना ही निश्चय कारण है । (अर्थात् दासीके भेदने तीव्र लालसा होती है इससे तीव्र अशुभ कर्मका बाध होता है) । १८६। जल एक स्वरूपका होनेपर भी चन्दनादि वनराजिको प्राप्त होनेपर पात्रके भेदसे नाना प्रकारका परिणत हो जाता है । उसी प्रकार दासी व धर्मपत्नीके साथ एक सी क्रिया होने पर भी पात्र भेदसे परिणामोमें अन्तर होता है तथा परि-णामोमें अन्तर होनेसे शुभ व अशुभ कर्मबन्धमें अन्तर पड जाता है । १८६। हे वत्स ! परस्त्रीमें प्रेम करना आपत्तियोंका स्थान है, वह परस्त्री दोनों लोकोके हितका नाश करनेवाली है, यही समझकर अपनी तृष्णा व लालसाको शान्त करनेके लिए परस्त्रीमें प्रेम करना छोड़ । २०६। परस्त्री सेवनेवालोको नरकमें उनकी तीव्र लालसाके

४. व्यवहार भक्तिमें ईश्वर कर्तावादका निर्देश

भा. पा./मू./१६३ ते मे तिहुवणमहिया सिद्धा सुद्धा णिरजण णिच्चा । दिंतु वर भावसुद्धि दसण णणे चरित्ते य। १६३। = जो नित्य है, निरजन है, सुद्ध है तथा तीन लोकके द्वारा पूजनीक है, ऐसे सिद्ध भगवान् ज्ञान-दर्शन और चारित्र्यमें श्रेष्ठ उत्तम भावकी सुद्धता दो। १६३।

प्र सा./मू./१० पणमामि वड्डमाणं तित्थं धम्मस्स कत्तारं। १। = तीर्थरूप और धर्मके कर्ता श्री वर्धमान स्वामीको नमस्कार हो। १।

पं. वि./२०/१,६ त्रिभुवनगुरो जिनेश्वर परमानन्दककारण करुष्व । मयि किकरेऽत्र करुणा तथा यथा जायते मुक्ति । १। अपहर मम जन्म दयां कुर्वेत्येकत्र वचसि वक्तव्ये । तेनात्तिदग्ध इति मे देव बभूव प्रकृ पित्वम् । ६। = तः लोकोके गुरु और उत्कृष्ट मुखके अद्वितीय कारण ऐसे हे जिनेश्वर । इस मुझ दासके ऊपर ऐसी कृपा कीजिए कि जिससे मुझे मुक्ति प्राप्त हो जाये । हे देव । आप कृपा करके मेरे जन्म (संसार) को नष्ट कर दीजिए, यही एक बात मुझे आपसे कहनी है । परन्तु चूँकि मैं इस संसारसे अति पीडित हूँ, इसलिए मैं बहुत शकवादी हुआ हूँ ।

थोस्सामि दण्डक/७ कित्तिय वदिय महिया एदे लोकोत्तमा जिणा सिद्धो । आरोगणाणत्ताह दिंतु समाहि च मे बोहिं । ७। = वचनोंसे कीर्तन किये गये, मनसे वन्दना किये गये, और कायसे पूजे गये ऐसे ये लोकोत्तम कृतकृत्य जिनेन्द्र मुझे परिपूर्ण ज्ञान, समाधि और बोधि प्रदान करे । ७।

५. प्रसन्न हो इत्यादिका प्रयोजन

आप्त. परि./टी./२/५/६ प्रसाद. पुन' परमेष्ठिनस्तद्विनेयानां प्रसन्नमन-विषयत्वमेव, वीतरागाणा तुष्टिलक्षणप्रसादादसम्भवात् कोपासम्भवत् । तदाराधकजनैस्तु प्रसन्नैः मनसोपास्यमानो भगवद् 'प्रसन्न' इत्यभिधीयते, रसायनवत् । यथैव हि प्रसन्नैः मनसा रसायनमासेव्य तरफलमवाप्नुवन्त सन्तो 'रसायनप्रसादादिदमस्माकमारोग्यादिफलं समुत्पन्नम्' इति प्रतिपाद्यन्ते तथा प्रसन्नैः मनसा भगवन्तं परमेष्ठिनमुपास्य तदुपासनफलं श्रेयोमार्गाधिगमलक्षण प्रतिपाद्यमानस्तद्विनेयजना 'भगवत्परमेष्ठिन प्रसादादस्माकं श्रेयोमार्गाधिगम सपन्न' इति समनुमन्यन्ते । = परमेष्ठीमें जो प्रसाद गुण कहा गया है, वह उनके शिष्योंका प्रसन्न मन होना ही उनकी प्रसन्नता है, क्योंकि वीतरागोके तुष्टवात्मक प्रसन्नता सम्भव नहीं है । जैसे क्रोधका होना उनमें सम्भव नहीं है । किन्तु आराधकजन जब प्रसन्न मनसे उनकी उपासना करते हैं तो भगवान्को 'प्रसन्न' ऐसा कह दिया जाता है । जैसे प्रसन्न मनसे रसायन (औषधि) का सेवन करके उसके फलको प्राप्त करनेवाले समझते हैं और शब्द व्यवहार करते हैं कि 'रसायन' के प्रसादसे यह हमें आरोग्यादि फल मिला ।' उसी प्रकार प्रसन्न मनसे भगवान् परमेष्ठीकी उपासना करके उसके फल—श्रेयोमार्गके ज्ञानको प्राप्त हुए उनके शिष्यजन मानते हैं कि 'भगवत् परमेष्ठीके प्रसादसे हमें श्रेयोमार्गका ज्ञान हुआ ।

मो. मा. प्र./५/३२५/१७ उस (अर्हत) के उपचारसे यह विशेषण (अध-मोक्षारकादिक) सम्भवे है । फल तो अपने परिणामनिका लाभ है ।

दे० पूजा/२/३ जिन गुण परिणत परिणाम पापका नाशक समझना चाहिए ।

* सखलेखनाकी श्रुति—दे० भ. आ./अमित./२२४८-२२४९ ।

* भक्तिका महत्त्व—दे० विनय/२ तथा पूजा/२/३ ।

२. भक्ति विशेष निर्देश

१. अर्हन्त, आचार्य, बहुश्रुत व प्रवचन भक्तिके लक्षण

स. सि./६/२४/३१६/४ अर्हदाचार्येषु बहुश्रुतेषु प्रवचने च भावविशुद्धि-युक्तोऽनुरागो भक्ति । = अर्हन्त, आचार्य, बहुश्रुत, और प्रवचन इनमें भावकी विशुद्धताके साथ अनुराग रखना अर्हन्तभक्ति, आचार्यभक्ति, बहुश्रुतभक्ति, और प्रवचनभक्ति है । (रा. वा./६/२४/१०/५३०/६), (चा.सा./५१/३; ५५/१); (भा.पा./टी./७७/२२१/१०) ।

ध. ५/३,४१/८६-९०/४ तेषु (अर्हतेषु) भक्ती अर्हंतभक्ती । ... अर्हंत-वृत्ताणुद्वाणाणुवत्तणं तदणुद्वाणपासो वा अर्हंतभक्ती णाम । ... बारसंग-पारया बहुसुदा णाम, तेषु भक्ती-तेहि वक्खाणिद आगमथाणुवत्तणं तदणुद्वाणपासो वा बहुसुदभक्ती । तस्मि (पवयणे) भक्ती तथ पदुप्पादिदथाणुद्वाणं । ण च अण्णाहा तथ भक्ती सभवद्, असंयुग्णे संयुग्णववहारविरोहादो । = अर्हन्तोमें जो गुणानुरागरूप भक्ति होती है, वह अर्हन्त भक्ति कहलाती है । अथवा अर्हन्तके द्वारा उपदिष्ट अनुष्ठानके अनुकूल प्रवृत्ति करने या उक्त अनुष्ठानके स्पर्शको अर्हन्त भक्ति कहते हैं । जो बारह अंगोंके पारगामी हैं वे बहुश्रुत कहे जाते हैं, उनके द्वारा उपदिष्ट आगमार्थके अनुकूल प्रवृत्ति करने या उक्त अनुष्ठानके स्पर्श करनेको बहुश्रुतभक्ति कहते हैं । ... प्रवचनमें (दे० प्रवचन) कहे हुए अर्थका अनुष्ठान करना, यह प्रवचनमें भक्ति कही जाती है । इसके बिना अन्य प्रकारसे प्रवचनमें भक्ति सम्भव नहीं है, क्योंकि असम्पूर्णमें सम्पूर्णके व्यवहारका विरोध है ।

२. सिद्ध भक्तिका लक्षण

नि. सा./मू./१३४-१३५ सम्मत्तणण चरणे जो भक्ति कुण्ड सावगो समणो । तस्स दु णिब्बुदि भक्ती होदि ति जिणेहि पण्णत्तं । १३४। मोक्खंगयपुरिसाणं गुणभेदं जाणिऊण तैसि पि । जो कुणदि परम-भक्ति व्यवहारण्येण परिकरिह्यं । १३५। = जो श्रावक अथवा भ्रमण सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र्यकी भक्ति करता है, उसे निर्वृतिभक्ति (निर्वाणकी भक्ति) है, ऐसा जिनोंने कहा है । १३४। जो जीव मोक्षगत पुरुषोका गुणभेद जानकर उनकी भी परम भक्ति करता है, उस जीवके व्यवहारनसे निर्वाण भक्ति कही है । १३५।

द्र. स./टी./१५/५५ पर उद्धृत—सिद्धोऽहं सुद्धोऽहं अणतणाणइगुण-समिद्धोऽहं । देहपमाणो णिच्चो असंखदेसो अमुत्तो य । इति गाथा-कथितसिद्धभक्तिरूपेण । = मैं सिद्ध हूँ, सुद्ध हूँ, अनन्तज्ञानादि गुणोंका धारक हूँ, दारिद्र प्रमाण हूँ, नित्य हूँ, असख्यात प्रदेशी हूँ, तथा अमूर्तिक हूँ । १। इस गाथामें कही हुई सिद्धभक्तिके रूपसे ।

पं. का./त. प्र./१६६ शुद्धात्मद्रव्यविशान्तिरूपां पारमाधिकी सिद्धभक्ति-मनुबिप्राण. . । = शुद्धात्म द्रव्यमें विशान्तिरूप पारमाधिक सिद्ध-भक्ति धारण करता हुआ ।

द्र. सं./टी./१७/५५/५ सिद्धात्मद्रव्यविशान्तिरूपां पारमाधिकी सिद्धभक्ति-रूपेण । = मैं सिद्ध भगवान्के समान अनन्तज्ञानादि गुणरूप हूँ इत्यादि व्यवहारसे सत्त्विक सिद्धभक्ति-के धारक ।

३. योगिभक्तिका लक्षण

नि. सा./मू./१३० रायादीपरिहारे अप्पाणं जोदु जुंजवे साहू । तो जोग-भक्तिजुत्तो इदरस्स य कट्ट हवे जोगो । १३०। = जो साधु रागादिके परिहारमें आत्माको लगाता है (अर्थात् आत्मामें आत्माका लगाकर रागादिका परिहार करता है) वह योगिभक्ति युक्त है, दूसरेको योग किस प्रकार हो सकता है । १३०। (नि. मा./मू./१३०) ।

४. अर्हन्तादिमेंसे किसी एक भक्तिमें शेष १५ भाव- नाओंका समावेश

ध. ५/३, ४१/५६/४ कथमेत्य सेसकारणानं सभवो । बुद्धदे अरहतवुत्ताणु-
ट्टाणणुवत्तण तदणुट्टाणपासो वा अरहतभक्ती णाम । ण च एसा
दंसणविसुज्झदादीहि विणा ण सभवइ, विरोहादो । दंसणविसुज्झ-
दादीहि विणाएदिस्से (बहुसुदभक्तीए) अस भवादी । एत्य (१५वयण
भक्तीए) सेसकारणामत्तवभावो वत्तव्वो । = प्रश्न—इसमें शेष
कारणोंकी सम्भावना कैसे है । उत्तर—अरहन्तके द्वारा उपदिष्ट अनु-
ष्ठानके अनुकूल प्रवृत्ति करनेको या उक्त अनुष्ठानके स्पर्शको अरहन्त-
भक्ति कहते हैं । यह दर्शनविशुद्धतादिकोंके बिना सम्भव नहीं है,
क्योंकि ऐसा होनेमें विरोध है । यह (बहुश्रुत भक्ति) भी दर्शन-
विशुद्धि आदिक शेष कारणोंके बिना सम्भव नहीं है । १०० इस (प्रव-
चन भक्ति) में शेष कारणोंका अन्तर्भाव कहना चाहिए ।

* दशभक्ति निर्देश व उनकी प्रयोग विधि

—दे० कृतिकर्म ।

* प्रत्येक भक्तिके साथ भावत आदि करनेका विधान

—दे० कृतिकर्म ।

५. साधुकी आहारधर्या सम्बन्धी नवभक्ति निर्देश

म. पु. १०/५६-५७ प्रतिग्रहमित्युच्चै स्थानेऽस्य विनिवेशनम् । पाद-
प्रधावनं चर्चा नति । शुद्धिश्च सा त्रयी । १८६ । विशुद्धिरचाशनस्येति
नवपुण्यानि दानिनाम् । १८७ । = मुनिराजका पडिगाहन करना,
उन्हें उच्चस्थानपर विराजमान करना, उनके चरण धोना, उनकी पूजा
करना, उन्हें नमस्कार करना, अपने मन, वचन, कायकी शुद्धि और
आहारकी विशुद्धि रखना, इस प्रकार दान देने वालेके यह नौ प्रकार-
का पुण्य अथवा नवधा भक्ति कहलाती है । (पु. सि. उ/१६८),
(चा. सा. २६/३ पर उद्धृत); (वसु. श्रा. २२५), (गुण. श्रा. १५२),
(का. अ. ५, जयचन्द/३६०) ।

६ नवधा भक्तिका लक्षण

वसु श्रा. २२६-२३१ पत्तं गियधरदारे दट्ठूणणरथ वा विमग्गिन्ता ।
पडिगहणं कायत्र णमोत्थु ठाहु त्ति भण्णिऊण । २२६ । णेऊण गिययगेहं
गिरवज्जाणु तह उच्चठाणम्मि । ठविऊण तओ चलणणधोवणं होइ
कायव्वा । २२७ । पाओदयं पवित्तं सिरम्मि काऊण अच्चणं कुज्जा ।
गंधक्खम-कुसुम-णेवज्ज-दीव-धूवेहि य फलेहि । २२८ । पुप्फजलि
खिवित्ता पयपुरओ वदण तओ कुज्जा । चऊण अट्ठरुहं मणसुद्धी
होइ कायव्वा । २२९ । णिट्ठुर-कक्कस वयणाइवज्जण तं विमाण वचि-
सुद्धि । सव्वस्थ स पुडगस्स होइ तह कायसुद्धी वि । २३० । चउदसमल-
परिसुद्ध जं दाणं सोहिऊण जइणाए । संजमिजणस्स दिज्जइ सा णेया
एणणासुद्धी । २३१ । = पात्रको अपने घरके द्वारपर देखकर अथवा
अन्यत्रसे निर्माणकर, 'नमस्कार हो, ठहरिए', ऐसा कहकर प्रतिग्रह
करना चाहिए । २२६ । पुनः अपने घरमें ले जाकर निर्दोष तथा ऊँचे
स्थानपर बिठाकर, तदनन्तर उनके चरणोंको धोना चाहिए । २२७ ।
पवित्र पादोंको सिरमें लगाकर पुनः गन्ध, अक्षत, पुष्प, नैवेद्य,
दीप, धूप और फलोंसे पूजन करना चाहिए । २२८ । तदनन्तर चरणोंके
समीप पुष्पाजलि क्षेपणकर वन्दना करे । तथा आर्त और रौद्र ध्यान
छोड़कर मन शुद्धि करना चाहिए । २२९ । निष्ठुर और कर्कश आदि
वचनोंके त्याग करनेको वचनशुद्धि जानना चाहिए, सब ओर सपू-
टित अर्थात् विनीत अंग रखनेवाले दातारके कायशुद्धि होती है
। २३० । चौदह मलदोषों (दे० आहार/१/२/३) से रहित, यत्नसे
शोधकर, समयी जनको जो आहार दान दिया जाता है, वह पण्डा
शुद्धि जानना चाहिए ।

* मन वचन काय तथा आहार शुद्धि—दे० शुद्धि ।

३. स्तव निर्देश

१. स्तव सामान्यका लक्षण

१. निश्चय स्तवन

स. सा. मू. १३१-३२ जोइन्दिये जिणिन्ता णाणसहावाधिअं मुणदि आदं ।
तं खलु जिदिदियं ते भणति ये णिच्छिदा साह । ३१ । जो मोहं तु
जिणिन्ता णाणसहावाधिअं मुणइ आदं । तं जिदमोहं साहु परमट्ट-
वियाणया विति । ३२ । = जो इन्द्रियोंको जीतकर ज्ञान स्वभावके
द्वारा अन्य द्रव्यसे अधिक आत्माको जानते हैं उन्हें, जो निश्चयनयमें
स्थित साधु हैं वे वास्तवमें जितेन्द्रिय कहते हैं । ३१ । जो मुनि मोहको
जीतकर अपने आत्माको ज्ञान स्वभावके द्वारा अन्य द्रव्य भावोंसे
अधिक जानता है, उस मुनिको परमार्थके जाननेवाले जितमोह
कहते हैं । (इस प्रकार निश्चय स्तुति कही) ।

यो सा अ. १५/४८ रत्नत्रयमयं शुद्ध चेतनं चेतनारमक । विवित्तं
स्तुवतो नित्यं स्तवञ्चै स्तूयते स्तव । ४८ । = जो पुरुष रत्नत्रय स्वरूप
शुद्ध, चैतन्य गुणोंके धारक और समस्त कर्मजनित उपाधियोंसे रहित
आत्माकी स्तुति करता है, स्तवनके जानकार महापुरुषोंने उसके
स्तवनको उत्तम स्तवन माना है । ४८ ।

द. स. टी. १/४/१२ एकदेशशुद्धनिश्चयनयेन स्वशुद्धात्मारामनालक्षण-
भावस्तवनेन नमस्करोमि । = एक देश शुद्ध निश्चयनयकी अपेक्षासे
निज शुद्ध आत्माका आराधन करने रूप भावस्तवनसे नमस्कार
करता है ।

२. व्यवहार स्तवन वा स्तुति

रव स्तो मू. ५६ गुण-स्तोर्कं सदुल्लङ्घ्य तद्बहुत्वकथास्तुति । = विद्यमान
गुणोंकी अल्पताको उल्लंघन करके जो उनके बहुत्वकी कथा (बड़ा
चढाकर कहना) को जाती है उसे लोकमें स्तुति कहते हैं । ५६ ।

स. सि. ७/२३/३६४/११ मनसा ज्ञानचारित्रगुणोद्भावनं प्रशंसा, भूता-
भूतगुणोद्भाववचनं संस्तव । = ज्ञान और चारित्रका मनसे उद्भावन
करना प्रशंसा है, और जो गुण है या जो गुण नहीं है इन दोनोंका
सद्भाव बतलाते हुए कथन करना संस्तव है । (रा. वा. ७/२३/१/
५५२/१२) ।

ध. ५/३, ४१/८४/१ तीव्रा नागद-वट्टमाणकालविसयपचपरमेसराण भेदम-
काऊण णमो अरहंताणं णमो जिणाणमिच्चादि णमोवकारो दव्वट्ठि-
यणिकधणो थवो णाम । = अतीत, अनागत और वर्तमानकाल-
विषयक पाँच परमेष्ठियोंके भेदको न करके 'अरहन्तोंको नमस्कार
हो, जिनोंको नमस्कार हो' आदि द्रव्यार्थिक निबन्धन नमस्कारका
नाम स्तव है ।

द. सं. टी. १/४/१३ असद्भूतव्यवहारनयेन तत्प्रतिपादकवचनरूपद्रव्य-
स्तवनेन च नमस्करोमि । = असद्भूत व्यवहार नयकी अपेक्षा उस
निज शुद्ध आत्माका प्रतिपादन करनेवाले वचनरूप द्रव्य स्तवनसे
नमस्कार करता है ।

३. स्तव आगमोपसंहारके अर्थमें

ध. ६/४, १, ५५/२६३/२ बारसंगसघारो सयलंगविसयपण्णदो थवो णाम ।
तम्हि जो उवजोगो वायण-पुच्छणपरियट्टाणुवेवखणसरुवो सो वि
थओवयारेण = सब अगोंके विषयोंकी प्रधानतासे बारह अगोंके
उपसंहार करनेको स्तव कहते हैं । उसमें जो वाचना, पृच्छना,
परिवर्तना और अनुप्रेक्षण स्वरूप उपयोग है वह भी उपचारसे स्तव
कहा जाता है ।

ध. १४/५, ६, १२/६/६ सव्वसुदणणविसओ उवजोगो थवो णाम । = समस्त
श्रुतज्ञानको विषय करनेवाला उपयोग स्तव कहलाता है ।

विकार भावको प्राप्त होकर धर्मके द्रोही बन जायेगे। ५। जो प्राणियोंकी हिंसा करनेमें तत्पर है तथा मधु और मांसका भोजन जिन्हें प्रिय है ऐसे ये अधर्मी ब्राह्मण हिंसारूप धर्मकी धोषणा करेगे। ६। इस प्रकार यद्यपि यह ब्राह्मणोंकी सृष्टि कालान्तरमें दोषका बीज रूप है तथापि धर्म सृष्टिका उल्लंघन न हो इसलिए इस समय इसका परिहार करना भी अच्छा नहीं है। ६।

६. ब्राह्मण अनेक गुण सम्पन्न होता है

म. पु./३६/१०३-१०७ स यजन् यजाम्यन् धीमात् यजमानैरुपासित । अध्यापयन्तधीयानो वेदवेदाङ्गविस्तरम् । १०३। स्पृशन्पि महीं नैव स्पृष्टो दोषैर्महीगतै । देवत्वमात्मसात्कुर्वद् इहैवाभ्यर्चितैर्गुणै । १०४। नाणिमा महिमैवास्य गरिमैव न लाववम् । प्राप्तिं प्राकाम्यमी- शिवं वशित्व चेति तद्गुणा । १०५। गुणैरेभिरुपासुडमहिमा देवसाद्भवम् । विभ्रक्तोकातिग धाम मह्यमेष महीयते । १०६। धर्मै- राचरितै सस्यशौचक्षान्तिदमादिभिः । देवब्राह्मणता श्लाघ्या स्वस्मिन् संभाव्यत्यसौ । १०७। = पूजा करनेवाले यजमान जिसकी पूजा करते हैं, जो स्वयं पूजन करता है, और दूसरोसे भी कराता है, और जो वेद और वेदांगके विस्तारको स्वयं पढता है, तथा दूसरोको भी पढाता है, जो यद्यपि पृथिवीका स्पर्श करता तथापि पृथिवी सम्बन्धी दोष जिसका स्पर्श नहीं कर सकते हैं, जो अपने प्रशंसनीय गुणोंसे इसी पर्यायमें देवत्वको प्राप्त हुआ है। १०३-१०४। जिसके अणिमा श्रद्धि (छोटापन) नहीं है किन्तु महिमा (बडप्पन) है, जिसके गरिमा ऋद्धि है, परन्तु लघिमा नहीं है। जिसमें प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व और वशित्व आदि देवताओंके गुण विद्यमान हैं। १०५। उपर्युक्त गुणोंसे जिसकी महिमा बढ रही है, जो देव रूप हो रहा है, जो लोक-को उल्लंघन करनेवाला उत्कृष्ट तेज धारण करता है ऐसा यह भव्य-पृथ्वीपर पूजित होता है। १०६। सस्य, शौच, क्षमा और दम आदि धर्म सम्बन्धी आचरणोंसे वह अपनेमें प्रशंसनीय देव ब्राह्मणपनेकी सम्भावना करता है। १०७।

७. ब्राह्मणके निर्य कर्तव्य

म पु/३५/२४, ४६ इज्यां वार्ता च दत्ति च स्वाध्याय सयम तप । श्रुतोपासकसूत्रत्वात् स तेभ्यः समुपादिशत् । २४। तदेषा जातिसंस्कारं द्रढयन्ति सौऽधिराट् । स प्रोवाच द्विजन्मेभ्यः क्रियाभेदानशेषत् । ४६। = भरतने उन्हें उपासकाध्ययनांगसे इज्या, वार्ता, दत्ति, स्वाध्याय, संयम और तपका उपदेश दिया। २४। (क्रिया और मन्त्रसे रहित केवल नाम मात्रके द्विज न रह जाये) इसलिए इन द्विजोंकी जातिके संस्कारको दृढ करते हुए सम्राट् भरतेश्वरने द्विजोंके लिए नीचे लिखे अनुसार क्रियाओंके समस्त भेद कहे। ४६। (गर्भादानादि समस्त क्रियाएँ—दे० संस्कार/२)।

८. ब्राह्मणमें विद्याध्ययनकी प्रधानता

म. पु/४०/१७४-२१२ का भावार्थ (द्विजोंके जीवनमें दस मुख्य अधिकार हैं। उनको यथाक्रमसे कहा जाता है— १. बालपनेसे ही उनको विद्या अध्ययन करना रूप अतिवाल विद्या अधिकार है; २. अपने कुलाचारकी रक्षा करना रूप कुलावधि अधिकार; ३. समस्त वर्णोंमें श्रेष्ठ होना रूप वर्णोत्तम अधिकार; ४. दान देनेकी योग्यता भी इन्हींमें होती है ऐसी पात्रत्व अधिकार; ५. कुमार्गियोंकी सृष्टिको छोडकर क्षात्रिय रचित धर्म सृष्टिकी प्रभावना करना रूप सृष्ट्यधिकारता अधिकार, ६. प्रायश्चित्तादि कार्योंमें स्वतन्त्रता रूप व्यवहारेशिता अधिकार, ७ किसी अन्यके द्वारा अपनेको गुणोंमें हीन न होने देना तथा लोकमें ब्रह्महत्याको महात् अपराध समझा जाना रूप अवध्याधिकार, ८. गुणाधिकताके कारण किसी अन्यके द्वारा दण्ड नहीं पा सकना रूप अदण्ड्यता अधिकार,

१. सबके द्वारा सम्मान किया जाना रूप मान्यार्हता अधिकार; १० अन्य जनोके सयोगमें आनेपर स्वयं उनसे प्रभावित न होकर उनको अपने रूपमें प्रभावित कर लेना रूप सम्बन्धान्तर अधिकार। इन दश प्रकारके गुणोंका धारक ही वास्तवमें द्विज या ब्राह्मण है।

* ब्राह्मण वर्णकी उत्पत्तिका इतिहास—दे० वर्णव्यवस्था ।

ब्राह्मी—भगवान् शुभ देवकी पुत्री थी, जिसने कुमारी अवस्थामें दीक्षा धारण कर ली थी। (म. पु./१२/४२)।

[म]

भंग—१. सप्त भग निर्देश—दे० सप्तभंगी/१। २ अक्षरके अनेको भंग—दे० अक्षर, ३. द्वि त्रि संयोगी भग निकालना—दे० गणित/II/४/१ ४ अक्ष निकालना—दे० गणित/II/३। ५. भरत क्षेत्र मध्य आर्य खण्डका एक देश—दे० मनुष्य/४।

भंग—१. भंग सामान्यका लक्षण

१. खण्ड, अंश वा भेदके अर्थमें

गो. क./जी प्र/३६५/२१५/२४ अभिन्नसंख्यानां प्रकृतीना परिवर्तनं भङ्गः, संख्याभेदेनैकत्वे प्रकृतिभेदेन वा भंगः। = एक संख्या रूप प्रकृतियोंमें प्रकृतियोंका बदलना सो भंग है अथवा संख्या भेदकर एकत्वमें प्रकृति भेदके द्वारा भंग होता है।

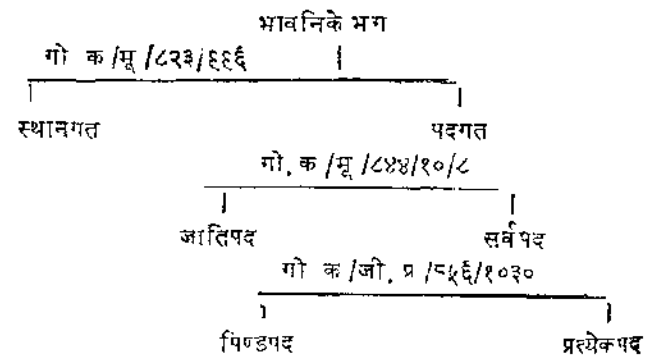
दे० पर्याय/१/१ (अंश, पर्याय, भाग, हार, विधा, प्रकार, भेद, छेद और भंग ये एकार्थ वाचक है।)

२. श्रुतज्ञानके अर्थमें

घ. १३/२.६.४०/२८४/१३ अहिंसा-सत्यास्तेय-शील-गुण-नय-वचन-द्रव्यादिविकल्पा भंगा । ते विधीयन्तेऽनेनेति भंगविधि श्रुतज्ञानम् । अथवा भगो वस्तुविनाश स्थित्युत्पत्त्यविनाभावी, सोऽनेन विधीयते निरूप्यत इति भंगविधि श्रुतम् । = १. अहिंसा, सत्य, अस्तेय, शील, गुण, नय, वचन और द्रव्याधिकके भेद भंग कहलाते हैं। उनका जिसके द्वारा विधान किया जाता है वह भंगविधि अर्थात् श्रुतज्ञान है। २ अथवा, भगका अर्थ स्थिति और उत्पत्तिका अविनाभावी वस्तु विनाश है, जिसके द्वारा विहित अर्थात् निरूपित किया जाता है वह भगविधि अर्थात् श्रुत है।

२. भंगके भेद

गो क/सू/५२०/६६१ ओवादेन संभव भावमूक्तंरं टवेदूण । पत्तेये अविरुद्धे परसगजोमेवि भंगा हु । ५२०। = गुणस्थान और मार्गणा स्थानमें मूल व उत्तर भावोंको स्थापित करके अक्ष संचारका विधान कर भावोंके बदलनेसे प्रत्येक भंग, अविरुद्ध परसंयोगी भंग, और स्वसंयोगी भंग होते हैं।



३. भंगके भेदोंके लक्षण

१. जहाँ जुदे जुदे भाव कहिये तहाँ प्रत्येक भंग जानने। (जैसे औदयिक भाव, उपशमभाव, क्षायिक भाव इत्यादि पृथक्-पृथक्) (गो. क./भाषा/८२०/६६२) २. जहाँ अन्य अन्य भावके संयोग रूप भंग होइ तहाँ पर-संयोग कहिये (जैसे औदयिक औपशमिक द्विसंयोगी या औदयिक क्षायोपशमिक पारिणामिक त्रिसंयोगी सन्निरपातिक भाव) (गो. क./भाषा/८२०/६६२) ३. जहाँ निज भावके भेदनिका संग रूप ही भंग होइ तहाँ स्वसंयोगी कहिये। (जैसे क्षायिक सम्यक्त्व क्षायिक चारित्रवाला द्विसंयोगी क्षायिक भाव) (गो. क./भाषा/८२०/६६२) ४. एक जीव के एकै काल जितने भाव पाइये तिनके समूहका नाम स्थान है, ताकि अपेक्षाकरि जे भंग करिये तिनको स्थानगत कहिये। (गो. क./भाषा/८२३/६६६) ५. एक जीवके एक काल जे भाव पाइये तिनकी एक जातिका वा जुदे जुदेका नाम पद कहिये ताकी अपेक्षा जे भंग करिये तिनको पदगत कहिये। (गो. क./भाषा/८२३/६६६) ६. जहाँ एक जातिका ग्रहण कौजिये जैसे मिश्रभाव (क्षायोपशमिक भाव) विषै ज्ञानके चार भेद होतै भी एक ज्ञान जातिका ग्रहण है। ऐसे जाति ग्रहणकरि जे भंग करिये ते जातिपदगत भंग जानने। (गो. क./भाषा/८४४/१०१८) ७. जे जुदे जुदे सर्व भावनि (जैसे क्षायोपशमिकके ही ज्ञान दर्शनादि भिन्न-भिन्न भावनि) का ग्रहणकरि भंग कौजिये ते सर्वपदगत भंग जानने। (गो. क./भाषा/८४४/१०१८) ८. जो भाव समूह एकै काल एक जीवके एक एक ही सम्भवे, सर्व न सम्भवै जैसे चारों गति विषै एक जीवके एकै काल विषै एक गति ही सम्भवे च्यारो न सम्भवै तिस भाव समूहको पितृपद कहिये। (गो. क./भाषा/८५६/१०३१) ९. जो भाव एक जीवके एक काल विषै युगपत् भी सम्भवै ऐसे भाव तिनिकी प्रत्येक-पद कहिये। (जैसे अज्ञान, दर्शन, लब्धि आदि क्षायोपशमिक भाव)।

भंडार दशमीव्रत—यह व्रत श्वेताम्बर आम्नायमें प्रचलित है। भंडार दशमीव्रत शक्ति जुपाय, दस जिन भवन भंडार चढ़ाय। (व्रत विधान सं./पृ. १३१), (वर्द्ध मान पु.)।

भक्त—गणितकी भागहार विधिमें भाज्य राशिको भागहार द्वारा भक्त किया गया कहते हैं।—दे० गणित/II/१/६।

भक्त प्रत्याख्यान मरण—दे० सल्लेखना/३।

भक्तामर कथा—१ आ. रायमल्ल (ई. १६१०) द्वारा भाषा-में रचित कथा। २. पं. जयचन्द छावडा (ई. १८९३) द्वारा हिन्दी भाषामें रचित कथा।

भक्तामर स्तोत्र—आ. मानतुंग (ई. श. ७ पूर्व) द्वारा रचित आदिनाथ भगवात्तका संस्कृत छन्दबद्ध स्तोत्र। इसे आदिनाथ स्तोत्र भी कहते हैं। इसमें ४८ श्लोक हैं। (ती./२/२७५)।

भक्ति—१. साधुओंकी नित्य नैमित्तिक क्रियाओके प्रयोगमें आने-वाली निम्न दस भक्तियों हैं।—१. सिद्ध भक्ति, २. श्रुतभक्ति; ३. चारित्र भक्ति, ४. योगि भक्ति; ५. आचार्य भक्ति, ६. पंच महागुरु भक्ति, ७. चैतन्य भक्ति; ८. वीर भक्ति, ९. चतुर्विंशति तीर्थकर भक्ति; १०. समाधि भक्ति। इनके अतिरिक्त भी ११. निर्वाण भक्ति, १२. नन्दीश्वर भक्ति, और शान्ति भक्ति आदि ३ भक्तियों हैं। परन्तु मुख्य रूपसे १० ही मानी गयी हैं। इनमें प्रथम ६ भक्तियाँ तथा निर्वाण भक्ति संस्कृत व प्राकृत दोनों भाषामें प्राप्त हैं। शेष सब संस्कृतमें हैं। (१) प्राकृत भक्तिके पाठ आ. कुन्दकुन्द व पञ्चनन्दि (ई. १२७-१७६) कृत हैं। (२) संस्कृत भक्तिके पाठ आ. पूज्यपाद (ई. श. ५), कृत हैं। तथा अन्य भी भक्ति पाठ उपलब्ध हैं। यथा— (३) श्रुतसागर (ई. १४७३-१५३३) द्वारा रचित सिद्धभक्ति।

(क्रिया-कलाप/पृ. १६७)। २. प्राथमिक भूमिकामे अर्हन्त आदिकी भक्ति मोक्षमार्गका प्रधान अंग है। यद्यपि बाहरमें उपास्यको कर्तृ आदि बनाकर भक्ति की जाती है। परन्तु अन्तर ग भावोंके सापेक्ष होनेपर ही यह सार्थक है अन्यथा नहीं। आत्मस्पर्शी सच्ची भक्तिसे तीर्थकरत्व पदकी प्राप्ति तक भी सम्भव है। इसके अतिरिक्त साधुको आहारदान करते हुए नवधा भक्ति और साधुके नित्यके कृतिकर्ममें चतुर्विंशतिस्त्व आदि भी भक्ति ही है।

१. भक्ति सामान्य निर्देश

१. भक्ति सामान्यका लक्षण—१. निश्चय

नि. सा./ता. वृ./१३४ निजपरमात्मतत्त्वसम्यक्श्रद्धानावबोधोच्चारणात्म-केषु शुद्धरत्नत्रयपरिणामेषु भजनं भक्तिराराधनेत्यर्थः। एकादशपदेषु श्रावकेषु सर्वे शुद्धरत्नत्रयभक्ति कुर्वन्ति। = निज परमात्म तत्त्वके सम्यक् श्रद्धान-अवबोध-आचरणस्वरूप शुद्ध रत्नत्रय-परिणामोक्त जो भजन वह भक्ति है, आराधना ऐसा उसका अर्थ है। एकादशपदी श्रावकोंमें सब शुद्ध रत्नत्रयकी भक्ति करते हैं।

स. सा./ता. वृ./१७३-१७६/२४३/११ भक्तिः पुनः निश्चयेन वीतराग-सम्यग्दृष्टीनां शुद्धात्मतत्त्वभावनारूपा चेति। = निश्चय नयसे वीतराग सम्यग्दृष्टियोंके शुद्ध आत्म तत्त्वकी भावनारूप भक्ति होती है।

२. व्यवहार

नि. सा./सू./१३५ मोक्षं गयपुरिसाणं गुणभेद जाणिऊण तेसिपि। जो कुण्दि परम भक्ति व्यवहारणयेण परिकरियं। १३५। = जो जीव मोक्ष-गत पुण्योका गुणभेद जानकर उनकी भी परम भक्ति करता है, उस जीवको व्यवहार नयसे भक्ति कही गयी है।

स. सि./६/२४/३३६/४ भावविशुद्धियुक्तोऽनुरागो भक्तिः। = भावोंकी विशुद्धिके साथ अनुराग रखना भक्ति है।

भ. आ./वि./४७/१५६/२० का भक्तीः। अर्हदादिगुणानुरागो भक्तिः। = अर्हदादि गुणोंमें प्रेम करना भक्ति है। (भा. पा./टी./७७/२२१/१०)।

स. सा./ता. वृ./१७३-१७६/२४३/११ भक्तिः पुनः सम्यक्त्व भण्यते व्यव-हारेण सरागसम्यग्दृष्टीनां पंचपरमेष्ठ्याराधनारूपा। = व्यवहारसे सराग सम्यग्दृष्टियोंके पंचपरमेष्ठियोंकी आराधनारूप सम्यक् भक्ति होती है।

पं. ध./उ/४७० तत्र भक्तिरनीदृश्यं वाग्वपुश्चेतसां शमात्। = उन दोनोंमें दर्शनमोहनीयका उपशम होनेसे बचन काय और मन सम्बन्धी उद्धतपनेके अभावको भक्ति कहते हैं।

२. निश्चय भक्ति ही वास्तविक भक्ति है

स. सा./सू./३० णयरम्मि वणिणवे जह ण वि रण्णो वण्णणा कदा होदि। देहगुणे थुज्जंते ण केवल्लिगुणा थुदा होति। ३०। = जैसे नगरका वर्णन करनेपर भी राजाका वर्णन नहीं किया जाता इसी प्रकार शरीरके गुणका स्तवन करनेपर केवलीके गुणोंका स्तवन नहीं होता है। ३०।

३. सच्ची भक्ति सम्यग्दृष्टिको ही होती है

ध. ८/३४१/८६/५ ण च एसा (अरं हत भक्ती) वंसणविमुज्जमदादीहि विणा संभवइ, विरोहादो। = यह (अर्हन्त भक्ति) दर्शन विशुद्धि आदिके बिना सम्भव नहीं है, क्योंकि ऐसा होनेमें विरोध है।

मो. मा. प्र./७/३२७/८ यथार्थपनेकी अपेक्षा ती ह्यानी के साची भक्ति है—अज्ञानीके नाही है।

प. प्र./पं. दौलत/२/१४३/२५६ बाह्य लौकिक भक्ति इससे संसारके प्रयो-जनके लिए हुई, वह गिनतीमें नहीं। ऊपरकी सब बातें निःसाग (थोथी) है, भाव ही कारण होते हैं, सो भाव-भक्ति मिथ्यादृष्टिके नहीं होती (सम्यग्दृष्टिके ही होती है)।

कारण गरम लोहेकी स्त्रिग्रसे आलिंगन करानेसे तो महा दुःख होता है, किन्तु इस लोकमे भी अत्यन्त असह्य दुःख व अनेक अनर्थ उत्पन्न होते है । २१२-२१३।

४. ब्रह्मचर्य व्रत व ब्रह्मचर्य प्रतिमामें अन्तर

सा. ध./७/१६ प्रथमाश्रमिणः प्रोक्ता, ये पञ्चोपनयादयः । तेषुधीत्य शास्त्रं स्वीकुर्युर्दारानन्यत्र नैष्ठिकस्य । १६। = जो प्रथम आश्रमवाले (ब्रह्मचर्याश्रमी) मौजी बन्धन पूर्वक व्रत ग्रहण करनेवाले उपनय आदिक पाँच प्रकारके ब्रह्मचारी (दे० ब्रह्मचारी) कहे गये है वे सब नैष्ठिकके बिना शेष सब शास्त्रोको पढ़कर स्त्रीको स्वीकार करते है । १६।

दे० ब्रह्मचर्य/१/३-४ (द्वितीय प्रतिमामें ग्रहण किये एक ब्रह्मचर्य अणुव्रतमें तो अपनी धर्मपत्नीका भोग करता था । परन्तु इस ब्रह्मचर्य प्रतिमाको स्वीकार करनेपर नव प्रकारसे तीनोंकाल सम्बन्धी समस्त स्त्री-मात्रके सेवनका त्याग कर देता है) ।

ब्रह्मचर्य तप ऋद्धि—घोर व अघोर गुण ब्रह्मचर्य तप ऋद्धि—दे० ऋद्धि/१।

ब्रह्मचारी—

दे० ब्रह्मचर्य/१/१ मे प वि. (जो ब्रह्ममे आचरण करता है, और इन्द्रिय विजयी होकर वृद्धा आदिको माता, बहन व पुत्रीके समान समझता है वह ब्रह्मचारी होता है) ।

१. ब्रह्मचारीके भेद

चा. सा./४२/१ तत्र ब्रह्मचारिणः पञ्चविधा—उपनयावलभादीक्षाभूढ-नैष्ठिकभेदेन । = ब्रह्मचारी पाँच प्रकारके होते है—उपनय, अवलंब, अदीक्षा, गूढ और नैष्ठिक । (सा. ध./७/१६) ।

३. ब्रह्मचारी विशेषके लक्षण

ध ६/४.१.१०/६४/२ ब्रह्म चारित्रं पञ्चव्रत-समिति त्रिगुप्यस्यात्मकम्, शान्तिपुष्टिहेतुत्वात् । अघोरा शान्तगुणा यस्मिन् तदघोरगुणं, अघोरगुणं ब्रह्म चरन्तीति अघोरगुणब्रह्मचारिणः । तेसि तत्रोमहाभ्येण डमरादि-मारि-दुःखिभक्त... रोहादिपसमणसत्ती समुप्यण्या ते अघोरगुणमहचारिणो ति उत्तहोदि । = १ ब्रह्मका अर्थ पाँच व्रत, पाँच समिति और तीन गुप्ति स्वरूप चारित्र है, क्योंकि वह शान्तिके पोषणका हेतु है । अघोर अर्थात् शान्त है गुण जिसमें वह अघोर गुण है, अघोर गुण ब्रह्मका आचरण करनेवाले अघोरगुण ब्रह्मचारी कहलाते है । जिनके तपके प्रभावसे डमरादि, रोग, ... रीष आदिको नष्ट करनेकी शक्ति उत्पन्न हुई है वे अघोरगुण ब्रह्मचारी हैं ।

चा. सा./४२/१ तत्रोपनयब्रह्मचारिणो गणधरसूत्रधारिणः समभ्यस्तागमा गृहधर्मानुष्ठायिनो भवन्ति । अवलम्बब्रह्मचारिण क्षुल्लकरूपेणागममभ्यस्य परिगृहोतगृहवासा भवन्ति । अदीक्षाब्रह्मचारिण वेषमन्तरेणाभ्यस्तागमा गृहधर्मनिरता भवन्ति । गूढब्रह्मचारिणः कुमारश्रमणा सन्तः स्वीकृतागमाभ्यासा बन्धुभिर्दुःसहपरीषहैरात्मना नृपतिभिर्वा निरस्तपरमेश्वररूपा गृहवासरता भवन्ति । नैष्ठिकब्रह्मचारिण समाधिगतशिखलक्षितशिरोलिङ्गाः गणधरसूत्रोपलक्षितोरोलिपा, शुक्लरक्तवसनखण्डकौपीनलक्षितकटीलिङ्गा स्नातका भिक्षावतयो देवताार्चनपरा भवन्ति । = २, जो गणधर सूत्रको धारण कर अर्थात् यज्ञोपवीतको धारणकर उपसकाध्ययन आदि शास्त्रोका अभ्यास करते है और फिर गृहस्थधर्म स्वीकार करते है उन्हें उपनय ब्रह्मचारी कहते है । ३ जो क्षुल्लकका रूप धर शास्त्रोका अभ्यास करते है और फिर गृहस्थ धर्म स्वीकार करते है उन्हें अवलम्ब ब्रह्मचारी कहते है । ४, जो बिना ही ब्रह्मचारीका वेष धारण किये शास्त्रोका अभ्यास करते है, और फिर गृहस्थधर्म स्वीकार करते है

उन्हे अदीक्षा ब्रह्मचारी कहते है । ५, जो कुमार अवस्थामें ही मुनि होकर शास्त्रोका अभ्यास करते है । तथा पिता, भाई आदि कुटुम्बियोके आश्रयसे अथवा घोर परिषहोके सहन न करनेसे किंवा राजाकी विशेष आज्ञासे अथवा अपनेआप ही जो परमेश्वर भगवान् अरहंत देवकी दिग्म्बर दीक्षा छोडकर गृहस्थ धर्म स्वीकार करते है उन्हे गूढ ब्रह्मचारी कहते है । ६, समाधि मरण करते समय शिखा (चोटी) धारण करनेसे जिसके मस्तकका चिह्न प्रगट हो रहा है । यज्ञोपवीत धारण करनेसेसे जिसका उरोलिंग (वक्षस्थल चिह्न) प्रगट हो रहा है । सफेद अथवा लालरंगके वस्त्रके टुकडेकी लंगोटी धारण करनेसे जिसकी कमरका चिह्न प्रगट हो रहा है, जो सदा भिक्षा वृत्तिसे निर्वाह करता है । जो स्नातक वा व्रती है, जो सदा जिन पूजादिमें तत्पर रहते है । उन्हे नैष्ठिक ब्रह्मचारी कहते है ।

४. ब्रह्मचारीका वेष

दे० संस्कार/२/३ में व्रतचर्या क्रिया (जिसने मस्तकपर शिखा धारण की है, श्वेत वस्त्रकी कौपीन पहनी है, जिसके शरीरपर एक वस्त्र है, जो भेष और विकारसे रहित है, जिसने व्रतोका चिह्न स्वरूप यज्ञोपवीत धारण किया है, उसको ब्रह्मचारी कहते है) ।

★ पाँचों ब्रह्मचारियोंको स्त्रीके ग्रहण सम्बन्धी -दे० उत्तर

ब्रह्मव्रत—१२ वॉ चक्रवर्ती था ।—विशेष दे० शलाका पुरुष ।

ब्रह्मदेव—बाल ब्रह्मचारी होने के कारण ही आपका यह नाम पड़ गया । कृतिमें—द्रव्यसंग्रह टीका, परमात्म प्रकाश टीका, तत्त्व दीपक, ज्ञान दीपक, त्रिकर्णाचार दीपक, प्रतिष्ठा तिलक, विवाह पटल, कथाकोष । समय—इनकी भाषा क्योंकि जयसेन आचार्य के साथ शब्दशः मिलती है इसलिये डा. एन. उपाध्ये जयसेनाचार्य (वि. श. १२-१३) के परवर्ती मानकर इन्हे वि. श. १३-१४ मे स्थापित करते है । परन्तु डा. नेमिचन्द्र के अनुसार जयसेन तथा पं. आशाधर ने ही इनका अनुसरण किया है, इन्होंने उनका नहीं । जयसेनाचार्य ने पञ्चास्तिकाय की टीका में द्रव्यसंग्रह की टीका का नामोल्लेख किया है । अतः इनका समय उनसे पूर्व अर्थात् वि. श. ११-१२ सिद्ध होसा है । (ती ३/३११-३१३) ।

(जे १२/२०३, ३६३) ।

ब्रह्मराक्षस—राक्षस जातीय व्यन्तर देवोंका भेद—दे० राक्षस

ब्रह्मवाद—दे० अद्वैतवाद ।

ब्रह्मविद्या—आ मल्लिषेण (ई. ११२८) द्वारा रचित संस्कृत छन्द-बद्ध अध्यात्मिक ग्रन्थ ।

ब्रह्मसेन—लाड भागड संघकी गुर्वावलीके अनुसार आप जयसेनके शिष्य तथा वीरसेनके गुरु थे । समय—वि. १०८० (ई. १०१३) (सि सा. स की प्रशस्ति/१२/५८-६६) (जयसेनाचार्यकृतधर्म-रत्नाकर ग्रन्थकी प्रशस्ति । (सि सा. स/प्र/५/Α N. Up.) —दे० इतिहास/७/१० ।

ब्रह्महृद्—लान्तव स्वर्गका प्रथम पटल व इन्द्रक—दे० स्वर्ग/५/३ ।

ब्रह्माद्वैत—दे वेदान्त । २. अद्वैत ।

ब्रह्मेश्वर—शीतलनाथ भगवात्का शासक यक्ष—दे० तीर्थकर/५/३ ।

ब्रह्मोत्तर—१. ब्रह्म स्वर्गका चौथा पटल व इन्द्रक—दे० स्वर्ग/५/३ ;

२. कल्पवासी स्वर्गका छठा कल्प—दे० स्वर्ग/५/२

ब्रह्मोत्तर—१. कल्पवासी देवोंका एक भेद—दे० स्वर्ग/३ । २. कल्पवासी देवोंका अवस्थान—दे० स्वर्ग/५/३ ।

ब्राह्मण—जेन आम्नायमें अणुवतधारी त्रिविक्रवान् श्रावक ही सुसं-
स्कृत होनेके कारण द्विज या ब्राह्मण स्वीकार किया गया है, केवल
जन्मसे सिद्ध अविवेकी व अनाचारी व्यक्ति नहीं।

१. ब्राह्मण व द्विजका कक्षण

म. पु./३८/४३-४८ तपश्श्रुतं च जातिश्च त्रयं ब्राह्मण्यकारणम् । तप-
श्रुताभ्या यो हीनो जातिब्राह्मण एव स ।४३। ब्राह्मणा व्रतसंस्का-
राद् ।४६। तपश्श्रुताभ्यामेवातो जातिसंस्कार इष्यते । असंस्कृ-
तस्तु यस्ताभ्यां जातिमात्रेण स द्विज ।४७। द्विजातो हि द्विजन्मैश्च
क्रियातो गर्भतश्च य । क्रियामन्त्रविहो नस्तु केवल नामधारकः ।४८।
= १ तप, शास्त्रज्ञान और जाति ये तीन ब्राह्मण होनेके कारण हैं।
जो मनुष्य तप और शास्त्रज्ञानसे रहित है वह केवल जातिसे ही
ब्राह्मण है ।४३। अथवा व्रतोंके संस्कारसे ब्राह्मण होता है ।४६। २. द्विज
जातिका संस्कार तपश्चरण और शास्त्राभ्याससे ही माना जाता है,
परन्तु तपश्चरण और शास्त्राभ्याससे जिसका संस्कार नहीं हुआ है
वह जातिमात्रसे द्विज कहलाता है ।४७। जो एक बार गर्भसे और
दूसरी बार क्रियासे इस प्रकार दो बार उत्पन्न हुआ हो उसको दो
बार जन्मा अर्थात् द्विज् कहते हैं (म पु./३६/६३) । परन्तु जो
क्रियासे और मन्त्र दोनोसे रहित है वह केवल नामको धारण करने
वाला द्विज है ।४८।

२. ब्राह्मणके भनेकों नामोंमें रत्नत्रयका स्थान

म पु./३६/१०८-१११ का भावार्थ—जन्म दो प्रकारका होता है—एक
गर्भसे दूसरा संस्कार या क्रियाओसे । गर्भसे उत्पन्न होकर दूसरी बार
संस्कारसे जन्म धारे सो द्विज है । केवल जन्मसे ब्राह्मण कुलमें उत्पन्न
होकर द्विजपना जतलाना मिथ्या अभिमान है । जो ब्रह्मासे उत्पन्न हो
सो ब्राह्मण है । जो बिना योनिके उत्पन्न हो सो देव है । जितेन्द्रदेव,
स्वयभू, भगवान्, परमेष्ठी ब्रह्मा कहलाते हैं । उस परमदेव सम्बन्धी
रत्नत्रयकी शक्ति रूप संस्कारसे जन्म धारनेवाला ही अयोनिज,
वेदब्राह्मण या देवद्विज हो सकता है । स्वयभूके मुखसे मृनकर संस्कार
रूप जन्म होता है, इसीसे द्विज स्वयभूके मुखसे उत्पन्न हुआ कहा
जाता है । व्रतोंके चिह्न रूपसे सूत्र ग्रहण करे सो ब्राह्मण है केवल डोरा
लटकानेसे नहीं । जितेन्द्रका अहिंसामयी सम्यक्धर्म न स्वीकार
करके वेदोंमें कहे गये हिसामयी धर्मको स्वीकार करे वह ब्राह्मण नहीं
हो सकता ।

३. ब्राह्मणत्वमें गुण कर्म प्रधान है जन्म नहीं

द्र सं./टी/३५/१०६ पर उद्धृत—जन्मना जायते शूद्र क्रियया द्विज
उच्यते । श्रुतेन श्रोत्रियो ज्ञेयो ब्रह्मचर्येण ब्राह्मण ।१। =जन्मसे शूद्र
होता है, क्रियासे द्विज कहलाता है, श्रुत शस्त्रमें श्रोत्रिय और
ब्रह्मचर्यसे ब्राह्मण जानना चाहिए ।

दे ब्राह्मण/१ तप शास्त्रज्ञान और जाति तीनसे ब्राह्मण होता है । अथवा
व्रतसंस्कारसे ब्राह्मण है ।

म. पु./३८/४२ विशुद्धा वृत्तिरेवैषां षट्पयोष्ठा द्विजन्मनाम् । योऽतिक्रा-
मेदिमा सोऽज्ञो नाम्नेव न गुणैर्द्विज ।४२। =यह ऊपर कही हुई छह
प्रकारकी विशुद्धि (पूजा, विशुद्धि पूर्वक खेती आदि करना रूप
वार्ता, दान, स्वाध्याय, सयम और तप) वृत्ति इन द्विजोंके करने
योग्य है । जो इनका उल्लंघन करता है, वह मूर्ख नाममात्रसे ही द्विज
है, गुणसे द्विज नहीं है ।४२।

धर्म परीक्षा/१७/२४-२४ सदाचार कदाचारके कारण ही जाति भेद होता
है, केवल ब्राह्मणोंकी जाति मात्र ही श्रेष्ठ है ऐसा नियम नहीं है ।

वास्तवमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र यह चारो ही एक मनुष्य
जाति है । परन्तु आचार मात्रसे इनके चार विभाग किये जाते
हैं ।२५। कोई कहे है कि, ब्राह्मण जातिमें क्षत्रिय कदापि नहीं हो
सकता क्योंकि चावलोंकी जातिमें कोदों कदापि उत्पन्न हुए नहीं
देखे ।२६। प्रश्न—तुम पवित्राचारके धारकको ही ब्राह्मण कहते हो
शूद्र शीलकी धारी ब्राह्मणीसे उत्पन्न हुएको ब्राह्मण क्यों नहीं कहते ?
उत्तर—ब्राह्मण और ब्राह्मणोंका सदाकाल शुद्ध शीलादि पवित्राचार
नहीं रह सकता, क्योंकि बहुत काल धीत जानेपर शूद्र शीलादि
सदाचार छूट जाते हैं, और जाति च्युत होते देखे जाते हैं ।२७-२८।
इस कारण जिस जातिमें सयम-नियम-शील-तप-दान-जितेन्द्रियता
और दयादि वास्तवमें विद्यमान हों उसको ही सत्पुरुषाने पूजनीय
जाति कहा है ।२९। शील संयमादिके धारक नीच जाति होनेपर भी
स्वर्गमें गये हैं । और जिन्होंने शील संयमादि छोड़ दिये ऐसे कुलीन
भी नरकमें गये हैं ।३१।

४. जैन श्रावक ही वास्तविक ब्राह्मण है

म पु./३६/१४२ विशुद्धवृत्तयस्तस्माज्जैनो वर्णोत्तमा द्विजाः । वर्णान्त-
पातिनो नैते जगन्मान्या इति स्थितम् ।१४२।

म पु./४२/१८५-१८६ सोऽस्त्यमोषां च यद्वेदशास्त्रार्थमधमद्विजाः ।
तादृश बहुमन्यन्ते जातिवादावलेपतः ।१८५। प्रजासामान्यतै वैषा
मता वा स्यान्निष्कृष्टता । ततो न मान्यतास्येषां द्विजा मान्याः
स्युरार्हता ।१८६। =इससे यह बात निश्चित हो चुकी कि विशुद्ध
वृत्तिको धारण करनेवाले जैन लोग ही सब वर्णोंमें उत्तम हैं । वे ही
द्विज हैं । ये ब्राह्मण आदि वर्णोंके अन्तर्गत न होकर वर्णोत्तम हैं
और जगत्पूज्य हैं ।१४२। चूँकि यह सब (अहंकार आदि) आचरण
इनमें (नाममात्रके अक्षरम्लेच्छ ब्राह्मणोंमें) है और जातिके
अभिमानसे ये नीच द्विज हिंसा आदिको प्ररूपित करनेवाले वेद
शास्त्रके अर्थको बहुत कुछ मानते हैं । इसलिए इन्हें सामान्य प्रजाके
समान ही मानना चाहिए अथवा उससे भी निकृष्ट मानना चाहिए ।
इन सब कारणोंसे इनकी कुछ भी मान्यता नहीं रह जाती है, जो
द्विज अरहन्त भगवान्के भक्त हैं वही मान्य गिने जाते हैं ।१८५-१८६।

५. वर्तमानका ब्राह्मण वर्ण मर्यादासे च्युत हो गया है

म. पु./४२/४६-५१, ५४ आयुष्मत् भवता सृष्टा य एते गृहमेधिनः । ते
तावदुचिताचारा यावत्कृतयुगस्थिति ।४६। ततः कलयुगेऽभ्यर्णे जाति-
वादावलेपतः । भ्रष्टाचाराः प्रवस्यन्ते सन्मार्गप्रयत्नीकताम् ।४७। तेऽपि
जातिमदाविष्टा वयं लोकाधिका इति । पुरागमैर्लोकं मोहयन्ति
धनाशया ।४८। सत्कारलाभसंबुद्धगर्वा मिथ्याभदोद्धता । जनात्
प्रकारयिष्यन्ति स्वयमुत्पाद्य दु श्रुतीः ।४९। त इमे कालपर्यन्ते विक्रिया
प्राप्य बुद्धंश । धर्मद्रुहो भविष्यन्ति पापेपहतचेतना ।५०। सत्त्वो-
पशान्तिरता मधुमासाशनप्रियाः । प्रवृत्तिलक्षणं धर्मं दोषयिष्यन्त्य-
धामिका ।५१। इति कालान्तरे दोषबीजमप्येतदञ्जसा । नाधुना
परिहर्तव्य धर्ममृष्टबनातिक्रमात् ।५२। =सृषभ भगवान् भरतके
प्रश्नके उत्तरमें कहते हैं कि—हे आयुष्मत् । तूने जो गृहस्थोंकी
रचना की है, सो जब तक कृतयुग अर्थात् चतुर्थकालकी स्थिति
रहेगी, तब तक तो ये उचित आचार-विचारका पालन करते रहेंगे ।
परन्तु जब कलयुग निकट आ जायेगा, तब ये जातिवादके अभिमान-
से सदाचारसे भ्रष्ट होकर मोक्षमार्गके विरोधी बन जायेंगे ।४६। पंचम
कालमें ये लोग, हम सब लोगोमें बड़े हैं, इस प्रकार जातिके मद्दे
युक्त होकर केवल धनकी आशासे खोटे-खोटे शास्त्रोंको रचकर
लोगोंको मोहित करेंगे ।४७। संस्कारके लाभसे जिनका गर्व बढ़
रहा है और जो मिथ्या मद्दे उद्धृत हो रहे हैं ऐसे ये ब्राह्मण लोग
स्वयं शास्त्रोंको बनाकर लोगोको ठगा करेंगे ।४८। जिनकी चेतना
पापसे दूषित हो रही है ऐसे ये मिथ्यादृष्टि लोग इतने समय तक

गो. क./मू./७३/८८ सयला सवित्थर ससंखेव वण्णणसत्थं थय
होइ निम्मयेण ८८१=सकल अग सम्बन्धी अर्थको विस्तारसे वा
संक्षेपसे विषय करनेवाले शास्त्रको स्तव कहते हैं।

४. स्तुति आगमोपसंहारके अर्थमें

ध. १/४.१.६६/२६३/३ बारसंगेसु एक्कगोवसंधारो थुदी णाम । तम्मिह जो
उवजोगो सो विधुदि त्ति वेत्तव्वो।=बारह अंगोमेसे एक अगके
उपसंहारका नाम स्तुति है। उसमें जो उपयोग है, वह भी स्तुति है
ऐसा ग्रहण करना चाहिए।

ध १/४.१.६६/२६/६ एगंगविसओ एयपुव्वविसआ वा उवजोगो थुदी
णाम ।=एक अग या एक पूर्वको विषय करनेवाला उपयोग (या शास्त्र
गो. क.) स्तुति कहलाता है। (गो. क./मू./८८)।

★ प्रशंसा व स्तुतिमें अन्तर—दे० अन्यदृष्टि।

२. चतुर्विंशतिस्तवका लक्षण

मू. आ/२४ उसहादिजिणवरारणं णामणिरुत्ति गुणाणुकित्ति च । काऊण
अच्चिदूण य तिसुहपणमो थओ णेओ १२४=ऋषभ अजित आदि
चौबीस तीर्थंकरोंके नामकी निरुक्तिके अनुसार अर्थ करना, उनके
असाधारण गुणोंको प्रगट करना, उनके चरणोंको पूजकर मन वचन-
कायकी शुद्धतासे स्तुति करना उसे चतुर्विंशतिस्तव कहते हैं।
(अन. ध./८/३७)।

रा वा १/६/२३/११/५३०/१२ चतुर्विंशतिस्तव तीर्थंकरगुणानुकीर्तनम् ।
=तीर्थंकरोंके गुणोंका कीर्तन चतुर्विंशतिस्तव है। (चा. सा./५६/१),
(भा. पा./टी/७७/२२१/१३)।

भ. आ/वि./११६/२०४/२७ चतुर्विंशतिस्तरुणानां तीर्थकृतामत्र भारते
प्रवृत्ताना वृषभादीना जिनवरत्वादिगुणज्ञानश्रद्धानपुरस्सरा चतुर्विं-
शतिस्तवपठनक्रिया नोआगमभावचतुर्विंशतिस्तव इह गृह्यते ।
=इस भरतक्षेत्रमें वर्तमानकालमें वृषभनाथसे महावीर तक चौबीस
तीर्थंकर हो गये हैं। उनमें अर्हन्तपना वगैरह अनन्तगुण हैं, उनको
जानकर तथा उसपर श्रद्धान रखते हुए उनकी स्तुति पठना यह
नोआगमभाव चतुर्विंशतिस्तव है।

३. स्तवके भेद

मू. आ/१२८ णामटठवणा दब्बे खेत्ते काले य होदि भावे ग । एसो
थवम्मिह णेओ णिबखेयो छ्विहो होइ १५५=नाम, स्थापना, द्रव्य,
क्षेत्र, काल, और भाव स्तवके भेदसे चौबीस तीर्थंकरोंके स्तवनके ब्रह्म
भेद है। (अन. ध./८/३८)।

४. स्तवके भेदोंके लक्षण

भ. आ/वि./५०६/७२८/११ मनसा चतुर्विंशति तीर्थकृता गुणानु-
स्मरण 'लोगस्सुज्जोययरे' इत्येवमादीना गुणानां वचन लनाटविन्य-
स्तकरमुकुलता जिनेभ्य कायेन ।=मनसे चौबीस तीर्थंकरोंके गुणों-
का स्मरण करना, वचनमें लोयस्सुज्जोययरे' इत्यादि श्लोकोंमें कही
हुई तीर्थंकर स्तुति बोलना, ललाटपर हाथ जोडकर जिनेन्द्र भगवाच्-
को नमस्कार करना ऐमे चतुर्विंशतिस्तुतिके तीन भेद होते हैं।

क पा. १/१.१/६५/११०/१ गुणाणुसरणदुवारेण चउवीसण्ह पि तित्थ-
यरारणं णामटठसहस्रगहण णामत्थओ । कट्टिमाकट्टिमज्जिणपडिमाण
सम्भावासम्भावटठवणाए टठविदाण बुद्धीए तित्थयरेहि एयत्त गय्याण
तित्थयरारणत्तासेसगुणभरियाणं कित्तणं वा टठवणाथवो णाम ।
चउवीसण्ह पि तित्थयरसरोराण असेसवेयणुमुक्काण चउसट्ठि
लक्खगावुणगाण सुहसठाणसंघडगाण सुवण्णदडसुरहिचामरविरा-
इयाण सुहवण्णाण सरुवाणुसरणपुरस्सर तक्कित्तणं दब्बत्थओ णाम ।
तेसि जिगाणमणत्ताण-दंसण-विरियसुहसम्मत्तववाह-विराय-
भावादि गुणाणुसरणपरुवणाओ भावत्थओ णाम ।=चौबीस तीर्थं-

करोके गुणोंके अनुसरण द्वारा उनके एक हजार आठ नामोंका ग्रहण
करना नामस्तव है। जो सद्भाव असद्भावरूप स्थापनामें बुद्धिके द्वारा
तीर्थंकरोंसे एकत्वको प्राप्त है, अतएव तीर्थंकरोंके समस्त गुणोंको
धारण करती हैं, ऐसी जिन प्रतिमाओंके स्वरूपका अनुसरण
(कीर्तन) करना स्थापनास्तव है। जो अशेष वेदनाओंसे रहित है
स्वस्तिकादि चौसठ लक्षण चिह्नोंसे व्याप्त है, शुभ सस्थान व शुभ
सहनन है सुवर्णदण्डसे युक्त चौसठ सुरभि चामरोसे सुशोभित हैं,
तथा जिनका वर्ण शुभ है, ऐसे चौबीस तीर्थंकरोंके शरीरोंके स्वरूपका
अनुसरण करते हुए उनका कीर्तन करना द्रव्यस्तव है (क्षेत्र व काल-
स्तव दे० अगला प्रमाण अन. ध.) उन चौबीस जिनोंके अनन्तज्ञान,
दर्शन, वीर्य, और अनन्त सुख, क्षायिक सम्यक्त्व, अद्यावाध, और
विरागता आदि गुणोंके अनुसरण करनेकी प्ररूपणा करना भावस्तव
है। (अन. ध./८/३६-४४)।

अन. ध./८/४२-४३ क्षेत्रस्तवोऽर्हता स स्यात्तत्त्वर्गावितरादिभिः ।
पूतस्य पूर्वनावादेर्यत्प्रदेशस्य वर्णनम् ।४२। कालस्तवस्तीर्थकृता स
ज्ञेयो यदनेहसः । तद्गर्भावितराद्युद्घक्रियादृष्टस्य कीर्तनम् ।४३।
=तीर्थंकरोंके गर्भ, जन्म आदि कल्याणकोके द्वारा पवित्र हुए नगर
वन पर्वत आदिके वर्णन करनेको क्षेत्रस्तव कहते हैं। जैसे—अयो-
ध्यातगरी, सिद्धार्थवन, व कौलास पर्वत आदि ।४२। भगवानुके गर्भ,
जन्म, तप, ज्ञान और निर्वाण कल्याणकोकी प्रशस्त क्रियाओंसे जो
महत्ताको प्राप्त हो चुका है ऐसे समयका वर्णन करनेको कालस्तव
कहते हैं ।४३।

५. चतुर्विंशतिस्तव विधि

मू. आ/५३६.५७३ लोणुज्जोराधम्मतित्थयरे जिणवणे य अरहंते । कित्तण
केवलमेव य उत्तमबोहि मम दिसंतु १५३६। अउरं गुलं तरपादो पडिले-
हिय अजलीकयपसत्थो । अब्बव्वारिवतो वुत्तो कुणदि य चउवीस-
थोत्तय भिवखू १५७३।=जगत्का प्रकाश करनेवाले उत्तम क्षमादिधर्म
तीर्थंके करनेवाले सर्वज्ञ प्रशंसा करने योग्य प्रत्यक्षज्ञानी जिनेन्द्र देव
उत्तम अर्हन्त मुझे बोधि दे १५३६। जिसने पैरोका अन्तर चार
अंगुल किया है, शरीर भूमि चित्तको जिसने शुद्ध कर लिया हो,
अजलिको करनेसे सौम्य भाववाला हो, सब व्यापारोंसे रहित हो,
ऐसा सयमी मुनि चौबीस तीर्थंकरोंकी स्तुति करे १५७३।

६. चतुर्विंशतिस्तव प्रकरणमें कायोत्सर्गके कालका प्रमाण

मू. आ/६६१ उइदेसे णिइदेसे मज्झार वदणे य परिधाणे । सत्तावीसु-
स्सासा काओसग्गमिह कादव्वा १६६१।=प्र-थादिके आरम्भमें, पूर्णता-
कालमें, स्वाध्यायमें, वन्दनामें, अशुभ परिणाम होनेने जो कायोत्सर्ग
उसमें सत्ताईस उच्छ्वास करने योग्य है ।६६१। नोट—वास्तवमें
इस क्रियाका कोई विशेष विधान नहीं है। प्रत्येक क्रियामें पढ़ी जाने
वाली भक्तिके पूर्वमें नियमसे चतुर्विंशति स्तुति पढ़ी जाती है। अत
प्रतिक्रमण, वन्दनादि क्रियाओंमें इसका अन्तर्भाव हो जाता है।

भक्ष्याभक्ष्य—मोक्षमार्गमें यद्यपि अन्तरग परिणाम प्रधान है, परन्तु
उनका निमित्त होनेके कारण भोजनमें भक्ष्याभक्ष्यका विवेक रखना
अत्यन्त आवश्यक है। मद्य, मांस, मधु व नवनीत तो हिंसा, मद व
प्रमाद उत्पादक होनेके कारण महाविकृतियों हैं ही, परन्तु पंच
उदुम्बर फल, कन्दमूल, पत्र व पुष्प जातिकी वनस्पतियों भी क्षुद्र त्रस
जावोंकी हिंसाके स्थान अथवा अनन्तकायिक होनेके कारण अभक्ष्य
हैं। इनके अतिरिक्त बासी, रस चणित, स्वास्थ्य बाधक, अमर्यादित,
सदिग्ध व अशोषित सभी प्रकारकी खाद्य वस्तुएँ अभक्ष्य हैं। दाली
के साथ दूध व दहीका संयोग होनेपर बिदल सजावाला अभक्ष्य हो
जाता है। विवेकी जनोंको इन सबका त्याग करके शुद्ध अन्न जल
आदिवा ही ग्रहण करना योग्य है।

१	भक्ष्याभक्ष्य सम्बन्धी सामान्य विचार
१	बहु पदार्थ मिश्रित द्रव्य एक समझा जाता है ।
२	रुग्णावस्थामें अभक्ष्य भक्षणका निषेध ।
३	द्रव्य क्षेत्रादि तथा स्वास्थ्य स्थितिका विचार ।
४	अभक्ष्य वस्तुओंको आहारसे पृथक् करके वह आहार ग्रहणकी आज्ञा ।
५	नीच कुलीनोंके हाथका तथा अयोग्य क्षेत्रमें रखे अन्न-पानका निषेध ।
*	छूआछूत व नीच ऊँच कुलीन विचार ।—दे० भिक्षा ।
*	सूतक पातक विचार । —दे० सूतक ।
६	अभक्ष्य पदार्थोंके खाये जानेपर तद्योग्य प्रायश्चित्त ।
७	पदार्थोंकी नर्यादाएँ ।
*	पदार्थोंको प्राप्तक करनेकी विधि । —दे० सचित्त ।
*	जल शुद्धि । —दे० जल ।
२	अभक्ष्य पदार्थ विचार
१	बाईस अभक्ष्योंके नाम निर्देश
२	मद्य, मांस, मधु व नवनीत अभक्ष्य है ।
*	चर्म निक्षिप्त वस्तुके त्यागमें हेतु । —दे० मास ।
*	भोजनसे हड्डी चमड़े आदिका स्पर्श होनेपर अन्तराय हो जाता है । —दे० अन्तराय ।
*	मद्य, मांस-मधु व नवनीतके अतिचार व निषेध । —दे० वह वह नाम ।
३	चलित पदार्थ अभक्ष्य है ।
*	दुष्पक्व आहार । —दे० भोगोपभोग/४ ।
४	ब्रासी व अमर्यादित भोजन अभक्ष्य है ।
*	रात्रि भोजन विचार । —दे० रात्रि भोजन ।
५	अँच र व मुरब्बे आदि अभक्ष्य है ।
६	बीधा व संदिग्ध अन्न अभक्ष्य है ।
*	अन्न शोधन विधि । —दे० आहार/१/२ ।
*	सचित्तचित्त विचार । —दे० सचित्त ।
३	गोरस विचार
१	दहीके लिए शुद्ध जामन ।
२	गोरसमें दुग्धादिके त्यागका क्रम ।
३	दूध अभक्ष्य नहीं है ।
*	दूध प्राप्तक करनेकी विधि । —दे० जल ।
४	कच्चे दूध-दहीके साथ विदल दोष ।
५	पक्के दूध-दहीके साथ विदल दोष ।
६	द्विदलके भेद ।
४	वमस्पति विचार
१	पंच उदुम्बर फलोंका निषेध व उसका कारण ।
*	सखे हुए भी उदुम्बर फल वर्जनीय है । —दे० भक्ष्याभक्ष्य/४/१
२	अनजाने फलोंका निषेध ।
३	कंदमूलका निषेध व कारण ।
४	पुष्प व पत्र जातिका निषेध ।

१. भक्ष्याभक्ष्य सम्बन्धी सामान्य विचार

१. बहु पदार्थ मिश्रित द्रव्य एक समझा जाता है

क्रियाकोष/१२३७ लाडू पेडा पाक इत्यादि औषध रस और चूरण आदि । बहुत वस्तु करि जो नियजेह, एक द्रव्य जानो बुध तेह ।

२. रुग्णावस्थामें अभक्ष्य भक्षणका निषेध

ला. सं./२/८० मूलबीजा यथा प्रोक्ता फलकाचार्यकादयः । न भक्ष्या वैवयोगाद्वा रोगिणाप्यौषधच्छलात् १८०।—उपरोक्त मूलबीज और अग्रबीज आदि अनन्तकायिक जो अदरल आदि बनस्पति उन्हे किसी भी अवस्थामें भी नहीं खाना चाहिए । रोगियोंको भी औषधिके बहाने उनका प्रयोग नहीं करना चाहिए ।

३. द्रव्य क्षेत्रादि व स्वास्थ्य स्थितिका विचार

भ. आ./मू./२५५/४०६ भत्तं खेत्तं कालं धातं च पडुच्च तह तवं कुञ्जा । वादो पित्तो सिभो व जहा खोभ्रण उचयान्ति ।—अनेक प्रकारके भक्त पदार्थ, अनेक प्रकारके क्षेत्र, काल भी—शीत, उष्ण, व वर्षा काल रूप तीन प्रकार है, धातु अर्थात् अपने शरीरकी प्रकृति तथा देशकालका विचार करके जिस प्रकार वात-पित्त-श्लेष्मका क्षोभ न होगा इस रीतिसे तप करके भक्षकको शरीर सल्लेखना करनी चाहिए । २५५।

दे० आहार/१/३/२ सात्त्विक भोजन करे तथा योग्य मात्रामें करे जितना कि जठराग्नि सुगमतासे पचा सके ।

र. क. श्रा/१६६ यदनिष्टं तद्भवतयेद्यच्चानुपसेव्यमेतदपि जह्यात् । प्रभिसंधिकृता विरतिविषयाद्योग्याद् व्रतं भवति १६६।—जो अनिष्ट अर्थात् शरीरको हानिकारक है वह छोड़ें, जो उत्तम कुलके सेवन करने योग्य (मद्य-मांस आदि) नहीं वह भी छोड़ें, तो वह व्रत, कुछ व्रत नहीं कहलाता, किन्तु योग्य विषयोसे अभिप्राय पूर्वक किया हुआ त्याग ही वास्तविक व्रत है ।

आचारसार/४/६४ रोगीका कारण होनेसे लाडू पेडा, चावल, के बने पदार्थ वा चिकने पदार्थोंका त्याग द्रव्यशुद्धि है ।

४. अभक्ष्य वस्तुओंको आहारसे पृथक् करके वह आहार ग्रहण करनेकी आज्ञा

अन. घ/५/४१ कन्दादिषट्कं त्यागार्हमित्यत्राद्विभजेन्मुनिः । न शक्यते विभक्तुं चैत स्यज्यतां तर्हि भोजनम् १४१।—कन्द, बीज, मूल, फल, कण और कुण्ड ये छह वस्तुएँ आहारसे पृथक् की जा सकती है । अतएव साधुओंको आहारमें ये वस्तुएँ मिल गयी हों तो उनको पृथक् कर देना चाहिए । यदि कदाचित्त उनका पृथक् करना अशक्य हो तो आहार ही छोड़ देना चाहिए । (मू. आ/भाव./४८४); (और भी दे विवेक/१) ।

५. नीच कुलीनोंके हाथका तथा अयोग्य क्षेत्रमें रखे भोजन-पानका निषेध

भ. आ/भाषा/पृ ६७५ अशुद्ध भूमिमें पडवा भोजन, तथा म्लेच्छादिक-निकरि स्पर्शा भोजन, पान तथा अस्पृश्य सूत्रका लाया जल तथा सूदादिकका किया भोजन तथा अयोग्य क्षेत्रमें धरवा भोजन, तथा नास भोजन करने वालेका भोजन, तथा नीच कुलके गृहनिमै प्राप्त भया भोजन जलादिक अनुपसेव्य है । यद्यपि प्राप्तक होइ हिंसा रहित होइ तथापि अणुपसेव्यापणार्त्तं अंगीकार करने योग्य नहीं है । (और भी दे. वर्णव्यवस्था/४/१) ।

६. अभक्ष्य पदार्थोंके खाये जानेपर तद्योग्य प्रायश्चित्त

दे. प्रायश्चित्त/२/४/४ में रा. वा. कारण वश अप्राप्तकके ग्रहण करनेमें प्राप्तकका विस्मरण हो जाये और पीछे स्मरण आ जाय तो विवेक (उत्सर्ग) करना ही प्रायश्चित्त है ।

भद्रशाल वन—सुमेरु पर्वतके मूलमें स्थित वन। इसकी चारो दिशाओमें चार जिन चैत्यालय है—दे० लोक/३/६।

भद्रा—१. वर्तमान 'भादर' नदी। जसदणके पासके पर्वतसे निकली है और नवी बन्दरसे आगे अरब सागरमें गिरती है। (नेमिचरित प्रस्तावना/प्रेमीजी), २. रुचक पर्वत निवासिनी दिवकुमारी देवी—दे० लोक/५/१२।

भद्रा व्याख्या—दे० बाचना।

भद्राश्व—विजयार्थकी उत्तर श्रेणीका एक नगर—दे० विद्याधर।

भय—कायोत्सर्गका एक अतिचार—दे० व्युत्सर्ग/१।

भय—

स. सि./८/१/३८६/१ यदुदयादुद्वेगस्तद्भयम्। = जिसके उदयसे उद्वेग होता है वह भय है। (रा वा/५/६/४/५७४/१८), (गो, क/जी. प्र/३३/२५/८)।

घ. ६/१.६-१.२४/४७/६ भीतिर्भयम्। कम्मन्धेहि उदयमागदेहि जीवस्स भयमुपपज्जह तेसि भयमिदि सणा, कारणे कज्जुवयारादो। = भीतिको भय कहते हैं। उदयमें आये हुए जिन कर्म स्कन्धोके द्वारा जीवके भय उत्पन्न होता है उनकी कारणमें कार्यके उपचारसे 'भय' यह सज्ञा है।

घ. १३/५.६.६४/३३६/५ परचक्कागमादओ भयं णाम।

घ. १३/५.६.६६/३६१/१२ जस्स कम्मस्स उदएण जीवस्स सत्त भयाणि समुपपज्जति त कम्मं भयं णाम। = पर चक्रके आगमनादिका नाम भय है। अथवा जिस कर्मके उदयसे जीवके सात प्रकारका भय उत्पन्न होता है, वह भय कर्म है।

२. भयके भेद

सू. आ./१३ इहपरलोयत्ताणं अगुत्तिमरणं च वेयणाकस्सि भया। = इसलोक भय, परलोक, अरक्षा, अगुप्ति, मरण, वेदना और आकस्मिक भय ये सात भय हैं। (स. सा./आ/१२८/क० १५६-१६०); (म. सा./ता. वृ./१२८/३०६/६); (पं. घ./उ./५०४-५०५); (व. पा./२५. जयचन्द), (रा. वा. हि./६/२४/५१७)।

३. सातों भयोंके लक्षण

स. सा./पं. जयचन्द/२२५/क० १५६-१६० इस भवमें लोकोंका डर रहता है कि ये लोग न माछूम मेरा क्या बिगाड करेंगे, ऐसा तो इस लोकका भय है, और परभवमें न माछूम क्या होगा ऐसा भय रहना परलोकका भय है। १५६। जिसमें किसीका प्रवेश नहीं ऐसे गढ़, दुर्गादिकका नाम गुप्ति है उसमें यह प्राणी निर्भय होकर रहता है। जो गुप्त प्रदेश न हो, खुला हो, उसको अगुप्ति कहते हैं, वहाँ बैठनेसे जीवको जो भय उत्पन्न होता है उसको अगुप्ति भय कहते हैं। १५५। अकस्मात् भयानक पदार्थसे प्राणीको जो भय उत्पन्न होता है वह आकस्मिक भय है।

पं. घ./उ./श्लोक नं. तत्रेह लोकतो भीति. क्रन्दितं चात्र जन्मनि। इष्टार्थस्य व्ययो माभून्माभून्मेऽनिष्टसगमः। ६०६। परलोक परत्रात्मा भाविजन्मान्तरांशभाक्। ततः कम्प इव त्रासो भीति परलोकतोऽस्ति सा। ६१६। भद्रं चेज्जन्म स्वर्लोके माभून्मे जन्म दुर्गती। इत्याद्याकुलितं चेत साध्वसं पारलौकिकम्। ६१७। वेदनागन्तुका बाधा मलानां कोपतस्तनी। भीति प्रागेव कम्प स्यान्मोहाद्वा परिदेवनम्। ६२४। उल्लाघोऽहं भविष्यामि माभून्मे वेदना क्वचित्। सूच्छैव वेदनाभीतिश्चिन्तनं वा सुहृर्मुहुः। ६२५। अत्राणं क्षणिकैकान्तै पक्षे चित्तक्षणादिवद। नाशात्प्रागंशनाशस्य त्रातुमक्षमतात्मनः। ६३१। असज्जन्म सतो नाशं मन्यमानस्य देहिन्। कोऽवकाशस्ततो मुक्ति-

मिच्छतोऽगुप्तिसाध्वसाव। ६३७। तज्जीतिर्जीवितं भूयान्मा भून्मे मरणं क्वचित्। कदा लेभे न वा दैवात् इत्याधि स्वे तनुव्यये। ६४०। अकस्माज्जातमित्युच्चैराकस्मिकभयं स्मृतम्। तद्यथा विद्वुदादीनां पातात्पातोऽसुधारिणाम्। ६४३। भीतिर्भूयाद्यथा सौस्थ्यं माभूद्दौस्थ्यं कदापि मे। इत्येव मानसी चिन्ता पर्याकुलितचेतसा। ६४४। = १. मेरे इष्ट पदार्थका वियोग न हो जाये और अनिष्ट पदार्थका संयोग न हो जाये इस प्रकार इस जन्ममें क्रन्दन करनेको इहलोक भय कहते हैं। २. परभवमें भावि पर्यायरूप अशको धारण करने वाला आत्मा परलोक है और उस परलोकसे जो कपनेके समान भय होता है, उसको परलोक भय कहते हैं। ६१६। यदि स्वर्गमें जन्म हो तो अच्छा है, मेरा बुर्गतिमें जन्म न हो इत्यादि प्रकारसे हृदयका आकुलित होना पारलौकिक भय कहलाता है। ६१७। ३. शरीरमें वात, पित्तादिके प्रकोपसे आनेवाली बाधा वेदना कहलाती है। मोहके कारण विपत्तिके पहले ही करुण क्रन्दन करना वेदना भय है। ६२४। मैं निरोग हो जाऊँ, मुझे कभी भी वेदना न होवे, इस प्रकारकी सूच्छा अथवा बार-बार चिन्तन करना वेदना भय है। ६२५। ४. जैसे कि बौद्धोंके क्षणिक एकान्त पक्षमें चित्त क्षण प्रतिसमय नश्वर होता है वैसे ही पर्यायके नाशके पहले अग्नि रूप आत्माके नाशकी रक्षाके लिए अक्षमता अत्राणभय (अरक्षा भय) कहलाता है। ६३१। ५. असत् पदार्थके जन्मको सत्के नाशको माननेवाले, मुक्तिको चाहनेवाले शरीरधारियोंको उस अगुप्ति भयसे कहौं अवकाश है। ६३७। ६. मैं जीवित रहूँ, कभी मेरा मरण न हो, अथवा दैवयोगसे कभी मृत्यु न हो, इस प्रकार शरीरके नाशके विषयमें जो चिन्ता होती है, वह मृत्युभय कहलाता है। ६४०। ७. अकस्मात् उत्पन्न होने वाला महान् दुःख आकस्मिकभय माना गया है। जैसे कि बिजली आदिके गिरनेसे प्राणियोंका मरण हो जाता है। ६४३। जैसे मैं सदैव निरोग रहूँ, कभी रोगी न होऊँ, इस प्रकार व्याकुलित चित्त पूर्वक होनेवाली चिन्ता आकस्मिक भीति कहलाती है। ६४४।

★ भय प्रकृतिके बंधयोग्य परिणाम—दे० मोहनीय/३।

★ सम्यग्दृष्टिका भय भय नहीं—दे० नि.शक्ति।

★ भय द्वेष है—दे० कषाय/४।

भय संज्ञा—दे० संज्ञा।

भरणी—एक नक्षत्र दे० नक्षत्र।

भरत—१. म. पु./सर्ग/श्लोक न. पूर्व भव न. ५ में वत्सकावतीदेशका अतिगृधनामक राजा (५/१६१) फिर चौथे नरकका नारकी (८/१६२) छठे भवमें व्याघ्र हुआ (५/१६४) पाँचवेंमे दिवाकरप्रभ नामक देव (५/२१०) चौथे भवमें मत्तिसागर मन्त्री हुआ (५/११५) तीसरे भवमें अधोग्रैवेयकमें अहमिन्द्र हुआ (६/१०-६२) दूसरे भवमें सुबाहु नामक राजपुत्र हुआ (११/१२) पूर्व भवमें सर्वार्थसिद्धिमें अहमिन्द्र हुआ (११/१६०); (युगपत् सर्व भवके लिए दे० म पु/४७/३६३-३६४) वर्तमान भवमें भगवान् ऋषभ देवका पुत्र था (२४/१५५) भगवान्की दीक्षाके समय राज्य (१७/७६) और केवलज्ञानके समय चक्र तथा पुत्ररत्नकी प्राप्ति की (२४/२) छह खण्डको जीतकर (३४/३) बाहुबलीसे युद्धमें हारा (३६/६०) क्रोधके वश भाईपर चक्र चला दिया, परन्तु चक्र उनके पास जाकर ठहर गया (३४/६६) फिर एक वर्ष पश्चात् इन्होंने योगी बाहुबलीकी पूजा की (३६/१५५) एक समय श्रावकोकी स्थापना कर उनको गर्भान्वय आदि क्रियाएँ। (३८/२०-३१०) दीक्षान्वय क्रियाओं (३६/२-५०५) षोडश संस्कार व मन्त्रों आदिका उपदेश दिया (४०/२-२१६) आयुको क्षीण जान पुत्र अर्ककीर्तिको राज्य देकर दीक्षा धारण की। तथा

तत्क्षण मन पर्यय व केवलज्ञान प्राप्त किया। (४६/३६३-३६४) (विशेष दे० लिग/३) फिर चिरकाल तक धर्मोपदेश दे मोक्षको प्राप्त किया (४७/३६८)। ये भगवान्के मुख्य श्रोता थे (७६/५२६) तथा प्रथम चक्रवर्ती थे। विशेष परिचय—दे० शालाकापुरुष। २. प. पु./सर्ग/श्लोक न राजा दशरथका पुत्र था (२५/३५) माता केकयी द्वारा वर मोंगनेपर राज्यको प्राप्त किया था (२५/१६२)। अन्तमे रामचन्द्र जी के बनवाससे लौटनेपर दीक्षा धारण की (५६/६) और कर्माका नाशकर मुक्तिको प्राप्त किया (५७/१६)। ३. यादववंशी कृष्णजीका २२ वीं पुत्र—दे० इतिहास/१०/२। ४. ई० ६४५-६७२ में मान्यखेटके राजा कृष्ण तृतीयके मन्त्री थे। (हि. जै. सा. ६/४६ कामता)।

भरत कूट—१. विजयार्ध पर्वतको उत्तर व दक्षिण श्रेणियोंपर स्थित कूट व उसके रक्षक देव—दे० लोक/४/४। २. हिमवाद् पर्वतस्थ भरत कूट व उसका स्वामी देव—दे० लोक/५/४।

भरत क्षेत्र—१. अढाई द्वीपोंमें स्थित भरत क्षेत्रका लोकमें अवरथान व विस्तार आदि—दे० लोक/३/३। इसमें बर्तनेवाले उत्सर्पिणी व अवसर्पिणी कालकी विशेषताएँ—दे० काल।

३. रा. वा./१/१०/१,२/१७७/६ विजयार्धस्थ दक्षिणतो जलधेरुत्तरत गङ्गासिन्धुबोर्बहुमध्यदेशभागे विनीता नाम नगरी द्वादशयोजनायामा, नवयोजनाविस्तारा। तस्यामुत्पन्न सर्वराजत्क्षेत्रसंपन्नो भरतो नामाद्यश्चक्रधर षट्खण्डाधिपति। अवसर्पिण्या राज्यविभागकाले तेनादौ भुक्तत्वात्, तद्योगाद्भरत इत्याख्यायते वर्षः। अथवा जगती-ऽनादित्वादहेतुका अनादिसबन्धपारिणामिकी भरतसंज्ञा। = विजयार्धमें, समुद्रसे उत्तर और गंगा-सिन्धु नदियोंके मध्य भागमें १२ योजन लम्बी ६ योजन चौड़ी विनीता नामकी नगरी थी। उसमें भरत नामका षट्खण्डाधिपति चक्रवर्ती हुआ था। उसने सर्व प्रथम राज्य विभाग करके इस क्षेत्रका शासन किया था अतः इसका (इस क्षेत्रका) नाम भरत पड़ा अथवा, जैसे ससार अनादि है उसी तरह क्षेत्र आदिके नाम भी किसी कारणसे अनादि है।

भरतेश्वराभ्युदय—प आशाधर (ई० ११७३-१२४३) द्वारा संस्कृत काव्यमें रचित ग्रन्थ।

भरतच्छ—भरत क्षेत्र पश्चिम आर्य खण्डका एक देश—दे० मनुष्य/४।

भर्तृप्रपंच—वेदान्त ग्रन्थोंके टीकाकार थे। यह वैश्वानरके उपासक थे। ब्रह्मके पर व अपर दोनों भेदोंको सत्य मानते थे। समय—ई. श. ७ (स. म/परि. च/४४०)।

भर्तृहरि—१. राजा विक्रमादित्यके बड़े भाई थे। तदनुसार इनका समय ई. पू. ५७ आता है। (ज्ञा/प्र. ४/पन्नालाल)। २. चीनी यात्री हिसगने भी एक भर्तृहरिका उल्लेख किया है। जिसकी मृत्यु ई० ६५० में हुई बताया है। समय—ई० ६२५-६६० (ज्ञा. प्र. ४/पं. पन्नालाल)। ३. राजा सिंहलके पुत्र व राजा मुजके छोटे भाई थे। राजा मुजने इन्हें पराक्रमी जानकर राज्यके लोभसे देशसे निकलवा दिया था। पीछे ये एक तपसके शिष्य हो गये और १२ वर्षकी कठिन तपस्याके पश्चात् स्वर्ण रसकी सिद्धि की। ज्ञानार्णवके रचयिता आचार्य शुभचन्द्रके लघु भ्राता थे। उनसे सम्बोधित होकर इन्होंने दिगम्बर दीक्षा धारण कर ली थी। तब इन्होंने शतकत्रय लिखे। विद्यावाचस्पतिने तत्त्वविन्दु नामक ग्रन्थमें इनको धर्मबाह्य बताया है, जिससे सिद्ध होता है कि अवश्य पीछे जाकर जैन साधु हो गये थे। राजा मुजके अनुसार आपका समय—वि. १०६०-११२६ (ई० १००३-१०६८)—विशेष दे० इतिहास/३/१ (ज्ञा./प्र./पं. पन्नालाल)। ४. आप ई० सं. ४५० में एक अजैन बड़े वैद्य्याकरणी थे। आपके गुरु वसुरात थे। (सि. वि./२२/पं. महेन्द्र); (दे० शुभचन्द्र)

भव—

स. सि./१/२१/१२५/६ आयुर्नामकर्मोदयनिमित्त आत्मन पर्यायो भव'। = आयुर्नामकर्मके उदयका निमित्त पाकर जो जीवकी पर्याय होती है उसे भव कहते हैं। (रा. वा./१/२१/१/७६/६)।

घ. १०/४,२,४,८/३५/५ उत्पत्तिवारा भवा। = उत्पत्तिके वारोका नाम भव है।

घ. १५/५/६/१४ उत्पण्णवहमयप्पहुडि जाव चरिमसमओ त्ति जो अवस्था-विसेसो सो भवो णाम। = उत्पन्न होनेके प्रथम समयसे लेकर अन्तिम समय तक जो विशेष अवस्था रहती है, उसे भव कहते हैं।

भ. आ/वि/२५/८५/१८ पर उद्भूत—वेहो भवोत्ति उच्चदि '। = देहको भव कहते हैं।

२. क्षुल्लक भवका लक्षण

घ. १४/५.६.६४६/५०४/२ आउअवधे सते जो उवरि विस्समणकालो सव्वजहण्णो तस्स खुदा भवगहण ति सण्णा। सो तत्तो उवरि होदि। असंखेयदस्सुवरि खुदाभवगहणं ति वुत्ते। = आयु बन्धके होनेपर जो सबसे जघन्य विश्रमण काल है उसकी क्षुल्लक भव ग्रहण सज्ञा है। वह आयु बन्धकालके ऊपर होता है। असंक्षोपाद्वाके ऊपर (मृत्युपर्यन्त) क्षुल्लक भवग्रहण है।

* अन्यसम्बन्धित विषय

१. सम्यग्दृष्टिको भव धारणकी सीमा — दे० सम्यादर्शन/१/५।

२. श्रावकको भव धारणकी सीमा — दे० श्रावक/२।

३. एक अन्तर्मुहूर्तमें सम्भव क्षुद्रभवोंका प्रमाण — दे० आयु/७।

४. नरक गतिमें पुनः-पुनः भव धारणकी सीमा — दे० जन्म/६/१०।

५. लब्धपर्याप्तकोंमें पुनः-पुनः भव धारणकी सीमा — दे० आयु/७।

भवन—भवनोमें रहनेवाले देवोंको भवनवासी देव कहते हैं जो अमुर आदिके भेदसे १० प्रकारके हैं। इस पृथिवीके नीचे रत्नप्रभा आदि सात पृथिवियोंसे प्रथम रत्नप्रभा पृथिवीके तीन भाग हैं—खरभाग, पकभाग व अब्बहुल भाग। उनमेंसे खर व पक भागमें भवनवासी देव रहते हैं, और अब्बहुल भागमें प्रथम नरक है। इसके अतिरिक्त मध्य लोकमें भी यत्र-तत्र भवन व भवनपुरोंमें रहते हैं।

१. भवन व भवनवासी देव निर्देश

१. भवनका लक्षण

ति. प. ३/२२ रयणप्पहाए भवणा ॥२२॥ = रत्नप्रभा पृथिवीपर स्थित (भवनवासी देवोंके) निवास स्थानोंको भवन कहते हैं। (ति. प./६/७), (त्रि. सा./२६४)।

घ. १४/५.६.६४१/४६५/५ वलहि-कूडविवाज्जिया सुरणरावासा भवणाणि णाम। = बलभि और कूटसे रहित देवों और मनुष्योंके आवास भवन कहलाते हैं।

२. भवनपुरका लक्षण

ति. प. ३/२२ दीवसमुद्धान उवरि भवनपुरा ॥२२॥ = द्वीप समुद्रोंके ऊपर स्थित भवनवासी देवोंके निवास स्थानोंको भवनपुर कहते हैं। (ति. प./६/७), (त्रि. सा./२६४),

३. भवनवासी देवका लक्षण

स. सि./४/१०/२४३/२ भवनेषु वसन्तीत्येवंशीला भवनवासिन'। = जिनका स्वभाव भवनोमें निवास करना है वे भवनवासी कहे जाते हैं। (रा. वा./२/१०/१/२१६/३)।

ला स/२/७८ उदुम्बरफलान्येव नादेयानि ह्यगात्मभिः । नित्यं साधारणान्येव त्रसाङ्गैराभितानि च । ७८। = सम्यग्दृष्टियोंको उदुम्बर फल नहीं खाने चाहिए क्योंकि वे नित्य साधारण (अनन्तकायिक) हैं । तथा अनेक त्रस जीवोंसे भरे हुए हैं ।

दे, श्रावक/४/१ पौंच उदुम्बर फल तथा उसीके अन्तर्गत खून्वी व साँप-की छतरी आदि भी त्याज्य है ।

२. अनजाने फलोंका निषेध

दे, उदुम्बर उदुम्बर त्यागी, जिन फलोंका नाम मालूम नहीं है ऐसे सम्पूर्ण अजानफलों को नहीं खावे ।

३. कंदमूलका निषेध व कारण

भा. आ./सू./१५३३/१४१४ ण य खंतिः पलंङ्गमादीर्यं । = कुलीन पुरुष प्याज, लहसुन वगैरह कन्दोंका भक्षण नहीं करते हैं ।

सू. आ./८२५ फलकदमूलवीर्यं अणगिगपवकं तु आमयं कि चि । णच्चा अणेसणीयं णवि य पडिच्चति ते धीरा । ८२५। = अग्नि कर नहीं पके पदार्थ फल कन्द मूल बीज तथा अन्य भी जो कच्चा पदार्थ उसको अभक्ष्य जानकर वे धीर मुनि खानेकी इच्छा नहीं करते । (भा. पा./सू./१०३) ।

र क, श्रा/८५ अरुपफलबहुविघातान्मूलकमार्द्राणि शृङ्गेराणि । अत्र-ह्येयं । ८५। = फल थोडा परन्तु त्रस हिंसा अधिक होनेसे सचित्त मूली, गाजर, आर्द्रक, ... इत्यादि छोड़ने योग्य है । ८५। (स सि./७/२१/३६१/१०) ।

भा. आ./वि./१२०६/१२०४/१६ फलं अदारितं, मूलं, पत्रं, साङ्कुरं कन्दं च वर्जयेत् । = नहीं विधारा हुआ फल, मूल, पत्र, अकुर और कन्दका त्याग करना चाहिए । (यो. सा. अ/८/६३)

सा ध./४/१६-१७ नालीसूरणकालीन्दद्रोणपुष्पादि वर्जयेत् । आजन्म तद्भुज्जां ह्यल्पं, फलं घातश्च भूयसाम् । १६। अनन्तकायाः सर्वेऽपि, सदा हेया दयापरैः । यदेकमपि त हन्तुं, प्रवृत्तो हन्त्यनन्तकां । १७। = धार्मिक श्रावक, नाली, सूरण, कलींदा और द्रोणपुष्प आदि सम्पूर्ण पदार्थोंको जीवन पर्यन्तके लिए छोड़ देवे क्योंकि इनके खाने वालेको उन पदार्थोंके खानेमें फल थोडा और घात बहुत जीवोंका होता है । १६। दयालु श्रावकोंके द्वारा सर्वदाके लिए सब ही साधारण वनस्पति त्याग दी जानी चाहिए क्योंकि एक भी उस साधारण वनस्पतिको मारनेके लिए प्रवृत्त व्यक्ति अनन्त जीवोंको मारता है । १७।

चा. पा./टी/२१/४३/१० मूलनालिकापद्मिनीकन्दलशुनकन्दतुम्बकफल-कुसुम्भशाककलिंगफलसूरणकन्दत्यागश्च । = मूली, कमलकी डण्डी, लहसुन, तुम्बक फल, कुसुम्भका शाक, कलिंग फल, आलू आदिका त्याग भी कर देना चाहिए ।

भा. पा./टी./१०१/२५४/३ कन्दं सूरणं लशुनं पण्डालं क्षुद्रवृहन्मुस्तां-शाक्यकं उपपलमूलं शृङ्गेरं आर्द्रवरवणिनी आर्द्रहरिद्रेत्यर्थः । किमपि ऐवावर्षिकं अशित्वा भ्रमिस्त्वं हे जीव अनन्तससारे । = कन्द अर्थात् सूरण, लहसुन, आलू, छोटी या बड़ी शाक्यक, उपपल-मूल (भिस), शृंगवेर, अद्रक, गीली हल्दी आदि इन पदार्थोंमेंसे कुछ भी खाकर हे जीव । तुम्हे अनन्त संसारमें भ्रमण करना पडा है ।

ला. स/२/७६-८० अत्रीदुम्बरशाकस्तु नून स्यादुपलक्षणम् । तेन साधा-रणास्त्याज्या ये वनस्पतिकायिकाः । ७६। मूलबीजा यथा प्रोक्ता फलकाद्यार्द्रकादयः । न भक्ष्या देवयोगाद्वा रोगिणाप्यौषधच्छ-लात् । ८०। = यहाँपर जो उदुम्बर फलोंका त्याग कराया है वह उपलक्षण मात्र है । इसलिए जितने वनस्पति साधारण या अनन्त-कायिक है उन सबका त्याग कर देना चाहिए । ७६। ऊपर जो अदरख आलू आदि मूलबीज, अग्रबीज, पोरबीजादि अनन्तकायात्मक

साधारण बतलाये हैं, उन्हें कभी न खाना चाहिए । रोग हो जानेपर भी इनका भक्षण न करे । ८०।

४. पुष्प व पत्र जातिका निषेध

भा. पा./सू./१०३ कंदमूल वीर्यं पुष्प पत्रादि किंचि सचित्तं । असिक्कण माणगञ्जं भमिओसि अणंतससारे । १०३। = जमीकन्द, बीज अर्थात् चनादिक अन्न, मूल अर्थात् गाजर आदिक, पुष्प अर्थात् फूल, पत्र अर्थात् नागरबेल आदिक इनको आदि लेकर जो कुछ सचित्त वस्तुओंको गर्वसे भक्षण कर, हे जीव । तू अनन्त संसारमें भ्रमण करता रहा है ।

र. क. श्रा/५५ निम्बकुसुमं कैतकमित्येवमवहेयं । ५५। = नीमके फूल, कैतकीके फूल इत्यादि वस्तुएँ छोड़ने योग्य है ।

स सि/७/२१/३६१/१० केतव्यर्जुनपुष्पादीनि शृङ्गेरमूलकादीनि बहु-जन्तुयोनिस्थानान्यनन्तकायव्यपदेशार्हाणि परिहर्तव्यानि बहुघाता-रुपफलत्वात् । = जो बहुत जन्तुओंकी उत्पत्तिके आधार है और जिन्हे अनन्तकाय कहते हैं, ऐसे केतकीके फूल और अर्जुनके फूल आदि तथा अदरख और मूली आदिका त्याग कर देना चाहिए, क्योंकि इनके सेवनमें फल कम है और घात बहुत जीवोंका है । (रा. वा/७/२१/२७/५५०/४)

गुण. श्रा./१७८ मूल फलं च शाकादि पुष्प बीज करीरकम् । अप्रासुक त्यजेत्तैरं सचित्तविरतो गृही । १७८। = सचित्तविरत श्रावक सचित्त मूल, फल, शाक पुष्प, बीज, करीर व अप्रासुक जलका त्याग कर देता है (वसु. श्रा/२६५) ।

वसु. श्रा/५८ तरुपसूणाइ । णिच्चं तसससिद्धाई ताई परिवज्जिय-व्वाई । ५८। = वृक्षोंके फूल नित्य त्रसजीवोंसे संसिक्त रहते हैं । इसलिए इन सबका त्याग करना चाहिए । ५८।

सा. ध/५/१६ द्रोणपुष्पादि वर्जयेत् । आजन्म तद्भुज्जां ह्यल्पं, फलं घातश्च भूयसाम् । = द्रोणपुष्पादि सम्पूर्ण पदार्थोंको जीवन पर्यन्तके लिए छोड़ देवे । क्योंकि इनके खानेमें फल थोडा और घात बहुत जीवोंका होता है । (सा. ध/३/१३) ।

ला स/२/३५ ३७ शाकपत्राणि सर्वाणि नादेयानि कदाचन । श्रावकै-र्मसिदोषस्य वर्जनार्थं प्रयत्नत । ३५। तत्रावश्यं त्रसाः सूक्ष्मा केचि-त्स्युर्दृष्टिगोचरा । न त्यजन्ति कदाचित् शाकपत्राण्यं मनाक् । ३६। तस्माद्धर्मार्थिना तूनमात्मनो हितमिच्छता । आताम्बूल दल त्याज्यं श्रावकैर्दर्शनान्वितै । ३७। = श्रावकोंको यत्नपूर्वक मासके दोषोंका त्याग करनेके लिए सब तरहकी पत्तेवाली शाक भाजी भी कभी ग्रहण नहीं करनी चाहिए । ३५। क्योंकि उस पत्तेवाले शाकमें सूक्ष्म त्रस जीव अवश्य होते हैं । उनमेंसे कितने ही जीव तो दृष्टिगोचर हो जाते हैं और कितने ही दिखाई नहीं देते । किन्तु वे जीव उस पत्तेवाले शाकका आश्रय कभी नहीं छोड़ते । ३६। इस लिए अपने आत्माका कल्याण चाहनेवाले धर्मात्मा जीवोंको पत्तेवाले सब शाक तथा पान तक छोड़ देना चाहिए और दर्शन प्रतिमाको धारण करनेवाले श्रावकोंको विशेषकर इनका त्याग करना चाहिए । ३७।

भगवती आराधना—आ. शिवकोटि (ई. श. १) कृत में २२७६ प्राकृत गाथा ब्रह्म यत्याचार विषयक ग्रन्थ है । इस ग्रन्थपर निम्न टीकाएँ उपलब्ध हैं—(१) आराधना पत्रिका नामकी एक टीका है जिसका कर्ता व काल अज्ञात है । (२) आ. अपराजित (वि. ७६३) द्वारा विरचित विजयोदया नाम की विस्तृत संस्कृत टीका । (३) इस ग्रन्थकी गाथाओंके अनुरूप आ. अमितगत (ई. ६८३—१०२३) द्वारा रचित स्वतंत्र श्लोक । (४) पं. आशाधर (ई. १९७३-१९४३) द्वारा विरचित मूल आराधना नाम की संस्कृत टीका । (५) पं. शिवजित (वि. १८१८) द्वारा विरचित भावार्थ दीपिका नाम की भाषा टीका । (६) प. सदासुखदास (ई. १७६५-१८६६) द्वारा विजयोदया टीका-की देशभाषा रूप टीका । (जै/२/१२६, १२८) ।

भगवतीदास—१. दिल्ली गद्दी के भट्टारक महोन्ध के शिष्य अन्नाला निवासी एक अपभ्रंश कवि जिन्होंने अन्त समय में सुनि-व्रत धारण करके समाधि पूर्वक देह त्याग किया था। कृतियों—टंडाणा रास, बनजारा रास, आदिश्यवार रास, पखवाडा रास, खिचड़ी रास, समाधि रास, योगी रास, मनकरहा रास, रीहणीव्रत रास, अनन्त चतुर्दशी चौपाई, चुनडो मुक्ति रमणी, हमाल राजमती नेमीसुर संज्ञानी हमाल, वीर जिनेन्द्र स्तुति, आदिनाथ-शान्तिनाथ विनती, अनधमी, अनुप्रेक्षाभावना, सुगन्ध दशमी कथा, आदिश्यवार कथा। समय—कृतियों का रचना काल वि. १६८०-१७०० (ई० १६२३-१६४३)। (ती./४/२३८)। २. ब्रह्म विलास आदि के कर्ता भैया भगवती दास नामक एक गृहस्थ कवि। समय—वि. १७३२-१७५४ (ई० १६७४-१६९८)। (ती./४/२६३)। १४६ कामता)।

भगवान्—दे० परमात्मा।

भगीरथ—म. पु. ४८/श्लोक-भगलिदेशके राजसिंह विक्रमका दोहता था। सगर चक्रवर्तीने इसको राज्य दिया था (१२७)। सगर चक्रवर्तीके मोक्षके समय इन्होंने दीक्षा धारण कर गंगाके तटपर योग धारण किया। तब देवीने इनके चरणोंका प्रक्षालन किया, वह जल गंगा नदीमें गिर गया, इसीसे गंगा नदी तीर्थ कहलाने लगी। वहीसे आप मोक्ष पधारे (१३८-१४८)। म. पु. ४/श्लोक नं. के अनुसार सगर चक्रवर्तीका पुत्र था। (२४४, २८१) भगवात्के मुखसे अपने पूर्व भव सुनकर सुनिधियोंमें सुखिया बन योग्य पद प्राप्त किया (२६४)।

भट्ट (प्रभाकर) मत—दे० मीमांसा दर्शन।

भट्ट भास्कर—वेदान्तकी एक शाखाके प्रवर्तक। समय—ई. श. १०।—दे० भास्कर वेदान्त।

भट्टाकलंक—१ प्रसिद्ध जैनाचार्य—दे० अकलंक भट्ट। २, ई. १६०४ में शब्दालुशासन (कन्नड व्याकरण) के कर्ता (म. प्र. प्र. १००/ A N. Up. (ती./४/३११)।

भट्टारक—१. अर्हन्त, सिद्ध, साधुको भट्टारक कहा गया है। (ध. ३/मगल/१), २. इन्द्र भट्टारक ग्रन्थ कर्ता हुए (ध. ६/१२६-१३०), ३. अर्हन्तके लिए भट्टारक शब्दका प्रयोग किया गया है। (ध. ६/१३०)।

भदन्त—१. मू. आ/भाषा/८८ जो सब कथ्याणोंको प्राप्त हो वह भदन्त है। २. साधुका अपर नाम—दे० अनंगार।

भद्र—१. सा ध. १/६ कुधर्मस्थोऽपि सहधर्म, लघुकर्मतयाऽद्विषत्। भद्रं स...अमद्रस्तद्विपर्ययात्। १।—मिथ्यामत्तमे स्थित होता हुआ भी मिथ्यात्वकी मन्दतासे समीचीन जैनधर्मसे द्वेष नहीं करनेवाला व्यक्ति भद्र कहलाता है। उससे विपरीत अभद्र कहलाता है। २. आपके अपरनाम यशोभद्र वे अभय थे—दे० यशोभद्र। ३. रुचक पर्वतस्थ एक कूट—दे० लोक/५/१३, ४. नन्दीश्वर समुद्रका रक्षक व्यन्तर देव—दे० व्यन्तर/४।

भद्रक—यक्ष जातिके व्रन्तर देवोंका एक भेद—दे० यक्ष।

भद्रकाली—विद्याधर विद्या—दे० विद्या।

भद्रपुर—भरत क्षेत्रका एक नगर—दे० मनुष्य/४।

भद्रबाहु—(१) मूल श्रुतावतारके अनुसार (दे० इतिहास) ये पाँचवें श्रुतकेवली थे। १२ वर्षके दुर्भिक्षके कारण इनको उज्जैनी छोड़कर दक्षिणकी ओर प्रस्थान करना पडा था। सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्य भी उस समय उनसे दीक्षा लेकर उनके साथ ही दक्षिण देशकी चले गये थे। अत्रगजेलगोलमें चन्द्रगिरि पर्वतपर दोनोंकी समाधि हुई है।

१२००० साधुओं के संघ का बहुभाग यद्यपि इनके साथ दक्षिण की ओर चला गया था तदपि कुछ भाग ऐसा भी था जो प्रमादवश नहीं गया अथवा बीच में ही अटक गया। परिस्थितिवश शैथिल्य को अपना लेने के कारण वह धीरे-धीरे आगे जाकर वि. १३६ में श्वेताम्बर संघ के रूप में परिणत हो गया (विशेष दे. श्वेताम्बर) इस प्रकार श्वेताम्बर तथा दिगम्बर संघ भेद की नींव भी इन्हीं के काल में पडी थी। मूलसंघ की पट्टावली में इनका काल बी. नि. १३३-१६२ (ई. पू. ३६४-३६६) दिया गया है, परन्तु दूसरी ओर चन्द्रगुप्त मौर्य का काल विद्वान् लोग ई. पू. ३२६-३०२ (बी. नि. २०१-२२६) निर्धारित करते हैं। इन दोनों के मध्य लगभग ६० वर्ष का अन्तर है जिसे पाटने के लिये पं. कैलाशचन्द जी ने सुयुक्तियुक्त ढंग से इनके काल को ६० वर्ष नीचे उतार लिया है। तदनुसार इनका काल बी. नि. १८०-२२२ (ई. पू. ३४७-३०५) प्राप्त होता है। विशेष दे० कोश १ परिशिष्ट २/३)

(२) दूसरे भद्रबाहु वे हैं जिन्हें मूलसंघ की पट्टावली में अष्टांग-धर अथवा आचारोगधर कहा गया। नन्दीसंघ की पट्टावली में चरम निमित्तधर कहकर परम्परा गुरु के रूप में इन्हें नमस्कार किया गया है। इनकी शिष्य परम्परा में क्रमशः लोहचार्य, अर्हद्वली, माध-नन्दि तथा जिनचन्द्र ये चार आचार्य प्राप्त होते हैं। यही इन जिन चन्द्र को कुन्दकुन्द का गुरु बताया गया है। दूसरी ओर आ. देवसेन ने अपने भावसंग्रह में इनका नाम भद्रबाहु गणी बताकर द्वादशवर्षीय दुर्भिक्ष तथा दिगम्बर श्वेताम्बर संघ भेद के साथ इनका सम्बन्ध स्थापित किया है। तदनुसार इनके शिष्य शान्त्याचार्य और उनके शिष्य जिनचन्द्र थे। जो अपने गुरु को मारकर संघ के नायक बन गए थे। इन्होंने ही शैथिल्य-पोषण के अर्थ उसे श्वेताम्बर संघ के रूप में परिणत किया था। यद्यपि दोनों ही स्थानों में जिनचन्द्र को भद्रबाहु की शिष्य परम्परा में बताया गया है और दोनों के कालों में भी केवल ३६ वर्ष का अन्तर है, परन्तु दोनों के जीवन वृत्तों में इतना बड़ा अन्तर है कि इन्हें एक व्यक्ति मानने को जो नहीं चाहता। तथापि यदि जिस किस प्रकार इन्हें एक व्यक्ति घटित कर दिया जाय तो दोनों के प्रगुरु अथवा परम्परा गुरु भद्रबाहु भी एक व्यक्ति सिद्ध हो जाते हैं। इतना होने पर भी इनकी एकता या द्वितता के विषय में सन्देह बना ही रहता है। मूलसंघ की पट्टावली तथा नन्दि-संघ की पट्टावली दोनों के अनुसार इनका काल बी. नि. ४६२-११६ (वि. २२-४६) माना गया है। (विशेष दे. कोश १/परिशिष्ट २/४)।

(३) श्वेताम्बर संघाधिपति जिनचन्द्र (वि. १३६) के प्रगुरु भद्रबाहु गणी को यदि स्वतन्त्र व्यक्ति माना जाय तो उन्हें वि. श. १ के चरम पाद पर स्थापित किया जा सकता है।

भद्रबाहु चरित्र—आ. रत्नकीर्ति (ई. १६१६) द्वारा विरचित संस्कृत अन्धबद्ध ग्रन्थ है, इसमें चार परिच्छेद तथा ४८८ श्लोक हैं।

भद्रमित्र—म. पु. ४६/श्लोक नं. सिंहपुरके राजाका मन्त्री इसके रत्न लेकर सुकर गया (१४८-१५१)। प्रतिदिन खूब रोने-चिल्लाने पर (१६६) राजाकी रानोने मन्त्रीको जुएमें जीतकर रत्न प्राप्त किये (१६८-१६९)। राजाने इसकी परीक्षा कर इसके रत्न व मन्त्रीपद देकर अपना सत्यबोध रख दिया (१७१-१७३)। एक बार बहुत-सा धन दान दिया, जिसको इसकी माँ सहन न कर सकी। इसीके निदानमें उसने इसे व्याघ्री बनकर खाया (१८८-१९१)। आगे चौथे भवमें इसने मोक्ष प्राप्त किया—दे० चक्रायुध।

भद्रलपुर—भरत क्षेत्रका एक नगर—दे० मनुष्य/४।

अन घ /५/४० पूयादिदोषे त्यक्त्वापि तदन्न विधिवच्चरेत् । प्रीयश्चित्तं नखे किञ्चित् केशादौ स्वस्त्रमुत्सृजेत् ॥४०॥=चौदह मजो (दे आहार/II/४) भेसे आदिके पीब रक्त मांस, हड्डी और चर्म इन पाँच द्रव्योंको महादोष माना है। अतएव इनमे संसक्त आहारको केवल छोड़ ही न दे किन्तु उसको छोड़कर आगमोक्तविधिसे प्रायश्चित्त भी ग्रहण करे। नखका दोष मध्यम दर्जेका है। अतएव नख युक्त आहारको छोड़ देना चाहिए, किन्तु कुछ प्रायश्चित्त लेना चाहिए। केश आदिका दोष जघन्य दर्जेका है। अतएव उनसे युक्त आहार केवल छोड़ देना चाहिए।

७. पदार्थोंकी मर्यादाएँ

नोट—(श्रुतु परिवर्तन अष्टाह्निकासे अष्टाह्निका पर्यन्त जानना चाहिए)।
(व्रत विधान स./३१), (क्रिया कोष)।

नं०	पदार्थका नाम	मर्यादाएँ		
		शीत	ग्रीष्म	वर्षा
१	दूध	१ मास	१५ दिन	७ दिन
२	दूध (दुहनेके पश्चात्)	२ घड़ी	२ घड़ी	२ घड़ी
	दूध (उबालनेके पश्चात्)	८ पहर	८ पहर	८ पहर
नोट— यदि स्वाद बिगड़ जाये तो त्याज्य है।				
३	दही (गर्म दूधका)	८ पहर	८ पहर	८ पहर
४	अ ग.श्रा./६/८४, (सा. घ./३/११); (चा.पा.टी./- २१/४३/१७)।	१६ पहर	१६ पहर	१६ पहर
		४ पहर	४ पहर	४ पहर
५	बिलोते समय पानी डाले	४ पहर	४ पहर	४ पहर
६	पीछे पानी डाले तो	२ घड़ी	२ घड़ी	२ घड़ी
७	घी	(जब तक स्वाद न बिगड़े)		
८	तेल	"	"	"
९	गुड़	"	"	"
१०	आटा सर्व प्रकार	७ दिन	५ दिन	३ दिन
११	मसाले पीसे हुए	"	"	"
१२	नमक पिसा हुआ मसाला मिला दे तो	२ घड़ी	२ घड़ी	२ घड़ी
		६ घण्टे	६ घण्टे	६ घण्टे
१३	खिचड़ी, कढ़ी, रायता, तरकारी	२ पहर	२ पहर	२ पहर
		४ पहर	४ पहर	४ पहर
१४	अधिक जल वाले पदार्थ रोटी, पूरी, हलवा, बड़ा आदि।	८ पहर	८ पहर	४ पहर
१५	मौन वाले पकवान	८ पहर	८ पहर	८ पहर
१६	बिना पानीके पकवान	७ दिन	५ दिन	३ दिन
१७	मीठे पदार्थ मिला दही	२ घड़ी	२ घड़ी	२ घड़ी
१८	गुड़ मिला दही व छाछ	सर्वथा	अभक्ष्य	

२. अभक्ष्य पदार्थ विचार

१. बाईस अभक्ष्योंके नाम निर्देश

व्रत विधान सं./पृ. १६ ओला घोखडा निशि भोजन, बहुबीजक, बैंगन, सधान/ बड, पीपल, ऊमर, कटूमर, पाकर-फल, जा होय अजाम। कन्दभूल, माटी, विष, आमिष, मधु, माखन अरु मदिरापान। फल अति लुच्छ, तुषार, चलितरस जिनमत ये बाईस अखान ॥

२. मद्य, मांस, मधु व नवनीत अभक्ष्य है

भ आ./वि./१२०६/१२०४/११ मासं मधु नवनीत च वर्जयेत् तत्स्पृष्टानि सिद्धान्यपि च न दद्यात् खदित्त, न स्पृशेच्च ॥=मास, मधु व मखनका त्याग करना चाहिए। इन पदार्थोंका स्पर्श जिसको हुआ है, वह अन्न भी न खाना चाहिए और न छूना चाहिए।

पु सि. उ/७१ मधु मद्य नवनीत पिशित च महाविकृतयस्ता। वृश्म्यन्ते न व्रतिना तद्वर्णा जन्तवस्तत्र ॥७१॥—शहद, मदिरा, मखन और मास तथा महाविकारोंको धारण किये पदार्थ व्रती पुरुषको भक्षण करने योग्य नहीं है क्योंकि उन वस्तुओंमें उसी वर्ण व जातिके जीव हंते हैं ॥७१॥

३. चलित रस पदार्थ अभक्ष्य है

भ. आ./वि./१२०६/१२०४/२० विषन्नरूपरसगन्धानि, कुथितानि पुष्पितानि, पुराणानि जन्तुसंस्पृष्टानि च न दद्यान् खदित्त न स्पृशेच्च ॥=जिनका रूप, रस व गन्ध तथा स्पर्श चलित हुआ है, जो कुथित हुआ है अर्थात् फूई लगा हुआ है, जिसको जन्तुओंने स्पर्श किया है ऐसा अन्न न देना चाहिए, न खाना चाहिए और न स्पर्श करना चाहिए।

अ. ग. श्रा./६/८५ आहारो नि शेषो निजस्वभावादन्यभावमुपयात्। योऽनन्तकाधिकोऽसौ परिहर्तव्यो दयालीढे ॥८५॥=जो समस्त आहार अपने स्वभावतः अन्यभावको प्राप्त भया, चलितरस भया, बहुरि जो अनन्तकाय सहित है सो वह दया सहित पुरुषोंके द्वारा त्याज्य है।

चा. पा./टी./२१/४३/१६ सुललितपुष्पितस्वादचलितमन्न त्यजेत्। =अकुरित हुआ अर्थात् जडा हुआ, फूई लगा हुआ या स्वाद चलित अन्न अभक्ष्य है।

ला. स./२/६६ रूपगन्धरसस्पर्शाच्चलित नैव भक्षयेत्। अवश्यं त्रसजीवाना निकोतानां समाश्रयात् ॥६६॥=जो पदार्थ रूप गन्ध रस और स्पर्शसे चलायमान हो गये हैं, जिनका रूपादि बिगड़ गया है, ऐसे पदार्थोंको भी कभी नहीं खाना चाहिए। क्योंकि ऐसे पदार्थोंमें अनेक त्रस जीवोंकी, और निगोद राशिकी उत्पत्ति अवश्य हो जाती है।

४. बासी व अमर्यादित भोजन अभक्ष्य है

अ ग. श्रा./६/८४ दिवसद्वितयोषिते च दधिर्मथिते त्याज्या ॥=दो दिनका बासी दही और छाछ त्यागना योग्य है। (सा. घ./३/११), (ला. सं./२/५७)।

चा. पा./टी./२१/४३/१३ लवणतैलघृतधृतफलसधानकमुहूर्तद्वयोपरिनवनीतमासादिसेविभाण्डभाजनवर्जनं। षोडशप्रहरादुपरि स्रक् दधि च रयजेत् ॥=नमक, तेल व घीमें रखा फल और आचारको दो मुहूर्तसे ऊपर छोड़ देना चाहिए। तथा मखन व मास जिस बर्तनमें पका हो वह बर्तन भी छोड़ देना चाहिए। सोलह पहरसे ऊपरके दहीका भी त्याग कर देवे।

ला. सं./२/३३ केवलान्निना पक्व मिश्रितेन घृतेन वा। उषितान्नं न भुञ्जीत पिशितान्नदोषवित् ॥३३॥=जो पदार्थ रोटी भात आदि केवल अग्निपर पकाये हुए हैं, अथवा पूड़ी कचौड़ो आदि गर्म घीमें पकाये हुए हैं अथवा परामठे आदि घी व अग्नि दोनोंके संयोगसे पकाये हुए हैं। ऐसे प्रकारका उषित अन्न मास भक्षणके द्रव्योंके जानने वालोंको नहीं खाना चाहिए। (प्रश्नोत्तर श्रावकाचार)।

५. अँचार व सुरब्बे आदि अभक्ष्य है

बसु श्रा./५८ संघाण णिच्चं तससंसिद्धाईं ताड परिविज्यव्वाइं ॥५८॥=अँचार आदि निरय त्रस जीवोंसे संसक्त रहते हैं, अतः इनका त्याग कर देना चाहिए। (सा. घ./३/११)।

ला.स/२/२५ प्रमेयित न भक्ष्य स्यादन्नादि पलदोषत। आसवारिष्ट-संधानथानादीना कथात्र का १५१। = जहाँ बरसी भोजनके भक्षणका त्यागका कराया, वहाँपर आसव, अरिष्ट, सन्धान व अथान अर्थात् अँचार-मुरब्बेकी तो बात ही क्या।

६. बीधा व सन्दिग्ध अन्न अभक्ष्य है

अ. ग ध्रा/६/५४ विद्धं पुष्पितमन्नं कालिङ्गद्रोणपुष्पिका त्याज्या। = बीधा और फूई लगा अन्न और कलीदा व राई ये त्यागना योग्य है। (चा, पा/टो./२४/४३/१६)

ला. स/२/श्लोक न विद्धं त्रसाभित यावद्वर्जयेत्तदभक्ष्यवत्। शतश. शोधित चापि सावधानैर्हृगादिभि ११६। सद्विध च मदन्नादि श्रितं वा नाभित त्रसै। मन.सुद्धिप्रसिद्धार्थं भावक क्वापि नाहरेत् १२०। शोधितस्य चिरात्तस्य न कुर्याद्ग्रहणं कृती। कासस्यातिक्रमाद् भूयो दृष्टिपूर्तं समाचरेत् १३२। = घुने हुए या बीधे हुए अन्नमें भी अनेक त्रस जीव होते हैं। यदि सावधान हाकर नेत्रोंके द्वारा शोधा भी जाये तो भी उसमेसे सब त्रस ज बोका निकल जाना असम्भव है; इसलिए सैकड़ों बार शोधा हुआ भी घुना व बीधा अन्न अभक्ष्यके समान त्याज्य है। ११६। जिस पदार्थमें त्रस जीवोंके रहनेका सन्देह हा। (इसमें त्रस जीव है या नहीं) इस प्रकार सन्देह बना ही रहे तो भी श्रावकको मन शुद्धिके अर्थ छोड़ देना चाहिए। १२०। जिस अन्नादि पदार्थको शोधे हुए कई दिन हो गये हों उनको ग्रहण नहीं करना चाहिए। जिस पदार्थको शोधनेपर मर्यादासे अधिक काल हो गया है, उनको पुन शोधकर काममें लेना चाहिए। १३२।

३. गोरस विचार

१. दहीके लिए शुद्ध जामन

व्रत विधान स./३४ दही बांधे कपडे माही, जब नीर न बूँद रहाही। तिहि क्री दे बडी सुखाई राखे अति जतन कराई ॥ प्रायुक्त जलमे धो लीजे, पत्रमाही जामन दोजे। मरयादा भाषी जेह, यह जावन सी लव लीजे ॥ अथवा रुपया गरमाई, डारे पयमें दधि थाई ॥

२. गोरसमें दुग्धादिके त्यागका क्रम

क. पा. १/१.१३.१४/गा.१६२/पृ. २५४ पयोव्रतो न दध्यत्ति न पयोऽत्ति दधिव्रत। अगोरसव्रतो नो चेत् तस्मात्तत्र त्रयात्मकम् ११२२। = जिसका केवल दूध पीनेका नियम है वह दही नहीं खाता दूध ही पीता है, इसी प्रकार जिसका दही खानेका नियम है वह दूध नहीं पीता है और जिसके गोरस नहीं खानेका व्रत है, वह दूध और दही दोनोंको नहीं खाता है। ११२२।

३. दूध अभक्ष्य नहीं है

स. ध/२/१० पर उद्धृत कुर्यात्—मांसं जीवशरीर, जीवशरीर भवेन्न वा मासम्। यद्वन्निम्नं वृक्षो, वृक्षस्तु भवेन्न वा निम्न १६। शुद्ध दुग्ध न गोमांस, वस्तुवै चिन्त्यमो दशम्। विषधन रत्नमाहेयं त्रिषं च विषदे यत १०। हेय पल पय ऐय, समे सत्यपि कारणे। विषद्रोरायुषे पत्रं, मूल तु मृतये मतम् १११। = जो जीवका शरीर है वह मास है ऐसी तर्कसिद्ध व्याप्ति नहीं है, किन्तु जो मास है वह अवश्य जीवका शरीर है ऐसी व्याप्ति है। जैसे जो वृक्ष है वह अवश्य नीम है ऐसी व्याप्ति नहीं अपितु जो नीम है वह अवश्य वृक्ष है ऐसी व्याप्ति है। ११। गायका दूध तो शुद्ध है, मास शुद्ध नहीं। जैसे—सर्पका रत्न तो विषका नाशक है किन्तु विष प्राणोंका घातक है। यद्यपि मास और दूध दोनोंकी उत्पत्ति गायसे है तथापि ऊपरके दृष्टान्तके अनुसार दूध ग्राह्य है मास त्याज्य है। एक यह भी दृष्टान्त है कि—विष वृक्षका पत्ता जीवनदाता वा जड मृत्युदायक है। १११।

४. कच्चे दूध-दहीके साथ विदक दोष

सा ध./५/१८ आमगोरससपृक्त, द्विदल प्रायशोऽनवम्। वर्षस्वदलित चात्र नाहरेत् १८। = कच्चे दूध, दही व मट्टा मिश्रित द्विदलको, बहुधा पुराने द्विदलको, वर्षा ऋतुमें बिना दले द्विदलको नहीं खाना चाहिए। १८। (चा पा./२१/४३/१८)।

व्रत विधान सं./पृ. ३३ पर उद्धृत—योऽपकृतं द्विदलान्निभ्रं भुवत् विधत्ते मुखवापसगे। तस्यास्यमध्ये मरणं प्रयत्ना सन्मूर्च्छिका जीवगणा भवन्ति। = कच्चे दूध दही मट्टा व द्विदल पदार्थोंके मिलनेसे और मुखको लारका उनमें सम्बन्ध होनेसे असह्य सम्मूर्च्छन त्रस जीव राशिया पैदा होती है, इसके महाद् हिंसा होती है। अतः वह सर्वथा त्याज्य है। (ला, सं./२/१४४)।

५. पक्के दूध-दहीके साथ विदक दोष

व्रत विधान सं./पृ. ३३ जब चार सुहूरत जाहीं, एकेन्द्रिय जिय उपजाही। बारा घटिका जब जाय, बेइन्द्रिय तामें थाय। षोडशघटिका हूँ जवही, तेइन्द्रिय उपजे तवही। जब बीस घडी गत-जानी, उपजे चौइन्द्रिय प्राणी। गमिया घटिका जब चौबीस, पचेन्द्रिय जिय पूरित तीस। हूँ है नहीं सशय आनी, यों भाषै जिनवर वाणी। बुधि जन लाय ऐसी दोष, तजिये ततछिन अधकोष। कोई ऐसे बहवाई, खै है एक याम ही माही। मरयाद न सधि है मूल तजि है, जे व्रत अनुकूल। खाने मे प्राय अपार छाडे शुभगति है सार।

६. द्विदलके भेद

व्रत विधान संग्रह/पृ. ३४ १, अन्नद्विदल—मूग, मोठ, अरहर, मसूर, उर्द, चना, कुल्थी आदि। २ काष्ठद्विदल—चारोली, बादाम, पिस्ता, जीरा, धनिया आदि। ३ हरीद्विदल—तोरई, भिण्डी, फदकुली, घीतोरई, खरबूजा, ककडी, पेठा, परवल, सेम, लौकी, करेला, खीरा आदि घने बाज युक्त पदार्थ। नोट—(इन वस्तुओंमें भिण्डी व परवलके बाज दो ढालवाले नहीं होते फिर भी अधिक बीजोंकी अपेक्षा उन्हें द्विदलमें गिनाया गया है। ऐसा प्रतीत होता है। और खरबूजे व पेठेके बीजसे ही द्विदल होता है, उसके गूदेसे नहीं। ४ शिखरनी—दही और छाछमें कोई भीठा पदार्थ डालनेपर उसकी मर्यादा कुल अन्तर्मुहूर्त मात्र रहती है। ५ काँजी—दही छाछमें राई व नमक आदि मिलाकर ढालके पकौडे आदि डालना। यह सर्वथा अभक्ष्य है

४. वनस्पति विचार

१. पंच उदुम्बर फलोंका निषेध व कारण

पु सि उ/७२ ७३ योनिरुदुम्बरं युग्म प्लक्षन्त्यग्रोधपिप्पलफलानि। त्रसजीवाना तस्मात्तेषा तद्भक्षणं हिंसा ७२। यानि तु पुनर्भवेयु कालोच्छिन्नत्रसाणि शुष्काणि। भजतस्तान्यपि हिंसा विशिष्टरागादि-रूपा स्यात् ७३। = ऊमर, कट्ठमर, पिलखन, बड और पीपलके फल त्रस जीवोंकी गोनि है इस कारण उनके भक्षणमें उन त्रस जीवोंकी हिंसा होती है। ७२। और फिर भी जो पाँच उदुम्बर सूखे हुए काल पाकर त्रस जीवोंसे रहित हो जावे तो उनको भी भक्षण करनेवालेके विशेष रागादि रूप हिंसा हाती है। ७३। (सा, ध/२/१३)।

वसु ध्रा/५८ उंबर-बड-पिप्पल पिपरीय-सधाण-तरुसूणाड। णिच्चं तसससिद्धाई ताइ परिवज्जियत्वाड १५८। = ऊंबर, बड, पीपल, कट्ठमर और पाकर फल, इन पाँचो उदुम्बर फल, तथा सधाणक (अँचार) और वृक्षोंके फूल ये सब नित्य त्रस जीवोंसे ससिक्त अर्थात् भरे हुए रहते हैं, इसलिए इनका त्याग करना चाहिए। १५८।

४. भवनवासी देवोंके भेद

त.सू./२/१० भवनवासिनोऽसुरनागविद्युत्सुपर्णाग्निवातस्तनितोदधि-
द्वीपदिक्कुमारः ।१०। = भवनवासी देव दस प्रकार है— असुरकुमार,
नागकुमार, विद्युत्कुमार, सुपर्णकुमार, अग्निकुमार, वातकुमार,
स्तनितकुमार, उदधिकुमार, द्वीपकुमार और दिक्कुमार । (ति. प /
३/६), (त्रि. सा /२०६) ।

५. भवनवासी देवोंके नामके साथ 'कुमार' शब्दका तात्पर्य

स. सि./४/१०/२४३३ सर्वेषा देवानामवस्थितत्रयस्वभावत्वेऽपि वेषा-
भूषाद्युधयानवाहनक्रीडनादि कुमारवेषामाभासत इति भवनवासिषु
कुमारव्यपदेशो रूढः । = यद्यपि इन सब देवोंका वय और स्वभाव
अवस्थित है तो भी इनका वेष, भूषा, शास्त्र, यान, वाहन और क्रीडा
आदि कुमारोंके समान होती है, इसलिए सब भवनवासियोंमें कुमार
शब्द रूढ है । (रा. वा /४/१०/७/२९६/२०); (ति. प /३/१२४-१२६) ।

६. अन्य सम्बन्धित विषय

१. असुर आदि भेद विशेष । —दे० वह वह नाम ।
२. भवनवासी देवोंके गुणस्थान, जीव समाप्त, मार्गणा-
स्थानके स्वामित्व सम्बन्धी २० प्ररूपणार्थे । —दे० सत् ।
३. भवनवासी देवोंके सत् (अस्तित्व) संख्या, क्षेत्र,
स्पर्शन, काल, अन्तर, भाव, अल्पबहुत्व रूप आठ
प्ररूपणार्थे । —दे० वह वह नाम ।
४. भवनवासियोंमें कर्म प्रकृतियोंका बन्ध, उदय व सत्त्व ।
—दे० वह वह नाम ।
५. भवनवासियोंमें सुख-दुःख तथा सम्यक्त्व व गुणस्थानों
आदि सम्बन्ध । —दे० देव/II/३ ।
६. भवनवासियोंमें सम्भव कषाय, वेद, लेश्या, पर्याप्ति
आदि । —दे० वह वह नाम ।
७. भवनवासी देव मरकर कहा उत्पन्न हों और कौन-
सा गुणस्थान या पद प्राप्त करें । —दे० जन्म/६ ।
८. भवनविक देवोंकी अवगाहना । —दे० अवगाहना/२ ।

३. भवनवासियोंके वर्ण, आहार, श्वास आदि

देवका नाम	वर्ण ति. प./३ ११६-१२०	मुकुट चिह्न ति. प./ ३/१०/ त्रि.सा./ २१३	चैत्यवृक्ष ति. प./ ३/१३६	आहारका अन्तराल सू आ./ ११४६ ति. प /३/ १११-११६ त्रि.सा./२४५	श्वासो- च्छ्वासका अन्तराल ति. प./३/ ११४-११७ त्रि सा/१२५
असुरकुमार	कृष्ण	चूडा- मणि	अश्वत्थ	१६०० (सू आ) १००० वर्ष	१६ दिन
नागकुमार	काल श्याम	सर्प	सप्तपर्ण	१२३ दिन	१३ सुहृत्
सुपर्णकुमार	श्याम	गरुड	शाण्मली	"	"
द्वीपकुमार	"	हाथी	जामुन	"	"
उदधि कुमार	काल श्याम	मगर	केतस	१२ दिन	१२ सुहृत्
स्तनित कुमार	"	स्वस्तिक	कदंब	"	"
विद्युत् कुमार	त्रिजलीवत्	वज्र	प्रियशु	"	"
दिक्कुमार	श्यामल	सिंह	शिरीष	७३ दिन	७३ सुहृत्
अग्निकुमार	अग्निज्वाला वातवत्	कलश	पलाश	"	"
वायुकुमार	नीलकमल	तुरग	राजद्रुम	"	"
इनके सामानिक, त्रायस्त्रिंश पारिषद व प्रतीन्द्र				स्व इन्द्रवत्	स्व इन्द्रवत्
१००० वर्षकी आयुवाले देव				२ दिन	७ श्वासो
१ पर्य की " " "				६ "	६ सुहृत्

२. भवनवासी इन्द्रोंका वैभव

१. भवनवासी देवोंके इन्द्रोंकी संख्या

ति. प /३/१३ दससु कुलेसु गृह गृह दो दो ईदा हवति णियमेण । ते
एकस्स मिलिदा बीस विराजति भूदीहि ।१३। = दश भवनवासियों-
के कुलोमें नियमसे पृथक्-पृथक् दो-दो इन्द्र होते है । वे सब मिलकर
२० इन्द्र होते है, जो अपनी-अपनी विभूतिसे शोभायमान है ।

२. भवनवासी इन्द्रोंके नाम निर्देश

ति. प./३/१४-१६ पहमो हु चमरणाभो इदो वइरोयणो स्ति विदिओ
य । भूदान्दो धरणाणो वेणु य वेणुधारी य ।१४। पुणवसिदुजल-
प्पहजलकता तह य धोसभहधोसा । हरिसेणो हरिकंतो अमिदगदी
अमिदवाहणंगिसिहो ।१५। अग्निवाहणामो वेत्तवभंजणाभिधाणा
य । एदे असुरप्पहुदिसु कुलेसु दादो कमेण वेविदा ।१६। = असुर-
कुमारोंमें प्रथम चमर नामक और दूसरा वैरोचन इन्द्र, नागकुमारोंमें
भूतानन्द और धरणाणन्द, सुपर्णकुमारोंमें वेणु और वेणुधारी, द्वीप-
कुमारोंमें पूर्ण और वशिष्ठ, उदधिकुमारोंमें जलप्रभ और जलकान्त,

*** भवनवासियोंके शरीर सुख-दुःख आदि**

—दे० देव/II/२ ।

४. भवनवासियोंकी शक्ति व विक्रिया

ति. प./३/१६२-१६६ का भाषार्थ—दश हजार वर्षकी आयुवाला देव १००
मनुष्योंको मारने व पोसनेमें तथा डेढ़सौ धनुष प्रमाण लम्बे चौड़े
क्षेत्रको बाहुओंसे वेष्टित करने व उखाड़नेमें समर्थ है । एक पर्यकी
आयुवाला देव छह खण्डकी पृथिवीको उखाड़ने तथा वहाँ रहनेवाले
मनुष्य व तिर्यञ्चोको मारने वा पोसनेमें समर्थ है । एक सागरकी
आयुवाला देव जन्मद्वीपको समुद्रमें फेंकने और उसमें स्थित मनुष्य
व तिर्यचोंको पोसनेमें समर्थ है । दश हजार वर्षकी आयुवाला देव
उरकृष्ट रूपसे सौ, जघन्यरूपसे सात, मध्यरूपसे सौसे कम सातसे
अधिक रूपोंकी विक्रिया करता है । शेष सब देव अपने-अपने
अनुविज्ञानके क्षेत्रोंके प्रमाण विक्रियाको पूरित करते है । सरुयात व
असख्यात वर्षकी आयुवाला देव क्रमसे सरुयात व असख्यात योजन
जाता व उतने ही योजन आता है ।

५. भवनवासी इन्द्रोंका परिवार

स = सहस्र

ति. प/३/७६-६६ (त्रि सा /२२६-२३५)

कालिका		शिवलोक	
७ खनीक में-से प्रत्येक	सहस्र ८१२८ स. ७६५० " " ७११२ स. ६३५० स.		
लाभकाल	४ " " " " " "		
आत्मरक्ष	२५६ स. १४० स. २२४ स. २०० स.		
पारिषद	बाह्य युक्त	३२ स. २० स. १० स. ८ स.	उपरोक्त पूर्ण इन्द्रवत्
	मध्य चन्द्रा	३० स. २८ स. ८ स. ६ स.	
	अभ्यन्त समित	२८ स. २६ स. ६ स. ४ स.	
द्वितीयकाल	३३ " " " " " "		
कर्मसामाज	६४ स. ६० स. ५६ स. ५० स.		
द्वितीयकाल	१ " " " " " "		
देवियोंका परिवार	योग	५६ स. " " " " " "	
	द्वितीयकाल	१६ स. " " " " " "	
	द्वितीयकाल	१० स. " " " " " "	
	द्वितीयकाल	५ " " " " " "	
इन्द्रोंके नाम	चमरेन्द्र बैरोचन भूतानन्द धरणानन्द बेणु बेणुधारी पूर्ण शेष सर्व इन्द्र		

वरविज्वला संति । छस्सहस्रं च समं पत्तकं विविहस्वेहि । ६८
= चमरेन्द्रकी अप्रमहियीमेंमें प्रत्येक अपने साथ अर्थात् मूल शरीर सहित, अनुपम रूप लावण्यसे युक्त आठ हजार प्रमाण विक्रिया निमित्त रूपोंको धारण कर सकती है । ६९ । (द्वितीय इन्द्रकी देवियाँ तथा नागेन्द्रो व गरुडेन्द्रो (सुपर्ण) की अप्र देवियोंकी विक्रियाका प्रमाण भी आठ हजार है । (ति. प./३/६४-६६) । द्वीपेन्द्रादिकोंकी देवियोंमेंसे प्रत्येकके मूल शरीरके साथ विविध प्रकारके रूपोंसे छह हजार प्रमाण विक्रिया होती है । ६८ ।

३. इन्द्रों व उनके परिवार देवोंकी देवियाँ

ति. प/३/१०२-१०६ (त्रि. सा./२३७-२३६)

इन्द्रका नाम	इन्द्र	प्रतीन्द्र	सामानिक	त्रायत्रिंश	पारिषद			आत्मरक्ष	लोकपाल	सैनसुर	महत्तर	आभियोग्य			
					अभ्यन्तर	मध्यम	बाह्य								
चमरेन्द्र	दे० भवनवासी/२/५	स्व इन्द्रवत्	स्व इन्द्रवत्	स्व इन्द्रवत्	२५०	२००	१५०	१००							
बैरोचन					३००	२५०	२००								
भूतानन्द					२००	१६०	१४०								
धरणानन्द					"	"	"								
बेणु					१६०	१४०	१२०								
बेणुधारी					"	"	"								
शेष सर्व					१४०	१२०	१००								
इन्द्र															

३. भवनवासी देवियोंका निर्देश

१. इन्द्रोंकी प्रधान देवियोंका नाम निर्देश

ति. प./३/६०.६४ क्णहा रयणसुमेधा देवोणामा सुकंदअभिधाणा । गिरुवमस्त्वधराओ चमरे पचग्गमहिसीओ । ६०। पउमापउमसिरीओ कणयसिरी कणयमालमहपउमा । अग्गमहिसोउ बिट्ठिए । ६४। = चमरेन्द्रके कृष्णा, रत्ना, सुमेधा देवी नामक और सुकदा या सुकान्ता (सुकाढ्या) नामकी अनुपम रूपको धारण करनेवाली पाँच अप्रमहियीयों है । ६०। (त्रि. सा /२३६) द्वितीय इन्द्रके पद्मा, पद्मश्री, कनकश्री, कनकमाला और महापद्मा, ये पाँच अप्रदेवियाँ है ।

२. प्रधान देवियोंकी विक्रियाका प्रमाण

ति. प/३/६२.६८ चमरेन्द्रमहिसीणं अट्टसहस्रविक्वणा संति । पत्तकं अप्पसमं गिरुवमलावण्यरुवेहि । ६२। दीविदप्पहुट्ठीणं देवीण

४. भावन लोक

१. भावन लोक निर्देश

दे० रत्नप्रभा (मध्य लोककी इस चित्रा पृथिवीके नीचे रत्नप्रभा पृथिवी है । उसके तीन भाग हैं—खरभाग, पंकभाग, अम्बहुलभाग ।)

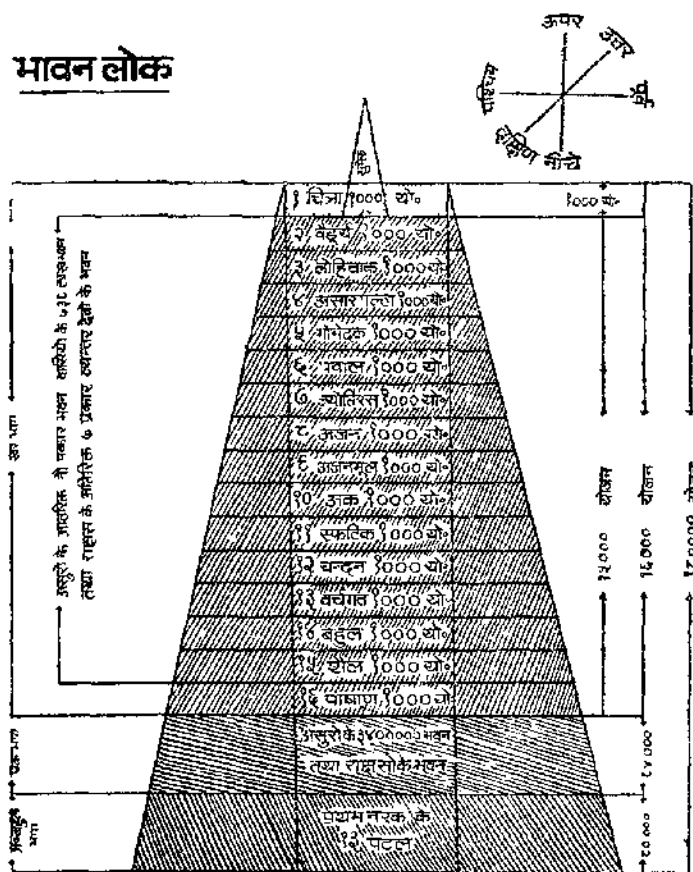
ति. प/३/७ रयणपपहुट्ठीवीए खरभाए पकन्नहुलभागम्मि । भवणसुराणं भवणहं होंति वररयणसोहाणि । ७। = रत्नप्रभा पृथिवीके खरभाग और पकन्नहुल भागमे उत्कृष्ट रत्नोंसे शोभायमान भवनवासी देवोंके भवन है । ७।

रा. वा /३/१/८/१६०/२२ तत्र खरपृथिवीभागस्योपर्यधश्चैकैकं योजनसहस्र परित्यज्य मध्यमभागेषु चतुर्वशसु योजनसहस्रेषु किन्नरकिंपुरुष सप्ताना व्यन्तराणा नागविद्युत्सुपर्णाग्निवातस्तनितोदधिद्वीपदिवकुमाराणा नवाना भवनवासिना चावासा । पङ्कन्नहुलभागे अमुरराक्षसानामावासा । = खर पृथिवी भागके ऊपर और नीचेकी ओर एक-एक हजार योजन छोडकर मध्यके १४ हजार योजनमें किन्नर, किम्पुरुष --आदि सात व्यन्तरोके तथा नाग, विद्युत्, सुपर्ण, अग्नि, वात, स्तनित, उदधि, द्वीप और दिक्कुमार इन नव भवनवासियोंके निवास है । पकन्नहुल भागमे अमुर और राक्षसोंके आवास है । (ह. पु/४/५०-५१: ५६-६५), (ज. प./११/१२३-१२७) ।

दे० व्यन्तर/४/१.५ (खरभाग, पंकभाग और तिर्यक् लोकमे भी भवनवासियोंके निवास है) ।

* भावन लोकमें वादर अप व तेज कायिकोंका अस्तित्व — दे० काय/२/५ ।

भावन लोक



ति. प./५/१३१-१३३ का भावार्थ (लोक विनिश्चयके अनुसार कुण्डवर द्वीपके कुण्ड पर्वतपरके पूर्वादि दिशाओमें १६ कूटपर १६ नागेन्द्रदेव रहते है 1१३१-१३३।)

४. खर पंक भागमें स्थित भवनोंकी संख्या

ति. प./३/११-१२; २०-२१), (रा. वा 18/१०/1/२१६/२६); (ज प /११/ १२४-१२७) ।

ल = लाख

देवोका नाम	भवनोंकी संख्या		
	उत्तरेन्द्र	दक्षिणेन्द्र	कुल योग
अक्षरकुमार	३४ ल	३० ल	६४ ल
नागकुमार	४४ ल	४० ल	८४ ल
सुपर्णकुमार	३२ ल	३४ ल	७२ ल
द्वीपकुमार	४० ल	३६ ल	७६ ल
उदधिकुमार	"	"	"
स्तनित कुमार	"	"	"
विद्युत् कुमार	"	"	"
दिक्कुमार	"	"	"
अग्निकुमार	"	"	"
वायुकुमार	५० ल	४६ ल	९६ ल
			७७२ ल

२. भवनवासी देवोंके निवास स्थानोंके भेद व लक्षण

ति. प./३/२२-२३ भवणा भवणपुराणि आवासा अ सुराण होदि तिबिहा णं । रम्यणपहाए भवणा दीवसमुद्राण उवरि भवणपुरा 1२२। दहसेल-दुमादीणं रममाणं उवरि होति आवासा। णागादीण केसि तियणि-लया भवणमेकमसुराणं 1२३। =भवनवासी देवोंके निवास-स्थान भवन, भवनपुर और आवासके भेदसे तीन प्रकार होते है। इनमेंसे रत्नप्रभा पृथिवीमें स्थित निवासस्थानोंको भवन, द्वीप समुद्रोंके ऊपर स्थित निवासस्थानोंको भवनपुर, और तालाब, पर्वत और वृक्षादिके ऊपर स्थित निवासस्थानोंको आवास कहते है। नाग-कुमारादिक देवोंमेंसे किन्हींके तो भवन, भवनपुर और आवास तीनों ही तरहके निवास स्थान होते है, परन्तु अक्षरकुमारोंके केवल एक भवन रूप ही निवासस्थान होते है।

३. मध्य लोकमें भवनवासियोंका निवास

ति प./४/२०६२-२१२६ का भावार्थ—(जम्बूद्वीपके विदेह क्षेत्रमें देवकुरु व उत्तरकुरुमें स्थित दो प्रमक पर्वतोंके उत्तर भागमें सीता नदीके दोनों ओर स्थित निषध, देवकुरु, मूर, सुलस, विद्युत् इन पाँचों नामोंके युगलरूप १० द्रहोमें उन-उन नामवाले नागकुमार देवोंके निवासस्थान (आवास) है 1२०६२-२१२६।)

ति प./४/२७८०-२७८२ का भावार्थ (मानुषोत्तर पर्वतपर ईशान दिशाके वज्रनाभि कूटपर हनुमात् नामक देव और प्रभजनकूटपर वेणुधारी भवनेन्द्र रहता है 1२७८१। वायव्य दिशाके वेलम्ब नामक और नैऋत्य दिशाके सर्वरत्न कूटपर वेणुधारी भवनेन्द्र रहता है 1२७८२। अग्नि दिशाके तपनीय नामक कूटपर स्वातिदेव और रत्नकूटपर वेणु नामक भवनेन्द्र रहता है 1२७८०।)

५. भवनोंकी बनावट व विस्तार आदि

ति. प./३/२५-६१ का भावार्थ (ये सब देवो व इन्द्रोके भवन समचतु-ष्कोण तथा वज्रमय द्वारोसे शोभायमान है 1२५। ये भवन बाह्यव्यमें ३०० योजन और विस्तारमें संख्यात व असंख्यात योजन प्रमाण है 1२६-२७। भवनोंकी चारो दिशाओमें - उपादष्ट योजन प्रमाण जाकर एक-एक दिव्यवेदी (परकोट) है 1२८। इन वेदियोंकी ऊँचाई दो कोस और विस्तार ५०० धनुष प्रमाण है 1२९। गोपुर द्वारोसे युक्त और उपरिम भागमें जिनमन्दिरोंसे सहित वे वेदियों हैं 1३०। वेदियोंके बाह्य भागोंमें चैत्य वृक्षोसे सहित और अपने नाना वृक्षोसे युक्त पवित्र अशोकवन, समच्छदवन, चंपकवन और आम्रवन स्थित है 1३१। इन वेदियोंके बहुमध्य भागमें सर्वत्र १०० योजन ऊँचे वेजासनके आकार रत्नमय महाकूट स्थित है 1४०। प्रत्येक कूटपर एक-एक जिन भवन है 1४३। कूटोंके चारों तरफ भवनवासी देवोंके प्रासाद है 1५६। सब भवन सात, आठ, नौ व दश इत्यादि भूमियों (मजिलो) से भूषित - जन्मशाला, भूषणशाला, मैथुनशाला, ओलगशाला (परिचर्यागृह) और यन्त्रशाला (सहित) - सामान्यगृह, गर्भगृह, कदलीगृह, चित्र-गृह, आसनगृह, नादगृह, और लतागृह इत्यादि गृहविशेषोंसे सहित - पुष्करिणी, बापी और रूप इनके समूहसे युक्त गवाक्ष और कपाटोंसे सुशोभित नाना प्रकारकी पुतलिकाओसे सहित - अनादिनिधन है 1५७-६१।)

६. प्रत्येक भवनमें देवों की बस्ती

ति. प./३/२६-२७ -संखेज्जरु'वभवणेसु भवणदेवा वसति संखेज्जा 1२६। संखातीदा सेयं छत्तीससुरा य होदि संखेज्जा। 1२७। =संख्यात योजन विस्तारवाले भवनोमें और शेष असंख्यात योजन विस्तार-वाले भवनोमें असंख्यात भवनवासी देव रहते है।

भवनतापि आकाशोपपन्न देव—दे० देव/II/३।

भवन भूमि—दे० ममवशरणको ७ वी भूमि।

भव परिवर्तन रूप संसार—दे० संसार/२।

भवप्रत्यय ज्ञान—दे० अवधिज्ञान/१,६।

भव प्रत्यय प्रकृतियों—दे० प्रकृतिबन्ध/२।

भव विषय धर्मध्यान—दे० धर्मध्यान/१।

भव विपाकी प्रकृतियों—दे० प्रकृतिबन्ध/२।

भव स्थिति—भवस्थिति व कायस्थितिमें अन्तर—दे० स्थिति/२।

भवाद्धा—गो. जी./भाषा/२५/५६६/१५ पर्याय सम्बन्धी (पर्याय विशेषमें परिभ्रमणका उत्कृष्ट काल) तो भवाद्धा है।

भवितव्य—दे० नियति/४।

भविष्यदत्त क्षत्रा—महारक श्रीधर (ई. श. १४) की एक प्राकृत छन्द बद्ध रचना। (ती. ३/१८७)

भविष्यदत्त चरित्र—१. आ. राममल्ल (ई. १५५६-१६१०) कृत, २. पं. पद्म सुन्दर (ई० १५५७) कृत संस्कृत काव्य। (ती./४/८३)।

भविष्यवाणी—आगममें अनेकों विषयों सम्बन्धी भविष्यवाणी की गयी है। यथा—

ति. प /४/१४२१, १४६३-१४६५ मण्डधरेसू चरिमो जिणदिक्ख धरदि चदगुत्तो य। तत्तो मण्डधरापुंण्वज्ज पेव गेण्हति। १४८२। वीस-सहस्रं तिसदा सत्तारस वच्छराणि सुदत्तिथ। धम्मपयद्वणहेहू वोच्छिस्सादि कालदोसेण। १४६३। तेत्तियमेत्तेकाले जम्मिस्सादि चाउवणसषाओ। अविणी तुम्मेथो वि य असूयको तह य पाएण। १४६४। सत्तभयअडमदेहिमजुत्तो सल्लगारव्वरेहि। कलाहपिओ रागिट्ठो क्रूरो कोहाहओ तोओ। १४६५। = १ मुनिदीक्षा सम्बन्धी—मुकुटधरोमें अन्तिम चन्द्रगुप्ते जिनदीक्षा धारण की। इसके पश्चात् मुकुटधारी दीक्षाको धारण नहीं करते। १४८१। २ द्रव्य श्रुतके व्युच्छेद सम्बन्धी—जो श्रुततीर्थ धर्म प्रवर्तनका कारण है, वह बीस हजार तीन सौ सत्तरह (२०३१७) वर्षोंके काल दोषसे व्युच्छेदको प्राप्त हो जायेगा। १४६३। ३. चतुस्र सम्बन्धी—इतने मात्र समयमें (२०३१७ वर्ष तक) चातुर्वर्ष्य सब जन्म लेता रहेगा। १४६३। ४ मनुष्यकी बुद्धि सम्बन्धी—किन्तु लोक प्राय अविनीत, दुर्बुद्धि, असूयक, सात भय व आठ मरोके सम्युक्त, शब्द एव गारवीसे सहित, कलह प्रिय, रागिष्ठ, क्रूर एव क्रोधी होगा। १४६३।

दे. स्वप्न। भरत महाराजके १६ स्वप्नोका फल वर्णन करते हुए भगवान् ऋषभदेवने पञ्चमकालमें होनेवाली घटनाओं सम्बन्धी भविष्यवाणी की।

भव्य—संसारमें पुण्य व नेकी प्राप्तता सहित मंगारी जीवोंको भव्य और वैसी योग्यताये रक्षित जीवोंका अभव्य कहते हैं। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि सारे भव्य जीव अवश्य ही मुक्त हो जायेंगे। यदि यह सम्यक् पुरुषार्थकरेता मुक्त हो सक्ता है अन्यथा नहीं, ऐसा अभिप्राय है। भव्य में भा कुप्र ऐसे होते हैं जो कभी भा उस प्रकारका पुरुषार्थ नहीं करेंगे, ऐसे जीवोंका अभव्य समान भव्य कहा जाता है। और जो अनन्तकाल जानेपर पुरुषार्थ करेंगे उन्हें दूरानुदूर भव्य कहा जाता है। मुक्त जीवोंका न भव्य कह सकते हैं न अभव्य।

१. भेद व लक्षण

१. भव्य व अभव्य जीवका लक्षण

स सि./२/७/१६१/३ सम्यग्दर्शनादिभावेन भविष्यतीति भव्य। तद्विपरीतोऽभव्य। = जिसके सम्यग्दर्शन आदि भाव प्रकट होनेकी योग्यता है वह भव्य कहलाता है। अभव्य इसका उलटा है (रा. वा /२/७/८/१११/७)

प. स./प्रा/१५५-१५६ संखेज्ज असखेज्जा अणतकालेण चावि ते णियमा। सिज्जंति भव्यजीवा अभव्यजीवा ण सिज्जंति। १५५। भविष्या सिद्धी जेसि वीवाणं ते भवंति भवसिद्धा। तन्वित्ररीया-ऽभव्या ससाराओ ण सिज्जंति। १५६। = जो भव्य जीव है वे नियमसे सख्यात, असख्यात व अनन्तकालके द्वारा मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं परन्तु अभव्य जीव कभी भी मोक्ष प्राप्त नहीं कर पाते हैं। जो जीव सिद्ध पदकी प्राप्तिके योग्य है उन्हें भवसिद्ध कहते हैं। और उनसे विपरीत जो जीव संसारसे छूटकर सिद्ध नहीं होते वे अभव्य हैं। १५५-१५६। (घ. १/१.१.१४२/ग. २११/३६४), (रा. वा /६/७/११/६०४/१४), (घ. ७/२.१.३/७/५), (न. च. वृ /१२७); (गो. जी /मू /२५७/६८७)।

घ. १३/५.५.५०/२८६/२ भवतीति भव्यम् = (आगम) वर्तमान कालमें है इसलिए उसको भव्य सज्ञा है।

नि. सा./ता वृ /१५६ भाविकाले स्वभावानन्तचतुष्टयात्मसहजज्ञानादि-गुणैः भवनयोग्या भव्या, एतेषा विपरीताऽह्यभव्याः। = भविष्यकालमें स्वभाव-अनन्त चतुष्टयात्मक सहज ज्ञानादि गुणोरूपसे भवन (परिणमन) के योग्य (जीव) वे भव्य हैं, उनसे विपरीत (जीव) वे वारतवमें अभव्य हैं। (गो. जी./जी. प्र./७०४/११४५/८)।

द्र. स /टी./२६/८४/४ की चूलिका—स्वशुद्धात्मसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुचरण-रूपेण भविष्यतीति भव्यः। = निज शुद्ध आत्माके सम्यक् श्रद्धान, ज्ञान तथा आचरण रूपसे जो होगा उसे भव्य कहते हैं।

२. भव्य अभव्य जीवकी पहिचान

प्र. सा /मू /६२ णो महह ति सोक्खं सुहेसु परमंति विगदधादीणं। सूण्णिवूण ते अभव्वा भव्वा वा त पडिच्छंति। = जिनके पातोर्कर्म नष्ट हो गये हैं, उनका सुख (सर्व) सुखोंमें उत्कृष्ट है यह सुनकर जो श्रद्धा नहीं करते वे अभव्य हैं, और भव्य उसे स्वीकार (आदर) करते हैं श्रद्धा करते हैं। ६२।

पं. वि./४/२३ तत्प्रतिप्रोत्तिचिन्ते येन वार्तापि हि धुता। निश्चितं स भवेत्तयो भाविनिर्गणभाजनम्। २३। = उस आरम तेजके प्रति मनमें प्रेमको धारण करके जिसने उसको वात भी सुनी है वह निश्चयसे भव्य है। वह भविष्यमें प्राप्त होनेवाली मुक्तिका पात्र है। २३।

३. भव्य मार्गणाके भेद

प. ख /१.१/मू /१४१/३६२ भविष्याणुवादेण अत्थि भवसिद्धिया अभव्य-निद्धिया। १४१। = भव्यमार्गणाके अनुवादसे भव्यसिद्ध और अभव्य-सिद्ध जीव होते हैं। १४१। (द्र. स /टी./१३/३८/६)।

घ./२/१.१/४१६/२ भवसिद्धिया वि अत्थि, अभवसिद्धिया वि अत्थि, णेव भासिद्धिया पेव अभवसिद्धिया वि अत्थि। = भव्यसिद्धिक ज व होते हैं, अभव्यसिद्धिक जीव होते हैं और भव्यसिद्धिक तथा अभव्यसिद्धिक इन दोनों विकल्पोंसे रहित भी स्थान होता है।

ग। जी/जी/प्र/७०४/११४५/२ भव्य स च आसन्नभव्य दूरभव्य-अभव्यसमभव्यश्चेति त्रेधा। = भव्य तीन प्रकार है—आसन्न भव्य, दूर भव्य और अभव्यसम भव्य।

४. आमन्न व दूर भव्य जीवके लक्षण

प्र. सा /न प्र /६८ ये पुनरिदं मिदानीमेव वच प्रतीच्छन्ति ते शिवश्रियो भाजन समासन्नभव्या भवन्ति। ये तु पुरः प्रतीच्छन्ति ते दूरभव्या

इति । = जो उस (केवली भगवान्का मुख सर्व सुखोमे उत्कृष्ट है) ।
वचनको इसी समय स्वीकार (भद्रा) करते हैं वे शिवश्रीके भाजन
आसन्न भव्य है । और जो आगे जाकर स्वीकार करेंगे वे दूर
भव्य है ।

गो. जी./भाषा/७०४/११४४/२ जे थोरे कालमे मुक्त होते होइ ते आसन्न
भव्य है । जे बहुत कालमे मुक्त होते होइ ते दूर भव्य है ।

५. अभव्य समभव्य जीवका लक्षण

क पा./२/२,२२/४४२६/१६६/११ अभव्यसु अभव्यसमागभव्यसु च णिच्च-
णिगोदभावभुवणसु । = जो अभव्य है या अभव्योके समान नित्य
निगोदको प्राप्त हुए भव्य है ।

गो. जी./भाषा/७०४/११४४/३ जे त्रिकाल विषै मुक्त होनेके नाही केवल
मुक्त होनेको योग्यता ही कौ धरे है ते अभव्य सम भव्य है ।

६. अतीत भव्य जीवका लक्षण

पं सं./प्रा./१/१६७ ण य जे भव्याभव्या मुत्तिसुहा होति तीदससारा ।
ते जीवा णायव्वा णो भव्या णो अभव्या य । १६७ = जो न भव्य है
और न अभव्य है, किन्तु जिन्होंने मुक्तिको प्राप्त कर लिया है और
अतीत ससार है । उन जीवोको नो भव्य नो अभव्य जानना
चाहिए । (गो. जी./मू./६६६) (पं. स./स/१/२८६) ।

७. भव्य व अभव्य स्वभावका लक्षण

आ.प./६ भाविकाले परस्वरूपाकारभवनाइ भव्यस्वभाव । कालत्रयेऽपि
परस्वरूपाकारा भवनादभव्यस्वभाव । = भाविकालमे पर स्वरूपके
(नवीन पर्यायके) आकार रूपसे होनेके कारण भव्यस्वभाव है ।
और तीनो कालमें भी पर स्वरूपके (पर द्रव्यके) आकार रूपसे
नहीं होनेके कारण अभव्य स्वभाव है ।

पं. का./त प्र./३७ द्रव्यस्य सर्वदा अभूतपर्यायैः भाव्यमिति द्रव्यस्य
सर्वदा भूतपर्यायैः भाव्यमिति ।

पं. का./ता वृ./३७/७६/११ निर्विकारचिदानन्दैकस्वभावपरिणामेन
भवन परिणमन भव्यत्व अतीतमिथ्यात्वरागादिभावपरिणामेनाभव-
नमपरिणमनमभव्यत्व । = द्रव्य सर्वदा भूत पर्यायो रूपसे भाव्य
(परिणमित होने योग्य) है । द्रव्य सर्वदा भूत पर्यायो रूपसे अभाव्य
(न होने योग्य) है (त, प्र) निर्विकार चिदानन्द एक स्वभाव
रूपसे होना अर्थात् परिणमन करना सो भव्यत्व भाव है । और
विनष्ट हुए विभाव रागादि विभाव परिणाम रूपसे नहीं होना अर्थात्
परिणमन नहीं करना अभव्यत्व भाव है । ता वृ ।

२. भव्याभव्य निर्देश

१. सम्यक्त्वादि गुणोंकी व्यक्तिकी अपेक्षा भव्य असव्य व्यपदेश है

रा.वा./८/६/८-६/५७१/२५ न सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रशक्तिभावाभावाभ्या
भव्यमभव्यत्वं कल्प्यते । कथं तहि १२५ । सम्यक्त्वादिव्यक्तिभावा-
भावाभ्या भव्याभव्यत्वमिति विकल्पः कनकेतरपाषाणवत् । १६ यथा
कनकभावव्यक्तियोगमवाप्स्यति इति कनकपाषाण इत्युच्यते तदभावा-
दन्धपाषाण इति । तथा सम्यक्त्वादिपर्यायव्यक्तियोगार्हो य स
भव्यतद्विपरीतोऽभव्यः इति चोच्यते । = भव्यत्व और अभव्यत्व
विभाग ज्ञान, दर्शन और चारित्रकी शक्तिके सद्भाव और असद्भावकी
अपेक्षा नहीं है । प्रश्न—तो किस आधारसे यह विकल्प कहा गया
है ? उत्तर—शक्तिको प्रगट होनेकी योग्यता और अयोग्यताकी
अपेक्षा है । जैसे जिसमे सुवर्णपर्यायके प्रगट होनेकी योग्यता है वह
कनकपाषाण कहा जाता है और अन्य अन्धपाषाण । उसी तरह

सम्यग्दर्शनादि पर्यायोकी अभिव्यक्तिकी योग्यता वाला भव्य
तथा अन्य अभव्य है । (स, सि./८/६/३८२/६)

२. भव्य मार्गणामे गुणस्थानोंका स्वामित्व

प ख १/१,१/सू. १४२-१४३/३६४ भवसिद्धिया एहदिय-प्पहुडि जाव अजो-
गिकेवलि त्ति । १४२ । अभवसिद्धिया एहदिय-प्पहुडि जाव सणि-
मिच्छाहट्टि त्ति । १४३ । = भव्य सिद्ध जीव एकेन्द्रियसे लेकर अयोगि
केवली गुणस्थान तक होते हैं । १४२ । अभव्यसिद्ध जीव एकेन्द्रियसे
लेकर सज्जी मिथ्यादृष्टि गुणस्थान तक होते हैं । १४३ ।

प स/प्रा./४/६७ खीणताभव्वमि य अभव्वे मिच्छमेय तु । = भव्य
मार्गणकी अपेक्षा भव्य जीवोके क्षीण कवायान्त बारह गुणस्थान होते
हैं । (क्योंकि सयोगी व अयोगीके भव्य व्यपदेश नहीं होता
(प, स/प्रा./टो/४/६७) अभव्य जीवोके तो एकमात्र मिथ्यात्व गुण-
स्थान होता है । ६७)

★ भव्य मार्गणामे जीवसमास आदि विषयक २० प्ररूपणाएँ
—दे० सत् ।

★ भव्य मार्गणको सत् संख्या आदि ८ प्ररूपणाएँ
—दे० वह वह नाम ।

★ भव्य मार्गणामे कर्मोंका बन्ध उदय सत्त्व
—दे० वह वह नाम ।

३. सभी भव्य सिद्ध नहीं होते

प. स/प्रा/१/१६४ सिद्धतणस्म जोगा जे जीवा ते भवति भवसिद्धा ।
ण उ मलविगमे णियमा ताणं कणकोपलाणमिव । = जो जीव सिद्धत्व
अवस्था पानेके योग्य है वे भव्यसिद्ध कहलाते हैं । किन्तु उनके
कनकापल (स्वर्ण पाषाण) के समान मलका नाश होनेमें नियम नहीं
है । (विशेषार्थ—जिस प्रकार स्वर्णपाषाणमे स्वर्ण रहते हुए भी
उसको पृथक् किया जाना निश्चित नहीं है । उसी प्रकार सिद्धत्वकी
योग्यता रखते हुए भी कितने ही भव्य जीव अनुकूल सामग्री मिलने-
पर भी मोक्षको प्राप्त नहीं कर पाते) । (ध/१/१.१.४/गा ६६/१६०)
(गो जी./मू./६६६) (पं. स/स/१/२८३) ।

रा वा/१/३/६/२४/२ केचित् भव्याः संख्येयैः कालेन सेत्स्यन्ति,
केचिदसंख्येयैः केचिदनन्तेन अपरे अनन्तानन्तेन सेत्स्यन्ति । = कोई
भव्य संख्यात, कोई असंख्यात और कोई अनन्तकालमे सिद्ध होंगे ।
और कुछ ऐसे हैं जो अनन्त कालमें भी सिद्ध न होंगे ।

ध.४/१.२.३०/४७८/४ ण च सत्तिमंताणं सव्वेसि पि वत्तीए होद्ववमिदि
णियमो अत्थि सव्वस्स ति हेमपासा-स्स हेमपज्जाएण परिणमणप्प-
संगा । ण च एव, अणुबलमा । = यह कोई नियम नहीं है कि
भव्यत्वकी शक्ति रखनेवाले सभी जीवोके उसकी व्यक्ति होना ही
चाहिए, अन्यथा सभी स्वर्ण-पाषाणके स्वर्ण पर्यायसे परिणमनका
प्रसंग प्राप्त होगा । किन्तु इस प्रकारसे देखा नहीं जाता ।

४. मिथ्यादृष्टिको कथंचिद् अभव्य कह सकते हैं

क पा ४/३,२२/३६१५/३२५/२ अभवसिद्धियमाओग्गे त्ति भण्णिदे मिच्छा-
मिष्टिपाओग्गे त्ति घेत्तव । उक्कससिद्धिअणुभागबधे पडुच्च समाण-
त्तणेण अभव्यववएस पडि विरोहाभावादो । = सूत्रमें अभवसिद्धिपा-
आग्गे ऐसा कर्त्तनेपर उसका अर्थ मिथ्यादृष्टिके योग्य ऐसा लेना
चाहिए । क्योंकि उत्कृष्ट स्थिति और उत्कृष्ट अनुभागकी अपेक्षा
समानता होनेसे मिथ्यादृष्टिको अभव्य कहनेमें कोई विरोध नहीं
आता है ।

५. शुद्ध नयसे दोनों समान हैं और अशुद्ध नयसे असमान

स. श/मू/४ बहिरन्त परश्चेति त्रिधात्मा सर्वदेहिषु । १४। = बहिरात्मा अन्तरात्मा और परमात्मा ये तीन प्रकारके आत्मा सर्व प्राणियोंमें हैं- १४।

द्र. स/टी/१४/४८/१ त्रिविधात्मसु मध्ये मिथ्यादृष्टिभयजोवे बहिरात्मा व्यक्तीरूपेण तिष्ठति, अन्तरात्मपरमात्मद्वय शक्तिरूपेण भाविने-गमनयापेक्षया व्यक्तीरूपेण च । अभव्यजोवे पुनर्बहिरात्मा व्यक्तीरूपेण अन्तरात्मपरमात्मद्वय शक्तिरूपेणैव च भाविने गमनयेनेति । यद्य-भव्यजोवे परमात्मा शक्तिरूपेण वर्तते तर्हि कथमभव्यत्वमिति चेत् परमात्मशक्ते केवलज्ञानादिरूपेण व्यक्तीर्न भविष्यतीत्यभव्यत्व, शक्ति पुन शुद्धनयेनोभयत्र समाना । यदि पुन शक्तिरूपेणाप्यभव्य-जोवे केवलज्ञानं नास्ति तदा केवलज्ञानावरणं न घटते भव्याभव्यद्वय पुनरशुद्धनयेनेति भावार्थः । एवं यथा मिथ्यादृष्टिसङ्गे बहिरात्मनि नयविभागेन दशितमात्मत्रयं तथा शेषगुणस्थानेष्वपि । तद्यथा— बहिरात्मावस्थायास्तन्तरात्मपरमात्मद्वयं शक्तिरूपेण भाविने गमनयेन व्यक्तीरूपेण च विज्ञेयम्, अन्तरात्मावस्थाया तु बहिरात्मा भूतपूर्व-न्यायेन घृतघटवत्, परमात्मस्वरूप तु शक्तिरूपेण भाविने गमनयेन, व्यक्तीरूपेण च । परमात्मावस्थाया पुनरन्तरात्मबहिरात्मद्वय भूत-पूर्वनयेनेति । = तीन प्रकारके आत्माओंमें जो मिथ्यादृष्टि भव्य जीव है, उसमें बहिरात्मा तो व्यक्ति रूपसे रहता है और अन्तरात्मा तथा परमात्मा ये दोनों शक्ति रूपसे रहते हैं, एव भावि नैगमनयकी अपेक्षा व्यक्ति रूपसे भी रहते हैं । मिथ्यादृष्टि अभव्य जीवमें बहिरात्मा व्यक्ति रूपसे और अन्तरात्मा तथा परमात्मा ये दोनों शक्ति रूपसे ही रहते हैं, भावि नैगमनयकी अपेक्षा भी अभव्यमें अन्तरात्मा तथा परमात्मा व्यक्ति रूपसे नहीं रहते । प्रश्न—अभव्य जीवमें परमात्मा शक्तिरूपसे रहता है तो उसमें अभव्यत्व कैसे । उत्तर—अभव्य जीवमें परमात्मा शक्तिकी केवलज्ञान आदि रूपसे व्यक्ति न होगी इसलिए उसमें अभव्यत्व है । शुद्ध नयकी अपेक्षा परमात्माकी शक्ति तो मिथ्यादृष्टि भव्य और अभव्य इन दोनोंमें समान है । यदि अभव्य जीवमें शक्ति रूपसे भी केवलज्ञान न हो तो उसके केवल-ज्ञानावरण कर्म सिद्ध नहीं हो सकता । सारांश यह है कि भव्य व अभव्य ये दोनों अशुद्ध नयसे हैं । इस प्रकार जैसे मिथ्यादृष्टि बहिरात्मामें नय विभागमें ताने आत्माओंको बतलाया उसी प्रकार बोध तैरह गुणस्थानोंमें भी घटित करना चाहिए जैसे कि बहिरात्माकी दशामें अन्तरात्मा तथा परमात्मा ये दोनों शक्ति रूपसे रहते हैं और भावि नैगमनयसे व्यक्ति रूपसे भी रहते हैं ऐसा समझना चाहिए । अन्तरात्माकी अवस्थामें बहिरात्मा भूतपूर्व-न्यायसे घृतके घटके समान और परमात्माकी स्वरूप शक्तिरूपसे तथा भावि नैगमनयकी अपेक्षा व्यक्ति रूपसे भी जानना चाहिए । परमात्म अवस्थामें अन्तरात्मा तथा बहिरात्मा भूतपूर्व नयकी अपेक्षा जानने चाहिए । (स. श./टी./४) ।

दे० पारिणामिक/३ शुद्ध नयसे भव्य व अभव्य भेद भी नहीं किये जा सकते । सर्व जीव शुद्ध चेतन्य मात्र है ।

३. शंका-समाधान

१. मोक्षकी शक्ति है तो इन्हें अभव्य क्यों कहते हैं

स सि/६/८/३२/२ अभव्यस्य मन पर्ययज्ञानशक्ति केवलज्ञानशक्तिश्च स्याद्वा न वा । यदि स्यात् तस्याभयत्वाभावः । अथ नास्ति तत्ता-वरणद्वयकल्पना उपर्येति । उच्यते— आदेशवचनात्त दांयः । द्रव्यार्था-देशान्मन पर्ययकेवलज्ञानशक्तिसंभवः । पर्ययार्थादेशात्तच्छब्दस्य-भावः । यद्येव भव्याभव्यविकल्पा नःपच्यते उभयत्र तच्छक्तिसङ्घ-

भावात् । न शक्तिभावाभावापेक्षया भव्याभव्यविकल्प इत्युच्यते । = प्रश्न—अभव्य जीवके मन पर्ययज्ञानशक्ति और केवलज्ञानशक्ति होती है या नहीं होती । यदि हांती है तो उसके अभव्यपना नहीं बनता । यदि नहीं होती है तो उसके उक्त दो आवरण-कर्मोंकी कल्पना करना व्यर्थ है । उत्तर—आदेश वचन होनेसे कोई दोष नहीं है । अभव्यके द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा मन पर्ययज्ञान और केवलज्ञान शक्ति पायी जाती है पर पर्ययार्थिक नयकी अपेक्षा उसके उसका अभाव है । प्रश्न—यदि ऐसा है तो भव्याभव्य विकल्प नहीं बन सकता है क्योंकि दोनोंके मन पर्ययज्ञान और केवलज्ञान शक्ति पायी जाती है । उत्तर— शक्तिके सद्भाव और असद्भावकी अपेक्षा भव्याभव्य विकल्प नहीं कहा गया है । (अपितु व्यक्तिके सद्भाव और असद्भावकी अपेक्षा यह विकल्प कहा गया है । (दे० भव्य/२/१), (रा. वा / ८/६/८-९/९१/२५), (गो. क./जो प्र/३३/२७/८), (और भी दे./ भव्य/२/५) ।

२. अभव्य समभव्यको भी भव्य कैसे कहते हैं

रा वा./२/७/१/१११/६ योऽनन्तेनापि कालेन न सेत्स्यत्यस्त्रावभव्य एवेति चेत्, न, भव्यराश्यन्तर्भावात् । ११०० यथा योऽनन्तकालेनापि कनकपाषाणो न कनकी भविष्यति न तस्यान्धपाषाणत्वं कनकपाषाण-शक्तियोगात्, यथा वा आगामिकालो योऽनन्तेनापि कालेन नाग-मिष्यति न तस्यागामित्व हीयते, तथा भव्यस्यापि स्वशक्तियोगाद् असंस्थामपि व्यक्तौ न भव्यत्वहानिः । = प्रश्न—जो भव्य अनन्त कालमें भी सिद्ध न होगा वह तो अभव्यके तुल्य ही है । उत्तर—नहीं, वह अभव्य नहीं है, क्योंकि उसमें भव्यत्व शक्ति है । जैसे कि कनक पाषाणको जो रभी भी सोना नहीं बनेगा अन्धपाषाण नहीं कह सकते अथवा उस आगामी कालको जो अनन्त कालमें भी नहीं आवेगा अनागामी नहीं कह सकते उसी तरह सिद्धि न होनेपर भी भव्यत्व शक्ति होनेके कारण उसे अभव्य नहीं कह सकते । वह भव्य राशिमैं ही शामिल है ।

घ १/१,२,१४१/३६३/७ मुक्तिमनुपगच्छता कथं पुनर्भव्यत्वमिति चेन्न, मुक्तिगमनयोग्यापेक्षया तेषां भव्यव्यपदेशात् । न च योग्याः सर्वेऽपि नियमेन निष्कलङ्का भवन्ति सुवर्णपाषाणेन व्यभिचारात् । = प्रश्न—मुक्तिको नहीं जानेवाले जीवोंके भव्यपना कैसे बन सकता है । उत्तर—नहीं, क्योंकि, मुक्ति जानेकी योग्यताकी अपेक्षा उनके भव्य सद्भाव बन जाती है । जितने भी जीव मुक्ति जानेके योग्य होते हैं वे सब नियमसे कलक रहित होते हैं, ऐसा कोई नियम नहीं है, क्योंकि, सर्वथा ऐसा मान लेनेपर स्वर्णपाषाणमें व्यभिचार आ जायेगा । (घ, ४/१,६,३१०/४७८/३) ।

३. भव्यत्वमें कथंचित् अनादि सान्तपना

ष. ख ७/२,२/सू. १८३-१८४/१७६ भवियानुवादेण भवसिद्धिया केवचिर कालादो होति । १८३। अणादिओ सपज्जवसिदो । १८४।

घ ७/२,२,१८४/१७६/८ कुदो । अणाइसरूवेणागयस्स भवियभावस्स अजोगिचरिमसमए विणासुवलभादो । अभवियसमाणो वि भविय-जोको अरिथ ति अणादिओ अपज्जवसिदो भवियभावो किण्ण परु-चिदो । ण, तत्थ अत्रिणाससत्तीए अभावादो । सत्तीए चैव एत्थ अहि-यरीव, वत्तीए णत्थ ति कथ णव्वे । अणादि-सपज्जवसिदसुत्तण-हाणुववत्तीदो । = प्रश्न—भव्यभर्गणाके अनुसार जीव भव्यसिद्धिक कितने कालतक रहते हैं । १८३। उत्तर—जीव अनादि सान्त भव्य-सिद्धिक होता है । १८४। क्योंकि अनादि स्वरूपसे आये हुए भव्यभाव-का अयोगिकेवलीके जन्तम समयमें विनाश पाया जाता है । प्रश्न—अभव्यके समान भी तो भव्य जीव होता है, तब फिर भव्य भावको अनादि और अनन्त क्यों नहीं प्ररूपण किया । उत्तर—नहीं, क्योंकि

भव्यत्वमे अविनाश शक्तिका अभाव है, अर्थात् यद्यपि अनादिते अनन्त कालतक रहनेवाले भव्य जीव है तो सही, पर उनमें शक्ति रूपसे तो ससार विनाशकी सम्भावना है, अविनाशित्वकी नहीं। प्रश्न—यहाँ, भव्यत्व शक्तिका अधिकार है, उसकी व्यक्तिका नहीं, यह कैसे जाना जाता है। उत्तर—भव्यत्वको अनादि सपर्यवसित कहनेवाले सूत्रकी अन्यथा उपपत्ति बन नहीं सकती, इसीसे जाना जाता है कि यहाँ भव्यत्व शक्तिसे अभिप्राय है।

४. भव्यत्वमें कथंचित् सादि-सान्तपना

ष. खं. ७/२,२/सू. १८५/१७७ (भवियाणुवादेण) सादिओ सपज्ज-वसिदो । १८५।

घ. ७/२,२,१८५/१७७/३ अभविओ भवियभाव ण गच्छदि भवियाभविय-भावाणमच्चताभावपडिगहियाणमेयाहियरणतविरोहादो । ण सिद्धो भविओ होदि, णट्टासेसावरणं पुणरुपपत्तिविरोहादो । तम्हा भविय-भावो ण सादि त्ति । ण एस दोसो, पज्जवट्टियणयावलज्जणादो अप्प-डिवणो सम्मत्ते अणादि-अणतो भवियभावो अतादीदससारादो, पडिवणो सम्मत्ते अणो भवियभावो उप्पज्जइ, पोगलपरियट्टस्स अद्धमेत्तसंसारवट्टाणादो । एवं समउण-हुसमउणादिउवड्ढपोगल-परियट्टसंसारणां जीवाणं पुध-पुध भवियभावो वत्तव्वो । तदो सिद्धं भवियाण सादि-सात्तत्तमिदि । = (भव्यमार्गणानुसार) जीव सादि सान्त भव्यसिद्धिक भी होता है । १८५। प्रश्न—अभव्य भव्यत्वको प्राप्त हो नहीं सकता, क्योंकि भव्य और अभव्य भाव एक दूसरेके अत्यन्तभावको धारण करनेवाले होनेसे एक ही जीवमें क्रमसे भी उनका अस्तित्व माननेमें विरोध आता है। सिद्ध भी भव्य होता नहीं है, क्योंकि जिन जीवोंके समस्त कर्मास्त्रव नष्ट हो गये हैं उनके पुनः उन कर्मास्त्रवोंकी उत्पत्ति माननेमें विरोध आता है। अतः भव्यत्वसादि नहीं हो सकता। उत्तर—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि पर्यायार्थिक नयके अवलम्बनसे जबतक सम्यक्त्व ग्रहण नहीं किया तबतक जीवका भव्यत्व अनादि-अनन्त रूप है, क्योंकि, तबतक उसका संसार अन्तरहित है। किन्तु सम्यक्त्वके ग्रहण कर लेनेपर अन्य ही भव्यभाव उत्पन्न हो जाता है, क्योंकि, सम्यक्त्व उत्पन्न हो जानेपर फिर केवल अर्धपुद्गल परिवर्तनमात्र कालतक संसारमें स्थिति रहती है। इसी प्रकार एक समय कम उपार्ध पुद्गल परिवर्तन ससार-वाले, दो समय कम उपार्धपुद्गलपरिवर्तन ससारवाले आदि जीवोंके पृथक्-पृथक् भव्यभावका कथन करना चाहिए। इस प्रकार यह सिद्ध हो जाता है कि भव्य जीव सादि-सान्त होते हैं।

५. भव्याभव्यत्वमें पारिणामिकपना कैसे है

ष. खं. ५/१,७/२६३/२३० अभवसिद्धिय त्ति को भावो, पारिणामिओ भावो । ६३।

घ./प्र. ५/१,७,६३/२३०/६ कुदो । कम्मणमुदण उवसमेण खण खओव-समेण वा अभविप्रस्ताणुपत्तीदो । भवियत्तस्स वि पारिणामिओ चैय

भावो, कम्मणमुदण उवसम-खय-खओव । मेहि भवियत्ताणुपत्तीदो । प्रश्न—अभव्य सिद्धिक यह कौन-सा भाव है। उत्तर—पारिणामिक भाव है। क्योंकि, कर्मोंके उदयसे, उपशमसे, क्षयसे अथवा क्षयोपशमसे अभव्यत्व भाव उत्पन्न नहीं होता है। इसी प्रकार भव्यत्व भी पारिणामिक भाव ही है, क्योंकि, कर्मोंके उदय, उपशम क्षय और क्षयोपशमसे भव्यत्व भाव उत्पन्न नहीं होता। (रा. वा./२/७/२/ ११०/२१) ।

६. अन्य सम्बन्धित विषय

१. अभव्य भाव जीवकी नित्य व्यंजन पर्याय है—दे० पर्याय/३/७।
२. मोक्षमें भव्यत्व भावका अभाव हो जाता है पर जीवत्वका नहीं—दे० जीवत्व/५।
३. निर्व्यय अभव्योंमें अनन्तताकी सिद्धि कैसे हो—दे० अनन्त/२।
४. मोक्ष जाते-जाते भव्य राशि समाप्त हो जायेगी—दे० मोक्ष/६।
५. भव्यत्व व अभव्यत्व कथंचित् औदयिक है—दे० असिद्धत्व/२।
६. भव्यत्व व अभव्यत्व कथंचित् अशुद्धपारिणामिक भाव है—दे० पारिणामिक/३।

भव्यकुमुद चन्द्रिका—पं अशाधर (ई. १९७३-१९४३) की संस्कृत भाषाबद्ध रचना।

भव्यजन कण्ठाभरण—कवि अर्हदास (वि. ग. १४ प्रारम्भ) कृत २४२ पद्य प्रमाण, पौराणिक समीक्षा तथा जैनाचार विषयक हिन्दी काव्य। (ती. /४/५३) ।

भव्यसेन—श्रावस्ती नगरी सघनायक एकादशांगधारी तपस्वी थे। मुनिगुप्तने एक विद्याधर द्वारा रानी रेवतीको धर्मवृद्धि भेजी, परन्तु इनके लिए कोई सन्देश न भेजा। तब उस विद्याधरने इनकी परीक्षा ली, जिसमें वे असफल रहे। (वृ. क. को./कथा नं. ७/पृ. २१-२६) ।

भव्यस्पर्श—दे० स्पर्श/१।

भाग—Division (घ. ५/प्र. २७) । २. अंश, पर्याय, भाग, हार, विधा, प्रकार, भेद, छेद और भंग एकार्थवाची है—दे० पर्याय/१/१।

भागचन्द—महावीराष्टक, अमितगति भावकाचार वचनिका, प्रमाण परीक्षा वचनिका, उपदेश सिद्धा-त रत्नमाला वचनिका, पदसंग्रह आदि के कर्ता एक हिन्दी कवि। समय—वि. श. १६-२० (ई. श. १६ उत्तरार्ध) । (ती. /४/२६६) ।

भागहार—Division —दे० गणित/II/१/५।

भागभाग—कुल द्रव्यमेंसे विभाग करके कितना भाग किसके हिस्सेमें आता है, इसे भागभाग कहते हैं। जैसे एक समयप्रबद्ध सर्व कर्म प्रदेशोंका कुछ भाग ज्ञानावरणीको मिला, उसमेंसे भी चौथाई-चौथाई भाग मतिज्ञानावरणीको मिला। इसी प्रकार कर्मोंके प्रकृति, स्थिति, अनुभाग व प्रदेशबन्धमें, उनके चारों प्रकारके सत्त्वमें अथवा भुजगार व अक्षपत्तर बन्धक जीवों आदि विषयोंमें यथायोग्य लागू करके विस्तृत प्ररूपणाएँ की गयी हैं। जिनके सन्दर्भोंकी सूची नीचे दी गयी है—

नं०	प्रकृति विषयक		स्थिति विषयक		अनुभाग विषयक		प्रदेश विषयक	
	मूल प्रकृति	उत्तर प्र०	मूल प्र०	उत्तर प्र०	मूल प्र०	उत्तर प्र०	मूल प्र०	उत्तर प्र०
१	अष्ट कर्म बन्ध सम्बन्धी (म. बं / पु. नं. / ङ नं०)							
१	जघन्य उत्कृष्ट बन्ध—							१ १६५-१६७
२	जघन्य उत्कृष्ट बन्धके स्वामियोंमें						६ १७०-५७१	
३		१ २०४-२४६	२ १४१-१४७	३ ४४६-४५१	४ १४६-१८६	५ ३१४		
३	भुजगारादि पदोंके स्वामियोंमें—		२ ३०२-३०४	३ ७६८-७६९	४ २८६	५ ४६८	६ १२७	
४	वृद्धि हानि रूप पदोंके स्वामियोंमें—		२ ३८६-३८६	३ ६१६-६१८	४ ३६२	५ ६१८		
५	मोहनी कर्म सत्त्व सम्बन्धी (क. पा / पु. नं. / ङ नं०)							
१	जघन्य उत्कृष्ट सत्त्व स्थानोंके स्वामियोंकी अपेक्षा—							
	१ ३७८-३७९		३ १८-१०३	३ ४६६-६०३	५ ८८-६२	५ ३४५-३५०		
२	कर्म सत्त्वासत्त्वकी अपेक्षा—							
	२ ६७-६९	२ १६०-६७						
३	२८, २४, २३ आदि सत्त्व स्थानोंकी अपेक्षा—							
		२ ३५०-३५३						
४	भुजगारादि पदोंके स्वामियोंकी अपेक्षा—							
		२ ४५०-४५२	३ १६८-१६९	४ १०४-१०८	५ १५२	५ ४६०-४६२		
५	वृद्धि हानि रूप पदोंके स्वामियोंकी अपेक्षा—							
		२ ५०८-५१	३ ८२५-८२८	४ ३६५-३६७	५ १७६	५ ४४७-४४९		
६	कषायोंके सत्त्वासत्त्वकी अपेक्षा—							
	१ ३७८-३७९							

* अन्य सम्बन्धित विषय

- जोवोंका संख्या विषयक भागभाग — दे० मरुया ३/४-६
- जघन्य उत्कृष्ट योग स्थानोंमें स्थित जीवोंका ओष व आदेशसे भागभाग । — दे० (घ १०/१५/१)
- प्रथमादि योग वर्गणाओंमें जीव प्रदेशोंका ओष व आदेशसे भागभाग । — दे० (घ १०/४४८/११)
- जघन्य उत्कृष्ट अवगाहना स्थानोंमें स्थित जीवोंका ओष व आदेशसे भागभाग । — दे० (घ ११/२७/१६)
- जघन्य उत्कृष्ट क्षेत्रोंमें स्थित जीवोंका ओष व आदेशसे भागभाग । — दे० (घ ३२/१६)
- २३ वर्गणाओंमें परमाणुओंका भागभाग । — दे० (घ १४/१६०-१६३)
- पोच शरीरोंके जघन्य उत्कृष्ट व उभय स्थितिमें स्थित जीवोंके निषेकोंका भागभाग । — दे० (घ ख १४ सू ३३१-३३१/३७०)
- आठों कर्मोंको मूलोत्तर प्रकृतियोंके प्रकृति रूप भेदोंकी, समय प्रबद्धार्थता व क्षेत्र प्रयासकी अपेक्षा प्रमाणका परस्पर भागभाग । — दे० (घ. खं १२/६ सू १ २१/६०१)

भागाहार—१. दे० सस्कृत/१/२, २, भागाहार सम्बन्धी प्रक्रिया।
—दे० गणित/II/१/६।

भाग्य—निघण्टु/३।

भाग्यपुर—वर्तमान हैदराबाद (दक्कन) (म. पु./प्र ६०/१० पन्नालाल)।

भाजक—Divisor (ध. ६/प्र. २८)।—(दे० गणित/II/१/६)।

भाजनांग कल्पवृक्ष—दे० वृक्ष/१।

भाजित—गणितकी भागाहार विधिमें भाज्य राशिको भागाहार द्वारा भाजित किया गया कहते हैं।—(दे० गणित/II/१/६)।

भाज्य—गणितकी भागाहार विधिमें जिस राशिका भाग किया जाय वह भाज्य है।—दे० गणित/II/१/६।

भाटक जीविका—दे० सावय/६।

भाद्रवन सिंहनिष्कण्डित व्रत—निम्न प्रस्तावके अनुसार एक वृद्धि क्रमसे १-१३ तक उपवास करना, फिर एक हानि क्रमसे १३ से १ तक उपवास करना। बीचके सर्व स्थानोंमें एकाशना या पारणा करना। प्रस्ताव—१, २, ३, ४, ५, ६, ७, ८, ९, १०, ११, १२, १३, १३, १३, १२, ११, १०, ९, ८, ७, ६, ५, ४, ३, २, १—१७६। नमस्कार मन्त्र-का त्रिकाल जाप करे। (व्रतविधान सं. /पृ. ६८)।

भानु—कृष्णका सख्यभामा रानीसे पुत्र था (ह. पु./४४/१) अन्तमें दोषा धारणकर मुनि हो गया था (ह. पु./६१/३६)।

भानुकीर्ति—मन्दी सवके देशीय गणकी गुर्वावलीके अनुसार आप गण्ड त्रिमुक्तदेव के शिष्य थे। समय—वि. १२१६-१२३६ (ई ११६८-११८८), (ध. २/प्र. ४/ H.L. JAIN) दे० इतिहास/७/६।

भानुगुप्त—मगध देशकी राज्यवंशावली (दे० इतिहास) के अनुसार यह गुप्तवंशका छठा व अन्तिम राजा था। इसको हुण राजा तोरमाण व मिहिरकुलने ई० ५०० व ५०७ में परास्त करके गुप्तवंशका त्तिनाश कर दिया। समय—ई० ४६०-५०७ दे० (इतिहास/३/४)।

भानुनंदि—नन्दिसव बलात्कारगणकी गुर्वावलीके अनुसार आप नेमिचन्द्र न० १ के शिष्य और सिंहनन्द न० १ के गुरु थे।

समय—विक्रम शक स, ४७-५०८ (ई० ४६६-५८६)
—दे० इतिहास/७/२।

भानुसती—दुर्वाधनकी पत्नी (प. पु./१७/१०८)।

भानुमित्र—मालवा (मगध) देशके राज्यवंशमें अग्निमित्रके स्थानपर श्वेताम्बर आम्नायमें भानुमित्र नाम लिया जाता है अतः अग्निमित्रका ही अपरनाम भानुमित्र है।—दे० अग्निमित्र।

भामंडल—प. पु./सर्ग/श्लोक सीताका भाई था (२६/१२१) पूर्व वैरसे किसी देवने जन्म लेते ही इसको चुराकर (२६/१२१) आकाशसे नीचे गिरा दिया (२६/१२६)। बीचमें ही किसी विद्याधरने पकड़ लिया और इसका पोषण किया (२६/१३२)। युवा होनेपर बहन सीतापर सुग्ध ही गया (२८/२२२) परन्तु जाति स्मरण होनेपर अत्यन्त परवाचाप किया (३०/३८)। अन्तमें वज्रपातके गिरनेसे मर गया (१११/१२)।

भारद्वाज—१. एक ब्राह्मण पुत्र (म. पु./७४/७६) यह वर्धमान भग-वात्का दूरवर्ती पूर्वभव है—दे० वर्धमान। २. भरतक्षेत्र उत्तर आर्य खण्डका एक देश—दे० मनुष्य/४।

भारामल्ल—१. नागौरका राजा। कोटघघीशघनकुबेर इसकी उपाधि थी। समय—इ. स. १६ (हि. जै. सा. इ./३६ कामता)। २. परशुरामके पुत्र थे। पहले फरुखाबाद और पीछे भिण्ड रहे थे। ये वास्तवमें एक कवि नहीं अपितु तुकबन्द थे। इन्होंने सोमकीर्तिके संस्कृत चारुदत्त चरित्रके आधारपर हिन्दी चौपाई दोहा छन्दमें चारुदत्त चरित्र रचा, इसके अतिरिक्त शील कथा, दर्शनकथा, निशिभोजन कथा भी रची। समय—वि. १८१३। हि. जै. सा. इ./२१८ कामता), (चारुदत्त चरित्र/प्र./परमेष्ठीदास)।

भार्गव—भरत क्षेत्र पूर्व आर्य खण्डका एक देश—दे० मनुष्य/४।

भार्गवाचार्यकी वंश परम्परा—भार्गव धनुर्विद्याके प्रसिद्ध आचार्य थे। जिनकी शिष्य परम्परामें कौरवी और पाण्डवोंके गुरु द्रोणाचार्य हुए थे। उन भार्गवाचार्यकी शिष्यपरम्परा निम्न प्रकार है।—इनका प्रथम शिष्य आत्रेय था। फिर क्रमसे कौधुमि-अमरा-वर्त-सित-वामदेव-कपिष्ठल-जगरस्थामा, सरवर-शरासन-रावण-विद्रावण और विद्रावणका पुत्र द्रोणाचार्य था। जो समस्त भार्गव वंशियोंके द्वारा वन्दित था। उसका पुत्र अश्वरथामा था। (ह. पु./४५/४३-४८)।

भाव—चेतन व अचेतन सभी द्रव्यके अनेको स्वभाव है। वे सब उसके भाव कहलाते हैं। जीव द्रव्यकी अपेक्षा उनके पाँच भाव हैं—औदयिक, औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक और पारिणामिक। कर्मोंके उदयसे होनेवाले रागादि भाव औदयिक। उनके उपशमसे होनेवाले सम्यक्त्व व चारित्र औपशमिक हैं। उनके क्षयसे होनेवाले केवलज्ञानादि क्षायिक हैं। उनके क्षयोपशमसे होनेवाले मतिज्ञानादि क्षायोपशमिक हैं। और कर्मोंके उदय आदिसे निरपेक्ष चैतन्यत्व आदि भाव पारिणामिक हैं। एक जीवमें एक समयमें भिन्न-भिन्न गुणोंकी अपेक्षा भिन्न-भिन्न गुणस्थानोंमें यथायोग्य भाव पाये जाने सम्भव है, जिनके संयोगी भावोंको सन्निपातिक भाव कहते हैं। पुद्गल द्रव्यमें औदयिक, क्षायिक व पारिणामिक ये तीन भाव तथा शेष चार द्रव्योंमें केवल एक पारिणामिक भाव ही सम्भव है।

१	भेद व कक्षण
१	भाव सामान्यका लक्षण— १. निरुक्ति अर्थ २ गुणपर्यायके अर्थमें। * भावका अर्थ वर्तमान पर्यायसे अलक्षित द्रव्य—दे० निक्षेप/७/६।
२	कर्मोदय सापेक्ष जीव परिणामके अर्थमें। ४. चित्तविकारके अर्थमें। ५. शुद्धभावके अर्थमें। ६. नवपदार्थके अर्थमें।
३	भावोंके भेद—१ भाव सामान्यकी अपेक्षा; २. निक्षेपकी अपेक्षा, ३ कालकी अपेक्षा; ४ जीवभावकी अपेक्षा।
*	औपशमिक, क्षायिक व औदयिक भाव निर्देश—दे० उपशम, क्षय, उदय।

- * पारिणामिक, क्षायोपशमिक व सान्निपातिक भाव निर्देश—दे० वह वह नाम ।
- * प्रतिबन्ध प्रतिबन्धक, सहानुवस्था, बध्यवातक आदि भाव निर्देश ।—दे० विरोध ।
- * व्याप्य-व्यापक, निमित्त-नैमित्तिक, आधार आवेय, भाव्य भावक, ग्राह्य-ग्राहक, तादात्म्य, संश्लेष आदि भाव निर्देश—दे० संबन्ध ।
- * शुद्ध-अशुद्ध व शुभादि भाव—दे० उपयोग/II ।
- ३ स्व-पर भावका लक्षण ।
- ४ निक्षेप रूप भेदके लक्षण ।
- * काल व भावमें अन्तर—दे० चतुष्टय ।
- २ **पंच भाव निर्देश**
- १ द्रव्यको ही भाव कैसे कह सकते हैं ।
- २ भावोंका आधार क्या है ।
- * पंच भावोंमें कथंचित् आगम व अध्यात्म पद्धति—दे० पद्धति ।
- ३ पंच भाव कथंचित् जीवके स्वतत्त्व है ।
- ४ सभी भाव कथंचित् पारिणामिक हैं ।
- * सामान्य गुण द्रव्यके पारिणामिक भाव हैं—दे० गुण/२/११ ।
- ५ छहों द्रव्योंमें पंच भावोंका यथायोग्य सत्त्व ।
- ६ पाँचों भावोंकी उत्पात्तमें निमित्त ।
- ७ पांच भावोंका कार्य व फल ।
- ८ सारणीमें प्रयुक्त सकेत सूची ।
- ९ पंच भावोंके स्वामित्वकी ओष प्ररूपणा ।
- १० पंच भावोंके स्वामित्वकी आदेश प्ररूपणा ।
- ११ भावोंके सत्त्व स्थानोंकी ओष प्ररूपणा ।
- १२ अन्य विषयों सम्बन्धी सूचीपत्र ।
- ३ **भाव-अभाव शक्तियाँ**
- * भावकी अपेक्षा वस्तुमें विधि निषेध—दे० सप्तभगी/५ ।
- * जैन दर्शनमें वस्तुके कथंचित् भावाभावकी सिद्धि—दे० उत्पाद-व्यय-धौ-व्यय/७/१
- १ आत्माकी भावाभाव आदि शक्तियोंके लक्षण ।
- २ भाववती शक्तिके लक्षण ।
- * भाववान् व क्रियावान् द्रव्योका विभाग—दे० द्रव्य/३/३ ।
- * अभाव भी वस्तुका धर्म है—(दे० सप्तभगी/४) ।

१. भेद व लक्षण

१. भाव सामान्यका लक्षण

एक ग्रह है—दे० ग्रह ।

२. निश्चित अर्थ

रा वा /१/५/२८/६ भवन भवतीति वा भाव' ।=होना मात्र य- जो होता है सो भाव है ।

घ. १/१७,१/१८/१० भवन भाव', भूतिर्वा भाव इति भावसदस्स विउत्पत्ति ।= 'भवन भाव' अथवा 'भूतिर्वा भाव' इस प्रकार भाव शब्दकी व्युत्पत्ति है ।

२ गुणपर्यायके अर्थमें

सि, वि./टी /४/१६/२६८/१६ सहकारिसंनिधौ च स्वत' कथंचित्प्रवृत्ति-रेव भावसक्षणम् ।=विसदृश कार्यकी उत्पत्तिमें जो सहकारिकारण होता है, उसकी सन्निधिमें स्वत ही द्रव्य कथंचित् उत्तराकार रूपसे जो परिणमन करता है, वही भावका लक्षण है ।

घ. १/१,१,८/गा १०३/१५६ भावो खलु परिणामो ।=पदार्थके परिणाम-को भाव कहते हैं । (पं. घ./उ २६) ।

घ. १/१,१,७/१५६/६ कम्म-कम्मोदय-परुवणाहि विणा...छ-वट्टि-हाणि-ट्टिय-भावसंखमतरेण भाववण्णणाणुववत्तीदो वा । =कर्म और कर्मोदयके निरूपणके बिना अथवा षट्गुण हानि व वृद्धिमें स्थित भावकी संख्याके बिना भाव परुवणाका वर्णन नहीं हो सकता ।

घ. ५/१,७,१/१८७/६ भावो णाम दव्वपरिणामो ।=द्रव्यके परिणामको भाव कहते हैं । अथवा पूर्वापर कोटिसे व्यतिरिक्त वर्तमान पर्यायसे उपलक्षित द्रव्यको भाव कहते हैं । दे० निक्षेप/७/१ (घ. १/४,१,३/४३/५) ।

प्र. सा/त. प्र./२२६ परिणाममात्रलक्षणो भाव ।=भावका लक्षण परिणाम मात्र है । (स. सा/ता. वृ./१२६/१८७/६) ।

त अनु./१०० भाव' स्याद्गुण-पर्यायौ ।१००।=गुण तथा पर्याय दोनों भाव रूप हैं ।

यो जो./जो प्र/१६५/३६१/६ भाव' चित्परिणाम ।=चेतनके परिणाम-को भाव कहते हैं ।

पं घ./पू/२७६,४७६ भाव परिणाम' किल स चैव तत्त्वस्वरूपनिष्पत्ति' । अथवा शक्तिसमूहो यदि वा सर्वस्वसार' स्यात् ।२७६। भाव' परिणाम-मग' शक्तिविशेषोऽथवा स्वभाव स्यात् । प्रकृति स्वरूपमात्रं लक्षण-मिह गुणश्च धर्मश्च ।४७६।=निश्चयसे परिणाम भाव है, और वह तत्त्वके स्वरूपकी प्राप्ति ही पड़ता है । अथवा गुणसमुदायका नाम भाव है अथवा सम्पूर्ण द्रव्यके निजसारका नाम भाव है ।२७६। भाव परिणाममय होता है अथवा शक्ति विशेष स्वभाव प्रकृति स्वरूपमात्र आत्मभूत लक्षण गुण और धर्म भी भाव कहलाता है ।४७६।

३. कर्मोदय सापेक्ष जीव परिणामके अर्थमें

स. सि/१/८/२६८ भाव औपशमिकादिलक्षण ।=भावसे औपशमिका-दि भावोंका ग्रहण किया गया है । (रा. वा./१/८/४२/१७) ।

पं. का./त प्र/१५० भाव खल्वत्र विवक्षित कर्मवृत्तचैतन्यस्य क्रमप्रवर्त-मानज्ञप्तिवियारूप ।=यहाँ जो भाव विवक्षित है वह कर्मवृत्त चैतन्यकी क्रमानुसार प्रवर्तती ज्ञप्तिक्रिया रूप है ।

४ चित्तविकारके अर्थमें

प प्र./टी/१/२२१/१११/८ भावश्चित्तोत्थ उच्यते ।=भाव अर्थात् चित्तका विचार ।

५. शुद्ध भावके अर्थमें

द. सं./टी/३६/१२०/१३ निर्विकारपरमचैतन्यचिच्चमत्कारानुभूतिस-
जातसहजानन्दस्वभावसुखामृतसस्वादरूपो भाव इत्याध्याहार ।
=निर्विकार परम चैतन्य चिद चमत्कारके अनुभवसे उत्पन्न सहज-
आनन्द स्वभाव सुखामृतके आस्वाद रूप, यह भाव शब्दका अध्या-
हार किया गया है ।

प्र. सा./ता. वृ/११५/१६१/१४ शुद्धचैतन्य भाव । =शुद्ध चैतन्य शुद्ध
भाव है ।

भा. पा/टी/६६/२१०/१८ भाव आत्मरुचि' जिनसम्यक्त्वकारणभूतो
हेतुभूत' =आत्माकी रुचिका नाम भाव है, जो कि सम्यक्त्वका
कारण है ।

६. नव पदार्थके अर्थमें

पं. का./त. प्र/१०७ भावाः खलु कालकलितपञ्चास्तिकायविकल्परूपा
नव पदार्थाः । =काल सहित पचास्तिकायके भेदरूप नवपदार्थ के
वास्तवमें भाव है ।

२. भावोंके भेद

१. भाव सामान्यके भेद

रा. वा./५/२२/२१/४५१/१६ द्रव्यस्य हि भावो द्विविधः परिस्पन्दात्मकः,
अपरिस्पन्दात्मकश्च । =द्रव्यका भाव दो प्रकारका है—परिस्पन्दात्मक
और अपरिस्पन्दात्मक । (रा. वा/६/६/५/४१५/१६) ।

रा. वा. हि/४ चूलिका./पृ. ३२८ ऐसे भाव छह प्रकारका है । जन्म-
अस्तित्व-निवृत्ति-वृद्धि-अपक्षय और विनाश ।

२. निक्षेपोंकी अपेक्षा

नोट—नाम स्थापनादि भेद—दे० निक्षेप/१ ।

ध. ५/१,७,१/१८४/७ तव्वदिरित्त णोआगमद्रव्यभावो तिविहो सच्चित्ता-
चित्त-मिस्सभेएण । णोआगमभावभावो प चविहं =नो आगमद्रव्य
भावनिक्षेप, सच्चित्त, अचित्त और मिश्रके भेदसे तीन प्रकारका है । ..
नो आगम भावनिक्षेप पाँच प्रकार है । (दे० अगला शीर्षक)

३. कालकी अपेक्षा

ध. ५/१,७,१/१८८/४ अणादिसो अपज्जवसिदो जहा-अभव्वाणमसिद्धदा,
धम्मत्थिअस्स गमणहेतुत्तं, अधम्मत्थिअस्सठिदिहेउत्तं, आगासस्स
ओगाहणलवणत्तं, कालदव्वस्स परिणामहेतुत्तमिच्छादि । अणादिसो
सपज्जवसिदो जहा—भव्वस्स असिद्धदा भव्वन्न मिच्छत्तमसंजदो
इच्छादि । सादिसो अपज्जवसिदो जहा—केवलणण केवलदंसणमि-
च्छादि । सादिसोसपज्जवसिदो जहा—सम्मत्तसंजमपच्छायदाण
मिच्छत्तासंजमा इच्छादि=१. भाव अनादि निधन है । जैसे—
अभव्य जीवोंके असिद्धता, धर्मास्तिकायके गमनहेतुता, अधर्मास्तिका-
यायके स्थितिहेतुता, आकाश द्रव्यके अवगाहना स्वरूपता, और
कालके परिणमन हेतुता आदि । २. अनादि सान्तभाव जैसे—भव्य
जीवकी असिद्धता, भव्यत्व, मिथ्यात्व, असयम इत्यादि । ३. सादि
अनन्तभाव—जैसे—केवलज्ञान, केवलदर्शन इत्यादि । ४ सादि सान्त
भाव, जैसे सम्यक्त्व और सयम धारण कर पीछे आये हुए जीवोंके
मिथ्यात्व असंयम आदि ।

४. जीव भावकी अपेक्षा

पं. का./मू. ५६ उदयेण उदसमेण य खयेण बुहि मिसिदेहि परिणामे
जुत्ताते जीवगुणा । ५६ । =उदयमें, उपशमसे, क्षयसे, क्षयोपशमसे
और परिणामसे युक्त ऐसे (पाँच) जीव गुण (जीवके परिणाम) है ।
(त. सू/२/१) (ध ५/१,७,१/गा ५) ६८७) (ध. ५/१,७,१/१८४/

१३; १८८/६) (त. सा./२/३) (गो. क./मू/८१३/६८७) (पं. घ./
उ./२६५-२६६) ।

रा. वा/२/७/२१/११४/१ आर्षे सान्निपातिकभाव उक्त । =आर्षमें एक
सान्निपातिक भाव भी कहा गया है ।

३. स्व पर भावका लक्षण

रा. वा/हि/६/७/६७२ मिथ्यादर्शनादिक अपने भाव (पर्याय) सो
स्वभाव है । ज्ञानावरणादि कर्मकार रस सो पर भाव है ।

४. निक्षेप रूप भेदोंका लक्षण

ध ५/१,७,१/१८४/८ तथ सचित्तो जीवद्वयं । अचित्तो पोग्गल-धम्मा-
धम्म-कालागासदव्वणि । पोग्गल-जीव दव्वणं सजोसो वधचिज्ज-
च्चत्तरत्तमावणो णोआगममिस्सदव्वभावो णाम । =जीव द्रव्य
सचित्त भाव है । पुद्गल, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, काल और
आकाश द्रव्य अचित्तभाव है । कथंचित् जात्यन्तर भावकी प्राप्त
पुद्गल और जीव द्रव्योका सयोग नोआगममिश्रद्रव्य भावनिक्षेप है ।

२. पंचभाव निर्देश

१. द्रव्यको ही भाव कैसे कह सकते हैं

ध. ५/१,७,१/१८४/८ ऋधं दव्वस्स भावव्वएसो । ण, भवन भाव',
भूतिर्वा भाव इति भावसद्वस्स विउत्पत्ति अवलव्वणादो । =प्रश्न—
द्रव्यके 'भाव' ऐसा व्यपदेश कैसे हो सकता है । उत्तर—नहीं,
क्योंकि, 'भवन' भाव 'अथवा 'भूतिर्वा भाव' इस प्रकार भाव शब्द-
की व्युत्पत्तिके अवलम्बनसे द्रव्यके भी 'भाव' ऐसा व्यपदेश बन
जाता है ।

२. भावोंका आधार क्या है

ध. ५/१,७,१/१८५/४ कथं भावो, दव्वमिह चैव, गुणिव्वदरेणेण गुणा-
णमसभवा । =प्रश्न—भाव कहाँपर होता है, अर्थात् भावका अधि-
करण क्या है । उत्तर—भाव द्रव्यमें ही होता है, क्योंकि गुणोंके विना
गुणोंका रहना असम्भव है ।

३. पंचभावका कथंचित् जीवके स्वतत्त्व है

त. सू./२/१ जीवस्य स्वतत्त्वम् । १। (स्वो भावोऽसाधारणो धर्मः रा.
वा ।) =ये पाँचो भाव जीवके स्वतत्त्व है । (स्वभाव) अर्थात्
जीवके असाधारण धर्म (गुण) है । (त सा/२/२) ।

रा. वा./१/२/१०/२०/२ स्यादेतत्—सम्यक्त्वकर्मपुद्गल्लाभिधायित्वेऽप्य-
दोष इति, तत्र; कि कारणम् । मोक्षकारणत्वेन स्वपरिणामस्य विव-
क्षितत्वात् । औपशमिकादिसम्यग्दर्शनमात्मपरिणामत्वात् मोक्ष-
कारणत्वेन विवक्ष्यते न च सम्यक्त्वकर्मपर्यायः, पौद्गलिककव्वेऽस्य
परपर्यायत्वात् । =प्रश्न—सम्यक्त्व नामकी कर्मप्रकृतिका निर्देश
होनेके कारण सम्यक्त्व नामका गुण भी कर्म पुद्गलरूप हो जावे ।
इसमें कोई दोष नहीं है । उत्तर— नहीं, क्योंकि, अपने आत्माके
परिणाम ही मोक्षके कारणरूपसे विवक्षित किये गये हैं । औप-
शमिकादि सम्यग्दर्शन भी सीधे आत्मपरिणामस्वरूप होनेसे ही
मोक्षके कारणरूपसे विवक्षित किये गये हैं, सम्यक्त्व नामकी कर्म-
पर्याय नहीं, क्योंकि वह तो पौद्गलिक है ।

पं. का./मू/५६ ते जीवगुणा बहुस्य अस्थेसु विच्छिन्ना । ५६ । =ऐसे
(पाँच) जीवगुण (जीवके भाव) है । उनका अनेक प्रकारसे कथन
किया गया है । (ध ५/१,७,१/६०/७) ।

४. सभी भाव कथंचित् पारिणामिक है

ध. १/१.२३-१४/१६ सभी भावोंके पारिणामिकपनेका प्रसंग आता है तो आने दो, कोई दोष नहीं है।

ध. १/१.२३-१४/१६ केणप्पाबहुअं। पारिणामिएण भावेण। =अल्प-बहुत्व पारिणामिक भावसे होता है।

क. पा १/१.२३-१४/१६ ओदइएण भावेण कसाओ। एवं जेगमादिचउण्ह णयाण। तिण्ह सद्धणयाणं पारिणामिएण भावेण कसाओ, कारणेण विणा कज्जुप्पसीदो। =कषाय औदधिक भावसे होती है। यह नैगमादि चार नयोकी अपेक्षा समझना चाहिए। शब्दादि तीनों नयोकी अपेक्षा तो कषाय पारिणामिक भावसे होती है, क्योंकि इन नयोको दृष्टिमें कारणके बिना कार्योकी उत्पत्ति होती है।

५. छहों द्रव्योंमें पंचभावोंका यथायोग्य सर्व

ध. १/१.७.६/१८६/७ जीवेसु पंचभावाणमुवलंभा। ण च सेसद्वेसु पंच भावा अत्थि, पोग्गलद्वेसु ओदइयपारिणामियाणं दोण्ह चैव भावाणमुवलंभा, धम्माधम्मकालागासद्वेसु एकस्स पारिणामिय-भावस्सेखुवलंभा। =जीवोंमें पाँचों भाव पाये जाते हैं किन्तु शेष द्रव्योंमें तो पाँच भाव नहीं है, क्योंकि, पुद्गल द्रव्योंमें औदधिक और पारिणामिक, इन दोनों ही भावोंकी उपलब्धि होती है, और धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाश और काल द्रव्योंमें केवल एक पारिणामिक भाव ही पाया जाता है। (ज्ञा./६/४१)।

६. पाँचों भावोंकी उत्पत्तिमें निमित्त

ध. १/१.७.१/१८१/१ केण भावो। कम्मणमुदएण खयणत्तओवसमेण कम्मणमुवसमेण सभावदो वा। तत्थ जीवद्वस्स भावा उत्तपच-कारणहितो होति। पोग्गलद्वभावा पुण कम्मोदएण विस्सासादो वा उप्पज्जति। सेसाण चदुण्हं दव्वाणं भावा सहावदो उप्पज्जति। =प्रश्न—भाव किससे होता है, अर्थात् भावका साधन क्या है। उत्तर—भाव कर्मके उदयसे, क्षयसे, क्षयोपशमसे, कर्मोंके उपशमसे, अथवा स्वभावसे होता है। उनमेंसे जीव द्रव्यके भाव उक्त पाँचों ही कारणोंसे होते हैं, किन्तु पुद्गल द्रव्यके भाव कर्मोंके उदयसे अथवा स्वभावसे उत्पन्न होते हैं। शेष चार द्रव्योंके भाव स्वभावसे ही उत्पन्न होते हैं।

७. पाँच भावोंका कार्य व फल

स. सा./मू. व टी./१७१ जह्मा दु जहण्णादो जाणगुणादो पुणोवि परिण-मदि। अण्णत्त जाणगुणो तेण दु सो बधगो भण्णदो। १७१। स तु यथाख्यातचारित्रावस्थाया अधस्तादप्रश्रभावि रागसद्भावत् बन्धहेतु-रेव स्यात्। =क्योंकि ज्ञानगुण जघन्य ज्ञानगुणके कारण फिरसे भी अन्यरूपसे परिणमन करता है, इसलिए वह कर्मोंका बन्धक कहा

गया है। १७१। वह (ज्ञान गुणका जघन्य भावसे परिणमन) यथा-ख्यात चरित्र अवस्थाके नीचे अवश्यम्भावी रागका सद्भाव होनेमें बन्धका कारण ही है।

ध. ७/२.१.७/पा.३/६ ओदइया बंधयरा उवसम-खय मिससया य मोक्ख-यरा। भावो दु पारिणामिओ करणोभयवज्जियो होहि। १३। =औद-यिक भाव बन्ध करनेवाले है, औपशमिक, क्षायिक और क्षायोप-शमिक भाव मोक्षके कारण है, तथा पारिणामिक भाव बन्ध और मोक्ष दोनोंके कारणसे रहित हैं। १।

८. सारणीमें प्रयुक्त संकेत सूची

आ०	आहारक	प०	पर्याप्त
औद०	औदयिक	पारि०	पारिणामिक
औदा०	औदारिक	पु०	पुरुष वेद
औप०	औपशमिक	मनु०	मनुष्य
क्षयो०	क्षयोपशमिक	मि०	मिश्र
क्षा०	क्षायिक	वै क्रि०	वै क्रियक
नपुं०	नपुंसक वेद	सम्य०	सम्यक्
पंचे०	पचैन्द्रिय	सामा०	सामान्य

९. पंच भावोंके स्वामित्वकी ओघ प्ररूपणा

(ष. ख १/१.७/सू. २-६/१६४-२०६), (रा. वा १/१/१२-२४/५८-६०), (गो. जी/मू./११-१४)।

प्रमाण सू./पृ.	सार्गणा	मूल भाव	अपेक्षा
२/१६४	मिथ्यादृष्टि	औद०	मिथ्यात्वकी मुख्यता
३/१६६	सासादन	पारि०	दर्शन मोहकी मुख्यता
४/१६८	मिश्र	क्षयो०	श्रद्धानाशकी प्रगटताकी अपेक्षा
५/१६६	असंयत सम्य०	औप क्षा क्षयो०	दर्शनमोहकी मुख्यता
६/२०१	,	औद०	असंयम (चारित्र मोह) की मुख्यता
७/२०१	सयतासयत	क्षयो०	चारित्र मोह (संयमासंगम) की मुख्यता
८/२०४	प्रमत्त सयत	"	" " (संयम) " "
"	अप्रमत्त सयत	"	" " " " " "
"	{ अपूर्वकरण-सूक्ष्म सम्पराय उपशमक	औप०	एक देश उपशम चारित्र व भावि उपचार
९/२०५	८-१० (क्षपक)	क्षा०	एक देश क्षय व भावि उपचार
"	उपशान्त कषाय	औप०	उपशम चारित्रकी मुख्यता
"	क्षीण कषाय	क्षा०	क्षायिक चारित्रकी मुख्यता
"	सयोगी व अयोगी	क्षा०	सर्वधातियोंका क्षय

१०. पंच भावोंके स्वामित्वकी आदेश प्ररूपणा

(घ. ख. ५/१, ७/१, ५-६३/१६४-२३८), (घ. खं. ७/२, १/१, ५-६१/३०-११३); (घ. ६/४, १, ६६/३१५-३१७)।

प्रमाण घ.ख./पु./सू.	मार्गणा	गुण स्थान	मूल भाव	कारण
१. गतिमार्गणा				
७/५	१. नरकगति सा		औद०	नरकगति उदयकी मुख्यता
५/१०	"	१	"	मिथ्यात्वकी मुख्यता
५/११	"	२	पारि०	ओघवत्
५/१२	"	३	क्षयो०	"
५/१३	"	४	औप० क्षा०	"
५/१४	"	"	क्षयो०	"
५/१५	प्रथम पृथिवी	१-४	सामान्यवत्	सामान्यवत्
५/१६	२-७ "	१-३	"	"
५/१७	"	४	औप. क्षयो.	क्षायिक सम्यग्दृष्टि प्रथम पृथिवीसे ऊपर नहीं जाता। वहाँ क्षा० सम्यग् नहीं उपजता।
५/१८	"	असंयत	औद०	"
७/७	२. तिर्यंच सा		औद०	तिर्यंचगतिके उदयकी मुख्यता
५/१९	पंचे. सा. व पचे० प०	१-५	ओघवत्	ओघवत्
५/२०	योनिमत्ति प०	१, २, ३, ५	"	"
५/२०	"	४	औप क्षयो	वद्वायुष्क क्षायिक सम्यग् वहाँ उत्पन्न नहीं होता और वहाँ नया क्षा० सम्यग् नहीं उपजता।
५/२१	"	असंयत	औद०	"
७/९	३. मनुष्य सा०		औद०	मनुष्यगतिके उदयकी मुख्यता
५/२२	सामा० मनु० प० मनुष्यणी	१-१४	ओघवत्	ओघवत्
७/११	४. देव सा०		औद०	देवगतिके उदयकी मुख्यता
५/२३	आदेश सामान्य	१-४	ओघवत्	ओघवत्
५/२४	भवत्रिक देवदेवी व सौधर्म ईशानदेवी	१, २, ३	"	"
५/२५		४	औप. क्षयो.	क्षा० सम्यक्स्वीकी उत्पत्तिका वहाँ अभाव है तथा नये क्षायिक सम्यग् की उत्पत्तिका अभाव

प्रमाण घ.ख./पु./सू.	मार्गणा	गुण स्थान	मूल भाव	कारण	
५/२६	सौधर्म उपरिम ग्रैवेयक अमुदिश सर्वार्थसि०	असंयत	औद०	ओघवत्	
५/२७		१-४	ओघवत्		
५/२८		४	औप० क्षा०		द्वितीयोपशम सम्यक्त्वापेक्षया
५/२९		असंयत	औद०		ओघवत्
२. इन्द्रिय मार्गणा					
७/१५	१-५ इन्द्रिय सा		क्षयो०	स्व स्व इन्द्रिय (मति-ज्ञानावरण) की अपेक्षा	
५/३०	पंचेन्द्रिय पर्याप्त शेष सर्व तिर्यंच	१-१४	ओघवत्	ओघवत्	
७/१७	अनिन्द्रिय	१	औद०	मिथ्यात्वापेक्षया	
७/१७	अनिन्द्रिय		क्षा०	सर्व ज्ञानावरणका क्षय	
३. काय मार्गणा					
७/२८-२९	पृथिवी त्रस		औद०	उस उस नामकर्मका उदय	
५/३१	पर्यन्त सा० स्थावर	१	औद०	मिथ्यात्व अपेक्षा	
७/३१	त्रस व त्रस प०	१-१४	ओघवत्	ओघवत्	
७/३१	अकायिक		क्षा०	नामकर्मका सर्वथा क्षय	
४. योग मार्गणा					
७/३३	मन वच० काय सा०		क्षयो०	वीर्यान्तराय इन्द्रिय व मोइन्द्रियावरणका क्षयो-पशम मुख्य	
७/३५	अयोगी सा०		क्षा०	शरीरादि नामकर्मका निर्मूल क्षय	
५/३२	५ मन १ वचन काय औदा०	१-१४	ओघवत्	ओघवत्	
५/३३	औदा० मिश्र	१-२	"	"	
५/३४	"	४	क्षा० क्षयो०	प्रथमोपशममें मृत्युका अभाव। द्वितीयोमुख्य औदा० मिश्रमें नहीं वैकि० मिश्रमें जाता है	
५/३५	"	असंयत	औद०	"	
५/३६	"	१३	क्षा०	"	
५/३७	वैक्रियक	१-४	ओघवत्	ओघवत्	
५/३८	वैक्रि० मिश्र	१, २, ४	ओघवत्	औपशमिक भाव	
५/३९	आ० व आ० मिश्र	६	क्षयो०	द्वितीयोपशमकी अपेक्षा प्रमत्तसयतापेक्षया	
५/४०	कार्मण	१, २, ४, १३	ओघवत्	ओघवत्	
५/४३	"	१४	क्षा०	"	

प्रमाण पु./सू.	मार्गणा	गुण स्थान	मूल भाव	कारण	प्रमाण पु./सू.	मार्गणा	गुण स्थान	मूल भाव	कारण
५. वेद मार्गणा					९. दर्शन मार्गणा				
७/३६	स्त्री पु नपु सा.		औद०	चारित्रमोह (वेद) उदय मुख्य	७/५७	चक्षु अचक्षु अवधि सा०		क्षयो०	स्व स्व देशघातीका उदय
७/३६	अवेदी सा०		औप० क्षा०	६ वे से ऊपर वेदका उपशम वा क्षय मुख्य	७/५६	केवलदर्शन सा०		क्षा०	दर्शनावरणका निर्मूल क्षय
५/४१	स्त्री, पु, नपु	१-६	ओघवत्	ओघवत्	५/५६	चक्षु अचक्षु अवधिदर्शन	१-१२	ओघवत्	ओघवत्
५/४२	अपगतवेद	६-१४	"	"	५/५७	केवलदर्शन	४-१२	"	"
६. कषाय मार्गणा					१०. लेश्या मार्गणा				
७/४१	चारों कषाय सा	३१	औद०	चारित्र मोहका उदय मुख्य	७/६१	छहो लेश्या सा.		औद०	कषायोके तीव्रमन्द अनुभागोका उदय
७/४३	अकषायी सा०		औप० क्षा०	११ वे मे औप०, १२-१४ में क्षा (चा मोहापेक्षा)	७/६२	अलेश्य सा०		क्षा०	कषायोंका क्षय
५/४३	चारो कषाय	१-१०	ओघवत्	ओघवत्	५/६६	कृष्ण, नील, कापोत	१-४	ओघवत्	ओघवत्
५/४४	अकषाय	११-१४	"	"	५/६०	पीतपद्म	१-७	"	"
७. ज्ञान मार्गणा					११. भव्य मार्गणा				
७/४५	ज्ञान व अज्ञान सा०		क्षयो०	स्व स्व ज्ञानावरणका क्षयोपशम	७/६५	भव्य, अभव्य सा०		पारि०	सुगम
७/४७	केवलज्ञान		क्षयो०	केवलज्ञानावरणका क्षय	७/६६	न भव्य न अभव्य		क्षायि०	"
५/४५	मति श्रुत अज्ञान, विभग	१-२	ओघवत्	ओघवत्	५/६२	भव्य	१-१४	ओघवत्	ओघवत्
५/४६	मति, श्रुत, अवधिज्ञान	४-१२	"	"	५/६३	अभव्य		पारि०	उदयादि निर्पेक्ष (मार्गणापेक्षया)
५/४७	मन पर्यय ज्ञान	६-१२	"	"	"	"		औद०	गुणस्थानापेक्षया
५/४८	केवलज्ञान	१३-१४	"	"	१२. सम्यक्त्व मार्गणा				
८. संयम मार्गणा					७/६६	सम्यक्त्व सा०		औप० क्षा०	दर्शनमोहके उपशम, क्षय, क्षयो० अपेक्षा
७/४६	संयम सा०		औप० क्षा०	चारित्रमोहका उपशम क्षय व क्षयोपशम मुख्य	७/७१	क्षायिक सामान्य		क्षा०	दर्शनमोहका क्षय
"	सामायि, छेदो-पस्था०	सामान्य	"	"	७/७३	वेदक		क्षयो०	" " क्षयोपशम
७/४९	परिहार विशुद्धि	"	क्षयो०	चारित्रमोहका क्षयोपशम	७/७५	उपशम		औप०	" " उपशम
७/४३	सूक्ष्म साम्पराय	"	औप० क्षा०	उपशम व क्षायिक दोनों श्रेणी है	७/७७	सत्सादन		पारि०	उप० क्षय० क्षयो० निर्पेक्ष
"	यथाख्यात	"	"	"	७/७६	सम्यक्त्वमिथ्यात्व		क्षयो०	मिश्रित श्रद्धानका सद्भाव
७/४४	संयतासंयत	"	क्षयो०	अप्रत्याख्यानावरणका क्षयोपशम	७/७९	मिथ्यात्व		औद०	दर्शनमोहका उदय
७/४५	असंयत	"	औद०	चारित्रमोहका उदय	५/६४	सम्यक्त्व सा०	४-१४	ओघवत्	ओघवत्
५/४६	संयम सा०	६-१४	ओघवत्	ओघवत्	५/६५	क्षायिक	४	क्षा०	दर्शनमोहका क्षय
५/५०	सामायिक, छेदोप०	६-६	"	"	५/६७	"		औद०	असंयतत्वकी अपेक्षा
५/५१	परिहार विशुद्धि	६-७	"	"	५/६८	"	५-७	क्षयो०	चारित्र मोहापेक्षया
५/५२	सूक्ष्म साम्पराय	१०	"	"	५/६९	"		क्षा०	दर्शन मोहापेक्षया
५/५३	यथाख्यात	११-१४	"	"	५/७०	"	८-११	औप०	चारित्रमोहापेक्षया
५/५४	संयतासंयत	१	"	"	५/७१	"		क्षा०	दर्शनमोहापेक्षया
५/५५	असंयत	१-४	"	"	५/७२	"	८-१४	"	दर्शन व चारित्र मोहापेक्षया
					५/७४	वेदक	४	क्षयो०	दर्शनमोहापेक्षया
					५/७६	"		औद०	चारित्रमोहापेक्षा

प्रमाण प./खं. पु/घ.	मार्गणा	गुण स्थान	मूल भाव	कारण
५/७७	वेदक	५-७	क्षयो०	दर्शन व चारित्रमोहापेक्षा
५/७९	उपशम	४	औप०	दर्शनमोहापेक्षा
५/८१	"	"	औद०	चारित्र मोहापेक्षा
५/८२	"	५-७	क्षयो०	"
५/८३	"	"	औप०	दर्शन मोहापेक्षा
५/८४	"	८-११	"	दर्शन चारित्र मोहापेक्षा
५/८६	सासादन	२	ओषवत्	ओषवत्
५/८७	सम्यग्मिथ्या-दृष्टि	३	"	"
५/८८	मिथ्यादृष्टि	१	"	"
१३. संज्ञी मार्गणा				
७/८३	संज्ञी सामान्य		क्षयो०	नो इन्द्रियावरण देश वातीका उदय
७/८५	असंज्ञी "		औद०	" " सर्व " " "
७/८७	न संज्ञी न असंज्ञी		क्षा०	" " का सर्वथा क्षय
५/८९	संज्ञी	१-१२	ओषवत्	ओषवत्
५/९०	असंज्ञी	१	औद०	औद० वैक्रि० व आ० शरीर नामकर्मका उदय
१४. आहारक मार्गणा				
७/८९	आहारक सा०		औद०	औद० वैक्रि० व आ० शरीर नामकर्मका उदय। तैजस व कार्मणका नही।
७/९१	अनाहारक सा०		औद०	विग्रहगतिमें सर्वकर्माका उदय
	"		क्षा०	अयोग केवली व सिद्धो मे सर्व कर्माका क्षय
५/९१	आहारक	१-१२	ओषवत्	ओषवत्
५/९२	अनाहारक	१,२,४	-	कार्मण काय योगवत्-ओषवत्
५/९३	"	१३	ओषवत्	ओषवत्
	"	१४	क्षा०	कार्मण वर्गणाओके आगमनका अभाव

११. भावोंके सत्त्व स्थानोंकी ओष प्ररूपणा

(घ. ५/१,७२/गा. १३-१४/१९४); (गो. क./मू./८२०/१९२)
नोट—औदयिकादि भावोंके उत्तर भेद—वे० वह वह नाम

गुण स्थान	मूल भाव	कृष भाव	कृल भाव	उत्तर भाव	भाव
१	औद० क्षयो० व पारि०	३	१०	औद० २१ (सर्व) + क्षयो १० (३ अज्ञान, २ दर्शन, ५ लब्धि) + पारि० ३ (जीवत्व, भव्यत्व, अभव्यत्व)	३४
२	"	"	"	औद० २० (सर्व-मिथ्यात्व) + क्षयो १० (उपरोक्त) + पारि० २ (जीवत्व, भव्यत्व)	३२
३	"	"	"	औद २० (सर्व-मिथ्यात्व) + क्षयो० १० (निश्चित ज्ञान, ३ दर्शन, ५ लब्धि) + पारि० २ (जीवत्व, भव्यत्व)	३३
४	पाँचों	५	२६	औद० २० (उपरोक्त) + क्षयो० १२ (३ ज्ञान, ३ दर्शन, ५ लब्धि १ सम्यक्त्वं) + उप० १ + क्षा० + १ (सम्य०) + पारि० २ (जीवत्व व भव्यत्व)	३६
५	"	"	"	औद.१४(मनुष्यगति, २ तिर्यग्गति, ४ कषाय, ३ लिग, ३ शुभलेश्या, २ असिद्ध, १ अज्ञान) + क्षयो० १३ (३ ज्ञान, ३ दर्शन, ५ लब्धि, १ संयमासयम १ सम्यक्त्व) + उप० १ + क्षा० १ (सम्यक्त्व) + पारि० २	३९
६	"	"	"	औद० १३ (मनुष्यगति, ३ लिग, ३ शुभ-लेश्या, ४ कषाय, १ असिद्ध, १ अज्ञान) + क्षयो० १४ (४ ज्ञान, ३ दर्शन, ५ लब्धि, १ सम्य०, सराय चारित्र) + उप० + १ क्षा० (सम्य०) + पारि० (जीवत्व भव्यत्व)	३९
८	पाँचों	५	३५	औ० ११ (मनुष्यगति, ४ कषाय, ३ लिग, शुक्ल लेश्या, असिद्ध, अज्ञान) + क्षयो० १२ (४ ज्ञान, ३ दर्शन, ५ लब्धि) उप० २ (सम्य०, चारित्र) + ज्ञा० २ (सम्य०, चारित्र) + पारि० २ (जीवत्व, भव्यत्व)	२६
९	"	"	"	"	"
१०	"	"	"	औद० ५ (मनुष्यगति, शुक्ल लेश्या, असिद्ध, अज्ञान, कषाय) + क्षयो० १२ (४ ज्ञान, ३ दर्शन, ५ लब्धि) + उप० २ (सम्य०, चारित्र) + क्षा० २ (सम्य० चारित्र) + पारि० २ (उपरोक्त)	२३
११	पाँचों	५	३५	उपरोक्त २३ (औद० ४ + क्षयो० १२ + उप० २ + क्षा० १ + पारि० २) — लोभ, क्षा० चारित्र	२९
१२	औद० क्षा० क्षयो० पारि०	४	१६	उपरोक्त २१ — उप० २ (सम्य० चारित्र) + क्षा० चारित्र	३०
१३	औद० क्षा० पारि०	३	१०	औद० ३ (मनुष्यगति, शुक्ल लेश्या, असिद्धत्व) + क्षा० ६ (सर्व) + पारि० २ (जीवत्व, भव्यत्व)	१४
१४	"	"	"	उपरोक्त १४—शुक्ल लेश्या	१३
सि०	क्षा० पारि०	२	५	क्षा० ४ (सम्य०, दर्शन, ज्ञान, चारित्र) + पारि० (जीवत्व)	५

१२. अन्य विषयों सम्बन्धी सूचीपत्र

नं.	प्रकृति		स्थिति		अनुभाग		प्रदेश	
	मूल प्र०	उत्तर प्र०	मूल प्र०	उत्तर प्र०	मूल प्र०	उत्तर प्र०	मूल प्र०	उत्तर प्र०
१	अष्टकर्म बन्धके स्वामियों सम्बन्धी—(न. ब. पु. नं.)							
१	जघन्य उत्कृष्ट बन्धके स्वामी							
	१	२	३	४	५	६	७	८
	३६९-४२३	२२९-२२२	६६५-६६६	२६६-	४२५-४२६	६७-६८		
२	भुजगारादि पदोंके स्वामी							
		२	३	४	५	६	७	८
		३३७	८७	३०२	६४७	१४२		
३	वृद्धि हानिरूप पदोंके स्वामी							
		२	३	४	५	६	७	८
		४०५	ताडपत्र नष्ट	३६७	६२७			
२	मोहनीय कर्मके स्वामियों सम्बन्धी—(क. प./ पु. नं.)							
१	जघन्य उत्कृष्ट पदोंके स्वामी							
		३	३	५	५	५	५	५
		१६३	७०७-७०८	१३८	४२८			
२	भुजगारादि पदोंके स्वामी							
		२	३	४	५	६	७	८
		४६८	३२३	१६२	१६०	६०६		
३	वृद्धि हानि पदोंके स्वामी							
		५	३	४	५	६	७	८
		५३२	३४२	४६६	१८४	५६६		
४	२८, २४ आदि सत्त्व स्थानोंके स्वामी							
		२						
		३८३						
५	सत्त्व असत्त्वका भाव सामान्य							
		२						
		१८६						
३	अन्य विषय—(क. पा./ पु. नं.)							
१	कषायोका ओष आदेशसे भाव							
		१						
		३६३						
२	नोकर्म बन्धकी सधातन परिशातनमे कुलिकी ज० उ० आदि पदों सम्बन्धी ओष व आदेश प्ररूपणा							
		६						
		४६८-४२६						
३	अधः कर्मादि षट्कर्मके स्वामी		(घ./ पु. नं.)					
		१३						
		१७२-१७५						
४	पाँच शरीरोंके २, ३, ४ आदि भंगोंके स्वामी							
		१४						
		३०९						
५	२३ प्रकार वर्गणाके स्वामी							
		१४						
		१६२-१६३						

३. भाव अभाव शक्तियाँ

१. आत्माकी सावाभाव आदि शक्तियोंके लक्षण

पं. का./सू. व त. प्र./२१ एवं भावमभाव भावाभाव अभावभाव च । गुणपञ्जयेहि सहिदो संसारमाणो कुणदि जीवो ।२१।***जीवद्रव्यस्य तस्यैव देवादिपर्यायरूपेण प्रादुर्भवतो भावकर्तृत्वमुक्तं, तस्यैव च मनुष्यादिपर्यायरूपेण व्ययतोऽभावकर्तृत्वमाख्यातं, तस्यैव च सतो देवादिपर्यायस्योच्छेदमारभमाणस्य भावाभावकर्तृत्वमुदितं; तस्यैव चासत् पुनर्मनुष्यादिपर्यायस्योत्पादमारभमाणस्याभावभावकर्तृत्वमभिहितम् । = गुण पर्यायो सहित जीव भ्रमण करता हुआ भाव, अभाव, भावाभाव और अभावभावको करता है ।२१। देवादि पर्याय रूपसे उत्पन्न होता है इसलिए उसीको (जीव द्रव्यको ही) भावका (उत्पादका) कर्तृत्व कहा गया है । मनुष्यादि पर्याय रूपसे नाशको प्राप्त होता है, इसलिए उसीको अभावका (व्ययका) कर्तृत्व कहा गया है । सत् (विद्यमान) देवादि पर्यायका नाश करता है, इसलिए उसीको भावाभावका (सत्के विनाशका) कर्तृत्व कहा गया है, और फिरसे असत् (अविद्यमान) मनुष्यादि पर्यायका उत्पाद करता है इसलिए उसीको अभावभावका (असत्के उत्पादका) कर्तृत्व कहा गया है ।

स. सा./आ./परि./शक्ति नं. ३३-४० भूतावस्थत्वरूपा भावशक्तिः ।३३। शून्यावस्थत्वरूपा अभावशक्तिः ।३४। = भवत्पर्यायव्ययरूपा भावाभावशक्तिः ।३५। अभवत्पर्यायोदयरूपा अभावभावशक्तिः ।३६। भवत्पर्यायभवनरूपा भावभावशक्तिः ।३७। अभवत्पर्यायाभवनरूपा अभावभावशक्तिः ।३८। कारकानुगतक्रियानिष्क्रान्तभवनमात्रमयी भावशक्तिः ।३९। = विद्यमान-अवस्थायुक्ततारूप भावशक्तिः । (अमुक अवस्था जिसमें विद्यमान हो उस रूप भावशक्तिः) ।३३। शून्य (अविद्यमान) अवस्थायुक्ततारूप अभावशक्तिः । (अमुक अवस्था जिसमें अविद्यमान हो उस रूप अभावशक्तिः) ।३४। प्रवर्तमान पर्यायके व्ययरूप भावाभावशक्तिः ।३५। अप्रवर्तमान पर्यायके उदय रूप अभावभावशक्तिः ।३६। प्रवर्तमान पर्यायके भवन रूप भावभावशक्तिः ।३७। अप्रवर्तमान पर्यायके अभवनरूप अभावभावशक्तिः ।३८। (कर्ता कर्म आदि) कारकके अनुसार जो क्रिया उससे रहित भवनमात्रमयी (होने मात्रमयी) भावशक्तिः ।३९।

२. भाववती शक्तिका लक्षण

प्र. सा./त. प्र. १२६ तत्र परिणाममात्रलक्षणो भावः । = भावका लक्षण परिणाम मात्र है ।

पं. ध./पृ./१२४ भाव' शक्तिविशेषस्तत्परिणामोऽथ वा निरशाशै' । = शक्तिविशेष अर्थात् प्रदेशत्वसे अतिरिक्त शेष गुणोंको अथवा तरलम अंशरूपसे होनेवाले उन गुणोंके परिणामको भाव कहते हैं । (पं. ध./उ./२६) ।

भावकर्म—दे० कर्म/३ ।

भाव त्रिभंगी—भूत मुनि (वि श. १४ उत्तरार्ध) कृत, जीव के औपशामिकादि भावों का प्रतिपादक, १२६ प्राकृत गाथाओं का संकलन (जै./१/४४२) ।

भावनय—दे० नय/१/३ ।

भावना—भावना ही पुण्य-पाप, राग-वैराग्य, ससार व मोक्ष आदिका कारण है, अतः जीवको सदा कुत्सित भावनाओंका त्याग करके उत्तम भावनाएँ भानी चाहिएँ । सम्यक् प्रकारसे भायी सोलह प्रसिद्ध भावनाएँ व्यक्तिको सर्वोत्कृष्ट तीर्थंकर पदमे भी स्थापित करनेको समर्थ है ।

१. भावना सामान्य निर्देश

१. भावना सामान्य व मति, श्रुत ज्ञान सम्बन्धी भावना

रा. वा./७/३/१/५३१/२६ वीर्यान्तरायक्षयोपशमचारित्रमोहोपशम-क्षयोपशमाङ्गोपशमनामलाभापेक्षेण आत्मना भाव्यन्ते ता इति भावना । = वीर्यान्तराय क्षयोपशम चारित्रमोहोपशम-क्षयोपशम और अमोषीय नामकर्मोदयकी अपेक्षा रखनेवाले आत्माके द्वारा जो भायी जाती है—जिनका बार-बार अनुशीलन किया जाता है, वे भावना है ।

पं. का./ता. वृ./४६/८६/१ ज्ञातेऽर्थे पुन. पुनश्चिन्तनं भावना । = जाने हुए अर्थको पुनः-पुनः चिन्तन करना भावना है ।

* मति श्रुतज्ञान—दे० वह वह नाम ।

२. पाँच उत्तम भावना निर्देश

भ आ./सू./१५७-२०३ तवभावना य मुदसत्तभावणेगत्त भावणे चेव । धिदिवत्तविभावणविय असं किलिद्वावि पंचविहा ।१८७। तवभावणाए पंचेदियाणि इताणि तस्स वसमेंति । इदियजोगायरिओ समाधि-करणाणि सो कुणइ ।१८८। मुदभावणाए णाणं दसणत्तवसंजमं च परिणवइ । तो उवओगपइण्णा सुहमद्धविदो समाणेइ ।१९४। देवेहि भेसिदो वि हु कयावराधो व भीमस्सेहि ! तो सत्तभावणाए वहइ भरं णिब्भओ सयलं ।१९६। एयत्तभावणाए ण कामभोमे गणे सरीरे वा । सज्जह वेरगमणो फासेदि अणुत्तरं धम्म ।२००। कस्सिणा परी-सहचमू अणुत्तरं जइ वि सोवसग्गावि । दुद्धरपहकरवेगा भयजणणी अप्पसुत्ताणं ।२०२। धिदिधणिद्वज्जकस्सो जोधेइ अणाइलो तम-च्चाई । धिदिभावणाए सुरो संपुण्णमणोरहो होई ।२०३। = तपो भावना, श्रुतभावना, सत्त्व भावना, एकत्व भावना, और धृतिबल भावना ऐसी पाँच भावनाएँ असंखिल्य है ।१९७। (अन. ध./७/१००) । तपश्चरणसे इन्द्रियोका मद नष्ट होता है, इन्द्रियों वशमें हो जाती है, सो तब इन्द्रियोंको शिक्षा देनेवाला आचार्य साधु-रत्नत्रयमें जिनसे स्थिरता होती है ऐसी तप भावना करते है ।१९८। श्रुतकी भावना करना अर्थात् तद्विषयक ज्ञानमे बारम्बार प्रवृत्ति करना श्रुत भावना है । इस श्रुतज्ञानकी भावनासे सम्यग्ज्ञान, दर्शन, तप, संयम इन गुणोंकी प्राप्ति होती है ।१९९। वह मुनि देवोसे त्रस्त क्रिया गया, भयंकर व्याघ्रादिरूप धारण कर पीडित किया गया तो भी सत्त्व भावनाको हृदयमें रखकर, दुखोंको सहनकर और निर्भय होकर संयमका सम्पूर्ण भार धारण करता है ।२००। एकत्व भावनाका आश्रय लेकर विरक्त हृदयसे मुनिराज कामभोगमे, चतुर्विध संघमे, और शरीरमे आसक्त न होकर उत्कृष्ट चारित्र रूप धारण करता है ।२०१। चार प्रकारके उपसर्गोंके साथ भूख, प्यास, शीत, उष्ण वगैरह काईस प्रकारके दुखोंको उत्पन्न करनेवाली बावोसपरीषह रूपी सेना, दुर्धर सकटरूपी वेगसे युक्त होकर जब मुनियोपर आक्रमण करती है तब अल्प शक्तिके धारक मुनियोको भय होता है ।२०२। धैर्यरूपी परिधान जिसने बाँधा है ऐसा पराक्रमी मुनि धृतिभावना हृदयमें धारण कर सफल मनोरथ होता है ।२०३।

पं. का./ता. वृ./१७३/२६४/१३ अनशनादिद्वादशविधनिर्मलतपश्चरणं तपोभावना, तस्याः फलं विषयकषायजयो भवति प्रथमानियोगचर-णानियोगकरणा नियोगद्रव्यानियोगभेदेन चतुर्विध आगमाभ्यासः; श्रुतभावना । = भूलोत्तरगुणायनुष्ठानविषये निर्गहनवृत्ति सत्त्वभावना, तस्या फलं घोरोपसर्गपरीषहप्रस्तावेऽपि निर्गहनेन मोक्ष साधयति पाण्डवादिवत् । एगो मे सस्सदो अप्पा णणदसणल्लवणो । सेसा मे बाहिरा भावा सव्वे सज्जोगल्लवणो । (भा.पा./पृ./६६),

(मू. आ/४८), (नि. सा./मू./१०२), इत्येकैवभावनाया तस्या फल स्वजनपरजनादौ निर्मोहत्वं भवति। मानापमानसमताबलैनाशनपानादौ यथासाधेन सतोषभावना तस्या फलं आत्मोत्थसुखतृप्त्या विषयसुखनिवृत्तिरिति। —अनशन आदि बारह प्रकारके निर्मल तपको करना सो तपोभावना है। उसका फल विषयकषायपर जय प्राप्त करना होता है। प्रथमानुयोग, चरणा-नुयोग, करणानुयोग और द्रव्यानुयोगके भेदसे चार प्रकारके आगमका अभ्यास करना श्रुतभावना है। मूल और उत्तरगुण आदिके अनुष्ठानके विषयमें गाढ वृत्ति होना सो सत्त्वभावना है, घोर उपसर्ग अथवा परीषहके आनेपर भी पाण्डवादिकी भौति उसको दृढतासे मोक्ष प्राप्त होती है, यही इसका फल है। “ज्ञान दर्शन लक्षणवाला शाश्वत एक आत्मा मेरा है; शेष सब संयोग लक्षणवाले भाव मुझसे ब्राह्म है।” (भा. पा./मू./५६), (मू. आ/४८), (नि. सा./१०२) यह एकैव भावना है। स्वजन व परजनमें निर्मोहत्व होना इस भावनाका फल है। मान अपमानमें समतासे, अशन-पानादिमें यथा लाभमे समता रखना सो सन्तोष भावना है। आत्मासे उत्पन्न सुखमें तृप्ति और विषय सुखसे निवृत्ति ही इसका फल है।

३. पाँच कुत्सित भावनाएँ

भ आ./मू./१७६/३६६ कंदोपवेवखिभिस्त अभिओगा आसुरी य सम्मोहा। एदाहु संकिलडा पंचविहा भावणा भणिदा। =कान्दरपी (कामचेष्टा) कैल्विषी (बलेशकारिणी) आभियोगिकी (युद्ध-भावना), आसुरी (सर्वभक्षणी) और संमोही (कुटुम्ब मोहनी)। इस प्रकार ये पाँच भावनाएँ संबिलष्ट कही गयी है। (मू. आ/६३), (जा/४/४१), (भा. पा/टी./१३/१३७ पर उद्धृत)।

४. अन्य सम्बन्धित विषय

१. मैत्री प्रमोद आदि भावनाएँ —दे० व्रत/२।
२. पाँच कुत्सित भावनाओंके लक्षण —दे० वह वह नाम।
३. सम्यदर्शन ज्ञान चारित्रिकी भावनाएँ —दे० वह वह नाम।
४. वैराग्य भावनाएँ —दे० वैराग्य।
५. महाव्रतकी पाँच भावनाएँ —दे० वह वह व्रत।
६. व्रतोंकी पाँच-पाँच भावनाएँ मुख्यतः साधुओंके लिए और गौणतः श्रावकोंके लिए कही गयी हैं —दे० व्रत/२।
७. परमात्म भावनाके अपरनाम —दे० मोक्षमार्ग/२/५।
८. भावना व ध्यानमें अन्तर —दे० धर्मध्यान/३।

२. षोडश कारण भावना निर्देश

१. षोडश कारण भावनाओंका नाम निर्देश

ष खं. ८/३/मू. ४१/७६ दंसणविमुज्झदाए विणयसंपण्णदाए सीलव्ववेसु णिरदिचारदाए आवासएसु अपरिहीणदाए खण-लवपडिबुज्झणदाए लद्धिसव्वेगसंपण्णदाए जघाथामे तधातवे, साहूणं पासुअपरिचागदाए साहूणं समाहिसंधारणाए साहूणं वेजावच्चजोगुत्तदाए अरहत्तभत्तीए बहुसुदभत्तीए पवयणभत्तीए पवयणवच्छलदाए पवयणवपभावणदाए अभिवखण णाणोवजोगुत्तदाए इच्चेदेहिं सोत्तसेहिं कारणेहिं जीवा तित्थयरणागोदं कम्म बंधंति १४१। =दर्शन विशुद्धता, विनय सम्पन्नता, शीलव्रतोमे निरतिचारता, अह आवश्यकोमे अपरिहीनता, क्षणलवप्रतिबोधनता, लब्धिसव्वेगसम्पन्नता, यथाशक्ति तप, साधुओंको प्रामुख परित्यागता, साधुओंको समाधिसंधारणा, साधुओंकी वैयावत्ययोगयुक्तता, अरहन्तभक्ति, बहुश्रुतभक्ति, प्रवचनभक्ति,

प्रवचनवत्सलता, प्रवचनप्रभावना और अभीक्षण ज्ञानोपयोगयुक्तता, इन सोलह कारणोंसे जीव तीर्थकर नाम-गोत्रकर्मको बाँधते है। (४१। (म. नं १/४३४/३५/१६)।

त. सू./६/२४ दर्शनविशुद्धिर्विनयसंपन्नता शीलव्रतेष्वनतीचारोऽभीक्षण-ज्ञानोपयोगसवैगी शक्तितस्त्रयागतपसी साधुसमाधिवैयावृत्त्यकरण-मर्हदाचार्यबहुश्रुतप्रवचनभक्तिरावश्यकपरिहाणिमर्गप्रभावना प्रव-चनवत्सलत्वमिति तीर्थकरत्वस्य १२४। =दर्शनविशुद्धि, विनय-सम्पन्नता, शील और व्रतोंका अतिचार रहित पालन करना, ज्ञानमें सतत उपयोग, सतत संवेग, शक्तिके अनुसार त्याग, शक्तिके अनुसार तप, साधुसमाधि, वैयावृत्त्य करना, अरहन्तभक्ति, आचार्यभक्ति, बहुश्रुतभक्ति, प्रवचनभक्ति, आवश्यक क्रियाओंको न छोड़ना, मोक्ष-मार्गकी प्रभावना और प्रवचनवात्सल्य ये तीर्थकर नामकर्मके आसव है। (२४। (द्र. सं/टी/३८/१५६/१)।

★ षोडशकारण भावनाओंके लक्षण—दे० वह वह नाम।

२. सर्व वा किसी एक भावनासे तीर्थकरत्वका बन्ध सम्भव है

स. सि./६/२५/३३६/६ तान्येतानि षोडशकारणानि सम्यग्भाव्यमानानि व्यस्तानि समस्तानि च तीर्थकरनामकर्मस्रवकारणानि प्रत्येतव्यानि। =ये सोलह कारण हैं। यदि अलग-अलग इनका भले प्रकार चिन्तन किया जाता है तो भी ये तीर्थकर नामकर्मके आसवके कारण होते है और समुदाय रूपसे सबका भले प्रकार चिन्तन किया जाता है तो भी ये तीर्थकर नामकर्मके आसवके कारण होते हैं। (रा. वा/६/२४/१३/५३०/२२), (ध ८/३४१/६१/६); (चा. सा.७/५७/२)। ध ८/३४१/५४/पंक्ति—तीए वंसणविमुज्झदाए एक्काए वि तित्थयरकम्म बंधंति। (८०/६)। तदो विणयसंपण्णदा एक्काए वि तित्थयर-णामकम्म मणुआ बंधंति। (८१/४)। तीए आवासयापरिहीणदाए एक्काए वि। (८५/५)। तीए (खणलवपडिबुज्झणदाए) एक्काए वि। (८५/१२)। तीए (लद्धिसव्वेगसंपण्णदाए) तित्थयरणामकम्म-स्स एक्काए वि बंधो। (८६/४)। ताए एवंविहाए एक्काए (वेजावच्च-जोगुत्तदाए) वि। (८८/१०)। =उस अकेली दर्शनविशुद्धि भावना-से अथवा अकेली विनयसम्पन्नतासे, अथवा अकेली आवश्यक अपरि-हीनतासे, अथवा अकेली क्षणलव प्रतिबद्धतासे, अथवा अकेली लब्धि-संवगसम्पन्नतासे, अथवा अकेली वैयावृत्त्य योगयुक्ततासे तीर्थकर नामकर्मका बन्ध होता है।

३. एक-एकमें शेष १५ भावनाओंका समावेश

चा. सा/५७/२ एकैकस्यां भावनायामविनाभाविन्य इतरपञ्चदश भावना। =प्रत्येक भावना शेष पन्द्रहों भावनाओंकी अविनाभावी है क्योंकि शेष पन्द्रहोंके बिना कोई भी एक नहीं हो सकती।— (विशेष दे० वह वह नाम)।

★ दर्शन विशुद्धि भावनाकी प्रधानता—दे० दर्शन विशुद्धि/३।

भावना पचीसोवत—प्रथम दश दशमोके १०, पाँच पंचमीके ५, आठ अष्टमीके ८, दो पडिमाके २, इस प्रकार पाँच माह पर्यन्त २५ उपवास करे, तथा नमस्कार मन्त्रका त्रिकाल जाप करे। (व्रतविधान स/पृ. ४६)।

भावना पद्धति—भहारक पद्मनन्दि (ई. १३२८-१३६८) कृत ३४ संस्कृत पद्य प्रमाण जिनस्तवन। (टी०/३/३२४)।

भावना विधि व्रत—प्रत्येक व्रतकी ५ भावनाओंके हिसाबसे पाँच व्रतोंकी २५ भावनाओंको भाते हुए एक उपवास एक पारणा क्रमसे २५ उपवास पूरे करे। (ह. पु/३४/११३)।

भाषा निक्षेप—दे० निक्षेप।

भाषा निर्जरा—दे० निर्जरा/१।

भाषा परमाणु—दे० परमाणु/१।

भाषा परिवर्तन रूप संसार—दे० संसार/२।

भाषा पाहुड़—आ. कुन्दकुन्द (ई. १२७-१७९) कृत, जीवके शुभ अशुभ व शुद्ध भाव प्ररूपक, १६६ प्राकृत गाथाओंमें निबद्ध ग्रन्थ है। इसपर आ. भुतसागर (ई. १४८१-१४९६) कृत संस्कृत टीका और पं. जयचन्द छाबडा (ई. १८६७) कृत भाषा वचनिका उपलब्ध है।

भाषा बंध—दे० बंध/२।

भाषा मल—दे० मल।

भाषा मोक्ष—दे० मोक्ष/१।

भाषा लिंग—दे० लिंग/१।

भाषा लेश्या—दे० लेश्या/१।

भाषा शुद्धि—दे० शुद्धि।

भाषा श्रुतज्ञान—दे० श्रुतज्ञान/१/१,२।

भाषा संग्रह—१. आ. देवसेन द्वारा वि. १००६ में रचित ७०१ प्राकृत गाथा प्रमाण, मिथ्यात्व प्ररूपक ग्रन्थ (जे. १/४१७, ४२६); (ती १/२/३६६)। २. वामदेव (वि. श. १४ उत्तरार्ध) कृत ७८२ संस्कृत श्लोक प्रमाण, उपयुक्त नं १ की छाया मात्र (जे. १/४२६)।

भाषा संवर—दे० संवर/१।

भाषा सत्य—दे० सत्य/१।

भाषा सिंह—जीवराजजी व भावसिंह दोनों सहयोगी थे। पुण्यासक्त कथाकोषकी रचना करते हुए अधूरा छोड़कर ही स्वर्ण सिंधार गये। शेष भाग वि. १७६२ में जीवराजजीने पूरा किया था। समय—१७६२ (हिं. जे. सा ६/१७८ कामता)।

भाषासेन त्रैविध्य—मूलसंघ सेनगण के नैयायिक विद्वान् आचार्य। कृतियों—प्रमाप्रमेय, कथाविचार, शाकटायन व्याकरण टीका, कातन्त्र रूपमाला, न्याय सूर्यावली, मुक्ति मुक्ति विचार, न्याय-दीपिका, सिद्धान्तसार, सप्तपदार्थी टीका। समय—ई. श. १३ का मध्य। (ती १/२/२६, २६६)।

भावार्थ—आगम का अर्थ करने की विधि। (वे आगम ज्ञान/३)।

भावार्थ दोषिका—पं. शिवजित्त (वि० १८९८) कृत भगवती आराधनाकी भाषा टीका—दे० भगवती आराधना।

भाषासव—दे० आसव/१।

भाषा नैगम नय—दे० नय/III/२।

भाषा द्वैविध्य—दे० द्वैविध्य/१।

भाषा भाषक भाव—दे० सर्वध।

भाषा—साधारण बोलचालकी भाषा कहते हैं। मनुष्योंकी भाषा साक्षरी तथा पशु पक्षियोंकी निरक्षरी होती है। इसी प्रकार आमन्त्रणी आक्षेपिणी आदिके भेदसे भी उसके अनेक भेद हैं।

१. भाषा सामान्यके भेद

स. सि. १/४/२४/२६४/१२ शब्दों द्विविधा भाषालक्षणों विपरीतश्चेति। भाषालक्षणो द्विविध साक्षरोऽनक्षरश्चेति। = भाषा रूप शब्द और अभाषा शब्द इस प्रकार शब्दोंके दो भेद हैं। भाषात्मक शब्द दो

प्रकारके हैं—साक्षर और अनक्षर। (रा. वा. १/४/२४/३/४८५/२३); (घ. १३/६. ६. २६/२२१/६); (पं. का/ता. वृ. ७६/१३५/६); (द्र. सं. टी. १६/६२/२); (गो. जी/जी प्र. ३१५/६७३/१४)।

२. अक्षरात्मक भाषाके भेद व लक्षण

स. सि. १/४/२४/२६५/१ अक्षरीकृतः शास्त्राभिव्यञ्जकः संस्कृतविपरीत-भेदादार्यन्लेच्छव्यवहारहेतुः। = जिसमें शास्त्र रचे जाते हैं, जिसमें आर्य और म्लेच्छोंका व्यवहार चलता है ऐसे संस्कृत शब्द और इससे विपरीत शब्द ये सब साक्षर शब्द हैं। (रा. वा. १/४/२४/३/४८५/२४) (पं. का./ता. वृ./७६/१३५/६)।

घ. १३/६. ६. २६/२२१/११ अक्षरगया अपुबघादिद्वियसण्णिपंचिद्विय-पञ्चभासा। सा दुविहा—भासा कुभासा चेदि। तस्य कुभासाओ कीरपारसिय-सिञ्जल-वञ्जरियादीण विणिग्गयाओ सत्तसयभेद-भिण्णाओ। भासाओ पुण अट्टारस हवन्ति तिकुरुक-तिलाड तिमरहट्ट-तिमालव-तिगउड-तिमागधभासभेदेण। = उपघातसे रहित इन्द्रियों-वाले संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त जीवोंकी भाषा अक्षरात्मक भाषा है। वह दो प्रकारकी है—भाषा और कुभाषा। उनमें कुभाषाएँ काश्मीर देशवासी, पारसीक, सिंहल और बर्बरिक आदि जनोके (मुखसे) निकली हुई सात सौ भेदोंमें विभक्त है। परन्तु भाषाएँ तीन कुरुक (कर्णाड) भाषाओं, तीन लाड भाषाओं, तीन मरहटा (गुर्जर) भाषाओं, तीन मालव भाषाओं, तीन गौड भाषाओं, और तीन मागध भाषाओंके भेदसे अटारह होती है। (पं. का./ता. वृ./मंगलाचरण/पृ. ४/४)।

द्र. सं/टी/१६/६२/३ तत्राप्यक्षरात्मक संस्कृतप्राकृतपञ्चशषैशाचिकादि-भाषाभेदेनार्यन्लेच्छमनुष्यादिव्यवहारहेतुर्बहुधा। = अक्षरात्मक भाषा संस्कृत प्राकृत और उनके अपभ्रंश रूप पेशाची आदि भाषाओंके भेदसे आर्य व म्लेच्छ मनुष्योंके व्यवहारके कारण अनेक प्रकारकी है।

३. अनक्षरात्मक भाषाके भेद व लक्षण

स. सि. १/४/२४/२६५/२ अनक्षरात्मको द्वीन्द्रियादीनामतिशयज्ञानस्वरूप-प्रतिपादनहेतुः। = जिससे उनके सातिशयज्ञानका पता चलता है ऐसे द्वि इन्द्रिय आदि जीवोंके शब्द अनक्षरात्मक शब्द हैं। (रा. वा. १/४/२४/३/४८५/२६)।

घ. १३/६. ६. २६/२२१/१० तस्य अणक्खरगया बोद्धद्वियप्पहुडि जाव असण्णिपंचिद्वियाणं मुहसमुब्भुवा जालमूअसण्णिपंचिद्वियभासा च। = द्वीन्द्रियसे लेकर असंज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त जीवोंके मुखसे उत्पन्न हुई भाषा तथा बालक और मूक संज्ञी पंचेन्द्रिय जीवोंकी भाषा भी अनक्षरात्मक भाषा है।

पं. का./ता. वृ./७६/१३५/७ अनक्षरात्मको द्वीन्द्रियादिशब्दरूपो दिव्य-ध्वनिरूपश्च। = अनक्षरात्मक शब्द द्वीन्द्रियादिके शब्दरूप और दिव्यध्वनि रूप होते हैं।

४. दुर्भाषाके भेद

घा. १/९/६ पर उद्भूत—कर्कशा परुषा कट्टवी निष्ठुरा परकोपिनी। छेद्या-डकुरा मध्यकृशातिमानिनी भयकरी। भूतहिंसाकरी चेत्ति दुर्भाषा दशधा एयजेत्। १२। = कर्कश, परुष, कट्ट, निष्ठुर, परकोपी, छेद्या-कुरा, मध्यकृशा, अतिमानिनी, भयकरी, और जीवोंकी हिंसा करने-वाली ये दश दुर्भाषा हैं, इनको छोड़ें। (अन. घ. ४/१६५-१६६)।

५. आमन्त्रणी आदि भाषा निर्देश

भ. आ/मृ. वि/११६४-११६६/११६३ आमतणि आणदणी जायणि संपुच्छणी य पणवणी। पच्चवखाणी भासा भासा इच्छाणुलोमा य ११६५। संसयवयणी य तहा असच्चमोसा य अट्टमी भासा। णवमी अणक्खरगदा असच्चमोसा हवदि णेया ११६६। टी०—आमतणी

यथा वाचा परोऽभिमुखीक्रियते सा आमंत्रणी । हे देवदत्त इत्यादि अगृहीतसकेतानभिमुखी करोति तेन न मृषा गृहीतागृहीतसकेतयोः प्रतीतिनिमित्तमनिमित्तं चेति ह्यात्मकता । स्वाध्यायं कुरुत, विरमतासयनात् इत्यादिका अनुशासनवाणी आनवणी । 'चोदिताया' क्रियायाः करणमकरणं चापेक्ष्यानैकान्तेन सस्या न मृषैव वा । जायणी ज्ञानोपकरणं पिच्छादिकं वा भवद्भिर्दातव्यं इत्यादिका याचनी । दातुरपेक्षया पूर्ववदुभयरूपा । निरोधवेदनास्ति भवता न वेति प्रश्नवाक् सपुच्छणी यद्यस्ति सत्या न चेदिततरा । वेदना भावाभाव-मपेक्षय प्रवृत्तेरुभयरूपा । पणवणी नाम धर्मकथा । सा बहुद्भिर्दिश्य प्रवृत्ता के शिचन्मनसि करणमितरंकरण चापेक्षय करणत्वाद्द्विरूपा । पच्चखत्रवाणी नाम केनचिद्गुरुमननुज्ञाप्य इव क्षीरादिकं इत्यतं कालं मया प्रत्याख्यात इत्युक्तं कार्यान्तरमुद्दिश्य तत्कुर्वित्युदितं गुरुणा प्रत्याख्यातानावधिकालो न पूर्ण इति नैकान्तत्वं सत्यता गुरुवचनात्प्रवृत्तो न दोषयेति न मृषैकान्त । इच्छानुलोमा य ज्वरितेन पृष्टं घृत-शर्करामिश्र शरीरं शोभनमिति । यदि परो ब्रूयात् शोभनमिति । माधुर्यादिप्रज्ञस्य गुणसद्भावं ज्वरवृद्धिनिमित्ततां चापेक्षय न शोभन-मिति वचो न मृषेकान्ततो नापि सत्यमेवेति ह्यात्मकता १११६। संसयवयणी किमयं स्थाणुरुत्त पुरुषं इत्यादिका द्रयोरेकस्य सद्भाव-मितरस्याभावं चापेक्षय द्विरूपा । अणवखरगदा अगुलिस्फोटादि-ध्वनिः कृताकृतसकेतपुरुषापेक्षया प्रतीतिनिमित्ततामनिमित्ततां च प्रतिपद्यते इत्युभयरूपा । = १. जिस भाषासे दूसरोको अभिमुख किया जाता है, उसको आमंत्रणी—सम्बोधिनी भाषा कहते हैं । जैसे—'हे देवदत्त यहाँ आओ' देवदत्त शब्दका संकेत जिसने ग्रहण किया है उसको अपेक्षासे यह वचन सत्य है जिसने संकेत ग्रहण नहीं किया उसको अपेक्षासे असत्य भी है । २. आज्ञापनी भाषा—जैसे स्वाध्याय करो, असयमसे विरक्त हो जाओ, ऐसी आज्ञा दी हुई क्रिया करनेसे सत्यता और न करनेसे असत्यता इस भाषामें है, इसलिए इसको एकान्त रीतिसे सत्य भी नहीं कहते और असत्य भी नहीं कह सकते हैं । ३. ज्ञानके उपकरण शास्त्र और संयमके उपकरण पिच्छादिक मेरेको दो ऐसा कहना यह याचनी भाषा है । दाताने उपर्युक्त पदार्थ दिये तो यह भाषा सत्य है और न देनेकी अपेक्षासे असत्य है । अतः यह सर्वथा सत्य भी नहीं है और सर्वथा असत्य भी नहीं है । ४. प्रश्न पूछना उसको प्रश्नभाषा कहते हैं । जैसे—तुमको निरोधमें—कारागृहमें वेदना दुख है या नहीं वगैरह । यदि वेदना होती हो तो सत्य समझना न हो तो असत्य समझना । वेदनाका सद्भाव और असद्भावकी अपेक्षा इसको सत्यासत्य कहते हैं । ५. धर्मोपदेश करना इसको प्रज्ञापनी भाषा कहते हैं । यह भाषा अनेक लोगोको उद्देश्य कर कही जाती है । कोई मनःपूर्वक सुनते हैं और कोई सुनते नहीं, इसकी अपेक्षा इसको असत्यमृषा कहते हैं । ६. किसीने गुरुका अपनी तरफ लक्ष न खींच करके मैंने इतने काल तक क्षीरादि पदार्थोंका त्याग किया है ऐसा कहा । कार्यान्तरको उद्देश्य करके वह करो ऐसा गुरुने कहा । प्रत्याख्यानकी मर्यादाका काल पूर्ण नहीं हुआ तब तक वह एकान्त सत्य नहीं है । गुरुके वचनानुसार प्रवृत्त हुआ है इस वास्ते असत्य भी नहीं है । यह प्रत्याख्यानी भाषा है । ७. इच्छा-नुलोमा—ज्वरित मनुष्यने पूछा घी और शक्कर मिला हुआ दूध अच्छा नहीं है ? यदि दूसरा कहेगा कि वह अच्छा है, तो मधुरतादिक गुणोका उसमें सद्भाव देखकर वह शोभन है ऐसा कहना योग्य है । परन्तु ज्वर वृद्धिको वह निमित्त होता है इस अपेक्षासे वह शोभन नहीं है, अतः सर्वथा असत्य और सत्य नहीं है इसलिए इस वचनमें उभयात्मकता है १११६। ८. सशय वचन—यह असत्यमृषाका आठवाँ प्रकार है । जैसे—यह ठूठ है अथवा मनुष्य है इत्यादि । इसमें दोनोंमें से एक की सत्यता है और इतरका अभाव है, इस वास्ते उभयपना इसमें है । ९. अनक्षर वचन—चुटकी बजाना, अगुलिसे इशारा करना, जिसको चुटकी बजानेका संकेत माझूम है उसकी अपेक्षासे उसको वह

प्रतीतिका निमित्त है, और जिसको संकेत माझूम नहीं है उसको अप्रतीतिका निमित्त होती है । इस तरह उभयात्मकता इसमें है १११६। (सू. आ./३१५-३१६) : (गो. जी./पृ./२२५-२२६/४५५) ।

६. पश्यन्ती आदि भाषा निर्देश

रा. वा. हिं/१/२०/१६६ शब्दाद्वैतवादी वाणी चार प्रकारकी मानते हैं—पश्यन्ती, मध्यमा, वैखरी, सूक्ष्मा । १. पश्यन्ती—जामे विभाग नाहीं । सर्व तरफ सकोचा है क्रम जाने ऐसी पश्यन्ती कहिए—लब्धिके अनुसार द्रव्य वचनको कारण जो उपयोग । (जैनके अनुसार इसे ही उपयोगात्मक भाव वचन कहते हैं ।) २. मध्यमा—वक्ताकी बुद्धि तो जाको उपादान कारण है, बहुतिर सासोच्छ्वासको उल्लंघि अनुक्रमतै प्रवर्तती ताकू मध्यमा कहिए... शब्द वर्गणा रूप द्रव्य वचन । (जैनके अनुसार इसे शब्द वर्गणा कहते हैं ।) ३. वैखरी—कण्ठादिके स्थाननिको भेदकरि पवन निसरा ऐसा जो वक्ताका सासोच्छ्वास है कारण जाकू ऐसी अक्षर रूप प्रवर्तती ताकू वैखरी कहिए (अर्थात्) कर्णेन्द्रिय ग्राह्य पर्याय स्वरूप द्रव्य वचन । (जैनके अनुसार इसे इसी नामसे स्वीकारा गया है ।) ४ सूक्ष्मा—अन्तर प्रकाश रूप स्वरूप ज्योति रूप नित्य ऐसी सूक्ष्मा कहिए ।...क्षयोपशमसे प्रगटी आत्माकी अक्षरको ग्रहण करने-की तथा कहनेकी शक्ति रूप लब्धि । (जैनके अनुसार इसे लब्धि रूप भाव वचन स्वीकारा गया है ।)

अन्य सम्बन्धित विषय

- | | |
|--|------------------|
| १. अभाषात्मक शब्द | —दे० शब्द । |
| २. अभ्याख्यान व कलह आदि रूप भाषा | —दे० वचन । |
| ३. कलह पैशुन्य आदि | —दे० वह वह नाम । |
| ४ असम्बद्ध मलाप आदि | —दे० वचन । |
| ५ गुणवाची, क्रियावाची आदि शब्द | —दे० नाम/३ । |
| ६. आगम व अध्यात्म भाषामें अन्तर | —दे० पद्धति । |
| ७. चारो अनुयोगोंकी भाषामें अन्तर | —दे० अनुयोग । |
| ८. ढोलोदिके शब्दको भाषात्मक क्यों कहते हैं | —दे० शब्द । |

भाषा पर्यायि—दे० पर्यायि/१ ।

भाषा वर्गणा—दे० वर्गणा/१ ।

भाषा समिति—दे० समिति/१ ।

भासुर—एक ग्रह—दे० ग्रह ।

भास्कर — जीवन्धरचरित्र के रचयिता एक कन्नडकवि । समय—ई १४२४। (ती./४/३११) ।

भास्करनंदि—तत्त्वार्थसूत्र की सुखबोधिनी वृत्ति (संस्कृत) तथा ध्यानस्तव के रचयिता । जिनचन्द्र के शिष्य । समय—वि श १४ का अन्त (ई श. १४) । (ती./३/३०६) । (जै./१२/२६६) ।

भास्कर वेदांत—द्वैताद्वैत—दे० वेदांत/३ ।

भिक्षा—साम्यरसमे भीगे होनेके कारण साधुजन लाभ-अलाभमे समता रखते हुए दिनमे एक बार तथा दातारपर किसी प्रकारका भी भार न पड़े ऐसे गोचरी आदि वृत्तिसे भिक्षा ग्रहण करते हैं, वह भी मौन सहित, रस व स्वादसे निरपेक्ष यथा लब्ध केवल उदर पूर्तिके लिए करते हैं । इतना होनेपर भी उनमें याचना रूप दीन व हीन भाव जागृत नहीं होता । भक्ति पूर्वक किसीके प्रतिग्रह करनेपर अथवा न करनेपर श्रमकके घरमें प्रवेश करते हैं, परन्तु विवाह व

यज्ञशाला आदिमें प्रवेश नहीं करते, नीच कुलीन, अति दरिद्री व अति धनाढ्यका आहार ग्रहण नहीं करते हैं।

१. भिक्षा निर्देश व विधि

१. साधु भिक्षा वृत्तिसे आहार करते हैं

मू. आ./८१६, ६३७ पयणं व पायणं वा ण करेति अणव ते करावेति । पयणारभणमत्ता संतुट्ठाभिव्रमेत्तेण । ८१६। जोगेसु मूल जोगं भिक्खाचरियं च वण्णियं मुत्ते । अण्णे य पुणे जोगा विण्णाणविहीण एहि कया । ६३७। = आप पकाना दूसरेसे पकवाना न तो करते हैं न कराते हैं वे मुनि पकानेके आरम्भसे निवृत्त हुए एक भिक्षा मात्रसे सन्तोषको प्राप्त होते हैं । ८१६। आगममें सब मूल उत्तरगुणोके मध्यमें भिक्षा चर्या ही प्रधान मत कहा है, और अन्य जो गुण हैं वे चारित्र हीन साधुओं को कर किये जानने । ६३७। (प्र सा/मू./२२६), (प. पु./ ४/६७) ।

२. यथा काल, वृत्ति परिसंख्यान सहित भिक्षार्थ चर्या करते हैं

रा. वा./६/६/१६/६६/१६ भिक्षाशुद्धि आचारसूत्रोक्तकालदेशप्रकृति-प्रतिपत्तिकुशला चन्द्रगतिरिव हीनाधिकगृहा, विशिष्टापस्थाना...। = आचार सूत्रोक्त कालदेश प्रकृतिकी प्रतिपत्तिमें कुशल है । चन्द्र-गतिके समान हीन या अधिक धरोंकी जिसमें मर्यादा हो, विशिष्ट विधानवाली हो ऐसी भिक्षा शुद्धि है ।

भ. आ./वि/१६०/३४६/१० भिक्षाकालं, बुभुक्षाकालं च ज्ञात्वा गृहीताव-ग्रहं, ग्रामनगरादिकं प्रविशेदीर्यासमितिसंपन्न. । = भिक्षाका समय, और बुभुक्षाका समय जानकर कुछ वृत्तिपरिसंख्यानादि नियम ग्रहण कर ग्राम या नगरमें ईर्यासमितिसे प्रवेश करे ।

३. भिक्षा योग्य काल

भ. आ./वि/१२०६/१२०३/२२ भिक्षाकालं, बुभुक्षाकालोऽवग्रहकाल-श्चेति कालत्रयं ज्ञातव्यं । ग्रामनगरादिषु इयता कालेन आहार-निष्पत्तिर्भवति, अमीषु मासेषु, अस्य वा कुलस्य वाटस्य वार्यं भोजनकाल इच्छायाः प्रमाणादिना भिक्षाकालोऽवगन्तव्यः । मम तीव्रा मन्दा वेति स्वशरीरव्यवस्था च परीक्षणीया । अयमवग्रह, पूर्वं गृहीतः । एवंभूत आहारो मया न भोक्तव्यः इति अद्यायमवग्रहो ममेति भीमांसा कार्या । = भिक्षा काल, बुभुक्षा काल और अवग्रह काल ऐसे तीन काल हैं । गाँव, शहर वगैरह स्थानोमें इतना काल व्यतीत होनेपर आहार तैयार होता है । अमुक महीनेमें अमुक कुल-का, अमुक गलीका अमुक भोजन काल है यह भिक्षा या भोजन कालका वर्णन है । १। आज मेरेको तीव्र भूख लगी है या मन्द लगी है । मेरे शरीरकी तबियत कैसी है, इसका विचार करना यह बुभुक्षा कालका स्वरूप है । अमुक नियम मैंने कल ग्रहण किया था । इस तरहका आहार मैंने भक्षण न करनेका नियम लिया था । आज मेरा उस नियमका दिन है । इस प्रकारका विचार करना अवग्रह काल है । आचारसार/६/६८ जिस समय बच्चे अपना पेट भरकर खेल रहे हों । ६८। जिस समय श्रावक बलि कर्म कर रहे हों अर्थात् देवताको भातादि नैवेद्य चढा रहे हो, वह भिक्षा काल है ।

सा. व./६/२४ में उद्धृत—प्रसृष्टे विष्णुत्रे हृदि सुविमले दोषे स्वपथगे विशुद्धे चोद्गारे ध्रुवुपगमने वातेऽनुसरति । तथाऽपनावृद्धिकते विशद-करणे देहे च मूलधौ, प्रयुज्जीताहारं विधिनियमितं काल. स हि मत. । = मूल वृत्रका त्याग हो जानेके पश्चात्, हृदयके प्रसन्न होने-पर, वात पित्त और कफ जनित दोषोंके अपने-अपने मार्गगामी होनेपर मलवाहक द्वारोंके खुलनेपर, भूखके लगनेपर, वात या वायुके ठीक-ठीक अनुसरण होनेपर, जठराग्निके प्रदीप्त होनेपर, इन्द्रियोंके प्रसन्न होनेपर, देहके हलका होनेपर, विधि पूर्वक तैयार किया हुआ, नियमित आहारका ग्रहण करे । यही भोजनका काल माना गया है ।

१ भिक्षा निर्देश व विधि

- १ साधु भिक्षा वृत्तिसे आहार लेते हैं ।
- २ यथा काल, वृत्ति परिसंख्यान सहित भिक्षार्थ चर्या करते हैं ।
- ३ भिक्षा योग्य काल ।
- ४ मौन सहित व याचना रहित चर्या करते हैं ।
- * द्वारापेक्षण पूर्वक श्रावकके घरमें प्रवेश करते हैं ।
—दे० आहार/II/१/४ ।
- * भिक्षावृत्ति सम्बन्धी नवधा भक्ति । —दे० भक्ति/२ ।
- * दातारकी अवस्था सम्बन्धी विशेष विचार ।
—दे० आहार/II/५ ।
- ५ कदाचित् याचनाकी आशा ।
- ६ अपने स्थानपर भोजन लानेका निषेध ।
- ७ गोचरी आदि पाँच भिक्षा वृत्तियोंका निर्देश ।
- ८ बर्तनोंकी शुद्धि आदिका विचार ।
- * चौकेमें चीटी आदि चलती हो तो साधु हाथ धोकर अन्यत्र चले जाते हैं । —दे० अन्तराय/२ ।
- ९ दातारके घरमें प्रवेश करने सम्बन्धी नियम व विवेक
- १ अभिमत प्रदेशमें आगमन करे अनभिमतमें नहीं ।
- २ वचन व काय चेष्टा रहित केवल शरीर मात्र दिखाये ।
- ३ छिद्रमेंसे झाँक कर देखनेका निषेध ।
- ४ गृहस्थके द्वारपर खड़े होनेकी विधि ।
- ५ चारों ओर देखकर सावधानीसे वहाँ प्रवेश करे ।
- ६ सन्नित्त व मन्दे प्रदेशका निषेध ।
- * सूतक पातक सहित घरमें प्रवेश नहीं करते ।
—दे० सूतक ।
- ७ व्यस्त व शोक युक्त गृहका निषेध ।
- ८ पशुओं व अन्य साधु युक्त गृहका निषेध ।
- ९ बहुजन ससक्त प्रदेशका निषेध ।
- १० उद्यान गृह आदिका निषेध ।
- ३ योग्यायोग्य कुल व घर
- १ विधर्मी आदिके घरपर आहार न करे ।
- २ नीच कुलीनके घरपर आहार न करे ।
- ३ शूद्रसे छूनेपर स्नान करनेका विधान ।
- ४ अति दरिद्रीके घर आहार करनेका निषेध ।
- ५ कदाचित् नीच घरमें भी आहार ले लेते हैं ।
- ६ राजा आदिके घरपर आहारका निषेध ।
- ७ कदाचित् राजपिंडका भी ग्रहण ।
- ८ मध्यम दर्जेके लोगोंके घर आहार लेना चाहिए ।

यहाँ 'काले' इस पदके द्वारा भोजनके कालका उपदेश दिया गया है। चर्चा समाधान/प्रश्न ५३/पृ. ५४ यदि आवश्यकता पड़े तो मध्याह्न कालमें भी चर्चा करते हैं।

वे. अनुमति/६—अनुमति त्याग प्रतिमाधारी दोपहर को आहार लेता है। वे. रात्रि भोजन/१—प्रधानतः दिन का प्रथम पहर भोजन के योग्य है। वे. प्रोषणवास/१/७—दोपहर के समय भोजन करना साधु का एक भक्त नामक मूल गुण है।

७. मौन सहित व याचना रहित चर्चा करते हैं

मू. आ./५१७-५१८ ण्वि ते अभित्युणंति य पिडरथं ण्वि य किञ्चि जायते। मोणव्वदेण मुणिणो चरंति भिक्खं अभासता। ५१७ देहीति दीणकल्लसं भासं वेच्छति एरिसं वत्तुं। अवि णीदि अलाभेण ण य मोणं भंजदे धीरा। ५१८—मुनिराज भोजनके लिए स्तुति नहीं करते और न कुछ माँगते हैं। वे मौन ब्रतकर सहित नहीं कुछ कहते हुए भिक्षाके निमित्त विचरते हैं। ५१७ तुम हमको प्राप्त दो ऐसा करुणा रूप मलिन वचन कहनेकी इच्छा नहीं करते। और भिक्षा न मिलनेपर लौट आते हैं, परन्तु वे धीर मुनि मौनको नहीं छोड़ते हैं। ५१८।

कुरल. का./१०७/१.६ अभिक्षुको वरीवर्ति भिक्षो' कोटिगुणोदय'।—याचनास्तु वदान्ये वा निजादधिगुणे च वै। १। एकोऽपि याचना-शब्दो जिहाया निर्वृति' परा। वरमस्तु स शब्दोऽपि पानीयार्थं हि गो'कृते। ६।—भोजन न माँगने वाले से करोड़ गुणा वरिष्ठ होनेपर भी भिक्षारी निश्च है, भले ही वह किन्हीं उत्साही दातारों से ही क्यों न माँगे। १। गाय के लिये पानी माँगने के लिये भी अपमानजनक याचना तो करनी पड़ती ही है। ६।

रा. वा./१६/१६/५६७/१८ भिक्षाशुद्धिः दीनवृत्तिविगमा प्रासुकाहारग-वैषणप्रणिधाना।—दीन वृत्तिसे रहित होकर प्रासुक आहार हूँ बना भिक्षा शुद्धि है। (चा. सा./७०/१)।

वे० भिक्षा/२/२ याचना करना, अथवा अस्पष्ट शब्द बोलना आदि निषिद्ध है। केवल विजलीकी चमक के समान शरीर दिखा देना पर्याप्त है।

आ. अनु/१५१ .. प्राप्तागमार्थं तव सन्ति गुणा. कलत्रमप्रार्थ्यवृत्तिरसि याति वृथैव याच्वाम्। १५१।—हे प्राप्तागमार्थं। गुण ही तेरी स्त्रियाँ हैं। ऐसा तथा किसीसे याचना करने रूप वृत्ति भी तुझमें पायी नहीं जाती। अब तू वृथा ही याचनाको प्राप्त हो है, सो तेरे लिए इस प्रकार दीन बनना योग्य नहीं।

५. कदाचित् याचनाकी आज्ञा

म. आ./मू/१२०६/१२०६—उग्गहजायणमणुवीचिए तहा भावणा तइए १२०६।—आगमसे अविरुद्ध ज्ञान व संयमोपकरणकी याचना करनी तुलीय अर्थात् अचौर्य महाव्रतकी भावना है।

कुरल./१०६/२,८ अपमान बिना भिक्षा प्राप्यते या सुदैवत। प्राप्ति-काले तु संप्राप्ता सा भिक्षा हर्षदायिनी। २। याचका यदि नैव स्युर्दान-धर्मप्रवर्तका। काष्ठपुत्तलवृत्त्य स्यात् तदा संसारजालकम्। ८। बिना तिरस्कार के पा सकी तो मागना आनन्ददायी है। २। धर्म प्रवर्तक याचको के अभाव में संसार कठपुतली के नाच से अधिक न हो सकेगा। ८।

वे० अपवाद/३/३ (सर्वलेखना गत क्षणकी वैयावृत्यके अर्थ कदाचित् निर्यापक साधु आहार माँगकर लाता है।)

वे० आलोचना/२/आर्कषित दोष (आचार्यकी वैयावृत्यके लिए साधु आहार माँगकर लाता है।)

६. अपने स्थानपर भोजन खानेका निषेध

मू. आ./५१२...अभिहडं च। सुत्तप्पडिक्कुट्टाणि य पडिसिड तं विव-ज्जेति। ५१२।—...अन्य स्थानसे आया सूत्रके विरुद्ध और सूत्रसे निषिद्ध ऐसे आहारको वे मुनि त्याग देते हैं। ५१२।

रा. वा./७/१/१६/५३५/७ नेदं संयमसाधनम्—आनीय भोक्तव्यमिति।—ला कर भोजन करना यह संयमका साधन भी नहीं है।

म. आ./वि./११८५/११७९/१२ कचिज्जाजने दिवैव स्थापितं आरमवासे भुञ्जानस्यापरिग्रहव्रतलोप स्यात्।—पात्र में रखा आहार वसतिष्ठा में ले जाकर खाने से अपरिग्रह व्रत की रक्षा कैसे होगी।

७. गोचरी आदि पाँच भिक्षा वृत्तियोंका निर्देश

र. सा./मू/११६ उदरगिसमणवत्तमक्खण गोयारसम्भपूरणभमरं। णाऊण तप्पयारे णिच्चेव भंजए भिक्खु ११६।—मुनियोंकी चर्चा पाँच प्रकारकी बतायी गयी है—उदरगिनप्रशमन, अक्षत्रक्षण, गोचरी, स्वभ्रपूरण और भ्रमरी। ११६। (चा. सा./५८/३)।

मू. आ./८१५ अक्खोमक्खणमेत्तं भंजति..।—गाडीके धुरा चुपरनेके समान आहार लेते हैं।

रा. वा./१६/१६/५६७/२० सा लाभालाभयोः सुरसविरसयोश्च सम-संतोषाद्भिक्षेति भाष्यते। यथा सलीलसालंकारवरयुवतिभिरुपनीय-मानघासो गौर्नतदङ्गगतसौन्दर्यनिरीक्षणपरः तृणमेवास्ति, यथा तृणो-क्षुपं नानादेशस्थ यथालाभमभ्यवहरति न योजनासंपदमवैक्षते तथा भिक्षुरपि भिक्षापरिवेषजनमुदुल्लितरूपवेषविलासावलोकननिरुत्सुकः शुष्कद्रवाहारयोजनाविषेधं चानवैक्षमाणं यथागतमश्नाति इति गौरिव चारो गोचार इति व्यपदिश्यते, तथा गवेषणेति च। यथा शकट रत्नभारपरिपुणं येन केनचित् स्नेहेन अक्षलेपं कृत्वा अभि-लषितदेशान्तरं वणिगुपनयति तथा मुनिरपि गुणरत्नभरितां तनु-शकटीमनवथभिक्षायुरक्षत्रक्षणेन अभिप्रेतसमाधिपत्तनं प्रापयतीत्यक्ष-त्रक्षणमिति च नाम निरूढम्। यथा भाण्डागारे समुत्थितमनलमशुचिना शुचिना वा वारिणा शमयति गृही तथा यतिरपि उदरगिन प्रशमय-तीति उदरगिनप्रशमनमिति च निरुच्यते। दातृजनबाधया विना कुशलो मुनिर्भ्रमरवदाहरतीति भ्रमराहार इत्यपि परिभाष्यते। येन केनचित्प्रकारेण स्वभ्रपूरणवदुदरगतं मनगारः पुरयति स्वादुनेतरेण वेत्ति स्वभ्रपूरणमिति च निरुच्यते।—यह लाभ और अलाभ तथा सरस और विरसमें समान सन्तोष होनेसे भिक्षा कही जाती है।

१ गोचरी—जैसे गाय गहनोंसे सजी हुई सुन्दर युवतिके द्वारा लायी गयी घासको खाते समय घासको ही देखती है लानेवालीके अंग-सौन्दर्य आदिको नहीं; अथवा अनेक जगह यथालाभ उपलब्ध होने-वाले चारेके पूरेको ही खाती है उसकी सजावट आदिको नहीं देखती, उसी तरह भिक्षु भी परोसने वालेके मृदु ललित रूप वेष और उस स्थानकी सजावट आदिको देखनेकी उत्सुकता नहीं रखता और न 'आहार सूधा है या नीला या कैसे चाँदी आदिके बरतनोंमें रखा है या कैसे उसकी योजना की गयी है', आदिकी ओर ही उसकी दृष्टि रहती है। वह तो जैसा भी आहार प्राप्त होता है वैसा खाता है। अतः भिक्षाको गौ की तरह चार—गोचर या गवेषणा कहते हैं।

२ अक्षत्रक्षण—जैसे वणिक् रत्न आदिसे लदी हुई गाडीमें किसी भी तेलका लेपन करके—(ओगन देकर) उसे अपने इष्ट स्थानपर ले जाता है उसी तरह मुनि भी गुण रत्नसे भरी हुई शरीररूपी गाडीको निर्दोष भिक्षा देकर उसे समाधि नगरतक पहुँचा देता है, अतः इसे अक्षत्रक्षण कहते हैं। ३. उदरगिनप्रशमन—जैसे भण्डारमें आग लग जानेपर शुचि या अशुचि कैसे भी पानीसे उसे बुझा दिया जाता है, उसी तरह यति भी उदरगिनका प्रशमन करता है, अतः इसे उदरगिनप्रशमन कहते हैं। ४. भ्रमराहार—दाताओंको किसी भी प्रकारकी बाधा पहुँचाये बिना मुनि कुशलतासे भ्रमर की तरह आहार ले लेते हैं। अतः इसे भ्रमराहार या भ्रमरीवृत्ति कहते हैं। ५. गर्तपूरण—जिस किसी भी प्रकारसे गड्ढा भरनेकी तरह मुनि स्वादु या अस्वादु अन्नके द्वारा पेटरूप गड्ढेको भर देता है अतः इसे स्वभ्रपूरण भी कहते हैं।

८ बर्तनोंकी शुद्धि आदिका विचार

भ. आ./वि./१२०६/१२०४/१६ दातुरागमनमार्ग अवस्थानदेश, कड़ु-च्छकभाजनादिक च शोधयेत्, खण्डेन भिन्नेन वा कडकच्छुकेन दीयमानं वा । = दाताका आनेका रास्ता, उसका खडे रहनेका स्थान, पत्नी और जिसमें अन्न रखा है ऐसे पात्र—इनकी शुद्धताकी तरफ विशेष लक्ष्य देना चाहिए। टूटो हुई अथवा खण्डयुक्त हुई ऐसे पत्नीके द्वारा दिया हुआ आहार नहीं लेना चाहिए।

२. दातारके घरमें प्रवेश करने सम्बन्धी नियम व विवेक

१. अनिमित्त प्रदेशमें गमन करे अनिमित्तमें नहीं

भ आ/सु./१२०६/१२०६ वज्जमणणुणादगिहपवेसस्स गोयरा-दीसु । १२०६। = गृहके स्वामीने यदि घरमें प्रवेश करनेकी मनाही की होगी तो उसके घरमें प्रवेश करना यतिको निषिद्ध है।

भ. आ./वि./१५०/३४४/२१ अन्ये भिक्षाचरा यत्र स्थित्वा लभन्ते भिक्षां, यत्र वा स्थिताना गृहिण प्रयच्छन्ति तावन्मात्रमेव भूभागं यति प्रविशेन्न गृहाभ्यन्तरम्। तद्द्वारकाच्य एतद्धने कुप्यन्ति च गृहिण । = इतर भिक्षा माँगने वाले साधु जहाँ खडे होकर भिक्षा प्राप्त करते हैं, अथवा जिस स्थानमें ठहरे हुए साधुको गृहस्थ दान देते हैं, उतने ही भूप्रवेशतक साधु प्रवेश करे, गृहके अभ्यन्तर भागमें प्रवेश न करे क्योंकि द्वारादिकोका उल्लंघन कर जानेसे गृहस्थ कुपित होंगे। (भ. आ./वि./१२०६/१२०४/१२), (भ. आ./पं. सदासुख/२५०/१३१/६)।

भ. आ./वि./१२०६/१२०४/पंक्ति नं. द्वारमर्गलं कवाट वा नोद्धाटयेत् । १०। परोपरोधवर्जिते, अनिर्गमनप्रवेशमार्गे गृहिभिरनुज्ञातस्तिष्ठेत् । ११। = यदि द्वार बन्द होगा, अर्गलासे बन्द होगा तो उसको उधा-डना नहीं चाहिए। १०। परोपरोध रहित अर्थात् दूसरोका जहाँ प्रतिबन्ध नहीं है ऐसे घरमें जाने-आनेका मार्ग छोड़कर गृहस्थोके प्रार्थना करनेपर खडे होना चाहिए। ११। (और भी देखो अगला शीर्षक)।

२. वचन व काय चेष्टारहित केवल शरीर मात्र दिखाये

भ आ/वि./१२०६/१२०४/१२ याच्ञामव्यक्तस्वर्नं वा स्वामननिवेदनार्थं न कुर्यात् । विद्युदिव स्वा तनुं च दर्शयेत्, कोऽमलभिक्षा दास्यतीति अभिसधि न कुर्यात् । = याचना करना अथवा अपना आगमन सूचित करनेके लिए अस्पष्ट बोलना या खकारना आदि निषिद्ध है। बिजलीके समान अपना शरीर दिखा देना पर्याप्त है। मेरे को कौन श्रावक निर्दोष भिक्षा देगा ऐसा संकल्प भी न करे।

आचारसार/५/१०८ क्रमेणायोग्यागाराणि पर्यटना प्राडगणाभितं । विशेष-न्मौनो विकाराङ्गसज्ञाया चोच्चिभक्तो यति । = क्रम पूर्वक योग्य घरके आगेसे घूमते हुए मौन पूर्वक घरके प्रागण तक प्रवेश करते हैं। तथा शरीरके अंगोपागसे किसी प्रकारका इशारा आदि नहीं करते हैं।

चर्चा समाधान/प्रश्न ५३/पृ. १४ = प्रश्न—ब्रती तो द्वारापेक्षण करे पर अब्रती तो न करे। उत्तर—गृहस्थके अंगनमें चौथाई तथा तीसरे भाग जाइ चेष्टा विकार रहित देह मात्र दिखावे। फिर गृहस्थ प्रति-ग्रह करे।

भ. आ/प सदासुखदास/२५०/१३१/८ बहुरि गृहनिमें तहाँ ताई प्रवेश करे जहाँ ताई गृहस्थनिका कोऊ भेषो अन्य गृहस्थीनिके आनेकी अटक नहीं होय। बहुरि अगणमें जाय खडे नहीं रहे। आशीर्वादा-दिक मुखतै नहीं कहै। हाथकी समस्या नहीं करे। उदरकी कृशता नहीं दिखावे। मुखकी विवर्णता नहीं करे। हुकारादिका सैन सज्ञा

समस्या नहीं करै, पडिगाहे तो खडे रहे, नहीं पडिगाहे तो निकसि अन्य गृहनिमें प्रवेश करै।

३. छिद्रमें-से झाँककर देखनेका निषेध

भ आ./वि./१२०६/१२०४/१६ छिद्रद्वारं कवाट, प्राकारं वा न परयेत् चौर इव । = चोरके समान, छिद्र, दरवाजा, किवाड तट वगैरहका अवलोकन न करे।

४. गृहस्थके द्वार पर खडे हानेकी विधि

भ. आ./वि./१२०६/१२०४/१५ अनिर्गमनप्रवेशमार्गे गृहिभिरनुज्ञात-स्तिष्ठेत् । समे विच्छिद्रे, भूभागे चतुरङ्गुलपादान्तरो निश्चल. कुड्य-स्तम्भादिकमनवलम्ब्य तिष्ठेत् । = घरमें जाने-आनेका मार्ग छोड़कर गृहस्थोके प्रार्थना करनेपर खडे होना चाहिए। समान छिद्र रहित ऐसी जमीन पर अपने दोनो पैरोंमें चार अंगुल अन्तर रहेगा इस तरह निश्चल खडे रहना चाहिए। भीत, खम्भ वगैरहका आश्रय न लेकर स्थित खडे रहना चाहिए।

५. चारों ओर देखकर सावधानीसे वहाँ प्रवेश करे

भ. आ. वि./१५०/३४५/३ द्वारमप्यायामविष्कम्भहीन प्रविशत गात्र-पीडासकुचिताङ्गस्य विवृताधोभागस्य वा प्रवेश दृष्ट्वा कुप्यन्ति वा । आत्मविराधना मिथ्यात्वाराधना च । द्वारपार्श्वस्थजन्तुपीडा स्वगात्रमर्द्धने शिष्यावलम्बितभाजनानि वा अनिरूपितप्रवेशी वा अभिहन्ति । तस्माद्दूर्ध्वं तिर्यक् चावलोच्य प्रवेष्टव्य । = दीर्घता व चौड़ाईसे रहित द्वारमें प्रवेश करनेसे शरीरको व्यथा होगी, अर्गोंको संकुचित करके जाना पडेगा। नीचेके अवयवोको पसार कर यदि साधु प्रवेश करेगा तो गृहस्थ कुपित होंगे अथवा हास्य करेगे। इससे साधुको आत्म विराधना अथवा मिथ्यात्वाराधना होगी। संकुचित द्वारसे गमन करते समय उसके समीप रहनेवाले जीवोंको पीडा होगी, अपने अवयवोका मर्दन होगा। यदि ऊपर साधु न देखे तो सीकेमें रखे हुए पात्रोको धक्का लगेगा अतः साधु ऊपर और चारों तरफ देखकर प्रवेश करे।

६. सचित्त व गन्दे प्रदेशका निषेध

भ आ./वि./१५०/पृ. नं./पं. नं. गृहिभिस्तिष्ठ प्रविशेरयभिहितोऽपि नान्धकारं प्रविशेत्स्वस्थानपरिहापरिहृतये । (३४४/२२) तदानीमेव लिप्रा, जलसेकाद्रा, प्रकीर्णहरितकुसुमफलपलाशादिभिर्निरन्तरा, सचित्तमूर्त्तकावतीं, छिद्रबहुला, विचरत्स्वजीवाना (३४५/६) सूत्रासूक्पुरोषादिभिरुपहता भूमि न प्रविशेत् (३४५/८) = गृहस्थोके तिष्ठो, प्रवेश करे ऐसा कहनेपर भी अन्धकारमें साधुको प्रवेश करना युक्त नहीं। अन्यथा त्रस व स्थावर जीवोंका विनाश होगा। (३४४/२२) तत्काल लेपो गयी, पानीके छिडकावसे गीली की गयी, हरातृण, पुष्प, फल, पत्रादिक जिसके ऊपर फैले हुए हैं ऐसी, सचित्त मिट्टीसे युक्त, बहुत छिद्रोसे युक्त, जहाँ त्रस जीव फिर रहे हैं। जो सूत्र, रक्त, विष्टादिसे अपवित्र बनो है, ऐसी भूमिमें साधु प्रवेश न करे। अन्यथा उसके संयमकी विराधना होगी व मिथ्यात्व आराधनाका दोष लगेगा।

भ. आ/वि/१२०६/१२०४/३.७.११ अकर्मिनानुदकेन अत्रसहरितबहुलेन वर्मना । ३। तुषगोमयभस्मबुसपलालनिधयं, दलोपलफलादिक च परिहरेत् । ७। पुष्पै. फलेर्बीजैर्वावकीर्णां भूमि वर्जयेत् । तदानीमेव लिप्रां । = जिसमें कीचड नहीं है, पानी फैला हुआ नहीं है, जो त्रस व हरितकाय जन्तुओसे रहित है, ऐसे मार्गसे प्रयाण करना चाहिए। धानके छिलके, गोबर, भस्मका ढेर, भूसा, वृक्षके पत्ते, पत्थर फल-कादिको का परिहार करके गमन करना चाहिए। जो जमीन पुष्प, फल और बीजोंसे व्याप्त हुई है अथवा हालमें ही लीपी गयी है उस परसे जाना निषिद्ध है।

७. व्यस्त व शोक युक्त गृहका निषेध

भ. आ./वि./१२०६/१२०४/१२ तथा कुटुम्बिषु व्यग्रविषण्णदीनमुखेषु च सत्सु नो तिष्ठेत् । = जहाँ मनुष्य, किसी कार्यमें तत्पर दीखते हो, लिखन दीख रहे हो उनका मुख दीनता युक्त दीख रहा हो तो वहाँ ठहरना निषिद्ध है ।

८. पशुओं व अन्य साधु युक्त प्रदेशका निषेध

भ. आ./वि./१२०६/३४४/१५ तथा भिक्षानिमित्तं गृहं प्रवेष्टुकामः पूर्वं अवलोकयेत्किमत्र बलीबर्हा, महिष्यः, प्रसूता वा गावः, वृष्टा वा सारमेया, भिक्षाचरा. भ्रमणा सन्ति न सन्तीति । सन्ति चेन्न प्रविशेत् । यदि न बिभ्यति ते यत्नेन प्रवेशं कुर्यात् । ते हि भोक्ता यतिं बाधन्ते स्वयं वा पलायमानाः त्रसस्थावरपीडां कुर्युः । क्लिश्यन्ति, महति वा गर्तादौ पतिता मृत्सिमुपेयुः । गृहीतभिक्षाणां वा तेषां निर्गमने गृहस्थैः प्रत्याख्यानं वा हृष्ट्वा श्रुत्वा वा प्रवेष्टव्यं । अन्यथा बहव आयाता इति दासुमशक्ताः कस्मैचिदपि न दद्युः । तथा च भोगान्तराय. कृत स्यात् । क्रद्धा परे भिक्षाचरा निर्भर्त्सनादिकं कुर्युरस्माभिराशया प्रविष्ट गृह किमर्थं प्रविशतीति । ... (एलकं वत्स वा नातिक्रम्य प्रविशेत् । मीताः पलायनं कुर्युरात्मानं मा पातयेयुः) । = भिक्षाके लिए श्रावक घरमें प्रवेश करते समय प्रथमतः इस घरमें बैल, भैंस, प्रसूत गाय, वृष्ट कुत्ता, भिक्षा मॉगनेवाले साधु है या नहीं यह अवलोकन करे, यदि न होंगे तो प्रवेश करे अथवा उपर्युक्त प्राणी साधुके प्रवेश करनेसे भययुक्त न होंगे तो यहाँसे सावधान रहकर प्रवेश करे । यदि वे प्राणी भययुक्त होंगे तो उनसे यतिकी बाधा होगी । इधर-उधर वे प्राणी दौड़ेंगे तो त्रसणीवींका, स्थावर जीवींका विनाश होगा अथवा साधुके प्रवेशसे उनको बलेश होगा । किंवा भागते समय गड्डेमें गिरकर मृत्यु वश होंगे । जिन्होंने भिक्षा ली है ऐसे अन्य साधु घरसे बाहर निकलते हुए देखकर अथवा गृहस्थोके द्वारा उनका निराकरण किया हुआ देखकर वा सुनकर तदनन्तर प्रवेश करना चाहिए । यदि मुनिवर इसका विचार न कर श्रावक गृहमें प्रवेश करे तो बहुत लोक आये है ऐसा समझकर दान देनेमें असमर्थ होकर किसीको भी दान न देंगे । अतः विचार बिना प्रवेश करना लाभातरायका कारण होता है । दूसरे भिक्षा मॉगनेवाले पाखंडी साधु जैन साधु प्रवेश करनेपर हमने कुछ मिलनेकी आशासे यहाँ प्रवेश किया है, यह मुनि बयो यहाँ आया है ऐसा विचार मनमें लाकर निर्भर्त्सना तिरस्कारादिक करेगे । ... घरमें बछड़ा अथवा गायका बछड़ा हो तो उसको लाँघकर प्रवेश न करे अन्यथा वे डरके मारे पलायन करेगे वा साधुको गिरा देंगे ।

भ. आ./वि./१२०६/१२०४/१० बालवत्स, एलकं, युनो वा नोक्लङ्घयेत् । ... भिक्षाचरेषु परेषु लाभार्थेषु स्थितेषु तद्ग्रेहं न प्रविशेत् । = छोटा बछड़ा, बकरा और कुत्ता इनको लाँघ कर नहीं जाना चाहिए । ... जहाँ अन्य भिक्षु आहार लाभके लिए खड़े हुए है, ऐसे घरमें प्रवेश करना निषिद्ध है ।

९. बहुजन संसक्त प्रदेशका निषेध

रा. वा./१/६/१६/५९/१६ भिक्षाशुद्धि... दीनानाथदानशाला विवाह-यजनमेहादिपरिवर्जनोपलक्षिताः । = दीन अनाथ दानशाला विवाह-यज्ञ भोजनादिका जिसमें परिहार होता है, ऐसी भिक्षा शुद्धि है ।

भ. आ./वि./१२०६/३४५/७ गृहिणा भोजनार्थं कृतमण्डलपरिहारा, देवता-धुषिता निकटोभूतनानाजनामन्तिकस्थासनशयनामासीनशयित-पुरुषा- भूमि न प्रविशेत् । = जहाँ गृहस्थोके भोजनके लिए रंगावली रची गयी है, देवताओकी स्थापनासे युक्त, अनेक लोग जहाँ बैठे है, जहाँ आसन और शय्या रखे है, जहाँ लोक बैठे है और सोये है . ऐसी भूमिमें साधु प्रवेश न करे ।

भ. आ./वि./१२०६/१२०४/८ न गीतवृत्त्यबहुल, उद्धितपताकं वा गृहं प्रविशेत् । यज्ञशाला, दानशाला, विवाहगृहं, वार्यमाणानि, रक्ष्य-माणानि, अन्यमुक्तानि च गृहाणि परिहरेत् । = जहाँ पताकाओंकी पंक्ति सजायी जा रही है ऐसे घरमें प्रवेश न करे । ... यज्ञशाला दान-शाला, विवाहगृह, जहाँ प्रवेश करनेकी मनाई है, जो पहरेदारोंसे युक्त है, जिसको अन्य भिक्षुकोने छोड़ा है ऐसे गृहोंका त्याग करना चाहिए ।

१०. उद्यान गृह आदिका निषेध

भ. आ./वि./१२०६/१२०४/१४ रहस्यगृहं, वनगृहं कदलीलतागुल्मगृहं, नाट्यगान्धर्वशालाश्च अभिनन्द्यमानोऽपि न प्रविशेत् । = एकांतगृह, उद्यानगृह, कदलियोसे बना हुआ गृह, लतागृह, छोटे-छोटे वृक्षोंसे आच्छादित गृह, नाट्यशाला, गन्धर्वशाला, इन स्थानोंमें प्रतिग्रह करनेपर भी प्रवेश करना निषिद्ध है ।

३. योग्यायोग्य कुल व घर

१. विधर्मी आदिके घरपर आहार न करे

दे० आहार/१/२/२ अनभिज्ञ साधर्म्यं और आचार क्रियाओको जानने-वाले भो विधर्मी द्वारा शोधा या पकाया गया, भोजन नहीं ग्रहण करना चाहिए ।

दे० भिक्षा/१/२ नीच कुल अथवा कुलियियोंके गृहमें आहार नहीं लेना चाहिए ।

क्रियाकोष/२०५-२०६ जैनधर्म जिनके घर नाही । आन-आन देव जिनके घर माँही । २०५ तिनको छूआ अथवा करको । कबहू न खावे तिनके घरको । २०६ ।

२. नीच कुलीनके घर आहार करनेका निषेध

मू. आ./४६८. ५०० अभोजगिहपवेसणं । ४६५ कारणभूदा अभोजणस्सेह । ५०० = अभोज्य घरमें प्रवेश करना भोजन त्यागका कारण है, अर्थात् २१ वॉ अन्तराय है ।

लि. पा/मू./२१ पुंच्छलिधरि जो भुंजह णिच्च संधुणदि पोसए पिडं । पावदि बालसहावं भावविणट्ठो ण सो सवणो । २१ । = जो लिगधारी व्यभिचारिणी स्त्रीके घर भोजन करते है, और 'यह बडी धर्मात्मा है' इस प्रकार उसको सराहना करते है । सो ऐसा लिगधारी बाल-स्वभावको प्राप्त होता है, अज्ञानी है, भाव विनष्ट है, सो श्रमण नहीं है । २१ ।

रा. वा./१/६/१६/५९/१७ भिक्षाशुद्धि ... लोकगर्हितकुलपरिवर्जनपरा... । = भिक्षा शुद्धि लोक गर्हित कुलोका परिवजन या त्याग कराने-वाली है ।

भ. आ./वि./४२१/६१३/१४ ऐतेषां पिण्डो नामाहार', उपकरणं वा प्रति-लेखनादिक शय्याधरपिण्डस्तस्य परिहरणं तृतीय स्थितिकल्पः । सति शय्याधरपिण्डग्रहणे प्रच्छन्नमयं योजयेदाहारादिकं । धर्मफललोभायो वा आहारं दातुमक्ष्मो दरिद्रो लुब्धो वा न चासौ वसति प्रयच्छेत् । सति वसतौ आहारदाने वा लोको मां निन्दति-स्थिता वसतावस्थ यतयो न चानेन मन्दभाग्येन तेषां आहारे दत्त इति । यते स्नेहश्च स्यादाहार वसति च प्रयच्छति तस्मिन् बहूपकारितया । तत्पिण्डाग्रहणे तु नोक्तदोषसंस्पर्शः । = इनके (शय्याधरीके दे० शय्याधर) आहारका और इनकी पिच्छिका आदि उपकरणोका त्याग करना यह तीसरा स्थितिकल्प है । यदि इन शय्याधरोके घरमें मुनि आहार लेगे तो धर्म फलके लोभसे ये शय्याधर मुनियोंको आहार देते है ऐसी निन्दा होगी । जो आहार देनेमें असमर्थ है, जो दरिद्री है, लोभी कृपण है, वह मुनियोंको वसतिका दान न देंगे । उसने वसतिका दान किया तो भो इस मन्दभाग्यने मुनिको आश्रय दिया परन्तु आहार नहीं दिया ऐसी लोग निन्दा करते है । जो वसतिका और आहार दोनों देता है

उसके ऊपर मुनिका स्नेह भी होना सम्भव है क्योंकि उसने मुनिपर बहुत उपकार किया है। अतः उनके यहाँ मुनि आहार ग्रहण नहीं करते।

भ. आ./वि./१२०६/१२०४/८ मत्ताना गृहं न प्रविशेत्। सुरापण्याङ्गना-लोकगर्हितकुलं वा। ... उत्क्रमाढ्यकुलानि न प्रविशेत्। = मत्त पुरुषोंके घरमें प्रवेश न करे। मदिरा अर्थात् मदिरा पीनेवालोंका स्थान, वेश्याका घर, तथा लोक निन्द्य कुलोंका त्याग करना चाहिए। आचार विरुद्ध चलनेवाले श्रमन्त लोगोंके घरका त्याग करना चाहिए।

आचारसार/४/१०१-१०७ कोतवाल, वेश्या, बन्दीजन, नीच कर्म करनेवालेके घरमें प्रवेशका निषेध है।

सा ध./३/१०/१२६ पर कुटनोट—मद्यादिस्नादिगोहेषु पानमन्त्रं च नाचरेत्। तदामूत्रादिसंपर्कं न कुर्वीत कदाचन। = मद्य पीनेवालोंके घरोंमें अन्न पान नहीं करना चाहिए। तथा मल मूत्रादिका सम्पर्क भी उस समय नहीं करना चाहिए।

बो. पा./टो./४८/११२/१६ किं तदयोग्य गृहं गत्र भिक्षान गृह्यते इत्याह— गायकस्य तलारस्य, नीचकर्मोपजीविनः। मालिकस्य विलिङ्गस्य वेश्यायास्तैलिकस्य च। १। अस्यायमर्थः—गायकस्य गन्धर्वस्य गृहे न भुज्यते। तलारस्य कोटपालस्य, नीचकर्मोपजीविन चर्मजलशकटा देवाहिकादे श्रावकस्यापि गृहे न भुज्यते। मालिकस्य पुष्पोपजीविनः, विलिङ्गस्य भरटस्य, वेश्याया गणिकायाः, तैलिकस्य घाचिकस्य। दीनस्य सूतिकायाश्च छिपकस्य विशेषतः। मद्यविक्रयिणो मद्यपायि-ससर्गिणश्च न। २। दीनस्य श्रावकोऽपि सन् यो दीनं भाषते। सूति-काया या बालकानां जननं कारयति। अन्यस्मृगमं। शालिको मालिकश्चैव कुम्भकारस्तिलतुडः। नापित्तश्चेति विज्ञेया पञ्चैते पञ्चकारवः। ३। रजकस्तक्षकश्चैव अथ सुवर्णकारकः। दृषत्कारादय-श्चेति कारवो बहवः स्मृताः। ४। क्रियते भोजनं गोहे यतिना मोक्तु-मिच्छन्ना। एवमादिकमप्यन्यच्चिन्तनीयं स्वचेतसा। ५। वरं स्वहस्तेन कृतं पाको नान्यत्र दुर्दृशाः। मन्दिरे भोजनं यस्मात्सर्वसावध-सगमः। ६। = वै अयोग्य घर कौनसे है जहाँसे साधुको भिक्षा ग्रहण नहीं करनी चाहिए। सो बताते हैं—गायक अर्थात् गानेको आजीवि-का करनेवाले गन्धर्व लोगोंके घरमें भोजन नहीं करना चाहिए। तलार अर्थात् कोतवालके घर तथा चमड़ेका तथा जल भरनेका तथा रथ आदि हाँकने इत्यादिका नीचकर्म करनेवाले श्रावकोंके घरमें भी भोजन नहीं करना चाहिए। माली अर्थात् फूलोंको आजीविका करने-वालेके घर, तथा कुलियाँके घर तथा वेश्या अर्थात् गणिकाके घर और तैलिकके घर भी भोजन नहीं करना चाहिए। इसके अतिरिक्त निम्न अनेक घरोंमें भोजन नहीं करना चाहिए—श्रावक होते हुए भी जो दोम वचन कहे, सूतिका अर्थात् जिसने हाल ही में बच्चा जना हो, छिपी (कपड़ा रगनेवाले), मद्य बेचने वाले, मद्य पीनेवाले, या उनके संसर्गमें रहनेवाले। २। जुवाहे, माली, कुम्हार, तिलतुड अर्थात् तैली, भावि अर्थात् नाई इन पाँचोंको पाँच कारव कहते हैं। ३। रजक (धानी), तक्षक (बढ़ई), लुहार, सुनार, दृषत्कार अर्थात् पत्थर धड़ने-वाले इत्यादि अनेकों कारव हैं। ४। ये तथा अन्य भी अपनी बुद्धिसे विचारकर, मोक्षमार्गी यतियोंको इनके घर भोजन नहीं करना चाहिए। ५। अपने हाथसे पकाकर खा लेना अच्छा है परन्तु ऐसे कुट्टि व नीचकर्मोपजीवी लोगोंके घरमें भोजन करना योग्य नहीं है, क्योंकि इससे सर्व साधुका प्रसंग आता है।

३. शूद्रसे छूनेपर स्नान करनेका विधान

आचारसार/२/७० स्पृष्टे कपालिचाण्डालपुष्पवरयादिके सति। जपेदु-पोषितो मन्त्रं प्रागुल्लुत्याशु दण्डवत्। ७०। = कपाली, चण्डाली और रजस्वला स्त्रियोंसे छूनेपर सिरपर कमण्डलसे पानीकी धार डाले, जो पँवो तक आ जाये। उपवास करे; महा मन्त्रका जप करे।

सा. ध./२/३३/१०६ पर कुटनोट—यस्तेऽस्तु दुर्जनस्पृशत्स्नानमन्यद्वि-गर्हितं। = दुर्जन (अर्थात् अस्पर्श चाण्डाल आदिके साथ स्पर्श होने-पर मुनिको स्नान करना चाहिए।

अन ध./४/५६ तद्वच्चचाण्डालादिस्पर्शः च। ६। = चाण्डालादिका स्पर्श हो जानेपर अन्तराय हो जाता है।

४. अति दरिद्रीके घर आहार करनेका निषेध

रा. बा./६/६/१६/५६७/१८ भिक्षाशुद्धिः... दीनानाथं... गेहादिपरि-वर्जनोपलक्षिता। = दीन अनाथोंके घरका त्याग करना भिक्षा शुद्धि है।

भ. आ./वि./१२०६/१२०४/६ दरिद्रकुलानि उत्क्रमाढ्यकुलानि न प्रविशेत्। = अतिशय दरिद्री लोगोंके घर तथा आचार विरुद्ध श्रमन्तोंके घरमें भी प्रवेश न करे।

बो. पा./टी./४८/११२ पर उद्धृत-दीनस्य श्रावकोऽपि सन् यो दीनं भाषते। = श्रावक होते हुए भी जो दीन वचन कहे, उसके घर भोजन नहीं करना चाहिए।

५. कदाचित् नीच घरमें भी आहार ले लेते हैं

मू. आ./८१३ अण्णादमणुण्णादं भिक्षुं गिच्छुच्चमज्जिमकुलेसु। धर-पंतिहि हिडंति य मोणेण सुणी समादिति। ८१३। नीच उच्च तथा मध्यम कुलीमें गृह-पंक्ति के अनुसार वे मुनि भ्रमण करते हैं और फिर मौन पूर्वक अज्ञात अनुज्ञात भिक्षाको ग्रहण करते हैं। ८१३।

६. राजा आदिके घरपर आहारका निषेध

भ. आ./वि./४२१/६१३/१८ राजपिण्डाग्रहणं चतुर्थं स्थितिकल्पः। राज-शब्देन इक्ष्वाकुप्रभृतिकुले जाताः। राजते रज्यति इति वा राजा राजसदृशो महर्द्धिको भण्यते। तस्य पिण्डः। स त्रिविधो भवति। आहारः, अनाहारः, उपधिरिति। तत्राहारश्चतुर्विधो भवति अशनादिभेदेन। दृणफलकपीठादि अनाहारः, उपधिनार्थं प्रतिश्लेखनं वर्त्तं पात्रं वा। एवंभूतस्य राजपिण्डस्य ग्रहणे को दोषः इति चेत् अत्रोच्यते—द्विविधा दोषा आत्मसमुत्था परसमुत्था मनुजति-र्यकृतविकल्पेनेति। तिर्यकृता द्विविधा प्रामारण्यपशुभेदात्। ते द्विप्रकारा अपि द्विभेदा दुष्टा भद्राश्चेति। हया, गजा, गावो, महिषा, मेघ्ना, श्वानश्च ग्राम्याः दुष्टा। दुष्टेभ्यः संयतोपघातः। भद्राः पलायमाना स्वयं बु खिता पातेन अभिघातेन वा व्रतिनो भारयन्ति वा धावनीर्णधनादिपरा। प्राणिन आरण्यकास्तु वध्याग्रक्रव्याददीपिनो, वानरा वा राजगृहे बन्धनमुक्ता यदि क्षुद्रास्तत आत्मविपत्तिर्भद्रा-श्चेत्पलायने पूर्वदोषः। मानुषास्तु तलवरा म्लेच्छभेदा, प्रेष्या, दासाः दास्यः इत्यादिकाः तैराकुलत्वात् दुष्टप्रवेशनं राजगृहं प्रविशन्तं मत्ताः, प्रमत्ताः, प्रमुदितारश्च दासादयः उपहसति, आक्रोशयन्ति नारयन्ति वा। अवरुद्धाया स्त्रिया मैथुनसज्जया बाध्यमाना पुत्रार्थिन्यो वा बलात्स्वगृहं प्रवेशयन्ति भोगार्थं। विप्रकीर्णं रत्नसुवर्णादिकं परे गृहीत्वा अत्र संयता अयाता इति दोषमध्यारोपयन्ति। राजा विश्वस्त श्रमणेषु इति श्रमणरूपं गृहीत्वागत्य दुष्टा, खलीकुर्वन्ति। ततो रुष्टा अविश्वेकिन वृषयन्ति श्रमणान्मारयन्ति नधन्ति वा एते परसमुद्भवा दोषा। आत्मसमुद्भवास्तुच्यन्ते। राजकुले आहारं न शोधयति अदृष्टमाहृतं च गृह्णाति। विकृतिसेवनादिगालदोषः, मन्द-भाग्यो वा दृष्टवान्दर्यं रत्नादिकं गृहीत्वाह्यामलोचना वानुरूपाः समवलोक्यानुक्तस्तासु भवेत्। ता विभूति, अन्त पुराणि, पण्याङ्गना वा विलोक्य निदानं कुर्यात्। इति दोषसंभवो यत्र तत्रराजपिण्ड-ग्रहणप्रतिषेधो। = राजाके यहाँ आहार नहीं लेना चाहिए यह चौथा स्थिति कल्प है। १ राजासे तात्पर्य—इक्ष्वाकुवंश हरिवंश इत्यादि कुलमें जो उत्पन्न हुआ है, जो प्रजाका पालन करना, तथा उनकी दुष्टोंसे रक्षा करना, इत्यादि उपायोंसे अनुरंजन करता है उसको

राजा कहते हैं। राजाके समान जो महर्षिके धारक अन्य धनाढ्य व्यक्ति है, उसको भी राजा कहते हैं। ऐसोके यहाँ पिण्ड ग्रहण करना राजपिण्ड है। राजपिण्डका तात्पर्य—उपरोक्त लोगोंके हा आहार राजपिण्ड है। इसके तीन भेद हैं—आहार, अनाहार और उपधि। अन्न, पान और खाद्य, स्वाद्यके पदार्थोंको आहार कहते हैं। तृण, फलक आसन वगैरहके पदार्थोंको अनाहार कहते हैं। पिछी, वस्त्र, पात्र आदिकी उपधि कहते हैं। राजपिण्ड ग्रहणमें परकृतदोष—राजपिण्ड ग्रहण करनेमें क्या दोष है। इस प्रश्नका उत्तर ऐसा है—आत्मसमुत्थ और परसमुत्थ—ऐसे दोषोंके दो भेद हैं। ये दोष मनुष्य और तिर्यचोके द्वारा होते हैं। तिर्यचोके ग्राम्य और अरण्यवासी ऐसे दो भेद हैं। ये दोनो प्रकारके तिर्यच दुष्ट और भद्र ऐसे दो प्रकारके हैं। घोडा, हाथी, भैंसा, मेढा, कुत्ता इनको ग्राम्य पशु कहते हैं। सिंह आदि पशु अरण्यवासी हैं। ये पशु राजाके घरमें प्रायः होते हैं। तिर्यचकृत उपद्रव—यदि ये उपरोक्त पशु दुष्ट स्वभावके होंगे तो उनसे मुनियोंको बाधा पहुँचती है। यदि वे भद्र हों तो वे स्वयं मुनिको देखकर भयसे भागकर दुःखित होते हैं। स्वयं गिर पड़ते हैं अथवा धक्का देकर मुनियोंको मारते हैं। इधर उधर कूदते हैं। बाघ, सिंह आदि मांस भक्षी प्राणी, बानर वगैरह प्राणी राजाके घरमें बन्धनसे यदि मुक्त हो गये होंगे तो उनसे मुनिका घात होगा और यदि वे भद्र होंगे तो उनके इधर-उधर भागनेपर भी मुनिको बाधा होनेकी सम्भावना है। मनुष्यकृत उपद्रव—मनुष्योसे भी राजाके घरमें मुनियोंको दुःख भोगने पड़ते हैं। उनका वर्णन इस प्रकार है—राजाके घरमें तलवर (कोतवाल) म्लेच्छ, दास, दासी वगैरह लोक रहते हैं। इन लोगोंसे राजगृह व्याप्त होनेसे वहाँ प्रवेश होनेमें कठिनता पड़ती है। यदि मुनिने राजाके घरमें प्रवेश किया तो वहाँ उन्मत्त दास वगैरह उनका उपहास करते हैं, उनको निन्द्य शब्द बोलते हैं, कोई उनको अन्दर प्रवेश करनेमें मनाई करते हैं, कोई उनको उल्लंघन करते हैं। वहाँ अन्तःपुरकी स्त्रियाँ यदि काम बिकारसे पीडित हो गयीं अथवा पुत्रकी इच्छा उनको हो तो मुनिका जबरदस्तीसे उपभोगके लिए अपने घरमें प्रवेश करवाती हैं। कोई व्यक्ति राजाके घरके सुवर्ण रत्नादिक चुराकर 'यहाँ मुनि आया था उसने चोरी की है' ऐसा दोषारोपण करते हैं। यह राजा मुनियोंका भक्त है, ऐसा समझकर दुष्ट लोक मुनि वेष धारणकर राजाके यहाँ प्रवेश करते हैं, और वहाँ अनर्थ करते हैं, जिससे असली मुनियोंको बाधा पहुँचनेकी बहुत सम्भावना रहती है। अर्थात् राजा रुष्ट होकर अविबेकी बनकर मुनियोंको दुःख देता है। अथवा अविबेकी दुष्ट लोक मुनियोंको दोष देते हैं, उनको मारते हैं। ऐसे इतर व्यक्तियोंसे उत्पन्न हुए अर्थात् परसमुत्थ दोषोंका वर्णन किया। आत्म समुत्थ दोष—अब राजाके घरमें प्रवेश करनेसे मुनि स्वयं कौनसे दोष करते हैं, ऐसे आत्म-समुत्थ दोषोंका वर्णन करते हैं—राजगृहमें जाकर आहार शुद्ध है या नहीं इसका शोध नहीं करेगा, देख-भालकर न लाया हुआ आहार ही ग्रहण कर लेता है। विकार उत्पन्न करनेवाले पदार्थ सेवन करनेसे इगाल नामक दोष उत्पन्न होता है, अर्थात् ऐसे पदार्थ भक्षण करनेमें लम्पट हो जाता है। दुर्दैवसे वहाँके रत्नादिक अमूल्य वस्तु चुरानेके भाव उत्पन्न होकर उसको उठा लेगा। अपने योग्य स्त्रीको देखकर उसमें अनुरक्त होगा। राजाका वैभव उसका अन्तःपुर, वेश्या वगैरहको देखकर निदान करेगा। ऐसे दोषोंका सम्भव होगा ऐसे राजाके घरमें आहारका त्याग करना चाहिए।

दे० भिक्षा/२/६ में भ, आ पहरेंदारीसे युक्त गृहका त्याग करना चाहिए।

७. कदाचित् राजपिण्डका भी ग्रहण

भ आ /वि./४२१/६१४/८ इति दोषसंभवो यत्र तत्र राजपिण्डग्रहणप्रतिषेधा न सर्वत्र प्रकल्प्यते। ग्लानार्थे राजपिण्डोऽपि दुर्लभद्रव्य। आगाढकारणे वा श्रुतस्य व्यवच्छेदो माभूदिति। = (उपरोक्त शीर्षकमें

कथित) राजपिण्डके दोषोंका सम्भव जहाँ होगा ऐसे राजाके घरमें आहारका त्याग करना चाहिए। परन्तु जहाँ ऐसे दोषोंकी सम्भावना नहीं है वहाँ मुनिको आहार लेनेकी मनाई नहीं है। गत्यन्तर न हो अथवा श्रुतज्ञानका नाश होनेका प्रसंग हो तो उसका रक्षण करनेके लिए राजगृहमें आहार लेनेका निषेध नहीं है। ग्लान मुनि अर्थात् बोमार मुनिके लिए राजपिण्ड यह दुर्लभ द्रव्य है। श्रीमारी, श्रुतज्ञान का रक्षण ऐसे प्रसंगमें राजाके यहाँ आहार लेना निषिद्ध नहीं है। म पु २०/६६-८१ का भावार्थ—श्रेयान्सकुमारने भगवान् ऋषभदेवको आहारदान दिया था।

८. मध्यम दर्जेके लोगोंके घर आहार लेना चाहिए

भ, आ./वि./१२०६/१२०४/१० दरिद्रकुलानि उत्क्रमाद्यकुलानि न प्रविशेत्। ज्येष्ठावपमध्यानि सममेवाटेत्। = अतिशय दरिद्री लोगोंके घर तथा आचार विरुद्ध चलनेवाले श्रमन्त लोगोंके गृहका त्याग करके बड़े छोटे व मध्यम ऐसे घरोंमें प्रवेश करना चाहिए। दे, भिक्षा/३/६ दरिद्र व धनवान रूप मध्यम दर्जेके घरोंकी वंक्तिमें वे मुनि भ्रमण करते हैं।

भिक्षु—(दे० साधु)।

भित्तिकर्म—दे० निक्षेप/४।

भिन्न—Fraction (घ. ५/प्र. २८)।

भिन्न अंकगणित—दे० गणित/II/१।

भिन्नदश पूर्वा—दे० श्रुतकेवली/१।

भिन्न परिकर्माष्टक—दे० गणित/II/१/१०।

भिन्न मुहूर्त—कालका प्रमाण विशेष—दे० गणित/II/१/४।

भित्तक सध—दे० इतिहास/६/६।

भौम—१. वर्तमान काजीन नारद थे—दे० शलाका पुरुष/६। २. राक्षस जातिके ग्यन्तर देवोंका एक भेद—दे० राक्षस। ३. राक्षसोंका इन्द्र (दे० ग्यन्तर/२/१) जिसने सगर चक्रवर्तीके शत्रु पूर्णधनके पुत्र मेघवाहनको अजितनाथ भगवान्की शरणमें आनेपर लंका दी थी जिससे राक्षस-वंशकी उत्पत्ति हुई (प. पु ५/१६०)। ४. पा. पु /सर्ग/श्लोक-पूर्वके दूसरे भवमें सोमिल ब्राह्मणके पुत्र थे (२३/८१) पूर्वभवमें अच्छुत स्वर्गमें देव हुए (३३/१०५)। वर्तमान भवमें पाण्डुका कुन्ती रानीसे पुत्र थे (८/१६७-२४/७५) ताऊ भीष्म तथा गुरुद्रोणाचार्य से शिक्षा प्राप्त की। (८/२०४-२१४)। लाथा गृह दहनके पश्चात् तुण्डी नामक देवीसे नदीमें युद्ध किया/विजय प्राप्तकर नदीसे बाहर आये (१२/३४३) फिर पिशाच विद्याधरको हराकर उसकी पुत्री हिडम्बासे विवाह किया, जिससे घुटुक नामक पुत्र उत्पन्न हुआ (१४/५१-६५)। फिर असुर राक्षस (१४/७५) मनुष्यभक्षी राजा बकको हराया (१४/१३१-१३४)। कर्णके मदमस्त हाथीको बशमें किया। (१४/१६८) यक्षद्वारा गदा प्राप्त की (१४/१०३) द्रौपदीपर कीचकके मोहित होनेपर द्रौपदीके वेशमें कीचकको मार डाला (१७/२७८) फिर कृष्ण व जरासन्धके युद्धमें दुर्योधनके १६ भाई तथा और भी अनेकोंको मारा (२०/२६६)। अन्तमें नेमिनाथ भगवान्के समवशरणमें अपने पूर्वभव सुनकर विरक्त हो दीक्षा धारण की (२५/१२-१३) घोर तपकर अन्तमें दुर्योधनके भाजेकृत उपसर्गको जोत मोक्ष प्राप्त किया। (२५/५२-१३३)। और भी—दे० पाण्डव।

भौमरथी—भरत आर्य खण्डकी एक नदी—दे० मनुष्य/४।

भौमसेन—१. पुत्राट संघकी गुर्वावलीके अनुसार आप अभयसेन नं. २ के शिष्य तथा जिनसेनके गुरु थे।—दे० इतिहास/७/८।

२. काष्ठासंघकी गुर्वावलीके अनुसार यह लक्ष्मणसेनके शिष्य तथा सोमकीर्तिके गुरु थे। समय—वि १५०६ (ई० १४४६) दे० इतिहास/७/६।

भीमावलि—वर्तमान कालीन प्रथम रुद्र—दे० शलाका-पुरुष/७।

भीष्म—अपरनाम गांगेय—दे० गांगेय।

भुजंग—महोरग नामा व्यन्तर जातिका एक भेद—दे० महोरग।

भुजंगदेव—लवण समुद्रके ऊपर आकाशमे स्थित भुजंगनामक देवोंकी २८००० नगरियाँ हैं।—दे० व्यन्तर /४।

भुजंगशाली—दे० भुजंग।

भुजगार बंध—दे० प्रकृतिबंध/१।

भुज्यमान आयु—दे० आयु/१।

भुवनकीर्ति—नन्दिसंघ बलात्कार गणकी ईडरशाखाके अनुसार सकलकीर्तिके शिष्य तथा ज्ञानभूषणके गुरु। समय—वि. १४६६-१५२५ (ई. १४४२-१४६८)। दे० इतिहास/७/४।

भुवनकीर्ति गीत—कवि बूचिराज (वि. १५८६) कृत, ५ पद्य प्रमाण भट्टारक भुवनकीर्तिका गुणानुवाद। (ती. ४/२३२)।

भूगोल—दे० लोक।

भूत—१. प्राणी सामान्य

स. सि. ६/१२/३३०/११ तासु तासु गतिषु कर्मोदयवशाद् भवन्तीति भूतानि प्राणिन इत्यर्थः। = जो कर्मोदयके कारण विविध गतियोंमें होते हैं, वे भूत कहलाते हैं। भूत यह प्राणीका पर्यायवाची शब्द है। (रा. वा. ६/१२/१/५२२/१२) (गो. क. जी प्र ५०१/१५०/१)।

घ. १३/५.५.५०/२५६/२ अभूत इति भूतम्। = भूत अतीतकालमें था इसलिए इसकी भूत सज्ञा है।

२. व्यन्तर देव विशेष

ति. प. ६/४६ भूदा इमे सरूवा पडिरूवा भूदउत्तमा होति। पडिभूदमहा-भूदा पडिछणकासभूदत्ति। ४६। = स्वरूप, प्रतिरूप, भूतोत्तम, प्रतिभूत, महाभूत, प्रतिच्छन्न और आकाशभूत इस प्रकार ये सात भेद भूतोंके हैं। (त्रि. सा./२६६)।

* अन्य सम्बन्धित विषय

१. भूतों के वर्ण परिवार आदि — दे० व्यन्तर।
२. भूत देवोंके इन्द्रके वैभव व अवस्थानादि — दे० व्यन्तर।
३. भूत शरीरमें प्रवेश कर जाते हैं। — दे० व्यन्तर।
४. मृत शरीरका खडा होना भागना आदि — दे० सल्लेखता/६/१।

भूत नैगम नय—दे० नय /III/ २।

भूतवर—मध्यलोकके अन्तसे पंचम सागर व द्वीप—दे० लोक/५।

भूतबली—मूल संघ की पट्टाबली के अनुसार (दे० इतिहास/४/४) आपके दीक्षा गुरु अर्हद्वलि और शिक्षा गुरु धरसेन थे।

पुष्पदन्त आचार्यके गुरु भाई थे। उनके साथ ही गुरु अर्हद्वलिने इन्हे महिमा नगरके सधसे गिरनार पर्वतपर धरसेनाचार्यको सेवामे भेजा था। जहाँ जाकर आपने उनमे षट्खण्डागमका ज्ञान प्राप्त किया और उनके पश्चात् उसे क्षिपि बद्ध करके उनकी भावनाको पूरा किया। आप अल्पवयमे ही दीक्षित हुए थे, इसलिए पुष्पदन्त आचार्यके पीछे तक भी बहुत वर्ष जीवित रहे और इसी कारण षट्खण्डका

अधिकांश भाग आपने ही पूरा किया। समय—वी, नि. ५६३-६८३ (ई. ६६-१५६) विशेष दे० कोष १। परिशिष्ट /२/६।

भूतारण्यक वन—अपर विदेहस्थवन—दे० लोक/३/६, १४।

भूतोत्तम—भूत जाति व्यन्तर देवोंका एक भेद—दे० भूत।

भूधरदास—आगरा निवासी खण्डेलवाल थे। कृति—पार्वनाथ पुराण; जैन इतक, पद संग्रह। समय—वि. १७८१ (ई. १७२४)। (ती. ४/२७२)।

भूपाल—म. पु. ६/१/१लोक न. भरतक्षेत्रमें भूपाल नामका राजा (५९) युद्धमे मान भंग होनेके कारण चक्रवर्ती पदका निदान कर दीक्षा धारण कर ली (५२-५४)। संन्यास मरणकर महाशुक्र स्वर्गमें देव हुआ (५५) यह सुभौम चक्रवर्तीका पूर्वका तीसरा भव है।—दे० सुभौम।

भूपाल चतुर्विंशतिका—प. आशाधर (ई. ११७३-१२४३) द्वारा रचित संस्कृत ग्रन्थ।

भूमि—अन्तः last term in numerical series—विदेश दे० गणित/II/५/३।

भूमि—लोकमें जीवोंके निवासस्थानको भूमि कहते हैं। नरककी सात भूमियाँ प्रसिद्ध हैं। उनके अतिरिक्त अष्टम भूमि भी मानी गयी है। नरकोंके नीचे निगोदोंकी निवास भूत कलकल नामकी पृथिवी अष्टम पृथिवी है और ऊपर लोकके अन्तमें मुक्त जीवोंकी आवासभूत ईषत्प्राग्भार नामकी अष्टम पृथिवी है। मध्यलोकमें मनुष्य व तिर्यंचोंकी निवासभूत दो प्रकारकी रचनाएँ हैं—भोग-भूमि व कर्मभूमि। जहाँके निवासी स्वयं खेती आदि षट्कर्म करके अपनी आवश्यकताएँ पूरी करते हैं उसे कर्मभूमि कहते हैं। यद्यपि भोग भूमि पुण्यका फल समझी जाती है, परन्तु मोक्षके द्वारा रूप कर्म भूमि ही है भोगभूमि नहीं है।

१. भूमिका लक्षण

घ. ४/१.३.१/५/२ आगासं गगणं देवपथ गोष्मगाचारिदं अवगाहनलक्षणा आधेयं वियापगमाधारो भूमिति एयद्वो। = आकाश, गगन, देवपथ, गुह्यकाचरित (यक्षोंके विचरणका स्थान) अवगाहनलक्षण, आधेय, व्यापक, आधार और भूमि ये सब नो आगमद्रव्यक्षेत्रके एकार्थक नाम हैं।

२. अष्टभूमि निर्देश

ति. प. २/२४ सत्तच्चिचयभूमिओ णवदिसभाएण घणोवहिविलगगा। अष्टमभूमि दसदिसभागेसु घणोवहि खिवदि। = सातो पृथिवियाँ ऊर्ध्वदिशाको छोड़ शेष नौ दिशाओंमें घनोदधि वातबल्यसे लगी हुई हैं। परन्तु आठवी पृथिवी दशोदिशाओंमें ही घनोदधि वातबल्यको झूती है।

घ. १४/५.६.६४/४६५/२ घम्मादिसत्तणिरयपुढवीओईसत्पभारपुढवीए सह अट्ट पुढवीओ महाखषस ट्टाणाणि होति। = ईषत्प्राग्भार (दे० मोक्ष) पृथिवीके साथ घर्मा आदि सात नरक पृथिवियाँ मिलकर आठ पृथिवियाँ महास्कन्धके स्थान हैं।

३. कर्मभूमि व भोगभूमिके लक्षण—कर्मभूमि—

स. सि. ३/३७/२३२/५ अथ कथं कर्मभूमित्वम्। शुभाशुभलक्षणस्य कर्मणोऽधिष्ठानत्वात्। ननु सर्वं लोकत्रितय कर्मणोऽधिष्ठानमेव। तत् एव प्रकर्षगतिविज्ञास्यते, प्रकर्षेण यत्कर्मणोऽधिष्ठानमिति। तत्राशुभ-कर्मणस्तावत्सप्तमनरकप्रापणस्य भरतादिष्वेवार्जनम्, शुभस्य च सर्वार्थमिद्ववादिसंस्थानविशेषप्रापणस्य कर्मण उपार्जनं तत्रैव, कृष्णादि-लक्षणस्य षड्विधस्य कर्मण पात्रदानादिसहितस्य तत्रैवारम्भार्कर्म

भूमिव्यपदेशो वेदितव्यः । = प्रश्न—कर्मभूमि यह संज्ञा कैसे प्राप्त होती है ? उत्तर—जो शुभ और अशुभ कर्मोंका आश्रय हो उसे कर्म-भूमि कहते हैं । यद्यपि तीनों लोक कर्मका आश्रय है फिर भी इससे उत्कृष्टताका ज्ञान होता है कि ये प्रकर्ष रूपसे कर्मका आश्रय है । सातवें नरकको प्राप्त करनेवाले अशुभ कर्मका भरतादि क्षेत्रोंमें ही अर्जन किया जाता है, इसी प्रकार सर्वार्थसिद्धि आदि स्थान विशेषको प्राप्त करानेवाले पुण्य कर्मका उपार्जन भी यहीपर होता है । तथा पात्र दान आदिके साथ कृषि आदि छह प्रकारके कर्मका आरम्भ यहींपर होता है इसलिए भरतादिकको कर्मभूमि जानना चाहिए । (रा. वा. ३/३७/१-२/२०४-२०५) ।

भ. आ./वि./७२१/६३६ पर उद्धृत—कर्मभूमिसमुत्थाश्च भोगभूमि-भवास्तथा । अंतरद्वीपजाश्चैव तथा सम्पूर्च्छिमा इति । असिर्मधि कृषिः क्षिर्त्तं वाणिज्यं व्यवहारिता । इति यत्र प्रवर्तन्ते नृणामाजीव-योमयः । पाप्य संयमं यत्र तपःकर्मपरा नरा । सुरसगति वा सिद्धिं ययाति हतहात्रवः । एताः कर्मभुवो ज्ञेया पूर्वोक्ता दश पञ्च च । यत्र संभूय पर्याप्तिं यान्ति ते कर्मभूमिताः । = कर्म भूमिज, आदि चार प्रकार मनुष्य हैं (दे० मनुष्य/१) । जहाँ असि—शस्त्र धारण करना, मधि—बही खाता लिखना, कृषि—जेतो करना, पशु पालना, शिल्पकर्म करना अर्थात् हस्त कौशल्यके काम करना, वाणिज्य—व्यापार करना और व्यवहारिता—न्याय दानका कार्य करना, ऐसे छह कार्योंसे जहाँ उपजीविका करनी पड़ती है, जहाँ सयमका पालन कर मनुष्य तप करनेमें तत्पर होते हैं और जहाँ मनुष्यको पुण्यसे स्वर्ग प्राप्त होती है और कर्मका नाश करनेसे मोक्षकी प्राप्ति होती है ऐसे स्थानको कर्मभूमि कहते हैं । यह कर्मभूमि अठारह द्वीपमें पन्द्रह है अर्थात् पाँच भरत, पाँच ऐरावत और पाँच विदेह ।

१. भोगभूमि

स. सि./३/३७/२३२/१० दशविधकल्पवृक्षकल्पितभोगानुभवनविषय-त्वाद्—भोगभूमय इति व्यपदिश्यन्ते । = इतर क्षेत्रोंमें दस प्रकारके कल्पवृक्षोंसे प्राप्त हुए भोगोंके उपभोगकी मुख्यता है इसलिए उनको भोगभूमि जानना चाहिए ।

भ. आ./वि./७८१/६३६/१६ उद्योतिषारव्येस्तारुभिस्तत्र जीविका । पुर-ग्रामादयो यत्र न निवेशा न चाधिपः । न कुलं कर्म शिल्पानि न वर्णा-श्रमसंस्थितिः । यत्र नार्यो नराश्चैव मैथुनीभूय नीरुज । रमन्ते पूर्व-पुण्यानां प्राप्नुवन्ति परं फलं । यत्र प्रकृतिभद्रत्वाद् दिवं यान्ति मृता अपि । ता भोगभूमयश्चोक्तास्तत्र स्युर्भोगभूमिजाः । = उद्योति-रंग आदि दश प्रकारके (दे० वृक्ष) जहाँ कल्पवृक्ष रहते हैं । और इससे मनुष्योंकी उपजीविका चलती है । ऐसे स्थानको भोगभूमि कहते हैं । भोग भूमिमें नगर, कुल, असिमर्यादि क्रिया, शिल्प, वर्णाश्रमकी पद्धति ये नहीं होती है । यहाँ मनुष्य और स्त्री पूर्वपुण्यसे पतिपत्नी होकर रममाण होते हैं । वे सदा नीरोग ही रहते हैं और सुख भोगते हैं । यहाँके लोक स्वभावसे ही मृदुपरिणामी अर्थात् मन्द कषायी होते हैं, इसलिए मरणोत्तर उनका स्वर्गकी प्राप्ति होती है । भोगभूमिमें रहने वाले मनुष्योंको भोगभूमिज कहते हैं । (दे० वृक्ष/१/१) ।

४. कर्मभूमिकी स्थापनाका इतिहास

म. पु./१६/श्लोक नं. केवल भावार्थ—कल्पवृक्षोंक नष्ट होनेपर कर्मभूमि प्रगट हुई । १४६। शुभ सुहृत्तादिमें (१४६) इन्द्रने अयोध्यापुरीके बीचमें जिनमन्दिरोकी स्थापना की । इसके पश्चात् चारों दिशाओंमें जिनमन्दिरोंकी स्थापना की गयी (१४६-१५०) तदनन्तर वेदा, महारेश, नगर, वन और सीमा सहित गाँव तथा खेड़ों आदिकी रचना की थी (१५१) भगवाद् ऋषभदेवने प्रजाको असि, मसि, कृषि, विद्या, वाणिज्य और शिल्प ये छह कार्योंका उपदेश दिया

(१७६-१७८) तत्र सत्र प्रजाने भगवात्को श्रेष्ठ जानकर राजा बनाया (२२४) तत्र राज्य पाकर भगवात्ने ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इस प्रकार चतुर्वर्णकी स्थापना की (२४५) । उक्त छह कर्मोंकी व्यवस्था होनेसे यह कर्मभूमि कहलाने लगी थी (२४६) तदनन्तर भगवात्ने कुरुवश, हरिवंश आदि राज्यवंशोंकी स्थापना की (२४६-), (विशेष दे० सम्पूर्ण सर्ग), (और भी दे० काल/४/६) ।

५. मध्य लोकमें कर्मभूमि व भोगभूमिका विभाजन

मध्य लोकमें मानुषोत्तर पर्वतसे आगे नागेन्द्र पर्वत तक सर्व द्वीपोंमें जघन्य भोगभूमि रहती है (ति. प./२/१६६, १७३) । नागेन्द्र पर्वतसे आगे स्वयम्भूरमण द्वीप व स्वयम्भूरमण समुद्रमें कर्मभूमि अर्थात् सुखमा काल वर्तता है । (ज. प./२/१७४) । मानुषोत्तर पर्वतके इस भागमें अठारह द्वीप प्रमाण मनुष्य क्षेत्र है (दे० मनुष्य/४) इन अठारह द्वीपोंमें पाँच सुमेरु पर्वत है । एक सुमेरु पर्वतके साथ भरत हैमवत आदि सात-सात क्षेत्र हैं । तिनमेंसे भरत ऐरावत व विदेह ये तीन कर्मभूमियाँ हैं, इस प्रकार पाँच सुमेरु सम्बन्धी १६ कर्मभूमियाँ हैं । यदि पाँचों विदेहोके ३२-३२ क्षेत्रोंकी गणना भी की जाय तो पाँच भरत, पाँच ऐरावत, और १६० विदेह, इस प्रकार कुल १७० कर्मभूमियाँ होती है । इन सभीमें एक-एक विज-यार्थ पर्वत हाता है, तथा पाँच-पाँच म्लेच्छ खण्ड तथा एक-एक आर्य खण्ड स्थित है । भरत व ऐरावत क्षेत्रके आर्य खण्डोंमें षट् काल परि-वर्तन हाता है । (ज. प./१७६) सभी विदेहोंके आर्य खण्डोंमें सदा दुखमा-सुखमा काल वर्तता है । सभी म्लेक्ष खण्डोंमें सदा जघन्य भोगभूमि (सुखमा-दुखमा काल) होती है । सभी विजयार्थोंपर विद्याधरोंकी नगरियाँ हैं उनमें सदैव सुखमा-सुखमा काल वर्तता है । हैमवत, हैरण्यवत इन दो क्षेत्रोंमें सदा जघन्य भोगभूमि रहती है । हरि व रम्यक इन दो क्षेत्रोंमें सदा मध्यम भोगभूमि (सुखमा काल) रहती है । विदेहके बहुमध्य भागमें सुमेरु पर्वतके दोनों तरफ स्थित उत्तरकुरु व देवकुरुमें (दे० लोक/७) सदैव उत्तम भोगभूमि (सुखमा-सुखमा काल) रहती है । लवण व कालोद समुद्रमें कुमानुषोंके ६६ अन्तर्द्वीप है । इसी प्रकार १६० विदेहोंमेंसे प्रत्येकके ६६-६६ अन्तर्द्वीप है । (दे० लोक/७) इन सर्व अन्तर्द्वीपोंमें कुमानुष रहते हैं । (दे० म्लेच्छ) इन सभी अन्तर्द्वीपोंमें सदा जघन्य भोगभूमि वर्तती है (ज. प./११/४४-४५) । इन सभी कर्म व भोग भूमियोंकी रचनाका विशेष परिचय (दे० काल/४/१८) ।

६. कर्म व भोगभूमियोंमें सुख-दुःख सम्बन्धी नियम

ति. प./४/२६५४ छब्बीसदुखेकासंयत्पमाणभोगविलदीण सुहमेवकं । कम्म-खिदीसु णराणं हवेदि सांखल च दुक्खं च । २६५४ = मनुष्योंकी एक सौ छब्बीस भोगभूमियोंमें (३० भोगभूमियों और १६ कुभोग भूमियोंमें) केवल सुख, और कर्म भूमियोंमें सुख एवं दुःख दोनों ही हाते हैं ।

ति. प./५/२६२ सक्खे भोगभुवाणं सकप्पवसेण होइ सुहमेवकं । कम्मा-वणितिरियाण सोक्खं दुक्खं च संकप्पो । २६२ = सब भोगभूमिज तिर्यंकोके सकल्प वशसे केवल एक सुख ही हाता है, और कर्मभूमिज तिर्यंकोके सुख व दुःख दोनोंकी कल्पना होती है ।

७. कर्म व भोगभूमियोंमें सम्यक्त्व व गुणस्थानोंके अस्तित्व सम्बन्धी

ति. प./४/२६३६-२६३७ पाँचविदेहें सट्ठिसमण्णिदसद अज्जलउए अमरे । जग्गुणठाणे तत्तो चोहसपेरत दीसति । २६३६। सव्वेसु भोगभुवे दो गुणठाणाणि सव्वकालम्मि । दीसति चउवियण्णं सव्वमल्लिच्छम्मि मिच्छत्त । २६३७ = पाँच विदेहोके भीतर एक सौ साठ आर्य खण्डों-

में जघन्य रूपसे वह गुणस्थान और उत्कृष्ट रूपसे चौदह गुणस्थान तक पाये जाते हैं। १२६३६। सब भोगभूमिजोमें सदा दो गुणस्थान (मिथ्यात्व व असंयत) और उत्कृष्ट रूपसे चार गुणस्थान तक रहते हैं। सब म्लेच्छखण्डोमें एक मिथ्यात्व गुणस्थान ही रहता है। १२६३७। (ति. प. १/२/३०३), (ज. प. २/१६६) ।

स. सि. १/१०/६/४७१/१३ जन्मप्रति पञ्चदशसु कर्मभूमिषु, संहरणं प्रति मानुषक्षेत्रे सिद्धिः । = जन्मकी अपेक्षा पन्द्रह कर्मभूमियोमें और अपहरणकी अपेक्षा मानुष क्षेत्रमें सिद्धि होती है। (रा. वा. १/६/१०/२/६४६/१६) ।

घ. १/१.१.८६/३२७/१ भोगभूमावुत्पन्नानां तद् (अणुवत्) उपादानानुपपत्तेः । = भोगभूमिमें उत्पन्न हुए जीवोंके अणुवत्तिका ग्रहण नहीं बन सकता । (घ. १/१.१.२६७/४०२/१) ।

भ. आ./वि./७५१/६२७/६ एतेषु कर्मभूमिजमानवाना एव रत्नत्रयपरिणामयोग्यता नेतरेषां इति । = इन (कर्मभूमिज, भोगभूमिज, अन्तरद्वीपज, और सम्मूर्च्छन चार प्रकारके) मनुष्योंमें कर्मभूमिज है उनको ही रत्नत्रय परिणामकी योग्यता है। इतरोको नहीं है।

गो. क./जो प्र./१५०/७४४/११ का भावार्थ — कर्म भूमिका अध्यायु मनुष्य क्षायिक सम्यग्दर्शनकी प्रस्थापना व निष्ठापना कर सकता है। परन्तु भोगभूमिमें क्षायिक सम्यग्दर्शनकी निष्ठापना हो सकती है, प्रस्थापना नहीं। (ल. सा./जी. प्र./११२) ।

गो. जी./जी. प्र./७०३/११२७/८ असंयते भोगभूमितिर्यग्मनुष्या कर्मभूमिमनुष्या उभये । = असंयत गुणस्थानमें भोगभूमिज मनुष्य व तिर्यच, कर्मभूमिज मनुष्य पर्याप्त व अपर्याप्त दोनों होते हैं।

दे. वर्णव्यवस्था/१/७ (भोगभूमिमें वर्णव्यवस्था व वेषधारी नहीं है ।)

८. कर्म व भोगभूमियोमें जीवोंका अवस्थान

दे. तिर्यच/३ भोगभूमियोमें जलचर व विकलेन्द्रिय जीव नहीं होते, केवल संज्ञी पचेन्द्रिय ही होते हैं। विकलेन्द्रिय व जलचर जीव नियमसे कर्मभूमिमें होते हैं। स्वयंप्रभ पर्वतके परभागमें सर्व प्रकारके जीव पाये जाते हैं। भोगभूमियोमें संयत व संयतासंयत मनुष्य या तिर्यच भो नहीं होते हैं, परन्तु पूर्व वैरीके कारण देवो द्वारा ले जाकर डाले गये जीव वहाँ सम्भव है।

दे. मनुष्य/४ मनुष्य अढाई द्वीपमें ही होते हैं, देवोंके द्वारा भी मानुषोत्तर पर्वतके पर भागमें उनका ले जाना सम्भव नहीं है।

९. भोगभूमिमें चारित्र क्यो नहीं

ति. प. ४/१६६ ते सव्वे वरजुगला अण्णोण्णुपण्णत्तमसमुदा। जम्हा तम्हा तेम् सावयवदसंजमो गत्थि १३६६। = क्योंकि वे सब उत्तम युगल पारस्परिक प्रेममें अत्यन्त मुग्ध रहा करते हैं, इसलिए उनके श्रावकके व्रत और संयम नहीं होता। १३६६।

रा. वा. ३/३७/२०४/३१ भोगभूमिषु हि यद्यपि मनुष्याणा ज्ञानदर्शने स्त चारित्र तु नास्ति अविरतभोगपरिणामित्वात् । = भोगभूमियोमें यद्यपि ज्ञान, दर्शन तो होता है, परन्तु भोग परिणाम होनेसे चारित्र नहीं होता।

१०. अन्य सम्बन्धित विषय

१. अष्टमभूमि निर्देश — दे० मोक्ष/१/७ ।
२. कर्मभूमियोमें वर्णोंकी उत्पत्ति — दे० इतिहास/७ ।
३. कर्मभूमिमें वर्ण व्यवस्थाकी उत्पत्ति — दे० वर्णव्यवस्था/२ ।
४. कर्मभूमिका प्रारम्भकाल (कुलकर) — दे० शालाका पुरुष/६ ।
५. दुर्भोग भूमि — दे० म्लेच्छ/अन्तर्द्वीपज ।
६. आर्य व म्लेच्छ खण्ड — दे० वह वह नाम ।

७. कर्म व भोग भूमिकी आयुके बन्ध योग्य परिणाम

— दे० आयु/३ ।

८. इसका नाम कर्मभूमि क्यो पडा

— दे० भूमि/३ ।

९. कर्म व भोगभूमिमें षट् काल व्यवस्था

— दे० काल/४ ।

१०. भोगभूमिजोमें क्षायिक सम्यक्त्व क्यो नहीं

— दे० तिर्यच/२/११ ।

११. भोग व कर्म भूमिज कहासे मर कर कहाँ उत्पन्न हो

— दे० जन्म/६ ।

१२. कर्मभूमिज तिर्यच व मनुष्य

— दे० वह वह नाम ।

१३. सर्व द्वीप समुद्रोंमें संयतासंयत तिर्यचोंकी सम्भावना

— दे० तिर्यच/२/१० ।

१४. कर्मभूमिज व्यपदेशसे केवल मनुष्योंका ग्रहण

— दे० तिर्यच/२/१२ ।

१५. भोगभूमिमें जीवोंकी संख्या

— दे० तिर्यच/३/४ ।

भूमिकल्प — आ० इन्द्रनन्दि (ई० श० १०) कृत तान्त्रिक ग्रन्थ ।

भूमिकुंडल — विजयार्थकी दक्षिण श्रेणीका एक नगर ।

— दे० विद्याधर ।

भूमितिलक — विजयार्थकी उत्तर श्रेणीका नगर — दे० विद्याधर ।

भूमिशुद्धि — पूजा विधानादिमें भूमिशुद्धिके मन्त्र — दे० मन्त्र/१/६ ।

भूषणांग वृक्ष — दे० वक्ष/१ ।

भृंगनिभा — सुमेरुके नन्दनादि वनोंमें स्थित एक बापो ।

— दे० लोक/७ ।

भृंगा — सुमेरुके नन्दनादि वनोंमें स्थित एक बापो — दे० लोक/७ ।

भृकुटि — मुनिसुवतनाथ भगवान्का शासक यक्ष — दे० यक्ष ।

भृत्य वंश — बी. नि. ४५६-७२७ (ई. पू. ४२-२००) का एक मगध राजवंश — दे० इतिहास/३/४ ।

भेडकर्म — दे० निक्षेप/४ ।

भेद — १. विदारणके अर्थमें

स. सि. १/५/२६/२६५/४ सघातानां द्वितयनिमित्तवशाद्विदारणं भेदः । = अन्तरंग और बहिरंग इन दोनों प्रकारके निमित्तोसे संघातोके विदारण करनेको भेद कहते हैं। (रा. वा. १/५/२६/१/४६३/२३) ।

रा. वा. १/५/२३/१/४५५/१४ भिनत्ति, भिद्यते, भेदमात्रं वा भेदः । = जो भेदन करता है, जिसके द्वारा भेदन किया जाता है या भेदनमात्रको भेद कहते हैं।

घ. १/४/५.६-६५/१२१/३ खघाणं विहृडणं भेदो णाम । = स्कन्धीका विभाग होना भेद है।

दे. पर्याय/१/१ 'अंश, पर्याय, भाग, हार, विध, प्रकार, भेद, छेद, और भंग ये एकार्थवाची हैं।

२. वस्तुके विशेषके अर्थमें

आ. प. ६ गुणगुण्यादिसंज्ञाभेदाद् भेदस्वभावः । = गुण और गुणीमें संज्ञा भेद होनेसे भेद स्वभाव है।

न. च. वृ. ६२ भिण्णा हु वयणभेदेण हु वे भिण्णा अभेदादो । = द्रव्य-गुण पर्यायमें वचन भेदसे तो भेद है परन्तु द्रव्य रूपसे अभेद रूप है।

स्या. म. १/२४/२० अयमेव हि भेदो भेदहेतुर्वा यद्विरुद्धधर्माध्यास कारणभेदश्चेति । = विरुद्ध धर्मोंका रहना और भिन्न-भिन्न कारणोंका होना यही भेद है और भेदका कारण है।

२. भेदके भेद

प्र सा/त, प्र/२ को नाम भेद। प्रादेशिक अताझाविको वा। = भेद दो प्रकार है—अताझाविक, व प्रादेशिक।

स. सि./५/२४/२६६/४ भेदाः षोढा, उत्करचूर्णखण्डचूर्णिकाप्रतराणु-चटनविकरपात्। = भेदके छह भेद है—उत्कर, चूर्ण, खण्ड, चूर्णिका, प्रतर और अणुचटन।

द्र. सं./टी/१६/५३/६ गोधूमादिचूर्णरूपेण घृतखण्डादिरूपेण बहुधा भेदो ज्ञातव्यः। = पुद्गल गेहूँ आदिके चूने रूपसे तथा घी, खांड आदि रूपसे अनेक प्रकारका भेद जानना चाहिए।

१. उत्कर, चूर्ण आदिके लक्षण

स. सि./५/२४/२६६/४ तत्रोत्कर' काष्ठादीनां करपत्रादिभिरुत्करणम्। चूर्णो यवगोधूमादीनां सवतुकणिकादि। खण्डो घटादीनां कपालशर्करादि'। चूर्णिका माषमुद्गादीनाम्। प्रतरोऽभ्रपटलादीनाम्। अणु-चटनं संतप्राय पिण्डादिषु अयोधनादिभिरभिहन्यमानेषु स्फुलिङ्ग-निर्गम'। = करोत आदिसे जो लकड़ी आदिको चीरा जाता है वह उत्कर नामका भेद है। जौ और गेहूँ आदिका जो सत्तु और कनक आदि बनती है वह चूर्ण नामका भेद है। घट आदिके जो कपाल और शर्करा आदि टुकड़े होते हैं वह खण्ड नामका भेद है। उडद और मूँग आदि का जो खण्ड किया जाता है वह चूर्णिका नामका भेद है। मेघके जो अलग-अलग पटल आदि होते हैं वह प्रतर नामका भेद है। तपाये हुए लोहेके गोले आदिको घन आदिसे पीटनेपर जो फुलंगे निकलते हैं वह अणुचटन नामका भेद है। (रा. वा./५/२४/१४/४८६/५)।

* अन्य सम्बन्धी विषय

१. द्रव्यमें कथंचित् भेदाभेद। —दे० द्रव्य/४।
२. द्रव्यमें अनेक अपेक्षाओंसे भेदाभेद। —दे० सप्तर्षी/५।
३. उत्पाद व्यय धीव्यमें भेदाभेद। —दे० उत्पाद/२।
४. भेद सापेक्ष वा भेद निरपेक्ष द्रव्यार्थिक नय —दे० नय/II/२।
५. मिन्न द्रव्यमें परस्पर भिन्नता —दे० कारक/२।
६. परके साथ एकत्व कहनेका तात्पर्य। —दे० कारक/२।

भेदज्ञान — १, वे०ज्ञान/II, २, इसके अपरनाम—दे० मोक्षमार्ग/२/५।

भेदग्राही शब्द नय—दे० नय/III/६।

भेदवाद—भेद व अभेदवादका विधि निषेध व समन्वय—दे० द्रव्य/४।

भेद संघात—दे० संघात।

भेदाभेदवाद—दे० वेदान्त।

भेदाभेद विपर्यय—दे० विपर्यय/४।

भोक्ता—

पं. का./त. प्र/२७ निश्चयेन शुभाशुभकर्मनिमित्तसुखदुःखपरिणामानां व्यवहारेण शुभाशुभकर्मसंपादितैश्चानिष्टविषयाणां भोक्तृत्वाद्भोक्ता। —निश्चयसे शुभाशुभकर्म जिनका निमित्त है ऐसे सुखदुःखपरिणामोका भोक्तृत्व होनेसे भोक्ता है। व्यवहारसे (असद्भूत व्यवहार नयसे) शुभाशुभ कर्मोंसे सम्पादित इष्टानिष्ट विषयोंका भोक्तृत्व होनेसे भोक्ता है।

स. सा./आ./३२०/पं. जयचन्द—जो स्वतन्त्रपने करे—भोगे उसको परमार्थमें कर्ता भोक्ता कहते हैं।

२. भोक्तृत्वका लक्षण

रा./वा./२/७/१३/११२/१३ भोक्तृत्वमपि साधारणम्। कुत ! तत्त्व-क्षणोपपत्ते। वीर्यप्रकर्षति परद्रव्यवीर्यादानसामर्थ्यभोक्तृत्व-लक्षणम्। यथा आत्मा आहारादे' परद्रव्यस्यापि वीर्यात्मसारकरणा-जोत्ता, कर्मोदयापेक्षाभावात्तदपि पारिणामिकम्। = भोक्तृत्व भी साधारण है क्योंकि उसके लक्षणसे ज्ञात होता है। एक प्रकृष्ट शक्तिवाले द्रव्यके द्वारा दूसरे द्रव्यकी सामर्थ्यको ग्रहण करना भोक्तृत्व कहलाता है। जैसे कि आत्मा आहारादि द्रव्यकी शक्तिको खींचनेके कारण भोक्ता कहा जाता है। कर्मोंके उदय आदिकी अपेक्षा नहीं होनेके कारण यह भी पारिणामिक भाव है।

पं. का./त. प्र/२८ स्वरूपभूतस्वातन्त्र्यलक्षणसुखोपलक्षणसुखोपलम्भरूप-भोक्तृत्व। = स्वरूपभूत स्वातन्त्र्य जिसका लक्षण है ऐसे सुखकी उपलब्धि रूप 'भोक्तृत्व' होता है।

* अन्य सम्बन्धित विषय

१. सम्यग्दृष्टि भोगोंका भोक्ता नहीं है। —दे० राग/६।
२. षट् द्रव्योंमें भोक्ता अमोक्ता विभाग। —दे० द्रव्य/३।
३. जीवको भोक्ता कहनेकी विवक्षा। —दे० जीव/१/३।
४. भोग सम्बन्धी विषय। —दे० नीचे

भोक्ता भोग्य भाव—दे० भोग।

भोक्तृत्व नय—दे० नय/II/५/४।

भोगंधरी—गन्धमादन पर्वतके स्फटिक कूटकी स्वामिनी देवी।

—दे० लोक/७।

भोग—

१. सामान्य भोग व उपभोगकी अपेक्षा

र. क. आ./५३ भुक्त्वा परिहातव्यो भोगी भुक्त्वा पुनश्च भोक्तव्यः। उपभोगोऽशनवसनप्रभृति पञ्चेन्द्रियो विषय'। = भोजन-वस्त्रादि पंचेन्द्रिय सम्बन्धी विषय जो भोग करके पुनः भोगनेमें न आवें वे तो भोग हैं और भोग करके फिर भोगने योग्य हो तो उपभोग हैं। (घ. १३/५.५.१३७/३८६/१४)।

स. सि./२/४४/६६५/८ इन्द्रियप्रणालिकया शब्दादीनामुपलब्धिरुपभोग'। = इन्द्रिय रूपी नालियोंके द्वारा शब्दादिके ग्रहण करनेको उपभोग कहते हैं।

स. सि./७/२१/३६१/७ उपभोगोऽशनपानगन्धमाख्यादि'। परिभोग-आच्छादनप्रावरणाल कारशयानासनगृहयानवाहनादि'। = भोजन, पान, गन्ध, मालादि उपभोग कहलाते हैं। तथा ओढना-बिछाना, अलंकार, शयन, आसन, घर, यान और वाहन आदि परिभोग कहलाते हैं।

रा. वा./७/२१/६-१०/५४८/११ उपेत्यात्मसात्कृत्य भुज्यते अनुभूयत इत्युपभोग'। अशनपानगन्धमाख्यादिः। १६। सकृद् भुक्त्वा परित्यज्य पुनरपि भुज्यते इति परिभोग इत्युच्यते। आच्छादनप्रावरणालंकार... आदि' ११०। = उपभोग अर्थात् एक बार भोगे जानेवाले अशन, पान, गन्ध, माला आदि। परिभोग अर्थात् जो एक बार भोगे जाकर भी वुबारा भोगे जा सके जैसे-वस्त्र अलंकार आदि। (चा. सा./२३/२)।

२. क्षायिक भोग व उपभोगकी अपेक्षा

स. सि./२/४/१५४/७ कृत्स्नस्य भोगान्तरायस्य तिरोभावादाविर्भूतोऽ-तिशयवाननन्तो भोग क्षायिक'। यतः कुमुमवृष्टवादयो विशेषाः प्रादुर्भवन्ति। निरवशेषस्योपभोगान्तरायस्य प्रत्यात्प्रादुर्भूतोऽनन्त-उपभोग क्षायिक'। यतः सिंहासनचामरच्छत्रत्रयादयो विभूतयः।

=समस्त भोगान्तराय कर्मके क्षयसे अतिशयबाले क्षायिक अनन्त भोगका प्रादुर्भाव होता है, जिससे कुसुमवृष्टि आदि आश्चर्य विशेष होते हैं। समस्त उपभोगान्तरायके नष्ट हो जानेसे अनन्त क्षायिक उपभोग होता है, जिससे सिंहासन, चामर और तीन छत्र आदि विभूतियाँ होती हैं। (रा. वा./२/४/४-१/१०६/३)।

* क्षायिक भोग-उपभोग विषयक शंका-समाधान

—दे० दान/२/३।

२. भोग व काममें अन्तर

आ./११३० कामो रसो य फासो सेसा भोगेति आहीया/११३० =रस और स्पर्श तो काम है, और गन्ध, रूप, शब्द भोग है ऐसा कहा है। (स. सा./ता. वृ./४/११/१५)।

दे. इन्द्रिय/३/७ दो इन्द्रियोंके विषय काम है तीन इन्द्रियोंके विषय भोग है।

३. भोग व उपभोगमें अन्तर

रा. वा./१/१३/१/५८१/२ भोगोपभोगयोरविशेषः। कुतः। सुखानुभव-निमित्तत्वाभेदादिति, तत्र; कि कारणम् १०० गन्धमाव्यशिरःस्नान-वस्त्रान्नानादिषु भोगव्यवहारः। १। शयनासनाङ्गनाहस्त्यश्वरथ्यादि-पूपभोगव्यपदेशः। = प्रश्न—भोग और उपभोग दोनों सुखानुभवमे निमित्त होनेके कारण अभेद है। उत्तर—नहीं, क्योंकि एक बार भोगे जानेवाले गन्ध, माला, स्नान, वस्त्र और पान आदिमे भोग व्यवहार तथा शयना, आसन, स्त्री, हाथी, रथ, घोडा आदिमें उपभोग व्यवहार होता है।

४ निश्चय व्यवहार भोक्ता-भोग्य भाव निर्देश

द्र. सं/पृ/६ व्यवहारासुहृदुक्ख पुगलकम्मफलं पभुजेदि। आदा णिच्छ-यणयदो चेदणभावं खु आदस्स। ६। =व्यवहार नयसे आत्मा सुख-दुःख रूप पुद्गल कर्मके फलका भोक्ता है और निश्चयनयसे अपने चैतन भावको भोगता है। ६।

दे. भोक्ता/१ निश्चयनयसे कर्मसे सम्पादित सुख व दुःख परिणामोका भोक्ता है, व्यवहारसे शुभाशुभ कर्ममें उपाजित इष्टानिष्ट विषयोका भोक्ता है।

५. अभेद भोक्ता योग्य भावका मतार्थ

पं. का./ता/वृ/२७/६१/११ भोक्तृत्वव्याख्यान कर्त्ता कर्मफलं न भुक्तं इति नौद्धमतानुमारि शिष्यप्रतिक्रोधनार्थः। =कर्मके करनेवाला स्वयं उसका फल नहीं भोगता है ऐसा माननेवाले बौद्ध मतानुयायी शिष्यके प्रतिबोधनार्थ जीवके भोगतापनेका व्याख्यान किया है।

६. भेदाभेद भोक्ता-भोग्य भावका सम्बन्ध

पं. का./त प्र./६० यथात्रोभयनयाभ्यां कर्मकर्त्तुं, तथैकेनापि नयेन न भोक्तुं। कुतः। चैतन्यपूर्वकानुभूतिसद्भावाभावात्। तत्रचैतनत्वात् केवल एव जीव कर्मफलभूताना कथंचिदात्मन सुखदुःखपरिणामाना कथंचिदिष्टानिष्टविषयाणां भोक्ता प्रसिद्ध इति। =जिस प्रकार यहाँ दोनों नयोसे कर्म कर्ता है, उसी प्रकार एक भी नयसे वह भोक्ता नहीं है। इसलिये—क्योंकि उसे चैतन्य पूर्वक अनुभूतिका सद्भाव नहीं है। इसलिये चैतनपनेके कारण मात्र जीव ही कर्मफलका-कथंचित् आत्माके सुख-दुःख परिणामोका और कथंचित् इष्टानिष्ट विषयोंका भोक्ता प्रसिद्ध है।

७. लौकिक व अलौकिक दोनों भोग एकाममें होते हैं

नि सा./मू/१५७ लद्दधुण णिहि एक्को तस्स फल अणुहवेइ मुजणत्ते। तह णाणो णाणणिहि भंजेइ चइत्तु परत्तत्ति। १५७। =जैसे कोई एक

(दरिद्र मनुष्य) निधिको पाकर अपने वतनमें (गुप्तरूपसे) रहकर उसके फलको भोगता है, उसी प्रकार ज्ञानी परजनोके समूहको छोड़ कर ज्ञाननिधिको भोगता है।

नि सा./ता वृ./१५७/२६० अस्मिन् लोके लौकिक कश्चिदेको लब्धा पुण्यात्काञ्चनाना समूहम्। गृहो भूत्वा वर्तते त्यक्तसङ्गो, ज्ञानी तद्वत् ज्ञानरक्षा करोति। २६०। =इस लोकमें कोई एक लौकिक जन पुण्यके कारण धन के समूहको पाकर, सगको छोड़ गुप्त होकर रहता है, उसीकी भाँति ज्ञानी (परके संगको छोड़कर गुप्त रूपसे रहकर) ज्ञानकी रक्षा करता है। २६०।

* अन्य सम्बन्धित विषय

* जीव पर पदार्थोंका भोक्ता कब कहलाता है —दे० चेतना/३।

* सम्यग्दृष्टिके भोग सम्बन्धी —दे० राग/६।

* लौकिक भोगोका तिरस्कार —दे० सुख।

* ऊपर ऊपरके स्वर्गोंमें भोगोंकी हीनता —दे० देव/II/२।

* चक्रवर्तीके दशाग भोग —दे० शलाका पुरुष/२।

भोग पत्नी—दे० स्त्री।

भोगभूमि—दे० भूमि।

भोगमालिनी—माव्यवात् गजदन्तस्थ रजत कूटकी स्वामिनी देवी—दे० लोक/७।

भोगान्तराय कर्म—दे० अन्तराय/१।

भोगावती—१ गन्धमादन पर्वतके लोहिताक्ष कूटकी स्वामिनी विवकुमारी देवी—दे० लोक/७। २. माव्यवात् गजदन्तस्थ सागर कूटकी स्वामिनी देवी—दे० लोक/७।

भोगोपभोग—

भोगोपभोग परिमाण व्रत

र. क. आ/८२, ५४ अक्षार्थाना परिसंख्यानं भोगोपभोगपरिमाणं। अर्थवतामप्यवधौ रागरतीना तनुकृतये। ८२। =राग रति आदि भावोंको छटानेके लिए परिग्रह परिमाण व्रतकी की हुई मर्यादामे भी प्रयोजनभूत इन्द्रियके विषयोका प्रतिदिन परिमाण कर लेना सो भोगोपभोगपरिमाण नामा गुणव्रत कहा जाता है। ८२। (सा ध./५/१३)।

स सि./७/२१/३६१/६ तयोः परिमाणमुपभोगपरिभोगपरिमाणम्। यानवाहनाभरणादिष्वेतावदेवेष्टमतोऽन्यदनिष्टमित्यनिष्टान्निवर्तनं कर्त्तव्य कालनियमेन यावज्जीव वा यथाशक्ति = इनका (भोग व उपभोगका) परिमाण करना उपभोग-परिभोगपरिमाण व्रत है। यान, वाहन और आभरण आदिमे हमारे लिए इतना ही इष्ट है, शेष सब अनिष्ट है इस प्रकारका विचार करके कुछ कालके लिए या जीवन भरके लिए शक्यनुसार जो अपने लिये अनिष्ट हो उसका त्याग कर देना चाहिए। (रा. वा./७/२१/१०/५४८/१४, २७/५५०/६), (चा. सा./२४/१), (पु. सि. उ/१६५); (और भी दे० आगे रा. वा)।

रा. वा./७/२१/२७/५५०/७ न हि असत्यभिसन्धिनिग्रहमे व्रतमिति। इष्टानामपि चित्रवस्त्रविकृतवेषाभरणादीनामनुपसेव्याना परित्यागः कार्यं यावज्जीवम्। अथ न शक्तिरस्ति कालपरिच्छेदेन वस्तु परिमाणेन च शक्यनुसृष्टं निवर्तनं कार्यम्। = जो विचित्र प्रकारके वस्त्र विकृतवेष आभरण आदि शिष्ट जनोके उपरोक्त-धारण करने लायक नहीं है वे अपनेको अच्छे भी लगते हों तब भी उनका यावत् जीवन परित्याग कर देना चाहिए। यदि वैसी शक्ति नहीं है तो अमुक समयकी मर्यादासे अमुक वस्तुओका परिमाण करके निवृत्ति करनी चाहिए। (चा सा/२४/१)।

का. अ./सू./३५० जाणित्ता संपत्ती भोग्यण-तं बोल-बल्हमादीणं । ज परि-
माणं कीरवि भोउवभोग्यं वयं तस्स १३५०१=जो अपनी सामर्थ्य जान-
कर, ताम्बूल, वस्त्र आदिका परिमाण करता है, उसको भोगोपभोग्य-
परिमाण नामका गुणवत् होता है । १३५०१

२. भोगोपभोग व्रतके भेद

र. क. आ./५७ नियमो यमश्च विहितौ द्वेषा भोगोपभोगसंहारनियमं
परिमितकालो यावज्जीवं यमो धियते । ५७ = भोगोपभोगके त्यागमें
नियम और यम दो प्रकारका त्याग विधान किया गया है । जिसमें
कालकी मर्यादा है वह तो नियम कहलाता है, जो जीवन पर्यन्त
धारण किया जाता है, वह यम है । (सा. घ./५/१४) ।

रा. वा./७/२१/२७/५५०/१ भोगपरिसंख्यानं पञ्चविधं त्रसधात्प्रमाद-
बहुविधानिष्टानुपसेव्यविषयभेदात् । = त्रसधात्, बहुधात्, प्रमाद,
अनिष्ट और अनुपसेव्य रूप विषयोंके भेदसे भोगोपभोग परिमाण व्रत
पाँच प्रकारका हो जाता है । (चा. सा./२३/३) ; (सा. घ./५/१५) ।

३. नियम धारण करनेकी विधि

र. क. आ./५८-५९ भोजनवाहनशयनस्नानपवित्राङ्गरागकुसुमेषु ।
ताम्बूलवसनभूषणमन्मथसंगीतगीतेषु । ५८ अथ दिवा रजनी वा पक्षो
मासस्तथात्तरयनं वा । इति कालपरिच्छिद्यया प्रयाख्यायानं भवेत्त्रि-
यमः । ५९ = भोजन, सवारी, शयन, स्नान, कुंकुमादिलेपन, पुष्प-
माला, ताम्बूल, वस्त्र, अलंकार, कामभोग, संगीत और गीत इन
विषयोंमें आज एक दिन अथवा एक रात, एक पक्ष, एक मास तथा
दो मास अथवा छह मास ऋतु, अयन इस प्रकार कालके विभागसे
त्याग करना नियम है ।

४. भोगोपभोग परिमाण व्रतके अतिचार

त. सू./७/३५ सचित्तसम्बन्धसमिभ्राभिषवदुष्पक्वाहारः । ३५ = सचि-
त्ताहार, सचित्तसम्बन्धाहार, समिभ्राहार, अभिषवाहार और
दुष्पक्वाहार ये उपभोगपरिमाणपरिमाण व्रतके पाँच अतिचार हैं । ३५।
(सा. घ./५/२०), (चा. सा./२५/१)

र. क. आ./९० विषयविषयोऽनुपेक्षानुस्मृतिरतिलौक्यमतिवृषानुभवौ ।
भोगोपभोगपरिमाणव्यतिक्रमाः पञ्च कथ्यन्ते । ९० = विषयरूपी विष-
को उपेक्षा नहीं करना, पूर्वकालमें भोगे हुए विषयोंका स्मरण रखना,
वर्तमानके विषयोंमें अति लालसा रखना, भविष्यमें विषय प्राप्तिकी
तृष्णा रखना, और विषय नहीं भोगते भी विषय भोगता हूँ ऐसा
अनुभव करना ये पाँच भोगोपभोग परिमाण व्रतके अतिचार हैं ।

५. दुष्पक्व आहारमें क्या दोष है

रा. वा./७/३५/६/५५८/१६ तस्याभ्यवहारो दोषः । इन्द्रियमदवृद्धिः
स्यात्, सचित्तप्रयोगो वा वातादिप्रकोपो वा, तदप्रतीकारविधाने स्यात्
पापलपः, अतिथयश्चैनं परिहरैरुरिति । = प्रश्न—उस (दुष्पक्व व
सचित्त पदार्थका) आहार करनेमें क्या दोष है । उत्तर—इनके भोजन-
से इन्द्रियाँ मत्त हो जाती हैं । सचित्त प्रयोगसे वायु आदि दोषोंका
प्रकोप हो सकता है, और उसका प्रतिकार करनेमें पाप लगता है,
अतियि उसे छोड़ भी देते हैं । (चा. सा./२५/४) ।

६. भोगोपभोग परिमाण व्रतको सचित्तादि ग्रहण कैसे हो सकता है

रा. वा./७/३५/४/५५८/१९ कथ पुनरस्य सचित्तादिषु वृत्तिः । प्रमादसंभो
हाभ्यां सचित्तादिषु वृत्तिः । स्तुतिपासात्तरत्वात् त्वरमाणस्य सचि-
त्तादिषु अशानाय पुनायानुलेपनाय परिधानाय वा वृत्तिर्भवति ।
= प्रश्न—इस भोगोपभोग परिमाण व्रतधारीकी सचित्तादि पदार्थोंमें

वृत्ति कैसे हो सकती है । उत्तर—प्रमाद तथा मोहके कारण धुंधा,
तृषा आदिसे पीड़ित व्यक्तिकी जल्दी-जल्दीमें सचित्त आदि भोजन,
पात्र, अनुलेपन तथा परिधान आदिमें प्रवृत्ति हो जाती है ।

७. सचित्त सम्बन्ध व समिभ्रमें अन्तर

रा. वा./७/३५/२-४/५५८/४ तेन चित्तवता द्रव्येणोपरिलष्ट, सम्बन्ध इरया-
ख्यायते । ३। तेन सचित्तेन द्रव्येण व्यतिकीर्णः समिभ्र इति कथ्यते
। ४। "यान्मतम्—सम्बन्धेनाविशिष्ट" समिभ्र इति । तत्र । किं कारणम् ।
तत्र संसर्गमात्रत्वात् । सचित्तसम्बन्धे हि संसर्गमात्रं विवक्षितम्, इह
तु सूक्ष्मजन्तुव्याकुलत्वे विभागीकरणस्याशक्यत्वात् नानाजातीय-
द्रव्यसमाहारः सूक्ष्मजन्तुप्रायआहारः समिभ्र इष्टः । = सचित्तसे
उपरिलष्ट या संसर्गको प्राप्त सचित्त सम्बन्ध कहलाता है । ३। और
उससे व्यतिकीर्ण समिभ्र कहलाता है । ४। प्रश्न—सम्बन्धसे अवशिष्ट
ही समिभ्र है । इन दोनोंमें अन्तर ही क्या है । उत्तर—ऐसा नहीं
है, क्योंकि, सम्बन्धमें केवल संसर्ग विवक्षित है तथा समिभ्रमें सूक्ष्म
जन्तुओंसे आहार ऐसा मिला हुआ होता है जिसका विभाग न किया
जा सके । नाना जातीय द्रव्योंसे मिलकर बना हुआ आहार सूक्ष्म
जन्तुओंका स्थान होता है, उसे समिभ्र कहते हैं । (वा. सा./२५/२) ।

८. भोगोपभोग परिमाण व्रतका महत्त्व

पु. सि. उ./१५८, १६६ भोगोपभोगहेतोः स्थावरहिंसा भवेत्किला-
मीषाम् । भागोपभोगविरहाद्भवति न लेशोऽपि हिंसायाः । १५८ इति
यः परिमितभोगैः संतुष्टस्त्वर्जति बहुतरान् भोगान् । बहुतरहिंसा-
विरहात्तस्याहिंसाविशिष्टा स्यात् । १६६ = निश्चय करके इन
देशवती श्रावकोंके भोगोपभोगके हेतुसे स्थावर जीवोंकी हिंसा होती
है, किन्तु उपवासधारी पुरुषके भोग उपभोगके त्यागसे लेश मात्र भी
हिंसा नहीं होती है । १५८। जो गृहस्थ इस प्रकार मर्यादा रूप भोगोंसे
तृप्त होकर अधिकतर भोगोंको छोड़ देता है, उसका बहुत हिंसाके
त्यागसे उत्तम अहिंसाव्रत होता है, अर्थात् अहिंसा व्रतका उत्कर्ष
होता है । १६६।

* अन्य सम्बन्धित विषय

१. इस व्रतमें कन्द, मूत्र, पत्र, पुष्प आदिका त्याग । —दे० भक्ष्याभक्ष्य ।
२. इस व्रतमें मद्य मांस मधुका त्याग । —दे० वह वह नाम ।
३. व्रत व भोगोपभोगानर्थक्य नामा अतिचारमें अन्तर । —दे० अनर्थदण्ड ।
४. भोगोपभोग परिमाण व्रत तथा सचित्त त्याग प्रतिमामें अन्तर । —दे० सचित्त ।

भोज—राजा भोजकी वंशावलीके अनुसार (दे० इतिहास) राजा
मुञ्जके पुत्र व जयसिंहके पिता थे । मालवा देश (मगध) के राजा
थे । धारा व उज्जैनी इनकी राजधानी थी । संस्कृत विद्याके आश्रय-
दाता थे । मुञ्जकी वंशावलीके तथा प्रेमी जीके अनुसार इनका
समय—वि. १०७८—१११२ ई. १०२१-१०५५, A. N. U. के
अनुसार वि. १०७५-१११७ ई. १०१८-१०६०; पं. कलाशास्त्रके
अनुसार वि. १०७५-१११० ई. १०१८-१०५३; इतिहास के अनुसार
ई. १००८-१०५५ विशेष (दे० इतिहास/३/१/७/८) । २. योगदर्शन
सूत्रोंके भाष्यकार । समय ई. श. १०—दे० योगदर्शन ।

भोजकवृष्णि—मथुराके स्वामी सुवीरके पुत्र थे तथा उग्रसेनके
पिता थे । (ह. पु./१८/११-१६) ।

भोजन—व १२/४.२.८.७/२५२/१३ भुज्यते इति भोजनमोदन, भुक्ति-कारणपरिणामो वा भोजनं । = 'भुज्यते इति भोजनम्' अर्थात् जो खाया जाता है वह भोजन है, इस निरुक्तिके अनुसार ओदनको भोजन कहा गया है। अथवा (भुज्यते अनेनेति भोजनम्) इस निरुक्तिके अनुसार आहार ग्रहणके कारणभूत परिणामको भी भोजन कहा जाता है।

भोजन कथा—दे० कथा।

भोजनांग कल्पवृक्ष—दे० वृक्ष।

भोजवंश—१ पुराणकी अपेक्षा इस वंशका निर्देश— दे० इतिहास/७/८, इतिहासकी अपेक्षा इस वंशका निर्देश— दे० इतिहास/३/४।

भौमनिमित्तज्ञान—दे० निमित्त/२।

भ्रम—पौंचवे नरकका दूसरा पटल (रा. वा.)—दे० नरक/५।

भ्रमक—पौंचवे नरकका दूसरा पटल (ति. प.)—दे० नरक/५।

भ्रमका—पौंचवे नरकका दूसरा पटल—दे० नरक/५।

भ्रमराहार वृत्ति—दे० भिक्षा/१/७।

भ्रान्त—प्रथम पृथिवीका चतुर्थ पटल—दे० नरक/५ तथा रत्नप्रभा।

भ्रान्ति—सि. वि./सू./२/१/१३७ अतस्मिस्तद्ग्रहो भ्रान्ति ।—वस्तु-का जैसा स्वरूप नहीं है वैसा ग्रहण हो जाना भ्रान्ति है। (न्या. वि./ वि/१/३/७०/१७)।

स्या. म /१६/२१६/३ भ्रान्तिर्हि मुख्येऽर्थे कचिद् दृष्टे सति करणापाटवा-दिनाभ्यत्र विपर्यस्तग्रहणे प्रसिद्धा। यथा शुक्लौ रजतभ्रान्ति । = यथार्थ पदार्थको देखनेपर इन्द्रियोंमें रोग आदि हो जानेके कारण ही चाँदीमें सीपके ज्ञानकी तरह, पदार्थोंमें भ्रमरूप ज्ञान होता है।

भ्रामरी वृत्ति—साधुकी भिक्षावृत्तिका एक भेद—दे० भिक्षा/१/७।

[म]

मंखलि गोशाल—(दे० पूरण कश्यप)।

मंगरस—नेमि जिनेश्वर संगति औरासम्यक्त्व कौमुदी क रचयिता एक कन्नड कवि। समय— ई. १६०८। (ती /४/३१०)।

मंगराज—रवोगेन्द्रमणिहरण (चिकित्साशास्त्र) के रचयिता एक कन्नड कवि। समय— ई. १६६०। (ती /४/३११)।

मंगल—एक ग्रह। दे. ग्रह। लोक में अवस्थान—दे. ज्योतिष जोक/२।

मंगल—पाप विनाशक व पुण्य प्रकाशक भाव तथा द्रव्य नमस्कार आदि मंगल है। निर्विघ्न रूपसे शास्त्रकी या अन्य लौकिक कार्योंकी समाप्ति व उनके फलकी प्राप्तिके लिए सर्व कार्योंके आदिमें तथा शास्त्रके मध्य व अन्त में मंगल करनेका आदेश है।

१	मंगलके भेद व लक्षण
१	मंगल सामान्यका लक्षण।
२	मंगलके भेद।
३	नाम स्थापनादि मंगलके लक्षण।
४	निबद्धानिबद्धादि मंगलके लक्षण।
*	अष्टमंगल द्रव्य। —दे० चैत्य/१/११।

२	मंगल निर्देश व तद्गत शंकाएँ
१	मंगलके छह अधिकार।
२	मंगलका सामान्य फल व महिमा।
३	तीन बार मंगल करनेका निर्देश व उसका प्रयोजन।
४	लौकिक कार्योंमें मंगल करनेका नियम है, पर शास्त्रमें वह भाव्य है।
५	स्वयं मंगलस्वरूप शास्त्रमें भी मंगल करनेकी क्या आवश्यकता।
६	मंगल व निर्विघ्नतामें व्यभिचार सम्बन्धी शंका।
७	मंगल करनेसे निर्विघ्नता कैसे।
८	लौकिक मंगलोंको मंगल कहनेका कारण।
९	मिथ्यावृष्टि आदि सभी जीवोंमें कथंचित् मंगलपना।

१. मंगलके भेद व लक्षण

१. मंगल सामान्यका लक्षण

ति. प./१/८-१७ पुण्यं पूदपविष्ठा पसत्थसिवभद्रखेमकस्ताणा। सुहसो-कवादी सव्वे णिद्धिटा मंगलसस पज्जाया। गालयदि विणासयदे धावेदि दहेदि इति सोधयदे। विद्धंसेदि मलाहं जम्हा तम्हा य मंगलं भणिदं। अहवा मगं सोक्खं लादि हु गेहेदि मंगलं तम्हा। एवेण कज्जसिद्धि मंगल गच्छेदि गंधकत्तारो। पुक्ख आइरिपहि मंगलपुक्ख च वाचिदं भणिदं। त लादि हु आदत्ते जदो तदो मंगलं पवरं। पावं मलं ति भण्णइ उवचारसरुवणण जीवाणं। तं गालेदि विणास पेदि ति भणंति मंगल केई। १७ = १. पुण्य, पूत, पवित्र, प्रशस्त, शिव, भद्र, क्षेम, कल्याण, शुभ और सौख्य इत्यादिक सब मंगलके ही पर्यायवाची शब्द हैं। (घ १/१.१.१/३१/१०)। २. क्योंकि यह [ज्ञानावरणादि, द्रव्य मल और अज्ञान अदर्शन आदि भावमल—(दे० मल)] मलोंको गलाता है, विनाश करता है, घातता है, वहन करता है, हनता है, शुद्ध करता है और विध्वंस करता है, इसलिए इसे 'मंगल' कहा गया है। (घ १/१.१.१/३२/५), (घ. ६/४.१.१/१०)। ३. अथवा चूं कि यह मगको अर्थात् सुख या पुण्यको लाता है, इसलिए भी इसे मंगल समझना चाहिए। (घ १/१.१.१/श्लो. १६/३३); (घ. १/१.१.१/३३/५); (पं. का./ता वृ./१/५/५)। ४. इसीके द्वारा ग्रन्थकर्ता अपने कार्यकी सिद्धिपर पहुँच जाता है। १५। पूर्वमें आचार्यों द्वारा मंगलपूर्वक ही शास्त्रका पठन-पाठन हुआ है। उसीको निश्चयसे लाता है अर्थात् ग्रहण करता है, इसलिए यह मंगल श्रेष्ठ है। (घ. १/१.१.१/३४/३)। ५. जीवोंके पापको उपचारसे मल कहा जाता है। उसे यह मंगल गलाता है, विनाशको प्राप्त कराता है, इस कारण भी कोई आचार्य इसे मंगल कहते हैं। (घ. १/१.१.१/श्लो. १७/३४), (पं. का./ता वृ./१/५/५)।

२. मंगलके भेद

ति. प./१/१८ णामणिट्ठावणा दव्वखेत्ताणि कालभावा य। इय छब्भेयं भणियं मंगलमाणं दसज्जणं। १८ = १. आनन्दको उत्पन्न करनेवाला यह मंगल नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव, इस प्रकार छह भेदरूप कहा गया है। १८। (घ. १/१.१.१/१०/४)।

ध. १/१.१.१/३६/३ कतिविधं मङ्गलम् । मङ्गलसामान्यात्तदेकविधम्, मुख्यमुख्यभेदतो द्विविधम्, सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र्यभेदात् त्रिविधं मङ्गलम्, धर्मसिद्धसाध्वर्हभेदाच्चतुर्विधम्, ज्ञानदर्शनत्रिगुणभेदात् पञ्चविधम्, 'णमो जिणान्' इत्यादिनामैकविधं वा । =२. मंगल कितने प्रकारका है । मंगल सामान्यकी अपेक्षा मंगल एक प्रकारका है । ३. मुख्य और गौणके भेदसे दो प्रकारका है । (प. का./ता. वृ./१/५/६) । ४. सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र्यके भेदसे तीन प्रकारका है । ५. धर्म, सिद्ध, साधु और अर्हन्तके भेदसे चार प्रकारका है । ६. ज्ञान, दर्शन और तीन गुणिके भेदसे पाँच प्रकारका है । ७. अथवा 'जिनेन्द्रदेवको नमस्कार ही' इत्यादि रूपसे अनेक प्रकारका है ।

ध. १/१.१.१/४१/५ तच्च मंगलं दुबिहं णिबद्धमणिबद्धमिदि । =८. वह मंगल दो प्रकारका है, निबद्धमंगल और अनिबद्ध मंगल । (पं. का./ता. वृ./१/५/२३) ।

३. नाम स्थापनादि मंगलके लक्षण

ति. प. १/११६-२७ अरहाणं सिद्धाण आहरियउवज्जिक्कयाइसाहूणं । गामाई णाममंगलमुद्धिट्ठ वीयरारहिं । १६। ठवणमंगलमेदं अकट्टि-माकट्टिमाणि जिणबिबा । सूरिउवज्जयसाहूदेहाणि हु दव्वमंगलय । २०। गुणपरिदासणं परिणिक्कमणं केवलस्स णाणस्स । उप्पत्ती इयप-हुदी बहुभेयं खेत्तमंगलय । २१। एदस्स उदाहरणं पावाणगरुज्जयत्तचं-पादी । आउद्वहत्थपहुदी पणुवीसम्भहियपणसयधणूणि । २२। देवअव-ट्टिदेकवलाणाणानट्ठगयणदेसो वा । सेट्ठिधणमेत्तअप्पपदेसगदलोय-पूरणापुण्णा । २३। विस्साणं लोयाणं होदि पदेसा वि मंगलं खेत्तं । जस्सि काले केवलणाणादिमंगलं परिणमति । २४। परिणिक्कमणं केवल-णाणुभवणिव्वुद्धिप्पवेसादी । पावमलमालणादो पणत्त कालमंगलं एद । २५। एवं अणेयभेयं हवेदि तं कालमंगलं पवरं । जिणमहिमा-संबध णदोसुरदीवपहुदीओ । २६। मंगलपज्जाएहि उवलखित्तयजीव-दव्वमेत्त च । भावं मंगलमेदं । २७। =वीतराग भगवात्तके अर्हन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु इन नामोको नाममंगल कहा है । १६। जिन भगवात्तके जो अकृत्रिम और कृत्रिम प्रतिबिम्ब है, वे सब स्थापना मंगल है । तथा आचार्य उपाध्याय साधुके शरीर द्रव्य मंगल है । २०। गुणपरिणत आसन क्षेत्र अर्थात् जहाँपर योगासन, वीरासन आदि विविध आसनोंसे तदनुकूल ध्यानाभ्यास आदि अनेक गुण प्राप्त किये गये हों ऐसा क्षेत्र, दीक्षाका क्षेत्र, केवल-ज्ञानोत्पत्तिका क्षेत्र इत्यादि रूपसे क्षेत्रमंगल बहुत प्रकारका है । २१। इस क्षेत्रमंगलके उदाहरण पावानगर ऊर्जयन्त (गिरनार पर्वत) और चम्पापुर आदि है । अथवा साढ़े तीन हाथसे लेकर ५२५ धनुष-प्रमाण शरीरमें स्थित और केवलज्ञानसे व्याप्त आकाशप्रदेशोको क्षेत्रमंगल समझना चाहिए । अथवा जगच्छूणीके इनमात्र अर्थात् लोकप्रमाण आत्माके प्रदेशोसे लोकपूरणसमुद्घात द्वारा पूरित सभी (ऊर्ध्व, अधो व तिर्यक्) लोकोंके प्रदेश भी क्षेत्र मंगल है । २२-२४। जिस कालमें जीव केवलज्ञानादि रूप मंगलपर्यायको प्राप्त करता है उसको तथा दीक्षाकाल, केवलज्ञानके उद्भवका काल, और निर्वाणकाल ये सब पापरूपी मलके गलानेका कारण होनेसे कालमंगल कहा गया है । २४-२५। इस प्रकार जिनमहिमासे सम्बन्ध रखनेवाला कालमंगल अनेक भेदरूप है, जैसे नन्दोरवर द्वीप सम्बन्धी पर्व आदि । २६-२६। वर्तमानमें मंगलरूप पर्यायोसे परिणत जो शुद्ध जीव द्रव्य है (अर्थात् पंचपरमेष्ठीकी अत्माएँ) वह भावमंगल है । २७। (ध. १/१.१.१/२५-२६), (विशेष दे० निक्षेप) ।

दे० निक्षेप/५/७ (सरसो, पूर्णकलश आदि अर्चित्त पदार्थ, अथवा ब्रालकन्या व उत्तम घोडा आदि सच्चित्त पदार्थ अथवा अलंकार सहित कन्या आदि मिश्र पदार्थ ये सब लौकिक नोकर्म तद्व्यतिरिक्त

द्रव्य मंगल है । पंच परमेष्ठीका अनादिअनन्त जीवद्रव्य, कृत्रिमा-कृत्रिम चैत्यालय तथा साधुमव सहित चैत्यालयादि ये सब क्रमसे सच्चित्त अर्चित्त व मिश्र लोकोत्तर नोकर्म तद्व्यतिरिक्त द्रव्य मंगल है । जीव निबद्ध तीर्थकर प्रकृत नामकर्म कर्मतद्व्यतिरिक्त नोआगम द्रव्यमंगल है) ।

४. निबद्धानिबद्धादि मंगलोंके लक्षण

ध. १/१.१.१/४१/५ तच्च णिबद्धं णाम, जो सुत्तस्सादीए सुत्तकत्तारेण णिबद्धदेवदाणमाकारो तं णिबद्धमंगल । जो सुत्तस्सादीए सत्तारेण कयदेवदाणमोकारो तमणिबद्धमंगल । = जो ग्रन्थके आदिमें ग्रन्थ-कारके द्वारा इष्टदेवता नमस्कार निबद्ध कर दिया जाता है अर्थात् श्लोकादि रूपमें रचकर लिख दिया जाता है, उसे निबद्ध मंगल कहते हैं । और जो ग्रन्थके आदिमें ग्रन्थकार द्वारा देवताको नमस्कार किया जाता है [अर्थात् लिपिबद्ध नहीं किया जाता (ध. २/प्र. ३४) बल्कि शास्त्र लिखना या वाचना प्रारम्भ करते समय मन, वचन, कायसे जो नमस्कार किया जाता है] उसे अनिबद्ध मंगल कहते हैं । (पं. का./ता. वृ./१/५/२४) ।

पं. का./ता. वृ./१/५/१० तत्र मुख्यमङ्गलं कथ्यते, आदौ मध्येऽवसाने च मङ्गलं भाषितं बुधैः । तज्जिनेन्द्रगुणस्तोत्रं तदविधनप्रसिद्धये । १। अमुख्यमङ्गलं कथ्यते—सिद्धस्थ पुण्णकुभो वंदणमाला य पुट्टुं छत्त । सेदो वण्णो आदस्स णाय वण्णो य जत्तस्सो । १। =ज्ञानियों द्वारा शास्त्रके आदि मध्य व अन्तमें विघ्न निवारणके लिए जो जिनेन्द्र देवका गुणस्तवन किया जाता है, वह मुख्य मंगल है और पीली सरसो, पूर्ण कलश, वन्दनमाला, छत्र, श्वेत वर्ण, दर्पण, उत्तम जातिका घोडा आदि ये अमुख्य मंगल हैं । (इन्हे मंगल क्यो कहा जाता है, इसके लिए देखा मंगल/२/५) ।

२. मंगल निर्देश व तद्गत शंकाएँ

१. मंगलके छह अधिकार

ध. १/१.१.१/३६/६ मंगलमिह छ अहिपाराएँ दडा वत्तव्वा भवंति । तं जहा, मंगलं मंगलकत्ता मंगलकरणीय मंगलोवायो मंगलोवहाण मंगलफलमिदि । एदेसि छण्ह पि अत्थो उच्चदे । मंगलत्थो पुव्वुत्ता । मंगलकत्ता चोइस्सविज्जाट्टाणपारओ आहरियो । मंगलकरणीय भव्वज्जो । मंगलोवायो तिरयणसाहणाणि । मंगलविहाण एयवि-हादि पुव्वुत्त । =मंगलके विषयमें छह अधिकारो द्वारा दण्डकोका कथन करना चाहिए । वे इस प्रकार हैं—१. मंगल, २. मंगलकर्ता, ३. मंगल करने योग्य, ४. मंगलका उपाय, ५. मंगलके भेद, और ६. मंगलका फल है । अब इन छह अधिकारोंका अर्थ कहते हैं । मंगलका लक्षण तो पहले कहा जा चुका है (दे० मंगल/१/१) । चौदह विद्यास्थानोंके पारगामी आचार्य परमेष्ठी (यहाँ भूतबली आचार्य) मंगलकर्ता हैं । भव्यजन मंगल करने योग्य है । रत्नत्रयकी साधक सामग्री (आत्माधीनता व मन वचन कायकी एकाग्रता आदि) मंगलका उपाय है । एक प्रकारका, दो प्रकारका आदि रूपसे मंगलके भेद पहले कह आये हैं । (दे० मंगल/१/२) । मंगलका फल आगे कहेंगे (दे० मंगल/२/२) ।

२. मंगलका सामान्य फल व महिमा

ति. प. १/१३०-३१ णासदि विग्घ भेददि मंहो वुट्ठा सुरा ण लंघंति । इट्ठो अत्थो लब्धइ जिणणामगहणमेत्तेण । ३०। सस्थादिमज्जअव-साणएसु जिणतोत्तमगलुच्चारो । णासइ णिस्सेसाइ विग्घाई रवि व्व-त्तिमिराइ । ३१। = जिन भगवात्तके नामके ग्रहण करनेमात्रसे विघ्न नष्ट हो जाते हैं, पाप खण्डित होता है, दुष्ट देव लौंय नहीं सकते अर्थात् किसी प्रकारका उपद्रव नहीं कर सकते और इष्ट अर्थकी

प्राप्ति होती है। ३०। शास्त्रके आदि मध्य और अन्तमें किया गया जिनस्तोत्र रूप मंगलका उच्चारण सम्पूर्ण विघ्नोको उसी प्रकार नष्ट कर देता है, जिस प्रकार सूर्य अन्धकार को। ३१। (ध. १/१.१.१/ गा. २१-२२/४१), (प. का/ता वृ./१/५/१० पर उद्धृत २ गाथाएँ)।

आप्त. १/मृ/२ श्रेयोमार्गस्य ससिद्धिः प्रसादात्परमेष्ठिनः। इत्याहुस्तद्गुणस्तोत्र शास्त्रादौ मुनिर्षुगत्रा। = अर्हत्परमेष्ठीके प्रसादसे मोक्षमार्गकी सिद्धि होती है, इसलिए प्रधान मुनियोने शास्त्रके प्रारम्भमें अर्हत परमेष्ठीके गुणोकी स्तुति की है।

ध. १/१.१.१/३६/१० मंगलफलं वेहितो कथञ्चुदयणिस्स्यसमुहाइस्त। = मंगलादिकसे प्राप्त होनेवाले अम्युदय और मोक्षमुखके आधीन मंगलका फल है।

३. तीन बार मंगल करनेका निर्देश व उसका प्रयोजन

ति. प./१/२५-२६ पुत्रिवन्नाइरिपहि उत्तो सस्थाण मंगलं जो सो। आइम्मि मज्झअवसाणि य सणियमेण कायव्वो। २८। पढने मंगल-वयणे सित्था सत्थस्स पारगा होति। मज्झिम्ममे णीविग्घं विज्जा विज्जाफल चरिमे। २९। = पूर्वकालीन आचार्योंने जो शास्त्रोका मंगल कहा है उस मंगलको नियमसे शास्त्रोके आदि, मध्य और अन्तमें करना ही चाहिए। २८। शास्त्रके आदिमें मंगलके पढनेपर शिष्य लोग शास्त्रके पारगामी होते हैं, मध्यमें मंगलके करनेपर निर्विघ्न विद्याकी प्राप्ति होती है और अन्तमें मंगलके करनेपर विद्याका फल प्राप्त होता है। २९। (ध. १/१.१.१/गा. १६-२०/४०); (ध. ६/४.१.१/गा. २/४)।

दे० मंगल/२/२ (शास्त्रके आदिमें मंगल करनेसे समस्त विघ्नोका नाश तथा मोक्षमार्गकी प्राप्ति होती है)।

द्र. सं./टी./१/६/६ पर उद्धृत—'नास्तिकत्वपरिहार' शिष्टाचारप्रपालनम्। पुण्यावाप्तिश्च निर्विघ्न' शास्त्रादौ तेन सस्तुति। २। = नास्तिकता-का त्याग, सम्य पुरुषोके आचरणका पालन, पुण्यकी प्राप्ति और विघ्न विनाश इन चार लक्ष्योंके लिए शास्त्रके आरम्भमें इष्ट देवता-की स्तुति की जाती है।

ध. १/१.१.१/४०/४ तिस्रु दृढाणेषु मंगल किमट्ठ वुच्चदे। कथकोज्य-मंगल-पायच्छिच्छत्ता विणयोवगया सित्सा अज्जेदार। सोदारो वत्तारो आरोगमविग्घेण विज्ज विज्जाफलं हि पावेतु त्ति। = प्रश्न—तीन स्थानोंमें मंगल करनेका उपदेश किस लिए दिया गया है? उत्तर—मंगल सम्बन्धी आवश्यक कृत्तिकर्म करनेवाले तथा मंगल सम्बन्धी प्रायश्चित्त करनेवाले तथा विनयको प्राप्त ऐसे शिष्य, अध्येता (शास्त्र पढनेवाला), श्रोता और वक्ता क्रम से आरोग्यको, निर्विघ्न रूपसे विद्याको तथा विद्याके फलको प्राप्त हों, इसलिए तीनों जगह मंगल करनेका उपदेश दिया गया है।

४. लौकिक कार्योंमें मंगल करनेका नियम है, पर शास्त्रमें वह भाज्य है

क. पा. १/१-१/१ २-४/६-६ २ संपहि (पदि) गुणहरभट्टारण गाहा-सुत्तानमादीए जइवसहत्थेरेण वि चुण्णिमुत्तरस आदीए मंगल किण्ण कयं। ण एस दोसो; मंगल हि कीरदे पारद्वकज्जविग्घरक्कम्मविणा-सणट्ट। त च परमागमुवजोगादो चैव णस्सदि। ण चेदमसिद्धं, सुह-सुद्धपरिणामेहि कम्मक्खयाभावे तत्तव्याणुववत्तीदो। ण च कम्मक्खर संते पारद्वकज्जविग्घस्स विज्जाफलाणुव(व)त्तीए वा संभवां, विरोहादो। ण च सहाणुसारिसिस्साणं देवदाविसयभक्ति-समुपायणट्ट तं यीरदे; तेण विणा वि गुरुवयणादो चैव तेसि तदुपदिदसणादो। ३ पुण्णकम्मबंध्थीण वेसवययाण मंगलकरणं जुत्त ण मुणेण कम्मक्खयकंखुवाणमिदि ण वास्तु जुत्तं; पुण्णबंध-हेउत्त पडिद्विसेसाभावादो। ४, तेण सोवण-भोयण-पयाण-पच्चावण-

सत्थपारंभादिकिरियासु णियमेण अरहंतणमोक्कारो कायव्वो त्ति सिद्धं। ववहारणयमरिसदूण गुणहारभट्टारयस्स पुण एसो अहिप्पाओ, जहा—कीरउ अण्णत्थ सव्वत्थ णियमेण अरहंतणमोकारो, मंगल-फलस्स पारद्वकिरियाए अणुवलंभादो। एत्थ पुण णियमो णत्थि, परमागमुवजोगम्मि णियमेण मंगलफलोवलभादो। = प्रश्न—गुणधर भट्टारकने गाथासुत्रोके आदिमें तथा यत्तिवृषभ आचार्योंने भी चूर्ण-सूत्रोके आदिमें मंगल क्यों नहीं किया। उत्तर—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, प्रारम्भ किये हुए कार्यमें विघ्नकारक कर्मोंके विनाशार्थ मंगल किया जाता है और वे परमागमके उपयोगसे ही नष्ट हो जाते हैं। यह बात असिद्ध भी नहीं है; क्योंकि यदि शुभ और शुद्ध परिणामोसे कर्मोंका क्षय न माना जाये तो फिर कर्मोंका क्षय हो ही नहीं सकता। प्रश्न—इस प्रकार यद्यपि कर्मोंका क्षय तो हो जाता है पर फिर भी प्रारम्भ किये हुए कार्यमें विघ्नोको और विद्याके फलकी प्राप्ति न होनेकी सम्भावना तो बनो ही रहती है। उत्तर—नहीं, क्योंकि, ऐसा माननेमें विरोध आता है (कर्मोंका अभाव हो जानेपर विघ्नोकी उत्पत्ति सम्भव नहीं; क्योंकि, कारणके बिना कार्यकी उत्पत्ति नहीं होती)। प्रश्न—शब्दानुसारी शिष्यमें देवताविषयक भक्ति उत्पन्न करानेके लिए शास्त्रके आदिमें मंगल अवश्य करना चाहिए। उत्तर—नहीं, क्योंकि, मंगलके बिना भी केवल गुरु-वचनसे ही उनमें वह भक्ति उत्पन्न हो जाती है। = प्रश्न—पुण्यकर्म बंधनेके इच्छुक देशवतियोंको मंगल करना युक्त है, किन्तु कर्मोंके क्षयके इच्छुक मुनियोको मंगल करना युक्त नहीं, यदि ऐसा कही तो? उत्तर—नहीं, क्योंकि, पुण्यबन्धके कारणके प्रति उन दोनोंमें कोई विशेषता नहीं है। २, इसलिए सोना, खाना, जाना, आना और शास्त्रका प्रारम्भ करना आदि क्रियाओंमें अरहन्त नमस्कार अवश्य करना चाहिए। किन्तु व्यवहारनयको दृष्टिसे गुणधर भट्टारकका यह अभिप्राय है, कि परमागमके अतिरिक्त अन्य सब क्रियाओंमें अरहन्त नमस्कार नियमसे करना चाहिए; क्योंकि, अरहन्त नमस्कार किये बिना प्रारम्भ की हुई क्रियामें मंगलका फल नहीं पाया जाता। किन्तु शास्त्रके प्रारम्भमें मंगल करनेका नियम नहीं है, क्योंकि, परमागमके उपयोगमें ही मंगलका फल नियमसे प्राप्त ही जाता है।

५. स्वयं मंगल स्वरूप शास्त्रमें भी मंगल करनेकी क्या आवश्यकता

ध. १/१.१.१/४१/१० सुत्तं कि मंगलमुद अमंगलमिदि। जदि ण मंगलं, ण तं सुत्तं पावकारणस्स सुत्तत्तिविरोहादो। अह मंगलं, कि तत्थ मंगलेण एगदो चैय कज्जणिप्पत्तीदो इदि। ण ताव सुत्तं ण मंगल-मिदि। तारिस्सपइज्जाभावादो परिसेसादो मंगलं स। सुत्तस्सादीए मंगल पडिउज्जदि, ण पुव्वुत्तदोसो वि दोण्हं पि पुध पुध विणासिज्ज-माणपावदंसणादो। पढणविग्घविहावणं मंगलं। सुत्त पुण समयं पडि असंखेज्जगुणसेट्ठोए पावं गालिय पच्छा सव्वकम्मवलयकारण-मिदि। देवतानमस्कारोऽपि चरमावस्थायां कूरस्सकर्मक्षयकारीत्ति द्वयोरप्येककार्यकत्त्वमिति चेन्न, सूत्रविषयपरिज्ञानमन्तरेण तस्य तथाविधसामर्थ्याभावात्। शुक्लध्यानान्मोक्ष', न च देवतानमस्कार' शुक्लध्यानमिति। = प्रश्न—सूत्र ग्रन्थ स्वयं मंगलरूप है, या अमंगलरूप? यदि सूत्र स्वयं मंगलरूप नहीं है तो वह सूत्र भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि, मंगलके अभावमें पापका कारण होनेसे उसका मूत्रपनेसे विरोध पड़ जाता है। और यदि सूत्र स्वयं मंगल स्वरूप है, तो फिर उसमें अलगसे मंगल करनेकी क्या आवश्यकता है; क्योंकि, मंगल रूप एक सूत्र ग्रन्थसे ही कार्यकी निष्पत्ति हो जाती है। और यदि कहा जाय कि यह सूत्र नहीं है, अतएव मंगल भी नहीं है, तो ऐसा तो कहीं कहा नहीं गया कि यह सूत्र नहीं है। अतएव

यह सूत्र है और विशेष न्यायसे मंगल भी है। तब फिर इसमें अलगसे मंगल क्यों किया गया ? उत्तर—सूत्रके आदिमें मंगल किया गया है तथापि पूर्वोक्त दोष नहीं आता है, क्योंकि, सूत्र और मंगल इन दोनोंसे पृथक् पृथक् रूपमें पापोंका विनाश होता हुआ देखा जाता है। निबद्ध और अनिबद्ध मंगल पठनमें आनेवाले विघ्नोंको दूर करता है, और सूत्र प्रति समय असख्यात गुणित श्रेणीरूपसे पापोंका नाश करके उसके पश्चात् सम्पूर्ण कर्मोंके क्षयका कारण होता है। प्रश्न—देवता नमस्कार भी अन्तिम अवस्थानमें सम्पूर्ण कर्मोंका क्षय करनेवाला होता है, इसलिए मंगल और सूत्र दोनों ही एक कार्यको करनेवाले हैं, फिर दोनोंका कार्य भिन्न-भिन्न क्यों बतलाया गया ? उत्तर—ऐसा नहीं है, क्योंकि, सूत्रकथित विषयके परिज्ञानके बिना केवल देवता नमस्कारमें कर्मक्षयको सामर्थ्य नहीं है। मोक्षकी प्राप्ति शुक्लध्यानसे होती है, परन्तु देवता नमस्कार तो शुक्लध्यान नहीं है।

ध. ६/४, १, १/३/२ द्रव्यसुतादो तत्पठन-गुणकिरियावावदानं सव्य-जोवाणं पडिसमयमसखेजगुणसेदीए पुव्वसच्चिदकम्मणिज्जरा होदि त्ति णिष्फलमिदि सुत्तमिदि । अह सफलमिद , णिष्फलं सुत्तज्जयण , तत्तो समुवजायमाणकम्मकरवयस्स एस्थेवोवलभो त्ति । ण एस दोसो, सुत्तयज्जयणेण सामणकम्मणिज्जरा करिदे; एदेण पुण सुत्तज्जयण-विग्घफलकम्मविणासो कीरिदि त्ति भिण्णविसयत्तादो । सुत्तज्जयण-विग्घफलकम्मविणासो सामणकम्मविरोहिस्सुत्तभासादो चेव होदि त्ति मंगलसुत्तारभो अणत्थओ किण्ण जायदे । ण, सत्तथावगमभास-विग्घफलकम्मे अविण्णुं सते तदवगमभासाणमसभवादो । = प्रश्न— 'द्रव्यसुत्रोसे उनके पढ़ने और मनन करने रूप क्रियामें प्रवृत्त हुए सब जीवोंके प्रति समय असख्यात गुणित श्रेणीरूपसे पूर्व संचित कर्मोंकी निर्जरा होती है' इस प्रकार विधान होनेसे यह जिननमस्कारात्मक सूत्र व्यर्थ पड़ता है। अथवा, यदि यह सूत्र सफल है तो सूत्रोंका अर्थात् शास्त्रका अध्ययन व्यर्थ होगा, क्योंकि उससे होनेवाला कर्मक्षय इस जिननमस्कारात्मक सूत्रमें ही पाया जाता है। उत्तर—यह कोई दोष नहीं है; क्योंकि सूत्राध्ययनसे तो सामान्य कर्मोंकी निर्जरा को जाती है, और मंगलसे सूत्राध्ययनमें विघ्न करनेवाले कर्मोंका विनाश किया जाता है, इस प्रकार दोनोंका विषय भिन्न है। प्रश्न—क्योंकि सूत्राध्ययनमें विघ्न करनेवाले कर्मोंका विनाश सामान्य कर्मोंके विरोधी सूत्राभ्याससे ही हो जाता है, अतएव मंगलसूत्रका आरम्भ करना व्यर्थ क्यों न होगा ? उत्तर—ऐसा नहीं है, क्योंकि, सूत्रार्थके ज्ञान और अभ्यासमें विघ्न उत्पन्न करनेवाले कर्मोंका जब तक विनाश न होगा तब तक उस (सूत्रार्थ) का ज्ञान और अभ्यास दोनों असम्भव है। और कारणसे पूर्वकालमें कार्य होता नहीं है, क्योंकि वैसा पाया नहीं जाता।

पं. का./ता. वृ./१/६/८ शास्त्रं मङ्गलमङ्गल वा । मङ्गल चेत्तदा मङ्ग-लस्य मङ्गल किं प्रयोजनं, यद्यमङ्गल तर्हि तेन शास्त्रेण किं प्रयोजन । आचार्या परिहारमाहु —भक्त्यर्थं मङ्गलस्यापि मङ्गल क्रियते । तथा चोक्तम्—प्रदोषेनार्चयेदकमुदकेन महोदधिम् । वागीश्वरा तथा वाग्भिर्मङ्गलेनैव मङ्गलम् । किञ्च इष्टदेवतानमस्कारकरणे प्रत्युपकार कृत भवति । तथा चोक्त—श्रेयोमार्गस्य संसिद्धिं प्रसादात्परमेष्ठिनः । इत्याहुस्तद्गुणस्तोत्रं शास्त्रादी मुनिपुगवा । अभिमतफलसिद्धेरभ्यु-पायः सुबोध, स च भवति मुशास्त्रात्तस्य चोत्पत्तिराप्तत् । इति भवति स पूज्यस्तत्प्रसादात्प्रबुद्धिर्न हि कृतमुपकारं साधवो विस्मरन्ति । = प्रश्न—शास्त्र मंगल है या अमंगल ? यदि मंगल है तो मंगलका भी मंगल करनेसे क्या प्रयोजन ? और यदि वह अमंगल है तो ऐसे शास्त्रसे ही क्या प्रयोजन ? उत्तर—भक्तिके लिए मंगलका भी मंगल किया जाता है। कहा भी है—दोषको सूर्यकी, जलसे सागरकी तथा वचनोसे वागीश्वरीकी पूजा की जाती है, इसी प्रकार मंगलसे मंगलका

भी मंगल किया जाता है। इसके अतिरिक्त इष्टदेवताको नमस्कार करनेसे प्रत्युपकार किया जाता है अर्थात् देवताकृत उपकारको स्वीकार किया जाता है। कहा भी है—परमेष्ठीकी कृपासे मोक्षमार्गकी प्राप्ति होती है। इसीलिए शास्त्रके आदिमें मुनिजन उनके गुणोंका स्तवन करते हैं। इच्छित फलकी सिद्धिका उपाय सम्यग्ज्ञान है और वह सच्चे शास्त्रोसे होता है। शास्त्रोंकी उत्पत्ति आपसे होती है। इसलिए उनके प्रसादसे ही ज्ञानकी प्राप्ति हुई होनेसे वे पूज्य हैं, क्योंकि, किये गये उपकारको साधुजन भूलते नहीं हैं।

६. मंगल व निर्विघ्नतामें व्यभिचार सम्बन्धी शका

ध. ६/४, १, १/५/१ मंगलं काऊण पारद्वकज्जाणं कहि पि विग्घुवलभादो तमकाऊण पारद्वकज्जाणं पि कथं वि विग्घाभावदंसणादो जिणिद-णमोक्कारो ण विग्घविणासओ त्ति । ण एस दोसो, कयाकयभिसयाणं वाहीणमविणास-विणासदंसणेणाक्वययियविचारस्स वि मारिचादि-गणस्स भेसयत्तुवलभादो । ओसहाणमोसहलं ण विणस्सदि, असज्जवाहिविदिरत्तसज्जवाहिविसरा चेव तेसि वावारब्भुवगमादो त्ति चे जदि एवं तो जिणिदणमोक्कारो वि विग्घविणासओ, असज्जविग्घफलकम्मसुज्जिक्कपुण सज्जविग्घफलकम्मविणासे वावार-दसणादो । ण च ओसहेण समाणो जिणिदणमोक्कारो, णाणज्जाणसहायस्स संतस्स णिविग्घग्गिस्स अदज्जि-धणाण व असज्जविग्घफलकम्ममाणमभावादो । णाणज्जाणपपओ यमोक्कारो संपुणो, जहण्णो मंदसह्वहणापुविद्धो बोद्धवो, सेस-असंखेजजलोगभेयभिण्णा मज्झिमा । ण च ते सव्वे समाणफला, अइप्पसगादो । = प्रश्न—मंगल करके आरम्भ किये गये कार्योंके कही-पर विघ्न पाये जानेसे और उसे न करके भी आरम्भ किये गये कार्योंके कही पर विघ्नोंका अभाव देखे जानेसे जिनेन्द्र नमस्कार विघ्न विनाशक नहीं है ? उत्तर—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, जिन व्याधियोंकी औषध की गयी है उनका अविनाश, और जिनकी औषध नहीं की गयी है उनका विनाश देखे जानेसे व्याभिचार ज्ञात होनेपर भी काली मिरच आदि औषधि द्रव्योंमें औषधित्व गुण पाया जाता है। प्रश्न—औषधियोंका औषधित्व तो इसलिए नष्ट नहीं होता, कि असाध्य व्याधियोंको छोड़कर केवल साध्य व्याधियोंके विषयमें ही उनका व्यापार माना गया है ? उत्तर—तो जिनेन्द्र नमस्कार भी (उसी प्रकार) विघ्न विनाशक माना जा सकता है; क्योंकि, उसका भी व्यापार असाध्य विघ्नोंके कारणभूत कर्मोंको छोड़कर साध्य विघ्नोंके कारणभूत कर्मोंके विनाशमें देखा जाता है। २ दूसरी बात यह है कि (सर्वथा) औषधके समान जिनेन्द्र नमस्कार नहीं है, क्योंकि, जिस प्रकार निर्विघ्न अग्निके होते हुए न जल सकने योग्य इन्धनका अभाव रहता है (अर्थात् सम्पूर्ण प्रकारके इन्धन भस्म हो जाते हैं), उसी प्रकार उक्त नमस्कारके ज्ञान व ध्यानकी सहायता युक्त होनेपर असाध्य विघ्नोंत्पादक कर्मोंका भी अभाव होता है (अर्थात् सब प्रकारके कर्म विनष्ट हो जाते हैं) तर्हो ज्ञानध्यानात्मक नमस्कारको उत्कृष्ट, एवं मन्द श्रद्धान युक्त नमस्कारको जघन्य जानना चाहिए। शेष असंख्यात लोकप्रमाण भेदोंसे भिन्न नमस्कार मध्यम है। और वे सब समान फलवाले नहीं होते, क्योंकि, ऐसा माननेपर अतिप्रसंग दोष आता है।

पं. का./ता. वृ./१/६/४ यदुक्तं त्वया व्यभिचारो दृश्यते तदप्ययुक्तं । कस्मादिति चेत् । यत्र देवतानमस्कारदानपूजादिधर्मै कृतोऽपि विघ्नं भवति तत्रेदं ज्ञातव्यं पूर्वकृतपापस्यैव फलं तत् न च धर्मदूषणं, यत्र पुनर्देवतानमस्कारदानपूजादिधर्माभावेऽपि निर्विघ्नं दृश्यते तत्रेदं ज्ञातव्यं पूर्वकृतधर्मस्यैव फलं तत् न च पापस्य । = आपने जो यह कहा है कि (मंगल करने या न करनेपर भी निर्विघ्नताका अभाव या सद्भाव दिखायी देनेसे) तर्हो व्यभिचार दिखायी देता है, सो यह

कहना अयुक्त है, क्योंकि, जहाँ देवतानमस्कार दान पूजादि रूप धर्मके करनेपर भी विघ्न होता है वहाँ वह पूर्वकृत पापका ही फल जानना चाहिए, धर्मका दोष नहीं। और जहाँ देवतानमस्कार दानपूजादिरूप धर्मके अभावमें भी निर्विघ्नता दिखायी देती है, वहाँ पूर्वकृत धर्मका ही फल जानना चाहिए, पापका अर्थात् मंगल न करनेका नहीं।

७. मंगल करनेसे निर्विघ्नता कैसे

पं. का./ता वृ./१/१/२६ किमर्थं शास्त्रादौ शास्त्रकाराः मङ्गलार्थं परमेष्ठिगुणस्तोत्रं कुर्वन्ति यदेव शास्त्रं प्रारम्भं तदेव कथ्यता मङ्गल-प्रस्तुतं । न च वक्तव्यं मङ्गलनमस्कारेण पुण्यं भवति पुण्येन निर्विघ्नं भवति इति । कस्मान्न वक्तव्यमिति चेत् । व्यभिचारात् ।०० तदप्य-युक्तं । कस्मात् । देवतानमस्कारकरणे पुण्यं भवति तेन निर्विघ्नं भवतीति तर्कादिशास्त्रे व्यवस्थापितत्वात् । = प्रश्न—शास्त्रके आदिमें शास्त्रकार मंगलार्थ परमेष्ठिके गुणोक्ता स्तवन क्यों करते हैं, जो शास्त्र प्रारम्भ किया है वही मंगलरूप है। तथा 'मंगल करनेसे पुण्य होता है और पुण्यसे निर्विघ्नताकी प्राप्ति होती है' ऐसा भी नहीं कहना चाहिए क्योंकि उसमें व्यभिचार देखा जाता है। उत्तर—यह कहना अयुक्त है क्योंकि, देवतानमस्कार करनेसे पुण्य और पुण्यसे निर्विघ्नताका होना तर्क आदि विषयक अनेक शास्त्रोंमें व्यवस्थापित किया गया है।

८. लौकिक मंगलोंको मंगल कहनेका कारण

पं. का./ता वृ./१/१/१५ पर उद्धृत—वयणियमसंजमगुणेहि साहिदो जिणवरेहि परमद्वो । सिद्धा सण्णा जेसि सिद्धत्था मंगलं तेण ।२। पुण्णा मणोरहेहि य केवलणणोण चावि संपुण्णा । अरहता इदि लोए सुमंगलं पुण्णकुभो दु ।३। गिग्गमणपवेसम्हि य इह चउवीसपि वदणीज्जा ते । वदणमालेत्ति कया भरहेण य मंगलं तेण ।४। सव्व-जणणिव्बुदियरा छत्तायारा जगस्स अरहंता । छत्तायारं सिद्धित्ति मंगलं तेण छत्त तं ।५। सेदो वण्णो भाणं लेस्सा य अवाइसेसक्कम्म च । अरुहाणं इदि लोए सुमंगलं सेदवण्णो दु ।६। दीसइ लोयालोओ केवलणणोण तहा जिणिदस्स । तह दीसइ मुकुरे बिबुमंगल तेण तं सुणह ।७। जह वीयरायसव्वणहु जिणवरो मंगलं हवइ लोए । ह्यराय-बालकण्णा तह मंगलमिह विजाणाहि ।८। कम्मरिजिणेविणु जिण-वरेहि मोक्खु जिणहि वि जेण । जं चउरउअरिबलजिणइ मंगलु बुच्च तेण ।९। = व्रत, नियम, समय आदि गुणोंके द्वारा साधित जिनवरों-को ही समस्त अर्थको सिद्धि हो जानेके कारण, परमार्थसे सिद्ध संज्ञा प्राप्त है। इसीलिए सिद्धार्थ (पोली सरसो) को मंगल कहते हैं ।२। अरहंत भगवात् सम्पूर्ण मनोरथोंसे तथा केवलज्ञानसे पूर्ण है, इसीलिए लोकमें पूर्णकलशको मंगल माना जाता है ।३। क्योंकि द्वारसे बाहर निकलते हुए तथा उसमें प्रवेश करते हुए २४ तीर्थकर वन्दनीय होते हैं, इसीलिए भरत चक्रवर्तीने २४ कलिप्रोवाली वन्दनमालाकी रचना की थी। इसीसे वह मंगलरूप समझी जाती है ।४। जगतके सर्व जीवोंको सुक्ति दिलानेके लिए अरहंत भगवात् छत्राकार है अर्थात् एक मात्र आश्रय है। अतः सिद्धि छत्राकार है और इसीसे छत्रको मंगल कहा जाता है ।५। अरहंत भगवात्का ध्यान, लेश्या व शेष अघाती कर्म ये सब क्योंकि श्वेतवर्णके अर्थात् शुक्ल होते हैं, इसीलिए लोकमें श्वेतवर्णको मंगल समझा जाता है ।६। जिनेन्द्र भगवात्को केवलज्ञानमें जिस प्रकार समस्त लोका-लोक दिखाई देता है, उसी प्रकार दर्पणमें भी उसके समक्ष रहनेवाले दूर व निकटके समस्त छोटे व बड़े पदार्थ दिखाई देते हैं, इसीलिए दर्पणको मंगल जानो ।७। जिस प्रकार वीतराग सर्वज्ञ जिनेन्द्र भगवात् लोकमें मंगलरूप है, उसी प्रकार 'हृय राय' अर्थात् उत्तम जातिका घोडा और हृय राय बालकन्या अर्थात् रागद्वेषरहित सरल चित्त

बालकन्या भी मंगल है। क्योंकि 'हृय राय' इस शब्दका अर्थ हत-राग भी है और उत्तम घोडा भी ।८। क्योंकि कर्मरूपी शत्रुओंको-जीतकर ही जिनेन्द्र भगवात् मोक्षको प्राप्त हुए हैं इसीलिए शत्रुसमूह पर जीतको दर्शानेवाला चमर मंगल कहा जाता है ।

९. मिथ्यादृष्टि आदि सभी जीवोंमें कथंचित् मंगलपना

ध. १/१,१,१/३६-३८ एकजीवापेक्षया अनाद्यपर्यवसित साद्यपर्यवसितं सादिसपर्यवसितमिति त्रिविधम् । कथमनाद्यपर्यवसिता मङ्गलस्य । द्रव्याधिकनयार्पणया । तथा च मिथ्यादृष्ट्यवस्थायामपि मङ्गलत्वं जीवस्य प्राप्नोतीति चेन्नैष दोषः इष्टत्वात् । न मिथ्याविरतिप्रमादाना मङ्गलत्वं तेषां जीवत्वाभावात् । जीवो हि मङ्गलम् स च केवलज्ञानाद्य-नन्तधर्मात्मकः । न छद्मस्थज्ञानदर्शनयोरल्पत्वादमङ्गलत्वमेकदेशस्य माङ्गल्याभावे तद्विरवावयवानामप्यमङ्गलत्वप्राप्तेः । = एक जीवकी अपेक्षा मंगलका अवस्थान अनादि अनन्त, सादि अनन्त और सादि सान्त इस प्रकार तीन भेद रूप है। प्रश्न—अनादिसे अनन्तकाल तक मंगल होना कैसे सम्भव है। उत्तर—द्रव्यार्थिक नयकी प्रधानतासे। प्रश्न—इस तरह तो मिथ्यादृष्टि अवस्थामें भी जीवको मंगलपनेकी प्राप्ति हो जायेगी। उत्तर—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, यह हमे इष्ट है। परन्तु ऐसा माननेपर भी मिथ्यात्व अविरति, प्रमाद आदि-को मंगलपना सिद्ध नहीं हो सकता है, क्योंकि, उनमें जीवत्व नहीं पाया जाता है। मंगल तो जीव ही है, और वह जीव केवलज्ञानादि अनन्त धर्मात्मक है। छद्मस्थके ज्ञान और दर्शन अल्प होने मात्रसे अमंगल नहीं हो सकते हैं, क्योंकि ज्ञान और दर्शनके एकदेश मात्रमें मंगलपनेका अभाव स्वीकार कर लेनेपर ज्ञान और दर्शनके सम्पूर्ण अत्रयवों अर्थात् केवलज्ञान व केवलदर्शनको भी अमंगल मानना पड़ेगा।

दे० ज्ञान/१/४/२,५ और सामान्य ज्ञान सन्तानकी अपेक्षा छद्मस्थ जीवों-में भी केवलज्ञानका सद्भाव माननेमें कोई विरोध नहीं आता। उनके मति ज्ञान आदि तथा चक्षुदर्शनादि भी ज्ञान व दर्शन सामान्यकी ही अवस्था विशेष होनेके कारण मंगलीभूत केवलज्ञान व केवलदर्शन-से भिन्न नहीं कहे जा सकते। और इस प्रकार भले ही मिथ्यादृष्टि जीवके ज्ञान व दर्शनको मंगलपना प्राप्त हो जाय, पर उसके मिथ्यात्व अविरति आदिको मंगलपना नहीं हो सकता। मिथ्यादृष्टिके ज्ञान व दर्शनमें मंगलपना असिद्ध भी नहीं है, क्योंकि, जिस प्रकार सम्यग्-दृष्टिके ज्ञान व दर्शनमें पापक्षयकारीपना पाया जाता है, उसी प्रकार मिथ्यादृष्टिके ज्ञान व दर्शनमें भी पापक्षयकारीपना पाया जाता है।

मंगला— एक विद्या (दे० विद्या) ।

मंगलाचरण—(दे० मंगल) ।

मंगलावती—१ पूर्व विदेहका एक क्षेत्र—दे० लोक ५/२। २ पूर्व विदेहस्थ आत्मर्जन वक्षारका एक कूट व उसका रक्षक देव—दे० लोक ५/४ ।

मंगलावर्त—१. सौमनस पर्वतका एक कूट व उसका रक्षक देव — दे० लोक ५/४२. पूर्व विदेहका एक क्षेत्र—दे० लोक ५/२ ।

मंजूषा— पूर्व विदेहके मंगलावर्त या लागलावर्त देशकी प्रधान नगरी—दे० लोक ५/२ ।

मंडन मिश्र—१. एक बौद्ध विद्वाद् । समय—ई० ६१५-६६० । (सि. वि. प्र. ३५/५. महेन्द्र कुमार) । २. मीमांसा दर्शन व वेदान्त दर्शनके भाष्यकार— दे० मीमांसा दर्शन व वेदान्त ।

मंडप भूमि—समवशरणकी आठवीं भूमि—दे० समवशरण ।

मंडल—१. प्राणायाम सम्बन्धी चार मण्डलिका निर्देश—दे० प्राणायाम । २. प्राणायाम सम्बन्धी अग्निमण्डल, आकाश मण्डल—दे० वह वह नाम ।

मंडलीक—राजाकी एक उपाधि—दे० राजा ।

मंडलीक वायु—दे० वायु ।

मंडित—विजयार्थकी दक्षिण श्रेणीका एक नगर ।—दे० विद्याधर ।

मंत्र—मन्त्रशक्ति सर्वसम्मत है । णमोकार मन्त्र जैनका मूलमन्त्र है ।

१ मन्त्र सामान्य निर्देश

- १ मन्त्र तन्त्रकी शक्ति पौद्गलिक है ।
- २ मन्त्र शक्तिका माहात्म्य ।
- * मन्त्र सिद्धि तथा उसके द्वारा अनेक चमत्कारिक कार्य होनेका सिद्धान्त—दे० ध्यान/२/४,५ ।
- ३ मन्त्र तन्त्र आदिकी सिद्धिका मोक्षमार्गमें निषेध ।
- ४ साधुको आजीविका करनेका निषेध ।
- ५ परिस्थितिवश मन्त्रप्रयोगकी आज्ञा ।
- ६ पूजाविधानादिके लिए सामान्य मन्त्रोंका निर्देश ।
- ७ गर्भाधानादि क्रियाओंके लिए विशेष मन्त्रोंका निर्देश ।
- * पूजापाठ आदिके लिए कुछ यन्त्र — दे० यन्त्र ।
- * ध्यान योग्य कुछ मन्त्रोंका निर्देश —दे० पदस्थ ।
- * मन्त्रमें स्वाहाकार नहीं होता —दे० स्वाहा ।

२ णमोकार मन्त्र

- १ णमोकारमन्त्र निर्देश ।
- * णमोकारमन्त्रके वाचक एकाक्षरी आदि मन्त्र —दे० पदस्थ ।
- * णमोकारमन्त्रका माहात्म्य । —दे० पूजा/२/४ ।
- २ णमोकारमन्त्रका इतिहास ।
- ३ णमोकारमन्त्रकी उच्चारण व ध्यान विधि ।
- ४ मन्त्रमें प्रयुक्त 'सर्व' शब्दका अर्थ ।
- ५ चत्वारिदण्डकमें 'साधु' शब्दसे आचार्य आदि तीनोंका ग्रहण ।
- ६ अर्हंतकी पहिले नमस्कार क्यों ?
- * आचार्यादि तीनोंमें कथञ्चित् मेद व अमेद —दे० साधु/६ ।

१. मन्त्र सामान्य निर्देश

१. मन्त्र तन्त्रकी शक्ति पौद्गलिक है

ध. १३/५,५,५२/३४६/८ जोषिपाहुडे भण्डमत-तत्सत्तीयो पोग्गलाणु-भागो त्ति घेत्तव्वो । = योनिप्राभृतमे कहे गए मन्त्र तन्त्र रूप शक्तियोंका नाम पुद्गलानुभाग है ।

२. मन्त्र शक्तिका माहात्म्य

गो जी./जी. प्र./१२४/४१६/१८ अचिन्त्य हि तपोविद्यामणिमन्त्रौषधि-शक्त्यतिशयमाहात्म्यं दृष्टत्वभावत्वात् । स्वभावोऽतर्कगोचर इति समस्तवादिशयतत्वात् ।—विद्या, मणि, मन्त्र, औषध आदिकी अचिन्त्य शक्तिका माहात्म्य प्रत्यक्ष देखनेमें आता है । स्वभाव तर्कका विषय नहीं, ऐसा समस्त वादियोंको सम्मत है ।

३. मन्त्र तन्त्र आदिकी सिद्धिका मोक्षमार्गमें निषेध

२. सा./१०६ जोइसविज्जामत्तोपजोणं वा य वस्सववहारं । धणधण-पडिग्गहणं समणण वूसण होइ ।१०६। = जो मुनि ज्योतिष शास्त्रसे वा किसो अन्य विद्यासे वा मन्त्र तन्त्रसे अपनी उपजीविका करता है, जो वैश्योंकेमें व्यवहार करता है और धनधान्य आदि सबका ग्रहण करता है वह मुनि नमस्त मुनियोंको दूषित करनेवाला है ।

ज्ञा. ४/१२-१५ वरयाकर्षणविद्वेषं मारणोच्चाटन तथा । जनानलविष-स्तम्भो रसकर्म रसायनम् ।५२। पुरक्षोभेन्द्रजालं च बलस्तम्भो जयाजयौ । विद्याच्छेदस्तथा वेध ज्योतिर्ज्ञानं चिकित्सितम् ।५३। यक्षिणीमन्त्रपातालसिद्धय. कालवचना । पादुकाञ्जननिस्त्रिश-भूतभोगीन्द्रसाधन ।५४। इत्यादिविक्रियाकर्म्मरज्जितैर्दुष्टचेष्टितैः । आत्मानमपि न ज्ञात मष्ट लोकद्वयच्युतैः ।५५। = वशीकरण, आकर्षण, विद्वेषण, मारण, उच्चाटन, तथा जल अग्नि विष आदिका स्तम्भन, रसकर्म, रसायन ।५२। नगरमें क्षोभ उत्पन्न करना, इन्द्र-जालसाधन, सेनाका स्तम्भन करना, जीतहारका विधान बताना, विद्याके छेदनेका विधान साधना, वेधना, ज्योतिषका ज्ञान, वैद्यक-विद्यासाधन ।५३। यक्षिणीमन्त्र, पातालसिद्धिके विधानका अभ्यास करना, कालवचना (मृत्यु जीतनेका मन्त्र साधना), पादुकासाधन (खडाऊं पहनकर आकाश या जलमें बिहार करनेकी विद्याका साधन) करना, अदृश्य होने तथा गड़े हुए धन देखनेके अजनका साधना, शस्त्रादिका साधना, भूतसाधन, सर्पसाधन ।५४। इत्यादि विक्रिया-रूप कार्योंमें अनुरक्त होकर दुष्ट चेष्टा करनेवाले जो हैं उन्होंने आत्मज्ञानसे भी हाथ धाया और अपने दोनों लोकका कार्य भी मष्ट किया । ऐसे पुरुषोंके ध्यानका सिद्धि हाना कठिन है ।५५।

ज्ञा./४०/१० क्षुद्रध्यानपरप्रपञ्चचतुरा रागानलोद्दीपिता, मुद्रामण्डल-यन्त्रमन्त्रकरणैराराधयन्त्यादृता । कामक्रोधवशीकृतानिह सुरान् ससारसौख्यार्थिना, दुष्टाशाभिहता पतन्ति नरके भोगार्तिभिर्ब-ञ्चिता ।१०। = जो पुरुष खोटे ध्यानके उत्कृष्ट प्रपञ्चको विस्तार करनेमें चतुर है वे इस लोकमें रागरूप अग्निसे प्रज्वलित होकर मुद्रा, मण्डल, यन्त्र, मन्त्र, आदि साधनोंके द्वारा कामक्रोधसे वशीभूत कुवेवोंका आदरसे आराधन करते हैं । सो, सांसारिक सुखके चाहने-वाले और दुष्ट आशासे पीडित तथा भोगोंकी पीडासे वंचित होकर वे नरकमें पडते हैं ।१०।

और भी दे०—मन्त्र, तन्त्र, ज्योतिष आदि विद्याओंका प्रयोग करने-वाला साधु असत्क है (दे० असत्क), वह लौकिक है (दे० लौकिक) । आहारके दातारको मन्त्र तन्त्रादि बताना साधुके आहारका मन्त्रोप-जोषी नामका एक दाष है । (दे० आहार/II/४) । इसी प्रकार वसतिकके दातारको उपरोक्त प्रयोग बताना वसतिकका मन्त्रोपजीवी नामक दाष है । (दे० वसतिक) ।

४. साधुको आजीविका करनेका निषेध

ज्ञा./४/५६-५७ यतिव्वं जीवनोपाय कुर्वन्त किं न लज्जितं । साहु-पण्यमिवालम्ब्य यथा केचिद्गतघृणा ।५६। निस्त्रपा कर्म कुर्वन्ति यतिव्वेऽप्यतिनिन्दितम् । ततो विराध्य सन्मार्गं विशन्ति नरकोदरे ।५७। = कई निर्दय निर्लज्ज साधुपणमें भी अतिशय निन्दा योग्य कार्य करते हैं । वे समीचीन मार्गका विरोध करके नरकमें

प्रवेश करते हैं। जैसे कोई अपनी माताको बेरया बनाकर उससे धनोपार्जन करते हैं, तैसे ही जो मुनि होकर उस मुनिदीक्षाको जीवनका उपाय बनाते हैं और उसके द्वारा धनोपार्जन करते हैं वे अतिशय निर्दय तथा निर्लज्ज हैं। १६६-१७७

५. परिस्थिति वश मंत्र प्रयोगकी आज्ञा

म. आ./वि/३०६/५२०/१७ स्तेनैरुपद्रव्यमाणां तथा श्वापदैः, दुष्टैर्वा भूमिपालैः, नदीरोधकैः मार्या च तदुपद्रवनिरासः विद्यादिभिः ॥ वैयावृत्यमुक्तम् ॥—जिन मुनियोंको चोरसे उपद्रव हुआ हो, दुष्ट पशुओंसे पीड़ा हुई हो, दुष्ट राजसे कष्ट पहुँचा हो, नदीके द्वारा रुक गये हों, भारी रोगसे पीड़ित हो गये हो, तो उनका उपद्रव विद्या-दिकोंसे नष्ट करना उनकी वैयावृत्ति है।

६. पूजाविधानादिके लिए सामान्य मन्त्रोंका निर्देश

म. पु./४०/श्लो. नं. का भावार्थ—निम्नलिखित मन्त्र सामान्य है क्योंकि सभी क्रियाओंमें काम आते हैं—१६१। १. भूमिशुद्धिके लिए 'नीरजसे नमः' १६। विघ्नशान्तिके लिए 'दर्पमथनाय नमः' १६। और तदनन्तर गन्ध, पुष्प, अक्षत, धूप, दीप, और नैवेद्य द्वारा भूमिका संस्कार करनेके लिए क्रमसे—शीलगन्धाय नमः, विमलाय नमः, अक्षताय नमः, श्रुतधूपाय नमः, ज्ञानोद्योताय नमः, परमसिद्धाय नमः, ये मन्त्र बोल बोल वह वह पदार्थ चढावे ७७-१०१। २. तदनन्तर पीठिकामन्त्र पढ़े—सत्यजाताय नमः, अर्हज्जाताय नमः १११। परमजाताय नमः, अनुपमायाय नमः १२१। स्वप्रधानाय नमः, अचलाय नमः, अक्षयाय नमः, ११३। अव्याबाधाय नमः, अनन्तज्ञानाय नमः, अनन्तवीर्याय नमः, अनन्तसुखाय नमः, नीरजसे नमः, निर्मलाय नमः, अच्छेष्टाय नमः, अभेष्टाय नमः, अजराय नमः, अप्रमेयाय नमः, अगर्भवासाय नमः, अज्ञोभ्याय नमः, अविलीनाय नमः, परमधनाय नमः ११४-१७। परमकाष्ठयोगाय नमो नमः ११८। लोकाग्रवासिने नमो नमः, परमसिद्धिधेभ्यो नमो नमः, अर्हत्सिद्धिधेभ्यो नमो नमः ११९। केवलिसिद्धिधेभ्यो नमो नमः, अन्तःकृतिसिद्धिधेभ्यो नमो नमः, परम्परसिद्धिधेभ्यो नमः, अनादिपरम्परसिद्धिधेभ्यो नमः, अनाद्यनुपमसिद्धिधेभ्यो नमो नमः, सम्यग्दृष्टे सम्यग्दृष्टे आसन्नभव्य आसन्नभव्य निर्वाणपूजार्ह, निर्वाणपूजार्ह अग्नीन्द्र स्वाहा १२०-२३। ३. (इसके पश्चात् काम्यमंत्र बोलना चाहिए) सेवाफलं षट्परमस्थानं भवतु, अपमृत्युविनाशनं भवतु, समाधिमरणं भवतु १२४-२५। ४. तत्पश्चात् क्रमसे जातिमन्त्र, निस्तारकमन्त्र, ऋषिमन्त्र, सुरेन्द्रमन्त्र, परमराजादि मन्त्र, परमेष्ठी मन्त्र, इन छ. प्रकारके मन्त्रोंका उच्चारण करना चाहिए। ४. जातिमन्त्र—सत्यजन्मन शरणं प्रपद्यामि, अर्हज्जन्मन शरणं प्रपद्यामि, अर्हन्मातु शरणं प्रपद्यामि, अर्हत्सुतस्य शरणं प्रपद्यामि, अनादिगमनस्य शरणं प्रपद्यामि अनुपमजन्मन शरणं प्रपद्यामि, रत्नत्रयस्य शरणं प्रपद्यामि, सम्यग्दृष्टे सम्यग्दृष्टे ज्ञानमूर्ते ज्ञानमूर्ते सरस्वति सरस्वति स्वाहा, सेवाफलं षट्परमस्थानं भवतु, अपमृत्युविनाशनं भवतु, समाधिमरणं भवतु १२७-३०। ५. निस्तारकमन्त्र—सत्यजाताय स्वाहा, अर्हज्जाताय स्वाहा, षट्कर्मणे स्वाहा, ग्रामयतये स्वाहा, अनादिभ्रोत्रियाय स्वाहा, स्नातकाय स्वाहा, श्रावकाय स्वाहा, देवब्राह्मणाय स्वाहा, भुव्राह्मणाय स्वाहा, अनुपमाय स्वाहा, सम्यग्दृष्टे सम्यग्दृष्टे निधिपते निधिपते वैश्रवण वैश्रवण स्वाहा, सेवाफलं षट्परमस्थानं भवतु, अपमृत्यु विनाशनं भवतु, समाधिमरणं भवतु। (३१-३७) ६. ऋषि मन्त्र—सत्यजाताय नमः, अर्हज्जाताय नमः, निर्गन्थाय नमः, वीतरागाय नमः, महाव्रताय नमः, त्रिगुणाय नमः, महायोगाय नमः, विविध-योगाय नमः, विविधर्षये नमः, अङ्गधराय नमः, पूर्वधराय नमः, गणधराय नमः, परमर्षिभ्यो नमो नमः, अनुपमजाताय नमो नमः, सम्यग्दृष्टे सम्यग्दृष्टे भूपते भूपते नगरपते नगरपते

कालभ्रमण कालभ्रमण स्वाहा, सेवाफलं षट्परमस्थानं भवतु, अपमृत्युविनाशनं भवतु, समाधिमरणं भवतु, १३८-४६। ७. सुरेन्द्रमन्त्र—सत्यजाताय स्वाहा, अर्हज्जाताय स्वाहा, दिव्यजाताय स्वाहा, दिव्याचिर्जाताय स्वाहा, नेमिनाथाय स्वाहा, सौधर्माय स्वाहा, कल्पाधिपतये स्वाहा, अनुचराय स्वाहा, परम्परैन्द्राय स्वाहा, अहमिन्द्राय स्वाहा, परमार्हताय स्वाहा, अनुपमाय स्वाहा, सम्यग्दृष्टे सम्यग्दृष्टे कल्पपते कल्पपते दिव्यमूर्ते दिव्यमूर्ते वज्रनामदं वज्रनामदं स्वाहा, सेवाफलं षट्परमस्थानं भवतु, अपमृत्युविनाशनं भवतु, समाधिमरणं भवतु १४७-५५। ८. परमराजादिमन्त्र—सत्यजाताय स्वाहा, अर्हज्जाताय स्वाहा, अनुपमेन्द्राय स्वाहा, विजयार्चजाय स्वाहा, नेमिनाथाय स्वाहा, परमजाताय स्वाहा, परमार्हताय स्वाहा, अनुपमाय स्वाहा, सम्यग्दृष्टे सम्यग्दृष्टे उग्रतैज उग्रतैजः दिशाजय दिशाजय नेमि-विजय नेमि-विजय स्वाहा, सेवाफलं षट्परमस्थानं भवतु, अपमृत्युविनाशनं भवतु, समाधिमरणं भवतु १५६-६२। ९. परमेष्ठी मन्त्र—सत्यजाताय नमः, अर्हज्जाताय नमः, परमजाताय नमः, परमार्हताय नमः, परमरूपाय नमः, परमतैजसे नमः, परमगुणाय नमः, परमयोगिने नमः, परमभाग्याय नमः, परमर्षये नमः, परमप्रसादाय नमः, परमकाशिताय नमः, परमविजयाय नमः, परमविज्ञाय नमः, परमदर्शनाय नमः, परमवीर्याय नमः, परमसुखाय नमः, सर्वज्ञाय नमः, अर्हते नमः, परमेष्ठिने नमो नमः, परमनेत्रे नमो नमः, सम्यग्दृष्टे सम्यग्दृष्टे त्रिनोकविजय त्रिनोकविजय धर्ममूर्ते धर्ममूर्ते धर्मनेमे धर्मनेमे स्वाहा, सेवाफलं षट्परमस्थानं भवतु, अपमृत्युविनाशनं भवतु, समाधिमरणं भवतु १६३-७६। १०. पीठिका मन्त्रसे परमेष्ठीमन्त्र तकके ये उपरोक्त सात प्रकारके मन्त्र गर्भाधानादि क्रियाएँ करते समय क्रियामन्त्र, गणधर कथित सूत्रमें साधनमन्त्र, और देव पूजनादि निरय कर्म करते समय आहुति मन्त्र कहलाते हैं ७५-७६।

७. गर्भाधानादि क्रियाओंके लिए विशेष मन्त्रोंका निर्देश

म. पु./४०/श्लोक नं. का भावार्थ—गर्भाधानादि क्रियाओं (दे संस्कार) में से प्रत्येकमें काम आनेवाले अपने अपने जो विशेष मन्त्र हैं वे निम्न प्रकार हैं १६१। १. गर्भाधान क्रियाके मन्त्र—सज्जातिभागी भव, सद्गृहिभागी भव, सुनीन्द्रभागी भव, सुरेन्द्रभागी भव, परमराज्यभागी भव, आर्हन्त्यभागी भव, परमनिर्वाणभागी भव १६२-६५। २. प्रीति क्रियाके मन्त्र—त्रैलोक्यनाथो भव, त्रैलोक्यज्ञानी भव, त्रिरत्नस्वामी भव १६६। ३. सुप्रीति क्रियाके मन्त्र—अवतारकल्याणभागी भव, मन्दरेन्द्राभिषेककल्याणभागी भव, निष्क्रान्तिकल्याणभागी भव, आर्हन्त्यकल्याणभागी भव, परमनिर्वाणकल्याणभागी भव १६७-१००। ४. धृति क्रियाके मन्त्र—सज्जातिदातृभागी भव, सद्गृहिदातृभागी भव, सुनीन्द्रदातृभागी भव, सुरेन्द्रदातृभागी भव, परमराज्यदातृभागी भव, आर्हन्त्यदातृभागी भव, परमनिर्वाणदातृभागी भव १०१। ५. मोदक्रियाके मन्त्र—सज्जातिकल्याणभागी भव, सद्गृहिकल्याणभागी भव, वैवाहिकल्याणभागी भव, सुनीन्द्रकल्याणभागी भव, सुरेन्द्रकल्याणभागी भव, मन्दराभिषेककल्याणभागी भव, यौवराज्यकल्याणभागी भव, महाराज्यकल्याणभागी भव, परमराज्यकल्याणभागी भव, आर्हन्त्यकल्याणभागी भव १०२-१०७। ६. प्रियोद्भव क्रियाके मन्त्र—दिव्यनेमि-विजयाय स्वाहा, परमनेमि-विजयाय स्वाहा, आर्हन्त्यनेमि-विजयाय स्वाहा १०८-१०९। ७. जन्म संस्कार क्रियाके मन्त्र—योग्य आशीर्वाद आदि देनेके पश्चात् निम्न प्रकार मन्त्र प्रयोग करे—नाभिनाल काटते समय—घातिजयो भव, उबटन लगाते समय—हे जात, श्रीदेव्य ते जातिक्रियां कुर्वन्तु स्नान कराते समय—त्वं मन्दराभिषेकार्हा भव, सिरपर अक्षतक्षेपण करते समय—चिर जीव्या,

सिरपर धी क्षेपण करते समय—'नश्यात् कर्ममलं कृत्स्नं'; माताका स्तन मुँहमें देते समय—'विश्वेश्वरीस्तन्यभागी भूयाः'; गर्भमलको भूमिके गर्भमें रखते समय—'सम्यग्दृष्टे सम्यग्दृष्टे सर्वमात' सर्वमात' वसुधरे वसुधरे स्वाहा, स्वत्पुत्रा इव मत्पुत्रा' चिरंजीविनीभूयासः'; माताको स्नान कराते समय—'सम्यग्दृष्टे सम्यग्दृष्टे आसन्नभवे विश्वेश्वरि विश्वेश्वरि ऊर्जितपुण्ये ऊर्जितपुण्ये जिनमात' जिनमात' स्वाहा,' बालकको ताराओसे व्याघ्र आकाशका दर्शन कराते समय—'अनन्तज्ञानदर्शी भव १११०-१३१। ८. नामकर्म क्रियाके मन्त्र—'दिव्याष्टसहस्रनामभागी भव', विजयाष्टसहस्रनामभागी भव, परमाष्ट-सहस्रनामभागी भव १३२-१३३। ९. बहिर्यान क्रियाके मन्त्र—उपनयनिष्क्रान्तिभागी भव, वैवाहनिष्क्रान्तिभागी भव, मुनीन्द्र-निष्क्रान्तिभागी भव, सुरेन्द्रनिष्क्रान्तिभागी भव, मन्दराभिषेक-निष्क्रान्तिभागी भव, यौवराज्यनिष्क्रान्तिभागी भव, महाराज्यनिष्क्रान्तिभागी भव, परमराज्यनिष्क्रान्तिभागी भव, आर्हन्त्य-निष्क्रान्तिभागी भव १३४-१३६। १०. निषद्या क्रियाके मन्त्र—दिव्यसिंहासनभागी भव, विजयसिंहासनभागी भव, परम-सिंहासनभागी भव १४०। ११. अन्नप्राशन क्रियाके मन्त्र—दिव्या-मृतभागी भव, विजयामृतभागी भव, अक्षीणामृतभागी भव १४१-१४२। १२. व्युष्टिक्रियाके मन्त्र—उपनयनजन्मवर्षवर्द्धनभागी भव, वैवाहनिष्ठवर्षवर्द्धनभागी भव, मुनीन्द्रजन्मवर्षवर्द्धनभागी भव, सुरेन्द्रजन्मवर्षवर्द्धनभागी भव, मन्दराभिषेकवर्षवर्द्धनभागी भव, यौवराज्यवर्षवर्द्धनभागी भव, महाराज्यवर्षवर्द्धनभागी भव, परम-राज्यवर्षवर्द्धनभागी भव, आर्हन्त्यराज्यवर्षवर्द्धनभागी भव १४३-१४६। १३. चौल या केशक्रियाके मन्त्र—उपनयनमुण्डभागी भव, निर्ग्रन्थमुण्डभागी भव, निष्क्रान्तिमुण्डभागी भव, परमनिस्तारक-केशभागी भव, परमेन्द्रकेशभागी भव, परमराज्यकेशभागी भव, आर्हन्त्यराज्यकेशभागी भव। १४७-१५१। १४. लिपिसंख्यान क्रियाके मन्त्र—शब्दपारगामी भव, अर्थपारगामी भव, शब्दार्थपारगामी भव १५२। १५. उपनीति क्रियाके मन्त्र—परमनिस्तारकलिङ्गभागी भव, परमर्षिलिङ्गभागी भव, परमेन्द्रलिङ्गभागी भव, परमराज्यलिङ्ग-भागी भव, परमार्हन्त्यलिङ्गभागी भव, परमनिर्वाणलिङ्गभागी भव। १६. व्रत चर्या आदि आगेकी क्रियाओंके मन्त्र—शास्त्र परम्पराके अनुसार समझ लेने चाहिए १२७।

२. णमोकार मंत्र

१. णमोकारमंत्र निर्देश

प. ख. १/१.१/सूत्र १/८ णमो अरिहंताण, णमो सिद्धाण, णमो आइरि-याण. णमो उवज्झयाण, णमो लोए सव्वसाहूणं। १। इदि = अरि-हतीको नमस्कार हो, सिद्धोंको नमस्कार हो, आचार्योंको नमस्कार हो और लोकमें सर्व साधुओंको नमस्कार हो।

२. णमोकार मंत्रका इतिहास

घ. १/१.१.१/४१/७ इद पुण जीवट्ठाणं णिबद्ध-मंगलं। अतोन्मेसि चोदसण्हं जीवसमासाणं इदि एत्तस्स सुत्तस्सादीए णिबद्ध 'णमो-अरिहताण' इत्थादि देवदाणमोकारदंसणादो। = यह जीवस्थान नामका प्रथम खण्डागम 'निबद्ध मंगल' है, क्योंकि, 'इमेसि चोदसण्हं जीवसमासाण' इत्यादि जीवस्थानके इस सूत्रके पहले 'णमो अरिहं-ताण' इत्यादि रूपसे देवता नमस्कार निबद्धरूपसे देखनेमें आता है। **नोट**—१. इस प्रकार ध्वलाकार इस मंत्र या सूत्रको निबद्ध मंगल स्वीकार करते हैं। निबद्ध मंगलका अर्थ है स्वयं ग्रन्थकार द्वारा रचित (दे० मंगल/१/४)। अतः स्पष्ट है कि उनको इस मन्त्रको

प्रथम खण्डके कर्त्ता आचार्य पुष्पदन्तकी रचना मानना इष्ट है। यहाँ यह भी नहीं कहा जा सकता कि सम्भवतः आचार्य पुष्पदन्तने इस सूत्रको कहीं अन्यत्रसे लेकर यहाँ रख दिया है और यह उनकी अपनी रचना नहीं है, क्योंकि, इसका स्पष्टीकरण घ १/४.१.४४/१०३/४ पर की गयी चर्चासे हो जाता है। वहाँ ध्वलाकारने ही उस ग्रन्थके आदिमें निबद्ध 'णमो जिणाणं' आदि चवालीस मंगलात्मक सूत्रोंको निबद्ध मंगल स्वीकार करनेमें विरोध बताया है, और उसका हेतु दिया है यह कि वे सूत्र महाकर्म प्रकृतिप्राभृतके आदिमें गौतम स्वामीने रचे थे, वहाँसे लेकर भूतबलि भट्टारकने उन्हें वहाँ लिख दिया है। यद्यपि पुन ध्वलाकारने उन सूत्रोंको वहाँ निबद्ध मंगल भी सिद्ध करनेका प्रयत्न किया है, और उसमें हेतु दिया है यह कि दोनोंका एक ही अभिप्राय होनेके कारण गौतम स्वामी और भूतबलि क्योंकि एक ही हैं, इसलिए वे सूत्र भूतबलि आचार्यके द्वारा रचित ही मान लेने चाहिए। परन्तु उनका यह समाधान कुछ युक्त प्रतीत नहीं होता। अतः निबद्ध मंगल बताकर ध्वलाकारने इस णमोकार मन्त्रको पुष्पदन्त आचार्यकी मौलिक रचना स्वीकार की है। (घ. २/प्र. ३४-३५/ H. L. Jain, २, श्वेताम्बराम्नायके 'महानिशीथ सूत्र/अध्याय ५' के अनुसार 'पंचममंगलसूत्र' सूत्रत्वकी अपेक्षा गण-धर द्वारा और अर्थकी अपेक्षा भगवान् वीर द्वारा रचा गया है। पीछेसे श्री बड़ूरसामी (वैरस्वामी या वज्रस्वामी) ने इसे वहाँ लिख दिया है। महानिशीथ सूत्रसे पहलेकी रची गयी, श्वेताम्बराम्नायके आवश्यक, दशवैकालिक, उत्तराध्ययन और पिण्डनिर्युक्ति नामक चार मूल सूत्रोंकी, भद्रब्राह्मणस्वामी कृत चूर्णिकाओमें णमोकार मन्त्र पाया जाता है। इससे संभावना है कि यही णमोकार मंत्र महानिशीथ सूत्रमें पंच मंगलसूत्रके नामसे निर्दिष्ट है और वह बज्रसूरिसे बहुत पहलेकी रचना है। (घ. २/प्र. ३६/H L Jain) ३. श्वेताम्बराम्नायके अत्यन्त प्राचीन भगवतीसूत्र नामक मूल ग्रन्थमें यह पंच णमोकार मन्त्र पाया जाता है, परन्तु वहाँ 'णमो लोए सव्वसाहूणं' के स्थानपर 'णमो भंभीए लिवीए' (ब्राह्मी लिपि-को नमस्कार) ऐसा पद पाया जाता है। इसके अतिरिक्त उडोसाकी हाथोगुफामें जो कलिग नरेश खारवेलका शिलालेख पाया जाता है और जिसका समय ईस्वी पूर्व अनुमान किया जाता है, उसमें आदि मंगल इस प्रकार पाया जाता है—'णमो अरहताण। णमो सव-सिधाणं।' यह पाठ भेद प्रासंगिक है या किसी परिपाटीको लिये हुए है, यह विषय विचारणीय है (घ. २/प्र. ४६/१७/H.L Jain)। ४. श्वेताम्बराम्नायके किसी किसीके मतसे णमोकार सूत्र अनार्थ है—(अभिधान राजेन्द्र कोश पृ. १८३५) (घ. २/प्र. ४१/२२/H. L. Jain)।

३. णमोकार मंत्रकी उच्चारण व ध्यान विधि

अन. घ १/२२-२३/८६६ जिनेन्द्रमुद्रया गार्था ध्यायेत् प्रीतिविकस्वरे। हतपङ्कजे प्रवेशयान्तर्निकुध्य मनसानिलम्। २२। पृथग् द्विद्वजेकगाथा-शचिन्तान्ते रेचयेच्छने'। नवकृत्व प्रथोक्तैव' वहत्यह' सुधीर्महत्। २३। = प्राण वायुको भीतर प्रविष्ट करके आनन्दसे विकसित हृदय कमलमें रोककर जिनेन्द्र मुद्रा द्वारा णमोकार मन्त्रकी गाथाका ध्यान करना चाहिए। तथा गाथाके दो दो और एक अक्ष का क्रमसे पृथक्-पृथक् चिन्तवन करके अन्तमें उस प्राणवायुका धीरे-धीरे रेचन करना चाहिए। इस प्रकार नौ बार प्राणायामका प्रयोग करनेवाला संयमी महात् पापकर्मोंको भी क्षय कर देता है। पहले भागमें (श्वासमें) णमो अरहताण णमो सिद्धाणं इन दो पदोंका, दूसरे भागमें णमो आइरियाणं णमो उवज्झयाणं इन दो पदोंका तथा तीसरे भागमें णमो लोए सव्वसाहूणं इस पदका ध्यान करना चाहिए। (विशेष/दे० पदस्थ/७१)

४. मन्त्रमें प्रयुक्त 'सर्व' शब्दका अर्थ

सू. आ./५१२ णिव्वाणसाधए जोगे सदा जुंजति साधवो । समा सव्वेसु भूदेषु तम्हा ते सब्बसाधवा । ५१२। = निर्वाणके साधनीभूत मूलगुण आदिकमें सर्वकाल अपने आत्माको जोड़ते हैं और सब जीवोंमें समभावको प्राप्त होते हैं, इसलिए वे सर्वसाधु कहलाते हैं ।

घ. १/१.१.१/५२/१ सर्वं नमस्कारेऽत्र तत्सर्वं नो कदाऽदा वन्तदीपकत्वा-
दध्याहर्तव्यौ सकलक्षेत्रगतत्रिकालगोचराहंदादिदेवताप्रणमनार्थम् ।
= पाँच परमेष्ठियोंको नमस्कार करनेमें, इस नमोकार मन्त्रमें जो 'सर्व' और 'लोक' पद हैं वे अन्तदीपक हैं, अतः सम्पूर्ण क्षेत्रमें रहने-
वाले त्रिकालवर्ती अरिहत आदि देवताओंको नमस्कार करनेके लिए उन्हें प्रत्येक नमस्कारात्मक पदके साथ जोड़ लेना चाहिए । (म. आ./वि./७५४/११९/२९) ।

५. चत्वारि दण्डकमे 'साधु' शब्दसे आचार्य आदि तीनोंका ग्रहण

भा. पा./मू. व टी./१२२/२७३-२७४ भ्यायहि पंच त्रि गुरवे मगलचउ-
सरणलोयपरियरिए । १२२। -मगलचउसरणलोयपरियरिए मगल-
लोकोत्तमशरणभूतानीत्यर्थः । अहंन्मगल अहंल्लोकोत्तमा. अहंच्छ-
रणं । सिद्धमंगल सिद्धलोकोत्तमा सिद्धशरण । साधुमंगल साधु-
लोकोत्तमा साधुशरणं । साधुशब्देनाचार्योपाध्यायसर्वसाधवो
लभ्यन्ते । तथा केवलप्रणीतधर्ममगल धर्मलोकोत्तमा धर्मशरणं
चेति द्वादशमन्त्रा सूचिता चतु.शब्देनेति ज्ञातव्यः । = 'मगलचउ-
सरणलोयपरियरिए' इस पदसे मगल लोकोत्तम, व शरणभूत अर्थ
होता है । अथवा 'चउ' शब्दसे बारह मन्त्र सूचित होते हैं । यथा—
अहंन्तमगल, अहंन्तलोकोत्तमा, अहंन्तशरण, सिद्धमंगल, सिद्ध-
लोकोत्तमा, सिद्धशरण, साधुमंगल, साधुलोकोत्तमा, साधुशरण और
केवलप्रणीतधर्ममगल, धर्मलोकोत्तमा, धर्मशरण । यहाँ साधु शब्दसे
आचार्य उपाध्याय व सर्व साधुका ग्रहण हो जाता है । इस प्रकार
पंचगुरुओंको ध्याना चाहिए ।

६. अहंन्तको पहले नमस्कार क्यों

घ. १/१.१.१/५३/७ विगताशेषलेपेषु सिद्धेषु सत्स्वर्हता सलेपनामादौ
किमिति नमस्कार क्रियत इति चेन्नैष दोषः, गुणाधिकसिद्धेषु
श्रद्धाधिक्यनिबन्धनत्वात् । असत्यहंस्याप्रागमपदार्थाविगमो न भवेद-
स्मदादीनाम्, सजातश्चैतत्प्रसादादित्युपकारापेक्षयावादावर्हन्नमस्कारः
क्रियते । न पक्षपातो दोषाय शुभपक्षधृत्ते श्रेयोहेतुत्वात् । अद्वैतप्रधाने
गुणोभूतद्वैते द्वैतनिबन्धनस्य पक्षपातस्यानुपपत्तेश्च । आशुश्रद्धाया
आप्रागमपदार्थविषयश्रद्धाधिक्यनिबन्धनत्वव्यापनार्थं 'वार्हतमादौ
नमस्कारः' । = प्रश्न—सर्व प्रकारके कर्मलेपसे रहित सिद्ध परमेष्ठोंके
विद्यमान रहते हुए अधातिया कर्मोंके लेपसे युक्त अरिहतोंको आदि-
में नमस्कार क्यों किया जाता है । उत्तर—१. यह कोई दोष नहीं है,
क्योंकि, सबसे अधिक गुणवाले सिद्धोंमें श्रद्धाकी अधिकताके कारण
अरिहत परमेष्ठी ही है । (स्या, मं/३१/३३१/११) २. अथवा, यदि
अरिहत परमेष्ठी न होते तो हम लोगोको आप्त, आगम, और पदार्थ-
का परिज्ञान नहीं हो सकता था । किन्तु अरिहन्त परमेष्ठीके
प्रसादसे हमें इस बोधकी प्राप्ति हुई है । इसलिए उपकारकी अपेक्षा
भी आदिमें अरिहतोंको नमस्कार किया जाता है (ब्र. स/टी १/६/२) ।
३. और ऐसा करना पक्षपात दोषोत्पादक भी नहीं है, किन्तु शुभ
पक्षमें रहनेसे वह कल्याणका ही कारण है । ४. तथा द्वैतको गौण
करके अद्वैतकी प्रधानतासे किये गये नमस्कारमें द्वैतमूलक पक्षपात
बन भी तो नहीं सकता है (अर्थात् यहाँ परमेष्ठियोंके व्यक्तियोंको
नमस्कार नहीं किया गया है बल्कि उनके गुणोंको नमस्कार किया
गया है । और उन गुणोंकी अपेक्षा पाँचोंमें कोई भेद नहीं है ।)

५. आप्तकी श्रद्धासे ही आप्त, आगम और पदार्थोंके विषयमें दृढ श्रद्धा
उत्पन्न होती है, इस बातके प्रसिद्ध करनेके लिए भी आदिमें
अरिहतोंको नमस्कार किया गया है ।

मंत्र न्यास—दे० प्रतिष्ठा विधान ।

मन्त्री—त्रि. सा/६८३/भाषा टीका—मन्त्री कहिए पचाग मन्त्र विद्दे
प्रवीण ।

मन्त्रोपजीवी—१. आहारका एक दोष—दे० आहार/II/४ ।
२. वसतिकाका एक दोष—दे० वसतिका ।

मंद—दे० तीव्र ।

मंदप्रबोधिनी—आ० नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्तीकृत गोमट्टसारग्रन्थ
पर आ०अभयचन्द्र(ई० श०१३अन्त) कृत संस्कृत टीका । (जै १/४६४) ।

मंदर—१. सुमेरु पर्वतका अपर नाम—दे० सुमेरु । २. पूर्व पुष्करार्ध-
का मेरु—दे० लोक४/१ ३. पूर्व विदेहका एक वक्षार पर्वत—दे०
लोक५/३१ ४. नन्दन वनका, कुण्डल पर्वतका तथा रुचक पर्वतका कूट
—दे० लोक४/५१२, १३ ५. विजयार्धकी उत्तर श्रेणीका एक नगर—दे०
विद्याधर । ६. (म. पु./५६/१लो. नं.)—पूर्वभवोंमें क्रमसे—वारुणी,
पूर्णचन्द्र, वैद्युदेव, यशोधरा, कापिष्ठ स्वर्गमें रुचकप्रभदेव, रत्ना-
सुध देव, द्वितीय नरक, श्रीधर्मा, ब्रह्मस्वर्गका देव, जयन्त तथा
धरणेन्द्र होते हुए वर्तमानभवमें किमलनाथ भगवान्के गणधर हुए
(३१०-३१२) ।

मंदराकार क्षेत्र— दे० (ज प./प्र/३२) ।

मंदराभिषेक क्रिया—दे० संस्कार/२ ।

मंदरार्य—पुत्राट संघकी गुर्वावलीके अनुसार आप अर्हद्वलिके
शिष्य तथा मित्रवीरके गुरु थे । समय बी नि ५० (ई० ५३)—दे०
इतिहास/७/८ ।

मंदोदरी—(प. पु./सर्ग/१लो.) दक्षिणश्रेणीके राजा मयकी पुत्री तथा
रावणकी पटरानी । (८/५०-५१) । रावणकी मृत्यु तथा पुत्रों आदिके
वियोगसे दुःखी होकर दीक्षा ले ली । (७८/६४) ।

मख—याग, यज्ञ, ऋतु, पूजा, सपर्या, इज्या, अध्वर, मख, ये सब
पूजा विधिके पर्यायवाचक शब्द हैं—दे० पूजा/१/१ ।

मगध—१. भरतक्षेत्र पूर्व आर्यखण्डका एक देश—दे० मनुष्य/४ ।
२. बिहार प्रान्तमें गंगाके दक्षिणका भाग । राजधानी पाटलीपुत्र
(पटना) । गया और उरुबिज्व (बुद्ध गया) इसी प्रान्तमें है । (म. पु./
प्र. ४६/पं. पन्नालाल) ।

* **मगधदेशके राज्यवंश**—(दे० इतिहास/३/३) ।

मगधसारनलक—विजयार्धकी दक्षिण श्रेणीका एक नगर—दे०
विद्याधर ।

मघवा—नरककी छठी पृथिवी अपर नाम तम.प्रभा—दे० नरक/५ ।

मघवान्—(म. पु./६१/१लो. न) पूर्व भव नं. २ में नरपति नामक
राजा । (८६-९०) । पूर्वभवमें मध्यम त्रैवेदकमें अहमिन्द्र । १०। तथा
वर्तमान भवमें तृतीय चक्रवर्ती । ११।—विशेष दे० शलाका पुरुष/२ ।

मघा—एक नक्षत्र—दे० नक्षत्र ।

मघा संवत्—दे० इतिहास/२ ।

मटंब—ति. प./४/१३१६ पणसयपमाणगामपहाणभूदं मडंनणामं छु ।
= जो ५०० ग्रामोंमें प्रधानभूत होता है उसका नाम मटंब है ।
(घ. १३/५.६.६३/३३५/६); (म. पु./१६/१७२); (त्रि. सा./६७४, ६७६) ।

मणि—१. चक्रवर्तीके १४ रत्नोंमेंसे एक—दे० शालाकापुराण/२।
२. शिखरी पर्वतका एक कूट व उसका रक्षक देव—दे० लोक/६/४
३. रुचक पर्वत व कुण्डल पर्वतका एक कूट—दे० लोक/६/१२, १३। ४. सुमेरु पर्वतके नन्दन आदिवनोमें स्थित गुफा—दे० लोक/६/६ इसका स्वामी सोमदेव है।

मणिकांचन—१. विजयार्धकी उत्तरश्रेणीका एक नगर—दे० विद्याधर। २. शिखरी व रुचिम पर्वतका एक एक कूट व उसके रक्षक देव—दे० लोक/६/४।

मणिकेतु—(म. पु/४८/श्लो. न)—एक देव था। सगर चक्रवर्तीके जीव (देव) का मित्र था। १५०-५२। मनुष्य भवमें सगर चक्रवर्तीको सम्बोधकर उसे विरक्त किया और तब उसने दीक्षा ले ली। १५२-१३१। तदनन्तर अपना परिचय देकर देवलोकको चला गया। १३४-१३६।

मणिचित—सुमेरु पर्वतका अपर नाम—दे० सुमेरु।

मणिप्रभ—रुचक व कुण्डल पर्वतका एक-एक कूट—दे० लोक/६/१२, १३।

मणिभद्र—१. सुमेरु पर्वतके नन्दनवनमें स्थित एक मुख्य कूट व उसका रक्षक देव। अपर नाम बलभद्र कूट था—दे० लोक/३/६-४।
२. विजयार्धकी दक्षिण श्रेणीका एक नगर—दे० विद्याधर। ३. यक्ष जातिके व्यन्तरदेवका एक भेद—दे० यक्ष। ४ (प. पु/७१/श्लो.)—यक्ष जातिका एक देव। ६६। जिसने बहुरूपिणीविद्या सिद्ध करते हुए रावणकी रक्षा की थी। ६५। ५ (ह. पु./४३/श्लो.)—अयोध्या नगरीमें समुद्रदत्त सेठका पुत्र था। १४६। अणुवत लेकर सौधर्म स्वर्गमें देव हुआ। १५५। यह कृष्णके पुत्र शम्बका पूर्वका चौथा भव है—दे० शम्ब।

मणिभवन—सुमेरु पर्वतके नन्दन आदि वनोंके पूर्वमें स्थित सोमदेवका भवन—दे० लोक/७।

मणिमालिनी—नन्दन वनमें स्थित सागरकूटकी स्वामिनी देवी—दे० लोक/६/५।

मणिवज्र—विजयार्धकी उत्तर श्रेणीका एक नगर—दे० विद्याधर।

मतंग—भगवान् वीरके तीर्थके एक अन्तकृतकेबली—दे० अन्तकृत।

मत—१. मिथ्या मत—दे० एकान्त/५। २. सर्व एकान्त मत मिलकर एक अन्तमत बन जाता है—दे० अनेकान्त/२/६। ३. कोई भी मत सर्वथा मिथ्या नहीं—दे० नय/II। ४. सम्यग्दृष्टियोंमें परस्पर मतभेद नहीं होता—दे० सम्यग्दृष्टि/४। ५. आगम गत अनेक विषयोंमें आचार्योंका मतभेद—दे० दृष्टिभेद।

मतानुज्ञा—न्या. सू./मू./६/२/२० स्वपक्षदोषाभ्युपगमात् परपक्षे दोषप्रसंगो मतानुज्ञा। २०। =प्रतिवादी द्वारा उठाये गये दोषको अपने पक्षमें स्वीकार करके उसका उद्धार किये बिना ही 'तुम्हारे पक्षमें भी ऐसा ही दोष है' इस प्रकार कहकर दूसरेके पक्षमें समान दोष उठाना मतानुज्ञा नामका निग्रहस्थान है। (श्लो. वा. ४/१/३३/न्या. २५१/४१७/१४ पर इसका निराकरण किया गया है)।

मतार्थ—आगमका अर्थ करनेकी विधिमें 'किस मतका निराकरण करनेके लिए यह बात कही गयी है' ऐसा निर्देश मतार्थ कहलाता है।—दे० आगम/३।

मति—दे० मतिज्ञान/१।

मतिज्ञान—इन्द्रियज्ञानकी ही 'मति या अभिनिबोध' यह संज्ञा है। यह दर्शनपूर्वक अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणाके क्रमसे उत्पन्न होता है। धारणाके ही उत्पन्न होनेका नियम नहीं। १, २ या ३ भी होकर छूट सकते हैं। धारणाके पश्चात् क्रमसे स्मृति, प्रत्य-

भिज्ञान और तर्क या व्याप्ति ज्ञान उत्पन्न होता है। इन सबोंकी भी मतिज्ञान सजा है। धारणाके पहलेवाले ज्ञान पंचेन्द्रियोंके निमित्तसे और उससे आगेके ज्ञान मनके निमित्तसे होते हैं। तर्कके पश्चात् अनुमानका नम्बर आता है जो श्रुतज्ञानमें गर्भित है। एक, अनेक, ध्रुव, अध्रुव आदि १२ प्रकारके अर्थ इस मतिज्ञानके विषय होनेसे यह अनेक प्रकारका हो जाता है।

१	भेद व लक्षण
१	मतिज्ञान सामान्यका लक्षण १. मनिका निरुक्त्यर्थ। २. अभिनिबोध या मतिका अर्थ इन्द्रियज्ञान।
२	मतिज्ञानके भेद-प्रभेद। १. अवग्रह आदिकी अपेक्षा। २. उपलब्धि स्मृति आदिकी अपेक्षा। ३. असख्यात भेद।
*	उपलब्धि, भावना व उपयोग। —दे० वह वह नाम।
३	कुमतिज्ञानका लक्षण।
२	मतिज्ञान सामान्य निर्देश
*	मतिज्ञानको कथंचित् दर्शन संज्ञा। —दे० दर्शन/८।
१	मतिज्ञान दर्शनपूर्वक इन्द्रियोंके निमित्तसे होता है।
*	ज्ञानकी सत्ता इन्द्रियोंसे निरपेक्ष है। —दे० ज्ञान/II/२।
२	मतिज्ञानका विषय अनन्त पदार्थ व अल्प पर्याय है।
३	अतीन्द्रिय द्रव्योंमें मतिज्ञानके व्यापार सम्बन्धी समन्वय।
*	मति व श्रुतज्ञान परोक्ष है। —दे० परोक्ष।
*	मतिज्ञानकी कथंचित् प्रत्यक्षता व परोक्षता। —दे० श्रुतज्ञान/II/५।
*	मतिज्ञानकी कथंचित् निर्विकल्पता। —दे० विकल्प।
*	मतिज्ञान निसर्गज है। —दे० अधिगमज।
४	मति आदि ज्ञान व अज्ञान क्षायोपशयिक कैसे।
५	परमार्थसे इन्द्रियज्ञान कोई ज्ञान नहीं।
*	मोक्षमार्गमें मतिज्ञानकी कथंचित् प्रधानता। —दे० श्रुतज्ञान/II/२।
६	मतिज्ञानके भेदोंको जाननेका प्रयोजन।
*	मतिज्ञानके स्वामित्व सम्बन्धी गुणस्थान, जीवसमास आदि २० प्ररूपणार्थ। —दे० सत्।
*	मतिज्ञान सम्बन्धी सत् संख्या क्षेत्र स्पर्शन काल अन्तर भाव व अल्पबहुत्व रूप ८ प्ररूपणार्थ। —दे० वह वह नाम।
*	सभी मार्गणाओंमें आयके अनुसार व्यव होनेका नियम। —दे० मार्गणा।
३	अवग्रह आदि व स्मृति आदि ज्ञान निर्देश
*	अवग्रह ईहा आदि व स्मृति तर्क आदिके लक्षण। —दे० वह वह नाम।

१	ईहा आदिको मतिज्ञान व्यपदेश कैसे ।
२	अवग्रह आदिकी अपेक्षा मतिज्ञानका उत्पत्तिक्रम ।
*	अवग्रह आदिमें परस्पर कार्यकारण भाव । —दे० मतिज्ञान/३/१ मे रा. वा. ।
३	अवग्रह आदि सभी भेदोंके सर्वत्र होनेका नियम नहीं है ।
४	मति-स्मृति आदिकी एकार्थता सम्बन्धी शकार्थे ।
५	स्मृति और प्रत्यभिज्ञानमें अन्तर ।
६	स्मृति आदिकी अपेक्षा मतिज्ञानका उत्पत्तिक्रम ।
*	मतिज्ञान व श्रुतज्ञानमें अन्तर । —दे० श्रुतज्ञान/१/३ ।
७	एक बहु आदि विषय निर्देश
१	बहु व बहुविध ज्ञानोंके लक्षण ।
२	बहु व बहुविध ज्ञानोंमें अन्तर ।
३	बहु विषयक ज्ञानकी सिद्धि ।
४	एक व एकविध ज्ञानोंके लक्षण ।
५	एक व एकविध ज्ञानोंमें अन्तर ।
६	एक विषयक ज्ञानकी सिद्धि ।
७	क्षिप्र अक्षिप्र ज्ञानोंके लक्षण ।
८	निःसृत-अनिःसृत ज्ञानोंके लक्षण ।
९	अनिःसृतज्ञान और अनुमानमें अन्तर ।
१०	अनिःसृत-विषयक ज्ञानकी सिद्धि ।
११	अनिःसृत विषयक व्यंजन व ग्रहकी सिद्धि ।
१२	उक्त अनुक्त ज्ञानोंके लक्षण ।
१३	उक्त और निःसृत ज्ञानोंमें अन्तर ।
१४	अनुक्त और अनिःसृत ज्ञानोंमें अन्तर ।
१५	अनुक्त विषयक ज्ञानकी सिद्धि ।
१६	मन सम्बन्धी अनुक्त ज्ञानकी सिद्धि ।
१७	अप्राप्यकारी इन्द्रिया सम्बन्धी अनि सृत व अनुक्त ज्ञानोंकी सिद्धि ।
१८	ध्रुव व अध्रुव ज्ञानोंके लक्षण ।
१९	ध्रुवज्ञान व धारणामें अन्तर ।
२०	ध्रुवज्ञान एकान्तरूप नहीं है ।

२. अभिनिबोध या मतिका अर्थ इन्द्रियज्ञान

पं. सं./१/२१४ अहिमुहणियमिय बोहणमाभिणिबोहियमणिदि-इंदि-यज । २१४ = मन और इन्द्रियकी सहायतासे उत्पन्न होनेवाले, अभिमुख और नियमित पदार्थके बोधको अभिनिबोधिकज्ञान कहते हैं । (घ. १/१,१,१११/गा. १२२/३५६); (घ. १३/५,५,२१/२०६/१०); (गो जी /ध्रु./३०६/६५८), (ज प./१३/५६) ।

ध. १/१,१,११५/३५४/१ पञ्चभिरिन्द्रियैर्मनसा च यदर्थग्रहणं तन्मति-ज्ञानम् । = पाँच इन्द्रियों और मनसे जो पदार्थका ग्रहण होता है, उसे मतिज्ञान कहते हैं ।

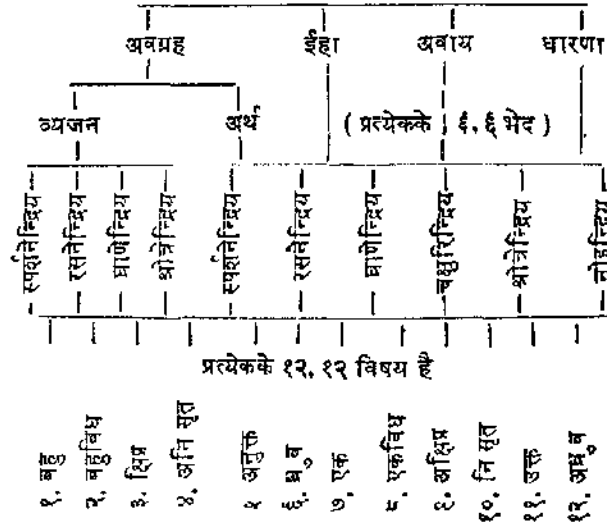
क पा. १/१०१/१२२/४२/४ इन्द्रियणोइदिएहि सह-रस-परिसरुव-गंधादिविसएसु ओग्गह-ईहावाय-धारणाओ मदिणार्ण । = इन्द्रिय और मनके निमित्तसे शब्द रस स्पर्श रूप और गन्धादि विषयोंमें अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणारूप जो ज्ञान होता है, वह मतिज्ञान है । (द्र. सं./टी./४४/१८८/१) ।

प. का./त. प्र/४१ यत्तदावरणक्षयोपशमादिन्द्रियानिन्द्रियावलम्बनाच्च मूर्तामूर्तद्रव्य विकल विशेषेणानुबुध्यते, तदाभिनिबोधिकज्ञानम् ।

पं. का./ता. वृ/४१/८१/१४ आभिनिबोधिक मतिज्ञानं । = मति ज्ञाना-वरणके क्षयोपशमसे और इन्द्रिय मनके अवलम्बनसे मूर्त अमूर्त द्रव्यका विकल अर्थात् एकदेश रूपसे विशेषतः [साध्यवहारिक प्रत्यक्ष रूपसे (द्र. सं./टी./५/१५)] जो अवबोध करता है, वह आभिनिबोधिकज्ञान है । आभिनिबोधिकज्ञानको ही मतिज्ञान कहते हैं । (द्र. सं./टी./५/१५/४) ।

१. मतिज्ञानके भेद-प्रभेद

१. अवग्रहाहिकी अपेक्षा



१. भेद व लक्षण

१. मतिज्ञान सामान्यका लक्षण

१. मतिका निरूपक्यर्थ

स. सि./१/१/१३/११ इन्द्रियैर्मनसा च यथासमर्थो मन्यते अनया मनुते मननमात्र वा मति । = इन्द्रिय और मनके द्वारा यथायोग्य पदार्थ जिसके द्वारा मनन किये जाते हैं, जो मनन करता है, या मननमात्र मति कहलाता है । (स. सि./१/१३/१०६/४-मनन मति), (रा वा / १/६/१/४४/७), (घ. १३/५,५,४१/२४४/३-मनन मति); ।

उपरोक्त भेदोंके भंग—अवग्रहाहिकी अपेक्षा = ४; पूर्वोक्त ४×६ इन्द्रियाँ = २४. पूर्वोक्त २४ + व्यंजनावग्रहके ४ = २८; पूर्वोक्त २८ + अवग्रहाहिकी ४ = ३२—में इस प्रकार २४, २८, ३२ ये तीन भंग भंग है । इन तीनोंकी क्रमसे बहु बहुविध आदि ६ विकल्पोंसे गुणा करनेपर १४४, १६८ व १९२ ये तीन भंग होते हैं । उन तीनोंको ही बहु बहुविध आदि १२ विकल्पोंसे गुणा करनेपर २८८, ३३६ व ३८४ ये तीन भंग होते हैं । इस प्रकार मतिज्ञानके ४, २४, २८, ३२, १४४, १६८, १९२, २८८, ३३६ व ३८४ भेद होते हैं । (प. खं. १३/५,५/सूत्र २२-३५/२१६-२३४), (त.सू./१/१५-१६); (प. स/प्रा/१/२२१); (घ. १/१,१,१११/गा. १२२/३५६), (रा. वा./१/१६/६/७०/७); (वृ. पु/१०/१४५-१५०);

जैनसिद्धान्त कोश

(घ. १/१.२.२/१३/३); (घ. ६/१.६.२.१४/१६.१६.२१); (घ. ६/४. १.४४/१४४.१४६.१४६); (घ. १३/१.५.३५/२३६-२४१); (क. पा १/१. १/११०/१४/१); (ज. प १/१३/५५-५६); (गो जी/मू/३०६-३१४/ ६५८-६७२); (त सा./१/२०-२३)।

२. उपलब्धि स्मृति आदिकी अपेक्षा

घ. खं. १३/५.५/ सूत्र ४१/२४४ सण्ण सदी मदी चिता चेदि १४१।
त. सू./१/१२ मतिस्मृतिसञ्ज्ञाचिन्ताऽभिनिबोध इत्यनर्थान्तरम् १५१।
=मति, स्मृति, सञ्ज्ञा (प्रत्यभिज्ञान), चिन्ता (तर्क) और अभि-
निबोध ये सब पर्यायवाची नाम हैं।

प. का. ता. वृ./प्रक्षेपक गाथा/४३-१/५५ मदिणार्णं पुण तिनह उवलद्धो
भावणं च उवओगो।=मतिज्ञान तीन प्रकारका है—उपलब्धि,
भावना, और उपयोग।

त. सा./१/१६-२० स्वसवेदनमक्षोत्थ विज्ञानं स्मरण तथा। प्रत्यभिज्ञान-
नमूहश्च स्वार्थानुमित्तिरेव वा ११६। बुद्धिमेधावया याश्च मतिज्ञान-
भिदा हि ता।—१२०।=स्वसवेदनज्ञान, इन्द्रियज्ञान, स्मरण, प्रत्य-
भिज्ञान, तर्क, स्वार्थानुमान, बुद्धि, मेधा आदि सब मतिज्ञानके
प्रकार हैं।

पं. का./ता. वृ./४३.१/५६/३ तथेवावग्रहेहावायधारणाभेदेन चतुर्विध
वरकोष्ठकीजपदानुसारिस्तीभन्नश्रुताबुद्धिभेदेन वा, तच्च मतिज्ञान -।
=वह मति ज्ञान अवग्रह आदिके भेदसे अथवा वर क्रीष्ट बुद्धि,
नीजबुद्धि, पदानुसारी बुद्धि और सम्भिन्नश्रोतबुद्धि इन चार
श्रुद्धियोंके भेदसे चार प्रकारका है।

३. असख्यात भेद

घ. १२/४.२.१४.५/४५०/५ एवमसखेज्जलोगमेत्ताणि सुदणाणि। मदिणाणि
वि एत्तियाणि चेत्र, सुदणाणस्स मदिणाणपुरगमत्तादो कज्जभेदेण
कारणभेदुवलभादा वा।=श्रुतज्ञान असख्यात लोकप्रमाण है—दे०
श्रुतज्ञान १/१।मतिज्ञान भा इतने ही है, क्योंकि, श्रुतज्ञान मतिज्ञान
पूर्वक ही होता है, अथवा कारणके भेदसे क्योंकि कार्यका भेद पाया
जाता है, अतएव वे भी असख्यात लोकप्रमाण है। (प. घ./उ./
१६०-२६२)।

३. कुमतिज्ञानका लक्षण

१. सं./प्रा./१/११५ विसजतकूडपजरवधादिस्स अणुवेदसकरणेण। जा खलु
पवत्तह मई मइअण्णाण लि ण विति ११८।=परोपदेशके बिना जा
विषय, यन्त्र, कूट, पंजर, तथा बन्ध आदिके विषयमें बुद्धि प्रवृत्त होती
है, उसे ज्ञानीजन मत्तज्ञान कहते हैं। (उपदेशपूर्वक यही श्रुतज्ञान
है)। (घ. १/१.११५/ गा. १७६/३५८); (गो. जी./मू/३०३/६५४)।
पं. का./त. प्र/४१ मिथ्यादर्शनादयसहचरितमाभिनिबोविकज्ञानमेव
कुमतिज्ञानम्।=मिथ्यादर्शनके उदयके साथ आभिनिबोविकज्ञान ही
कुमतिज्ञान है।—विशेष दे. ज्ञान/III।

२. मतिज्ञान सामान्य निर्देश

१. मतिज्ञान दर्शनपूर्वक इन्द्रियोंके निमित्तसे होता है

पं. का./ता. वृ./प्रक्षेपक गा./४३-१/५५ तह एव चकुवियण्णं वसणपुञ्जं
हवदि णाणं।=वह चारो प्रकारका मतिज्ञान दर्शनपूर्वक होता है।—
विशेष दे० दर्शन/३/१।
त. सू./१/१४ तदिन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तम् ११४।=वह मतिज्ञान इन्द्रिय
व मनरूप निमित्तसे होता है।

२. मतिज्ञानका विषय अनन्त पदार्थ व अल्प पर्यायों

त सू./१/२६ मतिश्रुतयोर्निबन्धो द्रव्येष्वसर्वपर्यायेषु १२६।=मतिज्ञान
और श्रुतज्ञानको प्रवृत्ति कुछ पर्यायोंसे युक्त सब द्रव्योंमें होती है।
रा. वा./१/१६/१/७०/२ द्रव्यतो मतिज्ञानी सर्वद्रव्याण्यसर्वपर्यायाण्यु-
पदेशेन जानाति। क्षेत्रत उपदेशेन सर्वक्षेत्राणि जानाति। अथवा क्षेत्रं
विषय। कालत उपदेशेन सर्वकालं जानाति। भावत उपदेशेन
जीवादोनामौदयिकादीन् भावाद् जानाति। रा. वा./१/२६/३-४/८७/
१६ जीवधर्मधर्माकाशकालपुद्गलाभिधानानि षडत्र द्रव्याणि, तेषां
सर्वेषां सग्रहार्थं द्रव्येष्वित बहुत्वनिर्देशं क्रियते १३। तानि
द्रव्याणि मतिश्रुतयोर्विषयभावमापद्यमानानि कतिपर्यैरेव पर्यायैर्वि-
षयभावमास्कन्दन्ति न सर्वपर्यायैरेनन्तं रपीति। तत्कथम्। इह मतिः
चक्षुरादिकरणानिमित्ता रूपाद्यालम्बना, सा यस्मिन् द्रव्ये रूपादयो
वर्तन्ते न तत्र सर्वात् पर्यायानेव (सर्वानेव पर्यायात्) गृह्णाति, चक्षुरा-
दिविषयानेवालम्बते।=१. द्रव्यको दृष्टिसे मतिज्ञानी सभी द्रव्योंकी
कुछ पर्यायोंको उपदेशसे जानता है। इसी प्रकार उपदेश द्वारा वह
सभी क्षेत्रको अथवा प्रत्येक इन्द्रियके प्रतिनियत क्षेत्रको—दे०
इन्द्रिय/३/६। सर्वकालको व सर्व औदयिकादि भावोंको जान सकता
है। २. सूत्रमें 'द्रव्येषु' यह बहुवचनान्त प्रयोग सर्वद्रव्योंके सग्रहके
लिए है। तहाँ जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये छह
द्रव्य हैं। वे सब द्रव्य मतिज्ञान और श्रुतज्ञानके विषय भावको प्राप्त
होते हुए कुछ पर्यायोंके द्वारा ही विषय भावको प्राप्त होते हैं, सब
पर्यायोंके द्वारा नहीं और अनन्त पर्यायोंके द्वारा भी नहीं। क्योंकि
मतिज्ञान चक्षु आदि इन्द्रियोंसे उत्पन्न होता है और रूपादिको
विषय करता है, अतः स्वभावतः वह रूपी आदि द्रव्योंको जानकर
भी उनकी सभी पर्यायोंको ग्रहण नहीं करता बल्कि चक्षु आदिकी
विषयभूत कुछ स्थूल पर्यायोंको ही जानता है। (स. सि./१/२६/
१३४/१)।

दे० ऋद्धि/२/२/३(सायोपशमिक होनेपर भी मतिज्ञान द्वारा अनन्त अर्थों-
का जाना जाना सम्भव है)।

३. अतीन्द्रिय द्रव्योंमें मतिज्ञानके व्यापार सम्बन्धी समन्वय

प्र. सा./मू./४० अथ अस्वणिवदिदं ईहापुञ्जेहि जे विजाणंति। तेसि
परोक्खभूद णावुमसक्क ति षण्णत्त १४०।=जो इन्द्रिय गोचर पदार्थ-
को ईहा आदि द्वारा जानते हैं, उनके लिए परोक्षभूत पदार्थको जानना
अशक्य है, ऐसा सर्वज्ञदेवने कहा है।

स. सि./१/२६/१३४/३ धर्मास्तिकायादीन्यतीन्द्रियाणि तेषु मतिज्ञानं
न प्रवर्तते। अतः सर्वद्रव्येषु मतिज्ञानं वर्तत इत्ययुक्तम्। नैष दोषः।
अनिन्द्रियास्य करणमस्ति तदात्मबन्धो नोइन्द्रियावरणक्षयोपशम-
लब्धिपूर्वक उपयोगाऽवग्रहादिरूप प्रागेवोपजायते। ततस्तत्पूर्वं श्रुत-
ज्ञान तद्विषयेषु स्वयोर्येषु व्याप्रियते।—प्रश्न—धर्मास्तिकाय आदि
अतीन्द्रिय हैं। उनमें मतिज्ञानकी प्रवृत्ति नहीं हो सकती, अतः 'सब
द्रव्योंमें मतिज्ञानकी प्रवृत्ति होती है', यह कहना अयुक्त है। उत्तर—
यह कोई दाष नहीं, क्योंकि, अनिन्द्रिय (मन) नामका एक करण
है। उसके आत्मबन्धसे नोइन्द्रियावरण कर्मके क्षयोपशमरूप लब्धि-
पूर्वक अवग्रह आदिरूप उपयोग पहले ही उत्पन्न हो जाता है, अतः
तत्पूर्वक होनेवाला श्रुतज्ञान अपने योग्य इन विषयोंमें व्यापार
करता है। (रा. वा./१/२६/५/७०/२७)।

घ. १३/५.५.७१/३४१/१ णोइदियमिदियि कधं मदिणाणेण घेत्पदे। ण
ईहालिगावट्ट भवलेण अदिदिपट्ट वि अत्थेसु बुत्तिदसणादो। =
प्रश्न—नोइन्द्रिय तो अतीन्द्रिय है, उसका मतिज्ञानके द्वारा कैसे ग्रहण
होता है। उत्तर—नहीं ईहारूप लिगके अवलम्बनके बलसे अतीन्द्रिय

अर्थोंमें भी मतिज्ञानकी प्रवृत्ति देखी जाती है। (इसलिए मतिज्ञान के द्वारा परकीयमनको जानकर पीछे मन पर्यायज्ञानके द्वारा तद्गत अर्थको जाननेमें विरोध नहीं है)।

४. मति आदि ज्ञान व अज्ञान क्षायोपशमिक कैसे

घ. १४/५, ६, १६/२०/७ मदिअण्णाणित्ति एदं पि खओवसमियं, मदिणाणावरणखओवसमेण सुप्पत्तीए। कुदो एदं मदिअण्णाणित्ति एदं पि तदुभयपच्चय। मिच्छत्तस्स सव्वधादिफइयाणमुदएण णाणावरणीयस्स देसधादिफइयाणमुदएण तस्सेव सव्वधादिफइयाणमुदयवखएण च मदिअण्णाणित्त्तुप्पत्तीदो। मुदअण्णाणि विहंगणाणि त्ति तदुभयपच्चइयो। आभिणिबोहियणाणि त्ति तदुभयपच्चइयो जीवभावबंधो, मदिणाणावरणीयस्स देसधादिफइयाणमुदएण तिविहसम्मत्तसहाएण तदुप्पत्तीदो। आभिणिबोहियणाणस्स उदयपच्चइयत्तं घडदे, मदिणाणावरणीयस्स देसधादिफइयाणमुदएण समुप्पत्तीरणोवसमियपच्चइयत्तं, उवसमाणुवलंभादो। ण, णाणावरणीयसव्वधादिफइयाणमुदयाभावेण उवसमसण्णिवेण आभिणिबोहियणाणुप्पत्तिदंसणादो। एव मुदणाणि ओहिणाणिमणपउजवणाणि-चवखुदसणि-अचवखुदंसणि-ओहंसणिआदीणं वत्तवं, विसेसाभावादो। = १. मति अज्ञानी भी क्षायोपशमिक है, क्योंकि यह मतिज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशमसे होता है। प्रश्न—मर्यादाइति तदुभयप्रत्ययिक कैसे है। उत्तर—मिध्यात्वके सर्वघाती स्पर्धकोका उदय होनेसे तथा ज्ञानावरणीयके देशघाति स्पर्धकोका उदय होनेसे, और उसीके सर्वघाती स्पर्धकोका उदय होनेसे मति-अज्ञानित्वकी उत्पत्ति होती है, इसलिए वह तदुभयप्रत्ययिक है। श्रुताज्ञानी और विभंगज्ञानी भी इसी प्रकारसे तदुभय प्रत्ययिक है। २. आभिनिबोधिकज्ञानी तदुभयप्रत्ययिक जीवभाव बन्ध है, क्योंकि तीन प्रकारके सम्यक्त्वसे युक्त मतिज्ञानावरणीय कर्मके देशघाति स्पर्धकोके उदयसे इसकी उत्पत्ति होती है। प्रश्न—इसके उदयप्रत्ययिकपना तो बन जाता है, क्योंकि मतिज्ञानावरणकर्मके देशघाति स्पर्धकोके उदयसे इसकी उत्पत्ति होती है, पर औपशमिक निमित्तकपना नहीं बनता, क्योंकि मतिज्ञानावरण कर्मका उपशम नहीं पाया जाता। उत्तर—नहीं, क्योंकि ज्ञानावरणीय कर्मके सर्वघाति स्पर्धकोके उपशम संज्ञावाले उदयाभावसे आभिनिबोधिक ज्ञानकी उत्पत्ति देखी जाती है, इसलिए इसका औपशमिक निमित्तकपना भी बन जाता है। इसी प्रकार श्रुतज्ञानी अर्वाधज्ञानी, मन-पर्यायज्ञानी, चक्षुदर्शनी, अचक्षुदर्शनी और अवधिदर्शनी आदिका कथन करना चाहिए, क्योंकि, उपर्युक्त कथनसे इनके कथनमें कोई विशेषता नहीं है।

५. परमार्थसे इन्द्रियज्ञान कोई ज्ञान नहीं

प्र. सा. / त. प्र. १/५५ परोक्ष हि ज्ञानमतिदृढतराज्ञानतमोग्रन्थिमुष्णनात्-स्वर्यं परिच्छेत्तुमर्थमसमर्थस्योपात्तानुपात्तपरप्रत्ययसामग्रीमार्गण-व्यग्रतयात्यन्तविसंशुलत्वम् महाभोहमल्लस्य जीवदवस्थत्वात् पर-परिणतिप्रवर्तिताभिप्रायमपि पदे १दे प्राप्तविप्रलम्भमनुपलम्भसभावनामेव परमार्थतोऽर्हति। अतस्तद्व्ययम्। = परोक्षज्ञान, अति दृढ अज्ञानरूप तमोग्रन्थि द्वारा आवृत हुआ, आत्म पदार्थको स्वयं जाननेके लिए असमर्थ होनेके कारण, उपात्त और अनुपात्त सामग्रीको दूँढनेकी व्यग्रतासे अत्यन्त चंचल बर्तता हुआ, महा मोहमल्लके जीवित होनेसे पर परिणतिका अभिप्राय करनेपर भी पद-पदपर ठगाता हुआ, परमार्थत, अज्ञानमें गिना जाने योग्य है। इसलिए वह हेय है।

पं. घ. / ज. / २८६-२८६, ३०५, ६५३ दिङ्मात्र षट्सु द्रव्येषु मूर्तस्यैवोपलम्भकात्। तत्र सूक्ष्मेषु नैव स्यादस्ति स्थूलेषु केषुचित् १२८६। सत्सु

प्राज्ञेषु तत्रापि नाप्राज्ञेषु कदाचन। तत्रापि विद्यमानेषु नातीता-नागतेषु च १२८७ तत्रापि संनिधानत्वे सन्निकर्षेषु सत्सु च। तत्राप्यग्रहेहादौ ज्ञानस्यास्तिक्यदर्शनात् १२८८ समस्तेषु न व्यस्तेषु हेतुभूतेषु सत्स्वपि। कदाचिज्जायते ज्ञानमुपर्युपरि शुद्धित, १२८९ आस्तामित्यादि दोषाणा संनिपातात्पदं पदम्। ऐन्द्रिय ज्ञानमप्यस्ति प्रदेशचलनात्मकम् १३०५। प्राकृतं वैकृतं वापि ज्ञानमात्र तदेव यत्। यावदत्रेन्द्रियायत्त तत्सर्वं वैकृतं विकृतं १६३३। = इन छह द्रव्योंमें मूर्त द्रव्यको ही विषय करता है, उसमें भी स्थूलमें प्रवृत्ति करता है सूक्ष्ममें नहीं। स्थूलमें भी किन्हींमें ही प्रवृत्त होता है सबमें नहीं। उनमें भी इन्द्रियप्राज्ञमें ही प्रवृत्त होता है इन्द्रिय अग्राज्ञमें नहीं। उनमें वर्तमानकाल सम्बन्धीको ही ग्रहण करता है, भूत भविष्यत्को नहीं। उनमें भी इन्द्रिय सन्निकर्षको प्राप्त पदार्थको विषय करता है, अन्यको नहीं। उनमें भवग्रह ईहा आदिके क्रमसे प्रवृत्ति करता है। इतना ही नहीं बल्कि मतिज्ञानावरण व वीर्यान्तरायका क्षयोपशम, इन्द्रियोकी पूर्णता, प्रकाश व उपयोग आदि समस्त कारणके होनेपर ही होता है, हीन कारणोंमें नहीं। इन सर्व कारणोंके होनेपर भी ऊपर-ऊपर अधिक-अधिक शुद्ध होनेसे कदाचित् होता है सर्वदा नहीं। इसलिए वह कहने मात्रको ही ज्ञान है १२८६-२८६। इन्द्रिय ज्ञान व्याकुलता आदि अनेक दोषोंका तो स्थान है ही, परन्तु वह प्रदेशचलनात्मक भी होता है १३०५। यद्यपि प्राकृत या वैकृत सभी प्रकारके ज्ञान 'ज्ञान' कहलाते हैं, परन्तु वास्तवमें जब तक वह ज्ञान इन्द्रियाधीन रहता है, तब तक वह विकृत ही है १६३३।

६. मतिज्ञानके भेदोंको जाननेका प्रयोजन

पं. का. / ता. वृ. / ४३/८६/५ अत्र निर्विकारशुद्धानुभूत्यभिमुखं यन्मति-ज्ञानं तदेवोपादेयभूतानन्तसुखसाधकत्वान्निश्चयेनोपादेयं तत्साधकं बहिरङ्गं पुनर्व्यवहारेणेति तात्पर्यम्। = निर्विकार शुद्धात्माकी अनुभूतिके अभिमुख जो मतिज्ञान है, वही उपादेयभूत अनन्त सुखका साधक होनेके कारण निश्चयसे उपादेय है। और व्यवहारसे उस ज्ञानका साधक जो बहिरंग ज्ञान है वह भी उपादेय है।

३. अवग्रह आदि व स्मृति आदि ज्ञान निर्देश

१. ईहा आदिको मतिज्ञान व्यपदेश कैसे ?

रा. वा. / १/१५/१३/६२/६ ईहादीनाममतिज्ञानप्रसङ्गः। कुत। परस्पर-कार्यत्वात्। अवग्रहकारणम् ईहाकार्यम्, ईहाकारणम् अवायकार्यम्, अवायकारणम् धारणाकार्यम्। न चेहादीनाम् इन्द्रिया-निन्द्रियनिमित्तत्वमस्तीति; नैष दोषः, ईहादीनामनिन्द्रियनिमित्त-त्वात् मतिज्ञानव्यपदेश। यद्येवं श्रुतस्यापि प्राप्नोतीति, इन्द्रिय-गृहीतविषयत्वादीहादीनाम् अनिन्द्रियनिमित्तत्वमप्युपचर्यते, न तु श्रुतस्याय विधिरस्ति तस्यानिन्द्रियविषयत्वादिति श्रुतस्याप्रसंगः। यद्येव चक्षुरिन्द्रियेहादिव्यपदेशाभाव इति चेत्, न, इन्द्रियशक्ति-परिणतस्य जीवस्य भावेन्द्रियत्वतदुपापारकार्यत्वात्। इन्द्रियभाव-परिणतो हि जीवो भावेन्द्रियमिष्यते, तस्य विषयाकारपरिणामा ईहादय इति चक्षुरिन्द्रियेहादिव्यपदेश इति। = प्रश्न—ईहा आदि ज्ञान मतिज्ञान नहीं हो सकते, क्योंकि ये एक दूसरेके कारणसे उत्पन्न होते हैं। तहाँ अवग्रहके कारणसे ईहा ईहाके कारणसे अवाय, और अवायके कारणसे धारणा होती है। उनमें इन्द्रिय व अनिन्द्रियका निमित्तपना नहीं है। उत्तर—ग्रह कोई दोष नहीं है, ईहा आदिको भी अनिन्द्रियका निमित्त होनेसे मतिज्ञान व्यपदेश बन जाता है। प्रश्न—तब तो श्रुतज्ञानको भी मतिज्ञानपना प्राप्त हो जायेगा ?

उत्तर—ऐसा नहीं है, क्योंकि (अवग्रह द्वारा) इन्द्रियोसे ग्रहण कर लिये गये पदार्थोंको विषय करनेके कारण ईहा आदिको अनिन्द्रियका निमित्तपना उपचारसे कहा जाता है। श्रुतज्ञानकी यह विधि नहीं है, क्योंकि, वह तो अनिन्द्रियके ही निमित्तसे उत्पन्न होता है। प्रश्न—यदि ऐसा है तो चक्षु इन्द्रियके ईहा आदिका व्यपदेश न किया जा सकेगा। उत्तर—नहीं; क्योंकि इन्द्रियशक्तिसे परिणत जीवकी भाव इन्द्रियमें, उसके व्यापारका कार्य होता है। इन्द्रियभावसे परिणत जीवको ही भावेन्द्रिय कहा जाता है। उसके विषयाकार रूप परिणाम ही ईहा आदि हैं। इसलिए चक्षु इन्द्रियके भी ईहा आदिका व्यपदेश बन जाता है। (घ. १/४.१.४५/१४७/२६)

घ. १/४.१.४५/१४८/२ नावायज्ञान मति, ईहानिर्णीतलिङ्गावष्टम्भ-बलेनोत्पन्नत्वादनुमानवदिति चेन्न, अवग्रहगृहीतार्थविषयलिङ्गादी-हाप्रत्ययविषयीकृतादुत्पन्ननिर्णयामकप्रत्ययस्य अवग्रहगृहीतार्थविषयस्य अवायस्य अमतिवविरोधात् । न चानुमानमवग्रहगृहीतार्थविषयमवग्रहनिर्णीतबलेन तस्यान्यवस्तुनि समुत्पत्ते । तस्मादवग्रहाद्यो धारणापर्यन्ता मतिरिति सिद्धम् ।—प्रश्न—अवायज्ञान मतिज्ञान नहीं हो सकता, क्योंकि, वह ईहासे निर्णीत लिङ्गके आलम्बन बलसे उत्पन्न होता है, जैसे अनुमान। उत्तर—ऐसा नहीं है, क्योंकि अवग्रहसे गृहीतको विषय करनेवाले तथा ईहा प्रत्ययसे विषयीकृत लिङ्गसे उत्पन्न हुए निर्णयरूप और अवग्रहसे गृहीत पदार्थको विषय करनेवाले अवाय प्रत्ययके मतिज्ञान न होनेका विरोध है। और अनुमान अवग्रहसे गृहीत पदार्थको विषय करनेवाला नहीं है, क्योंकि वह अवग्रहसे निर्णीत लिङ्गके बलसे अन्य वस्तुमें उत्पन्न होता है। (तथा अवग्रहादि चारो ज्ञानोकी सर्वत्र क्रमसे उत्पत्तिका नियम भी नहीं है। (दे० शीर्षक नं. ३)। इसलिए अवग्रहसे धारणापर्यन्त चारों ज्ञान मतिज्ञान है। यह सिद्ध होता है। (और भी दे० श्रुतज्ञान/१/३)।

२. अवग्रहादिकी अपेक्षा मतिज्ञानका उत्पत्तिक्रम

रा वा. १/११/१३/६१/२६ अस्ति प्राग् अवग्रहादर्शनम् । ततः शुक्ल-कृष्णादिरूपविज्ञानसामर्थ्योपेतस्यात्मनः 'कि शुक्लमुत कृष्णम्' इत्यादि विशेषाप्रतिपत्तेः संशयः । ततः शुक्लविशेषाकाङ्क्षण प्रतीहनमोहा । ततः 'शुक्लमेवेदं न कृष्णम्' इत्यवायनमवाय । अवेतस्यार्थस्याविस्मरणं धारणा । एवं श्रोत्रादिषु मनस्त्रयपि योज्यम् । = अवग्रहसे पहले [विषय विषयीके सन्निपात होनेपर (दे० अवग्रहका लक्षण)] वस्तुमात्रका सामान्यालोचनरूप दर्शन होता है, (फिर 'रूप है' यह अवग्रह होता है)। तदनन्तर 'यह शुक्ल है या कृष्ण' यह संशय उत्पन्न होता है। फिर 'शुक्ल होना चाहिए' ऐसी जाननेकी आकांक्षारूप ईहा होती है। तदनन्तर 'यह शुक्ल ही है, कृष्ण नहीं' ऐसा निश्चयरूप अवाय हो जाता है। अवायसे निर्णय किये गये पदार्थका आगे जाकर अविस्मरण न हो, ऐसा सस्कार उत्पन्न होना धारणा है। इस प्रकार श्रोत्र आदि इन्द्रियो व मनके सम्बन्धमें लगा लेना चाहिए। (दे० क्रमपूर्वक अवग्रह आदिके लक्षण), (श्लो. वा १/१/१५/श्लो. २-४/४३७), (गो. जी. जी. प्र. ३०८-३०९/६६३, ६६४)।

३. अवग्रहादि सभी भेदोंके सर्वत्र होनेका नियम नहीं है

घ. ६/१.६-१.१४/१८/८ न च ओग्गहादि चक्षुर्हं पि णाणानं सब्वत्थ कमेण उत्पत्ती, तद्वाणुबलभा । तदो कहि पि ओग्गहो चैय, कहि पि ओग्गहो ईहा य दो च्चैय, कहि पि ओग्गहो ईहा अवाओ तिण्णि वि होति, कहि पि ओग्गहो ईहा अवाओ धारणा चेदि चत्तारि वि होति । = अवग्रह आदि चारों ही ज्ञानोंकी सर्वत्र क्रमसे उत्पत्ति

नहीं होती है, क्योंकि, उस प्रकारकी व्यवस्था पायी नहीं जाती है। इसलिए कही तो केवल अवग्रह ज्ञान ही होता है, कही अवग्रह और ईहा, ये दो ज्ञान ही होते हैं, कही पर अवग्रह ईहा और अवाय, ये तीनों भी ज्ञान होते हैं; और कहीं पर अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा ये चारो ही ज्ञान होते हैं।

घ १/४.१.४५/१४८/५ न चावग्रहादीना चतुर्णां सर्वत्र क्रमेणोत्पत्ति-नियम, अवग्रहानन्तर नियमेन संशयोत्पत्त्यदर्शनात् । न च संशय-मन्तरेण विशेषाकाङ्क्षास्ति येनावग्रहान्नियमेन ईहाोत्पद्यते । न चेहातो नियमेन निर्णय उत्पद्यते, क्वचिन्निर्यानुत्पादिकाया ईहाया एव दर्शनात् । न चावायाद्धारणा नियमेनोत्पद्यते, तत्रापि व्यभिचारो-पलम्भात् । = तथा अवग्रहादिक चारोंकी सर्वत्रसे उत्पत्तिका नियम भी नहीं है, क्योंकि, अवग्रहके पश्चात् नियमसे संशयकी उत्पत्ति नहीं देखी जाती। और संशयके बिना विशेषकी आकांक्षा होती नहीं है, जिससे कि अवग्रहके पश्चात् नियमसे ईहा उत्पन्न हो। न ही ईहासे नियमत् निर्णय उत्पन्न होता है, क्योंकि, कहीं पर निर्णयको उत्पन्न न करनेवाला ईहा प्रत्यय ही देखा जाता है। अवायसे धारणा भी नियमसे नहीं उत्पन्न होती, क्योंकि, उसमें भी व्यभिचार पाया जाता है।

४. मति स्मृति आदिकी पृथक्ता सम्बन्धी शंका समाधान

दे० मतिज्ञान/१/१/२/२ (मति, स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क व आभिनि-बोध, ये सब पर्यायवाची नाम हैं)।
स. सि. १/१३/१०७/१ सत्यपि प्रकृतिभेदे रूढिबलाभावात् पर्यायशब्द-त्वम् । यथा इन्द्र शक्र पुरन्दर इति इन्दनादिक्रियाभेदेऽपि शची-पतरेकस्यैव संज्ञा । समभिरूढनयापेक्षया तेषामर्थान्तरकल्पनाया मत्यादिष्वपि स क्रमो विद्यत एव । किन्तु मतिज्ञानावरणक्षयोपशम-निमित्तोपयोगं नातिवर्त्तन्त इति अयमत्रार्थो विवक्षितः । 'इति'-शब्द प्रकारार्थः । एवं प्रकारा अस्य पर्यायशब्दा इति । अभिधेयार्थो वा । मति स्मृति संज्ञा चिन्ता आभिनिबोध इत्येतैर्योऽर्थोऽभिधीयते स एक एव इति । = १. यद्यपि इन शब्दोंको प्रकृति या व्युत्पत्ति अलग-अलग है, तो भी रूढिसे ये पर्यायवाची हैं। जैसे—इन्द्र, शक्र और पुरन्दर। इनमें यद्यपि इन्दन आदि क्रियाओंकी अपेक्षा भेद है तो भी ये सब एक शचीपतिको वाचक संज्ञाएँ हैं। अब यदि सम-भिरूढ नयको अपेक्षा इन शब्दोंका अलग-अलग अर्थ लिया जाता है तो वह क्रम मति स्मृति आदि शब्दोंमें भी पाया जाता है। २. किन्तु ये मति आदि मतिज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशमरूप निमित्तसे उत्पन्न हुए उपयोगको उल्लंघन नहीं करते हैं, यह अर्थ यहाँपर विवक्षित है। ३ अथवा प्रकृतमें (सूत्रमें) 'इति' शब्द प्रकारार्थवाची है, जिसका यह अर्थ होता है, कि इस प्रकार ये मति आदि मतिज्ञानके पर्यायवाची शब्द हैं। अथवा प्रकृतमें 'मति' शब्द अभिधेयवाची है, जिसके अनुसार यह अर्थ होता है कि मति, स्मृति, संज्ञा, चिन्ता और आभिनिबोध इनके द्वारा जो अर्थ कहा जाता है, वह एक ही है। (रा वा. १/१३/२-३/५८/१. ६/६६/५ में उपरोक्त तीनों विकल्प हैं)।
रा. वा. १/१३/३-७/५८/२२ यस्य शब्दभेदोऽर्थभेदे हेतुरिति मतम् तस्य वागादि नवाथेषु गोशब्दाभेददर्शनाद् वागाथर्थानामेकत्वमस्तु । अथ नैतदपिष्टम्, न तर्हि शब्दभेदोऽन्यत्त्वस्य हेतुः । किच- मत्यादीना-मेकद्रव्यपर्यायशेषात् स्यादेकत्व प्रतिनियतपर्यायवेशाच्च स्थानाना-त्वम्—मननं मति, स्मरण स्मृति इति। स्थानमतम्-मत्यादय आभि-निबोधपर्यायशब्दा नाभिनिबोधस्य लक्षणम् । कथम् । मनुष्यादिवत् । .. तत्र, कि कारणम् । ततोऽनन्यत्वात् । इह पर्यायिणोऽनन्य पर्याय-शब्दः, स लक्षणम् । कथम् । औष्ण्याग्निवत् । तथा पर्यायशब्दा मत्या-दय आभिनिबोधिकज्ञानपर्यायिणोऽनन्यत्वेन आभिनिबोधस्य लक्षणम् ।

अथवा ततोऽन्यत्वात्'। मतिस्मृत्यादयोऽसाधारणत्वाद् अन्यज्ञाना-
सभावितोऽभिनिबोधनन्यत्वात्तस्य लक्षणम्। इतश्च पर्यायशब्दो
लक्षणम्। कस्मात्। 'का मतिः। या स्मृतिरिति। तत् स्मृतिरिति
गत्वा बुद्धि' प्रत्यागच्छति। का स्मृतिः। या मतिरिति। एवमुच्यतेऽपि।
४. यदि शब्दभेदसे अर्थभेद है तो शब्द-अभेदसे अर्थ-अभेद भी
होना चाहिए। और इस प्रकार पृथिवी आदि ग्यारह शब्द एक 'गो'
अर्थके वाचक होनेके कारण एक हो जायेंगे। ५ अथवा मतिज्ञाना-
वरणसे उत्पन्न मतिज्ञानसामान्यको अपेक्षासे अथवा एक आत्मद्रव्य-
को दृष्टिसे मत्यादि अभिन्न है और प्रतिनियत तत्-तत् पर्यायकी
दृष्टिसे भिन्न है। जैसे—'मननं मतिः', 'स्मरणं स्मृति' इत्यादि।
प्रश्न—६. मति आदि आभिनिबोधके पर्यायवाची शब्द है। वे
उसके लक्षण नहीं हो सकते, जैसे मनुष्य, मानव, मनुज आदि शब्द
मनुष्यके लक्षण नहीं है। उत्तर—नहीं, क्योंकि, वे सब अनन्य है।
पर्याय पर्यायीसे अभिन्न होती है। इसलिए उसका वाचक शब्द उस
पर्यायका लक्षण होता है, जैसे अग्निका लक्षण उष्णता है। उसी
प्रकार मति आदि पर्यायवाची शब्द आभिनिबोधक सामान्य
ज्ञानात्मक मतिज्ञानरूप पर्यायके लक्षण होते हैं, क्योंकि, वे उससे
अभिन्न है। ७ 'मतिज्ञान कौन' यह प्रश्न होनेपर बुद्धि तुरन्त
दौड़ती है कि 'जो स्मृति आदि', और 'स्मृति आदि कौन' ऐसा
कहनेपर 'जो मतिज्ञान' इस प्रकार गत्वा प्रत्यागत न्यायसे भी पर्याय
शब्द लक्षण बन सकते हैं।

५. स्मृति और प्रत्यभिज्ञानमें अन्तर

न्या. दी. १/३/१०/२७/३ केचिदाहु—अनुभवस्मृतिव्यतिरिक्त प्रत्यभि-
ज्ञानं नास्तीति; तदसद; अनुभवस्य वर्तमानकालवर्तितिवर्तमान-
प्रकाशकत्वम्, स्मृतेश्चातीतविवर्तद्योतकत्वमिति तावद्वस्तुगति।
कथं नाम तयोरेतीतवर्तमानसंकलितैक्यसादृश्यादिविषयावगाहि-
त्वम्। तस्मादस्ति स्मृत्यनुभवातिरिक्तं तदनन्तरभाविसकलन-
ज्ञानम्। तदेव प्रत्यभिज्ञानम्। = प्रश्न—अनुभव और स्मरणसे
भिन्न प्रत्यभिज्ञान नहीं है। उत्तर—यह कहना ठीक नहीं है,
क्योंकि अनुभव तो वर्तमानकालीन पर्यायको ही विषय करता है
और स्मरण भूतकालीन पर्यायका ही द्योतन करता है। इसलिए ये
दोनों अतीत और वर्तमान पर्यायोंमें रहनेवाली एकता सदृशता
आदिको कैसे विषय कर सकते हैं। अतः स्मरण और अनुभवसे
भिन्न उनके बादमें होनेवाला तथा उन एकता सदृशता आदिको
विषय करनेवाला जो जोडरूप ज्ञान होता है, वही प्रत्यभिज्ञान है।

६. स्मृति आदिकी अपेक्षा मतिज्ञानका उत्पत्तिक्रम

न्या. दी. १/३/३/५३ तत् पञ्चविधम्—स्मृतिः, प्रत्यभिज्ञानम्, तर्कः,
अनुमानम् आगमश्चेति। पञ्चविधस्याप्यस्य परोक्षस्य प्रत्य-
यान्तरसापेक्षत्वेनैवोत्पत्तिः। तद्यथा—स्मरणस्य प्रावतनानुभवापेक्षा,
प्रत्यभिज्ञानस्य स्मरणानुभवापेक्षा, तर्कस्यानुभवस्मरणप्रत्यभिज्ञाना-
पेक्षा, अनुमानस्य च लिङ्गदर्शनाद्यपेक्षा।

न्या. दी. १/३/३ नं. १/५७ न. अवग्रहाद्यनुभूतेऽपि धारणाया अभावे स्मृति-
जननायोगात्। तदेतद्वारणाविषये समुत्पन्नं तत्तोल्लेखिज्ञानं
स्मृतिरिति सिद्धम्। (१४/५३)। अनुभवस्मृतिहेतुक संकलनात्मक ज्ञानं
प्रत्यभिज्ञानम्। (१५/५६)। अत्र सर्वत्राप्यनुभवस्मृतिसापेक्षत्वात्तद्-
तुकत्वम्। (१६/५७)। स्मरणम् प्रत्यभिज्ञानम्, भूयोदर्शनरूपं प्रत्यक्षं
च मिलित्वा तादृशमेकं ज्ञानं जनयन्ति यद्व्याप्तिग्रहणसमर्थमिति,
तर्कश्च एव। (१६/६४)। तद्वल्लिङ्गज्ञानं व्याप्तिस्मरणसहकृतमनु-
मानोत्पत्तौ निबन्धनमित्येतत्सुसङ्गतमेव। (१७/६७)। = परोक्ष प्रमाणके
पाँच भेद हैं—स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और आगम। ये
पाँचों ही परोक्ष प्रमाण ज्ञानान्तरकी अपेक्षासे उत्पन्न होते हैं। स्मरणमें

पूर्व अनुभवकी अपेक्षा होती है, प्रत्यभिज्ञानमें स्मरण और अनुभवकी,
तर्कमें अनुभव स्मरण और प्रत्यभिज्ञानकी और अनुमानमें लिङ्ग
दर्शन, व्याप्तिस्मरण आदिकी अपेक्षा होती है। पदार्थमें अवग्रह
आदि ज्ञान हो जानेपर भी (दे० मतिज्ञान/३/२) धारणाके अभावमें
स्मृति उत्पन्न नहीं होती। इसलिए धारणाके विषयमें उत्पन्न हुआ
'वह' शब्दसे उल्लिखित होनेवाला यह ज्ञान स्मृति है, यह सिद्ध
होता है। अनुभव और स्मरणपूर्वक होनेवाले जोडरूप ज्ञानको
प्रत्यभिज्ञान कहते हैं। सभी प्रत्यभिज्ञानोंमें अनुभव और स्मरणकी
अपेक्षा होनेसे उन्हें अनुभव और स्मरण हेतुक माना जाता है। स्मरण
प्रत्यभिज्ञान और अनेकों बारका हुआ प्रत्यक्ष ये तीनों मिलकर एक
वैसे ज्ञानको उत्पन्न करते हैं, जो व्याप्तिके ग्रहण करनेमें समर्थ है,
और वही तर्क है। उसी प्रकार व्याप्तिस्मरण आदिसे सहित होकर
लिङ्गज्ञान अनुमानकी उत्पत्तिमें कारण होता है। भावार्थ—(विषय
विषयीके सन्निकृतके अनन्तर क्रमसे उस विवक्षित इन्द्रिय सम्बन्धी
दर्शन, अवग्रह, ईहा और अवाय पूर्वक उस विषय सम्बन्धी धारणा
उत्पन्न हो जाती है, जो कालान्तरमें उस विषयके स्मरणका कारण
होता है। किसी समय उसी विषयका या वैसे ही विषयका प्रत्यक्ष
होनेपर तत्सम्बन्धी स्मृतिको साथ लेकर 'यह वही है' या 'यह वैसा
ही है' ऐसा प्रत्यभिज्ञान उत्पन्न होता है। पुनः पुनः इसी प्रकार
अनेकों बार उसी विषयका प्रत्यभिज्ञान हो जानेपर एक प्रकारका
व्याप्तिज्ञान उत्पन्न हो जाता है, जिसे तर्क कहते हैं। जैसे 'जहाँ-
जहाँ धूम होगा वहाँ अग्नि अवश्य ही होगी', ऐसा ज्ञान। पीछे किसी
समय इसी प्रकारका कोई लिङ्ग देखकर उस तर्कके आधारपर लिङ्गी-
को जान लेना अनुमान है। जैसे पर्वतमें धूम देखकर 'यहाँ अग्नि
अवश्य है' ऐसा निर्णयार्थक ज्ञान हो जाता है। उपरोक्त सर्व
विकल्पोंमें अवग्रहसे तर्क पर्यन्तके सर्व विकल्प मतिज्ञानके भेद हैं, जो
उपरोक्त क्रमसे ही उत्पन्न होते हैं, अक्रमसे नहीं। तर्क पूर्वक उत्पन्न
होनेवाला अन्तिम विकल्प अनुमान श्रुतज्ञानके आधीन है। इसी
प्रकार किसी शब्दको सुनकर वाच्यवाचकको पूर्व गृहीत व्याप्तिके
आधारपर उस शब्दके वाच्यका ज्ञान हो जाना भी श्रुतज्ञान है।)

४. एक बहु आदि विषय निर्देश

१. बहु व बहुविध ज्ञानोंके लक्षण

स. सि. १/११/११२/५ बहुशब्दस्य संख्यावैपुल्यवाचिनो ग्रहणमवि-
शेषात्। संख्यावाची यथा एको द्वौ बहव इति। वैपुल्यवाची यथा,
बहुरोदमो बहुसूप इति। 'विधशब्द' प्रकारवाची। = 'बहु' शब्द
संख्यावाची और वैपुल्यवाची दोनों प्रकारका है। इन दोनोंका यहाँ
ग्रहण किया है, क्योंकि उनमें कोई विशेषता नहीं है। संख्यावाची
'बहु' शब्द यथा—एक, दो, बहुत। वैपुल्यवाची बहु शब्द यथा—
बहुत भात, बहुत दाल। 'विध' शब्द प्रकारवाची है। (जैसे बहुत
प्रकारके घोड़े, गाय, हाथी आदि—घ/६, घ/९, घ/१३, गो जी.)
(रा वा. १/१६/१/६२/१२, ६/६३/१४), (घ. ६/१, १-१, १४/१६/३, २०/१),
(घ. ६/४, १, १४/१४/१, १६२/४); (घ. १३/५, ५, ३५/२३५/१, २३५/१),
(गो. जी/जी. प्र. ३११/६६७/११)।

रा. वा. १/१६/१६/६३/२८ प्रकृष्ट क्षयोपशम. उपष्टम्भात्. युगपत्तत्वि-
ततधनसुषिरादिशब्दश्रवणाद् बहुशब्दमवगृह्णाति। ततादिशब्दविक-
ल्पस्य प्रत्येकमेकद्वित्रिचतु संख्येयासंख्येयानन्तगुणस्यावग्राहकत्वात्
बहुविधमवगृह्णाति। . (एव घ्राणाद्यवग्रहेष्वपि योज्यम्/६५/९)। =
श्रोत्रेन्द्रावरणादिका प्रकृष्ट क्षयोपशम होनेपर युगपत् तत्, वित, धन,
सुषिर आदि बहुत शब्दको सुनता है, तथा तत् आदि शब्दके एक दो
तीन चार संख्यात असंख्यात अनन्त प्रकारको ग्रहण कर बहुविध
शब्दको जानता है। इसी प्रकार घ्राणादि अन्य इन्द्रियोंमें भी लागू
करना चाहिए। (घ. १३/५, ५, ३५/२३५/२)।

३. बहु व बहुविध ज्ञानोंमें अन्तर

स. सि /१/१६/११३/७ बहुबहुविधयो' क प्रतिविशेषः; यावता बहुष्वपि बहुत्वमस्ति बहुविधेष्वपि बहुत्वमस्ति; एकप्रकारानेकप्रकारकृतो विशेषः ।

रा वा /१/१६/६४/१६ उच्यते—न, विशेषदर्शनात् । यथा कश्चित् बहुनि शास्त्राणि मौलेन सामान्यार्थेनाविशेषितेन व्याचष्टे न तु बहुभिर्विशेषितार्थैः, कश्चिच्च तेषामेव बहूनां शास्त्राणां बहुभिरर्थैः परस्परान्तिशययुक्तैर्बहुविकल्पैर्व्याख्यानं करोति, तथा ततादिशब्दग्रहणाविशेषेऽपि यत्प्रत्येकं ततादिशब्दानाम् एकद्वित्रिचतुःसंख्येयानन्तगुणपरिणतानां ग्रहणं तद् बहुविधग्रहणम्, यत्ततादीनां सामान्यग्रहणं तद् बहुग्रहणम् ।—प्रश्न—बहु और बहुविधमें क्या अन्तर है, क्योंकि, बहु और बहुविध इन दोनोंमें बहुतपना पाया जाता है । उत्तर—इनमें एक प्रकार और नाना प्रकारकी अपेक्षा अन्तर है । अर्थात् बहुमें प्रकारभेद इष्ट नहीं है और बहुविधमें प्रकारभेद इष्ट है ।—जैसे कोई बहुत शास्त्रोंका सामान्यरूपसे व्याख्यान करता है परन्तु उसके बहुत प्रकारके विशेष अर्थोंसे नहीं; और दूसरा उन्हीं शास्त्रोंकी बहुत प्रकारके अर्थों द्वारा परस्परमें अतिशययुक्त अनेक विकल्पोंसे व्याख्याएँ करता है; उसी प्रकार तत् आदि शब्दोंके ग्रहणमें विशेषता न होते हुए भी जो उनमेंसे प्रत्येक तत् आदि एक, दो, तीन, चार, सख्यात, असंख्यात और अनन्त गुणरूपसे परिणत शब्दोंका ग्रहण है सो बहुविध ग्रहण है; और उन्हींका जो सामान्य ग्रहण है, वह बहुग्रहण है ।

१. बहु विषयक ज्ञानकी सिद्धि

रा. वा. /१/१६/२-७/६२/१५ बहुवग्रहाद्यभावः प्रत्यर्थवशवर्तित्वादिति चेत्; न; सर्वदैकप्रत्ययप्रसङ्गात् । २। अतश्चानेकार्थग्राहिविज्ञानस्या-त्यन्तासम्भवात् नगरवनस्कन्धावारप्रत्ययनिवृत्तिः । नैतां संज्ञा ह्येकार्थनिवेशिन्यः, तस्माल्लोकसंबन्धव्यवहारनिवृत्तिः । किंच, नानार्थप्रत्ययाभावात् । ३। यथैक मनोऽनेकप्रत्ययारम्भकं तथैकप्रत्ययो-ऽनेकार्थं भविष्यति, अनेकस्य प्रत्ययस्यैककालसंभवात् । ... न तु सर्वथैकार्थमेकमेव ज्ञानमिति, अत 'इदमस्मादन्यत्' इत्येष व्यवहारो न स्यात् । ... किंच, आपेक्षिकसंबन्धव्यवहारनिवृत्तेः । ४। मध्यमा-प्रदेशिन्योर्युगपदनुपलम्भात् तद्विषयदोर्घहस्वव्यवहारो विनिवर्तते । किंच, संशयाभावप्रसङ्गात् । ५। एकार्थविषयवर्तिनि विज्ञाने, स्थानौ पुरुषे वा प्राक्प्रत्ययजन्म स्यात्, नोभयोः प्रतिज्ञातविरोधात् । किंच, ईप्सितनिष्पत्त्यनियमात् । ६। -चैत्रस्य पूर्णकलशमालिखतः . . अनेकविज्ञानोत्पादनिरोधक्रमे सति अनियमेन निष्पत्तिः स्यात् । ... किंच, द्विव्यादिप्रत्ययाभावाच्च । ७।—यतो नैकं विज्ञानं द्वित्राद्यर्थानां ग्राहकमिति ।—प्रश्न—जब एक ज्ञान एक ही अर्थको ग्रहण करता है, तब बहु आदि विषयक अवग्रह नहीं हो सकता । उत्तर—नहीं, क्योंकि, इस प्रकार सदा एक ही प्रत्यय होनेका प्रसंग आता है । १. अनेकार्थग्राही ज्ञान का अत्यन्ताभाव होनेपर नगर, वन, सेना आदि बहुविषयक ज्ञान नहीं हो सकेगा । ये संज्ञाएँ एकार्थविषयक नहीं हैं, अतः समुदायविषयक समस्त लोकव्यवहारोका लोप ही हो जायेगा । २ जिस प्रकार (आप बौद्धोंके हैं) एक मन अनेक ज्ञानोंको उत्पन्न कर सकता है, उसी तरह एक ज्ञानको अनेक अर्थोंको विषय करनेवाला माननेमें क्या आपत्ति है । ३. यदि ज्ञान एकार्थग्राही ही माना जायेगा तो 'यह इससे अन्य है' इस प्रकारका व्यवहार न हो सकेगा । ४, एकार्थग्राहिविज्ञानवादमें मध्यमा और प्रदेशिनी अंगुलियोंमें होनेवाले ह्रस्व, दीर्घ आदि समस्त व्यवहारोका लोप हो जायेगा । ५ संशयज्ञानके अभावका प्रसंग आयेगा, क्योंकि या तो स्थाणुका ज्ञान होगा या पुरुषका ही । एक साथ दोनोंका ज्ञान न हो सकेगा । ६. किसी भी इष्ट अर्थकी सम्पूर्ण उत्पत्ति नहीं हो सकेगी । पूर्णकलशका चित्र

नानेवाला चित्रकार उस चित्रको न बना सकेगा, क्योंकि युगपत् दो तीन ज्ञानोंके बिना वह उत्पन्न नहीं होता । ७. इस पक्षमें दो तीन आदि बहुसख्या विषयक प्रत्यय न हो सकेगा, क्योंकि वैसा माननेपर कोई भी ज्ञान दो तीन आदि समूहोंको जान ही न सकेगा । उपरोक्त सर्व विकल्प (घ. ६/४.१.४५/१४६/३); (घ. १३/५.५.३५/२३५/३) ।

घ. १३/५.५.३५/२३६/६ यौगपद्येन बहुवग्रहाभावात् योग्यप्रदेशस्थितमङ्गुलिपञ्चकं न प्रतिभासेत । न परिच्छेद्यमानार्थभेदाद्विज्ञानभेदः, नानास्वभावस्यैकस्यैव त्रिकोटिपरिणन्तुविज्ञानस्योपलम्भात् । न शक्तिभेदो वस्तुभेदस्य कारणम् पृथक् पृथगर्थक्रियाकर्तृत्वाभावात्तेषां वस्तुत्वादानुपपत्तेः, = ८. एक साथ बहुतका ज्ञान नहीं हो सकेनेके कारण योग्य प्रदेशोंमें स्थित अंगुलिपञ्चका ज्ञान नहीं हो सकता । (घ. ६/१.६-१.१४/१६/३) । ६. 'जाने गये अर्थमें भेद होनेसे विज्ञानमें भी भेद है', यह कहना भी ठीक नहीं है; क्योंकि नाना स्वभाववाला एक ही त्रिकोटिपरिणत विज्ञान उपलब्ध होता है । १०. 'शक्ति भेद वस्तुभेदका कारण है', यह कहना भी ठीक नहीं है; क्योंकि, अलग-अलग अर्थक्रिया न होनेसे उन्हें वस्तुभूत नहीं माना जा सकता ।—(अतः बहुत पदार्थोंका एक ज्ञानके द्वारा अवग्रह होना सिद्ध है) ।

घ ६/४.१.४५/१५१/६ प्रतिद्रव्यभिन्नानां प्रत्ययानां कथमेकत्वमिति चेत्त्राकमेणैकजीवद्रव्यवर्तिनां परिच्छेद्यभेदेन बहुत्वमादधानानामेकत्वाविरोधात् ।—प्रश्न—११. प्रत्येक द्रव्यमें भेदको प्राप्त हुए प्रत्ययोंके एकता कैसे सम्भव है । उत्तर—नहीं, क्योंकि, युगपत् एक जोव द्रव्यमें रहनेवाले और ज्ञेय पदार्थोंके भेदसे प्रचुरताको प्राप्त हुए प्रत्ययोंकी एकतामें कोई विरोध नहीं है ।

४. एक व एकविध ज्ञानोंके लक्षण

रा वा /१/१६/१६/६२/३० अल्पश्रोत्रेन्द्रियावरणक्षयोपशमपरिणाम आत्मा ततश्च शब्दादीनामन्यतममवर्णं शब्दमवगृह्णाति । तदादि शब्दानामेकविधावग्रहणात् एकविधमवगृह्णाति । (एवं प्राणाद्यवग्रहेष्वपि योज्यम्) ।—अल्प श्रोत्रेन्द्रियावरणके क्षयोपशमसे परिणत आत्मा तत् आदि शब्दोंमेंसे अन्यतम शब्दको ग्रहण करता है, तथा उनमेंसे एक प्रकारके शब्दको ही सुनता है । इसी प्रकार अन्य इन्द्रियोंमें भी लागू कर लेना ।

घ. ६/१.६-१.१४/५/५क्ति एकस्तेव वस्थुवलंभो एयावग्गहो । (१६/४) । एयपयारग्गहणमेयविहावग्गहो । (२०/१) ।—एक ही वस्तुके उपलम्भको एक अवग्रह कहते हैं और एक प्रकारके पदार्थका ग्रहण करना एकविध अवग्रह है । (घ. ६/४.१.४५/१५१/३.१५२/३); (घ. १३/५.५.३५/२३६/१०. २३७/८), (गो. जो. /जी. प्र. /३११/६६७/१२) ।

५. एक व एकविध ज्ञानोंमें अन्तर

घ. ६/१.६-१.१४/२०/२ एय-एयविहारणं को विसेसो । उच्चदे—एगस्स गहणं एयावग्गहो, एगजाईए द्विदएयस्स बहूणं वा गहणमेयविहावग्गहो ।—प्रश्न—एक और एकविधमें क्या भेद है । उत्तर—एक व्यक्तिरूप पदार्थका ग्रहण करना एक अवग्रह है और एक जातिमें स्थित एक पदार्थका अथवा बहुत पदार्थोंका ग्रहण करना एकविध अवग्रह है । (घ. ६/४.१.४५/१५२/३). (घ. १३/५.५.३५/२३७/८) ।

६. एक विषयक ज्ञानकी सिद्धि

घ. ६/१.६-१.१४/१६/४ अण्यंतवस्थुवलंभा एयावग्गहो णत्थि । अह अत्थि, एयत्तसिद्धिपसज्जदे एयंतगाह्यपमाणस्सुवलंभा इदि चे, ण एस दोसो, एयवस्थुगाहओ अवबोहो एयावग्गहो उच्चदि । ण च विहिपडिसेहधम्माणं वत्थुतमत्थि जे तत्थ अण्येयावग्गहो होज्ज ।

किन्तु विहिपडिसेहारद्रमेय वस्तु, तस्स उवलंभो एयावग्गहो। अणेय-
वस्तुविसओ अत्रबोहो अणेयावग्गहो। पडिहासो पुण सव्वो अणेयत्त-
विसओ चेय, विहिपडिसेहाणमण्णदरस्सेव अणुवलंभा। = प्रश्न—वस्तु
अनेक धर्मात्मक है, इस लिए एक अवग्रह नहीं होता। यदि होता
है तो एक धर्मात्मक वस्तुकी सिद्धि प्राप्त होती है, क्योंकि एक
धर्मात्मक वस्तुको ग्रहण करनेवाला प्रमाण पाया जाता है। उत्तर—
१. यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, एक वस्तुका ग्रहण करनेवाला
ज्ञान एक अवग्रह कहलाता है। तथा विधि और प्रतिषेध धर्मोंके
वस्तुपना नहीं है, जिससे उनमें अनेक अवग्रह हो सके। किन्तु विधि
और प्रतिषेध धर्मोंके समुदायात्मक एक वस्तु होती है, उस प्रकारकी
वस्तुके उपलम्भको एक अवग्रह कहते हैं। २. अनेक वस्तुविषयक
ज्ञानको अनेक अवग्रह कहते हैं, किन्तु प्रतिभास तो सर्व ही
अनेक धर्मोंका विषय करनेवाला होता है, क्योंकि, विधि और
प्रतिषेध. इन दानोंमेंसे किसी एक ही धर्मका अनुपलम्भ है, अर्थात्
इन दोनोंमेंसे एकको छोड़कर दूसरा नहीं पाया जाता, दोनों ही
प्रधान अप्रधानरूपसे साथ-साथ पाये जाते हैं।

ध. १३/५.६.३५/२३६/१० उर्ध्वो-मध्यभागाद्यवयवगतानेकस्वानुगतैक-
स्वोपलम्भान्नैक प्रत्ययोऽस्तीति चेत्—न, एवंविधस्यैव जात्यन्त-
रीभूतस्यात्रैकत्वस्य ग्रहणात्। = प्रश्न—३ चूर्णिक उर्ध्वभाग, अधो-
भाग और मध्यभाग आदि रूप अवयवोंमें रहनेवाली अनेकतासे
अनुगत एकता पायी जाती है, अतएव वह एक प्रत्यय नहीं है।
उत्तर—नहीं, क्योंकि, यहाँ इस प्रकारकी ही जान्यन्तरभूत एकताका
ग्रहण किया है।

७. क्षिप्र व अक्षिप्र ज्ञानोंके लक्षण

स. सि./१/१६/११२/७ क्षिप्रग्रहणमचिरप्रतिपत्त्यर्थः। = क्षिप्र शब्दका
ग्रहण जल्दी होनेवाले ज्ञानको जतलानेके लिए है। (रा. वा./१/१६/
१०/६३/१६)।

रा. वा./१/१६/१६/६४/२ प्रकृष्टश्रोत्रेन्द्रियावरणक्षयोपशमादिपरिणामिक-
त्वात् क्षिप्र शब्दमवगृह्णाति। अल्पश्रोत्रेन्द्रियावरणक्षयोपशमपरिणा-
मिकत्वात् चिरेण शब्दमवगृह्णाति। = प्रकृष्ट श्रोत्रेन्द्रियावरणके
क्षयोपशम आदि परिणामके कारण शीघ्रतासे शब्दको सुनता है और
क्षयोपशमादिकी न्यूनतामें देरीसे शब्दको सुनता है। (इसी प्रकार
अन्य इन्द्रियोपर भी लागू कर लेना)।

ध. ६/१.६-१.१४/२०/३ आसुग्गहणं खिप्पावग्गहो, सणिग्गहणमखिप्पाव-
ग्गहो। = शीघ्रतापूर्वक वस्तुको ग्रहण करना क्षिप्र अवग्रह है और
शनैः शनैः ग्रहण करना अक्षिप्र अवग्रह है। (ध. ६/४.१.४४/१६२/४);
(ध. १३/५.६.३५/२३७/६)।

गो. जी./जी. प्र/३११/६६७/१४ क्षिप्र शीघ्रपतज्जलधाराप्रवाहादि।
अक्षिप्र मन्द गच्छन्नश्वादि। = शीघ्रतासे पडती जलधारा
आदिका ग्रहण क्षिप्र है और मन्दगतिसे चलते हुए घोड़े आदिका
अक्षिप्र अवग्रह है।

८. निःसृत व अनिःसृत ज्ञानोंके लक्षण

स. सि./१/१६/११२/७ अनिःसृतग्रहण असकलपुद्गलोद्गमार्थम्।
= (अनिःसृत अर्थात् ईषत् निःसृत) कुछ प्रगट और कुछ अप्रगट,
इस प्रकार वस्तुके कुछ भागोंका ग्रहण होना और कुछका न होना,
अनिःसृत अवग्रह है। (रा. वा./१/१६/११/६३/१८)।

रा. वा./१/१६/१६/६४/४ सुविशुद्धश्रोत्रादिपरिणामात् साकल्येनानुचारि-
तस्य ग्रहणात् अनिःसृतमवगृह्णाति। निःसृत प्रतीतम्। = क्षयोप-
शमकी विशुद्धिमें पूरे वाक्यका उच्चारण न होनेपर भी उसका ज्ञान
कर लेना अनिःसृत अवग्रह है और क्षयोपशमकी न्यूनतामें पूरे रूपसे
उच्चारित शब्दका ही ज्ञान करना निःसृत अवग्रह है।

ध. ६/१.६-१.१४/२०/४ अहिमुहअत्थग्गहणं गिसियावग्गहो, अणहिमुह-
अत्थग्गहणं अणिसियावग्गहो। अहवा उत्रमाणोवमेयभावेण रग्गहण
गिसियावग्गहो, जहा कमलदलपयणा त्ति। तेण विणा गहणं अणि-
सियावग्गहो। = अभिमुख अर्थका ग्रहण करना निःसृत अवग्रह है
और अनभिमुख अर्थका ग्रहण करना अनिःसृत अवग्रह है। अथवा,
उपमान उपमेय भावके द्वारा ग्रहण करना निःसृत अवग्रह है। जैसे—
कमलदल-नयना अर्थात् इस स्त्रीके नयन कमल दलके समान है।
उपमान उपमेय भावके बिना ग्रहण करना अनिःसृत अवग्रह है।

ध. ६/१.६.४५/पृष्ठ/पंक्ति—वस्त्वेकदेशमवलम्ब्य साकल्येन वस्तुग्रहणं
वस्त्वेकदेशं समस्तं वा अवलम्ब्य तत्रासन्नहितवस्त्वन्तरविषयोऽप्य-
निःसृतप्रत्ययः। (१५२/५)। = एतत्प्रतिपक्षो निःसृतप्रत्ययः, तथा
क्वचित्कदाचिदुपलभ्यते च वस्त्वेकदेशे आलम्बनीभूते प्रत्ययस्य
वृत्तिः। (१५३/५)। = वस्तुके एकदेशका अवलम्बन करके पूर्ण रूपसे
वस्तुको ग्रहण करनेवाला, तथा वस्तुके एकदेश अथवा समस्त
वस्तुका अवलम्बन करके वहाँ अविद्यमान अन्य वस्तुको विषय
करनेवाला भी अनिःसृत प्रत्यय है। इसका प्रतिपक्षभूत निःसृत
प्रत्यय है, क्योंकि, कहीपर किसी कालमें आलम्बनीभूत वस्तुके
एकदेशमें उतने ही ज्ञानका अस्तित्व पाया जाता है। (गो. जी./—
सू./३१२/६६६)।

ध. १३/५.६.३५/पृष्ठ/पंक्ति—वस्त्वेकदेशस्य आलम्बनीभूतस्य ग्रहणकाले
एकवस्तुप्रतिपत्तिं वस्त्वेकदेशप्रतिपत्तिकाल एव वा दृष्टान्तमुखेन
अन्यथा वा अनवलम्बितवस्तुप्रतिपत्तिं अनुसंधानप्रत्ययः प्रत्यभि-
ज्ञानप्रत्ययश्च अनिःसृतप्रत्ययः। (२३७/११)। एतत्प्रतिपक्षो निःसृत-
प्रत्ययः, क्वचित्कदाचिद्वस्त्वेकदेश एव प्रत्ययोत्पत्त्युपलम्भात्।
(२३८/११)। = आलम्बनीभूत वस्तुके एकदेश ग्रहणके समयमें ही एक
(पूरी) वस्तुका ज्ञान होना, या वस्तुके एकदेशके ज्ञानके समयमें
ही, दृष्टान्तमुखेन या अन्य प्रकारसे अनवलम्बित वस्तुका ज्ञान
होना, तथा अनुसंधान प्रत्यय और प्रत्यभिज्ञान प्रत्यय—ये सब
अनिःसृत प्रत्यय हैं। इससे प्रतिपक्षभूत निःसृतप्रत्यय है, क्योंकि,
कही पर किसी कालमें वस्तुके एकदेशके ज्ञानकी ही उत्पत्ति देखी
जाती है।

गो. जी./सू./३१३/६६६ पुक्खरग्गहणे काले हरिथस्स य वदणगवयग्गहणे
वा। नत्थत्तरत्थदस्स य धेणुस्स य वोहणं च हवे। ३१३। = तालाबमें
जलमग्न हस्तीकी सूँड देखनेपर पूरे हस्तीका ज्ञान होना, अथवा
किसी स्त्रीका मुख देखनेपर चन्द्रमाका या 'इसका मुख चन्द्रमाके
समान है' ऐसी उपमाका ज्ञान होना; अथवा गवयको देखकर
गायका ज्ञान होना, ये सब अनिःसृत अवग्रह हैं।

९. अनिःसृत ज्ञान और अनुमानमें अन्तर

ध. १३/५.६.३५/२३८/३ अर्वाग्भागावष्टम्भबलेन अनालम्बितपरभागादि-
वृष्टपथमान प्रत्ययः अनुमान किञ्च स्यादिति चेत्—न, तस्य लिङ्गाद-
भिन्नार्थविषयत्वात्। न तावदवर्गभागप्रत्ययसमकालभावी परभाग-
प्रत्ययोऽनुमानस्, तस्यावग्रहरूपत्वात्। न भिन्नकालभाव्यप्यनु-
मानस्, तस्य ईहापृष्ठभाविन' अवायप्रत्ययेऽन्तर्भावात्। = प्रश्न—
अर्वाग्भागके आलम्बनसे अनालम्बित परभागादिकोका होनेवाला
ज्ञान अनुमानज्ञान क्यों नहीं होगा। उत्तर—नहीं, क्योंकि, अनु-
मानज्ञान लिंगसे भिन्न अर्थको विषय करता है। अर्वाग्भागके ज्ञानके
समान कालमें होनेवाला परभागका ज्ञान तो अनुमान ज्ञान ही नहीं
सकता, क्योंकि, वह अवग्रह स्वरूप ज्ञान है। भिन्न कालमें होने-
वाला भी उक्त ज्ञान अनुमानज्ञान नहीं हो सकता, क्योंकि,
ईहाके पश्चात् उत्पन्न होनेसे उसका अवायज्ञानमें अन्तर्भाव
होता है।

१०. अनिःसृत विषयक ज्ञानकी सिद्धि

ध. ६/४.१.४५/१५२/७ न चायमसिद्ध', घटावर्गभागमवलम्ब्य क्वचिद्-घटप्रत्ययस्य उत्पत्त्युपलम्भात्, क्वचिदवर्गभागैकदेशमवलम्ब्य तदु-त्पत्त्युपलम्भात्, क्वचिद् गौरिव गवय इत्यन्यथा वा एकवस्त्वव-लम्ब्य तत्रानिहितवस्त्वन्तविषयप्रत्ययोत्पत्त्युपलम्भात्, क्वचिदवर्ग-वर्गभागग्रहणकाल एव परभागग्रहणोपलम्भात् । न चायमसिद्ध', वस्तुविषयप्रत्ययोत्पत्त्यन्यथानुपपत्ते । न चावर्गभागमात्र वस्तु, तत एव अर्थक्रियाकर्तृत्वानुपलम्भात् । क्वचिदेकवर्णश्रवणकाल एव अभिप्रास्यमानवर्णविषयप्रत्ययोत्पत्त्युपलम्भात्, क्वचिस्त्वाम्यस्त-प्रदेशे एकस्पर्शोपलम्भकाल एव स्पर्शान्तरविशिष्टतद्वस्तुप्रदेशान्तरौप-लम्भात् क्वचिदेकरसग्रहणकाल एव तत्प्रदेशासनिहितरसान्तरविशिष्ट-वस्तुपलम्भात् । निःसृतमित्यपरे पठन्ति । तैरुपमाप्रत्यय एक एव सगृहीत स्यात्, ततोऽसौ नेष्यते । = १ यह प्रत्यय असिद्ध नहीं है, क्योंकि, घटके अवर्गभागका अवलम्बन करके कही घट-प्रत्ययकी उत्पत्ति पायी जाती है । कहींपर अवर्गभागके एकदेशका अवलम्बन करके उक्त प्रत्ययकी उत्पत्ति पायी जाती है । कहींपर, 'गायके समान गवय होता है' इस प्रकार अथवा अन्य प्रकारसे एक वस्तुका अवलम्बन करके वहाँ समीपमें न रहनेवाली अन्य वस्तुको विषय करनेवाले प्रत्ययकी उत्पत्ति पायी जाती है । कहींपर अवर्गभागके ग्रहणकालमें ही परभागका ग्रहण पाया जाता है; और यह असिद्ध भी नहीं है, क्योंकि अन्यथा वस्तु विषयक प्रत्ययकी उत्पत्ति बने नहीं सकती; तथा अवर्गभागमात्र वस्तु हो नहीं सकती, क्योंकि, उतने मात्रसे अर्थक्रियाकारित्व नहीं पाया जाता । कहींपर एक वर्णके श्रवणकालमें ही उच्चारण किये जानेवाले वर्णोंको विषय करनेवाले प्रत्ययकी उत्पत्ति पायी जाती है । कहींपर अपने अभ्यस्त प्रदेशमें एक स्पर्शके ग्रहणकालमें ही अन्य स्पर्श विशिष्ट उस वस्तुके प्रदेशान्तरोका ग्रहण होता है । तथा कही पर एक रसके ग्रहणकालमें ही उन प्रदेशोंमें नहीं रहनेवाले रसान्तरसे विशिष्ट वस्तुका ग्रहण होता है । दूसरे आचार्य 'निःसृत' ऐसा पढ़ते हैं । उनके द्वारा उपमा प्रत्यय एक ही समग्रीत होगा, अतः वह इष्ट नहीं है । (ध. १३/५.३५/२३७/१३) ।

११. अनिःसृत विषयक व्यंजनावग्रहकी सिद्धि

रा. वा. १/१६/६/७०/१४ अथानिःसृते कथम् । तत्रापि ये च यावन्तश्च पुद्गलाः सूक्ष्माः निःसृताः सन्ति, सूक्ष्मास्तु साधारणैर्न गृह्यन्ते, तेषा-मिन्द्रियस्थानावगाहनम् अनिःसृतव्यंजनावग्रह । = प्रश्न—अनिः-सृत ग्रहणमें व्यंजनावग्रह कैसे सम्भव है ? उत्तर—जितने सूक्ष्म पुद्गल प्रगट हैं उनमें अतिरिक्तका ज्ञान भी अव्यक्तरूपसे हो जाता है । उन सूक्ष्म पुद्गलका साधारण इन्द्रियो द्वारा तो ग्रहण नहीं होता है, परन्तु उनका इन्द्रियदेशमें आ जाना ही उनका अव्यक्त ग्रहण है ।

१२. उक्त अनुक्त ज्ञानोंके लक्षण

स. सि. १/१६/११३/१ अनुक्तमभिप्रायेण ग्रहणम् । = जो कही या बिना कही वस्तु अभिप्रायसे जानी जाती है उसके ग्रहण करनेके लिए 'अनुक्त' पद दिया है । (रा. वा. १/१६/१२/६३/२०) ।

रा. वा. १/१६/१६/६४/५ प्रकृष्टविशुद्धिश्रोत्रेन्द्रियादिपरिणामकारण-त्वात् । एकवर्णानिर्गमेऽपि अभिप्रायेणैव अनुच्चारित शब्दमवगृह्णाति 'इम भवात् शब्दं वक्ष्यति' इति । अथवा, स्वरसंचारणात् प्राक् तन्त्रीद्रव्यातीत्याद्यामर्शनैव अवादिस् । अनुक्तमेव शब्दमभिप्रायेणात्र-गृह्य आचष्टे 'भवानिर्गमं शब्दं वादयिष्यति' इति । उक्त प्रतीतम् । = श्रोत्रेन्द्रियके प्रकृष्ट क्षयोपशमके कारण एक भी शब्दका उच्चारण किये बिना अभिप्राय मात्रसे अनुक्त शब्दको जान लेता है, कि आप यह कहनेवाले हैं । अथवा बीणा आदिके तारोंको सम्झालते समय

ही यह ज्ञान लेना कि 'इसके द्वारा यह राग बजाया जायेगा' अनुक्त ज्ञान है । उक्त अर्थात् कहे गये शब्दको जानना । (इसी प्रकार अन्य इन्द्रियोमें भी लागू करता) ।

ध. ६/१६-१.१४/२०/६ नियमित्यगुणविसिद्धव्यग्रहणं उक्तावग्रहो । जघा चक्खिदिण धवलत्थग्गहण, घाणिदिण सुअंधदक्खग्गहण-मिच्चादि । अणियमित्यगुणविसिद्धव्यग्रहणंमउक्तावग्रहो, जहा चक्खिदिण गुडादीण रसस्सग्गहणं, घाणिदिण दहियादीणं रसग्ग-हणमिच्चादि । = नियमित गुण विशिष्ट अर्थका । करना उक्त अवग्रह है । जैसे—चक्षुरिन्द्रियके द्वारा धवल अर्थका ग्रहण करना और घाण इन्द्रियके द्वारा सुगन्ध द्रव्यका ग्रहण करना इत्यादि । अनियमित गुणविशिष्ट द्रव्यका ग्रहण करना अनुक्त अवग्रह है । जैसे चक्षुरिन्द्रियके द्वारा रूप देखकर गुड आदिके रसका ग्रहण करना अथवा घ्राणेन्द्रियके द्वारा दहीके गन्धके ग्रहणकालमें ही उसके रसका ग्रहण करना । (ध. १/१.१.११४/३६७/६); (ध. ६/४.१.४५/१५३/६), (ध. १३/५.३५/२३७/१२) ।

गो. जी. /जी. प्र. ३११/६६७/१४ अनुक्त अकथित अभिप्रायगत । उक्तः अयं घट इति कथितो दृश्यमान । = बिना कहे अभिप्राय मात्रसे जानना अनुक्त है । और कहे हुए पदार्थको जानना उक्त अवग्रह है । जैसे—'यह घट है' ऐसा कहनेपर घटको जानना ।

१३. उक्त और निःसृत ज्ञानोंमें अन्तर

स. सि. १/१६/११३/८ उक्तनिःसृतयोः क प्रतिविशेषः ; यावता सकल-निःसरणात्रि सृतम् । उक्तमप्येवंविधमेव । अयमस्ति विशेष, अन्यो-पदेशपूर्वक ग्रहणमुक्तम् । स्वतः एव ग्रहणं निःसृतम् । अपरेषा क्षिप्र-निःसृत इति पाठ । त एव वर्णयन्ति श्रोत्रेन्द्रियेण शब्दमवगृह्यमाणं मयूरस्य वा कुरुरस्य वेति कश्चित्प्रतिपद्यते । अपरः स्वरूपमेवाश्रित्य इति । = प्रश्न—उक्त और निःसृतमें क्या अन्तर है—क्योंकि, वस्तु-का पूरा प्रगट होना निःसृत है और उक्त भी इसी प्रकार है । उत्तर—इन दोनोंमें यह अन्तर है—अन्यके उपदेश पूर्वक वस्तुका ग्रहण करना उक्त है, और स्वतः ग्रहण करना निःसृत है । कुछ आचार्योंके मतसे सूत्रमें 'क्षिप्रानिःसृत'के स्थानमें 'क्षिप्रनिःसृत' ऐसा पाठ है । वे ऐसा व्याख्यान करते हैं, कि श्रोत्रेन्द्रियके द्वारा शब्दको ग्रहण करते समय वह मयूरका है अथवा कुरुरका है ऐसा कोई जानता है । दूसरा स्वरूपके आश्रयसे ही जानता है । (रा. वा. १/१६/१६/६४/२१) । ध. ६/४.१.४५/१५४/५ निःसृतोक्तयोः को भेदश्चेन्न, उक्तस्य निःसृतानि-सृतोभयरूपस्य तेनैकत्वविरोधात् । = प्रश्न—निःसृत और उक्तमें क्या भेद है । उत्तर—नहीं, क्योंकि, उक्त प्रत्यय निःसृत और अनिःसृत दोनों रूप है । अतः उसका निःसृतके साथ एकत्व होनेका विशाध है । (ध. १३/५.३५/२३६/२) ।

१४. अनुक्त और अनिःसृत ज्ञानोंमें अन्तर

ध. ६/१.६-१.१४/२०/६ णायमणिस्सिदस्स अंतो पददि, एयवत्थुग्ग-हणकाले चैय तदो पुधभूदवत्थुस्स, ओवरिमभागग्रहणकाले चैय पर-भागस्त य, अंगुलिग्रहणकाले चैय देवदत्तस्स य ग्रहणस्स अणिस्सि-दवदेसादो । = अनुक्त अवग्रह अनिःसृत अवग्रहके अन्तर्गत नहीं है, क्योंकि, एक वस्तुके ग्रहणकालमें ही, उससे पृथग्भूत वस्तुका, उपरिम भागके ग्रहणकालमें ही परभागका और अंगुलिके ग्रहणकालमें ही देवदत्तका ग्रहण करना अनिःसृत अवग्रह है (और रूपका ग्रहण करके रसका ग्रहण करना अनुक्त है ।)

१५. अनुक्त विषयक ज्ञानकी सिद्धि

ध. ६/४.१.४५/१५४/११ चायमसिद्ध', चक्षुषा लवण-शर्कराव्यग्रहोपलम्भकाल एव कदाचित्तरसोपलम्भात्, दध्नो गन्धग्रहणकाल एव तद्रसावगते, प्रदीपस्य रूपग्रहणकाल एव कदाचित्तरसोपलम्भादिहितस् स्फारस्य,

कस्यचिच्छब्दग्रहणकाल एव तद्रसादिप्रत्ययोत्पत्त्युपलम्भाच्च । = यह (अनुक्त अवग्रह) असिद्ध भी नहीं है, क्योंकि, चक्षुसे लवण, शक्कर व खाण्डके ग्रहण कालमें ही कभी उनके रसका ज्ञान हो जाता है, दहीके गन्धके ग्रहणकालमें ही उसके रसका ज्ञान हो जाता है; दीपकके रूपके ग्रहणकालमें ही कभी उसके स्पर्शका ग्रहण हो जाता है, तथा शब्दके ग्रहणकालमें ही संस्कार युक्त किसी पुरुषके उसके रसादिविषयक प्रत्ययकी उत्पत्ति भी पायी जाती है। (ध १३/५, ६, ३५/२३५/१३)।

१६. मन सम्बन्धी अनुक्त ज्ञानकी सिद्धि

ध. ६/१, २, ४४/१४४/६ मनसोऽनुक्तस्य को विषयश्चेददृष्टमश्रुतं च । न च तस्य तत्र वृत्तिरसिद्धा, उपदेशमन्तरेण द्वादशाङ्गश्रुतावगमान्यथानुपपत्तितस्तस्य तत्सिद्धे । = प्रश्न- मनसे अनुक्तका क्या विषय है ? उत्तर—अदृष्ट और अश्रुत पदार्थ उसका विषय है। और उसका वहाँ पर रहना असिद्ध नहीं है, क्योंकि, उपदेशके बिना अन्यथा द्वादशांग श्रुतका ज्ञान नहीं बन सकता; अतएव उसका अदृष्ट व अश्रुत पदार्थमें रहना सिद्ध है। (ध. १३/५, ६, ३५/२३६/६)।

१७ अप्राप्यकारी इन्द्रियो सम्बन्धी अनिःसृत व अनुक्त ज्ञानोंकी सिद्धि

रा. वा. १/१६/१७-२०/६५/११ कश्चिद्वाह—श्रोत्रघ्राणस्पर्शनरसनचतुष्टयस्य प्राप्यकारित्वात् अनिःसृतानुक्तशब्दावब्रह्मेतानाधारणा न युक्ता इति; उच्यते—अप्राप्तत्वात् । १७। कथम् । पिपीलिकादिवत् । १८। यथा पिपीलिकादीना घ्राणरसनदेशाप्रोत्तेऽपि गुडादिवद्ये गन्धरसज्ञानम्, तच्च यैश्च यावद्भिश्चास्मादाद्यप्रत्यक्षसूक्ष्मगुडावयवैः पिपीलिकादिघ्राणरसनेन्द्रिययोः परस्परानपेक्षा प्रवृत्तिस्ततो न दोषः । अस्मदादीना तदभाव इति चेत्, न, श्रुतापेक्षत्वात् । १९। परोपदेशापेक्षत्वात् । किञ्च, लब्ध्यक्षरत्वात् । २०। 'चक्षुःश्रोत्रघ्राणरसनस्पर्शनमनोलब्ध्यक्षरम्' इत्यर्ष उपदेशः । अतः लब्ध्यक्षरसानिध्यात् एतत्सिध्यति अनिःसृतानुक्तानामपि शब्दादीना अवग्रहादिज्ञानम् । = प्रश्न—स्पर्शन रसना घ्राण और श्रोत्र ये चार इन्द्रियाँ प्राप्यकारी हैं (दे० इन्द्रिय/२), अतः इनसे अनिःसृत और अनुक्त ज्ञान नहीं हो सकते ? उत्तर—इन इन्द्रियोसे किसी न किसी रूपमें पदार्थका सम्बन्ध अवश्य हो जाता है, जैसे कि चींटी आदिको घ्राण व रसना इन्द्रियके प्रदेशको प्राप्त न होकर भी गुड आदि द्रव्योके रस व गन्धका जो ज्ञान होता है, वह गुड आदिके अप्रत्यक्ष अवग्रहभूत सूक्ष्म परमाणुओंके साथ उसकी घ्राण व रसना इन्द्रियोका सम्बन्ध होनेके कारण ही होता है। प्रश्न—हम लोगको तो वैसा ज्ञान नहीं होता है ? उत्तर—नहीं, श्रुतज्ञानकी अपेक्षा हमें भी वैसा ज्ञान पाया जाता है, क्योंकि, उसमें परोपदेशकी अपेक्षा रहती है। दूसरी बात यह भी है, कि आगममें श्रुतज्ञानके भेद-प्रभेदके प्रकरणमें लब्ध्यक्षरके चक्षुः, श्रोत्र, घ्राण, रसना, स्पर्शन और मनके भेदसे छह भेद किये हैं (दे० श्रुतज्ञान/११/१), इसलिए इन लब्ध्यक्षररूप श्रुतज्ञानोंसे उन-उन इन्द्रियो द्वारा अनिःसृत और अनुक्त आदि विशिष्ट अवग्रह आदि ज्ञान होता रहता है।

१८. ध्रुव व अध्रुव ज्ञानोंके लक्षण

स. सि. १/१६/११३/१ ध्रुवं निरन्तरं यथार्थग्रहणम् । = जो यथार्थ ग्रहण निरन्तर होता है, उसके जतानेके लिए ध्रुव पद दिया है। (और भी दे० अगला शीर्षक नं० १६)। (ग। वा. १/१६/१३/६३/२१)। रा. वा. १/१६/१६/६४/५ संक्लेशपरिणामनिरुक्तस्य यथानुरूपश्रोत्रेन्द्रियावरणक्षयोपशमादिपरिणामकारणावस्थितत्वं च यथा प्राथमिकं शब्दग्रहण तथावस्थितमेव शब्दमवगृह्णाति नोन नाभ्याधिकम् । पौन -

पुन्येन संक्लेशविशुद्धिपरिणामकारणापेक्षस्यात्मनो यथानुरूपपरिणामोपात्तश्रोत्रेन्द्रियासानिधयेऽपि तदावरणस्येषदोषदाविर्भावात् पौन-पुनिकं प्रकृष्टावकृष्टश्रोत्रेन्द्रियावरणादक्षयोपशमपरिणामत्वाच्च अध्रुवमवगृह्णाति शब्दम्—क्वचिद् बहु क्वचिदल्प क्वचिद् बहुविधं क्वचिदेकविधं क्वचित् क्षिप्रं क्वचिच्चिरेण क्वचिदनिःसृतं क्वचिदुक्तं क्वचिदनुक्तम् । = संक्लेश परिणामोंके अभावमें यथानुरूप ही श्रोत्रेन्द्रियावरणके क्षयोपशमादि परिणामरूप कारणोंके अवस्थित रहनेसे, जैसा प्रथम समयमें शब्दका ज्ञान हुआ था आगे भी वैसा ही ज्ञान होता रहता है। न कम होता है और न अधिक। यह 'ध्रुव' ग्रहण है। परंतु पुनः पुनः संक्लेश और विशुद्धिमें भूलनेवाले आत्माको यथानुरूप श्रोत्रेन्द्रियका सांनिध्य रहनेपर भी उसके आवरणका किञ्चित् उदय रहनेके कारण, पुनः पुनः प्रकृष्ट व अप्रकृष्ट श्रोत्रेन्द्रियावरणके क्षयोपशमरूप परिणाम होनेसे शब्दको अध्रुव ग्रहण होता है, अर्थात् कभी बहुत शब्दोंको जानता है, और कभी अल्पको, कभी बहुत प्रकारके शब्दोंको जानता है और कभी एक प्रकारके शब्दोंको, कभी शीघ्रतासे शब्दको जान लेता है और कभी देरसे, कभी प्रगट शब्दको ही जानता है और कभी अप्रगटको भी, कभी उक्तको ही जानता है और कभी अनुक्तको भी।

ध. ६/१, ६-९, १४/२१/१ णिच्चत्तार गृहण ध्रुवावग्रहो, तद्विषयीय-गृहणमद्ध्रुवावग्रहो । = नित्यतासे अर्थात् निरन्तर रूपसे ग्रहण करना ध्रुव-अवग्रह है और उससे विपरीत ग्रहण करना अध्रुव अवग्रह है।

ध. १/१, २ ११६/३२७/६ सोऽप्यमित्यादि ध्रुवावग्रह । न सोऽप्यमित्याद्य-ध्रुवावग्रहः । = 'वह यही है' इत्यादि प्रकारसे ग्रहण करनेको ध्रुवावग्रह कहते हैं और 'वह यह नहीं है' इस प्रकारसे ग्रहण करनेको अध्रुवावग्रह कहते हैं। (ध. ६/१, २, ४४/१४४/६)।

ध. १३/५, ६, ३५/२३६/३ नित्यत्वविशिष्टस्तम्भादिप्रत्यय स्थिरः ।... विशुद्धत्वदीपज्वालादौ उत्पादविनाशविशिष्टवस्तुप्रत्ययः अध्रुवः । उत्पाद-व्यय ध्रौव्यविशिष्टवस्तुप्रत्ययोऽपि अध्रुवः, ध्रुवात्सृग्भूतत्वात् । = नित्यत्वविशिष्ट स्तम्भ आदिका ज्ञान स्थिर अर्थात् ध्रुवप्रत्यय है और निजली, दीपककी लौ आदिमें उत्पाद विनाश युक्त वस्तुका ज्ञान अध्रुव प्रत्यय है। उत्पाद व्यय और ध्रौव्य युक्त वस्तुका ज्ञान भी अध्रुव प्रत्यय है, क्योंकि, यह ज्ञान ध्रुव ज्ञानसे भिन्न है।

१९. ध्रुवज्ञान व धारणामें अन्तर

स. सि. १/१६/११४/४ ध्रुवावग्रहस्य धारणायाश्च कः प्रतिविषोषः । उच्यते, क्षयोपशमप्राप्तिकाले विशुद्धपरिणामसंतत्या प्राप्तारक्षयोपशमात्प्रथमसमये यथावग्रहस्तर्ध्वं द्वितीयादिष्वपि समयेषु नोनो नाभ्याधिक इति ध्रुवावग्रह इत्युच्यते । यदा पुनर्विशुद्धपरिणामस्य संक्लेशपरिणामस्य च मिथ्यात्क्षयोपशमो भवति तत उत्पद्यमानोऽवग्रहः कदाचिद् ब्रह्मना कदाचिदल्पस्य कदाचिद् बहुविधस्य कदाचिदेकविधस्य वेति न्यूनाधिकभावादध्रुवावग्रह इत्युच्यते । धारणा पुनर्गृहीतार्थाविस्मरणकारणमिति महदनयोरन्तरम् । = प्रश्न—ध्रुवावग्रह और धारणामें क्या अन्तर है। उत्तर—क्षयोपशमकी प्राप्तिके समय विशुद्ध परिणामोंकी परम्पराके कारण प्राप्ति हुए क्षयोपशमसे प्रथम समय जैसा अवग्रह होता है, वैसा ही द्वितीय आदि समयोंमें भी होता है, न न्यून होता है और न अधिक, यह ध्रुवावग्रह है। किन्तु जब विशुद्ध परिणाम और संक्लेश परिणामोंके मिश्रणसे क्षयोपशम होकर उससे अवग्रह होता है, तब वह कदाचित् बहुतका होता है, कदाचित् अल्पका होता है, कदाचित् बहुविधका होता है और कदाचित् एकविधका होता है। तात्पर्य यह कि उसमें न्यूनाधिक भाव होता रहता है, इसलिए वह अध्रुवावग्रह कहलाता है। किन्तु धारणा तो गृहीत अर्थके नहीं भूलनेके कारणभूत ज्ञानको कहते हैं, अतः ध्रुवावग्रह और धारणामें बड़ा अन्तर है।

२०. ध्रुवज्ञान एकान्तरूप नहीं है

ध. १३/५.५.३५/२३६/४ न च स्थिरप्रत्यय' एकान्त इति प्रत्यवस्थातुं युक्तम्, विधिनिषेधाद्विद्वारेण अत्रापि अनेकान्तविषयत्वदर्शनात् ।
 =स्थिर (ध्रुव) ज्ञान एकान्तरूप है, ऐसा निश्चय करना युक्त नहीं है, क्योंकि, विधि-निषेधके द्वारा यहाँपर भी अनेकान्तकी विषयता देखी जाती है ।

मतिज्ञानावरण—(दे० ज्ञानावरण) ।

मत्तजला—पूर्व विदेहको एक विभगा नदी—दे० लोक/५/८ ।

मत्स—महामत्स सम्बन्धी विषय—दे० समूच्छर्न ।

मत्स्य—भरतक्षेत्रमें मध्य आर्यखण्डका एक देश—दे० मनुष्य/४ ।

मत्स्योद्धर्त—कायोत्सगका अतिचार—दे० व्युत्सर्ग/१ ।

मत्सर—न्या. द./भाष्यकी टिप्पणी/४/१/३/२३० प्रक्षीयमाणवस्त्व-परित्यागेच्छा मत्सर । =जिस वस्तुमें अपना कोई प्रयोजन न हो, पर उसमें प्रतिसन्धान करना, पर व्यक्तिके अनुकूल पदार्थके निवारण-की अथवा उसके घातकी अथवा उसके गुणोंके वातकी इच्छा करना मत्सर है ।

मथमतिकी—Mathematics (ज. प/प्र १०७) ।

मथुरा—१. भरत क्षेत्रका एक नगर—दे० मनुष्य/४ । भारतके उत्तर-प्रदेशका प्रसिद्ध नगर मथुरा है । और दक्षिण प्रदेशका प्रसिद्ध नगर 'मथुरा' है ।

मथुरा संघ—दिगम्बर साधुओंका माथुरसंघ—दे० इतिहास/५/२३ ।

मद्य—

नि. सा./ता. वृ/११२ अत्र मदशब्देन मदन. कामपरिणाम इत्यर्थः ।
 =यहाँ मद शब्दका अर्थ मदन या काम परिणाम है ।

र. क. भा/२५ अष्टावाश्रित्य मानित्वं स्मयमाहुर्गतस्मयाः । २५ । =ज्ञान आदि आठ प्रकारसे अपना ब्रह्मपन माननेको गणधरादिने मद कहा है । (अन. ध./२/८७/२१३); (भा. पा./टी./१५७/२६६/२०) ।

१. मदके आठ भेद

सू. आ./५३ विज्ञानमैश्वर्यं आज्ञा कुलबलतपोरूपजातिः मदा ।
 =विज्ञान, ऐश्वर्य, आज्ञा, कुल, बल, तप, रूप और जाति ये आठ मद है । (अन. ध./२/८७/२१३); (द्र. स./टी/४१/१६८/८) ।

र. क. भा./२५ ज्ञानं पूजां कुलं जातिं बलमृद्धिं तपो वपुः । अष्टावा-श्रित्य मानित्वं स्मयमाहुर्गतस्मयाः । २५ । =ज्ञान, पूजा (प्रतिष्ठा), कुल, जाति, बल, ऋद्धि, तप, शरीरकी सुन्दरता इन आठोंको आश्रय करके गर्व करनेको मद कहते हैं ।

२. आठ मदोंके लक्षण

मो. पा./टी./२७/३२२/४ मदा अष्ट—अष्ट ज्ञानवान् सकलशास्त्रज्ञो वर्ते । अहं मान्यो महामण्डलेश्वरा मत्पादसेवका । कुलमपि मम पितृपक्षोऽतीवोऽज्ज्वल. कोऽपि ब्रह्महत्या ऋषिहत्यादिभिरदोषम् । जाति—मम माता सधस्य पर्युर्द्वहिता—शीलेन सुलोचना-सीता-अनन्तमती माता—चन्दनादिका वर्तते । बल—अहं सहस्रभटो लक्षभट. कोटिभट । ऋद्धि—ममानेकलक्षकोटिगणनं धनमासीत् तदपि मया त्यक्तं अन्ये मुनयोऽधर्मणा सन्तो वीक्षां जगृह । तप—अहं सिंहनिष्क्रोडितविमानपत्तिसर्वतोभद्र—आदि महातपोविधि-विधाता मम जन्मैवं तप कुर्वतो गतं, एते तु यत्तयो, निरयभोजन-रता । वपु—मम रूपाये कामदेवोऽपि दासत्वं करोतीत्यष्टमदा । =मद आठ हैं—मै ज्ञानवान् हूँ, सकलशास्त्रोका ज्ञाता हूँ यह

ज्ञानमद है । मै सर्वमान्य हूँ । राजा-महाराजा मेरी सेवा करते हैं यह पूजा आज्ञा या प्रतिष्ठाका मद है । मेरा पितृपक्ष अतीव उज्ज्वल है । उसमें ब्रह्महत्या या ऋषिहत्या आदिका भी दूषण आज तक नहीं लगा है । यह कुलमद है । मेरी माताका पक्ष बहुत ऊँचा है । वह संपत्तिकी पुत्री है । शीलमें सुलोचना, सीता, अनन्तमति व चन्दना आदि सरीस्त्री है । यह जातिमद है । मै सहस्रभट, लक्षभट, कोटिभट हूँ यह बलमद है । मेरे पास अरबों रुपयेकी सम्पत्ति थी । उस सबका छोड़कर मै मुनि हुआ हूँ । अन्य मुनियोने अधर्मी होकर दीक्षा ग्रहण की है । यह ऋद्धि या ऐश्वर्य मद है । सिंहनिष्क्रोडित, विमानपत्ति, सर्वतोभद्र आदि महातपोकी विधिका विधाता हूँ । मेरा सारा जन्म तप करतै-करते गया है । ये सर्व मुनि तो निरय भोजनमें रत रहते हैं । यह तप मद है । मेरे रूपके सामने कामदेव भी दासता करता है यह रूपमद है ।

मदना—भरत क्षेत्रमें आर्यखण्डकी एक नदी—दे० मनुष्य/४ ।

मद्य—

*** मद्यको अभक्ष्यताका निर्देश**—दे० भक्ष्याभक्ष्य/२ ।

१. मद्यके निषेधका कारण

दे० मांस/२ (नवनीत, मद्य, माम व मधु ये चार महाविकृति है ।)
 पु. सि. उ/६२-६४ मद्यं मोहयति मनो मोहितचित्तस्तु विस्मरति धर्मम् । विस्मृतधर्मा जीवो हिसामविशङ्कमाचरति । ६२ । रसजानां च वहना जीवानां योनिरिष्यते मद्यम् । मद्यं भजतां तेषां हिसा संजायतेऽवश्यम् । ६३ । अभिमानभयजुगुप्साहास्यरतिशोककामको-पाद्या । हिसायाः पर्याया. सर्वेऽपि सरकसंनिहिता । ६४ । =मद्य मनको मोहित करता है, मोहितचित्त होकर धर्मको भूल जाता है । और धर्मको भूला हुआ वह जीव नि शंकपने हिसा रूप आचरण करने लगता है । ६२ । रस द्वारा उत्पन्न हुए अनेक एकेन्द्रियादिक जीवोंकी यह मदिरा योनिभूत है । इसलिए मद्य सेवन करनेवालेको हिसा अवश्य होती है । ६३ । अभिमान, भय, जुगुप्सा, रति, शोक, तथा काम-क्रोधादिक जितने हिसाके भेद हैं वे सब मदिराके निकट-वर्ती हैं । ६४ ।

सा. ध./२/४-५ यदैकबिन्दो. प्रचरन्ति जीवाश्चैतत् त्रिलोकीमपि पूरयन्ति । यद्विषलवाश्चैयममु च लोक यास्यन्ति तत्कश्यमवश्यमस्येत । ४ । पीते यत्र रसाङ्गजीवनिवहा. क्षिप्रं त्रियन्तेऽखिला, कामक्रोधभयभ्रम-प्रभृतयः सावद्यमुद्यन्ति च । तन्मद्यं वलयन् धूर्तिलपरास्कन्दीव यास्यापदं, तत्पापी पुनरेकपादिव दुराचारं चरन्मज्जति । ५ । =जिसकी एक बूँदके जीव यदि फैल जाये तो तीनों लोकोको भी पूर्ण कर देते हैं, और जिस मद्यके द्वारा मूर्च्छित हुए मनुष्य इस लोक और परलोक दोनोंको नष्ट कर देते हैं । उस मद्यको कल्याणार्थी मनुष्य अवश्य ही छोड़े । ४ । जिसके पीनेसे मद्यमें पीदा होनेवाले उस समस्त जीव समूहकी मृत्यु हो जाती है, और पाप अथवा निन्दके साथ-साथ काम, क्रोध, भय, तथा भ्रम आदि प्रधान दोष उदयको प्राप्त होते हैं, उस मद्यको छोड़नेवाला पुरुष धूर्तिल नामक चोरकी तरह विपत्तिको प्राप्त नहीं होता है । और उसको पीनेवाला एकपात नामक संन्यासी-की तरह निन्द आचरणको करता हुआ दुर्गतिके दु.खोंको प्राप्त होता है ।

ला. स./२/७० दोषत्वं प्राङ्मतिभ्रशस्ततो मिथ्याबोधनम् । रागादय-रतत. कर्म ततो जन्मेह बलेशता । ७० । =इसके पीनेसे—पहले तो बुद्धि भ्रष्ट होती है, फिर ज्ञान मिथ्या हो जाता है, अर्थात् माता, बहन आदिको भी स्त्री समझने लगता है । उससे रागादिक उत्पन्न होते हैं, उनसे अन्यायरूप क्रियाएँ तथा उनसे अत्यन्त बलेशरूप जन्म मरण होता है ।

३. मद्यत्यागके अतिचार

सा. घ./३/११ सन्धानकं त्यजेत्सर्वं दधितक्र द्रव्यहोषितम् । काञ्जिकं पुष्पितमपि मद्यव्रतमलोऽन्यथा । ११ = दार्शनिक श्रावक अचार-मुरब्बा आदि सर्व ही प्रकारके सन्धानको और जिससे दो दिन व दो रात बीत गये है ऐसे दही व छाछको, तथा जिसपर फूई आ गयी हो ऐसी काजोको भी छोड़े, नहीं तो मद्यत्याग व्रतमें अतिचार होता है । ला. सं/२/६८-६९ भगाहिफेनधत्तूरखसखसादिफलं च यत् । माद्यताहेतु-रन्यद्वा सर्वं मद्यवदोरितम् । ६८। एवमित्यादि यद्वस्तु सुरेव मदकार-कम् । तन्निरिवल त्यजेद्धोमात् श्रेयसे ह्यात्मनो गृही । ६९। = भोग, नागफेन, धतूरा, खसखस (चरस, गोजा) आदि जो-जो पदार्थ नशा उत्पन्न करनेवाले है, वे सब मद्यके समान ही कहे जाते हैं । ६८। ये सब तथा इनके समान अन्य भी ऐसे ही नशीले पदार्थ, कल्याणार्थी बुद्धिमात् व्यक्तिको छोड़ देने चाहिए । ६९।

मद्र—भरतक्षेत्र मध्य आर्यखण्डका एक देश । अपर नाम मद्रकार—दे० मनुष्य/४।

मद्रक—उत्तर आर्यखण्डका एक देश—दे० मनुष्य/४।

मद्रो—पा. पु./सर्ग/३लोक—राजा अन्धकवृष्णिकी पुत्री तथा बसुदेवकी बहन । (७/१२२-१२८) । 'पाण्डु' से विवाही । (८/३४-८७, १०७) । नकुल व सहदेवको जन्म दिया । (८/३७४-३७५) । पतिके दीक्षित हो जानेपर स्वयं भी घर, आहार व जलका त्याग कर सौधर्म स्वर्गमें चली गयी । (९/१५६-१६१) ।

मधु—

* मधुकी अमक्ष्यताका निर्देश—(दे० मद्याभक्ष्य/२) ।

१. मधु निषेधका कारण

दे मास/२ नवनीत, मद्य, मास व मधु ये चार महाविकृतियाँ हैं । पु. सि. उ/६६-७० मधुशकलमपि प्रायो मधुरकरहिंसात्मको भवति लोके । भजति मधुमुदधीको य स भवति हिंसकोऽत्यन्तकम् । ६६। स्वयमेव विगलितं यो गृहोयाद्वा छलेन मधुगोलात् । तत्रापि भवति हिंसा तदाश्रयप्राणिना घातात् । ७०। = मधुकी बूँद भी मधुमखलीकी हिंसा रूप ही होती है, अतः जो मन्दमति मधुका सेवन करता है, वह अत्यन्त हिंसक है । ६६। स्वयमेव चूषे अथवा छल द्वारा मधुके छत्ते में लिये हुए मधुका ग्रहण करनेसे भी हिंसा होती है, क्योंकि इस प्रकार उसके आश्रित रहनेवाले अनेको क्षुद्रजीवोंका घात होता है । यो. सा. अ/५/६२ बहुजीवप्रघातोर्थं बहुजीवोद्भावात्पदम् । असयम-विभीतेन त्रेधा मध्वपि वज्रते । ६२। = सयमकी रक्षा करनेवालोंको, बहुत जीवोंके घातसे उत्पन्न तथा बहुत जीवोंकी उत्पत्तिके स्थानभूत मधुको मन वचन काग्रसे छोड़ देना चाहिए । अ ग श्रा/५/३२ योऽपि नाम भेषजेच्छया, सोऽपि याति लघु दु ख-मुन्वणम् । कि न नाशयति जीवितेच्छया, भक्षित भट्टिति जीवितं विषम् । ३२। = जो औषधकी इच्छासे भी मधु खाता है, सो भी तीव्र दु खको शीघ्र प्राप्त होता है, क्योंकि, जीनेकी इच्छासे खाया हुआ विष, क्या शीघ्र ही जीवनका नाश नहीं कर देता है । सा. घ./२/११ मधुवृद्ध्यात्तथातोत्थ मध्वशुच्यपि त्रिन्दुश' । खादन् बध्नात्यय सप्तग्रामदाहाहसोऽधिकम् । ११। = मधुको उपार्जन करने-वाले प्राणियोंके समूहके नाशसे उत्पन्न होनेवाली तथा अपवित्र, ऐसी मधुकी एक बूँद भी खानेवाला पुरुष सात ग्रामोंको जलानेसे भी अधिक पापको बाँधता है । ला. सं./२/७२-७४ माक्षिक मक्षिकाना हि माससृक् पीडनीज्वम् । प्रसिद्धं सर्वलोके स्यात्प्रामेष्पि सूचितम् । ७२। न्यायात्तद्भक्षणे नूनं पिशिताशनदूषणम् । त्रसस्ता मक्षिका यस्मादासिर्षं तत्कलेवरम् । ७४।

किञ्च तत्र निकोतादि जीवा ससर्गजा क्षणात् । संसृच्छिमा न मुञ्चन्ति तत्सर्गं जातु क्रव्यवत् । ७४। = मधुकी उत्पत्ति मक्खियोंके मास रक्त आदिके निचोडसे होती है, यह बात समस्त संसारमें प्रसिद्ध है, तथा शास्त्रोंमें भी यही बात बतलायी है । ७२। इस प्रकार न्यायसे भी यह बात सिद्ध हो जाती है कि मधुके खानेमें मास भक्षणका दोष आता है, क्योंकि मक्खियाँ त्रस जीव होनेसे उनका कलेवर मास कहलाता है । ७३। इसके सिवाय एक बात यह भी है कि जिस प्रकार मासमें सूक्ष्म निगोदराशि उत्पन्न होती रहती है, उसी प्रकार जिस-किसी भी अवस्थामें रहते हुए भी मधुमें सदा जीव उत्पन्न होते रहते हैं । उन जीवोंसे रहित मधु कभी नहीं होता है । ७४।

२. मधुत्यागके अतिचार

सा. घ./३/१३ प्रायः पुष्पाणि नाशनीयान्मधुव्रतविशुद्धये । वस्त्यादिष्वपि मध्वादिप्रयोगं नार्हति व्रती । १३। = मधुत्याग व्रतीके लिए फूलोंका खाना तथा वस्तिकर्म आदि (पिण्डदान या औषधि आदि) के लिए भी मधुको खाना वर्जित है । 'प्रायः' शब्दसे, अच्छी तरह शोधे जाने योग्य मधुआ व नागकेसर आदिके फूलोंका अत्यन्त निषेध नहीं किया गया है (यह अर्थ पं. आशाधरजीने स्वयं लिखा है) । ला. सं/२/७७ प्राग्वदत्राप्यतीचारा' सन्ति केचिज्जिनागमात् । यथा पुष्परस' पीत पृष्पाणामासवो यथा । ७७। = मद्य व मांसवत् मधुके अतिचारोंका भी शास्त्रोंमें कथन किया गया है । जैसे—फूलोंका रस या उनसे बना हुआ आसव आदिका पीना । गुलकन्दका खाना भी इसी दोषमें गभित है ।

३. मधु नामक पौराणिक पुरुष

१. म. पु./५६/८८ पूर्वभवं वर्तमान नारायणका धन जुएमें जीता था । और वर्तमान भवमें तृतीय प्रतिनारायण हुआ । अपर नाम 'मेरुक' था ।—विशेष दे शलाका पुरुष/५ । २. प. पु./सर्ग/३लोक ।— "मधुराके राजा हरिवाहनका पुत्र था । (१२/३) । रावणकी पुत्री कृतचित्राका पति था । (१२/१८) । रामचन्द्रजीके छोटे भाई शत्रुघ्नके साथ युद्ध करते समय प्रतिबोधको प्राप्त हुआ । (८९/६६) । हाथी-पर बैठे-बैठे दीक्षा धारण कर ली । (८९/१११) । तदनन्तर समाधि-मरण पूर्वक सनत्कुमार स्वर्गमें देव हुआ । (८९/११५) । ३. ह. पु./४३/३लोक—अयोध्या नगरीमें हेमनाभका पुत्र तथा कैटभका बड़ा भाई था । १५६। राज्य प्राप्त करके । (१६०) । राजा वीरसेनकी स्त्री चन्द्राभापर मोहित हो गया । (१६५) । बहाना कर दोनोंको अपने घर बुलाया तथा चन्द्राभाको रोककर वीरसेनको लौटा दिया । (१७१-१७६) । एक बार एक व्यक्तिको परस्त्रीगमनके अपराधमें राजा मधुने हाथ-पाँव काटनेका दण्ड दिया । इस चन्द्राभाने उसे उसका अपराध याद दिलाया । जिससे उसे वैराग्य आ गया । और विमल-वाहन मुनिके संघमें भाई कैटभ आदिके साथ दीक्षित हो गया । चन्द्राभाने भी आर्यिकाकी दीक्षा ली । (१७८-२०२) । शरीर छोड़ आरण्य अच्युत स्वर्गमें इन्द्र हुआ । (२१६) । यह प्रद्युम्न कुमारका पूर्वका दूसरा भव है ।—दे० प्रद्युम्न ।

मधुकैटभ—म. पु./६०/३लोक—अपर नाम मधुसूदन था । दूरवर्ती पूर्वभवं मलय देशका राजा चण्डशासन था । (५२) । अनेको योनियोंमें घूमकर वर्तमान भवमें चतुर्थ प्रतिनारायण हुआ । (७०) ।—विशेष दे, शलाकापुरुष/५ ।

मधुक्रोड़—दे० निशुंभ ।

मधुपिंगल—म. पु./६७/२२३-२५५, ३६६-४५८—सगर चक्रवर्ती विश्वयूके षड्यन्त्रके कारण स्वयम्बरमें 'सुलसा' से वंचित रह जानेके कारण दीक्षा धर, निदानपूर्वक देह त्याग यह महाकाल नामक व्यन्तर

हो गया और सगरसे पूर्व बैरका बदला चुकानेके लिए 'पर्वत' को हिंसात्मक यज्ञोके प्रचारमें सहयोग देने लगा ।

मधुर संभाषण—दे० सत्य/२ ।

मधुरा—१ म. पु/५६/२०७-२१० कोशल देशके वृद्धयाममें मृगायण नामक ब्राह्मणकी स्त्री थी । मरकर पौदनपुर नगरके राजाकी पुत्री रामदत्ता हुई । (यह मेरु गणधरका पूर्वका नवाँ भव है—दे० मेरु) ।
२. दक्षिण द्रविड देशमें वर्तमान मडुरा (मडुरा) नगर । (द. स./ प्र. १ जवाहरलाल शास्त्री) ।

मधुसूदन—दे०. मधुकुटभ ।

मधुसूदन सरस्वती—वेदान्त शास्त्रके अद्वैत सिद्धिके रचयिता । समय ई. १३५० ।—दे. वेदान्त/१ ।

मधुस्त्रावी—दे ऋद्धि/८ ।

मध्य—१. दक्षिण व उत्तर वारुणीवर समुद्रका रक्षक देव—दे व्यतर/४ । २. भरतक्षेत्र आर्यखण्डका एक देश—दे० मनुष्य/४ ।

मध्य खंड द्रव्य—दे० कृष्टि ।

मध्यधन—दे० गणित/II/५/३ ।

मध्यम पद—दे० पद ।

मध्य प्रदेश—जीवके आठ मध्य प्रदेश—दे० जीव/४ ।

मध्यम स्वर—दे० स्वर ।

मध्यमा वाणी—दे० भाषा ।

मध्य सीमांसा—दे० दर्शन/षट्दर्शन ।

मध्यलोक—१ मध्यलोक परिचय—दे० लोक/३-६ २. मध्यलोकके नकशे—दे० लोक/७ ।

मध्यस्थ—दे० माध्यस्थ ।

मध्याह्न—ठोक दोपहरका संधिकाल ।

मनःपर्यय—बिना पूछे किसीके मनकी बातको प्रत्यक्ष जान जाना मन पर्ययज्ञान है । यद्यपि इसका विषय अवधिज्ञानसे अल्प है, पर सूक्ष्म होनेके कारण उससे अधिक विशुद्ध है । और इसलिए यह सयनी साधुओंको ही उत्पन्न होना सम्भव है । यद्यपि प्रत्यक्ष है परन्तु इसमें मनका निमित्त उपचारसे स्वीकार किया गया है । यह दो प्रकारका है—ऋजुमति और विपुलमति । प्रथम केवल चिन्तित पदार्थको ही जानता है, परन्तु विपुलमति चिन्तित, अचिन्तित, अर्धचिन्तित व चिन्तितपूर्व सबको जाननेमें समर्थ है ।

१ मनःपर्यय ज्ञानसामान्य निर्देश

- १ मनःपर्ययज्ञान सामान्यका लक्षण
१ परकीय मनोगत पदार्थको जानना ।
२. पदार्थके चिन्तनयुक्त मन या ज्ञानको जानना ।
- २ उपरोक्त दोनों लक्षणोंका समन्वय ।
- * मन पर्ययज्ञानकी देश प्रत्यक्षता —दे० मनःपर्यय/३/६ ।
- * मनःपर्ययज्ञान व अवधिज्ञानमें अन्तर
—दे० अवधिज्ञान/२ ।
- * अवधिकी अपेक्षा मनःपर्ययकी विशुद्धता
—दे अवधिज्ञान/२ ।

- * मनःपर्यय, मति व श्रुतज्ञानमें अन्तर
—दे० मन पर्यय/३ ।
- * मनःपर्यय क्षायोपशमिक कैसे—दे० मतिज्ञान/२/४ ।
- * मनःपर्यय निसर्गज है—दे० अधिगम ।
- * मनःपर्ययका दर्शन नहीं होता—दे० दर्शन/६ ।
- ३ मनःपर्ययज्ञानका विषय
१. मनोगत अर्थ व अन्य सामान्य विषयकी अपेक्षा ।
२. द्रव्य क्षेत्र काल व भावकी अपेक्षा ।
३ मनःपर्यय ज्ञानकी त्रिकालग्राहकता ।
- ४ मूर्तद्रव्यग्राही मनःपर्यय द्वारा जीवके अमूर्त भावोंका ग्रहण कैसे ?
- ५ मूर्तग्राही मनःपर्यय द्वारा जीवके अमूर्त कालद्रव्य सापेक्ष भावोंका ग्रहण कैसे ?
- ६ क्षेत्रगत विषय सम्बन्धी स्पर्शीकरण ।
- ७ मनःपर्ययज्ञानके भेद ।
- * मनःपर्ययज्ञानमें जाननेका क्रम ।—दे० मन पर्यय/३ ।
- * मोक्षमार्गमें मनःपर्ययकी अप्रधानता
—दे० अवधिज्ञान/२ ।
- * प्रत्येक तीर्थंकरके कालमें मनःपर्ययज्ञानियोंका प्रमाण ।
—दे० तीर्थंकर/५ ।
- * मनःपर्यय सम्बन्धी गुणस्थान, मार्गणास्थान, जीवसमास आदि २० प्ररूपणाएँ । —दे० सत ।
- * मन पर्ययज्ञानियोंकी सत्, संख्या, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर, भाव व अल्पबहुत्वरूप प्ररूपणाएँ
—दे० वह-वह नाम ।
- * सभी मार्गणास्थानोंमें आश्रयके अनुसार व्यय होनेका नियम । —दे० मार्गणा ।
- २ ऋजु व विपुलमति ज्ञान निर्देश
- १ ऋजुमति सामान्यका लक्षण ।
- २ ऋजुत्वका अर्थ ।
- ३ ऋजुमतिके भेद व उनके लक्षण ।
- ४ ऋजुमतिकी विषय
१. मनोगत अर्थ व अन्य सामान्य विषयकी अपेक्षा ।
२-४. द्रव्य, क्षेत्र, काल व भावकी अपेक्षा ।
- ५ ऋजुमति अचिन्तित व अनुक्त आदिका ग्रहण क्यों नहीं करता ।
- ६ वचनगत ऋजुमतिकी मनःपर्यय सत्ता कैसे ?
- ७ विपुलमति सामान्यका लक्षण ।
- ८ विपुलत्वका अर्थ ।
- ९ विपुलमतिके भेद व उनके लक्षण ।
- १० विपुलमतिकी विषय
१. मनोगत अर्थ व अन्य सामान्य विषयकी अपेक्षा ।
२-४. द्रव्य, क्षेत्र, काल व भावकी अपेक्षा ।
- ११ अचिन्तित अर्थगत विपुलमतिकी मन पर्यय सत्ता कैसे ?
- १२ विशुद्धि व प्रतिपातकी अपेक्षा दोनों अन्तर

३	मनःपर्ययज्ञानमें स्व व पर मनका स्थान
१	मनःपर्ययका उत्पत्तिस्थान मन है, करणचिद्ध नहीं।
२	दोनों ही शानोमें मनोमति पूर्वक परकीय मनको जानकर पीछे तद्गत अर्थको जाना जाता है।
३	ऋजुमतिमें इन्द्रियों व मनकी अपेक्षा होती है, विपुलमतिमें नहीं।
४	मनकी अपेक्षामात्रसे यह मतिज्ञान नहीं कहा जा सकता।
५	मतिज्ञान पूर्वक होते हुए भी इसे श्रुतज्ञान नहीं कहा जा सकता।
६	मनःपर्ययज्ञान प्रत्यक्ष व इन्द्रियनिरपेक्ष है।
४	मनःपर्ययका स्वामित्व
१	ऋद्धिधारी प्रवर्द्धमान संयतको ही सम्भव है।
२	अप्रमत्तादि गुणस्थानोंमें उत्पन्न होता है।
३	ऋजु व विपुलमतिक्रम स्वामित्व।
४	निचले गुणस्थानोंमें क्यों नहीं होता।
५	सभी समयियोंको क्यों नहीं होता।
*	अप्रशस्त वेदमें नहीं होता। —दे० वेद/६।
*	उपशम सम्यक्त्व व परिहार विशुद्धि आदि गुण विशेषोंके साथ नहीं होता
	—दे० परिहार विशुद्धि/७।
६	द्वि. व प्र. उपशमसम्यक्त्वके कालमें मनःपर्ययके सद्भाव व अभाव सम्बन्धी हेतु।
*	पंचम कालमें सम्भव नहीं—दे० अवधिज्ञान/२/७।

१. मनःपर्ययज्ञान सामान्य निर्देश

१. मनःपर्ययज्ञान सामान्यका लक्षण

१. परकीय मनोगत पदार्थको जानना

ति. प./४/१७३ चित्ताए अचित्ताए अद्भचित्ताए विविधभेदगणं। जं जाणह णरलोए तं चिय मणपज्जवं णाणं। १७३। = चिन्ता, अचिन्ता और अर्धचिन्ताके विषयभूत अनेक भेदरूप पदार्थको जो ज्ञान नरलोके भीतर जानता है, वह मनःपर्ययज्ञान है। (प. स./भा./१/१२५); (घ. १/१.१.११५/गा. १८५/३६०); (क. पा. १/१.१/१२५/४३/३); (गो. जी./मू./४३५/८५७)।

स. सि./१.१/१४/३ परकीयमनोगतोऽर्थो मन इत्युच्यते। साहचर्यत्तिस्य पर्ययणं परिगमनं मनःपर्ययः। = दूसरेके मनोगत अर्थको मन कहते हैं, उसके मनके सम्बन्धसे उस पदार्थका पर्ययण अर्थात् परिगमन करनेको या जाननेको मन पर्ययज्ञान कहते हैं। (रा. वा./१/६/४४/२१); (क. पा. १/१.१/११४/१६/६); (गो. जी./जी.प्र./४३५/५५/५)।

रा. वा./१/६/४४/२१ तदवरणकर्मसुयापशमादि-द्वितीयनिमित्त-वशात् परकीयमनोगतार्थज्ञानं मनःपर्ययः। = मनःपर्यय ज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशमादिरूप सामग्रीके निमित्तसे परकीय मनोगत अर्थको जानना मन पर्यय ज्ञान है। (पं. का. त. प्र./४१); (द्र. सं./टी./५/१७/२)। (न्या. टी./२/११३/३४)।

ध. ६/१.६-१ १४/२५/६ परकीयमनोगतोऽर्थो मन, तस्य पर्याया विशेषा-मनःपर्याया, तात् जानातीति मन पर्ययज्ञानम्। = परकीय मनमें स्थित पदार्थ मन कहलाता है। उसको पर्यायो अर्थात् विशेषको मन पर्यय कहते हैं। उनको जो ज्ञान जानता है वह मन पर्ययज्ञान है। (घ. १३/५.६.२१/२१२/४)।

दे. मन पर्यय १/२ (स्वमनसे परमनका आश्रय लेकर मनोगत अर्थ को जाननेवाला मनःपर्यय ज्ञान है।)

२. पदार्थके चिन्तन युक्त मन या ज्ञानको जानना

ध. १/१.१.२/६४/४ मणपज्जवणाणं णाम परमणोगयाहं मुत्तिदब्बाहं तेण मणेण सह पच्चक्खं जाणदि। = जो दूसरोके मनोगत मूर्तिक द्रव्योंको उस मनके साथ प्रत्यक्ष जानता है, उसे मनःपर्ययज्ञान कहते हैं।

ध. १३/५.६.२१/२१२/५ अथवा मणपज्जवसण्णं जेण रूढिभवा तेण चित्तिए विअचित्तिए वि अस्थे बट्टमाणणाणविसया त्ति घेत्त्वा। = अथवा 'मनःपर्यय' यह संज्ञा रूढिजन्य है। इसलिए चिन्तित व अचिन्तित दोनों प्रकारके अर्थमें विद्यमान ज्ञानको विषय करनेवाली यह संज्ञा है, ऐसा यहाँ ग्रहण करना चाहिए।

२. उपरोक्त दोनों लक्षणोंका समन्वय

ध. १३/५.६.२१/२१२/४ परकीयमनोगतोऽर्थो मनः, मनसः पर्यायाः विशेषा मनःपर्यायाः, तात् जानातीति मनःपर्ययज्ञानम्। सामान्य-व्यतिरिक्तविशेषग्रहणं न संभवति, निर्विषयत्वात्। तस्मात् सामान्यविशेषात्मकवस्तुग्राहि मन पर्ययज्ञानमिति वक्तव्यं चेत्— नैष दोषः, इहत्वात्। तर्हि सामान्यग्रहणमपि कर्तव्यम्। (न), सामर्थ्यलभ्यत्वात्। एवं वयणं देसामासियं। कुदो। अचित्तियणं अद्भचित्तियणं च अस्थानमवगमादो।

= परकीय मनको प्राप्त हुए अर्थका नाम मन है। उस मन (मनोगत पदार्थ) की पर्यायो या विशेषका नाम मनःपर्याय है। उन्हें जो जानता है, वह मन पर्ययज्ञान है।—विशेष दे० लक्षण न० १। प्रश्न—सामान्यको छोड़कर केवल विशेषका ग्रहण करना सम्भव नहीं है, क्योंकि, ज्ञानका विषय केवल विशेष नहीं होता, इसलिए सामान्य विशेषात्मक वस्तुको ग्रहण करनेवाला मनःपर्यय-ज्ञान है, ऐसा कहना चाहिए। उत्तर—यह कोई दोष नहीं, क्योंकि, यह बात हमें इष्ट है। प्रश्न—तो इसके विषय रूपसे सामान्यका भी ग्रहण करना चाहिए। उत्तर—नहीं, क्योंकि सामर्थ्यसे ही उसका ग्रहण हो जाता है। अथवा यह वचन (उपरोक्त लक्षण न० १) देशामर्शक है, क्योंकि, इससे अचिन्तित और अर्धचिन्तित अर्थोंका भी ज्ञान होता है। अथवा (चिन्तित पदार्थोंके साथ-साथ उस चिन्तन युक्त ज्ञान या मनको भी जानता है—दे० लक्षण न० २)। भावार्थ—'परकीय मनोगत पदार्थ' इतना मात्र कहना सामान्य विषय निर्देश है और 'चिन्तित अचिन्तित आदि पदार्थ' यह कहना विशेषविषय निर्देश है। अथवा 'चिन्तित अचिन्तित पदार्थ' यह कहना विशेष विषय निर्देश है और 'इससे युक्त ज्ञान व मन' यह कहना सामान्य विशेष निर्देश है। पदार्थ सामान्य, पदार्थ विशेष और ज्ञान या मन इन तीनों बातोंको युगपत् ग्रहण करनेसे मनःपर्यय ज्ञानका विषय सामान्य विशेषात्मक हो जाता है।

३. मनःपर्ययज्ञानका विषय

१. मनोगत अर्थ व अन्य सामान्य विषयकी अपेक्षा

दे० मन पर्यय/२/४.१० (दूसरोके मनमें स्थित संज्ञा, स्मृति, चिन्ता, मति आदिको तथा जीवोंके जीवन-मरण, सुख-दुःख तथा नगर आदिका विनाश, अतिवृष्टि, सुवृष्टि, दुर्भिक्ष-सुभिक्ष, क्षेम-अक्षेम, भय-रोग आदि पदार्थोंको जानता है।)

२. द्रव्य, क्षेत्र, काल व भावकी अपेक्षा।

त. सू. १/२८ तदनन्तभागे मनःपर्ययस्य । = (द्रव्यकी अपेक्षा) मनः-पर्ययज्ञानकी प्रवृत्ति अवधिज्ञानके विषयके अनन्तवै भगमें होती है । (त सा. १/३३) ।

ध. १/१.१.२/१४/५ द्रव्यदो जहण्णेण एगसमयओरालियसरीरणिज्जरं जाणदि । उक्कस्सेण एगसमयपडिबद्धस्स कम्मइयदव्वस्स अणंतिम-भागं जाणदि । खेत्तदो जहण्णेण गाउवपुभत्तं, उक्कस्सेण माणुसखेत्त-स्संतो जाणदि, णो बहिद्धा । कालदो जहण्णेण दो त्तिणिण भवग्गह-णाणि । उक्कस्सेण असंखेज्जाणि भवग्गहणाणि जाणादि । = मनः-पर्ययज्ञान द्रव्यकी अपेक्षा जघन्य रूपसे एक समयमें होनेवाले औदा-रिक शरीरके निर्जरारूप द्रव्य तकको जानता है । उत्कृष्ट रूपसे कर्मण द्रव्यके अर्थात् आठ कर्मोंके एक समयमें बँधे हुए समय-प्रबद्ध रूप द्रव्यके अनन्त भागोंमेंसे एक भाग तकको जानता है । क्षेत्रकी अपेक्षा जघन्यरूपसे गव्युत्ति पृथक्त्व अर्थात् दो तीन कोस तक क्षेत्रको जानता है और उत्कृष्ट रूपसे मनुष्य क्षेत्रके भीतर तक जानता है, उसके बाहर नहीं । कालकी अपेक्षा जघन्य रूपसे दो तीन भवोंको और उत्कृष्ट रूपसे असंख्यात भवोंको जानता है । (भावकी अपेक्षा द्रव्य प्रमाणसे निरूपण किये गये द्रव्यकी शक्तिको जानता है)

३. मनःपर्ययज्ञानकी त्रिकाल ग्राहकता

दे० लक्षण नं० १ (दूसरेके मनको प्राप्त ऐसे चिन्तित अचिन्तित अर्ध-चिन्तित व चिन्तित पूर्व सब अर्थोंको जानता है—और भी दे० मनःपर्यय/२/१०) ।

दे० मनःपर्यय/२/४.१० (अतीतविषयक स्मृति, वर्तमानविषयक चिन्ता और अनागत विषयक भक्तिको जानता है । इस प्रकार वर्तमान जीवके मनोगत त्रिकाल विषयक अर्थको जानता है ।)

४. मूर्त द्रव्यग्राही मनःपर्यय द्वारा जीवके अमूर्त भावों-का ग्रहण कैसे

ध. १३/५.५.६३/३३३/५ अमूर्तो जीवो कर्धमणपज्जवणाणेण सुत्तट्ट-परिच्छेदियोहिणाणादो हेदुट्ठियेण परिच्छिज्जदे । ण सुत्तट्टकम्मोहि अणादिवंधणवद्धस्स जीवस्स अमुत्तत्ताणुववत्तीदो । स्मृतिरमूर्तं चेतनं, जीवादो पुधभूवसदीए अणुवलंभा । = प्रश्न—यत् जीव अमूर्त है अतः वह मूर्त अर्थको जाननेवाले अवधिज्ञानसे नीचेके मनःपर्यय ज्ञानके द्वारा कैसे जाना जाता है ? उत्तर—नहीं, क्योंकि, संसारी जीव मूर्त आठ कर्मोंके द्वारा अनादि कालीन बन्धनसे बद्ध है, इसलिए वह अमूर्त नहीं हो सकता । प्रश्न—स्मृति तो अमूर्त है ? उत्तर—नहीं, क्योंकि, स्मृति जीवसे पृथक् नहीं उपलब्ध होती है ।

५. मूर्तग्राही मनःपर्यय द्वारा अमूर्त कालद्रव्य सापेक्ष भावोंका ग्रहण कैसे

ध. १३/५.५.६३/३३४/५ एत्तिण णकालेण सुहं होदि त्ति किं जाणादि आहो ण जाणादि त्ति । विदिण पचक्खेण सुहावगमो, कालपमाणावगमा-भावादो । पढमपक्खे कालेण वि पचक्खेण होदव्वं, अण्णहा सुहमेत्ति-एण कालेण एत्तियं वा कालं होदि त्ति वोत्तुमजोगादो । ण च कालो मयपज्जवणाणेण पच्चक्खमवगम्मदे, अमुत्तम्मि तस्स बुत्तिविरोहादो त्ति । ण एस दोसो, बवहारकालेण एत्थ अहियारादो । ण च सुत्तार्णं दव्वार्णं परिणामो कालसणिणदो अमुत्तो चैव होदि त्ति णियमो अत्थि, अव्ववस्थावत्तीदो । = प्रश्न—इतने कालमें सुख होगा, इसे क्या वह जानता है अथवा नहीं जानता ? दूसरा पक्ष स्वीकार करनेपर प्रत्यक्षसे सुखका ज्ञान नहीं हो सकता, क्योंकि, उसके कालका प्रमाण

नहीं उपलब्ध होता है । पहिला पक्ष माननेपर कालका भी प्रत्यक्ष होना चाहिए, क्योंकि, अन्यथा 'इतने कालमें सुख होगा या इतने काल तक सुख रहेगा; यह नहीं जाना जा सकता । परन्तु कालका मनःपर्यय ज्ञानके द्वारा प्रत्यक्ष ज्ञान होता नहीं है क्योंकि, उसकी अमूर्त पदार्थमें प्रवृत्ति माननेमें विरोध आता है । उत्तर—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, यहाँपर व्यवहार कालका अधिकार है । दूसरे, काल संज्ञावाले मूर्त द्रव्योंका (सूर्य, नेत्र, घडी आदिका) परिणाम अमूर्त ही होता है, ऐसा कोई नियम भी नहीं है, क्योंकि वैसा माननेपर अव्यवस्थाकी आपत्ति आती है ।

६. क्षेत्रगत विषय सम्बन्धी स्पष्टीकरण

ध. १/४.१.११/६७/१० एगागससेडोए चैव जाणदि त्ति के वि भणंति । तण्ण घडदे, देव-माणुस्सविज्जाहराइसु णाणस्स अप्पउत्तिपसंगादो । 'माणुसुत्तरसेलस्स अमंत्तरदो चैव जाणेदि णो बहिद्धा' त्ति वग्गण-सुत्तेण पिडिद्धादो माणुसखेत्तअमंत्तरद्विदसव्वमुत्तिदव्व्वाणि जाणदि णो बाहिराणि त्ति के वि भणंति । तण्ण घडदे, माणुसुत्तरसेलसमीवे ठह्ठूण बाहिरदिसाए कओवयोगस्स णाणाणुप्पत्तिप्पसंगादो । होदु च ण, तदणुप्पत्तीए कारणाभावादो । ण ताव खओवसमाभावे... अणिदियस्स पच्चक्खस्स...माणुसुत्तरसेलेण पडिधादाणुववत्तीदो । तदो माणुसुत्तरसेलअमंत्तरवयणं ण खेत्तणियामयं, किंतु माणुसुत्तर-सेलअमंत्तरपणदालीसज्जोयणलव्वणिधामयं, विउलमदि मदिमणपज्जव-णाणुज्जोयसहिदखेत्ते धणागारेण ठइदे पणदालीसज्जोयणलव्वमेत्तं चैव होदि त्ति । = आकाशकी एक श्रेणीके क्रमसे ही जानता है ऐसा कितने ही आचार्य कहते हैं, किन्तु वह घटित नहीं होता, क्योंकि, ऐसा माननेपर देव, मनुष्य एवं विद्याधारादिकोंमें विपुलमति मनः-पर्ययज्ञानकी प्रवृत्ति न हो सकनेका प्रसंग आवेगा । 'मानुषोत्तरसैल-के भीतर ही स्थित पदार्थको जानता है, उसके बाहर नहीं' (दे० मनःपर्यय/२/१०/३) ऐसा वर्णनासूत्र द्वारा निर्दिष्ट होनेसे, मनुष्य-क्षेत्रके भीतर स्थित सब मूर्त द्रव्योंको जानता है, उससे बाह्यक्षेत्रमें नहीं; ऐसा कोई आचार्य कहते हैं । किन्तु यह घटित नहीं होता, क्योंकि, ऐसा स्वीकार करनेपर मानुषोत्तर पर्वतके समीपमें स्थित होकर बाह्य दिशामें उपयोग करनेवालेके ज्ञानकी उत्पत्ति न हो सकनेका प्रसंग होगा । यह प्रसंग आवे तो आने दो, यह कहना भी ठीक नहीं, क्योंकि, उसके उत्पन्न न हो सकनेका कोई कारण नहीं है । क्षयोपशमका तो अभाव है नहीं, और न ही मनःपर्ययके अनि-न्द्रिय प्रत्यक्षका मानुषोत्तर पर्वतसे प्रतिघात होना सम्भव है । अतएव 'मानुषोत्तर पर्वतके भीतर' यह बचन क्षेत्र नियामक नहीं है, किन्तु मानुषोत्तर पर्वतके भीतर ४५००,००० योजनोका नियामक है, क्योंकि, विपुल मतिज्ञानके उद्योत सहित क्षेत्रको घनाकारसे स्थापित करनेपर ४५०००,०० योजन मात्र ही होता है । (इतने क्षेत्रके भीतर स्थित होकर चिन्तवन करनेवाले जीवोंके द्वारा विचार्यमाण द्रव्य मनःपर्ययज्ञानकी प्रभासे अवष्टब्ध क्षेत्रके भीतर होता है, तो जानता है, अन्यथा नहीं जानता है; यह उक्त कथनका तात्पर्य है—(ध. १३); (ध. १३/५.५.७७/३४३/६); (गो. जी/जी प्र/४५६/६६१/१५) ।

७. मनःपर्ययज्ञानके भेद

पं का./ता. घृ./प्रक्षेपक पाथा/४३-४ विउलमदि पुण णाणं अज्जवणाणं च दुविह मणणार्णं । = मनःपर्ययज्ञान दो प्रकारका है—ऋजुमति और विपुलमति । (म. बं. १/१२/३), (दे० ज्ञानावरण/३/६); (त. सू. १/२३); (स. सि. १/२३/१२६/७); (रा. वा १/२३/६/५४/२७); (ह. पु १०/१६३), (क. पा. १/१-१/११४/२०/१); (ध. ६/१.६-१. १४/२८/७), (ज. प १/३/५२); (गो. जी/सू/४३६/५५५) ।

२. ऋजु व विपुलमति ज्ञान निर्देश

१. ऋजुमति सामान्यका लक्षण

स.सि./१/१२३/१२६/२ ऋजुवी निर्वर्तिता प्रगुणा च । करमान्निर्वर्तिता । वाक्कायमन कृतार्थस्य परमनोगतस्य विज्ञानात् । ऋजुवी मतिर्यस्य सोऽयं ऋजुमति । = ऋजुका अर्थ निर्वर्तित (निष्पन्न) और प्रगुण (सीधा) है । अर्थात् दूसरेके मनको प्राप्त वचन काय और मनकृत अर्थके विज्ञानसे निर्वर्तित या ऋजु जिसकी मति है वह ऋजुमति कहलाता है । (रा. वा./१/२३/-/२३/३३); (ध. १३/५,५,६२/३३०/५), (गो. जी./जी. प्र./४३६/८५८/१६) ।

ध. ६/४,१,१०/६२/६ परकीयमतिगतोऽर्थः उपचारेण मतिः । ऋजुवी अवका । ऋजुवी मतिर्यस्य स ऋजुमति । = दूसरेके मनमें स्थित अर्थ उपचार से मति कहा जाता है । ऋजुका अर्थ वक्रता रहित है (या वर्तमान काल है) — (दे० नघ./III/१/२) । ऋजु है मति जिसकी वह ऋजुमति कहा जाता है । (पं. का./ता. वृ./४३-४/८०/३) ।

२. ऋजुत्वका अर्थ

ध. ६/४,१,१०/६२/६ कथमृजुत्वम् । यथार्थं मर्यादोहणात् यथार्थमभिधानगतत्वात् यथार्थमभिनयगतत्वाच्च । = प्रश्न — ऋजुता कैसे है । उत्तर — यथार्थ मनका विषय होनेसे, यथार्थ वचनगत होनेसे और यथार्थ अभिनय अर्थात् कायिक चेष्टागत होनेसे उक्त मतिमें ऋजुता है ।

ध. १३/५,५,६२/३३०/१ मणस्स कधमुजुगत्तं । जो जघा अत्थो द्विदो त तथा चित्तयतो मणो उज्जुगत्तो णाम । तत्त्विवरीयो मणो अणुज्जुगो । कधवयणस्स उज्जुवत्तं । जो जेम अत्थो द्विदो त तेम जाणावयत्तं वयणं उज्जुव णाम । तत्त्विवरीयमणुज्जुवत्तं । कध कायस्स उज्जुवत्तं । जो जहा अत्थो द्विदो तं तथा जेव अहिणइदूण दरिसयतो काओ उज्जुओ णाम । तत्त्विवरीयो अणुज्जुओ णाम । = प्रश्न — मन, वचन व कायमें ऋजुपना कैसे आता है । उत्तर — जो अर्थ जिस प्रकारसे स्थित है, उसका उसी प्रकारसे चिन्तवन करनेवाला मन, उसका उसी प्रकारसे ज्ञापन करनेवाला वचन और उसको उसी प्रकारसे अभिनय द्वारा दिखलानेवाला काय तो ऋजु है, और इनसे विपरीत चिन्तवन, ज्ञापन व अभिनय युक्त मन वचन काय अनुजु है ।

ध. १३/५,५,६४/३३०/३ व्यक्तं निष्पन्न सशय-विपर्ययानध्यवसाय-विरहितं मनं येषां ते व्यक्तमनसां तेषां व्यक्तमनसां जीवानां परेषामात्मनश्च संबन्धि वस्त्वन्तरं जानाति, नो अव्यक्तमनसा जीवानां संबन्धि वस्त्वन्तरम्, तत्र तस्य सामर्थ्याभावात् । कथं मणस्स माणववएसो । वर्तमानानां जीवानां वर्तमानमनोगत-त्रिकालसंबन्धिमर्थं जानाति, नातीतानागतमनोविषयमिति । सूत्रार्थो व्याख्येयः । = व्यक्त (अर्थात् ऋजु) का अर्थ 'निष्पन्न' होता है । अर्थात् जिनका मन सशय, विपर्यय और अनध्यवसायसे रहित है वे व्यक्त मनवाले जीव हैं, उन व्यक्त मनवाले अन्य जीवोंसे तथा स्वसे सम्बन्ध रखनेवाले अन्य अर्थको जानता है । अव्यक्त मनवाले जीवोंसे सम्बन्ध रखनेवाले अन्य अर्थको नहीं जानता है, चिन्तित अर्थ युक्त, मन व्यक्त है और अचिन्तित व अर्धचिन्तित अर्थ युक्त अव्यक्त है । (दे० मन.पर्यय/२/१०/१ मे ध./१३) क्योंकि, इस प्रकारके अर्थको जाननेका इस ज्ञानका सामर्थ्य नहीं है । प्रश्न — (सूत्रमें) मनको 'मान' व्यपदेश कैसे किया है । उत्तर — वर्तमान जीवोंके वर्तमान मनोगत त्रिकाल सम्बन्धी अर्थको जानता है, अतीत और अनागत मनोगत विषयको नहीं जानता है, इस प्रकार सूत्रके अर्थका व्याख्यान करना चाहिए । (चिन्तित अर्धव्यक्त मन व्यक्त है और अचिन्तित व अर्धचिन्तित अर्थ युक्त मन व्यक्त है) । (दे० मन.पर्यय/२/४/१) ।

३. ऋजुमतिके भेद व उनके लक्षण

म. ब. १/४ २/२४/४ यं तं उज्जुमदिणणं तं तिविधं-उज्जुगं मणोगदं जाणदि । उज्जुगं वच्चिगदं जाणदि । उज्जुगं कायगदं जाणदि । = जो ऋजुमति ज्ञान है, वह तीन प्रकारका है । वह सरल मनोगत पदार्थको जानता है, सरल वचनगत पदार्थको जानता है, सरल कायगत पदार्थको जानता है । (प. खं. १३/५,५/ सूत्र ६२/३२६); (ध. ६/४,१,१०/६२/६); (गो. जी./मू./४३६/८५८) ।
रा. वा./१/२३/७/८४/२६ आद्य ऋजुमतिमन.पर्ययस्त्रेधा । कुतः । ऋजु-मनोवाक्कायविषयभेदात् — ऋजुमनस्कृतार्थज्ञः ऋजुवाक्कृतार्थज्ञः ऋजुकायकृतार्थज्ञश्चेति । तद्यथा, मनसाऽर्थं व्यक्तं संचिन्त्य वाचं वा धर्मादियुक्तामसकीर्णामुच्चार्य कायप्रयोगं चोभयलोकफल-निष्पादनार्थमङ्गीपाङ्गप्रत्यङ्गनिपाताकुच्छनप्रसारणादिलक्षणं कृत्वा पुनरनन्तरे समये कालान्तरे वा तमेवार्थं चिन्तितमुक्तं कुतं वा विस्मृतस्वान्न शक्नोति चिन्तयितुम्, तमेवविधमर्थं ऋजुमतिमन-पर्ययं पृष्ठोऽपृष्ठो वा जानाति 'अयमसावर्थोऽनेन विधिना त्वया चिन्तित उक्तं कृतं वा' इति । कथमयमर्थो लभ्यते । आगमा-विरोधात् । आगमे ह्युक्तम्... = ऋजु, मन, वचन व कायके विषय भेदसे ऋजुमति तीन प्रकारका है — ऋजुमनस्कृतार्थज्ञः, ऋजुवाक्-कृतार्थज्ञः और ऋजुकायकृतार्थज्ञः । जैसे किसीने किसी समय सरल मनसे (दे० मन.पर्यय/२/२) किसी पदार्थका स्पष्ट विचार किया, स्पष्ट वाणीसे कोई विचार व्यक्त किया और कायसे भी उभयफल निष्पादनार्थ अगोपाग आदिका सुकोडना, फैलाना आदि रूप स्पष्ट क्रिया की । कालान्तरमें उन्हें भूल जानेके कारण पुनः उन्हीका चिन्तवन व उच्चारण आदि करनेको समर्थ न रहा । इस प्रकारके अर्थको पृच्छनेपर या बिना पूछे भी ऋजुमति मन-पर्यय ज्ञान जान लेता है, कि इसने इस प्रकार सोचा था या बोला था या किया था । और यह अर्थ आगमसे सिद्ध है । यथा — (दे० अगला सन्दर्भ) दे० मन.पर्यय/२/४ (दे० गो. जी./जी. प्र./४४०/८५६/१७) । (अपने मनसे दूसरेके मानसको जानकर ही तद्गत अर्थको जानता है । चिन्तित या उक्त या अभिनयगतको ही जानता है । अचिन्तित, अर्धचिन्तित या विपरीत चिन्तितको अनुक्त, अर्ध उक्त व विपरीत उक्तको तथा इसी प्रकारके अभिनयगतको नहीं जानता ।)

दे० मन.पर्यय/२/२ (जो अर्थ जैसे स्थित है उसका उसी प्रकारसे चिन्तवन करना अथवा प्रज्ञापन करना अथवा अभिनय द्वारा प्रदर्शन करना मन वचन व काय सम्बन्धी ऋजुमति ज्ञान है) ।

४. ऋजुमतिका विषय

१. मनोगत अर्थ व अन्य सामान्य विषयकी अपेक्षा

प. ख. १३/५,५/सूत्र ६३-६४/३३२-३३६ मणेष माणस पडिविदडत्ता परेसि सण्णा सददि मदि चित्ता जीविदमरणं लाहालाह सुहदुवखं णयर-विणास देसविणासं... अइवुट्ठि अणावुट्ठि सुवुट्ठि दुवुट्ठि सुभिक्खं दुट्ठिभक्खं खेमाखेम भयरोग कालस (प) जुत्ते अस्थे वि जाणदि । ६३। किच भूओ — अप्पणो परेसि च वत्तमाणाण जीवाणं जाणदि । ६४। [सूत्र न. ६३ की टीका पृ० ३३३ सहकलाओ सण्णा । दिट्ठसुदुणुधुदट्ठं सदी । अणाग-यत्थविसय मदी । बहुमाणत्थविसय चित्ता ।] = अपने मनके द्वारा दूसरेके मानसको जानकर (यह ऋजुमति मन पर्ययज्ञान) कालसे विशेषित दूसरोकी सज्ञा (शब्दकलाप), स्मृति (अतीतकालगत दृष्ट भूत व अनुभूत विषय), मति (अनागत कालगत विषय), चिन्ता (वर्तमानकालगत विषय) इन सबको; तथा उनके जीवित-मरण, लाभ-अलाभ व सुख-दुःखको, तथा नगर, देश, जनपद, खेत, कर्बट

आदिके विनाशको, तथा अतिवृष्टि-अनावृष्टि, सुवृष्टि-दुर्वृष्टि, सुभिक्ष-दुर्भिक्ष, क्षेम-अक्षेम, भय और रोग रूपपर्यायोंको भी [प्रत्यक्ष- (टीका)] जानता है। ६३ और भी—व्यक्त मनवाले अपने और दूसरे जीवोंसे सम्बन्ध रखनेवाले अर्थको वह जानता है, अव्यक्त मनवाले जीवोंसे सम्बन्ध रखनेवाले अर्थको नहीं जानता (व्यक्त-अव्यक्त मनका अर्थ—दे० पीछे मन पर्यय/२/२)। ६४ (म व १/१२/२४/१)।
 दे० मन पर्यय/२/२ (यथार्थ अर्थात् यथास्थित त्रिकालगत अर्थको वर्तमानमे सशयादि रहित होकर, मनसे चिन्तवन अथवा वचनसे ज्ञापन अथवा कायसे अभिनय करनेवाले किसी व्यक्तिके या अपने ही व्यक्त मनसे सम्बन्ध रखनेवाले अर्थको जानता है। अतीत व अनागत कालमें वर्तने वालेके मनकी बात नहीं जानता।)
 दे० मन पर्यय/२/३ (सरल मन वचन काय प्राणको ही जानता है वक्रको नहीं, अर्थात् वर्तमान कालमें चिन्तवन ज्ञापन व अभिनय करनेवाले को ही जानता है, अचिन्तित, अज्ञापित व अनभिनीतको नहीं जानता।)

रा. वा./१/२३/७/५५/७ व्यक्त स्फुटीकृतोऽर्थचिन्तयता सुनिर्वर्तितो यैस्ते जीवा व्यक्तमनसस्तैर्यथ चिन्तितं ऋजुमतिर्जानाति नेतरैः।
 =व्यक्त या स्पष्ट व सरल रूपसे अर्थकी चिन्ता करनेवाले जीवोंके व्यक्त (वर्तमान) मनमें जो अर्थ चिन्तित रूपसे स्थित है उसको ऋजुमति जानता है अव्यक्त व अचिन्तितको नहीं—विशेष दे० मन-पर्यय/२/२।

घ. १३/१.१.६२/३३०/६ उज्जुवं पउणं होवण मणस्स गदमट्ट जाणदि तमुज्जुमदिमणपज्जवणाण। अचित्तिमद्वचित्तिं विवरीयभावेण [चित्तिं च अट्ठ ण] जाणदि त्ति भणिदं होदि। जमुज्जवं पउणं होवण चित्तिं पउणं चैव उल्लविदमट्ठं जाणदि तं पि उज्जुमदिमण-पज्जवणाण णाम। अञ्जोविल्लदमद्वबोल्लिदं विवरीयभावेण बोल्लिदं च अट्ठं ण जाणदि त्ति भणिदं होदि; उज्जुभावेण चित्तिं उज्जुवसरुवेण अहिणइदमत्थ जाणदि तं पि उज्जुमदिमणपज्जवणाण णाम। उज्जुमदीए विणा कायवावरस्स उज्जुवत्तविरोहादो। =जो ऋजु अर्थात् प्रगुण होकर मनोगत अर्थको जानता है वह ऋजुमति मन पर्ययज्ञान है। वह अचिन्तित, अर्धचिन्तित या विपरीतरूपसे चिन्तित अर्थको नहीं जानता है, यह उक्त कथनका तात्पर्य है। जो ऋजु अर्थात् प्रगुण होकर विचारे गये व सरल रूपसे ही कहे गये अर्थको जानता है, वह भी ऋजुमति मन पर्यय ज्ञान है। यह नहीं बोले गये, आधे बोले गये या विपरीत रूपसे बोले गये अर्थको नहीं जानता है, यह उक्त कथनका तात्पर्य है। जो ऋजुभावसे विचारकर एवं ऋजुरूपसे अभिनय करके दिखाये गये अर्थको जानता है वह भी ऋजुमति, मनःपर्ययज्ञान है, क्योंकि ऋजुमतिके विना कायकी क्रियाके ऋजु होनेसे विरोध आता है।

गो जी./मू./४४१/५६० त्रियकाल विसयरुवि चित्तित वट्टमाणजीवेण उज्जुमणि णाण जाणदि १४४१। =वर्तमान कालमे त्रिकाल विषयक मूर्तिक द्रव्यकी चिन्तवन करनेवाले जीवके मनमें स्थित अर्थको ऋजुमति जानता है (अचिन्तित आदि यह नहीं जानता उसे विपुल-मति जानता है।)

२. द्रव्यकी अपेक्षा

घ. ६/४.१.१०/६३/५ तत्थ उज्जुमदी एणसमइयमोरालियसीरीरस्स णिज्जर जहण्णेण जाणदि। सा तिबिहा जहण्णुकस्स तव्वदिरिस्सओ-रालियसरीरणिज्जरा त्ति। अत्थं कं जाणदि। तव्वदिरिस्स। कुदो। सामण्णाणिइवेसादो। उक्कस्सेण एणसमयमिदियणिज्जरं जाणदि। ..पुणो किमिदिय घेप्पदि। चक्खिदिय। कुदो। सेसे दिएहिो अप्प-परिमाणत्तादो, सगारभपोगलखंधाणं सण्णहत्तादो वा। --चक्खि-दियणिज्जरा वि जहण्णुकस्स तव्वदिरिस्स भेएण तिबिहा, तत्थ

कार गहणं। तव्वदिरिस्स।ए। कुदो। सामण्णाणिइवेसादो। जहण्णु-क्कस्सदव्वण मज्झिम दव्ववियप्पे तव्वदिरिस्स उज्जुमदी जाणदि। =ऋजुमतिमनःपर्ययज्ञान जघन्यसे एक समय सम्बन्धी औदारिक शरीरकी तद्व्यतिरिक्त निर्जराको जानता है, अर्थात् उसकी जघन्य व उत्कृष्ट निर्जराको न जानकर (जघन्य व अनुत्कृष्टको जानता है), क्योंकि, यहाँ सामान्य निर्देश है। उक्त ज्ञान उत्कर्षसे एक समय सम्बन्धी चक्षुडन्द्रियकी निर्जराको जानता है, क्योंकि, शेष इन्द्रियोंकी अपेक्षा यह इन्द्रिय (इसके मसूरके आकारवाला भीतरी तारा) अल्प परिमाणवाली है और वह अपने आरम्भक पुद्गलकी शलक्षणा अर्थात् सूक्ष्मतासे भी युक्त है। इसमें भी उपरोक्त प्रकारसे तद्व्यतिरिक्त निर्जराको जानता है, जघन्य व उत्कृष्टको नहीं, क्योंकि, यहाँ भी सामान्य निर्देश है। जघन्य और उत्कृष्ट द्रव्यके मध्यम द्रव्यविकल्पोको तद्व्यतिरिक्त अर्थात् सामान्य ऋजुमति मनःपर्यय-ज्ञानी जानता है। (गो. जी./मू./४४१/८६६)।

३. क्षेत्र, कालकी अपेक्षा

घ. ख. १३/१.१/सूत्र ६५-६५/३३८-३३८ कालदो जहण्णेण दो तिण्णि-भवगहणाणि ६५। उक्कस्सेण सत्तट्ठभवगहणाणि ६६। गदिमागदि पकुप्पादेदि ६७। खेत्तदो ताव जहण्णेण गाउवपुधत्तं उक्कस्सेण जोयणपुधत्तस्स अन्धतरदो णो वहिद्धा ६८। =कालकी अपेक्षा वह जघन्यसे दो-तीन भवोंको जानता है। ६५। और उत्कर्षसे सात आठ भवोंको जानता है। ६६। (अर्थात् वर्तमान भवको छोड़कर दो या सात भवों तथा उस सहित तीन या आठ भवोंको जानता है। भवका काल अनियत जानना चाहिए—टीका), (इस कालके भीतर) जीवोंकी गति और अगति (भुक्त, कृत, प्रतिसेवित आदि अर्थों) को जानता है। ६७। क्षेत्रकी अपेक्षा वह जघन्यसे गव्यूतिपृथक्त्व प्रमाण (अर्थात् आठ-नौ घनकोश प्रमाण—टीका) क्षेत्रको और उत्कर्षसे योजन पृथक्त्व (आठ नौ घनयोजन प्रमाण) के भीतरकी बात जानता है, बाहरकी नहीं। ६८। (म व. १/१२/२५/३), (स. सि./१/२३/१३०/१), (रा. वा./१/२३/७/५५/५), (घ. ६/४.१.१०/५), (गो. जी./मू./४४१, ४५७/८६६, ५७०)।

४. भावकी अपेक्षा

घ. ६/४.१.१०/६१/६ भावेण जहण्णुकस्सदव्वेमु तव्वाओग्गे असंखेज्जे भावे जहण्णुकस्सउज्जुमदिणो जाणति। =भावकी अपेक्षा जघन्य और उत्कृष्ट द्रव्योमे उसके योग्य असख्यात पर्यायोंको जघन्य व उत्कृष्ट ऋजुमति जानता है।
 गो. जी./मू./४४८/८७१ आवल्लिअसंखभावं अवर च वरं च वरमसंख-गुण। ८७१। =ऋजुमतिके विषयभूत भाव जघन्यपने आवलीके असख्यातवे भाग प्रमाण है और उत्कृष्टपने उससे असख्यात गुणा आवलि प्रमाण है। (अर्थात् अपने विषयभूत द्रव्यकी इतनी पर्यायोंको जानता है।)

५. ऋजुमति अचिन्तित व अनुक्त आदिका ग्रहण क्यों नहीं करता

घ. ६/४.१.१०/६३/२ अचित्तिदमणुत्तमणमिणइदमत्थं किमिदि ण जाणदे ण विसिट्ठं खआवसमाभावादो। =प्रदान—ऋजुमति मनःपर्ययज्ञानी मनसे अचिन्तित, वचनसे अनुक्त और शारीरिक चेष्टाके अविषयभूत अर्थको क्या नहीं जानता है। उत्तर—नहीं जानता, क्योंकि, उसके विशिष्ट क्षयोपशमका अभाव है।

६. वचनगत ऋजुमतिकी मनःपर्यय संज्ञा कैसे

घ. १३/१.१.६२/३३०/११ उज्जुवचिगदस्स मणपज्जवणाणस्स उज्जुमदि-मणपज्जवववएमो ण पावदि त्ति। ण एत्थ वि उज्जुमणेण विणा

उज्जुवचनपत्तीए अभावो । = प्रश्न—ऋजुवचनगत मन पर्ययज्ञानकी ऋजुमतिमनःपर्ययज्ञान संज्ञा नहीं प्राप्त होती । उत्तर—नहीं, क्योंकि, यहाँपर भी ऋजुमनके बिना ऋजु वचनकी प्रवृत्ति नहीं होती ।

७. विपुलमति सामान्यका लक्षण

स. सि./१/२३/१२१/४ विपुला मतिर्यस्य सोऽयं विपुलमति । = जिसकी मति विपुल है वह विपुलमति कहलाता है । (रा. वा./१/२३/—/८४/१), (घ १/४,१,११/६) ।

घ. १/४,१,११/६६/२ परकीयमतिगतोऽर्थो मति । विपुला विरतीर्णा । = दूसरेकी मतिमें स्थित पदार्थ मति कहा जाता है । विपुलका अर्थ विस्तीर्ण है ।

गो. जी./जी. प्र./४३६/५५/१७ विपुला कायवाङ्मन कृतार्थस्य परकीय-मनोगतस्य विज्ञानिर्वृतिता अनिर्वृतिता कुटिला च मतिर्यस्य स विपुलमति । स चासौ मनःपर्ययश्च विपुलमतिमनःपर्यय । = सरल या वक्र मनवचन कायके द्वारा किया गया कोई अर्थ; उसके चिन्तन युक्त किसी अन्य जीवके मनको जाननेसे निष्पन्न या अनिष्पन्न मतिको विपुल कहते हैं । ऐसी विपुल या कुटिल मति है जिसकी सो विपुल मति है ।

८. विपुलत्वका अर्थ

घ. १/४,१,११/६६/२ कुतो वैपुल्यम् ? यथार्थमनोगमनात् अयथार्थ-मनोगमनात् उभयथापि तदवगमनात्, यथार्थवचोगमनात् अयथार्थ-वचोगमनात् उभयथापि तत्र गमनात्, यथार्थकायगमनात् अयथार्थ-कायगमनात् ताभ्या तत्र गमनाच्च वैपुल्यम् । = प्रश्न—विपुलता किस कारणसे है । उत्तर—यथार्थ, अयथार्थ व उभय तीनों प्रकारके मन, तीनों प्रकारके वचन व तीनों प्रकारके कायको प्राप्त होनेसे विपुलता है । (और भी दे० मनःपर्यय/२/१०/१) ।

९. विपुलमतिके भेद व उनके लक्षण

म. म. १/४३/२६/१ यं तं विउलमदिगाण तं छविष्ठ-उज्जुग मणोगद जाणदि, उज्जुग वचिगद जाणदि, उज्जुग कायगदं जाणदि, अणुज्जुगं मणोगदं जाणदि, एवं वचिगद कायगदं च । एवं याव वत्तमाणाणं पि जीवाणं जाणदि । = जो विपुलमति मनःपर्ययज्ञान है, वह छह प्रकारका है । वह सरल मनोगत पदार्थको जानता है, सरल वचनगत पदार्थको जानता है, सरलकायगत पदार्थको जानता है, कुटिल मनोगत पदार्थको जानता है, कुटिल वचनगत पदार्थको जानता है, कुटिल कायगत पदार्थको जानता है, यह वर्तमान जीव तथा अवर्तमान जीवोंके अथवा व्यक्त मनवाले तथा अव्यक्त मनवाले जीवोंके सुख(दिको जानता है (दे० मन पर्यय/२/१०/१); (घ ख. १३/५,१/ सूत्र ७०/३४०) (गो. जी./मू./४४०/५६) ।

रा. वा./१/२३/८/८५/११ द्वितीयो विपुलमति षोढा भिद्यते । कुत । ऋजुवक्रमनोवाककायविषयभेदात् । ऋजुविकल्पा पूर्वोक्ता वक्रविकल्पाश्च तद्विपरीता योज्याः । = द्वितीय विपुलमति ऋजु व वक्र मन वचन व कायके विषय भेदसे छह प्रकारका है । इनमेंसे ऋजुके तीन विकल्प पहले कह दिये गये हैं । (दे० मन पर्यय/२/३) । उसी प्रकार वक्रके तीनों विकल्पोंमें भी लागू कर लेना चाहिए । (गो. जी./जी. प्र./४४०/८६/१) ।

दे. मनःपर्यय/२/१०/१ (अपने मनके द्वारा दूसरेके द्रव्यमनको जानकर पीछे तद्गत अर्थको जानता है । चिन्तित, अर्धचिन्तित, अचिन्तित व विपरीत चिन्तितको, उक्त, अर्धउक्त, अनुक्त, व विपरीत उक्तको, और इसी प्रकार चारों विकल्परूप अभिनयगत अर्थको जानता है) ।
दे. मनःपर्यय/२/५ (यथार्थ, अयथार्थ व उभय तीनों प्रकारके मन वचन कायको प्राप्त अर्थको जानता है) ।

१०. विपुलमतिका विषय

१. मनोगत अर्थ व अन्य सामान्य विषयकी अपेक्षा

घ ख १३/५,१/सूत्र ७१-७३/३४०-३४२ मणेण माणसं पडिविदइत्ता । ७१ परिसि सण्णा सदि मदि चिन्ता जीविदमरण लाहालाहं सुहदु क्खं णयरविणासं देसविणास- अदिबुद्धि अणाबुद्धि सुबुद्धि दुबुद्धि सुभिवस्वं दुम्भिनस्ख खेमाखेमं भयरोम कालसपजुत्ते अत्थे जाणदि । ७२ । किञ्च भूओ-अप्पणो परिसि च वत्तमाणाण जीवाणं जाणदि अवत्तमाणाण जीवाणं जाणदि । ७३ । = मनके द्वारा मानसको जानकर (अर्थात् अपने मतिज्ञानके द्वारा दूसरेके द्रव्यमनको जानकर, तत्पश्चात् मनःपर्ययज्ञानके द्वारा—टीका) दूसरे जीवोंके कालसे विशेषित सज्ञा (शब्दकलाप), स्मृति (अतीत कालगत दृष्टश्रुत व अनुभूत विषय, मति (अनागतकालगत विषय), चिन्ता (वर्तमानकालगत विषय) इन सबको; तथा उनके जीवित-मरण, लाभ-अलाभ, व सुख-दुःखको, तथा नगर, देश, जनपद, खेत कर्षट आदिके विनाशको; तथा अतिवृष्टि-अनावृष्टि, सुवृष्टि-दुर्वृष्टि, सुभिक्ष-दुर्भिक्ष, क्षेम-अक्षेम, भय और रोग रूप पदार्थोंको भी (प्रत्यक्ष) जानता है । ७१-७२ । और भी-व्यक्त मनवाले अपने और दूसरे जीवोंसे सम्बन्ध रखनेवाले अर्थको जानता है, तथा अव्यक्त मनवाले जीवोंसे सम्बन्ध रखनेवाले अर्थको जानता है । ७३ । (कोष्ठकगत शब्दोंके अर्थोंके लिए दे० मनःपर्यय/२/४/१) ।

दे० मनःपर्यय/२/५ (यथार्थ, अयथार्थ व उभय तीनों प्रकारके मन, वचन व कायको प्राप्त अर्थको जानता है ।)

दे० मन पर्यय/२/६ सरल व कुटिल मन, वचन, काय गत अर्थको तथा वर्तमान व अवर्तमान जीवोंके व्यक्त व अव्यक्त मनोगत अर्थको जानता है ।

रा. वा./१/२३/५/५५/१३ तथा आत्मनः परेषा च चिन्ताजीवितमरण-सुखदुःखलाभालाभादीच् अव्यक्तमनोभिव्यक्तमनोभिरच चिन्तितान् अचिन्तितान् जानाति विपुलमति । = यह अपने और परके व्यक्त मनसे या अव्यक्त मनसे चिन्तित या अचिन्तित (या अर्धचिन्तित) सभी प्रकारके चिन्ता, जीवित-मरण, सुख-दुःख, लाभ-अलाभ आदिको जानता है ।

घ. १३/५,१,७३/१ चित्ताए अद्धपरिणयं विस्सरिदचितियवत्थु चित्ताए अवावदं च मणमवत्त, अवरं वत्तं । वत्तमाणाणमवत्तमाणाण वा जीवाण चित्ताविसयं मणपज्जवणाणी जाणदि । जं उज्जुवाणुज्जुव-भावेण चित्तितमद्धचितिदं चित्तिज्जमाणमद्धचितिज्जमाणं चित्तिहिदि अद्ध चित्तिहिदि वा तं सर्वं जाणदि त्ति भणिद होदि । = चिन्तामें अर्थ परिणत, चिन्तित वस्तुके स्मरणसे रहित और चिन्तामें अव्यापृत मन अव्यक्त कहलाता है, इससे भिन्न मन व्यक्त कहलाता है । व्यक्त मनवाले और अव्यक्त मनवाले जीवोंके चिन्ताके विषयको मन पर्ययज्ञानी जानता है । ऋजु और अमृजु रूपसे जो चिन्तित या अर्धचिन्तित है, वर्तमानमें जिसका विचार किया जा रहा है, या अर्ध विचार किया जा रहा है, तथा भविष्यमें जिसका विचार किया जायेगा उस सब अर्थको जानता है, यह उक्त कथनका तात्पर्य है । (और भी दे० मन पर्यय/१/१); (गो. जी./मू./४४१/५६४) ।

गो. जी. मू./४४१/५६० तियकालविसयस्सुवि चित्तितं वट्टमाण जीवेण । ऋजुमतिज्ञानं जानाति भूतभविष्यच्च विपुलमति । = भूत, भविष्यत् व वर्तमान जीवके द्वारा चिन्तन किये गये त्रिकालगत रूपी पदार्थको विपुलमति जानता है ।

२ द्रव्यकी अपेक्षा

घ १/४,१,११/६६/७ दब्बदो जहण्णेण एगसमयमिदियणिज्जरं जाणदि । उक्कस्सदव्वज्जाणावणदट्ठं तप्पाओग्गासखेजाणं कप्पाण समए सलागभूदे ठवियमणदव्वग्गणाए अणंतिमभागं विरलिय अज्ज-

हृण्णुक्कस्समेगसमयपबद्धं विस्सासोवच्यविरहिदमट्टकम्मपडिबद्धं समखंडं करिय दिण्णे तत्थ एगखंडं त्रिदियवियप्पो होदि । सलाग-
।सीदो एगरुवमवणेदब्बं । एवमणेण विहाणेण णेदब्बं जाव सलाग-
रासी समत्तो त्ति । एत्थ अपच्छिदमदब्बवियप्पमुक्कस्सविउमदी
जाणदि । जहण्णुक्कस्सदब्बाण मडिक्कमवियप्पे तव्वदिरित्तविउलमदि
जाणदि । = द्रव्यकी अपेक्षा वह जघन्यसे एक समयरूप इन्द्रिय
निर्जराको (अर्थात् चक्षु इन्द्रियकी निर्जराको—दे० मनःपर्यय/२/४/३)
जानता है । उत्कृष्ट द्रव्यके ज्ञापनार्थ उसके योग्य असख्यात कर्णों-
के समयको शलाकारूपसे स्थापित करके, मनोद्रव्यवर्णणके अनन्तवे
भागका विरलनकर विस्सोपचय रहित व आठ कर्मोंसे सम्बद्ध अज-
घन्यामुत्कृष्ट एक समयप्रबद्धको समखण्ड करके देनेपर उनमें एक खण्ड
द्रव्यका द्वितीय विकल्प होता है । इस समय शलाका राशिमेंसे एक
रूप कम करना चाहिए । इस प्रकार इस विधानसे शलाकाराशि समाप्त
होने तक ले जाना चाहिए । (दे० गणित/II/२), इनमें अन्तिम द्रव्य
विकल्पको उत्कृष्ट विपुलमति जानता है । जघन्य और उत्कृष्ट द्रव्य-
के मध्यम विकल्पोंको तद्व्यतिरिक्त अर्थात् मध्यम विपुलमति
जानता है । (गो. जो./मू./४५२-४५४/८६७) ।

३. क्षेत्र व कालकी अपेक्षा

घ. ख. १३/५/५/सूत्र ७४-७७/३४२-३४३ कालको ताव जहण्णेण सत्तअट्ट-
भवगहणाणि, उक्कस्सेण असवेज्जाणि भवग्महणाणि ।७४। जीवाणं
गदिमाग्गि पदुप्पादेदि ।७५। खेत्तादो ताव जहण्णेण जोयणपुधत्तं ।७६।
उक्कस्सेण माणुस्सुत्तरसेलस्स अम्मतरादो णो बहिद्दा ।७७। = कालकी
अपेक्षा जघन्यसे सात-आठ भत्रोंको और उत्कर्षसे असख्यात
भवोंको जानता है ।७४। (इस कालके भीतर) जीवोंकी गति अगति
(भुक्त, कृत, और प्रतिसेवित अर्थ) को जानता है ।७५। क्षेत्रकी
अपेक्षा जघन्यसे योजनपृथक्त्वप्रमाण (अर्थात् आठ-नौ घन योजन
प्रमाण) क्षेत्रको जानता है ।७६। उत्कर्षसे मानुषोत्तर शैलके भीतर
जानता है, बाहर नहीं जानता ।७७। (अर्थात् ४५०००,०० यो० घन
प्रतरको जानता है—घ./६) । (म. ब. १/९ ३/२६/३); (स. सि/१/-
२३/२३०/३); (रा. वा./१/२३/५/८५/१४); (घ. १/४,१,११/६७/८,
६५/१२), (गो. जो./मू./४५५-४५७/८६६) ।

४. भावकी अपेक्षा

घ. ६/४,१,११/६६/१ भावेण जं ज दिट्ठ दब्बं तस्स-तस्स असखेज्ज-
पज्जाए जाणदि । = भावकी अपेक्षा, जो-जो द्रव्य इसे ज्ञात है, उस-
उसकी असख्यात पर्यायोंको जानता है ।

गो. जो./मू./५५८/८७१ तत्तो असखगुणिदं असंखलोगं तु विउलमदी ।
= विपुलमतिका विषयभूत भाव जघन्य तो ऋजुमतिके उत्कृष्ट भावसे
असख्यात गुणा है और उत्कृष्ट असख्यात लोकप्रमाण है ।

११. अचिन्तित अर्थगत विपुलमतिको मनःपर्यय संज्ञा कैसे

घ. १३/५,५,६१/३२६/५ परेसि मणम्मि अट्टिदत्थविसयस्स विउल-
मदिणाणस्स कथं मणपज्जवणाणववएसो । ण, अचित्तिव चेत्रट्ठ
जाणदि त्ति णियमाभावादो । कित्तु चितियमचितियमद्वचितियं च
जाणदि । तेण तस्स मणपज्जवणाणववएसो ण विरुद्धदे । = प्रश्न—
दूसरोंके मनमें नहीं स्थित हुए अर्थको विषय करनेवाले विपुलमति-
ज्ञानकी मन पर्यय संज्ञा कैसे है ? उत्तर—नहीं, क्योंकि, अचिन्तित
अर्थको ही वह जानता है, ऐसा कोई नियम नहीं है । किन्तु विपुल-
मतिज्ञान चिन्तित, अचिन्तित और अर्धचिन्तित अर्थको जानता है,
इसलिए उसकी मनःपर्यय संज्ञा होनेमें कोई विरोध नहीं है ।

१२. विद्युद्धि व प्रतिपातकी अपेक्षा दोनोंमें अन्तर

त सू./१/२४ विद्युद्धयप्रतिपताभ्यां तद्विशेषः ।१२४।

स. सि./१/२४/१३१/४ तत्र विद्युद्धवा तावत्—ऋजुमतेर्विपुलमतिर्द्रव्य-
क्षेत्रकालभावैर्विद्युद्धतर' । कथम् । इह य' कार्मणद्रव्यानन्तभागे-
ऽन्त्य सर्वाविधिना ज्ञातस्तस्य पुनरनन्तभागीकृतस्यान्त्यो भाग ऋजु-
मतेर्विषयः । तस्य ऋजुमतिविषयस्यानन्तभागीकृतस्यान्त्यो भागे
विपुलमतेर्विषयः । अनन्तस्यानन्तभेदत्वात् । द्रव्यक्षेत्रकालतो
विद्युद्धिरुक्ता । भावतो विद्युद्धिः सूक्ष्मतरद्रव्यविषयत्वादेव वेदितव्या
प्रकृष्टक्षयोपशमविद्युद्धियोगात् । अप्रतिपातेनापि विपुलमतिर्विशिष्ट-
स्वामिना प्रवर्द्धमानचारित्रोदयत्वात् । ऋजुमतिः, पुनः प्रतिपाती;
स्वामिना कषायोद्रेकाद्धीयमानचारित्रोदयत्वात् । = विद्युद्धि और
अप्रतिपातकी अपेक्षा इन दोनों (ऋजुमति व विपुलमति) में अन्तर
है । २४ । तहाँ विद्युद्धि की अपेक्षा तो ऐसे है कि—ऋजुमतिसे विपुल-
मति द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावकी अपेक्षा विद्युद्धतर है । वह ऐसे
कि—यहाँ जो कार्मण द्रव्यका अनन्तवाँ अन्तिम भाग सर्वाधिकी
विषय है, उसके भी अनन्त भाग करनेपर जो अन्तिम भाग प्राप्त
होता है, वह ऋजुमतिकी विषय है । और इस ऋजुमतिके विषयके
अनन्त भाग करनेपर जो अन्तिम भाग प्राप्त होता है वह विपुलमति-
की विषय है । अनन्तके अनन्त भेद है, अतः ये उत्तरोत्तर सूक्ष्म विषय
बन जाते हैं इस प्रकार द्रव्य, क्षेत्र और कालकी अपेक्षा विद्युद्धि
कही । भावकी अपेक्षा विद्युद्धि उत्तरोत्तर सूक्ष्म द्रव्यको विषय
करनेवाला होनेसे ही जान लेनी चाहिए, क्योंकि, इनका उत्तरोत्तर
प्रकृष्ट क्षयोपशम पाया जाता है, इसलिए ऋजुमतिसे विपुलमतिमें
विद्युद्धि अधिक होती है । अप्रतिपातकी अपेक्षा भी विपुलमति
विशिष्ट है; क्योंकि, इसके स्वामियोंके प्रवर्द्धमान चारित्र पाया
जाता है । परन्तु ऋजुमति प्रतिपाती है; क्योंकि, इसके स्वामियोंके
कषायके उदयसे घटता हुआ चारित्र पाया जाता है ।
(रा. वा./१/२४/२/८६/५); (गो. जो./मू./४४७/८६३) ।

३. मनःपर्यय ज्ञानमें स्व व पर मनका स्थान

१. मनःपर्ययका उत्पत्ति स्थान मन है, करणचिह्न नहीं

घ. १३/५,५,६२/३३१/१० जहा ओहिणाणावरणीयक्खओवसमगदजीव-
पदेससंभंघिसंठाणपरुवणा कदा, मणपज्जवणाणावरणीयक्खओवसम-
गदजीवपदेसाणं संठाणपरुवणा तहा किण्ण कीरिदे । ण, वियसिय-
अट्टदारविद संठाणे समुप्पज्जमाणस्स ततो पुधभूवसंठाणाभावादो ।
= प्रश्न—जिस प्रकार अवधिज्ञानावरणीयके क्षयोपशमगत जीव-
प्रदेशोके संस्थानका कथन किया है (दे. अवधिज्ञान/५), उसी
प्रकार मनःपर्ययज्ञानावरणीयके क्षयोपशमगत जीवप्रदेशोके संस्थान-
का भी कथन क्यों नहीं करते । उत्तर—नहीं, क्योंकि वह विकसित
अष्ट पाखुडोयुक्त कमलके आकारवाले द्रव्यमनके प्रदेशोंमें उत्पन्न
होता है ।

गो. जो./मू./४४२/८६१ सव्वंगअंगसंभवचिण्णहादुप्पज्जदे जहा ओही ।
मणपज्जवं च दव्वमणादो उप्पज्जदे णियमा ।४४२। = भवप्रत्यय
अवधिज्ञान सर्वांगसे और गुणप्रत्यय करणचिह्नोसे उत्पन्न होता है
(दे. अवधिज्ञान/५) । इसी प्रकार मनःपर्ययज्ञान द्रव्यमनसे उत्पन्न
होता है । (प. घ./पू./६६६) ।

२. दोनों ही ज्ञानोंमें मनोमतिपूर्वक परकीय मनको जान- कर पीछे तद्गत अर्थको जाना जाता है

घ. ख. १३/५,५/सूत्र ६३ व इसकी टीका/३३२ मणेण माणस पडिबिदइत्ता
परेसि सण्णा सदि मदि...कालसपज्जुत्ते अत्थे वि जाणदि । ६३। मणेण

मदिणाणेण । कथं मदिणाणस्स मणव्ववरसो । कञ्जे कारणोवया-
रादो । मणम्मि भवं लिं माणस, अधवा मणो चैव माणसो । पडि-
विदइत्ता चेतूण पच्छा मणपज्जवणाणेण जाणदि । मदिणाणेण परेसि
मणं धेतूण मणपज्जवणाणेण मणम्मि टिट्ठवअत्थे जाणदि त्ति मणिं
होदि । =मनके द्वारा मानसको जानकर मनःपर्ययज्ञान कालसे
विशेषित दूसरोकी सज्ञा, स्मृति, मति आदि पदार्थोंको भी जानता
है (विशेष दे. मन पर्यय/२/४/१ तथा २/१०/१); (ग व. १/३२/२४/
५); (रा. वा. १/२३/७, ८५/३), (ज प. १/२३/५२) कारणमे कार्यके
उपचारसे यहाँ मतिज्ञानकी मन संज्ञा है । अथवा मनमे उत्पन्न हुए
चिह्नको ही मानस कहते हैं । 'पडिविदइत्ता' अर्थात् ग्रहण करके
पश्चात् मनःपर्ययके द्वारा जानता है । मतिज्ञानके द्वारा दूसरोके
मानसको या द्रव्यमनको—(सूत्र ७१ की टीका) ग्रहण करके ही
(पीछे) मन पर्यय ज्ञानके द्वारा मनमे स्थित अर्थोंको जानता है, यह
उक्त कथनका तात्पर्य है । (नोट—उक्त सूत्र ऋजुमतिके प्रकरणका है ।
सूत्र ७१-७२ में शब्दशः यही बात विपुलमतिके लिए भी कही गयी
है) ।

दर्शन (उपयोग)/६/३-४ (मनःपर्ययज्ञान अवधिज्ञानकी तरह स्वमुखसे
विषयोंको नहीं जानता, किन्तु परकीय मनकी प्रणालीसे जानता है ।
अतः जिस प्रकार मन अतीत व अनागत अर्थोंका विचार तो करता
है, पर देखता नहीं उसी प्रकार मनःपर्ययज्ञानी भी भूत व भविष्यत
को जानता तो है, पर देखता नहीं । और इसीलिए इसकी उत्पत्ति
दर्शनपूर्वक न मानकर मतिज्ञानपूर्वक माननी गयी है । ईहा मतिज्ञान
ही इसका 'दर्शन' है ।)

घ. १/४.१.१०/६३/३ मदिणाणेण वा सुदणाणेण वा मण वचिकायभेदं
णावूण पच्छातत्थटिट्ठवमत्थं पच्चवखेण जाणंत्तस्स मणपज्जवणाणस्स
दव्व-खेत-काल-भावभेएण विसओ चउव्विहो । तत्थ उज्जुमदी ।
= मतिज्ञान अथवा श्रुतज्ञानसे मन वचन व कायके भेदोंको जानकर
पीछे वहाँ स्थित अर्थको प्रत्यक्षसे जाननेवाले मन पर्ययज्ञानीका विषय
द्रव्य, क्षेत्र, काल व भावके भेदसे चार प्रकारका है । इनमें ऋजुमति-
का विषय यहाँ कहा जाता है और विपुलमतिका अगले सूत्रमें कहा
गया है ।

ध. १/१.१.११५/३५८/२ साक्षात्मनः समादाय मानसार्थानां साक्षात्करणं
मनःपर्ययज्ञानम् । =मनका आश्रय लेकर मनोगत पदार्थोंके साक्षा-
त्कार करनेवाले ज्ञानको मनःपर्ययज्ञान कहते हैं ।

द सं. /टी. /५/१७/३ स्वकीयमनोऽवलम्बनेन परकीयमनोगतं मूर्त्तमर्थ-
मेकदेशप्रत्यक्षेण सविकल्प जानाति तदीहा मतिज्ञानपूर्वकं मनःपर्यय-
ज्ञानम् । =जो अपने मनके अवलम्बन द्वारा परके मनमें प्राप्त हुए
मूर्त्तपदार्थको एकदेश प्रत्यक्षसे सविकल्प जानता है वह ईहामतिज्ञान
पूर्वक मनःपर्ययज्ञान है ।

३. ऋजुमतिमें इन्द्रियों व मनकी अपेक्षा होती है, विपुलमतिमें नहीं

ध. १३/५.५.६३/३३३/१ एसो णियमो ण विउलमइस्स, अचिन्तिदाणं पि
अट्ठाणं विसईकरणादो । =यह (मतिज्ञानसे दूसरे जीवके मानसको
जानकर पीछे मनःपर्ययज्ञानसे तद्गत अर्थको जाननेका) नियम
विपुलमति ज्ञानका नहीं है, क्योंकि, वह अचिन्तित अर्थोंको भी
विषय करता है ।

घ. १३/५.५.६३/३३३/६ यदि मणपज्जवणाणमिदिय-ओइदियजोगादि-
णिरवेक्ख सत्तं उप्पज्जदि तो परेसि मणवयणकायवावारणिरवेक्खं
संतं किण उप्पज्जदि । ण विउलमइमणपज्जवणाणस्स तहा उप्पत्ति
दसणादो । उज्जुमदिमणपज्जवणाणं तणिरवेक्खं किण उप्पज्जदे ।
ण, मनःपर्ययज्ञानावरणीयकर्मक्षयोपशमस्य वैचिंश्यात् ।
= प्रश्न—यदि मनःपर्ययज्ञान स्पर्शनादिक इन्द्रियों, नोइन्द्रिय,

और मन वचन काय योग आदिकी अपेक्षा किये बिना उत्पन्न
होता है, तो वह दूसरोके मन वचन कायके व्यापारकी अपेक्षा किये
बिना ही क्यों नहीं उत्पन्न होता (वे० मन पर्यय/२/३) उत्तर—नहीं,
क्योंकि, विपुलमति मन पर्ययज्ञानकी उस प्रकारसे उत्पत्ति देखी
जाती है । प्रश्न—ऋजुमति उसकी अपेक्षा किये बिना क्यों नहीं
उत्पन्न होता । उत्तर—नहीं, क्योंकि मनःपर्ययज्ञानावरणके क्षयो-
पशमकी वह विचित्रता है (कि ऋजुमति तो इनकी अपेक्षासे जानता
है और विपुलमति अनधिज्ञानवत् प्रत्यक्ष जानता है—गो. सा.);
(गो. जी./पू./४४६-४४६/८६३) ।

४. मनकी अपेक्षामात्रसे यह मतिज्ञान नहीं कहा जा सकता

स. सि. १/१/१४४/४ मतिज्ञानप्रसंग इति चेतः न, अपेक्षामात्रत्वात् ।
क्षयोपशमशक्तिमात्रविजम्भितं हि तत्केवलं स्वपरमनोभिर्भ्यर्पदि-
ष्यते । यथा अग्ने चन्द्रमसं पश्येति ।

स. सि./१/२३/२२६/११ परकीयमनसि व्यवस्थितोऽर्थः अनेन ज्ञायते
इत्येतावदत्रापेक्षते । = प्रश्न—इस प्रकार तो मनःपर्ययज्ञानकी मति-
ज्ञानका प्रसंग प्राप्त होता है । उत्तर—नहीं, क्योंकि, यहाँ मनकी
अपेक्षामात्र है । यद्यपि वह केवल क्षयोपशम शक्तिसे अपना काम
करता है, तो भी स्व व परके मनकी अपेक्षा केवल उसका व्यवहार
किया जाता है । यथा—'आकाशमें चन्द्रमाको देखो' यहाँ आकाश-
की अपेक्षामात्र होनेसे ऐसा व्यवहार किया गया है । (परन्तु
मतिज्ञानवत् यह मनका कार्य नहीं है—रा. वा.) दूसरेके मनमें
अवस्थित अर्थको यह जानता है, इतनी मात्र यहाँ मनकी अपेक्षा
है । (रा. वा./१/१/४४/२४, १/२३/२/८४/६) ।

५. मतिज्ञान पूर्वक होते हुए भी इसे श्रुतज्ञान नहीं कहा जा सकता

घ. १३/५.५.६३/३३३/१ चित्तिदं कहिदे संते जदि जाणदि तो मणपज्ज-
वणाणस्स सुदणाणत्त पसज्जदि त्ति तुत्ते—ण एदं रज्जं एसो राया
वा केत्तियाणि वस्सणि णंददि त्ति चित्तिय एवं चैव बोहिदे संते
पच्चक्खेण रज्जसंलाणपरिमाणं रायाउट्टिदि च परिच्छेदतस्स सुदणा-
णत्तविरोहादो ।

घ. १३/५.५.७१/३३३/४ जदि मणपज्जवणाणं मदिपुक्वं होदि तो तस्स
सुदणाणत्तं पसज्जदि त्ति णासंकिणज्ज, पच्चक्खस्स अवागहिदाणव-
गहित्थेसु वट्टमाणस्स मणपज्जवणाणस्स सुदभावविरोहादो । = प्रश्न—
चिन्तित अर्थको कहनेपर यदि ऋजुमति मनःपर्ययज्ञान जानता है तो
उसके श्रुतज्ञानपना प्राप्त होता है । उत्तर—नहीं, क्योंकि, यह राज्य
या यह राजा कितने दिन तक समृद्ध रहेगा, ऐसा चिन्तन करके ऐसा
ही कथन करनेपर यह ज्ञान चूँकि प्रत्यक्षसे राज्यपरम्पराकी मर्यादा-
को और राजाकी आयुस्थितिको जानता है, इसलिए इस ज्ञानको
श्रुतज्ञान माननेमें विरोध आता है । प्रश्न—यदि मनःपर्ययज्ञान
मतिपूर्वक होता है, तो उसे श्रुतज्ञानपना प्राप्त होता है । उत्तर—
ऐसी आशंका करना ठीक नहीं है, क्योंकि अवग्रहण किये गये और
नहीं अवग्रहण किये गये पदार्थोंमें प्रवृत्त होनेवाले और प्रत्यक्षस्वरूप
मन पर्ययज्ञानको श्रुतज्ञान माननेमें विरोध आता है ।

६. मनःपर्ययज्ञान इन्द्रिय निरपेक्ष है

घ. १३/५.५.२१/२१२/६ ओहिणाण व एदं पि पच्चक्ख अण्णियजत्ताहो ।
= अवधिज्ञानके समान यह ज्ञान भी प्रत्यक्ष है, क्योंकि, यह
इन्द्रियोंसे नहीं उत्पन्न होता है ।—(विशेष दे. प्रत्यक्ष) ।

और भी दे, अवधि ज्ञान/४ (अवधि व मनःपर्ययमे मनका निमित्त नहीं होता)।

और भी दे, अवधिज्ञान/१ (अवधि व मनःपर्यय कथंचित् प्रत्यक्ष है और कथंचित् परोक्ष)।

४. मनःपर्यय ज्ञानका स्वामित्व

१. ऋद्धिधारी प्रवर्द्धमान संयतको ही संभव है

घ. ख. १/१.१/सूत्र १२१/३६६ मणपञ्जवणाणी पमत्तसंजद्वेषुडि जाव खीणकसायवदिरागदुमत्था त्ति। १२१=मनःपर्ययज्ञानी जीव प्रमत्त-स यत्तसे लेकर क्षीणकषाय बीतराग द्वास्थ गुणस्थान तक होते है।

रा. वा १/२५/२/८६/२६ में उद्धृत—तथा चोक्तम्—मनुष्येषु मनःपर्यय आविर्भवति, न देवनारकतैर्योग्योनिषु। मनुष्येषु चोत्पद्यमानं गर्भ-जेषुत्पद्यते न संसृच्छर्नजेषु। गर्भजेषु चोत्पद्यमानं कर्मभूमिजेषुत्पद्यते नाकर्मभूमिजेषु। कर्मभूमिजेषुत्पद्यमानं पर्याप्तिकेषुत्पद्यते नापर्याप्तिकेषु। पर्याप्तिकेषुपजायमानं सम्यग्दृष्टिषुपजायते न मिथ्यादृष्टिसासा-दनसम्यग्दृष्टिसम्यग्दृष्टिसासादन व सम्यग्दृष्टिषुपजायमानं संयतेषुपजायते नासयतसम्यग्दृष्टिसंयतासयतेषु। संयतेषुपजायमानं प्रमत्ता-दिषु क्षीणकषायान्तेषुपजायते नोत्तरेषु। तत्र चोपजायमानं प्रवर्द्ध-मानचारित्र्येषुपजायते न हीयमानचारित्र्येषु प्रवर्द्धमानचारित्र्येषुपजाय-मानं सप्तविधान्यतमऋद्धिप्राप्तेषुपजायते नेतरेषु। ऋद्धिप्राप्तेषु च केषुचिन्न सर्वेषु।=आगममें कहा है, कि मनःपर्ययज्ञान मनुष्योंमें ही उत्पन्न होता है, देव नारक व तिर्यंच योनिमें नहीं। मनुष्योंमें भी गर्भजोंमें ही होता है, संसृच्छर्नजोंमें नहीं। गर्भजोंमें भी कर्म-भूमिजोंके ही होता है, अकर्मभूमिजोंके नहीं। कर्मभूमिजोंमें भी पर्याप्तिकोंके ही होता है अपर्याप्तिकोंके नहीं। उनमें भी सम्यग्दृष्टियोंके ही होता है, मिथ्यादृष्टि सासादन व सम्यग्मिथ्यादृष्टियोंके नहीं। उनमें भी संयतोंके ही होता है, असंयतों या संयतासंयतोंके नहीं। सयतोंमें भी प्रमत्तसे लेकर क्षीणकषाय गुणस्थान तक ही होता है, इससे ऊपर नहीं। उनमें भी प्रवर्द्धमान चारित्र्यवालोंके ही होता है, हीयमान चारित्र्यवालोंके नहीं। उनमें भी सात ऋद्धियोंसे अन्यतम ऋद्धिको प्राप्त होनेवालेके ही होता है, अन्यके नहीं। ऋद्धिप्राप्तोंमें भी किन्हींके ही होता है, सबको नहीं। (स. सि./१/२५/१३२/६), (गो जी./मू./४४५/८६२)।

२. अप्रमत्तादि गुणस्थानोंमें उत्पन्न होता है

पं. का./ता वृ./प्रक्षेपक गा. ४३-४ मूल व टीका/८७/५ एवे संजमलद्धी उवओगे अप्पमत्तस्स। ४। उपेक्षासंयमे सति लब्धिपर्ययोस्तौ संयम-लब्धो मन पर्ययौ भवत। तौ च कस्मिन् काले समुत्पद्यते। उपयोगे विशुद्धपरिणामे। कस्य। बीतरागस्मत्तत्त्वसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुष्ठान-सहितस्स पंचदशप्रमादरहितस्याप्रमत्तमुनेरिति। अत्रोत्पत्तिकाल एवाप्रमत्तनियमं पश्चात्प्रमत्तस्यापि सभवतीति भावार्थः।=ऋजु व विपुलमति दोनो मनःपर्ययज्ञान, उपेक्षा संयमरूप संयमलब्धि होनेपर ही होते है और वह भी विशुद्ध परिणामोंमें तथा बीतराग आत्मतत्त्वके सम्यक् श्रद्धान ज्ञान व चारित्र्यकी भावना सहित, पन्द्रह प्रकारके प्रमादसे रहित अप्रमत्त मुनिके ही उत्पन्न होते है। यहाँ अप्रमत्तपनेका नियम उत्पत्तिकालमें ही है, पीछे प्रमत्त अवस्थामें भी सम्भव है।

३. ऋजु व विपुलमतिके स्वामित्व

दे. मनःपर्यय/२/१२ (ऋजुमति मन पर्ययज्ञान कषायके उदय सहित हीनमान चारित्र्यवालोंके होता है और विपुलमति विशिष्ट प्रकारके प्रवर्द्धमान चारित्र्यवालोंके। ऋजुमति प्रतिपाती है अर्थात् अचरम

देहियोंके भी सम्भव है, पर विपुलमति अप्रतिपाती है अर्थात् चरम देहियोंके ही सम्भव है)।

पं का./ता वृ./प्रक्षेपक गा. ४३-४ की टीका/८७/३ निर्विकारात्मोप-लब्धिभावनासहितानां चरमदेहमुनीनां विपुलमतिर्भवति।=निर्वि-कार आत्मोपलब्धिकी भावनासे सहित चरम देहधारी मुनियोंको ही विपुलमतिज्ञान होना सम्भव है।

४. निचले गुणस्थानोंमें क्यों नहीं होता

घ १/१.१.१२१/३६६/६ देशविरताद्यधस्तनभूमिस्थितानां किमिति मनः-पर्ययज्ञान न भवेदिति चेन्न, सयमासंयमासंयमत् उत्पत्तिविरोधात्। =प्रश्न—देशविरति आदि नीचेके गुणस्थानवर्ती जीवोंके मनःपर्यय-ज्ञान क्यों नहीं होता है? उत्तर—नहीं, क्योंकि, संयमासंयम और असंयमके साथ मन पर्ययज्ञानकी उत्पत्ति माननेमें विरोध आता है।

५. सभी संयमियोंके क्यों नहीं होता

घ १/१.१.१२१/३६६/११ संयममात्रकारणत्वे सर्वसंयतानां किन्न भवे-दिति चेदभविष्यद्यदि संयम एक एव तदुत्पत्ते कारणतामागमिष्यत्। अप्यन्येऽपि नु तद्भवेत्तव सन्ति तद्वैकल्यान्न सर्वसंयतानां तदुत्पत्ते। केऽन्ये तद्भवेत्तव इति चेद्विशिष्टद्रव्यक्षेत्रकालादयः। =प्रश्न—यदि संयममात्र मन पर्ययकी उत्पत्तिके कारण है तो समस्त संयमियोंके मन पर्ययज्ञान क्यों नहीं होता है? उत्तर—यदि केवल संयम ही कारण हुआ होता तो ऐसा भी होता, किन्तु इसके अतिरिक्त कुछ अन्य भी कारण है, जिनके न रहनेसे समस्त संयतोंके मन पर्ययज्ञान उत्पन्न नहीं होता। प्रश्न—वे दूसरे कौनसे कारण है? उत्तर—विशेष जातिके द्रव्य, क्षेत्र, काल आदि।

६. द्वितीय व प्रथम उपशम सम्यक्त्वके कालमें मनः-पर्ययके सद्भाव व अभावमें हेतु

घ २/१.१/७२७/७ वेदसम्मत्तपच्छायादउवसमसम्मत्तसम्माइटिठस्स पढमसमए वि मणपञ्जवणाणुवलभादो। मिच्छत्तपच्छायादउवसम-सम्माइटिठस्मि मणपञ्जवणाण ण उवलम्भदे, मिच्छत्तपच्छायादुक्क-स्सुवसमसम्मत्तकालादो वि गहियसंजमपढमसमयादो सुवज्जणमण-पञ्जवणाणुपपायणसंजमकालस्स बहुत्तुवलभादो।=जो वेदक सम्य-क्त्वके पीछे द्वितीयोपशम सम्यक्त्वको प्राप्त होता है उस उपशम सम्यग्दृष्टिके प्रथम समयमें भी मन पर्ययज्ञान पाया जाता है। किन्तु मिथ्यात्वसे पीछे आये हुए (प्रथम) उपशमसम्यग्दृष्टि जीवमें मनः-पर्ययज्ञान नहीं पाया जाता है, क्योंकि, मिथ्यात्वसे पीछे आये हुए उपशमसम्यग्दृष्टिके उत्कृष्ट उपशमसम्यक्त्वके कालसे भी ग्रहण क्रिये गये संयमके प्रथम समयसे लगा कर सर्व जघन्य मनःपर्ययज्ञानको उत्पन्न करनेवाला संयम काल बहुत बड़ा है।

मनःपर्यय ज्ञानानावरण—दे, ज्ञानानवरण।

मनःपर्याप्ति—दे, पर्याप्ति।

मनःशिल—मध्यलोकके अन्तसे १६वॉ द्वीप व सागर—दे, लोक/५/१

मन—मन एक अभ्यन्तर इन्द्रिय है। ये दो प्रकारकी है—द्रव्य व भाव। हृदय स्थानमें अणुपाखुडीके कमलके आकाररूप पुद्गलोंको रचना विशेष द्रव्य मन है। चक्षु आदि इन्द्रियवत् अपने विषयमें निमित्त होनेपर भी अप्रत्यक्ष व अत्यन्त सूक्ष्म होनेके कारण इसे इन्द्रिय न कहकर अनिन्द्रिय या ईषत् इन्द्रिय कहा जाता है। संकल्प-विकल्पात्मक परिणाम तथा विचार चिन्तन आदिरूप ज्ञानकी अवरधा विशेष भाव मन है।

१. मन सामान्यका लक्षण

- स. सि./१/१४/१०६/३ अनिन्द्रियं मन अन्तःकरणमित्यनर्थान्तरम् ।
= अनिन्द्रिय, मन और अन्तःकरण ये एकार्थवाची नाम हैं ।
(रा. वा./१/१४/१०६/१६); (न्या. व./भाष्य/१/१/१६);
(न्या. टी./२/११२/३३/२) ।
द्र. सं./टी./१२/३०/१ नानाविकल्पजालरूपं मनो भण्यते । = नाना-
प्रकारके विकल्पजालको मन कहते हैं । (प. प्र./टी./२/१६३/२७५/१०),
(तत्त्वबोध/शंकराचार्य) ।
दे. संज्ञी—('सज्ञ' अर्थात् ठीक प्रकार जानना मन है ।)
दे. मन.पर्यय/३/२ (कारणमें कार्यके उपचारसे मतिज्ञानको मन कहते
हैं ।)

२. मनके भेद

- स. सि./२/११/१७०/३ मनो द्विविधं—द्रव्यमनो भावमनश्चेति । = मन
दो प्रकारका है—द्रव्यमन व भावमन । (स. सि./२/३/२६६/२; ५/१६/
२७७/१); (रा. वा./२/११/१२२/१६; ५/३/३/४४२/६; ५/१६/२०
४७१/१); (घ. १/१.१.३५/२५६/६); (चा. सा./५५/३); (गो. जी./
जो. प्र./६०६/१०२/१०६२/६)

३. द्रव्य मनका लक्षण

- स. सि./२/११/१७०/३ पुद्गलविपाकिकर्मोद्ग्यापेक्षं द्रव्यमन ।
स. सि./५/३/२६६/४ द्रव्यमनश्च रूपादियोगात् पुद्गलद्रव्यविकार ।
= द्रव्यमन पुद्गलविपाकी नामकर्मके उद्गयसे होता है । (रा. वा./२/
११/१२२/२०); (घ. १/१.१.३५/२५६/६)—रूपादिक युक्त होनेसे
द्रव्यमन पुद्गलद्रव्यकी पर्याय है । (रा. वा./५/३/३/४४२/१०) ।
(विशेष दे. मूर्त्त/२) ।
गो. जी./मू./४४३/५६१ हिदि होदि हु दव्रमणं वियसियअट्ठच्छदारविंदं
वा । अंगोवगुद्यादो मणवग्गणखंघदो णियमा । = जो हृदयस्थानमें
आठ पाँखुडीके कमलके आकारवाला है, तथा अंगोपाय नामकर्मके
उद्गयसे मनोवर्णनाके स्कन्धसे उत्पन्न हुआ है । उसे द्रव्यमन कहते
हैं । (वह अत्यन्त सूक्ष्म तथा इन्द्रियागोचर है—दे० मन/५); (द्र.
स./टी./१२/३०/६); (पं. घ./पू./७१३) ।

४. भावमनका लक्षण

- स. सि./२/११/१७०/४ वीर्यान्तरायनोन्द्रियावरणक्षयोपशमापेक्षया
आत्मनो विशुद्धिर्भावमन ।
स. सि./५/३/२६६/३ तत्र भावमनो ज्ञानम् ; तस्य जीवगुणस्वादात्म-
न्यन्तर्भाव ।
स. सि./५/१६/२७७/१ भावमनस्तावन्न्ययुपयोगलक्षणम् । = १. वीर्यान्त-
राय और नोन्द्रियावरण कर्मके क्षयोपशमकी अपेक्षा रखनेवाले
आत्माकी विशुद्धिको भावमन कहते हैं । (रा. वा./२/११/१/१२५/
२०); (घ. १/१.१.३५/२५६/६) । २. भावमन ज्ञानस्वरूप है, और
ज्ञान जीवका गुण होनेसे उसका आत्मामें अन्तर्भाव होता है । (रा.
वा./५/३/३/४४२/६) । ३. लब्धि और उपयोग लक्षणवाला भावमन
है । (रा. वा./५/१६/२०/४७१/२); (गो. जी./जो. प्र./६०६/१०६२/६),
(पं. घ./पू./७१४) ।
* दोनों मन कथंचित् मूर्त्त व पुद्गल हैं —दे० मूर्त्त/७ ।

५. भावमनका विषय

- घ. ६/१.१-१.१४/१५/११ णोईदि ए दिट्ठसुदाणुधुदत्थो णियमिदा ।
= मनमें दृष्ट, श्रुत व अनुभूत पदार्थ नियमित हैं । (घ. ६/३.५.२-
२५/२२५/१५) ।

दे० मन/१ (संकल्प-विकल्प करना मनका काम है) ।

दे० मन/१०.११ (गुण-दोष विचार व स्मरणादि करना) ।

पं. घ./पू./७१५ मूर्त्तमूर्त्तस्य वेदक च मन । = मन मूर्त्त और अमूर्त्त
दोनों प्रकारके पदार्थोंको विषय करनेवाला है । विशेष दे. श्रुत-
ज्ञान/२) ।

* मति आदि ज्ञानोंमें मनका निमित्त—दे० बह-वह नाम ।

* अपर्याप्त अवस्थामें भाव मन नहीं होता ।

—दे० प्राण/१/७-८ ।

* इन्द्रियोंका व्यापार मनके आधीन है —दे० इन्द्रिय ।

६. द्रव्यमन भावमनको निमित्त है

दे० मूर्त्त/१ (भावमनरूपसे परिणत आत्माको गुण दोष विचार व
स्मरणादि करनेमें द्रव्यमन अनुप्राहक है ।)

दे० प्राण/१/७-८ [अपर्याप्तावस्थामें द्रव्यमनका अभाव होनेके कारण वहाँ
मनोबल नामक प्राण (अर्थात् भावमन) भी स्वीकार नहीं किया
गया है ।]

दे मन/८/२ (इन्द्रियोंका व्यापार मनके आधीन है) ।

७. मनको इन्द्रिय व्यपदेश न होनेमें हेतु

घ. १/१.१.३५/२६०/५ मनस इन्द्रियव्यपदेशः किञ्च कृत इति चेत्, इन्द्रस्य
लिंगमिन्द्रियम्... शेषेन्द्रियाणामिव बाह्येन्द्रियग्राह्यत्वाभावात्तस्मिन्-
न्द्रलिङ्गत्वानुपपत्तेः । = प्रश्न—मनको इन्द्रिय सज्ञा क्यों नहीं दी
गयी । उत्तर—नहीं, क्योंकि, इन्द्र अर्थात् आत्माके लिंगको इन्द्रिय
कहते हैं । जिस प्रकार शेष इन्द्रियोंका बाह्य इन्द्रियोंसे ग्रहण होता
है, उस प्रकार मनका नहीं होता है, इसलिए उसे इन्द्रका लिंग नहीं
कह सकते ।

८. मनको अनिन्द्रिय कहनेमें हेतु

स. सि./१/१४/१०६/३ कथं पुनरिन्द्रियप्रतिषेधेन इन्द्रलिङ्गे एव मनसि
अनिन्द्रियशब्दस्य वृत्तिः । ईषदर्थस्य 'नञः' प्रयोगात् । ईषदिन्द्रिय-
मनिन्द्रियमिति । यथा 'अनुदरा कन्या' इति । कथमीषदर्थः । इमा-
नोन्द्रियाणि प्रतिनियतदेशविषयाणि कालान्तरावस्थायीनि च । न
तथा मनः इन्द्रस्य लिङ्गमपि सत्प्रतिनियतदेशविषयं कालान्तराव-
स्थायि च । = प्रश्न—अनिन्द्रिय शब्द इन्द्रियका निषेध परक है
अतः इन्द्रके लिंग मनमें अनिन्द्रिय शब्दका व्यापार कैसे हो सकता
है । उत्तर—यहाँ 'नञ्' का प्रयोग 'ईषद्' अर्थमें किया है, ईषत्
इन्द्रिय अनिन्द्रिय । (जैसे अत्राहण कहनेसे ब्राह्मणत्व रहित किसी
अन्य पुरुषका ज्ञान होता है, वैसे अनिन्द्रिय कहनेसे इन्द्रिय रहित
किसी अन्य पदार्थका बोध नहीं करना चाहिए, बल्कि—रा. वा.) ।
जैसे 'अनुदरा कन्या' यहाँ 'बिना पैट वाली लडकी' अर्थ न होकर
'गर्भधारण आदिके अयोग्य छोटी लडकी' ऐसा अर्थ होता है, इसी
प्रकार यहाँ 'नञ्' का अर्थ ईषद् ग्रहण करना चाहिए । प्रश्न—अनि-
न्द्रियमें 'नञ्' का ऐसा अर्थ क्यों लिया गया । उत्तर—ये इन्द्रिय
नियत देशमें स्थित पदार्थोंको विषय करती हैं और कालान्तरमें
अवस्थित रहती हैं । किन्तु मन इन्द्रका लिंग होता हुआ भी प्रति-
नियत देशमें स्थित पदार्थको विषय नहीं करता और कालान्तरमें
अवस्थित नहीं रहता—(विशेष दे० अगला शीर्षक), (रा. वा./१/
१४/२/५६/१६; २/१५/३/१२६/१८) ।

रा. वा./१/१६/३-४/६६/७ मनसोऽनिन्द्रियव्यपदेशाभावः स्वविषयग्रहणे
करणान्तरानपेक्षत्वाच्चक्षुर्वत् । ३। न वा, अपत्यक्षत्वात् । ४। * सूक्ष्म-
द्रव्यपरिणामात् तस्मादनिन्द्रियमित्युच्यते ।

रा. वा./२/१५/४/१२६/२६ चक्षुरादीनां रूपादिविषयोपयोगपरिणामात्
प्राक् मनसो व्यापारः । कथम् । शुक्लादिरूपं दिदृक्षु प्रथम मनसो-

पयोगं करोति 'एवंविधरूपं पश्यामि रसमास्वादयामि' इति, ततस्त-
इन्द्राधानीकृत्य चक्षुरादीनि विषयेषु व्याप्रियन्ते। ततश्चास्यानि-
न्द्रियत्वम् । — प्रश्न—मन अपने विचारात्मक कार्यमें किसी अन्य
इन्द्रियकी सहायताकी अपेक्षा नहीं करता, अतः उसे चक्षु इन्द्रियकी
तरह इन्द्रिय ही कहना चाहिए अनिन्द्रिय नहीं। उत्तर—१. सूक्ष्म-
द्रव्यकी पर्याय होनेके कारण वह अन्य इन्द्रियोंकी भाँति प्रत्यक्ष व
व्यक्त नहीं है, इसलिए अनिन्द्रिय है। (गो. जी. / मू. / ४४४/८६२) ।
(दे० मन/७) । २ चक्षु आदि इन्द्रियोंके रूपादि विषयोंमें उपयोग
करनेसे पहले मनका व्यापार होता है। वह ऐसे कि—'मै शुक्लादि
रूपको देखूँ' ऐसे पहले मनका उपयोग करता है। पीछे उसको
निमित्त बनाकर 'मै इस प्रकारका रूप देखता हूँ या रसका आस्वादन
करता हूँ' इस प्रकारसे चक्षु आदि इन्द्रियाँ अपने विषयोंमें व्यापार
करती है। इसलिए इसको अनिन्द्रियपना प्राप्त है।

९. द्रव्य व भाव मनका कथंचित् अवस्थायी व अनव- स्थायीपना

रा. वा. / ५/११/६/४६८/३० स्यान्मत्तम्—यथा चक्षुरादि व्यपदेशभाज
आत्मप्रदेशा अवस्थिता नियतदेशत्वात् न तथा मनोऽवस्थितमस्ति,
अतएव तदनिन्द्रियमित्युच्यते, ततोऽस्य न पृथग्रहणमिति; तन्न; किं
कारणम् । अनवस्थानेऽपि तन्नमित्तत्वात् । यत्र यत्र प्रणिधानं तत्र तत्र
आत्मप्रदेशा अंगुलासंख्येयभागप्रमिता मनो व्यपदेशभाज' ।

रा. वा. / ५/११/२२-२३/४७१/११ स्यादेतत्—अवस्थायी मनः, न तस्य
निवृत्तिरिति; तन्न; किं कारणम् । अनन्तरसमयप्रचयुते । मनस्त्वेन
हि परिणताः पुद्गला गुणदोषविचारस्मरणादिकार्यं कृत्वा तदनन्तर-
समय एव मनस्त्वात् प्रचयन्ते । नायमेकान्तः—अवस्थायैव मनः
इति । कुतः । ...द्रव्याथदिशान्मनः स्यादवस्थायी, पर्यायाथदिशात्
स्यादनवस्थायी । —चक्षु आदि इन्द्रियोंके आत्मप्रदेश नियतदेशमें
अवस्थित है, उस तरह मनके नहीं है, इसलिए उसे अनिन्द्रिय भी
कहते हैं और इसीलिए उसका पृथक् ग्रहण ही किया गया है।
उत्तर—यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि, अनवस्थित होनेपर भी
वह क्षयोपशमनिमित्तक तो है ही। जहाँ-जहाँ उपयोग होता है,
वहाँ-वहाँके अंगुलके असंख्य भाग प्रमाण आत्मप्रदेश मनके रूपसे
परिणत हो जाते हैं। —प्रश्न—मन अवस्थायी है, इसलिए उसकी
(उपरोक्त प्रकार) निवृत्ति नहीं हो सकती। उत्तर—नहीं, क्योंकि,
जो पुद्गल मन रूपसे परिणत हुए थे उनकी मनरूपता, गुणदोष
विचार और स्मरण आदि कार्य कर लेनेपर, अनन्तर समयमें नष्ट हो
जाती है, आगे वे मन नहीं रहते। यहाँ यह एकान्त भी नहीं समझना
चाहिए कि मन अवस्थायी ही है। द्रव्याधिकनयसे वह कथंचित्
अवस्थायी है और पर्यायाधिक नयसे अनवस्थायी। (जन्मसे मरण
पर्यन्त जीवका क्षयोपशमरूप सामान्य भावमन तथा कमलाकार
द्रव्यमन वही है, इसलिए वे अवस्थायी हैं, और प्रत्येक
उपयोगके साथ विवक्षित आत्मप्रदेशोंमें ही भावमनकी निवृत्ति
होती है तथा उस द्रव्य मनको मनपना प्राप्त होता है, जो
उपयोग अनन्तर समयमें ही नष्ट हो जाता है, इसलिए वे दोनों
अनवस्थायी हैं)

१०. मनकी अन्तःकरण करनेमें हेतु

स सि. / १/१४/१०६/८ तदन्तःकरणमिति चोच्यते । गुणदोषविचार-
स्मरणादिव्यापारे इन्द्रियानपेक्षत्वाच्चक्षुरादिवत् बहिरुपलब्धेश्च
अन्तर्गतं करणमन्तःकरणमित्युच्यते । —इसे गुण और दोषोंके विचार
और स्मरण करने आदि कार्यमें इन्द्रियोंकी अपेक्षा नहीं लेनी पड़ती,
तथा, चक्षु आदि इन्द्रियोंके समान इसकी बाहरमें उपलब्धि भी नहीं
होती, इसलिए यह अन्तर्गत करण होनेसे अन्तःकरण कहलाता है।
(रा. वा. / १/१४/३/५६/२६:५/१६/३१/४७२/३१)

११. भावमनके अस्तित्वकी सिद्धि

रा. वा. / १/१६/५-७/६६/१२ अत्राह कथमनगम्यते अप्रत्यक्षं तद् 'अस्ति'
इति । अनुमानात्तस्याधिगमः । ६।...कोऽसावनुमानः । युगपज्ज्ञान-
क्रियानुत्पत्तिर्मनसो हेतुः । ६।...अनुस्मरणदर्शनाच्च । ७।

रा. वा. / ५/११/२१/४७२/२८ पृथगुपकारानुपलम्भात् तदभाव इति चेदः
न गुणदोषविचारादिदर्शनात् । ३१। —प्रश्न—मन यदि अप्रत्यक्ष है
तो उसका ग्रहण कैसे हो सकता है। उत्तर—अनुमानसे उसका अधि-
गम होता है। प्रश्न—यह अनुमान क्या है। उत्तर—इन्द्रियाँ व
उनके विषयभूत पदार्थोंके होनेपर भी जिसके न होनेसे युगपत्
ज्ञान और क्रियाएँ नहीं होतीं, वही मन है। मन जिस-जिस इन्द्रिय
को सहायता करता है उसी-उसीके द्वारा क्रमशः ज्ञान और क्रिया
होती है। (न्या. सू. / १/१/१६) तथा जिसके द्वारा देखे या सुने गये
पदार्थोंका स्मरण होता है, वह मन है। प्रश्न—मनका कोई पृथक्
कार्य नहीं देखा जाता इसलिए उसका अभाव है। उत्तर—नहीं,
क्योंकि, गुण दोषोंका विचार व स्मरण आदि देखे जाते हैं। वे
मनके ही कार्य हैं।

१२. वैशेषिक मान्य स्वतन्त्र 'मन' का निरास

स सि. / ५/११/२८७/४ कश्चिद्वाह मनो द्रव्यान्तरं रूपादिपरिणाम-
रहितमणुमात्रं तस्य पौद्गलिकत्वमयुक्तमिति । तदयुक्तम् । कथम् ।
उच्यते—तदिन्द्रियेणात्मना च संबद्धं वा स्यादसंबद्धं वा ।
यद्यसंबद्धम्, तथात्मन उपकारकं भवितुमर्हति इन्द्रियस्य च साधिव्यं
न करोति । अथ संबद्धम्, एकस्मिन्प्रदेशे संबद्धं सत्तदणु इतरेषु
प्रदेशेषु उपकारं न कुर्यात् । अदृष्टवशादस्य अलातचक्रवत्परिभ्रमण-
मिति चेत् । नः तत्सामर्थ्याभावात् । अमूर्त्तस्यात्मनो निष्क्रियस्या-
दृष्टो गुणः, स निष्क्रियः सन्नयत्र क्रियारम्भे न समर्थः । —प्रश्न—
(वैशेषिक मतका कहना है कि) मन एक स्वतन्त्र द्रव्य है। वह
रूपादिरूप परिणामनसे रहित है, और अणुमात्र है, इसलिए उसे
पौद्गलिक मानना अयुक्त है। उत्तर—यह कहना अयुक्त है। वह
इस प्रकार कि—मन आरामा और इन्द्रियोंसे सम्बद्ध है या असम्बद्ध।
यदि असम्बद्ध है तो वह आत्माका उपकारक नहीं हो सकता और
इन्द्रियोंकी सहायता भी नहीं कर सकता। यदि सम्बद्ध है तो जिस
प्रदेशमें वह अणु मन सम्बद्ध है, उस प्रदेशको छोड़कर इतर प्रदेशों-
का उपकार नहीं कर सकता। प्रश्न—अदृष्ट नामक गुणके वशासे यह
मन अलातचक्रवत् सर्व प्रदेशोंमें घूमता रहता है। उत्तर—नहीं,
क्योंकि अदृष्ट नामके गुणमें इस प्रकारकी सामर्थ्य नहीं पायी जाती।
यत् अमूर्त्त और निष्क्रिय आत्माका अदृष्ट गुण है। अतः यह गुण
भी निष्क्रिय है, इसलिए अन्यत्र क्रियाका आरम्भ करनेमें असमर्थ
है। (रा. वा. / ५/१६/२४-२६/४७२/१) ; (गो. जी. / जी. प्र. / ६०६/
१०६२/७) ।

रा. वा. / ५/१६/२४/४७२/१६ स्यादेतत्—एकद्रव्यं मनः प्रत्यात्मं वर्तते
इति ।... तन्न, किं कारणम् । परमाणुमात्रत्वात् ।...तत्रेह विचार्यते—
तत् आत्मेन्द्रियाभ्यां सर्वात्मना वा संबन्धेत्, तदेकदेशेन वा । यदि
सर्वात्मना; तयोरान्तेन्द्रिययोरर्थान्तरभावात् व्यतिरिक्तयोरन्यतरेण
सर्वात्मना संबन्धः स्यात् अपोर्मनसः नोभयाभ्यां युगपत् विरोधात् ।
अथान्येन देशेन आत्मना संबन्धयेत् अन्येन देशेनेन्द्रियेण; एवं सति
प्रदेशवत्त्वं मनसः प्रसक्तम् । किंच यद्यात्मा मनसा सर्वात्मना संब-
न्धयेत्; मनसोऽणुत्वात् आत्मनोऽणुत्वम्, आत्मनो विभुत्वात् मनसो
वा विभुत्वं प्रसज्यते । अथैकदेशेनात्मा मनसा संयुज्यते, ननु
प्रदेशवत्त्वमात्मनः प्रसक्तम् ।...प्रदेशवृत्तत्वात् आत्मनः कश्चिद्
प्रदेशो ज्ञानादियुक्तः कश्चित् प्रदेशो ज्ञानादिविरहित इति ।...
तथेन्द्रियेण मनो यदि सर्वात्मना संयुज्यते; इन्द्रियस्याणुमात्रत्वं
मनसो वैन्द्रियमात्रत्वाणुत्वम् । अथैकदेशेन मन इन्द्रियेण संयुज्यते,

न तर्हि अणु तत् । अथ सयोगविभागाभ्या मन परिणमते, न तर्हि नित्यम् । अचेतनत्वाच्च मनस' अनेनैव इन्द्रियेणानेनैव चात्मना संयोक्तव्यं नेन्द्रियान्तरैर्न चात्मान्तरैरिति । कर्मवदिति चेत्, न, कर्मण स्याच्चैतन्यम् स्यादचेतनत्वमिति शिष्या दृष्टान्तः ।
 = प्रश्न—मन अणुरूप एक स्वतन्त्र द्रव्य है, जो प्रत्येक आत्मा में एक-एक सम्बद्ध है । उत्तर—१ नहीं, क्योंकि, अणुरूप होता हुआ वह सर्वात्मना तो इन्द्रिय व आत्मा दोनों से युग्मपत् जुड़ नहीं सकता । भिन्न-भिन्न देशों से उन दोनों के साथ सम्बन्ध मानने पर मनका प्रदेशत्व प्राप्त होता है ।—२ आत्मा मनके साथ सर्वात्मना सम्बद्ध होने पर या तो आत्मा अणुरूप ही जायेगा और या मन विभु बन जायेगा । और एक देश में सम्बद्ध होने पर आत्माको प्रदेशत्व प्राप्त होता है । और ऐसी अवस्थामें वह किन्हीं प्रदेशोंमें तो ज्ञानसहित रहेगा और किन्हीं प्रदेशोंमें ज्ञानरहित । ३ इसी प्रकार इन्द्रियों मनके साथ सर्वात्मना सम्बद्ध होने पर या तै इन्द्रिय अणुमात्र हो जायेगी और या मन इन्द्रियप्रमाण हो जायेगा । और एकदेश में सम्बद्ध होने पर वह मन अणुमात्र न रह सकेगा । ४ संयोग विभागके द्वारा मनका परिणमन होनेसे वह नित्य न हो सकेगा । ५ अचेतन होनेके कारण मनको यह विवेक कैसे हो सकेगा कि अणु इन्द्रिय या आत्माके साथ ही संयुक्त होता है, अन्यके साथ नहीं । यहाँ जैनियोंके कर्मका दृष्टान्त देना विषमदृष्टान्त है, क्योंकि उनके द्वारा मान्य वह कर्म सर्वथा अचेतन नहीं है, बल्कि कथंचित् चेतन व कथंचित् अचेतन है ।

१३. बौद्ध व सांख्यमान्य मनका निरास

शं. वा. ५/११/३२-३४/४७२/३३ विज्ञानमिति चेत्, न, तत्सामर्थ्याभावात् । ३२।-वर्तमान तावद्विज्ञानं क्षणिक पूर्वोत्तरविज्ञानसम्बन्धनिरुत्सुकं कथं गुणदोषविचारस्मरणादिव्यापारे साचिव्यं कुर्यात् । एकसंतानमतित्वात् तदुपपत्तिरिति चेत्, न, तदवस्तुत्वात् । प्रधानविकार इति चेत्, न, अचेतनत्वात् । ३३। तदव्यतिरेकात्तदभावः । ३४। = प्रश्न—(बौद्ध) विज्ञान ही मन है और इसके अतिरिक्त कोई पौद्गलिक मन नहीं है । उत्तर—नहीं, क्योंकि, वर्तमानमात्र तथा पूर्व व उत्तर विज्ञानके सम्बन्धमें निरुत्सुक उस क्षणिक विज्ञानमें गुणदोष विचार व स्मरणादि व्यापारके साचिव्यकी सामर्थ्य नहीं है । एक सन्तानके द्वारा उसकी उपपत्ति मानना भी नहीं बनता क्योंकि सन्तान अवस्तु है । प्रश्न—(सांख्य) प्रधानका विकार ही मन है, उससे अतिरिक्त कोई पौद्गलिक मन नहीं है । उत्तर—नहीं, क्योंकि, एक ही प्रधान अचेतन है और दूसरे उससे अभिन्न होनेके कारण उसका अभाव है ।

* अन्य सम्बन्धित विषय

१. मनोयोग व उसमें भेद आदि । —(दे० आगे पृथक् शब्द)
२. एकेन्द्रियमें मनका अभाव । —दे० राज्ञी
३. मनोबल । —दे० प्राण ।
४. मनोयोग । —दे० मनोयोग ।
५. मन जीतनेका उपाय । —दे० सयम/२ ।
६. केवलीमें मनके सञ्जाव व अभाव सम्बन्धी । —दे० केवली/५ ।

मनक—द्वितीय तरकका तृतीय या चतुर्थ पदल—दे० तरक/५/११ ।

मनचित्तौ अष्टमी व्रत—भाद्री सुदि आठें दिन जान । मन चिन्ते भोजन परवान ॥ यह व्रत श्वेताम्बर व स्थानकवासो समाजमें किया जाता है । (व्रतविधान सग्रह/पृ. १२६) ।

मनरंश लाल—कन्नौज निवासी पल्लीवाल दिगम्बर जैन थे । पिताका नाम कन्नौजीलाल था । कृतियाँ—चौबीस तीर्थंकर पूजा पाठ (ई. १८५७), नमिचन्द्रका, सप्तव्यसनचरित्र, सप्तषिपूजा, शिखर सम्बेदाचल माहात्म्य । (ई. १८८१) । समय—ई. १८५०-१८६० (हिन्दी जैन साहित्य इतिहास/पृ. २११/वा, कामताप्रसाद) ।

मनशुद्धि—दे० शुद्धि ।

मनु—१. विजयार्थकी उत्तर श्रेणीका एक नगर—दे० विद्याधर; २. कुलकरका अपर नाम—दे० शलाका पुरुष/६/३. ध. १/१.१.२/२०/१ मनुज्ञान = मनु ज्ञानको कहते हैं ।

मनुज—

ध. १३/५.१.२४०/३६१/१० मानुषीसु मैथुनसेवका मनुजानाम । = मनुष्यनिगोके साथ मैथुन कर्म करनेवाले मनुष्य कहलाते हैं ।

मनुष्य—मनुकी सन्तान होनेके कारण अथवा विवेक धारण करनेके कारण यह मनुष्य कहा जाता है । मोक्षका द्वार होनेके कारण यह गति सर्वोत्तम समझी जाती है । मध्य लोकके बीचमें ४५०००,०० योजन प्रमाण दार्द्रीप ही मनुष्यक्षेत्र है, क्योंकि, मानुषोत्तर पर्वतके परभागमें जानेको यह समर्थ नहीं है । ऊपरकी ओर सुमेरु पर्वतके शिखर पर्यन्त इसके क्षेत्रकी सीमा है ।

१ भेद व लक्षण

- १ मनुष्यका लक्षण ।
- २ मनुष्यके भेद ।
- * आर्य, म्लेच्छ, विद्याधर व समूच्छन मनुष्य — दे० वह-वह नाम ।
- * पर्याप्त व अपर्याप्त मनुष्य—दे० अपर्याप्त ।
- * कुमानुप—दे० म्लेच्छ । अन्तर्हीपज ।
- * कर्मभूमिज व भोगभूमिज मनुष्य—दे० भूमि ।
- * कर्मभूमिज शब्दसे केवल मनुष्योंका ग्रहण —दे० तिर्यच/२/१२ ।
- * मनुष्यणी व योनिमति मनुष्यका अर्थ—दे० वेद/३ ।
- * नपुंसकवेदी मनुष्यको मनुष्य व्यपदेश—दे० वेद/३/१ ।
- * स्त्रीवेदी व नपुंसकवेदी मनुष्य—दे० वेद ।

२ मनुष्यगति निर्देश

- १ ऊर्ध्वमुख अधोशाखा रूपसे पुरुषका स्वरूप ।
- २ मनुष्यगतिको उत्तम कहनेका कारण प्रयोजन ।
- * मनुष्योंमें गुणस्थान, जीवसमाप्त, मार्गणा स्थान आदिके स्वामित्व सम्बन्धी २० प्ररूपणार्थ—दे० सत् ।
- * मनुष्यों सम्बन्धी सत्, संख्या, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर, भाव व अल्पबहुत्व रूप ८ प्ररूपणार्थ । —दे० वह वह नाम ।
- * मार्गणा प्रकारमें भाव मार्गणाकी दृष्टता तथा उसमें आयके अनुसार व्यय होनेका नियम —दे० मार्गणा ।
- * मनुष्यायुके बन्ध योग्य परिणाम—दे० आयु/३ ।
- * मनुष्यगति नामप्रकृतिका बन्ध उदय सत्त्व —दे० वह वह नाम ।

* मनुष्यगतिमें कर्मोंका बन्ध उदय सत्त्व । —दे० वह वह नाम
* क्षेत्र व कालकी अपेक्षा मनुष्योंकी अवगाहना । —दे० अवगाहना २ ।
* मनुष्य गतिके दुःख । —दे० भ आ/मू/१५८६-१५९७ ।
* कौन मनुष्य मरकर कहाँ उत्पन्न हो । —दे० जन्म/६ ।
३ मनुष्यगतिमें सम्यक्त्व व गुणस्थान निर्देश
१ सम्यक्त्वका स्वामित्व ।
२ गुणस्थानका स्वामित्व ।
* जन्मके पश्चात् सम्यक्त्व व संयम ग्रहणकी योग्यता । दे०—सम्यग्दर्शन/१/४ व सयम/२ ।
* मनुष्यगतिमें १४ गुणस्थान निर्देश व शंका । —दे० वेद/६,७ ।
* कौन मनुष्य मरकर कौन गुण उत्पन्न करे । —दे० जन्म/६ ।
* मनुष्योंमें सम्भव कषाय, वेद, लेश्या, पर्याप्ति आदि । —दे० वह वह नाम ।
३ समुद्रोंमें मनुष्योंकी दर्शनभोहकी क्षणका कैसे ।
४ मनुष्य लोक
१ मनुष्यलोकका सामान्य स्वरूप व विस्तार ।
* मानचित्र —दे. लोक/४/२
२ मनुष्य अट्टाई द्वीपका उल्लंघन नहीं कर सकता ।
३ अट्टाई द्वीपका अर्थ अट्टाई द्वीप और दो समुद्र ।
* समुद्रोंमें मनुष्य कैसे पाये जा सकते हैं । —दे० मनुष्य/३/३ ।
* अट्टाई द्वीपमें इतने मनुष्य कैसे समावें । —वे० आकाश/३ ।
* मनुष्य लोकमें सुषमा दुषमा आदि काल विभाग —दे० काल/४ ।
४ भरत क्षेत्रके कुछ देशोंका निर्देश ।
५ " " " पर्वतोंका निर्देश ।
६ भारत क्षेत्रकी कुछ नदियोंका निर्देश ।
७ भारत क्षेत्रके कुछ नगरोंका निर्देश ।
* विद्याधर लोक —दे० विद्याधर ।

१. भेद व लक्षण

१. मनुष्यका लक्षण

पं. सं./प्रा./१/६२ मण्डलंति जदो णिच्चं पणेण णिउणा जदो दु ये जीवो । मणउकडा य जन्हा ते माणुसा भणिया ।६३—यत् जो मनके द्वारा नित्य ही हेय-उपादेय, तत्त्व-अतत्त्व और धर्म-अधर्मका विचार करते हैं, कार्य करनेमें निपुण हैं, मनसे उत्कृष्ट हैं अर्थात् उत्कृष्ट मनके धारक हैं, अतएव वे मनुष्य कहलाते हैं । (ध. १/२.१.२४/पा. १३०/२०३), (गो. जी./मू./१४६/३७२) ।

ध १३/२.१.१४१/१ मनसा उत्कटाः मानुषाः । =जो मनसे उत्कट होते हैं वे मानुष कहलाते हैं ।

नि. सा./ता. वृ/२६ मनोरपस्थानि मनुष्याः । =मनुकी सन्तान मनुष्य हैं । (और भी—दे० जीव/१/३/२) दे० मनुज (मैथुन करनेवाले मनुष्य कहलाते हैं) ।

२. मनुष्यके भेद

नि. सा./मू./१६ मानुषा द्विविकल्पाः कर्ममहीभोगभूमिसंजाताः । =मनुष्योंके दो भेद हैं, कर्मभूमिज और भोगभूमिज । (पं. का./मू./१९८) ।

त. सू./३/३६ आर्यां स्लेच्छारच ।३६। =मनुष्य दो प्रकारके हैं—आर्य और स्लेच्छ ।

भ. आ./वि./७८१/६३६/६ पर उद्धृत—मनुजा हि चतुःप्रकाराः । = कर्मभूमिसमुत्थाश्च भोगभूमिभवास्तथा । अन्तरद्वीपजाश्चैव तथा सम्पृच्छिता इति । =मनुष्य चार प्रकारके हैं—कर्मभूमिज और भोगभूमिज, तथा अन्तरद्वीपज व सम्पृच्छिम ।

गो. जी./मू./१५०/३७३ समण्णा पंचिदी पञ्जत्ता जोगिणी अपज्जत्ता । तिरिया णरा तहावि य पंचिदियभगदो हीणा ।१५०। =तिर्यंच पाँच प्रकारके हैं—सामान्य तिर्यंच, पर्याप्त, योनिमति, और अपर्याप्त । पंचेन्द्रियवाले भंगसे हीन होते हुए मनुष्य भी इसी प्रकार है । अर्थात् मनुष्य चार प्रकार हैं—सामान्य, पर्याप्त, मनुष्यणी और अपर्याप्त ।

का. अ./मू./१३२-१३३ अज्जव स्लेच्छखंडे भोगमहीसु वि कुभोगभूमिसु । मणुसमा हर्वन्ति बुविहा णिन्विता—अपुण्णगा पुण्णा ।१३२। संसुच्छिमा मणुस्ता अज्जवखंडेसु हीन्ति णियमेण । ते पुण लाद्धि अपुण्णा—।१३३। =आर्यखण्डमें, स्लेच्छखण्डमें, भोगभूमिमें और कुभोगभूमिमें मनुष्य होते हैं । ये चार ही प्रकारके मनुष्य पर्याप्त और निवृत्त्यपर्याप्तके भेदसे दो प्रकारके होते हैं ।१३३। सम्पूर्द्धन मनुष्य नियमसे आर्य-खण्डमें ही होते हैं, और वे सच्यपर्याप्तक ही होते हैं ।

२. मनुष्यगति निर्देश

१. ऊर्ध्वमुख अधो शाखा रूपसे पुरुषका स्वरूप

अन. घ./४/१०२/४०४ ऊर्ध्वमूलमधः शाखामुषयः पुरुषं विदुः ।१०२। ऋषियोंने पुरुषका स्वरूप ऊर्ध्वमूल और अधःशाखा माना है । जिसमें कण्ठ व जिह्वामूल है, हस्तादिक अवयव शाखाएँ हैं । जिह्वा आदिसे किया गया आहार उन अवयवोंको पुष्ट करता है ।

२. मनुष्य गतिको उत्तम कहनेका कारण व प्रयोजन

आ. अनु./११६ तपोवर्ण्या देहः समुपचितपुण्योऽर्जितफलः, शलाटश्रे यस्य प्रसव इव कालेन गलितः । व्यपशुष्यच्छायुष्यं सलिलमिव सरक्षितपथः स धन्यः संन्यासाहुतभुजि समाधानचरमम् ।११६। =जिसका शरीर तपरूप बेलिके ऊपर पुण्यरूप महाव फलको उत्पन्न करके समयानुसार इस प्रकारसे नष्ट हो जाता है, जिस प्रकार कि कच्चे फलके अग्रभागसे फूल नष्ट हो जाता है, तथा जिसकी आयु संन्यासरूप अग्निमें दूधकी रक्षा करनेवाले जलके समान धर्म और शुक्लध्यानरूप समाधिकी रक्षा करते हुए सूख जाती है, वह धन्य है ।

का. अ./मू./२६६ मणुवगईए वि तओ मणुवगईए महव्वदं सयलं । मणुवगदीए भाणं मणुव गदीए वि णिव्वाणं । =मनुष्यगतिमें ही तप होता है, मनुष्यगतिमें ही समस्त महावत् होते हैं, मनुष्य गतिमें ही ध्यान होता है और मनुष्य गतिमें ही मोक्षकी प्राप्ति होती है ।

३. मनुष्य गतिमें सम्यक्त्व व गुणस्थानोका निर्देश

१. सम्यक्त्वका स्वामित्व

ष. खं. १/१,१/सू. १६२-१६५/४०२-४०५ मणुस्सा अत्थि मिच्छाइट्टी सासणसम्माइट्टी मम्मामिच्छाइट्टी असंजदसम्माइट्टी संजदासंजदा सजदा त्ति । १६२। एवमइत्ताइज्जदीवसमुद्देसु १६३। मणुसा असंजदसम्माइट्टी-सजदासंजदसंजददट्टाणे अत्थि खइयसम्माइट्टी वेदयसम्माइट्टी उवसमसम्माइट्टी । १६४। एव मणुस-पज्जत्त-मणु-सिणीसु । १६५। = मनुष्य मिथ्यादृष्टि, सासादनसम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि, असंयत सम्यग्दृष्टि, संयतासंयत और संयत होते हैं । १६२। इसी प्रकार अर्द्धाई द्वीप और दो समुद्रोंमें जानना चाहिए । १६३। मनुष्य असंयत सम्यग्दृष्टि संयतासंयत और संयत गुणस्थानोंमें क्षायिक सम्यग्दृष्टि वेदकसम्यग्दृष्टि और उपशम सम्यग्दृष्टि होते हैं । १६४। इसी प्रकार पर्याप्त मनुष्य और पर्याप्त मनुष्यनियमोंमें भी जानना चाहिए । १६५।

२. गुणस्थानका स्वामित्व

ष. खं. १/१, १/सूत्र २७/२२० मणुस्सा चोइस्सु गुणट्ठाणेसु अत्थि मिच्छाइट्टी-अजीगिकेवलित्ति । २७।
 ष. खं. १/१, १/सूत्र/५६-६३/३२६-३३२ मणुस्सा मिच्छाइट्टिसासणसम्माइट्टी-असंजदसम्माइट्टी-ट्ठाणे सिया पज्जत्ता सिया अपज्जत्ता । ५६। सम्मामिच्छाइट्टी-सजदासंजदसजद-ट्ठाणेणियमापज्जत्ता । ५७। एवं मणुस्स-पज्जत्ता । ५८। मणुसिणीसु मिच्छाइट्टी-सासणसम्माइट्टी-ट्ठाणे सिक्खा पज्जत्तियाओ सिया अपज्जत्तियाओ । ५९। सम्मामिच्छाइट्टी-असंजदसम्माइट्टी-संजदासंजदसंजददट्टाणेणियमापज्जत्तियाओ । ६०। = मिथ्यादृष्टिको आदि लेकर अयोगि केवली पर्यन्त १४ गुणस्थानोंमें मनुष्य पाये जाते हैं । २७। मनुष्य मिथ्यादृष्टि, सासादन सम्यग्दृष्टि और असंयत सम्यग्दृष्टि गुणस्थानोंमें पर्याप्त भी होते हैं और अपर्याप्त भी होते हैं । ५६। मनुष्य सम्यग्मिथ्यादृष्टि, संयतासंयत, और संयत गुणस्थानोंमें नियमसे पर्याप्तक होते हैं । ५७। (उपरोक्त कथन मनुष्य सामान्यकी अपेक्षा है) मनुष्य सामान्यके समान पर्याप्त मनुष्य होते हैं । ५८। मनुष्यनियमों मिथ्यादृष्टि और सासादनसम्यग्दृष्टि गुणस्थानमें पर्याप्त भी होती है और अपर्याप्त भी होती है । ५९। मनुष्यनियमों सम्यग्मिथ्यादृष्टि, असंयतसम्यग्दृष्टि, संयतासंयत और संयत गुणस्थानोंमें नियमसे पर्याप्तक होती है । ६०।
 — (विशेष दे० सत्) ।

- दे. भूमि/७ (भोगभूमिज मनुष्य असंयत सम्यग्दृष्टि हो सकने पर भी संयतासंयत व संयत नहीं) ।
- दे. जन्म/१, ६ (सूक्ष्म निगादिया जीव मर कर मनुष्य हो सकता है, संयमासयम उत्पन्न कर सकता है, और संयम, अथवा सुक्ति भी प्राप्त कर सकता है) ।
- दे. आर्यखण्ड [आर्यखण्डोंमें जघन्य १ मिथ्यात्व उत्कृष्ट १४, विदेहके आर्यखण्डोंमें जघन्य ६ उत्कृष्ट १४, विद्याधरोंमें जघन्य ३ और उत्कृष्ट ५ तथा विद्याएँ छोड़ देनेपर १४ भी गुणस्थान होते हैं ।] ।
- दे. म्लेक्ष [यहाँ केवल मिथ्यात्व ही होता है, परन्तु कदाचित् आर्यखण्डमें आनेपर इनको व इनकी कन्याओंसे उत्पन्न संतानको संयत गुणस्थान भी सम्भव है] ।

३. समुद्रोंमें मनुष्योंको दर्शनमोहकी क्षपणा कैसे ?

घ. ६/१, ६-८ ११/२४५/६ मणुस्सेसुपण्णा कर्वं समुद्देसु दंसणमोहरववणं पट्टवेत्ति । ण, विज्जादिक्खेण तत्थागदाण दमणमोहरववणसंभवादी । = प्ररन—मनुष्योंमें उत्पन्न हुए जीव समुद्रोंमें दर्शनमोहनीयकी क्षपणाका कैसे प्रस्थापन करते हैं । उत्तर— नहीं,

क्योंकि, विद्या आदिके वशसे समुद्रोंमें आये हुए जीवोंके दर्शनमोहका क्षपण होना सम्भव है ।

४. मनुष्य लोक

१. मनुष्य लोकका सामान्य स्वरूप व विस्तार

ति. प. ४/गा. तसणालीबहुमज्जे चित्ताय खिदीय उवरिमे भागे । अइवट्टो मणुवजगे जोयणपणदाल लक्खविक्खंभी । ६। जगमज्जादी उवरि तब्बहलं जोयणाणि इगिलक्खं । णवचट्टुदुगखत्तियदुगचउक्के-क्कंक्कहि तप्परिही । ७। सुण्णभगयणपणदुगएक्कखत्तियसुण्णवणहा-सुण्ण । छक्केक्कजोयणा चिय अंककमे मणुवल्लोयखेत्तफलं । ८। अट्ठ-त्थाणं सुण्णं पंचदुरिगियणत्तिणहणवसुण्णा । अवरछक्केक्केहि अककमे तस्स विदफलं । ९। माणुसजगबहुमज्जे विक्खादी होदि ज्जुदीओ त्ति । एक्कजोयणलक्खविक्खंभजुदी सरिसवट्टो । ११। अत्थि लवणवुरासी ज्जुदीवस्स खाइयाथारो । समवट्टो सो जोयण-वेलक्खपमाणवित्थारो । १२। धादइसंडो दीओ परिवेढदि लवण-जल्लणिहि सयल । चउलक्खजोयणाइं वित्थिणो चक्खालेणं । १३। परिवेढदि समुद्दो कालोदी णम धादईसंडं । अइलक्खजोयणाणि वित्थिणो चक्खालेणं । १४। पोक्खरवरोत्ति दीवो परिवेढदि काल-जल्लणिहि सयल । जोयणलक्खा सोसस रुंदजुदो चक्खालेणं । १५। कालोदयजगदीदो समंतदो अट्ठलक्खजोयणया मत्तुणं तं परिदो परिवेढदि माणुसुत्तरो सेलो । १६। चेट्ठंति माणुस्सुत्तरपरियंतं तस्स लंघणविहीणा । मणुआ माणुसखेत्ते नेअइत्ताइज्जउवहिदीवेसु । १७। = त्रसनालीके बहुमध्यभागमें चित्रा पृथिवीके उपरिम भागमें ४५००,००० योजन प्रमाण विस्तारवाला अतिगोल मनुष्य लोक है । लोकके मध्यभागसे ऊपर उस मनुष्यलोकका बाहुष्य (ऊँचाई) १००,००० योजन और परिधि १४२३०२४६ योजन प्रमाण है । ७। (घ. ४/१, ३, ६/४२/३) ; १६००६०३०१२५००० योजन प्रमाण उसका क्षेत्रफल ५५ और १६००६०३०१२५०००००००० योजन प्रमाण उसका घनफल है । १०। उस मनुष्यक्षेत्रके बहुमध्यभागमें १००,००० योजन विस्तारसे युक्त सदश गोल और जम्बूद्वीप इस नामसे प्रसिद्ध पहला द्वीप है । ११। लवणसमुद्र रूप जम्बूद्वीपकी खाईका आकार गोल है । इसका विस्तार २००,००० योजन प्रमाण है । १२। ४००,००० योजन विस्तारयुक्त मण्डलाकारसे स्थित धातकीखण्डद्वीप इस सम्पूर्ण लवणसमुद्रको वेष्टित करता है । १३। इस धातकीखण्डको भी ५००,००० योजनप्रमाण विस्तारवाला कालोद नामक समुद्र मण्डलाकारसे वेष्टित किये हुए है । १४। इस सम्पूर्ण कालसमुद्रको १६००,००० योजनप्रमाण विस्तारसे सम्युक्त पुष्करवरद्वीप मण्डलाकारसे वेष्टित किये हुए है । १५। कालोदसमुद्रकी जगतीसे चारों ओर ५००,००० योजन जाकर मानुषोत्तर नामक पर्वत उस द्वीपको सब तरफसे वेष्टित किये हुए है । १६। इस प्रकार दो समुद्र और अर्द्धाई द्वीपोंके भीतर मानुषोत्तर पर्वत पर्यन्त मनुष्य क्षेत्र है । इसमें ही मनुष्य रहते हैं । १७। — (विशेष दे० लोक/७) ।

त्रि. सा. ४/६२ मंदरकुलवक्खारिसुमणुसुत्तररूपजंबुसामलिसु । सीदी तीसं तु सयं चउ चउ सत्तरिसयं दुपणं । ६२। = मेरु ५, कुलाचल ३०, गजदन्तसहित सर्व वक्षार गिरि १००, इष्वाकार ४, मानुषोत्तर १, विजयार्ध पर्वत १००, जम्बूवृक्ष ६, शारमली वृक्ष ६, इन विषे क्रमसे ८०, ३०, १०४, ४, १००, ६, ६ जिनमन्दिर हैं । — (विशेष दे. लोक/७) ।

२. मनुष्य अर्द्धाई द्वीपका उल्लंघन नहीं कर सकता

ति. प. ४/२६२३ चेट्ठंति माणुस्सुत्तरपरियंतं तस्स लंघणविहीणा । = मानुषोत्तर पर्यन्त ही मनुष्य रहते हैं, इसका उल्लंघन नहीं कर सकते । (त्रि. सा. ४/२३) ।

स. सि./३/३५/२२६/१ नास्मादुत्तर कदाचिदपि विद्याधरा ऋद्धिप्राप्ता । अपि मनुष्या गच्छन्ति अन्यत्रोपपादसमुद्रघाताभ्याम् । ततोऽस्यान्वर्थसंज्ञा । —समुद्रात् और उपपादके सिवाय विद्याधर तथा ऋद्धि प्राप्त मुनि भी इस पर्वतके आगे नहीं जा सकते । अतः इसकी संज्ञा अन्वर्थक है । (रा. वा./३/३५/ १२८/२), (ह. पु./५/६१२) ।

घ. १/१.१.१६३/४०३/११ वैरसन्धेन क्षिप्तानां संयतानां संयता-संयतानां च सर्वद्वीपसमुद्रेषु संभवो भवत्विति चेन्न, मानुषोत्तरा-त्परतो देवस्य प्रयोगतोऽपि मनुष्याणां गमनाभावात् । —प्रश्न—वैरके सम्बन्धसे डाले गये संयत और संयतासंयत आदि मनुष्योंका सम्पूर्ण द्वीप और समुद्रोंमें सद्भाव रहा आवे, ऐसा मान लेनेमें क्या हानि है । उत्तर—नहीं, क्योंकि, मानुषोत्तर पर्वतके उस तरफ बेवोंकी प्रेरणासे भी मनुष्योंका गमन नहीं हो सकता है ।

३. अढ़ाई द्वीपका अर्थ अढ़ाई द्वीप और दो समुद्र

घ. १/१.१.१६३/४०४/१ अथ स्यादर्धतृतीयशब्देन किमु द्वीपो विशि-ष्यते उत समुद्र उत द्वावपीति । नान्त्योपान्त्यविकल्पौ मानुषोत्तरा-त्परतोऽपि मनुष्याणामरितत्वप्रसंगात् । नान्त्यविकल्पोऽपि समु-द्राणां संख्यानियमाभावतः सर्वसमुद्रेषु तत्सत्त्वप्रसंगादिति । अप्र प्रतिविधीयते । नानन्तापान्त्यविकल्पोक्तदोषाः समाह्वीकन्ते, तयो-रनभ्युपगमात् । न प्रथमविकल्पोक्तदोषोऽपि द्वीपेष्वर्धतृतीयसंख्येषु मनुष्याणामस्तित्वनियमे सति शेषद्वीपेषु मनुष्याभावसिद्धिवन्मानुषो-त्तरत्वं प्रत्यविशेषतः शेषसमुद्रेषु तदभावसिद्धये । तत् सामर्थ्याद् द्वयोः समुद्रयोः सन्तीत्यनुक्तमप्यवगम्यते । — प्रश्न—'अर्धतृतीय' यह शब्द द्वीपका विशेषण है या समुद्रका अथवा दोनोंका । इनमेंसे अन्तके दो विकल्पोंके मान लेनेपर मानुषोत्तर पर्वतके उस तरफ भी मनुष्योंके अस्तित्वका प्रसंग आ जायेगा । और पहला विकल्प मान लेनेसे द्वीपोंकी संख्याका नियम होनेपर भी समुद्रोंकी संख्याका कोई नियम नहीं बनता है, इसलिए समस्त समुद्रोंमें मनुष्योंके सद्भावका प्रसंग प्राप्त होता है । उत्तर—दूसरे और तीसरे विकल्पमें दिये गये दोष तो प्राप्त ही नहीं होते हैं, क्योंकि, परमाणुमें वैसा माना ही नहीं गया है । इसी प्रकार प्रथम विकल्पमें दिया गया दोष भी प्राप्त नहीं होता है, क्योंकि, अढ़ाई द्वीपमें मनुष्योंके अस्तित्वका नियम हो जानेपर शेषके द्वीपोंमें जिस प्रकार मनुष्योंके अभावकी सिद्धि हो जाती है, उसी प्रकार शेष समुद्रोंमें भी मनुष्योंका अभाव सिद्ध हो जाता है, क्योंकि, शेष द्वीपोंकी तरह दो समुद्रोंके अतिरिक्त शेष समुद्र भी मानुषोत्तरसे परे है । इसलिए सामर्थ्यसे ही दो समुद्रोंमें मनुष्य पाये जाते हैं, यह बात बिना कहे ही जानी जाती है ।

४. भरतक्षेत्रके कुछ देशोंका निर्देश

ह. पु./११/६४-७५ का केवल भाषानुवाद—कुरुजांगल, पांचाल, सूरसेन, पटच्चर, तुलिंग, काशि, कौशल, मद्रकार, वृकाथक, सोल्य, आनृष्ट, त्रिगर्त, कुशाग्र, मस्त्य, कुणीयाद् कौशल और मोक ये मध्यदेश थे । ६४-६५। बाह्लीक, आत्रेय, काम्बोज, यवन, आभीर, मद्रक, स्वाथतोय, शूर, वाटवान, कैक्य, गान्धार, सिन्धु, सौवीर, भारद्वाज, दशेरुक, प्रास्थाल और तीर्णकर्ण ये देश उत्तरकी ओर स्थित थे । ६६-६७। खड्ग, अगारक, पौण्ड्र, मल्ल, मस्तक, प्राञ्जोतिष, वङ्ग, मगध, मानवर्तिक, मलद और भागव, ये देश पूर्व दिशामें स्थित थे । बाणमुक्त, वैदर्भ, माणव, सककापिर, मूलक, अरमक, दाण्डोक, कलिग, आसिक, कुन्तल, नक्षराष्ट्र, माहिषक, पुरुष और भोगवर्धन ये दक्षिण दिशाके देश थे । माण्य कल्लोवनोपान्त, दुर्ग, सुपर्ण, कर्बुक, काक्षि, नासारिक, अगर्त, सारस्वत, तापस, महिम, भरुकच्छ, सुराष्ट्र और नरमद ये सब देश पश्चिम दिशामें स्थित थे । दशार्णक,

किष्कन्ध, त्रिपुर, आवर्त, नैषध, नैपाल, उत्तमवर्ण, वैदिश, अन्तप, कौशल, पत्तन और विनिहात्र ये देश विन्ध्याचलके ऊपर स्थित थे । ६८-७४। भद्र, वत्स, विदेह, कुश, मंग, सैतव और वज्रखण्डिक, ये देश मध्यदेशके आश्रित थे । ७५।

ह. पु./सर्ग/श्लोक—टकण द्वीप । (२१/१०२); कुम्भकटक द्वीप । (२१/१२३); शकटद्वीप (२७/१६), कौशलदेश (२७/६१), दुर्ग देश (१७/१६); कुशयदेश (१८/६) ।

म. पु./२६/श्लोक नं. भरत चक्रवर्तिके सेनापतिने निम्न देशोंको जोता—पूर्वी आर्यखण्डकी विजयमें—कुरु, अवन्ती, पांचाल, काशी, कौशल, वैदर्भ, मद्र, कच्छ, चेदि, वत्स, सुह्य, पुण्ड्र, औण्ड्र, गौड, दशार्ण, कामरूप, काशमीर, उशोनर, मध्यदेश, कलिग, अंगार, बंग, अग, पुंड्र, मगध, मालव, कालकूट, मल्ल, चेदि, कसेरु और वत्स ४०-४८। मध्य आर्यखण्डकी विजयमें त्रिकलिग, औद्र, कच्छ, प्रातर, केरल, चेर, पुत्राग, कूट, ओलिक, महिष, कमेकुर, पाण्ड्य, अन्तरपाण्ड्य ७६-८०। आन्ध्र, कलिग, औण्ड्र, चोल, केरल, पाण्ड्य १११-१६६।

म. पु./३०/श्लोक नं. पश्चिमी आर्य खण्डकी विजयमें—सोरठ (१०१), काम्बोज, बाह्लीक, तैतिल, आरट्ट, सैन्धव, वानायुज, गान्धार, बाण ११०७-१०८।—उत्तर म्लेक्षखण्डमें चिलात व आवर्त । (३२/४६) ।

५. भरतक्षेत्रके कुछ पर्वतोंका निर्देश

ह. पु./सर्ग/श्लोक—गिरिकूट (२१/१०२); कर्कोटक (२१/१२३), राजग्रहमें ह्रीमन्त (२६/४५); वरुण (२७/१२) विन्ध्याचल (१७/३६) ।

म. पु./२६/श्लोक—ऋष्यभूक, कोलाहल, माल्य, नागप्रिय १५५-१७। तैरिचक, वैडूर्य, कूटाचल, परियात्रा, पुष्पगिरि, स्मितगिरि, गदा, ऋक्षवात्, वातपृष्ठ, कम्बल, वासवन्त, असुरधुपन्, भदेभ, अंगिरेयक, १६७-७०। विन्ध्याचलके समीपमें नाग, मलय, गोशीर्ष, दुर्दर, पाण्ड्य, कषाटक, शीतगुह, श्रीकटन, श्रीपर्वत, किष्किन्ध १८८-१०।

म. पु./३०/श्लोक—त्रिकूट, मलयगिरि, पाण्ड्यवाटक १२६। सहा १३८। तुंगवरक, कृष्णगिरि, सुमन्दर, मुकुन्द, १४९-५०। विन्ध्याचल १६५। गिरनार १६४।

म. पु./३३/श्लोक कैलाश पर्वत विजयार्धके दक्षिण, लवण समुद्रसे उत्तर व गंगा नदीके पश्चिम भागमें अयोध्याके निकट बताया है ।

६. भरतक्षेत्रकी कुछ नदियोंका निर्देश

ह. पु./सर्ग/श्लोक—हरिद्वती, चंडवेगा, गजवती, कुसुमवती, सुवर्णवती—ये पाँच नदियाँ वरुण पर्वतपर हैं । (२७/१३) ऐरावती । (२१/१०२) ।

म. पु./सर्ग/श्लोक—सुमागधी, गगा, गोमती, कपीवती, रवेस्था—ये नदियाँ पूर्वी मध्य देशमें हैं, गम्भीरा, कालतीया, कौशिकी, काल-मही, ताम्रा, अरुणा, निधुरा, उदुम्बरी, पनसा, तमसा, प्रमृशा, शुक्तिमती, यमुना—ये नदियाँ पूर्वमें हैं । शोन पूर्वी उत्तरमें, बीजा दोनोंके बीचमें और नर्मदा पूर्वी दक्षिणमें है । (२६/४६-५४) । क्षत्र-वती, चित्रवती, मावयवती, वेणुमती, दशार्ण, मालिका, सिन्धु, विशाला, पारा, निकुन्दरी, बहुवजा, रम्या, सिकतिनी, कुहा, समतीया, कजा, कपीवती, निविन्ध्या, जम्बूमती, वसुमती, शर्करा-वती, शिप्रा, कृतमाला, परिजा, पनसा, अवन्तिकामा, हस्तिपानी, कांगधुनी, व्याघ्री, चर्मण्वती, शतभागा, नन्दा, करभवेगिनी, चलितापी, रेवा, सप्तपारा, कौशिकी । (२६/२८-६६) । तैला, इक्षुमती, नक्ररवा, बंगा, रवसना, वैतरणी, माषवती, महेन्द्रका, शुष्क, सप्तगोदावर, गोदावरी, मानसरोवर, सुप्रयोगा, कृष्णवर्णा, सञ्जीरा,

प्रवेणी, कुन्जा, घैर्या, चूर्णी, वेणा, सूकरिका, अम्बर्णा । (२६/२३-८७) । भीमरथी, दारुवेणी, नीरा, मूला, बाणा, केतवा, करीरी, प्रहरा, मुरगा, पारा, मदना, गोदावरी, तापी, लांगल खतिका । (३०/५५-६३) । कुसुमवती, हरणवती, गजवती, चण्डवेगा । (५६/११६) ।

७. भरतक्षेत्रके कुछ नगरोंका निर्देश

ह. पु. १७/१श्लोक दुर्गदेशमे इलावर्धन १११। नर्मदा नदीपर माहि-
ष्मती १२०। वरदा नदीपर कुंडिनपुर १२३। पौलोमपुर १२५। रेवा नदी-
पर इन्द्रपुर १२७। जयन्ती व वनवास्य १२७। कल्पपुर १२८। शुभपुर
१३२। वज्रपुर १३३। विन्ध्याचलपर चेदि १३६। शुक्तीमती नदीपर
शुक्तिमती १३६। भद्रपुर, हस्तनापुर, विदेह १३४। मथुरा, नागपुर १३६।
ह. पु. १८/१श्लोक—कृशद्यदेशमें शौरपुर ११। भद्रलपुर १११।
ह. पु. २४/१श्लोक—कलिंगदेशमें कांचनपुर १२०। अचलग्राम १२५।
शालगुहा १२६। जयपुर १३०। इलावर्धन १३४। महापुर १३७।
ह. पु. २५/१श्लोक—गजपुर १६।
ह. पु. २७/१श्लोक सिंहपुर ११६। पोदन १५५। वर्धकि १६१। साकेतपुर
(अयोध्या) १६३। धरणीतिलक १७७। चक्रपुर १८६। चित्रकारपुर १६६।

मनुष्य व्यवहार—

प्र. सा. /पं. जयचन्द्र/१४ 'मै मनुष्य हूँ, शरीरादिकी समस्त क्रियाओंको
मै करता हूँ, स्त्री, पुत्र धनादिके ग्रहण त्यागका मै स्वामी हूँ' इत्यादि
मानना मो मनुष्य व्यवहार है ।

मनुष्यायु—दे आयु ।

मनो गुप्ति—दे० गुप्ति ।

मनोज्ञ साधु—स. सि १६/२४/४४२/१० मनोज्ञो लोकसंमतः ।
=लोकसंमत साधुको मनोज्ञ कहते हैं ।

रा वा १६/२४/१२-१४/६२३/२५ मनोज्ञोऽभिरूप १२३। संमतो वा
लोकस्य विद्वत्तायवतुत्वमहाकुलत्वादिभि १२३। गौरवोत्पादनहेतु-
त्वात् । असंयतसम्यग्दर्शिनः १२४। संस्कारोपेतस्वरत्वात् । =अभि-
रूपको, अथवा गौरवकी उत्पत्तिके हेतुभूत विद्वान्, वाग्मी व महा-
कुलीन आदिरूपसे लोकप्रसिद्धको, अथवा सुसंस्कृत सम्यग्दर्शिको
मनोज्ञ कहते हैं । (चां. सा १/१५१/४), (भा. पा १/टी ७८/२२५/२) ।

घ १३/५४.२६/६३/१० आहिरियेहि सम्मदाण गिहत्थाणं दिवखाभि-
मुहाणं वा जं करिदे तं मणुणं वेज्जावच्च णाम । =आचार्योंके द्वारा
संमत और दीक्षाभिमुख गृहस्थकी वैद्यावृत्त्य मनोज्ञ कहलाती है ।
(चां. सा. १/१५१/४) ।

मनोदंड—दे० योग/१ ।

मनोदुष्ट—कायोत्सर्गका अतिचार—दे० व्युत्सर्ग/१ ।

मनोबल—१. ऋद्धि/६. २. दे० प्राण ।

मनोभद्र—यक्षोका एक भेद—दे० यक्ष ।

मनोयोग—स. सि १६/२/३१८/११ अम्यन्तरयोर्नान्तरायनोद्दिन्द्रया-
वरगक्षयोपशमात्मकमनोन्विषं निधाने बाह्यनिमित्तमनोवर्गणा-
लम्बने च सति मन परिणामाभिमुखस्यात्मप्रदेशपरिस्पन्दो मनो-
योग । = वीर्यन्तराय और नोद्दिन्द्रयावरणके क्षयोपशम रूप
आन्तरिक मनोत्विके होनेपर तथा बाहरी निमित्तभूत मनोवर्ग-
णाओंका आलम्बन मिलनेपर मनरूप पर्यायके समुत्पन्न हुए आत्माके
होनेवाला प्रदेशपरिस्पन्द मनोयोग कहलाता है । (रा. वा. ६/१/१-
१०/५०५/१५) ।

घ. १/१.१.५०/२८२/६ मनस समुत्पत्तये प्रयत्नो मनोयोगः ।

घ. १/१.१.६५/३०=३ चतुर्णां मनसां सामान्यं मनः, तज्जनितवीर्येण
परिस्पन्दलक्षणेन योगो मनोयोगः । =मनकी उत्पत्तिके लिए जो
प्रयत्न होता है उसे मनोयोग कहते हैं । (घ १/१.१.४७/२७६/२) ।
—सत्य आदि चार प्रकारके मनमें जो अन्वयरूपसे रहता है उसे
सामान्य मन कहते हैं । उस मनसे उत्पन्न हुए परिस्पन्द लक्षण वीर्य
के द्वारा जो योग होता है उसे मनोयोग कहते हैं । (विशेष देखो
आगे शीर्षक नं. ५) ।

घ. ७/२.१.३३/७६/६ मणवर्गणादो निष्पण्णद्वयमणमवलंबिय जो
जीवस्स संकोचविकोचो सो मणजोगो । =मनोवर्गणासे निष्पन्न हुए
द्रव्यमनके अवलम्बनसे जो जीवका संकोच-विकोच होता है वह
मनोयोग है ।

घ. १०/४.२.४.१७५/४३७/१० बज्जत्थचित्तावावदमणादो समुत्पण्ण जीव-
पवेसपरिष्कंदो मणोजोगो णाम । =बाह्यपदार्थके चिन्तनमें प्रवृत्त
हुए मनसे उत्पन्न जीव प्रदेशोंके परिस्पन्दको मनोयोग कहते हैं ।

२. मनोयोगके भेद

प खं. १/१.१/सूत्र ४६/२८० मणजोगो चउत्तव्विहो सच्चमणजोगो
मोसमणजोगो सच्चमोसमणजोगो असच्चमोसमणजोगो चेदि १४६।
=मनोयोग चार प्रकारका है—सत्यमनोयोग, मृषामनोयोग, सत्य-
मृषामनोयोग और असत्यमृषा (अनुभव) मनोयोग १४६। (रा. वा. /-
१/७/१४/३६/२१); (घ. ८/३.६/२१/६); (गो. जी /मू. /२१७/४७५);
(द. सं. टी /१३/३७/७) ।

१. इन चारके अतिरिक्त सामान्य मनोयोग क्या

घ. १/१.१.५०/२८२/८ मनोयोग इति पञ्चमो मनोयोग क्व लब्धश्चेन्नैष
दोषः, चतसृणां मनोव्यक्तानां सामान्यस्य पञ्चमस्वोपपत्तेः । किं
तत्सामान्यमिति चेन्नमनसः सादृश्यम् । =प्रश्न—चार मनोयोगोंके
अतिरिक्त (मार्गणा प्रकरणमें) 'मनोयोग' इस नामका पाँचवाँ
मनोयोग कहाँसे आया । उत्तर—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि,
भेदरूप चार प्रकारके मनोयोगोंमें रहनेवाले सामान्य योगके पाँचवाँ
संख्या बन जाती है । प्रश्न—वह सामान्य क्या है । उत्तर—यहाँ
पर सामान्यसे मनकी सदृशताका ग्रहण करना चाहिए ।

४. मनोयोगके भेदोंके लक्षण

पं. सं. प्रा १/८६-६० सम्भावो सच्चमणा जो जोगो सो दु सच्चमण-
जोगो । तविवहरोओ मोसो जाणुभयं सच्चमोस त्ति ८६। ण य
सच्चमोसजुत्तो जो हु मणो सो असच्चमोसमणो । जो जोगो तेण हवे
असच्चमोसो दु मणजोगो १०। =सद्भाव अर्थात् समीचीन पदार्थके
विषय करनेवाले मनको सत्यमन कहते हैं; और उसके द्वारा जो
योग होता है उसे सत्यमनोयोग कहते हैं । इससे विपरीत योगको
मृषा मनोयोग कहते हैं । सत्य और मृषा योगको सत्यमृषा मनो-
योग कहते हैं ८६। जो मन न तो सत्य हो और न मृषा ही उसे
असत्यमृषामन कहते हैं और उसके द्वारा जो योग होता है उसे
असत्यमृषामनोयोग कहते हैं १०। (घ. १/१.१.४६/गा. १/६-१५७/२८१,
२८२); (गो जी /मू. /२१८-२१६/४७७) ।

घ. १/१.१.४६/२८१/४ समनस्केषु मन पूर्विका वचस प्रवृत्तिः अन्यथानु-
पलम्भात् । तत्र सत्यवचननिबन्धनमनसा योग सत्यमनोयोग ।
तथा मोषवचननिबन्धनमनसा योगो मोषमनोयोगः । उभयात्म-
कवचननिबन्धनमनसा योग सत्यमोषमनोयोगः । त्रिविधवचन-
व्यतिरिक्तामन्त्रणादि वचननिबन्धनमनसा योगोऽसत्यमोषमनो-
योगः । नायमर्थो मुख्यः सकलमनसामव्यापकत्वात् । क. पुनं-
निरवच्छेदोऽर्थश्चेत्तथावस्तु प्रवृत्त मन सत्यमन । विपरीतमसत्य-
मनः । द्वयात्मकमुभयमन । सशयानध्यवसायज्ञाननिबन्धनम-

सत्यमोषमन इति । अथवा तद्वचनजननयोग्यतामपेक्ष्य चिरन्तनो-
ऽप्यर्थं समीचीन एव । = १. समनस्क जीवोंमें वचनप्रवृत्ति मन-
पूर्वक देखी जाती है, क्योंकि, मनके बिना उनमें वचन प्रवृत्ति
नहीं पायी जाती । इसलिए उन चारोंमें-से सत्यवचननिमित्तक
मनके निमित्तसे होनेवाले योगको सत्यमनोयोग कहते हैं । असत्य
वचन निमित्तक मनसे होनेवाले योगको असत्य मनोयोग कहते
हैं । सत्य और मृषा इन दोनों रूप वचन निमित्तक मनसे होनेवाले
योगको उभयमनोयोग कहते हैं । उक्त तीनों प्रकारके वचनोंसे
भिन्न आमन्त्रण आदि अनुभयरूप वचननिमित्तक मनसे होनेवाले
योगको अनुभय मनोयोग कहते हैं । फिर भी उक्त प्रकारका कथन
मुख्यार्थ नहीं है, क्योंकि, इसकी सम्पूर्ण मनके साथ व्याप्ति नहीं
पायी जाती । अर्थात् यह कथन उपचरित है, क्योंकि, वचनकी
सत्यादिकतासे मनमें सत्य आदिका उपचार किया गया है । प्रश्न—
तो फिर यहाँपर निर्दोष अर्थ कौन-सा लेना चाहिए । उत्तर—
२. जहाँ जिस प्रकारकी वस्तु विद्यमान हो वहाँ उसी प्रकारसे
प्रवृत्ति करनेवाले मनको सत्यमन कहते हैं । उससे विपरीत मनको
असत्यमन कहते हैं । सत्य और असत्य इन दोनों रूप मनको
उभयमन कहते हैं । तथा जो संशय और अनध्यवसायरूप ज्ञानका
कारण है, उसे अनुभयमन कहते हैं । ३. अथवा मनमें सत्य-असत्य
आदि वचनको उत्पन्न करनेरूप योग्यता है, उसकी अपेक्षासे सत्य-
वचनादि निमित्तसे होनेके कारण जिसे पहले उपचार कह आये है,
वह कथन मुख्य भी है ।

गो जी, जी, प्र./२१७-२१६/४७५/४ सत्यासत्योभयानुभयार्थेषु या, प्रवृ-
त्तयः मनोवचनयोः तदा ज्ञानवाक्यप्रयोगजनने जीवप्रयत्नरूप-
प्रवृत्तीनां सत्यादि तन्नाम भवति सत्यमन इत्यादि । • सम्यग्ज्ञान-
विषयोऽर्थः सत्य यथा जलज्ञानविषयो जल स्नानपानाद्यर्थ-
क्रियासद्भावात् । मिथ्याज्ञानविषयोऽर्थ असत्य' यथा जलज्ञान-
विषयो मरीचिका जले जल, स्नानपानाद्यर्थक्रियाविरहात् ।
सत्यासत्यज्ञानविषयोऽर्थ', उभय. सत्यासत्य इत्यर्थ' यथा
जलज्ञानविषय' कमण्डलुनि घट' । अत्र जलधारणार्थक्रियाया' सद्भा-
वात् सत्यताया' घटाकारविकल्पत्वादसत्यतायाश्च प्रतीते' । अर्थ
गौणार्थ' अग्निर्माणवक इत्यादिवत् । अनुभयज्ञानविषयोऽर्थ
अनुभय' सत्यासत्यार्थद्वयेनावक्तव्यः यथा किञ्चित्प्रतिभासते ।
सामान्येन प्रतिभासमानोऽर्थः स्वार्थक्रियाकारिविशेषनिर्णयाभावात्
सत्य इति वक्तुं न शक्यते । सामान्य इति प्रतिभासात् असत्य
इत्यपि वक्तुं न शक्यते, इति जात्यन्तरम् अनुभयार्थ' स्फुटं चतुर्थो
भवति । एवं घटे घटविकल्प' सत्य, घटे पटविकल्पोऽसत्य,
कुण्डिकाया जलधारणे घटविकल्प' उभय, आमन्त्रणादिषु अहो देव-
दत्त इति विकल्प. अनुभयः । कालेनैव गृहीता सा कथ्या किं मृत्युना
अथवा धर्मणा इत्यनुभय' । २१७। सत्यमन, सत्यार्थज्ञानजननशक्ति-
रूप भावमन इत्यर्थ' । तेन सत्यमनसा जनितो योग.-प्रयत्नविशेष'
स सत्यमनोयोग', तद्विपरीत. असत्यार्थविषयज्ञानजनितशक्तिरूप-
भावमनसा जनितप्रयत्नविशेष' मृषा असत्यमनोयोग. । उभय—सत्य-
मृषार्थज्ञानजननशक्तिरूपभावमनोजनितप्रयत्नविशेषः उभयमनो-
योग' । २१८। असत्यमृषामन', अनुभयार्थज्ञानजननशक्तिरूप भाव-
मन इत्यर्थ' । तेन भावमनसा जनितो यो योग. प्रयत्नविशेष. न
तु पुन' असत्यमृषामनोयोगो भवेत् अनुभयमनोयोग इत्यर्थ' । इति
चत्वारो मनोयोगा. कथिता. । = सत्य-असत्य उभय और अनुभय
इन चार प्रकारके अर्थको जानने या कहनेमें जीवके मन व वचनकी
प्रयत्नरूप जो प्रवृत्ति विशेष होती है, उसीको सत्यादि मन व
वचन योग कहते हैं । तहाँ—यथार्थ ज्ञानगोचर पदार्थ सत्य है, जैसे
जलज्ञानका विषयभूत जल, क्योंकि, उसमें स्नान, पान आदि अर्थ
क्रियाका सद्भाव है । अथार्थ ज्ञानगोचर पदार्थ असत्य है, जैसे
जलज्ञानका विषयभूत मरीचिकाका जल, क्योंकि, उसमें स्नान,

पान आदि अर्थक्रियाका अभाव है । यथार्थ और अयथार्थ दोनों
ज्ञानगोचर अर्थ उभय अर्थात् सत्यासत्य है, जैसे जलज्ञानके विषय-
भूत कमण्डलुमें घटका ग्रहण, क्योंकि, जलधारण आदिरूप क्रियाके
सद्भावसे यह घटकी नाई' सत्य है, परन्तु घटाकारके अभावसे
असत्य है । प्रतिभाशाली देखकर बालकको अग्नि कहनेकी भौति
यह कथन गौण है । यथार्थ अयथार्थ दोनों ही प्रकारके निर्णयसे
रहित ज्ञानगोचर पदार्थ अनुभय है, जैसे 'यह कुछ प्रतिभासित
होता है ।' इस प्रकारके सामान्यरूपेण प्रतिभासित पदार्थमें स्वार्थ-
क्रियाकारी विशेषके निर्णयका अभाव होनेसे उसे सत्य नहीं कह
सकते और न ही उसे असत्य कह सकते हैं, इसलिए वह जात्य-
न्तरभूत अनुभय अर्थ है ।—इसी प्रकार घटमें घटका विकल्प सत्य
है, घटमें पटका विकल्प असत्य है, कुण्डीमें जलधारण देखकर
घटका विकल्प उभय है, और 'अहो देवदत्त' इस प्रकारकी
आमन्त्रणी आदिभाषा (दे० भाषा) में उत्पन्न होनेवाला विकल्प
अनुभय है । अथवा 'वह कन्या कालके द्वारा ग्रहण की गयी है'
ऐसा विकल्प अनुभय है, क्योंकि, कालका अर्थ मृत्यु व मासिक-
धर्म दोनों हो सकते हैं । २१७। सत्यमन अर्थात् सत्यार्थज्ञानको
उत्पन्न करनेकी शक्तिरूप भाव मन । ऐसे सत्यमनसे जनित योग
या प्रयत्न विशेष सत्यमनोयोग है । उससे विपरीत असत्यार्थ-
विषयक ज्ञानको उत्पन्न करनेकी शक्तिरूप भावमनसे जनित
प्रयत्नविशेष असत्यमनोयोग है । उभयार्थ विषयक ज्ञानको उत्पन्न
करनेकी शक्तिरूप भावमनसे जनित प्रयत्नविशेष उभयमनोयोग है ।
और अनुभयार्थ विषयक ज्ञानको उत्पन्न करनेकी शक्तिरूप भावमनसे
जनित प्रयत्नविशेष अनुभयमनोयोग है । इस प्रकार चार मनोयोग
कहे गये ।

५. शुभ-अशुभ मनोयोग

वा अ./गा. आहारादो सण्णा असुहमणं इदि विजाणेहि । १०। किण्हादि-
तिणिण्ण लेस्सा करणजसोवखेसु गिदिपरिणामो । ईसाविसादभावो
असुहमणत्ति य जिणा वेत्ति । ११। रागो दोसो मोहो हस्सादी-णो क-
सायपरिणामो । धूलो वा सुहुमो वा असुहमणोत्ति य जिणा वेत्ति
। १२। मोत्तुण असुहभावं पुव्वुत्तं णिरवसेसदो वव्वं । वदसमिदिसील-
संजमपरिणाम सुहमणं जाणे । १४। = आहार, भय, मैथुन, परिग्रह,
कुण्ण-नील व कापोत्त लेश्याएँ, इन्द्रिय सुखो में लोलुपता, ईर्ष्या,
विषाद, राग, द्वेष, मोह, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा,
स्त्रीवेद, पुरुषवेद, और नपुंसकवेद रूप परिणाम अशुभ मन है । १०-
१२। इन अशुभ भावो व सम्पूर्ण परिग्रह को छोड़ कर वत, समिति,
शोल और संयमरूप परिणाम होते हैं, उन्हें शुभ मन जानना
चाहिए ।

दे. उपयोग/II/४/१,२ (जीव दया आदि शुभोपयोग हैं और विषय
कषाय आदिमें प्रवृत्ति अशुभोपयोग है ।)

दे. प्रणिधान—(इन्द्रिय विषयो में परिणाम तथा क्रोधादि कषाय
अशुभ प्रणिधान है और व्रत समिति गुप्तिरूप परिणाम शुभ प्रणि-
धान है ।)

रा. वा./६/३/१,२/पृष्ठ/पंक्ति वधचिन्तनेष्यसूयादिरशुभो मनोयोगः ।
(५०६/३३) । अर्हदादिभक्तितपोरुचिश्रुतविनयादि' शुभो मनोयोगः ।
(५०७/३) । = हिंसक विचार, ईर्ष्या, असूया आदि अशुभ मनयोग है
और अर्हन्त भक्ति, तपको रुचि, श्रुत विनयादि विचार शुभ मनो-
योग है । (स.सि/६/३/६१६/११) ।

६. मनोज्ञान व मनोयोगमें अन्तर

घ./१/१,२,५०/२२३/१ पूर्वप्रयोगात् प्रयत्नमन्त्रेणापि मनसः प्रवृत्तिर्द-
श्यते इति चेद्भवतु, न तेन मनसा योगोऽत्र मनोयोग इति विवक्षितः,
तत्रिमित्तप्रयत्नसंबन्धस्य परिस्पन्दरूपस्य विवक्षितत्वाद् । = प्रश्न—

पूर्व प्रयोगसे प्रयत्नके बिना भी मनकी प्रवृत्ति देखी जाती है।
उत्तर—यदि ऐसा है तो होने दो, क्योंकि, ऐसे मनसे होनेवाले योग-
को मनोयोग कहते हैं, यह अर्थ यहाँ विवक्षित नहीं है, किन्तु मनके
निमित्तसे जो परिस्पन्दरूप प्रयत्न विशेष होता है, वह यहाँ पर योग
रूपसे विवक्षित है।

गो.जी./जी प्र./७०३/११३३/२० लब्धयुपयोगलक्षणं भावमन. तद्व्यापारो
मनोयोगः।=लब्धिव उपयोग लक्षणवाला तो भावमन है और
उसका व्यापार विशेष मनोयोग है।

७. मरण या व्याघातके साथ ही मन व वचन योग भी समाप्त हो जाते हैं

ध. ४/१५, १७५/४१६/६ मुदे वाघादिदे वि कायजोगं मोक्षूण अणजोगा-
भावो।=मरण अथवा व्याघात होनेपर भी काययोगको छोड़कर
अन्य योगका अभाव है।

८. अन्य सम्बन्धित विषय

१. मनोयोग सम्बन्धी विषय। —दे० योग
२. केवलीमें मनोयोग विषयक। —दे० केवली/५
३. मनोयोगमें गुणस्थान जीवसमाप्त मार्गणास्थान आदि २०
प्ररूपणाएँ। —दे० सत्।
४. मनोयोगकी सत्, संख्या, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर, भाव व
अल्पबहुत्व प्ररूपणाएँ। —दे० वह वह नाम।
५. मनोयोगियोंमें क्रमोंका बन्ध, उदय, सत्त्व।—दे० वह वह नाम।

मनोरम—१. किन्नर नामक व्यन्तर जातिका एक भेद—दे. किन्नर;
२. सुमेरु पर्वतका अपर नाम—दे. सुमेरु।

मनोरमा—१ ह पु./१५/श्लोक नं विजयार्धपर मेघपुरके राजा
पवनवेगकी पुत्री थी। २७। इसका विवाह राजा सुमुखके जीवके साथ
हुआ, जिसने पूर्वभवे इसका हरण कर लिया था। ३३। पूर्व जन्मका
असली पति जो उसके वियोगमें दीक्षित होकर देव हो गया था,
पूर्व वैरके कारण उन दोनोंको उठा कर चम्पापुर नगरमें छोड़ गया
और इनकी सारी विद्याएँ हरकर ले गया। वहाँ उनके हरि नामका
पुत्र उत्पन्न हुआ जिसने हरिवंशकी स्थापना की। ३५-४५। २ वरांग-
चरित्र/सर्ग/श्लोक—राजा देवसेनकी पुत्री थी। वरांगपर मोहित हो
गयी। (१६/४०)। वरांगके साथ विवाह हुआ। (२०/४२)। अन्तमें
दीक्षा धारण की। (२६/१४)। तपके प्रभावसे स्त्रीलिंग छेद देव
हुआ। (३१/११४)।

मनो वर्गणा—दे० वर्गणा/१।

मनो विनय—दे० विनय/१।

मनोवेग—१. बृहत् कथाकोश/कथा न ७/पृ. मथुरा नगरीमें मुनि-
गुप्त द्वारा रेवतीकी आशीष और भव्यसेन मुनिको कुछ नहीं कहला
भेजा। २०। इस प्रकार इसने उन दोनोंकी परीक्षा ली। २७। २ म
पु./७५/श्लोक—पूर्व भव नं. ४ में शिवभूति ब्राह्मणका पुत्र था। ७२।
पूर्व भव नं. ३ में महाबल नामका राजपुत्र हुआ। ५१। पूर्व भव नं.
२ में नागदत्त नामका श्रेष्ठीपुत्र हुआ। ६६। पूर्व भव नं. १ में सौधर्म
स्वर्गमें देव हुआ। १६२। वर्तमान भवमें मनोवेग होकर पूर्व स्नेहवश
चन्दनाका हरण किया। १६५-१७३।

मनोवेगा—भगवात् चन्द्रप्रभुकी शासक यक्षिणी—दे० तीर्थंकर/५/३।

मनोहर—महोरग जातिका एक व्यन्तर देव—दे० महोरग।

मनोहरण—यक्षोका एक भेद—दे० यक्ष।

ममकार—त अनु/१४ शश्वदनात्मीयेषु स्वतनुप्रमुखेषु कर्मजनि-
तेषु। आत्मीयाभिनिवेशो ममकारो मम यथा वेह। १४।=सदा
अनात्मीय, ऐसे कर्मजनित स्वशरीरादिकमें जो आत्मीय अभिनिवेश
है, उसका नाम ममकार है, जैसे मेरा शरीर। (द्र. सं./टी./४१/
१६६/१)।

प्र.सा/ता वृ./१४/१२२/१५ मनुष्यादिशरीरं तच्छरीराधारोत्पन्नपञ्चे-
न्द्रियविषयसुखस्वरूपं च ममेति ममकारो भण्यते।=मनुष्यादि
शरीर तथा उस शरीरके आधारसे उत्पन्न पञ्चेन्द्रियोंके विषयभूत
सुखका स्वरूप सो मेरा है' इसे ममकार कहते हैं।

ममत्व—स्व. स्तो./टी./१० ममेत्यस्य भावो ममत्व।=मेरेपनेका
भाव ममत्व कहलाता है।

मय—प.पु/५/श्लोक—रावणका स्वसुर व मदोदरी का पिता था
। ५२। रावणकी मृत्युके पश्चात् दीक्षित हो गया। ६०।

मरण—लोक प्रसिद्ध मरण तद्वत् मरण कहलाता है और प्रतिक्षण
आयुका क्षीण होना नित्य मरण कहलाता है। यद्यपि संसारमें सभी
जीव मरणधर्मा है, परन्तु अज्ञानियोंकी मृत्यु बालमरण और
ज्ञानियोंकी मृत्यु पण्डित मरण है, क्योंकि, शरीर द्वारा जीवका त्याग
क्रिया जानेसे अज्ञानियोंकी मृत्यु होती है और जीव द्वारा शरीरका
त्याग क्रिया जानेसे ज्ञानियोंकी मृत्यु होती है, और इसीलिए इसे
समाधिमरण कहते हैं। अतिवृद्ध या रोगग्रस्त हो जानेपर जब
शरीर उपयोगी नहीं रह जाता तो ज्ञानीजन धीरे-धीरे भोजन-
का त्याग करके इसे कुश करते हुए इसका भी त्याग कर देते हैं।
अज्ञानीजन इसे अपमृत्यु समझते हैं, पर वास्तवमें कषायोंके क्षीण
हो जानेपर सम्यग्दृष्टि जागृत हो जानेके कारण यह अपमृत्यु नहीं
बल्कि सल्लेखना मरण है जो उत्कृष्ट, मध्यम, जघन्यके भेदसे तीन
विधियों द्वारा किया जाता है। यद्यपि साधारणतः देखनेपर अप-
मृत्यु या यह पण्डितमरण अकालमरण सरीखा प्रतीत होता है, पर
ज्ञाता द्रष्टा रहकर देखनेपर वह अकाल होनेपर भी अकाल नहीं है।

१ भेद व लक्षण

१ मरण सामान्यका लक्षण।

२ मरणके भेद।

३ नित्य व तद्वत् मरणके लक्षण।

४ बाल व पण्डितमरण सामान्य व उनके भेदों
के लक्षण।

* भक्त प्रत्याख्यान ईगनी व प्रायोपगमन
मरणके लक्षण। —दे० सल्लेखना/३।

* च्युत, च्यावित व त्यक्त शरीरके लक्षण।
—दे० निक्षेप/५।

५ अन्य भेदोंके लक्षण।

२ मरण निर्देश

१ आयुका क्षय ही वास्तव में मरण है।

२ चारों गतियोंमें मरणके लिए विभिन्न शब्द।

३ पण्डित व बाल आदि मरणोंकी इष्टता-अनिष्टता।

* सल्लेखनागत क्षपकके मृत शरीर सम्बन्धी । —दे० सल्लेखना/ ६ ।
* मुक्त जीवके मृत शरीर सम्बन्धी । —दे० मोक्ष/ ५ ।
* सभी गुणस्थानों व मार्गास्थानोंमें आयेके अनुसार व्यय होनेका नियम । —दे० मार्गणा ।
३ गुणस्थान आदिमें मरण सम्बन्धी नियम
१ आयुबन्ध व मरणमें परस्पर गुणस्थान सम्बन्धी ।
२ निम्न स्थानोंमें मरण सम्भव नहीं ।
३ सासादन गुणस्थानमें मरण सम्बन्धी ।
४ मिश्र गुणस्थानमें मरणके अभाव सम्बन्धी ।
५ प्रथमोपशम सम्यक्त्वमें मरणके अभाव सम्बन्धी ।
६ अनन्तानुबन्धी विसंयोजकके मरणाभाव सम्बन्धी ।
७ उपशम श्रेणीमें मरण सम्बन्धी ।
८ कृतकृत्यवेदकमें मरण सम्बन्धी ।
९ नरकगतिमें मरणसमयके लेश्या व गुणस्थान ।
१० देवगतिमें मरण समयकी लेश्या ।
११ आहारकमिश्र काययोगीके मरण सम्बन्धी ।
४ अकाल मृत्यु निर्देश
१ कदलीघातका लक्षण ।
२ बद्धायुष्कको अकाल मृत्यु सम्भव नहीं ।
३ देव-नारकियों की अकाल मृत्यु सम्भव नहीं ।
४ भोगभूमिजोंकी अकाल मृत्यु सम्भव नहीं ।
५ चरमशरीरियों व शलाकापुरुषोंमें अकालमृत्युकी सम्भावना व असम्भावना ।
६ जवन्म आयुमें अकाल मृत्युकी सम्भावना व असम्भावना ।
७ पर्याप्त होनेके अन्तर्मुहूर्त काल तक अकाल मृत्यु सम्भव नहीं ।
* आत्महत्याका कथंचित् विधि-निषेध । —दे० सल्लेखना/१ ।
८ कदलीघात द्वारा आयुका अपवर्तन हो जाता है ।
९ अकाल मृत्युका अस्तित्व अवश्य है ।
१० अकाल मृत्युको सिद्धिमें हेतु ।
११ स्वकाल व अकाल मृत्युका समन्वय ।
५ मारणान्तिक समुद्घात निर्देश
१ मारणान्तिक समुद्घात का लक्षण ।
२ सभी जीव मारणान्तिक समुद्घात नहीं करते ।
३ ऋजु व वक्र दोनों प्रकारकी विग्रहगतिमें होता है ।
४ मारणान्तिक समुद्घातका स्वामित्व ।
* बद्धायुष्कको ही होता है अबद्धायुष्कको नहीं । —दे० मरण/५/७ ।

५ प्रदेशोंका पूर्ण संकोच होना आवश्यक नहीं ।
* इसकी स्थिति संख्यात समय है । —दे० समुद्घात ।
* इसका विसर्पण एक दिशात्मक होता है—दे० समुद्घात ।
६ प्रदेशोंका विस्तार व आकार ।
* मारणान्तिक समुद्घातमें मोड़े लेने सम्बन्धी दृष्टि भेद । —दे० क्षेत्र/३/४ ।
७ वेदना, कषाय और मारणान्तिक समुद्घातमें अन्तर ।
८ मारणान्तिक समुद्घातमें कौन कर्म निमित्त है ।
* इसमें तीनों योगोंकी सम्भावना कैसे ।—दे० योग/४ ।
* इसमें उत्कृष्ट योग सम्भव नहीं —दे० विशुद्धि/८/४ ।
* इसमें उत्कृष्ट संक्लेश व विशुद्ध परिणाम सम्भव नहीं । —दे० विशुद्धि/८/४ ।
* मारणान्तिक समुद्घातमें महामत्स्यके विस्तार सम्बन्धी दृष्टिभेद —दे० मरण/५/६ ।

१. भेद व लक्षण

१. मरण व सामान्यका लक्षण

- स. सि /७/२२/३६२/१२ स्वपरिणामोपात्तस्यायुष इन्द्रियाणां बलानां च कारणवशात्संक्षयो मरणम् । —अपने परिणामोंसे प्राप्त हुई आयुका, इन्द्रियोंका और मन, वचन, काय इन तीन बलका कारण विशेषके मिलनेपर नाश होना मरण है । (स. सि./५/२०/२८६/२), (रा. वा / ५/२०/४/४७४/२६. ७/२२/२/५५०/१७); (चा. सा /४७/३); (गो जी / जी. प्र./६०६/१०६२/१६) ।
- घ. १/१.१.३३/२३४/२ आयुषः क्षयस्य मरणहेतुत्वात् । —आयु कर्मके क्षयको मरणका कारण माना है । (घ. २३/५.६३/३३२/१९) ।
- भ. आ./वि./२५/८५.८६/पक्ति मरणं विगमो विनाशः विपरिणाम इत्येकोऽर्थः । १६। अथवा प्राणपरित्यागो मरणम् । १३। अण्णाजगोदये वा मरदिय पुञ्जवाञ्छासे वा । (उद्बधूत गा० १ पु० ८६) । अथवा अनुभूयमानायुसंज्ञकपुद्गलगतलन मरणम् । —मरण, विगम, विनाश, विपरिणाम ये एकार्थवाचक हैं । अथवा प्राणोंके परित्यागका नाम मरण है । अथवा प्रस्तुत आयुसे भिन्न अन्य आयुका उदय आनेपर पूर्व आयुका विनाश होना मरण है । अथवा अनुभूयमान आयु नामक पुद्गलका आत्माके साथसे विनष्ट होना मरण है ।

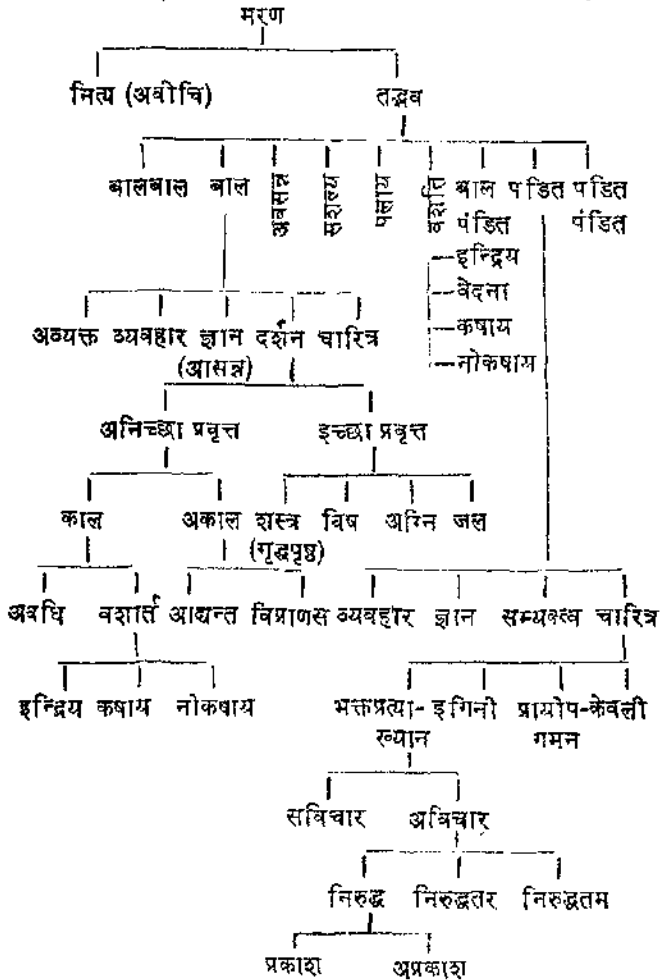
२. मरणके भेद

- भ. आ /घृ./गा. पंडिदपंडिदमरणं पंडिदमरणं पंडिदमं बालपंडिदं चैव । बालमरणं चउत्थं पंचमयं बालबालं च । १२६। पायोपगमणमरणं भक्तपइण्णा य इंगिणी चैव । तिविह पंडियमरणं साहुस्स जहुस्त-चादिस्स । १२६। दुविह तु भक्तपचचखवाणं सविचारमथ अविचार । १६५। तथ पढम गिरुद्धं गिरुद्धतरयं तथा ह्वे विदिमं । तदिय परमणिरुद्ध एवं तिविध अवीचारं । १०१२। दुविध तं पि अणीहा-रिमं पगास च अण्णगासं च । १२०१६। —मरण पाँच प्रकारका है—पण्डितपण्डित, पण्डित, बालपण्डित, बाल, बालबाल १२६। तहाँ पण्डितमरण तीन प्रकारका है—प्रायोपगमन, भक्तप्रत्याख्यान व इंगिनी १२६। इनमेंसे भक्तप्रत्याख्यान दो प्रकारका है—सविचार और अविचार १६५। उनमेंसे अविचार तीन प्रकारका है—निरद्व, निरद्वतर

व परम निरुद्ध । २०१२। इनमे भी निरुद्धाविचार दो प्रकार है— प्रकाश-रूप और अप्रकाशरूप । २०१६। (मू. आ./५६); (दे० निलेप/५/२) ।

रा. वा./७/२२/२/५५०/१६ मरणं द्विविधम्—नित्यमरणं तद्भवमरणं चेदि । =मरण दो प्रकारका है—नित्यमरण और तद्भवमरण । (चा. सा./४७/३) ।

भ. आ./वि./२५/८६/१०,१३ मरणानि सप्तदश कथितानि । (८६/१०)।— १. अवीचिमरणं, २. तद्भवमरणं, ३. अवधिमरणं, ४. आदिअन्तारं, ५. बालमरणं, ६. पण्डितमरणं, ७. आसणमरणं, ८. बालडिदं, ९. ससल्लमरणं, १०. क्लायमरणं, ११. वीसदृमरणं, १२. विष्पाणसमरणं, १३. गिद्धपुट्टमरणं, १४. भक्तपञ्चवखानं, १५. पाउवगममरणं, १६. इगिणामरणं, १७. केवलिमरणं चेदि । (८६/१३)। =मरण १७ प्रकारके बताये गये है— १. अवीचिमरणं, २. तद्भवमरणं, ३. अवधिमरणं, ४. आदिअन्तमरणं, ५. बालमरणं, ६. पण्डितमरणं, ७. आसणमरणं, ८. बालपण्डितमरणं, ९. ससल्लमरणं, १०. बालाकामरणं, ११. वीसदृमरणं, १२. विष्पाणसमरणं, १३. गिद्धपुट्टमरणं, १४. भक्तप्रत्याख्यानमरणं, १५. प्रायोपगमनमरणं, १६. इगिनीमरणं, १७. केवलिमरणं । (तहाँ इनके भी उत्तर भेद निम्न प्रकार है) । (भा. पा./टी./३२/१४७-१४९), (विशेष दे० उस-उस मरणके लक्षण) ।



३. नित्य व तद्भव मरणके लक्षण

रा. वा./७/२२/२/५५०/२० तत्र नित्यमरणं समयसमये स्वायुरादीना निवृत्तिः । तद्भवमरणं भवान्तरप्राप्यनन्तरोपश्लिष्टं पूर्वभवविगमनम् । =प्रतिक्षण आयु आदि प्राणोका बराबर क्षय होते रहना नित्यमरण है (इसको ही भ. आ. व भा. पा. मे 'अवीचिमरण' के नामसे कहा गया है) । और नूतन शरीर पर्यायको धारण करनेके लिए पूर्व पर्यायका लुप्त होना तद्भवमरण है । (भ. आ./वि./२५/८६/१७); (चा. सा./४७/४); (भा. पा./टी./३२/१४७/६) ।

४. बाल व पण्डितमरण सामान्य व उनके भेदोंके लक्षण

भ. आ./मू./गा. पण्डितपण्डितमरणे खीणकसाया मरंति केवलिणो । विरदाविरदा जीवा मरंति तद्विधेण मरणेण । २७। प्रायोपगममरणं भक्तपण्डिताय इगिणी चैव । तद्विधं पण्डितमरणं साहुस्स जुहुत्तचारिस्स । २८। अविरदसम्मवदिट्ठो मरंति बालमरणे चउत्थम्मि । निच्छादिट्ठो य पुणो पंचमए बालबालम्मि । ३०। इह जे विराधयिस्ता मरणे असमाधिणा मरेज्जणह । तं तेसि बालमरणं होइ फलं तस्स पुच्चुत्तं । १६६२। =क्षीणकषाय केवली भगवात् पण्डितपण्डित मरणसे मरते है । (भ. आ./मू./२९६६) विरताविरत जीवके मरणको बालपण्डितमरण कहते है । (विशेष दे० अगला सन्दर्भ) । २७। (भ. आ./मू./२०७५), (भ. आ./वि./२५/८८/२९) । चारित्रवात् मुनियोको पण्डित मरण होता है । वह तीन प्रकारका है—भक्त प्रत्याख्यान, इगिनी व प्रायोपगमन (इन तीनोंके लक्षण दे० सल्लेखना) । २६। अविरत सम्यग्दृष्टि जीवके मरणको बालमरण कहते हैं । और मिथ्यादृष्टि जीवके मरणको बालबाल मरण कहते हैं । ३०। अथवा रत्नत्रयका नाश करके समाधिमरणके बिना मरना बालमरण है । १६६२।

भ. आ./मू./२०५३-२०५४/१८०० आमुक्कारे मरणे अन्वोच्छिण्णाए जीविदासाए । णादीहि वा अमुक्को पच्छिमसल्लेहणपकासी । २०५३। आलोचिदणिससल्लो सवरे चेवारुहिट्ठु संथारं । जदि मरदि देसविरदो तं वुत्तं बालपण्डितयं । २०५४। =इन १२ व्रतोंको पालनेवाले गृहस्थको सहसा मरण आनेपर, जीवितकी आशा रहनेपर अथवा बन्धुओंने जिसको दीक्षा लेनेकी अनुमति नहीं दी है, ऐसे प्रसंगमें शरीर सल्लेखना और कषाय सल्लेखना न करके भी आलोचना कर, नि शक्य होकर धरमें ही सस्तरपर आरोहण करता है । ऐसे गृहस्थकी मृत्युको बालपण्डितमरण कहते हैं । २०५३-२०८४।

मू. आ./गा. जे पुण पण्डितमदिया पचलियसण्णाय वक्कभावा य । असमाधिणा मरंते णहु ते आराहिया भणिया । ६०। सत्थग्गहणं विसभववर्णं च जल्लण जलपवसेसो य । अणयारभं उसेवो जन्मणमरणणुब्धीणी । ७४। णिमम्मो णिरहंकारो णिक्कसाओ जिदिदिओ धीरो । अधिदाणो दिट्ठिसंण्णो मरंतो आराहओ होइ । १०३। =जो नष्टबुद्धिवाले अज्ञानी आहारादिकी बांछारूप संज्ञावाले मन वचन कायकी कुटिलतारूप परिणामवाले जीव आर्तरीद्र ध्यानरूप असमाधिमरण कर परलोकमें जाते है, वे आराधक नहीं है । ६०। शस्त्रसे, विषभक्षणसे, अग्नि द्वारा जलनेसे, जलमें डूबनेसे, अनाचाररूप वस्तुके सेवनसे अपघात करना जन्ममरणरूप दीर्घ संसारको बढानेवाले है अर्थात् बालमरण है । ७४। निर्मम, निरहंकार, निष्कषाय, जितेन्द्रिय, धीर, निदान रहित, सम्यग्दर्शन सम्पन्न जीव मरते समय आराधक होता है, अर्थात् पण्डित मरणसे मरता है । १०३।

भ. आ./वि./२५/८७/२९ बालमरणमुच्यते—बालस्य मरणं, स च बालः पञ्चप्रकारः—अव्यक्तबालः, व्यवहारबालः, ज्ञानबालः, दर्शनबालः, चारित्रबालः इति । अव्यक्तः शिशु, धर्मार्थकामकार्याणि यो न वेत्ति न च तदाचरणसमर्थशरीरः सोऽव्यक्तबालः । लोके वेदसमयव्यवहारान्यो न वेत्ति शिशुर्वासौ व्यवहारबालः । मिथ्यादृष्टिः सर्वथा तत्त्व-अज्ञानरहिता दर्शनबालाः । वस्तुयाथात्म्यग्राहिज्ञानन्यूनान् ज्ञानबालाः । अचारित्राः प्राणभूतश्चारित्रबालाः । दर्शनबालस्य पुनः सक्षेपतो द्विविधं मरणमिष्यते । इच्छया प्रवृत्तमनिच्छयेति च । तयोराद्यमग्निना धूमेन, शस्त्रेण, उदकेन, भक्तप्रपातेन, विरुद्धाहार-सेवनया बाला मृतिं ढौकन्ते, कुतश्चिन्नमित्ताज्जीवितपरिरत्यागैषिणः काले अकाले वा अध्येवसानादिना यन्मरणं जिजीविषो तद्द्वितीयम् । पण्डितमरणमुच्यते—व्यवहारपण्डित, सम्यक्त्वपण्डितः, ज्ञानपण्डितश्चारित्रपण्डित इति चत्वारो विकल्पाः । लोके वेदसमय-

व्यवहारनिपुणो व्यवहारपण्डित, अथवानेकशास्त्रज्ञ शुश्रूषादिबुद्धि-
गुणमन्वित व्यवहारपण्डित क्षायिकेण क्षायोपशमिकेनोपशामिकेन
वा सम्यग्दर्शनेन परिणत दर्शनपण्डित । मत्यादिपञ्चप्रकारसम्यग्ज्ञा-
नेषु परिणत ज्ञानपण्डित । सामायिकच्छेदोपस्थापनापरिहारविशुद्धि-
सूक्ष्मसाम्प्रदाययथारुमातचारित्रेषु कस्मिंश्चित्प्रवृत्तरचारित्रपण्डित' ।

= अज्ञानी जीवके मरणको आत्ममरण कहते हैं । वह पाँच प्रकारका है—अव्यक्त, व्यवहार, ज्ञान, दर्शन व चारित्रबालमरण ; धर्म, अर्थ, काम व मोक्ष इन चार पुरुषार्थोंको जानता नहीं तथा उनका आचरण करनेमें जिसका शरीर असमर्थ है वह अव्यक्तबाल है । लोकव्यवहार, वेदका ज्ञान, शास्त्रज्ञान, जिसको नहीं है वह व्यवहारबाल है । तत्त्वार्थभ्रष्टान रहित मिथ्यादृष्टि जोव दर्शनबाल है । जीवादि पदार्थोंका यथार्थ ज्ञान जिनको नहीं है वे ज्ञानबाल है । चारित्रहीन प्राणीको चारित्रबाल कहते हैं । दर्शनबालमरण दो प्रकारका है— इच्छाप्रवृत्त और अनिच्छाप्रवृत्त । अग्नि, धूम, विष, पानी, गिरि-
प्रपात, विरुद्धाहारसेवन इत्यादि द्वारा इच्छापूर्वक जीवनका त्याग इच्छा प्रवृत्त दर्शनबाल मरण है । और योग्य कालमें या अकालमें ही मरनेके अभिप्रायसे रहित या जीनेकी इच्छासहित दर्शनबालोका जो मरण होता है वह अनिच्छाप्रवृत्त दर्शनबालमरण है । पण्डित-
मरण चार प्रकारका है—व्यवहार, सम्यक्त्व, ज्ञान व चारित्रपण्डित मरण । लोक, वेद, समय इनके व्यवहारमें जो निपुण है वे व्यवहार-
पण्डित है, अथवा जो अनेक शास्त्रोंके जानकार तथा शुश्रूषा, भक्षण, धारणादि बुद्धिके गुणोंसे युक्त है, उनको व्यवहारपण्डित कहते हैं । क्षायिक, क्षायोपशमिक और औपशमिक सम्यग्दर्शनसे जीव दर्शन-
पण्डित होता है । मति आदि पाँच प्रकारके सम्यग्ज्ञानसे जो परिणत है उनको ज्ञानपण्डित कहते हैं । सामायिक छेदोपस्थापना आदि पाँच प्रकार चारित्रके धारक चारित्रपण्डित है । (भा. पा. /टी. /३२/ १७७/२०) ।

५. अन्य भेदोंके लक्षण

भ. आ. /वि. /२५/८७/१३ यो यादृश मरणं साप्रतमुपैति तादृगेव मरण
यदि भविष्यति तदवधिमरणम् । तद्द्विविधं देशावधिमरणं सर्वाव-
धिमरणम् इति । यदायुर्ग्रथाभूतमुदेति सांप्रतं प्रकृतिस्थित्यनुभव-
प्रदेशैस्तथानुभूतमेवायु प्रकृत्यादिविशिष्टं पुनर्बध्नाति उदेष्यति च
यदि तत्सर्वावधिमरणम् । यत्साप्रतमुदेत्यायुर्ग्रथाभूतं तथाभूतमेव
बध्नाति देशतो यदि तद्देशावधिमरणम् । सांप्रतेन मरणेनासा-
दृश्यभावि यदि मरणमाद्यन्तमरण उच्यते, आदिशब्देन सांप्रतं
प्राथमिकं मरणमुच्यते तस्य अन्तो विनाशभावो यस्मिन्नुत्तमरणे
सदेतदाद्यन्तमरणम् अभिधीयते । प्रकृतिस्थित्यनुभवप्रदेशैर्ग्रथाभूतं
सांप्रतमुपैति मृति यथाभूता यदि सर्वतो देशतो वा नोपैति
तदाद्यन्तमरणम् ।

भ. आ. /वि. /२५/८८/१२ निर्वाणमार्गप्रस्थितात्सयत्सार्थाद्यो हीन प्रच्युत
सोऽभिधीयते ओसण इति । तस्य मरणमासणमरणमिति । ओसण-
ग्रहणेन पारवस्था, स्वच्छन्द, कुशीलाः, ससक्ताश्च गृह्यन्ते ।
सशल्यमरणं द्विविधं यतो द्विविधं शल्यं द्रव्यशल्यं भावशल्य-
मिति । द्रव्यशल्येन सह मरणं पञ्चानां म्थावरणां भवति असंज्ञिता
प्रसानां च । भावशल्यविनिर्मुक्तं द्रव्यशल्यमपेक्षते । एतच्च
संयते, सयत्सायते, अविरतसम्यग्दृष्टावपि भवति । विनयवैधा-
वृत्त्यादावकृतादर ध्याननमस्कारादे पलायते अनुपयुक्ततया, एतस्य
मरणं बलायमरण । सम्यक्त्वपण्डिते, ज्ञानपण्डिते, चरणपण्डिते च
बलायमरणमपि सम्भवति । ओसणमरणं ससत्त्वमरणं च यदभिहितं
तत्र नियमेन बलायमरणम् । तद्व्यतिरिक्तमपि बलायमरणं भवति ।
बसदृमरणं नाम—आर्तं रौद्रे च प्रवर्तमानस्य मरणं । तत्पुनर्चतुर्विध-
इदियवसदृमरणं, यदेणावसदृमरणं, कसायवसदृमरणं, नोकसायवसदृ-
मरणम् इति । इदियवसदृमरणं यत्पञ्चविधं इन्द्रियविषयापेक्षया

मनोज्ञेषु रक्तोऽमनोज्ञेषु द्विष्टो मूलमेति । इति इन्द्रियानिन्द्रिय-
वशात्तमरणविकल्पा । वेदनावसदृमरणं द्विभेदं समासत' । सातवेद-
नावशात्तमरणं असातवेदनावशात्तमरणं । शारीरे मानसे वा दुःखे
उपयुक्तस्य मरणं दुःखवशात्तमरणमुच्यते तथा शारीरे मानसे व मुक्ते
उपयुक्तस्य मरणं सातवशात्तमरणम् । कषायभेदात्कषायवशात्तमरणं
चतुर्विधं भवति । अनुबन्धरोषो य आत्मनि परत्र उभयत्र वा मरण-
वशात्तमरणमव्ययं भवति । तस्य क्रोधवशात्तमरणं भवति ।...
हास्यरतिरति...मूढमतेर्मरणं नोकषायवशात्तमरणं । मिथ्यादृष्टेरत-
द्बालमरणं भवति । दर्शनपण्डितोऽपि अविरतसम्यग्दृष्टि संयत्साय-
तोऽपि वशात्तमरणमुपैति तस्य तद्बालपण्डितं भवति दर्शनपण्डितं
वा । अप्रतिषिद्धे अननुज्ञाते च द्वे मरणे । विपाणस गिद्धपुट्टमिति-
संज्ञिते । दुर्भिक्षे, कान्तारे.. दुष्टनृपभये..तिर्यगुपसर्गे एकाकिनः
सोऽनुमशक्ये ब्रह्मव्रतनाशादिवारिवृषणे च जाते संविग्नः पापभीरुः
कर्मणा मुदयमुपस्थितं ज्ञात्वा तं सोऽनुमशक्यः तन्निस्तरणस्यासव्युपाये..
न वेदनामसन्निष्टं सोऽहं उत्सहेत् ततो रत्नत्रयाराधनाच्युतिर्ममेति
निश्चितमतिनिर्मायश्चरणदर्शनविशुद्धं ज्ञानसहायोऽनिदानं अर्ह-
दन्तिके, आलोचनामासाद्य कृतशुद्धि, सुलेश्यः प्राणापाननिरोधं करोति
यत्तद्विपाणसं मरणमुच्यते । शास्त्रग्रहणेन यद्भवति तद्गिद्धपुट्ट-
मिति ।—जो प्राणी जिस तरहका मरण वर्तमानकालमें प्राप्त करता
है, वैसा ही मरण यदि आगे भी उसको प्राप्त होगा तो ऐसे मरणको
अवधिमरण कहते हैं । यह दो प्रकारका है—सर्वावधि व देशावधि ।
प्रकृति स्थिति अनुभव व प्रदेशोसहित जो आयु वर्तमान समयमें
जैसी उदयमें जाती है वैसी ही आयु फिर प्रकृत्यादि विशिष्ट बंधकर
उदयमें आवेगी तो उसको सर्वावधिमरण कहते हैं । यदि वही आयु
आशिकरूपसे सदृश होकर बंधे व उदयमें आवेगी तो उसको देशा-
वधि मरण कहते हैं । यदि वर्तमानकालके मरण या प्रकृत्यादिके सदृश
उदय पुनः आगामी कालमें नहीं आवेगा, तो उसे आद्यन्तमरण कहते
हैं । मोक्षमार्गमें स्थित मुनियोका सव जिनसे छोड़ दिया है ऐसे
पारवस्था, स्वच्छन्द, कुशील व ससक्त साधु अवसन्न कहलाते हैं ।
उनका मरण अवसन्नमरण है । सशल्य मरणके दो भेद हैं—द्रव्य-
शल्य व भावशल्य । तहाँ माया मिथ्या आदि भावोंको भावशल्य
और उनके कारणभूत कर्मोंको द्रव्यशल्य कहते हैं । भावशल्यकी
जिनमें सम्भावना नहीं है, ऐसे पाँचों स्थावरों व असञ्जी त्रसोंके
मरणको द्रव्यशल्यमरण कहते हैं । भावशल्यमरण संयत्, संयत्ता-
सयत् व अविरत सम्यग्दृष्टिको होता है । विनय वैश्यावृत्त्य आदि
कार्योंमें आदर न रखनेवाले तथा इसी प्रकार सर्व कृतिकर्म, व्रत,
समिति आदि, धर्मध्यान व नमस्कारादिसे दूर भागनेवाले मुनिके
मरणको पलायमरण या बलायमरण कहते हैं । सम्यक्त्वपण्डित,
ज्ञानपण्डित व चारित्रपण्डित ऐसे लोक इस मरणसे मरते हैं । अन्यके
सिवाय अन्य भी इस मरणसे मरते हैं । आर्त रौद्र भावोयुक्त मरना
वशात्तमरण है । यह चार प्रकार है—इन्द्रियवशात्, वेदनावशात्,
कषायवशात् और नोकषायवशात् । पाँच इन्द्रियोंके पाँच विषयोंकी
अपेक्षा इन्द्रियवशात् पाँच प्रकारका है । मनोहर विषयोंमें आसक्त
होकर और अमनोहर विषयोंमें द्विष्ट होकर जो मरण होता है वह
ओत्र आदि इन्द्रियों व मन सम्बन्धी वशात्तमरण है । शारीरिक व
मानसिक सुखोंमें अथवा दुःखोंमें अनुरक्त होकर मरनेसे वेदनावशात्
सात व असातके भेदसे दो प्रकारका है । कषायोंके क्रोधादि भेदोंकी
अपेक्षा कषायवशात् चार प्रकारका है । स्वतः मे दूसरेमें अथवा दोनों
में उत्पन्न हुए क्रोधके वश मरना क्रोधकषायवशात् है । (इसी प्रकार
आठ मर्दोंके वश मरना मानवशात् है, पाँच प्रकारकी मायासे मरना
मायावशात् और परपदार्थोंमें ममत्त्वके वश मरना लोभवशात्
है) । हास्य रति अरति आदियों जिसकी बुद्धि मूढ़ हो गयी है ऐसे
व्यक्तिका मरण नोकषायवशात् मरण है । इस मरणको बालमरणमें
अन्तर्भूत कर सकते हैं । दर्शनपण्डित, अविरतसम्यग्दृष्टि और

संयत्तासंयत जीव भी वशात् मरणको प्राप्त हो सकते हैं। उनका यह मरण बालपण्डित मरण अथवा दर्शनपण्डितमरण समझना चाहिए। विप्राणस व गृहपृष्ठ नामके दोनों मरणोंका न तो आगममें निषेध है और न अनुज्ञा। दुष्कालमें अथवा दुर्लभ जंगलमें, दुष्ट राजाके भयसे, तिर्यंचादिके उपसर्गमें, एकाकी स्वयं सहन करनेको समर्थ न होनेसे, ब्रह्मव्रतके नाशसे चारित्र्यमें दोष लगनेका प्रसंग आया हो तो सप्ताहभीरु व्यक्ति कर्मोंका उदय उपस्थित हुआ जानकर जब उसको सहन करनेमें अपनेको समर्थ नहीं पाता है, और न ही उसको पार करनेका कोई उपाय सोच पाता है, तब 'वेदनाको सहनेसे परिणामोंमें संव्लेश होगा और उसके कारण रत्नत्रयकी आराधनासे निश्चय ही मैं च्युत हो जाऊँगा ऐसी निश्चल मतिको धारते हुए, निष्कपट होकर चारित्र्य और दर्शनमें निष्कपटता धारण कर धैर्य युक्त होता हुआ, ज्ञानका सहाय लेकर निदान रहित होता हुआ अर्हन्त भगवान्-के समीप आलोचना करके विशुद्ध होता है। निर्मल लेश्याधारी वह व्यक्ति अपने श्वासोच्छ्वासका निरोध करता हुआ प्राण त्याग करता है। ऐसे मरणको विप्राणसमरण कहते हैं। उपर्युक्त कारण उपस्थित होनेपर शस्त्र ग्रहण करके जो प्राण त्याग किया जाता है वह गृहपृष्ठ-मरण है। (भा. पा.टी./३२/१४७/११)।

२. मरण निर्देश

१. आयुका क्षय ही वास्तविक मरण है

ध. १/१.१.५६/२६२/१० न तावज्जीवशरीरयोर्वियोगमरणम्। = आगम-में जीव और शरीरके वियोगको मरण नहीं कहा गया है। (अथवा-पूर्णरूपेण वियोग ही मरण है एकदेश वियोग नहीं। और इस प्रकार समुद्रघात आदिको मरण नहीं कह सकते। - दे० आहारक १३/५। अथवा नारकियोंके शरीरका भस्मीभूत हो जाना मात्र उनका मरण नहीं है, बल्कि उनके आयु कर्मका क्षय ही वास्तवमें मरण है—दे० मरण/४/३)।

२. चारों गतिचोंमें मरणके लिए विभिन्न शब्दोंका प्रयोग

ध. ६/१.६-१.७६-२४३/४७७/२२ विशेषार्थ—सूत्रकार भूतबलि आचार्यने भिन्न-भिन्न गतियोंसे छूटनेके अर्थमें सम्भवतः गतियोंकी हीनता व उत्तमताके अनुसार भिन्न-भिन्न शब्दोंका प्रयोग किया है। (दे० मूल सूत्र—७३-२४३)। नरकगति, व भवनत्रिकदेवगति हीन है, अतएव उनसे निकलनेके लिए उद्दत्त अर्थात् उद्धार होना कहा है। तिर्यंच और मनुष्य गतियाँ सामान्य है, अतएव उनसे निकलनेके लिए काल करना शब्दका प्रयोग किया है। और सौधर्मादिक विमानवासियोंकी गति उत्तम है, अतएव वहाँसे निकलनेके लिए च्युत होना शब्दका प्रयोग किया गया है। जहाँ देवगति सामान्यसे निकलनेका उल्लेख किया गया है वहाँ भवनत्रिक व सौधर्मादिक दोनोंकी अपेक्षा करके 'उद्दत्त और च्युत' इन दोनों शब्दोंका प्रयोग किया गया है।

३. पण्डित व बाळ आदि मरणोंकी इष्टता अनिष्टता

भ. आ./मू./२८/११२ पण्डितपण्डितमरणं च पण्डितं बालपण्डितं चैव। एदाणि त्रिणि मरणाणि जिणं पिच्छं पसंसन्ति। २८। = पण्डित-पण्डित, पण्डित व बालपण्डित इन तीन मरणोंकी जिनेन्द्रदेव प्रशंसा करते हैं।

मू. आ./६१ मरणे विराधिदं देवदुर्गई दुल्लहा य किर वोही। संसारो य अणंतो होइ पुणो आगमे काले। ६१। = मरण समय सम्यक्त्व आदि गुणोंकी विराधना करनेवाले दुर्गतियोंको प्राप्त होते हुए अनन्त संसारमें भ्रमण करते हैं, क्योंकि रत्नत्रयकी प्राप्ति अत्यन्त दुर्लभ है।
दे० मरण/१/४ (विप्राणस व गृहपृष्ठमरणका आगममें न निषेध है और न अनुज्ञा।)

३. गुणस्थानों आदिमें मरण सम्बन्धी नियम

१. आयुबन्ध व मरणमें परस्पर गुण स्थान सम्बन्धी

ध. ८/३.५४/१४५/४ जेण गुणेणाउबंघो संभवदि तेजेव गुणेण मरदि, ण अण्णगुणेणस्सि परमगुरूवदेसादो। ण उवसामहेहि अणेयंतो, सम्मत्त-गुणेण आउबंघाविरोहिणा णिस्सरणे विरोहाभावादो। = १. जिस गुणस्थानके साथ आयुबन्ध संभव है उसी गुणस्थानके साथ जीव मरता है। (ध. ४/१.५.४६/३६३/३)। २. अन्य गुणस्थानके साथ नहीं (अर्थात् जिस गतिमें जिस गुणस्थानमें आयुकर्मका बन्ध नहीं होता, उस गुणस्थान सहित उस गतिसे निर्गमन भी नहीं होता— (ध. ६/४६३/५) इस नियममें उपशामकोंके साथ अनैकान्तिक दोष भी सम्भव नहीं है, क्योंकि, आयु बन्धके अविरोधो सम्यक्त्व गुणके साथ निकलनेमें कोई विरोध नहीं है। (ध. ६/१.६-१.१३०/४६३/५)।

२. निम्न स्थानोंमें मरण सम्भव नहीं

गो. क./मू./५६०-५६१/७६२ मिस्साहारस्सयया खवगणा चउधमाउपढम-पुववा य। पढमुवसमया तमतमपुडपडिबण्णा य ण मरंति। ५६०। अणसंजोजिदमिच्छे सुहुत्तर्जतं तु णत्थि मरणं तु। किद करणंज्जं जाव दु सव्वपरट्ठाण अट्ठपदा। ५६१। = आहारकमिश्र काययोगी, चारित्र्यमोह क्षपक, उपशमश्रेणी आरोहणमें अपूर्वकरणके प्रथम भाग-वाले प्रथमोपशम सम्यग्दृष्टि, सप्तमपृथिवीका नारकी सम्यग्दृष्टि, अनन्तानुबन्धी विसंयोजनके अन्तमुहूर्तकालपर्यन्त तथा कृतकृत्य वेदक सम्यग्दृष्टि इन जीवोंका मरण नहीं होता है।

३. सासादन गुणस्थानमें मरण सम्बन्धी

ध. १/१.१.५३/३२४/१ नापि बद्धनरकायुष्क. सासादनं प्रतिपद्य नार-केषूपचते तस्य तस्मिन्गुणे मरणाभावात्। = नरक आयुका जिसने पहले बन्ध कर लिया है, ऐसा जीव सासादन गुणस्थानको प्राप्त होकर नारकियोंमें उत्पन्न नहीं होता (विशेष दे० जन्म/४/१) क्योंकि ऐसे जीवका सासादन सहित मरण ही नहीं होता।

ध. ६/१.६-५.१४/३३१/५ आसाणं पुण गदो जदि मरदि, ण सक्को णिरयगदि तिरिक्खगदि मणुसगदि वा गंतुं, णियमा देवगदि गच्छदि। १००-हंदि तिसु आउएसु एककेण वि बद्धेण ण सक्को कसाए उवसामेहुं, तेण कारणेण णिरयतिरिक्ख-मणुसगदीओ ण गच्छदि। = (द्वितीयोपशम सम्यग्दृष्टि जीव) सासादनको प्राप्त होकर यदि मरता है तो नरक तिर्यंच व मनुष्य इन तीन गतियोंको प्राप्त करनेके लिए समर्थ नहीं होता है। नियमसे देवगतिको ही प्राप्त करता है। क्योंकि इन तीन आयुओंमेंसे एक भी आयुका बन्ध हो जानेके पश्चात् जीव कषायोंको उपशामानेके लिए समर्थ नहीं होता है। इसी कारण वह इन तीनों गतियोंको प्राप्त नहीं करता है। (दूसरी मान्यताके अनुसार ऐसे जीव सासादन गुणस्थानको ही प्राप्त नहीं होते—दे० सासादन)। (ल. सा/मू./३४६-३५०/४३५)।

गो. क./जी. प्र./५४८/७१८ सासादना भूत्वा प्राग्बद्धदेवायुष्का मृत्वा अबद्धायुष्का केचिद्देवायुर्भवा च देवनिवृत्त्यपर्याप्तसासादना स्युः। = (पूर्वोक्त द्वितीयोपशम सम्यक्त्वसे सासादनको प्राप्त होने-वाला जीव) सासादनको प्राप्त होकर यदि पहले ही देवायुका बन्ध कर चुका है तो मरकर अन्यथा कोई-कोई जिन्होंने पहले कोई आयु नहीं बाँधी है, अब देवायुको बाँधकर देवगतिमें उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार निवृत्त्यपर्याप्त देवोंमें सासादन गुणस्थान होता है।

४. मिश्र गुणस्थानमें मरणके अभाव सम्बन्धी

ध. ४/१.६.१७/गा. ३३/३४६ णय मरह जेव संजमुवेह तह देससंजमं बावि। सम्मामिच्छादिदट्ठी ण उ मरणंतं समुग्घादो। ३३। = सम्यग्मिच्छादृष्टि जीव न तो मरता है और न मारणान्तिक समुद्रघात ही करता है। (गो. जी./मू./२४/४६)।

ध. ५/१.६.३४/३१/२ जो जीवो सम्मादिदृठी होदूण आउअ बंधिय सम्मामिच्छत्तं पडिवज्जदि, सो सम्मत्तेणव गिण्फददि। अह मिच्छदिदृठी होदूण आउअ बंधिय सम्मामिच्छत्तं पडिवज्जदि, सो मिच्छत्तेणव गिण्फददि। = जो जीव सम्यग्दृष्टि होकर और आयु-को बाँधकर सम्यग्मिथ्यात्वको प्राप्त होता है, वह सम्यक्त्व के साथ ही उस गतिसे निकलता है। अथवा जो मिथ्यादृष्टि होकर और आयुको बाँधकर सम्यग्मिथ्यात्वको प्राप्त होता है, वह मिथ्यात्वके साथ ही निकलता है। (गो. जी./मू./२३-२४/४८), (गो. क./जी. प्र./४६६/६०५/३)।

ध. ८/३.८४/१४५/२ सम्मामिच्छत्तगुणेण जीवा किण्ण मरंति। तस्था-उत्स बंधाभावादो। = सम्यग्मिथ्यात्व गुणस्थानमें क्योंकि आयुका बन्ध नहीं होता है, इसलिए वहाँ मरण भी नहीं होता है। (और भी दे० मरण/३/१)।

गो. जी./जी. प्र./२४/४६/१३ अन्येषामाचार्याणामभिप्रायेण नियमो नास्ति। = अन्य किन्हीं आचार्योंके अभिप्रायसे यह नियम नहीं है, कि वह जीव आयुबन्धके समयवाले गुणस्थानमें ही आकर मरे। अर्थात् सम्यक्त्व व मिथ्यात्व किसी भी गुणस्थानको प्राप्त होकर मर सकता है।

५. प्रथमोपशम सम्यक्त्वमें मरणके अभाव सम्बन्धी

क. पा. सुत्त/१०/गा. ६७/६३१ उवसामगो च सव्वो णिव्वाघादो। = दर्शनमोहके उपशामक सर्व ही जीव निर्व्याघात होते हैं, अर्थात् उपसर्गादिके आनेपर भी विच्छेद या मरणसे रहित होते हैं। (ध. ६/१.६-८/गा. ४/२३६); (ल. सा./मू./६६/१३६), (दे. मरण/३/२)

ध. १/१.१.१७९/४०७/८ मिथ्यादृष्टय उपात्तौपशमिकसम्यग्दर्शना-सन्त...तेषां तेन सह मरणभावात्। = मिथ्यादृष्टि जीव उपशम सम्यग्दर्शनको ग्रहण करके (वहाँ देवगतिमें उत्पन्न नहीं होते) क्योंकि उनका उस सम्यग्दर्शन सहित मरण नहीं होता। (ध. २/१.१/४३०/७), (गो. जी./जी. प्र./६६५/११३१/३५)।

६. अनन्तानुबन्धी विसंयोजनके मरणाभाव सम्बन्धी

पं सं/प्रा./४/१०३ आबलियमेसकालं अणंतनधीण होइ णो उदथो। अंतोमुहुत्तमरणं मिच्छत्त दसणापत्ते १०३। = जो अनन्तानुबन्धी-का विसंयोजक सम्यग्दृष्टि जीव सम्यक्त्वको छोड़कर मिथ्यात्व गुणस्थानको प्राप्त होता है, उसको एक आबलीमात्र काल तक अनन्तानुबन्धी कषायोका उदय नहीं होता है। ऐसा मिथ्यादृष्टिका अर्थात् सम्यक्त्वको छोड़कर मिथ्यात्वको प्राप्त होनेवाले जीवका अन्तर्मुहूर्त काल तक मरण नहीं होता है।

क. पा. २-२२/१.१६६/१०१/६ अंतोमुहुत्तेण विणा संजुत्त विदियसमए चेव मरणाभावादो। = अनन्तानुबन्धीका पुनः संयोजन होनेपर अन्तर्मुहूर्त काल हुए बिना दूसरे समयमें ही मरण नहीं होता है। (क. पा. २/२-२२/१.१६६/१०८/३), (गो. क./मू./५६१/७६३)।

७. उपशम श्रेणीमें मरण सम्बन्धी

रा. वा./१०/१३/६४०/७ सर्वमोहप्रकृत्युपशमात् उपशान्तकषायव्यपदेश-भागभवति। आयुषः क्षयात् त्रियते। = मोहकी सर्वा प्रकृतियोंका उपशम हो जानेपर उपशान्तकषाय सज्ञावाला होता है। आयुका क्षय होनेपर वह मरणको भी प्राप्त हो जाता है।

ध. २/१.१/४३०/५ चारित्तमोहउवसामगा मदा देबेसु उववज्जंति। = चारित्रमोहका उपशम करनेवाले जीव मरते हैं तो देवोंमें उत्पन्न होते हैं। (ल. सा./मू./३०८/३६०)।

ध. ४/१.५.२२/३५२/७ अपुव्वकरणमढमसमयादो जाव णिहापयलाणं बंधो ण बोच्छिज्जदि ताव अपुव्वकरणं मरणाभावात्। = अपूर्व-करण गुणस्थानके प्रथम समयसे लेकर जबतक निद्रा और प्रचला, इन

दोनों प्रकृतियोंका बन्ध व्युच्छिन्न नहीं हो जाता है (अर्थात् अपूर्व-करणके प्रथम भागमें) तबतक अपूर्वकरण गुणस्थानवर्ती संयतोका मरण नहीं होता है। (और भी दे०/मरण/३/२); (गो. जी./जी. प्र./५५/१४८/१३)।

ध. १३/५.४.३२/१३०/८ उवसमसेहीदो ओदिण्णस्स उवसमसम्माहट्टस्स मरणे सत्ते वि उवसमसमत्तेण अंतोमुहुत्तमच्छिदूण चेव वेदगसम्मत्तस्स गमणुवलंभादो। = उपशम श्रेणीसे उत्तरे हुए उपशम सम्यग्दृष्टिका यद्यपि मरण होता है, तो भी यह जीव उपशम सम्यक्त्वके साथ अन्तर्मुहूर्तकाल तक रहकर ही वेदक सम्यक्त्वको प्राप्त होता है। (दे० सम्यग्दर्शन/IV/३/४)।

गो. जी./मू. व जी. प्र./७३१/१३२५ विदियुवसमसम्मत्तं सेहीदोदिण्ण अविरदादिमु सगसगलेस्वामरिदे देवअपज्जत्तगोव हवे ७३१। बद्धदेवा-युष्कादन्यस्य उपशमश्रेण्यां मरणाभावात्। = उपशमश्रेणीसे नीचे उतरकर असंयतादिक गुणस्थानोंमें अपनी-अपनी लेश्या सहित मरें तो अपर्याप्त असंयत देव ही होता है, क्योंकि, देवायुके बन्धसे अन्य किसी भी ऐसे जीवका उपशमश्रेणीमें मरण नहीं होता है।

८. कृतकृत्यवेदकमें मरण सम्बन्धी

ध. ६/१.६-८,१२/२६३/१ कदकरणिज्जकालव्यंतरे तस्स मरणं पि होज्ज। = कृतकृत्यवेदककालके भीतर उसका मरण भी होता है।

क. पा. २/२-२२/१.२४२/२१५/६ जइ बसहाइरियस्स वे उवएसा। तस्थ कदकरणिज्जो ण मरदि त्ति उवदेसमस्सिदुष्ण एदं सुत्तं कदं १०० 'पढम-सम्यकदकरणिज्जो जदि मरदि णियमा देवेसु उववज्जदि। जदि णेरइएसु त्तिरिक्खेसु मणुस्सेसु वा उववज्जदि तो णियमा अंतोमुहुत्त-कदकरणिज्जो' त्ति जइवसहाइरियपरुविदपुण्णिसुत्तादो। णवरि, उच्चारणाइरियउवएसेण पुण कदकरणिज्जो ण मरइ चेवेति णियमो णत्थि।

क. पा./पु. २/२-२२/१.२४४/२१७/८ मिच्छत्तं खविम सम्मामिच्छत्तं खवेता ण मरदि त्ति कुदो णव्ववे। एदम्हादो चेव सुत्तादो। = यतिवृषभाचार्यके दो उपदेश हैं। उनमेंसे कृतकृत्य वेदक जीव मरण नहीं करता है इस सूत्रका आश्रय लेकर यह सूत्र प्रवृत्त हुआ है। 'कृतकृत्य वेदक जीव यदि कृतकृत्य होनेके प्रथम समयमें मरण करता है तो नियमसे देवोंमें उत्पन्न होता है। किन्तु जो कृतकृत्य-वेदक जीव नारकी, तिर्यंच और मनुष्योंमें उत्पन्न होता है, वह नियमसे अन्तर्मुहूर्त काल तक कृतकृत्यवेदक रहकर ही मरता है।' यतिवृषभके इस सूत्रसे जाना जाता है कि कृतकृत्यवेदक जीव मरता है। किन्तु इतनी विशेषता है कि उच्चारणाचार्यके उपदेशानुसार कृतकृत्यवेदक सम्यग्दृष्टि जीव नहीं ही मरता है, ऐसा कोई नियम नहीं है। = प्रश्न--'मिथ्यात्वका क्षय करके सम्यग्मिथ्यात्वका क्षय करनेवाला जीव नहीं मरता यह कैसे जाना जाता है ? उत्तर--इसी सूत्रसे जाना जाता है।

दे० मरण/३/२ (दर्शनमोहका क्षय करनेवाला यावत् कृतकृत्यवेदक रहता है तावत् मरण नहीं करता)।

९. नरकगतिमें मरण समयके लक्ष्या व गुणस्थान

ति. प./२/२६४ किण्हाय णीलकाऊणुदयादो बंधिऊण गिरयाऊ। मरि-ऊण ताहि जुत्तो पावइ गिरयं महावोरं २६४। = कृष्ण नील अथवा कापीत इन तीन लेश्याओंका उदय होनेसे नरकायुको बाँधकर और मरकर उन्हीं लेश्याओंसे युक्त होकर महा भयानक नरकको प्राप्त करता है।

गो. क./मू./५३६/६६८ तत्थतणविरदसम्मो मिससो मणुवदुगमुच्चयं णियमा। बंधदि गुणपर्डवण्णा मरंति मिच्छेव तस्थ भवा। = तत्रतन अर्थात् सातवीं नरक पृथिवीमें सासादन, मिश्र व असंयतगुणस्थान-

वर्ती जीव मरणके समय मिथ्यादृष्टि गुणस्थानको प्राप्त होकर ही मरते है। (विशेष दे० जन्म/६)।

१०. देव गतिमें मरण समयको लक्ष्य

घ. ८/३.२५८/३२३/१ मन्वे देवा मुदयवखणेण चैव अणियमेण असुह-
तिलेस्सासु णिवदंति अण्णे पुण आहरिया मुददेवाणं सव्वेसि वि
काउलेस्साए चैव परिणामभुवगमादो। —सत्र देव मरण क्षणमें ही
नियम रहित अशुभ तीन लेश्याओंमें गिरते हैं, और अन्य आचार्यों-
के मतसे सत्र ही मृत देवोंका कापोत लेश्यामें ही परिणमन स्वीकार
किया गया है।

११. आहारकमिश्र काययोगीके मरण सम्बन्धी

घ. १५/६४/१ आहारसरीरमुट्ठावेतस्स अपजजत्तद्धए मरणाभावादो।
—आहारक शरीरको उत्पन्न करनेवाले जीवका अपयमिकालमें
मरण सम्भव नहीं है। (और भी दे० मरण/३/२)।
गो जी./सू./२३८/५०१ अवाघादी अंतोमुहुत्तकालद्विदी जहण्णिदरे।
पज्जत्तीसंपुण्णे मरणं पि कदाचि संभवई। —आहारक शरीर
अव्याघाती है, अन्तर्मुहूर्त कालस्थायी है, और पर्याप्तपूर्ण हो जाने
पर उस आहारक शरीरधारी मुनिका कदाचित् मरण भी सम्भव है।

४. अकाल मृत्यु निर्देश

१. कदलीघातका लक्षण

भा पा./सू./२५ विसवेयणरत्तन्नखय-भयसत्थगहणसंकित्तिस्साणं।
आहारुस्सासाणं णिरोहणा खिणए आऊ ११२। —विष खा लेनेसे,
वेदनासे, रक्तका क्षय होनेसे, तीव्र भयसे, शस्त्रघातसे, संबलेशकी
अधिकतासे, आहार और श्वासोच्छ्वासके रुक जानेसे आयु क्षीण हो
जाती है। (इस प्रकारसे जो मरण होता है उसे कदलीघात कहते
हैं) (घ. १/१.१.१/गा. १२/२३); (गो क./सू./५७/५५)।

२. बद्धायुषकी अकाल मृत्यु सम्भव नहीं

घ. १०/४.२.४.३६/२२०/६ परभवि आउए बद्धे पच्छा भुंजमाणउस्स
कदलीघादो णत्थि जहासरूवेण चैव वेदेत्ति जाणावणट्ठं 'कमेण
कालगदो' त्ति उच्च। परभवियाउअं बंधिय भुंजमाणउए
घादिज्जमाणे को दोसो त्ति उच्चे ण, णिज्जिण्णभुंजमाणउस्स
अपत्तपरभवियाउअउदयस्स चउगहवाहिरस्स जीवस्स अभावप्प-
संगादो। —परभव सम्बन्धी आयुके बंधनेके पश्चात् भुज्यमान
आयुका कदलीघात नहीं होता, किन्तु वह जितनी थी उतनीका ही
वेदन करता है, इस घातका ज्ञान करानेके लिए 'क्रमसे कालको प्राप्त
होकर' यह कहा है। प्रश्न—परभविक आयुको बाँधकर भुज्यमान
आयुका घात माननेमें कौन सा दोष है। उत्तर—नहीं, क्योंकि जिसकी
भुज्यमान आयुकी निर्जरा हो गयी है, किन्तु अभी तक जिसके
परभविक आयुका उदय नहीं प्राप्त हुआ है, उस जीवका चतुर्गतिसे
बाह्य हो जानेसे अभाव प्राप्त होता है।

३. देव नारकियोंकी अकालमृत्यु संभव नहीं

स.सि./३/२/२०६/१० छेदनभेदनादिभि' शकलीकृतमूर्त्तानामपि तेषां न
मरणमकाले भवति। कुत' अनपवर्त्यायुष्कत्वात्। —छेदन, भेदन
आदिके द्वारा उनका (नारकियोंका) शरीर खण्ड-खण्ड हो जाता है,
तो भी उनका अकालमें मरण नहीं होता, क्योंकि, उनकी आयु
बटती नहीं है। (रा. वा./३/५/१६६/११), (ह. पु./४/३६४); (म.
पु./१०/५२), (त्रि.सा./१६४) (और भी दे० नरक/३/६/०)।

घ. १४/५.२.१०१/३६०/६ देवणेरहएसु आउअस्स कदलीघादाभावादो।
—देव और नारकियोंमें आयुका कदलीघात नहीं होता। (और भी,
वे. आयु/५/४)।

घ. १/१.१.८०/३२१/६ तेषामपमृत्योरसत्त्वात्। भस्मसाद्भावमुपगत-
देहानां तेषां कथं पुनर्मरणमिति चेन्न, देहविकारस्यायुर्विच्छिन्न-
निमित्तात्त्वात्। अन्यथा बालावस्थासु प्राप्तयौवनस्यापि मरणप्रस-
ङ्गात्। —नारकी जीवोंके अपमृत्युका सद्भाव नहीं पाया जाता है।
प्रश्न—यदि उनकी अपमृत्यु नहीं होती है, तो जिनका शरीर
भस्मीभावको प्राप्त हो गया है, ऐसे नारकियोंका पुनर्मरण कैसे
बनेगा। उत्तर—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, देहका विकार आयु-
कर्मके विनाशका निमित्त नहीं है। अन्यथा जिसने बाल अवस्थाके
पश्चात् यौवन अवस्था को प्राप्त कर लिया है, ऐसे जीवको भी मरण-
का प्रसंग आ जायेगा।

४. योगभूमियोंकी अकालमृत्यु संभव नहीं

वे. आयु./५/४/ (असंख्यात वर्षकी आयुवाले जीव अर्थात् भोगभूमिज
मनुष्य व तिर्यच अनपवर्त्य आयुवाले होते हैं।)
ज प./२/१६० पहले विदिये त्रिविधे काले जे हति माणुसा पवरा। ते
अवमिच्छुविदूणा एयंतसुहेहि संजुत्ता ११०।—प्रथम, द्वितीय व
तृतीय कालमें जो श्रेष्ठ मनुष्य होते हैं वे अपमृत्युसे रहित और
एकान्त सुखोंसे संयुक्त होते हैं। ११०।

५. चरमशरीरियों व शकाका पुरुषोंमें अकालमृत्युकी संभावना व असम्भावना

दे. प्रोषधोपवास/२/५/ (अवातायुष्क मुनियोंका अकालमें मरण नहीं
होता)।

वे. आयु./५/४/ (परमोत्तम देहधारी अनपवर्त्य आयुवाले होते हैं)।
रा.वा./२/५३/६/१५७/२५ अन्यच्चक्रधरवासुदेवादीनामायुषोऽपवर्तदर्श-
नादव्याप्ति'। ६। न वा; चरमशब्दस्योत्तमविशेषणत्वात्। ७। उत्तमग्रहण-
मेवेति चेत; न; तदनिवृत्ते। ८। चरमग्रहणमेवेति चेत, न, तस्योत्तमत्व-
प्रतिपादनार्थत्वात्। ९। चरमदेहा इति वा केषांचित् पाठ। एतेषां
नियमेनायुरनपवर्त्यमितरेषामनियम। —प्रश्न—उत्तम देहवाले भी
अन्तिम चक्रवर्ती ब्रह्मदत्त और कृष्ण वासुदेव तथा और भी ऐसे लोगों
की अकाल मृत्यु मुनी जाती है, अतः यह लक्षण ही अव्यापी है।
उत्तर—चरमशब्द उत्तमका विशेषण है, अर्थात् अन्तिम उत्तम देह-
वालोंकी अकाल मृत्यु नहीं होती। यदि केवल उत्तम पद देते तो
पूर्वोक्त दोष बना रहता है। यद्यपि केवल 'चरमदेह' पद देनेसे कार्य
चल जाता है, फिर भी उस चरम देहकी सर्वोत्कृष्टता अतानेके लिए
उत्तम विशेषण दिया है। वहाँ 'चरमदेहा' यह पाठ भी देखा जाता
है। इनकी अकालमृत्यु कभी नहीं होती, परन्तु इनके अतिरिक्त अन्य
व्यक्तियोंके लिए यह नियम नहीं है।

त. वृ./२/५३/११०/५ चरमोऽन्त्य उत्तमदेह शरीर तेषां ते चरमोत्तम-
देहा तज्जन्मनिर्वाणयोग्यास्तीर्थकरपरमदेवा ज्ञातव्या'। गुरुदत्त-
पाण्डवादीनामुपसर्गेण सुसत्त्वदर्शनाश्चास्त्यनपवर्त्यायुनियम इति
न्यायकुमुदचन्द्रोदये प्रभाचन्द्रेणीकमस्ति। तथा चोत्तमदेवत्वेऽपि
मुभौमन्नह्यदत्तापवर्त्यायुर्दर्शनात्, कृष्णस्य च जरत्कुमारभागेनाप-
मृत्युदर्शनात् सकलार्थचक्रवर्तिनामप्यनपवर्त्यायुनियमो नास्ति इति
राजवार्तिककालङ्कारे प्रोक्तमस्ति। —चरमका अर्थ है अन्तिम और
उत्तमका अर्थ है उत्कृष्ट। ऐसा है शरीर जिनका वे, उसी भवसे मोक्ष
प्राप्त करने योग्य तीर्थकर परमदेव जानने चाहिए, अन्य नहीं;
क्योंकि, चरम देही होते हुए भी गरुडदत्त, पाण्डव आदिका मोक्ष
उपसर्गके समय हुआ है—ऐसा भी प्रभाचन्द्र आचार्यने न्याय-कुमुद-
चन्द्रोदय नामक ग्रन्थमें कहा है, और उत्तम देही होते हुए भी

सुभौम, ब्रह्मदत्त आदिकी आयुका अपवर्तन हुआ है। और कृष्णकी जर्त्कुमारके बाणसे अपमृत्यु हुई है। इसलिए उनकी आयुके अनपवर्त्यपनेका नियम नहीं है, ऐसा राजवातिकालकारमें कहा है।

३. जघन्य आयुमें अकालमृत्युकी सम्भावना व असम्भावना

घ. १४/५, ६, २६०/पृष्ठ पंक्ति एत्थ कदलीघादम्मि वे उवदेसा, के वि आइरिया जहण्णाउअम्मि आवलियाए असंखे० भागमेत्ताणि जीवणियत्ताणाणि लब्धंति त्ति भणंति । तं जहा—पुब्भणिदमुहुमेईदियपज्जत्तसंखेजहण्णाउअणिव्वत्तिट्ठाणस्स कदलीघादो णत्थि । एवं समउत्तरदुसमउत्तरादिणिव्वत्तीणं पि घादो णत्थि । पुणो एदम्हादो जहण्णणिव्वत्तिट्ठाणादो संखेज्जगुणमाउअं बधिदूण सुहुमयज्जन्तेसुवणस्स अत्थि कदलीघादो (३५४/७) । के वि आइरिया एवं भणत्ति-जहण्णणिव्वत्तिट्ठाणमुवरिमआउअवियप्पेहि वि घादं गच्छदि । केवलं पि घादं गच्छदि । णवरि उवरिमआउअवियप्पेहि जहण्णणिव्वत्तिट्ठाणं घादिज्जमाणं समउणदुसमउणादिव्वेण होयमाणं ताव गच्छदि जाव जहण्णणिव्वत्तिट्ठाणस्स संखेज्जे भागे ओदारिय सुखे-भागो सेसो त्ति । जदि पुण केवल जहण्णणिव्वत्तिट्ठाण चेव घादेदि तो तत्थ दुविहो कदलीघादो होदि—जहण्णओउक्कस्सओ चेदि (३५४/९) । सुट्ठु जदि थोवं घादेदि तो जहण्णणिव्वत्तिट्ठाणस्स संखेज्जे भागे जीविदूण सससखे० भागस्स संखेज्जे भागे संखेज्जदि-भागं वा घादेदि । जदि पुण बहुअं घादेदि तो जहण्णणिव्वत्तिट्ठाण सखे० भागं जीविदूण संखेज्जे भागे कदलीघादेण घादेदि (३५६/१) । एत्थ पढमवक्खयाणं ण भइयं, खुद्दाभवगहणादो (३५७/१) ।—यहाँ कदली घातके विषयमें दो उपदेश पाये जाते हैं। कितने ही आचार्य जघन्य आयुमें आवलिके असंख्यातवे भाग-प्रमाण जीवनीय स्थान लब्ध होते हैं ऐसा कहते हैं। यथा पहले कहे गये सूक्ष्म एकेन्द्रिय पर्याप्तकी सबसे जघन्य आयुके निर्वृत्तिस्थानका कदलीघात नहीं होता। इसी प्रकार एक समय अधिक और दो समय अधिक आदि निर्वृत्तियोंका भी घात नहीं होता। पुन इम जघन्य निर्वृत्ति-स्थानमें असंख्यात्तगुणी आयुका बन्ध करके सूक्ष्म पर्याप्तकोमें उत्पन्न हुए जीवका कदलीघात होता है। (३५४/७) । कितने ही आचार्य इस प्रकार कथन करते हैं—जघन्य निर्वृत्तिस्थान उपरिम आयुविकल्पो-के साथ भी घातको प्राप्त होता है और केवल भी घातको प्राप्त होता है। इतनी विशेषता है, कि उपरिम आयुविकल्पोके साथ घातको प्राप्त होता हुआ जघन्य निर्वृत्तिस्थान एक समय और दो समय आदिके क्रममें कम होता हुआ वह तब तक जाता है जब तक जघन्य निर्वृत्तिस्थानका संख्यात बहुभाग उत्तरकर संख्यातवे भागप्रमाण शेष रहता है। यदि पुन केवल जघन्य निर्वृत्तिस्थानको घातता है तो वहाँपर दो प्रकारका कदलीघात होता है—जघन्य और उत्कृष्ट यदि अति स्तोकाका घात करता है, तो जघन्य निर्वृत्तिस्थानके संख्यात बहुभाग तक जीवित रहकर शेष संख्यातवे भागके संख्यात बहुभाग या संख्यातवे भागका घात करता है। यदि पुन बहुतका घात करता है तो जघन्य निर्वृत्तिस्थानके संख्यातवे भागप्रमाण कालतक जीवित रहकर संख्यात बहुभागका कदलीघात द्वारा घात करता है। (३५५/१) । यहाँपर प्रथम व्याख्याना ठीक नहीं है, क्योंकि उसमें ध्रुवलक भवका ग्रहण किया है। (३५७/१) ।

७. पर्याप्त होनेके अन्तर्मुहूर्त काल तक अकाल मृत्यु सम्भव नहीं

घ १०/४, २, ४, ४१/२४०/७ पज्जत्तिसमाणिदसमयप्पहुडि जाव अंतोमुहुत्तण गद ताव कदलीघादं ण करेदि त्ति जाणावणट्ठमंतोमुहुत्तणिद्वं सो

कदो । = पर्याप्तियोंको पूर्ण कर चुकनेके समयसे लेकर जबतक अन्तर्मुहूर्त नहीं बीतता है, तबतक कदलीघात नहीं करता, इस बातका ज्ञान करानेके लिए (सूत्रमें) 'अन्तर्मुहूर्त' पदका निर्देश किया है।

८. कदलीघात द्वारा आयुका अपवर्तन हो जाता है

घ / १०/४, २, ४, ४१/२४०/६ कदलीघादेण विणा अंतोमुहुत्तकालेण परभ-वियमाआउअं किण्ण बज्जभदे । ण, जीविदूणागदस्स आउअस्स अद्दादो अहियआवाहाए परभवियआउअस्स बधाभावादो ।

घ. १०/४, २, ४, ४६/२४४/३ जीविदूणागदअंतोमुहुत्तद्वपमाणेण उवरि-ममंतोमुहुत्तूणपुव्वकोडाउअं सव्वमेगसमएण सरिराखड कदलीघादेण घादिदूण घादिदसमए चेव पुणो—= प्रश्न—कदलीघातके बिना अन्तर्मुहूर्त काल द्वारा परभविक आयु बयो नहीं बौधी जाती। उत्तर—नहीं, क्योंकि, जीवित रहकर जो आयु व्यतीत हुई है उसकी आधीसे अधिक आन्नाघाके रहते हुए परभविक आयुका बन्ध नहीं होता। जीवित रहते हुए अन्तर्मुहूर्त काल गया है उससे अर्धमात्र आगेका अन्तर्मुहूर्त कम पूर्वकोटि प्रमाण उपरिम सब आयुको एक समयमें सहस्र खण्डपूर्वक कदलीघातसे धात करनेके समयमें ही पुन (परभविक आयुका बन्ध कर लेता है) । (और भी देखो आगे शीर्षक ६)

९. अकाल मृत्युका अस्तित्व अवश्य है

रा वा / २/३३/१०/१५८/८ अप्राप्तकालस्य मरणानुपलब्धेरपवर्त्याभाव इति चेत्, न; द्रष्टव्यादाप्रफलादिवत् । १०। यथा अवधारितपाककालात् प्राक् सांपायोपक्रमे नत्याप्रफलादीना दृष्ट पाकरतथा परिच्छिन्न-मरणकालात् प्राग्द्वीरणाप्रत्यय आयुषो भवत्वपवर्त । = प्रश्न—अप्राप्त-कालमें मरणकी अनुपलब्धि होनेसे आयुके अपवर्तनका अभाव है। उत्तर—जैसे प्याल आदिके द्वारा आम आदिकी समयसे पहले ही पका दिया जाता है उसी तरह निश्चित मरण कालसे पहले भी उदीरणके कारणसे आयुका अपवर्तन हो जाता है।

रलो, वा / २/२/३३/२/२६१/१६ न हि अप्राप्तकालस्य मरणाभाव खड्ग-प्रहारादिभिः मरणस्य दर्शनात् । = अप्राप्तकाल मरणका अभाव नहीं है, क्योंकि, खड्ग प्रहारादि द्वारा मरण देखा जाता है।

घ १३/५, ६, ६/३३४/१ कदलीघादेण मरताणमाउट्टिदचरिमसमए मरणा-भावेण मरणाउट्टिदचरिमममयाण समाणाहियरणभावादो च । = कदलीघातसे मरनेवाले जीवका आयुस्थितिके अन्तिम समयमें मरण नहीं हो सकनेसे मरण और आयुके अन्तिम समयका सामानाधिकरण नहीं है।

भ आ, वि / ८/२४/६६/१२ अकालमरणाभावोऽयुक्त केषुचित्कर्मभूमि-जेपु तस्य सतो निषेधादित्यभिप्रायः । = अकाल मरणका अभाव कहना युक्त नहीं है, क्योंकि, कितने ही कर्मभूमिज मनुष्योंमें अकाल मृत्यु है। उसका अभाव कहना असत्य बचन है; क्योंकि, यहाँ सत्य पदार्थका निषेध किया गया है। (दे० असत्य/३)

१०. अकाल मृत्युकी सिद्धिमें हेतु

रा, वा, / २/३३/११/१५८/१२ अकालमृत्युव्युदासार्थं रसायनं चोप-दिशति, अन्यथा रसायनोपदेशस्य वैयर्थ्यम् । न चादोऽस्ति । अत आयुर्वेदसामर्थ्यादित्ययकालमृत्यु । दृ खप्रतीकारार्थं इति चेत्, न; उभयथा दर्शनात् । ११। कृतप्रणाशप्रसंग इति चेत्, न, द्रवैव फल निवृत्ते । १३। वितताद्द्रवपटशोषवच्च अयथाकालनिवृत्तं पाक इत्ययं विशेषः । = १ आयुर्वेदशास्त्रमें अकाल मृत्युके कारणके लिए औषधिप्रयोग बताया गये हैं। क्योंकि, दवाओंके द्वारा श्लेष्मादि दोषोंको बलात् निकाल दिया जाता है। अत यदि अकाल मृत्यु न मानी जाय तो रसायनादिका उपदेश व्यर्थ हो जायेगा। उसे

केवल दुःखनिवृत्तिका हेतु कहना भी युक्त नहीं है; क्योंकि, उसके दोनों ही फल देखे जाते हैं। (श्लो वा ५/२/५३/श्लो, २/२५६ व वृत्ति/२६२/२६)। २ यहाँ कृतप्रणाशकी आशंका करना भी योग्य नहीं है, क्योंकि, उदीरणामे भी कर्म अपना फल देकर ही भडते हैं। इतना विशेष है, कि जैसे गीला कपडा फैला देनेपर जल्दी सूख जाता है, वही यदि इकट्ठा रखा रहे तो सूखनेमें बहुत समय लगता है, उसी तरह उदीरणके निमित्तोंके द्वारा समयके पहले ही आयु भड जाती है। (श्लो वा/५/२/५३/२/२६६/१४)।

श्लो, वा, ५/२/५३/२/२६१/२६ प्राप्तकालस्यैव तस्य तथा दर्शनमिति चेत्, क. पुनरसौ काल प्राप्नोऽपमृत्युकाल वा, द्वितीयपक्षे सिद्धसाध्यता, प्रथमपक्षे खड्गप्रहारादिनिरपेक्षत्वप्रसंग। = प्रश्न— ३. प्राप्तकाल ही खड्ग आदिके द्वारा मरण होता है। उत्तर—यहाँ कालप्राप्तिसे आपका क्या तात्पर्य है—मृत्युके कालकी प्राप्ति या अपमृत्युके कालकी प्राप्ति। यहाँ दूसरा पक्ष तो माना नहीं जा सकता क्योंकि वह तो हमारा साध्य ही है और पहला पक्ष माननेपर खड्ग आदिके प्रहारसे निरपेक्ष मृत्युका प्रसंग आता है।

१५. स्वकाल व अकाल मृत्युका समन्वय

श्लो वा- ५/२/५३/२/२६१/१८ सकलवहिकारणविशेषनिरपेक्षस्य मृत्युकारणस्य मृत्युकालव्यवस्थिते। शस्त्रसंपातादिबहिरङ्गकारणान्वयव्यतिरेकानुविधायिनस्तस्यापमृत्युकालत्वोपपत्ते। = अति प्रहार आदि समस्त बाह्य कारणोंसे निरपेक्ष मृत्यु होनेमें जो कारण है वह मृत्युका स्वकाल व्यवस्थापित किया गया है। और शस्त्र संपात आदि बाह्य कारणोंके अन्वय और व्यतिरेकका अनुसरण करनेवाला अपमृत्युकाल माना जाता है।

पं. वि./३/१८ यैव स्वकर्मकृतकालकलात्र जन्तुस्तत्रैव याति मरणं न पुरो न पश्चात्। मूढास्तथापि हि मृते स्वजने विधाय शोकं परं प्रचुरदुःखभुजो भवन्ति। = इस ससारमें अपने कर्मके द्वारा जो मरणका समय नियमित किया गया है उसी समयमें ही प्राणी मरणको प्राप्त होता है, वह उससे न तो पहले ही मरता है और न पीछे ही। फिर भी मूर्खजन अपने किसी सम्बन्धीके मरणको प्राप्त होनेपर अतिशय शोक करके बहुत दुःखके भोगनेवाले होते हैं नोट—(बाह्य कारणोंसे निरपेक्ष और सापेक्ष होनेसे ही काल व अकाल मृत्युमें भेद है, वास्तवमें इनमें कोई जातिभेद नहीं है। कालकी अपेक्षा भी मृत्युके नियत कालसे पहले मरण ही जानेको जो अकाल मृत्यु कहा जाता है वह केवल अल्पज्ञताके कारण ही समझना चाहिए, वास्तवमें कोई भी मृत्यु नियतकालसे पहले नहीं होती; क्योंकि, प्रत्यक्षरूपसे भविष्यको जाननेवाले तो बाह्य निमित्तों तथा आयुकर्मके अपवर्तनको भी नियत रूपमें ही देखते हैं।)

५. मारणान्तिक समुद्घात निर्देश

१. मारणान्तिक समुद्घातका लक्षण

रा वा. १/२०/१२/७७/१५ औपक्रमिकानुपक्रममायु क्षयाविभूतमरणान्तप्रयोजनो मारणान्तिकसमुद्घातः। = औपक्रमिक व अनुपक्रमिक रूपसे आयुका क्षय होनेसे उत्पन्न हुए कालमरण या अकाल मरणके निमित्तसे मारणान्तिक समुद्घात होता है।

ध. ४/१,३,२/२६/१० मारणान्तियसमुद्घादो नाम अप्पणो वट्टमाणसरीरमच्छट्टिय रिजुगईए विग्गहगईए वा जावुपज्जमाणखेत्तं ताव गतुण .. अंतोमुहुत्तमच्छणं। = अपने वर्तमान शरीरको नहीं छोड़कर ऋजुगति द्वारा अथवा विग्रह गति द्वारा आगे जिसमें उत्पन्न होना है ऐसे क्षेत्रतक जाकर अन्तर्मूर्त तक रहनेका नाम मारणान्तिक समुद्घात है। (द्र. सं./टी./१०/२५/उद्धृत श्लोक न. ४)।

गो. जी/जी प्र./११६/४४४/२ मरणान्ते भव मारणान्तिक समुद्घात उत्तरभवोत्पत्तिस्थानपर्यन्तजीवप्रदेशप्रसर्पणलक्षणः। = मरणके अन्तमें होनेवाला तथा उत्तर भवकी उत्पत्तिके स्थान पर्यन्त जीवके प्रदेशोका फैलना है लक्षण जिसका, वह मारणान्तिक समुद्घात है। (का. अ/टी/१७६/११६/२)।

२. सभी जीव मारणान्तिक समुद्घात नहीं करते

गो. जी/जी, प्र./५४४/१५०/१ सौधर्मद्वयजीवराशौधनाङ्गुलतृतीयमूलगुणितजगच्छूणिप्रमिते पर्यासख्यातेन भक्ते एकभाग प्रतिसमयं त्रियमाणराशिर्भवति। तस्मिन् पर्यासख्यातेन भक्ते बहुभागो विग्रहगतौ भवति। तस्मिन् पर्यासख्यातेन भक्ते बहुभागो मारणान्तिक समुद्घाते भवति। अस्य पर्यासख्यातैकभागो दूरमारणान्तिके जीवा भवन्ति। = सौधर्म ईशान स्वर्गवासी देव (घनाङ्गुल १/३ × जगश्रेणी) इतने प्रमाण है। इसके पर्य/असं, भाग-प्रमाण प्रति समय मरनेवाले जीवोका प्रमाण है। इसका पर्य/असं, बहुभाग प्रमाण विग्रह गति करनेवालोका प्रमाण है। इसका पर्य/असं बहुभाग प्रमाण मारणान्तिक समुद्घात करनेवालोका प्रमाण है। इसका पर्य/असं भागप्रमाण दूर मारणान्तिक समुद्घातवाले जीवोका प्रमाण है। (और भी दे० घ ७/२,६,२२७,१४/३०६,३१२)।

३. ऋजु व तक्र दोनों प्रकारकी विग्रहगतिमें होता है

का अ/टी/१७६/११६/३ स च संसारी जीवाना विग्रहगतौ स्यात्। = मारणान्तिक समुद्घात ससारी जीवोंको विग्रहगतिमें होता है। दे० मारणान्तिक समुद्घातका लक्षण/घ. ४ (ऋजुगति व विग्रह गति दोनों प्रकारसे होता है)। (घ. ७/२,६,१/३)।

४. मारणान्तिक समुद्घातका स्वामित्व

दे० समुद्घात—(मिश्र गुणस्थान तथा क्षपकश्रेणीक अतिरिक्त सभी गुणस्थानोंमें सम्भव है। विकलेन्द्रियोंके अतिरिक्त सभी जीवोंमें सम्भव है।)

ध. ४/१,४,२५/२०४/७ यदि सासणसम्मादिद्विणो हेत्वाण मारणंतिर्यं मेलति, तो तेषि भवणवासियदेवेषु मेरुतलादो हेट्ठा टिठ्ठेसु उप्पत्ती ण पावदि त्ति वुत्ते, ण एस दोसो, मेरुतलादो हेट्ठा सासणसम्मादिट्ठीणं मारणंतिर्यं णत्थि त्ति एदं सामणवयणं। विसेसादो पुण भणमाणे णेरइएसु हेट्ठिम एईदिएसु वा ण मारणा-तिर्यं मेलंति त्ति एस परमत्थो। = प्रश्न—यदि सासादन सम्यग्दृष्टि जीव मेरुतलसे नीचे मारणान्तिक समुद्घात नहीं करते हैं तो मेरुतलसे नीचे स्थित भवनवासी देवोंमें उनकी उत्पत्ति भी नहीं प्राप्त होती है। उत्तर—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, 'मेरुतलसे नीचे सासादन सम्यग्दृष्टि जीवोका मारणान्तिक समुद्घात नहीं होता है' यह सामान्य वचन है। किन्तु विशेष विवक्षासे कथन करनेपर तो वे नारकियोंमें अथवा मेरुतलसे अधोभागवर्ती एकेन्द्रिय जीवोंमें मारणान्तिक समुद्घात नहीं करते हैं यह परमार्थ है। (क्योंकि उन गतियोंमें उनके उपपाद नहीं होता है। —दे० जन्म/४/११)।

दे० सासादन/१/१०—[लोकनालीके बाहर सासादन सम्यग्दृष्टि समुद्घात नहीं करते।]

ध ४/१,४,१७३/३०५/१० मणुसगदीए चैव मारणतिय दसणादो। = मनुष्य गतिमें ही (उपशम सम्यग्दृष्टि जीवोके) मारणान्तिक समुद्घात देखा जाता है।

दे० क्षेत्र/३—(गुणस्थान व मार्गणास्थानोंमें मारणान्तिक समुद्घातका यथासम्भव अस्तित्व)।

५. प्रदेशोंका पूर्ण संकोच होना आवश्यक नहीं

घ. ४/१,३,२/३०/४ विरगहगदीए मारणतियं कादूणुपपण्णणं पढमसमए असखेज्जजोयणमेत्ता ओगाहणा होदि, पुव्वं पसारिदएण-दो-तिदंङ्गाणं पढमसमए उवसंधाराभावादो । = मारणान्तिक समुद्रघात करके विरगहगतिसे उत्पन्न हुए जीवोंके पहले समयमें असंख्यात योजनप्रमाण अवगाहना होती है, क्योंकि, पहले फैलाये गये एक, दो और तीन दण्डोंका प्रथम समयमें संकोच नहीं होता है ।

घ. ४/१,४,४/१६५/४ के वि आइरिया 'देवा णियमेण मूल सरीरं पवि-सिय मरति' त्ति भणति, विरुद्धं ति ण वेत्तव्व । = कितने ही आचार्य ऐसा कहते हैं कि देव नियमसे मूल शरीरमें प्रवेश करके ही मरते हैं । परन्तु यह विरोधको प्राप्त होता है, इसलिए उसे नहीं ग्रहण करना चाहिए ।

घ. ७/२,७,१६४/४२६/११ हेट्ठा दोरज्जुमेत्तद्दणं गत्तुण टिठ्ठावत्थाए छिण्णाउआण मणुस्सेसुपज्जमाणण देवाणं उववादखेत्तं किण्ण घेप्पदे । ण, तस्स पढमदडेणुणस्स छचोइसभागेसु चैव अंतभावादो, तेसिं मूलसरीरपवेसमंतरेण तदवत्थाए मरणभावादो च । = प्रश्न—नीचे दो राजुमात्र जाकर स्थित अवस्थामें आयुके क्षीण होनेपर मनुष्योंमें उत्पन्न होनेवाले देशोंका उत्पादक्षेत्र क्यों नहीं ग्रहण किया । उत्तर—नहीं, क्योंकि, प्रथम दण्डसे कम उसका ६/१४ भागमें ही अन्तर्भव हो जाता है (दे० क्षेत्र/४) तथा मूल शरीरमें जीव प्रदेशोंके प्रवेश बिना उस अवस्थामें उनके मरणका अभाव भी है ।

घ. ११/४,२,६,१२/२२/६ णेरइएसुपपण्णपढमसमए उवसंहरिदपढमदंडस्स य उवकस्सखेत्ताणुववत्तीदो । = नारकियोंमें उत्पन्न होनेके प्रथम समयमें (महामत्स्यके प्रदेशोंमें) प्रथम दण्डका उपसंहार हो जानेसे उसका उत्कृष्ट क्षेत्र नहीं बन सकता ।

६. प्रदेशोंका विस्तार व आकार

घ. ७/२,६,१/२६६/११ अप्पण्णो अच्चिदपदेसादो जाव उप्पज्ज-माणखेत्तं ति आयामेण एगपदेसमादि कादूण जावुकस्सेण सरीर-तिगुणवाहवलेण कंठेकखंभंतिट्ठयत्तोरण हल-गोमुत्तायारेण अंतोसुहु-त्तावट्ठाणं मारणतियसमुद्रघादो णाम । = आयामकी अपेक्षा अपने-अपने अधिष्ठित प्रदेशसे लेकर उत्पन्न होनेके क्षेत्रतक (और भी दे० अगला शीर्षक नं. ७), तथा बाह्यसे एक प्रदेशको आदि करके उत्कर्षत शरीरसे तिगुने प्रमाण जीव प्रदेशोंके काण्ड, एक खम्भ स्थित तोरण, हल व गोभूत्रके आकारसे अन्तर्मुहूर्त तक रहनेको मारणान्तिक समुद्रघात कहते हैं ।

घ. ११/४,२,६,१२/२१/७ सुहुमणिगोदेसु उप्पज्जमाणस्स महामच्छस्स विक्खभुरसेहा तिगुणा ण होति, द्दुगुणा विसेसाहिया वा होति त्ति कधं णव्वदे । अधोसत्तमाए पुढवीए णेरइएसु से काले उप्पज्जहिदि त्ति सुत्तादो णव्वदे । संतक्कमपाहुडे पुण णिगोदेसु उप्पाइदो, णेरइएसु उप्पज्जमाणमहामच्छो व्व सुहुमणिगोदेसु उप्पज्जमाणमहामच्छो वि तिगुणशरीरवाहवलेण मारणतियसमुद्रघाद गच्छहि त्ति । ण च एद जुज्जदे, सत्तमपुढवीणेरइएसु असादबहुलेसु उप्पज्जमाणमहामच्छ-वेयणा-कसाएहिहो सुहुमणिगोदेसु उप्पज्जमाणमहामच्छवेयण-कसा-याणं सरिसत्ताणुववत्तीदो । तदो एसो चैव अत्थो बहाणो त्ति वेत्त-व्वो । = प्रश्न—सूक्ष्म निगोद जीवोंमें उत्पन्न होनेवाले महामत्स्य-का विष्कम्भ और उत्सेध तिगुना नहीं होता, किन्तु द्दुगुना अथवा विशेष अधिक होता है; यह कैसे जाना जाता है । उत्तर—“नीचे सातवी पृथिवीके नारकियोंमें वह अनन्तर कालमें उत्पन्न होगा” इस सूत्रसे जाना जाता है ।—सत्कर्मप्राभूतमें उसे निगोद जीवोंमें उत्पन्न कराया है, क्योंकि, नारकियोंमें उत्पन्न होनेवाले महामत्स्य-के समान सूक्ष्म निगोद जीवोंमें उत्पन्न होनेवाला महामत्स्य भी विवक्षित शरीरकी अपेक्षा तिगुने बाह्यसे मारणान्तिक समु-

द्रघातको प्राप्त होता है । परन्तु यह योग्य नहीं है, क्योंकि, अत्यधिक असाताका अनुभव करनेवाले सातवी पृथिवीके नारकियोंमें उत्पन्न होनेवाले महामत्स्यकी वेदना और कषायकी अपेक्षा सूक्ष्म निगोद जीवोंमें उत्पन्न होनेवाले महामत्स्यकी वेदना और कषाय सह्य नहीं हो सकती । इस कारण यही अर्थ प्रधान है, ऐसा ही ग्रहण करना चाहिए ।

गो. जी/जी. प्र/५४३/६४२/१३ अस्मिन् रज्जुसख्यातैकभागायाम-सूच्यद्गुलसंख्यातैकभागविष्कम्भोत्सेधक्षेत्रस्य घनफलेन प्रतराद्गुल-संख्यातैकभागगुणितत्रगच्छूणिसंख्यातैकभागैण गुणिते दूरमारणा-न्तिकसमुद्रघातस्य क्षेत्रं भवति । = एक जीवके दूरमारणान्तिक समु-द्रघात विषे शरीरसे बाहर यदि प्रदेश फैले तो मुख्यपने राजूके संख्यातभागप्रमाण लम्बे और सूच्यगुलके संख्यातभे भागप्रमाण चौड़े व ऊँचे क्षेत्रको रोकते हैं । इसका घनफल जगश्रेणी × प्रतरांगुल होता है ।

गो जी/जी प्र/५५४/१०२५/१० तदुपरि प्रदेशोत्तरेषु स्वयंभूरमण-समुद्रवाह्यरथिण्डलक्षेत्रस्थितमहामत्स्येण सप्तमपृथिवीमहारौरवनाम-श्रेणीबद्ध प्रति मुक्तमारणान्तिकसमुद्रघातस्य पञ्चशतयोजनतदर्धवि-ष्कम्भोत्सेधैकाधर्षद्दुर्ज्जवायतप्रथमद्वितीयतृतीयवक्रोत्कृष्टपर्वन्तेषु । = वेदना समुद्रघातगत जीवके उत्कृष्ट क्षेत्रसे ऊपर एक-एक प्रदेश बढ़ता-बढ़ता मारणान्तिक समुद्रघातवाले जीवका उत्कृष्ट क्षेत्र होता है । वह स्वयंभूरमण समुद्रके बाह्य स्थिण्डल क्षेत्रमें स्थित जो महामत्स्य वह जत्र सप्तमनरकके महारौरव नामक श्रेणीबद्ध बिलके प्रति मारणान्तिक समुद्रघात करता है तब होता है । वह ५०० धो० चौड़ा, २५० यो० ऊँचा और प्रथम मोडेमें १ राजू लम्बा, दूसरे मोडेमें १/२ राजू और तृतीय मोडेमें ६ राजू लम्बा होता है । मारणान्तिक समु-द्रघातगत जीवका इतना उत्कृष्ट क्षेत्र होता है ।

७. वेदना कषाय और मारणान्तिक समुद्रघातमें अन्तर

भ. ४/१,३,२/२७/२ वेदणकसायसमुद्रघादा मारणतियसमुद्रघादे णिण्ण पदंति त्ति बुत्ते ण पदंति । मारणतिय समुद्रघादो णाम बद्धपरभवि-याउआण चैव होदि । वेदणकसायसमुद्रघादा पुण बद्धाउआणमवद्धाउ-आणं च होति । मारणतियसमुद्रघादो णिच्छएण उप्पज्जमाण दिसा-ट्ठिसुहो होदि, ण चे अराणमेगदिसाए गमणणियमो, दससु वि दिसासु गमणे पटिज्जत्तादो । मारणतियसमुद्रघादस्स आयामो उवकस्सेण अप्पणो उप्पज्जमाणखेत्तपज्जवसाणो, ण चेअराणमेस णियमो रि = प्रश्न—वेदना समुद्रघात और कषायसमुद्रघात ये दोनों मार-न्तिकसमुद्रघातमें अन्तर्भूत क्यों नहीं होते हैं । उत्तर—१. नह। होते, क्योंकि, जिन्होंने पर भवकी आयु बाँध ली है, ऐसे जीवोंके ही मारणान्तिक समुद्रघात होता है (अबद्धायुष्क और वर्तमानमें आयुको बाँधनेवालोंके नहीं होता—(घ. ७/४,२,१३,८६/४१०/७), किन्तु वेदना और कषाय समुद्रघात बद्धायुष्क और अबद्धायुष्क दोनों जीवोंके होते हैं । २. मारणान्तिक समुद्रघात निश्चयसे आगे जहाँ उत्पन्न होता है ऐसे क्षेत्रकी दिशाके अभिमुख होता है । किन्तु अन्य समुद्रघातोंके इस प्रकार एक दिशामें गमनका नियम नहीं है, क्योंकि, उनका दशो दिशाओंमें भी गमन पाया जाता है (दे० समु-द्रघात) । ३. मारणान्तिक समुद्रघातकी लम्बाई उत्कृष्टत अपने उत्पद्यमान क्षेत्रके अन्त तक है, किन्तु इतर समुद्रघातोंका यह नियम नहीं है । दे० पिछला शीर्षक नं० ६) ।

८. मारणान्तिक समुद्रघातमें कौन कर्म निमित्त है

घ. ६/१ ६-२, २८/४७/२ अचत्तसरीरस्स विरगहगईए उजुगईए वा जं गमण त करस फल । ण, तस्स पुव्वखेत्तपरिच्चायाभावेण गमणाभावा । जीवपवेसाणं जो पसरों सो ण णिवकारणो, तस्स आउअसंतफन-

त्तानो । = प्रश्न—पूर्व शरीरको न छोड़ते हुए जीवके विग्रह गतिमें अथवा श्रुजुगतिमें जो गमन होता है, वह किस कर्मका फल है। उत्तर—नहीं, क्योंकि, पूर्व शरीरको नहीं छोड़नेवाले उस जीवके पूर्व क्षेत्रके परित्यागके अभावसे गमनका अभाव है (अतः वहाँ आनुपूर्वी नामकर्म कारण नहीं हो सकता)। पूर्व शरीरको नहीं छोड़नेपर भी जीव प्रदेशोका जो प्रसार होता है, वह निष्कारण नहीं है, क्योंकि, वह आगामी भवसम्बन्धी आयुकर्मके सत्त्वका फल है।

मरण भय—दे० भय ।

मरीचि—१. यह भगवान् महावीर स्वामीका दूरवर्ती पूर्व भव है (दे० वर्धमान) पूर्वभवन० २ में पुरुवा नामक भील था। पूर्वभवन० १ में सौधर्म स्वर्गमें देव हुआ। वर्तमान भवमें भरतकी अनन्तसेना नामक स्त्रीसे मरीचि नामक पुत्र हुआ। इसने परिव्राजक बन ३६३ मिथ्या मतोंकी प्रवृत्ति की। चिरकाल भ्रमण करके त्रिपृष्ठ नामक बलभद्र और फिर अन्तिम तीर्थकर हुआ। (प. पु./३/२६३), (म. पु./६२/५८-६२ तथा ७४/१४, २०, ५१, ५६, १६६, २०४)। २. एक क्रियावादी—(दे० क्रियावादी)।

मरु—१. किंपुरुष जातिका एक व्यन्तर—दे० किंपुरुष ।

मरुत—१. सौधर्म स्वर्गका १२ वॉ पटल—दे० स्वर्ग/६/३। २. एक लौकान्तिकदेव—दे० लौकान्तिक। ३. वायु—दे० वायु।

मरुत चारण—दे० ऋद्धि/४।

मरुदेवी—भगवान् ऋषभनाथकी माता—दे० तीर्थकर/५।

मरुदेव—१२ वें कुलकर—दे० शलाका पुरुष/६।

मरुप्रभ—किंपुरुष जातिका एक व्यन्तर—दे० किंपुरुष ।

मरुभूति—म. पु./७३/१लोक—भरत क्षेत्र पौदनपुर निवासो विश्वभूति ब्राह्मणका पुत्र था। (७-६)। कमठ इसका बडा भाई था, जिसने इसकी स्त्रीपर बलात्कार करनेके हेतु इसे मार डाला। यह मरकर सल्लकी वनमें वज्रघोष नामक हाथी हुआ। (११-१२)। यह पार्श्वनाथ भगवान्का पूर्वका ६ वॉ भव है।—दे० पार्श्वनाथ ।

मर्मस्थान—औदारिक शरीरमें मर्मस्थानोंका प्रमाण—दे० औदारिक/१/७।

मर्यादा—भोजनमें कालगत मर्यादारै—दे० भक्ष्याभक्ष्य/१।

मल—ति प/१/गाथा—दोषिण विद्यम्पा होती हु मलस्स इमं दव्वभावभेएहि । दव्वमलं दुविहएणं बाहिरमवभतरं चैय । १०। सेदमलरेणुक्कदमपहुवीबाहिरमलससुद्धिट्ट । पुणु दिद्धजोवपदेसे णिबधरूवाइ पयडिठिदिआई । ११। अणुभागपदेसाई चउहि पत्तेकभेज्जमाणं तु । णाणावरणप्पहुदी अट्टविह कम्ममखिलपावरयं । १२। अणुतरदव्वमल जीवपदेसे णिबद्धमिदि हेदो । भावमलं णादव्व अणाणदसणादिपरिणापो । १३। अहवा बहुभेयगयं णाणावरणादि दव्वभावमलभेदा । १४। पावमलं ति भण्णह उवचारसरूवरण जीवाण । १५। = द्रव्य और भावके भेदसे मलके दो भेद हैं। इनमेंसे द्रव्यमल भी दो प्रकारका है—बाह्य व अभ्यन्तर । १०। स्वेद, मल, रेणु, कर्दम इत्यादिक बाह्य द्रव्यमल कहा गया है, और दृढ रूपसे जीवके प्रदेशोंमें एक क्षेत्रावगाहरूप बन्धको प्राप्ति, तथा प्रकृति स्थिति अनुभाग व प्रदेश इन चार भेदोंसे प्रत्येक भेदको प्राप्त होनेवाला, ऐसा ज्ञानावरणादि आठ प्रकारका सम्पूर्ण कर्मरूपी पापरज, चूँकि जीवके प्रदेशोंमें सम्बद्ध है, इस हेतुसे वह अभ्यन्तर द्रव्यमल है। भ्रजान अदर्शन इत्यादिक जीवके परिणामोंको भावमल सम्पन्ना चाहिए । ११-१३। अथवा ज्ञानावरणादिक द्रव्यमलके और ज्ञानावरणादिक भावमलके भेदसे मलके

अनेक भेद हैं । १४। अथवा जीवोंके पापको उपचारसे मल कहा जाता है । १७। (ध. १/१.१.१/३२/६) ।

ध. १/१.१.१/३३/२ अथवा अर्थाभिधानप्रत्ययभेदात्त्रिविधं मलम् । उक्तमर्थमलम् । अभिधानमलं तद्वाचक शब्दः । तयोरुत्पन्नबुद्धिः प्रत्ययमलम् । अथवा चतुर्विधं मलं नामस्थापनाद्रव्यभावमलभेदात् । अनेकविधं वा । = अथवा अर्थ, अभिधान व प्रत्ययके भेदसे मल तीन प्रकारका होता है। अर्थमल तो द्रव्य व भावमलके रूपमें ऊपर कहा जा चुका है। मलके वाचक शब्दोंको अभिधानमल कहते हैं। तथा अर्थमल और अभिधानमलमें उत्पन्न हुई बुद्धिको प्रत्ययमल कहते हैं। अथवा नाममल, स्थापनामल, द्रव्यमल और भावमलके भेदसे मल चार प्रकारका है। अथवा इसी प्रकार विवक्षा भेदसे मल अनेक प्रकारका भी है।

२. सम्यग्दर्शनका मल दोष

अन. ध./२/५६/१८३ तदप्यलब्धमाहात्म्यं पाकारसम्यक्त्वकर्मणः । मलिनः मलसङ्गेन शुद्धं स्वर्णमिचोद्भवेत् । १५।

अन. ध./२/६१ में उद्धृत—वेदक मलिनं जातु शङ्काचै र्यत्कलंकयते । = जिस प्रकार शुद्ध भी स्वर्ण चॉदी आदि मलके ससर्गसे मलिन हो जाता है उसी प्रकार सम्यक् प्रकृतिमिथ्यात्व नामक कर्मके उदयसे शुद्ध भी सम्यग्दर्शन मलिन हो जाता है । ५६ (गो.जी./जी.प्र/२५/५१/२२ में उद्धृत) शंका आदि दूषणोंसे कलंकित सम्यग्दर्शनको मलिन कहते हैं।

३. अन्य मलोंका निर्देश

१. शरीरमें मलका प्रमाण — दे० औदारिक/१।
२. मल-मूत्र निक्षेपण सम्बन्धी — दे० समिति/१ में प्रतिष्ठापना समिति ।

४. मल परिषह निर्देश

स. सि./६/६/४२६/४ अप्कायजन्तुपीडापरिहारया मरणादस्नानव्रतधारिणः पटुरविकिरणप्रतापजनितप्रस्वेदावतपवनानीतप्राप्तुनिचयस्य सिध्मकच्छूदद्रुदीर्णं कण्डूयायामुत्पन्नायामपि कण्डूयनविमर्दनसघटनविवर्जितमूर्ते स्वगतमलोपचयपरगतमलोपचयोरसंकल्पितमनसः सज्ज्ञानचारित्र्यमलसलिलप्रक्षालनेन कर्ममलपङ्कनिराकरणाय नित्यमुद्यतमतेर्मलोपीडासहनमाख्यायते । = अप्कायिक जीवोंकी पीडाका परिहार करनेके लिए जिसने मरणपर्यन्त अस्नानव्रत स्वीकार किया है। तीव्र विकरणोंके तापसे उत्पन्न हुए पसीनेमें जिसके पवनके द्वारा लाया गया धूलि संचय चिपक गया है। सिमध, दाद और खाजके होनेपर भी जो खुजलाने, मर्दन करने और दूसरे पदार्थसे घिसनेरूप क्रियासे रहित है। स्वगत मलका उपचय और परगत मलका अपचय होनेपर जिसके मनमें किसी प्रकार विकल्प नहीं होता, तथा सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र्यरूपी विमल जलके प्रक्षालन द्वारा जो कर्ममलपंकको दूर करनेके लिए निरन्तर उद्यतमति है, उसके मलपीडासहन कहा गया है। (रा. वा./६/६/२३/६१/३३), (चा. सा./१२५/६)।

मलद—भरत क्षेत्रमें पूर्व आर्यखण्डका एक देश—दे० मनुष्य/४।

मलय—१. भरतक्षेत्रमें मध्य आर्यखण्डका एक पर्वत—दे० मनुष्य/४।

२. मद्रास प्रेजिडेन्सीका मलाया प्रदेश (कुरलकाव्य/प्र. २१)।

मलयगिरि—प्रसिद्ध श्वेताम्बर टीकाकार । —दे० परिशिष्ट ।

मलौषध—दे० ऋद्धि/७।

मल्ल—भरतक्षेत्रमें पूर्व आर्यखण्डका एक देश ।—दे० मनुष्य/४।

मल्लघारी देव—१. नन्दि संघके देशीयगणकी नय कीतिशास्त्रमें श्रीधरदेव के शिष्यतथा चन्द्रकीर्तिके गुरु थे। समय—वि १०७५-११०५ (ई० १०१५-१०४५)—दे० इतिहास/७/५। २. मल्लिषेणकी उपाधि थी। (विशेष दे० मल्लिषेण/२)। ३. नियमसारकी टीकाके रचयिता पद्मप्रभकी उपाधि थी।—दे० पद्मप्रभ। ४. आ० बालचन्द्रकी उपाधि थी।—दे० बालचन्द्र।

मल्लवादी—२. द्वादशार नयचक्र (प्रथम) के कर्ता एक आचार्य। समय—वि स. ४१४ (ई० ३५७), (जै./२/३३०)। २. एक तार्किक श्वेताम्बरगचार्य थे। आ. विद्यानन्दिके समक्ष जी नयचक्र विद्यमान था वह सम्भवत इन्हींकी रचना थी। इनके नयचक्रपर उप० यशोभद्रजीने टीका लिखी है। कृतियाँ—नयचक्र, सन्मति टीका। समय—वि, श. ५-६ (ई० श. ५ का अन्त); (न. च./प्र. २/प्रीमीजी)।

मल्लिनाथ—(म, पु./६६/श्लोक) पूर्व भवनं २ में कच्छकावती देशके नीतशोक नगरके राजा वैश्रवण थे। (२)। पूर्व भवनं. १ में अपराजित विमानमे अहमिन्द्र थे। (१४-१६)। (युगपत् सर्वभवं—दे० ६६/६६)। वर्तमान भवमें १६ वे तीर्थकर हुए—दे० तीर्थकर/१।

मल्लिनाथ चारित्र—आ, सकलकीर्ति (ई० १४०६-१४४२) कृत ८७४ श्लोकप्रमाण संस्कृत रचना। (ती./३/३३१)।

मल्लिभूपाल—विजयकीर्ति (ई. श. १६) को सम्मानित करने वाले कनारा जिले के सालुब नरेश। (जै./२/४७३)।

मल्लिभूषण—नन्दि संघके बलात्कार गणकी सूरत शास्त्रा मे विद्यानन्दि न २ के शिष्य तथा श्रुतसागरके सहधर्मा और लक्ष्मी-चन्द्र व ब्र. नेमिदत्तके गुरु थे। समय—वि, १५३८-१५६६ (ई. १४८१-१४६६)—दे० इतिहास/७/४। (ती./३/३७३)।

मल्लिषेण—१. महापुराण, नागकुमार महाकाव्य तथा सज्जन चित्तवर्लभके कर्ता, उभय भाषा विशारद एक कवि(भट्टशरव)। समय—वि ११०४ (ई. १०४७)। (म. पु./प्र. २०/प पन्ना लाल; (स. म/प्र. १५/प्रीमीजी)। २. एक प्रसिद्ध मन्त्र तन्त्रवादी भट्टारक। गुरु परम्परा—अजितसेन, कनकसेन, जिनसेन, मल्लिषेण। नरेन्द्रसेन के लघु गुरु भ्राता। नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती ने इन्हें भवनगुरु कहा है। कृतियाँ—भैरव पद्मावती कल्प, सरस्वती मन्त्र कल्प, ज्वालानी कल्प, कामचाण्डाली कल्प, बज्र पञ्जर विधान, प्रवचनसार टीका, पचास्तिकाय टीका, ब्रह्म विद्या। समय—डा, नेमिचन्द्र नं १ व २ को एक व्यक्ति मानते हैं। अत उनके अनुसार शक ६६६ (ई. १०४७)। (ती./३/३७३)। परन्तु प. पन्ना लाल तथा प्रेमीजी के अनुसार शक १०५० (ई ११२८)। (दे. उपर्युक्त सन्दर्भ)। ३. स्याद्वाद मञ्जरी तथा महापुराण के रचयिता एक निष्पक्ष श्वेताम्बर आचार्य जो स्त्री मुक्ति आदि विवादारूपद चर्चाओं में पडना पसन्द नहीं करते। समय—शक १२१४ (ई. १२६२)। (स. म/प्र. १६/जगदीश चन्द)।

मल्लिषेण प्रशस्ति—श्रवणवेलगोलाका शिलालेख न. ५४ मल्लिषेण प्रशस्तिके नामसे प्रसिद्ध है। समय—श. सं १०५० (ई. ११२८) (यु. अनु./प्र. ४१/प. जुगल किशोर मुख्तार)।

मशक परिषद्—दे० दंश परिषद्।

मसिकर्म—दे० सावद्य/३।

मस्करि गोशाल—बौद्धके महा परिनिर्वाण सूत्र, महावग्ग और दिव्यावदान आदि ग्रन्थोंके अनुसार ये महात्मा बुद्धके समकालीन तीर्थकरोंमेंसे एक थे। (द. सा./प्र. ३२/प्रीमीजी)।

भा. सं/१७६-१७६ मस्यरि-पूरणरिसिणो उप्पण्णो पासणाहत्तिथम्मि। सिरिवीरसमवसरणे अगहियभुणिणा नियत्तेण। १७६। बहिणिग्गएण उत्तं मज्झ एयारसागघारिस्स। णिग्गइ भुणी ण, अरुहो णिग्गय विस्साससीस्स। १७७। ण मुणह जिणकहियसुयं सपइ दिवखाय गहिय गोयमओ। विप्पो बैयम्भासी तम्हा मोभलं ण णाणाओ। १७८। अणणाओ मोक्खं एव लोयाण पयडमाणो हु। देवो अ णत्थि कोई मुणं भाएह इच्छाए। १७९। = पार्वनाथके तीर्थमें मस्करि-पूरण ऋषि उत्पन्न हुआ। वीर भगवान्के समवशरणमें योग्यपात्रके अभावमें जब दिव्य ध्वनि न खिरी, तब उसने बाहर निकलकर कहा कि मैं ग्यारह अंगका ज्ञाता हूँ, तो भी दिव्यध्वनि नहीं हुई। पर जो जिनकथित श्रुतको ही नहीं मानता है और जिसने अभी हाल ही में दीक्षा ग्रहण की है ऐसा वेदाभ्यासी गौतम (इन्द्रभूति) इसके लिए योग्य समझा गया। अत जान पडता है कि ज्ञानसे मोक्ष नहीं होता है। वह लोगोंपर यह प्रगट करने लगा कि अज्ञानसे ही मोक्ष होता है। देव या ईश्वर कोई है ही नहीं। अत स्वेच्छापूर्वक शून्यका ध्यान करना चाहिए।

मस्करि पूरन— दे० पूरन कश्यप।

मस्तक—भरतक्षेत्रमें पूर्व आर्यखण्डका एक देश—दे० मनुष्य/४।

मस्तिष्क—औदारिक शरीरमें मस्तिष्कका प्रमाण—दे० औदारिक/१/७।

मह—याग, यज्ञ, क्रतु, पूजा, सपर्या, इज्या, अध्वर, मख और मह ये पर्यायवाची नाम हैं।—दे० पूजा/१/१।

महत्तर—त्रि सा./६५३/टीका—महत्तर कहिए कुल त्रिषै बडा।

महत्ता—Magnitude (ज प/प्र १०७)।

महाकच्छ—पूर्वविदेहका एक क्षेत्र—दे० लोक/७।

महाकच्छा—पूर्वविदेहस्थ पञ्चकूट वक्षारका एक कूट व उसका रक्षक देव—दे० लोक/५/२।

महाकक्ष—विजयार्थकी दक्षिणश्रेणीका एक नगर—दे० विद्याधर।

महाकल्प—द्वादशांग श्रुतज्ञानका ११वाँ अंगवाद्य—दे० श्रुतज्ञान/III।

महाकाल—१. पिशाच जातीय एक व्यन्तर—दे० पिशाच। २. एक ग्रह—दे० ग्रह। ३. दक्षिण कालोद समुद्रका रक्षक देव—दे० व्यन्तर। ४। ४ चक्रवर्तीकी नव निधियोंमेंसे एक—दे० शलाका पुरुष/२। ६. षष्ठ नारद—दे० शलाका पुरुष/६।

महाकाली—१. भगवान् श्रेयासकी शासक यक्षिणी—दे० तीर्थकर/५। एक विद्या— दे० विद्या।

महाकूट—विजयार्थकी दक्षिण श्रेणीका एक नगर—दे० विद्याधर।

महाकौशल—मध्यप्रदेश। अपर नाम सुकौशल (म. पु./प्र./४८। पं. पद्मालाल)।

महाखर—असुरकुमार जातीय एक भवनवासी देव—दे० असुर।

महागंध—उत्तर नन्दीश्वरद्वीपका रक्षक देव—दे० भवन/४।

महागौरी—एक विद्या— दे० विद्या।

महाग्रह—दे० ग्रह।

महाचंद्र—शान्तिनाथचरित्रके रचयिता एक दि. साधु। समय— वि १५८७।

महाज्वाल—विजयार्थकी उत्तरश्रेणीका एक नगर—दे० विद्याधर।

महातनु—महोरग जातीय एक व्यन्तर—दे० महोरग।

महातप ऋद्धि—दे० ऋद्धि/५।

महातमः प्रभा—१. स. सि./३/१/२०३/६ महातम प्रभासहचरिता भूमिर्महातमः प्रभा इति=जिसकी प्रभा गाढ अन्धकारके समान है वह महातम प्रभाभूमि है। (ति. प./२/२१)। (रा. वा./१/३/३/१५६/१६)। (विशेष दे० तमः प्रभा)। २. इसका अपर नाम माधवी है। इसका आकार अवस्थान आदि—दे० नरक/५/११।

महात्मा—प्र. सा./ता. वृ./६२/११६/१५—मोक्षलक्षणमहार्थसाधकत्वेन महात्मा।—मोक्ष लक्षणवाले महाप्रयोजनको साधनेके कारण भ्रमणको महात्मा कहते हैं।

महादेह—विशाच जातीय एक व्यन्तर—दे० व्यन्तर।

महापद्म—१. महाहिमवान् पर्वतका एक हृद जिसमेंसे रोहित व रोहितास्या ये दो नदियाँ निकलती हैं। ही देवी इसकी अधिष्ठात्री है।—दे० लोक/३/६। २. अपर विदेहका एक क्षेत्र।—दे० लोक/५/२। ३. विकृतवान् वक्षारका एक कूट—दे० लोक/५/४४। कुण्डपर्वतके सुप्रभ-कूटका रक्षक एक नागेन्द्र देव—दे० लोक/५/१२५। कुरुवशकी वंशावलीके अनुसार यह एक चक्रवर्ती थे जिनका अपर नाम पद्म था—दे० पद्म। ६. भावी कालके प्रथम तीर्थकर—दे० तीर्थकर/५। ७. म. पु. १५५। श्लोक—पूर्वी पुष्करार्थके पूर्व विदेहमें पुष्कलावती देशका राजा था (२-३)। धनपद नामक पुत्रको राज्य दे दीक्षा धारण की। (१६-१६)। ग्यारह अंगधारी होकर तीर्थकर प्रकृतिका बन्ध किया। समाधिमरणकर प्राणतस्वर्गमें देव हुआ। (१६-२२)। यह सुविधिनाथ भगवात्का पूर्वका भव नं २ है।—दे० सुविधिनाथ।

महापुंडरीक—१. द्वादशभाग श्रुतका १३वाँ अंग बाह्य—दे० श्रुत-ज्ञान/III। २. रुक्मिण पर्वतपर स्थित एक हृद जिसमेंसे नारी और रूपकुला ये दो नदियाँ निकली हैं। बुद्धि नामक देवी उसकी अधिष्ठात्री है—दे० लोक/३/६।

महापुर—१. भरतक्षेत्रका एक नगर—दे० मनुष्य/४। २. विजयार्थकी उत्तरश्रेणीका एक नगर—दे० विद्याधर।

महापुराण—आ. जिनसेन द्वि. (ई. ८१८-८७८) कृत कलापूर्ण संस्कृत काव्य जिसे इनकी मृत्यु के पश्चात् इनके शिष्य आ. गुणभद्र ने ई. ८६८ में पूरा किया। जिनसेन वाले भाग का नाम आदि पुराण है जिसमें भगवान् ऋषभ तथा भरत बाहुबली का चरित्र चित्रित किया गया है। इसमें ४७ पर्व तथा १५००० श्लोक हैं। गुणभद्र वाले भाग का नाम उत्तर पुराण है जिसमें शेष २३ तीर्थकरों का उल्लेख है। इसमें २६ पर्व और ८००० श्लोक हैं। दोनों मिलकर महापुराण कहलाता है। दे. आदि पुराण तथा उत्तर पुराण २, कवि पुष्पदन्त (ई. ६६५) कृत उपयुक्त प्रकार दो खण्डों में विभक्त अपभ्रंश महाकाव्य। अपर नाम 'तीसठि महापुरिणालंकार'। दोनों में ८० + ४२ सन्धि और २०,००० श्लोक हैं। (ती./४/११०)। ३. मन्त्रिलेख (ई. १०४७) कृत २००० श्लोक प्रमाण तैरसठ शलाका पुरुष चरित्र। (ती./३/१७४)। रचा था।

महापुरी—अपर विदेहके महापद्म क्षेत्रकी प्रधान नगरी—दे० लोक/५/१२।

महापुरुष—किपुरुष जातीय एक व्यन्तर—दे० किपुरुष।

महाप्रभ—१. उत्तर घृतवर द्वीपका रक्षक देव—दे० व्यन्तर। ४। २. घृतवर समुद्रका रक्षक देव—दे० व्यन्तर। ४। ३. कुण्डल पर्वतका

महाबंध—षट्खण्डागम का अन्तिम खण्ड। (दे० परिशिष्ट)।

महाबल—१. असुर जातीय एक भवनवासी देव—दे० असुर। २. (म. पु./सर्ग/श्लोक)—राजा अतिबलका पुत्र था। (४/१३३)।

राज्य प्राप्त किया। (४/१५६)। जन्मोत्सवके अवसरपर अपने मन्त्री स्वयंबुद्ध द्वारा जीवके अस्तित्वकी सिद्धि सुनकर आस्तिक हुआ (५/८७)। स्वयं बुद्ध मन्त्रीको आदित्यगति नामक मुनिराजने बताया था कि ये दसवें भवमें भरतक्षेत्रके प्रथम तीर्थकर होंगे। (५/२००)। मन्त्रीके मुखसे अपने स्वप्नोके फलमें अपनी आयुका निकटमें क्षय जानकर समाधि धारण की। (५/२२६, २३०)। २२ दिनकी सल्लेखना-पूर्वक शरीर छोड़ (५/२४८-२५०)। ईशान स्वर्गमें ललितग नामक देव हुए। (५/२५३-२५४)। यह ऋषभदेवका पूर्व भव नं. ६ है—दे० ऋषभदेव। ३. म. पु./५/श्लोक—मंगलावती देशका राजा था। (२-३)। विमलवाहन मुनिसे दीक्षा ले ११. अंगका पाठी हो तीर्थकर प्रकृतिका बन्ध किया। (१०-१२)। समाधिमरणपूर्वक विजय नामक अनुत्तर विमानमें अहमिन्द्र हुआ। (१३)। यह अभिनन्दननाथ भगवात्का पूर्व भव न. २ है। ४. (म. पु./६०/श्लोक) पूर्व विदेहके नन्दन नगरका राजा था। (६५)। दीक्षाधार। (६९)। संन्यास मरण पूर्वक सहस्रार स्वर्गमें देव हुआ। (६२)। यह सुप्रभ नामक बलभद्रका पूर्व भव नं. २ है। ५. नेमिनाथपुराणके रचयिता एक जैन कवि। समय—(ई. १२४२)—(वरांगचरित्र/प्र. २३/पं. खुशालचन्द)

महाभारत—१. रामाकृष्ण द्वारा संशोधित 'इक्ष्वाकु वंशावली' में महाभारत युद्धका काल ई. पू. १५५० बताया गया है। (भारतीय इतिहास/पु. १/पृ. २८६)। २. महाभारत युद्धका वृत्तान्त—दे. ह. पु./सर्ग ४५-४६, सर्ग ४७/१-१६; तथा सर्ग ५४)।

महाभिषेक—वं. आशाधरजी (ई. ११७३-१२४३) कृत 'निरय महोद्योत' पर आ. श्रुतसागर (ई. १४८९-१४६६) कृत महाभिषेक नामक एक टीका ग्रन्थ।

महाभीम—१. राक्षस जातीय एक व्यन्तर—दे० राक्षस। २. द्वि. नारद—दे० शलाका पुरुष/६।

महाभुज—कुण्डल पर्वतके कनकप्रभ कूटका रक्षक एक नागेन्द्र देव—दे० लोक/७।

महाभूत—भूत जातीय एक व्यन्तर—दे० भूत।

महामंडलीक—राजाओंमें एक ऊँची श्रेणी—दे० राजा।

महामति—(म. पु./सर्ग/श्लोक)—महाबल भगवात् ऋषभ देवका पूर्व भव नं. १। (५/२००)। का मन्त्री था। मिथ्यादृष्टि था। (४/१६१-१६२)। इसने राजाके जन्मोत्सवके अवसरपर उसके मन्त्री स्वयंबुद्धके साथ विवाद करते हुए चावक मतका आलम्बन लेकर जीवतत्त्वकी सिद्धिमें दूषण दिया था। (५/२६-२८)। मरकर निर्गोदमें गया। (१०/७)।

महामत्स्य—दे० संसूचर्चन।

महामह—दे० पूजा।

महामात्य—त्रि. सा./टी./५८३ महामात्य कहिए सर्व राज्यकार्यका अधिकारी।

महामानसी—१. भगवान् कुन्धनाथकी शासक यक्षिणी—दे० तीर्थ-कर/५/३। २. एक विद्या—दे० विद्या।

महायक्ष—भगवान् अजितनाथका शासक यक्ष—दे० तीर्थकर ५/३।

महायान—एक बौद्ध सम्प्रदाय—दे० बौद्धदर्शन।

महायोजन—क्षेत्रका एक एक प्रमाण—दे० गणित/II/१।

महाराजा—राजाओंमें एक श्रेणी—दे० राजा।

महाराष्ट्र—कृष्णानदीसे नर्मदा नदी तकका क्षेत्र (म. पु./प्र.४६/पं. पत्रालाल)।

महारुद्र—१. एक ग्रह—दे० ग्रह। २. चतुर्थ नारद दे० शलाका-पुरुष/६।

महालतांग—कालका एक प्रमाण—दे० गणित/1/१/४।

महालता—कालका एक प्रमाण—दे० गणित/1/१/४।

महावत्सा—१. पूर्व विदेहका एक क्षेत्र—दे० लोक/५/२। २. वैश्रवण बक्षारका एक कूट व देव—दे० लोक/५/४।

महावप्र—१. अपर विदेहका एक क्षेत्र—दे० लोक/५/२। २. सूर्यगिरि बक्षारका एक कूट व उसका रक्षक देव—दे० लोक/५/४।

महावीर—१. प्रथम दृष्टिसे भगवान्की आयु आदि

घ. १/४, १, ४४/१२० पण्णारहदिवसेहि अट्ठहि मासेहि य अहियं पच-हत्तरिवासावसेसे चउत्थकाले ७५-८-१५ पुण्णुत्तरविमाणादो आसाढ-जोणपवखळट्ठीए महावीरो बाहात्तरिवासाउओ तिणाणहरो गम्भ-मोइण्णो। तत्थ तीसवसाणि कुमारकालो, वारसवसाणि तस्स छदुमत्थकालो, केवलिकालो वि तीस वसाणि, एवेसि तिण्ह कालाणं समासो बाहत्तरिवासाणि। = १५ दिन और ८ मास अधिक ७५ वर्ष चतुर्थ कालमें शेष रहनेपर पुण्णोत्तर विमानसे आषाढ शुक्ला षष्ठीके दिन ७२ वर्ष प्रमाण आयुसे युक्त और तीन ज्ञानके धारक महावीर भगवात् गर्भमें अवतीर्ण हुए। इसमें ३० वर्ष कुमारकाल, १२ वर्ष उनका छदुमत्थकाल और ३० वर्ष केवलिकाल इस प्रकार इन तीनों कालोका योग ७२ वर्ष होता है। (क. पा. १/१, १/१/५६/७४/६)।

२. दिव्यध्वनि या शासनदिवसकी तिथि व स्थान

घ. १/१, १, १/गा. ५२-५७/६१-६३ पंचसेलपुरे सम्मे विउत्ते पव्वदुत्तमे। ...। ५२। महावीरेणत्थो कहिओ भवियल्लोयस्स। ...इम्मिस्से वसि-प्पिणीए चउत्थ-समयस्स पच्छिमे भाए। चोत्तीसवाससेसे किंचि विसेसूणए संते। ५५। वासस्स पढममासे पढमे पव्वखम्मिह सावणे बहुले। पाडिवदपुव्वदिवसे तित्थुप्पत्ती दु अमिजिम्मिह। ५६। सावण बहुलपडिवदे रुद्धसुहुत्ते सुहोदए रविणो। अमिजिस्स पढमजोए जत्थ जुगादी सुणेयव्वो। ५७। = पचशैलपुरमें (राजगृहमें) रम-णीक, विपुल व उत्तम, ऐसे विपुलाचल नामके पर्वतके ऊपर भगवात् महावीरने भय्य जीवोको उपदेश दिया। ५२। इस अवसर्पिणी कल्पकालके दुषमा सुषमा नामके चौथे कालके पिछले भागमें कुछ कम ३४ वर्ष बाकी रहनेपर, वर्षके प्रथममास अर्थात् श्रावण मासमें प्रथम अर्थात् कृष्णपक्ष प्रतिपदाके दिन प्रातः-कालके समय आकाशमें अभिजित् नक्षत्रके उदित रहनेपर तीर्थ-की उत्पत्ति हुई। ५५-५६। श्रावणकृष्ण प्रतिपदाके दिन रुद्धसुहुत्तमें सूर्यका क्षुभ उदय होनेपर और अभिजित् नक्षत्रके प्रथम योगमें जब युगकी आदि हुई तभी तीर्थकी उत्पत्ति सम्भूना चाहिए। (घ. १/४, १, ४४/गा. २६/१२०), (क. पा. १/१, १/१/५६/गा. २०/७४)।

घ. १/४, १, ४४/१२०/६ छासट्ठदिवसावणयणं केवलकालम्मि किमदुं करिदे। केवलगाणे समुप्पण्णे वि तत्थ तित्थाणुप्पत्तीदो। = केवल-ज्ञानकी उत्पत्ति हो जानेपर भी ६६ दिन तक उनमें तीर्थकी उत्पत्ति नहीं हुई थी, इसलिए उनके केवलीकालमें ६६ दिन कम किये जाते हैं। (क. पा. १/१, १/१/५७/७५/६)।

३. द्वि० दृष्टिसे भगवान्की आयु आदि

घ. १/४, १, ४४/टीका व गा. ३०-४१/१२१-१२६ अण्णे के वि आइरिया पंचहि दिवसेहि अट्ठहि मासेहि य ऊणाणि बाहत्तरि वासाणि त्ति वड्डमाणजिणिदाउअ परुवेति ७१-३-२५। तैसिमहिप्पाएण गम्भत्थ-कुमार-छदुमत्थ-केवल-कालाण परुवणा करिदे। तं जहा- (पृष्ठ १२१/५)। आसाढजोणपवखे छट्ठीए जोणिमुवपादो। गा. ३१। अच्छित्ता णवमासे अट्ठ य दिवसे चइत्तसियपवखे। तेरिए रत्तीए जाकुत्तरफगुणीए दु। गा. ३३। अट्ठावीसं सत्त य मासे दिवसे य वारसयं। गा. ३४। आहिणिबोहियबुद्धो छट्ठेण य मग्गसीसबहुले दु। दसमीए णिवत्तो सुरमहिदो णिवत्तमण-पुज्जो। गा. ३५। गमह् छदुमत्थत्तं वारसवासाणि पंच मासे य। पण्णारसाणि दिण्णाणि य तिरयणसुद्धो महावीरो। गा. ३६। वड्ड-साहजोणपवखे दसमीए खवगसेड्डिमारुद्धो। हंतूण घाडकम्मं केवल-णाण समावण्णो। गा. ३८। वासाणुणत्तीसं पच य मासे य बीस-दिवसे य। गा. ३९। पाच्छा पावाणयरे कत्तियमासे य किण्हचो-दसिए। सादीए रत्तीए सेसरयं छेत्तु णिव्वाओ। गा. ४०। परिणिव्वुदे जिणिदे चउत्थकालस्स जं भवे सेसं। वासाणि तिण्णि मासा अट्ठ य दिवसा वि पण्णरसा। गा. ४१। एद काल वड्ड-माणजिणिदाउअम्मि पवखत्ते दसदिवसाहियपंचहत्तरिवासमेत्ताव-सेसे चउत्थकाले सग्गादो वड्डमाणजिणिवस्स ओदिण्णकालो होदि। = अन्य कितने ही आचार्य भगवान्की आयु ७१ वर्ष ३ मास २५ दिन बताते हैं। उनके अभिप्रायानुसार गर्भस्थ, कुमार, छदुमत्थ और केवलज्ञानके कालोकी प्ररूपणा करते हैं। वह इस प्रकार कि—गर्भवतार तिथि=आषाढ शु. ६; गर्भस्थकाल=६ मास-८ दिन, जन्म-तिथि व समय=चैत्र शु १३ की रात्रिमें उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र, कुमारकाल=२८ वर्ष ७ मास १२ दिन; निष्क्रमण तिथि=मगसिर कृ. १०, छदुमत्थकाल=१२ वर्ष ५ मास १५ दिन; केवल-ज्ञान तिथि=वैशाख शु १०, केवलीकाल=२६ वर्ष ५ मास २० दिन, निर्वाण तिथि=कार्तिक कृ. १५ में स्वाति नक्षत्र। भगवात् के निर्वाण होनेके पश्चात् शेष बचा चौथा काल=३ वर्ष ८ मास १५ दिन। इस कालको वर्षमान जितेन्द्रकी आयुमें मिला देनेपर चतुर्थकालमें ७५ वर्ष १० दिन शेष रहने पर भगवात्का स्वर्गवितरण होनेका काल प्राप्त होता है। (क. पा. १/१-१/१/५८-६२/टीका व गा. २१-३१/७६-८१)।

४. भगवान्की आयु आदि सम्बन्धी दृष्टिभेदका समन्वय

घ. १/४, १, ४४/१२६/५ दोसु वि उवसेसु को एत्थ समजसो, एत्थ ण बाहह जिम्भमेलाइरियवच्छओ; अलद्धोवदेसत्तादो दोण्णमेवकस्स बाहाणुवलभादो। किंतु दोसु एवकेण होदत्तं। त जाणिय वत्तव्व। = उक्त दो उपदेशोंमेंसे कौन-सा उपदेश यथार्थ है, इस विषयमें एलाचार्यका शिष्य (वीरसेन स्वामी) अपनी जीभ नहीं चलाता, क्योंकि, न तो इस विषयका कोई उपदेश प्राप्त है और न दोनोमेंसे एकमें कोई बाधा ही उत्पन्न होती है। किन्तु दोनोमेंसे एक ही सत्य होना चाहिए। उसे जानकर कहना उचित है। (क. पा. १/१-१-१/१/६३/८१/१२)।

★ वीर निर्वाण संवत् सम्बन्धी—दे० इतिहास/२।

५. भगवान्के पूर्व सर्वोका परिचय

म. पु./७४/श्लोक नं. "दुस्वतीं पूर्वभव नं, १ में पुरुरवा भील थे। १४-१६। नं २ में सौधर्म स्वर्गमें देव हुए। २०-२२। नं. ३ में भरत का पुत्र मरीचि कुमार। २१-६६। नं ४ में ब्रह्म स्वर्गमें देव। ६७। नं. ५ में जटिल ब्राह्मणका पुत्र। ६८। नं. ६ में सौधर्म स्वर्गमें देव। ६९।

जेनेन्द्र सिद्धान्त कीश

नं. ७ में पुष्यमित्र ब्राह्मणका पुत्र ७७। नं ८ में सौधर्म स्वर्गमें देव ७७-७३। न ९ में अग्निसह ब्राह्मणका पुत्र ७७। न. १० में ७ सागरकी आयुवाला देव ७५। नं ११ में अग्निमित्र ब्राह्मणका पुत्र ७६। नं १२ में माहेन्द्र स्वर्गमें देव ७६। न. १३ में भारद्वाज ब्राह्मणका पुत्र ७७। न. १४ में माहेन्द्र स्वर्गमें देव ७८। तत्पश्चात् अनेकों त्रस स्थावर योनियोंमें असख्यातो वर्ष भ्रमण करके वर्तमानसे पहले पूर्वभव नं. १८ में स्थावर नामक ब्राह्मणका पुत्र हुआ ७९-८३। पूर्वभव न. १७ में महेन्द्र स्वर्गमें देव ८५। पूर्वभव न. १६ में विश्वनन्दी नामक राजपुत्र हुआ ८६-११७। पूर्वभव नं १५ में महाशुक स्वर्गमें देव ११८-१२०। पूर्वभव न. १४ में त्रिपुष्ट नारायण १२०-१६७। पूर्वभव न. १३ में सप्तम नरकका नारकी १६७। पूर्वभव न. १२ में सिंह १६६। पूर्वभव न. ११ में प्रथम नस्कका नारकी १७०। पूर्वभव नं. १० में सिंह १७१-२२६। पूर्वभव नं ९ में सिंहकेतु नामक देव १२६। पूर्वभव न. ८ में कनकोज्ज्वल नामक विद्याधर १२०-२२६। पूर्वभव नं. ७ में सप्तम स्वर्गमें देव १२३०। पूर्वभव नं. ६ में हरिषेण नामक राजपुत्र १२३२-२३३। पूर्वभव नं. ५ में महाशुक स्वर्गमें देव १२३४। पूर्वभव नं. ४ में प्रियमित्र नामक राजपुत्र १२३४-२४०। पूर्वभव नं. ३ में सहस्रार स्वर्गमें सूर्यप्रभ नामक देव १२४१। पूर्वभव नं. २ में नन्दन नामक सज्जनपुत्र १२४२-२५१। पूर्वभव नं. १ में अच्युत स्वर्गमें अहमिन्द्र १२४६। वर्तमान भवमें २४ वे तीर्थंकर महावीर हुए १२५१। (युगपत् सर्वभव - दे० म. पु./७६/४३४)।

* मगवान्के कुल, संघ आदिका विशेष परिचय—दे० तीर्थंकर/५।

महावीर पुराण—१. आ. शुभचन्द्र (ई १५१६-१५६६) द्वारा रचित संस्कृत छन्द-बद्ध एक ग्रन्थ। इसमें २० अध्याय हैं। २. आ. सकलकीर्ति (ई. १४०६-१४४२) की एक रचना।

महावीराचार्य—आप राजा अमोघवर्ष प्रथमके परम मित्र थे। दानो साथ-साथ रहते थे। पीछेसे आपने दीक्षा ले ली थी। कृति—गणितसार सग्रह। ज्योतिष, पटल। समय—अमोघवर्ष के अनुसार शक ७३० (ई. ८००-८३०)। (ती/२/३४)।

महाव्रत—दे० व्रत।

महाशंख—लवण समुद्रमें स्थित एक पर्वत—दे० लोक/५/६।

महाशिरा—कुण्डल पर्वतके कनक कूटका रक्षक देव—दे० लोक/५/१२।

महाशुक—१ स्वर्गोंमें १०वें कल्प—दे० स्वर्ग/३।
२ शुक स्वर्गका एक पटल व इन्द्रक—दे. स्वर्ग/२।

महाश्वेता—एक विद्या—दे० विद्या।

महासंघिक—एके बौद्ध सम्प्रदाय—(दे० बौद्धदर्शन)।

महासत्ता—सर्व पदार्थोंका अस्तित्व सामान्य—दे० अस्तित्व।

महासर्वतोभद्र—एक व्रत—दे० सर्वतोभद्र।

महासेन—१. भोजक वृष्णिका पुत्र उग्रसेनका भाई—(ह. पु./१५/१६)। २. यादववंशी कृष्णका दसवाँ पुत्र—दे इतिहास/७/१०।
३. मुलोचनाचरित्रके रचयिता एक दिगम्बराचार्य। समय—(ई० श. ८ का अन्तर्द का पूर्व), (ह. पु./प्र. ७/पं, पन्नालाल)।

महास्कन्ध—सर्व व्यापक पुद्गल द्रव्य सामान्य—दे० स्कन्ध/१०।

महास्वर—गन्धर्व जातीय एक व्यन्तर—दे० गन्धर्व।

महाहिमवान—१. हैमवत क्षेत्रके उत्तर दिशामें स्थित पूर्वापर

लम्बायमान वर्षधर पर्वत। अपरनाम पचशिखरी है। इसका नकशा आदि—दे० लोक/३,५/३।

रा. वा/३/११/३/१२/२६ हिमाभिस्वन्धाद्रिमवदभिधानम्, महा-श्चासी हिमवांश्च महाहिमवानिति, असम्प्रपि हिमे हिमवदाख्या इन्द्रगोपवत्।—हिमके सम्बन्धसे हिमवात् संज्ञा होती है। महान् अर्थात् बड़ा है और हिमवात् है, इसलिए महाहिमवात् कहलाता है। अथवा हिमके अभावमें भी 'इन्द्रगोप' इस नामकी भाँति रूढ़िसे इसे महाहिमवात् कहते हैं। २. महाहिमवात् पर्वतका एक कूट व उसका स्थायी देव—दे० लोक/५/४; ३. कुण्डलपर्वतके अकप्रभकूटका स्वामी नागेन्द्र देव—दे० लोक/५/१२।

महिमा—१. आन्ध्रदेशके अन्तर्गत वेणा नदीके किनारे पर स्थित एक प्राचीन नगर। आज वेण्या नामकी नदी बम्बई प्रान्तके सितारा जिलेमें है और उसी जिलेमें महिमानगड नामका एक गाँव भी है। सम्भवतः यह महिमानगड ही वह प्राचीन महिमा नगरी है, जहाँ कि अर्द्धद्विज आचार्यने यति-सम्मेलन किया था और जहाँसे कि धरसेन आचार्यके पत्रके अनुसार पुष्पदन्त व भूतबली नामके दो साधु उनकी सेवामें गिरनार भेजे गये थे। इसका अपर नाम पुष्पवर्धन भी है। (ध. १/प्र ३१/H.L. Jain)। २. भरत क्षेत्र पश्चिम आर्यखण्डका एक देश—दे० मनुष्य/४। ३. एक विक्रिया ऋद्धि—दे० ऋद्धि/३।

महिष—मध्य आर्यखण्डका एक देश—दे० मनुष्य/४।

महिषग—दक्षिण देशका वर्तमान मैसूर प्रान्त। (म. पु./प्र. ५०/पं, पन्नालाल)।

महिषमति—नर्मदा नदी पर स्थित एक नगर—दे० मनुष्य/४।

महीदेव—मूल संघकी गुर्वबलीके अनुसार आप अकलंक भट्टके शिष्य थे। समय—(ई. ६६५-७०५)। (दे० इतिहास/७/१)। (सि. वि./प्र. ७/पं, महेंद्र कुमार)।

महीपाल—१. म. पु./७३/श्लोक—महीपाल नगरका राजा तथा भगवात् पार्वनाथका नाना था। ६६। महादेवीके विद्योगमें पंचाग्नि तप तपता था। कुमार पार्वनाथसे योग्य विनय न पानेपर क्रुद्ध हुआ। कुमार द्वारा बताया जाने पर उनकी सत्यताकी परीक्षा करनेके लिए जलती हुई लकड़ीको कुहाड़ीसे चीरा तो वास्तवमें ही वहाँ सर्पका जोड़ा देखकर चकित हुआ। यह कमठका जीव था तथा भगवात्के जीवसे वैर रखता था। शक्यसाहित मरणकर शम्बर नामक ज्योतिष देव बना, जिसने तप करते हुए भगवात्पर घोर उपसर्ग किया। ६७-११७। यह कमठका आगेका आठवाँ भव है। २. प्रतिहार वंशका राजा था। मडवाण प्रान्तमें राज्य करता था। धरणी वराह इसका अपर नाम था। समय—(श. सं ८३६, वि. सं, ६७१ (ई. ६९४), (ह. पु./प्र. ६/प, पन्नालाल)।

महीशुर—दक्षिण देशका वर्तमान मैसूर नगर। (म. पु./प्र. ५०/प, पन्नालाल)।

महेंद्र—प. पु./१५/१३-१६—महेंद्रगिरिका राजा तथा हनुमात्की माता अंजनाका पिता था।

महेंद्र देव—तत्त्वानुशासनके रचयिता आ नागसेन(ई. १०४७)के शिक्षागुरु थे। नागसेनके समयके अनुसार इनका समय—(ई० श० १२ का पूर्व)। (त. अत्र./प्र. २/ब्र. श्री लाल)।—दे० नागसेन।

महेंद्रिका—भरत क्षेत्रमें मध्य आर्यखण्डकी एक नदी।—दे० मनुष्य/४।

महेश्वर—महोरग जातीय एक व्यन्तर—दे० महोरग ।

महोदय—दे० विद्यानन्दि महोदय ।

महोरग—घ १३/६५, १४०/३६१/११ सर्पाकारेण विकरणप्रिया. महोरगा नाम । = सर्पाकार रूपसे विक्रिया करना इन्हे प्रिय है, इसलिए महोरग कहलाते है ।

२. महोरग देवोंके भेद

ति. प ६/३० भुजगा भुजगशाली महतणु अतिकायखषशाली य । मह-असनिजमहसर गंभीर पियदसणा महोरगया ।३८। = भुजग, भुजग-शाली, महातणु, अतिकाय, स्कन्धशाली, मनोहर, अशनिजव, महेश्वर, गम्भीर और प्रियदर्शन ये दश महोरग जातिके देवोंके भेद है । (त्रि. सा. २६१) ।

* इसके वर्ण वैभव अवस्थान आदि—दे० व्यन्तर/४ ।

मांडलीक—एक क्रियावादी—दे० क्रियावाद ।

मांस—* मांसकी अमक्ष्यताका निर्देश—दे० भक्ष्याभक्ष्य/२ ।

१. मांसत्याग व्रतके अतिचार

सा. घ. ३/१२ चर्मस्थमम्भ. स्नेहश्च हिंस्रसंज्ञतर्चन च । सर्वं च भोज्यं व्यापन्नं दोषं स्यदामिषव्रते ।१२। = चमडेमें रखे हुए जल, घी, तेल आदि चमड़ेसे आच्छादित अथवा सम्बन्ध रखनेवाली हींग और स्वादचलित सम्पूर्ण भोजन आदि पदार्थोंका खाना मांस त्याग व्रतमें दोष है ।

ला सं. २/३लोक—तद्भेदा बहव सन्ति माहशा वागगोचरा । तथापि व्यवहारार्थं निर्दिष्टाः केचिदन्वयात् । १०। = उन अतिचारोंके बहुत-से भेद है जो मेरे समान पुरुषसे कहे जाने सम्भव नहीं हैं, तथापि व्यवहारके लिए आम्नायके अनुसार कुछ भेद यहाँ कहे जाते है । १०। चमडेके बर्तनमें रखे हुए घी, तेल, पानी आदि । ११। अशो-धित आहार्य । १८। त्रस जीवोंका जिसमें सन्देह हो, ऐसा भोजन । २०। बिना छाना अथवा विधिपूर्वक दुहरे छलनेसे न खाना गया, घी, दूध, तेल, जल आदि । २३-२४। शोधन विधिसे अनभिज्ञ साधर्मि या शोधन विधिसे परिचित विधर्मोंके हाथसे तैयार किया गया भोजन । २८। शोधित भी भोजन यदि मर्यादासे बाहर हो गया है तो । ३२। दूसरे दिनका सर्व प्रकारका बासी भोजन । ३३। पत्तेका शाक । ३५। पान । ३७। रात्रिभोजन । ३८। आसव, अरिष्ट, अचार, मुरब्बे आदि । ५५। रूप, रस, गन्ध व स्पर्शसे चलित कोई भी पदार्थ । ५६। अनर्यादित दूध, दही आदि । ५७।

२. मांस निषेधका कारण

सू. आ. ३/३३ चत्वारि महाविपिडि य होति णवणीदमज्जमंसमधु । कंखापंसंगदण्पासंजमकारीओ एदाओ । ३५३। = नवनीत, मद्य, मांस और मधु ये चार महा विकृतियाँ हैं, क्योंकि वे काम, मद व हिंसाको उत्पन्न करते है । (पु. सि. उ. ७/७१) ।

पु. सि. उ. ६/६५-६८ न बिना प्राणविघातान्मांसस्योत्पत्तिरिष्यते यस्मात् । मांसं भजतस्तस्मात् प्रसरत्यनिवारिता हिंसा । ६५। यदपि किल भवति मांसं स्वयमेव मृतस्य महिषवृषभादे । तत्रापि भवति हिंसा तदाश्रितनिगोतनिर्मथनात् । ६६। आमास्वपि पक्वास्वपि विपच्य-मानासु मांसपेशीसु । सातत्येनोत्पादस्तज्जातीनां निगोतानां । ६७। आमा व पकां वा खादति य स्पृशति वा पिशितपेशि । स निहन्ति सतत निचिंतं पिण्डं बहुजीवकोटीनाम् । ६८। = १. प्राणियोंके घातके बिना मांसकी उत्पत्ति नहीं हो सकती, इसलिए मांसभक्षीको

अनिवारित रूपसे हिंसा होती है । ६५। २. स्वयं मरे हुए भैंस व बैल आदिके मांस भक्षणमें भी हिंसा होती है, क्योंकि तदाश्रित अनन्तो निगोद जीवोंकी हिंसा वहाँ पायी जाती है । ६६। ३. कच्ची हो या अग्नि पर पकी हुई हो अथवा अग्निपर पक रही हो ऐसी सब ही मांसकी पेशियोंमें, उस ही जातिके अनन्त निगोद जीव प्रति समय निरन्तर उत्पन्न होते रहते है । ६७। इसलिए कच्ची या पकी हुई किसी भी प्रकारको मांसपेशीको खाने या छूने वाला उन करोड़ों जीवोंका घात करता है । ६८। (यो. सा / अ ८/६०-६१) ।

३. धान्य व मांसको समान कहना योग्य नहीं

सा. घ. २/१० प्राण्यङ्गत्वे समेप्यन्नं भोज्यं मांसं न धामिकैः । भोग्या स्त्रीत्वाविशेषेऽपि जनैर्जायैव नान्विका । १०। (यथा उद्धृत)—पञ्चेन्द्रियस्य कस्यापि वधे तन्मांसभक्षणं । यथा हि नरकप्राप्तिर्न तथा धान्यभोजनात् ॥ धान्यपाके प्राणिवधः परमेकोऽवशिष्यते । गृहिणां देशयमिना स तु नात्यन्तबाधकः ॥ = यद्यपि मांस व अन्न दोनों ही प्राणीके अंग होनेके नाते समान है, परन्तु फिर भी धार्मिक जनोंके लिए मांस खाना योग्य नहीं है । जैसे कि स्त्रीपनेकी अपेक्षा समान होते हुए भी पत्नी ही भोग्य है माता नहीं । १०। दूसरी बात यह भी है कि पञ्चेन्द्रिय प्राणीको मारने या उसका मांस खानेसे जैसी नरक आदि दुर्गति मिलती है वैसी दुर्गति अन्नके भोजन करनेसे नहीं होती । धान्यके पकनेपर केवल एकेन्द्रियका ही घात होता है, इसलिए देशसंयमी गृहस्थोंके लिए वह अत्यन्त बाधक नहीं है ।

* दूध व मांस समान नहीं है—दे० भक्ष्याभक्ष्य ।

* अनेक वनस्पति जीवोंकी अपेक्षा एक त्रस जीवकी हिंसा ठीक है—यह हेतु उचित नहीं—दे० हिंसा/२/१ ।

४. चर्म निक्षिप्त वस्तुके त्यागमें हेतु

ला. सं. २/११-१३ चर्मभाण्डे तु निक्षिप्ता घृततैलजलादयः । त्याज्या यतस्त्रसादीना शरीरपिशिताश्रिता । ११। न चाशङ्क्यं पुनस्तत्र सन्ति यद्वा न सन्ति ते । संशयोऽनुपलब्धित्वाद् दुर्वारो व्योमचित्र-वत् । १२। सर्वं सर्वज्ञज्ञानेन दृष्टं विश्वैकचक्षुषा । तदाज्ञया प्रमाणेन माननीयं मनोषिभि । १३। = चमडेके बर्तनमें रखे हुए घी, तेल, जलादिका त्याग कर देना चाहिए क्योंकि ऐसी वस्तुओंमें उस-उस जीवके मांसके आश्रित रहनेवाले त्रस जीव अवश्य रहते है । ११। तहाँ वे जीव है या नहीं ऐसी शंका भी नहीं करनी चाहिए, क्योंकि, व्योमचित्रकी भाँति इन्द्रियोंसे न दिखाई देनेके कारण यद्यपि वे जीव किसी भी प्रमाणसे सिद्ध नहीं है । १२। तो भी सर्वज्ञदेवने उनका वहाँ प्रत्यक्ष किया है और उसीके अनुसार आचार्योंने शास्त्रोंमें निर्देश किया है, अतः बुद्धिमानोंको सर्वज्ञदेवकी आज्ञा मानकर उनका अस्तित्व वहाँ स्वीकार कर लेना चाहिए । १३।

५. सूक्ष्म त्रस जीवोंके भक्षणमें पाप है

ला. सं. २/१४ नोह्यमेतावता पापं स्याद्वा न स्यादतीन्द्रियात् । अहो मासाशिनोऽवर्यं प्रोक्तं जैनागमे यत । = इन्द्रियोंके अगोचर ऐसे सूक्ष्म जीवोंके भक्षणसे पाप होता है या नहीं, ऐसी आशंका करना भी योग्य नहीं है, क्योंकि मांस भक्षण करनेवालोंको पाप अवश्य होता है, ऐसा जैनशास्त्रोंमें स्पष्ट उक्ते है । १४।

* त्रिधर्मोंसे अन्न शोधन न करानेमें हेतु—दे० आहार/२ ।

मागध—लवण समुद्रकी ईशान व आग्नेय दिशामें स्थित द्वीप व उसके रक्षक देव ।—दे० लोक/७ ।

माघ—गुजरात नरेश श्रीपालके मन्त्री सुप्रभदेवके दो पुत्र थे—दत्त व शुभकर। दत्तके पुत्र महाकवि माघ थे। इन्होंने 'शिशुपाल बध' नामक ग्रन्थकी रचना की है। (उपमिति भव प्रपञ्च कथा/प्र. २/प्रेमीजी)।

माघनन्दि—१. मूलसंघ की पट्टावली के अनुसार आप आ. अर्हद्वलि के शिष्य होते हुए भी उनके तथा धरसेनस्वामी के समकालीन थे। पूर्वधर तथा अस्यन्त ज्ञानी होते हुए भी आप बड़े तपस्वी थे। इसकी परीक्षा के लिये प्राप्त गुरु अर्हद्वलि के आदेश के अनुसार एक बार आपने नन्दिवृक्ष (जो छायाहीन होता है) के नीचे वर्षायोग धारण किया था। इसीसे इनको तथा इनके संघ को नन्दि की संज्ञा प्राप्त हो गई थी। नन्दिसंघ की पट्टावली में आपका नाम क्योंकि भद्र-बाहु तथा गुप्तगुप्त (अर्हद्वलि) को नमस्कार करने के पश्चात्, सबसे पहले आता है और वहाँ क्योंकि आपका पट्टकाल बी. नि. ५७२ से प्रारम्भ किया गया है, इसलिये अनुमान होता है कि उक्त घटना इसी काल में घटी थी और उसी समय आ अर्हद्वलि के द्वारा स्थापित इस संघ का आद्य पट आपको प्राप्त हुआ था। यद्यपि नन्दिसंघ की पट्टावली में आपकी उत्तरावधि केवल ४ वर्ष पश्चात्, बी. नि. ५७६ बताई गई है, तदपि क्योंकि मूलसंघ की पट्टावली के अनुसार वह ६१४ है इसलिये आपका काल बी नि ५७५ से ६१४ सिद्ध होता है। (विशेष दे. कोष १/परिशिष्ट २/६)। २. नन्दिसंघ के देशीयगण की गुर्वावली के अनुसार आप कुलचन्द्र के शिष्य तथा माघनन्दि त्रैविद्यदेव तथा देवकीर्ति के गुरु थे। 'कोवलापुरीय' आपकी उपाधि थी। समय—वि. श. १०३०-१०५८ (ई १२०८-१२३६)—(दे. इतिहास ७/५)। ३. शास्त्रसार समुच्चय के कर्ता। माघनन्दि न. ४ (वि. १२१७) के दादा गुरु। समय—ई श १२ का अन्त। (जै/२/२८५)। ४. माघनन्दि न ३ के प्रशिष्य और कुमुदचन्द्र के शिष्य। कृति—शास्त्रसार समुच्चय की कन्नड टीका। समय—वि. १२१७ (ई. १२६०)। (जै/२/३६६)। ५. माघनन्दि कोवलापुरीय के शिष्य (ई. १२३३)। (दे. इति./७/५)।

माघवी—महात्म-प्रभा (सातवीनरक) का अपरनाम—दे० नरक/५।

माठर—एक अक्रियावाद—दे० अक्रियावादी।

माणव—दे० मालव।

माणिकभद्र—विजयार्थ पर्वतका एक कूट और उसका रक्षक देव।—दे० लोक/७।

माणिक्यनन्दि—१. नन्दिसंघ बलात्कारगणकी गुर्वावलीके अनुसार आप रत्ननन्दिके शिष्य तथा मेघचन्द्रके गुरु थे। समय—विक्रम शक. सं. ५८५-६०१ (ई० ६६३-६७९),—दे० इतिहास/७/२। २. नन्दिसंघ देशीयगणकी गुर्वावलीके अनुसार आप शालनन्दि (रामनन्दि)के शिष्य तथा प्रभाचन्द्रके गुरु थे। कृति—परीक्षामुख। समय—वि० ६४६-६७९ (ई० १००३-१०२८)—दे० इतिहास/७/५। (ती/३/४३)।

मातंग—१. पद्मप्रभु व पार्वनाथ भगवात्का शासक यक्ष—दे० तीर्थ-कर ६/३। २. राजा विनमिका पुत्र जिससे मातंगवंशकी उत्पत्ति हुई—दे० इतिहास १७/६।

मातंगवंश—दे० इतिहास १७/६।

मातृकायंत्र—दे० यंत्र।

मात्सर्य—स सि./६/१०/३२७/१२ कुतश्चिदकारणाद् भावितमपि विज्ञानं दानार्हमपि यतो न दीयते तन्मात्सर्यम्। = विज्ञानका

अभ्यास किया है, वह देने योग्य भी है तो भी जिस कारणसे वह नहीं दिया जाता वह मात्सर्य है। (रा. वा. ६/१०/३/१७/१५)। स. सि./७/३६/३७२/१ प्रयच्छतीऽप्यादराभावोऽन्यदातुगुणासहनं वा मात्सर्यम्। = दान करते हुए भी आदरका न होना या दूसरे दाताके गुणोंको न सह सकना मात्सर्य है। (रा. वा. ७/३६/४/५५/२६)।

माथुरसंघ—दे० इतिहास/६/१।

माधव—मीमांसा दर्शनका एक टीकाकार—दे० मीमांसा दर्शन।

माधवचन्द्र—१. नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती के शिष्य गणितज्ञ। कृति—त्रिलोकसार की संस्कृत टीका, बन्धत्रिभंगी। समय—वि. श. १९ का पूर्वार्ध (लगभग ई. ६८९)। (जै./१/३६३)। २. क्षणसार के कर्ता। समय—ग्रन्थ रचनाकाल वि. १२६० (ई. १२१३)। (जै./१/४४१) (ती/३/२६१)।

माधव सिंह—जयपुरके राजा। समय—वि. १८११-१८२४ (ई० १७५४-१७६७), (मा. मा प्र./प्र. २६/पं. परमानन्द)।

माधवसेन—माथुर संघकी गुर्वावलीके अनुसार आप नेमिषेणके शिष्य तथा श्रावकाचारके कर्ता अमितगतिके गुरु थे। समय—वि० १०२०-१०६४ (ई० १६३-१०७७)—दे० इतिहास/७/११। (अमितगति श्रावकाचारकी प्रशस्ति); (यो. सा/अमितगति/प्र २/पं. गजाधर लाल)।

माधवाचार्य—सायणाचार्यका अपर नाम—दे० सायणाचार्य।

माध्यदिन—एक अज्ञानवादी—दे० अज्ञानवाद।

माध्यमिक—एक बौद्ध सम्प्रदाय—दे० बौद्धदर्शन।

माध्यस्थ्य—

स. सि./७/११/३४६/८ रागद्वेषपूर्वकपक्षपाताभावो माध्यस्थ्यम्। = राग-द्वेषपूर्वक पक्षपातका न करना माध्यस्थ्य है। (रा. वा./७/११/४/५३८/२९)।

दे० सामायिक/१ [माध्यस्थ, समता, उपेक्षा, वैराग्य, साम्य, अल्पहृ, शुद्धभाव, वीतरागता, चारित्र्य, धर्म यह सब एकार्थवाचक शब्द हैं। - (क्रोधी, पापी, मांसाहारी) व नास्तिक आदि जनोमें माध्य-स्थभाव होना उपेक्षा कहलाती है।]

माध्व वेदान्त—

ई. श १२-१३ में पूर्णप्रज्ञ माध्वदेव द्वारा इस मतका जन्म हुआ। न्याय-सुधा व पदार्थ संग्रह इसके मुख्य ग्रन्थ हैं। अनेक तत्त्व माननेके कारण भेदवादी हैं।—विशेष दे० वेदान्त/६।

मान—

१. अभिमानके अर्थमें

रा. वा./८/६/५/४७४/३० जात्याद्यु रसेकावष्टम्भात् परा प्रणतिर्मानः शैल-स्तम्भास्थिदारुलतासमानश्चतुर्विधः। = जाति आदि आठ मद्दोंसे (दे० मद्) दूसरेके प्रति नमनेकी वृत्ति न होना मान है। वह पाषाण, हड्डी, लकड़ी और लताके भेदसे चार प्रकारका है।—दे० कथाय १३। ध. १/१.१.१/१११/३४६/७ रोषेण विद्यात्पोजार्यादिमदेन वान्यस्यान-वनतिः। = रोषसे अथवा विद्या तप और जाति आदिके मद्दसे (दे० मद्) दूसरेके तिरस्काररूप भावको मान कहते हैं।

ध. ६/१.६-१.२३/४१/४ मानो गर्वः स्तब्धमित्येकोऽर्थः। = मान, गर्व, और स्तब्धत्व ये एकार्थवाची हैं।

ध. १३/४.२.५.८/२८३/६ विज्ञानैश्वर्यजातिकुलतपोविद्याजनिता जीव-परिणाम औद्धर्यात्मको मानः = विज्ञान, ऐश्वर्य, जाति, कुल, तप और विद्या इनके निमित्तसे उत्पन्न उद्धतता रूप जीवका परिणाम मान कहलाता है।

नि. सा/ता.वृ./११२ कविस्वेन सकलजनपूज्यतया—कुलजातिविशुद्ध्या वा निरुपमबलेन च सपद्मवृद्धिविलासेन, अथवा ऋद्धिभिः सप्तभिर्वा—बपुलविषयस्विसरेन वा आत्मार्हकारो मानः । = कविस्वकौशलके कारण, समस्तजनों द्वारा पूजनीयपनेसे, कुलजातिकी विशुद्धिसे, निरुपम बलसे, सम्पत्तिकी वृद्धिके विलाससे. सात ऋद्धियोंसे, अथवा शरीर लावण्यरसके विस्तारसे होनेवाला जो आत्म-अर्हकार वह मान है ।

२. प्रमाण या मापके अर्थमें

घ. १२/४.२.५.१०/२५५/९ मानं प्रस्थादिः हीनाधिकभावमापन्नः ।
—हीनता अधिकताको प्राप्त प्रस्थादि मान कहलाते हैं ।
न्या. वि./वृ./१/११६/४२५/१ मानं तोलनम् । = मान अर्थात् तोल या माप ।

* अन्य सम्बन्धित विषय

१. मान सम्बन्धी विषय विस्तार —दे० कषाय ।
२. जीवको मानी कहनेकी विवक्षा —दे० जीव/१/३ ।
३. आहारका एक दोष —दे० आहार/II/४/४ ।
४. वसतिकका एक दोष —दे० वसतिका ।
५. आठ मद । —दे० मद ।
६. मान प्रमाण व उसके भेदाभेद —दे० प्रमाण/५ ।
७. मानकी अनिष्टता —दे० वर्ण व्यवस्था/१/६ ।

मानतुंग—काशीबासी धनदेव ब्राह्मण के पुत्र थे । पहले खेताम्बर साधु थे, पीछे दिगम्बरी दीक्षा धारण कर ली दोनों ही आम्नायों में सम्मानित हैं । राजा द्वारा ४८ तालों में भन्द किये जाने की कथा इनके विषय में प्रसिद्ध है । कृति—भक्तामर स्तोत्र । समय—राजा हर्ष (ई ६०८) के समकालीन होने से तथा आ. सिद्धसेन (वि. ६२५) कृत कल्याण मन्दिर स्तोत्र से प्रभावित होने से लगभग वि. ६७५ (ई. ६१८) । (ती./२/२६८, २७३) ।

मानव—१. एक ग्रह—दे० ग्रह । २. विजयार्धकी उत्तरश्रेणीका एक नगर—दे० विद्याधर । ३. चक्रवर्तीकी नवनिधियोंमेंसे एक—दे० शलाकापुरुष/२ । ४ जीवको मानव कहनेकी विवक्षा—दे० जीव/१/३/५ ।

मानव योजन—क्षेत्रका एक प्रमाण—दे० गणित/1/१/३ ।

मानवतिक—भरतक्षेत्रमें पूर्व आर्यखण्डका एक देश—दे० मनुष्य/४ ।

मानवी—एक विद्या—दे० विद्या ।

मानस—विजयार्धकी दक्षिण श्रेणीका एक नगर—दे० विद्याधर ।

मानस—घ. १३/४.५.६३/३३२/१० मणम्मि भवं लिगं माणसं, अथवा मणो चैव माणसो । = मनमें उत्पन्न हुए चिह्नको मानस कहते हैं अथवा मनकी ही संज्ञा मानस है ।

मानसरोवर—भरतक्षेत्रमें मध्य आर्यखण्डकी एक नदी—दे० मनुष्य/४ ।

मानसाहार—दे० आहार/II/१ ।

मानसिक दुःख—दे० दु.ख ।

मानसी—१. भगवान् शान्तिनाथकी शासिका यक्षिणी—दे० तीर्थ-कर/५/३ । २. एक विद्या—दे० विद्या ।

मानस्तम्भ—ति. प./४/गा. का भावार्थ—

१. समवशरण की मानस्तम्भ भूमियोंके अभ्यन्तर भागमें कोट होते हैं । ७६२। जिनके भीतर अनेकों वनखण्ड, देवोंके क्रीड़ा नगर, वन, वापियाँ आदि शोभित हैं । ७६३-७६५। उनके अभ्यन्तर भागमें पुनः कोट होते हैं, जिनके मध्य एकके ऊपर एक तीन पीठ हैं । ७६७-७६८। प्रथम पीठकी ऊँचाई भगवान् ऋषभदेवके समवशरणमें $2\frac{1}{2}$ धनुष इसके आगे नेमिनाथ पर्यन्त प्रत्येकमें १/३ धनुषकी हानि होती गयी है । पार्श्वनाथके समवशरणमें इसकी ऊँचाई ५/६ धनुष और वर्धमान भगवान्के समवशरणमें $2\frac{1}{2}$ धनुष है । द्वितीय व तृतीय पीठोंकी ऊँचाई समान होती हुई सर्वत्र प्रथम पीठसे आधी है । ७६९-७७०। इन तीनों पीठोंकी चारो दिशाओंमें सीढियाँ हैं । प्रथम पीठपर आठ-आठ और शेष दोनों पर चार-चार हैं । ७७१। तृतीय पीठका विस्तार $3\frac{1}{2}$ धनुषसे प्रारम्भ होकर आगे प्रत्येक तीर्थमें $2\frac{1}{2}$ कम होता गया, पार्श्वनाथके समवशरणमें $2\frac{1}{2}$ और वर्धमान भगवान्के समवशरणमें $2\frac{1}{2}$ धनुष था । ७७२-७७४। २. तृतीय पीठपर मानस्तम्भ होते हैं । जिनकी ऊँचाई अपने-अपने तीर्थकरकी ऊँचाईसे १२ गुणी होती है । भगवान् ऋषभनाथके समवशरणमें मानस्तम्भका बाह्य २३६५२ धनुष प्रमाण था । पीछे प्रति तीर्थकर ६६८ धनुष कम होते-होते भगवान् पार्श्वनाथके मानस्तम्भका बाह्य $2\frac{1}{2}$ धनुष प्रमाण था और भगवान् वर्धमानके मानस्तम्भका ४६६ धनुष प्रमाण था । ७७५-७७७। सभी मानस्तम्भ मूल भागमें वज्रद्वारोंसे युक्त होते हैं और मध्यभागमें वृत्ताकार होते हैं । ७७८-७७९। ऊपरसे ये चारो ओर चमर, घण्टा आदिसे विभूषित तथा प्रत्येक दिशामें एक-एक जिन प्रतिमासे युक्त होते हैं । ७८०-७८१। इनके तीन-तीन कोट होते हैं । कोटोंके बाहर चारों दिशाओंमें वीथियाँ व द्रह होते हैं जो कमलों व कुण्डोंसे शोभित होते हैं । ७८२-७८३। (इसका नकशा—दे० समवशरण) ।
नोट—३. [मानस्तम्भके अतिरिक्त सर्व ही प्रकारके देवोंके भवनोंमें तथा अकृत्रिम चैत्यालयोंमें भी उपरोक्त प्रकार ही मानस्तम्भ होते हैं—तहाँ भवनवासियोंके भवनोंके लिए—(दे० त्रि. सा./२/१६); व्यन्तर देवोंके भवनोंके लिए—दे० त्रि. सा./२/५; अकृत्रिम चैत्यालयोंके लिए—दे० त्रि. सा./१००३-१०१२] ।

१. मानस्तम्भ नामकी सार्थकता

ति. प./४/७८२ माणुल्लासयमिच्छा वि दूरदो दंसणेण थंभाणं । ज होति गलिवमाणा माणत्थंभं ति तं भणिदं । ७८२। = चूँकि दूरसे ही मानस्तम्भोंके देखनेसे मानसे युक्त मिथ्यादर्ष्ट लोग अभिमानसे रहित हो जाते हैं, इस लिए इनको मानस्तम्भ कहा गया है ।

मानुष—१. मानुषोत्तर पर्वतके रजतकूटका रक्षक एक भवनवासी देव—लोक ५/१० । २. एक यक्ष—दे० यक्ष ।

मानुषोत्तर—मध्यलोक पुष्कर द्वीपके मध्य स्थित एक कुण्डलाकार पर्वत—दे० लोक/४/४ ।

स. सि./३/३५/२२८/१० पुष्करद्वीपबहुमध्यदेशभागी बलयवृत्तो मानुषोत्तरो नाम शैलः । तस्यात्प्रागेव मनुष्या न बहिरिति । ततो न बहिः पूर्वोक्तक्षेत्रविभागोऽस्ति । ततोऽस्यान्वर्थसंज्ञा । = पुष्कर द्वीपके ठीक मध्यमें चूड़ीके समान गोल मानुषोत्तर नामका पर्वत है । उसके पहले-पहले ही मनुष्य हैं, उसके बाहर नहीं (क्योंकि उसको उल्लंघन करनेकी शक्ति मनुष्योंमें नहीं है—(दे० मनुष्य/४/२)) इसलिये इस पर्वतका मानुषोत्तर यह नाम सार्थक है । (रा. वा/३/३५/ 1-१६७/३०) ।

मान्यखेट—निजाम हैदराबाद राज्यके अन्तर्गत शोलापुरसे ६० मील दक्षिण पूर्वमें स्थित वर्तमानका मलखेडा ग्राम (क पा. १/प्र. ७३/प. महेन्द्र)।

मापिकी—Mensuration (ज. प्र./प्र. १०८)।

माय—स्व. स्तोत्र/टी./१४१/२६७ माय' प्रमाण केवलज्ञानलक्षण आगमस्वरूप वा। = माय अर्थात् प्रमाण जिसका लक्षण केवलज्ञान या आगमस्वरूप है।

माया—

स. सि./६/१६/३३४/२ आत्मन' कुटिलभावो माया निकृति'। = आत्मका कुटिल भाव माया है। इसका दूसरा नाम निकृति (या वचना) है। (स. सि १७/१८/३६६/८), (रा. वा ६/१६/१/५२६/६, ७/१८/२/५४५/१४); (घ. १/१, १. १११/३४६/७); (घ १, ६-१, २३/४१/४)।

रा. वा. १८/६/५/५७४/३१ परातिसंधानतयोपहितकौटिल्यप्राय' प्रणिधिर्माया प्रत्यासन्नवशपर्वोपचितमूलमेषशु ग-गोमूत्रिकाऽवलीखनी-सदृशी चतुर्विधा। = दूसरेको ठगनेके लिए जो कुटिलता या छल आदि किये जाते हैं वह माया है। यह बाँसकी गँठीली जड़, मेढेका साँग, गायके मूत्रको बक्र रेखा और लेखनीके समान चार प्रकारकी है। (और भी दे० कषाय/३)।

घ. १२/४, २, ५, ८/२८३/७ स्वहृदयप्रच्छादाथ' मनुष्ठानं माया। = अपने हृदयके विचारको छुपानेकी जो चेष्टा की जाती है उसे माया कहते हैं।

नि सा/ता वृ/११२ गुप्तपापतो माया। = गुप्त पापसे माया होती है।
द्र. स./टी/४२/१८३/६ रागात् परकलत्रादिवाञ्छारूपं, द्वेषात् परवध-बन्धच्छेदादिवाञ्छारूपं च मदीयापध्यानं कोऽपि न जानातीति मत्वा स्वशुद्धात्मभावनासमुत्पन्नसदानन्दैकलक्षणसुखामुत्तरसनिर्मल-जलेन चित्तशुद्धिमकुर्वाण' सन्नयं जीवो बहिरङ्गकवेषेण यल्लोकरञ्जना करोति तन्मायाशब्द भण्यते। = रागके उदयसे परस्त्री आदिमें वाञ्छारूप और द्वेषसे अन्य जीवोंके मारने, बाँधने अथवा छेदनेरूप जो मेरा दुर्ध्यान बुरा परिणाम है, उसको कोई भी नहीं जानता है, ऐसा मानकर निज शुद्धात्म भावनासे उत्पन्न, निरन्तर आनन्दरूप एक लक्षणका धारक जो सुख-अमृतरसरूपी निर्मल जलसे अपने चित्तकी शुद्धिको न करता हुआ, यह जीव बाहरमें बगुले जैसे वेषको धारण कर जो लोकोको प्रसन्न करता है वह मायाशब्द कहलाती है।

२. मायाके भेद व उनके लक्षण

भ. आ./वि./२५/६०/३ माया पञ्चविकल्पा—निकृति, उपधि, साति-प्रयोग, प्रणिधि, प्रतिकुञ्चनमिति; अतिसंधानकुशलता धने कार्ये वा कृताभिलाषस्य वञ्चना निकृति, उच्यते; सद्भाव प्रच्छाद्य धर्मव्याजेन स्तैन्यादिदोषे प्रवृत्तिरुपधिसञ्ज्ञिता माया। अर्थेषु विस्वाद, स्वहस्तनिष्ठिसद्रव्यापहरण, दूषण, प्रशसा, वा साति-प्रयोग। प्रतिरूपद्रव्यमानकरणानि, ऊनातिरिक्तमान, सयोजनया द्रव्यविनाशनमिति प्रणिधिमाया। आलोचनं कुर्वतो दोषविनि-गूहन प्रतिकुञ्चनमाया। = मायाके पाँच प्रकार हैं—निकृति, उपधि, सातिप्रयोग, प्रणिधि और प्रतिकुञ्चन। धनके विषयमें अथवा किसी कार्यके विषयमें जिसको अभिलाषा उत्पन्न हुई है, ऐसे मनुष्यका जो फँसानेका चातुर्य उसको, निकृति कहते हैं। अच्छे परिणामके ढँककर धर्मके निमित्तसे चोरी आदि दोषोंमें प्रवृत्ति करना उपधि सज्ञक माया है। धनके विषयमें असत्य बोलना, किसीकी बरौहरका कुछ भाग हरण कर लेना, दूषण लगाना अथवा प्रशसा करना सातिप्रयोग माया है। हीनाधिक कीमतकी सदृश वस्तुएँ आपसमें मिलाना, तोल और मापके सेर, पसेरी बगैरह

साधन पदार्थ का ज्यादा रखकर लेन-देन करना, सच्चे और झूठे पदार्थ आपसमें मिलाना, यह सब प्रणिधि माया है। आलोचना करते समय अपने दोष छिपाना यह प्रतिकुञ्चन माया है।

* अन्य सम्बन्धित विषय

१. माया कषाय सम्बन्धित विषय। —दे० कषाय।
२. आहारका एक दोष। —दे० आहार/II/४/४।
३. वसतिकाका एक दोष। —दे० वसतिका।
४. जीवकी मायी कहनेकी विवक्षा। दे० जीव/१/३।
५. मायाकी अनिष्टता। —दे० आयु/३/६।

माया क्रिया—दे० क्रिया/३/२।

मायागता चूलिका—दे० भुतज्ञान/III।

मायावाद—दे० वेदान्त/२।

मायूरी—एक विद्याधर विद्या—दे० विद्या।

मार—चौथे नरकका द्वितीय पटल—दे० नरक/५/११।

मारणान्तिक समुद्घात—दे० मरण/५।

मारसिंह—आप गंगवशीय राजा राजमल्लके पूर्वाधिकारी थे और आचार्य अजितसेनके शिष्य थे। राजा राजमल्लके अनुसार आपका समय—वि. सं. १०२०-१०४० (ई. ६६३-६८३) आता है।

मारोच—प. पु./७/८१/८२—रावणका मन्त्री था। रावणको युद्धसे रोकनेके लिए इसने बहुत प्रयत्न किया और रावणकी मृत्युके परचात वीक्षा धारण कर ली।

मारुती धारणा—दे० वायु।

मार्ग—घ. १३/५, ६, ५०/२८७/६ मृगयतेऽनेनेति मार्ग' पन्था'। स पञ्चविध—नरगतिमार्ग, तिर्यग्गतिमार्ग, मनुष्यगतिमार्ग, देवगतिमार्ग, मोक्षगतिमार्गरचेति। तत्र एकैको मार्गोऽनेकविध कृमिकीटा-दिभेदभिन्नत्वात्। = जिसके द्वारा मार्गण किया जाता है वह मार्ग अर्थात् पथ कहलाता है। वह पाँच प्रकारका है—नरकगतिमार्ग, तिर्यग्गतिमार्ग, मनुष्यगतिमार्ग, देवगतिमार्ग और मोक्षगतिमार्ग। उनमेंसे एक एक मार्ग कृमि व कीट आदिके भेदसे अनेक प्रकारका है।

* उत्सर्ग व अपवाद मार्ग—दे० अपवाद।

* मोक्षमार्ग—दे० मोक्षमार्ग।

मार्गणा—

दे. ऊहा—ईहा, ऊहा, अपोहा, मार्गणा, गवेषणा और मोमासा ये एकार्थवाचक नाम हैं।

प. सं/प्रा/१/५६ जाहि व जासु व जीवा मग्गिज्जंते जहा तथा दिट्ठा। ताओ चोइस जाणे सुदणाणेण मयाणाओ ति। = जिन-प्रवचनदृष्ट जीव जिन भावोंके द्वारा अथवा जिन पर्यायोंमें अनुमार्गण किये जाते हैं अर्थात् खोजे जाते हैं, उन्हें मार्गणा कहते हैं। जीवोंका अन्वेषण करनेवाली ऐसी मार्गणाएँ श्रुतज्ञानमें १४ कही गयी हैं। (घ. १/१, १, ४/गा ८३/१३२), (गो जी./मू./१४१/३५४)।

घ १/१, १, २/१३६/३ चतुर्वेशाना जीवस्थानाना चतुर्वेशगुणस्थाना-मित्यर्थ'। तेषा मार्गणा गवेषणमन्वेषणमित्यर्थ। चतुर्वेश जीव-समासा' सदादिविशिष्टा' मार्ग्यन्तेऽस्मिन्ननेन वेति मार्गणा। = चौदह जीवसमासोंसे यहाँ पर चौदह गुणस्थान विवक्षित हैं। मार्गणा गवेषणा और अन्वेषण ये तीनों शब्द एकार्थवाच्य हैं। सत् संख्या आदि अनुयागद्वारासे युक्त चौदह जीवसमास जिसमें या जिसके द्वारा खोजे जाते हैं, उसे मार्गणा कहते हैं। (घ ७/२, १, ३/७/८)।

ध. १३/५.५.५०/२८२/८ गतिषु मार्गणास्थानेषु चतुर्दशगुणस्थानोप-
लक्षिता जीवा मृग्यन्ते अन्विष्यन्ते अनया इति गतिषु मार्गणता
श्रुतिः । = गतियोमे अर्थात् मार्गणास्थानोमे (दे० आगे मार्गणाके
भेद) चौदह गुणस्थानोसे उपलक्षित जीव जिसके द्वारा खोजे जाते हैं,
वह गतियोंमें मार्गणता नामक श्रुति है ।

दे. आदेश/१ (आदेश या विस्तारसे प्ररूपणा करना मार्गणा है) ।

२. चौदह मार्गणास्थानोंके नाम

घ. खं/१/१.१/सू. ४/१३२ गङ्ग ईदिए काए जोगे वेदे कसाए णणे संजमे
दंसणे लेस्साए भविय सम्मत्त सण्णि आहारए चेदि । २। = गति,
इन्द्रिय, काय, योग, वेद, कषाय, ज्ञान, संयम, दर्शन, लेश्या, भव्य,
सम्यक्त्व, संज्ञी और आहारक, ये चौदह मार्गणास्थान हैं । (घ. खं.
७/२.१/सू. २/६); (बी. पा./सू./३३); (सू. आ./११९७), (वं.
सं./प्रा./१/५७); (रा. वा./६/७/११/६०३/२६); (गो जी./सू./
१४२/३६६), (स. सा./आ./५३); (नि. सा./ता. वृ./४२); (द्र. सं./
टी./१३/३७/१ पर उद्धृत गाथा) ।

३. सान्तर मार्गणा निर्देश

एक मार्गणाको छोड़नेके पश्चात् पुनः उसीमें लौटनेके लिए कुछ कालका
अन्तर पड़ता हो तब वह मार्गणा सान्तर कहलाती है । वे आठ हैं ।
पं. सं./प्रा./१/५८ मणुया य अपज्जत्ता वेउन्विमिस्सहाराया दोण्णि ।
सुहमी सासाणमिस्सी उवसमसम्मो य संतराअट्ठं = अपर्याप्त मनुष्य,
वै क्रियकमिभ्र योग, दोनों आहारक योग, सूक्ष्मसाम्परायसंयम, सासा-
दन सम्यग्मिध्यास्व, और उपशमसम्यक्त्व ये आठ सान्तर मार्गणा
होती हैं ।

४. मार्गणा प्रकरणके चार अधिकार

घ. १/१.१.४/१३३/४ अथ स्याज्जगति चतुर्भिमार्गणा निष्पाद्यमानोप-
लभ्यते । तद्यथा मृगयिता मृग्यं मार्गणं मार्गणोपाय इति । नात्र ते
सन्ति, ततो मार्गणमनुपपन्नमिति । नैष दोषः, तेषामप्यत्रोपलम्भात् ;
तद्यथा, मृगयिता भव्यपुण्डरीकं तत्त्वार्थश्रद्धालुर्जीवः, चतुर्दशगुण-
स्थानविशिष्टजीवा मृग्यं, मृग्यस्याधारतामास्कन्दन्ति मृगयितुं करण-
तामादानानि वा गत्यादीनि मार्गणम्, विनेयोपाध्यायादयो मार्गणो-
पाय इति । = प्रश्न—लोकमें अर्थात् व्यावहारिक पदार्थोंका विचार
करते समय भी चार प्रकारसे अन्वेषण देखा जाता है—मृगयिता,
मृग्य, मार्गण और मार्गणोपाय । परन्तु यहाँ लोकोत्तर पदार्थके
विचारमें वे चारों प्रकार तो पाये नहीं जाते हैं, इसलिए मार्गणाका
कथन करना नहीं बन सकता है । उत्तर—यह कोई दोष नहीं है,
क्योंकि, इस प्रकरणमें भी चारों प्रकार पाये जाते हैं । वे इस प्रकार
हैं, जीवादि पदार्थोंका भ्रद्धान करनेवाला भव्य-पुण्डरीक मृगयिता-
है, चौदह गुणस्थानोसे युक्त जीव मृग्य है, जो इस मृग्यके
आधारभूत है अर्थात् मृगयिताको अन्वेषण करनेमें अत्यन्त सहा-
यक है ऐसी गति आदि मार्गणा है तथा शिष्य और उपाध्याय
आदिक मार्गणाके उपाय है । (गो. जी./जी. प्र./२/२१/१०) ।

५. मार्गणा प्रकरणमें सर्वत्र भाव मार्गणा इष्ट हैं

घ. १/१.१.२/१३१/६ 'इमानि' इत्यनेन भावमार्गणास्थानानि प्रत्यक्षी-
भूतानि निर्दिश्यन्ते । नार्थमार्गणास्थानानि । तेषां देशकालस्व-
भावविप्रकृष्टानां प्रत्यक्षतानुपपत्तेः । = 'इमानि' सूत्रमें आये हुए इस
पदसे प्रत्यक्षीभूत भावमार्गणा स्थानोंका ग्रहण करना चाहिए । द्रव्य-
मार्गणाओंका ग्रहण नहीं किया गया है, क्योंकि, द्रव्यमार्गणार्थं देश
काल और स्वभावकी अपेक्षा दूरवर्ती है, अतएव अल्पज्ञानियोंको

उनका प्रत्यक्ष नहीं हो सकता है । और भी दे० गतिमार्गणामे भाव-
गति इष्ट है—दे० गति/२/५, इन्द्रियमार्गणामें भावइन्द्रिय इष्ट है—
दे० इन्द्रिय/३/१; वेद मार्गणामें भाव वेद इष्ट है—दे० वेद/२; संयम
मार्गणामें भाव संयम इष्ट है—दे० चारित्र/३/८ । सयतासंयत/२;
लेश्यामार्गणामें भावलेश्या इष्ट है—दे० लेश्या/४ ।

६. सब मार्गणा व गुणस्थानोंमें आयके अनुसार ही व्यय होता है

घ. ४/१.३.७८/१३३/४ सव्वगुणमग्गणद्वारेणु आयाणुसारि वओव-
लंभादो । जेण एईदिएसु आओ संखेज्जो तेण तेसि वएण वि तत्तिएण
चेव होदव्व । तदो सिद्धं सादियबंधगा पलिदोवमस्स असंखेज्जदि
भागमेत्ता त्ति । = क्योंकि सभी गुणस्थान और मार्गणास्थानोंमें
आयके अनुसार ही व्यय पाया जाता है, और एकेन्द्रियोंमें आयका
प्रमाण संख्यात ही है, इसलिए उनका व्यय भी संख्यात ही होना
चाहिए । इसलिए सिद्ध हुआ कि त्रसराशिमें सादिबन्धक जीव
पक्ष्योपमके असंख्यातवें भागमात्र ही होते हैं ।

घ. १४/२६२/४ केण कारणेण भुजगार-अप्पहरउदीरयाणं तुल्लत्तं उच्चदे ।
जत्तिया मिच्छत्तादो सम्मामिच्छत्तं गच्छंति तत्तिया चेव सम्मा-
मिच्छत्तादो मिच्छत्तं गच्छंति । जत्तिया सम्मत्तादो सम्मामिच्छत्तं
गच्छंति तत्तिया चेव सम्मामिच्छत्तादो सम्मत्तं गच्छंति ।
= प्रश्न—भुजगार व अल्पतर उदीरकोकी समानता किस कारणसे
कही जाती है ? उत्तर—जितने जीव मिथ्यात्वसे सम्यग्मिध्यात्वको
प्राप्त होते हैं, उतने ही जीव सम्यग्मिध्यात्वसे मिथ्यात्वको प्राप्त
होते हैं । जितने जीव सम्यक्त्वसे सम्यग्मिध्यात्वको प्राप्त होते हैं
उतने ही सम्यग्मिध्यात्वसे सम्यक्त्व को प्राप्त होते हैं (इस कारण
उनकी समानता है) ।

दे. मोक्ष/२ जितने जीव मोक्ष जाते हैं, उतने ही निगोदसे निकलते
हैं) ।

७. मार्गणा प्रकरणमें प्रतिपक्षी स्थानोंका भी ग्रहण क्यों

घ. १/१.१.२१६/३६३/७ ज्ञानानुवादेन कथमज्ञानस्य ज्ञानप्रतिपक्षस्य
संभव इति चेन्न, मिध्यात्वसमवेतज्ञानस्यैव ज्ञानकार्यकारणादज्ञान-
व्यपदेशात् पुत्रस्यैव पुत्रकार्यकारणादपुत्रव्यपदेशात् ।

घ. १/१.१.२४४/३६६/५ आश्रयान्तस्थानिम्बानामाश्रयनव्यपदेशवन्मि-
ध्यात्वादीनां सम्यक्त्वव्यपदेशो न्यायः । = प्रश्न—ज्ञान मार्गणाके
अनुवादसे ज्ञानके प्रतिपक्षभूत अज्ञानका ज्ञानमार्गणामें अन्तर्भाव कैसे
संभव है ? उत्तर— नहीं, क्योंकि, मिध्यात्वसहित ज्ञानको ही ज्ञान-
का कार्य नहीं करनेसे अज्ञान कहा है । जैसे— पुत्रोचित कार्यको नहीं
करनेवाले पुत्रको ही अपुत्र कहा जाता है । अथवा जिस प्रकार आश्र-
यनके भीतर रहनेवाले नीमके वृक्षको आश्रयन यह संज्ञा प्राप्त हो
जाती है, उसी प्रकार मिध्यात्व आदिको सम्यक्त्व यह संज्ञा देना
उचित ही है ।

घ. ४/१.४.१३८/२८७/१० यदि एवं तो एदिस्से मग्गणाए संजमाणुवाद्दव-
वदेसो ण जुज्जे । ण, अब निब्रवण व पाधणपदमासेज्ज संजमाणु-
वाद्दववदेसज्जुत्तीए । = प्रश्न—यदि ऐसा है अर्थात् संयम मार्गणामें
संयम सयमासंयम और असंयम इन तीनोंका ग्रहण होता है तो
इस मार्गणाको संयमानुवादका नाम देना युक्त नहीं है ? उत्तर—
नहीं, क्योंकि, 'आश्रयन' वा 'निम्बवन' इन नामोंके सभान प्राधान्य-
पदका आश्रय लेकर 'सयमानुवादसे' यह व्यपदेश करना युक्तियुक्त
हो जाता है ।

६. २० प्ररूपणाओंका १४ मार्गणाओंमें अन्तर्भाव
(घ. २/१.१/४१४/२)।

सं०	अन्तर्मान्य प्ररूपणा	मार्गणा	हेतु
१	पर्याप्ति जीवसमास	काय व इन्द्रिय	एकेन्द्रिय आदि सूक्ष्म बादर तथा उनके पर्याप्त अपर्याप्त भेदोंका कथन दोनोंमें समान है।
२			
३	प्राण— उच्छ्वास वचनबल मनोबल	काय व इन्द्रिय	तीनों प्राण पर्याप्तियोंके कार्य है।
४			
	कायबल	योग	'योग' मन वचन कायके बलरूप है।
	आधु इन्द्रिय	गति ज्ञान	दोनों अविनाभावी है इन्द्रिय ज्ञानावरणके क्षयो- पशमरूप है।
	संज्ञा— आहार भय मैथुन	कषायमें माया व लोभ क्रोध व भान वेद मार्गण	संज्ञामें राग या द्वेष रूप है। आहार संज्ञा रागरूप है। भय संज्ञा द्वेषरूप है। संज्ञा स्त्री आवि वेदके तीव्रोदय रूप है।
	परिग्रह उपयोग— साकार अनाकार	लोभ ज्ञान दर्शन	परिग्रह लोभका कार्य है। साकारोपयोग ज्ञानरूप है। अनाकारोपयोग दर्शनरूप है।

*** अन्य सम्बन्धित विषय**

१. मार्गणार्थ विशेष । —दे० वह वह नाम ।
२. २० प्ररूपणा निर्देश । —दे० प्ररूपणा ।
३. १४ मार्गणाओंमें २० प्ररूपणार्थ । —दे० सत् ।
४. १४ मार्गणाओंमें सत् संख्या क्षेत्र स्पर्शन काल अन्तर भाव अल्पबहुत्व ये ८ प्ररूपणार्थ । —दे० वह वह नाम ।
५. मार्गणाओंमें कर्मोंका बन्ध उदय सत्त्व । —दे० वह वह नाम ।

मार्गप्रभावना— दे० प्रभावना ।

मार्गवाद— घ. १३/५.५.१०/२५०/११ एते मार्गाः एतेषामाभासाश्च अनेन कथ्यन्त इति मार्गवादः सिद्धान्तः । =ये पाँच प्रकारके मार्ग (दे० मार्ग) और मार्गभास जिसके द्वारा कहे जाते हैं वह सिद्धान्त मार्गवाद कहलाता है।

मार्ग सम्यक्त्व— दे० सम्यग्दर्शन/१/१ ।

मार्गोपसंयत— दे० समाचार ।

मार्दव—

वा. अ. ७२ कुलरुवजादिबुद्धिमु तत्रमुदसीलेषु गारवं किंचि । जो ण्वि कुम्बदि समणो महवधम्म ह्वे तस्स । ७२। =जो मनस्वी पुरुष कुल, रूप, जाति, बुद्धि तप, शास्त्र और शीलादिके विषयमें थोडा सा भी घमण्ड नहीं करता है, उसके मार्दव धर्म होता है। (स. सि. ६/६/४१२/५), (रा. वा. ६/६/३/५६५/२४), (भ. आ. वि. ४६/१५४/१३); (त. सा. ६/१५); (चा. सा. ६/१४) ।

स. सि. ६/१५/३३४/१२ मृदोर्भावो मार्दवम् । =मृदुका भाव मार्दव है। (रा. वा. ६/१५/५२६/२३) ।

का अ/मू. ३६५ उत्तमगाणपहाणो उत्तमतवयरणकरणसीलो वि । अप्पणं जो हीलदि महवरयण भवे तस्स । ३६५। =उत्कृष्ट ज्ञानी और उत्कृष्ट तपस्वी होते हुए भी जो मद नहीं करता वह मार्दव रूपी रत्नका धारी है।

२. मार्दव धर्म लोक लाज आदिसे निरपेक्ष है

भ. आ. वि. ४६/१५४/१३ जात्याद्यभिमानाभावो मानदोषानपेक्षश्च दृष्टकार्यानिपाथयो मार्दवम् । =जाति आदिके अभिमानका अभाव मार्दव है। लोकभयसे अथवा अपने ऐहिक कार्योंमें बाधा होनेके भयसे मान न करना सच्चा मार्दव नहीं है।

३. मार्दवधर्म पाठनार्थ कुछ भावनाएँ

भ. आ. मू. १४२७-१४३० को एत्थ मज्झ माणो बहुसो णीचत्तणं पि पत्तस्स । उच्चत्ते य अण्णिव्वे उव्विद्वे चावि णीचत्ते । १४२७। अधि-गेसु बहुसु संतेसु ममादो एत्थको मह माणो । को विम्भओ वि बहुसो पत्ते पुब्बम्मि उच्चत्ते । १४२८। जो अवमाणकारण दोसं परिहरइ णिच्चमाउत्तो । सो णाम होदि माणो ण गुणचत्तेण माणेण । १४२९। इह य परत्तय लोए दोसे बहुमे य आवहदि माणो । इदि अप्पणो गणित्ता माणस्य विणिग्गहं कुब्जा । १४३०। =मैं इस ससारमें अनन्तबार नीच अवस्थामें उत्पन्न हुआ हूँ। उच्चत्व व नीचत्व दोनों अनित्य हैं, अत उच्चता प्राप्त होकर पुन. नष्ट हो जाती है और नीचता प्राप्त हो जाती है। १४२७। सुभमे अधिक कुल आदि विशिष्ट लोग जगतमें भरे पडे हैं। अत मेरा अभिमान करना व्यर्थ है। दूसरे ये कुल आदि तो पूर्व कालमें अनेक बार प्राप्त हो चुके हैं, फिर इनमें आश्चर्य युक्त होना क्या योग्य है? १४२८। जो पुरुष अपमानके कारणभूत दोषोंका त्याग करके निर्दोष प्रवृत्ति करता है वही सच्चा मानी है, परन्तु गुण रहित होकर भी मान करनेसे कोई मानी नहीं कहा जा सकता। १४२९। इस जन्ममें और पर जन्ममें यह मानकषाय बहुत दोषोंको उत्पन्न करता है, ऐसा जानकर सत्पुरुष मानका निग्रह करते हैं। १४३०।

पं. वि. १/५७-५८ तद्धार्यते किमुत बोधदशा समस्तम् । स्वप्नेन्द्रजाल-सदृशं जगदीक्षमाणैः । ५७। कास्था सच्चानि सुन्दरेऽपि परितो दन्दह्य-मानाग्निभिः, कायादौ तु जरादिभिः, प्रतिदिनं गच्छत्यवस्थान्तरम् । इत्यालोचयतो हृदि प्रशमिनः शश्वद्विवेकोज्ज्वले, गर्वस्यावसरः कुतो-ऽत्र घटते भावेषु सर्वेष्वपि । =ज्ञानमय चक्षुसे समस्त जगतको स्वप्न अथवा इन्द्रजालके समान देखनेवाले साधुजन क्या उस मार्दव धर्मको नहीं धारण करते हैं। ५७। सब ओरसे अतिशय जलनेवाली अग्नियोंसे खण्डहररूप अवस्थाको प्राप्त होनेवाले सुन्दर गृहके समान प्रतिदिन वृद्धत्व आदिके द्वारा दूसरी अवस्थाको प्राप्त होनेवाले शरीरादि बाह्य पदार्थोंमें नियताका विश्वास कैसे किया जा सकता है। इस प्रकार सदा विचार करनेवाले साधुके निर्मल विवेकयुक्त हृदयमें जाति, कुल एवं ज्ञान आदि सभी पदार्थोंके विषयमें अभिमान करनेका अवसर कहाँसे हो सकता है? ५८।

अन. घ. ६/६-१६/५७२ हृत्सिन्धुर्विधिशिल्पिकल्पितकुलाद्भ्युत्कर्षहर्षो-र्मिभिः, किर्मौरः क्रियता चिराय सुकृतां म्लानिस्तु पुंमानिनाम् । मानस्यात्मभुवापि कुत्रचिदपि स्वोत्कर्षसंभावनं, तद्वज्रेऽपि विधेश्व-रेयमिति धिग्मानं पुमुत्प्लाविनम् । १६। गर्वप्रत्यग्नयकवलिते विश्वदीपे विवेकत्वष्टर्युच्चैः, स्फुरितदुरित दोषमन्देहवृन्दैः । सत्रोद्भृते तमसि हतहृत् जन्तुराप्तेषु भूयो, भूयोऽभ्याजत्वपि सजति ही स्वैरसुमार्ग एव । १०। जगद्वैचित्र्येऽस्मिन्बलसति विधौ काममनिर्शं, स्वतन्त्रो न ववास्मोत्यभिनिविशतेऽहकृतिमः । कुपीर्येनादत्ते किमपि तदर्थ

यदसवशाच्चिर भुङ्क्ते नीचेर्गतिजममानज्वरभरम् ॥२१॥ भद्रं मार्दववज्राय येन निह्नं नपक्षति' । पुन करोति मानाद्भिन्नोरथानाय मनोरथम् ॥२२॥ क्रियेत गर्व संसारे न श्रूयते नृपोऽपि चेत् । देवाज्जातं कृमिर्गुथे भूत्यो नैक्ष्येत वा भवत् ॥२३॥ प्राच्यानैद्युगीनानथ परम-गुणग्रामसामृद्धचसिद्धा— नद्धाध्यायत्रिरुन्ध्यत्रिरुन्ध्यन्प्रदिमपरिणत शिर्मदं दुर्मदारिम् । छेत्तु दौर्गत्यदुख प्रवरगुरुगिरा सगरे सद्गन-तास्ते , क्षेप्तु कर्मारिचक्र सुहृदमिव शितैर्दीपयेद्वाभिमानम् ॥२४॥ मार्दवाशननिह्नं नपक्षो मायाक्षिति गत । योगाम्बुनैव भेलोऽन्तर्व-हता गर्वपर्वत' ॥२५॥ मनोऽवर्णमिवापमानमभितस्तेनेऽर्ककीर्तेस्तथा, मायाभूतिमचाकरत्सगरजात् पृष्ठ सहस्राणि तात् । तत्सौनन्दमिवा-दिराट् परमर मानग्रहाम्मोचयेत्, तन्वन्मार्दवमाप्नुयात् स्वयमिमं चोच्छ्रिय तद्वच्छिवम् ॥२६॥ = कर्मोदय जनित कुल आदिके अति-रेककी चित्रविचित्रताके निमित्तसे व्यक्ति अपनेको उत्कृष्ट समझता है, सो व्यर्थ है, क्योंकि, कभी-कभी अपने पुत्रोंके द्वारा भी उसका मान मर्दन कर दिया जाता है । १६। कर्तव्य अकर्तव्य आदिका विवेक नष्ट करके अहंकाररूप अन्धकारको प्राप्त व्यक्त अभीष्ट मार्गको छोड़कर कुमार्गका आश्रय लेता है । १७। पुण्य कर्मका उदय होनेपर व्यक्ति अत्यन्त अहंकार करने लगता है और यह भूल जाता है, कि नीच गतियों आदिमें अपमान पाना इस अहंकारका ही फल है । १८। मानको समूल नष्ट करनेवाला यह मार्दव धर्म जयवन्त हो । १९। अरे । साधारण जनको बात तो दूर रही, राजा भी मरकर पापकर्मके उदयसे विद्यामें कीडा हो जाता है । २०। आत्माका अत्यन्त अपाय करनेवाला यह मान प्रजल शत्रु है, मार्दव धर्मके द्वारा साधुजनोंको सशस्त्र इत्ते नाश करना चाहिए । अथवा यदि मान ही करना है तो अपनी व्रतादिरूप प्रतिज्ञाओपर करे जिससे कि धर्मके शत्रुओंका सहार हो । २१। मार्दव-से गर्व रूप पर्वतका चूर चूर हो जाता है । २२। अहंकारके कारण भरत चक्रवर्तीके पुत्र अर्ककीर्तिको कितना अग्रमान सहना पडा, तथा सगर चक्रवर्तीके ६०,००० पुत्रोंकी माया मणिकेतु देवने क्षणभरमें भस्म कर दी । अत जिस प्रकार भरतराजने बाहुबलिकुमारका मान दूर करनेके लिए प्रयत्न किया उसी प्रकार साधुजन भी सदा भव्य-जननोंका अहंकार रूप भूत दूर करनेका प्रयत्न करते रहे । २६।

४. मार्दव धर्मकी महिमा

रा. वा । ६/६/२७/५६६/१२ मार्दवोपेतं गुरवोऽनुगृह्णन्ति, साधवोऽपि साधुमामन्यन्ते । ततश्च सम्यग्ज्ञानादीनां पात्रोभवति । ततः स्वर्गा-पवर्गफलावाप्ति । मलिनने मनसि व्रतशीलानि नावतिष्ठन्ते । साध-वश्चैनं परित्यजन्ति । तन्मूला सर्वा विपदा । = मार्दव गुणयुक्त व्यक्तिपर गुरुओंका अनुग्रह होता है । साधुजन भी उसे साधु मानते हैं । गुरुके अनुग्रहसे सम्यग्ज्ञान आदिकी प्राप्ति होती है और उससे स्वर्गादि सुख मिलते हैं । मलिन मनमें व्रत शीलानि नहीं ठहरते, साधुजन उसे छोड़ देते हैं । तात्पर्य यह कि अहंकार समस्त विप-दाओंकी जड़ है । (चा. सा । ६/१/५) ।

* दश धर्म—दे० धर्म/८ ।

मालव—भरतक्षेत्र आर्यखण्डका एक देश—दे० मनुष्य/४ ।

मालवा—१. भरतक्षेत्र दक्षिण आर्यखण्डका एक देश—दे० मनुष्य/४ । २. वर्तमान मालवा प्रान्त सौराष्ट्रके पूर्वमें स्थित है । अबन्ती, उज्जैन, दक्षपुर (मन्दसौर), धारानगरी (धार), इन्द्रपुर (इन्दौर) आदि इसके प्रसिद्ध नगर हैं । (म. पु. प्र ४६ प, पञ्जालाल) ३. मालवा देशके राज्यवश—दे० इतिहास/३/३ ।

मालांग—एक प्रकारके कल्पवृक्ष है—दे० वृक्ष/१ ।

मालारोहण—१. आहारका एक दोष—दे० आहार/II/४/४ । २. वसतिकाका एक दोष—दे० वसतिका ।

मालिकोद्बहन—कायोत्सर्गका अतिचार—दे० व्युत्सर्ग/१ ।

माल्य—१. विजयार्थकी उत्तर श्रेणीका एक नगर—दे० विद्याधर । २. भरतक्षेत्र पश्चिम आर्यखण्डका एक देश—दे० मनुष्य/४ ।

माल्यवती—भरतक्षेत्र पूर्वी आर्यखण्डकी एक नदी—दे० मनुष्य/४ ।

माल्यवान्—१. एक गजदन्त पर्वत—दे० लोक/५/३ । २. माल्यवान् गजदन्तका एक कूट व उसका रक्षक देव—दे० लोक/५/४ ३. उत्तर-कुरुके १० द्रहोमेंसे दो—दे० लोक/५/४ ४. यदुवंशी अन्धकवृष्णिके पुत्र हिमवातुका पुत्र तथा नेमिनाथ भगवानुका चचेरा भाई—दे० इतिहास/१० ।

माषफल—तोलका एक प्रमाण—दे० गणित/II/१ ।

माषवती—भरतक्षेत्र मध्य आर्य खण्डकी एक नदी ।—दे० मनुष्य/४ ।

मास—कालका एक प्रमाण—दे० गणित/II/१/४ ।

मासैकवासता—भ. आ./वि/४२९/६१६/७ ऋतुषु षट्सु एकैक-मेव मासमेकत्र वसतिरन्यदा विहरति इत्ययं नवम स्थितिकल्प । एकत्र चिरकालावस्थाने नित्यमुद्गमदोषं च न परिहर्तुं क्षम । क्षेत्र-प्रतिबद्धता, सातगुरुता, अलसता, सौकुमार्यभावना, ज्ञातभिक्षा-प्राहिता च दोषाः । = वसन्तादिक छहो ऋतुओंमेंसे एकेक ऋतुमें एक मास पर्यन्त एक स्थानमें मुनि निवास करते हैं और एक मास विहार करते हैं, यह षट्ठी स्थिति कल्प है । एक ही स्थानमें चिर-काल रहनेसे उद्गमादि दोषोंका परिहार नहीं हो सकता । वस-तिकापर प्रेम, मुखमें लम्पटता, आलस्य, सुकुमारताकी भावना आदि दोष उत्पन्न हो जाते हैं । जिनके हाँ पूर्वमें आहार लिया था उनके हाँ ही पुनरपि आहार लेना पडता है । इसलिए मुनि एक स्थानमें चिरकाल तक नहीं ठहरते ।

माहिषक—भरतक्षेत्र दक्षिण आर्यखण्डका एक देश—दे० मनुष्य/४ ।

माहेंद्र—१. स्वर्गमें चौथा कल्प—दे० स्वर्ग/३,५ । २. कुण्डल पर्वतका एक कूट ।—दे० लोक/५/१२, २.

मितसंभाषण—रा. वा. १६/५/५६४/१८ मितमनर्थकबहुप्रलपनरहि-तम् ।—अनर्थक बहुप्रलपन रहित वचन मित है । (चा. सा. ६/७/१) ।

मित्र—१. दे० सगति । २. सौधर्म स्वर्गका ३० वाँ पटल ।—दे० स्वर्ग/५ ।

मित्रक—पुत्राटसघकी गुर्वावलीके अनुसार आप बलदेवके शिष्य तथा सिंहबलके गुरु थे—दे० इतिहास ७/५ ।

मित्रनन्दि—१. भगवती आराधनाके कर्ता शिवकोटि आचार्यके गुरु थे । समय—ई. श १ का पूर्व चतुर्थांश । (भ. आ./प्र. २-३/प्रेमी जी) । २. म. पु./५६/श्लोक नं.—भरतक्षेत्रके पश्चिम विदेह क्षेत्रमें यह एक राजा था । ६३। दौक्षा धारण कर अनुत्तर विमानमें देव हुआ । ७०।

मित्रवीर—पुत्राटसघकी गुर्वावलीके अनुसार आप मन्दरार्यके शिष्य तथा बलदेवके गुरु थे । समय—बी. नि. ५६० (ई. ६३)—दे० इतिहास/७/८ ।

मिथिला—विदेह देशमें स्थित दरभंगा जिला (म. पु./प्र ५०/पं, पञ्जालाल) ।

मिथ्या अनेकान्त—दे० अनेकान्त/१ ।

मिथ्या एकांत—दे० एकांत/१ ।

मिथ्याकार—दे० समाचार ।

मिथ्या ज्ञान—दे० ज्ञान/III ;

मिथ्यात्व - दे० मिथ्यादर्शन ।

मिथ्यात्व कर्म—दे० मोहनीय ।

मिथ्यात्वक्रिया—दे० क्रिया/३/१ ।

मिथ्यादर्शन—स्वात्म तत्त्वसे अपरिचित लौकिक जन शरीर, धन, पुत्र, स्त्री आदिमें ही स्व व मेरापना तथा इष्टानिष्टपना मानता है, और तदनुसार ही प्रवृत्ति करता है। इसीलिए उसके अभिप्राय या रुचिको मिथ्यादर्शन कहते हैं। गृहीत, अगृहीत, एकान्त, सशय, अज्ञान आदिके भेदसे वह अनेक प्रकारका है। इनमें साम्प्रदायिकता गृहीत मिथ्यात्व है और पक्षपात एकान्त मिथ्यात्व। सब भेदोमें ये दोनो ही अत्यन्त घातक व प्रबल है।

१. मिथ्या दर्शन सामान्यका लक्षण

१. तत्त्व विषयक विपरीत अभिनिवेश

म. आ./मू./५६/१८० तं मिच्छन्तं जमसद्दहणं तच्चाण होइ अरथाणं ।
=जीवादि पदार्थोंका भ्रमज्ञान न करना मिथ्यादर्शन है। (पं. सं./-
प्रा./१/७), (घ १/१.१.१०/गा. १०७/१६३) ।

ग. सि./२/६/१६६/७ मिथ्यादर्शनकर्मण उदयासत्त्वार्थाभ्रमज्ञानपरिणामो
मिथ्यादर्शनम् । = मिथ्यात्वकर्मके उदयसे जो तत्त्वोका अभ्रमज्ञान
रूप परिणाम होता है वह मिथ्यादर्शन है। (रा. वा./२/६/४/१०६/६);
(गो. जी./मू./१६/३६); (और भी दे० मिथ्यादृष्टि/१) ।

स. वि./मूलवृत्ति/४/११/२७०/११ जीवादितत्त्वार्थाभ्रमज्ञानं मिथ्यादर्शनम् ।
जीवे तावन्नास्तित्वयम् अन्यत्र जीवाभिमानश्च, मिथ्यादृष्टे-
द्वैविध्यानतिक्रमात् विप्रतिपत्तिरप्रतिपत्तिर्वेति । = जीवादि तत्त्वों-
में अभ्रमज्ञान होना मिथ्यादर्शन है। वह दो प्रकारका है—जीवके
नास्तित्व भावरूप और अन्य पदार्थमें जीवके अभिमान रूप।
क्योंकि, मिथ्यादृष्टि दो प्रकारकी ही हो सकती है। या तो विप-
रीत ज्ञानरूप होगी और या अज्ञान रूप होगी ।

न. च. वृ./३०३-३०५ मिच्छन्तं पुणं दुविहं मूढसं तह सहावणिरवेक्ख ।
तत्सोदयेण जीवो विवरीद गेहणए तच्चं । ३०३। अत्थित्तं णो
मण्णदि णत्थिसहावस्स जो हू सावेक्खं । जत्थी विय तह दब्बे
मूढो मूढो दु सव्वत्थ ३०४। मूढो विय सुदहेदं सहावणिरवेक्खरूव-
दो होदि । अलहंतो खवणादो मिच्छापायडी खल्लु उदये ३०५।
= मिथ्यात्व दो प्रकारका है—मूढत्व और स्वभाव निरपेक्ष। उसके
उदयसे जीव तत्त्वोको विपरीत रूपसे ग्रहण करता है। ३०३। जो
नास्तित्वसे सापेक्ष अस्तित्वको अथवा अस्तित्वसे सापेक्ष नास्तित्वको
नही मानता है वह द्रव्य मूढ होनेके कारण सर्वत्र मूढ है। ३०४।
तथा श्रुतके हेतुसे होनेवाला मिथ्यात्व स्वभाव निरपेक्ष होता है।
मिथ्या प्रकृतियोंके उदयके कारण वह क्षमण आदि भावोको प्राप्त
नही होता है। ३०५।

न. सा./ता. वृ./६१ भगवदर्हत्परमेश्वरमार्गप्रतिकूलमार्गाभासमार्ग-
भ्रमज्ञानं मिथ्यादर्शन । = भगवान् अर्हन्त परमेश्वरके मार्गसे प्रति-
कूल मार्गाभासमें मार्गका भ्रमज्ञान मिथ्यादर्शन है।

स्या. मं/३२/३४१/२३ पर उद्भूत हेमचन्द्रकृत योगशास्त्रका श्लोक
नं. २—“अदेव देवबुद्धिर्या गुरुधोरगुरो च या । अधर्मे धर्मबुद्धिश्च
मिथ्यात्वं तद्विपर्ययात् । = अदेवको देव, अगुरुको गुरु और अधर्म-
को धर्म मानना मिथ्यात्व है, क्योंकि वह विपरीत रूप है। (प.
घ/७/१०५१) ।

स. सा./ता. वृ./८८/१४४/१० विपरीताभिनिवेशोपयोगविकाररूप
शुद्धजीवादिपदार्थविषये विपरीतभ्रमज्ञानं मिथ्यात्वमिति । = विप-

रीत अभिनिवेशके उपयोग विकाररूप जो शुद्ध जीवादि पदार्थोंके
विषयमें विपरीत भ्रमज्ञान होता है उसे मिथ्यात्व कहते हैं। (द्र. स./
टी./४८/२०५/६) ।

२. शुद्धात्म विमुखता

नि. सा./ता. वृ./६१ स्वात्मभ्रमज्ञान विमुखत्वमेव मिथ्यादर्शन... ।
= निज आत्माके भ्रमज्ञानरूपसे विमुखता मिथ्यादर्शन है।

द्र. स/टी/३०/८८/१ अभ्यन्तरे वीतरागनिजात्मतत्त्वानुभूतिरुचि-
विषये विपरीताभिनिवेशजनकं, बहिर्विषये तु परकीयशुद्धात्मतत्त्व-
प्रभृतिसमस्तद्रव्येषु विपरीताभिनिवेशोत्पादक च मिथ्यात्वं भण्यते ।
= अन्तरगमे वीतराग निजात्मतत्त्वके अनुभवरूप रुचिमें विपरीत
अभिप्राय उत्पन्न करानेवाला तथा बाहरी विषयमें अभ्यके शुद्ध
आत्म तत्त्व आदि समस्त द्रव्योमें जो विपरीत अभिप्रायका उत्पन्न
करानेवाला है उसे मिथ्यात्व कहते हैं।

द्र. स/टी/४२/१८३/१० निरञ्जननिर्दोषपरमात्मैवोपादेय इति रुचिरूप-
सम्यक्त्वाद्द्विलक्षणं मिथ्यादर्शनं भण्यते । = अपना निरञ्जन व निर्दोष
परमात्मतत्त्व ही उपादेय है, इस प्रकारकी रुचिरूप सम्यक्त्वसे
विपरीतको मिथ्या शक्य कहते हैं।

२. मिथ्यादर्शनके भेद

म. आ./मू./५६/१८० संसद्दयमभिगगहियं अणभिगगहियं च तं तिविहं ।
= वह मिथ्यात्व संशय, अभिगृहीत और अनभिगृहीतके भेदसे तीन
प्रकारका है। (घ. १/१.१.६/गा. १०७/१६३) ।

बा. अ./४८ एयंतविणयविवरियससयमण्णामिदि ह्वे पच । = मिथ्यात्व
पाँच प्रकारका है—एकान्त, विनय, विपरीत, सशय और अज्ञान ।
(स. सि./८/३७५/३), (रा. वा./८/२८/५६४/१७), (घ ८/३,
६/२), (गो. जी./मू./१६/३६); (त. सा./१/३), (द. सा/५),
(द्र. स./टी./३०/८६/१ पर उद्भूत गा.) ।

स. सि./८/१३७५/१ मिथ्यादर्शनं द्विविधम्, नैसर्गिक परोपदेशपूर्वक
च । परोपदेशनिमित्त चतुर्विधम्, क्रियाक्रियाण्यज्ञानिकवैनयिक-
विकल्पात् । = मिथ्यादर्शन दो प्रकारका है—नैसर्गिक और परोप-
देशपूर्वक। परोपदेश-निमित्तक मिथ्यादर्शन चार प्रकारका है—
क्रियावादी, अक्रियावादी, अज्ञानी व वैनयिक। (रा. वा./८/१/६,
८/५६१/२७) ।

रा. वा./८/१/१२/६६२/१२ त एते मिथ्योपदेशभेदाः त्रीणि शतानि
त्रिषष्ट्युत्तराणि ।

रा. वा./८/१/२७/५६४/१४ एव परोपदेशनिमित्तमिथ्यादर्शनविकल्पा
अन्ये च संख्येया योज्या उह्या, परिणामविकल्पात् असंख्येयाश्च
भवन्ति, अनन्ताश्च अनुभागभेदात् । यन्नैसर्गिक मिथ्यादर्शन तद-
प्येकद्वित्रिचतुरिन्द्रियासंज्ञिपञ्चेन्द्रियार्थडम्बेच्छशवरपुलिन्ददि -
परिग्रहादनेकविधम् । = इस तरह कुल ३६३ मिथ्यामतवाद है।
(दे० एकान्त/५) । इस प्रकार परोपदेशनिमित्तक मिथ्यादर्शनके
अन्य भी संख्यात विकल्प होते हैं। इसके परिणामोकी दृष्टिसे
असंख्यात और अणुभागकी दृष्टिसे अनन्त भी भेद होते हैं। नैस-
र्गिक मिथ्यादर्शन भी एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय,
असंज्ञी पंचेन्द्रिय, संज्ञी पंचेन्द्रिय, तिर्यच, म्लेच्छ, शवर, पुलिन्द
आदि स्वामियोंके भेदसे अनेक प्रकारका है।

घ. १/१.१.६/गा १०५ व टीका/१६२/५ जावदिया वयणवहा तावदिया
चेव होति णयवादा । जावदिया णयवादा तावदिया चैव परसमया
। १०५। इति वचनात् मिथ्यात्वपञ्चकनियमोऽस्ति किन्तूपलक्षणमात्र-
मेतदभिहितं पञ्चविधं मिथ्यात्वमिति । = 'जितने भी वचनमार्ग
हैं उतने ही नयवाद है और जितने नयवाद है उतने ही परसमय
होते हैं। (और भी दे० नय/II/५/५)', इस वचनके अनुसार
मिथ्यात्वके पाँच ही भेद हैं यह कोई नियम नहीं समझना चाहिए,

किन्तु मिथ्यात्व पाँच प्रकारका है यह कहना उपलक्षण मात्र सम्भना चाहिए।

न. च वृ./३०३ मिच्छत्त पुण द्रुविहं मूढत्तं तह सहावणिरवेत्तं। मिथ्यात्व दो प्रकारका है।—मूढ व स्वभाव निरपेक्ष।

३. गृहीत व अगृहीत मिथ्यात्वके लक्षण

स. सि./८/१/३७५/१ तत्रोपदेशमन्तरेण मिथ्यात्वकर्मोदयवशाद् यदा-विर्भवति तत्त्वार्थाश्रद्धानलक्षणं तन्नैसर्गिकम् । परोपदेशनिमित्तं चतुर्विधम् ।—जो परोपदेशके बिना मिथ्यादर्शन कर्मके उदयसे जीवादि पदार्थोंका अश्रद्धानरूप भाव होता है, वह नैसर्गिक मिथ्यादर्शन है। परोपदेश निमित्तक मिथ्यादर्शन चार प्रकारका है। (रा.वा/८/१/७-८/२६१/२६)।

भ. आ./वि/५६/१८०/२२ यद्देशाभिमुख्येन गृहीतं स्वोक्तम् अश्रद्धानं अभिगृहीतमुच्यते यदा परस्य वचनं श्रुत्वा जीवादीनां सत्त्वे अनेकान्तात्मकत्वे चोपजातम् अश्रद्धानं अरुचिमिथ्यात्ममिति। परोपदेशं विनापि मिथ्यात्वोदयादुपजायते यदश्रद्धानं तदनभिगृहीत मिथ्यात्वम् ।—(जीवादितत्त्व नित्य ही है अथवा अनित्य ही है, इत्यादि रूप) दूसरोंका उपदेश सुनकर जीवादिकोंके अस्तित्वमें अथवा उनके धर्मोंमें अश्रद्धा होती है, यह अभिगृहीत मिथ्यात्व है और दूसरेके उपदेशके बिना ही जो अश्रद्धान मिथ्यात्व कर्मके उदयसे हो जाता है वह अनभिगृहीत मिथ्यात्व है। (पं. घ/उ/१०४६-१०५०)।

४. मिथ्यात्वकी सिद्धिमें हेतु

पं. घ/उ/१०३३ १०३४ ततो न्यायगतो जन्तोमिथ्याभावो निसर्गतः। दृड्मोहस्योदयादेव वर्त्तते वा प्रवाहवत् ।१०३३। कार्यं तदुदय-स्योच्चैः प्रत्यक्षारिसिद्धमेव यत् । स्वरूपानुपलब्धिः स्यादन्यथा कथमात्मनः ।१०३४।—इसलिए न्यायानुसार यह बात सिद्ध होती है कि जीवोंके मिथ्यात्व स्वभावसे ही दर्शनमोहके उदयसे प्रवाहके समान सदा पाया जाता है।१०३३। और मिथ्यात्वके उदयका कार्य भी भली भाँति स्वसंवेदन द्वारा प्रत्यक्ष सिद्ध है, क्योंकि अन्यथा आत्मस्वरूपकी उपलब्धि जीवोंको क्यों न होती।१०३४।

५. मिथ्यात्व सबसे बड़ा पाप है

र. क. आ./३४ अश्रेयश्च मिथ्यात्वसमं नान्यत्तनुभृताम् ।—शरीर-धारी जीवोंको मिथ्यात्वके समान अन्य कुछ अकल्याणकारी नहीं है।

गो. जो./मू/६२३ मिच्छद्दृष्टो पावा णंताणता य सासणगुणा वि । =मिथ्यादृष्टि और सासादन सम्यग्दृष्टि ये दोनों पाप अर्थात् पाप जीव है।

स. सा./२००/क १३७ आलम्बन्तां समितिपरतां ते यतोऽद्यापि पापा । आत्मानात्मावगमविरहास्सन्ति सम्यक्त्वरिक्ता ।—भले ही महा-व्रतादिका आलम्बन करे या समितियोंकी उत्कृष्टताका आश्रय करे तथापि वे पापी ही हैं, क्योंकि वे आत्मा और अनात्माके ज्ञानसे रहित होनेसे सम्यक्त्वसे रहित हैं।

स. सा./आ/२००/क. १३७। पं. जयचन्द्र=प्रश्न—व्रत समिति शुभ कार्य है, तब फिर उनका पालन करते हुए भी उस जीवको पापी क्यों कहा गया। उत्तर—सिद्धान्तमें मिथ्यात्वकी ही पाप कहा गया है; जबतक मिथ्यात्व रहता है तबतक शुभाशुभ सर्व क्रियाओंको अध्यात्ममें परमार्थतः पाप ही कहा जाता है, और व्यवहारनयकी प्रधानतामें व्यवहारी जीवोंको अशुभसे झाडाकर शुभमें लगानेकी शुभ क्रियाकी कथंचित् पुण्य भी कहा जाता है ऐसा कहनेसे स्याद्वादमतमें कोई विरोध नहीं है।

को. पा/पं. जयचन्द्र/६०/१५२/७ गृहस्थके महापाप मिथ्यात्वका सेवना अन्याय-आदि ये महापाप है।

मो. मा. प्र./८/३६३/३ मिथ्यात्व समान अन्य पाप नाही है।

अन्य सम्बन्धित विषय

१. मिथ्यादर्शनमें 'दर्शन' शब्दका महत्त्व—दे० सम्यग्दर्शन/II/१/५।
२. एकान्तादि पाँचों मिथ्यात्व —दे० वह वह नाम।
३. मिथ्यादर्शन औदयिक भाव है तथा तत्सम्बन्धी शंका समाधान —दे० उदय/६।
४. पुरुषार्थसे मिथ्यात्वका भी क्षणभरमें नाश सम्भव है। —दे० पुरुषार्थ/२।

मिथ्यादर्शन क्रिया—दे० क्रिया/३/२।

मिथ्यादर्शन वचन—दे० वचन।

मिथ्यादर्शन शल्य—दे० शल्य।

मिथ्यादृष्टि—आत्म भानसे शून्य बाह्य जगत्में ही अपना समस्त पुरुषार्थ उँडेलकर जीवन विनष्ट करनेवाले सर्व लौकिक जन मिथ्या-दृष्टि, बहिरात्मदृष्टि या पर समय कहलाते हैं। अभिप्रायकी विपरी-तताके कारण उनका समस्त धर्म कर्म व वैराग्यादि अकिंचित्कर व ससारवर्धक है। सम्यग्दृष्टिकी क्रियाएँ बाहरमें उनके समान होती हुए भी अन्तरंगकी विन्वितताके कारण कुछ अन्य ही रूप होती है।

१	भेद व लक्षण
१	मिथ्यादृष्टि सामान्यका लक्षण १. विपरीत श्रद्धान। २. पर द्रव्य रत।
*	परद्रव्यको अपना कहनेसे अशानी कैसे हो जाता है ? —दे० नय/V/८/३।
*	कुदेव कुगुरु कुधर्मकी विनयादि सम्बन्धी —दे० विनय/४।
२	मिथ्यादृष्टिके भेद।
३	सातिशय व धातायुष्क मिथ्यादृष्टि।
*	मिथ्यादृष्टि साधु। — दे० साधु/४/५।
*	अधिककाल मिथ्यात्वयुक्त रहनेपर सादि भी मिथ्या-दृष्टि अनादिवत् हो जाता है —दे० सम्यग्दर्शन/IV/२/६
२	मिथ्यादृष्टि निर्देश
*	मिथ्यादृष्टि गुणस्थानमें जीवसमाप्त, मार्गणा स्थान आदिके स्वामित्व सम्बन्धी २० प्ररूपणाएँ —दे० सत्।
*	मिथ्यादृष्टियोंकी सत् संख्या क्षेत्र स्पर्शन काल अन्तर भाव अल्पबहुत्व रूप ८ प्ररूपणाएँ—दे० वह वह नाम।
*	मिथ्यादृष्टि गुणस्थानमें कर्मोंकी बन्ध उदय सत्त्व सम्बन्धी प्ररूपणाएँ — दे० वह-वह नाम।

- १ मिथ्यादृष्टिगुणस्थानमें कदाचित् अनन्तानुबन्धीके उदयके अभावकी सम्भावना।
- * सभी गुणस्थानोंमें आयेके अनुसार व्यय होनेका नियम — दे० मार्गणा।
- * इतका सासादन गुणस्थानके साथ संबंध — दे० सासादन/२।
- २ मिथ्यादृष्टिको सर्व व्यवहारधर्म व वैराग्य आदि सम्भव है।
- ३ इतना होनेपर भी वह मिथ्यादृष्टि व असंयत है।
- * मिथ्यादृष्टिको दिये गये निन्दनीय नाम—दे० निन्दा।
- ४ उन्हें परसमय व मिथ्यादृष्टि कहनेका कारण।
- ५ मिथ्यादृष्टिको बाह्य पहिचान।
- ६ मिथ्यादृष्टियोंमें औदयिक भावकी सिद्धि।
- ३ **मिथ्यादृष्टिके भावोंकी विशेषता**
- * इसके परिणाम अध.प्रवृत्तिकरणरूप होते हैं — दे० करण/४।
- * १-३ गुणस्थानोंमें अशुभोपयोग प्रधान है — दे० उपयोग/II/४/५।
- * विभाव भी उसका स्वभाव है—दे० विभाव/२।
- १ उसके सर्व भाव अज्ञानमय हैं।
- २ उसके सर्व भाव बन्धके कारण हैं।
- ३ उसके तत्त्वविचार नय प्रमाण आदि सब मिथ्या है।
- * उसकी देशनाका सम्यक्त्वप्राप्तिमें स्थान — दे० सत्त्वि/३/४।
- * उसके व्रतोंमें कथंचित् व्रतपना — दे० चारित्र/६/८।
- * भोगोंको नहीं सेवता हुआ भी सेवता है — दे० राग/६।
- ४ **मिथ्यादृष्टि व सम्यग्दृष्टिमें अन्तर**
- १ दोनोंके अज्ञान व अनुभव आदिमें अन्तर।
- २ दोनोंके तत्त्व कर्तृत्वमें अन्तर।
- ३ दोनोंके पुण्यमें अन्तर।
- ४ दोनोंके धर्म सेवनके अभिप्रायमें अन्तर।
- ५ दोनोंकी कर्मक्षपणामें अन्तर।
- ६ मिथ्यादृष्टि जीव सम्यग्दृष्टिके आशयको नहीं जान सकता।
- * जहाँ शानी जागता है वहाँ अशानी सोता है — दे० सम्यग्दृष्टि/४।
- * मिथ्यादृष्टि व सम्यग्दृष्टिके राग व भोग आदिमें अन्तर — दे० राग/६।
- * सम्यग्दृष्टिकी क्रियाओंमें प्रवृत्तिके साथ निवृत्ति अंश रहता है। — दे० संबव/२।

१. भेद व लक्षण

१. मिथ्यादृष्टि सामान्यका लक्षण

१ विपरीत श्रद्धालु

पं. सं. प्रा./१/८ मिच्छादिदृष्टि उवइदृष्टं पवयणं ण सदहदि । सदहदि अमग्भावं उवइदृष्टं अणुवइदृष्टं च । १८१ = (मोहके उदयसे-भ.आ.) मिथ्यादृष्टि जीव जिनउपदिष्ट प्रवचनका श्रद्धान नहीं करता। प्रयुक्त अन्यसे उपदिष्ट या अनुपदिष्ट पदार्थोंके अयथार्थ स्वरूपका श्रद्धान करता है। (भ. आ./मू./४०/१३८); (पं. सं. प्रा./१/१७०); (ध. ६/१.६-८/६/गा. १५/२४२), (ल सा/मू./१०६/१४७), (गो. जी./मू./१८/४२, ६६/११०३)।

रा वा/६/१/१२/४८८/१५ मिथ्यादर्शनकर्मोदयेन वशीकृतो जीवो मिथ्यादृष्टिरित्यभिधीयते । यत्कृतं तत्त्वार्थानामश्रद्धानं । = मिथ्यादर्शन कर्मके उदयके वशीकृत जीव मिथ्यादृष्टि कहलाता है। इसके कारण उसे तत्त्वार्थोंका श्रद्धान नहीं होता है। (और भी दे० मिथ्यादर्शन/१)।

ध. १/१.१.६/१६२/२ मिथ्या वितथा व्यलीका असस्य दृष्टिदर्शनं विपरीतैकान्तविनयसंशयज्ञानरूपमिथ्यात्वकर्मोदयजनितं येषां ते मिथ्यादृष्टयः । अथवा मिथ्या वितथं, तत्र दृष्टिः रुचिः श्रद्धा प्रस्ययो येषां ते मिथ्यादृष्टयः । = मिथ्या, वितथ, व्यलीक और असस्य ये एकार्थवाची नाम हैं। दृष्टि शब्दका अर्थ दर्शन या श्रद्धान है। इससे यह तात्पर्य हुआ कि जिन जीवोंके विपरीत, एकान्त, विनय, संशय और अज्ञानरूप मिथ्यात्वकर्मके उदयसे उत्पन्न हुई मिथ्यारूप दृष्टि होती है, उन्हें मिथ्यादृष्टि जीव कहते हैं।

द्र. सं./टी./१३/३२/१० निजपरमारमभृति षड्द्रव्यपञ्चास्तिकायसह-तत्त्वनवपदार्थेषु मूढतयादि पञ्चविंशतिमत्तरहितं वीतरागसर्वज्ञप्रणीत-नयविभागेन यस्य श्रद्धानं नास्ति स मिथ्यादृष्टिर्भवति । = निजाश्वा आदि षट्द्रव्य, पाँच अस्तिकाय, सात तत्त्व, और नवपदार्थोंमें तीन मूढता आदि पञ्चीस दोषरहित, वीतराग सर्वज्ञद्वारा कहे हुए नयविभागसे जिस जीवके श्रद्धान नहीं है, वह जीव मिथ्यादृष्टि होता है।

२. परद्रव्य रत

मो.पा./मू./१५ जो पुण परदन्वरओ मिच्छादिदृष्टि हवेइ सो साह । मिच्छत्तपरिणदो उण श्चम्पदि दुट्ठदुट्ठकम्महि । १५ । = परद्रव्यरत साधु मिथ्यादृष्टि है और मिथ्यात्वरूप परिणमता हुआ दुष्ट अष्ट-कर्मोंका बन्ध करता है। (और भी दे० 'समय' में परसमयका लक्षण ।)

प.प्र./मू./१/७७ पज्जरत्तउ जीवडउ मिच्छादिदृष्टि हवेइ । बंधइ बहु-विधकम्माणि जेण ससारेभमति । ७७ । = शरीर आदि पर्यायोंमें रत जीव मिथ्यादृष्टि होता है। वह अनेक प्रकारके कर्मोंको बाँधता हुआ ससारमें भ्रमण करता रहता है।

घ. १/१.१.१/८२/७ परसमयो मिच्छत्तं । = परसमय मिथ्यात्वको कहते हैं।

प्र सा/ता वृ/६४/१२२/१६ कर्मोदयजनितपर्यायनिरतत्वात्परसमया मिथ्यादृष्टयो भण्यन्ते । = कर्मोदयजनित मनुष्यादिरूप पर्यायोंमें निरत रहनेके कारण परसमय जीव मिथ्यादृष्टि होते हैं।

दे० समय/पर समय—(पर द्रव्योंमें रत रहनेवाला पर समय कहलाता है)। (और भी दे० मिथ्यादृष्टि/२/५)।

पं ध./उ./६६० तथा दर्शनमोहस्य कर्मणस्तूदयादिह । अपि यावदना-त्मीयमात्मीयं मनुते कुटक् । ६६० । = तथा इस जगत्में उस दर्शन-मोहनीय कर्मके उदयसे मिथ्यादृष्टि सम्पूर्ण परपदार्थोंको भी निज मानता है।

१. मिथ्यादृष्टिके भेद

रा. वा./१/१२/५५५/१८ ते सर्वे समासेन द्विधा व्यवतिष्ठन्ते—हिताहितपरीक्षाविरहिताः परीक्षाशचेति । तत्रैकेन्द्रियद्वय. सर्वे संज्ञिपर्याप्तकवर्जिता. हिताहितपरीक्षाविरहिताः । —सामान्यतया मिथ्यादृष्टि हिताहितकी परीक्षासे रहित और परीक्षक इन दो श्रेणियोंमें बाँटे जा सकते हैं । तहाँ संज्ञिपर्याप्तको छोड़कर सभी एकेन्द्रिय आदि हिताहित परीक्षासे रहित हैं । सज्ञी पर्याप्तक हिताहित परीक्षासे रहित और परीक्षक दोनों प्रकारके होते हैं ।

२. सातिशय व घातायुष्क मिथ्यादृष्टि

ल. सा./जी.प्र./२२०/२७३/६ प्रथमोपशमसम्यक्त्वाभिमुखसातिशयमिथ्यादृष्टेर्भणितानि । = प्रथमोपशम सम्यक्त्वके अभिमुख जीव सातिशय मिथ्यादृष्टि कहलाते हैं ।

घ. ४/१.६.६६/३५५ विवोधार्थ—किसी मनुष्यने अपनी संयम अवस्थामें देवायुका बन्ध किया । पीछे उसने संव्लेश परिणामोके निमित्तसे संयमकी विराधना कर दी और इसीलिए अपवर्तनाघातके द्वारा आयुका घात भी कर दिया ।...यदि वही पुरुष संयमकी विराधनाके साथ ही सम्यक्त्वकी भी विराधना कर मिथ्यादृष्टि हो जाता है—ऐसे जीवको घातायुष्क मिथ्यादृष्टि कहते हैं ।

२. मिथ्यादृष्टि निर्देश

१. मिथ्यादृष्टिमें कदाचित् अनन्तानुबन्धीके उदयका अभाव भी सम्भव है

पं. सं./प्रा./१/१०३ आवलियमेत्कालं अणं कधीण होइ णो उदओ ।
पो. क./मू./४७८/६३२ अणसंजो जइदसम्मे मिच्छं पत्ते ण आवलित्ति अणं । = अनन्तानुबन्धीका विसंयोजक मिथ्यादृष्टि जीव जब सम्यक्त्वको छोड़कर मिथ्यात्वगुणस्थानको प्राप्त होता है, उसको एक आवली मात्र काल तक अनन्तानुबन्धी कषायोका उदय नहीं होता है ।

२. मिथ्यादृष्टिको सर्व व्यवहार धर्म व वैराग्य आदि होने सम्भव हैं

प्र. सा./मू./५६ अट्ठे अजघागहणं करुणाभावो य त्तिदियमणुएसु ।
विसएसु च पसणो मोहस्सेदाणि लिंगाणि १८६। = पदार्थका अयथाग्रहण और तिर्यंच मनुष्योंके प्रति करुणाभाव तथा विषयोंकी संगति, ये सब मोहके चिह्न हैं ।

दे० सम्यग्दर्शन/III/ • (नवग्रैवेयकवासी देवोंको सम्यक्त्वकी उत्पत्तिमें जिनमहिमा दर्शन निमित्त नहीं होसा, क्योंकि, वीतरागी होनेके कारण उनको उसके देखनेसे आश्चर्य नहीं होता ।)

पं. का./त. प्र./१७२ ये तु केवलव्यवहारावलम्बिनस्तै खलु भिन्नसाध्यसाधनभावावलोकनेनानवर्तं नितरां खिद्यमाना मुहुर्मुहुर्धर्मादिभ्रान्तरूपमाध्यवसायानुस्यूतचेतसः प्रभूतश्रुतसंस्काराधिरोपितविचित्रविकल्पजालकरुमाभितचैतन्यवृत्तयः, समस्तयतिवृत्तसमुदायरूपतपःप्रवृत्तिरूपकर्मकाण्डोद्भूतराचलिताना, कदाचित्किचिद्रोचमानाः, कदाचित् किचिद्विकल्पयन्तः, कदाचित्किचिदाचरन्तः, दर्शनाचरणाय कदाचित्प्रशाम्यन्तः, कदाचित्संविजयमानाः, कदाचिदनुकम्पमाना, कदाचिदास्तिक्यमुद्वहन्तः, शंकाकाङ्क्षाविक्रिस्तासूडदृष्टितानां व्युत्थापननिरोधाय नित्यबद्धपरिकराः, उपबृंहणस्थितिकरणवात्सल्यप्रभावानां भावयमाना वारम्बारमभिवधितोत्साहा, ज्ञानाचरणाय स्वाध्यायकालमवलोकयन्तो, बहुधा विनयप्रणयन्तः, प्रविहितवर्धरोपधानाः, सुष्ठु बहुमानमातन्वन्तो निह-

वापत्ति नितरां निवारयन्तोऽर्थव्यञ्जनरुभरुहृद्वा नितान्तसावधानाः, चारित्र्याचरणाय हिंसावृत्तस्तेयाज्रहपरिग्रहसपरतविरतिरूपेषु पञ्चमहाव्रतेषु तन्निष्ठवृत्तयः, सम्यग्योगनिग्रहलक्षणसु गुप्तिषु नितान्तं गृहीतोद्योगा, ईर्ष्याभाषैषणादाननिक्षेपोत्सर्गरूपासु समित्तिव्यन्तनिवेशितप्रयत्नाः, तपश्चरणायानशनावमौदर्यवृत्तिपरिसंख्यानरसपरित्यागविविक्तशय्यासनकायकलेषोवभ्रीक्षणमुत्साहमानाः, प्रायश्चित्तविनयवैयावृत्यव्युत्सर्गस्वाध्यायध्यानपरिवराङ्कुशितस्वान्ता, वीर्याचरणाय कर्मकाण्डे सर्वशक्त्या व्याप्रियमाणाः, कर्मचेतनाप्रधानत्वाद्दूरनिवारिताशुभकर्मप्रवृत्तयोऽपि समुपात्तशुभकर्मप्रवृत्तयः, सकलक्रियाकाण्डाडम्बररोत्तीर्णदर्शनज्ञानचारित्र्यैकपरिणतिरूपां ज्ञानचेतनां मनागप्यसंभावयन्तः, प्रभूतपुण्यभारमन्थरितचिन्तवृत्तयः, सुरलोकादिक्लेशप्राप्तिपरम्परया सुचिरं संसारसागरे भ्रमन्तीति । —जो केवल व्यवहारावलम्बी है वे वास्तवमें भिन्न साध्यसाधन भावके अवलोकन द्वारा निरन्तर अत्यन्त खेद पाते हुए, पुन पुन धर्मादिके भ्रान्तनमें चित्त लगाते हैं, श्रुतके संस्कारोंके कारण विचित्र विकल्प जालोंमें फँसे रहते हैं और यथाचार व तपमें सदा प्रवृत्ति करते रहते हैं । कभी किसी विषयकी रुचि व विकल्प करते हैं और कभी क्रुद्ध आचरण करते हैं । —(१) दर्शनाचरणके लिए प्रथम संवेग अनुकम्पा व आस्तिक्यको धारण करते हैं, शंका कांक्षा आदि आठों अंगोंका पालन करनेमें उत्साहचिन्त रहते हैं । (२) ज्ञानाचरणके लिए काल, विनय, उपधान, बहुमान, अनिहव, अर्थ, व्यंजन व तदुभय इन आठों अंगोंकी शुद्धिमें सदा सावधान रहते हैं । (३) चारित्र्याचरणके लिए पंचमहाव्रतोंमें, तीनों गुप्तियोंमें तथा पाँचों समितियोंमें अत्यन्त प्रयत्नयुक्त रहते हैं । (४) तपश्चरणके लिए १२ तपोंके द्वारा निज अन्तःकरणको सदा अंकुशित रखते हैं । (५) वीर्याचरणके लिए कर्मकाण्डमें सर्व शक्ति द्वारा व्यापृत रहते हैं । इस प्रकार सांगोपांग पंचाचारका पालन करते हुए भी कर्मचेतनाप्रधानपनेके कारण यद्यपि अशुभकर्मप्रवृत्तिका उन्होंने अत्यन्त निवारण किया है तथापि शुभकर्मप्रवृत्तिको जिन्होंने बराबर ग्रहण किया है ऐसे, वे सकल क्रियाकाण्डके आडम्बरसे पार उतरी हुई दर्शनज्ञानचारित्र्यकी ऐक्यपरिणतिरूप ज्ञानचेतनाको किंचित् भी न उत्पन्न करते हुए, बहुत पुण्यके भारसे मथर हुई चित्तवृत्तिलासे वर्तते हुए, देवलोकादिके क्लेशकी प्राप्तिकी परम्परा द्वारा अत्यन्त दीर्घकाल तक संसारसागरमें भ्रमण करते हैं ।

३. इतना होनेपर भी वह मिथ्यादृष्टि व असंयत है

स. सा./मू./३१४ जा एस पयडीअट्ठं चेया णेव विमुचए । अयाणओ भवे ताव मिच्छाइट्ठी असजओ १३१४। = जबतक यह आत्मा प्रकृतिके निमित्तसे उपजना विनशना नहीं छोड़ता है, तब तक वह अज्ञायक है, मिथ्यादृष्टि है, असंयत है ।

दे० चारित्र/३ (सम्यक्त्व सून्य होनेके कारण व्रत समिति आदि पालता हुआ भी वह संयत नहीं मिथ्यादृष्टि ही है ।)

४. उन्हें परसमय व मिथ्यादृष्टि कहनेका कारण

दे० मिथ्यादृष्टि/१/१(परद्रव्यरत रहनेके कारण जीव परसमय व मिथ्यादृष्टि होता है ।)

प्र. सा./त. प्र./६४ ये खलु जीवपुद्गलारमकमसमानजातीयद्रव्यपर्यायं सकलाविद्यानामेकमूलमुपगतायथोदितारमस्वभावमभावनवलीभारत — स्मिन्नेवाशक्तिमुपजन्ति, ते खलुच्छलितनिरर्गलैकान्तदृष्टयो मनुष्य एवाहमेष ममेवैतन्मनुष्यशरीरमित्येकंकारमकाराभ्यां विप्रलभ्यमाना अविचलितचेतनाविलासमात्रादारमव्यवहारात् प्रच्युत्य कोडीकृतसमस्तक्रियाकुटुम्बकं मनुष्यव्यवहारमाश्रित्य रज्यन्तो द्विषन्तश्च

परद्रव्येण कर्मणा सङ्गत्वात्परसमया जायन्ते । = जो व्यक्ति जीव-पुद्गलात्मक असमानजातीय द्रव्यपर्यायिका, जो कि सकल अविद्याओंकी एक जड़ है, उसका आश्रय करते हुए यथोक्त आत्मस्वभावकी संभावना करनेमें नर्पुंसक होनेसे उसीमें बल धारण करते हैं, वे जिनकी निरर्मल एकान्त दृष्टि उच्छलती है, ऐसे 'यह मैं मनुष्य ही हूँ, मेरा ही यह मनुष्य शरीर है' इस प्रकार अहंकार ममकारसे ठगाये जाते हुए अविचलितचेतनाविलासमात्र आत्मव्यवहारसे च्युत होकर, जिसमें समस्त क्रियाकलापको छातीसे लगाया जाता है ऐसे मनुष्यव्यवहारका आश्रय करके, रागी द्वेषी होते हुए परद्रव्यरूप कर्मके साथ संगतताके कारण वास्तवमें परसमय होते हैं अर्थात् परसमयरूप परिणमित होते हैं ।

५. मिथ्यादृष्टिकी बाह्य पहचान

र.सा./१०६ देहादिसु अपुरत्ता विसयासत्ता कसायसंजुता । अप्सहावे सुत्ता ते साहू सम्मपरिचत्ता । १०६। = जो मुनि देहादिमें अनुरक्त है, विषय कषायसे सयुक्त है, आत्म स्वभावमें सुप्त है, वह सम्यक्स्वरहित मिथ्यादृष्टि है ।

दे.राग.६/१ (जिसको परमाणुमात्र भी राग है वह मिथ्यादृष्टि है) (विशेष दे. मिथ्यादृष्टि/४) ।

दे.अज्ञान/३ (अपने पक्षकी हठ पकडकर सच्ची बातको स्वीकार न करने वाला मिथ्यादृष्टि है) ।

पं सं./प्रा./१/६ मिच्छस्तं वेदं तो जीवो विवरीयदंसणो होइ । ण य धम्मं रोचेदि हु महुंरं पि रस जहा जरिदो । ६। = मिथ्यात्वकर्मको अनुभव करनेवाला जीव विपरीत अज्ञानी होता है । उसे धर्म नहीं रुचता है, जैसे कि ज्वरयुक्त मनुष्यको मधुर रस भी नहीं रुचता है । (घ.१/१.१.६/१०६/१६२); (ल सा./मू./१०८/१४३); (गो जी./मू./१७/४१) ।

का अ/मू./३१८ दोससहितं पि देवं जीवहिंसाइ संजुदं धम्म । मंथा-सत्तं च गुरुं जो मण्णदि सो हु कुट्टिठो । = जो दोषसहित देवकी, जीवहिंसा आदिसे युक्त धर्मको और परिग्रहमें फँसे हुए गुरुको मानता है, वह मिथ्यादृष्टि है ।

दे नियति/१/२ ('जो जिस समय जैसे होना होता है वह उसी समय वैसे ही होता है, ऐसा जो नहीं मानता वह मिथ्यादृष्टि है) ।

६. मिथ्यादृष्टिमें औदयिकभावकी सिद्धि

घ.५/१,७,२/१६४/७ णणु मिच्छादिट्ठस्स अण्णे वि भावा अत्थि, णाण-दसण-गदि-लिंग-कसाय-भवाभवादि-भावाभावे जीवस्स संसारिणो अभावपसंगा । तदो मिच्छादिट्ठस्स ओदइओ चैव भावो अत्थि, अण्णे भावा णत्थि त्ति षेदं घडदे । ण एस दोसो, मिच्छादिट्ठस्स अण्णे भावा णत्थि त्ति सुत्ते पडिसेहाभावः । कित्तु मिच्छत्तं मोक्षूण जे अण्णे गदि लिगादओ साधारणभावा ते मिच्छादिट्ठत्तस्स कारण ण होति । मिच्छत्तोदओ एक्को चैव मिच्छत्तस्स कारण, तेण मिच्छादिट्ठि त्ति भावो ओदइओ त्ति परूविदो । = प्रश्न—मिथ्यादृष्टिके अन्य भी भाव होते हैं । ज्ञान, दर्शन, (दो क्षायोप-शमिक भाव), गति लिंग, कषाय (तीन औदयिक भाव), भव्यत्व, अभव्यत्व (दो पारिणामिक भाव) आदि भावोंके अभाव मानने पर संसारी जीवके अभावका प्रसंग प्राप्त होता है । (विशेष दे भाव/२) । इसलिए मिथ्यादृष्टि जीवके केवल एक औदयिक भाव ही होता है, और अन्य भाव नहीं होते हैं, यह कथन प्रतित नहीं होता है । उत्तर—यह कोई दोष नहीं; क्योंकि, मिथ्यादृष्टिके औदयिक भावके अतिरिक्त अन्य भाव नहीं होते हैं, इस प्रकारका सूत्रमें प्रति-षेध नहीं किया गया है । किन्तु मिथ्यादृष्टिको छोड़कर जो अन्य गति लिंग आदिक साधारण (सभी गुणस्थानोंके लिए सामान्य) भाव हैं, वे मिथ्यादृष्टिके कारण नहीं होते हैं । एक मिथ्यात्वका उदय ही

मिथ्यादृष्टित्वका कारण है । इसलिए 'मिथ्यादृष्टि' यह भाव औदयिक कहा गया है ।

घ. ५/१,७,१०/२०६/८ सम्मामिच्छत्तस्ववघादिफहृयाणमुदयक्खएण तेसि चैव संतोवसमेण सम्मत्तवेसघादिफहृयाणमुदयक्खएण तेसि चैव संतोवसमेण अणुदओवसमेण वा मिच्छत्तस्ववघादिफहृयाणमुदएण मिच्छादृष्टी उप्पज्जदि त्ति खओवसमिओ सो किण्ण होदि । उच्चवे— ण हाव सम्मत्तसम्मामिच्छत्तवेसघादिफहृयाणमुदयक्खओ संतोवसमो अणुदओवसमो वा मिच्छादिट्ठीए कारणं, सम्महिचारि-त्तादो । जं जदो णियमेण उप्पज्जदि त तस्स कारणं, अण्णहा अणवत्थापसंगादो । जदि मिच्छत्तुप्पज्जणकाले विज्जमाणा तक्का-रणत्तं पडिवज्जति तो णाण-दंसण-असंजमादओ वि त्त्तकारणं होति । ण चैवं, तहाविहववहाराभावा । मिच्छादिट्ठीए पुण मिच्छत्तुदओ कारणं, तेण विणा तदणुप्पत्तीए । = प्रश्न—सम्यग्मिथ्यास्वप्रकृतिके सर्वघाती स्पर्धकोके उदयक्षयसे, उन्हींके सदनस्वरूप उपशमसे, तथा सम्यक्स्वप्रकृतिके देशघाती स्पर्धकोके उदयक्षयसे, उन्हींके सदवस्थारूप उपशमसे और मिथ्यास्वप्रकृतिके सर्वघाती स्पर्धकोके उदयसे मिथ्यादृष्टिभाव उत्पन्न होता है, इसलिए उसे क्षयोपशम क्यों न माना जाये । उत्तर—न तो सम्यक्त्व और सम्यग्मिथ्यात्व, इन दोनों प्रकृतियोंके देशघाती स्पर्धकोका उदय, क्षय, अथवा सदवस्था-रूप उपशम, अथवा अनुदयरूप उपशम मिथ्यादृष्टि भावका कारण है, क्योंकि, उसमें व्यभिचार दोष आता है । जो जिससे नियमत. उत्पन्न होता है, वह उसका कारण होता है । यदि ऐसा न माना जावे, तो अनवस्था दोषका प्रसंग आता है । यदि यह कहा जाये कि मिथ्यात्वकी उत्पत्तिके कालमें जो भाव विद्यमान हैं, वे उसके कारणपनेको प्राप्त होते हैं । तो फिर ज्ञान, दर्शन, असंयम आदि भी मिथ्यात्वके कारण हो जावेंगे । किन्तु ऐसा है नहीं, क्योंकि, इस प्रकारका व्यवहार नहीं पाया जाता है । इसलिए यही सिद्ध होता है कि मिथ्यादृष्टिका कारण मिथ्यात्वका उदय ही है, क्योंकि, उसके बिना मिथ्यात्वकी उत्पत्ति नहीं होती है ।

३. मिथ्यादृष्टिके भावोंकी विशेषता

१. मिथ्यादृष्टिके सर्वभाव अज्ञानमय हैं

स.सा./मू./१२६ अण्णाणमया भावा अण्णाणो चैव जायए भावो । जम्हा तम्हा भावा अण्णाणमया अण्णाणस्स । = अज्ञानमय भावमेंसे अज्ञान-मय ही भाव उत्पन्न होता है, इसलिए अज्ञानियोंके भाव अज्ञानमय ही होते हैं ।

स.सा./आ./१२६/क ६७ ज्ञानिनो ज्ञाननिर्वृत्ता सर्वे भावा भवन्ति हि । सर्वेऽप्यज्ञाननिर्वृत्ता भवन्त्यज्ञानिनस्तु ते । = ज्ञानोंके सर्वभाव ज्ञानसे रचित होते हैं और अज्ञानोंके समस्त भाव अज्ञानसे रचित होते हैं ।

दे.मिथ्यादर्शन/४ (व्रतादि पालता हुआ भी वह पापी है) ।

दे.मिथ्यादृष्टि/२/३ (व्रतादि पालता हुआ भी वह अज्ञानी है) ।

२. अज्ञानीके सर्वभाव बन्धके कारण हैं

स.सा./मू./२१६ अण्णाणो पुणरत्तो सत्त्वदब्बेसु कम्ममज्झगदो । लिप्पदि कम्मरएण दु कदममज्जे जहा लोहं । २१६। = अज्ञानी जो कि सर्व द्रव्योंके प्रति रागी है, वह कर्मोंके मध्य रहा हुआ कर्म रजसे लिप्त होता है, जैसे लोहा कीचड़के बीच रहा हुआ जंगसे लिप्त हो जाता है ।

दे.मिथ्यादृष्टि/१/१/२ (मिथ्यादृष्टि जीव सदा परद्रव्योंमें रत रहनेके कारण कर्मोंको बाँधता हुआ संसारमें भटकता रहता है) ।

दे.मिथ्यादृष्टि/२/२ (सांगोपाग धर्म व चारित्रिका पालन करता हुआ भी वह संसारमें भटकता है) ।

स सा/आ./१९४ स तु यदा वेद्यते तदा मिथ्यादृष्टे रागादिभावानां सद्भावेन बन्धनिमित्तं धृत्वा निर्जीर्यमाणोऽप्यजीर्णः सन् बन्ध एव स्यात् । = जन्म उस मुख या दुःखरूप भावका वेदन होता है तब मिथ्यादृष्टिको रागादिभावोंके सद्भावसे बन्धका निमित्त होकर वह भाव निर्जराको प्राप्त होता हुआ भी (वास्तवमें) निर्जरित न होकर बन्ध ही होता है ।

दे सम्यग्दृष्टि/२ (ज्ञानीके जो भाव मोक्षके कारण है वही भाव अज्ञानीको बन्धके कारण है) ।

३. मिथ्यादृष्टिका तत्त्वविचार नय प्रमाण आदि सब मिथ्या हैं

न. च. वृ./४१५ लवणं व इणं भणियं णयचक्कं सयलसत्थमुद्धियरं । सम्माविय सुय मिच्छा जीवाण सुणयमगरहियारं । = सकल शास्त्रोंकी शुद्धिको करनेवाला यह नयचक्र अति संक्षेपमें कहा गया है । क्योंकि सम्यक् भी श्रुत या शास्त्र, मुनयरहित जीवोंके लिए मिथ्या होता है ।

पं का/ता. वृ./प्रलेपक ४३-६/२०/२८ मिथ्यात्वात् यथैवाज्ञानमविरति-भावश्च भवति तथा मुनयो दुर्नयो भवति प्रमाणं दुःप्रमाणं च भवति । कदा भवति । तत्त्वविचारकाले । किं कृत्वा । प्रतीत्याश्रित्य । किमाश्रित्य । ज्ञेयभूत जीवादिवरित्वति । = मिथ्यात्वसे जिस प्रकार अज्ञान और अविरति भाव होते हैं, उसी प्रकार ज्ञेयभूत वस्तुकी प्रतीतिका आश्रय करके जिस समय तत्त्वविचार करता है, तब उस समय उसके लिए मुनय भी दुर्नय हो जाते हैं और प्रमाण भी दुःप्रमाण हो जाता है । (विशेष दे ज्ञान/III/२/८६; चारित्र/३/१०; धर्म/२; नय/II/६; प्रमाण/२/४/२; भक्ति/१।

४. मिथ्यादृष्टि व सम्यग्दृष्टिमें अन्तर

१. दोनोंके भ्रमन व अनुभव आदिमें अन्तर

स. सा./मू./२७५ सवहदि य पत्तेदि य रोचेदि य तह पुणो य फासेदि । धम्म भोगणिमित्तं ण दु सो कम्मवत्तयणिमित्तं । = वह (अभव्य जीव) भोगके निमित्तरूप धर्मकी ही श्रद्धा करता है, उसीकी प्रतीति करता है, उसीकी रुचि करता है और उसीका स्पर्श करता है, किन्तु कर्मक्षयके निमित्तरूप धर्मकी श्रद्धा आदि नहीं करता ।

र. सा./५७ सम्माइट्टो कालं बीलइ वेरगणणभावेण । मिच्छाइट्टो वांछा दुग्भावालसकलहेहि । ५७ = सम्यग्दृष्टि पुरुष समयको वैराग्य और ज्ञानसे व्यतीत करते हैं । किन्तु मिथ्यादृष्टि पुरुष दुःख, आलस्य और कलहसे अपना समय व्यतीत करते हैं ।

प. सा./ता. वृ./प्रलेपक ६८-१/३६०/१७ इमां चानुकम्पां ज्ञानी स्वस्थ-भावनामविनाशयत् संव्लेशपरिहारेण करोति । अज्ञानी पुनः संव्लेशोनापि करोतीत्यर्थः । = इस अनुकम्पाको ज्ञानी तो स्वस्थ भावका नाश न करते हुए संव्लेशके परिहार द्वारा करता है, परन्तु अज्ञानी उसे संव्लेशसे भी करता है ।

स. श./मू./५४ शरीरे वाचि चात्मानं संघत्ते वाक्शरीरयोः । भ्रान्तोऽभ्रान्तः पुनस्तत्त्व पृथगेषु निबुध्यते । ५४ = वचन और शरीरमें ही जिसकी भ्रान्ति हो रही है, जो उनके वास्तविक स्वरूपको नहीं समझता ऐसा बहिरात्मा वचन और शरीरमें ही आत्माका आश्रयण करता है । परन्तु ज्ञानी पुरुष इन शरीर और वचनके स्वरूपको आत्मासे भिन्न जानता है । (विशेष दे० मिथ्यादृष्टि/१/१/२) ।

स. श./मू. व टी/४७ त्यागादाने बहिर्मुदं करोत्यध्यात्ममात्मवित्तानान्तर्बहिरुपादाने न त्यागो निष्ठितात्मनः । ४७ मूढात्मा बहिरात्मा त्यागोपादाने करोति क । बहिर्बाह्ये हि वस्तुनि द्वेषोदयादभिलाषा-भावान्मुढात्मा त्यागं करोति । रागोदयात्तत्राभिलाषोत्पत्तेरुपादान-मिति । आत्मवित्त अन्तरात्मा पुनरध्यात्मनि स्वात्मरूप एव त्यागो-

पादाने करोति । तत्र हि त्यागो रागद्वेषादेरन्तर्जल्पविकल्पादेर्व । स्वीकारश्चिदानन्दादेः । यस्तु निष्ठितात्मा कृतवृत्त्यात्मा तस्य अन्तर्बहिर्वा तोपादानं तथा न त्यागोऽन्तर्बहिर्वा । = बहिरात्मा मिथ्या-दृष्टि द्वेषके उदयवश अभिलाषाका अभाव हो जानेके कारण बाह्य वस्तुओंका त्याग करता है और रागके उदयवश अभिलाषा उत्पन्न हो जानेके कारण बाह्य वस्तुओंका ही ग्रहण करता है । परन्तु आत्मवित्त अन्तरात्मा आत्मस्वरूपमें ही त्याग या ग्रहण करता है । वह त्याग तो रागद्वेषादिका अथवा अन्तर्जल्परूप वचन विलास व विकल्पादिका करता है और ग्रहण चिदानन्द आदिका करता है । और जो आत्मनिष्ठ व कृतकृत्य है ऐसे महायोगीको तो अन्तरग व बाह्य दोनों ही का न कुछ त्याग है और न कुछ ग्रहण । (विशेष दे० मिथ्यादृष्टि/२/२) ।

दे. मिथ्यादृष्टि/२/५ (मिथ्यादृष्टिको यथार्थ धर्म नहीं रुचता) ।

दे. भ्रमन/३ (मिथ्यादृष्टि एकान्तग्राही होनेके कारण अपने पक्षकी हठ करता है, पर सम्यग्दृष्टि अनेकान्तग्राही होनेके कारण अपने पक्षकी हठ नहीं करता) ।

स. सा./ता. वृ./१६४/२६६/६ सुखं दुःखं वा समुदीणं सत् सम्यग्दृष्टि-जीवो रागद्वेषौ न कुर्वन् हेयबुद्ध्या वेदयति । न च तन्मयो भूत्वा, अहं सुखी दुःखीत्याद्यहमिति प्रत्ययेनानुभवति । = मिथ्यादृष्टे पुनः उपादेयबुद्ध्या, मुख्यह दुःख्यहमिति प्रत्ययेन । = कर्मके उदयवश प्राप्त सुखदुःखको सम्यग्दृष्टि जीव तो राग-द्वेष नहीं करते हुए हेय-बुद्धिसे भोगता है । 'मै सुखी-मै दुःखी' इत्यादि प्रत्ययके द्वारा तन्मय होकर नहीं भोगता । परन्तु मिथ्यादृष्टि उसी सुख-दुःखको उपादेय बुद्धिसे 'मै सुखी, मै दुःखी' इत्यादि प्रत्ययके द्वारा तन्मय होकर भोगता है । (और इसीलिए सम्यग्दृष्टि तो विषयोंका सेवन करते हुए भी उनका असेवक है और मिथ्यादृष्टि उनका सेवन न करते हुए भी सेवक है) दे० राग/६ ।

पं. का/ता. वृ./१२४/२८८/२० अज्ञानिनां हितं स्रग्वनिताचन्दनादि तत्कारणं दानपूजादि, अहितमहि विषकण्टकादि । संज्ञानिनां पुनरक्षयानन्तसुखं तरकारणभूतं निश्चयरसनत्रयपरिणतं परमात्मद्रव्यं च हितमहितं पुनराकुलत्वोत्पादकं दुःखं तत्कारणभूतं मिथ्यात्व-रागादिपरिणतमात्मद्रव्यं च । = अज्ञानियोंको हित तो माला, स्त्री, चन्दन आदि पदार्थ तथा इनके कारणभूत दान, पूजादि व्यवहारधर्म हैं और अहित - विष कण्टक आदि बाह्य पदार्थ हैं । परन्तु ज्ञानीको हित तो अक्षयानन्त सुख व उसका कारणभूत निश्चयरसनत्रयपरिणत परमात्मद्रव्य है और अहित आकुलताको उत्पन्न करनेवाला दुःख तथा उनका कारणभूत मिथ्यात्व व रागादिसे परिणत आत्मद्रव्य है । (विशेष दे० पुण्य/३/४-८) ।

मो. मा. प्र./८/३२७/२० (सम्यग्दृष्टि) अपने योग्य धर्म को साधै है । तहाँ जेता अंश वीतरागता हो है ताकौ कार्यकारी जानै है, जेता अंश राग रहै है, ताकौ हेय जानै है । सम्पूर्ण वीतराग ताकौ परम-धर्म मानै है । (और भी दे० उपयोग/II/३) ।

२. दोनोंके तत्त्व कर्तृत्वमें अन्तर

न. च. वृ./१६३-१६४ अज्जीवपुण्यपावे असुद्धजीवे तहासवे बंधे सामी मिच्छाइट्टो समाइट्टो हवदि सेसे । १६३। सामी सम्मादिट्टी जिय सवरणणिज्जरा मोक्खो । सुद्धो चैयणरूवो तह जाण सुणाणपच्चक्खं । १६४। = अजीव, पुण्य, पाप, असुद्ध जीव, आसव और बन्ध इन छह पदार्थोंके स्वामी मिथ्यादृष्टि है, और शुद्ध चेतनारूप जीव तत्त्व, संबन्ध, निर्जरा व मोक्ष इन शेष चार पदार्थोंका स्वामी सम्यग्दृष्टि है ।

द्र. सं. टी./अधिकार २/चूलिक/८३/२ इदानीं कस्य पदार्थस्य कः कर्त्तेति कथ्यते—बहिरात्मा भण्यते । स चास्रवबन्धपापपदार्थत्रयस्य कर्त्ता भवति । क्वापि काले पुनर्मन्दमिथ्यात्वमन्दकषायोदये सति भोगाकांक्षादिनिदानबन्धेन भाविकाले पापानुबन्धिपुण्यपदार्थस्यापि

कर्त्ता भवति । यस्तु सम्यग्दृष्टि स संवरनिर्जरा मोक्षपदार्थत्रयस्य कर्त्ता भवति । रागादिविभावरहितपरमसामाधिके यदा स्थातु समर्थो न भवति तदा विषयकषायोत्पन्नदुर्ध्यानवञ्चनार्थं ससारस्थितिच्छेद कुर्वन् पुण्यानुबन्धितीर्थकरनामप्रकृत्यादिविशिष्टपुण्यपदार्थस्य कर्त्ता भवति । = अब किस पदार्थका कर्त्ता कौन है, इस बातका कथन करते हैं। वह बहिरात्मा (प्रधानत) आसव, बन्ध और पाप इन तीन पदार्थोंका कर्त्ता है । किसी समय जब मिथ्यात्व व कषायका मन्द उदय होता है तब आगामी भोगोंकी इच्छा आदि रूप निदान बन्धसे पापानुबन्धी पुण्य पदार्थका भी कर्त्ता होता है । (परन्तु इसको संवर नहीं होता—दे० अगला सन्दर्भ) । जो सम्यग्दृष्टि जीव है वह (प्रधानत) संवर, निर्जरा और मोक्ष इन तीन पदार्थोंका कर्त्ता होता है । और किसी समय जब रागादि विभावोंसे रहित परम सामाधिकमें स्थित रहनेको समर्थ नहीं होता उस समय विषयकषायोंसे उत्पन्न दुर्ध्यानको रोकनेके लिए, ससारकी स्थितिका नाश करता हुआ पुण्यानुबन्धी तीर्थकर प्रकृति आदि विशिष्ट पुण्य पदार्थका कर्त्ता होता है । (पं. का/ता. वृ/१२८-१३०/१६३/१४), (स सा/ता. वृ/१२५/१८०/२१) ।

द्र. सं./टी/३४/६६/१० मिथ्यादृष्टिगुणस्थाने सवरो नास्ति, सासादन-गुणस्थानेषु क्रमेणोपर्युपरि प्रकषेण संवरो ज्ञातव्य इति । = मिथ्यादृष्टि गुणस्थानमें तो संवर है ही नहीं और सासादन आदि गुणस्थानोंमें (प्रकृतिबन्ध व्युत्थितिक्रमके अनुसार—दे० प्रकृतिबन्ध/७) ऊपर-ऊपरके गुणस्थानोंमें अधिकतासे संवर जानना चाहिए ।

दे० उपयोग II/४/५ (१-३ गुणस्थान तक अशुभोपयोग प्रधान है और ४-७ गुणस्थान तक शुद्धोपयोग साधक शुभोपयोग प्रधान है । इससे भी ऊपर शुद्धोपयोग प्रधान है ।)

३. दोनोंके पुण्यमें अन्तर

स सा/ता वृ./२२४-२२७/३०५/१७ कोऽपि जीवोऽभिनवपुण्यकर्मनिमित्त भोगाकाङ्क्षानिदानरूपेण शुभकर्मानुष्ठान करोति पापानुबन्धि पुण्यराजा कालान्तरं भोगान् ददाति । तेऽपि निदानबन्धेन प्राप्ता भोगा रावणादिवन्नारकादिवृत्तपरम्परा प्राषयन्तीति भावार्थः । कोऽपि सम्यग्दृष्टिर्जीवो निर्विकल्पसमाधेरभावात्, अशक्यानुष्ठानेन विषयकषायवञ्चनार्थं यद्यपि व्रतशीलदानपूजादिशुभकर्मानुष्ठानं करोति तथापि भागाकाङ्क्षारूपनिदानबन्धेन तत्पुण्यकर्मानुष्ठानं न सेवते । तदपि पुण्यानुबन्धिकर्म भावान्तरे अभ्युदयरूपेणोदयागतमपि पूर्वभवभावितभेदविज्ञानवासनाबलेन, भोगाकाङ्क्षानिदानरूपान् रागादिपरिणामान्न ददाति भरतेश्वरादीनामिव । = कोई एक (मिथ्यादृष्टि) जीव नवीन पुण्य कर्मके निमित्तभूत शुभकर्मानुष्ठानको भोगाकाङ्क्षके निदान रूपसे करता है । तब वह पापानुबन्धी पुण्यरूप राजा कालान्तरमें उसको विषय भोगप्रदान करता है । वे निदानबन्धपूर्वक प्राप्त भोग भी रावण आदि की भाँति उसको अगले भवमें नरक आदि दुःखोंकी परम्परा प्राप्त कराते हैं (अर्थात् निदानबन्ध पूर्वक किये गये पुण्यरूप शुभानुष्ठान तीसरे भव नरकादि गतियोंके कारण होनेसे पापानुबन्धीपुण्य कहलाते हैं) । कोई एक सम्यग्दृष्टि जीव निर्विकल्प समाधिका अभाव होनेके कारण अशक्यानुष्ठान रूप विषयकषाय वञ्चनार्थं यद्यपि व्रत, शील, दान, पूजादि शुभ कर्मानुष्ठान करता है परन्तु (मिथ्यादृष्टिकी भाँति) भोगाकाङ्क्षारूप निदानबन्धसे उसका सेवन नहीं करता है । उसका वह कर्म पुण्यानुबन्धी है, भवान्तरमें जिसके अभ्युदयरूपसे उदयमें आनेपर भी वह सम्यग्दृष्टि पूर्वभवमें भावित भेदविज्ञानकी वासनाके बलसे भोगोंकी आकाङ्क्षारूप निदान या रागादि परिणाम नहीं करता है, जैसे कि भरतेश्वर आदि । अर्थात् निदान बन्धरहित बाँधा गया पुण्य सदा पुण्यरूपसे ही फलता है ; पापका कारण कदाचित् भी

नहीं होता । इसलिए पुण्यानुबन्धी कहलाता है । और भी दे० मिथ्यादृष्टि/५/२) ।

स सा/ता. वृ./३२४-३२७/४१४/१६ कोऽपि जीव पूर्व मनुष्यभवे जिनरूप गृहीत्वा भोगाकाङ्क्षानिदानबन्धेन पापानुबन्धि पुण्यं कृत्वा... अर्धचक्रवर्ती भवति तस्य विष्णुसंज्ञा न चापरः । = कोई जीव पहले मनुष्य भवमें जिनरूपको ग्रहण करके भोगोंकी आकाङ्क्षारूप निदानबन्ध से पापानुबन्धी पुण्य को करके स्वर्ग प्राप्त कर अगले मनुष्य भवमें अर्धचक्रवर्ती हुआ, उसीकी विष्णु संज्ञा है । उससे अतिरिक्त अन्य कोई विष्णु नहीं है । (इसी प्रकार महेश्वरकी उत्पत्तिके सम्बन्धमें भी कहा है ।)

दे० पुण्य/५/१,२ (सम्यग्दृष्टिका पुण्य निदान रहित होनेसे निर्जरा व मोक्षका कारण है और मिथ्यादृष्टिका पुण्य निदान सहित होनेसे साक्षात् रूपसे स्वर्गका और परम्परा रूपसे कुगतिका कारण है ।)

दे० पूजा/२/४ सम्यग्दृष्टिकी पूजा भक्ति आदि निर्जराके कारण है ।

४. दोनोंके धर्मसेवनके अभिप्रायमें अन्तर

पं. का./त. प्र./१३६ अयं हि स्थूललक्ष्यतया केवलभक्तिप्रधानस्याज्ञानिनो भवति । उपरितनभूमिकयामलम्बास्पदस्याव स्थानरागनिषेधार्थं तीव्ररागज्वरविनोदार्थं वा कदाचिज्ज्ञानिनोऽपि भवतीति । = यह (प्रशस्त राग) वास्तवमें जो स्थूल लक्षवाला होनेसे मात्र भक्तिप्रधान है ऐसे अज्ञानीको होता है । उच्च भूमिकामें स्थिति प्राप्त न की हो तब आस्थान अर्थात् विषयोंकी ओरका राग रोकनके हेतु अथवा तीव्र रागज्वर मिटानेके हेतु, कदाचित् ज्ञानीको भी होता है ।

द्र. सं./टी/४५/२३३/१२ प्राथमिकापेक्षया सविकल्पावस्थायां विषयकषायवञ्चनार्थं चित्तस्थिरीकरणार्थं पञ्चपरमेष्ठ्यादि परद्रव्यमपि ध्येयं भवति । = ध्यान आरम्भ करनेकी अपेक्षासे जो सविकल्प अवस्था है उसमें विषय और कषायोंको दूर करनेके लिए तथा चित्तको स्थिर करनेके लिए पञ्च परमेष्ठी आदि परद्रव्य भी ध्येय होते हैं । (पं. का./ता. वृ./१५२/२२०/६), (स. सा./ता. वृ./६६/१५४/१०), (प. प्र./टी./२/३१/१५१/३) ।

दे० धर्म/६/५ (मिथ्यादृष्टि व्यवहार धर्मको ही मोक्षका कारण जानकर करता है, पर सम्यग्दृष्टि निश्चय मार्गमें स्थित होनेसे समर्थ न होनेके कारण करता है ।)

दे० मिथ्यादृष्टि/४/२ व ३ (मिथ्यादृष्टि तो आगामी भोगोंकी इच्छासे शुभानुष्ठान करता है और सम्यग्दृष्टि शुद्ध भावमें स्थित होनेमें समर्थ न होनेके कारण तथा कषायोत्पन्न दुर्ध्यानके वंचनार्थ करता है ।)

दे० पुण्य/३/४-८ (मिथ्यादृष्टि पुण्यको उपादेय समझकर करता है और सम्यग्दृष्टि उसे हेय जानता हुआ करता है ।)

द्र. सं./टी./३८/१५६/७ सम्यग्दृष्टिर्जीवस्य पुण्यपापद्वयमपि हेयम् । कथं पुण्यं करोतीति । तत्र युक्तिमाह । यथा कोऽपि देशान्तरस्थमनोहरस्त्रीसमीपादागतपुरुषाणां तदर्थं दानसन्मानादिकं करोति तथा सम्यग्दृष्टिरप्युपादेयरूपेण स्वशुद्धात्मानमेव भावयति चारित्रमोहोदयात्तत्रासमर्थं सत् निर्दोषपरमारमस्वरूपाणामर्हत्सिद्धानां तदारथकाचार्योपाध्यायसाधूनां च परमारमपदप्राप्त्यर्थं विषयकषायवञ्चनार्थं च दानपूजादिना गुणस्तवनादिना वा परमभक्तिं करोति । = प्रश्न—सम्यग्दृष्टि जीवके तो पुण्य और पाप दोनों हेय हैं, फिर वह पुण्य कैसे करता है ? उत्तर—जैसे कोई मनुष्य अन्य देशमें विद्यमान किसी मनोहर स्त्रीके पाससे आये हुए मनुष्योका उस स्त्रीकी प्राप्तिके लिए दान-सन्मान आदि करता है, ऐसे ही सम्यग्दृष्टि जीव भी वास्तवमें तो निज शुद्धात्माको ही भाता है । परन्तु जब चारित्रमोहके उदयसे उस निजशुद्धात्म भावनामें असमर्थ होता

है, तब दोष रहित ऐसे परमात्मस्वरूप अर्हन्त सिद्धीकी तथा उनके आराधक आचार्य उपाध्याय और साधुकी, परमात्मपदकी प्राप्तिके लिए, (मुक्तिधीको बश करनेके लिए—पं. का), और विषय-कषायोंको दूर करनेके लिए, पूजा, दान आदिसे अथवा गुणोंकी स्तुति आदिसे परमभक्ति करता है। (पं. का./ता.वृ./१७०/२४३/११), (प.प्र./टी./२/६१/१८३/२)।

५. दोनोंकी कर्मक्षपणामें अन्तर

भ. आ./मू./१०८/२५६ ज अण्णाणी कम्म खवेदि भवसयसहस्स-कोडीहिं। तं णाणी तिहिं गुत्तो खवेदि अतोमुहुत्तेण। १०८। —जो कर्म अज्ञानी लक्षकोटि भवोंमें खपाता है, वह ज्ञानी त्रिगुणिके द्वारा अन्तर्मुहूर्तमात्रमें खपा देता है। (भ. आ./मू./२३४/४५४); (प्र. सा./मू./२३८); (मो. प्रा./मू./५३); (घ. १३/३.५.५०/गा.२३/२८१); (पं. वि./१/३०)।

भ. आ./मू./७१७/८६१ ज बद्धमसखेज्जाहिं रयं भवसदसहस्सकोडीहिं। सम्मत्तुत्पत्तीए खवेइ तं एयसमरणेण। ७१७। —करोडो भवोंके संचित कर्मोंकी, सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति हो जानेपर, साधुजन एक समयमें निर्जीर्ण कर देते हैं।

६. मिथ्यादृष्टि जीव सम्यग्दृष्टिके आशयको नहीं समझ सकता

स. सा./आ./२२७/क. १६३ ज्ञानी कि कुरुतेऽथ कि न कुरुते कर्मेति जानाति क. १६३। —ज्ञानी कर्म करता है या नहीं यह कौन जानता है। (ज्ञानीकी बात ज्ञानी ही जानता है। ज्ञानीके परिणामोंको जाननेकी सामर्थ्य अज्ञानीमें नहीं है—पं. जयचन्द)।

मिथ्या नय—दे० नय/II।

मिथ्या शल्य—दे० मिथ्यादर्शन।

मिनट—कालका एक प्रमाण—दे० गणित/II/१/४।

मिश्र—१. आहारका एक दोष—दे० आहार/II/४/४ २ वसतिकका एक दोष—दे० वसतिका। ३ एक ही उपयोगमें शुद्ध व अशुद्ध दो अंश—दे० उपयोग/II/३। ४. मिश्र चारित्र्य अर्थात् एक ही चारित्र्यमें दो अंश—दे० चारित्र्य/७/७। ५. व्रत, समिति, गुप्ति आदिमें युगपत् दो अंश—प्रवृत्ति व निवृत्ति—दे० संवर/२। ६. संयम व असंयमकका मिश्रण—दे० सयतासंयत/२। ७. एक ही संयममें दो अंश—प्रमत्तता व संयम—दे० सयत/२। ८. एक ही भ्रष्टान व ज्ञानमें दो अंश—सम्यक् व मिथ्या—दे० आगे 'मिश्र' गुणस्थान। ९. मिश्र प्रकृति—दे० मोहनीय।

मिश्रकेशा—रुचक पर्वत निवासिनी दिवकुमारी—दे० लोक/५/१३।

मिश्र गुणस्थान—दही व गुडके मिश्रित स्वादवत् सम्यक् व मिथ्यारूप मिश्रित भ्रष्टान व ज्ञानको धारण करनेकी अवस्था विशेष सम्यग्मिथ्यात्व या मिश्रगुणस्थान कहलाता है। सम्यक्त्वसे गिरते समय अथवा मिथ्यात्वसे चढ़ते समय क्षणभरके लिए इस अवस्थाका वेदन होना सम्भव है।

१. मिश्रगुणस्थान निर्देश

१. सम्यग्मिथ्यात्व गुणस्थानका लक्षण

पं. सं./१/१०.१६६ इहिगुडमिव वामिस्सं पितुभावं णेव कारिदुं सक्कं। एवमिस्सयभावो सम्मामिच्छो त्ति णायब्बो। १०। सहहणासहहणं जस्स य जीवेसु होइ तच्चेसु। विरयाविरएण समो सम्मामिच्छो त्ति णायब्बो। १६६। —१. जिस प्रकार अच्छी तरह मिला हुआ दही और गुड पृथक् पृथक् नहीं किया जा सकता इसी प्रकार सम्यक्त्व व

मिथ्यात्वसे मिश्रित भावकी सम्यग्मिथ्यात्व जानना चाहिए। १०। (घ. १/१.१२/गा.१०६/१७०); (गो. जी./मू./२२/४७)। २. जिसके उदयसे जीवोंके तत्त्वोंमें भ्रष्टान और अभ्रष्टान युगपत् प्रगट हो है, उसे विरताविरतके समान सम्यग्मिथ्यात्व जानना चाहिए। १६६। (गो. जी./मू./६६६/११०२)।

रा वा./१/१/१४/५८६/२३ सम्यग्मिथ्यात्वसंज्ञिकायां प्रकृतेरुदयाद् आत्मा क्षीणाक्षीणमदशक्तिकोद्भवोपापादितेषत्कलुषपरिणामवत् तत्त्वार्थभ्रष्टानाभ्रष्टानरूपं सम्यग्मिथ्यादृष्टिरित्युच्यते—क्षीणाक्षीण मदशक्तिवाले कोदोंके उपभोगसे जैसे कुछ मिला हुआ मदपरिणाम होता है, उसी तरह सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृतिके उदयसे तत्त्वार्थका भ्रष्टान व अभ्रष्टानरूप मिला हुआ परिणाम होता है। यही तीसरा सम्यग्मिथ्यादृष्टि गुणस्थान है।

घ. १/१.१.११/१६६/७ दृष्टिं भ्रष्टा रुचिं प्रत्यय इति यावत्। समीचीना च मिथ्या च दृष्टिर्यस्यासौ सम्यग्मिथ्यादृष्टिः।—दृष्टि, भ्रष्टा, रुचि और प्रत्यय ये पर्यायवाची नाम हैं। जिस जीवके समीचीन और मिथ्या दोनों प्रकारकी दृष्टि होती है उसको सम्यग्मिथ्यादृष्टि कहते हैं।

गो. जी./मू./२१/४६ सम्मामिच्छुदयेण य जत्तंरसक्वघादिकज्जेण। णय सम्म मिच्छं पिय सम्मिस्सो होदि परिणामो। २१।—जात्यन्तररूप सर्वघाती सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृतिके उदयसे केवल सम्यक्त्वरूप या मिथ्यात्वरूप परिणाम न होकर जो मिश्ररूप परिणाम होता है, उसको तीसरा मिश्र गुणस्थान कहते हैं।

ज. सा./मू./१०७/१४६ मिस्सुदये सम्मिस्सं दहिगुडमिस्सं व तच्चमियरेण सद्दहदि एकसमये. १०७।—सम्यग्मिथ्यात्व नामा मिश्र प्रकृतिके उदयसे यह जीव मिश्र गुणस्थानवर्ती होता है। दही और गुडके मिले हुए स्वादकी तरह वह जीव एक ही समयमें तत्त्व व अतत्त्व दोनोंकी मिश्ररूप भ्रष्टा करता है। (प्र. सं./टी./१३/३३/२)।

२. प्रथम या चतुर्थ दो ही गुणस्थानोंमें जा सकता है

घ. ४/१.६.६/३४३/८ तस्स मिच्छत्तसम्मत्तसहिदासंजदगुणे मोत्तुण गुणतरगमणाभावा।—सम्यग्मिथ्यादृष्टि जीवका मिथ्यात्वसहित मिथ्यादृष्टि गुणस्थानको अथवा सम्यक्त्वसहित असंयत गुणस्थानको छोड़कर अन्य गुणस्थानोंमें गमनका अभाव है।

३. संयम धारनेकी योग्यता नहीं है

घ. ४/१.६.१७/गा. ३३/३४६ ण य मरइ णेव संजममुवेइतहं देससजमं वावि। सम्मामिच्छादिट्ठी. ३३।—सम्यग्मिथ्यादृष्टि जीव न संयमको प्राप्त होता है और न देश संयमको। (गो. जी./मू./२३/४८)।

★ मिश्र गुणस्थानमें मृत्यु सम्भव नहीं—दे० मरण/३।

४. मिश्र गुणस्थानका स्वामित्व

घ. ६/१.८.१२/२६०/७ सम्मामिच्छत्तगुणं पुण वेदगुवसमसम्मादिट्ठणो अट्ठावीससतकम्मियमिच्छादिट्ठणो य पडिबज्जंति।—सम्यग्मिथ्यात्व गुणस्थानको वेदकसम्यग्दृष्टि, उपशमसम्यग्दृष्टि और मोहकर्मकी २८ प्रकृतियोंकी सत्तावाले मिथ्यादृष्टि जीव भां प्राप्त होते हैं। (अर्थात् अनादि मिथ्यादृष्टि या जिन्होंने सम्यक्त्व व सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृतियोंकी उद्वेलना कर दी है ऐसे मिथ्यादृष्टि 'सम्यग्मिथ्यादृष्टि' गुणस्थानको प्राप्त नहीं होते)।

घ. १६/११८/८ एइदिएसु उव्वेणिलदसम्मामिच्छत्तट्ठिसंतकम्मस्सेव पल्लिदोवमस्स असंखेज्जदिभाणैण ऊणसागरोवममेत्तट्ठिसंतकम्मसेसे सम्मामिच्छत्तगहणपाओगससुवल्भादो। जो पुण तसेसु एइदियट्ठिसंतसमं सम्मामिच्छत्तं कुणइ सो पुव्वमेव सागरोवम-

पुधत्ते मेसे चेव तदपाओग्गा होदि । = जिसने एकैन्द्रियोमे सम्यग्मि-
ध्यात्वके स्थितिसत्त्वकी उद्वेलेना की है उसके ही पद्योपमके असं-
ख्यातवे भागसे हीन एक सागरोपम मात्र स्थिति सत्त्वके रहनेपर
सम्यग्मिध्यात्वके ग्रहणकी योग्यता पायी जाती है । परन्तु जो त्रस
जीवोमे एकैन्द्रियके स्थितिमात्रके बराबर सम्यग्मिध्यात्वके स्थिति-
सत्त्वको बरता है, वह पहले ही सागरोपमपृथक्त्वप्रमाण स्थितिके
शेष रहनेपर ही उसके ग्रहणके अयोग्य हो जाता है ।

दे. सत् - (इस गुणस्थानमे एक संज्ञी पर्याप्तक ही जीव समास सम्भव
है, एकैन्द्रियादि असंज्ञी पर्याप्तके जीव तथा सर्व ही प्रकारके अपर्याप्तक
जीव इसको प्राप्त नहीं कर सकते ।)

* अन्य सम्बन्धित विषय

१. जीव समास, मार्गणास्थान आदिके स्वामित्व सम्बन्धी २०
प्ररूपणाएँ — दे० सत् ।
२. सत्, संख्या, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर, भाव व अल्पबहुत्व
प्ररूपणाएँ — दे० वह-वह नाम ।
३. इम गुणस्थानमें आय व व्ययका सन्तुलन — दे० मार्गणा
- ४ इसमें कर्मोंका बन्ध उदय सत्त्व — दे० वह-वह नाम
- ५ राग व विरागताका मिश्रित भाव — दे० उपयोग/II/३ ।
- ६ इस गुणस्थानमें श्रायोपशमिक भाव होता है — दे० भाव/२ ।

५. ज्ञान भी सम्यक् व मिथ्या उभयरूप होता है ।

रा. वा./६/१/१४/५६/२५ अत एवास्य त्रीणि ज्ञानानि अज्ञानमिश्राणि
इत्युच्यन्ते । = इसके तीनों ज्ञान अज्ञानसे मिश्रित होते हैं (गो. जी /
मू./३०२/६५३) (दे० सत्) ।

२. मिश्र गुणस्थान सम्बन्धी शंका समाधान

१. ज्ञान व अज्ञानका मिश्रण कैसे सम्भव है

घ. १/१.१.११६/३६३/१० यथार्थश्रद्धानुविद्धावगमो ज्ञानम्, अयथार्थ-
श्रद्धानुविद्धावगमोऽज्ञानम् । एव च सति ज्ञानाज्ञानयोर्मिश्रजीवाधि-
करणयोर्न मिश्रणं घटत इति चेत्सत्यमेतदिष्टत्वात् । किन्त्वत्र
सम्यग्मिध्यादृष्टाविवं मा ग्रही यतः सम्यग्मिध्यात्वं नाम कर्म न
तन्मिध्यात्वं तस्मादनन्तगुणहीनशक्तैस्तस्य विपरीताभिनिवेशो-
त्पादसामर्थ्याभावात् । नापि सम्यक्त्वं तस्मादनन्तगुणशक्तैस्तस्य
यथार्थश्रद्धया साहचर्याविरोधात् । ततो जात्यन्तरत्वात् सम्यग्मिध्या-
त्वं जात्यन्तरीभूतपरिणामस्योत्पादकम् । ततस्तदुदयजनितपरिणाम-
समवेतबोधो न ज्ञानं यथार्थश्रद्धानुविद्धत्वात् । नाप्यज्ञानमय-
थार्थश्रद्धयासंगत्वात् । ततस्तज्ज्ञानं सम्यग्मिध्यात्वपरिणामवज्जा-
त्यन्तरापन्नमित्येकमपि मिश्रमित्युच्यते । = प्रश्न—यथार्थ श्रद्धासे
अनुविद्ध अवगमको ज्ञान कहते हैं और अयथार्थ श्रद्धासे अनुविद्ध
अवगमको अज्ञान कहते हैं । ऐसी हालतमें मिश्र-मिश्र जीवोंके
आधारसे रहनेवाले ज्ञान और अज्ञानका मिश्रण नहीं बन सकता है ।
उत्तर—यह कहना सत्य है, क्योंकि, हमें यही इष्ट है । किन्तु यहाँ
सम्यग्मिध्यादृष्टि गुणस्थानमें यह अर्थ ग्रहण नहीं करना चाहिए,
क्योंकि, सम्यग्मिध्यात्व कर्म मिथ्यात्व तो हो नहीं सकता, क्योंकि,
उससे अनन्तगुणी हीन शक्तिवाले सम्यग्मिध्यात्वमें विपरीताभि-
निवेशको उत्पन्न करनेकी सामर्थ्य नहीं पायी जाती है । और न वह
सम्यक्प्रकृतिरूप ही है, क्योंकि, उससे अनन्तगुणी अधिक शक्तिवाले
सम्यग्मिध्यात्वका यथार्थ श्रद्धानके साथ साहचर्य सम्बन्धका विरोध
है । इसलिए जात्यन्तर होनेसे सम्यग्मिध्यात्व (कर्म) जात्यन्तररूप

परिणामोका ही उत्पादक है । अतः उसके उदयसे उत्पन्न हुए
परिणामोसे युक्त ज्ञान 'ज्ञान' इस सज्ञाको प्राप्त हो नहीं सकता है,
क्योंकि, उस ज्ञानमें यथार्थ श्रद्धाका अन्वय नहीं पाया जाता है ।
और उसे अज्ञान भी नहीं कह सकते हैं, क्योंकि, वह अयथार्थ
श्रद्धाके साथ सम्पर्क नहीं रखता है । इसलिए वह ज्ञान सम्यग्मि-
ध्यात्व परिणामकी तरह जात्यन्तर रूप अवस्थाको प्राप्त है । अतः
एक होते हुए भी मिश्र कहा जाता है ।

२. जात्यन्तर ज्ञानका तात्पर्य

घ. १/१.१.११६/३६४/५ यथायथ प्रतिभासितार्थप्रत्ययानुविद्धावगमो
ज्ञानम् । यथायथमप्रतिभासितार्थप्रत्ययानुविद्धावगमोऽज्ञानम् । जात्य-
न्तरीभूतप्रत्ययानुविद्धावगमो जात्यन्तरं ज्ञानम्, तत्रैव मिश्रज्ञान-
मिति राक्षान्तविदो व्याचक्षते । = यथावस्थित प्रतिभासित हुए
पदार्थके निमित्तसे उत्पन्न हुए तत्सम्बन्धी बोधको ज्ञान कहते हैं ।
न्यूनता आदि दोषोंसे युक्त यथावस्थित अप्रतिभासित हुए पदार्थके
निमित्तसे उत्पन्न हुए तत्सम्बन्धी बोधको अज्ञान कहते हैं । और
जात्यन्तररूप कारणसे उत्पन्न हुए तत्सम्बन्धी ज्ञानको जात्यन्तर
ज्ञान कहते हैं । इसीका नाम मिश्रगुणस्थान है, ऐसा सिद्धान्तको
जाननेवाले विद्वान् पुरुष व्याख्यान करते हैं ।

३. मिश्रगुणस्थानमें अज्ञान क्यों नहीं कहते

घ. १/१.१.११६/२२४/७ तिस्रु अण्णाणेषु गिरुब्रुसु सम्मामिच्छादिदिठि-
भावो किण्ण परूविदो । ण, तस्स सदहणासहहणेहि दोहि मि अक्क-
मेण अणुविद्धस्स संजदासंजदो व्व पत्तजच्चतरस्स णाणेषु अण्णाणेषु
वा अत्थित्तविरोहा । = प्रश्न—तीनों अज्ञानोंको निरुद्ध अर्थात् आश्रय
करके उनकी भाव प्ररूपणा करते हुए सम्यग्मिध्यादृष्टि गुणस्थानका
भाव क्यों नहीं बतलाया । उत्तर—नहीं, क्योंकि, श्रद्धान और
अश्रद्धान, इन दोनोंसे एक साथ अनुविद्ध होनेके कारण संयतासंयतके
समान भिन्न जातीयताको प्राप्त सम्यग्मिध्यात्वका पाँचों ज्ञानोंमें,
अथवा तीनों अज्ञानोंमें अस्तित्व होनेका विरोध है ।

* युगपत् दो रुचि कैसे सम्भव है—दे० अनेकान्त/६/१.२

४. संशय व विनय मिथ्यात्व तथा सम्यग्मिध्यात्वमें क्या अन्तर है

ब्र सं./टी./१२/३३/४ अथ मत्तं—येन केनाप्येकेन मम देवेन प्रयोजनं
तथा सर्वे देवा बन्धनीया न च निन्दनीया इत्यादि वैनयिकमिध्या-
दृष्टि संशयमिध्यादृष्टिर्वा तथा मन्यते, तेन मह सम्यग्मिध्या-
दृष्टेः को विशेष इति, अत्र परिहारः—स सर्वदेवेषु सर्वसमयेषु च
भक्तिपरिणामेन येन केनाप्येकेन मम पुण्यं भविष्यतीति मत्वा
सशयरूपेण भक्तिं कुरुते निश्चयो नास्ति । मिश्रस्य पुनरुभयत्र
निश्चयोऽस्तीति विशेषः । = प्रश्न—चाहे जिससे हो, मुझे तो एक
देवसे मतलब है, अथवा सभी देव बन्धनीय हैं, निन्दा किसी भी
देवकी नहीं करनी चाहिए । इस प्रकार वैनयिक और सशय मिध्या-
दृष्टि मानता है । तब उसमें तथा मिश्र गुणस्थानवर्ती सम्यग्मिध्या-
दृष्टिमें क्या अन्तर है ? उत्तर—वैनयिक तथा संशय मिध्यादृष्टि तो
सभी देवोंमें तथा सब शास्त्रोंमें से किसी एककी भी भक्तिके परि-
णामसे मुझे पुण्य होगा, ऐसा मानकर संशयरूपसे भक्ति करता है,
उसको किसी एक देवमें निश्चय नहीं है । और मिश्रगुणस्थानवर्ती
जीवके दोनोंमें निश्चय है । अस यही अन्तर है ।

५. पर्याप्तक ही होनेका नियम क्यों

घ. १/१.१.११६/३६५/३ कथं । तेन गुणेन सह तेषां मरणाभावात् ।
अपर्याप्तकालेऽपि सम्यग्मिध्यात्वगुणस्योत्पत्तेरभावाच्च । नियमेऽभ्यु-

पगम्यमाने एकान्तवादः प्रसजतीति चेन्न, अनेकान्तगर्भकान्तस्य सत्त्वाविरोधस्य ! = प्रश्न—यह कैसे (अर्थात् सम्यग्मिथ्यादृष्टि गुणस्थानमें देव पर्याप्त ही होते हैं, सो कैसे) । उत्तर—क्योंकि, तीसरे गुणस्थानके साथ मरण नहीं होता है (दे. मरण/३), तथा अपर्याप्तकालमें भी सम्यग्मिथ्यात्व गुणस्थानकी उत्पत्ति नहीं होती । प्रश्न—'तृतीय गुणस्थानमें पर्याप्त ही होते हैं' इस प्रकार नियमके स्वीकार कर लेने पर तो एकान्तवाद प्राप्त होता है । उत्तर—नहीं, क्योंकि अनेकान्त गर्भित एकान्तवादके माननेमें कोई विरोध नहीं आता ।

६. इस गुणस्थानमें क्षायोपशमिकपना कैसे है

घ. १/१.२.११/१६८/१ कथं मिथ्यादृष्टे सम्यग्मिथ्यात्वगुणं प्रतिपद्यमानस्य तावदुच्यते । तथा, मिथ्यात्वकर्मणः सर्वघातिस्पर्धकानामुदयक्षयात्तस्मैव सत उदयाभावलक्षणोपशमस्य सम्यग्मिथ्यात्वकर्मणः सर्वघातिस्पर्धकोदयाच्चोत्पद्यत इति सम्यग्मिथ्यात्वगुणः क्षायोपशमिकः ।

घ. १/१.२.११/१६६/२ अथवा, सम्यक्त्वकर्मणो देशघातिस्पर्धकानामुदयक्षयेण तेषामेव सतामुदयाभावलक्षणोपशमैर्न च सम्यग्मिथ्यात्वकर्मणः सर्वघातिस्पर्धकोदयेन च सम्यग्मिथ्यात्वगुण उत्पद्यत इति क्षायोपशमिकः । सम्यग्मिथ्यात्वस्य क्षायोपशमिकत्वमेवमुच्यते नासजनद्वयुत्पादनार्थम् । वस्तुतस्तु सम्यग्मिथ्यात्वकर्मणो निरन्वयेनागमपदार्थविषयरुचिहननं प्रत्यसमर्थ-स्योदयात्सदसद्विषयश्रद्धोत्पद्यत इति क्षायोपशमिक, सम्यग्मिथ्यात्वगुणः । अन्यथोपशमसम्यग्दृष्टौ सम्यग्मिथ्यात्वगुणं प्रतिपन्ने सति सम्यग्मिथ्यात्वस्य क्षायोपशमिकत्वमनुपपन्नं तत्र, सम्यक्त्वमिथ्यात्वानन्तानुबन्धिनामुदयक्षयाभावात् । = प्रश्न—मिथ्यादृष्टि गुणस्थानसे सम्यग्मिथ्यात्व गुणस्थानको प्राप्त होनेवाले जीवके क्षायोपशमिक भाव कैसे सम्भव है । उत्तर—१. वह इस प्रकार है, कि वर्तमान समयमें मिथ्यात्वकर्मके सर्वघाती स्पर्धकोंका उदयाभावोक्षय होनेसे, सत्तामें रहनेवाले उसी मिथ्यात्व कर्मके सर्वघाती स्पर्धकोंका उदयाभाव लक्षण उपशम होनेसे और सम्यग्मिथ्यात्वकर्मके सर्वघाती स्पर्धकोंके उदय होनेसे सम्यग्मिथ्यात्व गुणस्थान पैदा होता है, इसलिए वह क्षायोपशमिक है । २. अथवा सम्यक्त्वप्रकृतिके देशघाती स्पर्धकोंका उदयक्षय होनेसे, सत्तामें स्थित उन्हीं देशघाती स्पर्धकोंका उदयाभाव लक्षण उपशम होनेसे और सम्यग्मिथ्यात्व कर्मके सर्वघाती स्पर्धकोंके उदय होनेसे सम्यग्मिथ्यात्व गुणस्थान उत्पन्न होता है इसलिए वह क्षायोपशमिक है । ३. यहाँ इस तरह जो सम्यग्मिथ्यात्व गुणस्थानको क्षायोपशमिक कहा है वह केवल सिद्धान्तके पाठका प्रारम्भ करनेवालोंके परिज्ञान करानेके लिए ही कहा गया है । (परन्तु ऐसा कहना घटित नहीं होता, दे. आगे/शीर्षक नं. ७) वास्तव में तो सम्यग्मिथ्यात्व कर्म निरन्वयरूपसे आप आगम और पदार्थ विषयक श्रद्धाके नाश करनेके प्रति असमर्थ है, किन्तु उसके उदयसे समीचीन और असमीचीन पदार्थको युगपत् विषय करनेवाली श्रद्धा उत्पन्न होती है, इसलिए सम्यग्मिथ्यात्व गुणस्थान क्षायोपशमिक कहा जाता है । अन्यथा उपशमसम्यग्दृष्टिके सम्यग्मिथ्यात्व गुणस्थानको प्राप्त होनेपर उसमें क्षायोपशमपना नहीं बन सकता है, क्योंकि उस जीवके ऐसी अवस्थामें सम्यक्प्रकृति, मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी इन तीनोंका ही उदयाभावी क्षय नहीं पाया जाता ।

घ. १४/५.६.१६/२१/८ सम्मामिच्छत्तदेसधादिफद्दयाणमुदयण तस्सेव सव्वधादिफद्दयाणमुदयाभावेण उवसमक्षिण्णदेण सम्मामिच्छत्तमुप्पज्जदि त्ति तदुभयपक्खइयत्तं । = ४. [सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृति सर्वघाती नहीं है अन्यथा उसके उदय होनेपर सम्यक्त्वके अंशकी भी उत्पत्ति नहीं बन सकती — दे. अनुभाग ४/६/४] इसलिए सम्यग्मिथ्यात्वके

देशघाती स्पर्धकोंके उदयसे और उसीके सर्वघाती स्पर्धकोंके उपशम संज्ञावाले उदयाभावसे सम्यग्मिथ्यात्वकी उत्पत्ति होती है, इसलिए वह तदुभयप्रत्ययिक अर्थात् उदयोपशमिक कहा जा सकता है, पर क्षायोपशमिक नहीं ।

७. मिश्रगुणस्थानकी क्षायोपशमिकतामें उपरोक्त लक्षण घटित नहीं होते

घ. १/१.७.४/१६६/४ मिच्छत्तस्स सव्वधादिफद्दयाणमुदयवखएण तेसि चैव संतोसमेण ण्त्ति सम्मामिच्छत्तस्स खओवसमियत्त केई परुवयत्ति, तण्ण घडदे, मिच्छत्तभावस्स वि खओवसमियत्तप्पसगा । कुदो । सम्मामिच्छत्तस्स सव्वधादिफद्दयाणमुदयवखएण तेसि चैव संतोवसमेण सम्मत्तदेसधादिफद्दयाणमुदयवखएण तेसि चैव संतोवसमेण अणुदओवसमेण वा मिच्छत्तस्स सव्वधादिफद्दयाणमुदयण मिच्छत्तभावुप्पत्तीए उवलंभा । = कितने ही आचार्य ऐसा कहते हैं कि मिथ्यात्व या सम्यक्प्रकृतिके उदयाभावी क्षय व सदवस्थारूप उपशम तथा सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृतिके उदयसे यह गुणस्थान क्षायोपशमिक है—(दे. मिश्र २/६/१.२), किन्तु उनका यह कहना घटित नहीं होता है, क्योंकि, ऐसा माननेपर तो मिथ्यात्व भावके भी क्षायोपशमिकताका प्रसंग प्राप्त होगा, क्योंकि सम्यग्मिथ्यात्वके सर्वघाती स्पर्धकोंके उदयक्षयसे, उन्हींके सदवस्थारूप उपशमसे और सम्यक्त्व प्रकृतिके देशघाती स्पर्धकोंके उदय क्षयसे, उन्हींके सदवस्थारूप उपशमसे अथवा अनुदयरूप उपशमसे तथा मिथ्यात्वके सर्वघाती स्पर्धकोंके उदयसे मिथ्यात्वभावकी उत्पत्ति पायी जाती है । [अतः पूर्वोक्त शीर्षक नं. ६ से कहा गया लक्षण नं. ३ ही युक्त है] (घ. १/१.२.११/१७०/१); (और भी दे. शीर्षक नं. ११)

८. सर्वघाती प्रकृतिके उदयसे होनेके कारण इसे क्षायोपशमिक कैसे कह सकते हो

घ. ७/२.१.७६/११०/७ सम्मामिच्छत्तस्स सव्वधादिफद्दया मुदएण सम्मामिच्छादिद्वी जदो होदि तेण तस्स खओवसमिओ त्ति ण जुज्जवे ।...ण सम्मामिच्छत्तफद्दयाणं सव्वधादिच्चमत्थि, ...ण च एत्थ सम्मत्तस्स णिम्मूलविणासं पेच्चामो सभूदासभूदत्थेसु तुल्लसद्दहणदंसणादो । तदो जुज्जवे सम्मामिच्छत्तस्स खओवसमिओ भावो । = प्रश्न—क्या सम्यग्मिथ्यात्व नामक दर्शनमोहनीय प्रकृतिके सर्वघाती स्पर्धकोंके उदयसे सम्यग्मिथ्यादृष्टि होता है (दे मिश्र २/६/१), इसलिए उसके क्षायोपशमिकभाव उपयुक्त नहीं है । उत्तर—सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृतिके स्पर्धकोंमें सर्वघातीपना नहीं होता, क्योंकि इस गुणस्थानकी उत्पत्तिमें हम सम्यक्त्वका निर्मूल विनाश नहीं देखते, क्योंकि, यहाँ सद्भूत और असद्भूत पदार्थोंमें समान श्रद्धान होना देखा जाता है (और भी दे० अनुभाग ४/६) । इसलिए सम्यग्मिथ्यात्वकी क्षायोपशमिक भाव मानना उपयुक्त है ।

घ. १/१.७.४/१६८/२ पडिबधिकम्मोदए संते वि जो उवलम्भइ जीवगुणावयवो सो खओवसमिओ उच्चइ । कुदो । सव्वधादणसत्तीए अभावो खओ उच्चदि । खवो चैव उवसमो खओवसमो, तम्हि जादो भावो खओवसमिओ । ण च सम्मामिच्छत्तुदए संते सम्मत्तस्स कणिया वि उव्वरदि, सम्मामिच्छत्तस्स सव्वधादित्तणहणुववत्तीदो । तदो सम्मामिच्छत्त खओवसमियमिदि ण घडदे । एत्थ परिहारो उच्चदे—सम्मामिच्छत्तुदए सते सद्दहणासद्दहणप्पओ करं चिओ जीवपरिणामो उप्पज्जइ । तथ जो सद्दहणं सो सो सम्मत्तावयवो । तं सम्मामिच्छत्तुदओ ण विणासेदि त्ति सम्मामिच्छत्तं खओवसमियं । असद्दहणभागेण विणा सद्दहणभागस्सेव सम्मामिच्छत्तवएसो ण त्थित्ति ण सम्मामिच्छत्तं खओवसमियमिदि चे एवविहविवक्खाए सम्मामिच्छत्तं खओवसमियं मा होदु, किन्तु अवयव्यन-

यवनिराकरणानिराकरणं पडुक्ख खओवसमियं सम्मामिच्छत्तद्व-
कम्मं पि सव्वधादी चैव होदु, जच्चत्तरस्स सम्मामिच्छत्तस्स
सम्मत्ताभावादो। किंतु सद्वहणभागे असद्वहणभागे ण हीदि, सद्वहणा-
सद्वहणणमेयत्तविरोहादो। ण च सद्वहणभागे कम्मोदयजणिओ,
तत्थ विवरीयत्ताभावा। ण य तत्थ सम्मामिच्छत्तवदएसाभाव,
समुदाएसु पयट्ठाणं तदेगदेसे वि पउत्तिदसणादो। तदो सिद्ध
सम्मामिच्छत्त खओवसमियमिदि। = प्रश्न— प्रतिबन्धी कर्मका
उदय होनेपर जो जीवके गुणका अवयव पाया जाता है, वह गुणाश
क्षायोपशमिक कहलाता है, क्योंकि, गुणोंके सम्पूर्ण रूपसे घातनेकी
शक्तिका अभाव क्षय कहलाता है। क्षयरूप ही जो उपशम होता
है, वह क्षयोपशम कहलाता है (दे० क्षयोपशम/१)। उस क्षयोप-
शममें उत्पन्न होनेवाला भाव क्षायोपशमिक कहलाता है। किन्तु
सम्यग्मिध्यात्व कर्मके उदय रहते हुए सम्यक्त्वकी कणिका भी
अवशिष्ट नहीं रहती है, अन्यथा, सम्यग्मिध्यात्वकर्मके सर्वघाती-
पना बन नहीं सकता है। इसलिए सम्यग्मिध्यात्व क्षायोपशमिक है,
यह कहना घटित नहीं होता। उत्तर—सम्यग्मिध्यात्वकर्मके उदय
होनेपर भ्रद्धानाभ्रद्धानात्मक कर्थाचित् अर्थात् शकलित या मिश्रित
जीव परिणाम उत्पन्न होता है। उसमें जो भ्रद्धानांश है, वह
सम्यक्त्वका अवयव है। उसे सम्यग्मिध्यात्व कर्मका उदय नहीं
नष्ट कर सकता है, इसलिए सम्यग्मिध्यात्व भाव क्षायोपशमिक है।
प्रश्न—अभ्रद्धान भागके बिना केवल भ्रद्धान भागके ही 'सम्य-
ग्मिध्यात्व' यह सज्ञा नहीं है, इसलिए सम्यग्मिध्यात्व भाव क्षायो-
पशमिक नहीं है। उत्तर—उक्त प्रकारकी विवक्षा होनेपर सम्य-
ग्मिध्यात्वभाव क्षायोपशमिक भले ही न होवे, किन्तु अवयवकी
निराकरण और अवयवके निराकरणकी अपेक्षा वह क्षायोपशमिक
है। अर्थात् सम्यग्मिध्यात्वके उदय रहते हुए अवयवीरूप सम्यक्त्व
गुणका तो निराकरण रहता है और सम्यक्त्वका अवयवरूप अंश
प्रगट रहता है। इस प्रकार क्षायोपशमिक भी वह सम्यग्मिध्यात्व
द्रव्यकर्म सर्वघाती ही होवे (और भी दे० अनुभाग४/६), क्योंकि,
जात्यन्तरभूत सम्यग्मिध्यात्व कर्मके सम्यक्त्वका अभाव है। किन्तु
भ्रद्धानभाग अभ्रद्धानभाग नहीं हो जाता है, क्योंकि भ्रद्धान और
अभ्रद्धानके एकताका विरोध है। और भ्रद्धान भाग कर्मोदय-
जनित भी नहीं है, क्योंकि, इसमें विपरीतताका अभाव है। और
न उनमें सम्यग्मिध्यात्व संज्ञाका ही अभाव है, क्योंकि, समुदायों-
में प्रवृत्त हुए शब्दोंकी उनके एकदेशमें भी प्रवृत्ति देखी जाती है,
इसलिए यह सिद्ध हुआ कि सम्यग्मिध्यात्व क्षायोपशमिक
भाव है।

९. सम्यग्मिध्यात्वमें सम्यक्त्वका अंश कैसे सम्भव है

घ. १/१,७,१२/२०५/२ सम्मामिच्छत्तभावे पत्तपजच्चत्तरे अंसासीभावो
णत्थि त्ति ण तत्थ सम्मद्दंसणस्स एगदेस इदि चे, होदु णाम अभेद-
विवक्खाए जच्चत्तरत्तं। भेदे पुण विवक्खिदे सम्मद्दंसणभागे
अस्थि चैव, अण्णहा जच्चत्तरत्तविरोहा। ण च सम्मामिच्छत्तस्स
सव्वघाइत्तमेवं संते निरुज्झद्द, पत्तजच्चत्तरे सम्मद्दंसणसाभावादो
तस्स सव्वघाइत्ताविरोहा। = प्रश्न—जात्यन्तर भावको प्राप्त सम्य-
ग्मिध्यात्व भावमें अंशांशी भाव नहीं है, इसलिए उसमें सम्यग्-
दर्शनका एकदेश नहीं है। उत्तर—अभेदकी विवक्षामें सम्यग्-
मिध्यात्वके भिन्नजातीयता भले ही रही आवे, किन्तु भेदकी
विवक्षा करनेपर उसमें सम्यग्दर्शनका अंश ही ही। यदि ऐसा न
माना जाये तो, उसके जात्यन्तरत्वके माननेमें विरोध आता है।
और ऐसा माननेपर सम्यग्मिध्यात्वके सर्वघातीपना भी विरोधको
प्राप्त नहीं होता है, क्योंकि उसके भिन्नजातीयता प्राप्त होनेपर सम्य-
ग्दर्शनके एकदेशका अभाव है, इसलिए उसके सर्वघातीपना माननेमें
कोई विरोध नहीं आता है।

१०. मिश्रप्रकृतिके उदयसे होनेके कारण इसे औद्यिक क्यों नहीं कहते

घ. १/१,१,११/१६५/३ सतामपि सम्यग्मिध्यात्वोदयेन औद्यिक इति
किमिति न व्यपदिश्यत इति चेन्न, मिध्यात्वोदयादिवात् सम्य-
क्त्वस्य निरन्वयविनाशानुपलम्भात्। = प्रश्न—तीसरे गुणस्थानमें
सम्यग्मिध्यात्व प्रकृतिके उदय होनेसे वहाँ औद्यिक भाव क्यों नहीं
कहा है। उत्तर—नहीं, क्योंकि, मिध्यात्व प्रकृतिके उदयसे जिसप्रकार
सम्यक्त्वका निरन्वय नाश होता है उसप्रकार सम्यग्मिध्यात्व प्रकृति-
के उदयसे सम्यक्त्वका निरन्वय नाश नहीं पाया जाता है, इसलिए
तीसरे गुणस्थानमें औद्यिकभाव न कहकर क्षायोपशमिक भाव
कहा है।

११. मिध्यात्वादि प्रकृतियोंके क्षय व उपशमसे इसकी उत्पत्ति मानना ठीक नहीं

घ. १/१,१,११/१६५/७ मिध्यात्वक्षयोपशमादिवानन्तानुबन्धिनामपि
सर्वघातिस्पर्धकक्षयोपशमाज्जातमिति सम्यग्मिध्यात्वं किमिति
नोच्यत इति चेन्न, तस्य चारित्रप्रतिबन्धकत्वात्। ये त्वनन्तानु-
बन्धिक्षयोपशमादुत्पत्ति प्रतिजानते तेषां सासादनगुण औद्यिकः
स्यात्, न चैवमनभ्युपगमात्। = प्रश्न—जिस तरह मिध्यात्वके
क्षयोपशमसे सम्यग्मिध्यात्व गुणस्थानकी उत्पत्ति बतलायी है, उसी
प्रकार वह अनन्तानुबन्धी कर्मके सर्वघाती स्पर्धकोंके क्षयोपशमसे
होता है, ऐसा क्यों नहीं कहा। उत्तर—नहीं, क्योंकि, अनन्तानु-
बन्धी कषाय चारित्रका प्रतिबन्ध करती है (और इस गुणस्थानमें
भ्रद्धानकी प्रधानता है) जो आचार्य अनन्तानुबन्धीकर्मके क्षयोप-
शमसे तीसरे गुणस्थानकी उत्पत्ति मानते हैं, उनके मतसे सासादन
गुणस्थानको औद्यिक मानना पड़ेगा। पर ऐसा नहीं है, क्योंकि,
दूसरे गुणस्थानको औद्यिक नहीं माना गया है।

दे० क्षयोपशम/२/४ [मिध्यात्व अनन्तानुबन्धी और सम्यक्त्वप्रकृति
इन तीनोंका उदयाभावरूप उपशम होते हुए भी मिश्रगुणस्थानको
औपशमिक नहीं कह सकते।]

* १४ मार्गाओंमें सम्भव मिश्र गुणस्थान विषयक शंका समाधान—दे० वह वह नाम।

मिश्र प्रकृति—दे० मोहनीय।

मिश्रमत—दे० मीमांसा दर्शन।

मिश्रानुकंपा—दे० अनुकंपा।

मिश्रोपयोग—दे० उपयोग/II/३।

मिष्ट संभाषण—दे० सत्य।

मिहिरकुल—मगधदेशकी राज्य व शासकीके अनुसार यह हूणवंश-
का अन्तिम राजा था। तोरमाणका पुत्र था। इसने ई० ५०७ में
राजा भानुगुप्तको परास्त करके गुप्तवंशको नष्टप्राय कर दिया था।
यह बहुत अत्याचारी था, जिसके कारण 'कवकी' नाम से प्रसिद्ध
हुआ। इसके अत्याचारोंसे तंग आकर गुप्त वंशकी बिखरी हुई शक्ति-
एक बार पुनः संगठित हो गयी और राजा बिष्णु यशोधर्मकी अध-
क्षतामें ई० ५३३ में (किन्हीं के मतानुसार ई० ५२९ में) उसने मिहिर-
कुलको परास्त करके भगा दिया। उसने भागकर कश्मीरमें शरण ली
और ई० ५४० में वहाँ ही उसकी मृत्यु हो गयी। समय—बी. नि.
१०३३-१०८४ (ई० ५०६-५२८) — (विशेष दे० इतिहास/३/४)।

जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश

मीमांसा—दे० ऊहा—ईहा, ऊहा, अपोहा, मार्गणा, गवेषणा और मीमांसा ये ईहाके पर्यायनाम हैं। (और भी—दे० विचय)
घ १३/५.६.२८/२१ मीमांस्यते विचार्यते अवगृहीतोऽर्थो विशेषरूपेण अनया इति मीमांसा । —अवग्रहके द्वारा ग्रहण किया अर्थ विशेषरूपसे जिसके द्वारा मीमांसित किया जाता है अर्थात् विचारा जाता है वह मीमांसा है।

मीमांसा दर्शन—* वैदिक दर्शनोंका विकास क्रम व समन्वय—दे० दर्शन।

१. मीमांसा दर्शनका सामान्य परिचय

(षड्दर्शन समुच्चय/६५/६६); (स्या मं./परि० च/४३८) मीमांसा-दर्शनके दो भेद हैं—१. पूर्वमीमांसा व उत्तरमीमांसा। यद्यपि दोनों मौलिक रूपसे भिन्न हैं, परन्तु 'बौधायन' ने इन दोनों दर्शनोंको 'संहित' कहकर उल्लेख किया है तथा 'उपबर्ष' ने दोनों दर्शनोंपर टीकाएँ लिखी हैं, इसीसे विद्वानोंका मत है कि किसी समय ये दोनों एक ही समझे जाते थे। २. इनमेंसे उत्तरमीमांसाको ब्रह्ममीमांसा या वेदान्त भी कहते हैं, इसके लिए—दे० वेदान्त। ३. पूर्वमीमांसाके तीन सम्प्रदाय हैं—कुमारिलभट्टका 'भाट्टमत', प्रभाकर मिश्रका 'प्राभाकरमत' या 'गुरुमत'; तथा मंडन या सुरारोमिश्रका 'मिश्रमत'। इनका विशेष परिचय निम्न प्रकार है।

१. प्रवर्तक, साहित्य व समय—(स म./परि० ड/४३६) पूर्वमीमांसा दर्शनके मूल प्रवर्तक वेदव्यासके शिष्य 'जैमिनिऋषि' थे, जिन्होंने ई. पू. २०० में 'जैमिनीसूत्र' की रचना की। ई. श ४ में शबरस्वामी ने इसपर 'शबरभाष्य' लिखा, जो पीछे आनेवाले विचारकों व लेखकोंका मूल आधार बना। इसपर प्रभाकर मिश्रने ई० ६५० में और कुमारिलभट्टने ई० ७०० में स्वतन्त्र टीकाएँ लिखीं। प्रभाकरकी टीकाका नाम 'बृहती' है। कुमारिलकी टीका तीन भागोंमें विभक्त है—'श्लोकवार्तिक', 'तन्त्रवार्तिक' और 'तुपटीका'। तत्पश्चात् मंडन या सुरारोमिश्र हुए, जिन्होंने 'विधि-विवेक', 'मीमांसानुक्रमणी' और कुमारिलके तन्त्रवार्तिकपर टीका लिखी। पार्थसारथिमिश्र ने कुमारिलके श्लोकवार्तिकपर 'न्याय रत्नाकर', 'शास्त्रदीपिका', 'तन्त्ररत्न' और 'न्यायरत्नमाला' लिखी। सुचारित्र मिश्रने 'श्लोकवार्तिक'की टीका और काशिका व सौमेश्वर भट्ट ने 'तन्त्रवार्तिक टीका' और 'न्यायसुधा' नामक ग्रन्थ लिखे। इनके अतिरिक्त भी श्रीमाधवका 'न्यायमालाविस्तर', 'मीमांसा न्यायप्रकाश', लौगाक्षि भास्करका 'अर्थ सग्रह' और खण्डदेवकी 'भाट्टदोषिका' आदि ग्रन्थ उल्लेखनीय हैं।

२. तत्त्व विचार

१. प्रभाकरमिश्र या गुरुमतकी अपेक्षा—१. पदार्थ आठ है—द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, समवाय, संख्या, शक्ति व सादृश्य। लक्षणोंके लिए—दे० वैशेषिक दर्शन। २. द्रव्य नौ है—पृथिवी, जल, वायु, अग्नि, आकाश, काल, आत्मा, मन व दिक्। आत्मा ज्ञानाश्रय है। मन प्रत्यक्षका विषय नहीं। तम नामका कोई पृथक् द्रव्य नहीं। ३. गुण २१ हैं—वैशेषिकमान्य २४ गुणोंमें-से संख्या, विभाग, पृथक्त्व व द्वेष ये चार कम करके एक 'वेग' मिलानेसे २१ होते हैं। सबके लक्षण वैशेषिक दर्शनके समान हैं। ४. कर्म प्रत्यक्ष गोचर नहीं है। संयोग व वियोग प्रत्यक्ष हैं, उनपरसे इसका अनुमान होता है। ५. सामान्यका लक्षण वैशेषिक दर्शनवत् है। ६. दो अयुतसिद्धोंमें समवाय सम्बन्ध है जो नित्य पदार्थोंमें नित्य और अनित्य पदार्थोंमें अनित्य होता है। ७. संख्याका लक्षण वैशेषिकदर्शनवत् है। ८.

सभी द्रव्योंमें अपनी-अपनी शक्ति है, जो द्रव्यसे भिन्न है। ९. जातिका नाम सादृश्य है जो द्रव्यसे भिन्न है। (भारतीय दर्शन।)

२. कुमारिल भट्ट या 'भाट्टमत'की अपेक्षा—

१. पदार्थ दो हैं—भाव व अभाव। २. भाव चार है—द्रव्य, गुण, कर्म व सामान्य। ३. अभाव चार है—प्राक्, प्रध्वंस, अन्योन्य व प्रत्यक्ष। ४. द्रव्य ११ है—प्रभाकर मान्य ९ में तम व शब्द और मिलानेसे ११ होते हैं। 'शब्द' नित्य व सर्वगत है। 'तम' व 'आकाश' चक्षु इन्द्रियके विषय है। 'आत्मा' व 'मन' विभु, है। ५. 'गुण' द्रव्यसे भिन्न व अभिन्न है। वे १३ हैं—रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, गुरुत्व, द्रवत्व, तथा स्नेह। ६. कर्म प्रत्यक्षका विषय है। यह भी द्रव्यसे भिन्न तथा अभिन्न है। ७. सामान्य नामा जाति भी द्रव्यसे भिन्न व अभिन्न है। (भारतीय दर्शन)।

३. सुरारि मिश्र या 'मिश्रमत'की अपेक्षा

१. परमार्थतः ब्रह्म ही एक पदार्थ है। व्यवहारसे पदार्थ चार है—धर्मो, धर्म, आधार व प्रदेश विशेष। २. आत्मा धर्मो है। ३. सुख उसका धर्म विशेष है। उसकी पराकाष्ठा स्वर्गका प्रदेश है। (भारतीय दर्शन)।

४. शरीर व इन्द्रिय विचार

१. प्रभाकर मिश्र या 'गुरुमत'की अपेक्षा

१. इन्द्रियोंका अधिकर शरीर है, जो केवल पार्थिव है, रूच-भौतिक नहीं। यह तीन प्रकारका है—जरायुज, अण्डज व स्वेदज। बनस्पतिका पृथक्से कोई उद्भिज्ज शरीर नहीं है। २. प्रत्येक शरीर-मे मन व त्वक् ये दो इन्द्रियाँ अवश्य रहती हैं। मन अणुरूप है, तथा ज्ञानका कारण है।

२. कुमारिल भट्ट या 'भाट्टमत'की अपेक्षा

मन, इन्द्रियों व शरीर तीनों पंचभौतिक है। इनमेंसे मन व इन्द्रियों ज्ञानके करण हैं। बाह्य वस्तुओंका ज्ञान इन्द्रियों द्वारा मन व आत्मा-के संयोगसे होता है।

५. ईश्वर व जीवात्मा विचार

१. 'गुरु' व 'भट्ट' दोनों मतोंकी अपेक्षा

(स म./परि० ड/४३०-४३२, ४३३); (भारतीय दर्शन)

१. प्रत्यक्ष गोचर न होनेसे सर्वज्ञका अस्तित्व किसी प्रमाणसे भी सिद्ध नहीं है। आगम प्रमाण विवादका विषय होनेसे स्वीकारणीय नहीं है। (षड् दर्शन समुच्चय/६५/६७-६९)। २. न तो सृष्टि और प्रलय ही होती है और न उनके कर्तारूप किसी ईश्वरको मानना आवश्यक है। फिर भी व्यवहार चलानेके लिए परमात्माको स्वीकार किया जा सकता है। ३. आत्मा अनेक है। अहं प्रत्यय द्वारा प्रत्येक व्यक्तिके पृथक्-पृथक् जाना जाता है व शुद्ध, ज्ञानस्वरूप, विभु व भोक्ता है। शरीर इसका भोगायतन है। यही एक शरीरसे दूसरे शरीरमें तथा मोक्षमें जाता है। यहाँ इतना विशेष है कि प्रभाकर आत्माको स्वसंवेदनगम्य मानता है, परन्तु कुमारिल ज्ञाता व ज्ञेयको सर्वथा भिन्न माननेके कारण उसे स्वसंवेदनगम्य नहीं मानता। (विशेष—दे० आगे प्रामाण्य विचार) (भारतीय दर्शन)।

६. मुक्ति विचार

१. प्रभाकर मिश्र या 'गुरुमत'की अपेक्षा

१. वेदाध्ययनसे धर्मकी प्राप्ति होती है। धर्म तर्कका विषय नहीं। वेद विहित यज्ञादि कार्य मोक्षके कारण है (षड् दर्शनसमुच्चय/६६-

७०/६६-७०)। २. धर्म व अधर्मका विशेष प्रकारसे नाश हो जानेपर देहकी आत्यन्तिकी निवृत्ति हो जाना मोक्ष है। सासारिक दुखोंसे उद्विग्नता, लौकिक सुखोंसे पराङ्मुखता, सासारिक कर्मोंका त्याग, वेद विहित शम, दम आदिका पालन मोक्षका उपाय है। तब अदृष्टके सर्व फलका भोग हो जानेपर समस्त संस्कारोंका नाश स्वतः हो जाता है। (स्या. म./परि० ड./४३३), (भारतीय दर्शन)।

२. कुमारिलभट्ट या 'भट्टमत' की अपेक्षा

१ वेदाध्ययनसे धर्मकी प्राप्ति होती है। धर्म तर्कका विषय नहीं। वेद विहित यज्ञादि कार्य मोक्षके कारण है—षड् दर्शन समुच्चय/६६-७०/६६-७०) २ सुख दुःखके कारण भूत शरीर, इन्द्रिय व विषय इन तीन प्रपञ्चोंकी आत्यन्तिक निवृत्ति; तथा ज्ञान, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म व संस्कार इन सबसे शून्य, स्वरूपमें स्थित आत्मा मुक्त है वहाँ शक्तिमात्रसे ज्ञान रहता है। आत्मज्ञान भी नहीं होता। ३ लौकिक कर्मोंका त्याग और वेद विहित कर्मोंका ग्रहण ही मोक्षमार्ग है ज्ञान नहीं। वह तो मोक्षमार्गकी प्रवृत्तिमें कारणमात्र है।

(सा ५./परि० उ./४३३); (भारतीय दर्शन)

७. प्रमाण विचार

१. वेदप्रमाण सामान्य

दानो मत वेदको प्रमाण मानते हैं। वह नित्य व अपौरुषेय होनेके कारण तर्कका विषय नहीं है। अनुमान आदि अन्य प्रमाण उसकी अपेक्षा निम्नकोटिके हैं। (षड्दर्शन समुच्चय/६६-७०/६६-७०), (स्या. म./परि-ड./४२८-४२९)। (२) वह पाँच प्रकारका है—मन्त्र वेदविधि, ब्राह्मण वेदविधि, मन्त्र नामधेय, निषेध और अर्थ-वाद। 'विधि' धर्म सम्बन्धी नियमोंको बताती है। मन्त्र' से याज्ञिक देवी, देवताओंका ज्ञान होता है। निन्दा, प्रशंसा, परकृति और पुराकल्पके भेदसे 'अर्थवाद' चार प्रकारका है। (स्या. म./परि ड./४२९-४३०)।

२. प्रभाकर मिश्र या 'गुरुमत'की अपेक्षा

(षड्दर्शन समुच्चय/७१-७५/७१-७२); (स्या. म./परि-ड./४३२), (भारतीय दर्शन)। (१) स्वप्न व संशयसे भिन्न अनुभूति प्रमाण है। वह पाँच प्रकारका है—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द व अर्थापत्ति। (२) प्रत्यक्षमें चार प्रकारका सन्निकर्ष होता है—आत्मासे मनका, मनसे इन्द्रियका, इन्द्रियसे द्रव्यका, तथा इन्द्रियसे उम द्रव्यके गुणका। ये द्रव्य व गुणका प्रत्यक्ष पृथक्-पृथक् मानते हैं। वह प्रत्यक्ष दो प्रकारका है—सविकल्प और निर्विकल्प। सविकल्प प्रत्यक्ष निर्विकल्प पूर्वक होता है। योगज व प्रातिभ प्रत्यक्ष इन्ही दोनोंमें गभित होजाते हैं। (३) अनुमान व उपमान नैयायिक दर्शनवत् है। (४) केवल विध्यर्थक वेदवाक्य शब्द-प्रमाण है, जिनके सन्निकर्षसे परीक्षित विषयोंका ज्ञान होता है। (५) 'दिनमें नहीं खाकर भी देवदत्त मोटा है तो पत्ता चलता है कि यह अवश्य रातको खाता हीगा' यह अर्थापत्तिका उदाहरण है।

३ कुमारिलभट्ट या 'भट्टमत' की अपेक्षा

(षड्दर्शन समुच्चय/७१-७६/७१-७३), (स्या. म./परि-ड./४३२); (भारतीय दर्शन)। (१) प्रमाके करणको प्रमाण कहते हैं वह छह प्रकार है—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, अर्थापत्ति व अनुपलब्धि। (२) प्रत्यक्ष ज्ञानमें केवल दो प्रकारका सन्निकर्ष होता है—संयोग व संयुक्ततादात्म्य। समवाय नामका कोई तीसरा सम्बन्ध नहीं है। अन्य सब कथन गुरुमतवत् है। (३) अनुमानमें तीन अवयव है—प्रतिज्ञा, हेतु व उदाहरण, अथवा उदाहरण,

उपनय व निगमन। (४) ज्ञात शब्दमें पदार्थका स्मरणात्मक ज्ञान होनेपर जो वाक्यार्थका ज्ञान होता है, वह शब्द प्रमाण है। वह दो प्रकारका है—पौरुषेय व अपौरुषेय। प्रत्यक्ष-द्रष्टा ऋषियोंके वाक्य पौरुषेय तथा वेदवाक्य अपौरुषेय है। वेदवाक्य दो प्रकारके हैं—सिद्धयर्थक व विधायक। स्वरूपप्रतिपादक वाक्य सिद्धयर्थक है। आदेशात्मक व प्रेरणात्मक वाक्य विधायक है। विधायक भी दो प्रकार है—उपदेश व आदेश या अतिदेश। (५) अर्थापत्तिका लक्षण प्रभाकर भट्टवत् है, पर यहाँ उसके दो भेद हैं—दृष्टार्थापत्ति और श्रुतार्थापत्ति। दृष्टार्थापत्तिका उदाहरण पहले दिया जा चुका है। श्रुतार्थापत्तिका उदाहरण ऐसा है कि 'देवदत्त घर पर नहीं है' ऐसा उत्तर पानेपर स्वतः यह ज्ञान हो जाता है कि 'वह बाहर अवश्य है'। (६) 'प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे जो सिद्ध न हो वह पदार्थ है ही नहीं' ऐसा निश्चय होना अनुपलब्धि है।

८. प्रामाण्य विचार

(स्या. म./परि-ड./४३२); (भारतीय दर्शन)।

१. प्रभाकर मिश्र या गुरुमतकी अपेक्षा

ज्ञान कभी मिथ्या व भ्रान्ति रूप नहीं होता। यदि उसमें सशय न हो तो अन्तरग ज्ञेयकी अपेक्षा वह सम्यक् ही है। सीपीमें रजतका ज्ञान भी ज्ञानाकारकी अपेक्षा सम्यक् ही है। इसे अख्याति कहते हैं। स्वप्रकाशक होनेके कारण वह ज्ञान स्वयं प्रमाण है। इस प्रकार यह स्वतः प्रामाण्यवादी है।

२. कुमारिलभट्ट या 'भट्टमत' की अपेक्षा

मिथ्याज्ञान अन्यथाख्याति है। रज्जुमें सर्पका ज्ञान भी सम्यक् है, क्योंकि, भय आदिकी अन्यथा उत्पत्ति सम्भव नहीं है। पीछे दूसरेके बतलानेसे उसका मिथ्यापना जाना जाये यह दूसरी बात है। इतना मानते हुए भी यह ज्ञानको स्वप्रकाशक नहीं मानता। पहले 'यह घट है' ऐसा ज्ञान होता है, पीछे 'मैं ने घट जाना है' ऐसा ज्ञातता नामक धर्म उत्पन्न होता है। इस ज्ञाततासे ही अर्थापत्ति द्वारा ज्ञानका अस्तित्व सिद्ध होता है। इसलिए यह परतः प्रामाण्यवादी है।

३. मण्डन—मुरारी या 'मिश्रमत'की अपेक्षा

पहले 'यह घट है' ऐसा ज्ञान होता है, फिर 'मैं घटको जानने-बाला हूँ' ऐसा ग्रहण होता है। अतः यह भी ज्ञानको स्वप्रकाशक न माननेके कारण परतः प्रामाण्यवादी है।

९. जैन व मीमांसा दर्शनकी तुलना

(स्या. म./परि-ड./पृ. ४३४)। (१) मीमांसक लोग वेदको अपौरुषेय व स्वतः प्रमाण वेदविहित हिंसा यज्ञादिकको धर्म, जन्मसे ही वर्णव्यवस्था तथा ब्राह्मणको सर्वपूज्य मानते हैं। जैन लोग उपरोक्त सर्व बातोंका कडा विरोध करते हैं। उनकी दृष्टिमें प्रथमानुयोग आदि चार अनुयोग ही चार वेद हैं, अहिंसात्मक हवन व अग्नि-होत्रादिरूप पूजा विधान ही सच्चे यज्ञ हैं, वर्ण व्यवस्था जन्मसे नहीं गुण व कर्मसे होती है, उत्तम श्रावक ही यथार्थ ब्राह्मण है। इस प्रकार दोनोंमें भेद है। (२) कुमारिलभट्ट पदार्थोंको उत्पाद-व्ययधौव्यात्मक, अवयव अवयवीमें भेदाभेद, वस्तुको स्वकी अपेक्षा सत् और परकी अपेक्षा असत् तथा सामान्य विशेषको सापेक्ष मानता है। अतः किसी अंशमें वह अनेकान्तवादी है। इसकी अपेक्षा जैन व मीमांसक तुल्य हैं। (३) [तत्त्वोंकी अपेक्षा जैन व मीमांसकोंकी तुलना वैशेषिकदर्शनवत् ही है।] (दे० वैशेषिक दर्शन)। अन्य दिष्वकोसे भी दोनोंमें भेद व तुल्यता है। जैसे—दोनों ही जरायुज, अण्डज व स्वेदज (संसृर्जन) शरीरोंको पाँच-

भौतिक स्वीकार करते हैं। दोनों ही इन्द्रिय विषयोके त्याग आदि-को मोक्षका साधन मानते हैं। दोनों ही शरीरविकी आत्यन्तिक निवृत्तिको मोक्ष मानते हैं। इस प्रकार दोनोंमें तुल्यता है। परन्तु जैनोंकी भौतिक मोमांसक सर्वज्ञत्वका अस्तित्व नहीं मानते, आत्मा-को स्वस्ववेदनगम्य नहीं मानते। इस प्रकार दोनोंमें भेद है।

मीमांसा परीक्षा—(दे० अतिचार/१)।

मुंज—मालवा (मगध) देशकी उज्जयिनी नगरीके राजा 'सिंहल' को कोई सन्तान न थी। वनविहार करते समय उनको मुञ्जकी झाड़ीके नीचे पड़ा हुआ एक बालक मिला। इसको ही उन्होंने अपनी सन्तान रूपसे ग्रहण कर लिया और मुंजकी झाड़ीके नीचे-से मिलनेके कारण इसका नाम 'मुंज' रख दिया। पीछे राजा सिंहल-को अपने भी दो पुत्र उत्पन्न हो गये—शुभचन्द्र व भर्तृ हरि। परन्तु तब मुंजको राज्य दिया जा चुका था। शुभचन्द्र व भर्तृ हरिको अत्यन्त पराक्रमी जान मुञ्जने षडयन्त्र द्वारा उन्हें घरसे भाग जानेको बाध्य कर दिया और वे दोनों वनमें जाकर संन्यासी हो गये। राजा मुञ्जका राज्य मालवा देशमें था। उज्जैनी इनकी राजधानी थी। इनकी मृत्यु ई. १०२१ में तैलपदेवके हाथसे हुई थी। भोजवशके अनुसार इनका समय वि. १०३६-१०७८ (ई. ६७६-१०२१) आता है। (दे० इतिहास/३/१); (सि. वि./प्र. ८३/पं. महेन्द्र); (यो. सा./अ./प्र./पं. गजाधरलाल)।

मुंड = १. सू. आ./१२१ पंचवि इंदियमुंडा वचमुंडा हृत्थपायमण-मुंडा। तण्मुंडेण य सहिया दस मुंडा वण्णदा समए। १२२। —पाँचो इन्द्रियोका मुंडन अर्थात् उनके विषयोका त्याग, वचन मुंडन अर्थात् बिना प्रयोजनके कुछ न बोलना, हस्त मुंडन अर्थात् हाथसे कुचेष्टा न करना, पादमुंडन अर्थात् अविवेक पूर्वक मुकोडने व फैलाने आदि व्यापारका त्याग, मन मुंडन अर्थात् कुचिन्तनका त्याग और शरीरमुंडन अर्थात् शरीरकी कुचेष्टाका त्याग इस प्रकार दस मंड जिनागममें कहे गये हैं। २. एक क्रियावादी—दे० क्रियावाद।

मुकुट सप्तमी व्रत—सात वर्ष तक प्रति वर्ष श्रावण शु. ७ को उप-वास करे। 'ओं ह्रीं तीर्थकरेभ्यो नमः' इस मन्त्रका त्रिकाल जाप्य करे। (व्रत विधान संग्रह/पृ. ६१)।

मुक्त—दे० मोक्ष।

मुक्तावली व्रत—यह तीन प्रकारका है—बृहद्, मध्यम व लघु।
१ मध्यम विधि—१,२,३,४,५,६,७,८,९,१० इस क्रमसे २५ उपवास करे। बीचके ८ स्थानोंमें व अन्तमें पारण करे। नमस्कार-मन्त्रका त्रिकाल जाप्य करे। (ह. पु/३४/६६-७०), (व्रत विधान संग्रह/पृ. ७५)। २. बृहत् विधि—उपरोक्त प्रकार ही १,२,३,४,५,६,७,८,९,१०,११,१२,१३,१४,१५,१६,१७,१८,१९,२०,२१ इस क्रमसे ४६ उपवास व १३ पारणा करे। नमस्कारमन्त्रका त्रिकाल जाप्य करे। (व्रतविधान संग्रह। पृ. ७५)। ३. लघु विधि—६ वर्ष तक प्रतिवर्ष भाद्रपद शु. ७, आश्विन कृ. ६, १३ तथा शु. ११, कार्तिक कृ. १२ तथा शु. ३, ११, मगशिर कृ. ११ तथा शु. ३—इस प्रकार ६ उपवास करे, अर्थात् कुल ८१ उपवास करे। 'ओ ह्रीं वृषभजिनाय नमः' इस मन्त्रका त्रिकाल जाप्य करे। (व्रतविधान संग्रह/पृ. ७५)।

मुक्ताशुक्ति—दे० मुद्रा।

मुक्ताहर—विजयार्थकी उत्तर श्रेणीका एक नगर—दे० विद्याधर।

मुक्ति—दे० मोक्ष।

मुख—१ घ. १३/५.५, १२२/गा ३५/३८३—मुखमर्द्ध शरीरस्य सर्वं

वा मुखमुच्यते। = शरीरके आधे भागको मुख कहते हैं अथवा पूरा शरीर ही मुख कहलाता है।

घ. १३/५.५, १२६/३७१/१३ किं मुहं गाम। जीवपदेशाणं विसिद्ध-सठाणं। = जीव प्रदेशोंके विशिष्ट संस्थानको मुख कहते हैं।

घ. १३/५.५, १२२/३८३/८ मुहं शरीरं, तस्स आगारो संठाणं त्ति वेत्तव्वं। = मुखका अर्थ शरीर है। उसका आकार अर्थात् संस्थान ऐसा ग्रहण करना चाहिए। २. अर्ध अर्थात् First Term या Head of a quadrant or first digit in numerical Series (ज. प./प्र. १०८); (विशेष दे. गणित/II/५/३)।

मुखपट विधान—दे० प्रतिष्ठा विधान।

मुख्य—मुख्यका लक्षण व मुख्य गौण व्यवस्था—दे० स्याद्वाद/३।

मुख्य मंगल—दे० मंगल।

मुग्धबोध व्याकरण—दे० व्याकरण।

मुद्रा—

अन. घ/मू. व उद्धृत श्लोक/८/५५-५६/८१३ मुद्राश्चतस्रो व्युत्सर्ग-स्थितिर्जनीह धौगिकी। न्यस्तं पद्मासनाशङ्के पाण्योरुत्तानयोर्द्व-यम्। ५५। जिनमुद्रान्तर कृत्वा पादयोश्चतुरङ्गुलम्। ऊर्ध्वजानोरव-स्थानं प्रलम्बितभुजद्वयम्। १। जिना' पद्मासनादीनामङ्गमध्ये निवे-शनम्। उत्तानकरयुग्मस्य योगमुद्रा बभाषिरे। २। स्थितस्याध्नुदरं न्यस्य कूर्परौ मुकुलीकृतौ। करौ स्याद्वन्दनामुद्रा मुक्ताशुक्तिर्यु-ताङ्गुली। ५६। मुकुलीकृतमाधाय जठरोपरि कूर्परम्। स्थितस्य वन्दनामुद्रा करद्वन्द्वं निवेदिता। ३। मुक्ताशुक्तिर्मता मुद्रा जठरोपरि कूर्परम्। ऊर्ध्वजानो' करद्वन्द्वं सल'नाङ्गुलि सूरिभिः। ४। = १. (देव वन्दना या ध्यान सामायिक आदि करते समय मुख व शरीरकी जो निश्चल आकृति की जाती है, उसे मुद्रा कहते हैं। वह चार प्रकारकी है—जिनमुद्रा, योगमुद्रा, वन्दनामुद्रा, और मुक्ताशुक्ति मुद्रा)। २. दोनों भुजाओंको लटकाकर और दोनों पैरोंमें चार अंगुलका अन्तर रखकर कायोत्सर्गके द्वारा शरीरको छोड़कर खड़े रहनेका नाम जिनमुद्रा है। (और भी दे व्युत्सर्ग / १ में कायोत्सर्गका लक्षण)। ३. पर्यंकासन, पर्यंकासन और वीरासन इन तीनोंमेंसे कोईसे भी आसनको मॉडकर, नाभिके नीचे, ऊपरकी तरफ हथेली करके, दोनों हाथोंको ऊपर नीचे रखनेसे योगमुद्रा होती है। ४. खड़े होकर दोनों कुहनियोंको पेटके ऊपर रखने और दोनों हाथोंको मुकुलित कमलके आकारमें बनानेपर वन्दनामुद्रा होती है। ५. वन्दनामुद्रावत् ही खड़े होकर, दोनों कुहनियोंको पेटके ऊपर रखकर, दोनों हाथोंकी अंगुलियोंको आकार विशेषके द्वारा आपसमें संलग्न करके मुकुलित बनानेसे मुक्ताशुक्तिमुद्रा होती है।

*** मुद्राओंकी प्रयोगविधि**—दे० कृतिकर्म

मुनि—

दे, साधु/१—(श्रमण, संयत, ऋषि, मुनि, साधु, वीतराग, अनपार, भदन्त, दान्त, यति ये एकार्थवाची हैं)।

स सा./आ./१५१ मननमात्रभावतया मुनि। = मननमात्र भावस्वरूप होनेसे मुनि है।

चा. सा./४६/५ मुनयोऽवधिमनःपर्ययकेवलज्ञानिनश्च कथ्यन्ते। = अवधिज्ञानी, मनःपर्ययज्ञानी और केवलज्ञानियोंको मुनि कहते हैं।

*** मुनिके भेद व विषय**—दे० साधु।

मुनिप्रायश्चित्त—आचार्य इन्द्रनन्दि (ई. श १०-११) की एक रचना, जिसमें साधुओंके दोषों व शक्तिके अनुसार प्रायश्चित्त देनेकी विधिका कथन है।

मुनिभद्र—इनका उल्लेख ई. १३८८ के एक शिलालेखमें आता है। इनके एक शिष्यने जिनका कि नाम ज्ञात नहीं है 'परमात्मप्रकाश' ग्रन्थपर एक कन्नड टीका लिखी है। समय (ई. १३५०-१३६०); (प. प्र./प्र. १२४/प कैलाशचन्द्र शास्त्री)।

मुनिसुवत नाथ—१. म. पु./६७/श्लोक नं. पूर्वभव नं. २ में चम्पापुर नगरके राजा हरिवर्मा थे। २। पूर्वभवमें प्राणतेन्द्र थे। १५। (युगपत् सर्वभवके लिए वे. श्लोक ६०)—वर्तमान भवमें २०वे तीर्थंकर हुए (विशेष वे. तीर्थंकर/५)। २. भविष्यत कालीन १२वें तीर्थंकर। अपर नाम सुवत या जयकीर्ति—वे. तीर्थंकर/५)।

मुनिसुवत पुराण—ब. कृष्णदास (ई. १६२४) कृत २३ सन्धि तथा ३०२४ श्लोकप्रमाण संस्कृत काव्य। (ती ४/८/५)।

मुन्नालाल—आप जयपुर निवासी थे। पं. जयचन्द्र छाबडाके शिष्य तथा पं. सदासुखदासजीके गुरु थे। तीनों पण्डित समकालीन हैं। समय—वि. १८३०-१८६० (ई० १७७३-१८३३)।

मुमुक्षु—स्व. स्तो./टी./३/७ मोक्षमुक्तिमुमुक्षुः। = मोक्षकी इच्छा करनेवाला मुमुक्षु है।

अन. घ./१/११/३४ स्वार्थैकमतयो भान्त्व मा भान्त्व घटदीपवत्। परार्थे स्वार्थमतयो ब्रह्मवद्भान्त्वहर्षिवम्। १११। = मुमुक्षु तीन प्रकारके होते हैं—एक तो परोपकारको प्रधान रखकर स्वोपकार करनेवाले, दूसरे स्वोपकारको प्रधान रखकर स्वोपकार करनेवाले और तीसरे केवल स्वोपकार करनेवाले—विशेष दे० उपकार।

मुरजमध्यवत—इस व्रतकी दो प्रकार विधि है—बृहत् व लघु। १. बृहत् विधि—यन्त्रमें दिखाये अनुसार क्रमशः ५, ४, ३, २, २, ३, ४, ५ इस प्रकार २८ उपवास करे। बीचके सर्व खाली स्थानोंमें एक एक करके ८ पारणाय करे। नमस्कार मन्त्रका त्रिकाल जाप्य करे। (ह. पु./३४/६६)। २ लघुविधि यन्त्रमें दिखाये अनुसार क्रमशः २, ३, ४, ५, ४, ३ इस प्रकार २६ उपवास करे। बीचके सर्व खाली स्थानोंमें एक एक करके ७ पारणाय करे। नमस्कार मन्त्रका त्रिकाल जाप्य करे। (व्रतविधान संग्रह/पृ० ८०)।

मुररा—भरत आर्यखण्डकी एक नदी—वे० मनुष्य/४।

मरुड वंश—मरुदय वंशका ही प्रसिद्ध नाम मौर्यवंश है, क्योंकि मालवा देशके राजवंशके अनुसार दिगम्बर आम्नायने जहाँ मरुड वंशका नाम दिया है वहाँ श्वेताम्बर आम्नायने मौर्यवंशका नाम दिया। इसी वंशका दूसरा नाम परुडवंश भी है।—वे० इतिहास/३/४।

मुष्टि विधान व्रत—प्रतिवर्ष भाद्रप, माघ व चैत्र मासमें अर्थात् तीनों दशलक्षण पर्वोंमें कृ. १ से शु. १५ तक पूरे-पूरे महीने प्रतिदिन १ मुष्टि प्रमाण शुभ द्रव्य भगवान्‌के चरणोंमें चढाकर अभिषेक व चतुर्विंशति जिन पूजन करे। 'ओं ह्रीं वृषभादिकीरान्तेभ्यो नमः' इस मन्त्रका त्रिकाल जाप्य करे।

मुहांवापुर—वर्तमान अम्बई (म. पु/प्र ४६/प. पन्नालाल)।

मुहूर्त—

घ. ४/१.५.१/गा. १०-११/३२८ उच्छ्वासानां सहस्राणि त्रीणि सप्तशतानि च। त्रिसप्तति पुनस्तेषां मुहूर्तो ह्येक इष्यते। १०। निमेषाणां सहस्राणि पञ्चभूय शतं तथा। दश चैव निमेषा स्युर्मुहूर्तं गणिता बुधैः। ११। = १. ३७७३ उच्छ्वासोंका एक मुहूर्त कहा जाता है। ११। (घ. ३/१.२.६/गा. ३६/६६)। २. अथवा ६९१० निमेषका एक मुहूर्त कहा जाता है।—दे० गणित/१/१/४।

२. मुहूर्तके प्रमाण सम्बन्धी दृष्टिभेद

घ. ३/१.२.६/७ का भाषार्थ—कितने ही आचार्य ७२० प्राणोंका मुहूर्त होता है, ऐसा कहते हैं; परन्तु स्वस्थ मनुष्यके उच्छ्वासोंको देखते हुए उनका इस प्रकार कथन घटित नहीं होता है...क्योंकि ७२० प्राणोंको ४ से गुणा करके जो गुणफल आवे उसमें ८६३ और मिलाने [अर्थात् (७२०×४) + ८६३ = २८८० + ८६३ = ३७४३ उच्छ्वास] सूत्रमें कहे गये मुहूर्तके उच्छ्वासोंका प्रमाण होता है। १०० यदि ७२० प्राणोंका एक मुहूर्त होता है, इस कथनको मान लिया जाये तो केवल २९६०० प्राणोंके द्वारा ही ज्योतिषियोंके द्वारा माने गये अहोरात्रका प्रमाण होता है। किन्तु यहाँ आगमायुक्त कथनके अनुसार तो १६३९६० उच्छ्वासोंके द्वारा एक अहोरात्र होता है।

३. अन्तर्मुहूर्त—एक मुहूर्तसे कम और एक आवलीसे अधिक काल प्रमाण—(वे. अन्तर्मुहूर्त)।

४. भिन्नमुहूर्त—मुहूर्तसे एक समय कम काल प्रमाण—वे. भिन्न-मुहूर्त।

मूक—कायोत्सर्गका एक अतिचार—(वे. व्युत्सर्ग/१)।

मूकसंज्ञा—कायोत्सर्गका एक अतिचार—वे. व्युत्सर्ग/१।

मूडविद्वी—दक्षिणके कर्नाटक देशमें स्थित एक नगर है। होयसल नरेश बरलाल देवके समय (ई. ११००) में यहाँ जैनधर्मका प्रभाव खूब बढ़ा चढा था। ई.श. १३ में यहाँ तुलुनके आक्षुप नरेशका तथा ई.श. १५ में विजयनगरके हिन्दू नरेशका राज्य रहा। यहाँ १८ मन्दिर प्रसिद्ध हैं। जिनमें 'गुरु बसदि' नामका मन्दिर सिद्धान्त अर्थात् शास्त्रों की रक्षाके कारण सिद्धान्त मन्दिर भी कहलाता है। 'बिदिर' का अर्थ कनाडी भाषामें बाँस है। बाँसोंके समूहको छेदकर यहाँके सिद्धान्तमन्दिरका पता लगाया गया था, जिससे इस ग्रामका नाम 'बिदुरे' प्रसिद्ध हुआ। कनाडीमें 'मूडका' अर्थ पूर्व दिशा है और पश्चिम दिशाका वाचक शब्द 'पुडु' है। यहाँ मूडकी नामक प्राचीन ग्राम 'पुडुविदुरे' कहलाता है। इसके पूर्वमें होनेके कारण यह ग्राम 'मूड विदुरे' या 'मूडविदुरे' कहलाया। 'वंश' और 'वेणु' शब्द बाँसके पर्यायवाची हैं। इसीसे इसका अपर नाम 'वेणुपुर' या 'वंशपुर' भी है। और अनेक साधुओंका निवास होनेके कारण 'व्रतपुर' भी कहलाता है। (घ/३/प्र.४/H. L. Jain)।

मूढ—

प.प्र./मू/१/१३. देह जि अप्पा जो मुणइ सो जणु मूढ हवेइ। = जो देह-को ही आत्मा मानता है वह प्राणी मूढ अर्थात् बहिरात्मा है (और भी वे. बहिरात्मा)।

वे 'मोह' का लक्षण—(द्रव्यगुण पर्यायोंमें तत्त्वकी अप्रतिपत्ति होना मूढ भावका लक्षण है। उसीके कारण ही जीव परद्रव्यों व पर्यायोंमें आत्मबुद्धि करता है।)

जैनन्द सिद्धान्त कोश

मूढता—

सू.आ./२५६ गच्छा दसणघादी ण या कायव्व ससत्तीए। = देवमूढता आदिको दर्शनघाती जानकर अपनी शक्तिके अनुसार नहीं करना चाहिए।

वे. मिथ्यादर्शन/१/१ में न च.वृ./३०४ (नास्तित्व सापेक्ष अस्तित्वको और अस्तित्व सापेक्ष नास्तित्वको नहीं माननेवाला द्रव्यस्वभावमे मूढ होता है। यही उसका मूढता नामका मिथ्यात्व है)।

२. मूढताके भेद

सू.आ./२५६ लोइयवेदियसामाएरसु तह अण्णदेवमूढत्वं। = मूढता चार प्रकारकी है—लौकिक मूढता, वैदिक मूढता, सामायिक मूढता, और अन्यदेवमूढता।

द्र सं/टी./४१/१६६/१० देवतामूढलोकमूढसमयमूढभेदेन मूढत्रयं भवति। = देवतामूढता, लोकमूढता, और समयमूढताके भेदसे मूढता तीन प्रकारकी है।

३. लोकमूढताका स्वरूप

सू. आ./२५७ कोडिल्लमासुरक्खा भारहरामायणादि जे धम्मा। होज्जु वि तेसु विसांती लोइयमूढो हवदि एसो। २५७ = कुटिलता प्रयोजन-वाले चार्वाक व चाणक्यनीति आदिके उपदेश, हिंसक यज्ञादिके प्ररूपक वैदिक धर्मके शास्त्र, और महाद् पुरुषोको दोष लगानेवाले महाभारत रामायण आदि शास्त्र, इनमें धर्म समझना लौकिक मूढता है।

र.क.आ./२२ आपगासागरस्नानमुच्चय सिकताश्मनाम्। गिरिपातोऽग्निपातश्च लोकमूढं निगच्छते। २२। = धर्म समझकर गया जमुना आदि नदियोंमें अथवा सागरमें स्नान करना, बाछू और परथरों आदिका ढेर करना, पर्वतसे गिरकर मर जाना, और अग्निमें जल जाना लोकमूढता कही जाती है।

द्र. सं./टी./४१/१६७/८ गंगादिनदीतीर्थस्नानसमुद्रस्नानप्रातःस्नान-जलप्रवेशमरणग्निप्रवेशमरणगोग्रहणादिमरणभूम्यग्निवटवृक्षपूजादीनि पुण्यकारणानि भवन्तीति यद्ददन्ति तत्त्वलोकमूढत्व विज्ञेयम्। = गंगादि जो नदीरूप तीर्थ है, इनमें स्नान करना, समुद्रमें स्नान करना, प्रातःकालमें स्नान करना, जलमें प्रवेश करके मर जाना, अग्निमें जल मरना, गायकी पूछ आदिको ग्रहण करके मरना, पृथिवी, अग्नि और वटवृक्ष आदिकी पूजा करना, ये सब पुण्यके कारण हैं, इस प्रकार जो कहते हैं, उसको लोकमूढता जानना चाहिए।

पं.ध./उ./५६६-५६७ कुदेवाराधनं कुर्याद्देहि कभ्रयेसे कुधी। मृषालोकोपचारत्वादभ्रया लोकमूढता। ५६६। अस्ति भ्रान्तानमेकेषां लोकमूढवशा-दिह। धनधान्यप्रदानं नूनं सम्यगाराधिताऽम्बिका। ५६७। = इस लोक सम्बन्धी कष्याणके लिए जो मिथ्यादृष्टि जोव मिथ्यादेवोकी आराधनाको करता है वह केवल मिथ्यालोकोपचारवश को जानेके कारण अकष्याणकारी लोकमूढता है। ५६६। इस लोकमें उक्त लोकमूढताके कारण किन्हीका ऐसा भ्रान्त है, कि अच्छी तरहसे आराधित की गयी अम्बिका देवी निश्चयसे धनधान्य आदिको देनेवाली है। (इसको नीचे देवमूढता कहा है)।

४. देवमूढताका स्वरूप

सू. आ./२६० ईसरबंभाविण्हूआज्जाखंदादिया य जे देवा। ते देवभाव-हीणा देवत्तणभावेण मूढो। २६०। = ईश्वर (महादेव), ब्रह्मा, विष्णु, पार्वती, स्कन्द (कार्तिकेय) इत्यादिक देव देवपनेसे रहित है। इनमें देवपनेकी भावना करना देवमूढता है।

र.क.आ./२३ वरोपलिप्सयाशावाद् रागद्वेषमलीमसा। देवता यदुपासीत

देवतामूढमुच्यते। २३। = आशावाद् होता हुआ वरकी इच्छा करके राग-द्वेषरूपी मैलसे मलिन देवताओकी जो उपासना की जाती है, सो देवमूढता कही जाती है।

द्र. सं/टी./४१/१६७। १ वीतरागसर्वज्ञदेवतास्वरूपमजानन् ख्यातिपूजा-लाभरूपसावयसौभाग्यपुत्रकलत्रराज्यादिभिभूतिनिमित्तं रागद्वेषोपह-तान् रौद्रपरिणतक्षेत्रपालचण्डिकादिमिथ्याषैवाना यदाराधनं करोति जीवस्तद्देवमूढत्वं भण्यते। न च ते देवा, किमपि फलं प्रयच्छन्ति। किमिति चेत्। ...मह्योऽपि विद्याः समाराधितास्ताभिः। कृतं न किमपि रामस्वामिपाण्डवनारायणानाम्। तैस्तु यद्यपि मिथ्यादेवता नानुकूलितास्तथापि निर्मलसम्यक्त्वोपार्जितेन पूर्वकृतपुण्येन सर्व निविघ्नं जातमिति। = वीतराग सर्वज्ञदेवके स्वरूपको न जानता हुआ, जो व्यक्ति ख्याति, सम्मान, लाभ, रूप, लावण्य, सौभाग्य, पुत्र, स्त्री, राज्य आदि सम्पदा प्राप्त होनेके लिए राग-द्वेष युक्त, आर्त्त-रौद्र ध्यानरूप परिणामो वाले क्षेत्रपाल, चण्डिका [पद्मावती देवी— (पं. सदासुखदास)] आदि मिथ्यादृष्टि देवोका आराधन करता है, उसको देवमूढता कहते हैं। ये देव कुछ भी फल नहीं देते हैं। (र.क. आ./पं.सदासुखदास/२२)। प्रश्न—फल कैसे नहीं देते। उत्तर— (रावण, कौरवो तथा कसने रामचन्द्र, लक्ष्मण, पाण्डव व कृष्णको मारनेके लिए) बहुत-सी विद्याओंकी आराधना की थी, परन्तु उन विद्याओने रामचन्द्र आदिका कुछ भी अनिष्ट न किया। और रामचन्द्र आदिने मिथ्यादृष्टि देवोंको प्रसन्न नहीं किया तो भी सम्यग्दर्शनसे उपार्जित पूर्वभवके पुण्यके द्वारा उनके सब विघ्न दूर हो गये।

पं.ध./उ./५६५ अदेवे देवबुद्धिः स्यादधर्मो धर्मधीरिह। अगुरौ गुरु-बुद्धिर्या ख्याता देवादिमूढता। ५६५। = इस लोकमें जो कुदेवमें देव बुद्धि, अधर्ममें धर्मबुद्धि और कुगुरुमें गुरुबुद्धि होती है, वह देवमूढता, धर्ममूढता व गुरुमूढता कही जाती है।

५. समय या गुरुमूढताका स्वरूप

सू. आ./२५६ रत्तवडचरगतावसपरिहत्तादीय अण्णयासंढा। संसारतार-गच्छिय जदि गेण्हदि समयमूढो सो। २५६। = बौद्ध, नैयायिक, वैशेषिक, जटाधारी, सांख्य, आदिशब्दसे शैव, पाशुपत, कापालिक आदि अन्यलिंगी है वे ससारसे तारनेवाले हैं—इनका आचरण अच्छा है, ऐसा ग्रहण करना सामयिक मूढता है।

र.क.आ./२४ सग्रन्थारम्भहिसानां संसारावर्तवर्तिनाम्। पाखण्डिनां पुरस्कारो ज्ञेयं पाखण्डिमोहनम्। २४। = परिग्रह, आरम्भ और हिसा-सहित, संसार चक्रमें भ्रमण करनेवाले पाखण्डो साधु तपस्विनोका आदर, सत्कार, भक्ति-पूजादि करना सब पाखण्डो या गुरुमूढता है।

द्र. सं/टी./४१/१६७/१० अज्ञानजनचित्तचमत्कारोत्पादकं ज्योतिष्क-मन्त्रवादादिक दृष्ट्वा वीतरागसर्वज्ञप्रणीतसमयं विहाय कुदेवागम-लिङ्गिना भयाशास्नेहलोभैर्धर्मार्थं प्रणामविनयपूजापुरस्कारादिकरणं समयमूढत्वमिति। = अज्ञानी लोगोंके चित्तमें चमत्कार अर्थात् आश्चर्य उत्पन्न करनेवाले ज्योतिष, मन्त्रवाद आदिको देखकर, वीतराग सर्वज्ञ द्वारा कहा हुआ जो धर्म है उसको छोड़कर मिथ्या-दृष्टिदेव, मिथ्या आगम और खोटा तप करनेवाले कुलिंगीका भयसे, बाँछासे, स्नेहसे और लोभसे जो धर्मके लिए प्रणाम, विनय, पूजा, सत्कार आदि करना सो समयमूढता है।

दे० मूढता/४। प. ध. (अगुरुमे गुरुबुद्धि गुरुमूढता है)।

६. वैदिकमूढताका स्वरूप

सू. आ./२५८ ऋग्वेदसामवेदा वागणुवादादिवेदसत्थाडं। तुच्छाणित्त ण गेण्हह वेदियमूढो हवदि एसो। २५८। = ऋग्वेद सामवेद, प्रायश्चित्तादि वाक् मनुस्मृति आदि अनुवाक् आदि शब्दसे यजुर्वेद, अथर्ववेद—ये

सब हिंसाके उपदेशक हैं। इसलिए धर्म रहित निरर्थक है। ऐसा न समझकर जो ग्रहण करता है सो वैदिकमूढ है।

मूत्र—१. औदारिक शरीरमें मूत्रका प्रमाण—दे० औदयिक/१।
२. मूत्र क्षेपण विधि—दे० समिति। १। प्रतिष्ठापन समिति।

मूर्च्छा —

स. सि./७/१७/१० मूर्च्छेत्युच्यते। का मूर्च्छा। बाह्याना गोमहिषमणि-
मुक्ताफलादीनां चेतनाचेतनानामभ्यन्तराणा च रागादीनामुपधीना
संरक्षणार्जनसंस्कारादिलक्षणव्यावृत्तिमूर्च्छा। ननु च लोके वातादि-
प्रकोपविशेषस्य मूर्च्छेति प्रसिद्धिरस्ति तद्ग्रहणं कस्मान्न भवति। सत्य-
मेवमेतत्। मूर्च्छिरयं मोहसामान्ये वर्तते। 'सामान्यचोदनाश्च विशेषे-
ष्वतिष्ठन्ते' इत्युक्ते विशेषे व्यवस्थितः परिगृह्यते, परिग्रहप्रकरणात्।
—प्रश्न—मूर्च्छाका स्वरूप क्या है। उत्तर—गाय, भैस, मणि और
मोती आदि चेतन-अचेतन, बाह्य उपधिका तथा रागादिरूप आभ्य-
न्तर उपधिका संरक्षण अर्जन और संस्कार आदि रूप ही व्यापार
मूर्च्छा है। प्रश्न—लोकमें वातादि प्रकोप विशेषका नाम मूर्च्छा है,
ऐसी प्रसिद्धि है, इसलिए यहाँ इस मूर्च्छाका ग्रहण क्यों नहीं किया
जाता। उत्तर—यह कहना सत्य है, तथापि 'मूर्च्छा' धातुका
सामान्य अर्थ मोह है और सामान्य शब्द तद्गत विशेषोंमें ही रहते
हैं, ऐसा मान लेनेपर यहाँ मूर्च्छाका विशेष अर्थ ही लिया गया है,
क्योंकि यहाँ परिग्रहका प्रकरण है। (रा वा ७/१७/१-२/४४/३४);
[चा.सा./६६/५]। (विशेष दे. अभिलाषा तथा रग।

मूर्त—केवल आकारवान्को नहीं बल्कि इन्द्रिय ग्राह्य पदार्थको मूर्त
या रूपी कहते हैं। सो छहों द्रव्योंमें पुद्गल ही मूर्त है। यद्यपि
सूक्ष्म होनेके कारण परमाणु व सूक्ष्म स्कन्धरूप वर्णगाएँ इन्द्रिय
ग्राह्य नहीं हैं, परन्तु उनका कार्य जो स्थूल स्कन्ध, वह इन्द्रिय
ग्राह्य है। इस कारण उनका भी मूर्तीकरण सिद्ध होता है। और
इसी प्रकार उनका कार्य होनेसे ससारी जीवोंके रागादि भाव व
प्रवेश भी कथंचित् मूर्तीक है।

१. मूर्त व अमूर्तका लक्षण

प. का./मू./६६ जे खलु इंदिय गजभा विसया जीवेहि होति ते मुत्ता।
सेस हवदि अमुत्तं ॥६६॥ = जो पदार्थ जीवोंके इन्द्रियग्राह्य विषय
है वे मूर्त हैं और शेष पदार्थसमूह अमूर्त हैं। (प्र सा /त, प्र /१३१);
(पं. घ./उ./७), (और भी दे० नीचे रूपीकालक्षण न० १,३)।
न. च वृ./६४ रुवाइपिडो मुत्तं विवरीये ताण विवरीयं ॥६२॥ = रूप
आदि गुणोंका पिण्ड मूर्त है और उससे विपरीत अमूर्त। (इ स /
मू /१२), (नि. सा./ता. वृ./६)।
आ. प./६ मूर्तस्य भावो मूर्तत्वं रूपादिमत्त्वम्। अमूर्तस्य भावोऽमूर्तत्वं
रूपादिरहितत्वम् इति गुणानां व्युत्पत्तिः। = मूर्त द्रव्यका भाव
मूर्तत्व है अर्थात् रूपादिमान् होना ही मूर्तत्व है। इसी प्रकार
अमूर्त द्रव्योंका भाव अमूर्तत्व है अर्थात् रूपादि रहित होना ही
अमूर्तत्व है।

दे० नीचे रूपीका लक्षण न० २ (गोल आदि आकारवान् मूर्त है)।
पं का./ता वृ /२७/५६/१८ स्पर्शरसगन्धवर्णवती मूर्तिरुच्यते तत्सद्भावत्,
मूर्तं पुद्गल। = स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण सहित मूर्ति होती है, उसके
सद्भावके कारण पुद्गल द्रव्य मूर्त है। (पं घ/उ./६)।

२. रूपी व अरूपीके लक्षण

स. सि /५/४/२७१/२ न विद्यते रूपमेषामित्यरूपाणि, रूपप्रतिषेधे तत्सह-
चारिणं रसादीनामपि प्रतिषेधः। तेन अरूपाण्यमूर्तानित्यर्थः।
स. सि /५/४/२७१/७ रूपं मूर्तिरित्यर्थः। का मूर्ति। रूपादिसंस्थान-
परिणामो मूर्तिः। रूपमेषामस्तीति रूपिणः। मूर्तिमन्न इत्यर्थः।
अथवा रूपमिति गुणविशेषवचनशब्दः। तदेषामस्तीति रूपिणः।

रसाद्यग्रहणमिति चेन्न; तदविनाभावात्तदन्तर्भावः। = १. इन
धर्मादि द्रव्योंमें रूप नहीं पाया जाता, इसलिए अरूपी है। यहाँ
केवल रूपका निषेध किया है, किन्तु रसादिक उसके सहचारी हैं
अतः उनका भी निषेध हो जाता है। इससे अरूपीका अर्थ अमूर्त
है। (रा, वा /५/४/५/४४/१)। २ मूर्ति किसे कहते हैं। रूपादिक-
के आकारसे परिणमन होनेको मूर्ति कहते हैं। जिनके रूप अर्थात्
आकार पाया जाता है वे रूपी कहलाते हैं। इसका अर्थ मूर्तिमाद्
है। (रूप, रस, गन्ध व स्पर्शके द्वारा तथा गोल, तिकोन, चौकोर
आदि संस्थानोंके द्वारा होनेवाला परिणाम मूर्ति कहलाता है—
रा वा), (रा, वा /५/४/२/४४/२१)। ३ अथवा रूप यह गुण
विशेषका वाची शब्द है। वह जिनके पाया जाता है वे रूपी है।
रूपके साथ अविनाभावी होनेके कारण यहाँ रसादिका भी उसीमें
अन्तर्भाव हो जाता है। (रा, वा /५/४/३-४/४४/२४), (रा, वा /
१/२७/१,३/५५/४,१३)।

गो. जी./मू./६१३-६१४/१०६६ णिद्धिदरोलीमज्जे विसरिसजादिस्स
समगुण एक्कं। रूवित्ति होदि सण्णा सेसाणं ता अरूवित्ति ॥६१३॥ दो
गुणणिद्धाणुस्स य दोगुणलुक्खाणुणं हवे रूवी। इगिति गुणादि अरूवी
रुक्खस्स वि तं व इदि जाणे ॥६१४॥ = ४. स्निग्ध और रूक्षकी श्रेणीमें
जो विसदृश जातिका एक समगुण है, उसकी रूपी संज्ञा है और
समगुणको छोड़कर अवशिष्ट सबकी अरूपी संज्ञा है ॥६१३॥ ५. स्निग्ध-
के दो गुणोंसे युक्त परमाणुकी अपेक्षा रूक्षका दो गुणयुक्त परमाणु
रूपी है। शेष एक तीन चार आदि गुणोंके धारक परमाणु अरूपी
है ॥६१४॥

३. आत्माकी अमूर्तत्व शक्तिका लक्षण

स सा /आ./परि /शक्ति नं० २० कर्मबन्धव्यपगमव्यञ्जितसहजस्पर्शादि-
शून्यात्मप्रवेशात्मिका अमूर्तत्वशक्तिः। = कर्मबन्धके अभावसे व्यक्त
क्रिये गमे, सहज स्पर्शादिशून्य ऐसे आत्मप्रवेशस्वरूप अमूर्तत्व
शक्ति है।

४. सूक्ष्म व स्थूल सभी पुद्गलोंमें मूर्तत्व

प का./मू./७५ आदेसमेत्तमुत्तो धादुचउक्कस्स कारणं जो दु। सो णेओ
परमाणु परिणामगुणो सयमसहो ॥७५॥ = जो नय विशेषकी अपेक्षा
कथंचित् मूर्त व कथंचित् अमूर्त है, चार धातुरूप स्कन्धका कारण
है, और परिणमनस्वभावी है, उसे परमाणु जानना चाहिए। वह
स्वय अशब्द होता है ॥७५॥ (ति, प./१/२०१), (दे० परमाणु/२/१में
न च वृ/१०१)।

स सि /१/२७/१३४/६ 'रूपिषु' इत्येन पुद्गला' परिगृह्यन्ते। = 'रूपिषु'
इस पदके द्वारा पुद्गलोंका ग्रहण होता है। (रा वा /१/२७/४/५५/१५);
(गो.जी./जी प्र /५६४/१०३३/५ पर उद्धृत श्लोक)।

पं. का /त, प्र /६६ ते कदाचित्स्थूलस्कन्धत्वमापन्ना कदाचित्सूक्ष्मत्वमा-
पन्ना कदाचित्परमाणुत्वमापन्ना इन्द्रियग्रहणयोग्यतासद्भावत्
गृह्यमाणा अगृह्यमाणा वा मूर्त्ता इत्युच्यन्ते। = वे पदार्थ कदाचित्
स्थूलस्कन्धपनेको प्राप्त होते हुए, कदाचित् सूक्ष्म स्कन्धपनेको
प्राप्त होते हुए, और कदाचित् परमाणुपनेको प्राप्त होते हुए,
इन्द्रियों द्वारा ग्रहण होते ही या न होते ही, परन्तु मूर्त हैं;
क्योंकि, उन सभीमें इन्द्रियों द्वारा ग्रहण होनेकी योग्यताका
सद्भाव है। (विशेष दे० वर्णगा)।

प. घ./उ /१० नासभव भवेदेतत् प्रत्यक्षानुभवाद्यथा। सनिकर्षोऽस्ति
वर्णाद्यै र्निन्द्रियाणा न चेतरे ॥१०॥ = साक्षात् अनुभव होनेके कारण
स्पर्श, रस, गन्ध व वर्णको मूर्तीक कहना असम्भव नहीं है, क्योंकि
जैसे इन्द्रियोंका उनके साथ सन्निकर्ष होता है वैसे उनका किन्हीं
अन्य गुणोंके साथ नहीं होता।

५. कर्ममें पौद्गलिकत्व व मूर्तत्व

पं. का./मू./१३३ जन्हा कम्मस्स फल विसयं फासेहिं भुंजदे णियद । जीवेषु घृह दुक्ख तम्हा कम्मणि मुत्ताणि । —क्योंकि कर्मका फल जो (मूर्त) विषय वे नियमसे (मूर्त ऐसी) स्पर्शनादि इन्द्रियों द्वारा जीवसे सुख-दुःख रूपमें भोगे जाते हैं, इसलिए कर्म मूर्त है ।

स सा./मू./४४ अट्टविहं पि य कम्मं सव्वं पुग्गलमयं जिणा विति । —आठों प्रकारका कर्म पुद्गलमय है, ऐसा जिनदेव कहते हैं । (आध./ प./११५/२४६/८) ।

स. सि./५/१६/२८५/११ एतेषां कारणभूतानि कर्माण्यपि शरीरग्रहणेन गृह्यन्ते । एतानि पौद्गलिकानि... । स्यान्मूलं कर्मणमपौद्गलिकम्; अनाकारत्वाद् । आकारवतां हि औदारिकादीनां पौद्गलिकत्वं युक्तमिति । तत्र; तदपि पौद्गलिकमेव, तद्विपाकस्य मूर्तिमत्संबन्धनिमित्तत्वाद् । दृश्यते हि ब्रह्मादीनामुदकादिद्रव्यसंबन्ध-प्रापितपरिपाकानां पौद्गलिकत्वम् । तथा कर्मणमपि गुडकण्टकादि-मूर्तिमद्द्रव्योपनिपाते सति विपच्यमानत्वात्पौद्गलिकमित्यव-सेयम् । —इन औदारिकादि पाँचों शरीरोंके कारणभूत जो कर्म हैं उनका भी शरीर पदके ग्रहण करनेसे ग्रहण हो जाता है, अर्थात् वे भी कर्मण नामका शरीर कहे जाते हैं (दे० कर्मण/१/२) । ये सब शरीर पौद्गलिक हैं । प्रश्न—आकारवात् होनेके कारण औदा-रिकादि शरीरोंको तो पौद्गलिक मानना युक्त है, परन्तु कर्मण शरीरको पौद्गलिक मानना युक्त नहीं है, क्योंकि वह आकाशवत् निराकार है । उत्तर—नहीं, कर्मण शरीर भी पौद्गलिक ही है, क्योंकि, उसका फल मूर्तिमात् पदार्थोंके सम्बन्धसे होता है । यह तो स्पष्ट दिखाई देता है कि जलादिकके सम्बन्धसे पकनेवाले घान आदि पौद्गलिक हैं । उसी प्रकार कर्मण शरीर भी गुड़ और काँटे आदि इष्टानिष्ठ मूर्तिमात् पदार्थोंके मिलनेपर फल देते हैं, इससे ज्ञात होता है, कि कर्मण शरीर भी पौद्गलिक है । (रा. वा./५/१६/१६/१७०/१०) ।

क. पा./१/१/१३३६/५७/४ तं मुत्तं चैव । तं कथं णव्वदे । मुत्तो-सहसंबंधेण परिणामंतरगमणणहाणुववत्तीदो । ण च परिणाम-गमणसिद्धिः; तस्स तेण जर-कुट्ट-वखयादीणां विणासाणुववत्तीए परिणामंतरगमणसिद्धीदो । —कृत्रिम होते हुए भी कर्म मूर्त ही है । प्रश्न—यह कैसे जाना जाता है कि कर्म मूर्त है । उत्तर—क्योंकि, मूर्त औषधिके सम्बन्धसे, अन्यथा परिणामान्तरकी उत्पत्ति सम्भव नहीं है, अर्थात् रूग्णावस्थाकी उपशान्ति हो नहीं सकती । और यह परिणामान्तरकी प्राप्ति असिद्ध भी नहीं है, क्योंकि, उसके बिना ज्वर, कुष्ठ और क्षय आदि रोगोंका विनाश बन नहीं सकता है ।

दे० ईर्यापथ/३ (द्रव्यकर्मोंमें, स्निग्धता, रूक्षता व खट्टा-मीठा रस आदि भी पाये जाते हैं ।) (और भी दे० वर्णणा/२/१/ व वर्ण/४) ।

६. द्रव्य व भाव वचनमें पौद्गलिकत्व व मूर्तत्व

स. सि./५/१६/२८६/७ वाग् द्विविधा द्रव्यवाग् भाववागिति । तत्र भाववाक् तावद्दीर्यान्तरायमत्तिश्रुतज्ञानावरणक्षयोपशमाङ्गोपाङ्गनाम-लाभनिमित्तत्वात् पौद्गलिकी । तदभावे तद्वृत्त्यभावात् । तस्मान्-थ्योपेतेन क्रियावतात्मना प्रेर्यमाणाः पुद्गला वाक्त्वेन विपरिण-मन्त इति द्रव्यवागपि पौद्गलिकी; श्रोत्रेन्द्रियविषयत्वात् ।...अमूर्ता वागिति चेत् । मूर्तिमद्ग्रहणावरोधव्याघाताभिभवादिदर्शनान्मूर्ति-मत्त्वसिद्धेः । —वचन दो प्रकारका है—द्रव्यवचन और भाववचन । इनमेंसे भाववचन वीर्यान्तराय और मतिज्ञानावरण तथा श्रुत-ज्ञानावरण कर्मोंके क्षयोपशम और अंगोपांग नामकर्मके निमित्तसे होता है, इसलिए वह पौद्गलिक है; क्योंकि, पुद्गलोके अभावमें भाववचनका सद्भाव नहीं पाया जाता । चूँकि इस प्रकारकी

सामर्थ्यसे युक्त क्रियावात् आत्माके द्वारा प्रेरित होकर पुद्गल वचन-रूपसे परिणमन करते हैं, इसलिए द्रव्यवचन भी पौद्गलिक है । दूसरे द्रव्यवचन श्रोत्रेन्द्रियके विषय है, इससे भी पता चलता है कि वे पौद्गलिक हैं । प्रश्न—वचन अमूर्त है । उत्तर—नहीं, क्योंकि, वचनोंका मूर्त इन्द्रियोंके द्वारा ग्रहण होता है, वे मूर्त भीत आदि-के द्वारा रुक जाते हैं, प्रतिकूल वायु आदिके द्वारा उनका व्याघात देखा जाता है, तथा अन्य कारणोंसे उनका अभिभव आदि देखा जाता है । (गो. जी/जी. प्र/६०६/१०६२/२), (रा. वा./५/१६/१६/४६६/३१;१८/४७०/६); (चा. सा./८/२) ।

रा. वा./५/१६/१८/४७०/१४ नैते हेतवः । यस्तावदुच्यते—इन्द्रिय-ग्राह्यत्वादिति; श्रोत्रमाकाशमयमूर्तममूर्तस्य ग्राहकमिति को विरोधः । यश्चोच्यते—प्रेरणादिति; नासौ प्रेर्यते गुणस्य गमना-भावात् । देशान्तरस्थेन कथं गृह्यते इति चेत् । वेगवद्द्रव्याभि-घातात् तदनारम्भेऽग्रहणं न प्रेरणमिति । योऽप्युच्यते—अवरोधा-दिति, स्पर्शवद्द्रव्याभिघातादेव दिगन्तरे शब्दान्तरानारम्भात्, एकदिक्कारम्भे सति अवरोध इव लक्ष्यते न तु मुख्योऽस्तीति । अत्रो-च्यते—नैते दोषा । श्रोत्रं 'तावदाकाशमयम्' इति नोपपद्यते, आकाशस्यामूर्तस्य कार्यान्तरारम्भशक्तिविरहात् । अदृष्टशादिति चेत्; चिन्त्यमेतत्—किमसावदृष्ट आकाशं संस्कारोति, उतात्मानम्, आहोस्वित् शरीरेकदेशमिति । न तावदाकारे संस्कारो युज्यते; अमूर्तित्वात् अन्यगुणत्वादसंबन्धाच्च । आत्मन्यपि शरीरादरन्तम-न्यत्वेन कल्पिते नित्ये निरवयवे संस्काराधानं न युज्यते, तदुपार्जन-फलादानासंभवात् । नापि शरीरेकदेशे युज्यते; अन्यगुणत्वात् अनभिसंबन्धाच्च । किंच, मूर्तिमत्संबन्धजनितविपरिपत्तिदर्श-नात् श्रोत्रं मूर्तमेवेत्यवसेयम् । यदप्युच्यते—स्पर्शवद् द्रव्याभि-घातात् शब्दान्तरानारम्भ इति, खास्पतिता नो रत्नवृष्टिः, स्पर्श-वद्द्रव्याभिघातादेव मूर्तत्वमस्य सिद्धम् । न हि अमूर्तः कश्चिद-मूर्तिमता विहन्यते । तत एव च मुख्यवरोधसिद्धिः स्पर्शवद-भिघाताभ्युपगमात् । —प्रश्न—उपरोक्त सर्व ही हेतु ठीक नहीं हैं, क्योंकि, श्रोत्रेन्द्रिय आकाशमय होनेके कारण स्वयं अमूर्त है, और इसलिए अमूर्त शब्दको भी ग्रहण कर सकता है । वायुके द्वारा प्रेरित होना भी नहीं बनता, क्योंकि, शब्द गुण है और गुणमें क्रिया नहीं होती । संयोग, विभाग व शब्द इन तीनोंसे शब्दान्तर उत्पन्न हो जानेसे नये शब्द मुनाई देते हैं । वास्तवमें प्रेरित शब्द मुनाई नहीं देता । जहाँ वेगवात् द्रव्यका अभिघात होता है वहाँ नये शब्दों की उत्पत्ति नहीं होती । जो शब्दका अवरोध जैसा माखुस देता है, वस्तुतः वह अवरोध नहीं है किन्तु, अन्य स्पर्शवात् द्रव्यका अभिघात होनेसे एक ही दिशामें शब्द उत्पन्न हो जाता है । वह अवरोध जैसा लगता है । अतः शब्द अमूर्त है । उत्तर—ये कोई दोष नहीं है; क्योंकि—श्रोत्रको आकाशमय कहना उचित नहीं है, क्योंकि, अमूर्त आकाश कार्यान्तरको उत्पन्न करनेकी शक्तिसे रहित है । अदृष्टकी सहायतासे भी आकाशमें या आत्मामें या शरीरके एक-देशमें संस्कार उत्पन्न करनेकी बात ठीक नहीं है, क्योंकि अन्य द्रव्यका गुण होनेके कारण आकाश व शरीरसे उस अदृष्टका कोई सम्बन्ध नहीं है । और आत्मा आपके ही स्वयं निरंश व नित्य होनेके कारण उसके फलसे रहित है । दूसरे यह बात भी है कि मूर्तिमात् तैल आदि द्रव्योसे श्रोत्रमें अतिशय देखा जाता है तथा मूर्तिमात् कील आदिसे उसका विनाश देखा जाता है, अतः श्रोत्र को मूर्त मानना ही समुचित है । आपका यह कहना कि स्पर्शवात् द्रव्यके अभिघातसे शब्दान्तर उत्पन्न हो जाता है, स्वयं इस बात-की सिद्धि करता है कि शब्द मूर्त है, क्योंकि कोई भी अमूर्त पदार्थ मूर्तके द्वारा अभिघातको प्राप्त नहीं हो सकता । इसीलिए मुख्यरूपसे शब्दके अभिघात वाला हेतु भी खण्डित नहीं होता ।

रा. वा./५/१६/१६/४७०/२५ यथा नारकादयो भास्करप्रभाभिवान्मूर्ति-
मन्तः, तथा सिंहगजभेरीदिशब्देर्बृहद्भिः शकुनिरुतादयोऽभि-
भूयन्ते। तथा कंसादिषु पतिता ध्वन्यन्तरारम्भे हेतवो भवन्ति।
गिरिगह्वरादिषु च प्रतिहताः प्रतिशुद्धभावमास्कन्दन्ति। अत्राह—
अमूर्तैरप्यभिभवा दृश्यन्ते—यथा विज्ञानस्य सुरादिभिः मूर्ति-
मद्भिस्ततो नायं निश्चयहेतुरिति उच्यते—नाय व्यभिचारः,
विज्ञानस्य क्षायोपशमिकस्य पौद्गलिकत्वाभ्युपगमात्। —जिस
प्रकार सूर्यके प्रकाशसे अभिभूत होनेवाले तारा आदि मूर्तिक हैं,
उसी तरह सिंहकी दहाड, हाथीकी चिंघाड और भेरी आदिके
घोषसे पक्षी आदिके मन्द शब्दोका भी अभिभव होनेसे वे मूर्त हैं।
कासेके बर्तन आदिमें पड़े हुए शब्द शब्दान्तरको उत्पन्न करते
हैं। पर्वतोंकी गुफाओं आदिसे टकराकर प्रतिध्वनि होती है।
प्रश्न—मूर्तिमात्से अभिभव होनेका हेतु ठीक नहीं है, क्योंकि,
मूर्तिमात् सुरा आदिसे अमूर्त विज्ञानका अभिभव देखा जाता है।
उत्तर—यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि, संसारी जीवोंका
क्षायोपशमिक ज्ञानको कथंचित् मूर्तिक स्वीकार किया गया है।
(दे० आगे शीर्षक नं. ५), (स. सि./५/१६/२८८/५)।

७. द्रव्य व भावमनमें पौद्गलिकत्व व मूर्तत्व

स. सि./५/३/२६६/२ मनोऽपि द्विविधं द्रव्यमनो भावमनश्चेति।
...द्रव्यमनश्चरूपादियोगात्पुद्गलद्रव्यविकारः। रूपादिवन्मनः।
ज्ञानोपयोगकरणत्वाच्चक्षुरिन्द्रियवत्। ननु अमूर्तेऽपि शब्दे ज्ञानोप-
योगकरणत्वदर्शनाद् व्यभिचारी हेतुरिति चेत्। न, तस्य पौद्ग-
लिकत्वान्मूर्तिमत्त्वोपपत्तेः। ननु यथा परमाणुना रूपादिमत्कार्य-
दर्शनाद्रूपादिमत्त्वं न तथा बाष्पमनसो रूपादिमत्कार्यं दृश्यते इति
तैषामपि तदुपपत्तेः। सर्वेषां परमाणुनां सर्वरूपादिमत्कार्यत्वप्राप्ति-
योग्याभ्युपगमात्। —मन भी दो प्रकारका है—द्रव्यमन व भावमन।
उनमेंसे द्रव्यमनमें रूपादिक पाये जाते हैं अतः वह पुद्गल द्रव्यकी
पर्याय है। दूसरे मन रूपादिवाला है, ज्ञानोपयोगका करण होनेसे,
चक्षुरिन्द्रियवत्। —प्रश्न—यह हेतु व्यभिचारी है, क्योंकि, अमूर्त
होते हुए भी शब्दमें ज्ञानोपयोगकी करणता देखी जाती है। उत्तर—
नहीं, क्योंकि, शब्दको पौद्गलिक स्वीकार किया गया है। (दे०
पिछला शीर्षक) अतः वह मूर्त है। प्रश्न—जिस प्रकार परमाणुओं-
के रूपादि गुणवाले कार्य देखे जाते हैं, अतः वे रूपादिवाले सिद्ध
होते हैं, उसी प्रकार वायु और मनके रूपादि गुणवाले कार्य नहीं देखे
जाते। उत्तर—नहीं क्योंकि, वायु और मनके भी रूपादि गुणवाले
कार्योंने होनेकी योग्यता मानी गयी है। [परमाणुओंमें जाति भेद
न होनेसे वायु व मनके कोई स्वतन्त्र परमाणु नहीं है, जिनका कि
पृथक्से कोई स्वतन्त्र कार्य देखा जा सके—दे० परमाणु/२/२] (रा.
वा./५/३/४४२/६)।

स. सि./५/१६/२५७/१ भावमनस्तावत्... पुद्गलावलम्बनत्वात् पौद्गल-
लिकम्। द्रव्यमनश्च . गुणदोषविचारस्मरणादिप्रणिधानाभिमुखस्या-
रमनोऽनुग्राहकाः पुद्गला मनस्त्वेन परिणता इति पौद्गलिकम्।
—भावमन पुद्गलोंके अवलम्बनसे होता है, इसलिये पौद्गलिक है।
—तथा जो पुद्गल गुण दोष विचार और स्मरणादि उपयोगके
सन्मुख हुए आत्माके उपकारक है वे ही मनरूपसे परिणत होते हैं,
अतः द्रव्यमन पौद्गलिक है। [अणु प्रमाण कोई पृथक् मन नामक
पदार्थ नहीं है—दे० मन/१२] (रा. वा./५/१६/२०/४७९/२); (चा.
सा./८८/३); (गो. जी./जी. प्र./६०६/१०६२/६)।

दे. मन-पर्याय/१/४ (संसारी जीव और उसका क्षायोपशमिक ज्ञान
क्योंकि कथंचित् मूर्त है (दे० अगला शीर्षक), अतः उससे अपृथक्
भूत मति, स्मृति, चिन्ता आदिरूप भावमन भी मूर्त है]।

८. जीवके क्षायोपशमिकादि भावोंमें पौद्गलिकत्व व मूर्तत्व

रा. वा./१/२०/७/५०/२४ भावत स्वविषयपुद्गलस्कन्धाना रूपादि-
विकल्पेषु जीवपरिणामेषु चौदयिकौपशमिकक्षायोपशमिकेषु वर्तते।
कुतः। पौद्गलिकत्वादेवाम्।

रा. वा./१/२०/४/५५/१६ जीवपर्यायेषु औदयिकौपशमिकक्षायोपशमि-
केषूपस्थितेषु विज्ञानम् रूपिद्रव्यसंबन्धात्, न क्षायिकपारिणामिकेषु
- तत्संबन्धाभावात्। —रूपी पदार्थ विषयक अवधिज्ञान भावकी
अपेक्षा स्वविषयभूत पुद्गलस्कन्धोंके रूपादि विकल्पोंमें तथा जीवके
औदयिक, औपशमिक व क्षायोपशमिक भावोंमें वर्तता है, क्योंकि,
रूपीद्रव्यका (कर्मोंका) सम्बन्ध होनेके कारण ये भाव पौद्गलिक
हैं। परन्तु क्षायिक व पारिणामिक भावोंमें नहीं वर्तता है, क्योंकि,
उन दोनोंमें उस रूपीद्रव्यके सम्बन्धका अभाव है।

९. जीवके रागादिक भावोंमें पौद्गलिकत्व व मूर्तत्व

स. सा./५/४६/५१/५५ ववहारस्स दरीसणमुवएसो वणिणदो जिण-
वरेहिं। जीवा एदे सव्वे अज्जभवसानादओ भावा. १४६। जीवस्स
णरिथ रागो णवि दोसो णेव विज्जेदे मोहो। १५१। जेण दु एदे सव्वे
पुग्गलदव्वस्स परिणामा १५५। —ये सब अध्यवसानादि भाव जीव हैं
इस प्रकार जिनेन्द्रदेवने जो उपदेश दिया है सो व्यवहारनय दर्शाया
है १४६। निश्चयसे तो जीवके न राग है, न द्वेष और न मोह १५१।
क्योंकि ये सब पुद्गल द्रव्यके परिणाम है १५५। (स. सा./५/-
४४.५६.६५)।

स. सि./७/१७/३५५/१० रागादयः पुनः कर्मोदयतन्त्रा इति नात्मस्व-
भावत्वाद्देवाः। —रागादिक कर्मोंके उदयसे होते हैं, अतः वे आत्मके
स्वभाव न होनेसे हेय हैं। (रा. वा./७/१७/५/५४५/१८)।

स. सा./आ./गा. नं. अनाकुलत्वलक्षणसौख्याख्यात्मस्वभावविलक्षणत्वा-
दिकल दुःखं; तदन्तःपात्तिन एव किलाकुलत्वलक्षणा अध्यवसानादि-
भावाः। ततो न ते चिदन्वयविभ्रमेऽप्यात्मस्वभावाः किंतु पुद्गल-
स्वभावाः १४५। यः प्रीतिरूपो रागः अप्रीतिरूपो द्वेषः...अप्रतिपत्ति-
रूपो मोहः स सर्वोऽपि पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यभूतेभिन्न-
त्वात् १५१। —अनाकुलता लक्षण दुःख नामक आत्म स्वभाव है।
उससे विलक्षण दुःख है। उस दुःखमें ही आकुलता लक्षणवाले अध्य-
वसान आदि भाव समाविष्ट हो जाते हैं; इसलिये, यद्यपि वे चैतन्यके
साथ सम्बन्ध होनेका भ्रम उत्पन्न करते हैं, तथापि वे आत्मस्वभाव
नहीं हैं, किन्तु पुद्गल स्वभाव हैं १४५। जो यह प्रीतिरूप राग है, या
अप्रीतिरूप द्वेष है या यथार्थ तत्त्वकी अप्रतिपत्तिरूप मोह है वह सर्व
ही जीवका नहीं है, क्योंकि, वह पुद्गलद्रव्यके परिणाममय होनेसे
अपनी अनुभूतिसे भिन्न हैं १५१। (स. सा./आ./७४.७५.१०२,
११५.१३८)।

द्र. सं./टी./१६/५३/३ अशुद्धनिश्चयेन योऽसौ रागादिरूपो भावबन्धः
कथ्यते सोऽपि शुद्धनिश्चयनयेन पुद्गलबन्ध एव। —अशुद्ध निश्चय-
नयसे जो वह रागादिरूप भाव बन्ध (जीवका) कहा जाता है, यह
भी शुद्ध निश्चयनयसे पुद्गलका ही है।

पं. का/ता. वृ./१३४/११७/१५ एवं नैयायिकमताभित्तिशिष्यसंबोधनार्थं
नयविभागेन पुण्यपापद्वयस्य मूर्तत्वसमर्थनरूपेण कसूत्रेण तृतीयस्थलं
गत्। —इस प्रकार नैयायिक मताभित्ति शिष्यके सम्बोधनार्थं नय-
विभागसे पुण्य व पाप इन दोनोंके मूर्तपनेका समर्थन करने रूप सूत्र
कहा गया।

१०. संसारी जीव में मूर्तत्व

स सि /१/२७/१३४/६ 'रूपिषु' इत्यनेन पुद्गला' पुद्गलद्रव्यसम्बन्धात् जीवा' परिगृह्यन्ते । = मूर्त में कहे गये 'रूपिषु' इस पदसे पुद्गललोका और पुद्गललोके बद्ध जीवोंका ग्रहण होता है ।

गो. जी/जी.प्र/५६४/१०३३/८ पर उद्धृत—संसारिण्यपि पुद्गल' । = संसारी जीवमें 'पुद्गल' शब्द प्रवर्तता है ।

दे. बंध/२/५/१ (संसारी जीव कर्थाचित् मूर्त है इसी कारण मूर्त कर्मोंसे बंधता है) ।

११. अन्य सम्बन्धित विषय

१. द्रव्योंमें मूर्त अमूर्तका विभाग । —दे० द्रव्य/३ ।
२. मूर्त द्रव्यके गुण मूर्त और अमूर्त द्रव्यके गुण अमूर्त होते हैं । —दे० गुण/३/१२ ।
३. मूर्त द्रव्योंके साथ अमूर्त द्रव्योंका स्पर्श कैसे ।—दे० स्पर्श/२ ।
४. परमाणुओंमें रूपी व अरूपी विभाग । —दे० मूर्त/२,४,५ ।
५. अमूर्त जीवके साथ मूर्त कर्म कैसे बंधे । —दे० बन्ध/२ ।
६. भाव कर्मोंके पौद्गलिकत्वका समन्वय । —दे० विभाव/५ ।
७. जीवका अमूर्तत्व । —दे० द्रव्य/३ ।

मूर्ति—१. भगवात्की मूर्ति—दे० प्रतिमा । २. मूर्तिपूजा—दे० पूजा/३ । ३. रूपीके अर्थमें मूर्ति—दे० मूर्त/१ ।

मूर्तिक—दे० मूर्त ।

मूल—१. एक नक्षत्र—दे० नक्षत्र । २. Root (ज. प./प्र. १०८) । ३. बर्गमूल व घनमूल—दे० गणित/II/१/७,८ । ४. कन्दमूल—दे० बनस्पति/१ ।

मूलक—भरत क्षेत्र दक्षिण आर्यखण्डका एक देश—दे० मनुष्य/४ ।

मूलकर्म—१. आहारका एक दोष—दे० आहार/II/४/४-२. वसतिकाका एक दोष—दे० वसतिका ।

मूलक्रिया—Fundamental Operation, (घ ५/प्र २८) ।

मूलगुण—१. घ आ./वि./११६-२७७/३—उत्तरगुणानी कारणत्वा-न्मूलगुणव्यपदेशो व्रतेशु वर्तते । = अनशानादि तप उत्तर गुण हैं (दे० उत्तर गुण) । उनके कारण होनेसे व्रतोंमें मूलगुणका व्यपदेश होता है । २. श्रावकके अष्ट मूलगुण—दे० श्रावक ४) । ३. साधुके २८ मूलगुण—दे० साधु/२ ।

मूलप्रायश्चित्त—दे० प्रायश्चित्त/१ ।

मूलराज—अणहिलपुरके राजा । समय -वि. ६६८-१०४३ (ई० ६४१-६६६) । (हिन्दो जैन साहित्य इतिहास/२८ । कामता प्रसाद)

मूलराशि—गणितकी संकलन व व्यकलन व प्रक्रियामें जिस राशिमें अन्यराशिको जोड़ा जाय या जिस राशिमेंसे अन्य राशिको घटाया जाय उसे मूलराशि कहते हैं । दे० गणित/II/१/३,४ ।

मूलसंघ—दिग्म्बर साधुओंका एक सघ ।—दे० इतिहास/५/२,३ ।

मूलस्थान—१. भ. आ./मू./२८/१०३ पिंड उबहिं सेज्ज अवि-सोहिय जो हु भुंजमाणो हु । मूलद्वानं पत्तो मूलोत्ति य समणपेल्लो सो । २८८ = आहार, पिष्टी, कर्मडलु और वसतिका आदिको शोधन किये बिना ही जो साधु उनका प्रयोग करता है, वह मूल-स्थान नामक दोषको प्राप्त होता है । २. पंजाबका प्रसिद्ध वर्तमानका मुलतान नगर (म. पु./प्र. ४६/पं. पत्रालाल) ।

मूला—भरतक्षेत्र आर्यखण्डकी एक नदी—दे० मनुष्य/४ ।

मूलान्तर—यद्याचार विषयक प्राकृत गाथाबद्ध ग्रन्थ है । डा. ए. एन. उपाध्याय के अनुसार यह एक संग्रह ग्रन्थ है और डा. नेमिचन्द्र के अनुसार स्वतन्त्र ग्रन्थ । इसमें कुल १२ अधिकार और १२५२ गाययें हैं । रचयिता—आ. वट्टकेर । समय—कुन्दकुन्द के समकालीन बी. नि. ६५४-७०६ (ई. १२७-१७६) । (ती./२/११७-१२०) । इस पर दो वृत्तियों उपलब्ध हैं—१. आ. वसुनन्दि (ई. १०६८-१११८) कृत (ती./३/२२३) । २. आ. सकलकीर्ति (ई. १४२४) कृत मूलाक्षर प्रदीप । (ती./३/३३३) ।

मूलाराधना—भगवती आराधना ग्रन्थका ही अपरनाम मूला-राधना है । (ती०/२/१२७) ।

मूलाराधना दर्पण—भगवती आराधनाकी पं. आशाधर (ई. ११७३-१२४३) कृत संस्कृत टीका ।

मूसल—क्षेत्रका एक प्रमाण । अपरनाम युग, धनुष, नाली, दंड । —दे० गणित/II/१/३ ।

मृग—घ. १३/५,६,९,१४/३६१/११ रोमन्यवजितास्तिर्यङ्को मृगा नाम । = जो तिर्यंच रोधते नहीं है वे मृग कहलाते हैं ।

मृगचारित—स्वच्छन्दाचारी साधु—दे० स्वच्छंद ।

मृगशीर्षा—एक नक्षत्र—दे० नक्षत्र ।

मृगांक—रावणका मन्त्री—(प. पु./-६६/१-२) ।

मृतसंजीवनी—एक मन्त्रविद्या—दे० विद्या ।

मृत्तिकानयन यंत्र—दे० यंत्र ।

मृत्यु—दे० मरण ।

मृत्युंजय यंत्र—दे० यंत्र ।

मृदंगमध्य व्रत—

इस व्रतकी विधि दो प्रकार है—बृहत् व लघु । १. बृहत् विधि—यंत्रमें दिखाये अनुसार एक वृद्धि क्रम से १ से ६ पर्यंत और तत्पश्चात् एक हानि क्रमसे ६ से १ पर्यंत, इस प्रकार कुल ८१ उपवास करे । मध्यके स्थानोंमें एक-एक पारणा करे । नमस्कार मंत्रका त्रिकाल जाप्य करे । (व्रत-विधान संग्रह/पृ० ८०) ।

२. लघु विधि—यंत्रमें दिखाये अनुसार एक वृद्धि क्रमसे २ से ५ पर्यंत और तत्पश्चात् एक हानि क्रमसे ५ से २ पर्यंत, इस प्रकार कुल २३ उपवास करे । मध्यके स्थानोंमें एक-एक पारणा करे । (ह पु/३४/६४-६५) ।

मृदंगाकार—Conical (ज. प./प्र. १०८) ।—दे० गणित/II/७/७

मृषानंदी रौद्रध्यान—(दे० रौद्र ध्यान) ।

मृषामन—दे० मन ।

मृषावचन—दे० वचन ।

मेखलापुर—विजयार्धकी दक्षिण श्रेणीका एक नगर—दे० विद्या-
धर ।

मेघंकरो—नन्दनवनके नन्दनकूटकी स्वामिनी एक दिक्कुमारी
देवी ।—दे० लोक/७ ।

मेघ—सौधर्म स्वर्गका २०वाँ पटल—दे० स्वर्ग/६/३ ।

मेघकूट—विजयार्धकी दक्षिण श्रेणीका एक नगर—दे० विद्याधर ।

मेघचंद्र—१. नन्दि संघ बलात्कार गण में माणिक्य नन्दि के शिष्य
तथा शान्ति कीर्ति के गुरु । समय—शक ६०१-६२७ । दे. इतिहास/
७/२ । २. नन्दिसंघ वैश्यायण त्रैकाययोगी के शिष्य, अभयनन्दि
तथा नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती के सहधर्मा और वीरनन्दि तथा
इन्द्रनन्दि के शिक्षा गुरु । इन्द्रनन्दि जो पहले आपके शिष्यत्व में
थे, परन्तु पीछे विशेष अध्ययन के लिए अभयनन्दि की शरण में चले
गये थे । कृति—ज्वालामालिनी कल्प ई. ६३६ में पूरा किया । समय ई.
६६०-६६६ । दे. इतिहास/७/६ । ३. नन्दिसंघ वैश्यायण में सकल-
चन्द्र के शिष्य और वीरनन्दि तथा शुभचन्द्र के गुरु । शक १०३७ में
समाधि हुई । समय—ई १०२०-१११० । दे. इतिहास/७/६ ।

मेघचारण—दे० ऋद्धि/४ ।

मेघनाद—म. पु. ६/३/श्लोक नं०—भरतक्षेत्र विजयार्ध पर्वतकी उत्तर-
श्रेणीमें गगनवल्लभ नगरके राजा मेघवाहनका पुत्र था । दोनों
श्रेणियोंका राजा था । (२८-३०) । किसी समय प्रज्ञप्ति विद्या
सिद्ध करता था । तब पूर्व जन्मके भाई अपराजित बलभद्रके जीवके
समझाने पर दीक्षा ले ली । (३१-३२) । असुरकृत उपसर्गमें निरचल
रहे । (३३-३६) । सन्यासमरणकर अच्युतेन्द्र हुए । (३६) । यह
शान्तिनाथ भगवात्के प्रथम गणधर चक्रायुधके पूर्वका छठा भव है ।
—दे० चक्रायुध ।

मेघमाल—१. विजयार्धकी उत्तरश्रेणीका एक नगर—दे० विद्या-
धर । २. अपरविदेहस्थ एक वक्षार । अपरनाम 'देवमाल' ।
—दे० लोक/५/३ ।

मेघमाला व्रत—५ वर्ष तक प्रतिवर्ष भाद्रपद कृ. १, ८, १४, शु. १,
८, १४ तथा आसौज कृ. १ इन सात तिथियोंमें सात-सात करके कुल
३५ उपवास करे । नमस्कार मन्त्रका त्रिकाल जाप्य करे । (व्रत-
विधान संग्रह/पृ. ५४) ।

मेघमालिनी—नन्दनवनके हिमकूटकी स्वामिनी दिक्कुमारी
देवी ।—दे० लोक/५/६ ।

मेघरथ—म. पु. ६/३/श्लोक नं०—पुष्कलावती देशमें पुण्डरीकिणी
नगरीके राजा धनरथका पुत्र था । (१४२-१४३) । इनके पुण्यके
प्रतापसे एक विद्याधरका विमान इनके ऊपर आकर अटक गया ।
क्रुद्ध होकर विद्याधरने शिला सहित इन दोनों पिता-पुत्रको उठाना
चाहा तो उन्होने पाँवके अँगूठेसे शिलाको दबा दिया । विद्याधरने
क्षमा माँगी और चला गया । (२३६-२३६, २४८) । इन्द्र सभामें
इनके सम्बन्धकी प्रशंसा सुनकर दो देवियों परोक्षके लिए आयीं,
परन्तु ये विचलित न हुए । (२५४-२५७) । पिताने धनरथ तीर्थ-
करका उपदेश सुन दीक्षा ले ली । और तीर्थकर प्रकृतिका बन्ध
किया । (३०५-३११, ३३२) । अन्तमें सन्यासमरण कर अहमिन्द्र
पद प्राप्त किया । (३३६-३३७) । यह शान्तिनाथ भगवात्का पूर्वका
दूसरा भव है ।—दे० शान्तिनाथ ।

मेघवती—नन्दनवनके मन्दिर कूटकी स्वामिनी दिक्कुमारी देवी ।
—दे० लोक/५/६ ।

मेघवाहन—१. म. पु. ६/३/श्लोक नं०—“सगर चक्रवर्तीके समुद्र मुलो-
चनके प्रतिद्वन्दी पूर्णघनका पुत्र था । (८७) । मुलोचनके पुत्र द्वारा
परास्त होकर भगवात् अजितनाथके समवशरणमें गया । (८७-८८) ।
वहाँ राक्षसोके इन्द्र भीम व सुभीमने प्रसन्न होकर उसको लका व
पाताललंकाका राज्य तथा राक्षसी विद्या प्रदान की । (१६१-१६७) ।
अन्तमें अजितनाथ भगवात्से दीक्षा ले ली । (२३६-२४०) । २. म.
पु. ६/३/श्लोक—“रावणका पुत्र था । (८/१५८) । लक्ष्मण द्वारा रावणके
मार जानेपर विरक्त हो दीक्षा धारण कर ली । (७८/८१-८२) ।”

मेघा—नरक की तृतीय पृथिवी—दे० नरक/६ तथा लोक/२/८ ।

मेचक—[आत्मा कथंचित् मेचक है अर्थात् अनेक अवस्था रूप है ।
(दे० स सा./आ./१६/क १६)] ।

मेघ—औदारिक शरीरकी एक धातु विशेष ।—दे० औदारिक १/७ ।

मेघा—ध. १३/६, ६, ३७/२४२/६ मेध्यति परिच्छिनत्ति अर्थमनया
इति मेघा । — जिसके द्वारा पदार्थ 'मेध्यति' अर्थात् जाना जाता है
उस अवग्रहका नाम मेघा है ।

मेय—ध. १२/४, २, ८, १०/२८५/१० मेयो यव-गो-धूमदि । — मायनेके
योग्य जौ गेहूँ आदि मेय कहे जाते हैं ।

मेरक—अपर नाम मधु—दे० मधु ।

मेरु—१. सुमेरु पर्वत—दे० सुमेरु । २. वर्तमान भूगोलकी अपेक्षा
मेरु—दे० सुमेरु । ३. म. पु. ६/३/श्लोक नं०—“पूर्व भव नं. ६ में
कोशल देशमें वृद्धग्राम निवासी मृगायण ब्राह्मणकी स्त्री मथुरा
थी । २०७। पूर्व भव नं. ८ में पोदन नगरके राजा पूर्णचन्द्रकी पुत्री
रामदत्ता हुई । (२१०) । पूर्व भव नं. ७ में महाशुक स्वर्गमें भास्कर
देव हुआ । (२२६) । पूर्व भव नं. ६ में धरणीतिलक नगरके राजा
अतिवेगकी पुत्री श्रीधरा हुई । (२२८) । पूर्व भव नं. ५ में कापिष्ठ-
स्वर्गके रुचक विमानमें देव हुआ । (२३८) । पूर्व भव नं. ४ में
धरणीतिलक नगरके राजा अतिवेगकी पुत्री रत्नमाला हुई ।
(२४१-२४२) । पूर्व भव नं. ३ में स्वर्गमें देव हुआ और पूर्व भव
नं. २ में पूर्व घातकीखण्डके गन्धिल देशके अयोध्या नगरके राजा
अर्हदासका पुत्र 'वीतभय' नामक बलभद्र हुआ । (२७६-२७६) ।
पूर्वभवमें लान्तव स्वर्गमें आदित्यप्रभ नामक देव हुआ । (२८०) ।
वर्तमान भवमें उत्तर मथुरा नगरीके राजा अनन्तवीर्यका पुत्र हुआ ।
(३०२) । पूर्व भवके सम्बन्ध सुनकर भगवात् विमलवाहन (विमल-
नाथ) के गणधर हो गये । (३०४) । सप्त ऋद्धि युक्त हो उसी
भवसे मोक्ष गये । (३०६) ।” — [युगपत् सर्व भवके लिए ।—दे०
म. पु. ६/३/३०८-३०६] ।

मेरुकीर्ति—नन्दिसंघ बलात्कार गणके अनुसार आप शान्तिकीर्तिके
शिष्य थे । समय—विक्रम शक स ६४२-६५० (ई. ७२०-७५८) ।
—दे० इतिहास/७/२ ।

मेरुपत्ति व्रत—अट्टाई द्वीपमें सुदर्शन आदि पाँच मेरु है (दे०
सुमेरु) । प्रत्येक मेरुके चार-चार वन हैं । प्रत्येक वनमें चार-चार
चैत्र्यालय है । प्रत्येक वनके चार चैत्र्यालयोंके चार उपवास व
चार पारणा, तत्पश्चात् एक बेला एक पारणा करे । इस प्रकार कुल
८० उपवास, २० बेले और १०० पारणा करे । “ओं ह्रीं पंचमेरु-
सम्बन्धी अस्सीजिनालयेभ्यो नमः” अथवा “ओ ह्रीं (उस-उस
मेरुका नाम) सम्बन्धी षोडशजिनालयेभ्यो नमः ” इस मन्त्रका
त्रिकाल जाप्य करे । (व्रत-विधान संग्रह) ।

मैगस्थिनीज—यूनानी राजदूत था । सैवयुक्तसे चन्द्रगुप्त मौर्यकी
राजसभामें भेजा था । भारतमें आकर पाटलिपुत्रमें रहा था । समय
ई. पू. ३०२-२६५ । (वर्तमान भारत इतिहास) ।

मैत्री—म. आ./मु. व वि/१६६६/२५१६/१२ जीवेसु मित्तचित्ता मेत्तो—जीवेसु मित्तचित्ता अनन्तकाल चतसृषु गतिषु परिभ्रमता घटोयन्नत्रत्सर्वे प्राणभूतोऽपि बहुश कृतमहोपकारा इति तेषु मित्रता-चित्ता मैत्री। =अनन्तकालसे मेरा आत्मा घटोयत्रके समान इस चतुर्गतिमय ससारमे भ्रमण कर रहा है। इस ससारमे सम्पूर्ण प्राणियोंने मेरे ऊपर अनेकबार महान् उपकार किये है' ऐसा मनमे जो विचार करना, वह मैत्री भावना है।

स. सि./७/११/३४६/७ परेषा दु खानुस्पृश्यभिलाषा मैत्री। =दूसरोको दु ख न हो ऐसी अभिलाषा रखना मैत्री है। (रा. वा./७/११/१/३२५/१४)।

ज्ञा./२७/५-७ क्षुद्रेतरविकल्पेषु चरस्थिरशरीरिषु। सुखदुःखाद्यवस्थासु ससृतेषु यथायथम्। नानायोगिगतेष्वेषु समत्वेनाविराधिका। साध्वी महत्त्वमापन्ना मतिर्मैत्रीति पठ्यते। जीवन्तु जन्तव सर्वे क्लेशव्यसनवर्जिता। प्राप्नुवन्ति सुखं त्यक्त्वा वैरं पाप पराभवम्। ७१ =सूक्ष्म और नादर भेदरूप त्रस स्थावर प्राणी सुख-दुःखादि अवस्थाओमे जैसे-तैसे तिष्ठे हो—तथा नाना भेदरूप योनियोमें प्राप्त होनेवाले जीवोंमें समानतासे विराधनेवाली न हो ऐसी महत्ता-को प्राप्त हुई समीचीन बुद्धि मैत्री भावना कही जाती है। ५-६। इसमें ऐसी भावना रहती है कि—मे सब जीव कष्ट व आपदाओसे वर्जित हो जाओ, तथा वैर, पाप, अपमानको छोड़कर सुखको प्राप्त होओ। ७।

मैथुन—१. स. सि/०/१६/३५३/१० स्त्रीपसयोश्चारित्रमोहोदये सति रागपरिणामाविष्टयो परस्परस्पर्शनं प्रति इच्छा मिथुनम्। मिथुनस्य भावं मैथुनमिरयुच्यते। =चारित्रमोहका उदय होनेपर राग परिणामसे युक्त स्त्री और पुरुषके जो एक दूसरेको स्पर्श करनेकी इच्छा होती है वह मैथुन कहलाता है। (रा. वा./७/१६/५४३/२६) (विशेष दे० ब्रह्मचर्य/४/१)।

ध १२/४.२८.४/२८२/५ तथी-पुरिसविसयवावारो मणवयण-कायसरुवो मेहुण। एत्थवि अतरगमेहुणस्सेव बहिरगमेहुणस्स आसवभावो वत्तव्वो। =स्त्री और पुरुषके मन, वचन व कायस्वरूप विषय-व्यापारको मैथुन कहा जाता है। यहाँपर अन्तरंग मैथुनके समान बहिरग मैथुनको भी (कर्मबन्धका) कारण बतलाना चाहिए।

* मैथुन व अम्रह्य सम्बन्धी शकायै --दे० ब्रह्मचर्य/४।

* वेद व मैथुनमें अन्तर-- --दे० सज्ञा।

मैथुन संज्ञा—दे० सज्ञा।

मैनासुन्दरी—मालवदेशमें उज्जैनी नगरीके राजा पट्टपालकी पुत्री थी। पिताके समुल्ल कर्मकी बलावत्ताका बखान करनेके कारण क्रोध-वश पिताने कुष्टीके साथ विवाह दी। पतिकी खूब सेवा की, तथा मुनियोंके वहुनेपर सिद्धचक्र विधान करके उसके गन्धोदक द्वारा उसका कुछ दूर किया। अन्तमे दोषा धारण करके स्त्रीलिंगका छेद-कर सोनहवे स्वर्गमें देव हुआ। (श्रीपालचरित्र)।

मोक—भरतक्षेत्र मध्य आर्यखण्डका एक देश।--मनुष्य/४।

मोक्ष—शुद्ध रतनत्रयको साधनासे अष्ट कर्मोंकी आर्यन्तिकी निवृत्ति ब्रह्ममोक्ष है और रागादि भावोंकी निवृत्ति भावमोक्ष है। मनुष्य-गतिसे ही जीवको मोक्ष होना सम्भव है। आयुके अन्तमें उसका शरीर काफूरवत् उड़ जाता है और वह स्वाभाविक ऊर्ध्व गतिके कारण लोकशिखरपर जा विराजते है, जहाँ वह अनन्तकाल तक अनन्त अतीन्द्रिय सुखका उपभोग करते हुए अपने चरम शरीरके आकार रूपसे स्थित रहते है और पुन शरीर धारण करके जन्म-मरणके चक्रमें कभी नहीं पड़ते। ज्ञान ही उनका शरीर होता है।

जैन दर्शनकार उसके प्रदेशोंकी सर्व व्यापकता स्वीकार नहीं करते है, न ही उसे निर्गुण व शून्य मानते है। उसके स्वभावभूत अनन्त ज्ञान आदि आठ प्रसिद्ध गुण है। जितने जीव मुक्त होते है उतने ही निर्गोद राशिसे निकलकर व्यवहारराशिमे आ जाते है, इससे लोक जीवोंसे रिक्त नहीं होता।

१	भेद व लक्षण
१	मोक्ष सानान्यका लक्षण।
२	मोक्षके भेद।
३	द्रव्य व भाव मोक्षके लक्षण।
*	अजीव, जीव व उभय इन्ध के लक्षण।
	--दे० बन्ध/१/५।
४	मक्त जीवका लक्षण।
५	जीवन्मुक्तका लक्षण।
६	सिद्धजीव व सिद्धगतिका लक्षण।
७	सिद्धलोकका स्वरूप।
२	मोक्ष व मुक्त जीव निर्देश
*	सिद्ध भगवान्के अनेकों नाम। --दे० परमात्मा।
१	अर्हन्त व सिद्धमें कथंचित् भेदाभेद।
२	वारतवमें भावमोक्ष ही मोक्ष है।
३	मुक्तजीव निश्चयसे स्वमे रहते है, सिद्धालयमें रहना व्यवहार है।
४	अपुनरागमन सम्बन्धी शका-समाधान।
५	जितने जीव मोक्ष जाते है उतने ही निर्गोदसे निकलते है।
६	जीव मुक्त हो गया है, इसके चिह्न।
*	सिद्धोंमें कथंचित् विग्रहगति। --दे० विग्रह गति।
७	सिद्धोंको जाननेका प्रयोजन।
*	सिद्धोंकी प्रतिमा सम्बन्धी विचार।
	--दे० चैत्य चैत्यालय/१।
३	सिद्धोंके गुण व भाव आदि
१	सिद्धोंके आठ प्रसिद्ध गुणोंका नाम-निर्देश।
*	आठ गुणोंके लक्षण आदि। --दे० वह वह नाम।
२	सिद्धोंमें अन्य गुणोंका निर्देश।
*	सिद्धोंमें गुणस्थान, मार्गणास्थान आदि २० प्ररूपणार्थ।
	--दे० सत्।
*	सर्वशक्तकी सिद्धि। --दे० केवलज्ञान/५।
३	उपरोक्त गुणोंके अवरोधक कर्मोंका निर्देश।
४	सूक्ष्मत्व व अगुरुलघुत्व गुणोंके अवरोधक कर्मोंकी स्वीकृतिमें हेतु।
५	सिद्धोंमें कुछ गुणों व भावोंका अभाव।
६	इन्द्रिय व सयमके अभाव सम्बन्धी शका।
४	मोक्षप्राप्ति योग्य द्रव्य क्षेत्र आदि
१	सिद्धोंमें अपेक्षाकृत कथंचित् भेद-निर्देश
२	मुक्तियोग्य क्षेत्र-निर्देश।
३	मुक्तियोग्य काल-निर्देश।

- * अनेक भवोंकी साधनासे मोक्ष होता है एक भवमें नहीं। —दे० समय/३/१०।
- ४ मुक्तियोग्य गति निर्देश।
- * निगोदसे निकलकर सीधी मुक्तिप्राप्ति सम्बन्धी। —दे० जन्म/४
- ५ मुक्तियोग्य लिग निर्देश।
- * लचेल मुक्ति निषेध। —दे० अचेलकत्व।
- * स्त्री व नपुंसक मुक्ति निषेध। —दे० वेद/७।
- ६ मुक्तियोग्य तीर्थ निर्देश।
- ७ मुक्तियोग्य चारित्र्य निर्देश।
- ८ मुक्तियोग्य प्रत्येक व बोधित बुद्ध निर्देश।
- ९ मुक्तियोग्य ज्ञान निर्देश।
- * मोक्षमार्गमें अवधि व मन पर्यय ज्ञानका कोई स्थान नहीं। —दे० अवधिज्ञान/३६।
- * मोक्षमार्गमें मति व श्रुतज्ञान प्रधान है। —दे० श्रुतज्ञान/१/२।
- १० मुक्तियोग्य अवगाहना निर्देश।
- * मुक्तियोग्य सहनन निर्देश। —दे० सहनन।
- ११ मुक्तियोग्य अन्तर निर्देश।
- १२ मुक्त जीवोंकी संख्या।
- * गति, क्षेत्र, लिग आदिकी अपेक्षर सिद्धोंमें अल्पबहुत्व। —दे० अल्पबहुत्व/३/१।
- ५ **मुक्तजीवोंका मृतशरीर आकार ऊर्ध्वगमन व अवस्थान**
- १ उनके मृत शरीर सम्बन्धी दो धाराएँ।
- २ संसारके चरम समयमें मुक्त होकर ऊपरकी जाते हैं।
- ३ ऊर्ध्व ही गमन क्यों इधर-उधर क्यों नहीं।
- ४ मुक्त जीव सर्वलोकमें नहीं व्याप जाता।
- * सिद्धलोकसे ऊपर क्यों नहीं जाते।—दे० धर्माधर्म/२।
- ५ मुक्तजीव पुरुषाकार छायावत् होते हैं।
- ६ मुक्तजीवोंका आकार चरमदेहसे किचिदून है।
- ७ सिद्धलोकमें मुक्तात्माओंका अवस्थान।
- ६ **मोक्षके अस्तित्व सम्बन्धी शंकाएँ**
- १ मोक्षाभावके निराकरणमें हेतु।
- २ मोक्ष अभावात्मक नहीं बल्कि आत्मलाभरूप है।
- * सिद्धोंमें जीवत्व सम्बन्धी। —दे० जीव/२/४।
- * मोक्षसुख सद्भावत्मक है। —दे० सुख/२।
- * शुद्ध निश्चय नयसे न बन्ध है न मोक्ष। —दे० नय/५/१/५।
- * सिद्धोंमें उत्पाद व्यय श्रौव्य। —दे० उत्पाद/३।
- * मोक्षमें पुरुषार्थका सद्भाव। —दे० पुरुषार्थ/१।
- ३ बन्ध व उदयकी अटूट शृंखलाका भंग कैसे सम्भव हो।
- ४ अनादि कर्मोंका नाश कैसे सम्भव हो।
- ५ मुक्त जीवोंके परस्पर उपरोध सम्बन्धी।
- ६ मोक्ष जाते जाते जीवराशिका अन्त हो जायगा ?

१. भेद व लक्षण

१. मोक्ष सामान्यका लक्षण

त. सू./१०/२ बन्धहेत्वभावनिर्जराभ्यां कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षो मोक्ष' ।३।
= बन्ध हेतुओ (मिथ्यात्व व कषाय आदि) के अभाव और निर्जरा-
से सब कर्मोंका आत्यन्तिक क्षय होना ही मोक्ष है। (स सि./१/१/७/५, १/४/१४/५), (रा. वा./१/४/२०/२७/११), (स म/२७/३०/२८) ।

स. सि./१/१ की उत्थानिका/१/८ निरवशेषनिराकृतकर्ममलकलङ्कस्या-
शरीरस्यात्मनोऽचिन्त्यस्वाभाविकज्ञानादिगुणमव्याबाधसुखमाय -
न्तिकमवस्थान्तर मोक्ष इति । = जब आत्मा कर्ममल (अष्टकर्म),
कलक (राग, द्वेष, मोह) और शरीरको अपनेसे सर्वथा जुदा कर
देता है तब उसके जो अचिन्त्य स्वाभाविक ज्ञानादि गुणरूप और
अव्याबाध सुखरूप सर्वथा विलक्षण अवस्था उत्पन्न होती है उसे
मोक्ष कहते हैं। (प. प्र./मू./२/१०); (ज्ञा/३/६-१०), (नि सा/१-
ता वृ/४), (द्र. सं./टी./३७/१५४/५), (स्या. म/५/८६/३ पर
उद्धृत श्लोक) ।

रा वा/१/१/३७/१०/१५ 'मोक्ष असने' इत्येतस्य घञ्भावसाधनो मोक्षणं
मोक्ष असनं क्षेपणमित्यर्थः, स आत्यन्तिकं सर्वकर्मनिक्षेपो मोक्ष
इत्युच्यते ।

रा. वा/१/४/१३/२६/६ मोक्षयते अस्यते येन असनमात्रं वा मोक्ष' ।

रा वा/१/४/२७/१२ मोक्ष इव मोक्ष । क उपमार्थः । यथा निगडादि-
द्रव्यमोक्षात् सति स्वातन्त्र्ये अभिप्रेतप्रदेशगमनादे पुमाद् सुखी
भवति, तथा कृत्स्नकर्मवियोगे सति स्वाधीनात्यन्तिकज्ञानदर्शना-
नुपमसुख आत्मा भवति । = समस्त कर्मोंके आत्यन्तिक उच्छेदको
मोक्ष कहते हैं। मोक्ष शब्द 'मोक्षणं मोक्ष' इस प्रकार क्रियाप्रधान
भावसाधन है, 'मोक्ष असने' धातुसे बना है। अथवा जिनसे कर्मों-
का समूल उच्छेद हो वह और कर्मोंका पूर्ण रूपसे छूटना मोक्ष है।
अथवा मोक्षकी भाँति है। अर्थात् जिस प्रकार बन्धनयुक्त प्राणी
वेडी आदिके छूट जानेपर स्वतन्त्र होकर यथेच्छ गमन करता हुआ
सुखी होता है, उसी प्रकार कर्म बन्धनका वियोग हो जानेपर आत्मा
स्वाधीन होकर आत्यन्तिक ज्ञान दर्शनरूप अनुपम सुखका अनुभव
करता है। (भ आ/वि./वि/३८/१३४/१८), (घ १३/५.५,
८२/३४८/६) ।

न. च वृ./१/५६ ज अप्सहावादो मूलोत्तरपयडिसिचियं मुच्यते । तं
मुक्त्वं अविरुद्धं ।१५६। = आत्म स्वभावसे मूल व उत्तर कर्म-
प्रकृतियोंके सचयका छूट जाना मोक्ष है। और यह अविरुद्ध है।

स. सा/आ./२८८ आत्मबन्धयोर्द्विधाकरणं मोक्ष । = आत्मा और बन्ध
को अलग-अलग कर देना मोक्ष है।

२. मोक्षके भेद

रा. वा/१/७/१४/४०/२४ सामान्यादेको मोक्ष, द्रव्यभावभोक्तव्यभेदाद-
नेकोऽपि । = सामान्यकी अपेक्षा मोक्ष एक ही प्रकारका है। द्रव्य
भाव और भोक्तव्यकी दृष्टिसे अनेक प्रकारका है।

घ १३/५.५.८२३/४८/१ सा मोक्खो तिविहो—जीवमोक्खो पोगलमोक्खो
जीवपोगलमोक्खो चेदि । = वह मोक्ष तीन प्रकारका है—जीव मोक्ष,
पुद्गल मोक्ष और जीव पुद्गल मोक्ष।

न. च वृ./१/५६ तं मुक्त्वं अविरुद्धं दुविहं खलु दव्वभावगदं ।
= द्रव्य व भावके भेदसे वह मोक्ष दो प्रकारका है। (द्र सं/टी./-
३७/१५४/७) ।

३. द्रव्य व भाव मोक्षके लक्षण

भ आ/३/१/३४/१८ निरवशेषाणि कर्माणि येन परिणामेन क्षायिक-
ज्ञानदर्शनयथारुपात्चारित्रसञ्ज्ञितेन अस्यन्ते स मोक्ष । विश्लेषो वा

समस्तानां कर्मणा । = क्षायिक ज्ञान, दर्शन व यथाख्यात चारित्र नामवाले (शुद्धरत्नत्रयात्मक) जिन परिणामोसे निरवशेष कर्म आत्मासे दूर किये जाते हैं उन परिणामोको मोक्ष अर्थात् भावमोक्ष कहते हैं और सम्पूर्ण कर्मोंका आत्मासे अलग हो जाना मोक्ष अर्थात् द्रव्यमोक्ष है । (और भी दे० पीछे मोक्ष सामान्यका लक्षण नं. ३) । (द्र. सं. / मू. / ३७ / १५४) ।

पं. का. / ता. वृ. / १०८ / १७३ / १० कर्मनिर्मूलनसमर्थ शुद्धात्मोपलब्धिरूप-जीवपरिणामो भावमोक्ष, भावमोक्षनिमित्तेन जीवकर्मप्रदेशाना निरवशेष पृथग्भावो द्रव्यमोक्ष इति । = कर्मोंके निर्मूल करनेमें समर्थ ऐसा शुद्धात्माकी उपलब्धि रूप (निश्चयरत्नत्रयात्मक) जीव परिणाम भावमोक्ष है और उस भावमोक्षके निमित्तसे जो व कर्मोंके प्रवेशोका निरवशेषरूपसे पृथक् हो जाना द्रव्यमोक्ष है । (प्र. सा. / ता. वृ. / ८४ / १०६ / १५) (द्र. सं. / टी. / २८ / ५५ / १४) ।

दे० आने शीर्षक न. ५ (भावमोक्ष व जीवन्मुक्ति एकार्थवाचक है ।
स्या. मं. / ८ / ८६ / १ स्वरूपप्रस्थान हि मोक्ष । = स्वरूपमें अवस्थान करना ही मोक्ष है ।

४. मुक्त जीवका लक्षण

पं. का. / मू. / २८ कम्ममलविप्पमुक्को उडुं लोगस्स अत्तमधिगंता । सो सव्वणाणदरिसा लहदि सुहमणिदियमणत्तं । २८ । = कर्ममलसे मुक्त आत्मा ऊर्ध्वलोकके अन्तको प्राप्त करके सर्वज्ञ सर्वदर्शी अनन्त अन्दिन्द्रिय सुखका अनुभव करता है ।

स. सि. / २ / १० / १६६ / ७ उक्तात्पञ्चविधात्ससाराज्ञिवृत्ता । ये ते मुक्ता । = जो उक्त पाँच प्रकारके ससारसे निवृत्त हैं वे मुक्त हैं ।

श. वा. / २ / १० / २ / १२४ / ०३ निरस्तद्रव्यभावबन्धा मुक्ता । = जिनके द्रव्य व भाव दोनों कर्म नष्ट हो गये हैं वे मुक्त हैं ।

न. च. वृ. / १०७ णट्टुकम्ममुद्धा असरीराणं तसोक्खणाणट्ठा । परम-पहुत्त पत्ता जे ते सिद्धा हु खल्लु मुक्का । १०७ । = जिनके अष्ट कर्म नष्ट हो गये हैं, शरीर रहित है, अनन्तसुख व अनन्तज्ञानमें आसीन हैं, और परम प्रभुत्वको प्राप्त हैं ऐसे सिद्ध भगवान् मुक्त हैं । (विशेष देखो आगे सिद्धका लक्षण) ।

पं. का. / ता. वृ. / १०६ / १७४ / १३ शुद्धचेतनात्मका मुक्ता केवलज्ञानदर्शनो-पयोगलक्षणा मुक्ता । = शुद्धचेतनात्म या केवलज्ञान व केवलदर्शनोप-योग लक्षणवाला जीव मुक्त है ।

५. जीवन्मुक्तका लक्षण

पं. का. / ता. वृ. / १५० / २१६ / १८ भावमोक्ष केवलज्ञानोत्पत्ति. जीवन्मुक्तोऽ-र्हत्पदमित्येकार्थ. । = भावमोक्ष, केवलज्ञानकी उत्पत्ति, जीवन्मुक्त, अर्हन्तपद ये सब एकार्थवाचक हैं ।

६. सिद्ध जीव व सिद्धगति का लक्षण

नि. सा. / मू. / ७२ णट्टुकम्मबधा अट्टमहागुणसमणिया परमा । लोयग्गठिवा णिच्चा सिद्धा ते एरिमा होत्ति । ७२ । = आठ कर्मोंके बन्धनको जिन्होंने नष्ट किया है ऐसे, आठ महागुणों सहित, परम, लोकाग्रमें स्थित और निरय, ऐसे वे सिद्ध होते हैं । (और भी दे० पीछे मुक्तका लक्षण) (क्रि. क. / ३ / १ / २ / १४२) ।

पं. सं. / प्रा. / १ / गाथा न - अट्ठविहकम्मवियडा सीदीभूदा णिरजणा णिच्चा । अट्ठगुणा कयकिच्चा लोयग्गणिवासिणो सिद्धा । ३१ । जाह-जरा मरणभया सजोयविओयदुक्खसण्णाओ । रोगादिया य जिस्से ण होत्ति सा होह सिद्धिगई । ६४ । ण य इदियकरणजुआ अवग्गहाईहि गाहया अत्थे । णेव य इदियसुक्खा अणिदियाणत्तणाणसुहा । ७४ । = १. जो अष्टविध कर्मोंसे रहित है, अत्यन्त शान्तिमय है, निरजन है, नित्य है, आठ गुणोंसे युक्त है, कृतकृत्य है, लोकके अप्रभाग-

पर निवास करते हैं, वे सिद्ध कहलाते हैं । (ध. १ / १. १. २३ / गा. १२७ / २००), (गो जी. / मू. / ६८ / १७७) । २. जहाँपर जन्म, जरा, मरण, भय, सयोग, विमोग, दुःख, सज्ञा और रोगादि नहीं होते हैं वह सिद्धगति कहलाती है । ६४ (ध. १ / १. १. २४ / गा. १३२ / २०४), (गो जी. / मू. / १५२ / १७५) । ३. जो इन्द्रियोंके व्यापारसे युक्त नहीं है, अवग्रह आदिके द्वारा भी पदार्थके ग्राहक नहीं है, और जिनके इन्द्रिय सुख भी नहीं है, ऐसे अतीन्द्रिय अनन्तज्ञान और सुखवाले जीवोंको इन्द्रियातीत सिद्ध जानना चाहिए । ७४।—[उपरोक्त तीनों गाथाओंका भाव—(प. प्र. / मू. / १ / १६ - २५); (चा सा / ३३ - ३४)]

ध. १ / १. १. १ / गा. २६ - २८ / ४८ णिहुयविविहट्ठकम्ममा तिहुवणसिरसेहरा विहुवदुक्खा । सुहसायरमज्जगया णिरजणा णिच्च अट्ठगुणा । २६ । अणवज्जा कयकज्जासव्वावयवेहि दिट्ठसव्वट्ठा । वज्ज-मित्थयमग्गय पडिम वाभेज्ज सठाणा । २७ । माणुससठाणा वि हु सव्वावयवेहि णो गुणेहि समा । सत्विदियाण विसय जमेग्गसे विजा-णत्ति । २८ । = जिन्होंने नानाभेदरूप आठ कर्मोंका नाश कर दिया है, जो तीन लोकके मस्तकके शिखरस्वरूप है, दुःखोंसे रहित है, सुखरूपी सागरमें निमग्न है, निरजन है, निरय है, आठ गुणोंसे युक्त है । २६ । अनवय अर्थात् निर्दोष है, कृतकृत्य है, जिन्होंने सर्वांगसे अथवा समस्तपर्यायों सहित सम्पूर्ण पदार्थोंको जान लिया है, जो वज्रशिला निर्मित अभग्न प्रतिमाके समान अभेद्य आकारसे युक्त है । २७ । जो सब अवयवोंसे पुरुषाकार होनेपर भी गुणोंसे पुरुषके समान नहीं है, क्योंकि पुरुष सम्पूर्ण इन्द्रियोंके विषयोंको भिन्न देशमें जानता है, परन्तु जो प्रति प्रदेशमें सब विषयोंको जानते हैं, वे सिद्ध हैं । २८ ।

और भी दे० लगभग उपरोक्त भावोंको लेकर ही निम्नस्थलोपर भी सिद्धोंका स्वरूप बताया गया है । (स. पु. / २९ / ११४ - ११८), (द्र. सं. / मू. / १४ / ४१), (त. अनु. / १२० - १२२) ।

प्र. सा. / ता. वृ. / १० / १२ / ६ शुद्धात्मोपलम्भलक्षण सिद्धपर्याय = शुद्धा-त्मोपलब्धि ही सिद्ध पर्यायका (निश्चय) लक्षण है ।

७. सिद्धलोकका स्वरूप

म. आ. मू. / २१३३ ईसिप्पभाराए उवरि अत्थदि सो जोयणम्मिसदिए । धुवमच्चलमजरठाण लोगसिहरमस्सिदो सिद्धो । = सिद्धभूमि 'ईष-त्प्राग्भार' पृथिवीके ऊपर स्थित है । एक योजनमें कुछ कम है । ऐसे निष्कम्प व स्थिर स्थानमें सिद्ध प्राप्त होकर तिष्ठते हैं ।

ति. प. / ८ / ६५२ - ६५८ सव्वट्ठसिद्धिइयकेदणदंडादु उवरि गंतुण । बारस-जोयणमेत्त अट्टमिया चेड्ढे पुढवो । ६५२ । पुढावरेण तीए उवरिम-हेट्टिमत्तलेसु पत्तेक्क । वासो हवेदि एक्का रज्जू रुवेण परिहीणा । ६५३ । उत्तरदक्खिणभाए दीहा किच्चुणसत्तरज्जूओ । वेत्तासण संठाणा सा पुढवो अट्टजोयणबहला । ६५४ । जुत्ता घणोवहिष्णाणि-तणुवादेहि तिहि समीरेहि । जोयण बीससहस्स पमाण बहलेहि पत्तेक्क । ६५५ । एदाए बहुमज्जे खिंत्तं णामेण ईसिप्पभार । अज्जुण-सवणसरिस णाणारयणेहि परिपुण्णं । ६५६ । उत्ताणधवल्लत्तोवमाण-सठाणसुंदर एव । पंचत्ताल जोयणयाअंगुलं पि यताम्मि । अट्टम-भूमज्जगदो तप्परिही मणुवखेत्तपरिहिसमो । ६५८ । = सर्वार्थसिद्धि इन्द्रकके ध्वजवृष्टसे १२ योजनमात्र ऊपर जाकर आठवीं पृथिवी स्थित है । ६५२ । उसके उपरिम और अधस्तन तलमेंसे प्रत्येक तलका विस्तार पूर्वपश्चिममें रूपसे रहित (अर्थात् वातवलयकी मोटाईसे रहित) एक राजू प्रमाण है । ६५३ । वेत्तासणके सदृश वह पृथिवी उत्तरदक्षिण भागमें कुछ कम (वातवलयकी मोटाईसे रहित) सात राजू लम्बी है । इसकी मोटाई आठ योजन है । ६५४ । यह पृथिवी घनोदधिवात, धनवात, और तनुवात इन तीन वायुओंसे युक्त है । इनमेंसे प्रत्येक वायुका आहृत्य २०,००० योजन प्रमाण है । ६५५ । उसके बहुमध्य भागमें चँदी एव सुवर्णके सदृश और नाना रत्नोंसे परिपूर्ण

ईषत्पागभार नामक क्षेत्र है। ६५६। यह क्षेत्र उत्तान धवल छत्रके सदृश (या ऊँचे कटोरेके सदृश—त्रि. सा./५५८) आकारसे सुन्दर और ४५००,००० योजन (मनुष्य क्षेत्र) प्रमाण विस्तारसे संयुक्त है। ६५७। उसका मध्य बाह्य (मोटाई) आठ योजन है और उसके आगे घटते-घटते अन्तमें एक अंगुलमात्र। अष्टम भूमिमें स्थित सिद्धक्षेत्रकी परिधि मनुष्य क्षेत्रकी परिधिके समान है। ६५८। (ह. पु./६/१२६-१३२); (ज. प./११/३५६-३६१) (त्रि. सा./५५६-५६८); (क्ष. सा./५/६४६/०६६)।

ति.प./६/३-४ अट्टमखिदीए उर्वरि पणसम्भहियसत्तयसहस्सा। दंडाणि गत्तुणं सिद्धाणं होदि आवासो। ३। पणदोछपणइगिअडणहचउसग-चउखचदुरअडकमसो। अट्टहिदा जोयणया सिद्धाण णिवास खिदि-याणं। ४। = उस (उपरोक्त) आठवीं पृथिवीके ऊपर ७०५० धनुष जाकर सिद्धोंका आवास है। ३। उस सिद्धोंके आवास क्षेत्रका प्रमाण (क्षेत्रफल) $\frac{८४०४७४०८२६६२५}{८}$ योजन है।

२. मोक्ष व मुक्तजीव निर्देश

१. अर्हन्त व सिद्धमें कथंचित् भेदाभेद

ध. १/१.१.१/४६/२ सिद्धानामर्हतां च को भेद इति चेन्न, नष्टानष्टकर्मणि 'सिद्धा' नष्टघातिकर्मणोऽर्हन्त इति तयोर्भेदः। नष्टेषु घातिकर्म-स्वाविर्भूताशेषात्मगुणत्वात् गुणकृतस्तयोर्भेद इति चेन्न, अघाति-कर्मोदयसत्त्वोपलम्भात्। तानि शुक्लध्यानाग्निनार्थदग्धत्वात्सन्त्य-पि न स्वकार्यकर्तृणीति चेन्न, पिण्डनिपाताभावान्यथानुपपत्तित्तः आयुष्यादिशेषकर्मोदयास्तिसिद्धे। तत्कार्यस्य चतुरशीतिलक्षयो-न्यात्मकस्य जातिजराकरणोपलक्षितस्य ससारस्यासत्त्वात्तेषामात्म-गुणघातनसामर्थ्याभावाच्च न तयोर्गुणकृतो भेद इति चेन्न, आयुष्य-वेदनीयोदययोर्जीवोर्ध्वगमनसुखप्रतिबन्धकयोः सत्त्वात्। नोर्ध्व-गमनमात्मगुणस्तदभावे चात्मनो विनाशप्रसंगत्। सुखमपि न गुण-स्तत् एव। न वेदनीयोदयो दुःखजनक केवलिति केवलित्वान्यथानु-पपत्तिरिति चेदस्त्रवेवमेव न्यायप्राप्तत्वात्। किंतु सलेपनिर्लेपत्वाभ्यां देशभेदाच्च तयोर्भेद इति सिद्धम्। = प्रश्न—सिद्ध और अर्हन्तोंमें क्या भेद है? उत्तर—आठ कर्मोंको नष्ट करनेवाले सिद्ध होते हैं, और चार घातिया कर्मोंको नष्ट करनेवाले अरिहन्त होते हैं। यही दोनोंमें भेद है। प्रश्न—चार घातिया कर्मोंके नष्ट हो जानेपर अरिहन्तोंकी आत्माके समस्त गुण प्रगट हो जाते हैं, इसलिए सिद्ध और अरिहन्त परमेष्ठीमें गुणकृत भेद नहीं हो सकता है? उत्तर—ऐसा नहीं है, क्योंकि, अरिहन्तोंके अघातिया कर्मोंका उदय और रुचव दोनों पाये जाते हैं, अतएव इन दोनों परमेष्ठियोंमें गुणकृत भेद भी है। प्रश्न—वे अघातिया कर्म शुक्लध्यानरूप अग्निके द्वारा अधजलेसे हो जानेके कारण उदय और सत्त्वरूपसे विद्यमान रहते हुए भी अपना कार्य करनेमें समर्थ नहीं है? उत्तर—ऐसा भी नहीं है, क्योंकि, शरीरके पतनका अभाव अन्यथा सिद्ध नहीं होता है, इसलिए अरिहन्तोंके आयु आदि शेष कर्मोंके उदय और सत्त्वकी (अर्थात् उनके कार्यकी) सिद्धि हो जाती है। प्रश्न—कर्मोंका कार्य तो चौरासी लाख योनि-रूप जन्म, जरा और मरणसे युक्त संसार है। वह, अघातिया कर्मोंके रहनेपर अरिहन्त परमेष्ठीके नहीं पाया जाता है। तथा अघातिया कर्म, आत्माके अनुजीवी गुणोंके घात करनेमें समर्थ भी नहीं है। इसलिए अरिहन्त और सिद्ध परमेष्ठीमें गुणकृत भेद मानना ठीक नहीं है? उत्तर—ऐसा नहीं है, क्योंकि जीवके ऊर्ध्वगमन स्वभावका प्रतिबन्धक आयुर्कर्मका उदय और सुखगुणका प्रतिबन्धक वेदनीय-कर्मका उदय अरिहन्तोंके पाया जाता है, इसलिए अरिहन्त और सिद्धोंमें गुणकृत भेद मानना ही चाहिए। प्रश्न—ऊर्ध्वगमन आत्मा-

का गुण नहीं है, क्योंकि, ऐसा माननेपर उसके अभावमें आत्माका भी अभाव मानना पड़ेगा। इसी कारणसे सुख भी आत्माका गुण नहीं है। दूसरे वेदनीय कर्मका उदय दुःखको भी उत्पन्न नहीं करता है, अन्यथा केवली भगवान्के केवलीपना मन नहीं सकता। उत्तर—यदि ऐसा है तो रहो, अर्थात् यदि उन दोनोंमें गुणकृत भेद सिद्ध नहीं होता है तो मृत होओ, क्योंकि वह न्यायसंगत है। फिर भी सले-पत्व और निर्लेपत्वकी अपेक्षा और देश भेदकी अपेक्षा उन दोनों परमेष्ठियोंमें भेद सिद्ध है।

२. वास्तवमें भावमोक्ष ही मोक्ष है

प. प्र./टो/२/४/१९७/१३ जिना कर्त्तरः ब्रजन्ति गच्छन्ति। कुत्र गच्छन्ति। परलोकशब्दवाच्ये परमात्मध्याने न तु कायमोक्षे चेति। = जिनेन्द्र भगवान् परलोकमें जाते हैं अर्थात् 'परलोक' इस शब्दके वाच्यभूत परमात्मध्यानमें जाते हैं, कायके मोक्षरूप परलोकमें नहीं।

३. मुक्त जीव निश्चयसे स्वमें ही रहते हैं; सिद्धालयमें रहना व्यवहारसे है

नि. सा/ता वृ./१७६/क २६४ लोकस्याग्रे व्यवहरणतः संस्थितो देव-देव, स्वात्मप्युच्चैरविचलतया निश्चयेनैवमास्ते। २६४। = वैवाधि-देव व्यवहारसे लोकके अग्रमें सुस्थित है, और निश्चयसे निज आत्मामें ज्योके त्यो अस्यन्त अविचल रूपसे रहते हैं।

४. अपुनरागमन सम्बन्धी शंका-समाधान

प्र. सा/मू/१७ भगविहीणो य भवो सभवपरिवज्जिदो विणासो हि। १७। = उस सिद्ध भगवान्के विनाश रहित तो उत्पाद है और उत्पाद रहित विनाश है। (विशेष वे/उत्पाद/३)। रा. वा/१०/४/४-८/६४२-२७ बन्धस्याव्यवस्था अश्वादिबदिति चेत; न; मिथ्यादर्शनाद्युच्छेदे कार्यकारणनिवृत्ते। ४। पुनर्बन्धप्रसंगो जानत पश्यतश्च कारुण्यादिति चेत, न, सर्वासवपरिक्षयात्। ५। भक्तिस्नेहकृपास्पृहादीनां रागविकल्पत्वाद्गीतरागे न ते सन्तीति। अकस्मादिति चेत; अनिर्मोक्षप्रसंग। ६। मुक्तिप्राप्त्यनन्तरमेव बन्धोपपत्तेः। स्थानवत्त्वात्पात इति चेत; न; अनासन्नत्वात्। ७। आसन्नतो हि पानपात्रस्याधःपतनं दृश्यते, न चासन्नो मुक्त-स्यास्ति। गौरवाभावाच्च। ८। यस्य हि स्थानवत्त्वं पातकारणं तस्य सर्वेषां पदार्थानां पात स्यात् स्थानवत्त्वाविशेषात्। रा. वा/१०/२/३/६४१/६ पर उद्धृत—'दग्धे बीजे यथाऽत्यन्तं प्रादुर्भवति नाडकुर। कर्मबीजे तथा दग्धे न रोहति भवाडकुर'। = प्रश्न—१ जैसे घोड़ा एक बन्धनसे छूटकर भी फिर दूसरे बन्धनसे बंध जाता है, उस तरह जीव भी एक बार मुक्त होनेके पश्चात् पुनः बंध जायेगा। उत्तर—नहीं, क्योंकि, उसके मिथ्यादर्शनादि कारणोंका उच्छेद होनेसे बन्धनरूप कार्यका सर्वथा अभाव हो जाता है। ४। प्रश्न—समस्त जगत्को जानते व देखते रहनेसे उनको करुणा भक्ति आदि उत्पन्न हो जायेगे, जिसके कारण उनको बन्धका प्रसंग प्राप्त होता है? उत्तर—नहीं, क्योंकि, समस्त आसन्नोंका परिक्षय हो जानेसे उनको भक्ति स्नेह कृपा और स्पृहा आदि जागृत नहीं होते हैं। वे वीतराग हैं, इसलिए जगत्के सम्पूर्ण प्राणियोंको देखते हुए भी उनको करुणा आदि नहीं होती है। ५। प्रश्न—अकस्मात् ही यदि बन्ध हो जाये तो? उत्तर—तब तो किसी जीवको कभी मोक्ष ही नहीं हो सकती, क्योंकि, तब तो मुक्ति हो जानेके पश्चात् भी उसे निष्कारण ही बन्ध हो जायेगा। ६। प्रश्न—स्थानवाले होनेसे उनका पतन ही जायेगा? उत्तर—नहीं, क्योंकि, उनके आसन्नोका अभाव है। आसन्नवाले ही पानपात्रका अथवा गुरुत्व (भार) युक्त ही ताड़

फल आदिका पतन देखा जाता है। परन्तु मुक्त जीवके न तो आस्रव है और न ही गुरुत्व है। यदि मात्र स्थानवाले होनेसे पतन होवे तो आकाश आदि सभी पदार्थोंका पतन हो जाना चाहिए, क्योंकि, स्थानवत्त्वकी अपेक्षा सब समान है। २, दूसरी बात यह भी है, कि जैसे बीजके पूर्णतया जल जानेपर उससे अंकुर उत्पन्न नहीं होता है, उसी प्रकार कर्मबीजके दग्ध हो जानेपर संसाररूपी अंकुर उत्पन्न नहीं होता है। (त. सा./५/७); (स्या. म./२६/३२८/२८ पर उद्धृत)।

ध. ४/१.६, ३१०/४७७/५ ग च ते संसारे णिवदंति णट्टासवत्तादो। = ३, कर्मास्रवोंके नष्ट हो जानेसे वे संसारमें पुनः लौटकर नहीं आते।

श्री. सा./अधिकार/श्लोक—न निवृत्तः सुखीभवत् पुनरायाति संसृतिः। सुखदं हि पदं हित्वा दुःखदं कं प्रपद्यते। (७/१८)। युज्यते रजसा नात्मा भूयोऽपि विरजीकृतः। पृथक्कृतं कृतं स्वर्णं पुनः कीटेन युज्यते। (६-५३)। = ४, जो आत्मा मोक्ष अवस्थाको प्राप्त होकर निराकुलतामय सुखका अनुभव कर चुका वह पुनः संसारमें लौटकर नहीं आता, क्योंकि, ऐसा कौन बुद्धिमान् पुरुष होगा जो सुखदायी स्थानको छोड़कर दुःखदायी स्थानमें आकर रहेगा। (१८) ५. जिस प्रकार एक बार कीटसे नियुक्त किया गया स्वर्ण पुनः कीट युक्त नहीं होता है उसी प्रकार जो आत्मा एक बार कर्मोंसे रहित हो चुका है, वह पुनः कर्मोंसे संयुक्त नहीं होता। ५३।

दे० मोक्ष/६/५.६ ६. पुनरागमनका अभाव माननेसे मोक्षस्थानमें जीवोंकी भीड़ हो जावेगी अथवा यह संसार जीवोंसे रिक्त हो जायेगा ऐसी आशकाओंको भी यहाँ स्थान नहीं है।

५. जितने जीव मोक्ष जाते हैं उतने ही निगोदसे निकलते हैं

गो. जी./जी. प्र./१६७/४४१/१५ कदाचिदष्टसमयाधिकषण्मासाम्यन्तरे चतुर्गतिजीवराशितो निर्गतेषु अष्टोत्तरषट्शतजीवेषु मुक्तिगतेषु तावन्तो जीवा नित्यनिगोदभवं त्यक्त्वा चतुर्गतिमव प्राप्नुवन्तीत्ययमर्थः। = कदाचित् आठ समय अधिक छह मासमें चतुर्गति जीवराशिमेंसे निकलकर १०८ जीव मोक्ष जाते हैं और उतने ही जीव (उतने ही समयमें) नित्य निगोद भवको छोड़कर चतुर्गतिरूप भवको प्राप्त होते हैं। (और भी दे० मोक्ष/४/११)।

दे० मार्गणा—(सब मार्गणा व गुणस्थानोंमें आयके अनुसार ही व्यय होनेका नियम है)।

स्या. मं/२६/३३१/१३ पर उद्धृत—सिज्मन्ति जत्तिया खलु इह सबवहारजीवरासीओ। एंति अणाइवस्सइ रासीओ तत्तिआ तम्मि। इति वचनाद्। यावन्तश्च यतो मुक्तिं गच्छन्ति जीवस्तावन्तोऽनादि निगोदवनस्पतिराशेस्तत्रागच्छन्ति। = जितने जीव व्यवहार राशिसे निकलकर मोक्ष जाते हैं, उतने ही अनादि वनस्पतिराशिसे निकलकर व्यवहार राशिमें आ जाते हैं।

६. जीव मुक्त हो गया है इसके चिह्न

दे० सल्लोखन/६/३/४ (क्षपकके मृत शरीरका मस्तक व दन्तपंक्ति यदि पक्षिगण ले जाकर पर्वतके शिखरपर डाल दे तो इस परसे यह बात जानी जाती है कि वह जीव मुक्त हो गया है।)

७. सिद्धोंको जाननेका प्रयोजन

प. प्र./भू./१/२६ जहेउ णिम्मल्लु णाणमल्ल सिद्धिहि णिवसइ वेउ। तेहउ णिवसइ बंधु परु देहहं म करि भेउ। २६। = जैसा कार्यसमयसार स्वरूप निर्मल ज्ञानमयी देव सिद्धलोकमें रहते हैं, वैसा ही कारणसमयसार स्वरूप परब्रह्म शरीरमें निवास करता है। अतः हे प्रभाकर भट्ट! तू सिद्ध भगवान् और अपनेमें भेद मत कर।

प. प्र./टी./१/२५/३०/१ तत्रैव मुक्तजीवसदृशं स्वशुद्धात्मस्वरूपमुपादेयमिति भावार्थः। = वह मुक्त जीव सदृश स्वशुद्धात्मस्वरूप कारणसमयसार ही उपादेय है, ऐसा भावार्थ है।

३. सिद्धोंके गुण व भाव आदि

१. सिद्धोंके आठ प्रसिद्ध गुणोंका नाम निर्देश

लघु सिद्धभक्ति/५ सम्मत्त-णाण-दंसण-वीरिय-सुहमं तत्रैव अवगहणं। अगुरुलघुमव्वावाहं अट्टगुणा हौति सिद्धाणं। = क्षायिक सम्यक्त्व अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तवीर्य, सूक्ष्मत्व, अवगाहनत्व, अगुरुलघुत्व और अव्याबाधत्व, ये सिद्धोंके आठ गुण वर्णन किये गये हैं। (वसु. आ/५३७); (द्र. स./टी./१४/४२/२ पर उद्धृत); (प. प्र./टी./१/६१/६१/८ पर उद्धृत); (प. ध./उ/६१७-६१८), (विशेष देखो आगे शीर्षक नं. ३-५)।

१. सिद्धोंमें अन्य गुणोंका निर्देश

भ. आ./सू./२१५७/१८४७ अकसायमवेदत्तमकारकदाविदेहदा चैव। अचलत्तमलेपत्तं च हुंति अचत्तियाईं से। २१५७। = अकषायत्व, अवेदत्व, अकारकत्व, देहराहित्य, अचलत्व, अलेपत्व, ये सिद्धोंके आत्यंतिक गुण होते हैं। (घ. १३/५.४.२६/गा ३१/७०)।

ध. ७/२.१.७/गा. ४-११/१४-१५ का भावार्थ—(अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख, क्षायिक सम्यक्त्व, अकषायत्व रूप चरित्र, जन्ममरण रहितता (अवगाहनत्व), अशरीरत्व (सूक्ष्मत्व), नीच-ऊँच रहितता (अगुरुलघुत्व), पंचक्षायिक लब्धि (अर्थात्—क्षायिकदान, क्षायिकलाभ, क्षायिकभाग क्षायिकउपभोग और क्षायिकवीर्य) ये गुण सिद्धोंमें आठ कर्मोंके क्षयसे उत्पन्न हो जाते हैं। १४-११। (विशेष दे० आगे शीर्षक नं. ३)।

ध. १३/५.४.२६/श्लो ३०/६६ द्रव्यत क्षेत्रतश्चैव कालतो भावतस्तथा। सिद्धाणगुणसंयुक्ता गुणा द्वादशधा स्मृता। ३०। = सिद्धोंके उपरोक्त गुणोंमें (दे० शीर्षक नं. १)। द्रव्य, क्षेत्र, काल, और भावकी अपेक्षा चार गुण मिलानेपर बारह गुण माने गये हैं।

द्र. सं/टी./१४/४३/६ इति मध्यमरुचिशिष्यापेक्षया सम्यक्त्वादिगुणाष्टकं भणितम्। मध्यमरुचिशिष्यं प्रति पुनर्विशेषभेदनयेन निर्गतित्वं निरिन्द्रियत्वं, निष्कायत्व, निर्योगत्व, निर्वेदत्व, निष्कषायत्व, निर्नामत्वं निर्गोत्रत्वं, निरायुषत्वमित्यादिविशेषगुणास्तथैवास्तित्ववस्तुत्वप्रमेयत्वादिसामान्यगुणा स्वागमाधिरोधेनानन्ता ज्ञातव्या। = इस प्रकार सम्यक्त्वादि आठ गुण मध्यम रुचिवाले शिष्योंके लिए हैं। मध्यम रुचिवाले शिष्यके प्रति विशेष भेदनयके अक्षयत्वसे गतिरहितता, इन्द्रियरहितता, शरीररहितता, योगरहितता, वेदरहितता, कषायरहितता, नामरहितता, गोत्ररहितता तथा आयुषरहितता, आदि विशेष गुण और इसी प्रकार अस्तित्व, वस्तुत्व, प्रमेयत्वादि सामान्यगुण, इस तरह जैनागमके अनुसार अनन्त गुण जानने चाहिए।

३. उपरोक्त गुणोंके अवरोधक कर्मोंका निर्देश

प्रमाण—१. (प्र. सा./सू./६०)। २. (ध. ७/२.१.७/गा. ४-११/१४)। ३. (गो. जी./जी. प्र./६८/१७८ पर उद्धृत दो गाथाएँ)। ४. (त. सा./५/३७-४०); (क्ष. सा./सू./६११-६१३) (प. प्र./टी./१/६१/६१/१६)। ५. (प्र. सा./त. प्र./६१)। ६. (पं. वि./८/६)। ७. (पं. ध./उ./१११४)। संकेत—=विशेष देखो नीचे इन संदर्भोंकी व्याख्या।

न०	कर्मका नाम	सन्दर्भ न०	गुणका नाम
१	दर्शनावरणीय	२,३,४,६	केवलदर्शन
२	ज्ञानावरणीय	२,३,४,६	केवलज्ञान
३	वेदनीय	२,३,४	अनन्तसुख या अव्यानाधत्व
४	{ स्वभावघाती चारी घातियाकर्म	{ ५ १	
५	{ समुदितरूपसे आठी कर्म	{ ७ ७*	"
६	मोहनीय	६.	"
७	आयु	४	सूक्ष्मत्व या अशरीरता
		२,३,६	{ अवगाहनत्व या जन्म- मरणरहितता
८	नाम	४	"
	"	२,३,६	सूक्ष्मत्व या अशरीरता
९	"	शीर्षक न. ४	{ अगुरुलघुत्व या ऊँच- नीचरहितता
१०	गोत्रकर्म	२,३,४,६	
११	अन्तराय	२,३,४,६	अनन्तवीर्य
	"	२	५ क्षायिकलब्धि

प्र. सा./मू./६० जं केवल ति णाण तं सोक्खं परिणाम च सो चैव । खेदो तस्स ण भणितो जम्हा घादी खय जावा । = जो केवलज्ञान है, वह ही सुख है और परिणाम भी वही है । उसे खेद नहीं है, क्योंकि घातीकर्म क्षयको प्राप्त हुए हैं ।

प्र. सा./त प्र./६१ स्वभावप्रतिघाताभावहेतुक ही सौख्यं । = सुखका हेतु स्वभाव-प्रतिघातका अभाव है ।

पं. ध/उ./१११४ कर्माष्टकं विपक्षि स्यात् सुखस्यैकगुणस्य च । अस्ति किञ्चिन्न कर्मकं तद्विपक्षं तत् पृथक् । १११४ = आठी ही कर्म समुदायरूपसे एक सुख गुणके विपक्षी है । कोई एक पृथक् कर्म उसका विपक्षी नहीं है ।

४. सूक्ष्मत्व व अगुरुलघुत्व गुणोंके अवरोधक कर्मोंकी स्वीकृतिमें हेतु

प. प्र./टी./१/६१/६२/१ सूक्ष्मस्वायुष्ककर्मणा प्रच्छादितम् । कस्मादिति चेत् । विवक्षितायुः कर्मोदयेन भवान्तरे प्राप्ते सख्यतीन्द्रियज्ञान-विषयं सूक्ष्मत्वं त्यक्त्वा पश्चादिन्द्रियज्ञानविषयो भवतीत्यर्थः । सिद्धावस्थायोग्यं विशिष्टागुरुलघुत्वं नामकर्मोदयेन प्रच्छादितम् । गुरुत्वशब्देनोच्चगोत्रजनितं महत्त्व भण्यते, लघुत्वशब्देन नीचगोत्र-जनित तुच्छत्वमिति, तदुभयकारणभूतेन गोत्रकर्मोदयेन विशिष्टा-गुरुलघुत्वं प्रच्छाद्यते इति । = आयुर्कर्मके द्वारा सूक्ष्मत्वगुण ढका गया क्योंकि विवक्षित आयुर्कर्मके उदयसे भवान्तरकी प्राप्त होनेपर अतीन्द्रिय ज्ञानके विषयरूप सूक्ष्मत्वको छोड़कर इन्द्रियज्ञानका विषय हो जाता है । सिद्ध अवस्थाके योग्य विशिष्ट अगुरुलघुत्व गुण (अगुरुलघु संज्ञक) नामकर्मके उदयसे ढका गया । अथवा गुरुत्व शब्दसे उच्चगोत्रजनित बड़प्पन और लघुत्व शब्दसे नीचगोत्रजनित छोटापन कहा जाता है । इसलिए उन दोनोंके कारणभूत गोत्रकर्मके उदयसे विशिष्ट अगुरुलघुत्वका प्रच्छादन होता है ।

५. सिद्धोंमें कुल गुणों व भावोंका अभाव

त. सू./१०/३-४ औपशमिकादिभव्यत्वानां च । ३। अन्यत्र केवलसम्प्र-व्यज्ञानदर्शनसिद्धत्वेभ्यः । ४। = औपशमिक, क्षायोपशमिक व

औदयिक ये तीन भाव तथा पारिणामिक भावोंमें भव्यत्व भावके अभाव होनेसे मोक्ष होता है । ३। क्षायिक भावोंमें केवल सम्प्रव्य, केवलज्ञान, केवलदर्शन, और सिद्धत्वभावका अभाव नहीं होता है । (त सा./८/५) ।

वे 'सत्' को ओषप्ररूपणा—(न वे संयत है, न असंयत और न संयतासंयत । न वे भव्य है और न अभव्य । न वे सङ्गी है और न असङ्गी ।)

वे जीव/२/२। (दश प्राणोंका अभाव होनेके कारण वे जीव ही नहीं है । अधिकसे अधिक उनको जोड़ितपूर्व कह सकते हैं ।)

स. सि./१०/४/४६८/११ यदि चत्वार एवावशिष्यन्ते, अनन्तवीर्यादीनां निवृत्तिः प्राप्नोति । नैष दोषः, ज्ञानदर्शनादिनाभावितादनन्तवीर्यादीनामविशेष, अनन्तसामर्थ्यहीनस्यानन्तावबोधवृत्त्यभावाज्ज्ञान-मयत्वाच्च सुखस्येति । = प्रश्न—सिद्धोंके यदि चार ही भाव शेष रहते हैं, तो अनन्तवीर्य आदिकी निवृत्ति प्राप्त होती है । उत्तर—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, ज्ञानदर्शनके अविनाभावी अनन्त-वीर्य आदिक भी सिद्धोंमें अवशिष्ट रहते हैं । क्योंकि, अनन्त सामर्थ्यसे हीन व्यक्तिके अनन्तज्ञानकी वृत्ति नहीं हो सकती और सुख ज्ञानमय होता है । रा. वा । १०/४/३/६४२/२३ ।

घ. १/१.२.३३/गा. १४०/२४८ ण वि इन्द्रियकरणजुदा अवग्गहादीहि-गाहिया अत्थे । णेव य इन्द्रियसोक्खा अणिदिवाणत्तपाणसुहा । १४० = वे सिद्ध जीव इन्द्रियोंके व्यापारसे युक्त नहीं है, और अवग्रहादिक क्षायोपशमिक ज्ञानके द्वारा पदार्थोंको ग्रहण नहीं करते हैं उनके इन्द्रिय सुख भी नहीं है; क्योंकि, उनका अनन्तज्ञान और अनन्तसुख अतीन्द्रिय है । (गो. जी । मू./१७४/४०४) ।

६. इन्द्रिय व संयमके अभाव सम्बन्धी शंका

घ. १/१.२.३३/२४८/११ तेषु सिद्धेषु भावेन्द्रियोपयोगस्य सत्त्वात्सेन्द्रि-यास्त इति चेन्न, क्षयोपशमजनितस्योपयोगस्येन्द्रियत्वात् । न च क्षीणाशेषकर्मसु सिद्धेषु क्षयोपशमोऽस्ति तस्य क्षायिकभावेनाप-सारितत्वात् ।

घ । १/१.२.३३/३७८/८ सिद्धानां क. संयमो भवतीति चेन्नैकोऽपि । यथानुद्धिपूर्वकनिवृत्तेरभावात् संयतास्तत एव न संयतासंयताः नाप्यसंयताः प्रणष्टाशेषपापक्रियत्वात् । = प्रश्न—उन सिद्धोंमें भावेन्द्रिय और तज्जन्य उपयोग पाया जाता है, इसलिए वे इन्द्रिय सहित हैं । उत्तर—नहीं, क्योंकि, क्षयोपशमसे उत्पन्न हुए उपयोग-को इन्द्रिय कहते हैं । परन्तु जिनके सम्पूर्ण कर्म क्षीण हो गये हैं, ऐसे सिद्धोंमें क्षयोपशम नहीं पाया जाता है, क्योंकि, वे क्षायिक भावके द्वारा दूर कर दिया जाता है । (और भी दे० केवली/५) । प्रश्न—सिद्ध जीवोंके कौन-सा संयम होता है ? उत्तर—एक भी संयम नहीं होता है; क्योंकि, उनके बुद्धिपूर्वक निवृत्तिका अभाव है । इसी प्रकार वे संयतासंयत भी नहीं है और असंयत भी नहीं है, क्योंकि, उनके सम्पूर्ण पापरूप क्रियाएँ नष्ट हो चुकी हैं ।

४. मोक्षप्राप्ति योग्य द्रव्य क्षेत्र काल आदि

१. सिद्धोंमें अपेक्षाकृत कथञ्चित् भेद

त. सू./१०/६ क्षेत्रकालगतिलिङ्गतीर्थचारित्रप्रत्येकबोधितज्ञानावगाहनानन्तरसंख्याल्पबहुत्वत् साध्याः । ६। = क्षेत्र, काल, गति, लिग, तीर्थ, चारित्र, प्रत्येकबोधित, बुद्धबोधित, ज्ञान, अवगाहन, अन्तर, संख्या, और अल्पबहुत्व इन द्वारा सिद्ध जीव विभाग करने योग्य है ।

२. मुक्तियोग्य क्षेत्र निर्देश

स. सि./१०/१/४७१/११ क्षेत्रेण तावत्कस्मिन् क्षेत्रे सिध्यन्ति । प्रत्युत्पन्न-प्राहिनयापेक्षया सिद्धिक्षेत्रे स्वप्रदेशे आकाशप्रदेशे वा सिद्धिर्भवति ।

भूतप्राहिनयापेक्षया जन्म प्रतिपञ्चदशसु कर्मभूमिषु, संहरणं प्रति मानुषक्षेत्रे सिद्धिः । = क्षेत्रकी अपेक्षा—वर्तमानप्राही नयसे, सिद्धि-क्षेत्रमें, अपने प्रदेशमें या आकाश प्रदेशमें सिद्धि होती है। अतीत-प्राही नयसे जन्मकी अपेक्षा पन्द्रह कर्मभूमियोंमें और अपहरणकी अपेक्षा मानुषक्षेत्रमें सिद्धि होती है। (रा. वा./१०/६/२/६४६/१८)।

३. मुक्तियोग्य काल निर्देश

स. सि./१०/६/४७१/१३ कालेन कस्मिन्काले सिद्धिः । प्रत्युत्पन्नया-पेक्षया एकसमये सिद्धयश्च सिद्धो भवति । भूतप्रज्ञापनयापेक्षया जन्म-तोऽविशेषेणोत्सर्पिण्यसर्पिण्योर्जातः सिध्यति । विशेषणावसर्पिण्या सुषमदु.षमाया अन्त्ये भागे दु.षमसुषमाया च जातः सिध्यति । न तु दु.षमाया जातो दु.षमायां सिध्यति । अन्यदा नैव सिध्यति । संहरणतः सर्वस्मिन्काले उत्सर्पिण्यामवसर्पिण्या च सिध्यति । = कालकी अपेक्षा—वर्तमानप्राही नयसे, एक समयमें सिद्ध होता हुआ सिद्ध होता है। अतीतप्राही नयसे, जन्मकी अपेक्षा सामान्यरूपमें उत्सर्पिणी और अवसर्पिणीमें उत्पन्न हुआ सिद्ध होता है। विशेष रूपसे अवसर्पिणी कालमें सुषमा दु.षमाके अन्त भागमें और दु.षमा-सुषमामें उत्पन्न हुआ सिद्ध होता है। दु.षमामें उत्पन्न हुआ दु.षमामें सिद्ध नहीं होता। इस कालको छोड़कर अन्य कालमें सिद्ध नहीं होता है। सहरणकी अपेक्षा उत्सर्पिणी और अवसर्पिणीके सब समयों में सिद्ध होता है। (रा. वा./१०/६/३/६४६/२२)।

ति. प./४/५६३.१२३६ सुसुमदुसुमन्मि णामे सेसे चउसीदिलवखपुव्वाणि । वासतए अडमासे इगिपक्खे उसहउत्पत्ती । ५५३। तियवासा अडमासं पक्खं तह तदियकालअवसेसे । सिद्धो रिसहजिणिदो वीरो तुरिमस्स तेत्तिए सेसे । १२३६। = सुषमादुषमा नामक तीसरे कालके ८४००,००० पूर्व, ३ वर्ष और ८^३ मास शेष रहनेपर भगवान् ऋषभदेवका अवतार हुआ । ५५३। तृतीयकालमें ३ वर्ष और ८^३ मास शेष रहनेपर ऋषभ जिनेन्द्र तथा इतना ही चतुर्थकालमें अवशेष रहनेपर वीरप्रभु सिद्धि-को प्राप्त हुए । १२३६। (और भी दे० महानोर/१,३)।

म. पु/४१/७८ केवलाकोदय प्रायो न भवेत् पञ्चमे युगे । = पंचमकालमें प्रायः केवलज्ञानरूपी सूर्यका उदय नहीं होगा।

ध. ६/१,६-८,११/५/५क्ति दुस्सम. (दुस्समदुस्सम), सुस्समासुस्समा-सुसमदुस्समाकाळुप्पणमणुसाणं खवणणिवारणदुठं 'जम्हि जिणा' त्ति वयणं । जम्हि काले जिणा संभवति तम्हि चैव खवणाए पटु-वाओ होदि, ण अण्णकालेसु । (२४६/१) एदेण वक्खाणभि-प्पाएण दुस्सम-अइदुस्सम-सुसमसुसम-सुसमकाले-सुप्पणाणं चैव दंसणमोहणीयक्खवणा णत्थि, अवसेसदोसु वि कालेसुप्पणाणमस्थि । कुदा । एइदिद्यादो आगंतुणतदियकालुप्पणवद्धणकुमारोदोणं दंसण-मोहक्खवणदंसणादो । एदं चेवेत्थ वक्खाणं पधाणं कादव्वं । = दु.षमा, (दु.षमादु.षमा), सुषमासुषमा, सुषमा, और सुषमादु.षमा कालमें उत्पन्न हुए मनुष्योंके दर्शनमोहका क्षण निषेध, करनेके लिए 'जहाँ जिन होते हैं' यह वचन कहा है। जिस कालमें जिन सम्भव हैं उस ही कालमें दर्शनमोहकी क्षणका प्रस्थापक कहलाता है, (किन्हीं अन्य आचार्योंके) व्याख्यानके अभिप्रायसे दु.षमा, अति-दु.षमा, सुषमासुषमा और सुषमा इन चार कालोंमें उत्पन्न हुए जीवोंके ही दर्शनमोहकी क्षण नहीं होती है। अवशिष्ट दोनों कालोंमें अर्थात् सुषमादु.षमा और दु.षमासुषमा कालोंमें उत्पन्न हुए जीवोंके दर्शनमोहनीयकी क्षण होती है। इसका कारण यह है कि एकैन्द्रिय पर्यायसे आकर (इस अवसर्पिणीके) तीसरे कालमें उत्पन्न हुए वद्धनकुमार आदिकोंके दर्शनमोहकी क्षण देखी जाती है। यहाँपर यह व्याख्यान ही प्रधानतया ग्रहण करना चाहिए।

दे० विदेह—(उपरोक्त तीसरे व चौथे काल सम्बन्धी नियम भरत व ऐरावत क्षेत्रके लिए ही है, विदेह क्षेत्रके लिए नहीं)।

दे० जंबूस्वामी—(जंबूस्वामी चौथेकालमें उत्पन्न होकर पंचमकाल-में मुक्त हुए । यह अपवाद हुंडावसर्पिणीके कारणसे है ।)

दे० जन्म/५/१ (चरमशरीरियोंकी उत्पत्ति चौथे कालमें ही होती है)।

४. मुक्तियोग्य गति निर्देश

श्री. पा/सू/२६ सुणहाण गहहाण य गोपसुमहिलाण दीसदे मोक्खो । जो सोधति चउत्थं पिच्छिज्जता जणोहि सव्वेहि । = श्वान, गधे, गौ, पशु व महिला आदि किसीको मोक्ष होता दिखाई नहीं देता, क्योंकि, मोक्ष तो चौथे अर्थात् मोक्ष पुरुषार्थसे होता है जो केवल मनुष्यगति व पुरुषलिंगमें ही संभव है। (दे० मनुष्य/२/२)।

स. सि/१०/६/४७२/५ गत्या कस्यां गतौ सिद्धिः । सिद्धिगतौ मनुष्य-गतौ वा । = गतिकी अपेक्षा—सिद्धिगतिमें या मनुष्यगतिमें सिद्धि होती है। (और भी दे० मनुष्य/२/२)।

रा. वा./१०/६/४/६४६/२८ प्रत्युत्पन्ननयाभ्रयेण सिद्धिगतौ सिद्धयति । भूतविषयनयापेक्षया अनन्तरगतौ मनुष्यगतौ सिद्धयति । एका-न्तरगतौ चतसृषु गतिषु जातः सिद्धयति । = वर्तमानप्राही नयके आश्रयसे सिद्धिगतिमें सिद्धि होती है। भूतप्राही नयसे, अनन्तर गतिकी अपेक्षा मनुष्यगतिसे और एकान्तरगतिकी अपेक्षा चारो ही गतियोंमें उत्पन्न हुआको सिद्धि होती है।

५. मुक्तियोग्य लिंग निर्देश

सू पा./सू./२३ णवि सिज्झइ वत्थधरो जिणसासण जइ वि होइ तित्थ-यरो । एगो विमोक्खमग्गो सेसा उम्मग्गया सव्वे । २३। = जिन-शासनमें—तीर्थकर भी जब तक वस्त्र धारण करते हैं तब तक मोक्ष नहीं पाते। इसलिए एक निर्ग्रन्थ ही मोक्षमार्ग है, शेष सर्व मार्ग उन्मार्ग है।

स. सि/१०/६/४७२/५ लिङ्गेन केन सिद्धिः अवेदस्वेन त्रिभ्यो वा वेदेभ्यः सिद्धिर्भवति न द्रव्यतः । द्रव्यतः पुलिङ्गेनैव । अथवा निर्ग्रन्थ-लिङ्गेन । स्रग्रन्थलिङ्गेन वा सिद्धिर्भूतपूर्वनयापेक्षया । = लिंगकी अपेक्षा—वर्तमानप्राही नयसे अवेदभावसे तथा भूतगोचर नयसे तीनों वेदोंसे सिद्धि होती है। यह कथन भाववेदकी अपेक्षा है द्रव्यवेदकी अपेक्षा नहीं, क्योंकि, द्रव्यकी अपेक्षा तो पुलिंगसे ही सिद्धि होती है। (विशेष दे० वेद/६/७)। अथवा वर्तमानप्राही नयसे निर्ग्रन्थलिंगसे सिद्धि होती है और भूतप्राही नयसे स्रग्रन्थ-लिंगसे भी सिद्धि होती है। (विशेष दे० लिंग)। (रा. वा./१०/६/५/६४६/३२)।

६. मुक्तियोग्य तीर्थ निर्देश

स. सि./१०/६/४७२/७ तीर्थेन तीर्थसिद्धिर्द्धेधा, तीर्थवरेतरविकल्पत् । इतरे द्विविधाः सति तीर्थकरे सिद्धा असति चेति । = तीर्थसिद्धि दो प्रकारकी होती है— तीर्थकरसिद्ध और इतरसिद्ध। इतर दो प्रकारके होते हैं। कितने ही जीव तीर्थकरके रहते हुए सिद्ध होते हैं और कितने ही जीव तीर्थकरके अभावमें सिद्ध होते हैं। (रा. वा./१०/६/६/६४७/३)।

७. मुक्तियोग्य चारित्र निर्देश

स. सि./१०/६/४७२/८ चारित्रेण केन सिद्धयति । अव्यपदेशेनैकचतु-पञ्चविकल्पचारित्रेण वा सिद्धिः । = चारित्रकी अपेक्षा—प्रत्युत्पन्न-नयसे व्यपदेशरहित सिद्धि होती है अर्थात् न चारित्रसे होती है और न अचारित्रसे (दे० मोक्ष/३/६)। भूतपूर्वनयसे अनन्तरकी अपेक्षा एक यथारूपत्वात् चारित्रसे सिद्धि होती है और व्यवधान-की अपेक्षा सामायिक छेदोपस्थापना व सूक्ष्मस्वाम्पराय इन तीन सहित चारसे अथवा परिहारविशुद्धि सहित पाँच चारित्रोंसे सिद्धि होती है। (रा. वा./१०/६/७/६४७/६)।

८. मुक्तियोग्य प्रत्येक व बोधित बुद्ध निर्देश

रा. वा./१०/६/५/६२७/९० केचित्प्रत्येकबुद्धसिद्धा, परोपदेशमनपेक्ष्य स्वशक्त्यैवाविर्भूतज्ञानातिशया । अपरे बोधितबुद्धसिद्धा, परोपदेशपूर्वकज्ञानवर्कपरिस्कन्दिन । =कुछ प्रत्येक बुद्ध सिद्ध होते हैं, जो परोपदेशके बिना स्वशक्तिमे ही ज्ञानातिशय प्राप्त करते हैं। कुछ बोधित बुद्ध होते हैं जो परोपदेशपूर्वक ज्ञान प्राप्त करते हैं। (स. सि./१०/६/४७२/६)।

९. मुक्तियोग्य ज्ञान निर्देश

स. सि./१०/६/४७२/१० ज्ञानेन केन । एकेन द्वित्रिचतुर्भिरच ज्ञान-विशेषैः सिद्धि । =ज्ञानकी अपेक्षा—प्रत्युत्पन्न नयसे एक ज्ञानसे सिद्धि होती है, और भूतपूर्वगतिसे मति व श्रुत दोसे अथवा मति, श्रुत व अवधि इन तीनोंसे अथवा मन पर्ययसहित चार ज्ञानोंसे सिद्धि होती है। (विशेष दे० ज्ञान/१/४/११), (रा. वा./१०/६/६/६४७/१४)।

१०. मुक्तियोग्य अवगाहना निर्देश

स. सि./१०/६/४७३/११ आत्मप्रदेशव्यापित्वमवगाहनम् । तद् द्विविधम्, उत्कृष्टजघन्यभेदात् । तत्रोत्कृष्टं पञ्चधनुःशतानि पञ्चविंशत्युत्तराणि । जघन्यमर्धचतुर्थारत्नयो देशाना । मध्ये विकल्पा । एकस्मिन्नवगाहे सिद्धयति । =आत्मप्रदेशमे व्याप्त करके रहना इसका नाम अवगाहना है। वह दो प्रकारकी है—जघन्य व उत्कृष्ट। उत्कृष्ट अवगाहना ५२५ धनुष है और जघन्य अवगाहना कुछ कम ३५ अरत्न है। बीचके भेद अनेक है। किसी एक अवगाहनामे सिद्धि होती है। (रा. वा./१०/६/१०/६४७/१५)।

रा. वा./१०/६/१०/६४७/१६ एकस्मिन्नवगाहे सिद्धयन्ति पूर्वभ.वप्रज्ञापन-नयापेक्षया । प्रत्युत्पन्नभावप्रज्ञापने तु एतस्मिन्नेव देशाने । =भूत-पूर्व नयसे इन (उपरोक्त) अवगाहनाओंमें से किसी भी एकमे सिद्धि होती है और प्रत्युत्पन्न नयकी अपेक्षा कुछ कम इन्ही अवगाहनाओंमे सिद्धि होती है [क्योंकि मुक्तात्माओंका आकार चरम शरीरसे किचिदून रहता है। (दे० मोक्ष/६)]।

११. मुक्तियोग्य अन्तर निर्देश

स. सि./१०/६/४७३/२ किमन्तरम् । सिद्धयता सिद्धानामन्तरं जघन्येन द्वौ समयौ उत्कर्षेणाष्टौ । अन्तरं जघन्येनेकं समयं, उत्कर्षेण षण्मासाः । =अन्तरकी अपेक्षा—सिद्धिकी प्राप्त होनेवाले सिद्धोंका जघन्य अनन्तर दा समय है और उत्कृष्ट अनन्तर आठ समय है। जघन्य अन्तर एक समय और उत्कृष्ट अन्तर छह महीना है। (रा. वा./१०/६/११-१२/६४७/२१)।

दे० नोचे शीर्षक न ११ (छह महीनेके अन्तरसे मोक्ष जानेका नियम है)।

१२. मुक्त जीवोंकी संख्या

स. सि./१०/६/४७३/३ संख्या जघन्येन एकसमये एकं सिध्यति । उत्कर्षेणाष्टोत्तरशतसंख्या । =संख्याकी अपेक्षा—जघन्य रूपसे एक समयमे एक जीव सिद्ध होता है और उत्कृष्ट रूपसे एक समयमे १०८ जीव सिद्ध होते हैं। (रा. वा./१०/६/१३/६४७/२५)।

घ. १४/३.६.११६/१४३/१० सर्वकालमदीदकालस्स सिद्धा असंखेज्जदि भागे चैव, छम्मासमत्तरिय णिव्वुड्गमणणियमादो । =सिद्ध जीव सदा अतीत कालके असंख्यातवे भागप्रमाण ही होते हैं, क्योंकि, छह महीनेके अन्तरसे मोक्ष जानेका नियम है।

५. मुक्त जीवोंका मृतशरीर आकार ऊर्ध्व गमन व अवस्थान

१. उनके मृत शरीर सम्बन्धी दो धारणाएँ

ह. पु./६६/१२-१३ गन्धपुष्पादिभिर्दिव्यैः पूजितास्तनवः क्षणात् । जैनाद्याद्योतयन्त्यो वा विलीना विच्युतो यथा । १२। स्वभावोऽयं जिनादीनां शरीरपरमाणवः । मुच्यति स्कन्धतामन्ते क्षणाक्षण-रुचामिव । १३। =दिव्य गन्ध तथा पुष्प आदिसे पूजित, तीर्थंकर आदि मोक्षगामी जीवोंके शरीर, क्षण-भरमें विजलीकी नाईं आकाशको देदीप्यमान करते हुए विलीन हो गये । १२। क्योंकि, यह स्वभाव है कि तीर्थंकर आदिके शरीरके परमाणु अन्तिम समय विजलीके समान क्षणभरमें स्कन्धपर्यायकी छोड़ देते हैं । १३।

म. पु./४७/३४३-३५० तदागस्य सुराः सर्वे प्रान्तपूजाचिकीर्षया ।... शुचिनिर्मल । ३४३। शरीरं... 'शिविकापितम् । अग्नीन्द्ररत्नभाभासि-प्रोत्तुङ्गमुकुटोद्भवा । ३४४। चन्दनागुरुकर्पूर आदिभिः । ...अश-वृद्धिना हृतभोजिना । ३४५। तदाकारोपमर्देन पर्यायान्तरमानयत् । ३४६। तस्य दक्षिणभागेऽभूद् गणभृत्संस्क्रियानल । ३४७। तस्या-परस्मिन् दिग्भागे शेषकेवलिकायगः । ३४८। ततो भस्म समादाय पञ्चकल्याणभागिनः ।... स्वललाटे भुजद्वये । ३४९। कण्ठे हृदयदेशे च तेन सस्पृश्य भक्तितः । ३५०। =भगवाद् ऋषभदेवके मोक्ष कथ्या-णकके अवसरपर अग्निकुमार देवोंने भगवाद्के पवित्र शरीरको पालकीमे विराजमान किया। तदनन्तर अपने मुकुटोसे उत्पन्न की हुई अग्निको अगुरु, कपूर आदि सुगन्धित द्रव्योंसे नढाकर उसमें उस शरीरका वर्तमान आकार नष्ट कर दिया और इस प्रकार उसे दूसरी पर्याय प्राप्त करा दी । ३४३-३४६। उस अग्निकुण्डके दाहिनी ओर गणधरोके शरीरका संस्कार करनेवाली तथा उसके बायीं ओर सामान्य केवलियोंके शरीरका संस्कार करनेवाली अग्नि स्थापित की। तदनन्तर इन्द्रने भगवाद् ऋषभदेवके शरीरकी भस्म उठाकर अपने मस्तकपर चढायी । ३४७-३५०। (म. पु./६७/२०४)।

२. संसारके चरमसमयमें मुक्त होकर ऊपरको जाता है

त. सू./१०/५ तदनन्तरमूर्ध्वं गच्छत्यालोकान्तात् । ५। =तदनन्तर मुक्त जीव लोकके अन्त तक ऊपर जाता है।

त. सा./८/३५ द्रव्यस्य कर्मणो यद्द्रव्यत्पत्त्यारम्भवीचयः । सम तथैव सिद्धस्य गतिर्भोक्षे भवक्षयात् । ३५। = जिस प्रकार द्रव्य कर्मोंकी उत्पत्ति होनेसे जीवमे अशुद्धता आती है, उसी प्रकार कर्मबन्धन नष्ट हो जानेपर जीवका संसारवास नष्ट हो जाता है और मोक्षस्थानकी तरफ गमन शुरू हो जाता है।

ज्ञा./४२/५६ लघुपञ्चाक्षरोच्चारकालं स्थित्वा ततः परम् । स स्वभावाद्-त्रजत्यूर्ध्वं शुद्धात्मा वीतबन्धनः । ५६। =लघु पाँच अक्षरोका उच्चारण जितनी देरमें होता है उतने कालतक चौदहवें गुणस्थानमें ठहरकर, फिर कर्मबन्धनसे रहित होनेपर वे शुद्धात्मा स्वभाव हीसे ऊर्ध्वगमन करते हैं।

पं. का./ता. वृ./७३/१२५/१७ सर्वतो मुक्तोऽपि । स्वाभाविकानन्त-ज्ञानादिगुणयुक्त सन्नेकसमयलक्षणाविग्रहगर्भोर्ध्वं गच्छति । =द्रव्य व भाव दोनों प्रकारके कर्मोंसे सर्वप्रकार मुक्त होकर स्वाभाविक ज्ञानादि गुणोंसे युक्त होकर एक सामयिक विग्रहगतिके द्वारा ऊपरको चले जाते हैं।

द्र. स./टी/३७/१५४/११ अयोगिचरमसमये द्रव्यविमोक्षो भवति । =अयोगी गुणस्थानवर्ती जीवके चरम समयमें द्रव्य मोक्ष होता है।

३. ऊर्ध्व ही गमन क्यों हृदय-उधर क्यों नहीं

दे० गति/१/३-६ (ऊर्ध्व गति जीवका स्वभाव है, इसलिए कर्म सम्पर्क-के हट जानेपर वह ऊपरकी ओर ही जाता है, अन्य दिशाओंमें

नहीं, क्योंकि, संसारावस्थामे जो उसकी षटोपक्रम गति देखी जाती है, वह कर्म निमित्तक होनेसे विभाव है स्वभाव नहीं। परन्तु यह स्वभाव ज्ञानस्वभावकी भौति कोई त्रिकाली स्वभाव नहीं है, जो कि सिद्धशिलासे आगे उसका गमन रुक जानेपर जीवके अभाव की आशका की जाये।

त.सू./१०/६-७ पूर्वप्रयोगादसङ्गत्वाद् बन्धच्छेदात्तथागतिपरिणामाच्च ।६। आबिद्धकुलालचक्रवद्व्यपगतलेपालाबुवदेरण्णबीजवदग्निशिखावच्चा।७। =पूर्वप्रयोगसे, सगका अभाव होनेसे बन्धनके टूटनेसे और वैसा गमन करना स्वभाव होनेसे मुक्तजीव ऊर्ध्व गमन करता है।६। जैसे कि घुमाया हुआ कुम्हारका चक्र, लेपसे मुक्त हुई तूमडी, एरण्डका बीज और अग्निकी शिखा।७।

घ. १/१.१.१/४०/२ आयुष्यवेदनीयोदययोर्जोर्ध्वगमनसुखप्रतिबन्ध - कयोः सत्त्वात् । =ऊर्ध्वगमन स्वभावका प्रतिबन्धक आयुर्कर्मका उदय अरिहन्तोके पाया जाता है।

४. मुक्तजीव सर्वलोकमें नहीं व्याप जाता

स. सि/१०/४/४६६/२ स्यान्मत्तं, यदि शरीरानुविधायी जीव' तद-भावात्स्वाभाविकलोकाकाशप्रदेशपरिमाणत्वात्तावद्विसर्पणं प्राप्नो-तीति । नैष दोषः । कुतः । कारणभावात् । नामकर्मसम्बन्धो हि संहरणविसर्पणकारणम् । तदभावात्पुनः संहरणविसर्पणाभावः । =प्रश्न—यह जीव शरीरके आकारका अनुकरण करता है (दे० जीव/३/६) तो शरीरका अभाव होनेसे उसके स्वाभाविक लोका-काशक प्रदेशके बराबर होनेके कारण जीव तत्प्रमाण प्राप्त होता है । उत्तर—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, जीवके तत्प्रमाण होनेका कोई प्रमाण नहीं उपलब्ध होता । नामकर्मका सम्बन्ध जीवके संकोच और विस्तारका कारण है, किन्तु उसका अभाव हो जानेसे जीवके प्रदेशोंका संकोच और विस्तार नहीं होता । (रा. वा./१०/४/१२-१३/६४३/२७) ।

द. स./टी./१४/१४४/४ कश्चिदाह—यथा प्रदीपस्य भाजनाद्यावरणे गते प्रकाशस्य विस्तारो भवति तथा देहाभावे लोकप्रमाणेन भाव्यमिति । तत्र परिहारमाह—प्रदीपसंबन्धी योऽसौ प्रकाशविस्तारः पूर्व स्व-भावेनैव तिष्ठति पश्चादावरणं जातं । जीवस्य तु लोकमात्रा-संख्येयप्रदेशत्व स्वभावो भवति, यस्तु प्रदेशानां संबन्धी विस्तारः स स्वभावो न भवति । कस्मादिति चेत्, पूर्वलोकमात्रप्रदेशा विस्तीर्णा निरावरणास्तिष्ठन्ति पश्चात् प्रदीपदावरणं जातमेव । तत्र, किन्तु पूर्वमेवानाविसतानरूपेण शरीरेणावृत्तास्तिष्ठन्ति तत् कारणप्रदेशानां संहारो न भवति, विस्तारश्च शरीरनामकर्मार्थो न एव न च स्वभावस्तेन कारणेन शरीराभावे विस्तारो न भवति । अपरमप्युदाहरणं दीयते—यथा हस्तचतुष्टयप्रमाणवस्त्रं पुरुषेण मुष्टौ बद्धं तिष्ठति, पुरुषाभावे संकोचविस्तारौ वा न करोति, निष्पत्ति-काले सार्द्धं मृन्मयभाजनं वा शुष्कं सज्जलाभावे सति, तथा जीवोऽपि पुरुषस्थानीयजलस्थानीयशरीराभावे विस्तारसंकोचौ न करोति । =प्रश्न—जैसे दीपकको ढँकनेवाले पात्र आदिके हटा लेनेपर उस दीपकके प्रकाशका विस्तार हो जाता है, उसी प्रकार देहका अभाव हो जानेपर सिद्धोका आत्मा भी फेलकर लोक प्रमाण होना चाहिए । उत्तर—दीपकके प्रकाशका विस्तार तो पहले ही स्वभावसे दीपक-में रहता है, पीछे उस दीपकके आवरणसे संकुचित होता है । किन्तु जीवका लोकप्रमाण असंख्यात प्रदेशत्व स्वभाव है, प्रदेशों-का लोकप्रमाण विस्तार स्वभाव नहीं है । प्रश्न—जीवके प्रदेश पहले लोकके बराबर फँले हुए, आवरण रहित रहते हैं, फिर जैसे प्रदीप-के आवरण होता है उसी तरह जीवप्रदेशोंके भी आवरण हुआ है । उत्तर—ऐसा नहीं है, क्योंकि, जीवके प्रदेश तो पहले अनादि-कालसे सन्तानरूप चले आये हुए शरीरके आवरणसहित ही रहते हैं । इस कारण जीवके प्रदेशोंका संहार तथा विस्तार शरीर नामक

नामकर्मके अधीन है, जीवका स्वभाव नहीं है । इस कारण जीवके शरीरका अभाव होनेपर प्रदेशोका विस्तार नहीं होता ।—इस विषयमे और भी उदाहरण देते हैं कि, जैसे कि मनुष्यकी मुट्टी-के भीतर चार हाथ लम्बा वस्त्र भिचा हुआ है । अब वह वस्त्र मुट्टी खोल देनेपर पुरुषके अभावमें संकोच तथा विस्तार नहीं करता । जैसा उस पुरुषने छोड़ा वैसा ही रहता है । अथवा गोली मिट्टीका बर्तन बनते समय तो संकोच तथा विस्तारको प्राप्त होता जाता है, किन्तु जब वह सूख जाता है, तब जलका अभाव होनेसे संकोच व विस्तारको प्राप्त नहीं होता । इसी तरह मुक्त जीव भी पुरुषके स्थानभूत अथवा जलके स्थानभूत शरीरके अभावमें संकोच विस्तार नहीं करता । (प. प्र/टी./५४/२२/६) ।

५. मुक्तजीव पुरुषाकार छायावत् होते हैं

ति. प/६/१६ जावद्धर्मं दव्वं तावं गंतूण लोयसिहरम्मि । चेत्ठत्ति सव्वसिद्धा पुह पुह गयसिस्थमूसगम्भणिहा । =जहाँतक धर्मद्रव्य है वहाँतक जाकर लोकशिखरपर सब सिद्ध पृथक्-पृथक् मोमसे रहित मूषकके अन्त्यन्तर आकाशके सदृश स्थित हो जाते हैं ।१६। (ज्ञा./४०/२५) ।

द. स./मू./टी./५१/२१७/२ पुरिसायारो अत्था सिद्धोभाएह लोयसिह-रत्थो ।५१। गतसिक्थमूषागर्भाकारवच्छायाप्रतिमावद्वा पुरुषाकारः =पुरुषके आकारवाले और लोक शिखरपर स्थित, ऐसा आत्मा सिद्ध परमेष्ठो है । अर्थात् मोम रहित मूसके आकारकी तरह अथवा छायाके प्रतिबिम्बके समान पुरुषके आकारको धारण करनेवाला है ।

६. मुक्तजीवोंका आकार चरमदेहसे किंचिदून है

स. सि./१०/४/४६५/१३ अनाकारत्वान्मुक्तानामभाव इति चेन्न, अतीता-नन्तरशरीराकारत्वात् । =प्रश्न—अनाकार होनेसे मुक्त जीवोका अभाव प्राप्त होता है । उत्तर—नहीं । क्योंकि उनके अतीत अनन्तर शरीरका आकार उपलब्ध होता है । (रा. वा./१०/४/१२/६४३/२४) ; (प. प्र./मू./१/५४)

ति. प./६/१० दीहत्तं बाह्वल्लं चरिमभवे जस्स जारिसं ठाणं । तत्तो तिभागहोणं ओगाहणं सव्वसिद्धाण । =अन्तिम भवमें जिसका जैसा आकार, दीर्घता और बाह्वल्य हो उससे तृतीय भागसे कम सब सिद्धोकी अवगाहना होती है ।

द. स. मू. व. टी./१४/४४/२ किञ्चूणा चरम देहदो सिद्धा । १४। तत् किञ्चिदूनत्वं शरीराङ्गोपाङ्गजन्तनासिकादिद्विद्राणामपूर्णत्वे सति । =वे सिद्ध चरम शरीरसे किंचिदून होते हैं, और वह किंचिदूनता शरीर व अंगोपांग नामकर्मसे उत्पन्न नासिका आदि द्विद्रोकी पोलाहटके कारणसे है ।

७. सिद्धलोकमें मुक्तात्माओका अवस्थान

ति. प./६/१५ माणुसलोयपमाणे संठिय तणुवादउवरिमे भागे । सरिसा सिरा सव्वाण हेद्विमभागम्मि विसरिसा केई =मनुष्यलोक प्रमाण स्थित तनुवातके उपरिम भागमें सब सिद्धोके सिर सदृश होते हैं । अधस्तन भागमें कोई विसदृश होते हैं ।

६. मोक्षके अस्तित्व सम्बन्धी शंकाएँ

१. मोक्षाभावके निराकरणमें हेतु

सिद्धि भक्ति/२ नाभावः सिद्धिरिष्टा न निजगुणहृतिस्तत्तपोभिर्न युवते-रस्त्यात्मानादिबन्धः स्वकृतजफलभुभुक् तक्षयान्मोक्षभागी । ज्ञाता द्रष्टा स्वदेहप्रमितिरुपसमाहारविस्तारधर्मा, ध्रौव्योत्पात्तव्ययात्मा स्वगुणयुत इतो नान्यथा साध्यसिद्धिः ।२। =प्रश्न—१. मोक्षका अभाव है, क्योंकि कर्मोंके क्षयसे आत्माका दीपकवत् नाश हो जाता

है (बौद्ध) अथवा सुख दुःख इच्छा प्रयत्न आदि आत्माके गुणोका अभाव ही मोक्ष है (वैशेषिक)। उत्तर—नहीं, क्योंकि, कौन बुद्धिमान् ऐसा होगा जो कि स्वयं अपने नाशके लिए तप आदि कठिन अनुष्ठान करेगा। प्रश्न—२, आत्मा नामकी कोई वस्तु ही नहीं है (चार्वाक)। उत्तर—नहीं, आत्माका अस्तित्व अवश्य है। (विशेष दे० जीव/२/४)। प्रश्न—३ आत्मा या पुरुष सदा शुद्ध है। वह न कुछ करता है न भोगता है। (साख्य)। उत्तर—नहीं, वह स्वयं कर्म करता है और उसके फलोको भी भोगता है। उन कर्मोंके क्षयसे ही वह मोक्ष भागी होता है। वह स्वयं ज्ञाता द्रष्टा है, संकोच विस्तार शक्तिके कारण संसारावस्था में स्वदेह प्रमाण रहता है (दे० जीव/३/७) वह क्लृप्तस्थ नहीं है, बल्कि उत्पाद व्ययधौव्य युक्त है (दे० उत्पाद/३)। वह निर्गुण नहीं है बल्कि अपने गुणोंसे युक्त है। क्योंकि, अन्यथा साध्यकी सिद्धि ही नहीं हो सकती। (स सि १/१-१ की उत्थानिका ५/२/२; (रा वा/१/१ की उत्थानिका/८/२/३ स्व, स्तो/टी/५/१३)

रा. वा/१०/४/१७/६४४/१३ सर्वथाभावोमोक्ष प्रदीपवदिति चेत्, न, साध्यत्वात् ११७ साध्यमेतत्-प्रदीपो निरन्वयनाशमुपयातीति। प्रदीपो एव हि पुद्गला, पुद्गलजातिमजहत् परिणामवशान्मधी-भावमापन्ना इति नात्यन्तविनाश।—दृष्टत्वाच्च निगलादिव्योभे देवदत्ताद्यवस्थानवत् ११८ यत्रैव कर्मविप्रमोक्षस्तत्रैवावस्थानमिति चेत्, न, साध्यत्वात् ११९ साध्यमेतत्तत्रैवावस्थानव्यमिति, बन्ध-नाभावादान्प्रितत्वाच्च स्याद्गमनमिति—प्रश्न—जिस प्रकार बुध जानेपर दीपक अत्यन्त विनाशको प्राप्त हो जाता है, उसी प्रकार कर्मोंके क्षय हो जानेपर जीवका भी नाश हो जाता है, अतः मोक्षका अभाव है? उत्तर—४. नहीं, क्योंकि, 'प्रदीपका नाश हो जाता है' यह बात ही असिद्ध है। दीपकरूपसे परिणत पुद्गलद्रव्यका विनाश नहीं होता है। उनकी पुद्गल जाति बनी रहती है। इसी प्रकार कर्मोंके विनाशसे जीवका नाश नहीं होता। उसकी जाति अर्थात् चैतन्य स्वभाव बना रहता है। (घ ६/१,६-१/२३३/गा.२-३/४२७), ५ दूसरी बात यह भी है कि जिस प्रकार बेडियोसे मुक्त होनेपर भी देवदत्तका अवस्थान देखा जाता है, उसी प्रकार कर्मोंसे मुक्त होनेपर भी आत्माका स्वरूपावस्थान होता है। प्रश्न—६, जहाँ कर्म बन्धनका अभाव हुआ है वहाँ ही मुक्त जीवको ठहर जाना चाहिए? उत्तर—नहीं, क्योंकि, यह बात भी अभी विचारणीय है कि उसे वहाँ ठहर जाना चाहिए या बन्धाभाव और अनाश्रित होनेसे उसे गमन करना चाहिए।

दे. गति/१/४ प्रश्न—७, उष्णताके अभावसे अग्निके अभावकी भाँति, सिद्धलोकमें जानेसे मुक्तजीवोंके ऊर्ध्वगमनका अभाव हो जानेसे वहाँ उस जीवका भी अभाव हो जाना चाहिए। उत्तर—नहीं, क्योंकि ऊर्ध्व ही गमन करना उसका स्वभाव माना गया है, न कि ऊर्ध्व गमन करते ही रहना।)

दे. मोक्ष/५/६ ८, मोक्षके अभावमें अनाकारताका हेतु भी युक्त नहीं है, क्योंकि, हम उसको पुरुषाकार रूप मानते हैं।)

२. मोक्ष अमावात्मक नहीं है बल्कि आत्मलामरूप है

पं. का./मु/३५ जैसि जीवसहायो णत्थि अभावो य सव्वहा तस्स। ते होति भिण्णदेहा सिद्धा वचिगोयरमदीदा १३५। =जिनके जीव स्वभाव नहीं है (दे० मोक्ष/३/५) और सर्वथा उसका अभाव भी नहीं है। वे देहरहित व वचनगोचरातीत सिद्ध है।

सि वि./मु/७/१६/४८५ आत्मलाम विदुर्मोक्ष जीवस्यान्तर्मलक्षयात्। नाभाव नाप्यचैतन्य न चैतन्यमनर्थकम् ११९। =आत्मस्वरूपके लाभका नाम मोक्ष है जो कि जीवको अन्तर्मलका क्षय हो जानेपर प्राप्त होता है। मोक्षमें न तो बौद्धोंकी भाँति आत्माका अभाव होता है और न ही वह ज्ञानशून्य अचेतन हो जाता है। मोक्षमें भी उसका

चैतन्य अर्थात् ज्ञान दर्शन निरर्थक नहीं होता है, क्योंकि वहाँ भी वह त्रिजगत्को साक्षीभावसे जानता तथा देखता रहता है। [जैसे बादलोके हट जानेपर सूर्य अपने स्वपरप्रकाशकपनेको नहीं छोड़ देता, उसी प्रकार कर्ममलका क्षय हो जानेपर आत्मा अपने स्वपर प्रकाशकपनेको नहीं छोड़ देता—दे० (इस श्लोककी वृत्ति)।

घ ६/१,६-६,२१६/४६०/४ केवलज्ञाने समुत्पन्नेऽपि सर्वं न जानातीति कपिलो ब्रूते। तत्र, तन्निराकरणार्थं बुद्धयन्त इत्युच्यते। मोक्षो हि नाम बन्धपूर्वक, बन्धश्च न जीवस्यास्ति, अमूर्तत्वाच्चित्तत्वाच्चेति। तस्माज्जीवस्य न मोक्ष इति नैयायिक-वैशेषिक-साख्य-मीमांसक-मतम्। एतन्निराकरणार्थमुच्चन्तीति प्रतिपादितम्। परिनिर्वाण-यन्ति—अशेषबन्धमोक्षे सत्यपि न परिनिर्वाणन्ति, सुखदुःखहेतुशुभा-शुभकर्मणा तत्रासत्त्वादिति तार्किकयोर्मतं। तन्निराकरणार्थं परिनि-र्वाणन्ति अनन्तसुखा भवन्तीत्युच्यते। यत्र सुखं तत्र निश्चयेन दुःख-मव्यस्ति दुःखाविनाभावित्वात्सुखस्येति तार्किकयोरेव मत, तन्निराकरणार्थं सर्वदुःखानमन्त परिविजाणन्तीति उच्यते। सर्वदुःखान-नन्त पर्यवसान परिविजाणन्ति गच्छन्तीत्यर्थः। कुतः। दुःखहेतु-कर्मणा विनष्टत्वात् स्वास्थ्यलक्षणस्य सुखस्य जीवस्य स्वाभाविक-त्वादिति। =प्रश्न—केवलज्ञान उत्पन्न होनेपर भी सबको नहीं जानते है (कपिल या साख्य)। उत्तर—नहीं, वे सबको जानते है। प्रश्न—अमूर्त व नित्य होनेसे जीवको न बन्ध सम्भव है, और न बन्धपूर्वक मोक्ष (नैयायिक, वैशेषिक, साख्य व मीमांसक)। उत्तर—नहीं, वे मुक्त होते हैं। प्रश्न—अशेष बन्धका मोक्ष हो जाने-पर भी जीव परिनिर्वाण अर्थात् अनन्त सुख नहीं प्राप्त करता है; क्योंकि, वहाँ सुख-दुःखके हेतुभूत शुभाशुभ कर्मोंका अस्तित्व नहीं है। (तार्किक मत)। उत्तर—नहीं, वे अनन्तसुख भोगी होते है। प्रश्न—जहाँ सुख है वहाँ निश्चयसे दुःख भी है, क्योंकि सुख दुःख-का अविनाभावी है (तार्किक)। उत्तर—नहीं, वे सर्व दुःखोंके अन्तका अनुभव करते है। इसका अर्थ यह है कि वे जीव समस्त दुःखोंके अन्त अर्थात् अज्ञानको पहुँच जाते है, क्योंकि, उनके दुःखके हेतुभूत कर्मोंका विनाश हो जाता है और स्वास्थ्य लक्षण सुख जो कि जीवका स्वाभाविक गुण है, वह प्रगट हो जाता है।

३. बन्ध व उदयकी अदृष्ट श्रृंखलाका मंग कैसे सम्भव है

द सं./टी ३७/१५५/१० अत्राह शिष्य—ससारिणां निरन्तरं कर्म-बन्धोऽस्ति, तथैवोदयोऽप्यस्ति, शुद्धात्मभावनाप्रस्तावो नास्ति, कथं मोक्षो भवतीति। तत्र प्रत्युत्तरं। यथा शत्रोः क्षीणावस्था दृष्ट्वा कोऽपि धीमान् पर्याप्तोच्यत्यय मम हनने प्रस्तावस्तत पौरुषं कृत्वा शत्रु हन्ति तथा कर्मणामप्येकरूपावस्था नास्ति हीयमानस्थिरयनु-भागत्वेन कृत्वा यदा लघुत्वं क्षीणत्वं भवति तदा धीमान् भव्य आगमभाषया लब्धिपञ्चकसंज्ञेनाध्यात्मभाषया निजशुद्धात्मा-भिमुखपरिणामसंज्ञेन च निर्मलभावनाविशेषखड्गेन पौरुषं कृत्वा कर्मशत्रुं हन्तीति। यत्पुनरन्तःकोटाकोटीप्रमितकर्मस्थितिरूपेण तथैव लतादारुस्थानीयानुभागरूपेण च कर्मलघुत्वे जातेऽपि सत्यय जीव...कर्महननबुद्धि कापि काले न करिष्यतीति तदभव्यत्वगुणस्यैव लक्षणं ज्ञातव्यमिति। =प्रश्न—ससारी जीवोंके निरन्तर कर्मोंका बन्ध होता है और इसी प्रकार कर्मोंका उदय भी सदा होता रहता है, इस कारण उनके शुद्धात्मके ध्यानका प्रसंग ही नहीं है, तब मोक्ष कैसे होती है? उत्तर—जैसे कोई बुद्धिमान् अपने शत्रुकी निर्मल अवस्था देखकर, अपने मनमें विचार करता है, 'कि यह मेरे मारने-का अवसर है ऐसा विचारकर उद्यम करके, वह बुद्धिमान् अपने शत्रुको मारता है। इसी प्रकार कर्मोंकी भी सदा एकरूप अवस्था नहीं रहती, इस कारण स्थितिबन्ध और अनुभाग बन्धकी न्यूनता होनेपर जब कर्म हलके होते है तब बुद्धिमान् भव्य जीव आगमभाषा-में पाँच लब्धियोंसे और अध्यात्मभाषामें निज शुद्ध आत्माके सम्मुख

परिणाम नामक निर्मलभावना-विशेषरूप खड्गसे पौरुष करके कर्म शत्रुको नष्ट करता है। और जो अन्तःकोटाकाटिप्रमाण कर्मस्थिति-रूप तथा लता काष्ठके स्थानावन्न अनुभागरूपसे कर्मभार हलका हो जानेपर भी कर्मोंको नष्ट करनेको बुद्धि किसी भी समयमें नहीं करेगा तो यह अभव्यस्व गुणका लक्षण समझना चाहिए। (मो. मा. प्र./-३.४५६/२)।

४. अनादि कर्मोंका नाश कैसे सम्भव है

रा. वा./१०/२/३/६४१/१ स्यान्मतम्—कर्मबन्धसत्तानस्याद्यभावाद्दन्ते-नाप्यस्य न भवितव्यम्, दृष्टिविपरीतकल्पनायां प्रमाणाभावादिति, तन्न; कि कारणम्। दृष्टवादन्त्यबीजवत्। यथा बीजाङ्कुरसत्ता-नेऽनादी प्रवर्तमाने अन्त्यबीजमग्निनापहताङ्कुरशक्तिर्मर्यान्तो-ऽस्य दृष्टस्तथा मिथ्यादर्शनादिप्रत्ययसांपरायिकसत्तावनादौ ध्यानानलनिर्दग्धकर्मबीजे भवाङ्कुरात्पादाभावान्मोक्ष इति दृष्टमि-दमपहोतुमशक्यम्। = प्रश्न—कर्म बन्धकी सन्तान जब अनादि है तो उसका अन्त नहीं होना चाहिए। उत्तर—जैसे बज और अकुर-की सन्तान अनादि होनेपर भी अग्निसे अन्तम बीजको जला देने-पर उससे अकुर उत्पन्न नहीं होता, उसी तरह मिथ्यादर्शनादि प्रत्यय तथा कर्मबन्ध सन्ततिके अनादि होनेपर भी ध्यानान्निसे कर्म-बीजोंका जला देनेपर भवाङ्कुरका उत्पाद नहीं होता, यही मोक्ष है।

क. पा. १/१-१/३२८/५६/६ कम्म पि सहेउअं तच्चिवाणसण्णहाणुववत्तीदो णव्वदे। ण च कम्मविणासो असिद्धो; बाल-जोव्वण-रायादिपज्जा-याणं विणासण्णहाणुववत्त ए तच्चिवाणसिद्ध दो। कम्ममकर्हम किण्ण जायदे। ण, अकट्टिमस्स विणासाणुववत्तीदो। तम्हा कम्ममेण कट्टिमेण चैव होदव्वं। = कर्म भी सहेतुक है, अर्थात् उनका विनाश बन नहीं सकता। और कर्मोंका विनाश असिद्ध भी नहीं है, क्योंकि, कर्मोंके कार्यभूत बाल, पौवन, और राजा आदि परोक्षोंका विनाश कर्मोंका विनाश हुए बिना नहीं हो सकता है। प्रश्न—कर्म अकृत्रिम क्यों नहीं? उत्तर—नहीं, क्योंकि, अकृत्रिम पदार्थका विनाश नहीं बन सकता है, इसलिए कर्मको कृत्रिम ही होना चाहिए।

क. पा. १/१-१/३४२/६७/१ 'त्तं च कम्म सहेउअं, अण्णहा णिव्वावाराण पि बंधपसंगादो। = कर्मोंको सहेतुक ही मानना चाहिए, अन्यथा अयोगियोंमें कर्मबन्धका प्रसंग प्राप्त होता है। (आस. प/टी./१११/३२६१/३४३/१०)।

क. पा. १/१-१/३४४/६९६ अकट्टिमत्तादो कम्मसत्ताणे ण वोच्छेज्जदि स्ति ण वोत्तं जुत्तं; अकट्टिमस्स वि बीजकुरसत्ताणस्त वोच्छेदुवल-भादो। ण च कट्टिमसत्ताणिवदिरित्तो सत्ताणो णाम अत्थि जस्स अकट्टिमत्तं वुच्चैज्ज। ण चासेसासवपडिववक्खे सयलसवरे समुपपण्णे वि कम्ममागमसत्ताणे ण तुट्ठदि स्ति वोत्तं जुत्तं; जुत्तिवाहियत्तादी। सम्मतसंजमविरायजोगणिराहाणमकमेण पउत्तिदसणादो च। ण च विट्ठे अणुववण्णदा णाम। असपुण्णामकम्मवुत्ती दौसइ ण संपुण्णणं चै; ण; अकमेण वट्टमाणणं सयलत्तकारणसाणिक्के सते तदविरो-हादो। संवरो सव्वकालं सपुण्णे ण होदि चैवेत्ति ण वोत्तं जुत्तं, वट्टमाणेसु करस वि कत्थ वि णियमेण सगसगुक्कस्मावत्थायत्ति-दंसणादो। संवरो वि, वट्टमाणो उवलम्भए तदो कत्थ वि सपुण्णेण होदव्वं बाहुज्जयतालरुवक्खेणव। आसवो वि कहि पि णिम्मूलदो विणस्सेज्ज, हाणे तरतमभावण्णहाणुववत्तीदो आयरकण-ओवलावलीणमलक्कलो व्व। = प्रश्न—अकृत्रिम होनेसे कर्मकी सन्तान व्युच्छिन्न नहीं होती है। उत्तर—१, नहीं, क्योंकि अकृत्रिम होते हुए भी बीज व अकुरकी सन्तानका विनाश पाया जाता है। २. कृत्रिम सत्तानीसे भिन्न, अकृत्रिम सन्तान नामकी कोई चीज नहीं है। प्रश्न—३ आसवविरोधी सकलसवरके उत्पन्न हो जानेपर भी कर्मोंकी आसवपर परा विच्छिन्न नहीं होती। उत्तर—ऐसा कहना

युक्ति बाधित है, अर्थात् सकल प्रतिपक्षी कारणके होनेपर कर्मका विनाश अवश्य होता है। (घ. १/४.१/४४/११७/६)। प्रश्न—४. सकल संवररूप सम्यक्त्व, सयम, वैराग्य और योगनिरोध इनका एक साथ स्वरूपलाभ नहीं होता है। उत्तर—नहीं, क्योंकि, इन सबकी एक साथ अविरोधवृत्ति देखी जाती है। प्रश्न—५. असम्पूर्ण कारणोंकी वृत्ति भले एक साथ देखी जाये, पर सम्पूर्णकी सम्यक्त्वादिकी नहीं? उत्तर—नहीं, क्योंकि, जो वर्द्धमान है ऐसे उन सम्यक्त्वादिकी कोई भी कहीं भी नियमसे अपनी-अपनी उत्कृष्ट अवस्थाको प्राप्त होता हुआ देखा जाता है। यत्-सवर भी एक हाथ प्रमाण तालवृक्षके समान वृद्धिको प्राप्त होता हुआ पाया जाता है, इसलिए किसी भी आत्मामें उसे परिपूर्ण होना ही चाहिए। (घ. १/४.१.४४/११५/१) और भी दे, अगला सन्दर्भ)। ६. तथा जिस प्रकार खानसे निकले हुए स्वर्णपाषाणका अन्तरंग और बहिरंग मल निर्मूल नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार आसव भी कहींपर निर्मूल विनाशको प्राप्त होता है, अन्यथा आसवकी हानिमें तर-तम-भाव नहीं बन सकता है। (घ. १/४.१.४४/११८/२), (स्या. मं/१७/२३६/२६)। ७ [दूसरी बात यह भी है कि कर्म अकृत्रिम है ही नहीं (दे० विभाव/३)]।

स्या. म/१७/२३६/६ पर उद्धृत—देशतो नाशिनो भावा द्रष्टा निखिल नश्वरा। मेघपङ्क्त्यादयो यद्वत् एव रागादयो मताः। = जो पदार्थ एक देशसे नाश हाते हैं, उनका सर्वथा नाश भी होता है। जिस प्रकार मेघोंके पटलोक आशिक नाश होनेसे उनका सर्वथा नाश भी होता है।

५. मुक्त जीवोंका परस्परमें उपरोध नहीं

रा. वा./१०/४/६/६४३/१३ स्यान्मतम्—अण्ण सिद्धावगाह्य आकाश प्रवेश आधार, आधेया' सिद्धा अनन्ता, तत् परस्परोपरोध इति तन्न कि कारणम्। अवगाहनशक्तियागात्। सूचितस्वपि नामा नेकमणिप्रदीपप्रकाशेषु अण्णेऽप्यवकाशो न विरोधः किमङ्गुणरसूतिषु अवगाहनशक्तियुक्तेषु मुक्तेषु। = प्रश्न—सिद्धोंका अवगाह्य आकाश प्रदेश रूप आधार ता अण्ण है और आधेयभूत सिद्ध अनन्त है, अतः उनका परस्परमें उपरोध होता होगा। उत्तर—नहीं, क्योंकि आकाशमें अवगाहन शक्ति है। सूतिमाद् भी अनेक प्रदीप प्रकाशोक अण्ण आकाशमें अवरोधी अवगाह देखा गया है, तब अमूर्त सिद्धों की तो बात ही क्या है।

६. मोक्ष जाते-जाते जीवराशिका अन्त हो जायेगा ?

घ. १४/६.६.१२६/२३३/७ जीवरासी आयवज्जिदो सव्वओ, तत्तं णिव्वुइमुवगच्छत्तजावाणमुवलभादो। तदो ससारिजीवाणमभाव हादि त्त भण्णिदे ण हादि। अलद्धसभावणगोदजीवाणमण ताण सभवा हादि त्त।

घ १४/६.६.१२८/२३४/५ जासि सखाणं आयविरहियाण वये संतं वोच्छेदो हादि ताआ संखाओ सखेज्जासखेज्जसण्णिदाओ। जासि रखाण आयविरहियाणं सखेज्जासखेज्जेहि वड्ढजमाणं वि वाच्छेदो ण हादि तासिमणत्तमिदि सण्णा। सव्व जीवरासी वाणंते तेण सो ण वाच्छेज्जदि, अण्णहा आणंतिविराहादो। सव्वे अदीदकालेण जे सिद्धा तेहितो एण्णिगोदसरीरजीवाणमणत्त गुणत्त। सिद्धा पुण अदीदकाले समयं पडि जदि वि असखेज्ज लागमेत्ता सिद्धात्ता ता वि अदीदकालादो असखेज्जगुणा चैव ण च एव, अदीदकालादा सिद्धाणमसखेज्जभाणत्तुवलभादो। = अदीदकाले तसत्त पत्तजीवा मुट्ठु जदि बहुआ होत तो अदीद-कालादो असखेज्जगुण चैव। = प्रश्न—जो राशि आयसे रहित और व्यय सहित है, क्योंकि उससे मोक्षको जानेवाले जीव उप-लब्ध होते हैं। इसलिए ससारी जीवोंका अभाव प्राप्त होता है।

उत्तर—नहीं होता है; क्योंकि, १. त्रस भावको नहीं प्राप्त हुए अनन्त निगोद जीव सम्भव है। (और भी दे० वनस्पति/२/३)। २. आघ-रहित जिन संख्याओंका व्यय होनेपर सत्त्वका विच्छेद होता है वे संख्याएँ संख्यात और असंख्यात संज्ञावाली होती हैं। आगसे रहित जिन संख्याओंका संख्यात और असंख्यात रूपसे व्यय होनेपर भी विच्छेद नहीं होता है, उनकी अनन्त संज्ञा है (और भी दे० अनन्त/१/१)। और सब जीव राशि अनन्त है, इसलिए वह विच्छेदको प्राप्त नहीं होती। अन्यथा उसके अनन्त होनेमें विरोध आता है। (दे० अनन्त/२/१-३)। ३. सब अतीतकालके द्वारा जो सिद्ध हुए हैं उनसे एक निगोदशरीरके जीव अनन्तगुणे है। (दे० वनस्पति/३/७)। ४. सिद्ध जीव अतीतकालके प्रत्येक समयमें यदि असंख्यात लोक प्रमाण सिद्ध होवे तो भी अतीत कालसे असंख्यातगुणे ही होंगे। परन्तु ऐसा है नहीं क्योंकि, सिद्ध जीव अतीतकालके असंख्यातके भाग प्रमाण ही उपलब्ध होते हैं। ५. अतीत कालमें त्रसपनेको प्राप्त हुए जीव यदि बहुत अधिक होते हैं तो अतीतकालसे असंख्यात गुणे ही होते हैं।

स्था. मं/२६/३३१/१६ न च तावता तस्य काचित् परिहृणानिगोद-जीवानन्त्यस्याक्षयत्वात्। अनाद्यनन्तेऽपि काले ये केचिन्नितृता' निर्वाणान्ति निर्वाण्यन्ति च ते निगोदानामनन्तभागेऽपि न वर्तन्ते नावर्तिषत न वरस्यन्ति। ततश्च कथं मुक्तानां भवागमनप्रसङ्गः, कथं च संसारस्य रिक्तताप्रसक्तिरिति। अभिप्रेतं चैतद् अन्ययूथ्याना-मपि। यथा चोक्तं वार्तिककारेण—अतएव च विद्वत्सु मुच्यमानेषु संततम्। ब्रह्माण्डलोकजीवानामनन्तत्वादशून्यता। १। अत्यन्यूनान्ति-रिक्तत्वेयुज्यते परिमाणवत्। वस्तुन्यपरिमेये तु नूनं तेषामसंभवः। २। = ६. [जितने जीव मोक्ष जाते हैं उतने ही निगोद राशिसे निकलकर व्यवहारराशिमें आ जाते हैं (दे० मोक्ष/२/६)] अतएव निगोदराशिमें-से जीवोंके निकलते रहनेके कारण संसारी जीवोंका कभी क्षय नहीं हो सकता। जितने जीव अबतक मोक्ष गये हैं और आगे जानेवाले हैं वे निगोद जीवोंके अनन्तके भाग भी नहीं हैं, न हुए हैं और न होंगे। अतएव हमारे मतमें न तो मुक्त जीव संसारमें लौटकर आते हैं और न यह संसार जीवोंसे शून्य होता है। इसको दूसरे वादियोंने भी माना है। वार्तिककारने भी कहा है, 'इस ब्रह्माण्डमें अनन्त संसारी जीव हैं, इस संसारसे ज्ञानी जीवोंकी मुक्ति होते हुए यह संसार जीवोंसे खाली नहीं होता। जिस वस्तुका परिमाण होता है, उसीका अन्त होता है, वही घटती और समाप्त होती है। अपरिमित वस्तुका न कभी अन्त होता है, न वह घटती है, और न समाप्त होती है।

गो. जो/जी. प्र./१६६/४३७/१८ सर्वो भव्यसंसारिराशिरनन्तेनापि कालेन न क्षीयते अक्षयानन्तत्वात्। यो योऽक्षयानन्तः सो सोऽनन्ते-नापि कालेन न क्षीयते यथा इयत्तया परिच्छिन्न कालसमयोघः, सर्व-द्रव्याणां पर्यायोऽविभागप्रतिच्छेदसमूहो वा इत्यनुमानाङ्गस्य तर्कस्य प्रामाण्यमुनिश्चयात्। = ६. सर्व भव्य संसारी राशि अनन्त कालके द्वारा भी क्षयको प्राप्त नहीं होती है, क्योंकि यह राशि अक्षयानन्त है। जो जो अक्षयानन्त होता है, वह-वह अनन्तकालके द्वारा भी क्षयको प्राप्त नहीं होता है, जैसे कि तीनों कालोंके समयोका परि-माण या अविभाग प्रतिच्छेदको समूह। इस प्रकारके अनुमानसे प्राप्त तर्क प्रमाण है।

मोक्ष पाहुड—आ० कुन्दकुन्द (ई० १२७-१७६) कृत मोक्ष प्राप्तिके क्रमका प्ररूपक, १०६ गाथा बद्ध एक ग्रन्थ। इसपर आ० श्रुतसागर (ई० १४८१-१४६६) कृत संस्कृत टोका और पं. जयचन्द छाबडा (ई० १८६७) कृत भाषा वचनिका उपलब्ध है। (ती०/२/११४)।

मोक्षमार्ग—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र, इन तीनों-को रत्नत्रय कहते हैं। यह ही मोक्षमार्ग है। परन्तु इन तीनोंमें-

से कोई एक या दो आदि पृथक्-पृथक् रहकर मोक्षके कारण नहीं है, बल्कि समुदित रूपसे एकरस होकर ही ये तीनों युगपत् मोक्ष-मार्ग हैं। क्योंकि, किसी वस्तुको जानकर उसकी श्रद्धा या रुचि हो जानेपर उसे प्राप्त करनेके प्रति आचरण होना भी स्वाभाविक है। आचरणके बिना व ज्ञान, रुचि व श्रद्धा यथार्थ नहीं कहे जा सकते। भले ही व्यवहारसे इन्हे तीन कह लो पर वास्तवमें यह एक अखण्ड चेतनके ही सामान्य व विशेष अंश हैं। यहाँ भेद रत्नत्रयरूप व्यवहार मार्गको अभेद रत्नत्रयरूप निश्चयमार्गका साधन कहना भी ठीक ही है, क्योंकि, कोई भी साधक अम्यास दशामें पहले सविकल्प रहकर ही आगे जाकर निर्विकल्पताको प्राप्त करता है।

१	मोक्षमार्ग सामान्य निर्देश
१	मोक्षमार्गका लक्षण।
२	तीनोंकी युगपतता ही मोक्षमार्ग है।
३	सामायिक समय व शानमात्रसे मुक्ति कहनेपर भी तीनोंका ग्रहण हो जाता है।
४	वास्तवमें मार्ग तीन नहीं एक है।
५	युगपत् होते हुए भी तीनोंका स्वरूप भिन्न है।
६	तीनोंकी पूर्णता युगपत् नहीं होती।
*	सयोगि गुणस्थानमें रत्नत्रयकी पूर्णता हो जानेपर भी मोक्ष क्यों नहीं होती। —दे० केवली/२/२।
*	इन तीनोंमें सम्यग्दर्शन प्रधान है। —दे० सम्यग्दर्शन/१/६।
*	मोक्षमार्गमें योग्य गति, लिंग, चारित्र आदिका निर्देश। —दे० मोक्ष/४।
*	मोक्षमार्गमें अधिक ज्ञानकी आवश्यकता नहीं। —दे० ध्याता/१।
७	मोक्षके अन्य कारणों (प्रत्ययों) का निर्देश।
२	निश्चय व्यवहार मोक्षमार्ग निर्देश
१	मोक्षमार्गके दो भेद—निश्चय व व्यवहार।
२	व्यवहार मोक्षमार्गका लक्षण भेदरत्नत्रय।
३	निश्चय मोक्षमार्गका लक्षण अभेदरत्नत्रय।
४	निश्चय मोक्षमार्गका लक्षण शुद्धात्मानुभूति।
५	निश्चय मोक्षमार्गके अपर नाम।
६	निश्चय व व्यवहार मोक्षमार्गके लक्षणोंका समन्वय।
७	अभेद मार्गमें भेद करनेका कारण।
*	सविकल्प व निर्विकल्प निश्चय मोक्षमार्ग निर्देश। —दे० मोक्षमार्ग/४/६।
३	दर्शन ज्ञान चारित्रमें कथंचित् एकत्व
१	तीनों वास्तवमें एक आत्मा ही है।
२	तीनोंको एक आत्मा कहनेका कारण।
३	ज्ञानमात्र ही मोक्षमार्ग है।
*	ज्ञानमात्र ही मोक्षमार्ग नहीं है। —दे० मोक्षमार्ग/१/२।

*	सम्यग्दर्शन, ज्ञान व चारित्र्यमें अन्तर । —दे० सम्यग्दर्शन/1/४।
४	तीनोंके भेद व अमेदका समन्वय ।
५	ज्ञान कहनेसे यहाँ पारिणामिक भाव इष्ट है ।
६	दर्शनादि तीनों चैतन्यकी ही सामान्य विशेष परिणति है ।
४	निश्चय व्यवहारमार्ग की कथंचित् सुरुयता गौणता व समन्वय
१	निश्चयमार्गकी कथंचित् प्रधानता ।
२	निश्चय ही एक मार्ग है, अन्य नहीं ।
३	केवल उसका प्ररूपण ही अनेक प्रकारसे किया जाता है ।
४	व्यवहार मार्गकी कथंचित् गौणता ।
५	व्यवहारमार्ग निश्चयका साधन है ।
६	दोनोंके साध्यसाधन भावकी सिद्धि ।
*	मोक्षमार्गमें अभ्यासका महत्त्व । —दे० अभ्यास ।
*	मोक्षमार्गमें प्रयोजनीय पुरुषार्थ । —दे० पुरुषार्थ/६ ।
*	साधु व श्रावकके मोक्षमार्गमें अन्तर । —दे० अनुभव/५ ।
*	परस्पर सापेक्ष ही मोक्षमार्ग कार्यकारी है । —दे० धर्म/६ ।
*	निश्चय व व्यवहार मोक्षमार्गमें मोक्ष व संसारका कारणपना । —दे० धर्म/७ ।
*	शुभ व शुद्धोपयोग की अपेक्षा निश्चय व व्यवहार मोक्षमार्ग । —दे० धर्म ।
*	अन्ध पङ्गु के दृष्टान्तसे तीनोंका समन्वय । —दे० मोक्षमार्ग/१/२/रा. वा. ।

द. पा./मू./३० शायेण दसणेण य तवेण चरियेण संजमगुणेण । चउहिं पि समाजोगे मोक्खो जिणसासणे दिट्ठो ।३०। =सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन, सम्यक्चारित्र्य व सम्यक्त्व इन चारोंके मेलसे ही संयम होता है । उससे जीव मोक्ष प्राप्त करता है । (द. पा./मू./३२)

मू. आ./८६८-८६९ णिज्जावगो य णाणं वादो भाणं चरित्तं णावा हि । भवसागरं तु भविया तरति तिहिसण्णियायेण ।८६८। णाणं पयासओ तवो सोधओ सजमो य गुत्तियरो । तिण्हपि य संजोगे होदि हु जिणसासणे मोक्खो ।८६९। =जहाज चलानेवाला निर्यापक तो ज्ञान है, पवनकी जगह ध्यान है और चारित्र्य जहाज है । इन ज्ञान ध्यान चारित्र्य तीनोंके मेलसे भव्य जीव संसारसमुद्रसे पार हो जाते हैं ।८६८। ज्ञान तो प्रकाशक है तपकर्म विनाशक है और चारित्र्य रक्षक । इन तीनोंके संयोगसे मोक्ष होता है ।८६९।

स. सि./१/१/७/५ मार्गः इति च एकवचन-निर्देश' समस्तस्य मार्गभाव-ज्ञापनार्थ । तैत्रेयव्यस्तस्य मार्गस्वनिवृत्तिः कृता भवति । अतः सम्यग्दर्शनं सम्यग्ज्ञानं सम्यक्चारित्र्यमित्येतत् त्रितयं समुदितं मोक्षस्य साक्षात्मार्गो वेदितव्यः । —सूत्रमें 'मार्गः' ऐसा जो एकवचन निर्देश किया है, वह तीनों मिलकर मोक्षमार्ग है, यह बतानेके लिए किया है । इससे सम्यग्ज्ञान या सम्यग्दर्शन या सम्यक्चारित्र्यमें पृथक्-पृथक् रहते हुए मार्गपनेका निषेध ही जाता है । अतः सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र्य तीनों मिलकर ही मोक्षका साक्षात् मार्ग है, ऐसा जानना चाहिए । (म. पु./२४/१२०-१२३), (प्र सा/त प्र/२३६-२३७); (न्या. दी./३/४७३/११३) ।

रा. वा./१/१/४६/१४/१ अतो रसायनज्ञानश्रद्धानक्रियासेवनोपेतस्य तत्फलानाभिसंबन्ध इति नि प्रतिद्वन्द्वमेतत् । तथा न मोक्षमार्गज्ञानादेव मोक्षेणाभिसंबन्धो; दर्शनचारित्र्याभावात् । न च श्रद्धानादेव; मोक्षमार्गज्ञानपूर्वक्रियानुष्ठानाभावात् । न च क्रियामात्रादेव, ज्ञानश्रद्धानाभावात् । यतः क्रियाज्ञानश्रद्धानरहिता नि फलेति ।

यतो मोक्षमार्गत्रितयकल्पना ज्यायसीति । उक्तञ्च—'हर्तं ज्ञानं क्रियाहीनं हता चाज्ञानिनां क्रिया । धावद् किलान्धको दग्धः पश्यन्नपि च पङ्गुल । १। संयोगमेवेह वदन्ति तज्ज्ञानं न ह्येकचक्रेण रथं ज्ञयाति । अन्धश्च पङ्गुश्च वने प्रविष्टौ तौ सप्रयुक्तौ नगरं प्रविष्टौ । २। —औषधिके पूर्णफलकी प्राप्तिके लिए जैसे उसका श्रद्धान ज्ञान व सेवनरूप क्रिया आवश्यक है, उसी प्रकार सम्यग्दर्शनादि तीनोंके मेलसे उनके फलकी प्राप्ति होती है । दर्शन और चारित्र्यका अभाव होनेके कारण ज्ञानमात्रसे, ज्ञानपूर्वकक्रिया रूप अनुष्ठानके अभावके कारण श्रद्धानमात्रसे और ज्ञान तथा श्रद्धानके अभावके कारण क्रियामात्रसे मोक्ष नहीं होती, क्योंकि ज्ञान व श्रद्धान रहित क्रिया निष्फल है । इसलिए मोक्षमार्गके तीन-पनेकी कल्पना जागृत होती है । कहा भी है—'क्रियाहीनं ज्ञानं नष्टं है और अज्ञानियोंके क्रिया निष्फल है । एक चक्रसे रथ नहीं चलता, अतः ज्ञानक्रियाका संयोग ही कार्यकारी है । जैसे कि दावानलमें व्याप्त वनमें अन्धा व्यक्ति तो भागता-भागता जल जाता है और लंगडा देखता-देखता जल जाता है । यदि अन्धा और लंगडा दोनो मिल जाये और अन्धके कन्धोपर लंगडा बैठ जाये तो दोनोंका उद्धार हो जायेगा तब लंगडा तो रास्ता बताता हुआ ज्ञानका कार्य करेगा तथा अन्धा चलता हुआ चारित्र्यका कार्य करेगा । इस प्रकार दोनो ही वनसे बचकर नगरमें आ सकते हैं । (पं. वि./१/७५), (विज्ञानवाद/२) ।

३. सामायिक संयम या ज्ञानमात्र कहनेसे भी तीनोंका ग्रहण हो जाता है

रा. वा./१/१/४६/१४/१४ 'अनन्ता' सामायिकसिद्धा' इत्येतदपि त्रितयमेव साधयति । कथम् । इस्वभावस्यारमनस्तत्त्वं श्रद्धानस्य

१. मोक्षमार्ग सामान्य निर्देश

१. मोक्षमार्गका लक्षण

त. सू./१/१ सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र्याणि मोक्षमार्गः ।१। =सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र्य इन तीनोंको एकता मोक्षमार्ग है ।

२. तीनोंकी युगपत्ता ही मोक्षमार्ग है

प्र सा/मू./२३७ ण हि आगमेण सिज्झदि सहहणं जदि वि णत्थि अत्थेसु । सहहमाणो अत्थे असंजदो वा ण णिव्वदि ।२३७। =आगम-से यदि पदार्थोंका श्रद्धान न हो तो सिद्धि नहीं होती । पदार्थोंका श्रद्धान करनेवाला भी यदि असंयत हो तो निर्वाणकी प्राप्ति नहीं होता ।

मो. पा./मू./५६ तवरहियं जं णाणं णाणविजुत्तो तवो वि अकयत्थो । तन्हा णाणतवेणं सजुत्तो लहइ णिव्वारणं । =जो ज्ञान तप रहित है और जो तप ज्ञान रहित है, वे दोनो ही अकार्यकारी हैं । अतः ज्ञान व तप दोनो संयुक्त होनेसे ही निर्वाण प्राप्त होता है ।

सामायिकचारित्रोपपत्तेः । समय एकत्वमभेद इत्यनर्थान्तरम्, समय एव सामायिकं चारित्र सर्वसावधानिबृत्तिरिति अभेदेन समग्रहादिति ।
 = 'अनन्त जीव सामायिक चारित्रसे सिद्ध हो गये' यह वचन भी तीनोंके मोक्षमार्गका समर्थन करता है। ज्ञानरूप आत्माके तत्त्वश्रद्धान-पूर्वक ही समताभावरूप चारित्र हो सकता है। समय, एकत्व और अभेद ये एकार्थवाची शब्द हैं। समय ही सामायिक चारित्र है। अर्थात् समस्त पापयोगोसे निवृत्त होकर अभेद समता और वीतरागमें प्रतिष्ठित होना सामायिक चारित्र है।

प.प्र./टी.२/७२/१९४/१० अत्राह प्रभाकरभट्टः । हे भगवद्, यदि विज्ञानमात्रेण मोक्षो भवति तर्हि सांख्यादयो वदन्ति ज्ञानमात्रादेव मोक्ष' तेषां किमिति दूषणं दीयते भवद्विरिति । भगवानाह । अत्र वीतरागनिर्विकल्पस्वसंवेदनसम्यग्ज्ञानमिति भणितं तिष्ठति तेन वीतरागविशेषणेन चारित्रं लभ्यते सम्यग्विशेषणेन सम्यक्त्वमपि लभ्यते, पानकवदेकस्यापि मध्ये त्रयमस्ति । तेषां मते तु वीतरागविशेषणं नास्ति सम्यग्विशेषणं च नास्ति ज्ञानमात्रमेव । तेन दूषणं भवतीति भावार्थः । = प्रश्न—हे भगवद्, यदि विज्ञानमात्रमे ही मोक्ष होता है (दे० आगे मोक्षमार्ग/३) तो सांख्य, बौद्ध आदि लोग ज्ञानमात्रसे ही मोक्ष कहते हैं, उन्हें दूषण क्यों देते हो। उत्तर—हमारे हैं 'वीतराग निर्विकल्प स्वसंवेदन सम्यग्ज्ञान' ऐसा कहा गया है। तहाँ 'वीतराग' विशेषणसे तो चारित्रका ग्रहण हो जाता है और 'सम्यक्' विशेषणसे सम्यग्दर्शनका ग्रहण हो जाता है। पानकवत् एकको ही यहाँ तीनपना प्राप्त है। परन्तु उनके मतमें न वीतराग विशेषण है और न सम्यक् विशेषण। ज्ञानमात्र कहते हैं। इसलिए उनकी दूषण दिया जाता है, ऐसा भावार्थ है।

द्र. सं/टी/३६/१५२/८ (क्रमशः) कश्चिदाह-सद्ब्रह्मिणा वीतरागविशेषणं किमर्थं । रागादयो हेया मदीया न भवन्तीति भेदविज्ञाने जाते सति रागानुभवेऽपि ज्ञानमात्रेण मोक्षो भवतीति । तत्र परिहारः । अन्धकारे पुरुषद्वयम् एकं प्रदीपहस्तस्तिष्ठति, अन्यः पुनरेकं प्रदीपरहितस्तिष्ठति । स च कूपे पतनं सर्पादिकं वा न जानाति तस्य विनाशे दोषो नास्ति । यस्तु प्रदीपहस्तस्तिष्ठत्य कूपपतनादिविनाशे प्रदीपफल नास्ति । यस्तु कूपपतनादिकं त्यजति तस्य प्रदीपफलमस्ति । तथा कोऽपि रागादयो हेया मदीया न भवन्तीति भेदविज्ञानं न जानाति स कर्मणा बध्यते तावत् । अन्यः कोऽपि रागादिभेदविज्ञाने जातेऽपि यावदंशेन रागादिकमनुभवति तावदंशेन सोऽपि बध्यत एव, तस्यापि रागादिभेदविज्ञानफल नास्ति । यस्तु रागादिभेदविज्ञाने जाते सति रागादिकं त्यजति तस्य भेदविज्ञानफलमस्तीति ज्ञातव्यम् । = प्रश्न—सम्यग्दृष्टियोको वीतराग विशेषण किस लिए दिया जाता है। 'रागादिक हेय है, ये मेरे नहीं हैं' इतना मात्र भेद विज्ञान हो जानेपर रागका अनुभव होते हुए भी ज्ञान मात्रसे ही मोक्ष हो जाता है। उत्तर—अन्धकारमें दीपक रहित कोई पुरुष कुर्रमें गिरता है तो कोई दोष नहीं, परन्तु दीपक हाथमें लेकर भी यदि कोई कुर्रमें गिरे तो उसे दीपकका कोई फल नहीं है, कुर्रमें गिरने आदिका त्याग करना ही दीपकका फल है। इसी प्रकार भेदविज्ञान रहित व्यक्तिको तो कर्म बंधते ही हैं, परन्तु भेदविज्ञान हो जानेपर भी जितने अंशमें रागादिका अनुभव होता है, उतने अंशमें बधता ही है और उसको भी उतने अंशमें भेदविज्ञानका फल नहीं है। जो भेदविज्ञान हो जानेपर रागादिकका त्याग करता है उसको ही भेद विज्ञानका फल हुआ जानना चाहिए।

४. वास्तवमें मार्ग तीन नहीं एक है

या. टी./३/९०३/११३ सम्यग्दर्शनादीनि मोक्षस्य सकलकर्मक्षयस्य मार्गः उपायः न तु मार्गः । इत्येकवचनप्रयोगतात्पर्यसिद्धः । = सम्यग्दर्शनादि मोक्षका अर्थात् सकलकर्मके क्षयका एक मार्ग है,

अनेक मार्ग नहीं है। सूत्रमें एकवचनके प्रयोगसे यह बात सिद्ध होती है।

५. युगपत् होते हुए भी तीनोंका स्वरूप भिन्न है

रा. वा./१/१/वार्तिक/पृष्ठ/पंक्ति ज्ञानदर्शनयोर्युगपत्पत्रवृत्तेरेकत्वमिति चेत्; न, तत्त्वावायश्रद्धानभेदात् तापप्रकाशवत् । (६०/१६/३) । ज्ञानचारित्रयोरेकभेदादेकत्वम् अगम्यावबोधवदिति चेत्; न; आशुत्पत्ती सूक्ष्मकालाप्रतिपत्ते उत्पलपत्रशतव्यघनवत्/(६३/१६/२३) । अर्थभेदाच्च । (६४/१७/१) । कालभेदाभावो नार्थभेदहेतु गतिजात्यादिवत् । (६५/१७/३) । = यद्यपि अग्निके ताप व प्रकाशवत् सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान युगपत् उत्पन्न होते हैं परन्तु तत्त्वोंका ज्ञान व उनका श्रद्धान रूपसे इनके स्वरूपमें भेद है। जैसे अन्धकारमें ग्रहण की गयी माताको बिजलीकी चमकका प्रकाश होनेपर अगम्य जानकर छोड़ देता है, उसी प्रकार ज्ञान व चारित्र यद्यपि युगपत् होते प्रतीत होते हैं परन्तु वास्तवमें उनमें कालभेद है, जो कि अत्यन्त सूक्ष्म होनेके कारण ज्ञाननेमें नहीं आता जैसे कि सौ कमलपत्रोंको एक सुई से बंधने पर प्रत्येक पत्रके बन्धनेका काल पृथक्-पृथक् प्रतीतिमें नहीं आता है। अतः काल की एकताका हेतु देकर ज्ञान व चारित्रमें एकता नहीं की जा सकती। दूसरे कालका अभेद हो जानेसे अर्थका भी अभेद ही जाता हो ऐसा कोई नियम नहीं है, जैसे कि मनुष्य गति और उसकी पचेन्द्रिय जातिका काल अभिन्न होने पर भी वे दोनों भिन्न हैं।

६. तीनों की पूर्णता युगपत् नहीं होती

रा. वा./१/१/वार्तिक/पृष्ठ/पंक्ति-एषां पूर्वस्य लाभे भजनीयमुत्तरम् । (६६/१७/२४) । उत्तरलाभे तु नियत पूर्वलाभ (७०/१७/२६) । तदनुपपत्तिः, अज्ञानपूर्वकश्रद्धानप्रसगात् । (७१/१७/२०) । न वा; यावति ज्ञानमित्येतत् परिसमाप्यते तावतोऽसंभवात्तयापिक्षं वचनम् । तदपेक्ष्य संपूर्णद्वादशाङ्गचतुर्दशपूर्वक्षणं श्रुत् केवलं च भजनीयमुक्तम् । तथा पूर्व सम्यग्दर्शनलाभे देशचारित्रं सयतासंयतस्य सर्वचारित्रं च प्रमत्तादारभ्य सूक्ष्मसाम्परायान्तानां यच्च यावच्च नियमादस्ति, संपूर्णं यथाख्यातचारित्रं तु भजनीयम् । (७४/१८/७) । अथवा क्षायिकसम्यग्दर्शनस्य लाभे क्षायिकं सम्यग्ज्ञानं भजनीयम् । .. सम्यग्दर्शनस्य सम्यग्ज्ञानस्य वा अन्यतरस्यात्मलाभे चारित्रमुत्तरं भजनीयम् । (७५/१८/२०) = सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्रमें पूर्व पूर्वकी प्राप्ति होनेपर उत्तर उत्तरकी प्राप्ति भजनीय है, अर्थात् हो भी और न भी हो। परन्तु उत्तरकी प्राप्तिमें पूर्वका लाभ निश्चित है। जैसे जिसे सम्यक्चारित्र होगा उसे सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान होंगे ही, पर जिसे सम्यग्दर्शन है उसे पूर्ण सम्यग्ज्ञान और चारित्र हो भी और न भी हो। प्रश्न—ऐसा मानने से अज्ञानपूर्वक श्रद्धानका प्रसंग आता है। उत्तर—पूर्ण ज्ञानको भजनीय कहा है न कि ज्ञानसामान्यको। ज्ञानकी पूर्णता श्रुतकेवली और केवलीके होती है। सम्यग्दर्शनके होनेपर पूर्ण द्वादशांग और चतुर्दशपूर्वरूप श्रुतज्ञान और केवलज्ञान ही ही जायेगा यह नियम नहीं है। इसी तरह चारित्र भी समझ लेना चाहिए। सम्यग्दर्शनके होनेपर देश सकल या यथाख्यात चारित्र, सयतासंयतको सकल व यथाख्यात चारित्र, ६-१० गुणस्थानवर्ती साधुको यथाख्यात चारित्र भजनीय है। अथवा क्षायिक सम्यग्दर्शन हो जानेपर क्षायिक सम्यग्ज्ञान भजनीय है। अथवा सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञानमें से किसी एक या दोनोंके प्राप्त हो जानेपर पूर्ण चारित्र (अयोगी गुणस्थानका यथाख्यात चारित्र) भजनीय है।

७. मोक्षके अन्य कारणोंका निर्देश

स. सि/१/४/१५/६ मोक्षस्य प्रधानहेतु सवरो निर्जरा च । = मोक्षके प्रधान हेतु सवर निर्जरा है। (रा. वा./१/४/३/२५/६) ।

घ. ७/२, १, ७/गा. ३/६ ओदइया बंधयरा उवसमखयभिस्सया य मोक्ख-
यरा । भावो वु पारिणामिओ...।३। = औदयिक भाव बन्ध करनेवाले
है तथा औपशमिक, क्षायिक व क्षायोपशमिक भाव मोक्षके
कारण है ।

घ ७/२, १, ७/वृष्ठ/पंक्ति सम्मह सज-सजमाकसायाजोगा मोक्खकर-
णाणि (१/६) । एदेसि पडिबन्त्वा सम्मत्तुपत्ती देससजम-संजम-
अणताणुबं धिविसंयोजण-दंसणमोहवखवणचरित्तमोहवसामणुवसत -
कसाय - चरित्तमोहवखवण - खीणकसाय - सजोगिकेवलीपरिणामा
मोक्खवपच्चया, एदेहिती समर्थ पडि असखेज्जगुणसेडीए कम्मणिउज्ज-
रुवलभादो । (१३/१०) । = बन्धके मिथ्यात्वादि प्रत्ययोसे विपरीत
सम्यग्दर्शन, संयम, अकषाय, अयोग-अथवा (गुणस्थानक्रमसे)
सम्यक्त्वोत्पत्ति, देशसयम, सयम, अनन्तानुबन्धीविसंयोजन,
दर्शनमोहक्षपण, चारित्रमोहोपशमन, उपशान्तकषाय, चारित्रमोह
क्षपण, क्षीणकषाय व सयोगकेवलीके परिणाम भी मोक्षके प्रत्यय है,
क्योंकि इनके द्वारा प्रति समय असत्थात गुणी कर्मोंकी निर्जरा पायी
जाती है ।

२. निश्चय व्यवहार मोक्षमार्ग निर्देश

१. मोक्षमार्गके दो भेद-निश्चय व व्यवहार

त. सा./६/२ निश्चयव्यवहाराभ्यां मोक्षमार्गो द्विधा स्थित । = निश्चय
और व्यवहारके भेदसे मोक्षमार्ग दो प्रकारका है । (न. च. वृ./२८४),
(त. अनु./२८) ।

२. व्यवहार मोक्षमार्गका लक्षण भेदरत्नत्रय

प. का./मू./१६० धम्मादीसहहणं सम्मत्तं णाणमंगुव्वगदं । चेत्था
तवं हि चरिया व्यवहारो मोक्खमग्गे त्ति । १६०। = धर्मास्तिकाय
आदिका अर्थात् षट्द्रव्य, पंचास्तिकाय, सप्त तत्त्व व नव पदार्थों-
का श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है, अंगपूर्व सम्बन्धी आगम ज्ञान
सम्यग्ज्ञान है और तपमे चेष्टा करना सम्यक्चारित्र है । इस प्रकार
व्यवहार मोक्षमार्ग है । (न. सा./मू./२७६), (त. अनु./३०) ।

स. सा./मू./१५५ जीवादीसहहणं सम्मत्तं तेसिमधिगमो णाणं । रायादी-
परिहरणं चरणं एसो वु मोक्खपहो । १५५। जीवादि = (नव पदार्थोंका)
श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है, उन ही पदार्थोंका अधिगम सम्यग्ज्ञान
है और रागादिका परिहार सम्यक्चारित्र है । यही मोक्षका मार्ग
है । (न. च. वृ./३२१), (द्र. सं./टी./३६/१६२/८); (प. प्र./टी./
२/१४/१२२/१२) ।

त. सा./६/४ श्रद्धानाधिगमोपेक्षा या पुन' स्यु' परात्मना । सम्यक्त्व-
ज्ञानवृत्तात्मा स मार्गो व्यवहारतः । = (निश्चयमोक्षमार्ग रूपसे
कथित भेद) आत्मार्थे सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्-
चारित्र यदि भेद अर्थात् विकल्पकी मुख्यतासे प्रगट हो रहा हो
तो सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र रूप रत्नत्रयकी व्यवहार मोक्षमार्ग सम-
झना चाहिए ।

प. प्र./टी./२/३१/१५०/१४ व्यवहारेण वीतरागसर्वज्ञप्रणीतशुद्धात्मतत्त्व-
प्रभृतिषट्द्रव्यपञ्चास्तिकायसप्ततरवनवपदार्थविषये सम्यक् श्रद्धान-
ज्ञानाहिसादिब्रतशीलपरिपालनरूपस्य भेदरत्नत्रयस्य । = व्यवहारसे
सर्वज्ञप्रणीत शुद्धात्मतत्त्वकी आदि देकर जो षट्द्रव्य, पंचास्तिका-
याय, सप्ततत्त्व, नवपदार्थ इनके विषयमे सम्यक् श्रद्धान व ज्ञान
करना तथा अहिसादि ब्रत शील आदिका पालन करना (चारित्र)
ऐसा भेदरत्नत्रयका स्वरूप है ।

३. निश्चयमोक्षमार्गका लक्षण भेद रत्नत्रय

पं का./मू./१६१ णिच्छयणयेण भणितो तिहि समाहितो वु जो अप्पा ।
ण कुणदि कि चि वि अण्णं ण सुयदि सो मोक्खमग्गे त्ति । १६१।

= जो आत्मा इन तीनों (सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र)
द्वारा, समाहित होता हुआ (अर्थात् निजात्मार्थे एकाग्र होता हुआ)
अन्य कुछ भी न करता है और न छोड़ता है (अर्थात् करने व
छोड़नेके विकल्पोंसे अतीत हो जाता है, वह आत्मा ही निश्चय
नयसे मोक्षमार्ग कहा गया है । (त. सा./६/३); (त. अनु./३१) ।

प. प्र./मू./२/१३ पेच्छइ जाणह् अणुचरइ अप्पि अप्पज जो जि । दंसणु
णाणु चरित्तु जिउ मोक्खह् कारणु सो जि । = जो आत्मा अपनेसे
आपको देखता है, जानता है, व आचरण करता है वही विवेकी
दर्शन, ज्ञान चारित्ररूप परिणत जीव मोक्षका कारण है । (न. च.
वृ./३२३), (नि. सा./ता. वृ./२), (प. प्र./टी./२/१४/१२२/१३),
(प. का./ता. वृ./१६१/२३३/८); (द्र. सं./टी./३६/१६२/१०) ।

प. प्र./टी./२/३१/१५१/१ निश्चयेन वीतरागसदानन्दै करूपसुखसुधा-
रसास्वादपरिणतनिजशुद्धात्मतत्त्वसम्यग्श्रद्धानज्ञानानुचरणरूपस्याभेद-
रत्नत्रयस्य । = निश्चयसे वीतराग सुखरूप परिणत जो निज
शुद्धात्मतत्त्व उसीके सम्यक् श्रद्धान ज्ञान व अनुचरण रूप अभेदरत्न-
त्रयका स्वरूप है । (नि. सा./ता. वृ./२); (स. सा./ता. वृ./२/८/-
१०); (प. प्र./टी./५०/२०६/१५); (द्र. सं./टी./अधि २ की चूत्तिका/
८२/७) ।

४. निश्चय मोक्षमार्गका लक्षण शुद्धात्मानुभूति

यो. सा./यो./१६ अप्पादंसणु एवकु परु अण्णु ण कि पि वियाणि ।
मोक्खह् कारण जोइया णिच्छइ एहउ जाणि । १६। = हे योगिन् ।
एक परम आत्मदर्शन ही मोक्षका कारण है, अन्य कुछ भी मोक्षका
कारण नहीं । यह तू निश्चय समझ ।

न. च. वृ./३४२ की उस्थानिकार्थे उद्भूत-णिच्छयदो खलु मोक्खो
तस्स य हेउ हवेइ सम्भावो ।" (सम्भावणयचक/३७६) । निश्चयसे
मोक्षका हेतु स्वभाव है ।

प्र. सा./त. प्र./२४२ एकाग्रलक्षणश्रामण्यापरनामा मोक्षमार्ग एवाव-
गन्तव्यः । = एकाग्रता लक्षण श्रामण्य जिसका दूसरा नाम है, ऐसा
मोक्षमार्ग ही है, ऐसा समझना चाहिए ।

ज्ञा./१८/३२ अपारय कल्पनाजालं चिदानन्दमये स्वयम् । य स्वरूपे
लय प्रप्त स स्याद्वत्तत्रयास्पदम् । ३२। = जो मुनि कल्पनाके जाल-
को दूर करके अपने चैतन्य और आनन्दमय स्वरूपमे लयको प्राप्त
होता है, वही निश्चयरत्नत्रयका स्थान होता है ।

पं. का./ता. वृ./१५८/२२६/१२ तत स्थितं विशुद्धज्ञानदर्शनलक्षणे
जीवस्वभावे निश्चल्लावस्थानं मोक्षमार्ग इति । = अतः यह बात
सिद्ध होती है कि विशुद्ध ज्ञान दर्शन लक्षणवाले जीवस्वभावमे निश्चल
अवस्थान करना ही मोक्षमार्ग है ।

५. निश्चयमोक्षमार्गके अपरनाम

द्र. सं./टी./५६/२२५/१३ तदेव निश्चयमोक्षमार्गस्वरूपम् । तच्च पर्याय-
नामान्तरेण कि कि भण्यते तदभिधीयते । (इन नामोंका केवल
भाषानुवाद ही लिख दिया है संस्कृत नहीं)- इत्यादि समस्तरागादि-
विकल्पोपाधिरहितपरमाह्लादैकसुखलक्षणध्यानरूपस्य निश्चयमोक्ष-
मार्गस्य वाचकान्यान्यान्यपि पर्यायनामानि विज्ञेयानि भवन्ति
परमात्मतत्त्वविद्धिरिति । = वह (वीतराग परमानन्द सुखका
प्रतिभास) ही निश्चय मोक्षमार्गका स्वरूप है । उसको पर्याय-
न्तर शब्दों द्वारा क्या-क्या कहते हैं, सो बताते हैं । — १. शुद्धात्म-
स्वरूप, २. परमात्मस्वरूप, ३. परमहंसस्वरूप, ४. परमब्रह्मस्वरूप,
५. परमविष्णुस्वरूप, ६. परमनिजस्वरूप, ७. सिद्ध, ८. निरजन-
रूप, ९. निर्मलस्वरूप १०. स्वसवेदनज्ञान; ११. परमतत्त्वज्ञान,
१२. शुद्धात्मदर्शन, १३. परमावस्थास्वरूप, १४. परमात्मदर्शन,
१५. परम तत्त्वज्ञान, १६. शुद्धात्मज्ञान, १७. ध्येय स्वरूप शुद्ध-
पारिणामिक भाव, १८. ध्यानभावनारूप, १९. शुद्धचारित्र, २०.

अतरंग तत्त्व, २१. परमतत्त्व, २२. शुद्धात्मद्रव्य, २३. परमज्योति, २४. शुद्धात्मानुभूति, २५. आत्मद्रव्य, २६. आत्मप्रतीति, २७. आत्मसंविद्धि, २८. आत्मस्वरूपकी प्राप्ति, २९. नित्यपदार्थकी प्राप्ति, ३०. परमसमाधि, ३१. परमानन्द, ३२. निरयानन्द, ३३. स्वाभाविक आनन्द, ३४. सदानन्द, ३५. शुद्धात्मपठन, ३६. परम-स्वाध्याय, ३७. निश्चय मोक्षका उपाय, ३८. एकाग्रचिन्ता निरोध, ३९. परमज्ञान, ४०. शुद्धोपयोग, ४१. भूतार्थ, ४२. परमार्थ, ४३. पंचाचारस्वरूप, ४४. समयसार, ४५. निश्चय षडावश्यक स्वरूप, ४६. केवलज्ञानकी उत्पत्तिका कारण, ४७. समस्त कर्मोंके क्षयका कारण, ४८. निश्चय चार आराधना स्वरूप, ४९. परमारम-भावना रूप, ५०. सुखानुभूतिरूप परमकला, ५१. दिव्यकला, ५२. परम अद्वैत, ५३. परमधर्मध्यान, ५४. शुक्लध्यान, ५५. निर्विकल्पध्यान, ५६. निष्कलध्यान, ५७. परमस्वास्थ्य, ५८. परम-वीतरागता, ५९. परम समता, ६०. परम एकत्व, ६१. परम भेद-ज्ञान, ६२. परम समरसी भाव—इत्यादि समस्त रागादि विकल्पो-पाधि रहित परमाह्लादक सुखलक्षणवाले ध्यानस्वरूप ऐसे निश्चय मोक्षमार्गको कहनेवाले अन्य भी बहुतसे पर्यायनाम जान लेने चाहिए।

६. निश्चय व व्यवहार मोक्षमार्गके लक्षणोंका समन्वय

- प. प्र./मू./२/४० दंसणु पाणु चरित्तु तसु जो सपभाउ करेइ । एयरहँ एककु वि अरिथ णवि जिणवरु एउ भणेइ । ४०। — दर्शन ज्ञान चारित्र्य वास्तवमें उसीके होते है, जो समभाव करता है। अन्य किसीके इन तीनोंमें-से एक भी नहीं होता, इस प्रकार जिनेन्द्र देव कहते हैं।
- प्र. सा./त. प्र./२४० य खलु सकलपदार्थज्ञेयाकारकरन्वितविशदेक-ज्ञानाकारमात्मानं श्रद्धानोऽभवंश्चात्मन्येव नित्यनिश्चला वृत्ति-मिच्छन् . यमसाधनीकृतशरीरपात्र. ... समुपरतकायवाडमनो - व्यापारो भूत्वा चित्तवृत्ते. निष्पीड्य निष्पीड्य कषायचक्रमक्रमेण जोवं त्वाजयति खलु सकलपरद्रव्यशून्योऽपि विशुद्धदशिज्ञप्तिमात्र-स्वभावभूतावस्थापितात्मतत्त्वोपजातनित्यनिश्चलवृत्तितया साक्षात् संयत एव स्यात् । तस्यैव चागमज्ञानतत्त्वार्थश्रद्धानसंयतत्वयौग-पद्यात्मज्ञानयौगपथं सिद्धयति । — जो पुरुष सकल ज्ञेयाकारोंसे प्रतिबिम्बित विशद एक ज्ञानाकार रूप आत्माका श्रद्धान और अनुभव (ज्ञान) करता हुआ, आत्मामें ही नित्य निश्चल वृत्तिको (निश्चय चारित्र्यको) इच्छता हुआ, संयमके साधनीभूत शरीर-मात्रको पंच समिति आदि (व्यवहार चारित्र्य) के द्वारा तथा पंचेन्द्रियोंके निरोध द्वारा मनवचनकायके व्यापारको रोकता है। तथा ऐसा होकर चित्तवृत्तिमें-से कषायसमूहको अत्यन्त मर्दन कर-करके अक्रमसे मार डालता है, वह व्यक्ति वास्तवमें सकल परद्रव्यसे शून्य होनेपर भी विशुद्ध दर्शनज्ञानमात्र स्वभावरूपसे रहनेवाले आत्म तत्त्वमें नित्य निश्चय परिणति (अभेद रत्नत्रय) उत्पन्न होनेसे साक्षात् संयत ही है। और उसे ही आगमज्ञान, तत्त्वार्थश्रद्धान, संयतत्व (भेदरत्नत्रय) की युगपतताके साथ आत्मज्ञान (निश्चय मोक्षमार्ग) का युगपतता सिद्ध होती है।
- प्र. सा./त. प्र./२४२ ज्ञेयज्ञातृत्वतथाप्रतीतिलक्षणेन सम्यग्दर्शनपर्यायेण ज्ञेयज्ञातृत्वतथाप्रतीतिलक्षणेन ज्ञानपर्यायेण ज्ञेयज्ञातृक्रियान्तरनि-वृत्तिमूत्र्यमाणद्रष्टृज्ञातृत्ववृत्तिलक्षणेन चारित्र्यपर्यायेण च त्रिभिरपि यौगपथेन.. परिणतस्यात्मनो यदात्मनिष्ठत्वे सति संयतत्वं तत्पान-कवदनेकात्मकस्यैकस्यानुभूयमानतायामपि समस्तपरद्रव्यपरावृत्त-त्वादिभिव्यक्तैकाग्र्यलक्षणश्रामण्यापरनामामोक्षमार्ग एवावगन्तव्य । तस्य तु सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र्याणि मोक्षमार्ग इति भेदात्मकत्वात्प-

ययिप्रधानेन व्यवहारनयेनैकाग्र्यं मोक्षमार्ग इत्यभेदात्मकत्वाद्द्रव्य-प्रधानेन निश्चयनयेन विश्वस्यापि भेदाभेदात्मकत्वात्तुभयमिति प्रमाणेन प्रकृतिः । — ज्ञेयतत्त्व और ज्ञातृत्वकी (अर्थात् स्व व परकी) यथावस्थित प्रतीतिरूप तो सम्यग्दर्शन पर्याय, तथा उसी स्वपर तत्त्वकी यथावस्थित अनुभूति रूप ज्ञानपर्याय, तथा उसीकी क्रियान्तरसे निवृत्तिके द्वारा (अर्थात् ज्ञेयोंका आश्रय लेकर क्रम-पूर्वक जाननेकी निवृत्ति करके) एक दृष्टिज्ञातृत्व (निजात्मा) में परिणति रूप चारित्र्य पर्याय है। इन तीनों पर्यायोंरूप युगपत परि-णत आत्मके आत्मनिष्ठता होनेपर संयतत्व होता है। वह संयतत्व ही एकाग्र्यलक्षणवाला श्रामण्य या मोक्षमार्ग है। क्योंकि वहाँ पानकवत् अनेकात्मक एक (विशद ज्ञानाकार) का अनुभव होनेपर भी समस्त परद्रव्योंसे निवृत्ति होनेके कारण एकाग्र्यता अभिव्यक्त है। वह संयतत्व भेदात्मक है, इसलिए उसे ही पर्यायप्रधान व्यव-हारनयेसे 'सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र्य मोक्षमार्ग' है' ऐसा कहते हैं। वह अभेदात्मक भी है, इसलिए द्रव्यप्रधान निश्चयनयेसे 'एकाग्रता मोक्षमार्ग' है' ऐसा कहते हैं। समस्त ही पदार्थ भेदाभेदात्मक हैं, इसलिए उभयप्राही प्रमाणसे 'वे दोनों अर्थात् रत्नत्रय व एकाग्रता) मोक्षमार्ग है, ऐसा कहते हैं। (त. सा./१/२१)

प. प्रा./टी./१६६/१४ यथा द्राक्षाकपूर्वशीखण्डादिबहुद्रव्यैर्निष्पन्नमपि पानकमभेदविवक्षया कृत्वैकं भण्यते, तथा शुद्धात्मानुभूतिलक्षणैक-निश्चयसम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र्यैर्बहुभिः परिणतो अनेकोऽप्यारमात्व-भेदविवक्षया एकोऽपि भण्यत इति भावार्थः । — जिस प्रकार द्राक्षा कपूर व खाण्ड आदि बहुतसे द्रव्योंसे बना हुआ भी पानक अभेद विवक्षासे एक कहा जाता है, उसी प्रकार शुद्धात्मानुभूति लक्षणवाले निश्चय सम्यग्दर्शन ज्ञान व चारित्र्य इन तीनोंके द्वारा परिणत अनेक-रूप वाला भी आत्मा अभेद विवक्षासे एक भी कहा जाता है, ऐसा भावार्थ है।

प. ध./उ./७६६ सत्यं सदर्शनं ज्ञानं चारित्रान्तर्गतं मिथः । प्रयाणाम-विनाभावानादिवं त्रयमखण्डितं । ७६६। — सम्यग्दर्शन और सम्य-ग्ज्ञान चारित्र्यमें अन्तर्भूत हो जाते हैं, क्योंकि तीनों अविनाभावी हैं। इसलिए ये तीनों अखण्डित रूपसे एक ही हैं।

७. अभेद मार्गमें भेद करनेका कारण

स. सा./मू./१७-१८ जह णामको वि पुरिसो रायाणं जाणिऊण सदहदि । तोत अणुचरदि पुणो अत्थत्थोओ पणत्तेण । १७। एवं हि जीवराया णादव्वो तह य सदहेदव्वो । अणुचरिदव्वो य पुणो सो चेव दु मोक्खकामेण । १८। — जैसे कोई धनका अर्थी पुरुष राजाको जान-कर श्रद्धा करता है, और फिर उसका प्रयत्नपूर्वक अनुचरण करता है, इसी प्रकार मोक्षके इच्छक पुरुषको जीवरूपी राजाको जानना चाहिए, और फिर इसी प्रकार उसका श्रद्धान करना चाहिए, और तत्पश्चात् उसीका अनुचरण करना चाहिए और अनुभव द्वारा उसमें लय हो जाना चाहिए।

३. दर्शन ज्ञान चारित्र्यमें कथंचित् एकत्व

१. तीनों वास्तवमें एक आत्मा ही है

स. सा./मू./७,१६,२७ ववहारेणुवदिस्सइ णाणिस्स चरित्तद सणं णाणं । णवि णाणं ण चरित्तं ण दंसणं जाणगो सुद्धा । ७। दसणणाणचरित्ताणि सेविदव्वाणि साहुणा णिच्चं । ताणि पुण जाण तिण्णिवि अप्पाणं चेव णिच्छयदो । १६। आदा खु मज्ज णाणं आदा मे दंसणं चरित्तं च । आदा पच्चक्खाण आदा मे संवरो जाणो । २७। — ज्ञानीके चारित्र्य, दर्शन, व ज्ञान ये तीन भाव व्यवहारसे कहे जाते हैं, निश्चयसे ज्ञान भी नहीं है, चारित्र्य भी नहीं है और दर्शन भी नहीं

है, अर्थात् ये कोई तीन पृथक्-पृथक् स्वतन्त्र पदार्थ नहीं है। ज्ञानी तो एक शुद्ध ज्ञायक ही है। (ग. न. च. वृ. /२६३)। साधु पुरुषको दर्शन ज्ञान और चारित्र्य सदा सेवन करने योग्य है और उन तीनोंको निश्चय नयसे एक आत्मा ही जानो। (मो. प्र. /१०५), (ति. प. /६/२३); (द्र. स. /मू. /३६)। निश्चयसे मेरा आत्मा ही ज्ञान है, मेरा आत्मा ही दर्शन है, और चारित्र्य है, मेरा आत्मा ही प्रत्याख्यान है, मेरा आत्मा ही सबर और योग है। (२७७)

पं. का. /मू. /१६२ जो चरदि गादि पेच्छदि अप्पाणं अप्पणा अण्णमय। सो चारित्त णाणं दसणमिदि णिच्छिदो होदि। = जो आत्मा अनन्यमय आत्माको आत्मासे आचरता है, जानता है, देखता है, वह (आत्मा ही) चारित्र्य है, ज्ञान है, और दर्शन है, ऐसा निश्चित है। (त अनु. /३२)।

द. पा. /मू. /२० जीवादी सद्वहणं सम्मत्तं जिणवरेहि। पण्णत्तं ववहारा णिच्छयदो अप्पाणं हवइ सम्मत्तं। २०। = जीव आदि पदार्थोंका श्रद्धान करना जिनेन्द्र भगवान्से व्यवहारसे सम्यक्त्व कहा है, निश्चयसे आत्मा ही सम्यग्दर्शन है। (प. प्र. /मू. /१/६६)।

यो. सा. /अ. /१/४१-४२ आचारवेदन ज्ञानं सम्यक्त्वं तत्त्वरोचनं। चारित्र्यं च तपश्चर्या व्यवहारेण म्मत्ते। ४१। सम्यक्त्वज्ञानचारित्र्य-स्वभाव परमार्थतः। आत्मा रागविनिर्मुक्ता मुक्तिमार्गी विनिर्मलः। ४२। = व्यवहारनयसे आचारोंका जानना ज्ञान, तत्त्वोंमें रुचि रखना सम्यक्त्व और तपोंका आचरण करना सम्यक्चारित्र्य है। ४१। परन्तु निश्चयसे तो, जो आत्मा रागद्वेष रहित होनेके कारण स्वयं सम्यग्दर्शन, ज्ञान व चारित्र्य स्वभावस्वरूप है वही निर्दोष मोक्षमार्ग है। ४२।

६. तीनोंको एक आत्मा कहनेका कारण

स. सा. /आ. /१२/क ६ एकत्वे नियतस्य शुद्धनयतो व्याप्त्युर्ध्वस्यात्मनः, पूर्णज्ञानधनस्य दर्शनमिह द्रव्यान्तरेभ्यः पृथक्। सम्यग्दर्शनमेतदेव नियमादात्मा च तावानयं तन्मुक्त्वा नवतत्त्वसंततिमिमांसात्माय-मेकोऽस्तु न। ६। = इस आत्माको अन्य द्रव्योंसे पृथक् देखना ही नियमसे सम्यग्दर्शन है, यह आत्मा अपने गुण पर्यायोंमें व्याप्त रहने-वाला है और शुद्धनयसे एकत्वमें निश्चित किया गया है तथा पूर्ण ज्ञानधन है। एवं जितना सम्यग्दर्शन है उतना ही आत्मा है, इस-लिए आचार्य प्रार्थना करते हैं, कि इस नव तत्त्वकी परिपाटीको छोड़कर, यह आत्मा ही हमें प्राप्त हो।

द्र. /सं. /मू. /४० रयणस्यं ण वट्ठं अप्पाण मइत्तु अण्णइवियमिह। तम्हा तत्तियमइउ होदि हु मुक्खस्स कारणं आदा। = आत्माको छोड़कर अन्य द्रव्योंमें रत्नत्रय नहीं रहता, इस कारण उस रत्नत्रयमय आत्मा ही निश्चयसे मोक्षका कारण है।

पं. वि. /४/१४, १५ दर्शनं निश्चयं पुंसि बोधस्तद्वोध इध्यते। स्थितिरत्रैव चारित्र्यमिति योगः शिवाश्रयः। १४। एकमेव हि चैतन्यं शुद्ध-निश्चयतोऽथवा। कोऽवकाशो विकल्पाना तत्राखण्डैकवस्तुनि। १५। = आत्मस्वरूपके निश्चयको सम्यग्दर्शन, उसके ज्ञानको सम्यग्ज्ञान, तथा उसी आत्मामे स्थिर होनेको सम्यक्चारित्र्य कहा जाता है। इन तीनोंका संयोग मोक्षका कारण होता है। १४। परन्तु शुद्ध निश्चयकी अपेक्षासे ये तीनों एक चैतन्य स्वरूप ही हैं, कारण उस एक अखण्ड वस्तुमें भेदोंके लिए स्थान ही कहाँ है। १५।

३. ज्ञानमात्र ही मोक्षमार्ग है

बो. पा. /मू. /२० सजम संजुत्तस्स य सुज्झाण जीयस्स मोक्खमग्गस्स। णाणेण लहदि लक्ख तम्हा णाण च णायव्व। = संयमसे संयुक्त तथा ध्यानके योग्य मोक्षमार्गका लक्ष्य क्योंकि ज्ञानसे प्राप्त होता है, इस-लिए इसको जानना चाहिए है।

स. सा. /आ. /११५ मोक्षहेतुः किल सम्यग्दर्शनज्ञानचारिणाणि। तत्र सम्यग्दर्शनं तु जीवादिश्रद्धानस्वभावेन ज्ञानस्य भवनम्। जीवादि-ज्ञानस्वभावेन ज्ञानस्य भवनं ज्ञानम्। रागादिपरिहरणस्वभावेन ज्ञानस्य भवनम् चारित्र्यम्। तदेवं सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र्याण्येकमेव ज्ञानस्य भवनमायातम्। ततो ज्ञानमेव परमार्थमोक्षहेतुः। = मोक्षका कारण वास्तवमे सम्यग्दर्शनज्ञान चारित्र्य है, उसमे जीवादि-पदार्थोंके श्रद्धान स्वभावस्वरूप ज्ञानका परिणमन करना सम्यग्दर्शन है, उन पदार्थोंके ज्ञानस्वभावस्वरूप ज्ञानका परिणमन करना सम्यग्ज्ञान है, और उस ज्ञानका ही रागादिके परिहारस्वभावस्वरूप परिणमन करना सम्यक्चारित्र्य है। इस प्रकार सम्यग्दर्शन, ज्ञान व चारित्र्य ये तीनों एक ज्ञानका ही परिणमन है। इसलिए ज्ञान ही परमार्थ मोक्षका कारण कारण है।

स. सा. /आ. /परि. /क २६५ के १३ चात्—आत्मवस्तुतो हि ज्ञानमात्रत्वे-प्युपायोपेयभावो विद्यते एव; तस्यैकस्यापि स्वयं साधकसिद्धरूपो-भयपरिणामित्वात्। तत्र यत्साधक रूपं स उपायः, यत्सिद्धं रूपं स उपेयः। अतोऽस्यात्मनोऽनादिमिथ्यादर्शनज्ञानचारित्र्यैः स्वरूप-प्रचयवनात्संसारतः सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र्यपाकप्रकर्षपरंपरया क्रमेण स्वरूपमारोप्यमाणस्यान्तर्भगननिश्चयसम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र्यविशेषतया साधकरूपेण तथा रत्नत्रयातिशयप्रवृत्तसकलकर्मक्षयप्रज्वलितस्ख-लितविमलस्वभावभावतया सिद्धरूपेण च स्वयं परिणममानज्ञानमात्र-मेकमेवोपायोपेयभावः साध्यति। = आत्मवस्तुको ज्ञानमात्र होनेपर भी उसे उपाय-उपेयभाव है ही। क्योंकि वह एक होनेपर भी स्वयं साधक रूपसे और सिद्धरूपसे दोनों प्रकारसे परिणमित होता है। (आत्मा परिणामी है और साधकत्व व सिद्धत्व उसके परिणाम है। तहाँ भी पूर्व पर्याययुक्त आत्मा साधक और उत्तरपर्याययुक्त आत्मा साध्य है।) उसमे जो साधकरूप है वह उपाय है और जो सिद्धरूप है वह उपेय है। इसलिए अनादिकालसे मिथ्यादर्शनज्ञानचारित्र्य द्वारा स्वरूपसे च्युत होनेके कारण संसारमे भ्रमण करते हुए, व्यवहार सम्यग्दर्शन ज्ञानचारित्र्यके पाकके प्रकर्षकी परम्परासे क्रमशः स्वरूपमें आरोहण करता है। तदनन्तर अन्तर्भगन जो निश्चय सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र्य उनकी तद्वृत्ताके द्वारा स्वयं साधक रूपसे परिणमित होता है। और अन्तमे रत्नत्रयकी अतिशयतासे प्रवृत्त जो सकल कर्मके क्षयसे प्रज्वलित अस्खलित विमल स्वभाव, उस भावके द्वारा स्वयं सिद्ध रूपसे परिणमित होता है। ऐसा एक ही ज्ञानमात्र उपाय-उपेयभावको सिद्ध करता है।

४. तीनोंके भेद व अभेदका समन्वय

त. सा. /६/२१ स्यात् सम्यक्त्वज्ञानचारित्र्यरूपः, पर्यायार्थदेशतो मुक्तिमार्गः। एको ज्ञाता सर्वदैवाद्वितीयः, स्याद् द्रव्यार्थदेशतो मुक्तिमार्गः। २१। = सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यग्चारित्र्य इन तीनोंमें भेद करना सो पर्यायाधिक नयकी अपेक्षासे मोक्षमार्ग है। इन सर्व पर्यायोंमें ज्ञाता जीव एक ही रहता है। पर्याय तथा जीवमें कोई भेद न देखते हुए रत्नत्रयसे आत्माको अभिन्न देखना, सो द्रव्यार्थिकनयकी अपेक्षासे मोक्षमार्ग है।

५. ज्ञान कहनेसे यहाँ पारिणामिक भाव इष्ट है

न च. वृ. /३७३ सद्भाणणाचरणं जाव ण जीवस्स परमसम्भावो। ता अण्णाणी मूढो ससारमहोवहि भमइ। = जबतक जीवको निज परम स्वभाव (पारिणामिकभाव) में श्रद्धान ज्ञान व आचरण नहीं होता तबतक वह अज्ञानी व मूढ़ रहता हुआ संसार महासागरमें भ्रमण करता है।

स. सा. /आ. २०४ यदेत्तु ज्ञान नामैक पदं स एष परमार्थः साक्षान्मो-क्षोपायः। न चाभिनिबोधिकादयो भेदा इदमेकं पदमिह भिन्वन्ति,

किंतु तेऽपीदमेवैकं पदमभिनन्दन्ति । = यह ज्ञान नामका एक पद परमार्थस्वरूप साक्षात् मोक्षका उपाय है। यहाँ मतिज्ञानादि (ज्ञानके) भेद इस एक पदको नहीं भेदते, किन्तु वे भी इस एक पदका अभिनन्दन करते हैं।

नि. सा./ता. वृ./४१ पञ्चानां भावानां मध्ये क्षायिकभावः...सिद्धस्य भवति । औदयिकौपशमिककक्षायोपशमिकभावाः संसारिणामेव भवन्ति न मुक्तानाम् । पूर्वोक्तभावचतुष्टयं सावरणसंयुक्तत्वात् न मुक्तिकारणम् । त्रिकालनिरूपधाधिस्वरूप पञ्चमभावभावनाया पञ्चम-गतिं मुमुक्षुको यान्ति ग्राह्यन्ति गताश्चेति । = पाँच भावोंमेंसे क्षायिक भाव सिद्धोको होता है और औदयिक औपशमिक व क्षायोपशमिक भाव संसारियोंको होते हैं, मुक्तोंको नहीं। ये पूर्वोक्त चार भाव आवरण सहित होनेसे मुक्तिके कारण नहीं हैं। त्रिकाल-निरूपधाधि-स्वरूप पंचमभाव (पारिणामिकभाव) की भावनासे ही मुमुक्षु जन पंचम गतिको प्राप्त करते हैं, करेंगे, और किया है।

६. दर्शनादि तीनों-चैतन्यकी ही दर्शन ज्ञानरूप सामान्य विशेष परिणति है

पं. का./मू./१५४, १५६ जीवसहायं णाणं अप्पडिहददंसणं अप्पणाणमयं । चरियं च तेषु णियदं अत्थित्तमण्णियं भणियं ११५४। चरियं चरदि सगं सो जो परदव्वप्पभावरहिदप्पा । दसणणाणवियप्पं अवियप्पं चरदि अप्पादो ११५६। = जीवका स्वभाव ज्ञान और अप्रतिहत दर्शन है, जो कि अनन्यमय है। उन ज्ञान व दर्शनमें नियत अस्तित्व जो कि अनिन्दित है, उसे चारित्र कहा है। ११५४। जो परद्रव्यात्मक भावों-से रहित स्वरूपवाला वर्तता हुआ दर्शन ज्ञानरूप भेदकी आत्मासे अभेदरूप आचरता है वह स्वचारित्रको आचरता है। ११५६।

रा. वा./१/१/६२/१६/१६ ज्ञानदर्शनयोरेन विधिना अनादिपारिणा-मिकचैतन्यजीवद्रव्याथदिशात् स्यादेकत्वम्, यतो द्रव्याथदिशाद् यथा ज्ञानपर्याय आत्मद्रव्यं तथा दर्शनमपि । तयोरेव प्रतिनियत-ज्ञानदर्शनपर्यायार्थार्पणात् स्यादन्यत्वम्, यस्मादन्यो ज्ञानपर्यायो-ऽन्यश्च दर्शनपर्यायः । = (ज्ञान, दर्शन चारित्रके प्रकरणमें) ज्ञान और दर्शनमें, अनादि पारिणामिक चैतन्यमय जीवद्रव्यकी विवक्षा होनेपर अभेद है, क्योंकि वही आत्मद्रव्य ज्ञानरूप होता है और वही दर्शनरूप। जब हम उन उन पर्यायोंकी विवक्षा करते हैं तब ज्ञान-पर्याय भिन्न है और दर्शन पर्याय भिन्न है।

पं. का./त. प्र./१५४ जीवस्वभावनियतं चरितं मोक्षमार्गः । जीवस्वभावो हि ज्ञानदर्शने अनन्यमयत्वात् । अनन्यमयत्वं च तयोर्विशेषसामान्य-चैतन्यस्वभावजीवनिर्बृत्तत्वात् । अथ तज्जीवस्वरूपभूतयोर्ज्ञानदर्शनयोर्भिन्नयतमवस्थितमुत्पादव्ययधौव्यरूपवृत्तिमयमस्तित्वं रागादि-परिणत्यभावादिनिन्दितं तच्चरितं । तदेव मोक्षमार्ग इति । = जीव-स्वभाव नियत चारित्र मोक्षमार्ग है, जीवस्वभाव वास्तवमें ज्ञान दर्शन है, क्योंकि वे अनन्यमय हैं। और उसका भी कारण यह है कि विशेष चैतन्य (ज्ञान) और सामान्य चैतन्य (दर्शन) जिसका स्वभाव है ऐसे जीवसे वे निष्पन्न हैं। अब जीवके स्वरूपभूत ऐसे उन ज्ञान दर्शनमें नियत अर्थात् अवस्थित ऐसा जो उत्पादव्ययधौव्यरूप वृत्तिमय अस्तित्व, जो कि रागादि परिणामके अभावके कारण अनिन्दित है, वह चारित्र है। वही मोक्षमार्ग है।

(दे. सम्यग्दर्शन/१/१); (सम्यग्दर्शनमें दर्शन शब्दका अर्थ कथंचित सत्तावलोकन रूप दर्शन भी ग्रहण किया गया है, जो कि चैतन्यकी सामान्य शक्ति है)।

४. निश्चय व व्यवहारका कथंचित् मुख्यता गौणता तथा समन्वय

१. निश्चयमार्गकी कथंचित् प्रधानता

स. सा./आ./१२३ ज्ञानमेव मोक्षहेतुः, तदभावः स्वयमज्ञानभूतानाम-ज्ञानिनाः शुभकर्मसद्भावेऽपि मोक्षाभावात् । अज्ञानमेव बन्धहेतुः, तदभावः स्वयं ज्ञानभूतानां ज्ञानिनां शुभकर्मसद्भावेऽपि मोक्ष-सद्भावात् । = ज्ञान ही मोक्षका हेतु है, क्योंकि, ज्ञानके अभावमें स्वयं ही अज्ञानरूप होनेवाले अज्ञानियोंके अन्तर्गमें व्रत नियम आदि शुभ कर्मोंका सद्भाव होनेपर भी मोक्षका अभाव है। अज्ञान ही बन्धका कारण है, क्योंकि, उसके अभावमें स्वयं ही ज्ञानरूप होनेवाले ज्ञानियोंके बाह्य व्रतादि शुभकर्मोंका असद्भाव होनेपर भी मोक्षका सद्भाव है। (स. सा./आ./१५१, १५२)।

प्र. सा./त. प्र./२२२ आगमज्ञानतत्त्वार्थश्रद्धानसंयतत्वयौगपद्येऽप्यात्मज्ञान-मेव मोक्षमार्गसाधकतममनुमन्तव्यम् । = आगमज्ञान, तत्त्वार्थश्रद्धान और संयतत्वकी युगपत्ता होनेपर भी आत्मज्ञानको ही मोक्षमार्गका साधकतम सम्मत करना।

नि. सा./ता. वृ./२ 'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः' इति वच-नात्, मार्गस्तावच्छुद्धरत्नत्रयं...। = 'सम्यग्दर्शन ज्ञान और चारित्र मोक्षमार्ग है' ऐसा वचन होनेसे मार्ग तो शुद्ध रत्नत्रय है।

२. निश्चय ही एक मार्ग है अन्य नहीं

प्र. सा./मू. वृ. प्र./१६६ एवं जिणा जिणिंदा सिद्धा मगं स मुट्ठि समणा । जादा णमोत्थु तेसि तस्स य णिव्वाणमग्गस्स ११६६। यतः सर्व एव सामान्यचरमशरीरास्तीर्थकरा अचरमशरीरमुमुक्षुक्षामुनैव यथोदितेन शुद्धात्मप्रवृत्तिलक्षणेन विधिना प्रवृत्तमोक्षस्य मार्गमधिगम्य सिद्धा बभूवुः न पुनरन्यथा । ततोऽवधार्यते केवलमयमेक एव मोक्षस्य मार्गो न द्वितीय इति । = जिनेन्द्र और श्रमण अर्थात् तीर्थकर और अन्य सामान्य मुनि इस पूर्वोक्त प्रकारसे मार्गमें आरूढ होते हुए सिद्ध हुए हैं। नमस्कार हो उन्हें और उस निर्वाण मार्गको। सभी सामान्य चरमशरीर, तीर्थकर, और अचरमशरीरी मुमुक्षु इसी यथोक्त शुद्धात्म तत्त्ववृत्तिलक्षण विधिसे प्रवर्तमान मोक्षमार्गको प्राप्त करके सिद्ध हुए हैं, किन्तु ऐसा नहीं है कि किसी दूसरी विधिसे भी सिद्ध हुए हों। इससे निश्चित होता है कि केवल यह एक ही मोक्षका मार्ग है, दूसरा नहीं। (प्र. सा./मू. वृ. प्र./५२)।

स. सा./आ./४१२/क. २४० एको मोक्षपन्थो य एष नियतो दृग्ज्ञप्ति-वृत्त्यारमकस्तत्रैव स्थितिमेति अन्तमनिशं ध्यायेच्च तं चेतति । तस्मिन्नेव निरन्तरं विहरति द्रव्यान्तराण्यस्पृशत्, सोऽवश्यं समय-स्य सारमचिरान्निर्त्योदयं विन्दति १२४०। = दर्शन-ज्ञान-चारित्रस्वरूप जो यह एक नियत मोक्षमार्ग है, उसीमें जो पुरुष स्थिति प्राप्त करता है, उसीका निरन्तर ध्यान करता है, उसीका अनुभव करता है, और अन्य द्रव्योंको स्पर्श न करता हुआ उसीमें निरन्तर विहार करता है, वह पुरुष नित्य-उदित-समयसारको अप्पकाल में ही अवश्य प्राप्त करता है, अर्थात् उसका अनुभव करता है।

यो. सा./अ./८/८८ एक एव सदा तेषां पन्थाः सम्यक्त्वपरायिणाम् । व्यक्तीनामिव सामान्यं दशाभेदोऽपि जायते ८८। = जिस प्रकार व्यक्ति सामान्य रूपसे एक होता हुआ भी अवस्था भेदसे ब्राह्मण क्षत्रिय आदि कहलाता है, उसी प्रकार मोक्षमार्ग एक होते हुए भी अवस्थाभेदसे औपशमिक क्षायिक आदि कहलाता है।

नि. सा./ता. वृ./१८/क ३४ असाति सति विभावे तस्य चिन्तास्ति नो नः, सततमनुभवात् शुद्धमात्मानमेकम् । हृदयकमलसंस्थं सर्वकर्मप्र-युक्तं, न खलु न खलु मुक्तिर्नान्यथास्त्यस्ति तस्मात् १३४। = विभा

हो अथवा न हो उसकी हमें चिन्ता नहीं है। हम तो हृदयकमलमें स्थित सर्व कर्मोंसे विमुक्त, एक शुद्धात्माका ही अनुभवन करते हैं। क्योंकि अन्य किसी प्रकारसे मुक्ति नहीं है, नहीं है।

३. केवल उसका प्ररूपण ही अनेक प्रकारसे किया जाता है

प्र. सा./त. प्र./२४२/क १६ इत्येवं प्रतिपत्सुराशयवशादेकोऽप्यनेकी-भ्रंस्त्रैलक्ष्ण्यमेकतामुपगती मार्गोऽपवर्गस्य यः। दृष्ट्वात्तुनिबद्ध-वृत्तिमचलं लोकस्तमास्कन्दतामास्कन्दस्वचिराद्विकाशमचलं येनो-क्षसन्त्यारिचतेः। १६। = इस प्रकार प्रतिपादकके वश, एक होनेपर भी अनेक होता हुआ, एकलक्षणताको तथा त्रिलक्षणताको प्राप्त जो मोक्षका मार्ग है, उसे लोक द्रष्टा ज्ञातामें परिणति बाँधकर, अचल-रूपसे अबलम्बन करे, जिससे कि वह उल्लसित चेतनाके अतुल्य विश्वासको अल्पकालमें प्राप्त हो।

मो. मा. प्र./१७/२६५/२० सो मोक्षमार्ग दोय नाहौं। मोक्षमार्गका निरूपण दोय प्रकारका है। ... एक निश्चय मोक्षमार्ग और एक व्यवहार मोक्षमार्ग है, ऐसै दोय मोक्षमार्ग मानना मिथ्या है। (द. पा./पं. जयचन्द्र/२)।

४. व्यवहारमार्गकी कथंचित् गौणता

न. च. वृ./३७६ भेदुवयारे जइया वटुदि सो वि य सुहासुहाधीणो। तइया कत्ता भणियो संसारी तेण सो आदा। ३७६। = अभेद रत्नत्रयरूप मोक्षमार्गके भेद व उपचारमें जोब जब तक वर्तता है तब तक वह शुभ व अशुभके आधीन रहता हुआ 'कर्ता' कहलाता है। इसलिए वह आत्मा संसारी है।

स. सा./आ./२७६-२७७ आचारार्थि शब्दश्रुतं ज्ञानस्याभयस्वाज्ज्ञानं, जीवाद्यो नवपदार्थी दर्शनस्याभयस्वादर्शनं, षड्जीवनिकायश्चारि-त्रस्याभयस्वाचारित्रमिति व्यवहारः। शुद्धात्मा ज्ञानाभयस्वा-ज्ज्ञानं, शुद्धात्मा दर्शनाभयस्वादर्शनं, शुद्धात्मा चारित्राभयस्वा-चारित्रमिति निश्चयः। तत्राचारादीनां ज्ञानाद्यस्याभयस्वस्याने-कान्तिकत्वाद्भव्यहारनयः प्रतिषेधः। निश्चयनयस्तु शुद्धधर्या-त्मनो ज्ञानाद्याभयस्वैकान्तिकत्वात्प्रतिषेधकः। तथा हि नाचा-रादिशब्दश्रुतमेकान्तेन ज्ञानस्याभयः... शुद्धामैव ज्ञानस्याभयः...। = आचारांगदि शब्द श्रुतज्ञानका आश्रय होनेसे ज्ञान है, जीवादि नवपदार्थ दर्शनका आश्रय होनेसे दर्शन है, और छह जीवनिकाय चारित्रका आश्रय होनेसे चारित्र है, इस प्रकार ती व्यवहार मार्ग है। शुद्धात्मा ही ज्ञानका, दर्शनका व चारित्रका आश्रय होनेसे ज्ञान दर्शन व चारित्र है, इस प्रकार निश्चयमार्ग है। तहाँ आचारांगदिको ज्ञानादिका आश्रयपना व्यभिचारी होनेसे व्यवहारमार्ग निषेध है, और शुद्धात्माको ज्ञानादिका आश्रयपना निश्चित होनेसे निश्चयमार्ग उसका निषेधक है। वह इस प्रकार कि आचारांगदि एकान्तसे ज्ञानादिके आश्रय नहीं है और शुद्धात्मा एकान्तसे ज्ञानका आश्रय है। (क्योंकि आचा-रांगदिके सद्भावमें भी अभव्यको ज्ञानादिका अभाव है और उनके सद्भाव अथवा असद्भावमें भी सम्यग्दृष्टिको ज्ञानादिका सद्भाव है)।

नि. सा./ता. वृ./६१/क १२२ स्वक्त्वा विभावमखिलं व्यवहारमार्ग-रत्नत्रयं च मतिमान्निजतत्त्ववेदी। शुद्धात्मतत्त्वनिधत्तं निजबोध-मेकं, भ्रद्धानमन्यदपरं चरणं प्रपेदे। १२२। = समस्त विभावको तथा व्यवहारमार्गके रत्नत्रयको छोड़कर निजतत्त्ववेदी मतिमान पुरुष शुद्धात्मतत्त्वमें निधत्त, ऐसा जो एक निजज्ञान भ्रद्धान व चारित्र, उसका आश्रय करता है।

५. व्यवहारमार्ग निश्चयका साधन है

प. प्र./मू./२/१४ जं बोक्लइ ववहारु-णउ दंसणु णाणु चरित्तु। तं परि-याणहि जीव तुहूँ जं परु होइ पवित्तु। १४। = हे जीव ! व्यवहार-नय जो दर्शन ज्ञान चारित्र इन तीन रूप रत्नत्रयको कहता है, उसको तू जान। जिससे कि तू पवित्र हो जावे।

आराधना सार /७/३० जीवोऽप्रविश्य व्यवहारमार्गं न निश्चयं ज्ञातुमपे-ति शक्तिम्। प्रभाविकाशो क्षणमन्तरेण भानुदयं को बदते शिवेकी। = व्यवहारमार्गमें प्रवेश किये बिना जीव निश्चयमार्गको जाननेमें समर्थ नहीं हो सकता। जैसे कि प्रभात हुए बिना सूर्यका उदय नहीं हो सकता।

त. सा./६/२ निश्चयव्यवहाराम्भ्यां मोक्षमार्गो द्विधा स्थितः। तत्रायः साध्यरूपः स्याद् द्वितीयस्त्वस्य साधनम्। = निश्चय व्यवहारके भेदसे मोक्षमार्ग दो प्रकार है। तहाँ निश्चयमार्ग तो साध्यरूप है और व्यवहारमार्ग उसका साधन है। (न. च. वृ./३४१ में उद्धृत गाथा नं. २); (त. अट्ट./२८); (प. प्र./टो./२/१२/१२६/५; २/१४/१२६/१)।

पं. का./त. प्र./१५६ न चैतद्विप्रतिषिद्धं निश्चयव्यवहारयोः साध्य-साधनभावत्वात्सुवर्णसुवर्णपाषाणवत्। = (निश्चय द्वारा अभिन्न साध्यसाधनभावसे तथा व्यवहार द्वारा भिन्न साध्यसाधन भावसे जो मोक्षमार्गका दो प्रकार प्ररूपण किया गया है) इनमें परस्पर विरोध आता हो ऐसा नहीं है, क्योंकि सुवर्ण और सुवर्णपाषाणवत् निश्चय व व्यवहारको साध्यसाधनपना है (अर्थात् जैसे सुवर्णपाषाण अग्निके संयोगसे शुद्ध सुवर्ण बन जाता है, वैसे ही जीव व्यवहारमार्गके संयोगसे निश्चयमार्गको प्राप्त हो जाता है। (वे० पं. का./ता. वृ./१६०/२३२/१४); (प्र. सं./टो./३६/१६२/११)।

अन. ध./१/६२/१०१ उद्योतोद्यवनिर्वाहसिद्धिनिस्तरणैर्भजनम्। भव्यो मुक्तिपथं भाक्तं साध्यय्येव वास्तवम्। १२। उद्योत, उद्यव, निर्वाह, सिद्धि और निस्तरण इन उपायोंके द्वारा भेदरत्नत्रयरूप व्यवहार मोक्षमार्गका आराधक भव्य पुरुष वास्तविक मोक्षमार्गको निश्चयसे प्राप्त करता है।

पं. का./ता. वृ./१०५/१६७ निश्चयमोक्षमार्गस्य परंपरया कारणभूत-व्यवहारमोक्षमार्गम्। = व्यवहार मोक्षमार्ग निश्चयमोक्षमार्गका पर-म्परा कारण है।

प. प्र./टो./२/१४/१२८/१० हे जीव ! ... निश्चयमोक्षमार्गसाधकं व्यव-हारमोक्षमार्गं जानीहि। त्वं येन ज्ञातेन कथंभूतो भविष्यसि। परम्परया पवित्रः परमात्मा भविष्यसि। = हे जीव ! तू निश्चयमोक्ष-मार्गके साधक व्यवहारमोक्षमार्गको जान। उसको जाननेसे तू पर-म्परामें जाकर परमात्मा हो जायेगा।

६. दोनोंके साध्य-साधन भावकी सिद्धि

न. च./श्रुत/पृ. ६५ व्यवहारप्रसिद्धचैव निश्चयप्रसिद्धिर्नान्यथेति। सम्यग्द्रव्यागमप्रसाधिततत्त्वसेवया व्यवहाररत्नत्रयस्य सम्यग्रूपेण सिद्धत्वात्। = व्यवहारकी प्रसिद्धिके साथ निश्चयकी सिद्धि तत्-लायी गयी है, अन्य प्रकारसे नहीं, क्योंकि समीचीन द्रव्यागमके द्वारा समीचीन प्रकारसे सिद्ध कर लिये गये तत्त्वके सेवनेसे व्यवहार-रत्नत्रयकी समीचीन सिद्धि होती है।

प. प्र./टो./२/१४/१२६/१ अत्राह शिष्यः। निश्चयमोक्षमार्गो निर्वि-कल्पः तत्कारि सविकल्पमोक्षमार्गो नास्ति कथं साधको भविष्यतीति। अत्र परिहारमाह। भूतनेगमनयेन परम्परया भवतीति। अथवा सविकल्पनिर्विकल्पभेदेन निश्चयमोक्षमार्गो द्विधा, तत्रानन्तज्ञान-रूपोऽहमित्यादि सविकल्पसाधको भवति, निर्विकल्पसमाधिरूपो साध्यो भवतीति भावार्थः। सविकल्पनिर्विकल्पनिश्चयमोक्षमार्ग-

अनेन्द्र सिद्धान्त कोष

विषये संबन्धगतामाह—जं पुण सगयं तच्च' सवियप्पं होइ तह य अविद्यप्पं । सवियप्पं सासवयं निरासवं विगयसंकप्प । = प्रश्न— निश्चय मोक्षमार्ग निर्विकल्प है, उसके होते हुए सविकल्प (व्यवहार) मोक्षमार्ग नहीं होता। तब वह निश्चयका साधक कैसे हो सकता है। उत्तर—भूतनैगमनयकी अपेक्षा परम्परासे वह साधक हो जाता है। अथवा दूसरे प्रकारसे यों समझ लीजिए कि सविकल्प व निर्विकल्पके भेदसे दो प्रकारका मोक्षमार्ग है। तहाँ 'मै अमन्त ज्ञानस्वरूप हूँ' इत्यादि रूप सविकल्प मार्ग तो साधक होता है और निर्विकल्प समाधि रूप साध्य होता है, ऐसा भावार्थ है। (पं का./-ता वृ/१५६/२३०/१०)।

प. का./पं. हेमराज/१६१/२३३/१७—प्रश्न—जो आप हीसे निश्चय, मोक्षमार्ग होय तो व्यवहार साधन किस लिये कहौं ? उत्तर—यह आत्मा अनादि अविद्यासे युक्त है, जब काललब्धि पानेसे उसका नाश होय, उस समय व्यवहार मोक्षमार्गकी प्रवृत्ति होती है। (तब) अज्ञान रत्नत्रय (मिथ्यादर्शनादि) के नाशका उपाय.. सम्यक् रत्नत्रयके ग्रहण करनेका विचार होता है। इस विचारके होनेपर जो (अविद्या) अनादिका ग्रहण था, उसका तो त्याग होता है और जिस (सम्यग्दर्शन) का त्याग था, उसका ग्रहण होता है। तत्पश्चात् कभी आचरणमें दोष होय तो दंडशोधनादिक करि उसे दूर करते है, और जिस कालमें शुद्धात्म-तत्त्वका उदय होता है, तब ग्रहण त्यजनकी बुद्धि मिट जाती है..स्वरूप गुप्त होता है। 'तब यह जीव निश्चय मोक्षमार्गकी कहाता है। इस कारण ही निश्चय व्यवहार मोक्षमार्गको साध्य-साधन भावकी सिद्धि होती है।

मोक्षमार्ग प्रकाशक—०० टोडरमल (ई० १७६६) द्वारा रचित हिन्दी भाषाका अनुपम आध्यात्मिक ग्रन्थ है। यह ग्रन्थ अधूरा ही रह गया, क्योंकि, विद्वेषियोंकी चुगलीके कारण पंडितजीकी असमयमें ही अपना शरीर छोड़ना पडा। (ती /४/२६६)।

मोक्षशास्त्र—दे० तत्त्वार्थसूत्र ।

मोक्ष सप्तमीव्रत—७ वर्ष पर्यन्त प्रतिवर्ष श्रावण शु ७ को उपवास करे। 'ओं ह्रीं श्रीपार्वनाथाय नमः' इस मन्त्रका त्रिकाल जाप्य करे। (व्रत विधान संग्रह)।

मोद क्रिया - दे० संस्कार/२।

मोष मन—दे० मनोयोग।

मोष वचन—दे० वचन /१,२। (असत्य)।

मोह—

प. सा./पू./५५ अट्टे अजधागहणं करुणाभावो य तिरियमणुएसु । विसएसु च पसंगो मोहस्तेदाणि लिगणि । = पदार्थका अयथा ग्रहण (दर्शनमोह) ; और तिर्यच मनुष्योके प्रति कुरुणाभाव तथा विषयोंकी संगति (शुभ व अशुभ प्रवृत्तिरूप चारित्र मोह) ये सब मोहके चिह्न है।

प. सा./सू. व. त. प्र /२३ दब्बादिएसु मूढो भावो जीवस्स हवदि मोहोत्ति ।—द्रव्यगुणपर्यायिषु पूर्वमुपवर्जितेषु पीतोन्मत्तकस्यैव जीवस्य तत्त्वाप्रतिपत्तिलक्षणो मूढोभावः स खलु मोहः । = जीवके द्रव्यादि सम्बन्धी मूढभाव मोह है, अर्थात् धर्तुरा खाये हुए मनुष्यकी भाँति जीवके जो पूर्व वर्जित द्रव्य, गुण, पर्याय हैं, उनमें होनेवाला तत्त्व-अप्रतिपत्तिलक्षण वाला मूढभाव वास्तवमें मोह है। (स. सा / आ./५१) ; (द्र स./टी./४५/२०४/६)।

ध. १३/४,२,८,५/२८३/६ क्रोध-मान-माया-लोभ-हास्य-रत्यरति-शोक-भय-जुगुप्सा-स्त्रीपुंसववेद-मिथ्यात्वाना समूहो मोहः = क्रोध, मान, माया, लोभ हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसक-वेद और मिथ्यात्व इनके समूहका नाम मोह है।

ध. १४/५,६ १५/११/१० पंचविहमिच्छत्तं सम्मामिच्छत्तं सासणसम्मत्तं च मोहो । = पंच प्रकारका मिथ्यात्व, सन्न्यग्मिथ्यात्व, और सासादनसम्यक्त्व मोह कहलाता है।

पं. का./त. प्र./१३१ दर्शनमोहनीयविपाककलुषपरिणामता मोहः । = दर्शनमोहनीयके विपाकसे जो कलुषित परिणाम होता है, वह मोह है।

चा सा /६६/७ मोहो मिथ्यात्वत्रिवेदसहिता प्रेमहास्यादयः । = मिथ्यात्व, त्रिवेद, प्रेम, हास्य आदि मोह है।

प्र. सा./ता. वृ /७६/१२ शुद्धात्मभ्रजानरूपसम्यक्त्वस्य विनाशको दर्शनमोहाभिमानो मोह इत्युच्यते । = शुद्धात्मभ्रजानरूप सम्यक्त्वके विनाशक दर्शनमोहको मोह कहते है।

दे. व्यामोह—(पुत्र कलत्रादिके स्नेहको व्यामोह कहते है)।

२. मोहके भेद

न. च वृ /२६६,३१० असुह सुह चिय कम्मं दुविहं तं दब्बाभावभेयगयं । त पिय पडुच्च मोहं ससारो तेण जीवस्स ।२६६। कज्ज पडि जह पुरिसो इक्को वि अणेवकरुवमापण्णो । तह मोहो बहुभेओ गिहिट्ठो पच्चयादीहि ।३१०। = शुभ व अशुभके भेदसे अथवा द्रव्य व भावके भेदसे कर्म दो प्रकारका है। उसकी प्रतीतिसे मोह और मोहसे संसार होता है ।२६६। जिस प्रकार एक ही पुरुष कार्यके प्रति अनेक रूपको धारण कर लेता है, उसी प्रकार मिथ्यात्व अतिरति कषाय आदिरूप प्रत्ययोंके भेदसे मोह भी अनेक भेदरूप है ।३१०।

प्र सा./त. प्र /८३ मोहरागद्वेषभेदात्त्रिभूमिको मोहः । = मोह, राग व द्वेष, इन भेदोंके कारण मोह तीन प्रकारका है।

३. प्रशस्त व अप्रशस्त मोह निर्देश

नि. सा./ता. वृ /६ चातुर्वर्ण्यश्रमणसंघवात्सव्यगतो मोहः प्रशस्त इतरोऽप्रशस्त इति । = चार प्रकारके श्रमण संघके प्रति वात्सव्य सम्बन्धी मोह प्रशस्त है और उससे अतिरिक्त मोह अप्रशस्त है। (विशेष दे० उपयोग/११/४; योग/१)।

दे. राग/२ (मोह भाव (दर्शनमोह) अशुभ ही होता है।)

* अन्य सम्बन्धित विषय

१. मोह व विषय कषायादिमें अन्तरः। —दे० प्रत्यय/१।
२. कषायों आदिका राग व द्वेषमें अन्तर्भाव। —दे० कषाय/४।
३. मोह व रागादि टालनेका उपाय। —दे० राग/५।

मोहनीय—आठों कर्ममें मोहनीय ही सर्व प्रधान है, क्योंकि, जीवके संसारका यही मूलकारण है। यह दो प्रकारका है—दर्शन मोह व चारित्र मोह। दर्शनमोह सम्यक्त्वको और चारित्रमोह साम्यता रूप स्वाभाविक चारित्रको धातता है। इन दोनोंके उदयसे जीव मिथ्यादृष्टि व रागी द्वेषी हो जाता है। दर्शनमोहके ३ भेद हैं—मिथ्यात्व, सन्न्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्त्वप्रकृति। चारित्रमोहके दो भेद हैं—कषायवेदनीय और अकषाय वेदनीय। क्रोधादि चार कषाय है और हास्यादि ६ अकषाय है।

१	मोहनीय सामान्य निर्देश
१	मोहनीय कर्म सामान्यका लक्षण ।
२	मोहनीय कर्मके भेद ।
३	मोहनीयके लक्षण सम्बन्धी शंका ।
४	मोहनीय व ज्ञानावरणीय कर्मोंमें अन्तर ।
*	दर्शन व चारित्र्य मोहनीयमें कथंचित् जातिभेद । —दे० संक्रमण/१ ।
५	सर्व कर्मोंमें मोहनीयकी प्रधानता ।
*	मोह प्रकृतिमें दर्शों करणोंकी सम्भावना । —दे० करण/२ ।
*	मोह प्रकृतियोंकी बन्ध उदय स्वरूप प्ररूपणाएँ । —दे० बह बह नाम ।
*	मोहोदयकी उपेक्षा की जानी सम्भव है । —दे० विभाव/४/२ ।
*	मोहनीयका उपशमन विधान । —दे० उपशम ।
*	मोहनीयका अरण्य विधान । —दे० क्षय ।
*	मोह प्रकृतियोंके सत्कार्मिकों सम्बन्धी क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर, व अल्पबहुत्वन प्ररूपणाएँ । —दे० बह बह नाम ।
२	दर्शनमोहनीय निर्देश
१	दर्शनमोह सामान्यका लक्षण ।
२	दर्शनमोहनीयके भेद ।
३	दर्शनमोहकी तीनों प्रकृतियोंके लक्षण ।
४	तीनों प्रकृतियोंमें अन्तर ।
५	एक दर्शनमोहका तीन प्रकार निर्देश क्यों ।
*	मिथ्यात्व प्रकृतिका त्रिधाकरण । —दे० उपशम/२ ।
६	मिथ्यात्व प्रकृतिमेंसे मिथ्यात्वकरण कैसा ?
७	सम्यक् प्रकृतिको 'सम्यक्' व्यपदेश क्यों ?
८	सम्यक्त्व व मिथ्यात्व दोनोंकी युगपत् वृत्ति कैसे ?
*	सम्यक्त्व व मिथ्य प्रकृतिकी उद्वेलना सम्बन्धी । —दे० संक्रमण/४ ।
*	सम्यक्त्व प्रकृति देश धाती कैसे ।—दे० अनुभाग/४/६/३ ।
*	मिथ्यात्व व सम्यग्मिथ्यात्वमेंसे पहले मिथ्यात्वका क्षय होता है । —दे० क्षय/२ ।
*	मिथ्यात्वका क्षय करके सम्यग्मिथ्यात्वका क्षय करनेवाला जीव मृत्युको प्राप्ति नहीं होता । —दे० मरण/३ ।
९	दर्शनमोहनीयके बन्ध योग्य परिणाम ।
*	दर्शनमोहके उपशमादिके निमित्त । —दे० सम्यग्दर्शन/III/१ ।
३	चारित्र्यमोहनीय निर्देश
१	चारित्र्यमोहनीय सामान्यका लक्षण ।
२	चारित्र्यमोहनीयके भेद-प्रभेद ।

*	हास्यादिकी भोति करुणा अकरुणा आदि प्रकृतियोंका निवेश क्यों नहीं है । —दे० करुणा/२ ।
३	कषाय व अकषाय वेदनीयके लक्षण ।
*	कषाय व अकषाय वेदनीयमें कथंचित् समानता । —दे० संक्रमण/३ ।
*	अनन्तानुबन्धी आदि भेदों सम्बन्धी । —दे० बह बह नाम ।
*	क्रोध आदि प्रकृतियों सम्बन्धी ।—दे० कषाय ।
*	हास्य आदि प्रकृतियों सम्बन्धी ।—बह बह नाम ।
४	चारित्र्यमोहकी सामर्थ्य कषायोत्पादनमें है स्वरूपाचरणके विच्छेदमें नहीं ।
५	कषायवेदनीयके बन्धयोग्य परिणाम ।
६	अकषायवेदनीयके बन्ध योग्य परिणाम ।

१. मोहनीय सामान्य निर्देश

१. मोहनीय कर्म सामान्यका लक्षण

स. सि/५/४/३०/५ मोहयति मोहयतेऽनेति वा मोहनीयम् । = जो मोहित करता है या जिसके द्वारा मोहा जाता है वह मोहनीय कर्म है । (रा. वा/५/४/२/५६८/९), (घ ६/१,६-१,५/११/५,७), (घ, १३/५,६,१६/२०५/१०), (गो, क/जी, प्र./२०/१३/१५) ।

प्र. सं./टो./३३/६२/११ मोहनीयस्य का प्रकृतिः । मद्यपानवद्भेयोपादेयविचारविकलता । = मद्यपानके समान हेय-उपादेय ज्ञानकी रहितता, यह मोहनीयकर्मकी प्रकृति है । (और भी—दे० प्रकृति-बन्ध/३/१) ।

२. मोहनीयकर्मके भेद—१. दो. या २८ भेद :

घ. ख. ६/१,६-१/सू. १६-२०/३७ मोहणीयस्स कम्मस्स अट्ठावीस पयडीओ १९१। जं तं मोहणीयं कम्मं तं बुविहं, वंसणमोहणीयं चारित्तमोहणीयं चव १२०। = १. मोहनीय कर्मकी २८ प्रकृतियाँ हैं १९१। (घ. ख. १२/४,२,१४/सूत्र १०/४५२); (घ. ख. १३/५,६/सूत्र ६०/३५७); (म. व १/९ ५/२८/२); (विशेष दे० आगे दर्शन व चारित्र्यमोहकी उत्तर प्रकृतियों) । २. मोहनीयकर्म दो प्रकारका है—दर्शन मोहनीय और चारित्र्य मोहनीय । (घ. ख. १३/५,६/सूत्र ६१/३५७); (सू. आ/१२२६); (त. सू/५/६); (पं. सं/प्रा/२/४ व उसकी मूल व्याख्या); (गो, क/जी./प्र/२५/१७/६); (पं. घ./उ/६८६) ।

गो. क./जी. प्र./३३/२७/१८ दर्शनमोहनीयं चारित्र्यमोहनीयं कषायवेदनीयं नोकषायवेदनीय इति मोहनीयं चतुर्विधम् । = दर्शनमोहनीय, चारित्र्यमोहनीय, कषायवेदनीय और अकषाय वेदनीय, इस प्रकार मोहनीय कर्म चार प्रकारका है ।

२. असंख्यात भेद

घ. १२/४,२,१४.१०/४८२/६ पज्जवट्ठयणए पुण अवल विज्जमाणे मोहणीयस्स असंखेज्जलोगमेत्तीयो होति, असंखेज्जलोगमेत्तउदयट्ठणणहीणुववत्तीदो । = पर्यायार्थिक नयका अवलम्बन करनेपर तो मोहनीय कर्मकी असंख्यात लोकमात्र शक्तियाँ हैं, क्योंकि, अन्यथा उसके असंख्यातलोक मात्र उदयस्थान बन नहीं सकते ।

३. मोहनीयके लक्षण सम्बन्धी शंका

घ. ६/१.६-१.८/११/४ सुह्यत इति मोहनीयम् । एवं संते जीवस्स मोहणीयत्तं पसज्जदि त्ति णासंकापिज्जं, जीवादो अभिणम्मिह पोग्गलदव्वे कम्मसण्णिदे उवयारेण कत्तारत्तमारोविय तथा-उत्तोदो । अथवा मोहयतीति मोहनीयम् । एवं संते घत्तूर-सुरा-कलत्तादीण पि मोहणीयत्तं पसज्जदीदि चे ण, कम्मदव्वमोहणीये एत्थ अहियारादो । ण कम्माहियारे घत्तूर-सुरा-कलत्तादीणं संभवो अस्थि । = प्रश्न—'जिसके द्वारा मोहित होता है, वह मोहनीय कर्म है' इस प्रकारकी व्युत्पत्ति करने पर जीवके मोहनीयत्व प्राप्त होता है । उत्तर—ऐसी आशका नहीं करनी चाहिए, क्योंकि, जीवसे अभिन्न और 'कर्म' ऐसी सज्ञावाले पुद्गल द्रव्यमें उपचारसे कर्तृत्वका आरोपण करके उस प्रकारकी व्युत्पत्ति की गयी है । प्रश्न—अथवा 'जो मोहित करता है वह मोहनीय कर्म है', ऐसी व्युत्पत्ति करने पर घत्तूरा, मदिरा और भार्या आदिके भी मोहनीयता प्रसक्त होती है । उत्तर—नहीं, क्योंकि, यहाँ पर मोहनीय नामक द्रव्यकर्मका अधिकार है । अतएव कर्मके अधिकारमें घत्तूरा, मदिरा और स्त्री आदिकी सम्भावना नहीं है ।

४. मोहनीय व ज्ञानावरणी कर्मोंमें अन्तर

रा. वा. १/४-५/६८/१३ स्यादेतत्—सति मोहे हिताहितपरीक्षणा-भावात् ज्ञानावरणाद्विशेषो मोहस्येति; तन्न, कि कारणम् । अर्था-न्तरभावात् । याथात्म्यमर्थस्यावगम्यापि इदमेवेति सद्भूतार्था-श्रद्धानं यत् स मोहः । ज्ञानावरणेन ज्ञानं तथान्यथा वा न गृह्णाति । यथा भिन्नलक्षणाद्दर्शनात् क्रीजकारणान्यत्वं तथैवा-ज्ञानचारित्रमोहकार्यान्तरदर्शनात् ज्ञानावरणमोहनीयकारणभेदोऽव-सीयते । = प्रश्न—मोहके होनेपर भी हिताहितका विवेक नहीं होता, अतः मोहको ज्ञानावरणसे भिन्न नहीं कहना चाहिए । उत्तर—पदार्थका यथार्थ बोध करके भी 'यह ऐसा ही है' इस प्रकार सद्भूत अर्थका अश्रद्धान (दर्शन) मोह है, पर ज्ञानावरणसे ज्ञान तथा या अन्यथा ग्रहण ही नहीं करता, अतः दोनोंमें अन्तर है । (पं. घ / उ. / ६८-६९०) जैसे अकुररूप कार्यके भेदसे कारणभूत बीजोंमें भिन्नता है उसी तरह अज्ञान और चरित्रभू० इन दोनोंमें भिन्नता होनी ही चाहिए ।

५. सर्व कर्मोंमें मोहनीयकी प्रधानता

घ. १/१.१-१/४३/१ अशेषदु.खप्राप्तिनिमित्तत्वादरिमोहः । तथा च शेषकर्मव्यापारो वैफल्यमुपादेयादिति चेन्न, शेषकर्मणा मोहसन्त्र-त्वात् । न हि मोहमन्तरेण शेषकर्माणि स्वकार्यनिष्पत्तौ व्यापृतान्यु-पलभ्यन्ते येन तेषां स्वातन्त्र्यं जायेत । मोहे विनष्टेऽपि कियन्तमपि कालं शेषकर्मणा सत्त्वोपलम्भात् तेषां तत्तन्त्रत्वमिति चेन्न, विन-ष्टेऽरौ जन्ममरणप्रबन्धलक्षणसंसारोत्पादसामर्थ्यमन्तरेण तत्सत्त्वस्या-सत्त्वसमानत्वात् केवलज्ञानायशेषात्मगुणाविर्भावप्रतिबन्धनप्रत्यया-समर्थत्वाच्च । = समस्त दुःखोकी प्राप्तिका निमित्तकारण होनेसे मोहको 'अरि' अर्थात् शत्रु कहा है । प्रश्न—केवल मोहको ही अरि मान लेनेपर शेष कर्मोंका व्यापार निष्फल हो जाता है । उत्तर—ऐसा नहीं है, क्योंकि बाकीके समस्त कर्म मोहके ही अधीन है । मोह-विना शेष कर्म अपने-अपने कार्यकी उत्पत्तिसे व्यापार करते हुए नहीं पाये जाते हैं, जिससे कि वे स्वतन्त्र समझे जायें । इसलिए सच्चा अरि मोह ही है और शेष कर्म उसके अधीन है । प्रश्न—मोहके नष्ट हो जानेपर भी कितने ही काल तक शेष कर्मोंकी सत्ता रहती है, इसलिए उनको मोहके अधीन मानना उचित नहीं है । उत्तर—ऐसा नहीं समझना चाहिए, क्योंकि, मोहरूप अरिके नष्ट हो जानेपर, जन्म मरणकी परम्परा रूप संसारके उत्पादनकी सामर्थ्य

शेष कर्मोंमें नहीं रहनेसे उन कर्मोंका सत्त्व-असत्त्वके समान हो जाता है । (पं. घ / उ. / १०६४-१०७०) ।

२. दर्शनमोहनीय निर्देश

१. दर्शनमोह सामान्यका लक्षण

स सि. ८/३/३७६/१ दर्शनमोहस्य तत्त्वार्थाश्रद्धानम् ।.....तदेवं लक्षणं कार्यं—'प्रक्रियते प्रभवत्यस्या इति प्रकृतिः' । = तत्त्वार्थं श्रद्धानं न होने देना दर्शनमोहकी प्रकृति है । इस प्रकारका कार्य किया जाता है अर्थात् जिससे होता है वह प्रकृति है । (रा. वा. ८/३/४/५६७/४); (और भो दे० मोह/१) ।

घ. ६/१.६-१.२१/३८/३ दंसणं अत्तागम-परथेसु रुई पच्चओ सद्घापो फोसणमिदि एमद्दो तं मोहेदि विवरीयं कुणदि त्ति दंसण-मोहणीयं । जस्स कम्मस्स उदएण अणत्ते अत्तमुद्धी, अणागमे आगममुद्धी, अपयत्थे पयत्थमुद्धी, अत्तागमपयत्थेसु सद्धाए अत्थिरत्तं, दोसु वि सद्धा वा होदि तं दंसणमोहणीयमिदि उत्तं होदि । = १. दर्शन, रुचि, प्रत्यय, श्रद्धा और स्पर्शन, ये सब एकार्थ-वाचक नाम हैं । आप्त या आत्मामें, आगम और पदार्थोंमें रुचि या श्रद्धाको दर्शन कहते हैं । उस दर्शनको जो मोहित करता है, अर्थात् विपरीत कर देता है, उसे दर्शनमोहनीय कर्म कहते हैं । (घ. ११/६, २.६१/३६७/१३) । २. जिस कर्मके उदयसे अनाप्तमें आप्तबुद्धि, और अपदार्थमें पदार्थ बुद्धि होती है; अथवा आप्त आगम और पदार्थोंमें श्रद्धानकी अस्थिरता होती है; अथवा दोनोंमें भी अर्थात् आप्त-अनाप्तमें, आगम-अनागममें और पदार्थ-अपदार्थमें श्रद्धा होती है, वह दर्शनमोहनीयकर्म है, यह अर्थ कहा गया है ।

पं घ / उ / १००५ एवं च सति सम्यक्त्वे गुणे जीवस्य सर्वतः । तं मोह-यति यत्कर्म दृढमोहात्त्वं तदुच्यते । १००५ । = इसी तरह जीवके सम्यक्त्वनामक गुणके होते हुए जो कर्म उस सम्यक्त्व गुणको सर्वतः सूच्छित्त कर देता है, उसे दर्शनमोहनीय कर्म कहते हैं ।

२. दर्शन मोहनीयके भेद

घ. ख ६/१.६-१/सूत्र २१/३८ जं तं दंसणमोहणीयं कम्मं तं बंधादो एयविद्धं, तस्स सतकम्म पुणतिविद्धं सम्मत्तं मिच्छत्तं सम्मागिच्छत्तं चेदि । २१ । = जो दर्शनमोहनीय कर्म है, वह बन्धकी अपेक्षा एक प्रकारका है, किन्तु उसका सत्कर्म तीन प्रकारका है—सम्यक्त्व, मिथ्यात्व और सम्यग्मिथ्यात्व । २१ । (घ ख, १३/६, ५/सूत्र ६२-६३/३५८); (मू. आ. / १२२७); (त सू. ८/६), (पं. सं / प्रा. २/४ गाथा व उसकी मूल व्याख्या), (स सि. २/३/१६२/८); (रा वा. २/३/१/१०४/१६), (गो. क. / जी. प्र. २५/१७/६; ३३/२७/१८); (पं. घ. / उ. / ६८६) ।

३. दर्शनमोहकी तीनों प्रकृतियोंके लक्षण

स सि. ८/६/३८६/६ यस्योदयात्सर्वज्ञप्रणीतमार्गपराडमुखस्तत्त्वार्थ-श्रद्धाननिरस्तुको हिताहितविचारासमर्थो मिथ्यादर्शिवन्ति तन्मि-थ्यात्वम् । तदेव सम्यक्त्वं शुभपरिणामनिरुद्धस्वरसं यदौदासीन्ये-नावस्थितमात्मनः श्रद्धानं न निरुणद्धि, तद्दृष्टमानः पुरुषः सम्य-ग्दृष्टिरित्यभिधीयते । तदेव मिथ्यात्वं प्रक्षालनविशेषात्क्षीणाक्षीण-मदशक्तिकोद्रवत्सामिशुद्धस्वरसं तदुभयमिथ्याख्यायते सम्यग्-मिथ्यात्वमिति यावत् । यस्योदयादात्मनोऽर्धशुद्धमदकोद्रवौदनोप-योगापादितमिभपरिणामवदुभयात्मको भवति परिणामः । = १. जिसके उदयसे जीव सर्वज्ञप्रणीत मार्गसे विमुख, तत्त्वार्थोंके श्रद्धान करनेमें निरस्तुक, हिताहितका विचार करनेमें असमर्थ ऐसा मिथ्या-दृष्टि होता है वह मिथ्यात्व दर्शनमोहनीय है । २. वही मिथ्यात्व जब शुभ परिणामोंके कारण अपने स्वरस (विपाक) को रोक देता

है, और उदासीन रूपसे अवस्थित रहकर आत्माके श्रद्धाधानको नहीं रोकता है तब सम्यक्त्व (सम्यक्प्रकृति) है। इसका वेदन करने-वाला पुरुष सम्यग्दर्शक कहा जाता है। ३. वही मिथ्यात्व प्रक्षालन विशेषके कारण क्षीणाक्षीण मदशक्तिवाले कोदोंके समान अर्धशुद्ध स्वरसवाला होनेपर तदुभय या सम्यग्मिथ्यात्व कहा जाता है। इसके उदयसे अर्धशुद्ध मदशक्तिवाले कोदों और ओदनके उपयोगसे प्राप्त हुए मिश्रपरिणामके समान उभयात्मक परिणाम होता है। (रा. वा./८/१२/५७४/३); (गो. क./जी. प्र./३३/२७/१६); (और भी दे० आगे शीर्षक नं. ४)।

४. तीनों प्रकृतियोंमें अन्तर

घ. ६/१, १-२, २१/३६/१ अत्तागम-पदस्थसद्गुण जस्सोदरण स्थितिलत्तं होदि, तं सम्मत्तं ।...जस्सोदरण अत्तागम-पयर्थेसु असद्गुणो होदि, तं मिच्छत्तं । जस्सोदरण अत्तागमपयर्थेसु तत्पण्डितवक्खेसु य अक्कमेण सद्गुणो उप्पज्जदि तं सम्माभिच्छत्तं ।

घ. ६/१, ६-८, ७/२३६/१ मिच्छत्ताणुभागो सम्मामिच्छत्ताणुभागो अणंतगुणहीणो, तत्तो सम्मत्ताणुभागो अणंतगुणहीणो त्ति पाहुडसुत्ते णिद्विहादो । —१. जिस कर्मके उदयसे आप्त, आगम व पदार्थोंकी श्रद्धामें शिथिलता (व अस्थिरता) होती है वह सम्यक्त्व प्रकृति है। जिस कर्मके उदयसे आप्त, आगम और पदार्थोंमें, तथा उनके प्रतिपक्षियोंमें अर्थात् क्रुदेव, कुशास्त्र और कुतस्त्वोमें, युगपत् श्रद्धा उत्पन्न होती है वह सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृति है। (घ. १३/५, ६, ६३/३६५/१०; ३६६/३)। २ 'मिथ्यात्व कर्मके अनुभागसे सम्यग्मिथ्यात्व कर्मका अनुभाग अनन्तगुणा हीन होता है, और सम्यग्मिथ्यात्व कर्मके अनुभागसे सम्यक्त्व प्रकृतिका अनुभाग अनन्तगुणा हीन होता है', ऐसा प्राभूतसुत्र अर्थात् कषायप्राभूतके चूर्णिसूत्रोंमें निर्देश किया गया है (दे० अनुभाग/४/५)। (और भी दे० अरण्यवृत्त/३/६)।

५. एक दर्शनमोहका तीन प्रकार निर्देश क्यों

घ. १३/५, ६, ६३/३६८/७ कथं बंधकाले एगविहं मोहणीयं संतावस्थाप त्तिविहं पण्डितवज्जदे । ण एस दोसो, एक्कस्सेव कोद्वस्स दल्लिज्जमाणस्स एगकाले एगक्रियाविसेसेण तं दुल्लखत बुल-कोद्वभावुबलंभादो । होवु तत्थ तथाभावो सक्किरियजंतसंबंधेण । ण एत्थ वि अणियट्ठकरणसहिज्जोवसंबंधेण एगविहस्स मोहणीयस्स तथा-विहभावविरोधादो । —प्रश्न—१. जो मोहनीयकर्म बन्धकालमें एक प्रकारका है, वह सत्त्वावस्थामें तीन प्रकारका कैसे हो जाता है। उत्तर—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, दला जानेवाला एक ही प्रकारका कोदो द्रव्य एक कालमें एक क्रियाविशेषके द्वारा चावल, आधे चावल और कोदो, इन तीन अवस्थाओंको प्राप्त होता है। उसी प्रकार प्रकृतमें भी जानना चाहिए। (घ. ६/१, ६-९, २१/३५/७)। प्रश्न—वहाँ तो क्रिया युक्त जाँते हैं (चक्की) के सम्बन्धसे: उस प्रकारका परिणामन भले ही हो जाओ, किन्तु यहाँ वैसा नहीं हो सकता। उत्तर—नहीं, क्योंकि यहाँपर भी अनिवृत्तिकरण सहित जीवके सम्बन्धसे एक प्रकारके मोहनीयका तीन प्रकार परिणामन होनेमें कोई विरोध नहीं है।

६. मिथ्यात्व प्रकृतिमेंसे भी मिथ्यात्वकरण कैसा ?

गो. क./जी. प्र./२६/१६/१ मिथ्यात्वस्य मिथ्यात्वकरणं तु अतिस्थापनावलियात्रं पूर्वस्थितावृत्तित्तिव्यर्थः । —प्रश्न—मिथ्यात्व तो था ही, उसको मिथ्यात्वरूप क्या किया? उत्तर—पहले जो स्थिति थी उसमेंसे अतिस्थापनावली प्रमाण घटा दिया। अर्थात् असंख्यात-गुणा हीन अनुक्रमसे सर्व द्रव्यके तीन खण्ड कर दिये। उनमेंसे जो

पहले सबसे अधिक द्रव्यखण्ड है वह 'मिथ्यात्व' है ऐसा अभिप्राय है। (गो. जी./जी. प्र./७०४/११४१/१३)।

७. सम्यक्प्रकृति को 'सम्यक्' व्यपदेश क्यों

घ. ६/१, ६-९, २१/३६/२ कथं तस्स सम्मत्तववरेसो । सम्मत्तसहचरि-दोदयत्तादो उवयारेण सम्मत्तमिदि उच्चवे । —प्रश्न—इस प्रकृति-का 'सम्यक्त्व' ऐसा नाम कैसे हुआ। उत्तर—सम्यग्दर्शनके सह-चरित उदय होनेके कारण उपचारसे 'सम्यक्त्व' ऐसा नाम कहा जाता है। (घ. १/१, १, १४६/३६५/२); (घ. १३/५, ६, ६३/३६८/११)।

८. सम्यक्त्व व मिथ्यात्व दोनोंकी युगपत् वृत्ति कैसे :

घ. १३/५, ६, ६३/३६६/२ कथं दोणं विरुद्धाणं भावाणमकमेण एय-जीवदब्बन्हि वुत्ती । ण, दोणं संजोगस्स कथंचि जच्चंतरस्स कम्मट्ठवणस्सेव (१) वुत्तिविरोहाभावादो । —प्रश्न—सम्यक्त्व और मिथ्यात्व रूप इन दो विरुद्ध भावोंकी एक जीव द्रव्यमें एक साथ वृत्ति कैसे हो सकती है। उत्तर—नहीं, क्योंकि, ... (१) क्षीणाक्षीण मदशक्ति युक्त कोदों, के समान उक्त दोनों भावोंके कथंचित् जात्यन्तरभूत संयोगके होनेमें कोई विरोध नहीं है। (विशेष दे० मिश्र/२/६)।

९. दर्शनमोहनीयके बन्ध योग्य परिणाम

त. सू./६/१२ केवलश्रुतसंबन्धमदेवार्णवादो दर्शनमोहस्य । —केवली, श्रुत, संघ, धर्म और देव इनका अवर्णवाद दर्शनमोहनीय कर्मका आस्रव है। (त. सा./४/२७)।

त. सा./४/२५ मार्गसंबूषणं चैव तथैवोन्मार्गदेशनम् । —उपरोक्तके अतिरिक्त सत्य मोक्षमार्गको दूषित ठहराना और असत्य मोक्षमार्गको सच्चा बताना ये भी दर्शनमोहके कारण हैं।

३. चारित्रमोहनीय निर्देश

१. चारित्र मोहनीय सामान्यका लक्षण

स. सि./८/३/३७६/२ चारित्रमोहस्यासंयमः । —असंयमभाव चारित्र-मोहकी प्रकृति है। (रा. वा./८/३/४६७/४)।

घ. ६/१, ६-९, २२/२२/४०/५ पापक्रियानिवृत्तिसचारित्रम् । वादिकम्मणि पावं । तेसि किरिया मिच्छत्तासंजमकसाया । तेसिमभावो चारित्तं । तं मोहेह आवारेदि त्ति चारित्तमोहणीयं । —पापरूप क्रियाओंकी निवृत्तिको चारित्र कहते हैं। वातिया कर्मोंको पाप कहते हैं। मिथ्यात्व असंयम और कषाय, ये पापकी क्रियाएँ हैं। इन पाप-क्रियाओंके अभावको चारित्र कहते हैं। उस चारित्रको जो मोहित करता है, अर्थात् आच्छादित करता है, उसे चारित्रमोहनीय कहते हैं। (पं. ध/उ./१००६)।

घ. १३/५, ६, ६२/३६५/१ रागभावो चरित्तं, तस्स मोहयं तत्पण्डितवक्ख-भावुप्याययं चारित्तमोहणीयं । —रागका न होना चारित्र है। उसे मोहित करनेवाला अर्थात् उससे विपरीत भावको उत्पन्न करनेवाला कर्म चारित्रमोहनीय कहलाता है।

गो. क./जी. प्र./३३/२७/२३ चरति चर्यतेऽनेनेति चरणमात्रं वा चारित्रं, तन्मोहयति मुह्यतेऽनेनेति चारित्रमोहनीयं । —जो आचरण करता अथवा जिसके द्वारा आचरण किया जाता है अथवा आचरणमात्र चारित्र है। उसको जो मोहित करता है अथवा जिसके द्वारा मोहित किया जाता है सो चारित्रमोहनीय है।

२. चारित्रमोहनीयके भेद-प्रभेद

घ. ख. ६/१, ६-९/सूत्र २२-२४/४०-४५ जं तं चारित्तमोहणीयं कम्मं तं दुविहं, कषायवेदणीयं चैव णोकसायवेदणीयं चैव । २२। जं तं

कसायवेदणीयं कर्म तं सोलसविहं, अर्णताणुबाधकोहमाणमाया-लोहं, अपचचखाणावरणीयकोह-माण-माया-लोहं, पचचखाणावरणीयकोह-माण-माया-लोहं, कोहसंजलण, माणसंजलण, मायासंजलण, लोहसंजलण चेदि ॥२३॥ जं तं णोकसायवेदणीय कम्मं तं णवविहं, इरिथवेदं, पुरिसवेदं, णवुंसयवेदं, हस्स-रदि-अरदि-सोग-भय-दुग्गुच्छा चेदि ॥२४॥ = जो चारित्रमोहनीय कर्म है वह दो प्रकारका है—कषायवेदनीय और नोकषायवेदनीय ॥२२॥ = जो कषायवेदनीय कर्म है वह १६ प्रकारका है—अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ; अप्रत्याख्यानावरणीय क्रोध, मान, माया, लोभ; प्रत्याख्यानावरणीय क्रोध, मान, माया, लोभ; क्रोधसंज्वलन, मानसंज्वलन, मायासंज्वलन, और लोभसंज्वलन ॥२३॥ = जो नोकषायवेदनीय कर्म है वह नौ प्रकारका है—स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसकवेद, हास्य, रति, अरति, शोक, भय और जुगुप्सा ॥२४॥ (ष. ख. १३/५, ५/सूत्र ६४-६६/३६६-३६९); (सू. आ/१२२६-१२२६); (त सू./८/६); (पं. स/प्रा./२/४ व उसकी व्याख्या); (गो. क./जी प्र./२६/१६/३; ३३/२७/२३); (पं. ध./उ/१०७६-१०७७) ।

३. कषाय व अकषायवेदनीयके लक्षण

घ. १३/५, ६, ६४/३६६/७ जस्स कम्मस्स उदएण जीवो कसायं वेदयदि तं कम्मं कसायवेदणीयं णाम । जस्स कम्मस्स उदएण जीवो णोकसायं वेदयदि तं णोकसायवेदणीयं णाम । = जिस कर्मके उदयसे जीव कषायका वेदन करता है वह कषायवेदनीय कर्म है । जिस कर्मके उदयसे जीव नोकषायका वेदन करता है, वह नोकषाय-वेदनीय कर्म है ।

४. चारित्रमोहकी सामर्थ्य कषायोत्पादनमें है स्वरूपा-चरणके विच्छेदमें नहीं

पं. घ./उ/१लोक नं कार्यं चारित्रमोहस्य चारित्राच्युतिरात्मनः । नास्मदृष्टेस्तु दृष्टित्वान्ध्यायादितरदृष्टिवत् ॥६६०॥ कषायणामनुद्रेक-रचारित्र तावदेव हि । नानुद्रेकं कषायणां चारित्राच्युतिरात्मनः । ॥६६२॥ अस्ति चारित्रमोहेऽपि शक्तिद्वैत निसर्गतः । एक चासंयतत्वं स्यात् कषायत्वमथापरम् ॥११३१॥ योगपथ द्वयोरेव कषायसयत-त्वयोः । सम शक्तिद्वयस्योच्चे' कर्मणोऽस्य तथोदयत् ॥११३७॥ = न्यायानुसार आत्माको चारित्रसे च्युत करना ही चारित्रमोहकी कार्य है, किन्तु इतरकी दृष्टिके समान दृष्टि होनेसे शुद्धात्मानुभवसे च्युत करना चारित्रमोहका कार्य नहीं है ॥६६०॥ निश्चयसे जितना कषायो-का अभाव है, उतना ही चारित्र है और जो कषायोका उदय है वही आत्माका चारित्रसे च्युत होना है ॥६६२॥ चारित्र मोहमें स्वभावसे दो प्रकारकी शक्तियाँ हैं—एक असंयतस्वरूप और दूसरी कषायत्व-रूप ॥११३१॥ इन दोनों कषाय व असंयतपनेमें युगपत्ता है, क्योंकि, वास्तवमें युगपत् उक्त दोनों ही शक्तिवाले इस कर्मका ही उस रूपसे उदय होता है ॥११३७॥

५. कषायवेदनीयके बन्धयोग्य परिणाम

स. सि./६/१४/३३२/८ स्वपरकषायोत्पादनं तपस्विजनवृत्तदूषणं संक्लिष्ट-लिङ्गव्रतधारणादि' कषायवेदनीयस्यास्रव' । = स्वयं कषाय करना, दूसरोमे कषाय उत्पन्न करना, तपस्वीजनोके चारित्रमें दूषण लगाना, सबलेशको पैदा करनेवाले लिंग (वैध) और व्रतको धारण करना आदि कषायवेदनीयके आस्रव है ।

रा. वा./६/१४/३/५२६/५ जगदनुग्रहतन्त्रशीलव्रतभावित्वात्मतपस्विजन-गर्हण-धर्मावध्वंसन-तदन्तरायकरणशीलगुणदेशसयतविरतिप्रचयावन-मधुमद्यमांसविरतचित्तविभ्रमापादन — वृत्तसंदूषण-सक्लिष्टलिंगव्रत-धारणस्वपरकषायोत्पादनादिलक्षण, कषायवेदनीयस्यास्रवः । = जग-

दुपकारी शीलव्रती तपस्वियोंकी निन्दा, धर्मध्वंस, धर्ममें अन्तराय करना, किसीको शीलगुण देशसंयम और सकलसंयमसे च्युत करना, मद्य मांस आदिसे विरक्त जीवोंको उससे बिचकाना, चरित्रदूषण, संव्लेशोत्पादक व्रत और वेधोंका धारण, स्व और परमें कषायोंका उत्पादन आदि कषायवेदनीयके आस्रवके कारण हैं ।

६. अकषायवेदनीयके बन्धयोग्य परिणाम

रा. वा./६/१४/३/६२६/८ उस्त्रहासादीनाभिहासित्व-कन्दर्पोपहसन-बहुप्रलापोपहासशीलता हास्यवेदनीयस्य । विचित्रपरक्रीडन-परसौ-चित्वावर्जन-बहुविघपीडाभाव-देशाद्यनौस्त्वयप्रीतिसजननादि' रति-वेदनीयस्य । परारतिप्रादुर्भवनरतिविनाशन-पापशीलसंसर्गता-कुशलक्रियाप्रोत्साहनादिः अरतिवेदनीयस्य । स्वशोकाभोदशोचन-परदुःखाविष्करण-शोकप्लुताभिनन्दनादि शोकवेदनीयस्य । स्वयं भयपरिणामपरभयोत्पादन - निर्दयत्व - त्रासनादिर्भयवेदनीयस्य । सद्धर्मपन्नचतुर्वर्णविशिष्टवर्गकुलक्रियाचारप्रवणजुगुप्सा - परिवाद-शीलत्वादिर्जुगुप्सावेदनीयस्य । प्रकृष्टक्रोधपरिणामातिमानितैर्ष्या-व्यापारालीकाभिधायिता-तिसन्धानपरत्व - प्रवृद्धराग - पराङ्गनागम-नादर-वामलोचनाभावाभिष्वङ्गतादिः स्त्रीवेदस्य । स्तोकक्रोध-जैह-निवृत्त्यनुत्सिक्तत्वा - लोभभावा - ज्ञानासम्भवावपरागतत्व - स्वदार-संतोषैर्ष्याविशेषोपरमस्नानगन्धमाख्याभरणानादरादि' पुंवेदनी-यस्य । प्रचुरक्रोधमानमायालोभपरिणाम-गुह्येन्द्रियव्यपरोपणस्त्री-पुंसानङ्गव्यसनिव - शीलव्रतगुणधारिप्रव्रज्याभ्रतप्रम(मै)थुन - पराङ्ग-नावस्केन्दनरागतीव्रानाचारादिर्नपुंसकवेदनीयस्य । = उत्प्राहास, दीनतापूर्वक हँसी, कामविकार पूर्वक हँसी, बहुप्रलाप तथा हरएक-की हँसी मजाक करना हास्यवेदनीयके आस्रवके कारण हैं । विचित्र क्रीडा, दूसरेके चित्तको आकर्षण करना, बहुपीडा, देशादिके प्रति अनुत्सुकता, प्रीति उत्पन्न करना रतिवेदनीयके आस्रवके कारण हैं । रतिविनाश, पापशील व्यक्तियोंकी संगति, अकुशल क्रियाका प्रोत्साहन देना आदि अरतिवेदनीयके आस्रवके कारण हैं । स्व-शोक, प्रीतिके लिए परका शोक करना, दूसरोंको दुःख उत्पन्न करना, शोकसे व्याप्तका अभिनन्दन आदि शोकवेदनीयके आस्रवके कारण हैं । स्वयं भयभीत रहना, दूसरोंको भय उत्पन्न करना, निर्दयता, त्रास आदि भयवेदनीयके आस्रवके कारण हैं । धर्मिमा चतुर्वर्ण विशिष्ट वर्ग कुल आदिकी क्रिया और आचारम तत्पर पुरुषोंसे ग्लानि करना, दूसरेकी बदनामी करनेका स्वभाव आदि जुगुप्सावेदनीयके आस्रवके कारण हैं । अत्यन्त क्रोधके परिणाम, अतिमान, अत्यन्त ईर्ष्या, मिथ्याभाषण, छल कपट, तीव्रराग, पराङ्गनागमन, स्त्रीभावोंमें रुचि आदि स्त्रीवेदके आस्रवके कारण हैं । मन्दक्रोध, कुटिलता न होना, अभिमान न होना, निर्लोभ भाव, अपराग, स्वदारसन्तोष, ईर्ष्या-रहित भाव, स्नान, गन्ध, माला, आभरण आदिके प्रति आदर न होना आदि पुंवेदके आस्रवके कारण हैं । प्रचुर क्रोध मान माया लोभ, गुह्य इन्द्रियोंका विनाश, स्त्री पुरुषोंमें अन्गक्रीडाका व्यसन, शीलव्रत गुणधारी और दीक्षाधारी पुरुषोंको बिचकाना, परस्त्रीपर आक्रमण, तीव्र राग, अनाचार आदि नपुंसकवेदके आस्रवके कारण हैं । (स. सि/६/१४/३३२/६) ।

मौख्य—स सि/७/३२/३७०/१ धाष्ट्यप्रायं यत्किञ्चनानर्थकं बहु-प्रलापित्वं मौख्यम् । = धीठताको लिये हुए नि सार कुछ भी बहुत बकवास करना मौख्य है । (रा. वा./७/३२/३/६६६/२०) ।

मौद्गलायन—१. भगवात् पार्श्वनाथको शिष्य परम्परामें एक बड़े जैन आचार्य थे । पीछे महात्मा बुद्धके शिष्य हो गये और बौद्ध-मतका प्रवर्तन किया । 'महावग्ग' नामक बौद्ध ग्रन्थके अनुसार आप बुद्धदेवके प्रधान शिष्य थे । इन्हें संजय नामके परिव्राजकने महात्मा-

बुद्धका शिष्य होनेसे रोका था। (व. सा/पृ. २६/प्रेमी जी), (धर्म परीक्षा/६)। २. एक क्रियावादी—दे० क्रियावाद।

मौन—

स. श./१७ एवं स्वस्वा बहिर्वाचं त्यजेदन्तरशेषतः। एष योगः समा-
सेन प्रदीप परमात्मनः। १७७। = इस प्रकार (दे० अगला शीर्षक)
बाह्यकी वचन प्रवृत्तिको छोड़कर, अन्तरंग वचन प्रवृत्तिको भी पूर्ण-
तया छोड़ देना चाहिए। इस प्रकारका योग ही सक्षेपसे परमात्मा-
का प्रकाशक है।

नि. सा./ता वृ/१५५ प्रशस्ताप्रशस्तसमस्तवचनरचनां परित्यज्य...
मौनव्रतेन साधुः। = प्रशस्त व अप्रशस्त समस्त वचन रचनाको
छोड़कर मौनव्रत सहित (निजकार्यको साधना चाहिए।)

२. मौन व्रतका कारण व प्रयोजन

मो. पा./पृ./२६ जं मया दिस्सदे रुवं तं ण जाणादि सव्वहा। जाणमं
दिस्सदे णतं तमहा अपेमि केण हे। २६। = जो कुछ मेरे द्वारा यह
बाह्य जगत्में देखा जा रहा है, वह तो जड़ है, कुछ जानता नहीं।
और मैं यह ज्ञायक हूँ वह किसीके भी द्वारा देखा नहीं जाता। तब
मैं किसके साथ बोलूँ। (स. श./१८)।

सा. ध./४/३४-३६ गृह्यै ह्येकारादिसज्ञा संक्लेशं च पुरोमुगं। सुश्रममौन-
मद्दं कुर्यात्तपसंयमवृ हणम्। ३४। अभिमानागृह्णोरोघाद्बर्धयते तप।
मौनं तनोति श्रेयश्च श्रुतप्रथयतायनात्। ३५। शुद्धमौनात्मनः सिद्ध्या
शुक्लध्यानाय कल्पते। वाक्सिद्ध्या युगपत्साधुस्त्रैलोक्यानुग्रहाय
च। ३६। = श्रावकको भोजनमें गृह्यधिके कारण हुंकार करना, खका-
रना, इशारे करना, तथा भोजनके पहले व पीछे क्रोध आदि संक्लेश-
रूप परिणाम करना, इन सब बातोंको छोड़कर तप व सयमको
बढ़ानेवाला मौनव्रत धारण करना चाहिए। ३४। मौन धारण करना
भोजनकी गृह्य तथा याचनावृत्तिको रोकनेवाला है तथा तप व
पुण्यको बढ़ानेवाला है। ३५। इससे मन बश होता है, शुक्ल-ध्यान व
वचनकी सिद्धि होती है, और वह श्रावक या साधु त्रिलोकका
अनुग्रह करने योग्य हो जाता है। ३६।

३. मौनव्रतके उद्यापनका निर्देश

सा. घ./४/३७ उद्योतनमहेनैकघण्टादानं जिलालये। असर्वकालिके
मौने निर्वाहः सार्वकालिके। ३७। = सीमित समयके लिए धारण
किये गये मौनव्रतका उद्यापन करनेके लिए उसका माहात्म्य प्रगट
करना व जिन मन्दिरमें एक घंटा समर्पण करना चाहिए। जन्म-
पर्यन्त धारण किये गये मौनव्रतका उद्यापन उसका निराकुल रीति-
से निर्वाह करना ही है। ३७। (टीकामें उद्धृत २ श्लोक)।

४. मौन धारणे योग्य अवसर

भ. आ./वि./१६/६२/६ भाषासमितिक्रमानभिज्ञो मौनं गृह्णीयात्
हर्यर्थः। = भाषा समितिका क्रम जो नहीं जानता वह मौन धारण
करे, ऐसा अभिप्राय है।

सा. घ./४/३८ आवश्यकके मलक्षेपे पापकार्ये च वान्तिवत्। मौनं कुर्वति
शश्वद्वा भूयोवाग्दोषविच्छेदे। ३८। = वांतिमें कुरल करनेवत्,
सामायिक आदि छह कर्मोंमें, मल-मूत्र निक्षेपण करनेमें, दूसरेके द्वारा
पापकार्यकी सभावना होनेमें, स्नान, मैथुन, आचमन आदि करनेमें
श्रावकको मौन धारण करना चाहिए और साधुको कृतिकर्म करते
अथवा भोजनचर्या करते समय मौन धारण करना चाहिए। अथवा
भाषाके दोषोका विच्छेद करनेके लिए सदा मौनसे रहना
चाहिए। ३८।

सा. ध./टीका/४/३६ में उद्धृत—सर्वदा शस्तं जोष भोजने तु विशे-
षतः। रसायनं सदा श्रेष्ठं सरोगतत्वे पुनर्न कि। = मौन व्रत सदा
प्रशसा करने योग्य है और फिर भोजन करनेके समय तो और भी

अधिक प्रशसनीय है। रसायन (औषध) सदा हित करनेवाला
होता है और फिर रोग होनेपर तो पूछना ही क्या है।

व्रतविधान सग्रह/पृ. ११२। मौनव्रतकथासे उद्धृत—यहाँ मौनव्रतका
कथन है। भोजन, वसन, स्नान, मैथुन, मलक्षेपण और जिन पूजन
इन साल कर्मोंमें जीवन पर्यन्त मौन रखना नित्य मौनव्रत कह-
लाता है।

५. मौनावलम्बी साधुके बोलने योग्य विशेष अवसर

दे. अपवाद/३ (दूसरेके हितार्थ साधुजन कदाचित् रात्रिको भी बोल
लेते हैं।)

दे. वाद—(धर्मकी क्षति होती देखे तो बिना बुलाये भी बोलें।)

दे. अथालंब—(मौनका नियम होते हुए भी अथालंब चारित्रधारी
साधु रास्ता पूछना, शंकाके निराकरणार्थ प्रश्न करना तथा वसतिक-
के स्वामीसे वरका पता पूछना—इन तीन विषयोंमें बोलते हैं।)

दे. परिहार विशुद्धि—(धर्मकार्यमें आचार्यसे अनुज्ञा लेना, योग्य व
अयोग्य उपकरणोंके लिए निर्णय करना, तथा किसीका सन्देह दूर
करनेके लिए उत्तर देना इन तीन कार्योंके अतिरिक्त वे मौनसे रहते
हैं।)

* मौनव्रतके अतिचार—दे० गुप्ति/२/१।

मौनव्रत—एक वर्ष तक पौष शु. ११ से प्रारम्भ करके प्रत्येक मासके
प्रत्येक ११ वें दिन १६ पहरका उपवास करे। इस प्रकार कुल २४ उप-
वास करे। नमस्कार मन्त्रका त्रिकाल जाप्य करे। (व्रत विधान
संग्रह/पृ. ११२)।

मौनाध्ययनवृत्ति क्रिया—दे० संस्कार/२।

मौर्य वंश—दे० इतिहास/३/३।

मौलिक प्रक्रिया—Fundamental Operation (ध. ५/प्र. २८)

अक्षित—वसतिकाका एक दोष—दे० वसतिका

म्लेच्छ—१. म्लेच्छखण्ड निर्देश

ति. प./४/गाथा नं. सेसा विषं च खंडा णामेणं होति मेच्छखंडं चि।
उत्तरति यखंडेसु मज्झिमखंडेसु बहुमज्जे। २६८। गंगामहाणदीप
अद्दाइज्जेसु। कुंडजसरिपरिवारा हुवति ण हु अज्जखंडमि। २६५।
= [विजयार्थ पर्वत व गंगा सिन्धु, नदियोंके कारण भरतक्षेत्रके छह
खण्ड हो गये हैं। इनमेंसे दक्षिणवाला मध्यखण्ड आर्यखण्ड है
(दे० आर्यखण्ड)] शेष पाँचों ही खण्ड म्लेच्छखण्ड नामसे प्रसिद्ध
हैं। २६८। गंगा महानदीकी ये कुण्डोंसे उत्पन्न हुई (१४०००) परिवार
नदियाँ म्लेच्छखण्डोंमें ही हैं, आर्यखण्डमें नहीं हैं। (विशेष दे०
लोक/७)।

२. म्लेच्छमनुष्योंके भेद व स्वरूप

स. सि./३/३६/पृ. पक्ति म्लेच्छा द्विविधा—अन्तर्द्वीपजा कर्मभूमिजा-
श्चेति। (२३०/३) • ते एतेऽन्तर्द्वीपजा म्लेच्छा। कर्मभूमिजाश्च
शक्यवनशवरपुलिन्दादयः। —(२३१/६)। = म्लेच्छ दो प्रकारके
हैं—अन्तर्द्वीपज और कर्मभूमिज। अन्तर्द्वीपजो उत्पन्न हुए अन्तर्द्वीप-
जम्लेक्ष हैं। और शक, यवन, शवर व पुलिन्दादिक कर्मभूमिजम्लेच्छ
हैं। (रा. वा./३/३६/४/२०४/१४.२६)।

भ. आ./वि./७८/१६३/२६ इत्येवमादयो ज्ञेया अन्तर्द्वीपजा नरा।
समुद्रद्वीपमध्यस्था. कन्दमूलफलाशिनः। वेदयन्ते मनुष्यायुस्ते मृगो-
पमचेष्टिताः ॥ = समुद्रोंमें (लवणोद व कालोदमें) स्थित अन्तर्द्वीपोंमें
रहनेवाले तथा कन्द-मूल फल खानेवाले ये लम्बकर्ण आदि (दे० आगे
शीर्षक नं. ३) अन्तर्द्वीपज मनुष्य हैं। जो मनुष्यायुका अनुभव
करते हुए भी पशुओंकी भाँति आचरण करते हैं।

म. पु./३१/१४१-१४२ इत्युपायैरुपायज्ञ साधयन्म्लेच्छभूयुजः । तेभ्यः कन्यादिरत्नानि प्रभोर्भगिन्यानुपाहरत । १४१ः धर्मकर्मबहिष्कृता इत्यमी म्लेच्छका मता । अन्यथाऽन्यैः समाचारैः आर्यावर्तेन ते समा । १४२ । = इस प्रकार अनेक उपायोको जाननेवाले सेनापतिने अनेक उपायोके द्वारा म्लेच्छ राजाओंको बश किया, और उनसे चक्रवर्तीके उपभोगके योग्य कन्या आदि अनेक रत्न भेंटमें लिये । १४१। ये लोग धर्म क्रियाओंसे रहित है, इसलिए म्लेच्छ माने गये है । धर्म क्रियाओंके सिवाय अन्य आचरणोंसे आर्यखण्डमें उत्पन्न होनेवाले मनुष्योंके समान हैं । १४२। [यद्यपि ये सभी लोग मिथ्या-दृष्टि होते हैं परन्तु किसी भी कारणसे आर्यखण्डमें आ जानेपर दीक्षा आदिको प्राप्त हो सकते हैं ।—दे० प्रव्रज्या । १/३]

त्रि. सा./६२१ दीवा ताषदियंतरवासा कुणरा वि सण्णामा । = तीन अन्तर्द्वीपोंमें बसनेवाले कुमानुष तिस तिस द्वीपके नामके समान होते हैं ।

३. अन्तर्द्वीपज म्लेच्छोंका आकार

१ लवणोद स्थित अन्तर्द्वीपोंमें (दृष्टि नं० १)

ति. प./४/२४८४-२४८८ एकोरुक्कवैसणिका लंगुलिका य णामेहि । पुव्वादिस्सुं विसासुं चउदीवाण कुमाणुसा होंति । २४८४। सुक्कलिकण्णा कण्णप्पावरणा लंबकण्णससकण्णा । अग्गिदिसादिस्सु कमसो चउदीव-कुमाणुसा एदे । २४८५। सिंहस्ससाणमहिस्सव्वराहस्सद्वूलघूककपिवदणम । सबकुलिकण्णे कोरुगपहुदीणे अंतरेसु ते कमसो । २४८६। मच्छसहा कालमुहा हिमगिरिपणिधीए पुव्वपच्छिमदो । मेसमुहगोसुहवखा दक्खिणवेयड्डपणिधीए । २४८७। पुव्वावरणे सिहरिपणिधीए मेघ-विज्जुमुहणामा । आदंसणहरिथमुहा उत्तरवेयड्डपणिधीए । २४८८। = पूर्वादिदि दिशाओंमें स्थित चार द्वीपोंके कुमानुष क्रमसे एक जाँघ-वाले, पूँछवाले, सींगवाले और शूँगे होते हुए इन्हीं नामोंसे युक्त हैं । २४८४। अग्नि आदिक विदिशाओंमें स्थित ये चार द्वीपोंके कुमानुष क्रमसे शष्कुलीकर्ण, कर्ण प्रावरण, लंबकर्ण और शशकर्ण होते हैं । २४८५। शष्कुलीकर्ण और एकोरुक आदिकोंके बीचमें अर्थात् अन्तरदिशाओंमें स्थित आठ द्वीपोंके कुमानुष क्रमसे सिंह, अश्व, श्वान, महिष, वराह, शार्दूल, घूक और बन्दरके समान मुख-वाले होते हैं । २४८६। हिमवान् पर्वतके प्रणिधि भागमें पूर्वपश्चिम-दिशाओंमें क्रमसे मरुत्यमुख व कालमुख तथा दक्षिणविजयार्थके प्रणिधि भागमें मेघमुख व गोमुख कुमानुष होते हैं । २४८७। शिखरी पर्वतके पूर्व पश्चिम प्रणिधि भागमें क्रमसे मेघमुख व विद्युत्मुख तथा उत्तर विजयार्थके प्रणिधि भागमें आदर्शमुख व हस्तिमुख कुमानुष होते हैं । २४८८। (भ. आ./वि./७८१/६३६/२३ परं उद्धृत श्लो. न. ६-१०); (त्रि. सा./६१६-६१६), (ज. प./५३-५७) ।

२. लवणोद स्थित अन्तर्द्वीपोंमें (दृष्टि नं० २)

ति. प./४/२४८४-२४८६ एकोरुकवैसणिका लंगुलिका तह य भासगा तुरिमा । पुव्वादिस्सु वि विसासुं चउदीवाण कुमाणुसा कमसो । २४-८४। अणलादिस्सु वि विसासुं ससकण्णाताण उभयपासेसुं । अट्ठंतरा य दीवा पुव्वगिदिसादिगणज्जा । २४८५। पुव्वदिसाट्ठएकोरुकाण अग्गिदिसाट्ठयससकण्णाणं विचचालादिस्सु कमेण अट्ठतरदीवट्ठद-कुमाणुसणामाणि गणिदव्वाकेसरिमुहा मणुस्सा चक्कुलिकण्णा अ-चक्कुलिकण्णा । साणमुहा कपिवदणा चक्कुलिकण्णा अ चक्कुलीकण्णा । २४८६। हयकण्ण कमसो कुमाणुसा तेसु होंति दीवेषु । घूकमुहा कालमुहा हिमवतगिरिस्स पुव्वपच्छिमदो । २४८७। गोसुहमेसमुहवखा दक्खिणवेयड्डपणिधीदीवेषु । मेघमुहा विज्जुमुहा सिहरिगिरिदस्स पुच्छिमदो । २४८८। दण्णगयस्सरिसमुहा उत्तरवेयड्डपणिधि भाग-गदा । अम्भंतरम्मि भागे बाहिरए होंति तम्मेत्ता । २४८९। = पूर्वादिदि दिशाओंमें स्थित चार द्वीपोंके कुमानुष क्रमसे एक जाँघवाले, सींग-

वाले, पूँछवाले और शूँगे होते हैं । २४८४। आग्नेय आदिक दिशाओं-के चार द्वीपोंमें शशकर्ण कुमानुष होते हैं । उनके दोनो पार्श्वभागोंमें आठ अन्तरद्वीप हैं जो पूर्व आग्नेय दिशादि क्रमसे जानना चाहिए । २४८५। पूर्वदिशामें स्थित एकोरुक और अग्निदिशामें स्थित शश-कर्ण कुमानुषोंके अन्तराल आदिक अन्तरालोंमें क्रमसे आठ अन्तर-द्वीपोंमें स्थित कुमानुषोंके नामोंको गिनना चाहिए । इन अन्तर-द्वीपोंमें क्रमसे केशरीमुख, शष्कुलीकर्ण, अशष्कुलीकर्ण, श्वानमुख, श्वानरमुख, शष्कुलीकर्ण, शष्कुलीकर्ण, और हयकर्ण, कुमानुष होते हैं । हिमवान् पर्वतके पूर्व-पश्चिमभागोंमें क्रमसे वे कुमानुष घूकमुख और कालमुख होते हैं । २४८६-२४८७। दक्षिण विजयार्थके प्रणिधि-भागस्थ द्वीपोंमें रहनेवाले कुमानुष गोमुख और मेघमुख, तथा शिखरी पर्वतके पूर्व-पश्चिम द्वीपोंमें रहनेवाले वे कुमानुष मेघमुख और विद्युत्मुख होते हैं । २४८८। उत्तरविजयार्थके प्रणिधिभागोंमें स्थित वे कुमानुष क्रमसे दर्पण और हाथीके सदृश मुखवाले होते हैं । जितने द्वीप व उनमें रहनेवाले कुमानुष अभ्यन्तर भागमें हैं, उतने ही वे बाह्य भागमें भी विद्यमान हैं । २४८९। (स. सि./३/३६/२३०/१); (रा. वा./३/३६/४/२०४/२०); (ह. पु./५/४७२-४७६) ।

३. कालोदस्थित अन्तरद्वीपोंमें

ति. प./४/२७२७-२७३४ मुच्छमुहा अभिकण्णा पक्खिमुहा तेसु हरिथ-कण्णा य । पुव्वादिस्सु दीवेषु विचिच्छंति कुमाणुसा कमसो । २७२७। अणिलादिपासु सूवरकण्णा दीवेषु ताण विदिसासं । अट्ठंतरदीवेषुं पुव्वग्गिदिसादि गणज्जा । २७२८। चेदंति अट्ठकण्णा मज्जार-मुहा पुणो वि तच्चेय । कण्णप्पावरणा गजवण्णा य मज्जरखण्णा य । २७२९। मज्जारमुहा य तथा मोकण्णा एवमट्ठ पत्तेवकं । पुव्वपव-ण्णदबहुविहपावफलेहि कुमणसाणि जायंति । २७३०। पुव्वावरपणि-धीए सिस्सुमारमुहा तह य मयरमुहा । चेदंति रूपगिरिणो कुमाणुसा कालजलहिम्मि । २७३१। वयमुहवग्गमुहवखा हिमवतणगस्स पुव्व-पच्छिमदो । पणिधीए चेदंति कुमाणुसा पावपाकेहि । २७३२। सिंह-रिस्स तरच्छमुहा सिगालव्यणा कुमाणसा होति । पुव्वावरपणिधीए जम्मंतरदरियकम्मेहि । २७३३। दीपिकमिजारमुहा कुमाणुसा होति रूपसेलस्स । पुव्वावरपणिधीए कालोदयजलहिदीवम्मि । २७३४। = उनमेंसे पूर्वादिदि दिशाओंमें स्थित द्वीपोंमें क्रमसे मरुत्यमुख, अभिकर्ण (अश्वकर्ण), पक्षिमुख और हस्तिकर्ण कुमानुष होते हैं । २७२७। उनकी वायव्यप्रभृति विदिशाओंमें स्थित द्वीपोंमें रहनेवाले कुमानुष शूकरकर्ण होते हैं । इसके अतिरिक्त पूर्वाग्निदिशादिदि क्रमसे गणनीय आठ अन्तरद्वीपोंमें कुमानुष निम्न प्रकार स्थित हैं । २७२८। उष्ट्रकर्ण, मार्जारमुख, पुनः मार्जारमुख, कर्णप्रावरण, गज-मुख, मार्जारमुख, पुनः मार्जारमुख, और भोकर्ण, इन आठमेंसे प्रत्येक पूर्वमें बतलाये हुए बहुत प्रकारके पापोंके फलसे कुमानुष जीव उत्पन्न होते हैं । २७२९-२७३०। कालसमुद्रके भीतर विजयार्थके पूर्वापर पार्श्वभागोंमें जो कुमानुष रहते हैं, वे क्रमसे शिशुमारमुख और मकरमुख होते हैं । २७३१। हिमवान् पर्वतके पूर्व-पश्चिम पार्श्वभागों-में रहनेवाले कुमानुष क्रमसे पापकर्मोंके उदयसे घूकमुख और व्याघ्र-मुख होते हैं । २७३२। शिखरी पर्वतके पूर्व-पश्चिम पार्श्वभागोंमें रहनेवाले कुमानुष पूर्व जन्ममें किये हुए पापकर्मोंसे तरुक्षमुख (अक्ष-मुख) और शृगालमुख होते हैं । २७३३। विजयार्थपर्वतके पूर्वापर प्रणिधिभागमें कालोदक-समुद्रस्थ द्वीपोंमें क्रमसे द्वीपिकमुख और भृंगारमुख कुमानुष होते हैं । २७३४। (ह. पु./५/५६७-५७२) ।

४. म्लेच्छ मनुष्योंका जन्म, आहार गुणस्थान आदि

ति. प./४/गाथा नं. एकोरुगा गुहासुं वसंति भुंजति महियं मिडं । सेसा तरुतलवासा पुफेहि फलेहि जीवंति । २४८६। गम्भादो ते मणुवाजुगलंजुगला सुहेण णिस्सरिया । तिरिया समुच्चिवेहि दिगेहि

धारंति तारुण्यं । २५१२। वेधणुसहस्सत्तुंगा मंदकसाया पियंगुसाम-
लया । सन्वे ते पल्लाऊ कुभोगभूमोए चेठ्ठंति । २५१३। तम्भूमिजो-
ग्गभोगं भोत्तुण आउसस्स अबसाणे । कालवसं संपत्ता जायंते भवण-
तिदयम्मि । २५१४। सम्मर्हसणरयणं गहियं जेहिं णरेहिं तिरिएहि ।
दीवेसु चउविहेसुं सोहम्मदुग्गम्मि जायंते । २५१५। सन्वेसिं भोगभुवे
दो गुणठाणाणि सत्त्वकालम्मि । दीसंति चउवियप्पं सत्त्वमिलिच्छ-
म्मि मिच्छत्त । २६३७। = १. इन उपरोक्त सब अन्तर्द्वीपज म्लेच्छोंमेंसे,
एकोरुक (एक टाँगवाले) कुमानुष गुफाओंमें रहते हैं और मोठी
मिट्टीको खाते हैं । शेष सब वृक्षोंके नीचे रहते हैं और (कल्पवृक्षोंके)
फलफूलोंसे जीवन व्यतीत करते हैं । २४८६। (स. सि./३/३६/२३१/३);
(रा. वा./३/३६/४/२०४/२४); (ज. प./१०/५८/५२); (त्रि. सा./-
१२०) । २. वे मनुष्य व तिर्यंच युगल-युगलरूपमें गर्भसे सुखपूर्वक
जन्म लेकर समुचित (उनचास) दिनोमें यौवन अवस्थाको धारण
करते हैं । २५१२। (ज. प./१०/५०) । ३. वे सब कुमानुष २०००
धनुष ऊँचे, मन्दकवायी, प्रियंगुके समान श्यामल और एक पय-
प्रमाण आयुसे युक्त होकर कुभोगभूमिमें स्थित रहते हैं । २५१३। (ज.
प./१०/१०/५१-५२) । ४. परचात वे उस भूमिके योग्य भोगोंको
भोगकर आयुके अन्तमें मरणको प्राप्त हो भवनत्रिक देवोंमें उत्पन्न
होते हैं । २५१४। जिन मनुष्यों व तिर्यंचोने इन चार प्रकारके द्वीपोंमें
(दिशा, विदिशा, अन्तर्दिशा तथा पर्वतोंके पार्श्व भागोंमें स्थित,
इन चार प्रकारके अन्तर्द्वीपोंमें) सम्यग्दर्शनरूप रत्नको ग्रहण कर
लिया है, वे सौधर्मयुगलमें उत्पन्न होते हैं । २५१५। (ज. प./१०/८३-
८६) । ५. सब भोगभूमिजोंमें (भोग व कुभोगभूमिजोंमें) दो गुण-
स्थान (प्र. व चतु) और उरुकृष्टरूपसे चार (१-४) गुणस्थान रहते
हैं । सब म्लेच्छखण्डोंमें एक मिथ्यात्व गुणस्थान ही रहता है ।
२६३७। ६. म्लेच्छ खण्डसे आर्यखण्डमें आये हुए कर्मभूमिज म्लेच्छ
तथा उनको कन्याओंसे उत्पन्न हुई चक्रवर्तीकी सन्तान कदाचित्
प्रव्रज्याके योग्य भी होते हैं । (दे. प्रव्रज्या/१/३) ।

दे. काल/४—(कुमानुषो या अन्तर्द्वीपोंमें सर्वदा जघन्य भोगभूमिकी
व्यवस्था रहती है । (त्रि. सा./भाषा/१२०) ।

५. कुमानुष म्लेच्छोंमें उत्पन्न होने योग्य परिणाम

दे. आयु/३/१० (मिथ्यात्वरत्त, व्रतियोंकी निन्दा करनेवाले तथा
प्रष्टाचारी आदि मरकर कुमानुष होते हैं) ।

दे. पाप/४ (पापके फलसे कुमानुषोंमें उत्पन्न होते हैं) ।

[य]

यंत्र—घ. १३/५, ३, २६/३४/४ सीहवग्धघरणदुमोदिदमन्भंतरक्यच्छा-
लियं जंतं णाम ।—जो सिंह और व्याघ्र आदिके धरनेके लिए
बनाया जाता है और जिसके भीतर बकरा रखा जाता है, उसे यंत्र
कहते हैं ।

यंत्र—कुछ विशिष्ट प्रकारके अक्षर, शब्द व मन्त्र रचना जो कोष्ठक
आदि बनाकर उनमें चित्रित किये जाते हैं, यंत्र कहलाते हैं।
मन्त्र शास्त्रके अनुसार इसमें कुछ अलौकिक शक्ति मानी गयी है,
और इसीलिए जैन सम्प्रदायमें इसे पूजा व विनयका विशेष स्थान
प्राप्त है । मन्त्र सिद्धि, पूजा, प्रतिष्ठा व यज्ञ विधान आदिकोमे इनका
बहुलतासे प्रयोग किया जाता है । प्रयोजनके अनुसार अनेक यंत्र
रूढ हैं और बनाये जा सकते हैं, जिनमेंसे प्रायः प्रयोगमें आनेवाले
कुछ प्रसिद्ध यंत्र यहाँ दिये जाते हैं ।

१. अंकुरार्पण यन्त्र
२. अग्नि मण्डल यन्त्र
३. अर्हन् मण्डल यन्त्र

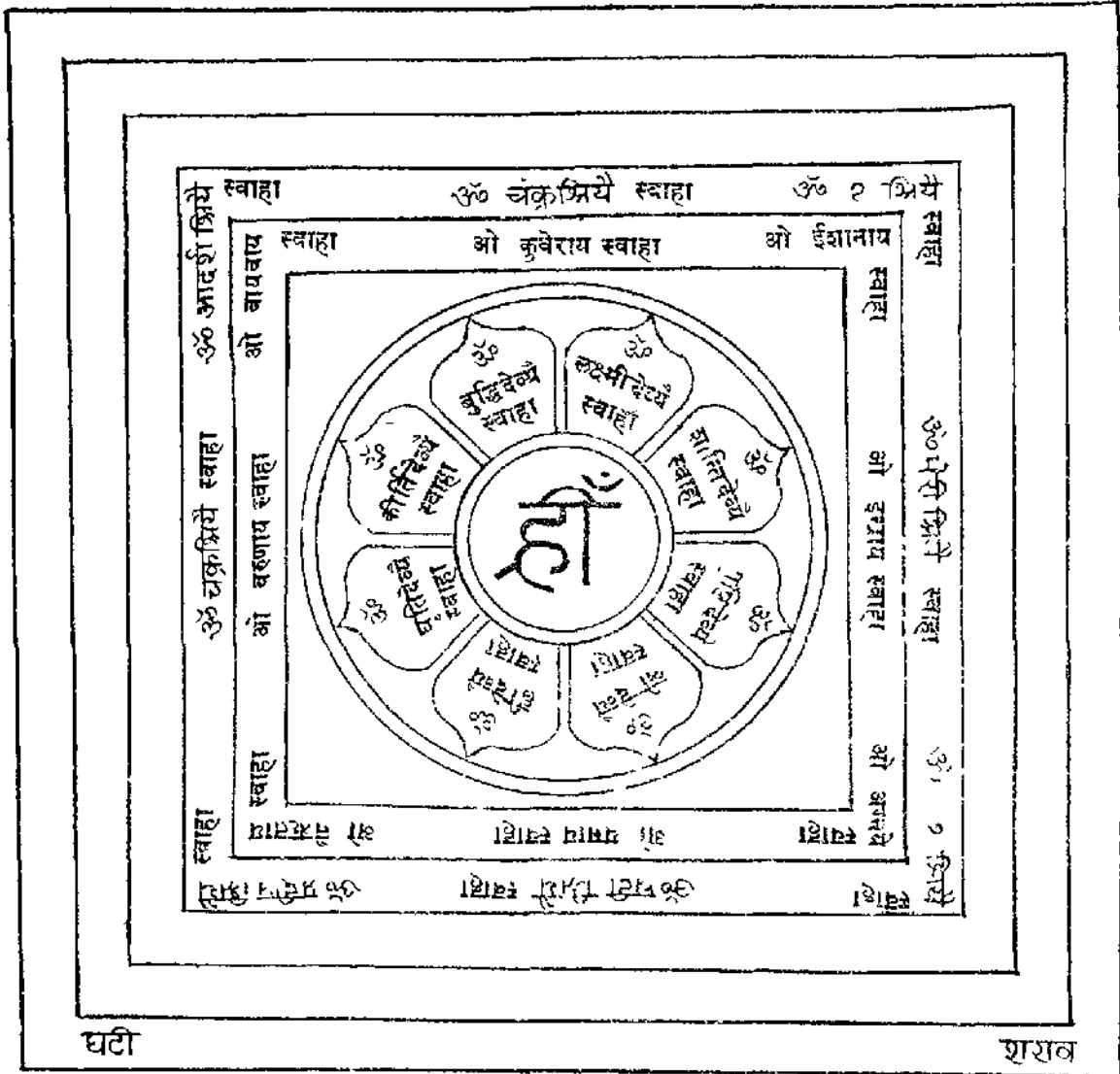
४. षष्ठि मण्डल यन्त्र
५. कर्म दहन यन्त्र
६. कलिकुण्ड दण्ड यन्त्र
७. कल्याण त्रैलोक्यसार यन्त्र
८. कुल यन्त्र
९. कूर्म चक्र यन्त्र
१०. गन्ध यन्त्र
११. गणधरवलय यन्त्र
१२. गटस्थानोपयोगी यन्त्र
१३. चिन्तामणि यन्त्र
१४. चौबीसी मण्डल यन्त्र
१५. जल मण्डल यन्त्र
१६. जलाधिवासन यन्त्र
१७. णमोकार यन्त्र
१८. दशलाक्षणिक धर्मचक्रोद्धार यन्त्र
१९. नयनोन्मीलन यन्त्र
२०. निर्वाण सम्पत्ति यन्त्र
२१. पीठ यन्त्र
२२. पूजा यन्त्र
२३. बोधिसमाधि यन्त्र
२४. मातृका यन्त्र (क) व (ख)
२५. मृत्तिकानयन यन्त्र
२६. मृत्युञ्जय मन्त्र
२७. मोक्षमार्ग यन्त्र
२८. यन्त्रेश यन्त्र
२९. रत्नत्रय चक्र यन्त्र
३०. रत्नत्रय विधान यन्त्र
३१. रक्मपात्राङ्कित तीर्थमण्डल यन्त्र
३२. रक्मपात्राङ्कित वरुणमण्डल यन्त्र
३३. रक्मपात्राङ्कित ब्रजमण्डल यन्त्र
३४. वर्द्धमान यन्त्र
३५. वश्य यन्त्र
३६. विनायक यन्त्र
३७. शान्ति यन्त्र
३८. शान्ति चक्र यन्त्रोद्धार
३९. शान्ति विधान यन्त्र
४०. षोडशकारण धर्मचक्रोद्धार यन्त्र
४१. सरस्वती यन्त्र
४२. सर्वतोभद्र यन्त्र (लघु)
४३. सर्वतोभद्र यन्त्र (बृहत्)
४४. सारस्वत यन्त्र
४५. सिद्धचक्र यन्त्र (लघु)
४६. सिद्धचक्र यन्त्र (बृहत्)
४७. सुरेन्द्रचक्र यन्त्र
४८. स्तम्भन यन्त्र

१- अंकुरार्षण यंत्र

सर्वीन्द्र यज्ञ

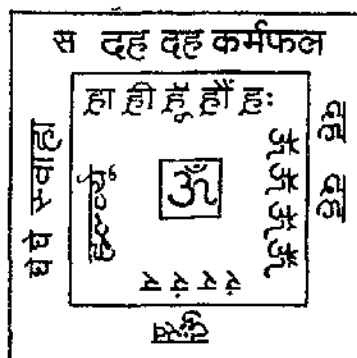
१
हस्त प्रमाण

पीठम्



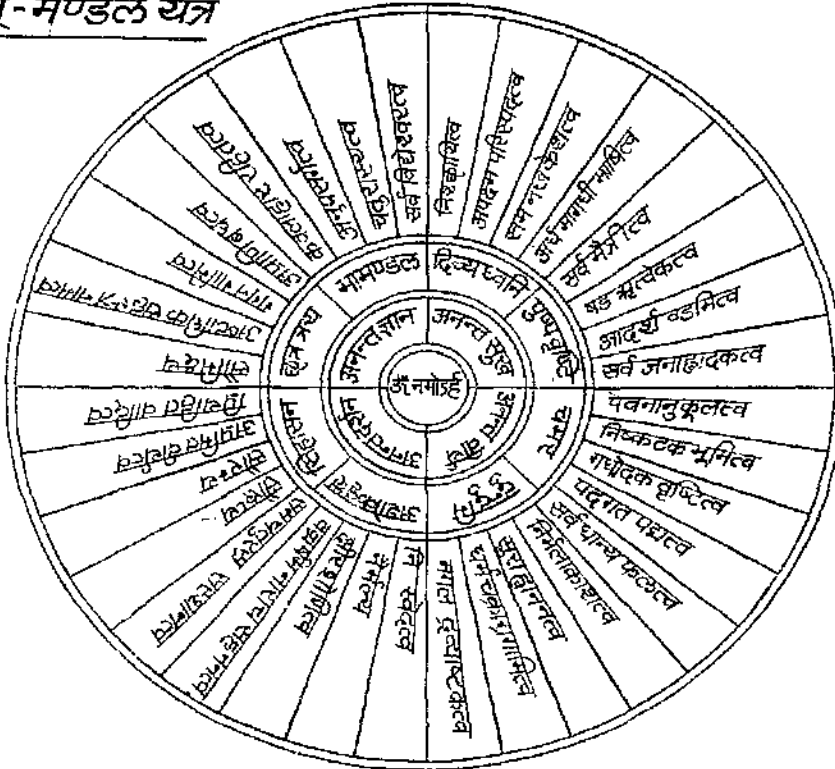
नोट- ऊपरसे घटुर्ष कोष्ठक्रमे दिये गए चक्रप्रिये आदि नाम सशित है।

२-अग्नि मण्डल यंत्र

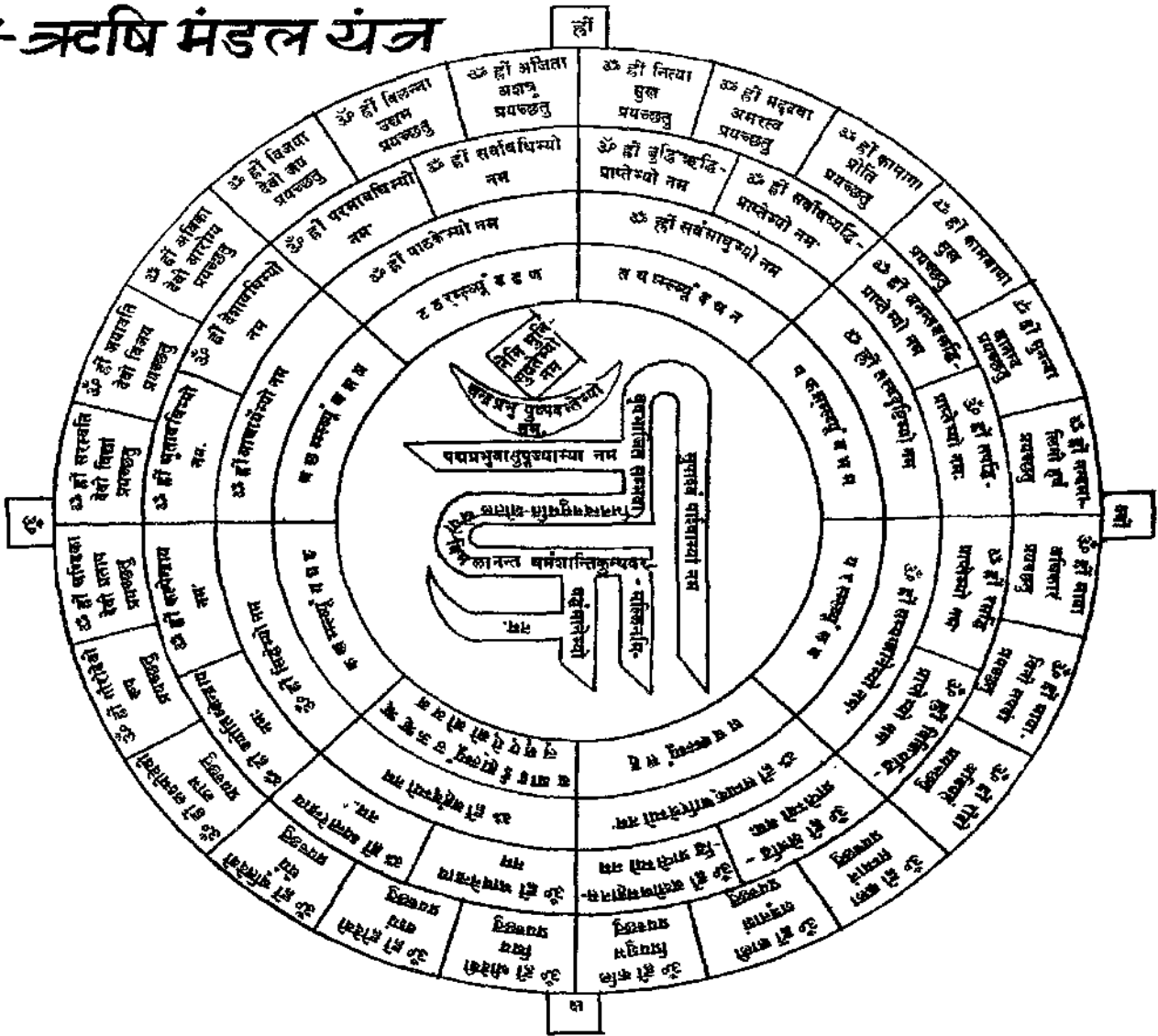


जनेन्द्र सिद्धान्त कोश

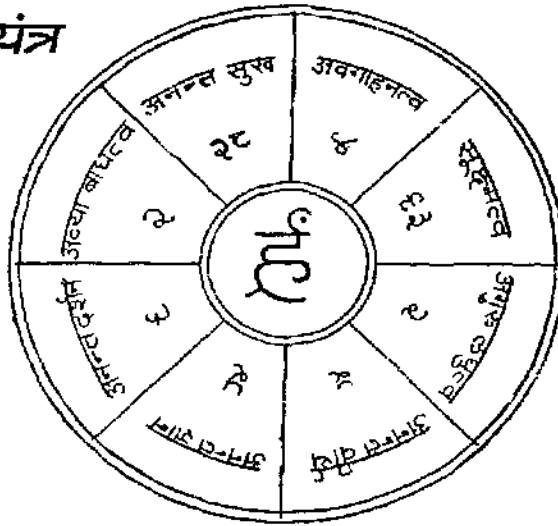
३- अर्ध-मण्डल यंत्र



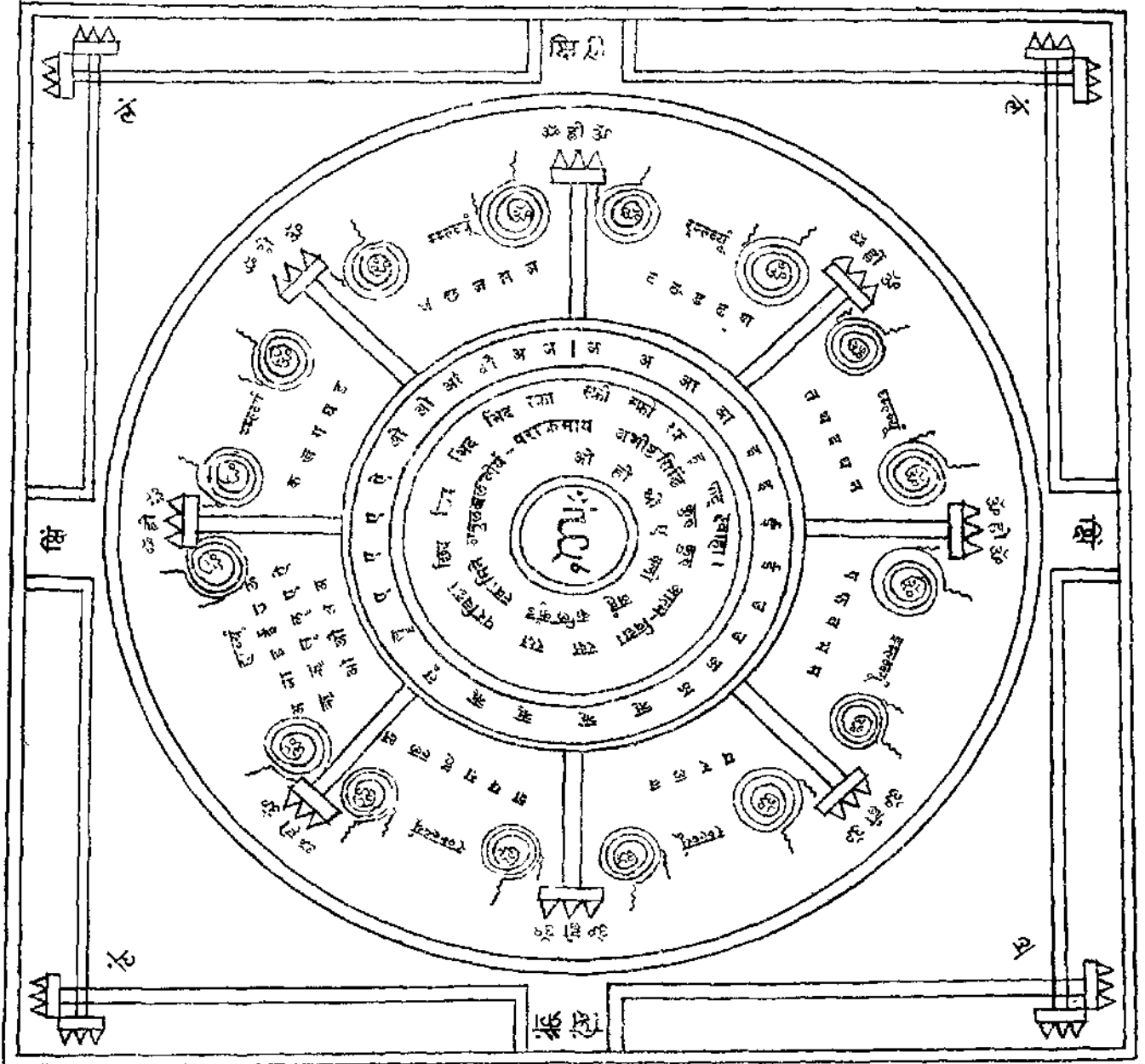
४- ऋषि मंडल यंत्र



५. कर्मदहन यंत्र



६- कलिकुण्डदण्ड यंत्र



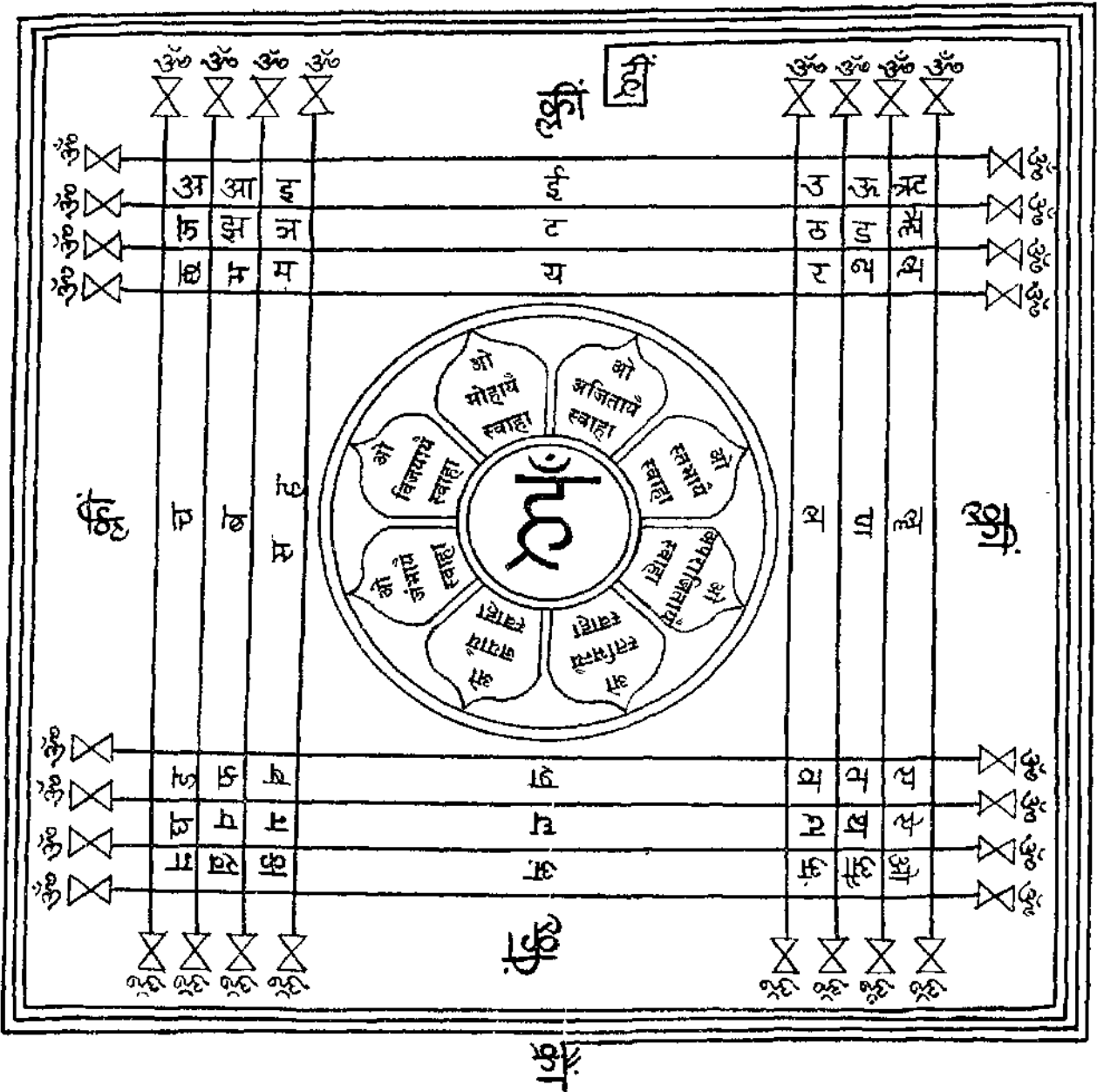
७- कल्याण त्रैलोक्यसार यंत्र



६- कूर्म चक्र यंत्र

ल क्ख	क ख ग घ ङ	च छ ज झ ञ
श ष स ह	अ आ	इ ई
	ओ औ	उ ऊ
	ए ऐ	ऋ ॠ
य र ल व	प फ ब भ म	त थ द ध न

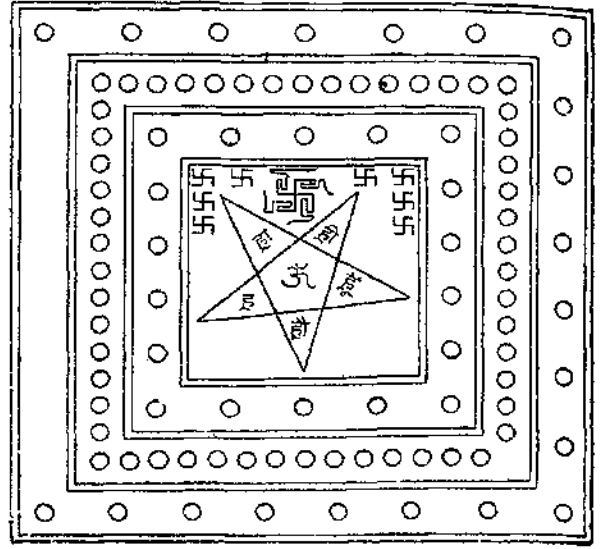
८- कुल यंत्र



१०-गंध यंत्र

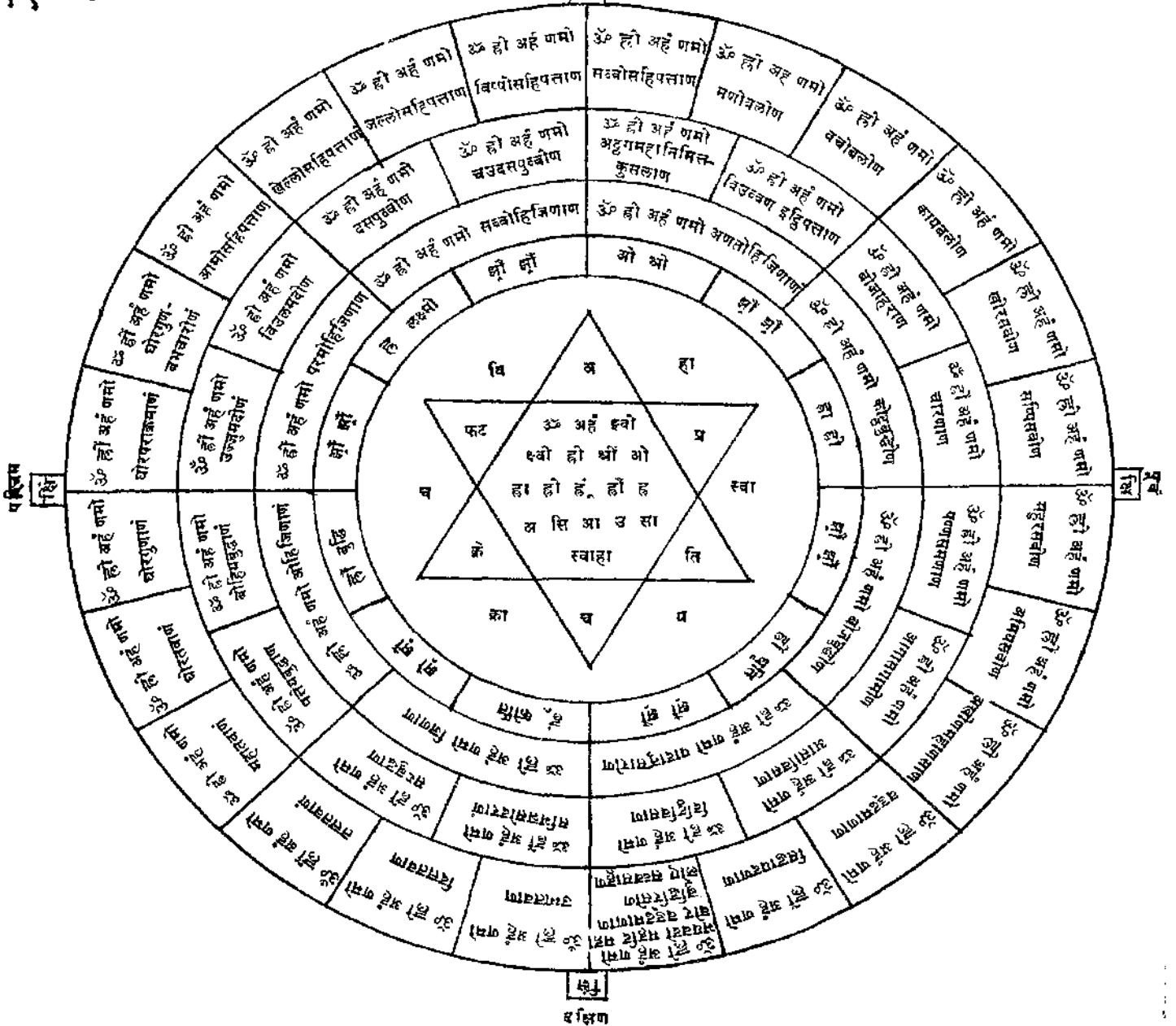


१२-घट स्थानोपयोगी यंत्र



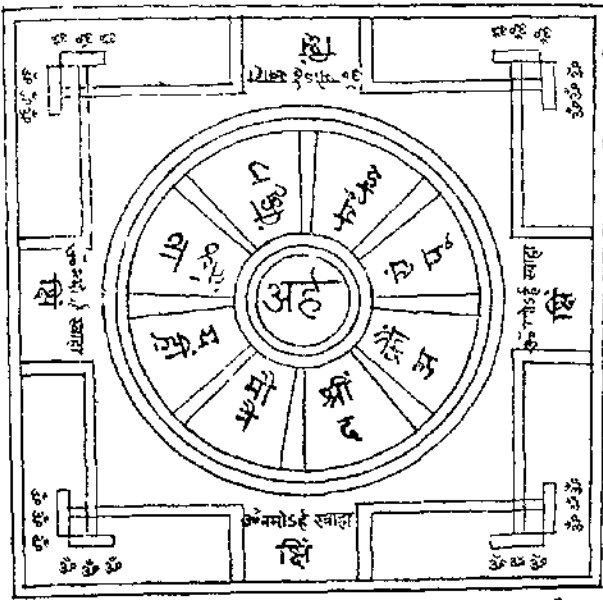
११-गणधर वलय यंत्र

उत्तर
दिशि

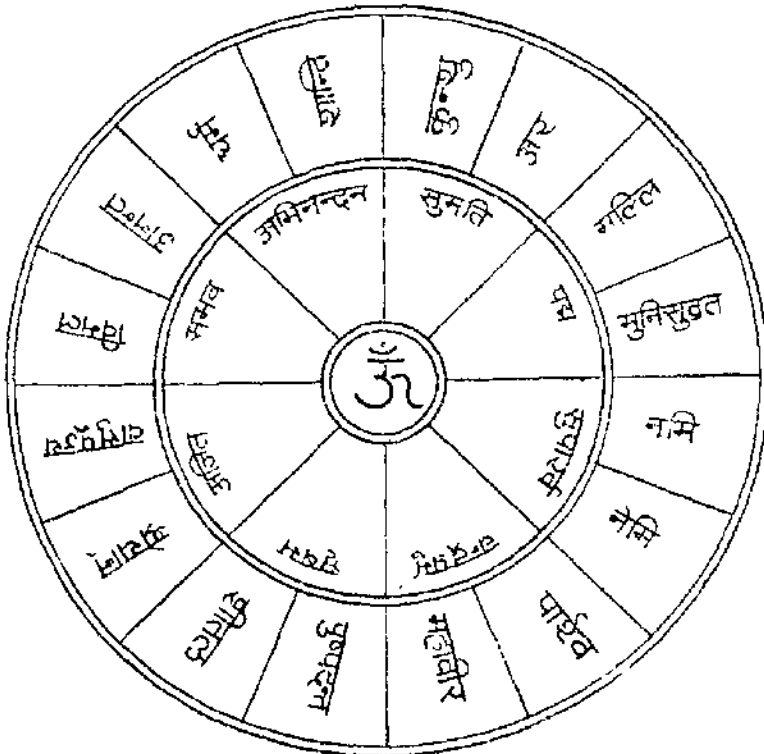


१३-चिन्तामणि यंत्र

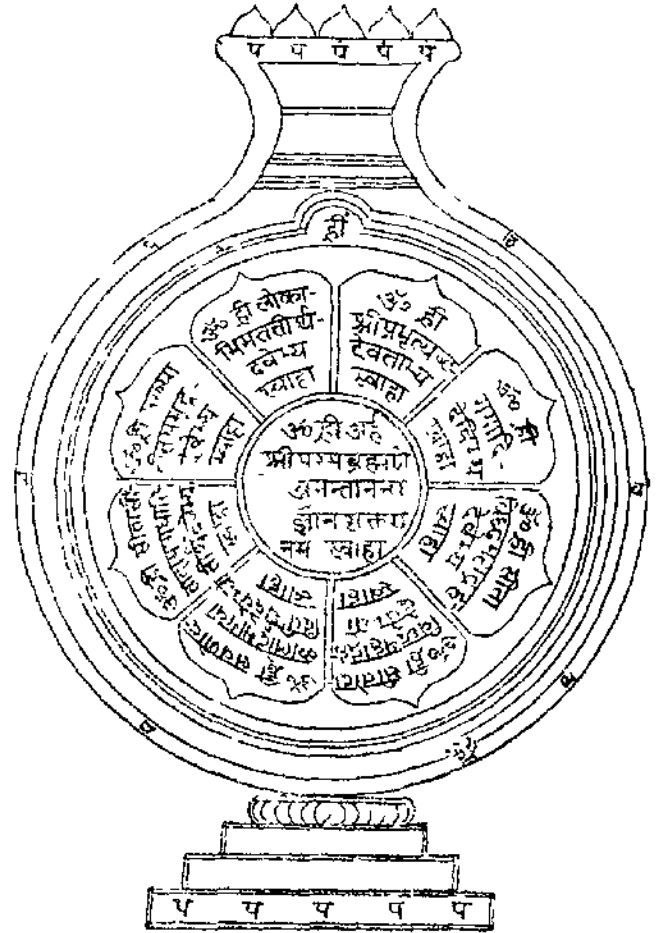
(मूल मंत्र - ॐ नमोः ३ ए श्री ही लोकी स्वाहा ॥)



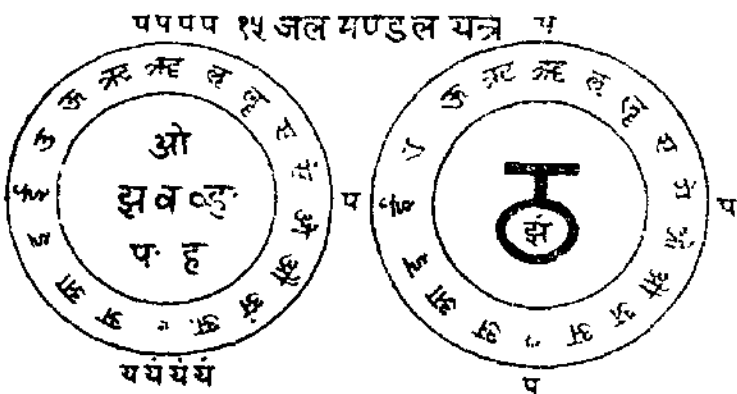
१४-चौबीसी मण्डल यंत्र



१६-जलादिवासन यंत्र

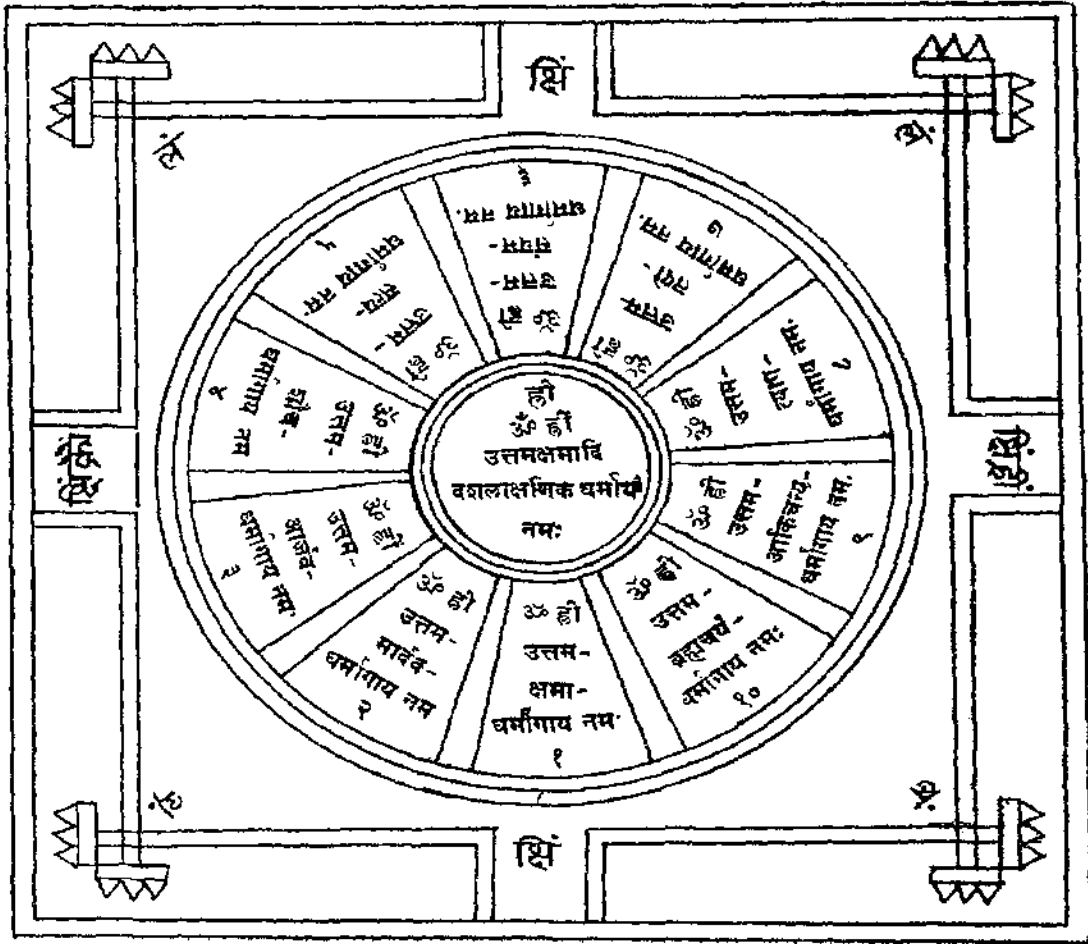


१७-णमोकार यंत्र

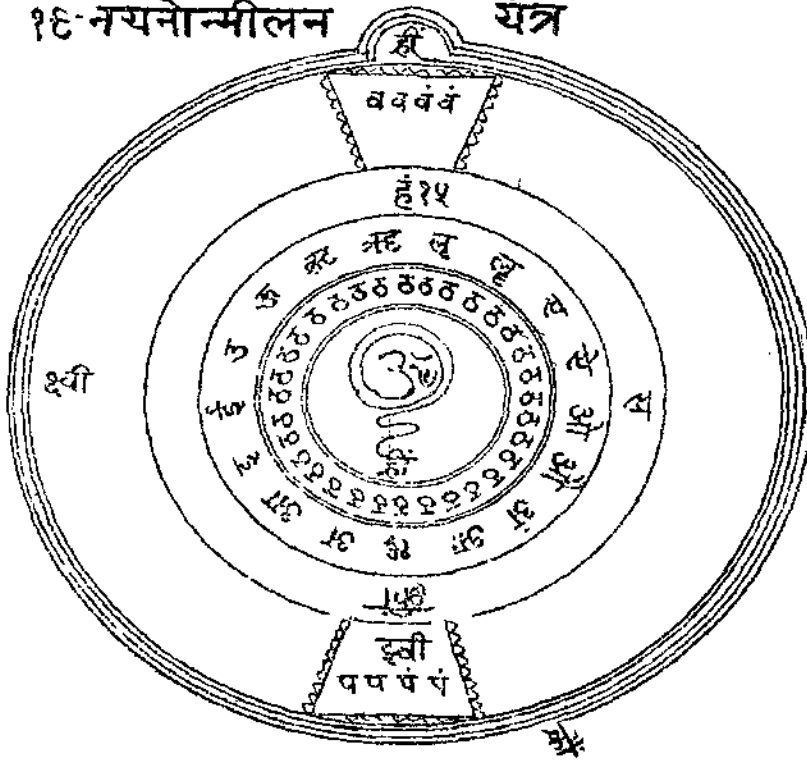


१	२	३	४	५
२	३	४	५	१
३	४	५	१	२
४	५	१	२	३
५	१	२	३	४

१८-दशलाक्षणिक धर्म चक्रोद्धार यंत्र

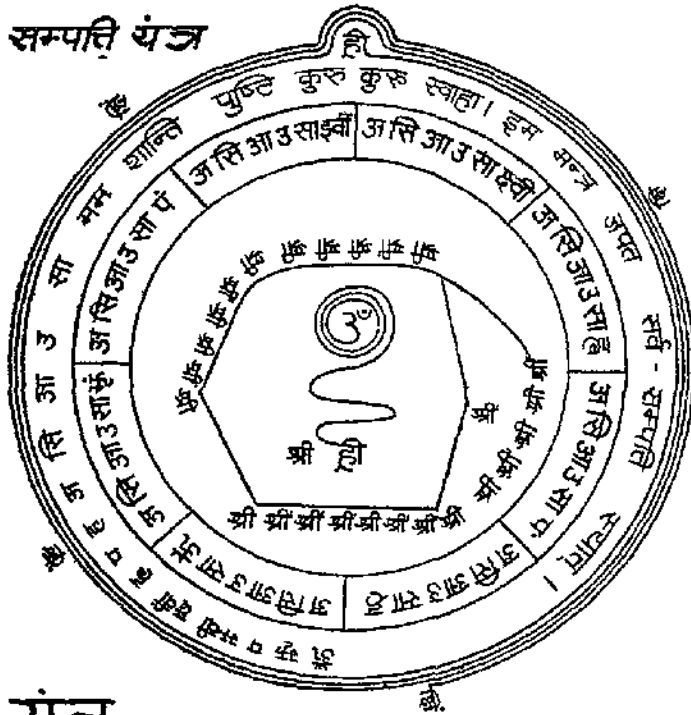


१९-नयनोन्मीलन यंत्र

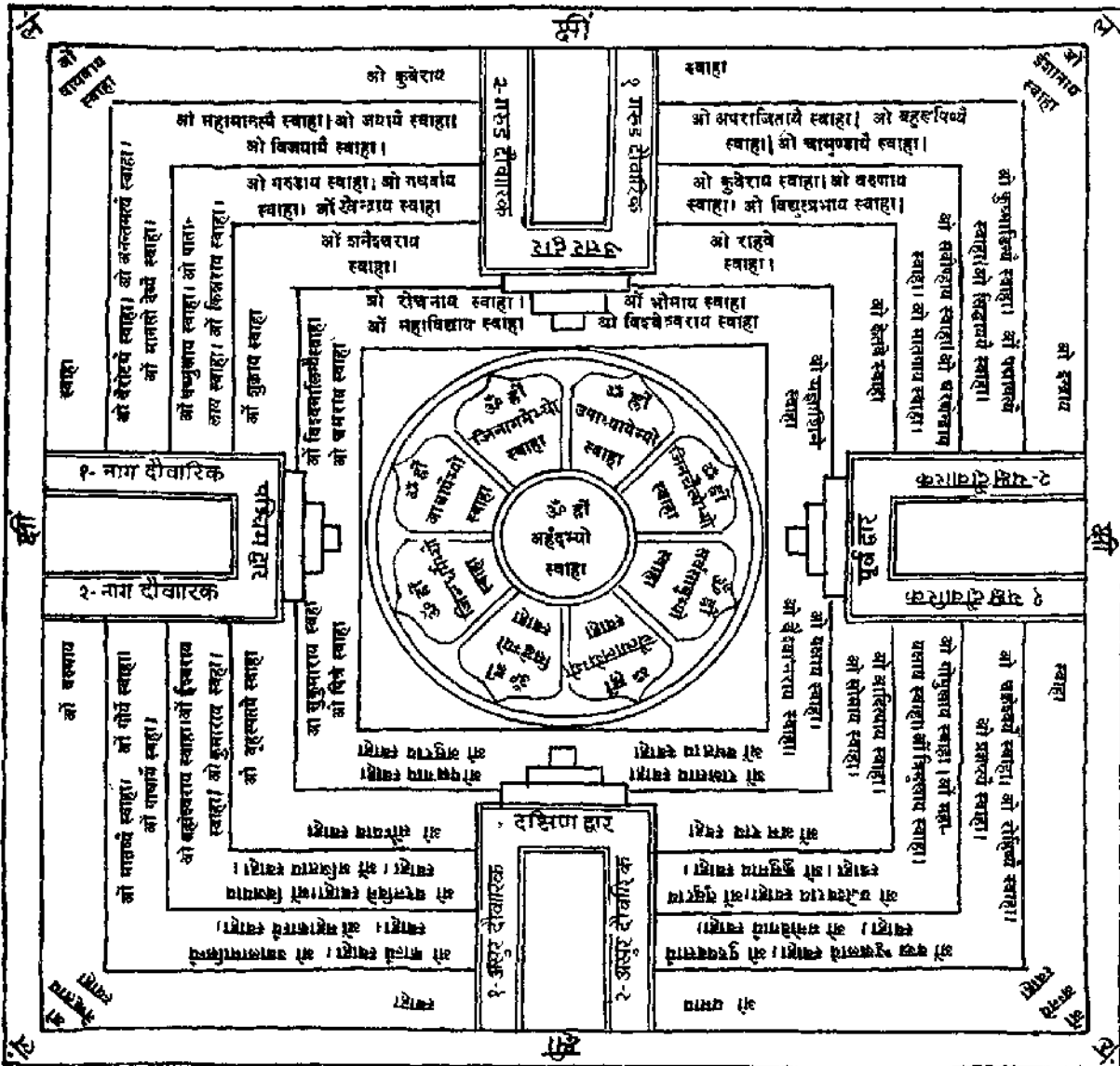


जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश

२०-निर्वीण सम्पत्ति यंत्र

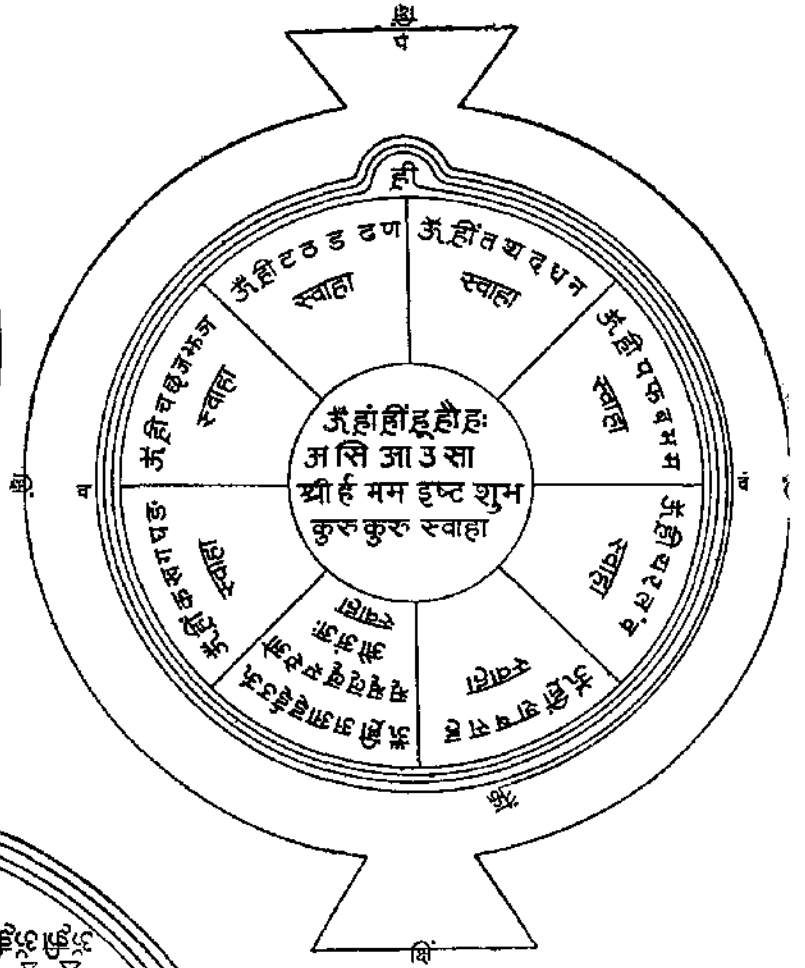
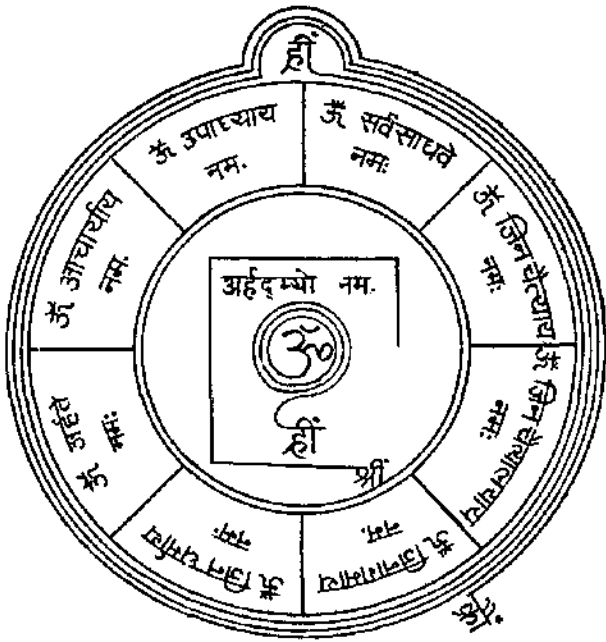


२१- पीठ यंत्र



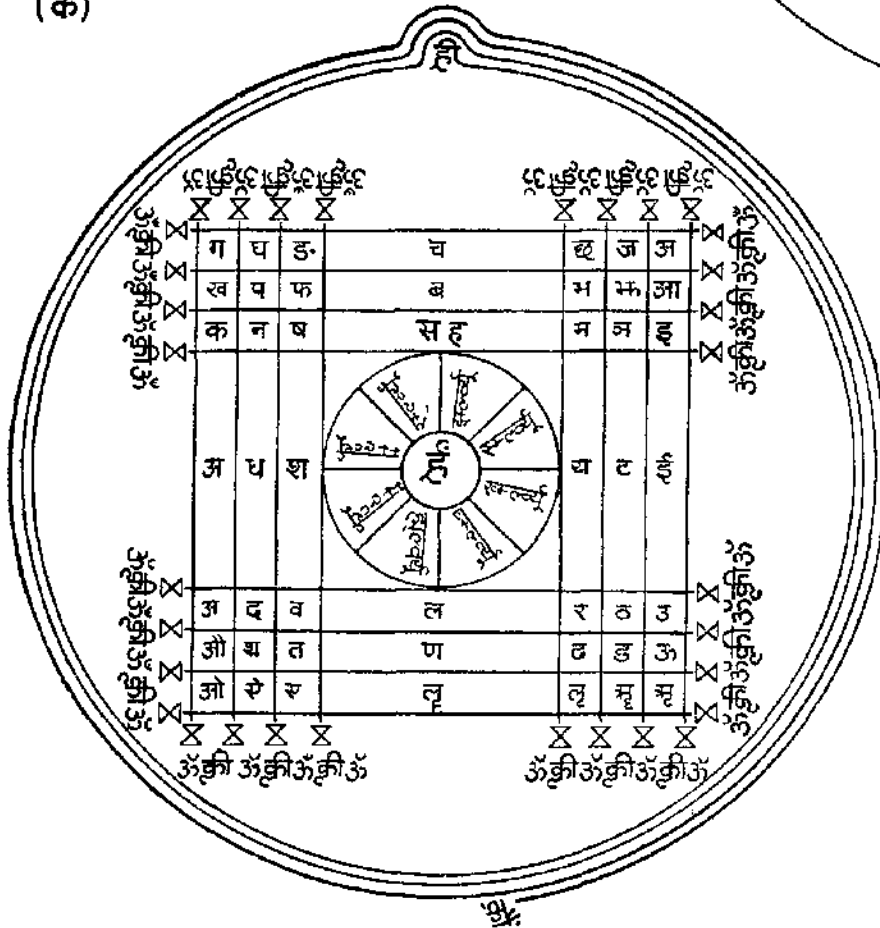
२२- पूजा यंत्र

२३- बोधि समाधि यंत्र



२४-मातृका यंत्र

(क)



२४ (ख)

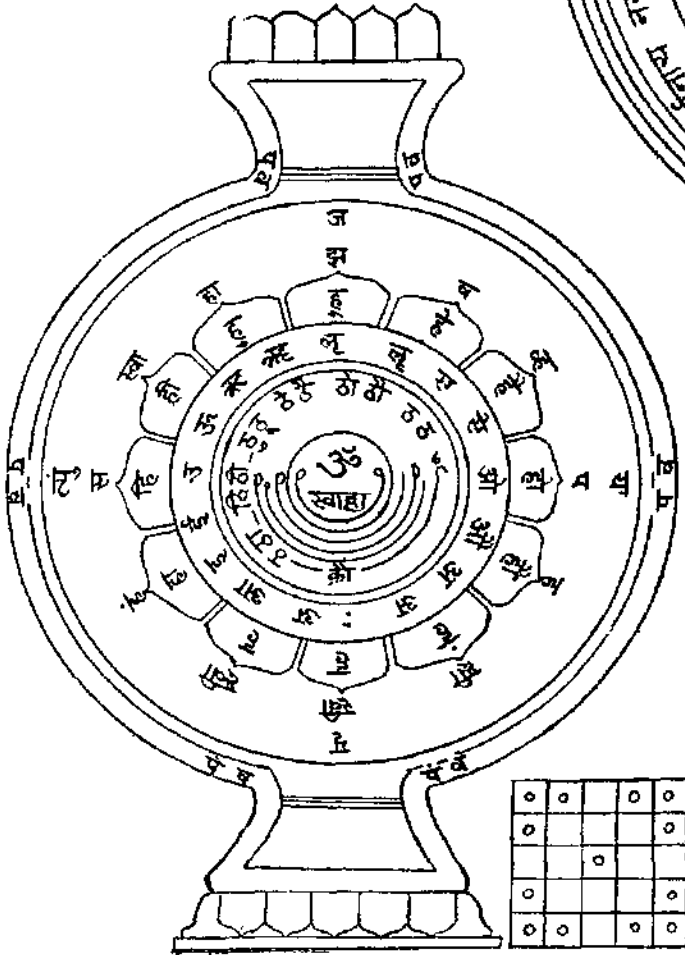
ॐ नमो	क ख ग घ ङ	च छ ज भ म
	अ आ	इ ई
शिव सह	ओ औ	उ ऊ
	स से	ट ठ ड ढ ण
अरल व	प फ ब म म	त थ द ध

ॐ ह्रीं ॐ ह्रीं स्वाहा

२५-मृत्तिकानयन यंत्र



२६-मृत्युञ्जय यंत्र

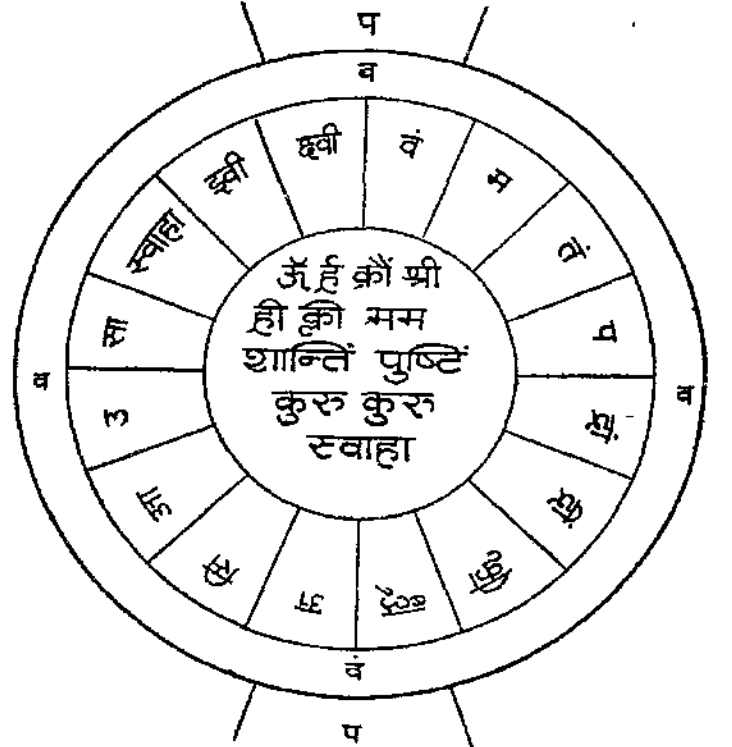


त्रिदशघट न्यासे सूत्रद्वादशक घट।
नय कोषेषु वैकतलघुसंमार्जनाविधिः॥

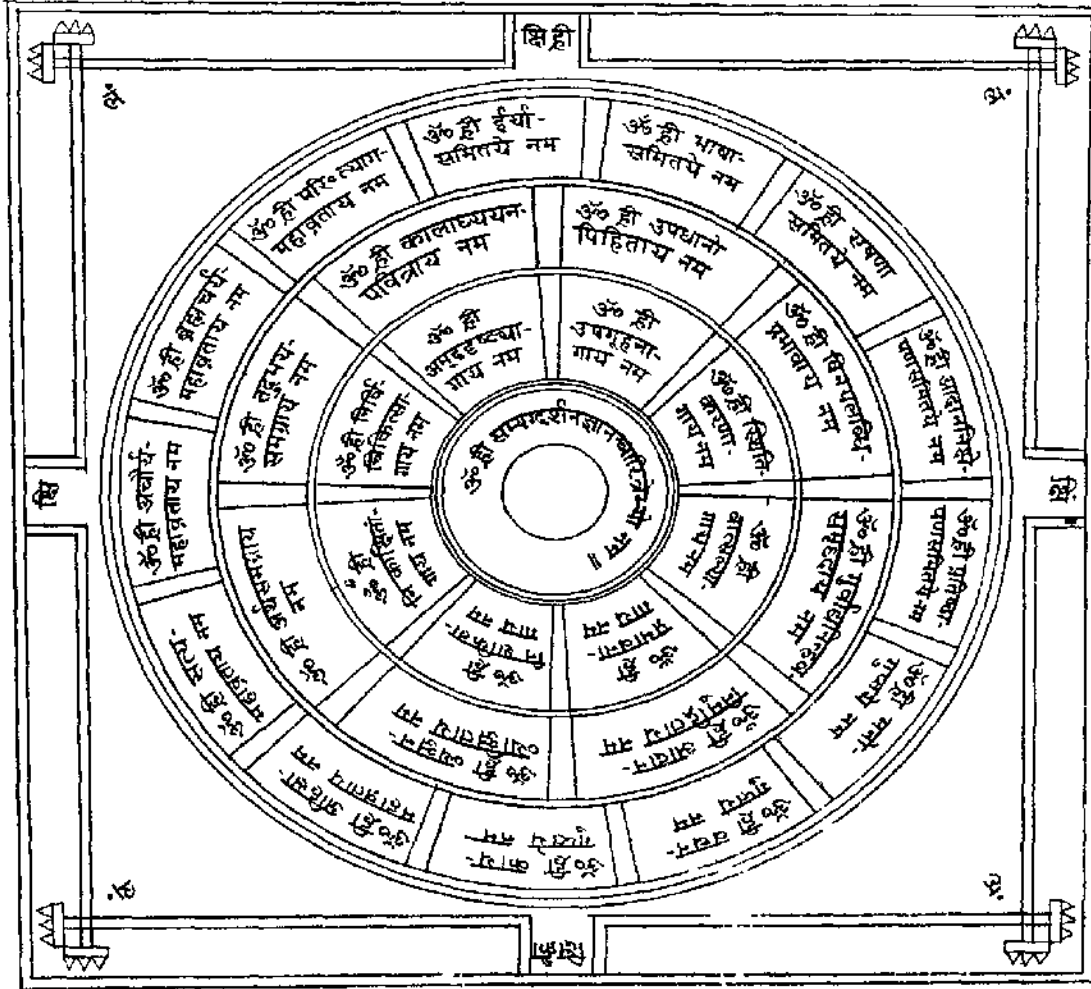
२७-मोक्षमार्ग यंत्र



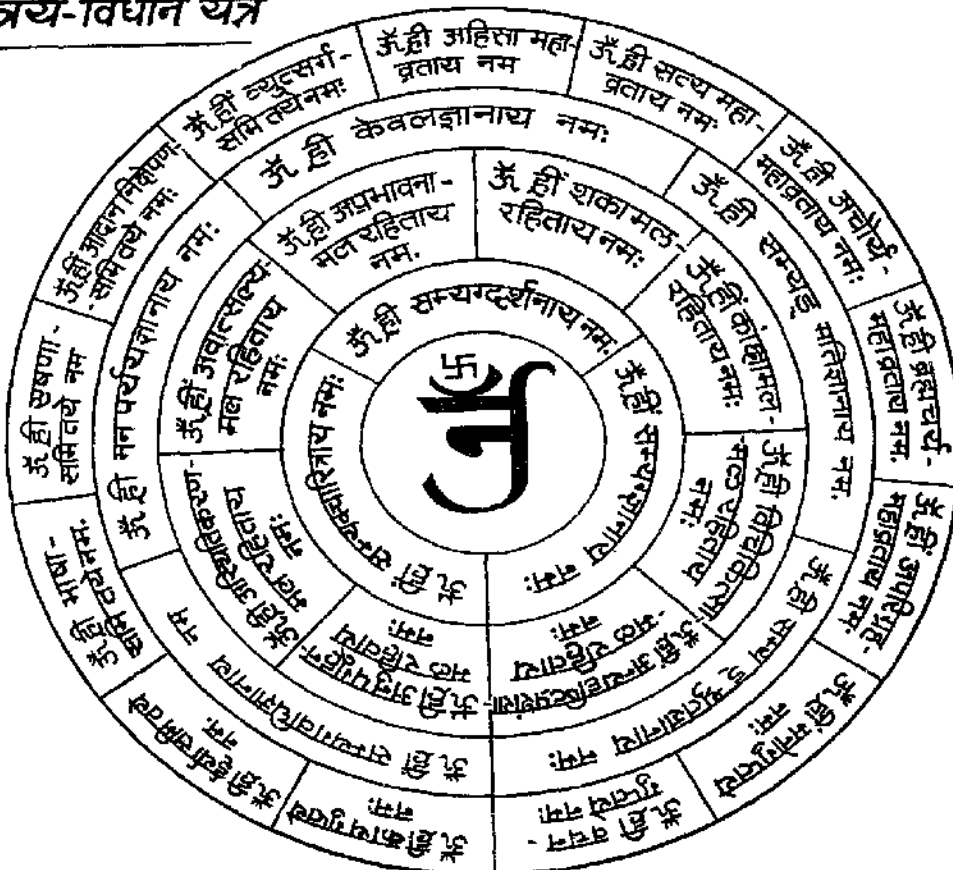
२८ यंत्रेश यंत्र



२६-रत्नत्रय चक्र संज्ञ



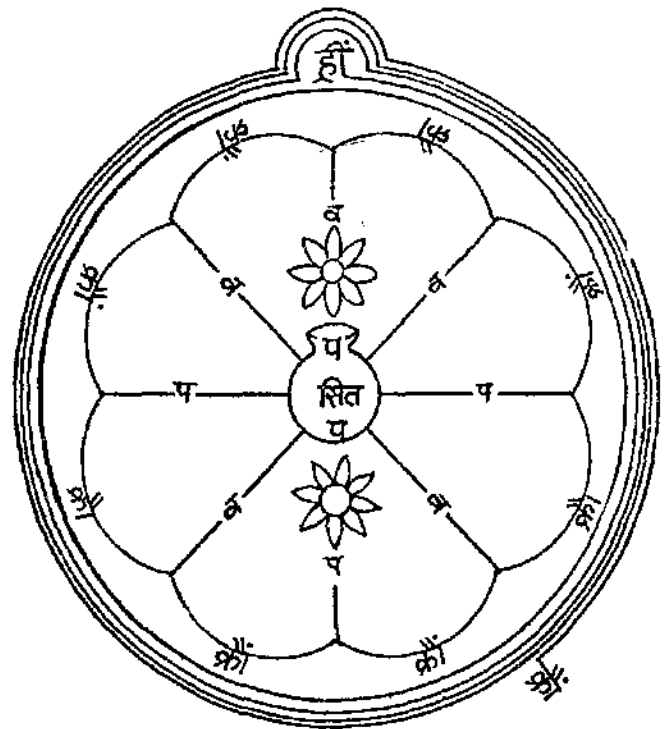
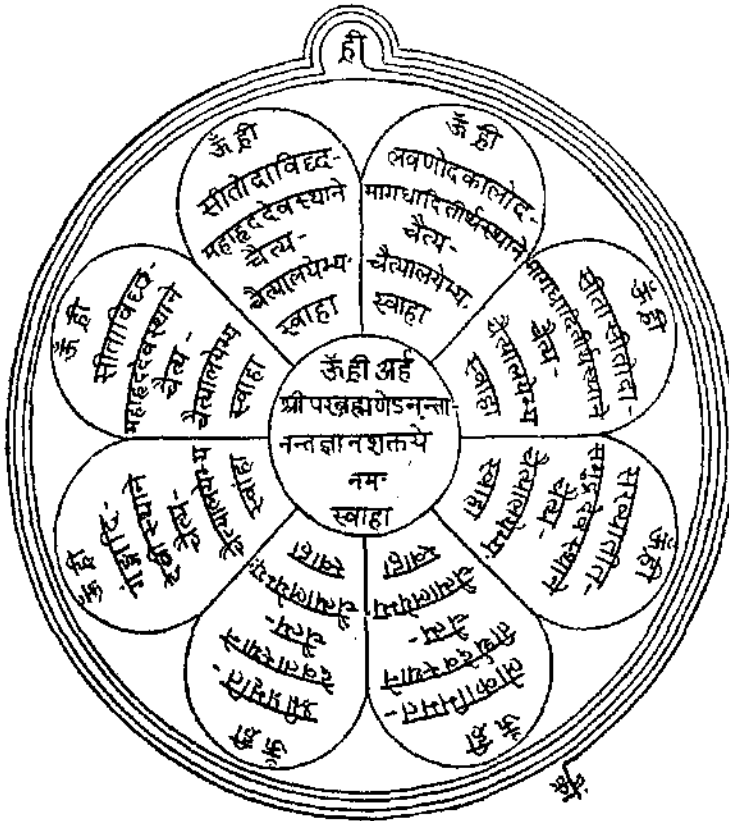
३०-रत्नत्रय-विधान संज्ञ



जनेन्द्र सिद्धान्त कोष

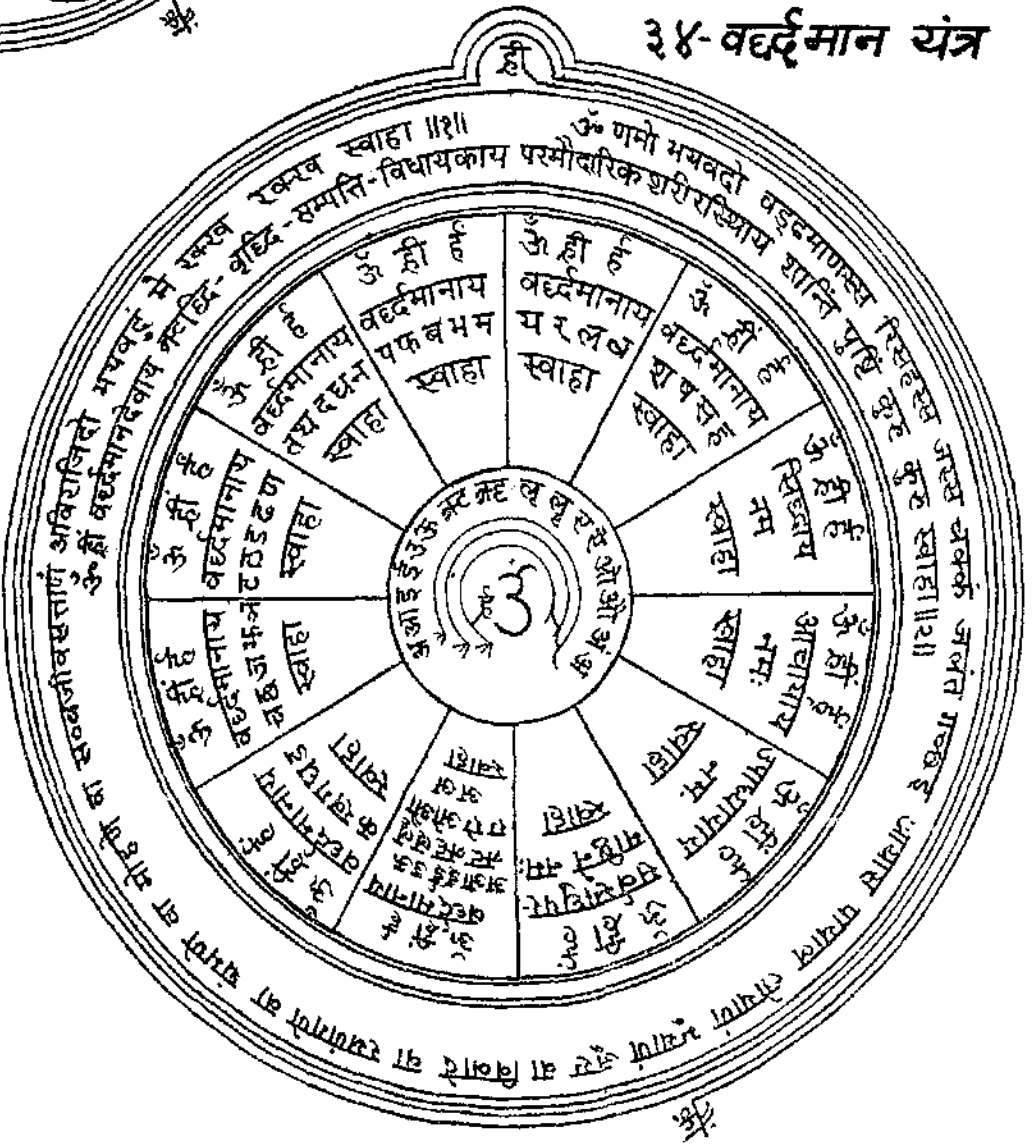
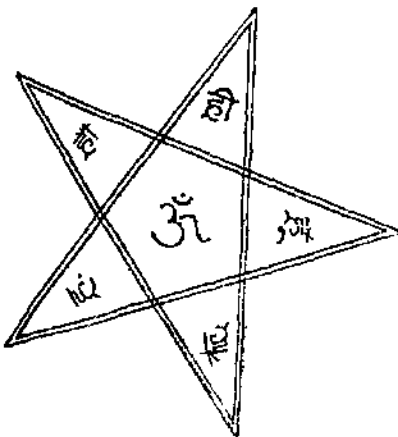
३१ - रुक्मपात्रांकित-तीर्थ-मण्डल यंत्र

३२ - रुक्मपात्रांकित-वरुण-मंडल यंत्र

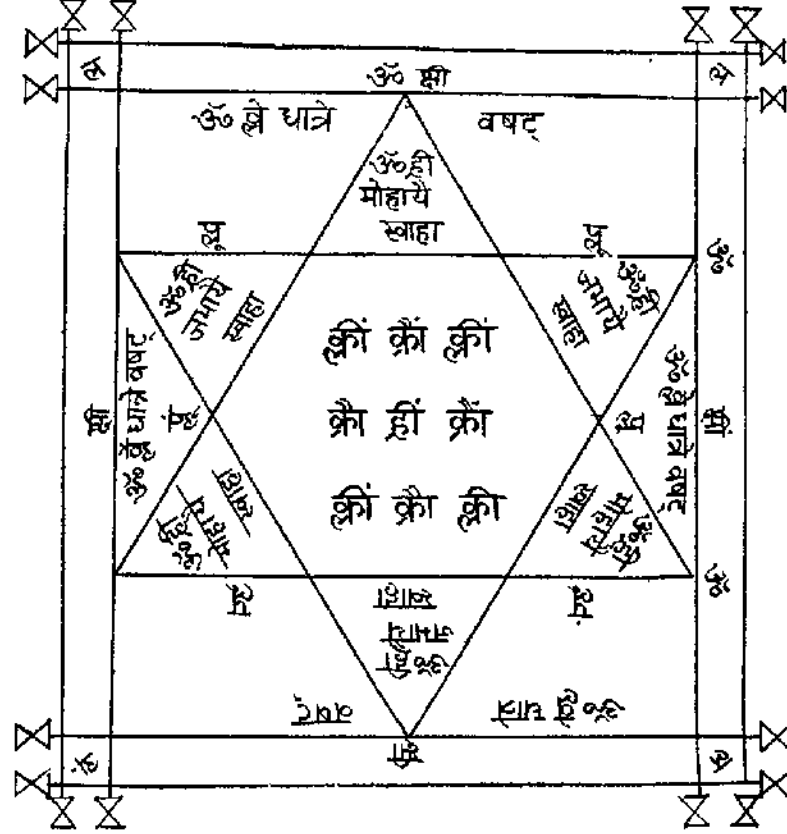


३४- वर्द्धमान यंत्र

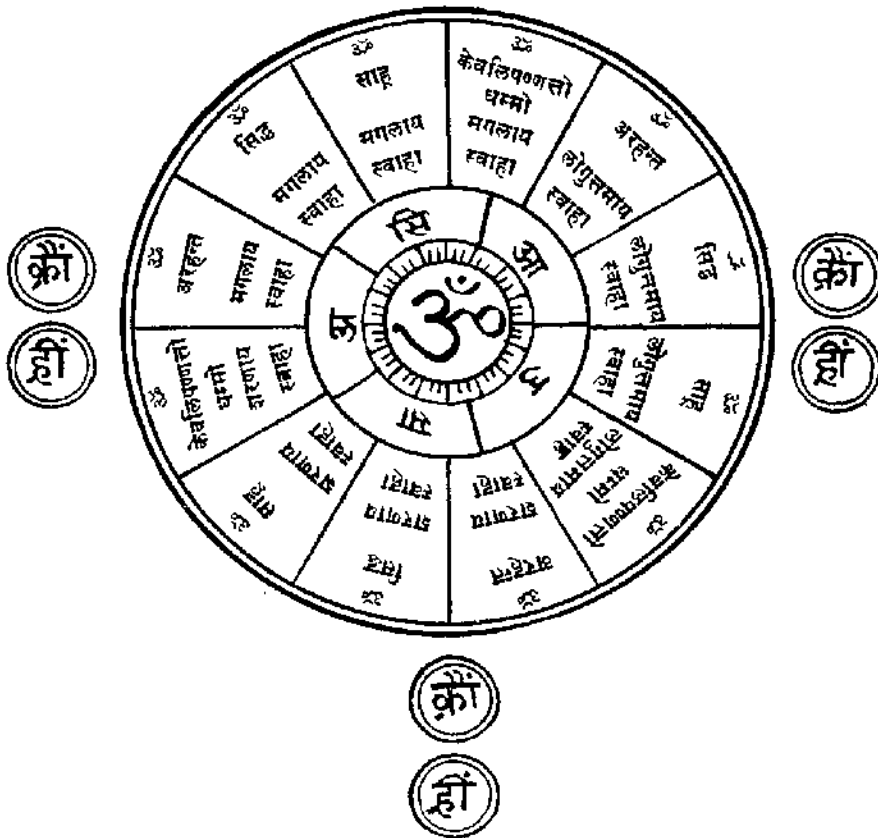
३३ - रुक्मपात्रांकित वज्रमंडल यंत्र



३५- वश्य यंत्र

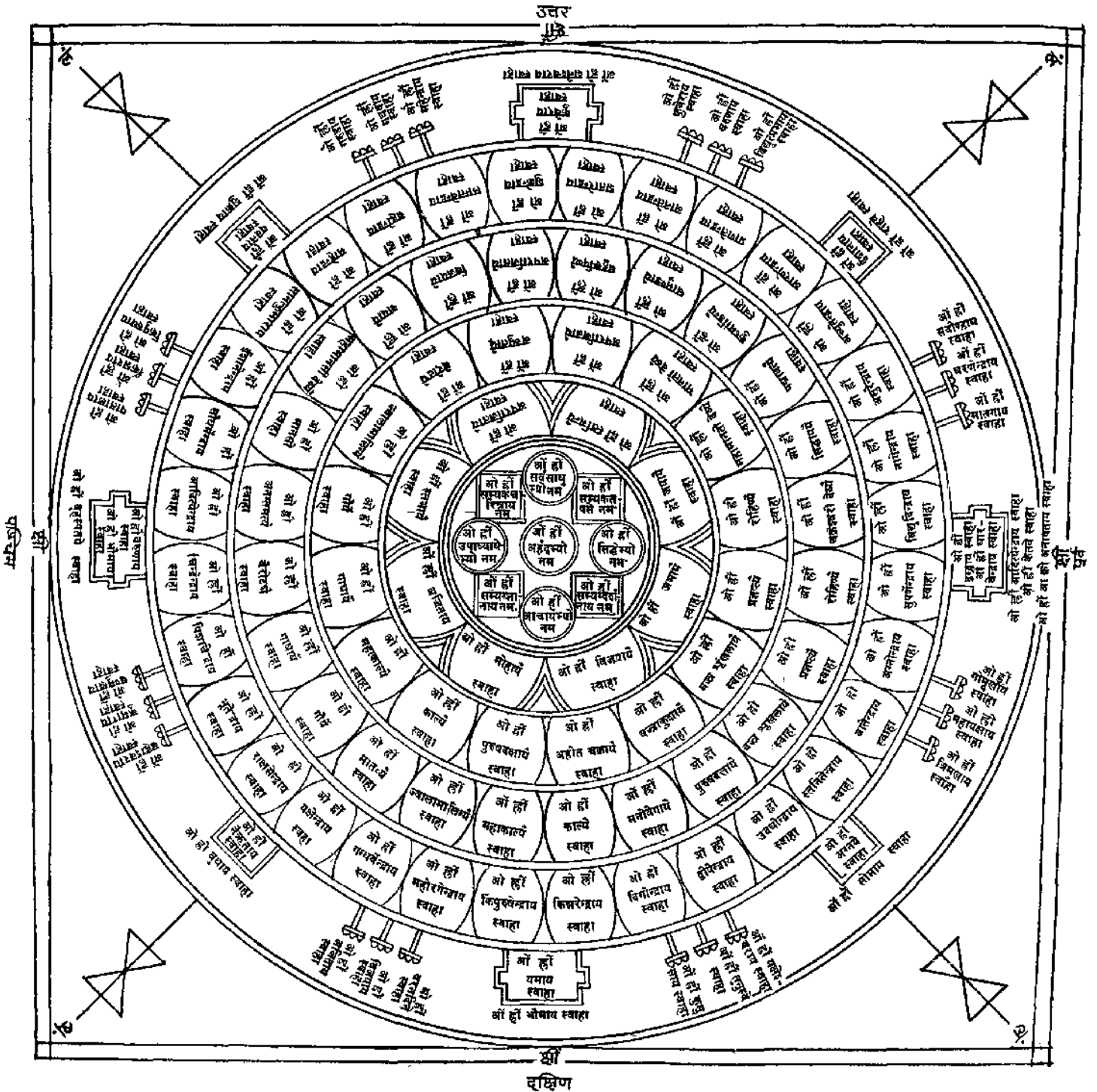


३६-विनायक यंत्र



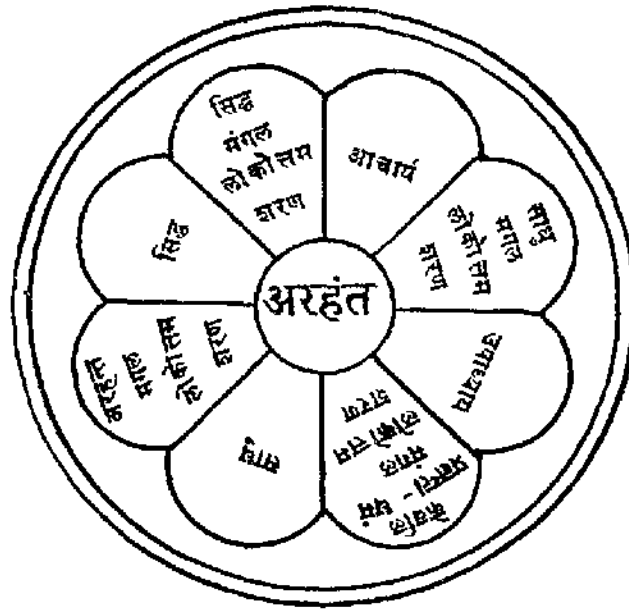
जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश

३८-शान्ति चक्र यंत्रोद्धार

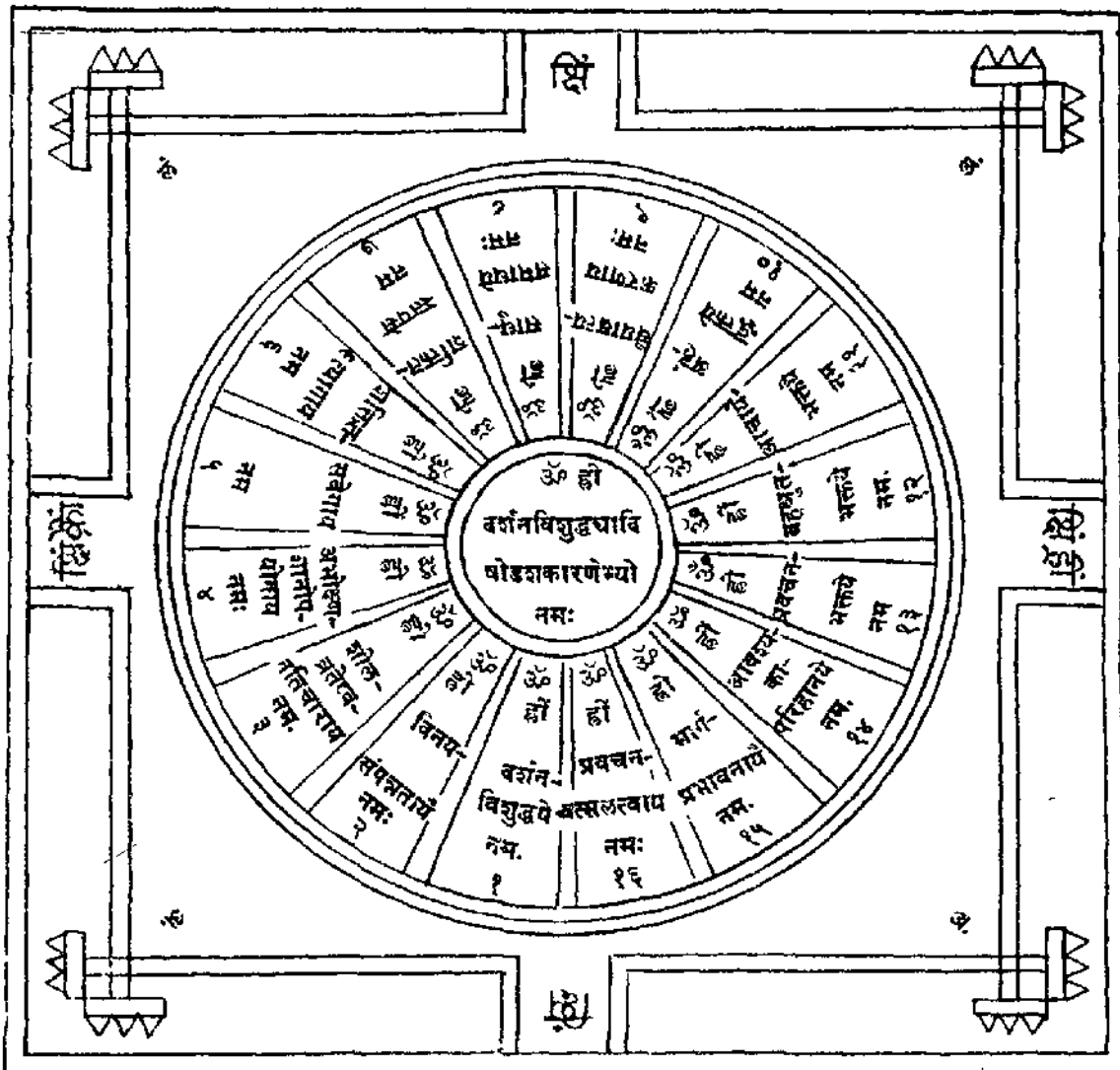


जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश

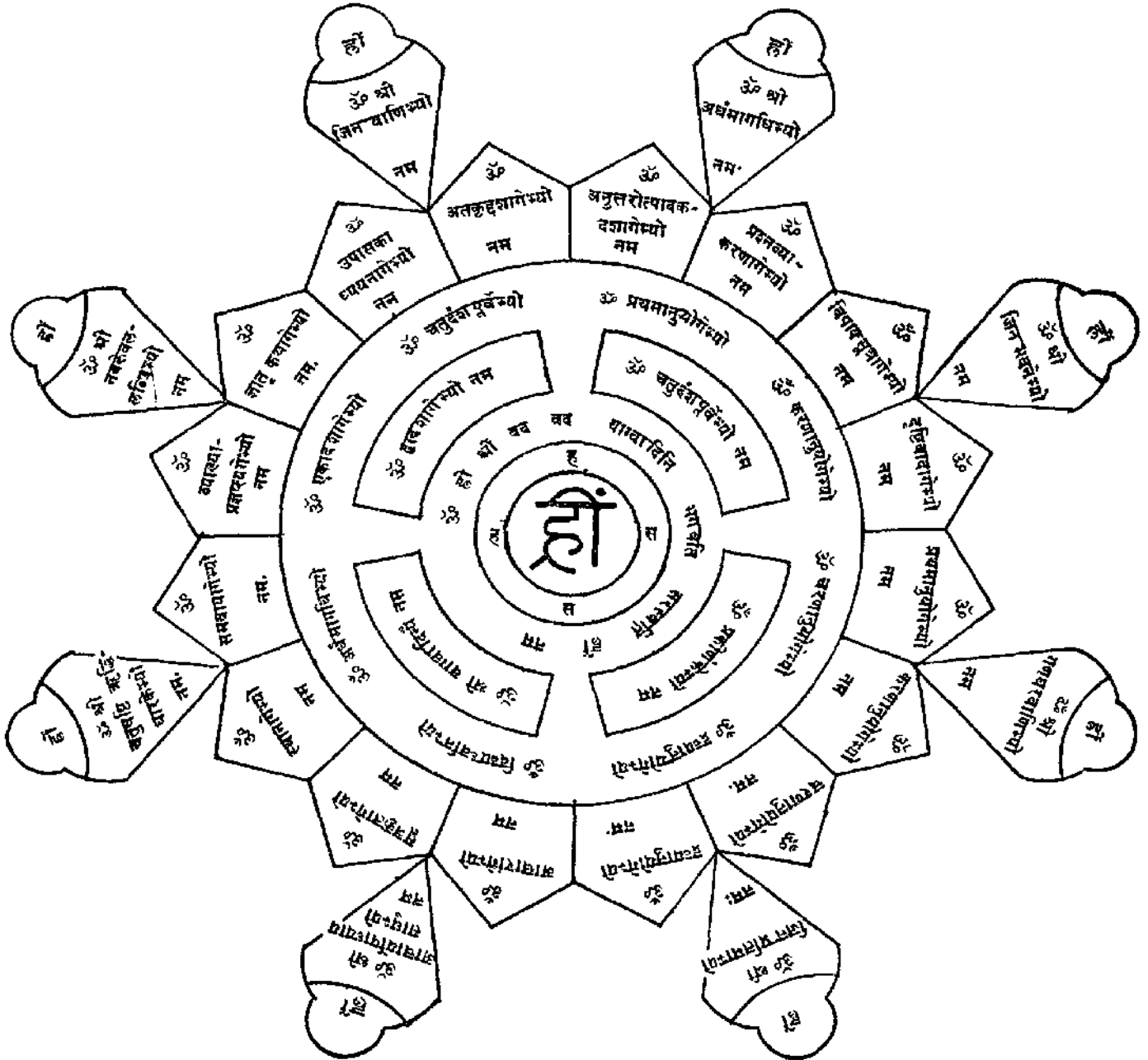
३६- शान्ति विधान यंत्र



४०-षोडशकारण धर्म चक्रोद्धार यंत्र

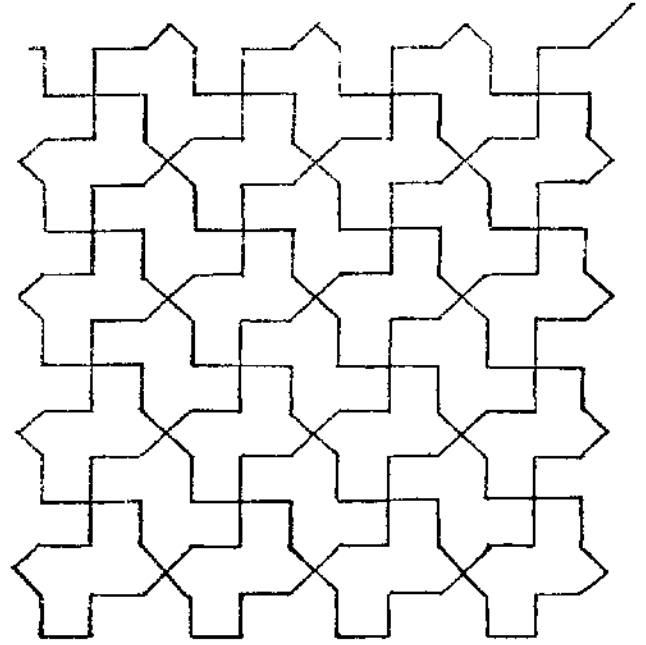
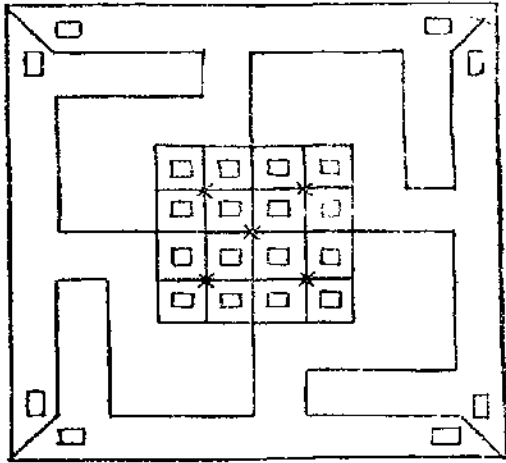


४१-सरस्वती यंत्र

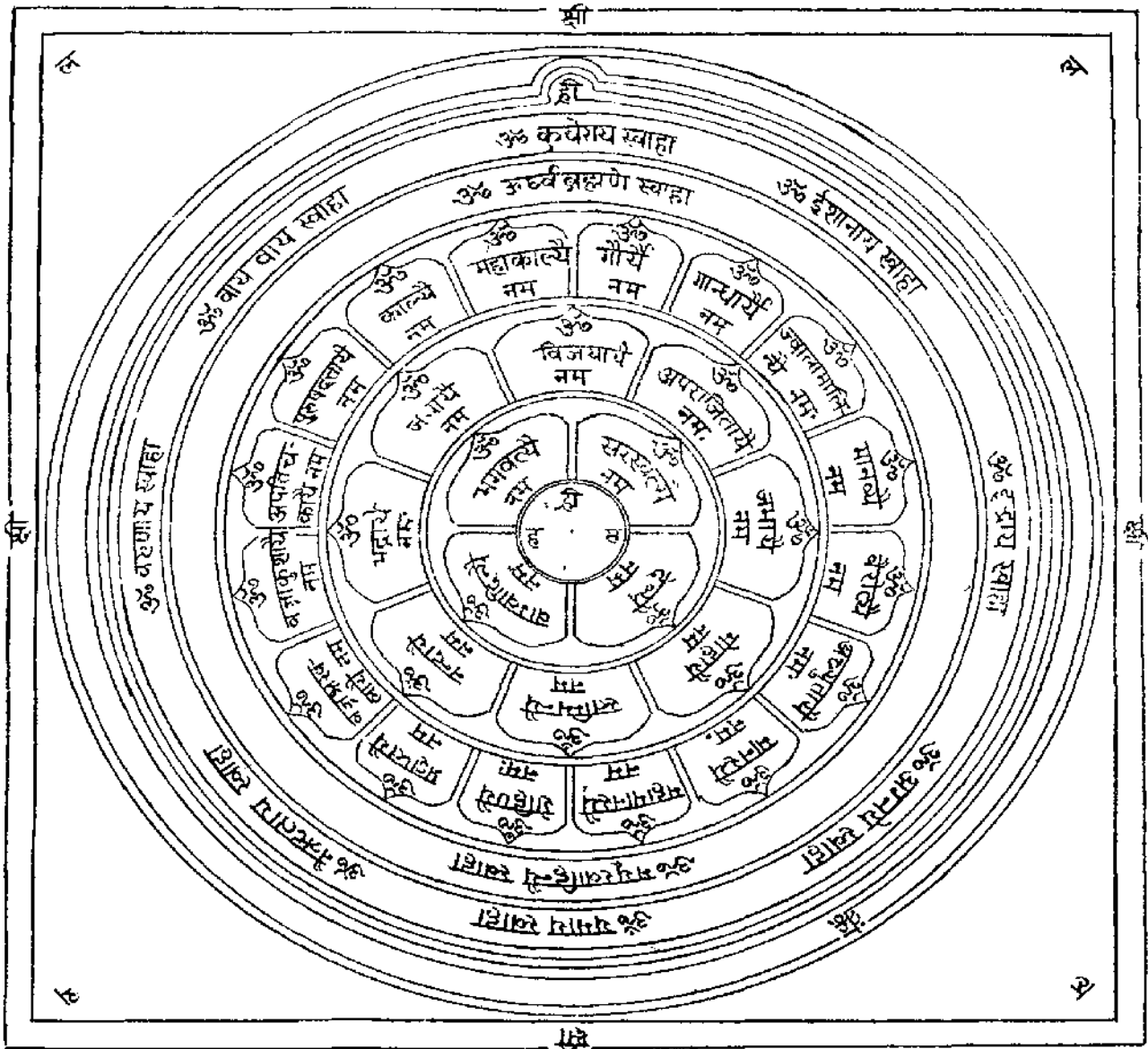


४२-सर्वतोमद् यंत्र (लघु)

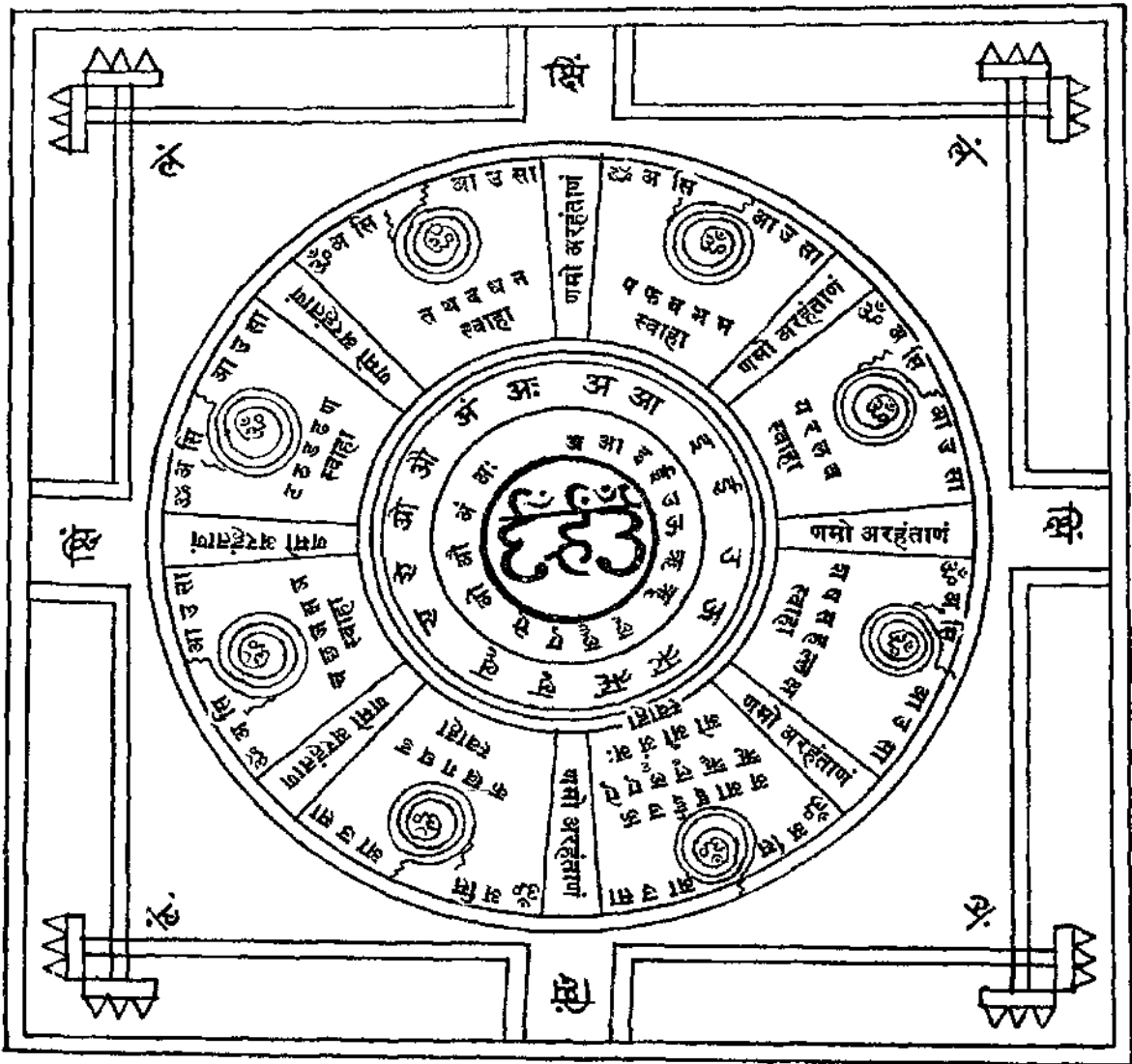
४३-सर्वतोमद् यंत्र (वृहत्)



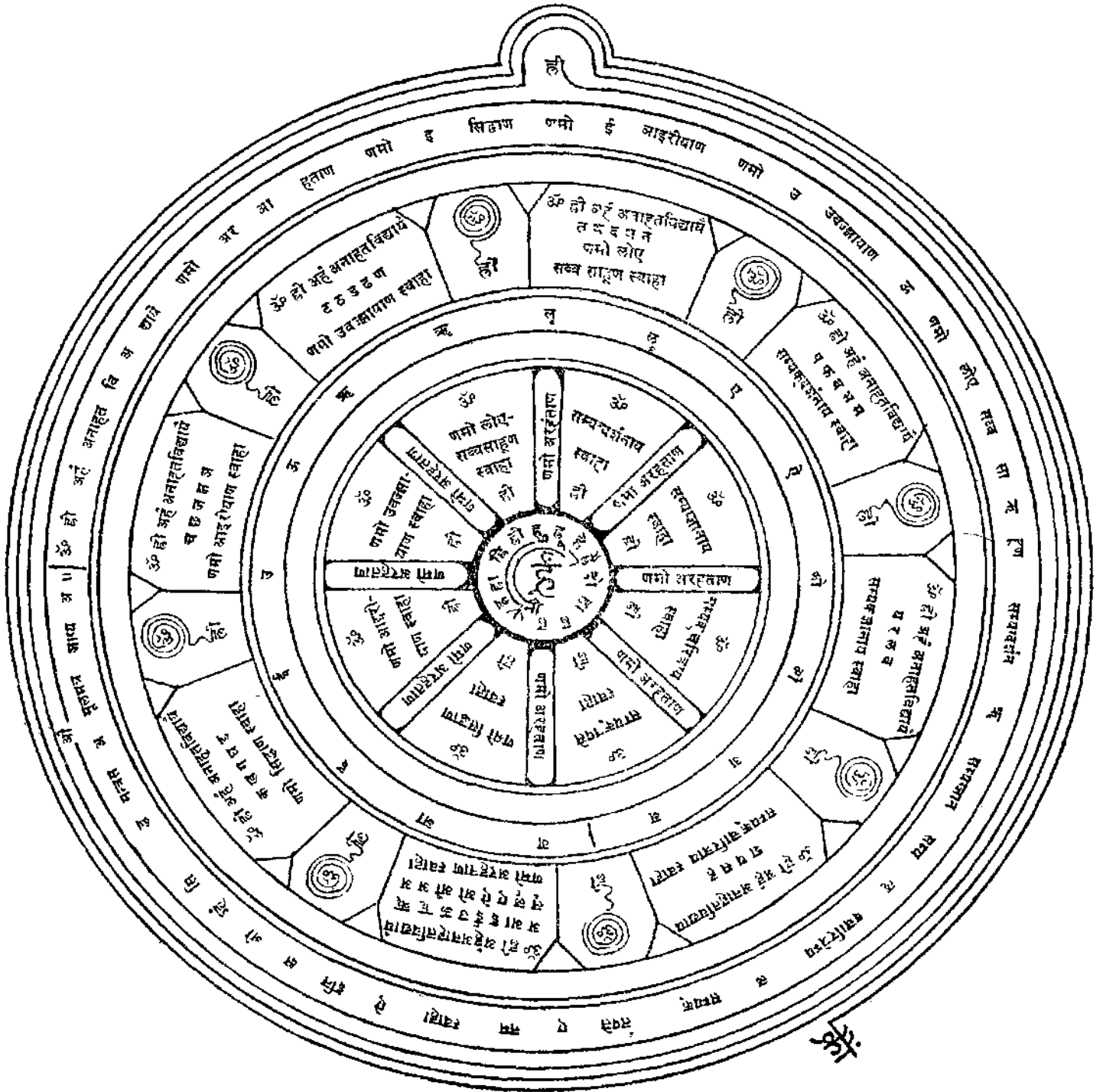
४४-सारस्वत यंत्र



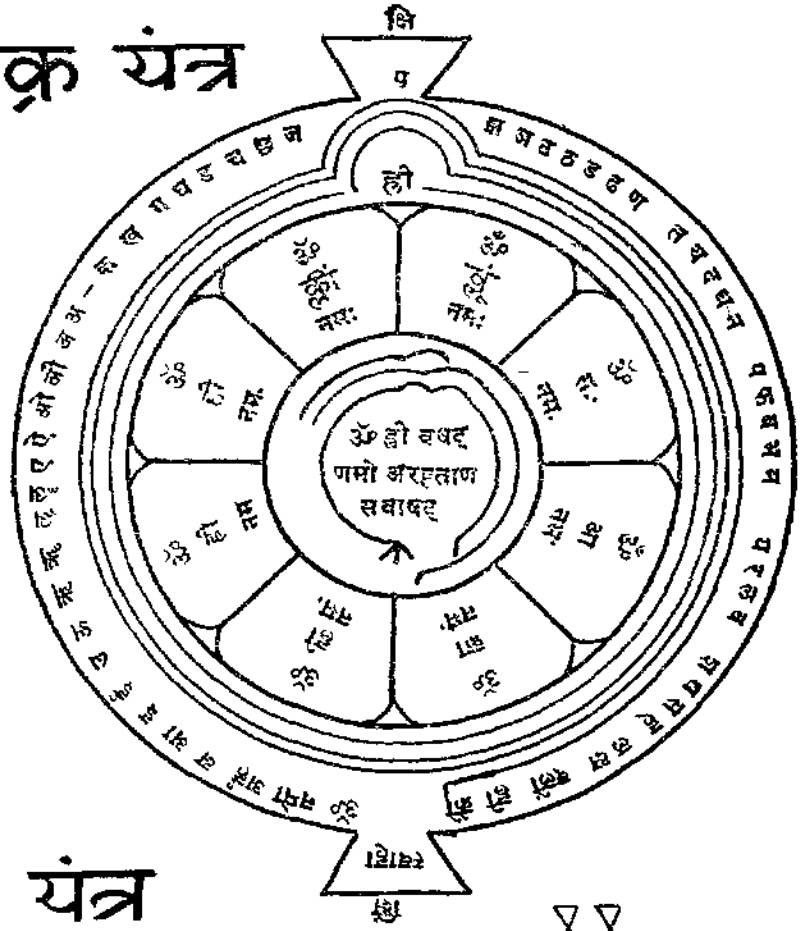
४५-सिद्ध चक्र यंत्र (लघु)



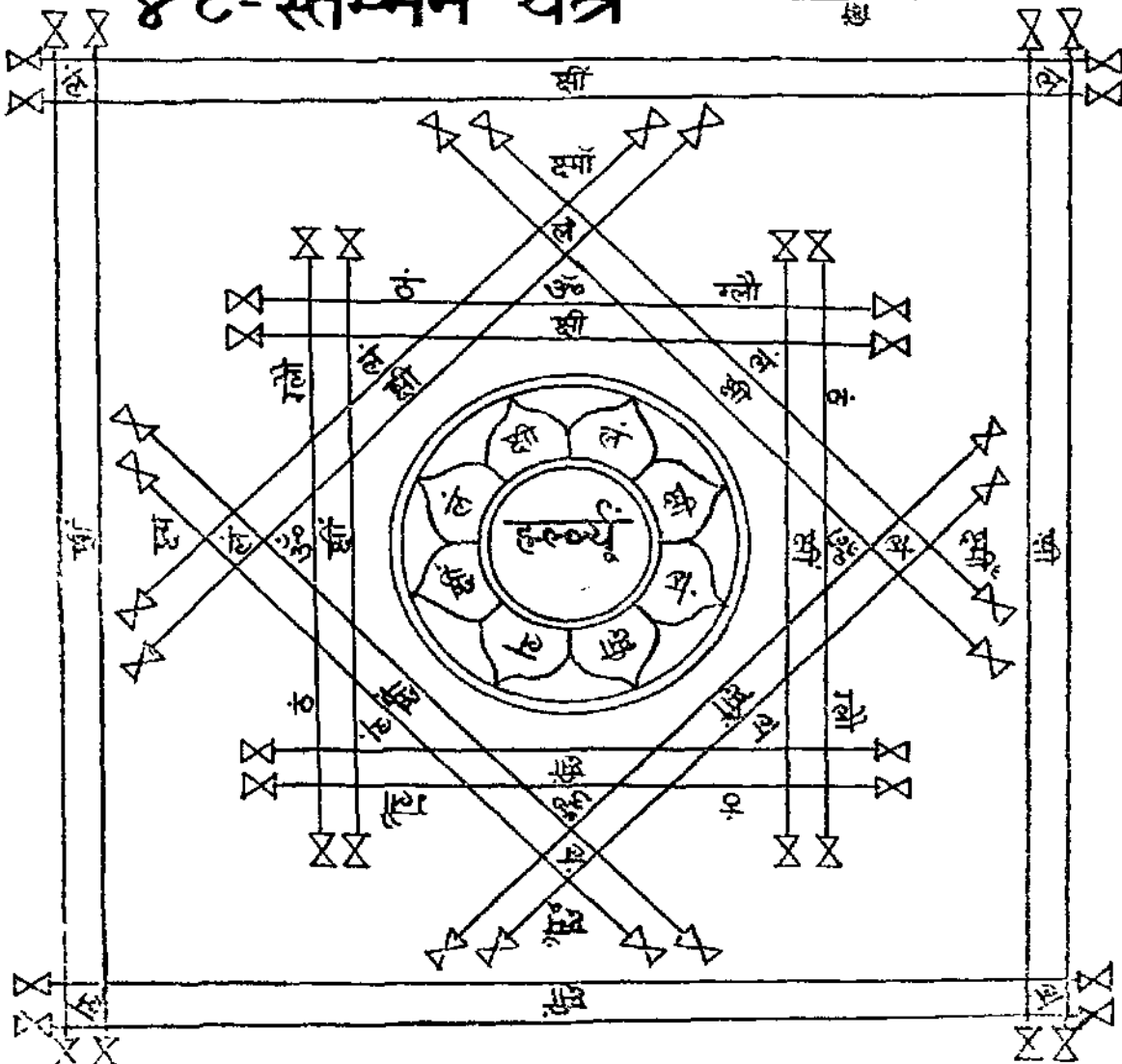
४६-सिद्ध चक्र यंत्र (बृहत्)



४७-सुरेन्द्र चक्र यंत्र



४८-स्तम्भन यंत्र



जैनेन्द्र सिद्धान्त कोष

यंत्रपीडन कर्म—दे० सावद्य/१।

यंत्रेशयंत्र—दे० यंत्र।

यक्ष—

घ. १३/५.६.१४०/३६१/६ लोभभूयिष्ठा भाण्डागारे नियुक्ता यक्षा नाम । = जिनके लोभकी मात्रा अधिक होती है और जो भाण्डागार-में नियुक्त किये जाते हैं, वे यक्ष कहलाते हैं ।

२. यक्षनामा व्यन्तर देवके भेद

ति प. ६/४२ अहमणिपुण्य सेलमणो भद्रा भद्रका सुभद्रा य । तह सम्ब-भद्रमाणुसघणपालसख्वजम्बखवा । ४२। अखलुत्तमणहरणा ताणं ये माणिपुण्यभद्रिदा ०॥४३॥ = माणिभद्र, पूर्णभद्र, शैलमद्र, मनोभद्र, भद्रक, सुभद्र, सर्वभद्र, मानुष, धनपाल, स्वरूपयक्ष, यक्षोत्तम और मनोहरण ये बारह यक्षोंके भेद हैं । ४३। इनके माणिभद्र और पूर्णभद्र ये दो इन्द्र हैं (त्रि. सा./२६५-२६६) ।

*** अन्य सम्बन्धित विषय**

१. व्यन्तर देवोंका एक भेद है। —दे० व्यन्तर/१।
२. पिशाच जातिके देवोंका एक भेद है। —दे० पिशाच।
३. छह दिशाओंके ६ रक्षक देव—विजय, वैजयन्त, जयन्त अपराजित, अनावर्त, आवर्त । (प्रतिष्ठा सारोद्धार/३/१६६-२०१)।
४. यक्षोक्ता वर्ण, परिवार व अवस्थान आदि। —दे० व्यन्तर।
५. तीर्थंकरोंके २४ यक्षोंके नाम। —दे० तीर्थंकर/५।
६. तीर्थंकरोंकी २४ यक्षिणियोंके नाम। —दे० तीर्थंकर/५।
७. तीर्थंकरोंके २४ शासक देवता। —दे० तीर्थंकर/५।

यक्षलिक—ह. पु/३३/१३०क मलयदेशमें यक्षदत्तका पुत्र था। एक बार एक सर्पिणीको गाडीके पहियेके नीचे दबाकर मार दिया । (१५६-१६०) यह श्रीकृष्णका पूर्वका तीसरा भव है—दे० कृष्ण।

यक्षवर—चतुर्थ सागर व द्वीप—दे० लोक/५/१।

यक्षेश्वर—अभिनन्दन भगवात्का शासक देवता।—दे० तीर्थंकर/५/३।

यक्षोत्तम—यक्ष जातिके व्यन्तर देवोंका एक भेद—दे० यक्ष।

यज्ञ—

दे० पूजा/१/१ (याग, यज्ञ, क्रतु, पूजा, सपर्या, इज्या, अश्वर, मख और मह ये सन पूजाविधिके पर्यायवाचक शब्द हैं ।)

म. पु./६/७/१६४ यज्ञशब्दाभिधेयोरुदानपूजास्वरूपकात् । धर्मत्पुण्यं समावर्ज्यं तत्पाकाद्विजेरवरा । १६४। = यज्ञ शब्दका वाच्यार्थ जो बहुत भारी दान देना और पूजा करना है, तत्स्वरूप धर्मसे ही लोग पुण्य संचयके फलसे देवेन्द्रादि होते हैं । १६४।

२. यज्ञके भेद व भेदोंके लक्षण

म. पु./६/७/२००-२१२/२५८ आर्षानार्षविकल्पेन यागो द्विविध इत्यते । २००। त्रयोऽन्य' समुद्दिष्टा' । तेषु क्षमाविरागत्वानशानाहुतिभर्वने । २०२। स्थित्वर्षियति मुन्यस्तशरणा. परमद्विजा' । इत्यात्मयज्ञ-मिष्टार्थमिष्टमीमवर्णो ययु' । २०३। तथा तीर्थगणाधीशक्षेपकेवलिसद्वपु' । संस्कारमहिताग्नीन्द्रमुकुटोत्थाग्निषु त्रिषु । २०४। परमात्मपदं प्राप्तान्निजात् पितृपितामहात् । उद्दिश्य भाक्तिका. पुष्पगन्धाक्षत-फलादिभि' । २०५। आर्षोपासकवेदोक्तमन्त्रोच्चारणपूर्वकम् । दानादि-सत्क्रियोपेता गेहाश्रमतपरिवन' । २०६। यागोऽयमृषिमि. प्रोक्तो यत्य-गारिद्वयाश्रय' । आद्यो मोक्षाय साक्षास्त्यात्परम्परया पर' । २०७। एवं परम्परामतदेव यज्ञविधिष्विह । २०८। मुनिसुव्रततीर्थेशसताने सगरद्विष । महाकालासुरो हिंसायज्ञमज्ञोऽन्वशादमुमु' । २०९। = आर्ष और अनार्षके भेदसे यज्ञ दो प्रकारका माना जाता है । २००। क्रोधार्गि,

कामार्गि और उदरार्गि, (दे० अग्नि/१) इन तीन अग्नियोमे क्षमा, वैराग्य और अनशनकी आहुतियाँ देनेवाले जो ऋषि, यति, मुनि, और अनगार रूपी श्रेष्ठ द्विज वनमें निवास करते हैं, वे आत्म-यज्ञ-कर इष्ट अर्थको देनेवाली अष्टम पृथिवी मोक्षस्थानको प्राप्त होते हैं । (२०२ + २०३) । इसके सिवाय तीर्थकर, गणधर तथा अन्य केवलियों-के उत्तम शरीरके संस्कारसे उत्पन्न हुई तीन अग्नियोंमें (दे० मोक्ष/५/१) अत्यन्त भक्त उत्तम क्रियाओंके करनेवाले तपस्वी गृहस्थ परमात्मपदको प्राप्त हुए अपने पिता तथा प्रपितामहको उद्देशकर वेदमन्त्रके उच्चारण पूर्वक अष्ट द्रव्यकी आहुति देना आर्ष यज्ञ है । २०४-२०७। यह यज्ञ मुनि और गृहस्थके आश्रयके भेदसे दो प्रकारका निरूपण किया गया, इनमेंसे पहला मोक्षका कारण और दूसरा परम्परा मोक्षका कारण है । २१०। इस प्रकार यह देवयज्ञकी विधि परम्परासे चली आयी है । २११। किन्तु श्री मुनिसुव्रत नाथ तीर्थंकरके तीर्थमें सगर राजासे द्वेष रखनेवाला एक महाकाल नामका असुर हुआ था उसी अज्ञानीने इस हिंसायज्ञका उपदेश दिया है । २१२।

यज्ञोपवीत—१. यज्ञोपवीतका स्वरूप व महत्त्व

म. पु./३८/११२ उरोलिङ्गमथास्य स्याद् ग्रथितं सप्तभिर्गुणै' । यज्ञोपवी-तक मत्परमस्थानसूचकम् । ११२। = उस (आठवें वर्ष ब्रह्मचर्याश्रममें अध्ययनार्थ प्रवेश करनेवाले उस बालक) के वक्षस्थलका चिह्न सात तारका सूँधा हुआ यज्ञोपवीत है । यह यज्ञोपवीत सात परम स्थानों-का सूचक है ।

म. पु./३६/६५ यज्ञोपवीतमस्य स्याद् द्रव्यस्त्रिगुणात्मकम् । सूत्रमौपा-क्षिकं तु स्याद् भानारूढैस्त्रिभिर्गुणै' । ६५।

म. पु./४२/३१ एकाद्येकादशान्तानि दत्तान्धेभ्यो मया विभो । व्रत-चिह्नानि सूत्राणि गुणभूमिभिर्भागत । ३१। = तीन तारका जो यज्ञोपवीत है वह उसका (जैन श्रावकका) द्रव्य सूत्र है, और हृदयमें उत्पन्न हुए सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और चारित्र रूपी गुणोंसे बना हुआ श्रावकका सूत्र उसका भाव सूत्र है । ३१। (भरत महाराज ऋषभ-देवसे कह रहे हैं कि) हे विभो ! मैंने (श्रावकोंको) ग्यारह प्रतिमाओंके विभागसे त्रोंके चिह्न स्वरूप एकसे लेकर ग्यारह तक सूत्र (ग्यारह लडा यज्ञोपवीत तक) दिये हैं । ३१। (म. पु./३८/२१-२२) ।

२. यज्ञोपवीत कौन धारण कर सकता है

म. पु./४०/१६७-१७२ तत्तु स्यादसिद्ध्या वा मध्या कुप्या वणिज्यया । यथास्व वतमानाना सदृष्टीना द्विजन्मनाम् । १६७। कुतश्चिद् कारणेन यस्य कुल संप्राप्तदूषणम् । सोऽपि राजादिसंमत्या शोधयेत् स्वं सदा कुलम् । १६८। तदास्योपनयार्हं व पुत्रपौत्रादिसंतती । न निषिद्धं हि दीक्षार्हं कुले चैदस्य पूर्वजा । १६९। अदीक्षार्हं कुले जाता विद्याशिल्पोपजीविन । एतेषामुपनीत्यादिसंस्कारो नाभि-संमत । १७०। तेषा स्यादुचितं लिङ्गं स्वयोग्यव्रतधारिणाम् । एक-शाटकधारित्वं संन्यासमरणावधि । १७१। स्यान्निरामिषभोजित्वं कुलस्त्रीसेवनव्रतम् । अनारम्भवधोऽसर्गो ह्यभक्ष्यापेयवर्जनम् । १७२। = १. जो अपनी योग्यतानुसार असि, मषि, कृषि व वाणिज्यके द्वारा अपनी आजीविका करते हैं, ऐसे सदृष्टि द्विजोंको वह यज्ञो-पवीत धारण करना चाहिए । २. जिस कुलमें दोष लग गया हो ऐसा पुरुष भी जब राजा आदि (समाज) को सम्मतिसे अपने कुलको शुद्ध कर लेता है, तब यदि उसके पूर्वज दीक्षा धारण करनेके योग्य कुलमें उत्पन्न हुए हों तो उसके पुत्र-पौत्रादि सन्ततिके लिए यज्ञोपवीत धारण करनेकी योग्यताका कहीं निषेध नहीं है । १६८-१६९। ३. जो दीक्षाके अयोग्य कुलमें उत्पन्न हुए हैं, तथा नाचना, गाना आदि विद्या और शिल्पसे अपनी आजीविका पालते हैं ऐसे पुरुषको यज्ञोपवीतादि संस्कारकी आज्ञा नहीं है । १७०। किन्तु ऐसे लोग यदि अपनी योग्यतानुसार व्रत धारण करें तो उनके योग्य यह चिह्न ही

सकता है कि वे संन्यासमरण पर्यन्त एक धोती पहने ॥७७॥
४. यज्ञोपवीत धारण करनेवाले पुरुषोको मास रहित भोजन करना चाहिए, अपनी विवाहिता कुल-स्त्रीका सेवन करना चाहिए, अनारम्भी हिंसाका त्याग करना चाहिए और अभक्ष्य तथा अपेय पदार्थका परित्याग करना चाहिए ।

म. पु. ३८/२२ गुणभूमिकृताद् भेदात् क्लृप्तयज्ञोपवीतिनाम् । सत्कार-
क्रियते स्मेषा अत्रताश्च बहिःकृताः ॥२२॥ = प्रतिमाओके द्वारा किये हुए भेदके अनुसार जिन्होंने यज्ञोपवीत धारण किये हैं, ऐसे इन सबका भरतने सत्कार किया । शेष अन्नतियोको वैसे ही जाने दिया ॥२२॥ (म. पु. ४२/३४) ।

दे० संस्कार/२/२ में उपनीति क्रिया (गर्भसे आठवें वर्षमें बालककी उपनीति (यज्ञोपवीत धारण) क्रिया होती है ।)

३. चारित्र्य भ्रष्ट ब्राह्मणोंका यज्ञोपवीत पाप सूत्र कहा है

म. पु. २६/११८ पापसूत्रानुगा यूयं न द्विजा सूत्रकण्ठका । सन्मार्गकण्ठका-
स्तीक्ष्णाः केवलं मलदूषिताः ॥११८॥ = आप लोग तो गलेमें सूत्र धारणकर समीचीन मार्गमें तीक्ष्ण कण्ठक बनते हुए, पाप रूप सूत्रके अनुसार चलनेवाले, केवल मलसे दूषित हैं, द्विज नहीं हैं ॥११८॥

म. पु. ४१/५३ पापसूत्रधरा धूर्ताः प्राणिमारणतत्पराः । वत्स्यैव्युने
प्रवत्स्यन्ति सन्मार्गपरिपन्थिनः ॥५३॥ = (भरत महाराजके स्वप्न-
का फल बताते हुए भगवान्की भविष्य वार्ता) पापका समर्थन करने-
वाले अथवा पापके चिह्न स्वरूप यज्ञोपवीतको धारण करनेवाले, प्राणियोंको मारनेमें सदा तत्पर रहनेवाले ये धूर्त ब्राह्मण आगामी युगमें समीचीन मार्गके विरोधी हो जायेंगे ॥५३॥

* अन्य सम्बन्धित विषय

१. उत्तम कुलीन गृहस्थोंको यज्ञोपवीत अवश्य धारण
करना चाहिए ।

—दे० संस्कार/२।

२. द्विजों या सद्ब्राह्मणोंकी उत्पत्तिका इतिहास

—दे० वर्णव्यवस्था ।

यति—चा. सा. ४६/४ यतयः उपशमक्षपकश्रेण्याख्वा भण्यन्ते । —जो
उपशम श्रेणी वा क्षपक श्रेणीमें विराजमान हैं उन्हें यति कहते हैं ।
(प्र. सा. ता. वृ. २४६/३४३/१६) ; (का. अ. पं. जयचन्द/४८६) ।

प्र. सा. ता. वृ. ६६/६०/१४ इन्द्रियजयेन शुद्धात्मस्वरूपप्रयत्नपरो यतिः ।
—जो इन्द्रिय जयके द्वारा अपने शुद्धात्म स्वरूपमें प्रयत्नशील होता
है उसको यति कहते हैं ।

दे० साधु/१ (श्रमण, संयत, ऋषि, मुनि, साधु, वीतराग, अनगार, भदंत,
दान्त, यति ये एकार्थवाची हैं ।)

मू. आ. भाषा/८८६ चारित्र्यमें जो यत्न करे वह यति कहा जाता है ।

यतिवरवृषभ—प्र. सा. ता. वृ. १७६/१००/१६ निजशुद्धात्मनि यत्न-
परास्ते यतयस्तेषां वरा गणधरदेवादयस्तेभ्योऽपि वृषभ प्रधानो
यतिवरवृषभस्तं यतिवरवृषभं । —निज शुद्धात्ममें जो यत्नशील है
वे यति हैं । उनमें जो वर-श्रेष्ठ हैं वे गणधर देव आदि हैं । उनमें भी
जो प्रधान है यतिवरवृषभ कहलाते हैं ।

यतिवृषभ—दिग्म्बर आचार्योंमें इनका स्थान ऊँचा है क्योंकि
इनके ज्ञान व रचनाओंका सम्बन्ध भगवान् वीरकी मूल परम्परासे
आगत सूत्रोंके साथ माना जाता है । आर्य मंशु व नागहस्तिके शिष्य
थे । कृति—कषाय प्राभृतके चूर्णसूत्र, तिरुल्लोय पण्णत्ति । समय—
वी. नि. ६७०-७००, वि. २००-२३०, ई० १४६-१७३ (विशेष दे. कोश
भाग १/परिशिष्ट/३/५) ।

यत्याचार—१. आ. पञ्चनन्दि ७ (ई० १३०५) की रक रचना ।
२. यतियों अर्थात् साधुओंके आचार-विचारको यत्याचार कहा जाता

है. वा जिसमें यतियोंके आचारादिका वर्णन किया गया है, ऐसे
मुलाचार, भगवती आराधना, अनगार धर्माभूत आदि ग्रन्थोंको भी
यत्याचार कहा जाता है ।

यथाख्यात चारित्र्य—

स. सि. १६/१८/४३६/६ मोहनीयस्य निरवशेषस्योपशमाक्षयाच्च आत्म-
स्वभाववस्थापेक्षालक्षणं यथाख्यातचारित्र्यमिदं यथाख्यातम् ।

यथात्मस्वभावोऽवस्थितस्तथैवाख्यातत्वात् । —समस्त मोहनीय
कर्मके उपशम या क्षयसे जैसा आत्माका स्वभाव है उस अवस्था रूप
जो चारित्र्य होता है वह यथाख्यातचारित्र्य कहा जाता है । —जिस
प्रकार आत्माका स्वभाव अवस्थित है उसी प्रकार यह कहा गया है,
इसलिए इसे यथाख्यात कहते हैं । (रा. वा. ६/१८/११/६१७/२६) ;
(त. सा. ६/६४६) ; (चा. सा. ५४/४) ; (गो. क. जी. प्र. ५४७/७१४/८) ।

प. सं. प्रा. १/१/१३३ उवसंते खीणे वा अशुभे कम्ममिह मोहणीयमिह ।
छदुमरथो व जिणो वा जहखाओ संजओ साहू ॥१३३॥ = अशुभ रूप
मोहनीय कर्मके उपशान्त अथवा क्षीण हो जानेपर जो वीतराग
संयम होता है, उसे यथाख्यातसंयम कहते हैं । —१३३। (घ. १/१.१,
१२३/गा. १६१/१२३) ; (गो. जी. मू. ४७५/८८३) ; (प. सं. प्रा. १/२४३) ।

घ. १/१.१.१२३/३७१/७ यथाख्यातो यथाप्रतिपादितं विहारं कषाया-
भावरूपमनुष्ठानम् । यथाख्यातो विहारो येषां ते यथाख्यातविहारः ।
यथाख्यातविहाराश्च ते शुद्धिसयताश्च यथाख्यातविहारशुद्धिसयता ।
—परमागममें विहार अर्थात् कषायोंके अभाव रूप अनुष्ठानका जैसा
प्रतिपादन किया गया है तदनुकूल विहार जिनके पाया जाता है,
उन्हे यथाख्यात विहार कहते हैं । जो यथाख्यातविहारवाले होते हुए
शुद्धि प्राप्त सयत हैं, वे यथाख्यातविहार शुद्धि-सयत कहलाते हैं ।

द्र. सं. टी. ३४/१४८/७ यथा सहजशुद्धस्वभावत्वेन निष्कम्पत्वेन निष्क-
षायमात्मस्वरूपं तथैवाख्यातं कथितं यथाख्यातचारित्र्यमिति ।
—जैसा निष्कम्प सहज शुद्ध स्वभावसे कषाय रहित आत्माका
स्वरूप है, वैसा ही आख्यात अर्थात् कहा गया है, सो यथाख्यात-
चारित्र्य है ।

जैन सिद्धान्त प्र. २२६ कषायोंके सर्वथा अभावसे प्रादुर्भूत आत्माकी
शुद्धि विशेषको यथाख्यात चारित्र्य कहते हैं ।

२. यथाख्यात चारित्र्यका गुणस्थानोंकी अपेक्षा स्वामित्व

ष. खं. १/१. १/मू. १२८/३७७ जहाकवाद-विहार-शुद्धि-संजदा चदुसु-
ट्टाणेषु उवसंत-कसाय-वीयरय-छदुमरथा खीण-कसाय-वीयरयछदु-
मरथा सजोगिकेवली अजोगिकेवलि ति ॥१२८॥ = यथा-ख्यात-विहार-
शुद्धि-संयत जीव उपशान्त कषाय- वीतराग- छदुमरथ, क्षीणकषाय-
वीतरागछदुमरथः सयोगिकेवली और अयोगिकेवली इन चार गुण-
स्थानोंमें होते हैं ॥१२८॥ (पं. सं. प्रा. १/१३३) ; (घ. १/१.१.१२३/गा.
१६१/१२३) (गो. जी. मू. ४७५/८८३) ; (प. सं. प्रा. १/२४३) ;
(द्र. सं. टी. ३४/१४८/१) ।

३. उसमें अघन्य उत्कृष्ट भेद नहीं होता

ष. खं. ७/२.११/मू. १७४/६६७ जहाकवादविहारशुद्धिसंजदस्स अजहण्ण-
अणुक्कस्सिया चरित्त लद्धो अणत्तगुणा ॥१७४॥ कसायाभावेण वड्ढि-
हाणिकारणभावादो । तेणैव कारणेण अजहण्णा अणुक्कस्सा च ।
—यथाख्यात विहार शुद्धि संयतकी अजघन्यानुत्कृष्ट चारित्र्य लब्धि
अनन्तगुणी है ॥१७४॥ कषायका अभाव हो जानेसे उसकी वृद्धि
हानिके कारणका अभाव हो गया है इसी कारण वह अजघन्यानुत्कृष्ट
भी है ।

यथाजात—प्र. सा. ता. वृ. २०४/२७८/१५ व्यवहारेण नग्नरवं यथा-
जातरूपं निश्चयेन तु स्वात्मरूपं तदित्यभूतं यथाजातरूपं धरतीति
यथाजातरूपधरः निर्ग्रन्थो जात इत्यर्थः । —व्यवहारसे नग्नपनेको
यथाजातरूपधर कहते हैं, निश्चयसे तो जो आत्माका स्वरूप है

उसी प्रकारके यथाजात रूपको जो धरता है, वही यथाजातरूपधर अर्थात् समस्त परिग्रहोंसे रहित हुआ कहा जाता है।

यथातथानुपूर्वी—दे० आनुपूर्वी।

यथार्थ—न्या. वि./व./१/१८/२८२/११ यो घेन स्वभावेन स्थितोऽर्थः। स यथार्थस्तमिति। = जो पदार्थ जिस स्वभावसे स्थित है, उसको यथार्थ कहते हैं।

यदु—हरिवंशका एक राजा था, जिस. यादव वंशकी उत्पत्ति हुई थी। (ह. पु./१८/५-६)। (दे० इतिहास/१०/१०)।

यदृष्ट—आलोचनाका एक दोष—दे० आलोचना/२।

यम—१. दे० लोकपाल/२। २. भोग्य व उपभोग्य वस्तुओंका जो जीवन पर्यन्तके लिए त्याग किया जाता है उसको यम कहते हैं। (दे० भोगोपभोग परिमाणव्रत; ३. कालानि विद्याधरका पुत्र था। (प. पु./८/११४) इन्द्र द्वारा इसको किष्कुपुरका लोकपाल बनाया है। (प. पु./८/११५) फिर अन्तमें रावण द्वारा हरया गया था। (प. पु./८/४८१-४८२)। ४. दे० वैवस्वत यम।

यमक—विदेह क्षेत्रके उत्तरकुल व देवकुरुमें सीता व सीतोदा नदीके दोनों तटोंपर स्थित चित्रकूट, विचित्रकूट, यमकूट व मेघकूट नामवाले चार कूटाकार पर्वत।—दे० लोक/३/८।

यमदंड—रावणका मन्त्री था (प. पु./६६/११)।

यमदग्नि—एक बाल ब्रह्मचारी तामसी था। पक्षी बेशधारी दो देवोंके कहनेसे एक छोटीसी लड़कीको पालकर पीछे उससे विवाह किया, जिससे परशुरामकी उत्पत्ति हुई। (बृ. क. को./कथा/५६/पृ. ६६-१०३)।

यमदेव—भद्रशाल वनस्थ नील दिग्गजेन्द्र, स्वस्तिक व अंजन शैलिका रक्षक देव—दे० लोक/७।

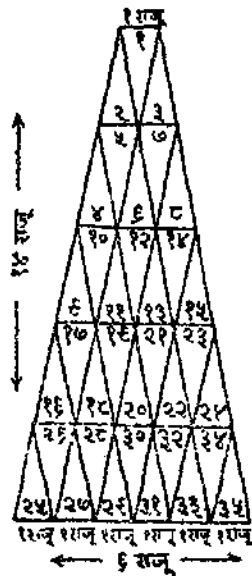
यमलोक—भगवान् वीरके तीर्थमें अन्तकृत केवली हुए हैं—दे० अन्तकृत।

यम—क्षेत्रका एक प्रमाण विशेष—दे० गणित/१/१/३।

यममध्य—दे० योग/५/६।

यममध्य क्षेत्र—(ज. प./प्र. ३१-

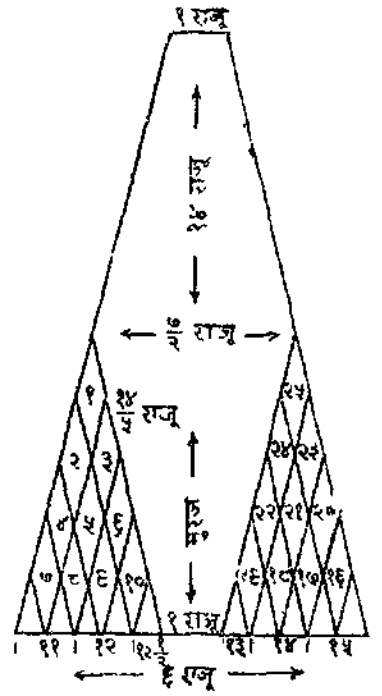
३२) यह आकृति, क्षेत्रके उदय समतल द्वारा प्राप्तछेद (Vertical-section) है। इसका आगे पीछे (उत्तर-दक्षिण) विस्तार ७ राजु यहाँ चित्रित नहीं है। यहाँ यममध्यका क्षेत्रफल = $(१-२) \times \frac{२५}{५} = \frac{१०}{५}$ वर्ग राजु, इसलिए ३५ यममध्यका क्षेत्रफल = $\frac{१०}{५} \times \frac{३५}{५} = ४६$ वर्ग राजु; इस प्रकार ३५ यममध्यका घनफल = ४६×७ घनराजु = ३२२ घनराजु और एक यममध्यका घनफल = $\frac{३५ \times ३}{५} = १९ \frac{३}{५}$ घनराजु।



यवन—१. भरतक्षेत्र उत्तर आर्य खण्डका एक देश—दे० मनुष्य/४; २. यूनानका पुराना नाम है। (म. पु./प्र. ६०/पत्रालाल)।

यवमुरजक्षेत्र—(ज. प./प्र. ३१

यह आकृति क्षेत्रके उदय समतल द्वारा प्राप्त छेद (Vertical-section) है। इसका विस्तार ७ राजु यहाँ चित्रित नहीं है। यहाँ मुरजका क्षेत्रफल $\left\{ \left(\frac{७}{२} \text{रा.} + १\text{रा.} \right) \div २ \right\} \times १४ \text{रा.} = \left\{ \frac{९}{२} \times \frac{१४}{२} \right\} \times १४ = \frac{९}{२} \times \frac{१९६}{२} = \frac{९ \times ९८}{२} = ४४१$ घनराजु। एक यवका क्षेत्रफल = $(\frac{१}{२} \text{रा.} \div २) \times \frac{१४}{२} \text{राजु} = \frac{१}{४} \times \frac{१९६}{२} = \frac{१९६}{८} = २४ \frac{२}{८} = २४ \frac{१}{४}$ घनराजु। इसलिए, २५ यवका क्षेत्रफल = $\frac{१९६}{४} \times \frac{१९६}{४} = \frac{३९२१}{४} = ९८० \frac{१}{४}$ घनराजु।



यशःकीर्ति—१. नन्दीसध मलारकारणकी गुर्वावलीके अनुसार (दे० इतिहास) आप लोहानार्य तलीयके शिष्य तथा यशोनन्दिके गुरु थे। समय—श.सं१५३-२११ (ई. २३१-२६६)।—दे० इतिहास/५/१३। २. काण्डसेधकी गुर्वावलीके अनुसार आप क्षेमकीर्तिके गुरु थे। समय—वि. १०३० ई० १७३ (प्रद्युम्नचरित्र/प्र. प्रेमी); (ला. सं./१/६४-७०)।—दे० इतिहास/५/६। ३. ई. श. १३ में जगत्सुन्दरी प्रयोगमालाके कर्ता हुए थे। (हि. जै. सा. इ./२०/कामताप्रसाद)। ४. आप ललितकीर्तिके शिष्य तथा भद्रबाहुचरितके कर्ता रत्ननन्दिन० २ के सहचर थे। आपने धर्मशर्माम्युदयकी रचना की थी। समय—वि० १२६६ ई० १२३६। (भद्रबाहु चरित/प्र/७/कामता) धर्मशर्माम्युदय/प्र. ५ पत्रालाल। ५. चन्द्रपहलचरितके कर्ता अपभ्रंश कवि। समय—वि. श. ११ का अन्त १२ का प्रारम्भ। (ली./४/१०८)। ६. काण्ठासध माधुर गच्छके यशस्वी अपभ्रंश कवि। पहले गुणकीर्ति भट्टारक (वि. १४६८-१४८६) के सहधर्मा थे, पीछे इनके शिष्य हो गये। कृतियों—पाण्डव पुराण, हरिवंश पुराण, जिणवृत्ति कहा। समय—वि. १४८६-१४९७ (ई. १४२६-१४४०)। (ली./३/३०८)। ७. पद्यनन्दिके शिष्य क्षेमकीर्तिके गुरु; लाटीसंहिता की रचना के लिए पं राजमवल जी के प्रेरक। समय—वि १६१६ (ई १६४६)।

यशःकीर्ति—

स. सि./५/११/३६२/६ पुण्यगुणरूपापनकारणं यश कीर्तिनाम। तत्प्रत्यनीकफलमयश कीर्तिनाम। = पुण्य गुणोंकी प्रसिद्धिका कारण यशःकीर्ति नामकर्म है। इससे विपरीत फलवाला अयश कीर्ति नामकर्म है (रा. वा./५/११-१२/५७६/३२); (गो. क./जी. प्र./३३/३०/१६)। ४. ६/१-६-१,२५/६६/१ जस्स कम्मस्स उदएण सत्ताणमसत्ताणं वा गुणाणमुत्थावणं लोगेहि कीरदि, तस्स कम्मस्स जसकित्तिसण्णा। जस्स कम्मस्सोदएण सत्ताणमसत्ताणं वा अवगुणाणं उम्भावणं ज्ञेणेण कीरदि, तस्स कम्मस्स अजसैकित्तिसण्णा। = जिस कर्मके उदयसे विद्यमान या अविद्यमान गुणोंका उद्भावन लोगोंके द्वारा किया जाता है, उस कर्मकी 'यशःकीर्ति' यह संज्ञा है। जिस कर्मके उदयसे विद्यमान अवगुणोंका उद्भावन लोक द्वारा किया जाता है, उस कर्मकी 'अयशःकीर्ति' यह संज्ञा है। (ध. १३/५,६,१०२/२६६/५)।

★ अन्य सम्बन्धित विषय

१. यशःकीर्तिकी बन्ध उदय व सत्त्व प्ररूपणाएँ व तत्सम्बन्धी
शका-समाधानादि । —दे० वह वह नाम ।
२. अयशःकीर्तिका तीर्थकर प्रकृतिके साथ बन्ध व तत्सम्बन्धी शंका ।
—दे० प्रकृतिबन्ध/६ ।

यश—रुचक पर्वतस्थ एक कूट—दे० लोक/५/१३ ।

यज्ञपाल—अपरनाम जयपाल था । अतः—दे० जयपाल ।

यशस्तिलकचन्द्रिका—सोमदेव कृत यशस्तिलक चम्पू की
श्रुतसागर (ई. १४८०-१४९९) कृत संस्कृत टीका । (ती./३/३९४) ।

यशस्तिलकचम्पू—आ. सोमदेव द्वारा ई. १४९९ में रचित
संस्कृत भाषाबद्ध चम्पू काव्य जिसमें यशोधर महाराज का जीवन
चित्रित किया गया है । (ती./२/८३) १ (जै/४२७) ।

यशस्वान्—१. वर्तमान कालीन नवमें कुलकर हुए हैं । (विशेष
दे० शलाका पुरुष/९), २. किंपुरुष नामा जाति व्यन्तर देवका एक
भेद—दे० किंपुरुष ।

यशस्वान् देव—मानुषोत्तर पर्वतस्थ वैदूर्यकूका भवनवासी सुपर्ण-
कुमार देव—दे० लोक/१/१० ।

यशस्विनी—रुचक पर्वत निवासिनी दिक्कुमारी देवी—दे० लोक/५/१३

यशस्वी—वर्तमानकालीन ९वें कुलकरका अपरनाम है—दे०
यशस्वाद् ।

यशोदेव—यशस्तिलकचम्पूके कर्ता सोमदेवके दादा गुरु और
नेमिदेवके गुरु थे । सोमदेवके अनुसार इनका समय—ई. श. १०
(ई० ६१८-६४३) (यो सा./प्र./श्रीलाल) ।

यशोधर—१. श्रुतकालीन उन्नीसवें तीर्थकर—दे० तीर्थकर/५ ।
२. नव ग्रैवेयकका चतुर्थ पटल व इन्द्रक—दे० स्वर्ग/५/३ । ३. मानुषो-
त्तर पर्वतस्थ सौगन्धिक कूटका स्वामी भवनवासी सुपर्णकुमार देव ।
—दे० लोक/५/१० ।

यशोधरचरित्र—इस विषयके कई संस्कृत भाषा में रचित ग्रन्थ हैं ।
१. वादिराज द्वि. (ई. १०१०-१०६५) कृत (ती./२/१००) । २. कवि
पद्मनाभ (ई. १४०५-१४२५) कृत (ती./४/५६) । ३. सकल कीर्ति (ई.
१४०६-१४४२) कृत (ती./३/३३९) । ४. सोमकीर्ति (ई. १४६२) कृत
(ती./३/३४७) । ५. श्रुतसागर (ई. १४८७-१४९९) कृत (ती./३/४००) ।
६. ज्ञानकीर्ति (ई. १६०२) कृत (ती./४/५६) ।

यशोधरचरित्र । ६. आ० श्रुतसागर (ई. १४७३-१४३३) कृत यशो-
धरचरित्र ।

यशोधरा—रुचक पर्वत निवासिनी दिक्कुमारी देवी—दे० लोक/५/१३

यशोधर्म—दे० विष्णु यशोधर्म ।

यशोनंदि—नन्दिसयथलास्कारणकी गुर्वावलीके अनुसार आप
यश कीर्तिके शिष्य तथा देवन्नन्दिके गुरु थे । समय—श. स. २११-
२५८ (ई० २८६-३३६)—दे० इतिहास/७/२ ।

यशोबाहु—दे० भद्रबाहु ।

यशोभद्र—१. श्रुतकाली भद्रबाहु द्वि गुरु ६ अ गधारी अथवा
आचार्यागधारी । समय—वि. नि. ४७४-४९२ (ई. पू. ५६-३४) । (दे.
इतिहास/४/४) । २. जिनसेन (ई. १८१८-१८७८) के आदि पुराण में
प्रखर ताकिक के रूप में स्मृत और आ. पूज्यपाद (वि. श. ५-६) के
जैनेन्द्र व्याकरण में नामोवलेख । अतः समय—वि. श. ६ (ई. श.
५ उत्तरार्ध) । (ती./२/४५१) ।

यशोभद्रा—नन्दीश्वरद्वीपकी उत्तर दिशामें स्थित एक वापी—दे०
लोक/५/११ ।

यशोरथ—उज्जयिनी नगरीका राजा था । पुत्रकी मृत्युपर विरक्त
हो दीक्षा धारण की । (बृ. क. को./कथा ५/पृ. १५-१६) ।

यशोवर्मा—भोजवंश में यह नरवर्माके पुत्र और अजयवर्माके पिता
थे । मालवा (मगध) देशके राजा थे । समय—ई० ११४३-११५३
—दे० इतिहास/३/४ ।

यशोविजय—श्वेताम्बर तथा गच्छ के प्रसिद्ध उपाध्याय हुए हैं ।
गुरु परम्परा—बादशाह अक्षर के प्रतिबोधक हरिविजय, कष्याण-
विजय, लाभविजय, यशोविजय । आपने दिग्म्बर मान्य निश्चय
नय की घोर भर्त्सना की है, परन्तु अपनी रचनाओं में समयसार का
खूब अनुसरण किया है । कृतिये—अध्यात्मसार, अध्यात्मोपनिषद्,
आध्यात्मिक मत खण्डन, नय रहस्य, नय प्रदीप, नयोपदेश, जैन
तर्क परिभाषा, ज्ञान बिन्दु, शास्त्रवार्ता समुच्चय टीका, देवधर्म
परीक्षा, यत्तिलक्षण समुच्चय, गुरुतत्त्व विनिश्चय, अष्टसहस्री
विवरण, स्याद्वाद महरी की वृत्ति स्याद्वाद मञ्जूषा, जय विलास
(भाषापद समग्र), दिग्पट चौरासी (दिग्म्बराम्नायकी मान्यताओं पर
आक्षेप) इत्यादि अनेकों ग्रन्थ आपने रचे हैं । समय—ई. १६३८-
१६८८ । (जै./२/२०४-२०५) ।

याग—दे० यज्ञ ।

याज्ञिकमत—गो. जी./जी प्र/६८/१७८/९ संसारिजीवस्य मुक्ति-
र्नास्ति । =संसारी जीवकी कभी मुक्ति नहीं होती है, ऐसा
याज्ञिकमतवाले मानते हैं ।

याचना—याचनाका कर्धचित्त विधिनिषेध—दे० भिक्षा/१ ।

याचना परिषद्—स सि/६/१४२५/१ बाह्याभ्यन्तरतपोऽनुष्ठान-
परस्य तद्भावनावशेन निस्तारीकृतमूर्ते पदुतपनतापनिष्पीत्तसार-
तरोरिव विरहितच्छायस्य त्वगस्थिशिरजलिमात्रतनुयन्त्रस्य प्राणा-
त्यये सत्यप्याहारवसतिभेषजादीनि दीनाभिधानमुखवैवर्ण्याङ्ग-
सञ्जादिभिरयाचमानस्य भिक्षाकालेऽपि विद्युदुद्योतवत् दुरुपलक्ष्यमूर्ते
याचनापरिषद्सहनमवसीयते । =जो ब्राह्म और आभ्यन्तर तपके अनु-
ष्ठान करनेमें सत्पर है, जिसने तपकी भावनाके कारण अपने शरीरको
सुखा डाला है, जिसका तीक्ष्ण सूर्यके तापके कारण सार व छाया रहित
वृक्षके समान त्वचा, अस्थि और शिराजाल मात्रसे युक्त शरीरयन्त्र
रह गया है, जो प्राणो का बियोग होनेपर भी आहार, वसति और
दवाई आदिको दीन शब्द कहकर, मुखकी विवर्णता दिखाकर व संज्ञा
आदिके द्वारा याचना नहीं करता, तथा भिक्षाके समय भी जिसकी
मूर्ति बिजलीकी चमकके समान दुरुपलक्ष्य रहती है, ऐसे साधुके
याचना परिषद्जय जानना चाहिए । (रा. वा/६/१६/६११/१०);
(चा. सा./१२२/२) ।

याचनीभाषा—दे० भाषा ।

यादव वंश—दे० इतिहास/१०/१० ।

यान—ध. १४/५.६.४१/३८/८ समुद्रमज्जे विविहभडेहि आत्तरिदा
संता जे गमणवखमा वोहित्ता ते जाणा गाम । =नाना प्रकारके
भाण्डोसे आपूरित होकर भी समुद्रमें गमन करनेमें समर्थ जो जहाज
होते हैं वे यान कहताते हैं ।

यापनीय संघ—दे० इतिहास/६/२ ।

याम—Coordinates (ज. प./प्र/१०८) ।

यावानुद्देश—उद्दिष्ट आहारका एक दोष । —दे० उद्दिष्ट ।

युक्त—स. सि./५/३०/३०२/१ समाधिबन्धनो वा युक्तशब्दः । युक्तं समाहितस्तदात्मक इत्यर्थः । =यह युक्त शब्द समाधिवाची है। भाव यह है कि युक्त, समाहित और तदात्मक ये तीनों एकार्थवाची शब्द हैं।

युक्तानन्त—दे० अनन्त ।

युक्तासंख्यात—दे० असंख्यात ।

युक्ति—दे० तर्क ।

युक्ति चिन्तामणि सत्त्व—आ, सोमदेव (ई. ६४३-६६८) कृत न्याय विषयक ग्रन्थ ।

युक्त्यनुशासन—आ. समन्तभद्र (ई. श. २) कृत संस्कृत छन्दोमें रचा गया ग्रन्थ है। इसमें न्याय व युक्तिपूर्वक जिनशासनकी स्थापना की है। इसमें ६४ श्लोक हैं। (ती. /२/१६०) । इसपर पीछे आ. विद्यानन्दि (ई. ७७५-८४०) द्वारा युक्त्यनुशासनालंकार नामकी वृत्ति लिखी गयी है। (ती० २/२६६) ।

युग—१. दो कर्पोंका एक युग होता है। २ युगका प्रारम्भ—दे० काल/४। ३ कृतयुग या कर्मभूमिका प्रारम्भ—दे० काल/४। ४. क्षेत्रका प्रमाण विशेष। अपरनाम दण्ड, मुसल, नाली—दे० गणित/१/१/३ ५. कालका प्रमाण विशेष। ६. दे० गणित/१/१/४ ।

युग—ध. १४/५.६.४१/३८/६ गरुवत्तणेण महत्तणेण यं अं तुरय-वेसरादीहि बुद्धिं तं जुगं णाम । =जो बहुत भारी होनेसे और बहुत बड़े होनेसे घोडा और खच्चर आदिके द्वारा बोया जाता है, वह युग कहलाता है।

युगकंधर—कायोत्सर्गका एक अतिचार—दे० व्युत्सर्ग/१ ।

युगपत्—स्या मं./२३/२८४/८ यदा तु तेषामेव धर्माणां कालादिभिर-भेदेन वृत्तात्मरूपमुच्यते तदैकेनापि शब्देनैकधर्मप्रत्यायनमुखेन तदात्मकतामापन्नस्यानेकाधोषधर्मरूपस्य वस्तुनः प्रतिपादनसम्भवाद् योगपद्यम् । =जिस समय वस्तुके अनेक धर्मोंका काल आदिसे अभेद सिद्ध करना होता है, उस समय एक शब्दसे यद्यपि वस्तुके एक धर्मका ज्ञान होता है, परन्तु एक शब्दसे ज्ञात इस एक धर्मके द्वारा ही पदार्थोंके अनेक धर्मोंका ज्ञान होता है। इसे वस्तुओंका एक साथ (युगपत्) ज्ञान होना कहते हैं। (स, भं, त./३३/३) ।

युगादिपुरुष—युगके आदिमें होनेसे कुलकरोको ही युगादिपुरुष कहते हैं। ये मुख्यतः १४ होते हैं। इन १४ कुलकरोका परिचय—दे० शलाकापुरुष/६ ।

युगम—ध. १०/४.२.४.३/२२/६ जुग्मं सममिदि एमट्ठो । तं दुविहं कद-बादरजुग्मभेएण । तथ जो रासी चदुहि अवहिरिज्जदि सो कद-जुग्मो । जो रासी चदुहि अवहिरिज्जमाणो दोरुवग्गो होदि सो बादरजुग्म । =युगम और सम ये एकार्थवाचक शब्द हैं। वह कृत-युगम और बादरयुगमके भेदसे दो प्रकारका है। उनमेंसे जो राशि चारसे अवहृत होती है वह कृतयुगम कहलाती है। जिस राशिको चारसे अवहृत करने पर दो रूप (२) दोष रहते हैं वह बादरयुगम कहलाती है।

युगमचतुष्टय—दे० अनेकान्त/४ ।

युत सिद्ध—

का/ता. वृ./५०/६६/८ दण्डदण्डिद्वित्रप्रवेशलक्षणयुतसिद्धश्च । =दण्ड और दण्डोंकी भाँति प्रदेश भिन्न है लक्षण जिसका वह युतसिद्ध कहलाता है।

* द्रव्य गुण व पर्याय अयुत सिद्ध है—दे० द्रव्य/४ ।

युति—

ध. १३/५.६.८२/३४८/६ सामीप्यं संयोगो वा युतिः । =समीपता या संयोगका नाम युति है।

२. युतिके भेद

ध. १३/५.६.८२/३४८/६ तत्त्व दब्बजुडी तिक्किहा-जीवजुडी पोग्गलजुडी जीव-पोग्गलजुडी चेदि । तत्त्व एकम्मिह कुले गामणयरे निले गुहाए अडईए जीवार्णं मेलणं जीवजुडी णाम । वाएण हिडिज्जमाणपण्णार्णं व एकम्मिह देसे पोग्गलार्णं मेलणं पोग्गलजुडी णाम । जीवार्णं पोग्गलार्णं च मेलणं जीवपोग्गलजुडी णाम । अथवा दब्बजुडी जीव-पोग्गल-धम्माम्मकाल-आगासाणमेधादिसंयोगेण उप्पादेदब्बा । जीवादि दब्बार्णं गिरयादिखेत्तेहि सह मेलणं खेत्तजुडी णाम । तैसि चैव दब्बाणं दिवस-माससंबच्छरादिकालेहि सह मेलणं कालजुडी णाम । कोह-माण-माया-लोहादीहि सह मेलणं भाव-जुडी णाम । =१. यहाँ द्रव्य युति तीन प्रकार की है—जीवयुति, पुद्गलयुति और जीव-पुद्गलयुति। इनमेंसे एक कुल, ग्राम, नगर, बिल, गुफा या अटवीमें जीवोंका मिलना जीवयुति है। वायुके कारण हिलनेवाले पत्तोंके समान एक स्थानपर पुद्गललोका मिलना पुद्गलयुति है। जीव और पुद्गललोका मिलना जीव-पुद्गलयुति है। अथवा जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, काल और आकाश इनके एक आदि संयोगके द्वारा द्रव्य-युति उत्पन्न करानी चाहिए। २. जीवादि द्रव्योंका नारकादि क्षेत्रोंके साथ मिलना क्षेत्र-युति है। ३. उन्ही द्रव्योंका दिन, महीना और वर्ष आदि कालोंके साथ मिलाप होना कालयुति है। ४. क्रोध, मान, माया और लोभादिके साथ उनका मिलाप होना भावयुति है।

३. युति व बन्धमें अन्तर

ध. १३/५.६.८२/३४८/६ युति-बन्धयोः को विशेषः । एकीभावो बन्धः, सामीप्यं संयोगो वा युतिः । =प्रश्न—युति और बन्धमें क्या भेद है। उत्तर—एकीभावका नाम बन्ध है और समीपता या संयोगका नाम युति है।

युधिष्ठिर—पा. पु./सर्ग नं./श्लोक नं. पूर्वके दूसरे भवमें सोमदत्त नामका ब्राह्मण पुत्र था (२१/८९) पूर्व भवमें आरण स्वर्गमें देव था (२३/११२) । वर्तमान भवमें पाण्डु राजाका कुन्ती रानीसे पुत्र था (८/१४३; २४/७४) अपने ताऊ भीष्म व गुरु द्रोणाचार्यसे क्रमसे शिक्षा व धनुर्विद्या प्राप्त की (८/२०८-२१४) । प्रवास कालमें अनेकों कन्याओंसे विवाह किया (१३/३३, १३/१६०) । दुर्योधनके साथ जुएमें हारने पर १२ वर्षका वनवास मिला (१६/१०४-१२५) । वनमें मुनियोंके दर्शन होने पर स्व निन्दा की (१७/४) । अन्तमें अपने पूर्व भव सुनकर दीक्षा ग्रहण की (२५/१२) । तथा घोर तप किया (२५/१७-५१) । दुर्योधनके भानजे कुर्योधर कृत उपसर्गको जीत मोक्ष प्राप्त किया (२५/५२-१३३) (विशेष दे० पाण्डव) ।

युवती—चक्रवर्तिके १४ रत्नोंमेंसे एक—दे० शलाका पुरुष/२ ।

युवेनच्चांग—एक चीनी यात्री था। ई. ६२६-६४५ में भारतकी यात्रा की। (सि. वि./२५/पं. महेन्द्र) ।

यूक—अपरनाम जू । क्षेत्रका प्रमाण—दे० गणित/१/१ ।

यूनान—वर्तमान ग्रीक (ग्रीस), (म, पु/प्र ५०/पं. पन्नालाल) ।

योग—कर्मोंके संयोगके कारण भूत जीवके प्रदेशोका परिस्पन्दन योग कहलाता है अथवा मन, वचन, कायकी प्रवृत्तिके प्रति जीवका उपयोग या प्रयत्न विशेष योग कहलाता है, जो एक होता हुआ भी मन, वचन आदिके निमित्तकी अपेक्षा तीन या पन्द्रह प्रकार का है।

ये सभी योग नियमसे क्रम-पूर्वक ही प्रवृत्त हो सकते हैं, युगपत् नहीं। जीव भावको अपेक्षा पारिणामिक है और शरीरकी अपेक्षा क्षायोपशमिक या औदयिक है।

१	योगके भेद व लक्षण
१	योग सामान्यका लक्षण १. निरुक्ति अर्थ, २. जीवका वीर्य या शक्ति विशेष। ३. आत्म प्रदेशोका परिस्पन्द या संकोच विस्तार। ४. समाधिके अर्थमे योग। ५. वर्षादि काल स्थिति।
२	योगके भेद
३	त्रिदण्डके भेद-प्रभेद।
४	द्रव्य भाव आदि योगोंके लक्षण।
*	मनोयोग व वचनयोगके लक्षण — दे० वह वह नाम।
*	काययोग व उसके विशेष — दे० वह वह नाम।
*	आतापन योगादि तप। — दे० कायकलेश।
५	निक्षेप रूप भेदोंके लक्षण।
*	शुभ व अशुभ योगोंके लक्षण — दे० वह वह नाम।
२	योगके भेद व लक्षण सम्बन्धी तर्क-वितर्क
१	वस्त्रादिके सयोगसे व्यभिचार निवृत्ति।
२	मेघादिके परिस्पन्दमें व्यभिचार निवृत्ति।
*	योगद्वारोंको आस्रव कहनेका कारण। — दे० आस्रव/२।
३	परिस्पन्द व गतिमें अन्तर।
४	परिस्पन्द लक्षण करनेसे योगोंके तीन भेद नहीं हो सकेंगे।
५	परिस्पन्दरहित होनेसे आठ मध्य प्रदेशोंमें बन्ध न हो सकेगा।
*	अखण्ड जीव प्रदेशोंमें परिस्पन्दकी सिद्धि। — दे० जीव/४/७।
*	जीवके चलित्तचलित प्रदेश। — दे० जीव/४।
६	योगमे शुभ अशुभपत्ता क्या।
७	शुभ अशुभ योगमें अनन्तपत्ता कैसे है।
*	योग व लेश्यामें भेदाभेद तथा अन्य विषय। — दे० लेश्या।
३	योग सामान्य निर्देश
१	योग मार्गणामें भाव योग इष्ट है।
२	योग वीर्यगुणकी पर्याय है।
३	योग कथञ्चित् पारिणामिक भाव है।
४	योग कथञ्चित् क्षायोपशमिक भाव है।
५	योग कथञ्चित् औदयिक भाव है।
६	उत्कृष्ट योग दो समयसे अधिक नहीं रहता।
७	तीनों योगोंकी प्रवृत्ति क्रमसे ही होती है युगपत् नहीं।
८	तीनों योगोंके निरोधका क्रम।

४	योगका स्वामित्व व तत्सम्बन्धी शंकाएँ
१	योगोंमें सम्भव गुणस्थान निर्देश।
*	केवलीको योग होता है। — दे० केवली/५।
*	सयोग-अयोग केवली। — दे० केवली।
*	अन्य योगको प्राप्त हुए बिना गुणस्थान परिवर्तन नहीं होता। — दे० अन्तर/२।
२	गुणस्थानोंमें सम्भव योग।
३	योगोंमें सम्भव जीव समाप्त।
*	योगमें सम्भव गुणस्थान, जीवसमाप्त, मार्गणास्थान आदिके स्वामित्व सम्बन्धी प्ररूपणाएँ। — दे० सत्।
*	योगमार्गणा सम्बन्धी सत्, सख्या, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर, भाव, अल्प बहुत्वरूप आठ प्ररूपणाएँ। — दे० वह वह नाम।
*	योग मार्गणामें कर्मोंका बन्ध उदय व सत्त्व। — दे० वह वह नाम।
*	कौन योगसे मरकर कहाँ उत्पन्न हो। — दे० जन्म/६।
*	सभी मार्गणामें आयके अनुसार व्यय होनेका नियम। — दे० मार्गणा।
४	पर्याप्त व अपर्याप्तमें मन, वचन, योग सम्बन्धी शका।
५	मनोयोगोंमें भाषा व शरीर पर्याप्तकी सिद्धि।
६	अप्रमत्त व ध्यानस्थ जीवोंमें असत्य मनोयोग कैसे।
७	समुद्घातगत जीवोंमें मन, वचन, योग कैसे।
८	असंशी जीवोंमें असत्य व अनुभय वचनयोग कैसे।
*	मारणान्तिक समुद्घातमें उत्कृष्ट योग सम्भव नहीं। — दे० विशुद्ध/८/४।
५	योगस्थान निर्देश
१	योगस्थान सामान्यका लक्षण।
२	योगस्थानोंके भेद।
३	उपपाद योगस्थानका लक्षण।
४	एकान्तानुवृद्धि योगस्थानका लक्षण।
५	परिणाम या घोटमान योगस्थानका लक्षण।
६	परिणाम योगस्थानोंकी यदमध्य रचना।
७	योगस्थानोंका स्वामित्व सभी जीव समाप्तोंमें सम्भव है।
८	योगस्थानोंके स्वामित्व की सारणी।
*	योगस्थानोंके अवस्थान सम्बन्धी प्ररूपणा। — दे० काल/६।
९	लब्धपर्याप्तकालके परिणाम योग होने सम्बन्धी दो मत।
१०	योगस्थानोंकी क्रमिक वृद्धिका प्रदेशबन्धके साथ सम्बन्ध।
६	योगवर्गणा निर्देश
१	योग वर्गणाका लक्षण।
२	योग वर्गणाके अविभाग प्रतिच्छेदोंकी रचना।
३	योगस्पर्धकका लक्षण।

१. योगके भेद व लक्ष

१. योग सामान्यका लक्षण

१. निरुक्ति अर्थ

रा. वा./७/१३/४/४४०/३ योजनं योगः संबन्ध इति यावत् । = सम्बन्ध करनेका नाम योग है ।

घ. १/१.१.४/१३६/६ युज्यत इति योग । = जो सम्बन्ध अर्थात् संयोग-को प्राप्त हो उसको योग कहते हैं ।

२. जीवका वीर्य या शक्ति विशेष

पं.स./प्रा./१/८८ मणसा वाया कारण वा वि जुत्तस्स विरियपरिणामो । जीवस्य (जिह) प्पणिजोगो जोगो त्ति जिणेहि णिदिट्ठो । = मन, वचन और कायसे युक्त जीवका जो वीर्य-परिणाम अथवा प्रदेश परिस्पन्द रूप प्रणियोग होता है, उसे योग कहते हैं । = (घ. १/१.१.४/गा. ८८/१४०) ; गो. जी./मू./२१६/४७२) ।

रा. वा./६/७/११/६०३/३३ वीर्यान्तरायक्षयोपशमलब्धवृत्तिवीर्यलब्धि-योगः तद्वत् आत्मनो मनोवाक्कायवर्गणालम्बन प्रदेशपरिस्पन्द-उपयोगो योगः । = वीर्यान्तरायके क्षयोपशमसे प्राप्त वीर्यलब्धि योगका प्रयोजक होती है । उस सामर्थ्यवाले आत्माका मन, वचन और काय वर्गणा निमित्तिक आत्म प्रदेशका परिस्पन्द योग है ।

दे० योग/२/५ (क्रियाकी उत्पत्तिमें जो जीवका उपयोग होता है वह योग है ।)

३. आत्मप्रदेशोका परिस्पन्द या संकोच विस्तार

स. सि./२/२६/१८३/१ योगो वाङ्मनसकायवर्गणानिमित्त आत्म-प्रदेशपरिस्पन्दः । = वचनवर्गणा, मनोवर्गणा और कायवर्गणाके निमित्तसे होनेवाले आत्म प्रदेशोके हलन-चलनको योग कहते हैं । (स. सि./६/१/३१८/५) ; (रा. वा./२/२६/४/१३७/५) ; (रा. वा./६/१/१०/५०६/१५) ; (घ. १/१.१.६/०/२६६/७) ; (घ. ७/२.१.२/६/६) ; (घ. ७/२.१.२५/१७/१०) ; (प. का./त. प्र./१४८) ; (द्र. सं. टी./३०/५५/६) ; (गो. जी./जी. प्र./२१६/४७३/१८) ।

रा. वा./६/७/११/६०३/३४ आत्मनो मनोवाक्कायवर्गणालम्बन प्रदेश-परिस्पन्द उपयोगो योगः । = मन, वचन और काय वर्गणा निमित्तिक आत्मप्रदेशका परिस्पन्द योग है । (गो. जी./म. प्र./२१६/४७४/१) ।

घ. १/१.१.४/१४०/२ आत्मप्रदेशानो संकोचविकोचो योगः । = आत्मप्रदेशोके संकोच और विस्तार रूप होनेको योग कहते हैं । (घ. ७/२.१.२/६/१०) ।

घ. १०/४.२.४.१७५/४३७/७ जीव पदेषाणं परिष्फंदो संकोचविकोच-व्यमणसरूपावो । = जीव प्रदेशोका जो संकोच-विकोच व परिभ्रमण रूप परिस्पन्दन होता है वह योग कहलाता है ।

४. समाधिके अर्थमें

नि. सा./मू. १३६ विवरयाभिणिवेसं परिचत्ता जोण्हकहियतच्चेसु । जो जुंजदि अप्पाग गियभावो सोह्वे जोगो । १३६ । = निपरीत अभिनिवेशका परित्याग करके जो जैन कथित तत्त्वोंमें आत्माको लगाता है, उसका निजभाव वह योग है ।

स. सि./६/१२/३३१/३ योगः समाधिः सम्यक्प्रणिधानमित्यर्थः । = योग, समाधि और सम्यक्प्रणिधान ये एकार्थवाची नाम हैं । (गो. क./जी. प्र./५०१/६०/१३) ; (वै. शो. दे./४/२/१६/१७२) ।

रा. वा./६/१/१२/५०४/२७ युजे समाधिवचनस्य योगः समाधिः ध्यान-मित्यनर्थान्तरम् । = योगका अर्थ समाधि और ध्यान भी होता है ।

रा. वा./६/१२/५/५२२/३१ निरवद्यस्य क्रियाविशेषस्यानुष्ठानं योगः समाधिः, सम्यक्प्रणिधानमित्यर्थः । = निरवद्य क्रियाके अनुष्ठानको

योग कहते हैं । योग, समाधि और सम्यक्प्रणिधान ये एकार्थवाची हैं । (द. पा./टी./६/८/१४) ।

दे० सामायिक/१ साम्यका लक्षण (साम्य, समाधि, चित्तनिरोध व योग एकार्थवाची हैं ।)

दे० मौन/१ (बहिरन्तर जवपको रोककर चित्त निरोध करना योग है ।)

५ वर्षादि काल स्थिति

द. पा./टी./६/८/१४ योगश्च वर्षादिकालस्थितिः । = वर्षादि ऋतुओंकी काल स्थितिको योग कहते हैं ।

२. योगके भेद

१. मन वचन कायकी अपेक्षा

प. सं. १/१.१/सू. ४७,४८/२७८,२८० जोगाणुवादेण अत्थि मणजोगी वचजोगी कायजोगी चेदि । ४७ अजोगि चेदि । ४८ । = योग मार्गणाके अनुवादकी अपेक्षा मनोयोगी वचन योगी और काययोगी जीव होते हैं । ४८ । (वा. अ./४६) ; (त. सु./६/१) (घ. ५/३.६/२१५) ; (घ. १०/४.२.४.१७५/४३७/६) ; (द्र. सं./टी./१३/३७/७) ; (द्र. सं./टी./३०/५६/६) ।

स. सि./८/१/३७६/१ चत्वारो मनोयोगाश्चत्वारो वागयोगा पञ्च काय-योगा इति त्रयोदशविकल्पो योगः । = चार मन योग, चार वचन योग और पाँच काय योग ये योगके तेरह भेद हैं । (रा. वा./५/१/२६/५६४/२६) ; (रा. वा./६/७/११/६०३/३४) ; (द्र. सं./टी./२०/८६/७-१३/३७/७) ; (गो. जी./मू./२१७/४७५) ; (विशेष दे. मन, वचन, काय) ।

२. शुभ व अशुभ योगकी अपेक्षा

न. आ./४६-५० -मणवचिकायेण पुणो जोगो- १४६। असुहेदरभेदेण दु एवकेवक्क वणिणदं हवे दुविहं । १५०। = मन, वचन, और काय ये तीनों योग शुभ और अशुभ के भेदसे दो-दो प्रकारके होते हैं । (न. च. वृ./३०५) ।

रा. वा./६/३/२/५०७/१ तस्मादनन्तविकल्पादशुभयोगादन्य शुभयोग इत्युच्यते । = अशुभ योगके अनन्त विकल्प है, उससे विपरीत शुभ योग होता है ।

३. त्रिदण्डके भेद-प्रभेद

चा. सा./६६/६ दण्डस्त्रिविधः, मनोवाक्कायभेदेन । तत्र रागद्वेषमोह-विकल्पात्मा मानसो दण्डस्त्रिविधः । = मन, वचन, कायके भेदसे दण्ड तीन प्रकारका है, और उसमें भी राग द्वेष, मोहके भेदसे मानसिक दण्ड भी तीन प्रकार है ।

४. द्रव्य भाव आदि योगोंके लक्षण

गो. जी./जी. प्र./२१६/४७३/१५ कायवाङ्मनोवर्गणालम्बन ससा-रिजीवस्य लोकमात्रप्रदेशगता कर्मादानकारणं या शक्ति सा भाव-योगः । तद्विशिष्टात्मप्रदेशेषु य किञ्चित्चलनरूपपरिस्पन्द स द्रव्य-योगः । = जो मनोवाक्कायवर्गणाका अवलम्बन रखता है ऐसे सत्कारी जीवकी जो समस्त प्रदेशोंमें रहनेवाली कर्मोंके ग्रहण करनेमें कारणभूत शक्ति है उसको भावयोग कहते हैं । और इसी प्रकारके जीवके प्रदेशोका जो परिस्पन्द है उसको द्रव्ययोग कहते हैं ।

५. निक्षेप रूप भेदोंके लक्षण

नोट—नाम, स्थापनादि योगोंके लक्षण - दे० निक्षेप ।

घ. १०/४.२.४.१७५/४३३-४३४/४ तद्वदिरित्तदव्वजोगो अणेर्याविहो । सं जहा-सूर-णवत्तजोगो च्द-णवत्तजोगो गह णवत्तजोगो कोण-

गारजंगो चुण्णजोगो मंतजोगो इच्छेवमादओ। जोआगमभावजोगो तिबिहो गुणजोगो सभवजोगो जुंजणजोगो चेदि। तत्थ गुणजोगो दुबिहो सच्चित्तगुणजोगो अच्चित्तगुणजोगो चेदि। तत्थ अच्चित्तगुणजोगो जहा रूव-रस-गंध-फासादीहि पोगलदव्वजोगो, आगा-सादीणमप्पपगो गुणेहि सह जोगो वा। तत्थ सच्चित्तगुणजोगो पंच-बिहो—ओदइओ ओवसमिओ खइओ खओवसमिओ पारिणामिओ चेदि। १०० इदो मेरुं चालइदु समत्थो त्ति एसो सभवजोगो णम। जोसो जुंजणजोगो सो तिबिहो उववादजोगो एगंठाणुवडिडुजोगो परिणामजोगो चेदि। = तद्दव्यतिरिक्त नोआगम द्रव्य योग अनेक प्रकारका है यथा—सूर्य-नक्षत्रयोग, चन्द्र-नक्षत्रयोग, कोण अंगारयोग, चूर्णयोग व मन्त्रयोग इत्यादि। नोआगम भावयोग तीन प्रकारका है। गुणयोग, सम्भवयोग, और योजनायोग। उनमेंसे गुणयोग दो प्रकारका है—सच्चित्तगुणयोग और अच्चित्तगुणयोग। उनमेंसे अच्चित्तगुणयोग—जैसे रूप, रस, गन्ध और स्पर्श आदि गुणोंसे पुद्गल द्रव्यका योग, अथवा आकाशादि द्रव्योंका अपने-अपने गुणोंके साथ योग। उनमेंसे सच्चित्तगुण योग पाँच प्रकारका है—औद्यिक, औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक और पारिणामिक (इनके लक्षण दे० वह वह नाम) इन्द्र मेरु पर्वतको चलानेके लिए समर्थ है, इस प्रकारका जो शक्तिका योग है वह सम्भवयोग कहा जाता है। जो योजना—(मन, वचन-कायका व्यापार) योग है वह तीन प्रकारका है—उपपादयोग, एकान्तानुवृत्तियोग, और परिणामयोग—दे० योग/६।

२. योगके भेद व लक्षण सम्बन्धी तर्क-वितर्क

१. वस्त्रादिके संयोगसे व्यभिचार निवृत्ति

ध. १/१,१,४/१३६/८ युज्यत इति योग'। न युज्यमानपटादिना व्यभिचारस्तस्यानात्मधर्मत्वात्। न कषायेण व्यभिचारस्तस्य कर्मदानहेतुत्वाभावात्। = प्रश्न—यहाँपर जो संयोगको प्राप्त हो उसे योग कहते हैं, ऐसी व्याप्ति करनेपर संयोगको प्राप्त होनेवाले वस्त्रादिके व्यभिचार हो जायेगा। उत्तर—नहीं, क्योंकि संयोगको प्राप्त होने वाले वस्त्रादिक आत्माके धर्म नहीं है। प्रश्न—कषायके साथ व्यभिचार दोष आ जाता है। (क्योंकि कषाय तो आत्माका धर्म है, और संयोगको भी प्राप्त होता है।) उत्तर—इस तरह कषायके साथ भी व्यभिचार दोष नहीं आता, क्योंकि कषाय कर्मके ग्रहण करनेमें कारण नहीं पडती है।

२. मेघादिके परिस्पन्दमें व्यभिचार निवृत्ति

ध. १/१,१,७६/३१६/७ अथ स्यात्परिस्पन्दस्य बन्धहेतुत्वे संचरदध्रानामपि कर्मबन्धः प्रसजतीति न, कर्मजनितस्य चैतन्यपरिस्पन्दस्यास्रवहेतुत्वेन विवक्षितत्वात्। न चाभ्रपरिस्पन्दः कर्मजनितो येन तद्धेतुतामास्कन्देत्। = प्रश्न—परिस्पन्दको बन्धका कारण माननेपर संचार करते हुए मेघोंके भी कर्मबन्ध प्राप्त हो जायेगा, क्योंकि, उनमें भी परिस्पन्द पाया जाता है। उत्तर—नहीं, क्योंकि कर्मजनित चैतन्य परिस्पन्द ही आस्रवका कारण है, यह अर्थ यहाँ विवक्षित है। मेघोंका परिस्पन्द कर्मजनित तो है नहीं, जिससे वह कर्म बन्धके आस्रवका हेतु हो सके, अर्थात् नहीं हो सकता।

३. पस्परिन्द व गतिमें भन्तर

ध. ७/२,१,३३/७०/२ इंदियविसयमइवकंतजीवपदेसपरिष्फंदस्स इंदि-एहि उवलभविरोहादो। ण जीवे चलते जीवपदेसाणं सकोच-विकोच-णियमो, सिद्धं तपद्धममए एसो लोअगं गच्छंतम्मि जीवपदेसाणं संकोचविकोचाणुवलंभा। = इन्द्रियोंके विषयसे परे जो जीव प्रदेशोंका परिस्पन्द होता है, उसका इन्द्रियों द्वारा ज्ञान मान लेनेमें

विरोध आता है। जीवोंके चलते समय जीवप्रदेशोंके संकोच-विकोच-का नियम नहीं है, क्योंकि, सिद्ध होनेके प्रथम समयमें जब यह जीव यहाँसे अर्थात् मध्यलोकसे, लोकके अग्रभागको जाता है तब इसके जीव प्रदेशोंमें संकोच-विकोच नहीं पाया जाता। (और भी दे० जीव/४/६)।

दे० योग/२/६ (क्रियाकी उत्पत्तिमें जो जीवका उपयोग होता है, वही वास्तवमें योग है।)

ध. ७/२,१,१६/१७/१० मण-वयण-कायपोगलालंबणेण जीवपदेसाणं परिष्फंदो। जदि एव तो णत्थि अजोगिणो सरीरियस्स जीवदव्वस्स अक्रियत्तविरोहादो। ण एस दोसो, अट्ठकम्मेषु खीणेषु जा उड्डह-गमणुवलंभिया किरिया सा जीवस्स साहाविया, कम्मोदएण विणा पउत्ततादो। सहिददेसमच्छिडिय छदित्ता वा जीवदव्वस्स सावयवेहि परिष्फंदो अजोगो णम, तस्स कम्मवखयत्तादो। तैण सकिरिया विसिद्धा अजोगिणो, जीवपदेसाणमहहिदजलपदेसाणं व उव्वत्तण-परिपत्तणाकिरिया भावादो। तदो ते अबंधा त्ति भणिदा। = मन, वचन और काय सम्बन्धी पुद्गललोके आलम्बनसे जो जीव-प्रदेशोंका परिस्पन्दन होता है वही योग है। प्रश्न—यदि ऐसा है तो शरीरी जीव अयोगी हो ही नहीं सकते, क्योंकि शरीरगत जीव-द्रव्यको अक्रिय माननेमें विरोध आता है। उत्तर—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि आठो कर्मोंके क्षीण हो जानेपर जो ऊर्ध्वगमनोप-लम्बी क्रिया होती है वह जीवका स्वाभाविक गुण है, क्योंकि वह कर्मोदयके बिना प्रवृत्त होती है। स्वस्थित प्रदेशको न छोड़ते हुए अथवा छोड़कर जो जीवद्रव्यका अपने अवयवों द्वारा परिस्पन्द होता है वह अयोग है, क्योंकि वह कर्मक्षयसे उत्पन्न होता है। अतः सक्रिय होते हुए भी शरीरी जीव अयोगी सिद्ध होते हैं। क्योंकि उनके जीवप्रदेशोंके तप्तायमान जल प्रदेशोंके सृष्ट उद्घर्तन और परिवर्तन रूप क्रियाका अभाव है।

४. परिस्पन्द लक्षण करनेसे योगोंके तीन भेद नहीं हो सकेंगे

ध. १०/४,२,४१/७५/४३५/१ जदि एवं तो तिण्ण पि जोगाण-मक्कमेण बुत्ती पावदित्ति भणिदे—ण एस दोसो, जदट्ठ जीवपदेसाणं पद्धमं परिष्फंदो जादो अण्णम्मि जीवपदेसपरिष्फंदसहकारिकारणे जादे वि तस्सेव पहाणत्तदसणेण तस्स तव्ववएसविरोहाभावादो। = प्रश्न—यदि ऐसा है (तीनों योगोंका ही लक्षण आत्म-प्रदेश परिस्पन्द है) तो तीनों ही योगोंका एक साथ अस्तित्व प्राप्त होता है। उत्तर—नहीं, यह कोई दोष नहीं है। (सामान्यतः तो योग एक ही प्रकारका है) परन्तु जीव-प्रदेश परिस्पन्दके अन्य सहकारी कारणके होते हुए भी जिस (मन, वचन व काय) के लिए जीव-प्रदेशोंका प्रथम परिस्पन्द हुआ है उसको ही प्रधानता देखी जानेसे उसको उक्त (मन, वचन वा काययोग) सज्जा होनेमें कोई विरोध नहीं है।

५. परिस्पन्द रहित होनेसे आठ मध्यप्रदेशोंमें बन्ध न हो सकेगा

ध. १२/४,२,११,३/३६६/१० जीवपदेसाणं परिष्फदाभावादो। ण च परिष्फंदविरहियजीवपदेसेसु जोगो अत्थि, सिद्धाणपि सजोगत्ताव-त्तीदो त्ति। एत्थ परिहारो बुच्चदे—मण-वयण-कायकिरियासमु-प्पत्तोए जीवस्स उवजोगो जोगो णम। सो च कम्मबंधस्स कारणं। ण ष सो थोवेसु जीवपदेसेसु होदि, एगजीवपयत्तस्स थोवावयवेसु चैव बुत्तिविरोहादो एक्कम्मि जीवे खडखडेणपयत्तविरोहादो वा। तन्हा द्विदेसु जीवपदेसेसु कम्मबंधो अत्थि त्ति णव्वदे। ण जोगादो णियमेण जीवपदेसपरिष्फंदो होदि, तस्स तत्तो अणियमेण समु-प्पत्तीदो। ण च एकात्तेण णियमो णत्थि चैव, जदि उप्पज्जदि तो तत्तो चैव उप्पज्जदि त्ति णियभुवलंभादो। तदो ट्ठिदणं पि जोगो

अस्थि त्ति कम्मबन्धभूयमिच्छियव्वं । = प्रश्न—जीव-प्रदेशोका परिस्पन्द न होनेसे ही जाना जाता है कि वे योगसे रहित है । और परिस्पन्दसे रहित जीवप्रदेशोंमें योगकी सम्भावना नहीं है, क्योंकि बैसा होनेपर सिद्ध जीवोंके भी सयोग होनेकी आपत्ति आती है । उत्तर—उपर्युक्त शंकाका परिहार करते हैं—१. मन, वचन एवं काय सम्बन्धी क्रियाकी उत्पत्तिमें जो जीवका उपयोग होता है, वह योग है, और वह कर्मबन्धका कारण है । परन्तु वह थोड़ेसे जीवप्रदेशोंमें नहीं हो सकता, क्योंकि एक जीवमें प्रवृत्त हुए उक्त योगकी थोड़ेसे ही अवयवोंमें प्रवृत्ति माननेमें विरोध आता है । अथवा एक जीवमें उसके खण्ड-खण्ड रूपसे प्रवृत्त होनेमें विरोध आता है । इसलिए स्थित जीवप्रदेशोंमें कर्मबन्ध होता है, यह जाना जाता है । २. दूसरे योगसे जीवप्रदेशोंमें नियमसे परिस्पन्द होता है, ऐसा नहीं है; क्योंकि योगसे अनियमसे उसकी उत्पत्ति होती है । तथा एकान्ततः नियम नहीं है, ऐसी बात भी नहीं है; क्योंकि यदि जीवप्रदेशोंमें परिस्पन्द उत्पन्न होता है, तो योगसे ही उत्पन्न होता है, ऐसा नियम पाया जाता है । इस कारण स्थित जीवप्रदेशोंमें भी योगके होनेसे कर्मबन्धको स्वीकार करना चाहिए ।

६. योगमें शुभ-अशुभपना क्या

१। वा. ६/३/२-३/१०७/६ कथं योगस्य शुभाशुभत्वम् । ...शुभपरिणामनिर्वात्तो योग शुभः, अशुभपरिणामनिर्वात्तश्चाशुभ इति कथ्यते, न शुभाशुभकर्मकारणत्वेन । यद्येवमुच्येत, शुभयोग एव न स्यात्, शुभयोगस्यापि ज्ञानावरणादिबन्धहेतुत्वाभ्युपगमात् । = प्रश्न—योगमें शुभ व अशुभपना क्या ? उत्तर—शुभ परिणाम-पूर्वक होनेवाला योग शुभयोग है, तथा अशुभ परिणामसे होनेवाला अशुभयोग है । शुभ-अशुभ कर्मका कारण होनेसे योगमें शुभत्व या अशुभत्व नहीं है क्योंकि शुभयोग भी ज्ञानावरण आदि अशुभ कर्मके बन्धमें भी कारण होता है ।

७. शुभ-अशुभ योगको अनन्तपना कैसे है

१। वा. ६/३/२'५०७/४ असंख्येयलोकत्वादध्यवसायावस्थानानां कथमनन्तविकल्पस्वमिति । उच्यते—अनन्तानन्तपुद्गलप्रदेशप्रचितज्ञानावरणवीर्यान्तरायदेशसर्वघातिद्विविधस्पर्धकक्षयोपशमादेशात् योगत्रयस्यानन्त्यम् । अनन्तानन्तप्रदेशकर्मदानकारणत्वाद्वा अनन्त, अनन्तानन्तानानाजीवविषयभेदाद्वा अनन्त । = प्रश्न—अध्यवसाय स्थान असंख्यात-लोक-प्रमाण है फिर योग अनन्त प्रकारके कैसे हो सकते हैं ? उत्तर—अनन्तानन्त पुद्गल प्रदेश रूपसे बंधे हुए ज्ञानावरण वीर्यान्तरायके देशघाती और सर्वघाती स्पर्धकोंके क्षयोपशम भेदसे, अनन्तानन्त प्रदेशवाले कर्मोंके ग्रहणका कारण होनेसे तथा अनन्तानन्त नाना जीवोंकी दृष्टिसे तीनों योग अनन्त प्रकारके हो जाते हैं ।

३. योग सामान्य निर्देश

१. योगभागणामें भावयोग इष्ट है

दे० योग/२/५ (क्रियाकी उत्पत्तिमें जो जीवको उपयोग होता है वास्तवमें वही योग है ।)

दे० योग/२/१ आत्माके धर्म न होनेसे अन्य पदार्थोंका संयोग योग नहीं कहला सकता ।)

दे० मार्गणा (सभी मार्गणास्थानोंमें भावमार्गणा इष्ट है ।)

२. योग वीर्य गुणकी पर्याय है

भा. आ./वि/११८७/११७८/४ योगस्य वीर्यपरिणामस्य --=वीर्यपरिणामरूप जो योग (और भी दे० अगला शीर्षक) ।

३. योग कथंचित् पारिणामिक भाव है

ध. १/१.७,४८/२२५/१० सजोगो त्ति को भावो । अणादिपारिणामिओ भावो । णोवसमिओ, मोहणीए अणुवसंते वि जोगुवलंभा । ण खइओ, अणप्पसरुवस्स कम्माण खएणुत्पत्तिविरोहा । ण घादिकम्मोदयजणिओ, णट्ठे वि घादिकम्मोदए केवलिम्हि जोगुवलंभा । णो अघादिकम्मोदयजणिदो वि संते वि अघादिकम्मोदए अजोगिम्हि जोगणुवलंभा । ण सरीरणामकम्मोदयजणिदो वि, पोग्गलविवाइयाणं जीवपरिफइणहेउत्तविरोहा । कम्मइयशरीरं ण पोग्गलविवाइं, तदो पोग्गलाणं वण्ण-रस-गंध-फास-संठाणागमणादीणमणुवलंभा । तदु-प्पाइदो जोगो हैभु चे ण, कम्मइयसरीरं पि पोग्गलविवाइं चेव, सव्वकम्माणमासयत्तादो । कम्मइओदयविणट्ठसमए चेव जोगविणा-सदंसणादो कम्मइयसरीरजणिदो जोगो चे ण, अघाइकम्मोदयविणा-साणंतरं विणस्संत भवियत्तस्स पारिणामियस्स ओदइयत्तप्पसंगा । तदो सिद्ध जोगरस पारिणामियत्त । = प्रश्न—'सयोग' यह कौनसा भाव है ? उत्तर—'सयोग' यह अनादि पारिणामिक भाव है । इसका कारण यह है, कि योग न तो औपशमिक भाव है, क्योंकि मोहनीयकर्मके उपशम नहीं होनेपर भी योग पाया जाता है । न वह क्षायिक भाव है, क्योंकि, आत्मस्वरूपसे रहित योगकी कर्मोंके क्षयसे उत्पत्ति माननेमें विरोध आता है । योग घातिकर्मोदयजनित भी नहीं है, क्योंकि, घातिकर्मोदयके नष्ट होनेपर भी सयोगिकेवलीमें योगका सद्भाव पाया जाता है । न योग अघातिकर्मोदय जनित भी है, क्योंकि, अघातिकर्मोदयके रहनेपर भी अयोगिकेवलीमें योग नहीं पाया जाता । योग शरीरनामकर्मोदयजनित भी नहीं है, क्योंकि पुद्गलविपाकी प्रकृतियोंके जीव-परिस्पन्दनका कारण होनेमें विरोध है । प्रश्न—कर्मण शरीर पुद्गल विपाकी नहीं है, क्योंकि उससे पुद्गलके वर्ण, रस, गन्ध, स्पर्श और सस्थान आदिका आगमन आदि नहीं पाया जाता है । इसलिए योगको कर्मण शरीरसे (औदयिक) उत्पन्न होनेवाला मान लेना चाहिए । उत्तर—नहीं, क्योंकि, सर्व कर्मोंका आश्रय होनेसे कर्मण शरीर भी पुद्गल विपाकी ही है । इसका कारण यह है कि वह सर्व कर्मोंका आश्रय या आधार है । प्रश्न—कर्मण शरीरके उदय विनष्ट होनेके समयमें ही योगका विनाश देखा जाता है । इसलिए योग कर्मण शरीर जनित है, ऐसा मानना चाहिए । उत्तर—नहीं, क्योंकि, यदि ऐसा माना जाय तो अघातिकर्मोदयके विनाश होनेके अनन्तर ही विनष्ट होनेवाले पारिणामिक भव्यत्व भावके भी औदयिकपनेका प्रसंग प्राप्त होगा । इस प्रकार उपर्युक्त विवेचनसे योगके पारिणामिकपना सिद्ध हुआ ।

४. योग कथंचित् क्षायोपशमिक भाव है

ध. ७/२.१.३३/७५/३ जोगो णाम जीवपदेसाणं परिष्फंदो संकोच-विकोचलवखणो । सो च कम्माणं उदयजणिदो, कम्मोदयविरहिद-सिद्धे सु तदणुवलंभा । अजोगिकेवलिम्हि जोगाभावाजोगो ओदइयो ण होदि त्ति वोत्तुं ण जुत्तु, तत्थ सरीरणामकम्मोदया भावा । ण च सरीरणामकम्मोदएण जायमाणो जोगो तेण विणा होदि, अइप्प-सगादो । एवमोदइयस्स जोगस्स कधं खओवसमियत्त उच्यते । ण सरीरणामकम्मोदएण सरीरपाओग्गपोग्गलेसु बहुसु संचर्यं गच्छ-माणेसु विरियंतराइयस्स सव्वघादिफइयाणमुदयाभावेण तेसि सतोव-समेण देसघादिफइयाणमुदएण समुन्भवादो लद्धखओवसमववपसं विरियं वड्ढदि, तं विरियं पप्प जेण जीवपदेसाणं सकोच विकोच वड्ढदि तेण जोगो खओवसमिओ त्ति वुत्तो । विरियंतराइयखओ-वसमजणिदवलवड्ढि-हाणीहिती जदि-जीवपदेपरिष्फंदस्स वड्ढि-हाणीओ होति तो खीणतराइयम्मि सिद्धे जोगवहुत्तं पसज्जदे । ण, खओवसमियवल्लवड्ढि-हाणीहिती वड्ढि-हाणीणं गच्छमाणो जीव-

पदेसपरिष्कंदो स्वइयमलादो बद्धिहाणीणं गच्छदि, अहृत्पसंगादो ।
 = प्रश्न—जीव प्रदेशोंके संकोच और विकोच रूप परिस्पन्दको योग कहते हैं। यह परिस्पन्द कर्मोंके उदयसे उत्पन्न होता है, क्योंकि कर्मोदयसे रहित सिद्धोंके वह नहीं पाया जाता। अयोगिकेवलीमें योगके अभावसे यह कहना उचित नहीं है कि योग औदयिक नहीं होता है, क्योंकि, अयोगिकेवलीके यदि योग नहीं होता तो शरीर-नामकर्मका उदय भी तो नहीं होता। शरीरनामकर्मके उदयसे उत्पन्न होनेवाला योग उस कर्मोदयके बिना नहीं हो सकता, क्योंकि वैसे माननेसे अतिप्रसंग दोष उत्पन्न होगा। इस प्रकार जब योग औदयिक होता है, तो उसे क्षायोपशमिक क्यों कहते हैं। उत्तर—ऐसा नहीं, क्योंकि जब शरीर नामकर्मके उदयसे शरीर बननेके योग्य बहुतेसे पुद्गलोका सचय होता है और वीर्यान्तरायकर्मके सर्वघाती स्पर्धकोंके उदयाभावसे व उन्हीं स्पर्धकोंके सत्त्वोपशमसे तथा देश-घाती स्पर्धकोंके उदयसे उत्पन्न होनेके कारण क्षायोपशमिक कहलाने वाला वीर्य (बल) बढ़ता है, तब उस वीर्यको पाकर चूँकि जीव-प्रदेशोका संकोच-विकोच बढ़ता है, इसलिए योग क्षायोपशमिक कहा गया है। प्रश्न—यदि वीर्यान्तरायके क्षायोपशमसे उत्पन्न हुए बलकी वृद्धि और हानिसे जीव प्रदेशोंके परिस्पन्दकी वृद्धि और हानि होती है, तब तो जिसके अन्तरायकर्म क्षीण हो गया है ऐसे सिद्ध जीवोंमें योगकी बहुलताका प्रसंग आता है। उत्तर—नहीं आता, क्योंकि क्षायोपशमिक बलसे क्षायिक बल भिन्न देखा जाता है। क्षायो-पशमिक बलको वृद्धि-हानिसे वृद्धि-हानिको प्रसंग होनेवाला जीव प्रदेशोंका परिस्पन्द क्षायिक बलसे वृद्धिहानिको प्रसंग नहीं होता, क्योंकि ऐसा माननेसे तो अतिप्रसंग दोष आता है।

५. योग कथंचित् औदयिक भाव है

घ. ५/१, ७, ४८/२२६/७ ओदइओ जोगो, सरीरनामकम्मोदयविणासाणतरं जोगविणासुवलभर । ण च भवियत्तेण विउवचारो, कम्मसंबधविरो-
 हिणो तस्स कम्मजणिदत्तविरोहा । = 'योग' यह औदयिक भाव है, क्योंकि शरीर नामकर्मके उदयका विनाश होनेके पश्चात् ही योगका विनाश पाया जाता है। और ऐसा मानकर भयत्व भावके साथ व्यभिचार भी नहीं आता है, क्योंकि कर्म सम्बन्धके विरोधी भयत्व भावकी कर्मसे उत्पत्ति माननेमें विरोध आता है।

घ. ७/२, १, १३/७६/३ यदि जोगो वीरिंप्रतराइयस्वओवसमजणिदो तो सजोगिम्ह जोगाभावो पसज्जदे । ण उवयारेण स्वओवसमिय भाव पत्तस्स ओदइयस्स जोगस्स तथा भावविरोहादो । = प्रश्न—यदि योग वीर्यान्तराय कर्मके क्षायोपशमसे उत्पन्न होता है, तो सयोगिकेवल्लिमें योगके अभावका प्रसंग आता है। उत्तर—नहीं आता, योगमें क्षायोपशमिक भाव तो उपचारसे है। असलमें तो योग औदयिक भाव ही है और औदयिक योगका सयोगिकेवल्लिमें अभाव माननेमें विरोध आता है।

घ. ७/२, १, ६१/१०५/२ कित्तु सरीरनामकम्मोदयजणिदजोगो वि लेस्सा त्ति इच्छिज्जदि, कम्मबधणिमित्तत्तादो । तेण कसाए फिट्ठे वि जोगो अत्थि । = शरीर नामकर्मोदयके उदयसे उत्पन्न योग भी तो लेशया माना गया है, क्योंकि वह भी कर्मबन्धमें निमित्त होता है। इस कारण कषायके नष्ट हो जानेपर भी योग रहता है।

घ. १/४, १, ६६/३१६/२ जोगमगणा त्रि ओदइया, णामकम्मस्स उदीरणो-
 दयजणिदत्तादो । = योग मार्गणा भी औदयिक है, क्योंकि वह नामकर्मकी उदीरणा व उदयसे उत्पन्न होती है।

६. उत्कृष्ट योग दो समयसे अधिक नहीं रहता

घ. १०/४, २, ४, ३१/१०८/४ यदि एवं तो दोहि ममएहि विणा उक्कस्स-
 जोगेण णिरंतरं बहुकालं किण्ण परिणमाविदो । ण एस दोसो, णिर-
 तरं तत्थ त्तियादिसमयपरिणामाभावादो । = प्रश्न—दो समयोंके

सिवा निरन्तरं बहुकालं तक उत्कृष्ट योगसे क्यों नहीं परिणमाया ।
 उत्तर—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि निरन्तर उत्कृष्ट योगमें तीन आदि समय तक परिणमन करते रहना सम्भव नहीं है।

७. तीनों योगोंकी प्रवृत्ति क्रमसे ही होती है युगपत् नहीं

घ. १/१, १, ४७/२७१/३ त्रयणां योगानां प्रवृत्तिरक्रमेण उत नेति । नाक्र-
 मेण, त्रिणक्रमेणैकस्यात्मनो योगनिरोधात् । मनोवाक्कायप्रवृत्त्योऽ-
 क्रमेण क्वचिद् दृश्यन्त इति चेद्भूतु तासां तथा प्रवृत्तिर्दृष्ट्वात्, न
 तत्प्रयत्नानामक्रमेण वृत्तिस्तथोपदेशाभावादिति । अथ स्यात् प्रयत्नो
 हि नाम बुद्धिपूर्वक, बुद्धिश्च मनोयोगपूर्विका तथा च सिद्धो
 मनोयोग शेषयोगाविनाभावीति न, कार्यकारणयोरेककाले समुत्पत्ति-
 विरोधात् । = प्रश्न—तीनों योगोंकी प्रवृत्ति युगपत् होती है या नहीं।
 उत्तर—युगपत् नहीं होती है, क्योंकि, एक आत्माके तीनों योगोंकी
 प्रवृत्ति युगपत् माननेपर योग निरोधका प्रसंग आ जायेगा। अर्थात्
 किसी भी आत्मामें योग नहीं बन सकेगा। प्रश्न—कही पर मन,
 वचन और कायकी प्रवृत्तियाँ युगपत् देखी जाती हैं। उत्तर—यदि
 देखी जाती हैं, तो उनकी युगपत् वृत्ति होओ। परन्तु इससे, मन
 वचन और कायकी प्रवृत्तिके लिए जो प्रयत्न होते हैं, उनकी युगपत्
 वृत्ति सिद्ध नहीं हो सकती है, क्योंकि, आगममें इस प्रकार उपदेश
 नहीं मिलता है। (तीनों योगोंकी प्रवृत्ति एक साथ हो सकती है,
 प्रयत्न नहीं।) प्रश्न—प्रयत्न बुद्धि पूर्वक होता है, और बुद्धि मनो-
 योग पूर्वक होती है। ऐसी परिस्थितिमें मनोयोग शेष योगोंका
 अविनाभावी है, यह बात सिद्ध हो जानी चाहिए। उत्तर—नहीं,
 क्योंकि, कार्य और कारण इन दोनोंकी एक कालमें उत्पत्ति नहीं
 हो सकती है।

घ. ७/२, १, ३३/७७/१ दो वा तिण्णि वा जोगा जुगवं किण्ण होति । ण,
 तेसि णिसिद्धाकमवृत्तीदो । तेसिमक्कमेण वृत्ती बुवलंभदे चे ।
 ण, . । = प्रश्न—दो या तीन योग एक साथ क्यों नहीं होते। उत्तर—
 नहीं होते, क्योंकि, उनकी एक साथ वृत्तिका निषेध किया गया है।
 प्रश्न—अनेक योगोंकी एक साथ वृत्ति पायी तो जाती है। उत्तर—
 नहीं पायी जाती, (क्योंकि इन्द्रियातीत जीव प्रदेशोका परिस्पन्द
 प्रत्यक्ष नहीं है। —दे० योग/२/३)।

गो जी, /मू /२४२/५०५ जोगोवि एककाले एक्केव थ होदि णियमेण । =
 एक कालमें एक जीवके युगपत् एक ही योग होता है, दो वा तीन
 नहीं हो सकते, ऐसा नियम है।

८. तीनों योगोंके निरोधका क्रम

भ. आ /मू /२११७-२१२०/१८२४ बादरवचिजोग बादरेण कायेण बादर-
 मण च । बादरकायपि तथा रु भदि सुहुमेण काएण ।२११७। तथ चेव
 सुहुमणवचिजोगं सुहुमेण कायजोगेण । रु भित्ति जिणो चिट्ठदि सो
 सुहुमे काइए जोगे ।२११८। सुहुमाए लेस्साए सुहुमकिरियबंधगो तगो
 ताधे । काइयजोगे सुहुमन्मि सुहुमकिरियं जिणो म्हादि ।२११९। सुहु-
 मकिरिएण भाणेण णिरुद्धे सुहुमकाययोगे वि । सेलेसी होदि तदो
 अबंधगो णिचचलपदेसो ।२१२०। = बादर वचनयोग और बादर मनो-
 योगके बादर काययोगमें स्थिर होकर निरोध करते हैं तथा बादर
 काययोगसे रोकते हैं ।२११७। उसही प्रकारसे सूक्ष्म वचनयोग और
 सूक्ष्म मनोयोगको सूक्ष्म काययोगमें स्थिर होकर निरोध करते हैं
 और उसी काययोगसे वे जिन भगवान् स्थिर रहते हैं ।२११८। उत्कृष्ट
 शुक्लश्लेश्याके द्वारा सूक्ष्म काययोगसे साता वेदनीय कर्मका बंध करने-
 वाले वे भगवान् सूक्ष्मक्रिय नामक तीसरे शुक्लध्यानका आश्रय करते
 हैं। सूक्ष्मकाययोग होनेसे उनको सूक्ष्मक्रिय शुक्लध्यानकी प्राप्ति होती
 है ।२११९। सूक्ष्मक्रिय ध्यानसे सूक्ष्मकाय योगका निरोध करते हैं।
 तब आत्माके प्रदेश निश्चल होते हैं, और तब उनको कर्मका बन्ध
 नहीं होता। (ज्ञा./४२/४८-५१; (बसु. भा./५३३-५३६) ।

घ. ६/१.६-८, १६ एतो अंतोमुहुत्तं गंतूण बादरकायजोगेण बादरमणजोगं णिरुंभदि । तदो अंतोमुहुत्तेण बादरकायजोगेण बादरवचिजोगं णिरुंभदि । तदो अंतोमुहुत्तेण बादरकायजोगेण बादरउत्सासणिउत्सासं णिरुंभदि । तदो अंतोमुहुत्तेण बादरकायजोगेण तमेव बादरकायजोगं णिरुंभदि । तदो अंतोमुहुत्तं गंतूण सुहुमकायजोगेण सुहुममणजोगं णिरुंभदि । तदो अंतोमुहुत्तं गंतूण सुहुमवचिजोगं णिरुंभदि । तदो अंतोमुहुत्तं गंतूण सुहुमउत्सासं णिरुंभदि । तदो अंतोमुहुत्तं गंतूण सुहुमकायजोगेण सुहुममणजोगं णिरुंभमाणो (४१४/५) । इमाणि करणाणि करेदि पढमसमए अपुव्वफइयाणि करेदि पुव्वफइयाणहेट्ठावो (४१५/२) । एतो अंतोमुहुत्तं किट्ठीओ करेदि । किट्ठीकरणे णिट्ठेदे तदो से काले पुव्वफइयाणि अपुव्वफइयाणि च णासेदि । अंतोमुहुत्तं किट्ठीगदजोगो होदि (४१६/१) । तदो अंतोमुहुत्तं जोगाभावेण णिरुद्धासवत्तो-सव्वकम्मविप्पमुक्को एगसमएण सिद्धि गच्छदि (४१७/१) = १. यहाँ-से अन्तर्मुहूर्त जाकर बादरकाय योगसे बादरमनोयोगका निरोध करता है । तत्पश्चात् अन्तर्मुहूर्त जाकर बादरकाय योगसे बादर वचन योगका निरोध करता है । पुनः अन्तर्मुहूर्तसे बादर काययोगसे बादर उच्छ्वास-निश्वास का निरोध करता है । पुनः अन्तर्मुहूर्तसे बादर काय योगसे उसी बादर काययोगका निरोध करता है । तत्पश्चात् अन्तर्मुहूर्त जाकर सूक्ष्मकाययोगसे सूक्ष्म मनोयोगका निरोध करता है । पुनः अन्तर्मुहूर्त जाकर सूक्ष्म वचनयोगका निरोध करता है । पुनः अन्तर्मुहूर्त जाकर सूक्ष्मकाय योगसे उच्छ्वास-निश्वासका निरोध करता है । पुनः अन्तर्मुहूर्त जाकर सूक्ष्म काययोगसे सूक्ष्म काययोगका निरोध करता हुआ । २. इन करणोंको करता है—प्रथम समयमें पूर्वस्पर्धको के नीचे अपूर्व स्पर्धकोको करता है । फिर अन्तर्मुहूर्तकाल पर्यन्त कृष्टियोंको करता है...उसके अनन्तर समयमें पूर्व स्पर्धकोको और अपूर्वस्पर्धकोको नष्ट करता है । अन्तर्मुहूर्तकाल तक कृष्टिगत योग वाला होता है । तत्पश्चात् अन्तर्मुहूर्त काल तक अयोगि केवलीके योगका अभाव हो जानेसे आसवका निरोध हो जाता है । तब सर्व कर्णोंसे वियुक्त होकर आत्मा एक समयमें सिद्धिको प्राप्त करता है (घ. १३।५.४.२६/८५२); (घ. १०/४.२.४ १०७/३२१/८); (ख. सा./सू./६२७-६५५/७३६-७५८) ।

४. योगका स्वामित्व व तत्सम्बन्धी शंकाएँ

१. योगोंमें सम्भव गुणस्थान निर्देश

घ. खं. १/१.१/सू. ५०-६५/२२२-३०८ मणजोगो सच्चमणजोगो असच्चमणजोगो सण्णिमिच्छाइट्ठि-प्पहुडि जाव सजोगिकेवलि त्ति । ५०। मोसमणजोगो सच्चमोसमणजोगो सण्णिमिच्छाइट्ठि-प्पहुडि जाव खीण-कसायवीरयाय-छदुमस्था त्ति । ५१। वचिजोगो असच्चमोसवचिजोगो बोईदिय-प्पहुडि जाव सजोगिकेवलि त्ति । ५३। सच्चवचिजोगो सण्णिमिच्छाइट्ठि-प्पहुडि जाव सजोगिकेवलि त्ति । ५४। मोसवचिजोगो सच्चमोसवचिजोगो सण्णिमिच्छाइट्ठि-प्पहुडि जाव खीणकसाय-वीरयाय-छदुमस्था त्ति । ५५। कायजोगो ओरालियकायजोगो ओरालियमिस्सकायजोगो एइदिय-प्पहुडि जाव सजोगिकेवलि त्ति । ६१। वेउत्थियकायजोगो वेउत्थियमिस्सकायजोगो सण्णिमिच्छाइट्ठि-प्पहुडि जाव असज्जदसम्माइट्ठि त्ति । ६२। आहारकायजोगो आहारमिस्सकायजोगो एक्कमिह चैव पमत्त-सजदट्ठाणे । ६३। कम्मइयकायजोगो एइदिय-प्पहुडि जाव सजोगिकेवलि त्ति । ६४। मणजोगो वचिजोगो कायजोगो सण्णिमिच्छाइट्ठि-प्पहुडि जाव सजोगिकेवलि त्ति । ६५। = १. सामान्यसे मनोयोग और विशेष रूपसे सत्य मनोयोग तथा असत्यमूषा मनोयोग संज्ञी मिथ्यादृष्टिसे लेकर सयोगिकेवली पर्यन्त होते हैं । ५०। असत्य मनोयोग और उभय मनोयोग संज्ञी मिथ्यादृष्टि

गुणस्थानसे लेकर क्षीणकषाय-वीतराग छद्मस्थ गुणस्थान तक पाये जाते हैं । ५१। २. सामान्यसे वचनयोग और विशेषरूपसे अनुभय वचनयोग द्वीन्द्रिय जीवोंसे लेकर सयोगिकेवली गुणस्थान तक होता है । ५३। सत्य वचनयोग संज्ञी मिथ्यादृष्टिसे लेकर सयोगिकेवली गुणस्थान तक होता है । ५४। मूषावचनयोग और सत्यमूषावचनयोग संज्ञी मिथ्यादृष्टिसे लेकर क्षीणकषाय-वीतराग-छद्मस्थ-गुणस्थान तक पाये जाते हैं । ५५। ३. सामान्यसे काययोग और विशेषकी अपेक्षा औदारिक काययोग और औदारिक मिश्र काययोग एकेन्द्रियसे लेकर सयोगिकेवली गुणस्थान तक होते हैं । ६१। वैक्रियक काययोग और वैक्रियक मिश्र काययोग संज्ञी मिथ्यादृष्टिसे लेकर लेकर असंयत सम्यग्दृष्टि तक होते हैं । ६२। आहारककाययोग और आहारकमिश्रकाययोग एक प्रमत्त गुणस्थानमें ही होते हैं । ६३। कर्मणकाययोग एकेन्द्रिय जीवोंसे लेकर सयोगिकेवली तक होता है । ६४। ४. तीनों योग—मनोयोग, वचनयोग और काययोग संज्ञी मिथ्यादृष्टिसे लेकर सयोगिकेवली तक होते हैं । ६५। क्षीणकषाय गुणस्थान में भी निष्कामक्रिया सम्भव है ।

—दे अभिलाषा ।

२. गुणस्थानोंमें सम्भव योग

(पं. सं/पा/५/३२८), (गो. जो./सू./७०४/११४०), (पं. सं./स./५/३५) ।

गुणस्थान	सम्भव योग	असम्भव योगके नाम
मिथ्यादृष्टि	१३	आहारक, आहारक मिश्र = २
सासादन	"	"
मिश्र	१०	आहारक, आहारक मिश्र, औदारिक, वैक्रियक मिश्र कर्मण = ५
असंयत	१३	आहारक व आहारक मिश्र = २
देशविरत	६	औदारिक मिश्र, वैक्रियक व वैक्रियक मिश्र, आहारक व आहारक मिश्र, कर्मण = ६
प्रमत्त	११	औदारिक मिश्र, वैक्रियक, वैक्रियक मिश्र, कर्मण = ४
अप्रमत्त	६	देशविरतवत्
अपूर्वकरण	"	"
अनिवृत्ति	"	"
सूक्ष्म सा.	"	"
उपशान्त	"	"
क्षीणकषाय	"	"
सयोगि	७	वैक्रियक, वैक्रियक मिश्र, आहारक, आहारक मिश्र, असत्य व उभय मनोवचनयोग = ८

३. योगोंमें सम्भव जीवसमास

घ. खं. १/१.१/सू. ६६-७८/३०९-३१७ वचिजोगो कायजोगो बोईदिय-प्पहुडि जाव असण्णिपच्चिदिया त्ति । ६६। कायजोगो एइदियाणं । ६७। मणजोगो वचिजोगो पज्जत्ताण अत्थि, अपज्जत्ताण णत्थि । ६८। कायजोगो पज्जत्ताणं वि अत्थि, अपज्जत्ताणं वि अत्थि । ६९। ओरालियकायजोगो पज्जत्ताणं ओरालियमिस्सकायजोगो अपज्जत्ताणं । ७०। वेउत्थियकायजोगो पज्जत्ताण वेउत्थियमिस्सकायजोगो अपज्जत्ताणं । ७१। आहारकायजोगो पज्जत्ताण आहारमिस्सकायजोगो अपज्जत्ताणं । ७२। = वचनयोग और काययोग द्वीन्द्रिय जीवोंसे लेकर असंज्ञी पचेन्द्रिय जीवों तक होते हैं । ६६। काययोग

एकेन्द्रिय जीवोंके होता है। ६७। मनोयोग और वचनयोग पर्याप्तको-
के ही होते हैं, अपर्याप्तकोके नहीं होते। ६८। काययोग पर्याप्तकोके
भी होता है। ६९। अपर्याप्तकोके भी होता है, औदारिक काययोग
पर्याप्तकोके और औदारिक मिश्र काययोग अपर्याप्तकोके होता है। ७६।
वैक्रियक काययोग पर्याप्तकोके और वैक्रियकमिश्र काययोग अप-
र्याप्तकोके होता है। ७७। आहारक काययोग पर्याप्तकोके और आहारक-
मिश्र काययोग अपर्याप्तकोके होता है। ७८। (सू. आ./११२७);
(पं. सं./प्रा/४/११-१५), (गो. जी./वृ./६७६-६८४/११२२-११२५)।

४. पर्याप्त व अपर्याप्तमें मन, वचनयोग सम्बन्धी शंका

घ. १/१.१.६८/३१०/४ क्षयोपशमापेक्षया अपर्याप्तकालेऽपि तयोः सत्त्वं
न विरोधमास्कुन्देदिति चेन्न, वाङ्मनसः, ध्यामनिष्पन्नस्य तद्यो-
गानुपपत्तेः। पर्याप्तानामपि विरुद्धयोगमध्यासितावस्थाया नास्त्ये-
वेति चेन्न, सभवापेक्षया तत्र तत्सत्त्वप्रतिपादनात्, तच्छक्तिसत्त्वा-
पेक्षया वा। = प्रश्न—क्षयोपशमकी अपेक्षा अपर्याप्त कालमें भी
वचनयोग और मनोयोगका पाया जाना विरोधको प्राप्त नहीं होता
है। उत्तर—नहीं, क्योंकि जो क्षयोपशम वचनयोग और मनोयोग
रूपसे उत्पन्न नहीं हुआ है, उसे योग संज्ञा प्राप्त नहीं हो सकती
है। प्रश्न—पर्याप्त जीवोंके भी विरुद्ध योगको प्राप्त होने रूप
अवस्थाके होने पर विवक्षित योग नहीं पाया जाता है। उत्तर—
नहीं, क्योंकि, पर्याप्त अवस्थामें किसी एक योगके रहनेपर शेष
योग सम्भव है, इसलिए इस अपेक्षासे वहाँ पर उनके अस्तित्वका
कथन किया जाता है। अथवा, उस समय वे योग शक्तिरूपसे
विद्यमान रहते हैं, इसलिए इस अपेक्षासे उनका अस्तित्व कहा
जाता है।

५. मनोयोगमें भाषा व शरीर पर्याप्तिकी सिद्धि

घ. २/१.१/६२८/६ केई वचिकायपाणे अवणेति, तण्ण घड्डवे; तेसि
सत्ति-संभवादो। वचि-कायबलणमित्त-पुगल-खधस्स अत्थित्त
पेक्खिअ पज्जत्तीओ होति त्ति सरीर-वचि पज्जत्तीओ अत्थि।
= कितने ही आश्चर्य मनोयोगियोंके दश प्राणोंमेंसे वचन और काय
प्राण कम करते हैं, किन्तु उनका वैसा करना घटित नहीं होता है,
क्योंकि, मनोयोगी जीवोंके वचनबल और कायबल इन दो प्राणों-
की शक्ति पायी जाती है, इसलिए ये दो प्राण उनके बन जाते हैं।
उसी प्रकार वचनबल और कायबल प्राणके निमित्तभूत पुद्गल-
स्कन्धका अस्तित्व देखा जानेसे उनके उक्त दोनो पर्याप्तियाँ भी
पायी जाती हैं इसलिए उक्त दोनो पर्याप्तियाँ भी उनके बन
जाती हैं।

६. अप्रमत्त व ध्यानस्थ जीवोंमें असत्य मनोयोग कैसे

घ. १/१.१.६१/२८५/७ भवतु नाम क्षयकोपशमकाना सत्यस्यासत्य-
मोषस्य च सत्त्वं नेतरयोरप्रमादस्य प्रमादविरोधित्वादिति न, रजो-
जुषा विपर्ययानध्यवसायाज्ञानकारणमनसः सत्त्वाविरोधात्। न च
तद्योगात्प्रमादिनस्ते प्रमादस्य मोहपर्यायत्वात्। = प्रश्न—क्षयक
और उपशमक जीवोंके सत्यमनोयोग और अनुभय मनोयोगका
सद्भाव रहा आवे, परन्तु बाकीके दो अर्थात् असत्य मनोयोग और
उभयमनोयोगका सद्भाव नहीं हो सकता है, क्योंकि, इन दोनोंमें
रहनेवाला अप्रमाद असत्य और उभय मनके कारणभूत प्रमादका
विरोधी है। उत्तर—नहीं, क्योंकि आवरण कर्मसे युक्त जीवोंके
विपर्यय और अनध्यवसायरूप अज्ञानके कारणभूत मनके सद्भाव
मान लेनेमें कोई विरोध नहीं आता है। परन्तु इसके सम्बन्धसे क्षयक

या उपशम जीव प्रमत्त नहीं माने जा सकते हैं, क्योंकि, प्रमाद
मोहकी पर्याय है।

घ. १/१.१.६५/२८६/५ क्षीणकषायस्य वचनं कथमसत्यमिति चेन्न,
असत्यनिबन्धनाज्ञानसत्त्वापेक्षया तत्र तत्सत्त्वप्रतिपादनात्। तत्
एव नोभयसंयोगोऽपि विरुद्ध इति। वाच्यमस्य क्षीणकषायस्य कथं
वायोगशचेन्न, तत्रान्तर्जल्पस्य सत्त्वाविरोधात्। = प्रश्न—जिसकी
कषाय क्षीण हो गयी है उसके वचन असत्य कैसे हो सकते हैं।
उत्तर—ऐसी शंका व्यर्थ है, क्योंकि असत्य वचनका कारण अज्ञान
नारहवे गुणस्थान तक पाया जाता है, इस अपेक्षासे वहाँ पर असत्य
वचनके सद्भावका प्रतिपादन किया है। और इसीलिए उभय
संयोगज सत्यमूषा वचन भी नारहवें गुणस्थान तक होता है, इस
कथनमें कोई विरोध नहीं आता है। प्रश्न—वचन गुप्तिका पूरी
तरहसे पालन करने वाले कषायरहित जीवोंके वचनयोग कैसे
सम्भव है। उत्तर—नहीं, क्योंकि कषायरहित जीवोंमें अन्तर्जल्पके
पाये जानेमें कोई विरोध नहीं आता है।

घ. २/१.१/४३४/६ उभाणीणमपुत्रकरणं भवतु णाम वचिबलस्य
अत्थित्तं भासापज्जत्ति-सण्णद-पोगल-खंज-जणिद-सत्ति-संभवा-
बादो। ण पुण वचिजोगो कायजोगो वा इदि। न, अन्तर्जल्प-
प्रयत्नस्य कायगतसूक्ष्मप्रयत्नस्य च तत्र सत्त्वात्। = प्रश्न—ध्यान-
में लीन अपूर्वकरण गुणस्थानवर्ती जीवोंके वचनबलका सद्भाव
भले ही रहा आवे, क्योंकि भाषा पर्याप्त नामक पौद्गलिक स्कन्धो-
से उत्पन्न हुई शक्तिका उनके सद्भाव पाया जाता है किन्तु उनके
वचनयोग या काययोगका सद्भाव नहीं मानना चाहिए। उत्तर—
नहीं, क्योंकि, ध्यान अवस्थामें भी अन्तर्जल्पके लिए प्रयत्न रूप
वचनयोग और कायगत-सूक्ष्म प्रयत्नरूप काययोगका सत्त्व अपूर्व-
करण गुणस्थानवर्ती जीवोंके पाया ही जाता है इसलिए वहाँ वचन
योग और काययोग भी सम्भव है।

७. समुद्घातगत जीवोंमें वचनयोग कैसे

घ. ४/१.१.२६/१०२/७.१० वेउच्चियसमुत्पदादगदाणं कथं मणजोग-वचि-
जोगाणं सभवो। ण, तेसि पि णिप्पणुत्तरसरीराणं मणजोगवचि-
जोगाण परावत्तिसंभवादो। ७। मारणतियसमुत्पदादगदाण असंखेज्ज-
जोयणायामेण ठिदाणं मुच्छिदाण कथं मण-वचिजोगसभवो। ण,
कारणाभावादो अवत्ताण णिम्भरमुत्तजीवाण व तेसि तत्थ सभवं
पडिविरोहाभावादो। १०। = प्रश्न—वैक्रियिक समुद्घातको प्राप्त
जीवोंके मनोयोग और वचनयोग कैसे सम्भव है। उत्तर—नहीं,
क्योंकि, निष्पन्न हुआ है विक्रियात्मक उत्तर शरीर जिनके ऐसे
जीवोंके मनोयोग और वचनयोगका परिवर्तन सम्भव है। प्रश्न—
मारणान्तिक समुद्घातको प्राप्त, असत्यात् योजन आयामसे स्थित
और मूर्च्छित हुए संज्ञी जीवोंके मनोयोग और वचनयोग कैसे
सम्भव है। उत्तर—नहीं, क्योंकि, बाधक कारणके अभाव होनेसे
निर्भर (भरपूर) सोते हुए जीवोंके समान अव्यक्त मनोयोग और
वचनयोग मारणान्तिक समुद्घातगत मूर्च्छित अवस्थामें भी सम्भव
है, इसमें कोई विरोध नहीं है।

८. असंज्ञी जीवोंमें असत्य व अनुभय वचनयोग कैसे

घ. १/१.१.६३/२८७/४ असत्यमोषमनोनिबन्धनवचनमसत्यमोषवचनमिति
प्रागुक्तम्, तद् द्वीन्द्रियादीनां मनोरहितानां कथं भवेदिति
नायमेकान्तोऽस्ति सकलवचनानि मनस एव समुत्पद्यन्त इति मनो-
रहितकेवलानां वचनाभावसंजननात्। विकलेन्द्रियाणां मनसा
विमान ज्ञानसमुत्पत्तिः। ज्ञानेन विना न वचनप्रवृत्तिरिति चेन्न,
मनस एव ज्ञानमुत्पद्यत इत्येकान्ताभावात्। भावे वा नाशेषेन्द्रियेभ्यो
ज्ञानसमुत्पत्तिः मनसः गुणत्वात्। नैतदपि दृष्टश्रुतानुभूतविषय-
स्य मानसप्रत्ययस्यान्यत्र वृत्तिविरोधात्। न चक्षुरादीनां सहकार्यमि

प्रयत्नात्मसहकारिभ्यः इन्द्रियेभ्यस्तदुत्पत्त्युपलम्भात् । समनस्केषु ज्ञानस्य प्रादुर्भावो मनोयोगादेवेति चेन्न केवलज्ञानेन व्यभिचारात् । समनस्काना यत्प्रयोगशक्तिं ज्ञानं तन्मनोयोगात्स्यादिति चेन्न, इष्टत्वात् । मनोयोगाच्चनमुत्पद्यत इति प्रागुक्तं तत्कथं घटत इति चेन्न, उपचारेण तत्र मानसस्य ज्ञानस्य मन इति संज्ञा विधायोक्तत्वात् । कथं चिकलेन्द्रियवचसोऽस्त्यमोषत्वमिति चेदन्ध्यवसाय-हेतुत्वात् । ध्वनिविषयोऽध्यवसायः समुपलभ्यत इति चेन्न, वक्तुरभि-प्रायविषयाध्यवसायाभावस्य चिद्विशिष्टत्वात् । = प्रश्न—अनुभय रूप मनके निमित्तसे जो वचन उत्पन्न होते हैं, उन्हें अनुभय वचन कहते हैं । यह बात पहले कही जा चुकी है । ऐसी हालतमें मन रहित इन्द्रियादिक जीवोंके अनुभय वचन कैसे हो सकते हैं ? उत्तर—यह कोई एकान्त नहीं है कि सम्पूर्ण वचन मनसे ही उत्पन्न होते हैं, यदि सम्पूर्ण वचनोकी उत्पत्ति मनसे ही मान ली जावे तो मन रहित केवलियोंके वचनोका अभाव प्राप्त हो जायेगा । प्रश्न—चिकलेन्द्रिय जीवोंके मनके बिना ज्ञानकी उत्पत्ति नहीं हो सकती है और ज्ञानके बिना वचनोकी प्रवृत्ति नहीं हो सकती है ? उत्तर—ऐसा नहीं है, क्योंकि, मनसे ही ज्ञानकी उत्पत्ति होती है यह कोई एकान्त नहीं है । यदि मनसे ही ज्ञानकी उत्पत्ति होती है यह एकान्त मान लिया जाता है तो सम्पूर्ण इन्द्रियोंसे ज्ञानकी उत्पत्ति नहीं हो सकेगी, क्योंकि सम्पूर्ण ज्ञानकी उत्पत्ति मनसे मानते हो । अथवा, मनसे समुत्पन्नस्वरूप धर्म इन्द्रियोमें रह भी तो नहीं सकता है, क्योंकि, दृष्ट, श्रुत और अनुभूतको विषय करने वाले मानस ज्ञानका दूसरी जगह सद्भाव माननेमें विरोध आता है । यदि मनका चक्षु आदि इन्द्रियोंका सहकारी कारण माना जावे सो भी नहीं बनता है, क्योंकि प्रयत्न और आत्माके सहकारकी अपेक्षा रखनेवाली इन्द्रियोंसे इन्द्रियज्ञानकी उत्पत्ति पायी जाती है । प्रश्न—समनस्क जीवोंमें तो ज्ञानकी उत्पत्ति मनोयोगसे ही होती है ? उत्तर—नहीं, क्योंकि, ऐसा माननेपर केवलज्ञानसे व्यभि-चार आता है । प्रश्न—जो फिर ऐसा माना जाये कि समनस्क जीवोंके जो क्षयोपशमिक ज्ञान होता है वह मनोयोगसे होता है ? उत्तर—यह कोई शंका नहीं, क्योंकि, यह तो इष्ट ही है । प्रश्न—मनोयोगसे वचन उत्पन्न होते हैं, यह जो पहले कहा जा चुका है वह कैसे घटित होता है ? उत्तर—यह शंका कोई दोषजनक नहीं है, क्योंकि, 'मनोयोगसे वचन उत्पन्न होते हैं' यहाँपर मानस ज्ञानकी 'मन' यह मन्त्रा उपचारसे रखकर कथन किया है । प्रश्न—चिकलेन्द्रियोंके वचनोमें अनुभयपना कैसे आ सकता है ? उत्तर—चिकलेन्द्रियोंके वचन अनध्यवसायरूप ज्ञानके कारण है, इसलिए उन्हें अनुभय रूप कहा गया है । प्रश्न—उनके वचनोमें ध्वनि विषयक अध्यवसाय अर्थात् निश्चय, तो पाया जाता है, फिर उन्हें अन-ध्यवसायका कारण क्यों कहा जाय ? उत्तर—नहीं, क्योंकि, यहाँपर अनध्यवसायसे वक्ताका अभिप्राय विषयक अध्यवसायका अभाव विवक्षित है ।

५. योगस्थान निर्देश

१. योगस्थान सामान्यका लक्षण

ष. खं./१०/४.२.४/१८६/२६३ ठाणरूखणदाए अमखेज्जाणि फह-याणि सेडोए असखेज्जदिभागमेत्ताणि, तमेग जहणय जोगट्ठाणं भवदि । १८६। = स्थान प्ररूपणाके अनुसार श्रेणिके असख्यातवें भाग मात्र जो असख्यात स्पर्धक है उनका एक जघन्य योग स्थान होता है । १८६।

स. सा/आ/५३ यानि कायवाड्मनोवर्गणापरिस्पन्दलक्षणाणि योग-स्थानानि । = काय, वचन और मनोवर्गणाका कम्पन जिनका लक्षण है ऐसे जो योगस्थान ।

२. योगस्थानोंके भेद

ष. खं./१०/४.२.४/१७५-१७६/४३२.४३८ जोगट्ठाणपरूखणदाए तस्य इमाणि दस अणियोगद्वाराणि णादस्वाणि भवति (१७५/४३२) अवि-भागपडिच्छेदपरूखणा वर्गणपरूखणा फहयपरूखणा अतरपरूखणा ठाणपरूखणा अणतरोवणिधा परपरोवणिधा समयपरूखणा वडिद्ध-परूखणा अप्पावहुए त्ति । १७६। = योगस्थानोकी प्ररूपणामें दस अनुयोगद्वार जानने योग्य है । १७५। अविभागप्रतिच्छेद प्ररूपणा, वर्गणपररूपणा, स्पर्धक प्ररूपणा, अन्तरप्ररूपणा, स्थानप्ररूपणा, अनन्तरोपनिधा, समयप्ररूपणा, वृद्धिप्ररूपणा और अल्पवहुत्व, ये उक्त दस अनुयोगद्वार हैं । १७६।

दे० योग/१/५ (योजनायोग तीन प्रकारका है—उपपादयोग, एकान्तानु-वृद्धियोग, और परिणामयोग ।)

गो क/मू/२१८ जोगट्ठाणा तिविहा उववादेयंतवडिद्धपरिणामा । भेदा एक्केवकपि चोद्वसभेदा पुणो तिविहा । २१८। = उपपाद, एकांतानुवृद्धि और परिणाम इस प्रकार योग-स्थान तीन प्रकारका है । और एक-एक भेदके १४ जीवसमासकी अपेक्षा चौदह-चौदह भेद है । तथा ये १४ भी सामान्य, जघन्य और उत्कृष्टकी अपेक्षा तीन-तीन प्रकारके हैं ।

३. उपपाद योगका लक्षण

घ. १०/४.२.४.१७३/४२०/६ उववादजोगो णाम उप्पण्णपढमसमए चैव । जहण्णुक्खसेण एगसमओ । = उपपाद योग उत्पन्न होनेके प्रथम समय-में ही होता है । उसका जघन्य व उत्कृष्ट काल एक समय मात्र है ।

गो. क/मू/२१६ उववादजोगठाणा भवादिसमयट्ठियस्स अवखरा । विगहहजुगइगमणे जीवसमासे मुण्येयवा । २१६। = पर्याय धारण करनेके पहले समयमें तिष्ठते हुए जीवके उपपाद योगस्थान होते हैं । जो वक्रगतिसे नवीन पर्यायको प्राप्त हो उसके जघन्य, जो श्रुजु-गतिसे नवीन पर्यायको धारण करे उसके उत्कृष्ट योगस्थान होते हैं । २१६।

४. एकान्तानुवृद्धि योगस्थानका लक्षण

घ. १०/४.२.४.१७३/४२०/७ उप्पण्णविदियसमयप्पहुडि जाव सरोर-पज्जत्तीए अपज्जत्तयदचरिमसमओ ताव एणंताणुवडिद्धजोगो होदि । णवरि लद्धिअपज्जत्ताणमाउबंधपाओगकाले सगजीविदतिभागे परि-णामजोगो होदि । हेट्ठा एणंताणुवडिद्धजोगो चैव । = उत्पन्न होनेके द्वितीय समयसे लेकर शरीरपर्यायिसे अपर्याय रहनेके अन्तिम समय तक एकान्तानुवृद्धियोग होता है । विशेष इतना कि लघ्य-पर्यायकोके आयुबन्धके योग्य कालमें अपने जीवितके त्रिभागमें परिणाम योग होता है । उससे नीचे एकान्तानुवृद्धियोग ही होता है ।

गो. क/मू. व टी./२२२/२७० एयतवडिद्धठाणा उभयट्ठाणाणमंतरे हीति । अवखरट्ठाणाओ सकालादिमिह अंतमिह । २२२। तद्वै-कान्तेन नियमेन स्वकाल-स्वकाल-प्रथमसमयात् चरमसमयपर्यन्तं प्रति समयमसंख्यात्तगुणितक्रमेण तद्योग्याविभागप्रतिच्छेदवृद्धिर्द्वि-स्मिन् स एकान्तानुवृद्धिरित्युच्यते । = एकांतानुवृद्धि योगस्थान उपपाद आदि दोनो स्थानोके बीचमें, (अर्थात् पर्याय धारण करने-के दूसरे समयसे लेकर एक समय कम शरीर पर्यायिके अन्तर्मुहूर्तके अन्त समय तक) होते हैं । उसमें जघन्यस्थान तो अपने कालके पहले समयमें और उत्कृष्टस्थान अन्तके समयमें होता है । इसीलिए एकान्त (नियम कर) अपने समयमें समय समय प्रति असंख्यात्-गुणी अविभागप्रतिच्छेदोकी वृद्धि जिसमें हो वह एकान्तानुवृद्धि स्थान, ऐसा नाम कहा गया है ।

५. परिणाम या घोटमान योगस्थानका लक्षण

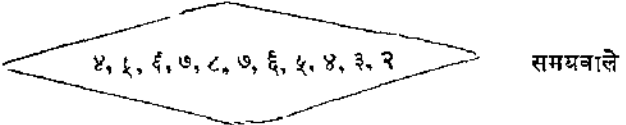
घ. १०/४,२,४,१७३/४२१/२ पञ्जत्तपट्टसमयपहुडि उवरि सव्वत्थ परिणामजोगो चेव । गिञ्जत्ति अपञ्जत्ताणं णत्थि परिणामजोगो ।
= पर्याप्त होनेके प्रथम समयसे लेकर आगे सब जगह परिणाम योग ही होता है निर्वृत्यपर्याप्तिकोके परिणाम योग नहीं होता । (लब्ध-पर्याप्तिकोके पूर्वावस्थामें होता है- दे० ऊपरवाला शीर्षक) ।

गो. क./मू./२२०-२२१/२६५ परिणामजोगठाणा सरीरपञ्जत्ताहु चरि-मोत्ति । लद्धि अपञ्जत्ताणं चरिमत्तिभागग्निह बोधव्वा १२२०। सग-पच्चतीपुण्णे उवरि सव्वत्थं जोगमुक्कस्स । सव्वत्थ होदि अत्रर लद्धि अपुण्णस्स जेट्ठपि । १२२१। = शरीर पर्याप्त पूर्ण होनेके प्रथम समयसे लेकर आयुके अन्ततक परिणाम योगस्थान कहे जाते हैं । लब्धपर्याप्त जीवके अपनी आयुके अन्तके त्रिभागके प्रथम समयसे लेकर अन्त समय तक स्थितिके सब भेदोमे उत्कृष्ट व जघन्य दोनो प्रकारके योग-स्थान जानना । १२२०। शरीर पर्याप्तिके पूर्ण होनेके समयसे लेकर अपनी-अपनी आयुके अन्त समय तक सम्पूर्ण समयमें परिणाम योगस्थान उत्कृष्ट भी होते हैं, जघन्य भी सभवते हैं । १२२१।

गो. क./जी. प्र./२१६/२६०/१ येषा योगस्थानाना वृद्धिः हानिः अव-स्थानं च संभवति तानि घोटमानयोगस्थानानि परिणामयोगस्थाना-नीति भणितं भवति । = जिन योगस्थानोमे वृद्धि, हानि, तथा अवस्थान (जैसेके तैसे बने रहना) होता है, उनको घोटमान योग-स्थान-परिणाम योगस्थान कहा गया है ।

६. परिणाम योगस्थानोंकी यवमध्य रचना

घ. १०/४,२,४,२८/६०/६ का विशेषार्थ—ये परिणामयोगस्थानद्वीन्द्रिय पर्याप्तिके जघन्य योगस्थानोसे लेकर सञ्जी पंचेन्द्रिय पर्याप्त जीवोके उत्कृष्ट योगस्थानो तक क्रमसे वृद्धिको सिये हुए हैं । इनमे आठ समय वाले योगस्थान सबसे थोड़े होते हैं । इनसे दोनों पार्श्वभागो-में स्थित सात समयवाले योगस्थान असंख्यातगुणे होते हैं । इनसे दोनों पार्श्व भागोंमें स्थित छह समयवाले योगस्थान असंख्यातगुणे होते हैं । इनसे दोनो पार्श्व भागोमे स्थित पाँच समयवाले योग-स्थान असंख्यातगुणे होते हैं । इनसे दोनो पार्श्व भागोमे स्थित चार समयवाले योगस्थान असंख्यात गुणे होते हैं । इनसे तीन समयवाले योगस्थान असंख्यातगुणे होते हैं और इनसे दो समय-वाले योगस्थान असंख्यातगुणे होते हैं । ये सब योगस्थान—



होनेसे ग्यारह भागोमे विभक्त है, अतः समयकी दृष्टिसे इनकी यवाकार रचना हो जाती है । आठ समयवाले योगस्थान मध्यमें रहते हैं । फिर दोनो पार्श्व भागोंमे सात (आदि) योगस्थान प्राप्त होते हैं । इनमेंसे आठ समयवाले योगस्थानोकी यवमध्य संज्ञा है । यवमध्यसे पहलेके योगस्थान थोड़े होते हैं और आगेके योगस्थान असंख्यातगुणे होते हैं । इन आगेके योगस्थानोमे संख्यातभाग आदि चार हानियाँ व वृद्धियाँ सम्भव हैं इसीसे योगस्थानोमें उक्त जीव-को अन्तर्मुहूर्त काल तक स्थित कराया है, क्योंकि योगस्थानोका अन्तर्मुहूर्त काल यही सम्भव है ।

७. योगस्थानोंका स्वाभिस्व सभी जीव समासोंमें सम्भव है

गो क./जी. प्र./२२२/२७०/१० एवमुक्तयोगविशेषा सर्वेऽपि पूर्वस्था-पितचतुर्दशजीवसमासरचनाविशेषेऽतिव्यक्तं सभ्रतीति सभाव-यितव्या । = ऐसे कहे गये जो ये योगविशेष ये सर्व चौदह जीव-समासोमे जानने चाहिए ।

८. योगस्थानोंके स्वाभिस्वककी सारणो

सकेत—उ०=उत्कृष्ट; एक=एकेन्द्रिय; चतु०=चतुरिन्द्रिय, ज०=जघन्य, त्रि०=त्रिन्द्रिय; द्वि०=द्वीन्द्रिय; नि० अप०=निर्वृत्य-पर्याप्त, पंचे, =पंचेन्द्रिय, बा०=बादर; ल०अप०=लब्धपर्याप्त; स०=समय; सू०=सूक्ष्म घ १०/६,२,४,१७३/४२१-४३० (गो. क./मू./२३३-२६६) ।

प्रमाण पृ. न	योग स्थान	प्रा. ज.	काल ज. उ.	सम्भव जीव समास	उस पर्याप्तिका विशेष समय						
४२१	उपपाद	ज.	१स.	१स.	मू.बा. एक द्वि. त्रि. चतु.	विग्रहगतिमे वर्तमान व तद्भवस्थ होनेके प्रथम समय					
							४२४	उ	"	"	पंचे. असंज्ञी, संज्ञी. ल. अप. व नि. अप.
४२१	एकांता-तुवृद्धि	ज.	"	"	उपरोक्त सर्व जीव ल. अप. व नि. अप.	तद्भवस्थका द्वितीय समय					
							४२४	उ.	"	"	"
४२३		ज. उ.	"	"	द्वि-सञ्जी नि. अप.	पर्याप्तिका प्रथम समय पर्याप्तिके निकट					
४२१	परिणाम	ज.	"	"	सू. बा. एक-संज्ञी नि. पर्याप्त	छठी पर्याप्तिके प्रथम-समयसे आगे					
							४२२	"	"	"	परभधिक आयु बन्ध योग्य कालसे उपरिम भवस्थिति
							४२७	"	"	"	आयु बन्धयोग्य कालके प्रथम समयसे तृतीय भाग तकमें वर्तमान जीव परम्परा शेष पाँच पर्याप्तियोसे पर्याप्त हो चुकनेपर
४३०		"	"	"	द्वि. संज्ञी ल. अप.	स्व स्व भवस्थितिके तृतीय भागमें वर्तमान आयुबन्ध योग्य प्रथम समयसे भवके अन्त तक अर्थात् जीवनके अन्तिम तृतीय भागके प्रथम समयसे विश्रमण कालके अनन्तर अध-स्तन समयतक परम्परा पाँचों पर्याप्तियोसे पर्याप्त					
४३०		"	"	"	सू. बा. एक-संज्ञी ल. अप.	छह में से एक भी पर्याप्तिके अपूर्ण रहने तक भी नहीं होता ।					
४३०		"	"	"	द्वी.-संज्ञी ल. अप.						
४३१		उ.	"	"	द्वी.-संज्ञी नि. अप. पर्याप्तक						
४६											

९. लक्ष्यपर्याप्तके परिणामयोग होने सम्बन्धी दो मत

ध. १०/४,२,४, १७२/४२०/९ लक्ष्मि-अरज्जत्ताणमाउअबन्धकाले चैव परिणामजोगो होदि त्ति के वि भणति । तण्ण घडदे, परिणाम-जोगे ट्ठिठदस्स अपत्तुववादजोगस्स एयंताणुवट्ठिठजोगेण परिणाम-विरोहादो । = लक्ष्यपर्याप्तकोके आयुबन्ध कालमें ही परिणाम योग होता है, ऐसा कितने ही आचार्य कहते हैं । (दे० योग/४/९) किन्तु वह घटित नहीं होता, क्योंकि इस प्रकारमें जो जीव परिणाम योगमें स्थित है वह उपपाद योगको नहीं प्राप्त हुआ है, उसके एकान्तानु-वृद्धियोगके साथ परिणामके होनेमें विरोध अता है ।

१०. योग स्थानोंकी क्रमिक वृद्धिका प्रदेशबन्धके साथ सम्बन्ध

ध. ६/१,६-७,४३/२०१/२ पदेसबधादो जोगट्ठाणाणि सेडोए असखे-ज्जदिभागमेत्ताणि जहण्णट्ठाणादो अबट्ठिठदपवखेवेण सेडोए असखे-ज्जदिभागपडिभागिण विसेसाहिमाणि जाउक्कस्सजोगट्ठाणेत्ति दुगुण-दुगुणगुणहाणिअद्धाणेहि सहियाणि सिद्धाणि हवति । कुदो जोगेण विणा पदेसबंधाणुवत्तीदो । अथवा अणुभागबंधादो पदेसबंधो तवकारणजोगट्ठाणाणि च सिद्धाणि हवति । कुदो । पदेसेहि विणा अणुभागानुवत्तीदो । = प्रदेशबन्धसे योगस्थान सिद्ध होते हैं । वे योगस्थान जगश्रेणीके असंख्यातवे भागमात्र हैं, और जघन्य योग-स्थानसे लेकर जगश्रेणीके असंख्यातवे भाग प्रतिभागरूप अवस्थित प्रक्षेपके द्वारा विशेष अधिक होते हुए उत्कृष्ट योगस्थान तक दुगुने-दुगुने गुणहानि आयामसे सहित सिद्ध होते हैं, क्योंकि योगके बिना प्रदेशबन्ध नहीं हो सकता है । अथवा, अनुभागबन्धसे प्रदेशबन्ध और उसके कारणभूत योगस्थान सिद्ध होते हैं, क्योंकि, प्रदेशोंके बिना अनुभागबन्ध नहीं हो सकता ।

६. योगवर्गणानिर्देश

१. योगवर्गणाका लक्षण

ध. १०/४,२,४, १८२/४४२-४४३/८ असखेज्जलोगमेत्तजोगाविभागपडि-च्छेदाणमेया वर्गणा होदि त्ति भणिदे जोगाविभागपडिच्छेदेहि सरिसधणियसव्वजीवपदेसाणं जोगाविभागपडिच्छेदासंभवादो असं-खेज्जलोगमेत्ताविभागपडिच्छेदपमाणा एया वर्गणा होदि त्ति वेत्तव्वं । १००० जोगाविभागपडिच्छेदेहि सरिससव्वजीवपदेसे सव्वे वेत्तूण एया वर्गणा होदि । = असंख्यात लोकमात्र योगाविभाग प्रति-च्छेदोंकी एक वर्गणा होती है, ऐसा कहने पर योगाविभाग प्रतिच्छेदोंकी अपेक्षा समान धनवाले सब जीव प्रदेशोंके योगाविभाग प्रतिच्छेद असंभव होनेसे असंख्यात लोकमात्र अविभाग प्रतिच्छेदोंके बराबर एक वर्गणा होती है, ऐसा ग्रहण करना चाहिए । योगाविभाग-प्रतिच्छेदोंकी अपेक्षा समान सब जीव प्रदेशोंको ग्रहणकर एक वर्गणा होती है ।

२. योगवर्गणाके अविभाग प्रतिच्छेदोंकी रचना

ध. खं. १०/४,२,४/सू. १७८-१८१, ४४० असखेज्जा लोगा जोगाविभाग-पडिच्छेदा । १७८ । एवदिया जोगाविभागपडिच्छेदा । १७९ । वर्गणा-परूवणदाए असंखेज्जलोगजोगाविभागपडिच्छेदाणमेया वर्गणा होदि । एवमसंखेज्जाओ वर्गणाओ सेडोए असंखेज्जदिभागमेत्ताओ । १८१ ।
ध. १०/४,२,४, १८२/४४३-४४४/३ जोगाविभागपडिच्छेदेहि सरिस-सव्वजीवपदेसे सव्वे वेत्तूण एया वर्गणा होदि । पुणो अण्णे वि जीव-पदेसे जोगाविभागपडिच्छेदेहि अण्णोण्ण समाने पुक्खिक्खवर्गणा-जीवपदेसजोगाविभागपडिच्छेदेहितो अहिण उवरि बुच्चमाणाणमेग-जीवपदेसजोगाविभागपडिच्छेदेहितो ऊणे वेत्तूण विदिया वर्गणा

होदि । १००० असखेज्जपदरमेत्ता जीवपदेसा एकेकिकस्से वर्गणाए होति । ण च सव्ववर्गणाणं दीहत्तं समाण, आदिवर्गणप्पहुडि विसेसहीण-सरूवेण अवट्ठाणादो ।

ध. १०/४,२,४, १८२/४४६/६ पढमवर्गणाए अविभागपडिच्छेदेहितो विदियवर्गणा अविभागपडिच्छेदा विसेसहीणा । पढमवर्गणाएगजीव-पदेसाविभागपडिच्छेदे गिसेगविसेसेण गुणिय पुणो तरथ विदियगोबु-च्छाए अवणिदाए जं सेस तेत्तियमेत्तेण । - एवं जाणिवूण पेदव्वं जाव पढमफइयचरिमवर्गणेत्ति । पुणो पढमफइयचरिमवर्गणविभागपडिच्छे-देहितो विदियफइयआदिवर्गणाए जोगाविभागपडिच्छेदा किचूण-दुगुणमेत्ता । = एक एक जीव प्रदेशमें असंख्यात लोकप्रमाण योगा-विभाग प्रतिच्छेद होते हैं । १७८८ एक योगस्थानमें इतने मात्र योगा-विभाग प्रतिच्छेद होते हैं । १७९६ वर्गणा प्ररूपणाके अनुसार असंख्यात लोकमात्र योगाविभाग प्रतिच्छेदोंकी एक वर्गणा होती है । १८०१ इस प्रकार श्रेणीके असंख्यातवे भाग प्रमाण असंख्यात वर्गणाएँ होती हैं । १८२१ योगाविभाग प्रतिच्छेदोंकी अपेक्षा समान सब जीव प्रदेशोंको ग्रहण कर एक वर्गणा होती है । पुन योगाविभागप्रतिच्छेदोंकी अपेक्षा परस्पर समान पूर्व वर्गणासम्बन्धी जीवप्रदेशोंके योगावि-भाग प्रतिच्छेदोंसे अधिक, परन्तु आगे कहीं जानेवाली वर्गणाओंके एक जीवप्रदेश सम्बन्धी योगाविभागप्रतिच्छेदोंसे हीन, ऐसे दूसरे भी जीव प्रदेशोंको ग्रहण करके दूसरी वर्गणा होती है (इसी प्रकार सब वर्गणाएँ श्रेणिके असंख्यातवे भाग प्रमाण हैं) असंख्यात प्रतर प्रमाण जीव प्रदेश एक वर्गणामें होते हैं । सब वर्गणाओंकी दीर्घता समान नहीं है, क्योंकि, प्रथम वर्गणाको आदि लेकर आगेकी वर्गणाएँ विरोध हीन रूपसे अवस्थित हैं । ४४३-४४४ प्रथम वर्गणाके अविभाग प्रतिच्छेदोंसे द्वितीय वर्गणाके अविभाग प्रतिच्छेद विशेष हीन हैं । १०० प्रथम वर्गणा सम्बन्धी एक जीवप्रदेशके अविभाग प्रतिच्छेदोंको निषेकविरोधसे गुणितकर फिर उसमेंसे द्वितीय गोपुच्छको कम करनेपर जो शेष रहे उतने मात्रसे वे विशेष अधिक हैं । इस प्रकार जानकर प्रथम स्पर्धककी चरम वर्गणा सम्बन्धी अविभागप्रतिच्छेदोंसे द्वितीय स्पर्धककी प्रथम वर्गणाके योगाविभागप्रतिच्छेद कुछ कम दुगुने मात्र हैं । (इसी प्रकार आगे भी प्रत्येक स्पर्धकमें वर्गणाओंके अविभाग प्रतिच्छेद क्रमशः हीन-हीन और उत्तरोत्तर स्पर्धकोसे अधिक अधिक हैं) ।

३. योग स्पर्धकका लक्षण

ध. खं. १० / ४,२,४ / सूत्र १८२/४४२ फइयपरूवणाए असखेज्जाओ वर्गणाओ सेडोए असखेज्जदिभागमेत्ताओ तमेग फइय होदि । १८२ ।
ध. १०/४,२,४, १८२/४४२/६ फइयमिदि कि बुत्तं होदि । क्रमवृद्धिं क्रमहानिश्च यत्र विद्यते तस्पर्धकम् । को एरथ कमो णाम । सग-सगजहण्णवर्गणाविभागपडिच्छेदेहितो एगेगाविभागपडिच्छेदबुद्धी, बुक्कस्सवर्गणाविभागपडिच्छेदेहितो एगेगाविभागपडिच्छेदहाणी च कमो णाम । दुप्पहुडिणं बड्डी हाणी च अक्कमो । = (योगस्थानके प्रकरणमें) स्पर्धकरूपणाके अनुसार श्रेणीके असंख्यातवे भागमात्र जो असंख्यात वर्गणाएँ हैं, उनका एक स्पर्धक होता है । १८२ । प्रश्न—स्पर्धकसे क्या अभिप्राय है ? उत्तर—जिसमें क्रमवृद्धि और क्रमहानि होती है वह स्पर्धक कहलाता है । प्रश्न—यहाँ 'क्रम' का अर्थ क्या है ? उत्तर—अपने-अपने जघन्य वर्गके अविभागप्रतिच्छेद-की वृद्धि और उत्कृष्ट वर्गके अविभागप्रतिच्छेदोंसे एक एक अविभाग प्रतिच्छेदकी जो हानि होती है उसे क्रम कहते हैं । दो व तीन आदि अविभागप्रतिच्छेदोंकी हानि व वृद्धिका नाम अक्रम है । (विशेष दे० स्पर्धक) ।

योगचंद्र— ई. श. १२ में योगसार (दोहासार) के कर्ता दिगम्बर आचार्य हुए हैं । (हि. जे. सा. इ./२६ कामता) ।

योग त्याग क्रिया—दे० संस्कार/२।

योग दर्शन—

१. सामान्य परिचय

मन व इन्द्रिय निग्रह ही इसका मुख्य प्रयोजन है। योगका अर्थ समाधि है। योगके अनेको भेद है। राजयोग व हठयोगके भेदसे यह दो प्रकारका है। पतंजलियोग राजयोग है और प्राणायाम आदिसे परमात्माका साक्षात्कार करना हठयोग है। ज्ञानयोग कर्मयोग व भक्तियोगके भेदसे तीन प्रकार तथा मन्त्रयोग, लययोग, हठयोग व राजयोगके भेदसे चार प्रकार है। (स्या म/परि-व/पृ, ४२६)।

२. प्रवर्तक साहित्य व समय

१. श्वेताश्वतर, तैत्तिरीय आदि प्राचीन उपनिषदोंमें योग समाधिके अर्थमें पाया जाता है और शाण्डिल्य आदि उपनिषदोंमें उसकी प्रक्रियाओंका सांगोपांग वर्णन है। २. योगदर्शनके आद्यप्रवर्तक हिरण्यगर्भ है, इनका अपरनाम स्वयंभू है। इनका कथन महाभारत जैसे प्राचीन ग्रन्थोंमें मिलता है। प्रसिद्ध व्याकरणकार पतंजलि आधुनिक योग-सूत्रोंके व्यवस्थापक है। इनका समय ई. पू. शताब्दी २ है। पतंजलिके योगसूत्रोपर व्यासने भाष्य लिखा है। यह महाभारतके रचयिता व्याससे भिन्न है। इनका समय ई. श. ४ है। व्यास भाष्य-पर वाचस्पति-मिश्र (ई. श. ८०) व तत्त्ववैशारदी भोज (ई. श. १०) ने भोजवृत्ति, विज्ञानभिक्षुने योगवार्तिक, और नागोजी भट्ट (ई. श. १७) ने छाया व्याख्या नामक टीकाएँ लिखी। (स्या, म./परि० व/पृ, ४२६)।

३. तत्त्व विचार

१. चित्त ही एक तत्त्व है। इसकी पाँच अवस्थाएँ हैं—क्षिप्त, मूढ, विक्षिप्त, एकाग्र और निरुद्ध। २. चित्तका संसारी विषयोमें भटकना क्षिप्त है, निद्रा आदिमें रत रहना मूढ है, सफलता असफलताके झूलेमें झूलते रहना विक्षिप्त है, एक ही विषयमें लगना एकाग्र है, तथा सभी वृत्तियों के रुक जानेपर वह निरुद्ध है। अन्तिम दो अवस्थाएँ योगके लिए उपयोगी हैं। ३. सत्त्वादि तीन गुणोंके उद्वेगसे उस चित्तके तीन रूप हो जाते हैं—प्रख्या, प्रवृत्ति व स्थिति। अणिमा आदि ऋद्धिगोंका प्रेरणा है। 'अन्यथाख्याति' या विवेक बुद्धि जागृत होनेपर चित्त 'धर्म मेघ समाधि' में स्थित हो जाता है। तत्र पुरुषका प्रतिबिम्ब चित्तपर पड़ता है, और वह चेतनबल कार्य करने लगता है। यही चित्तकी वृत्ति है। वृत्ति व संस्कारके झूलेमें झूलते-झूलते अन्तमें कैवल्यदशाकी प्राप्ति होना स्थिति है। (योगदर्शनसूत्र)।

४. ज्ञान व प्रमाण विचार

१. चित्तकी उपरोक्त वृत्तियाँ पाँच प्रकार हैं—प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति। २. प्रत्यक्ष, अनुमान व आगम तीन प्रमाण हैं। ३. संशय व विपरीत ज्ञान विपर्यय है। ४. असत् वस्तुका संकल्प विकल्प है। ५. 'आज मैं खूब सोया' ऐसा निद्रा आदि तमसू प्रधान वृत्तिका ज्ञान निद्रा है। ६. अनुभूत विषयका स्मरण स्मृति है (योगदर्शनसूत्र)।

५. योगके आठ अंगोंका विचार

१. योगके आठ अंग हैं—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि। २. अहिंसादि, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य व अपरिग्रह रूप मन वचन कायका समय यम है। ३. शौच, सन्तोष,

तपस्या, स्वाध्याय, व ईश्वर प्रणिधान ये नियम हैं। ४. पचासन, वीरासन आदि आसन हैं। ५. श्वासोच्छ्वासका गति निरोध प्राणायाम है। ६. इन्द्रियोंको अन्तर्मुखी करना प्रत्याहार है। ७. विकल्प पूर्वक किसी एक काल्पनिक ध्येयमें चित्तको निष्ठ करना धारणा है। ८. ध्यान, ध्याता व ध्येय सहित चित्तका एकाग्र प्रवाह ध्यान है। ९. ध्यान, ध्याता व ध्येय रहित निष्ठ चित्तसमाधि है। (योग दर्शनसूत्र)।

६. समाधि विचार

१. समाधि दो प्रकारकी है—संप्रज्ञात व असंप्रज्ञात। २. संप्रज्ञातको बीज समाधि भी कहते हैं, क्योंकि यह किसी ध्येयको आश्रय बनाकर की जाती है। उत्तरोत्तर सब सूक्ष्म रूपसे यह चार प्रकारकी है—वितर्कानुगत, विचारानुगत, आनन्दानुगत और अस्मिदानुगत। ३. स्थूल विषयसे सम्बद्ध चित्तवृत्ति वितर्क है। वितर्कानुगत दो प्रकारकी है—सवितर्क और निवितर्क। शब्द, अर्थ और ज्ञान तीनोंकी एकतारूप भावना सवितर्क है, और केवल अर्थकी भावना निवितर्क है। ४. बाह्य सूक्ष्म वस्तुसे सम्बद्ध सूक्ष्माकार चित्त वृत्ति विचारानुगत है। ५. इन्द्रिय आदि सात्त्विक सूक्ष्म वस्तुसे सम्बद्ध चित्तवृत्ति आनन्दानुगत है। ६. चित्त प्रतिबिम्बित बुद्धि ही अस्मिता है, यह अत्यन्त सूक्ष्म है। इससे सम्बद्ध चित्तवृत्ति अस्मिदानुगत है। (योगदर्शन सूत्र)। ७. ज्ञान, ज्ञाता और ज्ञेय के विकल्पसे शून्य, निरालम्ब, संस्कार मात्र रूप, वैराग्य निबद्ध चित्तवृत्ति असंप्रज्ञात है। इसे निर्बीज समाधि भी कहते हैं। यह दो प्रकार है—भवप्रत्यय व उपायप्रत्यय। तहाँ अविद्या युक्त भव प्रत्यय है जो दो प्रकार है—विदेह और प्रकृति लय। इन्द्रियों व भूतोंकी वासनाके संस्कारसे युक्त, विवेक ख्याति शून्य अवस्था विदेह है। 'हमें कैवल्य प्राप्त हो गया है', ऐसी भावना वाला व्यक्ति पुन संसारमें आता है, अतः भवप्रत्यय कहलाता है। अव्यक्त महत् आदिकी वासनाके संस्कारसे युक्त प्रकृतिलय है। यह भो रुसारमें लौट आता है। भ्रद्धा, बोर्य, स्मृति, संप्रज्ञात, प्रज्ञा व असंप्रज्ञातके क्रमसे योगियोंको अविक्षिप्त शान्तचित्तता प्रगट हो जाती है। यही उपायप्रत्यय असंप्रज्ञात है। इससे अविद्याका नाश हो जाता है। और वह पुन संसारमें नहीं आता है। (योगदर्शन सूत्र)।

७. विघ्न व क्लेश विचार

१. चित्त विक्षेपका नाम विघ्न है। वह नौ प्रकार है—रोग, अकर्मण्यता, संशय, प्रमाद (समाधिके प्रति निरुत्साह), आलस्य (शरीर व मनका भारीपना), विषयासक्ति, भान्तिदर्शन (विपर्ययज्ञान), समाधिभूमिका अपाय, भूमिको पाकर भी चित्तका स्थिर न होना। ऐसे विक्षिप्त चित्त वालेको दुःख दीर्घनस्य (इच्छाकी अपूर्ति) होनेसे चित्तमें शोभ, शरीरमें कम्पन तथा श्वास-प्रश्वास होने लगता है। २. इन विघ्नोंको रोकनेके लिए—तत्त्वावलम्बनका अभ्यास, सर्व सत्त्व मैत्री, प्रमोद, कारुण्य तथा माध्यस्थता करनी योग्य है। असमाहित चित्त व्यक्ति निष्काम कर्म व फल समर्पण बुद्धि द्वारा विघ्नोंका नाश कर सकता है। पीछे प्रज्ञाका उदय होने पर समाधि धारण करता है। ३. क्लेश पाँच प्रकारका है—अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष व अभिनिवेश। ४. अनित्य, अशुचि व अनात्मभूत पदार्थोंमें नित्य, शुचि व आत्मभूतपनेकी प्रतीति अविद्या है। ५. पुरुष और बुद्धिकी एक मानना अस्मिता है। ६. सुखके प्रति रति राग है। ७. दुःखके प्रति अरति द्वेष है। ८. मृत्युका भय अभिनिवेश है। (योगदर्शन सूत्र)।

८. भूमि व प्रज्ञा विचार

१. योगीकी साधनाके मार्गमें क्रमशः चार भूमियों प्रगट होती है—प्रथमकल्पिक, मधुभूमिक, प्रज्ञाज्योति तथा अतिक्रान्त भावनीय। २. समाधिके प्रति प्रवृत्तिमात्र चित्त प्रथमकल्पिक है। ३. इन्द्रियो व भूतोको अपने वशमें करनेकी इच्छा वाली ऐसी ऋतम्भरा प्रज्ञा मधुभूमि है। यह देवगतिके सुखोका कारण होनेसे अनिष्ट है। ४. इन्द्रियवशी तथा असम्प्रज्ञात समाधिके प्रति उद्यमशील प्रज्ञा-ज्योति है। ५. असम्प्रज्ञात समाधिमें पहुँचकर केवल एकमात्र चित्तको लय करना शेष रह जाता है। तब अतिक्रान्तभावनीय भूमि होती है। ६. अनात्मा व आत्माके विवेकको विवेकख्याति कहते हैं। वह जागृत होनेपर योगीको प्रान्तभूमि प्रज्ञा प्राप्त होती है। वह छह प्रकारकी है—हेम, क्षेतव्य, हान, अन्य कुछ नहीं चाहिए, भोग सम्पादन रूप मुक्ति, लय और जीवनमुक्ति। ७. हेम तत्त्वोका ज्ञान हेम है। ८. इस ज्ञानके हो जानेपर अन्य कुछ क्षीण करने योग्य नहीं यह क्षेतव्य है। ९. अन्य कुछ निरचय करना शेष नहीं यह हान है। १०. हानके उपायोकी प्राप्ति हो जाने पर अन्य कुछ प्राप्तव्य नहीं। ११. मुक्ति तीन प्रकार है—बुद्धि भोगका सम्पादन कर चुकी और विवेक ज्योति प्रगट हो गयी, सत्त्व आदि त्रिगुण अपने-अपने कारणोंमें लय होनेके अभिमुख हुए अब इनकी कभी अभिव्यक्ति न होगी, तथा ज्योति स्वरूप केवली पुरुष जीवित भी मुक्त है। १२. इन सात भूमियोंका अनुभव करनेवाला पुरुष कुशल कहलाता है। (योगदर्शन सूत्र)।

९. परिणाम विचार

१. सांख्यवत् यह भी परिणामवादी है। भूतोंमें सांख्यों वत् धर्म, लक्षण व अवस्था परिणाम होते हैं और चित्तमें निरोध, समाधि व एकाग्रता। चित्तको संसारावस्था व्युत्थान और समाधिस्थ अवस्था निरोध है। दो अवस्थाओंमें परिणाम अवश्य होता है। धर्म आदि तीनों परिणाम चित्तमें भी लागू होते हैं। व्युत्थान धर्मका तिरोभाव होकर निरोधका प्रादुर्भाव होना धर्म परिणाम है। दोनो धर्मोंकी अतीत, वर्तमान व अनागत कालमें अवस्थान लक्षण परिणाम है। और दोनो परिणामोका दुर्बल या बलवाच् होना अवस्थापरिणाम है। (योग दर्शन सूत्र)

१०. कर्म विचार

१. रजोगुणके कारण क्रियाशील चित्तमें कर्म होता है, उससे संस्कार या कर्मक्षय, उससे वासना और वासनासे पुनः कर्म, यह चक्र बराबर चलता रहता है। कर्म चार प्रकारके होते हैं—कृष्ण, शुक्ल कृष्ण, शुक्ल, अशुक्ल अकृष्ण। पापकर्म कृष्ण, पुण्यकर्म शुक्ल, दोनोसे मिश्रित कृष्ण-शुक्ल और निष्काम कर्म अशुक्ल-अकृष्ण है। प्रथम तीन बन्धके कारण है। और चौथा न बन्धका कारण है और न मुक्ति का। २. कर्म वासनाके आधीन है। अनेक जन्म पहलेकी वासनाएँ अनेक जन्म पश्चात् उद्बुद्ध होती हैं। अविद्या ही वासना का मूल हेतु है। धर्म, अधर्म आदि कार्य है और वासना उनका कारण। मन वासनाका आश्रय है, निमित्तभूत वस्तु आलम्बन है, पुण्य-पाप उसके फल है। (योगदर्शन सूत्र)

११. मुक्तात्मा व ईश्वर विचार

१. यम नियमके द्वारा पाँच प्रकार बलेशोंका नाश होकर वैराग्य प्रगट होता है, और उससे आठ अंगोंके क्रम पूर्वक असंप्रज्ञात समाधि हो जाती है। मार्गमें आने वाली अनेक ऋद्धियो व सिद्धियो रूप विज्ञोका दूसे ही त्याग करता हुआ चित्त स्थिर होता है, जिससे समस्त कर्म निर्दग्ध बोजवत् नष्ट हो जाते हैं। त्रिगुण साम्या-

वस्थाको प्राप्त होते हैं। चैतन्य मात्र ज्योतिर्मय रह जाता है। यही कैवल्य या मुक्ति है। २. चित्तको आत्मा समझने वाला योगी शरीर छूटने पर प्रकृतिमें लीन हो जाता है। वह पुन संसारमें आ सकता है। अतः मुक्त पुरुषसे वह भिन्न है। ३. त्रिकाल शुद्ध चैतन्यपुरुष है। सादि-शुद्ध व अनादि शुद्धको अवेक्षा मुक्तात्मा पुरुषमें भेद है। ४. उपरोक्त तीनासे भिन्न ही ईश्वर है। वह ज्ञान इच्छा, व क्रिया-शक्तिसे युक्त होता हुआ सदा जगत्के जीवो पर उपदेशादि द्वारा तथा सृष्टि, प्रलय व महाप्रलय आदि द्वारा अनुग्रह करता है। ५. प्रणव ईश्वरका वाचक नाम है। इसके ध्यानसे बुद्धि सात्त्विक होती है, अत मोक्षमार्गमें ईश्वरकी स्वीकृति परमावश्यक है। (योगदर्शन सूत्र)

१२. योग व सांख्य दर्शनकी तुलना

क्योंकि पतंजलिने सांख्यतत्त्वके ऊपर ही योगके सिद्धान्तोंका निर्माण किया है, इसलिए दोनोमें विशेष अन्तर नहीं है। फिर मोक्ष-प्राप्तिके लिए सांख्यदर्शन केवल तत्त्वज्ञान पर जोर देता है जब कि योगदर्शन यम, नियम, ध्यान, समाधि आदि सक्रियात्मक प्रक्रियाओं पर जोर देता है। इसलिए दोनोमें भेद है। (स्या, म / परि०-व/पृ. ४२१)।

१३. जैन दर्शनमें योगका स्थान

जैन आश्रायमें भी दिगम्बर व श्वेताम्बर दोनो ही आचार्योंने विभिन्न शब्दों द्वारा ध्यान, समाधि आदिका विशद वर्णन किया है, और इसे मोक्षमार्गका सर्वप्रधान अंग माना है। जैसे—दिगम्बर आश्रायमें—तत्त्वार्थसूत्र अध्याय ६ व इसकी टीकाएँ सर्वार्थ-सिद्धि व राजवार्तिक आदि। ज्ञानार्णव, तत्त्वानुशासन, नामक ग्रन्थ। और श्वेताम्बर आश्रायमें—हरिभद्रसूरिकृत योगबिन्दु, योगदृष्टि समुच्चय, योगविशिका, षोडशक आदि तथा यशोविजय कृत अध्यात्मसार, अध्यात्मोपनिषद्, योगलक्षण, पातंजलियोग-लक्षणविचार, योगभेद, योगविवेक, योगवतार, मित्रा, तारात्रय, योग माहात्म्य, आदि अनेक ग्रन्थ। (योगदर्शन सूत्र)

योग निरोध—ध. १३/५, ४, २६/८४/१२ को जोगनिरोही। जोग-निणासो। = योगोंके विनाशकी योगनिरोध संज्ञा है।

योग निर्वाण क्रिया—दे० क्रिया/३।

योगमार्ग—आचार्य सोमदेव (ई ६४३-६६८) द्वारा विरचित ध्यान विषयक संस्कृत छन्द-बद्ध ग्रन्थ है। इसमें ४० श्लोक है।

योगसुद्धा—दे० सुद्धा।

योगवक्रता—

स. सि./६/२२/३३७/१ योगस्त्रिप्रकारो व्याख्यातः। तस्य वक्रता कौटिल्यम्। = तीनों योगोंका व्याख्यान कर आये है। इसकी कुटिलता योगवक्रता है। (रा, वा./६/२२/१/५२८/६)।

२. योगवक्रता व विसंवादमें अन्तर

स. सि./६/२२/३३७/२ ननु च नार्थभेद। योगवक्रतैवान्यथाप्रवर्तनम्। सत्यमेवमेतत्—स्वगता योगवक्रतेत्युच्यते। परगतं विसंवादनम्। सन्यगम्युदयनि श्रेयसार्थास्तु क्रियास्तु प्रवर्तमानमन्य तद्विपरीतकाय-वाङ्मनोभिविसंवादयति नैव कार्षीरेव कुर्वति। = प्रश्न—इस तरह इनमें अर्थभेद नहीं प्राप्त होता, क्योंकि योगवक्रता और अन्यथा प्रवृत्ति करना एक ही बात है। उत्तर—यह ऋटना सही है तब भी योग वक्रता स्वगत है और विसंवादन परगत है। जो स्वर्ग और मोक्षके योग्य समीचीन क्रियाओंका आचरण कर रहा है उसे उसके विपरीत

मन, बचन और कायकी प्रवृत्ति द्वारा रोकना कि ऐसा मत करो विसवादन है। इस प्रकार ये दोनों एक नहीं हैं किन्तु अलग-अलग हैं।

योगवर्गणा—दे० योग/६।

योगशास्त्र—श्वेताम्बराचार्य हेमचन्द्र सूरि (ई १०८८-११७३) कृत आध्यात्मिक ग्रन्थ।

योगसंक्रांति—दे० शुक्लध्यान/४।

योग संसह क्रिया—दे० सस्कार/२।

योगसार—१. आ योगेन्दुदेव (ई श ६) द्वारा रचित १०८ दोहा प्रमाण अपभ्रंश आध्यात्मिक ग्रन्थ। (ती/२/२६१)। २. अमितगति (ई १२३-१६३) कृत संस्कृत छन्दमय तत्त्वप्ररूपक ग्रन्थ। ३. अधिकार ६४० श्लोक प्रमाण। ४. योग चन्द्र (ई. श. १२) कृत दोहासार। (दे योग चन्द्र)। ४. श्रुतकीर्ति (वि श. १६ मध्य) कृत अपभ्रंश रचना। (ती/३/४३२)।

योगस्पर्धक—दे० स्पर्धक।

योगाचार मत—दे० बौद्धदर्शन।

योगी—

न. च. वृ/३८८ णिज्जियसासो णिपफंदलोयणो सुकसयलवावारो। जो एहावस्थगत्रो सो जोई णरिय संदेहो। ३८८। = जिसने स्वासको जीत लिया है, जिसके नेत्र टिमकार रहित है, जो कायके समस्त व्यापारसे रहित है, ऐसी अवस्थाको जो प्राप्त हो गया है, वह निस्संदेह योगी है।

ज्ञा. सा/४ कददर्पदर्पदलनो दम्भविहीनो विमुक्तव्यापार। उग्रतपो दोग्गनात्र योगी विज्ञेय परमार्थ। ४। = कन्दर्प और दर्पका जिसने दलन किया है, दम्भसे जो रहित है, जो कायके व्यापारसे रहित है, जिसका शरीर उग्रतपसे दीप्त हो रहा है, उसीको परमार्थसे योगी जानना चाहिए/४।

१. योगीके भेद व उनके लक्षण

ष. का./ता, वृ/१७३/२६४/३ द्विधा ध्यातारो भवन्ति शुद्धात्मभावना-प्रारम्भका, पुरुषा' सूक्ष्मसविकल्पवस्थायां प्रारम्भयोगिनो भण्यन्ते निर्विकल्पशुद्धात्मवस्थाया पुनर्निष्पन्नयोगिन इति। = दो प्रकारके ध्याता होते हैं। शुद्धात्म भावनाके प्रारम्भक और सूक्ष्म सविकल्प अवस्थामे जो स्थित हैं, ऐसे पुरुषको प्रारम्भयोगी कहते हैं। और निर्विकल्प अवस्थामें स्थित पुरुषको निष्पन्नयोगी कहते हैं।

* जीवको योगी कहने की विवक्षा—दे० जीव/१/३।

योगेन्दुदेव—आप अत्यन्त विरक्त चित्त दिगम्बराचार्य थे। आप अवश्य ही पहले वैदिक मतानुसारी रहे होंगे क्योंकि आपकी कथनशैलीमें वैदिक मान्यताके शब्द बहुलतासे पाये जाते हैं। आपका शिष्य प्रभाकर भट्ट था। इनके सम्बोधनार्थ ही आपने परमात्मप्रकाश नामका ग्रन्थ रचा था। आपको जाड्न्दु, योगीन्दु, योगेन्दु, जोगिचन्द्र इन नामोंसे भी पुकारा जाता था। आपने अपभ्रंश व संस्कृतमें अनेको ग्रन्थ लिखे हैं। कृति—१. स्वानुभवदर्पण, २. परमात्मप्रकाश (अप), ३. योगसार (अप०), ४. दोहा पाहुड; ५. सुभाषित तन्त्र, ६. अध्यात्म रत्नसदोह; ७. तन्त्रार्थ टीका (अप०); ८. अमृताशीति (अप०); ९. निजात्माष्टक (प्रा०); १०. नौकार प्रावकाचार (अप०)। नोट— (प्रथम दोके अतिरिक्त अन्यके सम्बन्धमें निश्चित रूपसे नहीं कहा जा सकता कि इन्हीं योगेन्दुदेवकी थी या अन्य किन्हीं योगेन्द्रकी। समय—ई. श. ६. (ती/२/२४६, २४८)।

योग्यता

१. पर्यायीको प्राप्त करनेकी शक्ति—दे० निक्षेप/५/१।

२. क्षयोपशमसे प्रगटी शक्ति

प्रमाण परीक्षा/पु. ६७ योग्यताविशेष पुन प्रत्यक्षस्यैव स्वविषयज्ञाना-वरणवीर्यान्तरायक्षयोपशमविशेष एव। = योग्यतारूप जो विशेष वह प्रत्यक्षकी भाँति अपने अपने विषयभूत ज्ञानावरणीय तथा वीर्या-न्तरायका क्षयोपशम विशेष ही है।

श्लो. वा, ३/१/१३/१०६/२६३ क्षयोपशमसञ्ज्ञेय योग्यतात्र समानता। = क्षयोपशम नाम यह योग्यता यहाँ।

प. सु/२/१० स्वावरणक्षयोपशमलक्षणयोग्यतया हि प्रतिनियतमर्थ व्यवस्थापयति। = जानने रूप अपनी शक्तिको ढँकनेवाले कर्मकी क्षयोपशमरूप अपनी योग्यतासे ही ज्ञान-घट-पटादि पदार्थोंकी जुदी-जुदी रीतिसे व्यवस्था कर देता है। (स्या म/१६/२०६/१०)।

प्रमेयकमलमार्तण्ड/२-१० प्रतिनियतार्थव्यवस्थापको हि तत्तदावरणक्षयोपशमोऽर्थग्रहणशक्तिरूपः। तदुक्तम्-तत्त्वलक्षणयोग्यता च शक्तिरेव। सैव ज्ञानस्य प्रतिनियतार्थव्यवस्थापामङ्ग' नार्थोत्पत्त्यादि। = प्रतिनियत अर्थकी व्यवस्था करनेवाली उस-उस आवरणकर्मके क्षयोपशम रूप अर्थ ग्रहणकी शक्ति योग्यता कहलाती है। कहा भी है कि—क्षयोपशम लक्षणवाली योग्यता ही वह शक्ति है जो कि ज्ञानके प्रतिनियत अर्थकी व्यवस्था करनेमें प्रधान कारण है।

न्या दी/२/४/२७/६ का नाम योग्यता। उच्यते, स्वावरणक्षयोपशम। प्रश्न—योग्यता किसे कहते हैं। उत्तर—अपने आवरण (ज्ञानको ढँकनेवाले कर्म) के क्षयोपशमको योग्यता कहते हैं।

२. स्वाभाविक शक्ति

श्लो. वा/१/१/१/२२६/४६०-४६१/२३ योग्यता हि कारणस्य कार्योत्पा-दनशक्ति, कार्यस्य च कारणजन्यत्वशक्तिस्तस्या' प्रतिनियमः, शालिबीजाङ्कुरयोश्च भिन्नकालत्वाविशेषेऽपि शालिबीजस्यैव शाल्य-ङ्कुरजनने शक्तिर्न यवबीजस्य, तस्य यवाङ्कुरजनने न शालिबीजस्येति कथ्यते। तत्र कुतस्तच्छब्देस्तादृश' प्रतिनियमः। स्वभावत इति चेन्न, अप्रत्यक्षत्वात्। = कार्यकारण भावके प्रकरणमे योग्यताका अर्थ कारणकी कार्यको पैदा करनेकी शक्ति और कार्यकी कारणसे जन्मपनेकी शक्ति ही है। उस योग्यताका प्रत्येक विवक्षित कार्य कारणोंमें नियम करना यही कहा जाता है कि धानके बीज और धानके अंकुरोंमें भिन्न-भिन्न समय वृत्तिपनेकी समानताके होनेपर भी साठी चावलके बीजकी ही धानके अंकुरोंको पैदा करनेमें शक्ति है। किन्तु जौके बीजकी धानके अंकुर पैदा करनेमें शक्ति नहीं है। तथा उस जौके बीजकी जौके अंकुर पैदा करनेमें शक्ति है। हाँ, धानका बीज जौका अंकुर नहीं उत्पन्न कर सकता है। यही योग्यता कही जाती है। प्रश्न—ऊपरके प्रकरणमें कही गयी उस योग्यता रूप शक्तिका वैया प्रत्येकमें नियम आप कैसे कर सकेगे। उत्तर—यह शक्तियोंका प्रतिनियम उन-उन पदार्थोंके स्वभावसे हो जाता है। क्योंकि अस्वज्ञोको शक्तियोंका प्रत्यक्ष नहीं होता है।

* द्रव्यके परिणमनमें उसकी योग्यता ही कारण है

—दे० कारण/II/१/८।

योजन—क्षेत्रका प्रमाण विशेष—दे० गणित/1/१/३।

योजना योग—दे० योग।

योनि—जीवोंके उत्पन्न होनेके स्थानको योनि कहते हैं। उसको दो प्रकारसे विचार किया जाता है—शीत, उष्ण, संवृत, विवृत आदिकी अपेक्षा और माताकी योनिके आकारकी अपेक्षा।

जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश

१. योनि सामान्यका लक्षण

स. सि./२/३२/१५५/१० योनिरुपपाददेशपुद्गलप्रचय । = उपपाद देशके पुद्गल प्रचय रूप योनि है ।

रा. वा./२/३२/१०/१४२/१३ श्रुयत इति योनि । = जिसमें जीव जाकर उत्पन्न हो उसका नाम योनि है ।

गो. जी./जी. प्र./५१/२०३/६ यौति मिश्रीभवति औदारिकादिनोकर्म-वर्गणापुद्गलै सह संबद्धवतै जीवो यस्यां सा योनि — जीवोत्पत्ति-स्थानम् । = योनि अर्थात् मिश्ररूप होता है । जिसमें जीव औदारिकादि नोकर्म वर्गणारूप पुद्गलको साथ सम्बन्धको प्राप्त होता है, ऐसे जीवके उत्पन्नके स्थानका नाम योनि है ।

२. योनिके भेद

१. आकारोंकी अपेक्षा

सू. आ./११०२ सखावत्तयजोणी कुम्मुण्णद वसपत्तजोणी य । = शखा-वर्त योनि, कुर्मोन्नतयोनि, वंशपत्रयोनि—इस तरह तीन प्रकारकी आकार योनि होती है । (गो. जी./सू./५१/२०३) ।

२ शीतोष्णादिकी अपेक्षा

त. सू./२/३२ सच्चित्तशीतसंवृता सेतरा मिश्राश्चैकशस्तयोनय । = सचित्त, शीत और संवृत तथा इनकी प्रतिपक्षभूत अचित्त, उष्ण और विवृत तथा मिश्र अर्थात् सचित्ताचित्त, शीतोष्ण और संवृत-विवृत ये उसकी अर्थात् जन्मकी योनियाँ हैं । ३२।

३. चौरासी लाख योनियोंकी अपेक्षा

सू. आ./२२६ णिच्चिदरधादु सत्त य तरु दस विगलदिएसु छच्चैव । सुरणरयतिरिय चउरो चउदस मणुए सदसहस्सा । २२६। = निरय-निगोद, इतरनिगोद, पृथिवीकायसे लेकर वायुकाय तक—इनके सात सात लाख योनि हैं । प्रत्येक वनस्पतिके दशलाखयोनि हैं, दो इन्द्रिय से चौइन्द्री तक सब छह लाख ही हैं, देव व नारकी और पंचेन्द्री तिर्यचोके चार-चार लाख योनि हैं, तथा मनुष्योंके चौदह लाख योनि हैं । सब मिलकर चौरासीलाख योनि हैं । २२६। (सू. आ./११०४), (वा. अ./३५); (ति. प./५/२६७); (ति. प./५/७०१); (त. सा./२/११०-१११); (गो. जी./सू./५६/२११); (नि. सा./ता. वृ./४२) ।

३. सचित्ताचित्त योनिके लक्षण

स. सि./२/३२/१५७-१५८/१० आत्मनश्चैतन्यविशेषपरिणामश्चित्तम् । सह चित्तेन वर्तत इति सचित्त । शीत इति स्पर्शविशेष, ..सम्य-वृत संवृत । संवृत इति दुरुपलक्ष्यप्रदेश उच्यते । योनिरुपपाद-देशपुद्गलप्रचययोऽचित्त । मातुरुदरे शुक्रशोणितमचित्तम्, तदात्मना चित्तवता मिश्रणान्मिश्रयोनि । = आत्माके चैतन्य विशेष रूप परिणामको चित्त कहते हैं । जो उसके साथ रहता है वह सचित्त कहलाता है । शीत यह स्पर्शका एक भेद है । जो भले प्रकार ढका हो वह संवृत कहलाता है, यहाँ संवृत ऐसे स्थानको कहते हैं जो देखनेमें न आवे । उपपाद देशके पुद्गलप्रचयरूप योनि अचित्त है । माताके उदरमें शुक्र और शोणित अचित्त होते हैं जिनका सचित्त माताकी आत्माके साथ मिश्रण है इसलिए वह मिश्रयोनि है । (रा. वा./२/३२/१-५/१४१/२२) ।

४. सचित्त-अचित्तादि योनियोंका स्वामित्व

सू. आ./१०६६-११०१ एइदिय णेरइया संवृज्जोणी हवति देवा य । विथलदिया य विथडा संवृज्जियडा य गम्भेसु । १०६६। अचित्ता खल्लु जोणी णेरइयाणं च होइ देवाणं । मिससा य गम्भज्जमा तिविही जोणी दु सेसाणं । ११००। सीदुण्हा खल्लु जोणी णउइयाणं तहैव

देवाण । तेज्जण जसिणजोणी तिविहा जोणी दु सेसाण । ११०१। = एकैन्द्रिय, नारकी, देव इनके संवृत (दुरुपलक्ष) योनि है, दोइन्द्रियसे चौइन्द्रीतक विवृत योनि है । और गर्भजोके संवृतविवृत योनि है । १०६६। अचित्त योनि देव और नारकियोंके होती है, गर्भजोके मिश्र अर्थात् सचित्ताचित्त योनि होती है । और शेष समूर्च्छनोके तीनों ही योनि होती है । ११००। (दे० आगे स. सि.) । नारकी और देवोके शीत, उष्ण योनि है, तेजस्कायिक जीवोके उष्ण योनि है । और शेष एकैन्द्रियादिके तीनों प्रकारकी योनि है । ११०१। (स. सि./२/३२/१५५/१०), (रा. वा./२/३२/१५-२६/१४३/१) (गो. जी./सू./५६-५७/२०५) ।

ति. प./४/२६४५-२६५०० गम्भुभवजीवाण मिसस सच्चित्तजोणीए । २६४५। सीदं उण्ह मिसस जीवेस होति गम्भपभवेसुं । ताणं भवति संवदजोणीए मिससजोणी य । २६४६। सीदुण्हमिससजोणी सच्चित्ता-चित्तमिससविडडाय । सम्मुच्चिज्जमणुवाण सचित्तए होति जोणीओ । २६४७। = १ मनुष्य गर्भज—गर्भ जन्मसे उत्पन्न जीवोके सचित्तादि तीन योनियोंमेंसे मिश्र (सचित्तासचित्त) योनि होती है । २६४८। गर्भसे उत्पन्न जीवोके शीत, उष्ण और मिश्र योनि होती है । तथा इन्हो गर्भज जीवोके संवृतादिक तीन योनियोंमेंसे मिश्र योनि होती है । २६४९। २ सम्मूर्च्छन मनुष्य—सम्मूर्च्छन मनुष्योंके उपर्युक्त सचित्तादिक नौ गुणयोनियोंमेंसे शीत, उष्ण, मिश्र (शीतोष्ण), सचित्त, अचित्त, मिश्र (सचित्ताचित्त) और विवृत ये योनियाँ होती हैं । २६५०।

ति. प./५/२६३-२६५ उप्पत्ती तिरियाण गम्भजसमुच्चिज्जमो त्ति पत्तेवक । सच्चित्तसीदसंबदसेदरमिससा य ज्हज्जोगं । २६३। गम्भुभवजीवाणं मिसस सच्चित्तणामधेयस्स । सीद उण्हं मिसस संवदजोणिमि मिससा य । २६४। संमुच्चिज्जमजीवाण सचित्ताचित्तमिसससीदुसिणा । मिसस संवदविबुद णवजोणीओहुसामण्णा । २६५।

ति. प./५/७००-७०१ भावणवेतरजोडसियकप्पवासीणमुवादे । सीदुण्ह अचित्तसं संउदया होति सामण्णे । ७००। एदाण चउविहाण सुराण सव्वाण होति जोणीओ । चउलक्खाहु विसेसे हदियकखादरूवाओ । ७०१। = ३. गर्भज तिर्यच्च—तिर्यचोकी उत्पत्ति गर्भ और सम्मूर्च्छन जन्मसे होती है । इनमेंसे प्रत्येक जन्मकी सचित्त, शीत संवृत तथा इनसे विपरीत अचित्त, उष्ण, विवृत और मिश्र (सचित्ताचित्त, शीतोष्ण, संवृतविवृत), ये यथायोग्य योनियाँ होती हैं । २६३। = गर्भसे उत्पन्न होनेवाले जीवोंमें सचित्त नामक योनिमेंसे मिश्र (सचित्ताचित्त), शीत, उष्ण, मिश्र (शीतोष्ण) और संवृत योनिमेंसे मिश्र (संवृत-विवृत) योनि होती है । २६४। ४. सम्मूर्च्छन तिर्यच्च—सम्मूर्च्छन जीवोके सचित्त, अचित्त, मिश्र (सचित्ताचित्त), शीत, उष्ण, मिश्र, (शीतोष्ण) और संवृत योनिमेंसे मिश्र (संवृत-विवृत) योनि होती है । २६५। ५. उपपादजदेव—भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिषी और ब्रह्मवासियोंके उपपाद जन्ममें शीतोष्ण, अचित्त और संवृत योनि होती है । इन चारों प्रकारके सब देवोके सामान्य रूपसे सब योनियाँ होती हैं । विशेषरूपसे चार लाख योनियाँ होती हैं । ७००-७०१।

स. सि./२/३२/१८६/१ सचित्तयोनय साधारणशरीरा । कुत । परस्प-राश्रयत्वात् । इतरे अचित्तयोनयो मिश्रयोनयश्च । = साधारण शरीरवालोकी सचित्त योनि होती है, क्योंकि ये एक दूसरेके आश्रयसे रहते हैं । इनसे अतिरिक्त शेष सम्मूर्च्छन जीवोके अचित्त और मिश्र दोनों प्रकारकी योनियाँ होती हैं । (रा. वा./२/३२/२०/१४१/६) ।

५. संखावर्त आदि योनियोंका स्वामित्व

सू. आ./११०२-११०३ तत्थ य संखावत्ते णियमावु विवउजए गम्भो । ११०२। कुम्मुण्णद जोणीए तित्थयरा दुविहचक्कवट्टीय । रामावि य

जायते सेसा सेसेसु जोगोसु ११०३। =शखावर्त योनिमें नियमसे गर्भ नष्ट हो जाता है ११०२। कूर्मव्रत योनिमें तीर्थकर, चक्री, अर्ध-चक्री, दोनो बलदेव ये उत्पन्न होते हैं और बाकी की योनियोंमें शेष मनुष्यादि पैदा होते हैं ११०३। (ति. प. ४/२६३२), (गो. जी / मू / ८१-८२/२०२-२०४) ।

६. जन्म व योनिमें भन्तर

स सि / २/३२/१८८/७ योनिजन्मनेरविशेष इति चेत् । न, आधारा-धेयभेदात्तद्भेद । त एते सच्चिदाद्यो योनय आधाराः । आधेया जन्मप्रकाराः । यत् सच्चिदादियोन्यधिष्ठाने आत्मा समूर्च्छना-दिना जन्मना शरीराहारेन्द्रियादियोग्यान्पुद्गलानुपादत्ते । =प्रश्न—योनि और जन्ममें कोई भेद नहीं । उत्तर—नहीं, क्योंकि आधार और आधेयके भेदसे उनमें भेद है । ये सच्चित् आदिक योनियाँ आधार हैं, और जन्मके भेद आधेय हैं, क्योंकि सच्चित् आदि योनि रूप आधारमें समूर्च्छन आदि जन्मके द्वारा आत्मा, शरीर, आहार और इन्द्रियोंके योग्य पुद्गलको ग्रहण करता है । (रा वा / २/३२/ १३/१४२/१६) ।

योनिमति—योनिमति मनुष्य व तिर्यच निर्देश—दे० वेद/३ ।

योग—नेयायिक दर्शनका अपर नाम—दे० न्याय/१/७ ।

[र]

रङ्ग—आभ्रंश जैन कवि थे । कृतियों—मेहेसर चरिउ, सिरिवाल चरिउ, बलहद चरिउ, सुबकोसल चरिउ, धणकुमार चरिउ, जसहर चरिउ, सम्मद्विजिण चरिउ, पउम चरिउ, सम्मत्त गुण णिहाण कव्व, वित्तसार, सिद्धतत्थसारो इत्यादि । समय—वि. १४६७-१६३६ । (ती / ४/१६८) ।

रवकस—बेदारेगरेके राजा थे । समय—ई० ६७७ (सि वि / म / ७५/१. महेन्द्र) ।

रक्तकंबला—सुमेरु पर्वतस्थ एक शिला है । इस पर ऐरावत क्षेत्रके तीर्थकरोंका जन्म कल्याणके सम्बन्धी अभिषेक किया जाता है । —दे० लोक/३/६ ।

रक्तशिला—सुमेरु पर्वतस्थ एक शिला है । जिस पर पूर्व विदेहके तीर्थकरोंका जन्म कल्याणके अवसर पर अभिषेक किया जाता है । —दे० लोक/६ ।

रक्ताकुंड—ऐरावत क्षेत्रस्थ एक कुण्ड, जिससेसे रक्ता नदी निकलती है । —दे० लोक/३/१० ।

रक्ताकूट—शिखरी पर्वतस्थ एक कूट—दे० लोक/५/४ ।

रक्तादेवी—रक्ताकुण्ड व रक्ताकूटकी स्वामिनी देवी—दे० लोक/५/४ ।

रक्तानदी—ऐरावत क्षेत्रकी प्रधान नदी—दे० लोक/३/११, ५/४ ।

रक्तोदाकुण्ड—ऐरावत क्षेत्रस्थ एक कुण्ड—दे० लोक/३/१० ।

रक्तोदादेवी—रक्तोदाकुण्डकी स्वामिनी देवी—दे० लोक/५/४ ।

रक्तोदानदी—ऐरावत क्षेत्रकी प्रधान नदी—दे० लोक/३/११, ५/४ ।

रक्षा बन्धन व्रत—श्रावण शु १५ के दिन विष्णुकुमार मुनिने अकम्पनादि ७०० मुनियों पर राजा बलि द्वारा किया गया उपसर्ग दूर किया था । इस दिनको रक्षाबन्धन कहते हैं । इस दिन उपवास करे और पीला मूत हाथमें बोधे । और 'ओ ह्रीं विष्णुकुमारमुनये नमः' इस मन्त्रका त्रिकाल जाप्य करे । (व्रत-विधान स. / पृ १०८) ।

रघु—इक्ष्वाकु वंशमें अयोध्या नगरीका राजा था । (प पु. / २२/ १६०) । अनुमानत इमीसे रघुवंशकी उत्पत्ति हुई हो ।

रघुनाथ—नवग्रहनाथका प्रसिद्ध प्रणेता । समय—ई० १६२० । —दे० न्याय/१/७ ।

रघुवंश—दे० इतिहास १०/११ ।

रज—ध १/१.१.१/४३/७ ज्ञानरुगावरणानि रजांस्वी बहिरङ्गान्त-रङ्गशेषत्रिकालगोचरानन्तार्थव्यञ्जनपरिणामात्मकवस्तुविषयबोधा-नुभवप्रतिबन्धकत्वादजासि । मोहोऽपि रज. भस्मरजसा पुरितान-नानामिव भूयो मोहावरुद्धात्मना जिह्वाभावोपलम्भाव । =ज्ञाना-वरण, दर्शनावरण कर्म धूलिकी तरह बाह्य और अन्तरग समस्त त्रिकालके विषयभूत अनन्त अर्थ पर्याय और व्यञ्जन पर्याय स्वरूप वस्तुओंको विषय करने वाले बोध और अनुभवके प्रतिबन्धक होनेसे रज कहलाते हैं । मोहको भी रज कहते हैं, क्योंकि, जिस प्रकार जिनका मुख भस्मसे व्याप्त होता है उनमें जिह्वा भाव अर्थात् कार्यकी मन्दता देखी जाती है, उसी प्रकार मोहसे जिनका आत्मा व्याप्त हो रहा है उनके भी जिह्वाभाव देखा जाता है ।

रजत—१. माख्यवान पर्वतस्थ एक कूट—दे० लोक/५/४; २. मानुषो-त्तर पर्वतस्थ एक कूट—दे० लोक/५/१०; ३. रुचक पर्वतस्थ एक कूट—दे० लोक/५/१३ ।

रजस्वला—दे० सूतक ।

रज्जू—१. औदारिक शरीरमें मास रज्जूओका प्रमाण—दे० औदा-रिक/१/७; २. क्षेत्रका एक प्रमाण विशेष—दे० राजू ।

रति—

स. सि. / ८/६/३५/१३ यदुदयाद्देशादिष्वीत्सुवर्षा सा रति । अरति-स्तद्विपरीता । =जिसके उदयसे देशादिमें उत्सुकता होती है वह रति है । अरति इससे विपरीत है । (रा वा. / ८/६/४/७४/१७); (गो क / जी प्र. / ३३/२८/७) ।

ध. ६/१.६-१.२०/५७/५ रमण रति. रम्यते अनया इति वा रति. । जेसि कम्मक्खधाणमुदएण वव्व-खेत्त-काल-भावेसु रदी समुप्पज्जइ, तेसि रदि ति सण्णा । दव्व-खेत्त-काल-भावेसु जेसिमुदएण जीवस्स अरई समुप्पज्जइ तेसिमरदि ति सण्णा । =रमनेको रति कहते हैं अथवा जिसके द्वारा जीव विषयोंमें आसक्त होकर रमता है उसे रति कहते हैं । जिन कर्म स्कन्धोंके उदयसे द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावोंमें राग उत्पन्न होता है, उनकी 'रति' यह सज्ञा है । जिन कर्म स्कन्धोंके उदयसे द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावोंमें जीवके अरुचि उत्पन्न होती है, उनकी अरति सज्ञा है । (ध १३/५.६.६६/ ३६१/६) ।

ध. १२/४.२.५.१०/२८५/६ नप्त-पुत्र-कलत्रादिषु रमणं रति । तत्प्रति-पक्षा अरति । =नाती, पुत्र एवं स्त्री आदिकोंमें रमण करनेका नाम रति है । इसकी प्रतिपक्षभूत अरति कही जाती है ।

नि. सा / ता. वृ / ६ मनोज्ञेषु वस्तुषु परमा प्रीतिरेव रति । =मनोहर वस्तुओंमें परम प्रीति सो रति है ।

★ अन्य सम्बन्धित विषय

१. रति राग है । —दे० कथाय/४ ।
२. रति प्रकृतिका बन्ध उदय व सत्तन । —दे० वह वह नाम ।
३. रति प्रकृतिके बन्ध योग्य परिणाम । —दे० मोहनीय/२/६ ।

रति उत्पादक वचन—दे० वचन ।

रतिकार—नन्दीश्वर द्वीपकी पूर्वादि चारो दिशाओंमें चार-चार बावडि ों हैं । प्रत्येक बावडि के दोनो बाहर वाले कोनों पर एक-एक ढोलकार (Cylindrical) पर्वत है । लाल वर्णका होनेके कारण इनका नाम रतिकार है । इस प्रकार कुल ३२ रतिकार हैं । प्रत्येकके शीशपर एक एक जिनमन्दिर है—विशेष दे० लोक/४/५ ।

रतिकूट—विजयार्धकी दक्षिण श्रेणीका एक नगर।—दे० विद्याधर।

रतिप्रिय—किनरनामा व्यन्तर जातिका एक भेद।—दे० कित्तर।

रतिषेण—म पु./५१/श्लोक नं. “पुष्कलावती देशको पुण्डरीकिणी नगरीका राजा था (२-३)। पुत्रको राज्य देकर जिनदीक्षा ग्रहण की (१२-१३)। सोलहकारण भावनाओका चिन्तन कर तीर्थ-कर प्रकृतिका बन्ध किया। अन्तमें सन्यास मरण कर वैजयन्त विमानमें अहमिन्द्र हुआ (१३-१५)।

रत्न—१. चक्रवर्ती, बलदेव व नारायणके वैभव--दे० शलाकापुरुष/२,३,४, २. चक्रवर्तीकी नवनिधियोमेंसे एक निधि--दे० शलाका-पुरुष/२,३,४, ३. रुचक पर्वतस्थ एक कूट—दे० लोक/७।

रत्नकीर्ति—१. क्षेमकीर्ति (ई. ६६८) के शिष्य। कृति—आराधनासार की संस्कृत टीका। समय—क्षेमकीर्ति जी के अनुसार ई. १०००-१०३५। (आ सा/प, २/पं. गजाधर लाल)। २. मेघचन्द्र के शिष्य, ललितकीर्ति के विद्या शिष्य। कृति—भद्रबाहु चारित्र। समय—वि. १२६६, ई. १२३६। (भद्रबाहु चारित्र। प्र. ७। डा. कामता प्रशाद)। ३. काष्ठा संघी रामसेन के शिष्य, लक्ष्मणसेन के गुरु। समय—वि. १४५६, ई. १३२६। (दे. इतिहास/७/६), (प्रद्युम्न-चारित्र की अन्तिम प्रकाशिता); (प्रद्युम्न चारित्र। प्र/प्रेमी जी)। ४. भट्टारक अनन्तकीर्ति के शिष्य, ललितकीर्ति के गुरु। कृति—भद्रबाहु चारित्र जिसमें दू'दिया मत्त की उत्पत्ति का काल वि. १५२७ (ई. १४७०) बताया गया है। श्लोक १५७-१५६। अतः इनका समय—लगभग वि. १५७२ (ई. १५१५) (ती./३/४३५)। ५. उपदेश सिद्धांति रत्नमाला के रचयिता एक मराठी कवि। समय—ग्रन्थ का रचना काल शक १७३४, ई. १८१२। (ती./४/३२२)।

रत्नकरंड श्रावकाचार—आ. समन्तभद्र (ई.श. २) द्वारा रचित संस्कृत छन्दबद्ध इस ग्रन्थमें ७ परिच्छेद तथा १५० श्लोक हैं। श्रावकाचार विषयक यह प्रथम ग्रन्थ है। (ती०/२/१६१)। इस पर निम्न टीकाएँ उपलब्ध हैं—१. आ. प्रभाचन्द्र ७. (ई. ११८५-१२४३) कृत संस्कृतटीका, २. पं. सदासुख (ई. १७६५-१८६६) कृत भाषा टीका, जो अत्यन्त विस्तृत व प्रामाणिक है।

रत्नत्रय—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यग्चारित्र इन तीन गुणोंको रत्नत्रय कहते हैं। इनके विकल्परूपसे धारण करना भेद रत्नत्रय है, और निर्विकल्प रूपसे धारण करना अभेद रत्नत्रय है। अर्थात् सात तत्त्वों व देव, शास्त्र व गुरु आदिकी श्रद्धा, आगमका ज्ञान, व व्रतादि चारित्र तो भेद रत्नत्रय है, और आत्म-स्वरूपकी श्रद्धा, इसीका स्वस्ववेदन ज्ञान और इसीमें निश्चल स्थिति या निर्विकल्प समाधि अभेद रत्नत्रय है। रत्नत्रय ही मोक्षमार्ग है। भेद रत्नत्रय व्यवहार मोक्षमार्ग और अभेद रत्नत्रय निश्चय मोक्षमार्ग है।—दे० मोक्षमार्ग।

रत्नत्रय कथा—आ पद्मनन्द (ई. १२००-१३३०) कृत संस्कृत ग्रन्थ।

रत्नत्रयचक्र यंत्र—दे० यत्र।

रत्नत्रय यंत्र—दे० यत्र।

रत्नत्रय विधान—इस ग्रन्थ पर प. आशाधर (ई. ११७३-१२४३) ने संस्कृत भाषामें टीका लिखी है।

रत्नत्रय विधान यंत्र—दे० यत्र।

रत्नत्रय व्रत—प्रत्येक वर्ष तीन बार—भाद्र, माघ व चैत मासमें आता है। शुक्ला द्वादशीको दोपहरके भोजनके पश्चात् धारणा।

१३, १४ व १५ को उपवास करे। कृष्ण १ को दोपहरको पारणा करे। इन दिनोंमें पूर्ण ब्रह्मचर्यसे रहे। 'ओ ह्रीं सम्यग्दर्शनज्ञान-चारित्र्यैभ्यो नमः' इस मन्त्रका त्रिकाल जाप्य करे। (व्रत-विधान स./पृ. ४०)।

रत्ननन्दि—नन्दिसंघ बलात्कारगणकी गुर्विली के अनुसार आप बोरनन्दिन, १ के शिष्य तथा माणिक्य नं. १ के गुरु थे। समय—शक सं० ५६१-५८५ (ई. ६३६-६६३) —दे० इतिहास/७/२।

रत्नपुरी—विजयार्धकी उत्तर श्रेणीका एक नगर—दे० विद्याधर।

रत्नप्रभ—रुचक पर्वतस्थ एक कूट—दे० लोक/५/१३।

रत्नप्रभा—

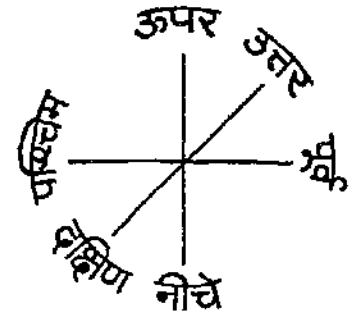
१. रत्नप्रभा नामकी सार्थकता

स. सि/३/१/२०३/७ चित्रादिरत्नप्रभासहचरिता भूमि' रत्नप्रभा।—जिसकी प्रभाचित्र आदि रत्नोंकी प्रभाके समान है वह रत्नप्रभा भूमि है। (रा. वा/३/१/३/१५६/१७), (ति. प./२/२०); (ज. प./११/१२०)।

२. रत्नप्रभा पृथिवीके तीन भाग तथा उनका स्वरूप विस्तार आदि

ति. प./२/६-१८ खरपंकप्पबहुला भागा रयणप्पहाए पुढवीए। बहुलत्तणं सहस्सा सोलस चउसीदि सीदिय। १। खरभागो णादव्वो सोलस भेदे-हि सजुदो णियमा। चित्तादीओ खिदिओ तेसि चित्ता बहुवियप्पा। १०। णाणाविहवण्णाओ महिओ वह सिलातला उववादा। बालुवंसक्करसी-सयुरूपसुवण्णाण वहरं च। ११। अयत्तंभतउयसस्सयसिलाहिगुलाणि हरिवाल। अजणपवालगोमज्जगाणि रुजगकअम्भपडलाणि। १२। तह अम्भनालुकाओ फलिहं जलकत्तमूरकंताणि। चंदप्पहवेरुलियं गेरुव-चदण लोहिदंकाणि। १३। वव्वयवगमोअमसारगल्लपहुदोणि विविह-वण्णाणि। जा होति त्ति एदेण चित्तेत्ति य वण्णिदा एसा। १४। एदाए बहुलत्तं एकसहस्स हवंति जोयणया। तीएहेट्ठा कमसो चोदस अण्णा य ट्ठिदमही। १५। तण्णामा वेरुलियं लोहिययं क मसारगल्लं च। गोमज्जयं पवालं जोदिरसं अजणं णाम। १६। अजणमूलं अंकं फलिहचंदणं च वच्चगय। बहुला सेला एदा पत्तेवक इगिसहस्स-बहलाइ। १७। ताण खिदीण हेट्ठापासाण णाम रयणसेलसमा। जोयण सहस्सबहलं वेत्तासणसण्णिहाउ सठाओ। १८। = १. अधोलोकमें सबसे पहली रत्नप्रभा पृथिवी है उसके तीन भाग हैं—खर भाग, पंक भाग और अब्बहुल भाग। इन तीनों भागोंका बाह्य क्रमशः सोलह हजार, चौरासी हजार और अस्सी हजार योजन प्रमाण है। १। २. इनमेंसे खर भाग नियमसे सोलह भेदोंसे सहित है। ये सोलह भेद चित्रादिक सोलह पृथिवी रूप हैं। इनमेंसे चित्रा पृथिवी अनेक प्रकारकी है। १०। यहाँ पर अनेक प्रकारके वर्णोंसे युक्त महीतल, शिलातल, उपपाद, बालु, शक्कर, शीशा, चॉदी, सुवर्ण इनके उत्पत्तिस्थान, वज्र तथा अयस् (लोहा) ताँबा, त्रपु (रांगर), सस्यक (मणि विशेष), मन शिला, हिगुल (सिगरफ), हरिताल, अजण, प्रवाल (सुंगा) गोमध्यक (मणिविशेष) रुचक अक (धातु विशेष), अभ्रपटल (धातुविशेष), अभ्रबालुका (सालरेत), स्फटिक मणि, जलकान्त-मणि, सूर्यकान्तमणि, चन्द्रप्रभमणि (चन्द्रकान्तमणि), वैदूर्यमणि, गेरु, चन्दन, लोहिताक (लोहिताक्ष), वप्रक (मरकत) बकमणि (पुष्परोडा), मोचमणि (कदली वर्णाकार नीलमणि) और मसार-गल्ल (मसृणपाषाणमणि विद्रमवर्ण) इत्यादिक विविध वर्णवाली धातुएँ हैं। इसलिए इस पृथिवीका चित्रा इस नामसे वर्णन किया गया है। ११-१४। इस चित्रा पृथिवीकी मोटाई १ हजार योजन है। ३. इसके नीचे क्रमसे चौदह अन्य पृथिवियों स्थित हैं। १५। वैदूर्य, लोहिताक

अबबहुल भाग में नरकों के पटल



नोट - इन्द्रक व श्रेणीबद्ध - दे० लेक/२ में चित्र सं० ११

२ - प्रत्येक पटल के मध्य में इन्द्रक बिल है। उनकी चारों दिशाओं व चारों विदिशाओं में श्रेणीबद्ध बिल है। आठों अन्तर दिशाओं में प्रकीर्णक बिल है। सीमान्तक नामक प्रथम पटल के प्रत्येक पटल की प्रत्येक दिशा में ४६ और प्रत्येक विदिशा में ४८ है। आगे के पटलों में उतरोत्तर एक एक हीन है।

खर भाग	चित्रा पृ० नामक प्रथम पटल	१००० यो०	१६००० यो०
	शेष १५ पटल	१५००० यो०	
पक भाग → विशेष दे० भवन/४			८४००० यो०
१ सीमान्तक श्रेणीबद्ध $=(४ \times ४६) + (४ \times ४८) = ३८८$			
१००० यो० अन्तराल			
२ निरय श्रेणीबद्ध $(४ \times ४८) + (४ \times ४७) = ३८०$			
१००० यो० अन्तराल			
३ रीरुक - श्रेणीबद्ध $(४ \times ४७) + (४ \times ४६) = ३७२$			
१००० यो० अन्तराल			
४ भान्त - श्रेणीबद्ध $=(४ \times ४६) + (४ \times ४५) = ३६४$			
१००० यो० अन्तराल			
५ उद्वभान्त - श्रेणीबद्ध $=(४ \times ४५) + (४ \times ४४) = ३५६$			
१००० यो० अन्तराल			
६ सन्भान्त - श्रेणीबद्ध $=(४ \times ४४) + (४ \times ४३) = ३४८$			
१००० यो० अन्तराल			
७ असभान्त - श्रेणीबद्ध $=(४ \times ४३) + (४ \times ४२) = ३४०$			
१००० यो० अन्तराल			
८ विभान्त - श्रेणीबद्ध $=(४ \times ४२) + (४ \times ४१) = ३३२$			
१००० यो० अन्तराल			
९ तप्त - श्रेणीबद्ध $=(४ \times ४१) + (४ \times ४०) = ३२४$			
१००० अन्तराल			
१० त्रसित - श्रेणीबद्ध $=(४ \times ४०) + (४ \times ३९) = ३१६$			
१००० यो० अन्तराल			
११. वक्रान्त श्रेणीबद्ध $=(४ \times ३९) + (४ \times ३८) = ३०८$			
१००० यो० अन्तराल			
१२ अवक्रान्त श्रेणीबद्ध $=(४ \times ३८) + (४ \times ३७) = ३००$			
१००० यो० अन्तराल			
१३ विक्रान्त श्रेणीबद्ध = २९२			
कुछ कम राजू का अन्तराल			

(लोहितक्ष), असारगुल (मसारकल्पा), गोमेदक, प्रवाल, ज्योतिरस, अजन, अजनमूल, अक, स्फटिक, चन्दन, वर्चगत (सर्वार्थका), ब्रह्मल (बकुल) और शैल, ये उन उपर्युक्त चौदह पृथिवियोंके नाम हैं। इनमेंसे प्रत्येककी मोटाई एक हजार योजन है। १६-१७ इन पृथिवियोंके नीचे एक पाषाण नामकी (सोल्हवी) पृथिवी है। जो रत्नशैलके समान है। इसकी मुटाई भी एक हजार-योजन प्रमाण है। ये सब पृथिवियों वेत्नासनके सदृश स्थित हैं। (रा. वा. ३/१/८/१६०/१६), (त्रि. सा. १/४६-१४८), (ज. प. १/११/११४-१२०)।

* खर पंक भागमें भवनवासियोंके निवास—दे० भवन/४।

रत्नमाला—१. धरणीतिलक नगरके राजा अतिवेगकी पुत्री थी। ब्रह्मायुधसे विवाही गयी। (म. पु. ५/६/२४१-२४२) यह मेरु गणधरका पूर्वका चौथा भव है—दे० मेरु। २. आ. शिवकोटि (ई. श. ११) द्वारा तत्त्वार्थसूत्रपर रची गयी टीका।

रत्नमुक्तावली व्रत—ह. पु. ३/४/७२-७३ एक उपवास, एक पारणा, दो उपवास, एक पारणा, एक उपवास, एक पारणा इत्यादि नीचे लिखी संख्याके अनुसार २८ उपवास करे, और बीचके (.) वाले स्थानोंमें एक एक पारणा करे। यत्र—१,२,३,४,५,६,७,८,९,१०,११,१२,१३,१४,१५,१६,१७,१८,१९,२०,२१,२२,२३,२४,२५,२६,२७,२८,२९,३०,३१,३२,३३,३४,३५,३६,३७,३८,३९,४०,४१,४२,४३,४४,४५,४६,४७,४८,४९,५०,५१,५२,५३,५४,५५,५६,५७,५८,५९,६०,६१,६२,६३,६४,६५,६६,६७,६८,६९,७०,७१,७२,७३,७४,७५,७६,७७,७८,७९,८०,८१,८२,८३,८४,८५,८६,८७,८८,८९,९०,९१,९२,९३,९४,९५,९६,९७,९८,९९,१००,१०१,१०२,१०३,१०४,१०५,१०६,१०७,१०८,१०९,११०,१११,११२,११३,११४,११५,११६,११७,११८,११९,१२०,१२१,१२२,१२३,१२४,१२५,१२६,१२७,१२८,१२९,१३०,१३१,१३२,१३३,१३४,१३५,१३६,१३७,१३८,१३९,१४०,१४१,१४२,१४३,१४४,१४५,१४६,१४७,१४८,१४९,१५०,१५१,१५२,१५३,१५४,१५५,१५६,१५७,१५८,१५९,१६०,१६१,१६२,१६३,१६४,१६५,१६६,१६७,१६८,१६९,१७०,१७१,१७२,१७३,१७४,१७५,१७६,१७७,१७८,१७९,१८०,१८१,१८२,१८३,१८४,१८५,१८६,१८७,१८८,१८९,१९०,१९१,१९२,१९३,१९४,१९५,१९६,१९७,१९८,१९९,२००,२०१,२०२,२०३,२०४,२०५,२०६,२०७,२०८,२०९,२१०,२११,२१२,२१३,२१४,२१५,२१६,२१७,२१८,२१९,२२०,२२१,२२२,२२३,२२४,२२५,२२६,२२७,२२८,२२९,२३०,२३१,२३२,२३३,२३४,२३५,२३६,२३७,२३८,२३९,२४०,२४१,२४२,२४३,२४४,२४५,२४६,२४७,२४८,२४९,२५०,२५१,२५२,२५३,२५४,२५५,२५६,२५७,२५८,२५९,२६०,२६१,२६२,२६३,२६४,२६५,२६६,२६७,२६८,२६९,२७०,२७१,२७२,२७३,२७४,२७५,२७६,२७७,२७८,२७९,२८०,२८१,२८२,२८३,२८४,२८५,२८६,२८७,२८८,२८९,२९०,२९१,२९२,२९३,२९४,२९५,२९६,२९७,२९८,२९९,३००,३०१,३०२,३०३,३०४,३०५,३०६,३०७,३०८,३०९,३१०,३११,३१२,३१३,३१४,३१५,३१६,३१७,३१८,३१९,३२०,३२१,३२२,३२३,३२४,३२५,३२६,३२७,३२८,३२९,३३०,३३१,३३२,३३३,३३४,३३५,३३६,३३७,३३८,३३९,३४०,३४१,३४२,३४३,३४४,३४५,३४६,३४७,३४८,३४९,३५०,३५१,३५२,३५३,३५४,३५५,३५६,३५७,३५८,३५९,३६०,३६१,३६२,३६३,३६४,३६५,३६६,३६७,३६८,३६९,३७०,३७१,३७२,३७३,३७४,३७५,३७६,३७७,३७८,३७९,३८०,३८१,३८२,३८३,३८४,३८५,३८६,३८७,३८८,३८९,३९०,३९१,३९२,३९३,३९४,३९५,३९६,३९७,३९८,३९९,४००,४०१,४०२,४०३,४०४,४०५,४०६,४०७,४०८,४०९,४१०,४११,४१२,४१३,४१४,४१५,४१६,४१७,४१८,४१९,४२०,४२१,४२२,४२३,४२४,४२५,४२६,४२७,४२८,४२९,४३०,४३१,४३२,४३३,४३४,४३५,४३६,४३७,४३८,४३९,४४०,४४१,४४२,४४३,४४४,४४५,४४६,४४७,४४८,४४९,४५०,४५१,४५२,४५३,४५४,४५५,४५६,४५७,४५८,४५९,४६०,४६१,४६२,४६३,४६४,४६५,४६६,४६७,४६८,४६९,४७०,४७१,४७२,४७३,४७४,४७५,४७६,४७७,४७८,४७९,४८०,४८१,४८२,४८३,४८४,४८५,४८६,४८७,४८८,४८९,४९०,४९१,४९२,४९३,४९४,४९५,४९६,४९७,४९८,४९९,५००,५०१,५०२,५०३,५०४,५०५,५०६,५०७,५०८,५०९,५१०,५११,५१२,५१३,५१४,५१५,५१६,५१७,५१८,५१९,५२०,५२१,५२२,५२३,५२४,५२५,५२६,५२७,५२८,५२९,५३०,५३१,५३२,५३३,५३४,५३५,५३६,५३७,५३८,५३९,५४०,५४१,५४२,५४३,५४४,५४५,५४६,५४७,५४८,५४९,५५०,५५१,५५२,५५३,५५४,५५५,५५६,५५७,५५८,५५९,५६०,५६१,५६२,५६३,५६४,५६५,५६६,५६७,५६८,५६९,५७०,५७१,५७२,५७३,५७४,५७५,५७६,५७७,५७८,५७९,५८०,५८१,५८२,५८३,५८४,५८५,५८६,५८७,५८८,५८९,५९०,५९१,५९२,५९३,५९४,५९५,५९६,५९७,५९८,५९९,६००,६०१,६०२,६०३,६०४,६०५,६०६,६०७,६०८,६०९,६१०,६११,६१२,६१३,६१४,६१५,६१६,६१७,६१८,६१९,६२०,६२१,६२२,६२३,६२४,६२५,६२६,६२७,६२८,६२९,६३०,६३१,६३२,६३३,६३४,६३५,६३६,६३७,६३८,६३९,६४०,६४१,६४२,६४३,६४४,६४५,६४६,६४७,६४८,६४९,६५०,६५१,६५२,६५३,६५४,६५५,६५६,६५७,६५८,६५९,६६०,६६१,६६२,६६३,६६४,६६५,६६६,६६७,६६८,६६९,६७०,६७१,६७२,६७३,६७४,६७५,६७६,६७७,६७८,६७९,६८०,६८१,६८२,६८३,६८४,६८५,६८६,६८७,६८८,६८९,६९०,६९१,६९२,६९३,६९४,६९५,६९६,६९७,६९८,६९९,७००,७०१,७०२,७०३,७०४,७०५,७०६,७०७,७०८,७०९,७१०,७११,७१२,७१३,७१४,७१५,७१६,७१७,७१८,७१९,७२०,७२१,७२२,७२३,७२४,७२५,७२६,७२७,७२८,७२९,७३०,७३१,७३२,७३३,७३४,७३५,७३६,७३७,७३८,७३९,७४०,७४१,७४२,७४३,७४४,७४५,७४६,७४७,७४८,७४९,७५०,७५१,७५२,७५३,७५४,७५५,७५६,७५७,७५८,७५९,७६०,७६१,७६२,७६३,७६४,७६५,७६६,७६७,७६८,७६९,७७०,७७१,७७२,७७३,७७४,७७५,७७६,७७७,७७८,७७९,७८०,७८१,७८२,७८३,७८४,७८५,७८६,७८७,७८८,७८९,७९०,७९१,७९२,७९३,७९४,७९५,७९६,७९७,७९८,७९९,८००,८०१,८०२,८०३,८०४,८०५,८०६,८०७,८०८,८०९,८१०,८११,८१२,८१३,८१४,८१५,८१६,८१७,८१८,८१९,८२०,८२१,८२२,८२३,८२४,८२५,८२६,८२७,८२८,८२९,८३०,८३१,८३२,८३३,८३४,८३५,८३६,८३७,८३८,८३९,८४०,८४१,८४२,८४३,८४४,८४५,८४६,८४७,८४८,८४९,८५०,८५१,८५२,८५३,८५४,८५५,८५६,८५७,८५८,८५९,८६०,८६१,८६२,८६३,८६४,८६५,८६६,८६७,८६८,८६९,८७०,८७१,८७२,८७३,८७४,८७५,८७६,८७७,८७८,८७९,८८०,८८१,८८२,८८३,८८४,८८५,८८६,८८७,८८८,८८९,८९०,८९१,८९२,८९३,८९४,८९५,८९६,८९७,८९८,८९९,९००,९०१,९०२,९०३,९०४,९०५,९०६,९०७,९०८,९०९,९१०,९११,९१२,९१३,९१४,९१५,९१६,९१७,९१८,९१९,९२०,९२१,९२२,९२३,९२४,९२५,९२६,९२७,९२८,९२९,९३०,९३१,९३२,९३३,९३४,९३५,९३६,९३७,९३८,९३९,९४०,९४१,९४२,९४३,९४४,९४५,९४६,९४७,९४८,९४९,९५०,९५१,९५२,९५३,९५४,९५५,९५६,९५७,९५८,९५९,९६०,९६१,९६२,९६३,९६४,९६५,९६६,९६७,९६८,९६९,९७०,९७१,९७२,९७३,९७४,९७५,९७६,९७७,९७८,९७९,९८०,९८१,९८२,९८३,९८४,९८५,९८६,९८७,९८८,९८९,९९०,९९१,९९२,९९३,९९४,९९५,९९६,९९७,९९८,९९९,१०००।

रत्नश्रवा—सुमालिका पुत्र तथा रावणका पिता था। (प. पु. ७/१३३, २०६)।

रत्नसंचय—विजयार्थकी दक्षिण श्रेणीका एक नगर—दे० विद्याधर।

रत्नाकर—१. विजयार्थकी उत्तर श्रेणीका एक नगर।—दे० विद्याधर। २. काश्मीर नरेश अर्वात्तवर्मनके कालमें एक कवि थे। समय—ई. ८८४ (जा. प्र. ६/पं. पन्नालाल)।

रत्नावली व्रत—इस व्रतकी विधि तीन प्रकारसे वर्णन की गयी है—उत्तम, मध्यम, व जघन्य।

१ बृहद् विधि—(ह. पु. ३/४/७६)। प्रथम १० बेला, १,२,३,४,५,६, ७,८,९,१०,११,१२,१३,१४,१५,१६, इस प्रकार एक एक वृद्धि क्रमसे १३६ उपवास करे। फिर ३४ बेला, १६,१५,१४,१३,१२,११,१०,९,८,७, ६,५,४,३,२,१, इस प्रकार एक एक हानि क्रमसे १३६ उपवास करे, १२ बेला। विधि—उपरोक्त रचनावद् पहले एक बेला व १ पारणा क्रमसे १२ बेला करे, फिर एक उपवास १ पारणा, २ उपवास १ पारणा क्रमसे १ वृद्धि क्रमसे १६ उपवास तक करे, पीछे ३४ बेला, फिर १६ से लेकर एक हानि क्रमसे १ उपवास तक करे, पीछे १२ बेला करे। बीचमें सर्वत्र एक एक पारणा करे। जाप्य—नमस्कार मन्त्रका त्रिकाल जाप्य करे।

२. मध्यम विधि—एक वर्ष पर्यन्त प्रतिमासकी शु. ३,५,८ तथा कृ. २, ५,८, इन छह तिथियोंमें उपवास करे, तथा नमस्कार मन्त्रका त्रिकाल जाप करे। (व्रत विधान स./पृ. ७३)।

जघन्य विधि—यत्र १,२,३,४,५,६,७,८,९,१०,

१ विधि—वृद्धि-हानि क्रमसे उपरोक्त प्रकार ३० उपवास करे, बीचके ६ स्थान तथा अन्तमें १ इस प्रकार १० पारणा करे।

(ह. पु. ३/४/७२-७३)।

०
० ०
० ० ०
० ० ० ०
० ० ० ० ०
० ० ० ० ०
० ० ०
० ०
०

रत्न—क्षेत्रका प्रमाण विशेष—दे० गणित/१/१।

रत्नोच्चय—१. सुमेरु पर्वतका अपरनाम—दे० सुमेरु। २. रुचक पर्वतस्थ एक कूट—दे० लोक/५/१३।

रथ—ध. १४/५,६,४१/३८/१२ जुइधे अहिरह—महारहाणं चउण-जोग्गारा रहा णाम।—जो युद्धमें अहिरथी और म्हारथियोंके चढ़ने योग्य होते हैं, वे रथ कहलाते हैं।

रथनूपुर—विजयार्थकी दक्षिणश्रेणीका एक नगर—दे० विद्याधर।

रथपुर—विजयार्थकी दक्षिणश्रेणीका एक नगर—दे० विद्याधर।

रथरेणु—क्षेत्रका प्रमाण विशेष—दे० गणित/१/१/३।

रमणीया—१. पूर्व विदेहका एक क्षेत्र—दे० लोक/५/२, २. पूर्व विदेहस्थ आत्मांजन वक्षारका एक कूट व उसका रक्षक देव—दे० लोक/५/४; ३. नन्दीश्वर द्वीपकी उत्तरदिशामें स्थित एक बापी—दे० लोक/५/११।

रम्यककूट—नील व रुक्मि पर्वतस्थ एक-एक कूट।—दे० लोक/५/४।

रम्यकक्षेत्र—

रा. वा. ३/१०/१४/१५/११ यस्माद्रमणीयैर्देशैः सरिःपर्वतकाननादि-भिर्युक्तं, तस्मादसौ रम्यक इत्यभिधीयते। अन्यत्रापि रम्यकदेश-योग समान इति चेत्, न, रूढिविशेषबललाभाद्।—रमणीय देश नदी-पर्वतादिसे युक्त होनेके कारण इसे रम्य कहते हैं। यद्यपि अन्यत्र भी रमणीय क्षेत्र आदि हैं, परन्तु 'रम्यक' नाम इसमें रूढ ही है।

* अन्य सम्बन्धित विषय

१. रम्यक क्षेत्रका अवस्थान व विस्तार आदि—दे० लोक/३/३।

२. इस क्षेत्रमें काल वर्तन आदि सम्बन्धी विशेषता—दे० काल/४।

रम्यकदेव—नील व रुक्मि पर्वतस्थ रम्यक कूटके स्वामी—दे० लोक/५/४।

रम्यका—१. पूर्व विदेहका एक क्षेत्र—दे० लोक/५/२; २. पूर्व विदेहस्थ अंजन वक्षारका एक कूट तथा उसका स्वामी रक्षक देव—दे० लोक/५/४।

रम्यपुर—विजयार्धकी दक्षिण श्रेणीका एक नगर—दे० विद्याधर ।

रम्या—१ भरत आर्यखण्डकी एक नदी—दे० मनु०/४। २ पूर्व विदेहस्थ एक क्षेत्र—दे० लोक/५/१२; ३. पूर्व विदेहस्थ अजन वक्षारका एक कूट—दे० लोक/५/४; ४. पूर्व विदेहमें अजन वक्षारपर स्थित रम्या-कूटका रक्षक देव—दे० लोक/५/४; ५. नन्दीश्वर द्वीपकी उत्तर दिशामें स्थित वापी—दे० लोक/५/११ ।

रयणसार—आचार्य कुन्दकुन्द (ई. १२७-१७६) कृत आचरण-विषयक १६७ प्राकृत गाथाओंमें निबद्ध ग्रन्थ है। इसपर कोई टीका उपलब्ध नहीं है। (ती०/२/११५)।

रयसकांत देव—मानुषोत्तर पर्वतस्थ ऊष्मगर्भकूटका भवनवासी सुपर्णकुमार देव—दे० लोक/७।

रविन्द—आप षट्खण्डके ज्ञाता, शुभनन्दिके सहचर, तथा बप्प-देव (ई. श. १) के शिक्षा गुरु थे। बप्पदेव के अनुसार आपका समय ई. श. एक आता है। (ष ख १/प्र. ६१/H L Jain) ।

रविभद्र—आप सिद्धिविनिश्चयके टीकाकार अनन्तवीर्यके शिक्षा-गुरु थे। कृति-आराधनासार। समय—ई ६५०-६६० (का अ /प्र. ८२/ A N, Up.), (सि. वि /प्र. ७५/प. महेंद्र) ।

रविवार व्रत—आषाढ शुक्लपक्षके अन्तिम रविवारसे प्रारम्भ होता है। आगे श्रावण व भाद्रपदके आठ रविवार। इस प्रकार १ वर्ष तक प्रतिवर्ष इन ९ रविवारोंका उपवास करे। यदि थोड़े समयमें करना है तो आषाढके अन्तिम रविवारसे लेकर अगले आषाढके अन्तिम रविवार तक एक वर्ष के ४८ रविवारोंके उपवास करे। नमस्कार मन्त्रका त्रिकाल जाप करे। (व्रत-विधान स /४४) ।

रविषेण—सेन स धकी गुर्वावल्लोके अनुसार आप लक्ष्मणसेनके शिष्य थे। वि. ७३४ में आपने पद्यपुराणकी रचना की थी। तदनुसार आपका समय—वि ७००-७४० ई ६४३-६८३ (प. पु /१२३/१८२), (दे० इतिहास/७/६) ; (सी./२/२७६) ।

रश्मिदेव—म. पु /५६/श्लोक "पुष्करपुर नगरका राजा मूर्खवर्तिका पुत्र था (२३०-२३१) किसी समय सिद्धकूटपर दीक्षा ग्रहण कर आकाशचारण ऋद्धि प्राप्त की। (२३३-२३४) । एक समय पूर्व वैरी अजगरके खानेसे शरीर त्यागकर स्वर्गमें देव हुआ (२३७-२३८) यह संजयन्त मुनिका पूर्वका चौथा भव है।—दे० संजयन्त ।

रश्मिवेग—म पु /७३/श्लोक पुरकलावती देशके विजयार्ध पर त्रिलोकोत्तम नगरके राजा विद्युद्गतिका पुत्र था। दीक्षा ग्रहण कर सर्वतोभद्रके उपवास ग्रहण किये। एक समय समाधियोगमें बैठे हुए इनको पूर्व भवके भाई कमठके जीवने अजगर बनकर निगल लिया। (३१-३५) । यह पार्श्वनाथ भगवान्का पूर्वका छठा भव है। दे०—पार्श्वनाथ ।

रस—१. रस सामान्यका लक्षण

स. सि./२/२०/१७८-१७९/१ रस्यत इति रसः । रसन रसः । = जो स्वादको प्राप्त होता है वह रस है। अथवा रसन अथत्ति स्वादमात्र रस है। (स सि /५/२३/२६३/१२), (रा. वा. /२/२०/-१३२/३१) ।

ध. १/१.१.३३/२४२/२ यदा वस्तु पाधान्येन विवक्षितं तदा वस्तु व्यति-रिक्तपर्यायभावाद्भवेत् रसः । एतस्या विरक्षाया कर्मसाधनत्व रसस्य, यथा रस्यत इति रसः । यदा तु पर्याय प्राधान्येन विवक्षितस्तदा भेदोपपत्ते औदासीन्यावस्थितभावकथनाद्भावसाधनत्व रसस्य, रसनं रस इति । = जिस समय प्रधान रूपसे वस्तु विव-

क्षित होती है, उस समय वस्तुको छोड़कर पर्याय नहीं पायी जाती है, इसलिए वस्तु ही रस है। इस विवक्षामें रसके कर्म साधनपना है। जैसे जो चखा जाये वह रस है। तथा जिस समय प्रधान-रूपसे पर्याय विवक्षित होती है, उस समय द्रव्यसे पर्यायका भेद बन जाता है, इसलिए जो उदासीन रूपसे भाव अवस्थित है उसका कथन किया जाता है। इस प्रकार रसके भाव-साधन भी बन जाता है जैसे—आस्वादन रूप क्रियाधर्मको रस कहते हैं।

२. रस नामकर्मका लक्षण

स. सि./८/११/३६०/६ यन्निमित्तो रसविकल्पस्तद्रस नाम । = जिसके उदयसे रसमें भेद होता है वह रस नामकर्म है। (रा. वा. /८/११/१०/५७७/१५), (गो. क /जी. प्र /३३/२६/१४) ।

ध ६/१.६-१.२८/५५/७ जस्स कम्मवत्त्वधस्स उदएण जीवसरीरे जादि पडिणियदो तित्तादिरसो होज्ज तस्स कम्मवत्त्वधस्स रससण्णा । एदस्स कम्मस्साभावे जीवसरीरे जाइपडिणियदरसो ण होज्ज । ण च एव णिर्बज्जबीरादिसु णियदरसस्सुवत्त्वभादो । = जिस कर्मके उदयसे जीवके शरीरमें जाति प्रतिनियत तित्त आदि रस उत्पन्न हो, उस कर्म स्वन्धकी 'रस' यह सज्ञा है। (ध. १३/५.६.१०१/३६४/८) इस कर्मके अभावमें जीवके शरीरमें जाति प्रतिनियत रस नहीं होगा। किन्तु ऐसा है नहीं, क्योंकि नीम, आम और नीबू आदिमें प्रतिनियत रस पाया जाता है।

३. रसके भेद

ष ख ६/१.६-१/सू ३६/७५ जं त रसणामकम्मं त पचविह, तित्तणामं कडुवणाम कसायणाम अन्नणाम महुणाम चेदि । ७५ । = जो रस नाम-कर्म है वह पाँच प्रकारका है—तित्त नामकर्म, कटुकनामकर्म, कषाय-नामकर्म, आम्लनामकर्म और मधुर नामकर्म। (ष ख. /१३/५.६/ सू. ११२/२७०), (स. सि /८/११/३६०/१०), (स. सि. /५/२३/-२६३/१२), (प स /प्रा /२/४/४८/१), (रा वा /८/११/१०/५७७/-१५), (प प्र /टी /१/१६/२६/२), (ब्र. स. /टी /७/१६/१२); (गो. जी /जी. प्र /४७६/८८/१) ।

स. सि. /५/२३/२६४/२ त एते मूलभेदा प्रत्येकं संख्येयासंख्येयानन्त-भेदाश्च भवन्ति । = ये रसके मूल भेद हैं, वैसे प्रत्येक (रसादिके) के संख्यात असंख्यात और अनन्त भेद होते हैं।

३. गोरस आदिके लक्षण

सा. ध. /१/३५ पर उद्धृत—गोरस' क्षीरघृतादि, इक्षुरस खण्डगुड आदि, फनरसो द्राक्षाद्यादिनिष्पन्द, धान्यरसस्तैलमण्डादि । = घी, दूध आदि गोरस है। शक्कर, गुड आदि इक्षुरस है। द्राक्षा आम आदिके रसको फलरस कहते हैं और तेल, मॉड आदिको धान्यरस कहते हैं।

*** अन्य सम्बन्धित विषय**

- १ रस परित्यागकी अपेक्षा रसके भेद । —दे० रस परित्याग ।
- २ रस नामकर्ममें रस सकारण है या निष्कारण है । —दे० वर्ण/४ ।
३. गोरस शुद्धि । —दे० भक्ष्याभक्ष्य/३ ।
- ४ रस नाम प्रकृतिकी बन्ध उदय सत्त्व प्ररूपणा । —दे० वह वह नाम ।
५. अग्नि आदिमें भी रसकी सिद्धि । —दे० पुद्गल/१० ।

रस ऋद्धि—दे० ऋद्धि/८ ।

रसकूट—शिखरी पर्वतस्थ एक कूट । —दे० लोक/७ ।

रस देवी—शिवरी पर्वतस्थ रसकूटकी स्वामिनी देवी। —दे० लोक/५/४।

रसना—१ रसना इन्द्रियका लक्षण। —दे० इन्द्रिय/१। २ रसना इन्द्रियकी प्रधानता। —दे० संयम/२।

रसपरित्याग—

भ. आ./मू./२१५/४३१ खीरदधिसप्पितेलगुडलवण पत्तेगदो व सव्वेसि। णिज्जुहणमोगाहिमपणकुसणलोगमादीण। २१५। = दूध, दही, घी, तेल, गुड इन सब रसोका त्याग करना अथवा एक-एक रसका त्याग करना यह रस-परित्याग नामका तप है। अथवा पूष, पत्रशाक, दाल, नमक, बगैरह पदार्थोंका त्याग करना यह भी रस परित्याग नामका तप है। २१५।

मू. आ./३५२ खीरदधिसप्पितेलगुडलवण च ज परिच्ययण। तित्त-कडुकसायं बिलमधुररसाणं च ज चयणं। ३५२। = दूध, दही, घी, तेल, गुड, लवण इन छह रसोका त्याग रसपरित्याग तप है। (अन. घ/७/२७) अथवा कडुआ, कसैला, खट्टा, मीठा इनमेंसे किसीका त्याग वह रसपरित्याग तप है। ३५२। (का अ./टी/४४६)।

स. सि./६/१६/४३५/६ वृतादिवृष्यरसपरित्यागश्चतुर्थं तप। = वृतादि-गरिष्ठ रसका त्याग करना चौथा तप है। (रा. वा./६/१६/५/६१५/२६); (चा. सा./१३५/३)।

भ. आ./वि./६/३२/१८ रसगोचरगाढ्यस्यजम त्रिधा रसपरित्याग। = रस विषयकी लम्पटताको मन, वचन, शरीरके संकल्पसे त्यागना रसपरित्याग नामका तप है।

त सा/६/११ रसत्यागो भवेत्तैलक्षीरेक्षुदधिसर्पिणाम्। एकद्वित्रोणि चत्वारि त्यजतस्तानि पञ्चधा। ११। = तेल, दूध, खौंड, दही, घी—इनका यथासाध्य त्याग करना रसत्याग तप है। एक, दो, तीन, चार अथवा पाँचों रसोंका त्याग करनेसे यह व्रत पाँच प्रकारका हो जाता है।

का अ./मू./४४६ संसार-दुःख-तड्डो विस-सम-विसयं विचितमाणो जो। थीरस-भोज्ज भुजह रस-चाओ तस्स सुविमुद्धौ। = संसारके दुःखोंसे सतप्त जो मुनि इन्द्रियोके विषयोको विषके समान मानकर नीरस भोजन करता है उसके निर्मल रस परित्याग तप होता है।

२. रस परित्याग तपका प्रयोजन

स सि./१/१६/४२८/६ इन्द्रियदर्पनिग्रहनिद्राविजयस्वाध्यायसुख-सिद्ध्याद्यर्थोऽस्य रसपरित्यागश्चतुर्थं तप। = इन्द्रियोके दर्पका निग्रह करनेके लिए, निद्रापर विजय पानेके लिए और सुखपूर्वक स्वाध्यायकी सिद्धिके लिए रसपरित्याग नामका चौथा तप है।

रा. वा./६/१६/५/६१५/२६ दान्तेन्द्रियत्वतेजोऽहानिसंयमोपरोधव्या-वृत्त्याद्यर्थं रसपरित्याग। ५। = जितेन्द्रियत्व, तेजोवृद्धि और संयमवाधानिवृत्ति आदिके लिए रसपरित्याग है। (चा. सा./१३५/३)।

घ. १३/५.४.२६/५७/१० किमट्ठमेसो करिदे। पाणिदिय संजमट्ठं। कुदो। जिम्भदिण निरुद्धे सयलिविद्यणं पिरुहुवलभादो। सयलिविणु निरुद्धेषु चत्तपरिगाहस्स गिरुद्धराग-दोस्सं-पाणा-संजमणिरुहुवलभादो। = प्रश्न—यह किस लिए किया जाता है। उत्तर—प्राणिसंयम और इन्द्रियसंयमकी प्राप्तिके लिए किया जाता है, क्योंकि, जिह्वा इन्द्रियका निरोध हो जानेपर सब इन्द्रियोका निरोध देखा जाता है, और सब इन्द्रियोका निरोध हो जानेपर

जो परिग्रहका त्याग कर रागद्वेषका निरोध कर चुके हैं, उनको प्राणोके असंयमका निरोध देखा जाता है।

३. रस परित्याग तपके अतिचार

भ आ./वि./४५७/७०७/१० कृतरसपरित्यागस्य रसासक्ति, परस्य वा रसवदाहारभोजनं, रसवदाहारभोजनानुमननं, वातिचार। = रस-का त्याग करके भी रसमें अत्यासक्ति उत्पन्न होना, दूसरोको रस-युक्त आहारका भोजन कराना और रसयुक्त भोजन करनेकी सम्मति देना, ये सब रसपरित्याग तपके अतिचार हैं।

रसमान प्रमाण—दे० प्रमाण/५।

रहस्य—घ १/१.१.१/४४/४ रहस्यमन्तराय, तस्य शेषघातिचित्तय-विनाशविनाभाविनो भ्रष्टबीजवन्निशक्तिवृत्ता घातिकर्मणो। = रहस्य अन्तराय कर्मको कहते हैं। अन्तरायकर्मका शेष नाश तीन घातियाकर्मोंके नाशका अविनाभावी है। और अन्तरायकर्मके नाश होनेपर अघातिया कर्म भ्रष्ट बीजके समान निःशक्त हो जाते हैं।

रहस्यपूर्ण चिट्ठी—प. टोडर मल्ल (ई. १०५३) द्वारा अपने किन्हीं मित्रोंको लिखी हुई आध्यात्मिक रहस्यपूर्ण चिट्ठी है। (ती/४/२५७)।

रहोभ्याख्यान—स सि/७/२६/३६६/८ यस्त्रीपुंसाभ्यामेकान्तेऽ-नुष्ठितस्य क्रियाविशेषस्य प्रकाशनं तद्रहोभ्याख्यानं वेदितव्यम्। = स्त्री और पुरुष द्वारा एकान्तमें किये गये आचरण विशेषका प्रगट कर देना रहोभ्याख्यान है। (रा. वा/७/२६/२/५६३/२६)।

राक्षस—१ व्यन्तर देवोका एक भेद—दे० व्यन्तर। २. पिशाच जातीय व्यन्तर देवोका एक भेद—दे० पिशाच। ३. मनोवेग विधा-धरका पुत्र था (प पु/५/३७८) इसीके नामपर राक्षस द्वीपमें रहनेवाले विधाधरोका वंश राक्षस वंश कहलाने लगा। दे०—इतिहास १०/१२।

१. राक्षसका लक्षण

घ १३/५.४.१४०/३६१/१० भीषणरूपविकरणप्रिया राक्षसा नाम। = जिन्हे भीषण रूपक, विक्रिया करना प्रिय है, वे राक्षस कहलाते हैं।

२. राक्षस देवके भेद

ति. प/६/४४ भीममहभीमविग्धविनायका उदकरवखसा तह य। रक्वसरक्वसणामा सत्तमया बम्हरवखसया। ४४। = भीम, महाभीम, विनायक, उदक, राक्षस, राक्षसराक्षस और सातवाँ ब्रह्मराक्षस इस प्रकार ये सात भेद राक्षस देवोके हैं। ४४। (त्रि. सा./२६७)।

* राक्षस देवोंके वर्ण नैभव अवस्थान आदि—दे० व्यन्तर।

राक्षसराक्षस—राक्षस जातीय व्यन्तर देवोका भेद—दे० राक्षस।

राक्षस वंश—दे० इतिहास १०/१२।

राग—इष्ट पदार्थोंके प्रति रति भावको राग कहते हैं, अतः यह द्वेषका अविनाभावी है। शुभ व अशुभके भेदसे राग दो प्रकारका है, परद्वेष अशुभ ही होता है। यह राग ही पदार्थोंमें इष्टानिष्ट बुद्धिका कारण होनेसे अत्यन्त हेय है। सम्यग्दृष्टिकी निचली भूमिकाओंमें यह व्यक्त होता है और ऊपरकी भूमिकाओंमें अव्यक्त। इतनी विशेषता है कि व्यक्त रागमें भी रागके रागका अभाव होनेके कारण सम्यग्दृष्टि वास्तवमें वैरागी रहता है।

१	भेद व लक्षण
१	राग सामान्यका लक्षण ।
२	रागके भेद ।
*	प्रशस्त अप्रशस्त राग । —दे० उपयोग/II/४ ।
३	अनुरागका लक्षण ।
४	अनुरागके भेद व उनके लक्षण ।
५	तृष्णाका लक्षण ।
२	राग द्वेष सामान्य निर्देश
१	अर्थ प्रति परिणमन ज्ञानका नहीं रागका कार्य है ।
२	राग द्वेष दोनों परस्पर सापेक्ष है ।
३	मोह, राग व द्वेषमें शुभाशुभ विभाग ।
*	माया लोभादि कषायोंका लोभमें अन्तर्भाव । —दे० कषाय/४ ।
४	पदार्थमें अच्छा-बुरापना व्यक्तिके रागके कारण होता है ।
५	वास्तवमें पदार्थ इष्टानिष्ट नहीं ।
*	परिग्रहमें राग व इच्छाको प्रधानता । —दे० परिग्रह/३ ।
६	आशा व तृष्णामें अन्तर ।
७	तृष्णाकी अनन्तता ।
*	रागका जीव स्वभाव व विभात्रपना या सहेतुक व अहेतुकपना । —दे० विभाव/३,५ ।
*	परोपकार व स्वोपकारार्थ रागप्रवृत्ति । —दे० उपकार ।
*	परोपकार व स्वोपकारार्थ उपदेश प्रवृत्ति । —दे० उपदेश ।
*	रागादि भाव कथंचित् पौद्गलिक है ।—दे० मूर्त्त/१ ।
३	व्यक्ताव्यक्त राग निर्देश
१	व्यक्ताव्यक्त रागका स्वरूप ।
२	अप्रमत्त गुणस्थान तक राग व्यक्त रहता है ।
३	ऊपरके गुणस्थानोंमें राग अव्यक्त है ।
*	शुक्ल ध्यानमें रागका कथंचित् सद्भाव । —दे० विकल्प/७ ।
*	केवलीमें इच्छाका अभाव । —दे० केवली/६ ।
४	रागमें इष्टानिष्टता
*	राग ही बन्धका प्रधान कारण है । —दे० बन्ध/३ ।
१	राग हेय है ।
२	मोक्षके प्रतिका राग भी कथंचित् हेय है ।
*	पुण्यके प्रतिका राग भी हेय है । —दे० पुण्य/३ ।
३	मोक्षके प्रतिका राग कथंचित् इष्ट है ।
४	तृष्णाके निषेधका कारण ।

५	ख्याति लाभ आदिकी भावनासे सुकृत नष्ट हो जाते हैं ।
६	लोकैषणारहित ही तप आदिक सार्थक है ।
५	राग टालनेका उपाय
*	इच्छा निरोध । —दे० तप/१ ।
१	रागका अभाव सम्भव है ।
२	राग टालनेका निश्चय उपाय ।
३	राग टालनेका व्यवहार उपाय ।
४	तृष्णा तोड़नेका उपाय ।
५	तृष्णाको बश करनेकी महत्ता ।
६	सम्यग्दृष्टिकी विरागता तथा तत्सम्बन्धी शंका समाधान
१	सम्यग्दृष्टिकी रागका अभाव तथा उसका कारण ।
२	निचली भूमिकामें रागका अभाव कैसे सम्भव है ।
*	सम्यग्दृष्टि न राग टालनेकी उतावली करता है और न ही उद्यम छोड़ता है । —दे० नियति/५/४ ।
३	सम्यग्दृष्टिकी ही यथार्थ वैराग्य सम्भव है ।
४	सरागो सम्यग्दृष्टि विरागी है ।
५	घरमें वैराग्य व वनमें राग सम्भव है ।
६	सम्यग्दृष्टिकी राग नहीं तो भोग क्यों भोगता है ।
७	विषय सेवता भी असेवक है ।
८	भोगोंकी आकांक्षाके अभावमें भी वह व्रतादि क्यों करता है ।

१. भेद व लक्षण

१. राग सामान्यका लक्षण

- घ १२/४,२,८,८/२५३/८ माया-लोभ-वेदत्रय-हास्यरतयो राग । = माया, लोभ, तीन वेद, हास्य और रति इनका नाम राग है ।
- स सा./आ. ५१ य प्रतिरूपो राग स सर्वोऽपि नास्ति जीवस्य...। = यह प्रीति रूप राग भी जीवका नहीं है ।
- प्र. सा./त प्र/८५ अभीष्टविषयप्रसङ्गेन रागम् । = इष्ट विषयोंकी आसक्तिसे रागको ।
- प का/त प्र/१३१ चित्रिचारित्रमोहनीयविपाकप्रदय्ये प्रीत्यप्रीती रागद्वेषौ । = चारित्र मोहनीय कर्मके उदयसे जो इसके रस विपाकका कारण पाय इष्ट-अनिष्ट पदार्थोंमें जो प्रीति-अप्रीति रूप परिणाम होय उसका नाम राग द्वेष है ।
- स सा./ता वृ/२५१/३६१/१६ रागद्वेषशब्देन तु क्रोधादिकषायोत्पादक-श्चारित्रमोहो ज्ञातव्यः । = राग द्वेष शब्दसे क्रोधादि कषायके उत्पादक चारित्र मोहको जानना चाहिए । (प, का./ता. वृ/३३/-७२/८) ।

प्र सा./ता वृ/८३/१०६/१० निर्विकार शुद्धात्मनो विपरीतमिष्टानिष्टे-
न्द्रप्रविशेषेषु हर्षविषादरूप चारित्रमोहसंज्ञं रागद्वेषं । = निर्विकार
शुद्धात्मासे विपरीत इष्ट-अनिष्ट विषयोंमें हर्ष-विषाद रूप चारित्रमोह
नामका रागद्वेष ।

२. रागके भेद

नि सा./ता, वृ/६६ राग प्रशस्ताप्रशस्तभेदेन द्विविध । = प्रशस्त
राग और अप्रशस्त राग ऐसे दो भेदोंके कारण राग दो प्रकारका है ।

३. अनुरागका लक्षण

पं. घ/उ/४३५ अथानुरागशब्दस्य विधिर्वाच्यो यदार्थत । प्राप्ति
स्यादुपलब्धिर्वा शब्दाश्चैकार्थवाचका । ४३५। = जिस समय अनुराग
शब्दका अर्थको अपेक्षासे विधि रूप अर्थ वक्तव्य होता है उस
समय अनुराग शब्दका अर्थ प्राप्ति व उपलब्धि होता है क्योंकि अनु-
राग, प्राप्ति और उपलब्धि ये तीनों शब्द एकार्थवाचक है । ४३५।

४. अनुगमके भेद व उनके लक्षण

भ आ./सू/७३७/६०८ भावानुरागप्रेमानुरागमज्जानुरागरत्तो वा ।
धर्मानुरागरत्तो य होहि जिणसासणे निच्च । = भावानुराग, प्रेमानु-
राग, मज्जानुराग, वा धर्मानुराग, इस प्रकार चार प्रकारसे जिन-
शासनमें जो अनुरक्त है ।

भ. आ./भाषा/७३७/६०८ तत्त्वका स्वरूप मालूम नहीं भी हो तो भी
जिनेश्वरका कहा हुआ तत्त्व स्वरूप कभी भूटा होता ही नहीं ऐसी
भ्रमा करता है उसको भावानुराग कहते हैं । जिसके ऊपर प्रेम है
उसको बारम्बार समझाकर सन्मार्गपर लगाना यह प्रेमानुराग कह-
लाता है । मज्जानुराग पाण्डवोंमें था अर्थात् वे जन्मसे लेकर आपसमें
अतिशय स्नेहयुक्त थे । वैसे धर्मानुरागसे जैनधर्ममें स्थिर रहकर
उसको कदापि मत छोड़ ।

५. तृष्णाका लक्षण

न्या द/टी/४/१/३/२३०/१३ पुनर्भवप्रतिसंधानहेतुभूता तृष्णा । = 'यह
पदार्थ मुझको पुन प्राप्त हो' ऐसी भावनासे किया गया जो प्रति-
सन्धान या इलाज अथवा प्रयत्न विशेष, उसकी हेतुभूत तृष्णा
होती है ।

२. राग-द्वेष सामान्य निर्देश

१. अर्थ प्रति परिणमन ज्ञानका नहीं रागका कार्य है

प. घ./पु/६०६ क्षायोपशमिकं ज्ञानं प्रत्यर्थं परिणामि यत् । तत्स्वरूपं न
ज्ञानस्य किन्तु रागक्रियास्ति वै । ६०६। = जो क्षायोपशमिक ज्ञान
प्रति समय अर्थसे अर्थान्तरको विषय करनेके कारण सबिकल्प माना
जाता है, वह वास्तवमें ज्ञानका स्वरूप नहीं है किन्तु निश्चय करके
उस ज्ञानके साथमें रहनेवाली रागकी क्रिया है । (और भी दे०
विकल्प/१) ।

२. राग द्वेष दोनों परस्पर सापेक्ष है

ज्ञा./२३/२५ यत्र राग पद धत्ते द्वेषस्तत्रैति निश्चय । उभावेत्ती
समालम्ब्य विक्राम्यत्यधिक मनः । २५। = जहाँपर राग पद धारै तहाँ
द्वेष भी प्रवर्तता है, यह निश्चय है । और इन दोनोंको अवलम्बन
करके मन भी अधिकतर विकार रूप होता है । २५।

प. घ/उ/५४६ तद्यथा न रति पक्षे विपक्षेऽप्यरति बिना । नारतिर्वा
स्वपक्षेऽपि तद्विपक्षे रति बिना । ५४६। = स्व पक्षमें अनुराग भी विपक्ष-
में अरतिके बिना नहीं होता है वैसे ही स्वपक्षमें अरति भी उसके
विपक्षमें रतिके बिना नहीं होती है । ५४६।

३. मोह, राग व द्वेषमें शुभाशुभ विभाग

प्र सा./सू/१८० परिणामादो बधो परिणामो रागदोसमोहजुदो । असुहो
मोहपदोसो सुहो व असुहो हवदि रागो । १८०। = परिणामसे बध है,
परिणाम राग, द्वेष, मोह युक्त है । उनमेंसे मोह और द्वेष अशुभ है,
राग शुभ अथवा अशुभ होता है । १८०।

४. पदार्थमें अच्छा बुरापना व्यक्तिके रागके कारण होता है

घ. ६/१.६-२.६८/१०६/४ भिष्णरुचीदो केसि पि जीवाणममहुरो वि
सरो महुरोव्वरुच्चइ त्ति तस्स सरस्स महुरत्त किण्ण इच्छिज्जदि ।
ण एस दोसो, पुरिसिच्छादो वत्थुपरिणामाणुवल्लभा । ण च णिवो
केसि पि रुच्चदि त्ति महुरत्त पडिबज्जवे, अव्ववत्थावत्तीदो ।
= प्रश्न - भिन्न रुचि होनेसे कितने ही जीवोंके अमधुर स्वर भी
मधुरके समान रुचता है । इसलिए उसके अर्थात् भ्रमरके स्वरके
मधुरता क्यों नहीं मान ली जाती है । उत्तर - यह कोई दोष नहीं,
क्योंकि पुरुषोंकी इच्छासे वस्तुका परिणमन नहीं पाया जाता है ।
नीम कितने ही जीवोंको रुचता है, इसलिए वह मधुरताको नहीं
प्राप्त हो जाता है, क्योंकि, वैसा माननेपर अव्यवस्था प्राप्त होती है ।

५. वास्तवमें पदार्थ इष्टानिष्ट नहीं

यो. सा. अ/५/३६ इष्टोऽपि मोहतोऽनिष्टो भावोऽनिष्टस्तथा परः । न
द्रव्यं तत्त्वत किञ्चिदिष्टानिष्ट हि विद्यते । ३६। = मोहसे जिसे इष्ट
समझ लिया जाता है वही अनिष्ट हो जाता है और जिसे अनिष्ट
समझ लिया जाता है वही इष्ट हो जाता है, क्योंकि निश्चय नयसे
संसारमें न कोई पदार्थ इष्ट है और न अनिष्ट है । ३६। (विदेष दे०
सुख/१) ।

६. आशा व तृष्णामें अन्तर

भ. आ./सू. आ/११८१/११६७/१६ चिरमेते ईदशा विषया ममोदितोदित
भूयासुरित्याशसा । तृष्णा इमे मनागपि मत्तो मा विच्छिद्यन्ता इति
तीव्र प्रबधप्रवृत्त्यभिलाषम् । = चिरकाल तक मेरेको सुख देने वाले
विषय उत्तरोत्तर अधिक प्रमाणसे मिले ऐसी इच्छा करना उसको
आशा कहते हैं । ये सुखदायक पदार्थ कभी भी मेरेसे अलग न होंगे
ऐसी तीव्र अभिलाषाको तृष्णा कहते हैं ।

७. तृष्णाकी अनन्तता

आ. अनु/३६ आशागर्त प्रतिप्राणि यस्मिन् विश्वमणूपमम् । कस्य कि
कियदायाति वृथा वो विषयैषिता । ३६। = आशा रूप वह गड़ढा
प्रत्येक प्राणोंके भीतर स्थित है, जिसमें कि विश्व परमाणुके बराबर
प्रतीत होता है । फिर उसमें किसके लिए क्या और कितना आ
सकता है । अर्थात् नहींके समान ही कुछ नहीं आ सकता । अत हे
भव्यो, तुम्हारी उन विषयोंकी अभिलाषा व्यर्थ है । ३६।

ज्ञा/२०/२८ उदधिस्वक्रपूरे रिन्धनैश्चित्रभानुर्धदि कथमपि दैवात्तृप्ति-
मासादयेताम् । न पुनरिह शरीरी काममोगैर्विसरुयैश्चिरदमपि
भुक्तैस्तृप्तिमायाति कैश्चित् । २८। = इस जगत्में समुद्र तो जलके
प्रवाहोंसे तृप्त नहीं होता और अग्नि ईंधनसे तृप्त नहीं होती, सो
कदाचित् दैवयोगसे किसी प्रकार ये दोनों तृप्त हो भी जायें परन्तु
यह जीव चिरकाल पर्यन्त नाना प्रकार के काम-भोगादिके भोगनेपर
भी कभी तृप्त नहीं होता ।

३. व्यक्ताव्यक्त राग निर्देश

१. व्यक्ताव्यक्त रागका स्वरूप

रा. वा. हि/६/४४/७५७-७५८ जहाँ ताई अनुभवमें मोहका उदय रहै तहाँ ताई तो व्यक्त रूप इच्छा है और जब मोहका उदय अति मन्द हो जाय है, तब तहाँ इच्छा नाहीं दीखै है। और मोहका जहाँ उपशम तथा क्षय होय जाय तहाँ इच्छाका अभाव है।

२. अप्रमत्त गुणस्थान तक राग व्यक्त रहता है

पं. घ. उ/६१० अस्त्युक्तक्षणोरागश्चारित्रावरणोदयात् । अप्रमत्तगुणस्थानादवर्क स्यान्नोर्ध्वमस्त्यसौ । ६१०। = रागभाव चारित्रावरण कर्मके उदयसे होता है तथा यह राग अप्रमत्त गुणस्थानके पहले पाया जाता है, अप्रमत्त गुणस्थानसे ऊपरके गुणस्थानोंमें इसका सद्भाव नहीं पाया जाता है । ६१०।

रा. वा. हि/६/४४/७५८ सातवँ अप्रमत्त गुणस्थान विषे ध्यान होय है। ताकूँ धर्मध्यान कहा है। तामें इच्छा अनुभव रूप है। अपने स्वरूपमें अनुभव होनेकी इच्छा है। तहाँ तई सराग चारित्र व्यक्त रूप कहिये।

३. ऊपरके गुणस्थानोंमें राग अव्यक्त है

घ. १/१.१.१२/३५१/७ यतीनामपूर्वकरणादीनां कथं कषायास्तित्वमिति चेन्न, अत्र्यक्तकषायपेक्षया तथोपदेशात् । = प्रश्न—अपूर्वकरण आदि गुणस्थानवाले साधुओंके कषायका अस्तित्व कैसे पाया जाता है। उत्तर—नहीं, क्योंकि अव्यक्त कषायकी अपेक्षा वहाँपर कषायोके अस्तित्वका उपदेश दिया है।

पं. घ. उ/६११ अस्ति चोर्ध्वमसौ सूक्ष्मो रागश्चाबुद्धिपूर्वज । अर्वाकृ क्षीणकषायेभ्य स्याद्विवक्षावशान्नवा । = ऊपरके गुणस्थानोंमें जो अबुद्धि पूर्वक सूक्ष्म राग होता है, यह अबुद्धि पूर्वक सूक्ष्म राग भी क्षीणकषाय नामके बारहवें गुणस्थानसे पहले होता है। अथवा ७ वें से १० वें गुणस्थान तक होनेवाला यह राग भाव सूक्ष्म होनेसे बुद्धिगम्य नहीं है । ६११।

रा. वा. हि/६/४४/७५८ अष्टम अपूर्वकरण गुणस्थान हो है तहाँ मोहके अतिमन्द होनेतै इच्छा भी अव्यक्त होय जाय है। तहाँ शुक्लध्यानका पहला भेद प्रवर्त है। इच्छाके अव्यक्त होनेतै कषायका मल अनुभवमें रहे नाहीं, उज्ज्वल होय।

४. रागमे इष्टानिष्टता

१. राग हेय है

स. सि./७/७/३५४/१० रागादय. पुन' कर्मोदयतन्त्रा इति अनात्म-स्वभावत्वाद्देयाः । = रागादि ती कर्मोके उदयसे होते है, अत वे आत्माका स्वभाव न होनेसे हेय है।

स. सा./आ/१४७ कुशीलशुभाशुभकर्मभ्यां सह रागसंसर्गौ प्रतिषिद्धौ बन्धहेतुत्वात् कुशीलमनोरमामनोरमकरेणुकुटनीरागसंसर्गवत् । = जैसे—कुशील-मनोरम और अमनोरम हथिनी रूपी कुटनीके साथ (हाथीका) राग और संसर्ग बन्ध (बन्धन) का कारण होता है, उसी प्रकार कुशील अर्थात् शुभाशुभ कर्मोंके साथ राग और संसर्ग बन्धके कारण होनेसे, शुभाशुभ कर्मोंके साथ राग और संसर्गका निषेध किया गया है।

आ. अनु./१२२ मोहबीजाद्रतिद्वेषौ बीजान्मूलाड्कुराविव । तस्मा-ज्ज्ञानाग्निना दाह्य तदैतौ निर्दिषिष्युणा । १२२। = जिस प्रकार बीजसे जड़ और अंकुर उत्पन्न होते है, उसी प्रकार मोह रूपी बीजसे राग और द्वेष उत्पन्न होते है। इसलिए जो इन दोनों (राग-द्वेष) को

जलाना चाहता है, उसे ज्ञानरूप अग्निके द्वारा उस मोहरूपी बीजको जला देना चाहिए । १२२।

२. मोक्षके प्रतिका राग भी कथंचित् हेय है

मो. पा/मू/५५ आसवहेदू य तहा भाव मोक्षस्स कारणं हवदि । सो तेण हू अण्णाणी आदसहावाहु विवरीओ । ५५। = रागभाव जो मोक्षका निमित्त भी हो तो आसवका ही कारण है। जो मोक्षको पर द्रव्यकी भाँति इष्ट मानकर राग करता है सो जोव मुनि भी अज्ञानी है, आत्म स्वभावसे विपरीत है । ५५।

प. प्र./मू./२/१२८ मोक्खु म चित्तिहोइया मोक्खु ण चित्तिउ होइ । जेण णिवद्धउ जीवडउ मोक्खु करेसइ सोइ । १२८। = हे योगी । अन्य चिन्ताकी तो नात क्या मोक्षकी भी चिन्ता मत कर, क्योंकि मोक्ष चिन्ता करनेसे नहीं होता। जिन कर्मोंसे यह जीव बँधा हुआ है वे कर्म ही मोक्ष करेगे । १२८।

प. का/त.प्र./१६७ तत् स्वसमयप्रसिद्धयर्थं अर्हदादिविषयोऽपि क्रमेण रागरेणुरपसारणीय इति = जीवको स्वसमयकी प्रसिद्धिके हेतु अर्हदादि विषयक भी रागरेणु क्रमशः दूर करने योग्य है।

पं. वि/२/५५ मोक्षेऽपि मोहादभिलाषदोषा विशेषतो मोक्षनिषेधकारो । = अज्ञानतासे मोक्षके विषयमें भी की जानेवाली अभिलाषा दोष रूप होकर विशेष रूपसे मोक्षकी निषेधक होती है। (प. वि./२३/१८)।

३. मोक्षके प्रतिका राग कथंचित् इष्ट है

प. प्र./मू/२/१२८ सिव-पहि णिम्मलिकरहि रइ घरु परियणु लहु छडि । १२८। = तू परम पवित्र मोक्षमार्गमें प्रीतिकर, और घर आदिको शीघ्र ही छोड़ । १२८।

क. पा १/२.२१/३४२/३६६/११ तिरयणसाहणविसयलोहादो सर्गा-पवगाणमुपपत्तिद सणादो । = रत्नत्रयके साधन विषयक लोभसे स्वर्ग और मोक्षकी प्राप्ति देखी जाती है।

प्र सा/त.प्र./२५४ रागसयोगेन शुद्धात्मनोऽनुभवत्कमत परमनिर्वाण-सौर्यकारणत्वाच्च मुख्य । = गृहस्थको रागके सयोगसे शुद्धात्माका अनुभव होता है, और इसलिए क्रमशः परम निर्वाण सौर्यका कारण होता है।

आ. अनु./१२३ विधूततमसो रागस्तप श्रुतनिबन्धन । सन्ध्याराग इवाकस्य जन्तोर्भयुदयाय स । १२३। = अज्ञानरूप अन्धकारको नष्टकर देनेवाले प्राणीके जो तप और शास्त्र विषयक अनुराग होता है वह सूर्यकी प्रभात कालीन लालिमाके समान उसके अन्धुदयके लिए होता है।

४. तृष्णाके निषेधका कारण

ज्ञा/१७/२.३.१२ यावद्यावच्छरीराशा धनाशा वा विसर्पति । तावत्तावन्म-तुष्याणा मोहग्रन्थिर्ह ढीभवेत् । २। अनिरुद्धासती शश्वदाशा विश्व प्रसर्पति । ततो निबद्धमूलासौ पुनश्छेतुं न शक्यते । ३। यावदाज्ञान-लक्षिते जाज्वलीति विशुद्धखल । तावत्तव महादुःखदाहशान्ति-कृतस्तनी । १२। = १. मनुष्योंके जैसे-जैसे शरीर और धनमें आशा फैलती है, तैसे-तैसे मांहुकर्मकी गँठ दृढ़ होती है । २. इस आशा-को रोकना नहीं जाये तो यह निरन्तर समस्त लोक पर्यन्त बिस्तरती रहती है, और उससे इसका मूल दृढ़ होता है, फिर इसका काटना अशक्य हो जाता है । ३। (ज्ञा/२०/३०) ३ हे आत्मन् । जब तक तेरे चित्तमें आशा रूपी अग्नि रवत्तन्त्रतासे नितान्त प्रज्वलित हो रही है तब तक तेरे महादुःखरूपी दाहकी शान्ति कहाँसे हो । १२।

५. ख्याति लाभआदिकी भावनासे सुकृत नष्ट हो जाते हैं

आ. अनु./१८६ अधीत्यसकल श्रुत चिरमुपास्यपौर तपो यदीच्छसि फलं तयोरिह हि लाभपूजादिकम् । छिनत्सि सुतपस्तरौ प्रसवमेव

शून्याशय — कथं समुपलक्ष्यसे सुरसमस्य पक्व फलम् । १८६। = समस्त आगमका अभ्यास और चिरकाल तक घोर तपश्चरण करके भी यदि उन दोनोंका फल तू यहाँ सम्पत्ति आदिका लाभ और प्रतिष्ठा आदि चाहता है, तो सम्भना चाहिए कि तू विवेकहीन होकर उस उत्कृष्ट तपस्वरूप वृक्षके फूलको ही नष्ट करता है। फिर ऐसी अवस्थामें तू उसके सुन्दर व सुस्वादु पके हुए रसोले फलको कैसे प्राप्त कर सकेगा। नहीं कर सकेगा।

और भी दे० ज्योतिष मन्त्र-तन्त्र आदि कार्य लौकिक है (दे० लौकिक) मोक्षमार्गमें इनका अत्यन्त निषेध दे० मन्त्र/१/३-४।

६. लोकेषणा रहित ही तप आदिक साथक है

चा. सा./१३४/१ यत्किञ्चिद्दृष्टफलं मन्त्रसाधनाद्यनुद्दिश्य क्रियमाणमुपव-सनमनशनमित्युच्यते । = किसी प्रत्यक्ष फलकी अपेक्षा न रखकर और मन्त्र साधनादि उपदेशोके बिना जो उपवास किया जाता है, उसे अनशन कहते हैं।

चा सा./१५०/१ मन्त्रौषधोपकरणयश्च सत्कारलाभाद्यनपेक्षितार्चस्तेन परमार्थनिस्पृहमत्तिनैहलौकिकफलनिरुरस्युकेन कर्मक्षयकाङ्क्षिणा ज्ञानलाभाचार . सिद्धयर्थं विनयभावन कर्तव्यम् । = जिनके हृदयमें मन्त्र, औषधि, उपकरण, यज्ञ, सत्कार और लाभादिकी अपेक्षा नहीं है, जिनकी बुद्धि वास्तवमें निस्पृह है, जो केवल कर्मोंका नाश करनेको इच्छा करते हैं, जिनके इस लोकके फलकी इच्छा बिलकुल नहीं है उन्हें ज्ञानका लाभ होनेके लिए . विनय करनेकी भावना करनी चाहिए।

स सा./ता. वृ./२७४/३५३/१२ अभव्यजोवो यद्यपि ख्यातिपूजालाभार्थ-मेकादशाङ्गभुताध्ययन कुर्यात् तथापि तस्य शास्त्रपाठं शुद्धात्म-परिज्ञानरूपं गुणं न करोति । = अभव्य जीव यद्यपि ख्याति लाभ व पूजाके अर्थ ग्यारह अंग श्रुतका अध्ययन करे, तथापि उसका ज्ञान शुद्धात्म परिज्ञान रूप गुणको नहीं करता है।

दे. तप/२/६ (तप दृष्टफलसे निरपेक्ष होता है)।

५. राग टालने का उपाय व महत्ता

१. रागका अभाव सम्भव है

घ./१/४.२.४४/११७-११८/१ ण कसया जीवगुणा, . पमादासजमा वि ण जीवगुणा, . ण अण्णाणं पि, ण मिच्छत्त पि, . . तदो पाण-दसण-संजम-सम्मत्त खति-मद्दवज्जव-संतोस-विरागादिसहावो जीवो त्ति सिद्धं । = कषाय जीवके गुण नहीं है (विशेष दे० कषाय २/३) प्रमाद व असंयम भी जीवके गुण नहीं है, . अज्ञान भी जीवके गुण नहीं है, . मिथ्यात्व भी जीवके गुण नहीं है, इस कारण ज्ञान, दर्शन, सयम, सम्यक्त्व, क्षमा, मृदुता आर्जव, सन्तोष और विरगादि स्वभाव जीव है, यह सिद्ध हुआ। (और इसीलिए इनका अभाव भी किया जा सकता है। और भी दे० मोक्ष/६/४)

२. राग टालने का निश्चय उपाय

प्र सा/मू/५० जो जाणदि अरहंत दव्वत्तगुणत्तपज्जयत्तेहि । सो जाणदि अप्पाण मोहो खलु जादि तस्स लय । ५०। (उभयोरपि निश्चयेनाविशेषात्) = जो अरहत्को द्रव्यपने गुणपने और पर्यायपने जानता है, वह (अपने) आत्माको जानता है, और उसका मोह अवश्य लयको प्राप्त होता है । ५०। क्योंकि दोनोंमें निश्चयसे अन्तर नहीं है । ५०।

पं का. मू/१०४ सुणिऊण एतद्वट्ट तदणुगमणुज्जदो णिहदमोहो । पसमिगरागहोसो हवदि हदपरापरो जीवो । १०४। = जीव इस अर्थको (इस शास्त्रके अर्थभूत शुद्ध आत्माको) जानकर, उसके अनुसरणका उद्यम करता हुआ हत मोह होकर (जिसे दर्शनमोहका क्षय हुआ

हो ऐसा होकर) राग-द्वेषको प्रशमित-निवृत्त करके, उत्तर और पूर्व बन्धका जिसे नाश हुआ है ऐसा होता है।

इ. उ/मू/१७ यथा यथा समायाति सचित्तौ तत्त्वमुत्तमम् । तथा तथा न रोचन्ते विषया सुलभा अपि । ३७। = स्वपर पदार्थोंके भेद ज्ञानसे जैसा-जैसा आत्माका स्वरूप विकसित होता जाता है वैसे-वैसे ही सहज प्राप्त रमणीय पचेन्द्रिय विषय भी अरुचिकर प्रतीत होते जाते हैं । ३७।

स. श./मू/४० यत्र काये मुने. प्रेम तत् प्रच्याव्य देहिनम् । बुद्ध्या तदुत्तमे काये योजयेत्प्रेम नश्यति । ४०। = जिस शरीरमें मुनिको अन्त-रात्माका प्रेम है, उससे भेद विज्ञानके आधारपर आत्माको पृथक् करके उस उत्तम चिदानन्दमय कायमें लगावे। ऐसा करनेसे प्रेम नष्ट हो जाता है । ४०।

प्र. सा./त. प्र/८६.६० तत् खलुपायान्तरमिदमपेक्षते । अतो हि मोह-क्षयणे परमं शब्द ब्रह्मोपासनं भावज्ञानावष्टम्भद्वीकृतपरिणामेन सम्यगधीयमानमुपायान्तरम् । ८६। निश्चितस्वपरिवेकस्यात्मनो न खलु विकारकारिणो मोहाङ्कुरस्य प्रादुर्भूतिः स्यात् । ८०। = १. उप-रोक्त उपाय (दे० ऊपर प्र. सा./मू) वास्तवमें इस उपायान्तरकी अपेक्षा रखता है। मोहका क्षय करनेमें, परम शब्दब्रह्मकी उपासनाका भाव ज्ञानके अन्तर्बन्धन द्वारा दृढ किये गये परिणामसे सम्यक् प्रकार अभ्यास करना सो उपायान्तर है । ८६। २ जिसने स्वपरका विवेक निश्चित किया है ऐसे आत्माके विकारकारी मोहाङ्कुरका प्रादुर्भाव नहीं होता।

ज्ञा./२३/१२ महाप्रशमसंग्रामे शिवधीसगमोत्सुके । योगिभिर्ज्ञानशस्त्रेण रागमल्लो निपातितः । १२।

ज्ञा/३२/५२ मुनेर्यदि मनो मोहाद्वागाङ्कुरेभिभूयते । तन्नियोज्यात्मन-स्तत्त्वे तान्येव क्षिप्यते क्षणात् । ५२। = मुक्तिरूपी लक्ष्मीके सगकी वाङ्मा करनेवाले योगीश्वरोंने महाप्रशमरूपी संग्राममें ज्ञानरूपी शस्त्रसे रागरूपी मल्लको निपातन किया। क्योंकि इसके हते बिना मोक्ष लक्ष्मीकी प्राप्ति नहीं है । ५२। मुनिका मन यदि मोहके उदय रागादिकसे पीडित हो तो मुनि उस मनको आत्मस्वरूपमें लगाकर, उन रागादिकोंको क्षणमात्रमें क्षेपण करता है । ५२।

प्र. सा/ता वृ./६२/२१५/१३ की उर्थानिका परमात्मद्रव्यं योऽसौ जानाति स परद्रव्ये मोहं न करोति । = जो उस परमात्म द्रव्यको जानता है वह परद्रव्यमें मोह नहीं करता है।

प्र. सा/ता. वृ./२४४/३३८/१२ योऽसौ निजस्वरूपं भावयति तस्य चित्तं बहि पदार्थेषु न मच्छति तत्तश्च . चित्तचमत्कारमात्राच्च्युतो न भवति । तदच्यवनेन च रागाद्यभावाद्द्विविधकर्माणि विनाशय-तीति । = जो निजस्वरूपको भाता है, उसका चित्त बाह्य पदार्थोंमें नहीं जाता है, फिर वह चित्त चमत्कार मात्र आत्मासे च्युत नहीं होता। अपने स्वरूपमें अच्युत रहनेसे रागादिके अभावके कारण विविध प्रकारके कर्मोंका विनाश करता है।

प घ/उ/३७१ इत्येवं ज्ञाततत्त्वोऽसौ सम्यग्दृष्टिर्निजात्मदृक् । वैषयिके मुखे ज्ञाने रागद्वेषौ परित्यजेत् । ३७१। = इस प्रकार तत्त्वोंको जानने-वाला स्वार्तदर्शी यह सम्यग्दृष्टि जीव इन्द्रियजन्य सुख और ज्ञानमें राग तथा द्वेषका परित्याग करे।

३. राग टालनेका व्यवहार उपाय

भ आ/मू/२६४ जावन्ति केह संगं उदीरया होति रागदोसाण । ते वज्जतो जिणदि हु रागं दोसं च णिस्संगो । २६४। = राग और द्वेषको उत्पन्न करनेवाला जो कोई परिग्रह है, उनका त्याग करनेवाला मुनि नि सग होकर राग द्वेषोंको जीतता ही है । २६४।

आ अनु/२/३७ रागद्वेषौ प्रवृत्ति स्यान्निरवृत्तस्तन्निषेधनम् । तौ च बाह्यार्थसंबन्धौ तस्मात्तान् सुपरित्यजेत् । = राग और द्वेषका नाम

प्रवृत्ति तथा दोनाके अभावका नाम ही निवृत्ति है। चूँकि वे दोनो बाह्य वस्तुओंसे सम्बन्ध रखते हैं, अतएव उन बाह्य वस्तुओंका ही परिष्कार करना चाहिए।

४. तृष्णा तोड़नेका उपाय

आ. अनु/२५२ अपि सुतपसामाशावब्लोशिखा तरुणायते, भवति हि मनोमूले यावन्ममत्वजलाज्रता। इति कृतधिय कृच्छारम्भैश्चरन्ति निरन्तरं-चिरपरिचिते देहेऽप्यस्मिन्नतीव गतस्पृहा। २५२। = जब तक मनरूपी जड़के भीतर ममत्वरूपी जलसे निर्मित गीलापन रहता है, तब तक महातपस्वियोंकी भी आशारूप बेलकी शिखा जवान सी रहती है। इसलिए विवेकी जीव चिरकालसे परिचित इस शरीरमें भी अत्यन्त निःस्पृह होकर सुख दुःख एवं जीवन-मरण आदिमें समान होकर निरन्तर कष्टकारक आरम्भोंमें—ग्रीष्मादि ऋतुओंके अनुसार पर्वतकी शिला आदिपर स्थित होकर ध्यानादि कार्योंमें प्रवृत्त रहते हैं। २५२।

५. तृष्णाको वश करनेकी महत्ता

झा./१७/१०,११,१६ सर्वाशां यो निराकृत्य नैराश्यमवलम्बते। तस्य क्वचिदपि स्वान्तं सगण्डकेन लिप्यते। १०। तस्य सत्यं श्रुतं वृत्तं विवेकस्तत्त्वनिश्चयः। निर्ममत्वं च यस्याशापिशाची निधनं गता। ११। चरस्थिरार्थं जातेषु यस्याशा प्रलयं गता। किं किं न तस्य लोकेऽस्मिन्मन्ये सिद्धं समोहितम्। १६। = जो पुरुष समस्त आशाओंका निराकरण करके निराशा अवलम्बन करता है, उसका मन किसी कालमें भी परिग्रहरूपी कर्दमसे नहीं लिपता। १०। जिस पुरुषके आशा रूपी पिशाची नष्टताको प्राप्त हुई उसका शास्त्राध्ययन करना, चारित्र पालना, विवेक, तत्त्वोंका निश्चय और निर्ममता आदि सत्यार्थ हैं। ११। चिरपुरुषकी चराचर पदार्थोंमें आशा नष्ट हो गयी है, उसके इस लोकमें क्या-क्या मनोवाञ्छित सिद्ध नहीं हुए, अर्थात् सर्वमनोवाञ्छित सिद्ध हुए। १६।

बो पा/टी/४६/११४ पर उद्धृत्त आशादासीकृता येन तेन दासोक्तं जगत्। आशाया यो भवेदास स दास सर्वदेहिनाम्। = जिसने आशाको दासी बना लिया है उसने सम्पूर्ण जगत्को दास बना लिया है। परन्तु जो स्वयं आशाका दास है, वह सर्व जीवोंका दास है।

६. सम्यग्दृष्टिकी विरागता तथा तत्सम्बन्धी शंका समाधान

१. सम्यग्दृष्टिकी रागका अभाव तथा उसका कारण

स. सा./मू/२०१-२०२ परमाणुभित्तयं पि हु रायादीणं तु विज्जवे जस्स। ण वि सो जाणदि अप्पाणय तु स्ववागमधरो वि। २०१। अप्पाणमयाणतो अणप्ययं चावि सो अयाणंतो। कह होदि सम्मदिट्ठी जीवाजीवे अयाणंतो। २०२। = वास्तवमें जिस जीवके परमाणुमात्र लेशमात्र भी रागादिक वर्तता है, वह जीव भले ही सर्व आगमका धारी हो तथापि आत्माको नहीं जानता। २०१। (प्र. सा./मू/२१६); (पं. का./मू./१६७), (ति. प./६/३७) और आत्माको न जानता हुआ, वह अनात्म्य (पर) को भी नहीं जानता। इस प्रकार जो जीव और अजीवको नहीं जानता वह सम्यग्दृष्टि कैसे हो सकता है।

मो पा/मू./६६ परमाणुपमाणं वा परदब्बे रदि ह्वेदि मोहादो। सो मूढो अण्णाणी आदसहावस्स विवरीओ। ६६। = जो पुरुष पर द्रव्यमें लेशमात्र भी मोहसे राग करता है, वह मूढ है, अज्ञानी है और आत्मस्वभावसे विपरीत है। ६६।

प. प्र/मू./२/२१ जो अणु-मेत्तु वि राउ मणि जामण मिल्लह एत्थु। सो णवि मुच्चइ ताम जिय जाणत्तु वि परमत्थु। ८१। = जो जीव

थोडा भी राग मनमेंसे जब तक इस ससारमें नहीं छोड़ देता है, तब तक है जीव। निज शुद्धात्म तत्त्वको शब्दसे केवल जानता हुआ भी नहीं मुक्त होता। ८१। (मो. सा./अ/१/४७)।

प. घ/उ/२५६ वैषयिकसुखेन स्याद्वागभाव सुदृष्टिनाम्। रागस्याज्ञानभावरवावस्ति मिथ्यादृशः स्फुटम्। २५६। = सम्यग्दृष्टियोंके वैषयिक सुखमें ममता नहीं होती है क्योंकि वास्तवमें वह आसक्तिरूप राग भाव अज्ञानरूप है, इसलिए विषयोंकी अभिलाषा मिथ्या-दृष्टिकी होती है। २५६।

२. निचली भूमिकाओंमें रागका अभाव कैसे सम्भव है

स. सा./ता. वू/२०१,२०२/२७६/६ रागी सम्यग्दृष्टिर्न भवतीति भणितं भवद्भिः। तर्हि चतुर्थपञ्चमगुणस्थानवर्तिना सम्यग्दृष्टिगुण भवन्ति। इति तन्न, मिथ्यादृष्टयपेक्षया त्रिचत्वारिंशत्प्रकृतीना बंधाभावात् सरागसम्यग्दृष्टयो भवन्ति। कथं इति चेत्, चतुर्थगुणस्थानवर्तिना अनन्तानुबन्धिक्रोध...पाषाणरेखादिसमानाना रागादीनामभावात्। पञ्चमगुणस्थानवर्तिना अप्रत्याख्यानक्रोध भूमिरेखादि समानाना रागादीनामभावात्। अत्र तु ग्रन्थे पञ्चमगुणस्थानादुपरितनगुणस्थानवर्तिना वीतरागसम्यग्दृष्टीनां मुख्यवृत्त्याग्रहणं, सराग सम्यग्दृष्टीना गौणवृत्त्येति व्याख्यानं सम्यग्दृष्टि व्याख्यानकाले सर्वत्र तात्पर्येण ज्ञातव्यम्। = प्रश्न—रागी जीव सम्यग्दृष्टि नहीं होता, ऐसा आपने कहा है, तो चौथे व पाँचवें गुणस्थानवर्ती जीव सम्यग्दृष्टि कैसे हो सकेंगे। उत्तर—ऐसा नहीं है, क्योंकि मिथ्यादृष्टिकी अपेक्षा ४३ प्रकृतियोंके बन्धका अभाव होनेसे सराग सम्यग्दृष्टि होते हैं। वह ऐसे कि चतुर्थ गुणस्थानवर्ती जीव के तो पाषाण रेखा सदृश अनन्तानुबन्धी चतुष्करूप रागादिकोंका अभाव होता है, और पंचम गुणस्थानवर्ती जीवोंके भूमिरेखा सदृश अप्रत्याख्यान चतुष्करूप रागादिकोंका अभाव होता है। यहाँ इस ग्रन्थमें पंचम गुणस्थान से ऊपर वाले गुणस्थानवर्ती वीतराग सम्यग्दृष्टियोंका मुख्य रूपसे ग्रहण किया गया है और सरागसम्यग्दृष्टियोंका गौण रूपसे। सम्यग्दृष्टिके व्याख्यानकालमें सर्वत्र यही जानना चाहिए।

दे. सम्यग्दृष्टि/३/३/ (ता. वू/१६३) [सम्यग्दृष्टिका अर्थ वीतराग सम्यग्दृष्टि समझना चाहिए]

स. सा./पं जयचन्द्र/२०० जब अपनेको तो ज्ञायक भावरूप सुखमय जाने और कर्मोदयसे उत्पन्न हुए भावोंको आकुलतारूप दुःखमय जाने तब ज्ञानरूप रहना तथा परभावोंसे विरागता यह दोनों अवश्य ही होते हैं। यह बात प्रगट अनुभवगोचर है। यही सम्यग्दृष्टिका लक्षण है।

स. सा./पं जयचन्द्र/२००/१३७/२७ = प्रश्न—परद्रव्यमें जब तक राग रहे तब तक जीवको मिथ्यादृष्टि कहा है, सो यह बात हमारी समझमें नहीं आयी। अविरत सम्यग्दृष्टि इत्यादिके चारित्रमोहके उदयसे रागादि भाव तो होते हैं, तब फिर उनके सम्यक्त्व कैसे। उत्तर—यहाँ मिथ्यात्वसहित अनन्तानुबन्धी राग प्रधानतासे कहा है। जिसे ऐसा राग होता है अर्थात् जिसे परद्रव्यमें तथा परद्रव्यसे होनेवाले भावोंमें आत्मबुद्धिपूर्वक प्रीति-अप्रीति होती है, उसे स्व-परका ज्ञान श्रद्धान नहीं है—भेदज्ञान नहीं है ऐसा समझना चाहिए। (विशेष दे, सम्यग्दृष्टि/३/३ में ता. वू.)।

३. सम्यग्दृष्टिकी ही यथार्थ वैराग्य सम्भव है

स. श. मू./६७ यस्य सस्पन्दमाभाति निस्पन्देन समं जगत्। अप्रज्ञ-मक्रियाभोगं स शम याति नेतरं। ६७। = जिसको चलता-फिरता भी यह जगत् स्थिरके समान दीखता है। प्रज्ञारहित तथा परिस्पन्दरूप क्रिया तथा सुखादिके अनुभवसे रहित दीखता है उसे वैराग्य आ जाता है अन्यको नहीं। ६७।

स सा./आ./२०० तत्त्वं विज्ञानश्च स्वपरभावोपादानापोहननिष्पाद्य स्वस्थ वस्तुत्व प्रथयत् कर्मोदयविपाकप्रभवात् भावात् सर्वानपि मुञ्चति। ततोऽयं नियमात् ज्ञानवैराग्यसंपन्नो भवति—तत्त्वको जानता हुआ, स्वभावके ग्रहण और परभावके त्यागसे उत्पन्न होने योग्य अपने वस्तुत्वको विस्तरित करता हुआ कर्मोदयके विपाकसे उत्पन्न हुए समस्त भावोंको छोड़ता है। इसलिए वह (सम्यग्दृष्टि) नियमसे ज्ञान-वैराग्य सम्पन्न होता है।

मू.आ./टी./१०६ यद्यपि कदाचित्प्राग स्यात्तथापि पुनरनुबन्ध न कुर्वन्ति. पश्चात्तापेन तत्क्षणादेव विनाशमुपयाति हरिद्वारक्तवस्त्रस्य पीतप्रभा-रविकिरणस्पृष्टेवेति।—सम्यग्दृष्टि जीवके प्राथमिक अवस्थामे यद्यपि कदाचित् राग होता है तथापि उसमें उसका अनुबन्ध न होनेसे वह उसका कर्ता नहीं है। इसलिए वह पश्चात्तापवश ऐसे नष्ट हो जाता है जैसे सूर्यकी किरणोंका निमित्त पाकर हरिद्वारका रंग नष्ट हो जाता है।

४. सरागो भी सम्यग्दृष्टि विरागो है

र.सा./मू./५७ सम्माइटीकालं बोलइ वेरणण भावेण। मिच्छाइटी वाळा दुग्भावालसकलहेहि।५७—सम्यग्दृष्टि पुरुष समयको वैराग्य और ज्ञानसे व्यतीत करते है। परन्तु मिथ्यादृष्टि पुरुष दुर्भाव आलस और कलहसे अपना समय व्यतीत करते है।

स.सा./आ./११७/क. १३६ सम्यग्दृष्टेर्भवति नियतं ज्ञानवैराग्यशक्तिः। स्व वस्तुत्वं कलयितुमयं स्वान्यरूपाप्तिसुकरया। यस्माज्ज्ञात्वा व्यतिकरमिदं तत्त्वत् स्वं पर च-स्वस्मिन्नास्ते विरमति परात्सर्वतो रागयोगात्।१३६।—सम्यग्दृष्टिके नियमसे ज्ञान और वैराग्यकी शक्ति होती है, क्योंकि वह स्वरूपका ग्रहण और परका त्याग करनेकी विधिसे द्वारा अपने वस्तुत्वका अभ्यास करनेके लिए, 'यह स्व है (अर्थात् आत्मस्वरूप है) और यह पर है' इस भेदको परमार्थसे जानकर स्वमें स्थिर होता है और परसे—रागके योगसे—सर्वतः विरमता है।

स. सा./आ./११६/क १३५ नाश्रुते विषयसेवनेऽपि यत् स्वं फलं विषय-सेवनस्य ना। ज्ञानवैभवविरागताबलात् सेवकोऽपि तदसावसेवक।१३५।—यह (ज्ञानी) पुरुष विषयसेवन करता हुआ भी ज्ञान वैभव और विरागताके बलसे विषयसेवनके निजफलको नहीं भोगता—प्राप्त नहीं होता, इसलिए यह (पुरुष) सेवक होने पर भी असेवक है।१३५।

द्र.सं./टी./१/१/११ जितमिथ्यात्वरगादिस्त्वेन एकदेशजिना. असंयत-सम्यग्दृष्टयः।—मिथ्यात्व तथा राग आदिको जीतनेके कारण असंयत सम्यग्दृष्टि आदि एकदेशी जिन है।

मो मा प्र./१/४६७/१७ क्षायिकसम्यग्दृष्टिः मिथ्यात्व रूप रंजनाके अभावतः वीतराग है।

५. घरमें वैराग्य व वनमें राग सम्भव है

भा पा/टी./६६/२१३ पर उद्धृत वनेऽपि दोषाः प्रभवन्ति रागिणां गृहेऽपि पञ्चेन्द्रियनिग्रहस्तपः। अकुत्सिते वर्त्मनि य प्रवर्तते, विमुक्तरागस्य गृह तपोवनं।—रागी जीवोंको वनमें रहते हुए भी दोष विद्यमान रहते है, परन्तु जो रागसे विमुक्त है उनके लिए घर भी तपोवन है, क्योंकि वे घरमें भी पाँचों इन्द्रियोंके निग्रहरूप तप करते है और अकुत्सित भावनाओंमें वर्तते है।

६. सम्यग्दृष्टि को राग नहीं तो भोग क्यों भोगता है

स.सा./ता वृ/११४/२६८/१४ उदयागते द्रव्यकर्मणि जीवेनोपभुज्यमाने सति नियमात् सुख दुःखं जायते तावत्।० सम्यग्दृष्टिर्जीवो रागद्वेषौ न कुर्वत् हेयबुद्ध्या वेदयति। न च तन्मयो भूत्वा, अहं सुखी

दुःखीत्याद्यहमिति प्रत्ययेन नानुभवति।—मिथ्यादृष्टे पुनरुपादेय बुद्ध्या, मुख्यः दुःख्यहमिति प्रत्ययेन बंधकारण भवति। किं च, यथा कोऽपि तस्मिन् यद्यपि मरणं नेच्छति तथापि तलवरेण गृहीतं सन् मरणमनुभवति। तथा सम्यग्दृष्टिः यद्यप्यात्मोत्थसुखमुपादेयं च जानाति, विषयसुखं च हेयं जानाति। तथापि चारित्रमोहोदयतल-वरेण गृहीतं सन् तदनुभवति, तेन कारणेन निर्जरानिमित्तं स्यात्।—द्रव्यकर्मोंके उदयमें वे जीवके द्वारा उपभुक्त होते है, और तब नियमसे उसे उदयकालपर्यन्त सुख-दुःख होते है। तहाँ सम्यग्दृष्टि जीव उनमें राग-द्वेष न करता हुआ उन्हें हेय बुद्धिसे अनुभव करता है। 'मैं सुखी हूँ, मैं दुःखी हूँ' इस प्रकारके प्रत्यय सहित तन्मय होकर अनुभव नहीं करता। परन्तु मिथ्यादृष्टि तो उन्हें उपादेय बुद्धिसे 'मैं सुखी, मैं दुःखी' इस प्रकारके प्रत्ययसहित अनुभव करता है, इसलिए उसे वे बन्धके कारण होते है। और भी—जिस प्रकार कोई चोर यदि मरना नहीं चाहता तो भी कोतवालके द्वारा पकड़ा जानेपर मरणका अनुभव करता है उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि यद्यपि आत्मासे उत्पन्न सुखको ही उपादेय जानता है, और विषय-सुखको हेय जानता है, तथा चारित्रमोहके उदयरूप कोतवालके द्वारा पकड़ा हुआ उन वैषयिक सुख-दुःखको भोगता है। इस कारण उसके लिए वे निर्जरके निमित्त ही है।

प घ/उ/२६१ उपेक्षा सर्वभोगेषु सद्दृष्टेर्दृष्टरोगवत्। अवश्यं तदव-स्थायस्तथाभावो निसर्गज।२६१।—सम्यग्दृष्टिको सर्वप्रकारके भोगमें रोगकी तरह अरुचि होती है क्योंकि उस सम्यक्स्वरूप अवस्थाका प्रत्यक्ष विषयोमें अवश्य अरुचिका होना स्वतः सिद्ध स्वभाव है।२६१।

७. विषय सेवता भी असेवक है

स.सा./मू./११७ सेवतो वि ण सेवइ असेवमाणो वि सेवगो कोई। पणरुणचेट्ठा कस्स वि ण य पायरणो त्ति सो होई।—कोई तो विषयको सेवन करता हुआ भी सेवन नहीं करता, और कोई सेवन न करता हुआ भी सेवन करनेवाला है—जैसे किसी पुरुषके प्रकरणकी चेष्टा पायी जाती है तथापि वह प्राकरणिक नहीं होता।

स. सा./आ./२१४/१४६ पूर्वबद्धनिजकर्मविपाकात् ज्ञानिनो यदि भवत्युपभोग तद्भवत्वथ च रागवियोगात् नूनमेति न परिग्रहभावम्।१४६।—पूर्वबद्ध अपने कर्मके विपाकके कारण ज्ञानीके यदि उपभोग हो तो हो, परन्तु रागके वियोग (अभाव) के कारण वास्तवमें वह उपभोग परिग्रहभावको प्राप्त नहीं होता।१४६।

अन ध./८/२-३ मन्त्रेणैव विषं मृत्त्वैमध्वरत्या मदायवा। न बंधाय हत ज्ञप्त्या न विरक्त्यार्थसेवनम्।२। ह्यो भुक्जानोऽपि नो भुङ्क्ते विषयास्तत्फलात्ययात्। यथा परप्रकरणे नृत्यन्नपि न नृतयति।३।—मन्त्र द्वारा जिसकी सामर्थ्य नष्ट कर दी गयी ऐसे विषयका भक्षण करनेपर भी जिस प्रकार मरण नहीं होता, तथा जिस प्रकार बिना प्रीतिके पिया हुआ भी मद्य नशा करनेवाला नहीं होता, उसी प्रकार भेदज्ञान द्वारा उत्पन्न हुए वैराग्यके अन्तरगमें रहनेपर विषयोपभोग कर्मबन्ध नहीं करता।२। जिस प्रकार नृत्यकार अन्यपुरुषके विवाहा-दिमें नृत्य करते हुए भी उपयोगकी अपेक्षा नृत्य नहीं करता है, इसी प्रकार ज्ञानी आत्मस्वरूपमें उपयुक्त है वह चेष्टामात्रसे यद्यपि विषयको भोगता है, फिर भी उसे अभोक्ता समझना चाहिए।३। (पं घ./उ/२७०-२७४)।

प घ./उ./२७४ सम्यग्दृष्टिरसौ भोगात् सेवमानोप्यसेवकः। नीरागस्य न रागाय कर्माकामकृतं यत्।२७४।—यह सम्यग्दृष्टि भोगोंका सेवन करता हुआ भी वास्तवमें भोगोंका सेवन करनेवाला नहीं कहलाता है, क्योंकि रागरहित जीवके बिना इच्छाके किये गये कर्मरागको उत्पन्न करनेमें असमर्थ है।२७४।

८. भोगोंकी आकांक्षाके अभावमें भी वह व्रतादि क्यों करता है

पं. घ / उ / १५४-१७१ ननु कार्यमनुद्दिश्य न मन्त्रोऽपि प्रवर्तते । भोग-काङ्क्षा बिना ज्ञानी तत्कथं व्रतमाचरेत् । १५४। नैव यतः सुसिद्धं प्रागस्ति चानिच्छत क्रिया । शुभायारचाऽशुभायारच कोऽवशेषो विशेषभाक् । १५६१। पौरुषो न यथाकाम पुंसः कर्मोदितं प्रति । न परं पौरुषापेक्षो दैवापेक्षो हि पौरुष । १५७१। = प्रश्न—जन अज्ञानो पुरुष भी किसी कार्यके उद्देश्यके बिना प्रवृत्ति नहीं करता है, तो फिर ज्ञानी सम्यग्दृष्टि भोगोंकी आकांक्षाके बिना व्रतोंका आचरण क्यों करेगा । उत्तर—यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि यह पहले सिद्ध किया जा चुका है कि बिना इच्छाके ही सम्यग्दृष्टिके सब क्रियाएँ होती हैं । इसलिए उसके शुभ और अशुभ क्रियामें विशेषताको बताने-वाला क्या शेष रहा जाता है । १५६१। उदयमें आनेवाले कर्मके प्रति नीबका इच्छानुकूल पुरुषार्थ कारण नहीं है क्योंकि पुरुषार्थ केवल पौरुषकी अपेक्षा नहीं रखता है किन्तु दैवकी अपेक्षा रखता है । १५७१।

पं. घ / उ / १७०६-१७०७ ननु नेहा बिना कर्म कर्म नेहा बिना क्वचित् । तस्मान्नानोहित कर्म रयादशार्थस्तु वा न वा । १७०६। नैव हेतोरति-व्याप्येतरादाक्षीणमोहिषु । बन्धस्य नित्यतापत्तेर्भवेन्मुक्तेर-स भव । १७०७। प्रश्न—कहीं भी क्रियाके बिना इच्छा और इच्छाके बिना क्रिया नहीं होती । इसलिए इन्द्रियजन्य स्वार्थ रहे या न रहे किन्तु कोई भी क्रिया इच्छाके बिना नहीं हो सकती है । उत्तर—यह ठीक नहीं है, क्योंकि उपरोक्त हेतुसे क्षीणकषाय और उसके समीपके गुणस्थानोंमें उक्त लक्षणमें अतिव्याप्त दोष आता है । यदि उक्त गुणस्थानोंमें भी क्रियाके सद्भावसे इच्छाका सद्भाव माना जायगा तो बन्धके नित्यत्वका प्रसंग आनेसे मुक्ति होना भी असम्भव हो जायेगा । (और भी दे सवर/२/६) ।

राजऋषि—दे० ऋषि ।

राजकथा—दे० कथा ।

राजधानी—१ एक राजधानीमें आठ सौ गाँव होते हैं । (म पु / १६/१७५), २ चक्रवर्तीकी राजधानीका स्वरूप—दे० शलाका पुरुष/२ ।

राजपिंड—दे० भिक्षा/३ ।

राजमति विप्रलंभ—पं. आशाधर (ई ११७३-१२४३) द्वारा सस्कृत छन्दोंमें रचित ग्रन्थ ।

राजमल्ल—१. मगध देशके विराट् नगरमें बादशाह अकबरके समयमें कविवर राजमल्लका निवास था । काष्ठासघो भट्टारक आम्नायके पण्डित थे । इसीसे इन्हें 'प बनारसीदास जो ने पाण्डे' कहा है । क्षेमकीर्तिके आम्नायमें भारु नामका वैश्य था । उसके चार पुत्र थे यथा—दूदा, ठाकुर, जागसी तिलोक । दूदाके तीन पुत्र थे—न्योता, भोज्हा, और फामन । फामन एक समय विराट् नगरमें आया वहाँ एक ताड़हू नाम जैन विद्वान्से जो हेमचन्द्राचार्यकी आम्नायका था, कुछ धर्मकी शिक्षा प्राप्त की । फिर वह कविराजके पास आया और इन्होंने उसकी प्रेरणासे लाटी सहिता लिखी । इसके अतिरिक्त समयसारकी अमृतचन्द्राचार्यकृत टीकाके ऊपर सुगम हिन्दी वचनिका, पचास्तिकाय टीका, पचाध्यायी, जम्बूस्वामी चरित्र, पिंगल, अध्यात्म कमलमार्तण्डकी रचना की । समय—वि १६३२-१६५०. (ई. १५७५-१५६३), (सी / ४/७७) ।

२ आप गंगवशीय राजा थे । राजा मारसिंह के उत्तराधिकारी थे । चामुण्डराय जो आप हीके मन्त्री थे । आपआचार्य सिहनन्द व आचार्य अजितसेन दोनोंके शिष्य रहे हैं । आपका

समय प्रेमी जीके अनुसार वि. सं. १०३१-१०४० अर्थात् ई १७४-१८३ निश्चित है । (बाहुबलि चरित्र / श्लोक. ६, ११),

(जै०/१/३६६) ।

राजमल्ल सत्यवाक्य— इसके राज्यकालमें ही आ० विद्यानन्दि नं. १ के द्वारा आत्मपरीक्षा, प्रमाणपरीक्षा, युक्त्यानुशासन ये तीन ग्रन्थ लिखे गये थे । समय—ई. ८१६-८२० (सि. वि/३ षं. महेन्द्र) ।

राजवंश—दे० इतिहास/३ ।

राजवलि कथे—ई. १८३६ द्वारा रचित कथानुयोग विषयक कन्नड कृति ।

राजवार्तिक—आ० अकलंक भट्ट (ई ६२०-६५०) द्वारा सर्वार्थ-सिद्धिपर को गयी विस्तृत सस्कृत वृत्ति है । इसमें सर्वार्थसिद्धिके वाक्योंको वार्तिक रूपसे ग्रहण करके उनकी टीकाकी गयी है । यह ग्रन्थ ज्योतिषसे भरपूर है । यदि इसे दिगम्बर जैन आम्नायका कोष बहे तो अतिशयोक्ति न होगी । इसपर प पन्नालाल (ई १७६३-१८६३) कृत भाषा वचनिका उपलब्ध है ।

राजशेखर—आप एक कवि थे । आपने वि. ६६० कर्पूर मजरीकी रचना की थी । (धर्म शर्माम्भुदय/प्र १६/पं पन्नालाल) ।

राजसदान—दे० दान ।

राजसिंह—एक बहुत बड़ा मल्ल था । इसने मल्लयुद्धमें सुमित्र नामक मल्लको जीत लिया । (म पु / ६१/५६-६०) यह मधुक्रोड प्रतिनारायणका दूरवर्ती पूर्व भव है ।—दे० मधुक्रोड ।

राजा—

ध १/१.१.१/गा. ३६/५७ अष्टादशसख्याना श्रेणीनामधिपतिविनम्राणाम् । राजा स्त्रान्मुकुटधर कल्पतरु सेवमानानाम् । ३६। = जो नम्रोभूत अठारह श्रेणियोंका अधिपति हो, मुकुटको धारण करनेवाला हो और सेवा करनेवालोंके लिए कल्पवृक्षके समान हो उसको राजा कहते हैं । (वि. सा / ६/५४) ।

भ आ / वि. / ४२१/६१३/१६ राज शब्देन इक्ष्वाकुप्रभृत्तिकुले जाता । राजते प्रकृति रजयति इति वा राजा राजसदृशो महद्भिको भण्यते । = इक्ष्वाकुवंश, हरिवंश इत्यादि कुलमें जो उत्पन्न हुआ है, जो प्रजाका पालन करना, उनको दृष्टीसे रक्षण करना इत्यादि उपायोंसे अनुरजन करता है उसको राजा कहते हैं । राजाके समान जो महद्भिका धारक है उसको भी राजा कहते हैं ।

२. राजाके भेद

(अर्धमण्डलीक, मण्डलीक, महामण्डलीक, राजाधिराज, महाराजाधिराज तथा परमेश्वरादि) : (ध. १/१.१.१/५६/७ का भावार्थ), (राजा, अधीश्वर, महाराज, अर्धमण्डलीक, मण्डलीक, महामण्डलीक, त्रिखण्डाधिपति तथा चक्रा आदि), (ध. १/१.१/गा. ३७-४३/५७-५८) ।

३. अधिराज व महाराजका लक्षण

ति प / १/४५ पंचसयरायसामी अहिराजो होदि कित्तिभरिदिसो । रायाण जो सहस्सं पालह सो होदि महाराजो । ४५। = जो पाँच सौ राजाओंका स्वामी हो वह अधिराज है । उसकी कीर्ति सारी दिशाओंमें फैली रहती है । जो एक हजार राजाओंका पालन करता है वह महाराज है । ४५। (ध. १/१.१/गा. ४०/५७), (वि. सा. / ६/५४) ।

जनेन्द्र सिद्धान्त कोष

४. अर्धमण्डलीक व मण्डलीकका लक्षण

ति. प. १/४६ दुसहस्रसमउडवद्ध भुववसहो तत्थ अद्धमंडलियो। चउराज-सहस्रसाम् अहिणाओ होइ मडलियो १४६। = जो दो हजार मुकुटवद्ध भूपोमें प्रधान हो वह अर्धमण्डलीक है। और जो चार हजार राजाओं-का अधिनाथ हो वह मण्डलीक कहलाता है १४६। (घ. १/१.१.१/गा. ४१/५७); (त्रि. सा./६८६)।

५. महामण्डलीकका लक्षण

ति. प. २/४२ अष्टसहस्रमहोपतिनायकमहर्षुधा महामण्डलिकम् - = बुधजन आठ हजार राजाओंके स्वामीको महामण्डलीक कहते हैं। (घ. १/१.१.१/गा. ४७/५७); (त्रि. सा./६८५)।

* अर्धचक्रो व चक्रवर्तीका लक्षण—दे० शलाकापुरुष/४,२।

* कल्कि राजा—दे० कल्कि।

राजीमति—भोजवंशियोंकी राजपुत्री थी। नेमिनाथ भगवात्के लिए निरिचत की गयी थी (ह. पु./५५/७२) विवाहके दिवस ही नेमिनाथ भगवात्की दीक्षापर अत्यन्त दुःखी हुई तथा स्वयं भी दीक्षा ग्रहण कर ली। (ह. पु./५/१३०-१३४) अन्तमें सोलहवें स्वर्गमें देव हुई।

राजू—(ज. प./प्र/२३) Raju is according to Colebrook the distance which a Deva flies in six months at the rate of 2,057,152 Yojans in one क्षण i.e. instant of time /—Quoted by Von Glassnappin 'Der Jainism'—Foot Note (Cosmology Old & New P. 105/. इस परिभाषाके अनुसार राजूका प्रमाण इस तरह निकाला जा सकता है—६ माह = (५४००००) × ६ × ३० × २४ × ६०. (दे० गणित/१/१/३)—प्रतिविपलाश या क्षण। और—१ योजन = ४५४५'४५ मील (या क्रोशक) लेनेपर, ६. मासमें तय की हुई दूरी = ४५४५'४५ × २०५७९७२ × ६ × ३० × २४ × ६० × ५४०००० मील. ∴ एक राजू = (१'३० = ६६६६६२ -) × (१०)२१ मील According G. R. Jain, १ राजू = १'४५ × (१०)२१ मील (डॉ० आइंस्टीनके सख्यात लोक त्रिज्या लेकर उसके अनुसार लोकके घनफलके आधारपर) According to प. माधवाचार्य = १००० भारका गोला, इंद्रलोकसे नीचे गिरकर ६ मासमें जितनी दूर पहुँचे उस सम्पूर्ण लम्बाईको एक राजू कहते हैं।

राजेन्द्र—चोल वंशी राजा था। समय—ई० १०६२-१०६३ (जीवन्धर चम्पू/प्र./१३/A N. Up.)।

राज्य—रुचक पर्वतस्थ एक कूट—दे० लोक/५/१३।

राज्यवंश—१. ऐतिहासिक राज्यवंश—दे० इतिहास/३। २. पौराणिक राज्यवंश—दे० इतिहास/७।

राज्योत्तम—रुचक पर्वतस्थ एक कूट—दे० लोक/५/१३।

रात्रि—१. दिन व रात्रि प्रगत होनेका क्रम—दे० ज्योतिष/२/८।
२. साधु रात्रिको अत्यन्त अरुच निद्रा लेते हैं—दे० निद्रा/२।
३. साधुके लिए रात्रिको कथंचित् बोलनेकी आज्ञा।—दे० अपवाद/३।

रात्रिपूजा निषेध—दे० पूजा/५।

रात्रि भोजन—जैन आम्नायमें रात्रि भोजनमें ब्रस हिंसाका भारी दोष माना गया है। भले ही दीपक व चन्द्रमा आदिके प्रकाशमें आप भोजनको देख सके पर उसमें पडनेवाले जीवोंको नहीं बचा सकते। पाक्षिक श्रावक रात्रि भोजन त्याग व्रतको सापवाद पालते हैं, और छठी प्रतिमावाला निरपवाद पालता है।

१. रात्रिभोजन त्याग व्रत निर्देश

१. रात्रि भोजनका लक्षण

घ. १२/४.२.५.७/२५२/१३ रत्तोए भोयण रादि भोयणं। = रात्रिमें भोजन सो रात्रि भोजन।

२. साधुके योग्य आहार काल

सू. आ./३५ उदयस्थमणे कालेणालीतिभवज्जिय मज्झमिह...।३५। = सूर्यके उदय व अस्त कालको तीन घड़ी छोड़कर इसके मध्य कालमें कोई भी समय आहार ग्रहण करनेका काल है। (अन. घ/१/६२); (आचारसार/१/४६)।

रा. वा/७/१/१५/५३५/२ ज्ञानादिश्यस्वेन्द्रियप्रकाशपरीक्षितमार्गेण युगमात्रपूर्वपिप्पी देशकाले पर्यट्य यति भिक्षा शुद्धामुपादेवीत इत्याचारोपदेश। न चायं विधि रात्रौ भवतीति चङ्क्रमणाद्यसंभव। = ज्ञानसूर्य तथा इन्द्रियोंसे मार्गकी परीक्षा करके चार हाथ आगे देखकर भतिको योग्य देश कालमें शुद्ध भिक्षा ग्रहण करनी चाहिए यह आचारशास्त्रका उपदेश है। यह विधि रात्रिमें नहीं बनती, क्योंकि रात्रिको गमन आदि नहीं हो सकता। अतः रात्रि भोजनका निषेध किया जाता है।

३. श्रावकके योग्य आहार काल

ला. स./५/२३४-२३५ काले पूर्वाह्निके यावत्परतोऽपराह्णेऽपि च। यामस्याद्धं न भोक्तव्यं निशाया चापि दुर्दिने।२३४। याम मध्ये न भोक्तव्यं यामयुग्म न लघयेत्। आहारस्यास्यर्थं कालो नौषधदे-र्जलस्य वा।२३५। = भोजनका समय दोपहरसे पहले-पहल है अथवा दोपहरके पश्चात् दिन ढलेका समय भी भोजनका है। अणुवती श्रावकोको सूर्य निकलनेके पश्चात् आधे पहर तक तथा सूर्य अस्तसे आधे पहर पहले भोजन कर लेना चाहिए। इसी प्रकार उन्हें रात्रिको, या जिस समय पानी बरस रहा हो अथवा काली घटा छानेमें अँधेरा हो गया हो उस समय भोजन नहीं करना चाहिए। २३४। अणुवती श्रावकोको पहले पहरमें भोजन नहीं करना चाहिए क्योंकि वह मुनियोंकी भिक्षाचर्याका समय नहीं है। तथा उन्हें दोपहरका समय भी नहीं टालना चाहिए उनके लिए सूर्योदयके पश्चात् छह घण्टे बीत जानेपर भोजन करनेका निषेध है, परन्तु औषध व जलके ग्रहणका नहीं।२३५।

४. रात्रि भोजन त्यागके भतिचार

सा. घ/३/१५ मुहूर्तेऽन्वये तथाद्येऽहो. वरभानस्तमिताशिन। गद-च्छिदेऽप्याम्रघृता-च्युप्योगञ्च दुष्यति।१५। = रात्रि भोजन त्याग-व्रतका पालन करने वाले श्रावकके दिनके अन्तिम और प्रथम मुहूर्तमें भोजन करना तथा रोगको दूर करनेके लिए भी आम और घी वगैरहका सेवन करना अतिचारजनक होता है।१५।

५. रात्रि भोजन त्यागमें अन्य भी व्रतोंका अन्तर्भाव

घ. १२/४.२.५.७/२५३/१ जेणेव मुत्त वेसमासिय तेणेत्थ महु मांस पचु-वर णिवसण हुत्तभवखण सुरापान अवेलासणादीण पि पाणावरण पञ्चयत्त, परुवेदव्व। = क्योंकि यह सूत्र (रात्रि भोजन प्रत्ययसे ज्ञानावरणीय वेदना या बन्ध होता है) देशमर्षक है अतः उससे यहाँ मधु, मांस, पंचुदम्बर फल, निन्द्य भोजन और फूसके भक्षण, मद्यपान तथा आसमयिक भोजन आदिको ज्ञानावरणीयका प्रत्यय बतलाना चाहिए।

* रात्रि भोजनका हिंसामें अन्तर्भाव—दे० हिंसा।

* रात्रि भोजन त्याग छठः अणुव्रत है—दे० व्रत/३/४।

६. रात्रि भोजन त्यागका महत्त्व

पु. सि. उ./१३४ कि वा बहु प्रलपितैरिति सिद्धं यो मनो वचन कायै । परिहरति रात्रिभुक्तिं सततमहिंसा स पालयति । १३४। = बहुत कहनेसे क्या । जो पुरुष मन, वचन, और कायसे रात्रि भोजनको त्याग देता है वह निरन्तर अहिंसाको पालन करता है ऐसा सार सिद्धान्त हुआ । १३४।

का. ज. मू./३५३ जो णिसि भुक्ति वज्जदि, सो उववासं करेदि छम्मासं । संवच्छरस्स मज्जे आरभ मुयदि रयणीए । ३५३। = जो पुरुष रात्रि भोजनको छोड़ता है वह एक वर्षमें छह महीनेका उपवास करता है । रात्रि भोजनका त्याग करनेके कारण वह भोजन व व्यापार आदि सम्बन्धी सम्पूर्ण आरम्भ भी रात्रिको नहीं करता ।

७. रात्रि भोजनका निषेध क्यों

पु. सि. उ./१२६-१३३ रात्रौ भुञ्जानाना यस्माद् निवारिता भवति हिंसा । हिंसाविरतैस्तस्मात्प्रकृत्या रात्रिभुक्तिरपि । १२६। रागाद्युदयपरत्वादिनिवृत्तिर्नातिवर्तते हिंसा । रात्रि दिवासाहरत' कथं हि हिंसा न संभवति । १३०। यद्येवं तर्हि दिवा कर्तव्यो भोजनस्य परिहार । भोक्तव्यं तु निशाया नेत्थं नित्यं भवति हिंसा । १३१। नैव वासरभुक्त भवति हि रागाधिको रजनि भुक्तौ । अन्नकवलस्य भुक्ते भुक्ताविव मांसकवलस्य । १३२। अर्कलोकेन विना भुञ्जान परिहरेत कथं हिंसा । अपि बोधित' प्रदीपो भोज्यजुषा सूक्ष्मजीवानाम् । १३३। = रात्रिमें भोजन करने वालोंके हिंसा अनिवारित होती है, अतएव हिंसाके त्यागीको रात्रि भोजनका त्याग करना चाहिए । १२६। अत्यागभाव रागादिभावोंके उदयकी उत्कृष्टतासे हिंसाको उल्लंघन करके नहीं वर्तते है तो रात-दिन आहार करने वालोंके निश्चय कर हिंसा कैसे सम्भव नहीं होती अर्थात् तीव्र रागी ही रात्रि-दिन खायेगा और जहाँ राग है वहाँ हिंसा है । १३०। प्रश्न—यदि ऐसा है तो दिनके भोजनका त्याग करना चाहिए, और रात्रिको भोजन करना चाहिए, क्योंकि ऐसा करनेसे हिंसा सदा काल न होगी । १३१। उत्तर—अन्नके प्रासके भोजनकी अपेक्षा मांसके प्रासके भोजनमें जैसे राग अधिक होता है वैसे ही दिनके भोजनकी अपेक्षा रात्रि भोजनमें निश्चय कर अधिक राग होता है अतएव रात्रि भोजन ही त्याज्य है । १३२। दूसरे सूर्यके प्रकाशके बिना रात्रिमें भोजन करने वाले पुरुषोंके जलाये हुए दीपकमें भी भोजनमें मिले हुए सूक्ष्म जीवोंको कैसे दूर किया जा सकेगा । अतएव रात्रि भोजन प्रत्यक्ष हिंसा है ।

सा. घ./४/२४ अहिंसाव्रतक्षार्थं मूलव्रतविशुद्धये । नक्तं भुक्तिं चतुर्धापि, सदा धीरस्त्रिधा त्यजेत् । २४। = व्रतोंका पालक श्रावक अहिंसाव्रतकी रक्षाके लिए धैर्यमें युक्त होता हुआ रात्रिमें मन, वचन व कायसे चारों ही प्रकारके आहारको भी जीवन पर्यन्तके लिए छोड़े । २४।

ला सं./२/४५ अस्ति तत्र कुलाचार' सैष नाम्ना कुलक्रिया । ता विना दार्शनिको न स्यात्प्राप्त्यान्नमतस्तथा । ४५। = रात्रि भोजनका त्याग करना पाक्षिक श्रावकका कुलाचार वा कुलक्रिया है । इस कुलक्रियाके बिना वह मनुष्य दर्शन प्रतिमाधारी अर्थात् पाक्षिक श्रावक भी नहीं हो सकता और की तो बात ही क्या ?

८. दीप व चन्द्रादिके प्रकाशमें भोजन करनेमें दोष सम्बन्धी

रा वा./७/१/१७-२०/५३४ स्यान्मतम्—यद्यालोकनाथं दिवाभोजनम्, प्रदीपचन्द्रादिप्रकाशाभिव्यक्त रात्रौ भोजनं कार्यमिति, तन्न; कि

कारणम् अनेकारम्भदोषात् । अग्न्यादिसमारम्भकरणकारणलक्षणो हि दोष स्यात् । स्यादेतत्-परकृत-प्रदीपादिसंभवे नारम्भदोष, इति, तन्न, किं कारणम् । चङ्क्रमणाद्यसंभवात् । 'ज्ञानादित्य-स्वेन्द्रियप्रकाशपरीक्षितमार्गेण युगमात्रपूर्वापेक्षी देशकाले पर्यट्य यति भिक्षां सुद्धामुपाददीत' इत्याचारोपदेशः, न चायं विधिः रात्रौ भवतीति चङ्क्रमणाद्यसंभवः । १५। स्यान्मतम्—दिवा ग्रामं पर्यट्य कनचिद्भाजने भोजनाद्यानीय रात्राद्युपयोग प्रसक्त इति, तन्न; कि कारणम् । उक्तोत्तरत्वात् । उक्तोत्तरमेतत्-प्रदीपादिसमारम्भ-प्रसङ्ग इति । नेवं सयमसाधनम्—आनीय भोक्तव्यमिति । नापि निस्सङ्गस्य पाणिपात्रपुटाहारिण, आनयनं संभवति । भोजनान्तर-सग्रहे अनेकावद्यदर्शनात् अतिदीनचरितप्रसङ्गादचिरादेव निवृत्ति-परिणामासंभवाच्च । भाजनेनानीतस्य परीक्ष्य भोजन संभवतीति चेत्; न; योनिप्राभृतज्ञस्य संयोगविभागगुणदोषविचारस्य तदानी-मेवोपपत्ते; आनीतस्य पुनर्दोषदर्शनात् विसर्जनेऽनेकदोषोपपत्तेश्च । १६। यथा रविप्रकाशस्य स्फुटार्थाभिव्यञ्जकत्वात् भूमिदेशवातुज्ज-चङ्क्रमणाद्यत्रपानादिपतितमितरच्च स्पष्टमुपलभ्यते न तथा चन्द्रादि-प्रकाशानाम् अस्फुटार्थाभिव्यञ्जकत्वात् स्फुटा भूम्याद्युपलब्धिर-स्तोति दिवाभोजनमेव युक्तम् । २०। = प्रश्न—यदि आलोकित पान भोजन (देखकर ही भोजन आदि करनेकी) विवक्षा है तो यह प्रदीप और चन्द्रादिके प्रकाशमें रात्रि भोजन करने पर भी सिद्ध हो सकती है । उत्तर—नहीं, क्योंकि इसमें अनेक आरम्भ दोष है । दीपके जलानेमें और अग्नि आदिके करने करानेमें अनेक दोष होते हैं । प्रश्न—दूसरेके द्वारा जलाये हुए प्रदीपके प्रकाशमें तो कोई आरम्भ दोष भी सम्भव नहीं है । उत्तर—ऐसा नहीं है, क्योंकि भले वहाँ स्वयंका आरम्भ दोष न हो तो भी गमन आदि नहीं हो सकते । 'ज्ञान सूर्य तथा इन्द्रियोमे मार्गकी परीक्षा करके चार हाथ आगे देखकर यतिको योग्य देश-कालमें सुद्ध भिक्षा ग्रहण करनी चाहिए' यह आचारशास्त्रका उपदेश है । यह विधि रात्रिमें नहीं बनती । प्रश्न—दिनके समय ग्राममें घूमकर किसी भाजनमें भोजनादि लाकर रात्रिमें उसे ग्रहण करनेसे उपरोक्त दोषकी निवृत्ति हो जाती है । उत्तर—नहीं, क्योंकि इसने अन्य अनेको दोष लगते हैं—१. दीपक आदि-का आरम्भ करना पड़ेगा, २. लाकर भोजन करना' यह संयमका साधन भी नहीं है; ३. निष्परिग्रही पाणिपुट भोजी साधु-को भिक्षा माँगकर लाना भी सम्भव नहीं है, ४. पात्र रखनेपर अनेको दोष देखे जाते हैं—अतिदीन वृत्ति आ जाती है, और शीघ्र पूर्णनिवृत्तिके परिणाम नहीं हो सकते क्योंकि सर्व-सावध निवृत्तिकालमें ही पात्र ग्रहण करनेसे पात्र निवृत्तिके परिणाम हो सकेगा, ५. पात्रसे लाकर परीक्षा करके भोजन करनेमें भी योनि प्राभृतज्ञ साधुको संयोग विभाग आदिसे होने वाले गुण-दोषोंका विचार करना पड़ता है, लानेमें दोष है, छोड़नेमें भी अनेक दोष होते हैं, ६. जिस प्रकार सूर्यके प्रकाशमें स्फुटरूपसे पदार्थ दिख जाते हैं, तथा भूमि, दाता, अन्न, पान आदि गिरे या रखे हुए सब साफ दिखाई देते हैं, उस प्रकार चन्द्रमा आदिके प्रकाशमें नहीं दिखते । अतः दिनमें भोजन करना ही निर्दोष है ।

दे० रात्रि भोजन/२/१ (रात्रिमें जलाये गये दीपकमें भी भोजनमें मिले हुए सूक्ष्म जन्तुओंको हिंसाको किस प्रकार दूर किया जा सकेगा) ।

३. रात्रि भोजन त्याग प्रतिमा निर्देश

१. रात्रि भोजन त्याग प्रतिमा व अणुव्रतका लक्षण

र. क आ./१/४२ अन्नं पानं खाद्यं लेह्यं नाश्नाति यो विभावयाम् । स च रात्रिभुक्तिविरत सत्त्वेष्वनुकम्पमानमना । १४२। = जो जीवों

पर दयायुक्त चित्त वाला होता हुआ रात्रिमें, अन्न, जल, लाडू आदि खाद्य, और रबड़ी आदि लेह्य पदार्थोंको नहीं खाता वह रात्रि भुक्तित्याग नामक प्रतिमाका धारो है। १४२। (सा. घ. ७/१५)।

आचारसार/५/७०७१ व्रतत्राणाय कर्तव्यं रात्रिभोजनवर्जनम् । सर्वथा-
न्नाश्रितवृत्तिं तत्तोक्तं षष्ठमणुव्रतम् ७०७१। = अहिंसा आदि व्रतोंकी रक्षाके लिए रात्रिको भोजनका त्याग अथवा उस समय अन्न खानेका त्याग करना छठी रात्रिभुक्ति त्याग प्रतिमा या छठा अणुव्रत है।

बृह, आ./२६६ मण-वयण-काय-कथ-कारियाणुमोएहि मेहुणं णवधा ।
दिवसम्मि जो विवज्जइ गुणम्मि सोसावओ छट्ठो । = जो मन, बचन, काय और कृत, कारित, अनुमोदना इन नौ प्रकारोंसे दिनमें मैथुन-का त्याग करता है, वह प्रतिमारूप गुणस्थानमें छठा श्रावक अर्थात् छठा प्रतिमाधारी है। २६६। (गुण आ./१७६), (सा. घ. ७/१२), (ब्र. सं./टो/४५/१६५/८)।

चा. सा./१३/२ रात्रावन्नपानखाद्यलेह्यभ्यश्चतुर्भ्यः सत्त्वानुकम्पया
विरमणं रात्रिभोजनविरमण षष्ठमणुव्रतम् ।

चा. सा./३८/३ रात्रिभुक्तव्रतं रात्रौ स्त्रीणां भजनं रात्रिभक्तं तद्ब्रतयति
सेवत इति रात्रिव्रतातिचारा रात्रिभुक्तव्रतं दिवाब्रह्मचारीत्यर्थः ।
= जीवों पर दयाकर रात्रिमें अन्न, पान, खाद्य और लेह्य इन चारों प्रकारके आहारका त्याग करना रात्रिभोजन विरमण नामका छठा अणुव्रत है। छठी प्रतिमाका रात्रिभक्त व्रत नाम है। रात्रिमें ही स्त्रियोंके सेवन करनेका व्रत लेना अर्थात् दिनमें ब्रह्मचारी रहनेकी प्रतिज्ञा लेना रात्रिभक्त व्रत प्रतिमा है। रात्रि भोजन त्याग के अतिचार त्याग करना ही रात्रि भक्त व्रत है।

२. पाक्षिक श्रावकके रात्रि भोजन त्यागमें कुछ अपवाद

सा. घ./२/७६ भृत्वाश्रितानवृत्त्यातान् कृपयानाश्रितानपि ।
भुक्जीताहून्यम्बुभौषज्य-ताम्बूलैलादि निशयपि । = गृहस्थ अपने आश्रित मनुष्य और तिर्यँचोंको और आजीविकाके न होनेसे दुःखी अनाश्रित मनुष्य वा तिर्यँचोंको भी दिनमें भोजन करावे। जल, दवा, पान और इलायची आदिक रात्रिमें भी खा और खिला सकता है। ७६।

सा. घ./२/७६ में उद्धृत ताम्बूलमौषधं तोयं, मुक्त्वाहारादिकां
क्रियाम् । प्रत्याख्यानं प्रदीयेत यावत् प्रातर्दिनं भवेत् । = दिन उगे तक ताम्बूल, औषध और पानीको छोड़कर सब प्रकारके आहार-
रादिके त्यागका व्रत देना चाहिए।

ला. स./२/४२ निषिद्धमन्नमात्राविस्थूलभोज्यं व्रते दृशः । न निषिद्धं
जलाद्यन्नं ताम्बूलाद्यापि वा निशि १४२। = इस व्रतमें (रात्रि-
भोजनत्याग व्रतमें) रात्रिमें केवल अन्नादिक स्थूल भोजनोंका त्याग है, इसमें जल तथा आदि शब्दसे औषधिका त्याग नहीं है। ४२।

३. छठी प्रतिमाका रात्रि भोजन त्याग निरपवाद है

ला. सं./२/४३ तत्र ताम्बूलतोयादि निषिद्धं यावदब्जसा । प्राणान्तेऽपि
न भोक्तव्यमौषधादि मनोषिणा १४३। = उस छठी प्रतिमामें पानी, पान, सुपारी, इलायची, औषध आदि समस्त पदार्थोंका सर्वथा त्याग बतलाया है, इसलिए छठी प्रतिमाधारी बुद्धिमान् मनुष्यको औषधि व जल आदि पदार्थ प्राणान्तके समय भी रात्रिमें नहीं खाने चाहिए। ४३। (सा. घ./२/७६)।

दे० रात्रिभोजन/३/१ (छठी प्रतिमाधारी रात्रिमें चारों प्रकारके आहार-
का त्याग करता है।)

४. छठी प्रतिमासे पूर्व रात्रि भोजनका निषेध क्यों

ला. स./२/३६-४१ ननु रात्रि भुक्तित्यागो नात्रोद्देश्यस्त्वया क्वचित् ।
षष्ठसख्यक-विरमणव्रतप्रतिमाश्रमास्ते यत् ३६। सत्यं सर्वात्मना तत्र
निशाभोजनवर्जनम् । हेतोः किंत्वन्न दिग्मात्रं सिद्धं स्वानुभवा-
गमात् ४०। अस्ति कश्चिद्विशेषोऽत्र स्वल्पाभासोर्थतो महात् । साति-
चारोऽत्र दिग्मात्रे तत्रातिचारवर्जिता ४१। = प्रश्न—आपको यहाँ पर श्रावकोंके मूलगुणोंके वर्णनमें रात्रिभोजनके त्यागका उपदेश नहीं देना चाहिए, क्योंकि रात्रिभोजन त्याग नामकी छठी प्रतिमा पृथक् रूपसे स्वीकार की गयी है। ३६। उत्तर—यह बात ठीक है किन्तु उसके साथ इतना और समझ लेना चाहिए कि छठी प्रतिमामें तो रात्रि भोजनका त्याग पूर्णरूपसे है और यहाँ पर मूल गुणोंके वर्णनमें अपूर्ण रूपसे है। मूल गुणोंमें रात्रि भोजनका त्याग करना अनुभव तथा आगम दोनोंसे सिद्ध है। ४०। यहाँ पर इस रात्रिभोजन त्यागमें कुछ विशेषता है, यद्यपि वह थोड़ी प्रतीत होती है, परन्तु वह है महात् । वह यह है कि यहाँ तो वह व्रत अतिचार सहित है, और छठी प्रतिमामें अतिचार रहित है। ४१।

रात्रियोग विधि — दे० कृत्तिकर्म/४।

राध—स. सा / सू व आ / ३०४ ससिद्धिराधसिद्ध साधियमारा-
धियं च एयदुः । ३०४। परद्रव्यपरिहारेण शुद्धस्यात्मनः सिद्धिः
साधनं वा राध । संसिद्धि, राध (आराधना, प्रसन्नता, पूर्णता), सिद्ध, साधित और आराधित ये एकार्थवाची शब्द हैं। ३०४। परद्रव्यके परिहारसे शुद्ध आत्माकी सिद्धि अथवा साधन सो राध है।

राम—म. पु / सर्ग/श्लोक न. राजा दशरथके पुत्र थे (२५/२२) स्वयंवर-
में सीतासे विवाह किया (२८/२४५) माता केकयी द्वारा बनवास दिया गया (३१/१६१) बनवास कालमें सीताहरण होनेपर रावणसे युद्ध कर रावणको मारकर सीताको प्राप्त किया (७६/३३) परन्तु लौटनेपर लोकापवादमें सीताका परित्याग किया (९७/१०८) अन्तमें भाई लक्ष्मणकी मृत्युसे पीड़ित हो दीक्षा ग्रहण कर (११६/२४-२७) मोक्ष प्राप्त की (१२२/६७) इनका अपरनाम 'पद्म' था। ये देवी बलदेव थे। (विशेष दे० शलाका पुरुष/३)।

रामकथा—आचार्य कीर्तिधर (ई० ६००) द्वारा विरचित जैन रामायण है। इसके आधारपर रविषेणार्थने प्रसिद्ध पद्मपुराण तथा स्वयंभू कविने पद्मचरित लिखे हैं।

रामगिरि—मेघदूतकी अपेक्षा अमरकंटक पर्वत और नेमिचरितकी अपेक्षा गिरिनार पर्वत (नेमिचरित/प्र.)।

रामचंद्र—१ नन्दिसंघके देशीयगण में गण्ड विमुक्त देवा-
म्नाय के देवकीर्ति के शिष्य रामचन्द्र 'त्रैविद्य' समय-ई ११५८-
११८२। (दे इतिहास/७/५)। २. नन्दि संघ देशीय गण में केशव-
नन्दि के दीक्षा शिष्य और पद्मनन्दि के दीक्षा शिष्य रामचन्द्र सुमुक्षु। कृतियों—पुण्यासव कथाकोष, ज्ञान्तिनाथ चरित्र। समय—
ई. श १३ का मध्य। (ती./४/६६)।

रामदत्ता—म. पु / ५६ श्लोक पौदनपुरके राजा पूर्णचन्द्रकी पुत्री थी (२१०) पति सिंहसेनकी मृत्युसे व्याकुलित हो दीक्षा ग्रहण कर ली (२०२) अन्तसे मरकर महाशुक्र स्वर्गमें देव हुई (२२५-२२६) यह मेरुगणधरका पूर्वका नवों भव है—दे० मेरु।

रामनन्दि—माघनन्दिसंघकी गुर्वावलिके अनुसार श्री नन्दिसंघ-
का अपरनाम था—दे० श्रीनन्दि।

रामपुत्र—भगवान् वीरके तीर्थमें अन्तकृत केवली हुए हैं—दे० अन्तकृत।

रामल्य—दे० स्थूलभद्र ।

रामानुज वेदांत—अपरनाम विशिष्टाद्वैत—दे० वेदांत/४ ।

रामसेन—१. इन्होंने मथुरा नगरमें माथुरसध चलाया। वीरसेन के शिष्य। समय—वि. ८८०-९२० (ई. ८२३-८६३)। (दे. इतिहास/७/११)। २. सेन सघी आचार्य। गुरु-नागसेन (ई. १०४७)। शिक्षा गुरु—वीरचन्द, शुभदेव, महेंद्रदेव, विजयदेव, रामसेन। कृति—तत्त्वानुशासन। समय—ई. श. ११ का उत्तरार्ध। (ती/३/२३२-२३८) ३. काष्ठासंघ के अनुसार क्षेमकीर्ति के शिष्य, रत्नकीर्ति के गुरु। समय—वि १४३१ (ई. १३७४)। (दे. इतिहास/७/९)।

रायचंद—गुजरात देशमें राज्यान्तरगत धवणिया गाँवमें खजी भाई पंचाणभाई मेहताके पुत्र थे। माताका नाम देवाबाई था। कार्तिक शु. १५ वि. सं. १९२४ (ई० १८६७) में आपका जन्म हुआ। आपको जाति स्मरण था, तथा आप शतावधानी थे। केवल ३४ वर्षकी आयु में चैत्र क. ५ वि. सं. १९५७ को आपका स्वर्गवास हो गया। समय—१९०० (का अ./प्र. १/गुणभद्र जैन)।

रायधू—दे० रङ्घू।

रायमल—१. मुनि अनन्तकीर्तिके शिष्य थे। हनुमन्तचरित व भविष्यदत्तचरित्रकी रचना की थी। समय—वि. १६१६-१६६३ (हि. जै. सा. ई/८९ कामता)। २. सकलचन्द्र भट्टारकके शिष्य थे। हूमड जातिके थे। वि. १६६७ में भक्तामर कथा लिखी। (हि. जै. सा. इ/६० कामता)। ३. एक अत्यन्त विरक्त श्रावक थे। २२ वर्षकी अवस्थामें अनेक उत्कट त्याग कर दिये थे। आप पं. टोडरमलजीके अन्तेवासी थे। आपकी प्रेरणासे ही पं. टोडरमलजीने गोम्मट्टसारकी टीका लिखी थी। फिर आपने पं. टोडरमलजीका जीवनचरित लिखा। समय—वि. १८११-१८३८ (मो. मा. प्र./प्र. १२/परमानन्दशा)

रावण—पं. प्र./सर्ग/श्लोक नं. रत्नश्रवाका पुत्र था (७/२०६) अपरनाम दशानन था। लकाका राजा था (६/४६) सीताका हरण करनेपर रामसे युद्ध किया। लक्ष्मण द्वारा मारा गया (७६/३४) यह प्वाँ प्रतिनारायण था—(विशेष दे० शलाका पुरुष/५)।

राशि—Aggregate (घ. ५/प्र. २८) any number or numbers arranged in a definite order as ११, १५, १६, ५६, ६६, ७०.

राष्ट्रकूट वंश—दे० इतिहास/३/४।

रासभ—मालवा (मगध) देशके राज्यवंशमें (ह पु/६०/४९०) मे गन्धर्व या गर्दभिल्लके स्थानपर रासभ नाम दिया गया है। अत. गर्दभिल्लका ही दूसरा नाम रासभ था—दे० गर्दभिल्ल; इतिहास/३/३।

रिक्कु—क्षेत्रका प्रमाण विशेष। अपरनाम किष्कु या गज—दे० गणित/II/१।

रिट्टनेमिचरिउ—कवि स्वयंभू (ई० ७३४-८४०) कृत, नेमिनाथ का जीवन वृत्त। ११२ सन्धियों में विभक्त १८००० श्लोक प्रमाण अपभ्रंश काव्य। (ती/४/१०१)।

रिण—Minus (ज. पं. प्र./१०८)।—दे० गणित/II/१/४।

रिणराशि—मूल राशिमसे जिस राशिको घटाया जाता है।—दे० गणित/II/१/४।

रिष्टक संभवा—आकाशोपपन्नदेव—दे० देव/II/३।

रुमगिन्नत—प्रतिवर्ष भाद्रपद शु ७ को एकाशन ८ को उपवास, ९ को पारणा, १० को उपवास, ११ को पारणा, १२ को उपवास,

१३ को पारणा, १४ को उपवास, १५ को पारणा करे। इसे ८ वर्ष पर्यन्त करे तथा नमस्कार मन्त्रकी त्रिकाल जाप्य करे। (व्रतविधान स./पु. ६४)।

रुमपात्रांकित तीर्थमंडलयंत्र—दे० यन्त्र।

रुमपात्रांकित वरुणमंडल यंत्र—दे० यन्त्र।

रुमपात्रांकित व्रजमंडलयंत्र—दे० यन्त्र।

रुक्मि—१. रा. वा./३/११/६/१=३/२८ रुक्मसद्भावाद्गुरुमीत्यभिधानम्। = (रम्यक क्षेत्रके उत्तरमें स्थित पूर्वापर सम्भावमान वर्षधर पर्वत है) क्योंकि इसमें चौदी पायी जाती है इसलिए इसका रुक्मि नाम रूढ है। २. रुक्मिपर्वतके विस्तारदिके लिए—दे० लोक/६/४। ३. रुक्मि पर्वतस्थ एक कूट—दे० लोक/५/४, ४. रुक्मि पर्वतस्थ रुक्मि कूटका स्वामी—दे० लोक/५/४। ५. कुण्डिनपुरके राजा भीष्मका पुत्र था। बहन रुक्मिणीके कृष्ण द्वारा हर लिये जानेपर कृष्णसे युद्ध किया, जिसमें बन्दी बना लिया गया (ह पु./४२/६५)।

रुक्मिणी—(ह पु./सर्ग/श्लोक नं. भीष्म राजाकी पुत्री थी। (४२/३५) कृष्ण द्वारा हरकर विवाह ली गयी (४२/३४) जन्मते ही इसका प्रद्युम्न नामका पुत्र हर लिया गया था (४३/४२)। अन्तमें दोषा धारण कर ली (६१/४०)।

रुचक—सौधर्म स्वर्गका १५ वाँ पटल व इन्द्रक—दे० स्वर्ग/५/३।

रुचक कांता—रुचक पर्वत निवासिनी दिक्कुमारी देवी—दे० लोक/५/१३।

रुचककीर्ति—रुचक पर्वत निवासिनी दिक्कुमारी देवी—दे० लोक/५/१३।

रुचक गिरि—पुष्कर द्वीपवत् इसके मध्य भागमें भी एक कुण्डलाकार पर्वत है। इस पर्वतपर चार या आठ चैद्यालय हैं। १३ द्वीप चैत्यालयोंमें इनकी गणना है। इसपर अनेको कूट है, जिनपर कुमारी देवियों निवास करती हैं जो कि भगवात्के गर्भवत्तरणके लिए उनकी माताकी सेवा करती हैं—दे० लोक/४/७।

रुचक प्रभा—रुचक पर्वत निवासिनी दिक्कुमारी देवी—दे० लोक/५/१३।

रुचक वर—मध्य लोकका तेरहवाँ द्वीप व सागर—दे० लोक/५/१।

रुचका—रुचक पर्वत निवासिनी दिक्कुमारी महत्तरिका—दे० लोक/५/१३।

रुचकाभा—रुचक पर्वत निवासिनी दिक्कुमारी महत्तरिका—दे० लोक/५/१३।

रुचकी—रुचक पर्वत निवासिनी दिक्कुमारी देवी—दे० लोक/५/१३।

रुचि—दे० निशंकित/१ (वस्तुका स्वरूप ऐसा ही है इस प्रकार अकप रुचि होना निशंकित अंग है।)

घ १/१.११/१६६/७ दृष्टि श्रद्धा रुचि प्रत्यय इति यावत्। = दृष्टि, श्रद्धा, रुचि और प्रत्यय ये पर्यायवाची हैं।

द्र. स/टी/४२/१६५/१ श्रद्धानं रुचिनिश्चय इदमेवेत्थमेवेति। = श्रद्धानं, रुचि, निश्चय अथवा जो जिनेन्द्रने कहा वही है।

पं. घ./७/४१२ साधर्म्यं रुचि। = तत्त्वार्थके विषयमें तन्मयपना रुचि कहलाती है।

रुचिर—१. रुचक पर्वतस्थ एक कूट—दे० लोक/५/१३; २. सौधर्म स्वर्गका १६ वाँ पटल व इन्द्रक—दे० स्वर्ग/५/३।

रुजा—नि. सा/ता वृ/६ वातपित्तश्लेष्मणा वैषम्यसंजातकलेवर-
विपीडित रुजा। = वात, पित्त और कफकी विषमतासे उत्पन्न
होनेवाली कलेवर (शरीर) सम्बन्धी पीडा वही रोग (रुजा) है।

रुद्र—१, एक ग्रह—दे० ग्रह। २. असुरकुमार (भवनवासी देव)—दे०
असुर। ३ ग्यारह रुद्र परिचय—दे० शलाका पुरुष/७।

ति. प/४/५२१ रुद्रा रउहकम्मा अहम्मवावारसंलग्गा। = (जो)
अधर्मपूर्ण व्यापारमें संलग्न होकर रौद्रकर्म किया करते हैं (वे रुद्र
कहलाते हैं)।

रा वा/६/२८/२/६२७/२८ रौद्रयतीति रुद्र क्रूर इत्यर्थः। = रुद्राने
वालेको रुद्र-क्रूर कहते हैं।

प. प्र./टी./१/४२ पश्चात् पूर्वकृत चारित्रमोहोदयेन विषयासक्तो भूत्वा
रुद्रो भवति। = उसके बाद (जिनदोषा लेकर पुण्यबन्ध करनेके
बाद) पूर्वकृत चारित्र मोहके उदयसे विषयोमें लीन हुआ रुद्र कह-
लाता है।

त्रि सा./५४१ विज्जाणुवादपढणे दिट्ठफला णट्ठसंजमा भव्या।
कदिचि भवे सिज्झति हु गहिवुज्झियसम्ममहिमादो ८४११—ये रुद्र
विद्यानुवाद पूर्वके पढनेसे इस लोक सम्बन्धी फलके भोक्ता हुए।
तथा जिनका समय नष्ट हो गया है, जो भव्य है, और जो ग्रहण
कर छोड़े हुए सम्यक्त्वके माहात्म्यसे कुछ ही भवोमें मुक्ति पायेगे
ऐसे वे रुद्र होते हैं।

रुद्रदत्त—भगवान् ऋषभदेवके तीर्थमें एक ब्राह्मण था। पूजाके लिए
प्राप्त किये द्रव्यसे जुआ खेलनेके फलस्वरूप सातवें नरकमें गया (ह.
पु./१९८/६७-१०१)।

रुद्रवसंत व्रत—क्रमशः २,३,४,५,६,६,
४,३,२ इस प्रकार ३५ उपवास करे।
बीचके (.) वाले स्थानोंमें सर्वत्र एक
पारणा। नमस्कार मन्त्रकी त्रिकाल जाप
करे। (व्रत विधान स/पृ. ६७)।

रुद्राश्व—विजयार्थकी उत्तर श्रेणीका एक नगर—दे० विद्याधर।

रुधिर—१. औदारिक शरीरमें रुधिरका प्रमाण—दे० औदारिक/१/७।
२. सौधर्म स्वर्गका दसवाँ पटल व इन्द्रव—दे० स्वर्ग/५/३।

रुद्रसंख्या—Prime (ध ५/प्र./२८)।

रूप—

रा. वा./१/२७/१/५=४ अय रूपशब्दोऽनेकार्थः। क्वचिच्चाक्षुषे वर्तते
यथा—रूपरसगन्धस्पर्शा इति। क्वचित्स्वभावे वर्तते यथा अनन्त-
रूपमनन्तस्वभावम् इति। = रूप शब्दके अनेक अर्थ हैं कहीपर चक्षुके
द्वारा प्राह्य शुक्लादि गुण भी हैं, जैसे—रूप, रस, गन्ध, स्पर्श। कही-
पर रूपका अर्थ स्वभाव भी है जैसे-अनन्तरूप अर्थात् अनन्त
स्वभाव। (और भी—दे० मूर्त/१) [एककी संख्याको रूप कहते
हैं।]

प्र. सा./ता वृ/२०३/२७६/५ अन्तरङ्गशुद्धात्मानुभूतिरूपक निर्ग्रन्थ-
निर्विकार रूपमुच्यते। = अन्तरंग शुद्धात्मानुभूतिकी शीतक निर्ग्रन्थ
एवं निर्विकार साधुओकी वीतराग मुद्राको रूप कहते हैं।

रूपगता चूलिका—द्वादशांग श्रुतज्ञानमें बारहवें अंगके उत्तर
भेदोमेंसे एक।—दे० श्रुतज्ञान/III।

रूपचंद्र पांडेय—१. कवि बनारसी दासके गुरु थे। अध्ययन के लिए
सलेमपुर से बनारस आये थे। कृति—परमार्थ दोहा शतक, गीत-

परमार्थी, मंगलगीत प्रबन्ध। समय—वि. १६६३ में आगरा आये।
(ती./४/२५५)। २. प बनारसी दासजी कृत समयसार नाटकके
त्रिंशद् टोकाकार थे। समय—वि १७६८ (हि. जै. सा. ई/१८०
कामता)।

रूपनिभ—एक ग्रह—दे० ग्रह।

रूपपाली—किन्नर नामा व्यन्तर देवका एक भेद—दे० किन्नर।

रूपयमाष फल—तोतका प्रमाण विशेष—दे० गणित/1/१।

रूपरेखा—General outline. (ध ५/प्र/२८)।

रूपसत्य—दे० सत्य/१।

रूपस्थ—

१. रूपस्थ ध्यानका लक्षण व विधि

बसु. श्रा/४७२-४७५ आयास-फलहर्षाणिह-तणुप्पहासलिलणिहिणि-
व्वुडत। णर-सुरतिरीडमणिकिरणसमूहरजियपर्यंबुरुहो ४७२। वर
अट्ठपाडिहेरेहि परिउट्ठो समवसरणमज्झगओ। परमप्पणंतचउट्ठ-
यणिगओ पवणमग्गट्ठो ४७३। एरिसओच्चिचय परिवारवज्जिओ
खीरजलहिमज्झे वा। वरखीरवणकंदुत्थकर्णियामज्झदेसट्ठो ४७४।
खीरुवहिसलिलधाराहिसेयधवलोकयं सव्वगो। ज भाइज्जइ एवं
रुवत्थ जाण तं भाण ४७५। = १. आकाश और स्फटिक मणिके
समान स्वच्छ एवं निर्मल अपने शरीर की प्रभारूपी सलिल-निधिमें
निमग्न, मनुष्यो और देवोके मुकुटोंमें लगी हुई मणियोंकी किरणोंके
समूहसे अनुरजित है, चरणकमल जिनके, ऐसे तथा श्रेष्ठ आठ महा
प्रातिहार्योसे परिवृत्त, समवशरणके मध्यमें स्थित, परम अनन्त
चतुष्टयसे समन्वित, पवन मार्गस्थ अर्थात् आकाशमें स्थित अरहन्त
भगवान्का जो ध्यान किया जाता है, वह रूपस्थ ध्यान है ४७१-
४७५। (ज्ञा/३६/१-८), (गुण. श्रा./२४०-२४१)। २. अथवा ऐसे ही
अर्थात् उपर्युक्त सर्व शोभासे समन्वित किन्तु समवशरण आदि
परिवारसे रहित, और क्षीर सागरके मध्यमें स्थित, अथवा उत्तम
क्षीरसागरके समान धवल वर्णके कमलकी कर्णिकाके मध्य देशमें
स्थित, क्षीर सागरके जलकी धाराओके अभिषेकसे धवल हो रहा है
सर्वांग जिनका, ऐसे अरहन्त परमेष्ठिका जो ध्यान किया जाता है,
उसे रूपस्थ ध्यान जानना चाहिए ४७२-४७४। (गुण. श्रा/२४२)।

ज्ञा./३६/१४ ३६, अनेकवस्तुसम्पूर्ण जगत्स्य चराचरम्। स्फुरत्यविकलं
बोधविशुद्धादर्शनण्डले। १४ दिव्यपुष्पानकाशोकराजित रागवर्जितम्।
प्रातिहार्यमहालक्ष्मीलक्षित परमेश्वरम्। २३। नवकेवललब्धिभ्रीसभवं
स्वात्मसभवंम्। तूर्यध्यानमहावह्नौ हुतकर्मन्धनोत्करम्। २४। सर्वज्ञ
सर्वदं सर्वं वर्धमान निरामयम्। नित्यमव्ययमव्यक्तं परिपूर्णं
पुरातनम्। ३०। इत्यादि सान्त्वयानेकपुण्यानामोपलक्षितम्। स्मर सर्वगत
देव वीरममरनायकम्। ३१। अनन्यशरण साक्षात्सलीनेकमानस।
तस्वरूपमवाप्नोति ध्यानी तन्मयता गत। ३२। तस्मिन्नन्तराभ्यास
वशात्संजातनिश्चला। सर्वावस्थासु पश्यन्ति तमेव परमेष्ठिनम्। ३६।
= १ हे मुने। तू आगे लिखे हुए प्रकारसे सर्वज्ञ देवका स्मरण कर -
कि जिस सर्वज्ञ देवके ज्ञान रूप निर्मल दर्पणके मण्डलमें अनेक
वस्तुओसे भरा हुआ चराचर यह जगत प्रकाशमान है। १४। दिव्य
पुष्पवृष्टि बुन्दुभि बाजो तथा अशोक वृक्षो सहित विराजमान है,
राग रहित है, प्रातिहार्य महालक्ष्मीसे चिह्नित है, परम ऐश्वर्य करके
सहित है। २३। अनन्तज्ञान, दर्शन, दान, लाभ, भोग, उपभोग, वीर्य,
क्षायिक सम्प्रवृत्त और चारित्र इन नवल्लब्धिरूपी लक्ष्मीकी जिससे
उत्पत्ति है, तथा अपने आत्मासे ही उत्पन्न है, और शुक्लध्यानरूपी
महान् अग्निमें होम दिया है कर्मरूप इन्धनका समूह ऐसा है। २४।
सर्वज्ञ है, सबका दाता है, सर्व हितैषी है, वर्द्धमान है, निरामय है,

नित्य है, अग्र्य है, अग्र्यक्त है, परिपूर्ण है, पुरातन है। १३०। इत्यादिक अनेक सार्थक नामसहित, सर्वगत, देवोका नायक, सर्वज्ञ जो श्री वीर तीर्थकर है उसको हे मुने! तू स्मरण कर। १३१। २ उपर्युक्त सर्वज्ञ देवका ध्यान करनेवाला ध्यानी अनन्य शरण ही, साक्षात् उसमें ही संश्लिप्त है मन जिसका ऐसा हो, तन्मयताको पाकर, उसी स्वरूपको प्राप्त होता है। १३२। उस सर्वज्ञ देवके ध्यानमें अग्र्यास करनेके प्रभावसे निश्चल हुए योगीगण सर्व अवस्थाओंमें उस परमेष्ठिकाको देखते हैं। १३६।

द्र. स/टी/४८/२०५ पर 'उद्भूत रूपस्थ चिद्रूपं'—सर्व चिद्रूपका चिन्तन रूपस्थध्यान है। (प. प्र/टी/१/६/६ पर उद्भूत), (भा. पा./टी/८६/२३६ पर उद्भूत)।

★ अर्हत चितवन पदस्थादि तीनों ध्यानोंमें समान है

—दे० ध्येय।

२. रूपस्थध्यानका फल

ज्ञा/३६/३३-३८ यमाराध्यशिव प्राप्ता योगिनो जन्मनिस्पृहा। यं स्मरन्त्यनिश भव्याः शिवश्रीसगमोत्सुका। ३३। तदालम्ब्य पर ज्योतिस्तद्गुणग्रामरञ्जित। अविक्षिप्तमनायोगी तत्स्वरूपमुपा-
श्रुते। ३७। = जिस सर्वज्ञ देवको आराधन करके ससारसे निस्पृह मुनिगण मोक्षको प्राप्त हुए हैं तथा मोक्ष लक्ष्मीके संगममें उत्सुक भव्यजोब जिसका निरन्तर ध्यान करते हैं। ३३। योगी उस सर्वज्ञदेव परमज्योतिको आलम्बन करके गुण ग्रामोंमें रजायमान होता हुआ मनमें विक्षेप रहित होकर, उसी स्वरूपको प्राप्त होता है। ३७।

रूपातीत—

१. रूपातीत ध्यानका लक्षण व विधि

वसु, आ/४७६ वण्ण-रस-गन्ध-फासेहि वज्जिओ जाण-दंसणसरूवो। ज भाइज्जइ एवं तं भाणं रुवरहियं त्ति। ४७६। = वर्ण, रस, गन्ध और स्पर्शसे रहित, केवलज्ञान-दर्शन स्वरूप जो सिद्ध परमेष्ठिका या शुद्ध आत्माका ध्यान किया जाता है, वह रूपातीत ध्यान है। ४७६। (गुण. आ/२४३), (द्र. सं/टी/५१ की पातनिका/२१६/१)।

ज्ञा/४०/१५-२६ अथरूपे स्थिरीभूतचित्तं प्रक्षीणविभ्रमं। अमूर्तमज-
मव्यवर्तं ध्यातुं प्रकमते तत १५। चिदानन्दमयं शुद्धमसूतं परमाक्ष-
रम्। स्मरेत्त्रात्मनास्मानं तद्रूपातीतमिष्यते। १६। सर्वावयवसम्पूर्णं
सर्वलक्षणलक्षितम्। विशुद्धादर्शसंक्रान्तप्रतिबिम्बसमप्रभम्। १६।
= रूपस्थध्यानमें स्थिरीभूत है चित्त जिसका तथा नष्ट हो गये हैं
विभ्रम जिसके ऐसा ध्यानी अमूर्त, अजन्मा, इन्द्रियोसे अगोचर,
ऐसे परमात्मके ध्यानका प्रारम्भ करता है। १५। जिस ध्यानमें ध्यानी
मुनि चिदानन्दमय, शुद्ध, अमूर्त, परमाक्षररूप, आत्माको आत्मा
करि ही स्मरणकरै सो रूपातीत ध्यान माना गया है। १६। समस्त
अवयवोंसे परिपूर्ण और समस्त लक्षणोंसे लक्षित ऐसे निर्मल दर्पणमें
पड़ते हुए प्रतिबिम्बके समान प्रभावसे परमात्माका चिन्तन
करै। १६।

द्र. सं/टी/४८/२०५ पर उद्भूत 'रूपातीत निरञ्जनम्'। = निरञ्जनका
ध्यान रूपातीत ध्यान है। (प. प्र/१/६/६ पर उद्भूत), (भा. पा./टी/
८६/२३६ पर उद्भूत)।

२. ध्येयके साथ तन्मयता

ज्ञा/४०/२८-३० सोऽहं सकलवित्सार्बं, सिद्धः साध्यो भवच्युत।
परमात्मा पर ज्योतिर्विश्वदर्शी निरञ्जन। २८। तदासौ निश्चलोऽमूर्त्तो
निष्कलङ्को जगद्गुरु। चिन्मात्रो विस्फुरत्युच्चैर्ध्यानध्यातु-
विवर्जित। २९। पृथग्भावमतिक्रम्य तथैक्यं परमात्मनि। प्राप्नोति स

मुनि साक्षाद्यथान्यात्व न बुध्यते। ३०। = जब परमात्माका प्रत्यक्ष
होने लगता है तब ऐसा ध्यान कर कि ऐसा परमात्मा मैं हूँ, मैं ही
सर्वज्ञ हूँ, सर्व व्यापक हूँ, सिद्ध हूँ, तथा मैं ही साध्य था। संसारसे
रहित, परमात्मा, परमज्योति स्वरूप, समस्त विश्वको देखनेवाला
मैं ही हूँ। मैं ही निरञ्जन हूँ, ऐसा परमात्माका ध्यान करै। उस
समय अपना स्वरूप निश्चल, अमूर्त, निष्कलक, जगत्का गुरु,
चैतन्यमात्र और ध्यान तथा ध्याताके भेद रहित ऐसा अतिशय
स्फुरायमान होता है। २८-२९। उस समय परमात्माके पृथक् भाव
अर्थात् अलगपनेका उल्लेखन करके साक्षात् एकताको इस तरह प्राप्त
हो जाता है कि, जिससे पृथक्पनेका बिलकुल भान नहीं होता। ३०।

★ शुक्लध्यान व रूपातीतध्यानमें एकता

—दे० पद्धति।

★ शून्यध्यानका स्वरूप—दे० शुक्लध्यान/१।

रूपानुपात—स. सि./७/३१/३६६/११ स्वविग्रहदर्शनं रूपानुपातः।
= (देशव्रतके अतिचारोंके अन्तर्गत) उन्हीं पुरुषोंको (जो उद्योगमें
जुटे हैं) अपने शरीरको दिखलाना रूपानुपात है।

रा. वा./७/३१/४/५५६/८ मम रूपं निरीक्ष्य व्यापारमचिरान्निष्पाद-
यन्ति इति स्वविग्रहरूपणं रूपानुपात इति निर्णयते। = 'मुझे देख-
कर काम जखदी होगा' इस अभिप्रायसे अपने शरीरको दिखाना
रूपानुपात है। (वा. सा./१६/२)।

रूपी—दे० मूर्त्त।

रूप्य कूला—१. हैरण्यवर्त क्षेत्रकी नदी व कुण्ड—दे लोक/३/६/१०।

२. रुविम पर्वस्थ एक कूट व उसका स्वामीदेव—दे लोक/४/४।

रूप्यवर—मध्यलोकके अन्तका दशम सागर व द्वीप—दे लोक/५/१।

रेखा—सरल रेखा Straight line (ज. प./प्र. १०८)।

रेचक प्राणायाम—दे० प्राणायाम/२।

रेवती—१. एक नक्षत्र—दे० नक्षत्र। २. श्रावस्ती नगरीकी सम्यक्त्व-
से विभूषित एक श्राविका थी। मथुरास्थ मुनिगुप्तने एक विद्याधरके
द्वारा इसके लिए आशीष भेजी। तब उस विद्याधरने ब्रह्मा व तीर्थकर
आदिका ढोंग रचकर इसकी परीक्षा ली। जिसमें यह अडिग रही
थी। (वृ. क. को./कथा ७)।

रेवस्था—पूर्वी मध्य आर्यखण्डस्थ एक नदी—दे० मनुष्य/४।

रेवा—भरत क्षेत्रस्थ आर्यखण्डकी एक नदी—दे० मनुष्य/४।

रेशम—दे० वस्त्र।

रैनमंजूसा—हंसद्वीपके राजा कनककेतुकी पुत्री थी। सहलकूट
चैत्यालयके कपाट उघाड़नेसे श्रीपालसे विवाही गयी थी। फिर
धवलसेठके इसपर मोहित होनेपर धर्ममें स्थित रही। अन्तमें दीक्षा
ले, तपकर स्वर्ग सिधारी। (श्रीपालचरित्र)।

रैवतक—सौराष्ट्र देशमें जूनागढ़ राज्यका गिरनार पर्वत।
(म. पु/प्र. ४६/पं. पन्नालाल)।

रोग—कुष्ठादि विशेष प्रकारके रोग हो जानेपर जिन दीक्षाकी
योग्यता नहीं रहती है।—दे० प्रव्रज्या/१।

रोग परीषद्—स. सि./६/६/४२५/६ सर्वाशुचिनिधानमिदमनित्य-
मपरित्राणमिति शरीरे निःशुद्धस्वत्वाद्द्विगतसंस्कारस्य गुणरत्नभाण्ड-
संचयप्रवर्धनसरक्षणसधारणकारणत्वाद्भ्युपगतस्थिति-विधानस्याक्ष-
प्रक्षणवद् व्रणानूलेपनवद्वा बहुपकारमाहारमभ्युपगच्छतो विरुद्धाहार-
पानसेवनवैषम्यजनितवातादिबिकाररोगस्य युगपदेकशतसंख्य-

व्याधिप्रकोपे सत्यपि तद्दशवर्तितां विजहती जलौषधिप्राप्त्याद्यनेक-
तपोविशेषाङ्गयोगे सत्यपि शरीरनिःस्पृहत्वात्प्रतिकारानपेक्षिणी
रोगपरिषहसहनमवगन्तव्यम् । = यह सब प्रकारके अशुचि पदार्थोंका
आश्रय है, यह अनित्य है, और परित्राणसे रहित है, इस प्रकार इस
शरीरमें सकल्प रहित होनेसे जो विगत संस्कार है, गुणरूपी रत्नोंके
संचय, वर्धन, संरक्षण और सधारणका कारण होनेसे जिसने शरीर-
की स्थिति विधानको भले प्रकार स्वीकार किया है, धुरको ओगन
लगानेके समान या व्रणपर लेप करनेके समान जो बहुत उपकारवाले
आहारको स्वीकार करता है, विरुद्ध आहार-पानके सेवनरूप
विषमतासे जिसके वातादि विकार रोग उत्पन्न हुए हैं, एक साथ
सैकड़ों व्याधियोंका प्रकोप होनेपर भी जो उनके आधीन नहीं हुआ
है, तथा तपोविशेषसे जलौषधि और प्राप्ति आदि अनेक ऋद्धियोंका
सम्बन्ध होनेपर भी शरीरसे निस्पृह होनेके कारण जो उनके
प्रतिकारकी अपेक्षा नहीं करता उसके रोगपरीषह सहन जानना
चाहिए । (रा. वा./६/२१/६११/२३), (चा. सा /१२४/३) ।

रोचक शैल—भद्रशाल वनस्थ एक दिग्गजेन्द्र पर्वत ।
—दे० लोक/१/३६ ।
रोट तीज व्रत—त्रिलोक तीजव्रत ।

रोम—औदारिक शरीरमें रोमोंका प्रमाण—दे० औदारिक/१ ।

रोमश—एक क्रियावादी—दे० क्रियावाद ।

रोमहर्षिणी—एक विनयवादी—दे० वैनयिक ।

रोष—नि. सा./ता. वृ./६ क्रोधिनस्य पुंसस्तीव्रपरिणामो रोषः ।
—क्रोधी पुरुषका तीव्र परिणाम वह रोष है ।

रोहिणी—१. भगवान् अजितनाथकी शासक यक्षिणी—दे० यक्ष ।
२. एक विद्या—दे० विद्या । ३. एक नक्षत्र—दे० नक्षत्र ।

रोहिणीव्रत—प्रतिवर्ष रोहिणी नक्षत्रके दिन उपवास करे । तथा
उस दिन वासुपूज्य भगवात्की पूजन तथा नमस्कार मन्त्रका त्रिकाल
जाप्य करे । इसका अपरनाम अशोक रोहिणी है । (वासु, भा./३६३-
३६६), (धर्मपरीक्षा/२०/१६-२०); (व्रत विधान सं/६२) ।

रोहित—१. हैमवत क्षेत्रकी प्रधान नदी—दे० लोक/३/११ ।
२. हैमवत क्षेत्रमें स्थित एक कुण्ड जिसमेंसे कि रोहित नदी निकलती
है—दे० लोक/३/१०, ३. महाहिमवात् पर्वतस्थ एक कूट—दे० लोक/७ ।
४. रोहित कुण्डकी स्वामिनी देवी—दे० लोक/४/४१ । रोहित कूटकी
स्वामिनी देवी—दे० लोक/४/४ ।

रोहितास्या—१. हैमवत क्षेत्रकी प्रधाननदी—दे० लोक/३/११ हैमवत
क्षेत्रमें स्थित एक कुण्ड जिसमेंसे रोहितास्या नदी निकलती है—
दे० लोक/३/१० । २. हिमवात् पर्वतस्थ एक कूट—दे० लोक/४/४ ।
३. रोहितास्या कूटकी स्वामिनी देवी—दे० लोक/४/४ ।

रौद्रध्यान—हिंसा आदि पाप कार्य करके गर्वपूर्वक डोरो मारते
रहनेका भाव रौद्रध्यान कहलाता है । यह अरयन्त अनिष्टकारी है ।
हीनाधिक रूपसे पंचम गुणस्थान तक ही होना सम्भव है, आगे नहीं ।

१. रौद्र सामान्य का लक्षण

भ. आ./भू/१०३/१५२८ तैणिकमोससारखणेषु तह चैव छत्रिविहारभे ।
रुद्रं कसायसह्य भ्राणं भणियं समासेण । १७०३। = दूसरेके द्रव्य
लेनेका अभिप्राय, झूठ बोलनेमें आनन्द मानना, दूसरेके मारनेका
अभिप्राय, छहकायके जीवोंकी विराधना अथवा असिमसि आदि
परिग्रहके आरम्भ व संग्रह करनेमें आनन्द मानना इनमें जो कषाय

सहित मनको करना वह सक्षेपसे रौद्रध्यान कहा गया है । १७०३।
(भू. आ./१६६) ।

स. सि./६/२५/४४५/१० रुद्र क्रूराशयस्तस्य कर्म तत्र भवं वा रौद्रम् ।
= रुद्रका अर्थ क्रूर आशय है, इसका कर्म या इसमें होनेवाला (भाव)
रौद्र है । (रा. वा./६/२८/२/६२७/२८); (ज्ञा./२६/२), (भा. पा./टी/७५/२२६/१७) ।

म. पु./२१/४२ प्राणिनां रोदनाद् रुद्र क्रूर सत्त्वेषु निर्घृण । पुमास्तत्र
भवं रौद्रं विद्धि ध्यानं चतुर्विधम् । ४२। = जो पुरुष प्राणियोंको
रुजाता है वह रुद्र क्रूर अथवा सब जीवोंमें निर्दय कहलाता है ऐसे
पुरुषमें जो ध्यान होता है उसे रौद्रध्यान कहते हैं । ४२। (भ. आ./
वि./१७००/१५३० पर उद्धृत) ।

चा. सा./१७०/२ स्वसवेद्यमाध्यात्मिकं (रौद्रध्यानम्) । = जिसे अपना
ही आत्मा जान सके उसे आध्यात्मिक रौद्रध्यान कहते हैं ।

नि. सा./ता. वृ./५६ चौरजारशात्रवजनवधधनसन्नबद्धमहद्वेषजनित
रौद्रध्यानम् । = चोर-जार्-शत्रुजनोके वध-बन्धन सम्बन्धी महाद्वेषसे
उत्पन्न होनेवाला जो रौद्रध्यान ।

२. रौद्रध्यानके भेद

त. सू./६/३५ हिंसानृतस्तेयविषयसरक्षणैर्मयो रौद्रम्... । ३५। = हिंसा-
असत्य, चोरी और विषय संरक्षणके लिए सतत चिन्तन करना रौद्र-
ध्यान है । ३५।

म. पु./२१/४२ हिंसानन्दमृषानन्दस्तेयसरक्षणात्मकम् । ४३। = हिंसानन्द,
मृषानन्द, स्तेयानन्द और संरक्षणानन्द अर्थात् परिग्रहकी रक्षामें
रात-दिन लगा रहकर आनन्द मानना ये रौद्रध्यानके चार भेद हैं
। ४३। (चा. सा./१७०/२); (ज्ञा./२६/३); (का. अ./४७३-४७४) ।
चा. सा./१७०/१ रौद्रं च बाह्याध्यात्मिकभेदेन द्विविधम् । = रौद्र-
ध्यान भी बाह्य और आध्यात्मिकके भेदसे दो प्रकारका है ।

३. रौद्रध्यानके भेदोंके लक्षण

चा. सा./१७०/२ तीव्रकषायानुरंजनं हिंसानन्दं प्रथमरौद्रम् । स्वबुद्धि-
विकल्पितयुक्तिभिः परेषा श्रद्धेयरूपाभिः परवञ्जनं प्रति मृषाकथने
संकल्पाध्यवसानं मृषानन्दं द्वितीयरौद्रम् । हठात्कारेण प्रमादप्रती-
क्षया वा परस्वापहरणं प्रति संकल्पाध्यवसानं तृतीयरौद्रम् । चेतना-
चेतन लक्षणैस्वपरिग्रह ममेवेदं स्वमहमेवास्य स्वाभीरयभिनिवेशात्-
दपहारकषयापादनेन संरक्षणं प्रति संकल्पाध्यवसानं संरक्षणानन्दं
चतुर्थं रौद्रम् । = तीव्रकषायके उदयसे हिंसामें आनन्द मानना
पहला रौद्रध्यान है । जिन पर दूसरोको श्रद्धा न हो सके ऐसी
अपनी बुद्धिके द्वारा कल्पना की हुई युक्तियोंके द्वारा दूसरोको
ठगनेके लिए झूठ बोलनेके संकल्पका बार-बार चिन्तन करना
मृषानन्द रौद्रध्यान है । जबरदस्ती अथवा प्रमादकी प्रतीक्षापूर्वक
दूसरेके धनको हरण करनेके संकल्पका बार-बार चिन्तन करना
तीसरा रौद्रध्यान है । चेतन-अचेतनरूप अपने परिग्रहमें-यह मेरा
परिग्रह है, मैं इसका स्वामी हूँ, इस प्रकार ममत्व रखकर उसके
अपहरण करने वालेका नाश कर उसकी रक्षा करनेके संकल्पका
बार-बार चिन्तन करना विषय संरक्षणानन्द नामका चौथा रौद्र-
ध्यान है ।

का. अ./४७५-४७६ हिंसार्णदेण जुदो असच्च-वयणेण परिणदो जो हु ।
तरथेव अधिर-चित्तोसद् भ्राण हवे तस्स । ४७६। पर-विसय-हरण-
सीतोसगीय-विसए सुरकवणे दुक्खो । तग्गय-चित्ताविट्ठो गिरतर
तं पि रुद्रं पि । ४७६। = जो हिंसामें आनन्द मानता है, और
असत्य बोलनेमें आनन्द मानता है तथा उसीमें जिसका चित्त विकसित
रहता है, उसके रौद्रध्यान होता है । ४७६। जो पुरुष दूसरोको
विषयसामग्रीको हरनेका स्वभाव वाला है, और अपनी विषय-

सामग्रीकी रक्षा करनेमें चतुर है, तथा निरन्तर जिसका चित्त इन कामोंमें लगा रहता है वह भी रौद्रध्यानी है ।

ज्ञा./२६/४-२४ का भावार्थ—हते निष्पोडिते ध्वस्ते जन्तुजाते कदर्थिते । स्वेन चान्येन यो हर्षस्तद्विसारौद्रमुच्यते । ४। असत्यकल्पनाजाल-कश्मलीकृतमानस' । चेष्टते यज्जनस्तद्धि मृषारौद्रं प्रकीर्तितम् । १६। यच्चौर्याय शरीरिणामहरहश्चिन्ता समुत्पद्यते—कृत्वा चौर्यमपि प्रमोदमत्तुल कुर्वन्ति यत्संततम् । चौर्येणापि हते परै, परधने यज्जायते सभ्रम—स्तच्चौर्यपभवं वदन्ति निपुणा रौद्रं मुनिन्दा-स्परम् । २५। बह्वारम्भपरिग्रहेषु नियतं रक्षार्थमभ्युच्यते—यत्संकल्प परम्परा वितनुते प्राणीह रौद्राशय । यच्चालम्ब्य महत्त्वमुन्नतमना राजेत्यहं मन्यते—तत्सुर्यं प्रवदन्ति निर्मलधियो रौद्रं भवाशसिनाम् । २६। = १. जीवोंके समूहको अपनेसे तथा अन्यके द्वारा मारे जाने पर तथा पीडित किये जाने पर तथा ध्वंस करने पर और धात करनेके सम्बन्ध मिलाये जाने पर जो हर्ष माना जाये उसे हिंसानन्दनामा रौद्रध्यान कहते हैं । ४। बलि आदि देकर यशलाभका चिन्तन करना । ७। जीवोंको खण्ड करने व दग्ध करने आदिको देखकर खुश होना । ८। युद्धमें हार-जीत सम्बन्धी भावना करना । १०। बैरीसे बदला लेनेकी भावना । ११। परलोकमें बदला लेनेकी भावना करना । १२। हिंसानन्दी रौद्रध्यान है । (म. पु./२१/४५) । २. जो मनुष्य असत्य झूठी कल्पनाओंके समूहसे पापरूपी मैलसे मलिन-चित्त होकर जो कुछ चेष्टा करे उसे निश्चय करके मृषानन्द नामा रौद्रध्यान कहा है । १६। जो ठगईके शास्त्र रचने आदिके द्वारा दूसरोंको आपदामें डालकर धन आदि सचय करे । १७-१९। असत्य बोलकर अपने शत्रुको दण्ड दिलाये । २०। वचन चातुर्यसे मन-वाञ्छित प्रयोजनोंकी सिद्धि तथा अन्य व्यक्तियोंको ठगनेकी । २१-२२। भावनाएँ बनाय रखना मृषानन्दी रौद्रध्यान है । ३ जीवोंके चौर्यकर्मके लिए निरन्तर चिन्ता उत्पन्न हो तथा चोरी कर्म करके भी निरन्तर अतुल हर्ष मानें आनन्दित हो अन्य कोई चोरीके द्वारा परधनको हरे उसमें हर्ष माने उसे निपुण पुरुष चौर्यकर्मसे उत्पन्न हुआ रौद्रध्यान कहते हैं, यह ध्यान अतिशय निन्दाका कारण है । २५। असुक स्थानमें बहुत धन है जिसे मैं तुरत हरण करके लानेमें समर्थ हूँ । २६। दूसरोंके द्वेषादि सबको मेरे ही आधीन समझो, क्योंकि मैं जब चाहूँ उनको शरण करके जा सकता हूँ । २७-२८। इत्यादि रूपचिन्तन चौर्यान्न्द रौद्रध्यान है । ४. यह प्राणी रौद्र (क्रूर) चित्त होकर बहुत आरम्भ परिग्रहोमें रक्षार्थ नियमसे उद्यम करे और उसमें ही सकल्पकी परम्पराको विस्तारे तथा रौद्रचित्त होकर ही महत्ताका अवलम्बन करके उन्नतचित्त हो, ऐसा माने कि मैं राजा हूँ, ऐसे परिणामको निर्मल बुद्धिवाले महापुरुष ससारकी बाधा करने वाले जीवोंके चौथा रौद्रध्यान है । २६। मैं बाहुबलसे सैन्यबलसे सम्पूर्ण पुर ग्रामोंको दग्ध करके असाध्य ऐश्वर्यको प्राप्त कर सकता हूँ । ३०। मेरे धन पर दृष्टि रखने वालोंको मैं क्षण भरमें दग्ध कर दूँगा । ३१। मैंने यह राज्य शत्रुके मस्तक पर पाँव रखकर उसके दुर्गमें प्रवेश करके पाया है । ३३। इसके अतिरिक्त जल, अग्नि, सर्प, विशादिके प्रयोगों द्वारा भी मैं समस्त शत्रु-समूहको नाश करके अपना प्रताप स्फुरायमान कर सकता हूँ । ३४। इस प्रकार चिन्तन करना विषय संरक्षणानन्द है ।

४. रौद्रध्यानके बाह्यचिह्न

म. पु./२१/४६-५३ अनानुशस्य हिसोपकरणादानतत्कथा । निसर्ग-हिसता चेति लिङ्गान्यस्य स्मृतानि वै । ४६। वाक्पाठ्यादिलिङ्ग तद् द्वितीय रौद्रमिष्यते । ५०। प्रतीतलिङ्गमेवैतद् रौद्रध्यानद्वयं

भुवि ... ५२। बाह्यन्तु लिङ्गमस्याहुः भूभङ्ग मुखविक्रियाम् । प्रस्वेदमङ्गकम्प च नेत्रयोश्चातिताम्रताम् । ५३। = क्रूर होना, हिसाके उपकरण तलवार आदिको धारण करना, हिसाकी ही कथा करना, और स्वभावसे ही हिंसक होना ये हिंसानन्द रौद्रध्यानके चिह्न माने गये हैं । ४६। कठोर वचन आदि बोलना द्वितीय रौद्रध्यानके चिह्न है । ५०। स्तेयानन्द और संरक्षणानन्द रौद्रध्यानके बाह्यचिह्न ससारमें प्रसिद्ध है । ५२। भौह टेढ़ी हो जाना, मुखका विकृत हो जाना, पसीना आने लगना, शरीर कँपने लगना और नेत्रोंका अतिक्रम्य लाल हो जाना आदि रौद्रध्यानके बाह्यचिह्न है । ५३। (ज्ञा./२६/२७-३८) ।

चा. सा./१७०/१ परानुमेय परुषनिष्ठुराक्रोशननिर्भर्त्सनबन्धनतर्जन-ताडनपीडनपरदारोत्क्रामणादिलक्षणम् । = कठोर वचन, मर्मभेदी वचन, आक्रोश वचन, तिरस्कार करना, बाँधना, तर्जन करना, ताडन करना तथा परस्त्रीपर अतिक्रमण करना आदि बाह्य रौद्र-ध्यान कहलाता है ।

ज्ञा./२६/५-१६ अनारतं निष्करुणस्वभावः स्वभावतः क्रोधकषायदीप्तः । मदोद्धतः पापमतिः कुशीलः स्यान्नास्तिको यः स हि रौद्रधामा । ५। अभिलषति नितान्तं यत्परस्यापकारं, व्यसनविशिखभिन्नं वीक्ष्य यत्तोषमेति । यदिह गुणशरिष्ठं द्वेष्टि दृष्ट्वान्यभूतिः भवति हृदि सशक्यस्तद्धि रौद्रस्य लिङ्गम् । १३। हिसोपकरणादान क्रूरसत्त्वेध्वनु-ग्रहम् । निस्त्रिशतादिसिद्धानि रौद्रं बाह्यानि देहिन् । १५। = जो पुरुष निरन्तर निर्दय स्वभाववाला हो, तथा स्वभावसे ही क्रोध कषायसे प्रवृत्त हो तथा मदसे उद्धत हो, जिसकी बुद्धि पाप रूप हो, तथा कुशीला हो, व्यभिचारी हो, नास्तिक हो वह रौद्र-ध्यानका घर है । ५। (ज्ञा./२६/६) । जो अन्यका बुरा चाहे तथा गरको कष्ट आपदारूप बाणोंसे भेदा हुआ दुःखी देखकर सन्तुष्ट हो तथा गुणोंसे गरुवा देखकर अथवा अन्यके सम्पदा देखकर द्वेष रूप हो, अपने हृदयमें शक्य सहित हो सो निश्चय करके रौद्रध्यानका चिह्न है । १३। हिसाके उपकरण शस्त्रादिकका संग्रह करना, क्रूर जीवोंका अनुग्रह करना और निर्दयतादिकभाव रौद्रध्यानके देहधारियोंके बाह्यचिह्न है । १५।

५. रौद्रध्यानमें सम्भव भाव व लेख्या

म. पु./२१/४४ प्रकृष्टतरदुर्लेश्यात्रयोपोद्भवत्वं हितम् । अन्तर्मुहूर्तकालोत्थं पूर्ववज्जाव इष्यते । ४४। (परीक्षज्ञानत्वादौदयिकभावं वा भावलेख्या-कषायप्राधान्यात् । चा. सा.) । = यह रौद्रध्यान अत्यन्त अशुभ है, कृष्ण आदि तीन खोटी लेख्याओंके बलसे उत्पन्न होता है । अन्त-र्मुहूर्त काल तक रहता है और पहले आर्तध्यानके समान इसका क्षायोपशमिक भाव होता है । ४४। (ज्ञा./२६/३६, ३६) । अथवा भावलेख्या और कषायोंकी प्रधानता होनेसे औदयिक भाव है । (चा. सा./१७०/५) ।

* रौद्रध्यानका फल—दे० आर्त/२।

६. रौद्रध्यानमें सम्भव गुणस्थान

त. सू./६/३५ रौद्रमविरतदेशविरतयो । ३५। वह रौद्रध्यान अविरत और देशविरतके होता है ।
म. पु./२१/४३ षष्ठात्तु तद्गुणस्थानात् प्राक् पञ्चगुण भूमिकम् । = यह ध्यान छठवें गुणस्थानके पहले-पहले पाँच गुणस्थानोंमें होता है । (चा. सा./१७१/१) । (ज्ञा./२६/३६) ।
द्र. स/टो./४२/२०२/६ रौद्रध्यानं तारतम्येन मिथ्यादृष्ट्यादिपञ्चम-गुणस्थानवृत्तिजोवसंभवम् । = यह रौद्रध्यान मिथ्यादृष्टिसे पंचम गुणस्थान तकके जीवोंके तारतम्यसे होता है ।

७. देशव्रतीको कैसे सम्भव है

स. सि./१/३६/४४८/८ अविरतस्य भवतु रौद्रध्यानं, देशविरतस्य कथम् । तस्यापि हिंसायावेशाद्विज्ञादिसंरक्षणतन्त्रत्वाच्च कदाचिद् भवितुमर्हति । तत्पुनर्नरकादीनामकारणं ; सम्यग्दर्शनसामर्थ्यात् । = प्रश्न—रौद्रध्यान अविरतके होओ, देशविरतके कैसे हो सकता है ? उत्तर—हिंसादिके आवेशसे या विज्ञादिके संरक्षणके परतन्त्र होनेसे कदाचित् उसके भी हो सकता है । किन्तु देशविरतके होनेवाला रौद्रध्यान नरकादि दुर्गतियोंका कारण नहीं है, क्योंकि सम्यग्दर्शनकी ऐसी ही सामर्थ्य है । (रा. वा./१/३६/३/६२६/१६), (ज्ञा./२६/३६ भाषा) ।

८. साधुको कदापि सम्भव नहीं

स सि /१/३६/४४८/९० संयतस्य तु न भवत्येव, तदारम्भे संयमप्रच्युते । = परन्तु यह सयतके तो होता ही नहीं है, क्योंकि उसका आरम्भ होनेपर सयमसे पतन हो जाता है । (रा. वा./१/३६/४/६२६/२२) ।

रौरव—पहले नरकका तीसरा पटल—दे० नरक/५/१९ ।

रौरुक—प्रथम पृथिवीका तीसरा पटल—वे० नरक/५/१९ ।

[ल]

लंका—रावणके पूर्वज मेघवाहनको राक्षसोंके इन्द्र ने उसकी रक्षार्थ यह लंका नामका द्वीप प्रदान किया था । यह त्रिकूटीचल पर्वतकी तलहटीमें है । (प पु./५/१५७) ।

लंब संक्षेत्र—Right Prism. (ज प./प्र.१०५) ।

लंबित—कायोत्सर्गका एक अतिचार—दे० व्युत्सर्ग/१ ।

लवखण—वि श १३ में अणुत्रय रयण पईवके रचयिता एक अप्रगंश कवि थे । (हि जै. सा इ./३० कामता) ।

लक्षण—

रा वा /२/८/२/११६/६ परस्परउपतिकरे सति येनान्यत्र लक्ष्यते तल्लक्षणम् । २। = परस्पर सम्मिलित वस्तुओंसे जिसके द्वारा किसी वस्तुका पृथक्करण हो वह उसका लक्षण होता है ।

न्या वि /टी /१/३/८५/५ लक्ष्यतेऽनेनेति लक्षणम् । = जिसके द्वारा पदार्थ लक्ष्य किया जाये उसको लक्षण कहते हैं ।

घ /७/२.१.४५/६६/३ कि लवखणं । जस्साभावे दवस्साभावो होदि त तस्स लवखण, जहा पोग्गलदवस्स रूव-रस-गंध-फासा, जीवस्स उवजोगो । = जिसके अभावमें द्रव्यका भी अभाव हो जाता है, वही उस द्रव्यका लक्षण है । जैसे—पुद्गल द्रव्यका लक्षण रूप, रस, गन्ध और, जीवका उपयोग ।

न्या. दी /१/३३/५/६ व्यतिकीर्ण-वस्तुव्यावृत्तिहेतुलक्षणम् । = मिली हुई वस्तुओंमेंसे किसी एक वस्तुको अलग करनेवाले हेतुको (चिह्नको) लक्षण कहते हैं ।

दे गुण /१/१ (शक्ति लक्षण, विशेष, धर्म, रूप, गुण, स्वभाव, प्रकृति, शील, आकृति और अग एकार्थवाची है ।) ।

न्या सू /टी /१/१२/८/७ उद्दिष्टस्य तत्त्वव्यवच्छेदको धर्मो लक्षणम् । = उद्दिष्ट (नाम मात्रसे कहे हुए) पदार्थके अर्थार्थ (विपरीत या असत्य) बोधके निवारण करनेवाले धर्मको लक्षण कहते हैं ।

२. लक्षणके भेद व उनके लक्षण

रा वा /२/८/२/११६/११ तल्लक्षणं द्विविधम्-आत्मभूतमनात्मभूत चेति । तत्र आत्मभूतमग्नेरौष्ण्यम्, अनात्मभूतं देवदत्तस्य दण्ड । = लक्षण आत्मभूत और अनात्मभूतके भेदसे दो प्रकार होता है । अग्निकी

उष्णता आत्मभूत लक्षण है और दण्डी पुरुषका नेदक दण्ड अनात्मभूत है ।

न्या. दी /१/३४/६/४ द्विविधं लक्षणम्, आत्मभूतमनात्मभूत चेति । तत्र यद्वस्तुस्वरूपानुप्रविष्ट तदात्मभूतम्, यथाग्नेरौष्ण्यम् । औष्ण्यं ह्यग्नेः स्वरूपं सदग्निमवादिभ्यो व्यावर्त्तयति । तद्विपरीतमनात्मभूतम्, यथादण्ड पुरुषस्य । दण्डिनमानयेत्युक्ते हि दण्डं पुरुषाननुप्रविष्ट एव पुरुष व्यावर्त्तयति । = लक्षणके दो भेद हैं—आत्मभूत और अनात्मभूत । जो वस्तुके स्वरूपमें मिला हुआ हो उसे आत्मभूत लक्षण कहते हैं जैसे अग्निकी उष्णता । यह उष्णता अग्निका स्वरूप होती हुई अग्निको जलादि पदार्थोंसे जुदा करती है । इसलिए उष्णता अग्निका आत्मभूत लक्षण है । जो वस्तुके स्वरूपमें मिला हुआ न हो उससे पृथक् हो उसे अनात्मभूत लक्षण कहते हैं । जैसे—दण्डीपुरुषका दण्ड । दण्डीको लाओ ऐसा कहनेपर दण्ड पुरुषमें न मिलता हुआ ही पुरुषको पुरुषभिन्न पदार्थोंसे पृथक् करता है । इसलिए दण्ड पुरुषका अनात्मभूत लक्षण है ।

३. लक्षणाभास सामान्यका लक्षण

न्या. दी /१/३४/७/२२ की टिप्पणी सदोषलक्षणं लक्षणाभासम् । = मिथ्या-अर्थात् सदोष लक्षणको लक्षणाभास कहते हैं ।

४. लक्षणाभासके भेद व उनके लक्षण

न्या./दी /१/३५/७/३ त्रयोऽलक्षणाभासभेदाः — अव्याप्तमतिव्याप्तसंभवि चेति । तत्र लक्ष्यैकदेशवृत्त्यव्याप्तम्, यथा गोः शबलेयत्वम् । लक्ष्या-लक्ष्यवृत्त्यव्याप्तम्, यथा तस्यैव पशुत्वम् । बाधितलक्ष्यवृत्त्य-संभवति, यथा नरस्य विषाणित्वम् । = लक्षणाभासके तीन भेद हैं—अव्याप्त, अतिव्याप्त, और असंभव । (मोक्ष पंचाशत । १४) लक्ष्यके एक देशमें लक्षणके रहनेको अव्याप्त लक्षणाभास कहते हैं । जैसे—गायका शबलेयत्व । शबलेयत्व सब गायोमें नहीं पाया जाता वह कुछ ही गायोका धर्म है, इसलिए अव्याप्त है । लक्ष्य और अलक्ष्यमें लक्षणके रहनेको अतिव्याप्त लक्षणाभास कहते हैं । जैसे गायका ही पशुत्व लक्षण करना । यह पशुत्व गायके सिवाय अरवादि पशुओंमें भी पाया जाता है इसलिए पशुत्व अतिव्याप्त है । जिसकी लक्ष्यमें वृत्ति बाधित हो अर्थात् जो लक्ष्यमें बिलकुल ही न रहे वह असंभव लक्षणाभास है । जैसे—मनुष्यका लक्षण सीग । सीग किसी भी मनुष्यमें नहीं पाया जाता । अतः वह असंभव लक्षणाभास है । (मोक्ष-पंचाशत/१५-१७) ।

मोक्षपंचाशत/१७ लक्ष्ये त्वनुपपन्नत्वसंभव इतीरित । यथा वर्णादि-युक्तत्वमसिद्धं सर्वथात्मनि । = लक्ष्यमें उत्पन्न न होना सो असंभव दोषका लक्षण है, जैसे आत्मामें वर्णादिकी युक्ति असिद्ध है ।

५. आत्मभूत लक्षणकी सिद्धि

रा. वा./२/८/८-६/११६/२४ इह लोके यद्यदात्मकं न तत्तेनोपयुज्यते यथा शरीर क्षीरात्मकं न तत्तेनैवात्मनोपयुज्यते । जीव एव ज्ञानादन्यत्वे सति ज्ञानारमनोपयुज्यते । आकाशस्य रूपाद्युप-योगाभाववत् । आत्मापि ज्ञानादिस्वभावशक्तिप्रत्ययवशात् घटपटा-याकारावग्रहरूपेण परिणमतीत्युपयोग सिद्धः । = प्रश्न—जैसे दूधका दूध रूपसे परिणमन नहीं होता किन्तु देही रूपसे होता है । उसी तरह ज्ञानात्मक आत्माका ज्ञानरूपसे परिणमन नहीं हो सकेगा । अतः जीवके ज्ञानादि उपयोग नहीं होना चाहिए । उत्तर—चूँकि आत्मा और ज्ञानमें अभेद है इसलिए उसका ज्ञान रूपसे उपयोग होता है । आकाशका सर्वथा भिन्न रूपादिक रूपसे उपयोग नहीं देखा जाता । ज्ञान पर्यायके अभिमुख जीव भी ज्ञान व्यपदेशको प्राप्त करके स्वयं

घट-पटादि विषयक अवग्रहादि ज्ञान पर्यायको धारण करता है अतः द्रव्य दृष्टिसे उसका ही उसी रूपसे परिणमन सिद्ध होता है।

६. लक्ष्य-लक्षणमें समानाधिकरण अवश्य है

न्या. दी./१/१४/७/२ असाधारणधर्मवचनं लक्षणम् इति केचित्, तदनुपपन्नम्. लक्ष्यधर्मवचनस्य लक्षणधर्मवचनेन समानाधिकरण्याभाव-प्रसङ्गात्। = असाधारणधर्मके कथनको लक्षण कहते हैं ऐसी किन्हींका कहना ठीक नहीं है। क्योंकि लक्ष्यरूप धर्मवचनका लक्षणरूप धर्म वचनके साथ समानाधिकरणके अभावका प्रसंग आता है।

न्या. दी./भाषा/१/१४/१४१/२० यह नियम है कि लक्ष्य-लक्षण भाव-स्थलमें लक्ष्य वचन और लक्षण वचनमें एकार्थप्रतिपादकत्व रूप समानाधिकरण्य अवश्य होता है।

★ अन्य सम्बन्धित विषय

१. लक्ष्य लक्षण सम्बन्ध—दे० संबध।
२. लक्षण निमित्त ज्ञान—दे० निमित्त/२।
३. भगवान्के १००८ लक्षण—दे० अर्हत/१।

लक्षण पंक्ति व्रत—किसी भी दिनसे प्रारम्भ करके एक उपवास एक पारणा क्रमसे २०४ उपवास पूरे करे। नमस्कार मन्त्रका त्रिकाल जाप करे। अपरनाम दिव्य लक्षणपंक्ति व्रत है। (ह. पु./३४/१३३), (व्रतविधान सं./१०२)।

लक्षपर्वा—एक औषध विद्या—दे० विद्या।

लक्ष्मण—प. पु./सर्ग/रत्नलोक राजा दशरथके पुत्र तथा रामके भाई थे (२५/१२६) भ्रातृ प्रेमसे भाईके साथ जनमें गये (३१/१६१)। सीताहरण पर रावणके साथ युद्ध कर उसको मारा (७६/३३)। अन्तमें देव कथित रामकी मृत्युके झूठे समाचार सुनकर नरकको प्राप्त हुए (११५/८-१२), यह आठवाँ नारायण था—(विशेष दे० शलाका पुरुष/४)।

लक्ष्मण पुरी—वर्तमान लखनऊ (म. पु./प्र. ५०/पं. पन्नालाल)।

लक्ष्मण देव—णमिणाह्वरिउ के रचयिता मालवा देशवासी एक अपभ्रंश कवि। समय—वि. श. १४। (ती./४/२०७)।

लक्ष्मण सेन—१. सेनसंबंधी अर्हत्सेनके शिष्य रविषेण (पद्म पुराणके कर्त्ता) के गुरु थे। समय—वि. ६००-७२० (ई. ६२३-६६३)—दे० इतिहास/७/६। २. काष्ठासधी रत्नकीतिके शिष्य तथा भौमसेनके गुरु थे। समय—वि. १४८१ (ई. १४१४)—दे० इतिहास/७/६।

लक्ष्मी—१. शिखरी पर्वतस्थ पुण्डरीक हृदकी स्वामिनी देवी—दे० लोक/३/१। २. शिखरी पर्वतस्थ कूट और निवासिनी देवी—दे० लोक/५/४। ३. विजयार्थकी दक्षिण श्रेणीका एक नगर।—दे० विद्याधर।

लक्ष्मीचंद्र—१. नन्दिसंघ बलात्कारगणकी सूरत शाखा में मन्त्रि-भूषणके शिष्य तथा ब्र० नेमिदत्त के गुरु थे। समय—वि. १५७५ (ई. १५१८)—दे० इतिहास/७/४। २. मेघमाला के रचयिता एक मराठी कवि। समय—ग्रन्थ का रचनाकाल शक १६५० (ई. १७२८)। (ती./४/३२१)। ३. अणुवेववा दोहा के रचयिता एक अपभ्रंश कवि। समय—(ती./४/२४३)।

लक्ष्मीमती—रुचक पर्वत निवासिनी दिवकुमारी देवी—दे० लोक/५/१३।

लक्ष्य—प. प्र./टी./१/१६ लक्ष्यं संकल्परूपं चित्तम्। = संकल्परूप मनको लक्ष्य कहते हैं।

लक्ष्य लक्षण सम्बन्ध—दे० सम्बन्ध।

लघिमा विक्रिया ऋद्धि—दे० ऋद्धि/३।

लघोयस्त्रय—आ. अकलंक भट्ट (ई. ६२०-६८०)। कृत न्याय-विषयक ७८ कारिका प्रमाणसंस्कृत ग्रन्थ। इसमें छोटे-छोटे तीन प्रकारका संग्रह है—प्रमाण प्रवेश, नय प्रवेश व प्रवचन प्रवेश। वास्तवमें ये तीनों प्रकरण ग्रन्थ थे, पीछे आचार्य अनन्तवीर्यने (ई. १७७-१०२५) ने इन तीनोंका संग्रह करके उसका नाम लघोयस्त्रय रख दिया होगा ऐसा अनुमान है। इन तीनों प्रकरणोंपर स्वयं आ. अकलंक भट्ट कृत एक विवृत्ति भी है। यह विवृत्ति भी रत्नलोक निबद्ध है। इसपर निम्न टीकाएँ लिखी गयी हैं—१. आ. प्रभाचन्द्र (ई. ६५०-१०२०) कृत न्यायकुमुदचन्द्र, २. आ. अभयचन्द्र (ई. श. १३) कृत स्याद्वादभूषण। (ती०/२/३०६)।

लघु—प. प्र./टी./१/२८ लघु शीघ्रमन्तर्मुहूर्तेन। = लघु अर्थात् शीघ्र अर्थात् अन्तर्मुहूर्त में।

लघुचूर्ण—दे० कोश २। परिशिष्ट १।

लघु तत्त्वस्फोट—आचार्य अमृतचन्द्र (ई. ६०५-६५५) कृत अध्यात्म विषयक संस्कृत पद्यबद्ध ग्रन्थ।

लघुरिक्थ—Logarithum (घ. ५/प्र. २८)।—दे० गणित/II/२।

लघु सर्वज्ञ सिद्धि—आ. अनन्तकीर्ति (ई. श. ६ उत्तरार्ध) कृत संस्कृत भाषाका एक न्याय विषयक ग्रन्थ है। (ती./३/१६७)।

लता लतांग—कालका प्रमाण विशेष—दे० गणित/II/१/४।

लता वक्र—कायोत्सर्गका अतिचार—दे० व्युत्सर्ग/१।

लब्ध—Quotient (घ. ५/प्र. २८)।

लब्ध राशि— $\frac{\text{त्रैराशिक गणितमें फल} \times \text{इच्छा}}{\text{प्रमाण}}$ —दे० गणित/II/४।

लब्धि—ज्ञान आदि शक्ति विशेषको लब्धि कहते हैं। सम्यक्त्व प्राप्तिमें पाँच लब्धियोंका होना आवश्यक बताया गया है, जिनमें करण लब्धि उपयोगात्मक होनेके कारण प्रधान है। इनके अतिरिक्त जीवमें संयम या संयमासंयम आदिको धारण करनेकी योग्यताएँ भी उस-उस नामकी लब्धि कही जाती हैं।

१	लब्धि सामान्य निर्देश
१	लब्धि सामान्यका लक्षण १ क्षयोपशम ज्ञातके अर्थमें, २ गुण प्राप्तिके अर्थमें; ३ आगमके अर्थमें।
*	ज्ञान व सम्यक्त्वकी अपेक्षा लब्धिके लक्षण —दे० उपलब्धि।
*	लब्धिरूप मति श्रुतज्ञान —दे० वह वह नाम।
*	लब्धि व उपयोगमें सम्बन्ध —दे० उपयोग/II।
२	क्षायिक व क्षयोपशमकी दानादि लब्धियाँ।
*	क्षायिक दानादि लब्धियाँ तथा तत्सम्बन्धी शंकाएँ —दे० वह वह नाम।
३	नव केवललब्धि नाम निर्देश।

- २ उपशम सम्यक्त्व सम्बन्धी पंच लब्धि निर्देश
- १ पंच लब्धि निर्देश ।
- २ क्षयोपशम लब्धिका लक्षण ।
- ३ विशुद्धि लब्धिका लक्षण ।
- ४ प्रायोग्य लब्धिका स्वरूप ।
- * काल (प्रायोग्य) लब्धिमें करणके बिना शेष चार लब्धियोंका अन्तर्भाव —दे० नियति/२ ।
- ५ सम्यक्त्वकी प्राप्तिमें पंच लब्धिका स्थान ।
- ६ पाँचोंमें करण लब्धिकी प्रधानता ।
- ३ देशना लब्धि निर्देश
- १ देशना लब्धिका लक्षण ।
- २ सम्यग्दृष्टिके उपदेशसे ही देशना सम्भव है ।
- ३ मिथ्यादृष्टिके उपदेशसे देशना सम्भव नहीं ।
- ४ कदाचित् मिथ्यादृष्टि से भी देशना की सम्भावना
- ५ निश्चय तत्त्वोंका मनन करनेपर देशना लब्धि सम्भव है ।
- * देशनाका संस्कार अन्य भवोंमें भी साथ जाता है —दे० संस्कार/१ ।
- ४ करण लब्धि निर्देश
- * करणका लक्षण । —दे० करण ।
- * अधःप्रवृत्त आदि त्रिकरण । —दे० करण ।
- १ करण लब्धि व अन्तरंग पुरुषार्थमें केवल भाषा भेद है ।
- * पाँचोंमें करण लब्धिकी प्रधानता । —दे० लब्धि/२ ।
- २ करण लब्धि मध्यके ही होती है ।
- ३ करण लब्धि सम्यक्त्वादिका साक्षात् कारण है ।
- ५ संयम व संयमासंयम लब्धि स्थान
- १ संयम व संयमासंयम लब्धि स्थानका लक्षण ।
- २ संयम व संयमासंयम लब्धि स्थानके भेद ।
- ३ प्रतिपद्यमान व उत्पाद संयम व संयमासंयम लब्धि-स्थानका लक्षण ।
- ४ प्रतिपातगत संयम व संयमासंयम लब्धि स्थानका लक्षण ।
- ५ अनुभयगत व तद्व्यतिरिक्त संयम व संयमासंयम लब्धि स्थानका लक्षण ।
- ६ एकान्तानुवृद्धि संयम व संयमासंयम लब्धि-स्थानका लक्षण ।
- ७ जघन्य व उत्कृष्ट संयम व संयमासंयम लब्धिस्थानका स्वामित्व ।
- ८ भेदातीत लब्धि स्थानोंका स्वामित्व ।

१. लब्धि सामान्य निर्देश

१. लब्धि सामान्यका लक्षण

१. क्षयोपशम शक्तिके अर्थमें

स. सि/२/१८/१७६/३ लम्भन लब्धि । का पुनरसौ । ज्ञानावरणकर्म-क्षयोपशमविशेष । यत्सन्निधानादात्मा द्रव्येन्द्रियनिवृत्ति प्रति-व्याप्रियते । = लब्धि शब्दका व्युत्पत्ति-लभ्य अर्थ—लम्भनं लब्धि—प्राप्त होना । ज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशम विशेषको लब्धि कहते हैं । जिसके संसर्गसे आत्मा द्रव्येन्द्रियकी रचना करनेके लिए उद्यत होता है । (रा वा /२/१८/१-२/१३०/२०) ।

घ १/१.१.३३/२३६/४ इन्द्रियनिवृत्तिहेतु क्षयोपशमविशेषे लब्धि । यत्सन्निधानादात्मा द्रव्येन्द्रियनिवृत्ति प्रति व्याप्रियते स ज्ञानावरण-क्षयोपशमविशेषो लब्धिरिति विज्ञायते । = इन्द्रियकी निवृत्तिका कारणभूत जो क्षयोपशम विशेष है, उसे लब्धि कहते हैं । अर्थात् जिसके सन्निधानसे आत्मा द्रव्येन्द्रियकी रचनामें व्यापार करता है, ऐसे ज्ञानावरणके क्षयोपशम विशेषको लब्धि कहते हैं ।

गो. जी/जी प्र/१६५/३११/४ मतिज्ञानावरणक्षयोपशमोत्था विशुद्धि-जीवस्वार्थग्रहणशक्तिलक्षणलब्धि । = जीवके जो मतिज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशमसे उत्पन्न हुई विशुद्धि और उससे उत्पन्न पदार्थोंका ग्रहण करनेको जो शक्ति उसको लब्धि कहते हैं ।

२. गुणप्राप्तिके अर्थमें

स. सि/२/४७/११७/८ तपोविशेषाद्विप्राप्तिर्लब्धि । = तप विशेषसे प्राप्त होनेवाली ऋद्धिको लब्धि कहते हैं । (रा वा /२/४७/१६१/३१) ।

घ. प/३.४१/८६/३ सम्मद्ब्रह्मण-गाण-चरणेषु जीवस्स समागमो लब्धीणाम् । = सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र्यमें जो जीवका समागम होता है उसे लब्धि कहते हैं ।

घ १३/५.५.५०/२८३/१ विकरणा अणिमादयो मुक्तिपर्यन्ता इष्टवस्तूप-लम्भा लब्ध्य । = मुक्ति पर्यंत इष्ट वस्तुको प्राप्त कराने वाली अणिमा आदि विक्रियाएँ लब्धि कही जाती हैं ।

नि सा/ता वृ/१६६ जीवाना सुखादिप्राप्तेर्लब्धि । = जीवोंको सुखादि की प्राप्तिरूप लब्धि ।

३. आगमके अर्थमें

घ. १३/५.५.५०/२८३/२ लब्धीना परम्परा यस्मादागमात् प्राप्यते यस्मिन् तत्प्राप्त्युपायो निरूप्यते वा स परम्परालब्धिरागम । = लब्धियोंकी परम्परा जिस आगमसे प्राप्त होती है या जिसमें उनकी प्राप्तिका उपाय कहा जाता है वह परम्परा लब्धि अर्थात् आगम है ।

२. क्षायिक व क्षयोपशमकी दानादि लब्धि

त सू/२/५ लब्ध्य पञ्च (क्षायोपशमिक्य, दानलब्धिर्लाभलब्धि-भोगलब्धिरुपभोगलब्धिर्वीर्यलब्धिश्चेति । रा, वा,) । = पाँच लब्धि होती है—(दानलब्धि, लाभलब्धि, भोगलब्धि, उपभोग-लब्धि, और वीर्यलब्धि) ये पाँच लब्धियों दानान्तराय आदिके क्षयोपशमसे होती हैं । (रा, वा /२/५/८/१०७/२८) ।

घ. ४/१.७.१/१११/३ लब्धी पंच वियत्पा दाण-लाह-भोगुपभोग-वीरिय-मिदि । = (क्षायिक) लब्धि पाँच प्रकारकी है—क्षायिक दान, क्षायिक लाभ, क्षायिक भोग, क्षायिक उपभोग और क्षायिक वीर्य ।

ल सा/सू/१६६/२१८ सत्तण्हं पयडोणं खयाडु अवर तु खइयलद्धी दु । उक्कस्सखइयलद्धोधाइचउक्कखरण हवे । १६६ । = सात प्रकृतियोंके क्षयसे असंयत सम्यग्दृष्टिके क्षायिक सम्यक्त्व रूप जघन्य क्षायिक

लब्धि होती है। और घातिया कर्मके क्षयसे परमात्माके केवल-ज्ञानादिरूप उत्कृष्ट क्षायिक लब्धि होती है। (क्षयोपशम लब्धिका लक्षण—दे० लब्धि/२)।

३. नव केवललब्धिका नाम निर्देश

घ. १/१.१.१/गा. ५८/६४ दाणे लाभे भोगे परिभोगे वीरिए प्र सम्मत्ते ।
नव केवल-लब्धीओ दसण-णाणं चरित्ते य १५८। = दान, लाभ, भोग, परिभोग, वीर्य, सम्यक्त्व, दर्शन, ज्ञान और चारित्र ये नव केवल-लब्धियाँ समझना चाहिए। (वसु. श्रा/५२७), (ज. प/१२/१३१-१३५), (गो. जो./जी. प्र/६३/१६४/६)।

२. उपशम सम्यक्त्व सम्बन्धी पंचलब्धि निर्देश

१. पंचलब्धि निर्देश

नि. सा./ता. वृ./१५६ लब्धि कालकरणोपदेशोपशमप्रायोग्यताभेदात् पञ्चधा । = लब्धि काल, करण, उपदेश, उपशम और प्रायोग्यतारूप भेदोंके कारण पाँच प्रकारकी है।

घ. ६/१.६-८,२/गा. १/२०४ खयउवसमियविसोही देसणपाउगकरण-लब्धी य । चत्तारि वि सामण्णा करणं पुण होह सम्मत्ते । १। = क्षयोप-शम, विशुद्धि, देशना, प्रायोग्यता और करण ये पाँच लब्धि है। (ल. सा./सू./२/४४), (गो. जो./सू./६२१/११००)।

२. क्षयोपशमलब्धिका लक्षण

घ. ७/२.१.४५/८७/३ णाणस्स विणासो खओ णाम, तस्स उवसमो एग-देसखओ, तस्स खओवसमसण्णा । तत्थ णाणमण्णाणं वा उप्प-ज्जदि त्ति खओवसमिया लब्धी बुच्चदे ।

घ. ७/२.१.७१/१०८/७ उदयमागदानमइहरवेसधावित्तणेण उवसंताणं जेण खओवसमसण्णा अत्थि तेण तत्थुप्पण्णजीवपरिणामो खओव-समलब्धीसिण्णदो । = १. ज्ञानके विनाशका नाम क्षय है। उस क्षयका उपशम हुआ एकदेश क्षय। इस प्रकार ज्ञानके एकदेशीय क्षयकी क्षयोपशम सज्ञा मानी जा सकती है। ऐसा क्षयोपशम होने पर जो ज्ञान या अज्ञान उत्पन्न होता है उसीको क्षायोपशमिक लब्धि कहते हैं। २. उदयमे आये हुए तथा अत्यन्त अल्प देश-घातित्वके रूपसे उपशान्त हुए सम्यक्त्व मोहनीय प्रकृतिके देश-घाती स्पर्धकोका चूँकि क्षयोपशम नाम दिया गया है, इसलिए उस क्षयोपशमसे उत्पन्न जीव परिणामको क्षयोपशमलब्धि कहते हैं।

घ. ६/१.६-८,२/२०४/३ पुव्वसच्चिदकम्ममलपडलस्स अणुभागफहयाणि जदा विसोहीए पडिसमयमणंतगुणहीणाणि होत्रुणुदीरिज्जति तदा खओवसमलब्धी होदि । = पूर्वसचित्त कर्मोंके मलरूप पडलके अनुभाग स्पर्धक जिस समय विशुद्धिके द्वारा प्रतिसमय अनन्तगुण होन होते हुए उदीरणाको प्राप्त किये जाते हैं उस समय क्षयोपशम-लब्धि होती है। (ल. सा./सू./४/४३)।

३. विशुद्धिलब्धिका लक्षण

घ. ६/१.६-८,२/२०४/५ पडिसमयमणंतगुणहीणकमेण उदीरिद्व-अणु-भागफहयजणिदजीवपरिणामो सादादिसुहकम्मबंधणिमित्तो असा-दादि असुहकम्मबंधविरुद्धो विसोही णाम । तिस्से उवलभो विसोहि लब्धी णाम । = प्रतिसमय अनन्तगुणितहीन क्रमसे उदीरित अनु-भाग स्पर्धकोसे उत्पन्न हुआ, साता आदि शुभ कर्मोंके बन्धका निमित्त भूत और असाता आदि अशुभ कर्मोंके बन्धका विरोधी जो जीव परिणाम है, उसे विशुद्धि कहते हैं। उसकी प्राप्तिना नाम विशुद्धिलब्धि है। (ल. सा./सू./५/४४)।

४. प्रायोग्यलब्धिका स्वरूप

घ. ६/१.६-८,२/२०४/६ सव्वकम्माणमुक्कस्सट्ठिदिमुक्कस्साणुभागं च घादिय अंतोकोडाकोडीट्ठिदिमिह वैट्ठणाणुभागे च अवट्ठणं पाओगलब्धी णाम । = सर्व कर्मोंकी उत्कृष्ट स्थिति और उत्कृष्ट अनुभागको घात करके अन्त-कोडाकोडी स्थितिमें, और द्विस्थानीय अनुभागमें अवस्थान करनेको प्रायोग्यलब्धि कहते हैं। (ल. सा./सू./७/४५)।

ल. सा./सू./६-३२/४७-६८ सम्मत्तहिंसुहमिच्छो विसोहिवट्ठीहि वड्ढमाणो हु। अंतोकोडाकोडी सत्तण्हं बंधणं कुणई । १। अंतो-कोडाकोडीठिदं अमत्थाण सत्थणणं च । विचउट्ठणरसं च य बंधणं बंधणं कुणइ । २। मिच्छणथीणति मुरचउ समवज्जपसत्थ-गमणसुभगतिय । णीचुक्कस्सपदेसमणुक्कस्स वा पबंधदि हु । २।

एकट्ठ पमाणमणुक्कस्सपदेसं बंधणं कुणई । २। उदइल्लणं उदये पत्तेकट्ठिदिस्सवेदगो होदि । विचउट्ठणमसत्थे सत्थे उदयल्लरस भुत्तो । २। अजहणमणुक्कस्सपदेसमणुभवदि सोदयाण तु । उदयि-ल्लणं पयडिचउक्कणमुदीरगो होदि । ३। अजहणमणुक्कस्सं ठिदी-तियं होदि सत्तपयडोणं । एवं पयडिचउक्क बंधादिहु होदि पत्तेय । ३। = १. स्थितिबन्ध—प्रथमोपशम सम्यक्त्वके सम्मुख जीव विशुद्धताकी वृद्धि करता हुआ प्रायोग्य लब्धिका प्रथमसे लगाकर पूर्व स्थिति बन्धके संख्यात्वे भागमात्र अन्त कोटाकोटी सागर प्रमाण आयु बिना सात कर्मोंका स्थितिबन्ध करता है। २. अनुभागबन्ध—अप्रशस्त प्रकृतियोंका द्विस्थानीय अनुभाग प्रतिसमय-समय अनन्तगुणा घटता नौघता है और प्रशस्त प्रकृतियोंका चतुस्थानीय अनुभाग प्रतिसमय-समय अनन्तगुणा बढ़ता नौघता है। ३. प्रदेशबन्ध—मिथ्यात्व, अनन्तानुबन्धी चतुष्क, स्त्यानगृद्धि त्रिक, देवचतुष्क, वज्ररूपम नाराच, प्रशस्तविहायोगति सुभगादि तीन, व नीचगोत्र। इन २६ प्रकृतियोंका उत्कृष्ट व अनुत्कृष्ट प्रदेशबन्ध करता है। महादण्डकमें कहीं ६१ प्रकृतियोंका अनुत्कृष्ट प्रदेशबन्ध करता है। २५-२६। ४. उदय उदीरणा—उदयवान् प्रकृतियोंका उदयकी अपेक्षा एक स्थिति जो उदयको प्राप्त हुआ एक निषेध, उसहीका भोक्ता होता है। अप्रशस्त प्रकृतियोंका द्विस्थानरूप और प्रशस्त प्रकृतियोंके चतुस्थानरूप अनुभागका भोक्ता होता है। २६। उदय प्रकृतियोंका अजघन्य वा अनुत्कृष्ट प्रदेशको भोगता है। जो प्रकृति, प्रदेश, स्थिति और अनुभाग उदयरूप हो उन्हींकी उदीरणा करने वाला होता है। ३०। ५. सत्त्व—सत्त्वरूप प्रकृतियोंका स्थिति, अनुभाग, प्रदेश अजघन्य अनुत्कृष्ट है। ६. ऐसे प्रकृति, स्थिति, अनुभाग, प्रदेशरूप चतुष्क है सो बन्ध, उदय उदीरणा सत्त्व इन सबमें कहा। यह क्रम प्रायोग्यलब्धिके अन्त पर्यन्त जानना। ३२।

५. सम्यक्त्वकी प्राप्तिमें पंच लब्धिका स्थान

पं वि/४/१२ लब्धिपञ्चकसामग्रीविशेषात्पात्रता गत । भव्यं सम्य-ग्दगादीना य स मुक्तिपथे स्थितः । १२। = जो भव्यजीव पाँच लब्धिरूप विशेष सामग्रीसे सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप रत्नत्रय-को धारण करनेके योग्य बन चुका है वह मोक्षमार्गमें स्थित हो गया है। १२।

गो जी./जी. प्र./६५१/११००/८ पञ्चलब्धय उपशमसम्यक्त्वे भवन्ति । = पाँचो लब्धि उपशम सम्यक्त्वके ग्रहणमें होती है। (और भी दे० सम्यग्दर्शन/IV/२/६)।

६. पाँचोंमें करणलब्धिकी प्रधानता

घ. ६/१.६-८,२/गा. १/२०५ चत्तारि वि (तद्धि) सामण्णं करणं पुण होइ सम्मत्ते । १। = इन (पाँचो) में से पहली चार तो सामान्य

है अर्थात् भव्य-अभव्य दोनोंके होती है। किन्तु करणलब्धि सम्यक्त्व होनेके समय होती है। (घ. ६/१,६-८,३/२०५/३), (गो. जी./मू./६६१/११००), (ल. सा./मू./३/४२), (द्र. स./टी./३६/१५६/३)।

३. देशनालब्धि निर्देश

१. देशनालब्धिका लक्षण

घ. ६/१,६-८,३/२०४/७ छद्मव-णवपदर्थोवदेशो देसणा णाम । तीए देसणाए परिणदआइरियादीणमुवलभो, देसिदर्थस्स गहण-धारण-विचारणसत्तीए समागमो अ देसणलब्धी णाम । = छद्म द्रव्यो और नौ पदार्थोंके उपदेशका नाम देशना है। उस देशनासे परिणत आचार्य आदिकी उपलब्धिकी और उपदिष्ट अर्थके ग्रहण, धारण तथा विचारणकी शक्तिके समागमको देशनालब्धि कहते हैं। (ल. सा./मू./६/४४)।

२. सम्यग्दृष्टिके उपदेशसे ही देशना सम्भव है

नि. सा./मू./५३ सम्मत्तस्स णिमित्तं जिणसुत्तं तस्स जाणया पुरिसा । अत्तरहेऊ भणिदा दंसणमोहस्स खयपहुदी १३१ । = सम्यक्त्वका निमित्त जिनसूत्र है, जिनसूत्रको जानने वाले पुरुषोंको अन्तरंग हेतु कहे हैं, क्योंकि उनको दर्शनमोहके क्षयादिक है १३१। (विशेष दे० इसकी टीका)।

घ. उ/मू./२३ अज्ञानोपास्तिरज्ञानं ज्ञानं ज्ञानिसमाश्रय, १००-२३ । = अज्ञानोकी उपासनासे अज्ञानकी और ज्ञानोकी उपासनासे ज्ञानकी प्राप्ति होती है २३।

दे० आगम/५ (दोष रहित व सत्य स्वभाव वाले पुरुषके द्वारा व्याख्यात होनेसे आगम प्रमाण है।)

घ १/१,१,२२/१६६/२ व्याख्यातात्तरमन्तरेण स्वार्थप्रतिपादकस्य (विदस्य) तस्य व्याख्यात्रधीनवाच्यवाचकभावः । ** प्राप्ताशेषवस्तुविषयबोध-स्तस्य व्याख्यातेति प्रतिपत्तव्यम् । = व्याख्याताके बिना वेद स्वयं अपने विषयका प्रतिपादक नहीं है, इसलिए उसका वाच्य-वाचक भाव व्याख्याताके आधीन है। जिसने सम्पूर्ण वस्तु-विषयक ज्ञानको जान लिया है वही आगमका व्याख्याता हो सकता है।

सत्तास्वरूप/३/१५ राग, धर्म, सच्ची प्रवृत्ति, सम्यग्ज्ञान व वीतराग दशा रूप निरोगता, उसका आदिसे अन्त तक सच्चा स्वरूप स्वाधितपने उस (सम्यग्दृष्टि) को ही भासे है और वह ही अन्धको दर्शाने वाला है।

३. मिथ्यादृष्टिके उपदेशसे देशना संभव नहीं

प्र. सा./मू./२५६ छद्मत्वविहिदवत्पुसु वदणियमज्झयणभाणदाणरदो । ण लहदि अपुणग्भावं भावं सादप्पगं लहदि १२५६ । = जो जीव छद्मत्व विहित वस्तुओंमें (अज्ञानीके द्वारा कथित देव, गुरु-धर्मादिमें) प्रत-नियम अध्ययन-ध्यान-दानमें रत होता है वह मोक्षको प्राप्त नहीं होता, किन्तु सत्तात्मक भावको प्राप्त होता है।

घ १/१,१,२२/१६६/८ ज्ञानविज्ञानविरहादप्राप्तप्रामाण्यस्य व्याख्यातु-र्वचनस्य प्रामाण्याभावात् । = ज्ञान-विज्ञानसे रहित होनेके कारण जिसने स्वयं प्रमाणता प्राप्त नहीं किया ऐसे व्याख्याताके वचन प्रमाणरूप नहीं हो सकते।

ज्ञा./२/१०/३ न सम्प्रगदित्तुं शक्यं यत्स्वरूपं कुदृष्टिभि । ० १३ । = धर्मका स्वरूप मिथ्यादृष्टियोंके द्वारा नहीं कहा जा सकता है।

मो मा. प्र./१/२२/४ वक्ता कैसा चाहिए जो जैन श्रद्धान विषे दृढ होय जातै जो आप अश्रद्धानी होय तौ और कौ श्रद्धानी कैसे करै ?

द. पा./प. जयचन्द/२/४/१६ जाके धर्म नाहीं तिसतैं धर्मकी प्राप्ति नाही ताकूँ धर्मनिमित्त काहेकूँ वन्दिए ००।

४. कदाचित् मिथ्यादृष्टिसे भी देशनाकी सम्भावना

ला. सं./५/१६ न वाच्यं पाठमात्रत्वमस्ति तस्येह नार्थत' । यतस्तस्योप-देशाह्ने ज्ञानं विन्दन्ति केचन ११६ । = मिथ्यादृष्टिके जो ग्यारह अंगका ज्ञान होता है वह केवल पाठमात्र है, उसके अर्थोंका ज्ञान उसको नहीं होता, यह कहना ठीक नहीं। क्योंकि शास्त्रोंमें कहा गया है कि मिथ्यादृष्टि भुनियोके उपदेशसे अन्य कितने ही भव्य जीवोंको सम्यग्दर्शन पूर्वक सम्यग्ज्ञान प्रगट हो जाता है ११६।

५. निश्चय तत्त्वोंका मनन करनेपर देशनालब्धि सम्भव है

प्र. सा./मू./१६६ .जिणसत्थासो अट्ठे पच्चक्खादीहि बुज्झदो णियमा । खीयदि मोहोवचयो तम्हा सत्थं समधिदव्वं १८६ । = जिन-शास्त्र द्वारा प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे पदार्थोंको जानने वालेके नियमसे मोह-समूह क्षय हो जाता है, इसलिए शास्त्रका सम्यक् प्रकारसे मनन करना चाहिए १८६।

भ आ/वि/१०५/२५०/१२ अयमभिप्राय-श्रद्धानसहचारिकोधाभावा-च्छ्रुतमप्यश्रुतमिति । = श्रद्धारम श्रुत सुनकर उसके अर्थको भी समझ लिया परन्तु उसके ऊपर यदि श्रद्धा नहीं है तो वह सब सुन और जान लेनेपर भी अश्रुतपूर्व ही समझना चाहिए। इस शब्दके अध्ययनसे अपूर्व अर्थोंका ज्ञान होता है।

पु. सि. उ./६ व्यवहारमेव केवलमवैति यस्तस्य देशना नास्ति । = जो जीव केवल व्यवहार नयको ही साध्य जानता है, उस मिथ्यादृष्टिके लिए उपदेश नहीं है ६।

४. करणलब्धि निर्देश

१. करणलब्धि व अन्तरंग पुरुषार्थमें केवल भाषा भेद है

द्र सं./टी/२७/१५६/५ इति गाथाकथितलब्धिपञ्चकसंज्ञेनाध्यात्मभाषया निजशुद्धात्माभिमुखपरिणामसंज्ञेन च निर्मलभावनाविशेषखड्गेन पौरुष कृत्वाकर्मशत्रु हन्तीति ।

द्र. स./टी./४१/१६५/११ आगमभाषया दर्शनचारित्रमोहनीयोपशम-क्षयसंज्ञेनाध्यात्मभाषया स्वशुद्धात्माभिमुखपरिणामसंज्ञेन च कालादिलब्धिविशेषेण मिथ्यात्वं विलयं गतम् । = १. पाँच लब्धियोंसे और अध्यात्म भाषामें निज शुद्धात्माके संमुख परिणाम नामक निर्मल भावना विशेषरूप खड्गमें पौरुष करके, कर्मशत्रुको नष्ट करता है। (पं. का/ता. वृ./१५०/२१७/१४)। २. आगम भाषामें दर्शन मोहनीय तथा चारित्र मोहनीयके क्षयोपशमसे और अध्यात्म भाषामें निज शुद्धात्माके संमुख परिणाम तथा काल आदि लब्धिके विशेषसे उनका मिथ्यात्व नष्ट हो जायेगा।

२. करणलब्धि भव्यकी ही होती है

ल. सा/मू/३३/६६ तत्तो अभव्यलोगं परिणामं बोलिऊण । भव्वो हु । करणं करेदि कमसो अधापवत्तं अपुव्वमणियट्ठि १३३ । = अभव्यके भी योग्य ऐसी चार लब्धियोंरूप परिणामको समाप्त करके जो भव्य है, वह जीव अध.प्रवृत्त, अपूर्वकरण अनिवृत्तिकरणको करता है ३३।

गो. जी/जी. प्र./६५१/११००/६ करणलब्धिस्तु भव्य एव स्यात् । = करण लब्धि तो भव्य ही के होती है।

३. करणलब्धि सम्यक्त्वादिका साक्षात् कारण है

गो. जी./जी. प्र/६५१/११००/६ करणलब्धिस्तु भव्य एव स्यात् तथापि सम्यक्त्वग्रहणे चारित्रग्रहणे च। = करणलब्धि भव्य जीवके ही सम्यक्त्व ग्रहण वा चारित्र ग्रहणके कालमें ही होती है। अर्थात् करणलब्धिकी प्राप्तिके पीछे सम्यक्त्व चारित्र अवश्य हो है। (ल. सा./जी. प्र./३/४२/१५)।

५. संयम व संयमासंयम लब्धिस्थान

१. संयम व संयमासंयम लब्धिस्थानका लक्षण

रा. वा/११/१६-१७/५८-५९/३१ तत्रानन्तानुबन्धिकषायाः क्षीणा. स्युरक्षीणा वा, ते च अपत्याख्यानावरणकषायाश्च सर्वधातिन एव, तेषामुदयक्षयात् सदुपशमाच्च. प्रत्याख्यानावरणकषाया. सर्वधातिन एव तेषामुदये सति संयमलब्धावसत्याम्, संज्वलनकषायाः नव नोकषायाश्च देशधातिन एव तेषामुदये सति संयमासंयमलब्धिर्भवति। तद्योग्या प्राणीन्द्रियविषया विरताविरतवृत्त्या परिणत संयतासंयत इत्याख्यायते। १६। अनन्तानुबन्धिकषायेषु क्षीणेष्वक्षीणेषु वा प्राप्तोदयक्षयेषु अद्यानां च कषायाणां उदयक्षयात् तेषामेव सदुपशमात् संज्वलननोकषायाणाम् उदये संयमलब्धिर्भवति। = १. अनन्तानुबन्धिकषाय क्षीण हो या अक्षीण हो तथा अपत्याख्याना कषाय सर्वधाती है इनका उदयक्षय या सदवस्थारूप उपशम होनेपर, तथा सर्वधाती प्रत्याख्यानावरणके उदयसे संयमलब्धिका अभाव होनेपर एवं देशधाती संज्वलन और नोकषायोके उदयसे संयमासंयम लब्धि होती है। इसके होनेपर प्राणी और इन्द्रियविषयक विरताविरत परिणामवाला संयतासंयत कहलाता है। १६। २ क्षीण या अक्षीण अनन्तानुबन्धि कषायोका उदय क्षय होनेपर तथा प्रत्याख्यानावरण कषायोका उदयक्षय या सदवस्था उपशम होनेपर और संज्वलन तथा नोकषायोका उदय होनेपर संयम लब्धि होती है।

दे० सयत/१/२,३ [इस संयमलब्धिको प्राप्त संयत कदाचित् प्रमाद-वशा चारित्रसे स्वलित होनेके कारण प्रमत्त कहलाता है, और प्रमादरहित अविचल संयम वृत्ति होनेपर अप्रमत्त कहलाता है।]

२. संयम व संयमासंयम लब्धिस्थानोंके भेद

घ. ६/१,६-८,१४/२७६ संजमासंजमलब्धिरे ट्ठाणाणि...पडिवादट्ठाण पडिबज्जट्ठाण अपडिवाद-पडिबज्जमाणट्ठाण।
घ. ६/१,६-८,१४/२७४ एतथ जाणि सजमलब्धिट्ठाणाणि ताणि तिविहाणि होति। त जहा-पडिवादट्ठाणाणि उप्पदट्ठाणाणि तव्वदिरि-त्तट्ठाणाणि ति। = १. संयमासंयम लब्धिस्थान—प्रतिपातस्थान, प्रतिपद्यमान स्थान और अप्रतिपात-अप्रतिपद्यमान स्थान के भेदसे तीन प्रकार है। (ल. सा./मू./१५६/२३७)। २. संयम लब्धिस्थान तीन प्रकारके होते हैं। वे इस प्रकार हैं—प्रतिपातस्थान, उत्पादस्थान और तद्भवतिरिक्तस्थान। (ल. सा./मू./१६३)।
ल. सा./मू./१६८.१८४ दुविहा चरित्तलब्धि देसे सयले य १६८। अवरव-रदेशलब्धि १८४। = चारित्र लब्धि दो प्रकार है—देश व सकल १६८। देशलब्धि जत्रय उत्कृष्टके भेदसे दो प्रकार है १८४।

३. प्रतिपद्यमान व उपपाद संयम व संयमासंयम लब्धिस्थानके लक्षण

घ. ६/१,६-८,१४/२७३/६ उत्पादट्ठाणं णाम जम्हि ट्ठाणे सजम पडि-बज्जदि तं उत्पादट्ठाण णाम। = जिस स्थान पर जीव संयमको प्राप्त होता है वह उत्पाद (प्रतिपद्यमान) स्थान है।

ल. सा./जी. प्र/१८८/२४१/७ मिथ्यादृष्टिचरमस्य सम्यक्त्वदेशसंयमो युगपदप्रतिपद्यमानस्य तत्प्रथमसमये वर्तमानं जघन्यप्रतिपद्यमान-स्थानम्। = प्रागसंयतसम्यग्दृष्टिर्भूत्वा पश्चाद्देशसंयमं प्रतिपद्यमानस्य तत्प्रथमसमये संभवदुत्कृष्टप्रतिपद्यमानस्थानम्। = मिथ्यात्वके चरम समयमें देशसंयतके प्रथम समयमें प्रतिपद्यमान स्थान होता है। असंयतके पश्चात् देशसंयतके प्रथम समयमें उत्कृष्ट प्रतिपद्यमान स्थान है।

ल. सा./भाषा/१८६/२३७/१३ देशसंयतके प्राप्त होते प्रथम समयविषे संभवते जे स्थान ते प्रतिपद्यमानगत है।

घ. ६/१,६-८,१४/२७७/विशेषार्थ—संयमासंयमको धारण करनेके प्रथम समयमें होनेवाले स्थानोंको प्रतिपद्यमान स्थान कहते हैं।

४. प्रतिपातगत संयम व संयमासंयम लब्धिस्थानके लक्षण

घ. ६/१,६-८,१४/२८३/५ तत्थ पडिवादट्ठाण णाम जम्हि ट्ठाणे मिच्छत्तं वा असजमसम्मत्तं वा संजमासंजम वा गच्छदि त पडिवादट्ठाण। = जिस स्थानपर जीव मिथ्यात्वको अथवा असंयम सम्यक्त्वको अथवा संयमासंयमको प्राप्त होता है वह प्रतिपातस्थान है।

ल. सा./जी. प्र./१८८/२४०/१२ प्रतिपातो बहिरन्तरङ्गकारणवशेन सयमात्प्रचयवः। स च संक्लिष्टस्य तत्कालचरमसमये विशुद्धिहान्या सर्वजघन्यदेशसंयमशक्तिकस्य मनुष्यस्य तदनन्तरसमये मिथ्यात्वं प्रतिपद्यमानस्य भवति। = प्रतिपात नाम संयमसे भ्रष्ट होनेका है सो संक्लेश परिणामसे संयमसे भ्रष्ट होते देशसंयमके अन्त समयमें प्रतिपातस्थान होता है।

ल. सा./भाषा/१८६/२३७/११ देशसंयम ते (वा सयम ते) भ्रष्ट होते अन्त समयमें संभवते जे स्थान ते प्रतिपातगत है। (घ. ६/१,६-८, १४/२७७ पर विशेषार्थ)।

ल. सा./भाषा/१८८/२४२/८ मिथ्यात्वको समुख मनुष्य वा तिर्यंचके जघन्य और असंयतको संमुख मनुष्य वा तिर्यंचके उत्कृष्ट प्रतिपात स्थान हो है।

५. अनुभयागत व तदव्यतिरिक्त संयम व संयमासंयम लब्धिस्थानोंके लक्षण

घ. ६/१,६-८,१४/२८३/७ सेससव्वाणि चैव चरित्तट्ठाणाणि तव्वदिरि-त्तट्ठाणाणि णाम। = इन (प्रतिपात व उत्पाद या प्रतिपद्यमान स्थानोंके) अतिरिक्त सर्व ही चारित्र (के मध्यवर्ती) स्थानोंको तद्भवतिरिक्त संयमलब्धि स्थान कहते हैं। (ल. सा./भाषा/१८६)।

ल. सा./मू./१६८.२०१ अणुभयंतु। तम्मज्जे उवरिमगुणगहणाहिमुहे य देसं वा ११६८। उवरि सामाहयदुगं तम्मज्जे होति परिहारा १२०१। = (प्रतिपात व प्रतिपद्यमान स्थानोंके) बीचमें वा ऊपरके गुणस्थानोंके समुख होते अनुभय स्थान होता है। सो देशसंयमकी भाँति जानना ११६८। तिनके ऊपर (संयतके ऊपर) अनुभय स्थान है वे सामायिक छेदोपस्थापना सम्बन्धी है। तिनका जघन्य उत्कृष्टके बीच परिहार-विशुद्धिके स्थान है।

ल. सा./जी. प्र./१८८/२४१/१४ का भावार्थ—मिथ्यादृष्टिसे देशसंयत होनेके दूसरे समयमें मनुष्य व तिर्यंचके जघन्य अनुभय स्थान है। और असंयतसे देशसंयत होनेपर एकान्तवृद्धि स्थानके अन्त समयमें तिर्यंचके उत्कृष्ट अनुभय स्थान होता है। तथा असंयतसे देशसंयत होने पर एकान्तवृद्धि स्थानके अन्त समयमें सकल संयमको संमुख मनुष्यके उत्कृष्ट अनुभय स्थान होता है।

घ. ६/१,६-८,१४/२७७/विशेषार्थ—इन दोनों (प्रतिपाद व उत्पाद या प्रतिपद्यमान) स्थानोंको जो ऊपर मध्यवर्ती समयमें सम्भव समस्त स्थानोंको अप्रतिपात-अप्रतिपद्यमान या अनुभयस्थान कहते हैं।

६. एकान्तानुवृद्धि संयम व संयमासंयम लब्धिस्थानों-के लक्षण

ध. ६/१,६-८, १४/२७३/१८/विशेषार्थ—सयतासंयत होनेके प्रथम समयसे लेकर जो प्रतिसमय अनन्तगुणी विशुद्धि होती है, उसे एकान्तानुवृद्धि कहते हैं। (अन्यत्र भी यथायोग्य जानना)।

७. जघन्य व उत्कृष्ट संयम व संयमासंयम लब्धिक स्वामित्व

ध. ६/१,६-८, १४/२७६/१ उक्तस्सिया लद्धी कस्स । संजदासंजदस्स सव्वविशुद्धस्स से काले सजमगाहयस्स । जहण्णया लद्धी कस्स । तप्पाओगसकिलिदठस्स से काले मिच्छत्त गाहयस्स । =सर्व-विशुद्ध और अनन्तर समयमें संयमको ग्रहण करनेवाले संयता-सयतके उत्कृष्ट संयमासंयम लब्धि होती है । जघन्य लब्धिके योग्य संव्लेशको प्राप्त और अनन्तर समयमें मिथ्यात्वको प्राप्त होनेवाले संयतासंयतके जघन्य संयमासंयम लब्धि होती है (ल सा /मू /१८४/२३५)।

ध. ६/१,६-८, १४/२८५-२८६/६ एत्थ जहण्ण तप्पाओगसकिलेसेण सामा-इय-च्छेदोवट्ठावणाभिमुहचरिमसमए होदि । उक्तस्स सव्व-विशुद्धपरिहारसुद्धिसजदस्स । ... सामाइयच्छेदोवट्ठावणियाण उक्तस्सय सजमट्ठाणं सव्वविशुद्धस्स से काले सुहुमसापराइयसजमं पडिवज्जमाणस्स । एदेसि जहण्णं मिच्छत्त गच्छत्तचरिमसमए होदि । सुहुमसापराइयस्स एदाणि सजमट्ठाणाणि । तत्थ जहण्णं अणियट्ठीगुणट्ठाण से काले पडिवज्जंतस्स सुहुमस्स होदि । उक्तस्स खीणकसायगुणं पडिवज्जमाणस्स चरिमसमए भवदि । =जघन्य संयमलब्धि स्थान तत्प्रायोग्य संव्लेशसे सामायिक-छेदोपस्थापना सयमीके अभिमुख होनेवालेके अन्तिम समयमें होता है । और उत्कृष्ट सर्व विशुद्ध परिहार विशुद्ध संयतके होता है । सामायिक-छेदोपस्थापना सयमियोका उत्कृष्ट संयम स्थान अनन्तर कालमें सर्व विशुद्ध सूक्ष्म-साम्परायिक संयमको ग्रहण करने वालेके होता है । इनका जघन्य मिथ्यात्वको प्राप्त होने वालेके अन्तिम समयमें होता है । इसी कारण उसे यहाँ नहीं कहा है । सूक्ष्म-साम्परायिक संयमीके ये संयम स्थान है उनमें जघन्य संयम स्थान अनन्तर कालमें अनिवृत्तिकरण गुणस्थानको प्राप्त करनेवाले सूक्ष्मसाम्परायिक सयमीके होता है, और उत्कृष्ट स्थान क्षीणकषाय गुणस्थानको प्राप्त होनेवाले सूक्ष्मसाम्परायिक सयमीके अन्तिम समयमें होता है । (ल सा /मू /२०२-२०४)।

दे० लब्धि/२/२ (सात प्रकृतियोंके क्षयसे अविरतके जघन्य तथा घाति कर्मके क्षयसे परमात्माके उत्कृष्ट क्षायिक लब्धि होती है ।

८. भेदातीत लब्धि स्थानोंका स्वामित्व

ध. ६/१,६-८, १४/२८६/६ एदं जहाक्खादसंजमट्ठाण उवसंतखीण-सजोगि-अजोगिणमेवक चैव जहण्णुक्कस्सवदिरित्तं होदि, कसाया-भावादो । =यह यथाख्यात संयम स्थान उपशान्तमोह क्षीणमोह, सयोगिकेवली और अयोगिकेवली, इनके एक ही जघन्य व उत्कृष्टके भेदोसे रहित होता है, क्योंकि इन सबको कषायोका अभाव है ।

लब्धि अक्षर—दे० अक्षर ।

लब्धि अपर्याप्त—दे० पर्याप्त ।

लब्धि विधान व्रत—इस व्रतकी विधि तीन प्रकारसे वर्णन की गयी है—प्रथम विधि—भादो, माघ व चैत्रकी शु. १, ३ को उपवास तथा २, ४ को पारणा करे । इस प्रकार छह वर्ष पर्यन्त करे । तथा 'ओ ह्री महावीराय नमः' इस मन्त्रका त्रिकाल जाप करे । (व्रत-

विधान सं/पृ. ५४)। द्वितीय विधि—तीन वर्ष पर्यन्त भादो, माघ व चैत्र मासमें कृ. १५ को एकाशन, १-३ को तैला तथा ४ को एकाशन करे । तथा उपरोक्त मन्त्रका त्रिकाल जाप करे । (व्रत-विधान सं/पृ. ५४)। तृतीय विधि—प्रतिवर्ष भादो, माघ व चैत्रमें शु. १, ३ को एकाशन और २ को उपवास । तथा उपरोक्त मन्त्रका त्रिकाल जाप करे । (व्रतविधान सं. पृ. ५४)।

लब्धि संवेग—दे० संवेग ।

लब्धिसार—आ. नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती (ई. श. ११ का पूर्वार्ध) द्वारा रचित मोहनीय कर्मके उपशम विषयक, ३६१ गाथा प्रमाण प्राकृत गाथावद्ध ग्रन्थ है । इस ग्रन्थकी नेमिचन्द्र कृत संस्कृत सजीवनी टीका तथा प टोडरमल (ई. १७३६) कृत भाषा टीका प्राप्त है । (जै. १/३८९, ४१२), (ती /२/४२३, ४३२)।

लयनकर्म—दे० नक्षेप/४ ।

ललितकीर्ति—१. यश कीर्ति न ३ के गुरु और रत्ननन्दि द्वि. के शिक्षा गुरु । समय—तदनुसार वि. १२७१ (ई. १२१४) । २ काष्ठा सभी जगतकीर्ति के शिष्य एक मन्त्रवादी । कृति—महापुराण टीका, नन्दीश्वर व्रत आदि २३ कथायें । टीका का रचनाकाल वि. १२८५ (ती /३/४२२)।

ललितागदेव—म. पु./सर्ग/१लोक "सर्वलेखनाके प्रभावसे उत्पन्न ऐशान स्वर्गका देव (५/२५३-२५४) नमस्कार मन्त्रके उच्चारण पूर्वक इसने शरीर छोड़ा (६/२४-२५) यह ऋषभनाथ भगवान्का पूर्वका आठवाँ भव है—दे० ऋषभदेव ।

ललक—षष्ठ नरकका तृतीयपटल—दे० नरक/५/११ ।

लव—१. कालका प्रमाण विशेष—दे० गणित/II/१/४ । २ प. पु./सर्ग/१लोक "परित्यक्त सीताके गर्भसे पुण्डरीकके राजा वज्रजंघके घर उत्पन्न रामचन्द्रके पुत्र ये (१००/१७-१८)। सिद्धार्थ नामक क्षुद्रक-से विद्या प्राप्त की (१००/४७)। नारदके द्वारा रामकी प्रशंसा तथा किसी सीता नामक स्त्रीके साथ उनका अन्याय सुनकर रामसे युद्ध किया (१०२/४५)। राम-लक्ष्मणको युद्धमें हार जाना । अन्तमें पिता पुत्रका मिलाप हो गया । (१०३/४१, ४७)। अन्तमें मोक्ष प्राप्त किया (१२३/८२)।

लवणतापि—आकाशोपपन्न देव—दे० देव/II/३ ।

लवणसागर—१ मध्य लोकका प्रथम सागर दे० लोक/४/१ । २. रा. वा./३/७/२/१६६/२५ लवणरसेनाम्बुना योगात् समुद्रो लवणोद इति संज्ञायते । =खारे जलवाला होनेसे इस समुद्रका नाम लवणोद पडा है । (रा. वा./३/३३/८/१६४/१७)।

लवपुर—वर्तमान लाहौर (म. पु/प्र. ४६/प. पत्रालाल)।

लांगल—सनत्कुमार स्वर्गका पाँचवाँ पटल व इन्द्रक—दे० स्वर्ग/५/३ ।

लांगलस्वस्तिका—भरतक्षेत्रस्थ आर्यखण्डकी एक नदी—दे० मनुष्य/४ ।

लांगलावर्त—१. पूर्व विदेहका एक क्षेत्र—दे० लोक/५/० । २ पूर्व विदेहस्थ नलिन वक्षारका एक कूट—दे० लोक/५/४ । ३ पूर्व विदेहके नलिन वक्षारपर स्थित लांगलावर्त कूटका रक्षकदेव—दे० लोक/५/४

लांगलिकागति—दे० विग्रहगति/२ ।

लातव—१ कल्पवासी देवोका एक भेद—दे० स्वर्ग/३ । २ लातव देवोका अवस्थान—दे० स्वर्ग/५/३ । ३. कल्प स्वर्गोका सातवाँ कल्प—दे० स्वर्ग/५/२ । ४ लातव स्वर्गका प्रथम पटल व इन्द्रक—दे० स्वर्ग/५/३ ।

लाक्षा वाणिज्यकर्म—दे० सावय १/५।

लाघव—भ. आ./वि./२४४/४६६/५ शरीरस्य लाघवगुणो नाहोन तपसा भवति। लघुशरीरस्य आवश्यकक्रिया सुकरा भवन्ति। स्वाध्यायध्याने चाक्लेशसंपाद्ये भवत'।—तपरचरणसे वेहमें लाघव गुण प्राप्त होता है अर्थात् शरीरका भारोपन नष्ट होता है जिससे आवश्यकक्रिया सुकर होती है, स्वाध्याय और ध्यान क्लेशके बिना किये जाते है।

लाट—गुजरातके प्राचीन कालमें तीन भाग थे। उनमेंसे गुजरातका मध्य व दक्षिण भाग लाट कहलाता था। (म. पु. प्र./४६। पन्नालाल) (कं. पा. १/प्र. ७३)।

लाटी संहिता—ष. राजमल्लजीने ई. १५५४ में रचा था। यह श्रावकाचार विषयक ग्रन्थ है। इसमें ७ सर्ग और कुल १४०० श्लोक हैं। (ती १४/५०)।

लाङ्गभागड़ संघ—दे० इतिहास/६/७।

लाभ—

१. लाभ सामान्यका लक्षण

ध. १३/५,२,६३/३३४/३ इच्छितदृष्टोवलङ्गी लाहोणाम। तद्विवरयीयो अलाहो।—इच्छित अर्थकी प्राप्तिना नाम लाभ है (ध. १३/५,२, १३७/३८६/१३) और इससे विपरीत अर्थात् इच्छित अर्थकी प्राप्तिका न होना अलाभ है।

२. क्षायिक लाभका लक्षण

स. सि./२/४/१५४/५ लाभान्तरायस्याशेषस्य निरासात् परित्यक्तकवलाहारक्रियाणां केवलित्ना यत शरीरबलाधानहेतवोऽन्यमनुजासाधारणाः परमशुभाः सूक्ष्मा अनन्ता' प्रतिसमयं पुद्गला' संबन्धमुपयान्ति स क्षायिको लाभ'।—समस्त लाभान्तराय कर्मके क्षयसे कवलाहार क्रियासे रहित केवलियोंके क्षायिक लाभ होता है जिससे उनके शरीरको बल प्रदान करनेमें कारणभूत दूसरे मनुष्योंको असाधारण अर्थात् कभी प्राप्त न होनेवाले परम शुभ और सूक्ष्म ऐसे अनन्त परमाणु प्रति समय सत्रन्धको प्राप्त होते है। (रा. वा./२/४/२/ १०४/३०)

३. क्षायिक लाभ सम्बन्धी शंका समाधान

ध. १४/५,६, १८/१७/३ अरहता यदि स्त्रीणलाहतराइया तो तेसि सव्व-त्थोवलभो किण्ण जायवे। सच्च, अत्थि तेसि सव्वत्थोवलभो, सगायत्तासेसभुवणत्तादो।—प्रश्न—अरहन्तोके यदि लाभान्तराय कर्मका क्षय हो गया है तो उनको सब पदार्थोंकी प्राप्ति क्यों नहीं होती? उत्तर—सत्य है, उन्हें सब पदार्थोंकी प्राप्ति होती है, क्योंकि उन्होंने अशेष भुवनको अपने आधीन कर लिया है।

लाभान्तराय कर्म—दे० अन्तराय।

लिंग—साधु आदिके बाह्य वेषको लिंग कहते है। जैनाम्नायमें वह तीन प्रकारका माना गया है—साधु, आर्यिका व उत्कृष्ट श्रावक। ये तीनों ही द्रव्य व भावके भेदसे दो-दो प्रकारके हो जाते हैं। शरीरका वेष द्रव्यलिंग है और अन्तरंगकी वीतरागता भावलिंग है। भावलिंग सापेक्ष ही द्रव्यलिंग सार्थक है अन्यथा तो स्वांग मात्र है।

१. लिंग सामान्य निर्देश

१. लिंग शब्दके अनेकों अर्थ

न्या. वि./टी/२/१/१/८ साध्याविनाभावनियमनिर्णयैकलक्षणं वक्ष्यमाणं लिङ्गम्।—साध्यके अविनाभावीपनेरूप नियमका निर्णय करना ही जिसका लक्षण है वह लिंग है।

ध. १/१,१,३६/२६०/६ उपभोक्तुरारमनोऽनिवृत्तकर्मसंबन्धस्य परमेश्वर-शक्तियोगादिन्द्रव्यपदेशमर्हत्' स्वयमर्थात् गृहीतुमसमर्थस्योपयो-गोपकरणं लिङ्गमिति कथ्यते।—जिसके कर्मका सम्बन्ध दूर नहीं हुआ है, जो परमेश्वररूप शक्तिके सम्बन्धसे इन्द्र सत्ताको धारण करता है, परन्तु जो स्वतः पदार्थोंको ग्रहण करनेमें असमर्थ है, ऐसे उपभोक्ता आत्माके उपयोगके उपकरणको लिंग कहते है। (दे० इन्द्रिय/१/१)।

ध. १३/५,२,४३/२४६/६ किलवत्पणं लिंग। अण्णहाणुवत्तिलवत्पणं।—लिंगका लक्षण अन्यथानुपपत्ति है।

भ. आ./वि./६७/१६४/२ शिक्षादिक्रियाया भक्तप्रत्याख्यानक्रियाङ्ग-भूताया योग्यपरिकरमादर्शयितु लिङ्गोपादानं कृतम्। कृतपरिकरो हि कर्ता क्रियासाधनायोग्यो करोति लोके। तथा हि धदादिप्रकरणे प्रवर्तमाना दृढबद्धकक्षा कुलाला दृश्यन्ते।—शिक्षा, विनय समाधि वगैरह क्रिया भक्त प्रत्याख्यानकी साधन सामग्री है। उस सामग्रीका यह लिंग योग्य परिकर है यह सूचित करनेके लिए अर्हके अनन्तर लिंगका विवेचन किया है। सर्व परिकर सामग्री जुटनेपर जैसे कुम्भकार घट निर्माण करता है वैसे अर्ह—योग्य व्यक्ति भी साधन सामग्रीसे युक्त होकर सल्लेखनादि कार्य करनेके लिए सन्नद्ध होता है। लिंग शब्द चिह्नका वाचक है।

प्र. सा./त. प्र./१७२ लिङ्गैरिन्द्रियै लिङ्गादिन्द्रियगम्याद् धूमाग्ने-रिव. लिङ्गेनोपयोग्याख्यलक्षण.. लिङ्गस्य मेहनाकारस्य... लिङ्गानां स्त्रीपुत्रपुंसकवेदानां.. लिङ्गानां धर्मध्वजानां.. लिङ्गं गुणो ग्रहण-मर्थावबोधो.. लिङ्गं पर्यायो ग्रहणमर्थावबोधो.. लिङ्गं प्रत्यभिज्ञान-हेतुर्ग्रहणम्...।—१. लिंगोके द्वारा अर्थात् इन्द्रियोंके द्वारा, २. जैसे धूरसे अग्निका ग्रहण (ज्ञान) होता है, उसी प्रकार लिंग द्वारा, अर्थात् इन्द्रियगम्य (इन्द्रियोंके जानने योग्यचिह्न) द्वारा; ३. लिंग द्वारा अर्थात् उपयोग नामक लक्षण द्वारा; ४. लिंगका अर्थात् (पुरुषादिकी इन्द्रियका आकार) का ग्रहण; ५. लिंगोंका अर्थात् स्त्री, पुरुष, नपुंसक वेदोंका ग्रहण; ६. लिंग अर्थात् गुणरूप ग्रहण अर्थात् अर्थावबोध; ७. लिंग अर्थात् पर्यायरूप ग्रहण अर्थात् अर्थावबोध विशेष; ८. लिंग अर्थात् प्रत्यभिज्ञानका कारण रूप ग्रहण अर्थात् अर्थावबोध सामान्य..।

स्त्री पुरुष व नपुंसक लिंग—दे० वेद।

२. द्रव्य भाव लिंग निर्देश

मू. आ./१०८ अच्चेलक्वं लोचो वोसदुसरीरदा य पडिलिहणं। एसो हु लिंगवप्पो चदुविधो होदि णादव्वो। १०८।—अच्छेलक्त्व, केशलोच, शरीरसंस्कारका त्याग और पोछी ये चार लिंगके भेद जानने चाहिए।

प्र. सा./मू./२०५-२०६ जधजादरूवजादं उप्पाडिदकेसमसुगं सुद्धं। रहिदं हिसादीदो अप्पडिकम्मं हवदि लिंगं। २०५। मुच्छारं भविजुत्तं जुत्त उवजोगजोगमुद्धीहि। लिंगं ण परावेक्खं अपुणभवनकारणं जेण्हं। २०६।—जन्म समयके रूप जैसा रूपवाला, सिर और दाढी-मूँछके बालोका लोच किया हुआ, शुद्ध (अकिंचन) हिसादिसे रहित और प्रतिकर्म (शारीरिक शुंगार) से रहित लिंग (श्रामण्यका बहिरंग चिह्न) है। २०५। मुच्छारि (ममत्व) और आरम्भ रहित, उपयोग और योगकी शुद्धिसे युक्त तथा परकी अपेक्षासे रहित ऐसा

जिनेन्द्रदेव कथित (श्रामण्यका अन्तरंग) लिंग है जो कि मोक्षका कारण है ॥२०६॥

भा. पा./मू./५६ देहादिसंगरहिओ माणकसाएहि सयलपरिचत्तो । अप्पा अप्पम्मिअओ स भावलिंगी हुवे साहू । =जो देहादि के परिग्रहसे रहित, मान कषायसे रहित है, अपनी आत्मामें लीन है, वह साधु भावलिंगी है ॥५६॥

३. मुनि आर्थिका आदि लिंग निर्देश

द पा./मू./१८ एयं जिणस्स ऋवं नीय उक्किट्ठसावयाणं तु । अवर-ट्ठियाण तइयं चउत्थ पुण लिंगदंसणं णत्थि ॥१८॥ =दर्शन अर्थात् शास्त्रमें एक जिन भगवात्का जैसा रूप है वह लिंग है। दूसरा उत्कृष्ट भावकका लिंग है और तीसरा जवन्य पदमें स्थित आर्थिकाका लिंग है। चौथा लिंग दर्शनमें नहीं है।

दे. वेद/७ (आर्थिका का लिंग सावरण ही होता है) ।

४. उत्सर्ग व अपवाद लिंग निर्देश

भ. आ./मू./७७-८१/२०७-२१० उत्सर्गियलिंगकदस्स लिंगमुत्सर्गियं तयं चैव । अववादियलिंगस्स वि पसत्थमुवसर्गियं लिंगं ॥७७॥ जस्स वि अव्वभिचारी दोसो तिट्ठाणिगो विहारम्मि । सो वि हु सथारगदो गेह्हेज्जोस्सुगियं लिंगं ॥७८॥ आवसथे वा अप्पाउग्गे जो वा महद्दिओ हिरिम । भिच्छजणे सजणे वा तस्स होज्ज अववादिय लिंगं ॥७९॥ अचचेलक्कं लोचो वोसट्ठसरोरदा य मड्डिलिहणं । ऐसो ही लिंगकप्पो चदुव्विहो होदि उत्सर्गे ॥८०॥ इत्थीवि य ज लिंग दिट्ठ उत्सर्गियं व इदरं वा । त तह होदि हु लिंगं परित्तमुवधिं करेतीए ॥८१॥

भ. आ./वि./८०/२१०/१३ लिङ्ग तपस्विनीना प्राक्तनम् । इसरासा पुसामिव योज्यम् । यदि महद्दिका लज्जावती मिथ्यादृष्टि स्वजना च तस्या प्राक्तनं लिङ्गं विविक्ते आवसथे, उत्सर्गलिङ्गं वा सकलपरिग्रहत्यागरूपम् । उत्सर्गलिङ्गं कथं निरूप्यते स्त्रीगामित्यत आह-तत् उत्सर्गलिङ्गं तत्थ स्त्रीणा होदि भवति । परित्तं अप्पम् । उवधि परिग्रहम् । करेतीए कुर्वत्या । =१, संपूर्ण परिग्रहोका त्याग करना उत्सर्ग है। सम्पूर्ण परिग्रहोका त्याग जब होता है उस समय जो चिह्न मुनि धारण करते हैं उसको औत्सर्गिक कहते हैं अर्थात् नग्नताको औत्सर्गिक लिंग कहते हैं। यतीको परिग्रह अपवादका कारण है अतः परिग्रह सहित लिंगको अपवादलिंग कहते हैं। अर्थात् अपवाद लिंग धारक गृहस्थ जब भक्त प्रत्याख्यानके लिए उद्यत होता है तब उसके पुरुष लिंगमें कोई दोष न हो तो वह नग्नता धारण कर सकता है ॥७७॥ २ जिसके लिंगमें तीन दोष (दे० प्रव्रज्या/१/४) औषधादिकोसे नष्ट होने लायक नहीं है वह वसतिकामे जब सस्तरारूढ होता है तब पूर्ण नग्न रह सकता है। सस्तरारोहणके समयमें ही वह नग्न रह सकता है अन्य समयमें उसको मना है ॥७८॥ ३ जो श्रीमात्, लज्जावान् है तथा जिसके बन्धुगण मिथ्यात्व युक्त हैं ऐसे व्यक्तिको एकान्त रहित वसतिकामे सर्वत्र ही रहना चाहिए ॥७९॥ ४. वस्त्रोंका त्याग अर्थात् नग्नता, लोच-हाथसे केश उखाडना, शरीरपरसे ममत्व दूर करना, प्रतिलेखन प्राणि दयाका चिह्न-मयूरपिच्छका हाथमें ग्रहण; इस तरह चार प्रकारका औत्सर्गिक लिंग है ॥८०॥ ५. परमाणममें स्त्रियो अर्थात् आर्थिकाओंका और श्राविकाओंका जो उत्सर्गलिंग अपवाद लिंग कहा है वही लिंग भक्तप्रत्याख्यानके समय समझना चाहिए। अर्थात् आर्थिकाओंका भक्तप्रत्याख्यानके समय उत्सर्ग लिंग विविक्त स्थानमें होना चाहिए अर्थात् वह भी मुनिवत् नग्न लिंग धारण कर सकती है ऐसी आगमाज्ञा है। ६. परन्तु श्राविकाका उत्सर्ग लिंग भी है और अपवाद लिंग भी है। यदि वह श्राविका संपत्ति वाली, लज्जावती होगी, उसको बाधघण मिथ्याधी हो तो वह अपवाद लिंग धारण करे अर्थात् पूर्ववैधमें ही

मरण करे। तथा जिस श्राविकाने अपना परिग्रह कम किया है वह एकान्त वसतिकामे उत्सर्ग लिंग-नग्नता धारण कर सकती है।

* उत्सर्ग व अपवाद लिंगका समन्वय—दे० अपवाद/४।

२. भावलिंगकी प्रधानता

१. साधु लिंगमें सम्यक्त्वका स्थान

भ. आ./मू./७७/१२६. लिंगगहण च दंसणविहूणं जो कुणदि णिरत्थयं कुणदि ॥७७०॥ =सम्यग्दर्शन रहित लिंग अर्थात् मुनि दीक्षा धारण करना व्यर्थ है। इससे मुक्तिकी प्राप्ति नहीं हो सकती। (शी, पा./मू./४)।

२. सा./मू./८७ कम्मण खवेइ जो हु परब्रह्म ण जाणेइ सम्मउमुक्को । अत्थ ण तत्थ ण जीवो लिंगं धेत्तुण किं करई ॥८७॥ =जो जीव परब्रह्मको नहीं जानता है, और जो सम्यग्दर्शनसे रहित है। वह न तो गृहस्थ अवस्थामें है और न साधु अवस्थामें है। केवल लिंगको धारणकर क्या कर सकते हैं। कर्मोंका नाश तो सम्यक्त्वपूर्वक जिन लिंग धारण करनेसे होता है।

दे० विनय/४/४ (द्रव्य लिंगी मुनि असंयत तुल्य है।)

रा वा./१/४६/११/६३७/१५ दृष्ट्या सह यत्र रूपं तत्र निर्ग्रन्थव्यपदेशं न रूपमात्र इति । =जहाँ सम्यग्दर्शन सहित निर्ग्रन्थरूप है वही निर्ग्रन्थ है।

घ. १/१.१.१४/१७७/५ आसागमपदार्थेष्वनुरूपभद्रस्य त्रिमूढालोढचेतसं संयमानुपपत्ते । =सम्यक् ज्ञात्वा भद्राय यत् संयत इति व्युत्पत्ति-तस्तदवगते । =आप्त, आगम, पदार्थोंमें जिस जीवके श्रद्धा उत्पन्न नहीं हुई है, तथा जिसका चित्त मूढताओसे व्याप्त है, उसके संयमकी उत्पत्ति नहीं हो सकती। भले प्रकार जानकर और श्रद्धान कर जो यम सहित है उसे संयत कहते हैं। संयत शब्दकी इस प्रकार व्युत्पत्ति करनेसे यह जाना जाता है कि यहाँपर द्रव्य संयमका प्रकरण नहीं है (और भी दे० चारित्र/३/८)।

प्र. सा./त प्र./२०७ कायमुत्सृज्य यथाजातरूप आनन्धव्य व्यवतिष्ठमान उपस्थितो भवति, उपस्थितस्तु सर्वत्र समदृष्टित्वात्साक्षाच्छ्रमणो भवति । =कायका उत्सर्ग करके यथाजात रूपवाले स्वरूपको... अवलम्बित करके उपस्थित होता है। और उपस्थित होता हुआ, सर्वत्र समदृष्टित्वके कारण साक्षात् श्रमण होता है।

२. भाव लिंग ही यथार्थ लिंग है

स. सा./मू./४१० ण वि एस मोखमग्गो पासडीगिहिमयाणि लिंगाणि । दंसणणाणचरित्ताणि भोखमग्ग जिणा वित्ति ॥४१०॥ (न खलु द्रव्यलिङ्गं मोक्षमार्गं) । =मुनियो और गृहस्थोंके लिंग यह मोक्षमार्ग नहीं है। ज्ञान दर्शन चारित्रको जिनदेव मोक्षमार्ग कहते हैं ॥४१०॥ (द्रव्यलिंग वास्तवमें मोक्षमार्ग नहीं है)।

मू. आ./१००२ भावसमणा हु समणा ण सेससमणाण सुग्गई जम्हा । . १००२। =भाव श्रमण है वे ही श्रमण है क्योंकि शेष नामादि श्रमणोंको सुगति नहीं होती।

लि पा. मू./२ धम्मणे होइ लिंग ण लिंगमत्तेण धम्मसंपत्ती । जाणेहि भावधम्मं कि ते लिंगेण कायव्वो ॥२॥ =धर्म सहित लिंग होता है, लिंग मात्रसे धर्मकी प्राप्ति नहीं होती। इसलिए हे भव्य ! तू भावरूप धर्मको जान, केवल लिंगसे क्या होगा तेरे कुछ नहीं।

भा. पा./मू./२.७४.१०० भावो हि पद्मलिंग ण द्वालिंग च जाण-परमत्थ । भावो कारणभूदो गुणदोसाणं जिणा वित्ति ॥२॥ भावो वि दिव्वसिवसुखभायणे भाववज्जिओ सबणो । कम्ममल्लमल्लिण-चित्तो तिरियाल्लयभायणो पावो ॥७४॥ पावति भावसवणा कल्लाण-परपराई सोवखाइ । दुवखाई दव्वसवणा णरतिरियकुदेवजो-

णीए १९००। = १ भाव ही प्रथम लिंग है इसलिए हे भव्य जीव । तू द्रव्यलिंगको परमार्थरूप मत जान । और गुण दोषका कारणभूत भाव ही है, ऐसा जिन भगवाद् कहते है । २। (भा. पा / मू. / ६. ७. ४८, ४४, ४५), (यो. सा अ. / ५ / ५७) । २. भाव ही स्वर्ग मोक्षका कारण है । भावसे रहित श्रमण पाप स्वरूप है, तिर्यच गतिका स्थानक है और कर्ममलसे मलिन है चित्त जिसका ऐसा है । ७५। जो भाव श्रमण है वे परम्परा कल्याण है जिसमें ऐसे सुखोंको पाते है । जो द्रव्य श्रमण है वे मनुष्य कुदेव आदि योनियोंमें दु ख पाते है । १९००।

३. भावके साथ द्रव्य लिंगकी व्याप्ति है द्रव्यके साथ भावकी नहीं

स. सा / ता वृ. / ४१४ / ५०८ / १६ बहिरद्द्रव्यलिङ्गे सति भावलिङ्गं भवति न भवति वा नियमो नास्ति, अभ्यन्तरे तु भावलिङ्गे सति सर्वसगपरिरत्यागरूप द्रव्यलिङ्गं भवत्येवेति । = बहिरंग द्रव्यलिंगके होनेपर भावलिंग होता भी है, नहीं भी होता, कोई नियम नहीं है । परन्तु अभ्यन्तर भावलिंगके होनेपर सर्व संग (परिग्रह) के त्याग रूप बहिरंग द्रव्यलिंग अवश्य होता ही है ।

मो. मा प्र / ६ / ४६२ / १२ मुनि लिंग धारै बिना तो मोक्ष न होय, परन्तु मुनि लिंग धारै मोक्ष होय भी अर नाही भी होय ।

★ पंचमकाल सरतक्षेत्रमें भी भाव लिंगकी सम्भावना —दे० संयम/२।

३. द्रव्यलिंग की कथंचित् गौणता व प्रधानता

१. केवल बाह्य लिंग मोक्षका कारण नहीं

वे. वर्ण व्यवस्था/२/३ (लिंग व जाति आदिसे ही मुक्ति भावना मानना मिथ्या है ।)

स. सा. / मू. / ४०५-४१० पासंडीलिंगाणि व गिहिलिंगाणि व बहुपया-राणि । चित्तु वदति मूढा लिंगमिणं मोक्षमग्नो त्ति । ४०८। ण दु होइ मोक्षमग्नो लिंगं ज देहणिम्ममा अरिहा । लिंगं मुंचित्तु दसणणाचरित्ताणि सयंति । ४०९। णवि एस मोक्षमग्नो पासंडी-गिहमयाणि लिंगाणि । ४१०। = बहुत प्रकारके मुनिलिंगोको अथवा गृहीलिंगोको ग्रहण करके मूढ (अज्ञानी) जन यह कहते है कि 'यह लिंग मोक्षमार्ग है' । ४०८। परन्तु लिंग मोक्षमार्ग नहीं है क्योंकि अर्हन्तदेव देहके प्रति निर्ममत्व वर्तते हुए लिंगको छोडकर दर्शन-ज्ञान-चारित्रका सेवन करते है । ४०९। मुनियो और गृहस्थोके लिंग यह मोक्षमार्ग नहीं है । ४१०।

मू. आ / ६०० लिंगग्रहणं च सजमविहूणं । जो कुणइ गिरत्थयं कुणदि । = जो पुरुष संयम रहित जिन लिंग धारण करता है, वह सब निष्फल है ।

भा पा / मू. / ७२ जे रायसंगजुत्ता जिणभावणरहियद्ववणिगगथा । न लहंति ते समाहि बोहि जिणसासणे विमले । ७२। = जो मुनि राग अर्थात् अन्तरंग परिग्रहसे युक्त है, जिन स्वरूपकी भावनासे रहित है वे द्रव्य-निर्गन्थ है । उसे जिनशासनमें कहीं समाधि और बोधिकी प्राप्ति नहीं होती । ७२।

स श. / मू. / ८७ लिङ्गं देहाभित दृष्ट देह एवात्मनो भव । न मुच्यन्ते भवात्तस्मात्ते ये लिङ्गकृताग्रहा । ८७। = लिंग (वेष) शरीरके आश्रित है, शरीर ही आत्माका संसार है, इसलिए जिनको लिंगका ही आग्रह है वे पुरुष संसारसे नहीं छूटते । ८७।

यो सा अ / ५ / २६ शरीरमात्मनो भिन्न लिङ्गं येन तदात्मकम् । न मुक्तिकारणं लिङ्गं जायते तेन तत्त्वत । २६। = शरीर आत्मासे भिन्न है और लिंग शरीर स्वरूप है इसलिए आत्मासे भिन्न होनेके कारण निश्चय तयसे लिंग मोक्षका कारण नहीं । २६।

२. केवल द्रव्यलिंग अकिंचित्कर व व्यर्थ है

मो. पा. / मू. / ५७ णाणं चरित्तहीणं दसणहीण तवेहि सजुत्तं । अण्णेषु भावरहिय लिंगग्रहणेण कि सोक्ख । ५७। = जहाँ ज्ञान चारित्रहीन है, जहाँ तपसे तो सयुक्त है पर सम्यक्त्वसे रहित है और अन्य भी आवश्यकदि क्रियाओंमें शुद्ध भाव नहीं है ऐसे लिंगके ग्रहणमें कहीं सुख है । ५७।

भा. पा / मू. / ६. ६८. १११ जाणहि भावं पढमं कि ते लिंगेण भावरहि-एण । पथिय । सिव पुरिपंथ जिणउवइरठ पयत्तेण । ६। णग्गो पावइ दुक्खं णग्गो संसारसागरे भमति । णग्गो ण लहइ बोहि जिण-भावणवज्जिओ 'सुइरं' । ६८। सेवहि चउविहलिंगं अभतरलिंगसुद्धि-मावण्णो । बाहिरलिंगमक्कज्जं होइ फुड भावरहियाणं । १११। = हे मुने । मोक्षका मार्ग भाव ही से है इसलिए तू भाव ही को परमार्थ-भूत जान अंगीकार करना, केवल द्रव्यमात्रसे क्या साध्य है । कुछ भी नहीं । ६। जो नग्न है सदा दु ख पावे है, संसारमें भ्रमता है । तथा जो नग्न है वह सम्यग्दर्शन, ज्ञान व चारित्रको नहीं पाता है सो कैसा है वह नग्न, जो कि जिन भावनासे रहित है । ६८। हे मुनिवर । तू अभ्यन्तरकी शुद्धि पूर्वक चार प्रकारके लिंगको धारण कर । क्योंकि भाव रहित केवल बाह्यलिंग अकार्यकारी है । १११। (और भी भा पा / मू. / ४८. ५४. ८६. ६६) ।

३. भाव रहित द्रव्य लिंगका अत्यन्त तिरस्कार

मो. मा. / मू. / ६१ बाहिरलिंगेण जुदो अभतरलिंगरहियपरियम्मो । सो सगचरित्तभट्टो मोक्खपहविणासगो साहू । ६१। = जो जीव बाह्य लिंगसे युक्त है और अभ्यन्तर लिंगसे रहित है और जिसमें परिवर्तन है । वह मुनि स्वरूपाचरण चारित्रसे भ्रष्ट है, इसलिए मोक्षमार्ग का विनाशक है । ६१।

दे० लिंग/२/२ (द्रव्यलिंगो साधु पापमोहित यति व पाप जीव है । नरक व तिर्यच गतिका भाजन है ।)

भा पा / ४६. ६६. ७९. ६० दंढयणयर सयलं डहिओ अभन्तरेण दोसेण । जिणलिंगेण वि बाहू पडिओ सो रउरवे णरये । ४६। अयसाण भायणेण य कि ते णग्गेण पावमलिंगेण । पेसुण्णहासमच्छरमायाबहुलेण सवणेण । ६६। धम्मम्मि णिप्पवासो दोसावासो य उच्छुफुल्लसमो । णिप्पलणिगुणयारो णउसवणो णग्गरूवेण । ७९। = मा जणरंजण-करणं बाहिरवयवेस तं कुणसु । ६०। = बाहू नामक मुनि बाह्य जिन लिंग युक्त था । तो भी अभ्यन्तर दोषसे दण्डक नामक नगरको भ्रम करके सप्तम पृथिवीके रौरव नामक बिलमें उत्पन्न हुआ । ४६। हे मुनि । तेरे नग्नपनेसे क्या साध्य है जिसमें पैशुन्य, हास्य, मत्सर, माया आदि परिणाम पाये जाते है । इसलिए ऐसा ये नग्न-पना पापसे मलिन और अपकीर्तिका स्थान है । ६६। जो धर्मसे रहित है, दोषोका निवास स्थान है । और इच्छु पुष्पके सदृश जिसमें कुछ भी सुख नहीं है, ऐसा मुनिपना तो नग्नरूपसे तटश्रमण अर्थात् नाचने वाला भोंड सरीखा स्वाग है । ७९। हे मुने । तू बाह्यतका वेष लोकका रजन करने वाला मत धारण कर । ६०।

स. सा. / आ / ४११ यतो द्रव्यलिङ्गं न मोक्षमार्ग । = द्रव्यलिंग मोक्षमार्ग नहीं है ।

★ द्रव्यलिंगीकी सूक्ष्म पहचान—दे० साधु/४।

★ द्रव्य लिंगोको दिये गये घृणास्पद नाम—

—दे० निन्दा ।

★ पुलाक आदि साधु द्रव्यलिंगी नहीं—दे० साधु/५।

४. द्रव्य लिंगकी कथंचित् प्रधानता

भा. पा./टी./२/१२६ पर उद्धृत-उक्त चेन्द्रनन्दिना भट्टारकेण समय-भूषणप्रवचने-द्रव्यलिङ्गं समास्याय भावलिङ्गी भवेद्यति । विना तेन न वन्द्य स्यान्नानाम्रतधरोऽपि सत् ।१। द्रव्यलिङ्गमिदं ज्ञेयं भावलिङ्गस्य कारणम् । तदध्यात्मकृतं स्पष्टं न नेत्रविषयं यत् ।२। =इन्द्रनन्दि भट्टारकेण समय भूषण प्रवचनमें कहा है—कि द्रव्य-लिंगकी भले प्रकार प्राप्त करके यति भावलिंगी होता है । उस द्रव्य-लिंगके बिना वह वन्द्य नहीं है, भले ही ताना वतोंको धारण क्यों न करता हो । द्रव्यको भावलिंगका कारण जानो । भावलिंग तो केवल अध्यात्म द्वारा ही देखा जा सकता है, क्योंकि वह नेत्रका विषय नहीं है ।

दे० मोक्ष/४/५ (निर्ग्रन्थ लिंगसे ही मुक्ति होती है ।)

दे० वेद/७ (सबख होनेके कारण खीको संयतस्व व मोक्ष नहीं होता ।)

५. भरत चक्रिने भी द्रव्यलिंग धारण किया

स. सा./ता. वृ./४१४/२०८/२० येऽपि षटिकाद्वयेन मोक्षं गता भरत-चक्रवर्त्यादियस्तेऽपि निर्ग्रन्थरूपेणैव । परं किन्तु तेषा परिग्रहत्यागं लोका न जानन्ति स्तोककालत्वादिति भावार्थः । =जो ये दीक्षाके बाद षट्टीकालमें ही भरत-चक्रवर्ती आदिने मोक्ष प्राप्त किया है, उन्होंने भी निर्ग्रन्थ रूपसे ही (मोक्ष प्राप्त किया है) । परन्तु समस्त स्तोक होनेके कारण उनका परिग्रह त्याग लोग जानते नहीं है ।

प. प्र./टी./२/५२ भरतेश्वरोऽपि पूर्वजिनदीक्षां प्रस्तावे लोचानन्तरं हिसादिनिवृत्तिरूप महाव्रतरूपं कृत्वान्तर्मुहूर्ते गते • निजशुद्धात्म-ध्याने स्थित्वा पश्चान्निर्विकल्पो जातः । परं किन्तु तस्य स्तोककाल-त्वान्महाव्रतप्रसिद्धिर्नास्ति । =भरतेश्वरने पहले जिनदीक्षा धारण की, सिरके केश लुचन किये, हिसादि पापोंकी निवृत्ति रूप पंच महाव्रत आवरे । फिर अन्तर्मुहूर्तमें निज शुद्धात्माके ध्यानमें ठहरकर निर्विकल्प हुए । तब भरतेश्वरने अन्तर्मुहूर्तमें केवलज्ञान प्राप्त किया परन्तु उसका समय स्तोक है, इसलिए महाव्रतकी प्रसिद्धि नहीं हुई । (द. स /टी./ ५७/२३१/२) ।

४. द्रव्य व भाव लिंगका समन्वय

१. रत्नत्रयसे प्रयोजन है नग्नताकी क्या आवश्यकता

भा. आ./मू./८२-८७/२११-२२२ नन्वर्हस्य रत्नत्रयभावनाप्रकर्षेण मृति-रुपयुज्यते किममुना लिङ्गविकल्पोपादानेनेत्यस्योत्तरमाह—जन्ता-साधनचिन्हकरणं तु जगत्पञ्चयादाठिदिकरणं । गिहभावविवेगो वि-य लिंगगहणे गुणा होति ।८२। गंधञ्जाओ लाघवमप्यडिलिहणं च गदभयत्तं च । ससज्जणपरिहारो परिक्रम विवज्जणा चैव ।८३। विस्रामकर रूवं अणादरो विसयदेहसुवखेसु । सव्वरथ अप्पवसदा परिसहअधिवासणा चैव ।८४। जिणपडिरूवं विरिया-यारो रागादिवोसपरिहरणं । इच्चैवमादिवहुणा अच्चेलके गुणा होति ।८५। इय सव्वसमिदिकरणो ठाणासणसयणगमण-किरियासु । गिगिणं गुत्तिमुवगदो पग्गहिद्वर परकमदि ।८६। अब्वादिप लिंगकदो विसयासत्ति अगूहमाणो य । पिदणगरहण-जुत्तो सुज्जदि उवधि परिहरतो ।८७। =प्रश्न—जो भक्त प्रतिज्ञा योग्य है उसको रत्नत्रयका प्रकर्ष करके मरना योग्य है । उत्सर्ग लिंग अथवा अपवाद लिंग धारण करके मरना चाहिए ऐसा हठ क्यों । उत्तर—नग्नता यात्राका साधन है । गृहस्थ वैषसे उनके विशिष्ट गुण ज्ञात न होनेसे गृहस्थ उनको दान न देगे, तब क्रमसे शरीरस्थिति तथा रत्नत्रय व मोक्षकी प्राप्ति कैसे होगी । अतः नग्नता गुणीपनेका सूचक है इससे दानादिकी प्रवृत्ति होती है ।

मोक्षके साधन रत्नत्रय उसका नग्नता चिह्न है । इसमें जगत् प्रत्ययता—सर्व जगत्की इसके ऊपर श्रद्धा होना, आत्मस्थितिकरण गुण है ।८२। ग्रथ त्याग-परिग्रह त्याग, लाघव-हृत्कापन, अप्रति-लेखन, परिकर्मवर्जना अर्थात् वस्त्र विषय धोनादि क्रियासे रहित-पन, गतभयत्व, परिषहाधिवासना आदि गुण मुनिलिंगमें समाविष्ट हुए हैं ।८३। निर्वस्त्रता विश्वास उद्वपन्न कराने वाली है, अनादर, विषयजनित सुखोंमें अनादर, सर्वत्र आत्मवशता तथा शीतादि परीषहोंको सहन करना चाहिए ऐसा अभिप्राय सिद्ध होता है ।८४। जिनरूप-तीर्थकरोने जो लिंग धारण किया वही मुमुक्षुको धारण करना चाहिए, वीर्याचार, रागादि दोष परिहरण-वस्त्रका त्याग करनेसे सर्व रागादि दोष नहीं रहते सब महागुण मुनिराजकी मिलते हैं ।८५। स्पर्शनादि इन्द्रियों अपने विषयोंमें समिति युक्त प्रवृत्ति करती है । स्थान क्रिया, आसन क्रिया, शयनक्रिया, गमनक्रिया, इत्यादि कार्योंमें समिति युक्त वर्तते है । गुप्तिको पालनेवाले मुनि शरीरसे प्रेम दूर करते है । इस प्रकार अनेकों गुण नग्नतामें है ।८६। अपवादलिंगधारी ऐलक आदि भी अपनी चारित्र धारणकी शक्तिको न छिपाता हुआ कर्ममल निकल जानेसे शुद्ध होता है क्योंकि वह अपनी निन्दा गर्हा करता है 'सम्पूर्ण परिग्रहका त्याग करना ही मुक्तिका मार्ग है परन्तु मेरे परि-ग्रहोंके डरके कारण परिग्रह है' ऐसा मनमें पश्चात्ताप पूर्वक परिग्रह स्वल्प करता है अतः उसके कर्म निर्जरा होकर आत्मशुद्धि होती है ।८७। (और भी दे० अचेलकत्व) ।

२. द्रव्य लिंगके निषेधका कारण व प्रयोजन

स. सा./आ./४१०-४११ न खलु द्रव्यलिङ्गं मोक्षमार्गं , शरीराश्रितत्वे सति परद्रव्यत्वात् । दर्शनज्ञानचारित्र्याप्येव मोक्षमार्गं आत्माश्रितत्वे सति स्वद्रव्यत्वात् ।४१०। ततः समस्तमपि द्रव्यलिङ्गं त्यक्त्वा दर्शन-ज्ञानचारित्र्ये चैव मोक्षमार्गत्वात् आत्मा योक्तव्य इति । =द्रव्यलिंग वास्तवमें मोक्षमार्ग नहीं है, क्योंकि वह शरीराश्रित होनेसे परद्रव्य है । दर्शन-ज्ञान-चारित्र ही मोक्षमार्ग है, क्योंकि वे आत्माश्रित होनेसे स्वद्रव्य है । इसलिए समस्त द्रव्यलिंगका त्याग करके दर्शन-ज्ञान चारित्रमें ही वह मोक्षमार्ग होनेसे आत्माको लगाना योग्य है ।

स. सा./ता. वृ./४१४/२०८/५ अहो शिष्यः । द्रव्यलिङ्गं निषिद्धमेवेति त्वं मा जानीहि किं तु भावलिङ्गरहिताना यतीना संबोधनं कृतं । कथं । इति चेत्, अहो तपोधनैः । द्रव्यलिङ्गमात्रेण सतीषं सा कुरुत किन्तु-द्रव्यलिङ्गाधारेण निर्विकल्पसमाधिरूपभावना कुरुत । • भावलिङ्ग-रहितं द्रव्यलिङ्गं निषिद्धं न च भावलिङ्गसहितं । कथं । इति चेत् द्रव्यलिङ्गाधारभूतो योऽसौ देहस्तस्य ममत्व निषिद्धं । =हे शिष्य । द्रव्यलिंग निषिद्ध ही है ऐसा तू मत जान । किंतु • भावलिंगसे रहित यतियोंको यहाँ संबोधन किया गया है । वह ऐसे कि—हे तपोधन ! द्रव्यलिंग मात्रसे सन्तोष मत करो किन्तु द्रव्यलिंगके आधारसे • निर्विकल्प समाधि रूप भावना करो । भावलिंग रहित द्रव्यलिंग निषिद्ध है न कि भावलिंग सहित । क्योंकि द्रव्यलिंगका आधारभूत जो यह देह है, उसका ममत्व निषिद्ध है ।

स. सा./प जयचन्द/४११ यहाँ मुनि श्रावकके व्रत छुड़ानेका उपदेश नहीं है जो केवल द्रव्यलिंगको ही मोक्षमार्ग मानकर भेष धारण करते है उनको द्रव्यलिंगका पक्ष छुड़ाया है कि भेष मात्रसे मोक्ष नहीं है । (भा. पा./प जयचन्द ।११३।)

३. द्रव्यलिंग धारनेका कारण

पं वि/१/४१ म्लाने क्षालनत् कृतं कृतजलाचारम्भत समयो नष्टे व्याकुलचित्ततथा महतामप्यन्यतः प्रार्थनम् ।। कीपीनेऽपि हते परेश्च भटिति क्रोधः समुत्पद्यते तत्रित्यं सुचिरागहव शमवता वस्त्रं ककुम्भण्डलम् ।४१। =वस्त्रके मलिन हो जानेपर उसके धोनेके लिए

जल एवं साधुन आदिका आरम्भ करना पडता है, और इस अवस्था-में समयका घात होना अवश्यम्भावी है। वस्त्रके नष्ट होनेपर महाद् पुरुषोंका भी मन व्याकुल हो जाता है, दूसरोंसे उसको प्राप्त करनेके लिए प्रार्थना करनी पडती है। केवल लंगोटीका ही अपहरण हो जावे तो ऋत्से क्रोध होने लगता है इसलिए मुनिजन सदा पवित्र एव रागभावको दूर करनेके लिए दिग्मण्डल रूप अविनश्वर वस्त्रका आश्रय लेते हैं। १४१।

रा. वा. हि. १६/४६।७६६ जो वस्त्रादि ग्रन्थ करि संयुक्त है ते निर्ग्रन्थ नाहीं। जाते वाह्य परिग्रहका सद्भाव होय तो अम्ग्रन्थके ग्रन्थका अभाव होय नाहीं।

* **द्रव्यलिंगी साधु के ज्ञानकी कथंचित् यथार्थता**
—दे० ज्ञान/१।

४. जबरदस्ती वस्त्र उढ़ानेसे साधुका लिंग भंग नहीं होता

स. सा./ता. वृ./४१४/५०५/१८ हे भगवत्। भावल्लिङ्गे सति बहिरङ्गं द्रव्यलिङ्गं भवतीति नियमो नास्ति। परिहारमाह—कोऽपि तपोधनो ध्यानारूढस्तिष्ठति तस्य केनापि दुष्टभावेन वस्त्रवेष्टनं कृतं। आभरण-दिक वा कृत तथाप्यसौ निर्ग्रन्थ एव। कस्मात्। इति चेत्, बुद्धि-पूर्वकममत्वाभावात्। = प्रश्न—हे भगवान्। भावल्लिङ्गके होनेपर बहिर-रग द्रव्यलिंग होता है, ऐसा कोई नियम नहीं है। उत्तर—इसका उत्तर देते हैं—जैसे कोई तपोधन ध्यानारूढ बैठा है। उसको किसीने दुष्ट भावसे (अथवा करुणा भावसे) वस्त्र लपेट दिया अथवा आभू-षण आदि पहना दिये, तब भी वह निर्ग्रन्थ है, क्योंकि, बुद्धि-पूर्वक ममत्वका उनके अभाव है।

* **कदाचित् परिस्थितिवशा वस्त्र ग्रहणकी आज्ञा**
—दे० अचेलकत्व।

५. दोनों लिंग परस्पर सापेक्ष हैं

प्र सा./मृ./२०७ आदाय त पि लिंग गुरुणा परमेण तं गर्मसित्ता। सोच्चा सर्वं किरियं उवटिठदो होदिसो समणो। २०७। = परम गुरुके द्वारा प्रदत्त उन दोनों लिंगोंको ग्रहण करके, उन्हें नमस्कार करके, व्रत सहित क्रियाको सुनकर उपस्थित (आत्माके समीप-स्थित) होता हुआ वह श्रमण होता है। २०७।

भा. पा./टी./७३/२१६/२२ भावल्लिङ्गेन द्रव्यलिङ्गं द्रव्यलिङ्गेन भावल्लिङ्गं भवतीत्युभयमेव प्रमाणीकर्तव्यं। एकान्तमतेन तेन सर्वं नष्टं भव-तीति वेदितव्यम्। = भावल्लिङ्गसे द्रव्यलिंग और द्रव्यलिंगसे भावल्लिङ्ग होता है इसलिए दोनोंकी ही प्रमाण करना चाहिए। एकान्त मतसे तो सर्व नष्ट हो जाता है ऐसा जानना चाहिए।

६. भाव सहित ही द्रव्यलिंग सार्थक है

भा. पा./सू./७३ भावेण होङ्गणो मिच्छत्ताई य दोस चङ्गणं। पच्छा दवेण मुणी पयङ्गिदि लिंगं जिणाणाए। ७३। = पहले मिथ्यात्वादि दोषोंको छोड़कर भावसे अन्तरंग नग्न होकर एक शुद्धात्माका श्रद्धान-ज्ञान व आचरण करे पीछे द्रव्यसे बाह्य लिंग जिन आज्ञासे प्रकट करे यह मार्ग है। ७३।

वे लिंग/३/२ (अन्तर शुद्धिको प्राप्त होकर चार प्रकार बाह्यलिंगका सेवन कर, क्योंकि भावरहित द्रव्यलिंग अकार्यकारी है।)

गो. सा. अ./५/५७-५८ द्रव्यमात्रनिवृत्तस्य नास्ति निवृत्तिरेनसा। भावतोऽस्ति निवृत्तस्य तात्त्विकी संवृत्ति पुन। ५७। विज्ञायेति निराकृत्य निवृत्ति द्रव्यतस्त्रिधा। भाव्य भावनिवृत्तेन समस्तैर्नोनिषिद्धये। ५८। = जो केवल द्रव्यरूपसे विषयोंसे

निवृत्त है उनके पापोंकी निवृत्ति नहीं, किन्तु भाव रूपसे निवृत्त है उन्हींके कर्मोंका संवर है। ५७। द्रव्य और भावरूप निवृत्तिका भले प्रकार स्वरूप जानकर मन, वच, कायसे विषयोंसे निवृत्त होकर समस्त पापोंके नाशार्थ भाव रूपसे विषयोंसे निवृत्त होना चाहिए। ५८।

स. सा./ता. वृ./११४/५०७/१० भावल्लिङ्गसहितं निर्ग्रन्थयति लिङ्गं... गुहिलिङ्गं चेति द्वयमपि मोक्षमार्गं व्यवहारनयो मन्यते। = भावल्लिङ्ग सहित निर्ग्रन्थ यत्तिका लिंग तथा गृहस्थका लिंग है। इसलिए दोनोंको (द्रव्य-भाव) ही मोक्षमार्गमें व्यवहार नयसे माना गया है। भा. पा./प. जयचन्द/२ मुनि श्रावकके द्रव्य तै पहले भावल्लिङ्ग होय तो सच्चा मुनि श्रावक होय।

लिंगजश्रुतज्ञान—दे० श्रुतज्ञान/II/१।

लिंगपाहुड़—आ० कुन्दकुन्द (ई० १२७-१७६) कृत साधुके द्रव्य व भाव लिंगका प्ररूपक २२ (प्रा०) गाथा निबद्ध ग्रन्थ है। इसमें केवल प जयचन्द छावडा (ई० १८६७) कृत भाषा वचनिका उपलब्ध है। (ती० २/११४)।

लिंग व्यभिचार—दे० नय/III/६/८

लिंग शुद्धि—दे० शुद्धि।

लिपि संख्यात क्रिया—दे० संस्कार/२।

लिप्त—आहारका एक दोष—दे० आहार/II/४/४।

लोख—क्षेत्रका प्रमाण विशेष—दे० गणित/II/१/३।

लीला विस्तार टीका—श्वेताम्बराचार्य श्री हरिभद्र सूरि (ई० ४८०-५२८) द्वारा रचित एक ग्रन्थ है।

लुंका—गुजरात देशमें 'अणहिल' नगरमें कुलुम्बी वंशीय एक महा-मानी हुआ जिसने लंकामत (ढुंढिया मत) चलाया। समय—वि० १५२७ (भद्रबाहु चरित/१५७-१५८)।

लुंकामत—ढुंढिया या स्थानकवासी मतका अपर नाम—दे० श्वेताम्बर।

लेप—१ आहारका एक भेद—दे० आहार/II/१। २ ला. सं/२/१७ लेपस्तु तैलाभ्यङ्गादिवर्म यत्। = तैल मर्दन करना, उबटन लगाना आदि लेप कहे जाते हैं।

लेपकर्म—दे० निक्षेप/४।

लेवड—१. आहारका एक भेद—दे० आहार/II/१। २ भ. आ./वि. ७००/८८२/७ दध्यादिकं लेवडलेपसहितं। अलेवडं अलेपसहितं यत्र हस्ततलं विलिम्पति। = लेवड जो हाथमें चिपकता है ऐसा पतला पदार्थ दही वगैरह। अलेवड—हाथमें न चिपकने वाला मीठ ताक वगैरह।

लेश्या—कषायसे अनुरजित जीवकी मन, वचन, कायकी प्रवृत्ति भाव लेश्या कहलाती है। आगममें इनका कृष्णादि छह रंगों द्वारा निर्देश किया गया है। इनमेंसे तीन शुभ व तीन अशुभ होती हैं। राग व कषायका अभाव हो जानेसे मुक्त जीवको लेश्या नहीं होती। शरीरके रंगको द्रव्यलेश्या कहते हैं। देव व नारकियोंमें द्रव्य व भाव लेश्या समान होती है, पर अन्य जीवोंमें इनकी समानताका नियम नहीं है। द्रव्यलेश्या आयु पर्यन्त एक ही रहती है पर भाव लेश्या जीवोंके परिणामोंके अनुसार बराबर बदलती रहती है।

१	भेद लक्षण व तत्सम्बन्धी शंका समाधान
१	लेश्या सामान्यके लक्षण ।
२	लेश्याके भेद-प्रभेद ।
३	द्रव्य, भाव लेश्याके लक्षण ।
४	कृणादि भाव लेश्याओके लक्षण ।
५	अलेश्याका लक्षण ।
६	लेश्याके लक्षण सम्बन्धी शंका समाधान ।
७	लेश्याके दोनो लक्षणोंका समन्वय ।
२	कषायानुरजित योग प्रवृत्ति सम्बन्धी
१	तरतमताकी अपेक्षा लेश्याओमें छह विभाग ।
२	लेश्या नाम कषायका है, योगका है वा दोनोंका है ।
३	योग व कषायोंसे पृथक् लेश्या माननेकी क्या आवश्यकता ।
४	लेश्याका कषायोंमें अन्तर्भाव क्यों नहीं कर देते ।
*	कषाय शक्ति स्थानोंमें सम्भव लेश्या —दे० आयु/३/१६ ।
*	लेश्यामें कथंचित् कषायकी प्रधानता —दे० लेश्या/१/६ ।
*	कषायकी तीव्रता-मन्दतामें लेश्या कारण है —दे० कषाय/३ ।
३	द्रव्य लेश्या निर्देश
१	अपर्याप्त कालमें केवल शुक्ल व कापोत लेश्या ही होती है ।
२	नरक गतिमें द्रव्यसे कृष्णलेश्या ही होती है ।
३	जलकी द्रव्यलेश्या शुक्ल ही है ।
४	भवनत्रिकमें छहों द्रव्यलेश्या सम्भव हैं ।
५	आहारक शरीरकी शुक्ललेश्या होती है ।
६	कषाट समुद्घातमें कापोतलेश्या होती है ।
४	भावलेश्या निर्देश
*	लेश्या औदयिक भाव है —दे० उदय/१ ।
१	लेश्यामार्गणामें भावलेश्या अभिप्रेत है ।
२	छहों भाव लेश्याओंके दृष्टान्त ।
३	लेश्या अधिकारमें १६ प्ररूपणएँ ।
४	वैमानिक देवोंमें द्रव्य व भावलेश्या समान होती है, परन्तु अन्य जीवोंमें नियम नहीं ।
*	द्रव्य व भावलेश्यामें परस्पर कोई सम्बन्ध नहीं । —दे० सत् ।
५	शुभ लेश्याके अभावमें भी नारकियोंके सम्भववादि कैसे ।
६	भावलेश्याके कालसे गुणस्थानका काल अधिक है ।
*	लेश्या नित्य परिवर्तन स्वभावी है—दे० लेश्या/४/५६ ।
७	लेश्या परिवर्तन क्रम सम्बन्धी नियम ।

५	भावलेश्याका स्वामित्व व शंका समाधान
१	सम्यक्त्व व गुणस्थानोंमें लेश्या ।
*	शुभ लेश्यामें सम्यक्त्व विराधित नहीं होता । —दे० लेश्या/५/१ ।
*	चारों ध्यानोमें सम्भव लेश्याएँ —दे० वह वह ध्यान ।
*	कदाचित् साधुमें भी कृष्णलेश्याकी सम्भावना । —दे० साधु/५ ।
२	उपरले गुणस्थानोंमें लेश्या कैसे सम्भव है ।
*	केवलीके लेश्या उपचारसे है । —दे० केवली/६ ।
३	नरकके एक ही पटलमें भिन्न-भिन्न लेश्याएँ कैसे सम्भव हैं ।
४	मरण समयमें सम्भव लेश्याएँ ।
५	अपर्याप्त कालमें सम्भव लेश्याएँ ।
६	अपर्याप्त या मिश्रयोगमें लेश्या सम्बन्धी शंका समाधान— १. मिश्रयोग सामान्यमें छहो लेश्या सम्बन्धी । २. मिथ्यादृष्टि व सासादन सम्यग्दृष्टिके शुभ नेश्या सम्बन्धी । ३. अविरत सम्यग्दृष्टिके छहो लेश्या सम्बन्धी ।
७	कषाट समुद्घातमें लेश्या ।
८	चारों गतियोंमें लेश्याकी तरतमता ।
*	लेश्याके स्वामियों सम्बन्धी गुणस्थान, जीवसमाप्त मार्गणास्थानादि २० प्ररूपणएँ —दे० सत् ।
*	लेश्यामें सत् (अस्तित्व) सख्या, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर, भाव व अल्पबहुत्वरूप आठ प्ररूपणएँ । —दे० वह वह नाम ।
*	लेश्यामें पाँच भावों सम्बन्धी प्ररूपणएँ । —दे० भाव/२ ।
*	लेश्या मार्गणामें कर्मोंका बंध, उदय, सत्त्व । दे० वह वह नाम ।
*	अशुभ लेश्यामें तीर्थकरत्वके बन्धकी प्रतिष्ठापना सम्भव नहीं । —दे० तीर्थकर/२ ।
*	आयुबंध योग्य लेश्याएँ । —दे० आयु/३ ।
*	कौन लेश्यासे मरकर कहा जन्मता है —दे० जन्म/६ ।
*	शुभ लेश्याओंमें मरण नहीं होता —दे० मरण/४ ।
*	लेश्याके साथ आयुबन्ध व जन्म-मरणका परस्पर सम्बन्ध । —दे० जन्म/५/७ ।
*	सभी मार्गणास्थानोंमें आयुके अनुसार व्यय होनेका नियम । —दे० मार्गणा

१. भेद लक्षण व तत्सम्बन्धी शंका समाधान

१. लेश्या सामान्यके लक्षण

पं. सं./प्रा./१/१४२-१४३ लिप्पइ अप्नीकोरइ एयाए गियय पुण पाव व । जीवो त्ति होइ लेसा लेसागुणजाणयवखाया । १४२। जह गेरुवेण कुट्ठी लिप्पइ लेवेण आमपिट्ठेण । तह परिणामो लिप्पइ सुहासुह य त्ति लेव्वेण । १४३। = जिसके द्वारा जीव पुण्य-पापसे अपनेको लिप्त करता है, उनके आधीन करता है उसको लेश्या कहते हैं । १४२। (ध. १/१.१.४/गा. ६४/१५०); (गो. जी./मू./४८६) जिस प्रकार आमपिट्ठसे मिश्रित गेरु मिट्टीके लेप द्वारा दीवाल लीपी या रंगी जाती है, उसी प्रकार शुभ और अशुभ भावरूप लेपके द्वारा जो आत्माका परिणाम लिप्त किया जाता है उसको लेश्या कहते हैं । १४३। ध. १/१.१.४/१४६/६ लिप्पतीति लेश्या ।...कर्मभिरारमानभिरयध्या-हारापेक्षित्वात् । अथवारमप्रवृत्तिसंश्लेषणकारी लेश्या । प्रवृत्ति—शब्दस्य कर्मपर्यायत्वात् । = जो लिप्पन करती है उसको लेश्या कहते हैं अर्थात् जो कर्मसे आत्माको लिप्त करती है उसको लेश्या कहते हैं । (ध. १/१.१.१३६/२५३/६) अथवा जो आत्मा और कर्मका संबन्ध करनेवाली है उसको लेश्या कहते हैं । यहाँपर प्रवृत्ति शब्द कर्मका पर्यायवाची है । (ध. ७/२.१.३/७/७) । ध. ५/३.२७३/३६६/४ का लेस्सा णाम । जीव-कम्मणं संसिलेसयणयरो, मिच्छत्तासंजम-कसायजोगा त्ति भण्हिं होदि । = जीव व कर्मका सम्बन्ध कराती है वह लेश्या कहलाती है । अभिप्राय यह है कि मिथ्यात्व, असंयम, कषाय और योग ये लेश्या हैं ।

२. लेश्याके भेद-प्रभेद

१. द्रव्य व भाव दो भेद—

स. सि./२/६/१५६/१० लेश्या द्विविधा, द्रव्यलेश्या भावलेश्या चेत्ति । = लेश्या दो प्रकारकी है—द्रव्यलेश्या और भावलेश्या । (रा. वा./२/६/५/१०६/२२); (ध. २/१.१/४९६/८); (गो. जी./जी. प्र./४८६/८६४/१२) ।

२. द्रव्य-भाव लेश्याके उत्तर भेद—

ष. खं./१/१.१/मू. १३६/३५६ लेसाणुवादेण अत्थि किण्हलेस्सिया णीललेशरिसया काउलेस्सिया तेउलेस्सिया पम्मलेस्सिया सुकलेस्सिया अलेस्सिया चेदि । १३६। = लेश्या मार्मणाके अनुवादसे कृष्णलेश्या, नीललेश्या, कापोतलेश्या, तेजोलेश्या, पद्मलेश्या, शुक्ललेश्या और अलेश्यावाले जीव होते हैं । १३६। ध. १/६/४५५/७ ।

स. सि./२/६/१५६/१२ सा षड्विधा—कृष्णलेश्या, नीललेश्या, कापोत-लेश्या, तेजोलेश्या, पद्मलेश्या, शुक्ललेश्या चेत्ति । = लेश्या छह प्रकारकी है—कृष्णलेश्या, नीललेश्या, कापोतलेश्या, पीतलेश्या, पद्मलेश्या, शुक्ललेश्या । (रा. वा./२/६/५/१०६/२७); (रा. वा./६/७/११/६०४/१२); (ध. १/१.१.१३६/३८५/५); (गो. जी./मू./४६३/८६६); (द्र. सं./टी./१२/३५) ।

गो. जी./मू./४६४-४६५/८६७ दव्वलेस्सा । सा सोढा किण्हादी अणेय-भेयो सभेयेण । ४६४। द्रव्य णीलकवोदमुहेममं बुजसंखसणिण्हा वणे । संखेज्जासंखेज्जाणं त्रियण्णा य पत्तेय । ४६५। = द्रव्यलेश्या कृष्णादिक छह प्रकारकी है उनमें एक-एकके भेदअपने-अपने उत्तर भेदोंके द्वारा अनेक रूप है । ४६४। कृष्ण-भ्रमरके सदृश काला वर्ण, नील-नील मणिके सदृश, कापोत-कापोतके सदृश वर्ण, तेजो-सुवर्ण सदृश वर्ण, पद्म-कमल समान वर्ण, शुक्ल-शंखके समानवर्ण वाली है । जिस प्रकार कृष्णवर्ण हीन-उत्कृष्ट-पर्यन्त अनन्त भेदोंको लिये है उसी प्रकार इहाँ द्रव्य-लेश्याके जन्मसे उत्कृष्ट पर्यन्त शरीरके वर्णकी अपेक्षा संख्यात, असंख्यात व अनन्त तरु भेद हो जाते हैं । ४६५।

गो. जी./जी. प्र./७०४/११४१/५ लेश्या सा च शुभाशुभभेदाद् द्वेषा । तत्र अशुभा कृष्णनीलकपोतभेदात् त्रेधा, शुभापि तेजःपद्मशुक्ल-भेदात् त्रेधा । = वह लेश्या शुभ व अशुभके भेदसे दो प्रकारकी है । अशुभ लेश्या कृष्ण, नील व कपोतके भेदसे तीन प्रकारकी है । और शुभ लेश्या भी पीत, पद्म व शुक्लके भेदसे तीन प्रकारकी है ।

३. द्रव्य-भाव लेश्याओंके लक्षण

१. द्रव्य लेश्या

पं. सं./प्रा./१/१५३-१५४ किण्हा भमर-सवण्णा णीला पुण णील-गुलिय-संकासा । काऊ कओदवण्णा तेऊ तवणिज्जवण्णा दु । १५३। पम्हा पउमसवण्णा सुक्का पुणु कासकुसुमसंकासा । वण्णंतरं च एवे हवन्ति परिमिता अणता वा । १५४। = कृष्ण लेश्या, भौरेके समान वर्णवाली, नील लेश्या-नीलकी गोली, नीलमणि या मयूरकण्ठके समान वर्णवाली । कापोत—कबूतरके समान वर्णवाली, तेजो-तप्त सुवर्णके समान वर्णवाली पद्म लेश्या पद्मके सदृश वर्णवाली । और शुक्ललेश्या कांसके फूलके समान श्वेत वर्णवाली है । (ध. १६/गा. १-२/४५५) ।

रा. वा./६/७/११/६०४/१३ शरीरनामोदयापादिता द्रव्यलेश्या । = शरीर-नाम कर्मोदयसे उत्पन्न द्रव्यलेश्या होती है ।

गो. जी./मू./४६४ वण्णोदयेण जणिदो सरोरवण्णो दु दव्वदो लेस्सा । = वर्ण नामकर्मके उदयसे उत्पन्न हुआ जो शरीरका वर्ण उसको द्रव्य-लेश्या कहते हैं । ४६४। (गो. जी./मू./५३६) ।

२. भावलेश्या

स. सि./२/६/१५६/११ भावलेश्या कषायोदयरज्जिता योगप्रवृत्तिरिति कृत्वा औदयिकोत्पुच्यते । = भावलेश्या कषायके उदयसे अनुरंजित योगकी प्रवृत्ति रूप है, इसलिए वह औदयिकी कही जाती है । (रा. वा./२/६/८/१०६/१४); (द्र. सं./टी./१३/३५/६) ।

ध. १/१.१.४/१४६/५ कषायानुरज्जिता कायवाङ्मनोयोगप्रवृत्तिलेश्या = कषायसे अनुरंजित मन-वचन-कायकी प्रवृत्तिको लेश्या कहते हैं । (गो. जी./मू./४६०/५६५); (पं. का./त. प्र./११६) ।

गो. जी./मू./५३६/६३१ लेस्सा । मोहोदयखओवसमोवसमखयजजीव-फंदणं भावो । = मोहनीय कर्मके उदय, क्षयोपशम, उपशम अथवा क्षयसे उत्पन्न हुआ जो जीवका स्पर्श से भावलेश्या है ।

४. कृष्णादि भावलेश्याओंके लक्षण

१. कृष्णलेश्या

पं. सं./प्रा./१/१४४-१४५ चंडो ण मुयदि वेरं भंडण-सीलो य धम्म दय-रहिओ । बुट्ठी ण य एदि वसं लवखणमेदं तु किण्हस्स । १४०। मंदो बुद्धि-विहीणो णिव्विणाणी य विसय-लोलो य । माणी मायी य तथा आलस्सो चय भेज्जो य । १४१। = तीव्र क्रोध करने वाला हो, बैरको न छोड़े, लड़ना जिसका स्वभाव हो, धर्म और दयासे रहित हो, दुष्ट हो, जो किसीके बशको प्राप्त न हो, ये सब कृष्ण-लेश्यावालोंके लक्षण हैं । १४०। मन्द अर्थात् स्वच्छन्द हो, वर्तमान कार्य करनेमें विवेकरहित हो, कलाचातुर्यसे रहित हो, पंचेन्द्रियके विषयोंमें लम्पट हो, मानी, मायावी, आलसी और भोरु हो, ये सब कृष्णलेश्यावालोंके लक्षण हैं । १४१। (ध. १/१.१.१३६/गा. २०८-२०९/३८८); (गो. जी./मू./५०६-५१०) ।

ति. प./२/२६५-२६६ किण्हादितिलेस्सजुदा जे पुरिसा ताण लवखणं एदं । गोत्तं सकलत्तं एक्कं वंछेदि मारिदुं दुट्ठी । २६५। धम्म दया परि-चत्तो अयुक्कवेरो पर्यडकलहयरो । बहुकोहो किण्हाए जम्मदि धूमादि चरिंमते । २६६। = कृष्णलेश्यासे युक्त दुष्ट पुरुष अपने ही गोत्रीय तथा एकमात्र स्वकलत्रको भी मारनेकी इच्छा करता है । २६५। दया-धर्मसे रहित, बैरको न छोड़ने वाला, प्रचण्ड कलह करनेवाला

और क्रोधी जीव कृष्णलेश्याके साथ धूमप्रभा पृथिवीमे अन्तिम पृथिवी तक जन्म लेता है।

रा वा ४/२२/१०/२३६/२६ अनुनयानभ्युपगमोपदेशाग्रहणवैरामोच-
नातिचण्डत्व - दुर्मुखत्व - निरनुकम्पता-श्लेशन - मारणा - परितोष-
णादि कृष्णलेश्या लक्षणम् । = दुराग्रह, उपदेशावमानन, तीव्र वैर,
अतिक्रोध, दुर्मुख, निर्दयता, श्लेश, ताप, हिंसा, असन्तोष आदि
परम तामसभा कृष्णलेश्याके लक्षण है।

२. नीललेश्या

पं. सं./प्रा./१/१४६ णिद्वावंचण-बहुलो धन-धण्णे होइ तिव्व-मण्णो
य। लक्खणभेद भणियं समासदो णील-लेस्सस्स १२०२। = बहुत
निद्रालु हो, पर वचनमे अतिदक्ष हो, और धन-धान्यके सग्रहादि-
में तीव्र लालसावाला हो, ये सब सक्षेपसे नीललेश्यावालेके लक्षण
कहे गये है ११४६। (घ १/१.१.१३६/गा २०२/३८६), (गो जी १/
५११/५६०), (प स/म/१/२७४)।

ति, प/२/२६७-२६८ त्रिसयासतो विमदी माणी विष्णणावज्जिदो
मदो : अलसो भीरु मायापवचनहूलो य णिद्वाव १२६७। परवचण-
पससो लोहंधो धणसुहाकखो। बहुमण्णा णीलाए जम्मदि त चैव
धूमत् १२६८। = विषयोमे आसक्त, मतिहीन, मानी, विवेक बुद्धिसे
रहित, मन्द, आलसी, कायर प्रचुर माया प्रपचमे सलग्न, निद्रा-
शील, दूसरोके ठगनेमें तत्पर, लोभमे अन्ध, धन-धान्यजनित
सुखका इच्छुक और बहुसंज्ञायुक्त अर्थात् आहारादि सजाओमे
आसक्त ऐसा जीव नीललेश्याके साथ धूमप्रभा तक जाता है
१२६७-२६८।

रा वा. ४/२२/११/२३६/२६ आलस्य - विज्ञानहानि - कार्यानिष्ठापन-
भीरुता- विषयातिगृह्णि-माया - तृष्णातिमानवञ्चन-नृतभाषणचापला-
तिलुब्धत्वादि नीललेश्यालक्षणम् । = आलस्य, मूर्खता,
कार्यानिष्ठा, भीरुता, अतिविषयाभिन्नाप, अतिगृह्णि, माया, तृष्णा,
अतिमान, वचना अनृत भाषण, चापलता अतिलोभ आदि भाव
नीललेश्याके लक्षण है।

३. कापोतलेश्या

प. सं./प्रा./१/१४७-१४८ लसइ णिइइ अणो दूसणबहुको य सोय-भय-
बहुलो। अमुवड परिभवड पर पससइ य अप्पय बहुसो ११४७। ण
य पत्तिइइ पर सो अप्पाण पिब पर पि मण्णतो। दुसइ अइ-
थुव्वतो ण य जागइ ट्ठाणि-बड्ढोओ ११४८। मरण पर्येइ रणे देइ सु
बहुय पि थुव्वमाणो हु। ण गणइ कज्जाकज्ज लक्खणमेय तु
काउस्स ११४६। = जो दूसरोके ऊपर रोप करता हो, दूसरोकी
निन्दा करता हो, दूषण बहुल हो, शोक बहुल हो, भय बहुल हो,
दूसरोसे ईर्ष्या करता हो, परका पराभव करता हो, नाना प्रकारमे
अपनी प्रशंसा करता हो, परका विश्वास न करता हो, अपने समान
दूसरोके भी न मानता हो, स्तुति किये जानेपर अति सम्पुष्ट हो,
अपनी हानि और वृद्धिको न जानता हो, रणमे मरणका इच्छुक
हो, स्तुति या प्रशंसा किये जानेपर बहुत धनादिक देवे और
कर्तव्य-अकर्तव्यको कृप्य भी न गिनता हो, ये सब कापोत लेश्या-
वालेके चिह्न है। (ति, प/२/२६६-३०९), (घ १/१.१.१३६/गा
२०३-२०४/३८६), (गो जी/मू/५१२-५१४/६१०-६११); (प स/
स/१/२७६-२७७)।

रा वा ४/२२/१०/२३६/२६ मात्सर्य - पशुन्य - परपरिभवात्मज्ञता -
परपरिवादबुद्धिहान्यमणनात्मीयजो वितनिराशता प्रशस्यमानधनदान-
युद्धवरा। यणादि कापोतलेश्यालक्षणम् । = मात्सर्य, पशुन्य, परपरि-
भवा, अत्याचार, परपरिवाद, जीवन नराशय प्रशसकको धन
देना, युद्ध मरणव्यम आदि कापोत लेश्याके लक्षण है।

४. पीत लेश्या

प. सं./प्रा./१/१४० जाणइ कज्जाकज्ज सेयासेय च सव्वसमपासी।
दय-दानरदो य विदू लक्खणमेय तु तेउस्स ११५०। = जो अपने
कर्तव्य और अकर्तव्य, और सेव्य-असेव्यको जानता हो, सबमे सम-
दर्शी हो, दया और दानमें रत हो, मृदु स्वभावी और ज्ञानी हो, ये
सब तेजोलेश्यावालेके लक्षण है ११५०। (घ १/१.१.१३६/गा, २०६/३८६),
(गो जी/मू/५१५/६११), (प स./स/२/२७६), (दे आयु/३)।

रा. वा ४/२२/१०/२३६/२६ दृढमित्रता सातुकोशत्व-सत्यवाद दानशीला-
त्मीयकार्यसादनपटुविज्ञानयोग - सर्वधर्मसमदर्शनादि तेजोलेश्या
लक्षणम् । = दृढता, मित्रता, दयालुता, सत्यवादिता, दानशीलत्व,
स्वकार्य-पटुता, सर्वधर्म समदर्शित्व आदि तेजोलेश्याके लक्षण है।

५. पद्मलेश्या

प. सं./प्रा./१/१५१ चाई भदो चोक्खो उज्जुपकम्मो य खमइ बहुय पि।
साहुगुणपूयणिरओ लक्खणमेयं तु पउमस्स ११५१। = जो त्यागी हो,
भद्र हो, चोखा (सच्चा) हो, उत्तम काम करने वाला हो, बहुत भी अप-
राध या हानि होनेपर क्षमा कर दे, साधुजनके गुणोंके पूजनमें निरत
हो, ये सब पद्मलेश्याके लक्षण है ११५१। (घ, १/१.१.१३६/२०६/३६०),
(गो-जी/मू./५१६/६१२), (पं सं/सं/१/२५१)।

रा. वा ४/२२/१०/२३६/३१ सत्यवाक्यक्षमोपेत-पण्डित-सत्त्विकदान-
विशारद-चतुरर्जुगुरुदेवतापूजाकरणनिरतत्वादि पद्मलेश्यालक्षणम् ।
= सत्यवाक्, क्षमा, सात्त्विकदान, पाण्डित्य, गुरु देवता पूजनमे रुचि
आदि पद्मलेश्याके लक्षण है।

६. शुक्ललेश्या

पं सं./प्रा./१/१५२ ण कुणेइ पक्खवाय ण वि य णिदानं समो य
सव्वेसु। णत्थि य राओ दोसो णेहो वि हु सुक्कलेस्स ११५२। = जो
पक्षपात न करता हो, और न निदान करता हो, सबमे समान
व्यवहार करता हो, जिसे परमे राग-द्वेष वा स्नेह न हो, ये सब
शुक्ललेश्याके लक्षण है ११५२। (घ १/१.१.१३६/२०७/३६०), (गो-जी/मू/
५१७/६१२), (प.स/स/१/२५१)।

रा. वा ४/२२/१०/२३६/३३ वैररागमोहविरह-रिपुदोषग्रहणनिदानवर्जन-
सार्व-सावच्चकार्यारम्भौदासीन्य-श्रेयोमार्गानुष्ठानादि शुक्ललेश्यालक्ष-
णम्। = निर्वैर, वीतरागता, शत्रुके भी दोषोपर दृष्टि न देना, निन्दा
न करना, पाप कार्योसे उदासीनता, श्रेयोमार्ग रुचि आदि शुक्ल
लेश्याके लक्षण है।

५. अलेश्याका लक्षण

प सं./प्रा./१/१५३ किण्हाइलेसरहिया सप्परकिणिरगया अणत्तसुहा।
सिद्धिपुरीसपत्ता अलेसिया ते मुणेयव्वा ११५३। = जो कृष्णादि छहो
लेश्यासे रहित है, पंच परिवर्तन रूप संसारसे विनिर्गत है, अनन्त
सुखी है, और आत्मोपलब्धि रूप सिद्धिपुरीको सम्प्राप्त है, ऐसे
अयोगिकेवली और सिद्ध जीवोको अलेश्य जानना चाहिए ११५३।
(घ १/१.१.१३६/२०६/३६०), (गो जी/मू/५१६), (प. सं/स/१/
१/२७३)।

६. लेश्याके लक्षण सम्बन्धी शंका

१. 'लिम्पतीति लेश्या' लक्षण सम्बन्धी

घ १/१.१.४/१४६/६ न भूमिलेपिकयातिव्याप्तिदोष कर्मभिरात्मान-
मित्याध्याहारापेक्षित्वात् । अथवात्मप्रवृत्तिसंश्लेषणकरी लेइया।
नात्रातिप्रसङ्गदोष प्रवृत्तिशब्दस्य कर्मपर्यायत्वात् । = प्रस-
(लिम्पन करती है वह लेश्या है यह लक्षण भूमिलेपिका आदिमे

चला जाता है।) उत्तर—इस प्रकार लक्षण करनेपर भी भूमि लेपिका आदिमें अतिव्याप्त दोष नहीं होता, क्योंकि इस लक्षणमें 'कर्मोंसे आत्माको इस अध्याहारकी अपेक्षा है' इसका तात्पर्य है जो कर्मोंसे आत्माको लिप्त करती है वह लेश्या है अथवा जो प्रवृत्ति कर्मका सम्बन्ध करनेवाली है उसको लेश्या कहते हैं ऐसा लक्षण करनेपर अतिव्याप्त दोष भी नहीं आता क्योंकि यहाँ प्रवृत्ति शब्द कर्मका पर्यायवाची ग्रहण किया है।

घ. १/१.१.२३६/३=६/१० कषायानुरंजितैव योगप्रवृत्तिर्लेश्येति नात्र परिगृह्यते सयोगकेवलिनोऽलेश्यत्वापत्ते' अस्तु चेन्न, 'शुक्ललेश्य, सयोगकेवली' इति वचनव्याघातात्। = 'कषायसे अनुरंजितयोग प्रवृत्तिको लेश्या कहते हैं, 'यह अर्थयहाँ नहीं ग्रहण करना चाहिए', क्योंकि इस अर्थके ग्रहण करनेपर सयोगिकेवलीको लेश्या रहित-पनेकी आपत्ति होती है। प्रश्न—ऐसा ही मान ले तो। उत्तर—नहीं, क्योंकि केवलीको शुक्ल लेश्या होती है' इस वचनका व्याघात होता है।

२. 'कर्म बन्ध संश्लेषकारी'के अर्थमें

घ. ७/२.१.६१/१०५/४ यदि बंधकारणं लेस्सत्तं उच्चदि तो पमादस्स वि लेस्सत्तं किण्ण इच्छिज्जदि। ण, तस्स कसाएसु अंतम्भावादो। असंजमस्स किण्ण इच्छिज्जदि। ण, तस्स वि लेस्सायम्मे अंतम्भावादो। मिच्छत्तस्स किण्ण इच्छिज्जदि। होदु तरस लेस्साववएसो, विरहाभावादो। किंतु कसायाणं चैव एत्थ पहाणत्तं हिंसादि लेस्सायम्मकरणादो, सेसेसु तद्भावादो। = प्रश्न—बन्धके कारणको ही लेश्याभाव कहा जाता है तो प्रमादको भी लेश्याभाव क्यों न मान लिया जाये। उत्तर—नहीं, क्योंकि प्रमादका तो कषायोमे ही अन्तर्भाव हो जाता है। (और भी दे० प्रत्यय/१/३)। प्रश्न—असयमको भी लेश्या क्यों नहीं मानते? उत्तर—नहीं, क्योंकि असयमका भी तो लेश्या कर्ममें अन्तर्भाव हो जाता है। प्रश्न—मिथ्यात्वको लेश्या भाव क्यों नहीं मानते। उत्तर—मिथ्यात्वको लेश्याभाव कह सकते हैं, क्योंकि उसमें कोई विरोध नहीं आता। किन्तु यहाँ कषायोका ही प्राधान्य है, क्योंकि कषाय ही लेश्या कर्मके कारण है और अन्य बन्ध कारणोंमें उसका अभाव है।

७. लेश्याके दोनों लक्षणोंका सम्बन्ध

घ. १/१.१.२३६/३५५/१ संसारवृद्धिहेतुर्लेश्येति प्रतिज्ञायमाने लिम्पतीति लेश्येत्यनेन विरोधश्चेन्न, लेपाविनाभावित्वेव तद्वृद्धेरपि तद्व्यपदेशा-विरोधात्। = प्रश्न—संसारकी वृद्धिका हेतु लेश्या है ऐसी प्रतिज्ञा करनेपर 'जो लिप्त करती है उसे लेश्या कहते हैं'; इस वचनके साथ विरोध आता है। उत्तर—नहीं, क्योंकि, कर्म लेपकी अविनाभावी होने रूपसे संसारकी वृद्धिको भी लेश्या ऐसी सज्ञा देनेसे कोई विरोध नहीं आता है। अतः उन दोनोंसे पृथग्भूत लेश्या है यह बात निश्चित हो जाती है।

२. कषायानुरंजित योग प्रवृत्ति सम्बन्धी

१. तत्रतमताकी अपेक्षा लेश्याओंमें छह विभाग

घ. १/१.१.२३६/३५५/३ षड्विध कषायोदयः। तद्यथा, तीव्रतम' तीव्रतर तीव्र मन्द, मन्दतर मन्दतमम् इति। एतेभ्यः षड्भ्यः कषायोदयेभ्यः परिपाट्या षड् लेश्या भवन्ति। = कषायका उदय छह प्रकारका होता है। वह इस प्रकार है, तीव्रतम, तीव्रतर, तीव्र, मन्द, मन्दतर और मन्दतम। इन छह प्रकारके कषायके उदयसे उत्पन्न हुई परिपाटी क्रमसे लेश्या भी छह हो जाती है।—(और भी दे० आयु/१/१६)।

२. लेश्या नाम कषायका है, योगका है वा दोनोंका :

घ. १/१.१.२३६/३८६/११ लेश्या नाम योगः कषायस्तावुभौ वर। कि चातो नाचौ विकल्पौ योगकषायमार्गणयोरेव तस्या अन्तर्भावात्। न तृतीयविकल्पस्तस्यापि तथाविधत्वात्। कर्मलेपैककार्यकर्तृत्वे-नैकत्वमापन्नयोर्योगकषाययोर्लेश्यात्वाभ्युपगमात्। नैकत्वात्तयो-रन्तर्भवति द्वयात्मकैकस्य जात्यान्तरमापन्नस्य केवलेनैकेन सहेकत्व-समानत्वयोर्विरोधात्।

घ. १/१.१.४/१४६/८ ततो न केवल कषायो लेश्या, नापि योग, अपि तु कषायानुविद्धा योगप्रवृत्तिर्लेश्येति सिद्धम्। ततो न वीतरागाणा योगो लेश्येति न प्रत्यक्स्येयं तन्त्रत्वाद्योगस्य, न कषायस्तत्र विशेषणत्वतस्तस्य प्राधान्याभावात्। = प्रश्न—लेश्या योगको कहते हैं, अथवा, कषायको कहते हैं, या योग और कषाय दोनोंको कहते हैं। इनमेंसे आदिके दो विकल्प (योग और कषाय) तो मान नहीं सकते, क्योंकि वैसे माननेपर योग और कषाय मार्गणमें ही उसका अन्तर्भाव हो जायेगा। तीसरा विकल्प भी नहीं मान सकते हैं क्योंकि वह भी आदिके दो विकल्पोंके समान है। उत्तर—१. कर्म लेप रूप एक कार्यको करनेवाले होनेको अपेक्षा एकपनेको प्राप्त हुए योग और कषायको लेश्या माना है। यदि कहा जाये कि एकताका प्राप्त हुए योग और कषायरूप लेश्या होनेसे उन दोनोंमें लेश्याका अन्तर्भाव हो जायेगा, सो भी ठीक नहीं है क्योंकि दो धर्मोंके संयोगसे उत्पन्न हुए द्वयात्मक अतएव किसी एक तीसरी अवस्थाको प्राप्त हुए किसी एक धर्मका केवल एकके साथ एकत्व अथवा समानता माननेमें विरोध आता है। २. केवल कषाय और केवल योगको लेश्या, नहीं कह सकते हैं किन्तु कषायानुविद्ध योगप्रवृत्तिको ही लेश्या कहते हैं, यह बात सिद्ध हो जाती है। इससे बारहवे आदि गुणस्थानवर्ती वीतरागियोंके केवल योगको लेश्या नहीं कह सकते ऐसा निश्चय नहीं कर लेना चाहिए, क्योंकि लेश्यामें योगकी प्रधानता है, कषाय प्रधान नहीं है, क्योंकि, वह योग प्रवृत्तिका विशेषण है, अतएव उसकी प्रधानता नहीं हो सकती है।

घ. ७/२.१.६३/१०४/१२ यदि कसाओदए लेस्साओ उच्चति तो खीणकसायाण लेस्साभावा पसज्जदि। सच्चभेदं जदि कसाअ'दयादो चैव लेस्सुत्पत्ती इच्छिज्जदि। किंतु सरीरणामकम्मोदयजणिद-जोगो वि लेस्साति इच्छिज्जदि, कम्मबधणिमित्तत्तादो। = ३. क्षीण-कषाय जीवोंमें लेश्याके अभावका प्रसंग आता यदि केवल कषायो-दयसे ही लेश्याको उत्पत्ति मानी जाती। किन्तु शरीर नामकर्मके उदयसे उत्पन्न योग भी तो लेश्या माना गया है, क्योंकि वह भी कर्मके बन्धमें निमित्त होता है।

३. योग व कषायसे पृथक् लेश्या माननेका क्या

आवश्यकता

घ. १/१.१.२३६/३८७/५ योमकषायकार्याद्वयतिरिक्तलेश्यात्रार्यानुप-लम्भान्न ताभ्या पृथक्लेश्यास्तीति चेन्न, योगकषायाभ्यां प्रत्यनीकत्वाद्यालम्बनाचार्यादिब. ह्यार्थसंनिधानेनापन्नलेश्याभावाभ्यां संसारवृद्धिकार्यस्य तत्केवलकार्याद्वयतिरिक्तस्योपलम्भात्। = प्रश्न—योग और कषायोंसे भिन्न लेश्याका कार्य नहीं पाया जाता है, इसलिए उन दोनोंसे भिन्न लेश्या नहीं मानी जा सकती। उत्तर नहीं, क्योंकि, विपरीतताको प्राप्त हुए मिथ्यात्व, अविरति आदिके आलम्बन रूप आचार्यादि बाह्य पदार्थोंके सम्पर्कसे लेश्या भावको प्राप्त हुए योग और कषायोंसे केवल योग और केवल कषायके कार्यसे भिन्न संसारकी वृद्धि रूप कार्यकी उपलब्धि हो जा केवल योग और केवल कषायका कार्य नहीं कहा जा सकता है, इसलिए लेश्या उन दोनोंसे भिन्न है, यह बात सिद्ध हो जाती है।

४. लेश्याका कषायोंमें अन्तर्भाव क्यों नहीं कर देते

रा. वा. २/६/१०६/२५ कषायश्चौदयिको व्याख्यातः, ततो लेश्या-
नर्थान्तरभूतेति, नैष दोषः; कषायोदयतीव्रमन्दावस्थापेक्षा भेदाद-
र्थान्तरत्वम् । = प्रश्न—कषाय औदयिक होती हैं, इसलिए लेश्याका
कषायोमें अन्तर्भाव हो जाता है। उत्तर—यह कोई दोष नहीं है।
क्योंकि, कषायोदयके तीव्र-मन्द आदि तारतम्यसे अनुरजित
लेश्या पृथक् ही है।

दे० लेश्या/२/२ (केवल कषायको लेश्या नहीं कहते अपितु कषायानुविद्ध
योग प्रवृत्तिकी लेश्या कहते हैं)।

३. द्रव्य लेश्या निर्देश

१. अपर्याप्त कालमें शुक्ल व कापोत लेश्या ही होती है

ध. २/१,१/४२२/६ जम्हा सव्व-कम्मस्स विस्सोवचओ सुक्किलो भवदि
तम्हा विग्गहगदीए वहमाण-सव्वजीवाण सरीरस्स सुक्कलेस्सा
भवदि। पुणो सरीरं घेत्तण जाव पज्जत्तोओ समाणेदि ताव
इव्ववण-परमाणु पुंज-णिव्वज्जमाण-सरीरत्तादो तरस्स सरीरस्स लेस्सा
काउलेस्सेत्ति भण्णदे, एव दो सरीरलेस्साओ भवति । = जिस
कारणसे सम्पूर्ण कर्मोंका विस्रोपचय शुक्ल ही होता है, इसलिए
विग्रहगतिमें विद्यमान सम्पूर्ण जीवोंके शरीरकी शुक्ललेश्या होती
है। तदनन्तर शरीरको ग्रहण करके जब तक पर्याप्तियोंको पूर्ण करता
है तब तक छह वर्णवाले परमाणुओंके पुंजसे शरीरकी उत्पत्ति होती
है, इसलिए उस शरीरकी कापोत लेश्या कही जाती है। इस प्रकार
अपर्याप्त अवस्थामें शरीर सम्बन्धी दो ही लेश्याएँ होती हैं।
(ध २/१,१/६४/१, ६०६/६)

२. नरक गतिमें द्रव्यसे कृष्ण लेश्या ही होती है

गो. जी. मू. व. जी. प्र ४६६/८६८ णिरया किण्हा ४६६। नारका सर्वे
कृष्णा एव । = नारकी सर्व कृष्ण वर्णवाले ही है।

३. जलकी द्रव्यलेश्या शुक्ल ही है

ध २/१,१/६०६/६ सुहम आऊणं काउलेस्सा वा बादरथाऊणं फलिह-
वणलेस्सा । कुदो । घणोदधि-घणवलयागासपदिद-पाणीयाणं
धवलवण्ण-दंसणादो । धवल-किसण-णील-पीयल-रत्ताअंब-पाणीय
दंसणादो ण धवलवण्णमेव पाणीयमिदि वि पि भण ति, तण्ण घडदे ।
कुदो । आयाग्भावे भट्टियाए संजोगेण जलस्स बहुवण्ण-ववहार-
दसणादो । आऊणं सहावण्णो पुण धवलो चैव । = सूक्ष्म अपकायिक
जीवोंके अपर्याप्त कालमें द्रव्यसे कापोतलेश्या और बादरकायिक
जीवोंके स्फटिकवर्णवाली शुक्ल कहना चाहिए, क्योंकि, घनोद-
धिवात और घनवलयवात द्वारा आकाशसे गिरे हुए पानीका धवल
वर्ण देखा जाता है। प्रश्न—कितने ही आचार्य ऐसा कहते हैं कि
धवल, कृष्ण, नील, पीत, रक्त और आताम्र वर्णका पानी देखा जानेसे
धवल वर्ण ही होता है। ऐसा कहना नहीं बनता । उत्तर—उनका
कहना युक्तिसंगत नहीं है, क्योंकि, आधारके होनेपर मिट्टीके
सयोगसे जल अनेक वर्णवाला हो जाता है ऐसा व्यवहार देखा जाता
है। किन्तु जलका स्वाभाविक वर्ण धवल ही होता है।

४. मवन त्रिकमें छहों द्रव्यलेश्या सम्भव है

ध. २/१,१/५३२-५३६/६ देवाणं पज्जत्तकाले दव्वदो छ लेस्साओ हवति
त्ति एदं ण घडदे, तेसि पज्जत्तकाले भावदो छ-लेस्साभावादो ।
जा भावलेस्सा तव्वलेस्सा चैव । णोक्कम्मपरमाणवो आगच्छंति । ५३३।
ण ताव अपज्जत्तकालभावलेस्सा- पज्जत्तकाले भावलेस्सा पि णियमेण
अणुहरइ पज्जत्त-दव्वलेस्सा- । धवलवण्णवलयए भावदो सुक्कलेस्स-

पसगादो । दव्वलेस्सा णाम वण्णणामकम्मोदयादो भवदि, ण
भावलेस्सादो । वण्णणामकम्मोदयादो भवणवासिय-धाणवेत्तर-जो-
इसियाणं दव्वदो छ लेस्साओ भवति, उवरिमदेवाण तेउ-पम्म सुक्क
लेस्साओ भवति । = प्रश्न—देवोंके पर्याप्तकालमें द्रव्यसे छहो लेश्याएँ
होती हैं यह वचन घटित नहीं होता है, क्योंकि उनके पर्याप्त कालमें
भावसे छहो लेश्याओका अभाव है। क्योंकि जो भावलेश्या होती
है उसी लेश्यावाले ही नोक्कम्म परमाणु आते हैं। उत्तर—द्रव्यलेश्या
अपर्याप्तकालमें इसी प्रकार पर्याप्त कालमें भी पर्याप्त जीव सम्बन्धी
द्रव्यलेश्या भावलेश्याका नियमसे अनुकरण नहीं करती है क्योंकि
वैसा माननेपर ता धवल वर्णवाले बगुलेके भी भावसे शुक्ललेश्याका
प्रसंग प्राप्त होगा। दूसरी बात यह भी है कि द्रव्यलेश्या वर्ण नामा
नामकर्मके उदयसे होती है भावलेश्यासे नहीं। वर्ण नामा नाम-
कर्मके उदयसे भवनवासी, वातव्यन्तर और ज्योतिषी देवोंके द्रव्यकी
अपेक्षा छहों लेश्याएँ हातो हैं तथा भवनत्रिकसे ऊपर देवोंके तेज,
पद्म और शुक्ल लेश्याएँ होती हैं। (गो, जी. मू. ४६६/८६८)

५. आहारक शरीरकी शुक्ललेश्या होती है

ध. १४/५,४,२३६/३२७/६ पचवण्णाणमाहारसरीरपरमाणुणं कथं सुक्कि-
लत्त जुज्जदे । ण, विस्सासुवचयवण्ण पडुच्च धवलत्तुवलभादो ।
= प्रश्न—आहारक शरीरके परमाणु पाँच वर्णवाले हैं। उनमें केवल
शुक्लपना कैसे बन सकता है। उत्तर—नहीं, क्योंकि विस्रोपचयके
वर्णकी अपेक्षा धवलपना उपलब्ध होता है।

६. कपाट समुद्धातमें कापोतलेश्या होती है

ध. २/१,१/६५४/३ कवाडगद-सजोगिकेवलस्स वि सरीरस्स काउलेस्सा ।
चैव हवदि । एत्थ वि कारणं पुव्व व वत्तरवं । सजोगिकेवलस्स
पुव्विवल-सरीरं इव्ववण्णं जदि वि हवदि तो वि तण्ण घेप्पदि; कवाड-
गद-केवलस्स अपज्जत्तजोगे वहमाणस्स पुव्विवलसरीरेण सह संबधा-
भावादो । अहवा पुव्विवलवण्ण-सरीरमस्सिऊण उवयारेण दव्वदो
सजोगिकेवलस्स छ लेस्साओ हवति । = कपाट समुद्धातगत सयोगि-
केवलीके शरीरकी भी कापोतलेश्या ही होती है। यहाँपर भी पूर्व
(अपर्याप्तवत् दे० लेश्या/३/१) के समान ही कारण कहना चाहिए।
यद्यपि सयोगिकेवलीके पहलेका शरीर छहों वर्ण वाला होता है;
क्योंकि अपर्याप्त योगमें वर्तमान कपाट-समुद्धातगतसयोगि केवलीका
पहलेके शरीरके साथ सम्बन्ध नहीं रहता है। अथवा पहलेके षड्वर्ण-
वाले शरीरका आश्रय लेकर उपचार द्रव्यकी अपेक्षा सयोगिकेवलीके
छहों लेश्याएँ होती हैं। (ध. २/१,१/६६०/२)

४. भाव लेश्या निर्देश

१. लेश्यामार्गणामें भाव लेश्या अभिप्रेत है

स सि. २/६/१५६/१० जीवभावाधिकाराइ द्रव्यलेश्यानाधिकृता ।
= यहाँ जीवके भावोंका अधिकार होनेसे द्रव्यलेश्या नहीं ली गयी
है। (रा. वा २/६/५/१०६/१३)।
ध २/१,१/४३१/६ केई सरीर-णिव्वत्तणइमागद-परमाणुवण्णं घेत्तूण
सज्जासज्जादोण भावलेस्स परुवर्यति । तण्ण घडदे, वचन-
व्याघाताच्च । कम्म-लेवहेदूदो जोग-कसाया चैव भाव-लेस्सा ति
णेप्पिहदव्वं । = कहने ही आचार्य, शरीर-रचनाके लिए आये हुए
परमाणुओंके वर्णको लेकर सयत्तासंयत्तादि गुणस्थानवर्ती जीवोंके
भावलेश्याका वर्णन करते हैं किन्तु उनका यह कथन घटित नहीं
होता है। आगमका वचन भी व्याघात होता है। इसलिए कर्म
लेपका कारण होनेसे कषायसे अनुरजित (जीव) प्रकृति ही भाव-
लेश्या है। ऐसा अर्थ ग्रहण करना चाहिए।

२. छहों भाव लेख्याओंके दृष्टान्त

प. सं./प्रा/१/१६२ गिम्मूल खंघ साहा गुद्या चुणिऊण कोइ पडिदाई ।
जह एदेसि भावा तह विय लेसा मुणियव्वा । = कोई पुरुष वृक्ष
को जड़-मूलसे उखाडकर, कोई स्कन्धसे काटकर, कोई गुच्छोंको तोड
कर, कोई शाखाको काटकर, कोई फलोको चुनकर, कोई गिरे हुए
फलोको बीनकर खाना चाहे तो उनके भाव उत्तरोत्तर विशुद्ध है,
उसी प्रकार कृष्णादि लेख्याओंके भाव भी परस्पर विशुद्ध है ।१६२।
ध. २/१.१/गा. २२६/६३३ गिम्मूलखघसाहुवसाहं बुधित्तु वाउ-
पडिदाइ । अब्भतरलेस्साणभिदइ एदाई वयणाह ।२२६।
गो. जी./मू./५०६ पहिया जे छप्पुरिसा परिभट्टारणमज्जकदेसम्हि ।
फलभरियरुक्खमेग पेविक्त्ता ते विचित्ति ।५०६। = १, छह लेख्या-
वाले छह पथिक वनमें मार्गसे भ्रष्ट होकर फलोसे पूर्ण किसी वृक्षको
देखकर अपने मनमें विचार करते है, और उसके अनुसार वचन
कहते है—(गो सा,) २. जड़-मूलसे वृक्षको काटो, स्कन्धको काटो,
शाखाओसे काटो, उपशाखाओसे काटो, फलोको तोडकर खाओ
और वायुसे पतित फलोको खाओ, इस प्रकार ये अम्यन्तर अर्थात्
भावलेख्याओके भेदको प्रकट करते है ।२२६। (ध. गो. सा/
मू./५०७) ।

३. लेख्या अधिकारमें १६ प्ररूपणाएँ

गो जी./मू./४६१-४६२/८६६ णिद्धदेसवणपरिणामसकमो कम्मलक्खण-
गदी य । सामी साहणसखा खेत्त फासं तदो कालो ।४६१। अतर-
भावपबहु अहियारा सोलसा हव ति त्ति । लेस्साण साहणदठ जहाकम
तेहि बोच्छामि ।४६२। = निर्देश, वर्ण, परिणाम, सक्रम, कर्म, लक्षण,
गति, स्वामी, साधन, सख्या, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर, भाव,
अल्प-बहुत्व ये लेख्याओंको सिद्धिके लिए सोलह अधिकार परमाणममें
कहे है ।४६१-४६२।

४. वैमानिक देवोंमें द्रव्य व भावलेख्या समान होती है परन्तु अन्य जीवोंमें नियम नहीं

ति. प./८/६७२ सोहम्मपपहुदीणं एदाओ दव्वभावलेस्साओ । = सौध-
मार्दिक देवोंके ये द्रव्य व भाव लेख्याएँ समान होती है । (गो. जी /
मू./४६६) ।
ध. २/१.१/६३४/६ ण ताव अपज्जत्तकाल भावलेस्समणुहरइ दव्वलेस्सा,
उत्तम-भोगभूमि-मणुस्साणमपज्जत्तकाले असुह-त्ति-लेस्साणं गउ-
रवणा भावापत्तीदो । ण पज्जत्तकाले भावलेस्सं पि णियमेण अणुहरइ
पज्जत्तदव्वलेस्सा, छविह-भाव-लेस्साणु परियट्ठ-त्तिरिक्ख
मणुमपज्जत्ताणं दव्वलेस्साए अणियमपसगादो । धवलवण्णबलायाए-
भावदो सुक्कलेस्सपसगादो । आहारसरीराण धवलवण्णण विग्गह-
गदि-ट्ठिय-सव्व जीवाणं धवलवण्णणं भावदो सुक्कलेस्सावत्तीदो
चेव । कि च, दव्वलेस्सा णाम वण्णणामकम्मोदयादो भवदि ण
भावलेस्सादो । = द्रव्यलेख्या अपर्याप्त कालमें होनेवाली भावलेख्याका
तो अनुकरण करती नहीं है, अन्यथा अपर्याप्त कालमें अशुभ तीनो
लेख्यावाले उत्तम भोगभूमियाँ मनुष्योंके गौर वर्णका अभाव प्राप्त
हो जायेगा । इसी प्रकार पर्याप्तकालमें भी पर्याप्त जीवसम्बन्धी द्रव्य-
लेख्या भावलेख्याका नियमसे अनुकरण नहीं करती है क्योंकि वैसा
माननेपर छह प्रकारकी भाव लेख्याओमें निरन्तर परिवर्तन करनेवाले
पर्याप्त तिर्यच और मनुष्योंके द्रव्य लेख्याके अनियमपनेका प्रसंग
प्राप्त हो जायेगा । और यदि द्रव्यलेख्याके अनुरूप ही भावलेख्या
मानी जाये, तो धवल वर्णवाले बगुलेके भी भावसे शुक्ललेख्याका
प्रसंग प्राप्त होगा । तथा धवल वर्णवाले आहारक शरीरोंके और धवल
वर्णवाले विग्रहगतिमें विद्यमान सभी जीवोंके भावकी अपेक्षासे

शुक्ललेख्याकी आपत्ति प्राप्त होगी । दूसरी बात यह भी है कि द्रव्य
लेख्या वर्णनामा नाम कर्मके उदयसे होती है, भाव लेख्यासे नहीं ।

५. शुभ लेख्याके अभावमें भी नारकियोंके सम्यक्त्वादि कैसे

रा. वा./३/३/४/१६३/३० नित्यग्रहणाख्लेश्याखनिवृत्तिप्रसङ्ग इति चेत्;
न, आभीक्ष्यवचनत्वात् नित्यग्रहसितवत् ।४। .. लेख्यादीनामपि
व्ययोदयाभावान्नित्यत्वे सति नरकादप्रचय स्यादिति । तन्न, कि
कारणम् । आभीक्ष्यवचनान्नित्यग्रहसितवत् । .. अशुभकर्मादिय-
निमित्तवशात् लेख्याद्योऽनारतं प्रादुर्भवन्तीति आभीक्ष्यवचनो
नित्यशब्दः प्रयुक्तः । एतेषां नारकाणां स्वायु प्रमाणावधृता
द्रव्यलेख्या उक्ता, भावलेख्यास्तु षडपि प्रत्येकमन्तर्मुहूर्तपरि-
वर्तिन्य । = प्रश्न—लेख्या आदिको उदयका अभाव न होनेसे,
अर्थात् नित्य होनेसे नरकसे अच्युतिका तथा लेख्याकी अनिवृत्ति-
का प्रसंग आ जावेगा । उत्तर—ऐसा नहीं है, क्योंकि यहाँ नित्य
शब्द बहुधाके अर्थमें प्रयुक्त हुआ है । जैसे—देवदत्त नित्य हँसता
है, अर्थात् निमित्त मिलने पर देवदत्त जरूर हँसता है, उसी तरह
नारकी भी कर्मोदयसे निमित्त मिलने पर अवश्य ही अशुभतर
लेख्या वाले होते है, यहाँ नित्य शब्दका अर्थ शाश्वत व कूटस्थ
नहीं है । . नारकियोंमें अपनी आयुके प्रमाण काल पर्यन्त (कृष्णादि
तीन) द्रव्यलेख्या कही गयी है । भाव लेख्या तो छहो होती है और
वे अन्तर्मुहूर्तमें बदलती रहती है ।

ल. सा./जी प्र./१०१/१३८/८ नरकगतौ नियताशुभलेख्यात्वेऽपि कषा-
याणा मन्दानुभागोदयवशेन तत्त्वर्थश्रद्धानानुगुणकारणपरिणामरूप-
विशुद्धिविशेषसम्भवाविरोधात् । = यद्यपि नारकियोंमें नियमसे
अशुभलेख्या है तथापि वहाँ जो लेख्या पायी जाती है उस लेख्यामें
कषायोंके मन्द अनुभाग उदयके वशसे तत्त्वार्थ श्रद्धानुरूप
गुणके कारण परिणाम रूप विशुद्धि विशेषकी असम्भावना नहीं है ।

६. भाव लेख्याके कालसे गुणस्थानका काल अधिक है

ध ३/१.६.३०८/१४६/१ लेस्साद्धादो गुणद्धाए बहुत्तुवदेसा । = लेख्याके
कालसे गुणस्थापनका काल बहुत होता है, ऐसा उपदेश पाया
जाता है ।

७. लेख्या परिवर्तन क्रम सम्बन्धी नियम

गो. क/मू/४६६-५०३ लोगाणमसखेज्जा उदयदठणा कसायग हीति ।
तत्थ किलिट्ठा असुहा सुहाविसुद्धा तदालाबा ।४६६। तिव्वतमा
तिव्वतरा तिव्वसुहा सुहा तहा मदा । मदतरा मदतमा छट्ठणागथा
हु पत्तेयं ।५००। असुहाण वरमत्थिम अवरसे किण्हणीलकाउ-
त्तिए । परिणमदि कमेणप्पा परिहाणीदो किलेस्स ।५०१। काऊ
णील किण्ह परिणमदि किलेस्सवड्ढिदो अप्पा । एवं किलेस्साणी-
वड्ढीदो हीदि असुहतिय ।५०२। तेऊ पडमे सुक्के सुहाणमवरादि
असगे अप्पा । सुद्धिस्स य वड्ढीदो हाणीदो अण्णदा हीदि ।५०३।
संकमण सट्ठणपरट्ठण हीदि किण्हसुक्काणं । वड्ढीसु हि सट्ठणं
उभयं हाणिम्म सेस, उभये वि ।५०४। लेस्साणुक्कसादो वरहाणी
अवरगादवरवड्ढी । सट्ठणे अवरादो हाणी णियमापरट्ठणे ।५०५।
= कषायोंके उदयस्थान असख्यात लोकप्रमाण है । इसमेंसे अशुभ
लेख्याओके संक्लेश रूप स्थान यद्यपि सामान्यसे असख्यात
लोकप्रमाण है तथापि विशेषताकी अपेक्षा असख्यात लोक
प्रमाणमें असख्यात लोक प्रमाण राशिका भाग देनेसे जो लब्ध आवे
उसके बहु भाग संक्लेश रूप स्थान है और एक भाग प्रमाण
शुभ लेख्याओके स्थान है ।४६६। अशुभ लेख्या सम्बन्धी तीव्रतम,
तीव्रतर और तीव्र ये तीन स्थान, और शुभ लेख्या सम्बन्धी मन्द

मन्दतर मन्दतम ये तीन स्थान होते हैं १५००। कृष्ण, नील, कापोत इन तीन अशुभ लेश्याओंके उत्कृष्ट मध्यम जघन्य अंश रूपमें यह आत्मक्रमसे सबलेशकी हानि होनेसे परिणमन करता है १५०१। उत्तरोत्तर संव्लेश परिणामोंकी वृद्धि होनेसे यह आत्मा कापोतसे नील और नीलसे कृष्ण लेश्यारूप परिणमन करता है। इस तरह यह जीव संव्लेशकी हानि और वृद्धिकी अपेक्षासे तीन अशुभ लेश्या रूप परिणमन करता है १५०२। उत्तरोत्तर विशुद्धि होनेसे यह आत्मा पीत, पद्म, शुक्ल इन शुभ लेश्याओंके जघन्य, मध्यम, उत्कृष्ट अंश रूप परिणमन करता है। विशुद्धिकी हानि होनेसे उत्कृष्टसे जघन्य पर्यन्त शुक्ल पद्म पीत लेश्या रूप परिणमन करता है १५०३। परिणामोंकी पलटनको संक्रमण कहते हैं उसके दो भेद हैं—स्वस्थान, परस्थान संक्रमण। कृष्ण और शुक्लमें वृद्धिकी अपेक्षा स्वस्थान संक्रमण ही होता है। और हानिकी अपेक्षा दोनों संक्रमण होते हैं। तथा शेष चार लेश्याओंमें स्वस्थान परस्थान दोनों संक्रमण सम्भव है १५०४। स्वस्थानकी अपेक्षा लेश्याओंके उत्कृष्ट स्थानके समीपवर्ती परिणाम उत्कृष्ट स्थानके परिणामसे अनन्त भाग हानिरूप है। तथा स्वस्थानकी अपेक्षासे ही जघन्य स्थानके समीपवर्ती स्थानका परिणाम जघन्य स्थानसे अनन्त भाग वृद्धिरूप है। सम्पूर्ण लेश्याओंके जघन्य स्थानसे यदि हानि हो तो नियमसे अनन्त गुण हानिरूप परस्थान संक्रमण होता है १५०५। (गो क/जी, प्र/५४६/७२६/१६)।

दे. काल/५/१८ (शुक्ल लेश्यासे कमश' कापोत नील लेश्याओंमें परिणमन करके पीछे कृष्ण लेश्या रूप परिणमन स्वीकार किया गया है (पद्म, पोतमें आनेका नियम नहीं) कृष्ण लेश्यासे परिणतिके अनन्तर ही कापोत रूप परिणमन शक्ति का अभाव है)।

दे. काल/५/१६-१७ (विवक्षित लेश्याको प्राप्त करके अन्तर्मुहूर्तसे पहले गुणस्थान या लेश्या परिवर्तन नहीं होता)।

५. भाव लेश्याओंका स्वामित्व व शंका समाधान

१. सम्यक्त्व व गुणस्थानोंमें लेश्या

प. स. १/१/सू. १३७-१४० किण्वलेस्सिया पोतलेस्सिया काउलेस्सिया एईदियपहुडि जाव असजद-सम्माइट्टि त्ति १३७। तेउलेस्सिया पम्मलेस्सिया सण्णि-मिच्छाइट्टि-प्पहुडि जाव अप्पमत्तसंजदा त्ति १३८। सुक्कलेस्सिया सण्णि मिच्छाइट्टि-प्पहुडि जाव सज्जोगिकेवत्ति त्ति १३९। तेण परमलेस्सिया १४०। = कृष्ण लेश्या, नील लेश्या और कापोत लेश्यावाले जीव एकेन्द्रियसे लेकर असयत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान तक होते हैं १३७। पीत लेश्या और पद्म लेश्यावाले जीव सज्जी मिथ्यादृष्टिसे लेकर अप्रमत्त सयत गुणस्थान तक होते हैं १३८। शुक्ल लेश्यावाले जीव सज्जी मिथ्यादृष्टिसे लेकर सयोगि केवली गुणस्थान तक होते हैं १३९। तेरहवें गुणस्थानके आगेके सभी जीव लेश्या रहित हैं १४०।

ध. ६/१.६-८.२२/२६३/१ कदकरणिज्जकालव्वतरे तस्स मरण पि होज्ज, काउ-तेउ-पम्म-सुक्कलेस्साणमण्णदराए लेस्सा वि परिणाममेज्ज । = कृतकृत्य वेदक कालके भीतर उसका मरण भी हो, कापोत, तेज पद्म और शुक्ल, इन लेश्याओंमेंसे किसी एक लेश्याके द्वारा परिणमित भी हो ।

गो क./जी, प्र./३५४/५०६/१६ शुभलेश्यात्रये तद्विराधनासंभवात् । = तीनों शुभ लेश्याओंमें सम्यक्त्वकी विराधना नहीं होती ।

२. उपरले गुणस्थानोंमें लेश्या कैसे सम्भव है

स. सि २/६/१६०/१ ननु च उपशान्तकषाये सयोगकेवलिन च शुक्ललेश्यास्तीत्यागम' । तत्र कषायानुरञ्जना भावादौदयिकत्व नोपपद्यते । नैष दोषः पूर्वभाजप्रज्ञापननयापेक्षया यासौ योगप्रवृत्तिः कषायानुरब्जिता सैवेत्युपचारादौदयिकीत्युच्यते । तदभावादयोग-केवल्यलेश्य इति निश्चीयते । = प्रश्न—उपशान्त कषाय, क्षीणकषाय और सयोगकेवली गुणस्थानमें शुक्ललेश्या है ऐसा आगम है, परन्तु

वहाँपर कषायका उदय नहीं है इसलिए औदयिकपना नहीं बन सकता । उत्तर—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि जो योगप्रवृत्ति कषायके उदयसे अनुरजित है वही यह है इस प्रकार पूर्वभाज प्रज्ञापन नयकी अपेक्षा उपशान्त कषाय आदि गुणस्थानोंमें भी लेश्याको औदयिक कहा गया है । किन्तु अयोगकेवलीके योग प्रवृत्ति नहीं है इसलिए वे लेश्या रहित हैं, ऐसा निश्चय है । (रा वा २/६/८/१०६/२६) ; (गो, जी, सू २/३३/६२६) ।

दे० लेश्या/२/२ (बारहवें गुणस्थानवर्ती वीतरागियेके केवल योगको लेश्या नहीं कहते, ऐसा निश्चय नहीं करना चाहिए ।)

ध १/१.१.१३६/३६२/८ कथं क्षीणोपशान्तकषायानां शुक्ललेश्येति चेन्न, कर्मलेपनिमित्तयोगस्य तत्र सत्त्वापेक्षया तेषां शुक्ललेश्या-स्तित्वाविरोधात् । = प्रश्न—जिन जीवोंकी कषाय क्षीण अथवा उपशान्त हो गयी है उनके शुक्ललेश्याका होना कैसे सम्भव है ? उत्तर—नहीं, क्योंकि जिन जीवोंकी कषाय क्षीण अथवा उपशान्त हो गयी है उनमें कर्मलेपका कारण योग पाया जाता है, इसलिए इस अपेक्षासे उनके शुक्ल लेश्याके सद्भाव माननेमें विरोध नहीं आता । (ध. २/१.१/४३६/६), (ध. ७/२.२.६१/१०५/१) ।

३. नरकके एक ही पटलमें भिन्न-भिन्न लेश्याएँ कैसे सम्भव हैं

ध ४/१.५.२६०/४६१/२ सब्बेसि णेरइयाण तत्थ (पचम पुढवीए) तणाणं तीए (कीण्ह) चैव लेस्साए अभावा । एकम्मिह पत्थडे भिण्णलेस्साणं कथं संभवो । विरोहाभावा । एसो अत्थो सब्बत्थ जाणिदव्वो । = पाँचवीं पृथ्वीके अधस्तन प्रस्तारके समस्त नारकियोंके उसी ही (कृष्ण) लेश्याका अभाव है । (इसी प्रकार अन्य पृथिवियोंमें भी) ; प्रश्न—एक ही प्रस्तारमें दो भिन्न-भिन्न लेश्याओंका होना कैसे सम्भव है । उत्तर—एक ही प्रस्तारमें भिन्न-भिन्न जीवोंके भिन्न-भिन्न लेश्याके होनेमें कोई विरोध नहीं है । यही अर्थ सर्वत्र जानना चाहिए ।

४. मरण समयमें सम्भव लेश्याएँ

ध. ८/३.२६८/३२३/१ सब्बे देवा सुदक्खणेण चैव अणियमेण असुह-तिलेस्सासु णिवदंति त्ति गहिदे जुज्जदे । सुददेवाण सब्बेसि पि काउ लेस्साए चैव परिणामभुवणमादो । = १. सब देव मरण क्षणमें ही नियम रहित अशुभ तीन लेश्याओंमें गिरते हैं । २. सब ही मृत देवोंका कापोत लेश्यामें ही परिणमन स्वीकार किया गया है ।

ध २/१.१/५९१/३ णेरइया असंजदसम्माइट्टिणो पढमपुढवि आदि जाव छट्ठी पुढविपज्जवसाणासु पुढवीसु द्विदा कालं काउण मणुस्सेसु चैव अप्पपणो पुढविपाओगलेस्साहि सह उप्पज्जति त्ति किण्ह-णील-काउलेस्सा लब्धंति । देवा वि असजदसम्माइट्टिणो कालं काउण मणुस्सेसु उप्पज्जमाणा तेउ-पम्म-सुक्कलेस्साहि सह मणुस्सेसु उव्वेज्जति ।

ध २/१.१/६५६/१२ देव-मिच्छाइट्टि-सासणसम्माइट्टिणो तेउ-पम्म-सुक्कलेस्सासु वट्टमाणा णट्टलेस्सा होउण तिरिक्खमणुस्सेसुपज्ज-माणा उप्पण-पढमसमए चैव किण्हणील-काउलेस्साहि सह परिणमति । = १ प्रथम पृथिवीसे लेकर छठी पृथिवी पर्यंत पृथिवियोंमें रहनेवाले असंयत सम्यग्दृष्टि नारकी मरण करके मनुष्योंमें अपनी-अपनी पृथिवीके योग्य लेश्याओंके साथ ही उत्पन्न होते हैं । इसलिए उनके कृष्ण, नील, कापोत लेश्याएँ पायी जाती हैं । २. उसी प्रकार असंयत सम्यग्दृष्टि देव भी मरण करके मनुष्योंमें उत्पन्न होते हुए अपनी-अपनी पीत, पद्म और शुक्ल लेश्याओंके साथ ही मनुष्योंमें उत्पन्न होते हैं । ३. तेज, पद्म और शुक्ल लेश्याओंमें वर्तमान मिथ्यादृष्टि और सासादन सम्यग्दृष्टि देव तिर्यच और मनुष्योंमें उत्पन्न होते समय नष्टलेश्या होकर अर्थात् अपनी-अपनी पूर्वकी लेश्याको छोड़कर मनुष्यों और तिर्यचोंमें

उत्पन्न होनेके प्रथम समय कृष्ण, नील और कापोत लेश्यासे परिणत हो जाते हैं। (ध २/१.१/७६४/५)।

५. अपर्याप्त कालमें सम्भव लेश्याएँ

घ. २/१.१/५/५/५/५ नं गेरइय-तिरिक्ख-भवणवासिय - वाणवितर - जोडसियदेवाणमपज्जत्तकाले किण्ह-णीलकाउलेस्साओ भवन्ति। सोधम्मादि उवरिमदेवाणमपज्जत्तकाले तेउ-पम्मसुक्कलेस्साओ भवन्ति (४२२/१०) असंजदसम्माइट्ठीणमपज्जत्तकाले छ लेस्साओ हवति (५११/७)। ओरालियमिस्सकायजोगे भावेण छ लेस्साओ।

मिच्छाइट्ठी-सासाणसम्माइट्ठीण ओरालियमिस्सकायजोगे वट्ट-माणण किण्ह-णीलकाउलेस्सा चैव हवति (६५४/१,७)। देव-मिच्छाइट्ठीसासाणसम्माइट्ठीणं तिरिक्ख-मणुस्सेमुपज्जमा-णाण संविलेसेण तेउ-पम्म-सुक्कलेस्साओ फिट्ठिण्ण किण्ह-णील-काउलेस्साणं एगदमा भवदि। सम्माइट्ठीण पुण तेउ-पम्म-सुक्क-लेस्साओ चिरतणाओ जाव अतोमुहुत्तं ताव ण णस्सति। (७६४/५)। = १. नारकी, तिर्यच, भवनवासी, वान व्यन्तर और ज्योतिषी देवोंके अपर्याप्त कालमें कृष्ण, नील और कापोत लेश्याएँ होती हैं। तथा सौधर्मादि ऊपरके देवोंके अपर्याप्त कालमें पीत, पद्म और शुक्ल लेश्या होती हैं। ऐसा जानना चाहिए। २ असंयत सम्यग्दृष्टियोंके अपर्याप्त कालमें छहों लेश्याएँ होती हैं। ३ औदारिक-मिश्रकाययोगीके भावसे छहों लेश्याएँ होती हैं। औदारिक-मिश्रकाययोगमें वर्तमान मिथ्यादृष्टि और सासादन सम्यग्दृष्टि जीवोंके भावसे कृष्ण, नील और कापोत लेश्याएँ ही होती हैं। ४. मिथ्यादृष्टि और सासादनसम्यग्दृष्टि देवोंके मरते समय संविलेश उत्पन्न हो जानेसे तेज, पद्म और शुक्ल लेश्याएँ नष्ट होकर कृष्ण, नील और कापोत लेश्यामेंसे यथा सम्भव कोई एक लेश्या हो जाती है। किन्तु सम्यग्दृष्टि देवोंके चिरतन (पुरानी तेज, पद्म और शुक्ललेश्याएँ मरण करनेके अनन्तर अन्तर्मुहूर्त तक नष्ट नहीं होती हैं, इसलिए शुक्ल लेश्यावाले मिथ्यादृष्टि और सासादन सम्यग्दृष्टि देवोंके औदारिककाय नहीं होता)(ध २/१.१/६५६/१२)।

गो. क/जी, प्र/६२५/४६५/१२ तद्भवप्रथमकालान्तर्मुहूर्तं पूर्वभव-लेश्यासद्भावात्। = वर्तमान भवके प्रथम अन्तर्मुहूर्तकालमें पूर्व-भवकी लेश्याका सद्भाव होनेसे।

६. अपर्याप्त या मिश्र योगमें लेश्या सम्बन्धी शंका

समाधान

१. मिश्रयोग सामान्यमें छहों लेश्या सम्बन्धी

घ. २/१.१/६५४/६ देवणेरइयसम्माइट्ठीण मणुसगदीए उप्पण्णाणं ओरालियमिस्सकायजोगे वट्टमाणणं अविण्हट्ट-पुड्विल्ल-भाव-लेस्साणं भावेण छ लेस्साओ लभन्ति स्ति। = देव और नारकी मनुष्यगतिमें उत्पन्न हुए हैं, औदारिक मिश्रकाय योगमें वर्तमान हैं, और जिनकी पूर्वभव सम्बन्धी भाव लेश्याएँ अभी तक नष्ट नहीं हुई हैं, ऐसे जीवोंके भावसे छहों लेश्याएँ पायी जाती हैं; इसलिए औदारिकमिश्र काययोगी जीवोंके छहों लेश्याएँ कही गयी हैं।

२. मिथ्यादृष्टि व सासादन सम्यग्दृष्टिके शुभ लेश्या सम्बन्धी

दे० लेश्या/५/४ में घ. २/१.१/७६४/५ (मिथ्यादृष्टि व सासादन सम्यग्दृष्टि देवोंके मरते समय संविलेश हो जानेसे पीत, पद्म व शुक्ल लेश्याएँ नष्ट होकर कृष्ण, नील व कापोतमेंसे यथा सम्भव कोई एक लेश्या ही जाती है।)

३. अविरत सम्यग्दृष्टिमें छहों लेश्या सम्बन्धी

घ. २/१.१/७६२/७ छट्ठीदो पुट्ठीदो किण्हलेस्सासम्माइट्ठीणो मणुसेसु जे आगच्छति तेसि वेदासम्मत्तेण सह किण्हलेस्सा लभन्ति स्ति। = छठी पृथिवीसे जो कृष्ण लेश्यावाले अविरत सम्यग्दृष्टि जीव मनुष्योंमें आते हैं, उनके अपर्याप्त कालमें वेदक सम्यक्त्वके साथ कृष्ण लेश्या पायी जाती है।

दे० लेश्या/५/४ में घ. २/१.१/७६२/३ (१-६ पृथिवी तकके असंयत सम्यग्दृष्टि नारकी जीव अपने-अपने योग्य कृष्ण, नील व कापोत लेश्याके साथ मनुष्योंमें उत्पन्न होते हैं। उसी प्रकार असंयत सम्यग्दृष्टि देव भी अपने-अपने योग्य पीत, पद्म व शुक्ल लेश्याओंके साथ मनुष्योंमें उत्पन्न होते हैं; इस प्रकार अविरत सम्यग्दृष्टि मनुष्योंके अपर्याप्त कालमें छहों लेश्याएँ बन जाती हैं।

घ. २/१.१/६५७/३ सम्माइट्ठीणो तथा ण पारणमति, अतोमुहुत्तं पुड्विल्ललेस्साहि सह अचिच्छय अण्णलेस्सा गच्छति। कि कारणं। सम्माइट्ठीण बुद्धिदृष्टिय परमेदृठीणं मिच्छाइट्ठीण मरणकाले सकिलासाभावादे। गेरइय-सम्माइट्ठीणो पुण चिराण-लेस्साहि सह मणुस्सेमुपज्जति। = सम्यग्दृष्टि देव अशुभ लेश्याओं रूपसे परिणत नहीं होते हैं, किन्तु तिर्यच और मनुष्योंमें उत्पन्न होनेके प्रथम समयसे लगाकर अन्तर्मुहूर्त तक पूर्व रहकर पीछे अन्य लेश्याओंको प्राप्त होते हैं। किन्तु नारकी सम्यग्दृष्टि ता पुरानी चिर-तन लेश्याओंके साथ ही मनुष्योंमें उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार सम्यग्दृष्टिके अपर्याप्त अवस्थामें छहों लेश्याएँ बन जाती हैं।

७. कपाट समुद्रातमें लेश्या

घ. २/१.१/६५४/६ कवाडगद-सजोगकेवलिसस सुक्कलेस्सा चैव भवदि। = कपाट समुद्रातगत औदारिक मिश्र काययोगी सयोगिकेवलीके एक शुक्ललेश्या होती है।

८. चारों गतियोंमें लेश्या की तरतमता

सू. आ./११३४-११३७ काऊ काऊ तह काउणील णीला य णीलकिण्हाय। किण्हा य परमविण्हा लेस्सा रइयादिपुट्ठीसु। ११३४। तेऊ तेऊ तह तेऊ पम्म पम्मा य पम्मसुक्का य। सुक्का य परमसुक्का लेस्साभेदो मुणे-यव्वो। ११३५। तिण्हं दोण्हं दोण्हं छण्हं दोण्हं च तेरसण्हं च। एतो य चोइसण्हं लेस्सा भवणादिदेवाणं। ११३६। एइदियवियल्लिदिय असण्णिणो तिण्णिणं होति असुहाओ। सकादीवाऊणं तिण्णिणं सुहा छट्ठिपि सेसाणं। ११३७। = नरकगति-रत्नप्रभा आदि नरककी पृथिवियों में जघन्य कापोती, मध्यम कापोती, उत्कृष्ट कापोती, तथा जघन्य नील, मध्यम नील उत्कृष्ट नील तथा जघन्य कृष्ण लेश्या और उत्कृष्ट कृष्ण लेश्या है। ११३४। देवगति-भवनवासी आदि देवोंके क्रमसे जघन्य तेजालेश्या भवनत्रिकमें है, दो स्वर्गोंमें मध्यम तेजो-लेश्या है, दोमे उत्कृष्ट तेजोलेश्या है जघन्य पद्मलेश्या है, छहमें मध्यम पद्मलेश्या है, दोमे उत्कृष्ट पद्मलेश्या है और जघन्य शुक्ल लेश्या है, तेरहमें मध्यम शुक्ललेश्या है और चौदह विमानोंमें चरम शुक्ललेश्या है। ११३५-११३६। तिर्यच व मनुष्य-एकेद्री, विकलेद्री असंज्ञीपचेद्रीके तीन अशुभ लेश्या होती हैं, असंख्याल वर्षकी आयु वाले भोगभूमिया कुभोगभूमिया जीवोंके तीन शुभलेश्या है और बाकीके कर्मभूमिया मनुष्य तिर्यचोके छहों लेश्या होती हैं। ११३७। (स सि/३/३/२०७/१, ४/२२/२५३/४) (पं. स./पा./१/१८५-१८६); (रा. वा./३/३/१/२६४/६, ४/२२/२४०/२४); (गो. जी/सू./५२६-६३४)।

लोक—दे० केश लोक।

लोक—कालका एक प्रमाण विशेष—दे० गणित/१/१।

लोक—

१	लोक स्वरूपका तुलनात्मक अध्ययन	
१	लोक निर्देशका सामान्य परिचय।	४४५
२	जैन मताभिमत भूगोल परिचय।	४४६
३	वैदिक धर्माभिमत भूगोल परिचय।	४४६
४	बौद्धाभिमत भूगोल परिचय।	४४६
५	आधुनिक विश्व परिचय।	४५०
६	उपरोक्त मान्यताओंकी तुलना।	४५०
७	चातुर्दिपिक भूगोल परिचय।	४५३

२	लोक सामान्य निर्देश
*	लोकाकाश व लोकाकाशमें द्रव्योंका अवगाह । —दे० आकाश/३ ।
१	लोकका लक्षण ।
२	लोकका आकार ।
३	लोकका विस्तार ।
४	वातवलयोंका परिचय । १ वातवलय सामान्य परिचय । २ तीन वातवलयोंका अवस्थान क्रम । ३ पृथिवियोंके साथ वातवलयोंका स्पर्श । ४ वातवलयोंका विस्तार ।
५	लोकके आठ रचक प्रदेश ।
६	लोक विभाग निर्देश ।
७	त्रस व स्थावर लोक निर्देश ।
८	अधोलोक सामान्य परिचय ।
९	भावन लोक निर्देश ।
१०	व्यन्तर लोक निर्देश ।
११	मध्य लोक निर्देश । १. द्वीप सागर निर्देश । २. तिर्यक्लोक मनुष्यलोकादि विभाग ।
१२	ज्योतिष लोक सामान्य निर्देश ।
*	ज्योतिष विमानोंकी संचारविधि । —दे० ज्योतिष/२ ।
१३	ऊर्ध्वलोक सामान्य परिचय ।
३	जम्बूद्वीप निर्देश
१	जम्बूद्वीप सामान्य निर्देश ।
२	जम्बूद्वीपमें क्षेत्र पर्वत, नदी, आदिका प्रमाण । १. क्षेत्र नगर आदिका प्रमाण । २. पर्वतोंका प्रमाण । ३. नदियोंका प्रमाण । ४. द्रह-कुण्ड आदि ।
३	क्षेत्र निर्देश ।
४	कुलाचल पर्वत निर्देश ।
५	विजयार्थ पर्वत निर्देश ।
६	सुमेरु पर्वत निर्देश । १ सामान्य निर्देश । ३. मेरुका आकार । ३. मेरुकी परिधिधियों । ४. वनखण्ड निर्देश ।
७	पाण्डुक शिला निर्देश
८	अन्य पर्वतोंका निर्देश ।
९	द्रह निर्देश ।
१०	कुण्ड निर्देश ।
११	नदी निर्देश ।
१२	देवकुरु व उत्तरकुरु निर्देश ।
१३	जम्बू व शालमली वृक्षस्थल ।
१४	विदेहके क्षेत्र निर्देश ।
*	लोक स्थित कल्पवृक्ष व कमलादि । —दे० वृक्ष ।
*	लोक स्थित चैत्यालय । —दे० चैत्य चैत्यालय/३ ।
४	अन्य द्वीप सागर निर्देश
१	लवणसागर निर्देश ।
२	धातकीखण्ड निर्देश ।

३	कालोदसमुद्र निर्देश ।
४	पुष्करद्वीप निर्देश ।
५	नन्दीश्वरद्वीप निर्देश ।
६	कुण्डलवरद्वीप निर्देश ।
७	रुचकवरद्वीप निर्देश ।
८	स्वयम्भूरमण समुद्र निर्देश ।
५	द्वीप-पर्वतों आदिके नाम रस आदि
१	द्वीप समुद्रोंके नाम ।
*	द्वीप समुद्रोंके अधिपति देव ।—दे० व्यन्तर/४/७ ।
०	जम्बूद्वीपके क्षेत्रोंके नाम १ जम्बूद्वीप के महाक्षेत्रोंके नाम । २. विदेहके ३२ क्षेत्र व उनके प्रधान नगर ।
*	द्वीप, समुद्रों आदिके नामोंकी अन्वयता । —दे० वह वह नाम ।
३	जम्बू द्वीपके पर्वतोंके नाम १. कुलाचल आदिके नाम । २. नाभिगिरि तथा उनके रक्षक देव । ३. विदेह वक्षारोंके नाम । ४. गजदन्तोंके नाम । ५. यमक पर्वतोंके नाम । ६. विरगजेन्द्रोंके नाम ।
४	जम्बूद्वीपके पर्वतीय कूट व तन्निवासी देव । १. भरत विजयार्थ । २. ऐरावत विजयार्थ । ३. विदेहके ३२ विजयार्थ । ४. हिमवान् । ५. महाहिमवान् । ६. निषध पर्वत । ७. नील पर्वत । ८. रुक्मि पर्वत । ९. शिखरी पर्वत । १०. विदेहके १६ वक्षार । ११. सौमनस गजदन्त । १२. विष्णु त्प्रभ गजदन्त । १३. गन्धमादन गजदन्त । १४. माल्यवान् गजदन्त ।
५	सुमेरु पर्वतके वनोंमें कूटोंके नाम व देव ।
६	जम्बूद्वीपके द्रहों व वापियोंके नाम । १. हिमवान् आदि कुलाचलों पर । २. सुमेरु पर्वतके वनोंमें । ३. देव व उत्तर कुरु में ।
७	महा द्रहके कूटोंके नाम ।
८	जम्बूद्वीपकी नदियोंके नाम । १. भरनादि महाक्षेत्रोंमें २. विदेहके ३२ क्षेत्रोंमें ३. विदेह क्षेत्रकी १० विभगा नदियोंके नाम ।
९	लवण सागरके पर्वत पाताल व तन्निवासी देव ।
१०	मानुषोत्तर पर्वतके कूटों व देवोंके नाम ।
११	नन्दीश्वर द्वीपकी वापियों व उनके देव ।
१२	कुण्डलवर पर्वतके कूटों व देवोंके नाम ।

१३	रुचक पर्वतके कूटों व देवोंके नाम ।
१४	पर्वतों आदिके वर्ण ।
६	द्वीप क्षेत्र पर्वत आदिका विस्तार
१	द्वीप सागरोंका सामान्य विस्तार ।
२	लवण सागर व उसके पातालादि ।
३	अढाई द्वीपके क्षेत्रोंका विस्तार ।
	१ जम्बूद्वीपके क्षेत्र ।
	२. धातकी खण्डके क्षेत्र ।
	३. पुष्करार्धके क्षेत्र ।
४	जम्बूद्वीपके पर्वतों व कूटोंका विस्तार
	१. लम्बे पर्वत ।
	२. गोल पर्वत ।
	३. पर्वतीय व अन्यकूट ।
	४. नदी, कुण्ड, द्वीप व पाण्डुक शिला आदि ।
	५ अढाई द्वीपकी सर्व नदियाँ ।
५	शेष द्वीपोंके पर्वतों व कूटोंका विस्तार ।
	१ धातकी खण्डके पर्वत ।
	२. पुष्कर द्वीपके पर्वत व कूट ।
	३. नन्दीश्वर द्वीपके पर्वत ।
	४. कुण्डलवर पर्वत व उसके कूट ।
	५ रुचकवर पर्वत व उसके कूट ।
	६. स्वयंभूरमण पर्वत ।
६	अढाई द्वीपके वनखण्डोंका विस्तार ।
	१ जम्बूद्वीपके वनखण्ड ।
	२. धातकी खण्डके वनखण्ड ।
	३ पुष्करार्ध द्वीपके वनखण्ड ।
	४ नन्दीश्वर द्वीपके वन ।
७	अढाई द्वीपकी नदियोंका विस्तार ।
	१. जम्बूद्वीपकी नदियाँ ।
	२. धातकीखण्डकी नदियाँ ।
	३ पुष्करद्वीपकी नदियाँ ।
८	मध्यलोककी वापियों व कुण्डोंका विस्तार ।
	१. जम्बूद्वीप सम्बन्धी ।
	२. अन्यद्वीपों सम्बन्धी
९	अढाई द्वीपके कमलोंका विस्तार ।
७	लोकके चित्र
१-४	वैदिक धर्माभिमत भूगोल—
	१. भूलोक
	२. जम्बू द्वीप
	३ पाताल लोक
	४. सामान्य लोक
५-७	बौद्ध धर्माभिमत भूगोल
	५. भूमण्डल
	६. जम्बू द्वीप
	७. भूलोक सामान्य
८	चातुर्द्वीपिक भूगोल
९	तीन लोक
१०-११	अधोलोक
	१०. अधोलोक सामान्य
	११. प्रत्येक पटलमें इन्द्रक व श्रेणीबद्ध
	* रत्नप्रभा पृथिवी
	* अम्बहुल भागमें नरकोंके पटल
	† भावन लोक

*	ज्योतिष लोक
	१. मध्यलोकमें चरज्योतिष विमानोंका अवस्थान ।
	२ ज्योतिष विमानोंका आकार ।
	३. अचर ज्योतिष विमानोंका अवस्थान ।
	४. ज्योतिष विमानोंकी संचारविधि ।
*	ऊर्ध्व लोक
	१. स्वर्गलोक सामान्य । —दे० स्वर्ग
	२. प्रत्येक पटलमें इन्द्रक व श्रेणीबद्ध ।—दे० स्वर्ग
	३ सौधर्म युगलके ३१ पटल ।—दे० स्वर्ग
	४. लौकान्तिकलोक । —दे० लौकान्तिक
१२	मध्यलोक सामान्य ।
१३	जम्बू द्वीप ।
१४	{ भरतक्षेत्र ।
	{ मंगानदी ।
*	पद्मद्रह । —दे० चित्र सं० २४
१५	विजयार्धपर्वत ।
१६-२०	सुमेरु पर्वत ।
	१६. सुमेरुपर्वत सामान्य व चूलिका ।
	१७. नन्दन व सौमनस वन ।
	१८ इन वनोंकी पुष्करिणी
	१९. पाण्डुक वन ।
	२० पाण्डुक शिला ।
२१	नामिगिरि पर्वत
२२	गजदन्त पर्वत
२३	थमक व काञ्चन गिरि
२४	पद्म द्रह
२५	पद्म द्रहके मध्यवर्ती कमल
२६	देव कुरु व उत्तर कुरु
२७	विदेहका कच्छा क्षेत्र
२८	पूर्वापर विदेह—दे० चित्र सं० १३
२९-३२	जम्बू व शाल्मली वृक्ष स्थल
	२९. सामान्य स्थल ।
	३० पीठ पर स्थित मूल वृक्ष ।
	३१. १२ भूमियोंका सामान्य परिचय ।
	३२. वृक्षकी मूलभूत प्रथम भूमि ।
३३-३५	लवण सागर ।
	३३. सागर तल
	३४. उत्कृष्ट पाताल
	३५. लवण सागर
३६	मानुषोत्तर पर्वत ।
३७	अढाई द्वीप ।
३८	नन्दीश्वर द्वीप ।
३९	कुण्डलवर पर्वत व द्वीप ।
४०	रुचकवर पर्वत व द्वीप । (प्रथम दृष्टि)
४१	रुचकवर पर्वत व द्वीप (द्वि० दृष्टि)

१. लोक स्वरूपका तुलनात्मक अध्ययन

१. लोकनिर्देशका सामान्य परिचय

पृथिवी, इसके चारो ओरका वायुमण्डल, इसके नीचेकी रचना तथा इसके ऊपर आकाशमें स्थित सौरमण्डलका स्वरूप आदि, इनके ऊपर रहनेवाली जीव राशि, इनमें उत्पन्न होनेवाले पदार्थ, एक दूसरेके साथ इनका सम्बन्ध ये सब कुछ, वर्णन भूगोलका विषय है। प्रत्यक्ष होनेसे केवल इस पृथिवी मण्डलकी रचना तो सर्व सम्मत है, परन्तु अन्य बातोंका विस्तार जाननेके लिए अनुमान ही एकमात्र आधार है। यद्यपि आधुनिक यन्त्रोंसे इसके अतिरिक्त कुछ अन्य भूखण्डोंका भी प्रत्यक्ष करना सम्भव है पर असीम लोककी अपेक्षा वह किसी गणनामें नहीं है। यन्त्रोंसे भी अधिक विश्वस्त योगियोंकी सूक्ष्म दृष्टि है। आध्यात्मिक दृष्टिकोणसे देखनेपर लोकोंकी रचनाके रूपमें यह सब कथन व्यक्तिकी आध्यात्मिक उन्नति व अवनतिकी प्रदर्शन मात्र है। एक स्वतन्त्र विषय होनेके कारण उसका दिग्दर्शन यहाँ कराय़ा जाना सम्भव नहीं है। आज तक भारतमें भूगोलका आधार वह दृष्टि ही रही है। जैन, वैदिक व बौद्ध आदि सभी दर्शनकारोंने अपने-अपने ढंगसे इस विषयका स्पर्श किया है और आजके आधुनिक वैज्ञानिकोंने भी। सभीकी मान्यताएँ भिन्न-भिन्न होती हुई भी कुछ अंशोंमें मिलती है। जैन व वैदिक भूगोल काफी अंशोंमें मिलता है। वर्तमान भूगोलके साथ किसी प्रकार भी मेल बैठता दिखाई नहीं देता, परन्तु यदि विशेषज्ञ चाहे तो इस विषयको गहराईमें प्रवेश करके आचार्योंके प्रतिपादनकी सत्यता सिद्ध कर सकते हैं। इसी सब दृष्टियोंकी संक्षिप्त तुलना इस अधि-कारमें की गयी है।

२. जैनमिमत भूगोल परिचय

जैसा कि अगले अधिकारोंपरसे जाना जाता है, इस अनन्त आकाशके मध्यका वह अनादि व अकृत्रिम भाग जिसमें कि जीव पुद्गल आदि षट् द्रव्य समुदाय दिखाई देता है, वह लोक कहलाता है, जो इस समस्त आकाशकी तुलनामें नाके बराबर है।—लोक नामसे प्रसिद्ध आकाशका यह खण्ड मनुष्याकार है तथा चारो ओर तीन प्रकारकी वायुओंसे वेष्टित है। लोकके ऊपरसे लेकर नीचे तक बीचोंबीच एक राजू प्रमाण विस्तार युक्त त्रसनाली है। त्रस जीव इससे बाहर नहीं रहते पर स्थावर जीव सर्वत्र रहते हैं। यह तीन भागोंमें विभक्त है—अधोलोक, मध्यलोक व ऊर्ध्वलोक। अधोलोकमें नारकी जीवोंके रहनेके अति दुःखमय रौरव आदि सात नरक हैं, जहाँ पापी जीव मरकर जन्म लेते हैं और ऊर्ध्वलोकमें करोड़ो योजनोके अन्तरालसे एकके ऊपर एक करके १६ स्वर्गोंमें कल्पवासी विमान हैं। जहाँ पुण्यात्मा जीव मरकर जन्मते हैं। उनसे भी ऊपर एक भवावतारी लौकान्तिकोंके रहनेका स्थान है, तथा लोकके शीर्षपर सिद्धलोक है जहाँ कि मुक्त जीव ज्ञानमात्र शरीरके साथ अवस्थित है। मध्यलोकमें वलयकार रूपसे अवस्थित असंख्यातो द्वीप व समुद्र एकके पीछे एकको वेष्टित करते हैं। जम्बू, धातकी, पुष्कर आदि तो द्वीप हैं और लवणोद, कालोद, वारुणीवर, क्षीरवर, इक्षुवर, आदि समुद्र हैं। प्रत्येक द्वीप व समुद्र पूर्व पूर्वकी अपेक्षा दूने विस्तार युक्त है। सबके बीचमें जम्बू द्वीप है, जिसके बीचो-बीच सुमेरु पर्वत है। पुष्कर द्वीपके बीचोबीच वलयकार मानुषोत्तर पर्वत है, जिससे उसके दो भाग हो जाते हैं।

जम्बूद्वीप, धातकी व पुष्करका अभ्यन्तर अर्धभाग, ये अट्टाई द्वीप हैं इनसे आगे मनुष्योका निवास नहीं है। शेष द्वीपोंमें तिर्यंच व भूतप्रेत आदि व्यन्तर देव निवास करते हैं।—जम्बूद्वीपमें सुमेरुके दक्षिणमें हिमवान, महाहिमवान व निषध, तथा उत्तरमें नील,

रुक्मि व शिखरी, ये छ' कुलपर्वत हैं जो इस द्वीपको भरत, हैमवत, हरि, विदेह, रम्यक, हैरण्यवत व ऐरावत नामवाले सात क्षेत्रोंमें विभक्त करते हैं। प्रत्येक पर्वतपर एक एक महाहृद है जिनमेंसे दो-दो नदियाँ निकलकर प्रत्येक क्षेत्रमें पूर्व व पश्चिम दिशा मुखसे बहती हुई लवण सागरमें मिल जाती हैं। उस उस क्षेत्रमें वे नदियाँ अन्य सहस्रो परिवार नदियोंको अपनेमें समा लेती हैं। भरत व ऐरावत क्षेत्रोंमें बीचोबीच एक-एक विजयार्धपर्वत है। इन क्षेत्रोंकी दो-दो नदियों व इस पर्वतके कारण ये क्षेत्र छ' छ' खण्डोंमें विभाजित हो जाते हैं, जिनमें मध्यवर्ती एक खण्डमें आर्य जन रहते हैं और शेष पाँचमें भ्रूच्छे। इन दोनों क्षेत्रोंमें ही धर्म-कर्म व सुख-दुःख आदिकी हानि वृद्धि होती है, शेष क्षेत्र सदा अवस्थित हैं।—विदेह क्षेत्रमें सुमेरुके दक्षिण व उत्तरमें निषध व नील पर्वतस्पर्शी सौमनस, विष्णुप्रभ तथा गन्धमादन व माल्यवान नामके दो दो गजयन्ताकार पर्वत हैं, जिनके मध्य देवकुरु व उत्तरकुरु नामकी दो उत्कृष्ट भोग-भूमियाँ हैं, जहाँके मनुष्य व तिर्यंच बिना कुछ कार्य करे अति सुखपूर्वक जीवन व्यतीत करते हैं। उनकी आयु भी असंख्यातों वर्षकी होती है। इन दोनों क्षेत्रोंमें जम्बू व शात्मली नामके दो वृक्ष हैं। जम्बू वृक्षके कारण ही इसका नाम जम्बूद्वीप है। इसके पूर्व व पश्चिम भागमेंसे प्रत्येकमें १६,१६ क्षेत्र हैं। जो ३२ विदेह कहलाते हैं। इनका विभाग वहाँ स्थित पर्वत व नदियोंके कारणसे—हुआ है। प्रत्येक क्षेत्रमें भरतक्षेत्रवत् छह खण्डोंकी रचना है। इन क्षेत्रोंमें कभी धर्म विच्छेद नहीं होता।—दूसरे व तीसरे आधे द्वीपमें पूर्व व पश्चिम विस्तारके मध्य एक एक सुमेरु है। प्रत्येक सुमेरु सम्बन्धी छ' पर्वत व सात क्षेत्र हैं जिनकी रचना उपरोक्तवत् है।—लवणोदके तलभाग में अनेकों पाताल हैं, जिनमें वायुकी हानि-वृद्धिके कारण सागरके जलमें भी हानि-वृद्धि होती रहती है। पृथिवीतलसे ७६० योजन ऊपर आकाशमें क्रमसे सितारे, सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, बुध, शुक्र, बृहस्पति, मंगल व शनीचर इन ज्योतिष ग्रहोंके सचार क्षेत्र अवस्थित हैं, जिनका उल्लंघन न करते हुए वे सदा सुमेरुकी प्रदक्षिणा देते हुए घूमा करते हैं। इसीके कारण दिन, रात, वर्षा श्रुत आदिकी उत्पत्ति होती है। जैनमन्यायमें चन्द्रमाकी अपेक्षा सूर्य छोटा माना जाता है।

३. वैदिक धर्माभिमत भूगोल परिचय

—दे० आगे चित्र सं० १ से ४।

(विष्णु पुराण/२/२-७ के आधारपर कथित भावार्थ) इस पृथिवीपर जम्बू, प्लक्ष, शात्मल, कुश, क्रौंच, शक और पुष्कर ये सात द्वीप, तथा लवणोद, इक्षुवर, सुरोद, सपिस्सलिल, दधितोय, क्षीरोद और स्वादुसलिल ये सात समुद्र हैं (२/२-४) जो चूड़ोके आकार रूपसे एक दूसरेको वेष्टित करके स्थित हैं। ये द्वीप पूर्व पूर्व द्वीपकी अपेक्षा दूने विस्तारवाले हैं। (२/४,८८)।

इन सबके बीचमें जम्बूद्वीप और उसके बीचमें ८४००० योजन ऊँचा सुमेरु पर्वत है। जो १६००० योजन पृथिवीमें घुसा हुआ है। सुमेरुसे दक्षिणमें हिमवान, हैमकूट और निषध तथा उत्तरमें नील, श्वेत और शृंगी ये छ' वर्ष पर्वत हैं। जो इसको भारतवर्ष, किंपुरुष, हरिवर्ष, इलावृत, रम्यक, हिरण्यमय और उत्तर कुरु, इन सात क्षेत्रोंमें विभक्त कर देते हैं।—नोट—जम्बूद्वीपकी चातुर्द्वीपिक भूगोलके साथ तुलना(—दे० आगे शीर्षक न० ७)। मरु पर्वतकी पूर्व व पश्चिममें इलावृतकी मर्यादाभूत माल्यवान व गन्धमादन नामके दो पर्वत हैं जो निषध व नील तक फैले हुए हैं। मेरुके चारो ओर पूर्वादि दिशाओंमें मन्दर, गन्धमादन, विपुल, और सुपाश्व ये चार पर्वत हैं। इनके ऊपर क्रमशः कदम्ब, जम्बू, पीपल व बट ये चार वृक्ष हैं। जम्बूवृक्षके नामसे ही यह द्वीप जम्बूद्वीप नामसे प्रसिद्ध है। वर्षाओंमें भारतवर्ष कर्मभूमि है। और शेष वर्ष भोगभूमियाँ हैं। क्योंकि भारतमें ही कृतयुग, त्रेता, द्वापर और कलियुग, ये चार काल

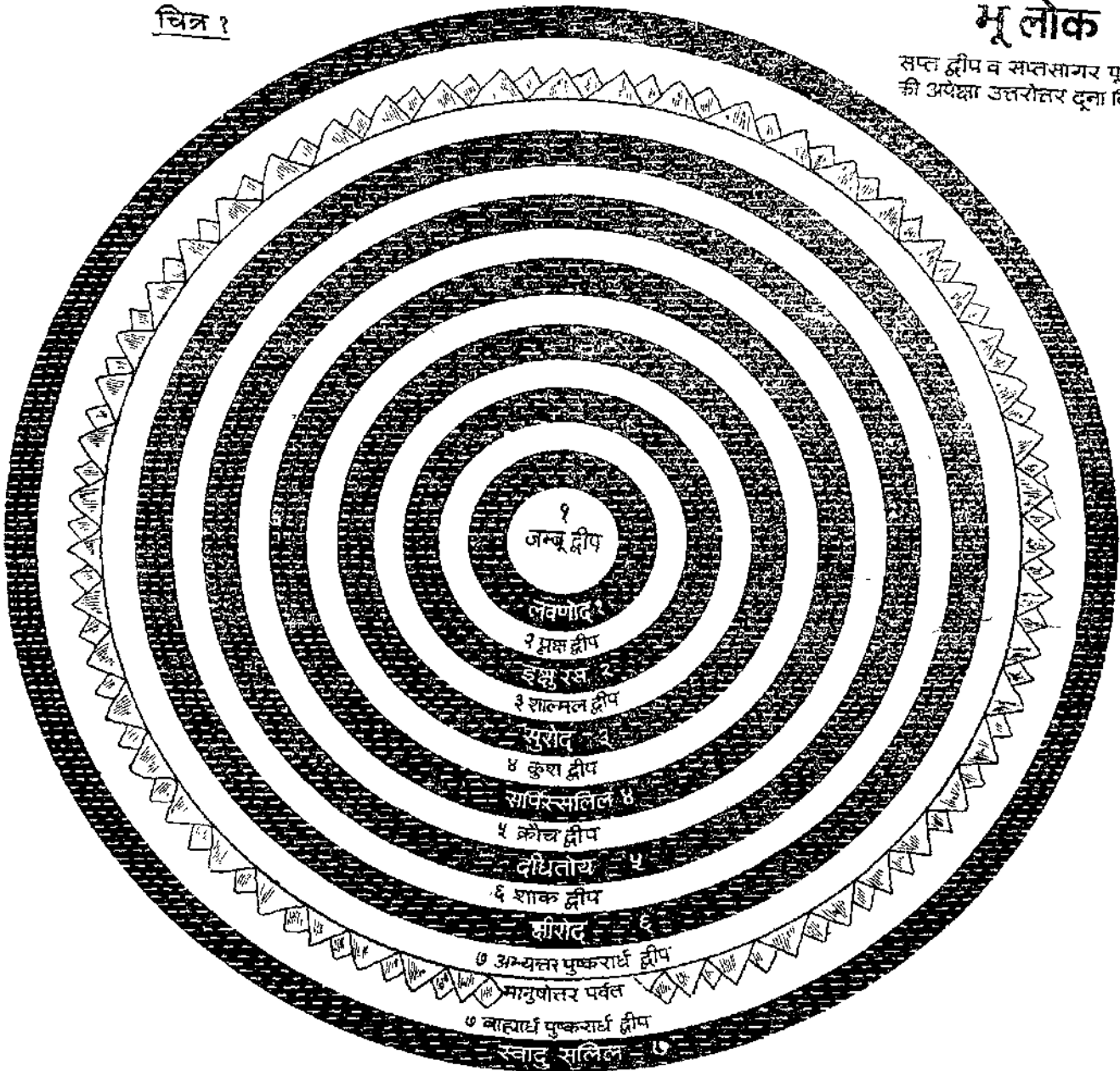
वर्तते है और स्वर्ग मोक्षके पुरुषार्थकी सिद्धि है। अन्य क्षेत्रोंमें सदा त्रेता युग रहता है और वहाँके निवासी पुण्यवान व आधि व्याधिसे रहित होते है। (अध्याय २)।

भरतक्षेत्रमें महेन्द्र आदि छ कुलपर्वत है, जिनसे चन्द्रमा आदि अनेक नदियाँ निकलती है। नदियोंके किनारोंपर कुरु पांचाल आदि (आर्य) और पौण्ड्र कलिग आदि (म्लेच्छ) लोग रहते है। (अध्याय ३) इसी प्रकार प्लक्षद्वीपमें भी पर्वत व उनसे विभाजित क्षेत्र है। वहाँ प्लक्ष नामका वृक्ष है और सदा त्रेता काल रहता है। शाश्वत आदि शेष सर्व द्वीपोंकी रचना प्लक्ष द्वीपवत् है। पुष्करद्वीपके बीचोबीच बलयाकार मानुषोत्तर पर्वत है। जिससे उसके दो खण्ड हो गये है। अप्यन्तर खण्डका नाम धातकी है। यहाँ भोगभूमि है इस द्वीपमें पर्वत व नदियाँ नहीं है। इस द्वीपको स्वादूदक समुद्र वेष्टित करता है। इससे आगे प्राणियोंका निवास नहीं है। (अध्याय ४)।

इस भूखण्डके नीचे दस दस हजार योजनके सात पाताल है— अतल, नितल, नितल, गभस्तिमत्, महातल, सुतल और पाताल। पातालोंके नीचे विष्णु भगवात् हजारों फनोसे युक्त शेषनागके रूपमें स्थित होते हुए इस भूखण्डकी आगे सिरपर धारण करते है।

(अध्याय ५) पृथिवीतल और जलके नीचे रौरव, सूकर, रोध, ताल, विशसन, महाज्वाल, तप्तकुम्भ, लवण, विलोहित, रुधिराम्भ, वैतरणी, कृमीश, कृमिभोजन, असिपत्र वन, कृष्ण, लालाभक्ष, वारुण, पूषवह, पाप, वह्निज्वाल, अधःशिरा, सन्दंश, कालसूत्र, तमस्, अवीचि, श्वभोजन, अप्रतिष्ठ, और अरुचि आदि महाभयंकर नरक है, जहाँ पापी जीव मरकर जन्म लेते है। (अध्याय ६) भूमि से एक लाख योजन ऊपर जाकर, एक एक लाख योजनके अन्तरालसे सूर्य, चन्द्र व नक्षत्र मण्डल स्थित है, तथाउनके ऊपरदो-दो लाख योजनके अन्तरालसे बुध, शुक्र, मंगल, बृहस्पति, शनि, तथा इसके ऊपर एक एक लाख योजनके अन्तरालसे सप्तऋषि व ध्रुव तारे स्थित है। इससे १ करोड योजन ऊपर महर्लोक है जहाँ कल्पों तक जीवित रहनेवाले कल्पवासी भृगु आदि सिद्धगण रहते है। इससे २ करोड योजन ऊपर जनलोक है जहाँ ब्रह्माजीके पुत्र सनकादि रहते है। आठ करोड योजन ऊपर तप लोक है जहाँ वैराज देव निवास करते है।

चित्र १



भू लोक

सप्त द्वीप व सप्तसागर पूर्व पूर्व की अयेक्षा उत्तरोत्तर दूना विस्तार है

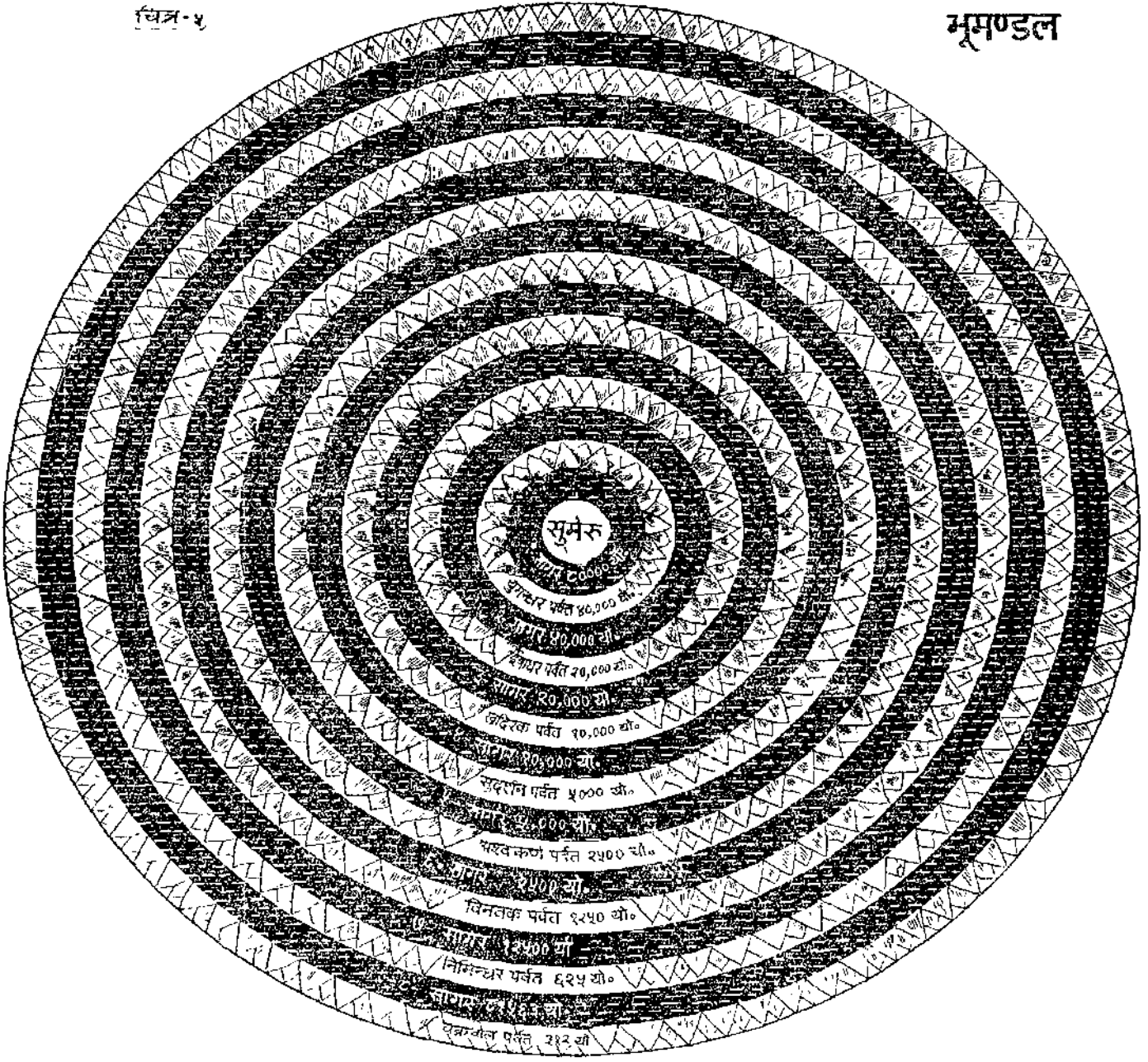
ध. बौद्धाभिमत भूगोल परिचय

(५वीं शताब्दीके वसुबन्धुकृत अभिधर्मकोशके आधारपर ति प./ प्र ८७/ H. L. Jain द्वारा कथितका भावार्थ) । लोकके अधोभागमें १६००,००० योजन ऊँचा अपरिमित वायुमण्डल है । इसके ऊपर ११२०,००० योजन ऊँचा जलमण्डल है । इस जलमण्डलमें ३२०,००० यो० भूमण्डल है । इस भूमण्डलके बीचमें मेरु पर्वत है । आगे ८०,००० योजन विस्तृत सीता (समुद्र) है जो मेरुको चारो ओरसे वेष्टित करके स्थित है । इसके आगे ४०,००० योजन विस्तृत युगन्धर पर्वत बलयाकारसे स्थित है । इसके आगे भी इसी प्रकार एक एक सीता (समुद्र) के अन्तरालसे उत्तरोत्तर आधे आधे विस्तारसे युक्त क्रमशः ईषाधर, खदिरक, सुदर्शन, अश्वकर्ण, विनतक, और निमिधर पर्वत है । अन्तमें लोहमय चक्रवाल पर्वत है । निमिधर और चक्रवाल पर्वतोंके मध्यमें जो समुद्र स्थित है उसमें मेरुकी पूर्वादि दिशाओमें क्रमसे अर्धचन्द्राकार पूर्वविदेह, शकटा-

कार जम्बूद्वीप, मण्डलाकार अन्नरगीदानीय और समचतुष्कोण उत्तर-कुरु ये चार द्वीप स्थित हैं । इन चारोंके पार्श्व भागोंमें दो-दो अन्त-द्वीप हैं । उनमेंसे जम्बूद्वीपके पासवाले चमरद्वीपमें राक्षसोका और शेष द्वीपोंमें मनुष्योंका निवास है । जम्बूद्वीपमें उत्तरकी ओर ६ कीटादि (छोटे पर्वत) तथा उनके आगे हिमवान पर्वत अवस्थित है । उसके आगे अन्नवत्स नामक अगाध सरोवर है, जिससे गंगा सिन्धु वक्ष और सीता ये नदियाँ निकलती हैं । उक्त सरोवरके समीपमें जम्बू वृक्ष है । जिसके कारण इस द्वीपका 'जम्बू' ऐसा नाम पडा है । जम्बूद्वीपके नीचे २०,००० योजन प्रमाण अर्धचि नामक नरक है । उसके ऊपर क्रमशः प्रतापन आदि सात नरक और हैं । इन नरकोंके चारो पार्श्व भागोंमें कुकूल, कुणप क्षुरमार्गादिक और खारोदक (अम्पिप्रवन, श्यामशबल-श्च-स्थान, अथ शावमली वन और वैतरणीनदी) ये चार उत्सद हैं । इन नरकोंके धरातलमें आठ शीत नरक और हैं । भूमिसे ४०,००० योजन ऊपर जाकर चन्द्र सूर्य

चित्र-५

भूमण्डल



← ३२०,००० योजन
प्रमाण भूमण्डल

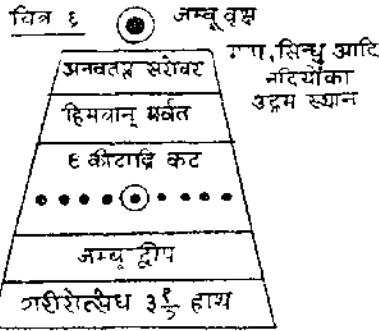
जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश

परिभ्रमण करते हैं। जिस समय जम्बूद्वीपमें मध्याह्न होता है उस समय उत्तरकुरुमें अर्धरात्रि, पूर्वविदेहमें अस्तमग्न और अवर-गोदानीयमें सूर्योदय होता है। मेरु पर्वतकी पूर्वादि दिशाओंमें उसके चार परिण्ड (विभाग) हैं, जिनपर क्रमसे यक्ष, मालाधार, सदाभद्र और चातुर्महाराजिक देव रहते हैं। इसी प्रकार शेष सात पर्वतोंपर भी देवोंके निवास हैं। मेरुशिखरपर त्रयस्त्रिंश (स्वर्ग) है। इससे ऊपर विमानोमें याम, तुषित आदि देव रहते हैं। उपरोक्त देवोंमें चातुर्महाराजिक, और त्रयस्त्रिंश देव मनुष्यवत् काम-

भोग भोगते हैं। याम तुषित आदि क्रमश आलिग्न, पाणिसयोंग, हसित और अवलोकनसे तृप्तिको प्राप्त होते हैं। उपरोक्त कामधातु देवोंके ऊपर रूपधातु देवोंके ब्रह्मकायिक आदि १७ स्थान हैं। ये सब क्रमश ऊपर-ऊपर अवस्थित हैं। जम्बूद्वीप वासी मनुष्योंकी ऊँचाई केवल ३३ हाथ है। आगे क्रमसे बढ़ती हुई अनभ्र देवोंके शरीरकी ऊँचाई १२५ योजन प्रमाण है।

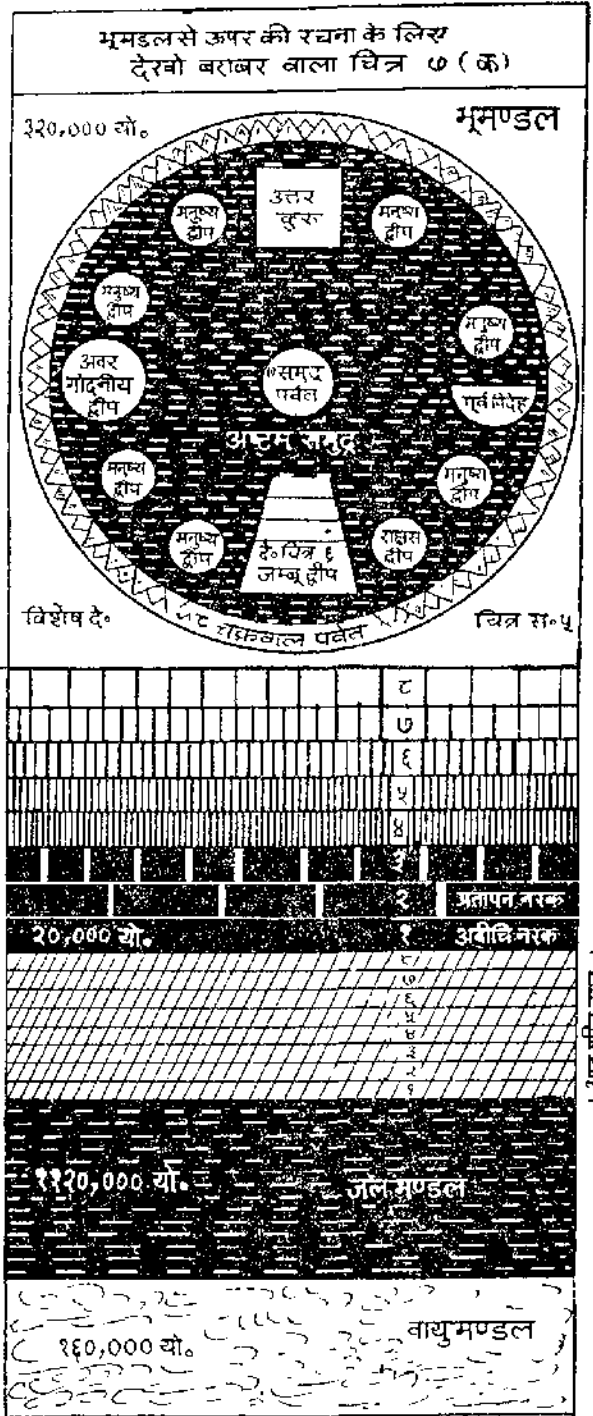
५. आधुनिक विश्व परिचय

लोक के स्वरूप का निर्देश करने के अन्तर्गत दो बातें जाननीय हैं—खगोल तथा भूगोल। खगोल की दृष्टि से देखने पर इस असीम आकाश में असंख्यातो गोलाकार ध्रुवण्ड हैं। सभी भ्रमणशील हैं। भौतिक पदार्थों के आण्विक विधान की भाँति इनके भ्रमण में अनेक प्रकार की गतियें देखी जा सकती हैं। पहली



भूगोल सामान्य चित्र- ७(क)

चित्र- ७ (ख)



रूपधातु प्रवीचर (शरीरोत्सेध १२५ योज) - १७		स्वर्ग लोक
”	१६	
”	१५	
”	१४	
”	१३	
”	१२	
”	११	
”	१०	
”	९	
”	८	
”	७	कामधातु देव
”	६	
”	५	
”	४	
”	३	
”	२	
रूपधातु प्रवीचर	१ ब्रह्मकायिक	
अवलोकन प्रवीचर	५	
हसित प्रवीचर	४	
पाणि सयोंग प्रवीचर	३ तुषित देव	
आलिग्न प्रवीचर	२ याम देव	
काय प्रवीचर	१ त्रयस्त्रिंश	
तारे		७ द्यौतिष लोक
नक्षत्र		
यह		
चन्द्र		
सूर्य		
४०,००० योज.		मेरु पर्वत (भूमण्डल) के नीचे की रचना
३२०,००० योज.	भूमण्डल	

नोट - भूमण्डलसे नीचेकी रचना - दे० चित्र ७(ख)

गति है प्रत्येक भूखण्ड का अपने स्थान पर अवस्थित रहते हुए अपने ही धुरी पर लट्टू की भाँति घूमते रहना। दूसरी गति है सूर्य जैसे किसी बड़े भूखण्ड को मध्यम में स्थापित करके गाड़ी के चक्के में लगे अरों की भाँति अनेको अन्य भूखण्डों का उसकी परिक्रमा करते रहना, परन्तु परिक्रमा करते हुए भी अपनी परिधि का उल्लंघन न करना। परिक्रमाशील इन भूखण्डों के समुदाय को एक सौर मण्डल या एक ज्योतिष मण्डल कहा जाता है। प्रत्येक सौर मण्डल में केन्द्रवर्ती एक सूर्य होता है और अरों के स्थानवर्ती अनेको अन्य भूखण्ड होते हैं, जिनमें एक चन्द्रमा, अनेको ग्रह, अनेकों उप-ग्रह तथा अनेकों पृथिव्ये सम्मिलित है। ऐसे-ऐसे सौर मण्डल इस आकाश में न जाने कितने हैं। प्रत्येक भूखण्ड गोले की भाँति गोल है परन्तु प्रत्येक सौर मण्डल गाड़ी के पहिये की भाँति चक्राकार है। तीसरी गति है किसी सौर मण्डल को मध्य में स्थापित करके अन्य अनेकों सौर मण्डलों द्वारा उसकी परिक्रमा करते रहना, और परिक्रमा करते हुए भी अपनी परिधि का उल्लंघन न करना।

इन भूखण्डों में से अनेको पर अनेक आकार प्रकार वाली जीव राशि का वास है, और अनेकों पर प्रलय जैसी स्थिति है। जल तथा वायु का अभाव हो जाने के कारण उन पर आज बसती होना सम्भव नहीं है। जिन पर आज बसती बनी है उन पर पहले कभी प्रलय थी और जिन पर आज प्रलय है उन पर आगे कभी बसती हो जाने वाली है। कुछ भूखण्डों पर बसने वाले अत्यन्त सुखी हैं और कुछ पर रहने वाले अत्यन्त दुःखी, जैसे कि अन्तरिक्ष की आधुनिक खोज के अनुसार मंगल पर जो बसती पाई गई है वह नारकीय यातनायें भोग रही है।

जिह भूखण्ड पर हम रहते हैं यह भी पहले कभी अग्नि का गोला था जो सूर्य में से छिटक कर बाहर निकल गया था। पीछे इसका ऊपरी तल ठण्डा हो गया। इसके भीतर अब भी ज्वालाला धधक रही है। वायुमंडल धरातल से लेकर इसके ऊपर उत्तरोत्तर विरल होते हुए ५०० मील तक फैला हुआ है। पहले इस पर जीवों का निवास नहीं था, पीछे क्रम से सजीव पाषाण आदि, वनस्पति, नमी में रहने वाले छोटे-छोटे कोकले, जल में रहने वाले मत्स्यादि, पृथिवी तथा जल दोनों में रहने वाले मेढक, वृद्ध आ आदि जिलों में रहने वाले सरीसृप आदि, आकाश में उड़ने वाले भ्रमर, कीट, पतंग व पक्षी, पृथिवी पर रहने वाले स्तनधारी पशु बन्दर आदि और अन्त में मनुष्य उत्पन्न हुए। तारकालिक परिस्थितियों के अनुसार और भी असंख्य जीव जातियें उत्पन्न हो गयीं।

इस भूखण्ड के चारों ओर अनन्त आकाश है, जिसमें सूर्य चन्द्र तारे आदि दिखाई देते हैं। चन्द्रमा सबसे अधिक समीप में है। तत्पश्चात् क्रमशः शुक्र, बुध, मंगल, बृहस्पति, शनि आदि ग्रह, इनसे साढ़े नौ मील दूर सूर्य, तथा उससे भी आगे असंख्यातो मील दूर असंख्य तारागण हैं। चन्द्रमा तथा ग्रह स्वयं प्रकाश न होकर सूर्य के प्रकाश से प्रकाशवत् दीखते हैं। तारे यद्यपि दूर होने के कारण बहुत छोटे दीखते हैं परन्तु इनमें से अधिकतर सूर्य की अपेक्षा लाखों गुणा बड़े हैं तथा अनेको सूर्य की भाँति स्वयं जाज्वलमान हैं।

भूगोल की दृष्टि से देखने पर इस पृथिवी पर ऐशिया, योरुप, अफ्रीका, अफ्रीका, आस्ट्रेलिया आदि अनेकों उपद्वीप हैं। स्रुवर पूर्व में ये सब सम्भवतः परस्पर में मिले हुए थे। भारतवर्ष ऐशिया का दक्षिणी पूर्वी भाग है। इसके उत्तर में हिमालय और मध्य में विन्ध्यगिरि, सतपुड़ा आदि पहाड़ियों की अटूट श्रंखला है। पूर्व तथा पश्चिम के सागर में गिरने वाली गंगा तथा सिन्धु नामक दो प्रधान नदियाँ हैं जो हिमालय से निकलकर सागर की ओर

जाती हैं। इसके उत्तर में आर्य जाति और पश्चिम दक्षिण आदि दिशाओं में द्राविड, भील, कौल, नाग आदि अन्यान्य प्राचीन अथवा म्लेच्छ जातियाँ निवास करती हैं।

६. उपरोक्त मान्यताओंकी तुलना

- जैन व वैदिक मान्यता बहुत अंशोंमें मिलती हैं। जैसे—१ चूड़ीके आकाररूपसे अनेको द्वीपों व समुद्रोंका एक दूसरेको वेष्टित किये हुए अवस्थान। २ जम्बूद्वीप, सुमेरु, हिमवान, निषध, नील, श्वेत (रुन्मि), शृंगी (शिखरी) ये पर्वत, भारतवर्ष (भरत क्षेत्र) हरिवर्ष, रम्यक, हिरण्य (हैरण्यवत) उत्तरकुरु ये क्षेत्र, माव्यवान व गन्धमादन पर्वत, जम्बूवृक्ष इन नामोंका दोनों मान्यताओंमें समान होना। ३ भारतवर्षमें कर्मभूमि तथा अन्य क्षेत्रोंमें त्रेतायुग (भोगभूमि) का अवस्थान। मेरुकी चारो दिशाओंमें मन्दर आदि चार पर्वत जैनमान्य चार गजदन्त हैं। ४ कुल पर्वतोंसे नदियोंका निकलना तथा आर्य व म्लेच्छ जातियोंका अवस्थान। ५ प्लक्ष द्वीपमें प्लक्षवृक्ष जम्बूद्वीपवत् उसमें पर्वतों व नदियों आदिका अवस्थान वैसा ही है जैसा कि धातकी षण्डमें धातकी वृक्ष व जम्बूद्वीपके समान दृग्गती रचना। ६ पुष्करद्वीपके मध्य बलयाकार मनुषोत्तर पर्वत तथा उसके अभ्यन्तर भागमें धातकी नामक खण्ड। ७ पुष्करद्वीपसे परे प्राणियोंका अभाव लगभग वैसा ही है, जैसा कि पुष्करार्धसे आगे मनुष्योंका अभाव। ८ भूखण्डके नीचे पातालोका निर्देश लवण सागरके पातालोसे मिलता है। ९ पृथिवीके नीचे नरकोका अवस्थान। १० आकाशमें सूर्य, चन्द्र आदिका अवस्थान क्रम। १० कल्पवासी तथा फिरसे न मरनेवाले (लौकान्तिक) देवोंके लोक। २ इसी प्रकार जैन व बौद्ध मान्यताएँ भी बहुत अंशोंमें मिलती हैं। जैसे—१ पृथिवीके चारो तरफ वायु व जलमण्डलका अवस्थान जैन मान्य वातजलयोंके समान है। २, मेरु आदि पर्वतोंका एक-एक समुद्रके अन्तरालसे उत्तरोत्तर वेष्टित बलायाकाररूपेण अवस्थान। ३ जम्बूद्वीप, पूर्वविदेह, उत्तरकुरु, जम्बूवृक्ष, हिमवान, गंगा, सिन्धु आदि नामोंकी समानता। ४, जम्बूद्वीपके उत्तरमें नौ क्षुद्रपर्वत, हिमवान, महासरोवर व उनसे गंगा, सिन्धु आदि नदियोंका निकास ऐसा ही है जैसा कि भरतक्षेत्रके उत्तरमें ११ कूटो युक्त हिमवान पर्वतपर स्थित पद्म द्रहसे गंगा सिन्धु व रोहितास्या नदियोंका निकास। ५ जम्बूद्वीपके नीचे एकके पश्चात् एक वरके अनेको नरकोका अवस्थान। ६ पृथिवीसे ऊपर चन्द्र सूर्यका परिभ्रमण। ७ मेरु शिखरपर स्वर्गोंका अवस्थान लगभग ऐसा ही है जैसा कि मेरु शिखरसे ऊपर केवल एक बाल प्रमाण अन्तरसे जैन मान्य स्वर्गोंके प्रथम 'अमृत' नामक पटलका अवस्थान। ८ देवोंमें कुलका मेथुनसे और कुलका स्पर्श या अवलोकन आदिसे काम भोगका सेवन तथा ऊपरके स्वर्गोंमें कामभोगका अभाव जैनमान्यतावत् ही है (दे० देव/11/2/१०)। ९ देवोंका ऊपर ऊपर अवस्थान। १०, मनुष्योंकी ऊँचाईसे लेकर देवोंके शरीरोंकी ऊँचाई तक क्रमिक वृद्धि लगभग जैन मान्यताके अनुसार है (दे० अवगाहना/३,४)। ११-आधुनिक भूगोलके साथ यद्यपि जैन भूगोल स्थूल दृष्टिमें देखनेपर मेल नहीं खाता पर आचार्योंकी सुदूरवर्ती सूक्ष्मदृष्टि व उनकी सूत्रात्मक कथन पद्धतिको ध्यानमें रखकर विचारा जाये तो वह भी बहुत अंशोंमें मिलता प्रतीत होता है। यहाँ यह बात अवश्य ध्यानमें रखने योग्य है कि वैज्ञानिक जनोके अनुमानका आधार पृथिवीका कुछ करोड़वर्ष मात्र पूर्वका इतिहास है, जब कि आचार्योंकी दृष्टि कल्पों पूर्वके इतिहासको स्पर्श करती है। जैसे कि—१ पृथिवीके लिए पहले अग्निका गोला होनेकी कल्पना, उसका धीरे-धीरे ठण्डा होना और नये मिरसे उसपर जीवों व मनुष्योंकी उत्पत्तिका विकास लगभग जैनमान्य प्रलयके स्वरूपसे मेल खाता है (दे० प्रलय)। २ पृथिवीके चारो ओरके वायु-

मण्डलमें ५०० मील तक उत्तरोत्तर तरलता जैन मान्य तीन वात-वलयोंवत् ही है। ३, एशिया आदि महाद्वीप जैनमान्य भरतादि क्षेत्रोंके साथ काफी अंशमें मिलते हैं (दे० अगला शीर्षक)। ४, आर्य व म्लेच्छ जातियोंका यथायोग्य अवस्थान भी जैनमान्यताको सर्वथा उल्लेखन करनेको समर्थ नहीं। ५, सूर्य-चन्द्र आदिके अवस्थानमें तथा उनपर जीव राशि सम्बन्धी विचारमें अवश्य दोनों मान्यताओंमें भेद है। अनुसंधान किया जाय तो इसमें भी कुछ न कुछ समन्वय प्राप्त किया जा सकता है।

सातवीं आठवीं शताब्दी के वैदिक विचारको ने लोक के इस चित्रण को वासना के विश्लेषण के रूप में उपस्थित किया है (जै १२/१)। यथा—अधोलोक वासना ग्रस्त व्यक्ति की तम पूर्ण वह स्थिति जिसमें कि उसे हिताहित का कुछ भी विवेक नहीं होता और स्वार्थ सिद्धि के क्षेत्र में बड़े से बड़े अन्याय तथा अत्याचार करते हुए भी जहां उसे यह प्रतीति नहीं होती कि उसने कुछ बुरा किया है। मध्य लोक उसकी वह स्थिति है जिसमें कि उसे हिताहित का विवेक जागृत हो जाता है परन्तु वासना की प्रबलता के कारण अहित से हटकर हित की ओर झुकने का सरय पुरुषार्थ जागृत करने की सामर्थ्य उसमें नहीं होती है। इसके ऊपर ज्योतिष लोक या अन्तरिक्ष लोक उसकी साधना वाली वह स्थिति है जिसमें उसके भीतर उत्तरोत्तर उन्नत पारमार्थिक अनुभूतियों फलक दिखाने लगती है। इसके अन्तर्गत पहले विद्युत्लोक आता है जिसमें क्षण भर को तब दर्शन हाकर लुप्त हो जाता है। तदनन्तर तारा लोक आता है जिसमें तात्त्विक अनुभूतियों की फलक टिमटिमाती या आख मिचौनी खेलती प्रतीत होती है। अर्थात् कभी स्वरूप में प्रवेश होता है और कभी पुन विषयासक्ति जागृत हो जाती है। इसके पश्चात् सूर्य लोक आता है जिसमें ज्ञान सूर्य का उदय होता है, और इसके पश्चात् अन्त में चन्द्र लोक आता है जहां पहुँचने पर साधक समता भूमि में प्रवेश पाकर अत्यन्त शान्त हो जाता है। उर्ध्व लोक के अन्तर्गत तीन भूमिये है—महर्लोक, जनलोक और तप लोक। पहली भूमि में वह अर्थात् उसकी ज्ञान चेतना लोकालोक में व्याप्त होकर महान हो जाती है, दूसरी भूमिमें कृतकृत्यता की और तीसरी भूमिमें अनन्त आनन्द की अनुभूति में वह सदा के लिए लय हो जाती है। यह मान्यता जैन के अध्यात्म के साथ शत प्रतिशत नहीं तो ८० प्रतिशत मेल अवश्य खाती है।

७. चातुर्द्वीपिक भूगोल परिचय

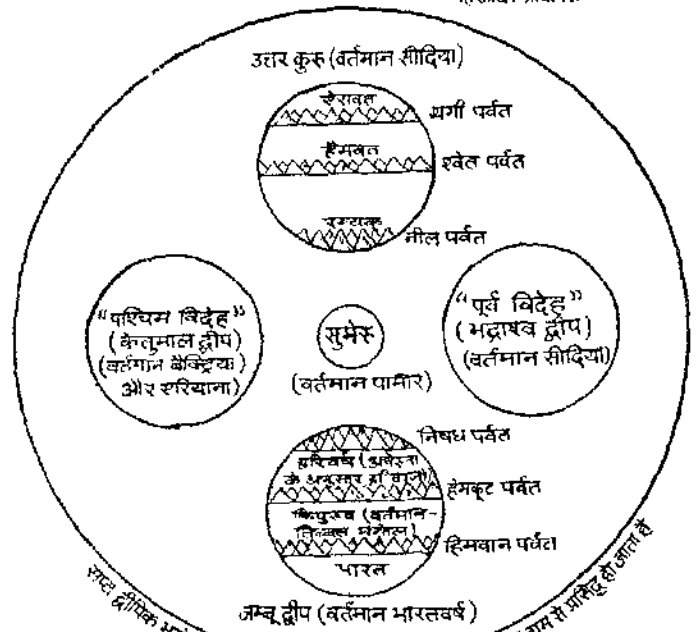
(अ. प. प. १३८/H. L. Jain का भावार्थ) १ काशी नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित सम्पूर्णानन्द अभिनन्दन ग्रन्थमें दिये गये, श्री रायकृष्णदासजीके एक लेखके अनुसार, वैदिक धर्म मान्य सप्तद्वीपिक भूगोल (दे० शीर्षक न० ३) को अपेक्षा चातुर्द्वीपिक भूगोल अधिक प्राचीन है। इसका अस्तित्व अब भी वायुपुराणमें कुछ-कुछ मिलता है। चीनी यात्री मेगस्थनीजके समयमें भी यही भूगोल प्रचलित था, क्योंकि वह लिखता है—भारतके सीमान्तपर तीन ओर देश माने जाते हैं—सीरिया, बेक्ट्रिया तथा एरियाना। सीरियासे उसके भद्राश्व व उत्तरकुरु तथा बेक्ट्रिया व एरियानासे केतुमाल द्वीप अभिप्रेत है। अशोकके समयमें भी यही भूगोल प्रचलित था, क्योंकि उसके शिलालेखोंमें जम्बूद्वीप भारतवर्षकी सजा है। महाभाग्यमें आकर सर्वप्रथम सप्तद्वीपिक भूगोलकी चर्चा है। अतएव वह अशोक तथा महाभाग्यकालके बीचकी कल्पना जान पड़ती है। २ सप्तद्वीपिक भूगोलको भौति यह चातुर्द्वीपिक भूगोल कल्पनामात्र नहीं है, बल्कि इसका आधार वास्तविक है। उसका सामंजस्य आधुनिक भूगोलसे हो जाता है। ३ चातुर्द्वीपिक भूगोलमें जम्बूद्वीप पृथिवीके चार महाद्वीपोंमें से एक है और भारतवर्ष जम्बूद्वीपका ही दूसरा नाम है। वही सप्तद्वीपिक भूगोलमें आकर इतना बड़ा हो जाता है कि उसकी बराबरीवाले अन्य तीन द्वीप (भद्राश्व, केतुमाल

व उत्तरकुरु) उसके वर्ष बनकर रह जाते हैं। और भारतवर्ष नामवाला एक अन्य वर्ष (क्षेत्र) भी उसीके भीतर कल्पित कर लिया जाता है। ४, चातुर्द्वीपी भूगोलका भारत (जम्बूद्वीप) जो मेरु तक पहुँचता है, सप्तद्वीपिक भूगोलमें जम्बूद्वीपके तीन वर्षों या क्षेत्रोंमें विभक्त हो गया है—भारतवर्ष, किपुरुष व हरिवर्ष। भारतका वर्ष पर्वत हिमालय है। किपुरुष हिमालयके परभागमें मंगोलोकी बस्ती है, जहाँसे सरस्वती नदीका उद्गम होता है, तथा जिसका नाम आज भी कन्नौरमें अवशिष्ट है। यह वर्ष पहले सिन्धतक तक पहुँचता था, क्योंकि वहाँ तक मंगोलोकी बस्ती पायी जाती है। तथा इसका वर्ष पर्वत हैमकूट है, जो कतिपय स्थानोंमें हिमालयान्तर्गत ही वर्णित हुआ है। (जैन मान्यतामें किपुरुषके स्थानपर हैमवत और हैमकूटके स्थानपर महाहिमवानका उल्लेख है)। हरिवर्षसे हिरातका तात्पर्य है जिसका पर्वत निषध है, जो मेरु तक पहुँचता है। इसी हरिवर्षका नाम अवेस्तामें हरिवरजी मिलता है। ५ इस प्रकार रम्यक, हिरण्यमय और उत्तरकुरु नामक वर्षोंमें विभक्त होकर चातुर्द्वीपिक भूगोलवाले उत्तरकुरु महाद्वीपके तीन वर्ष बन गये हैं। ६, किन्तु पूर्व और पश्चिमके भद्राश्व व केतुमाल द्वीप यथापूर्व दोके दो ही

चातुर्द्वीपिक भूगोल परिचय

चित्र - ८

(वायुपुराण)
(सप्त द्वीपिक भूगोल की अपेक्षा
यह अधिक प्राचीन है)



नोट १ अशोकके अनुसार 'जम्बूद्वीप' भारतवर्षका ही नाम है
२-मेगस्थनीजके अनुसार भारतवर्षकी सीमापर सीरिया बेक्ट्रिया और एरियाना द्वीप अवस्थित हैं
रह गये। अन्तर केवल इतना है कि यहाँ वे दो महाद्वीप न होकर एक द्वीपके अन्तर्गत दो वर्ष या क्षेत्र हैं। साथ ही मेरुको मेखलित करनेवाला, सप्तद्वीपिक भूगोलका, इलावृत्त भी एक स्वतन्त्र वर्ष बन गया है। ७, ये उक्त चार द्वीपोंसे परलवित भारतवर्ष आदि तीन दक्षिणी, हरिवर्ष आदि तीन उत्तरी, भद्राश्व व केतुमाल ये दो पूर्व व पश्चिमी तथा इलावृत्त नामका केन्द्रीय वर्ष, जम्बूद्वीपके नौ वर्षोंकी रचना कर रहा है। ८ [जैनाभिमत भूगोलमें ६ की बजाय १० वर्षोंका उल्लेख है। भारतवर्ष, किपुरुष व हरिवर्षके स्थानपर भरत, हैमवत व हरि ये तीन मेरुके दक्षिणमें हैं। रम्यक, हिरण्यमय तथा उत्तरकुरुके स्थानपर रम्यक हिरण्यवत व ऐरावत ये तीन मेरुके उत्तरमें हैं। भद्राश्व व केतुमालके स्थानपर पूर्वविदेह व पश्चिमविदेह ये दो मेरुके पूर्व व पश्चिममें हैं। तथा इलावृत्तके स्थानपर देवकुरु व

उत्तरकुरु ये दो मेरुके निकटवर्ती है। यहाँ वैदिक मान्यतामें तो मेरुके चौगिर्द एक ही वर्ष मान लिया गया और जैन मान्यतामें उसे दक्षिण व उत्तर दिशावाले दो भागोंमें विभक्त कर दिया है। पूर्व व पश्चिमी भद्राश्रव व केतुमाल द्वीपोंमें वैदिकजनोत्पत्तिको विभाग न दर्शाकर अखण्ड रखा पर जैन मान्यतामें उनके स्थानीय पूर्व व पश्चिम विदेहोको भी १६,१६ क्षेत्रोंमें विभक्त कर दिया गया। ६. मेरु पर्वत वर्तमान भूगोलका पामीर प्रदेश है। उत्तरकुरु पश्चिमी तुर्किस्तान है। सीता नदी यारकन्द नदी है। निषध पर्वत हिन्दुकुश पर्वतोंकी शृंखला है। हैमवत भारतवर्षका ही दूसरा नाम रहा है। (दे० वह-वह नाम)।

२. लोकसामान्य निर्देश

१. लोकका लक्षण

दे. आकाश/१/३ [१ आकाशके जितने भागमें जीव पुद्गल आदि षट् द्रव्य देखे जाये सो लोक है और उसके चारो तरफ शेष अनन्त आकाश अलोक है, ऐसा लोकका निरुक्ति अर्थ है। २ अथवा षट् द्रव्योंका समवाय लोक है]।

दे. लौकान्तिक/१। [३. जन्म-जरामरणरूप यह ससार भी लोक कहलाता है।]

रा. वा ४/१२/१०-१३/४५/२० यत्र पुण्यपापफललोकनं स लोक ११०। क पुनरसौ। आत्मा। लोकति पश्यत्युपलभते अर्थानिति लोक १११। सर्वज्ञानानन्ताप्रतिहतकवलदर्शनेन लोकयते य स लोक। तेन धर्मादीनामपि लोकत्व सिद्धम् ११३।—जहाँ पुण्य व पापका फल जो सुख-दुःख वह देखा जाता है सो लोक है इस व्युत्पत्तिके अनुसार लोकका अर्थ आत्मा होता है। जो पदार्थोंको देखे व जाने सो लोक इस व्युत्पत्तिसे भी लोकका अर्थ आत्मा है। आत्मा स्वयं अपने स्वरूपका लोकन करता है अत लोक है। सर्वज्ञके द्वारा अनन्त व अप्रतिहत केवलदर्शनसे जो देखा जाये सो लोक है, इसप्रकार धर्म आदि द्रव्योंका भी लोकपना सिद्ध है।

२. लोकका आकार

ति. प १/१२७-१२८ हेटिठमलोयायारो वेत्तासणसण्हो सहावेण। मज्झिमलोयायारो उब्भियमुरअद्धसारिच्छो। १२७। उवरिमलोया-आरो उब्भियमुरवेण होइ सरिसत्तो। सठाणो पदाण लोयाण एण्हि साहेमि १२८।—इन (उपरोक्त) तीनोंमेंसे अधोलोकका आकार स्वभावसे वेत्तासनके सदृश है, और मध्यलोकका आकार खडे किये हुए आधे मृदगके ऊर्ध्वभागके समान है १२७। ऊर्ध्वलोकका आकार खडे किये हुए मृदगके सदृश है १२८। (घ. ४/१,३,२/गा० ६/११) (त्रि सा./६), (ज प/४/४-६), (द स./टी/३६/१२/११)। घ ४/१,३,२/गा. ७/११ तलरुखसठाणो ७। =यह लोक तालवृक्षके आकारवाला है।

ज. प १/२४ प्रो. लक्ष्मीचन्द्र—मिस्रदेशके गिरजेमें बने हुए महास्तूपसे यह लोकाकाशका आकार किंचित समानता रखता प्रतीत होता है।

३. लोकका विस्तार

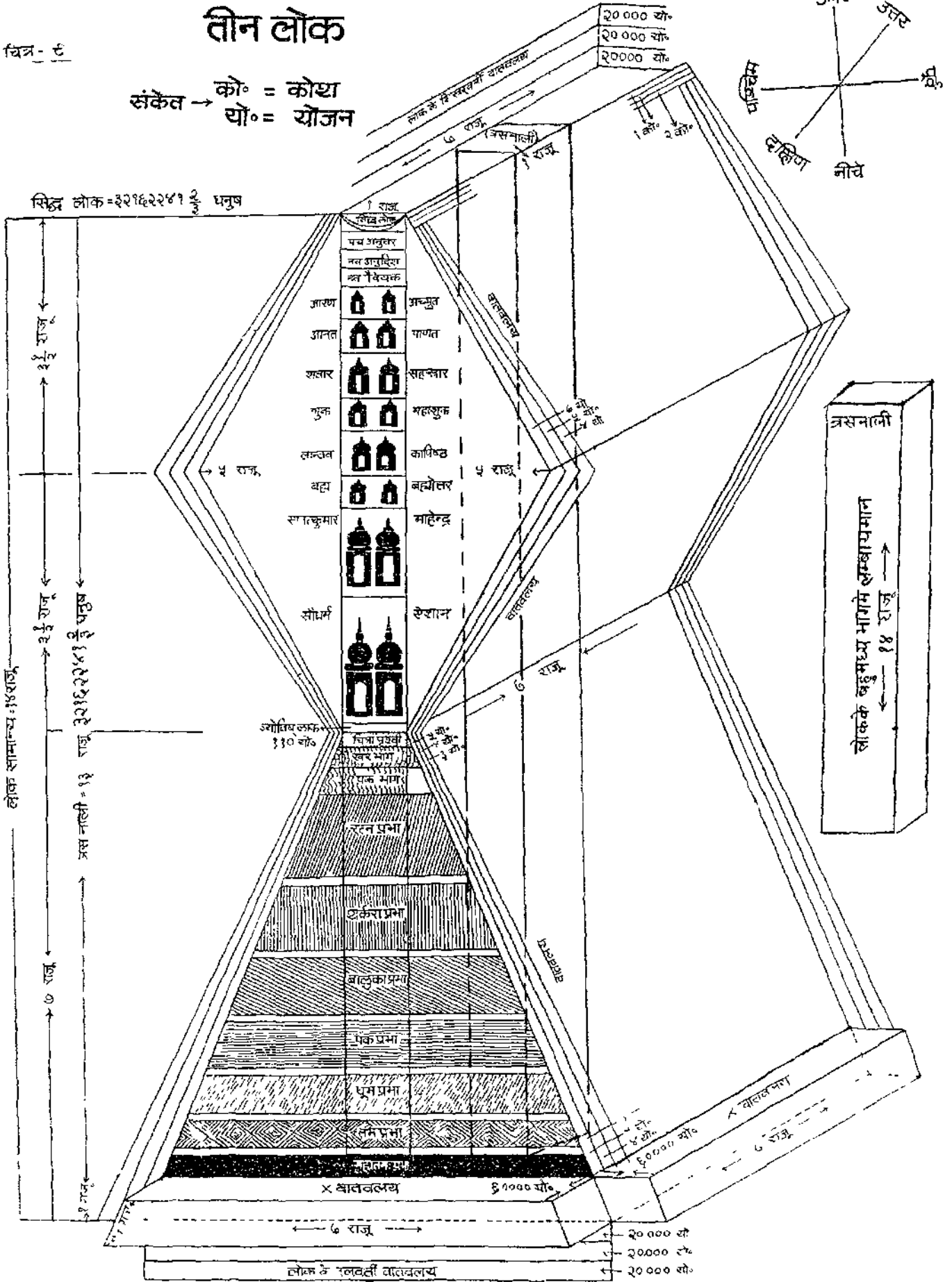
ति. प १/१४६-१६३ सेट्ठिपमाणायाम भागेषु दक्खिणुत्तरेसु पुढ। पुक्कावरेसु नास भूमिसुहे सत्त येक्कपचेक्का १४६। चौइसरज्जुपमाणो उच्छेहो होवि सयललोगस्स। अद्धमुरज्जुसुदवो समग्गमुखोदयसरि-च्छो १४७। व हेटिठममज्झिमउवरिमलोउच्छेहो कमेण रज्जुवो। सत्त य जोयणलक्ख जायणलक्खणसगरज्जु १४९। इह रयणसक्करावाल्ल-पकधूमत्तममहात्तमादिपहा। सुरवद्धम्मि महीओ सत्त च्चिय रज्जु-अन्तरिआ १४९। धम्मवासामेघाअजणरिट्ठानउब्भमघवीओ। माघविया इय ताण पुढवीण वात्तणामाणि १४९। मज्झिमजगस्स हेट्ठिमभागादो णिग्गदा पद्धमरज्जु। सक्करपहपुढवीए हेटिठमभागम्मि णिट्ठादि १४९। तत्तो दोइरज्जु वाल्लवपहहेटिठ समप्पेदि। तह य तइज्जारज्जु पकपहहेट्ठास्स भागम्मि १४६। धूमपहाए हेटिठम-भागम्मि समप्पदे तुरियरज्जु। तह पंचमिया रज्जु तमप्पहाहेटिठम-

पपरो १४६। महत्तमहेटिठमयते छट्ठो हि समप्पदे रज्जु। तत्तो सत्तमरज्जु लोयस्स तलम्मि णिट्ठादि १४७। मज्झिमजगस्स उवरिमभागादु दिवद्धरज्जुपरिमाणं। इगिजोयणलक्खण सोहम्म-विमाणधयदडे १४८। वच्चदि दिवद्धरज्जु माहिदसणवकुमारउव-रिम्मि। णिट्ठादि अद्धरज्जु वभुत्तर उद्धभागम्मि १४९। अवसादि अद्धरज्जु काविट्ठस्सोवरिट्ठभागम्मि। स च्चियमहसुकोवरि सहसा-रोवरि अ स च्चेय १४९। तत्तो य अद्धरज्जु आणदकप्पस्स उवरिम-पपसे। स य आरणस्स कप्पस्स उवरिमभागम्मि वेविज्ज १४९। तत्तो उवरिमभागे णवाणुत्तरओ होति एक्करज्जुवो। एवं उवरिमलोए रज्जुविभागो समुद्धिट्ठ १४९। णियणिय चरिमिदयवडंग कप्प-भूमिअवसाणं कप्पादीदमहीए विच्छेदो लोयविच्छेदो १४९।—१. दक्षिण और उत्तर भागमें लोकका आयाम जगश्रेणी प्रमाण अर्थात् सात राजू है। पूर्व और पश्चिम भागमें भूमि और मुखका व्यास क्रमसे सात, एक, पाँच और एक राजू है। तात्पर्य यह है कि लोक-की मोटाई सर्वत्र सात राजू है, और विस्तार क्रमसे लोकके नीचे सात राजू, मध्यलोकमें एक राजू, ब्रह्म स्वर्गपर पाँच राजू और लोक-के अन्तमें एक राजू है १४९। २ सम्पूर्ण लोककी ऊँचाई १४ राजू प्रमाण है। अर्धमृदगकी ऊँचाई सम्पूर्ण मृदगकी ऊँचाईके सदृश है। अर्थात् अर्धमृदग सदृश अधोलोक जैसे सात राजू ऊँचा है उसी प्रकार ही पूर्ण मृदगके सदृश ऊर्ध्वलोक भी सात ही राजू ऊँचा है १५०। क्रमसे अधोलोककी ऊँचाई सात राजू, मध्यलोककी ऊँचाई १००,००० योजन, और ऊर्ध्वलोककी ऊँचाई एक लाख योजन कम सात राजू है १५१। (घ ४/१, ३, २/गा ८/११), (त्रि सा/११३), (ज प/४/११,१६-१७)। ३. तहाँ भी—तीनों लोकोंमेंसे अर्धमृदगाकार अधोलोकमें रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा, बालुप्रभा, पंकप्रभा, धूमप्रभा, तम-प्रभा और महातमप्रभा, ये सात पृथिवियों एक राजूके अन्तरालसे है १५२। धर्मा, वशा, मेघा, अजना, अरिष्ठा, मघवी और माघवी ये इन उपर्युक्त पृथिवियोंके अपरनाम है १५३। मध्यलोकके अधो-भागसे प्रारम्भ होकर पहला राजू शर्कराप्रभा पृथिवीके अधोभागमें समाप्त होता है १५४। इसके आगे दूसरा राजू प्रारम्भ होकर बालुका-प्रभाके अधोभागमें समाप्त होता है। तथा तीसरा राजू पंकप्रभाके अधोभागमें १५५। चौथा धूमप्रभाके अधोभागमें, पाँचवाँ तम प्रभाके अधोभागमें १५६। और छठा राजू महातम प्रभाके अन्तमें समाप्त होता है। इससे आगे सातवाँ राजू लोकके तलभागमें समाप्त होता है १५७। [इस प्रकार अधोलोककी ७ राजू ऊँचाईका विभाग है।] ४ रत्नप्रभा पृथिवीके तीन भागोंमें से खरभाग १६००० यो० एक भाग ८४००० यो० और अन्वहुल भाग ८०,००० योजन मोटे है। ५ रत्नप्रभा/२। ६ लोकमें मेरुके तलभागसे उसकी चोटी पर्यन्त १००,००० योजन ऊँचा व १ राजू प्रमाण विस्तार युक्त मध्यलोक है। इतना ही तिर्यक्लोक है।—दे० तिर्यच/३/१। मनुष्यलोक चित्रा पृथिवीके ऊपरसे मेरुकी चोटी तक ६६००० योजन विस्तार तथा अर्धमृदग प्रमाण ४५००,००० योजन विस्तार युक्त है।—दे० मनुष्य/४/१। ६. चित्रा पृथिवीके नीचे खर व पंक भागमें १००,००० यो० तथा चित्रा पृथिवीके ऊपर मेरुकी चोटी तक ६६००० योजन ऊँचा और एक राजू प्रमाण विस्तार युक्त भावनलोक है।—दे० व्यन्तर/४/१-५। इसी प्रकार व्यन्तरलोक भी जानना।—दे० व्यन्तर/४/१-५। चित्रा पृथिवीसे ७६० योजन ऊपर जाकर ११० योजन बाहव्य व १ राजू विस्तार युक्त ज्योतिष लोक है।—दे० ज्योतिषलोक/१। ७ मध्यलोकके ऊपरी भागसे सौधर्म विमानका ध्वजदण्ड १००,००० योजन कम १^३/_४ राजू प्रमाण ऊँचा है १५८। इसके आगे १^३/_४ राजू माहेन्द्र व सनरकुमार स्वर्गके ऊपरी भागमें, १/२ राजू ब्रह्मोत्तरके ऊपरी भागमें १५९। १/२ राजू कापिष्ठके ऊपरी भागमें, १/२ राजू महाशुकके ऊपरी भागमें, १/२ राजू सहस्रारके ऊपरी भागमें १६०। १/२ राजू आनतके ऊपरी भागमें और १/२ राजू आरण-अच्युतके

तीन लोक

चित्र - ८

संकेत → को० = कोथा
यो० = योजन



X लोक के नीचे वाले एक राजू प्रमाण कलकल नामक स्थावरलोक को चारों ओर से घेर कर अवस्थित ६०,००० योजन मोटा वातवलय।

जेनेन्द्र सिद्धान्त कोश

ऊपरी भागमें समाप्त हो जाता है। १९६१। उसके ऊपर एक राजूकी ऊँचाईमें नवग्रैवेयक, नव अनुदिश, और ५ अनुत्तर विमान है। इस प्रकार ऊर्ध्वलोकमें ७ राजूका विभाग कहा गया। १९६२। अपने-अपने अन्तिम इन्द्रक-विमान सम्बन्धी ध्वजदण्डके अग्रभाग तब उन-उन स्वर्गोंका अन्त समझना चाहिए। और कल्पातीत भूमिका जो अन्त है वही लोकका भी अन्त है। १९६३। ८. [लोक शिखरके नीचे ४२५ धनुष और २९ योजन मात्र जाकर अन्तिम सर्वार्थसिद्धि इन्द्रक स्थित है (दे० स्वर्ग/५/१) सर्वार्थसिद्धि इन्द्रकके ध्वजदण्डसे १२ योजन मात्र ऊपर जाकर अष्टम पृथिवी है। वह ८ योजन मोटी व एक राजू प्रमाण विस्तृत है। उसके मध्य ईषत् प्राग्भार क्षेत्र है। वह ४५००,००० योजन विस्तार युक्त है। मध्यमें ८ योजन और सिरोंपर केवल अंगुल प्रमाण मोटा है। इस अष्टम पृथिवीके ऊपर ७०५० धनुष जाकर सिद्धिलोक है (दे० मोक्ष/१/७)]

४. वातवल्लयोंका परिचय

१. वातवल्लय सामान्य परिचय

ति. प./१/२६८ गोमुत्तमुग्गवण्णा घणोदधी तह घणाणिलो वाऊ। तणु-वादो बहुवण्णो रुक्खस्स तय व वल्लयातिर्यं। १२६८। —गोमुत्तके समान वर्णवाला घनोदधि, मूगके समान वर्णवाला घनवात तथा अनेक वर्णवाला तनुवात। इस प्रकार ये तीनों वातवल्लय वृक्षकी त्वचाके समान (लोकको घेरे हुए) है। १२६८। (रा. वा./३/१/८/१६०/१६) ; (त्रि. सा./१२३), (दे० चित्र सं० ६ पृ. ४३६)।

२. तीन वातवल्लयोंका अवस्थान क्रम

ति. प./१/२६६ पढमो लोयाधारो घणोवही इह घणाणिलो ततो। तप्प-रदो तणुवादो अत्तम्मि णह णिआधारं। १२६६। —इनमेंसे प्रथम घनोदधि वातवल्लय लोकका आधारभूत है, इसके पश्चात् घनवातवल्लय, उसके पश्चात् तनुवातवल्लय और फिर अन्तमें निजाधार आकाश है। १२६६। (स. सि./३/१/२०४/३), (रा. वा./३/१/८/१६०/१४) ; (तत्त्वार्थ वृत्ति/३/१/श्लो. १-२/११२)।

तत्त्वार्थ वृत्ति/३/१/१११/१६ सर्वा सप्पापि भ्रमयो घनवातप्रतिष्ठा वर्तन्ते। स च घनवात अम्बुवातप्रतिष्ठोऽस्ति। स चाम्बुवातस्तनु-वातस्तनुप्रतिष्ठो वर्तते। स च तनुवात आकाशप्रतिष्ठो भवति। आकाशस्यालम्बनं किमपि नास्ति। —दृष्टि न. २ —ये सभी सातों भूमियों घनवातके आश्रय स्थित है। वह घनवात भी अम्बु (घनोदधि) वातके आश्रय स्थित है और वह अम्बुवात तनुवातके आश्रय स्थित है। वह तनुवात आकाशके आश्रय स्थित है, तथा आकाशका कोई भी आलम्बन नहीं है।

३. पृथिवियोंके साथ वातवल्लयोंका स्पर्श

ति. प./२/२४ सत्तच्चिय भूमीओ णवदिसभाएण घणोवहिविलग्गा। अट्टमभूमोदसदिस भागेषु घणोवहि छिन्नदि। १२४।

ति. प. ८/२०६-२०७ सोहम्मदुग्गविमाणा घणस्सरुक्खस्स उवरि सलिलस्स। चेत्ठते पवणोवरि माहिदसणक्कुमारणि। २०६। बम्हाई चत्तारो कप्पा चेत्ठति सलिलवाट्टह। आणदपाणदपहुदो सेसा सुद्धम्मि गयणयले। २०७। —सातों (नरक) पृथिवियों ऊर्ध्वदिशाको छोड़कर शेष नौ दिशाओंमें घनोदधि वातवल्लयसे लगी हुई है, परन्तु आठवीं पृथिवी दशो दिशाओंमें ही वातवल्लयको छूती है। २४। सौधर्म युगलके विमान घनस्वरूप जलके ऊपर तथा माहेन्द्र व सनत्कुमार कण्ठके विमान पवनके ऊपर स्थित है। २०६। ब्रह्मादि चार कण्ठ जल व वायु दोनोंके ऊपर, तथा आनत प्राणत आदि शेष विमान शुद्ध आकाश-तलमें स्थित है। २०७।

४. वातवल्लयोंका विस्तार

ति. प./१/२७०-२८१ जोयणवीससहस्सां बहल्लतम्मारुदाण पत्तेवकं। अट्टाशिवदीण हेट्टेलोअतले उवरि जाव इगिरज्जू। २७०। सगण चउ-

जोयणयं सत्तमणारयम्मि पुहविपणधीए। पंचचउत्तियपमाणं त्तिरीय-खेतस्स पणिधोए। २७१। सगणचउसमाणा पणिधोए होति बम्ह-कप्पस्स। पणचउत्तिय जोयणया उवरिमलोयस्स यत्तम्मि। २७२। कोसदुग्गमेक्कोसं किचूणेवकं च लोयसिहरम्मि। उणपमाण दडा चउस्सया पचवीस जुदा। २७३। तीस इगिदालवल कोसा तिय-भाजिदा य उणवणया। सत्तमखिदिपणिधीए बम्हजुदे वाउबहुल्लत्त। २७४। दो छम्बारस भागम्भहिओ कोसो कमेण वाउपणं। लोय-उवरिम्मि एव लोय विभायम्मि णणत्त। २७५। = दृष्टि न० १—आठ पृथिवियोंके नीचे लोकके तलभागसे एक राजूकी ऊँचाई तक इन वायुमण्डलोंमेंसे प्रत्येककी मोटाई २०००० योजन प्रमाण है। २७०। सातवे नरकमें पृथिवियोंके पार्श्व भागमें क्रमसे इन तीनों वात-वल्लयोंकी मोटाई ७,५ और ४ तथा इसके ऊपर तिर्यग्लोक (मर्या-लोक) के पार्श्वभागमें ५,४ और ३ योजन प्रमाण है। २७१। इसके आगे तीनों वायुओंकी मोटाई ब्रह्म स्वर्गके पार्श्व भागमें क्रमसे ७,५ और ४ योजन प्रमाण, तथा ऊर्ध्वलोकके अन्तमें (पार्श्व भागमें) ५, ४ और ३ योजन प्रमाण है। २७२। लोकके शिखरपर (पार्श्व भागमें) उक्त तीनों वातवल्लयोंका बाह्य क्रमशः २ कोस, १ कोस और कुछ कम १ कोस है। यहाँ कुछ कमका प्रमाण २४२५ धनुष समझना चाहिए। २७३। [शिखर पर प्रत्येककी मोटाई २०,००० योजन है — दे० मोक्ष/१/७] (त्रि. सा./१२४-१२६)। दृष्टि न० २—सातवीं पृथिवी और ब्रह्म युगलके पार्श्वभागमें तीनों वायुओंकी मोटाई क्रमसे ३०, ४१/२ और ४६/३ कोस है। २८०। लोक शिखरपर तीनों वातवल्लयो-की मोटाई क्रमसे १^३/_४, १^२/_३ और १^१/_२ कोस प्रमाण है। ऐसा लोक विभागमें कहा गया है। २८१।—विशेष दे. चित्र स. ६ पृ. ४३६.

५. लोकके आठ रुक्क प्रदेश

रा. वा./१/२०/२२/७६/१३ मेरुप्रतिष्ठावज्जवेडूर्यपटलान्तररुक्कसंस्थिता अष्टावाकाशप्रदेशलोकमध्यम्। —मेरु पर्वतके नीचे वज्र व वैडूर्य पटलके बीचमें चौकोर सस्थान रूपसे अवस्थित आकाशके आठ प्रदेश लोकका मध्य है।

६. लोक विभाग निर्देश

ति. प./१/२३६ सयलो एस य लोओ णिप्पणो सेहिविदमाणेण। तिवि-यम्पो णादवो हेट्टिममज्जिक्कलज्जह भेएण। १२६। —श्रेणी वृन्दके मानसे अर्थात् जगश्रेणीके घन प्रमाणसे निष्पन्न हुआ यह सम्पूर्ण लोक, अधोलोक मध्यलोक और ऊर्ध्वलोकके भेदसे तीन प्रकारका है। १२६। (वा. अ./३६), (घ. १३/५.५.१०/२८८/४)।

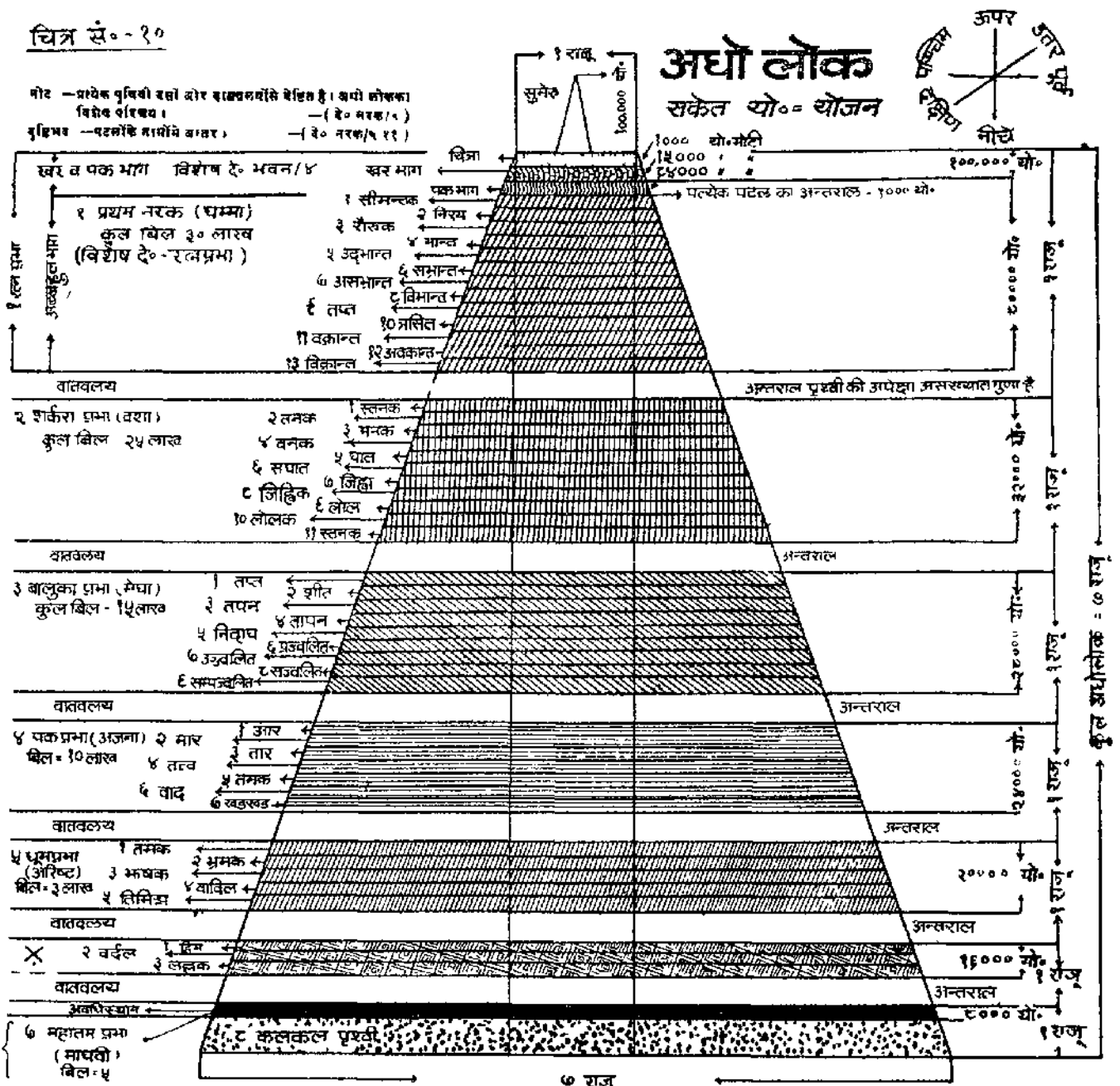
७. त्रस व स्थावर लोक निर्देश

[पूर्वाक्त वेत्रासन व मृद गाकार लोकके बहु मध्य भागमें, लोक शिखरसे लेकर उसके अन्त पर्यन्त १३ राजू लम्बी व मध्यलोक समान एक राजू प्रमाण विस्तार युक्त नाडी है। त्रस जीव इस नाडीसे बाहर नहीं रहते इसलिए यह त्रसनाली नामसे प्रसिद्ध है। (दे० त्रस/२/३,४)। परन्तु स्थावर जीव इस लोकमें सर्वत्र पाये जाते हैं। (दे० स्थावर/६) तहाँ भी सूक्ष्म जीव तो लोकमें सर्वत्र ठसाठस भरे हैं, पर बादर जीव केवल त्रसनालीमें होते हैं (दे० सूक्ष्म/३/७) उनमें भी तेजस्कायिक जीव केवल कर्मभूमियोंमें ही पाये जाते हैं अथवा अधोलोक व भवनवासियोंके विमानोंमें पाँचों कायोंके जीव पाये जाते हैं, पर स्वर्ग लोकमें नहीं — दे० काय/२/५। विशेष दे. चित्र स. ६ पृ. ४३६।

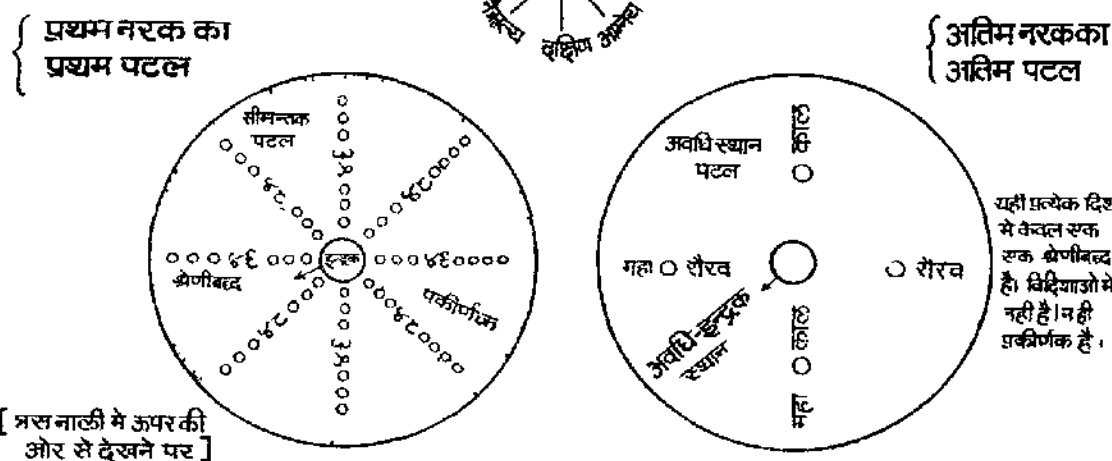
८. अधोलोक सामान्य परिचय

[सर्वलोक तीन भागोंमें विभक्त है—अधो, मध्य व ऊर्ध्व—दे० लोक/२/२, ३। मेरुतलके नीचेका क्षेत्र अधोलोक है, जो वेत्रासनके आकारवाला है। ७ राजू ऊँचा व ७ राजू मोटा है। नीचे ७ राजू व ऊपर १ राजू प्रमाण चौड़ा है। इसमें ऊपरसे लेकर नीचे तक क्रम-

चित्र सं०-१०



चित्र सं० ११



से रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा, बालुकाप्रभा, पंकप्रभा, धूमप्रभा, तमप्रभा व महातमप्रभा नामकी ७ पृथिवियाँ लगभग एक राजू अन्तरालसे स्थित है। प्रत्येक पृथिवीमें यथायोग्य १३.११ आदि पटल १००० योजन अन्तरालसे अवस्थित है। कुल पटल ४६ है। प्रत्येक पटलमें अनेकों बिल या गुफाएँ हैं। पटलका मध्यवर्ती बिल इन्द्रक कहलाता है। इसकी चारो दिशाओं व विदिशाओंमें एक श्रेणीमें अवस्थित बिल श्रेणीबद्ध कहलाते हैं और इनके बीचमें रत्नराशिवत् बिखरे हुए बिल प्रकीर्णक कहलाते हैं। इन बिलोंमें नारकी जीव रहते हैं। (दे० नरक/५/१-३)। सातों पृथिवियों के नीचे अन्तमें एकराजू प्रमाण क्षेत्र खाली है। (उसमें केवल निगोद जीव रहते हैं) —दे० चित्र सं. १० पृ. ४४१।

★ रत्नप्रभा पृथिवीके खर व पंक भागका चित्र—दे० भवन/४।

★ रत्नप्रभा पृथिवीके अब्बहुल भाग का चित्र—दे० रत्नप्रभा।

९. भावनलोक निर्देश

[उपरोक्त सात पृथिवियोंमें जो रत्नप्रभा नामकी प्रथम पृथिवी है, वह तीन भागोंमें विभक्त है—खरभाग, पंकभाग व अब्बहुल भाग। खरभाग भी चित्रा, वैजूर्य, लोहिताक आदि १६ प्रस्तरोंमें विभक्त है। प्रत्येक प्रस्तर १००० योजन मोटा है। उनमें चित्रा नामका प्रथम प्रस्तर अनेको रत्नों व धातुओंकी खान है। (दे० रत्नप्रभा)। तहाँ खर व पंकभागमें भावनवासी देवोंके भवन हैं और अब्बहुल भागमें नरक पटल है (दे० भवन/४/१)। इसके अतिरिक्त तिर्यक् लोकमें भी यत्र-तत्र-सर्वत्र उनके पुर, भवन व आवास हैं। (दे० व्यतर/४/१-५)। (विशेष दे० भवन/४)।

१०. व्यन्तर लोक निर्देश

[चित्रा पृथिवीके तल भागमें लेकर सुमेरुकी चोटी तक तिर्यग्-लोक प्रमाण विस्तृत सर्वक्षेत्र व्यन्तरोंके रहनेका स्थान है। इसके अतिरिक्त खर व पंकभागमें भी उनके भवन हैं। मध्यलोकके सर्व-द्वीप समुद्रोंकी वेदिकाओपर, पर्वतोंके कूटोंपर, नदियोंके तटोंपर इत्यादि अनेक स्थलोंपर यथायोग्य रूपमें उनके पुर, भवन व आवास हैं। (विशेष दे० व्यन्तर/४/१-५)।

११. मध्यलोक निर्देश

१. द्वीप-सागर आदि निर्देश

ति, प ५/१-१०, २७ सबवे दीवसमुद्रा सखादीदा भवति समवृत्ता। पदमे दीओ उवही चरिमो मज्जम्मि दीउवही।८। चित्तोवरि बहुमज्जे रज्जुपरिमाणदीहविसर्वाभे। चेट्ठति दीवउवही एक्केवक वेत्तिऊण हु प्परिदी।९। सव्वे वि वाहिणीसा चित्तखिदि खंडिदूण चेट्ठति। वज्जखिदीए उवरि दीवा वि हु उवरि चित्ताए।१०। जम्बूदीवे लवणो उवही कालो त्ति वादईसडे। अत्रसेसा वारिणिही वत्तवा दीव-समणामा।२८। =१ सब द्वीप-समुद्र असंख्यात एवं समवृत्त है। इनमेंमें पहला द्वीप, अन्तिम समुद्र और मध्यमें द्वीप समुद्र है।८। चित्रा पृथिवीके ऊपर बहुमध्य भागमें एकराजू लम्बे-चौड़े क्षेत्रके भीतर एक-एकको चारो ओरसे घेरे हुए द्वीप व समुद्र स्थित है।९। सभी समुद्र चित्रा पृथिवीको खण्डित कर वज्रा पृथिवीके ऊपर, और सब द्वीप चित्रा पृथिवीके ऊपर स्थित है।१०। (सू. आ./१०७६)। (त सू १३/७-८)। (ह. पु ५/२, ६२६-६२७)। (ज प १/१९६)। २. जम्बूद्वीपमें लवणोदधि और धातकीखण्डमें कालोद नामक समुद्र है। शेष समुद्रोंके नाम द्वीपोंके नामके समान ही कहना चाहिए। १२८। (सू आ १०७७)। (रा. वा ३/३८/२०८/१७)। (ज प ११/१८३)।

त्रि सा १/८६ वज्जमयमूलभागा वेत्तिरियकयाइरम्मा सिहरज्जुदा। दीवो बहोणमते पायारा होति सव्वस्थ।८६। = सभी द्वीप व समुद्रों-

के अन्तमें परिधि रूपसे वैजूर्यमयी जगती होती है, जिनका मूल वज्रमयी होता है तथा जो रमणीक शिखरोसे समुक्त है। (—विशेष दे० लोक/३/१ तथा ४/१)।

नोट—[द्वीप-समुद्रोंके नाम व समुद्रोंके जलका स्वाद—दे० लोक/५/१]।

• तिर्यक्लोक, मनुष्यलोक आदि विभाग

घ. ४/१.३.१/६/३ देसभेएण तिविहो, मंदरचलियादो, उवरिमुट्ट-लोगो, भदरमूलादो हेत्वा अधोलोगो, मंदरपरिच्छिण्णो मज्जलोगो ति। = देशके भेदसे क्षेत्र तीन प्रकारका है। मन्दराचल (सुमेरु-पर्वत) की चूलिकासे ऊपरका क्षेत्र ऊर्ध्वलोक है। मन्दराचलके मूलसे नीचेका क्षेत्र अधोलोक है। मन्दराचलसे परिच्छिन्न अर्थात् तत्प्रमाण मध्यलोक है।

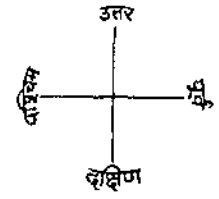
ह. पु ५/१ तनुवातान्तपर्यन्तस्तिर्यग्लोको व्यवस्थित। लक्षितावधि-रुर्ध्वाधो मेरुयोजनलक्षया।१। =१ तनुवातवलयके अन्तभाग तक तिर्यग्लोक अर्थात् मध्यलोक स्थित है। मेरु पर्वत एक लाख योजन विस्तारवाला है। उसी मेरु पर्वत द्वारा ऊपर तथा नीचे इस तिर्यग्लोककी अवधि निश्चित है।१। [इसमें असंख्यात द्वीप, समुद्र एक दूसरेको वेष्टित करके स्थित है दे० लोक/२/११]। यह साराका सारा तिर्यक्लोक कहलाता है, क्योंकि तिर्यंच जीव इस क्षेत्रमें सर्वत्र पाये जाते हैं। २. उपरोक्त तिर्यग्लोकके मध्यवर्ती, जम्बूद्वीपसे लेकर मानुषोत्तर पर्वत तक अट्टाई द्वीप व दो सागरसे रुद्ध ४५००००० योजन प्रमाण क्षेत्र मनुष्यलोक है। देवों आदिके द्वारा भी उनका मानुषोत्तर पर्वतके पर भागमें जाना सम्भव नहीं है। (—दे० मनुष्य/४/१)। ३. मनुष्य लोकके इन अट्टाई द्वीपोंमेंसे जम्बूद्वीपमें १ और चातकी व पुष्करार्धमें दो-दो मेरु हैं। प्रत्येक मेरु सम्बन्धी ६ कुलधर पर्वत होते हैं, जिनसे वह द्वीप ७ क्षेत्रोंमें विभक्त हो जाता है। मेरुके प्रणिधि भागमें दो कुरु तथा मध्यवर्ती विदेह क्षेत्रके पूर्व व पश्चिमवर्ती दो विभाग होते हैं। प्रत्येकमें ८ वक्षर पर्वत, ६ विभागा नदियाँ तथा १६ क्षेत्र हैं। उपरोक्त ७ व इन ३२ क्षेत्रोंमेंसे प्रत्येकमें दो-दो प्रधान नदियाँ हैं। ७ क्षेत्रोंमेंसे दक्षिणी व उत्तरीय दो क्षेत्र तथा ३२ विदेह इन सबके मध्यमें एक-एक विजयार्ध पर्वत हैं, जिनपर विद्याधरोंकी वस्तियाँ हैं। (दे० लोक/५)। ४. इस अट्टाई द्वीप तथा अन्तिम द्वीप सागरमें ही कर्म-भूमि है, अन्य सर्व द्वीप व सागरमें सर्वदा भोगभूमिकी व्यवस्था रहती है। कृष्यादि षट्कर्म तथा धर्म-कर्म सम्बन्धी अनुष्ठान जहाँ पाये जाये वह कर्मभूमि है, और जहाँ जीव बिना कुछ किये प्राकृतिक पदार्थोंके आश्रयपर उत्तम भोग भोगते हुए सुखपूर्वक जीवन-यापन करे वह भोगभूमि है। अट्टाई द्वीपके सर्व क्षेत्रोंमें भी सर्व विदेह क्षेत्रोंमें त्रिकाल उत्तम प्रकारकी कर्मभूमि रहती है। दक्षिणी व उत्तरी दो-दो क्षेत्रोंमें षट्काल परिवर्तन होता है। तीन कालोंमें उत्तम, मध्यम व जघन्य भोगभूमि और तीन कालोंमें उत्तम, मध्यम व जघन्य कर्मभूमि रहती है। दोनों कुरुओंमें सदा उत्तम भोगभूमि रहती है, इनके आगे दक्षिण व उत्तर-वर्ती दो क्षेत्रोंमें सदा मध्यम भोगभूमि और उनसे भी आगेके शेष दो क्षेत्रोंमें सदा जघन्य भोगभूमि रहती है (दे० भूमि) भोगभूमिमें जीवकी आयु शरीरोत्सेध बल व सुख क्रमसे वृद्धिगत होता है और कर्मभूमिमें क्रमशः हानिगत होता है। —दे० काल/४। ५. मनुष्य लोक व अन्तिम स्वयंप्रभ द्वीप व सागरको छोड़कर शेष सभी द्वीप सागरोंमें विकलेन्द्रिय व जलचर नहीं होते हैं। इसी प्रकार सर्व ही भोगभूमियोंमें भी वे नहीं होते हैं। वैर व शेष देवोंके द्वारा ले जाये गये वे सर्वत्र सम्भव हैं। —दे० तिर्यच/३।

१२. ज्योतिष लोक सामान्य निर्देश

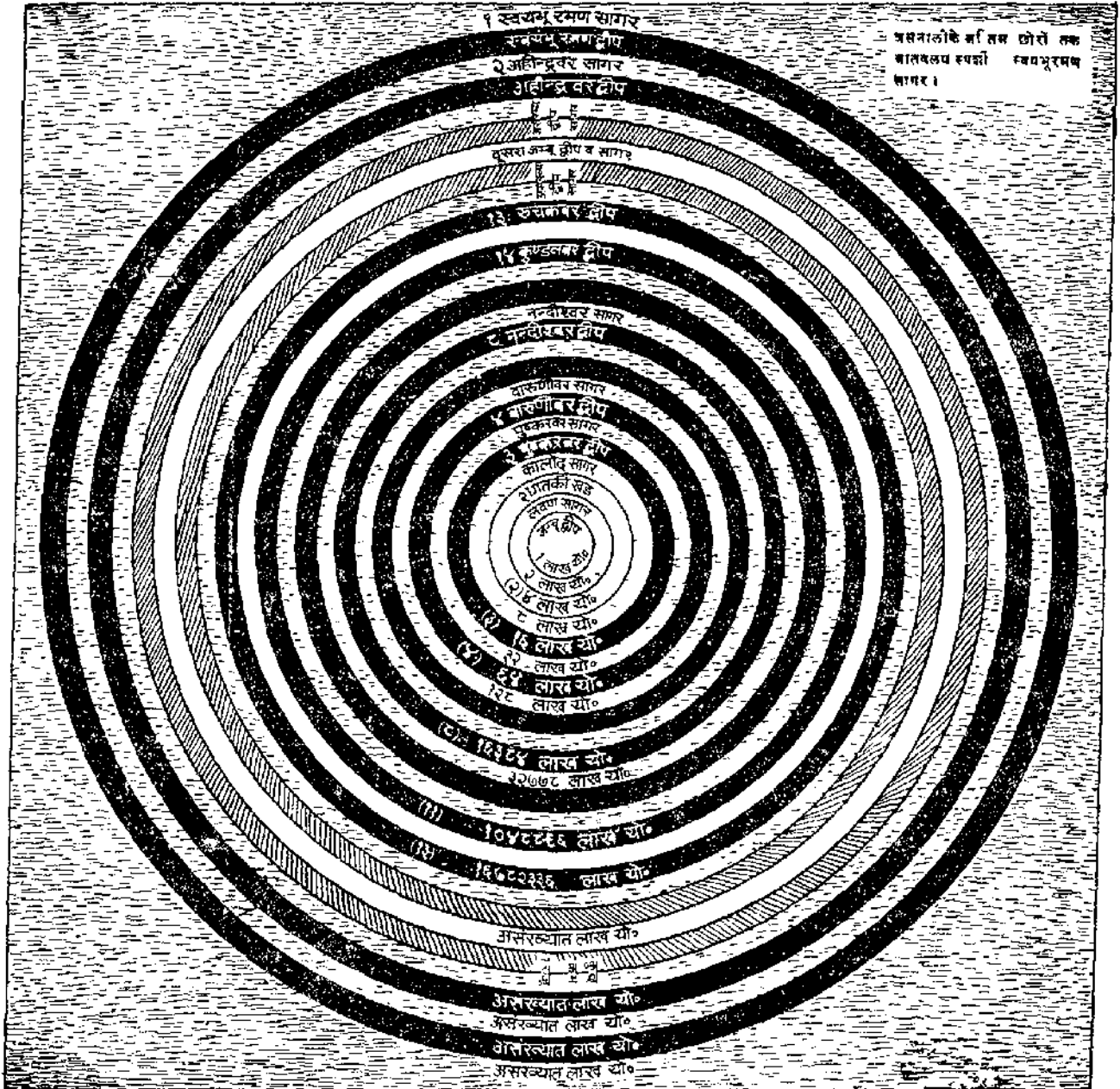
[पूर्वोक्त चित्रा पृथिवीसे ७६० योजन ऊपर जाकर ११० योजन पर्यन्त आकाशमें एक राजू प्रमाण विस्तृत ज्योतिष लोक है। नीचेसे

चित्र सं० - १२

मध्यलोक सामान्य



द्वीप सागरों के नाम दे.लोक / ५/१
संकेत यो० = योजन



नोट — जस नाली मे ऊपर की ओर से देखने पर ऐसा दिखाई देता है ।

ऊपरकी ओर क्रमसे तारागण, सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, शुक्र, बृहस्पति, मंगल, शनि व शेष अनेक ग्रह अवस्थित रहते हुए अपने-अपने योग्य संचार क्षेत्रमें मेरुकी प्रदक्षिणा देते रहते हैं। इनमेंसे चन्द्र इन्द्र है और सूर्य प्रतीन्द्र। १ सूर्य, ८८ ग्रह, २८ नक्षत्र व ६६१७५ तारे, ये एक चन्द्रमाका परिवार हैं। जम्बूद्वीपमें दो, सवणसागरमें ४, धातकी खण्डमें १२, कालोदमें ४२ और पुष्करार्धमें ७९ चन्द्र हैं। ये सब तो चर अर्थात् चञ्चलवाले ज्योतिष विमान हैं। इससे आगे पुष्करके परार्धमें ८, पुष्करोदमें ३२, बारुणीवर द्वीपमें ६४ और इससे आगे सब द्वीप समुद्रोंमें उत्तरोत्तर दुगुने चन्द्र अपने परिवार सहित स्थित हैं। ये अचर ज्योतिष विमान हैं—दे० ज्योतिष लोक।

१३. ऊर्ध्वलोक सामान्य परिचय

[सुमेरु पर्वतकी चोटीसे एक बाल मात्र अन्तरसे ऊर्ध्वलोक प्रारम्भ होकर लोक-शिखर पर्यन्त १००४०० योजनकम ७ राजू प्रमाण-ऊर्ध्वलोक है। उसमें भी लोक शिखरसे २१ योजन ४२५ धनुष नीचे तक तो स्वर्ग है और उससे ऊपर लोक शिखर पर सिद्ध लोक है। स्वर्गलोकमें ऊपर-ऊपर स्वर्ग पटल स्थित हैं। इन पटलोंमें दो विभाग हैं—कल्प व कल्पासीत। इन्द्र सामानिक आदि १० कल्पनाओं युक्त देव कल्पवासी हैं और इन कल्पनाओंसे रहित अहमिन्द्र कल्पासीत विमानवासी हैं। आठ युगलों रूपसे अवस्थित कल्प पटल ६६ हैं—सीधर्म, ईशान, सनस्कृमार, माहेन्द्र, ब्रह्म, ब्रह्मीशर, लान्तव, कापिष्ठ, शुक्र, महाशुक्र, शतार, सहस्रार, आनत, प्राणत, आरष, और अच्युत। इनसे ऊपर ग्रैवेयक, अनुदिश व अनुत्तर ये तीन पटल कल्पासीत हैं। प्रत्येक पटल लाखों योजनोंके अन्तरालसे ऊपर-ऊपर अवस्थित है। प्रत्येक पटलमें असंख्यात योजनोंके अन्तरालसे अन्य क्षुद्र पटल हैं। सर्वपटल मिलकर ६३ हैं। प्रत्येक पटलमें विमान हैं। नरकके बिलोंवत् ये विमान भी इन्द्रक श्रेणिबद्ध व प्रकीर्णकके भेदसे तीन प्रकारोंमें विभक्त हैं। प्रत्येक क्षुद्र पटलमें एक-एक इन्द्रक है और अनेकों भ्रैणीबद्ध व प्रकीर्णक। प्रथम महापटलमें ३३ और अन्तिममें केवल एक सर्वार्थसिद्धि नामका इन्द्रक है, इसकी चारों दिशाओंमें केवल एक-एक श्रेणीबद्ध है। इतना यह सब स्वर्गलोक कहलाता है (नोट:—चित्र सहित विस्तारके लिए दे.स्वर्ग/५) सर्वार्थसिद्धि विमानके ष्वजदण्डसे २६ योजन ४२५ धनुष ऊपर जाकर सिद्धलोक है। जहाँ मुक्तजोव अवस्थित हैं। तथा इसके आगे लोकका अन्त हो जाता है (दे० मोक्ष/१/७)]

३. जम्बूद्वीप निर्देश

१. जम्बूद्वीप सामान्य निर्देश

त. सू./३/६-२३ तन्मध्ये मेरुनाभिवृत्तो योजनशतसहस्रविष्कम्भो जम्बूद्वीपः १६। भरतहेमवत्हरिविदेहरम्यकहेरण्यवहे रावतवर्षाः क्षेत्राणि ११० तद्विभाजिनः पूर्वापरायता हिमवन्महाहिमवन्निषधनीलकन्निमशिशिखरिणो वर्षवराकताः १११। हेमार्जुनतपनोयवेहूर्यरजतहेममयाः १२। मणिविचित्रपार्श्वोत्तरी मूलो च तुल्यविस्ताराः १३। पद्ममहापद्मतिगिहकेसरिमहापुण्डरीकपुण्डरीका हृदास्तेषामुपरि १४। तन्मध्ये योजनं पुष्करम् १७। तद्द्विगुणद्विगुणा हृदाः पुष्कराणि च १८। तन्निवासिन्यो देव्यः शोहोधृतिकोत्तिबुद्धिलक्ष्म्यः पद्मोपमस्थितयः ससामानिकपरिषत्काः १९। गङ्गासिन्धुरोहिद्रोहितास्याहरिहरिकान्तासोतासीतोदानारो नरकान्तासुवर्णरूप्यकूलारक्तारक्तोदाः सरितस्तन्मध्यगाः २०। द्वयोर्द्वयोः पूर्वाः पूर्वगाः २१। शेषास्वपरगाः २२। चतुरंशनरोसहस्रपरिवृता गङ्गासिन्धवादयो नयः २३। —१. उन सब (पूर्वोक्त असंख्यात द्वीप समुद्रों—दे० लोक/२/११) के बीचमें गोल और १००,००० योजन विष्कम्भवाला जम्बूद्वीप

है। जिसके मध्यमें मेरु पर्वत है। १। (ति. प./४/११ व ५/८); (ह. पु./४/३); (ज. प./१/२०)। २. उसमें भरतवर्ष, हैमवतवर्ष, हरिवर्ष, विदेहवर्ष, रम्यकवर्ष, हैरण्यवतवर्ष और ऐरावतवर्ष ये सात वर्ष अर्थात् क्षेत्र हैं। ११०। उन क्षेत्रोंको विभाजित करनेवाले और पूर्व-पश्चिम लम्बे ऐसे हिमवान्, महाहिमवात्, निषध, नील, रुवमी, और शिखरी ये छह वर्षधर या कुलाचल पर्वत हैं। १११। (ति. प./४/१०-१४); (ह. पु./५/१३-१५); (ज. प./२/२ व ३/२); (त्रि. सा./५/६४)। ३. ये छहों पर्वत क्रमसे सोना, चाँदी, तपया हुआ सोना, वैहूर्यमणि, चाँदी, और सोना इनके समान रंगवाले हैं। १२। इनके पार्श्वभाग मणियोंसे चित्र विचित्र हैं। तथा ये ऊपर, मध्य और मूलमें समान विस्तारवाले हैं। १३। (ति. प./४/१४-१६); (त्रि. सा./५/६६)। ४. इन कुलाचल पर्वतोंके ऊपर क्रमसे पद्म, महापद्म, तिगिह, केसरी, महापुण्डरीक, और पुण्डरीक, ये तालाब हैं। १४। (ह. पु./५/१२०-१२१); (ज. प./३/६६)। ५. पहिला जो पद्म नामका तालाब है उसके मध्य एक योजनका कमल है [इसके चारों तरफ अन्य भी अनेकों कमल हैं—दे० आगे लोक/३/६]। इससे आगेके हदोंमें भी कमल हैं। वे तालाब व कमल उत्तरोत्तर दूने विस्तारवाले हैं। १५-१८। (ह. पु./५/१२६); (ज. प./३/६६)। ६. पद्म हृदको आदि लेकर इन कमलोंपर क्रमसे श्री, हो, धृति, कीर्ति, बुद्धि और लक्ष्मी ये देवियाँ, अपने-अपने सामानिक, परिषद् आदि परिवार देवोंके साथ रहती हैं—(दे० व्यन्तर/३/२)। १६। (ह. पु./५/१३०)। ७. [उपरोक्त पद्म आदि द्रव्योंसे निकल कर भरत आदि क्षेत्रोंमेंसे प्रत्येकमें दो-दो करके क्रमसे] गंगा-सिन्धु, रोहित-रोहितास्या, हरित-हरिकान्ता, सीता-सीतोदा, नारी-नरकान्ता, सुवर्णकूला-रूप्यकूला, रक्ता-रक्तोदा नदियाँ बहती हैं। २०। (ह. पु./५/१२२-१२५)। [तिनमें भी गंगा, सिन्धु व रोहितास्या ये तीन पद्म द्रहसे, रोहित व हरिकान्ता महापद्म द्रहसे, हरित व सीतोदा तिगिह द्रहसे, सीता व नरकान्ता केशरी द्रहसे, नारी व रूप्यकूला महापुण्डरीकसे तथा सुवर्णकूला, रक्ता व रक्तोदा पुण्डरीक सरोवरसे निकली हैं—(ह. पु./५/१३२-१३५)]। ८. उपरोक्त युगलरूप दो-दो नदियोंमेंसे पहली-पहली नदी पूर्व समुद्रमें गिरती है और पिछली-पिछली नदी पश्चिम समुद्रमें गिरती है। २१-२२। (ह. पु./५/१६०); (ज. प./३/१६२-१६३)। ९. गंगा सिन्धु आदि नदियोंकी चौदह-चौदह हजार परिवार नदियाँ हैं। [यहाँ यह विशेषता है कि प्रथम गंगा सिन्धु युगलमेंसे प्रत्येकको ४४०००, द्वि. युगलमें प्रत्येकको २८००० इस प्रकार सीतोदा नदी तक उत्तरोत्तर दूनी नदियाँ हैं। तदनन्तर शेष तीन युगलोंमें पुनः उत्तरोत्तर आधी-आधी हैं। (स. सि./३/२३/२२०/१०); (रा. वा./३/२३/३/१६०/१३), (ह. पु./५/२७५-२७६)]।

ति. प./४/गा. का भावार्थ—१०. यह द्वीप एक जगती करके वेष्टित है। १५। (ह. पु./५/३), (ज. प./१/२६)। ११. इस जगतीकी पूर्वादि चारों दिशाओंमें विजय, वैजयन्त, जयन्त और अपराजित नामके चार द्वार हैं। ४१-४२। (रा. वा./३/६/१/१००/२६); (ह. पु./४/३६०); (त्रि. सा./५/६२); (ज. प./१/३८/४२)। १२. इनके अतिरिक्त यह द्वीप अनेकों वन उपवनों, कुण्डों, गोपुर द्वारों, देव नगरियों व पर्वत, नदी, सरोवर, कुण्ड आदि सबकी वेदियों करके शोभित है। ६२-६६। १४. [प्रत्येक पर्वतपर अनेकों कूट होते हैं (दे० आगे उन उन पर्वतोंका निर्देश) प्रत्येक पर्वत व कूट, नदी, कुण्ड, द्रह, आदि वेदियों करके संयुक्त होते हैं—(दे० अगला शीर्षक)। प्रत्येक पर्वत, कुण्ड, द्रह, कूर्तोंपर भवनवासी व व्यन्तर देवोंके पुर, भवन व आवास हैं—(दे० व्यन्तर/४/१५)। प्रत्येक पर्वत आदिके ऊपर तथा उन देवोंके भवनोंमें जिन चैत्यालय होते हैं। (दे० चैत्यालय/३/२)]।

जैनेन्द्र सिद्धान्त कोष

१. जम्बूद्वीपमें क्षेत्र पर्वत नदी आदिका प्रमाण

२. नदियोंका प्रमाण

१. क्षेत्र, नगर आदिका प्रमाण

(ति. प. १४/२३५०-२३५६); (ह. पु. १/५/२७२-२७७); (त्रि. सा. १/७४७-७५०); (ज. प. १/१६७-१६८) ।

(ति. प. १४/२३६६-२३६७); (ह. पु. १/५/८-११); (ज. प. १/१६५) ।

नं.	नाम	गणना	विवरण
१	महाक्षेत्र	७	भरत हैमवत आदि (दे० लोक/३/३) ।
२	कुरुक्षेत्र	२	देवकुरु व उत्तर कुरु ।
३	कर्मभूमि	३४	भरत, ऐरावत व ३२ विदेह ।
४	भोगभूमि	६	हैमवत, हरि, रम्यक व हैरण्यवत तथा दोनों कुरुक्षेत्र ।
५	आर्यखण्ड	३४	प्रति कर्मभूमि एक ।
६	म्लेच्छ खण्ड	१७०	प्रति कर्मभूमि पाँच ।
७	राजधानी	३४	प्रति कर्मभूमि एक ।
८	विद्याधरोंके नगर ।	३७५०	भरत व ऐरावतके विजयाधीनोंसे प्रत्येकपर ११५ तथा ३२ विदेहोंके विजयाधीनोंसे प्रत्येक पर ११० (दे० विद्याधर) ।

नाम	गणना	प्रत्येक का परिवार	कुल प्रमाण	विवरण
गंगा-सिन्धु	२	१४०००	२८००२	भरतक्षेत्रमें
रोहित-रोहितास्या	२	२८०००	५६००२	हैमवत क्षेत्रमें
हरित-हरिकाम्ता	२	५६०००	११२००२	हरि क्षेत्रमें
नारी नरकान्ता	२	५६०००	११२००२	रम्यक क्षेत्रमें
{ सुवर्णकुला व स्म्यकुला	२	२८०००	५६००२	हैरण्यवत क्षेत्रमें
रक्त-रक्तोदा	२	१४०००	२८००२	ऐरावतक्षेत्रमें
{ द्रह क्षेत्रोंकी कुल नदियाँ			३६२०१२	
सीता-सीतोदा	२	५४०००	१०८००२	दोनों कुरुओंमें
क्षेत्र नदियाँ	६४	१४०००	८९६०६४	३२ विदेहोंमें
विभंगा	१२	x	१२	
विदेहकी कुल नदियाँ			१०६४०७८	ह. पु. व ज. प. की अपेक्षा
जम्बू द्वीपकी कुल नदी			१४५६०६०	
विभंगा	१२	२८०००	३३६०००	
{ जम्बूद्वीपकी कुल नदी			१७९२०६०	ति. प. की अपेक्षा

२. पर्वतोंका प्रमाण

(ति. प. ४/२३६४-२३६७); (ह. पु. १/५/८-१०); (त्रि. सा १/७३२); (ज. प. १/१६५-१६६, ६६) ।

नं.	नाम	गणना	विवरण
१	मेरु	१	जम्बूद्वीपके बीचोबीच ।
२	कुलाचल	६	हिमवान् आदि (दे० लोक/३/३) ।
३	विजयार्थ	३४	प्रत्येक कर्मभूमिमें एक ।
४	वृषभगिरि	३४	प्रत्येक कर्मभूमिके उत्तर-मध्य म्लेच्छ खण्डमें एक ।
५	नाभिगिरि	४	हैमवत, हरि, रम्यक व हैरण्यवत क्षेत्रोंके बीचोबीच ।
६	वशार	१६	पूर्व व अपर विदेहके उत्तर व दक्षिणमें चार-चार ।
७	गजदन्त	४	मेरुकी चारों विदिशाओंमें ।
८	दिग्गजेन्द्र	८	विदेह क्षेत्रके भद्रशालवनमें व दोनों कुरुओंमें सीता व सीतोदा नदीके दोनों तटोंपर ।
९	यमक	४	दो कुरुओंमें सीता व सीतोदाके दोनों तटोंपर ।
१०	काशिनगिरि	२००	दोनों कुरुओंमें पाँच-पाँच द्रहोंके दोनों पार्श्वभागोंमें दस-दस ।
		३११	

४. द्रह-कुण्ड आदि

नं.	नाम	गणना	विवरण व प्रमाण
१	द्रह	१६	कुलाचलोंपर ६ तथा दोनों कुरुमें १०- (ज. प. १/१६७) ।
२	कुण्ड	१७९२०६०	नदियोंके बराबर (ति. प. १४/२३५६) ।
३	वृक्ष	२	जम्बू व शाकमली (ह. पु. १/५/८)
४	गुफाएँ	६८	३४ विजयार्थोंकी (ह. पु. १/५/१०)
५	वन	अनेक	मेरुके ४ वन भद्रशाल, नन्धन, सीमनस व पाण्डुक । पूर्वापर विदेहके छोरोंपर देवारण्यक व भृगारण्यक । सर्वपर्वतोंके शिखरोंपर, उनके झूलमें, नदियोंके दोनों पार्श्वभागोंमें इत्यादि । (ति. प. १४/२३६६)
६	कूट	५६८	
७	चैर्यालय	अनेक	कुण्ड, वनसमूह, नदियाँ, देव नगरियाँ, पर्वत, तोरण द्वार, द्रह, दोनों वृक्ष, आर्य खण्डके तथा विद्याधरोंके नगर आदि सबपर चैर्यालय हैं - (दे० चैर्यालय) ।

जैनेन्द्र सिद्धान्त कोष

नं.	नाम	गणना	विवरण व प्रमाण
८	वेदियाँ	अनेक	उपरोक्त प्रकार जितने भी कुण्ड आदि तथा चैत्यालय आदि हैं उतनी ही उनको वेदियाँ हैं। (ति. प./४/२३-८८-२३६०)।
		१८	जम्बूद्वीपके क्षेत्रोंकी
		३११	सर्व पर्वतोंकी
		१६	द्रहोंकी
		२४	पश्चादि द्रहोंकी
		६०	कुण्डोंकी
		१४	गंगादि महानदियोंकी
		५२००	कुण्डज महानदियोंकी
९	कमल	२२४१८६	कुल द्रह = १६ और प्रत्येक द्रहमें कमल = १४०११६ - (दे० आगे ब्रह्मनिर्देश)

३. क्षेत्र निर्देश

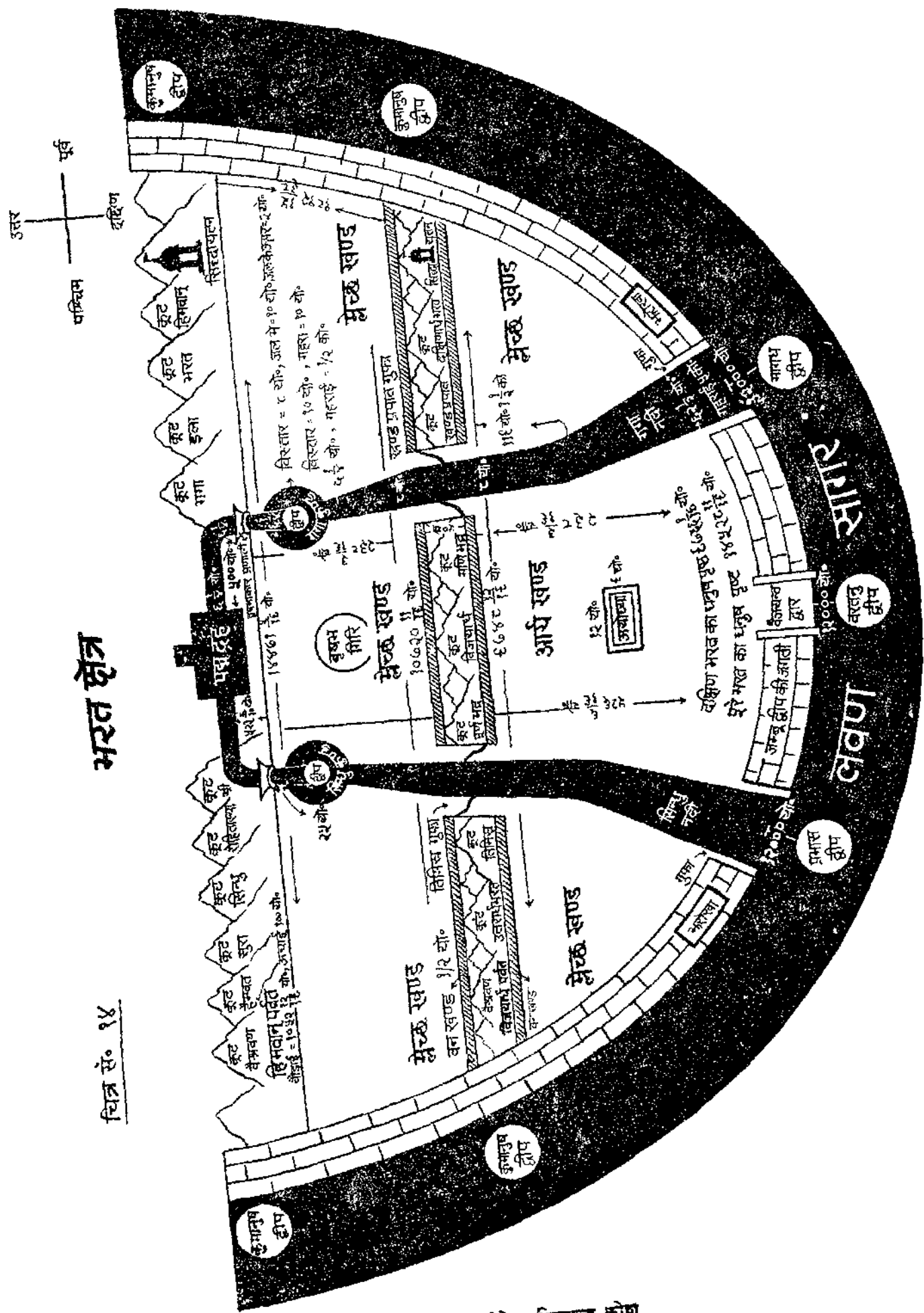
१-जम्बूद्वीपके दक्षिणमें प्रथम भरतक्षेत्र जिसके उत्तरमें हिमवान् पर्वत और तीन दिशाओंमें लवणसागर है। (रा. वा./३/१०/३/१०१/१२)। इसके बीचोबीच पूर्वापर लम्बायमान एक विजयार्ध पर्वत है। (ति. प./४/१०७) ; (रा. वा./३/१०/४/१७१/१७) ; (ह. पु./५/२०) ; (ज. प./२/३२)। इसके पूर्वमें गंगा और पश्चिममें सिन्धु नदी बहती है। (दे० लोक/३/१/७)। ये दोनों नदियाँ हिमवान्के मूल भागमें स्थित गंगा व सिन्धु नामके दो कुण्डोंसे निकलकर पृथक्-पृथक् पूर्व व पश्चिम दिशामें, उत्तरसे दक्षिणकी ओर बहती हुई विजयार्ध दो गुफामेंसे निकलकर दक्षिण क्षेत्रके अर्धभाग तक पहुँचकर और पश्चिमकी ओर मुड़ जाती है, और अपने-अपने समुद्रमें गिर जाती है— (दे० लोक/३/११)। इस प्रकार इन दो नदियों व विजयार्धसे विभक्त इस क्षेत्रके छह खण्ड हो जाते हैं। (ति. प./४/२६६) ; (स. सि./३/१०/२१३/६) ; (रा. वा./३/१०/३/१७१/१३)। विजयार्धकी दक्षिणके तीन खण्डोंमेंसे मध्यका खण्ड आर्य-खण्ड है और शेष पाँच खण्ड म्लेच्छ खण्ड है— (दे० आर्यखण्ड)। आर्य खण्डके मध्य १२ × १ यो० विस्तृत विनीता या अयोध्या नामकी प्रधान नगरी है जो चन्द्रवर्तीकी राजधानी होती है। (रा. वा./३/१०/१/१७१/६)। विजयार्धके उत्तरवाले तीन खण्डोंमें मध्यवाले म्लेच्छ खण्डके बीचोबीच वृषभगिरि नामका एक गोल पर्वत है जिसपर दिग्बिजय कर चुकनेपर चक्रवर्ती अपना नाम अंकित करता है। (ति. प./४/२६६-२६६) ; (त्रि. सा./७२०) ; (ज. प./२/१०७)। २ इसके पश्चात् हिमवान् पर्वतके उत्तरमें तथा महाहिमवान्के दक्षिणमें दूसरा हैमवत क्षेत्र है (रा. वा./३/१०/५/१७२/१७) ; (ह. पु./५/५७)। इसके बहुमध्य भागमें एक गोल शब्दवात् नामका नाभिगिरि पर्वत है (ति. प./१७०४) ; (रा. वा./३/१०/७/१७२/२१)। इस क्षेत्रके पूर्वमें रोहित और पश्चिममें रोहितास्या नदियाँ बहती हैं। (दे० लोक/३/१/७)। ये दोनों ही नदियाँ नाभिगिरिके उत्तर व दक्षिणमें उससे २ कोस पर रहकर ही उसकी प्रदक्षिणा देती हुई अपनी-अपनी दिशाओंमें मुड़ जाती है, और बहती हुई अन्तमें अपनी-अपनी दिशावाले सागरमें गिर जाती है।— (दे० आगे लोक/३/११)। ३ इसके पश्चात् महाहिमवान्के उत्तर तथा निषध पर्वतके दक्षिणमें तीसरा हरिक्षेत्र है (रा. वा./३/१०/६/१७२/१६)। नीलके उत्तरमें और रुबिम पर्वतके दक्षिणमें पाँचवाँ रम्यक्षेत्र है। (रा. वा./३/१०/१५/१८१/१५) पुन. रुबिमके उत्तर व शिखरी पर्वतके दक्षिणमें छठा हैरण्यवत क्षेत्र है। (रा. वा./३/१०/१८/१८१/२१) तहाँ विदेह क्षेत्रको छोड़कर इन चारोंका कथन हैमवतके समान है।

केवल नदियों व नाभिगिरि पर्वतके नाम भिन्न हैं— दे० लोक/३/१/७ व लोक/५/८। ४. निषध पर्वतके उत्तर तथा नीलपर्वतके दक्षिणमें विदेह क्षेत्र स्थित है। (ति. प./४/२४७४) ; (रा. वा./३/१०/१२/१७३/४)। इस क्षेत्रकी दिशाओका यह विभाग भरत क्षेत्रकी अपेक्षा है सूर्योदयकी अपेक्षा नहीं, क्योंकि वहाँ इन दोनों दिशाओंमें भी सूर्यका उदय व अस्त दिखाई देता है। (रा. वा./३/१०/१३/१७३/१०)। इसके बहुमध्यभागमें सुमेरु पर्वत है (दे० लोक/३/६)। [ये क्षेत्र दो भागोंमें विभक्त है—कुरुक्षेत्र व विदेह] मेरु पर्वतकी दक्षिण व निषधके उत्तरमें देवकुरु है (ति. प./४/२१३८-२१३९)। मेरुके उत्तर व नीलके दक्षिणमें उत्तरकुरु है (ति. प./४/२१६१-२१-६२)। मेरुके पूर्व व पश्चिम भागमें पूर्व व अपर विदेह है, जिनमें पृथक् पृथक् १६,१६ क्षेत्र है, जिन्हें ३२ विदेह कहते हैं। (ति. प./४/२१६६)। (दोनों भागोंका इकट्ठा निर्देश—रा. वा./३/१०/१३/१७२/६)। [नोट—इन दोनों भागोंके विशेष कथनके लिए दे० आगे पृथक् शीर्षक (दे० लोक/३/१२-१४)]। ५. सबसे अन्तमें शिखरी पर्वतके उत्तरमें तीन तरफसे लवणसागरके साथ स्पर्शित सातवाँ ऐरावतक्षेत्र है। (रा. वा./३/१०/२१/१८१/२८)। इसका सम्पूर्ण कथन भरतक्षेत्रवत् है (ति. प./४/२३६५) ; (रा. वा./३/१०/२२/१८१/३०) केवल इसकी दोनो नदियोंके नाम भिन्न हैं (दे० लोक/३/१/७) तथा ५/८)।

४. कुलाचल पर्वत निर्देश

१. भरत व हैमवत इन दोनों क्षेत्रोंकी सीमापर पूर्व-पश्चिम लम्बायमान (दे० लोक/३/१/२) प्रथम हिमवान् पर्वत है— (रा. वा./३/११/२/१८२/६)। इसपर ११ कूट है— (ति. प./४/१६३२) ; (रा. वा./३/११/२/१८२/१६) ; (ह. पु./५/५२) ; (त्रि. सा./७२१) ; (ज. प./३/३६)। पूर्व दिशाके कूटपर जिनायतन और शेष कूटोपर यथा योग्य नामधारी व्यन्तर देव व देवियोंके भवन हैं (दे० लोक/५/४)। इस पर्वतके शीर्षपर बीचोबीच पहलु नामका ह्रद है (ति. प./४/१६-५८) ; (दे० लोक/३/१/४)। २. तदनन्तर हैमवत क्षेत्रके उत्तर व हरिक्षेत्रके दक्षिणमें दूसरा महाहिमवान् पर्वत है। (रा. वा./३/११/४/१८२/३१)। इसपर पूर्ववत् आठ कूट हैं (ति. प./४/१७२४) ; (रा. वा./३/११/४/१८३/४) ; (ह. पु./५/७०) ; (त्रि. सा./७२४) ; (ज. प./३/३६)। इसके शीर्षपर पूर्ववत् महापद्म नामका द्रह है। (ति. प./४/१७२७) ; (दे० लोक/३/१/४)। ३. तदनन्तर हरिवर्षके उत्तर व विदेहके दक्षिणमें तीसरा निषधपर्वत है। (रा. वा./३/११/६/१८३/११)। इस पर्वतपर पूर्ववत् ६ कूट हैं (ति. प./४/१७५८) ; (रा. वा./३/११/६/१८३/१७) ; (ह. पु./५/८७) ; (त्रि. सा./७२५) ; (ज. प./३/३६)। इसके शीर्षपर पूर्ववत् तिगिख नामका द्रह है (ति. प./४/१७६१) ; (दे० लोक/३/१/४)। ४. तदनन्तर विदेहके उत्तर तथा रम्यक्षेत्रके दक्षिण दिशामें दोनो क्षेत्रोंको विभक्त करनेवाला निषध-पर्वतके सदृश चौथा नीलपर्वत है। (ति. प./४/२३२७) ; (रा. वा./३/११/८/२३)। इसपर पूर्ववत् ६ कूट हैं। (ति. प./४/२३२८) ; (रा. वा./३/११/८/२३/२४) ; (ह. पु./५/६६) ; (त्रि. सा./७२६) ; (ज. प./३/३६)। इतनी विशेषता है कि हम परस्थित द्रह का नाम केसरी है। (ति. प./४/२३३२) ; (दे० लोक/३/१/४)। ५. तदनन्तर रम्यक व हैरण्यवत क्षेत्रों का विभाग करने वाला तथा महा हिमवान् पर्वत के सदृश ६वाँ रुबिम पर्वत है, जिस पर पूर्ववत् आठ कूट हैं। (ति. प./४/२३४०) ; (रा. वा./३/११/१०/१८३/३०) ; (ह. पु./५/१०२) ; (त्रि. सा./७२७)। इस पर्वत पर महापुण्डरीक द्रह है। (दे० लोक/३/१/४)। ति. प. की अपेक्षा इसके द्रह का नाम पुण्डरीक है। (ति. प./४/२३४४)। ६. अन्त में जाकर हैरण्यवत व ऐरावत क्षेत्रों की सन्धि पर हिमवान् पर्वत के सदृश छठा शिखरी पर्वत है, जिस पर ११ कूट हैं। (ति. प./४/२३५६) ; (रा. वा./३/११/१२/१८४/३) ; (ह. पु./५/१०५) ; (त्रि. सा./७२८)।

श्लोक



भारत क्षेत्र

चित्र सं० १४

अनेन्द्र सिद्धान्त कोश

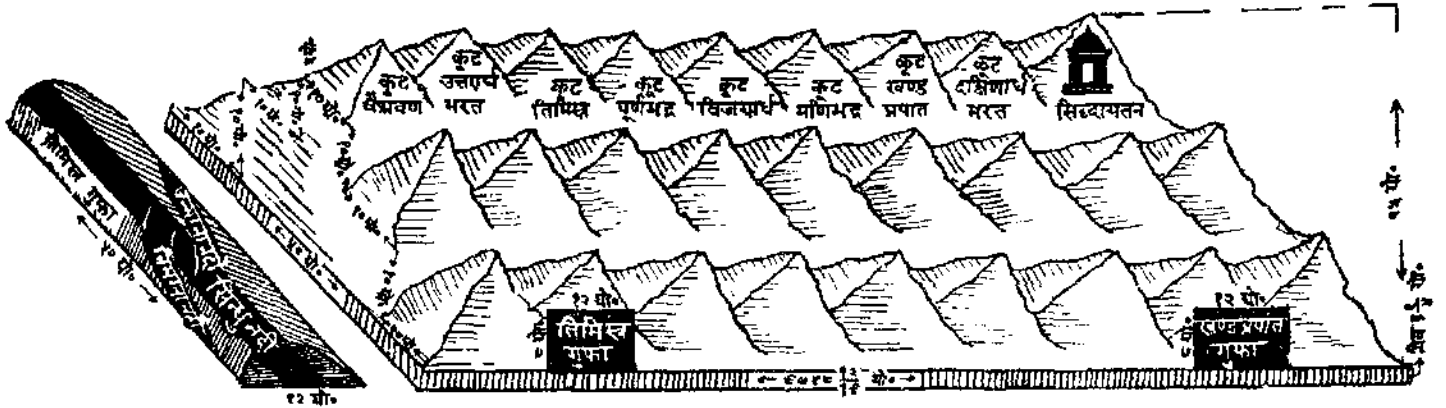
(ज. प./३/३६) इस पर स्थित ब्रह्म का नाम पुन्द्रीक है (दे० लोक/३/१/४)।
ति. प. की अपेक्षा इसके ब्रह्म का नाम महापुन्दरीक है। (ति. प./४/२३६०)।

५. विजयार्ध पर्वत निर्देश

१. भरतक्षेत्रके मध्यमें पूर्व-पश्चिम लम्बायमान विजयार्ध पर्वत है (दे० लोक/३/३/१)। भूमितलसे १० योजन ऊपर जाकर इसकी उत्तर व दक्षिण दिशामें विद्याधर नगरोंकी दो श्रेणियाँ हैं। नहाँ दक्षिण श्रेणीमें ५५ और उत्तर श्रेणीमें ६० नगर हैं। इन श्रेणियोंसे भी १० योजन ऊपर जाकर उसी प्रकार दक्षिण व उत्तर दिशामें अभियोग देवोंकी श्रेणियाँ हैं। (दे० विद्याधर/४)। इसके ऊपर ६ कूट है। (ति. प./४/१४६), (रा. वा./३/१०/४/१७२/१०), (ह. पु./४/२६), (ज. प./२/४८)। पूर्व दिशाके कूटपर सिद्धायतन है और जेवपर यथायोग्य नामधारी व्यन्तर व भवनवासी देव रहते हैं। (दे० लोक/५/४)। इसके मूलभागमें पूर्व व पश्चिम दिशाओंमें तमिस्र व खण्डप्रपात नामकी दो गुफायें हैं, जिनमें क्रमसे गंगा व सिन्धु नदी प्रवेश करती है। (ति. प./४/१७५), (रा. वा./३/१०/४/१७/१७९/२७); (ज. प./२/८६)। रा. वा. व. त्रि. सा. के मतसे पूर्व दिशामें गंगाप्रवेशके लिए खण्डप्रपात और

पश्चिम दिशामें सिन्धु नदीके प्रवेशके लिए तमिस्र गुफा है (दे० लोक/३/१०)। इन गुफाओंके भीतर बहु मध्यभागमें दोनो तटोंसे उन्मग्ना व निमग्ना नामकी दो नदियाँ निकलती हैं जो गंगा और सिन्धुमें मिल जाती हैं। (ति. प./४/२३७), (रा. वा./३/१०/४/१७९/३१); (त्रि. सा./५६३); (ज. प./२/१५६-१८), २. इसी प्रकार ऐरावत क्षेत्रके मध्यमें भी एक विजयार्ध है, जिसका सम्पूर्ण कथन भरत विजयार्धवत् है (दे० लोक/३/३)। कूटों व तल्लि-वासी देवोंके नाम भिन्न हैं। (दे० लोक/५)। ३. विदेहके ३२ क्षेत्रोंमेंसे प्रत्येकके मध्य पूर्वपर लम्बायमान विजयार्ध पर्वत है। जिनका सम्पूर्ण वर्णन भरत विजयार्धवत् है। विशेषता यह कि यहाँ उत्तर व दक्षिण दोनों श्रेणियोंमें ५५, ५५ नगर हैं। (ति. प./४/२२५७, २२६०); (रा. वा./३/१०/१३/१७६/२०), (ह. पु./४/२५६-२६६); (त्रि. सा./६११-६६५)। इनके ऊपर भी ६, ६ कूट हैं (त्रि. सा./६६२)। परन्तु उनके व उन पर रहने वाले देवोंके नाम भिन्न हैं। (दे० लोक/५)।

चित्र सं० - १५



६. सुमेरु पर्वत निर्देश

१. सामान्य निर्देश

विदेहक्षेत्रके बहु मध्यभागमें सुमेरु पर्वत है। (ति. प./४/१७८०); (रा. वा./३/१०/१३/१७३/१६); (ज. प./४/२९)। यह पर्वत तीर्थकरोंके जन्माभिषेकका आसनरूप माना जाता है (ति. प./४/१७८०), (ज. प./४/२९), क्योंकि इसके शिखरपर पाण्डुकवनमें स्थित पाण्डुक आदि चार शिलाओंपर भरत, ऐरावत तथा पूर्व व पश्चिम विदेहोंके सर्व तीर्थकरोंका देव लोग जन्माभिषेक करते हैं (दे० लोक/३/३)। यह तीनों लोकोंका मानदण्ड है, तथा इसके मेरु, सुदर्शन, मन्दर आदि अनेकों नाम हैं (दे० सुमेरु/२)।

२. मेरुका आकार

यह पर्वत गोल आकार वाला है। (ति. प./४/१७८२)। पृथिवी-तलपर १००,०० योजन विस्तार तथा ६६००० योजन उत्तरेय वाला है। क्रमसे हानि रूप होता हुआ इसका विस्तार शिखरपर जाकर १००० योजन रह जाता है। (दे० लोक/६/४)। इसकी हानिका क्रम इस प्रकार है—क्रमसे हानि रूप होता हुआ पृथिवीतलसे

५०० योजन ऊपर जानेपर नन्दनवनके स्थानपर यह चारों ओरसे युगपत् ५०० योजन संकुचित होता है। तत्परचात् ११००० योजन समान विस्तारसे जाता है। पुनः ५१५०० योजन क्रमिक हानिरूपसे जानेपर, सौमनस वनके स्थानपर चारों ओरसे ५०० यो. संकुचित होता है। यहाँसे ११००० योजन तक पुनः समान विस्तारसे जाता है और उसके ऊपर २५००० योजन क्रमिक हानिरूपसे जानेपर पाण्डुकवनके स्थानपर चारों ओरसे युगपत् ४६४ योजन संकुचित होता है। (ति. प./४/१७८८-१७९१); (ह. पु./४/२८७-३०९)। इसका बाह्य विस्तार भद्रशाल आदि वनोंके स्थानपर क्रमसे १००,००, ६६४४५, ४२७२५ तथा १००० योजन प्रमाण है (ति. प./४/१७८३ + १६१० + १६३६ + १८१०); (ह. पु./४/२८७-३०९) (और भी दे० लोक/६/६ में इन वनोंका विस्तार)। इस पर्वतके शीश पर पाण्डुक वनके बीचोंबीच ४० यो. ऊँची तथा १२ यो. मूल विस्तार युक्त चूलिका है। (ति. प./४/१८९४); (रा. वा./३/१०/१३/१८०/१४), (ह. पु./४/३०२); (त्रि. सा./६३७); (ज. प./४/१३२), (विशेष दे० लोक/६/४-२ में चूलिका विस्तार)।

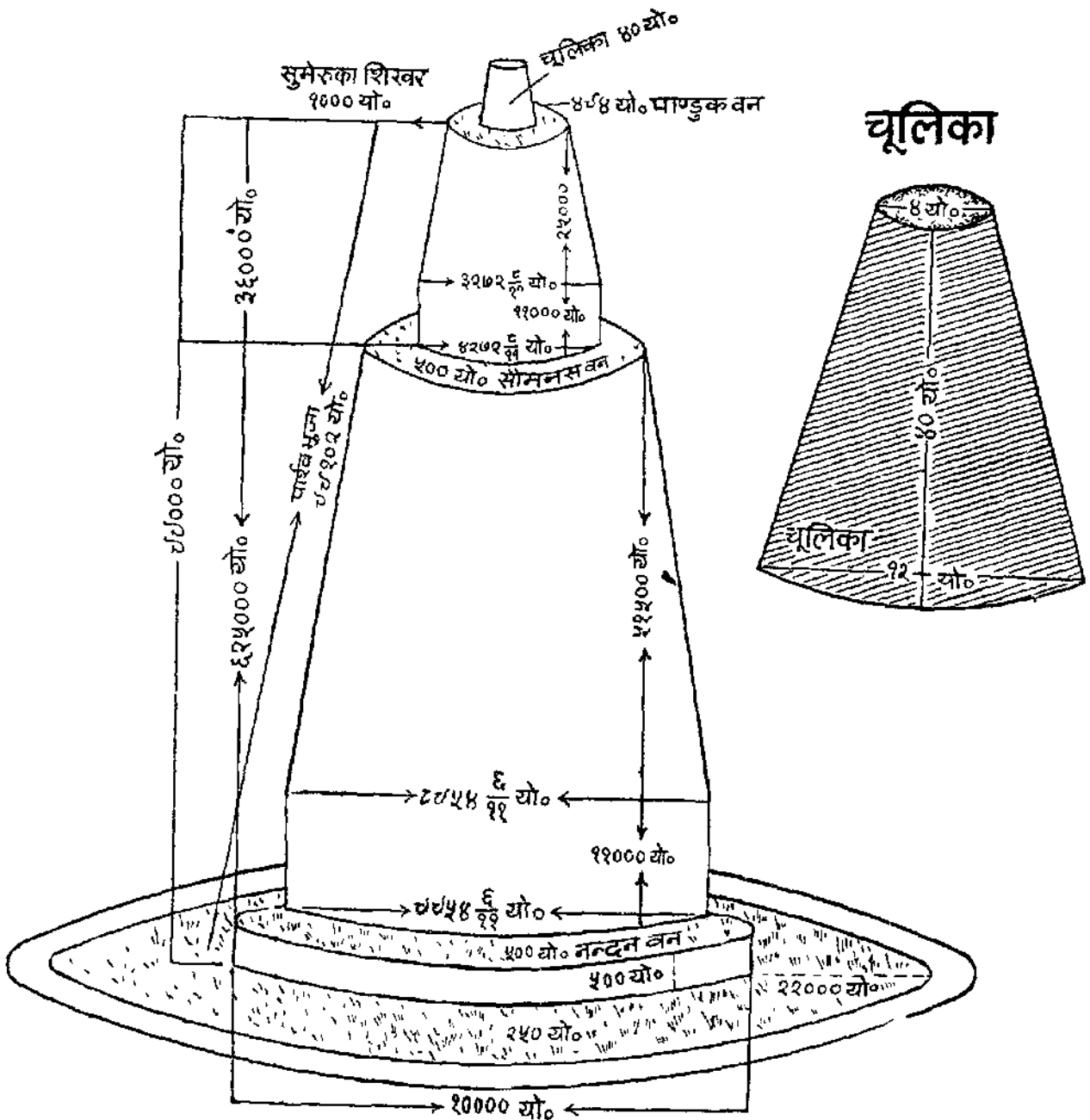
३. मेरुकी परिधियाँ

नीचेसे ऊपरकी ओर इस पर्वतकी परिधि सात मुख्य भागोंमें विभाजित है—हरितालमयी, वैडूर्यमयी, सर्वरत्नमयी, वज्रमयी, मद्यमयी और पद्मरागमयी अर्थात् लोहिताक्षमयी। इन छहोंमें से प्रत्येक १६६०० यो० ऊँची है। भूमितल अवगाही सप्त परिधि (पृथिवी उपल बालुका आदि रूप होनेके कारण) नाना प्रकार है। (ति प, १४/१५०२-१५०४), (ह पु १५/२०४)। दूसरी मान्यताके अनु-

सार ये सातों परिधियाँ क्रमसे लोहिताक्ष, पद्म, तपनीय, वैडूर्य, वज्र, हरिताल और जाम्बूनद-सुवर्णमयी है। प्रत्येक परिधिकी ऊँचाई १६६०० योजन है। पृथिवीतलके नीचे १००० यो, पृथिवी, उपल, बालुका और शर्करा ऐसे चार भाग रूप है। तथा ऊपर चूलिकाके पास जाकर तीन काण्डको रूप है। प्रथम काण्डक सर्वरत्नमयी, द्वितीय जाम्बूनदमयी और तीसरा काण्डक चूलिकाका है जो वैडूर्यमयी है।

चित्र - १६

सुमेरु पर्वत

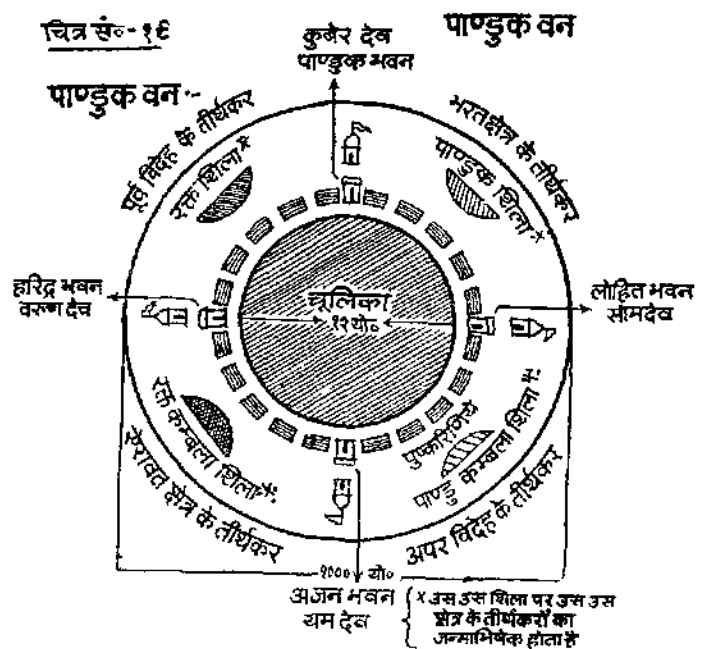


४. वनखण्ड निर्देश

१. सुमेरु पर्वतके तलभागमें भद्रशाल नामका प्रथम वन है जो पाँच भागमें विभक्त है—भद्रशाल, मानुषोत्तर, देवरमण, नागरमण और भूतरमण। (ति. प. ४/१८०५), (ह. पु. ५/३०७) इस वनकी चारो दिशाओमें चार जिनभवन है। (ति. प. ४/२००३), (त्रि. सा. १/६११), (ज. प. ४/४९) इनमेंसे एक मेरुसे पूर्व तथा सीता नदीके दक्षिणमें है। दूसरा मेरुकी दक्षिण व सीतोदाके पूर्वमें है। तीसरा मेरुसे पश्चिम तथा सीतोदाके उत्तरमें है और चौथा मेरुके उत्तर व सीताके पश्चिममें है। (रा. वा. ३/१०/१७०/१८) इन चैत्रपालयोका विस्तार पाण्डुक वनके चैत्र्यालयसे चौगुना है (ति. प. ४/२००४)। इम वनमें मेरुकी चारो तरफ सीता व सीतोदा नदीके दोनो तटोपर एक-एक करके आठ दिग्गजेन्द्र पर्वत है। (दे० लोक/३/१२) २. भद्रशाल वनसे ५०० योजन ऊपर जाकर मेरु पर्वतकी कटनीपर द्वितीय वन स्थित है। (दे० पिछला उपशीर्षक १)। इसके दो विभाग है नन्दन व उपनन्दन। (ति. प. ४/१८०६), (ह. पु. ५/३०८) इसकी पूर्वादि चारो दिशाओमें पर्वतके पास क्रमसे मान, धारणा, गन्धर्व व चित्र नामके चार भवन है जिनमें क्रमसे सौधर्म इन्द्रके चार लोकपाल सोम, यम, वरुण व कुबेर क्रीडा करते है। (ति. प. ४/१८६४-१८६६); (ह. पु. ३/३१५-३१७), (त्रि. सा. १/६१६, ६२१), (ज. प. ४/८३-८४)। कहीं-कहीं इन भवनको गुफाओके रूपमें बताया जाता है। (रा. वा. ३/१०/१३/१७६/१४)। यहाँ भी मेरुके पास चारो दिशाओमें चार जिनभवन है। (ति. प. ४/१८६८), (रा. वा. ३/१०/१३/१७६/३२), (ह. पु. ५/३५८); (त्रि. सा. १/६११)। प्रत्येक जिनभवनके आगे दो-दो कूट है—जिनपर दिक्कुमारी देवियाँ रहती है। ति. प की अपेक्षा ये आठ कूट इस वनमें न होकर सौमनस वनमें ही है। (दे० लोक/५/५)। चारो विदिशाओमें सौमनस वनकी भोंति चार-चार करके कुल १६ पुष्करिणियाँ है। (ति. प. ४/१८६८), (रा. वा. ३/१०/१३/१७६/२५), (ह. पु. ५/३३४-३३५ + ३४३-३४६), (त्रि. सा. १/६२८), (ज. प. ४/११०-११३)। इस वनकी ईशान दिशामे एक बलभद्र नामका कूट है जिसका कथन सौमनस वनके बलभद्र कूटके समान है। इसपर बलभद्र देव रहता है। (ति. प. ४/१८६७), (रा. वा. ३/१०/१३/१७६/१६), (ह. पु. ५/३२८), (त्रि. सा. १/६२४), (ज. प. ४/६६)। ३. नन्दन वनसे ६२५०० योजन ऊपर जाकर सुमेरु पर्वतपर तीसरा सौमनस वन स्थित है। (दे० लोक/३/६१)। इसके दो विभाग है—सौमनस व उपसौमनस (ति. प. ४/१८०६); (ह. पु. ५/३०८)। इसकी पूर्वादि चारो दिशाओमें मेरुके निकट वज्र, वज्रमय, सुवर्ण व सुवर्णप्रभ नामके चार पुर है, (ति. प. ४/१८४३), (ह. पु. ५/३१६), (त्रि. सा. १/६२०), (ज. प. ४/६९) इनमें भी नन्दन वनके भवनोवत् सोम आदि लोकपाल क्रीडा करते है। (त्रि. सा. १/६२१)। चारो विदिशाओमें चार-चार पुष्करिणी है। (ति. प. ४/१८४६, १८६२-१८६६),

(रा. वा. ३/१०/१३/१८०/७)। पूर्वादि चारो दिशाओमें चार जिनभवन है (ति. प. ४/१८६८), (ह. पु. ५/३५७); (त्रि. सा. १/६११); (ज. प. ४/६४)। प्रत्येक जिन मन्दिर सम्बन्धी बाह्य कोटोंके बाहर उसके दोनों कोनोंपर एक-एक करके कुल आठ कूट है। जिनपर दिक्कुमारी देवियाँ रहती है। (दे० लोक/५/५)। इसकी ईशान दिशामे बलभद्र नामका कूट है जो ५०० योजन तो वनके भीतर है और ५०० योजन उसके बाहर आकाशमें निकला हुआ है। ति. प. ४/१८६९), (ज. प. ४/१०१), इसपर बलभद्र देव रहता है। (ति. प. ४/१८६४) मतान्तरकी अपेक्षा इस वनमें आठ कूट व बलभद्र कूट नहीं है। (रा. वा. ३/१०/१३/१८०/६)। (दे. सामनेवाला चित्र)। ४. सौमनस वनसे २६००० योजन ऊपर जाकर मेरुके शीर्षपर चौथा पाण्डुक वन है। (दे० लोक/३/६१) जो चूलिकाको वेष्टित करके शीर्षपर स्थित है (ति. प. ४/१८२४)। इसके दो विभाग है—पाण्डुक व उपपाण्डुक। (ति. प. ४/१८०६), (ह. पु. ५/३०६)। इसके चारों दिशाओमें लोहित अंजन हरिद्र और पाण्डुक नामके चार भवन हैं जिनमें सोम आदि लोकपाल क्रीडा करते है। (ति. प. ४/१८३६, १८५७); (ह. पु. ५/३५२), (त्रि. सा. १/६२०), (ज. प. ४/६३), चारों विदिशाओमें चार-चार करके १६ पुष्करिणियाँ है। (रा. वा. ३/१०/१६/१८०/२६)। वनके मध्य चूलिकाकी चारो दिशाओमें चार जिनभवन है। (ति. प. ४/१८५५, १८३५); (रा. वा. ३/१०/१३/१८०/२८), (ह. पु. ५/३५४), (त्रि. सा. १/६११); (ज. प. ४/६४)। वनकी ईशान आदि दिशाओमें अर्ध चन्द्राकार चार शिलाएँ है—पाण्डुक शिला, पाण्डुकबला शिला, रक्तकंबला शिला, और रक्तशिला। रा. वा. के अनुसार ये चारो पूर्वादि दिशाओमें स्थित है। (ति. प. ४/१८१८, १८३०-१८३४), (रा. वा. ३/१०/१३/१८०/१५), (ह. पु. ५/३४७), (त्रि. सा. १/६३३), (ज. प. ४/१३८-१४१)। इन शिलाओंपर क्रमसे भरत, अपरविदेह, ऐरावत और विदेहके तीर्थकरोका जन्माभिषेक होता है। (ति. प. ४/१८२७, १८३१-१८३५); (रा. वा. ३/१०/१३/१८०/२२); (ह. पु. ५/३५३), (त्रि. सा. १/६३४); (ज. प. ४/१४८-१५०)।

चित्र सं०-१६

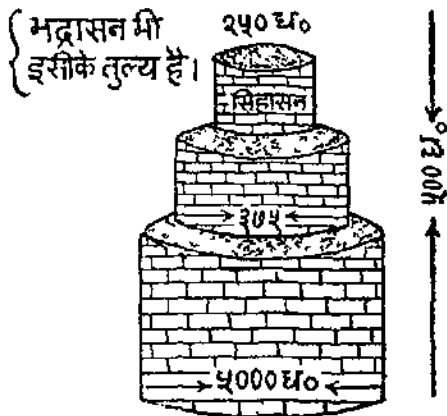
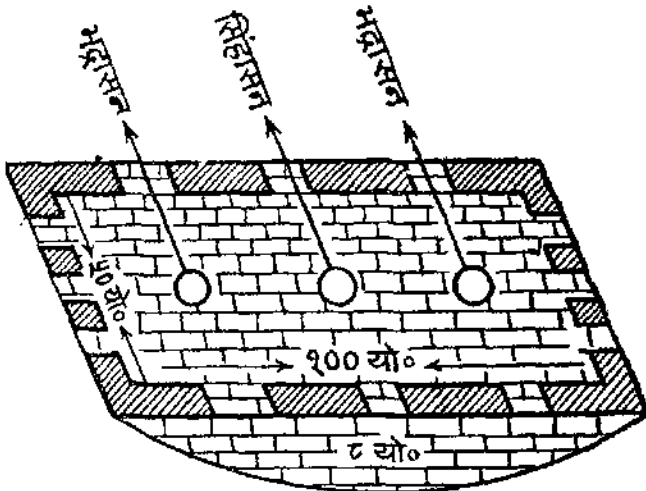


७. पाण्डुकशिला निर्देश

पाण्डुक शिला १०० योजन लम्बी ५० योजन चौड़ी है, मध्यमे ८ योजन ऊँची है और दोनों ओर क्रमश हीन होती गयी है। इस प्रकार यह अर्धचन्द्राकार है। इसके बहुमध्य देशमें तीन पीठ युक्त एक सिंहासन है और सिंहासनके दोनों पार्श्व भागोमें तीन पीठ युक्त ही एक भद्रासन है। भगवात्के जन्माभिषेकके अवसरपर सौधर्म व ऐशानेन्द्र दोनों इन्द्र भद्रासनोपर स्थित होते हैं और भगवात्को मध्य सिंहासनपर विराजमान करते हैं। (ति. प. ४/१८१६-१८२६), (रा. वा. ३/१०/१३/१८०/२०); (ह. पु. ४/३४६-३६२); (त्रि. सा. १/६३५-६३६), (ज. प. ४/१४२-१४७)।

चित्र - २०

पाण्डुक शिला

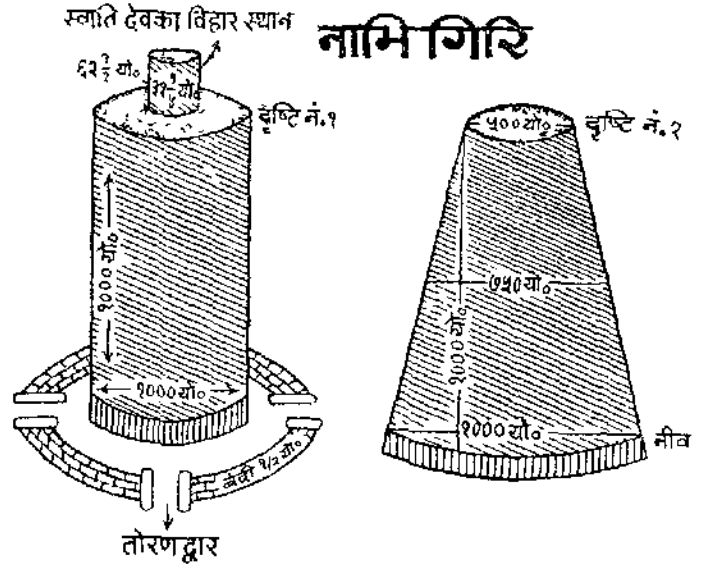


८. अन्य पर्वतोंका निर्देश

१ भरत, ऐरावत व विदेह इन तीनको छोड़कर शेष हैमवत आदि चार क्षेत्रोंके बहुमध्य भागमें एक-एक नाभिगिरि है। (ह. पु. ४/१६१), (त्रि. सा. १/७१८-७१९), (ज. प. ३/२०६); (वि. दे० लोक/५)। ये चारो पर्वत ऊपर-नीचे समान गोल आकार वाले है। (ति. प. ४/१७०४), (त्रि. सा. १/७१८), (ज. प. ३/२१०)।

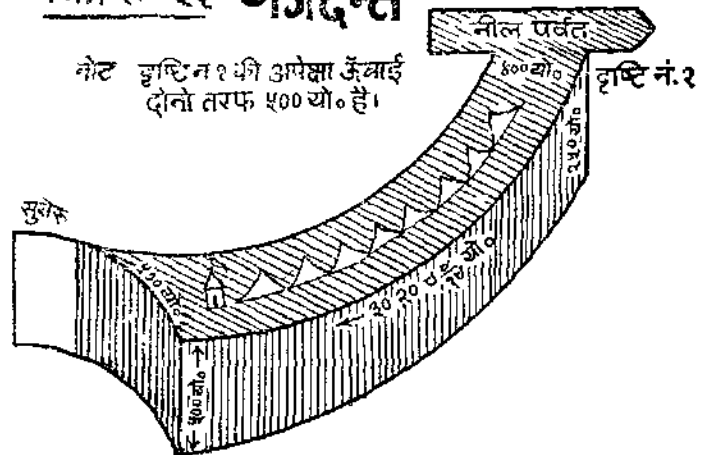
चित्र सं० - २१

नाभिगिरि



२. मेरु पर्वतकी विदिशाओंमें हाथीके दाँतके आकारवाले चार गजदन्त पर्वत हैं। जो एक ओर तो निषध व नील कुलाचलोंको और दूसरी तरफ मेरुको स्पर्श करते है। तहाँ भी मेरु पर्वतके मध्यप्रदेशमें केवल एक-एक प्रदेश उससे संलग्न है। (ति. प. ४/२०१९-२०१४)। ति. प. के अनुसार इन पर्वतोंके परभाग भद्रशाल वनकी वेदीको स्पर्श करते है, क्योंकि वहाँ उनके मध्यका अन्तराल ५३००० योज. बताया गया है। तथा सर्गायणीके अनुसार उन वेदियोंसे ५०० योज. हटकर स्थित है, क्योंकि वहाँ उनके मध्यका अन्तराल ५२००० योज. बताया है। (दे० लोक/६/३ में देवकुरुव उत्तरकुरुका विस्तार)। अपनी-अपनी मान्यताके अनुसार उन वायव्य आदि दिशाओंमें जो-जो भी नामवाले पर्वत है, उनपर क्रमसे ७, ६, ७, ६ कूट है (ति. प. ४/२०३१, २०४६, २०५८, २०६०); (ह. पु. ४/२१६), (विशेष दे० लोक/५/३)। मतान्तरसे इन पर क्रमसे ७, ६, ७, ६ कूट है। (रा. वा. ३/१०/१३/१७३/२३, ३०, १४, १८)।

चित्र सं०-२२ गजदन्त

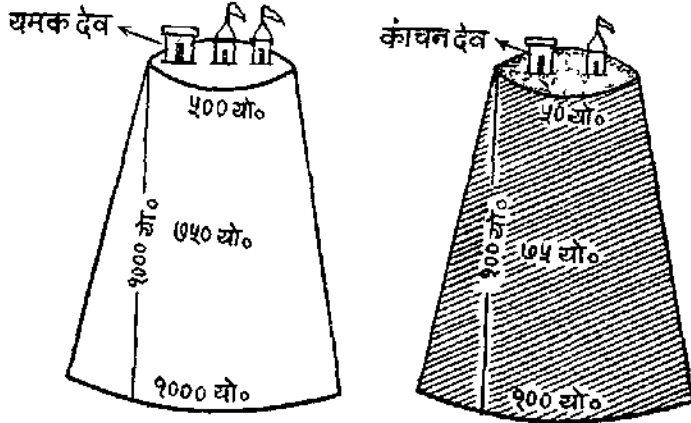


ईशान व नैऋत्य दिशावाले विहङ्गप्रभ व मान्द्यवान गजदन्तोंके मूलमें सीता व सीतोदा नदियोंके निकलनेके लिए एक-एक गुफा होती है। (ति. प. ४/२०५५, २०६३)।

३ देवकुरु व उत्तरकुरुमें सीतोदा व सीता नदीके दोनो तटोंपर एक यमक पर्वत है (दे० आगे लोक/३/१२)। ये गोल आकार वाले हैं। (दे० लोक/६/४ में इनका विस्तार)। इनपर इन-इनके नामवाले व्यन्तरदेव सपरिवार रहते हैं। (ति. प. ४/२०५४), (रा. वा. ३/१०/१३/१७४/२८)। उनके प्रासादों का सर्वकथन पद्मद्रहके कमलोंवत् है। (ज. प. ६/१२-२०२)। ४ उन्हीं देवकुरु व उत्तरकुरुमें स्थित द्रहोके दोनो पार्श्व-भागोंमें काचन शैल स्थित है। (दे० आगे लोक/३/१२)। ये पर्वत गोल आकार वाले हैं। (दे० लोक/६/४ में इनका विस्तार)। इनके ऊपर काचन नामक व्यन्तरदेव रहते हैं। (ति. प. ४/

चित्र सं.-२३

यमक व काचन गिरि



२०६६), (ह. पु. ५/२०४), (त्रि. सा. ६/५६)। ५. देवकुरु व उत्तरकुरुके भीतर व बाहर भद्रशाल वनमें सीतोदा व सीता नदीके दोनो तटोंपर आठ दिग्गजेन्द्र पर्वत हैं (दे० लोक/३/१२)। ये गोल आकार वाले हैं (दे० लोक/६/४ में इनका विस्तार)। इनपर यम व वैश्रवण नामक वाहन देवोंके भवन हैं। (ति. प. ४/२०६, २१०८, २०३१)। उनके नाम पर्वतोंवाले ही हैं (ह. पु. ५/२०६), (ज. प. २/२९)। ६ पूर्व व पश्चिम विदेहमें सीता व सीतोदा नदीके दोनो तरफ उत्तर-दक्षिण लम्बायमान, ४, ४ करके कुल १६ बक्षार पर्वत हैं। एक ओर ये निषध व नील पर्वतोंको स्पर्श करते हैं और दूसरी ओर सीता व सीतोदा नदियोंको। (ति. प. ४/२२००, २२२४, २२३०), (ह. पु. ५/२२८-२२२) (और भी दे० आगे लोक/३/१४)। प्रत्येक बक्षार पर चार चार कूट हैं; नदीकी तरफ सिद्धायतन हैं और शेष कूटोंपर व्यन्तर देव रहते हैं। (ति. प. ४/२३०६-२३११); (रा. वा. ३/१०/१३/१७६/४), (ह. पु. ५/२३४-२३५)। इन कूटोंका सर्व कथन हिमवान पर्वतके कूटोंवत् है। (रा. वा. ३/१०/१३/१७६/७)। ७. भरत क्षेत्रके पाँच म्लेच्छ खण्डोंमें से उत्तर वाले तीनके मध्यवर्ती खण्डमें बीचों-बीच एक वृषभ गिरि है, जिसपर दिग्बजयके पश्चात् चक्रवर्ती अपना नाम अंकित करता है (दे० लोक/३/३)। यह गोल आकार वाला है। (दे० लोक/६/४ में इसका विस्तार) इसी प्रकार विदेहके ३२ क्षेत्रोंमें-से प्रत्येक क्षेत्रमें भी जानना (दे० लोक/३/१४)।

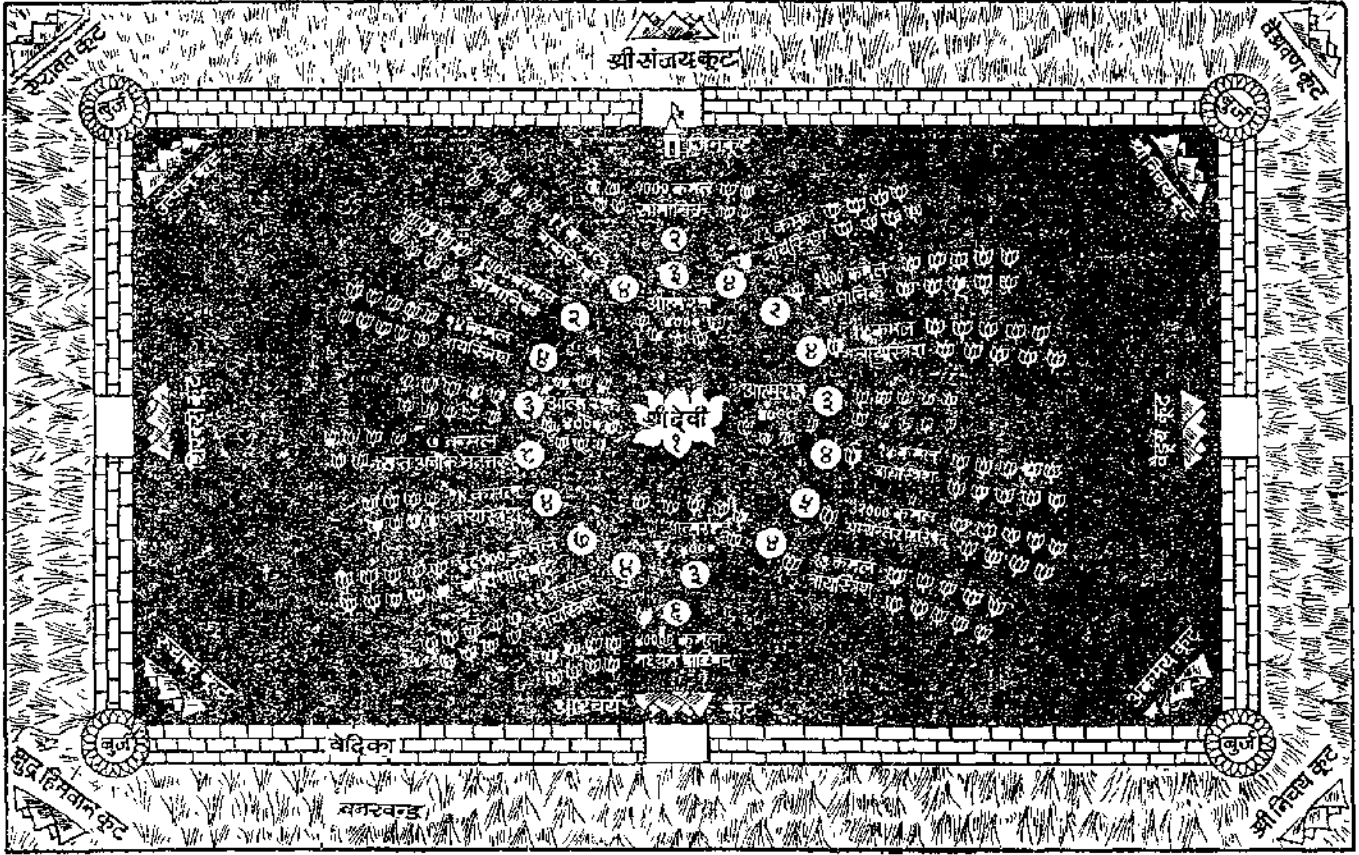
९. द्रह निर्देश

१. हिमवान पर्वतके शीघपर बीचोंबीच पद्म नामका द्रह है। (दे० लोक/३/४)। इसके तटपर चारो कोनोंपर तथा उत्तर दिशा में ५ कूट हैं और जलमें आठो दिशाओंमें आठ कूट हैं। (दे० लोक/४/३)। द्रहके मध्यमें एक बड़ा कमल है, जिसके ११००० पत्ते हैं। (ति. प. १/१६६७, १६७०), (त्रि. सा. ५/६६६); (ज. प. ३/७५); इस कमलपर 'श्री' देवी रहती है (ति. प. ४/१६७२); (दे० लोक/३/१०६)। इस प्रधान कमलकी दिशा-विदिशाओंमें उसके परिवारके अन्य भी अनेको कमल हैं। कुल कमल १४०११६ हैं। तहाँ वायव्य, उत्तर व ईशान दिशाओंमें कुल ४००० कमल उसके सामानिक देवोंके हैं। पूर्वादि चार दिशाओंमें से प्रत्येकमें ४००० (कुल १६०००) कमल आत्मरक्षकोंके हैं। आग्नेय दिशामें ३२००० कमल आभ्यन्तर पारिषदोंके, दक्षिण दिशामें ४०,००० कमल मध्यम पारिषदोंके, नैऋत्य दिशामें ४०००० कमल बाह्य पारिषदोंके हैं। पश्चिममें ७ कमल सप्त अनीक महत्तरोंके हैं। तथा दिशा व विदिशाके मध्य आठ अन्तर दिशाओंमें १०८ कमल त्रायस्त्रिंशोंके हैं। (ति. प. ४/१६७२-१६८६), (रा. वा. ३/१७/१८५/१९); (त्रि. सा. ५/७२-५७६), (ज. प. ३/११-१२३)। इसके पूर्व पश्चिम व उत्तर द्वारोंसे क्रमसे गंगा, सिन्धु व रोहितास्या नदी निकलती है। (दे० आगे शीर्षक ११)। (दे० चित्र सं. २४, पृ. ४७०)। २. महाहिमवान् आदि शेष पाँच कुलाचलों पर स्थित महापद्म, तिगिछ, केसरी, महापुण्डरीक और पुण्डरीक नामके ये पाँच द्रह हैं। (दे० लोक/३/४), इन हदोंका सर्व कथन कूट कमल आदिका उपरोक्त पद्मद्रहवत् ही जानना। विशेषतया यह कि तस्मिन्वासिनी देवियोंके नाम क्रमसे ह्री, धृति, कीर्ति, बुद्धि और लक्ष्मी हैं। (दे० लोक/३/५६)। व कमलोंकी संख्या तिगिछ तक उत्तरोत्तर दूनी है। केसरीकी तिगिछवत्, महापुण्डरीककी महापद्मवत् और पुण्डरीककी पद्मवत् है। (ति. प. ४/१७२८-१७२९, १७३१-१७३२; २३३२-२३३३, २३४५-२३६१)। अन्तिम पुण्डरीक द्रहसे पद्मद्रहवत् रक्ता, रक्तोदा व सुवर्णकूला ये तीन नदियाँ निकलती हैं और शेष द्रहोंसे दो-दो नदियाँ केवल उत्तर व दक्षिण द्वारोंसे निकलती हैं। (दे० लोक/३/१७ व १९)। [ति. प. में महापुण्डरीकके स्थानपर रुक्मिण पर्वतपर पुण्डरीक और पुण्डरीकके स्थानपर शिखरी पर्वतपर महापुण्डरीक द्रह कहा है—(दे० लोक/३/४)। ३. देवकुरु व उत्तरकुरुमें दस द्रह हैं। अथवा दूसरी मान्यतासे २० द्रह हैं। (दे० आगे लोक/३/१२) इनमें देवियोंके निवासभूत कमलों आदिका सम्पूर्ण कथन पद्मद्रहवत् जानना (ति. प. ४/२०६३, २१२६), (ह. पु. ५/१६८-१६९); (त्रि. सा. ६/५८), (ज. प. ६/१२४-१२६)। ये द्रह नदीके प्रवेश व निकासके द्वारोंसे संयुक्त हैं। (त्रि. सा. ६/५८)। ४ सुमेरु पर्वतके नन्दन, सौमनस व पाण्डुक वनमें १६, १६ पुष्करिणी हैं, जिनमें सपरिवार सौधर्म व ऐशानेन्द्र क्रीडा करते हैं। तहाँ मध्यमें इन्द्रका आसन है। उसकी चारो दिशाओंमें चार आसन लोकपालोंके हैं, दक्षिणमें एक आसन प्रतीन्द्रका, अग्रभागमें आठ आसन अग्रमहिषियोंके, वायव्य और ईशान दिशामें ८४००,००० आसन सामानिक देवोंके, आग्नेय दिशामें १२००,००० आसन आभ्यन्तर पारिषदोंके, दक्षिणमें १४००,००० आसन मध्यम पारिषदोंके, नैऋत्य दिशामें १६००,००० आसन बाह्य पारिषदोंके, तथा उसी दिशामें ३३ आसन त्रायस्त्रिंशोंके, पश्चिममें छह आसन महत्तरोंके और एक आसन महत्तरिकाका है। मूल मध्य सिंहासनके चारो दिशाओंमें ८४००० आसन अंगरक्षकोंके हैं। (इस प्रकार कुल आसन १२६८४०५४ होते हैं)। (ति. प. ४/१६४६-१६६०), (ह. पु. ५/३३६-३४२)।

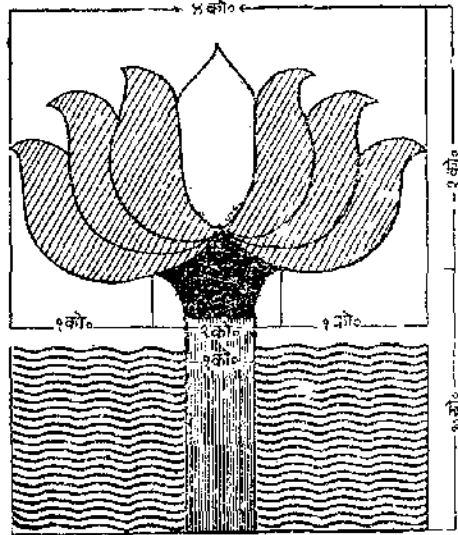
चित्र सं० - २४



पद्म द्रह



चित्र सं०-२५
पद्म द्रहका मध्यवर्ती कमल



• सकेन्द्र -
को० = कोषा
ओ० = योजन

जैनेन्द्र विद्यान्त कोश

१०. कुण्ड निर्देश

१. हिमवात् पर्वतके मूलभागसे २५ योजन हटकर गंगा कुंड स्थित है। उसके बहुमध्य भागमें एक द्वीप है, जिसके मध्यमें एक शैल है। शैलपर गंगा देवीका प्रासाद है। इसीका नाम गंगाकूट है। उस कूटके ऊपर एक जिनप्रतिमा है, जिसके शीशपर गंगाकी धारा गिरती है। (ति. प. ४/२१६-२३०), (रा. वा. ३/२२/१/१८७/२६ व १८८/१); (ह. पु. ४/१४२); (त्रि. सा. ४/५६-५७); (ज. प. १/३/१४-३७ व १४४-१६२)। २. उसी प्रकार सिन्धु आदि शेष नदियों के पतन स्थानोंपर भी अपने-अपने क्षेत्रोंमें अपने-अपने पर्वतोंके नीचे सिन्धु आदि कुण्ड जानने। इनका सम्पूर्ण कथन उपरोक्त गंगा कुण्डवद् है विशेषता यह कि उन कुण्डोंके तथा तत्रिवासिनी देवियोंके नाम अपनी-अपनी नदियोंके समान है। (ति. प. ४/२६१-२६२, १६६६), (रा. वा. ३/२२/१/१८५/१, १८, २६, २६ + १८५/६, ६, २१, २६, २०, २३, २६, २६)। भरत आदि क्षेत्रोंमें अपने-अपने पर्वतोंसे उन कुण्डोंका अन्तराल भी क्रमसे २५, ५०, १००, २००, १००, ५० २५ योजन है। (ह. पु. ४/१५१-१५७)। २. ३२ विदेहोंमें गंगा, सिन्धु व रक्ता रक्तोदा नामवाली ६४ नदियोंके भी अपने-अपने नाम वाले कुण्ड नील व निषध पर्वतके मूलभागमें स्थित है। जिनका सम्पूर्ण वर्णन उपरोक्त गंगा कुण्डवद् ही है। (रा. वा. ३/१०/१३/- १७६/२४, २६ + १७७/११)।

११. नदी निर्देश

१. हिमवात् पर्वतपर पद्मद्रहके पूर्वद्वारसे गंगानदी निकलती है (ति. प. ४/१६६), (रा. वा. ३/२२/१/१८७/२२); (ह. पु. ४/१३२), (त्रि. सा. ४/५२), (ज. प. ३/१४७)। द्रहकी पूर्व दिशामें इस नदीके मध्य एक कमलाकार कूट है, जिसमें बला नामकी देवी रहती है। (ति. प. ४/२०५-२०६); (रा. वा. ३/२२/२/१८५/३)। द्रहसे ५०० योजन आगे पूर्व दिशामें जाकर पर्वतपर स्थित गंगा-कूटसे १/२ योजन इधर ही इधर रहकर दक्षिणकी ओर मुड़ जाती है, और पर्वतके ऊपर ही उसके अर्ध विस्तार प्रमाण अर्थात् ५२३ ३/४ योजन आगे जाकर वृषभाकार प्रणालीको प्राप्त होती है। फिर उसके मुखमेंसे निकलती हुई पर्वतके ऊपरसे अधोमुखी होकर उसकी धारा नीचे गिरती है। (ति. प. ४/२१०-२१४), (रा. वा. ३/२२/१/१८७/२२); (ह. पु. ४/१३८-१४०), (त्रि. सा. ४/५२-५५४), (ज. प. ३/१४७-१४६)। वहाँ पर्वतके मूलसे २५ योजन हटकर वह धार गंगाकूटमें स्थित गंगाकूटके ऊपर गिरती है (दे० लोक/३/६)। इस गंगाकूटके दक्षिण द्वारसे निकलकर वह उत्तर भारतमें दक्षिणमुखी बहती हुई विजयार्धकी तमिल गुफामें प्रवेश करती है (ति. प. ४/२३२-२३३); (रा. वा. ३/२२/१/१८७/२७), (ह. पु. ४/१४८), (त्रि. सा. ४/६१); (ज. प. ३/१७४)। ['रा. वा' व 'त्रि. सा' में तमिल गुफाको बजाय खण्डप्रपात नामकी गुफामें प्रवेश कराया है] उस गुफाके भीतर वह उन्मग्ना व निमग्ना नदीको अपनेमें समाती हुई (ति. प. ४/२४०), (दे० लोक/३/५) गुफाके दक्षिण द्वारसे निकलकर वह दक्षिण भारतमें उसके आधे विस्तार तक अर्थात् ११९ ३/४ योजन तक दक्षिणकी ओर जाती है। तत्पश्चात् पूर्वकी ओर मुड़ जाती है और मागध तीर्थके स्थानपर लवण सागरमें मिल जाती है। (ति. प. ४/२४२-२४४); (रा. वा. ३/२२/१/१८७/२५), (ह. पु. ४/१४५-१४६), (त्रि. सा. ४/६६)। इसकी परिवार नदियाँ कुल १४००० है। (ति. प. ४/२४४), (ह. पु. ४/१४६), (दे० लोक/३/१६) ये सब परिवार नदियाँ म्लेच्छ खण्डमें ही होती हैं आर्यखण्डमें नहीं (दे० म्लेच्छ/१)। २. सिन्धुनदीका सम्पूर्ण कथन गंगा नदीवद्

है। विशेष यह कि पद्मद्रहके पश्चिम द्वारसे निकलती है। इसके भीतरी कमलाकारकूटमें लवणा देवी रहती है। सिन्धुकूटमें स्थित सिन्धुकूटपर गिरती है। विजयार्धकी खण्डप्रपात गुफाको प्राप्त होती है अथवा 'रा-वा' व 'त्रि. सा' की अपेक्षा तमिल गुफाको प्राप्त होती है। पश्चिमकी ओर मुड़कर प्रभास तीर्थके स्थानपर पश्चिम लवण-सागरमें मिलती है। (ति. प. ४/२५२-२६४), (रा. वा. ३/२२/२/१८७/३१); (ह. पु. ४/१५१); (त्रि. सा. ४/६७)-(दे० लोक/३/१०८) इसकी परिवार नदियाँ १४००० है (ति. प. ४/२६४); (दे० लोक/३/१०६)। ३. हिमवात् पर्वतके ऊपर पद्मद्रहके उत्तर द्वारसे रोहितास्या नदी निकलती है जो उत्तरमुखी ही रहती हुई पर्वतके ऊपर २७६ ३/४ योजन चलकर पर्वतके उत्तरी किनारेको प्राप्त होती है, फिर गंगा नदीवद् ही धार बनकर नीचे रोहितास्या कूटमें स्थित रोहितास्याकूटपर गिरती है। (ति. प. ४/२६६), (रा. वा. ३/२२/३/१८५/७); (ह. पु. ४/१५३ + १६३); (त्रि. सा. ४/६८) कूटके उत्तरी द्वारसे निकलकर उत्तरमुखी बहती हुई वह हैमवत् क्षेत्रके मध्यस्थित नाभिगिरि तक जाती है। परन्तु उससे दो कोस इधर ही रहकर पश्चिमकी ओर उसकी प्रदक्षिणा देती हुई पश्चिम दिशामें उसके अर्धभागके सम्मुख होती है। वहाँ पश्चिम दिशाकी ओर मुड़ जाती है और क्षेत्रके अर्ध आयाम प्रमाण क्षेत्रके बीचोबीच बहती हुई अन्तमें पश्चिम लवणसागरमें मिल जाती है। (ति. प. ४/१७३-१७६), (रा. वा. ३/२२/३/१८८/११); (ह. पु. ४/१६३); (त्रि. सा. ४/६८); (दे० लोक/३/६८) इसकी परिवार नदियोंका प्रमाण २८००० है। (ति. प. ४/१७६), (दे० लोक/३/१६)। ४. महाहिम-वात् पर्वतके ऊपर महापद्म हृदके दक्षिण द्वारसे रोहित नदी निकलती है। दक्षिणमुखी होकर १६० ५/४ योजन पर्वतके ऊपर जाती है। वहाँसे पर्वतके नीचे रोहितकूटमें गिरती है और दक्षिणमुखी बहती हुई रोहितास्यावद् ही हैमवत्क्षेत्रमें, नाभिगिरिसे २ कोस इधर रहकर पूर्व दिशाकी ओर उसकी प्रदक्षिणा देती है। फिर वह पूर्वकी ओर मुड़कर क्षेत्रके बीचमें बहती हुई अन्तमें पूर्व लवणसागरमें गिर जाती है। (ति. प. ४/१७३-१७७), (रा. वा. ३/२२/४/१८८/१५), (ह. पु. ४/१५४ + १६३), (ज. प. ३/२२२), (दे० लोक/३/१८)। इसकी परिवार नदियाँ २८००० है। (ति. प. ४/१७७), (दे० लोक/३/१६)। ५. महाहिमवात् पर्वतके ऊपर महापद्म हृदके उत्तर द्वारसे हरिकान्ता नदी निकलती है। वह उत्तरमुखी होकर पर्वतपर १६० ५/४ योजन चलकर नीचे हरिकान्ता कूटमें गिरती है। वहाँसे उत्तरमुखी बहती हुई हरिक्षेत्रके नाभिगिरिमें प्राप्त हो उससे दो कोस इधर ही रहकर उसकी प्रदक्षिणा देती हुई पश्चिमकी ओर मुड़ जाती है और क्षेत्रके बीचोबीच बहती हुई पश्चिम लवणसागरमें मिल जाती है। (ति. प. ४/१७४-१७४६), (रा. वा. ३/२२/५/१८८/१६), (ह. पु. ४/१५६ + १६३)। (दे० लोक/३/१८) इसकी परिवार नदियाँ ५६००० है (ति. प. ४/१७४६); (दे० लोक/३/१६)। ६. निषध पर्वतके तिगिच्छद्रहके दक्षिण द्वारसे निकलकर हरित नदी दक्षिणमुखी ही ७४२ १/४ योजन पर्वतके ऊपर जा, नीचे हरित कूटमें गिरती है। वहाँसे दक्षिणमुखी बहती हुई हरिक्षेत्रके नाभिगिरिमें प्राप्त हो उससे दो कोस इधर ही रहकर उसकी प्रदक्षिणा देती हुई पूर्वकी ओर मुड़ जाती है। और क्षेत्रके बीचोबीच बहती हुई पूर्व लवणसागरमें गिरती है। (ति. प. ४/१७७-१७७२), (रा. वा. ३/२२/६/१८८/२७), (ह. पु. ४/१५६ + १६३), (दे० लोक/३/१८) इसकी परिवार नदियाँ ५६००० है। (ति. प. ४/१७७२), (दे० लोक/३/१६)। ७. निषध पर्वतके तिगिच्छद्रहके उत्तर द्वारसे सीतोदा नदी निकलती है, जो उत्तरमुखी ही पर्वतके ऊपर ७४२ १/४ योजन जाकर नीचे विदेह-क्षेत्रमें स्थित सीतोदा कूटमें गिरती है। वहाँसे उत्तरमुखी बहती

हुई वह सुमेरु पर्वत तक पहुँचकर उससे दो कोस इधर ही पश्चिमकी ओर उसको प्रदक्षिणा देती हुई, विद्युत्प्रभ गजदन्तकी गुफामें से निकलती है। सुमेरुके अर्धभागके सम्मुख हो वह पश्चिमकी ओर मुड़ जाती है। और पश्चिम विदेहके बीचोबीच बहती हुई अन्तमें पश्चिम लवणसागरमें मिल जाती है। (ति. प. ४/२०६५-२०७३); (रा. वा. ३/२२/७/१८८/३२), (ह. पु. १/१५७+१६३), (दे० लोक/३/१८)। इसकी सर्व परिवार नदियाँ देवकुरुमें ८४००० और पश्चिम विदेहमें ४४८०३८ (कुल १३२०३८) है (विभंगाकी परिवार नदियाँ न गिनकर लोक/३/२/३ वत्); (ति. प. ४/२०७१-२०७२)। लोक/३/१६की अपेक्षा ११२००० है। ८. सीता नदीका सर्व कथन सीतोदावत् जानना। विशेषता यह कि नील पर्वतके केसरी द्रहके दक्षिण द्वारसे निकलती है। सीता कुण्ड में गिरती है। माण्यवान् गजदन्तकी गुफामें निकलती है। पूर्वविदेहमेंसे बहती हुई पूर्व सागरमें मिलती है। (ति. प. ४/२११६-२१२१), (रा. वा. ३/२२/८/१८६/८); (ह. पु. ५/१५६); (ज. प. ६/५५-५६); (दे० लोक/३/१८) इसकीपरिवार नदियाँ भी सीतोदावत् जानना। (ति. प. ४/२१२१-२१२२)। ९. नरकान्ता नदीका सम्पूर्ण कथन हरितवत् है। विशेषता यह कि नीलपर्वतके केसरी द्रहके उत्तर द्वारसे निकलती है। पश्चिमी रम्यकक्षेत्रके बीचमेंसे बहती है और पश्चिम सागरमें मिलती है। (ति. प. ४/२३३७-२३३९), (रा. वा. ३/२२/९/१८६/१९); (ह. पु. ५/१५६), (दे० लोक/३/१८)। १०. नारी नदी का सम्पूर्ण कथन हरिकान्तावत् है। विशेषता यह कि रुक्मिण्यपर्वतके महापुण्डरीक (ति. प. की अपेक्षा पुण्डरीक) द्रहके दक्षिण द्वारसे निकलती है और पूर्व रम्यकक्षेत्रमें बहती हुई पूर्वसागरमें मिलती है। (ति. प. ४/२३४७-२३४९); (रा. वा. ३/२२/१०/१८६/१४); (ह. पु. ५/१५६), (दे० लोक/३/१८)। ११. रूष्णकूला नदीका सम्पूर्ण कथन रोहितनदीवत् है। विशेषता यह कि यह रुक्मिण्यपर्वतके महापुण्डरीक हृदके (ति. प. की अपेक्षा पुण्डरीकके) उत्तर द्वारसे निकलती है और पश्चिम हैरण्यवत् क्षेत्रमें बहती हुई पश्चिमसागरमें मिलती है। (ति. प. ४/२३६२); (रा. वा. ३/२२/११/१८६/१८), (ह. पु. ५/१५६); (दे० लोक/३/१८)। १२. सुवर्णकूला नदीका सम्पूर्ण कथन रोहितास्या नदीवत् है। विशेषता यह कि यह शिखरीके पुण्डरीक (ति. प. की अपेक्षा महापुण्डरीक) हृदके दक्षिणद्वारसे निकलती है और पूर्वी हैरण्यवत् क्षेत्रमें बहती हुई पूर्वसागरमें मिल जाती है। (ति. प. ४/२३६२), (रा. वा. ३/२२/१२/१८६/२१); (ह. पु. ५/१५६); (दे० लोक/३/१८)। १३-१४. रक्ता व रक्तोदाका सम्पूर्ण कथन गंगा व सिन्धुवत् है। विशेषता यह कि ये शिखरी पर्वतके महापुण्डरीक (ति. प. की अपेक्षा पुण्डरीक) हृदके पूर्व और पश्चिम द्वारसे निकलती है। इनके भीतरी कमलाकार कूटोके पर्वतके नीचेवाले कुण्डो व कूटोके नाम रक्ता व रक्तोदा है। देरावत् क्षेत्रके पूर्व व पश्चिममें बहती है। (ति. प. ४/२३६७); (रा. वा. ३/२२/१३-१४/१८६/२५, २८); (ह. पु. ५/१५६), (त्रि. सा. ५/५६६); (दे० लोक/३/१८)। १५. विदेहके ३२ क्षेत्रोंमें भी गंगा नदीकी भाँति गंगा, सिन्धु व रक्ता-रक्तोदा नामकी क्षेत्र नदियाँ (दे० लोक/३/१४)। इनका सम्पूर्ण कथन गंगानदीवत् जानना। (ति. प. ४/२३-६३); (रा. वा. ३/१०/१३/१७६/२७), (ह. पु. ५/१६६); (त्रि. सा. ५/६६१); (ज. प. ७/२२)। इन नदियोंकी भी परिवार नदियाँ १४०००, १४००० है। (ति. प. ४/२३६५), (रा. वा. ३/१०/१३/१७६/२८)। १६. पूर्व व पश्चिम विदेहमेंसे प्रत्येकमें सीता व सीतोदा नदीके दोनों तरफ तीन तीन करके कुल १२ विभंगा नदियाँ है। (दे० लोक/३/१४) ये सब नदियाँ निषध या नील पर्वतोसे निकलकर सीतोदा या सीता नदियोंमें प्रवेश करती है (ह. पु. ५/२३६-२४३) ये नदियाँ जिन कुण्डोंसे निकलती हैं वे नील व निषध पर्वतके ऊपर

स्थित हैं। (रा. वा. ३/१०/१३/१७६/२२)। प्रत्येक नदीका परिवार २८००० नदी प्रमाण है। (ति. प. ४/२३३२); (रा. वा. ३/१०/१३२/१७६/१४)।

१२. देवकुरु व उत्तरकुरु निर्देश

१. जम्बूद्वीपके मध्यवर्ती चौथे नम्बरवाले विदेहक्षेत्रके बहुमध्य प्रदेशमें सुमेरु पर्वत स्थित है। उसके दक्षिण व निषध पर्वतकी उत्तर दिशामें देवकुरु तथा उसकी उत्तर व नीलपर्वतकी दक्षिण दिशामें उत्तरकुरु स्थित हैं (दे० लोक/३/३)। सुमेरु पर्वतकी चारो दिशाओंमें चार गजदन्त पर्वत है जो एक ओर तो निषध व नील कुलाचलीको स्पर्श करते हैं और दूसरी ओर सुमेरुको—दे० लोक/३/८। अपनी पूर्व व पश्चिम दिशामें ये दो कुरु इनमेंसे ही दो-दो गजदन्त पर्वतोंसे घिरे हुए हैं। (ति. प. ४/२१३१, २१६१), (ह. पु. ५/१६७); (ज. प. ६/२, ८२)। २. तहाँ देवकुरुमें निषधपर्वतसे १००० योजन उत्तरमें जाकर सीतोदा नदीके दोनों तटोंपर यमक नामके दो शैल हैं, जिनका मध्य अन्तराल ५०० योजन है; अर्थात् नदीके तटोंसे नदीके अर्ध विस्तारसे हीन २२५ यो० हटकर स्थित है। (ति. प. ४/२०७५-२०७७); (रा. वा. ३/१०/१३/१७५/२६); (ह. पु. ५/१६२); (त्रि. सा. ६/५४-६/५५); (ज. प. ६/८७)। इसी प्रकार उत्तर कुरुमें नील पर्वतके दक्षिणमें १००० योजन जाकर सीतानदीके दोनों तटोंपर दो यमक है। (ति. प. ४/२१२३-२१२४), (रा. वा. ३/१०/१३/१७४/२५); (ह. पु. ५/१६२); (त्रि. सा. ६/५४); (ज. प. ६/१५-१८)। ३. इन यमकोंसे ५०० योजन उत्तरमें जाकर देवकुरुकी सीतोदा नदीके मध्य उत्तर दक्षिण लम्बायमान ५ द्रह है। (ति. प. ४/२०८६); (रा. वा. ३/१०/१३/१७५/२८); (ह. पु. ५/१६६), (ज. प. ६/८३)। मतान्तरसे कुलाचलसे ६५० योजन दूरीपर पहला द्रह है। (ह. पु. ५/१६४)। ये द्रह नदियोंके प्रवेश व निकास द्वारों से संयुक्त हैं। (त्रि. सा. ५/६५८)। [तार्पर्य यह है कि यहाँ नदीकी चौड़ाई तो कम है और हृदोंकी चौड़ाई अधिक। सीतोदा नदी हृदोंके दक्षिण द्वारोंसे प्रवेश करके उनके उत्तरी द्वारोंसे बाहर निकल जाती है। हृद नदी के दोनों पार्श्व भागोंमें निकले रहते हैं।] अन्तिम द्रहसे २०९२ वृहत् योजन उत्तरमें जाकर पूर्व व पश्चिम गजदन्तोंकी वनकी वेदी आ जाती है। (ति. प. ४/२१००-२१०१); (त्रि. सा. ६/६०)। इसी प्रकार उत्तरकुरुमें भी सीता नदीके मध्य ५ द्रह जानना। उनका सम्पूर्ण वर्णन उपरोक्तवत् है। (ति. प. ४/२१२५), (रा. वा. ३/१०/१३/१४/२६); (ह. पु. ५/१६४); (ज. प. ६/२६)। [इस प्रकार दोनों कुरुओंमें कुल १० द्रह हैं। परन्तु मतान्तरसे द्रह २० हैं]—मेरु पर्वतकी चारो दिशाओंमें से प्रत्येक दिशामें पाँच है। उपरोक्तवत् ५०० योजन अन्तरालसे सीता व सीतोदा नदीमें ही स्थित है। (ति. प. ४/२१२६); (त्रि. सा. ६/६६)। इनके नाम ऊपर वालोंके समान हैं। —(दे० लोक/५)। ४ दस द्रह वाली प्रथम मान्यताके अनुसार प्रत्येक द्रहके पूर्व व पश्चिम तटोंपर दस-दस करके कुल २०० काँचन शैल हैं। (ति. प. ४/२०६४-२१२६); (रा. वा. ३/१०/१३/१७४/२ + ७१५/१); (ह. पु. ५/२००); (ज. प. ६/४४, १४४)। पर २० द्रहों वाली दूसरी मान्यताके अनुसार प्रत्येक द्रहके दोनों पार्श्व भागोंमें पाँच-पाँच करके कुल २०० काँचन शैल है। (ति. प. ४/२१३७); (त्रि. सा. ६/६६)। ५. देवकुरु व उत्तरकुरुके भीतर भद्रशाल वनमें सीतोदा व सीता नदीके पूर्व व पश्चिम तटोंपर, तथा इन कुरुक्षेत्रोंसे बाहर भद्रशाल वनमें उक्त दोनों नदियोंके उत्तर व दक्षिण तटोंपर एक-एक करके कुल ८ दिग्गजेन्द्र पर्वत है। (ति. प. ४/२१०३, २११२, २१३०, २१३४), (रा. वा. ३/१०/१३/१७८/५); (ह. पु. ५/२०५-२०६); (त्रि. सा. ६/६१); (ज. प. ४/७४)। ६. देवकुरुमें सुमेरुके दक्षिण भागमें

चित्र सं० - २६

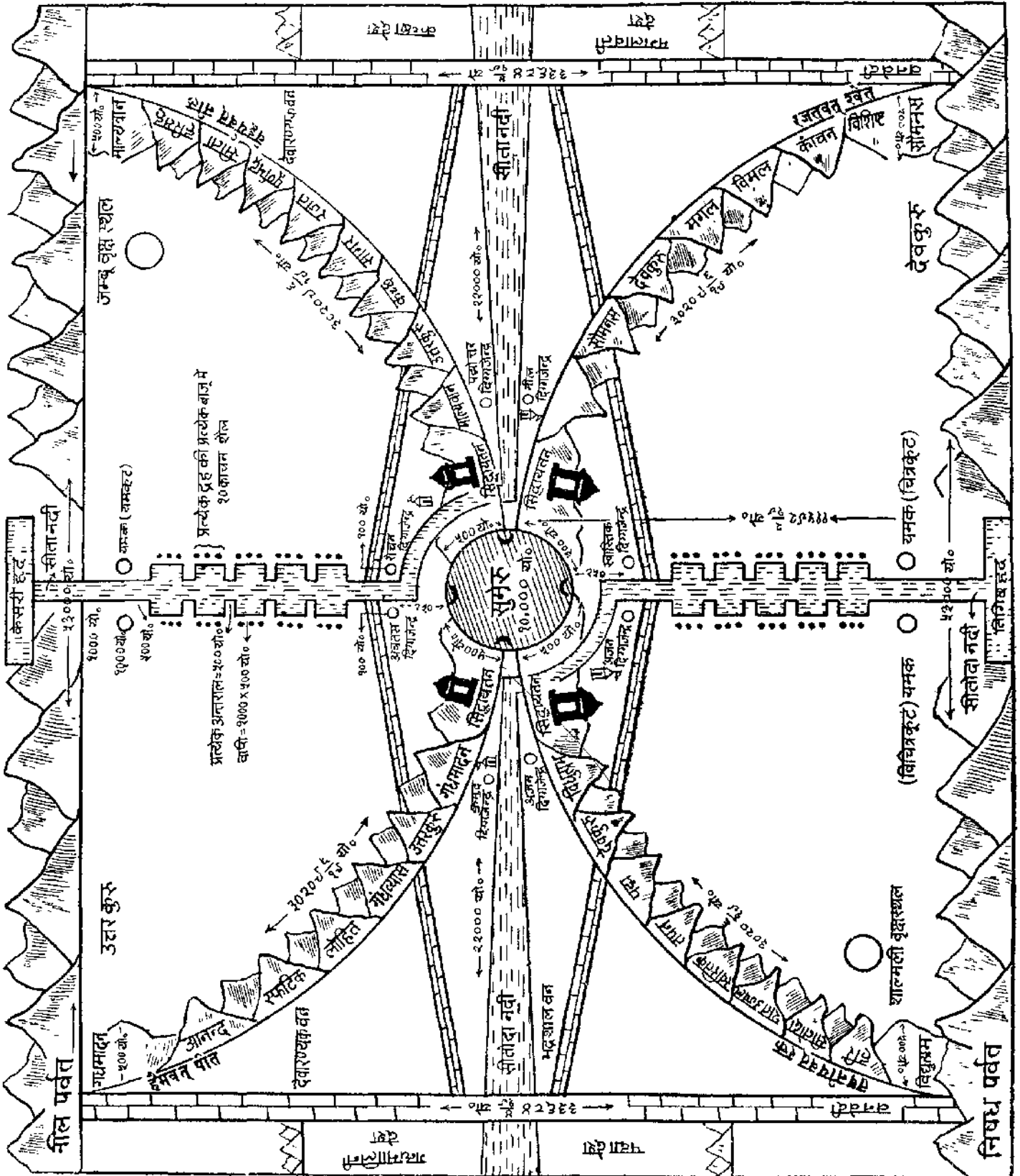
देवकुरुव उतर कुरु

त्रिलोक वृद्धामणि नामका चैत्यालय

नोट - १ पर्वतो आदिके वर्ण - माल्यवान-वैदर्भवत् नील, सौमनस = रजसलत् श्वेत, विद्युत्प्रभ = तपनीयवत् रक्त, गन्धमादन व जनवेदी = हेमवत् पीत।

- दृष्टिभेद - १. गजदन्तोके अवस्थान क्रममे अन्तर - (२० लोक/५३)।
- २ इनपर स्थित कटोके प्रमाण व नामोमे अन्तर - (२० लोक/५४)।
- ३. मेरुको चारो विशाओमे नदियोके बीच ५-५ करके कुल २० ब्रह्म हैं - (२० लोक/३०)।
- ४ इस अंशके अनुसार प्रत्येक ब्रह्मेके दोनो पाठव भागो मे ५-५ काखन गिरि है - (२० लोक/३७)।

वायव्य पूर्व
उत्तर दक्षिण
दक्षिण पूर्व
पश्चिम उत्तर



जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश

भा० ३-५८

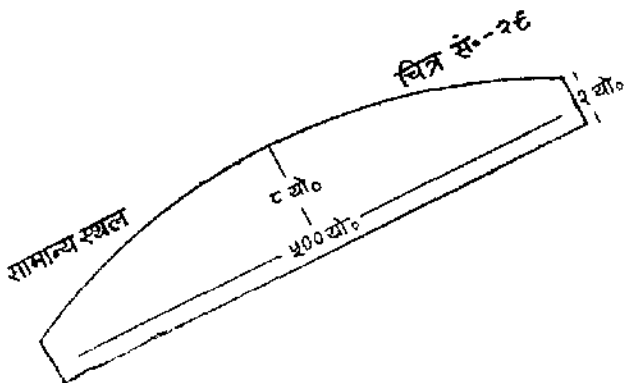
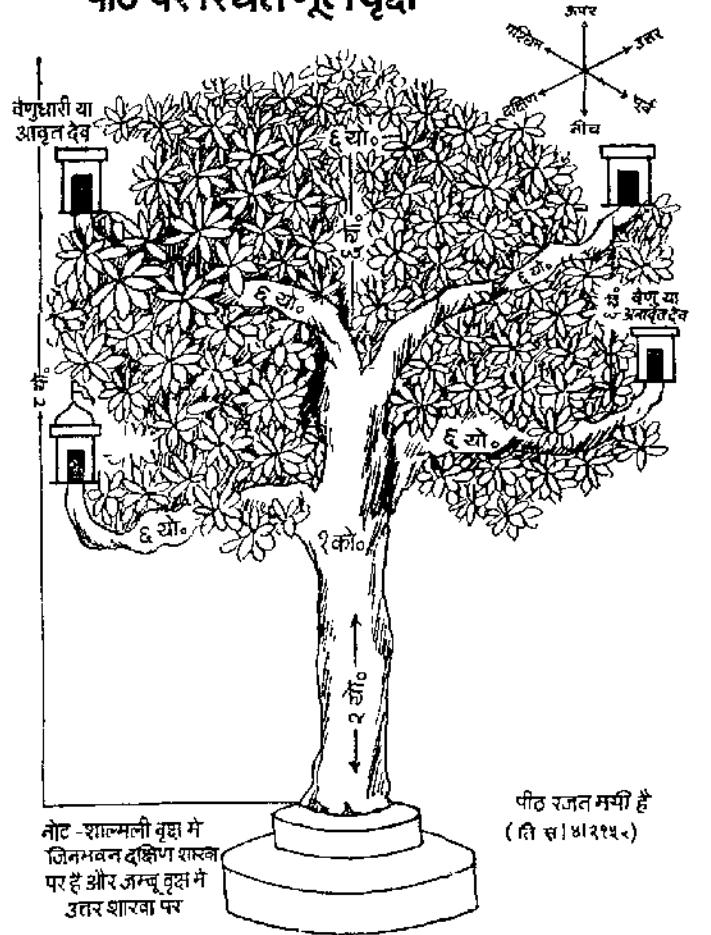
सीतोदा नदीके पश्चिम तटपर तथा उत्तरकुरुमें सुमेरुके उत्तर भागमें सीता नदीके पूर्व तटपर, तथा इसी प्रकार दोनो कुरुओंसे बाहर मेरुके पश्चिममें सीतोदाके उत्तर तटपर और मेरुकी पूर्व-दिशामें सीता नदीके दक्षिण तटपर एक-एक करके चार त्रिभुवन चूड़ामणि नाम वाले जिन भवन हैं। (ति. प./४/२१०६-२१११+२१३२-२१३३)। ७ निषध व नील पर्वतोंसे संलग्न सम्पूर्ण विदेह क्षेत्रके विस्तार समान लम्बी, दक्षिण उत्तर लम्बायमान भद्रशाल वनकी वेदी है। (ति. प./४/२११४)। ८. देवकुरुमें निषध पर्वतके उत्तरमें, विद्वयुत्प्रभ गजदन्तके पूर्वमें, सीतोदाके पश्चिममें और सुमेरुके नैऋत्य दिशामें शाल्मली वृक्षस्थल है। (ति. प./४/२१४६-२१४७); (रा. वा./३/१०/१३/१०५/२३); (ह. पु./५/१९७); (विशेष दे० आगे/लोक/३/१) सुमेरुकी ईशान दिशामें, नील पर्वतके दक्षिणमें, माव्यवंत गजदन्तके पश्चिममें, सीता नदीके पूर्वमें जम्बू वृक्षस्थल है। (ति. प./४/२१६४-२१६५); (रा. वा./३/१०/१३/१०७/७); (ह. पु./५/१९७); (त्रि. सा./६३६); (ज. प./६/५७)।

१३. जम्बू व शाल्मली वृक्षस्थल

१. देवकुरु व उत्तरकुरुमें प्रसिद्ध शाल्मली व जम्बूवृक्ष है। (दे० लोक/३/१२३) ये वृक्ष पृथिवीमयी है (दे० वृक्ष) तहाँ शाल्मली या जम्बू वृक्षका सामान्यस्थल ५०० योजन विस्तार युक्त होता है। तथा मध्यमें ८ योजन और किनारोंपर २ कोस मोटा है। (ति. प./४/२१४८-२१४९); (ह. पु./५/१९४); (त्रि. सा./६४०)। मत्तान्तरकी अपेक्षा वह मध्यमें १२ योजन और किनारोंपर २ कोस मोटा

चित्र सं०-३०

पीठ पर स्थित मूल वृक्ष

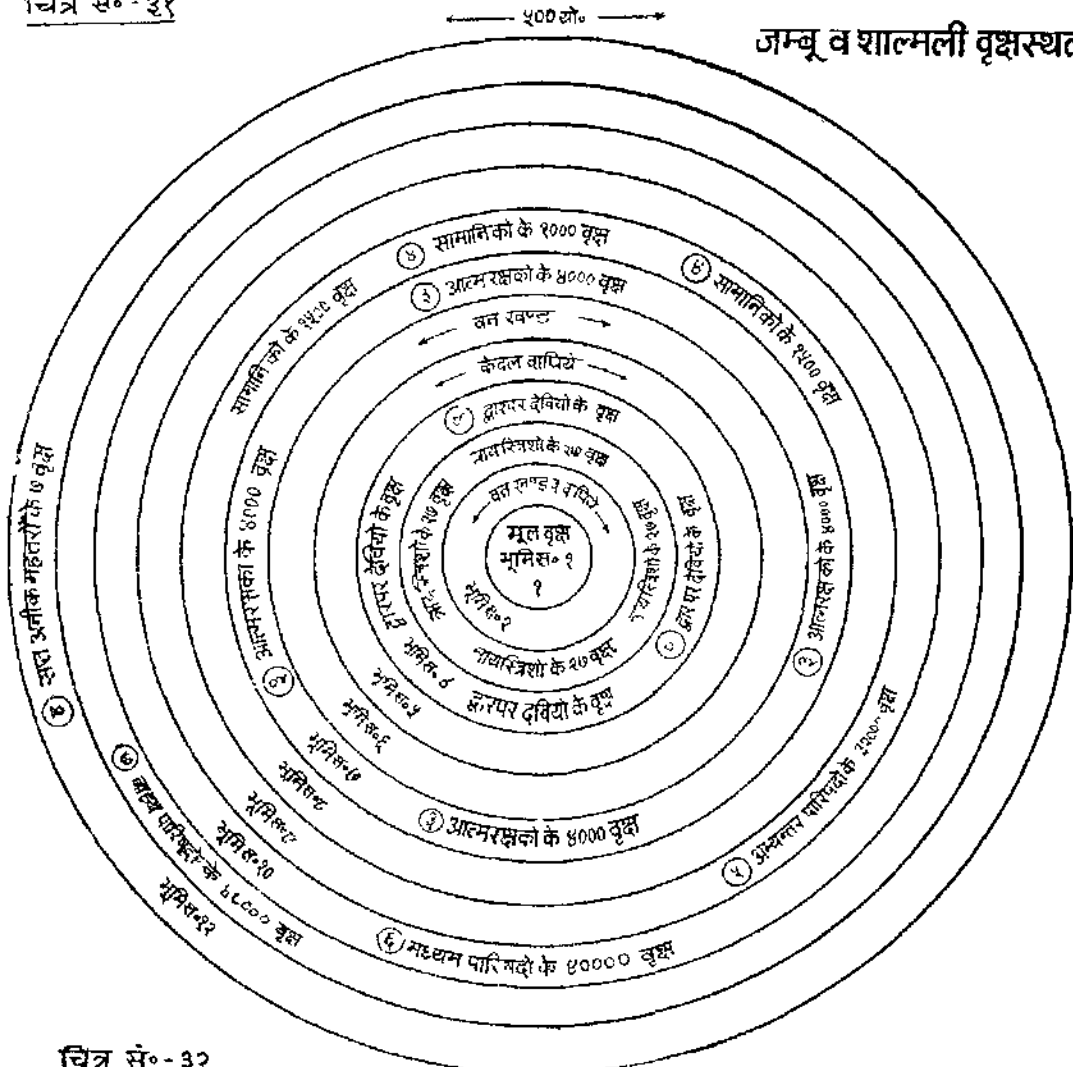


है। (रा. वा./३/७/१/१६६/१८); (ज. प./६/५८, १४६)। २. यह स्थल चारो ओरसे स्वर्णमयी वेदिकासे वेष्टित है। इसके बहुमध्य भागमें एक पीठ है, जो आठ योजन ऊँचा है तथा मूलमें १२ और ऊपर ४ योजन विस्तृत है। पीठके मध्यमें मूलवृक्ष है, जो कुल आठ योजन ऊँचा है। उसका स्कन्ध ६ योजन ऊँचा तथा एक कोस मोटा है। (ति. प./४/२१५१-२१५६); (रा. वा./३/७/१/१६६/१६); (ह. पु./५/१९३-१९७); (त्रि. सा./६३६-६४१/६४८); (ज. प./६/६०-६४, १५४-१५५)। ३ इस वृक्षकी चारो दिशाओंमें छह-छह योजन लम्बी तथा इतने ही अन्तरालसे स्थित चार महाशाखाएँ हैं। शाल्मली वृक्षको दक्षिण शाखापर और जम्बूवृक्षकी उत्तर शाखापर जिनभवन है। शेष तीन शाखाओंपर व्यन्तर देवोंके भवन हैं। तहाँ शाल्मली वृक्षपर वेणु व वेणुधारी तथा जम्बू वृक्षपर इस द्वीपके रक्षक आदित्य व अनादित्य नामके देव रहते हैं। (ति. प./४/२१५६-२१६६-२१६६); (रा. वा./३/१०/१३/१०४/७+१०५/२५); (ह. पु./५/१९७-१९८+१८६); (त्रि. सा./६४७-६४६+६४२); (ज. प./६/६५-६७-६६; १५६-१६०)।

४. इस स्थलपर एकके पीछे एक करके १२ वेदियाँ हैं, जिनके बीच १२ भूमियाँ हैं। यहाँ पर ह. पु में वापियाँ आदि वाली ५ भूमियोंको छोड़कर केवल परिवार वृक्षों वाली ७ भूमियाँ बतायी हैं। (ति. प./४/१२६७); (ह. पु./५/१९३); (त्रि. सा./६४१); (ज. प./६/१५१-१५२)। इन सात भूमियोंमें आदित्य युगल या वेणु-युगलके परिवार देवोंके वृक्ष है। ५. तहाँ प्रथम भूमिके मध्यमें उपरोक्त मूल वृक्ष स्थित है। द्वितीयमें वन-वापिकाएँ हैं। तृतीयकी प्रत्येक दिशामें २७ करके कुल १०८ वृक्ष महामान्योँ अर्थात् त्रायस्त्रिंशोके हैं। चतुर्थकी चारों दिशाओंमें चार द्वार हैं, जिनपर स्थित वृक्षपर उसकी देवियाँ रहती हैं। पाँचवीमें केवल वापियाँ हैं। छठीमें वनखण्ड है। सातवीकी चारो दिशाओंमें कुल १६००० वृक्ष अगारक्षकोके हैं। अष्टमकी वायव्य, ईशान व उत्तर दिशामें कुल ४००० वृक्ष सामानिकोके हैं। नवमकी आग्नेय दिशामें कुल ३२००० वृक्ष आग्नेयन्तर पारिषदोंके हैं। दसवीकी दक्षिण दिशामें ४०,००० वृक्ष मध्यम पारिषदोंके हैं। ग्यारहवीकी नैऋत्य दिशामें ४८००० वृक्ष बाह्य पारिषदोंके हैं। बारहवीकी पश्चिम दिशामें सात वृक्ष अनोक महत्तरोके हैं। सब वृक्ष मिलकर १४०२२० होते हैं। (ति. प./४/२१६६-२१८१); (रा. वा./३/१०/१३/१०४/१०); (ह. पु./५/१९३-१९६); (त्रि. सा./६४२-६४६); (ज. प./६/६८-७४, १६२-१६७)। ६. स्थलके चारों ओर तीन वन खण्ड हैं। प्रथमकी चारो दिशाओंमें देवोंके निवासभूत चार प्रासाद हैं। विदिशाओंमें से प्रत्येकमें चार-चार पुष्करिणी है प्रत्येक पुष्करिणीकी चारों दिशाओंमें आठ-आठ कूट हैं। प्रत्येक कूटपर चार-चार प्रासाद हैं। जिनपर उन आदित्य आदि देवोंके परिवार देव रहते हैं। [रा. वा./मे इसी प्रकार प्रासादोंके चारो तरफ भी आठ कूट बताये हैं] इन

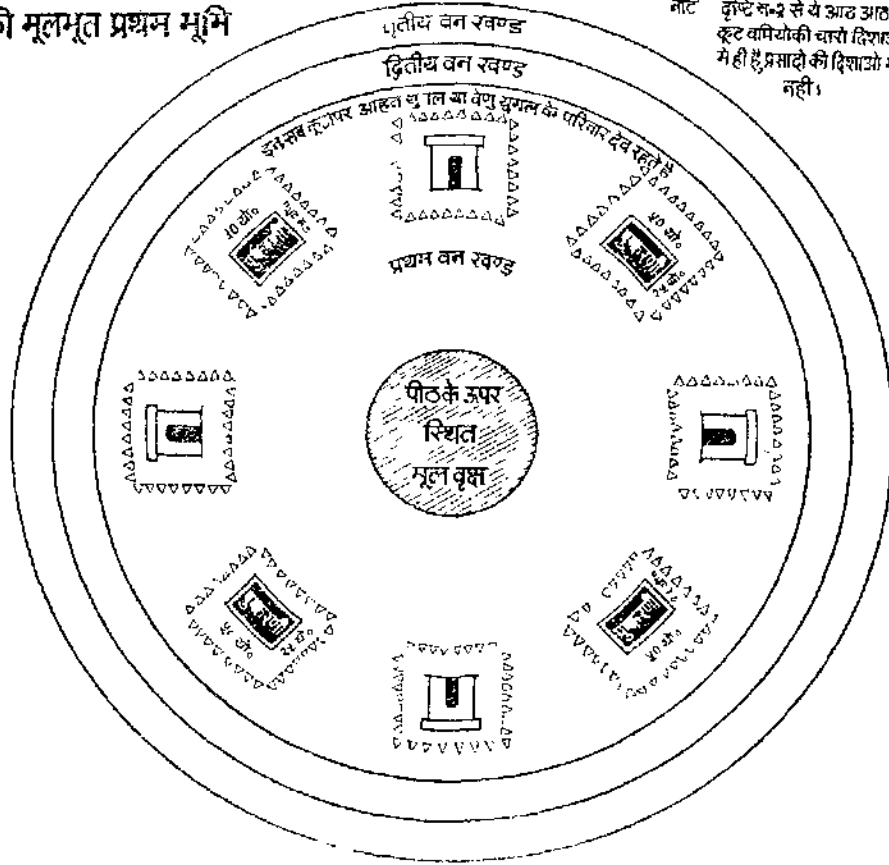
चित्र सं०-३१

जम्बू व शाल्मली वृक्षस्थल



चित्र सं०-३२

वृक्षकी मूलभूत प्रथम भूमि



कुटोंपर उन आहत युगल या वेणु युगलका परिवार रहता है। (ति. प/४/२१८४-२१९०), (रा. वा/३/१०/१३/१७४/१८)।

१४. विदेहके ३३ क्षेत्र

१. पूर्व व पश्चिमकी भद्रशाल वनकी वेदियों (दे० लोक/३/-१२०७) से आगे जाकर सीता व सीतोदा नदीके दोनों तरफ चार-चार वक्षारगिरि और तीन-तीन विभंगा नदियाँ एक वक्षार व एक विभंगाके क्रमसे स्थित है। इन वक्षार व विभंगाके कारण उन नदियोंके पूर्व व पश्चिम भाग आठ-आठ भागोंमें विभक्त हो जाते हैं। विदेहके ये ३२ खण्ड उसके ३२ क्षेत्र कहलाते हैं। (ति. प/४/२२००-२२०६), (रा. वा/३/१०/१३/१७४/३०+१७७/४, १६-२४); (ह. पु/५/२२८, २४३, २४४); (त्रि. सा./६६६), (ज. प./का पूरा ८ वों अधिकार)। २. उत्तरीय पूर्व विदेहका सर्वप्रथम क्षेत्र कच्छा नामका है। (ति. प/४/२२३३), (रा. वा/३/१०/१३/१७६/१४); (ज. प./७/३३)। इनके मध्यमे पूर्वापर लम्बायमान भरत क्षेत्रके त्रिजयार्धवत् एक विजयार्ध पर्वत है। (ति. प/४/२२५७); (रा. वा/१०/१३/१७६/१६)। उसके उत्तरमें स्थित नील पर्वतकी वनवेदीके दक्षिण पार्श्वभागमें पूर्व व पश्चिम दिशाओंमें दो कुण्ड हैं, जिनसे रक्ता व रक्तोदा नामकी दो नदियाँ निकलती हैं। दक्षिणमुखी होकर बहती हुई वे विजयार्धकी दोनों गुफाओंमें-से निकलकर नीचे सीता नदीमें जा मिलती है। जिसके कारण भरत क्षेत्रकी भौति यह देश भी छह खण्डोंमें विभक्त हो गया है। (ति. प/४/२२६२-२२६४), (रा. वा./३/१०/१३/१७६/२३); (ज. प/७/७२) यहाँ भी उत्तर म्लेच्छ खण्डके मध्य एक वृषभगिरि है, जिसपर दिग्विजयके पश्चात् चक्रवर्ती अपना नाम अंकित करता है। (ति. प/४/२२६०-२२६१); (त्रि. सा./७१०) इस क्षेत्रके आर्य-खण्डकी प्रधान नगरीका नाम क्षेमा है। (ति. प/४/२२६८); (रा. वा/३/१०/१३/१७६/३२)। इस प्रकार प्रत्येक क्षेत्रमें दो नदियाँ व एक विजयार्धके कारण छह-छह खण्ड उत्पन्न हो गये हैं। (ति. प/४/२२६२), (ह. पु/५/२६७), (ति. सा./६६१)। विशेष यह

है कि दक्षिणवाले क्षेत्रोंमें गंगा-सिन्धु नदियाँ बहती है (ति. प/४/२२६५-२२६६) मतान्तरसे उत्तरीय क्षेत्रोंमें गंगा-सिन्धु व दक्षिणी क्षेत्रोंमें रक्ता-रक्तोदा नदियाँ हैं। (ति. प/४/२३०४); (रा. वा./३/१०/१३/१७६/२८, ३१+१७७/१०), (ह. पु./५/२६७-२६८); (त्रि. सा./६६९)। ३. पूर्व व अपर दोनों विदेहोंमें प्रत्येक क्षेत्रके सीता सीतोदा नदीके दोनों किनारोंपर आर्यखण्डोंमें मागध, वरतनु और प्रभास नामवाले तीन-तीन तीर्थस्थान हैं। (ति. प./४/२३०५-२३०६), (रा. वा./३/१०/१३/१७७/१२), (त्रि. सा./६७८) (ज. प./७/१०४)। ४. पश्चिम विदेहके अन्तमें जम्बूद्वीपकी जगतीके पास सीतोदा नदीके दोनों ओर भूतारण्यक वन है। (ति. प/४/२२०३, २३२५), (रा. वा/३/१०/१३/१७७/१); (ह. पु./५/२८१); (त्रि. सा./६७२)। इसी प्रकार पूर्व विदेहके अन्तमें जम्बूद्वीपकी जगतीके पास सीता नदीके दोनों ओर देवारण्यक वन है। (ति. प/४/२३१५-२३१६)। (दे. चित्र नं. १३)

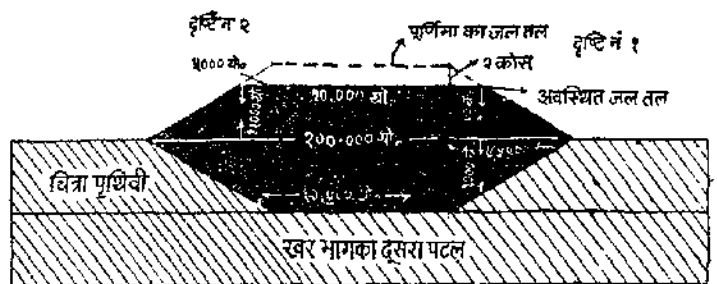
४. अन्य द्वीप सागर निर्देश

१. कवच सागर निर्देश

१ जम्बूद्वीपको घेरकर २००,००० योजन विस्तृत बलयाकार यह प्रथम सागर स्थित है, जो एक नाकपर दूसरी नाव मुधी रखनेसे उत्पन्न हुए आकारवाला है। (ति. प/४/२३६८-२३६९); (रा. वा/३/३२/३/१६३/८), (ह. पु/५/४३०-४४१), (त्रि. सा./६०१); (ज. प./१०/

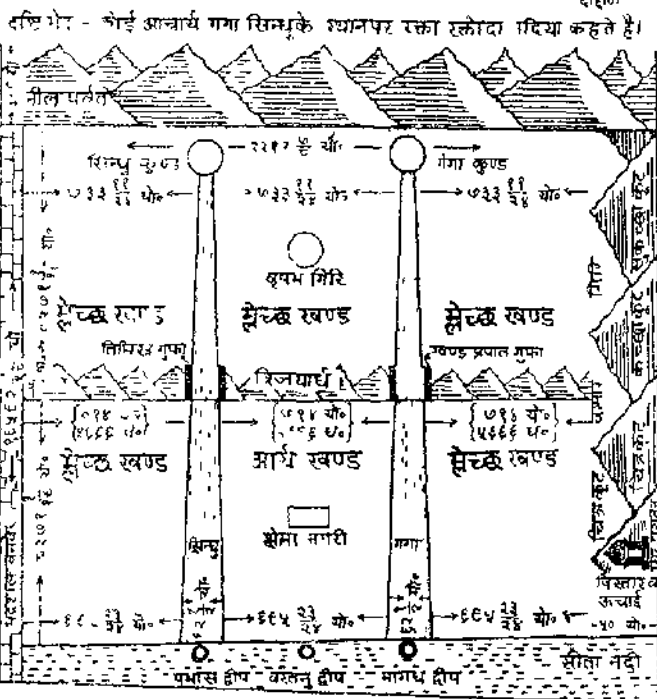
चित्र सं-३३

सागर तल व पाताल



चित्र सं-२७

विदेहका कच्छा क्षेत्र

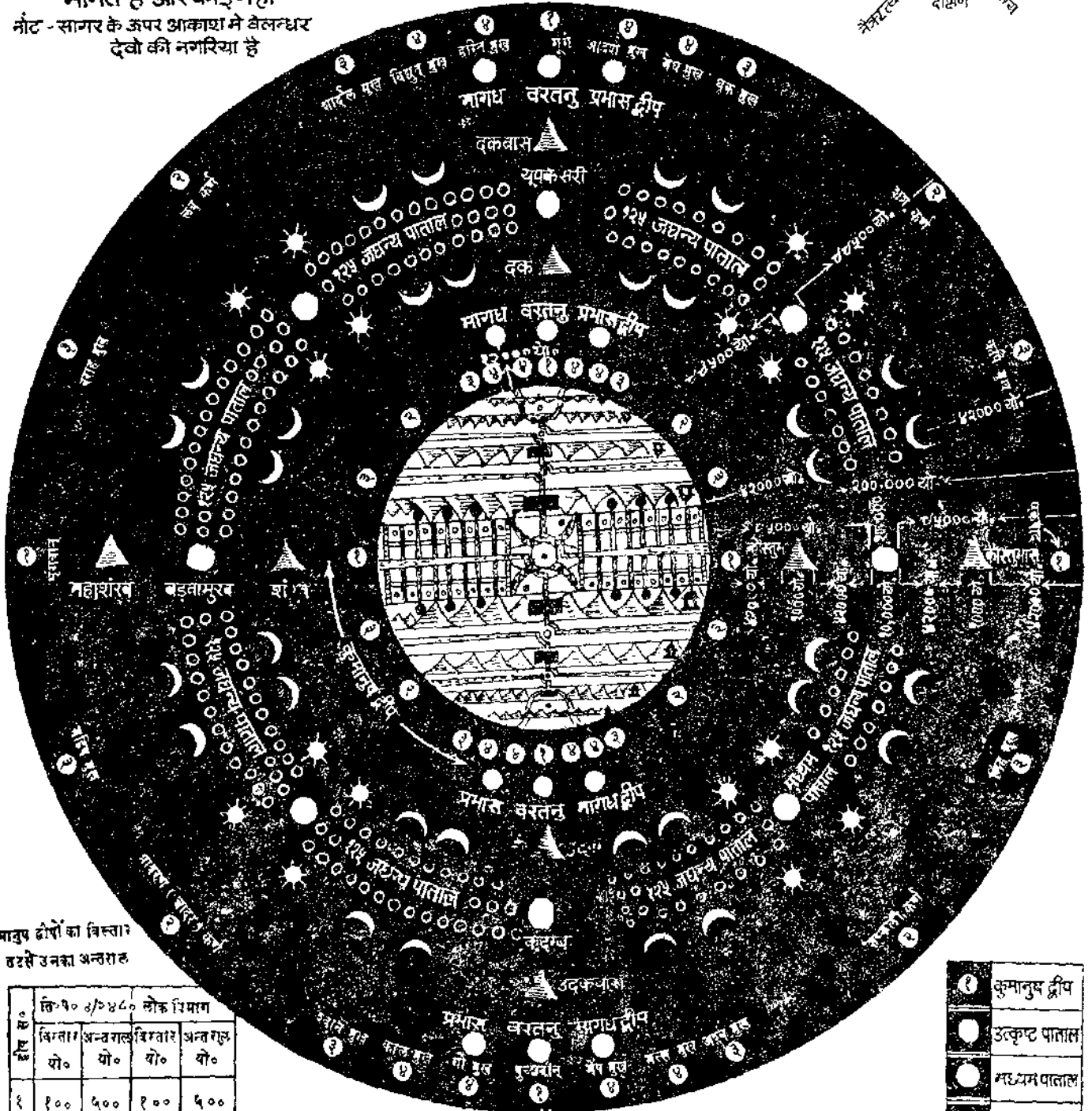
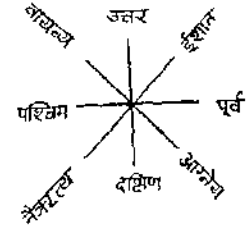


२-४) तथा गोल है। (त्रि. सा./८६७)। २. इसके मध्यतलभागमें चारो ओर १००८ पाताल या विवर है। इनमें ४ उत्कृष्ट, ४ मध्यम और १००० जघन्य विस्तारवाले हैं। (ति. प/४/२४०८, २४०६), (त्रि. सा./८६६); (ज. प/१०/१२)। तटोंसे ६५००० योजन भीतर प्रवेश करनेपर चारो दिशाओंमें चार ज्येष्ठ पाताल हैं। ६६५०० योजन प्रवेश करनेपर उनके मध्य विदिशामें चार मध्यय पाताल और उनके मध्य प्रत्येक अन्तर दिशामें १२५,१२५ करके १००० जघन्य पाताल मुक्तावली रूपसे स्थित है। (ति. प/४/२४११+२४१४+२४२८); (रा. वा/३/३२/४-६/१६६/१३, २५, ३२); (ह. पु/५/४४२, ४४१, ४४५) १००,००० योजन गहरे महापाताल नरक सीमन्तक बिलके ऊपर स्तम्भ है। (ति. प/४/२४१३)। ३. तीनों प्रकारके पातालोंकी ऊँचाई तीन बराबर भागोंमें विभक्त है। तहाँ निचले भागमें वायु, उपरले भागमें जल और मध्यके भागमें यथायोग रूपसे जल व वायु दोनों रहते हैं। (ति. प/४/२४३०), (रा. वा./३/३२/४-६/१६६/१७, २८, ३२); (ह. पु./५/४४६-४४७), (त्रि. सा./८६८), (ज. प./१०/६-८) ४ मध्य भागमें जल व वायुकी हानि वृद्धि होती रहती है। शुक्ल पक्षमें प्रतिदिन २२२२ ३/४ योजन वायु बढ़ती है और कृष्ण पक्षमें इतनी ही घटती है। यहाँ तक कि इस पूरे भागमें पूर्णिमाके दिन केवल वायु हो तथा अमावस्याको केवल जल ही रहता है। (ति. प./

चित्र सं० - ३५

लवण सागर

दृष्टि भेद-सूर्य व चन्द्र द्वीपोंको कोई आचार्य मानते हैं और कोई नहीं
 नोट - सागर के ऊपर आकाश में वेलन्धर देवों की नगरिया है



कुमानुष द्वीपों का विस्तार व तटसे उनका अन्तराल

द्वीप सं०	विस्तार यो०	अन्तराल यो०	विस्तार यो०	अन्तराल यो०
१	१००	५००	१००	५००
२	५५	५००	५०	५५०
३	५०	५५०	१००	५००
४	२५	६००	२५	६००

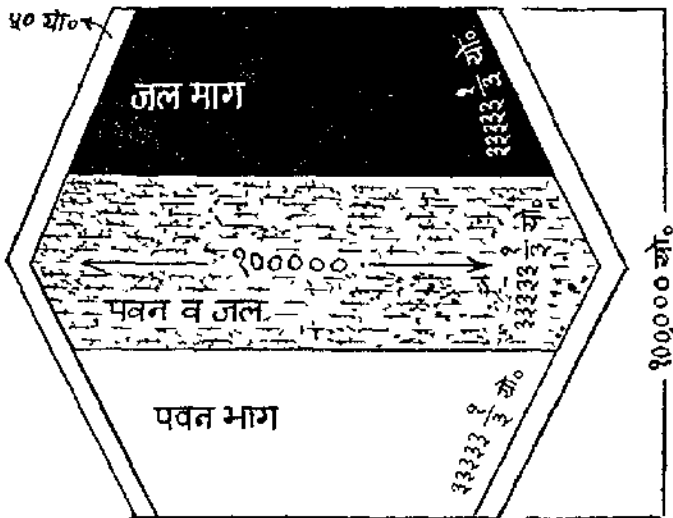
कुमानुष द्वीपोंका अवस्थान क्रम —
 दोनों तटोपर तटसे उक्त अन्तराल छोड़कर चार चार द्वीप चारों दिशाओमें, चार चार विदिशाओमें, आठ आठ अन्तर-दिशाओमें, और आठ आठ विजयार्धों तथा हिमवान व शिखरी पर्वतोंके प्रणिधि भागोंमें स्थित है।
 विशेष दे० चित्र सं० १३ तथा लोक/४९

- ① कुमानुष द्वीप
- उत्कृष्ट पाताल
- मध्यम पाताल
- अधन्य पाताल
- ☾ चन्द्र द्वीप
- ☼ सूर्य द्वीप
- ▲ पर्वत

४/२४३५-२४३६), (ह. पु./५/४४) पातालमें जल व वायुकी इस वृद्धिका कारण नीचे रहनेवाले भवनवासी देवोंका उच्छ्वास निश्वास है। (रा. वा./३/३२/४/१६३/२०)। ५. पातालमें होनेवाली उपरोक्त वृद्धि हानिसे प्रेरित होकर सागरका जल शुक्ल पक्षमें प्रतिदिन ५००/३ धनुष ऊपर उठता है, और कृष्ण पक्षमें इतना ही घटता है। यहाँ तक कि पूर्णिमा को ४००० धनुष आकाशमें ऊपर उठ जाता है और अमावस्याको पृथिवी तलके समान हो जाता है। (अर्थात् ७०० योजन ऊँचा अवस्थित रहता है।) ति. प./४/२४४०, २४४३) लोगायणीके अनुसार सागर ११००० योजन तो सदा ही पृथिवी तलसे ऊपर अवस्थित रहता है। शुक्ल पक्षमें इसके ऊपर प्रतिदिन ७०० योजन बढ़ता है और कृष्णपक्षमें इतना ही घटता है। यहाँ तक कि पूर्णिमाके दिन ५००० योजन बढ़कर १६००० योजन हो जाता है और अमावस्याको इतना ही घटकर वह पुनः ११००० योजन रह जाता है। (ति. प./४/२४४६); (रा. वा./३/३२/३/१६३/१०); (ह. पु./५/४३७); (त्रि. सा./६००); (ज. प./१०/१८)। ६. समुद्रके दोनों किनारोंपर

चित्र - ३४

उत्कृष्ट पाताल



व शिखरपर आकाशमें ७०० योजन जाकर सागरके चारों तरफ कुल १४२००० वेलन्धर देवोंकी नगरियाँ हैं। तहाँ बाह्य व आभ्यन्तर वेदीके ऊपर क्रमसे ७२००० और ४२००० और मध्यमें शिखरपर २८००० है। (ति. प./४/२४४६-२४४४); (त्रि. सा./६०४), (ज. प./१०/३६-३७) मतान्तरसे इतनी ही नगरियाँ सागरके दोनों किनारोंपर पृथिवी तल पर भी स्थित हैं। (ति. प./४/२४४६) सगायणीके अनुसार सागरकी बाह्य व आभ्यन्तर वेदीवाले उपरोक्त नगर दोनों वेदियोंसे ४२००० योजन भीतर प्रवेश करके आकाशमें अवस्थित है और मध्यवाले जलके शिखरपर भी। (रा. वा./३/३२/७/१६४/१), (ह. पु./५/४६६-४६८)। ७. दोनों किनारोंसे ४२००० योजन भीतर जानेपर चारों दिशाओंमें प्रत्येक ज्येष्ठ पातालके बाह्य व भीतरी पार्श्व भागोंमें एक-एक करके कुल आठ पर्वत हैं। जिनपर वेलन्धर देव रहते हैं। (ति. प./४/२४४७), (ह. पु./५/४६६); (त्रि. सा./६०५), (ज. प./१०/२७); (विशेष दे० लोक/५/६ में इनके व देवोंके नाम)। ८ इस प्रकार आभ्यन्तर वेदीसे ४२००० भीतर जानेपर उपरोक्त भीतरी ४ पर्वतोंके दोनों पार्श्व भागोंमें (विदिशाओंमें) प्रत्येकमें दो-दो करके कुल आठ सूर्य द्वीप हैं। (ति. प./४/२४७१-२४७२), (त्रि. सा./६०६), (ज. प./१०/३८) सागरके भीतर, रक्ता नदीके सम्मुख

मागध द्वीप, जगतीके अपराजित नामक उत्तर द्वारके सम्मुख वरतनु और रक्ता नदीके सम्मुख प्रभास द्वीप है। (ति. प./४/२४७३-२४७५); (त्रि. सा./६११-६१२), (ज. प./१०/४०)। इसी प्रकार ये तीनों द्वीप जम्बूद्वीपके दक्षिण भागमें भी गंगा सिन्धु नदी व वैजयन्त नामक दक्षिण द्वारके प्रणिधि भागमें स्थित हैं। (ति. प./४/१३१९, १३१६+१३१८) आभ्यन्तर वेदीसे १२००० योजन सागरके भीतर जानेपर सागरकी वायव्य दिशामें मागध नामका द्वीप है। (रा. वा./३/३३/५/१६४/५); (ह. पु./५/४६६) इसी प्रकार लवण समुद्रके बाह्य भागमें भी ये द्वीप जानना। (ति. प./४/२४७७) मतान्तरकी अपेक्षा दोनों तटोंसे ४२००० योजन भीतर जानेपर ४२००० योजन विस्तार वाले २४,२४ द्वीप हैं। तिनमें ८ तो चारों दिशाओं व विदिशाओंके दोनों पार्श्व भागोंमें हैं और १६ आठो अन्तर दिशाओंके दोनों पार्श्व भागोंमें। विदिशावालोंका नाम सूर्यद्वीप और अन्तर दिशावालोंका नाम चन्द्रद्वीप है (त्रि. सा./६०६)। ६ इनके अतिरिक्त ४८ कुमानुष द्वीप हैं। २४ आभ्यन्तर भागमें और २४ बाह्य भागमें। तहाँ चारों दिशाओंमें चार, चारों विदिशाओंमें ४, अन्तर दिशाओंमें ८ तथा हिमवात्, शिखरी व दोनों विजयार्ध पर्वतोंके प्रणिधि भागमें ८ हैं। (ति. प./४/२४७८-२४७९+२४८०-२४८१); (ह. पु./५/४७१-४७६+७८१); (त्रि. सा./६१३) विशा, विदिशा व अन्तर दिशा तथा पर्वतके पासवाले, ये चारों प्रकारके द्वीप क्रमसे जगतीसे ५००, ५००, ५५० व ६०० योजन अन्तरालपर अवस्थित हैं और १००, ५५, ५० व २५ योजन विस्तार युक्त हैं। (ति. प./४/२४८०-२४८२); (ह. पु./५/४७७-४७८); (त्रि. सा./६१४); (ह. पु. की अपेक्षा इनका विस्तार क्रमसे १००, ५०, ५० व २५ योजन है) लोक विभागके अनुसार वे जगतीसे ५००, ५५०, ५००, ६०० योजन अन्तराल पर स्थित हैं तथा १००, ५०, १००, २५ योजन विस्तार युक्त हैं। (ति. प./४/२४८१-२४८२), (ज. प./१०/४६-४९) इन कुमानुष द्वीपोंमें एक जाँघवाला, शशकर्म, बन्दरमुख आदि रूप आकृतियोंके धारक मनुष्य बसते हैं। (दे० म्लेच्छ/३)। धातकीखण्ड द्वीपकी दिशाओंमें भी इस सागरमें इतने ही अर्थात् २४ अन्तर्द्वीप हैं। जिनमें रहनेवाले कुमानुष भी वैसे ही हैं। (ति. प./४/२४६०)।

२. धातकीखण्ड निर्देश

१. लवणोदको वेष्टित करके ४००,००० योजन विस्तृत ये द्वितीय द्वीप हैं। इसके चारों तरफ भी एक जगती है। (ति. प./४/२५२७-२५३१), (रा. वा./३/३३/५/१६५/१४), (ह. पु./४८६); (ज. प./११-२)। २. इसकी उत्तर व दक्षिण दिशामें उत्तर-दक्षिण लम्बायमान दो इष्वाकार पर्वत हैं, जिनसे यह द्वीप पूर्व व पश्चिम रूप दो भागोंमें विभक्त हो जाता है। (ति. प./४/२५३२); (स. सि./३/३३/२२७/१); (रा. वा./३/३३/६/१६५/२५); (ह. पु./५/४८६); (त्रि. सा./६२५), (ज. प./११/३) प्रत्येक पर्वतपर ४ कूट हैं। प्रथम कूटपर जिनमन्दिर है और शेषपर व्यन्तर देव रहते हैं। (ति. प./४/२५३६)। ३. इस द्वीपमें दो रचनाएँ हैं—पूर्व धातकी और पश्चिम धातकी। दोनोंमें पर्वत, क्षेत्र, नदी, कूट आदि सब जम्बूद्वीपके समान हैं। (ति. प./४/२५४१-२५४५); (स. सि./३/३३/२२७/१), (रा. वा./३/३३/१/१६४/३१), (ह. पु./५/१६५, ४६६-४६७); (ज. प./११/३८) जम्बू व शालमली वृक्षको छोड़कर शेष सबके नाम भी वही हैं। (ति. प./४/२५४०), (रा. वा./३/३३/५/१६५/१६), सभीका कथन जम्बूद्वीपवत् है। (ति. प./४/२७१५)। ४. दक्षिण इष्वाकारके दोनों तरफ दो भरत हैं तथा उत्तर इष्वाकारके दोनों तरफ दो रेशवत हैं। (ति. प./४/२५५२), (स. सि./३/३३/२२७/४)। ५. तहाँ सर्व कुल पर्वत तो दोनों सिरोंपर समान विस्तारको धरे पहियेके अरोंवत् स्थित हैं और क्षेत्र उनके मध्यवर्ती द्विद्वीवत् हैं। जिनके आभ्यन्तर

भागका विस्तार कम व बाह्य भागका विस्तार अधिक है। (ति. प./४/२५५३); (स. सि./३/३३/२२७/६); (रा. वा./३/३३/६/१६६/४); (ह. पु./५/४६८); (त्रि. सा./६२७)। ६. तहाँ भी सर्व कथन पूर्व व पश्चिम दोनों धातकी खण्डोंमें जम्बूद्वीपवत् है। विदेह क्षेत्रके बहु मध्य भागमें पृथक्-पृथक् सुमेरु पर्वत हैं। उनका स्वरूप तथा उनपर स्थित जिन भवन आदिका सर्व कथन जम्बूद्वीपवत् है। (ति. प./४/२५७४-२५७६); (रा. वा./३/३३/६/१६६/२८); (ह. पु./५/४६४ (ज. प./४/६५)। इन दोनोंपर भी जम्बूद्वीपके सुमेरुवत् पाण्डुक आदि चार वन हैं। विशेषता यह है कि यहाँ भद्रशालसे ५०० योजन ऊपर नन्दन, उससे ५५०० योजन सौमनस वन और उससे २०००० योजन ऊपर पाण्डुक वन है। (ति. प./४/२५८४-२५८८); (रा. वा./३/३३/६/१६६/३०); (ह. पु./५/४६५-४६६); (ज. प./११/२२-२८) पृथिवी तलपर विस्तार १४०० योजन है, ५०० योजन ऊपर जाकर नन्दन वनपर ६३५० योजन रहता है। तहाँ चारों तरफसे युगपत् ५०० योजन मुकडकर २३५० योजन ऊपर तक समान विस्तारसे जाता है। तदनन्तर ४५५०० योजन क्रमिक हानि सहित जाता हुआ सौमनस वनपर ३८०० योजन रहता है तहाँ चारों तरफसे युगपत् ५०० योजन मुकडकर २८०० योजन रहता है, ऊपर फिर १०,००० योजन समान विस्तारसे जाता है तदनन्तर १८००० योजन क्रमिक हानि सहित जाता हुआ शीषपर १००० योजन विस्तृत रहता है। (ह. पु./५/५२०-५३०)। ७. जम्बूद्वीपके शाक्यमली वृक्षवत् यहाँ दोनों कुरुओंमें दो-दो करके कुल चार धातकी (आँवलेके) वृक्ष स्थित है। प्रत्येक वृक्षका परिवार जम्बूद्वीपवत् १४०१२० है। चारो वृक्षोंका कुल परिवार ५६०४८० है। (विशेष दे० लोक/३/१३) इन वृक्षोपर इस द्वीपके रक्षक प्रभास व प्रियदर्शन नामक देव रहते हैं। (ति. प./४/२६०१-२६०३); (स. सि./३/३३/२२७/७); (रा. वा./३/३३/१६६/३); (त्रि. सा./६३४)। ८ इस द्वीपमें पर्वतों आदिका प्रमाण निम्न प्रकार है।—मेरु २, इष्वाकार २, कुल गिरि १२; विजयार्थ ६८, नाभिगिरि ८, गजदन्त ८; यमक ८, कौचन शैल ४००; दिग्गजेन्द्र पर्वत १६; वक्षार पर्वत ३२; वृषभगिरि ६८; क्षेत्र या विजय ६८ (ज. प्र./११/२१) कर्मभूमि ६; भोगभूमि १२; (ज. प./११/७६) महानदियाँ २८; विदेह क्षेत्रकी नदियाँ १२८; विभंगों नदियाँ २४। द्रह ३२; महानदियों व क्षेत्र नदियोंके कुण्ड १६६; विभंगके कुण्ड २४; धातकी वृक्ष २; शाक्यमली वृक्ष २ हैं। (ज. प./११/२६-३८)। (ज. प./११/७५-८९) में पुष्करार्थकी अपेक्षा इसी प्रकार कथन किया है।)

१. कालोद समुद्र निर्देश

१. धातकी खण्डको घेरकर ८००,००० योजन विस्तृत बलयाकार कालोद समुद्र स्थित है। जो सर्वत्र १००० योजन गहरा है। (ति. प./४/२७१८-२७१९); (रा. वा./३/३३/६/१६६/५); (ह. पु./५/५६२); (ज. प./११/४३)। २ इस समुद्रमें पाताल नहीं है। (ति. प./४/१७१९); (रा. वा./३/३२/८/१६४/१३); (ज. प./११/४४)। ३ इसके अन्त्यन्तर व बाह्य भागमें लवणोदवत् दिशा, विदिशा, अन्तरदिशा व पर्वतोंके प्रणिधि भागमें २४,२४ अन्तर्द्वीप स्थित है। (ति. प./४/१७२०); (ह. पु./५/५६७-५७२+५७६); (त्रि. सा./६३३); (ज. प./११/४६) वे दिशा विदिशा आदि वाले द्वीप क्रमसे तटसे ५००, ६५०, ६५० व ६५० योजनके अन्तरसे स्थित है तथा २००, १००, ५०, ५० योजन है। (ति. प./४/२७२२-२७२५) मतान्तरसे इनका अन्तराल क्रमसे ५००, ५५०, ६०० व ६५० है तथा विस्तार लवणोद वालोकी अपेक्षा दूना अर्थात् २००, १००० व ५० योजन है। (ह. पु./५/५७४)।

४. पुष्कर द्वीप

१. कालोद समुद्रको घेरकर १६००,००० के विस्तार युक्त पुष्कर द्वीप स्थित है। (ति. प./४/२७४४); (रा. वा./३/३३/६/१६६/८); (ह. पु./५/५७६); (ज. प./११/५७)। २. इसके बीच-बीच स्थित कुण्डलाकार मानुषोत्तर पर्वतके कारण इस द्वीपके दो अर्ध भाग हो गये हैं, एक अन्त्यन्तर और दूसरा बाह्य। (ति. प./४/२७४८); (रा. वा./३/३४/६/१६७/७); (ह. पु./५/५७७); (त्रि. सा./६३७); (ज. प./११/५८)। अन्त्यन्तर भागमें मनुष्योंकी स्थिति है पर मानुषोत्तर पर्वतको उल्लंघनकर बाह्य भागमें जानेकी उनकी सामर्थ्य नहीं है, (दे० मनुष्य/४/१)। (दे० चित्र सं. ३६, पृ. ४६४)। ३. अन्त्यन्तर पुष्करार्थ में धातकी खण्डवत् ही दो इष्वाकार पर्वत हैं जिनके कारण यह पूर्व व पश्चिमके दो भागोंमें विभक्त हो जाता है। दोनों भागोंमें धातकी खण्डवत् रचना है। (त. सू./३/३४); (ति. प./४/२७४४-२७५५); (ह. पु./५/५७८)। धातकी खण्डके समान यहाँ ये सब कुलगिरि तो पहियेके अरोंवत् समान विस्तारवाले और क्षेत्र उनके मध्य छिद्रोंमें हीनाधिक विस्तारवाले हैं। दक्षिण इष्वाकारके दोनों तरफ दो भरत क्षेत्र और इष्वाकारके दोनों तरफ दो ऐरावत क्षेत्र हैं। क्षेत्रों, पर्वतों आदिके नाम जम्बूद्वीपवत् है। (ति. प./४/२७६४-२७६६); (ह. पु./५/५७९)। ४. दोनों मेरुओंका वर्णन धातकी मेरुओंवत् है। (ति. प./४/२८१२); (त्रि. सा./६०६); (ज. प./४/६४)। ५. मानुषोत्तर पर्वतका अन्त्यन्तर भाग दीवारकी भाँति सीधा है, और बाह्य भागमें नीचेसे ऊपर तक क्रमसे घटता गया है। भरतादि क्षेत्रोंकी १४ नदियोंके गुजरनेके लिए इसके मूलमें १४ गुफायें हैं। (ति. प./४/२७५१-२७५२); (ह. पु./५/५६४-५६६); (त्रि. सा./६३७)। ६ इस पर्वतके ऊपर २२ कूट हैं।—तहाँ पूर्वादि प्रत्येक दिशामें तीन-तीन कूट हैं। पूर्वी विदिशाओमें दो-दो और पश्चिमी विदिशाओमें एक-एक कूट हैं। इन कूटोंकी अप्रभूमिमें अर्थात् मनुष्यलोककी तरफ चारों दिशाओमें ४ सिद्धायतन कूट हैं। (ति. प./४/२७६५-२७७०); (रा. वा./३/३४/६/१६७/१२); (ह. पु./५/५६८-६०१)। सिद्धायतन कूटपर जिनभवन हैं और शेषपर सपरिवार व्यन्तर देव रहते हैं। (ति. प./४/२७७५) मतान्तरकी अपेक्षा नैऋत्य व वायव्य दिशावाले एक-एक कूट नहीं है। इस प्रकार कुल २० कूट हैं। (ति. प./४/२७८३); (त्रि. सा./६४०) (दे० चित्र ३६ पृष्ठ स. ४६४)। ७. इसके ४ कुरुओंके मध्य जम्बू वृक्षवत् सपरिवार ४ पुष्कर वृक्ष हैं। जिनपर सम्पूर्ण कथन जम्बूद्वीपके जम्बू व शाक्यमली वृक्षवत् हैं। (स. सि./३/३४/२२८/४); (रा. वा./३/३४/६/१६७/४); (त्रि. सा./६३४)। ८. पुष्करार्थ द्वीपमें पर्वत क्षेत्रादिका प्रमाण बिलकुल धातकी खण्डवत् जानना (दे० लोक/४/२)।

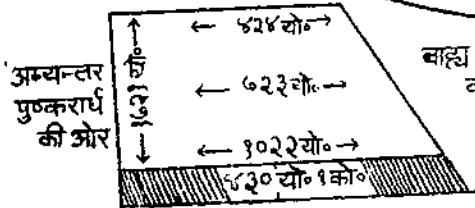
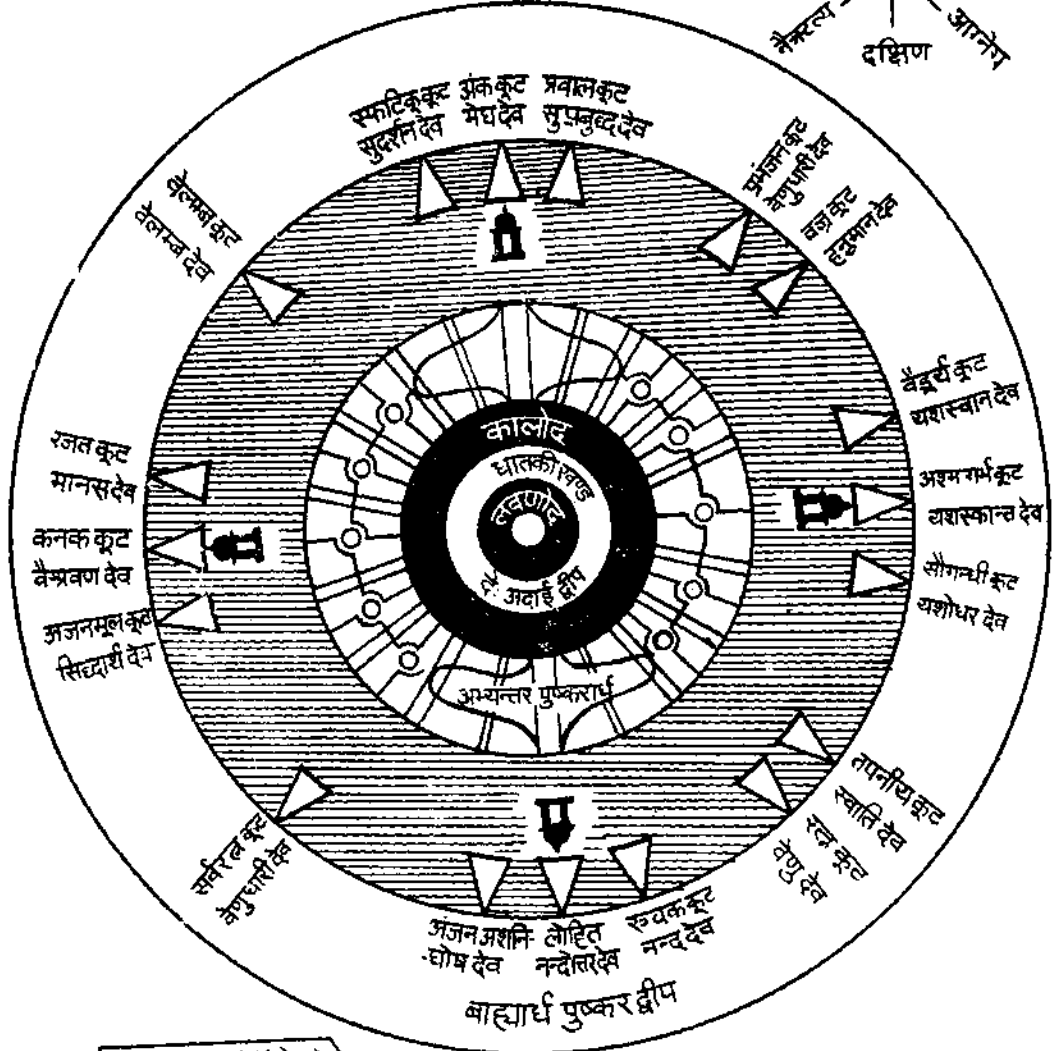
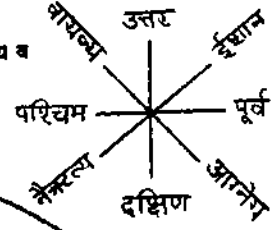
५. नन्दीश्वर द्वीप

१. अष्टम द्वीप नन्दीश्वर द्वीप है। (दे० चित्र सं. ३८, पृ. ४६५)। उसका कुल विस्तार १६३८४०,००० योजन प्रमाण है। (ति. प./५/५२-५३); (रा. वा./३/३५/१६८/४); (ह. पु./५/५६७); (त्रि. सा./६६६)। २. इसके बहुमध्य भागमें पूर्व दिशाकी ओर काले रंगका एक-एक अंजनगिरि पर्वत है। (ति. प./५/५७); (रा. वा./३/३६/१६८/७); (ह. पु./५/५६२); (त्रि. सा./६६७)। ३. उस अंजनगिरिके चारों तरफ १००,००० योजन छोड़कर ४ वापियो हैं। (ति. प./५/६०); (रा. वा./३/३५/१६८/६); (ह. पु./५/५६५); (त्रि. सा./६७०)। चारो वापियोका भीतरी अन्तराल ६५०४५ योजन है और बाह्य अन्तर २२२६६९ योजन है (ह. पु./५/६६६-६६८)। ४. प्रत्येक

चित्र सं० - ३६

मानुषोत्तर पर्वत

वृष्टिभेद :- २२ को बजाय २० कूट हैं। नैऋत्य व वायव्य दिशा वाले कूट नहीं हैं।

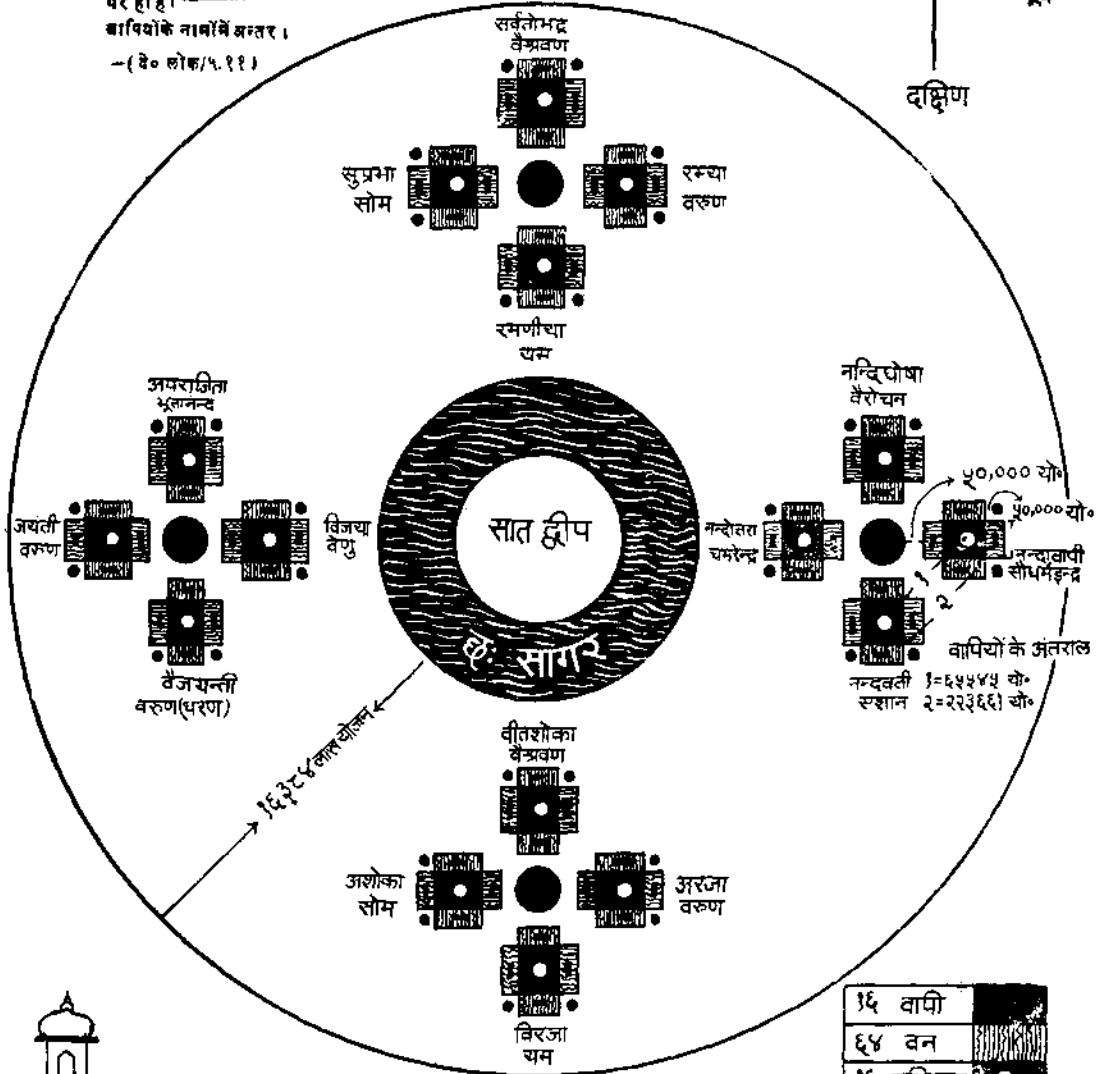
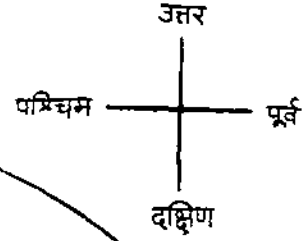


जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश

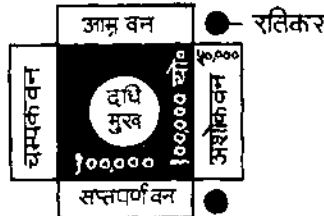
चित्र सं०-३८

नन्दीश्वर द्वीप

दृष्टिभेद :—प्रत्येक वापीके प्रत्येक कोण पर एक एक करके चार रतिकर हैं। परन्तु चैत्रघालय बाह्य कोणों वाले दो रतिकरों पर ही हैं।
 वापियोंके नामोंमें अन्तर ।
 —(दे० लोक/५.११)



नोट—इसी प्रकार दधिमुख व रतिकर भी जानने। विशेषता यह कि उनके रंग क्रमशः इधेत व लाल हैं; तथा उनका विस्तार क्रमशः १००० यो० व १००० यो० है।



१६ वापी	
६४ वन	
१६ दधिमुख	
३२ रतिकर	
४ अंजन गिरि	
६ समुद्र	
७ द्वीप	
वन में देवों के आवास	

जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश

भा० ३-५९

वापीकी चारो दिशाओमें अशोक, सप्तच्छद, चम्पक और आम्र नामके चार वन हैं। (ति प/५/६३०), (रा वा/३/३५/-/११८/२७), (ह. पु./५/६७९,६७२), (त्रि सा/१७९) । इस प्रकार द्वीपकी एक दिशामे १६ और चारों दिशाओमे ६४ वन है। इन सब पर अवतस आदि ६४ देव रहते है। (रा वा/३/३५/-/११६/३), (ह. पु./५/६८१) । ५. प्रत्येक वापीमे सफेद रंगका एक-एक दधिमुख पर्वत है। (ति प./५/६६), (रा वा./३/३५/-/११८/२५); (ह. पु./५/६६६), (त्रि. सा/१६७) । ६. प्रत्येक वापीके बाह्य दोनों कोनोंपर लालरगके दो रतिकर पर्वत हैं। (ति प./५/६७), (त्रि. सा./१६७) । लोक विनिश्चयकी अपेक्षा प्रत्येक द्रहके चारो कोनोपर चार रतिकर है। (ति. प/५/६६), (रा वा/३/३५/-/११८/३९), (ह. पु./५/६७३) । जिनमन्दिर केवल बाहर-वाले दो रतिकरोंपर ही होते है, अभ्यन्तर रतिकरोंपर देव क्रीडा करते है। (रा. वा./३/३५/-/११८/३३) । ७. इस प्रकार एक दिशामे एक अजनगिरि, चार दधिमुख, आठ रतिकर ये सब मिलकर १३ पर्वत है। इनके ऊपर १३ जिनमन्दिर स्थित हैं। इसी प्रकार शेष तीन दिशाओमें भी पर्वत द्रह, वन व जिन मन्दिर जानना। [कुल मिलकर ५२ पर्वत, ५२ मन्दिर, १६ वापियाँ और ६४ वन है। (ति प/५/७० ७५), (रा. वा./३/३५/-/११६/९), (ह. पु./५/६७६) (त्रि. सा/१७३) । ८. अष्टाहिक पर्वमे सौधर्म आदि इन्द्र व देवगण बड़ी भक्तिसे इन मन्दिरोंकी पूजा करते है। (ति. प/५/८३, १०२), (ह. पु/५/६८०), (त्रि. सा./१७५-१७६) । तहाँ पूर्व दिशामे कल्पवासी, दक्षिणमे भवनवासी, पश्चिममे अभ्यन्तर और उत्तरमे देव पूजा करते है। (ति. प/५/१००-१०१) ।

६. कुण्डलवर द्वीप

१ ग्यारहवाँ द्वीप कुण्डलवर नामका है, जिसके बहुमध्य भागमे मानुषोत्तरवद एक कुण्डलाकार पर्वत है। (ति प/५/११७), (ह. पु/६८६) । २. तहाँ पूर्वादि प्रत्येक दिशामे चार-चार कूट है। उनके अभ्यन्तर भागमें अर्थात् मनुष्यलोककी तरफ एक-एक सिद्धवर कूट है। इस प्रकार इस पर्वतपर कुल २० कूट है। (ति प./५/१२०-१२१); (रा वा./३/३५/-/११६/१२+१६); (त्रि. सा./-१४४) । जिनकूटोके अतिरिक्त प्रत्येकपर अपने-अपने कूटोके नामवाले देव रहते है। (ति प/५/१२५) । मतान्तरकी अपेक्षा आठो दिशाओमें एक-एक जिनकूट है। (ति प/५/१२८) । ३. लोक विनिश्चयकी अपेक्षा इस पर्वतकी पूर्वादि दिशाओमें-से प्रत्येकमें चार-चार कूट है। पूर्व व पश्चिम दिशावाले कूटोकी अग्रभूमिमें द्वीपके अधिपति देवोके दो कूट है। इन दोनो कूटोके अभ्यन्तर भागोमें चारों दिशाओमे एक-एक जिनकूट है। (ति.

प/५/१३०-१३६), (रा वा/३/३५/-/११६/७), (ह. पु/५/१६६-६६८) । मतान्तरकी अपेक्षा उनके उत्तर व दक्षिण भागोमे एक-एक जिनकूट है। (ति. प/५/१४०) । (दे० सामनेवाला चित्र) ।

७. रुचकवर द्वीप

१. तेरहवाँ द्वीप रुचकवर नामका है। उसमे बीचोबीच रुचकवर नामका कुण्डलाकार पर्वत है। (ति. प/५/१४१); (रा वा/३/-३५/-/११६/२२); (ह. पु./५/६६६) । २. इस पर्वनपर कुल ४४ कूट है। (ति. प./५/१४४) । पूर्वादि प्रत्येक दिशामे आठ-आठ कूट है जिनपर दिवकुमारियाँ देवियाँ रहती है, जो भगवात्के जन्म कल्याणके अवसर पर माताकी सेवामें उपस्थित रहती है। पूर्वादि दिशाओंवाली आठ-आठ देवियाँ क्रमसे भारी, दर्पण, छत्र व चँवर धारण करती है। (ति प./५/१४५, १४८-१५६), (त्रि. सा./१४७+१५५-१५६) इन कूटोंके अभ्यन्तर भागमे चारो दिशाओमे चार महाकूट है तथा इनकी भी अभ्यन्तर दिशाओमे चार अन्य कूट है। जिनपर दिशाएँ स्वच्छ करने वाली तथा भगवात्का जातकर्म करनेवाली देवियाँ रहती है। इनके अभ्यन्तर भागमे चार सिद्धकूट है। (दे० चित्र स, ४०, पृ. ४६८) । किन्ही आचार्योंके अनुसार विदिशाओंमे भी चार सिद्धकूट है। (ति प./५/१६२-१६६), (त्रि सा/१४७, १५८-१५९) । ३. लोक विनिश्चयके अनुसार पूर्वादि चार दिशाओमें एक-एक करके चार कूट है जिनपर दिग्गजेन्द्र रहते है। इन चारोके अभ्यन्तर भागमें चार दिशाओमें आठ-आठ कूट है जिनपर उपरोक्त माताकी सेवा करनेवाली ३२ दिवकुमारियाँ रहती है। उनके बीचकी विदिशाओंमें दो-दो करके आठ कूट है, जिनपर भगवात्का जातकर्म करनेवाली आठ महत्तरियाँ रहती है। इनके अभ्यन्तर भागमें पुन पूर्वादि दिशाओंमें चार कूट है जिनपर दिशाएँ निर्मल करनेवाली देवियाँ रहती है। इनके अभ्यन्तर भागमें चार सिद्धकूट है। (ति. प./५/१६७-१७८), (रा. वा./३/३५/-११६/२४), (ह. पु/५/७०४-७२१) । (दे० चित्र सं. ४९, पृ ४६६) ।

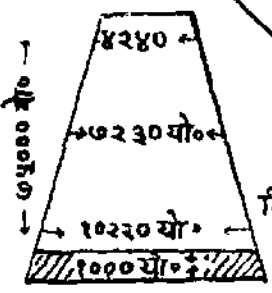
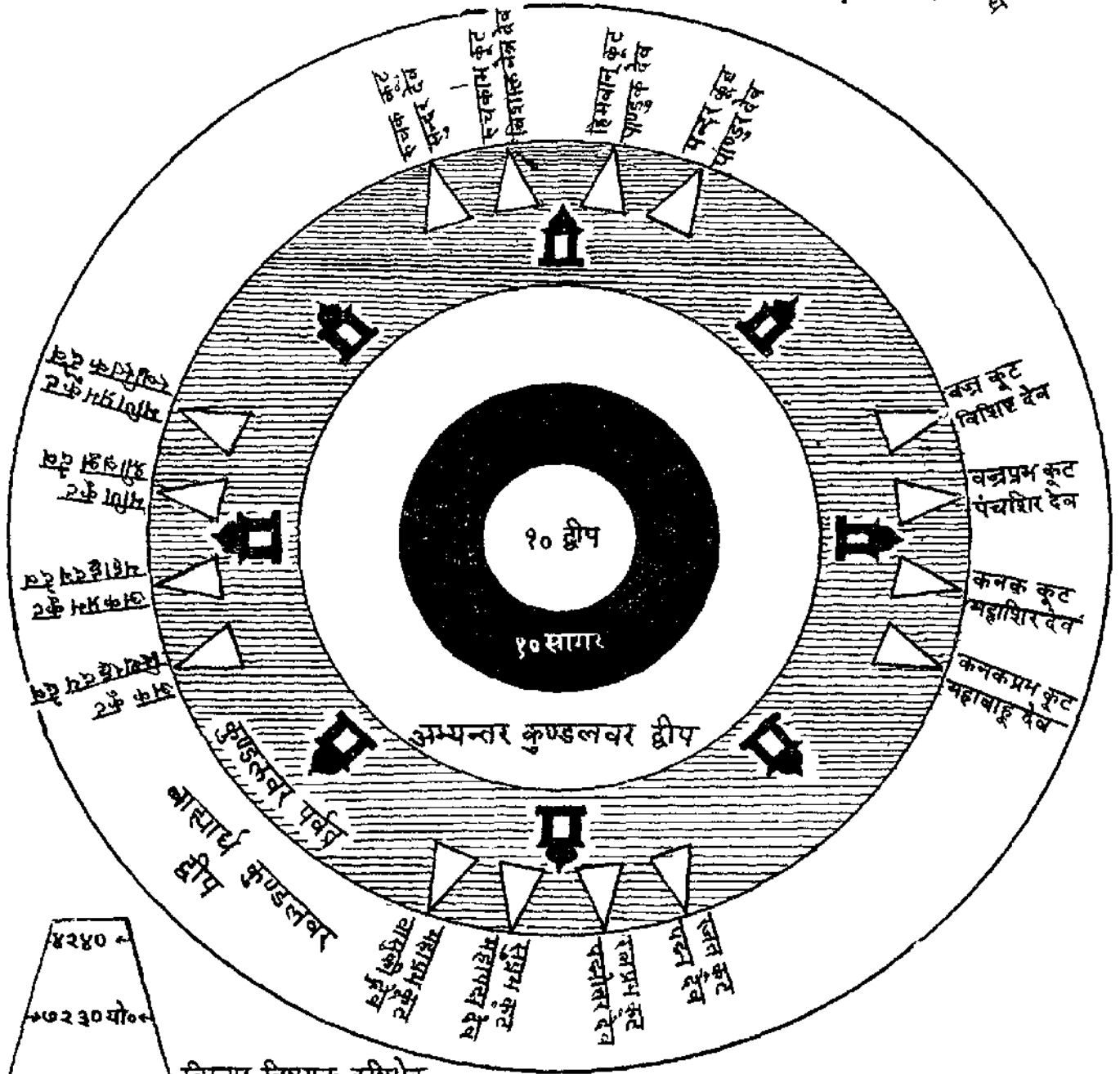
८. स्वयम्भूरमण समुद्र

अन्तिम द्वीप स्वयम्भूरमण है। इसके मध्यमें कुण्डलाकार स्वयम्भू पर्वत है। (ति. प./५/२३८); (ह. पु/५/७३०) । इस पर्वतके अभ्यन्तर भाग तक तिर्यंच नहीं होते, पर उसके परभागसे लेकर अन्तिम स्वयम्भूरमण सागरके अन्तिम किनारे तक सब प्रकारके तिर्यंच पाये जाते है। (दे० तिर्यंच/३/४-६) । (दे० चित्र सं. १२, पृ. ४४३) ।

चित्र सं० - ३६

कुण्डलवर पर्वत व द्वीप

दृष्टिभेद — विविशाओ वाले सिद्धापतन कूटोको कोई आचार्य मानते है और कोई नहीं । दे० लोक/१२



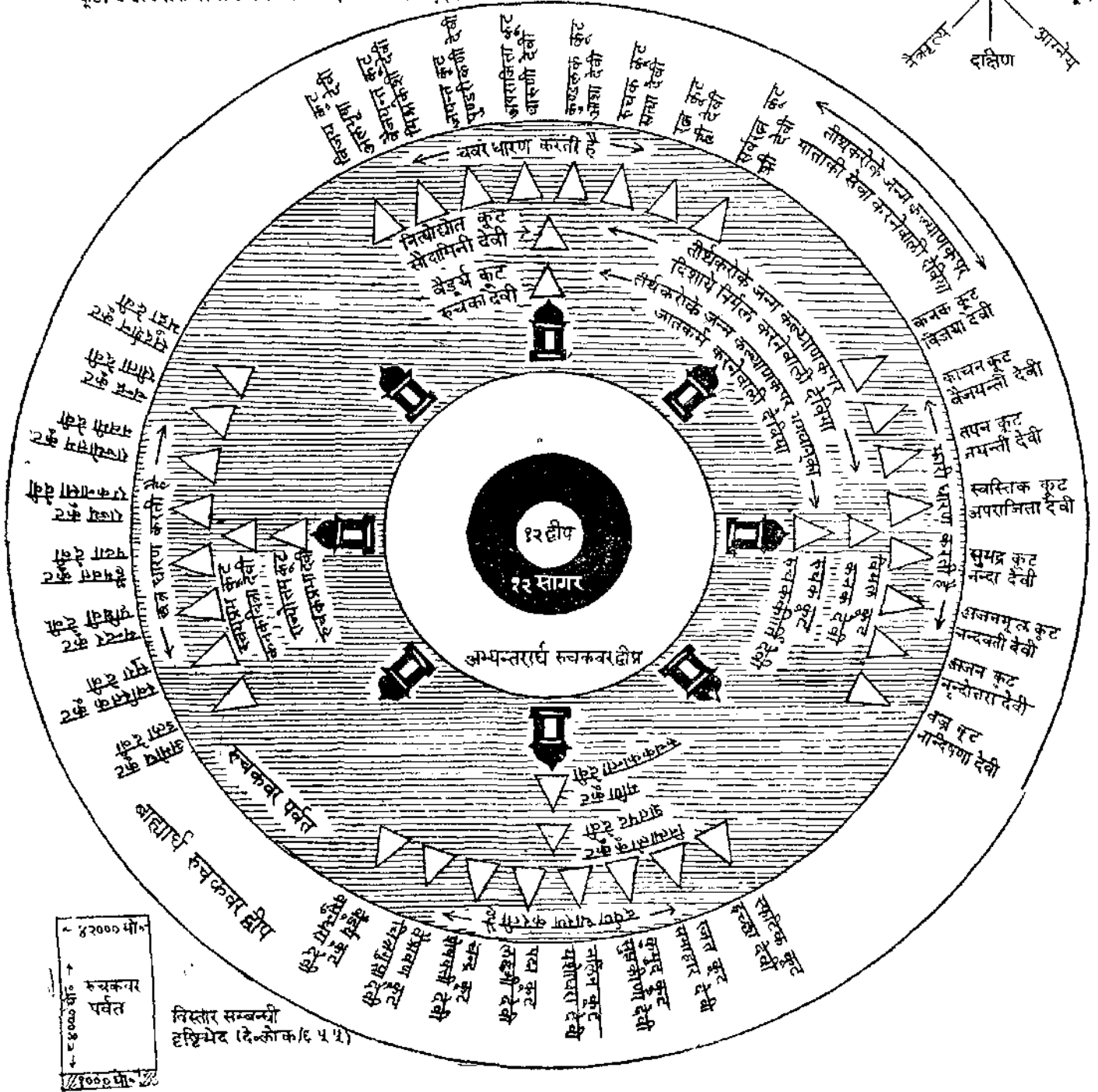
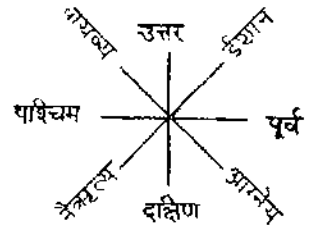
विस्तार विषयक दृष्टिभेद
(दे० लोक/६.५.४)

चित्र सं०-४०

रुचकवर पर्वत व द्वीप

दृष्टि सं०१

दृष्टिभेद — विविशाओं वाले सिद्धायतन कूटोको कोई आचार्य मानते हैं और कोई नहीं।
कूटो व देवियोंके नामोमे अन्तर। — (वे० लोक/५ १३)

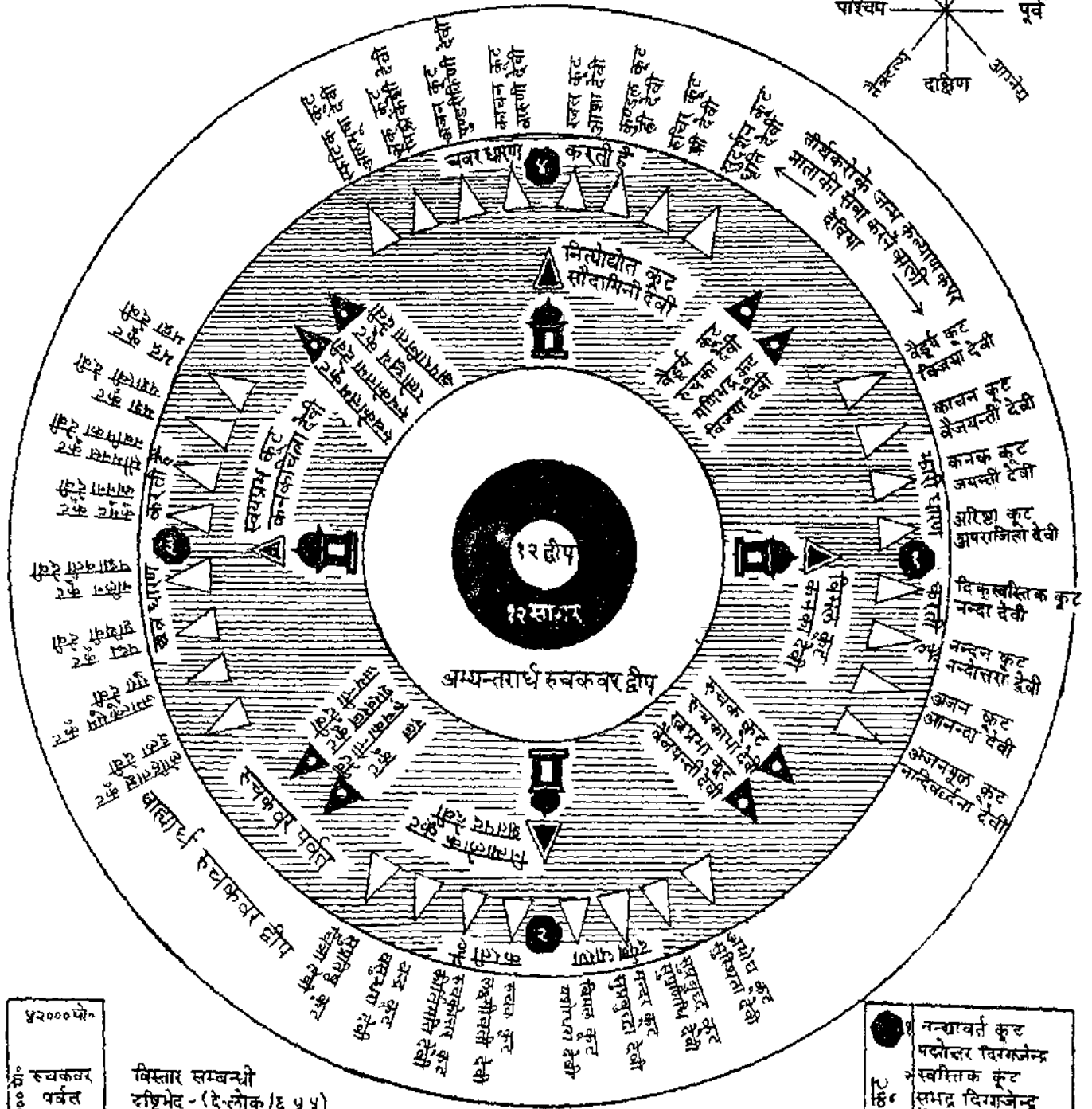


चित्र सं०-४१

रुचकवर पर्वत व द्वीप

दृष्टि नं० २

दृष्टिभेद — कूटो व देवियोंके नामोमे अन्तर। — (दे० लोक/५.१३)



४२००० योज०
रुचकवर पर्वत
२४००० योज०
४२००० योज०

विस्तार सम्बन्धी दृष्टिभेद - (दे० लोक/६.५५)

●	१ नन्दावर्त कूट
○	२ पद्मोत्तर विरगजेन्द्र
○	३ स्वस्तिक कूट
○	४ समुद्र दिग्गजेन्द्र
○	५ श्रीसूक्त कूट
○	६ भीम दिग्गजेन्द्र
○	७ वर्द्धमान कूट
○	८ अजनागिरि दिग्गजेन्द्र
▲	दिश उद्योतकारी देवियोंके ४ कूट
▲	तीर्थकारके उत्तकर्मकारी देवियोंके कूट

५. द्वीप पर्वतों आदिके नाम रस आदि

१. द्वीप समुद्रोंके नाम

१. मध्य भागसे प्रारम्भ करनेपर मध्यलोकमें क्रमसे १ जम्बू द्वीप; २. लवण सागर; धातकी खण्ड-कालोद सागर, ३. पुष्करवर द्वीप-पुष्करवर समुद्र, ४. वारुणीवर द्वीप-वारुणीवर समुद्र, ५. क्षीरवर द्वीप-क्षीरवर समुद्र, ६. घृतवर द्वीप-घृतवर समुद्र, ७. क्षौद्रवर (इक्षुवर) द्वीप-क्षौद्रवर (इक्षुवर) समुद्र; ८. नन्दीश्वर द्वीप-नन्दीश्वर समुद्र; ९. अरुणीवर द्वीप-अरुणीवर समुद्र, १०. अरुणाभास द्वीप-अरुणाभास समुद्र, ११. कुण्डलवर द्वीप-कुण्डलवर समुद्र; १२. शंखवर द्वीप-शंखवर समुद्र; १३. रुचकवर द्वीप-रुचकवर समुद्र; १४. भुजगवर द्वीप-भुजगवर समुद्र; १५. कुशवर द्वीप-कुशवर समुद्र; १६. क्रौंचवर द्वीप-क्रौंचवर समुद्र ये १६ नाम मिलते हैं। (सू. आ./१०७४-१०७८); (स. सि./३/७/२११/३ में केवल नं. ६ तक दिये हैं), (रा. वा./३/७/२/१६१/३० में नं. ८ तक दिये हैं); (ह. पु./५/६१३-६२०); (त्रि. सा./३/०४-३०७), (ज. प./११/८४-८६); २ संख्यात द्वीप समुद्र आगे जाकर पुन एक जम्बूद्वीप है। (इसके आगे पुन उपरोक्त नामोका क्रम चल जाता है।) ति. प./५/१७६), (ह. पु./५/१६६, ३६७), ३. मध्य लोकके अन्तसे प्रारम्भ करनेपर—१ स्वयंभूरमण समुद्र—स्वयंभूरमण द्वीप, २. अहीन्द्रवर सागर—अहीन्द्रवर द्वीप; ३. देववर समुद्र—देववर द्वीप; ४. यक्षवर समुद्र—यक्षवर द्वीप, ५. भूतवर समुद्र—भूतवर द्वीप; ६. नागवर समुद्र—नागवर द्वीप, ७. वैदूर्य समुद्र—वैदूर्य द्वीप; ८. वज्रवर समुद्र—वज्रवर द्वीप; ९. कांचन समुद्र—कांचन द्वीप, १०. रुच्यवर समुद्र—रुच्यवर द्वीप; ११. हिगुल समुद्र—हिगुल द्वीप; १२. अंजनवर समुद्र—अंजनवर द्वीप, १३. श्याम-समुद्रश्याम द्वीप, १४. सिन्दूर समुद्र—सिन्दूर द्वीप, १५. हरितास समुद्र—हरितास द्वीप; १६. मन.शिलसमुद्र—मन.शिलद्वीप। (ह. पु./५/६२२-६२६); (त्रि. सा./३/०५-३०७)।

३. सागरोंके जलका स्वाद—चार समुद्र अपने नामोके अनुसार रसवाले, तीन उदक रस अर्थात् स्वाभाविक जलके स्वादसे सयुक्त, शेष समुद्र ईश्वर समान रससे सहित है। तीसरे समुद्रमें मधुरूप जल है। वारुणीवर, लवणाब्धि, घृतवर और क्षीरवर, ये चार समुद्र प्रत्येक रस; तथा कालोद, पुष्करवर और स्वयंभूरमण, ये तीन समुद्र उदकरस है। (ति. प./५/२६-३०), (सू. आ./१०७६-१०८०); (रा. वा./३/३२/८/१६४/१७), (ह. पु./५/६२२-६२६), (त्रि. सा./३१६), (ज. प./११/६४-६६)।

२. जम्बू द्वीपके क्षेत्रोंके नाम

१. जम्बूद्वीप के महाक्षेत्रोंके नाम

जम्बूद्वीपमें ७ क्षेत्र है—भरत, हैमवत, हरि, विदेह, रम्यक, हैरण्यवत्, व ऐरावत। (दे० लोक/३/१/२)।

२. विदेह क्षेत्रके ३२ क्षेत्र व उनके प्रधान नगर

१ क्षेत्रों सम्बन्धी प्रमाण—(ति. प./४/२२०६), (रा. वा./३/१०/१३/१७६/१७६/१६+१७७/८,१६,२७), (ह. पु./५/२४४-२५२) (त्रि. सा./६८०-६६०), (ज. प./का पूरा ८ बाँ व ६ बाँ अधिकार)। २. नगरी सम्बन्धी प्रमाण—(ति. प./४/२२६३-२३०२); (रा. वा./३/१०/१३/१७६/१६+१७७/६,२०,२८), (ह. पु./५/२४७-२६४), (त्रि. सा./७१२-७१६), (ज. प./का पूरा ८-६ बाँ अधिकार)।

अव-स्थान	क्रम	क्षेत्र	नगरी
उत्तरी पूर्व विदेहमें पश्चिमकी ओर	१	कच्छा	क्षेमा ति.प./४/२२६=
	२	सुकच्छा	क्षेमपुरी
	३	महाकच्छा	रिष्ठा (अरिष्ठा)
	४	कच्छावती	अरिष्टपुरी
	५	आवर्ता	खड्गा
	६	लागलावर्ता	मंजूषा
	७	पुष्कला	औषध नगरी
दक्षिण पूर्व विदेहमें पूर्वसे पश्चिमकी ओर	८	पुष्कलावती (पुण्डरीकनी)	पुण्डरीकिणी
	९	वत्सा	सुसीमा
	१०	सुवत्सा	कुण्डला
	११	महावत्सा	अपराजिता
	१२	वत्साकावती (वत्सवत्)	प्रभकरा (प्रभाकरी)
	१३	रम्या	अंका (अंकावती)
	१४	सुरम्या (रम्यक)	पद्मावती
दक्षिण पश्चिम विदेहमें पूर्वसे पश्चिमकी ओर	१५	रमणीया	शुभा
	१६	मगलावती	रत्नसंचया
	१७	पद्मा	अश्वपुरी
	१८	सुपद्मा	सिंहपुरी
	१९	महापद्मा	महापुरी
	२०	पद्माकावती (पद्मवत्)	विजयपुरी
	२१	शखा	अरजा
उत्तरी पश्चिम विदेहमें पश्चिमसे पूर्वकी ओर	२२	नलिनी	विरजा
	२३	कुमुदा	शोका
	२४	सारि	वीतशाका
	२५	वप्रा	विजया
	२६	सुवप्रा	वैजयन्ता
	२७	महावप्रा	जयन्ता
	२८	वप्राकावती (वप्रावत्)	अपराजित
उत्तरी पश्चिम विदेहमें पश्चिमसे पूर्वकी ओर	२९	गधा (वल्गु)	चक्रपुरी
	३०	सुगन्धा-सुवल्गु	खड्गपुरी
	३१	गन्धला	अयोध्या
	३२	गन्धमालिनी	अवध्या

३. जम्बू द्वीपके पर्वतोंके नाम

१. कुलाचल आदिके नाम

१. जम्बूद्वीपमें छह कुलाचल हैं—हिमवान, महाहिमवान, निषध, नील, रुक्मि और शिखरी (दे० लो०/३/१२) । २. सुमेरु पर्वतके अनेको नाम हैं । (दे० सुमेरु) ३. कांचन पर्वतोंका नाम कांचन पर्वत ही है । विजयार्थ पर्वतोंके नाम प्राप्त नहीं हैं । शेषके नाम निम्न प्रकार हैं—
२. नाभिगिरि तथा उनके रक्षक देव

४. गजदन्तोंके नाम

वायव्य आदि दिशाओंमें क्रमसे सौमनस, विद्युत्प्रभ, गन्ध-मादन, व माण्यवात् ये चार हैं । (ति. प./४/२०१५) मतान्तरसे गन्धमादन, माण्यवात्, सौमनस व विद्युत्प्रभ ये चार हैं । (रा. वा./३१०/१३/१७३/२७, २८ + १७६/११, १७) ; (ह. पु./५/२१०-२१२) ; (त्रि. सा./६६३) ।

५. यमक पर्वतोंके नाम

अवस्थान	दिशा	ति प/४/२०७७-२१२४	रा वा./३/१०/१३/१७४/२३/१७५/२६
		ह.पु./५/१६१-१६२	ज प/६/१५.१८ ७७
		त्रि.सा./६६४-६६५	
देवकुरु	१ पूर्व	यमकूट	चित्रकूट
	२ पश्चिम	मेघकूट	विचित्र कूट
उत्तरकुरु	३ पूर्व	चित्रकूट	यमकूट
	४ पश्चिम	विचित्र कूट	मेघकूट

६. दिग्गजेन्द्रोंके नाम

देवकुरुमें सीतोदा नदीके पूर्व व पश्चिममें क्रमसे स्वस्तिक, अजन, भद्रशाल वनमें सीतोदाके दक्षिण व उत्तर तटपर अजन व कुमुद; उत्तरकुरुमें सीता नदीके पश्चिम व पूर्वमें अवतंस व रोचन, तथा पूर्वी भद्रशाल वनमें सीता नदीके उत्तर व दक्षिण तटपर पद्मोत्तर व नील नामक दिग्गजेन्द्र पर्वत हैं । (ति. प./४/२१०३ + २१२ + २१३ + २१४), (रा वा./३/१०/१३/१७८/६), (ह. पु./५/२०५-२०६), (त्रि. सा./६६१-६६२), (ज. प./४/७४-७५) ।

४. जम्बूद्वीपके पर्वतीय कूट व तन्निवासी देव

क्रम	कूट	देव	क्रम	कूट	देव
१. भरत विजयार्थ—(पूर्वसे पश्चिमकी ओर) (ति. प/४/१४८ + १६७), (रा वा./३/१०/४/१७२/१०), (ह.पु./५/२६), (त्रि सा/७३२-७३३), (ज प/२/४६) ।					
१	सिद्धायतन	जिनमन्दिर	६	पूर्णभद्र	पूर्णभद्र
२	(दक्षिणार्ध) भरत	(दक्षिणार्ध) भरत	७	तिमिस्र गुह्य	कृतमाल
३	खण्ड प्रपात	नृत्यमाल	८	(उत्तरार्ध)भरत	(उत्तरार्ध)भरत
४	मणिभद्र	मणिभद्र	९	वैश्रवण	वैश्रवण
५	विजयार्थ कुमार	विजयार्थ कुमार			

* नोट—त्रि. सा. में मणिभद्रके स्थानपर पूर्णभद्र और पूर्णभद्रके स्थान पर मणिभद्र है ।

२. ऐरावत विजयार्थ—(पूर्वसे पश्चिमकी ओर)
(ति प/४/२३६७), (ह पु/५/११०-११२), (त्रि. सा./७३३-७३५)

१	सिद्धायतन	जिनमन्दिर	६	पूर्णभद्र	पूर्णभद्र
२	(उत्तरार्ध) ऐरावत	(उत्तरार्ध) ऐरावत	७	तिमिस्र गुह्य	नृत्यमाल
३	खण्ड प्रपात	कृतमाल	८	(दक्षिणार्ध)ऐरावत	(दक्षिणार्ध)
४	मणिभद्र	मणिभद्र			ऐरावत
५	विजयार्थ कुमार	विजयार्थ कुमार	९	वैश्रवण	वैश्रवण

* नोट—त्रि. सा में नं. ३ व ७ पर क्रमसे खण्डप्रपात व तिमिस्र गुह्य नाम कूट और कृतमाल; व नृत्यमाल देव बताये हैं ।

नं०	क्षेत्रका नाम	पर्वतोंके नाम				देवोंके नाम
		ति. प./४/१७०४, १७४५ + २३३५, १७३०	रा. वा./३/१०/१३/१७२/२१ + १०/१०२/३१ + १६/१८१/२३	ह.पु./५/१६१, ३/२०६	ज प./३/२०६	
१	हैमवत	शब्दवात्	श्रद्धावात्	श्रद्धावात्	श्रद्धावती	शांती (स्वाति)
२	हरि	विजयवात्	विकृतवात्	विजय-वात्	निकटा-वती	चारण (अरुण)
३	रम्यक	पद्म	गन्धवात्	पद्मवात्	गन्धवती	पद्म
४	हैरण्यवत	गन्धमादन	माण्यवात्	गंधवात्	माण्य-वात्	प्रभास

३. विदेह वक्षारोंके नाम

(ति प./४/२२१०-२२१४); (रा. वा./३/१०/१३/१७४/३२ + १७७/६, १७, २५); (ह. पु./५/२२८-२३२); (त्रि सा/६६६-६६६); (ज. प./६वाँ ६वाँ अधिकार) ।

अवस्थान	क्र.	ति. प.	शेष प्रमाण
उत्तरीय पूर्व विदेहमें पश्चिमसे पूर्व की ओर	१	चित्रकूट	चित्रकूट
	२	नलिनकूट	पञ्चकूट
	३	पद्मकूट	नलिनकूट
	४	एक शैल	एक शैल
दक्षिण पूर्व विदेहमें पूर्वसे पश्चिमकी ओर	५	त्रिकूट	त्रिकूट
	६	वैश्रवणकूट	वैश्रवणकूट
	७	अजन शैल	अजन शैल
	८	आत्मांजन	आत्मांजन
दक्षिण अपर विदेहमें पूर्वसे पश्चिमकी ओर	९	श्रद्धावात्	
	१०	विजयवात्	
	११	आशीर्विष	आशीर्विष
	१२	सुखावह	सुखावह
	१३	चन्द्रगिरि (चन्द्र माल)	चन्द्रगिरि
पश्चिमसे पूर्वकी ओर	१४	सूर्यगिरि (सूर्य माल)	सूर्यगिरि
	१५	भागगिरि (नाग माल)	नागगिरि
	१६	देवमाल	

नोट—न. ९ पर ज प. में श्रद्धावती । न. १० पर रा. वा. में विकृतवात् त्रि. सा में विजयवात् और ज. प में विजटावती है । नं १६ पर ह. पु में मेघमाल है ।

क्र. सं.	कूट	देव	क्रम	कूट	देव
३. विदेहके ३२ विजयार्थ—(ति. प. ४/२२६०, २३०२-२३०३)					
१	सिद्धायतन	देवोके नाम	६	मणिभद्र	देवोके नाम
२	(दक्षिणार्ध)स्वदेश	भरत विजयार्थ	७	तिमिस्रगुह्य	भरत
३	खण्ड प्रपात	वत् जानने	८	(उत्तरार्ध) स्वदेश	विजयार्थ
४	पूर्ण भद्र		९	वैश्रवण	वत् जानने
५	विजयार्थकुमार				
४. हिमवान्—(पूर्वसे पश्चिमकी ओर)— (ति. प. ४/१६३२+१६५१), (रा. वा. ३/११/२/१८२/२४), (ह. पु. ५/५३-५५), (त्रि. सा. ७२१), (ज. प. ३/४०)					
१	सिद्धायतन	जिनमन्दिर	७	रोहितास्या	रोहितास्या
२	हिमवान्	हिमवान्		देवी	देवी
३	भरत	भरत	८	सिन्धु	सिन्धु देवी
४	इला	इलादेवी	९	सुरा	सुरा देवी
५	गंगा	गंगादेवी	१०	हैमवत	हैमवत
६	श्री	श्रीदेवी	११	वैश्रवण	वैश्रवण

५ महाहिमवान् (पूर्वसे पश्चिमकी ओर)

(ति. प. ४/१७२४-१७२६); (रा. वा. ३/११/४/१८३/४); (ह. पु. ५/७१-७२), (त्रि. सा. ७२४), (ज. प. ३/४१) ।

१	सिद्धायतन	जिन मन्दिर	५	हरि (ही)	हरि (ही)
२	महाहिमवान्	महाहिमवान्	६	हरिकान्त	हरिकान्त
३	हैमवत	हैमवत	७	हरिवर्ष	हरिवर्ष
४	रोहित	रोहित	८	वैश्रवण	वैश्रवण

६ निषध पर्वत—(पूर्वसे पश्चिमकी ओर)

(ति. प. ४/१७५५-१७६०); (रा. वा. ३/११/६/१८३/१७), (ह. पु. ५/५८-६६); (त्रि. सा. ७२५); (ज. प. ३/४२) ।

१	सिद्धायतन	जिनमन्दिर	६	विजय	विजय
२	निषध	निषध	७	सीतोदा	सीतोदा
३	हरिवर्ष	हरिवर्ष	८	अपर विदेह	अपर विदेह
४	पूर्व विदेह	पूर्व विदेह	९	रुचक	रुचक
५	हरि (ही)	हरि (ही)			

*नोट—रा. वा. व त्रि. सा. में नं. ६ पर धृति या धृति नामक कूट व देव कहे हैं। तथा ज. प. में नं. ४, ५, ६ पर क्रमसे धृति, पूर्वविदेह और हरिविजय नामक कूटदेव कहे हैं।

७ नील पर्वत—(पूर्वसे पश्चिमकी ओर)

(ति. प. ४/२३२८+२३३१); (रा. वा. ३/११/७/१८३/२४), (ह. पु. ५/६६-१०१), (त्रि. सा. ७२६), (ज. प. ३/४३) ।

१	सिद्धायतन	जिनमन्दिर	६	नारी	नारी
२	नील	नील	७	अपर विदेह	अपर विदेह
३	पूर्व विदेह	पूर्व विदेह	८	रम्यक	रम्यक
४	सीता	सीता	९	अपदर्शन	अपदर्शन
५	कीर्ति	कीर्ति			

नोट—रा. वा. व त्रि. सा. में नं. ६ पर नरकान्ता नामक कूट व देवी कहा है।

८ रुक्मि पर्वत—(पूर्वसे पश्चिमकी ओर)

(ति. प. ४/२३४१+२३४३); (रा. वा. ३/११/१०/१८३/३१);
(ह. पु. ५/१०२-१०४), (त्रि. सा. ७२७); (ज. प. ३/४४) ।

१	सिद्धायतन	जिनमन्दिर	५	बुद्धि	बुद्धि
२	रुक्मि (रूप्य)	रुक्मि (रूप्य)	६	रूप्यकृता	रूप्यकृता
३	रम्यक	रम्यक	७	हैरण्यवत	हैरण्यवत
४	नरकान्ता	नरकान्ता	८	मणिकाचन	मणिकाचन
				(कांचन)	(कांचन)

नोट—रा. वा. व त्रि. सा. में नं. ४ पर नारी नामक कूट व देव रहता है।

९ शिखरी पर्वत—(पूर्वसे पश्चिमकी ओर)

(ति. प. ४/२३५३-२३५६ + २३५३); (रा. वा. ३/११/१२/१८४/४),
(ह. पु. ५/१०५-१०८), (त्रि. सा. ७२८), (ज. प. ३/४५) ।

१	सिद्धायतन	जिनमन्दिर	७	काचन (सुवर्ण)	काचन
२	शिखरी	शिखरी	८	रक्तवती	रक्तवती देवी
३	हैरण्यवत	हैरण्यवत	९	गन्धवती	गन्धवती
				(गन्धार)	देवी
४	रस देवी		१०	रैवत (ऐरावत)	रैवत
५	रक्ता	रक्तादेवी	११	मणिकाचन	मणिकाचन
६	लक्ष्मी	लक्ष्मी देवी			

* नोट—रा. वा. में नं. ६, ७, ८, ९, १०, ११ पर क्रमसे प्लक्षणकृता, लक्ष्मी, गन्धदेवी, ऐरावत, मणि व कांचन नामक कूट व देव देवी कहे हैं।

१० विदेहके १६ वक्षार—

(ति. प. ४/२३१०), (रा. वा. ३/१०/१३/१७७/११), (ह. पु. ५/२३४-२३५), (त्रि. सा. ७४३) ।

१	सिद्धायतन	जिनमन्दिर	३	पहले क्षेत्रका नाम	कूट सदृश नाम
२	स्व वक्षारका नाम	कूट सदृश नाम	४	पिछले क्षेत्रका नाम	कूट सदृश नाम

* नोट—ह. पु. में नं. ४ कूटपर दिक्कुमारी देवीका निवास बताया है।

११ सौमनस गजदन्त—(मेरुसे कुलगिरिकी ओर)

(ति. प. ४/२०३१+२०४३-२०४४), (रा. वा. ३/१०/१३/१७५/१३);
(ह. पु. ५/२२९, २३७), (त्रि. सा. ७३६) ।

(ति. प., ह. पु.; त्रि. सा.) (रा. वा.)

१	सिद्धायतन	जिनमन्दिर	१	सिद्धायतन	जिनमन्दिर
२	सौमनस	सौमनस	२	सौमनस	सौमनस
३	देवकुरु	देवकुरु	३	देवकुरु	देवकुरु
४	मंगल	मंगल	४	मंगलावत	मंगल
५	विमल	वत्समित्रा देवी	५	पूर्वविदेह	पूर्वविदेह
६	काचन	सुवत्सा (सुमित्रा देवी)	६	कनक	सुवत्सा
			७	काचन	वत्समित्रा
७	विशिष्ट	विशिष्ट	८	विशिष्ट	विशिष्ट

सं.	कूट	देव	सं.	कूट	देव
१२. विद्युत्प्रभ गजदन्त—(मेरुसे कुलगिरिकी ओर) (ति. प./४/२०४५-२०४६ + २०४३ + २०४४); (रा. वा./३/१०/१३/१७५/१८), (ह. पु./५/२२२, २२७); (त्रि. सा./७३६-७४०) । (ति. प.; ह. पु., व त्रि. सा.) (रा. वा.)					
१	सिद्धायतन	जिनमन्दिर	१	सिद्धायतन	जिनमन्दिर
२	विद्युत्प्रभ	विद्युत्प्रभ	२	विद्युत्प्रभ	विद्युत्प्रभ
३	देवकुरु	देवकुरु	३	देवकुरु	देवकुरु
४	पद्म	पद्म	४	पद्म	पद्म
५	तपन	वारिषेगादेवी	५	विजय	वारिषेगादेवी
६	स्वरितक	बला देवी *	६	अपर विदेह	बलादेवी
७	शतउज्ज्वल (शतज्वाल)	शतउज्ज्वल (शतज्वाल)	७	स्वस्तिक	स्वस्तिक
८	सीतादा	सीतादा	८	शतज्वाल	शतज्वाल
९	हरि	हरि	९	सीतादा	सीतादा
१०			१०	हरि	हरि

*नोट—ह. पु. में बलादेवीके स्थानपर अचलादेवी कहा है ।

१३. गन्धमादन गजदन्त—(मेरुसे कुलगिरिकी ओर)
(ति. प./४/२०४७-२०४८); (रा. वा./३/१०/१३/१७३/२४);
(ह. पु./५/२१७-२१८ + २२७), (त्रि. सा./७४०-७४१) ।

१	सिद्धायतन	जिनमन्दिर	१	लोहित*	भोगवती
२	गन्धमादन	गन्धमादन	२	स्फटिक*	भोगवृत्ति (भोगकरा)
३	देवकुरु*	देवकुरु*	३		
४	गन्धव्यास (गन्धमालिनी)	गन्धव्यास	४	आनन्द	आनन्द

*नोट—त्रि. सा. में सं ३ पर उत्तरकुरु कहा है । और रा. वा. में लोहितके स्थान पर स्फटिक व स्फटिकके स्थानपर लोहित कहा है ।

१४. माख्यवान् गजदन्त—(मेरुसे कुलगिरिकी ओर)
(ति. प./४/२०६०-२०६२); (रा. वा./३/१०/१३/१७३/३०),
(ह. पु./५/२१६-२२० + २२४); (त्रि. सा./७३८) ।
(ति. प., ह. पु.; त्रि. सा.) (रा. वा.)

१	सिद्धायतन	जिनमन्दिर	१	सिद्धायतन	जिनमन्दिर
२	माख्यवान्	माख्यवान्	२	माख्यवान्	माख्यवान्
३	उत्तरकुरु	उत्तरकुरु	३	उत्तरकुरु	उत्तरकुरु
४	कच्छ	कच्छ	४	कच्छ	कच्छ
५	सागर	भोगवतीदेवी (सुभोगा)	५	विजय	विजय
६	रजत	भोगमालिनी देवी	६	सागर	भोगवती
७	पूर्णभद्र	पूर्णभद्र	७	रजत	भोगमालिनी
८	सीता	सीतादेवी	८	पूर्णभद्र	पूर्णभद्र
९	हरिसह	हरिसह	९	सीता	सीता
			१०	हरि	हरि

सं.	कूट	देव	सं.	कूट	देव
५. सुमेरु पर्वतके वनोंमें कूटोंके नाम व देव (ति. प./४/१६६६-१६७७); (रा. वा./३/१०/१३/१७६/१६); (ह. पु./५/३२६); (त्रि. सा./६२७); (ज. प./४/१०५) । (ति. प.) सौमनस वनमें (शेष ग्रन्थ) नन्दन वनमें					
१	नन्दन	मेघकरा	१	नन्दन	मेघकरी
२	मन्दर	मेघवती	२	मन्दर	मेघवती
३	निषध	सुमेधा	३	निषध	सुमेधा
४	हिमवान्	मेघमालिनी	४	हिमवत्*	मेघमालिनी
५	रजत	तोयधरा	५	रजत*	तोयधरा
६	रुचक	विचित्रा	६	रुचक*	विचित्रा
७	सागरचित्र	पुष्पमाला	७	सागरचित्र	पुष्पमाला*
८	वज्र	अनिन्दिता	८	वज्र	आनिन्दिता

*नोट—ह. पु. में सं, ४ पर हिमवत्; सं, ६ पर रजत; सं, ८ पर चित्रक नाम दिये हैं । ज. प. में सं, ४ पर हिमवान्, सं, ५ पर विजय नामक कूट कहे हैं । तथा सं, ७ पर देवीका नाम मणिमालिनी कहा है ।

६. जम्बूद्वीपके द्रहों व वापियोंके नाम

१. हिमवान् आदि कुलाचलोंपर—

[क्रमसे पद्म, महापद्म, तिगिछ, केसरी, महापुण्डरीक व पुण्डरीक द्रह है । ति. प. में रुक्मि पर्वतपर महापुण्डरीकके स्थानपर पुण्डरीक तथा शिखरी पर्वतपर पुण्डरीकके स्थानपर महापुण्डरीक कहा है । (दे० लोक/३/१.४ व लोक/३/६) ।

२. सुमेरु पर्वतके वनोंमें—आग्नेय दिशाको आदि करके (ति. प./४/१६४६, १६६२-१६६३), (रा. वा./३/१०/१३/१७६/२६); (ह. पु./५/३३४-३४६), (त्रि. सा./६२८-६२९), (ज. प./४/११०-११३) ।

	सौमनसवन (ति. प.)	नन्दन वन (रा. वा.)	सौमनसवन (ति. प.)	नन्दनवन (रा. वा.)
१	उत्पलगुल्मा	उत्पलगुल्मा	७	कज्जला
२	नलिना	नलिना	८	कज्जलप्रभा
३	उत्पला	उत्पला	९	श्रीभद्रा
४	उत्पलोज्ज्वला	उत्पलोज्ज्वला	१०	श्रीकान्ता
५	भृंगा	भृंगा	११	श्रीमहिता
६	भृगनिभा	भृगनिभा	१२	श्रीनिलया
				श्रीमहिता

सं०	सौमनसवनमें ति. प.	नन्दनवनमें रा. वा.	सं०	सौमनसवनमें ति. प.	नन्दनवनमें रा. वा.
१३	नलिना (पद्मा)	नलिना (पद्मा)	१५	कुमुदा	कुमुदा
१४	नलिनगुल्मा (पद्मगुल्मा)	नलिनगुल्मा (पद्मगुल्मा)	१६	कुमुदप्रभा	कुमुदप्रभा

नोट—ह. पु., त्रि. सा, व ज. प. में नन्दनवनकी अपेक्षा ति. प. वाले ही नाम दिये हैं।

३. देव व उत्तरकुरुमे
(ति. प./४/२०६१-२१२६); (रा. वा /३/१०/१३/१७४/२६ + १७५/५.६, ६, २८), (ह. पु /५/१६४-१६६); (त्रि. सा./६५७), (ज. प./६/२८, ८३)।

सं०	देवकुरुमे दक्षिणसे उत्तर- की ओर	उत्तरकुरुमे उत्तरसे दक्षिण- की ओर	सं०	देवकुरुमे दक्षिणसे उत्तर- की ओर	उत्तरकुरुमे उत्तरसे दक्षिणकी ओर
१	निषध	नील	४	सुलस	ऐरावत
२	दैवकुरु	उत्तरकुरु	५	विद्युत् (तडितप्रभ)	माव्यवाच्
३	सूर	चन्द्र			

३. विदेह क्षेत्रकी १२ विभंगा नदियोंके नाम

(ति. प/४/२२१५-२२१६), (रा वा /३/१०/१३/१७५/३३ + १७७/७, १७, २५), (ह पु./५/२३६-२४३), (त्रि सा /६६६-६६६), (ज. प / --६वाँ अधिकार)।

अवस्थान	सं.	नदियोंके नाम			
		ति. प.	रा वा	त्रि सा	ज. प.
उत्तरीपूर्व विदेह- मे पश्चिमसे पूर्वकी ओर	१	द्रहवती	ग्राहवती	गाध- वती	ग्रहवती
	२	ग्राहवती	हृदया- वती	द्रहवती	द्रहवती
	३	पंकवती	पंकावती	पकवती	पकवती
दक्षिणी पूर्व विदेहमे पूर्वसे पश्चिमकी ओर	१	तप्तजला	तप्तजला	तप्तजला	तप्तजला
	२	मत्तजला	मत्तजला	मत्तजला	मत्तजला
	३	उन्मत्तजला	उन्मत्तज.	उन्मत्तज.	उन्मत्तज.
दक्षिणी अपर विदेहमे पूर्वसे पश्चिमकी ओर	१	क्षीरोदा	क्षीरोदा	क्षीरोदा	क्षीरोदा
	२	सीतोदा	सीतोदा	सीतोदा	सीतोदा
	३	औषध बाहिनी	सं तान्तर बाहिनी	सोतो- बाहिनी	सोतो- बाहिनी
उत्तरी अपर विदेहमे पश्चिम- से पूर्वकी ओर	१	गंभीरमालिनी	गंभीरमा.	गंभीरमा.	गंभीरमा.
	२	फेनमालिनी	फेनमा.	फेनमा	फेनमा.
	३	उर्मिमालिनी	उर्मिमा.	उर्मिमा	उर्मिमा

७. महाद्रहोंके कूटोंके नाम

१ पद्मद्रहके तटपर ईशान आदि चार विदिशाओमें वैश्रवण, श्रीनिचय, क्षुद्रहिमवाच् व ऐरावत ये तथा उत्तर दिशामे श्रीसंचय ये पाँच कूट है। उसके जलमे उत्तर आदि आठ दिशाओमें जिनकूट, श्रीनिचय, वैद्युर्य, अकमय, आश्चर्य, रुचक, शिखरी व उरपल ये आठ कूट है। (ति. प /४/१६६०-१६६५)। २ महापद्म आदि द्रहोंके कूटोंके नाम भी इसी प्रकार हैं। विशेषता यह है कि हिमवाच्के स्थानपर अपने-अपने पर्वतोंके नामवाले कूट है। (ति. प /४/१७३०-१७३४, १७६५-१७६६)।

९. रुवणसागरके पर्वत पाताल व तन्निवासी देवोंके नाम

(ति. प./४/२४१० + २४६०-२४६६); (ह. पु /५/४४३, ४६०); (त्रि. सा./८६७ + ६०५-६०७); (ज. प./१०/६ + ३०-३३)।

८. जम्बूद्वीपकी नदियोंके नाम

१. भरगादि महाक्षेत्रोंमें

क्रमसे गंगा-सिन्धु, रोहित-रोहितास्या, हरित् हरिकान्ता; सीता-सीतोदा, नारी-नरकान्ता, सूवर्णकूला-रुप्यकूला, रक्ता-रक्तोदा ये १४ नदियाँ हैं। (दे० लोक/३/१-७ व लोक/३/११)।

२. विदेहके ३२ क्षेत्रोंमें

गंगा-सिन्धु नामकी १६ और रक्ता-रक्तोदा नामकी १६ नदियाँ हैं। (दे० लोक/३/११)।

दिशा	सागरके अन्यन्तर भागकी ओर		मध्यवर्ती पातालका नाम	सागरके बाह्यभागकी ओर	
	पर्वत	देव		पर्वत	देव
पूर्व	कौस्तुभ	कौस्तुभ	पाताल	कौस्तुभावास	कौस्तुभावास
दक्षिण	उदक	शिव	कदम्ब	उदकावास	शिवदेव
पश्चिम	शंख	उदकावास	बडवामुख	महाशंख	उदक
उत्तर	दक	लोहित (रोहित)	यूपकेशरी	दकवास	लोहिताक

नोट—त्रि. सा, में पूर्वादि दिशाओमें क्रमसे बडवामुख, कदम्बक, पाताल व यूपकेशरी नामक पाताल बताये हैं।

१०. मानुषोत्तर पर्वतके कूटों व देवोंके नाम

(ति. प./४/२७६६+२७७६-२७८२); (रा. वा./३/३४/६/१६७/१४);
(ह. पु./५/६०२-६१०); (त्रि. सा./६४२) ।

दिशा	सं०	कूट	देव
पूर्व	१	वैदूर्य	यशस्वान्
	२	अशमगर्भ	यशस्कान्त
	३	सौगन्धी	यशोधर
दक्षिण	४	रुचक	नन्द (नन्दन)
	५	लोहित	नन्दोत्तर
	६	अंजन	अशनिषोष
पश्चिम	७	अंजनमूल	सिद्धार्थ
	८	कनक	वैश्रवण (क्रमण)
	९	रजत	मानस (मानुष्य)
उत्तर	१०	स्फटिक	सुदर्शन
	११	अंक	मेघ (अमोघ)
	१२	प्रवाल	सुप्रबुद्ध
आग्नेय	१३	तपनीय	स्वाति
	१४	रत्न	वेणु
	१५	प्रभजन*	वेणुधारी
ईशान	१६	वज्र	हनुमान
	१७	वेलम्ब*	वेलम्ब
	१८	सर्वरत्न*	वेणुधारी (वेणुनीत)

नोट—रा. वा. व. ह. पु. में सं. १५, १७ व १८ के स्थानपर क्रमसे सर्वरत्न, प्रभजन व वेलम्ब नामक कूट हैं। तथा वेणुताल, प्रभजन व वेलम्ब ये क्रमसे उनके देव हैं।

११. नन्दीश्वर द्वीपकी वापियाँ व उनके देव

पूर्वादि क्रमसे

(ति. प./५/६३-७८); (रा. वा./३/३४/-/१६८/१); (ह. पु./५/६६६-६६६); (त्रि. सा./६६६-६७०) ।

दिशा	सं.	ति. प. व. त्रि. सा.	रा. वा.	ह. पु.
पूर्व	१	नन्दा	नन्दा	सौधर्म
	२	नन्दवती	नन्दवती	ऐशान
	३	नन्दोत्तरा	नन्दोत्तरा	चमरेन्द्र
	४	नन्दिषोष	नन्दिषोष	वैरोचन
दक्षिण	१	अरजा	विजया	वरुण
	२	विरजा	वैजयन्ती	यम
	३	अशोका	जयन्ती	सोम
	४	वीतशोका	अपराजिता	वैश्रवण

दिशा	सं.	ति. प. व. त्रि. सा.	रा. वा.	ह. पु.
पश्चिम	१	विजया	अशोका	वेणु
	२	वैजयन्ती	सुप्रबुद्धा	वेणुताल
	३	जयन्ती	कुमुदा	वरुण (धरण)
	४	अपराजिता	पुण्डरीकिणी	धृतानन्द
उत्तर	१	रम्या	प्रभंकरा	वरुण
	२	रमणीय	सुमना	यम
	३	सुप्रभा	धानन्दा	सोम
	४	सर्वतोभद्रा	सुदर्शना	वैश्रवण

नोट—दक्षिणके कूटोंपर सौधर्म इन्द्रके लोकपाल, तथा उत्तरके कूटोंपर ऐशान इन्द्रके लोकपाल रहते हैं।

१२. कुण्डलवर पर्वतके कूटों व देवोंके नाम

दृष्टि सं० १—(ति. प./५/१२२-१२६); (त्रि. सा./६४४-६४६);

दृष्टि सं० २—(ति. प./५/१३३); (रा. वा./३/३४/-/१६६/१०)
(ह. पु./५/६६०-६६४) ।

दिशा	कूट	देव	
		दृष्टि सं. १	दृष्टि सं. २
पूर्व	वज्र	नाम सदृश कूट स्व स्थ	विशिष्ट (त्रिशिरा)
	वज्रप्रभ		पंचशिर
	कनक		महाशिर
	कनकप्रभ		महाबाहू
दक्षिण	रजत		पद्म
	रजतप्रभ (रजताभ)		पद्मोत्तर
	सुप्रभ		महापद्म
	महाप्रभ		वासुकी
पश्चिम	अंक		स्थिरहृदय
	अंकप्रभ		महाहृदय
	मणि		श्री वृक्ष
	मणिप्रभ		स्वस्तिक
उत्तर	रुचक*	सुन्दर	
	रुचकाभ*	विशालनेत्र	
	हिमवात्*	पाण्डुक*	
	मन्दर*	पाण्डुर*	

नोट—रा. वा. व. ह. पु. में उत्तर दिशाके कूटोंका नाम क्रमसे स्फटिक, स्फटिकप्रभ, हिमवात् व महेन्द्र बताया है। अन्तिम दो देवोंके नामोंमें पाण्डुकके स्थानपर पाण्डुर और पाण्डुरके स्थानपर पाण्डुक बताया है।

१३. रुचकवर पर्वतके कूटों व देवीके नाम

१. दृष्टि सं० १ की अपेक्षा

(ति. प./१/१४६-१६३), (रा. वा./३/३५/-/१६६/२८), (ह. पु./१/७०६-७१७), (त्रि. सा./१४४५-६५८) ।

दिशा	सं.	ति. प. ; त्रि. सा.		देवियोंका काम	रा. वा. , ह. पु.		देवियोंका काम
		कूट	देवी		कूट	देवी	
पूर्व	१	कनक	विजया	जन्म करवाणकपर फारो धारण करना	वैदूर्य	विजया	जन्म करवाणकपर फारो धारण करना
	२	काचन	वैजयन्ती		काचन	वैजयन्ती	
	३	तपन	जयन्ती		कनक	वैजयन्ती	
	४	स्वतिक-दिशा	अपराजिता		अरिष्टा	अपराजिता	
	५	सुभद्र	नन्दा		दिकस्वतिक	नन्दा	
	६	अजनमूल	नन्दवती		नन्दन	नन्दोत्तरा	
	७	अजनवज्र	नन्दोत्तर		अंजन	आनन्दा	
दक्षिण	१	स्फटिक	इच्छा	जन्म करवाणकपर दर्पण धारण करना	अमोघ	सुस्थिता	दर्पण धारण करना
	२	रजत	समाहार		सुप्रबुद्ध	सुप्रणिधि	
	३	कुमुद	सुसकीर्णा		मन्दिर	सुप्रबुद्धा	
	४	नलिन	यशोधरा		विमल	यशोधरा	
	५	पद्म	लक्ष्मी		रुचक	लक्ष्मीवती	
	६	चन्द्र	शेषवती		रुचकोत्तर	कीर्तिमती	
	७	वैश्रवण	चित्रगुप्ता		चन्द्र	वसुन्धरा	
पश्चिम	१	अमोघ	इला	जन्म करवाणकपर छत्र धारण करना	लोहिताक्ष	इला	जन्म करवाणकपर छत्र धारण करना
	२	स्वस्तिक	सुरादेवी		जगत्कुसुम	सुरा	
	३	मन्दर	पृथिवी		पद्म	पृथिवी	
	४	हैमवत्	पद्मा		नलिन	पद्मावती	
	५	राज्य	एकनासा		कुमुद	कानना	
	६	राज्योत्तम	नर्दमी		सौमनस	नवमिका	
	७	चन्द्र	सीता		यश	यशस्वी	
उत्तर	१	विजय	अलभूषा	जन्म करवाणकपर चक्र धारण करना	स्फटिक	अलभूषा	जन्म करवाणकपर चक्र धारण करना
	२	वैजयन्त	मिश्रकेशी		अक	मिश्रकेशी	
	३	जयन्त	पुण्डरीकिणी		अजन	पुण्डरीकिणी	
	४	अपराजित	वारुणी		कांचन	वारुणी	
	५	कुण्डलक	आशा		रजत	आशा	
	६	रुचक	सरया		कुण्डल	हो	
	७	रत्नकूट	ही		रुचिर	श्री	
८	सर्वरत्न	श्री	सुदर्शन	धृति			

दिशा	सं.	ति. प. , त्रि. सा.		देवियोंका काम	ति. प. , त्रि. सा.		देवियोंका काम
		कूट	देवी		कूट	देवी	
उपरोक्त की अभ्यन्तर दिशाओंमें	१	विमल	वनका	दिशाओंमें निर्मित करना	x	x	
	२	नित्यालोक	शतपदा (शतहृदा)				
	३	स्वयंप्रभ	कनकचित्रा				
	४	नित्योद्योत	सौदामिनी				
उपरोक्त की अभ्यन्तर दिशाओंमें	१	रुचक	रुचककीर्ति	जातकर्म करना			
	२	मणि	रुचककान्ता				
	३	राज्योत्तम	रुचकप्रभा				
	४	वैदूर्य	रुचका				

२ दृष्टि सं २ की अपेक्षा—

(ति. प./५/१६६-१७७); (रा. वा./३/३५/-/१६६/२४); (ह. पु./५/७०२-७२७) ।

दिशा	सं.	(ति. प.)		देवीका काम	रा. वा. ; ह. पु.		देवीका काम
		कूट	देवी		कूट	देवी	
चारों दिशाओंमें	१	नन्द्यावर्त	पद्मोत्तर	द्विपार्श्व	←	←	
	२	स्वस्तिक	सुभद्र		←	सहस्ती	
	३	श्रीवृक्ष	नील		←	←	
	४	वर्धमान	अंजनगिरि		←	←	
अभ्यन्तर दिशाओंमें ६२ दे० पूर्वोक्त दृष्टि सं. १ में प्रत्येक दिशाके आठ कूट							
विदिशाओंमें प्रदक्षिणा रूपसे	१	वैदूर्य	रुचका	दिशाओंमें उद्योत करना	←	←	दिशाओंमें उद्योत करना
	२	मणिभद्र	विजया		रत्न	विजया	
	३	रुचक	रुचकाभा		←	←	
	४	रत्नप्रभ	वैजयन्ती		←	←	
	५	रत्न	रुचकान्ता		मणिप्रभ	रुचककान्ता	
	६	शखरत्न	जयन्ती		सर्वरत्न	जयन्ती	
	७	रुचकोत्तम	रुचकोत्तमा		←	रुचकप्रभा	
	८	रत्नोद्योत	अपराजिता		←	←	
उपरोक्त के अभ्यन्तर भागमें चारों दिशाओंमें	१	विमल	कनका	दिशाओंमें उद्योत करना	←	←	
	२	नित्यालोक	शतपदा (शतहृदा)		←	कनकचित्रा	
	३	स्वयंप्रभ	कनकचित्रा		←	त्रिशिरा	
	४	नित्योद्योत	सौदामिनी		←	सूत्रमणि	

१४. पर्वतों आदिके वर्ण—

सं.	नाम	प्रमाण					वर्ण		
		ति.प./४/ गा. सं.	रा.वा/३/सु./ वा./पृ/पंक्ति	ह.पु./५/ श्लो. सं.	त्रि. सा./ गा. सं.	ज. प./ अधि./गा.	उपमा	वर्ण	
१	हिमवात्	६५	{ १२/-१८४/१२ त. सु/३/१२		५६६	३/३	सुवर्ण	पीत (रा. वा.)	
२	महाहिमवात्	"			"	"	"	चाँदी	शुक्ल (रा. वा.)
३	निषध	"	"	"	"	तपनीय	तरुणादित्य (रक्त)		
४	नील	"	"	"	"	वैदूर्य	मयूरग्रीव (रा. वा.)		
५	रुक्मि	"	"	"	"	रजत	शुक्ल		
६	शिखरी	"	"	"	"	सुवर्ण	पीत (रा. वा.)		
७	विजयार्ध	१०७	१०/४/१७१/१५	२१	"	२/३२	रजत	शुक्ल	
८	विजयार्धके कूट				६७०		सुवर्ण	पीत	
९	सुमेरु :—		← दे० लोक/३/६-४ तथा ३/७ →						
	पाण्डुकशिला	१८२०	१०/१३/२८०/१८	३४७	६३३	४/१३	अर्जुन सुवर्ण	श्वेत	
	पाण्डुकम्बला	१८३०	"	"	"	"	रजत	विद्रुम (श्वेत)	
	रक्तकम्बला	१८३४	"	"	"	"	रुधिर	लाल	
	अतिरक्त	१८३९	"	"	"	"	सुवर्ण तपनीय	रक्त	
१०	नाभिगिरि				७१६		दधि	श्वेत	
	मतान्तर					३/२१०	सुवर्ण	पीत	
११	वृषभगिरि	२२६०			७१०		"	"	
१२	गजदन्त :—								
	सौमनस	२०१६	१०/१३/१७५/१९	२१२	६६३		चाँदी	स्फटिक रा. वा.	
	विद्युत्प्रभ	"	१०/१३/१७५/१७	"	"		तपनीय	रक्त	
	गन्धमादन	"	१०/१३/१७३/१६	२१०	"		कनक	पीत	
	माल्यवात्	"	"	२११	"		वैदूर्य	(नीला)	
१३	{ कांचन		१०/१३/१७५/१	२०२			कांचन	पीत	
	{ मतान्तर				६६६		तीता	हरा	
१४	वक्षार				६७०		सुवर्ण	पीत	
१५	वृषभगिरि	२२६०			७१०		"	पीत	
१६	गंगाकुंडमें—								
	शैल	२२१					वज्र	श्वेत	
	गंगाकूट	२२३					सुवर्ण	पीत	
१७	पद्मद्रुहका कमल :—								
	मृणाल	१६६७	१७/-१८५/६				रजत	श्वेत	
	कन्द	"	"				अरिष्टमणि	प्राउन	
	नाल	"	"		६७०	३/७५	वैदूर्य	नील	
	पत्ते	"	२२/२/१८८/३				लोहिताक्ष	रक्त	
	कर्णिका	"	"				अर्कमणि	केशर	
	केसर	"	"				तपनीय	रक्त	
१८	जम्बूवृक्षस्थल :—								
	सामान्य स्थल	२१५२		१७५			सुवर्ण	पीत	
	{ इसकी बापियोंके		१०/१३/१७४/२२						
	{ कूट		"				अर्जुन	श्वेत	
	स्कन्ध	२१५५					पुखराज	पीत	
	पीठ	२१५२					रजत	श्वेत	
१९	वेदियाँ :—								
	जम्बूद्वीपकी जगती	१६					सुवर्ण	पीत	
	भद्रशालवन (वेदी)	२११४	१०/१३/१७८/५				"	पद्मवर (रा. वा)	
	नन्दनवन वेदी	१६८६	१०/१३/१७६/६				"	"	

सं.	नाम	प्रमाण					वर्ण		
		ति. प./४/- गा. सं.	रा. वा./३/सूत्र/- वा./पृ/पंक्ति	ह. पु./५/- श्लो. सं.	त्रि. सा./- गा. सं.	ज. प./- अधि/गा	उपमा	वर्ण	
२०	सौमनसवन (वेदी)	१६२८	१०/१३/१८०/२				सुवर्ण	पद्मवर (रा. वा.)	
	पाण्डुकवन वेदी		१०/१३/१८०/१२						
	जम्बूवृक्ष वेदी		७/१/१६६/१८				(जाम्बूनद सुवर्ण)	रक्तयुक्त पीत	
	जम्बूवृक्षकी १२ वेदियाँ		७/१/१६६/२० तथा १०/१३/१७४/१७		६४१		सुवर्ण	पद्मवर	
	सर्व वेदियाँ				६७१	१/५२,६४	सुवर्ण	पीत	
	नदियोंका जल—								
	गंगा-सिन्धु						३/१६६	हिम	श्वेत
	रोहित-रोहितास्या						"	कुंदपुष्प	"
	हरित-हरिकान्ता						"	मृणाल	हरित
	सीता-सीतोदा						"	शरत्	श्वेत
२१	लवणसागरके पर्वत—	२४६१		४६०	६०८		रजत	धवल	
	पूर्व दिशा वाले				१०/३०	सुवर्ण	पीत		
	दक्षिण दिशा वाले				१०/३१	अकरत्त			
	पश्चिम दिशा वाले				१०/३२	रजत	श्वेत		
	उत्तर दिशा वाले				१०/३३	वैदूर्य	नील		
२२	इष्वाकार			६२५		सुवर्ण	पीत		
२३	मानुषोत्तर	२७५१		६६५	६२७	"	"		
२४	अंजनगिरि	५७		६६४	६६८	इन्द्रनीलमणि	काला		
२५	दधिमुख	६५		६६६	"	दही	सफेद		
२६	रतिकर	६७		६७३	"	सुवर्ण	रक्तयुक्त पीत		
२७	कुण्डलगिरि				६४३	"	"		
२८	रुचकवर पर्वत	१४१	३/३५/-/१६६/२२		६४३	"	"		

६. द्वीप क्षेत्र पर्वत आदिका विस्तार

१. द्वीप सागरोंका सामान्य विस्तार

१. जम्बूद्वीपका विस्तार १००,००० योजन है। तत्पश्चात् सभी समुद्र व द्वीप उत्तरोत्तर दुगुने-दुगुने विस्तारयुक्त है। (ति.सू./३/८); (ति.प./५/३२)

२. लवणसागर व उसके पातालादि

१. सागर

सं.	स्थलविशेष	विस्तारादिमें क्या	प्रमाण यो,
१	दृष्टि सं. १—(ति. प./४/२४००-२४०७); (रा. वा./३/३२/३/१६३/८), (ह. पु./५/४३४), (त्रि. सा./६१५); (ज. प./१०/२२)।	विस्तार	२००,०००
२	पृथिवीतल पर	"	१०,०००
३	किनारोसे ६५००० योजन भीतर जानेपर	"	१०,०००
४	" " " " " आकाशमें	"	१०००
५	" " " " " आकाशमें	गहराई	७००
६	दृष्टि सं. २— लोगायणीके अनुसार उपरोक्त प्रकार आकाशमें अवस्थित (ति. प./४/२४४५), (ह. पु./५/४३४)।	"	११०००
७	दृष्टि सं. ३— सगायणीके अनुसार उपरोक्त प्रकार आकाशमें अवस्थित (ति. प./४/२४४८)।	"	१० ०००
८	तीनों दृष्टियोंसे उपरोक्त प्रकार आकाशमें पूर्णमाके दिन	ऊँचाई	दे० लोक/४/१

२. पाताल

पाताल विशेष	विस्तार यो.			गहराई	दीवारोंकी मोटाई	ति. प./४ गा.	रा वा /३/ ३२/४/१३३/ पृ.	ह. पु /५/गा०	त्रि सा./ गा.	ज. प /१०/ गा.
	सूतमें	मध्यमें	ऊपर							
ज्येष्ठ	१०,०००	१००,०००	१०,०००	१००,०००	५००	२४१२	१४	४४४	८१६	५
मध्यम	१०००	१०,०००	१०००	१०,०००	५०	२४१४	२६	४५९	"	१३
जघन्य	१००	१०००	१००	१०००	५	२४३३	३९	४५६	"	१२

३. पर्वत व द्वीप

नाम	विशेष	विस्तार	ऊँचाई	ति. प./४ गा नं.	त्रि. सा./ गा. नं.	ज. प /१० गा. नं.
पर्वत गौतम द्वीप	सागरके विस्तारकी दिशामें गोलाईका व्यास	११६०००	१०००	२४५८	६०८	२८
		१२०००	१२०००	X	६९०	४०
कुमानुष द्वीप	दिशाओ वाले विदिशा वाले अन्तरदिशा वाले पर्वतके पास वाले	विस्तार		}	(दे० लोक/४/१)	
		दृष्टि सं. १	दृष्टि सं. २			
		१००	१००			
		५५	५०			
		५०	१००			
		२५	२५			

३. अढाई द्वीपके क्षेत्रोंका विस्तार—१. जम्बू द्वीपके क्षेत्र

नाम	विस्तार (योजन)	जीवा		पार्श्व भुजा (योजन)	प्रमाण			
		दक्षिण	उत्तर (योजन)		ति. प./४ गा. नं.	ह. पु./५/गा.	त्रि. सा./गा	ज. प / अ /गा
भरत सामान्य	५२६ व ६	उत्तर जीवा पर्वतकी ऊपरी	१४४७१ व ६	धनुषपृष्ठ १४५२८ व ६	१०५ + १६२	१८ + ४०	६०४ + ७७९	२/१०
दक्षिण भरत	२३८ व ३		९७४८ व ३	धनुषपृष्ठ ९७६६ व ३	१८४			
उत्तर भरत	"		१४४७१ व ६	१८१२ व ६	१६९			
हैमवत्	२१०५ व ५		३७६७४ व ५	६७५५ व ५	१६६८	५७	७७३	
हरिवर्ष	८४२१ व १		७३९०१ व १	१३३६१ व १	१७३६	७४	७७५	३/२२८
विदेह	३३६८४ व ४		{ मध्यमें १००,००० उत्तर व दक्षिणमें पर्वतोंकी जीवा	३३७६७ व ७	१७७५	६९	६०५ + ७७७	७/३
रम्यक	→		हरिवर्षवत्	←	२३३५	६७	७७८	२/२०८
हैरण्यवत्	→		हैमवत्तवत्	←	२३५०	"	"	"
ऐरावत	→		भरतवत्	←	२३६२	"	"	"
देवकुरु व उत्तर कुरु								
दृष्टि सं. १	११५९२ व २		५३०००	६०४१८ व ३ (धनुष पृष्ठ)	२१४०			
दृष्टि सं. २	"		५२०००	"	२१२६			
दृष्टि सं. ३	११८४२ व २		५३०००	६०४१८ व ३ (धनुष पृष्ठ)	X	१६८	X	६/२
३२ विदेह	पूर्वापर २२१२४		दक्षिण-उत्तर १६५९२ व २	(रा वा./३/१०/ १३/१७४/३)	२२१७ + २२३९	२५३	६०५	७/११ + २०
			(←)	(रा. वा /३/१०/ १३/१७६/१८)				

२ धातकीखण्डके क्षेत्र

नाम	लम्बाई	विस्तार			प्रमाण
		अभ्यन्तर (योजन)	मध्यम (योजन)	बाह्य (योजन)	
भरत	द्वीपके विस्तार वच	६६१४३ ^३ / _४	१२५८१ ^३ / _४	१८५४७ ^३ / _४	(ति. प/४/२६४-२६७२), (रा वा/३/३३/२-७/१६३/२); (ह. पु/५/६०२-६०४); (त्रि. सा./६२६), (ज. प./११/६-९७)
हैमवत		२६४५८ ^३ / _४	५०३२४ ^३ / _४	७४१९० ^३ / _४	
हरिवर्ष		१०५८३३ ^३ / _४	२०१२२९८ ^३ / _४	२९६७६३ ^३ / _४	
विदेह		४२३३३४ ^३ / _४	८०५१९४ ^३ / _४	११८७०५४ ^३ / _४	
रम्यक		→	हरिवर्षवत्	←	
हैरण्यवत्		→	हैमवतवत्	←	
ऐरावत		→	भरतवत्	←	
नाम		बाण	जीवा	धनुषपृष्ठ	ति प/४ गा
दोनो कुरु		३६६६८०	२२३१६८	६२६४८६	२६६३ ६३६

नाम	पूर्व पश्चिम विस्तार	दक्षिण-उत्तर लम्बाई (योजन)			ति प/४ गा.
		आदि	मध्यम	अन्तिम	
दोनो बाह्य विदेहोके क्षेत्र—(ति. प/४/गा. स); (ह पु/५/६४८-६४९); (त्रि. सा/६३१-६३३)					
कच्छा-गन्धमालिनी	प्रत्येक क्षेत्र = १७३६ (ति. प/४/२६७)	५०९५७० ^३ / _४	५१४१५४ ^३ / _४	५१८७३८ ^३ / _४	२६२२
सुकच्छा-गन्धिला		५१९६९३ ^३ / _४	५२४२७७ ^३ / _४	५२८८६१ ^३ / _४	२६३४
महाकच्छा-सुगन्धा		६२६९००	६३३६८४	६३८२६८	२६३८
कच्छकावती-गन्धा		५३९२२२ ^३ / _४	५४३८०६ ^३ / _४	५४८३९० ^३ / _४	२६४२
आवर्ता-वप्रकावती		५४८६२९ ^३ / _४	५५३२१३ ^३ / _४	५५७७९७ ^३ / _४	२६४६
लांगलावती-महावप्रा		५५८७५१ ^३ / _४	५६३३३५ ^३ / _४	५६७९१९ ^३ / _४	२६५०
पुष्कला-सुवप्रा		५६८९५८ ^३ / _४	५७२७४२ ^३ / _४	५७७३२६ ^३ / _४	२६६६
वप्रा-पुष्कलावती	५७८२८० ^३ / _४	५८२८६४ ^३ / _४	५८७४४८ ^३ / _४	२६६८	
दोनो अभ्यन्तर विदेहोके क्षेत्र—(ति. प/४/गा. स), (ह पु/५/६५५), (त्रि. सा/६३१-६३३)					
पद्मा-मगलावती	प्रत्येक क्षेत्र = ६६३६ (ति. प/४/२६७)	२९४६२३ ^३ / _४	२९००३९ ^३ / _४	२८५४५५ ^३ / _४	२६७०
सुपद्मा-रमणीया		२८४५०१ ^३ / _४	२७९९१७ ^३ / _४	२७५३३३ ^३ / _४	२६७४
महापद्मा-सुरम्या		२७५०९४ ^३ / _४	२७०५१० ^३ / _४	२६५९२६ ^३ / _४	२६७८
पद्मकावती-रम्या		२६४९७२ ^३ / _४	२६०३८८ ^३ / _४	२५५८०४ ^३ / _४	२६८२
शाखा-वरसकावती		२५५५६५ ^३ / _४	२५०९८१ ^३ / _४	२४६३९७ ^३ / _४	२६८६
नलिना-महावत्सा		२४५४४३ ^३ / _४	२४०८५९ ^३ / _४	२३६२७५ ^३ / _४	२६९०
कुमुदा-सुवत्सा		२३६०३६ ^३ / _४	२३१४५२ ^३ / _४	२२६८६८ ^३ / _४	२६९४
सरिता-वत्सा	२२५९१४ ^३ / _४	२२१३३० ^३ / _४	२१६७४६ ^३ / _४	२६९८	

जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश

३. पुष्करार्थके क्षेत्र

नाम	सम्बाई	विस्तार			प्रमाण
		अभ्यन्तर (यो०)	मध्यम (यो०)	बाह्य (यो०)	
भरत	द्वीपके विस्तार वत्	४१५७९१ ^{७३} / _{२३}	५३५१२ ^{९६} / _{२३}	६५४४२ ^{९३} / _{२३}	(ति. प / ४/२०५-२२७) ; (रा. वा / ३/३४/२-५/१६६/१६), (छ. पु / ३/५०-५५४), (त्रि सा / ६१६/७-७२)
हैमवत		१६६३१९ ^{५१} / _{२३}	२१४०५१ ^{९०} / _{२३}	२६१७८४ ^{५३} / _{२३}	
हरि		६६५२७७ ^{९२} / _{२३}	८५६२०७ ^{९२} / _{२३}	१०४७१३६ ^{९०} / _{२३}	
विदेह		२६६११०८ ^{४५} / _{२३}	३४२४८२८ ^{९६} / _{२३}	४१८८५४७ ^{९०} / _{२३}	
रम्यक		६६५२७७ ^{९२} / _{२३}	५३५१२ ^{९६} / _{२३}	६५४४२ ^{९३} / _{२३}	
हैरण्यवत्		१६६३१९ ^{५१} / _{२३}	२१४०५१ ^{९०} / _{२३}	२६१७८४ ^{५३} / _{२३}	
ऐरावत		४१५७९१ ^{७३} / _{२३}	८५६२०७ ^{९२} / _{२३}	१०४७१३६ ^{९०} / _{२३}	

नाम	वाण	जीवा	धनुषपुष्ट	प्रमाण
दानों कुरु	१४८६६३१	४२६६१६	३६६८३३५	उपरोक्त

नाम	पूर्व पश्चिम विस्तार	वक्षिण उत्तर लम्बाई			ति प. / ४/गा
		आदिम	मध्यम	अन्तिम	
दोनों बाह्य विदेहोंके क्षेत्र—(ति. प / ४/गा. नं), (त्रि सा / ६३१-६३३)					
कच्छा-गन्धमालिनी		१९२१८७४ ^{५६} / _{२३}	१९३१३२२ ^{९९} / _{२३}	१९४०७७० ^{९५} / _{२३}	२८३७
सुकच्छा-गन्धिला		१९४२६७९ ^{९९} / _{२३}	१९५२१२८ ^{४०} / _{२३}	१९६१५७६ ^{९०} / _{२३}	२८४८
महाकच्छा-सुवल्गु		१९६२०५३ ^{५६} / _{२३}	१९७१५०२	१९८०९५० ^{५६} / _{२३}	२८५९
कच्छकावती-गन्धा		१९८२८५९ ^{५६} / _{२३}	१९९२३०७ ^{९०} / _{२३}	२००१७५५ ^{९०} / _{२३}	२८६६
आवर्ता-वप्रकावती		२००२२३३ ^{४४} / _{२३}	२०११६८१ ^{९०} / _{२३}	२०२११२९ ^{९५} / _{२३}	२८६०
सगलावती-महावप्रा		२०२३०३८ ^{५६} / _{२३}	२०३२४८७ ^{९०} / _{२३}	२०४१९३५ ^{९०} / _{२३}	२८६४
पुष्कला व सुवप्रा		२०४२४१२ ^{९४} / _{२३}	२०५१८६० ^{९०} / _{२३}	२०६१३०९ ^{४४} / _{२३}	२८६८
वप्रा व पुष्कलानती		२०६३२१८ ^{७३} / _{२३}	२०७२६६६ ^{९५} / _{२३}	२०८२१४४ ^{९४} / _{२३}	२८७२
दोनों अभ्यन्तर विदेहोंके क्षेत्र—(ति. प / ४/गा), (त्रि सा / ६३१-६३३)					
पद्मा व मगलावती		१५००९५३ ^{०४} / _{२३}	१४९१५०५ ^{९४} / _{२३}	१८४२०५७ ^{९२} / _{२३}	२८८०
सुपद्मा व रमणीया		१४८०१४८ ^{५६} / _{२३}	१४७०७०० ^{९२} / _{२३}	१४६१२५१ ^{९४} / _{२३}	२८८४
महापद्मा-सुरम्या		१४६०७७४ ^{९०} / _{२३}	१४५१३२६ ^{४५} / _{२३}	१४४१८७७ ^{९०} / _{२३}	२८८८
रम्या-पद्मकावती		१४३९९६८ ^{९०} / _{२३}	१४३०५२० ^{९२} / _{२३}	१४२१०७२ ^{९४} / _{२३}	२८९२
शंखा-वप्रकावती		१४२०५९५ ^{५६} / _{२३}	१४१११४६ ^{९०} / _{२३}	१४०१६९८ ^{९०} / _{२३}	२८९६
महावप्रा-नलिन		१३९९७८९ ^{५६} / _{२३}	१३९०३४१ ^{९०} / _{२३}	१३८०८९२ ^{९०} / _{२३}	२९००
कुमुदा-सुवप्रा		१३८०४१५ ^{९०} / _{२३}	१३७०९६७ ^{९०} / _{२३}	१३६१५१९ ^{९४} / _{२३}	२९०४
सरिता-वप्रा		१३५९६०९ ^{९५} / _{२३}	१३५०१६१ ^{९५} / _{२३}	१३४०७१३ ^{९५} / _{२३}	२९०८

४. जम्बू द्वीपके पर्वतों व कूटोंका विस्तार

१. लग्ने पर्वत

नोट—पर्वतोंकी नीव सर्वत्र ऊँचाईसे चौथाई होती है।

(ह. पु./५/१०६); (त्रि. सा./१३६), (ज. प./३/३७)।

नाम	ऊँचाई यो०	नीव यो०	विस्तार यो०	दक्षिण जीवा यो०	उत्तर जीवा यो०	पार्व्व भुजा यो०	प्रमाण				
							ति. प./४/गा.	रा. वा./३/-/-/	ह. पु./५/गा.	त्रि.सा./गा.	ज. प./अ./गा.
कुलाचल—हिमवान्	१००	ऊँचाईसे चौथाई	१०५२ ^३ / _४	दक्षिण जीवा उत्तरकी अपने क्षेत्रकी अपने क्षेत्रकी	२४९३२ ^३ / _४	५३५० ^३ / _४	१६२४	११/२/१८२/११	४५	७७२	३/४
महाहिमवान्	२००		४२१० ^३ / _४		५३९३१ ^३ / _४	९२७६ ^३ / _४	१७१७	११/४/१८२/३२	६३	७७४	३/१७
निषध	४००		१६८४२ ^३ / _४		९४१५६ ^३ / _४	२०१६५ ^३ / _४	१७५०	११/६/१४३/१२	८०	७७६	३/२४
नील	→		→		निषधवत्	←	२३२७	११/८/१८३/२४	६७	"	"
रुक्मि	→		→		महाहिमवानवत्	←	२३४०	११/१०/१८३/३१	"	"	३/१७
शिखरी	→		→		हिमवानवत्		२३६५	"	"	"	३/४
भरत क्षेत्र—विजयार्ध	२५		५०		१०७२० ^३ / _४	४८८ ^३ / _४	१०८+१८३	१०/४/१७१/१६	२१+३२	७७०	२/३३
गुफा	८ यो०		१२ यो०				१७५	१०/४/१७१/२८		५६२	२/८८
विदेह विजयार्ध	२५		५०		२२१२ ^३ / _४	५०	२२५७	१०/१३/२७६/२०	२२५		७/७७

नाम	स्थल विशेष	ऊँचाई यो०	गहराई यो०	चौडाई यो०	लम्बाई यो०	ति. प./४/गा.	रा वा /३/१०/१३/.../...	ह. पु./५/गा.	त्रि.सा./गा.	ज प./अ/गा.	
वक्षार	सामान्य	—	ऊँचाईसे चौथाई	५००	१६५९२ ^३ / _४	२२३१	१७६/३		६०५, ७४३	७/८	
	नदीके पास	५००			५००	२३०७	१७६/१	२३३	"	७४५	७/१८
	पर्वतके पास	४००			५००	"	"	"	"	"	"
गजदन्त	सामान्य					३०२०९ ^३ / _४	२०२४	२१५	२१५	७५६	६/७
दृष्टि सं. १	कुलाचलोके पास	४००			५००	२०१७	२०१७	२१३	२१३	७४५	६/३
	मेरुके पास	५००			५००	"	"	"	"	७५६	६/६
दृष्टि सं. २	कुलाचलोके पास	४००			२५०	२०२७	१७३/१६				
	मेरुके पास	५००			५००	"	"				

२. गोल पर्वत—

नाम	ऊँचाई	गहराई	विस्तार			ति प./ ४/गा.	रा वा./३/१० वा/पृ/पं.	ह. पु./ ५/गा.	त्रि सा/ गा.	ज प/ अ/गा.
			मूलमें	मध्यमें	ऊपर					
वृषभगिरि नाभगिरि—	यो. १००		यो १००	यो. ७५	यो. ५०	२७०			७१०	
दृष्टि सं. १	१०००		१०००	१०००	१०००	१७०४	७/१८२/१२		७१८	३/२१०
दृष्टि सं. २	१०००		१०००	७५०	५००	१७०६				
सुमेरु — पर्वत	१६०००	१०००	१०,०००	दे, लोक/ ३/६/१	१०००	१७८१	७/१७७/३२	२८३	६०६	४/२२
चूलिका यमक —	४०	×	१२	५	४	१७६५	७/१८०/१४	३०२	६२७	४/१३२
दृष्टि सं. १	२०००	ऊँचाई चौथाई	१०००	७५०	५००	२०७७	७/१७४/२६	१६३	६५५	६/१६
दृष्टि सं २	१०००		"	"	"	२०६४	७/१७५/१		६५६	६/४५
कांचनगिरि	१००		१००	७५	५०	२१०४			६६१	४/७६
दिग्गजेन्द्र	१००		१००	७५	५०	२११३				

३. पर्वतीय व अन्य कूट—

कूटोंके विस्तार सम्बन्धो सामान्य नियम—सभी कूटोंका मूल विस्तार अपनी ऊँचाईका अर्धप्रमाण है । ऊपरी विस्तार उससे आधा है । उनकी ऊँचाई अपने-अपने पर्वतोंकी गहराईके समान है ।

अवस्थान	ऊँचाई	विस्तार			त्रि. प ४/गा.	रा. वा./३/सू. वा/पृ/पं.	ह. पु/ ५/गा.	त्रि.सा/ गा	ज. प./ अ/गा.
		मूलमें	मध्यमें	ऊपर					
भरत विजयार्ध	यो. ६१	यो. ६१	यो. ४१	यो. ३६	१४६		२८	७२३	३/४६
ऐरावत विजयार्ध	→	भरत विजयार्धवत्		←			११२	"	"
हिमवान्	२५	२५	१८	१२	१६३३		५५	"	"
महाहिमवान्	→	हिमवान्से दुगुना		←	१७२५		७२	"	"
निषध	→	हिमवान्से चौगुना		←	१७५६		६०	"	"
नील	→	निषधवत्		←	२३२७		१०९	"	"
रुक्मि	→	महाहिमवान्वत्		←	२३४०		१०४	"	"
शिशूरी	→	हिमवान्वत्		←	२३५५		१०५	"	"
हिमवान्का सिद्धायतन क्षेत्र पर्वत	५००	५००	३७५	२५०		२१/२/१८२/१६		×	×
चारो गजदन्त	पर्वतसे चौथाई	उपरोक्त नियमानुसार जानना।			२०३२, २०४८, २०५८, २०६०	१०/१३/१७३/- २३	२२४	२७६	
पद्मदह	→	हिमवान् पर्वतवत्		←	१६६६				
अन्यदह	→	अपने अपने पर्वतवत्		←					
भद्रशालवन	→	(दे.लोक/३/१२.५)		←					
मन्दशालवन	५००	५००	३७५	२५०	१६६७		३३९	६२६	
सौमनसवन	२५०	२५०	१८७	१२५	१६७१				
नन्दनवनका बलभद्रकूट	→	(दे० लोक/३/६.२)		←	१६६७				
सौमनस वनका बलभद्र कूट—	→	(दे० लोक/३/६.३)		←					
दृष्टि सं. १	१००	१००	७५	५०	१६७८				
दृष्टि सं २	१०००	१०००	७५०	५००	१६८०	(१०/१३/१७६/ १६)			

५. शेष द्वीपोंके पर्वतों व कूटोंका विस्तार—

१. धातकीखण्डके पर्वत—

नाम	ऊँचाई	लम्बाई	विस्तार	ति. प / ४/गा.	रा. वा./३/३३/ वा /पु/प.	ह पु/ ५/गा.	त्रि सा./ गा.	ज प / अ./गा.
पर्वतोंके विस्तार व ऊँचाई सम्बन्धी सामान्य नियम—								
कुलाचल	जम्बूद्वीपवत्	स्वदीपवत्	जम्बूद्वीपसे दूना	२५४४-२५४६	५/१६५/२०	४६७ ५०६		
विजयार्ध	"	निम्नोक्त	"	"		"		
वक्षार	"	"	"	"		"		
गजदन्त दृष्टि स० १	"	"	"	"		"		
दृष्टि सं. २	→	जम्बूद्वीपवत्	←	२५४७				
उपरोक्त सर्व पर्वत-	→	जम्बूद्वीपसे दूना	←					
वृषभगिरि	→	जम्बूद्वीपवत्	←			१११		
यमक	→	"	←			"		
कांचन	→	"	←			"		
दिग्गजेन्द्र	→	"	←			"		
विस्तार								
दक्षिण उत्तर पूर्व पश्चिम								
ह्रवाकार	४०० यो.	स्वद्वीपवत्	१००० यो.	२५३३	६/१६५/२६	४६५	६२५	११/४
विजयार्ध	जम्बूद्वीपवत्	जम्बूद्वीपसे दूना	स्वक्षेत्रवत्	२६०७+ उपरोक्त सामान्य नियमवत्				
वक्षार	जम्बूद्वीपवत्	निम्नोक्त	जम्बूद्वीपसे दूना	४०८+ उपरोक्त सामान्य नियमवत्				
गजदन्त—	"	२५६२२७	"	२५६१		५३३	७५६	
अभ्यन्तर	"	५६६२५७	"	२५६२		५६४	"	
बाह्य	"		"					
विस्तार								
सुमेरु पर्वत—	गहराई	मूल मध्य ऊपर						
पृथिवीपर	८४०००	१०००	६४०००	दे लोक	१०००	२५७७	६/१६५/२८	५१३
पातालमें	दृष्टि स १ की अपेक्षा विस्तार=१०,०००							
चूलिका	" " २ " " " =६५००							
	→ जम्बूद्वीपके मेरुवत्	←			२५८३			

नाम	ऊँचाई व चौड़ाई	दक्षिण उत्तर विस्तार			ति. पा ४/गा.
		आदिम	मध्यम	अन्तिम	
दीनो बाह्य विदेहोके वक्षार —					
चित्र व देवमाल कूट	सामान्य प्रतीक के	५१८७३८ ^३ / _३	५१९२१६ ^५ / _३	५१९६९३ ^३ / _३	२६३२
मलिन व नागकूट		५३८२६८	५३८७४५ ^३ / _३	५३९२२२ ^३ / _३	२६४०
पद्म व सूर्यकूट		५५७७९७ ^३ / _३	५५८२७४ ^३ / _३	५५८७५१ ^३ / _३	२६४८
एकशैल व चन्द्रनाग		५७७३२६ ^३ / _३	५७७८०३ ^३ / _३	५७८२८० ^३ / _३	२६५६
दीनो अभ्यन्तर विदेहोके वक्षार					
श्रद्धावात् व आत्माजन		२८५४५५ ^३ / _३	२८४९७८ ^३ / _३	२८४५०१ ^३ / _३	२६७२
अंजन व विजयवात्		२६५९२६ ^३ / _३	२६५४४९ ^३ / _३	२६४९७२ ^३ / _३	२६८०
आशीविष व वैश्रवण		२४६३९७ ^३ / _३	२४५९०० ^३ / _३	२४५४४३ ^३ / _३	२६८८
मुखवह व त्रिकूट		२२६८६८ ^३ / _३	२२६३९१ ^३ / _३	२२५९१४ ^३ / _३	२६९६

२. पुष्कर द्वीपके पर्वत व कूट

नाम	ऊँचाई यो	लम्बाई यो	विस्तार यो.	ति.प./४/गा.	रा.वा./३/३४/ वा/पृ./पं.	ह.पु./५/गा	त्रि.सा./गा.	ज.प./अ/गा.
पर्वतोंके विस्तार व ऊँचाई सम्बन्धी सामान्य नियम			जम्बूद्वीपसे चौगुना	२७८६-२७६०	६/१६७/२	४८८-४८६		
कुलाचल	जम्बूद्वीपवत्	स्वद्वीप प्रमाण निम्नोक्त	"	"	"	"	"	"
विजयार्ध	"	"	"	"	"	"	"	"
वक्षार	"	"	"	"	"	"	"	"
गजदन्त	"	"	"	"	"	"	"	"
नाभिगिरि	"	"	"	"	"	"	"	"
उपरोक्त सर्वपर्वत दृष्टि सं. २	→	जम्बूद्वीपवत्	←	२७६९				
वृषभगिरि	→	"	←					
यमक	→	"	←					
कांचन	→	"	←					

नाम	ऊँचाई यो.	लम्बाई यो.	विस्तार यो.	ति.प./४/गा.	रा.वा./३/३४/ वा/पृ./पं.	ह.पु./५/गा.	त्रि.सा./गा.	ज.प./अ/गा.
दिग्गजेन्द्र	→	जम्बूद्वीपवत्	←					
मेरु व इष्वाकार	→	धातकीवत्	←	२८१२	६/१६७/४	६८६		
		विस्तार						
		दक्षिण उत्तर यो.	पूर्व पश्चिम यो.					
विजयार्ध	उपरोक्त जम्बूद्वीपवत्	उपरोक्त नियम निम्नोक्त	स्व क्षेत्रवत् जम्बूद्वीपसे चौगुना	२८२६	+ उपरोक्त सामान्य नियम + उपरोक्त सामान्य नियम			
वक्षार				२८२७				
गजदन्त—								
अभ्यन्तर	"	१६२६११६	"	२८१३			२६७	
बाह्य	"	२०४२२१६	"	२८१४			"	
		विस्तार						
		गहराई चौथाई	मूल	मध्य	ऊपर			
मानुषोत्तरपर्वत	१७२९		१०२२	७२३	४२४	२७४६	६/१६७/८	६६९ ६३४०+६४२ ११/६६
मानुषोत्तरके कूट—		लोक/६/४/३ में कथित नियमानुसार						
दृष्टि सं. १	४३० ^३ / _४		४३० ^३ / _४		२१५ ^३ / _४			
दृष्टि सं. २	५००		५००	३७५	२५०		६/१६७/१६	६००

नाम	ऊँचाई व चौड़ाई	विस्तार			ति.प./४/गा
		आदिम	मध्यम	अन्तिम	
दोनों बाह्य विदेहोके वक्षार—					
चित्रकूट व देवभाल	उपरोक्त सामान्य नियम	१९४०७७० ^३ / _४	१९४१७२५ ^३ / _४	१९४२६७९ ^३ / _४	२८४६
पद्म व वैश्वर्य कूट		१९/०९५० ^३ / _४	१९८१९०४ ^३ / _४	१९८२८५९ ^३ / _४	२८४४
नलिन व नागकूट		२०२११२९ ^३ / _४	२०२२०८४ ^३ / _४	२०२३०३८ ^३ / _४	२८६३
एक शोक व चन्द्रनाम		२०६१३०९ ^३ / _४	२०६२२६३ ^३ / _४	२०६३२१८ ^३ / _४	२८७०
दोनों अभ्यन्तर विदेहोके वक्षार—					
श्रेयसाक्ष व आत्माजन	उपरोक्त सामान्य नियम	१४८२०५७ ^३ / _४	१४८११०२ ^३ / _४	१४८०१४८ ^३ / _४	२८८२
जवन व विजयवान		१४४१८७७ ^३ / _४	१४४०९२३ ^३ / _४	१४३९९६८ ^३ / _४	२८९०
आग्नीविष व वशवण		१४०१६९८ ^३ / _४	१४००७४३ ^३ / _४	१३९९७८९ ^३ / _४	२९०८
मरु दृष्ट व प्रिस्ट		१३६१५१९ ^३ / _४	१३६०५६४ ^३ / _४	१३५९६०९ ^३ / _४	२९०६

त्रि. सा./६३१-६३३

३. नन्दीद्वार द्वीपके पर्वत

नाम	ऊँचाई	गहराई	विस्तार			ति.प./क्ष/गा.	रा.वा /३/३५/- पु./पं	ह.पु./क्ष/गा	त्रि सा / गा.
			मूल	मध्य	ऊपर				
अंजनगिरि	यो. ८४०००	यो १०००	यो, ८४०००	यो, ८४०००	यो, ८४०००	४८	११८/८	६२२	६६८
दधिमुख	१०,०००	१०००	१०,०००	१०,०००	१०,०००	६५	११८/२५	६७०	"
रतिवर	१००५	२५०	१०००	१०००	१०००	६८	११८/३९	६७४	"

४. कुण्डलवर पर्वत व उसके कूट

नाम	ऊँचाई	गहराई	विस्तार			ति.प./क्ष/गा.	रा.वा /३/३५/-/पु /प.	ह पु./क्ष/गा	त्रि. सा./गा.
			मूल	मध्य	ऊपर				
पर्वत—	यो.	यो	यो.	यो.	यो.				
दृष्टि सं. १	७५०००	१०००	१०२२०	७२३०	४२४०	११८	११६/८	६८७	६४३
दृष्टि सं. २	४२०००	१०००	→ मानुषोत्तरवत् ←			१३०			
इसके कूट	→	मानुषोत्तरके दृष्टि सं २ वत्			←	१२४,१३१	११६/१२		६६०
द्वीपके स्वामी देवोंके कूट	→	सर्वत्र उपरोक्तसे दूने			←	१३७		६६७	

५. शत्रुघ्न पर्वत व उसके कूट

नाम	ऊँचाई	गहराई	विस्तार			ति.प./क्ष/गा	रा.वा '३/३५/-/पु /पं	ह पु /क्ष/गा.	त्रि सा /गा.
			मूल	मध्य	ऊपर				
पर्वत—									
दृष्टि सं १	८४०००	१०००	८४०००	८४०००	८४०००	१४२			६४३
दृष्टि सं २	८४०००	१०००	४२०००	४२०००	४२०००		११६/२३	७००	
इसके कूट—									
दृष्टि सं. १	→	मानुषोत्तरकी दृष्टि सं २ वत्			←	१४६			६६०
दृष्टि सं. २	५००		१०००	७५०	५००	१६६,१७९	२००/२०	७०९	
३२ कूट	५००		१०००	१०००	१०००		११६/२५		

६. स्वथभूरमण पर्वत

नाम	ऊँचाई	गहराई	विस्तार			ति.प./क्ष/गा	रा वा /३/३५/-/पु /पं	ह पु /क्ष/गा.	त्रि सा./गा.
			मूल	मध्य	ऊपर				
पर्वत		१०००				२३६			

६. भटाई द्वीपके वनखण्डोंका विस्तार

१. जम्बूद्वीपके वनखण्ड

नाम	विस्तार	ति.प /क्ष/गा.	रा.वा /३/१८/१३/पु	ह पु /क्ष/गा.	त्रि सा /गा	ज प /अ /गा.
जम्बूद्वीप जगतीके अग्र-पश्चिम भागमें	२ को	८७				
विजयार्थके दानों पार्श्वोंमें	२ को.	१७१				
हिमालयके दानों पार्श्वोंमें	२ को.	१६३०		११५	७३०	
नाम	विस्तार					
	पूर्वापर	उत्तर दक्षिण				
देव गण्यक	२६२२ यो	१६५९२ कूट यो	२२२०	१७७/२	२८२	७/१५
भूतारण्यक	→ देवारण्यकवत्	←				

नाम	विस्तार			ति. प./४/गा.	रा.वा./३/१०/ १३/पू./पं.	ह पु./१/गा.	त्रि सा /गा.	ज.प /अ /गा
	मेरुके पूर्व या पश्चिममें	मेरुके उत्तर या दक्षिणमें	उत्तर दक्षिण कुल विस्तार					
भद्रशाल	यो. २२०००	यो. २५०	यो. विदेहक्षेत्रवत्	२००२	१७८/३	२३७	६१०+६१२	४/४३
	बलय व्यास	बाह्य व्यास	अभ्यन्तर व्यास					
नन्दनवन	यो. ६००	यो. ९९५४ ^५ / _५	यो. ८९५४ ^५ / _५	११८६	१७६/७	२६०	६१०	४/८२
सौमनसवन	५००	४२७२ ^५ / _५	३२७२ ^५ / _५	१६३८+१६८६	१८०/१	२६६	"	४/१२७
पाण्डुकवन	४६४	१०००		१८१०+१८१४	१८०/१२	३००	"	४/१३२

२. धातकीखण्डके वनखण्ड

सामान्य नियम—सर्व वन जम्बूद्वीप वालोंसे दूने विस्तार वाले हैं। (ह पु /१/१०६)

नाम	पूर्वापर विस्तार	उत्तर दक्षिण विस्तार			ति.प./४/गा.	रा.वा./३/३३/६/ पू./पं.	ह पु./१/गा.	
		आदिम	मध्यम	अन्तिम				
बाह्य अभ्यन्तर	यो. ६८४४	यो. ५८७४४८ ^५ / _५	यो. ५९०२३८ ^५ / _५	यो. ५९३०२७ ^५ / _५	२६०६+२६६० २६०६+२७००			
	"	२१६७४६ ^५ / _५	२१३९५६ ^५ / _५	२१११६७ ^५ / _५				
भद्रशाल	मेरुसे पूर्व या पश्चिममें	मेरुके उत्तर या दक्षिणमें	उत्तर दक्षिण कुल विस्तार		२५२८		५३१	
	यो. १०७८७६	यो. नष्ट	यो. १२२५ ^७ / _८					
	बलयव्यास	बाह्यव्यास	अभ्यन्तरव्यास					
नन्दन	यो. ५००	यो. ६३६०	यो. ८३६०		१६५/३१		६२०	
सौमनस	५००	३५००	२५००				१६६/१	५२४
पाण्डुक	४६४	१०००	१२ चूलिका					५२७

३. पुष्करार्थ द्वीपके वनखण्ड

नाम	पूर्वापर विस्तार	उत्तर दक्षिण विस्तार			ति.प./४/गा
		आदिम	मध्यम	अन्तिम	
देवारण्यक— बाह्य अभ्यन्तर	११६८८	२०८२११४ ^५ / _५	२०८७६९३ ^५ / _५	२०९३२७२ ^५ / _५	२५२८+२५७४
	"	१३४०७१३ ^७ / _५	१३३५१३४ ^५ / _५	१३२९५५५ ^५ / _५	२५२८+२६१०
भद्रशाल नन्दन आदि वन	मेरुके पूर्व या पश्चिममें	मेरुके उत्तर या दक्षिणमें	उत्तर दक्षिण कुल विस्तार		ति.प./४/गा
	२१५७५८	नष्ट	२४५१ ^७ / _८		२५२१
	→	धातकीखण्डवत्	←	(दे० लोक/४/४-४)	

४. नन्दीश्वरद्वीपके वन

वापिकोके चारो ओर वनखण्ड है, जिनका विस्तार (१००,०००×६०,०००) योजन है।

७. अढाई द्वीपकी नदियोंका विस्तार

(ति प./४/६४): (रा. वा./३/३५/-/१६५/२५), (त्रि. सा./६७९)

१. जम्बूद्वीपकी नदियाँ

नाम	स्थल विशेष	चौडाई	गहराई	ऊँचाई	ति प./४/गा.	रा.वा./३/२२/- वा/पृ./पं.	ह.पु./५/गा	त्रि.सा./गा	ज.प./- अ./गा.
नदियोंके विस्तार व गहराई आदि सम्बन्धी सामान्य नियम—भरत व ऐरावतक्षेत्रको नदियोंका विस्तार प्रारम्भमें $\frac{1}{8}$ यो, और अन्तमें उससे दण्डगुणा होता है। आगे-आगेके क्षेत्रोंमें विदेह पर्यन्त वह प्रमाण दुगुना-दुगुना होता गया है। (त्रि. सा./६००), (ज. प./३/१६४)। नदियोंका विस्तार उनकी गहराईसे १० गुणा होता है। (ह. पु./४/५०७)।									
वृषभाकार प्रणाली—									
गंगा-सिन्धु	हिमवात्	६ $\frac{1}{8}$ यो.	२ को प्रवेश	२ को. प्रवेश	२१४		१४०	५८४	३/१५०
आगेके नदी युगल		विदेह तक उत्तरोत्तर दुगुने ऐरावत तक उत्तरोत्तर आधे					१५१	५६६	३/१५२
							१५६	"	३/१५३
गंगा—	उद्गम	६ $\frac{1}{8}$ यो.	१/२ को.		१६७		१३६	६००	३/१६४
	पर्वतसे गिरनेवाली धार			पर्वतकी ऊँचाई	२१३			५८६	
	दृष्टि सं. १	१०		"	२१७				३/१६८
	दृष्टि सं. २	२५		"	२३६				७/६३
	गुफा द्वार पर समुद्र प्रवेश पर	८ यो. ६२ $\frac{1}{2}$ यो.		५ को.	२४६	१/१८७/२६	१४८	६००	३/१७७
सिन्धु	→	गगानदीवत्		←	२५२	२/१८७/३२	१५१	"	३/१६४
रोहितास्या	→	गगासे दूना		←	१६६६	३/१८८/६	१५१	५६६	३/१८०
रोहित	→	रोहितास्यावत्		←	१७३७	४/१८८/१७	"	"	"
हरिकान्ता	→	रोहितने दुगुना (गगासे चौगुना)		←	१७४८	५/१८८/२१	"	"	३/१८१
हरित	→	हरिकान्तावत्		←	१७७३	६/१८८/२६	"	"	"
सीतोदा	→	हरिकान्ताने दूना (गगासे आठ गुना)		←	२०७४	७/१८८/३३	"	"	३/१८२
सीता	→	सीतोदावत्		←	२१२२	८/१८८/६	"	"	"
उत्तरकी छः नदियाँ	→	क्रमसे हरितादिवत्		←		६-२४/१८६	१५६		
विदेहका ६४ नदियाँ	→	गगानदीवत्		←		(वि. लोक/३/१०)			
विभागा	कुण्डके पास	५० को.	१६५९२ $\frac{२}{५}$ वृह (उत्तर दक्षिण)		२२१८			६०५	←
	महानदीके पास दृष्टि सं. २	५०० को			२२१६				
		→ सर्वत्र गगासे दूना ←				३/१०/१३/- १७६/१३			७/२७

२. धातकीखण्डकी नदियाँ

नाम	पूर्व पश्चिम	उत्तर दक्षिण लम्बाई			ति. प./४/गा.	
		आदिम	मध्यम	अन्तिम		
सामान्य नियम—सर्व नदियाँ जम्बूद्वीपसे दुगुने विस्तार वाली है। (ति. प./४/२५४६)						
दोनो बाह्य विदेहोकी विभंगा—						
प्रहवती व ऊर्मिमालिनी	सर्वत्र ३५० यो० (ति प./४/२६०८)	५२८८६ $\frac{१३०५}{२}$	५२८९८ $\frac{१६०}{२}$	५२९१००	२६३६	
प्रहवती व फेनमालिनी		५४८३९ $\frac{१३२०}{२}$	५४८५० $\frac{१७२०}{२}$	५४८६२ $\frac{१९२०}{२}$	२६४४	
गम्भीरमालिनी व पकावती		५६७९१ $\frac{१३३०}{२}$	५६८०३ $\frac{१६४०}{२}$	५६८१५ $\frac{१८४०}{२}$	२६५२	
दोनो अभ्यन्तर विदेहोकी विभंगा						
क्षीरोदा व उन्मत्तजला		२७५३३ $\frac{१३६०}{२}$	२७५२१ $\frac{१४४०}{२}$	२७५०९ $\frac{१५२०}{२}$	२६७६	
मत्तजला व सीतोदा	२५५८० $\frac{१३६०}{२}$	२५५६८ $\frac{१४४०}{२}$	२५५५६ $\frac{१५२०}{२}$	२६८४		
तप्तजला व औषधवाहिनी	२३६२७ $\frac{१३६०}{२}$	२३६१५	२३६०३ $\frac{१४४०}{२}$	२६९२		

३. पुष्करत्रावकी नदियों

नाम	उत्तर दक्षिण लम्बाई			ति. प./श. गा
	आदिम	मध्यम	अन्तिम	
सामान्य नियम—सर्व नदियाँ जम्बूद्वीपवालीसे चौगुनी विस्तार युक्त है। (ति. प./श./२०८८)				
दोनो बाह्य विदेहोकी विभगा—				
ग्रहवती व ऊर्मिमालिनी	१९६१५७६२ ^१ / _३	१९६१८१५२ ^२ / _३	१९६२०५२३ ^३ / _३	२८५०
ग्रहवती व फेनमालिनी	२००१७५५ ^३ / _३	२००१९९४ ^३ / _३	२००२२३३ ^४ / _३	२८५८
गम्भीरमालिनी व पर्कावती	२०४१९३५ ^५ / _३	२०४२१७४ ^२ / _३	२०४२४१२ ^४ / _३	२८६६
दोनो अन्तर्गत विदेहोकी विभगा—				
ह्रीरदा व उन्मत्तजला	१४६१२५१ ^३ / _३	१४६१०१३ ^२ / _३	१४६०७७४ ^३ / _३	२८८६
मत्तजला व सीतोदा	१४२१०७२ ^५ / _३	१४२०८३३ ^३ / _३	१४२०५९५ ^४ / _३	२८९४
तप्तजला व अन्तर्वाहिनी	१३८०८९२ ^७ / _३	१३८०६५४ ^४ / _३	१३८०४१५ ^९ / _३	२९०२

४. मध्यलोककी वापियों व कुण्डोंका विस्तार

१. जम्बूद्वीप सम्बन्धी—

नाम	लम्बाई	चौड़ाई	गहराई	ति. प./श. गा.	रा. वा./अ. वा./प.	ह. पु./श. गा.	त्रि. सा./गा.	ज. प./अ. गा.
सामान्य नियम—सरोवरोका विस्तार अपनी गहराईसे ५० गुना है (ह. पु./श./५०७) द्रहोकी लम्बाई अपने-अपने पर्वतोकी ऊँचाईसे १० गुनी है, चौड़ाई ५ गुनी और गहराई दसवें भाग है। (त्रि. सा./५६८) ; (ज. प./३/७९)								
जम्बूद्वीप जगतीके मूलवाली—								
उत्कृष्ट	२०० घ.	१०० घ.	२० घ.	२३				
मध्यम	१५० "	७५ "	१५ "	"				
जघन्य	१०० "	५० "	१० "	"				
पद्मद्रह	१००० "	५०० "	१० "	१६५८	(त. सू./३/१५-१६)	१२६		
महापद्म	→ पद्मसे दुगुना ←			१७२७		१२६		
तिगिच्छ	→ पद्मसे चौगुना ←			१७६१		"		
केसरी	→ तिगिच्छवत् ←			२३२३		"		
पुण्डरीक	→ महापद्मवत् ←			२३४४		"		
महापुण्डरीक	→ पद्मवत् ←			२३५५		"		
देवकुरुके द्रह	→ पद्मद्रहवत् ←			२०६०	१०/१३/१७४/३०	१६५		
उत्तरकुरुके द्रह	→ देवकुरुवत् ←			२१२६				
नन्दनवनकी वापियों	५० यो.	२५ यो.	१० यो.					
सौमनसवनकी वापियों								
दृष्टि सं. १	२५ "	२५ "	५ यो.	१६४७				
दृष्टि सं. २	→ नन्दनवनवत् ←				१०/१३/१८०/३०			
गंगा कुण्ड —		गोलाईका व्यास	गहराई					
दृष्टि सं. १	१० यो.		१० यो.	२१६ + २२९				
दृष्टि सं. २	६० "		१० "	२१८	२२/१/१८७/२५	१४२	५८७	
दृष्टि सं. ३	६२ ^१ / _३ "		१० "	२१६				
सिन्धुकुण्ड	→ गंगकुण्डवत् ←				२२/५/१८७/३२			
आगे सीतासीतोदा तक	→ उत्तरोत्तर दुगुना ←				२२/३-८/१८६			
आगे रक्तारक्तोदा तक	→ उत्तरोत्तर आधा ←				२२/६-१४/१८६			
३२ विदेहोकी नदियोंके कुण्ड	६३ यो.		१० यो.		१०/१३/१७६/२४			
विभंगाके कुण्ड	१२० यो.		१० यो.		१०/१३/१७६/१०			

२. अन्य द्वीप सम्यन्धी

नाम	लम्बाई	चौड़ाई	गहराई	ति प. ४/गा.	रा वा /३/सु / व./पृ/प.	ह. पु / ५/गा	त्रि सा / गा	ज. प / अ / गा.
धातकीखण्डके पच आदि द्रह	यो० →	यो० जम्बूद्वीपसे दूने	यो० ←		३३/५/१६५/२३			
नन्दीश्वरद्वीपकी बापियाँ	१००,०००	१००,०००	१०००	६०	३५/-/१६८/१९	६५७	६७९	

९. अढाई द्वीपके कमलोंका विस्तार

नाम	ऊँचाई या विस्तार	कमल सामान्य को०	नाल को०	मृणाल को०	पन्ना को०	कणिका को०	ति प./ ४/गा	रा. वा /३/ १७/-/१८५/ पंक्ति	ह पु./ ५/गा	त्रि. सा / गा	ज. प./ अ / गा.
पच द्रहका मूल कमल	ऊँचाई— दृष्टि स १ दृष्टि स २ विस्तार— दृष्टि स. १ दृष्टि स. २	४	४२			१	१६६७		१२८	५७०-५७९	६/७४
					२	२	१६७०	८,६			
		४ या, २	१	३	×	१	१६६७ १६६६			५७०-५७९	
		४	१	३	१	२	१६६७+ १६७०	८	१२८		३/७४
नोट— जलके भीतर १० योजन या ४० कोस तथा ऊपर दो कोस (रा वा /-/१८५/६), (ह. पु. ५/१२८), (त्रि. सा /५७९), (ज. प. /३/७४)											
परिवार कमल आगे तिगिछ द्रह तक केसरी आदि द्रहके	→ → →	सर्वत्र उपरोक्तसे आधा उत्तरोत्तर दूना तिगिछ आदि वत्	← ← ←					१६ त सु/३/१८ त. सु./३/२६			३/१२७
हिमवात् पर कमलाकार कूट धातकीखण्डके	ऊँचाई विस्तार	१ जलके ऊपर २			१/२	१	२०६ २५४	२२/२/१८८/३			३/७४
		→ जम्बूद्वीपवालोसे दूने ← (रा वा /३/३३/५/१६५/२३)									

लोकचंद्र—नन्दोसध बलात्कारगणकी पुर्विलीके अनुसार आप कुमारनन्दीके शिष्य तथा प्रभाचन्द्र नं. १ के गुरु थे। समय—विक्रम शक सं. ४२७-४६३ (ई ५०५-५३९) दे० इतिहास/७ २।

लोकपंक्ति—यो. सा./अ./८/२० आराधनाय लोकानां मल्लिनान्तरात्मना। क्रियते या क्रिया बालैर्लोकपङ्क्तिरसौ मता। २०।=अन्तरात्माके मलिन होनेसे मूर्ख लोग जो लोकको रजायमान करनेके लिए क्रिया करते हैं उसे लोकपंक्ति कहते हैं।

लोकपाल—

स. ति/४/४/२३६/५ अर्थचरा रक्षकसमाना लोकपाला। लोकपाल-यन्तीति लोकपाला।=जो रक्षकके समान अर्थचर है वे लोकपाल कहलाते हैं। तात्पर्य यह है कि जो लोकका पालन करते हैं वे लोकपाल कहलाते हैं (रा. वा./४/४/६/२३३/४); (म. पु /२२/२८)। ति. प./३/६६ चत्वारि लोयपाला सावर्णा होति तंतवलाणं। तणुरवखाण समाणा सरीरवखा मुरा सव्वे। ६६।=(इन्द्रके परिवारमेंसे) चारों लोकपाल तन्त्रपालोके सदृश - होते हैं।

त्रि. सा./भाषा/२२४ जैसे राजाका सेनापति तैसे इन्द्रके लोकपाल दिगीन्द्र है।

२. चारों दिशाओंके रक्षक चार लोकपाल**१. इन्द्रकी अपेक्षा—**

ति. प./३/७९ पत्तेकइदयानं सोमो यमवरुणधणदणामा य। पुत्रादि लोयपाला हवति चत्वारि चत्वारि। ७९।=प्रत्येक इन्द्रके पूर्वादि दिशाओके रक्षक क्रमसे सोम, यम, वरुण और धनद (कुबेर) नामक चार-चार लोकपाल होते हैं। ७९।

२. पूजा मण्डपकी अपेक्षा

प्रतिष्ठासारोद्धार/३/१८७-१८८ पूर्वदिशाका इन्द्र, आग्नेयका अग्नि, दक्षिणका यम, नैऋत्यका नैऋत्य, पश्चिमका वरुण, वायव्यका वायु, उत्तरका कुबेर, ईशानका सोम व धरणेन्द्र।

३. प्रतिष्ठा मण्डपके द्वारपालोंका नाम निर्देश

प्रतिष्ठासारोद्धार/२/१३६ कुमुद, अञ्जन, वामन, पुष्पदन्त, नाग, कुबेर, हरितप्रभ, रत्नप्रभ, कृष्णप्रभ, व देव।

४. वैमानिक इन्द्रोके लोकपालोंका परिवार

ति. प./५/२७७-२६६ सौधर्म, ईशान, सनत्कुमार, माहेन्द्र, ब्रह्म, लातव, महासुक, सहस्रार और आनतादि चार इन सब इन्द्रोके चार चार लोकपाल हैं—सोम, यम, वरुण व कुबेर। इन चारों का परिवार क्रमसे निम्न प्रकार है—१ देवियाँ—प्रत्येकको ३३ करोड़। २. आभ्यन्तर परिषद्—५०,५०,६२,७०। ३ मध्यम परिषद्—४००,४००,५००,६००, ४ बाह्य परिषद्—५००,५००,६००,७००। ५. चारोंके ही अनीकोमें सामन्त अपने-अपने इन्द्रोकी अपेक्षा क्रमसे ४०००, ४०००, १०००, १००० ५००, ४००, ३००, २००, १०० है। ६ सभी इन्द्रोके चारों ही लोकपालोंकी प्रथम कक्षामे सामान्य = २५०००, और शेष कक्षाओंमें उत्तरोत्तर दूने दूने है। ७. वृषभादि—३५५६०००। ८ कुल अनीक—२४५६२०००। ९. विमान—६६६६६६६६।

५. सौधर्म इन्द्रके लोकपाल द्विचरम शरीरी हैं

ति. प./५/३७५-३७६ सक्रो सहगमहिंसी सलोयवालो ..णियमा वृचरिमदेहा ..। =अग्रमहिषी और लोकपालोंसहित सौधर्म इन्द्र नियमसे द्विचरम शरीर है।

*** अन्य सम्बन्धित विषय**

१. लोकपाल देव सामान्यके १० विकल्पोंमें से एक है—दे० देव/१।
२. भवनवासी व वैमानिक इन्द्रोके परिवारोंमें लोकपालोंका निर्देशादि—दे० भवनवासी आदि भेद।
३. जन्म, शरीर, आहार, सुख, दुःख, सम्यक्त्व, आदि विषयक—दे० देव/II/२।

लोक प्रतर—(७)^२ = ४६।—दे. गणित II/२/७।

लोक विभाग—यह ग्रन्थ लोकके स्वरूपका वर्णन करता है। मूल ग्रन्थ प्राकृत गाथाबद्ध आ० सर्वनन्दि द्वारा ई० ४५८ में रचा गया था। पीछे आ० सिंहसूरि (ई. श. ११ के पश्चात्) द्वारा इसका संस्कृत रूपान्तर कर दिया गया। रूपान्तर ग्रन्थ ही उपलब्ध है मूल नहीं। इसमें ११ प्रकरण है और २००० श्लोक प्रमाण है।

लोक श्रेणी—७ राज्ञः।

लोकसेन—पंचस्तूपसंघकी गुर्वावलीके अनुसार (दे० इतिहास) आप आचार्य गुणभद्रके प्रमुख शिष्य थे। राजा अकालवर्षके समकालीन राजा लोकादित्यकी राजधानी बङ्कापुरमे रहकर, आचार्य गुणभद्र रचित अधूरे उत्तर पुराणको श्रावण कृ. ५ श. ८२० में पूरा किया था। तदनुसार इनका समय—ई ८६७-९३० (जीवन्धरचम्पू प्र./ ८/A, N, Up.); (म पु./प्र ३५/पं. पन्नालाल)—दे० इतिहास/७/ ७।

लोकादित्य—उत्तर पुराणकी अन्तिम प्रशस्तिके अनुसार राजा अकालवर्षके समकालीन थे। इनकी राजधानी बंकापुर थी तथा राजा बंकेयके पुत्र थे। आचार्य लोकसेनने इनके समयमें ही उत्तर-पुराणको पूर्ण किया था। तदनुसार इनका समय—श ८२० (ई. ८६८) आता है। (म, पु./प्र.४२/ पन्नालाल)।

लोकायत—दे० चार्वाक।

लोकेषणा—दे० राग/४।

लोकोत्तर प्रमाण—(वर्ण श्रेणी आदि)—दे० प्रमाण/५।

लोकोत्तरवाद—

ध. १३/५.५.५०/२८८/३ लोक एव लौकिक'। लोक्यन्त उपलभ्यन्ते यस्मिन् जीवादि पदार्थाः स लोक । स त्रिविध ऊर्ध्वधोमध्यलोक-भेदेन । स लोकः कथ्यते अनेनेति लौकिकवाद सिद्धान्त'। लोडिय-

वादो त्ति गद लोकोत्तर अलोक स उच्यते अनेनेति लोकोत्तरवाद । लोकोत्तरीयवादो त्ति गद । =लौकिक शब्दका अर्थ लोक ही है।—जिसमें जीवादि पदार्थ देखे जाते हैं अर्थात् उपलब्ध होते हैं उसे लोक कहते हैं। वह तीन प्रकारका है—ऊर्ध्वलोक, मध्यलोक और अधोलोक। जिसके द्वारा इस लोकका कथन किया जाता है वह सिद्धान्त लौकिकवाद कहलाता है। इस प्रकार लौकिकवादाका कथन किया। लोकोत्तर पदका अर्थ अलोक है, जिसके द्वारा उसका कथन किया जाता है वह ध्रुत लोकोत्तरवाद कहा जाता है, इस प्रकार लोकोत्तर का कथन किया।

गो क म्/८६३ सहउट्टिया पसिद्धी दुव्वारा मेलिदेहिवि सुरेहि । मज्झिमपडयखित्ता माला पचसु वि खित्तेव । =एक ही बार उठी हुई लोक प्रसिद्धि देवोंमें भी मिलकर दूर नहीं हो सकती और की नी बात क्या । जैसे कि द्रौपदीकर केवल अर्जुन-पांडवके गलेमें डाली हुई मान्नाकी 'पोचो पांडवोंको पहनायी है' ऐसी प्रसिद्धि हो गयी। इस प्रकार लोकवादी लोक प्रवृत्तिको सर्वस्व मानते हैं।—और भी दे० सत्य/सवृत्ति व व्यवहार सत्य)।

लोभ—१. आहारका एक दोष—दे० आहार/II/४/४। २. वसतिकका एक दोष— दे० वसतिका।

रा. वा /५/६/५/७४/३२ अनुग्रहप्रवणद्रव्यावभिकाड्क्षावेशो लोभ' कृमि-राग-कज्जल-कर्दम-हरिद्रारागसदृशचतुर्विध' । =धन आदिकी तीव्र आकांक्षा या गृद्धि लोभ है। यह किरकिरी रंग, काजल, कीचड़ और हलदीके रंगके समान चार प्रकारका है।

ध १/१.१.१११/३४२/८ गर्हा काड्क्षा लोभ । =गर्हा या कांक्षाको लोभ कहते हैं।

ध. ६/१.६-१.२३/४१/५ लोभो गृद्धिरित्येकोऽर्थ' । =लोभ और गृद्धि एकार्थक है।

ध. १२/४.२.५.८/२८३/५ बाह्यार्थेषु ममेवं बुद्धिलोभ' । =बाह्य पदार्थोंमें जो 'यह मेरा है' इस प्रकार अनुरागरूप बुद्धि होती है वह लोभ है।

नि सा /ता च /११२ युक्तस्थले धनव्यग्राभावो लोभ, निश्चयेन निखिलपरिग्रहपरित्यागलक्षण निर जननिजपरमात्मतत्त्वपरिग्रहात् अन्यत् परमाणुमात्रद्रव्यस्वीकारो लोभ' । =योग्यस्थान पर धन व्ययका अभाव वह लोभ है; निश्चयसे समस्त परिग्रहका परित्याग जिसका लक्षण है, ऐसे निरंजन निज परमात्म तत्त्वके परिग्रहसे अन्य परमाणुमात्र द्रव्यका स्वीकार वह लोभ है।

३. लोभके भेद

रा. वा./६/५/५६६/४ लोभश्चतु प्रकार'—जीवनलोभ आरोग्यलोभ इन्द्रियलोभ उपभोगलोभश्चेति, स प्रत्येकं द्विधा भिद्यते स्वपरविषय-त्वात् । =लोभ चार प्रकारका है—जीवनलोभ, आरोग्यलोभ, इन्द्रिय लोभ, उपभोगलोभ। ये चारों भी प्रत्येक रव पर विषयके भेदसे दो-दो प्रकार हैं। (चा, सा./६२/५) (इनके लक्षण दे० शौच)।

*** अन्य सम्बन्धित विषय**

- | | |
|---------------------------------|---------------|
| १. लोभ कषायके अन्य भेद | दे० मोहनीय/३। |
| २. लोक कषाय सम्बन्धी विषय | —दे० कषाय। |
| ३. लोभ व परिग्रह सञ्चामें अन्तर | —दे० सञ्चा। |
| ४. लोभ कषाय राग है | —दे० कषाय/४। |
| ५. लोभकी इष्टता अनिष्टता | —दे० राग/४। |

लोल—दूसरे नरकका नवौं पटल—दे० नरक/५/११।

लोलक—दूसरे नरकका दसवौं पटल—दे० नरक/५/११।

लोलवत्स—दूसरे नरकका दसवौं पटल—दे० नरक/५/११।

लोहागक—विजयार्धकी दक्षिण श्रेणीका एक नगर—दे० विद्याधर ।

लोहाचार्य—१ सुधर्माचार्यका अपरनाम था—दे० सुधर्माचार्य ।

२ मूलसध की पट्टावली में इनकी गणना अष्टांगधारियों अथवा आचार्यांगधारियों में की गई है । इसके अनुसार इनका समय बी. नि. ४२५-५६५ (ई. पू. १२-३८) प्राप्त होता है । (दे. इतिहास/४/४), (ह पु/प्र ३/५ पन्नालाल), (स सि/प्र ७८/५ फूलचन्द), (कोश १/परिशिष्ट २/५) । ३ नन्दसध बलात्कारण की पट्टावली के अनुसार ये उमास्वामी के शिष्य तथा यश कीर्ति के गुरु थे । समय—शक सं. १४२-१५३ (ई. २२०-२३१) । (दे. इतिहास/७/१,२) ।

लोहित—१ लवण समुद्रस्थ दिक् पर्वतका स्वामी देव—दे० लोक/५/१, २ । २ सौधर्मस्वर्गका २४ वॉ पटल व इन्द्रक—दे० स्वर्ग/५/३ ।

लोहितार्ध—१ गन्धमादन विजयार्ध पर्वतस्थ एक कूट—दे० लोक/५/४, २ । लवण समुद्रस्थ दिक् पर्वतका स्वामी देव—दे० लोक/५/६, ३ । २ मानुषोत्तर पर्वतस्थ एक कूट—दे० लोक/५/१०, ४ । रुचक पर्वतस्थ एक कूट—दे० लोक/५/१३, ५ । स्वर्ग पटल—(दे० स्वर्ग/५/३) ।

लौच—दे० केश लौच ।

लौकान्तिक देव—

स सि/४/२४/२५५/१ एत्य तस्मिन् लीयन्त इति आलय आवास । ब्रह्मलोक आलयो येषां ते ब्रह्मलोकालया लौकान्तिका देवा वेदितव्या । ब्रह्मलोको लोकः तस्यान्तो लोकान्तः तस्मिन्भवा लौकान्तिका इति न सर्वेषां ग्रहणम् । अथवा जन्मजरामरणकीर्णो लोक संसार, तस्यान्तो लोकान्तः । लोकान्ते भवा लौकान्तिका ।"

स सि./४/२४/२५६/७ एते सर्वे स्वतन्त्रा हीनाधिकत्वाभावात् । विषय-रतिविरहाइवेवर्षय इतरेषा देवानामर्चनीया, चतुर्वशपूर्वधरा । [सततज्ञानभावनावहितमनस, ससारान्वित्यमुद्दिग्ना अनित्या-शरणाद्यनुप्रेक्षासमाहितमानसा, अतिविशुद्धसम्यग्दर्शनाः, रा. वा.] तीर्थकरनिष्क्रमणप्रतिबोधनपरा वेदितव्या । =१. आकर जिसमें लयको प्राप्त होते हैं, वह आलय या आवास कहलाता है । ब्रह्मलोक जिनका घर है वे ब्रह्मलोकमें रहने वाले लौकान्तिक देव जानने चाहिए । लौकान्तिक शब्दमें जो लोक शब्द है उससे ब्रह्म लोक लिया है और उसका अन्त अर्थात् प्रान्त भाग लोकान्त कहलाता है । वहाँ जो होते हैं वे लौकान्तिक कहलाते हैं । (रा. वा. ४/२४/१-२४२/२५) । २. अथवा जन्म जरा और मरणसे व्याप्त संसार लोक कहलाता है और उसका अन्त लोकान्त कहलाता है । इस प्रकार संसारके अन्तमें जो है वे लौकान्तिक हैं । (ति प/५/-६१५), (रा. वा. ४/२४/१-२/२४२/२५) ; ३. ये सर्व देव स्वतन्त्र हैं, क्योंकि हीनाधिकताका अभाव है । विषय-रतिसे रहित होनेके कारण देव ऋषि हैं । दूसरे देव इनकी अर्चा करते हैं । चौदह पूर्वोंके ज्ञाता हैं । [सतत ज्ञान भावनामें निरत मन, ससारसे उद्दिग्ना, अनित्यादि भावनाओंके भाने वाले, अति विशुद्ध सम्यग्दृष्टि होते हैं । रा. वा.] वैराग्य कल्याणकके समय तीर्थकरोंको सम्बोधन करनेमें तत्पर हैं । (ति. प./५/६११-६४६), (रा. वा. ४/२४/३/२४४/६), (ति. स. ४/३६-५४०) ।

१. लौकान्तिक देवके भेद

त. सू. ४/२५ सारस्वतादित्यबृहवरुणगर्दतोयतुषिताव्याधाधारिष्टाध १२५ ।

स सि./४/२४/२५६/३ सारस्वतादित्यान्तरे अग्न्याभसूर्याभाः । आदित्यस्य च बहूनेश्चान्तरे चन्द्राभसत्याभाः । बृहवरुणान्तराले श्रेयस्करक्षेमकराः । अरुणगर्दतोयान्तराले वृषभेष्टकामचाराः । गर्दतोयतुषितमध्ये निर्माणरजोदिगन्तरक्षिता । तुषिताव्याधामध्ये आत्म-

रक्षितसर्वरक्षिताः । अव्याधाधारिष्टान्तराले मरुद्वसव । अरिष्टसारस्वतान्तराले अश्वविश्वा । =सारस्वत, आदित्य, वह्नि, अरुण, गर्दतोय, तुषित, अव्याधाध और अरिष्ट ये लौकान्तिक देव हैं । २५। च शब्दसे इनके मध्यमें दो-दो देवगण और हैं इनका समग्र होता है यथा—सारस्वत और आदित्यके मध्यमें अग्न्याभ और सूर्याभ हैं । आदित्य और वह्निके मध्यमें चन्द्राभ और सत्याभ हैं । वह्नि और अरुणके मध्यमें श्रेयस्कर और क्षेमकर, अरुण और गर्दतोयके मध्यमें वृषभेष्ट और कामचर, गर्दतोय और तुषितके मध्यमें निर्माणरजस् और दिगन्तरक्षित हैं । और तुषित अव्याधाधके मध्यमें आत्मरक्षित और सर्वरक्षित, अव्याधाध और अरिष्टके मध्यमें मरुत और वसु हैं । तथा अरिष्ट और सारस्वतके मध्यमें अश्व और विश्व हैं । (रा. वा. ४/२५/३/२४३/१६), (ति. प./५/६१६-६२४) ।

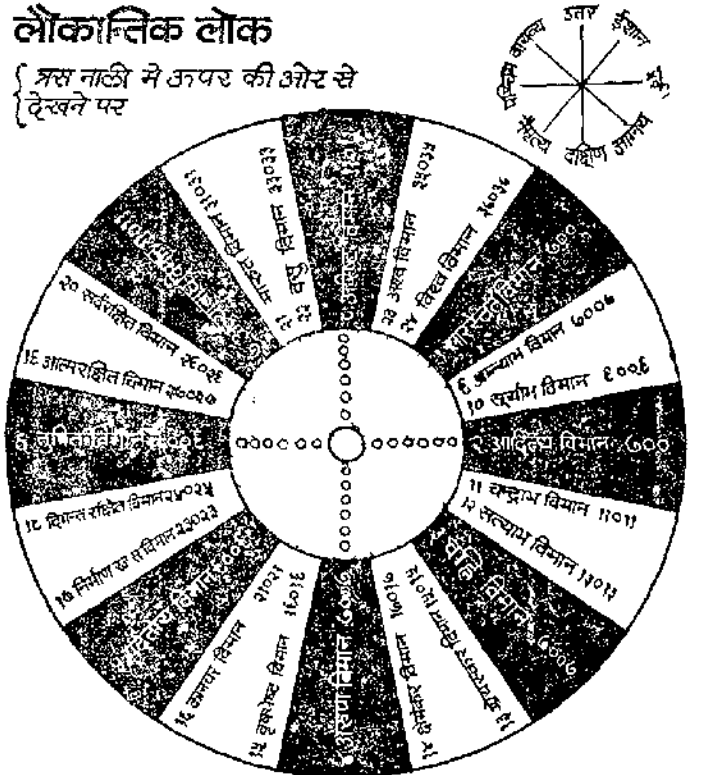
३. लौकान्तिक देवोंकी संख्या

ति. प./५/६२४-६३४ सारस्वत ७००, आदित्य ७००, वह्नि ७००, अरुण ७००, गर्दतोय ६००, तुषित ६००, अव्याधाध ११०११, अरिष्ट ११०११, अग्न्याभ ७००, सूर्याभ ६००, चन्द्राभ ११०११, सत्याभ ११०११, श्रेयस्कर १५०१५, क्षेमकर १७०१७, वृषभेष्ट १६०१६, कामचर १९०२१, निर्माणरज २३०२३, दिगन्तरक्षित २५०२५, आत्मरक्षित २७०२७, सर्वरक्षित २६०२६, मरुत, ३१०३१, वसु ३३०३३ अश्व ३५०३५, विश्व ३७०३७ हैं । इस प्रकार इन चालीस लौकान्तिकोंकी समग्र संख्या ४०७५६ है । (रा. वा. ४/२५/३/२४३/२०) ।

ति. प./५/६३६ लोक विभागके अनुसार सारस्वतदेव ७०० हैं ।

लौकान्तिक लोक

{ प्रस नखी मे ऊपर की ओर से देखने पर



४. लौकान्तिक देवोंका अवस्थान

स सि./४/२४.२५/२५६/५ तेषां हि (लौकान्तिकानां) विमानानि ब्रह्मलोकस्यान्तरेषु स्थितानि । २४। अष्टास्वपि पूर्वोत्तरादिषु दिक्षु यथाक्रममेते सारस्वतादयो देवगणा वेदितव्या । तथा—पूर्वोत्तरकोणे सारस्वतविमानम्, पूर्वस्यां दिशि आदित्यविमानम्, पूर्व-दक्षिणस्यां दिशि वह्निविमानम्, दक्षिणस्यां दिशि अरुणविमानम्

दक्षिणापरकोणे गर्दतोयविमानम्, अपरस्या दिशि तुषितविमानम्, उत्तरापरस्या दिशि अव्याबाधविमानम्, उत्तरस्या दिशि अरिष्टविमानम् । • तेषामन्तरेषु द्वौ देवगणौ । = इन लौकान्तिक देवोंके विमान ब्रह्मलोकके प्रान्त भागमें (किनारे पर) स्थित आठ राजियों (Sectors) के अन्तरालमें (ति. प.) है । पूर्व-उत्तर आदि आठों ही दिशाओंमें क्रमसे ये सारस्वत आदि देवगण रहते हैं ऐसा जानना चाहिए । यथा—पूर्वोत्तर कोणमें सारस्वतोके विमान, पूर्व दिशामें आदित्योके विमान, पूर्वदक्षिणमें वह्निदेवोंके विमान, दक्षिण दिशामें अरुणके विमान, दक्षिण-पश्चिम कोनेमें गर्दतोयके विमान, पश्चिम दिशा में तुषितके विमान, उत्तर-पश्चिम दिशामें अव्याबाधके विमान, और उत्तर दिशामें अरिष्ट विमान है । इनके मध्यमें दो दो देवगण हैं । (उनकी स्थिति व नाम दे० लौकान्तिक/२), (ति. प. /-८/६१६-६१६), (रा वा. /४/२६/३/२४३/१६), (त्रि. सा /-६३४-६३८) ।

५. लौकान्तिक देव एक भवावधारी हैं

स. सि /४/२४/२६६/७ लौकान्तिकाः सर्वे परीतसंसाराः ततश्च्युता एकं गर्भावासं प्राप्य परिनिर्वास्यन्तीति । = लौकान्तिक देव क्योंकि संसारके पारको प्राप्त हो गये हैं इसलिए वहाँसे च्युत होकर और एक बार गर्भमें रहकर निर्वाणको प्राप्त होगे । (ति. प. /-६७६), (रा. वा. /४/२४/२४२/३०) ।

* अन्य सम्बन्धित विषय

१. द्विवरम शरीरका स्पष्टीकरण । —दे० चरम ।
२. कैसा योग्यता वाला जीव लौकान्तिक देवोंमें जाता है । —दे० जन्म/६ ।
३. ब्रह्म लोक । —दे० स्वर्ग/६ ।

लौकिक—१ लौकिक जन सग्तिका विधि निषेध—दे० 'संगति' ।
२. प्र सा /मू./२६३, २६६ लौगिगजणसंभासा [शुद्धात्मवृत्तिश्चान्य-जनसंभाषण (त प्र)] । २६३। णिगमं पठ्वद्दो वृद्धिं जदि एहि-गेहि कम्ममेहि । सो लौगिगो त्ति भणिदो संजमतवसंपजुत्तोवि । २६६। = लौकिक जन संभाषण अर्थात् शुद्धात्म परिणति च्युत लोकोके साथ बातचीत... २६३। जो (जीव) निर्गन्ध रूपसे दीक्षित होनेके कारण संयम तप सयुक्त हो उसे भी यदि वह ऐहिक कार्यों (ख्याति लाभ पूजाके निमित्त ज्योतिष, मन्त्र, वादित्व आदि 'ता वृ') सहित वर्तता हो तो लौकिक कहा गया है । २६६।

लौकिक—दूसरे नरकका नवमा पटल—दे० नरक/४/११

लौकिक प्रमाण—दे० प्रमाण/६ ।

लौकिक वाद—दे० लोकोत्तर ।

लौकिक शुचि—दे० शुचि ।

लौगक्षि भास्कर—मीमांसा दर्शनका टीकाकार । —दे० मीमांसा दर्शन ।

[व]

वंग—दे० वंग ।

वंगा—मध्य आर्य खण्डकी एक नदी—दे० मनुष्य/४ ।

वंचना—दे० माया ।

वन्दना—द्वादशागके १४ पूर्वोंमें से तीसरा पूर्व । —दे० श्रुत-ज्ञान /III/१

वन्दना १. कृतिकर्मके अर्थमें

रा. वा /६/२४/११/६३०/१३ वन्दना त्रिबुद्धिं द्वाचासना चतु शिरोऽ-वनति द्वादशावर्तना । = मन, वचन, कायकी बुद्धि पूर्वक खड्गासन या पद्मासनसे चार बार शिरोनति और बारह आवर्त पूर्वक वन्दना होती है ।—(विशेष दे० कृतिकर्म) ।

भ. आ. /वि. /५०६/७२८/१३ वन्दनीयगुणानुस्मरणं मनोवन्दना । वाचा तद्गुणमाहात्म्यप्रकाशनपरवचनोच्चारणम् । कायेन वन्दना प्रदक्षिणीकरण कृतानतिश्च । = वन्दना करने योग्य गुरुओं आदिके गुणोंका स्मरण करना मनोवन्दना है, वचनोंके द्वारा उनके गुणोंका महत्त्व प्रगट करना यह वचन वन्दना है और प्रदक्षिणा करना, नमस्कार करना यह कायवन्दना है ।—(और भी दे० नमस्कार/१) ।

क. पा. १/१-१/४ ५६/१११/५ एयरस्स तित्थयरस्स णमसण वंदना णाम । = एक तीर्थंकरको नमस्कार करना वन्दना है । (भा. पा. /टी /७७/२२१/१४) ।

घ. ८/३.४१/५४/३ उसहाजिय वड्डमाणादित्थयरारणं भरहादि-केवलीण आइरिय-चइत्तालयादीणं भेयं काऊण णमोवकारो गुणगण-मवलीणो सयकलावाउलो गुणाणुसरणसरूवो वा वंदना णाम ।

ध. ८/३.४२/६२/२ तुहुं णिट्ठवियट्ठकम्मो केवलणाणेण दिट्ठसव्वट्ठो धम्ममुहसिट्ठगोट्ठोप पुट्ठाभयदाणोसिट्ठपरिवालओ वुट्ठणिग्ग-हकरो देव त्ति पसंसावंदना णाम । = ऋषभ, अजित -वर्धमानादि तीर्थंकर, भरतादि केवली, आचार्य एवं चैत्यालयादिकोंके भेदको करके अथवा गुणगण भेदके आश्रित, शब्द बलापसे व्याप्त गुणानु-स्मरण रूप नमस्कार करनेको वन्दना कहते हैं । ८८। 'आप अष्ट कर्मोंको मष्ट करनेवाले, केवलज्ञानसे समस्त पदार्थोंको देखनेवाले, धर्मोन्मुख शिष्टोंकी गोष्ठीमें अभयदान देनेवाले, शिष्ट परिपालक और बुद्ध निग्रहकारी देव है' ऐसी प्रशंसा करनेका नाम वन्दना है ।

भ. आ. /वि. /११६/२७५/१ वन्दना नाम रत्नत्रयसमन्वितानां यतीनां आचार्योपाध्यायप्रवर्तकस्थविराणां गुणातिशयं विज्ञाय श्रद्धापुर-सरेण विनये प्रवृत्ति । = रत्नत्रयधारक यति, आचार्य, उपाध्याय, प्रवर्तक, वृद्धसाधु इनके उत्कृष्ट गुणोंको जानकर श्रद्धा सहित होता हुआ विनयमें प्रवृत्ति करना, यह वन्दना है ।—(दे० नमस्कार/१) ।

२. निश्चय वन्दनाका लक्षण

यो सा. /अ /२/४६ पवित्रदर्शनज्ञानचारित्रमयमुत्तमं । आत्मानं वन्द्य-मानस्य वन्दनाकथि कोविदैः । ४६। = जो पुरुष पवित्र दर्शन ज्ञान और चारित्र स्वरूप उत्तम आत्माकी वन्दना करता है, विद्वानोंने उसी वन्दनाको उत्तम वन्दना कहा है ।

३. वन्दनाके भेद व स्वरूप निर्देश

भ. आ. /वि. /११६/२७५/२ वंदना अभ्युत्थानप्रयोगभेदेन द्विविधे विनये प्रवृत्ति प्रत्येकं तयोरनेकभेदता । = अभ्युत्थान और प्रयोगके भेदसे दो प्रकार विनयमें प्रवृत्ति करना वन्दना है । इन दोनोंमेंसे प्रत्येकके अनेक भेद हैं । (तिनमें अभ्युत्थान विनय तो आचार्य साधु आदिके समक्ष खड़े होना, हाथ जोड़ना, पीछे-पीछे चलना आदि रूप हैं । इसका विशेष कथन 'विनय' प्रकरणमें दिया गया है और प्रयोग विनय कृतिकर्म रूप है । इसका विशेष कथन निम्न प्रकार है ।)

* मन वचन काय वन्दना—दे० नमस्कार ।

३. वन्दनामें आवश्यक अधिकार

भ. आ. /वि. /११६/२७५/२ कर्त्तव्यं केन, कर्य, कदा, कस्मिन्कति वारानिति । अभ्युत्थानं केनोपदिष्टं किंवा फलमुद्दिश्य

कर्तव्यं ।...उपदिष्टः सर्वैर्जिनैः कर्मभूमिषु । =यह वन्दना कार्य किसको करना चाहिए, किसके द्वारा करना चाहिए, कब करना चाहिए, किसके प्रति कितने बार करना चाहिए । अभ्युत्थान कर्तव्य है, वह किसने बताया है, तथा किस फलको अपेक्षा करके यह करना चाहिए । सो इस कर्तव्यका कर्मभूमि वालोंके लिए सर्व जिनेश्वरोंने उपदेश दिया है । (इसका क्या फल व महत्त्व है यह बात 'विनय' प्रकरणमें बताया गया है । शेष बात आगे क्रम पूर्वक निर्दिष्ट हैं ।)

४. वन्दना कितनी करनी चाहिए

चा. सा./१५६/२ अतश्चैत्यस्य तदाभ्यचैत्यालयस्यापि वन्दना कार्या । ...गुरुणां पुण्यपुरुषोषितनिरवद्यनिषद्यास्थानादीनामुच्च्यते क्रियाविधानम् । =जिन बिम्बकी तथा उसके आश्रयभूत चैत्यालयकी वन्दना करनी चाहिए । आचार्य आदि गुरुओंकी तथा पुण्य पुरुषोंके द्वारा सेवनीय उनके निषद्या स्थानोंकी वन्दना विधि कहते हैं ।

दे वन्दना/१ (चौबीस तीर्थकरोंकी, भरत आदि केवलियोंकी, आचार्य, उपाध्याय, प्रवर्तक, वृद्ध साधु, तथा चैत्य चैत्यालयकी वन्दना करनी चाहिए ।)—(और भी दे०/कृतिकर्म/२/४) ।

५. वन्दनाकी तीन वेलाएँ व काल परिमाण

ध. १३/५,४,२५/८६/१ पदाहिणाणमसणादिकिरियाणं तिण्णिवारकरणं तिवखुत्तं णाम । अथवा एककम्हि चैव दिवसे जिणगुरुरिसंबंदणाओ तिण्णिवारं किज्जंति त्ति तिवखुत्तं णाम । तिसज्झाधु चैव वंदणा कीरदे अण्णत्थ किण्ण करिदे । ण अण्णत्थ वि तप्पत्तिसेहणियमाभावादो । तिसज्झाधु बंदणणियमपस्सवणरठं तिवखुत्तमिदि भणिदं । =प्रदक्षिणा और नमस्कार आदि क्रियाओंका तीन बार करना त्रि कृत्वा है । अथवा एक ही दिनमें जिन, गुरु, ऋषियोंकी वन्दना तीन बार की जाती है, इसलिए इसका नाम त्रि कृत्वा है । प्रश्न—तीनों ही सन्ध्याकालोंमें वन्दना की जाती है, अन्य समयमें क्यों नहीं की जाती । उत्तर—नहीं, क्योंकि, अन्य समयमें भी वन्दनाके प्रतिषेधका कोई नियम नहीं है । तीनों सन्ध्याकालोंमें वन्दनाके नियमका कथन करनेके लिए 'त्रि कृत्वा' ऐसा कहा है ।

अन. घ./५/७६/०७ तिस्रोऽहोन्त्या निशश्चाचा नाड्यो व्यत्यासिताश्च ता । मध्याह्नस्य च षट्कालास्त्रयोऽमी नित्यवन्दने । ७६। —उक्त च—सुहूर्तत्रितय कालः संध्यानां त्रितये बुधैः । कृतिकर्मविधेर्नित्यं परो नैमित्तिको मतः ॥ =तीन सन्ध्याकालोंमें अर्थात् पूर्वाह्न, अपराह्न, व मध्याह्नमें वन्दनाका काल छह-छह घड़ी होता है । वह इस प्रकार है कि, सूर्योदयसे तीन घड़ी पूर्वसे लेकर सूर्योदयके तीन घड़ी पश्चात् तक पूर्वाह्न वन्दना, मध्याह्नमें तीन घड़ी पूर्वसे लेकर मध्याह्नके तीन घड़ी पश्चात् तक मध्याह्न वन्दना, और इसी प्रकार सूर्यास्तमें तीन घड़ी पूर्वसे सूर्यास्तके तीन घड़ी पश्चात् तक अपराह्निक वन्दना । यह तीनों सन्ध्याओंका उक्तकाल है जैसे कि कहा भी है—कृतिकर्मकी नित्यकी विधिके कालका परिमाण तीनों सन्ध्याओंमें तीन-तीन सुहूर्त है । (अन. घ./६/१३) ।

* अन्य सम्बन्धित विषय

१. वन्दनाका फल गुणश्रेणी निर्जरा । —दे० पूजा/२ ।
२. वन्दनाके अतिचार । —दे० व्युत्सर्ग/१ ।
३. वन्दनाके योग्य आसन मुद्रा आदि । —दे० कृतिकर्म/३ ।
४. एक जिन या जिनालयकी वन्दनासे सबकी वन्दना हो जाती है । —दे० पूजा/३ ।

५. साधुसंघमें परस्पर वन्दना व्यवहार । —दे० विनय/३, ४ ।
६. चैत्यवन्दना या देववन्दना विधि ।

चा. सा./१५६/५ आत्माधीनं सच्चैत्यादीन् प्रतिवन्दनार्थं गत्वा धौतपादस्त्रिप्रदक्षिणीकृत्यैर्यापथकायोत्सर्गं कृत्वा प्रथममुपविश्यालोच्य चैत्यभक्तिकायोत्सर्गं करोमीति विज्ञाप्योत्थाय जिनेन्द्रचन्द्रदर्शनमात्रजिनयत्तचन्द्रकान्तोपलविगलदानन्दाशुजलधारापूरपरिप्लावि-तपक्षमपुटोऽनादिभवदुर्लभभगवदर्हत्परमेश्वरपरमभट्टारकप्रतिबिम्बदर्शनजनितहर्षोत्कर्षपुलकिततत्तुरतिभक्तिभ्रावणतमस्तकन्यस्तहस्तकुशेशयकुड्मलो दण्डकद्वयस्यादावन्ते च प्राक्तनक्रमेण प्रवृत्त्य चैत्यस्तवेन त्रिपरीत्य द्वितीयवारेऽप्युपविश्यालोच्य पञ्चगुरुभक्तिकायोत्सर्गं करोमीति विज्ञाप्योत्थाय पञ्चपरमेष्ठिन स्तुत्वा तृतीयवारेऽप्युपविश्यालोचनीय ।प्रदक्षिणीकरणे च दिक्चतुष्टयावन्ती चतु शिरो भवति । एव देवतास्तवनक्रियायां चैत्यभक्ति पञ्चगुरुभक्ति च कुर्यात् । =आत्माधीन होकर जिनबिम्ब आदिकोंकी वन्दनाके लिए जाना चाहिए । सर्व प्रथम पेर धोकर तीन प्रदक्षिणा दे ईर्यापथ कायोत्सर्ग करे । फिर बैठकर आलोचना करे । तदनन्तर मैं 'चैत्यभक्ति कायोत्सर्ग करता हूँ' इस प्रकार प्रतिज्ञा कर तथा खड़े होकर श्री जिनेन्द्रके दर्शन करे । जिससे कि आँखोंमें हर्षाश्रु भर जाये, शरीर हर्षसे पुलकित हो उठे और भक्तिसे नञ्जीभूत मस्तकपर दोनों हाथोंको जोड़कर रख ले । अब सामायिक दण्डक व थोसामिदण्डक इन दोनों पाठोंको आदि व अन्तमें तीन-तीन आवर्त व एक-एक शिरोनति सहित पढ़े । दोनोंके मध्यमें एक नमस्कार करे (दे० कृतिकर्म/४) तदनन्तर चैत्यभक्तिका पाठ पढ़े तथा बैठकर तस्सम्बन्धी आलोचना करे । इसी प्रकार पुन दोनो दण्डकों व कृतिकर्म सहित पञ्चगुरुभक्ति व तस्सम्बन्धी आलोचना करे । प्रदक्षिणा करते समय भी प्रत्येक दिशामें तीन-तीन आवर्त और एक शिरोनति की जाती है । इस प्रकार चैत्य वन्दना या देव वन्दनामें चैत्यभक्ति व पञ्चगुरु भक्ति की जाती है । (भ. आ./वि./११६/२७५/११ पर उद्धृत), (अन. घ./६/१३-१९) ।

७. गुरु वन्दना विधि

अन. घ./६/३१ लघ्व्या सिद्धगणित्स्तुत्या गणी वन्थो गवासनात् । सैद्धान्तोऽन्तश्रुतस्तुत्या तथा न्यस्तन्नुति विना । ३१। —उक्त च—सिद्धभक्त्या बृहत्साधुर्वन्थते लघुसाधुना । लघ्व्या सिद्धश्रुतस्तुत्या सैद्धान्त प्रणम्यते । सिद्धाचार्यलघुस्तुत्या वन्थते साधुभिर्गणी । सिद्धश्रुतगणित्स्तुत्या लघ्व्या सिद्धान्तविद्गणी । =साधुओंको आचार्यकी वन्दना गवासनसे बैठकर लघुसिद्धभक्ति व लघु आचार्यभक्ति द्वारा करना चाहिए । यदि आचार्य सिद्धान्तवेत्ता है, तो लघु सिद्धभक्ति, लघु श्रुतभक्ति व लघु आचार्यभक्ति करनी चाहिए । जैसा कि कहा भी है—छोटे साधुओंको बड़े साधुओंकी वन्दना लघु सिद्धभक्ति पूर्वक तथा सिद्धान्तवेत्ता साधुओंकी वन्दना लघुसिद्धभक्ति और लघुश्रुतभक्तिके द्वारा करना चाहिए । आचार्यकी वन्दना लघुसिद्धभक्ति व लघु आचार्यभक्ति द्वारा, तथा सिद्धान्तवेत्ता आचार्यकी वन्दना लघु सिद्धभक्ति, लघु श्रुतभक्ति और लघु आचार्यभक्ति द्वारा करना चाहिए ।

८. वन्दना प्रकरणमें कायोत्सर्गका काल

दे० कायोत्सर्ग/१ (वन्दना क्रियामें सर्वत्र २७ उच्छ्वासप्रमाण कायोत्सर्गका काल होता है ।)

वंदनामुद्रा—दे० मुद्रा ।

वंश—१. ऐतिहासिक राज्यवंश—दे० इतिहास/३ । २. पौराणिक राज्यवंश—दे० इतिहास/७ । ३. जैन साधुओंके वंश या सभ—दे० इतिहास/४,५ ।

वंशपत्र—दे० योनि ।

वंशा—नरककी दूसरी पृथिवी । अपर नाम शर्कराप्रभा । —दे० शर्कराप्रभा तथा नरक/१ ।

वंशाल—विजयार्थकी उत्तर श्रेणीका एक नगर । —दे० विद्याधर ।

वक्तव्य—१ वस्तु कथंचित् वक्तव्य है और कथंचित् अवक्तव्य—दे० सप्तमगी/६ । २. शब्द अल्प है और अर्थ अनन्त—दे० आगम/४ ।

वक्तव्यता—

ध १/१,१,१/२/५ वक्तव्यता त्रिविधा, ससमयवक्तव्यता परसमयवक्तव्यता तदुभयवक्तव्यता चेदि । जम्हिह सत्थम्हिह स-समयो चैव वणिज्जदि परुविवज्जदि पण्णाविज्जदि तं सत्थं ससमयवक्तव्यं, तस्स भावो ससमयवक्तव्यता । पर समयो मिच्छत्तं जम्हिह पाहुडे अणि-योगो वा वणिज्जदि परुविवज्जदि पण्णाविज्जदि तं पाहुडमणि-योगो वा परसमयवक्तव्यं, तस्स भावो परसमयवक्तव्यता णाम् । जत्थ दो वि परुवेऊण पर-समयो दुसिज्जदि स-समयो थाविज्जदि तत्थ सा तदुभयवक्तव्यता णाम भवदि । = वक्तव्यताके तीन प्रकार—स्वसमय वक्तव्यता, परसमय वक्तव्यता और तदुभय वक्तव्यता । जिस शास्त्रमें स्वसमयका ही वर्णन किया जाता है, प्ररूपण किया जाता है, अथवा विशेष रूपसे ज्ञान कराया जाता है, उसे स्वसमय वक्तव्य कहते हैं और उसके भावको अर्थात् उसमें रहने वाली विशेषताको स्वसमय वक्तव्यता कहते हैं । पर समय मिथ्यात्वको कहते हैं, उसका जिस प्राभूत या अनुयोगमें वर्णन किया जाता है, प्ररूपण किया जाता है या विशेष ज्ञान कराया जाता है उस प्राभूत या अनुयोगको परसमय वक्तव्य कहते हैं और उसके भावको अर्थात् उसमें होने वाली विशेषताको परसमय वक्तव्यता कहते हैं । जहाँपर स्वसमय और परसमय इन दोनोंका निरूपण करके परसमयको दोषयुक्त दिखलाया जाता है और स्वसमयकी स्थापना की जाती है, उसे तदुभय वक्तव्य कहते हैं, और उसके भावको अर्थात् उसमें रहनेवाली विशेषताको तदुभयवक्तव्यता कहते हैं । (ध. ६/४,१,४५/१४०/३) ।

२. जैनागममें कथंचित् स्वसमय व तदुभय वक्तव्यता

ध. १/१,१,१/२/१० एत्थ पुण जीवट्ठाणे ससमयवक्तव्यता ससमयस्सेव परुवणादो । = इस जीवस्थान नामक (धवला) शास्त्रमें स्वसमय वक्तव्यता ही समझनी चाहिए, क्योंकि इसमें स्वसमयका ही निरूपण किया गया है ।

क पा. १/१,१,१/१०/२ तत्थ सुदण्णे तदुभयवक्तव्यता, सुणयदुण्णयाण दोण्हं पि परुवणाए तत्थ संभवादो । = श्रुतज्ञानमें तदुभय वक्तव्यता समझना चाहिए, क्योंकि, श्रुतज्ञानमें सुनय और दुर्नय इन दोनोंकी ही प्ररूपणा सभव है ।

वक्ता—

रा. वा. १/२०/१२/७५/१० वक्तारश्चाविष्कृतवत्पर्याया द्वीन्द्रियादयः । = जिनमें वक्तव्यत्व पययि प्रगट हो गयी है ऐसे द्वीन्द्रियसे आदि लेकर सभी जीव वक्ता हैं । (ध १/१,१,२/११७/६), (गो जी/जी.प्र/३६६/७७८/२४) ।

२. वक्ताके भेद

स सि १/२०/१२३/१० त्रयो वक्ता —सर्वज्ञतीर्थकर इतरो वा श्रुत-

केवली आरातोयश्चेति । = वक्ता तीन प्रकारके हैं—सर्वज्ञ तीर्थकर या सामान्य केवली, श्रुतकेवली और आरातीय ।

३. जिनागमके वास्तविक उपदेश सर्वज्ञ देव ही हैं

दे० आगम/५/५ (समस्त वस्तु-विषयक ज्ञानको प्राप्त सर्वज्ञ देवके निरूपित होनेसे ही आगमकी प्रमाणता है ।)

दे० दिव्यध्वनि/२/१५ (आगमके अर्थकर्ता तो जिनेन्द्रदेव हैं और ग्रन्थ-कर्ता गणधर देव हैं ।)

व पा १/टो १/२२/२०/८ केवलज्ञानिभिर्जिनैर्भणितं प्रतिपादितम् । केवलज्ञानं विना तीर्थकरपरमदेवा धर्मोपदेशनं न कुर्वन्ति । अन्यमुत्तीनामुपदेशस्त्वनुवादरूपो ज्ञातव्यः । = केवलज्ञानियोंके द्वारा कहा गया है । केवलज्ञानके विना तीर्थकर परमदेव उपदेश नहीं करते । अन्य मुनियोंका उपदेश उसका अनुवादरूप जानना चाहिए ।

४. धर्मोपदेशकी विशेषताएँ

कुरल/अधि/१ली. भो भो' शब्दार्थवेत्तार' शास्तर' पुण्यमानसा । श्रोतृणां हृदय बीक्ष्य तदहं ब्रूत भारतीम् ॥ (७२/२) । विद्वद्-गोष्ठ्या मिज्जानं यो हि व्याख्यातुमक्षमः ॥ तस्य निस्सारता याति पाण्डित्य सर्वतोमुखम् । (७३/८) । = ये शब्दोंका मूल जानने वाले पवित्र पुरुषों । पहले अपने श्रोताओंकी मानसिक स्थितिको समझ लो और फिर उपस्थित जनसमूहकी अवस्थाके अनुसार अपनी वक्तृता देना आरम्भ करो । (७२/२) । जो लोग विद्वानोंकी सभामें अपने सिद्धान्त श्रोताओंके हृदयमें नहीं बिठा सकते उनका अध्ययन चाहे कितना भी विस्तृत हो, फिर भी वह निरुपयोगी ही है । (७३/८) ।

आ. अनु १/५-६ प्राप्त प्राप्तसमस्तशास्त्रहृदय' प्रव्यक्तलोकस्थितिः, प्रस्ताश' प्रतिभापर' प्रशमवान् प्रागेव दृष्टोत्तर' । प्राय' प्रश्नसह' प्रभु' परमनोहारो परानिन्दया, ब्रूयाद्धर्मकथां गणी गुणनिधि' प्रस्पष्टमिष्टाक्षर । श्रुतमविकलं शुद्धावृत्ति परप्रतिबोधने, परिणतिरुक्तयोगो मार्गप्रवर्तनसद्विधौ । बुधनुतिरनुत्तेको लोकज्ञता मृदुतास्पृहा, यत्तिपतिगुणायस्मिन्नन्ये च सोऽस्तु गुरु' सताम् । ६ । = जो प्राज्ञ है, समस्त शास्त्रोंके रहस्यको प्राप्त है, लोकव्यवहारसे परिचित है, समस्त आशाओंसे रहित है, प्रतिभाशाली है, शान्त है, प्रश्न होनेसे पूर्व ही उसका उत्तर दे चुका है, श्रोताके प्रश्नोंको सहन करनेमें समर्थ है, (अर्थात् उन्हें सुनकर न तो घबराता है और न उत्तेजित होता है), दूसरोंके मनोगत भावोंको ताड़ने वाला है, अनेक गुणोंका स्थान है, ऐसा आचार्य दूसरोंकी निन्दा न करके स्पष्ट एवं मधुर शब्दोंमें धर्मोपदेश देनेका अधिकारी होता है । जो समस्त श्रुतको जानता है, जिसके मन वचन कायकी प्रवृत्ति शुद्ध है, जो दूसरोंको प्रतिबोधित करनेमें प्रवीण है, मोक्षमार्गके प्रचाररूप समीचीन कार्यमें प्रयत्नशील है, दूसरोंके द्वारा प्रशसनीय है तथा स्वयं भी दूसरोंकी यथायोग्य प्रशंसा व विनय आदि करता है, लोकज्ञ है, मृदु व सरल पारंगामी है, इच्छाओंसे रहित है, तथा जिसमें अन्य भी आचार्य पदके योग्य गुण विद्यमान हैं, वही सज्जन शिष्योंका गुरु हो सकता है । ६ ।

दे० आगम/५/६ (वक्ताको आगमार्थके विषयमें अपनी ओरसे कुछ नहीं कहना चाहिए) ।

दे० अनुभव/३/२ (आत्म-स्वभाव विषयक उपदेश देनेमें स्वानुभवका आधार प्रधान है ।)

दे० आगम/६/१ (वक्ता ज्ञान व विज्ञानसे युक्त होता हुआ ही प्रमाणताको प्राप्त होता है ।)

दे० लब्धि/३ (मोक्षमार्गके उपदेश वास्तवमें सम्यग्दृष्टि होना चाहिए मिथ्यादृष्टि नहीं ।)

*** अन्य सम्बन्धित विषय**

- १. जीवको वक्ता कहनेकी विवक्षा — दे० जीव/१/३।
- २. वक्ताकी प्रामाणिकतासे वचनकी प्रामाणिकता — दे० आगम/५,६।
- ३. दिग्भ्रराचार्यों व गृहस्थाचार्यों को उपदेश व आदेश देनेका अधिकार है — दे० आचार्य/२।
- ४. हित मित व कटु समाषण सम्बन्धी — दे० सत्य/३।
- ५. व्यर्थ समाषणका निषेध — दे० सत्य/३।
- ६. वाद-विवाद करना योग्य नहीं पर धर्म-हानिके अवसरपर बिना बुलाये बोले — दे० वाद।

वक्रग्रीव— १. कुन्दकुन्द (ई १२७-१७६) का अपर नाम (वे, कुन्द कुन्द)। २. मूलसंघ विभाजन के अन्तर्गत पात्रकेसरी (ई. श. ६) के शिष्य और वज्रनन्दि नं. २ (वि. श. ६) के शिष्य। समय— लगभग ई. श. ६-७/ई. ११२५ के एक शिलालेख में अकलंक देव के पश्चात् सिंहनन्दि का और उनके पश्चात् वक्रग्रीव का नाम आता है। (वे. इतिहास/७/१); (जै २/१०१)।

वक्रांत— पहले नरकका ११ वॉ पटल— दे० नरक/११ तथा रत्नप्रभा।

वक्षार— पूर्व और विदेहके कक्षा आदि ३२ क्षेत्रोंमें विभाजित करनेवाले १६ पर्वत है।— दे० लोक/३/१४।

वचन—

१	वचनसामान्य निर्देश
१-२	अभ्याख्यान आदि १२ भेद व उनके लक्षण।
३	गर्हित सावद्य व अप्रिय वचन।
*	कर्कश आदि तथा आमन्त्रणी आदि भेद — दे० भाषा।
*	हित मित तथा मसुर कटु समाषण — दे० सत्य/२।
*	सत्य व असत्य वचन — दे० वह-वह नाम।
४	मोषवचन चोरीमें अन्तर्भूत नहीं है।
*	द्रव्य व भाव वचन तथा उनका मूर्तत्व — दे० मूर्त/२/३।
*	वचनकी प्रामाणिकता सम्बन्धी — दे० आगम/५,६।
२	वचनयोग निर्देश
१	वचनयोग सामान्यका लक्षण।
२	वचनयोगके भेद।
३	वचनयोगके भेदोंके लक्षण।
४	शुभ अशुभ वचन योग।
*	वचन योग व वचन दष्टका विषय — दे० योग।
*	मरण या व्याघातके साथ ही वचन योग भी समाप्त हो जाता है — दे० मनोयोग/७।
*	केवलाके वचनयोगकी सम्भावना — दे० केवली/१।
*	वचनयोग सम्बन्धी गुणस्थान मार्गणा स्थानादि २० प्ररूपणार्थ — दे० सत्।
*	सत् संख्या आदि ८ प्ररूपणार्थ — दे० वह-वह नाम।
*	वचनयोगीके कर्मोंका बन्ध उद्यय सत्व — दे० वह-वह नाम।

१. वचन सामान्य निर्देश

१. वचनके अभ्याख्यान आदि १२ भेद

ष, ख, १२/४, २, ८/सूत्र १०/२८५ अभ्याख्यान—कलह-पेमुण-रह-अरह-उवहि-णियदि-माण-साय-मोस-मिच्छागण-मिच्छासण-पवोअ-पच्चए। = अभ्याख्यान, कलह, पैशुन्य, रति, अरति, उपधि, निकृति, मान, मेघ, मोष, मिथ्याज्ञान, मिथ्यादर्शन और प्रयोग इन प्रत्ययोंसे ज्ञानावरणीय वेदना होती है।

रा. वा १/२०/१२/७५/१० वाक्यप्रयोग शुभेतरलक्षणो वक्ष्यते। अभ्याख्यानकलहपैशुन्यासंबद्धप्रलापरत्यरत्युपधिनिर्कृत्यप्रणतिमोषसम्पङ्-मिथ्यादर्शनादिमका भाषा द्वादशधा। = शुभ और अशुभके भेदसे वाक्यप्रयोग दो प्रकारका है। अभ्याख्यान, कलह, पैशुन्य, असंबद्ध-प्रलाप, रति, अरति, उपधि, निकृति, अप्रणति, मोष, सम्पददर्शन और मिथ्यादर्शनके भेदसे भाषा १२ प्रकारकी है। (घ. १, १, २/- ११६/१०), (घ १/४, १, ४५/२९७/१); (गो, जी, जो प्र./३६३/- ७७८/२०)।

२. अभ्याख्यान आदि भेदोंके लक्षण

रा. वा १/२०/१२/७५/१२ हिंसादे कर्मणः कर्तृविरलस्य विरताविर-तस्य वायमस्य कर्तेत्यभिधानम् अभ्याख्यानम्। कलह' प्रतीत। प्रवृत्तो दोषाविष्करण पैशुन्यम्। धर्मार्थकाममोक्षासवद्धा वाग् असंबद्धप्रलाप। शब्दादि विषयदेशादिषु रत्युत्पादिका, रतिवाक्। तेष्वेवारत्युत्पादिका अरतिवाक्। या वाच श्रुत्वा परिग्रहाज्जनरक्ष-णादिष्वासज्यते सोपधिवाक्। बणिग्द्वयवहारे यामवधायं निकृति-प्रणव आत्मा भवति सा निकृतिवाक्। या श्रुत्वा तपोविज्ञानाधिके-ष्वपि न प्रणमति सा अप्रणतिवाक्। या श्रुत्वा स्तेये वर्तते सा मोषवाक्। सम्पङ्मार्गस्योपदेष्टु सा सम्पददर्शनवाक्। तद्विपरीता मिथ्यादर्शनवाक्। = हिंसादिसे विरक्त मुनि या श्रावकको हिंसादिका दोष लगाना अभ्याख्यान है (विशेष दे० अभ्याख्यान)। कलहका अर्थ स्पष्ट ही है (विशेष दे० कलह)। पीठ पीछे दोष दिखाना पैशुन्य है (विशेष दे० पैशुन्य) धर्म, अर्थ, काम व मोक्ष इन चार पुरुषार्थोंके सम्बन्धसे रहित वचन असम्बद्ध प्रलाप है। इन्द्रियोंके शब्दादि विषयोंमें या देश नगर आदिमें रति उत्पन्न करनेवाला रतिवाक् है। इन्हींमें अरति उत्पन्न करनेवाला अरतिवाक् है। जिसे सुनकर परिग्रहके अर्जन, रक्षण आदिमें आसक्ति उत्पन्न हो वह उपधिवाक् है। जिससे व्यापारमें ठगनेको प्रोत्साहन मिले वह निकृतिवाक् है। जिसे सुनकर तपोनिधि या गुणी जीवोंके प्रति अविनयकी प्रेरणा मिले वह अप्रणतिवाक् है। जिससे चोरीमें प्रवृत्ति हो वह मोषवाक् है। सम्पङ् मार्गप्रवर्तक उपदेश सम्पददर्शनवाक् है और मिथ्यामार्ग प्रवर्तक उपदेश मिथ्यादर्शनवाक् है। (घ. १/१, २- २/११६/१२); (घ १/४, १, ४५/२९७/३); (गो, जी, जो, प्र./३६३/ ७७८/१६) (विशेष दे० वह-वह नाम)।

३. गर्हित सावद्य व अप्रिय वचन

प्र आ./सू १/३०-३३ कक्कस्सवयणं णिठ्ठुरवयणं पेमुणहासवयणं च। ज किचि विपलाव कहिद्ववयणं समासेण १८३०। जतो पाणवघादो दोसा जायति सावज्जवयणं च। अविचारित्ता येणं येणस्ति जहेवमावीय १८३१। परस कडुय वयणं वेर कलह च ज भयं कुणइ। उत्तासण च होलणमपिपयवयणं समासेण १८३२। = कर्कश वचन, निष्ठुर भाषण, पैशुन्यके वचन, उपहासका वचन, जो कुछ भी बड़-बड़ करना, ये सब संक्षेपसे गर्हित वचन है १८३०। [खेदन-भेदन आदिके (पु सि उ)] जिन वचनोंसे प्राणिवध आदि दोष उत्पन्न हो अथवा बिना विचारे बोले गये, प्राणियोंको हिंसाके कारणभूत

वचन सावध वचन है। जैसे—(इस सड़के सरोवर में) इस भैंसकी पानी पिलाओ। १३१। परुष वचन जैसे—तू दुष्ट है, कट्ट वचन, बैर उत्पन्न करनेवाले वचन, कलहकारी वचन, भयकारी या त्रासकारी वचन, वृत्तरीकी अवज्ञा-कारी होलन वचन, तथा अप्रिय वचन सक्षेपसे अमत्य वचन है। (पु सि ७/६६-६८)।

४. मोषवचन चोरीमें अन्तर्भूत नहीं है

घ १२/४ २, १०/२६/३ मोष' स्तेय'। ण मोसो अदत्तादाणे पविस्सदि, हउपदिदपमुक्कणिहिदादाणस्सियम्मि अदत्तादाणम्मि एवस्स पवेस-विरोहादो। =मोषका अर्थ चोरी है। यह मोष अदत्तादानमें प्रविष्ट नहीं होता, क्योंकि हस्त, पतित, प्रसक्त और निहित पदार्थके ग्रहण विषयक अदत्तादानमें इसके प्रवेशका विरोध है।

२. वचनयोग निर्देश

१. वचनयोग सामान्यका लक्षण

स. मि./६/१/३१८/६ शरीरनामकर्मोदयापादितवाग्बर्णालम्बने सति वीर्यान्तरायमत्यक्षराद्यावरणक्षयोपशमापादिताभ्यन्तरवा लब्धिसा - निधये वाक्परिणामाभिमुखस्यात्मन प्रवेशपरिस्पन्दो वाग्योग'। = शरीर नामकर्मके उदयसे प्राप्त हुई वचनवर्गणाओका आलम्बन होने-पर तथा वीर्यान्तराय और मत्यक्षरादि आवरणके क्षयोपशमसे प्राप्त हुई भीतरी वचन लब्धिके मिलनेपर वचनरूप पर्यायके अभिमुख हुए आत्माके होनेवाला प्रवेश-परिस्पन्द वचनयोग कहलाता है। (रा. वा ६/१/१०/२०५/१३)।

घ १/१, १, ४७/२७६/२ वचस समुत्पत्त्यर्थ' प्रयत्नो वाग्योग'।

घ १/१, १, ६६/३०८/६ चतुर्णा वचसा सामान्यं वच'। तज्जनितवीर्ये-णात्मप्रदेशपरिस्पन्दलक्षणेन धोयो वाग्योग'। = वचनकी उत्पत्तिके लिए जो प्रयत्न होता है, उसे वचनयोग कहते हैं। अथवा सत्यादि चार प्रकारके वचनोंमें जो अन्वयरूपसे रहता है, उसे सामान्य वचन कहते हैं। उस वचनसे उत्पन्न हुए आत्मप्रदेश परिस्पन्द लक्षण वीर्य-के द्वारा जो योग होता है उसे वचनयोग कहते हैं।

घ ७/२, १, ३३/७६/७ भासावर्गणापोरगलखधे अवलंबित्य जीवपदेसाणं सकोचविकोचो सो वचिजोगो णाम'। = भाषावर्गणासम्बन्धी पुद्गलस्कन्धोके अवलम्बनसे जो जीव प्रदेशोका संकोच विकोच होता है वह वचनयोग है। (घ. १०/४, २, ४, १७५/४३७/१०)।

२. वचनयोगके भेद

घ ख १/६, १/सूत्र ६२/२८६ वचिजोगो चउव्विहो सच्चवचिजोगो मोस-वचिजोगो सच्चमोसवचिजोगो असच्चमोसवचिजोगो चेदि। ६२। = वचनयोग चार प्रकारका है—सत्य वचन योग, असत्य वचनयोग, उभयवचन योग और अनुभय वचन योग। ६२। (भ आ सू/११६२/११८८), (सू. आ./३१४); (रा. वा./६/७/११/६०४/२); (गो. जी. सू/२१७/४७४); (ब्र. स./टी/१३/३७/७)।

३. वचनयोगके भेदोंके लक्षण

प. सं/प्रा/१/६१-६२ दसविहसत्त्वे वयणे जो जोगो सो दु सच्चवचि-ज गो। तच्चिवरीओ मोसो जाणुभयं सच्चमोस चि। ६१। जो णेव सच्चमोसो त जाण असुच्चमोसवचिजोगो। अमणणं जा भासा सण्णी-णामतणीयादी। ६२। = दस प्रकारके सत्य वचनमें (दे० सत्य) वचन-वर्गणाके निमित्तसे जो योग होता है, उसे सत्य वचनयोग कहते हैं। इससे विपरीत योगको मृषा वचनयोग कहते हैं। सत्य और मृषा वचनरूप योगको उभयवचनयोग कहते हैं। जो वचनयोग न तो सत्यरूप हो और न मृषारूप ही हो, उसे अमत्यमृषावचनयोग कहते हैं। अमज्ञी जीवोंकी जो अन्तररूप भाषा है और सज्ञी जीवोंकी जो

आमन्त्रणी आदि भाषाएँ हैं (दे. भाषा) उन्हें अनुभय भाषा जानना चाहिए। (सू. आ./३१४), (घ १/१, १, ६२/गा, १६८-१६६/२६६), (गो. जी/सू./२२०-२२१/४७८)।

घ १/१, १, ६२/२६६ चतुर्विधमनोभयः समुत्पन्नवचनानि चतुर्विधान्यपि तद्वचनपदेश प्रतिवभन्ते तथा प्रतीयते च। = चार प्रकारके मनसे उत्पन्न हुए चार प्रकारके वचन भी उन्हीं सज्ञाओंको प्राप्त होते हैं, और ऐसी प्रतीति भी होती है।

गो. जी/जी. प्र/२१७/४७५/६ सत्याद्यर्थे सहयोगात्—सबन्धात्, खलु स्फुटं, ता मनोवचनप्रवृत्तयः, तद्योगा—सत्यादिविशेषणविशिष्टा, चत्वारो मनोयोगाश्चत्वारो वाग्योगाश्च भवन्ति। = सत्यादि पदार्थके सम्बन्धसे जो मन व वचनकी प्रवृत्ति होती है, वह सत्यादि विशेषणसे विशिष्ट चार प्रकारके मनोयोग व वचनयोग है। —विशेष दे० मनोयोग/४।

४. शुभ-अशुभ वचनयोग

वा. अ/६३, ६५ भक्तिच्छिरायचोरकहाओ वयण वियाण असुहमिदि। ६३। ससारहेदकारणवयण सुहवयणमिदि जिणुद्विट्ठ। ६५। = भोजन-कथा, स्त्रीकथा, राजकथा और चोरकथा करनेको अशुभवचनयोग और मसारका नाश करनेवाले वचनको शुभ वचनयोग जानना चाहिए।

दे० प्रणिधान—(निरर्थक अशुद्ध वचनका प्रयोग दुष्ट प्रणिधान है।)

रा वा ६/३/२, २/पृष्ठ/पंक्ति अमृतभाषणपरुषामत्यवचनादिरशुभो वाग्योग'। (५०६/३३)। सत्यहितमित्तभाषणादि शुभो वाग्योग'। (५०७/२)। = असत्य बोलना, कठोर बोलना आदि अशुभ वचन-योग है और सत्य हित मित बोलना शुभ वचनयोग है। (स. सि/६/३/६१६/११)।

वचनगुप्ति—दे० गुप्ति।

वचनबल—१ १० प्राणोमेसे एक—दे० प्राण। २, एक ऋद्धि। —दे० ऋद्धि।

वचनबाधित—दे० बाधित।

वचनयोग—दे० वचन/२।

वचन विनय—दे० विनय/१।

वचन शुद्धि—दे० समिति।

वचनातिचार—दे० अतिचार।

वचनोपगत—दे० निक्षेप/५।

वज्र—१ नन्दनवन, मानुषोत्तर पर्वत व रुचक पर्वतपर स्थित कूटोका नाम। —दे० लोक/४/२ सौधर्म रवर्गना २५वाँ पटल —दे० सर्ग/५/३१३ वौद्ध मतानुयायी एक राजा जिसने नालन्दा मठका निर्माण कराया। समय—ई श ६।

वज्र ऋषभ ताराच—दे० सहनन।

वज्र खंडिक—भरतक्षेत्र मध्य आर्यखण्डका एक देश। —दे० मनुष्य/४।

वज्रधोष—म पु/७३/श्लोक नं.—पार्श्वनाथ भगवाःत्सुना जीव बडे भाई कमठ द्वारा मारा जानेपर सबलकी वनसे वज्रधोष नामका हाथी हुआ। ११-१२। पूर्वजन्मका स्वामी राजा स।म लोकर ध्यान करता था। उसपर उपसर्ग करनेको उद्यत हुआ, पर पूर्वजन्मका सम्बन्ध

जान शान्त हो गया। मुनिराजके उपदेशसे श्रावकवत अगीकार किये। पानी पीनेके लिए एक तालाबमें घुसा तो कीचडमें फँस गया। वहाँ पुन. कमठके जीवने सर्प बँसकर डँस लिया। तब वह मरकर सहस्रार स्वर्गमें देव हुआ। १६-२४। यह पार्वनाथ भगवात्का पूर्वका आठवाँ भव है।—विशेष दे० पार्वनाथ।

वज्रजंघ—१. म. पु./सर्ग/श्लो.—“पुष्कलावती देशके उत्पलखेट नगरके राजा वज्रवाहुका पुत्र था। (६/२६)। पूर्वके देव भवकी देवी स्वयंप्रभामे अत्यन्त अनुरक्त था। (६/४८)। श्रीमतीका चित्र देखकर पूर्व भव स्मरण हो आया। (७/१३७-१४०)। और उसका पाणिग्रहण किया। (७/२४६)। ससुरके दीक्षा लेनेपर ससुराल जाते समय मार्गमें मुनियोको आहार दान दिया। (८/१७३)। एक दिन शयनागारमें धूपघटोके सुगन्धित धूरसे रम घुट जानेके कारण अकस्मात् मृत्यु आ गयी। (९/२७)। पात्रदानके प्रभावसे भोगभूमिमें उत्पन्न हुआ। (८/३३)। यह भगवात् ऋषभ-देवका पूर्वका सातवाँ भव है। (दे० ऋषभदेव)। २. प. पु./सर्ग/श्लोक—पुण्डरीकपुरका राजा था। (९/१८३)। राम द्वारा परित्यक्त सीताको वनमें देख उसे अपने घर ले गया। (९/१-४)। उसीके घर पर लव और कुश उत्पन्न हुए। (१००/१७-१८)।

वज्रदंत—म. पु./सर्ग/श्लोक—पुण्डरीकिणी नगरका राजा था। (६/५८)। पिता यशोधर केवलज्ञानी हुए। (६/१०८)। वहाँ ही इन्हे भी अवधिज्ञानकी उत्पत्ति हुई। (६/११०)। दिग्विजय करके लौटा। (६/१६२-१६४)। तां अपनी पुत्री श्रीमतीको बताया कि तीसरे दिन उसका भानजा वज्रजंघ आयेगा और चह ही उसका पति होगा। (७/१०५)। अन्तमें अनेको रानियों व राजाओंके साथ दीक्षा धारण की। (८/६४-८५)। यह वज्रजंघका ससुर था।—दे० वज्रजंघ।

वज्रनंदि—१. नन्दिसयके बलात्कारगणकी गुर्वावलीके अनुसार आप गुणनन्दिके शिष्य तथा कुमारनन्दिके गुरु थे। समय—विक्रम शक सं. ३६४-३८६ (ई. ४४२-४६४)।—(दे० इतिहास/७/२)। २. आ. पूज्यपादके शिष्य थे। गुरुसे किङ्ककर द्रविडसयकी स्थापना की। हरिवंशपुराण (ई ७८३) में आपके वचन गणधर-तुष्य कहे गए हैं। कृतियों—नवस्तोत्र, प्रमाण ग्रन्थ। समय—वि. श. ई. (दे. इतिहास/७/२); (ती./२/४८०; ३/२८६)।

वज्रनाभि—१. म. पु./सर्ग/श्लो. न.—पुण्डरीकिणीके राजा वज्र-सेनका पुत्र था। (११/८६)। चक्ररत्न प्राप्त किया। (११/३८-५५)। अपने पिता वज्रसेन तीर्थकरके समीप दीक्षा धारण कर (११/६१-६२)। तीर्थकर प्रकृतिका बन्ध किया (११/७६-८०)। प्रायोप-गमन सन्यासपूर्वक। (११/६४)। श्रीप्रभ नामक पर्वतपर उप-शान्तमोह गुणस्थानमें शरीरको त्याग सर्वार्थसिद्धिमें अहमिन्द्र हुए। (११/११०-१११)। यह भगवात् ऋषभदेवका पूर्वका तीसरा भव है।—दे० ऋषभदेव। २. म. पु./७३/श्लो. नं.—पद्म नामक देशके अरवपुर नगरके राजा वज्रवीर्यका पुत्र था। २६-३२। संयम धारण किया। ३४-३५। पूर्व भवके वैरी कमठके जीव कुरग भीलके उपसर्ग। ३८-३९। को जीतकर सुभद्र नामक मध्यम ग्रैवेयकमें अहमिन्द्र हुए। ४०। यह भगवात् पार्वनाथका पूर्वका चौथा भव है।—दे० पार्वनाथ।

वज्र नाराच—दे० संहनन।

वज्र पंजर विधान—दे० पूजापाठ।

वज्रपुर—भरतक्षेत्रका एक नगर।—दे० मनुष्य/४।

वज्रप्रभ—कुण्डल पर्वतका एक कूट—दे० लोक/९/१२१।

वज्रवाहु—१. प. पु./२१/श्लो.—सुरेन्द्रमन्युका पुत्र। ७७। ससुराल जाते समय मार्गमें मुनियोके दर्शनकर विरक्त हो गये। १२१-१२३। यह सुकौशल मुनिका पूर्वज था। २. म. पु./सर्ग/श्लो.—वज्रजंघ (भगवात् ऋषभदेवका पूर्वका सातवाँ भव) का पिता था। (६/२६)। पुष्कला-वती देशके उत्पलखेट नगरका राजा था। (६/२८) अन्तमें दीक्षित हो गये थे। (८/५१-५७)।

वज्रमध्य व्रत—

ह. पु./३४/६२-६३—रचनाके अनुसार ५,४,३,२,१,२,३, ४,५ के क्रमसे २६ उपवास करे। बीचक ६ स्थानो-में पारणा करे।

० ० ० ० ०
० ० ० ०
० ० ०
०
०
० ०
० ० ०
० ० ० ०
० ० ० ० ०

व्रत विधान संग्रह/पृ. ८१—रचनाके अनुसार १,२,३,४, ५,४,३,२,३,२ के क्रमसे २६ उपवास करे। बीचके ६ स्थानोमें पारणा करे। नमस्कार मन्त्रका त्रिकाल जाप्य करे।

०
० ०
० ० ०
० ० ० ०
० ० ० ० ०
० ० ० ० ०
० ० ०
० ०
० ०

वज्रमूक—सुमेरु पर्वतका अपर नाम—दे० सुमेरु।

वज्रवर—मध्यलोकमें अन्तका अष्टम सागर व द्वीप।—दे० लोक/५/१।

वज्रवान—गन्धर्व जातिके व्यन्तर देवोका एक भेद—दे० गन्धर्व।

वज्रशृंखला—एक विद्या—दे० विद्या। २. भगवात् अग्निम्बन नाथको शासक यक्षिणी।—दे० तीर्थकर/५/३।

वज्राकुशा—१ एक विद्या—दे० विद्या। २. भगवात् सुमतिनाथको शासक यक्षिणी—दे० तीर्थकर/५/३।

वज्राढ्य—विजयार्थकी दक्षिण श्रेणीका एक नगर—दे० विद्याधर।

वज्रायुध—१. म. पु./६३/श्लो—पूर्व विदेहके रत्नसचय नामक नगरके राजा क्षेमकरका पुत्र था। ३७-३९। इन्द्रकी सभामें इनके सम्यग्दर्शनकी प्रशंसा हुई। एक देव बौद्धका रूप धर परीक्षाके लिए आया। ४८,५० जिसको इन्होंने बादमें परास्त कर दिया। ६६-७०। एक समय विद्याधनने नागपाशमें बाँधकर इन्हे सरोवरमें रोक दिया और ऊपरसे पत्थर ढक दिया। तब इन्होंने मुष्टिप्रहारसे उसके टुकड़े कर दिये। ८२-८५। दीक्षा ले एक वर्षका प्रतिमायोग धारण किया। १३१-१३२। अधोग्रैवेयकमें अहमिन्द्र हुए। १४०-१४१। यह शान्तिनाथ भगवात्के पूर्वका चौथा भव है। दे० शान्तिनाथ। २. म. पु./५६। श्लो—जम्बूद्वीपके चक्रपुर नगरके स्वामी राजा अपराजितका पुत्र था। २३६। राज्य प्राप्ति। २४५। दीक्षा धारण। २४६। त्रिगुणनमें एक भील कृत उपसर्गको सहनकर सर्वार्थसिद्धिमें देव हुए। २७४। भील सातवे नरकमें गया। २७६। सजयन्त मुनिके पूर्वका दूसरा भव है—दे० संजयन्त।

वज्रागल—विजयार्थकी दक्षिण श्रेणीका एक नगर—दे० विद्याधर।

वज्राधंतर—विजयार्थकी उत्तर श्रेणीका एक नगर—दे० विद्याधर।

वटुकेर—‘मूलाचार’ के कर्ता जिन्हे कुछ विद्वान कुन्दकुन्द का अपर नाम समझते हैं। आप दक्षिण देशस्थ ‘वेदुगिरि’ ग्राम के निवासी थे। समय—कुन्दकुन्द के समकालीन होने से बी. नि. ६५४-७०६ (ई. १२७-१७६)। (ती./२/१३७-१२०)।

वड्डमानचरित—कवि श्रीधर (वि. श. १२ वा उत्तरार्ध) कृत १० सन्धियो वाला अपभ्रंश काव्य। (ती./४/१४२)।

वणथली—वामनस्थलीका अपभ्रंश है। सीराष्ट्रकी जूनागढ स्टेटका एक कस्बा है। जूनागढसे लगभग ५ कोस दूर है। यहाँ वह स्थान अब भी पाया जाता है, जहाँ कि विष्णुने तीन पैरसे-समस्त पृथिवी मापी थी। वही वामन राजाकी नगरी कही जाती है। (नेमि-चरित/प्र/प्रेमी जी)।

वणिक्कर्म—दे० सावद्य/२।

वणिवग—वसतिकाका एक दोष—दे० वसतिका।

वत्स—१. भरतक्षेत्र मध्य आर्यखण्डका एक देश—दे० मनुष्य/४।

२. प्रयागके उत्तर भागका मैदान। राजधानी कौशांबी/ (म. पु./प्र. ४६/पं. पञ्चालाल)।

वत्समित्रा—सौमनस गजदन्तके कांचनकूटकी स्वामिनी देवी।

वत्सराज—परिहारवंशी वत्सराज अवंतीका राजा था। इसीका एक पुत्र नागभद्र नामका हुआ है। इसे कृष्णराज प्रथमके पुत्र ध्रुवराजने शक स ७०५ में परास्त करके इसका देश छीन लिया था। इसका शासन अवंती व मालवा प्रान्तोंमें था। समय—शक सं. ७००-७०५ (ई० ७७८-७८३)। (ह. पु./६६/५५-५३); (ह. पु./प्र. ६/पं० पञ्चालाल); (दे० इतिहास/३/४) राष्ट्रकूट वंश)।

वत्सा—पूर्व विदेहका एक क्षेत्र—दे० लोक/५/२।

वत्सावती—१. पूर्व विदेहका एक क्षेत्र—दे० लोक/५/२। २. पूर्व विदेहके वैश्रवण वक्षारका एक कूट व उसकी स्वामिनी देवी—दे० लोक/५/४।

वदन्त्याघात—स्ववचनव्याधित हेत्वाभास।—दे० बाधित।

वदन—मुख—first term in Arithemtical series (जं प./प्र. १०८)।

वह्निग—दक्षिणके गंगाधर नामक देशका राजा था। पिताका नाम (चातुर्व्यवशी) अरिकेसरी था जो कृष्णराज तृ० के अधीन था। 'यशस्तिलकचम्पू' नाम ग्रन्थ इसीकी राजधानीमें पूर्ण हुआ था। समय—ई० ६७२ के लगभग। (यशस्तिलकचम्पू/प्र. २०/प. सुन्दर-लाल)।

वध—स. सि./६/११/३२६/२=आयुरिन्द्रियबलप्राणवियोगकारणवध'। स. सि./७/२५/३६६/२ दण्डकशावेत्रादिभिरभिघात प्राणिनां वध, न प्राणव्यपरोपणम्, ततः प्राणैवास्य विनिवृत्तत्वात्। = १. आयु, इन्द्रिय और श्वासोच्छ्वासका जुदा कर देना वध है। (रा. वा./६/-११/५/११/२८), (प. प्र./टी/२/१२७)। २. डंडा, चाबुक और बेंत आदिसे प्राणियोंको मारना वध है। यह वधका अर्थ प्राणोक्त वियोग करना नहीं लिया गया है, क्योंकि अतिचारके पहले ही हिंसाका त्याग कर दिया जाता है। (रा. वा./७/२४/२५३/१८)।

प. प्र./टी/२/१२७/२४३/६ निश्चयेन मिथ्यात्वविषयकषायपरिणाम रूपवध म्वकीयः । = निश्चयकर मिथ्यात्व विषय कषाय परिणाम-रूप निजघात ।

वध परिषह—स. सि./६/४२४/६ निशितविशसनमुशलमुद्गरा-द्रिप्रहरणताडनपीडनादिभिर्व्यापाद्यमानशरीरस्य व्यापदकेषु मनागपि मनीविकारमकुर्वतो मम पुराकृतदुष्कर्मफलमिदमिमे वराका कि कुर्वन्ति, शरीरमिदं जलबुद्बुद्वादिशरणस्वभावं व्यसनकारणमैतै-र्बाध्यते, संज्ञानदर्शनचारित्र्याणि मम न केनचिदुपहन्यते इति चिन्त-यन्तो वासिलक्षणचन्दनानुलेपनसमदर्शिनो वधपरिषहक्षमा मन्यते। = तीक्ष्ण तलवार, मूसर और मुद्गर आदि अस्त्रोंके द्वारा ताडन और पीडन आदिसे जिसका शरीर तोडा मरोडा जा रहा है तथापि मारने वालोपर जो लेशमात्र भी मनमें विकार नहीं लाता, यह मेरे पहले किये गये दुष्कर्मका फल है, ये बेचारे क्या कर सकते हैं, यह

शरीर जलके बुलबुलेके समान विशरण स्वभाव है, दुखके कारणको ही ये अतिशय बाधा पहुँचाते हैं, मेरे सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक् चारित्रको कोई नष्ट नहीं कर सकता इस प्रकार जो विचार करता है वह वसूलीसे छीलने और चन्दनसे लेप करनेमें समदर्शी होता है, इसलिए उसके वध परीषह जय माना जाता है। (रा. वा./६/६/१८/११/४); (चा सा./१२६/३)।

वध्यघातक विरोध—दे० विरोध।

वनक—दूसरे नरकका चौथा अथवा तीसरा पटल—दे० नरक/५।

वनमाल—सतकुमार स्वर्गका द्वि. पटल—दे० स्वर्ग/५।

वनमाला—१. प पु/३६/श्लोक—वैजयन्तपुरके राजा पृथिवीधरकी पुत्री थी। बाल्यावस्थासे ही लक्ष्मणके गुणोंमें अनुरक्त थी। राम-लक्ष्मणके वनवासका समाचार सुन आत्महत्या करने वनमें गयी। १८, १९। अकस्मात् लक्ष्मणसे भेंट हुई। ४१, ४४। २. ह. पु./१४/श्लो—वीरक सेठकी स्त्री थी कामासाक्षवश। (१७/५४) अपने पतिको छोड़ राजा सुमुखके पास रहने लगी। (१४/६४)। वज्रके गिरनेसे मरी। आहारदानके प्रभावसे विद्याधरी हुई। (१५/१२-१८)। इसीके पुत्र हरिसे हरिवंशकी उत्पत्ति हुई। (१५/५८)।—दे० मनोरमा।

वनवास—कर्नाटक प्रान्तका एक भाग जो आजकल बनौसी कहलाता है। गुणभद्राचार्यके अनुसार इसकी राजधानी बकापुर थी जो धार-वाड जिलेमें है। (म. पु./प्र. ४६/प. पञ्चालाल)। यह उत्तर कर्नाटकका प्राचीन नाम है जो तुंगभद्रा और बरदा नदियोंके बीच बसा हुआ है। प्राचीन कालमें यहाँ कदंब वंशका राज्य था। जहाँ उसकी राजधानी बनवासी स्थित थी, वहाँ आज भी इस नामका एक ग्राम विद्यमान है। (घ/पु. १/प्र. १२/H.L. Jain)।

वनवास्था—भरतक्षेत्रका एक नगर—दे० मनुष्य/४।

वनस्पति—१. जैन दर्शनमें वनस्पतिको भी एकेन्द्रिय जीवका शरीर माना गया है। वह दो प्रकारका है—प्रत्येक व साधारण। एक जीवके शरीरको प्रत्येक और अनन्तों जीवोंके साभले शरीरको साधारण कहते हैं, क्योंकि उस शरीरमें उन अनन्तों जीवोंका जन्म, मरण-श्वासोच्छ्वास आदि साधारणरूपसे अर्थात् एक साथ समानरूपसे होता है। एक ही शरीरमें अनन्तों बसते हैं, इसलिए इस शरीरको निगोद कहते हैं, उपचारसे उसमें बसनेवाले जीवोंको भी निगोद कहते हैं। वह निगोद भी दो प्रकारका है नित्य व इतरनिगोद। जो अनादि कालसे आजतक निगोद पर्यायसे निकला ही नहीं, वह नित्य निगोद है। और ब्रसस्थावर आदि अन्य पर्यायोंमें घूमकर पापोदय-वश पुन-पुन' निगोदको प्राप्त होनेवाले इतरनिगोद है। प्रत्येक शरीर बादर या स्थूल ही होता है पर साधारण बादर व सूक्ष्म दोनों प्रकारका। २. नित्य खाने-पीनेके काममें आनेवाली वनस्पति प्रत्येक शरीर है। वह दो प्रकार है—अप्रतिष्ठित और सप्रतिष्ठित। एक ही जीवके शरीरवाली वनस्पति अप्रतिष्ठित है, और असंख्यात साधारण शरीरोंके समवायसे निष्पन्न वनस्पति सप्रतिष्ठित है। तहाँ एक-एक वनस्पतिके स्कन्धमें एक रस होकर असंख्यात साधारण शरीर होते हैं, और एक-एक उस साधारण शरीरमें अनन्तानन्त निगोद जीव बास करते हैं। सूक्ष्म साधारण शरीर या निगोद जीव लोकमें सर्वत्र ठसाठस भरे हुए हैं, पर सूक्ष्म होनेसे हमारे ज्ञानके विषय नहीं हैं। सन्तरा, आम, आदि अप्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पति है और आखू, गाजर, मूली आदि सप्रतिष्ठित प्रत्येक। अप्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पति पत्ते, फल, फूल आदि भी अत्यन्त कच्चिया अवस्थामें सप्रतिष्ठित प्रत्येक होते हैं—जैसे कौपल। पीछे पक जानेपर अप्रतिष्ठित हो जाते हैं। अनन्त जीवोंकी साभली काय होनेसे सप्रतिष्ठित प्रत्येकको अनन्तकायिक भी कहते हैं। इस जातिकी सर्व वनस्पतिको यहाँ अभक्ष्य स्वीकार किया गया है।

१ वनस्पति व प्रत्येक वनस्पति सामान्य निर्देश

- १ वनस्पति सामान्यके भेद ।
- २ प्रत्येक वनस्पति सामान्यका लक्षण ।
- ३ प्रत्येक वनस्पतिके भेद ।
- ४ वनस्पतिके लिए ही प्रत्येक शब्दका प्रयोग है ।
- ५ मूलबीज, अग्रबीजादिके लक्षण ।
- ६ प्रत्येक शरीर नामकर्मका लक्षण ।
- ७ प्रत्येक शरीर वर्णनाका प्रमाण ।
- ८ प्रत्येक शरीर नामकर्मके असख्यात भेद है
—दे० नामकर्म ।
- * वनस्पतिकायिक जीवोंके गुणस्थान, जीवसमाप्त, मार्गणास्थानके स्वामित्व सम्बन्धी २० प्ररूपणाएँ
—दे० सत् ।
- * वनस्पतिकायिक जीवोंकी सत्, सख्या, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर, अल्पवहुत्वरूप आठ प्ररूपणाएँ ।
—दे० वह वह नाम ।
- * वनस्पतिकायिक जीवोंके कर्मोंका बन्ध, उदय, सत्त्व प्ररूपणाएँ ।
—दे० वह वह नाम ।
- * प्रत्येक नामकर्मकी बन्ध उदय, सत्त्व प्ररूपणाएँ ।
—दे० वह वह नाम ।
- * प्रत्येक वनस्पतिमें जीव समाप्तोंका स्वामित्व ।
—दे० वनस्पति/१/१ ।
- * निर्वृत्त्यपर्याप्त दशामें प्रत्येक वनस्पतिमें सासादन गुण-स्थानकी सम्भावना ।
—दे० सासादन/१ ।
- * मार्गणा प्रकरणमें भाव मार्गणाकी इष्टता तथा वहाँ आयके अनुसार व्यय होनेका नियम । —दे० मार्गणा ।
- * उद्भवर फल । —दे० उद्भवर ।
- * वनस्पतिमें भक्ष्याभक्ष्य विचार । —दे० भक्ष्याभक्ष्य/४ ।
- * वनस्पतिकायिकोंका लोकमें अवस्थान । —दे० स्थावर ।

२ निगोद निर्देश

- १ निगोद सामान्यका लक्षण ।
- २ निगोद जीवोंके भेद ।
- ३ नित्य व अनित्य निगोदके लक्षण ।
- ४ सूक्ष्म वनस्पति ता निगोद ही है पर सूक्ष्म निगोद वनस्पतिकायिक ही नहीं है ।
- ५ प्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पतिको उपचारने सूक्ष्म निगोद भी कह देते ह ।
- ६ प्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पतिको उपचारसे बादर निगोद भी कह देते है ।
- ७ साधारण जीवोंको ही निगोद जीव कहते हैं ।
- ८ विग्रहगतिमें निगोदिया जीव साधारण ही होते है प्रत्येक नहीं ।
- ९ निगोदिया जीवका अकार ।

- १० सूक्ष्म व बादर निगोद वर्णणाएँ व उनका लोकमें अवस्थान ।
- * निगोदसे निकलकर सीधी मुक्ति प्राप्त करने सम्बन्धी ।
—दे० जन्म/१ ।
- * जितने जीव मुक्त होते है, उतने ही नित्य निगोदसे निकलते है ।
—दे० मोक्ष/२ ।
- * नित्यमुक्त रहते भी निगोद राशिका अन्त नहीं ।
—दे० मोक्ष/६ ।

३ प्रतिष्ठित व अप्रतिष्ठित प्रत्येक शरीर परिचय

- १ प्रतिष्ठित अप्रतिष्ठित प्रत्येकके लक्षण ।
- २ प्रत्येक वनस्पति बादर ही होती है ।
- ३ वनस्पतिमें ही साधारण जीव होते है पृथिवी आदिमें नहीं ।
- ४ पृथिवी आदि देव, नारकी, तीर्थकर आदि प्रत्येक शरीर ही होते है ।
- * क्षीणकषाय जीवके शरीरमें जीवोंका हानिकर्म ।
—दे० क्षीणकषाय ।
- ५ कन्द मूल आदि सभी वनस्पतियाँ प्रतिष्ठित व अप्रतिष्ठित दोनों प्रकारकी होती है ।
- ६ अप्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पतिस्कन्धमें भी सख्यात या असख्यात जीव होते है ।
- ७ प्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पतिस्कन्धमें अनन्त जीवोंके शरीरकी रचना विशेष ।

४ साधारण वनस्पति परिचय

- १ साधारण शरीर नामकर्मका लक्षण ।
- २ साधारण जीवोंका लक्षण ।
- * साधारण व प्रत्येक शरीर नामकर्मके असख्यात भेद है ।
—दे० नामकर्म ।
- * साधारण वनस्पतिके भेद । —दे० वनस्पति/२/२ ।
- ३ बौनेके अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त सभी वनस्पति अप्रतिष्ठित प्रत्येक होती है ।
- ४ कच्चिया अवस्थामें सभी वनस्पतिया प्रतिष्ठित प्रत्येक होती है ।
- ५ प्रत्येक व साधारण वनस्पतिका सामान्य परिचय ।
- * प्रतिष्ठित प्रत्येक शरीर बादर जीवोंका योनि स्थान है सूक्ष्मका नहीं
—दे० वनस्पति/२/२८ ।
- ६ एक साधारण शरीरमें अनन्त जीवोंका अवस्थान
- ७ साधारण शरीरकी उत्कृष्ट अवगाहना ।
- * साधारण नामकर्मकी बन्ध उदय सत्त्व प्ररूपणाएँ
—दे० वह वह नाम ।
- * साधारण वनस्पति जीवसमाप्तोंका स्वामित्व
—दे० वनस्पति/१/१ ।

५	साधारण शरीरमें जीवोंका उत्पत्ति क्रम
१	निगोद शरीरमें जीवोंकी उत्पत्ति क्रमसे होती है।
२	निगोद शरीरमें जीवोंकी उत्पत्ति क्रम व अक्रम दोनों प्रकारसे होती है।
*	जन्म मरणके क्रम व अक्रम सम्बन्धी समन्वय —दे० वनस्पति/५/२।
३	आगे पीछे उत्पन्न होकर भी उनकी पर्याप्त युगपत् होती है।
४	एक ही निगोद शरीरमें जीवोंके आवागमनका प्रवाह चलता रहता है।
*	बीजवाला ही जीव या अन्य कोई भी जीव उस योनि स्थानमें जन्म धारण कर सकता है —दे० जन्म/२।
५	बादर व सूक्ष्म निगोद शरीरोंमें पर्याप्त व अपर्याप्त जीवोंके अवस्थान सम्बन्धी नियम।
६	अनेक जीवोंका एक शरीर होनेमें हेतु।
७	अनेक जीवोंका एक आहार होनेमें हेतु।

१. वनस्पति व प्रत्येक वनस्पति सामान्य निर्देश

१. वनस्पति सामान्यके भेद

प. खं १/१.१/सू. ४१/२६८ वनस्पतिका इया दुविहा, पत्तयसरीरा साधारणसरीरा। पत्तयसरीरा दुविहा, पञ्जत्ता अपञ्जत्ता। साधारणसरीरा दुविहा, बादरा मुहुमा। बादरा दुविहा, पञ्जत्ता अपञ्जत्ता। मुहुमा दुविहा, पञ्जत्ता अपञ्जत्ता चेदि। ४। = वनस्पतिकायिक जीव दो प्रकारके हैं, प्रत्येकशरीर और साधारणशरीर। प्रत्येक शरीर वनस्पतिकायिक जीव दो प्रकारके हैं, पर्याप्त और अपर्याप्त। साधारणशरीर वनस्पतिकायिक जीव दो प्रकारके हैं—बादर और सूक्ष्म। बादर दो प्रकारके हैं, पर्याप्त और अपर्याप्त।

प. खं १४/५.६/सू. ११६/२२५ सरोरिसरीरपरूवणाए अस्थि जीवा पत्तय-साधारण-सरीरा ११६। = शरीरिशरीर परूवणाकी अपेक्षा जीव प्रत्येक शरीरवाले और साधारण शरीरवाले है। (गो. जी./जी प्र/१८५/४२२/३)।

२. प्रत्येक वनस्पति सामान्यका लक्षण

घ. १/१.१.४१/२६८/६ प्रत्येकपृथक्शरीरं येषा ते प्रत्येकशरीराः खदि-
रादयो वनस्पतयः। = जिनका प्रत्येक अर्थात् पृथक्-पृथक् शरीर होता है, उन्हें प्रत्येक शरीर जीव कहते हैं जैसे—खैर आदि वन-
स्पति। (गो. जी./जी प्र/१८५/४२२/४)।

घ ३/१.२.८७/३३३/१ जेण जीवेण एकेण चैव एकसरीरट्ठिएण सुह-
दुखमणुभवेदव्वमिदि कम्ममुवज्जिदं सो जीवो पत्तयसरीरो। = जिस जीवने एक शरीरमें स्थित होकर अकेले ही सुख दुःखके अनुभव करने योग्य कर्म उपाजित किया है, वह जीव प्रत्येकशरीर है।

घ. १४/५.६.११६/२२५/४ एकस्सेव जीवस्स अं सरोरं त पत्तयसरीरं। तं सरोरं ज जीवाणं अस्थि ते पत्तयसरीरा णाम। अथवा पत्तयं पुणभूद
उरीरं जैसि ते पत्तयसरीरा। = एक ही जीवका जो शरीर है उसकी

प्रत्येक शरीर सज्ञा है। वह शरीर जिन जीवोंके हैं वे प्रत्येक शरीर-
जीव कहलाते हैं। अथवा प्रत्येक अर्थात् पृथक् भूत शरीर जिन
जीवोंका है वे प्रत्येकशरीर जीव हैं।

गो जी./जी. प्र/१८६/४२३/१४ यावन्ति प्रत्येकशरीराणि तावन्त एव
प्रत्येकवनस्पतिजीवा तत्र प्रतिशरीरं एकैकस्य जीवस्य प्रतिज्ञा-
नात्। = जितने प्रत्येक शरीर हैं, उतने वहाँ प्रत्येक वनस्पति जीव
जानने चाहिए, क्योंकि एक-एक शरीरके प्रति एक-एक जीवके होने-
का नियम है।

३. प्रत्येक वनस्पतिके भेद

का. अ/सू./१२८ पत्तया वि य दुविहा णिगोद-सहिदा तहेव रहिया य।
दुविहा होंति तसा वि य वि-ति चउरक्खा तहेव पचक्खा। १२८।
= प्रत्येक वनस्पतिकायिक जीव दो प्रकारके होते हैं—एक निगोद
सहित, दूसरे निगोद रहित। १२८। (गो. जी./जी. प्र/१८५/४२२/५)।
गो. जी./जी. प्र/१८५-२३/२०१/१३ तृण वल्ली गुहम' वृक्ष' मूलं चेति
पञ्चापि प्रत्येकवनस्पतयो णिगोदशरीरं प्रतिष्ठिता-प्रतिष्ठितभेदा-
दश। = तृण, बेलि, छोटे वृक्ष, बड़े वृक्ष, कन्दमूल ऐसे पाँच भेद प्रत्येक
वनस्पतिके हैं। ये पाँचों वनस्पतियाँ जब निगोद शरीरके आश्रित हों
तो प्रतिष्ठित प्रत्येक कही जाती हैं, तथा निगोदसे रहित हों तो अप्र-
तिष्ठित प्रत्येक कही जाती हैं। (और भी दे० वनस्पति/३/५)।

४. वनस्पतिके लिए ही प्रत्येक वादका प्रयोग है

घ. १/१.१.४१/२६८/६ पृथिवीकायादिपञ्चानामपि प्रत्येकशरीरव्यपदेश-
स्तथा सति स्यादिति चेन्न इष्टत्वात्। तर्हि तेषामपि प्रत्येकशरीरवि-
शेषण विधातव्यमिति चेन्न, तत्र वनस्पतिष्विव व्यवच्छेद्याभावात्।
= (जिनका पृथक् पृथक् शरीर होता है, उन्हें प्रत्येक शरीर जीव
कहते हैं—दे० वनस्पति/१/३) = प्रश्न—प्रत्येक शरीरका इस प्रकार
लक्षण करनेपर पृथक्काय आदि पाँचों शरीरोंको भी प्रत्येक शरीर
संज्ञा प्राप्त हो जायेगी? उत्तर—यह आशंका कोई आपत्तिजनक नहीं
है, क्योंकि पृथक्काय आदिके प्रत्येकशरीर मानना इष्ट ही है। प्रश्न—
तो फिर पृथक्काय आदिके साथ भी प्रत्येक शरीर विशेषण लगा देना
चाहिए? उत्तर—नहीं, क्योंकि, जिस प्रकार वनस्पतियोंमें प्रत्येक
वनस्पतिसे निराकरण करने योग्य साधारण वनस्पति पायी जाती है,
उस प्रकार पृथिवी आदिमें प्रत्येक शरीरसे भिन्न निराकरण करने
योग्य कोई भेद नहीं पाया जाता है, इसलिए पृथिवी आदिमें अलग
विशेषण देनेकी आवश्यकता नहीं है। (घ १/१-२.८.७/३३१/४)।

५. मूल बीज अग्रबीज आदिके उदाहरण

गो. जी./जी. प्र/१८६/४२३/४ मूलं बीज येषां ते मूलबीजाः। (येषां मूलं
प्रादुर्भवति ते) आर्द्रकहरिद्रादयः। अग्र बीज येषां ते अग्रबीजाः
(येषां अग्रं प्ररोहयति ते) आर्यकोदोच्यादयः। पर्व बीजं येषां ते
पर्वबीजाः इक्षुवेप्रादयः। कन्दो बीज येषां ते कन्दबीजाः पिण्डालसूरणा-
दयः। स्कन्धो बीजं येषां ते स्कन्धबीजाः सलकीकण्टकीपलादयः।
बीजात् रोहन्तीति बीजरुहा' शालिगोधूमादयः। संमूर्च्छे समन्तात्
प्रसृतपुद्गलस्कन्धे भवा सम्मूर्च्छिमा मूलादिनियतबीजनिर्पेक्षा।
एते मूलबीजादिसम्मूर्च्छिमपर्यन्ताः सप्रतिष्ठिताप्रतिष्ठितप्रत्येकशरीर-
जोवास्तेऽपि सम्मूर्च्छिमा एव भवन्ति। = १ जिनका मूल अर्थात् जड़
ही बीज हो (जो जड़के बोनेसे उत्पन्न होती है) वे मूलबीज कही
जाती हैं जैसे—अदरक, हल्दी आदि। २. अग्रभाग ही जिनका
बीज हो (अर्थात् टहनो की कलम लगानेसे वे उत्पन्न हो) वे
अग्रबीज हैं जैसे—आर्यक व उदीची आदि। ३. पर्व ही है बीज
जिनका वे पर्वबीज जानने। जैसे—ईख, बेट आदि। ४. जो कन्दसे
उत्पन्न होती है, वे कन्दबीज कही जाती हैं जैसे—आखू सूरणादि।
५. जो स्कन्धसे उत्पन्न होती है वे स्कन्धबीज हैं जैसे सलरि, पलाश

आदि । ६. जा ब्रोजमे ही उत्पन्न होती है, वे ब्रोजरुद्ध कहलाती है । जैसे—चावल, गेहूँ आदि । ७. और जो नियत ब्रोज आदिकी अपेक्षा से रहित, केवल मट्टो और जलके सम्बन्धसे उत्पन्न होती है, उनको सम्मूर्द्धिम कहते हैं । जैसे—फूई, काई आदि । ...ये मूलादि सम्मूर्द्धिम वनस्पति सप्रतिष्ठित प्रत्येक और अप्रतिष्ठित प्रत्येक दोनों प्रकारकी होती है । और सबको सब सम्मूर्द्धिम ही होती हैं, गर्भज नहीं ।

६. प्रत्येक शरीर नामकर्मका लक्षण

स. सि ८/११/३६१/८ शरीरनामकर्मोदयोत्त्रिर्वर्त्यमानं शरीरमेकात्मोप-भोगकारण यतो भवति तत्प्रत्येक शरीर नाम । (एकमेकमात्मानं प्रति प्रत्येकम्, प्रत्येक शरीरं प्रत्येकशरीरम् (रा. वा) । = शरीर नामकर्मके उदयसे रचा गया जो शरीर जिसके निमित्तसे एक आत्माके उपभोगका कारण होता है, वह प्रत्येक शरीर नामकर्म है । (प्रत्येक शरीरके प्रति अर्थात् एक एक शरीरके प्रति एक एक आत्मा हो, उसको प्रत्येकशरीर कहते हैं । रा. वा) (रा. वा./८/११/१६/५७५/१८) (गो. क/जी. प्र/३३/३०/२) ।

घ. ६/१,६-१,२५/६२/८ जस कम्मस्स उदएण जीवो पत्तेयसरीरो होदि, तस्स कम्मस्स पत्तेयसरीरमिदि सण्णा । जदि पत्तेयसरीरणामकम्मं ण होज्ज, तो एवकम्मिह सरीरे एगजीवस्सेव उवलंभो ण होज्ज । ण च एवं, णिच्चाहमुवलभा । = जिस कर्मके उदयसे जीव प्रत्येक शरीरी होता है, उस कर्मकी 'प्रत्येकशरीर' यह संज्ञा है । यदि प्रत्येक शरीर नामकर्म न हो, तो एक शरीरमें एक जीवका ही उपलम्भ न होगा । किन्तु ऐसा नहीं है, क्योंकि, प्रत्येक शरीर जीवोंका सद्भाव बाधा-रहित पाया जाता है ।

घ. १३/५,६,१०१/३६५/८ जस कम्मस्सुदएण एकसरीरे एक्को चेव जीवो जीवदि तं कम्मं पत्तेयसरीरणामं । = जिस कर्मके उदयसे एक शरीर-में एक ही जीव जीवित रहता है, वह प्रत्येक शरीर नामकर्म है ।

७. प्रत्येक शरीर वर्गणाका प्रमाण

घ. १४/५,६,११६/१४४/२ बहुमाणकाले पत्तेयसरीरवर्गणाओ उक्कसेण असंखेज्जलोगमेत्तीओ चेव होंति त्ति गियमादो । = वर्तमानकालमें प्रत्येक शरीर वर्गणाएँ उत्कृष्ट रूपसे असंख्यात लोक प्रमाण ही होती हैं, यह नियम है ।

२. निगोद निर्देश

१. निगोद सामान्यका लक्षण

घ. १४/५,६,१३२/५१/१३ के निगोदा णाम । पुलवियाओ निगोदा त्ति भ-र्णत्ति । = प्रश्न—निगोद किन्हे कहते हैं । उत्तर—पुलवियोंको निगोद कहते हैं । विशेष दे० वनस्पति/३/७ । (घ. १४/५,६,५२२/४७०/१) । गो. जी./जी. प्र/१६१/४२६/१५ साधारणनामकर्मोदयेन जीवा निगोद-शरीरा भवन्ति । नि—नियतां गा—भूमि क्षेत्रं निवास, अनन्तानन्त-जोवाना ददाति इति निगोदम् । निगोदशरीरं येषां ते निगोदशरीरा इति लक्षणसिद्धत्वात् । = साधारण नामक नामकर्मके उदयसे जो वनस्पति शरीरी होता है । 'नि' अर्थात् अनन्तपना है निश्चित जिनका ऐसे जीवोंको, 'गो' अर्थात् एक ही क्षेत्र, 'द' अर्थात् देता है, उसको निगोद कहते हैं । अर्थात् जो अनन्तो जीवोंको एक निवास दे उसको निगोद कहते हैं । निगोद ही शरीर है जिनका उनको निगोद शरीरी कहते हैं ।

२. निगोद जीवोंके भेद

घ. १४/५,६,१२८/१३६/५ तत्थ निगोदेसु जे दिट्ठदा जीवा ते दुविहा—चउग्गइणिगोदा णिच्चणिगोदा चेदि । = निगोदोंमें स्थित जीव दो

प्रकारके हैं—चतुर्गतिनिगोद और नित्यनिगोद (ये दोनों बादर भी होते हैं सूक्ष्म भी का अ.) (का. अ./मू./१२५) ।

३. नित्य व अनित्य निगोदके लक्षण

१. नित्यनिगोद

ष ख. १४/५,६/सू. १२७/२३३ अत्थि अणंता जीवा जेहि ण पत्तो तसाण परिणामो भावकलकअपउरा णिगोदवासं ण मुचत्ति । १२७ = जिन्होंने अतीत कालमें त्रसभावको नहीं पाया है ऐसे अनन्त जीव हैं, क्योंकि वे भाव कलक प्रचुर होते हैं, इसलिए निगोदवासको नहीं त्यागते । १२७ (मू. आ/१२०३), (पं. स/प्रा./१/५५), (घ. १/१,१,४६/गा. १४८/२७१), (घ. ४/१,६,३९०/गा. ४२/४७७), (गो. जी./मू./१६४/४४९) (पं. सं./स./१/११०), (का. अ/टी./१२५) ।

रा. वा./२/३२/२७/१४३/२० त्रिष्वपि कालेषु त्रसभावयोग्या ये न भवन्ति ते नित्यनिगोता । = जो कभी त्रस पर्यायको प्राप्त करनेके योग्य नहीं होते, वे नित्य निगोद हैं ।

घ. १४/५,६,१२५/२३६/५ तत्थ णिच्चणिगोदा णाम जे सब्बकालं णिगोदेसु चेव अच्छत्ति ते णिच्चणिगोदा णाम । = जो सदा निगोदोंमें ही रहते हैं वे नित्य निगोद हैं ।

२. अनित्य निगोद

रा. वा./२/३२/२७/१४३/२१ त्रसभावमवाप्ता अवाप्स्यन्ति च ये ते अनित्यनिगोता । = जिन्होंने त्रस पर्याय पहले पायी थी अथवा पायेगे वे अनित्य निगोद हैं ।

घ. १४/५,६,१२५/२३६/६ जे देव-णेरइय-तिरिक्ख-मणुस्सेसुपज्जियुण पुणो णिगोदेसु पविसिय अच्छत्ति ते चटुग्गइणिच्चणिगोदा णाम । = जो देव, नारकी, तिर्यक और मनुष्योंमें उत्पन्न होकर पुनः निगोदोंमें प्रवेश करके रहते हैं वे चतुर्गतिनिगोद जीव कहे जाते हैं । (गो. जी./जी. प्र./१६७/४४१/१४) ।

४. सूक्ष्म वनस्पति तो निगोद ही है, पर सूक्ष्म निगोद वनस्पतिकाधिक ही नहीं है

घ. ख. ७/२,१०/सू. ३१-३२/५०४ सुहुमवणप्फदिकाइय-सुहुमणिगोद-जीवपज्जन्ता सब्बजीवाणं केवडिओ भागो । ३१। संखेज्जा भागा । ३२।

घ. ७/२,१,३२/५०४/१२ सुहुमवणप्फदिकाइए भणिदूण पुणो सुहुमणिगोद-जीवे वि पुध भणदि, एदेण णव्वदि जधा सब्बे सुहुमवणप्फदिकाइया चेव सुहुमणिगोदजीवा ण होंति त्ति । जदि एवं तो सब्बे सुहुमव-णप्फदिकाइया निगोदा चेवेत्ति एदेण वयणेण विरुज्झदि त्ति भणिदे ण विरुज्झदे, सुहुमणिगोदा सुहुमवणप्फदिकाइया चेवेत्ति अबहारणा-भावादो । कधमेदं णव्वदे । बादरणिगोदजीवा निगोदपदिट्ठिदा अप्पज्जन्ता असंखेज्जगुणा (घ. खं. ७/२,११/सू. ८६/५४५) निगोद पदिट्ठिदाणं बादरणिगोदजीवा त्ति णिद्वेसादो, बादरवणप्फदि-काइयाणमुवरि 'निगोदजीवा विसेसाहिया' (घ. ख. ७/२,११/सू. ७५/५३६) त्ति भणिदवयणाओ च णव्वदे ।

घ. ७/२,११,७५/५३६/११ एत्थ चोदगो भणदि—णिप्फलमेदं सुत्तं, वणप्फदिकाइएहितो पुधभूदणिगोदाणामणुवलंभादो । ण च वणप्फ-दिकाइएहितो पुधभूदा पुढविकाइयादिस्सु णिगोदा अत्थि त्ति आहरि-याणामुवदेसो जेणेदस्स वयणस्स सुत्तत्तं पसज्जदे इदि । एत्थ परिहारो वुच्चदे—होदु णाम तुम्भेहि वुत्तस्स सच्चत्तं, बहुएसु सुत्तेसु वणप्फदीण उवरि निगोदपदस्स अणुवलभादो निगोदाणामुवरि वणप्फदिकाइयाणं पढणस्सुवलभादो बहुएहि आहरिएहि संमदत्तादो च । कि तु एद सुत्तमेव ण होदि त्ति णवहारणं काळं जुत्तं । सो एवं भणदि जो चोदसपुव्वधरो केवलणाणी वा ।... तदो थप्पं काउण वे

वि सुत्ताणि सुत्तासायणभोरुहि आइरिरेहि वक्त्राण्येववाणि त्ति ।
 —सूक्ष्म वनस्पतिकायिक व सूक्ष्म निगोद जीव पर्याप्त सर्व जीवोंके कितनेबे भाग प्रमाण है ? १३१। उपर्युक्त जीव सर्व जीवोंके सरख्यात बहुभाग-प्रमाण है १३२ ...सूक्ष्म वनस्पतिकायिकको कहकर पुनः सूक्ष्म निगोद जीवोंका भी पृथक् कहते हैं, इससे जाना जाता है कि सब सूक्ष्म वनस्पतिकायिक ही सूक्ष्म निगोद जीव नहीं होते। प्रश्न—यदि ऐसा है तो 'सर्व सूक्ष्म वनस्पतिकायिक निगोद ही है' इस वचनके साथ विरोध होगा ? उत्तर—उक्त वचनके साथ विरोध नहीं होगा, क्योंकि, सूक्ष्म निगोद जीव सूक्ष्म वनस्पतिकायिक ही है, ऐसा यहाँ अवधारण नहीं है। प्रश्न—यह कैसे जाना जाता है ? उत्तर—(बादर वनस्पतिकायिक प्रत्येक शरीर अपर्याप्तसे निगोद प्रतिष्ठित बादर निगोदजीव अपर्याप्त असंख्यातगुणे है। यहाँपर) निगोद प्रतिष्ठित जीवोंके बाद 'निगोद जीव' इस प्रकारके निर्देशसे, तथा ('वनस्पतिकायिकोंसे निगोद जीव विशेष अधिक है' इस सूत्रमें) बादर वनस्पतिकायिकोंके आगे 'निगोद जीव विशेष अधिक है' इस प्रकार कहे गये सूत्रवचनसे भी जाना जाता है। प्रश्न—यहाँ शकाकार कहता है कि यह सूत्र निष्फल है क्योंकि, वनस्पतिकायिक जीवोंसे पृथग्भूत निगोद जीव पाये नहीं जाते। तथा 'वनस्पतिकायिक जीवोंसे पृथग्भूत पृथिवीकायिकादिकोंमें निगोद जीव पाये नहीं जाते। तथा वनस्पतिकायिक जीवोंसे पृथग्भूत पृथिवीकायिकादिकोंमें निगोद जीव है' ऐसा आचार्योंका उपदेश भी नहीं है, जिससे इस वचनको सूत्रत्वका प्रसंग हो सके ? उत्तर—यहाँ उपर्युक्त शकाका परिहार कहते हैं—तुम्हारे द्वारा कहे हुए वचनमें भले हो सत्यता हो, क्योंकि बहुतसे सूत्रोंमें वनस्पतिकायिक जीवोंके आगे 'निगोद' पद नहीं पाया जाता, निगोद जीवोंके आगे वनस्पतिकायिकोंका पाठ पाया जाता है, ऐसा बहुतसे आचार्योंसे सम्मत भी है। किन्तु 'यह सूत्र ही नहीं है' ऐसा निश्चय करना उचित नहीं है। इस प्रकार तो वह कह सकता है जो कि चौदह पूर्वोंका धारक हो अथवा केवलज्ञानी हो। अतएव सूत्रको आशातना (छेद या तिरस्कार) से भयभीत रहनेवाले आचार्योंको स्थाप्य समझकर दोनों ही सूत्रोंका व्याख्यान करना चाहिए।

५. प्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पतिको उपचारसे सूक्ष्म निगोद भी कह देते हैं

घ. ७/२.१०,३२/५०५/३ के पुण ते अण्णे सुहुमणिगोदा सुहुमवण्णफदि-
 काइये भोत्तूण । ण, सुहुमणिगोदेसु व तदाधारेसु वण्णफदिकाइएसु वि सुहुमणिगोदजीवत्तसंभवादो । तदो सुहुमवण्णफदिकाइया चेव सुहुम-
 णिगोदजीवा ण होति त्ति सिद्धं । सुहुमकम्मोदएण जहा जीवाणं वण्णफदिकाइयादीणं सुहुमत्तं होदि तहा णिगोदणामकम्मोदएण णिगोदत्तं होदि । ण च णिगोदणामकम्मोदओ बादरवण्णफदिपत्तेय-
 सरीराणमत्थि जेण तेसि णिगोदसण्णा होदि त्ति भणिदे—ण, तेसि पि आहारे आहोवयारेण णिगोदत्ताविरोहादो । = प्रश्न—तो फिर सूक्ष्म वनस्पतिकायिकोंको छोड़कर अन्य सूक्ष्म निगोद जीव कौनसे हैं ? उत्तर—नहीं, क्योंकि सूक्ष्म निगोद जीवोंके समान उनके आधारभूत (बादर) वनस्पतिकायिकोंमें भी सूक्ष्म निगोद जीवत्वकी सम्भावना है। इस कारण 'सूक्ष्म वनस्पतिकायिक ही सूक्ष्म निगोद जीव नहीं होते, यह बात सिद्ध होती है। प्रश्न—सूक्ष्म नामकर्मके उदयसे जिस प्रकार वनस्पतिकायिकादिक जीवोंके सूक्ष्मपना होता है, उसी प्रकार निगोद नामकर्मके उदयसे निगोदत्व होता है। किन्तु बादर वनस्पतिकायिक प्रत्येक शरीर जीवोंके निगोद नामकर्मका उदय नहीं है जिससे कि उनकी 'निगोद' सज्ञा हो सके ? उत्तर—नहीं, क्योंकि बादर वनस्पतिकायिक प्रत्येक शरीर जीवोंके भी आधारमें आधेयका उपचार करनेसे निगोदपनेका कोई विरोध नहीं है।

६ प्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पतिको उपचारसे बादर निगोद भी कहते हैं

घ. १/१.१,४१/२७१/५ बादरनिगोदप्रतिष्ठिताश्चापान्तरेषु श्रूयन्ते, क
 तेषामन्तर्भवश्चेत् प्रत्येकशरीरवनस्पतिष्वर्वात् ब्रूम । के ते ।
 स्तुगात्रकमूलकादयः । = प्रश्न—बादर निगोदोंसे प्रतिष्ठित वनस्पति
 दूसरे आगमोंमें सुनी जाती है, उसका अन्तर्भव वनस्पतिके किस
 भेदमें होगा ? उत्तर—प्रत्येक शरीर वनस्पतिमें उसका अन्तर्भव
 होगा, ऐसा हम कहते हैं। प्रश्न—जो बादर निगोदसे प्रतिष्ठित है,
 वे कौन हैं ? उत्तर—धूर, अदरख और भूली आदिक वनस्पति
 बादर निगोदसे प्रतिष्ठित हैं।
 घ. २/२.२,२७/३४७/७ पत्तेगसाधारणसरीरवदिरित्तो बादरणिगोदप-
 दिट्ठिदरासी ण जाणिज्जदि त्ति वुत्ते सच्च, तेहि वदिरित्तो
 वण्णफदिकाइएसु जीवरासी णत्थि चेव, कि तु पत्तेयसरीरा दुविहा
 भवति बादरणिगोदजीवाणं जोणीभूदसरीरा तन्निवरीदसरीरा
 चेदि । तत्थ जे बादरणिगोदाणं जोणीभूदसरीरपत्तेगसरीरजीवा ते
 बादरणिगोदपदिट्ठिदा भणति । के ते । भूलयद्धु-भल्लय सूरण-
 गलोइ-लोगेसरपभादओ । = प्रश्न—प्रत्येक शरीर और साधारण
 शरीर, इन दोनों जीव राशियोंको छोड़कर बादरनिगोद प्रतिष्ठित
 जीवराशि क्या है, यह नहीं मान्य पडता है ? उत्तर—यह सत्य है कि
 उक्त दोनों राशियोंके अतिरिक्त वनस्पतिकायिकोंमें और कोई जीव
 राशि नहीं है, किन्तु प्रत्येकशरीरवनस्पतिकायिक जीव दो प्रकारके
 होते हैं, एक तो बादरनिगोद जीवोंके योनिभूत प्रत्येक शरीर और
 दूसरे उनसे विपरीत शरीरवाले अर्थात् बादरनिगोद जीवोंके अयोनि-
 भूत प्रत्येकशरीर जीव । उनमेंसे जो बादरनिगोद जीवोंके योनिभूत
 शरीर प्रत्येकशरीर जीव है उन्हें बादरनिगोद प्रतिष्ठित कहते हैं।
 प्रश्न—वे बादरनिगोद जीवोंके योनिभूत प्रत्येक शरीर जीव कौन
 हैं ? उत्तर—भूली, अदरक (?), भल्लक (भद्रक), सूरण, गलोइ (गुडुची
 या गुरवेल), लोकेश्वरप्रभा ? आदि बादरनिगोद प्रतिष्ठित हैं।
 घ. ७/२.११,७५/५४०/८ णिगोदाणामुवरि वण्णफदिकाइया विसैसाहिया
 होति बादरवण्णफदिकाइयपत्तेयसरीरमेत्तेण, वण्णफदिकाइयाणं
 उवरि णिगोदा पुण केण विसैसाहिया होति त्ति भणिदे वुच्चदे । तं
 जहा—वण्णफदिकाइया त्ति वुत्ते बादरणिगोदपदिट्ठिदापदिट्ठिदा-
 जीवा ण वेत्तव्वा । कुदो । आधेयादो आधारस्स भेददसणादो ।
 वण्णफदिणामकम्मोदइल्लत्तणेण सव्वेसिमेगत्तमत्थि त्ति भणिदे होदु
 तेण एगत्तं, किंतु तमेत्थ अविबविस्वयं आहारअणाहारत्त चेव विव-
 विस्वयं । तेण वण्णफदिकाइएसु बादरणिगोदपदिट्ठिदापदिट्ठिदा ण
 गहिदा । वण्णफदिकाइयाणामुवरि 'णिगोदा विसैसाहिया' त्ति भणिदे
 बादरवण्णफदिकाइयपत्तेयसरीरे हि बादरणिगोदपदिट्ठिदेहि य
 विसैसाहिया । बादरणिगोदपदिट्ठिदापदिट्ठिदाण कथं णिगोदव-
 वएसो । ण, आहारे आहोवयारादो तेसि णिगोदत्तसिद्धीदो ।
 वण्णफदिणामकम्मोदइल्लत्तणं सव्वेसि वण्णफदिसण्णा सुत्ते दिस्सदि ।
 बादरणिगोदपदिट्ठिदपदिट्ठिदाणमेत्थ सुत्ते वण्णफदिसण्णा किण्ण
 णिद्धिदा । गोदमो एत्थपुच्छेयव्वो । अम्हेहिगोदमो बादरणिगोद-
 पदिट्ठिदाण वण्णफदिसण्णं णेच्छदि त्ति तस्स अहिप्पओ कहिओ ।
 = प्रश्न—निगोद जीवोंके ऊपर वनस्पतिकायिकजीव बादर वनस्पति-
 कायिक प्रत्येक शरीर मात्रसे विशेषाधिक होते हैं, परन्तु वनस्पति-
 कायिक जीवोंके आगे निगोदजीव किसमें विशेष अधिक होते हैं।
 उत्तर—उपर्युक्त शकाका उत्तर इस प्रकार देते हैं—'वनस्पतिकायिक-
 जीव' ऐसा कहनेपर बादर निगोदोंसे प्रतिष्ठित अप्रतिष्ठित जीवोंका
 ग्रहण नहीं करना चाहिए, क्योंकि, आधेयसे आधारका भेद देखा
 जाता है। प्रश्न—वनस्पति नामकर्मके उदयसे संयुक्त होनेकी अपेक्षा
 सबके एकता है। उत्तर—वनस्पति नामकर्मोदयकी अपेक्षा एकता
 रहे, किन्तु उसकी यहाँ विवक्षा नहीं है। यहाँ आधारत्व और अना-

धारत्वकी ही विवक्षा है। इस कारण वनस्पतिकायिक जीवोंमें बादर निगोदोंसे प्रतिष्ठित अप्रतिष्ठित जीवोंका ग्रहण नहीं किया गया। वनस्पतिकायिक जीवोंके ऊपर 'निगोदजीव विशेष अधिक है' ऐसा कहनेपर बादरनिगोद जीवोंसे प्रतिष्ठित बादर वनस्पतिकायिक प्रत्येक शरीर जीवोंसे विशेष अधिक है। प्रश्न—बादर निगोद जीवोंसे प्रतिष्ठित अप्रतिष्ठित जीवोंके 'निगोद' संज्ञा कैसे घटित होती है। उत्तर—नहीं, क्योंकि आधारमें आधेयका उपचार करनेसे उनके निगोदत्व सिद्ध होता है। प्रश्न—वनस्पति नामकर्मके उदयसे संयुक्त सब जीवोंके 'वनस्पति' संज्ञासूत्रमें देखी जाती है। बादर निगोद जीवोंसे प्रतिष्ठित अप्रतिष्ठित जीवोंके यहाँ सूत्रमें वनस्पति संज्ञा क्यों नहीं निर्दिष्ट की। उत्तर—इस शकका उत्तर गौतमसे पूछना चाहिए। हमने तो 'गौतम बादर निगोद जीवोंसे प्रतिष्ठित जीवोंके वनस्पति संज्ञा नहीं स्वीकार करते' इस प्रकार उनका अभिप्राय कहा है।

७. साधारण जीवको ही निगोद जीव कहते हैं

मो. जी/मू. व जी. प्र./१६१/४२६ साधारणोदयेण निगोदसरीरा ह्वंति सामण्या १०।१६१।—निगोदशरीरं येषां ते निगोदशरीरा इति लक्षणसिद्धत्वात्। =साधारण नामकर्मके उदयसे निगोद शरीरको धारण करनेवाला साधारण जीव होता है। निगोद (दे० वनस्पति/२/१) ही है शरीर जिनका उनको निगोदशरीरा कहते हैं।

का. अ/टी./१२५/६३ साधारणनामकर्मोदयात् साधारणा. साधारण-निगोदा । =साधारण नामकर्मके उदयसे साधारण वनस्पतिकायिक जीव होते हैं, जिन्हे निगोदिया जीव भी कहते हैं।

८. विग्रहगतिमें निगोदिया जीव साधारण ही होते हैं प्रत्येक नहीं

ध. १४/५.६.६१/१/१० विग्रहगदीए वट्टमाणा बादर-सुहुमणिगोद जीवा पत्तेयसरीरा ण होति, निगोदणाम कम्मोदयसहगदत्तेण विग्रहगदीए वि एगवधणवद्वान्तजीवसमूहत्तादो । विग्रहगदीए सरीरणाम कम्मोदयाभावादो ण पत्तेयसरीरत्तं ण साधारणसरीरत्तं । तदो ते पत्तेयसरीर-बादर-सुहुमणिगोदवर्गणासु ण कथं वि वुत्ते वुत्ते ण एस दोसो, विग्रहगदीए बादर-सुहुमणिगोदणामकम्मणमुदयद सणेण तत्थवि बादर-सुहुमणिगोदवर्गणासुवत्तभादो । एदेहितो बदि-रित्ता जीवा महिदसरीरा अगहिदसरीरा वा पत्तेयसरीरवर्गणा होति । =विग्रहगतिमें विद्यमान बादर निगोद जीव और सूक्ष्म निगोद जीव प्रत्येक-शरीरवाले नहीं होते हैं, क्योंकि निगोद नामकर्मके उदयके साथ गमन होनेके कारण विग्रहगतिमें भी एक बद्धन-बद्ध अनन्त जीवोंका समूह पाया जाता है। प्रश्न—विग्रहगतिमें शरीर नामकर्मका उदय नहीं होता, इसलिए वहाँ न तो प्रत्येकशरीर-पना प्राप्त होता है और न साधारण शरीरपना ही प्राप्त होता है। इसलिए वे प्रत्येक शरीर, बादर और सूक्ष्म निगोद वर्गणाओंसे किन्हींमें भी अन्तर्भूत नहीं होती हैं। उत्तर—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि विग्रहगतिमें बादर और सूक्ष्म निगोद नामकर्मोंका उदय दिखाई देता है, इसलिए वहाँपर भी बादर और सूक्ष्म निगोद वर्गणाएँ उपलब्ध होती हैं। और इनसे अतिरिक्त जिन्होंने शरीरोंको ग्रहण कर लिया है या नहीं ग्रहण किया है वे सब जीव प्रत्येकशरीर वर्गणावाले होते हैं।

९. निगोदिया जीवका आकार

दे० अवगहना/१/४ (प्रथम व द्वितीय समयवर्ती तद्भवस्थ सूक्ष्म निगोदियाका आकार आयत चतुरस्र होता है, और तृतीय समयवर्ती तद्भवस्थ सूक्ष्मनिगोदका आकार गोल होता है।)

१०. सूक्ष्म व बादर निगोद वर्गणाएँ व उनका लोकमें अवस्थान

ष. ख. १४/५.६/सू नं व टीका/४६२-४६४ बादरणिगोदवर्गणाए जह-णिण्याए आवलियाए असखेज्जदिभागमेत्तो णिगोदाणां ।६३६।—सुहुमणिगोदवर्गणाए जहणिण्याए आवलियाए असखेज्जदिभागमेत्तो णिगोदाणां ।६३७।—एसा जहणिण्या सुहुमणिगोदवर्गणा जले थले आगासे वा होदि, दव-खेत्त-कालभावणियमाभावादो । 'सुहुमणिगोदवर्गणाए उक्कस्सियाए आवलियाए असखेज्जदिभागमेत्तो णिगोदाणां ।६३८।—एसा पुण सुहुमणिगोदुक्कस्सवर्गणा महामच्छसरीरे चैव होति ण अण्णत्थ उवदेसाभावादो । 'बादरणिगोदवर्गणाए उक्कस्सियाए सेडीए असखेज्जदि भागमेत्तो णिगोदाणां ।६३९।—मूल्यधुहल्लयादिमु सेडीए असखेज्जदिभागमेत्तपुलवीओ अण्तजीवाचुरिद असखेज्जलोगसरीराओ वेत्तूण बादरणिगोदुक्कस्सवर्गणा होदि । 'एदेसि चैव सव्वणिगोदाणां मूलमहाखंघट्ठाणाणि ।६४०।—सव्वणिगोदाणमिदि वुत्ते सव्वबादरणिगोदाणमिदि वेत्तव्व । सुहुमणिगोदाणि कण्ण गहिदा । ण, एत्थेव ते उप्पज्जति अण्णत्थ ण उप्पज्जति त्ति णियमाभावादो । =ज्वन्य बादर निगोद वर्गणामें निगोदोंका प्रमाण आवलिके असंख्यातवे भागमात्र होता है ।६३६। 'ज्वन्य सूक्ष्म निगोद वर्गणामें निगोदोंका प्रमाण आवलिके असंख्यातवे भागमात्र है ।६३७।—यह ज्वन्य सूक्ष्म निगोद वर्गणा जलमें, स्थलमें और आकाशमें होती है, इसके लिए द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावका कोई नियम नहीं है। 'उत्कृष्ट सूक्ष्म निगोद वर्गणामें निगोदोंका प्रमाण आवलिके असंख्यातवे भागमात्र है ।६३८।—यह उत्कृष्ट सूक्ष्म निगोद वर्गणा महामस्यके शरीरमें ही होती है, अन्यत्र नहीं होती, क्योंकि, अन्यत्र होती है ऐसा उपदेश नहीं पाया जाता। 'उत्कृष्ट बादरनिगोद वर्गणामें निगोदोंका प्रमाण जगश्रेणिके असंख्यातवे भागमात्र है ।६३९। मूली, ध्रुवर और आर्द्रक आदिमें अनन्त जीवोंसे व्याप्त असंख्यात लोकप्रमाण शरीरवाली जगश्रेणिके असंख्यातवे भाग प्रमाण पुलवियों (पुलवियोंको लेकर उत्कृष्ट बादर निगोद वर्गणा) होती है। 'इन्हीं सब निगोदोंका मूल महास्क्वस्थान है ।६४०। सब निगोदोंका ऐसा कहनेपर सब बादर निगोदोंका ऐसा ग्रहण करना चाहिए। प्रश्न—सूक्ष्म निगोदोंका ग्रहण क्यों नहीं किया है। उत्तर—नहीं, क्योंकि यहाँ ही वे उत्पन्न होते हैं, अन्यत्र उत्पन्न नहीं होते ऐसा कोई नियम नहीं है।

३. प्रतिष्ठित व अप्रतिष्ठित प्रत्येक शरीर परिचय

१. प्रतिष्ठित अप्रतिष्ठित प्रत्येकके लक्षण

मो. जी/जी. प्र./१८६/४२३/६ प्रतिष्ठित साधारणशरीरमाश्रितं प्रत्येक-शरीर येषां ते प्रतिष्ठितप्रत्येकशरीरा तैरनाश्रितशरीरा अप्रतिष्ठित-प्रत्येकशरीरा स्यु.। एवं प्रत्येकजीवाना निगोदशरीरं प्रतिष्ठिताप्रतिष्ठितभेदेन द्विविधत्वं उदाहरणदर्शनपूर्वक व्याख्यातं । =प्रतिष्ठित अर्थात् साधारण शरीरके द्वारा आश्रित किया गया है। प्रत्येक शरीर जिनका, उनकी प्रतिष्ठित प्रत्येक संज्ञा होती है। और साधारण शरीरोंके द्वारा आश्रित नहीं किया गया है शरीर जिनका उनको अप्रतिष्ठित प्रत्येक संज्ञा होती है। इस प्रकार सर्व प्रत्येक वनस्पतिकायिक जीव निगोद शरीरोंके द्वारा प्रतिष्ठित और अप्रतिष्ठितके भेदसे दो-दो प्रकारके उदाहरण पूर्वक बता दिये गये।

२. प्रत्येक वनस्पति बादर ही होती है

ध. १/१.१.४१/२६६/३ प्रत्येकशरीरवनस्पतयो बादरा एव न सूक्ष्माः साधारणशरीरेष्वव उत्सर्गविधिबाधकापवादविधेरभावात् । =प्रत्येक

शरीर वनस्पति जीव बाहर ही होते हैं सूक्ष्म नहीं, क्योंकि जिस प्रकार साधारण शरीरोंमें उत्सर्ग विधिकी बाधक अपवाद विधि पायी जाती है, उस प्रकार प्रत्येक वनस्पतिमें अपवाद विधि नहीं पायी जाती है अर्थात् उनमें सूक्ष्म भेदका सर्वथा अभाव है।

३. वनस्पतिमें ही साधारण जीव होते हैं पृथिवी आदिमें नहीं

घ. खं. १४/५,६/सू १२०/२२६ तत्थ जे ते साधारणसरीरा ते णियमा वणफदिकाइया । अवसेसा पत्तेयसरीरा । १२०: = उनमें (प्रत्येक व साधारण शरीर वालोंमें) जो साधारण शरीर जीव हैं वे नियमसे वनस्पतिकायिक होते हैं । अवशेष (पृथ्वीकायादि) जीव प्रत्येक शरीर हैं ।

४. पृथिवी भादि व देव नारकी, तीर्थकर आदि प्रत्येक शरीरी ही होते हैं

घ. १/१,१,४१/२६८/७ पृथिवीकायादिपञ्चानामपि प्रत्येकशरीरव्यपदेश-स्तथा सति स्यादिति चैन्न, इष्टत्वात् । = प्रश्न—(जिनका पृथक्-पृथक् शरीर होता है, उन्हें प्रत्येकशरीर जीव कहते हैं) प्रत्येक-शरीरका इस प्रकार लक्षण करनेपर पृथिवीकायादि पाँचों शरीरोंको भी प्रत्येक शरीर सज्ञा प्राप्त हो जायेगी । उत्तर—यह आशका कोई आपत्ति-जनक नहीं है, क्योंकि पृथिवीकाया आदिको प्रत्येकशरीर मानना इष्ट ही है ।

घ १४/५,६,६१/८१/८ पुढवि-आउ-तेउ-वाउकाइया देव णेरइया आहार-सरीरा पमत्तसंजदा सजोगि-अजोगिकेवल्लो च पत्तेयसरीरा-बुच्चंति, एदेसि णिगोदजीवेहि सह संबंधाभावाद्वा । = पृथिवी-कायिक, जलकायिक, तेजस्कायिक, वायुकायिक, देव, नारकी, आहारक शरीरों प्रमत्तसंयत, सयोगिकेवली और अयोगिये जीव प्रत्येक शरीरवाले होते हैं, क्योंकि इनका निगोद जीवोंसे सम्बन्ध नहीं होता । (गो जी /सू./२००/४४६) ।

५. कन्द मूल आदि सभी वनस्पतियाँ प्रतिष्ठित अप्रतिष्ठित होती हैं

सू. आ./२१३-२१५ मूलगगोर्नीजा कदा तह खंधबीजबीजरुहा । समुच्छिन्ना य भणिया पत्तेयाणतकाया य । २१३। कंदा मूला छल्ली खंध पत्तं पवालपुफफल । गुच्छा गुम्मा वल्ली तणाणि तह पव्व-काया य । २१४। सेवाल पणय केणम कवगो कुहणो य बादरा काया । सव्वेवि सुहमकाया सव्वस्थ जत्तथलागासे । २१५। = १. मूलबीज, अग्रबीज, पर्वबीज कन्दबीज, स्कन्ध बीज, बीजरुह, और सम्पूर्द्धिम, ये सब वनस्पतियाँ प्रत्येक (अप्रतिष्ठित प्रत्येक) और अनन्तकाय (सप्रतिष्ठित प्रत्येक) के भेदसे दोनो प्रकारकी होती हैं । २१३। (प सं/प्रा./१/८१) (घ १/१,१,४३/गा. १६३/२७३) (त. सा./२/६६), (गो जी /सू./१८६/४२३), (पं.स /स/१/१६६) । २. सूरण आदि कंद, अदरख आदि मूल, छालि, स्कन्ध, पत्ता, कौपल, पुष्प, फल, गुच्छा, कर जा आदि गुम्म, बेल तिनका और बेंत आदि ये सम्पूर्द्धन प्रत्येक अथवा अन्तकायिक हैं । २१४। ३. जलकी काई ईंट आदिकी काई, कूडेसे उत्पन्न हरा नीला रूप, जटाकार, आहार काजी आदिसे उत्पन्न काई ये सब बादरकाय जानने । जल, स्थल, आकाश सब जगह सूक्ष्मकाय भरे हुए जानना । २१५।

६. अप्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पति स्कन्धमें भी संख्यात या असंख्यात जीव होते हैं

गो जी./जी प्र/१८६/४२३/१३ अप्रतिष्ठितप्रत्येकवनस्पतिजीवशरीराणि यथासंभव असंख्यातानि सख्यातानि वा भवन्ति । यावन्ति प्रत्येक-

शरीराणि तावन्त एव प्रत्येक वनस्पतिजीवा तत्र प्रतिशरीर एकैकस्य जीवस्य प्रतिज्ञानात् । = एक स्कन्धमें अप्रतिष्ठित प्रत्येकवनस्पति जीवोंके शरीर यथासंभव असंख्यात वा संख्यात भी होते हैं । जितने वहाँ प्रत्येक शरीर है, उतने ही वहाँ प्रत्येक वनस्पति जीव जानने चाहिए । क्योंकि एक एक शरीरके प्रति एक-एक ही जीव होनेका नियम है ।

७. प्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पति स्कन्धमें अनन्त जीवोंके शरीरकी रचना विशेष

घ १४/५,६,६३/८६/१ संपहि पुलवियाणं एत्थ सरूउपरूवणं कस्सामो । तं जहा-खंधो अडरं आवासो पुलविया णिगोदशरीरमिदि पंच होति । तत्थ बादरणिगोदाणमासयभूदो बहुएहि वक्खारएहि सहियो वलजंतवाणियकच्छउडसमाणो मूलय-धूहव्लयादिववएसहरो खंधो णाम । ते च खंधा असखेज्जलोगमेत्ता; बादरणिगोदपदिट्ठिदाणम-सखेज्जलोगमेत्तसखुवलभादो । तेसि खधानं ववएसहरो तेसि भवाणमवयवा वलजुअकच्छउडपुव्वावरभागसमाणा अंडर णाम । अंडरस अतोट्ठियो कच्छउडडर तोट्ठियवक्खारसमाणो आवासो णाम । अडराणि असंखेज्जलोगमेत्ताणि । एक्केकम्मिह अडरे असखेज्ज-लोगमेत्ता आवासा होति । आवासभंतरे संट्ठिदाओ कच्छउडडर-वक्खार तोट्ठियविसिवियाहि समाजाओ पुलवियाओ णाम । एक्के-कम्मिह आवासे ताओ असंखेज्जलोगमेत्ताओ होति । एक्केकम्मिह एक्के-क्लिसे पुलवियाए-असखेज्जलोगमेत्ताणि णिगोदसरीराणि ओरासिय-तेजाकम्मइयपोगलोवायाणकारणाणि कच्छउडडरवक्खारपुलवियाए अंतोट्ठिदव्वसमाणाणि पुध पुध अणताणतेहि णिगोदजीवेहि आउण्णाणि होति । तिलोग-भरह जणइय-णामपुरसमाणाणि खंध-रावास पुलविसरीराणि त्ति वा घेत्तव्वं । = अब यहाँ पर पुलवियोंके स्वरूपका कथन करते हैं—यथा-स्कन्ध, अण्डर, आवास, पुलवि और निगोद शरीर ये पाँच होते हैं—१. उनमेंसे जो बादर निगोदोंका आश्रय भूत है, बहुत वक्खारोंसे युक्त है तथा बलजंतवाणिय कच्छउडडसमान है ऐसे मूली, धूअर और आम्रक आदि सज्ञाको धारण करनेवाला स्कन्ध कहलाता है, वे स्कन्ध असख्यात लोक प्रमाण होते हैं, क्योंकि बादर प्रतिष्ठित जीव असख्यात लोक प्रमाण पाये जाते हैं । २ जो उन स्कन्धोंके अवग्रव हैं और जो बलजुअकच्छउडडके पूर्वापर भागके समान है उन्हें अण्डर कहते हैं । ३. जो अण्डरके भीतर स्थित है तथा कच्छउडडअण्डरके भीतर स्थित वक्खारके समान है उन्हें आवास कहते हैं । अण्डर असख्यात लोक प्रमाण होते हैं । तथा एक अण्डरमें असख्यात लोक प्रमाण आवास होते हैं । ४. जो आवासके भीतर स्थित है और जो कच्छउडड-अण्डरवक्खारके भीतर स्थित पिअवियोंके समान है उन्हें पुलवि कहते हैं । एक एक आवासमें वे असख्यात लोक प्रमाण होती हैं । तथा एक एक आवासकी अलग अलग एक एक पुलविमें असख्यात लोकप्रमाण निगोद शरीर होते हैं जो कि औदारिक, तैजस और कार्मण पुद्गल्लोके उपादान कारण होते हैं, और जो कच्छउडडअण्डर-वक्खारपुलविके भीतर स्थित द्रव्योंके समान अलग-अलग अनन्ता-नन्त निगोद जीवोंसे आपूर्ण होते हैं । ५. अथवा तीन लोक, भरत, जनपद, ग्राम और पुरके समान स्कन्ध, अण्डर, आवास, पुलवि, और शरीर होते हैं ऐसा यहाँ ग्रहण करना चाहिए । (गो जी./सू./१६४-१६५/४३४,४३६) ।

४. साधारण वनस्पति परिचय

१. साधारण शरीर नामकर्मका लक्षण

स सि ८/११/३६१/६ बहूनमात्मनामुपभोगहेतुत्वेन साधारण शरीर यतो भवति तस्साधारणशरीरनाम । = बहुत आत्माओंके उपभोग-

का हेतु रूपसे साधारण शरीर जिसके निमित्तसे होता है, वह साधारण शरीर नामकर्म है (रा वा ८/११/२०/५७/२०); (गो. जी/जी प्र./१२/३०/१३)।

घ. ६/१,६-१,२८/६३/१ जस कम्मस्स उदएण जीवो साधारणसरीरो होज्ज, तस्स कम्मस्स साधारणसरीरमिदि सण्णा । = जिस कर्मके उदयसे जीव साधारण शरीरी होता है उस कर्मकी 'साधारण शरीर' यह सज्ञा है ।

घ १३/५, ६, १०१/३६५/६ जस कम्मस्स उदएण एगसरीरा होदूण अणता जीवा अच्छति तं कम्म साधारणसरीर । = जिस कर्मके उदयसे एक ही शरीरवाले होकर अनन्त जीव रहते हैं वह साधारण शरीर नामकर्म है ।

२. साधारण जीवोंका लक्षण

१. साधारण जन्म मरणादिकी अपेक्षा

घ. खं. १४/५, ६/सू. १२२-१२५/२२६-२३० साहारणमाहारो साहारणमाण-पाणगहणं च । साहारणजीवाण साहारणलक्खणं भण्दिं । १२२। एयस्स अणुगहणं बहूण साहारणणमेयस्स । एयस्स जं बहूण समासदो तं पि होदि एयस्स । १२३। समगं वक्कताण समगं तेसि सरीरणिप्पत्ती । समगं च अणुगहण समग उस्सासणिससासो । १२४। जत्थेउ मरइ जीवो तत्थ दु मरणभवे अणताण । वक्कमहं जत्थ एक्को वक्कमण तत्थत्ताण । १२५। = साधारण आहार और साधारण उच्छ्वास नि श्वासका ग्रहण यह साधारण जीवोंका साधारण लक्षण कहा गया है । १२२। (पं. सं/प्रा/१/५२) (घ. १/१, १, ४१/गा १४५/२७०), (गो. जी./मू./१६२)—एक जीवका जो अनुग्रहण अर्थात् उपकार है वह बहुत साधारण जीवोंका है और इसका भी है । तथा बहुत जीवोंका जो अनुग्रहण है वह मिलकर इस विवक्षित जीवका भी है । १२३। एक साथ उत्पन्न होने वालोंके उनके शरीरकी निष्पत्ति एक साथ होती है, एक साथ अनुग्रहण होती है । और एक साथ उच्छ्वास-नि श्वास होता है । १२४।—जिस शरीरमें एक जीव मरता है वहाँ अनन्त जीवोंका मरण होता है । और जिस शरीरमें एक जीव उत्पन्न होता है । वहाँ अनन्त जीवोंकी उत्पत्ति होती है । १२५। (पं. सं/प्रा./१/५३); (घ. १/१, १, ४१/गा. १४६/२७०); (गो. जी./मू./१६३) ।

रा. वा. ८/११/२०/५७/२० साधारणाहारादिपर्याप्तचतुष्टयजन्म-मरणप्राणापानानुग्रहोपघाता साधारणजीवा । यदैकस्याहारशरीरे-न्द्रियप्राणापानपर्याप्तनिवृत्ति. तदेवानन्तानाम शरीरेन्द्रियप्राणा-पान पर्याप्तनिवृत्ति । यदैको जायते तदैवानन्ता प्राणापानग्रहण विसर्गो कुर्वन्ति । यदैक आहारानुग्रहोपघाते तदैवानन्ता. तेनाहारे-णानुग्रहान्तै । यदैकोऽग्निविषादिनोपहन्यते तदेवानन्तानामुपघात । = साधारण जीवोंके साधारण आहारादि चार पर्याप्तियाँ और साधारण ही जन्म मरण श्वासोच्छ्वास अनुग्रह और उपघात आदि होते हैं । जब एकके आहार, शरीर, इन्द्रिय और आनपानपर्याप्त होती है, उसी समय अनन्त जीवोंके जन्म-मरण होजाते हैं । जिस समय एक श्वासोच्छ्वास लेता, या आहार करता, या अग्नि विष आदिसे उपहत होता है उसी समय शेष अनन्त जीवोंके भी श्वासोच्छ्वास आहार और उपघात आदि होते हैं ।

२. साधारण निवासकी अपेक्षा

घ ३/१, २, ८/३३३/२ जेण जीवेण एगसरीरट्ठिय बहूहि जीवेहि सह कम्मफलमणुभवेयवमिदि कम्मसुवज्जिद सो साहारणसरीरो । = जिस जीवने एक शरीरमें स्थित बहुत जीवोंके साथ सुख-दुःख रूप कर्म फल के अनुभव करने योग्य कर्म उपाजित किया है, वह जीव साधारण शरीर है ।

घ. १४/५, ६, ११६/२२५/५ बहूण जीवाण जमेग सरीर त साहारणसरीरं णाम । तत्थ जे वसति जीवा ते साहारणसरीरा । अथवा साहारण सामण सरीर जेसि जीवाण ते साहारणसरीरा । = बहुत जीवोंका जो एक शरीर है वह साधारण शरीर कहलाता है । उनमें जो जीव निवास करते हैं वे साधारण शरीर जीव कहलाते हैं । अथवा साधारण अर्थात् सामान्य शरीर जिन जीवोंका है वे साधारण शरीर जीव कहलाते हैं ।

३. बौनेके अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त सभी वनस्पति अप्रतिष्ठित प्रत्येक होती हैं

घ. १४/५, ६, १२६/गा. १७/२३२ नीजे जोणीभूदे जीवो वक्कमइ सो व अण्णो वा । जे विय मूलादीया ते पत्तेया पढमदाए । १७। = योनिभूत बीजमें वही जीव उत्पन्न होता है या अन्य जीव उत्पन्न होता है । और जो मूली आदि है वे प्रथम अवस्थामें प्रत्येक है । (घ. ३/१, २, ८/गा. ७६/३४८) (गो. जी./मू. १८७) ।

गो. जी/जी. प्र./१८७/४२५/१४ येऽपि च मूलकादय प्रतिष्ठितप्रत्येक-शरीरत्वेन प्रतिबद्धा तैऽपि खलु प्रथमतया स्वोत्पन्नप्रथमसमये अन्तर्मुहूर्तकालं साधारणजीवैरप्रतिष्ठितप्रत्येका एव भवन्ति । = जो ये मूलक आदि प्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पति प्रसिद्ध है, वे भी प्रथम अवस्थामें जन्मके प्रथम समयसे लगाकर अन्तर्मुहूर्त काल पर्यन्त नियमसे अप्रतिष्ठित प्रत्येक ही होती है । पीछे निगोद जीवोंके द्वारा आधित किये जानेपर प्रतिष्ठित प्रत्येक होती है ।

४. कचिया अवस्थामें सभी वनस्पतियाँ प्रतिष्ठित प्रत्येक होती हैं

मू. आ./२१६-२१७ गूढसिरसंधिपञ्च समभंगमहीरुह च छिण्णरुहं । साहारणसरीरं तद्विवरीयं च पत्तेय । २१६। होदि वणफदि वल्ली रुक्खतण्णादि तहेव एइदी । ते जाण हरितजीवा जाणिसा परिह-रेदवा । २१७। = जिनकी नसे नहीं दीखतीं, बन्धन व गाँठ नहीं दीखती, जिनके टुकड़े समान हो जाते हैं, और दोनों भङ्गोंमें परस्पर तन्तु न लगा रहे, तथा छेदन करनेपर भी जिनकी पुनः वृद्धि हो जाय उसको सप्रतिष्ठित प्रत्येक और इससे विपरीतको अप्रतिष्ठित प्रत्येक कहते हैं । २१६। (गो. जी./मू./१५८/४२७) वनस्पति बेल वृक्ष तुण इत्यादि स्वरूप है । एकेन्द्रिय है । ये सब प्रत्येक साधारण हरित काय है ऐसा जानना और जानकर इनकी हिसाका त्याग करना चाहिए । २१७।

गो. जी/मू./१५६-१६० मूले कंदे छल्लीपवालसालदलकुसुमफलबीजे । समभगे सिदि असमे सिदि होति पत्तेया । १५६। कंदस्स व मूलस्स व सालाखदस्स वावि बहुलतरी । छल्ली साणतजिया पत्तेयजिया तु तणुकदरी । १८८। = जिन वनस्पतियोंके मूल, कन्द, त्वचा, प्रवाल, क्षुद्रशाखा (टहनी) पत्र फूल फल तथा बीजोंको तोड़नेसे समान भंग हो उसको सप्रतिष्ठित वनस्पति कहते हैं, और जिनका भंग समान न हो उसको अप्रतिष्ठित प्रत्येक कहते हैं । १८६। जिस वनस्पतिके कन्द, मूल, क्षुद्रशाखा या स्कन्धकी छाल मोटी हो उसको अनन्तजीव (सप्रतिष्ठित प्रत्येक) कहते हैं । और जिसकी छाल पतली हो उसको अप्रतिष्ठित प्रत्येक कहते हैं । १६०।

५. प्रत्येक व साधारण वनस्पतियोंका सामान्य परिचय

ला. सं./२/११-६८, १०६ साधारणं च केषांचिन्मूलं स्कन्धस्तथागमात् । शाखा पत्राणि पुष्पाणि पर्वदुग्धफलानि च । ११। तत्र व्यस्तानि केषांचित्समस्तान्यथ देहिनाम् । पापमूलानि सर्वाणि ज्ञात्वा सन्यक् परित्यजेत् । १२। मूलसाध्यास्तत्र मूलकाञ्चाद्रकादयः । महापापप्रदा-

सर्वे मूलोन्मूल्वा गृह्यते ॥१६३॥ स्कन्धपत्रपयः पर्वतुर्गसाधारणा यथा । गंडीरकस्तथा चार्कदुग्धं साधारणं मतम् ॥१६४॥ पुष्पसाधारणा केचि-त्करीरसर्वपादयः । पर्वसाधारणाश्चेक्षुदण्डा साधारणाश्चका ॥१६५॥ फलसाधारणं ख्यातं प्रोक्तोदुम्बरपञ्चकम् । शाखा साधारणा ख्याता कुमारीपिण्डकादयः ॥१६६॥ कुम्पलानि स सर्वेषां मूद्रानि च यथागमम् । सन्ति साधारणान्येव प्रोक्तकालावधेरथ ॥१६७॥ शाका साधारणा केचिकेचित्प्रत्येकमूर्तयः । वयसाधारणा काश्चित्कारिचत्प्रत्येकका स्फुटम् ॥१६८॥ तल्लक्षणं यथा भङ्गो समभागं प्रजायते । तावत्साधारणं ज्ञेय शेषं प्रत्येकमेव तत् ॥१६९॥ = १. किसी वृक्षकी जड़ साधारण होती है, किसीका स्कन्ध साधारण होता है, किसीकी शाखाएँ साधारण होती हैं, किसीके पत्ते साधारण होते हैं, किसीके फूल साधारण होते हैं, किसीके पर्व (गाँठ) का दूध, अथवा किसीके फल साधारण होते हैं ॥१६९॥ इनमेंसे किसी किसीके तो मूल, पत्ते, स्कन्ध, फल, फूल आदि अलग-अलग साधारण होते हैं और किसीके मिले हुए पूर्णरूपसे साधारण होते हैं ॥१६९॥ २. मूली, अदरक, आलू, अरबी, रताड़ू, जमीकन्द, आदि सब मूल (जड़ें) साधारण हैं ॥१६९॥ गण्डीरक (एक कड़ुआ जमीकन्द) के स्कन्ध, पत्ते, दूध और पर्व ये चारोंही अवयव साधारण होते हैं । दूधोंमें आकका दूध साधारण होता है ॥१६९॥ फूलोंमें करीरके व सरसोके फूल और भी ऐसे ही फूल साधारण होते हैं । तथा पर्वोंमें ईखकी गाँठ और उसका आगेका भाग साधारण होता है ॥१६९॥ पौँबो उदम्बर फल तथा शाखाओंमें कुमारीपिण्ड (गंवारपाठा जो कि शाखा रूप ही होता है) की सब शाखाएँ साधारण होती हैं ॥१६६॥ वृक्षोंपर लगी कोंपले सब साधारण हैं पीछे पकनेपर प्रत्येक हो जाती है ॥१६७॥ शाकोंमें चना, मेथी, बथुआ, पालक, कुलफी आदि कोई साधारण तथा कोई प्रत्येक, इसी प्रकार बेलोंमें कोई लताएँ साधारण तथा कोई प्रत्येक होती है ॥१६८॥ ३. साधारण व प्रत्येकका लक्षण इस प्रकार लिखा है कि जिसके तोड़नेमें दोनों भाग एकसे हो जाये जिस प्रकार चाकूसे दो टुकड़े करनेपर दोनो भाग चिकने और एकसे हो जाते हैं उसी प्रकार हाथसे तोड़नेपर भी जिसके दोनो भाग चिकने एकसे हो जाये वह साधारण वनस्पति है । जब तक उसके टुकड़े इसी प्रकार होते रहते हैं तब तक साधारण समझना चाहिए । जिसके टुकड़े चिकने और एकसे न हो ऐसी बाकीको समस्त वनस्पतियोंको प्रत्येक समझना चाहिए ॥१०६॥

गो. जी./जी. प्र./१५५/४२७/५ तच्छरीरं साधारणं-साधारणजीवाभित-त्वेन साधारणमित्युपचर्यते । प्रतिष्ठितशरीरमित्यर्थ ॥=प्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पतिमें पाये जानेवाले असंख्यात शरीर ही साधारण है । यहाँ प्रतिष्ठित प्रत्येक साधारण जीवोंके द्वारा आभितकी अपेक्षा उपचार करके साधारण कहा है । (का, अ./टी/१२८)

६. एक साधारण शरीरमें अनन्त जीवोंका अवस्थान

ष. खं. १४/५.६/मू. १२६.१२८/२३१-२३४ बादरमुहुमणिगोदा बद्धा पुट्टा य एयमेण । ते हु अर्णता जीवा मूलयधूहलयादीहि ॥१२६॥ एगणि-गोदसरीरे जीवा दव्वप्पमाणदो दिट्ठा । सिद्धेहि अणत्तुणा सव्वेण वि तीदकालेण ॥१२८॥ = १ बादर निगोद जीव और सूक्ष्म निगोद जीव ये परस्परमे (सब अवयवोंसे) बद्ध और स्पष्ट होकर रहते हैं । तथा वे अनन्त जीव हैं जो मूली, शूवर, और आर्द्रक आदिके निमित्तसे होते हैं ॥१२६॥ २. एक निगोद शरीरमें द्रव्य प्रमाणकी अपेक्षा देखे गये जीव सब अतीत कालके द्वारा सिद्ध हुए जीवोंसे भी अनन्त-गुणे हैं ॥१२८॥ (प. स./प्रा./१/५४) (घ. १/१.१.४१/गा. १४७/२७०) (घ. ४/१.५.३१/गा. ४३/४७८) (घ. १४/५.६.६३/५६/१२) (घ. १४/५.६.६३/६५/६) (गो. जी./मू./१२६/४३७) ।

७. साधारण शरीरकी उत्कृष्ट अवगाहना

गो. जी./जी. प्र./१५६/४२३/११ प्रतिष्ठितप्रत्येकवनस्पतिजीवशरीरस्य सर्वोत्कृष्टमवगाहनमपि घनाङ्गुलासख्येयभागमात्रमेवेति पूर्वोक्ताई-कादिस्कन्धेषु एकैकस्मिस्तानि असंख्यातानि असंख्यातानि सन्ति । = प्रतिष्ठित प्रत्येक शरीरकी सर्वोत्कृष्ट अवगाहना घनांगुलके असंख्यात भाग मात्र ही है । क्योंकि पूर्वोक्त आर्द्रकको आदि लेकर एक-एक स्कन्धमें असंख्यात प्रतिष्ठित प्रत्येक शरीर (त्रैराशिक गणित विधानके द्वारा) पाये जाते हैं ।

५. साधारण शरीरमें जीवोंका उत्पत्ति क्रम

१. निगोद शरीरमें जीवोंकी उत्पत्ति क्रमसे होती है

ष खं. १४/५.६/५५२-५५६/४६६ जो निगोदो पद्मदाए वक्कममाणो अर्णता वक्कमति जीवा । एयसमएण अर्णताण तसाहारणजीवेण धेत्तूण एगसरीरे भवदि असखेज्जलोगमेत्तसरीराणि धेत्तूण एगो निगोदो होदि ॥५५२॥ विदियसमए असखेज्जगुणहीणा वक्कमति ॥५५३॥ तदिय-समए असखेज्जगुणहीणा वक्कमति ॥५५४॥ एवं जाव असखेज्जगुण-हीणाए सेडीए गिरंतरं वक्कमति जाव उक्कसेण आवलियाए असखे-ज्जदि भागो ॥५५५॥ तदो एक्को वा दो वा तिण्णि वा समए अंतरं काळण गिरंतरं वक्कमति जाव उक्कसेण आवलियाए असखेज्जदि भागो ॥५५६॥

घ. १४/५.६.१२७/२३३/५ एवं सातरणिरंतरकमेण ताव उप्पज्जति जाव उप्पत्तीए संभवी अत्थि । = प्रथम समयमें जो निगोद उत्पन्न होता है उसके साथ अनन्त जीव उत्पन्न होते हैं । यहाँ एक समयमें अनन्तानन्त जीवोंको ग्रहण कर एक शरीर होता है, तथा असंख्यात लोकप्रमाण शरीरोंको ग्रहण कर एक निगोद होता है ॥५५२॥ दूसरे समयमें असंख्यात गुणे हीन निगोद जीव उत्पन्न होते हैं ॥५५३॥ तीसरे समयमें असंख्यात गुणे हीन निगोद जीव उत्पन्न होते हैं ॥५५४॥ इस प्रकार आवलिके असंख्यातवे भाग प्रमाण कालतक निरन्तर असंख्यातगुणे हीन श्रेणी रूपसे निगोद जीव उत्पन्न होते हैं ॥५५५॥ उसके बाद एक, दो और तीन समयसे लेकर आवलिके असंख्यातवे भाग प्रमाण कालका अन्तर करके आवलिके असंख्यातवे भागप्रमाणकाल-तक निरन्तर निगोद जीव उत्पन्न होते हैं ॥५५६॥ इस प्रकार सान्तर निरन्तर क्रमसे तबतक जीव उत्पन्न होते हैं जबतक उत्पत्ति सम्भव है । (गो. जी./जी. प्र./१६३/४३२/५) ।

गो. जी./जी. प्र./१६३/४३२/६ एव सान्तरनिरन्तरक्रमेण ताववुत्पन्नन्ते यावत्प्रथमसमयोत्पन्नसाधारणजीवस्य सर्वजघन्यो निवृत्त्यपर्याप्त-कालोऽवशिष्यते । २० पुनरपि तत्रप्रथमादिसमयोत्पन्नसर्वसाधारण-जीवानां आहारशरीरेन्द्रियोच्छ्वासनिश्वासपर्याप्तीनां स्वस्वयोग्य-काले निवृत्तिर्भवति । = इस प्रकार सान्तर निरन्तर क्रमसे तबतक जीव उत्पन्न होते हैं जबतक प्रथम समयमें उत्पन्न हुआ साधारण जीवका जघन्य निवृत्ति अपर्याप्त अवस्थाका काल अवशेष रहे । फिर पीछे उन प्रथमादि समयमें उपजे सर्वसाधारण जीवोंके आहार, शरीर, इन्द्रिय श्वासोच्छ्वासकी सम्पूर्णता अपने-अपने योग्य कालमें होती है ।

२. निगोद शरीरमें जीवोंकी मृत्यु क्रम व अक्रम दोनों प्रकारसे होती है

ष खं. १४/५.६/मू. ६३१/४८५ जो निगोदो जहण्णएण वक्कमणकालेण वक्कमतो जहण्णएण पबधणकालेण पबद्धो तेसि बादरणिगोदाण तथा पबद्धाण मरणकमेण णिग्गमो होदि ॥६३१॥

५. १४/५.६.६३१/४८६/६ एकम्हि सरीरे उप्पज्जमाणवादरणिगोदा किमक्कमेण उप्पज्जति आहो कमेण । यदि अक्कमेण उप्पज्जति तो अक्कमेण व मरणेण वि होदव्वं, एकम्हि मरते सते अण्णेसि मरणाभावे साहारणत्तविरोहादो । अह जइ कमेण असखेज्जगुणहीणाए सेडीए उप्पज्जति तो मरण पि जबमज्जागारेण ण होदि, साहारणत्तस्स विणासप्पसंगादो त्ति । एत्थ परिहारो बुच्चदे—असखेज्जगुणहीणाए कमेण वि उप्पज्जति अक्कमेण वि अणता जीवा एगसयए उप्पज्जति । ण च फिहदि । एदीय गाहाए भण्दिदलक्खणाणमभावे साहारणत्तविणासदो । तदो एगसरीरुप्पणाण मरणक्कमेण णिग्गमो होदि त्ति एवं पि ण विरुज्जदे । ण च एगसरीरुप्पणा सव्वे समाणा-उवा चैव होति त्ति णियमो णत्थि जेण अक्कमे तेसि मरण होज्ज । तम्हा एगसरीरट्ठिदाणं पि मरणजवमज्ज समिलाजवमज्ज च होदि त्ति वेत्तव्वं । = जो निगोद जवन्य उत्पत्ति कालके द्वारा बन्धको प्राप्त हुआ है उन बादर निगोदोका उस प्रकारसे बन्ध होनेपर मरणके क्रमानुसार निर्गम हाता है । ६३१ प्रश्न—एक शरीरमें उत्पन्न होनेवाले बादर निगोद जीव क्या अक्रमसे उत्पन्न होते हैं या क्रमसे ? यदि अक्रमसे उत्पन्न होते हैं तो अक्रमसे ही मरण होना चाहिए, क्योंकि एकके मारनेपर दूसरोका मरण न होनेपर उनके साधारण होनेमें विरोध आता है । यदि क्रमसे असख्यातगुणी होन श्रेणी रूपसे उत्पन्न होते हैं, तो मरण भी यत्रमध्यके आकार रूपसे नहीं हो सकता है, क्योंकि साधारणपनेके विनाशका प्रसंग आता है । उत्तर—असख्यातगुणी होन श्रेणिके क्रमसे भी उत्पन्न होते हैं, और अक्रमसे भी अनन्त-जीव एक समयमें उत्पन्न होते हैं । और साधारणपना भी नष्ट नहीं है । (साधारण आहार व उच्छ्वासका ग्रहण साधारण जीवोंका लक्षण है—दे० वनस्पति/४/२) । इस प्रकार गाथा द्वारा कहे गये लक्षणोंके अभावमें ही साधारणपनेका विनाश होता है । इसलिए एक शरीरमें उत्पन्न हुए निगोदोका मरणके क्रमसे निर्गम होता है इस प्रकार यह कथन भी विरोधको प्राप्त नहीं होता है । और एक शरीरमें उत्पन्न हुए सब समान आयुवाले ही होते हैं, ऐसा कोई नियम नहीं है, जिससे अक्रमसे उनका मरण होवे, इसलिए एक शरीरमें स्थित हुए निगोदोका मरण यत्रमध्य और शामिल यत्रमध्य है, ऐसा ग्रहण करना चाहिए ।

३. आगे-पीछे उत्पन्न होकर भी उनकी पर्याप्ति युगपत् होती है

घ १४/५.६.१२४/२२६/२ एकम्हि सरीरे जे पढमं चैव उप्पणा अणता जीवा जे च पच्छा उप्पणा ते सव्वे समग वक्कता णाम । कथ भिण्णकालमुप्पणाण जीवाण समगत्तं जुज्जदे । ण, एगसरीरसत्रधेण तेसि सव्वेसि पि समगत्तं पडिविरोहाभावादो । एकम्हि सरीरे पच्छा उप्पज्जमाण जीवा अत्थि, कथ तेसि पढमं चैव उप्पत्ती हादि । ण, पढमसमए उप्पणाण जीवाणमणुग्गहणकनस्स पच्छा उप्पणजीवेसु वि उवलभादो । तम्हा एगणिगोदमरीरे उप्पज्जमाण-सव्वजीवाणं पढमसमए चैव उप्पत्ती एवेण णएण जुज्जदे ।

घ १४/५.६.१२४/२२७/३ एदस्स भावत्थो—सव्वत्रहण्णेण पज्जत्तिकालेण यदि पुम्बु-पण्णणिगोदजीवा सरीरपज्जत्ति-ईदियपज्जत्ति-आहार-आणगाणपज्जतोहि पज्जत्तप्रदा होति तम्हि सरीरे तेहि समुप्पणमदजोगिणिगोदजीवा वि तेणैव कालेण एदाओ पज्जत्तीओ समाणे ति, अण्णहा आहारगहणादोण साहारणत्ताणुवत्तीदा । यदि दीहकालेण पढममुप्पणजीवा चत्तारि पज्जत्तीओ समाणे ति तो तम्हि सरीरे पच्छा उप्पणजीवा तेणैव कालेण ताओ पज्जत्तीओ समाणे ति त्ति भण्दि होदि । सरीरिदियाज्जत्तीणं साहारणत्तं किण्ण पस्स-विद । ण अहरेणावण्णिदोसो देसामासिओ त्ति तेसि पि एत्थेव अत्तंभवत्ता । = १ एह शरीरमें जो पहले उत्पन्न हुए अनन्त जीव

हैं, और जो बादमें उत्पन्न हुए अनन्त जीव हैं वे सब एक साथ उत्पन्न हुए कहे जाते हैं । प्रश्न—भिन्न कालमें उत्पन्न हुए जीवोंका एक साथ-पना कैसे बन सकता है । उत्तर—नहीं, क्योंकि, एक शरीरके सम्बन्धसे उन जीवोंके भी एक साथपना होनेमें कोई विरोध नहीं आता है । प्रश्न—एक शरीरमें बादमें उत्पन्न हुए जीव हैं, ऐसी अवस्थामें उनको प्रथम समयमें ही उत्पत्ति कैसे हो सकती है । उत्तर—नहीं, क्योंकि प्रथम समयमें उत्पन्न हुए जीवोंके अनुग्रहणका फल बादमें उत्पन्न हुए जीवोंमें भी उपलब्ध होता है, इसलिए एक निगोद शरीरमें उत्पन्न होनेवाले सब जीवोंकी प्रथम समयमें ही उत्पत्ति इस न्यायके अनुसार बन जाती है । २ इसका तात्पर्य यह है कि—सबसे जवन्य पर्याप्ति कालके द्वारा यदि पहले उत्पन्न हुए निगोद जीव शरीरपर्याप्ति, इन्द्रियपर्याप्ति, आहारपर्याप्ति और उच्छ्वासनिश्वास पर्याप्तिसे पर्याप्त हाते हैं, तो उसी शरीरमें उनके साथ उत्पन्न हुए मन्दयोगवाले जीव भी उसी कालके द्वारा इन पर्याप्तियोंको पूरा करते हैं, अन्यथा आहार ग्रहण आदिका साधारणपना नहीं बन सकता है । यदि दीर्घ कालके द्वारा पहले उत्पन्न हुए जीव चारो पर्याप्तियोंको प्राप्त करते हैं तो उसी शरीरमें पीछेसे उत्पन्न हुए जीव उसी कालके द्वारा उन पर्याप्तियोंको पूरा करते हैं, यह उक्त कथनका तात्पर्य है । प्रश्न—शरीर पर्याप्ति और इन्द्रिय पर्याप्ति ये सबके साधारण हैं ऐसा (सूत्रमें) क्यों नहीं कहा । उत्तर—नहीं, क्योंकि गाथा सूत्रमें 'आहार' और आनपानका ग्रहण देशमर्शक है, इसलिए उनका भी इन्होंने अन्तर्भाव हो जाता है ।

४. एक ही निगोद शरीरमें जीवोंके आवागमनका प्रवाह चलता रहता है

घ. १४/५.६.५८३/४७०/५ एगसमएण जम्हि समए अणंतजीवा उप्पज्जति तम्हि चैव समए सरीरस्स पुलवियाए च उप्पत्ती हादि, तेहि विणा तेसिमुप्पत्तिविरोहादो । कथ वि पुलवियाए पुवं पि उप्पत्ती हादि, अणेगसरीराधारत्तादो । = जिस समयमें अनन्त जीव उत्पन्न होते हैं उसी समयमें शरीरकी और पुलविकी उत्पत्ति होती है, क्योंकि इनके बिना अनन्त जीवोंकी उत्पत्ति होनेमें विरोध है । कहीपर पुलविकी पहले भी उत्पत्ति होती है क्योंकि वह अनेक शरीरोंका आधार है ।

गो, जी, जी प्र/१६३/४३१/१६ यन्नगोदशरीरे यदा एको जीव स्वस्थितिक्षयवशेन त्रियते तदा तन्नगोदशरीरे समस्थितिका अनन्तानन्ता जीवा, सहैव त्रियन्ते । यन्नगोदशरीरे यदा एको जीव प्रक्रमति उत्पद्यते तथा तन्नगोदशरीरे समस्थितिका अनन्तानन्ता जीवाः सहैव प्रक्रामन्ति । एयमुत्पत्तिमरणयो समकालत्वमपि साधारणलक्षणं प्रदर्शितं । द्वितीयादिसमयोत्पन्नानामनन्तानन्तजीवानामपि स्वस्थितिक्षये सहैव मरणं ज्ञातव्य एवमेकनिगोदशरीरे प्रतिसमयमनन्तानन्तजीवास्तावत्सहैव त्रियन्ते सहैवात्पद्यन्ते यावदसंख्यातसागरोपमकोटिमात्रो अमंख्यातलाकमात्रसमयप्रामता उत्कृष्टनिगोदकायस्थितिपरिसमाप्यते । = एक निगोद शरीरमें जब एक-एक जीव अपनी आयुकी स्थितिके पूर्ण होनेपर मरता है तब जिनकी आयु उस निगोद शरीरमें समान हो वे सब युगपत् मरते हैं । और जिस कालमें एक जीव उस निगोद शरीरमें जन्म लेता है, तब उस हीके साथ समान स्थितिके धारक अनन्तानन्त जीव उत्पन्न होते हैं । ऐसे उपजने मरनेके समकालपनेको भी साधारण जीवका लक्षण कहा है (दे० वनस्पति/४/२) और द्वितीयादि समयोंमें उत्पन्न हुए अनन्तानन्त जीवोंका भी अपनी आयुका नाश होनेपर साथ ही मरण होता है । ऐसे एक निगोद शरीरमें अनन्तानन्त जीव एक साथ उत्पन्न होते हैं, एक साथ मरते हैं, और निगोद शरीर उद्योका क्या बना रहता है । इस निगोद शरीरकी उत्कृष्ट स्थिति असख्यात कोड़ाकोडो सागर

प्रमाण है। जो अस्वस्थता लोकमात्र समय प्रमाण जानना। जत्र तक वह स्थिति भारत पूर्ण नहीं होती, तत्रतक जीवोका मरना उत्पन्न होना रहा करता है।

५ वादर व सूक्ष्म निगोद शरीरोंमें पर्याप्त व अपर्याप्त जीवोंके अवस्थान सम्बन्धी नियम

घ. १४/५.६/सु. ६२६-६३०/४८३ सव्वो वादरनिगोदो पञ्जत्तो वा वामिस्सो वा । ६२६। सु मणिगोदवग्गणाए पुण णियमा वा मिस्सो । ६३०।

घ. १४/५.६.६२६/४८३-४८४/१० लंघडरावासपुलवियाओ अस्सिदूण एदं सुत्तं परुविदं ण सरीरे, एगम्मि सरीरे पञ्जत्तापञ्जत्ताजीवाणमवट्ठाणविरहादो। सव्वो वादरणिगोदो पञ्जत्तो वा होदि। कुदो। वादरणिगोदपञ्जत्तोहि सह लंघडरावामपुलवियासु उप्पण्णवादरणिगोदअणत्तापञ्जत्तएसु अतोमुहुत्तेण कालेण णिस्सेस मुदेसु सुद्धाण वादरणिगोदपञ्जत्ताण चैव तत्थावट्ठाणदसणादो। एत्तो हेट्ठा पुण वादरणिगोदो वामिस्सो होदि. लंघडरावासपुलवियासु वादरणिगोदपञ्जत्तापञ्जत्ताण अणत्ताण सहावट्ठाणदसणादो।

घ. १४/५.६.६३०/४८४/१ मुहुमणिगोदवग्गणाए पञ्जत्तापञ्जत्ता च जेण सव्वकालं सभवति तेण सा णियमा पञ्जत्तापञ्जत्ताजीवोहि वामिस्सा होदि। किमट्ठं सव्वकालं सभवदि। मुहुमणिगोदपञ्जत्तापञ्जत्ताण वक्कमणपदेसकालणियमाभावादो। एत्थ पदेसे एत्तियं चैव कालमुप्पत्तो परदो ण उप्पज्जति त्ति जेण णियमो णत्थि तेण सा सव्वकाले वामिस्सा त्ति भण्दि होदि। = सव्व वादर निगोद पर्याप्त है या मिश्र रूप है। ६२६। परन्तु सूक्ष्म निगोद वर्णनामें नियमसे मिश्र रूप है। ६३०। स्कन्ध अण्डर आवास और पुलवियोंका आश्रय लेकर यह सूत्र कहा गया है, शरीरोंका आश्रय लेकर नहीं कहा गया है, क्योंकि एक शरीरमें पर्याप्त और अपर्याप्त जीवोंका अवस्थान होनेमें विरोध है। सव्व वादर निगोद जो व पर्याप्त होते हैं, क्योंकि वादर निगोद पर्याप्तोंके साथ स्कन्ध, अण्डर, आवास, और पुलवियोंमें उत्पन्न हुए अनन्त वादर निगोद अपर्याप्त जीवोंके अन्तर्मुहूर्त कालके भीतर स्वयं मर जानेपर वहाँ केवल वादर निगोद पर्याप्तोंका ही अवस्थान देया जाता है। परन्तु इससे पूर्व वादर निगोद व्यामिश्र होता है, क्योंकि स्कन्ध, अण्डर, आवास और पुलवियोंमें अनन्त वादर निगोद पर्याप्त और अपर्याप्त जीवोंका एक साथ अवस्थान देखा जाता है। यत सूक्ष्म निगोद नामे पर्याप्त और अपर्याप्त जीव सर्वदा सम्भव है, इसलिए वह नामसे पर्याप्त और अपर्याप्त जीवोंसे मिश्र रूप होती है। प्रश्न—उसमें सर्वकाल किसलिए सम्भव है। उत्तर—क्योंकि सूक्ष्म निगोद पर्याप्त और अपर्याप्त जीवोंकी उत्पत्तिके प्रवेद और कालका कोई नियम नहीं है। इस प्रवेशमें इतने ही काल तक उत्पत्ति होती है, आगे उत्पत्ति नहीं होती इस प्रकारका चूँकि नियम नहीं है, इसलिए वह सूक्ष्म निगोद वर्णना मिश्ररूप होती है।

गी जो /जी म /१६३/४३२/३ अत्र विशेषोऽस्ति स च क। एकवादरनिगोदशरीरे सूक्ष्मनिगोदशरीरे वा अनन्तानन्ता साधारणजीवा, केवलपर्याप्ता एवोत्पद्यन्ते पुनरपि एकशरीरे केवलमपर्याप्ता एवोत्पद्यन्ते न च मिश्रा उत्पद्यन्ते तेषां समानकर्मादृशनियमात्। = इतना विशेष है कि एक वादर निगोद शरीरमें अथवा सूक्ष्म निगोद शरीरमें अनन्तानन्त साधारण जीव केवल पर्याप्त ही उत्पन्न होते हैं, वहाँ अपर्याप्त नहीं उत्पन्नते। और कोई शरीरमें अपर्याप्त ही उत्पन्नते हैं वहाँ पर्याप्त नहीं उत्पन्नते। एक ही शरीरमें पर्याप्त अपर्याप्त दोनों युगपत् नहीं उत्पन्न होते। क्योंकि उन जीवोंके समान कर्मके उदयका नियम है।

६ अनेक जीवोंका एक शरीर होनेमें हेतु

घ. १४/५.६.४२१/२६६/८ प्रतिनियतजीवप्रतिवृद्धे पुद्गलविपाकित्वादा-हारवर्गणास्सन्धाना कायाकारपरिणमनहेतुभिरोदारिककर्मस्वन्धै. कथ भिन्नजीवफलवातुभिरेक शरीरं निष्पाद्यते विरोधादिति चेन्न, पुद्गलानामेकदेशावस्थितानामेकदेशावस्थितमित्थ उमवेतजीयसमवे - ताना तस्साशेषपाणिममध्येकशरीरं नष्पादनं न विरुद्धं साधारणकारणत्त समुत्पन्नकार्यस्य साधारणत्वाविरोधात्। कारणानुरूप कार्यमिति न निषेद्धु पार्यते सकलनैयायिकलोकप्रसिद्धत्वात्। = प्रश्न—जीवोंमें अलग-अलग बँधे हुए, पुद्गल विपाकी होनेसे आहार-वर्गणके स्कन्धोंको शरीरके आकार रूपसे परिणमन करानेमें कारण रूप और भिन्न-भिन्न जीवोंको भिन्न-भिन्न फल देनेवाले औदारिक कर्म स्कन्धोंके द्वारा अनेक जीवोंके एक-एक शरीर कैसे उत्पन्न किया जा सकता है, क्योंकि ऐसा माननेमें विरोध आता है। उत्तर—नहीं, क्योंकि, जो एक देशमें अवस्थित है और जो एक देशमें अवस्थित तथा परस्पर सम्बद्ध जीवोंके साथ समवेत हैं, ऐसे पुद्गल वहाँपर स्थित सम्पूर्ण जीव सम्बन्धी एक शरीरकी उत्पन्न करते हैं, इसमें कोई विरोध नहीं आता है क्योंकि, साधारण कारणसे उत्पन्न हुआ कार्य भी साधारण होता है। कारणके अनुरूप ही कार्य होता है, इसका निषेध भी तो नहीं किया जा सकता है, क्योंकि, यह बात सम्पूर्ण नैयायिक लोगोंमें प्रसिद्ध है।

७ अनेक जीवोंका एक आहार होनेमें हेतु

घ. १४/५.६.१२२/२२७/६ कथमेयेण जीवेण गहदो आहारो तत्काले तत्थ अणत्ताणं जीवाण जायदे। ण, तेणाहारेण जणिसत्तीए पच्छा उप्पण्णजीवाणं उप्पणपट्टमसमए चैव उवलभादो। जदि एव तो आहारो साहारणो होदि आहारजणिदसत्ती साहारणे त्ति वत्तव्व। न एस दोसो, कज्जे कारणोवयारेण आहारजणिदसत्तीए वि आहारववएससिद्धोओ। = प्रश्न—एक जीवके द्वारा ग्रहण किया गया आहार उस कालमें वहाँ अनन्त जीवोंका कैसे हो सकता है। उत्तर—नहीं, क्योंकि उस आहारसे उत्पन्न हुई शक्तिका बादमें उत्पन्न हुए जीवोंके उत्पन्न होनेके प्रथम समयमें ही ग्रहण हो जाता है। प्रश्न—यदि ऐसा है तो 'आहार साधारण है इसके स्थानमें 'आहार जनित शक्ति साधारण है' ऐसा कहना चाहिए। उत्तर—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि कार्यमें कारणका उपचार कर लेनेसे आहार जनित शक्तिके भी आहार संज्ञा सिद्ध होती है।

वनीपक—आहार सम्बन्धी एक दोष—दे० आहार/११/४/४।

वह्नि—१. अति सम्बन्धी विषय—दे० अग्नि। लौकान्तिक देवोंका एक भेद—दे० लौकान्तिक।

वयु—दे० शरीर।

वप्र—१. अपर विदेहका एक क्षेत्र—दे० लोक/५/२। २. चन्द्रगिरि वक्षारका एक कूट व उसका स्वामी देव—दे० लोक/५/४।

वप्रधान—१. अपर विदेहका एक क्षेत्र—दे० लोक/७। २. सूर्यगिरि वक्षारका एक कूट व उसका स्वामी—दे० लोक/७।

वय—प्र. सा./ता वृ /२०३/२०६/६ शुद्धात्मसंज्ञितिविनाशकारिवृद्ध-वालयौवन-द्रेकजनितबुद्धिवैकल्पपरहित वयश्चेति=शुद्ध आत्माके संवेदनकी विभाषा करनेवाली, वृद्ध, बालक व यौवन अवस्थाके उद्रेकसे उत्पन्न होनेवाली बुद्धिकी विकलतासे रहित वय होती है।

वरतनु—लवण समुद्रकी दक्षिण व उत्तर दिशा में स्थित द्वीप व उनके स्वामी देव—दे० लोक/४/१ ।

वरवीर—म. पु/सर्ग/श्लोक—‘पूर्व भव सं ७ में लोलुप नामक हलवाई था। (८/२३४)। पूर्व भव सं ६ में नकुल हुआ। (८/२४१)। पूर्व भव सं ५ में उत्तरकुरु में मनुष्य हुआ। (१/१०)। पूर्व भव सं, ४ में ऐशानस्वर्ग में मनोरथ नामक देव हुआ। (१/१८७)। पूर्व भव सं ३ में प्रभजन राजाका पुत्र प्रशान्त मदन हुआ। (१०/१५२)। पूर्व भव सं. २ में अच्युत स्वर्ग में देव हुआ। (१०/१७२)। पूर्ववाले भव में अपराजित स्वर्ग में अहमिन्द्र हुआ। (११/१०)। अथवा सर्वार्थसिद्धि में अहमिन्द्र हुआ। (११/१६०) और वर्तमान भव में वरवीर हुआ। (१६/३)। जिसका अपरनाम जयसेन भी था। (४७/३७६)।—[युगपत् समस्त भवाके लिए दे० (४७/३७६-३७७)]। यह ऋषभदेवके पुत्र भरतका छोटा भाई था। (१६/३)। भरत द्वारा राज्य माँगनेपर दीक्षा ले ली। (३४/१२६)। भरतके मुक्ति जानेके परचात् मोक्ष सिधारे। (४७/३६६)।

वररुचि—१ शुभचन्द्राचार्य व कवि कालिदारके समकालीन एक विद्वान्। समय—ई १०२१-१०५६। (ज्ञा प्र. १। प पञ्चालाल बाकसीवाल)। २ एक प्रसिद्ध व्याकरणकार। समय ई. ५०० (प प्र/प्र ११६/A.N. Up)

वराहकुमार—वराह शरित्र/सर्ग/श्लोक—उत्तमपुरके भोजवर्गीय राजा धर्मसेनका पुत्र था। (२/१)। अनुपमा आदि १० कन्याओंका पाणिग्रहण किया। (२/५७)। मुनिदर्शन। (३/३५, ११/३२)। अशुभत धारण। (११/४३)। राज्यप्राप्ति (११/६५)। सौतेले भाइयोंका द्वेष। (११/८५)। मन्त्रियोंने प्रयत्न करके कुशिक्षित घोड़ेपर सवार कराया। (१२/३७)। घोड़ेने अन्ध कूपमें गिरा दिया। वहाँसे लता पकड़कर बाहर निकला। (१२/४६)। सिंहके भयसे सारी रात वृक्षपर बसेरा (१२/४६)। हाथी द्वारा सिंहका हनन। (१२/६६)। सरोवरमें स्नान करते हुए नक्रने पाँव पकड़ लिया (१३/३)। देवसे रक्षा को। देवीके द्वारा विवाहकी प्रार्थना की जानेपर अपने व्रतपर दृढ रहा। (१३/३८)। भीलो द्वारा बाँधा गया। (१३/४६)। देवीपर बलि चढानेको ले गये। भीलराजके पुत्रके सर्प काटेका विष दूर करनेसे वहाँसे छूटकारा मिला। (१३/६५)। पुनः एक साँपने पकड़ लिया। (१३/७८)। दोनोंमें परस्पर प्रेम हो गया। भीलोके साथ युद्धमें कौशल दिखाया। पूज्यता प्राप्त हुई। (१४/७१)। श्रेष्ठी पद प्राप्ति (१४/८६)। राजा देवसेनके साथ युद्ध तथा विजय प्राप्ति (१५/१०३)। राजकन्या सुनन्दासे विवाह। (१६/२०)। मनोरमा कन्याके मोहित होनेपर दूत भेजना पर शीलपर दृढ रहना। (१६/६१)। मनोरमाके साथ विवाह। (२०/४२)। पिता धर्मपर शत्रुकी चढाई सुनकर अपने देशमें गये। उनके जाते ही शत्रु भाग गया। (२०/५०)। राज्य प्राप्ति। (२०/८५)। धर्म व न्यायपूर्वक राज्यकार्यकी सुव्यवस्था। (सर्ग २१-२७)। पुत्रोत्पत्ति। (२५/५)। दीक्षा धारण। (२६/५७)। सर्वार्थसिद्धिमें देव हुए। (३१/१०६)।

वराटक—कौडी—दे० निक्षेप

वराह—विजयार्थकी उत्तर श्रेणीका एक नगर—दे० विद्याधर।

वराहभिहिर—राजा विक्रमादित्यके नव रत्नोंमेंसे एक प्रसिद्ध कवि थे। समय—ई ५०५-५५७। (न्यायावतार। प्र. २। सतीशचन्द्र विद्याभूषण), (भद्रबाहुचरित। प्र १४। पं उदयलाल)।

वरुण—१ लोकपाल देवीका एक भेद—दे० लोकपाल। २ महिलनाथ का शासक मनु—दे० तीर्थकर ५/३। ३, उदिण वारुणीवर द्वीपका रक्षक देव—दे० व्यन्तर/४। ४ विजयार्थके दक्षिणमें स्थित एक पर्वत—दे० मनुष्य। ४। ५, प पु/१६/५६-६१ रसाललाका राजा था। रावणके साथ युद्ध होनेपर हनुमान्ने इसके सौ पुत्रोंको बाँध लिया और अन्तमें इसको भी पकड़ लिया। ६ भद्रशाल वनमें कुमुद व पलाशगिरि नामक दिग्गजेन्द्र पर्वतोंके स्वामी देव—दे० लोक/१/१२।

वरुण नायिक—आकाशीपुत्र देव—दे० देर/१/३।

वरुण प्रभ—उत्तर वारुणीवरद्वीपका रक्षक व्यन्तर देव—दे० व्यन्तर/४।

वर्ग—रा. वा./२/५/४/१०७/६ उदयप्राप्त्य कर्मणः प्रदेशा अभव्यानामानन्तगुणा सिद्धानामानन्तगणप्रमाणा। तत्र सर्वजघन्यगुण प्रदेश परिगृहीत, तरयानुभाग प्रज्ञाछेदेन तावद्वा परिच्छिन्नः यावत्पुनर्विभागो न भवति। ते अविभागपरिच्छेदाः सर्वजीवानामानन्तगुणा, एको राशिः कृता। अत्र एकाविभागपरिच्छेदाधिकः प्रदेश परिगृहीतः, तथैव तस्याविभाग-परिच्छेदा कृता। स एको राशिवर्गः।—उदय प्राप्त कर्मके प्रदेश अभव्योके अनन्त गुणे तथा सिद्धोके अनन्तवे भाग प्रमाण होते है। उनमेंसे सर्व जघन्य गुणवाले प्रदेशके अनुभागका बुद्धिके द्वारा उतना सूक्ष्म विभाग किया जाये जिससे आगे विभाजन न हो सकता हो। ये अविभाग प्रतिच्छेद सर्व जीवराशिके अनन्त गुण प्रमाण होते है। एकके पोछे एक स्थापित करके इनकी एक राशि बनानी चाहिए। सर्व जघन्य गुणवाले प्रदेशके अविभाग प्रतिच्छेदोंकी इस राशिको वर्ग कहते है। इसी प्रकार दूसरे-तीसरे आदि सर्व जघन्य गुणवाले प्रदेशोंके पृथक्-पृथक् वर्ग बनाने चाहिए। पुन एक अविभाग प्रतिच्छेद अधिक गुणवालोंके सर्वजीव-राशिके अनन्तगुण प्रमाण राशिरूप वर्ग बनाने चाहिए। (समान गुणवाले सर्व प्रदेशोंकी वर्गराशिको वर्गणा कहते है (दे० वर्गणा)) (क. पा ३/४-२२/४७७/३४४/१), (घ. १२/४.२.७.१६६/६२/५। घ. १०/४.२.४. १७७/४४२/६ एमजावपदेसाविभागपरिच्छेदाण वर्गवव-एमदा।—एक जीवप्रदेशके अविभाग प्रतिच्छेदोंकी वर्ग यह संज्ञा है।

स सा./वा ५२ शक्तिसमूहलक्षणो वर्गः।—शक्तियोंका अर्थात् अविभागप्रतिच्छेदोंका समूह वर्ग है। (गो जी/मं प्र./५६/१६३/१४)।

२. जघन्य वर्गका लक्षण

ल सा/भाषा/२२३/२७७/८ सकृत् धोरे जिस परमाणु विषे अनुभागके अविभाग प्रतिच्छेद पाइए ताका नाम जघन्य वर्ग है।

३. गणित प्रकरणमें वर्गका लक्षण

किसी राशिको दो बार मॉडकर परस्पर गुणा करनेसे ताका वर्ग होता है। अर्थात् Square।—(विशेष दे० गणित। II/१/७)।

* द्विरूप वर्गजारा—दे० गणित/II/५/२।

वर्गण संवर्गण—दे० गणित/II/१/६।

वर्गणा—समान गुणवाले परमाणुपिण्डको वर्गणा कहते है, जो ५ प्रधान जातिवाले सूक्ष्म स्कन्धोंके रूपमें लोकके सर्व प्रदेशोंपर अवस्थित रहते हुए, जीवके सर्व प्रकारके शरीरों व लोकके सर्व स्थूल भौतिक पदार्थोंके उपादान कारण होती है। यद्यपि वर्गणाकी

व्यवहार्य जाति ही है परन्तु सर्वमूर्तिक व अमूर्तिक भौतिक पदार्थोंमें प्रदेशोकी क्रमिक वृद्धि दर्शनिके लिए उसके २३ भेद करके बताये गये हैं। उस-उस जातिकी वर्गणासे उस-उस जातिके ही पदार्थका निर्माण होता है, अन्य जातिका नहीं। परन्तु परमाणुओंकी हानि या वृद्धि हो जानेसे वह वर्गणा स्वयं अपनी जाति बदल दूसरी जातिकी वर्गणामें परिणत हो सकती है।

१	भेद व लक्षण
१	वर्गणा सामान्यका लक्षण।
२	प्रथम द्वितीय आदि वर्गणाके लक्षण।
३	द्रव्य क्षेत्र काल वर्गणाका निर्देश व लक्षण।
४	वर्गणाके २३ भेद।
५	आहार आदि पाँच वर्गणाओंके लक्षण।
६	ब्राह्म अग्राह्य वर्गणाओंके लक्षण।
७	ध्रुव, सुवर्ण्य व सान्तरनिरन्तर वर्गणाओंके लक्षण।
८	प्रत्येक शरीर व अन्य वर्गणाओंके लक्षण।
*	महास्कन्ध— दे० स्कन्ध।
२	वर्गणा निर्देश
१	वर्गणाओंमें प्रदेश व रसादिका निर्देश।
२	प्रदेशाकी क्रमिक वृद्धि द्वारा वर्गणाओंकी उत्पत्ति।
३	ऊपर व नीचेकी वर्गणाओंके भेद व सघालसे वर्गणाओंकी उत्पत्ति।
४	पाँच वर्गणार्थ ही व्यवहार योग्य है अन्य नहीं।
५	अव्यवहार्य भी अन्य वर्गणाओंका कथन क्यों।
६	शरीरों व उनकी वर्गणाओंमें अन्तर।
७	वर्गणाओंमें जातिभेद सम्बन्धी विचार।
	१ वर्गणाओंमें जातिभेद निर्देश।
	२ तीनों शरीरोंकी वर्गणाओंमें कथंचित् भेदाभेद।
	३ आठो कर्मकी वर्गणाओंमें कथंचित् भेदाभेद।
	कर्मण वर्गणा एक ही बार आठ कर्म क्यों नहीं हो जाती? —दे० बन्ध/२/२।
	४ प्रत्येक शरीर वर्गणा अपनेसे पहले व पीछेवाली वर्गणाओंसे उत्पन्न नहीं हाती।
८	ऊपर व नीचेकी वर्गणाओंमें परस्पर सक्रमणकी सम्भावना व समन्वय।
९	भेदसन्धान व्यपदेशका स्पष्टीकरण।
*	योग वर्गणा —दे० योग/६।

१. भेद व लक्षण

१. वर्गणा सामान्यका लक्षण

रा. वा. १/४/२०३/८ तथैव समगुणा पक्षीकृत वर्ग वर्गणा। = इन समगुणवाले सममत्या तक वर्गोंके समूहको (दे० वर्ग) वर्गणा कहते हैं।

क. पा. १/४-२२/१४७३/३४४/८ एवमेगेसरिसधणियपरमाणु धेतूण वण्णच्छेदणए करिय दाहियणासे कंडुज्जुवर्पतिरयणा कायव्वा जाव अभवसिद्धिएहि अणंतगुणं सिद्धाणमणतभागमेत्तलरिसधणियपरमाणु समत्तात्ति। एवेसि सव्वेसि पि वर्गणा त्ति सण्णा। = इस प्रकार (दे० वर्ग) समान धनवाले एक-एक परमाणुको लेकर बुद्धिके द्वारा छेद करके (छेद करनेपर जो उत्तने-उतने ही अविभाग प्रतिच्छेद प्राप्त होते हैं, उन सबको) दक्षिण पार्श्वमें बाणके समान अणु पंक्तिमें रचना करते जाओ और ऐसा तब तक करो जब तक अभव्य राशिसे अनन्त गुणे सिद्धराशिसे अनन्तवे भागप्रमाण (वे सबके-सब) समान धनवाले परमाणु समाप्त हों। उन सब वर्गोंकी वर्गणा सज्ञा है। (ध. १२/४, २. ७. १६६/६३/८)।

स सा./आ./१२ वर्गसमूहलक्षणा वर्गणा। = वर्गोंके समूहको वर्गणा कहते हैं (गो. जी./ म. प्र./१६६/१४३/१४)।

२. प्रथम द्वि आदि वर्गणाके लक्षण

घ १२/४, २. ७. २०४/१४५/६ वर्गणंतरादो अविभागपडिच्छेदुत्तरभावी पढमफड्यजादिवर्गणा होदि। ततो पडुडि गिरतरं अविपडिच्छेदुत्तरक्रमेण वर्गणाओ गंतूण पढमफड्यस्स चरिमवर्गणा होदि। = वर्गणान्तरसे एक-एक अविभाग प्रतिच्छेदसे अधिक अनुभाषका नाम प्रथम स्पर्धककी आदि वर्गणा है। उससे लेकर निरन्तर एक-एक अविभाग प्रतिच्छेदकी अधिकताके क्रमसे वर्गणाएँ जाकर प्रथम स्पर्धककी अन्तिम वर्गणा होती है—(विशेष दे० स्पर्धक)।

ल. सा./भाषा/२२३/२७७/६ ऐसी (जघन्य वर्गरूप) जैती परमाणु होइ तिनिके समूहका नाम प्रथम वर्गणा है। बहुरि यातै द्वितीयादि वर्गणानिविपे एक-एक चय घटता कमकरि परमाणुनिका प्रमाण है—(विशेष दे० स्पर्धक)।

३. द्रव्य क्षेत्र काल वर्गणा निर्देश व लक्षण

प. ख १२/४. ६/पूत्र ७६/५१ वर्गणनिस्सेवे त्ति छविं हे णिअववे—गामवर्गणाट्टवणवर्गणा दववर्गणा खेतवर्गणा कालवर्गणा भाववर्गणा चेदि १७६।

घ. १२/४. ६. ७१/५२/४ नञादरित्त दववर्गणा दुग्गिहा—कम्मवर्गणा णो-कम्मवर्गणा चेदि। तथ कम्मवर्गणा णाम अट्टकम्मकबंधवियप्पा। मेसएककोणवोस वर्गणाओंका कम्मवर्गणाओं। एगागासोगाहणपहुडि-पदेमुत्तरादिक्रमेण जाव देमूणवण्णोणे त्ति ताव एदाओ खेतवर्गणाओं। कम्मदव्व पडुच्च समयादियाववियप्पहुडि जाव कम्म-ट्टिदित्त णाकम्मव्व पडुच्च एगसमयादि जाव असखेज्जा लोणा त्ति ताव एदाओ कालवर्गणाओं। ओदडयादि पचण भावार्थं जे भेदा ते णोआगम भाववर्गणा। = वर्गणा निक्षेपका प्रकरण है। वर्गणानिषेप चार प्रकारका है—नामवर्गणा, स्थापनावर्गणा, द्रव्यवर्गणा, क्षेत्रवर्गणा, कालवर्गणा और भाववर्गणा [इनमेंसे अन्य सब वर्गणाओंके लक्षण निक्षेपोक्त जानने—(दे० निक्षेप)] तद्व्यतिरिक्त नोआगम द्रव्यवर्गणा दा प्रकारकी है—कर्मवर्गणा और नोआगम वर्गणा। उनमेंसे आठ प्रकारके कर्म स्कन्धोंके भेद कर्मवर्गणा है, तथा शेष उन्नोस प्रकारकी वर्गणाएँ (दे० अगला शीर्षक) नोआगम वर्गणाएँ हैं। एक आकाश प्रदेशप्रमाण अवगाहनासे लेकर प्रदेशोत्तर आदिके क्रमसे कुछ कम घनलोक तक ये सब क्षेत्र वर्गणाएँ हैं। कर्म द्रव्यकी अपेक्षा एक समय अधिक एक आवलीसे लेकर उत्कृष्ट कर्मस्थिति तक और नोआगम द्रव्यकी अपेक्षा एक समयसे लेकर असख्यात लोकप्रमाण काल तक ये सब काल वर्गणाएँ हैं। ओदडियादि पाँच भावोंके जो भेद है वे सब नोआगम-भाव वर्गणा है।

४. वर्गणाके ३३ भेद

घ. १४/५, ६, ६७/गा. ७-८/११७ अणुसंज्ञासंज्ञेज्जा तद्वर्णता वर्गणा अगेज्जाओ। आहार-तेज-भासा-मण-कम्मइयधुयक्खधा। ७। सातरणिरत्तरेदसुण्णा पत्तेयवेह धुवसुण्णा। बादरणिगोदसुण्णा सुहुमा सुण्णा महाखधो। ८। = अणुवर्गणा, सख्याताणुवर्गणा, असख्याताणुवर्गणा, अनन्ताणुवर्गणा, आहारवर्गणा, अप्रहणवर्गणा, तैजस्वर्गणा, अप्रहणवर्गणा, भाषावर्गणा, अप्रहणवर्गणा, मनोवर्गणा, अप्रहणवर्गणा, कार्मणशरीरवर्गणा, धुवस्कन्धवर्गणा, सान्तरनिरन्तरवर्गणा, धुवसून्यवर्गणा, प्रत्येकशरीरवर्गणा, धुवसून्यवर्गणा, बादरनिगोदवर्गणा, धुवसून्यवर्गणा, सूक्ष्मनिगोदवर्गणा, धुवसून्यवर्गणा और महास्कन्धवर्गणा। ये तेईस वर्गणाएँ हैं (घ. ख/१४/५, ६। सूत्र ७६-९७/५४/११७ तथा सूत्र ७०८-७१८/५४२-५४३)। (घ. १३/५, ६, ८/३५१/११); (गो. जो./सू./५६४-५६६/१०३२)।

५. आहारक आदि पाँच वर्गणाओंके लक्षण

घ. ख. १४/५, ६/सूत्र/पृष्ठ ओरालिय-वेउविय-आहारसरीरणं जाणि दव्वाणि घेतूण ओरालियवेउविय-आहारसरीरत्ताए परिणामेदूणं परिणमंति जीवा ताणि दव्वाणि आहारदव्ववर्गणा णम (७३०/५४६) जाणि दव्वाणि घेतूण तेयासरीरत्ताए पारणामेदूणं परिणमंति जीवा ताणि दव्वाणि तैजदव्ववर्गणा णम। (७३७/५४६)। सच्चभासाए मोसभासाए सच्चमोसभासाए असच्चमोसभासाए जाणि दव्वाणि घेतूण सच्चभासाए मोसभासाए सच्चमोसभासाए असच्चमोसभासाए परिणामेदूणं निस्सारंति जीवा ताणि भासादव्ववर्गणा णम। (७४४/५६०)। सच्चमणस्स मोसमणस्स सच्चमोसमणस्स असच्चमोसमणस्स जाणि दव्वाणि घेतूण सच्चमणत्ताए मोसमणत्ताए सच्चमोसमणत्ताए असच्चमोसमणत्ताए परिणामेदूणं परिणमंति जीवा ताणि दव्वाणि मणदव्ववर्गणा णम। (७५१/५५२)। णाणावरणीयस्स दंसणावरणीयस्स वेयणीयस्स मोहणीयस्स आउअस्स णामस्स गोदस्स अन्तराह्यस्स जाणि दव्वाणि घेतूण णाणावरणीयत्ताए दंसणावरणीयत्ताए वेयणीयत्ताए मोहणीयत्ताए आउअत्ताए णामत्ताए गोदत्ताए अंतराह्यत्ताए परिणामेदूणं परिणमंति जीवा ताणि दव्वाणि कम्मइयदव्ववर्गणा णम। (७५८/५५३)। = औदारिक, वैक्रियक और आहारक शरीरके जिन द्रव्योंको ग्रहणकर औदारिक, वैक्रियक और आहारक शरीररूपसे परिणमाकर जीव परिणमन करते हैं, उन द्रव्योंकी आहारद्रव्यवर्गणा संज्ञा है। (७३०/५४६)। जिन द्रव्योंको ग्रहणकर तैजस् शरीररूपसे परिणमाकर जीव परिणमन करते हैं, उन द्रव्योंकी तैजस्द्रव्यवर्गणा संज्ञा है। (७३७/५४६)। सत्यभाषा, मोषभाषा, सत्यमोषभाषा, और असत्यमोषभाषाके जिन द्रव्योंको ग्रहणकर सत्यभाषा, मोषभाषा, सत्यमोषभाषा और असत्यमोषभाषारूपसे परिणमाकर जीव उन्हें निकालते हैं उन द्रव्योंकी भाषाद्रव्यवर्गणा संज्ञा है। (७४४/५६०)। सत्यमन, मोषमन, सत्यमोषमन और असत्यमोषमनके जिन द्रव्योंको ग्रहणकर सत्यमन, मोषमन, सत्यमोषमन और असत्यमोषमन रूपसे परिणमाकर जीव परिणमन करते हैं उन द्रव्योंकी मनोद्रव्यवर्गणा संज्ञा है। (७५१/५५२)। ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तरायके जो द्रव्य हैं उन्हें ग्रहणकर ज्ञानावरणरूपसे, दर्शनावरणरूपसे, वेदनीयरूपसे, मोहनीयरूपसे, आयुरूपसे, नामरूपसे, गोत्ररूपसे और अन्तरायरूपसे परिणमाकर जीव परिणमन करते हैं, अतः उन द्रव्योंकी कार्मण-द्रव्यवर्गणा संज्ञा है (७५८/५५३)।

घ १४/५, ६, ६७-८७/पृष्ठ/पंक्ति ओरालियवेउवियआहारसरीर-पाओग्ग-पोग्गलक्खधाणं आहारदव्ववर्गणा त्ति सण्णा। (५६/१०)। एसा

सत्तमी वर्गणा। एदिस्से पोग्गलक्खधा तेजइयसरीरपाओग्ग। (६०/१०)। भासादव्ववर्गणाए परमाणुपोग्गलक्खधा चदुण्णं भासाणं पाओग्ग। पटह-भेरो-काहलभगज्जणादिसद्धानं पि एसा चैव वर्गणा पाओग्ग। (६१/१०) एसा एक्कारसमी वर्गणा। एदीए वर्गणाए दव्वमणणिव्वत्तणं करिदे। (६२/१४)। एसा तेरसमी वर्गणा। एदिस्स वर्गणाए पोग्गलक्खधा अट्ठकम्मपाओग्ग। (६३/१४)। = औदारिक, वैक्रियक और आहारक शरीरके योग्य पुद्गलस्कन्धकी आहारद्रव्यवर्गणा संज्ञा है। (५६/१०)। यह सातवी वर्गणा है। इसके पुद्गलस्कन्ध तैजस्शरीरके योग्य होते हैं। (६०/१०)। भाषावर्गणाके परमाणुपुद्गलस्कन्ध चार भाषाओंके योग्य होते हैं। तथा डोल, भेरो, नगारा और मेवका गर्जन आदि शब्दोंके भी योग्य ये ही वर्गणाएँ होती हैं। (६१/१०)। यह ग्यारहवी वर्गणा है, इस वर्गणासे द्रव्यमनकी रचना होती है। (६२/१४)। यह तेरहवी वर्गणा है, इस वर्गणाके पुद्गलस्कन्ध आठ कर्मोंके योग्य होते हैं। (६३/१४)।

६. ब्राह्म अग्राह्य वर्गणाओंके लक्षण

घ. ख १४/५, ६/सूत्र/पृष्ठ अगहणदव्ववर्गणा आहारदव्वमधिच्छिदा तेया दव्ववर्गणा ण पावेदि ताणं दव्वाणमंतरे अगहण दव्ववर्गणा णम। (७३३/५४८)। अगहणदव्ववर्गणा तेजादव्वमधिच्छिदा भासादव्वं ण पावेदि ताणं दव्वाणमंतरे अगहणदव्ववर्गणा णम। (७४०/५४६)। अगहणदव्ववर्गणा भासा दव्वमधिच्छिदा मणदव्वं ण पावेदि ताणं दव्वाणमंतरे अगहणदव्ववर्गणा णम। (७४७/५४६)। अगहण दव्ववर्गणा [मण] दव्वमधिच्छिदा कम्मइयदव्वं ण पावेदि ताणं दव्वाणमंतरे अगहणदव्ववर्गणा णम। (७५४/५५२)। = अप्रहणवर्गणा आहार द्रव्यसे प्रारम्भ होकर तैजस्द्रव्यवर्गणाको नहीं प्राप्त होती है, अथवा तैजस्द्रव्यवर्गणासे प्रारम्भ होकर भाषा द्रव्यको नहीं प्राप्त होती है, अथवा भाषा द्रव्यवर्गणासे प्रारम्भ होकर मनोद्रव्यको नहीं प्राप्त होती है, अथवा मनोद्रव्यवर्गणासे प्रारम्भ होकर कार्मण द्रव्यको नहीं प्राप्त होती है। अतः उन दोनो द्रव्योंके मध्यमें जो होती है उसकी अप्रहण द्रव्यवर्गणा संज्ञा है।

७. ध्रुव, ध्रुवसून्य व सान्तर निरन्तर वर्गणाओंके लक्षण

घ. १४/५, ६, ७१६/५४३/१० पचण्ण सरीराण जा गेज्जा सा गहणपा-ओग्ग णम। जा पुण तासिमगेज्जा [सा] अगहण पाओग्ग णम। = पाँच शरीरोंके जो ग्रहणयोग्य हैं वह ग्रहणप्रयोग्य कहलाती है। परन्तु जो उनके ग्रहण योग्य नहीं हैं वह अग्रहणप्रयोग्य कहलाती है। (घ १४/५, ६, ८/६१/३)।

घ ख १४/५, ६/सूत्र/पृष्ठ कम्मइयदव्ववर्गणाणसुवरि धुवक्खधदव्ववर्गणा णम। (८८/६३)। धुवक्खधदव्ववर्गणाणसुवरि सातरणिरत्तरदव्ववर्गणा णम। (८९/६४) सातरणिरत्तरदव्ववर्गणाणसुवरि धुवसुण्णवर्गणा णम। (९०/६५)। = कार्मण द्रव्यवर्गणाओंके ऊपर ध्रुव-स्कन्ध द्रव्यवर्गणा है। (८८/६३)। ध्रुवस्कन्ध द्रव्यवर्गणाओंके ऊपर सान्तरनिरन्तर द्रव्यवर्गणा है। (८९/६४)। सान्तर निरन्तर द्रव्यवर्गणाओंके ऊपर ध्रुवसून्यवर्गणा है। (९०/६५)।

घ. १४/५, ६, ८६-९०/पृष्ठ/पंक्ति ध्रुवक्खधणिद्वेसे अंतदीवओ। तेण हेट्ठम सब्बवर्गणाओ धुवाओ चैव अंतरविरहिदाओ त्ति घेतुव्वं। एत्तोपपहुडि उवरि भण्णमाणसव्ववर्गणासु अगहणभावो गिरत्तर मणुवट्टावेदव्वो। (६४/१)। अतरेण सह गिरत्तरं गच्छदि त्ति सातरणिरत्तरदव्ववर्गणासण्णा एदिस्से अत्थाणुगया। (६४/१२)।

एसा धि अग्रहणवर्गणा चैव, आहारतेजा-भासा-मण-कम्माणजोगत्तादो । (६५/२) । अदीदाणागद वृष्टमाणकालेसु एदेण सरूवेण परमाणु-पोगलसचयाभावादो ध्रुवसुण्णदव्ववर्गणा त्ति अत्थाणुगया सण्णा । सपहि उक्कस्ससात्तरणिरतरदव्ववर्गणाए उवरि परमाणुत्तरो परमाणु-पोगलकवधो तिसु वि कालेसु पत्थि । दुपदेसुत्तरो वि पत्थि । एव तिपदेसुत्तरादिकमेण सव्वजोवेहि अणत्तगुणमेत्तमद्धान गत्तूण पढम-ध्रुवसुण्णवर्गणाए उक्कस्सवर्गणा होदि । एसा सोलसमी वर्गणा । सव्वकाल सुण्णभावेण अवट्ठिडा ! = यह ध्रुवस्कन्ध पदका निर्देश अन्तर्दीपक है । इससे पिछली सब वर्गणाएँ ध्रुव ही है अर्थात् अन्तरसे रहित है, यह उक्त कथनका तात्पर्य है । यहाँसे लेकर आगे कही जानेवाली सब वर्गणाओंमें अग्रहणपनेकी निरन्तर अनुवृत्ति करनी चाहिए । (६४/१) । जो वर्गणा अन्तरके साथ निरन्तर जाती है, उसको सान्तर-निरन्तर द्रव्यवर्गणा सज्ञा है । यह सार्थक सज्ञा है । (६४/२२) । यह भी अग्रहण वर्गणा ही है, क्योंकि यह आहार, तैजस्, भाषा, मन और कर्मके अयोग्य है । (६५/२) । अतीत अनागत और वर्तमान कालमें इस रूपसे परमाणु पुद्गलोंका संचय नहीं होता, इसलिए इसको ध्रुवशून्य द्रव्यवर्गणा यह सार्थक सज्ञा है । उत्कृष्ट सान्तरनिरन्तर द्रव्यवर्गणाके ऊपर एक परमाणु अधिक परमाणुपुद्गलस्कन्ध तीनों ही कालोंमें नहीं होता, दो प्रदेश अधिक भी नहीं होता, इस प्रकार तीन प्रदेश आदिके क्रमसे सब जोवोसे अनन्तगुणे स्थान जाकर प्रथम ध्रुवशून्य द्रव्यवर्गणा सम्बन्धी उत्कृष्ट वर्गणा होती है । यह सोलसमी वर्गणा है जो सर्वदा शून्यरूपसे अवस्थित है ।

घ. १३/५.५.८२/३५१/१६ एत्थ तेजोस वर्गणासु चट्टसु ध्रुवसुण्णवर्गणासु अवणिदासु एगुणवोसदिविधा पोगला होति । पादेकमणतभेदा । = तैर्हस वर्गणाओंमेंसे चार ध्रुवशून्यवर्गणाओंके निकाल देनेपर उन्नीस प्रकारके पुद्गल होते हैं । और वे प्रत्येक अनन्त भेदोंको लिये हुए हैं । विशेषार्थ— (शीर्षक स १ के अनुसार जबतक वर्गणाओंमें एक प्रदेश या परमाणुकी वृद्धिका अटूट क्रम पाया जाता है, तबतक उनकी एक प्रदेशी व आहारक वर्गणा आदि विशेष सज्ञाएँ की जाती हैं । ध्रुवस्कन्धवर्गणा तक यह अटूट क्रम चलता रहता है । तत्पश्चात् एक वृद्धिक्रम भंग हो जाता है । एक प्रदेश वृद्धिके कुछ स्थान जानेके पश्चात् एकदम सरूपात या अपरूपात प्रदेश अधिकवाली ही वर्गणा प्राप्त होती है, उससे कमकी नहीं । पुन एक प्रदेश अधिकवाली और पुन सरूपात आदि प्रदेश अधिकवाली वर्गणाएँ जन्मतक प्राप्त होती रहती हैं, तबतक उनकी सान्तरनिरन्तर वर्गणा सज्ञा है, क्योंकि वे कुछ-कुछ अन्तराल छोड़कर प्राप्त होती हैं । तत्पश्चात् एकसाथ अनन्त प्रदेश अधिक वाली वर्गणा ही उपलब्ध होती है । उससे कम प्रदेशवाली वर्गणा तीन कालमें भी उपलब्ध नहीं हाते । इसलिए यह स्थान वर्गणाओंसे सर्वथा शून्य रहता है । जहाँ-जहाँ भी प्रदेश वृद्धिक्रममें ऐसा शून्य स्थान प्राप्त होता है, वहाँ-वहाँ ही ध्रुव शून्य वर्गणाका निर्देश किया गया है । यही कारण है कि इन ४ ध्रुवशून्य वर्गणाओंको पुद्गलरूप नहीं गिना है । ये सब रूप नहीं हैं । शेष १६ वर्गणाएँ सब रूप होनेसे पुद्गल सज्ञाको प्राप्त हैं) ।

८. प्रत्येक शरीर व अन्य वर्गणाओंके लक्षण

घ १४/२.६/सूत्र/वृष्ट/वक्ति एवकस्स जीवस्स एकम्हि देहे उवचिदकम्म ण.कम्मसखधा पत्तेयसरीरदव्ववर्गणा णाम । (११/६५/१२) । बादर-सुहृन्निगमादेहि असबद्धजावा पत्तेयसरीरवर्गणा त्ति घेतव्वा । (११/६५/१२/६) । पंचवर्ण सरीरराण बाहिरवर्गणा त्ति सिद्धा सण्णा । (११/२२/४/४) = एक-एक जीवके एक-एक शरीरमें उपचित हुए कर्म और नोकर्मस्कन्धोंकी प्रत्येक शरीर द्रव्यवर्गणा सज्ञा है । बादरनिगोद और सूत्रनिगोदसे असम्बद्ध जीव प्रत्येकशरीर वर्गणा

होते हैं । पाँच शरीरोंकी ब्राह्मवर्गणा यह संज्ञा सिद्ध होती है (दे० वर्गणा/२/६) ।

दे. बनस्पति/१/७ (प्रत्येकशरीरवर्गणा असरूपात लोक प्रमाण है) ।

दे. बनस्पति/२/१० (बादर व सूक्ष्म निगोद वर्गणा आवलिके असंख्यात भागप्रमाण है) ।

घ. १४/५.६.७८/२८/६ परित्त-अपरित्तवर्गणाओ सुत्तुद्धिटाओ अणत-पदेसियवर्गणासु चैव णिवर्दति । अणत्त अणत्ताणत्तेहिंती वदिरित्त-परित्तअपरित्ताणमभावादो । = परीत और अपरीत वर्गणाएँ अनन्त-प्रदेशी वर्गणाओंमें ही सम्मिलित हैं, क्योंकि, अनन्त व अनन्ता-नन्तसे अतिरिक्त वे उपलब्ध नहीं होती ।

२. वर्गणा निर्देश

१. वर्गणाओंमें प्रदेश व रसादिका निर्देश

ष ख. १४/५.६/सूत्र ७५६-७८३/५४४-५६६ पदेसट्ठाओरालियसरीर-दव्ववर्गणाओ पदेसट्ठा अणत्ताणत्तपदेसियाओ । ७५६। पंचवर्णणाओ । ७६०। पंचरसाओ । ७६१। दुग्धाओ । ७६२। अट्ठफासाओ । ७६३। वेउव्वियसरीरदव्ववर्गणाओ पदेसट्ठदाए अणत्ताणत्तपदेसिया-ओ । ७६४। पंचवर्णणाओ । ७६५। पंचरसाओ । ७६६। दुग्धाओ । ७६७। अट्ठफासाओ । ७६८। आहारसरीरदव्ववर्गणाओ पदेसट्ठदाए अणत्ताणत्तपदेसियाओ । ७६९। पंचवर्णणाओ । ७७०। पंचरसाओ । ७७१। दुग्धाओ । ७७२। अट्ठफासाओ । ७७३। तेजासरीरदव्ववर्गणाओ पदेसट्ठदाए अणत्ताणत्तपदेसियाओ । ७७४। पंचवर्णणाओ । ७७५। पंचरसाओ । ७७६। दोगधाओ । ७७७। चटुपासाओ । ७७८। भासा-मण-कम्मन्हयसरीरदव्ववर्गणाओ पदेसट्ठदाए अणत्ताणत्त पदेसियाओ । ७७९। पंचवर्णणाओ । ७८०। पंचरसाओ । ७८१। दुग्धाओ । ७८२। चटुपासाओ । ७८३। = (आहारकवर्गणाके अन्तर्गत) औदारिक, वैक्रियक व आहारक शरीरोंकी वर्गणा अनन्तानन्त प्रदेशवाली है । पाँच वर्ण, पाँच रस, दो गन्ध व आठ स्पर्शवाली है । ७५६-७७३। तैजस्, भाषा, मनो व कार्मण ये चारो वर्गणाएँ अनन्तानन्त प्रदेशवाली हैं । पाँच वर्ण, पाँच रस, दो गन्ध और चार स्पर्शवाली है । ७७४-७८३।

घ /पु. १४/५.६.७८३/५४५/१० आहारवर्गणाए जहणवर्गणप्पहुडि जाव महासखधदव्ववर्गणे त्ति ताव एदाओ अणत्ताणत्तपदेसियवर्गणाओ त्ति एत्थ सुत्ते घेतव्वाओ । = आहार वर्गणाकी जघन्य वर्गणासे लेकर महास्कन्ध द्रव्यवर्गणा तक ये सब अनन्तानन्तप्रदेशी वर्गणाएँ हैं, इस प्रकार यहाँ सूत्रमें ग्रहण करना चाहिए ।

दे अनपवहुत्त्व/३/४ — (औदारिक आदि तीन शरीरोंकी वर्गणाएँ प्रदेशाथताकी अपेक्षा उत्तरोत्तर असंख्यात गुणी हैं । तथा इससे आगे तैजस्, भाषा, मन व कार्मण शरीर वर्गणाएँ उत्तरोत्तर अनन्तगुणी हैं । अवगाहनाकी अपेक्षा कार्मण, मनो, भाषा, तैजस्, आहारक, वैक्रियक व औदारिककी वर्गणाएँ क्रमसे उत्तरोत्तर असंख्यात गुणी हैं । औदारिक आदि शरीरोंमें विससोपचयोंका प्रमाण क्रमसे उनके जघन्यसे उत्कृष्ट पर्यन्त उत्तरोत्तर अनन्तगुणा है ।

२. प्रदेशोंकी क्रमिक वृद्धि द्वारा वर्गणाओंकी उत्पत्ति

ष ख १४/५.६/सूत्र/पृष्ठ—वर्गणपरूवणदाए इमा एयपदेसियपरमाणु-पोगलदव्ववर्गणा णाम । (७६/५४) । इमा दुपदेसियपरमाणुपोगल-दव्ववर्गणा णाम । (७७/५५) । एवं तिपदेसिय-चटुपदेसिय-पंचप-देसिय छप्पदेसिय सत्तपदेसिय-अट्ठपदेसिय, णवपदेसिय-इसपदे-सिय-सखेजपदेसिय-असखेजजपदेसिय-परित्तपदेसिय-अपरित्तपदे-सिय-अणत्तपदेसिय-अणत्ताणत्तपदेसियपरमाणुपोगलदव्ववर्गणा णाम (७८/५७) । अणत्ताणत्तपदेसियपरमाणुपोगलदव्ववर्गणाणमुवरि आहारदव्ववर्गणा णाम । (७६/५६) । आहारदव्ववर्गणाणमुवरि अग्रहणदव्ववर्गणा णाम । (८०/५६) । अग्रहण दव्ववर्गणाण-

मुवरि तेयादव्ववर्गणाणाम् । (८६/६०) । तेयादव्ववर्गणाणामुवरि अगहणदव्ववर्गणाणाम् । (८६/६०) । अगहणदव्ववर्गणाणामुवरि भासादव्ववर्गणाणाम् । (८६/६१) । भासादव्ववर्गणाणामुवरि अगहणदव्ववर्गणाणाम् । (८६/६२) । अगहणदव्ववर्गणाणामुवरि मणदव्ववर्गणाणाम् । (८६/६२) । मणदव्ववर्गणाणामुवरि अगहणदव्ववर्गणाणाम् । (८६/६३) । अगहणदव्ववर्गणाणामुवरि कम्महयदव्ववर्गणाणाम् । (८७/६३) । कम्महयदव्ववर्गणाणामुवरि धुवक्खंघदव्ववर्गणाणाम् । (८७/६३) । धुवक्खंघदव्ववर्गणाणामुवरि सातरणिं तरदव्ववर्गणाणाम् । (८७/६४) । सातरणिं तरदव्ववर्गणाणामुवरि धुवसुण्णदव्ववर्गणाणाम् । (८७/६४) । धुवसुण्णदव्ववर्गणाणामुवरि पत्तेयसरीरदव्ववर्गणाणाम् । (८७/६५) । पत्तेयसरीरदव्ववर्गणाणामुवरि धुवसुण्णदव्ववर्गणाणाम् । (८७/६५) । धुवसुण्णदव्ववर्गणाणामुवरि नादरणिगोददव्ववर्गणाणाम् । (८७/६५) । नादरणिगोददव्ववर्गणाणामुवरि धुवसुण्णदव्ववर्गणाणाम् । (८७/६५) । धुवसुण्णदव्ववर्गणाणामुवरि सुहुमणिगोददव्ववर्गणाणाम् । (८७/६५) । सुहुमणिगोददव्ववर्गणाणामुवरि धुवसुण्णदव्ववर्गणाणाम् । (८७/६५) । धुवसुण्णदव्ववर्गणाणामुवरि महाखध दव्ववर्गणाणाम् । (८७/६५) ।

ध. १४/६.६.६६/४६/४ तत्त्व वर्गणाप्ररूपणा किमट्ठं कीरदे । एगपरमाणु-वर्गणाप्ररूपणं हि एगपरमाणुत्तरक्रमेण जाव महाक्खधो त्ति ताव सव्व वर्गणाणामेगसेड्ढिव्ववणट्ठं करोदे । =प्रश्न—यहाँ वर्गणा अनुयोग द्वारको प्ररूपणा किस लिए की गयी है । (ध.) उत्तर— एक परमाणुरूप वर्गणासे लेकर एक-एक परमाणुकी वृद्धि क्रमसे महास्कन्ध तक सब वर्गणाओंकी एक श्रेणी है, इस बातका कथन करनेके लिए को है । (ध.) अर्थात् (ध. ख)— वर्गणाकी प्ररूपणा करनेपर सर्वप्रथम यह एकप्रदेशी परमाणुपद्वगल द्रव्यवर्गणा है । ७६। उसके ऊपर क्रमसे एक-एक प्रदेशकी वृद्धि करते हुए द्विप्रदेशी, त्रिप्रदेशी, सख्यातप्रदेशी, असख्यातप्रदेशी, परीत व अपरीतप्रदेशी तथा अनन्त व अनन्तानन्तप्रदेशी वर्गणा होती है । ७७-७८। इस अनन्तानन्तप्रदेशी वर्गणाके ऊपर [उसी एक प्रदेश वृद्धिके क्रमसे अपने-अपने जवन्यसे उत्कृष्ट पर्यन्त और पूर्वकी उत्कृष्ट वर्गणासे उत्तरवर्ती जघन्यवर्गणा पर्यन्त क्रमसे] आहार, अग्रहण, तैजस्, अग्रहण, भाषा, अग्रहण, मनो, अग्रहण, कार्मण, ध्रुवस्कन्ध, सान्तरनिरन्तर, ध्रुवशून्य, प्रत्येकशरीर, ध्रुवशून्य, नादरनिगोद, ध्रुवशून्य, सूक्ष्मनिगोद, ध्रुवशून्य और महास्कन्ध नामवाली वर्गणाएँ होती है । (७९-९७) । (इन वर्गणाओंका स्वस्थान व परस्थान प्रदेश वृद्धिका क्रम निम्न प्रकार जानना—]

ध. १४/६.६.७९ ८०/६६/६—उक्कस्स अणत्तपदेसियदव्ववर्गणाए उवरि एकरूवे पक्खिने जहणिया आहारदव्ववर्गणा होदि । तदो रूवुत्तर-क्रमेण अभवसिद्धिएहि अणत्तगुण सिद्धाणमणत्तभागमेत्तवियप्पे गत्तूण सम्पप्पदि । जहणणादो उक्कस्सिया विरेसाहिया । विसेसो पुण अभवसिद्धिएहि अणत्तगुणो सिद्धाणमणत्तभागमेत्तो होतो वि आहार-उक्कस्सदव्ववर्गणाए अणत्तभागो । उक्कस्स आहारदव्ववर्गणाए उवरि एकरूवे पक्खित्ते पढमअग्रहण दव्ववर्गणाएसव्वजहणवर्गणा होदि । तदो रूवुत्तरक्रमेण अभवसिद्धिएहि अणत्तगुण-सिद्धाणमणत्तभागमेत्तद्वाण गत्तूण उक्कस्सिया अगहणदव्ववर्गणा होदि । जहणणादो उक्कस्सिया अणत्तगुणा । को गुणगारो । अभवसिद्धिएहि अणत्तगुणो सिद्धाणमणत्तभागो ।

ध. १४/६.६.९७/गा ९-१४/११७ अणु सखा सखगुणा परित्तवर्गणम-वलोगगु । गुणगारो पचण्ण अगहणाण अभव्वणत्तगुणो । १। आहारतेजभासा मणेण कम्मणेण वर्गणाण भवे । उक्कस्स विसेसो अभव्वजोवेहि जघियो द्दु १०। ध्रुवक्खधसातराणं ध्रुवसुण्णस्स य हव्वेज्ज गुणगारो । जोवेहि अणत्तगुणो जहणियादो द्दु उक्कस्से । ११। परलासखेज्जदि भागो पत्तेयदेहगुणगारो । सुण्णे अणत्तगुणो

शूलणिगोदपुणो बोच्छं । १२। सेड्ढिअसखेज्जदिमो भागो सुण्णस्स अंगुलस्सेव । पत्तिदोवमस्स सुहुमे पदरस्स पुणो द्दु सुण्णस्स । १३। एदेसि गुणगारो जहणियादो द्दु जाण उक्कस्से । साहिअम्हि महखधे-असंखेज्जदियो द्दु परलस्स । १४। =उत्कृष्ट अनन्तप्रदेशी द्रव्यवर्गणामें एक अंकके मिलानेपर जघन्य आहार द्रव्यवर्गणा होती है । फिर एक अधिकके क्रमसे अभव्योसे अनन्तगुणे और सिद्धोके अनन्तवे भागप्रमाण भेदोके जाननेपर अन्तिम (उत्कृष्ट) आहार द्रव्यवर्गणा होती है । यह जघन्यसे उत्कृष्ट विशेष अधिक है विशेषका प्रमाण अभव्योसे अनन्तगुणा और सिद्धोके अनन्तवे भागप्रमाण होता हुआ भी उत्कृष्ट आहार द्रव्यवर्गणाके अनन्तवे भाग प्रमाण है । उत्कृष्ट आहार द्रव्यवर्गणामें एक अंक मिलानेपर प्रथम अग्रहण द्रव्यवर्गणा-सम्बन्धी सर्वजघन्यवर्गणा होती है । फिर एक-एक बढ़ाते हुए अभव्योसे अनन्तगुणे और सिद्धोके अनन्तवे भागप्रमाण स्थान जाकर उत्कृष्ट अग्रहण द्रव्यवर्गणा होती है । यह जघन्यसे उत्कृष्ट अनन्त-गुणी होती है । गुणकार अभव्योसे अनन्तगुणा और सिद्धोके अनन्तवे भाग प्रमाण है । [इसी प्रकार पूर्वकी उत्कृष्ट वर्गणामें एक प्रदेश अधिक करनेपर उत्तरवर्ती जघन्य वर्गणा, तथा अपनी ही जघन्यमें क्रमसे एक-एक प्रदेश अधिक करते जानेपर, अनन्तस्थान आगे जाकर उसहोकी उत्कृष्ट वर्गणा प्राप्त होती है । यहाँ अनन्तका प्रमाण सर्वत्र अभव्योका अनन्तगुणा तथा सिद्धोका अनन्तवाँ भाग जानना । प्रत्येक वर्गणाके उत्कृष्ट प्रदेश अपने ही जघन्य प्रदेशोसे कितने अधिक होते हैं, इसका संकेत निम्न प्रकार है]—

स	वर्गणाका नाम	जघन्य व उत्कृष्ट वर्गणाओका अल्प बहुत्व	
		कितना अधिक	गुणकार व विशेषका प्रमाण
१	अणुवर्गणा	एक	×
२	सख्याताणुवर्गणा	सख्यातगुणा	सख्यात
३	असख्याताणुवर्गणा	असख्यातगुणा	असख्यात
४	अनन्ताणुवर्गणा	अनन्तगुणा	(अभव्य×अनन्त) तथा (सिद्ध/अनन्त)
५	आहारवर्गणा	विशेषाधिक	"
६	प्र० अग्रहण	अनन्तगुणा	"
७	तैजस्वर्गणा	विशेषाधिक	"
८	द्वि० अग्रहण	अनन्तगुणा	"
९	भाषा वर्गणा	विशेषाधिक	"
१०	तृ० अग्रहण	अनन्तगुणा	"
११	मनो व०	विशेषाधिक	"
१२	चतु० अग्रहण	अनन्तगुणा	"
१३	कार्मण वर्गणा	विशेषाधिक	अभव्य×अनन्त, सिद्ध/अनन्त
१४	ध्रुवस्कन्ध व०	अनन्तगुणा	सर्वजघन्य×अनन्त
१५	सान्तरनिरन्तर०	"	"
१६	प्र० ध्रुवशून्य	"	"
१७	प्रत्येक शरीर०	अभव्य गुणा	पर्य - असख्यात
१८	द्वि० ध्रुवशून्य०	अनन्तगुणा	अनन्तलोकप्रदेश
१९	बा० निगोद०	असख्या गुणा	जगश्रेणी - असख्यात
२०	तृ० ध्रुवशून्य०	"	अणु - असख्यात
२१	सूक्ष्म निगोद०	"	पर्य । असख्यात
२२	चतु० ध्रुवशून्य	"	जगत्तरत्रय - सख्यात
२३	महा स्कन्ध	विशेषाधिक	पर्य - असख्यात

३. ऊपर व नीचेकी वर्गणाओंके भेद व संघातसे वर्गणाओंकी उत्पत्ति

प्रमाण—प. ख. १४/५,६/सू. ६८-११६/१२०-१२३।

संकेत—भेद = ऊपरके द्रव्यके भेद द्वारा उत्पत्ति।

संघात = नीचेके द्रव्यके संघात द्वारा उत्पत्ति।

भेदसंघात = स्वस्थानमें भेद व संघात द्वारा।

सं०	सूत्र सं०	वर्गणाका नाम	उत्पत्ति विधि		
			भेद	संघात	भेदसंघात
१	६८-११	एक प्रदेशी	हाँ	×	×
२	१००-१०३	संख्यात प्रदेश	हाँ	हाँ	हाँ
३	"	असंख्यात प्रदेश	"	"	"
४	"	अनन्त प्रदेशी	"	"	"
५	१०४-१०५	आहार वर्गणा	"	"	"
६	"	प्रथम अप्राह्य	"	"	"
७	"	तैजस् वर्गणा	"	"	"
८	"	द्वि० अप्राह्य व०	"	"	"
९	"	भाषा वर्गणा	"	"	"
१०	"	तृ० अप्राह्य वर्ग०	"	"	"
११	"	मनो वर्गणा	"	"	"
१२	"	चतु अप्राह्य वर्गणा	"	"	"
१३	"	कार्मण वर्गणा	"	"	"
१४	१०६-१०८	ध्रुवस्कन्ध वर्गणा	"	"	"
१५	"	सान्तरनिरन्तर व०	"	"	"
१६	×	प्र० ध्रुवशून्य वर्ग०	×	×	×
१७	१०६-११०	प्रत्येक शरीर वर्गणा	×	×	हाँ
१८	×	द्वि० ध्रुवशून्य व०	×	×	×
१९	१११-११२	बादरनिगोद वर्गणा	×	×	हाँ
२०	×	तृ० ध्रुवशून्य वर्ग०	×	×	×
२१	११३-११४	सूक्ष्मनिगोद वर्गणा	×	×	हाँ
२२	×	चतुर्थ ध्रुवशून्य व०	×	×	×
२३	११५-११६	महास्कन्ध व०	×	×	हाँ

दे० स्कन्ध—(सूक्ष्मस्कन्ध तो भेद, संघात व भेदसंघात तीनों प्रकारसे होते हैं, पर स्थूलस्कन्ध भेदसंघातसे होते हैं)

दे० वर्गणा/२/८ (ध्रुवशून्य तथा बादर व सूक्ष्म निगोद वर्गणाएँ भी ऊपरी द्रव्यके भेद व नीचेके द्रव्यके संघात द्वारा उत्पन्न होने सम्भव है।)

४. पाँच वर्गणाएँ ही व्यवहार योग्य हैं अन्य नहीं

प. ख. १४/५,६/सू. ७२०-७२६/५४४ अगहनपाओग्गाओ इमाओ एयपदेसिय-सन्वपरमाणुपोग्गलद्वववर्गणाओ ७२०। इमा दुपदेसियपरमाणुपोग्गलद्वववर्गणा नाम कि गहनपाओग्गाओ किमगहनपाओग्गाओ ७२१। अगहनपाओग्गाओ ७२२। एवं तिपदेसिय-चदुपदेसिय-पचपदेसिय-छप्पदेसिय-सत्तपदेसिय-अट्ठपदेसिय-गावपदेसिय-दसपदेसिय-सखे-ज्जपदेसिय-असखेज्जादेसिय-अणत्तपदेसियपरमाणुपोग्गलद्वववर्गणा नाम कि गहनपाओग्गाओ किमगहनपाओग्गाओ ७२३। अगहनपाओग्गाओ ७२४। अग ताणत्तपदेसियपरमाणुपोग्गलद्वववर्गणा नाम कि गहनपाओग्गाओ किमगहनपाओग्गाओ ७२५। काओ चि गहनपाओग्गाओ काओ चि अगहनपाओग्गाओ ७२६।

ध. १४/५,६,७२६/५४५/११ तत्थ आहार-तेज-भासा-मणकम्मइयवग्गणाओ गहनपाओग्गाओ अवसेसाओ अगहनपाओग्गाओ त्ति वेत्तव्वं । = एक प्रदेशी, द्विप्रदेशी, त्रिप्रदेशी, संख्यातप्रदेशी, असंख्यातप्रदेशी और अनन्तप्रदेशी वर्गणाएँ तो नियमसे ग्रहणके अयोग्य है। परन्तु अनन्तानन्तप्रदेशी वर्गणाओंमें कुछ ग्रहणयोग्य हैं और कुछ ग्रहणके अयोग्य। सूत्र ७२०-७२६। उनमेंसे आहारवर्गणा, तैजस्वर्गणा, भाषावर्गणा, मनोवर्गणा और कार्मणवर्गणा ये (तो) ग्रहणयोग्य हैं, अवशेष (सर्व) अग्रहणयोग्य है ऐसा ग्रहण करना चाहिए। (और भी दे० अगला शीर्षक)।

५. अन्यवहार्थी भी अन्य वर्गणाओंका कथन क्यों किया

ध. १४/५,६,८८/६४/७ आहार-तेजा-भासा-मणकम्मइयवग्गणाओ चैव एत्थ परुवेदव्वाओ, बंधणिज्जत्ताओ, ण सेसाओ, तासि बंधणिज्जत्ताभावादो। ण, सेसवग्गणपरुवणाए विणा बंधणिज्जवग्गणाणं परुवणावायाभावादो वदिरिगावग्गणेण विणा जिच्छिदण्यपच्चयउत्तीए अभावादो वा। = परन—यहाँपर आहार, तैजस्, भाषा, मनो, और कार्मण ये पाँच वर्गणा ही कहनी चाहिए, क्योंकि वे बन्धनीय हैं। शेष वर्गणाएँ नहीं कहनी चाहिए, क्योंकि, वे बन्धनीय नहीं हैं। उत्तर—नहीं, क्योंकि, शेष वर्गणाओंका कथन किये बिना बन्धनीय वर्गणाओंके कथन करनेका कोई मार्ग नहीं है। अथवा व्यतिरेकका ज्ञान हुए बिना निश्चित अन्वयके ज्ञानमें वृत्ति नहीं हो सकती, इसलिए यहाँ बन्धनीय व अबन्धनीय सब वर्गणाओंका निर्देश किया है।

६. शरीरों व उनकी वर्गणाओंमें अन्तर

ध. १४/५,६,११७/२२४/१ पुच्चुत्ततेवीसवग्गणाहितो पंचसरीराणि पुध-भूदाणि त्ति तेसि बाहिरववएसो। त जहा—ण ताव पंचसरीराणि अचित्तवग्गणासु णिवदंति, सचित्तानमचित्तभावविरोहादो। ण च सचित्तवग्गणासु णिवदंति, विस्सामुवचएहि विणा पचण्ह सरीराणं परमाणुण चैव गहनपाओ। तम्हा पचण्हं सरीराणं बाहिरवग्गणा त्ति सिद्धा सण्णा। = तैईस वर्गणाओंमेंसे पाँच शरीर पृथग्भूत हैं, इसलिए इनकी बाह्य संज्ञा है। यथा—पाँच शरीर अचित्त वर्गणाओंमें तो सम्मिलित किये नहीं जा सकते, क्योंकि, सचित्तोंको अचित्त मानने में विरोध आता है। उनका सचित्त वर्गणाओंमें भी अन्तर्भाव नहीं होता, क्योंकि, विससोपचयोंके बिना पाँच शरीरोंके परमाणुओंका ही सचित्त वर्गणाओंमें ग्रहण किया है। इसलिए पाँच शरीरोंकी बाह्य वर्गणा यह संज्ञा सिद्ध होती है।

७. वर्गणाओंमें जाति भेद सम्बन्धी विचार

१. वर्गणाओंमें जाति भेदका निर्देश

गो. जी/जी प्र./११४-५६५/१०९३। पर उद्भूत श्लोक—मूर्तिमत्सु पदार्थेषु ससारिण्यापि पुद्गलः। अकर्मकर्मनो कर्मजातिभेदेषु वर्गणा ११। = मूर्तिमात्र पदार्थों व ससारी जीवोंमें पुद्गल शब्द वर्तता है और कर्म, अकर्म व नोकर्मकी जाति भेदवाले पुद्गलोंमें वर्गणा शब्दकी प्रवृत्ति होती है।

२. तीनों शरीरोंकी वर्गणाओंमें कथञ्चित् भेदाभेद

ध. १४/५,६,७२१/५४७/८ यदि एदेसि तिण्ण सरीराण वग्गणाओ ओग्गा-हणभेदेण सखाभेदेण च भिण्णाओ ताः आहारदव्वावग्गणा एक्को चैव त्ति किमट्ठ उच्चदे। ण, अगहनवग्गणाहि अतराभाव पडुच्च तासिमेगच्चुवएसो। ण च संवाभेदो असिद्धो, अतरिभणमाण-अप्पावहुएणव तस्स सिद्धो। = प्रश्न—यदि (औद्योगिक, वैज्ञानिक व आहारक) इन तीन शरीरोंकी वर्गणाएँ अगहनके भेदसे और

संख्याके भेदसे अलग-अलग है, तो आहार द्रव्यवर्गणा एक ही है, ऐसा किस लिए कहते हैं ? उत्तर—नहीं, क्योंकि, अग्रहण वर्गणाओंके द्वारा अन्तरके अभावकी अपेक्षा इन वर्गणाओंके एकत्वका उपदेश दिया गया है। संख्याभेद असिद्ध नहीं है, क्योंकि, आगे कहे जानेवाले अल्पबहुत्वसे ही उसकी सिद्धि होती है। भावार्थ—[वास्तवमें जातिकी अपेक्षा यद्यपि तीनों शरीरीकी वर्गणाएँ भिन्न हैं, परन्तु एक प्रदेश वृद्धिक्रममें अन्तर पडे बिना इनकी उपलब्धि होनेके कारण इन तीनोंको एक आहार वर्गणामें गर्भित कर दिया गया। अथवा यो कहिए कि जिस प्रकार अन्य सर्व वर्गणाओंके बीचमें अग्रहण वर्गणा या ध्रुवग्रन्थ वर्गणाका अन्तराल पडता है उस प्रकार इन तीनोंमें नहीं पडता, इस कारण इनमें एकत्व है।]

३ आठों कर्मोंकी वर्गणाओंमें कथंचित् भेदाभेद।

घ. १४/५.६.७५/५५३/६ णाणावरणीयस्स जाणि पाओग्गणि दव्वाणि ताणि चैव मिच्छत्तादिपचचएहि पंचणाणावरणीयस्सकूलेण परिणमति ण अण्णेषि सरूवेण। कुदो। अप्पाओग्गत्तादो। एवं सव्वेसि कम्मणं वत्तव्वं। जदि एवं तो कम्मइयवग्गणाओ अट्ठे त्ति किण्ण परूविदाओ। ण अंतराभावेण तथोवदेसाभावादो। एदाओ अद्दु वि वग्गणाओ किं पुध-पुध अच्छत्ति आहो कर बियाओ त्ति। पुध-पुध ण अच्छत्ति कित्तु कर बियाओ। कुदो एव णव्वदे। 'आउभागो धोवो णाण-गोदेसमो तदो अह्तिओ' एदोए गाहाए णव्वदे। सेसं जाणिवूण वत्तव्वं। = ज्ञानावरणीयके योग्य जो द्रव्य है वे ही मिथ्यात्व आदि प्रत्ययोंके कारण पाँच ज्ञानावरणीय रूपसे परिणमन करते हैं, अन्य रूपसे वे परिणमन नहीं करते, क्योंकि, वे अन्यके अयोग्य होते हैं। इसी प्रकार सब कर्मोंके विषयमें कहना चाहिए। प्रश्न—यदि ऐसा है तो कर्मणवर्गणाएँ आठ हैं, ऐसा कथन क्यों नहीं किया [उसे एक कर्मणवर्गणाके नामसे क्यों कहा गया]। उत्तर—नहीं, क्योंकि, अन्तरका अभाव होनेसे उस प्रकारका उपदेश नहीं पाया जाता (विशेष देखो ऊपरवाला उपशोर्षक)। प्रश्न—ये आठ ही वर्गणाएँ क्या पृथक्-पृथक् रहती हैं या मिश्रित होकर रहती हैं ? उत्तर—पृथक्-पृथक् नहीं रहती हैं, किन्तु मिश्रित होकर ही रहती हैं। प्रश्न—यह किस प्रमाणसे जाता है ? उत्तर—(एक समय प्रबद्ध कर्मणवर्गणमें) प्रायु कर्मका भाग स्तोत्रक है। नामकर्म और गोत्रकर्मका भाग उसमें अधिक है। इस गाथासे जाना जाता है। शेषका कथन जानकर करना चाहिए।

घ. १५/५/३१/१ ण च एयादो अणेयाण कम्मण कुत्पत्ती विरुद्धा कम्म-इयवग्गणाए अणत्ताणत्तसग्वाए अद्दुकम्मणाओग्गभावेण अद्दुविहत्तमा-वण्णाए एयत्तविरोहादो। णत्थि एत्थ एयत्तो, एयादो घडादो अणेयाण स्वप्पराणमुत्पत्तिदसणादो। वुत्त व- 'कम्म ण होदि एय अणेयविह-मेय बधसमकाले। मूत्तत्तरपयडोण परिणामग्गेण जीवाण १७ जीव परिणामाण भेदेण परिणामिज्जमाणकम्मइयवग्गणाण भेदेण च कम्मण बधसमकाले चैव अणेयविहत्तं होदि त्ति घेत्थेस। = एकसे अनेक कर्मोंकी उत्पत्ति विरुद्ध है, ऐसा कहना भी अयुक्त है, क्योंकि, आठ कर्मोंकी योग्यतानुसार आठ भेदकी प्राप्ति हुई अनन्तानन्त संख्यारूप कर्मणवर्गणाकी एक माननेका विरोध है। दूसरे, एकसे अनेक कार्योंकी उत्पत्ति नहीं होती, ऐसा एवान्त भी नहीं है, क्योंकि, एक घटसे अनेक सप्परोकी उत्पत्ति देखी जाती है। कहा भी है—'कर्म एक नहीं है, वह जीवोंके परिणामानुसार मूल व उत्तर प्रकृतियोंके बन्धके समान कालमें ही अनेक प्रकारका है। १७' जीव-परिणामके भेदसे और परिणामी जानेवाली कर्मणवर्गणाओंके भेदमें बन्धके समकालमें ही कर्म अनेक प्रकारका होता है, ऐसा ग्रहण करना चाहिए।

४. प्रत्येक शरीर वर्गणा अपनेसे पहले या पीछेवाली वर्गणाओंसे उत्पन्न नहीं होती

घ. १४/५.६.११०/१२८/३ परमाणुवग्गणादि काट्टण जाव सातरणिरतर-उक्कसवग्गणे त्ति ताव एदासि वग्गणाण समुदयसमागमेण पत्तेय-सरीरवग्गणा ण समुप्पज्जदि। कुदो। उक्कससातरणिरतरवग्गणाण-सरूव मोत्तूण रूवाहियादिउवरिमवग्गणासरूवेण परिणमणसत्तीए अभावादो। पत्तेयसरीर समागमेण विणा हेट्ठिमवग्गणाण चैव समुदयसमागमेण समुप्पज्जमाणपत्तेयसरीरवग्गणाणुत्तभादो। किंच जोगवसेण एगबध्णवज्जओरालिय-तेजाकम्मइयपरमाणुपोगलक्खधा अणत्ताणत्तविस्सासुवचएहि उपचिदा। ण ते सव्वे सातरणिरतरादि-हेट्ठिमवग्गणासु कथं वि सरिसधणिया होत्ति, पत्तेयवग्गणाए असखे-ज्जदिभागात्तादो। 'उवरिल्लोणं दव्वाणं भेदेण विणा पत्तेयसरीर-वग्गणा उपपज्जदि, बादर-सुहुमणिगोदवग्गणाणमोरासिय-तेजा कम्म-इयवग्गणावक्खधेसु अधट्ठिदिग्गणाए गतिदिसु पत्तेयसरीरवग्गणा बोले-दूण हेट्ठा सातरणिरतरादिवग्गणासरूवेण सरिसधणियभावेण अवट्टाणु-वक्खभादो। उवरिमवग्गणादो आगइपरमाणु-पोगलेहि चैव पत्तेय-सरीरवग्गणाणपत्तीए अभावादो। उवरिल्लोण वग्गणाण भेदो णाम विणासो। ण च बादरसुहुमणिगोदवग्गणाणं मज्जे एया वग्गणा णट्टा संत्तो पत्तेयसरीरवग्गणासरूवेण परिणमदि, पत्तेयवग्गणाए आणत्तियप्पसंगादो। = १. परमाणु वर्गणासे लेकर सान्तरनिरन्तर उत्कृष्ट वर्गणा तक इन (१५) वर्गणाओंके समुदय समागमसे प्रत्येक शरीर वर्गणा (१७वी वर्गणा) नहीं उत्पन्न होती है, क्योंकि उत्कृष्ट सान्तरनिरन्तर वर्गणाओंका अपने स्वरूपको छोड़कर एक अधिक आदि उपरिम वर्गणारूपसे परिणमन करनेकी शक्तिका अभाव है। प्रत्येकशरीर वर्गणाके समागमके बिना केवल नीचेकी (१ से १५ तककी) वर्गणाओंके समुदय समागमसे उत्पन्न होनेवाली प्रत्येक-शरीरवर्गणाएँ नहीं उपलब्ध होती। दूसरे योगके वशसे एक बन्धन-बद्ध औदारिक तैजस और कर्मण परमाणुपुद्गलसकन्ध अनन्तानन्त विस्ससोपचयोसे उपचित होते हैं। परन्तु वे सब सान्तरनिरन्तर आदि नीचेकी वर्गणाओंमें कही भी सदृशधनवाले नहीं होते, क्योंकि वे प्रत्येक वर्गणाके असख्यातवे भागप्रमाण होते हैं। २ ऊपरके द्रव्यके भेदके बिना प्रत्येक शरीरवर्गणा उत्पन्न होती है, क्योंकि बादरनिगोदवर्गणा और सूक्ष्मनिगोदवर्गणा (१६वी व २१वी वर्गणाएँ) के औदारिक, तैजस और कर्मणवर्गणास्वन्धोंके अद-स्थिति गलनाके द्वारा गलित होनेपर प्रत्येक शरीर वर्गणाको उल्लंघन कर उनका नीचे सदृशधनरूप सान्तरनिरन्तर आदि वर्गणारूपसे अवस्थान उपलब्ध होता है। उपरिम वर्गणासे आये हुए परमाणु-पुद्गलोंसे ही प्रत्येक शरीर वर्गणाकी निष्पत्तिका अभाव है। = प्रश्न—ऊपरके द्रव्यके भेदसे प्रत्येक शरीरद्रव्य वर्गणाकी उत्पत्ति क्यों नहीं कहते ? उत्तर—नहीं, क्योंकि, ऊपरकी वर्गणाओंके भेदका नाम ही विनाश है, और बादरनिगोदवर्गणा तथा सूक्ष्मनिगोद-वर्गणामें से एक वर्गणा नष्ट होती हुई प्रत्येक शरीर वर्गणारूपसे नहीं परिणमती, क्योंकि, ऐसा होनेपर प्रत्येक शरीर वर्गणाएँ अनन्त हो जायेगी।

८ ऊपर व नीचेकी वर्गणाओंमें परस्पर संक्रमणकी सम्भावना व समन्वय

दे वर्गणा/२/३ [एक प्रदेशी वर्गणा अपनेने ऊपरवाली वर्गणाओंके भेद द्वारा उत्पन्न होती है और सत्त्वतद्रदेशीकी आदि लेकर सान्तर-निरन्तर परमन्त सर्व वर्गणाएँ ऊपरवालीके भेदसे नीचेवालीके सघातसे तथा स्वरथानमें भेद व सघात दोनोंसे उत्पन्न होती है। इससे ऊपर ध्रुवग्रन्थसे महासन्ध पर्यन्त केवल स्वस्थानमें भेदसघात द्वारा ही उत्पन्न होती है।]

घ. १४/५.६, ११६/१३६/४ सुष्णाओ सुष्णत्तेण अद्धुवाओ वि, उवरिम-हेट्ठिमवग्गणाण भेदसघादेण सुष्णाण पि कालत्तरे असुष्णत्तुवलभादो । असुष्णाओ असुष्णत्तेण अद्धुवाओ । कुदो । वग्गणाणमेग-सरूवेण सब्बमवट्ठणाभावादो । वग्गणादेसेण पुण सव्वाओ धुवाओ; अण ताण त्वग्गणाण सब्बसुवलभादो । सुहुमणि-गोदवग्गणाओ सुष्णत्तेण अद्धुवाओ; सुष्णवग्गाहि सब्बकाल सुष्णत्तेणेव अच्चिद्ववमिदि णियमाभावादो । एदं सभवं पडुच्च-परुविद । वत्ति पडुच्च पुणभण्णमाणे सुष्णाओ सुष्णत्तेण धुवाओ वि अत्थि; वट्ठमाणकाले असखेज्जलोगमेत्तसुहुमणिगोदवग्गणाहि अदीद-कालेण वि सब्बजीवेहि अण तग्गणमेत्तट्ठणावूरणं पडिसमवा-भावादो । कारण वादरणिगोदाणं व वत्तव्वं । अद्धुवाओ वि, उवरिम-हेट्ठिमवग्गणाण भेदसघादेण सुष्णाण पि कालत्तरे असुष्ण-त्तुवलभादो । = शून्य वर्गणाएँ शून्यरूपसे अधुव भी है, क्योंकि उपरिम और अधस्तन वर्गणाओके भेदसघातसे शून्य वर्गणाएँ भी कालान्तरमें अशून्यरूप होकर उपलब्ध होती हैं । अशून्य वर्गणाएँ अशून्यरूपसे अधुव है, क्योंकि वर्गणाओंका एक रूपसे सदा अव-स्थान नहीं पाया जाता । वर्गणादेशकी अपेक्षा तो सब वर्गणाएँ धुव है, क्योंकि, अनन्तान्त वर्गणाएँ सर्वदा उपलब्ध होती हैं । सूक्ष्मनिगोदवर्गणाएँ शून्यरूपसे अधुव है, क्योंकि, शून्यवर्गणाओ-को सर्वदा शून्यरूपसे ही रहना चाहिए ऐसा कोई नियम नहीं है । यह सम्भवकी अपेक्षा कहा है परन्तु व्यक्तिकी अपेक्षा कथन करने-पर शून्य वर्गणाएँ शून्यरूपसे धुव भी है, क्योंकि, वर्तमान कालमें असख्यात लोकप्रमाण सूक्ष्मनिगोद वर्गणाओंके द्वारा पूरे अतीतकालमें भी सब जीवोंसे अनन्तगुणे स्थानोंका पूरा करना सम्भव नहीं है । कारण वादरनिगोद जीवोंके समान कहना चाहिए । वे अधुव भी है, क्योंकि उपरिम और अधस्तन वर्गणाओके भेद सघातसे शून्य-वर्गणाएँ भी कालान्तरमें अशून्यरूप होकर उपलब्ध होती हैं । अशून्य सूक्ष्मनिगोद वर्गणाएँ अशून्यरूपसे अधुव है, क्योंकि, सूक्ष्म-निगोदवर्गणाओंका अवस्थितरूपसे अवस्थान नहीं पाया जाता ।

घ १४/५.६, १०७/१२५/१३ ण पत्तेयत्तावरसुहुमणिगोदवग्गणाभेदेण होदि, सच्चित्तवग्गणाणमच्चित्तवग्गणसरूवेण परिणामाभावादो । ण घ सच्चित्तवग्गणाए कम्मणोकम्मवत्तधेसु तत्तो विप्फट्ठिय सात्तर-णिरत्तरवग्गणाणमाधारेण परिणसेसु तत्तभेदेणेवेदिस्से समुप्पत्तो; तत्तो विप्फट्ठसमए चैव ताहितो पुदभूदखघाण सच्चित्तवग्गणाभावविरो-दो । ण महाखघभेदेणेदिस्से समुप्पत्तो, महाखघादो विप्फट्ठखघाणं महाखघभेदेहितो पुधभूदाण महाखघववएसाभावेण तस्सि तत्तभेदत्ता-णुववत्तोदो । एदम्मि णए अवलब्धिज्जमाणे उवरिल्लोण वग्गणाण भेदेण ण होदि त्ति परुविद । इच्चट्ठियणए पुण अवलब्धिज्जमाणे उपरिल्लोणं भेदेण वि होदि । पज्जवट्ठियणए पुण अवलब्धिज्ज-माणे हेट्ठिल्लोणं सघादेण वि होदि; उच्चस्स धुवक्खधवग्गणाए एगादिपरमाणुसमागमे सात्तरणिरत्तरवग्गणाए समुप्पत्ति पडि विरोहा-भावादो । ण सत्थाण चैव परिणामो वि, जहणवग्गणादो परमाणु-त्तरवग्गणाए उप्पत्तिविरोहादो सात्तरणिरत्तरवग्गणाए अभावप्प-सगादो च । धुवखघादिहेट्ठिमवग्गणाओ सत्थाणे चैव समागमत्ति उवरिमवग्गणाहि वा, साहाविगादो । सात्तरणिरत्तरवग्गणा पुण सत्थाणे चैव भेदेण सघादेण तदुभयेण वा परिणमत्ति त्ति जाणावणट्ठ भेदसघादेणे त्ति परुविद । = प्रत्ये शरीर, वादरनिगोद और सूक्ष्म निगोदवर्गणाओके भेदसे यह (ध्रुवस्कन्ध व सात्तरनिरन्तर) वर्गणा नहीं होती यगोवि सच्चित्त वर्गणाओ का अचित्त वर्गणा रूप से परिणमन होने में विरोध है । यदि कहा जाये कि सच्चित्तवर्गणाके कर्म और नोकर्मस्कन्ध में उससे अलग होकर सात्तरनिरन्तर वर्गणारूपसे परिणत होनेपर उनके भेदसे इस वर्गणा-की उत्पत्ति होता है, सही कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि, उनसे अलग होनेके समय ही उनसे अलग हुए स्कन्धोंकी सच्चित्त वर्गणा

होनेमें विरोध आता है । महास्कन्धके भेदसे इस वर्गणाकी उत्पत्ति होती है, यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि, महास्कन्धसे अलग हुए स्कन्ध यत महास्कन्धके भेदसे अलग हुए है, अतः उनकी महा-स्कन्ध सज्ञा नहीं हो सकती और इसलिए उनका उससे भेद नहीं बन सकता । इस (पर्यायार्थिक) नयका अवलम्बन करनेपर ऊपर-की वर्गणाओके भेदसे यह वर्गणा नहीं होती है, यह कहा गया है । परन्तु द्रव्यार्थिक नयका अवलम्बन करनेपर ऊपरकी वर्ग-णाओंके भेदसे भी यह वर्गणा होती है । पर्यायार्थिक नयका अव-लम्बन कर लेनेपर नीचेकी वर्गणाओके सघातसे भी यह वर्गणा होती है, क्योंकि उत्कृष्ट ध्रुवस्कन्धवर्गणामें एक आदि परमाणुका समागम होनेपर सात्तरनिरन्तर वर्गणाकी उत्पत्ति होनेमें कोई विरोध नहीं है । केवल स्वस्थानमें ही परिणमन होता है, यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि, जघन्य वर्गणासे एक परमाणु अधिक वर्गणाकी उत्पत्ति होनेमें विरोध आता है, दूसरे सात्तरनिरन्तर वर्गणाका अभाव भी प्राप्त होता है । ध्रुवस्कन्धादि नीचेकी वर्गणाएँ स्वस्थान-में ही समागमकी प्राप्त होती है अथवा ऊपरकी वर्गणाओंके साथ समागमकी प्राप्त होती है, क्योंकि ऐसा स्वभाव है । परन्तु सात्तर-निरन्तरवर्गणा स्वस्थानमें ही भेदसे, सघातसे या तदुभयसे परिणमन करती है, इस बातका ज्ञान करानेके लिए (सूत्रमें) 'भेदसघातसे होना' कहा है ।

९. भेदसघात व्यपदेशका स्पष्टीकरण

घ. १४/५.६, १०३/१२४/६ हेट्ठिल्लोवरिल्लवग्गणाणं भेदसघादेण अप्पिद-वग्गणाणमुप्पत्ती किण्ण वुच्चदे, भेदकाले विणास मोत्तुण उप्पत्तीए अभाव पडिविसेसाभावादो । ण, तत्थ एवविधणयाभावादो । अथवा भेदसघादस्स एवमत्थो वत्तव्वो । त जहाभेदसघादाणं दोणं सजोगो सत्थाण णाम; तम्मि हि रुद्धे उवरिल्लोण हेट्ठिल्लोण अप्पिदाण च दव्वाण भेदपुरगमसघादेण अप्पिदवग्गणुप्पत्तिदं सगादो । सत्थाणेण भेदसघादेण उप्पत्ती वुच्चदे । सवो वि परमाणुसघादो भेदपुरगमो चैवेत्ति सव्वासि वग्गणाण भेदसघादेणेव उप्पत्ती किण्ण वुच्चदे । ण एस दोसो, भेदाणत्तरं जो सघादो सो भेदसघादो णाम ण अत्तरिदो, अत्रवत्थाप्पसगादो । तम्हा ण सव्ववग्गणाण भेदसघादेणुप्पत्ती । = प्रश्न—नीचेकी और ऊपरकी वर्गणाओके भेदसघातसे विवक्षित वर्गणाओंकी उत्पत्ति क्यों नहीं कहते, क्योंकि भेदके समय विनाश-को छोड़कर उत्पत्तिके अभावके प्रति कोई विशेषता नहीं । उत्तर—नहीं, क्योंकि, वहाँ पर इस प्रकारके नयका अभाव है । अथवा भेदसघातका इस प्रकारका अर्थ करना चाहिए । यथा—भेद और सघात दोनोंवा संयोग स्वस्थान कहलाता है । उसके विवक्षित होनेपर ऊपरके, नीचेके और विवक्षित द्रव्योंके भेदपूर्वक सघातमें विवक्षित वर्गणाकी उत्पत्ति देखी जाती है । इसे स्वस्थानकी अपेक्षा भेद सघातसे उत्पत्ति कहते हैं । प्रश्न—सभी परमाणुसघात भेदपूर्वक ही होता है, उमलिए सभी वर्गणाओकी उत्पत्ति भेदसघातसे ही क्यों नहीं कहते हो ? उत्तर—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, भेदके अनन्तर जो सघात होता है, उसे भेदसघात कहते हैं । जो अनन्तरसे होता है उसकी यह सज्ञा नहीं है, क्योंकि, ऐसा माननेपर अद्वय-स्थाका प्रसंग आता है । इसलिए सर्व वर्गणाओकी उत्पत्ति भेद-सघातमें नहीं होती ।

वर्गणा शलाका—२। सा/भापा/४६४/५७८/१३—एक स्पर्धकविपै जो वर्गणानिका प्रमाण ताकी वर्गशलाका कहिये ।—(विशेष दे, स्पर्धक) ।

वर्गमूल—Square root—(ज, प/प्र, १०८), (घ, ५/प्र, २८), (विशेष दे, गणित/II/१/७) ।

वर्गशलाका—Logarithm of logarithm (घ. ५/प्र २८),
(ज. घ./प्र १०८) । (विशेष दे० गणित/II/२/१) ।

वर्गसमोकरण—quadratic equation—(घ. ५/प्र. २८)

वर्गित संवर्गित—Raising a number to its own power
(संख्यात तुष्य घात), (घ ५/प्र/२८), (विशेष दे० गणित/
II/१/६) ।

वर्चस्क—चतुर्थ नरकका चतुर्थ पटल—दे० नरक/५/११ ।

वर्ण—

१. वर्णका अनेकों अर्थोंमें प्रयोग

स सि /२/२०/१७८/१ वर्ण्यते इति वर्ण । वर्णनं वर्ण ।—जो देखा जाता है वह वर्ण है, अथवा वर्णन वर्ण है । (रा. वा./२/२०/१/१३२/३२) ।

स. सि /५/२३/२६४/१ वर्ण्यते वर्णनमात्रं वा वर्ण ।—जिसका कोई वर्ण है या वर्णन मात्रको वर्ण कहते हैं ।

घ. १/१.१.३३/५४६/१ अर्थे वर्णशब्दः कर्मसाधन । यथा यदा द्रव्यं प्राधान्येन विवक्षित तदेन्द्रियेण द्रव्यमेव सन्निकर्ष्यते, न ततो व्यतिरिक्तां स्पर्शदिय सन्तीत्येतस्या विवक्षायाम् कर्मसाधनत्वं स्पर्शादीनामवसीयते, वर्ण्यते इति वर्ण । यदा तु पर्यायः प्राधान्येन विवक्षितस्तदा भेदोपपत्तेरौदासीन्यावस्थितभावकथनाद्भावसाधनत्वं स्पर्शादीनामुच्यते वर्णनं वर्ण ।—यह वर्ण शब्द कर्मसाधन है । जैसे जिस समय प्रधानरूपसे द्रव्य विवक्षित होता है, उस समय इन्द्रियसे द्रव्यका ही ग्रहण होता है, क्योंकि, उससे भिन्न स्पर्श (वर्णादि) पर्याये नहीं पाये जाती है । इसलिए इस विवक्षामें स्पर्शादिके कर्म साधन जाना जाता है । उस समय जो देखा जाये उसे वर्ण कहते हैं, ऐसी निरुक्ति करना चाहिए । तथा जिस समय पर्याय प्रधान रूपसे विवक्षित होती है, उस समय द्रव्यसे पर्यायका भेद बन जाता है, इसलिए उदासीन रूपसे अवस्थित जो भाव है, उसीका कथन किया जाता है । अतएव स्पर्शादिके भाव साधन भी बन जाता है । उस समय देखनेरूप धर्मको वर्ण कहते हैं, ऐसी निरुक्ति होती है ।

भ. आ./वि./४७/१६०/१ वर्णशब्द क्वचिद्रूपवाची शुक्लवर्णमानय शुक्लरूपमिति । अक्षरवाची क्वचिद्यथा सिद्धो वर्णसमाप्नाय इति । क्वचित् ब्राह्मणादौ यथात्रैव वर्णानामधिकार इति । क्वचिद्यथासि—वर्णार्थी ददाति ।—वर्ण शब्दके अनेक अर्थ हैं । वर्ण—शुक्लादिक वर्ण, जैसे सफेद रंगको लाओ । वर्ण शब्दका अर्थ अक्षर ऐसा भी होता है, जैसे वर्णोंका समुदाय अनादि कालसे है । वर्ण शब्दका अर्थ ब्राह्मण आदिक ऐसा भी है । यथा—इस कार्यमें ही ब्राह्मणादिक वर्णोंका अधिकार है । यहाँपर वर्ण शब्दका अर्थ यश ऐसा माना जाता है । जैसे—यशकी कामनासे देता है ।

दे निक्षेप/५/६ (चित्रित मनुष्य तुरग आदि आकार वर्ण कहे जाते हैं ।)

२. वर्ण नामकर्मका लक्षण

स सि /८/११/३६०/११ यद्भवेतुको वर्णविभागस्तद्वर्णनाम ।—जिसके निमित्तसे वर्णमें विभाग होता है, वह वर्ण नामकर्म है । (रा. वा./८/११/१०/५७७/१७), (गो. क./जी. प्र./३३/२६/१३) ।

व ६/१.६-१.२=५४/१ जस्स कम्मस्स उदएण जीवसरोरे वण्णणिफ्फत्ती होदि, तस्स कम्मक्खधस्स वण्णसण्णा । एदस्स कम्मस्साभावे अणिय-दवण्ण सरोर होज्ज । ण च एव, भमर-कलयठी-हस-त्रलायादिमु णियदवण्णुवलभा ।—जिम कर्मके उदयसे जीवके शरीरमें वर्णकी उत्पत्ति होती है, उस कर्मस्त्रन्धकी 'वर्ण' यह सज्ञा है । इस कर्मके अभावमें अनियत वर्णवाला शरीर हो जायगा । किन्तु, ऐसा देखा

नही जाता । क्योंकि, भौरा, कोयल, हंस और बगुला आदिमें सुनिश्चित वर्ण पाये जाते हैं । (घ. १३/५.५.१०१/३६४/६) ।

३. वर्ण व वर्ण नामकर्मके भेद

ष ख ६/१.६-१/सूत्र ३७/७४ ज त वण्णणामकम्म तं पंचविहं, किण्ह-वण्णणाम नीलवण्णणाम रुधिरवण्णणाम हालिहवण्णणाम सुक्किलवण्ण-णाम चेदि । ३७।—जो वर्ण नामकर्म है, वह पाँच प्रकारका है—कृष्ण-वर्ण नामकर्म, नीलवर्ण नामकर्म, रुधिरवर्ण नामकर्म, हारिद्रवर्ण नामकर्म और शुक्लवर्ण नामकर्म । (ष. ख./१३/५/सूत्र ११०/३७०); (पं. स./प्रा./४/४७/३०), (स. सि./८/११/३६०/१२), (रा. वा./८/११/१०/५७७/१८), (गो. क./जी. प्र./३३/२६/१/३३/२६/१३) ।

स सि /५/२३/२६४/२ स पञ्चविध, कृष्णनीलपीतशुक्ललोहितभेदात् । —काला, नीला, पीला, सफेद और लालके भेदसे वर्ण पाँच प्रकारका है । (रा. वा./५/२३/१०/४५६/३), (प. प्रा. टी./१/२१/२६/१), (रा. स./टी./७/१६/६), (गो. जी./जी. प्र./४७६/८५/१५) ।

४. नामकर्मोंके वर्णादि सकारण हैं या निष्कारण

घ. ६/१.६-१.२८/५७/४ वण्ण-गंध-रस फासकम्मार्ण वण्ण गंध-रस-पासा सकारणा णिकारणा वा । पढमपक्खे अणवत्था । विदियपक्खे सेसणो-कम्म-गंध-रस-फासा वि णिवकारणा होतु, विसैसाभावा । एत्थ परि-हारो उच्चदे—ण पढमे पक्खे उक्तदोसो, अणब्भुवगमादो । ण विदिय-पक्खदोसो वि, कालदव्व व दुस्सहावत्तादो एदेसिमुभयत्थ वावार-विरोहाभावा ।—ग्रहण—वर्ण, गन्ध, रस, और स्पर्श नामकर्मोंके वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श सकारण होते हैं, या निष्कारण । प्रथम पक्षमें अनवस्था दोष आता है । (क्योंकि जिस अन्य कर्मके कारण ये कर्म वर्णादिमान होंगे, वह स्वयं किसी अन्य ही कर्मके निमित्तसे वर्णादिमान होगा) । द्वितीय पक्षके माननेपर शेष नोकर्मोंके वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श भी निष्कारण होने चाहिए (अर्थात् उन्हें वर्णादिमान करनेके लिए वर्णादि नामकर्मोंका निमित्त मानना व्यर्थ है), क्योंकि, दोनोंमें कोई भेद नहीं है । उत्तर—यहाँपर उक्त शका-का परिहार कहते हैं—प्रथम पक्षमें कहा गया अनवस्थादोष तो प्राप्त नहीं होता है, क्योंकि, वैसा माना नहीं गया है । (अर्थात् वर्णादि नाम कर्मोंको वर्णादिमान करनेके लिए अन्य वर्णादि कर्म माने नहीं गये हैं ।) न द्वितीय पक्षमें दिया गया दोष भी प्राप्त होता है, क्योंकि, कालद्रव्यके समान द्विस्वभावी होनेसे इन वर्णादिकके उभयत्र व्यापार करनेमें कोई विरोध नहीं है । (अर्थात् जिस प्रकार काल द्रव्य स्वयं परिणमन रवभावी होता हुआ अन्य द्रव्योंके भी परिणमनमें कारण हाता है उसी प्रकार वर्णादि नाम कर्म स्वयं वर्णादिमान होते हुए ही नोकर्मभूत शरीरोंके वर्णादिमें कारण होते हैं ।) ।

५. अन्य सम्बन्धित विषय

१. शरीरोंके वर्ण —दे० लेश्या ।
२. वायु आदिकमें वर्ण गुणकी सिद्धि —दे० पुद्गल/१० ।
३. वर्णनामकर्मके बन्व उदय सत्त्व —दे० वह वह नाम ।

वर्णलाभ क्रिया—दे० सस्कार/२ ।

वर्ण व्यवस्था—गोत्रकर्मके उदयमें जीवोंका ऊँच तथा नीच कुलोमें जन्म होता है, अथवा उनमें ऊँच व नीच सस्कारोंकी प्रतीति होती है । उस ही के कारण ब्राह्मण क्षत्रिय आदि चार प्रकार वर्णोंकी व्यवस्था होती है । इस वर्णव्यवस्थामें जन्मकी अपेक्षा गुणकर्म अधिक प्रधान माने गये हैं । ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य ये तीन ही वर्ण उच्च होने कारण जिन दोषोंके योग्य हैं । शूद्रवर्ण नीच

होनेके कारण प्रव्रज्याके योग्य नहीं है। वह केवल उत्कृष्ट श्रावक तक हो सकता है।

१	गोत्रकर्म निर्देश
१	गोत्रकर्म सामान्यका लक्षण।
२	गोत्रकर्मके दो अथवा अनेक भेद।
३	उच्च व नीचगोत्रके लक्षण।
४	गोत्रकर्मके अस्तित्व सम्बन्धी शंका।
५	उच्चगोत्र व तीर्थंकर प्रकृतिमें अन्तर।
६	उच्च नीचगोत्रके बन्धयोग्य परिणाम।
७	उच्च नीचगोत्र या वर्णभेदका स्वामित्व व क्षेत्र आदि।
८	तिर्थंचो व श्रायिक सम्यग्दृष्टि संयतासंयतोमें गोत्र सम्बन्धी विशेषता।
९	गोत्रकर्मके अनुभाग सम्बन्धी नियम।
१०	दोनों गोत्रोंका जघन्य व उत्कृष्ट काल।
*	गोत्रकर्म प्रकृतिका बन्ध उदय स्वरूप प्ररूपणाएँ। —दे० वह वह नाम।
*	गोत्र परिवर्तन सम्बन्धी —दे० वर्णव्यवस्था/३/३।
२	वर्णव्यवस्था निर्देश
१	वर्णव्यवस्थाकी स्थापनाका इतिहास।
२	जैनाम्नायमें चारों वर्णोंका स्वीकार।
३	केवल उच्चजाति मुक्तिका कारण नहीं है।
४	वर्णसाक्षर्यके प्रति रोकथाम।
३	उच्चता व नीचतामें गुणकर्म व जन्मकी कथंचित् प्रधानता व गौणता
१	कथंचित् गुणकर्मकी प्रधानता।
२	गुणवान नीच भी ऊँच है।
*	सम्यग्दृष्टि मरकर उच्चकुलमें ही उत्पन्न होता है। —दे० जन्म/३/१।
३	उच्च व नीच जातिमें परिवर्तन।
४	कथंचित् जन्मकी प्रधानता।
५	गुण व जन्मकी अपेक्षाओंका समन्वय।
६	निश्चयसे जीवमें ऊँच नीचके भेदको स्थान नहीं।
४	शूद्र निर्देश
१	शूद्रके भेद व लक्षण।
*	नीचकुलोंके घर साधु आहार नहीं लेते उनका स्पर्श होनेपर स्नान करते हैं। —दे० भिक्षा/३।
*	नीच कुलों व अस्पृश्यके हाथके भोजनपानका निषेध —दे० भक्ष्याभक्ष्य/१।
२	स्पृश्य शूद्र ही क्षुद्रक दीक्षाके योग्य है।
*	कृषि सर्वोत्कृष्ट उद्यम है —दे० सावच/६।
*	तीन उच्चवर्ण ही प्रव्रज्या के योग्य हैं। —दे० प्रव्रज्या/१/२।

१. गोत्रकर्म निर्देश

१. गोत्रकर्म सामान्यका लक्षण

स सि/५/३४ पृष्ठ/पंक्ति गोत्रस्योच्चैर्नीचैः स्थानसशब्दनम्। (३७६/२)। उच्चैर्नीचैश्च गूयते शब्द्यत इति वा गोत्रम्। (३८१/१)।
=१. उच्च और नीच स्थानका सशब्दन गोत्रकर्मकी प्रकृति है। (रा. वा/८/३/४/१६७/१)। २. जिसके द्वारा जीव उच्च नीच गूयते अर्थात् कहा जाता है वह गोत्रकर्म है।

रा वा/६/२५/५/५३१/६ गूयते शब्द्यते तदिति गोत्रम्, औणादिकेन त्रया निष्पत्तिः।=जो गूयते अर्थात् शब्द व्यवहारमें आवे वह गोत्र है।

ध ६/१९६ १,११/१३/७ गमयत्युच्चनीचकुलमिति गोत्रम्। उच्चनीचकुलेषु उत्पादो पोमगलक्यधो मिच्छत्तादिपञ्चएहि जीवसबद्धो गोदमिदि उच्चदे।=जो उच्च और नीच कुलको ले जाता है, वह गोत्रकर्म है। मिथ्यात्व आदि बन्धकारणोंके द्वारा जीवके साथ सम्बन्धको प्राप्त, एवं उच्च और नीच कुलोमें उत्पन्न करनेवाला पुद्गलस्कन्ध 'गोत्र' इस नामसे कहा जाता है।

ध ६/१९६-१,४५/७७/१० गोत्र कुल वंश सतानमित्येकोऽर्थः।=गोत्र कुल, वंश, और सन्तान ये सत्र एकार्थवाचक नाम हैं।

ध १३/५५.२०/२०६/१ गमयत्युच्चनीचमिति गोत्रम्।=जो उच्च नीचका ज्ञान कराता है वह गोत्र कर्म है।

गो. क./मू/१३/६ सताणकमेगागयजीवायरणस्स गोदमिदि सण्णा। ...।१३।=सन्तानक्रमसे चला आया जो आचरण उसकी गोत्र संज्ञा है।

प्र. स/टी/३३/६३/१ गोत्रकर्मण का प्रकृति। गुरु-लघुभाजनकारक-कुम्भकारकवृद्धनीचगोत्रकरणता।=छोटे बड़े घट आदिको बनानेवाले कुम्भकारको भाँति उच्च तथा नीच कुलका करना गोत्रकर्मकी प्रकृति है।

२. गोत्रकर्मके दो अथवा अनेक भेद

ष. ख/६/१९.६-२/सू. ४५/७७ गोदस्स कम्मस्स दुवे पयडीओ, उच्चाणेदं चैव णिच्चागोद चैव १४५।=गोत्रकर्मकी दो प्रकृतियाँ हैं—उच्चगोत्र और नीचगोत्र। (ष ख/१३/५.५/मू १३५/३८८), (मू. आ./-१२३४), (त सू./५/१२), (प. स/प्रा/२/४/४५/१६), (ध १२/४.२.१४.१६/४८४/१३), (गो क/जी प्र./३३/२७/२)।

ध. १२/४.२.१४.१६/४८४/१४ अत्रातरभेदेण जदि वि बहुआवो अरिथ तो वि ताओ ण उच्चाओ गयबहुसभएण अत्थावत्तीए तदवगमादो।=अबान्तर भेदसे यद्यपि वे (गोत्रकर्मकी प्रकृतियों) बहुत हैं, तो भी ग्रन्थ बह जानेके भयसे अथवा अर्थापत्तिसे उनका ज्ञान हो जानेके कारण उनको यहाँ नहीं कहा है।

३. उच्च व नीचगोत्रके लक्षण

स सि./५/१२/३६४/१ यस्योदयबल्लोकपूजितेषु कुलेषु जन्म तदुच्चैर्गोत्रम्। यदुःप्राद्गर्हितेषु कुलेषु जन्म तदनीचर्गोत्रम्।=जिसके उदयसे लोकपूजित कुलोमें जन्म होता है वह उच्चगोत्र है और जिसके उदयसे गर्हित कुलोमें जन्म होता है वह नीचगोत्र है। (गो. क/जी प्र./३३/३०/१७)।

रा. वा./५/१२/२३/५०/२३ लोकपूजितेषु कुलेषु प्रथितमाहात्म्येषु इक्ष्वाकूपकुरुहरिजातिप्रभृतिषु जन्म यरयोदयाद्भवति तदुच्चैर्गोत्रमवसेयम्। गर्हितेषु हरिद्राप्रतिज्ञातदुखाकुलेषु यत्कृत प्राणिना जन्म तदनीचैर्गोत्र प्रथेतव्यम्।

रा वा/६/२५/६/५३१/७ गोत्रे रगाने येनहमा क्रियते तद्वीचैर्गोत्रम्।=जिसके उदयसे महत्प्रशान्ने अर्थात् इक्ष्वाकु उग्र, बुरु, हरि और ज्ञाति आदि वंशोंमें जन्म हो वह उच्चगोत्र है। जिसके उदय-

से निम्न अर्थात् दरिद्र अप्रसिद्ध और दुःखाकुल कुलोमे जन्म हो वह नीचगोत्र है। जिससे आत्मा नीच व्यवहारमें आवे वह नीचगोत्र है।

ध. ६/१.६-१.४५/७७/१० जस्स कम्मस्स उदएण उच्चागोदं होदि तमुच्चागोदं । गोत्रं कुलं वशं सत्तानमित्थेकोऽर्थं । जस्स कम्मस्स उदएण जीवाणं णीचगोदं होदि तं णीचगोदं णाम । =गोत्र, कुल, वश, सन्तान ये सब एकार्थवाचक नाम हैं। जिस कर्मके उदयसे जीवोंके उच्चगोत्र कुल या वंश होता है वह उच्चगोत्र कर्म है और जिस कर्मके उदयसे जीवोंके नीचगोत्र, कुल या वंश होता है वह नीचगोत्रकर्म है।

दे० अगला शीर्षक—(साधु आचारकी योग्यता उच्चगोत्रका चिह्न है तथा उसको अयोग्यता नीचगोत्रका चिह्न है।)

४. गोत्रकर्मके अस्तित्व सम्बन्धी शंका

ध. १३/५.५.१३५/३८८/३ उच्चैर्गोत्रस्य वव व्यापार । न तावद् राज्यादिलक्षणाया सपदि, तस्या, सद्देयत' समुत्पत्ते' । नापि पञ्चमहावतग्रहणयोग्यता उच्चैर्गोत्रेण क्रियते, देवेष्वभ्येधु च तद्ग्रहणं प्रत्यययोग्येषु उच्चैर्गोत्रस्य उदयाभावप्रसंगात् । न सम्पन्नानोरत्तौ व्यापार, ज्ञानावरणक्षयोपशमसहायसम्यग्दर्शनतत्तदुत्पत्ते' । तिर्यग्-नारकेष्वपि उच्चैर्गोत्रस्योदयः स्यात्, तत्र सम्पन्नज्ञानस्य सत्त्वात् । नादेयत्वे यशसि सौभाग्ये वा व्यापार', तेषां नामतः समुत्पत्ते' । नैश्वक्रकुलाद्युत्पत्तौ, कार्त्तनिकानां तेषां परमार्थतोऽसत्त्वात् विद्वद्ब्राह्मणसाधुष्वपि उच्चैर्गोत्रस्योदयदर्शनात् । न संपन्नेभ्यो जीवोत्पत्तौ तद्ग्रहणाय' म्लेच्छराजसमुत्पन्नपृथुकस्यापि उच्चैर्गोत्रोदयप्रसंगात् । नाणुवतिभ्यः समुत्पत्तौ तद्ग्रहणाय, देवेष्वपि पादिकेषु उच्चैर्गोत्रोदयस्यासत्त्वप्रसंगात् नाभेयस्य नीचैर्गोत्रतापत्तेश्च । ततो निष्फलमुच्चैर्गोत्रम् । तत एव न तस्य कर्मत्वमपि । तद्भावे न नीचैर्गोत्रमपि, द्वयोरन्योन्याविनाभावित्वात् । ततो गोत्रकर्मभाव इति । न जिनवचनस्यासत्त्वविरोधात् । तद्विरोधोऽपि तत्र तत्कारणाभावतोऽवगम्यते । न च केवलज्ञानविषयो कृतेश्वर्थेषु सकलेश्वरि रजोजुषां ज्ञानानि प्रवर्तन्ते येनानुपलम्भाजिनवचनस्याप्रमाणत्वमुच्यते । न च निष्फलं गोत्रम्, दीक्षायोग्यसाध्वाराणां साध्वाराणैः कृतसबन्धानां आर्यप्रत्ययाभिधान-व्यवहार-निबन्धनानां पुरुषाणां सत्तान उच्चैर्गोत्रं तत्रोत्पत्तिहेतुकर्माप्युच्चैर्गोत्रम् । न चात्र पूर्वोक्तदोषा संभवन्ति, विरोधात् । तद्विपरीतं नीचैर्गोत्रम् । एवं गोत्रस्य द्वे एव प्रकृती भवतः । =प्रश्न—उच्चगोत्रका व्यापार कहाँ होता है। राज्यादि रूप सम्पदाकी प्राप्तिमें तो उसका व्यापार होता नहीं है, क्योंकि उसकी उत्पत्ति सातावेदनीयकर्मके निमित्तसे होती है। पाँच महाव्रतोंके ग्रहण करनेकी योग्यता भी उच्चगोत्रके द्वारा नहीं की जाती है, क्योंकि, ऐसा माननेपर जो सब देव और अभय जीव पाँच महाव्रतोंको धारण नहीं कर सकते हैं, उनमें उच्चगोत्रके उदयका अभाव प्राप्त होता है। सम्यग्ज्ञानकी उत्पत्तिमें उसका व्यापार होता है, यह कहना भी ठीक नहीं है; क्योंकि, उसकी उत्पत्ति ज्ञानावरणके क्षयोपशमसे सहकृत सम्यग्दर्शनसे होती है। तथा ऐसा माननेपर तिर्यचों और नारकियोंके भी उच्चगोत्रका उदय मानना पड़ेगा, क्योंकि, उनके सम्यग्ज्ञान होता है। आदेयता, यश और सौभाग्यकी प्राप्तिमें इसका व्यापार होता है, यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि, इनकी उत्पत्ति नामकर्मके निमित्तसे होती है। इक्ष्वाकु कुल आदिकी उत्पत्तिमें भी इसका व्यापार नहीं होता, क्योंकि वे कार्त्तनिक हैं, अतः परमार्थसे उनका अस्तित्व ही नहीं है। इसके अतिरिक्त वैश्य और ब्राह्मण साधुओंमें उच्चगोत्रका उदय देखा जाता है। सम्पन्न जनोंसे जीवोंकी उत्पत्तिमें उच्चगोत्रका व्यापार होता है, यह कहना भी ठीक नहीं है; क्योंकि, इस तरह तो म्लेच्छराजसे उत्पन्न हुए बालकके

भी उच्चगोत्रका उदय प्राप्त होता है। अणुव्रतियोंसे जीवोंकी उत्पत्तिमें उच्चगोत्रका व्यापार होता है, यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि ऐसा माननेपर औपपादिक देवोंमें उच्चगोत्रके उदयका अभाव प्राप्त होता है, तथा नाभिपुत्र नीचगोत्री ठहरते हैं। इसलिए उच्चगोत्र निष्फल है, और इसलिए उसमें कर्मपना भी घटित नहीं होता। उसका अभाव होनेपर नीचगोत्र भी नहीं रहता, क्योंकि, वे दोनों एक-दूसरेके अविनाभावी हैं। इसलिए गोत्रकर्म है ही नहीं? उत्तर—नहीं, क्योंकि, जिनवचनके असत्य होनेमें विरोध आता है। वह विरोध भी वहाँ उसके कारणोंके नहीं होनेसे जाना जाता है। दूसरे केवलज्ञानके द्वारा विषय किये गये सभी अर्थमें छद्मस्थोंके ज्ञान प्रवृत्त भी नहीं होते हैं। इसलिए छद्मस्थोंको कोई अर्थ यदि नहीं उपलब्ध होते हैं, तो इससे जिनवचनको अप्रमाण नहीं कहा जा सकता। तथा गोत्रकर्म निष्फल है, यह बात भी नहीं है, क्योंकि, जिनका दीक्षायोग्य साधु आचार है, साधु आचारवालोंके साथ जिन्होंने सम्बन्ध स्थापित किया है (ऐसे म्लेच्छ), तथा जो 'आर्य' (भोगभूमिज) इस प्रकारके ज्ञान और वचन व्यवहारके निमित्त हैं, उन पुरुषोंको परम्पराकी उच्चगोत्र कहा जाता है। तथा उनमें उत्पत्तिका कारण-भूत कर्म भी उच्चगोत्र है। यहाँ पूर्वोक्त दोष सम्भव ही नहीं है, क्योंकि, उनके होनेमें विरोध है। उससे विपरीत कर्म नीचगोत्र है। इस प्रकार गोत्रकर्मकी दो ही प्रकृतियाँ होती हैं।

दे० वर्ण व्यवस्था/३/१/म, पु/७४/४६१-४६५—(ब्राह्मणादि उच्चकुल व शूद्रोंमें शरीरके वर्ण व आकृतिका कोई भेद नहीं है, न ही कोई जातिभेद है। जो शुक्लस्थानके कारण है वे त्रिवर्ण कहलाते हैं और शेष शूद्र कहे जाते हैं।)

ध. १५/१५२/७ उच्चागोदे देस-सयलसजमणिबंधणे संते मिच्छाइट्टीसु तद्भावो त्ति णासंकाणित्तं, तत्थ, वि उच्चागोदजणिसजमजोगत्तवेक्खाए उच्चागोदत्त पडि विरोहाभावादो । =प्रश्न—यदि उच्चगोत्रके कारण देशसयम और सकलसयम है तो फिर मिथ्या-दृष्टियोंमें उसका अभाव होना चाहिए? उत्तर—ऐसी आशंका करना योग्य नहीं है, क्योंकि, उनमें भी उच्चगोत्रके निमित्तसे उत्पन्न हुई सयम ग्रहणकी योग्यताकी अपेक्षा उच्चगोत्रके होनेमें कोई विरोध नहीं है।

५. उच्चगोत्र व तीर्थकर प्रकृतिमें अन्तर

रा० वा /५/११/४२/५०/७ स्यान्मतं—तदेव उच्चैर्गोत्र तीर्थकरत्वस्यापि निमित्तं भवतु कि तीर्थकरत्वनाम्नेति । तत्र; कि कारणम् । तीर्थप्रवर्तनफलत्वात् । तीर्थप्रवर्तनफलं हि तीर्थकरनामेव्यते नीचैर्गोत्रोदयात् तदवाप्यते चक्रधरादीनां तदभावात् । =प्रश्न—उच्चगोत्र ही तीर्थकरत्वका भी निमित्त हो जाओ। पृथक्से तीर्थकत्व नामकर्म माननेकी क्या आवश्यकता। उत्तर—तीर्थकी प्रवृत्ति करना तीर्थकर प्रकृतिका फल है। यह उच्चगोत्रसे नहीं हो सकता, क्योंकि उच्चगोत्री चक्रवर्ती आदिके वह नहीं पाया जाता। अतः इसका पृथक् निर्देश किया है। (और भी दे० नामकर्म १४) ।

६. उच्च नीच गोत्रके बन्धयोग्य परिणाम

भ. आ./मू./१३७५/१३२२ तथा १३८६ कुलरूवाणाबलसुदलाभिस्सरयत्थमदितवादीहि । अप्पाणमुण्णमेतो नीचागोदं कुणादि कम्म । १३७५। माया करेदि णीचगोदं - ११३८६। =कुल, रूप, आज्ञा, शरीरबल, शास्त्रज्ञान, लाभ, ऐश्वर्य, तप और अन्यपदार्थोंसे अपनेको ऊँचा समझनेवाला मनुष्य नीचगोत्रका बन्ध कर लेता है। १३७५। मायासे नीचगोत्रकी प्राप्ति होती है। १३८६।

त, मू./६/२५-२६ परात्मनिन्दाप्रशसे सदसद्गुणोच्छादनोद्भावने च नीचैर्गोत्रस्य १२५। तद्विपर्ययो नीचैर्बुत्त्यनुरसेकौ चोत्तरस्य १२६।

जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश

स सि./६/२६/३४०/७ क. पुनरसौ विपर्ययः । आत्मनिन्दा, परप्रशंसा, सद्गुणोद्भवानमसद्गुणोच्छादनं च । गुणोत्कृष्टेषु विनयेनावनतिर्नीचैर्बृत्तिः । विज्ञानादिभिरुत्कृष्टस्यापि सतस्तत्कृतमदविरहोऽनहंकारतानुत्तेक । तान्येतान्युत्तरस्योच्चैर्गोत्रस्यासवकारणानि भवन्ति । = परनिन्दा, आत्मप्रशंसा, दूसरोके होते हुए गुणोको भी ठक देना और अपने अनहोत गुणोको भी प्रगट करना ये नीचगोत्रके आस्रवके कारण है । २६। उनका विपर्यय अर्थात् आत्मनिन्दा पर-प्रशंसा, अपने होते हुए भी गुणोको ठकना और दूसरेके अनहोत भी गुणोको प्रगट करना, उत्कृष्ट गुणवालोके प्रति नम्रवृत्ति, और ज्ञानादिमें श्रेष्ठ होते हुए भी उसका अभिमान न करना, ये उच्चगोत्रके आस्रवके कारण है । (त. सा./४/५३-५४) ।

रा. वा./६/२६/६/५३१/६ जातिकुलबलरूपश्रुताज्ञैश्वर्यतपोमदपरावज्ञानो-
रप्रहसन-परपरिवादशीलता - धार्मिकजननिन्दात्मोत्कर्षान्ययशोवि-
लोपासकोत्थुत्पादन-गुरुपरिभव - तदुद्धन-दोषख्यापन - विहेडन -
स्थानावमान-भर्त्सन-गुणावसादन-अज्ञलिस्तुत्यभिवादानाकरण-तीर्थ-
कराधिकेपादि ।

रा. वा./६/२६/४/६३१/२० जातिकुलबलरूपवीर्यपरिज्ञानैश्वर्यतपोविशेष-
वत् आत्मोत्कर्षप्रणिधानं परावरज्ञानौद्धत्यनिन्दासुयोपहासपरपरि-
वादननिवृत्ति विनिहलमानता धर्मप्रजनपूजाभ्युत्थानाञ्जलिप्रणति-
वन्दना ऐदयुगोनान्यपुरुषदुर्लभगुणस्याप्यनुत्सिक्तता, अहकारात्यये
नीचैर्बृत्तिता भस्मावृत्तयेव हुतभुज स्वमाहात्म्याप्रकाशनं धर्म-
साधनेषु परमसंभ्रम इत्यादि । = जाति, बल, कुल, रूप, भुत, आज्ञा,
ऐश्वर्य और तपका मद करना, परकी अवज्ञा, दूसरेकी हँसी करना,
परनिन्दाका स्वभाव, धार्मिकजन परिहास, आत्मोत्कर्ष, परयशका
विलोप, मिथ्याकीर्ति अर्जन करना, गुरुजनोका परिभव, तिरस्कार,
दोषख्यापन, विहेडन, स्थानावमान भर्त्सन, और गुणावसादन करना,
तथा अज्ञलिस्तुति-अभिवादन-अभ्युत्थान आदि न करना, तीर्थ-
करोपर आक्षेप करना आदि नीचगोत्रके आस्रवके कारण है । जाति,
कुल, बल, रूप, वीर्य, ज्ञान, ऐश्वर्य और तप आदिकी विशेषता
होनेपर भी अपनेमें बडप्पनका भाव नहीं आने देना, परका तिरस्कार
न करना, अनौद्धत्य, असूया, उपहास, बदनामी आदि न करना, मान
नहीं करना, साधर्मी व्यक्तियोंका सम्मान, इन्हे अभ्युत्थान अंजलि,
नमस्कार आदि करना, इस युगमें अन्य जनोमें न पाये जानेवाले
ज्ञान आदि गुणोके होनेपर भी, उनका रचमात्र अहकार नहीं करना,
निरहंकार नम्रवृत्ति, भस्मसे ढँकी हुई अग्निकी तरह अपने माहा-
त्म्यका हिँडोरा नहीं पीटना, और धर्मसाधनोमें अत्यन्त आदरबुद्धि
आदि भी उच्चगोत्रके आस्रवके कारण है । (म. आ./वि./४४६/
६३३/३ तथा वहाँ उद्धृत ४ श्लोक)

गो क./मू./५०६/६५४ अरहंतादिषु भक्तो सुत्तरुची पडणुमाणगुणेषु ही ।
बधदि उच्चागोद विवरीओ बधदे इदर १८०६। = अर्हन्तादिमें भक्ति,
सूत्ररुचि, अध्ययन, अर्थविचार तथा विनय आदि, इन गुणोको
धारण करनेवाला उच्चगोत्र कर्मको बाँधता है और इसमें विपरीत
नीचगोत्रको बाँधता है ।

७. उच्च-नीच गोत्र या वर्णभेदका स्वामित्व क्षेत्र आदि

ह पु/७/१०२-१०३ आर्यामाह नरो नारीमार्यं नारी नर निजम् ।
भोगभूमिनरक्रीणा नाम साधारण हि तत् १०२। उत्तमा जातिरेकत्र
चातुर्वर्ण्यं न पट्टक्रिया । न स्वस्वामिकृत पुमा संबन्धो न च
लिङ्गिन १०३। = वह पुरुष स्त्रीको आर्या और स्त्री पुरुषको आर्य कहती
है । यथार्थमें भोगभूमिज स्त्री-पुरुषोका वह साधारण नाम है । १०२।
उम समय सबकी एक ही उत्तम जाति होती है । वहाँ न ब्राह्मणादि
चार वर्ण होते हैं और न हो अग्नि, मति आदि छह कर्म होते हैं, न
सेवक और स्वामीका सम्बन्ध होता है और न वेषधारी ही होते
हैं । १०३।

दे. वर्णव्यवस्था/१/४ (सभी देव व भोगभूमिज उच्चगोत्री तथा सभी
नारकी, तिर्यच व म्लैच्छ नीचगोत्री होते हैं ।)

घ. १५/६२/६ उच्चगोदस्स मिच्छाइट्ठिप्पहुडि जाव सजोगिकेवलि-
चरिमसमओ त्ति उदीरणा । णवरि मणुस्सो वा मणुस्सिणी वा सिया
उदीरेदि, देवो देवी वा सजदो वा णियमा उदीरेत्ति, संजदासंजदो
सिया उदीरेदि । णीचगोदस्स मिच्छाइट्ठिप्पहुडि जाव संजदा-
संजदस्स उदीरणा । णवरि देवेषु णत्थि उदीरणा, त्तिरिखणेरइएसु
णियमा उदीरणा, मणुसेसु सिया उदीरणा । एवं सामित्तं समत्तं ।
= उच्चगोत्रकी उदीरणा मिथ्यादृष्टिसे लेकर सयोगकेवलीके अन्तिम
समयतक होती है । विशेष इतना है, कि मनुष्य और मनुष्यणी तथा
संयतासंयत जीव कदाचित् उदीरणा करते हैं । देव, देवी तथा
संयत जीव उसकी उदीरणा नियमसे करते हैं । नीचगोत्रकी उदीरणा
मिथ्यादृष्टिसे लेकर संयतासयत गुणस्थानतक होती है, विशेष इतना
है कि देवोंमें उसकी उदीरणा सम्भव नहीं है, तिर्यचो व नारकियोंमें
उसकी उदीरणा नियमसे तथा मनुष्योंमें कदाचित् होती है ।

म. पु/७४/४४४-४६५ अच्छेदो मुक्तियोग्याया विदेहे जातिसंतते ।
तद्धेतुनामगोत्राद्व्यजीवाविच्छिन्नसभवात् १४६४। शेषयोस्तु चतुर्थे
स्यात्काले तज्जातिसंततिः । एवं वर्णविभागः स्यान्मनुष्येषु जिना-
गमे १४६५। = विदेहक्षेत्रमें मोक्ष जानेके योग्य जातिका कभी विच्छेद
नहीं होता, क्योंकि, वहाँ उस जातिमें कारणभूत नाम और गोत्रसे
सहित जीवोकी निरन्तर उत्पत्ति होती रहती है । १४६४। किन्तु भरत
और ऐरावत क्षेत्रमें चतुर्थकालमें ही जातिकी परम्परा चलती है,
अन्य कालोंमें नहीं । जिनागममें मनुष्योंका वर्ण विभाग इस प्रकार
बताया गया है । १४६५।

त्रि. सा./७१० तद्द पदोणमादिसंहदिसठाणमज्जणामजुदा । = वे भोग-
भूमिज देवति आर्य नामसे युक्त होते हैं । (म. पु./२/७६)

८. तिर्यचो व क्षायिक सम्यग्दृष्टि संयतासंयतोमें गोत्र सम्बन्धी विशेषता

घ. ५/३२७८/३६३/१० खइयसम्माइट्ठिसजदासजदेसु उच्चगोदस्स
सोदओ गिरतरो बधो, त्तिरिखेसु खइयसम्माइट्ठीसु सजदासज-
दाणमणुवलभादो । = क्षायिक सम्यग्दृष्टि संयतासयतोमें उच्चगोत्रका
स्वोदय एवं निरन्तर बन्ध होता है, क्योंकि, तिर्यच क्षायिक सम्यग्-
दृष्टियोंमें संयतासंयत जीव पाये नहीं जाते ।

घ. १५/१५२/४ त्तिरिखेसु णीचागोदस्स चैव उदीरणा होदि त्ति भण्दि-
ण, त्तिरिखेसु सजमासजम परिवालयतेस उच्चगोदत्तुवलभादो ।
= प्रश्न—तिर्यचोमें नीचगोत्रकी ही उदीरणा होती है, ऐसी प्ररूपणा
सर्वत्र की गयी है । परन्तु यहाँ उच्चगोत्रकी भी उनमें प्ररूपणा की
गयी है, अतएव इससे पूर्वापर कथनमें विरोध आता है । उत्तर—ऐसा
कहनेपर उत्तर देते हैं कि इसमें पूर्वापर विरोध नहीं है, क्योंकि,
सयमासयमको पालनेवाले तिर्यचोमें उच्चगोत्र पाया जाता है ।

९. गोत्रकर्मके अनुभाग सम्बन्धी नियम

घ. १२/४ २.१६८/४४०/२ सब्बुकस्सविंसोहीए हदसमुपत्तिर्यं कादूण
उप्पाडदजहण्णाणुभाग पेअखय सुहुमसापराइएण सब्बविंसुद्ध ण
बद्धुच्चागोदुकस्साणुभागस्स अणंतगुणत्तुवलभादो । गोदजहणाणु-
भागे वि उच्चागोदाणुभागो अत्थि त्ति णासकणिज्जं, बादरतेउक्काइ-
एमु पलिदोवमस्स असखेज्जदिभागमेत्तकालेण उब्बेलिद उच्चागोदेसु
अइविसोहीए धादिदणीचागोदेसु गोदस्स जहण्णाणुभागोभुवगमादो ।
घ. १२/४ २.१६३.२०४/४४१/६ बादरतेउवाउक्काइएसु उक्कस्सविसोहीए
धादिदणीचगोदाणुभागोसु गोदाणुभाग जहण्ण करिय तेण जहण्णाणु-
भागेण सह उजुगदीए सुहुमणिगोदेसु उप्पज्जिय तिसमयाहार-तिस-
मय तन्भवथस्स खेत्तेण सह भावो जहण्णओ किण्ण जायदे । ण,

बादरतेजवाउक्काइयपञ्जत्तएणु जादजहणाणुभागेण सह अण्णत्थ उप्पत्तोए अभावादी । जदि अण्णत्थ उप्पञ्जदि तो णियमा अणत्तगुणवड्ढोए वड्ढिदो चैव उप्पञ्जदि ण अण्णहा । = सर्वात्कृष्टविशुद्धिकेद्वारा हृत्समुत्पत्ति को करके उत्पन्न कराये गये जघन्य अनुभागकी अपेक्षा सर्वविशुद्ध सूक्ष्मसाम्प्रदायिक सयत्के द्वारा बाँधा गया उच्चगोत्रका उत्कृष्ट अनुभाग अनन्तगुणा पाया जाता है । प्रश्न—गोत्रके जघन्य अनुभागमें भी उच्चगोत्रका जघन्य अनुभाग होता है ? उत्तर—ऐसी आशंका नहीं करनी चाहिए, क्योंकि जिन्होंने पशुपमके असंख्यातत्रे भागमात्र कालके द्वारा उच्चगोत्रका उद्घेलन किया है व जिन्होंने अतिशय विशुद्धिके द्वारा नीचगोत्रका घात कर लिया है उन बादर तेजस्कायिक जीवोंमें गोत्रका जघन्य अनुभाग स्वीकार किया गया है । अतएव गोत्रके जघन्य अनुभागमें उच्चगोत्रका अनुभाग सम्भव नहीं है । प्रश्न—जिन्होंने उत्कृष्ट विशुद्धिके द्वारा नीचगोत्रके अनुभागका घात कर लिया है, उन बादर तेजस्कायिक व वायुकायिक जीवोंमें गोत्रके अनुभागको जघन्य करके उस जघन्य अनुभागके साथ ऋषुगतिके द्वारा सूक्ष्म निगोद् जीवोंमें उत्पन्न होकर त्रिसमयवर्ती आहारक और तद्भवस्थ होनेके तृतीय समयमें वर्तमान उसके क्षेत्रके साथ भाव जघन्य क्यों नहीं होता ? उत्तर—नहीं, क्योंकि, बादर तेजस्कायिक व वायुकायिक पर्याप्त जीवोंमें उत्पन्न जघन्य अनुभागके साथ अन्य जीवोंमें उत्पन्न होना सम्भव नहीं है । यदि वह अन्य जीवोंमें उत्पन्न होता है तो नियमसे वह अनन्तगुणवृद्धिसे वृद्धिको प्राप्त होकर ही उत्पन्न होता है, अन्य प्रकारसे नहीं ।

१०. दोनों गोत्रोंका जघन्य व उत्कृष्ट काल

घ. १५/६७/८ नीचगोदस्स जहण्णेण एगसमओ, उच्चागोदादो णीचागोदं गतूण तथ एगसमयमच्छिय विदियसमए उच्चागोदो उदयमागदे एगसमओ लम्भदे । उक्कस्सेण अंसंखेच्चापरियट्ठा । उच्चागोदस्स जहण्णेण एयसमओ, उत्तरसरीर विउत्तिय एगसमएण मुदस्स तपुवलभादो । एव णीचागोदस्स वि । उक्कस्सेण सागरोवमसदपुधत्त । = नीचगोत्रका उदीरणाकाल जघन्यसे एक समयमात्र है, क्योंकि, उच्चगोत्रसे नीच गोत्रको प्राप्त होकर और वहाँ एक समय रहकर द्वितीय समयमें उच्चगोत्रका उदय होनेपर एक समय उदीरणाकाल पाया जाता है । उत्कर्षसे वह असंख्यात पुद्गलपरिवर्तन प्रमाण है । (तिर्यच गतिमें उत्कृष्टरूप इतने काल तक रह सकता है) । उच्चगोत्रका उदीरणाकाल जघन्यसे एक समयमात्र है, क्योंकि, उत्तर शरीरकी विक्रिया करके एक समयमें मृत्युको प्राप्त हुए जीवके उक्त काल पाया जाता है । (उच्चगोत्रो शरीरवाला तो नीचगोत्रीके शरीरकी विक्रिया करके तथा नीचगोत्रो उच्चगोत्रीके शरीरकी विक्रिया करके एक समय पश्चात् मृत्युको प्राप्त होवे) नीचगोत्रका भी जघन्यकाल इसी प्रकारसे घटित किया जा सकता है । उच्चगोत्रका उत्कृष्टकाल सागरोपम शतपृथक्त्व प्रमाण है । (देवो व मनुष्योंमें भ्रमण करता रहे तो) — (और भी दे० वर्णव्यवस्था/३/३) ।

२. वर्णव्यवस्था निर्देश

१. वर्णव्यवस्थाकी स्थापनाका इतिहास

ति प ४/१६१८ चक्रवराउ दिजाण हवेदि वसस्स उप्पत्ती १६१८ = हुडावसपिणोकाकालमें चक्रवर्तीसे की गयी द्विजोके वर्णकी उत्पत्ति भी होती है ।

प पु ४/११-१२२ का भावार्थ—भगवान् ऋषभदेवका समवशरण आया जान भरत चक्रवर्तीने सबके मुनियोके उद्देश्यसे उत्तम उत्तम भोजन बनवाये और नौकरोंके सिरपर रखवाकर भगवात्के पास पहुँचा । परन्तु भगवान्ने उद्दिष्ट होनेके कारण उस भोजनको स्वीकार न किया । ११-१७ तत्र भरतने अन्य भी आवश्यक सामग्रोके साथ उस

भोजनको दान देनेके द्वारा व्रती श्रावकोंका सम्मान करनेके अर्थ उन्हें अपने यहाँ निमन्त्रित किया । १८-१०३। क्योंकि आनेवालोंमें सम्यग्दृष्टि व मिथ्यादृष्टि सभी थे इसलिए भरत चक्रवर्तीने अपने भवनके आँगनमें जौ, धान, मूँग, उडद आदिके अंकुर बोकर उन सबकी परीक्षा की और सम्यग्दृष्टि पुरुषोंकी छोट कर ली । १०४-११०। भरतका सम्मान पाकर उन्हें अभिमान जागृत हो गया और अपनेको महात् सम्भकर समस्त पृथिवी तलपर याचना करते हुए विचरण करने लगे । १११-११४। अने मन्त्रीके मुखसे उनके आगामी भ्रष्टाचारकी सम्भावना सुन चक्रवर्ती उन्हें मारनेके लिए उद्यत हुआ, परन्तु वे सब भगवान् ऋषभदेवकी शरणमें जाकर प्रार्थना करने लगे । और भगवान्ने भरतको उनका बध करनेसे रोक दिया । ११५-१२२।

ह. पु. ११/३३-३६ का भावार्थ—कहपयुक्षोके लोपके कारण भगवान् ऋषभदेवने प्रजाको असि मसि आदि षट्कर्मोंका उपदेश दिया । ३३-३६। उसे सीखकर शिल्पीजनोंने नगर ग्राम आदिकी रचना की । ३७-३८। उसी समय क्षत्रिय, वैश्य, और शूद्र ये तीन वर्ण भी उत्पन्न हुए । विनाशसे जीवोंकी रक्षा करनेके कारण क्षत्रिय, वाणिज्य व्यापारके योगसे वैश्य और शिल्प आदिके सम्बन्धसे शूद्र कहलाये । ३९। (म. पु. १६/१७६-१८३) ।

म. पु. १६/१८-१८७ का भावार्थ—उनमें भी शूद्र दो प्रकारके हो गये—कारु और अकारु (विशेष दे० वर्णव्यवस्था/४) । ये सभी वर्णोंके लोग अपनी-अपनी निश्चित-आजीविकाको छोड़कर अन्य वर्णकी आजीविका नहीं करते थे । १८४-१८७।

म. पु. १८/५-५० का भावार्थ—दिग्विजय करनेके पश्चात् भरत चक्रवर्तीको परोपकारमें अपना धन लगानेकी बुद्धि उपजी । ५। तब महामह यज्ञका अनुष्ठान किया । ६। सद्ब्रती गृहस्थोंकी परीक्षा करनेके लिए समस्त राजाओंको अपने-अपने परिवार व परिवर सहित उस उत्सवमें निमन्त्रित किया । ७-१०। उनके विवेककी परीक्षाके अर्थ अपने घरके आँगनमें अकुर फल व पुष्प भरवा दिये । ११। जो लोग बिना सोचे समझे उन अकुरोंको कुचलते हुए राजमन्दिरमें घुस आये उनको पृथक् कर दिया गया । १२। परन्तु जो लोग अकुरों आदिपर पाँव रखनेके भयसे अपने घरोंको वापस लौटने लगे, उनको दूसरे मार्गसे आँगनमें प्रवेश कराके चक्रवर्तीने बहुत सम्मानित किया । १३-२०। उनको उन-उनके व्रतो व प्रतिमाओंके अनुसार यज्ञ पवीतसे चिह्नित किया । २१-२२। (विशेष दे० यज्ञोपवीत) । भरतने उन्हें उपासकाध्ययन आदिका उपदेश देकर अर्हत् पूजा आदि उनके नित्य कर्म व कर्तव्य बताया । २४-२५। पूजा, वार्ता, दत्ति (दान), स्वाध्याय, समय और तप इन छह प्रकारकी विशुद्ध वृत्तिके कारण ही उनको द्विज सज्ञा दी । और उन्हें उत्तम सम्भ्रा गया । ४२-४४। (विशेष दे० ब्राह्मण) । उनको गर्भान्वय, दोशान्वय और कर्त्तव्य इन तीन प्रकारकी क्रियाओंका भी उपदेश दिया ।—(विशेष दे० सस्कार) । ५०।

म. पु. ४०/२२१ इत्थं स धर्मविजयी भरताधिगजो, धर्मक्रियासु कृत-धोर्त्पलोकसाक्षि । तात् सवतात् द्विजवरात् विनियम्य सम्यक् धर्मप्रिय समसृजत् द्विजनोक्तमर्गम् । २२१। = इस प्रकार जिसने धर्मके द्वारा विजय प्राप्त की है, जो धार्मिक क्रियाओंमें निपुण है, और जिसे धर्म प्रिय है, ऐसे भरतक्षेत्रके अधिपति महाराज भरतने राजा लोगोंकी साक्षोपूर्वक अच्छे-अच्छे व्रत धारण करनेवाले उन उत्तम द्विजोको अच्छी शिक्षा देकर ब्राह्मण वर्णकी सृष्टि व स्थापना की/२२१ ।

२. जैनान्नायमें चारों वर्णोंका स्वीकार

ति प ४/२२५० बहुविहवियपपजुत्ता खत्तियवइसाण तह य सुद्धान । वसा हवति कच्छे तिणि च्चिय तथ ण तु अण्णे । २२५०। = विदेह क्षेत्रके कच्छा देशमें बहुत प्रकारके भेदोंमें युक्त क्षत्रिय, वैश्य तथा

शूद्रके तीन ही वंश हैं, अन्य (ब्राह्मण) वंश नहीं है। १२२५० (ज. ५/७/५६), (दे० वर्णव्यवस्था/२/१)।

दे० वर्णव्यवस्था/२/१। (भरत क्षेत्रमें इस हुडावसर्पिणी कालमें भृगवात् ऋषभदेवने क्षत्रिय, वैश्य व शूद्र इन तीन वर्णोंकी स्थापना की थी। पीछे भरत चक्रवर्तीने एक ब्राह्मण वर्णकी स्थापना और कर दी।)

दे० श्रेणी/१। (चक्रवर्तीकी सेनामें १८ श्रेणियाँ होती हैं, जिनमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य व शूद्र इन चार श्रेणियोंका भी निर्देश किया गया है।)

ध. १/१, १, १/गा. ६१/६५ गोत्तेण गोदमो विष्णो चाउव्वेइयसडंगवि। णामेण इदधुदि च्चि सीलवं बन्हुत्तमो ६६।" = गौतम गोत्री, विप्रवर्णी, चारो वेद और षडंगविद्याका पारगामी, शीलवात् और ब्राह्मणोंमें श्रेष्ठ ऐसा वर्द्धमानस्वामीका प्रथम गणधर 'इन्द्रभूति' इस नामसे प्रसिद्ध हुआ ६६।

म. पु. ३८/४५-४६ मनुष्यजातिरेकेव जातिनामोदयोद्भवा। वृत्तिभेदाहि- ताद्भेदाच्चातुर्विध्यमिहाश्नुते ४५। ब्राह्मणा व्रतसंस्कारात्, क्षत्रिया' शस्त्रधारणात्। वणिजोऽर्थार्जनान्प्राप्यात् शूद्रा न्यवृत्तिसंश्रयात् ४६। = यद्यपि जाति नामकर्मके उदयसे उत्पन्न हुई मनुष्य जाति एक ही है, तथापि आजीविकाके भेदसे होनेवाले भेदके कारण वह चार प्रकारकी हो गयी है। ४५। व्रतोंके संस्कारसे ब्राह्मण, शस्त्र धारण करनेसे क्षत्रिय, न्यायपूर्वक धन कमानेमें वैश्य और नीच वृत्तिका आश्रय लेनेसे मनुष्य शूद्र कहलाते हैं ४६। (ह. पु./६/३६); (म. पु/ १६/२८४)।

३. केवल उच्च जाति मुक्तिका कारण नहीं है

स. श./मू व. टी १५६ जातिलिङ्गविकल्पेन येषां च समयाग्रह'। तेऽपि न प्राप्नुवन्त्येव परम पदमात्मन १५६। जातिलिङ्गरूपविकल्पोभेदस्तेन येषां शैवादीनां समयाग्रह' आगमानुबन्ध' उत्तमजाति-विशिष्ट हि लिङ्ग मुक्तिहेतुरित्यागमे प्रतिपादितमतस्तावन्मात्रेणैव मुक्तिरित्येवं- रूपो येषामागमाभिनिवेश' तेऽपि न प्राप्नुवन्त्येव परम पदमात्मन'। = जिन शैवादिकोंका ऐसा आग्रह है कि 'अमुक जातिवाला अमुक वेष धारण करे तभी मुक्तिकी प्राप्ति होती है' ऐसा आगममें कहा है, वे भी मुक्तिकी प्राप्ति नहीं हो सकते, क्योंकि जाति और लिंग दोनों ही जब देहाश्रित हैं और देह ही आत्माका ससार है, तब ससारका आग्रह रखनेवाले उससे कैसे छूट सकते हैं।

४. वर्णसंकर्यके प्रति शोकधाम

म. पु. १६/२४७-२४८ शूद्रा शूद्रेण बोढव्या नान्या ता स्वा च नैगम। वहेत् स्वा ते च राजन्य स्वा द्विजन्मा क्वचिच्च ता १२४७। स्वामिमा वृत्तिमुत्क्रम्य यस्त्वन्धा वृत्तिमाचरेत्। स पार्थिवैर्नियन्तव्यो वर्ण- सकोर्णिरन्यथा १२४८। = १ वर्णोंकी व्यवस्थाको सुरक्षित रखनेके लिए भृगवात् ऋषभदेवने ये नियम बनाये कि शूद्र केवल शूद्र कन्याके साथ विवाह करे, वैश्य वैश्य व शूद्र कन्याओंके साथ, क्षत्रिय क्षत्रिय, वैश्य व शूद्र कन्याओंके साथ तथा ब्राह्मण चारो वर्णोंकी कन्याओंके साथ विवाह करे (अर्थात् स्ववर्ण अथवा अपने नीचेवाले वर्णोंकी कन्याको ही ग्रहण करे, ऊपरवाले वर्णोंकी नहीं १२४७। २ चारो ही वर्ण अपनी-अपनी निश्चित आजीविका करे। आनी आजीविका छोड़कर अन्य वर्णकी आजीविका करने-वाला राजाके द्वारा दण्डित किया जायेगा १२४८। (म. पु/१६/१५७)।

३. उच्चता व नीचतामें गुणकर्म व जन्मकी कथंचित् प्रधानता व गौणता

१. कथंचित् गुणकर्मकी प्रधानता

कुरल/६८/३ कुलीनोऽपि कदाचारात् कुलीनो नैव जायते। निम्नजोऽपि सदाचारात् न निम्न प्रतिभासते ३। = उत्तम कुलमें उत्पन्न होनेपर भी यदि कोई सच्चरित्र नहीं है तो वह उच्च नहीं हो सकता और हीन वंशमें जन्म लेने मात्रसे कोई पवित्र आचारवाला नीच नहीं हो सकता ३।

म. पु./७४/४६१-४६५ वर्णाकृत्यादिभेदाना देहेऽस्मिन्नप्यदर्शनात्। ब्राह्म- ण्यादिषु शूद्राद्यैर्गर्भाधानप्रदर्शनात् ४६१। नास्ति जातिकृती भेदो मनुष्याणा गवाश्ववद। आकृतिग्रहणात्तस्मादन्यथा परिकल्प्यते। ४६२। जातिगोत्रादिकर्माणि शुक्लध्यानस्य हेतवः। येषु ते स्युस्त्रयो वर्णा' शेषा' शूद्राः प्रकीर्तिताः ४६३। अच्छेदो मुक्तियोग्याया विदेहे जातिसंततेः। तद्धेतुनामगोत्राद्व्यजीवाविच्छिन्नसंभवात् ४६४। शेषयोस्तु चतुर्थे स्यात्काले तज्जातिसंतति'। एवं वर्णविभाग' स्यान्मनुष्येषु जिनागमे ४६५। = १. मनुष्योंके शरीरोंमें न तो कोई आकृतिका भेद है और न ही गाय और घोड़ेके समान उनमें कोई जाति भेद है, क्योंकि, ब्राह्मणी आदिमें शूद्र आदिके द्वारा गर्भ- धारण किया जाना देखा जाता है। आकृतिका भेद न होनेसे भी उनमें जातिभेदकी कल्पना करना अन्यथा है। ४६१-४६२। जिनकी जाति तथा कर्म शुक्लध्यानके कारण हैं वे त्रिवर्ण (ब्राह्मण, क्षत्रिय व वैश्य) कहलाते हैं और बाकी शूद्र कहे जाते हैं। (परन्तु यहाँ केवल जातिकी ही शुक्लध्यानको कारण मानना योग्य नहीं है— दे० वर्णव्यवस्था/२/३) ४६३। (और भी दे० वर्णव्यवस्था/१/४)। २—विदेहक्षेत्रमें मोक्ष जानेके योग्य जातिका कभी विच्छेद नहीं होता, क्योंकि वहाँ उस जातिमें कारणभूत नाम और गोत्रसे सहित जीवोंकी निरन्तर उत्पत्ति होती रहती है ४६४। किन्तु भरत और ऐरावत क्षेत्रमें चतुर्थकालमें ही जातिकी परम्परा चलती है, अन्य कालोंमें नहीं। जिनागममें मनुष्योंका वर्णविभाग इस प्रकार बत- लाया गया है ४६५। —दे० वर्णव्यवस्था/२/१।

गो. क./मू./१३/६ उच्चं णीच चरण उच्चं णीच हवे गोद १३३। = जहाँ ऊँचा आचरण होता है वहाँ उच्चगोत्र और जहाँ नीचा आचरण होता है वहाँ नीचगोत्र होता है।

दे० ब्राह्मण/३—(ज्ञान, संयम, तप आदि गुणोंको धारण करनेसे ही ब्राह्मण है, केवल जन्मसे नहीं।)

दे० वर्णव्यवस्था/२/२ (ज्ञान, रक्षा, व्यवसाय व सेवा इन चार कर्मोंके कारण ही इन चार वर्णोंका विभाग किया गया है)।

सा. ध./७/२० ब्रह्मचारी गृही वानप्रस्थो भिक्षुश्च सप्तमे। चत्वारोऽपि क्रियाभेदादुक्ता वर्णवदाश्रमा १२०। = जिस प्रकार स्वाध्याय व रक्षा आदिके भेदसे ब्राह्मण आदि चार वर्ण होते हैं, उसी प्रकार धर्म क्रियाओंके भेदसे ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ व सन्यास ये चार आश्रम होते हैं। ऐसा सातवें अंगमें कहा गया है। (और भी —दे० आश्रम)।

मो. मा. प्र./३/८६/६ कुलकी अपेक्षा आपकी ऊँचा नीचा मानना भ्रम है। ऊँचा कुलका कोई निम्न कार्य करे तो वह नीचा होइ जाय। अर नीच कुलविषे कोई श्लाघ्य कार्य करे तो वह ऊँचा होइ जाय।

मो. मा. प्र./६/२५५/२ कुलकी उच्चता तो धर्मसाधनतै है। जो उच्च- कुलविषे उपजि हीन आचरण करे, तो वाकौ उच्च कैसे मानिये।
• धर्मपद्धतिविषे कुल अपेक्षा महत्त्वना नहीं संभवै है।

२. गुणवान् नीच भी ऊँच है

दे० सम्प्रदर्शन/१/५ (सम्प्रदर्शनसे सम्पन्न मार्तण देहज भी देव तुल्य है । मिथ्यास्व युक्त मनुष्य भी पशुके तुल्य है, और सम्प्रवत्त्व सहित पशु भी मनुष्यके तुल्य है ।)

नीतिवाक्यामृत/१२ आचारमनवद्यत्वं शुचिरुपकर' शरीरी च विशुद्धि' । करोति शूद्रमपि देवद्विजतपस्विपरिकर्मयोग्यम् । = अनवद्य चारित्र तथा शरीर व वस्त्रादि उपकरणोंकी शुद्धिसे शूद्र भी देवो द्विजो व तपस्विथोकी सेवाका (तथा धर्मश्रवणका) पात्र बन जाता है । (सा. ध./२/२२) ।

दे० प्रवज्या/१/२— (म्लेच्छ व सत् शूद्र भी कदाचित् मुनि व क्षुल्लक दीक्षा ग्रहण कर लेते हैं ।) (विशेष दे० वर्णव्यवस्था/४/२) ।

दे० वर्णव्यवस्था/१/८ (संयमासंयमका धारक तिर्यच भी उच्चगोत्री समझा जाता है)

३. उच्च व नीच जातिमें परिवर्तन

ध. १५/२८८/२ अजसकित्ति-दुर्भग-अणादेज्ज को वेदओ । अमुणपडि-वण्णो अण्णदरो तप्पाओगो । तित्थयरणाभाए को वेदओ । सजोगो अजोगो वा । उच्चागोदस्स तित्थयरभंगो । णीचागोदस्स अणा-देज्जभंगो । = अयश'कीर्ति, दुर्भग और अनादेयका वेदक कौन होता है ! उनका वेदक गुणप्रतिपन्नसे भिन्न तत्प्रायोग्य अन्यतर जीव होता है । तीर्थंकर नामकर्मका वेदक कौन होता है ? उसका वेदक सयोग (केवली) और अयोग (केवली) जीव भी होता है । उच्चगोत्रके उदयका कथन तीर्थंकर प्रकृतिके समान है और नीच-गोत्रके उदयका कथन अनादेयके समान है । (अर्थात् गुणप्रतिपन्नसे भिन्न जीव नीचगोत्रका वेदक होता है गुणप्रतिपन्न नहीं । जैसे कि तिर्यच—दे० वर्णव्यवस्था/३/२ ।

दे० वर्णव्यवस्था/१/१० (उच्चगोत्री जीव नीचगोत्रीके शरीरकी और नीचगोत्री जीव उच्चगोत्रीके शरीरकी विक्रिया करे तो उनके गोत्र भी उतने समयके लिए बदल जाते हैं । अथवा उच्चगोत्र उसी भवमे बदलकर नीचगोत्र हो जाये और पुन बदलकर उच्चगोत्र हो जाये, यह भी सम्भव है ।)

दे० यज्ञोपवीत/२ (किसीके कुलमें किसी कारणवश दोष लग जानेपर वह राजाज्ञासे शुद्ध हो सकता है । किन्तु दीक्षाके अयोग्य अर्थात् नाचना-गाना आदि कार्य करनेवालोंको यज्ञोपवीत नहीं दिया जा सकता । यदि वे अपनी योग्यतानुसार व्रत धारण कर ले तो यज्ञोपवीत धारणके योग्य हो जाते हैं ।)

धर्म परीक्षा/१७/२५-३१ (बहुत काल बीत जानेपर शूद्र शीलादि सदा-चार छूट जाते हैं और जातिच्युत होते देखिये हैं । १८५ जिन्होंने शील संयमादि छोड़ दिये ऐसे कुलीन भी नरकमे गये हैं । ३१ ।)

४. कथंचित् जन्मको प्रधानता

दे० वर्णव्यवस्था/१/३— (उच्चगोत्रके उदयसे उच्च व पुज्य कुलोंमें जन्म होता है और नीच गोत्रके उदयसे गर्हित कुलोंमें ।)

दे० प्रवज्या/१/२ (ब्राह्मण, क्षत्रिय व वैश्य इन तीन कुलोंमे उत्पन्न हुए व्यक्ति हो प्रायः प्रवज्याके योग्य समझे जाते हैं ।)

दे० वर्णव्यवस्था/२/४ (वर्णसाधक्यकी रक्षाके लिए प्रत्येक वर्णका व्यक्ति अपने वर्णकी अथवा अपने नीचेके वर्णकी ही कन्याके साथ विवाह करे, ऊपरके वर्णकी कन्याके साथ नहीं और न ही अपने वर्णकी आजीविकाको छोड़कर अन्यके वर्णकी आजीविका करे ।)

दे० वर्णव्यवस्था/४/१ (शूद्र भी दो प्रकारके हैं सत् शूद्र और असत् शूद्र । तिनमें सत् शूद्र स्पृश्य है और असत् शूद्र अस्पृश्य है । सत् शूद्र कदाचित् प्रवज्याके योग्य होते हैं, पर असत् शूद्र कभी भी प्रवज्याके योग्य नहीं होते ।)

मो. मा. प्र./३/२७/१५ क्षत्रियादिकनिकै (ब्राह्मण, क्षत्रिय व वैश्य इन तीन वर्ण वालोके) उच्चगोत्रका भी उदय होता है ।

दे० यज्ञोपवीत/२ (गाना नाचना आदि नीच कार्य करनेवाले सत् शूद्र भी यज्ञोपवीत धारण करने योग्य नहीं हैं ।)

५. गुण व जन्मकी अपेक्षाओंका समन्वय

दे० वर्णव्यवस्था/१/३ (यथा योग्य ऊँच व नीच कुलोंमें उत्पन्न करना भी गोत्रकर्मका कार्य है और आचार ध्यान आदिकी योग्यता प्रदान करना भी ।)

६. निश्चयसे ऊँच नीच भेदको स्थान नहीं

प. प्र./मू./२/२०७ एककु करे मण विण्ण करि मं करि वण्ण-विसेसु । इक्कई देवई जे वसइ तिहुयणु एहु असेसु । १०७ । = हे आत्मा ! तू जातिकी अपेक्षा सब जीवोंको एक जान, इसलिए राग और द्वेष मत कर । मनुष्य जातिकी अपेक्षा ब्राह्मणादि वर्णभेदको भी मत कर, क्योंकि, अभेद नयसे शुद्धात्माके समान ये सब तीन लोकमें रहने-वाली जीव राशि ठहरायो हुई हैं । अर्थात् जीवनेसे सब एक है ।

४. शूद्र निर्देश

१. शूद्रके भेद व लक्षण

म. पु./३८/४६ शूद्रा न्यगृत्तिसंश्रयात् । ४६ ।

म. पु./१६/१५६-१५६ तेषां शुश्रवणाच्छूद्रास्ते द्विधा कार्वाकारवः । कारवो रजकाद्याः स्युः ततोऽन्ये स्युरकारवः । १८५ । कारवोऽपि मत्ता द्वेषास्पृश्यास्पृश्यविकल्पतः । तत्रास्पृश्याः प्रजावाहाः स्पृश्याः स्युः कर्त्तकाद्यः । १८६ । = नीच वृत्तिका आश्रय करनेसे शूद्र होता है । ४६ । जो उनकी (ब्राह्मणादि तीन वर्णोंको) सेवा शुश्रूषा करते थे वे शूद्र कहलाते थे । वे शूद्र दो प्रकारके थे—कारु और अकारु । धोबी आदि शूद्र कारु कहलाते थे और उनसे भिन्न अकारु कहलाते थे । कारु शूद्र भी स्पृश्य तथा अस्पृश्यके भेदसे दो प्रकारके माने गये हैं । उनमें जो प्रजासे बाहर रहते हैं उन्हें अस्पृश्य और नाई वगैरहको स्पृश्य कहते हैं । १८६ । (मो. मा. प्र./८/४१५/२१) ।

प्रायश्चित्त चूलिका/भा. १५४ व उसकी टीका—“कारिणो द्विविधाः सिद्धाः भोज्याभोज्यप्रभेदतः । यदन्नपान ब्राह्मणक्षत्रियविट्शूद्रा भुञ्जन्ते भोज्याः । अभोज्या तद्विपरीतलक्षणा । ” = कारु शूद्र दो प्रकारके होते हैं—भोज्य व अभोज्य । जिनके हाथका अन्नपान ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र खाते हैं, उन्हें भोज्य कारु कहते हैं और इनसे विपरीत अभोज्य कारु जानने चाहिए ।

२. स्पृश्य शूद्र ही क्षुल्लक दीक्षाके योग्य हैं

प्र. सा./ता. वृ./२२५/प्रक्षेपक १० की टीका/३०६/२ यथायोग्यं सच्छूद्रा-द्यपि । = सत् शूद्र भी यथायोग्य दीक्षाके योग्य होते हैं (अर्थात् क्षुल्लक दीक्षाके योग्य होते हैं) ।

प्रायश्चित्त चूलिका/मूल व टीका/१५४ भोज्येष्वेव प्रदातव्यं सर्वदा क्षुल्लकव्रतम् । १५४ । भोज्येष्वेव प्रदातव्या क्षुल्लकदीक्षा नापरेषु । टीका । = कारु शूद्रोंमें भी केवल भोज्य या स्पृश्य शूद्रोंको ही क्षुल्लक दीक्षा दी जाने योग्य है, अन्यको नहीं ।

वर्णसमा—

न्या सू./मू. व भाष्य/३९१/४/२८८ साध्यदृष्टान्तयोद्घर्मविकल्पादुभय-साध्यत्वाच्चोत्कर्षापकर्षवर्णवर्णविकल्पसाध्यसम । ४ ।लोष्टः खलु क्रियावाद् विभुर्दृष्टः काममात्मापि क्रियावाद् विभुरस्तु विपर्यय वा विशेषो वक्तव्य इति । ख्यापनीयो वर्णो विपर्ययादवर्णः तावेतौ साध्यदृष्टान्तधर्मो विपर्ययतो वर्णवर्णसमौ भवतः ।

श्लो. वा/४/१/३३/न्या/श्लो ३४२/४०६ ख्यापनीया मतो वर्ष्यं स्याद-
वर्ष्यो विपर्ययात् । तस्मात् साध्यदृष्टान्तधर्मयोरत्र साधने । ३४२। =
प्रसिद्ध कथनके योग्य वर्ष्यं है और उससे विपरीत अवर्ष्यं है । ये
दोनों साध्यदृष्टान्तके धर्म हैं । इसके विपर्यय वर्ष्यावर्ष्यसम कहाते
हैं । जैसे लोष्ट क्रियावात् व विभु देखा जाता है, उसी प्रकार आत्मा
भी क्रियावात् व विभु हो जाओ । अथवा यो कहिए कि वर्ष्यं तो
साधनेयोग्य होता है और अवर्ष्यं असाध्य है । अर्थात्—दृष्टान्तमें
सन्दिग्धसाध्यसहितपनेका आपादन करना वर्ष्यसमा है और पक्षमें
असन्दिग्धसाध्यसहितपनेका प्रसंग देना वर्ष्यसमा है ।

वर्तना — स. सि./५/२२/२६१/४ वृत्तेर्णिजन्तात्कर्मणि भावे वा युटि
स्त्रीलिङ्गे वर्तनेति भवति । वर्त्यते वर्तनमात्र वा वर्तना इति ।
= णिजन्तमें 'वृत्ति' धातुसे कर्म या भावमें 'युट्' प्रत्ययके करनेपर
स्त्रीलिङ्गमें वर्तना शब्द बनता है । जिसकी व्युत्पत्ति 'वर्त्यते' या
'वर्तनमात्रम्' होती है । (रा. वा/५/२२/२/४०६/२८) ।

रा. वा/५/२२/४/४७७/३ प्रतिद्रव्यपर्यायमन्तर्नीतैकसमया स्वसत्तानु-
भूतिवर्तना । ४। = प्रत्येक द्रव्य प्रत्येक पर्यायमें प्रतिसमय जो
स्वसत्ताकी अनुभूति करता है उसे वर्तना कहते हैं । (त सा./
३/४१) ।

द्र. स./टी./२१/६१/४ पदार्थपरिणतेर्यत्सहकारित्वं सा वर्तना भण्यते ।
= पदार्थकी परिणतिमें जो सहकारोपना या सहायता है, उसको
'वर्तना' कहते हैं ।

वर्तमान काल—

दे० काल/३/७ (वर्तमान कालका प्रमाण एक समय मात्र है ।)

दे० नय/III/५/७ (विवक्षित पर्यायके प्रारम्भ होनेसे लेकर उसका अन्त
होने तकका काल वर्तमान काल है । सूक्ष्म व स्थूलकी अपेक्षा वह
दो प्रकार है । सूक्ष्म एक समयमात्र है और स्थूल अन्तर्मुहूर्तसे लेकर
सख्यात्-वर्ष तक है ।)

वर्तमान नैगमनय—दे० नय/III/२ ।

वर्द्धल—षष्ठ नरकका द्वितीय पटल—दे० नरक/५ ।

वर्द्धमान—१. प्र. सा/ता वृ/१/३/१६ अब समन्तादृद्धं वृद्धं मानं
प्रमाण ज्ञानं यस्य स भवति वर्द्धमान । = 'अब' अर्थात् समन्तात्,
ऋद्धम् अर्थात् वृद्ध, मान अर्थात् प्रमाण या ज्ञान । अर्थात् हर प्रकारसे
वृद्ध ज्ञान जिसके होता है ऐसे भगवात् वर्द्धमान है । २. भगवात्
महावीरका अपरनाम भी वर्द्धमान है—दे० महावीर । ३. रुचक
पर्वतका एक कूट है—दे० लोक/५/१३५४. अवधिज्ञानका एक भेद ।
—दे० अवधिज्ञान/१ ।

वर्द्धमानचरित्र—कवि असग (ई. ६८८) द्वारा रचित १८ सर्ग
प्रमाण हिन्दी महाकाव्य । (ती./४/१२) ।

वर्द्धमानयंत्र—दे० यंत्र ।

वर्धकि—कौशल देशका एक नगर—दे० मनुष्य/४ ।

वर्ष—१. कालका एक प्रमाण । अपरनाम सवत्सर—दे० गणित/II/१/४ ।
२. आज भी कन्नौजमें 'वर्ष' नाम वसतिका है—(ज. प./प्र १२६/
A. N. Up. व H. L. Jain) ।

वर्षधर—स. सि./३/११/२१४/११ वर्षविभागहेतुत्वाद्बर्षधरपर्वता
इत्युच्यन्ते । = हिमवात् आदि पर्वतके कारण क्षेत्रोका विभाग
होता है, इसलिए इन्हें वर्षधर पर्वत कहते हैं । —(विशेष दे०
लोक/३/४) ।

द्र. सं./टी./३५/१२१/१ वर्षधरपर्वता सीमापर्वता इत्यर्थ । = पर्वतका
अर्थ यहाँ वर्षधरपर्वत अथवा सीमापर्वत है ।

वर्षायोग—१. वर्षायोगका लक्षण—दे० काय-क्लेश/याग । २. वर्षा-
योग सम्बन्धी नियम—दे० पाद्यस्थिति कल्प । ३. वर्षायोग प्रतिष्ठा-
पन व निष्ठापन विधि—दे० कृत्तिकर्म/४ ।

वलय—Ring (ज. प./प्र १०८) ; (घ. ५/प्र २८) ।

वलाहक—विजयार्थकी उत्तर श्रेणीका एक नगर ।—दे० विन्धाधर ।

वलीक—भगवात् वीरके तीर्थके एक अन्तकृत् केवली ।—दे०
अन्तकृत् ।

वलकल—एक अज्ञानवादी—दे० अज्ञानवाद ।

वल्गु—१. सौधर्म स्वर्गका चतुर्थ पटल ।—दे० स्वर्ग/५/३। २. अपर
विदेहका एक क्षेत्र । अपर नाम गन्धा ।—दे० लोक/५/२। ३. नागगिरि
वक्षारका एक कूट ।—दे० लोक/५/४ ।

वल्लभ—वेदान्तकी एक शाखाके प्रवर्तक । समय—ई. श. १५ ।
—दे० वेदान्त ।

वल्लभिका—१. इन्द्रोको प्रीति उत्पन्न करनेवाली तथा उन्हे
अपनी विक्रिया, प्रभाव, रूप, स्पर्श तथा गन्धसे रमानेवाली, उनके
अभिप्रायके अनुसार १६००० विक्रियाएँ उत्पन्न करनेवाली वल्ल-
भिका देवियों होती है । (ज. प./११/२६२-२६७) । २. प्रत्येक
इन्द्रकी वल्लभिका देवियों ।—दे० देवगणिका वह-वह नाम ।

वल्लि भूमि—समवशरणकी तीसरी भूमि ।—दे० समवशरण ।

वशात मरण—दे० मरण/१ ।

वशित्व विक्रिया ऋद्धि—दे० ऋद्धि/३ ।

वशिष्ठ—ह. पु/३३/श्लोक—एक क्षापस था । ४६। राज्य दरबारमें
सरसे मखलियों निकलनेके कारण लज्जित हुआ । ४७-५७। वीरक
मुनिसे दोष ले एकलविहारी हो गया । ५८-७४। एक महौनेका उप-
वास धारा । पीछे पारणावश नगरमें गया तो आहार लाभ न हुआ,
क्योंकि राजा उग्रसेनने स्वयं आहार देनेके लिए प्रजाको आहार-
दान करनेको मना कर दिया था और काममें व्यस्त होनेके कारण
स्वयं भी आहार न दे सका था । तब वह साधु निदानपूर्वक मरकर
उसी राजाके घर कस नामका पुत्र हुआ, जिसने उसको बन्दी
बनाकर बहुत दुःख दिया । ७५-८४। यह कसका पूर्वका भव है ।
—दे० कंस ।

वश्यकर्म—वसतिकाका एक दोष ।—दे० वसतिका ।

वश्यकयंत्र—दे० यंत्र ।

वसंत—सुमेरुपर्वतका अपर नाम ।—दे० सुमेरु ।

वसंतभद्रवत—क्रमशः ५. ६. ७. ८. ९ इस प्रकार ३५ उपवास करे ।
बीचके स्थानोंमें एक-एक पारणा करे । (ह. पु./३४/६६) ।

वसतिका—माधुके ठहरनेका स्थान वसतिका कहलाता है । वह
मनुष्यों, तिर्यचो व शीत-उष्णादिकी बाधाओंसे रहित होना
चाहिए । ध्यानाध्ययनकी सिद्धिके अर्थ एकान्त गुफा व शून्य स्थान
ही उसके लिए अधिक उपयुक्त है ।

१. वसतिकाका सामान्य स्वरूप

भ आ/पु/६/३६-६३८/८३६ उगमउत्पादनसणाविसुद्धाए अकिरियाए
हु । वसइ असंसत्ताए णिष्णाहुडियाएसेजजाए । ६३६। सुहणिवखण-
पवेसुणवणाओ अवियडअणघयाराओ । ६३७। घणकुडु सक्वाडे गाम-
बहि बालबुडुगणजोगे । ६३८।

भ. आ./मू./२२६/४४२ वियडाए अवियडाए समविसमाए वहि च अतो वा । १२२६।—१. जो उद्गम उत्पादन और एषणा दोषोसे रहित है, जिसमें जन्तुओंका वास न हो, अथवा बाहरसे आकर जहाँ प्राणी वास न करते हो, सस्काररहित हो, ऐसी वसतिकामें मुनि रहते हैं। (भ. आ./मू./२३०/४४३)—(विशेष दे. वसतिका/७) २ जिसमें प्रवेश करना या जिसमेंसे निकलना सुखपूर्वक हो सके, जिसका द्वार ढका हो, जहाँ विपुल प्रकाश हो । ६३७। जिसके किवाड़ व दीवारें मजबूत हों, जो ग्रामके बाहर हो, जहाँ बाल, वृद्ध और चार प्रकारके गण (मुनि आर्यिका श्रावक श्राविका) आ जा सकते हों । ६३८। जिसके द्वार खुले हो या भिड़े हो, जो समभूमि युक्त हो या विषम भूमि युक्त हो, जो ग्रामके बाह्यभागमें हो अथवा अन्तमें हो ऐसी वसतिकामें मुनि रहते हैं । १२२६।

२. ध्यानाध्ययनमें बाधा कारक व मोहोत्पादक न हो

भ. आ./मू./२२८, ६३५ जत्थ ण सोत्तिग अत्थि दु सद्दसरूवगंधफासेहि । सज्जायज्जाणवाधादो वा वसधी विवित्ता सा । २२८। पचिदियप्पयादो मणसंखोभकरणो जहि णत्थि । चिद्धिदि तत्ति तिगुत्तो ज्जाणोण सहप्पवत्तेण । ६३५।—जहाँ अमनोहर या मनोहर स्पर्श रस गन्ध रूप और शब्दों द्वारा अशुभ परिणाम नहीं होते, जहाँ स्वाध्याय व ध्यानमें विघ्न नहीं होता । २२८। जहाँ रहनेसे मुनियोंकी इन्द्रियाँ विषयोंकी तरफ नहीं दौड़ती, मनकी एकप्रता मग्न नहीं होती और ध्यान निर्विघ्न होवे, ऐसी वसतिकामें मुनि निवास करते हैं । ६३५।

मू. आ./६४६ जत्थ कसायुप्पत्तिरभत्तिदियदारइत्थिजणबहुलं । दुक्खमुवसरगबहुलं भिक्खु खेतं विवज्जेज्ज । ६४६।—जिस क्षेत्रमें कषायकी उत्पत्ति हो, आदरका अभाव हो, सूखता हो, इन्द्रियविषयोंकी अधिकता हो, खा आदि बहुत जनोका संसर्ग हो, तथा क्लेश व उपसर्ग हो, ऐसे क्षेत्रको मुनि अवश्य छोड़ दें।

ज्ञा./२७/३१ किं च क्षोभाय मोहाय यद्विकाराय जायते । स्थान तदपि मोक्तव्यं ध्यानविध्वंसशङ्कितैः । ३१।—ध्यानविध्वंसके भयसे क्षोभकारक, मोहक तथा विकार करनेवाला स्थान भी छोड़ देना चाहिए । ३१। (अन. ध./७/३०/६८९)

३. कुशीलसंसक्त स्थानोंसे दूर होनी चाहिए

भ. आ./मू./६३३-६३४/८३४ गंधव्वणद्वजद्वस्स चक्कजत्तगिगकम्मफरुसे य । णत्तिजया पाडहि पाडहिडोबणडरायमग्गे । ६३३। चारण कोट्टगकल्लालकरकचे पुप्फदयसमीपे च । एवविध वसधीए होज्ज समधीए बाधादो । ६३४।—गन्धर्व, गायन, नृत्य, गज, अश्व आदि शालाओंके, तैली, कुम्हार, धोबी, नट, भांड, शिल्पी, कुलाल आदिके धरोके तथा राज्यमार्गके तथा बगोचे व जलाशयके समीपमें वसतिका हानेसे ध्यानमें विघ्न पडता है । ६३३-६३४।

मू. आ./३५७ तेरिक्खी माणुस्सिय सविकारिणि-देविगेहिससत्ते । बज्जेति अप्पमत्ता णिलए सयणासणट्ठाणे । ३५७।—गाय आदि तिर्यचिनी, कुशील स्त्री, भवनवासी व्यन्तरी देवी, असंयमी गृहस्थ, इनके रहनेके निवासको यत्नचारी मुनि शयन करने, बैठने व खड़े होनेके लिए छोड़े ।

रा. वा./६/६/१६/५६७/३४ संयतेन शयनासनशुद्धिपरेण स्त्रीधुद्रचौरपानाक्षोण्डशाकुनिकादिपापजनवासा वज्यां, शृङ्गारविकारभूषणो-ज्जल्लवेषवेश्याक्रोडाभिरामगीतनृत्यवादित्राकुलशालादयश्च परि-हर्त्तव्याः ।—शय्या और आसनकी शुद्धिमें तत्पर सयत्को स्त्री, धुद्र-जन्तु, चोर, मद्यपान, जुआ, शराबी, और चिडोमार आदिके स्थानोंमें नहीं बसना चाहिये । और शृंगार, विकार, आभूषण, उज्ज्वलवेष, वेश्याक्रोडा, मनोहर गीत, नृत्य, वादित्र आदिसे परिपूर्ण शालाओं आदिमें रहने आदिका त्याग करना चाहिए । (बो. पा./टी./५७/१२०/२०)

दे. कृतिकर्म/३/४/३ (रुद्र आदिके मन्दिर तथा दुष्ट स्त्री पुरुषोंसे संसक्त स्थान ध्यानके लिए अत्यन्त निषिद्ध है)

४. स्त्रियों व अन्य जन्तुओं आदिकी बाधासे रहित व अनुकूल होनी चाहिए

भ. आ./मू./२२६/४४२ इत्थिणउसयसुवज्जिदाए सीदाए उसिणाए । २२६। =जो स्त्री पुरुष व नपुंसक जनोसे वर्जित हो, तथा जो शीत व उष्ण हो अर्थात् गर्मियोंमें शीत और सर्दियोंमें उष्ण हो, ऐसी वसतिका योग्य है ।

स. सि./१/१६/४३८/१० विवित्तेषु जन्तुपीडाविरहितेषु सयत्तस्य शय्या-सनम् कर्त्तव्यमिति । =एकान्त व जन्तुओंकी पीडासे रहित स्थानोंमें मुनिको शय्या व आसन लगाना चाहिए । (रा. वा./६/१६/१२/६१६/१३)

घ. १३/५.४.२६/५८/८ स्थी-पसु-संख्यादीहि ज्जाणज्जेयविग्घकारणेहि वज्जिय पवेसा विवित्त णाम । =ध्यान और ध्येयमें विघ्नके कारण-भूत स्त्री, पशु और नपुंसक आदिसे रहित प्रदेश विवित्त कहलाते हैं । (बो. पा./टी./५७/१२०/१६ तथा ७८/२२२/५)

दे. वसतिका/नं [जिसमें जन्तुओंका वास न हो और जहाँ प्राणी बाहरसे आकर न ठहरते हो, ऐसा स्थान योग्य है । (वसतिका/१ में भ. आ./मू./६३६) । स्त्रियों व बहुजन संसर्ग तथा क्लेश व उपसर्गसे रहित स्थान मुनियोंके रहने योग्य है । (वसतिका/२/में मू. आ./६४६) । कुशीली स्त्रियों, तिर्यचिनियों, देवियों, दुष्ट पुरुषोंसे संसक्त स्थान तथा देवी-देवताओंके मन्दिर वर्जनीय है (वसतिका/३) ।]

दे. कृतिकर्म/३/४/२ [पवित्र, सम, निजन्तुक, स्त्रियों, नपुंसकों व पशु-पक्षियोंकी कटक आदिकी बाधाओसे रहित स्थान ही ध्यानके योग्य है ।]

५. नगर व ग्राममें बसनेका निषेध

दे. वसतिका/१ में भ. आ./मू./२२६, ६३८ (मुनिको या क्षपककी वस-तिका ग्रामसे बाहर या ग्रामके अन्तमें होनी चाहिए ।)

आ. अन्तु/१२७-१६८ इतस्ततश्च त्रस्यन्तो विभावय्यां यथा मृगाः । वनाद्विशत्युपग्रामं कलौ कष्टं तपस्विनः । १६७। वरं गार्हस्थ्यमेवाद्य तपसो भाविजन्मन । श्व स्त्रीकटाक्षलुण्टाक्लोध्यवैराग्यसंपदः । १६८। =जिस प्रकार सिंहादिके भयसे मृगादि रात्रिके समय गोंवके निकट आ जाते हैं, उसी प्रकार इस कलिकालमें मुनिजन भी वनको छोड़ गोंवके समीप रहने लगे हैं, यह खेदकी बात है । १६७। यदि आजका ग्रहण किया तप कल स्त्रियोंके कटाक्षरूप लुटेरीके द्वारा वैराग्य सम्पत्तिसे रहित कर दिया जाय तो इस तपकी अपेक्षा तो गृहस्थ जीवन ही कहीं श्रेष्ठ था । १६८।

६. शून्य गृह, गिरिगुहा, वृक्षकी कोटर, श्मशान आदि स्थान साधुके योग्य हैं

भ. आ./मू./गा. सुण्णघरगिरिगुहारुक्खमूल विचित्ताडं । २३१। उज्जाण-घरे गिरिकदरे गुहाए व सुण्णहरे । ६३८। =शून्यघर, पर्वतकी गुफा, वृक्षका मूल, अकृत्रिम गृह ये सब विवित्त वसतिकाएँ हैं । २३१। उद्यानगृह, गुफा और शून्यघर ये भी वसतिका व क्षपकका सस्तर करनेके योग्य माने गये हैं । ६३८।

मू. आ./६५० गिरिकदरं मसाणं सुण्णागारं च रुक्खमूलं वा । ठाणं विरागबहुलं धीरा भिक्खु णित्सेव्ज्ज । ६५०। =पर्वतकी गुफा (व कन्दरा) श्मशानभूमि, शून्यघर, और वृक्षकी कोटर ऐसे वैराग्यके कारण-स्थानोंमें धीर मुनि रहे । ६५०। (मू. आ./७८७-७८६) ; (अन. घ./७/३०/६८९) ।

बो. पा./मू./४२ सुणहरे तरुहिट्टे उज्जाणे तह मसाणवासे वा । गिरिगुह गिरिसिहरे वा भोमवणे अहव वसिते वा ।४२। =सूना घर, वृक्षका मूल अर्थात् कोटर, उद्यानवन, श्मशानभूमि, गिरिगुफा, गिरिशिखर, भयानकवन, अथवा वसतिका इनविषै दोक्षासहित मुनि तिष्ठे १४२।

त. सू./७/६ शून्यागारविमोचितावास. ।६। =शून्यागार विमोचितावास ये अचौर्यमहाव्रतकी भावनाएँ है ।

स. सि./६/१६/४३८/१० शून्यागारादिषु विविक्तेषु. सयतस्य शय्यासनम्. कर्तव्यमिति पञ्चमं तप । =शून्यघर आदि विविक्त स्थानोमें सयतको शय्यासन लगाना चाहिए । ये पाँचवों (विविक्त शय्यासन नामका) तप है । (रा वा./६/१६/१२/६१६/१२), (बो. पा./टी./७८/२२२/६) ।

रा वा./६/६/१६/५६७/३६ अकृत्रिमगिरिगुहातरुकोटरादय कृत्रिमाश्च शून्यागारादयो मुक्तमोचितावासा. । = (शय्यासनकी शुद्धिमें तत्पर सयतको) आकृतिक गिरिगुफा, वृक्षको खोह, तथा शून्य या छोड़े हुए मकानोमें बसना चाहिए ।

श्र. १३/५,४,२६/५८ गिरिगुहा-कंदर-पम्भार-सुसाण-सुणहरारामुज्जाणाओ पदेसा विविक्तं पाण । = गिरिकी गुफा, कन्दरा, पम्भार (शिक्षागृह—दे० अगला शीर्षक), श्मशान, शून्यघर, आराम और उद्यान आदि प्रदेश विविक्त कहलाते है ।

दे. कृत्तिकर्म/३/४/१ (पर्वतकी गुफा, वृक्षकी कोटर, नदीका किनारा या पुल, शून्य घर आदि ध्यानके लिए उपयुक्त स्थान है ।)

७. अनुद्दिष्ट धर्मशाला आदि भी युक्त है

भ. आ./मू./२३१,६३६...आगंतुगारदेवकुले । अकरूपम्भारारामधरादीणि य विचिच्छाई ।२३१। आगंतुगरादिसु वि कडएहि य विलिमिलीहि कायवो । खवयस्सोगारा धम्मसवणमंडवादी य ।६३६। = देवमन्दिर, व्यापारार्थ भ्रमण करनेवाले व्यक्तियोंके निवासार्थ बनाये गये घर, पम्भार (शिक्षागृह), अकृत्रिम गृह, क्रीडार्थ आने-जानेवालोंके लिए बनाये गये घर ये सब विविक्त वसतिकाएँ है ।२३१। व्यापारियोंके ठहरनेके लिए निर्माण किये गये घर या ऐसी वसतिकाएँ उपलब्ध न हों तो क्षपकके लिए बरस व पत्तों आदिका आच्छादन या सभामंडप आदि भी काममें लाये जा सकते है ।६३६।

रा. वा./६/६/१६/७६७/३६ कृत्रिमाश्च शून्यागारादयो मुक्तमोचितावासा अनारमोद्देशनिर्बतिता निरारम्भा. सेव्या. । = (शय्या और आसनकी शुद्धिमें तत्पर संयतको) शून्य मकान या छोड़े हुए ऐसे मकानोमें बसना चाहिए जो उनके उद्देशसे नहीं बनाये गये हों और न जिनमें उनके लिए कोई आरम्भ ही किया गया हो ।— (और भी वे वसतिका/१,६) ।

८. वसतिकाके ४६ दोषोंका निर्देश

१. उद्गम दोष निरूपण

भ आ./वि./२३०/४४३/१० तत्रोद्गमा दोषो निरूप्यते वृक्षच्छेदस्तदानयन्यं, इष्टकापाक भूमिखननं...इत्येवमादिव्यापारेण षण्णा जीव-निकाशानां बाधा कृत्वा स्वेन वा उत्पादिता, अन्येन व कारिता वसतिराधाकर्मशब्देनाच्यते । यावन्तो दीनानाथकृपणा आगच्छन्ति लिङ्गिनो वा तेषामियमित्युद्दिश्य कृता, पाषंडिनामेवेति वा श्रमणा-नामेवेति, निर्ग्रन्थानामेवेति सा उद्देशिणा वसदिति भण्यते । आत्मार्थं गृहं कुर्वता अपवरक सयतानां भवति कृतं अभोवन्म-मित्युच्यते । आत्मनो गृहार्थमानीतौ काष्ठादिभि सह बहुभि-श्रमणार्थमानीयात्पेन मिश्रिता यत्र गृहे तत्पुत्तिकमित्युच्यते । पाषंडिना गृहस्थानां वा क्रियमाणे गृहे पश्चात्सयतानुद्दिश्य काष्ठा-दिमिश्रेण निष्पादितं वेशमिश्रम् । स्वार्थमेव कृतं संयतार्थमिति

स्थापितं ठविद इत्युच्यते । संयतं स च यावद्भिर्दिनैरागमिष्यति तत्प्रवेशदिने गृहसंस्कार सकल करिष्याम इति चेतसि कृत्वा यत्संस्कारित वेशम तत्पाहुडिगमित्युच्यते । (यक्षनागमात्काकुलदेव-ताद्यर्थं कृतं गृहं तेभ्यश्च यथास्व दत्त तद्दत्तावशिष्टं यतिभ्यो दीयमानं बलिर्दित्युच्यते) । तदागमानुरोधेन गृहसंस्कारकालापह्लासं कृत्वा वा संस्कारिता वसति प्रदीपकं वा तत्पाहुडिगमित्युच्यते । यद्-गृह अन्धकारबहुलं तत्र बहुप्रकाशसपादनय यतीना धिद्रीकृतकुड्यं, अपाकृतफलक, सुविन्यस्तपदीपक वा तत्पाहुडिगमित्युच्यते । द्रव्यक्रीतं भावक्रीतं इति द्विविधं क्रीतं वेशम, सच्चित्तं गोषलीवर्हा-दिक दत्त्वा सयतार्थक्रीत, अचित्तं वा घृतगुडखण्डादिक दत्त्वा क्रीत द्रव्यक्रीतम् । विद्यामन्त्रादिदानेन वा क्रीतं भावक्रीतम् । अक्षयमूर्णं कृत्वा वृद्धिसहितं अवृद्धिक पा गृहीतं सयतेभ्य पमिच्छ उच्यते । मदीये वेशमनि तिष्ठतु भवान् युष्मदीयं तावद्गृहं यतिभ्यः प्रयच्छेति गृहीतं परिग्रहमित्युच्यते । कुड्याद्यर्थं कुटोरककटादिकं स्वार्थं निष्पन्नमेव यत्सयतार्थमानीतं तद्भ्यहडिमुच्यते । तद्द्विविधमाच-रितमनाचरितमिति । दूरदेशाद्ग्रामान्तरादानीतमनाचरित । इष्ट-कादिभि, मृत्पिण्डेन, वृत्त्या, क्वाटेनोपलेन वा स्थगितं अपनीय दीयते यत्सुद्दिन्नं । निश्रेण्यादिभिरारुह्य इत् आगच्छत युष्माकमिय वसतिरिति या दीयते द्वितीया तृतीया वा भूमि सा मासाराहमि-त्युच्यते । राजामास्यादिभिर्भयसुपदर्श्यं परकीयं यद्दीयते तदुच्यते अच्छेच्छं इति । अनिमृष्टं पुनर्द्विविधं । गृहस्वामिना अनियुक्तेन या दीयते वसति यस्वामिनापि बालेन परवशवर्तिना दीयते सोभयप्रयनिसृष्टेति उच्यते । उद्गमदोषा निरूपिता । = १. भाड तोडकर लाना, ईटें पकवाना, जमीन खोदना, इत्यादि क्रियाओंसे षट्काय जीवोंको बाधा देकर स्वयं वसतिका बनायी हो या दूसरोंसे बनवायी हो वह वसतिका अधःकर्मके दोषसे दूषित है । २. "दीन, अनाथ अथवा कृपण आवेगे अथवा सर्वधर्मके साधु आवेगे, किवा जैनधर्मसे भिन्न ऐसे साधु अथवा निर्ग्रन्थमुनि आवेगे, उन सब जनोंको यह वसतिका होगी", इस उद्देश्यसे जो वसतिका बाँधी जाती है वह उद्देशिक दोषसे दूष है । ३. जब गृहस्थ अपने लिए घर बँधवाता है, तब 'यह कोठरी सयतोंके लिए होगी' ऐसा मनमें विचारकर बँधवायी गयी वह वसतिका अभोभव दोषसे दूष है । ४. अपने घरके लिए लाये गये बहुत काष्ठादिकोंसे श्रमणोंके लिए लाये हुए काष्ठादिक मिश्रण कर बनायी गयी जो वसतिका वह पुत्तिकदोषसे दूष है । ५. पाषंडी साधु अथवा गृहस्थोंके लिए घर बाँधनेका कार्य शुरू हुआ था, तदनन्तर सयतोंके उद्देश्यसे काष्ठादिकोंका मिश्रण कर बनवायी जो वसतिका वह मिश्रदोषसे दूषित समझना चाहिए । ६. गृहस्थने अपने लिए ही प्रथम बनवाया था परन्तु अनन्तर 'यह गृह सयतोंके लिए हो' ऐसा संकल्प जिसमें हुआ है वह गृह स्थापितदोषसे दूष है । ७. "सयत अर्थात् मुनि इतने दिनोंके अनन्तर आवेगे अतः जिस दिनमें उनका आगमन होगा उस दिनमें सब घर भाडकर, लीपकर स्वच्छ करेंगे," ऐसा मनमें संकल्पकर प्रवेश दिनमें वसतिकाका संस्कृत करना पाहुडिग नामका दोष है । ८. (मूलाराधना दर्पणके अनुसार पाहुडिगसे पहिले बलि नामक दोष है । उसका लक्षण वहाँ इस प्रकार किया है)—यज्ञ, नाग, माता, कुलदेवता, इनके लिए घर निर्माण करके उनको देकर अवशिष्ट रहा हुआ स्थान मुनिको देना यह बलि नामक दोष है । ९. मुनिप्रवेशके अनुसार संस्कारके कालमें हासकर अर्थात् उनके पूर्व ही संस्कारित जो वसतिका वह प्रादुष्कृत दोषसे दूषित समझनी चाहिए । १०. जिस घरमें विपुल अन्धकार हो तो वहाँ प्रकाशके लिए भित्तिमें छेद करना, वहाँ काष्ठाका फलक है तो उसे निकालना, उसमें दीपककी योजना करना यह प्रदुष्कारदोष है । ११. द्रव्यक्रीत और भावक्रीत ऐसे खरीदे हुए घरके दो भेद हैं । गाय, बैल, बगैरह सच्चित्त पदार्थ देकर संयतोंके लिए खरीदा हुआ जो घर उसको सच्चित्त द्रव्यक्रीत कहते हैं । घृत, गुड, खाँड ऐसे

अचित्त पदार्थ देकर खरीदा हुआ जो घर उसको अचित्तव्यपक्रं त कहते हैं। विद्या मन्त्रादि देकर खरीद हुए घरको भावक्रोत कहते हैं। १२ अन्न चूर्ण करके और उसका सूद देकर अथवा न देकर सयतीके लिए जो मकान लिया जाता है वह पामिच्छदोषसे दूषित है। १३ "मेरे घरमें आप ठहरी और आपका घर मुनियाको रहनेके लिए दो—" ऐसा कहकर उनसे लिया जो घर वह परिपद्वदोषसे दूषित समझना चाहिए। १४ अपने घरकी भीतके लिए जो स्तम्भादिक सामग्री तैयार की थी वह सयतीके लिए लाना, सो अभिघट नामका दोष है। इसके आचरित व अनाचरित ऐसे दो भेद हैं। जो सामग्री दूर नेशसे अथवा अन्य ग्रामसे लायी गयी होय तो उसको अनाचरित कहते हैं और जो ऐसी नहीं होय तो वह आचरित समझनी चाहिए। १५ ईंट, मिट्टीके पिण्ड, काँटोको बाडी अथवा क्रिवाड, पाषाणोंसे ढंका हुआ जो घर खुला करके मुनियोंको रहनेके लिए देना वह उद्भिन्न दोष है। १६. 'नमैनी (सोडो) बगैरहमे चढरु आप यहाँ आइए, आपके लिए यह वसतिका दी जाती है," ऐसा कहकर सयतीको दूसरा अथवा तीसरा मजिला रहनेके लिए देना, यह मालारोह नामका दोष है। १७ राजा अथवा प्रधान इत्यादिकोसे भय दिखाकर दूसरोका गृहादिक यतियोंको रहनेके लिए देना वह अच्छेज्ज नामका दोष है। १८, अनिसृष्ट दोषके दो भेद हैं—जो दानकार्यमें नियुक्त नहीं हुआ है ऐसे स्वामीसे जो वसतिका दी जाती है वह अनिसृष्ट दोषसे दूषित है। और जो वसतिका बालक और परवश ऐसे स्वामीसे दी जाती है वह अनिसृष्ट दोषसे दूषित समझनी चाहिए।—इस तरह उद्गम दोष निरूपण किये।

२. उत्पादनदोष निरूपण

भ. आ / वि. २३०/४४४/६ उत्पादनदोषा निरूप्यन्ते—पञ्चविधाना धात्रीकर्मणा अन्यतमेनात्पादिता वसति । काचिद्धारकं स्तपयति, भूषयति, क्रीडयति, आशयति, स्वापयति च। वसत्यर्थमेवोत्पादिता वसतिर्धात्रीदोषदुष्टा । ग्रामान्तरात्रगरान्तराच्च देशादन्य देशतो वा सम्बन्धिना वार्ताभिधायोत्पादिता दूतकर्मोत्पादिता । अङ्ग, स्वरो, व्यञ्जनं, लक्षणं, छिन्नं, भौम, स्वपोऽन्तरिक्षमिति एवभूतनिमित्तो-पदेशेन लब्धा वसतिर्निमित्तदोषदुष्टा । आत्मनो जाति, कुलं, ऐश्वर्यं वाभिधाय स्वमाहात्म्यप्रकटनेनोत्पादिता वसतिराजीवशब्देनो-च्यते । भगवन्सर्वेषां आहारदानाद्वासतिदानाच्च पुण्यं किमु महदुप-जायते इति पृष्टो न भवतीत्युक्ते गृहिजनं प्रतिक्लवचनरुष्टो वसति न प्रयच्छेदिति एवमिति तदनुक्लवचनरुष्टो योत्पादिता सा वणिगवा शब्देनोच्यते । अष्टविधया चिकित्सया लब्धा चिकित्सोत्पादिता । क्रोधोत्पादिता (क्रोध, मानं, माया, लोभ वा प्रयुज्योत्पादिता क्रोधादिचतुष्टयदुष्टा) । गच्छतामामच्छता च यतीना भवदीयमेव गृहमाश्रय इतीर्य वार्ता दूरादेवास्माभि श्रतेति पूर्व स्तुत्वा या लब्धा । वसनोत्तरकाल च गच्छन्प्रशासा करोति पुनरपि वसति लप्स्ये इति । एवं उत्पादितास्तद्वदोषदुष्टा । विद्यया, मन्त्रेण, चूर्णप्रयोगेण वा गृहिणं वशे स्थापयित्वा लब्धा । मूलकर्मणा वा भिन्नकन्यायोनिसस्थापना मूलकर्म । विरक्ताना अनुरागजनन वा । उत्पादनाख्योऽभिहितो दोष षोडशप्रकारः ।—१. धात्री पाँच प्रकारकी है—बालकको स्नान करानेवाली, उसे वस्त्राभूषण पहनानेवाली, उसका मन प्रसन्न करनेवाली, उसे अन्नपान करानेवाली, और उसे मुलानेवाली । इन पाँच कार्योंमेंसे किसी भी कार्यका गृहस्थको उपदेश देकर, उससे यति अपने रहनेके लिए वसतिका प्राप्त करते हैं। अतः वह वसतिका धात्रीदोषसे दुष्ट है। २. अन्यग्राम, अन्य नगर और अन्यदेशके सम्बन्धीजनोकी वार्ता श्रावकको निवेदित कर वसतिका प्राप्त करना दूतकर्म नामका दोष है। ३. अंग, स्वर आदि आठ प्रकारके निमित्तशास्त्रका उपदेश कर श्रावकसे वसतिकाकी प्राप्ति करना निमित्त नामका दोष है। ४ अपनी जाति, कुल, ऐश्वर्य वनै-

रहका वर्णनकर अपना माहात्म्य श्रावकको निवेदनकर वसतिकाकी प्राप्ति करना आजीव लाभक दोष है। ५ हे भगवत् : सब लोभोको आहार व वसतिकाका दान देनेसे क्या महात् पुण्यकी प्राप्ति न होगी : ऐसा श्रावकका प्रश्न सुनकर यदि मे पुण्य प्राप्ति नहीं होती, ऐसा कहूँ तो श्रावक वसतिका न देगा ऐसा मनमें विचार कर उसके अनुक्लवचन बोलकर वसतिकाकी प्राप्ति करना वणिग दोष है। ६, आठ प्रकारको चिकित्सा करके वसतिकाकी प्राप्ति करना चिकित्सा नानक दोष है। ७-१०. क्रोध, मान, माया व लोभ दिखाकर वसतिका प्राप्त करना क्रोधादि चतुष्टय दोष है। ११. जानेवाले और आनेवाले मुनियोंको आपका घर ही आश्रय स्थान है। यह वृत्तान्त हमने दूर देशमें भी सुना है ऐसी प्रथम स्तुति करके वसतिका प्राप्त करना पूर्वस्तुति नामका दोष है। १२. निवासकर जानेके समय पुन भी कभी रहनेके लिए स्थान मिले इस हेतुसे (उपरोक्त प्रकार ही) स्तुति करना पश्चातस्तुति नामका दोष है। १३-१५. विद्या, मन्त्र अथवा चूर्ण प्रयोगसे गृहस्थको अपने वशकर वसतिकाकी प्राप्ति कर लेना विद्यादि दोष है। १६. भिन्न जातिकी कन्याके साथ सम्बन्ध मिलाकर वसतिका प्राप्त करना अथवा विरक्तो-को अनुरक्त करनेका उपाय कर उनसे वसतिका प्राप्त कर लेना मूलकर्म नामका दोष है। इस प्रकार उत्पादन नामक दोषके १६ भेद हैं।

३. एषणादोष निरूपण

भ. आ / वि. २३०/४४४/१६ अथ एषणादोषान्दश प्राह—किमियं योग्या वसतिरेति शब्दकिता । तदानीमेव सिक्ता सत्यालिप्ता सती वा छिद्र-स्तुतजलप्रवाहेण वा, जलभाजनलोठनेन वा तदानीमेव लिप्ता वा वृक्षितेर्युच्यते । सचित्तपृथिव्या, अपां, हरितानां, बीजानां त्रसानां उपरि स्थापितं पीठफलकादिकं अत्र शय्या कर्तव्येति या दीयते सा पिहिता । काष्ठचेलकण्टकप्रावरणाद्यावर्षणं कुर्वता पुरोयायिनोप-दक्षिता वसति साहारणशब्देनोच्यते । मृतजातसूतक्युक्तगृहिजनेन, मत्सेन, व्याधितेन, नपुंसकेन, पिशाचगृहीतेन, नग्नया वा दीय-माना वसतिर्दायकदुष्टा । स्थावरैः पृथिव्यादिभिः, त्रसै, पिपी-लिकमत्कुणादिभिः सहितोन्मिथा । अधिकवितस्तिमात्राया भूमि-र-धिकाया अपि भूवो ग्रहणं प्रमाणातिरेकदोषः । शीतवातातपायुप-द्रवसहिता वसतिरियमिति निन्दा कुर्वतो वसनं भूमदोषः । निर्वाता, विशाला, नात्युष्णा शोभनेयमिति तत्रानुराग इंगल इत्युच्यते ।—
१ 'यह वसतिका योग्य है अथवा नहीं है,' ऐसी जिस वसतिकाके विषयमें शका उत्पन्न होगी वह शक्तिदोषसे दूषित समझनी चाहिए। २. वसतिका तत्काल ही लीपी गयी है, अथवा छिद्रसे निकलनेवाले जलप्रवाहसे किंवा पानीका पात्र खुटकाकर जिसकी लीपापोती की गयी है वह वृक्षित वसतिका समझनी चाहिए। ३. सचित्त जमीनके ऊपर अथवा पानी, हरित बनस्पति, बीज वा त्रस-जीव इनके ऊपर पीठ फलक वगैरह रखकर 'यहाँ आप शय्या करें' ऐसा कहकर जो वसतिका दी जाती है वह निक्षिप्तदोषसे युक्त है। ४. हरितकाय बनस्पति, काँटे, सचित्त मृत्तिका, वगैरहका आच्छादन हटाकर जो वसतिका दी जाती है वह पिहितदोषसे युक्त है। ५. लकड़ी, वस्त्र, काँटे इनका आकर्षण करता हुआ अर्थात् इनको घसी-टता हुआ आगे जानेवाला जो पुरुष उससे दिखायी गयी जो वसतिका वह साधारणदोषसे युक्त होता है। ६. जिसको मरणाशौच अथवा जननाशौच है, जो मत्त, रीगी, नपुंसक, पिशाचग्रस्त और नग्न है ऐसे दोषसे युक्त गृहस्थके द्वारा यदि वसतिका दी गयी हो तो वह दायकदोषसे दूषित है। ७. पृथिवी जल स्थावर जीवोंसे और चीटी खटमल वगैरह वगैरह त्रस जीवोंसे जो युक्त है, वह वसतिका उन्मिथदोष सहित समझना चाहिए। ८. मुनियोंको जितने बालिशत प्रमाण भूमि ग्रहण करनी चाहिए, उससे अधिक प्रमाण भी भूमिका ग्रहण करना यह प्रमाणातिरेक दोष है। ९. "ठण्ड,

जैनेन्द्र सिद्धान्त कोष

हवा और कड़ी धूप बगैरह उपद्रव इस वसतिकामे है" ऐसी निन्दा करते हुए वसतिकामे रहना धूमदोष है। १० "यह वसतिका वात रहित है", विशाल है, अधिक उष्ण है और अच्छी है, ऐसा समझकर उसके ऊपर राग भाव करना यह इंगाल नामका दोष है।

८. अन्य सम्बन्धित विषय

१. वीतरागियोंके लिए स्थानका कोई नियम नहीं।
—दे. कृतिकर्म/३/४/४।
२. विविक्त वसतिकाका महत्त्व। —दे. विविक्त शय्यासन।
३. वसतिकामे प्रवेश आदिके समय नि.सही और असही शब्दका प्रयोग। —दे. असही।
४. अनियत स्थानोंमें निवास तथा इसका कारण प्रयोजन।
—दे. विहार।
५. एक स्थानपर टिकनेकी सीमा। —दे. विहार।
६. पंचमकालमें संधसे बाहर रहनेका निषेध। —दे. विहार।
७. वसतिकाके अतिचार। —दे. अतिचार/३।

वसतिक्रातिचार—दे० अतिचार/३।

वसा—औदारिक शरीरमें वसा धातुका प्रमाण—दे० औदारिक/१।

वसुंधर—म. पु/६६/श्लोक स.—ऐरावतक्षेत्रके श्रीपुर नगरका राजा था १७४। स्त्रीकी मृत्युसे विरक्त हो दीक्षा धार महाशुक्र स्वर्गमें उत्पन्न हुआ १७५-७७। यह जयसेन चक्रवर्तिके पूर्वका तीसरा भव है।—दे० जयसेन।

वसुंधरा—रुचक पर्वत निवासिनी एक दिवकुमारी देवी। —दे० लोक/५/१३।

वसु—१. लौकान्तिक देवीका एक भेद—दे० लौकान्तिक। २ एक अज्ञानवादी—दे० अज्ञानवाद। ३ प. पु./११/ श्लोक स.—इस्वाकु कुलके राजा ययातिका पुत्र ११३। क्षीरकदम्ब गुरुका शिष्य था ११४। सत्यवादी होते हुए भी गुरुमाताके कहनेसे उसके पुत्र पर्वतके पक्षको पुष्ट करनेके लिए, 'अजेर्जघ्वयम्' शब्दका अर्थ तिसाला जी न करके 'बकरेसे यज्ञ करना चाहिए' ऐसा कर दिया ११२। फल-स्वरूप सातवे नरकमें गया १७३। (म. पु/६७/२६६-२८१, ४१३-४३६)। ४ चन्देरीका राजा था। महाभारतसे पूर्ववर्ती है। "इन्होंने इन्द्र व पर्वत दोनोंका इकट्ठे ही हव्य ग्रहण किया था" ऐसा कथन आता है। समय—ई० पू० २००० (ऋग्वेद मण्डल सूक्त ६३)।

वसुदेव—ह. पु/सर्ग/श्लोक—अन्धकवृष्णिका पुत्र समुद्रविजयका भाई। (१८/१२)। बहुत अधिक सुन्दर था। स्त्रियाँ सहसा ही उस-पर मोहित हो जाती थी। इसलिए देशसे बाहर भेज दिये गये जहाँ अनेक कन्याओंसे विवाह हुआ। (सर्ग १६-३१) अनेक वर्षों पश्चात् भाईसे मिलन हुआ। (सर्ग ३२) कृष्णकी उत्पत्ति हुई। (३५/१६) तथा अन्य भी अनेक पुत्र हुए। (४८/६४-६६)। द्वारका जलनेपर सन्यासधारण कर स्वर्ग सिधारे। (६१/८७-९१)।

वसुधा—वृ. स. स्तो/टी./३/७ वसु द्रव्यं दधातीति वसुधा पृथिवी।
—वसु अर्थात् द्रव्योको धारण करती है। इसलिए पृथिवी वसुधा कहलाती है।

वसुनन्दि—१ नन्दिसंघ बलात्कार गणकी गुर्वावलीके अनुसार आप सिंहनन्दिके के शिष्य तथा वीरनन्दिके गुरु थे। समय—विक्रम शक सं. ५२५-५३१ (ई० ६०३-६०९) (दे० इतिहास/७/२)। २. नन्दिसंघके देशीयगणकी गुर्वावलीके अनुसार देवेन्द्राचार्यके शिष्य और

सर्वचन्द्रके गुरु थे। समय—वि० १५०-१८० (ई० ८६३-९२३)।
—दे० इतिहास/७/१ ३. नन्दिसंघ देशीयगण के आचार्य। अपर नाम जयसेन। गुरु परम्परा—श्रीनन्दि, नयनन्दि (वि. ११००) नेमिचन्द्र सैद्धान्तिक, वसुनन्दि। कृतियों—श्रावकाचार, प्रतिष्ठासार संग्रह, मूलाचार वृत्ति, वस्तु विद्या, जिनशतक, आप्त मीमांस वृत्ति। समय—लगभग वि. ११५० (ई. २०६८-१११८)। (ती ३/२२३, २२६), (दे. इतिहास/७/५)।

वसुनन्दि श्रावकाचार—आ वसुनन्दि सं. ३ (ई श. ११-१२)। रचित प्राकृत गायबद्ध ग्रन्थ है। इसमें १४६ गथाएँ हैं। (ती ३/२२७)।

वसुपाल—मगधका एक प्रसिद्ध जैन राजा जिसने आवु पर्वतपर ऐतिहासिक व आश्चर्यकारी जिनमन्दिरोंका निर्माण कराया। समय ई० ११६७।

वसुबंधु—ई० २८०-३६० के 'अभिधर्मकोश' के रचयिता एक बौद्ध विद्वान्। (सि. वि./प्र. २१/पं. महेन्द्र)।

वसुमति—१ भरतक्षेत्र आर्यखण्डकी एक नदी। —दे० मनुष्य/४।
२. विजयार्धकी उत्तर श्रेणीका एक नगर।—दे० विद्याधर।

वसुमत्का—विजयार्धकी उत्तरश्रेणी का एक नगर—दे० विद्याधर।

वसुमित्र—मगधदेशकी राज्य वंशावलीके अनुसार यह शक जाति-का एक सरदार था, जिसने मौर्यकालमें ही मगधदेशके किसी एक भागपर अपना अधिकार जमा रखा था। अपरनाम बलमित्र था और अग्निमित्रका समकालीन था। समय—वी. नि २८५-३४५ (ई पू. २४६-१८१)—दे० इतिहास/३/४।

वसुषेण—म. पु/६०/श्लोक स—'पोदनपुर नगरका राजा था १२०। मलयदेशके राजा चण्डशासन द्वारा स्त्रीका अपहरण होनेपर १५१-५२। दीक्षा धार ली और निदान बन्धसहित मंत्र्यासमरण कर सहस्रार-स्वर्गमें देव हुआ १६४-६७।

वस्तु—

लि. वि./मूलवृत्ति/४/१५/२६३/११ परिणामो वस्तुलक्षणम्। —परि-णमन करते रहना यहाँ वस्तुका लक्षण है।

का अ/धु./२२५ ज वस्तु अण्यते ते चिय कज्जं करेदि णियमेण। बहु धम्मजुं अत्थं कज्जकर दीसदे लोए। —जो वस्तु अनेकान्तस्वरूप है, वही नियमसे कार्यकारी है। क्योंकि लोकमें बहुत धर्म युक्त पदार्थ ही कार्यकारी देखा जाता है।—(विशेष दे० द्रव्य)।

स्या. म/५/३०/६ वस्तुनस्तावदर्थ क्रियाकारित्व लक्षणम्।

स्या मं/२३/२७२/६ वमन्ति गुणपर्याया अस्मिन्निति वस्तु। —अर्थ-क्रियाकारित्व ही वस्तुका लक्षण है। अथवा जिसमें गुणपर्याये वास करे वस्तु है।

दे द्रव्य/१/७—(सत्ता, सत्त्व, सत्, सामान्य, द्रव्य, अन्वय, वस्तु, अर्थ, विधि ये सत्र एकार्थवाची शब्द है)।

दे द्रव्य/१/४ (वस्तु गुणपर्यायात्मक है)।

दे, सामान्य (वस्तु सामान्य विशेषात्मक है)।

दे. श्रुतज्ञान/II, (वस्तु श्रुतज्ञानके एक भेदका नाम है)।

वस्तुत्व—आ. प/६ वस्तुनो भावो वस्तुत्वम्, सामान्यविशेषात्मकं वस्तु।—वस्तुके भावको वस्तुत्व कहते हैं। वह वस्तु सामान्य विशेषात्मक है। [अथवा अर्थक्रियाकारी है अथवा गुण पर्यायोको वास देनेवाली है (दे वस्तु)]।

स. भ. त/१८/५ स्वपररूपोपादानापोहनव्यवस्थाप्यं हि वस्तुनो वस्तुत्वम्।—अपने स्वरूपके ग्रहण और अन्यके स्वरूपके त्यागसे ही वस्तुके वस्तुत्वका व्यवस्थापन किया जाता है।

वस्तु विद्या—आ वसुनन्दि (ई. १०४३-१०५३) रचित एक ग्रन्थ ।

वस्तुसमाप्त—श्रुतज्ञानका एक भेद—दे श्रुतज्ञान/II ।

वस्त्र—भा, पा /टी./७९/२३०/६ पञ्चविधानि पञ्चप्रकाराणि चेतानि वस्त्राणि अङ्गज वा-कोशज तसरिचौरम् (१) वोडज वा कर्पासवस्त्रं (२) रोमज वा ऊर्गामय वस्त्र एडकोष्ठ्रादिरोमवस्त्र (वक्कज वा वरकं वृथादित्वग्भङ्गादिछलितवस्त्र तट्टादिकं चापि (४) चर्मजं वा मृगचर्मव्याघ्रचर्मचित्रकचर्मगजचर्ममार्दिकम्...। = वस्त्र पौष प्रकारके होते हैं—अङ्गज, वोडज, रोमज, वक्कज और चर्मज । रेशमसे उत्पन्न वस्त्र अंडज है । कपाससे उपजा वोडज है । बकरे, ऊँट आदिकी ऊनसे उपजा रोमज है । वृक्ष या बेल आदि छालसे उपजा वक्कज या वल्कलज है मृग, व्याघ्र, चीता, गज आदिके चर्मसे उपजा चर्मज है ।

२. रेशमी वस्त्रकी उत्पत्तिका ज्ञान आचार्योंको अवश्य था

भ. आ./सू./६१६ वेदेऽ विसयहेदुं कलत्तपासेहिं वुक्चिमोएहि । कोसेण कोसियारुव्व दुम्मदी णिच्च अप्पणं । ६१६। = विषयी जीव स्त्रीके स्नेहपाशमें अपनेको इस तरह वेष्टित करता है । जैसे रेशमको उत्पन्न करनेवाला कीड़ा अपने मुखमेंसे निकले हुए तन्तुओंसे अपनेको वेष्टित करता है ।

* साधुको वस्त्रका निषेध—दे० अचेलकत्व ।

* सवस्त्र सुक्तिका निषेध—दे० वेद/७ ।

वस्त्रांग—वस्त्र प्रदान करनेवाला कल्पवृक्ष ।—वृक्ष/१ ।

वस्त्रौक—विजयार्थकी उत्तर श्रेणीका एक नगर ।—दे० विद्याधर ।

वाइम—द्रव्य निक्षेपका एक भेद—दे० निक्षेप/५६ ।

वाक्—दे० वचन ।

वाक्छल—दे० छल ।

वाकुस—भ. आ./वि./६०६/५०७/६ गिहिमत्तणिसेज्जवाकुसे लिंगो । गृहस्थाना भाजनेषु कुम्भकरकशरावादिषु कस्यचिन्निसेपण, तैर्वा कस्यचिदादानं चारित्राचार । = गिहिमत्तणिसेज्जवाकुसे अर्थात् गृहस्थोके भाजन अर्थात् कुम्भ, घडा, करक-कमण्डलु, शराब बगैरह पात्रोंमेंसे किसी पात्रमें कोई पदार्थ रखे होवे अथवा किसीका दिये होवे ये सब चारित्राचार है ।

वाक्य—न्या, वि /वृ./१/६/१२७/१४ वाक्यं नाम पदसदोहकविपत्तं नाखण्डेकरूपम् । = वचन नाम पदोंके समूहका है, अखण्ड एक रूपका नहीं ।

न्या. सू./सू./२/१/६२-६५ विधयर्थशादानुवादवचनविनियोगात् । ६२। विधिविधायक । ६३। स्तुतिनिन्दा परकृति पुराकल्प इत्यर्थवादः । ६४। विधिविहितस्यानुवचनमनुवाद । ६५। = ब्राह्मण ग्रन्थोंका तीन प्रकारसे विनियोग होता है—विधिवाक्य, अर्थवाक्य, अनुवादवाक्य । ६२। आज्ञा या आदेश करनेवाले वाक्य विधिवाक्य है । अर्थवाद चार प्रकारका है—स्तुति, निन्दा, परकृति, और पुराकल्प (इनके लक्षणोंके लिए दे० वह वह नाम) । विधिका अनुवचन और विधिसे जो विधान किया गया उसके अनुवचनको अनुवाद कहते हैं ।

* वचनके अनेकों भेद व लक्षण—दे० वचन ।

वाक्यशुद्धि—दे० समिति/१ ।

वाग्भट्ट—१ नेमि निबन्धि काव्य के रचयिता । समय— १०७५ ११२५ (ती /४/२३) । २ छन्दोनुशासन तथा काव्यनुशासन के रचयिता कवि । समय— वि श. १४ मध्य । (ती./४/३७) ।

वाचक—ध, १४/६.६.२०/२२/५ । द्वादशाङ्गविद्वाचक = बारह अङ्गका ज्ञाता वाचक कहलाता है ।

वाचना—

स सि /६/२५/४४३/४ निरवयग्रन्थार्थोभयप्रदान वाचना । = निर्दोष ग्रन्थ, उसके अर्थका उपदेश अथवा दोनो ही उसके पात्रको प्रदान करना वाचना है । (रा, वा /६/२५/१/६२४/६), (त सा /७/१७); (चा सा /१६३/१), (अन. घ /७/५३/७१४) ।

घ. ६/४.१.६५/२६२/७ जा तत्थ णवसु आगमेसु वायणा अण्णेसि भवियाणं जहासत्तोए गथत्थ परवणा ।

घ. ६/४.१.६५/२६०/६ शिष्याध्यापन वाचना । = १. वाचना आदि नौ आगमोंमें वाचना अर्थात् अन्य भव्य जीवोंके लिए शक्यनुसार ग्रन्थके अर्थकी प्ररूपणा । (घ १४/६.६.१२/६/३) । २. शिष्योंको पढ़ानेका नाम वाचना है । (घ. १४/६.६.१२/५/६) ।

२. वाचनाके भेद व लक्षण

घ ६/४ १.६४/२६२/५ सा चतुर्विधा नन्दा भद्रा जया सौम्या चेति । पूर्वपक्षीकृतपरदर्शनानि निराकुर्य स्वपक्षस्थापिका व्याख्या नन्दा । तत्र युक्तिभिः प्रत्यवस्थाय पूर्वपरविरोधपरिहारेण विना तन्त्रार्थकथनं जया । क्वचित् क्वचित् स्वलितवृत्त्यव्याख्या सौम्या । = वह (वाचना) चार प्रकार है—नन्दा, भद्रा, जया और सौम्या । अन्य दर्शनोको पूर्वपक्ष करके उनका निराकरण करते हुए अपने पक्षको स्थापित करनेवाली व्याख्या नन्दा कहलाती है । युक्तियों द्वारा समाधान करके पूर्वापर विरोधका परिहार करते हुए सिद्धान्तमें स्थित समस्त पदार्थोंकी व्याख्याका नाम भद्रा है । पूर्वापर विरोधके परिहारके विना सिद्धान्तके अर्थका कथन करना जया वाचना कहलाती है । कही-कही स्वजनपूर्ण वृत्तिसे जो व्याख्या की जाती है, वह सौम्या वाचना है ।

वाचनोपगत—दे० निक्षेप/५/५ ।

वाचस्पति मिश्र—वैदिक दर्शनके एक प्रसिद्ध भाष्यकार जिन्होंने न्यायदर्शन, सारूपदर्शन व वेदान्तदर्शनके ग्रन्थोंपर अनेको टीकाओंके अतिरिक्त योगदर्शनके व्यासभाष्यपर भी तत्त्वकौमुदी नामकी एक टीका लिखी है । (दे० वह वह दर्शन) । समय—ई० ५४०—दे० न्याय/१/७ ।

वाटग्राम—डॉ० आण्टेके अनुसार वर्तमान बडौदा नगर ही वाटग्राम है, क्योंकि, बडौदाका प्राचीन नाम वटग्रह है और वह गुजरात प्रान्तमें है । (क. पा /पु. १/प्र ७४/पं महेन्द्र) ।

वाटवान—भरतक्षेत्र उत्तर आर्यखण्डका एक देश ।—दे० मनुष्य/४ ।

वाण—भरतक्षेत्रका एक देश—दे० मनुष्य/४ ।

वाणिज्य—वाणिज्यकर्म, विषवाणिज्य, लाक्षावाणिज्य, दन्त-वाणिज्य, केशवाणिज्य, रसवाणिज्य—दे० सावद्य/३ ।

वाणी—१ पशुग्रन्थी आदि वाणी—दे० भाषा । २ असम्बद्धप्रस्ताव, कलह आदि वचन—दे० वचन/१ ।

वातकुमार—भवनवासी देवोंका एक भेद—दे० भवन/४ । उनका लोकमें अवस्थान—दे० भवन/४ ।

वातबलय—स सि./३/१/२०४/३। टिप्पणीमें अन्य प्रतिसे गृहीत पाठ—घन च घनो मन्दो महात् आयत इत्यर्थः। अम्बु च जलं उदकमित्यर्थः। वातशब्दोऽन्यदीपक तत एव सबन्धनीय। घनो घनवात। अम्बु अम्बुवात। वातस्तनुवात। इति महदापेक्षया तनुरिति सामर्थ्यगम्यः। अन्य पाठ। सिद्धान्तपाठस्तु घनाम्बु च वात चेति वातशब्द सोपक्रियते। वातस्तनुवात इति वा। = (मूल सूत्रमें 'घनाम्बुवाताकाशप्रतिष्ठा' ऐसा पाठ है। उसकी व्याख्या करते हुए कहते हैं) —घन, मन्द, महान्, आयत ये एकार्थवाची नाम हैं और अम्बु, जल व उदक ये एकार्थवाची हैं। वात शब्द अन्य दीपक होनेके कारण घन व अम्बु दोनोंके साथ जोड़ना चाहिए। यथा—घनो अर्थात् घनवात, अम्बु अर्थात् अम्बुवात और वात अर्थात् तनुवात। महत् या घनको अपेक्षा हलकी है, यह वात अर्थात् प्रतिसे ही जान ली जाती है। यह अन्य पाठकी अपेक्षा कथन है। सिद्धान्त-पाठके अनुसार तो घन व अम्बुरूप भी है और वातरूप भी है ऐसा वात शब्दका अभिप्राय है। वातका अर्थ तनुवात अर्थात् हलकी वायु है।

दे. लोक/२/४ [घनोदधि-वातका वर्ण गोमूत्रके समान है, घनवातका मूंगके समान, और तनुवातका वर्ण अव्यक्त है अर्थात् अनेक वर्ण-वाला है।]

★ वातबलयोंका लोकमें अवस्थान—दे. लोक/२।

वात्सल्य —

पं. ध./३./४७० तत्र भक्तिरनौद्वयं वाग्वपुश्चेतसां शमात्। वात्सल्यं तद्गुणोत्कर्षहेतवे सोद्यतं मन १४७०। = दर्शनमोहनीयका उपशम होनेसे मन वचन कायके उद्धतपनेके अभावको भक्ति कहते हैं, तथा उनके गुणोंके उत्कर्षके लिए तत्पर मनको वात्सल्य कहते हैं।

२. वात्सल्य अंगका व्यवहार लक्षण

मू. आ./२६३ चातुर्वर्ण्ये सधे चतुर्दिससारणित्थरणभूदे। वच्छल्ल कादव्व वच्छे गावी जहा गिद्धो। = चतुर्गतिरूप ससारसे तिरनेके कारणभूत मुनि आदिका आदि चार प्रकार सधमें, बछड़ेमें गायकी प्रीतिकी तरह प्रीति करना चाहिए। यही वात्सल्य गुण है। — (विशेष दे. अंगे प्रवचन वात्सल्यका लक्षण) (पु सि. उ./२६)

भ. आ./वि./४४/१५०/५ धर्मस्थेषु मातरि पितरि भ्रातरि वानुरागो वात्सल्यम्। = धार्मिक लोगोंपर, और माता-पिता भ्राताके ऊपर प्रेम रखना वात्सल्य गुण है।

चा. सा./५/३ सद्यः प्रसूता यथा गौर्वस्ते स्निह्यति। तथा चातुर्वर्ण्ये सधेऽकृत्रिमस्नेहकरणं वात्सल्यम्। = जिस प्रकार तुरतकी प्रसूता गाय अपने बच्चेपर प्रेम करती है, उसी प्रकार चार प्रकारके सधपर अकृत्रिम या स्वाभाविक प्रेम करना वात्सल्य अंग कहा जाता है। — (दे. अंगे शीर्षक सं. ४)

का. आ./मू./४२१ जो धम्मिएसु भत्तो अणुचरणं कुणदि परमसद्भाए। पिय वयणं जणत्तो वच्छल्ल तस्स भवस्स। २२१। = जो सम्यग्दृष्टि जोव प्रिय वचन बोलता हुआ अत्यन्त श्रद्धासे धार्मिक जनोमें भक्ति रखता है तथा उनके अनुसार आचरण करता है, उस भव्य जोवके वात्सल्य गुण कहा है।

द्र. स./टी/४१/१७५/११ बाह्याभ्यन्तररत्नत्रयाधारे चतुर्विधसधे वस्ते धेनुवत्पञ्चैन्द्रियविषयनिमित्तं पुत्रकलत्रसुवर्णादिस्नेहवद्वा यदकृत्रिम-स्नेहकरणं तद्गव्यवहारेण वात्सल्य भण्यते। = बाह्य और अभ्यन्तर रत्नत्रयकी धारण करनेवाले मुनि आदिका श्रावक तथा भाविकारूप चारों प्रकारके सधमें, जैसे गायकी बछड़ेमें प्रीति रहती है उसके समान, अथवा पौधों इन्द्रियोंके विषयोंके निमित्त पुत्र, स्त्री, सुवर्ण आदिमें जो स्नेह रहता है, उसके समान स्वाभाविक स्नेह करना, वह व्यवहारनयकी अपेक्षासे वात्सल्य कहा जाता है।

पं. ध./३./५०६ वात्सल्य नाम दासत्व सिद्धाहद्विम्बवेरमम्। रुधे चतु-निधे शास्त्रे स्वामिकार्ये सुभुव्यवत्। = स्वामीके कार्यमें उत्तम सेवक-का तरह सिद्ध प्रतिमा, जिनबिम्ब, जिनमन्दिर, चार प्रकारके सधमें और शास्त्रमें जो दासत्व भाव रखना है वही सम्यग्दृष्टिका वात्सल्य नामक अम-सा गुण है।

दे. अंगले शीर्षकमें स. सा. की व्याख्या—['त्रयाणां साधूना' इस पदके दो अर्थ होते हैं। व्यवहारकी अपेक्षा अर्थ करनेपर आचार्य, उपाध्याय व साधु इन तीन साधुओंसे वात्सल्य करना सम्यग्दृष्टिका गुण है]

३. वात्सल्यका निश्चय लक्षण

स. सा./मू./२३५ जो कुणदि वच्छल्लत्त तियेह साहण मोक्खमग्गम्मि। सो वच्छल्लभावजुदो सम्मादिट्ठी मुण्येयव्वो। = जो (चेतयिता) मोक्षमार्गमें स्थित सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्ररूप तीन साधको या साधनोंके प्रति (अथवा व्यवहारसे आचार्य उपाध्याय और मुनि इन तीन साधुओंके प्रति) वात्सल्य करता है, वह वात्सल्यभावसे युक्त सम्यग्दृष्टि जानना चाहिए।

रा. वा./६/२४/१/२२६/१५ जिनप्रणीतधर्माभूते नित्यानुरागता वात्स-ल्यम्। = जिन प्रणीत (रत्नत्रय) धर्मरूप अमृतके प्रति नित्य अनु-राग करना वात्सल्य है। (म पु./६३/३२०) ; (चा सा./५/३)

भ. आ./वि./४४/१५०/५ वात्सल्य, रत्नत्रयादरो व आत्मने। = अथवा अपने रत्नत्रय धर्ममें आदर करना वात्सल्य है।

पु सि. उ./२६ अनवरतमहिंसायां शिवसुखलक्ष्मीनिबन्धने धर्मे। सर्वे-ष्वपि च सधमिषु परम वात्सल्यमालम्ब्यम्। = मोक्षसुखकी सम्पदाके कारणभूत जैनधर्ममें, अहिंसामें और समस्त ही उक्त धर्मयुक्त साधर्मों जनोमें निरन्तर उत्कृष्ट वात्सल्य व प्रीतिकी अवलम्बन करना चाहिए।

द्र. स./टी/४१/१७६/१० निश्चयवात्सल्यं पुनस्तस्यैव व्यवहारवात्सल्य-गुणस्य सहकारित्वेन धर्मे दृढत्वे जाते सति मिथ्यात्वरागादिसमस्त-शुभाशुभानिर्भावेषु प्रीति त्यक्त्वा रागादिविकल्पोपाधिरहितपरम-स्वास्थ्यसच्चित्तिसजातसदानन्दैकलक्षणसुखामृतरसास्वादं प्रति प्रीतिकरणमेवेति सधमाङ्गं व्याख्यातम्। = पूर्वोक्त व्यवहार वात्सल्य-गुणके सहकारीपनेसे जब धर्ममें दृढता हो जाती है, तब मिथ्यात्व, राग आदि समस्त शुभ अशुभ बाह्य पदार्थोंमें प्रीति छोड़कर रागादि विकल्पोंकी उपाधिसे रहित परमस्वास्थ्यके अनुभवसे उत्पन्न सदा आनन्दरूप सुखमय अमृतके आस्वादाके प्रति प्रीतिका करना ही निश्चय वात्सल्य है। इस प्रकार सधम वात्सल्य अंगका व्याख्यान हुआ।

४. प्रवचन वात्सल्यका लक्षण

स सि./६/२४/३३६/६ वस्ते धेनुवत्सधर्मणि स्नेह प्रवचनवत्सलत्वम्। = जैसे गाय बछड़ेपर स्नेह रखती है उसी प्रकार साधर्मियोंपर स्नेह रखना प्रवचनवत्सलत्व है। (भा पा./टी./७७/२२१/१७)

रा. वा./६/२४/१३/५३०/२० यथा धेनुर्वस्ते अकृत्रिमस्नेहमुत्पादयति तथा सधर्मणमवलोक्य तद्गतस्नेहाद्भोक्तचित्तता पवचनवत्सलत्वमित्यु-च्यते। य सधर्मणि स्नेहः स एव प्रवचनस्नेहः इति। = जैसे गाय अपने बछड़ेसे अकृत्रिम स्नेह करती है उसी तरह धार्मिक जनको देखकर स्नेहसे ओतप्रोत हो जाना प्रवचनवत्सलत्व है। जो धार्मिकोंमें स्नेह है वही तो प्रवचन स्नेह है।

ध. उ./३,४१/२०/७ तेषु अपुरागो आकरवा भमेदंभावो पवयणवच्छल्लदा णाम। = [उक्त प्रवचनो अर्थात् सिद्धान्त या आरह अंगोंमें अथवा उनमें होनेवाले देशव्रती महाव्रती व असंयतसम्यग्दृष्टियोंमें—(दे. प्रवचन)] जो अनुराग, आकांक्षा अथवा भमेदं बुद्धि होती है, उसका नाम प्रवचनवत्सलता है। (चा. सा./५/६/५)

५. एक प्रवचनवात्सल्यसे ही तीर्थकर प्रकृति बन्ध सम्भावनामें हेतु

ध. ८/३ ४१/२० ८ तीर्थकरनामकर्मबन्धो भवति । पञ्चमहव्वदादि-
आगमत्वविसयसुकट्टाणुरागस्स संसणविसुःफडादीहि अविणां-
भावादी ।

चा. सा १५७/१ तैर्नैकेनापि तीर्थकरनामकर्मबन्धो भवति । =उस एक
प्रवचन वात्सल्यसे ही तीर्थकरनामकर्मका बन्ध हो जाता है, क्योंकि,
पाँच महाव्रतारूप आगमार्थविषयक उत्कृष्ट अनुरागका दर्शन-
विशुद्धतादिकोके साथ अविनाभाव है । (चा सा १५७/१), (और
भो दे. भावना/२)

६. वात्सल्य रहित धर्म निरर्थक है

कुरल काव्य/८/७ अस्थिहीनं यथा कीट सूर्यो दहति तेजसा । तथा
दहति धर्मश्च प्रेमशून्य नृकोटकम् । ७ = देखो, अस्थिहीन कीड़ेको
सूर्य किस तरह जला देता है । ठीक उसी तरह धर्मशीलता उस
मनुष्यको जला डालती है जो प्रेम नहीं करता ।

वात्सायन—असपाद गौतमके न्यायसूत्रके सर्वप्रधान भाष्यकार ।
समय—ई.श. १४/—दे. न्याय/१/७ ।

वाद—चौथे नरकका छठा पटल ।—दे. नरक/५/११ ।

वाद—हार-जीतके अभिप्रायसे की गयी किसी विषय सम्बन्धी चर्चा
वाद कहलाता है । वीतरागीजनोके लिए यह अत्यन्त अनिष्ट है ।
फिर भी व्यवहारमें धर्म प्रभावना आदिके अर्थ कदाचित् इसका
प्रयोग विद्वानोको सम्मत है ।

१. वाद व विवादका लक्षण

दे० कथा (न्याय/३) (प्रतिवादोके पक्षका निराकरण करनेके लिए
अथवा हार-जीतके अभिप्रायसे हेतु या दूषण देते हुए जो चर्चा की
जाती है वह विजिगीषु कथा या वाद है ।)

न्या मू १/२/१/४१ प्रमाणतर्कसाधनोपलम्भ सिद्धान्ताविरुद्धः
पञ्चावयवोपपन्नः पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहो वादः ४१ = पक्ष और प्रतिपक्षके
परिग्रहको वाद कहते हैं । उसके प्रमाण, तर्क, साधन, उपालम्भ,
सिद्धान्तसे अविरुद्ध और पक्ष अवयवसे सिद्ध ये तीन विशेषण है ।
अर्थात् जिसमें अपने पक्षका स्थापन प्रमाणसे, प्रतिपक्षका निराकरण
तर्कसे परन्तु सिद्धान्तसे अविरुद्ध हो; और जो अनुमानके पाँच अव-
यवोंसे युक्त हो, वह वाद कहलाता है ।

स्या म १०/१०७/८ परस्पर लक्ष्मीकृतपक्षाधिक्षेपदक्ष वादो—वचनो-
पन्यासो विवाद । तथा च भगवान् हरिभद्रसूरि—'लक्ष्म्यस्यात्य-
र्थिना तु स्पष्टं दुःस्थितेनामहात्मना । छलजातिप्रधानो य स
विवाद इति स्मृतः । =दूसरेके मतको खण्डन करनेवाले वचनका
कहना विवाद है । हरिभद्रसूरिने भी कहा है, "लाभ और ख्याति-
के चाहनेवाले कलुषित और नीच लोपटल और जातिसे युक्त जो
कुछ कथन करते हैं, वह विवाद है ।"

२. संवाद व विसंवादका लक्षण

स. सि ६/२२/३३७/१ विसंवादनमन्यथाप्रवर्तनम् ।
स सि ७/६/३४५/१२ ममेद त्वेदमिति सधर्मिभिरसंवादः ।
=१ अन्यथा प्रवृत्ति (या प्रतिवादन—रा. वा) करना विसंवाद
है । (रा वा ६/२२/२/५२८/११) । २. 'यह मेरा है, यह तेरा है'
इस प्रकार साधर्मियोंसे विसंवाद नहीं करना चाहिए । (रा. वा./-
७/६/-१५३६/१६); (चा. सा १४४/५))

न्या. वि. वृ./१/४/११८/१३ संवादो निर्णय एव 'नात् परो विमवादः'
इति वचनात् । तदभावात् विसंवादः । =संवाद निर्णय रूप होता
है, क्योंकि, 'इससे दूसरा विसंवाद है' ऐसा वचन पाया जाता है ।
उसका अभाव अर्थात् निर्णय रूप न होना और वैसे ही व्यर्थमें चर्चा
करते रहना, सो विसंवाद है ।

३. वीतराग कथा वाद रूप नहीं होती

न्या. दी. १/१/१४७/८०/२ वेचिद्वीतरागकथा वाद इति कथयन्ति
तत्पारिभाषिकमेव । न हि लोके गुरुशिष्यादिवाग्द्वयापारे वादव्यव-
हारे । विजिगीषुवाग्द्वयवहार एव वादत्वप्रसिद्धे । =कोई (नैया-
यिक लोग) वीतराग कथाको भी वाद कहते हैं । (दे० आगे
शीर्षक नं. ६) पर वह स्वग्रहमान्य अर्थात् अपने घरकी मान्यता
ही है, क्योंकि लोकमें गुरु-शिष्य आदिको सौम्य चर्चाको वाद
या शास्त्रार्थ नहीं कहा जाता । हाँ, हार-जीतकी चर्चाको अवश्य
वाद कहा जाता है ।

४. वितण्डा आदि करना भी वाद नहीं है वादा- मास है

न्या. वि. मू. २/२१४/२४४ तदाभासो वितण्डादि' अभ्युपेत(व्यवस्थिते' ।
= वितण्डा आदि करना वादाभास है, क्योंकि, उससे अभ्युपेत
(अगिकृत) पक्षकी व्यवस्था नहीं होती है ।

५. नैयायिकोंके अनुसार वाद व वितण्डा आदिमें अन्तर

न्या सू १/टिप्पणी/१/२/१/४१/२६ तत्र गुर्वादिभि सह वादः विजिगीषुणा
सह जल्पवितण्डे । =गुरु, शिष्य आदिकोमें वाद होता है और
जीतनेकी इच्छा करनेवाले वादो व प्रतिवादीमें जल्प व वितण्डा
होता है ।

६. वादीका कर्तव्य

मि कि वृ ५/२०/३२५/२१ वादिना उभयं कर्तव्यम् स्वपक्षसाधन
परपक्षदूषणम् ।
सि वि. वृ ५/११/३३७/१६ विजिगीषुणोभय कर्तव्य स्वपक्षसाधन
परपक्षदूषणम् । =वादी या जीतनेकी इच्छा करनेवाले विजिगीषुके
दो कर्तव्य है—स्वपक्षमें हेतु देना और परपक्षमें दूषण देना ।

७. मोक्षमार्गमें वाद-विवादका निषेध

त. मू. ७/६ सधर्मविसंवादा । =सधर्मियोंके साथ विसंवाद अर्थात्
मेरा तेरा न करना यह अचौर्य महाव्रतकी भावना है ।
यो सा ७/७/३३ वादाना प्रतिवादाना भाषितारो विनिश्चितं ।
नेत्र गच्छन्ति तत्रान्त गतेऽपि विलम्बित ३३ = जो मनुष्य वाद-
प्रतिवादमें उलझे रहते हैं, वे नियमसे वारतविक स्वस्वको प्राप्त
नहीं हो सकते ।

नि रा/ मू १/२५६ तम्हा सगपरसमर वयणविवादं ण कादव्वा ।
इति । =इसलिए परमार्थके जाननेवालोको स्वसमर्थो तथा परसमर्थो-
के साथ वार करने योग्य नहीं है ।

प्र. सा / ता, वृ २२४/प्रक्षेपक गा ८ की टीका/१०/१० इदमत्र तात्पर्यम्—
स्वयं वस्तुस्वरूपमेव ज्ञातव्यं पर प्रति विवादो न कर्तव्यः ।
कस्मात् । विवादे रागद्वेषोत्पत्तिर्भवति, ततश्च शुद्धात्मभावना
नश्यतीति । =यहाँ यह तात्पर्य समझना चाहिए कि स्वयं वस्तु-
स्वरूपको जानना ही योग्य है । परके प्रति विवाद करना योग्य
नहीं, क्योंकि, विवादमें रागद्वेषकी उत्पत्ति होती है, जिससे शुद्धात्म
भावना नष्ट हो जाती है । (और उससे संसारकी वृद्धि होती है—
द्र स.) । —(द्र स. / टी. २२/६७/६) ।

८. परधर्म हानिके अवसरपर बिना बुझाये चोले अन्यथा चुप रहे

भ आ./मू/५२६/६७१ अणरस अप्पणो वा विधम्मिए विद्धत्तए कउजे। ज अ पुच्छिज्जतो अण्णेहि य पुच्छिओ जप ५२६। = वृसरोका अथवा अपना धार्मिक कार्य नष्ट होनेका प्रसंग आनेपर बिना पूछे ही बोलना चाहिए। यदि कार्य बिनाशका प्रसंग न हो तो जत्र कोई पूछेगा तत्र बोलो। नहीं पूछेगा तो न बोलो।

ज्ञा/६/१२ धर्मनाशे क्रियाध्वसे सुसिद्धान्तार्थविप्लवे। अपृष्टेरपि वक्तव्य तस्वरूपप्रकाशने १२। = जहाँ धर्मका नाश हो क्रिया बिगड़ती हो तथा समीचीन सिद्धान्तका लोप होता हो उस समय धर्म-क्रिया और सिद्धान्तके प्रकाशनार्थ बिना पूछे भी विद्वानोंको बोलना चाहिए।

अन्य सम्बन्धित विषय

१. योगवक्रता व विसवादिमें अन्तर। —दे० योगवक्रता।
२. वस्तु विवेचनका उपाय। —दे० न्याय/१।
३. वाद व जय पराजय सम्बन्धी। —दे० न्याय/२।
४. अनेकों एतान्तवादों व मतोंके लक्षण निर्देश आदि। —दे० वह-वह नाम।
५. वादमें पक्ष व हेतु दो ही अवयव होते हैं। —दे० अनुमान/३।
६. नैयायिक लोग वादमें पाँच अवयव मानते हैं—दे० वाद/१

वादन्याय—आ कुमारतन्दि (ई ७७६) कृत संस्कृत भाषा में न्याय विषयक ग्रन्थ। (ती/२/३५०, ४४८)।

वादमहाणव—श्वेताम्बराचार्य श्री अभयदेव (ई श. १०) कृत संस्कृत का न्याय विषयक ग्रन्थ।

वादिचंद्र—नन्दिसध बलात्कारगण की सूरत शाखा में प्रभा चन्द्र के शिष्य और महीचन्द्र के गुरु। कृतिये—पार्श्वपुराण, श्रीपाल आख्यान, ज्ञान सूर्योदय नाटक, सुभगसुलोचना चरित्र, पवनदूत। समय—वि १६३७-१६६४ (ई १५८०-१६०७)। (दे. इतिहास/७/४), (ती./४/७१), (जै/१/४७६)।

वादित्व ऋद्धि—दे० ऋद्धि/२।

वादिदेव सूरि—बड़े तार्किक व नैयायिक एक श्वेताम्बराचार्य जिन्होंने 'परीक्षामुख' ग्रन्थपर 'प्रमाण नय तत्कालकार स्याद्वाद रत्नाकर' नामकी टीका लिखी है। आपके शिष्यका नाम रत्नप्रभ समय—ई १११७-११६६। (सि वि./प्र ३०, ४१/५ महेंद्र कुमार)।

वादिराज— १ आ समन्त भद्र (ई १२०-१२५) का अपर नाम (दे. इतिहास/७/१)। २ दक्षिण देशवासी श्री विजय (ई. ६५०) के गुरु। समय—ई श १० का पूर्वार्ध। (ती./३/६२)। ३ द्रविडसध नन्दिसध उरु गल शाखा मति सागर के शिष्य, श्रीपाल के प्रशिष्य, अनन्तवीर्य तथा दयापाल के सहधर्मा। एकीभाव स्तोत्र की रचना द्वारा अपने कुष्ठ रोग का शमन किया। कृति—पार्श्वनाथ चरित्र, यशोधर चरित्र, एकीभाव स्तोत्र, न्याय विनिश्चय विवरण, प्रमाण निर्णय। समय—चालुक्य नरेश जयसिंह (ई १०१६-१०४२) द्वारा सम्मानित। पार्श्वनाथ चरित्र का रचना काल शक ६४७ (ई १०२५) अत ई १०१०-१०६५। (दे इतिहास/६/३)। (ती./३/८८-६२)।

वादीभासिंह—अकलक देव के गुरु भाई पुष्पसेन (ई. ६२०-६८०) के शिष्य। असली नाम ओडयदेव, तमिलनाडु के वासी। कृतिये—छत्र चूड़ामणि, गद्य चिन्तामणि। समय—ई. ७७०-८६०। (दे इतिहास/७/१), (ती./३/२५-२७)। २, वादिराज द्वि, के शिष्य, यादवराज ऐरियंग शान्तराज तेलगु (ई ११०३) के गुरु। असली नाम अजित सेन। कृति स्याद्वाद सिद्धि। समय—ई. ११०३ (ई श. १२ पूर्व)। (ती./३/६२)।

वानप्रस्थ—चा सा/४६/३ वानप्रस्थ अपरिगृहीतजिनरूपा वस्त्र-खण्डधारिणो निरतिशयतप समुद्यता भवन्ति। = जिन्होंने भगवान् अहं तदेवका विगम्बर रूप धारण नहीं किया है, जो खण्डवस्त्रोंको धारणकर निरतिशय तपश्चरण करनेमें तत्पर रहते हैं, उन्हें वानप्रस्थ कहते हैं।

वानर वंश—दे० इतिहास/१०/१३।

वानायुज—भरत क्षेत्रका एक देश—दे० मनुष्य/४।

वामदेव— १ मूलसंधी भट्टारक। गुरु परम्परा—विनयचन्द्र, त्रैलोक्यकीर्ति, लक्ष्मीचन्द्र वामदेव। प्रतिष्ठा आदि विधानों के ज्ञाता एक जिनभक्त कायन्थ। कृतिये—भावसग्रह, त्रैलोक्यप्रदीप, प्रतिष्ठा सूक्तिसग्रह, त्रिलोकसार पूजा, तत्त्वार्थसार, श्रुतज्ञानोद्यापन, मन्दिर संस्कार पूजा। समय—वि श १४-१५ के लगभग (जै./१/४८४, ४२६), (ती./४/६३)।

वामन राजाकी नगरी—दे० वनस्थली।

वामनसंस्थान—दे० संस्थान।

वामा—भगवान् पार्श्वकी माता। अपर नाम ब्राह्मी, वर्मिला, वर्मा। —दे० तीर्थकर/५।

वायव्य—पश्चिमोत्तर कोणवाली विदिशा।

वायु—वायु भी अनेक प्रकारकी है। उनमेंसे कुछ अचिंत होती है, और कुछ सचित। प्राणायाम ध्यान आदिमें भी वायुमण्डल व वायवी धारणाओंका प्रयोग किया जाता है।

१. वायुके अनेकों भेद व लक्षण

दे. पृथिवी—(वायु, वायुकायिक, वायुकाय और वायु इस प्रकार वायु के चार भेद हैं। तहाँ वायुकायिक निम्नरूपसे अनेक प्रकार है)।

मू आ./२/१२ वादुन्मामो उकल्लि मडलि गुजा महा घणु तणू य। ते जाण वाउजीवा जाणित्ता परिहरेदव्वा। २१२। = सामान्य पवन, धमता हुआ ऊँचा जानेवाला पवन, बहुत रज सहित गुंजनेवाला पवन, पृथिवीमें लगता हुआ चक्करवाला पवन, गुंजता हुआ चलनेवाला पवन, महापवन, धनोद्धि वात, घनवात, तनुवात (विशेष दे० वातमलय) —ये वायुकायिक जीव हैं। (प. स/प्र १/८०), (ध. १/१.१.४२/गा १२२/२७३), (त सा/२/६५)।

भ आ./त्रि/१०८/८०/२० भकामडलि वादौ वायौ। = वायुके भभावात और माण्डलिक ऐसे दो भेद हैं। जल वृष्टि सहित जो वायु बहती है उसको भभावात बटते हैं और जो बर्तुलाकार भ्रमण करती है उसको माण्डलिक वायु कहते हैं।

२. प्राणायाम सम्बन्धी वायु मण्डल

ज्ञा/२६/२१, २६ सुवृत्त त्रिन्दुसकीर्ण नीलाञ्जनधमप्रभम्। चञ्चल पव-नोपेत दुर्लक्ष्य वायुमण्डलम्। २१। तिर्यक्वह्यविभ्रान्त पवनाख्य

पड्डुल । पवन' कृष्णवर्णोऽसौ उष्ण शीतश्च लक्ष्यते ।२६। = सुवृत्त कहिए गोलाकार तथा बिन्दुओं सहित नीलाजन धनके समान है वर्ण जिसका, तथा चचला (बहता हुआ) पवन बीजाक्षर सहित, दुर्लक्ष्य (देखनेमें न आवे) ऐसा वायुमण्डल है । यह पवनमण्डलका स्वरूप कहा ।२१। जो पवन सब तरफ तिर्यक् बहता हो, विश्राम न लेकर निरन्तर बहता ही रहै तथा ६ अगुल बाहर आवै, कृष्णवर्ण हो, उष्ण हो तथा शीत भी हो ऐसा पवनमण्डल सम्बन्धी पवन पहचाना जाता है ।

३. मारुती धारणाका स्वरूप

ज्ञा ३७/२०-२३ विमानपथमापूर्य संचरन्तं समीरणम् । स्मरत्यविरत योगी महावेगं महाबलम् ।२०। चालयन्तं सुरानीकं ध्वनन्तं त्रिदशालयम् । दारयन्तं धनत्रातं क्षोभयन्तं महार्णवम् ।२१। व्रजन्तं भुवनाभोगे सचरन्तं हरिन्मुखे । विसर्पन्तं जगन्नीडे निविशन्तं धरातले ।२२। उद्भूय तद्रजः शीघ्रं तेन प्रबलवायुना । ततः स्थिरीकृताभ्यासः समीरं शान्तिमानयेत् ।२३। = योगी आकाशमें पूर्ण होकर विचरते हुए महावेगवाले और महाबलवान् ऐसे वायुमण्डलका चिन्तवन करै ।२०। तत्पश्चात् उस पवनको ऐसा चिन्तवन करै कि— देवोंकी सेनाको चलायमान करता है, मेरु पर्वतको कँपाता है, मेघोंके समूहको बखेरता हुआ, समुद्रको क्षोभरूप करता है ।२१। तथा लोकके मध्य गमन करता हुआ दशो दिशाओंमें सचरता हुआ जगत् रूप घरमें फैला हुआ, पृथिवीतलमें प्रवेश करता हुआ चिन्तवन करै ।२२। तत्पश्चात् ध्यानी (मुनि) ऐसा चिन्तवन करै कि वह जो शरीरादिक का भरम है (दे० आग्नेयी धारणा) उसको इस प्रबल वायुमण्डलने तत्काल उडा दिया, तत्पश्चात् इस वायुको स्थिररूप चिन्तवन करके स्थिर करे ।२३।

त. अनु /१८४ अकारं मरुता पूर्य कुम्भित्वा रेफवह्निना । दग्ध्वा स्ववपुषा कर्म, स्वतो भस्म विरेच्य च ।१८४। = अर्हं मन्त्रके 'अ' अक्षरको पूरक पवनके द्वारा पूरित और कुम्भित करके रेफकी अग्निसे कर्मचक्रको अपने शरीर सहित भस्म करके फिर भस्मको स्वयं विरेचित करे ।१८४।

४. बादर वायुकायिकोंका लोकमें अवस्थान

ष. ख /४११,३/सूत्र २४/६६ बादरवाउक्काइयपज्जत्ता केवडि खेत्ते. लोगस्स संखेज्जदिभागे ।२४।

घ २/१,३,१७/२३/६ मदरमूलादो उवरि जाव सदरसहस्सारकप्पो त्ति पचरज्जु उस्सेधेण लोगणाली समचउरंसा वादेण आउण्णा ।

घ ४/३,२४/६६/८ बादरवाउपज्जत्तरासी लोगस्स संखेज्जदिभागमेत्तो मारणंतिय उववाद्गदा सव्वलोगे क्खिण्ण होदि त्ति बुत्ते ण होदि, रज्जुपदरमुहेण पंचरज्जुआयामेण द्विदखेत्ते चेव पाएण तेसिमुप्पत्तीदो । = बादर वायुकायिक पर्याप्त जीव वितने क्षेत्रमें रहते हैं । लोकके सख्यातवे भागमें रहते हैं ।२४। (वह इस प्रकार कि)— मन्दराचलके मूलभागसे लेकर ऊपर शतार और सहस्रार कल्प तक पाँच राज् उस्सेधरूपसे समचतुरस्र लोकनाली वायुसे परिपूर्ण है ।— प्रश्न — बादर वायुकायिक पर्याप्त राशि लोकके सख्यातवे भागप्रमाण है जब वह मारणान्तिक समुद्रात और उपपाद पदोंका प्राप्त हो तत्र वह सर्व लोकमें क्यों नहीं रहती है ? उत्तर— नहीं रहती है, क्योंकि, राजुप्रतरप्रमाण मुखसे और पाँच राजु आयामसे स्थित क्षेत्रमें ही प्राय करके उन बादर वायुकायिक पर्याप्त जीवोंको उत्पत्ति होती है ।

५. अन्य सम्बन्धित विषय

१. बादर तैजसकायिक आदिकोंका भवनवासियोंके विमानों व आठों पृथिवियोंमें अवस्थान (दे० कायर/५) ।
२. सूक्ष्म तैजसकायिक आदिकोंका लोकमें सर्वत्र अवस्थान (दे० क्षेत्र/४) ।
३. वायुमें पुद्गलके सर्व गुणोंका अस्तित्व (दे० पुद्गल/२) ।
४. वायु कायिकोंमें कथंचित् त्रसपना (दे० स्थावर) ।
५. वायुकायिकोंमें वैक्रियिक योगकी सम्भावना (दे० वैक्रियिक) ।
६. मार्गणा प्रकरणमें भाव मार्गणाकी श्रुता तथा तद्वा आयिके अनुसार ही व्यय होनेका नियम (दे० मार्गणा) ।
७. वायुकायिकोंमें गुणस्थान, जीवसमाप्त, मार्गणास्थान आदि २० प्ररूपणाएँ (दे० सत्) ।
८. वायुकायिकों सम्बन्धी सत्, सख्या, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर, भाव व अल्पवहुत्व रूप ८ प्ररूपणाएँ (दे० वह वह नाम) ।
९. वायुकायिकोंमें कर्मोंका बन्ध उदय सत्त्व (दे० वह वह नाम) ।

वायुभूति— ह पु /४२/श्लोक— मगधदेश शालिग्राम सोमदेव ब्राह्मणका पुत्र था । १००। मुनियों द्वारा अपने पूर्व भवका वृत्तान्त सुन रुष्ट हुआ । रात्रिको मुनिहत्याको निकला पर यक्ष द्वारा कील दिया गया । मुनिराजने दयापूर्वक छुडवा दिया, तब अणुवत धारण किया और मरकर सौधर्म स्वर्गमें उपजा । (१३६-१४६) । यह कृष्णके पुत्र शम्भके पूर्वका छठा भव है— दे० शब ।

वायुरथ— म प /५८/५०-८२ भरतक्षेत्रके महापुर नगरका राजा था । धनरथ नामक पुत्रको राज्य देकर दीक्षा ले ली । प्राणत स्वर्गके अनुत्तर विमानमें उत्पन्न हुआ । यह 'अचलस्तोक' बलभद्रका पूर्वभव न २ है ।— दे० अचलस्तोक ।

वारिणी— विजयार्थकी उत्तर श्रेणीका एक नगर— दे० विद्याधर ।

वारिषेण— १. बृहत्कथा कोश/कथा नं १०/पु०— राजा श्रेणिकका पुत्र था । ३५। विद्युच्चर चोरने रानी चेलनाका सुरदत्त नामक हार चुराकर । ३६। कोतवालके भयसे शमशान भूमिमें ध्यानरथ इनके आगे डाल दिया, जिसके कारण यह पकड़े गये । राजाने प्राणदण्डकी आज्ञा की पर शस्त्र फूलोंके हार बन गये । तब विरक्त ही दीक्षा ले ली । ३८। सोमशर्मा मित्रको जबरदस्ती दीक्षा दिलायी । ३९। परन्तु उसकी स्त्री सम्बन्धी शक्यको न मिटा सका । तब उसके स्थितिकरणार्थ उसे अपने महलमें ले जाकर समस्त रानियोंको शृ गारित होनेको आज्ञा दी । उनका सुन्दर रूप देखकर उसके मनकी शक्य धुल गयी और पुन दीक्षित हो धर्ममें स्थित हुआ । ४२। २. भगवान् वीरके तीर्थके एक अनुत्तरोपपादक— दे० अनुत्तरोपपादक ।

वाष्णी— ज्ञा /३७/२४-२७ वारुण्या स हि पुण्यात्मा धनजालचित्त नभ । इन्द्रायुधतडिङ्गर्जच्चमत्काराकुल स्मरेत् ।२४। सुधाम्बुप्रभवै सान्द्रेबिन्दुभिर्मोक्तिकोज्ज्वलै । वर्षन्त ते स्मरेद्धीर स्थूलस्थूलैर्निरन्तरम् ।२५। ततोऽद्भेन्दुसम कान्त पुर वरुणसाञ्छितम् । ध्यायेत्सुधापय पूरै प्लावयन्तं नभस्तलम् ।२६। तेनाचिन्तप्रभावेण दिव्यध्यानीत्थिताम्बुना । प्रशलयति नि शेष तद्रज कायसम्भम् । = वही पुण्यात्मा (ध्यानी मुनि) इन्द्रधनुष, बिजली, गर्जनादि चमत्कार सहित मेघोंके समूहसे भरे हुए आकाशका ध्यान करे । २४। तथा उन मेघोंको अमृतमें उत्पन्न हुए गोतियोंके समान उज्ज्वल बड़े-बड़े बिन्दुओंसे निरन्तर धाररूप वर्षते हुए आकाशको धीरे, वीर मुनि

स्मरण करे अर्थात् ध्यान करे । २५। तत्पश्चात् अर्द्धचन्द्राकार, मनोहर, अमृतमय, जलके प्रवाहसे आकाशको बहाते हुए वरुणपुर (वरुण मण्डलका) चिन्तवन करे । २६। अचिन्त्य है प्रभाव जिसका ऐसे दिव्य ध्यानसे उत्पन्न हुए जलसे, शरीरके जलनेसे (दे० आग्नेयी धारणा) उत्पन्न हुए समस्त भस्मको प्रक्षालन करता है, अर्थात् धोता है, ऐसा चिन्तवन करे । २७।

त अनु./१८५ ह-मन्त्रो नभसि ध्येयः क्षरन्नमृतमात्मनि । तेनान्यत्त-
द्विनिर्माय पीयूषमयपमुज्ज्वलम् । १८५। = 'ह' मन्त्रको आकाशमें ऐसे ध्याना चाहिए कि उससे आत्मामें अमृत भर रहा है, और उस अमृतसे अन्य शरीरका निर्माण होकर वह अमृतमय और उज्ज्वल बन रहा है ।

वारुणी—१ रुचक पर्वत निवासिनी एक दिक्कुमारी—दे० लोक/५/१३ । २ विजयार्थकी उत्तर श्रेणीका नगर ।—दे० विद्याधर ।

वारुणीवर—मध्यलोकका चतुर्थ द्वीप व सागर—दे० लोक/५/१ ।

वार्ता—म पु/३८/३५ वार्ता त्रिशुद्धवृत्त्या स्यात् कृष्यादीनामनुष्ठित ।
= विशुद्ध आचरण पूर्वक खेती आदिका करना वार्ता कहलाती है ।
(चा० सा/४३/५) ।

वार्तिक—श्लो. वा/१/प. ६ पं २/२०/१० वार्तिक हि सूत्राणामनुप-
पत्ति चोदना तत्परिहारो विशेषाभिधान प्रसिद्धम् । = सूत्रके नही अन-
तार होने देनेकी तथा सूत्रके अर्थको न सिद्ध होने देनेकी उहापोह
या तर्कणा करना और उसका परिहार करना, तथा ग्रन्थके विशेष
अर्थको प्रतिपादित करना, ऐसे वाक्यको वार्तिक कहते हैं ।

वार्षगण्य—साख्यमतके प्रसिद्ध प्रणेता । समय—ई० २३०-३०० ।
—दे० सांख्य ।

वाल्मीकि—एक विनयवादी—दे० वैनयिक ।

वाल्लोकि—भरतक्षेत्र उत्तर आर्यखण्डका एक देश ।—दे० मनुष्य/४

वाविल—पॉचवे नरकका चौथा पटल ।—दे० नरक/५/११६

वासना—१ म श/टी/३७ शरीरादौ शुचिस्थिरात्मोयादिज्ञानान्य-
निरास्तासामभ्यास पुन पुन प्रवृत्तिस्तेन जनिता सस्कारा
वासना । = शरीरादिको शुचि, स्थिर और आत्मीय माननेरूप जो
अविद्या अज्ञान है उसके पुन पुन प्रवृत्तिरूप अभ्याससे उत्पन्न
गस्कार वासना कहलाते हैं ।

* अनन्तानुबन्धी आदि कषायोंका वासनाकाञ्च

—दे० वह वह नाम ।

वासव—गन्धर्व नामक व्यन्तर देवोंका एक भेद ।—दे० गन्धर्व ।

वासुकि—तृण्डल पर्वतके महाप्रभकूटका स्वामी नागेन्द्र देव —दे०
नाग/५/१२ ।

वासुदेव—१ कृष्णका अपरनाम है ।—दे० कृष्ण । २ नव वासुदेव
परिचय व वासुदेवका लक्षण ।—दे० शलाका पुरुष/४ ।

वासुदेव साधुभौम—नव्य न्यायके प्रसिद्ध प्रणेता । समय—ई०
१५०० ।—दे० न्याय/१/७ ।

वासुपूज्य—म पु/५८/२लोक—पूर्व भव न० २ में पुष्करार्थ द्वीपके
पूर्वमेरु सम्बन्धी वत्सकावती देशमें रत्नपुर नगरके राजा 'पद्मोत्तर'
ये । २। पूर्व भवमें महाशुक स्वर्गमें देव हुए । १३। वर्तमान भवमें १२ वे
तीर्थंकर हुए ।—दे० तीर्थंकर/५ ।

वास्तु—म मि/७/२६ 'वास्तु अगार = वास्तु का अर्थ घर होता है ।

वाहिनी—सेनाका एक अंग ।—दे० सेना ।

विदफल—Volume (ज. प./प्र. १०८) ।

विध्य पर्वत—श्रवणबेलगालमें दो पर्वत प्रसिद्ध हैं— एक चन्द्र-
गिरि और दूसरा विन्ध्यगिरि । (द. सा/पृ १६ की टिप्पणी ।
प्रेमी जी) ।

विध्य वर्मा—भोजवंशकी बंशावलीके अनुसार यह अजयवर्माका
पुत्र और सुभटवर्माका पिता था । मालवादेश (मगध) का राजा था ।
धारा नगरी व उज्जैनी इसकी राजधानी थी । अपरनाम विजय-
वर्मा था । समय—वि० स० १२४६-१२५७ (ई० ११६२-१२००) ।
—दे० इतिहास/३/१ ।

विध्यव्यासी—वार्षगण्यका शिष्य तथा सांख्य दर्शनका प्रसिद्ध
प्रणेता । समय—ई० २५०-३२० ।—दे० सांख्य ।

विध्यशक्ति—म. पु/५८/२लोक—भरतक्षेत्रके मलयदेशका राजा
था । ६३। भाई सुषेणकी नतिकीको युद्ध करके छीन लिया । ७६।
चिरकाल तक अनेको योनियोमें भ्रमण करनेके पश्चात् । ९०। भरत-
क्षेत्रके भोगवर्द्धन नामक नगरके राजा श्रीधरका 'तारक' नामका पुत्र
हुआ । यह तारक प्रतिनारयणका दूरवर्ती पूर्वभव है ।—दे० तारक ।

विध्याचल—भरतक्षेत्र आर्यखण्डका एक पर्वत या देश जिसमें निम्न
प्रान्त सम्मिलित हैं ।—दशार्णक, किष्कन्ध, त्रिपुर, आवर्त, नैषध,
नैपाल, उत्तमवर्ण, वैदिश, अन्तप, कौशल, पत्तन, विनिहान्त ।
—दे० मनुष्य/४ ।

विकट—दे० ग्रह ।

विकथा—दे० कथा ।

विकल—१ विकल दोष ।—दे० शून्य । २ साध्य साधन विकल
दृष्टान्त—दे० दृष्टान्त ।

विकलन—Distribution (ध ५/प्र. २८) ।

विकलादेश—

रा वा./४/४२/१३/२५२/२२ धर्माणा भेदेन विवक्षा तदैकस्य शब्दस्याने-
कार्थप्रत्यायनशक्यत्वात् क्रमः । यदा तु क्रमः तदा विकलादेशः,
स एव नय इति व्यपदिश्यते । = जब वस्तुके अस्तित्व आदि अनेक
धर्म कालादिको अपेक्षा भिन्न-भिन्न विवक्षित होते हैं, उस समय
एक शब्दमें अनेक अर्थोंके प्रतिपादनकी शक्ति न होनेसे क्रमसे प्रांत-
पादन होता है । इसे विकलादेश कहते हैं । और यह नयके आधीन
है ।—विशेष—दे० नय/१/२ । (श्लो. वा./२/१/६/४५१/१६) ।
(स. म/२२/२८३/१६) ।

रा. वा./४/४२/१६/२६०/१२ निरंशस्यापि गुणभेदांशकल्पना विकला-
देशः । १६। स्वेन तत्त्वेनाप्रविभागस्यापि वस्तुनो विविक्त गुणरूपं
स्वरूपोपरञ्जकमपेक्ष्य प्रकल्पितमंशभेद कृत्वा अनेकात्मकं कश्च व्यव-
स्थाया नरसिंहसिंहत्ववत् समुदायारमकमात्मरूपमभ्युपगम्य कालादि-
भिरन्योन्यविषयानुप्रवेशरहिताशक्यत्वात् विकलादेशः । न तु केवल
सिंहे सिंहत्ववत् एकत्मेकत्वपरिग्रहात् । यथा वा पानकमनेकरवण्ड-
दाडिमकर्पूरादिरसानुविद्धमास्वाद्य अनेकरसात्मवत्वमस्यावसाय पुनः
स्वशक्तिविशेषादिदमप्यस्तीति विशेषनिरूपणं क्रियते, तथा अनेका-
त्मकेकवस्त्वभ्युपगमपूर्वकं हेतुविशेषसामर्थ्यात् अस्मितसाध्यविशेषाव-
धारणं विकलादेशः । कथं पुनरर्थस्याभिन्नस्य गुणो भेदक १ दृष्टो
हि अभिन्नस्याप्यर्थस्य गुणस्त्वभेदं कल्पयन् यथा परत भवान्
पट्टरासीत् पटुतर एवम् इति गुणविवेकरूपस्य द्रव्यात्मभावात्
गुणभेदेन गुणिनोऽपि भेदः । = निरंश वस्तुमें गुणभेदसे अशक्यता
करना विकलादेश है । स्वरूपसे अविभागी अखण्ड सत्ताक वस्तुएँ
विविध गुणोंकी अपेक्षा अंश कल्पना करना अर्थात् अनेक और
एकत्वकी व्यवस्थाके लिए मूलतः नरसिंहमें सिंहत्वकी तरह समुदा-

यात्मक वस्तुस्वरूपको स्वीकार करके ही काल आदिकी दृष्टिसे परस्पर विभिन्न अंशकी कल्पना करना विकलादेश है। केवल सिंहमे सिंहत्वकी तरह एकमें एकांशकी कल्पना करना विकलादेश नहीं है। जैसे दाड़िम कर्पूर आदिसे बने हुए शर्बतमें विलक्षण रसकी अनुभूति और स्वीकृतिके बाद अपनी पहिचान शक्तिके अनुसार 'इस शर्बतमे इलाइची भी है कर्पूर भी है' इत्यादि विवेचन किया जाता है, उसी अनेकान्तात्मक एक वस्तुकी स्वीकृतिके बाद हेतुविशेषसे किसी विवक्षित अंशका निश्चय करना विकलादेश है। प्रश्न—गुण अभिन्न अर्थका भेदक कैसे हो सकता है। उत्तर—अखण्ड भी वस्तुमें गुणोसे भेद देखा जा सकता है, जैसे—'गतवर्ष आप पट्ट थे, इस वर्ष पट्टतर है' इस प्रयोगमें अवस्था भेदसे तदभिन्न द्रव्यमें भेद व्यवहार होता है। गुण भेदसे गुणभेदका होना स्वाभाविक ही है। —(विशेष दे० द्रव्य/४/४) ; (और भी वे० सकलादेश)।

श्लो. वा २/१/६/५६/४६०/२३ सकलाप्रतिपादकत्वात् प्रत्येकं सदादिवाक्यं विकलादेश इति न समीचीना युक्तिस्तत्समुदायस्यापि विकलादेशत्वप्रसङ्गात् । = सम्पूर्ण वस्तुका प्रतिपादक न होनेके कारण प्रत्येक बोला गया सत् असत् आदि वाक्य विकलादेश है, यह युक्ति ठीक नहीं, क्योंकि ये तो उन सातों वाक्योंके समुदायकी भी विकलादेशपनेका प्रसंग होगा। सातों वाक्य समुचित होकर भी वस्तुभूत अर्थके प्रतिपादक न हो सकेगे। (स, भ, त./१६/२)।

क. पा १/१२०२/२०३/६ को विकलादेश । अस्त्येव नास्त्येव अवक्तव्य एव घट इति विकलादेश' । कथमेतेषां सप्तानां दुर्नयानां विकलादेशत्वम् । न, एकधर्मविशिष्टस्यैव वस्तुन' प्रतिपादनात् । = प्रश्न—विकलादेश क्या है? उत्तर—घट है ही, घट नहीं ही है, घट अवक्तव्यरूप ही है - इस प्रकार यह (सप्तभंगी) विकलादेश है। प्रश्न—इन सातों दुर्नयरूप अर्थात् सर्वथा एकान्तरूप वाक्योंको विकलादेशपना कैसे प्राप्त हो सकता है? उत्तर—ऐसी आशका ठीक नहीं, क्योंकि, ये सातों वाक्य एकधर्मविशिष्ट वस्तुका ही प्रतिपादन करते हैं, इसलिए ये विकलादेश रूप हैं।

स. भ. त./१६/३ अत्र केचित् एक धर्मरूपकवस्तुविषयकबोधजनकवाक्यत्व विकलादेशत्वम् इत्याहुः । तेषां नयवाक्यानां च सप्तविधत्वव्याघात' ।

स. म. त./१७/१ यस्तु धर्म्यविषयकधर्मविषयकबोधजनकवाक्यत्व विकलादेशत्वमिति—तन्न । धर्मवृत्तित्वाविशेषितस्य धर्मस्त्रापि तथात्वादुक्तलक्षणस्यासंभवात् । = यहाँपर कोई ऐसा कहते हैं कि वस्तुके सत्त्व असत्त्वादि धर्मोंमेंसे किसी एक धर्मका ज्ञान उत्पन्न करानेवाला वाक्य विकलादेश है। उनके मतमें नयवाक्योंके सप्तभेदका व्याघात होगा (दे० सप्तभंगी)। और जो कोई ऐसा कहते हैं कि धर्मोंको छोड़कर केवल विशेषणीभूत धर्ममात्राविषयक बोधजनक वाक्य विकलादेश है, सो यह भी युक्त नहीं है क्योंकि धर्मोंमें वृत्तित्वा-रूपसे अविशेषित धर्मका भी शब्दबोधमें भान नहीं होता है।

विकलेन्द्रिय—विकलेन्द्रिय जीवका लक्षण—दे० त्रस/१ । २ विकलेन्द्रियोके सस्थान व दुःस्वरूपने सम्बन्धी शका समाधान—दे० उदय/५ । ३ विकलेन्द्रियो सम्बन्धी प्ररूपणाएँ—दे० इन्द्रिय ।

विकल्प—विकल्प दो प्रकारका होता है—रागात्मक व ज्ञानारमक । रागके सद्भावमें ही ज्ञानमें झप्पिपरिवर्तन होता है। और उसके अभावके कारण ही केवलज्ञान, स्वसंवेदन ज्ञान व शुक्लध्यान निर्विकल्प होते हैं।

१. विकल्प सामान्यका लक्षण

१. रागकी अपेक्षा

द्र स./टी./४१/१७४/१ अभ्यन्तरे मुख्यह दुःख्यहमिति हर्षविषादकारण विकल्प इति । अथवा वस्तुवृत्त्या संकल्प इति कोऽर्थो विकल्प इति

तस्यैव पर्याय' । = अन्तरंगमे मै सुखी हूँ मै दुःखी हूँ इस प्रकार जो हर्ष तथा खेदका करना है, वह विकल्प है। अथवा वास्तवमें जो संकल्प (पुत्र आदि मेरे हैं, ऐसा भाव) है, वही विकल्प है, अर्थात् विकल्प संकल्पकी पर्याय है। (पं. का./ता. वृ /७/१६/८), (प, प्र / टी /१/१६/२४/१)

२ ज्ञानमें आकारावभासनकी अपेक्षा

प्र. सा./त. प्र /१२४ विकल्पस्तदाकारावभासनम् । यस्तु सुकुरुन्दहृदयाभोग इव युगपदवभासमानस्वपराकारोऽर्थविकल्पस्तज्ज्ञानम् । = (स्वपरके विभागपूर्वक अवस्थित विश्व अर्थ है) । उसके आकारोका अवभासन विकल्प है। दर्पणके निजविस्तारकी भाँति जिसमें एक ही साथ स्व-पराकार अवभासित होते हैं, ऐसा अर्थविकल्प ज्ञान है। (अर्थात् ज्ञानभूमिमें प्रतिभासित बाह्य पदार्थोंके आकार या प्रतिबिम्ब ज्ञानके विकल्प कहे जाते हैं ।)

द्र. स./टी /४२/१८१/३ घटोऽय पटोऽयमित्यादिग्रहणव्यापाररूपेण साकार सविकल्पं व्यवसायात्मकं निश्चयात्मकमित्यर्थ' । = यह घट है, यह पट है' इत्यादि ग्रहण व्यापाररूपसे ज्ञान साकार, सविकल्प, व्यवसायात्मक व निश्चयात्मक होता है।—(और भी. दे. आकार/१)

पं. घ./५/६०८ अर्थात्कविकल्पः ।

पं. घ/उ /३६९ आकारोऽर्थविकल्प' स्यादर्थ. स्वपरगोचर' । सोप-योभो विकल्पो वा ज्ञानस्यैतद्धि लक्षणम् । ३६९ । = अर्थका प्रतिभास विकल्प कहलाता है । ६०८ । साकार शब्दमें आकार शब्दका अर्थ, अर्थविकल्प होता है और वह अर्थ स्व तथा पर विषयरूप है। विकल्प शब्दका अर्थ उपयोगसहित अवस्था होता है, क्योंकि, ज्ञानका यह आकार लक्षण है । ३६९ । (प घ /उ /८३७)

३. झप्पिपरिवर्तनकी अपेक्षा

पं. घ./उ /८३४ विकल्पो योगसंक्रान्तिरर्थाज्ज्ञानस्य पर्याय' । ज्ञेयाकार. स ज्ञेयार्थात् ज्ञेयार्थान्तरसगत । ८३४ । = योगोकी प्रवृत्तिके परिवर्तनको विकल्प कहते हैं, अर्थात् एक ज्ञानके विषयभूत अर्थसे दूसरे विषयान्तरत्वको प्राप्त होनेवाली जो ज्ञेयाकाररूप ज्ञानकी पर्याय है, वह विकल्प कहलाता है।

मो. मा. प्र /७/३१०/६ रागद्वेषके वशतः किसी ज्ञेयके जाननेविषे उपयोग लगावना । किसी ज्ञेयके जाननेतै छुड़ावना, ऐसे बराबर उपयोगका भ्रमावना, ताका नाम विकल्प है। बहुरि जहाँ वीतरागरूप होय जाकौ जानै हैं, ताकौ यथार्थ जानै हैं। अन्य अन्य ज्ञेयके जाननेके अर्थ उपयोगकौ नाही भ्रमावै है। तहां निर्विकल्प दशा जाननी ।

२. ज्ञान सविकल्प है और दर्शन निर्विकल्प

द्र सं./टी./४/१३/१ निर्विकल्पक दर्शनं सविकल्पक ज्ञानं । = दर्शन तो निर्विकल्पक है और ज्ञान सविकल्पक है। (पं. का./ता. वृ /४०/८०/१६)

★ ज्ञानके अतिरिक्त सर्व गुण निर्विकल्प हैं—३ गुण/२।

३. सम्यग्दर्शनमें कथंचित् विकल्प व निर्विकल्पपना

पं घ /उ /८३८ विकल्प' सोऽधिकारेऽस्मिन्नाधिकारो मनागपि । योग-सक्रान्तिरूपो यो विकल्पोऽधिकृतोऽधुना । ८३८ । = ज्ञानका स्वलक्षण-भूत व विकल्प सम्यग्दर्शनके निर्विकल्प व सविकल्पके कथनमें कुछ भी अधिकार नहीं है, किन्तु योग-सक्रान्तिरूप जो विकल्प, वही इस समय सम्यक्त्वके सविकल्प और निर्विकल्पके विचार करते समय अधिकार रखता है।

४. लब्धिरूप ज्ञान निर्विकल्प होता है

प घ./उ/८५८ सिद्धमेतावतोक्तेन लब्धिर्या प्रोक्तलक्षणा। निरुपयोग-
रूपत्वान्निर्विकल्पता स्वतोऽस्ति सा १८५८। = इतना कहनेसे यह
सिद्ध होता है, कि जिसका लक्षण कहा जा चुका है ऐसी जो लब्धि
है, वह स्वतः उपयोगरूप न होनेसे निर्विकल्प है।

* मति श्रुत ज्ञानकी कथंचित् निर्विकल्पता

—दे ऊपर।

५. स्वसंवेदन ज्ञान निर्विकल्प होता है

द्र सं/टो/१५/१६/३ यच्च निश्चयभावश्रुतज्ञानं तच्च शुद्धात्माभिमुखसुख-
सवित्तिस्वरूपं स्वसवित्त्याकारेण सविकल्पमयीन्द्रियमनोजन्तित-
रागादिविकल्पजालरहितत्वेन निर्विकल्पम्। = जो निश्चय भावश्रुत
ज्ञान है, वह शुद्ध आत्माके अभिमुख होनेसे सुखसंवित्ति या सुखानु-
भव स्वरूप है। वह यद्यपि निज आत्माके आकारसे सविकल्प है तो
भी इन्द्रिय तथा मनसे उत्पन्न जो विकल्पसमूह है उनसे रहित होनेके
कारण निर्विकल्प है। (द्र सं/टो/१४२/१८४/२)

दे. जोब/१/३/३ [समाधिकालसे स्वसंवेदनकी निर्विकल्पताके कारण
ही जीवकी कथंचित् जड कहा जाता है।]

प घ/पु/३९६ तस्मादिदमनशब्दात् स्वात्मग्रहणे किलोपयोगि मनः।
किन्तु विशिष्टदशायाम् भवतीह मनः स्वयं ज्ञानम् ७९६। प घ./उ/
८५६ शुद्धं स्वात्मोपयोगो यः स्वयं स्यात् ज्ञानचेतना। निर्विकल्प स
एवार्थारसक्रान्तात्मसंगते ८५६। = यहाँपर यह कथन निर्दोष है कि
स्वात्माके ग्रहणमें निश्चयसे मन ही उपयोगी है, किन्तु इतना विशेष
है कि विशिष्ट दशामें मन स्वतः ज्ञानरूप ही जाता है ७९६।
वास्तवमें स्वयं ज्ञानचेतनारूप जो शुद्ध स्वकीय आत्माका उपयोग
होता है वह सक्रान्त्यात्मक न होनेसे निर्विकल्परूप ही है १५६।

६. स्वसंवेदनमें ज्ञानका सविकल्प लक्षण कैसे घटित होगा

द्र म/टो/१४२/१५४/६ अत्राह शिष्य इत्युक्तप्रकारेण यन्निर्विकल्प-
स्वसंवेदनज्ञानं भण्यते तत्र घटते। कस्मादिति चेत् उच्यते। सत्ताव-
लोकरूप चक्षुरादिदर्शनं यथा जैनमते निर्विकल्पं कथ्यते, तथा बौद्ध-
मते ज्ञानं निर्विकल्पकं भण्यते। परं किन्तु तन्निर्विकल्पमपि
विकल्पजनकं भवति। जैनमते तु विकल्पस्योत्पादकं भवत्येव न,
किन्तु स्वरूपेणैव सविकल्पमिति। तथैव स्वपरप्रकाशकं चेति। तत्र
परिहारः कथंचित् सविकल्पकं निर्विकल्पकं च। तथाहि—यथा
विषयानन्दरूप स्वसंवेदनं रागसद्वित्तिविकल्परूपेण सविकल्पमिति
शेषानीहितसूक्ष्मविकल्पानां सद्भावेऽपि सति तेषां मुख्यत्वं नास्ति
तेन कारणेन निर्विकल्पमपि भण्यते। तथा स्वशुद्धात्मसवित्तिरूपं
बीतरागस्वसंवेदनज्ञानमपि स्वसवित्त्याकारैकविकल्पेन सविकल्पमपि
बहिर्विषयानीहितसूक्ष्मविकल्पानां सद्भावेऽपि सति तेषां मुख्यत्व
नास्ति तेन कारणेन निर्विकल्पमपि भण्यते। यत् एवेहापूर्वस्वसवि-
त्याकारान्तर्मुखप्रतिभासेऽपि बहिर्विषयानीहितसूक्ष्मा विकल्पा अपि
सन्ति तत् एव कारणत्वं स्वपरप्रकाशकं च सिद्धम्। = प्रश्न—यहाँ
शिष्य कहता है कि इस कहे हुए प्रकारसे प्राभूत शास्त्रमें जो विकल्प-
रहित स्वसंवेदन ज्ञान कहा है, वह घटित नहीं होता, क्योंकि, जैन-
मतमें जैसे सत्तावलोकनरूप चक्षुदर्शन आदि है, उसको निर्विकल्प
कहसे है, उसी प्रकार बौद्धमतमें ज्ञान निर्विकल्प है, तथापि विकल्प-
को उत्पन्न करनेवाला होता है। और जैनमतमें तो ज्ञान विकल्पको
उत्पन्न करनेवाला ही नहीं, किन्तु स्वरूपसे ही विकल्प सहित है।
और इसी प्रकार स्वपरप्रकाशक भी है। उत्तर—परिहार करते हैं।—
जैनसिद्धान्तमें ज्ञानको कथंचित् सविकल्प और कथंचित् निर्विकल्प

माना गया है। सो ही दिखाते हैं।—जैसे विषयमें आनन्दरूप जो
स्वसंवेदन है वह रागके जानेरूप विकल्पस्वरूप होनेसे सविकल्प है,
तो भी शेष अनिच्छित जो सूक्ष्म विकल्प है उनका सद्भाव होनेपर
भी उन विकल्पोंकी मुख्यता नहीं, इस कारणसे उस ज्ञानको निर्वि-
कल्प भी कहते हैं। इसी प्रकार निज शुद्धात्माके अनुभवरूप जो
बीतराग स्वसंवेदन ज्ञान है वह आत्मसंवेदनके आकाररूप एक
विकल्पके होनेसे यद्यपि सविकल्प है, तथापि बाह्य विषयोंके
अनिच्छित विकल्पोंका उस ज्ञानमें सद्भाव होनेपर भी उनकी उस
ज्ञानमें मुख्यता नहीं है, इस कारणसे उस ज्ञानको निर्विकल्प भी
कहते हैं। तथा—क्योंकि यहाँ अपूर्व सवित्तिके आकाररूप अन्त-
रगमें मुख्य प्रतिभासेके होनेपर भी बाह्य विषय वाले अनिच्छित
सूक्ष्म विकल्प भी है। इस कारण ज्ञान निज तथा परको प्रकाश
करनेवाला भी सिद्ध हुआ।

७. शुक्लध्यानमें कथंचित् विकल्प व निर्विकल्पपना

ज्ञा/१४१/८ न पर्यति तदा किञ्चिन्न शृणोति न जिघ्रति। स्पृष्टं
किञ्चिन्न जानाति साक्षात्तृप्तिरिव। = उस (शुक्ल) ध्यानके
समय चित्रामकी मूर्तिकी तरह हो जाता है। इस कारण यह योगी
न तो कुछ देखता है, न कुछ सुनता है, न कुछ संघता है और
न कुछ स्पर्श किये हुयेको जानता है ८।

प घ/उ/८५२-८५३ यत्पुनर्ज्ञानमेकत्र नैरन्तर्येण कुत्रचित्। अस्ति
तद्धान्यमत्रापि क्रमो नाप्यक्रमोऽर्थतः ८५२। एकरूपमिवाभाति
ज्ञानं ध्यानैकतानतः। तत् स्यात् पुनः पुनर्वृत्तिरूपं स्यात्क्रमवर्ति च।
८५३। = किन्तु जो किसी विषयमें निरन्तर रूपसे ज्ञान रहता है,
उसे ध्यान कहते हैं, और इस ध्यानमें भी वास्तवमें क्रम ही है,
किन्तु अक्रम नहीं है ८५२। ध्यानकी एकाग्रताके कारण ध्यानरूप
ज्ञान अक्रमवर्ति की तरह प्रतीत होता है, परन्तु वह ध्यानरूप ज्ञान
पुनः-पुनः उसी-उसी विषयमें होता रहता है, इसलिए क्रमवर्ती
ही है ८५३।

८. केवलज्ञानमें कथंचित् निर्विकल्प व सविकल्पपना

प्र. सा/मू/४२ परिणमदि गेणमट्ठ णदा जदि गेव खाइगं तस्स।
णाणत्ति त जिणिदा खवयतं कम्ममेवुत्ता। ४२। = ज्ञाता यदि ज्ञेय-
पदार्थरूप परिणमित होता है (अर्थात् 'यह काला है, यह पीला है'
ऐसा विकल्प करता है तो उसके क्षायिकज्ञान होता ही नहीं।
जिनेन्द्रदेवोंने ऐसे ज्ञानको कर्मको ही अनुभव करनेवाला कहा
है ४२।

प घ/उ/८५६, ८५५ अस्ति क्षायिकज्ञानस्य विकल्पत्वं स्वलक्षणात्।
नार्थादर्थान्तराकारयोगस्कान्तिसंक्षणात् ८५६। नोह्य तत्राप्यति-
व्याप्तिः क्षायिकारणसवित्तिः। स्यात्परिणामवत्त्वेऽपि पुनर्वृत्तेर-
सभवात् ८५५। = स्वलक्षणकी अपेक्षासे क्षायिकज्ञानमें जो विकल्पपना
है वह अर्थसे अर्थान्तराकाररूप योग स्कान्तिके विकल्पकी अपेक्षा
नहीं है ८५६। क्षायिक अतीन्द्रिय केवलज्ञानमें अतिव्याप्तिका प्रसंग
भी नहीं प्रकृत, क्योंकि, उसमें स्वाभाविक रूपसे परिणमन होते हुए
भी पुनर्वृत्ति सम्भव नहीं है ८५५।

९. निर्विकल्प केवलज्ञान ज्ञेयको कैसे जाने

नि सा/ता. वृ/१५० कथमिति चेत्, पूर्वोक्तस्वरूपमात्मानं खलु न
जानात्यात्मा स्वरूपावस्थितः सतिष्ठति। यथोष्णरवरूपस्याग्ने
स्वरूपमग्निं किं जानाति, तथैव ज्ञानज्ञेयविकल्पाभावत् तसोऽय-
नात्मात्मनि तिष्ठति। इहो प्राथमिकशिष्य अग्निवददमारामा किम-
चेत् न। किं बहुना! तमात्मानं ज्ञानं न जानाति चेद् देवदत्त-
रहितपरशुवत् इदं हि नार्थक्रियाकारि, अतएव आत्मनः सकाशाद्

व्यतिरिक्त भवति । तत्र खलु सयतं स्वभाववादिनामिति ।
 = प्रश्न—वह (विपरीत धितर्क) किस प्रकार है ? पूर्वोक्तस्वरूप
 आत्माको आत्मा वास्तवमें जानता नहीं है, स्वरूपमें अवस्थित
 रहता है । जिस प्रकार उष्णतास्वरूप अग्निके स्वरूपको क्या अग्नि
 जानती है ? उसी प्रकार ज्ञानज्ञेय सम्बन्धी विकल्पके अभावसे यह
 आत्मा आत्मामे स्थित रहता है । उत्तर—हे प्राथमिक शिष्य,
 अग्निकी भाँति क्या आत्मा अचेतन है ? अधिक क्या कहा जाय,
 यदि उस आत्माको ज्ञान न जाने तो वह ज्ञान, देवदत्त रहित
 कुम्हाड़ीकी भाँति अर्थक्रियाकारो सिद्ध नहीं होगा, और इस
 लिए वह आत्मामे भिन्न सिद्ध होगा । और यह वास्तवमें स्वभाव-
 वादियोंको सम्मत नहीं है । —(विशेष दे० केवलज्ञान/६) ।

विकल्पसमा—न्या सू/मू. व वृ १/१/४/२५५ साध्यदृष्टान्तयो-
 र्द्धर्मविकल्पानुभयसाध्यस्वाच्चोत्कर्षापरकषणवर्णविवर्णविकल्पसाध्यसमा ।
 १४। साधनधर्मयुक्ते दृष्टान्ते धर्मान्तरविकल्पात्साध्यधर्मविकल्प
 प्रसन्नतो विकल्पसमा । क्रियाहेतुगुणयुक्त किञ्चिद् गुरु यथा
 लोष्ट किञ्चिद्वल्गु यथा वायुरेवं क्रियाहेतुगुणयुक्त किञ्चित्क्रिया-
 वत्स्याद् यथा लोष्ट किञ्चिदक्रिय यथात्मा विशेषो वा वाच्य
 इति । =साधनधर्मसे युक्त दृष्टान्तमें अन्य धर्मके विकल्पसे साध्य-
 धर्मके विकल्पका प्रसंग करानेवालेका नाम 'विकल्पसमा' है । 'आत्मा
 क्रियावान् है, क्रियाहेतु गुणसे युक्त होनेके कारण, जैसे कि लोष्ट,
 वादीके ऐसा कहे जानेपर प्रतिवादी कहता है—क्रिया हेतुगुणसे
 युक्त है तो आत्माको कुछ भारो होना चाहिए जैसे लोष्ट या कुछ
 हलका होना चाहिए जैसे वायु । अथवा लोष्टको भी कुछ
 क्रियाग्रहित होना चाहिए जैसे आत्मा । या विशेष कहना
 चाहिए ।

श्लो. वा ४/भाषाकार/१/३३/न्या. ३३७/४७३/१६ पक्ष और दृष्टान्तमे
 जो धर्म उसका विकल्प यानी विरुद्ध कल्प व्यभिचारीपन आदिसे
 प्रसंग देना है, वह विकल्पसमाके उत्थानका बीज है । चाहे जिस
 किसी भी धर्मका कही भी व्यभिचार दिखला करके धर्मपनकी
 अविशेषतासे प्रकरण प्राप्त हेतुक्ख भी प्रकरणप्राप्त साध्यके साथ
 व्यभिचार दिखला देना विकल्पसमा है । जैसे कि 'शब्द अनिरय
 है, कृतक होनेसे' इस प्रकार वादीके कह चुकनेपर यहाँ प्रतिवादी
 कहता है कि कृतकत्वका गुरुत्वके साथ व्यभिचार देखा जाता है ।
 घट, पट, पुस्तक आदिमें कृतकत्व है, साथमें भारीपना भी है ।
 किन्तु बुद्धि, दुख, द्वित्व, भ्रमण, मोक्ष आदिमें कृतकपना होते
 हुए भी भारीपना नहीं है । (और इसी प्रकार भारीपनका भी
 कृतकत्वके साथ व्यभिचार देखा जाता है । जल और पृथिवीमें
 गुरुत्व है और वह अनिरय भी है । परन्तु उनके परमाणु नित्य
 है । अनित्यत्व व कृतकत्व तथा नित्यत्व व अकृतकत्व एकार्थ-
 वाची है ।)

विकस—दे० ग्रह ।

विकार—

स. सि १/४/२४/२६६/१९ त एते शब्दादय. पुद्गलद्रव्यविकारा । ये सन्न
 शब्द आदि (शब्द, बन्ध, सौक्ष्म्य, स्थौल्य, सस्थान, भेद, तम,
 छाया आदि) पुद्गलद्रव्यके विकार है ।

रा वा १/५/२०/२३/४७५/२५ परिणामान्तरसक्रान्तिलक्षणस्य विकार-
 स्य । =परिणामान्तर रूपसे सक्रान्ति करना विकारका
 लक्षण है ।

★ विकार सम्बन्धो विषय—दे० विभाव ।

विकार्य—दे० वर्ता/१ ।

विकाल—दे० ग्रह ।

विकृतवान—जम्बूद्वीप के हरि क्षेत्रकानाभिगिरि ।—दे० लोक ५/३।

विकृति—दे० निर्विकृति—(जिस भोजनसे जिह्वा व मनमें विकार
 उत्पन्न हो वह विकृति कहलाता है । जैसे—घी, दूध, चटनी
 आदि) ।

विक्रम—सागणका एक जैन कवि था जिसने नेमिदूत (नेमि
 चरित) नामका ग्रन्थ लिखा है । (नेमि चरित/प्र. ३/प्रमोजी) ।

विक्रम प्रबन्ध टीका—आ. धृतसागर (ई. १४७३-१५३३) द्वारा
 रचित ग्रन्थ ।

विक्रम संवत्—दे० इतिहास/२ ।

विक्रमादित्य—१. मालवा (मगध) के राजा थे । इनके नामपर
 ही इनकी मृत्युके पश्चात् प्रसिद्ध विक्रमादित्य संवत् प्रचलित हुआ
 था । इनकी आयु ८० वर्षकी थी । १५ वर्षकी आयुमें राज्याभिषेक
 हुआ और ६० वर्ष पर्यन्त इनका राज्य रहा । (विशेष दे० इतिहास/
 २/विक्रम संवत्) तथा (इतिहास/३/मगध देशके राज्यवश) ।
 २. मगधदेशकी राज्य वशावलीके अनुसार गुप्तवंशके तीसरे राजा
 चन्द्रगुप्तका अपर नाम था । यह विद्वानोंका बड़ा श्रकार करता
 था । भारतका प्रसिद्ध कवि शकुन्तला नाटककार कालिदास इसीके
 दरबारका रत्न था ।—दे० इतिहास/३/३ । ३. चीनी यात्री ह्यूनत्सांग
 (ई० ६२९) कहता है कि उसके भारत आनेसे ६० वर्ष पूर्व यहाँ
 इस नामका कोई राजा राज्य करता था । तदनुसार उसका समय
 ई. ५०५-५८७ आता है ।

विक्रान्त—प्रथम नरकका १३ वाँ पटल—दे० नरक/५/११।

विक्रिया—१ विक्रिया च्छि--दे० च्छि/३ । २ वैक्रियक शरीर
 व योग—दे० वैक्रियक ।

विक्षेप—

न्या सू/मू १/५/२/१९ कार्यव्यासगात्कथाविच्छेदो विक्षेपः ।—जहाँ
 प्रतिवादो यो कहकर समाधानके समयको टाल देवे कि 'मुझे इस
 समय कुछ आवश्यक काम है, उसे करके पीछे शास्त्रार्थ करूँगा'
 तो इस प्रकारके कथाविक्षेप रूप निग्रहस्थानका नाम विक्षेप है ।
 (श्लो. वा ४/१/३३/न्या/३६३/४२९/७) (नोट—श्लो वा. में इसका
 निषेध किया गया है)

विक्षेपिणी कथा—दे० कथा ।

विज्ञप्ति—अवायज्ञानका पर्यायवाची—दे० अवाय ।

विज्ञान—

न्या. वि/वृ. मे उद्भूत/१/११५/२० विज्ञान मेयबोधनम् ।—जानने
 योग्य पदार्थका ज्ञान विज्ञान है ।—(विशेष दे० ज्ञान) ।
 (घ ५/प्र. २५)—Science

विज्ञानभिक्षु—सार्वदर्शनके प्रसिद्ध प्रणेता । इन्होंने ही सार्व-
 मतमे ईश्वरवादका समावेश किया था । (दे० सार्व) । इन्होंने ही
 योगदर्शनके व्यासभाष्यपर योगवार्तिक लिखा है (दे० योग दर्शन) ।
 तथा अविभागाद्वैतवादरूप वेदान्तके सस्थापक भी यही थे ।

विज्ञानवाद—१ मिथ्या विज्ञानवाद

ज्ञा./४/२३ ज्ञानादेवेष्टसिद्धि स्यात्ततोऽन्य शास्त्रविस्तर । सुवतेरुक्त-
 मतो बीज विज्ञान ज्ञानवादिभि १२३।—ज्ञानवादियोंका मत तो
 ऐसा है, कि एकमात्र ज्ञानसे ही इष्ट सिद्धि होती है, इससे अन्य जो

कुछ है सो सब शास्त्रका विस्तारमात्र है। इस कारण मुक्तिका बीजभूत विज्ञान ही है।—(विशेष दे० सारूप्य व वेदान्त)।

* विज्ञानवादी बीज—दे० बीज दर्शन ।

२ सम्यक् विज्ञानवाद

ज्ञा/४/२७ में उद्धृत—ज्ञानहीने क्रिया पुसि पर नारभते फलम् । तरोरुध्यायेव कि लभ्या फलथीर्न श्रुदष्टिभि ।१। ज्ञानं पङ्गी क्रिया चान्धे नि श्रुदधे नार्थकृद्द्वयम् । ततो ज्ञानं क्रिया श्रद्धा त्रय तत्पदकारणम् ।२। हत ज्ञानं क्रियाशून्यं हता चाज्ञानिनः क्रिया । धावन्नप्यन्धको नष्टः परयन्नपि च पङ्कुक ।३। = ज्ञानहीन पुरुषकी क्रिया फलदायक नहीं होती । जिसकी दृष्टि नष्ट हो गयी है, वह अन्धा पुरुष चलते-चलते जिस प्रकार वृक्षकी छायाको प्राप्त होता है, उसी प्रकार क्या उसके फलको भी पा सकता है ।१। (विशेष दे० चेतना/३/८, धर्म/२) । पशुमें तो वृक्षके फलका देख लेना प्रयोजनको नहीं साधता और अन्धमें फल जानकर तोड़नेरूप क्रिया प्रयोजनका नहीं साधती । श्रद्धान रहितके ज्ञान और क्रिया दोनों ही, प्रयोजनसाधक नहीं है । इस कारण ज्ञान क्रिया, श्रद्धा तीनों एकत्र होकर ही वाञ्छित अर्थको साधक होती है ।२। क्रिया रहित तो ज्ञान नष्ट है और अज्ञानीकी क्रिया नष्ट होती है । दौड़ते-दौड़ते अन्धा नष्ट हो गया और देखता-देखता पशु नष्ट हो गया ।३। (विशेष दे० मोक्षमार्ग/१/२) ।

दे. नय/उ/१/४ नयनं ४३—(आत्मा द्रव्य ज्ञाननयकी अवेक्षा विवेककी प्रधानतासे सिद्ध होता है) ।

दे. ज्ञान/IV/१/१ (ज्ञान ही सर्व प्रधान है । वह अनुष्ठान या क्रियाका स्थान है) ।

विज्ञानाद्वैत—दे अद्वैत ।

विग्रह—विग्रहो देह ।.. अथवा ।

स. सि./२/ ४/१८२/७ विरुद्धो ग्रहो विग्रहो व्याघात । कर्मादानेऽपि नोक्तं पुद्गलादाननिरोध इत्यर्थः ।

स सि/२/२७/१८५/७ विग्रहो व्याघातः कौटिल्यमित्यर्थः । = १ विग्रहका अर्थ देह है । (रा वा/२/२४/१/ (त मा/२/६६), १३६/२६), (घ १/१.१.६०/२६६/१) । २ अथवा विरुद्ध ग्रहका विग्रह कहते हैं, जिसका अर्थ व्याघात है । तात्पर्य यह है कि जिम अस्थानमें कर्मके ग्रहण होनेपर भी नोक्तमरूप पुद्गलोंका ग्रहण नहीं होता वह विग्रह है । (रा वा/२/२४/१/३७/४), (घ १/१.१.६०/२६६/३) ।

३. अथवा विग्रहका अर्थ व्याघात या कुटिलता है । (रा. वा/२/२७/ १/३८/८), (घ १/१.१.६०/२६६/४) ।

रा. वा/२/२४/१/१३६/२६ औदारिकादिशरीरनामोदयान् तत्रिवृत्तिसमर्थान् विविधान् पुद्गलान् गृह्णाति विगृह्यते वासौ ससारिणोति विग्रहो देह । = औदारिकादि नामकर्मके उदयसे उन शरीरोंके योग्य पुद्गलोंका ग्रहण विग्रह कहनाता है । अतएव संसारो जीवके द्वारा शरीरका ग्रहण किया जाता है । इसलिए देहको विग्रह कहते हैं । (घ १/१.१.६०/२६६/४) ।

घ ४/१.३.२/२६/८ विग्रहो वरको कुटिलो ति एगट्टो । = विग्रह, बक्र और कुटिल ये सब एकार्यवाचो नाम है ।

विग्रहगति—एक शरीरको छोड़कर दूसरे शरीरको प्राप्त करनेके लिए जो जीवका गमन होता है, उसे विग्रहगति कहते हैं । वह दो प्रकारकी है मोडेवाली और बिना मोडेवाली, क्योंकि गतिके अनुश्रेणो हो होनेका नियम है ।

१. विग्रहगति सामान्यका लक्षण

स सि./२/२४/१८२/७ विग्रहार्थ गतिविग्रहगति । विग्रहेण गतिविग्रहगति । = विग्रह अर्थात् शरीरके लिए जो गति होती है, वह

विग्रहगति है । अथवा विग्रह अर्थात् नोक्तं पुद्गलोंके ग्रहणके निरोधके साथ जो गति होती है उसे विग्रह गति कहते हैं । (रा. वा/२/२४/१/१३६/२०, २/१३७/५), (घ. १/१.१.६०/१.४); (त. सा/२/६६) ।

गो क./जो. प्र/२१८/१४ विग्रहगतौ तेन पूर्वभवशरीरं त्यक्त्वोत्तर-भवग्रहणार्थं गच्छति । = विग्रहगति अर्थ है पूर्वभवके शरीरको छोड़कर उत्तरभव ग्रहण करनेके अर्थ गमन करना ।

२. विग्रहगतिके भेद, लक्षण व काक

रा. वा./२/२८/४/१३६/५ आसां चतसृणां गतीनामार्थोक्ता संज्ञा—इषुगति, पाणिमुक्ता, लाङ्गलिका, गोमूत्रिका चेति । तत्राविग्रहा प्राथमिकी, शेषा विग्रहवत्य । इषुगतिरिवेषुगति । क उपमार्थः । यथे-षोर्गतिरालक्ष्य देशाद् ऋज्वी तथा ससारिणां सिद्धयतां च जीवानां ऋज्वी गतिरैकसमयिकी । पाणिमुक्तेव पाणिमुक्ता । क उपमार्थः । यथा पाणिना तिर्यक्प्रक्षिप्तस्य द्रव्यस्य गतिरेकविग्रहा तथा संसारि-णामेकविग्रहा गति पाणिमुक्ता द्वैसमयिकी । लाङ्गलमिव लाङ्गलिका । क उपमार्थः । यथा लाङ्गल द्विवृत्तितं तथा द्विविग्रहा गतिर्लाङ्गलिका त्रैसमयिकी । गोमूत्रिकेव गोमूत्रिका । क उपमार्थः । यथा गोमूत्रिका बहुवृक्ता तथा त्रिविग्रहा गतिर्गोमूत्रिका चातु समयिकी । = ये (विग्रह) गतियाँ चार हैं—इषुगति, पाणिमुक्ता, लाङ्गलिका, और गोमूत्रिका । इषुगति विग्रहरहित है और शेष विग्रहमहित होती है । मरल अर्थात् धनुषसे छूटे हुए बाणके समान मोडारहित गतिको इषुगति कहते हैं । इस गतिमें एक समय लगता है । जैसे हाथसे तिरछे फेंके गये द्रव्यकी एक मोडेवाली गति होती है, उसी प्रकार ससारी जीवोंके एक मोडेवाली गतिको पाणिमुक्ता गति कहते हैं । यह गति दो समयवाली होती है । जैसे हलमें दो मोडे होते हैं, उसी प्रकार दो मोडेवाली गतिको लाङ्गलिका गति कहते हैं । यह गति तीन समयवाली होती है । जैसे गायका चलते समय सूत्रका करना अनेक मोडेवाला होता है, उसी प्रकार तीन मोडेवाली गतिको गोमूत्रिका गति कहते हैं । यह गति चार समयवाली होती है । (घ. १/१.१.६०/२६६/६); (घ. ४/१.३.२/२६/७); (त. मा/२/१००-१०१). (चा सा/१७६/२) ।

त मा/२/६६ सविग्रहाऽविग्रहा च सा विग्रहगतिद्विधा । = विग्रह या मोडेमहित और विग्रहरहितके भेदसे वह विग्रहगति दो प्रकारकी है ।

३. विग्रहगति सम्बन्धी कुछ नियम

स. स/२/२५-२६ विग्रहगतौ कर्मयोगः ।२५। अनुश्रेणि गति ।२६। विग्रहवती- प्राक्-चतुर्म्य ।२८। एक समयविग्रहा ।२६। एक द्वौ त्रीन्वानाहारक ।२०। = विग्रहगतिमें कर्म (कर्मण) योग होता है (विशेष दे० कर्मण/२) ।२५। गति श्रेणीके अनुसार होती है (विशेष दे० शीर्षक न. ५) ।२६। विग्रह या मोडेवाली गति चार समयसे पहले होती है; अर्थात् अधिकसे अधिक तीन समय तक होती है (विशेष दे० शीर्षक न. ५) ।२८। एक समयवाली गति विग्रह या मोडेरहित होती है । (विशेष दे० शीर्षक न. २ में इषुगतिके लक्षण) ।२६। एक, दो या तीन समय तक (विग्रह गतिमें) जीव अनाहारक रहता है (विशेष दे० आहारक) ।

घ ९/५ ५ १२०/३७८/४ आणुपुंक्विउदयाभावेण उजुमदीए गमणाभाव-प्यंगारो । = ऋजुगतिमें आणुपूर्वका उदय नहीं होता ।

दे० कर्मण/२ (विग्रहगतिमें नियमसे कर्मणयोग होता है, पर ऋजु-गतिमें कर्मणयोग न होकर औदारिकमिश्र और वैक्रियकमिश्र काय योग होता है ।)

दे० अवगाहना/१/३ (मारणान्तिक समुदायके बिना विग्रह व अविग्रह गतिसे उत्पन्न होनेवाले जीवोंके प्रथम समयमें होनेवाली अवगाहनाके

समान ही अवगाहना होती है। परन्तु दोनों अवगाहनोंके आकारोंमें समानताका नियम नहीं है।)

दे० आनुपूर्वी—(विग्रहगतिमें जीवोंका आकार व संस्थान आनुपूर्वी नामकसके उदयसे होता है, परन्तु ऋजुगतिमें उसके आकारका कारण उत्तरभवकी आधुका सत्त्व माना जाता है।)

दे० जन्म/१/२ (विग्रहगतिमें जीवोंके प्रदेशोंका सकोच हो जाता है।)

घ. ६/१,६-१,२८/६४/७ सजोगिकेवलपरघादस्सेव तत्त्व अक्वत्तोदरण अवट्टाणादो। =सजोगिकेवलीको परघात प्रकृतिके समान विग्रह-गतिमें उन (अन्य) प्रकृतियोंका अव्यक्तउदयरूपसे अवस्थान देखा जाता है।

★ विग्रहगतिमें जीवका जन्म मान ले तो—दे० जन्म/१।

★ विग्रहगतिमें सजीको भुजगार स्थिति कैसे सम्भव है—दे० स्थिति/५।

४. विग्रह-अविग्रहगतिका स्वामित्व

त सू./२/२७-२८ अविग्रहा जीवस्स १२७। विग्रहवती च ससारिण १२८। =सुक्त जीवकी गति विग्रहरहित होती है। और ससारी जीवोंकी गति विग्रहरहित व विग्रहसहित दोनों प्रकारकी होती है। (त. सा./२/६८)।

घ. ११/४,२,६,११/२०/१० तसेसु दो विग्रहो मोत्तूण तिण्णि विग्रहाणम-भावादो। =त्रसोमें दो विग्रहोंको छोड़कर तीन विग्रह नहीं होते।

५. जीव व पुद्गलोंकी गति अनुश्रेणी ही होती है

त. सू./२/२६ अनुश्रेणि गति १२६। =गति श्रेणीके अनुसार होती है। (त. सा./२/६८)।

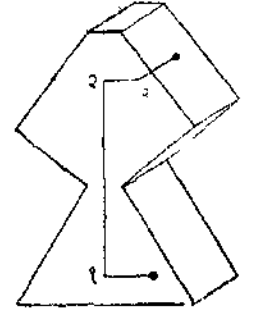
दे० गति/२/७ (गति ऊपर-नीचे व तिरछे अर्थात् सीधी दिशाओंको छोड़कर विदिशाओंमें गमन नहीं करती।)

स. सि./२/२६/१२३/७ लोकमध्यादारभ्य ऊर्ध्वमधस्तिर्यक च आकाश-प्रदेशाना क्रम निविष्टाना पङ्क्ति श्रेणि इत्युच्यते। अनु' शब्द-स्यानुपूर्व्येण वृत्ति। श्रेणेरानुपूर्व्येण्यनुश्रेणीति जीवाना पुद्गलानां च गतिर्भवतीत्यर्थ। ननु चन्द्रादीनां ज्योतिष्काणा मेरुप्रदक्षिणा-काले विद्यापरादीनां च विश्रेणिगतिरपि दृश्यते, तत्र किमुच्यते अनुश्रेणि गति इति। कालदेशानिर्यमोऽत्र वैदितव्य। तत्र काल-नियमस्तावज्जीवाना मरणकाले भवान्तरसक्रममुक्तानां चोर्ध्वगमन-काले अनुश्रेण्येव गति। देशनियमोऽपि ऊर्ध्वलोकादधोगति, अधो-लोकादूर्ध्वगति, तिर्यग्लोकादधोगतिरूर्ध्वा वा तत्रानुश्रेण्येव। पुद्गलानां च या लोकान्तप्रापिणी सा नियमादनुश्रेण्येव। इतरा गतिर्भवतीत्या। =लोकके मध्यसे लेकर ऊपर-नीचे और तिरछे क्रमसे स्थित आकाशप्रदेशोंकी पंक्तिको श्रेणी कहते हैं। 'अनु' शब्द आनुपूर्वी अर्थमें समसित है। इसलिए अनुश्रेणीका अर्थ श्रेणीकी आनुपूर्वीसे होता है। इस प्रकारकी गति जीव और पुद्गलोंकी होती है, यह इसका भाव है। प्रश्न—चन्द्रमा आदि ज्योतिषियोंकी और मेरुकी प्रदक्षिणा करते समय विद्याधरोकी विश्रेणी गति देखी जाती है, इसलिए जीव और पुद्गलोंकी अनु-श्रेणी गति होती है, यह किस लिए कहा? उत्तर—यहाँ काल-नियम और देशनियम जानना चाहिए। कालनियम यथा—मरणके समय जब जीव एक भवको छोड़कर दूसरे भवके लिए गमन करते हैं और मुक्तजीव जब ऊर्ध्वगमन करते हैं, तब उनकी गति अनु-श्रेणी ही होती है। देशनियम यथा—जब कोई जीव ऊर्ध्वलोकसे अधोलोकके प्रति या अधोलोकसे ऊर्ध्वलोकके प्रति जाता-जाता है। इसी प्रकार तिर्यग्लोकसे अधोलोकके प्रति या ऊर्ध्वलोकके प्रति

जाता है तब उस अवस्थामें गति अनुश्रेणी ही होती है। इस प्रकार पुद्गलोंकी जो लोकके अन्तको प्राप्त करानेवाली गति होती है वह अनुश्रेणी ही होती है। हँ, इसके अतिरिक्त जो गति होती है वह अनुश्रेणी भी होती है और विश्रेणी भी। किसी एक प्रकारकी होने-का नियम नहीं है।

६. तीन मोड़ों तकके नियममें हेतु

स सि./२/२८/१२५/५ चतुर्थत्समयारप्राग्विग्रहवती गतिर्भवति न चतुर्थे इति। कुत इति चेत्। सर्वोत्कृष्टविग्रहनिमित्तनिष्कुटक्षेत्रे उत्पित्तु' प्राणी निष्कुटक्षेत्रानुपूर्व्यनुश्रेण्यभावादिषुगत्यभावे निष्कुट-क्षेत्रप्रापणनिमित्ता त्रिविग्रहा गतिमारभते मोर्ध्वाम्, तथाविधोपपाद-क्षेत्राभावात्। =प्रश्न—मोड़ेवाली गति चार समयसे पूर्व अर्थात् तीन समय तक ही क्यों होती है चौथे समयमें क्यों नहीं होती? उत्तर—निष्कुट क्षेत्रमें उत्पन्न होनेवाले जीवको सबसे अधिक मोड़े लेने पड़ते हैं, क्योंकि वहाँ आनुपूर्वीसे अनुश्रेणीका अभाव होनेसे इषुगति नहीं हो पाती। अतः यह जीव निष्कुट क्षेत्रको प्राप्त करने-के लिए तीन मोड़ेवाली गतिका आरम्भ करता है। यहाँ इससे अधिक मोड़ोंकी आवश्यकता नहीं पड़ती, क्योंकि, इस प्रकार-का कोई उपपाद क्षेत्र नहीं पाया जाता है, अतः मोड़ेवाली गति तीन समय तक ही होती है, चौथे समयमें नहीं होती। (रा. वा./२/२८/१२६/५)।



घ ११,१,६०/३००/४ स्वस्थितप्रदेशादारभ्योर्ध्वधस्तिर्यगाकाशप्रदेशानां क्रमसनिविष्टाना पङ्क्ति श्रेणिरित्युच्यते। तथैव जीवाना गमन-नोच्छ्रेणिरूपेण। तत्रनिविष्टा गतिर्न विरुद्धा जीवस्येति। = जो प्रदेश जहाँ स्थित है वहाँसे लेकर ऊपर, नीचे और तिरछे क्रमसे विद्यमान आकाशप्रदेशोंकी पंक्तिको श्रेणी कहते हैं। इस श्रेणीके द्वारा ही जीवोंका गमन होता है, श्रेणीको उल्लंघन करके नहीं होता है। इसलिए विग्रहगतिवाले जीवके तीन मोड़ेवाली गति विरोधको प्राप्त नहीं होती है। अर्थात् ऐसा कोई स्थान ही नहीं है, जहाँपर पहुँचनेके लिए चार मोड़े लग सकें।

★ उपपाद स्थानको अतिक्रमण करके गमन होने व न होने सम्बन्धी दृष्टिभेद—दे० क्षेत्र/३/४।

विघ्न—स. सि./६/२७/३४१/१ तेषा विहनन विघ्न। =उनका अर्थात् दान, लाभ, भोग, उपभोग व वीर्यका नाश करना विघ्न है। (रा. वा./६/२७/३४१/२६)।

विचय—

स सि./६/३६/४४६/४ विचयन विचयो विवेकी विचारणेत्यर्थ। =विचयन करना विचय है। विचय, विवेक और विचारणा ये पर्याय नाम हैं। (रा. वा./६/३६/४४६/२)।

घ ८/३,१/२/३ विचयो विचारणा मीमासा परिवक्षा इदि एवट्ठो। =विचय, विचारणा, मीमासा और परीक्षा ये समानार्थक शब्द हैं। —(और भी दे० परीक्षा)।

विचार या वीचार—

त. सू./६/४४ वीचारोऽर्थव्यञ्जनयोगसक्रान्ति १४४। =अर्थ, व्यञ्जन और योगकी सक्रान्ति वीचार है।

स सि /१/४४/४५५/१३ एव परिवर्तन बीचार इत्युच्यते । = इस प्रकार-
के (अर्थ व्यञ्जन व योगके) परिवर्तनको बीचार कहते हैं । (रा
वा /१/४४/-/६३४/१३) ।

रा वा /१/२२/२१/५५/१८ आलम्बने अर्पणा वितर्क, तत्रैवानुमर्शन
विचार । = विषयके प्रथम ज्ञानको वितर्क कहते हैं । उसीका बार-
बार चिन्तन विचार कहलाता है ।

दे० विचय—(विचय, विचारणा, परीक्षा और मीमासा ये समानार्थक
शब्द हैं ।)

★ सविचार भविचार मक्त प्रत्य ख्यान—दे० सखेखना/३ ।

★ सविचार व भविचार शुक्लध्यान—दे० शुक्लध्यान ।

विचार स्थान— दे. स्थिति/१ ।

विचिकित्सा— दे० निर्विचिकित्सा ।

विचित्र—

न्या. वि. वृ. /१/८/१४८/४७ तद्विपरीत विचित्र—क्षणक्षयविषयत्वं
प्रत्यक्षस्य ।

न्या. वि. वृ. /१/८/१५७/१६ तद्विशिनष्टि विचित्र शबलं सामान्यस्य
विशेषात्मकं विशेषस्य सामान्यात्मकमिति । = उस (चित्र) से
विपरीत विचित्र है । प्रत्यक्षज्ञान क्षणक्षयी विषय इसका अर्थ है ।
विचित्र शबल अर्थात् सामान्यका विशेषात्मक रूप और विशेषका
सामान्यात्मकरूप ।

विचित्रकूट— विजयार्थकी दक्षिण श्रेणीका एक नगर ।

—दे० विद्याधर ।

विचित्रा— नन्दनवनमे स्थित रुचककूटकी स्वामिनी दिवकुमारी ।
—दे० लोक/५/५ ।

विचित्राश्रयाकोर्ण— सुमेरुपर्वतका अपर नाम ।—दे० सुमेरु ।

विजय— १. भगवान सुपाश्वं नाथ का शासक यक्ष—दे. तीर्थ-
कर/५/३ । २. कल्पतीत देवो का एक भेद—दे स्वर्ग/३ । ३. इनका
लोक में अवस्थान—दे. स्वर्ग/५/४ । ४. विश्वरूप तथा मातृव्यान
गजदन्त का कूट—दे. लोक/५/४ । ५. निषध पर्वत का कूट तथा
उसका श्यक देव—दे लोक/५/४ । ६. जम्बू द्वीप की जगती का
पूर्व द्वार—दे लोक/३/१ । ७. पूर्व विदेह के मन्दर वक्षर के कच्छ-
बदकूट का रक्षक देव—दे लोक/५/४ । ८. हरि क्षेत्र का नाभिगरि—
दे लोक/५/३ । ९. नन्दनवन का एक कूट—दे लोक/५/५ । १०. म पु/
४७/१३० पूर्वभव न० २ में राजगृह नगर के राजा विश्वभूतिका
छोटा भाई 'विशाखभूति' था । १३। पूर्वभव न १ में महाशक्र
रत्नमे देव हुआ । ८२। वर्तमान भवमे प्रथम बलदेव हुए—दे०
शलाकापुरव/३ । ११. वृ. कथाकोश /कथा न० ६/पु.—सिंहलद्वीप
के शासक गगनादित्यका पुत्र था । १७। पिताकी मृत्युके पश्चात्
अगने पिताके मित्रके घर 'विपान्न' शब्दका अर्थ 'पौष्टिक अन्न
समभक्कर उसे खा गया, पर मरा नहीं । १८। फिर दीक्षा ले मोक्ष
सिधारे । १९।

विजयकीर्ति— नन्दिसव वलात्कारगणकी को ईडर गद्दी में ज्ञान
भूषण के शिष्य तथा शुभचन्द्र के गुरु । आपने अनेको मूर्तिये
प्रतिष्ठित कराईं । महाराज मन्त्रिभूपाल द्वारा सम्मानित हुए ।
समय— वि १५५२-१५७० (ई १४६५-१५१३) । (दे इतिहास/७/४) ।
(जै /१/४७३), (ती /३/३६२) ।

विजयचरी— विजयार्थकी दक्षिण श्रेणीका एक नगर—दे० विद्याधर ।

विजयनगर— विजयार्थकी उत्तर व दक्षिण दोनों श्रेणियोंके नगर ।
—दे० विद्याधर ।

विजयपुरी— अपरविदेह पद्मवात् क्षेत्रकी प्रधान नगरी—दे० लोक/५/२

विजयवंश— नन्दवंशका अपर नाम है । मगध देशकी राज्य वंशा-
वलीके अनुसार दिगम्बर आम्नायमे जहाँ विजयवंशका नाम दिया
है, वहाँ ही श्वेताम्बर आम्नायमे नन्दवंशका नाम दिया है ।—दे०
नन्दवंश ।

विजय वर्मा— विन्ध्यवर्माका अपर नाम ।—दे० विन्ध्य वर्मा ।

विजयसेन— १. श्रुतावतारके अनुसार भद्रबाहु श्रुतकेवलीके पश्चात्
आठवे ११ अग व १० पूर्वधारी हुए । समय— वी० नि०
२८२-२६५ (ई० पू० २४५-२३२) ।—दे० इतिहास/४/४ । २. तत्त्वा-
नुशासनके रचयिता श्री नागसेन (ई० १०४७) के दादागुरु । समय—
नागसेनके अनुसार ई० श० १० ।

विजया— १. अपर विदेहस्थ वप्रक्षेत्रकी प्रधान नगरी ।—दे० लोक/५/२
२. रुचक पर्वत निवासिनी दिवकुमारी—दे० लोक/५/१३ । ३. भगवात्
मन्त्रिनाथकी शासक यक्षिणी ।—दे० तीर्थकर/५/३ । ४. नन्दीनवरद्वीप
की वापी—दे० लोक/५/११ ।

विजयाचार्य— अपर नाम अपराजित था ।—दे० अपराजित ।

विजयार्थ— १. रा वा /३/१०/४/१०१/१६ चक्रभृद्विजयार्थकरत्नाद्वि-
जयार्थ इति गुणत कृताभिधानो । = चक्रवर्तीके विजयक्षेत्रकी आधी
सीमा इस पर्वतसे निर्धारित होती है, अतः इसे विजयार्थ कहते हैं ।
(विशेष दे० लोक/३-७) । २. विजयार्थ पर्वतका एक कूट व उसका
स्वामी देव ।—दे० लोक/५/४ ।

विजयोदया— आ० अपराजित (ई० श० ७) द्वारा विरचित
भगवती आराधना ग्रन्थकी विस्तृत संस्कृत टीका । (ती /२/१२७) ।

विजस्का— विजयार्थकी दक्षिण श्रेणीका एक नगर ।

—दे० विद्याधर ।

विजाति— १. विजाति उपचार । —दे० उपचार/१ । २. विजाति
द्रव्य पर्याय—दे० पर्याय ।

विजिगीषुकथा— शास्त्रार्थ या वाद ; —दे० कथा ।

विजिष्णु— एक ग्रह—दे० ग्रह ।

विडौषध ऋद्धि— दे० ऋद्धि/७ ।

वितंडा—

न्या. सू /मू./१/२/३ प्रतिपक्षस्थापनाहीनो वितण्डा । = प्रतिपक्षके साधन-
से रहित जल्पका नाम वितंडा है । अर्थात् अपने किसी भी पक्षकी
स्थापना किये बिना केवल परपक्षका खण्डन करना वितंडा है ।
(स्या म /१०/१०७/१३) ।

स्या. म/१०/१०७/१५ वस्तुतस्त्वपरामृष्टतत्त्वतत्त्वविचारं मौख्यं वितंडा ।
= वस्तुतस्त्वमे तत्त्व अतत्त्वका विचार न करके खाली बकवास करनेको
वितंडा कहते हैं ।

★ वाद जल्प व वितंडामें अन्तर—दे० वाद/५ ।

२. नैयायिकों द्वारा जल्प वितंडा आदिके प्रयोगका
समर्थन व प्रयोजन

न्या. सू /मू./५/१/५०-५१/२८४ तत्त्वाध्यवसायसरण्यार्थं जल्पवितण्डे
बीजप्ररोहणसरक्षणार्थं कण्टकशाखावरणवत् । ५०। ताम्या विगृह्य
कथनम् । ५१।

न्या. सू./भा/१/२/४३/१० यत्तत्प्रमाणैरर्थस्य साधनं तत्तच्छलजाति-
निग्रहस्थानामङ्गभावी रक्षणार्थत्वात् तानि हि प्रयुज्यमानानि परपक्ष-
विधातेन स्वपक्षं रक्षन्ति । = जैसे बीजकी रक्षाके लिए सब ओरसे
काँटेदार शाखा लगा देते हैं, उसी प्रकार तत्त्वनिर्णयकी इच्छारहित
केवल जीतनेके अभिप्रायसे जो पक्ष लेकर आक्षेप करते हैं, उनके
दूषणके समाधानके लिए जल्प वितडाका उपदेश किया गया है । ५०।
जीतनेकी इच्छासे न कि तत्त्वज्ञानकी इच्छासे जल्प और वितडाके
द्वारा वाद करे । ५१। यद्यपि छल जाति और निग्रहस्थान साक्षात्
अपने पक्षके साधक नहीं होते हैं, तथा दूसरेके पक्षका खण्डन तथा
अपने पक्षकी रक्षा करते हैं ।

* जय पराजय व्यवस्था—दे० न्याय/२ ।

वितत— एक प्रकारका प्रायोगिक शब्द ।—दे० शब्द ।

वितथ— घ. १३/५.५.५०/२५/६ वितथमसत्यम्, न विद्यते वितथ
यस्मिन् श्रुतज्ञाने तद्वितथम्, तथ्यमित्यर्थः । = वितथ अर्थात् असत्य
ये समानार्थक शब्द है । (विशेष दे० असत्य) जिस श्रुतज्ञानमें
वितथपना नहीं पाया जाता वह अवितथ अर्थात् तथ्य है ।

वितर्क—

त. सू./६/४३ वितर्क श्रुतम् । ४३। = वितर्कका अर्थ श्रुत है ।

दे० ऊहा—(विशेष रूपसे ऊहा या तर्कणा करना वितर्क अर्थात् श्रुत-
ज्ञान कहलाता है ।

दे० विचार—(विषयके प्रथम ज्ञानको वितर्क कहते हैं ।)

द्र स/टी/४५/२०३/६ स्वशुद्धात्मानुभूतिलक्षणं भावश्रुतं तद्वाचकमन्त-
र्जल्पवचनं वा वितर्कं भण्यते । = निज शुद्ध आत्माका अनुभवरूप
भावश्रुत अथवा निज शुद्धात्माको कहनेवाला जो अन्तरंग जल्प
(सूक्ष्म शब्द) है वह वितर्क है ।

वितस्ता—पञ्जाबकी वर्तमान भेलम नदी । (म पु/प्र ५६/५,
पन्नालाल) ।

वितस्ति—एक बालिशत—दे० गणित/१/३ ।

विदर्भ—वर्तमानका बरार प्रान्त । इसको प्राचीन राजधानी विदर्भ-
पुर (बीदर) अथवा कुण्डनपुर थी । (म, पु/प्र ४६/५,
पन्नालाल) ।

विदर्भपुर—वर्तमानका बीदर—(म पु, प्र, ४६/५, पन्नालाल) ।

विदल—दे. भक्ष्याभक्ष्य/३/२।

विदारणक्रिया—दे क्रिया/३ ।

विदिशा—१ दे दिशा । २ मालवा प्रान्तमें वर्तमान भेलसा
नगर । (म पु, प्र/४६/५ पन्नालाल) ।

विदुर—पा पु./सर्ग/श्लोक—भीष्मके सौतेले भाई व्यासका पुत्र ।
(७/११७) । कौरव पाण्डवोंके युद्धमें इन्होंने काफी भाग लिया ।
कौरवोंको बहुत समझाया पर वे न माने । (११/१८७) । अन्तमें
वीक्षित हो गये । (१६/५-७) ।

विदेह—१. रा. वा./३/१०/११/१७२/३३ विगतदेहा विदेहा । के
पुनरस्ते । येषां देहो नास्ति, कर्मबन्धसतानोच्छेदात् । ये वा सत्यपि
देहे विगतशरीरसंस्कारास्ते विदेहा । तद्योगाज्जनपदे विदेहव्यपदेशः ।
तत्र हि मनुष्यो देहोच्छेदार्थं यतमाना विदेहत्वमास्कन्दन्ति । ननु च
भरतैरावतयोरपि विदेहा सन्ति । सत्यं, सन्ति कदाचिन्न तु
सर्वकालम्, तत्र तु सतत धर्मोच्छेदाभावाद्दिदेहा सन्तीति प्रकर्षा-
पेक्षो विदेहव्यपदेशः । क्व पुनरसौ । निषपनीलवतोरन्तराले
तत्सन्निवेशः । = विगतदेह अर्थात् देहरहित सिद्धभगवात् विदेह
कहलाते हैं, क्योंकि, उनके कर्मबन्धनका उच्छेद हो गया है ।

अथवा देहके होते हुए भी जो शरीरके संस्कारोंसे रहित है ऐसे
अर्हत भगवात् विदेह है । उनके योगसे उस देशको भी विदेह
कहते हैं । वहाँ रहनेवाले मनुष्य देहका उच्छेद करनेके लिए यत्न
करते हुए विदेहत्वको प्राप्त किया करते हैं । प्रश्न—इस प्रकार तो
भरत और ऐरावत क्षेत्रोंमें भी विदेह होते हैं । उत्तर—होते अवश्य
हैं परन्तु सदा नहीं, कभी-कभी होते हैं और विदेहत्वमें तो
सतत धर्मोच्छेदका अभाव ही रहता है, अर्थात् वहाँ धर्मकी धारा
अविच्छिन्न रूपसे बहती है, इसलिए वहाँ सदा विदेही जन (अर्हत
भगवात्) रहते हैं । अतः प्रकर्षकी अपेक्षा उसको विदेह कहा जाता
है । यह क्षेत्र निषध और नील पर्वतोंके अन्तरालमें है । [इसके
बहु मध्य भागमें एक सुमेरु व चार गजदन्त पर्वत हैं, जिनसे रोका
गया भू-खण्ड उत्तरकुरु व देवकुरु कहलाते हैं । इनके पूर्व व पश्चिम
में स्थित क्षेत्रोंको पूर्व विदेह और पश्चिम विदेह कहते हैं । यह
दोनों ही विदेह चार-चार बक्षार गिरियो, तीन-तीन विभागा
नदियों और सीता व सीतोदा नामकी महानदियों द्वारा १६-१६
देशोंमें विभाजित कर दिये गये हैं । इन्हे ही ३२ विदेह कहते हैं ।
इस एक-एक सुमेरु सम्बन्धी ३२-३२ विदेह है । पाँच सुमेरुओंके
मिलकर कुल १६० विदेह होते हैं ।]—(विशेष दे० लोक३/३, १२, १४) ।

त्रि. सा./वृ./६५०-६५१ देसा वृष्भिक्रीदीमारिकुदेववणलिंगमद-
हीणा । भरिदा सदावि केवलिसलागपुरिसिद्धिसाहृहि । ६८०।
तित्थद्वसयलचक्की सट्टिसय पृह वरेण अवरेण । बीस बीस सयले
खेत्तेषत्तरिसयं वग्दो । ६८१। = विदेहक्षेत्रके उपरोक्त सर्व देश
अनिवृष्टि, अनावृष्टि, मूसा, टीडो, सुवा, अपनी सेना और परकी
सेना इन सात प्रकारकी ईतियोंसे रहित है । रोग मरी आदिसे
रहित है । कुदेव, कुलिगी और कुमत्से रहित है । केवलज्ञानी,
तीर्थकरादि शलाकापुरुष और ऋद्धिधारी साधुओंसे सदा पूर्ण
रहते हैं । ६५०। तीर्थकर, चक्रवर्ती व अर्धचक्रो नारायण व प्रलि-
नारायण, ये यदि अधिकसे अधिक होवें तो प्रत्येक देशमें एक-एक
होते हैं और इस प्रकार कुल १६० होते हैं । यदि कमसे कम होवें
तो सीता और सीतोदाके दक्षिण और उत्तर तटोंपर एक-एक होते
हैं, इस प्रकार एक विदेहमें चार और पाँचों विदेहोंमें २० होते
हैं । पाँचों भरत व पाँचों ऐरावतके मिलाने पर उत्कृष्ट रूपसे १७०
होते हैं । (म पु/७६/४६६-४६७) । २ द्वारवंग (दरभंगा) के
समीपका प्रदेश है । मिथिला या जनकपुरी इसी देशमें है । (म,
पु/प्र. ५०/५, पन्नालाल) ।

विद्वावण—घ १३/५.४.२२/४६/११ अंगच्छेदनादिव्यापार विद्वा-
वण णामः = प्राणियोंके अगच्छेदन आदिवा व्यापार विद्वावण
कहलाता है ।

विद्वणू—ज्ञानपचमी अर्थात् श्रुत पचमीव्रत माहात्म्य नामक
भाषा छन्दरचनाके कर्ता एक कवि । समय—वि. सं. १४२३
(ई १३७६) । (हिन्दो जैन साहित्य इतिहास/४ ६६/ वा. कामता
प्रसाद) ।

विद्या—

न्या वि/वृ/१/३५/२८२/६ विद्याया यथावस्थितवस्तुरूपावलोकन-
शक्त्या । = विद्याका अर्थ है यथावस्थित वस्तुके स्वरूपका अव-
लोकन करनेकी शक्ति ।

नोट—(इसके अतिरिक्त मन्त्र-तन्त्रों आदिके अनुष्ठान विशेषसे सिद्ध
की गयी भी कुछ विद्याएँ होती हैं, जिनका निर्देश निम्न
प्रकार है ।)

२. विद्याके सामान्य भेदोंका निर्देश

रा वा/१/२०/१२/७६/७ कथ्यते विद्यानुवाद्यम् । तत्राद्भुतप्रसेनादी-
नामरूपविद्याना सप्तशतानि महारोहिण्यादीना महाविद्याना पञ्च-

शतानि । अन्तरिक्षभौमाङ्गस्वरस्वप्रलक्षणव्यञ्जनछिन्नानि अष्टौ महानिमित्तानि । = विद्यानुवादपूर्वमें अंगुष्ठ, प्रसेन आदि ७०० स्वरूप विद्याएँ और महारोगिणी आदि ४०० महाविद्याएँ सम्मिलित हैं । इसके अतिरिक्त अन्तरिक्ष, भौम, अग, स्वर, स्वप्न, लक्षण, व्यञ्जन व छिन्न (चिह्न) ये आठ महानिमित्तज्ञान रूप विद्याएँ भी हैं । [अष्टांगनिमित्तज्ञानके लिए दे० निमित्त/२] ।

घ. ६/४.१.१६/७७/६ गतिविद्याओ विज्ञाओ जातिकुलतपविज्ञाभेदण उत्तं च—जादीसु होइ विज्ञा कुलविज्ञा तह य होइ तपविज्ञा । विज्ञाहरेसु एदा तपविज्ञा होइ साहूणं । २०। तथ सगमादुप-ब्रवादी लक्षविज्ञाओ जादिविज्ञाओ णम । पितृपवखुबलक्ष्मादी कुलविज्ञाओ । छट्टट्टमादिउपवासविहाणेहि साहिदाओ तप-विज्ञाओ । = जातिविद्या, कुलविद्या और तपविद्याके भेदसे विद्याएँ तीन प्रकारकी हैं । कहाँ भी है—“जातियोमें विद्या अर्थात् जाति-विद्या है, कुलविद्या तथा तपविद्या भी विद्या है । ये विद्याएँ विद्याधरोमें होती हैं और तपविद्या साधुओंके होती हैं । २०।” इन विद्याओंमें स्वकीय मातृपक्षसे प्राप्त हुई विद्याएँ जातिविद्याएँ और पितृपक्षसे प्राप्त हुई कुलविद्याएँ कहलाती हैं । षष्ठ और अष्टम आदि उपवासो (बेसा तेला आदि) के करनेसे सिद्ध की गयीं विद्याएँ तपविद्याएँ हैं ।

१. कुछ विद्यादेवियोंके नाम निर्देश

प्रतिष्ठासारोद्धार/३/३४-३५ भगवति रोहिणी महति प्रज्ञप्ते वज्रशङ्खले स्वलिते । वज्राङ्कुशे कुशलिके जाम्बूनदिकेस्तदुर्मदिके । ३४। पुरुधाग्नि पुरुषदत्ते कालिकलादये कले महाकालि । गौरि वरदे गुण्डे गान्धारि ज्वालनि ज्वलज्ज्वाले । ३५। = भगवती, रोहिणी, महती प्रज्ञप्ति, वज्रशङ्खला, वज्राङ्कुश, कुशलिका, जाम्बूनदा, दुर्मदिका, पुरुधाग्नि, काली, कला महाकाली, गौरी, गुण्डे, गान्धारी, ज्वाला-मालिनी, (मानसी, वैरोटी, अच्युता, मानसी, महामानसी) ।

४. कुछ विशेष विद्याओंके नामनिर्देश

ह. पु १/२२/५१-७३ का भावार्थ—भगवान् ऋषभदेवसे नभि और विनमि द्वारा राज्यकी याचना करने पर धरणेन्द्रने अनेक देवोंके सग आकर उन दोनोंको अपनी देवियोंसे कुछ विद्याएँ दिलाकर सन्तुष्ट किया । तहाँ अदिति देवीने विद्याओंके आठ निकाय तथा गन्धर्व-मेनक नामक विद्याकोष दिया । आठ विद्या निकायोंके नाम—मनु, मानव, कौशिक, गौरिक, गान्धार, भूमितुण्ड, मूलवीर्यक, शकुल । ये निकाय आर्य, शाक्य, गन्धर्व तथा व्योमचर भी कहलाते हैं । दिति देवी ने—मालक, पाण्डु, काल, स्वपाक, पर्वत, बंशालय, पांशुमूल, वृक्षमूल ये आठ विद्यानिकाय दिये । दैत्य, पन्नग, मालंग इनके अपर नाम हैं । इन सोलह निकायोंमें निम्न विद्याएँ हैं— प्रज्ञप्ति, रोहिणी, अंगारिणी, महागौरी, गौरी, सर्वविद्या, प्रकषिणी, महारवेता, मायूरी, हारी, निर्वञ्जशाङ्खला, तिरस्कारिणी, छाया-सक्रामिणी, कुष्माण्ड-गणमाता, सर्वविद्याविराजिता, आर्यकुष्माण्ड देवी, अच्युता, आर्यवती, गान्धारी, निवृत्ति, दण्डाध्यक्षगण, दण्ड-भुतसहस्रक, भद्रकाली, महाकाली, काली, कालमुखी, इनके अति-रिक्त—एकपत्नी, द्विपत्नी, त्रिपत्नी, दशपत्नी, शतपत्नी, सहस्रपत्नी, लक्षपत्नी, उत्पत्तिनी, त्रिपत्तिनी, धारिणी, अन्तविचारिणी, जल-मति और अग्निगति समस्त निकायोंमें नानाप्रकारकी शक्तियोंसे सहित नाना पर्वतोंपर निवास करनेवाली एवं नाना औषधियोंकी जानकार हैं । सर्वार्थसिद्धा, सिद्धार्थी, जयन्ती, मंगला, जया, प्रहार-सक्रामिणी, अश्वधाराधिनी, विश्वश्याकारिणी, त्रणमरोहिणी, सवर्णकारिणी, मृतसंजीवनी, ये सब विद्याएँ कल्याणरूप तथा मंत्रोंसे परिष्कृत, विद्याबलसे युक्त तथा लोगोंका हित करनेवाली हैं । (म पु. ७/३४-३३४) ।

* अन्य सम्बन्धी विषय

१. मन्त्र तन्त्र विद्या । — दे० मन्त्र ।
२. साधुओंकी कर्तव्य विद्याओंके प्रयोगका निषेध । — दे० मन्त्र ।

विद्याकर्म—दे० नावद्य/३ ।

विद्याधर—

घ. ६/४.१.१६/७७/१० एवमेदाओ तिविद्याओ विज्ञाओ होति विज्ञा-हरण । तेग देवदेवद्विगवासिमणुआ वि विज्ञाहरा, सयलविज्ञाओ छडिज्जण महिदसजमविज्ञाहरा वि होति विज्ञाहरा, विज्ञा-विसयविष्णणस्स तत्थुवलभादो । पढिदविज्ञाणुपवादा विज्ञाहरा, तेमि पि विज्ञाविसयविष्णणाणुवलभादो । = इस प्रकारसे तीन प्रकारकी विद्याएँ (जाति कुल व तप विद्या) विद्याधरोके होती हैं । इससे बैताद्य पर्वतपर निवास करनेवाले मनुष्य भी विद्याधर होते हैं । सब विद्याओंको छोड़कर सयमकी ग्रहण करनेवाले भी विद्याधर होते हैं, क्योंकि, विद्याविषयक विज्ञान वहाँ पाया जाता है जिन्होंने विद्यानुवादको पढ लिया है वे भी विद्याधर हैं, क्योंकि उनके भी विद्याविषयक विज्ञान पाया जाता है ।

त्रि. सा /७०६ विज्ञाहरा तिविज्ञा वसति छक्कमसंजुत्ता । = विद्या-धर लोग तीन विद्याओंसे तथा पूजा उपासना आदि षट्कर्मोंसे संयुक्त होते हैं ।

१. विद्याधर खचर नहीं हैं

घ. ११/४.२.६.१२/११६/६ ण विज्ञाहराणं खगचरसमरिधं विज्ञाप विणा सहावदो चैव गगणगमणसमरथेषु खगयत्तप्पसिद्धीदो । = विद्याधर आकाशचारी नहीं हो सकते, क्योंकि, विद्याकी सहा-यताके बिना जो स्वभावसे ही आकाश गमनमें समर्थ हैं उनमें ही खचरत्वकी प्रसिद्धि है ।

३. विद्याधर सुमेरु पर्वतपर जा सकते हैं

म. पु १/३/२१६ साशङ्क गगनेचरे किमिदमित्यालोकितो य स्फुर-न्मेरोर्युद्धिन् स नोऽवताज्जिनविभोर्जन्मोस्सवाम्भ प्लव । २१६। = मेरु पर्वतके मस्तकपर स्फुरायमान होता हुआ, जिनेन्द्र भगवान्के जन्माभिषेकको उस जलप्रवाहकी, विद्याधरोने 'यह क्या है' ऐसी शंका करते हुए देखा था । २१६।

४. विद्याधर लोक निर्देश

ति प /४/गा का भावार्थ—जम्बूद्वीपके भरतक्षेत्रमें स्थित विजयार्ध पर्वतके ऊपर दश योजन जाकर उम पर्वतके दोनो पार्श्व भागोंमें विद्याधरोकी एक-एक श्रेणी है । १०६। दक्षिण श्रेणीमें ५० और उत्तर श्रेणीमें ६० नगर हैं । १११। इससे भी १० योजन ऊपर जाकर आभियोग्य देवोंकी दो श्रेणियाँ हैं । १४०। विदेह क्षेत्रके कच्छा देशमें स्थित विजयार्धके ऊपर भी उसी प्रकार दो श्रेणियाँ हैं । २२५। दोनो ही श्रेणियोंमें ५५-५५ नगर हैं । २२५। शेष ३१ विदेहोके विजयार्धोंपर भी इसी प्रकार ५५-५५ नगरवाली दो दो श्रेणियाँ हैं । २२६। ऐरावत क्षेत्रके विजयार्धका कथन भी भरतक्षेत्र वत् जानना । २२६। जम्बू-द्वीपके तीनो क्षेत्रोंके विजयार्धोंके सदृश ही धातकी खण्ड व पुष्करार्ध द्वीपमें जानना चाहिए । २७१, २६२। (रा वा /३/१०/४/१७२/१), (ह पु. २/२/५४) (म. पु १/६/२७-३०), (ज प /२/३८-३६), (त्रि. सा /६/६५-६६६) ।

दे० काल/४/१४-[इसमें सदा चौथा काल वर्तता है] ।

५. विद्याधरोंकी नगरियोंके नाम

(ति. प./४/११२-१२५), (ह पु/२२/२५-१०१); (म. पु./१६/३१-८७); (त्रि सा./६६६-७०८) संकेत ← = जो नाम इस ओर लिखा है ।

नं.	ति. प.	म. पु.	त्रि. सा.	ह. पु.
	दक्षिण श्रेणी —			
१	किनामित	←	←	रथनूपुर
२	किन्नरगीत	←	←	आनन्द
३	नरगीत	←	←	चक्रवाल
४	बहुकेतु	←	←	अरिजय
५	पुण्डरीक	←	←	मण्डित
६	सिंहध्वज	←	←	बहुकेतु
७	श्वेतकेतु	←	श्वेतध्वज	शकटमुख
८	गरुडध्वज	←	←	गन्धस्मृद्ध
९	श्रीप्रभ	←	←	शिवमन्दिर
१०	श्रीधर	←	←	वैजयन्त
११	लोहार्गल	←	←	रथपुर
१२	अरिजय	←	←	श्रीपुर
१३	वज्रार्गल	←	←	रत्नसंचय
१४	वज्राढ्य	←	वज्राढ्यपुर	आषाढ
१५	विमोचिता	विमोच	विमोचिपुर	मानस
१६	जयपुरी	पुरजय	जय	सूर्यपुर
१७	शकटमुखी	←	←	स्वर्णनाभ
१८	चतुर्मुख	←	←	शतहृद
१९	बहुमुख	←	←	अज्ञावर्त
२०	अरजस्का	←	←	जलावर्त
२१	विरजस्का	←	←	आवर्तपुर
२२	रथनूपुर	←	←	बृहद्गृह
२३	मेखलापुर	←	←	शखवज
२४	क्षेमपुर	←	क्षेमचरी	नाभान्त
२५	अपराजित	←	←	मेघकूट
२६	कामपुष्प	←	←	मणिप्रभ
२७	गगनचरी	←	←	कुञ्जरावर्त
२८	विजयचरी (विनयपुरी)	विनयचरी	विनयचरी	असितपर्वत
२९	शकपुरी	चक्रपुर	शुक	सिन्धुकक्ष
३०	सजयन्त	संजयन्ती	संजयन्ती	महाकक्ष
३१	जयन्त	जयन्ती	जयन्ती	सकल
३२	विजय	विजया	विजया	चन्द्रपर्वत
३३	वैजयन्त	वैजयन्ती	वैजयन्ती	श्रीकूट
३४	क्षेमकर	←	←	गौरीकूट
३५	चन्द्राभ	←	←	लक्ष्मीकूट
३६	सूर्याभ	←	←	धराधर
३७	पुरोत्तम	रसिकूट	रसिकूट	कालकेशपुर
३८	चित्रकूट	←	←	रम्यपुर
३९	महाकूट	←	←	हिमपुर
४०	सुवर्णकूट	हेमकूट	हेमकूट	किन्नरोद्गमित नगर
४१	त्रिकूट	मेघकूट	त्रिकूट	नभस्तिलक
४२	विचित्रकूट	←	←	मगधसारनलक
४३	मेघकूट	वैश्रवणकूट	वैश्रवणकूट	पाशुमूल

नं.	ति. प.	म. पु.	त्रि. सा.	ह. पु.
४४	वैश्रवणकूट	सूर्यपुर	सूर्यपुर	दिव्यौषध
४५	सूर्यपुर	चन्द्रपुर	चन्द्रपुर	अर्कमूल
४६	चन्द्र	नित्योद्योतिनी	नित्योद्योतिनी	उदयपर्वत
४७	नित्योद्योत	विमुखी	विमुखी	अमृतधारा
४८	विमुखी	नित्यवाहिनी	नित्यवाहिनी	कूटमातंगपुर
४९	नित्यवाहिनी	सुमुखी	सुमुखी	भूमिमडल
५०	सुमुखी	पश्चिमा	पश्चिमा	जम्बूशंकुपुर
२	उत्तर श्रेणी.—			
१	अर्जुणी	←	←	आदित्यनगर
२	अरुणी	वारुणी	अरुणी	गगनत्रल्लभ
३	केलास	←	←	चमरचम्पा
४	वारुणी	←	←	गगनमडल
५	विद्युत्प्रभ	←	←	विनय
६	किलकिल	←	←	वैजयन्त
७	चूडामणि	←	←	शत्रुजय
८	शशिप्रभ	शशिप्रभा	शशिप्रभ	अरिजय
९	वशाल	←	←	पद्माल
१०	पुष्पचूल	पुष्पचूड	पुष्पचूल	केतुमाल
११	हसगर्भ	←	←	रुद्राश्व
१२	बलाहक	←	←	धनञ्जय
१३	शिवंकर	←	←	वस्वौक
१४	श्रीसौध	श्रीहर्म्य	श्रीसौध	सारनिवह
१५	चमर	←	←	जयन्त
१६	शिवमंदर	शिवमन्दिर	शिवमन्दिर	अपराजित
१७	वसुमत्का	वसुमत्क	वसुमत्का	वराह
१८	वसुमती	←	←	हास्तिन
१९	सर्वार्थपुर (सिद्धार्थपुर)	सिद्धार्थक	सिद्धार्थ	सिंह
२०	शत्रुजय	←	←	सौकर
२१	केतुमाल	केतुमाला	ध्वजमाल	हस्तिनायक
२२	सुरपत्तिकात	सुरेन्द्रकान्त	सुरेन्द्रकान्त	पाण्डुक
२३	गगननन्दन	←	←	कौशिक
२४	अशोक	अशोका	अशोका	बीर
२५	विशोक	विशोका	विशोका	गौरिक
२६	वीतशोक	वीतशोका	वीतशोका	मानव
२७	अलका	←	←	मनु
२८	तिलक	तिलका	तिलका	चम्पा
२९	अनरतिलक	←	←	काञ्चन
३०	मन्दर	मन्दिर	मन्दर	ऐशान
३१	कुमुद	←	←	मणिब्रज
३२	कुन्द	←	←	जयावह
३३	गगनवल्लभ	←	←	नैमिष
३४	दिव्यतिलक	द्युतिलक	दिव्यतिलक	हास्तिविजय
३५	भूमितिलक	←	←	खण्डिका
३६	गन्धर्वपुर	गन्धर्वपुर	गन्धर्वनगर	मणिकाचन
३७	मुक्ताहार	मुक्ताहार	मुक्ताहार	अशोक
३८	नैमिष	निमिष	नैमिष	वेणु
३९	अग्निज्वाल	←	←	आनन्द
४०	महाज्वाल	←	←	नन्दन
४१	श्रीनिकेत	←	←	श्रीनिकेतन

न.	ति. प	म पु	त्रि सा	ह पु.
४२	जयावह	जय	जयावह	अग्निज्वाल
४३	श्रीनिवास			महाज्वाल
४४	मणिवज्र			माल्य
४५	भद्राश्व			पुरु
४६	धनजय	भवनजय	धनजय	नन्दिनी
४७	महेन्द्र	गोक्षीरफेन	गोक्षीरफेन	विद्युत्प्रभ
४८	विजयनगर	अक्षोभ्य	अक्षोभ	महेन्द्र
४९	सुगन्धिनी	गिरिशिखर	गिरिशिखर	विमल
५०	वज्राढ्यतर	धरणी		गन्धमादन
५१	गोक्षीरफेन	धारण		महापुर
५२	अक्षोभ	दुर्ग		पुष्पमाल
५३	गिरिशिखर	दुर्धर		मेघमाल
५४	धरणी	सुदर्शन	सुदर्शन	शशिप्रभ
५५	वारिणी	महेन्द्रपुर	महेन्द्र	चूडामणि
	(धारिणी)	×	×	×
५६	दुर्ग	विजयपुर	विजयपुर	पुष्पचूड
५७	दुर्धर	सुगन्धिनी	सुगन्धिनी	हसगर्भ
५८	सुदर्शन	वज्रपुर	वज्राढ्यतर	बलाहक
५९	रत्नाकर			वशालय
६०	रत्नपुर	चन्द्रपुर	रत्नपुर	सौमनस

६. अन्य सम्बन्धित विषय

- विद्याधरोमें सम्यक्त्व व गुणस्थान । —दे आर्यखण्ड ।
- विद्याधर नगरोमें सर्वदा चौथा काल वर्तता है । —दे. काल/४/१४ ।

विद्याधर जिन—दे, जिन ।

विद्याधर वंश—दे, इतिहास१/१४ ।

विद्यानन्द महोदय—आ, विद्यानन्दि (ई ७७५-८४०) की सर्व प्रथम न्यायविषयक रचना है । अनुमान है कि यह ग्रन्थ श्लोक वातिकसे भी महात् होगा । परन्तु आज यह उपलब्ध नहीं है । इसे केवल 'महोदय' नामसे भी कहते हैं । (तो /२/३६६) ।

विद्यानन्दि—१ आपसमगधराज अवनिपालकी सभाके एक प्रसिद्ध विद्वान् थे । पूर्व नाम पात्रकेसरी था । वैदिक धर्मानुयायी थे, परन्तु पार्श्वनाथ भगवात्के मन्दिरमें चारित्रभूषण नामक मुनिके मुखसे समन्तभद्र रचित देवागम रत्नोत्रका पाठ सुनकर जैन धर्मानुयायी हो गये थे । आप अकलत्रभट्टकी ही आम्नायमें उनके कुछ ही काल पश्चात् हुए थे । आपकी अनेको रचनाएँ उपलब्ध हैं जो सभी न्याय व तर्कसे पूर्ण हैं । कृतियाँ—१ प्रमाण परीक्षा, २ प्रमाणमीमासा, ३ प्रमाणनिर्णय ४. पत्रपरीक्षा, ५ आपसपरीक्षा, ६ सत्यशासन परीक्षा, ७ जल्पनिर्णय, ८ नयविवरण ९ युक्त्युक्तशासन, १०, अष्टसहस्रो, ११ तत्त्वार्थ श्लोक वातिक, १२, विद्यानन्द महोदय, १३ बुद्धेशभवन व्याख्यान । समय—वि सं ८३२-८६७ (ई ७७५-८४०) । (जे /२/३६६) । (तो /२/३६२-३६३) ।

२ नन्दिप्रथम बलात्कारगणकी मूर्तशाखा में) आप देवेन्द्र-कीर्तिके शिष्य और तत्त्वार्थ वृत्तिवार श्रुतसागर व मल्लिभूषणके गुरु थे । कृति-सुदर्शन चरित्र । समय— (वि १४६३-१६३८)

(ई १४४२-१४८१) । (तो /३/३६६, ३७२) ।

३ भट्टारक विशालकीर्तिके शिष्य । ई १५४१में इनका स्वर्गवास हुआ था । (जे, /१/४७४) ।

४ आपका उल्लेख ह्युक्के शिलालेख व वर्द्धमान मनीन्द्रके दश-भक्त्यादि महाशास्त्रमें आता है । आप सागानेरवाले देवकीर्तिके भट्टारक-के शिष्य थे । समय—वि. १६४७-१६६७ (ई १५१०-१६४०) । (स्याद्वाद सिद्धि/प्र १८/पं. दरवारी लाल); (भद्रबाहु चरित्र/ प्र. १४/पं. उदयलाल)

विद्यानुवाद—अप श्रुतज्ञानका नवमों पूर्व—वे श्रुतज्ञान/III ।

विद्युच्चर—वृ कथाकोष/कथानं. ४/पृ अस्थिरचित्त लोमदत्तसे आकाशगामी विद्याका साधन पूछकर स्वयं विद्या सिद्ध कर ली । फिर चैत्यालयकी वन्दना की । १३। दीक्षा ले । १४। स्वर्गमें ऋद्धि-धारी देव हुआ । १५।

विद्युच्चोर—दे. विद्युत्प्रभ/६ ।

विद्युज्जिह्व—एक ग्रह—दे. ग्रह ।

विद्युत्करण—Protons and Electrons. (घ. ५/प्र. २८) ।

विद्युत्कुमार—भवनवासी देवोका एक भेद—दे, भवन/१/४ ।

विद्युत्केश—प. पु /६/श्लोक—भगवात् मुनिमुवत्के समय लंकाका राक्षस वशीय राजा था । वानर बंशीय महोदधि राजाके साथ परम स्नेह था । अन्तमें दीक्षा धारण कर ली (२२२-२२५) ।

विद्युत्प्रभ—१ एक गजदन्त पर्वत—दे, लोक/४/३। २ विजयार्थकी उत्तर श्रेणिका एक नगर—दे विद्याधर । ३, विद्युत्प्रभ गजदन्तका एक कूट—दे, लोक/४/४ । ४. देवकुरुके १० द्रहोमे-से एक—दे, लोक/४/६ । ५. यदुवशी अन्धकवृष्णिके पुत्र हिमवात्का पुत्र तथा नेमिनाथ भगवात्का चचेरा भाई—दे, इतिहास१/१०। ६ म. पु./७६/श्लोक—पोदनपुरके राजा विद्युद्वाजका पुत्र था । विद्युच्चर नामका कुशल चोर बना । जम्बूकुमारके घर चोरी करने गया । ४६-५७। वहाँ दीक्षा-को कटिबद्ध जम्बूकुमारको अनेको कथाएँ बताकर रोकनेका प्रयत्न किया । ५८-१०७। पर स्वयं उनके उपदेशसे प्रभावित होकर उनके साथ ही दीक्षा धारण कर ली । १०८-११०।

विद्युद्दंष्ट्र—म पु./५६/श्लोक—पूर्व भव श्रीभूति. सर्प, चमर, कुर्कुट, सर्प, तृतीय नरक, सर्प, नरक, अनेक योनिगोमें भ्रमण, मृगशृ ग । (३१३-३१५) । वर्तमान भवमें विद्युद्दंष्ट्र नामका विद्याधर हुआ, ध्यानस्थ मुनि सजयत्पर घोर उपसर्ग किया । मुनिके केवलज्ञान हो गया । धरणेन्द्रने क्रुद्ध होकर उसे सपरिवार समुद्रमें डुबोना चाहा पर आदित्यप्रभ देव द्वारा बचा लिया गया । (११६-१२२) ।

विद्युन्माला—पश्चिमी पुष्करार्धका मेरु—दे, लोक/७ ।

विद्योपजीवन—१ आहारका एक दोष—दे, आहार/II/४ । २, वसतिकाका एक दोष—दे, वसतिका ।

विद्रावण—दे विद्रावण ।

विद्वज्जनबोधक—प पत्रालाल (ई. १७६३-१८६३) द्वारा रचित भाषा छन्दबद्ध एक आध्यात्मिक कृति ।

विध—दे. पर्याय/१/१—(अश, पर्याय, भाग, हार, विध, प्रकार, भेद, छेद, भग ये सब शब्द एकार्थवाची हैं ।)

विधाता—कर्मका पर्यायवाची नाम—दे कर्म/२ ।

विधान—स. सि /१/७/२२/४ विधानं प्रकार । =विधानका अर्थ प्रकार या भेद है । (रा वा. /१/७/१-३/३) ।

* विधान व संख्यामें अन्तर—दे, सख्या ।

* पूजा सम्बन्धी विधान—दे पूजा ।

विधि—

घ १३/५, ६, ६०/२५५/१२ कथं श्रुतस्य विधिव्यपदेश । सर्वनयविष-
याणामस्तिस्वविधायकत्वात् । = चूँकि वह सब नयोंके विषयके
अस्तित्वका विधायक है, इसलिए श्रुतकी विधि सज्ञा उचित ही है ।
दे० द्रव्य/१/७ (सन्ना, सत्त्व, सामान्य, द्रव्य, अन्वय, वस्तु विधि,
अविशेष ये एकार्थवाची शब्द हैं) ।

दे० सामान्य [सामान्य विधि रूप होता है और विशेष उसके निषेध
रूप] ।

दे० कर्म/३/१ (विधि कर्मका पर्यायवाची नाम है) ।

२. अन्य सम्बन्धित विषय

१. दानकी विधि । —दे० दान/५ ।

३. विधि निषेधकी परस्पर सापेक्षता । —दे० सप्तमगी/३ ।

विधि चंद—दे० बुधजन ।

विधि दान क्रिया—दे० सस्कार/२ ।

विधि विधायक वाक्य—दे० वाक्य ।

विधि साधक हेतु—दे० हेतु ।

विध्यात संक्रमण—दे० सक्रमण/५ ।

विनमि—दे० नमि/१ ।

विनयधर—१. पुत्राट सधकी गुर्विलीके [अनुसार लोहाचार्य
नं. २ के शिष्य तथा गुप्ति श्रुतिके गुरु थे । समय—वी, नि. ५३०
(ई. सं. ३), (दे० इतिहास/७/८) । २ वृ कथा कौष/कथा
न १३/५, —कुम्भपुरका राजा था । ७१। सिद्धार्थ नामक श्रेष्ठ पुत्र
द्वारा दिये गये भगवान्के गन्धोदक जलसे उसकी शारीरिक
व्याधियाँ शान्त हो गयीं । तब उसने श्रावकव्रत धारण कर
लिये । (७२-७३) ।

विनय—मोक्षमार्गमें विनयका प्रधान स्थान है । वह दो प्रकारका
है—निश्चय व व्यवहार । अपने रत्नत्रयरूप गुणकी विनय निश्चय
है और रत्नत्रयधारी साधुओं आदिकी विनय व्यवहार या उपचार
विनय है । यह दोनों ही अत्यन्त प्रयोजनीय है । ज्ञान प्राप्तिमें
गुरु विनय अत्यन्त प्रधान है । साधु आर्यका आदि चतुर्विध सधमें
परस्परमें विनय करने सम्बन्धी जो नियम हैं उन्हें पालन करना
एक तप है । निष्प्रादृष्टियों व कुलियायोंकी विनय योग्य नहीं ।

१ भेद व लक्षण

- १ विनय सामान्यका लक्षण ।
- २ विनयके सामान्य भेद । (लोकानुवृत्त्यादि)
- ३ मोक्षविनयके सामान्य भेद । (ध्यानदर्शनादि)
- ४ उपचारविनयके भेद । (कार्यादि वाचिकादि)
- ५ लोकानुवृत्त्यादि सामान्य विनयोंके लक्षण ।
- ६ ज्ञान दर्शन आदि विनयोंके लक्षण ।
- ७ उपचार विनय सामान्यका लक्षण ।
- ८ कार्यादि उपचार विनयोंके लक्षण ।
- * विनय सम्पन्नताका लक्षण । —दे० विनय/१/१ ।

२ सामान्य विनय निर्देश

- १ आचार व विनयमें अन्तर ।
- २ ज्ञानके आठ अंगोंको ज्ञान विनय कहनेका कारण ।
- ३ एक विनयसम्पन्नतामें शेष १५ भावनाओंका
समावेश ।
- ४ विनय तपका माहात्म्य ।
- * देव-शास्त्र गुरुकी विनय निर्जराका कारण है ।
—दे० पूजा/२ ।
- ५ मोक्षमार्गमें विनयका स्थान व प्रयोजन ।
- ३ उपचार विनय विधि
- १ विनय व्यवहारमें शब्द प्रयोग आदि सम्बन्धी कुछ
नियम ।
- * साधु व आर्याकाकी संगति व वचनालाप सम्बन्धी
कुछ नियम । —दे० संगति ।
- २ विनय व्यवहारके योग्य व अयोग्य अवस्थाएँ ।
- ३ उपचार विनयकी आवश्यकता ही क्या ?
- ४ उपचार विनयके योग्यायोग्य पात्र
- १ यथार्थ साधु आर्या आदि वन्दनाके पात्र हैं ।
- * सत् साधु प्रतिमावत् पूज्य है । —दे० पूजा/३ ।
- २ जो इन्हें वन्दना नहीं करता सो मिथ्यादृष्टि है ।
- ३ चारित्र्यवृद्धसे भी ज्ञानवृद्ध अधिक पूज्य है ।
- ४ मिथ्यादृष्टि जन व पार्श्वस्थादि साधु वन्द्य नहीं है ।
- * मिथ्यादृष्टि साधु श्रावक तुल्य भी नहीं है ।
—दे० साधु/४ ।
- ५ अधिक गुणी द्वारा हीन गुणी वन्द्य नहीं है ।
- ६ कुरुर कुदेवादिकी वन्दना आदिका कडा निषेध व
उसका कारण ।
- ७ द्रव्यलिगी भी कथंचित् वन्द्य है ।
- ८ साधुको नमस्कार क्यों ?
- ९ असयत्त सम्यग्दृष्टि वन्द्य क्यों नहीं ?
- * सिद्धसे पहले अर्हन्तको नमस्कार क्यों ? —दे० मन्त्र ।
- * १४ पूर्वीसे पहले १० पूर्वाको नमस्कार क्यों ?
—दे० श्रुतकेवली/१ ।
- ५ साधु परीक्षाका विधि निषेध
- १ आगन्तुक साधुकी विनयपूर्वक परीक्षा विधि ।
- * सहवाससे व्यक्तिके गुप्त परिणाम भी जाने जा सकते
हैं । —दे० प्रायश्चित्त १/३/१ ।
- २ साधुकी परीक्षा करनेका निषेध ।
- ३ साधु परीक्षा सम्बन्धी शका-समाधान—
१. शील संयमादि जो पालते ही हैं ।
२. पंचम कालमें ऐसे ही साधु सम्भव है ।
३. छेसे श्रावक बेसे साधु ।
४. इनमें ही सच्चे साधुकी स्थापना कर ले ।
सत् साधु ही प्रतिमावत् पूज्य है । —दे० पूजा/३ ।

१. भेद व लक्षण

१. विनय सामान्यका लक्षण

स सि/१/२०/४२६/७ पूज्येष्वदारो विनय । = पूज्य पुरुषोका आदर करना विनय तप है ।

रा. वा/६/२४/२/६२६/१७ सम्यग्ज्ञानादिषु मोक्षसाधनेषु तत्साधकेषु गुर्वादिषु च स्वयाग्यवृत्त्या सत्कार आदर कषायनिवृत्तर्वा विनय-सपन्नता । = मोक्षके साधनभूत सम्यग्ज्ञानादिकमे तथा उनके साधक गुरु आदिकोमें अपनी योग्य रीतिसे सत्कार आदर आदि करना तथा कषायकी निवृत्ति करना विनयसम्पन्नता है । (स. सि/६/२४/३३७/७), (चा. सा/६/३/१), (भा. पा./टी./७७/२२१/६) ।

घ ६३/५.४.२६/६३/४ रत्नत्रयवस्तु नीचैर्वृत्तिविनय । = रत्नत्रयको धारण करनेवाले पुरुषोके प्रति नम्र वृत्ति धारण करना विनय है । (चा. सा/१४७/२), (अन घ/७/६०/७०२) ।

क. पा/१/१-१/६६०/११७/२ गुणाधिकेषु नीचैर्वृत्तिविनय । = गुण-वृद्ध पुरुषोके प्रति नम्र वृत्तिका रखना विनय है ।

भ. आ/वि./३००/५११/२१ विलयं नयति कर्ममलमिति विनय । = कर्म मलको नाश करता है, इसलिए विनय है । (अन. घ./७/६१/७०२); (दे० विनय/२/२) ।

भ. आ/वि./६/३२/२३ ज्ञानदर्शनचारित्र्यसामतीचारा अशुभक्रिया । तासामपोहनं विनय । = अशुभ क्रियाएँ ज्ञानदर्शन चारित्र्य व तपके अतिचार है । इनका हटाना विनय तप है ।

का अ/मू./४५७ दंसणणचरित्तो सुविसुद्धो जो हवेइ परिणामो । बारस-भेदे वि तत्रे सो चिय विणओ हवे तैसि । = दर्शन, ज्ञान और चारित्र्यके विषयमें तथा बारह प्रकारके तपके विषयमें जो विशुद्ध परिणाम होता है वही उनको विनय है ।

चा सा./१४७/७ कषायेन्द्रियविनयन विनय । = कषायो और इन्द्रियो-को नम्र करना विनय है । (अन. घ./७/६०/७०२) ।

प्र.सा/ता वृ/२२५/३०६/२३ स्वकीयनिश्चयरत्नत्रयशुद्धिनिश्चयविनय-तदाधारपुरुषेषु भक्तिपरिणामो व्यवहारविनय । = स्वकीय निश्चय रत्नत्रयकी शुद्धि निश्चयविनय है और उसके आधारभूत पुरुषो (आचार्य आदिकों) को भक्तिके परिणाम व्यवहारविनय है ।

सा घ/७/३५ सुदग्धीवृत्ततपसा मुमुक्षोनिर्मलीकृतौ । यत्नो विनय आचारो नीर्याच्छुद्धेषु तु । १६ । = मुमुक्षुजन सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र्य व सम्यक् तपके दोष दूर करनेके लिए जो कुछ प्रयत्न करते हैं, उसको विनय कहते हैं और इस प्रयत्न में शक्तिको न छिपा कर शक्ति अनुसार उन्हे करते रहना विनयाचार है ।

२. विनयके सामान्य भेद

मू आ/४८० लोगाणुवित्तिविणओ अस्थणिमित्ते य कामतते य । भयविणओ य वउत्थो पंचमओ मोक्खविणओ य । ७८० । = लोकानु-वृत्ति विनय, अर्थ निमित्तक विनय, कामतन्त्र विनय, भयविनय, और मोक्षविनय इस प्रकार विनय पाँच प्रकार की है ।

३. मोक्षविनयके सामान्य भेद

भ. आ/मू./११२ विणओ पुण पंचविहो णिद्धिहो णाणदसणचरित्ते । तवविणओ य चउत्थो चरियो उक्कयारियो विणओ । ११२ । = विनय आचार पाँच प्रकारका है—ज्ञानविनय, दर्शनविनय, चारित्र्यविनय, तपविनय और उपचारविनय । (मू. आ/ ३६४, ५५४), (घ/पु. १३/५.४.२६/६०/४), (क. पा. १/१-१/६६०/११७/१), (वसु. भा/३२०, (अन. घ/७/६५/७०२) ।

त. सू/१/२३ ज्ञानदर्शनचारित्र्योपचार । = विनय तप चार प्रकारका है—ज्ञानविनय, दर्शनविनय, चारित्र्यविनय और उपचार विनय । (चा. सा./१४७/५) (त. सा/७/३०) ।

घ. ५/३.४१/८०८ विणओ तिविहो णाण-दसण-चरित्तविणओ त्ति । = विनय सम्पन्नता तीन प्रकार की है—ज्ञानविनय, दर्शनविनय और चारित्र्यविनय ।

४. उपचार विनयके प्रभेद

भ. आ/मू./११५/२६५ काइयवाइयमाणसिओ त्ति तिविहो दु पचमो विणओ । सो पुण सब्बो दुव्विहो पच्चकखो चैव परोक्खो । ११५ । = उपचार विनय तीन प्रकारकी है—कायिक, वाचिक और मानसिक । उनमेंसे प्रत्येकके दो दो भेद है—प्रत्यक्ष व परोक्ष । (मू. आ./१७२); (चा. सा./१४५/३), वसु. भा/३२५),

५. लोकानुवृत्त्यादि सामान्य विनयोंके लक्षण

मू. आ/५५१-५५३ अब्भुट्ठणं अंजलियासणदाण च अतिहिपूजा य । लोगाणुवित्तिविणओ देवदपूया सविभवेण । ५५१ । भाषानुवृत्ति छंदाणु-वत्तणं देसकालदाणं च । लोकानुवित्तिविणओ अजलिकरणं च अस्थ-कदे । ५५२ । एमेव कामतते भयविणओ चैव आणुपुव्वीए । पंचमओ खलु विणओ परव्वणा तस्सिया हीदि । ५५३ । = आसनसे उठना, हाथ जोड़ना, आसन देना, पाहुणगति करना, देवताकी पूजा अपनी अपनी सामर्थ्यके अनुसार करना—ये सब लोकानुवृत्ति विनय है । ५५१ । किसी पुरुषके अनुकूल बोलना तथा देश व कालयोग्य अपना द्रव्य देना—ये सब लोकानुवृत्ति विनय है । अपने प्रयोजन या स्वार्थ वश हाथ जोड़ना आदि अर्थनिमित्त विनय है । ५५२ । इसी तरह काम-पुरुषार्थके निमित्त विनय करना कामतन्त्र विनय है । भयके कारण विनय करना भय विनय है । पाँचवी मोक्ष विनयका कथन आगे करते हैं । ५५३ ।

६. ज्ञान दर्शन आदि विनयोंके लक्षण

भ. आ/मू./११३-११७/२६०-२६४ काले विणये उवघाणे बहुमाणे तहे व णिणहवणे । वज्जण अत्थ तदुभये विणओ णाणम्मि अट्ठविहो । ११३ । उवपूहणादिया पुव्वुत्ता तह भत्तियादिया य गुणा । सकादिक्कज्जणं पि य णेओ सम्मत्तविणओ सो । ११४ । इंदियक्सायपणिधानं पि य गुत्तीओ चैव समिदीओ । एसो चरित्तविणओ समासदो होइ णायव्वो । ११५ । उत्तरगुणउक्कज्जमणं सम्म अधिआसणं च सउत्ताए । आवासयाण-मुचिदाण अपरिहाणी अपुस्सेओ । ११६ । भत्ती तवोधिगमि य तवम्मि य अहीलणा य सेसाणं । एसो तवम्मि विणओ जहुत्तचारिस्स साधुस्स । ११७ । = काल, विनय, उपधान, बहुमान, अनिहव, व्यजन, अर्थ, तदुभय ऐसे ज्ञान विनयके आठ भेद हैं । (और भी दे. ज्ञान/III/२।१) । ११३। पहिले कहे गये (दे. सम्यग्दर्शन/1/२) उपगूहन आदि सम्यग्दर्शनके अगोका पालन, भक्ति पूजा आदि गुणोका धारण, तथा अकादि दोषोंके त्यागको सम्यक्त्व विनय या दर्शन विनय कहते हैं । ११४। इन्द्रिय और वषायोके प्रणिधान या परिणामका त्याग करना तथा गुप्ति समिति आदि चारित्र्यके अगोका पालन करना संक्षेप में चारित्र्य विनय जाननी चाहिए । ११५। समय रूप उत्तरगुणोंमें उद्यम करना, सम्यक् प्रकार भ्रम व परीषर्होंको सहन करना, यथा योग्य आवश्यक क्रियाओमें हानि वृद्धि न होने देना—यह सब तप विनय है । ११६। तपमे तथा तप करनेमें अपनेसे जो ऊँचा है उसमें, भक्ति करना तप विनय है । उनके अतिरिक्त जो छोटे तपस्वी हैं उनकी तथा चारित्र्यधारी मुनियोंकी भी अवहेलना नहीं करनी चाहिए । यह तपविनय है । ११७। मू. आ/३६५, ३६७, ३६६, ३७०, ३७१), (अन. घ/७/६५-६६/७०४-७०६ तथा ७५/७१०) ।

भ आ./मू/४६-४७/१६३ अरहतसिद्धचेइय सुदे य धम्मे य साधुवग्गे य । आयरिय उवज्झाए सुपवयणे दसणे चावि १४६। भत्ती पूया वणजणण चणासणमवणणवाइस्स । आसादणपरिहारो दसणदिणओ समासेण १४७ = अरहत, सिद्ध, इनकी प्रतिमाएँ, श्रुतज्ञान, जिन धर्म आचार्य उपाध्याय, साधु, रत्नत्रय, आगम और सम्प्रदर्शनमें भक्ति व पूजा आदि करना, इनका महत्त्व बताना, अन्य मतियों द्वारा आरोपित किये गये अवर्णवादको हटाना, इनके आसादनका परिहार करना यह सब दर्शन विनय है १४६-४७।

मू. आ./मा अस्थपज्जया खल्ल उवदिट्ठा जिणवरेहि सुदणणे । तह रोचेदि णरो दसणविणओ हवदि एसो १३६६। णाण सिक्खदि णाण गुणेदि णाणं परस्स उवदिसदि । णाणेण कुणदि णायं णाणविणोदो हवदि एसो १३६८। = श्रुत ज्ञानमें जिनेन्द्रदेव द्वारा उपदिष्ट ब्रह्म व उनकी स्थूल सूक्ष्म पर्याय उनकी प्रतीति करना दर्शन विनय है १३६६ ज्ञानको सीखना, उसीका चिन्तन करना दूसरेको भी उसीका उपदेश देना तथा उसीके अनुसार न्यायपूर्वक प्रवृत्ति करना—यह सब ज्ञानविनय है १३६८। (मू आ./५५५-५६६) ।

स. सि./१/२३/४४१/४ सबहुमान मोक्षार्थं ज्ञानग्रहणाभ्यासस्मरणादि-ज्ञानविनय । शंकादिदाषविरहित तत्त्वार्थश्रद्धान दर्शनविनय । तद्वत्तश्चारित्रे समाहितचित्तता चारित्रविनय । = बहुत आचरके साथ मोक्षके लिए ज्ञानका ग्रहण करना, अभ्यास करना और स्मरण करना आदि ज्ञानविनय है । शंकादि दोषोत्ते रहित तत्त्वार्थका श्रद्धान करना दर्शनविनय है । सम्यग्दृष्टिका चारित्रमें चित्तका लगना चारित्रविनय है । (त. सा./७/३१-३३) ।

रा. वा /१/२३/२-४/६२२/१६ अनलसेन शुद्धमनसा देशकालादिविशुद्धि-विधानविचक्षणेन सबहुमानो यथाशक्ति निषेव्यमाणो मोक्षार्थं ज्ञानग्रहणाभ्यासस्मरणादिज्ञानविनयो वेदितव्य । यथा भगवद्वि-रूपदिष्टा पदार्थाः तथाश्रद्धाने नि शङ्कितत्वादिलक्षणेपेतता दर्शनविनयो वेदितव्य । ज्ञानदर्शनवत् पञ्चविधदुश्चरचरणश्वणानन्तरमुद्दिन्नरोमाञ्जाभिषयज्यमानान्तर्भवतेः परप्रसादो मस्तवाञ्जलि-करणादिभिर्भावितश्चानुष्ठातृत्वं चारित्रविनयः प्रत्येतव्य । = आलस्य-रहित ही देशकालादिकी विशुद्धिके अनुसार शुद्धचित्तसे बहुमान पूर्वक यथाशक्ति मोक्षके लिए ज्ञानग्रहण अभ्यास और स्मरण आदि करना ज्ञानविनय है । जिनेन्द्र भगवान्ने श्रुत ममुद्रमे पदार्थोंका जैसा उपदेश दिया है, उसका उसी रूपसे श्रद्धान करने आदिमें नि शक आदि होना दर्शनविनय है । ज्ञान और दर्शनशाली पुरुषके पाँच प्रकारके दुश्चर चारित्रका वर्णन सुनकर रोमाच आदिके द्वारा अन्त-र्भक्ति प्रगट करना, प्रणाम करना मस्तकपर अंजलि रखकर आदर प्रगट करना और उसका भाव पूर्वक अनुष्ठान करना चारित्रविनय है । (चा. सा./१४७/६), (भा पा/टी/७८/२२४/१९) ।

वसु. आ/३२१-३२४ गिस्सकिय संवेगाइ जे गुणा वणिणया मए पुव्वं । तेसिमणुपालण जं वियाण सो द सणो विणओ १३२१। णणे णाणुत्रयरणे य णाणवत्तम्मि तह य भत्तीए । ज पडियरण कीरइ गिच्च त णाण विणओ हु १३२२। पचविह चारित्त अहियारा जे य वणिणया तस्स । जं तेसि बहुमाण वियाण चारित्तविणओ सो १३२३। बाहो य बुड्ढो य सकप्प वडिज्जण तवसीण । ज पणिवाय कीरइ तवविणय तं वियाणीहि १३२४। = नि शक्ति, सवेग आदि जो गुण मै ने पहिले वर्णन किये है उनके परिपालनको दर्शनविनय जानना चाहिए १३२१। ज्ञानमें, ज्ञानके उपकरण शस्त्र आदिकमें तथा ज्ञानवत् पुरुषमें भक्तिके साथ नित्य जो अनुकूल आचरण किया जाता है, वह ज्ञान विनय है १३२२। परमाणुमें पाँच प्रकारका चारित्र और उसके जो अधिकारी या धारक वर्णन किये गये है, उनके आदर सत्कारको चारित्र विनय जानना चाहिए १३२३। यह बालक है, यह वृद्ध है, इस प्रकारका सकल्प छोड़कर तपस्वी जनोका जो प्रणिपात अर्थात्

आदरपूर्वक वन्दन आदि किया जाता है, उसे तप विनय जानना १३२४।

दे० विनय/२/३-(सोलह कारण भावनाओकी अपेक्षा लक्षण) ।

७. उपचार विनय सामान्यका लक्षण

स. सि./१/२३/४४२/२ प्रत्यक्षेष्वाचार्यादिष्वभ्युत्थानाभिगमनाञ्जलि-करणादिरुपचारविनयः । परोक्षेष्वपि कायवाङ्मनोऽभिमुखजलि-क्रियागुणसंकीर्तनानुस्मरणादि । = आचार्य आदिके समक्ष आनेपर खडे हो जाना, उनके पीछे-पीछे चलना और नमस्कार करना आदि उपचार विनय है, तथा उनके परोक्षमें भी काय वचन और मनसे नमस्कार करना, उनके गुणोंका कीर्तन करना और स्मरण करना आदि उपचार विनय है । (रा वा./१/२३/५-६/६२२/२५), (त सा./७/२४); (भा. पा./टी/७८/२२४/१४) ।

का. अ/मू/४६५ रयणत्तयजुत्तान अणुकूल जो चरेदि भत्तीए । भिच्चो जह राधाणं उवयारो सो हवे विणओ १४६८। = जैसे सेवक राजाके अनुकूल प्रवृत्ति करता है वैसे ही रत्नत्रयके धारक मुनिओके अनुकूल भक्तिपूर्वक प्रवृत्ति करना उपचार विनय है ।

८. कायिकादि उपचार विनयोंके लक्षण

भ. आ /मू/११६-१२६/२६६-३०६ अब्भुद्धान किदियम्म णवसण अजली य मुडाण । पच्चुगच्छणेमत्तो पच्छिद अणुसाधण चेव १११। णीच ठाण णीचं गमण णीच च आसणं सयणं । आसणदाण उवगरणदाण-मोयासदाणं च १२०। पडिस्वकायसंफासणदा पडिस्वकालकिरिया य । पैसणकरण सथारकरणमुक्कणपडिलिहणं १२१। इच्चेवमादि-विणओ उवयारो कीरदे सरीरेण । एसो काइयविणओ जहारिहो साहु-वग्गम्मि १२२। पूयावयणं हिदभासणं च मिदभासणं च महर च । सुत्ताणुवीचित्रयण अणित ठुरमककसं वयण १२३। उपसतवयणमगि-हत्थवयणमकिरियमहीलण वयण । एसो वाइयविणओ जहारिहो होदि कादव्वो १२४। पापविसोत्तिय परिणामवज्जण पियहिदे य परिणामो । णायव्वो सुखेवेण एसो माणस्सिओ विणओ १२५। इय एसो पच्चवखो विणओ पारोविवखो वि ज गुरुणो । विरहम्मि विवहिज्जइ आणाणिइसचरियाए १२६। = साधुको आते देख आसनसे उठ खडे होना, कायोत्सर्गादि कृतिकर्म करना, अजुली मस्तकपर चढ़ाकर नमस्कार करना, उनके सामने जाना, अथवा जप्तेवालेको विदा करनेके लिए साथ जाना १११। उनके पीछे खडे रहना, उनके पीछे-पीछे चलना, उनसे नोचे बैठना, नीचे सोना, उन्हें आसन देना, पुस्तकादि उपकरण देना, ठहरनेको बसतिका देना १२०। उनके बलके अनुसार उनके शरीरका स्पर्शन मर्दन करना, कालके अनुसार क्रिया करना अर्थात् शीतकालमें उष्णाक्रिया और उष्णकालमें शीतक्रिया करना, आज्ञाका अनुकरण करना, सथारा करना, पुस्तक आदिका शोधन करना १२१। इत्यादि प्रकारसे जो गुरुओका तथा अन्य साधुओका शरीरसे यथायोग्य उपकार करना सो सब कायिक विनय जानना १२२। पूज्य वचनोसे बोलना, हितरूप बोलना, थोडा बोलना, मिष्ट बोलना, आगमके अनुसार बोलना, कठोरता रहित बोलना १२३। उपशान्त वचन, निर्वन्ध वचन, सावध क्रियारहित वचन, तथा अभिमान रहित वचन बोलना वाचिक विनय है १२४। पापकार्योमें दु श्रुति (विकथा सुनना आदि) में अथवा सम्यक्त्वकी विराधनामें जो परिणाम, उनका त्याग करना, और धर्मोपकारमें व सम्यक्त्व ज्ञानादिमें परि-णाम होना वह मानसिक विनय है १२५। इस प्रकार ऊपर यह तीन प्रकारका प्रत्यक्ष विनय कहा । गुरुओके परोक्ष होनेपर अर्थात् उनकी अनुपस्थितिमें उनको हाथ जोडना जिनाज्ञानुसार श्रद्धा व प्रवृत्ति करना परोक्ष विनय है १२६। (मू आ/३७३-३८०), (वसु आ/३२६-३३९) ।

सू. आ./३८१-३८३ अह आपचारिओ खलु विणओ तिविहो समासदो भणिओ । सत्त चउत्तवह दुविहो बोधव्वो आणुपुव्वीए । ३८१। अणु-
द्वानं सण्णादि आसणदाण अणुपदाण च । किदियम्मं पडिख्वं
आसणचाओ य अणुव्वजणं । ३८२। हिदमिदपरिमिदभासा अणुवीची-
भासणं च बोधव्व । अकुसलमणस्स रोधो कुसलमणपवत्तओ चैव ।
। ३८३। = संक्षेपसे कहे तो तीनो प्रकारकी उपचार विनय क्रमसे ७, ४
व २ प्रकारकी है । अर्थात् कायविनय ७ प्रकारकी, वचन विनय ४
प्रकारकी और मानसिक विनय दो प्रकारकी है । ३८१। आदरसे
उठना, मस्तक नमाकर नमस्कार करना, आसन देना, पुस्तकादि
देना, यथा योग्य कृति कर्म करना अथवा शीत आदि बाधाका मेटना,
गुरुओंके आगे ऊँचा आसन छोड़के बैठना, जाते हुएके कुछ दूर तक
माथ जाना, ये सात कायिक विनयके भेद है । ३८२। हित, मित व
परिमित बोलना तथा शास्त्रके अनुसार बोलना ये चार भेद वचन
विनयके हैं । पाप ग्राहक चित्तको रोकना और धर्ममें उद्यमी मनको
प्रवर्ताना ये दो भेद मानसिक विनयके हैं । (अ. घ. ७/७१-७३/
७०७-७०६) ।

च/ मा./१४८/४ तत्राचार्योपाध्यायस्थविरप्रवर्तकगणधरादिषु पूज-
नीयेष्वभ्युत्थानमभिगमनमज्जलिकरणं वन्दनानुगमनं रत्नत्रयबहु-
मान सर्वकालयोग्यानुत्तरक्रिययानुलोमता मुनिगृहोत्त्रिदण्डता
सुशीलयोगताधर्मनुरूपकथा वचनश्रवणभक्तितार्हदायतनपुरुभक्तित्वा
दोषवर्जनं गुणवृद्धसेवाभिलाषानुवर्तनपूजनम् । यदुक्त — गुरुव्यविरा-
दिभिर्निर्णयथा तदित्यनिश भद्रान समेष्वनुत्सेको हीनेष्वपरिभव.
जातिकुलधनेश्वर्यरूपविज्ञानबललाभद्रिषु निरभिमानता सर्वत्र
क्षमापरता मितहितवैशकालानुगतवचनता कार्याकार्यसेव्यासेव्य-
वाचनवाच्यज्ञातृता इत्येवमादिभिरात्मनुरूपं प्रत्यक्षोपचारविनयं
परोक्षोपचारविनय उच्यते, परोक्षेवप्याचार्यादिष्वञ्जलि क्रियागुण-
संकीर्तनानुस्मरणज्ञानुष्ठापित्वादि कायवाङ्मनोभिरवगन्तव्य
रागप्रहसनविस्मरणैरपि न कस्यापि पृष्ठमासभक्षणकरणीयमेवमादि
परोक्षोपचारविनय प्रत्येक्षव्य । = आचार्य, उपाध्याय, वृद्ध साधु,
उपदेशादि देकर जिनमतकी प्रवृत्ति करनेवाले गणधरादिक तथा और
भी पूज्य पुरुषोंके आनेपर खड़े होना, उनके सामने जाना, हाथ
जोड़ना, बन्दन करना, चलते समय उनके पीछे-पीछे चलना, रत्न-
त्रयका सबसे अधिक आदर सत्कार करना, समस्त कालके योग्य अनु-
रूप क्रियाके अनुकूल चलना, मन वचन काय तीनों योगोंका निग्रह
करना, सुशीलता धारना, धर्मनिकूल कहना सुनना तथा भक्ति रखना,
अरहन्त जिनमन्दिर और गुरुमे भक्ति रखना, दोषोंका वा दाषियों-
का त्याग करना, गुणवृद्ध मुनियोंकी सेवा करनेकी अभिलाषा रखना,
उनके अनुकूल चतना और उनकी पूजा करना प्रत्यक्ष उपचार विनय
है । कहा भी है - "वृद्ध मुनियोंके साथ अथवा गुरुके साथ, कभी भी
प्रतिकूल न होनेकी सदा भावना रखना, बराबरवालोंके साथ कभी
अभिमान न करना, हीन लोगोंका कभी तिरस्कार न करना, जाति
कुल धन ऐश्वर्य रूप विज्ञान बल लाभ और श्रेष्ठियोंके कभी अभि-
मान न करना, सब जगह श्रद्धा धारण करनेमें तत्पर रहना, हित
परिमित व देश कालानुसार वचन कहना, कार्य-अकार्य सेव्य-असेव्य
कहनेयोग्य-न कहने योग्यका ज्ञान जाना, इत्यादि क्रियाओंके द्वारा
अपने आत्माकी प्रवृत्ति करना प्रत्यक्ष उपचार विनय है । अब आगे
परोक्ष उपचार विनयको कहते हैं । आचार्य आदिके परम्य रहते हुए
भी मन, वचन, कायमें उनके लिए हाथ जोड़ना, उनके गुणोंका वर्णन
करना, स्मरण करना और उनकी आज्ञा पालन करना आदि परोक्षो-
पचार विनय है । (गण पूर्वक व हंसो पूर्वक अथवा सूत्रकर भी कभी
किसीके पीठ पीछे दुराई व निन्दा न करना ये सब परोक्षोपचार
विनय कहलाता है ।

२. सामान्य विनय निर्देश

१. आचार व विनयमें अन्तर

अन घ. ७/११० /पू. दोषोच्छेदे गुणाधाने यत्नो हि विनयो दृशि । दगा-
चारस्तु तत्त्वार्थरुची यत्नो मलात्मये । ६६। यत्नो हि कालशुद्धिवादी
स्याज्ज्ञानविनयोऽत्र तु । सति यत्नस्तदाचार पाठे तत्साधनेषुच
। ६७। समित्यादिषु यत्नो हि चारित्रविनयो यत । तदाचारस्तु यत्नेषु
सत्सु यत्नो व्रताश्रयः । ७०। = सम्यग्दर्शनमेंसे दोषोंको दूर करने तथा
उसमें गुणोंको उत्पन्न करनेके लिए जो प्रयत्न किया जाता है, उसको
दर्शन विनय, तथा शकादि मलोंके दूर हो जानेपर तत्त्वार्थ श्रद्धानमे
प्रयत्न करनेको दर्शनाचार कहते हैं । कालशुद्धि आदि ज्ञानके आठ
अंगोंके विषयमें प्रयत्न करनेको ज्ञानविनय और उन शुद्धि आदिकों-
के हो जानेपर श्रुतका अध्ययन करनेके लिए प्रयत्न करनेको अथवा
अध्ययनकी साधनभूत पुस्तकादि सामग्रीके लिए प्रयत्न करनेको
ज्ञानाचार कहते हैं । ६६। व्रतोंको निर्मल बनानेके लिए समिति आदिमें
प्रयत्न करनेको चारित्र विनय और समिति आदिकोंके सिद्ध हो
जानेपर व्रतोंकी वृद्धि आदिके लिए प्रयत्न करनेको चारित्राचार
कहते हैं । ७०।

२. ज्ञानके आठ अंगोंको ज्ञानविनय कहनेका कारण

भ. आ./वि./११३/२६१/२२ अयमष्टप्रकारो ज्ञानाभ्यासपरिवरोऽष्टविधं
कर्म विनयति व्यपनयति विनयशब्द वाच्यो भवतीति सूरेरभिप्रायः ।
= ज्ञानाभ्यासके आठ प्रकार कर्मोंको आत्मासे दूर करते हैं,
इसलिए विनय शब्दसे सम्बोधन करना सार्थक है, ऐसा आचार्योंका
अभिप्राय है ।

३. एक विनयसम्पन्नतामें शेष १५ भावनाओंका समावेश

घ. ८/३४१/८०/८ विनयसपण्णदाए चैव तित्थयरगामकम्मं बंधति । तं
जहा—विणओ तिविहो णाणदसणचरित्तविणओ त्ति । तत्थ णाणवि-
णओ णाम अभिक्खणभिवक्खण णाणवजोगजुत्तदा बहुमुदभत्ती पवय-
णभत्ती च । दसणविणओ णाम पवयणेसुवइट्ठसव्वभावसदहणं
तिमुद्धादो ओसरणमट्ठमलच्छदहणमरहत-सिद्धभत्ती खणलवपडिबु-
ज्झणदा लद्धिसव्वेगसपण्णदा च । चरित्तविणओ णाम सीलव्वदेसु
गिरदिचारदा आवासएसु अपरिहीणदा जहायामे तथा तवो च । साहूण
पाप्तुणपरिच्चाओ तैसि समाहिसंधारणं तैसि वेज्जावच्चजोगजुत्तदा
पवयणवच्छल्लदा च णाणदसणचरित्ताण पि विणओ, तिरयणसमूहस्स
साहू पवयण त्ति ववएसादो । तदो विणयसपण्णदा एक्का वि होदूण
सीलसावयवा । तेगेदीए विणयसपण्णदाए एक्काए वि तित्थयरगाम-
कम्म मणुआ बंधति । देव णेरइयाण कधमेसा संभवदि । ण, तत्थ
वि णाणदसणविणयाण सभवदसणादो । जदि दोहि चैव तित्थयर-
णामकम्म बज्झदि तो चरित्तविणओ किमिदि तत्कारणमिदि वुच्चदे ।
ण एस दोसो, णाणदसणविणयकज्जविराहिचरणविणओ ण होदि त्ति
पदुप्पायणफन्त्तादो । = विनय सम्पन्नतासे ही तीर्थंकर नामकर्मको
बंधता है । वह इस प्रकारके कि—ज्ञानविनय, दर्शनविनय और
चारित्र विनयके भेदमें विनय तीन प्रकार है । उसमें बारम्बार
ज्ञानोपयोगसे युक्त रहनेके साथ बहुभुतभक्ति और प्र वचनभक्तिका
नाम ज्ञानविनय है । आगमोपदिष्ट सर्वपदार्थोंके श्रद्धानके साथ तीन
मूढताओंमें रहित होना, आठ मलोंको छोड़ना, अरहतभक्ति, सिद्ध-
भक्ति, क्षणलवप्रतिबुद्धता और नश्विसव्वेगसम्पन्नताको दर्शनविनय
कहते हैं । शीलव्रतोंमें निरतिचारता, आवश्यकोंमें अपरिहीनता
अर्थात् परिपूर्णता और शक्त्यनुसार तपका नाम चारित्र विनय है ।
साधुओंके लिए प्रासुक आहारादिकका दान, उनकी समाधिका धारण
करना, उनकी वैयावृत्तिमें उपयोग लगाना और प्रवचनवत्सलता,

ये ज्ञान, दर्शन और चारित्र्य तीनोंकी ही विनय है, क्योंकि, रत्नत्रय समूहको साधु व प्रवचन सज्ञा प्राप्त है। इसी कारण क्योंकि विनय-सम्पन्नता एक भी होकर सोलह अवयवोंसे सहित है, अतः उस एक ही विनयसम्पन्नतासे मनुष्य तीर्थंकर नामकर्मको बाधते है। प्रश्न—यह, विनय सम्पन्नता देव नारकियोंके कैसे सम्भव है। उत्तर—उक्त शका ठीक नहीं है, क्योंकि उनमें ज्ञान व दर्शन-विनयकी सम्भावना देखी जाती है। प्रश्न—यदि (देव और नारकियोंको) दो ही विनयोंसे तीर्थंकर नामकर्म बाँधा जा सकता है तो फिर चारित्र्य-विनयको उसका कारण क्यों कहा जाता है। उत्तर—यह कोई दोष नहीं, क्योंकि, विरोधी चारित्र्यविनय नहीं होता, इस बातको सूचित करनेके लिए चारित्र्यविनयको भी कारण मान लिया गया है।

४. विनय तपका माहात्म्य

भा. पा./मू./१०२ विणयं पचपयारं पालहि मणवयणकायजोएण अविणयणरा सुविहिय तत्तो मुत्ति ण पावति ११०२। = हे मुने। पाँच प्रकारकी विनयको मन वचन काय तीनों योगोंसे पाल, क्योंकि, विनय रहित मनुष्य सुविहित मुक्तिको प्राप्त नहीं करते है। (वसु. श्रा./३३५)।

भा. आ./मू./१२९-१३१ विणओ मोक्खद्वार विणयादो संजमो तवो णाणं। णिगएणाराहिज्जइ आयरिओ सव्वसधो य १२९। आयारजीदकप्प-गुणदीवणा अत्तसोधिणउम्भा। अज्जव मइव लाधव भत्तो पइहाद-करण च १३०। किंत्ती मेत्ती माणस्स भजण गुरुजणे य बहुमाणो। तिथयराण आणा गुणाणुमोदो य विणयगुणा १३१। = विनय मोक्ष-का द्वार है, विनयसे संयम तप और ज्ञान होता है और विनयसे आचार्य व सर्वसधकी सेवा हो सकती है १२९। आचारके, जीवप्राय-श्चित्तके और कल्पप्रायश्चित्तके गुणोंका प्रगट होना, आत्मशुद्धि, कलह रहितता, आर्जव, मार्दव, निर्लोभता, गुरुसेवा, सबको सुखी करना—ये सब विनयके गुण है १३०। सर्वत्र प्रसिद्धि, सर्व मैत्री गर्व-का त्याग, आचार्यादिकोंसे बहुमानका पाना, तीर्थंकरोंकी आज्ञाका पालन, गुणोंसे प्रेम—इतने गुण विनय करने वालेके प्रगट होते है १३१। (मू. आ./३८६-३८८) (भा. आ./वि/११६/२७५/३)।

मू. आ./३६४ द सगगाणे विणओ चरित्तव ओवचारिओ विणओ। पच-विहो खल्लु विणओ पचमगइणापगो भणिओ ३६४। = दर्शन, ज्ञान, चारित्र्य, तप व उपचार ये पाँच प्रकारके विनय मोक्ष गतिके नायक कहे गये है ३६४।

वसु. श्रा./३३२-३३६ विणएण ससंकुज्जलजसोहधवलियदियंतओ पुरिसो। सव्वत्थ हवइ सुहओ तहैव आदिज्जवयणो य ३३२। जे वेइ वि उवएसा इह परलोए सुहावहा सति। विणएण गुरुजणाणं सव्वे पाउणइ ते पुरिसा ३३३। देविद चक्रहरमंडलीयरायाइजं सुह-लोए। त सव्वं विणयफल णिव्वाणसुह तथा चैव ३३४। सत्तू व भित्तभाव जम्हा उवयाइ विणयसीलस्स। विणओ तिविहैण तओ कायववो देसविरएण ३३६। = विनयसे पुरुष चन्द्रमाके समान उज्ज्वल वशसमूहसे दिग्गन्तको धवलित करता है, सर्वत्र सबका प्रिय हो जाता है, तथा उसके वचन सर्वत्र आदर योग्य होते है ३३२। जो कोई भी उपदेश इस लोक और पर लोकमें जीवोंको सुखके देनेवाले होते है, उन सबको मनुष्य गुरुजनोंकी विनयसे प्राप्त करते है ३३३। ससारमें देवेन्द्र, चक्रवर्ती, और मण्डलीक राजा आदिके जो सुख प्राप्त होते है वह सब विनयका ही फल है और इसी प्रकार मोक्ष सुख भी विनयका ही फल है ३३४। चूँकि विनयशील मनुष्यका शत्रु भी मित्रभावको प्राप्त हो जाता है इसलिए श्रावणको मन, वचन, कायसे विनय करना चाहिए ३३६।

अन ध/७/६२/७०२ सार सुमानुषत्वेऽर्हैरूपसपदिहार्हति। शिक्षास्या विनय सम्यगस्मिन् काम्या सता गुणा ६२। = मनुष्य भाका सार

आर्यता कुलीनता आदि है। उनका भी सार जिनलिंग धारण है। उसका भी सार जिनागमकी शिक्षा है और शिक्षाका भी सार यह विनय है, क्योंकि, इसके होनेपर ही सज्जन पुरुषोंके गुण सम्यक् प्रकार स्फुरायमान होते है।

५. मोक्षमार्गमें विनयका स्थान व प्रयोजन

भा. आ./मू./१२८/३०५ विणएण विप्पहुणस्स हवदि सिक्खा णिरत्थिया सव्वा। विणओ सिक्खाए फल विणयफलं सव्वक्खलाणं १२८। = विनयहीन पुरुषका शास्त्र पढना निष्फल है, क्योंकि विद्या पढनेका फल विनय है और उसका फल स्वर्ग मोक्ष का मिलना है। (मू. आ./३८५) (अन. ध/७/६३/७०३)।

रा. सा/५२ गुरुभक्तिविहोणाण सिस्साण सव्वसगविरदाणं। ऊसरहेत्ते वावय सुवोयसम जाण सव्वणुट्टाणं ५२। = सर्वसग रहित गुरुओंकी भक्तिसे विहान शिष्योंकी सर्व क्रियाएँ, ऊपर भूमिमें पड़े बीजके समान व्यर्थ है।

रा. वा/६/२३/७/६२२/३१ ज्ञानलाभाचारविशुद्धिसम्यगाराधनाद्यर्थं विनयभावनम् ७। ततश्च निवृत्तिसुखमिति विनयभावनं क्रियते। = ज्ञानलाभ, आचारविशुद्धि और सम्यग आराधना आदिकी सिद्धि विनयसे होती है, और अन्तमें मोक्षसुख भी इसीसे मिलता है, अतः विनयभाव अवश्य ही रखना चाहिए। (चा. सा/१५०/२)।

भा. आ./वि/३००/५११ शास्त्रोक्तवाचनास्वाध्यायकालयोरध्ययन श्रुतस्स श्रुत प्रयच्छतश्च भक्तिपूर्व कृत्वा, अवग्रहं परिगृह्य, बहुमाने कृत्वा, निहव निराकृत्य, अर्थव्यञ्जनतदुभयशुद्धि रूपाय एव भाव्यमान श्रुतज्ञानं सवर निर्जरा च करोति। अन्यथा ज्ञानावरणस्य कारणं भवेत्। = शास्त्रमें वाचना और स्वाध्यायका जो काल कहा हुआ है उसी कालमें श्रुतका अध्ययन करो, श्रुतज्ञानको वतानेवाले गुरुकी भक्ति करो, कुछ नियम ग्रहण करके आदरसे पढ़ो, गुरु व शास्त्रका नाम न छिपाओ, अर्थ-व्यञ्जन व तदुभयशुद्धि पूर्वक पढ़ो, इस प्रकार विनयपूर्वक अभ्यस्त हुआ श्रुतज्ञान कर्मोंकी सवर निर्जरा करता है, अन्यथा वही ज्ञानावरण कर्मके बन्धका कारण है। (और भी दे. विनय/१/६ में ज्ञानविनयका लक्षण, ज्ञान/III/२/१ में सम्यग्ज्ञानके आठ अंग)

पं. वि/६/१९ ये गुरु नैव मन्यन्ते तदुपास्ति न कुर्वते। अन्धकारो भवत्तेषामुदितेऽपि दिवाकरे १९। = जो न गुरुको मानते है, न उनकी उपासना ही करते है, उनके लिए सूर्यका उदय होनेपर भी अन्धकार जैसा ही है।

दे. विनय/४/३ (चारित्र्यवृद्धके द्वारा भी ज्ञानवृद्ध वन्दनीय है।)

दे. सल्लेखना/१० (क्षपकको निर्यापकका अन्वेषण अवश्य करना चाहिए।)

३. उपचार विनय विधि

१. विनय व्यवहारमें शब्दप्रयोग आदि सम्बन्धी कुछ नियम

सू. पा./मू./१२-१३ जे बागीसपरीसह सहति सत्तीएहि संजुत्ता। ते होति बढणीया कम्मसायणित्तरासाह १२। अवरैसा जे तिगी वसणणाणेण सम्मस जुत्ता। चलेण य परिगहिया ते भणिगया इच्छणि-ज्जाय १३। = सेकड़ो शक्तियोंसे समुक्त जो २२ परीषद्दोंको सहन करते हुए नित्य कर्मोंकी निर्जरा करते है, ऐसे दिग्गवर साधु वन्दना करने योग्य है १२। और शेष लिंगधारी, वस्त्र धारण करनेवाले परन्तु जो ज्ञान दर्शनसे समुक्त है वे इच्छाकार करने योग्य है १३।

सू. आ./१३१, १६३ सजमणाणुवकरणे अणुवकरणे च जायणे अण्ये। जोग गहणदोसु अ इच्छाकरे। दु कादव्वा १३१। पच छ सत्त हरथे

सूरी अजभावनो य साधु य । परिहरिऊणऊभाओ गवासणेजेव बंदति १९६५। =सयमोपकरण, ज्ञानोपकरण तथा अन्य भी जो उपकरण उनमे, औषधादिमे, आतापन आदि योगीमे इच्छाकार करना चाहिए १९३१। आर्थिकाएँ आचार्यीको पाँच हाथ दूरसे, उपाध्यायको छह हाथ दूरसे और साधुओको सात हाथ दूरसे गवासनसे बैठकर वन्दना करती है १९६५।

मो पा/टी/१२/३१४ पर उद्धृत गा —“वरिससयदिविखयाए अजजाए अज्ज दिविलओ साहू । अभिगमण-वदण-णमसणण विणएण सो पुज्जो १। =सौ वर्षकी दीक्षित आर्थिकाके द्वारा भी आजका नव-दीक्षित साधु अभिगमन, वन्दन, नमस्कार व विनयसे पूज्य है। (प्र. सा/ता वृ/२२५ प्रक्षेपक ८/३०४/२७)।

मो पा/टी/१२/३१३/१६ मुनिजनस्य स्त्रियाश्च परस्पर वन्दनापि न युक्ता । यदि ता वन्दन्ते तदा मुनिभिर्नमोऽस्तिवति न वक्तव्य, किं तर्हि वक्तव्य । समाधिकर्मज्ञयोऽस्तिवति । =मुनिजन व आर्थिकाओ-के बीच परस्पर वन्दना भी युक्त नहीं है । यदि वे वन्दन करे तो मुनिको उनके लिए 'नमोऽस्तु' शब्द नहीं कहना चाहिए, किन्तु 'सनाधिरस्तु' या 'कर्मक्षयोऽस्तु' कहना चाहिए ।

२. विनय व्यवहारके योग्य व अयोग्य अवस्थाएँ

सू आ/५६७-५६९ वरिखत्तपराहुत तु पमत्त मा क्दाइ बंदिज्जो । आहारं च करतो णीहार वा जदि करेदि ५६७। आसणे आसणत्थं च उवसत्तं च उवट्ठिद । अणुविणय मेधावी किदियम्मं पउज्जे ५६८। आनोयणाय करणे पडिपुच्छा पूजणे य सज्जाए । अवराधे य गुरुणं वदणमेवेसु ठाणेसु ५६९। =व्याकुल चित्तवालेको, निद्रा विकथा आदि से प्रमत्त देशको प्राप्तको तथा आहार व णीहार करतेको वन्दना नहीं करनी चाहिए ५६७। एकान्त भूमिमें पद्यासनादिसे स्वस्थ चित्तरूपसे बैठे हुए मुनिको वन्दना करनी चाहिए और वह भी उनकी विज्ञप्ति लेकर ५६८। आलोचनाके समय, प्रश्नके समय, पूजा व स्वाध्यायके समय तथा क्रोधदि अवराधके समय आचार्य उपाध्याय आदिकी वन्दना करनी चाहिए ५६९। (अन. ध/७/५३-५४/७७२)

भ आ/त्रि/११६/२७५/६ वसतेः कायभूमित्, भिक्षात्, चैत्यात्, गुरुतकाशात्, ग्रामान्तराद्वा आगमनकालेऽभ्युत्थातव्यम् । गुरुजनश्च यदा निष्क्रामति निष्क्राम्य प्रविशति चा तदा तदा अभ्युत्थानं कार्यम् । अनया दिशा यथागमनितरदप्यनुगन्तव्यम् । =वसतिका रथानसे, कायभूमिमे (१), भिक्षा लेकर लौटते समय, चैत्यालयसे आते समय, गुरुके पाससे आते समय अथवा ग्रामान्तरगे आते समय अथवा गुरु-जन जब बाहर जाते हैं या बाहरसे आते हैं, तब तब अभ्युत्थान करना चाहिए । इसी प्रकार अन्य भी जानना चाहिए ।

३. उपचार विनयकी आवश्यकता ही क्या

भ. आ/सू. व वि/७५६-७५७/६२० ननु सम्यक्त्वज्ञानचारित्रतपांसि ससारमुच्छिन्नन्ति यद्यपि न स्यान्नमस्कार इत्यशङ्क्यायामाह— जो भावणमोक्षारेण विना सम्मत्तणचरणतवा । ण हु ते होति समस्था ससारच्छेदन कादु ७५६। यद्येव सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्ष-मार्ग इति सूत्रेण विरुध्यते । नमस्कारमात्रमेव कर्मणा विनाशने उपाय इत्येवमुक्तिमार्गकथनादित्याशङ्क्यायामाह—चदुरगाए सेणाए णायमो जह पवत्तवो हादि । तह भावणमोक्षारो मरणे तवणणचरणाय ७५७। =प्रश्न—सम्यक्त्व ज्ञान चारित्र और तप ससारका नाश करते हैं, इसलिए नमस्कारकी क्या आवश्यकता है ? उत्तर—भाव नमस्कारके बिना सम्यक्त्व ज्ञान चारित्र और तप ससारका नाश करनेमे समर्थ नहीं होते हैं । प्रश्न—यदि ऐसा है तो 'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि म धमार्ग' इस सूत्र के साथ विरोध उत्पन्न होगा, क्वाकि, आपके मतके अनुसार नमस्कार अकेला ही कर्मविनाशका उपाय है ? उत्तर—

चतुरगो सेनाका जैसे सेनापति प्रवर्तक माना जाता है वैसे गृह भाव नमस्कार भी मरण समयमे तप, ज्ञान, चारित्रका प्रवर्तक है ।

४. उपचार विनयके योग्यायोग्य पात्र

१. यथार्थ साधु आर्थिका आदि वन्दनाके पात्र है

भ आ/सू/१२७/३०४ राइणिय अराइणीएसु अज्जासु चेव गिहिवग्गे । विणओ जहारिहो सो कायञ्चो अप्पमत्तेण १२७। = राइणिय' उत्कृष्ट परिणामवाले मुनि, 'अराइणीय' न्यून भूमिकाओंवाले अर्थात् आर्थिका व श्रावक तथा गृहस्थ आदि इन सबका उन उनकी योग्यतानुसार आदर व विनय करना चाहिए । (सू आ./३५४)

द पा/सू २३ दंसणणचरित्ते तवविणये णिच्चकालमुपसत्था । एदे कु वदणीया जे गुणवादी गुणधरणं । =दर्शन ज्ञान चारित्र तथा तपविनय इनमे जो स्थित है वे सराहनीय व स्वस्थ हैं, और गणधर आदि भी जिनका गुणानुवाद करते हैं, ऐसे साधु वन्दने योग्य हैं २३। (सू आ/५६६), (सू पा/सू/१२), (को. पा/सू/११)

पं ध/उ/६७४ ७३५ इत्याद्यनेकधानेके साधु साधुगुणै, श्रित । नमस्य श्रेयसेऽवश्यं ६७४। नारीभ्योऽपि व्रताह्वयाभ्यो न निषिद्धं जिनागमे । देय समानदानादि लोकानामविरुद्धत ७३५। =अनेक प्रकारके साधु सम्बन्धी गुणोंसे युक्त पूज्य साधु ही मोक्षकी प्राप्तिके लिए तत्त्वज्ञानियों द्वारा वन्दने योग्य हैं ६७४। जिनागममें व्रतीसे परिपूर्ण स्त्रियोंका भी सम्मान आदि करना निषिद्ध नहीं है, इसलिए उनका भी लोक व्यवहारके अनुसार सम्मान आदि करना चाहिए ७३५।

दे. विनय/३/१—(सौ वर्षकी दीक्षित आर्थिकासे भी आजका नव-दीक्षित साधु वन्द्य है ।)

२. जो इन्हें वन्दन नहीं करता सो मिथ्यादृष्टि है

द पा/सू/२४ सहजुप्पण्ण रूय दट्ठु, जो मण्णएण मच्छरिओ । सो सजमपडिउण्णो मिच्छाइट्ठी हवइ एसो २४। =जो सहजात्पन्न यथाजात रूपको देखकर मान्य नहीं करता तथा उसका विनय सस्कार नहीं करता और मत्सरभाव करता है, वे यदि सयमप्रतिपन्न भी है, तो भी मिथ्यादृष्टि है ।

३. चारित्रवृद्धसे भी ज्ञानवृद्ध अधिक पूज्य है

भ आ/त्रि/११६/२७५/८ वाचनामनुयोरं वा शिक्षयत् अवसरत्नत्रय-रयाभ्युत्थातथ्य तन्मूलेऽध्ययन कुर्वद्भि सर्वैरेव । =जो प्रश्न और अर्थका पढाता है अथवा सदादि अनुयोगोका शिक्षण देता है वह व्यक्ति यदि अपनेसे रत्नत्रयमे हीन भी है, तो भी उसके आनेपर जो-जो उसके पास अध्ययन करते हैं वे सर्वजन खटे हो जावे ।

प्र सा/ता वृ/२६३/३५४/१५ यद्यपि चारित्रगुणेनाधिका न भवन्ति तपसा वा तथापि सम्मत्तज्ञानगुणेन ज्येष्ठत्वाच्छ्रुतविनयार्थमभ्यु-त्थेया ।

प्र सा/ता, वृ/२६५/३५५/१७ यदि बहुश्रुताना पार्श्वे ज्ञानादिगुणवृद्धयर्थं स्वयं चारित्रगुणाधिका अपि वन्दनादिक्रियासु वर्तन्ते तदा दोषो नास्ति । यदि पुन केवलं ख्यातिपूजालाभार्थं वर्तन्ते तदातिप्रसगा-होषो भवति । =चारित्र व तपमें अधिक न होते हुए भी सम्मत्तज्ञान गुणसे ज्येष्ठ होनेके कारण श्रुतकी विनयके अर्थ वह अभ्युत्थानादि विनयके योग्य है । यदि कोई चारित्र गुणमें अधिक होते हुए भी ज्ञानादि गुणकी वृद्धिके अर्थ बहुश्रुत जनोके पास वन्दनादि क्रियामे वर्तता है तो कोई दोष नहीं है । परन्तु यदि केवल ख्याति पूजा व लाभके अर्थ ऐसा करता है तब अतिदोषका प्रसंग प्राप्त होता है ।

४. मिथ्यादृष्टि जन व पार्वस्थादि साधु वन्द्य नहीं हैं

द पा/सू/२/२६ दंसणहीणो ण वदिव्वो ।२। असंजदं ण वंदे वच्छ-
विहीणो वि तो ण वंदिज्ज । दोण्णि वि होति समाणा एगो वि
ण संजदो होदि ।२६। = दर्शनहीन वन्द्य नहीं है ।२। असंयमी तथा
बद्धविहीन द्रव्यलिंगी साधु भी वन्द्य नहीं हैं क्योंकि दोनों ही सयम
रहित समान हैं ।२६।

सू आ./५/६४ दंसणणाचरित्ते तवविणएँ णिच्चकाल पासत्था । एदे अव-
दणिजा छिहप्पेही गुणधराण ।६४। = दर्शन ज्ञान चारित्र्य और
तपविनयोमे सदाकाल दूर रहनेवाले गुणी सयमियोंके सदा दोषो-
को देखने वाले पार्वस्था आदि हैं, इसलिए वे वन्द्य नहीं हैं ।६४।

भ. आ/वि/११६/२७५/६ नाम्भुत्थानं कुर्यात्, पार्वस्थपञ्चकस्य वा ।
रत्नत्रये तपसि च नित्यमभ्युत्थानां अभ्युत्थानं कर्त्तव्यं कुर्यात् ।
सुखशीलजनेऽभ्युत्थानं कर्मबन्धनिमित्तं प्रमादस्थापनोपबृंहणकार-
णात् । = मुनियोंको पार्वस्थादि भ्रष्ट मुनियोंका आगमन होनेपर
उठकर खड़े होना योग्य नहीं है । जो मुनि रत्नत्रय व तपश्चरणमे
तत्पर है उनके आनेपर अभ्युत्थान करना योग्य है । जो सुखके वश
होकर अपने आचारमे शिथिल हो गये हैं उनके आनेपर अभ्युत्थान
करनेसे कर्मबन्ध होता है, क्योंकि, वह प्रमादकी स्थापनाका व उसकी
वृद्धिका कारण है ।

भा पा/टी/२/१२६/६ पर उद्भूत—उक्त चेन्द्रनन्दिना भट्टारकेण समय-
भूषणप्रवचने—‘द्रव्यलिङ्ग समास्थाय भावलिङ्गी भवेद्यति । विना
तेन न वन्द्य स्यान्नानात्रतधरोऽपि सन् । = समयभूषण प्रवचनमे
इन्द्रनन्दि भट्टारकने कहा है—द्रव्यलिंगमे सम्यक् प्रकार स्थिति
पाकर ही यति भाव-लिंगी होता है । उस द्रव्य-लिंगके बिना वह
वन्द्य नहीं है, भले ही नाना व्रतोंको धारण क्यों न किया हो ।

प्र. सा/त/प्र/२६३ इतरैषा तु श्रमणाभासाना ता प्रतिषिद्धा एव ।
= उनके अतिरिक्त अन्य श्रमणाभासोंके प्रति वे (अभ्युत्थानादिक)
प्रवृत्तियों निषिद्ध ही हैं ।

अन. ध./७/५२/७७१ कुलिङ्गिन कुदेवाश्च न वन्द्यास्तेऽपि सयतै-
।५२। = पार्वस्थादि कुलिङ्गियों तथा शासनदेव आदि कुदेवोंकी
वन्दना सयमियोंको (या असयमियोंको भी) नहीं करनी
चाहिए ।

भा. पा/टी/१४/१३७/२३ एते पञ्च श्रमणा जिनवर्मबाह्या न वन्दनीया ।
= ये पार्वस्था आदि पाँच प्रकारके श्रमण जिनधर्म बाह्य हैं, इसलिए
वन्दनीय नहीं हैं ।

प ध./उ./६/७४ नेतरौ विदुषा महात् ।७३। = इन गुणोंसे रहित जो
इतर साधु हैं तत्त्वज्ञानियों द्वारा वन्दनीय नहीं हैं ।

५. अधिकगुणी द्वारा हीनगुणी वन्द्य नहीं हैं

प्र. सा./सू/२/६६ गुणदोधिगस्स विणयं पडिच्छगो जो वि होमि समयो
त्ति । होज्जं गुणधरो जदि सो होदि अणतससारी । = जो
श्रमण्यमे अधिक गुणवाले हैं तथापि हीन गुणवालोंके प्रति (वन्द-
नादि) क्रियाओंमें वर्तते हैं वे मिथ्या उपयुक्त होते हुए चारित्र्यसे
भ्रष्ट होते हैं ।

द. पा/सू/१२ जे दसणेषु भट्ठा पाए पाईति दंसणधराण । ते होति
लल्लमूआ बोही पुण दुल्लहा तैसि ।१२। = जो पुरुष दर्शनभ्रष्ट होकर
भी दर्शनके धारकोंको अपने पाँवमे पडाते हैं, वे सूँगे-खूले होते हैं
अर्थात् एकेन्द्रियनिगोड़ योनिमे जन्म पाते हैं । उनको बोधिकी
प्राप्ति दुर्लभ होती है ।

भ. आ/वि./११६/२७५/६ असयतस्य संप्रतासयतस्य वा नाम्भुत्थान
कुर्यात् । = मनुष्योंको असयत व संयतासंयत जनोके आनेपर खडा
होना योग्य नहीं है ।

अन ध/७/५२/७७१ श्रावकेणापि पितरौ गुरु राजाप्यसयता । कुलि-
ङ्गिन कुदेवाश्च न वन्द्यास्तेऽपि संयतै ।५२। = माता, पिता,
दीक्षागुरु व शिक्षागुरु, एव राजा और मन्त्री आदि असयत
जनोकी तथा श्रावककी भी सयमियोंको वन्दना नहीं करनी
चाहिए, और व्रती श्रावकोंको भी उपरोक्त असयमियोंकी वन्दना
नहीं करनी चाहिए ।

द. पा/सू/२/६ असजदं ण वदे ।२६। = असंयत जन वद्य नहीं है ।
—(विशेष दे० आगे शीर्षक नं ८) ।

६. कुगुरु कुदेवादिकी वन्दना आदिका कड़ा निषेध व उसका कारण

द. पा/सू./१३ जे वि पडति च तेसि जाणंता लज्जागारवभएण । तैसि
पि णत्थि बोही पावं अणुमोयमाणणं ।१३। = जो दर्शनयुक्त पुरुष
दर्शनभ्रष्टको मिथ्यादृष्टि जानते हुए भी लज्जा गारव या भयके
कारण उनके पाँवमें पडते हैं अर्थात् उनकी विनय प्रादि करते हैं,
तिनको भी बोधिकी प्राप्ति नहीं होती है, क्योंकि, वे पापके अनु-
मोदक हैं ।१३।

मो. पा/सू/६२ कुच्छियदेवं धम्मं कुच्छियलिंगं च वंदए जो हु ।
लज्जाभयगारवदो मिच्छादिट्ठी हवे सो हु । = कुत्सित देवको,
कुत्सित धर्मको और कुत्सित लिंगधारी गुरुको जो लज्जा भय
या गारवके वश वन्दना आदि करता है, वह प्रगट मिथ्यादृष्टि
है ।६२।

शी. पा/सू/१४ कुमयकुमुदपससा जाणता बहुविहाइं सत्थाइ । सील-
वदणारहिदा ण हु ते आराधया होति ।१४। = बहु प्रकारसे शास्त्रको
जाननेवाला होकर भी यदि कुमत्त व कुशास्त्रकी प्रशंसा करता है, तो
वह शील, व्रत व ज्ञान इन तीनोंसे रहित है, इनका आराधक
नहीं है ।

र. क. धा./३० भयाशास्नेहलोभाच्च कुदेवागमलिङ्गिनाम् । प्रणाम विनयं
चेव न कुर्यु शुद्धदृष्टय ।३०। = शुद्ध सम्यग्दृष्टि जीव भय आशा
प्रीति और लोभसे कुदेव, कुशास्त्र और कुलिङ्गियोंको प्रणाम और
विनय भी न करे ।

प वि/१/१६७ न्यायादन्धकवर्तकीयकजनाख्यानस्य ससारिणा, प्राप्त
वा बहुकल्पकोटिभिरिदं कृच्छ्रात्तरत्वं यदि । मिथ्यादेवगुरुपदेश-
विषयव्याप्तोहनीचान्वय-प्रायै प्राणभूतं तदेव सहसा वैफल्यमा-
गच्छति ।१६७। = ससारी प्राणियोंको यह मनुष्यपर्याय इतनी ही
कष्ट प्राप्य है जितनी कि अन्धेको बटेरकी प्राप्ति । फिर यदि
करोड़ों कल्पकालोंमें किसी प्रकार प्राप्ति भी हो गयी, तो वह मिथ्या
देव एव मिथ्यागुरुके उपदेश, विषयानुराग और नीच कुलमें
उत्पत्ति आदिके द्वारा सहसा विफलताको प्राप्त हो जाती है ।१६७।

और भी दे० मूढता—(कुदेव, कुगुरु, कुशास्त्र व कुधर्मको देवगुरु शास्त्र
व धर्म मानना मूढता है ।)

दे० अमूढ दृष्टि/३ (प्राथमिक दशमें अपने भ्रद्धानकी रक्षा करनेके लिए
इन्ते बचकर ही रहना योग्य है ।)

७. द्रव्य लिंगी सी कथंचित् वन्द्य है

यो. सा/अ/५/६६ द्रव्यतो यो निवृत्तोऽस्ति स पूज्यो व्यवहारिभि ।
भावतो यो निवृत्तोऽसौ पूज्यो मोक्षं यियासुभि ।६६। = व्यवहारी
जनोके लिए द्रव्यलिंगी भी पूज्य है, परन्तु जो मोक्षके इच्छुक है
उन्हें तो भाव-लिंगी ही पूज्य है ।

सा. ध/२/६४ विनयस्यैदयुगोनेषु प्रतिमासु जिनानिव । भवत्या पूर्व-
मुनीनर्चकृत श्रेयोऽतिचर्चिनाम् ।६४।

उपरोक्त श्लोककी टीकामे उद्भूत—“यथा पूज्य जिनैन्द्राणा रूप
लेपादिनिमित्तम् । तथा पूर्वमुनिच्छाया पूज्या सप्रति सयता ।

—जिस प्रकार प्रतिमाओंमें जिनेन्द्र देवकी स्थापना कर उनकी पूजा करते हैं, उसी प्रकार सद्गृहस्थको इस पंचनकालमें होनेवाले मुनियोंमें पूर्वकालके मुनियोंकी स्थापना कर भक्तिपूर्वक उनकी पूजा करनी चाहिए। कहा भी है “जिस प्रकार लोपादिसे निर्मित जिनेन्द्र देवका रूप पूज्य है, उसी प्रकार वर्तमान कालके मुनि पूर्वकालके मुनियोंके प्रतिरूप होनेसे पूज्य है। [परन्तु अन्य विद्वानोंको इस प्रकार स्थापना द्वारा इन मुनियोंको पूज्य मानना स्वीकार नहीं है—(दे० विनय/१/३)]।

६. साधुओंको नमस्कार क्यों

घ. ६/४.१.१/११/१ होदु गाम सयलजिणमोक्कारो पावप्पणासओ, तत्थ सव्वगुणाणमुबलभादो । ण देसजिणाणमेदेमु तदशुबलभादो त्ति । ण, सयलजिणेसु व देसजिणेसु तिण्ह रयणाणमुबलभादो । = प्रश्न—सकल जिन नमस्कार पापका नाशक भले ही हों, क्योंकि, उनमें सब गुण पाये जाते हैं। किन्तु देशजिनोको किया गया नमस्कार पाप प्रणाशक नहीं हो सकता, क्योंकि इनमें वे सब गुण नहीं पाये जाते। उत्तर—नहीं, क्योंकि, सकल जिनोके समान देश जिनामे (आचार्य उपाध्याय साधुमे) भी तीन रत्न पाये जाते हैं। [जो यद्यपि अपम्पूर्ण है, परन्तु सकल जिनोके सम्पूर्ण रत्नोसे भिन्न नहीं है।]—(विशेष दे० दे०/१/१/१)।

९. अमंयत सम्यग्दृष्टि वन्द्य क्यों नहीं

घ. ६/४.१.२/४१/१ महव्वयविरहिदोद्यणहराणं । ओहिणाणीणमणो-
हिणाणीण च किमट्ठ णमोक्कारो ण कोरदे । गारवगुरुवेसु जीवेसु
चरणाचारपयट्ठावणट्ठ उत्तिमग्विसयभत्तिपयासणट्ठ च ण
कोरदे । = प्रश्न—महाव्रतोसे रहित वा रत्नो अर्थात् सम्यग्दर्शन
व सम्यग्ज्ञानके धारक अग्रधिज्ञानी तथा अग्रधिज्ञानसे रहित जीवो-
को भी क्यों नहीं नमस्कार किया जाता? उत्तर—अहंकारसे
महान् जीवोमे चरणाचार अर्थात् सम्यग्चारित्र रूप प्रवृत्ति करानेके
लिए तथा प्रवृत्तिमार्ग विषयक भक्तिके प्रकाशनार्थ उन्हें नमस्कार
नहीं किया जाता है।

५. साधुकी परीक्षाका विधि-निषेध

१. आगन्तुक साधुकी विनय पूर्वक परीक्षा विधि

भ आ / मू / ४१०-४१४ आएस एज्जत्तं अन्नुट्ठिति सहसा ह् दट्ठणं ।
आणासगहवच्छेत्तदाए चरणे य णादुजे ४१०। आगतुगवच्छब्बा
पडिलेहाहि तु अणमण्णेहि । अण्णोणचरणकरण जाणणहेद् परिक्खति
४११। आवासयठाणादिमु पडिलेहणवयणगहणणिकखेवे । सज्जाए य
विहारे भिक्खग्गहणे परिच्छति ४१२। आएसस्स तिरत्त णियमा
सघाडमा दु दादव्वो । सेज्जा सथारो वि य जइ वि असभोइओ
होइ ४१३। तेण पर अविद्याणिय ण होदि सघाइओ दु दादव्वो ।
सेज्जा सथारो वि य गणिणा अविज्जुत्त जोगिस्स ४१४। = १. अन्य
गणसे आये हुए साधुको देखकर परगणके सब साधु, वास्तव्य,
सर्वज्ञ आज्ञा, आगन्तुकको अपना बनाना, और नमस्कार करना इन
प्रयोजनोंके निमित्त उठकर खड़े हो जाते हैं ४१०। वह नवागन्तुक
मुनि और इस सघके मुनि परस्परमे एक दूसरेकी प्रतिलेखन क्रिया व
तेरह प्रकार चारित्रकी परीक्षाके लिए एक दूसरेको गौरसे देखते हैं
४११। घट् आवश्यक व कायोत्सर्ग क्रियाओंमें, पीछी आदिसे
शोधन क्रिया, भाषा बोलनेकी क्रिया, पुस्तक आदिके उठाने रखनेकी
क्रिया, स्वाध्याय, एकाकी जाने आनेकी क्रिया, भिक्षा ग्रहणार्थ
चर्या, इन सब क्रिया स्थानोंमे परस्पर परीक्षा करे ४१२। आये हुए
अन्य सघके मुनिमें स्वाध्याय सस्तर भिक्षा आदिका स्थान बत-
लायेके लिए तथा उनकी शुद्धताकी परीक्षा करनेके लिए, तीन दिन
रात तक सहायक मुनि साथ रहै ४१३। (मू. अ. / १६०, १६३, १६४,

१६२)। २. तीन दिनके पश्चात् यदि वह मुनि परीक्षामें ठीक नहीं
उतरता तो उसे सहाय प्रदान नहीं करते, तथा वसतिका व संस्तर
भी उसे नहीं देते और यदि उसका आचरण योग्य है परन्तु परीक्षा
पूरी नहीं हुई है, तो भी आचार्य उसको सहाय वसतिका व संस्तर
नहीं देते हैं ४१४।

२. साधुकी परीक्षा करनेका निषेध

सा घ / २/६४ मे उद्धृत—भुक्तिमात्रप्रदाने तु वा परीक्षा तपस्विनाम् ।
ते सन्त सन्त्वसन्तो वा गृही दानेन शुध्याति । काले कलौ चले
चित्ते देहे चाश्रादिकीटके । एतच्चित्र यदथापि जिनरूपधरा नरा । =
केवल आहारदान देनेके लिए मुनियोंको क्या परीक्षा करनी चाहिए ?
वे मुनि चाहे अच्छे हो या बुरे, गृहस्थ तो उन्हें दान देनेसे शुद्ध ही
हो जाता है अर्थात् उसे तो पुण्य हो ही जाता है। इस कलिकालमें
चित्त सदा चलायमान रहता है, शरीर एक तरहसे केवल अन्नका
कीड़ा बना हुआ है, ऐसी अवस्थामें भी वर्तमानमें जिन रूप धारण
करनेवाले मुनि विद्यमान है, यही आश्चर्य है।

३. साधु परीक्षा सम्बन्धी शंका समाधान

मो. मा प्र / अधिकार/पृष्ठ/पंक्ति—

प्रश्न—१. शील संयमादि पाले हैं, तपश्चरणादि करें हैं, सो जेता करें
तितना ही भला है। उत्तर—यह सत्य है, धर्म थोरा भी पाल्या हुआ
भला है। परन्तु प्रतिज्ञा तौ बड़े धर्मकी करिए अर पालिए थोरा तौ
वहाँ प्रतिज्ञा भगत महापाप हा है। शील संयमादि होतें भी पापी
ही कहिए। ... यथायोग्य नाम धराय धर्मक्रिया करतें तौ पापीपना
होता नाही। जेता धर्म साधे तितना ही भला है। (५/२३४/६)।
प्रश्न—२. पंचम कालके अन्ततक चतुर्विध संघका सद्भाव बह्या है।
इनको साधु न मानिय तौ किसको मानिए? उत्तर—जैसे इस
कालविषे हसका सद्भाव कहा है अर गम्यक्षेत्र विषे हस नाहीं दीसै
है, तौ औरनिकौ तौ हस माने जाते नाहीं, हसकासा लक्षण मिले ही
हस मानें जायें। तैसे इस कालविषे साधुका सद्भाव है, अर गम्य क्षेत्र
विषे साधु न दीसै है, तौ औरनिकौ तौ साधु माने जाते नाहीं।
साधु लक्षण मिले ही साधु माने जायें। (५/२३४/२२) प्रश्न—३.
अब श्रावक भी तौ जैसे सम्भवें तैसे नाहीं। ताते जैसे श्रावक
तेसे मुनि? उत्तर—श्रावक सज्ञा तौ शास्त्रविषे सर्व गृहस्थ जनौ
की है। श्रेणिक भी असयमी था ताभौ उत्तर पुराण विषे श्रावको-
त्तम कहा। बारह सभावविषे श्रावक कहे, तहें सर्व व्रतधारी न थे।
ताते गृहस्थ जेनी श्रावक नाम पावै है। अर 'मुनि' सज्ञा तौ
निर्ग्रन्थ बिना कही कही नाही। बहुरि श्रावकके तौ आठ मूलगुण कहे
है। सो मद्यमाग मधु पचउत्तरादि फलनिका भक्षण श्रावकनिके है
नाहीं, तातै काह प्रकार श्रावकपना तौ सम्भवै भी है। अर मुनिके
२० मूलगुण है, सो भेषीनिके दीसते ही नाही। तातै मुनिपनो काह
प्रकारकरि सम्भवै नाही। (६/२७४/१) प्रश्न—४. ऐसे गुरु तौ
अवार यहाँ नाही, ताते जेमे अर्हन्तकी स्थापना प्रतिमा है, तैसें
गुरुनिकी स्थापना ये भेषधारी है? उत्तर—अर्हन्तादिकी पाषा-
णादिमे स्थापना बनावै, तौ तिनिका प्रतिपक्षी नाही, अर कोई
सामान्य मनुष्य आपकी मुनि मनावे, तौ वह मुनिका प्रतिपक्षी
भया। ऐमें भो स्थापना होती होय, तौ अरहन्त भो आपकी मनावो।
(६/२७४/१६) [पंचपरमेष्ठी भगवान्के असाधारण गुणोकी गृहस्थ
या सामान्य मनुष्यमें स्थापना करना निषिद्ध है। (श्लो. वा
२/भाषाकार / १/५/५४/२६४/६)।

विनयचन्द्र—'उवएसमाला तथा 'कहण्य दृप्पय' नामक दो अप-
भ्रश ग्रन्थोंके रचयिता। समय ई श १३ (हिन्दी जेन साहित्य
इतिहास १५१। बा० कामता प्रमाद)।

विनयचारी—विजयार्थकी दक्षिण ओरका एक नगर।—दे० विद्याधर।

विनयदत्त—मूलसध की पद्मवलीके अनुसार आप लाहाचार्यके पश्चात् एक पूर्वधारी थे। समय—ब० नि० १६६-१८५ (ई० ३८-५८)।—विशेष दे० इतिहास/४/४।

विनयपुरी—विजयार्थकी दक्षिण ओरका एक नगर।—दे० विद्याधर।

विनय लालसा—सप्त ऋषियोमेसे एक।—दे० सप्तऋषि।

विनयविजय—न्यायकणिकाके कर्ता एक श्वेताम्बर उपाध्याय। समय—श स १७ (ई० १६७०)। (न्याय कणिका/प्र. १। प० मोहनलाल डिसाई)।

विनय शुद्धि—दे० शुद्धि।

विनयसेन—पंचस्तूप सघकी गुर्वावलीके अनुसार आप धवलाकार वीरसेन स्वामीके शिष्य तथा काष्ठासध सस्थापक कुमारसेनके गुरु थे। समय—ई० ८२०-८७०। (सि वि/प्र ३८/५० महेंद्र)।—दे० इतिहास/७/७।

विनायक—राक्षस जातिके व्यन्तर देवोका एक भेद।—दे० राक्षस विनायक ग्रन्थ।—दे० ग्रन्थ।

विनाश—रा वा./४/४२/४/२५०/१६ तत्पर्यायसामान्यविनिवृत्ति-विनाश। = पर्यायकी सामान्य निवृत्तिका नाम विनाश है।

विनिमय—Barter and Purchase (घ ४/प्र २८)।

विनोदीलाल—सहजादिपुर निवासी एक जैन कवि थे (जिनहोने वि० १७५७ में भक्तामर कथा और वि० १७४६ में सम्भवत्व कौमुदी नामक ग्रन्थ लिखे)।

विपतत्त्व—दे० गरुड तत्त्व।

विपक्ष—१. पक्ष व विपक्षोके नाम निर्देश।—दे० अनेकान्त/४।
२. निश्चित व शक्ति विपक्ष वृत्ति।—दे० व्यभिचार।

विपरिणाम—

रा. वा./४/४२/४/२५०/१८ सत एवावस्थान्तरावाप्तिविपरिणाम। = सत-का अवस्थान्तरको प्राप्ति करना विपरिणाम है।

२. विपरिणामनाके भेद व उनके लक्षण

घ. १५/२८२/१४ विपरिणामउपक्रमो चउविहो पयडि विपरिणामणा टिट्टि विपरिणामणा अणुभागविपरिणामणा पदेसविपरिणामणा चेदि। पयडि विपरिणामणा दुविहा—मूलपयडि विपरिणामणा उत्तर-पयडि विपरिणामणा स्ति। तत्थ मूलपयडि विपरिणामणा दुविहा—देसविपरिणामणा सव्वविपरिणामणा चेदि। एत्थ अट्ठपद—जासि पयडोण देसो णिज्जरिज्जदि अधटिट्ठदिपलणए सा देसपयडि विपरिणामणा णाम। जा पयडो सव्वणिज्जराए णिज्जरिज्जदि सा सउपविपरिणामणा णाम। उत्तरपयडि विपरिणामणाए अट्ठपद। त जहा—णिज्जरा पयडो देसेण सव्वणिज्जराए वा, अणुपयडोए देस-सकमेण वा सउपसकमेण वा जा सकामिज्जदि एसा उत्तरपयडि विपरिणामणा णाम। टिट्ठो ओवट्टिज्जमाणा वा उव्वट्टिज्जमाणा वा अणु पयडि सकामिज्जमाणा वा विपरिणामिदा होदि। ओकडिदो वि उकडिदो नि अणुपयडि णोदो वि अणुभागो विपरिणामिदो होदि। ज पदेसण णिज्जरा अणुपयडि वा सकामिद सा पदेस-विपरिणामणा णाम। = १. विपरिणाम उपक्रम चार प्रकारका है— प्रकृतिविपरिणामना, स्थितिविपरिणामना, अनुभागविपरिणामना

और प्रदेश विपरिणामना। इनमें प्रकृति विपरिणामना दो प्रकारका है—मूलप्रकृतिविपरिणामना और उत्तरप्रकृतिविपरिणामना। २. उनमें भी मूलप्रकृतिविपरिणामना दो प्रकार है—देशविपरिणामना और सर्वविपरिणामना। जिन प्रकृतियोंका अध स्थिति गलनके द्वारा एक देश निर्जराको प्राप्त होता है वह देशप्रकृति विपरिणामना कही जाती है। जो प्रकृति सर्वनिर्जराके द्वारा निर्जराको प्राप्त होती है वह सर्व विपरिणामना कही जाती है। देश निर्जरा अथवा सर्वनिर्जराके द्वारा निर्जरा प्रकृति अथवा जो प्रकृति देशसक्रमण या सर्वसक्रमणके द्वारा अन्य प्रकृतिमें सक्रमणको प्राप्त करायी जाती है वह उत्तरप्रकृति विपरिणामना कहलाती है। ३. अवर्तमान, उद्वर्तमान अथवा अन्य प्रकृतियोंमें सक्रमण करायी जानेवाली स्थिति विपरिणामना कहलाती है। ४. अपकर्षणप्राप्त, उत्कर्षणप्राप्त अथवा अन्य प्रकृतिव। प्राप्त करायी गया भी अनुभाग विपरिणामित होता है। जो प्रदेशप्र निर्जराको प्राप्त हुआ है अथवा अन्य प्रकृतिमें सक्रमणको प्राप्त हुआ है वह प्रदेश विपरिणामना कही जाती है।

विपरीत दृष्टांत—(दे दृष्टांत)।

विपरीत मिथ्यात्व—(दे, विपर्यय)।

विपर्यय—१. विपर्ययज्ञान का लक्षण

स सि/१/३१/१३७/३ विपर्ययो मिथ्येत्यर्थ = विपर्ययका अर्थ मिथ्या है। (रा वा/१/३१-६१/२८)।

न्या. दो/१/१६/१६/६ विपरीतेककोटिनिश्चयो विपर्यय यथा युक्तिका-यामिदं रजतमिति ज्ञानम्। = विपरीत एक पक्षका निश्चय करनेवाले ज्ञानको विपर्यय कहते हैं। जैसे—सोपमे 'यह चोटी है' इस प्रकारका ज्ञान होना।

न्या. वि/वृ/१/१/१३०/२५ विनिश्चिने विषये विविधं परि समन्तादयन-गमन विपर्यय सर्वं ससारव्यवहार इत्यर्थ = विवक्षित विषयने विविध रूपमें सब ओरसे गमन करनेको विपर्यय कहते हैं। अर्थात् विपर्ययका अर्थ सर्व लोक व्यवहार है।

२. विपर्यय मिथ्यात्व सामान्यका लक्षण

स. सि/५/१/३७/६ सप्रन्थो निर्ग्रन्थ केवली क्वलाहारी, रत्री सिध्य-तोत्येवमादि विपर्यय। = सप्रन्थको निर्ग्रन्थ मानना, केवलीको क्वलाहारी मानना और रत्री सिद्ध होती है इत्यादि मानना विपर्यय मिथ्यादर्शन है। (रा वा/८/१/२८/५६४/२०), (त सा/५/६)।

घ. ८/३.६/२०/६ हिमालियवयण-चोउजमेहुण परिगहरागदोःमोहणा-योहि चैव णिणवुडं होड स्ति अहिणिवेसो विवरीय मिच्छन्त। = हिम अलोक वचन, चौर्य, मैथुन, परिग्रह, राग, द्वेष, मोह और अज्ञान, इनसे ही मुक्ति होती है, ऐसा अभिनिवेश विपरीत मिथ्यात्व कहलाता है।

अन. घ. २/७/१२४ येन प्रमाणत सिप्ता श्रद्धयाना श्रुति रसात्। चरन्ति श्रेयसे हिंसा स हिंसया मोहराक्षस। = मोहरूपी राक्षसरा ही वध करना उचित है कि जिसके वशमें पहकर प्राणी प्रमाणसे खण्डित किया जानेपर भी उस श्रुति (वेदो) का ही श्रद्धान करते हैं और पुण्यार्थ हिंसा (यज्ञादि) का आचरण करते हैं।

गो. जो/जी प्र/१६/४१/३ याज्ञिकब्राह्मणादय विपरीतमिथ्यादृष्टय। = यज्ञ करनेवाले ब्राह्मण आदि विपरीत मिथ्यादृष्टि हैं।

३. विपरीत मतकी उत्पत्तिका इतिहास

द. सा/१६-१७ सुव्रतित्थे उज्झो खरिऊदवुत्ति सुद्वसम्मत्तो। सीमो तस्स य दुट्ठो पुत्तो वि य पव्वओ वक्को। १६। विवरीयमय किन्ना विणाशिय सच्चसज्जम लाए। ततो पत्ता सव्वे सत्तमणय महाधोर। १७। = मुनिमुव्रत नाथके समयमें एक क्षीरवदम्ब नामका उपाध्याय

था। वह युद्ध सम्पन्नदृष्टि था। उसका (राजा वसु नामका एक) दुष्ट शिष्य था और पर्वत नामका वक्र पुत्र था। १६। उन्होंने विपरीत मत बनाकर ससारसे सच्चे समयको नष्ट कर दिया और इसके फलसे वे धोर सप्तम नरकमें जा पड़े।

४. विपर्यय मिथ्यात्वके भेद व उनके लक्षण

स सि १/३२/१३६/२ कश्चिन्मिथ्यादर्शनपरिणाम आत्मन्यवस्थितो रूपाद्युपलब्धौ सत्यामपि कारणविपर्यास भेदाभेदविपर्यास स्वरूप-विपर्यास च जनयति। कारणविपर्यासस्तावत्—रूपादीनामेकं कारण-ममूर्तं नित्यमिति केचित्कल्पयन्ति। अपरे पृथिव्यादिजातिभिन्ना परमाणवश्चतुस्त्रिंशद्व्येकगुणास्तुल्यजातीयानां कार्याणामारम्भका इति। अन्ये वर्णयन्ति—पृथिव्यादीनि चत्वारि भूतानि, भौतिकधर्मा वर्णगन्धरसस्पर्शा, एतेषा समुदायो रूपपरमाणुरष्टक इत्यादि। इतरे वर्णयन्ति—पृथिव्यप्तेजोवायव' काठिन्यादिद्रवत्वाद्युष्णत्वादीरण-त्वादिगुणा जातिभिन्ना' परमाणव' कार्यस्यारम्भका। भेदाभेदवि-पर्यास' कारणात्कार्यमर्थान्तरभूतमेवेति अनर्थान्तरभूतमेवेति च परिकल्पना। स्वरूपविपर्यासो रूपादयो निर्विकल्पा' सन्ति न सन्त्येव वा। तदाकारपरिणत विज्ञानमेव। न च तदालम्बनं वस्तु बाह्यमिति।=आत्मामें स्थित कोई मिथ्यादर्शनरूप परिणाम रूपादिककी उपलब्धि होनेपर भी कारणविपर्यास, भेदाभेद विपर्यास और स्वरूप विपर्यासको उत्पन्न करता रहता है। कारण विपर्यास यथा—कोई (सांख्य) मानते हैं कि रूपादिका एक कारण (प्रकृति) है, जो अमूर्त और नित्य है। कोई (वैशेषिक) मानते हैं कि पृथिवी आदिके परमाणु भिन्न-भिन्न जातिके हैं। तिनमें पृथिवीपरमाणु चार गुणवाले, जलपरमाणु तीन गुणवाले, अग्निपरमाणु दो गुणवाला, और वायुपरमाणु केवल एक स्पर्श गुणवाला होता है। ये परमाणु अपने-अपने समान जातीय कार्यको ही उत्पन्न करते हैं। कोई (बौद्ध) कहते हैं कि पृथिवी आदि चार भूत हैं और इन भूतोंके वर्ण गन्ध रस और स्पर्श ये भौतिक धर्म हैं। इन सबके समुदायको एक रूप परमाणु या अष्टक कहते हैं। कोई कहते हैं कि पृथिवी, जल, अग्नि और वायु ये क्रमसे काठिन्यादि, द्रवत्वादि, उष्णत्वादि और ईरणत्वादि गुणवाले अलग-अलग जातिके परमाणु होकर कार्यको उत्पन्न करते हैं। भेदाभेद विपर्यास यथा—कारणके कार्यको सर्वथा भिन्न या सर्वथा अभिन्न मानना। स्वरूपविपर्यास यथा—रूपादिक निर्विकल्प है, या रूपादिक है ही नहीं, या रूपादिकके आकाररूपसे परिणत हुआ विज्ञान ही है, उसका आलम्बनभूत और कोई बाह्य पदार्थ नहीं है (बौद्ध)। (गो, जी/जी, प्र./१८/४३/२)।

विपर्यास—दे विपर्यय।

विपल—कालका एक प्रमाण—दे, गणित/१/१/४।

विपाक—

स सि १/२१/३६८/३ विशिष्टो नानाविधो वा पाको विपाक। पूर्वोक्त-कषायतीव्रमन्दादिभावास्त्रिविशेषाद्विशिष्ट पाको विपाक। अथवा द्रव्यक्षेत्रकालभवभावलक्षणनिमित्तभेदजनितवैश्वरूप्यो नानाविध पाको विपाक। असावनुभव इत्याख्यायते।=विशिष्ट या नाना प्रकारके पाकका नाम विपाक है। पूर्वोक्त कषायोंके तीव्र मन्द आदि रूप भावास्त्रयके भेदसे विशिष्ट पाकका होना विपाक है। अथवा द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भावलक्षण निमित्त-भेदसे उत्पन्न हुआ वैश्वरूप नाना प्रकारका पाक विपाक है। इसीको अनुभव कहते हैं। (रा या १/२१/१/५८३/१३)।

ध, १४/५/६, १४/१०/२ कम्माणमुदयो उदीरणा वा विवागो णाम, कम्माणमुदय-उदीरणाणमभावो अविवागो णाम। कम्माणमुवसमो खओ वा अविवागो त्ति भणिद होदि।=कर्मोंके उदय व उदीरणाको

विपाक कहते हैं। कर्मोंके उदय और उदीरणाके अभावको अविपाक कहते हैं। कर्मोंके उपशम और क्षयको अविपाक कहते हैं, यह उक्त कथनका तात्पर्य है।

विपाक अविपाक निर्जरा—दे० निर्जरा।

विपाक प्रत्ययिक बंध—दे बन्ध/१।

विपाक त्रिचय—दे धर्मध्यान/१।

विपाकसूत्र—द्वादशाग श्रुतका ११ वा अग—दे० श्रुतज्ञान/III।

विपुल—१. भाविकालीन १५वे तीर्थकर। अपर नाम बहुलप्रभ।

—दे, तीर्थकर/५। २. एक ग्रह—दे ग्रह।

विपुलमति—दे, मन पर्यय।

विप्रतिपत्ति—न्या, सू/भा १/२/१/७/५८/२० न वृत्ति समानेऽधि-करणे व्याहृतार्थे प्रवादौ विप्रतिपत्तिशब्दस्यार्थः।=एक वस्तुमें परस्पर विरोधी दो वादोंका नाम 'विप्रतिपत्ति' है। [अथवा विपरीत निश्चयका नाम विप्रतिपत्ति है]।

विप्रानस मरण—दे मरण/१।

विप्लुत—न्या वि/वृ./१/४६/३१२/२१ विविधं प्लुत प्लवन तरङ्गा-दिषु यस्य स विप्लुतो जलचन्द्रादि।=विविध प्रकारसे प्लुत स्रो विप्लुत अर्थात् जिसका तर गादिमें अनेक प्रकारसे डूबना या तैरना हो रहा है, ऐसे जलमें पड़े हुए चन्द्र प्रतिबिम्ब आदि विप्लुत है।

विभंगज्ञान—१ मिथ्या अवधिज्ञान। दे, अवधिज्ञान/१। २, विभग-ज्ञानमें दर्शनका कथञ्चित् सद्भाव व अभाव—दे, दर्शन/६।

विभंगा—पूर्व व अपर विदेहोंमें स्थित १२ नदियाँ। पूर्वमे ग्राहवती, ब्रह्मवती, पंकावती, तप्तजला, मत्तजला और उन्मत्तजला ये ६ हैं और पश्चिममें—क्षीरोदा, सीतोदा, औषधवाहिनी, गम्भीर-मालिनी, फेनमालिनी और ऊर्मिमालिनी ये छ हैं। दे. लोक/३/१४।

विभक्ति—

क. पा २/२-२२/४/६/८ विभजनं विभक्ति न विभक्तिरविभक्ति'। =विभाग करनेको विभक्ति कहते हैं और विभक्तिके अभावको अविभक्ति कहते हैं।

क. पा. ३/३-२२/४/४/४ पृष्ठ। पक्ति—विहृत्ती भेदो पुष्यभावोत्ति एयट्ठो (५/४)। एक्किस्से वि ट्ठिदीए पदेसभेदेण पयडिभेदेण च णाणत्तुव-लंभादो। (५/५)। मूलपयडिट्ठिदीए सेसणाणावरणादिमूलपयडि-ट्ठिदीहितो भेदोववत्तीने। (६/२)।

क. पा ३/३-२२/४/४/४ पृष्ठ/पंक्ति—अथवा ण एत्थ मूलपयडिट्ठिदीए एयत्तमत्थि, जहण्णट्ठिदिप्पहुडिजाव उक्कस्सट्ठिदि त्ति म्बवासि ट्ठिदीण मूलपयडिट्ठिदि त्ति गहणादो। (६/५)। तेण पयडिसरूवेण एगा ट्ठिदी एगट्ठिदीभेद पडुच्चट्ठिदिविहृत्ती होदि त्ति सिद्धं। =विभक्ति, भेद, और पृथग्भाव ये तीनों एकार्थवाची शब्द हैं। एक स्थितिमें भी प्रदेशभेदकी अपेक्षा नानात्व पाया जाता है। अथवा विवक्षित मोहनीयको मूलप्रकृति स्थितिका शेष ज्ञानावरणादि मूल प्रकृतिस्थितियोंसे भेद पाया जाता है। अथवा प्रकृतमे मूलप्रकृतिस्थिति-का एकत्व नहीं लिया है, क्योंकि जघन्य स्थितिसे लेकर उत्कृष्ट स्थिति तक सभी स्थितियोंका 'मूल प्रकृतिस्थिति' पदके द्वारा ग्रहण किया है। इसलिए प्रकृतिरूपसे एक स्थिति अपने स्थितिभेदोंकी अपेक्षा स्थितिविभक्ति होती है, यह सिद्ध होता है।

क. पा ३/३-२२/४/३ उक्कस्सविहृत्तीए उक्कस्स अद्वाछेवस्स च को भेदो। बुच्चदे—चरिमणिसेयस्स कालो उक्कस्स अद्वाछेदो णाम। उक्कस्सट्ठि-दिविहृत्ती पुण सव्वणिसेयाणं सव्वणिसेयपदेसाण वा कालो। एव

सते सब्बुक्कस्सविहत्तीण णत्थि भेदो त्ति णासकणिञ्ज । ताण पि णयविसेसवसाणं कथंचि भेदुवलभादो । त जहा—समुदायपहाणा उक्कस्स विहत्ती । अवयवपहाणा सव्वविहत्ति । —प्रश्न—उत्कृष्ट विभक्ति और उत्कृष्ट अद्वाच्छेदमें क्या भेद है ? उत्तर—अन्तिम निषेक के कालको उत्कृष्ट अद्वाच्छेद कहते हैं और समस्त निषेकोके या समस्त निषेकोके प्रदेशके कालको उत्कृष्ट स्थिति विभक्ति कहते हैं । इसलिए इन दोनोंमें भेद है । ऐसी होते हुए सब विभक्ति [सम्पूर्ण निषेकोका समूह (दे. स्थिति/२)] और उत्कृष्ट विभक्ति इन दोनोंमें भेद नहीं है, ऐसी आशका नहीं करनी चाहिए, क्योंकि नय विशेषकी अपेक्षा उन दोनोंमें भी कथंचित् भेद पाया जाता है । यह इस प्रकार है— उत्कृष्ट विभक्ति समुदाय प्रधान होती है और सर्व विभक्ति अवयव प्रधान होती है ।

विभाव—कर्मोंके उदयसे होने वाले जीवके रागादि विकारी भावोंको विभाव कहते हैं । निमित्तकी अपेक्षा कथन करनेपर ये कर्मोंके हैं और जीवकी अपेक्षा कथन करनेपर ये जीवके हैं । संयोगी होनेके कारण वास्तवमें ये किसी एकके नहीं कहे जा सकते । शुद्धनयसे देखनेपर इनकी सत्ता ही नहीं है ।

४	विभावका कथंचित् अहेतुकपना
*	जीव भावोंका निमित्त पाकर पुद्गल स्वयं कर्मरूप परिणमता है । —दे. कारण/III/३।
१	जीव रागादिरूपसे स्वयं परिणमता है ।
२	शानियोंके कर्मोंका उदय भी अकिंचित्कर है ।
५	विभावके सहेतुक-अहेतुकपनेका समन्वय
१	कर्म जीवका परामव कैसे करता है ?
२	रागादि भाव संयोगी होनेके कारण किसी एकके नहीं कहे जा सकते ।
३	शानी व अशानीकी अपेक्षासे दोनों बातें ठीक हैं ।
४	दोनोंका नयार्थ व मतार्थ ।
५	दोनों बातोंका कारण व प्रयोजन ।
*	विभावका अभाव सम्भव है । —दे. राग/५।
६	वस्तुतः रागादि भावकी सत्ता नहीं है ।

१	विभाव व वैभाविक शक्ति निर्देश
१	विभावका लक्षण ।
२	स्वभाव व विभाव क्रिया तथा उनकी हेतुभूता वैभाविकी शक्ति ।
*	वैभाविकी शक्ति केवल जीव व पुद्गलमें ही है । —दे० गुण/२/८
३	वह शक्ति नित्य है, पर स्वयं स्वभाव या विभावरूप परिणत हो जाती है ।
४	स्वाभाविक व वैभाविक दो शक्तियाँ मानना योग्य नहीं ।
५	स्वभाव व विभाव शक्तियोंका समन्वय ।
२	रागादिकमें कथंचित् स्वभाव-विभावपना
*	कषाय जीवका स्वभाव नहीं । —दे कषाय/२/३।
१	कषाय चारित्र गुणकी विभाव पर्याय है ।
*	संयोगी होनेके कारण विभावकी सत्ता ही नहीं है । —दे, विभाव/५/६।
*	रागादि जीवके नहीं पुद्गलके हैं । —दे. मूर्त/१।
२	रागादि जीवके अपने अपराध हैं ।
३	विभाव भी कथंचित् स्वभाव है ।
४	शुद्ध जीवमें विभाव कैसे हो जाता है ?
३	विभावका कथंचित् सहेतुकपना
*	जीव व कर्मका निमित्त-नैमित्तिकपना । —दे कारण III/३/५।
१	जीवके कषाय आदि भाव सहेतुक हैं ।
२	जावकी अन्य पर्यायें भी कर्मकृत हैं ।
३	पौद्गलिक विभाव सहेतुक है ।

१. विभाव व वैभाविकी शक्ति निर्देश

१. विभावका लक्षण

न. च. वृ./६५ सहजादो ख्वंत्तरगहणं जो सो हु विन्भावो । ६५। = सहज अर्थात् स्वभावसे रूपान्तरका ग्रहण करना विभाव है ।
आ प./६ स्वभावादन्वयाभावनां विभाव । = स्वभावसे अन्यथा परिणमन करना विभाव है ।
पं घ./उ/१०५ तद्गुणाकारसक्रान्तिर्भावा वैभाविकश्चित् । = आत्माके गुणोंका कर्मरूप पुद्गलके गुणोंके आकाररूप कथंचित् संक्रमण होना वैभाविक भाव कहलाता है ।

२. स्वभाव व विभाव क्रिया तथा उनकी हेतुभूता वैभाविकी शक्ति

प. घ./उ./श्लो अण्यस्त्यनादिसिद्धस्य सत् स्वाभाविकी क्रिया वैभाविकी क्रिया चास्ति पारिणामिकशक्ति । ६१। न परं स्यात्परायत्ता सतो वैभाविकी क्रिया । यस्मात्सतोऽसती शक्ति कर्तुमन्वैर्न शक्यते । ६२। ननु वैभाविकभावाख्या क्रिया चेत्पारिणामिकी । स्वाभाविक्या. क्रियायाश्च क शेषो हि विशेषभाक् । ६३। नैवं यतो विशेषोऽस्ति बद्धाबद्धावबोधयो । मोहकर्मवृत्तो बद्ध' स्यादबद्धस्तद्व्ययात् । ६६। ननु बद्धत्व कि नाम किमशुद्धत्वमर्थत । वाववूकोऽथ सदिग्धो बोध्य' कश्चिदिति क्रमात् । ७१। अर्थाद्वैभाविकी शक्तिर्या सा चेदुपयोगिनी । तद्गुणाकारसक्रान्तिर्बन्ध स्यादन्वहेतुकः । ७२। तत्र बन्धे न हेतु' स्याच्छक्तिर्वैभाविकी परम् । नोपयोगापि तद्विस्तु परायत्त प्रयोजकम् । ७३। अस्ति वैभाविकी शक्तिस्तच्चद्रव्योपजीविनी । सा चेद्बन्धस्य हेतु' स्यादर्थायुक्तेरसंभव । ७४। उपयोग' स्यादभिष्यक्ति शक्ते स्वार्थाधिकारिणी । सैव बन्धस्य हेतुश्चेत्सर्वो बन्ध समस्यताम् । ७५। तस्माद्धेतुसामग्रीसोनिध्ये तद्गुणाकृति । स्वाकारस्य परायत्ता तथा बद्धोपराधवात् । ७६। = स्वतः अनादिसिद्ध भी सत्में परिणमनशीलताके कारण स्वाभाविक व वैभाविक दो प्रकारकी क्रिया होती है । ६१। वैभाविकी क्रिया केवल पराधीन नहीं होती, क्योंकि, द्रव्यकी अविद्यमान शक्ति दूसरोंके द्वारा उत्पन्न नहीं करायी जा सकती । ६२। प्रश्न—यदि वैभाविकी क्रिया भी सत्की

परिणमनशीलतासे ही होती है तो उसमें फिर स्वाभाविकी क्रियासे क्या भेद है। उत्तर—ऐसा नहीं कहना चाहिए, क्योंकि तद्र और अबद्ध ज्ञानमें भेद (स्पष्ट) है। मोहनीय कर्ममें आवृत्त ज्ञान तद्र है और उससे रहित अबद्ध ६६। प्रश्न—वस्तुतः वदत्व व अशुद्धत्व क्या है ७१। उत्तर—वैभाविकी शक्ति के उपयोगरूप ही जानेपर जो पर-द्रव्यके निमित्तसे जीव व पुद्गलके गुणोंका सक्रमण हो जाता है वह बन्ध कहनाता है ७२। [परगुणाकाररूप पारिणामिकी क्रियाबन्ध है और उस क्रियाके होनेपर जीव व पुद्गल दोनोंको अपने गुणोंसे च्युत हो जाना अशुद्धता है—दे. अशुद्धता] उन बन्धमें केवल वैभाविकी शक्ति कारण नहीं है और न केवल उसका उपयोग कारण है, किन्तु उन दोनोंका परस्परमें एक दूसरेके आधोनि होकर रहना ही प्रयोजक है ७३। यदि वैभाविकी शक्ति ही बन्धका कारण माना जायेगा, तो जीवकी मुक्ति ही असम्भव हो जायेगी, क्योंकि, वह शक्ति द्रव्योपजीवी है ७४। शक्ति ही अपने विषयमें अधिकार रखने-वाली व्यक्तता उपयोग कहलाता है। वह भी अकेला बन्धका कारण नहीं है, क्योंकि, ऐसा माननेपर भी सभी प्रकारका बन्ध उसीमें समा जायेगा ७५। अतः उनकी हेतुभूत समस्त सामग्रियोंके मिलनेपर अपने-अपने आकारका परद्रव्यके निमित्तसे, जिसके साथ बन्ध होना है उसके गुणाकाररूपसे सक्रमण हो जाता है। इसीसे यह अपराधी जीव बंधा हुआ है ७६।

३. वह शक्ति नित्य है पर स्वयं स्वभाव या विभाव रूप परिणत हो जाती है

प. ध./उ/श्लोक—ननु वैभाविकी शक्तिरतया रादन्ययोगत । पर-योगाद्विना किं न स्याद्वास्ति तथान्यथा ७६। सत्यं नित्या तथा शक्ति शक्तित्वात्शुद्धशक्तिवत् । अधान्नथा सती नाश शक्तोर्ना नाशत क्रमात् ७७। किंतु तस्यस्तथाभाव शुद्धादन्योन्यहेतुव । तन्निमित्ताद्विना शुद्धो भाव स्यात्केवल एत ७८। अस्ति वैभाविकी शक्ति इतस्तेषु गुणेषु च । जन्तो मृत्प्रस्थाया वेकृतास्ति स्वहेतुत ७९। = प्रश्न—यदि वैभाविकी शक्ति जीव पुद्गलके परस्पर योगसे बन्ध करानेमें समर्थ होती है तो क्या पर योगके बिना वह बन्ध करानेमें समर्थ नहीं है। अर्थात् कर्मोंका सम्बन्ध हूट जानेपर उसमें बन्ध करानेकी सामर्थ्य रहती है या नहीं। उत्तर—तुम्हारा कहना ठीक है, परन्तु शक्ति होनेके कारण अन्य स्वाभाविकी शक्तिवाकी भ्रंति पर भी नित्य रहती है, अन्यथा तो क्रमसे एक-एक शक्तिना नाश होते-होते द्रव्यका ही नाश हो जायेगा ७९-८०। किन्तु उस शक्तिका अशुद्ध परिणमन अवश्य पर निमित्तसे होता है। निमित्तके हूट जानेपर स्वयं उनका केवल शुद्ध ही परिणमन हाता है ८१। सिद्ध जीवोंके गुणोंमें भी स्वतः सिद्ध वैभाविकी शक्ति हाती है जो जीवकी समार अवस्थामें स्वयं अनादि-कालसे विकृत हो रही है ८४।

४. स्वाभाविक व वैभाविक दो शक्तियाँ मानना योग्य नहीं

प. ध./उ/श्लो. ननु चेव चेका शक्ति-तत्त्वो द्विभित्तो भवेत् । एक स्वाभाविको भावो भावो वैभाविको पर ८८। चेदपरव हि द्वे शक्तौ सत स्त वा शक्ति सतम् । स्वाभाविको स्वभावे स्वे स्वैवैभावे-विभावजा ८९। नेव प्रतीकृति परिणामि शक्ति ज त सतः स्थितम् । कथं वैभाविकी शक्तिर्न स्याद्वेपारिणामिकी ९०। पारिणामात्मिका काचित्शक्तिश्चापारिणामिकी । तद्रूपहकामागम्यभावात्सदृश्य-भावात् ९१। तन्मद्वैभाविकी शक्ति स्वयं स्वाभाविको भवेत् । परि-णामात्मिका भावैरभावे कृत्स्नकर्मणाम् ९२। = प्रश्न—इससे तो ऐसा सिद्ध हाता है कि शक्ति तो एक है, पर उसका ही परिणमन दो

प्रकारका होता है—एक स्वाभाविक और दूसरा वैभाविक ९३। तो फिर द्रव्योंमें स्वाभाविकी और वैभाविकी ऐसी दो स्वतन्त्र शक्तियाँ मान लेनेमें क्या शक्ति है, क्योंकि, द्रव्यके स्वभावोंमें स्वाभाविकी शक्ति और उसके विभावोंमें वैभाविकी शक्ति यथा अवरु काम करती रहेगी ९४। उत्तर—ऐसा नहीं है, क्योंकि, सत्त्वो सब शक्तियाँ जब परिणमन स्वभावी हैं, तो फिर यह वैभाविकी शक्ति भी नित्य पारिणामिकी क्यों न होगी ९८। कोई शक्ति तो परिणामी ही और कोई अपरिणामी, इस प्रकारके उदाहरणका तथा उसके ग्राहक प्रमाण-का अभाव है ९९। इसलिए ऐसा ही मानना योग्य है कि वैभाविकी शक्ति सम्पूर्ण कर्मोंका अभाव होनेपर अपने भावोंसे ही स्वयं स्वाभाविक परिणमनशील हो जाती है १००।

५. स्वभाव व विभाव शक्तियोंका समन्वय

प. ध./उ./११-१३ तत् सिद्धं सतोऽवश्यं न्यायात् शक्तिद्वयं यत् । सवस्थाभेदतो द्वैतं न द्वैतं युगपत्सयो, ११। यौगपद्यो महात् दोषस्तद्-द्रव्यस्य नयादपि । कार्यकारणयोर्नाशो नाशः स्याद्बन्धमोक्षयो १२। नैकशक्तेद्विधाभावो यौगपद्यानुपगतः । सति तत्र विभावस्य नित्यत्वं स्यादव्याधितम् १३। = इसलिए यह सिद्ध होता है कि न्यायानुसार पदार्थमें दो शक्तियाँ तो अवश्य हैं, परन्तु उन दोनों शक्तियोंमें सत्त्वो अवस्था भेदसे ही भेद है। द्रव्यमें युगपत् दोनों शक्तियोंका द्वैत नहीं है ११। क्योंकि दानोंका युगपत् सद्भाव माननेसे महात् दोष उत्पन्न होता है। क्योंकि, इस प्रकार कार्यकारण भावके नाशका तथा बन्ध व मोक्षके नाशका प्रमग प्राप्त होता है १२। न ही एक शक्तिके युगपत् दो परिणाम माने जा सकते हैं, क्योंकि इस प्रकार माननेसे स्वभाव व विभाव की युगपत्ता तथा विभाव परिणामकी नित्यता प्राप्त होती है १३।

२. रागादिकमें कथंचित् स्वभाव-विभावपना

१. कषाय चारित्रगुणकी विभाव पर्याय हैं

प. ध./उ/१०७४, १०७५ इत्येवं ते कषयाख्याश्चत्वारोऽप्यौचित्यकः स्मृता । चारित्रस्य गुणस्यास्य पर्याया वैकृतात्मन १०७४। तत्-श्चारित्रमोहस्य कर्मणो ह्युदयाद्भुवम् । चारित्रस्य गुणस्यापि भावा वैभाविका अमी १०७८। = ये चारों ही कषाये औचित्यक भावोंमें आती हैं, क्योंकि ये आत्माके चारित्रगुणकी विकृत पर्याय हैं १०७४। सामान्यरूपसे उक्त तीनों वेद (स्त्री पुरुष नपुंसक वेद) चारित्र माह के उदयसे होते हैं इसलिए ये तीनों ही भावस्तिग निरचयरे चारित्र-गुणके ही वैभाविक भाव हैं।

२. रागादि जीवके अपने अपराध हैं

सा सा /मू/१०२, ३७१ जं भाव मु-मपुह त्रेदि आदा स तरस खलु कसा । त तसस ह्येदि मम स तरस दु वेदगो अप्ता १०२। रागो दोसो मोहा जीवस्मव य अक्षणपरिणामा । एण कषणेण उ सहादिमु णत्व रागादि १०३। = आत्मा जिग शुभ या अशुभ भावको करता है, उस भावका वह वस्तुवर्तमें वर्ता होता है, वह भाव उसका कर्म होता है और वह आत्मा उसका भोक्ता होता है १०२। (स सा /मू/१०)। राग द्वेष और मोह जीवके ही अनन्य परिणाम हैं, इस कारण रागादिक (इन्द्रियोके) शब्दादिक विषयोंमें नहीं है ३७१।

स. मा /आ/१६० अनादिस्वपुरुषापरगधप्रवर्तमानवर्ममन्वत्तत्त्वत् । = अनादि कालसे अपने पुरुषार्थके अपराधने प्रवर्तमान कर्ममलके द्वारा लिप्त होनेसे • (स सा /आ/४१२)।

स. सा /आ/क.नं भुङ्क्षे हन्त न जातु मे यदि पर दुर्भुत पवासि भो । बन्ध. स्यादुपभोगतो यदि न तस्कि कामचरोऽस्ति ते १०१।

स्वभावका पराभव करके की जानेवाली मनुष्यादि पर्यायि कर्मके कार्य है।

दे० कर्म/३/२ (जीवोके ज्ञानमें वृद्धि हानि कर्मके बिना नहीं हो सकती।)

दे० मोक्ष/१/४ (जीव प्रदेशोका संकोच विस्तार भी कर्म सम्बन्धसे ही होता है।)

दे० कारण/III/१/३—(शेर, भेडिया आदिमें शूरता-क्रूरता आदि कर्मकृत है।)

दे० आनुपूर्वी—(विग्रहगतमें जीवका आकार आनुपूर्वी कर्मके उदयसे होता है।)

दे० मरण/४/८—(मारणान्तिक समुद्रातमें जीवके प्रदेशोका विस्तार आयु कर्मका कार्य है।)

दे० सुख (अलौकिक)—(सुख तो जीवका स्वभाव है पर दुःख जीवका स्वभाव नहीं है, क्योंकि, वह असाता वेदनीय कर्मके उदयसे होता है।)

३. पौद्गलिक विभाव सहेतुक है

न. च. वृ/२० पुगलदब्धे जो पुण विभावो कालपरिओ होदि। सो णिद्धरुक्खसहिदो बंधो खलु होई तस्सेव १२०। =कालसे प्रेरित होकर पुद्गलका जो विभाव होता है उसका ही स्निग्ध व रुक्ष सहित बन्ध होता है।

पं. वि/२३/७ यत्तस्मात्पृथगेव स द्वयकृतो लोके विकारो भवेत्। =लोकमें जो भी विकार होता है वह दो पदार्थोंके निमित्तसे होता है।

दे मोक्ष/६/४ (द्रव्यकर्म भी सहेतुक है, क्योंकि, अन्यथा-उनका विनाश बन नहीं सकता।)

४. विभावका कथंचित् अहेतुकपना

१. जीव रागादिरूपसे स्वयं परिणमता है

स. सा./सू./१२१-१२५, १३६ ण सय बद्धो कम्मे ण सयं परिणमदि कोहमादीहि। जइ एस तुउक जीवो अप्परिणामी तदो होदी। १२१। अपरिणमतमिह सय जीवे कोहादिदिहि भावेहि। ससारस्स अभावो एसज्जदे सखसमओ वा। १२२। पुगलकम्म कोहो जीवं परिणाम-एदि कोहत्त। तं सयमपरिणमत कइ णु परिणामयदि कोहो। १२३। अह सयमपणा परिणदि कोहभावेण एस दे बुद्धो। कोहो परिणामयदे जीवं कोहत्तमिदि मिच्छा। १२४। कोहुवजुत्तो कोहो माणुवजुत्तो य माणमेवादा। माउवजुत्तो माया लोहुवजुत्तो इवदि लोहो। १२५। तं खलु जीवणिवड्ढं कम्मइयवग्गणागय जइया। तइया दु होदि हेवु जीवो परिणामभावाणं। १२६। =साख्यमतानुयायी शिष्यके प्रति कहते हैं कि हे भाई। यदि यह जीव कर्ममें स्वयं नहीं बंधा है और क्रोधादि भावसे स्वयं नहीं परिणमता है, ऐसा तेरा मत है तो वह अपरिणामी सिद्ध होता है। १२१। और इस प्रकार संसारके अभावका तथा साख्यमतका प्रसंग प्राप्त होता है। १२२। यदि क्रोध नामका पुद्गल कर्म जीवको क्रोधरूप परिणमाता है, ऐसा तू माने तो हम पूछते हैं, कि स्वयं न परिणमते हुएको वह क्रोधकर्म कैसे परिणमन करा सकता है? १२३। अथवा यदि आत्मा स्वयं क्रोधभावरूपसे परिणमता है, ऐसा माने तो 'क्रोध जीवको क्रोधरूप परिणमन कराता है' यह कथन मिथ्या सिद्ध होता है। १२४। इसलिए यह सिद्धान्त है कि, क्रोध, मान, माया व लोभमें उपयुक्त आत्मा स्वयं क्रोध, मान, माया व लोभ है। १२५। कर्मणि वर्मणागत पुद्गलद्रव्य जब वास्तवमें जीवमें बंधता है तब जीव (अपने अज्ञानमय) परिणामभावो ग हेतु होता है। १२६।

स. सा./आ./कलश न कर्तार स्वफलेन यत्किल बलात्कमेव नो योजयेत्, कुर्वाण फलनिष्प्रेव हि फल प्राप्नोति यत्कर्मण। १५२।

रागद्वेषोत्पादक तत्त्वदृष्ट्या, नान्यद्द्रव्यं वीक्ष्यते किंचनापि। सर्व-द्रव्योत्पत्तिरन्तश्चकास्ति, व्यक्तात्यन्त स्वस्वभावेन यस्मात्। १२१। रागजन्मनि निमित्तता पर-द्रव्यमेव कलयन्ति ये तु ते। उत्तरन्ति न हि मोहवाहिनी, शुद्धबोधविधुरान्धुद्भयं। १२१। =कर्म ही उसके कर्ताको अपने फलके साथ बलात् नहीं जोड़ता। फलकी इच्छावाला ही कर्मको करता हुआ कर्मके फलको पाता है। १२२। तत्रदृष्टिसे देखा जाय तो, रागद्वेषको उत्पन्न करनेवाला अन्य द्रव्य किंचित् मात्र भी दिखाई नहीं देता, क्योंकि, सर्व द्रव्योकी उत्पत्ति अपने स्वभावसे ही होती हुई अन्तरंगमें अत्यन्त प्रगट प्रकाशित होती है। १२१। जो रागकी उत्पत्तिमें पर द्रव्यका ही निमित्तत्व मानते हैं, वे जिनकी बुद्धि शुद्ध-ज्ञानसे रहित अन्ध है, ऐसे मोहनदीको पार नहीं कर सकते। १२१।

स. सा./आ./३७२ न च जीवस्य परद्रव्य रागादीनुत्पादयतीति शङ्क्यं, अन्यद्रव्येणान्यद्रव्यगुणोत्पादकस्यायोगाद्, सर्वद्रव्याणां स्वभावेन-वोत्पादात्। ३७२। =ऐसी आशंका करने योग्य नहीं, कि परद्रव्य जीवको रागादि उत्पन्न करते हैं, क्योंकि, अन्य द्रव्यके द्वारा अन्य द्रव्यके गुणोको उत्पन्न करनेकी अशक्यता है, क्योंकि सर्व द्रव्योका स्वभावसे ही उत्पाद होता है। (दे कर्ता/३/६,७)।

पु. सि उ./१२ परिणाममानस्य चित्तश्चिदात्मके रवयमपि स्वकेभवि। भवति हि निमित्तमात्र पौद्गलिक कर्म तस्यापि। १३। =निश्चय करके अपने चेतना स्वरूप रागादि परिणामोसे आप ही परिणमते हुए पूर्वोक्त आत्माके भी पुद्गल सम्बन्धी ज्ञानावरणादिक द्रव्य कर्म कारणमात्र होते हैं।

दे विभाव/४/४ (ऋजुसूत्रादि पर्यायार्थिक नयोकी अपेक्षा कणाव आदि अहेतुक है, क्योंकि, इन नयोकी अपेक्षा कारणके बिना ही कार्यकी उत्पत्ति होती है)।

दे विभाव/२/२/३ (रागादि जीवके अपने अपराध हैं, तथा कथंचित् जीवके स्वभाव हैं)।

दे नियति/२/३ (कालादि लाब्धके मिलनेपर स्वयं सम्यग्दर्शन आदि-की प्राप्ति होती है)।

२. ज्ञानियोंको कर्मोंका उदय भी अकिंचित्कर है

स. सा./आ./३२ यो हि नाम फलदानसमर्थतया प्रादुर्भूय भावकत्वेन भवन्तमपि दूरत एव तदनुत्तरात्मनो भाव्यस्य व्याकर्तनेन हटान्मोह न्यबकृत्य आत्मानं संचेतयते स खलु जितमोहो जिन। =मोहकर्म फल देनेकी सामर्थ्यसे प्रगट उदयरूप होकर भावकपनेसे प्रगट होता है, तथापि तदनुसार जिसकी प्रवृत्ति है, ऐसा जो अपना आत्मा-भाव्य, उसको भेदज्ञानके बल द्वारा दूरसे ही अलग करनेसे, इस प्रकार बलपूर्वक मोहका तिरस्कार करके, अपने आत्माको जो अनुभव करते हैं, वे निश्चयसे जितमोह जिन हैं।

प्र. सा./ता वृ/४५/५/१६ अत्राह शिष्य—औदयिका भावा बन्ध-कारण' इत्यागमवचनं तर्हि वृथा भवति। परिहारमाह—औदयिका भावा बन्धकारण भवन्ति, पर किंतु मोहोदय सहिता। द्रव्यमोहो-दयेऽपि सति यदि शुद्धात्मभावन-बलेन भावमोहेन न परिणमते तदा बन्धो न भवति। यदि पुन कर्मोदयमात्रेण बन्धो भवति तर्हि ससारिणा सर्वदेव कर्मादयस्य विद्यमानत्वात्सर्वदेव बन्ध एव न मोक्ष इत्यभिप्राय। = [पुण्यके फलरूप अर्हतको विहार आदि क्रियाएँ यद्यपि औदयिकी हैं परन्तु फिर भी मोहादि भावोसे रहित होनेके कारण उन्हें क्षायिक माना गया है—प्र. सा./मू ४५] प्रज-इस प्रकार माननेसे औदयिक भाव बन्धके कारण है' यह आ-मवचन मिथ्या हो जाता है। उत्तर—इसका परिहार करते हैं। औदयिक भाव बन्धके कारण होते हैं किन्तु यदि मोहके उदयसे सहित हो तो। द्रव्यमोहके उदय होनेपर भी यदि शुद्धात्म भावनाके बलसे भावमोहरूपसे नहीं परिणमता है, तब बन्ध नहीं होता है। यदि

कर्मोदय मात्रसे बन्ध हुआ होता तो संसारियोको सदैव बन्ध ही हुआ होता मोक्ष नहीं, क्योंकि, उनके कर्मका उदय सदैव विद्यमान रहता है। [यहाँ द्रव्य मोहसे तात्पर्य दर्शनमोहमें सम्यक्त्व प्रकृति तथा चारित्रमोहमें क्रोधादिका अन्तिम जघन्य अंश है, ऐसा प्रतीत होता है]

स. सा/ता. वृ./१३६/१६१/१३ उदयागतेषु द्रव्यप्रत्ययेषु यदि जीव-स्वस्वभावं मुपस्था रागादिरूपेण भावप्रत्ययेन परिणमतीति तदा बन्धो भवतीति नैबोदयमात्रेण घोरोपसर्गेऽपि पाण्डवादिवत् । यदि पुनरुदयमात्रेण बन्धो भवति तदा सर्वदैव संसार एव । कस्मादिति चेत् ससारिणां सर्वदैव कर्मोदयस्य विद्यमानत्वात् । = उदयागत द्रव्यप्रत्ययोर्मे (द्रव्य कर्मोर्मे) यदि जीव स्व स्वभावको छोड़कर रागादिरूप भावप्रत्यय (भावकर्म) रूपसे परिणमता है तो उसे बन्ध होता है, केवल उदयमात्रसे नहीं । जैसे कि घोर उपसर्ग आनेपर भी पाण्डव आदि । (शेष अर्थ ऊपरके समान), (स सा/ता. वृ./१६४-१६५/२२०/१८) ।

दे कारण/III/३/६—ज्ञानियोके लिए कर्म मिट्टीके ढेलके समान है ।

दे वध/३/६,६ । (मोहनीयके जघन्य अनुभागका उदय उपशम श्रेणीमें यद्यपि ज्ञानावरणीय आदि कर्मोंके बन्धका तो कारण है, परन्तु स्वप्रकृति बन्धका कारण नहीं) ।

५. विभावके सहेतुक-अहेतुकपनेका समन्वय

१. कर्म जीवका परामभव कैसे कर सकता है

रा वा/८/४/१४/६६/७ यथा भिन्नजातोयेन क्षीरेण तेजोजातीयस्य चक्षुषोऽनुग्रहः, तथेवात्मकर्मणोश्चेतनाचेतनत्वात् अतृच्यजातीय कर्म आत्मनोऽनुग्राहकमिति सिद्धम् । = जैसे पृथिवीजातीय दूधसे तेजोजातीय चक्षुका उपकार होता है, उसी तरह अचेतन कर्मसे भी चेतन आत्माका अनुग्रह आदि हो सकता है । अतः भिन्न जातीय द्रव्योमे परस्पर उपकार माननेमें कोई विरोध नहीं है ।

घ ६/१,६-१,५/८/८ कथं पोग्गलेण जीवादो पुधभूदेण जीवलक्खणं णाणं विणासिज्जदि । ण एस दोसो, जीवादो पुधभूदानं घड-पड-त्थभध-यारादौणं जीवलक्खणणाणविणासयाणमुवलंभा । = प्रश्न—जीव द्रव्यसे पृथग्भूत पुद्गलद्रव्यके द्वारा जीवका लक्षणभूत ज्ञान कैसे विनष्ट किया जाता है ? उत्तर—यह कोई दोष नहीं, क्योंकि, जीवद्रव्यसे पृथग्भूत घट, पट, स्तम्भ, और अन्धकार आदिक पदार्थ जीवके लक्षण स्वरूप ज्ञानके विनाशक पाये जाते हैं ।

२. रागादि भाव संयोगी होनेके कारण किसी एकके

नही कहे जा सकते

स सा/ता. वृ./११४/१७१/१८ यथा स्त्रीपुरुषाभ्यां समुत्पन्नं पुत्रो विवक्षायत्नेन देवदत्तायां पुत्रोऽयं केचन वदन्ति, देवदत्तस्य पुत्रोऽयमिति केचन वदन्ति दोषो नास्ति । तथा जीवपुद्गलसंयोगेनोत्पन्ना मिथ्यात्वरागादिविभावप्रत्यया अशुद्धनिश्चयेनाशुद्धोपादानरूपेण चेतना जीवसम्बद्धा शुद्धनिश्चयेन शुद्धोपादानरूपेणाचेतना 'पौद्गलिका' । परमार्थतः पुनरेकान्तेन न जीवरूपा न च पुद्गलरूपा सुधाहरिद्रयो संयोगपरिणामवत् । ये केचन वदन्त्येकान्तेन रागादयो जीव संबन्धिनः, पुद्गलसंबन्धिनो वा तदुभयमपि वचन मिथ्या ।

*सूक्ष्मशुद्धनिश्चयेन तेषामस्तित्वमेव नास्ति पूर्वमेव भणितं तिष्ठति कथमुत्तरं प्रयच्छाम इति । = जिस प्रकार स्त्री व पुरुष दोनोंसे उत्पन्न हुआ पुत्र विवक्षा वश देवदत्ता (माता) का भी कहा जाता है और देवदत्त (पिता) का भी कहा जाता है । दोनों ही प्रकारसे रहनेमें कोई दोष नहीं है । उसी प्रकार जीव पुद्गलके संयोगसे

उत्पन्न मिथ्यात्व रागादि प्रत्यय अशुद्धनिश्चयनयसे अशुद्ध उपादानरूपसे चेतना है, जीवसे सम्बद्ध है, और शुद्ध निश्चयनयसे शुद्ध उपादानरूपसे अचेतन है, पौद्गलिक है । परमार्थसे तो न वे एकान्तसे जीवरूप है और न पुद्गलरूप, जैसे कि चूने व हवदीके संयोगके परिणामरूप लाल रंग । जो कोई एकान्तसे रागादिकोको जीवसम्बन्धी व पुद्गल सम्बन्धी कहते हैं उन दोनोंके ही वचन मिथ्या है । सूक्ष्म शुद्ध निश्चयनयसे पूछो तो उनका अस्तित्व ही नहीं है, ऐसा पहले कहा जा चुका है, तब हमसे उत्तर कैसे पूछते हो । (द. स/टी/४५/२०६/१) ।

३. ज्ञानी व अज्ञानीकी अपेक्षासे दोनों बार्ते ठीक हैं

स. सा/ता वृ./३८२/४६२/२१ हे भगवत् पूर्व बन्धाधिकारे भणितं रागादीणामवर्ता ज्ञानी, परजनितरामाद्य इत्युक्तं । अत्र तु स्वकीय-बुद्धिदोषजन्विता रागाद्य परेषा शब्दादिपञ्चेन्द्रियविषयाणां दूषणं नास्तीति पूर्वापरविरोधः । अत्रोत्तरमाह—तत्र बन्धाधिकारव्याख्याने ज्ञानिजीवस्य मुख्यता । ज्ञानी तु रागादिभिर्न परिणमति तेन कारणेन परद्रव्यजनित भणितः । अत्र चाज्ञानिजीवस्य मुख्यता स चाज्ञानी जीव स्वकीयबुद्धिदोषेण परद्रव्यनिमित्तमात्रमाश्रित्य रागादिभिः परिणमति, तेन कारणेन परेषा शब्दादिपञ्चेन्द्रियविषयाणां दूषणं नास्तीति भणितः । = प्रश्न—हे भगवत् ! पहले बन्धाधिकारमें तो कहा था कि ज्ञानी रागादिका कर्ता नहीं है वे परजनित है । परन्तु यहाँ कह रहे हैं कि रागादि अपनी बुद्धिके दोषसे उत्पन्न होते हैं, इसमें शब्दादि पञ्चेन्द्रिय विषयोंका दोष नहीं है । इन दोनों बातोंमें पूर्वापर विरोध प्रतीत होता है । उत्तर—वहाँ बन्धाधिकारके व्याख्यानमें तो ज्ञानी जीवकी मुख्यता है । ज्ञानी जीव रागादिरूप परिणमित नहीं होता है इसलिए उन्हें परद्रव्यजनित कहा गया है । यहाँ अज्ञानी जीवकी मुख्यता है । अज्ञानी जीव अपनी बुद्धिके दोषसे परद्रव्यरूप निमित्तमात्रको आश्रय करके रागादिरूपसे परिणमित होता है, इसलिए पर जो शब्दादि पञ्चेन्द्रियोंके विषय उनका कोई दोष नहीं है, ऐसा कहा गया है ।

४. दोनोंका नयार्थ व मतार्थ

दे. नय./IV/३/६/१ (नैगमादि नयोंकी अपेक्षा कषाये कर्तृसाधन है, क्योंकि, इन नयोंमें कारणकार्यभाव सम्भव है, परन्तु शब्दादि नयोंकी अपेक्षा कषाय किसी भी साधनसे उत्पन्न नहीं होती क्योंकि, इन दृष्टियोंमें कारणके बिना ही कार्यकी उत्पत्ति होती है । और यहाँ पर्यायोंसे भिन्न द्रव्यका अभाव है । (और भी दे० नय./IV/३/३/१) ।

दे० विभाव/५/२ (अशुद्ध निश्चयनयसे ये जीवके हैं, शुद्धनिश्चय नयसे पुद्गलके हैं और सूक्ष्म शुद्ध निश्चय नयसे इनका अस्तित्व ही नहीं है ।)

पं. का/ता. वृ./५६/१११/६ पूर्वोक्तप्रकारेणात्मा कर्मणा कर्ता न भवतीति दूषणे दत्ते सति साख्यमतानुसारिशिष्यो वदति आत्माक मते आत्मन कर्मकर्तृत्वं भूषणमेव न दूषणं । अत्र परिहारः । यथा शुद्धनिश्चयेन रागाद्यकर्तृत्वमात्मनः तथा यथाशुद्धनिश्चयेनाप्यकर्तृत्वं भवति तदा द्रव्यकर्मबन्धाभावस्तदभावे ससाराभावः, संसाराभावे सर्वदैव मुक्तप्रसङ्गः स च प्रत्यक्षविरोध इत्यभिप्रायः । = पूर्वोक्त प्रकारसे 'कर्मोंका कर्ता आत्मा नहीं है' इस प्रकार दूषण देनेपर साख्यमतानुसारी शिष्य कहता है कि हमारे मतमें आत्माको जो कर्मोंका अकर्तृत्व बताया गया है, वह भूषण ही है, दूषण नहीं । इसका परिहार करते हैं—जिस प्रकार शुद्ध निश्चयनयसे आत्माको रागादिका अकर्तापना है, यदि उसी प्रकार अशुद्ध निश्चयनयसे भी अकर्तापना होवे तो द्रव्यकर्मबन्धका अभाव ही जायेगा । उसका

अभाव होनेपर संसारका अभाव और संसारके अभावमें सर्वदा मुक्त होने का प्रसंग प्राप्त होगा। यह बात प्रत्यक्ष विरुद्ध है, ऐसा अभिप्राय है।

५. दोनों बातोंका कारण व प्रयोजन

स. सा /आ./गा. सर्वे तेऽध्ववसानादयो भावाः जीवा इति यद्भवद्भिः सकलज्ञैः प्रज्ञप्तं तदभूतार्थस्यापि व्यवहारस्यापि दर्शनम् । व्यवहारो हि व्यवहारिणां म्लेच्छभाषेव म्लेच्छानां परमार्थप्रतिपादकत्वाद्-परमार्थेऽपि तीर्थप्रवृत्तिनिमित्तं दर्शयितुं न्याय्य एव । तन्मध्ये तु शरीराज्जीवस्य परमार्थतो भेददर्शनात्प्रसव्यवाराणां भस्मन इव निःशङ्कमुपमर्शनेन हिंसाभावाद्भवत्येव बन्धस्याभावः । तथा- मोक्षोपायपरिग्रहणाभावात् भवत्येव मोक्षस्याभावः १४६। कारणानु-विधायिनि कार्याणीति कृत्वा यवपूर्वका यथा यथा एवेति न्यायेन पुद्गल एव न तु जीव । गुणस्थानानां नित्यमचेतनत्व चागमाच्चै-तन्यस्वभावव्याप्तस्यात्मनोऽतिगिच्छत्वेन विवेचकैः स्वयमुपलभ्यमा-नत्वाच्च प्रसाध्यम् १६८। स्वलक्षणभूतौपयोगुणव्याप्यतया सर्वद्रव्ये-भ्योऽधिकृत्वेन प्रतीयमानत्वाद्गन्धेऽप्युपलक्षण-सम्बन्धाभावात् न निश्चयेन वर्णादिपुद्गलपरिणामाः सन्ति १७७। ससारावस्थायाम् कथंचिद्गर्णात्प्रसव्यव्याप्तस्य भवतो मोक्षा-वस्थायाम् सर्वथा वर्णात्प्रसव्यव्याप्तस्याभावत्तश्च जीवस्य वर्णादिभिः सह तादात्म्यलक्षण-सम्बन्धो न कथंचनापि स्यात् १६१-१. ये सब अध्यवसान आदि भाव जीव हैं, ऐसा जो भगवान् सर्वज्ञदेवने कहा है, वह यद्यपि व्यवहारनय अभूतार्थ है तथापि व्यवहारनयको भी बताया है, क्योंकि, जैसे म्लेच्छोंको म्लेच्छभाषा वस्तुस्वरूप बतलाती है, उसी प्रकार व्यवहारनय व्यवहारी जीवोंको परमार्थका कहनेवाला है, इसलिए अपरमार्थभूत होनेपर भी, धर्म तीर्थकी प्रवृत्ति करनेके लिए वह बतलाना न्याय्य संगत ही है। परंतु यदि व्यवहार नय न बताया जाय तो परमार्थसे जीवको शरीरसे भिन्न बताया जानेपर भी, जैसे भस्मको मसल देनेसे हिंसाका अभाव है उसी प्रकार, त्रस स्थावर जीवको निःशंकतया मसल देनेसे भी हिंसाका अभाव ठहरेगा और इस कारण बन्धका ही अभाव सिद्ध होगा। इस प्रकार मोक्षके उपायके ग्रहणका अभाव हो जायेगा, और इससे मोक्षका ही अभाव होगा १४६। (दे० नय/V/५/४) । २. कारण जैसा ही कार्य होता है ऐसा समझकर जो पूर्वक होनेवाले जो जौ, वे जौ ही होते हैं इसी न्यायसे, वे पुद्गल ही हैं, जीव नहीं। और गुणस्थानोंका अचेतनत्व सो आगमसे सिद्ध होता है तथा चैतन्य स्वभावसे व्याप्त जो आत्मा उससे भिन्नपनेसे वे गुणस्थान भेदज्ञानियोंके द्वारा स्वयं उपलभ्यमान हैं, इसलिए उनका सदा ही अचेतनत्व सिद्ध होता है १६८। ३. स्वलक्षणभूत उपयोग गुणके द्वारा व्याप्त होनेसे आत्मा सर्व द्रव्योंसे अधिकपनेसे प्रतीत होता है, इसलिए, जैसा अग्निका उष्णताके साथ तादात्म्य सम्बन्ध है वैसा वर्णादि (गुणस्थान मार्गस्थान आदि) के साथ आत्माका सम्बन्ध नहीं है, इसलिए निश्चयसे वर्णादिक (या गुणस्थानादिक) पुद्गलपरिणाम आत्माके नहीं हैं १७७। क्योंकि, संसार अवस्थामें कथंचिद् वर्णादि रूपतासे व्याप्त होता है (फिर भी) मोक्ष अवस्थामें जो सर्वथा वर्णादिरूपताकी व्याप्तिसे रहित होता है। इस प्रकार जीवका इनके साथ किसी भी तरह तादात्म्यलक्षण सम्बन्ध नहीं है।

६. वस्तुतः रागादि भावकी सत्ता नहीं है

स. सा. आ./३७१/क २१८ रागद्वेषाविह हि भवति ज्ञानमज्ञानभावात्, तौ वस्तुत्वप्रणिहितदृशा दृश्यमानौ न किञ्चित् । सम्यग्दृष्टिः क्षपयतु ततस्तत्त्वदृष्ट्या स्फुटं तौ ज्ञानज्योतिर्ज्वलति सहजं येन पूर्णाचलार्चिः १२१८। —इस जगत्में ज्ञान ही अज्ञानभावसे रागद्वेषरूप परिणमित होता है, वस्तुत्वस्थापित दृष्टिसे देखनेपर वे रागद्वेष कुछ भी नहीं हैं। सम्यग्दृष्टि पुरुष तत्त्वदृष्टिसे प्रगटतया उनका क्षय करो कि जिससे

पूर्ण और अचल जिसका प्रकाश है ऐसी सहज ज्ञानज्योति प्रकाशित हो। (दे नय/V/१/५); (दे. विभाव/५/२)।

विभावानित्य पर्यायार्थिक नय—दे. नय/IV/४।

विभाषा—घ. ६/१,६-१,३/५/३ विविहा भासा विहासा, परुवणा, गिरुवणा वचवाणमिदि एयट्ठो । = विविध प्रकारके भाषण अर्थात् कथन करनेको विभाषा कहते हैं। विभाषा, परुवणा, निरुवण और व्याख्यान ये सब एकार्थ वाचक नाम हैं।

विभीषण—व पु /सर्ग/श्लोक—“रावणका छोटा भाई, व रत्नभवाका पुत्र था। ७/२२५। अन्तमें दीक्षा धारण कर ली (११६/३६)।

विभुत्व शक्ति—स. सा /आ /परि./शक्ति नं ८ सर्वभावव्यापकै-कभावरूपा विभुत्वशक्ति १८। =सर्व भावोंमें व्यापक ऐसी एक भावरूप विभुत्वशक्ति। (जैसे ज्ञानरूपी एक भाव सर्व भावोंमें व्याप्त होता है)।

विभ्य—कायोत्सर्गका एक अतिचार—दे. व्युत्सर्ग/१।

विभ्रम—१. मिथ्याज्ञानके अर्थमें

न्या. वि./वृ /१/३६/२२/२१ विभ्रमेश्च मिथ्याकारग्रहणशक्तिविशेषश्च । = विभ्रम अर्थात् मिथ्याकाररूपसे ग्रहण करनेकी शक्तिविशेष।

नि. सा./ता /वृ /५१ विभ्रमो ह्यज्ञानद्वमेव । = (वस्तुस्वरूपका) अज्ञान-पना या अज्ञानपना ही विभ्रम है।

द्र सं/टी /४२/१८०/६ अनेकान्तात्मकवस्तुनो नित्यक्षणिकेकान्तादिरूपेण ग्रहण विभ्रम । तत्र दृष्टान्तः शुक्तिकार्या रजतविज्ञानम् । = अनेकान्तात्मक वस्तुको 'यह नित्य ही है, या अनित्य ही है' ऐसे एकान्तरूप जानना सो विभ्रम है। जैसे कि सीपमें चाँदीका और चाँदीमें सीपका ज्ञान हो जाना।

२ स्त्रीके हाव-भावके अर्थमें

प प्र./टी /१/१२१/१११/८ पर उद्घृत — हावो मुखविकार स्याद्भावश्चित्तोत्थ उच्यते । त्रिलासो नेत्रजो ज्ञेयो विभ्रमो भूयुगान्तयो । = स्त्री-रूपके अवलोकनकी अभिलाषासे उत्पन्न हुआ मुखविकार 'हाव' कहलाता है, चित्तका विकार 'भाव' कहलाता है, मुँहका अथवा दोनों भवोंका टेढा करना 'विभ्रम' है, और नेत्रोंके कटाक्षको 'त्रिलास' कहते हैं।

विभ्रान्त—प्रथम नरकका अष्टम पटल—दे. नरक/५/११।

विमर्श—न्यायदर्शन/भा /१/१/४०/३६/१२ किमुत्पत्तिधर्मकोऽनुत्पत्ति-धर्मक इति विमर्श । = 'वह उत्पत्ति धर्मवाला है या अनुत्पत्ति धर्मवाला है' ऐसा विचार करना विमर्श है।

विमल—१ विजयार्थकी उत्तर श्रेणीका एक नगर—दे. विद्याधर । २. एक ग्रह—दे ग्रह । ३ उत्तर क्षीरवर् समुद्रका रक्षक देव—दे. व्यतर ४। ४. सौमनस नामक गजदन्त पर्वतका एक कूट—दे. लोक ५/४। ५. रुचक पर्वतका एक कूट—दे. लोक ५/१३। ६. सौधर्म स्वर्गका द्वि पटल—दे. स्वर्ग/५/३। ७. भावी कालीन २२वें तीर्थकर—दे. तीर्थकर/५। ८. वर्तमान १३वें तीर्थकर—दे. विमलनाथ।

विमलदास—'सप्तभगी तरंगिनी' के रचयिता एक दिग्म्बर जैन गृहस्थ । निवास स्थान-तंजानगर । गुरुनाम अनन्तदेव स्वामी । समय—प्लवंग संवत्सर । अनुमानत ई. श. १५ (स. भं. त/प्र/१)।

विमलदेव—नय चक्रके रचयिता श्रीदेवसेन (वि. ६६०) के गुरु थे । समय—तदनुसार वि. ६६५ (ई. ६०६)।

विमलनाथ—म पु /५६/श्लोक नं—पूर्वभव नं २ में पश्चिम धातकी खण्डके पश्चिम मेरुके वत्सकावती देशके रम्यकावती नगरीके

विरताविरत—स सि/७/२१/३५६/६ एतैर्व्रतैः सपन्नो गृही विरताविरत इत्युच्यते । = इन्द्र (१२) व्रतोसे जो सम्पन्न है वह गृही विरताविरत कहा जाता है ।—(विशेष दे सयतासयत)—

विरति—स सि/७/१/३४२/५ तेषो विरमर्ण विरति । = उनसे (हिंसात्मकसे) विरक्ति होना विरति है । (रा वा./७/१/२/५३३/१३)

विरलन—Distribution-, Spreading (घ ५/प्र. २८)—(विशेष दे, गणित/II/१/६)

विरलन देय—Spread and give. (घ. ५/प्र. २८)—(विशेष दे गणित/II/१/६)

विराग—

रा वा./७/१२/४/५३६/१२ रागकारणाभावात् विषयेभ्यो विरञ्जनं विराग । = रागके कारणोंका अर्थात् चारित्रमोहके उदयका अभाव हो जानेसे पचेन्द्रियके विषयोसे विरक्त होनेका नाम विराग है ।

प्र. सा./ता वृ/२३२/प्रक्षेपक गा. १ की टीका/३३२/१२ पञ्चेन्द्रियसुखाभिलाषत्यागो विषयविराग । = पाँचों इन्द्रियोंके सुखकी अभिलाषाका त्याग विषयविराग है ।

विराग विचय—दे. धर्मध्यान/१ ।

विराट—पां. पु./सर्ग/श्लो—विराट नगरका राजा था । (१७/४१) । वनवासी पाँचों पाण्डवोंने छत्रवेशमें क्लीका आश्रय लिया था । (१७/४२) । गोकुल हरण करनेको उद्यत कौरवोंके साथ युद्ध करता हुआ उनके बन्धनमें पड़ गया । (१८/२३) । तब गुप्तवेशमें अर्जुनने इसे मुक्त कराया । (१९/४०) । प्रसन्न होकर अपनी कन्या उत्तरा अर्जुनके पुत्र अभिमन्युसे परणा दो । (१९/१६३) ।

विराधन—

नि. सा/ता, वृ/५४ विगतो राधो यस्य परिणामस्य स विराधन । = जो परिणाम राध (आराधना) रहित है, वह विराधन है ।

विराधित—प. पु./सर्ग/श्लो—चन्दोरका पुत्र था । युद्धमें रामका सर्वप्रथम सहायक था । (६) । अन्तमें दीक्षित हो गया । (११६/३६) ।

विरुद्ध धर्मत्वशक्ति—

स. सा./आ./परि./शक्ति नं. २८ तदतद्रूपमयत्वलक्षणा विरुद्धधर्मत्वशक्तिः । = तद्रूपमयता और अतद्रूपमयता जिसका लक्षण है ऐसी विरुद्ध धर्मत्व शक्ति है ।

विरुद्ध राज्यातिक्रम—

स सि/७/२७/३६७/४ उचितन्यायादन्येन प्रकारेण वानग्रहणमतिक्रम । विरुद्धं राज्य विरुद्धराज्य, विरुद्धराज्येऽतिक्रम विरुद्धराज्यातिक्रम । * तत्र ह्यल्पमूल्यसम्पत्तिनि महार्थ्याणि द्रव्याणीति प्रयत्न । = विरुद्ध जो राज्य वह विरुद्धराज्य है । राज्यमें किसी प्रकारका विरोध होनेपर मर्यादाका न पालना विरुद्धराज्यातिक्रम है । यदि वहाँ अल्पमूल्यमें वस्तुएँ मिल गयीं तो उन्हें महँगा बेचनेका प्रयत्न करना (अर्थात् ब्लेकमार्केट करना) विरुद्धराज्यातिक्रम है । न्याय मार्गको छोड़कर अन्य प्रकारसे वस्तु ली गयी है, इसलिए यह अतिक्रम या अतिचार है । (रा वा./७/२७/३/५५४/११)

विरुद्ध हेत्वाभास—

प. मु/६/२६ विपरीतनिश्चिताविनाभावो विरुद्धोऽपरिणामी शब्द कृत्कत्वात् । = जिस हेतुकी व्याप्ति या अविनाभाव सम्बन्ध साध्यसे विपरीतके साथ निश्चित हो उसे विरुद्धहेत्वाभास कहते हैं । जैसे—शब्द परिणामी नहीं है, क्योंकि, कृतक है । यहाँपर कृतकत्व हेतुकी

व्याप्ति अपरिणामित्वसे विपरीत परिणामित्वके साथ है, इसलिए कृतकत्व हेतु विरुद्धहेत्वाभास है । (न्या दी/३/४२०/२६, ४६१/१०१) न्या वि/वृ/२/१६७/२२६/१ विरुद्धो नाम साध्यासम्भव एव भावी । = जो हेतु अपने साध्यके प्रति असम्भव भावी है वह विरुद्ध कहलाता है ।

न्या दी/३/४२१/७० विरुद्ध प्रत्यक्षादिबाधितम् । = प्रत्यक्षादिसे बाधितको विरुद्ध कहते हैं ।

न्या सू/सू/१/२/६ सिद्धान्तमभ्युपेत्य तद्विरोधी विरुद्ध । = जिस सिद्धान्तको स्वीकार करके प्रवृत्त हो, उसी सिद्धान्तका जो विरोधी (दूषक) हो वह, विरुद्ध हेत्वाभास है । (श्लो वा ४/भाषा/१/३३/न्या./२७२/४२६/१६) ।

२. भेद व उनके लक्षण

न्या. वि./वृ/२/१६७/२२६/१ स च द्वेषा विपक्षव्यापी तदेकदेशवृत्तिश्चेति । तत्र तद्व्यापि निरन्वयविनाशसाधनं, सचकृतकत्वादि तेन परिणामस्यैव तद्विपक्षस्यैव साधनात्, सर्वत्र च परिणामिनिभावात् । तदेकदेशवृत्तिः प्रयत्नानन्तरीयकत्वश्रावणत्वादि तस्य तत्साधनस्यापि विद्युरादौ परिणामिन्यप्यभावात् । = विरुद्ध हेत्वाभास दो प्रकारका है—विपक्ष व्यापी और तदेकदेशवृत्तिः । निरन्वय विनाशके साधन सत्त्व, कृतकत्व आदि विपक्षव्यापी हैं । क्योंकि उनसे निरन्वय विनाशके विपक्षी परिणामकी ही सिद्धि होती है, सभी परिणामों वस्तुओंमें सत्त्व पाया जाता है । तदेकदेशवृत्ति इस प्रकार है जैसे कि उसी शब्दको नित्य सिद्ध करनेके लिए दिया गया प्रयत्नानन्तरीयकत्व व श्रावणत्व हेतु, क्योंकि, विद्युत् आदि अनित्य पदार्थोंमें भी उसका अभाव है ।

विरुद्धोपलब्धि हेतु—दे० हेतु ।

विरोध—

रा वा/४/४२/१८/२६१/२० [अनुपलम्भसाध्यो हि विरोधः—(स. भ. त./८/२)]—इह विरोध कल्प्यमानं विधा व्यवतिष्ठते—बन्धघातकभावेन वा सहानवस्थात्मना वा प्रतिबन्धप्रतिबन्धकरूपेण वा । तत्र बन्धघातकभाव अहिनकुलान्द्युक्तकादिविषयः । स द्वेकस्मिन् काले विद्यमानयोः सति संयोगे भवति, संयोगस्यानेकान्श्रयत्वात् द्वित्ववत् । नासंयुक्तमुदकमग्निं विध्यापयति सर्वज्ञान्यभावप्रसङ्गात् । ततः सति संयोगे बलीयसोत्तरकालमितरद् बाध्यते । --सहानवस्थानलक्षणो विरोधः । स ह्यनुपलम्भकालयोर्भवति यथा आश्रफले श्यामतापीतयोः पीततोत्पद्यमाना पूर्वकालभाविनी श्यामता निरुणद्धि । प्रतिबन्धप्रतिबन्धक...विरोधः... । यथा सति फलवृत्तसंयोगे प्रतिबन्धके गौरवं पतनकर्म नारभते प्रतिबन्धात्, तदभावे तु पतनकर्म दृश्यते "संयोगाभावे गुरुत्वात् पतनम् [वैशे. सू/६/१/७] इति वचनात् । [सति मणिरूपप्रतिबन्धके वहिना दाहो न जायत इति मणिदाहयोः प्रतिबन्धप्रतिबन्धकभावो युक्त (स भ त/८/६)] । = अनुपलम्भ अर्थात् अभावके साध्यको विरोध कहते हैं । विरोध तीन प्रकारका है—बन्धघातक भाव, सहानवस्थान, प्रतिबन्धक भाव । बन्धघातक भाव विरोध सर्प और नेवले या अग्नि और जलमें होता है । यह दो विद्यमान पदार्थोंमें संयोग होनेपर होता है । संयोगके बाद जो बलवात् होता है वह निर्बलको बाधित करता है । अग्निसे असंयुक्त जल अग्निको नहीं बुझा सकता है । दूसरा सहानवस्थान विरोध एक वस्तुकी क्रमसे होने वाली दो पर्यायोंमें होता है ; नयी पर्याय उत्पन्न होती है तो पूर्व पर्याय नष्ट हो जाती है, जैसे आमका हरा रूप नष्ट होता है और पीत रूप उत्पन्न होता है । प्रतिबन्ध प्रतिबन्धक भाव विरोध ऐसे है जैसे आमका फल जबतक डालमें लगा हुआ है तबतक

जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश

फल और डठलका संयोग रूप प्रतिबन्धकके रहनेसे गुरुत्व मौजूद रहनेपर भी आगको नीचे नहीं गिराता। जब संयोग टूट जाता है तब गुरुत्व फलको नीचे गिरा देता है। संयोगके अभावमें गुरुत्व पतनका कारण है, यह सिद्धान्त है। अथवा जैसे दाहके प्रतिबन्धक चन्द्रकान्त मणिके विद्यमान रहते अग्निसे दाह क्रिया नहीं उत्पन्न होती इसलिए मणि तथा दाहके प्रतिबन्धक प्रतिबन्धक भाव युक्त है। (स भ त, १७/४)।

घ १/१.१.१३/१७४/१ अस्तु गुणाना परस्परपरिहारलक्षणो विरोध इष्टत्वात्, अन्यथा तेषा स्वरूपहानिप्रसङ्गात् । = गुणोंमें परस्पर परिहारलक्षण विरोध इष्ट ही है, क्योंकि, यदि गुणोंका एक दूसरेका परिहार करके अस्तित्व नहीं माना जावे तो उनके स्वरूपकी हानिका प्रसंग आता है।

श्लो. वा. २/भाषाकार/१/५/१६१/१७ ज्ञानको मान लेनेपर सब पदार्थोंका शून्यपना नहीं बन पाता है और सबका शून्यपना मान लेनेपर स्वस्ववेदनकी सत्ता नहीं ठहरती है। यह तुल्यबल वाला विरोध है।

* अन्य सम्बन्धित विषय

१. स्व वचन बाधित विरोध । —दे० बाधित ।
२. वस्तुके विरोधी धर्मोंमें अविरोध । —दे० अनेकान्त/५ ।
३. आगममें पूर्वापर विरोधमें अविरोध । —दे० आगम/५/६ ।

विलसित—असुरकुमार जातिका एक भवनवासी देव । —दे० असुर ।

विलास—नेत्र कटाक्ष । —दे० विभ्रम/२ ।

विलेपन—वन्दन व कुंकुम आदि द्रव्य । —दे० निक्षेप/५/६ ।

विलाल—मलवार कार्दती रिच्युमें सर थामस सी राइसके अनुसार मैसूरके जैन राजाओंमें एक विलाल वशके राजा भी थे, जो पहले द्वारसमुद्रतक राज्य करते थे, और पीछे भ्रगापदामके १२ मील उत्तर तोमूरके शासक हुए। इनका आधिपत्य पूर्ण कर्णाटकमें था। इस वशके संस्थापक चामुण्डराय (ई. ६६३-७१३) थे।

विवक्षा—

स भ. त/३/३ प्राश्निकप्रश्नज्ञानेन प्रतिपादकस्य विवक्षा जायते, विवक्षया च वाक्यप्रयोगः । = प्रश्नकर्तके प्रश्नज्ञानसे ही प्रतिपादन करनेवालेकी विवक्षा होती है, और विवक्षासे वाक्य प्रयोग होता है।

स्व स्तो/२५/६६ वक्तुरिच्छा विवक्षा । = वक्तुको इच्छाको विवक्षा कहते हैं। [अर्थात् नयको विवक्षा कहते हैं। —दे० नय/१/१/२]।

* विवक्षाका विषय—दे० स्याद्वाद/२,३ ।

विवर—लवण समुद्रकी तलीमें स्थित बड़े-बड़े खड, जिन्हे पाताल भी कहते हैं। उत्तम, मध्य व जघन्यके भेदसे ये तीन प्रकारके होते हैं—(विशेष दे० लोक/४/१)।

विवर्त—न्या. वि./वृ/१/१०/१७५/११ परिणामो विवर्तः । = परिणाम या परिणमनको विवर्त कहते हैं। —(विशेष दे० परिणाम)।

विवाद—दे० वाद ।

विवाह—

रा. वा./७/२५/१/६१४/२२ सद्देवस्य चारित्रमोहस्य चोदयात् विवहन कन्यावरण विवाह इत्याख्यायते । = साता वेदनीय और चारित्र-मोहके उदयसे कन्याके वरण करनेको विवाह कहते हैं।

* विवाह सम्बन्धी विधि विधान—दे० संस्कार/२ ।

२. विवाह सन्ताबोत्पत्तिके लिए किया जाता है, विलासके लिए नहीं

म. पु./३/१/१३४ संतानार्थमृतावेत्र कामसेवा मिथो भजेत् । = केवल सन्तान उत्पन्न करनेकी इच्छासे ऋतुकालमें ही परस्पर काम-सेवन करे।

३. मामा फूफी आदिकी सन्तानमें परस्पर विवाहकी प्रसिद्धि

ह. पु./३३/२६ स्वसार प्रददौ तस्मै देवकी गुरुदक्षिणाम् । = कसने गुरु-दक्षिणास्वरूप वसुदेवको अपनी 'देवकी' नामकी बहन प्रदान कर दी। [यह देवकी वसुदेवके चत्वार देवसेनकी पुत्री थी—]।

म. पु./७/१०६ पितृष्वस्त्रोय एवाय तव भर्ता भविष्यति । = हे पुत्री ! वह ललितग तेरो बुआके ही पुत्र उत्पन्न हुआ है और वही तेरा भर्ता होगा।

म. पु./१०/१४३ चक्रिणोऽभयघोषस्य स्वस्त्योऽय यती युवा । ततश्चक्रि-सुतानेन परिणिन्ये मनोरमा । १४३ । = तरुण अवस्थाको धारण करनेवाला वह सुविधि अभयघोष चक्रवर्तीका भानजा था, इसलिए उसने उन्हे चक्रवर्तीकी पुत्री मनोरमाके साथ विवाह किया था । १४३ ।

म. पु./७२/२२७-२३० का भारार्थ—(सोमदेवके—सोमदत्त सोमित और सोमभूति ये तीन पुत्र थे। उन तीनोंके मामा अग्निभूतिके धनश्री, मित्रश्री, और नागश्री नामकी तीन कन्याएँ थी, जो उसने उपरोक्त तीनों पुत्रोंके साथ-साथ परणा दी।)

* चक्रवर्ती द्वारा म्लेच्छ कन्याओंका ग्रहण

—दे० प्रवज्या/१/३ ।

४. गन्धर्व आदि विवाहोंका निषेध

दे ब्रह्मचर्य/२/३/२ परस्त्रो त्याग व्रतकी शुद्धिके इच्छासे गन्धर्व विवाह आदि नहीं करने चाहिए और न ही किन्ही कन्याओंकी निन्दा करनी चाहिए।

* धर्मपत्नीके अतिरिक्त अन्य स्त्रियोंका निषेध

—दे, स्त्री/१२ ।

विवाह क्रिया—दे संस्कार/२ ।

विवाह पटल—आ, ब्रह्मदेव (ई. १२६२-१३२३) द्वारा रचित एक ग्रन्थ ।

विविक्त शय्यासन—

स सि/६/१६/४३८/१० शून्यागारादिषु विविक्तेषु जन्तुपीडाविरहितेषु संश्रतस्य शय्यासनमवाधान्ययब्रह्मचर्यसाध्याध्यानादिशुद्धिर्था कर्त्तव्यमिति पञ्चम तपः । = एकान्त जन्तुओंकी पीडासे रहित शून्य घर आदिमें निर्वाध ब्रह्मचर्य, स्वाध्याय और ध्यान आदिकी प्रसिद्धिके लिए संयतको शय्यासन लगाना चाहिए। —(विशेष दे वसतिक/६) (रा. वा/६/१६/१२/६१६/१२)।

का, अ./सू/४४७-४४६ जो रायदोसहेदू आसण सिजजादिय परिचचयइ । अप्पा णिविससय सया तस्स तवो पचमो परमो । ४४७ । पूजादिषु

गिरवेअलो ससारशरीर-भोग-गिञ्जिणो । अश्वतरतवकुमलो उवसम-
सीलो महासंती १४४८। जो गिञ्जिसेदि मसाणे वणगहणे गिउज्जे
महाभोगे । अणत्थ वि एयंते तस्स वि एद तव होंदि १४४९। = जो
मुनि राग और द्वेषको उत्पन्न करनेवाले आसन शय्या बगैरहका
परित्याग करता है, अपने आत्मस्वरूपमें रमता है, और इन्द्रियोंके
विषयोंसे विरक्त रहता है, उसके विविक्त शय्यासन नामका पाँचवाँ
उत्कृष्ट तप होता है १४४७। अपनी पूजा महिमाको नहीं चाहनेवाला,
ससार शरीर और भोगोंसे उदासीन, प्रायश्चित्त आदि अभ्यन्तर
तपमें कुशल, शान्त परिणामी, क्षमाशील, महापराक्रमी, जो मुनि
रमशानभूमिमें, गहन वनमें, निर्जन महाभयानक स्थानमें, अथवा
किसी अन्य एकान्त स्थानमें निवास करता है, उसके विविक्त
शय्यासन तप होता है । —दे वसतिका /६।

२. विविक्त शय्यासनका प्रयोजन

भ. आ./सू./२३२-२३३ कलहो बोलो भक्ता वामोहोममत्ति च । उभाण-
ज्जप्रणविधादो णत्थि विवित्ताए वसधीए १२३२। इय सल्लोणमुवगदो
सुहंपवसेहिं तित्थजोएहिं । पचसमिदो तियुत्तो आदट्ठपरायणो
होदि १२३३। = कलह, व्यग्र करनेवाले शब्द, सश्लेश, मनकी व्यग्रता
असयत जनोंकी संगति, मेरे तेरेका भाव, ध्यान अध्ययनका विघात
ये सब बातें विविक्त वसतिकामें नहीं होती १२३२। मुख पूर्वक आत्म-
स्वरूपमें लीन होना, मन वचन कायकी अशुभ प्रवृत्तियोंकी रोकना,
पाँच समिति, तीन गुप्ति, इन सब बातोंको प्राप्त करता हुआ एकान्त-
वासी साधु आत्म प्रयोजनमें तत्पर रहता है १२३३।

ध. १३/५.४.२६/५५/१० किमट्ठमेसो कीरदे ? असम्भजणदसणेण तस्स-
हवासणे जणिद-तिकालविसयरागदोसपरिहरणट्ठ । = प्रश्न—यह
विविक्त शय्यासन तप किस लिए किया जाता है ? उत्तर—असभ्य
जनोंके देखनेसे, और उनके सहवाससे उत्पन्न हुए त्रिकाल विषयक
दोषोंको दूर करनेके लिए किया जाता है ।

भ. आ./वि/६/३२/१६ चित्तव्याकुलतापराजयो विविक्तशय्यासनं ।
= चित्तकी व्यग्रताको दूर करना विविक्त शय्यासन है ।

दे. विविक्त शय्यासन/१—निर्वधि ब्रह्मचर्य, स्वाध्याय और ध्यान आदि-
की प्रसिद्धिके लिए किया जाता है ।

* साधु योग्य विविक्त वसतिका का स्वरूप—

* विविक्त शब्द का लक्षण—दे० वसतिका ।

विविर—दे. विवर ।

विवृत योनि—दे. योनि ।

विवेक—

स. सि./६/२२/४४०/७ ससक्तान्नपानोपकरणादिविभजन विवेक' ।
संसक्त हुए अर्थात् परस्परमें मिले-जुले अन्न पान आदिका अथवा
उपकरणादिका विभाग करना विवेक प्रायश्चित्त है । (रा वा /६/२९/
५/६२१/२६) (त. सा./७/२५) (अन, ध /७/४६) ।

ध. १३/५.४.२६/६०/११ गण-गच्छ-दव्व-खेत्तादीहितो ओसारण विवेगो
णाम पायच्छिस्त । = गण, गच्छ, द्रव्य और क्षेत्र आदिसे अलग करना
विवेक नामका प्रायश्चित्त है ।

भ. आ./वि./६/३२/२१ येन यत्र वा अशुभोपयोगोऽधुत्तत्रिराक्रिया, ततो
परासनं विवेक ।

भ. आ./वि/१०/४६/११ एवमत्तिचारनिमित्तद्रव्यक्षेत्रादिकान्मनसा
अपगतिस्तत्र अनाहतिविवेक । = जिस जिस पदार्थके अवलम्बनसे
अशुभ परिणाम होते हैं, उनको त्यागना अथवा उनसे स्वयं दूर होना
यह विवेक तप है । अतिचारको कारणीभूत ऐसे द्रव्य क्षेत्र और
कालादिकसे मनसे पृथक् रहना अर्थात् दोषोत्पादक द्रव्यादिकोंका
मनसे अनादर करना, यह विवेक है ।

चा सा /१४२/१ सम्पत्तेषु द्रव्यक्षेत्रान्नपानोपकरणादिषु दोषान्निवर्त्तयितु-
मलभमानस्य तद्द्रव्यादि विभजन विवेक । अथवा शक्तियनगूहनेन
प्रयत्नेन परिहरत कुतश्चित्कारणत प्राप्तुग्रहणग्राहणयो प्राप्तुकस्यापि
प्रत्याख्यातस्य विस्मरणास्पतिग्रहे च स्मृत्वा पुनस्तदुत्सर्जन विवेक ।
= किसी सुनिका हृदय किसी द्रव्य, क्षेत्र, अन्न, पान अथवा उपकरण-
में आसक्त हो और किसी दोषको दूर करनेके लिए गुरु उन मुनिको
वह पदार्थ प्राप्त न होने दे, उस पदार्थको उन मुनिसे अलग कर ले तो,
वह विवेक नामका प्रायश्चित्त कहलाता है । २ अथवा अपनी शक्ति-
को न छिपाकर प्रयत्नपूर्वक जीवोंकी बाधा दूर करते हुए भी
किसी कारणसे अप्राप्त पदार्थको ग्रहण करले अथवा जिसका त्याग
कर चुके है, ऐसे प्राप्त पदार्थोंको भी भूलकर ग्रहण कर ले और फिर
स्मरण हो आनेपर उन सबका त्याग कर दे तो वह भी विवेक
प्रायश्चित्त कहलाता है । (अन, ध./७/५०)

२. विवेकके भेद व लक्षण

भ. आ./सू./१६८-१६९/३५१ ईदियकसायउवधीण भक्तपाणस्स चावि
देहस्स । एस विवेगो भणिदो पंचविधो दव्वभावगदो १६८। अहवा
सरीरसेज्जा सथारुवहीण भक्तपाणस्स । वेज्जावच्चकरण य होइ
विवेगो तहा चव १६९। = इन्द्रियविवेक, कषायविवेक भक्तपान
विवेक, उपधिविवेक, देहविवेक ऐसे विवेकके पाँच प्रकार पूर्वागममें
कहे गये हैं १६८। अथवा शरीरविवेक, वसतिसंस्तरविवेक,
उपकरण विवेक, भक्तपान विवेक और वैद्यावृत्त्यकरणविवेक ऐसे
पाँच भेद वहे गये हैं । इन पाँच भेदोंमें प्रत्येकके द्रव्य और भाव
ऐसे दो दो भेद हैं १६९। (सा, ध./८/४४)

भ. आ./वि. १६८-१६९/३८२/२ रूपादिविषये चक्षुरादीनामादरेण कोपेन
वा अपवर्त्तनम् । इदं पश्यामि शृणोमीति वा ।०० इति वचनानुच्चारणं
द्रव्यत इन्द्रियविवेक । भावत इन्द्रियविवेको नाम जातेऽपि००
विज्ञानस्य रागकोपाभ्या विवेचनं, रागकोपसहचारिरूपादिविषय-
मानसज्ञानपरिणतिर्वा । द्रव्यत कषायविवेको नाम कायेन वाचा
चेति द्विविध । भूलतासंकीचन० इत्यादि कायव्यापारावरणं ।
हन्मि - इत्यादि वचनाप्रयोगश्च । परपरिभावादिनिमित्तचित्तकलङ्-
काभावो भावत क्रोधविवेक । तथा मात्राणां स्तब्धाकरणं मत्त'
कोवा श्रुतपाराण - इति वचनाप्रयोगश्च मनसाङ्कारवर्जनं भावतो
मानकषायविवेक' । अन्य ब्रूवत इवाभ्यस्य यद्वचनं तस्य त्यागो
मायोपदेशस्य वा वाचा मायाविवेक । अन्यत्कुर्वत इवाभ्यस्य
कायेनाकरणं कायतो मायाविवेक । यत्रास्य लोभस्तदुद्दिश्य
करप्रसारणं एतस्य कायव्यापारस्याकरणं कायेन लोभविवेक ।
'एतन्मदीयं वस्तुग्रामादिकं वा वचनानुच्चारण वाचा लोभविवेक' ।

ममेदभावरूपमोहजपरिणामापरिणतिर्भवतो लोभविवेकः १६८।
स्वशरीरेण स्वशरीरोपद्रवापरिहरणं कायविवेक' शरीरपीडा मा
कृथा इत्याद्यवचनं । ना पालयेति वा इति वचनं वाचाविवेक ।
वसतिसंस्तरयोर्विवेको नाम कायेन वसतावनासन प्रागधुषिताया ।
सस्तरं वा प्राक्तने अशयनं अनासनं । वाचा व्यजामि वसतिसंस्तर-
मिति वचन । कायेनोपकरणानामनादान । परित्यक्तानीमानि
ज्ञानोपकरणादीनि इति वचन वाचा उपधिविवेक । भक्तपानाशनं
वा कायेन भक्तपानविवेक । एवभूत भक्तपान वा न गृह्णामि इति
वचनं वाचा भक्तपानविवेकः । वैद्यावृत्त्यकरा स्वशिष्यादयो ये तेषा
कायेन विवेक तै सहसंवास । मा कृथा वैद्यावृत्त्य इति वचनं ।
मर्वत्र शरीरादौ अनुरागस्य ममेदभावस्य वा मनसा अकरणं भाव-
विवेकः १६९। = रूपादि विषयोमें नेत्रादिक इन्द्रियोंकी आदरसे
अथवा कोपमें प्रवृत्ति न होना । अर्थात् यह रूप मैं देखता हूँ, शब्द मैं
सुन रहा हूँ ऐसे वचनोंका उच्चारण न करना द्रव्यत इन्द्रिय विवेक
है । रूपादिक विषयोंका ज्ञान होकर भी रागद्वेषसे भिन्न रहना अर्थात्
रागद्वेषयुक्त ऐसी रूपादिक विषयोंमें मानसिक ज्ञानकी परिणति न

होना भावतः इन्द्रियविवेक है। द्रव्यतः कषाय विवेकके शरीरसे और वचनसे दो भेद है। भौहे सकुचित करना इत्यादि शरीरकी प्रवृत्ति न होना कायक्रोध विवेक है। मै मास्का इत्यादि वचनका प्रयोग न करना वचन क्रोध विवेक है। दूसरोका पराभव करना, वगैरहके द्वेषपूर्वक विचार मनमें न लाना यह भावक्रोधविवेक है। इसी प्रकार द्रव्य, मान, माया व लोभ कषाय विवेक भी शरीर और वचनके व भावके भेदसे तीन तीन प्रकारके है। तहाँ शरीरके अवयवको न अकडाना, मेरेसे अधिक शास्त्र प्रवीण कौन है ऐसे वचनको प्रयोग न करना ये काय व वचनगत मानविवेक है। मनके द्वारा अभिमानको छोड़ना भाव मानकषाय विवेक है। मानो अन्यके विषयमें बोल रहा है ऐसा दिखाना, ऐसे वचनका त्याग करना अथवा कपटका उपदेश न करना वाचा मायाविवेक है। शरीरसे एक कार्य करता हुआ भी मै अन्य ही कर रहा हूँ ऐसा दिखानेका त्याग करना काय मायाविवेक है। जिस पदार्थमें लोभ है उसकी तरफ अपना हाथ पसारना इत्यादिक शरीर क्रिया न करना काय लोभ विवेक है। इस वस्तु ग्राम आदिका मै स्वामी हूँ ऐसे वचन उच्चारण न करना वाचा लोभ विवेक है। ममेदं भावरूप मोहज परिणतिको न होने देना भाव लोभ विवेक है। अपने शरीरसे अपने शरीरके उपद्रवको दूर न करना काय शरीर विवेक है। शरीरको तुम पीडा मत करो अथवा मेरा रक्षण करो इस प्रकारके वचनको न कहना वाचा शरीर विवेक है। जिस वसतिकामें पूर्वकालमें निवास किया था उसमें निवास न करना और इसी प्रकार पहिले वाले सस्तरमें न सोना बैठना काय वसति-सस्तर विवेक है। मै इस वसति व सस्तरका त्याग करता हूँ। ऐसे वचनका बोलना वाचा वसतिसस्तर विवेक है। शरीरके द्वारा उप-करणको ग्रहण न करना काय उपकरण विवेक है। मै ने इन ज्ञानो-पकरणादिका त्याग किया है ऐसा वचन बोलना वाचा उपकरण विवेक है। आहार पानके पदार्थ भक्षण न करना काय भक्तपान विवेक है। इस तरहका भोजन पान मै ग्रहण नहीं करूँगा ऐसा वचन बोलना वाचाभक्तपान विवेक है। वैयावृत्त्य करनेवाले अपने शिष्या-दिकोका सहवास न करना काय वैयावृत्त्य विवेक है। तुम मेरी वैयावृत्त्य मत करो ऐसे वचन बोलना वाचा वैयावृत्त्य विवेक है। सर्वत्र शरीरादिक पदार्थोंपरसे प्रेमका त्याग करना अथवा ये मेरे है ऐसा भाव छोड़ देना भावविवेक है।

३. विवेक तपके अतिचार

भ आ./वि./४८७/७०७/२२ भावतोऽविवेको विवेकातिचारः। = परिणामोके द्वारा विवेकका न होना विवेकका अतिचार है।

★ विवेक प्रायश्चित्त किस अपराधमें दिया जाता है

—दे. प्रायश्चित्त/४।

विवेचन—१. वस्तु विवेचन विधि=दे. न्याय। २. आगम व अध्यात्म पद्धति—दे. पद्धति।

विशद—

सि. वि./मू./१/१/३५ पश्यत् स्वलक्षणान्येकं स्थूलमक्षणिकं स्फुटम् यद्द्रव्यवस्यति वैशद्यं तद्विद्धि सदृशस्मृतेः। १। = परस्परमें विलक्षण निरक्षरक्षणरूप स्वलक्षणको देखनेवाला स्थूल और अक्षणिक एक वस्तुको स्पष्ट रूपसे निश्चित करता है। अतः वैशद्य व्यवसायात्मक सविकल्पकप्रत्यक्षसे सम्बद्ध है।

प. मु./२/४ प्रतीत्यन्तराव्यवधानेन विशेषवचन्या वा प्रतिभासनं वैशद्यः। = जो प्रतिभास बिना किसी दूसरे ज्ञानकी सहायताके स्वतन्त्र हो, तथा हरा पीला आदि विशेष वर्ण और सोधा टेढा आदि विशेष आकार लिये हो, उसे वैशद्य कहते हैं।

न्या. बी./२/४२/२४ किमिदं विशदप्रतिभासत्वं नाम। उच्यते: ज्ञाना-

वरणस्य क्षयाद्विशिष्टक्षयोपशमाद्वा शब्दानुमानाद्यसभवि यन्नेर्मन्य-मनुभवसिद्धम् दृश्यते स्वप्नग्निरस्तीत्याप्रवचनाद्दमादि लिङ्गाच्चो-त्पन्नाज्ज्ञानादयमग्निरित्युत्पन्नस्यैन्द्रियकस्य ज्ञानस्य विशेषः। स एव नैर्मन्य, वैशद्यम्, स्पष्टत्वमित्यादिभि शब्दैरभिधीयते। = प्रश्न— विशद प्रतिभास किसको कहते हैं? उत्तर—ज्ञानावरण कर्मके सर्वथा क्षयसे अथवा विशेष क्षयोपशमसे उत्पन्न होनेवाली और शब्द तथा अनुमानादि (परोक्ष) प्रमाणोंसे नहीं हो सकनेवाली जो अनुभवसिद्ध निर्मलता है वही विशद-प्रतिभास है। किसी प्रामाणिक पुरुषके 'अग्नि है' इस प्रकारके वचनसे और 'यह प्रदेश अग्निवाला है, क्योंकि, धुआँ है' इस प्रकारके धूमादि लिंगसे उत्पन्न हुए ज्ञानकी अपेक्षा 'यह अग्नि है' इस प्रकारके इन्द्रियज्ञानमें विशेषता देखी जाती है। वही विशेषता निर्मलता, विशदता, और स्पष्टता इत्यादि शब्दों द्वारा कही जाती है।

विशल्या—प. पु./६४/श्लो नं. राजा द्रोणभेदकी पुत्री थी। १६। पूर्व-भवके कठिन तपके प्रभावसे उसके स्नान जलमें सर्वरोग शान्त करनेकी शक्ति थी। १८। रावणकी शक्तिके प्रहारसे मुर्च्छित लक्ष्मणको इसीने जीवन दिया था। ३७-३८। इसका विवाह भी लक्ष्मणसे हुआ था। ५०।

विशल्याकारिणी—एक विद्या—दे विद्या।

विशाखनदि—म. पु./५७/श्लो नं—राजगृहोके राजा विश्वभूतिके छोटे भाई विशाखभूतिका पुत्र था। ७३। विश्वभूतिके पुत्र विश्वनन्द का वन छोड़ लेनेपर युद्ध हुआ, जिसमें यह भाग गया। ७५-७७। देशाटन करता हुआ मथुरामें रहने लगा। वेश्याके घर बैठे विश्व-नन्दीकी गाय द्वारा गिरा दिया जानेपर हँसी उड़ायी। ५०-५१। चिर-काल पर्यंत अनेक योनियोमें भ्रमण किया। ५७।

विशाखभूति—म. पृ./५७/श्लो.—राजगृह नगरके राजा विश्वभूति-का छोटा भाई था। ७३। पिताके दीक्षा लेनेके अनन्तर इसने भी अपने ताऊके पुत्र विश्वनन्दीके साथ दीक्षा ले ली। ७५। महा शुक्र स्वर्गमें देव उत्पन्न हुआ। ८२।

विशाखा—एक नक्षत्र—दे नक्षत्र।

विशाखाचार्य—श्रुतावतारके अनुसार आप भद्रबाहु प्रथमके पश्चात् प्रथम ११ अय व १० पूर्वधारी थे। [द्वादश वर्षीय दुर्भिक्षके अनन्तरपर आप भद्रबाहु स्वामीके साथ दक्षिणकी ओर चले गये थे। भद्रबाहु स्वामीकी तो वहाँ ही समाधि हो गयी पर आप दुर्भिक्ष समाप्त होनेपर पुन उज्जैन लौट आये (भद्रबाहु चरित/३)] समय—वी. नि. १६२-१७९ (ई. पू. ३६५-३५५)।—दे० इतिहास/४/४।

विशाला—भरत क्षेत्र आर्य खण्डकी एक नदी—दे० मनुष्य/४।

विशालाक्ष—कुण्डल पर्वतके सफटिकप्रभ कूटका स्वामी नागेन्द्रदेव—दे० लोक/७।

विशिष्ट—१ घ. १०/४,२,४,३/२३/६ सि-ग विस्मिता, कयाइं वयादो अहियाय दसणादो। = (ज्ञानावरणीय द्रव्य) स्यात् विशिष्ट है, क्योंकि कदाचित्त व्ययकी अपेक्षा अधिक आय देखी जाती है।

★ नोभोम नोविशिष्ट—दे ओम। २. सौमनस पर्वतका एक कूट व उसका रक्षक देव—दे० लोक/५/४।

विशिष्टाद्वैत—दे. वेदान्त/४

विशुद्ध—

स सि./२/४६/१६८/४ विशुद्धकार्यत्वाद्द्विशुद्धव्यपदेशः। विशुद्धस्य पुण्यकर्मण अशबलस्य निरवद्यस्य कार्यत्वाद्द्विशुद्धामर्युच्यते तन्तुना कार्पासव्यपदेशवत्। = विशुद्धकर्मका कार्य होनेसे आहारक शरीरको

विशुद्ध कहा है। तात्पर्य यह है कि चित्र विचित्र न होकर निर्दोष हो, ऐसे विशुद्ध पुण्यकर्मका कार्य होनेसे आहारक शरीरको भी विशुद्ध कहते हैं। यहाँ कार्यमें कारणका उपचार है। जैसे तन्तुओंमें कपासका उपचार करके तन्तुओंको भी कपास कहते हैं। (रा. वा. / २/४६/२/१५२/२६।

विशुद्धि—साता वेदनीयके बन्धमें कारणभूत परिणाम विशुद्धि तथा असाता वेदनीयके बन्धमें कारणभूत संक्लेश कहे जाते हैं। जीवको प्रायः मरते समय उत्कृष्ट संक्लेश होता है। जागृत तथा साकारो-पयोगको दृश्यां ही उत्कृष्ट संक्लेश या विशुद्धि सम्भव है।

१. विशुद्धि व संक्लेशके लक्षण

स. सि / १/२४/१३०/८ तदावरणक्षयोपशमे सति आत्मन प्रसादो विशुद्धिः । = मन पर्यय ज्ञानावरणकर्मका क्षयोपशम होनेपर जो आत्मामें निर्मलता आती है उसे विशुद्धि कहते हैं। (रा. वा. / १/२४/ -/८५/१६)।

ध. ६/१.६-७.२/१८०/६ असादबंधजोगपरिणामो संकिलेसो णाम । का विसोही । सादबंधजोगपरिणामो । उक्कस्सट्ठिदीदो उवरिम-विदियादिट्ठिदीओ बंधमाणस्स परिणामो विसोहि त्ति उच्चदि, जहण्णट्ठिदी उवरिम-विदियादिट्ठिदीओ बंधमाणस्स परिणामो संकिलेसो त्ति के वि आइरिया भणंति, तण्ण वडदे । कुदो । जहण्णुक्क-स्सट्ठिदिपरिणामे मोत्तूण सेसमज्झिमट्ठिदीण सव्वपरिणामाणं पि संकिलेसविसोहित्तप्पसंगादो । ण च एवं, एक्कस्स परिणामस्स लवखणभेदेण विणा दुभावाविरोहादो । = असाताके बन्धयोग्य परिणामको संक्लेश कहते हैं और साताके बन्ध योग्य परिणामको विशुद्धि कहते हैं। कितने ही आचार्य ऐसा कहते हैं कि उत्कृष्ट स्थितिसे अध-स्तन स्थितियोंको बाँधनेवाले जीवका परिणाम 'विशुद्धि' इस नामसे कहा जाता है, और जघन्य स्थितिसे उपरिम-द्वितीय तृतीय आदि स्थितियोंको बाँधनेवाले जीवका परिणाम संक्लेश कहलाता है। किन्तु उनका यह कथन घटित नहीं होता है; क्योंकि, जघन्य और उत्कृष्ट स्थितिके बाँधनेके योग्य परिणामोंको छोड़कर शेष मध्यम स्थितियोंके बाँधने योग्य सर्व परिणामोंके भी संक्लेश और विशुद्धताका प्रसंग आता है। किन्तु ऐसा है नहीं, क्योंकि, एक परिणामके लक्षण भेदके बिना द्विभाव अर्थात् दो प्रकारके होनेका विरोध है।

ध. ११/४, २, ६, १६६-१७०/३१४/६ अइतिवकसायाभावो मदकसाओ विसुद्धा त्ति घेतत्तवा । तत्थ सादस्स चउट्ठाणबंधा जीवा सव्वविशुद्ध त्ति भण्णिदे सुट्ठमदसंकिलेसा त्ति घेतत्तव्व । जहण्णट्ठिदिबंधकारण-जीवपरिणामो वा विसुद्धा णाम । साद चउट्ठाणबंधरहितो सादस्सेव तिट्ठाणाणुभागबंधया जीवा संकिलिसट्ठुदरा, कसाउक्कड्ढा त्ति भण्णिद होदि । = अत्यन्त तीव्र कषायके अभावमें जो मन्द कषाय होती है, उसे विशुद्धता पदसे ग्रहण करना चाहिए। (सूत्रमें) साता वेदनीयके चतु स्थानबन्धक जीव सर्व विशुद्ध है, ऐसा कहनेपर 'वे अतिशय मन्द संक्लेशसे सहित है' ऐसा ग्रहण करना चाहिए। अथवा जघन्य स्थितिबन्धका कारणस्वरूप जो जीवका परिणाम है उसे विशुद्धता समझना चाहिए। साताके चतु स्थान बन्धकी अपेक्षा साताके ही त्रिस्थानानुभागबन्धक जीव सन्निष्ठतर है, अर्थात् वे उनकी अपेक्षा उत्कट कषायवाले हैं, यह अभिप्राय है।

क पा ४/३-२२/३ ३०/१५/१३ को संकिलेसो णाम । कोह-माण-माया-लोहपरिणामविसेसो । = क्रोध, मान, माया लोभरूप परिणाम-विशेषको संक्लेश कहते हैं।

२. संक्लेश व विशुद्धि स्थानके लक्षण

क. पा. / ५/४-२२/३ ६१६/३८०/७ काणि विसोहिट्ठाणाणि । बद्धाणु-भागसतस्स घादहेदुजोवपरिणामो । = जीवके जो परिणाम बाँधे गये अनुभाग सत्कर्मके घातके कारण है, उन्हें विशुद्धिस्थान कहते हैं।

ध. ११/४, २, ६, ५१/२०८/२ सपहि संकिलेसट्ठाणाणं विसोहिट्ठाणाणं च च को भेदो । परियत्तवाणियाणं साद-थिर-सुभ-सुभग-सुस्सर-आदेज्जादीण सुभपयडीणं बंधकारणभूदकसायट्ठाणाणि विसोहिट्ठा-णाणि, असाद-अथिर-असुह दुभग- [दुस्सर] अणादेज्जादीण परि-यत्तवाणियाणमसुहपयडीण बंधकारणकसाउदयट्ठाणाणि संकिलेसट्ठा-णाणि त्ति एसो तेसिं भेदो । — प्रश्न—यहाँ संक्लेशस्थानो और विशुद्धिस्थानोंमें क्या भेद है ? उत्तर—साता, स्थिर, सुभ, सुभग सुस्वर और आदेय आदिक परिवर्तमान सुभ प्रकृतियोंके बन्धके कारणभूत कषायस्थानोंको विशुद्धिस्थान कहते हैं, और असाता, अस्थिर, अशुभ, दुर्भग, [दुस्वर] और अनादेय आदिक परिवर्तमान अशुभ प्रकृतियोंके बन्धके कारणभूत कषायोंके उदयस्थानोंको संक्लेशस्थान कहते हैं, यह उन दोनोंमें भेद है।

स सा / आ. / ५३-५४ कषायविपाकोत्तरेकलक्षणानि संक्लेशस्थानानि ।-- कषायविपाकानुत्तरेकलक्षणानि विशुद्धिस्थानानि । = कषायोंके विपाक की अतिशयता जिनका लक्षण है ऐसे जो संक्लेशस्थान तथा कषायोंके विपाककी मन्दता जिनका लक्षण है ऐसे जो विशुद्धि स्थान ।

३. वर्द्धमान व हीयमान स्थितिको संक्लेश व विशुद्धि कहना ठीक नहीं है

ध. ६/१.६-७.२/१८१/१ संकिलेसविसोहीणं वट्ठमाण-हीयमाणलवखण भेदो ण विरुज्झदि त्ति चे ण, बड्ढि-हाणि-धम्ममाणं परिणामत्तादो जीवदव्वावट्ठाणाणं परिणामतरसु असंभवाणं परिणामलवखणत्तविरो-हादो । = प्रश्न—वर्द्धमान स्थितिको संक्लेशकका और हीयमान स्थितिको विशुद्धिका लक्षण मान लेनेसे भेद विरोधको नहीं प्राप्त होता है ? उत्तर—नहीं, क्योंकि, परिणामस्वरूप होनेसे जीव द्रव्यमें अवस्थानको प्राप्त और परिणामान्तरोंमें असम्भव ऐसे वृद्धि और हानि इन दोनों धर्मोंके परिणामलक्षणत्वका विरोध है। विशेषार्थ— [स्थितियोंकी वृद्धि और हानि स्वयं जीवके परिणाम है। जो क्रमशः संक्लेश और वृद्धिरूप परिणामकी वृद्धि और हानिसे उत्पन्न होते हैं। स्थितियोंकी और संक्लेश विशुद्धिकी वृद्धि और हानिमें कार्य कारण सम्बन्ध अवश्य है, पर उनमें लक्षण लक्ष्य सम्बन्ध नहीं माना जा सकता।]

४. वर्द्धमान व हीयमान कषायको भी संक्लेश विशुद्धि कहना ठीक नहीं ।

ध. ६/१.६-७.२/१८१/३ ण च कसायवड्ढो संकिलेसलवखणं ट्ठिदिबंध-उड्ढोए अण्णहाणुवत्तीदो, विसोहिअद्धार वड्ढमाणकसायस्स संकिलेस सत्तप्पसंगादो ण च विसोहिअद्धार कसायउड्ढी णत्थि त्ति वोत्तु जुत्त, सादादीणं भुजगारबंधाभावप्पसंगा । ण च असादसाद-बंधाण संकिलेसविसोहीओ मोत्तूण अण्णकारणमरिथ अणुवलभा । ण कसायउड्ढी असादबंधकारणं, तत्काले सादस्स बहुवलभा । ण हाणि, तिस्से वि साहारणत्तादो । = कषायकी वृद्धि भी संक्लेश नहीं है, क्योंकि १ अन्यथा स्थितिबन्धकी वृद्धि बन नहीं सकती है और, २ विशुद्धिके कालमें वर्द्धमान कषायवाले जीवके भी संक्लेशस्व-काप्रसंग आता है। और विशुद्धिके कालमें कषायकी वृद्धि नहीं होती है, ऐसा कहना भी युक्त नहीं है, क्योंकि, वैसा माननेपर साता आदि-के भुजगारबन्धके अभावका प्रसंग प्राप्त होगा। तथा असाता और

साता इन दानोके बन्धका सकलेश और विशुद्धि, इन दोनोको छोड़कर अन्य कोई कारण नहीं है, क्योंकि, वैसा कोई कारण पाया नहीं जाता है। ३. कषायोकी वृद्धि केवल असाताके बन्धका कारण नहीं है, क्योंकि, उसके अर्थात् कषायोकी वृद्धिके कालमें साताका बन्ध भी पाया जाता है। इस प्रकार कषायोकी हानि केवल साताके बन्धका कारण नहीं है, क्योंकि, वह भी साधारण है, अर्थात् कषायोको हानिके कालमें भी असाताका बन्ध पाया जाता है।

घ. ११/४ २, ६, ६१/२०८/६ बद्धमानकसाओ सकिलेसो, हायमाणो विसोहि त्ति किण्ण घेप्पदे। ण, सकिलेस-विसोहिट्ठाणाण संखाए सामणत्तप्पसणादो। कुदो। जहण्णुकस्सपरिणामाण जहाक्केमण विसोहिसकिलेसणियमदसणादो। मज्झिमपरिणामाण च सकिलेस-विसोहिवक्खवुत्तिसणादो ण च सकिलेस-विसोहिट्ठाणाण सखाए समाणमत्थि—। सम्मत्तुप्पत्तीए सादद्धाणपरूबणं कावूण पुणो सकिलेसविसोहीण परूबणं भुणमाणा वक्खवाणाहरिया जाणावेति जहा हायमाणकसाउदयट्ठाणाणि चैव विसोहिसणियाणि त्ति भण्णिदे ह्यदु णम तत्थ तथाभावो, दसण-चरित्तमोहकववणोवसामणामु पुट्ठिवल्ल-समए उदयमाणदो अनुभागफहएहिता अणंतगुणहोणफहयाणमुदएण जादकसायउदयट्ठाणस्स विसोहित्तमुवगमादो। ण च एस णियमो ससारावत्थाए अत्थि, तत्थ छव्विहवड्ढिहाणीहि कसाउदयट्ठाणाण उत्पत्तिदसणादो। ससारावत्थाए वि अंतो सुहुत्तमणंतगुणहोणकमेण अनुभागफहयाण उदओ अत्थि त्ति वुत्ते होदु, तत्थ वि तथाभाव पडुच्च विसोहित्तमुवगमादो। ण च एत्थ अणंतगुणहोणफहयाणमुदएण उप्पण्णकसाउदयट्ठाणं विसोहि त्ति घेप्पदे, एत्थ एव विहविव-क्खवाभावादो। किंतु सादबधपाओगकसाउदयट्ठाणाणि विसोहो, असादबधपाओगकसाउदयट्ठाणाणि सकिलेसो त्ति वेत्तवमण्णहा विसोहिट्ठाणाणमुक्कस्सिट्ठदीए थोवत्तविरोहादो त्ति। = प्रश्न—बढती हुई कषायकी सकलेश और होन होती हुई कषायको विशुद्धि क्यों नहीं स्वीकार करते? उत्तर—नहीं, क्योंकि, ४ वैसा स्वीकार करनेपर सकलेश स्थानो और विशुद्धिस्थानोकी संख्याके समान होनेका प्रसंग आता है। कारण यह है कि जघन्य और उत्कृष्ट परिणामोके क्रमशः विशुद्धि और सकलेशका नियम देखा जाता है, तथा मध्यम परिणामोका सकलेश अथवा विशुद्धिके पक्षमें अस्तित्व देखा जाता है। परन्तु सकलेश और विशुद्धिस्थानोमें संख्याकी अपेक्षा समानता है नहीं। प्रश्न—सम्यक्स्वोत्पत्तिमें सातावेदनीयके अध्वानकी प्ररूपणा करके पश्चात् सकलेश व विशुद्धिकी प्ररूपणा करते हुए ज्याख्यानार्थ यह ज्ञापित करते हैं कि हानिको प्राप्त होनेवाले कषायके उदयस्थानोकी ही विशुद्धि सज्ञा है? उत्तर—वहाँ-पर वैसा कथन ठीक है, क्योंकि, ५. दर्शन और चारित्र मोहकी क्षयणा व उपशामनामें पूर्व समयमें उदयको प्राप्त हुए अनुभागस्पर्धकोकी अपेक्षा अनन्तगुणे हीन अनुभागस्पर्धकोके उदयसे उत्पन्न हुए कषायोदयस्थानके विशुद्धपना स्वीकार किया गया है। परन्तु यह नियम ससारावस्थामें सम्भव नहीं है, क्योंकि, वहाँ छह प्रकारकी वृद्धि व हानियोसे कषायोदयस्थानकी उत्पत्ति देखी जाती है। प्रश्न—ससारावस्थामें भी अन्तर्मुहूर्त कालतक अनन्तगुणे हीन क्रमसे अनुभाग स्पर्धकोका उदय है ही? उत्तर—६. ससारावस्थामें भी उनका उदय बना रहे, वहाँ भी उक्त स्वरूपका आश्रय करके विशुद्धता स्वीकार की गयी है। परन्तु यहाँ अनन्तगुणे हीन स्पर्धकोके उदयसे उत्पन्न कषायोदयस्थानको विशुद्धि नहीं ग्रहण किया जा सकता है, क्योंकि, यहाँ इस प्रकारकी विवक्षा नहीं है। किन्तु सातावेदनीयके बन्धयोग्य कषायोदयस्थानोको विशुद्धि और असातावेदनीयके बन्धयोग्य कषायोदयस्थानोको सकलेश ग्रहण करना चाहिए, क्योंकि, इसके बिना उत्कृष्ट स्थितिमें विशुद्धिस्थानोकी स्तोक्ताका विरोध है।

* दर्शन विशुद्धि—६. दर्शन विशुद्धि।

५. जीवोंमें विशुद्धि व संकलेशकी तरतमताका निर्देश

प. ख. ११/४, २, ६/सूत्र १६७-१७४/३१२ तत्थ जे ते सादबधा जीवा ते तिविहा-चउट्ठाणबधा तिट्ठाणबधा विट्ठाणबधा १६७। असाद-बधा जीवा तिविहा विट्ठाणबधा तिट्ठाणबधा चउट्ठाणबधा त्ति १६८। सम्बविसुद्धा सादस्स चउट्ठाणबधा जीवा १६९। तिट्ठाणबधा जीवा संकिलिट्ठदरा १७०। विट्ठाणबधा जीवा संकिलिट्ठदरा १७१। सम्बविसुद्धा असादस्स विट्ठाणबधा जीवा १७२। तिट्ठाणबधा जीवा संकिलिट्ठदरा १७३। चउट्ठाणबधा जीवा संकिलिट्ठदरा १७४। = सातबन्धक जीव तीन प्रकार है—चतुस्थानबन्धक, त्रिस्थानबन्धक और द्विस्थानबन्धक १६७। असातबन्धक जीव तीन प्रकारके है—द्विस्थानबन्धक, त्रिस्थानबन्धक और चतुस्थानबन्धक १६८। सातावेदनीय चतुस्थानबन्धक जीव सबसे विशुद्ध है १६९। त्रिस्थानबन्धक जीव संकिलिष्ठतर है १७०। द्विस्थानबन्धक जीव संकिलिष्ठतर है १७१। असातावेदनीयके द्विस्थानबन्धक जीव सर्वविशुद्ध है १७२। त्रिस्थानबन्धक जीव संकिलिष्ठतर है १७३। चतुस्थानबन्धक जीव संकिलिष्ठतर है १७४।

६. विशुद्धि व संकलेशमें हानिवृद्धिका क्रम

घ ६/१, ६-७-२/१८२/२ विसोहीओ उक्कस्सिट्ठदिम्मिह थोवा होदुण गणणाए वड्ढमाणो आगच्छति जाव जहण्णट्ठिट्ठि त्ति। सकिलेसा पुण जहण्णट्ठिदिम्मिह थोवा होदुण उवरि पक्खेउत्तरकमेण वड्ढमाणो गच्छति जा उक्कस्सिट्ठिट्ठि त्ति। तदो सकिलेसेहितो विसोहीओ पुधभूदाओ त्ति दट्ठव्वाओ। तदो ट्ठिट्ठिमेव सादबधजोग्गपरिणामो विसोहि त्ति। = विशुद्धियों उत्कृष्ट स्थितिमें अल्प होकर गणनाकी अपेक्षा बढती हुई जघन्य स्थितितक चली आती है। किन्तु सकलेश जघन्य स्थितिमें अल्प होकर ऊपर प्रक्षेप उत्तर क्रमसे, अर्थात् सदृश प्रचयरूपसे बढते हुए उत्कृष्ट स्थितितक चले जाते हैं। इसलिए सकलेशसे विशुद्धियों पृथग्भूत होती हैं, ऐसा अभिप्राय जानना चाहिए। अतएव यह स्थित हुआ कि साताके बन्ध योग्य परिणामका नाम विशुद्धि है।

घ. ११/४, २, ६, ६१/२०८/१ तदो सकिलेसट्ठाणाणि जहण्णट्ठिदिप्पहुडि विसोहायिवड्ढीए, उक्कस्सिट्ठिदिप्पहुडि विसोहिट्ठाणाणि विसोहायिवड्ढीए गच्छति [त्ति] विसोहिट्ठाणेहितो सकिलेसट्ठाणाणि विसोहायियाणि त्ति सिद्ध। = अतएव सकलेशस्थान जघन्य स्थितिसे लेकर उसरोत्तर विशेष अधिकके क्रमसे तथा विशुद्धिस्थान उत्कृष्टस्थितिसे लेकर विशेष अधिक क्रमसे जाते हैं। इसलिए विशुद्धिस्थानोकी अपेक्षा सकलेशस्थान विशेष अधिक है।

७. द्विचरम समयमें ही उत्कृष्ट संकलेश सम्भव है

प. ख. १०/४, २, ४/सूत्र ३०/१०७ दुच्चरिमत्तिचरिमसमए उक्कस्सस किलेसं गदो ३०।

घ. १०/४ २, ४, ३०/पृष्ठ/पंक्ति दो समए मोत्तूण बहुमु समएसु गिरतर-मुक्कस्ससकिलेस किण्ण णीदो। ण, एदे समए मोत्तूण गिरतरमुक्कस्स-सकिलेसेण बहुकालमवट्ठाणाभावादो। (१०७/५)। हेट्ठा पुण-सव्वत्थ समयविरोहेण उक्कस्सस किलेसो चैव। (१०८/२)। = द्विचरम व त्रिचरम समयमें उत्कृष्ट संकलेशको प्राप्त हुआ। प्रश्न—उक्त दा समयको छोड़कर बहुत समयतक निरन्तर उत्कृष्ट संकलेशको क्यों नहीं प्राप्त कराया गया। उत्तर—नहीं, क्योंकि, इन दो समयोको छोड़कर निरन्तर उत्कृष्ट संकलेशके साथ बहुत कालतक रहना सम्भव नहीं है। चरम समयके पहिले तो सर्वत्र यथा समय उत्कृष्ट संकलेश ही होता है।

जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश

भा० ३-७२

८. मारणान्तिक समुद्रातमें उत्कृष्ट संक्लेश सम्भव नहीं

घ. १२/४.२.९.३३.७/३७५/३ मारण तियस्स उक्कस्ससकिलेसाभावेण उक्कस्स-ज गाभावेण य उक्कस्सदब्बसामिच्चविरोहादो । = मारणान्तिक समु-द्रातमे जीवके न तो उत्कृष्ट संक्लेश होता है और न उत्कृष्ट योग ही होता है, अतएव वह उत्कृष्ट द्रव्यका स्वामी नहीं हो सकता ।

९. अपर्याप्त कालमें उत्कृष्ट विशुद्धि सम्भव नहीं

घ. १२/४.२.७.३५/३०/७ अप्पज्जत्तकाले सव्वुक्कस्सविसोही णत्थि । अपर्याप्तकालमे सर्वोत्कृष्ट विशुद्धि नहीं होती है ।

१०. जागृत साकारोपयोगीको ही उत्कृष्ट संक्लेश विशुद्धि सम्भव है

घ. ११/४.२.६.२०४/३३३/१ दसणोवजोगकाले अइसकिलेसविसोहीणम-भावादो ।

घ. १२/४.२.७.३५/३०/५ सागार जागारद्वासु चैव सव्वुक्कस्सविसोहीयो सव्वुक्कस्ससकिलेसा च होति त्ति । = दर्शनोपयोगके समयमें अतिशय (सर्वोत्कृष्ट) संक्लेश और विशुद्धिका अभाव होता है । साकार उपयोग व जागृत समयमें ही सर्वोत्कृष्ट विशुद्धियाँ व सर्वो-त्कृष्ट संक्लेश होते हैं ।

विशुद्धि लब्धि—दे, लब्धि/२ ।

विशेष—

स. सि /६/५/३२५/६ विशिष्यतेऽर्थोऽर्थान्तरादिति विशेष । = जिससे एक अर्थ दूसरे अर्थसे विशेषताको प्राप्त हो वह विशेष है । (रा. वा. ६/५/११/५४४/१६, (रा. वा /१/१/१/३/२३)

न्या वि /मू/१/१२१/४५० समानभाव सामान्यं विशेषो अन्यो व्यये-क्षया । १२१। = समान भावका सामान्य कहते हैं और उससे अन्य अर्थात् विसमान भावको विशेष कहते हैं ।

न्या. वि /वृ/१/४/१२१/११ व्यावृत्तबुद्धिहेतुत्वाद्विशेष । = व्यावृत्ति अर्थात् भेदकी बुद्धि उत्पन्न करनेवाला विशेष है । (स्या. म /८/६५/२६)

द्र. सं /टो/१२८/५६/३ विशेषा इत्यस्य कोऽर्थ । पर्याय । = विशेषका अर्थ पर्याय है ।—दे अपवाद/१/१ ।

स्या. म /४/१७/१५ स एव च इतरेभ्य सजातीयविजातीयेभ्यो द्रव्यक्षेत्र-कालभावाैरात्मान व्यावर्तयन् विशेषव्यपदेशमश्नुते । = यही (घट पदार्थ) दूसरे सजातीय और विजातीय पदार्थोंसे द्रव्य क्षेत्र काल और भावसे अपनी व्यावृत्ति करता हुआ विशेष कहा जाता है ।

घ. /उ/२ अस्त्यल्पव्यापको यस्तु विशेष सदृशेतर । २। = जो विसदृ-शताका अत्यंत तथा अल्प देश व्यापी विशेष होता है ।

२. विशेषके भेद

प मु. /४/६-७ विशेषश्च/६/ पर्यायव्यतिरेकभेदात् । ७। = पर्याय और व्यतिरेकके भेदसे विशेष भी दो प्रकारका है ।—(इन दोनोंके लक्षण दे, वह वह नाम)

३. ज्ञान विशेषोपयोगी है

प का. /त प्र /४० विशेषग्राहिज्ञानम् । = विशेषको ग्रहण करनेवाला ज्ञान है ।

स्या म /१/१०/२३ प्रधानविशेषमुपसर्जनीकृतसामान्य च ज्ञानमिति । = सामान्यको गौण करके विशेषकी मुख्यतापूर्वक किसी वस्तुके ग्रहणको ज्ञान कहते हैं ।

★ वस्तु सामान्य विशेषात्मक है—दे, सामान्य ।

★ गणित विषयमें विशेषका लक्षण—Commondiffe-
rence, चय—दे, गणित/II/५/३ ।

विशेष गुण—दे गुण/१ ।

विशेष नय—दे, नय/II/५ ।

विशेषावश्यक भाष्य—श्वेताम्बर आम्नाय का प्राकृत गथा ऋद्ध यह विशालकाय ग्रन्थ क्षमाश्रमण जिनभद्र गणी ने वि. स. ६५० (ई. ५६३) में पूरा किया था । (दे परिशिष्ट) ।

विशोक—विजप्रार्थकी उत्तर श्रेणीका एक नगर—दे विद्याधर ।

विश्लेषण — Analysis (घ. ५/प्र २५)

विश्व—एक लौकान्तिक देव—दे, लौकान्तिक ।

विश्वनन्दि—म पु /५७/३लो —राजगृहके राजा विश्वभूतिका पुत्र था । ७२। चचा विशाखभूतिके पुत्र विशाखनन्दि द्वारा इसका धन छिन जानेपर उसके साथ युद्ध करके उसे परास्त किया । पीछे दीक्षा धारण कर ली । (७५-७८) । मथुरा नगरीमें एक बछड़ेने धक्का देकर गिरा दिया, तब वैश्याके ग्रहों बैठे हुए विशाखनन्दिने इसकी हँसी उड़ायी । निदानपूर्वक मरकर चचाके ग्रहों उत्पन्न हुआ । (७६-८२) (म. पु /७४/८६-११८) यह वर्द्धमान भगवात्का पूर्वका १५वों भव है ।—दे वर्द्धमान ।

विश्वभू—म पु /६७/२१४-४५५ सगर चक्रवर्तीका मन्त्री था । इसने षड्यन्त्र रचकर अपने स्वामीका विवाह सुलसासे करा दिया । मधु-पिगलसे नहीं होने दिया ।

विश्वभूषण—भक्तामर चरितके रचयिता एक दिग्म्बर साधु । (ज्ञा /प्र १/प. पन्नालाल बाकलीवाल)

विश्वसेन—भगवात् पार्श्वनाथके पिता—तीर्थकर/५ ।

विश्वास—दे, भ्रान्त ।

विषंग—स्व. स्तो /टी/६६/१७२ ममेदं सर्वं व्यादिक इति संबन्धो विषङ्गः । = स्त्री आदि सत्र मेरे हैं, इस प्रकारका सम्बन्ध विषंग कहलाता है ।

विष—१. विष वाणिज्य कर्म—दे सावद्य/५ । २. निर्विष ऋद्धि—दे, ऋद्धि/१ ।

विषम दृष्टान्त—न्या वि. /वृ/१/४२/३६२/२४ दृष्टान्तो विषमो दार्ष्टान्तिकसदृशो न भवति । = जो दार्ष्टान्तिकके सदृश न हो उसे विषम दृष्टान्त कहते हैं ।

विषमधारा—दे गणित/II/५/२ ।

विषय—

स. सि /१/२५/१३२/४ विषयो ज्ञेय । = विषय ज्ञेयको कहते हैं । (रा. वा /१/२५/१-१८६/१५)

गो जी. /मू/४७१/५५५ पचरसपचवण्णा दो गथा अट्ठफाससत्तसरा । मणसहिददठ्ठावीसा इदिशविषया मुणेदक्का । ४७६। = पाँच रस, पाँच वर्ण, दो गन्ध आठ स्पर्श और सात स्वर ऐसे यह २७ भेद तो पाँचो इन्द्रियोंके विषयोंके हैं और एक भेद मनका अनेक विकल्परूप विषय है । ऐसे कुल विषय २८ हैं ।

विषय व्यवस्था हानि—दे, हानि ।

विषय संरक्षण ध्यान—दे रौद्रध्यान ।

विषय—वृ कथा कोष/कथा नं. ५/५ —उज्जैनीके राजाका पुत्र था। ११। अनि भोजन करनेसे विसृचिका रोग हो गया और अन्तमें मर गया। १६।

विष्कंभ—Width—(ज. प. प्र. १०८) । दे गणित/II/७/२ ।

विष्कंभ क्रम—दे, क्रम/२ ।

विष्कंभ सूची—दे, सूची ।

विष्ठा—१. औदारिकशरीरमें विष्ठाका प्रमाण—दे. औदारिक १/७। २. मत्त सूत्र क्षेपण विधि ।—दे समिति/१/प्रतिष्ठापना ।

विष्णु—ति प/४/१८ तह य तिविट्ठुविट्ठा सयंभु पुरिसुत्तमो पुरिससोहो । पुडरीयदत्तनारायणा य किण्हो हुवति णव विण्हू ११९५। = त्रिपुष्ट, द्विपुष्ट, स्वयम्भू, पुरुषोत्तम, पुरुषसिंह, पुण्डरीक, दत्त, नारायण और कृष्ण ये नौ विष्णु (नारायण) हैं। ११९५।—(विशेष दे. शलाका पुरुष/४) ।

दे० जीव/१/३/५—(प्राण हुए शरीरको व्याप्त करनेके कारण जीवको विष्णु कहते हैं ।)

द्र. स./टी. १४/४७/३ सकलविमलकेवलज्ञानेन येन कारणेन समस्तं लोकालोक जानाति व्याप्नोति तेन कारणेन विष्णुर्भण्यते । = क्योंकि पूर्ण निर्मल केवलज्ञान द्वारा लोक-अलोकमें व्याप्त होता है, इस कारण वह परमात्मा विष्णु कहा जाता है ।

* परम विष्णुके अपर नाम —दे० मोक्षमार्ग/२/५ ।

विष्णुकुमार—ह. पु/२०/श्लो. “महापद्म चक्रवर्तिके पुत्र थे। पिताके साथ दीक्षा ले घोर तप किया। १४। अकम्पनाचार्यके ७०० मुनियोंके संघपर बलि कृत उपसर्गको अपनी विक्रिया द्वारा दूर किया। २६-६२। अन्तमें तप कर मोक्ष गये। ६३।”

विष्णुदत्त—वृ. कथा कोष/कथा ३/५. एक दरिद्र अन्धा था। १। वृक्षसे सर टकरानेके कारण आँखे खुल गयी। १। दूसरे अन्धोंने भी उसकी तकल की पर सब मर गये। १।

विष्णुनन्दि—श्रुतावतारके अनुसार आप भगवान् वीरके पश्चात् पंचम श्रुतकेवली हुए। समय—बी. नि. ६२-७६ (ई. पू. ४६५-४५१) । अपर नाम नन्दि था—दे० इतिहास/४/४ ।

विष्णु यशोधर्म—चतुर्मुख नामक हूनवंशी कश्मी राजा । समय—बी. नि. १०५५-१०७३ (ई ५२८-५४६) । (दे. इति./३/३) ।

विष्णुवर्धन—कर्णाटक देशके पोप्सल नरेश थे। गंगराज इनके मन्त्रो थे, जिसने अपने गुरु शुभचन्द्रकी निषद्यका श. स. १०४५ में बनवायी थी। यह पहले जैन थे जिन्होंने श. सं. १०३६ (ई. १११७) में वैष्णव धर्म स्वीकार करके हलेवेड अर्थात् दोगसमुद्रमें अनेक जिनमन्दिर का ध्वंस किया था। उसके उत्तराधिकारी नारसिंह और तत्पश्चात् वीर बलालदेव हुए जिन्होंने जैनियोंके क्षोभको नीति पूर्वक शान्त किया। समय—अनुमानत श. स. १०२५-१०५० (ई. ११०३-११२८), (ध. प्र. ११/H. L. Jain) ।

विसंयोजना—उपशम व शायिक सम्प्रवृत्त प्राप्ति विधिमें अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभका अप्रत्याख्यानादि क्रोध, मान, माया, लोभ रूपसे परिणमित हो जाना विसंयोजना कहलाता है।

१. विसंयोजनाका लक्षण

क पा./२/२-२२/४२४६/२१६/६ का विसंयोजना । अणतानुबन्धिचउक्क-बवंदाण परसरुवेण परिणमनं विसंयोजना । = अनन्तानुबन्धी

चतुष्कके स्कन्धोके परप्रकृति रूपसे परिणमा देनेको विसंयोजना कहते हैं ।

मो. क/जी प्र/३३६/४८७/१ युगपदेव विसंयोज्य द्वादशकषायनोकषाय-रूपेण परिणम्य** । = अनन्तानुबन्धी चतुष्ककी युगपत् विसंयोजना करके अर्थात् बारह कषायो व नव नोकषायों रूपसे परिणमा कर ।

२. विसंयोजना, क्षय व उपशममें अन्तर

क पा./२/२-२२/४२४६/२१६/७ ण परोदयकम्मवखवणाए वियहिचारो, तैसि परसरुवेण परिणदाण पुणरुत्पत्तीए अभावादो । = वि'यो-जनाका इस प्रकार लक्षण करनेपर, जिन कर्मोंकी पर-प्रकृतिरूपसे क्षयणा होती है, उनके साथ व्यभिचार (अतिव्याप्ति) आ जायेगी सो भी बात नहीं है, क्योंकि अनन्तानुबन्धीको छोड़कर पररूपसे परिणत हुए अन्य कर्मोंकी पुन उत्पत्ति नहीं पायी जाती है । अतः विसंयोजनाका लक्षण अन्य कर्मोंकी क्षयणमें घटित न होनेसे अतिव्याप्ति दोष नहीं आता है ।

वे० उपशम/१/६ (अपने स्वरूपको छोड़कर अन्य प्रकृति रूपसे रहना अनन्तानुबन्धीका उपशम है और उदयमें नहीं आना दर्शनमोहकी तान प्रकृतियोंका उपशम है ।)

३. विसंयोजनाका स्वामित्व

क पा./२/२-२२/४२४६/२१६/५ अट्ठावीससंतकम्मिएण अणतानुबन्धी विसंजोइदे चउवीस विहत्तीओ होदि । को विसंजोअओ । सम्मादिट्ठी । मिच्छाइट्ठी ण विसंजोएदि त्ति कुदो णव्वदे । सम्मादिट्ठी वा सम्मामिच्छादिट्ठी वा चउवीस विहत्तिओ होदि त्ति एदम्हादो सुत्तादो णव्वदे । अणतानुबन्धि विसंजोइदसम्मामिच्छादिट्ठीमिह मिच्छत्तं पडिबण्णे चउवीस विहत्ती किण्ण होदि । ण, मिच्छत्तं पडिबण्णपढमसमए चेव चरित्तमोहकम्मवखधेसु अणतानुबन्धि-सरुवेण परिणदेसु अट्ठावीसपयडिसंतुत्पत्तीदो । ** अविसंजोएतो सम्मामिच्छाइट्ठी कध चउवीसविहत्तीओ । ण, चउवीस सत-कम्मियसम्मामिच्छाइट्ठीसु सम्मामिच्छत्तं पडिबण्णेसु तत्थ चउवीस-पयडिसंतुत्तभादो । चारित्तमोहनीय तत्थ अणतानुबन्धिसरुवेण किण्ण परिणमइ । ण, तत्थ तत्परिणमनहेदुमिच्छत्तुदयाभावादो, सासणे इव तिव्वसंकिलेसाभावादो वा । = अट्ठाईस प्रकृतियोंकी सत्तावाला जीव अनन्तानुबन्धीकी विसंयोजना कर देनेपर चौबीस प्रकृतियोंकी सत्तावाला होता है । प्रश्न—विसंयोजना कौन करता है ? उत्तर—सम्यग्दृष्टि जीव विसंयोजना करता है । प्रश्न—मिथ्या-दृष्टि जीव विसंयोजना नहीं करता है, यह कैसे जाना जाता है ? उत्तर—'सम्यग्दृष्टि या सम्यग्मिथ्यादृष्टि जीव चौबीस प्रकृतिक स्थानका स्वामी है' इस सूत्रसे जाना जाता है । प्रश्न—अनन्तानुबन्धीकी विसंयोजना करनेवाले सम्यग्दृष्टि जीवके मिथ्यात्वको प्राप्त हो जानेपर मिथ्यादृष्टि जीव चौबीस प्रकृतिव स्थानका स्वामी क्यों नहीं होता है ? उत्तर—नहीं, क्योंकि, ऐसे जीवके मिथ्यात्वको प्राप्त होनेके प्रथम समयमें ही चारित्र मोहनीयके कर्मस्कन्ध अनन्तानुबन्धी रूपसे परिणत हो जाते हैं । अतः उसके चौबीस प्रकृतियोंकी सत्ता न रहकर अट्ठाईस प्रकृतियोंकी ही सत्ता पायी जाती है । प्रश्न—जब कि सम्यग्मिथ्यादृष्टि जीव अनन्तानुबन्धीकी विसंयोजना नहीं करता है तो वह चौबीस प्रकृतिक स्थानका स्वामी कैसे हो सकता है ? उत्तर—नहीं, क्योंकि, चौबीस कर्मोंकी सत्ता वाले सम्यग्दृष्टि जीवके सम्यग्मिथ्यात्वको प्राप्त होनेपर उनके भी चौबीस प्रकृतियोंकी सत्ता बन जाती है । प्रश्न—सम्यग्मिथ्यात्व गुणस्थानमें जीव चारित्रमोहनीयको अनन्तानुबन्धी रूपसे क्यों नहीं परिणमा लेता है ? उत्तर—नहीं, क्योंकि, वहाँ पर चारित्रमोहनीयको अनन्तानुबन्धीरूपसे परिणमानेका कारण-

भूत मिथ्यात्वका उद्भव नहीं पाया जाता है। अथवा सासादन गुणस्थानमें जिस प्रकारके तीव्र सकलेशरूपपरिणाम पाये जाते हैं, सम्यग्मिथ्यादृष्टि गुणस्थानमें उस प्रकारके तीव्र सकलेशरूप परिणाम नहीं पाये जाते हैं।

ध. १२/४, २.७.१७८/२२/६ यदि सम्मत्परिणामेहि अणंताणुबन्धीं विसंयोजना कीरदे तो स०वसम्माइहोसु तवभावो पसज्जदि त्ति वुत्ते ण, विसिट्ठेहि चैव सम्मत्परिणामेहि तव्विसंयोजनाभुवगमादोत्ति ।
= प्रश्न—यदि सम्यक्त्वरूप परिणामोकी अपेक्षा अनन्तानुबन्धी कषायोकी विसंयोजना की जाती है, तो सभी सम्यग्दृष्टि जीवोंमें उसकी विसंयोजनाका प्रसंग आता है? उत्तर—नहीं, क्योंकि, विशिष्ट सम्यक्त्वरूप परिणामोके द्वारा ही अनन्तानुबन्धी कषायोकी विसंयोजना स्वीकार की गयी है।

४. विसंयोजनाका जघन्य उत्कृष्ट काल

क. पा. २/२-२२/६ २८३-२८४/२४६/२ चउवीसविहत्ती केवचिरं कालादो। जहण्णेण अतोमुहुत्त (चूर्णसूत्र) कुदो। अट्ठावीससत्तकम्मियस्स सम्माइहस्स अणताणुवधिचउवकं विसंजोइय चउवीस विहत्तीए आदि कादूण सव्वजहण्णतोमुहुत्तमच्छिय खविदमिच्छत्तस्स चउवीस विहत्तीए जहण्णकालुवलभादो। उक्कस्सेण वेखावट्ठि-सागरो-वमाणि सादिरैयाणि। (चूर्ण सूत्र)। कुदो। छव्वीससत्तकम्मियस्स लातवकाविट्ठमिच्छाइहिवेवस्स चोइससागरोवमाउट्ठिदियस्स तत्थे पढमे सागरे अतोमुहुत्तावसेसे उवसमसम्मत्त पडिवज्जिय सव्वलहुएण कालेण अणताणुवधिचउवक विसंजोइय चउवीसविहत्तीए आदि कादूण विदियसागरोवमपढमसमए वेदगसम्मत्त पडिवज्जिय तेरस-सागरोवमाणि सादिरैयाणि सम्मत्तमणुपालेदूण काल कादूण पुव्वको-डिआउमणुस्सेसुववज्जिय पुणो एएण" (आगे केवल भावार्थ दिया है)
= १ (चौबीस प्रकृति स्थानका कितना काल है? जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त है। (चूर्ण सूत्र)। वह ऐसे कि २० प्रकृतिक स्थानवाले किसी जीवने अनन्तानुबन्धी चतुष्ककी विसंयोजना करके चौबीस प्रकृतिक स्थानका प्रारम्भ किया। और अन्तर्मुहूर्त कालतक वहाँ रहकर मिथ्यात्वका क्षय किया। २. चौबीस प्रकृतिक स्थानका उत्कृष्ट काल साधिक १३२ सागर है। (चूर्ण सूत्र) वह ऐसे कि—२६ प्रकृतिक स्थानवाले किसी लातव कापिष्ठ स्वर्गके मिथ्यादृष्टि देवने अपनी आयुके प्रथम सागरमें अन्तर्मुहूर्त शेष रहनेपर उपशम सम्यक्त्वको प्राप्त किया। तहाँ सर्व लघुकाल द्वारा अनन्तानुबन्धीकी विसंयोजना करके २४ प्रकृतिक स्थानको प्रारम्भ कर लेता है। फिर दूसरे सागरके पहले समयमें वेदक सम्यक्त्वको प्राप्त करके साधिक १३ सागर काल तक वहाँ सम्यक्त्वका पालन करके और मरकर पूर्वकोटि प्रमाण आयुवाले मनुष्योमें उत्पन्न हुआ। तत्पश्चात् २२ सागर आयुवाले देव, मनुष्य तथा ३१ सागर आयुवाले देवोंमें उत्पन्न होता है। वहाँ सम्यग्मिथ्यात्वको प्राप्तकर पुन सम्यक्त्वको प्राप्त होता है। वहाँसे मरकर क्रमसे मनुष्य, २० सागर आयुवाले देव, मनुष्य, २२ सागर आयुवाले देव, मनुष्य, २४ सागर आयुवाले देव तथा मनुष्योमें उत्पन्न होकर अन्तमें मिथ्यात्वका क्षय करता है। [नोट—मनुष्योकी आयु सर्व कोटि पूर्व तथा देवोकी आयु सर्वत्र कोटि पूर्व कम वह-वह-वह आयु जाननी चाहिए। इस प्रकार १३+२२+३१+२०+२२+२४=१३२ सागर प्राप्त होता है। इस कालमें अन्तर्मुहूर्त पहिला तथा अन्तर्मुहूर्त अधिक आठ वर्ष अन्तिम भवके जोडनेपर साधिक-का प्रमाण आता है, क्योंकि अन्तिम मनुष्य भवमें इतना काल जोडनेपर मिथ्यात्वका क्षय करता है।]

* पुनः सयोजना हो जानेपर अन्तर्मुहूर्त कालके बिना मरण नहीं होता—दे० मरण/३/६।

* पुनः पुनः विसंयोजना करनेकी सीमा पश्य। असं० चार—दे० समय/२।

५. अनन्तानुबन्धीकी विसंयोजना विधिमें त्रिकरण

ध. ६/१.६-५.१४/२२/६ जो वेदगसम्माइहो जीवो सो ताव पुव्वमेव अणताणुवधी विसंजोएदि। तस्स जाणि करणाणि ताणि परूवेद-व्वाणि। त जधाअधापवत्तकरण अपुव्वकरण अणियट्ठीकरणं च।
= (उपशम चारित्रकी प्राप्ति विधिमें) जो वेदक सम्यग्दृष्टि जीव है वह पूर्वमें ही अनन्तानुबन्धी चतुष्टयका विसंयोजन करता है। उसके जो कारण होते हैं उनका प्ररूपण करते हैं। वह इस प्रकार है—अध-प्रवृत्तकरण, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण। — (विशेष दे० उपशम/२/६)। (ल सा./मू./११२/१६०), (मो. क./जी. प्र./१६०/७४३/१६)।

६. अनन्तानुबन्धी विसंयोजन विधि

मो. क./जी. प्र./१६०/७४३/१६ अध-प्रवृत्तकरणप्रथमसमयात्प्रागुक्तचतु-रावश्यकानि कुर्वन्- तच्चरमसमये सर्व विसंयोजितं द्वादशकषाय-नवनोकषायरूप गीत। = [कोई एक वेदक सम्यग्दृष्टि जीव अध-प्रवृत्त करणके योग्य चार आवश्यकोको करके तदनन्तर अपूर्वकरणको प्राप्त होता है। वहाँ भी उसके योग्य चार आवश्यकोको करते हुए प्रथमोपशम सम्यक्त्वकी उत्पत्तिमें अथवा समय या सयमासयमकी उत्पत्तिमें गुणश्रेणी द्वारा प्रति समय असंख्यात गुणे अनन्तानुबन्धी-के द्रव्यका अपकर्षण करता है। इससे भी असंख्यात गुणे द्रव्य अन्य कषायो रूपसे परिणमता है। अनन्तर समयमें अनिवृत्तिकरणमें प्रवेश पाकर स्थिति सत्त्वापसरण द्वारा (दे० अपकर्षण/३) अनन्तानुबन्धीकी स्थितिको घटाता हुआ अन्तमें उच्छिष्टावली मात्र स्थिति शेष राखता है। अनिवृत्तिकरणकालका अन्तिम अवलीमें उस आवली प्रमाण द्रव्यके निषेकोको एक-एक करके प्रति समय अन्य प्रकृति रूप परिणामा कर गलाता है और इस प्रकार उस उच्छिष्टा-वलीके अन्तिम समय अनन्तानुबन्धी चतुष्कका पूरा द्रव्य बारह कषाय और नव नोकषाय रूप हो जाता है।]

[नोट—त्रिकरणोका स्वरूप दे० 'करण']

* सम्यक्त्व व मिश्र प्रकृतिकी उद्वेकना

—दे० संक्रमण/४।

विसंवाद—दे० वाद।

विसदृश—प. ध./पू./३२८ यदि वा तदिह ज्ञान परिणाम परिणमन्न तदिति यत्। स्वावसरे यत्सत्त्व तदसत्त्व परत्र नययोगाद् ३२८।
= ज्ञानरूप परिणाम परिणमन्न करता हुआ 'यह पूर्व ज्ञानरूप नहीं है' यह विसदृशका उदाहरण है। क्योंकि विवक्षित परिणामका अपने समयमें जो सत्त्व है दूसरे समयमें पर्यायार्थिक नयसे उसका वह सत्त्व नहीं है।

विसदृश प्रत्यभिज्ञान—दे० प्रत्यभिज्ञान।

विस्तार—१. जीवकी सकोच विस्तार शक्ति। —दे० जीव/३।
Width or diameter. (ज. प/प्र. १०८)। ३. Details (ध. ५/प्र. २८)।

विस्तार सम्यक्त्व—दे० सम्यग्दर्शन/II/१।

विस्तार सामान्य—दे० क्रम/६/तिर्यक प्रचय।

विस्तारासंख्यात—दे० असंख्यात।

विज्ञसोपचय—

ध. १४/६, ६. ४०२/४३०/११ को विज्ञसोपचयचओणाम । पचणं सरीराणं परमाणुपोग्लानं जे णिद्धादिगुणेहि तेसु पंचसरीरपोग्लानेषु लग्गा पोग्लाना तेसि विज्ञसोपचयचओ ति सण्णा । तेसि विज्ञसोपचयचओणं सबधस्स जो कारण पंचसरीरपरमाणुपोग्लानेषु णिद्धादिगुणो तस्स वि विज्ञसोपचयचओ ति सण्णा, कारणे कज्जुवयारादो ।
=प्रश्न—विज्ञसोपचय किसकी संज्ञा है ? उत्तर—पाँच शरीरोंके परमाणुपुद्गल्लोके मध्य जो पुद्गल स्निग्ध आदि गुणोंके कारण उन पाँच शरीरोंके पुद्गल्लोमें लगे हुए हैं, उनकी विज्ञसोपचय संज्ञा है । उन विज्ञसोपचयोंके सम्बन्धका पाँच शरीरोंके परमाणु पुद्गल्लगत स्निग्ध आदि गुणरूप जो कारण है उसको भी विज्ञसोपचय संज्ञा है, क्योंकि, यहाँ कार्यमें कारणका उपचार किया है ।

गो. जी./मू. व जी प्र./२४६/५१५/१५ जीवाद्योणतगुणा पडिपरमाणुमिह विज्ञसोपचया । जीवेण य समवेदा एवकेवक पडिसमाणा हु १२४६ । विज्ञसा स्वभावैवैव आत्मपरिणामनिरपेक्षतयैव उपचीयन्ते-तत्त्वकर्म-नोर्कम परमाणुस्निग्धरूक्षत्वगुणेन स्कन्धता प्रतिपद्यन्ते इति विज्ञसो-पचया । कर्मनोर्कमपरिणतिरहितपरमाणव इति भावः । =कर्म या नोर्कमके जितने परमाणु जीवके प्रदेशोंके साथ बद्ध हैं, उनमेंसे एक-एक परमाणुके प्रति जीवराशिसे अनन्तानन्त गुणे विज्ञसोपचयरूप परमाणु जीवप्रदेशोंके साथ एक क्षेत्रावगाही रूपसे स्थित है । १२४६ । विज्ञसा अर्थात् आत्मपरिणामसे निरपेक्ष अपने स्वभावसे ही उप-चीयन्ते अर्थात् मिलते हैं वे परमाणु विज्ञसोपचय हैं । कर्म व नोर्कम रूपसे परिणमे बिना जो उनके साथ स्निग्ध व रूक्ष गुणके द्वारा एक स्कन्धरूप होकर रहते हैं वे विज्ञसोपचय हैं ऐसा भाव है ।

★ विज्ञसोपचय बन्ध—दे० प्रदेशबन्ध ।

★ विज्ञसोपचयोंमें अदपबहुत्व—दे० अदपबहुत्व/३ ।

विहायोगति—

स. सि /५/११/६१/७ विहाय आकाशम् । तत्र गतिनिर्वर्तक तद्विहायो-गतिनाम । =विहायस्का अर्थ आकाश है । उसमें गतिक निर्वर्तक कर्म विहायोगति नामकर्म है । (रा. वा./५/११/६७८/११), (ध. ६/१.६-१.२८/६१/१), (गो. क/जी प्र/३३/२६/२२) ।

ध. १३/१.५.१०१/३६५/२ जस्स कमस्सुदण भूमिभोत्ठहियअणोत्ठहिय वा जीवाणमागसे गमण होदि त विहायगदिणामं । =जिस कर्मके उदयसे भूमिका आश्रय लेकर या बिना उसका आश्रय लिये भी जीवोंका आकाशमें गमन होता है वह विहायोगति नामकर्म है ।

ध. ६/१.६-१.२८/६१/२ तिरिक्ख-मणुसाण भूमोए गमण कस्स कम्मस्स उदण । विहायगदिणामस्स । कुदो । विहत्थिमेत्तप्पायजीवपदेसेहि भूमिभोत्ठहिय सयलजीवपसाणायासे गमणुवलभा । =प्रश्न—तिरिक्ख और मनुष्योंका भूमिपर गमन किस कर्मके उदयसे होता है ? उत्तर—विहायोगति नामकर्मके उदयसे, क्योंकि, विहस्तिमात्र (नारह अगुल प्रमाण) पाँचवाले जीवप्रदेशोंके द्वारा भूमिको व्याप्त करके जीवके समस्त प्रदेशोंका आकाशमें गमन पाया जाता है ।

२. विहायोगति नामकर्मके भेद

ध. ख ६.४.६-१/सूत्र ४३/७६ जं त विहायगइणामकम्मं त दुविह, पसरथविहायोगदो अप्पस्सथविहायोगदो चेदि । ४३ । =जो विहायो-गति नामकर्म है वह दो प्रकारका है—प्रशस्त विहायोगति और अप्र-शस्तविहायोगति । (प सं/प्रा/२/४/व्याख्या/४५/११), (स सि / ५/११/३६१/७), (रा. वा /५/११/६७८/१२), (गो. क./जी प्र/ ३३/२६/२२) ।

३. प्रशस्ताप्रशस्त विहायोगति नामकर्म

रा. वा./५/११/६७८/१२ वरवृषभद्विरदादिप्रशस्तगतिकारणं पशस्त-विहायोगतिनाम । उब्भूखराद्यप्रशस्तगतिनिमित्तमप्रशस्तविहायो-गतिनाम चेति । =हाथी बैल आदिकी प्रशस्त गतिमें कारण प्रशस्त विहायोगति नामकर्म होता है और ऊँट, गधा आदिकी अप्रशस्त गतिमें कारण अप्रशस्त विहायोगति नामकर्म होता है ।

४. मनुष्यों आदिमें विहायोगतिका लक्षण कैसे घटित हो

रा वा./५/११/६७८/१४ सिद्धयज्जीवपुद्गलानां विहायोगति कुत इति चेत् । सा स्वाभाविकी । ननु च विहायोगतिनामकर्मोदय पक्ष्यादिष्वेव प्राप्नोति न मनुष्यादिषु । कुत । विहायसि गत्यभा-वात्, नैष दोष सर्वेषा विहायस्येव गतिरवगाहनशक्तियोगात् ।
=प्रश्न—नाम कर्मके अभावमें मुक्तजीवों और पुद्गल्लोमें गति कैसे होती है ? उत्तर—उनकी गति स्वाभाविक है (दे, गति/१) । प्रश्न—विहायोगति नामकर्मका ऐसा लक्षण करनेसे वह पक्षियोंमें ही घटित होगा, मनुष्यादिकोमें नहीं, क्योंकि, उनके आकाशमें ही गमन-का अभाव है ? उत्तर—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, अवगाहना शक्तिके योगसे सभी प्राणियोंके आकाशमें ही गति होती है ।— (और भी, दे, विहायोगति/१ में ध./६) ।

★ विहायोगति नाम कर्मके बंध उदय सत्त्व सम्बन्धी

विषय—दे वह वह नाम ।

विहार—एक स्थानपर रहनेसे राग बढ़ता है इसलिए साधु जन निश्चय विहार करते हैं । वर्षायोगके अतिरिक्त अधिक काल एक स्थानपर नहीं ठहरते । सधमें ही विहार करते हैं, क्योंकि, इस कालमें अकेले विहार करनेका निषेध है । भगवान्का विहार इच्छा रहित होता है ।

१ साधुकी विहार चर्या

★ एकल विहारो साधुका स्वरूप—दे० एकल विहारो ।

१. एकाकी विहार व स्थानका निषेध

मू. आ/गा, स्वच्छंदगदागदसयणणिसियणादाणभिवत्तवोसरणे । स्व-च्छन्दजपरोचिय मामे सत्तुरिव एगागी । १५० । गुरुपरिवादो मुद-बोछेदो तित्थस्स मइलणा जउदा । भेभलकुसीलपासथदा य उस्सारकप्पमिह । १५१ । कंटयत्तणुप्रपडिणियसाणागेणादिसप्पमे-च्छेहि । पावइ आदवित्ती विसेण व विसूइया चेव । १५२ । गारविओ गिद्धोओ माइल्ली अलसलुद्धणिद्धम्मो । गच्छेवि संवसतो णेच्छइ सघाइय मवो । १५३ । आणा अणवत्था विथ मिच्छत्ताराहणादणासो य । सजमविराहणा वि य एदे दु णिकाइया ठाणा । १५४ । तत्थ ण कप्पइ वासो जत्थ इमे णत्थि पच आधारा । आइरियउवज्जायापवत्त-थेरा गणधरा य । १५५ । आइरियकुलं मुच्चा विहरदि समणो य जो दु एगागी । ण य गेण्हदि उवदेस पावसमणोत्ति वुच्चदि दु । १५६ । आग्रियत्तण तुरिओ पुत्रव सिस्सत्तण अकाऊण । हिडइ ढढायरिओ णिरकुसो मत्तहत्थिअ । १६० । =सोना, बैठना, ग्रहण करना, भिक्षा, मल त्याग करना, इत्यादि कार्योंके समय जिसका स्वच्छन्द गमना-गमन है, स्वच्छन्दासे ही बिना अवसर बोलनेमें अनुरक्त है, ऐसा एकाकी मेरा बेरी भी न हो । १५० । गणको छोड़ अकेले विहार करनेमें इतने दोष होते हैं—दीक्षागुरुकी निन्दा, श्रुतका विनाश, जिनशासनमें कलक (जैसे—सब साधु ही ऐसे होयें), मूर्खता, विद्वलता, कुशीलपना, पार्श्वस्थता । १५१ । जो स्वच्छन्द विहार करता

है वह कपड़े, स्थाणु, क्रोधसे आये हुए कुत्ते बिल आदि, सर्प, म्लेच्छ, विष, अजीर्ण, इनके द्वारा मरण व दुःख पाता है। ११२। शिथिलाचारी मुनि ऋद्धि आदि गौरववाला, भोगीकी इच्छावाला, कुटिल स्वभावी, उद्यम रहित, लोभी, पापबुद्धि, होता हुआ मुनिसमूहमें रहते हुए भी दूसरेको नहीं चाहता। ११३। एकाकी स्वच्छन्द विहारी साधुको आज्ञाकोप, अतिप्रसंग, मिथ्यात्वकी आराधना, अपने सम्प्रदर्शनादि गुणोंका घात, समयका घात, ये पापस्थान अवश्य होते हैं। ११४। ऐसे गुरुकुलमें रहना ठीक नहीं, जहाँ आचार्य, उपाध्याय, प्रवर्तक, स्थविर और गणधर ये पाँच मुनिराज सघके आधारभूत न हो। ११५। जो भ्रमण सघको छोड़कर सघ रहित अकेला विहार करता है और दिग्गोपदेशको ग्रहण नहीं करता है वह पाप-भ्रमण कहा जाता है। ११६। जो पहिले शिष्यपना न करके आचार्यपना करनेको वेगवान है वह पूर्वपर विवेकरहित ढोढाचार्य है, जैसे अकुशरहित मतवाला हाथी। ११६०।

सू. पा./मू./१६ उक्किट्टसीहचरियं बहुपरियम्भो य गरुड भारो य । जो विरहि सच्छदं पाव गच्छदि हांदि मिच्छत्त । १। = जो मुनि होकर उत्कृष्ट सिद्धि रूपा प्रवर्तता है, बहुत तपश्चरण आदिसे संयुक्त है, बड़ा पदधारी है, परन्तु स्वच्छन्द प्रवर्तता है, वह पाप व मिथ्यात्वको ही प्राप्त होता है। १।

* एकाकी स्थानमें रहनेकी विधि—दे० विविकित शध्यासन ।

२. एक स्थानमें ठहरनेकी अवधि

मू. आ./७५ गामेयरादिवासी ण्यरे पचाहवास्सिगो धीरा । स्वणा फासुविहारी विविकित्तएगत्वासी य १७८। १। = जो ग्राममें एक रात और नगरमें पाँच दिनतक रहते हैं वे साधु धर्मवात् प्राप्तुक विहारी हैं, स्त्री आदि रहित एकान्त जगहमें रहते हैं—दे० वसतिका ।

बो. पा./टी/४२/१०७/१ वसिते वा ग्रामनगरादौ वा स्थातव्यं, नगरे पञ्चरात्रे स्थातव्यं, ग्रामे विशेषेण न स्थातव्यं। = अथवा, वसतिका या ग्राम नगर आदिमें ठहरना चाहिए। नगरमें पाँच रात ठहरना चाहिए और ग्राममें विशेष नहीं ठहरना चाहिए ।

दे. मासैकवासता—(वसतादि छहो ऋतुओंमेंसे एक एक ऋतुमें एक मास पर्यंत ही एक स्थानमें मुनि निवास करे, अधिक नहीं) ।

दे. पाय स्थिति कल्प—[वर्षाकालमें आषाढ शु १० से कार्तिक शु, पूर्णिमातक एक स्थानमें रहते हैं। प्रयोजनवश अधिक भी रहते हैं। परिस्थितिवश इस कालमें हानि वृद्धि भी होती है] ।

३. साधुकी अनियत विहारी होना चाहिए

भ. आ./वि./उत्थानिका/१४२/३२४/५ योग्यस्य गृहीतमुत्पुपायलिङ्गस्य श्रुतशिक्षापारस्य पञ्चविधविनयवृत्ते' स्ववशीकृतमनस अनियत-वासो युक्त' । = जो समाधिमरणके लिए योग्य है, जिसने मुक्ति-के उपायभूत श्लिगको धारण किया है, जो शास्त्राध्ययन करनेमें तरपर है, पाँच प्रकारका विनय करनेवाले, अपने मनको वश करने वाले, ऐसे मुनियोंके लिए ग्राम नगर आदिक अनियत क्षेत्रमें निवास करना है ।

४. अनियत विहारका महत्त्व

भ. आ./मू./१४२-१५०/३२४-३४४ दसणसोधी ठिदिकरणभावणा, अदियत्तकुसलत्त । खेपरिमगगणावि य अणियदवासे गुणा हीति १४२। जन्मण अभिणिवखवण णाणुपत्ती य तिस्थपिसहीओ । पासंतस्स विजाण सुविमुद्ध वसणं होदि । १४३। सविग्ग सविग्गाण जणयदि सुविहरो । सुविहिदाण जुत्तो आउत्ताण विमुद्धलेस्सो सुलेस्साणं १४४। = अनियत विहारी साधुको सम्प्रदर्शनकी शुद्धि,

स्थितिकरण, रत्नत्रयको भावना व अभ्यास, शास्त्र-कौशल, तथा समाधिमरणके योग्य क्षेत्रकी मार्गणा, इतनी बातें प्राप्त होती हैं। १४२। अनियत विहारीको तीर्थकरीके जन्म, निष्क्रमण, ज्ञान आदिके स्थानोंका दर्शन होनेसे उसके सम्प्रदर्शनमें निर्मलता होती है। १४३। अन्य मुनि भी उसके सवेग वैराग्य, शुद्ध लेश्या, तप आदिको देखकर वैसे ही बन जाते हैं, इसलिए उसे स्थितिकरण होता है। १४४। [तथा अन्य साधुओंके गुणोंको देखकर वह स्वयं भी अपना स्थितिकरण करता है। १४६। परीषह सहन करनेकी शक्ति प्राप्त करता है। १४७। देश-देशान्तरोकी भाषाओं आदिका ज्ञान प्राप्त होता है। १४८। अनेक आचार्योंके उपदेश सुननेके कारण सूत्रका विशेष अर्थ व अर्थ करनेकी अनेक पद्धतियोंका परिज्ञान होता है। १४९। अनेक मुनियोंका संयोग प्राप्त होनेसे साधुके आचार-विहार आदिकी विशेष जानकारी हो जाती है। १५०।]

५. वीतराग सर्वदा अनियत विहारी है

भ. आ./मू./१५२/३५० वसधीसु य उवधीसु य गामे ण्यरे गणे य सण्णजणे । सत्तत्थ अपडिबद्धो समासदो अणियदविहारो १५३। = वसतिका, उपकरण, गाँव, नगर, स्वसघ, श्रावकलोक, इन सबमें जो ममत्व रहित है, वह साधु भी अनियत विहारी है; ऐसा संक्षेपमें जानना चाहिए। १५३।

* चातुर्मासमें व अन्य कालोंमें विहार करने सम्बन्धी कुछ नियम—दे० विहार/१/२ ।

६. विहार विधि योग्य कृतिकर्म

भ. आ./वि./१५०/३४४/६ स्वावासदेशदेशान्निर्गन्तुमिच्छता शीतला-दुष्णाद्वा देशाच्छरीरप्रमार्जनं कार्यं, तथा विशतापि । किमर्थ । शीतोष्णजन्तूनामात्राधापरिहारार्थं अथवा श्वेतरक्तगुणामु भूमिषु अन्यस्या नि क्रमेण अन्यस्याश्च प्रवेशने प्रमार्जनं कटिप्रदेशादध' कार्यं । अन्यथा विरुद्धयोर्निसक्रमेण पृथिवीकायिकाना तद्भूमिभा-गोत्पन्नाना त्रसाना चान्नाधा स्यात् । तथा जलं प्रविशता सचिस्ता-चिन्तरजसो पदादिषु लग्नयोन्निरास । यावच्च पावौ शुष्यतस्तावन्न गच्छेज्जलान्तिक एव तिष्ठेत् । महतीना नदीना उत्तरणे आराज्जागे कृतसिद्धबन्दन' यावत्परकूलप्राप्तिस्तावन्मया सर्व शरीरभोजनमुपक-रणं च परित्यक्तमिति गृहीतप्रत्याख्यान समाहितचित्तो द्रोण्यादि-कमारोहेत् । परकूले च कायोत्सर्गेण तिष्ठेत् । तदतिचारव्यपोहार' । = स्व आवासदेशसे देशान्तरको जानेका इच्छुक साधु जब शीतल रथानसे उष्ण रथानमें अथवा उष्ण रथानसे शीतल रथानमें, श्वेत भूमिसे रक्त भूमिमें अथवा रक्त-भूमिसे श्वेत भूमिमें प्रवेश करता है तब उसे कोमल पीछीसे अपने शरीरका प्रमार्जन करना चाहिए अन्यथा विरुद्ध योनि संक्रम द्वारा धुद्र पृथिवीकायिक व त्रस जीवोंको बाधा होगी । जलमें प्रवेश करनेके पूर्व साधुको पाँव आदि अंगवत्से सचित्त व अचित्त धूलिको दूर करना चाहिए और जलसे बाहर आनेपर जबतक पाँव न सूख जाय तबतक जलके समीप ही खड़ा रहे । बड़ी नदियोंको उल्लंघन करते समय प्रथम तटपर सिद्ध बन्दना कर दूसरे तटकी प्राप्ति होनेतकके लिए शरीर आहार आदिका प्रत्याख्यान करना चाहिए । प्रत्याख्यान करके नौका बगैरहपर आरूढ होवे । और दूसरे तटपर पहुँचकर अतिचार दूर करनेके लिए कायोत्सर्ग करना चाहिए । (भ.आ./वि./६६/२३४/८, १२०६/१२०४/६) ।

* अवसर पड़नेपर नौकाका ग्रहण—दे० ऊपर वाला श्लोक ।

७. साधुके विहार योग्य क्षेत्र व मार्ग

भ आ/मू. व वि/११२/१४६ संजदक्षणस य जहिं फासुविहारो य सुलभवुत्ती य। त खेतं विहरंतो पाहिदि सव्वेहणाजोग्गं। ११२। फासुविहारो य प्रासुकं विहरण जीवनाधारहितं गमनं अत्रसहरित-वहुलत्वात्प्रचुरोदककर्मत्वाच्च क्षेत्रस्य। सुलभवुत्ती य सुखेनावलेशेन लभ्यते वृत्तिराहारो यस्मिंक्षेत्रे। त खेतं त क्षेत्रं। =सयमी मुनिको प्रासुक और सुलभ वृत्ति योग्य क्षेत्रोका अवलोकन करना योग्य है। जहाँ गमन करनेसे जीवोको बाधा न हो, जो त्रस जीवो व बनस्पतियोसे रहित हो, जहाँ बहुत पानी व कीचड न हो वह क्षेत्र प्रासुक है। मुनियोके विहारके योग्य है। जिस क्षेत्रमे मुनियोको सुलभतासे आहार मिलेगा वह क्षेत्र अपनेको व अन्य मुनियोको सव्वेखनाके योग्य है।

मू. आ./३०४-३०६ सयडं जाण जुगं वा रहो वा एवमादिद्या। बहुसो जेण गच्छंति सो मग्गो फासुओ हवे। ३०४। हत्थी अस्सो खरोट्ठो वा गोमहिसगवेलया। बहुसो जेण गच्छंति सो मग्गो फासुओ हवे। ३०५। इच्छी पुसादि गच्छंति आदावेण य ज हद। सत्थपरिणदा चेव सो मग्गो फासुओ हवे। ३०६। =बैलगाडी, हाथीकी अबारी, डोली आदि, रथ इत्यादिक बहुत बार जिस मार्गसे चलते हो वह मार्ग प्रासुक है। ३०४। हाथी, घोडा, ऊँट, गाय, भैंस, बकरी आदि जो व बहुत बार जिस मार्गसे गये हो, वह मार्ग प्रासुक है। ३०५। स्त्री, पुरुष, जिस मार्गमें तेजोसे गमन करे और जो सूर्य आदिके आतापसे व्याप्त हो, तथा हलादिसे जोता गया हो, वह मार्ग प्रासुक है। ऐसे मार्गसे चलना योग्य है। ३०६।

२. अर्हत भगवान्की विहार चर्या

★ भगवान्का विहार इच्छा रहित है—दे० दिव्य-ध्वनि/१/२

१. आकाशमें पदविक्षेप द्वारा गमन होता है

स्व स्तो/१०८. भूरपि रम्या प्रतिपदमासीज्जातविकोशांशाम्बुज-मृदुहासा। १०८। =हे मल्लिनाथ जिन! आपके विहारके समय पृथिवी भी पद-पदपर विकसित कमलोसे मृदु हास्यको लिये हुए रमणीक हुई थी।

ह. पु/३, २४ पादपत्रं जिनेन्द्रस्य सप्तपद्मे पदे पदे। भुवेव नभसा-गच्छदुद्गच्छन्नि प्रपूजितम्। २४। =भगवान् पृथिवीके समान आकाश मार्गसे चल रहे थे, तथा उनके चरण कमल पद-पदपर खिले हुए सात-सात कमलोसे पूजित हो रहे थे। २४। (चैत्यभक्ति/१ की टीका)।

एकोभावस्तोत्र/७ पादन्यासादपि च पुनतो यात्रया ते त्रिलोकी, हेमाभासो भवति सुरभि श्रीनिवासश्च पत्र। ७। =हे भगवन्! आपके पादन्याससे यह त्रिलोककी पृथिवी स्वर्ण सरीखी हो गयी।

भक्तान्तर स्तोत्र/३६ पादौ पदानि तव यत्र जिनेन्द्र धस्त पद्मानि तत्र विबुधा धरिकरुपयन्ति। ३६। =हे जिनेन्द्र! आप जहाँ अपने दोनो चरण रखते हैं वहाँ ही देव जन कमलोकी रचना कर देते हैं।

दे० अर्हत/६. —('आकाश गमन' यह भगवान्के केवलज्ञानके अति-शयोमे-से एक है)।

चैत्य भक्ति/टीका/१ तथा वा प्रचारो रचना 'पादन्यासे पत्रं सप्त पुर' पृथतश्च सप्त इत्येवंरूपं तत्र विजृम्भितौ प्रवृत्तौ विलसितौ वा। = [मूलमे 'हेमाम्भोजप्रचारविजृम्भितौ' ऐसा पद है। उसका अर्थ करते हैं।] भगवान्के दोनो चरणोका प्रचार अर्थात् रचना। भगवान्के

पादन्यासके समय उनके चरणोके नीचे सात सात कमलोकी रचना होती है। उससे उनके चरण शोभित होते हैं।

२. आकाशमें चरणक्रम रहित गमन होता है

चैत्य भक्ति/टीका/१ प्रचार' प्रवृणोऽन्यजनासंभवी चरणक्रमसंचार-रहितश्चारो गमनं तेन विजृम्भितौ विलसितौ शोभितौ। = [मूल श्लोकमे 'हेमाम्भोजप्रचारविजृम्भितौ' यह पद दिया है। इसका अर्थ करते हैं] प्रचार अर्थात् प्रकृत चार या गमन। अन्य जनोको जो सम्भव नहीं ऐसा चरणक्रम संचारसे रहित गमनके द्वारा भगवान्के दोनो चरण शोभित होते हैं।

३. कमलासनपर बैठे-बैठे ही विहार होता है

जिन सहस्रनाम (ज्ञानपीठ प्रकाशन)। पृ २०७, १०८, १०, १६७, १८३ का भावार्थ—[भगवान् ऋषभदेवका केवलज्ञान काल कुछ कम पूर्वकोटि और भगवान् महावीरका ३० वर्ष प्रमाण था—(दे० तीर्थकर/५)।]—उपरोक्त प्रमाणोमे भगवान्को उत्कृष्ट कुछ कम पूर्वकोटि और जघन्यतः ३० वर्षप्रमाण कालतक पद्मासनसे स्थित रहना बताया है। इस प्रकार अपने सम्पूर्ण केवलज्ञान कालमें एक आसनपर स्थित रहते हुए ही विहार व उपदेश आदि देते हैं। अथवा जिन १००० पॉखुडो वाले स्वर्ण कमलपर ४ अंगुल ऊँचे स्थित है वही कमलासन या पद्मासन है। ऐसे पद्मासनसे ही वे उपदेश व विहार आदि करते हैं।

विहारवत् स्वस्थान—दे क्षेत्र/१।

वीचार—दे विचार।

वीचारस्थान—दे स्थिति/१।

वीतभय—म. पु./५६/श्लोक—पूर्व घातकी खण्डमें राजा अर्हदासकी पुत्रीसे उत्पन्न एक बलभद्र था। दीर्घकाल राज्य किया। २७६-२७६। अन्तमे दीक्षा ले लान्तव स्वर्गमें उत्पन्न हुआ। २८०। यह 'मेरु' नामक गणधरका पूर्वका दूसरा भव है—दे मेरु।

वीतराग—१. लक्षण

घ. १/१. १. १६/१८५/६ वीतो नष्टो रागो येषा ते वीतरागाः। =जिनका राग नष्ट हो गया है उन्हें वीतराग कहते हैं।

प्र. सा/ता. प्र/१४ सकलमोहनीयविपाकविवेकभावनासौष्ठवस्फुटोक्त-निर्विकारारमस्वरूपत्वाद्द्विगतराग। =सकल मोहनीयके विपाकसे भेदकी भावनाकी उत्कृष्टतासे (समस्त मोहनीय कर्मके उदयसे भिन्न-त्वकी उत्कृष्ट भावनासे निर्विकार आरमस्वरूपको प्रगट किया होनेसे जो वीतराग है, (वह भ्रमण शुद्धोपयोगी है)।

ल सा/जी. प्र./३०४/३८४/१७ वीतोऽपगतो राग संव्लेशपरिणामो यस्मादसौ वीतरागः। =राग अर्थात् सव्वेश परिणाम नष्ट हो जानेसे वीतराग है।

दे. सामायिक/१/समता (समता, माध्यस्थ्य, शुद्धभाव, वीतरागता, चारित्र, धर्म, स्वभावकी आराधना ये सब एकार्थवाची है।)— (और भी दे मोक्षमार्ग/२/५)

★ वैराग्य व वैरागी—दे, वैराग्य।

वीतराग कथा—दे, कथा।

वीतराग चारित्र—दे, चारित्र/१।

वीतराग छद्मस्थ—दे, छद्मस्थ/२।

वीतराग सम्यग्दर्शन—दे, सम्यग्दर्शन/II/४।

वीतराग स्तोत्र—श्वेताम्बरार्चय हेमचन्द्र सूरि (ई. १०८८-११७३) कृत एक संस्कृत छन्दबद्ध स्तोत्र।

वीरशोक—१. एक ग्रह—दे. ग्रह। २. विजयार्धकी उत्तर श्रेणीका एक नगर—दे. विद्याधर।

वीरशोका—१. अपर विदेहके सरित क्षेत्रकी प्रधान नगरी—दे. लोक/२, २. नन्दीश्वर द्वीपकी दक्षिण दिशामे स्थित एक वापी—दे. लोक/४/५ व ५/११।

वीर—१. नि./सा./ता. वृ./१ वीरो विक्रान्त वीरयते शूरयते विक्रामति कर्मारतीन् विजयत इति वीर—श्री वर्द्धमान-सन्मतिनाथ-महतिमहावीराभिधाने सनाथ परमेश्वरो महादेवाधिदेव परिचम-तार्थनाथ । = 'वीर' अर्थात् विक्रान्त (पराक्रमी), वीरता प्रगट करे, शौर्य प्रगट करे, विक्रम (पराक्रम) दशमि, कर्म शत्रुओपर विजय प्राप्त करे, वह 'वीर' है। ऐसे वीरको जो कि श्री वर्द्धमान, श्री सन्मतिनाथ, श्री अतिवीर तथा श्री महावीर इन नामोसे युक्त है, जो परमेश्वर है, महादेवाधिदेव है तथा अन्तिम तोर्थनाथ है।— (विशेष.दे. महावीर)। २. म. पु./सर्ग/१लो—अपर नाम गुणसेन था। (४७/३७५)। पूर्व भव नं. ६ मे नामदत्त नामका एक वणिक्-पुत्र था। (८/२३१)। पूर्व भव न. ५ में बानर (५/२३३)। पूर्व भव न. ४ में उत्तरकुरुमे मनुष्य। (६/६०)। पूर्व भव न. ३ मे ऐशान स्वर्गमे देव। (६/१८७)। पूर्व भव नं २ में रतिषेण राजाका पुत्र चित्राग (१०/१५१)। पूर्व भव न. १ में अच्युत स्वर्गका इन्द्र (१०/१७२) अथवा जयन्त स्वर्गमे अहमिन्द्र (११/१०, १६०)। वर्तमान भवमें वीर हुआ (१६/३)। [युगपत् सर्वभवे, म. पु./४७/३७४-३७५] भरत चक्रवर्तीका छोटा भाई था (१६/३)। भरत द्वारा राज्य माँगनेपर दोषा धारण कर ली (३४/१२६)। भरतकी मुक्तिके पश्चात् भगवान् ऋषभदेवके गुणसेन नामक गणधर हुए (४७/३७५)। अन्तमे मोक्ष सिधारे (४७/३६६)। ३. विजयार्धको उत्तर श्रेणीका एक नगर—दे. विद्याधर। ४. सौधर्म स्वर्गका ५वाँ पटल—दे. स्वर्ग/५/३।

वीरचंद्र—१. नागसेन (ई. १०४७) के शिक्षा गुरु। समय तदनुसार ई. श. ११ पूर्व। (दे. नागसेन। २. नन्दिसंघ बलात्कार गण की सूरत शाखा में लक्ष्मीचंद्र के शिष्य। कृतिये—वीर विलास फाग, जम्बू स्वामी वेलि, जिनान्तर, सीमन्धर स्वामी गीत इत्यादि ८ काव्य। समय—वि. १५६६-१५८५। (दे. इतिहास/७/४), (ती./३/३७४)।

वीरजयंतीव्रत—भगवान् वीरकी जन्म तिथिको अर्थात् चैत्र शु. १३ को उपवास करे। 'ओ ह्री श्री महावीराय नमः' इस मन्त्रका त्रिकाल जाप्य करे।

वीरनंदि—१. नन्दिसंघ बलात्कारगणकी गुर्वावलीके अनुसार आप वसुनन्दिके शिष्य तथा रत्ननन्दिके गुरु थे। समय—विक्रम शक सं. ५३६-५६१ (ई. ६०६-६३६)—(दे. इतिहास/७/२)। २. नन्दिसंघ देशीयगण के अनुसार आप पहले मेघचन्द्र त्रैविद्य के शिष्य थे और पीछे विशेष अध्ययन के लिए अभयनन्दिकी शाखा में आ गए थे। इन्द्रनन्दि तथा नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती के सहधर्मा थे, परन्तु ज्येष्ठ होने के कारण आपको नेमिचन्द्र गुरु तुल्य मानते हैं। कृतिये—चन्द्रप्रभ चरित्र (महाकाव्य), शिल्पसंहिता, आचारसाग। समय—नेमिचन्द्र के अनुसार ई. ६५०-६६६। (दे. इतिहास/७/५), (ती./३/५३-५५)। ३. नन्दिसंघ देशीयगण की गुणनन्दि शाखा के अनुसार आप दाम नन्दिके शिष्य तथा श्रीधर के गुरु थे। समय—वि. १०२६-१०५५ (ई. ६६८-६९८)। (दे. इतिहास/७/५)। ४. नन्दिसंघ देशीयगण के अनुसार आप मेघचन्द्र त्रैविद्य देव के शिष्य हैं। कृति—आचारसार तथा उसकी कन्नड टीका। समय—मेघचन्द्र के

समाधिकाल (शक १०३७) के अनुसार ई. श. १२ का मध्य। (ती./३/२७१)।

वीरनिर्वाण संवत्—दे. इतिहास/२/२, २० (विशेष दे. कोश १/ परिशिष्ट/११)।

वीर मातंडी—बामुण्डराय (ई. श. १०-११) द्वारा रचित गोमह-सारकी कन्नड वृत्ति।

वीरवित—पुत्राटसवकी गुर्वावलीके अनुसार आप सिंहवनके शिष्य तथा पद्मसेनके गुरु थे—दे. इतिहास/७/८।

वीर शासन दिवस—दे. महावीर।

वीर शासन जयंतीव्रत—भगवान् वीरकी दिव्यध्वनिकी प्रथम तिथि श्रावण कृ. १ को उपवास करे। 'ओ ह्री श्री महावीराय नमः' इस मन्त्रका त्रिकाल जाप्य करे। (व्रत विधान संग्रह/पृ. १०४)।

वीरसागर—बम्बई प्रान्तके वीर ग्राम निवासी एक खण्डेलवाल जैन थे। पिताका नाम रामदास था। श्री शान्तिसागरके शिष्य तथा आ. शिवसागरके गुरु थे। आश्विन शु. ११ वि. १६८१ को दक्षित हुए। अपने अन्तिम दो वर्षोंमें आचार्य पदपर आसीन रहे। समय—वि. १६८१-२०१४ (ई. १६२४-१६५७)।

वीरसेन—१. पंचस्तुप सद्य के अन्वय में आप आर्यनन्दिके शिष्य और जिनसेन के गुरु थे। चित्रकूट निवासी ऐलाचार्य के निकट सिद्धान्त शास्त्रों का अध्ययन करके आप बाटग्राम (बडौदा) आ गए। वहां के जिनालय में षटखण्डागम तथा कषायपाठुड की आ कल्पदेव कृत व्याख्या देखी जिससे प्रेरित होकर आपने इन दोनों सिद्धान्त ग्रन्थों पर ध्वला तथा जयध्वला नाम की विस्तृत टीकाये लिखी। इनमें से जयध्वला की टीका इनकी मृत्यु के पश्चात् इनके शिष्य जिनसेनाचार्य ने ई. ८३७ में पूरी की थी। ध्वला की पूर्ति के विषय में मतभेद है। कोई ई. ८९६ में और कोई ई. ७८९ में मानते हैं। हरिवंश पुराण में पुननाटसधीय जिनसेन द्वारा जयध्वलाकार जिनसेन का नामोल्लेख प्राप्त होने से यह बात निश्चित है कि शक ७०३ (ई. ७८१) में उनकी विद्यमानता अवश्य थी। (दे. कोष २ में परिशिष्ट १)। पुननाट संघ की गुर्वावली के साथ इसकी तुलना करने पर हम वीरसेन स्वामी को शक ६६०-७४१ (ई. ७७०-८२७) में स्थापित कर सकते हैं। (जै./१/२५६), (ती./२/३२४)। २. माथुरसंघ की गुर्वावली के अनुसार आप रामसेन के शिष्य और देवसेन के गुरु थे। समय—वि. ६५०-६८० (ई. ८८३-९१३)। (दे. इतिहास/७/११)। ३. लाडवागड गच्छ का गुर्वावली के अनुसार आप ब्रह्ममेन के शिष्य और गुणसेन के गुरु थे। समय—वि. ११०५ (ई. १०४८)। (दे. इतिहास/७/१०)।

वीरसेन—ह. पु./१३/१लो. न—वटपुर नगर का राजा था। १६३। राजा मधु द्वारा स्त्रीवा अपहरण हो जाने-पर पागल हो गया। ११७। तापस हाकर तप किया, जिसके प्रभावसे धूमकेतु नामका विद्याधर हुआ। १२१। यह प्रद्युम्न कुमारकी हरण करनेवाले धूमकेतुका पूर्व भव है।—दे० धूमकेतु।

वीरासन—दे. आसन।

वीर्य—

स. सि./६/६/३२३/१२ द्रव्यस्य स्वशक्तिविशेषो वीर्यम्। = द्रव्यकी अपनी शक्ति विशेष वीर्य है। (रा. वा./६/६/६/१२/७)।

ध. १३/५.५, १३८/३६०/३ वीर्य शक्तिरित्यर्थः । = वीर्यका अर्थ शक्ति है ।
मोक्ष पंचाशत/४७ आत्मनो निर्विकारस्य कृतकृत्यत्वधीश्च या ।
उत्साहो वीर्यमिति तत्कीर्तितं मुनिपुंगवै । ४७। = निर्विकार आत्मा-
का जो उत्साह या कृतकृत्यत्वरूप बुद्धि, उसे ही मुनिजन वीर्य
कहते हैं ।

स. सा /आ./परि/शक्ति नं. ६ स्वरूपनिर्वर्तनसामर्थ्यरूपा वीर्यशक्ति ।
= स्वरूप (आत्मस्वरूपकी) रचनाकी सामर्थ्यरूप वीर्य शक्ति है ।

२. वीर्यके भेद

न. च. वृ/१४ को टिप्पणी—क्षायोपशमिकी शक्ति क्षायिकी चेति
शक्तेर्द्वौ भेदौ । = क्षायोपशमिकी व क्षायिकीके भेदसे शक्ति दो
प्रकार है ।

३. क्षायिक वीर्यका लक्षण

स. सि /२/४/१५४/१० वीर्यान्तरायस्य कर्मणोऽत्यन्तक्षयादाविर्भूतमन-
न्तवीर्यं क्षायिकम् । = वीर्यान्तराय कर्मके अत्यन्त क्षयसे क्षायिक
अनन्त वीर्य प्रगट होता है । (रा. वा /२/४/६/१०६/६) ।

रा. वा /२/४/७/१५४/१५ केवलज्ञानरूपेण अनन्तवीर्यवृत्ति । = सिद्ध-
भगवान्में केवलज्ञानरूपसे अनन्त वीर्यकी वृत्ति है ।

प. प्र/टी/१/६१/६१/१२ केवलज्ञानविषये अनन्तपरिच्छिन्तिशक्तिरूपम-
नन्तवीर्यं भण्यते । = केवलज्ञानके विषयमें अनन्त पदार्थोंको जाननेकी
जो शक्ति है वही अनन्तवीर्य है (द्र. स /टी/१/४/४२/११) ।

४. वीर्यगुण जीव व अजीव दोनोंमें होता है

गो. क./जी. प्र /१६/११/१० वीर्यं तु जीवाजीवगतमिति । = वीर्य जीव
तथा अजीव दोनोंमें पाया जाता है ।

५. वीर्य सर्व गुणोंका सहकारी है

द्र. सं./टी/५/१५/७ छद्मस्थानां वीर्यान्तरायक्षयोपशम' केवलिना तु
निरवशेषक्षयो ज्ञानचारित्राद्युत्पत्तौ सहकारी सर्वत्र ज्ञातव्य' ।
= छद्मस्थानोंके तो वीर्यान्तरायका क्षयोपशम और केवलियोंके
उसका सर्वथा क्षय ज्ञान चारित्र आदिको उत्पत्तिमें सर्वत्र सहकारी
कारण है ।

* सिद्धोंमें अनन्त वीर्य क्या—दे. दान/२ ।

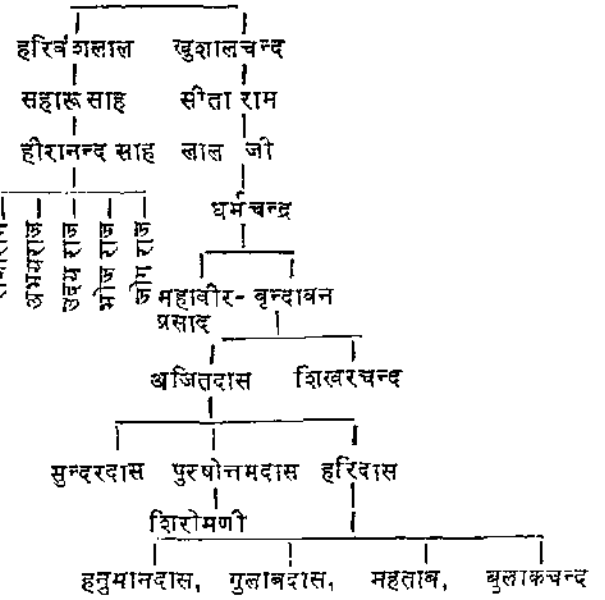
वीर्य प्रवाद—श्रुतज्ञानका तीसरा पूर्व—दे. श्रुतज्ञान/III ।

वीर्य लब्धि—दे. लब्धि/१ ।

वीर्यांतराय—दे. अन्तराय ।

वीर्याचार—दे. आचार ।

वृन्दावन—शाहानाद जिलेके बनारस व आराके सप्त्य बारा नामके
ग्राममें वि. १८४२ में जन्म हुआ । अष्टमालवशके गोयल मोत्री थे ।
पीछे वि. स. १८६० में बारा छोड़कर काशी रहने लगे । भाषाके
प्रसिद्ध कवि थे । प्रवचनसारकी प्रशस्तिके अनुसार आपकी वंशावली
निम्न प्रकार है—



कृतियाँ—१ तोस चौबीसी पाठ, २ चौबीसी पाठ, ३, समवशरण
पूजा पाठ, ४, अर्हत्पासाकेवली, ५, छन्दशतक, ६ वृन्दावन विलास,
(पिंगल ग्रन्थ), ७, प्रवचनसार टीका । समय, ई. १८०३-१८४८ ।
वि. १८६०-१९०५ । वि. १९०५ में अन्तिम कृति प्रवचनसार टीका पूरी
की । (वृन्दावन विलास/प्र ५/प्रेमी जी) । (ती०/४/२६६)

वृन्दावन विलास—कवि वृन्दावन (ई १८०३-१८४८) रचित एक
भाषा पदसंग्रह ।

वृन्दावली—आवलीके समय/३ ।

वृकार्यक—भरतक्षेत्र मध्य आर्यखण्डका एक देश—दे. मनुष्य/४ ।

वृक्ष—जेनाम्नायमें कल्पवृक्ष व चैत्य वृक्षोंका प्रत्यय कथन आता है ।
भोगभूमिमें मनुष्योंकी सम्पूर्ण आवश्यकताओंको चिन्ता मात्रसे
पूरी करने वाले कल्पवृक्ष है और प्रतिमाओंके आश्रयभूत चैत्यवृक्ष
है । यद्यपि वृक्ष कहलाते हैं, परन्तु ये सभी पृथिवीकायिक होते
हैं, वनस्पति कायिक नहीं ।

१. कल्पवृक्ष निर्देश

१. कल्पवृक्षका सामान्य लक्षण

ति. प /४/३४१ गामण्यरादि सव्व ण होदि ते हींति सव्वकप्पतरू ।
णियणियमणसंकप्पियवत्थूणि देति जुगल्लाणं । ३४१। = इस (भोग-
भूमिके) समय वहाँपर गाँव व नगरादिक सब नहीं होते, केवल
वे सब कल्पवृक्ष होते हैं, जो जुगलोंको अपने-अपने मनकी कल्पित
वस्तुओंको दिया करते हैं ।

२. १० कल्पवृक्षोंके नाम निर्देश

ति. प /४/३४२ पाणंगवूरियंया भूषणवत्थंगभोग्यंया य । आल्लय-
दीवियभायणमालातेजग आदि कप्पतरू । ३४२। = भोगभूमिमें
पानाग, तूर्याग, भूषणाग, वस्त्राग, भोजनाग, आल्लयाग, दीपाग,
भाजनाग, मालाग और तेजाग आदि कल्पवृक्ष होते हैं । ३४२। (म.
पु /६/३५), (त्रि सा./७८७) ।

३. १० कल्पवृक्षोंके लक्षण

ति. प /४/३४३-३५३ पाणं मधुरसुसादं अरसेहिं जुव पसत्थमइसीद ।
बन्नीसभेदजुत्त पाणगा देति तुट्ठिठ्ठुट्ठियर । ३४३। तूरगा

वरवीणापट्टपटहमुईगभ्रलरीसंखा । दंतुभिर्भभाभेरीकाहलपहुदाह
 देति तूरगा १३४४। तरओ वि भ्रसणगा ककणकडिमुत्तहारकेयूर ।
 मंजीरकडयकुंडलतिरोडमउडादिय देति १३४५। वरथंगा णित्त पड-
 चीणसुवरखउमपहुदिवस्थाणि । मणयणयाणदकरं णाणावत्थादि ते
 देति १३४६। सोलसविहमाहार सोलसमेयाणि वैजणाणि पि ।
 चोदसविहसोवाइ खजाणि विगुणचउवण १३४७। सायाणं च
 पयारे तेसट्ठीसंजुदाणि तिसयाणि रसभेदा । तेसट्ठी देति फुडं
 भोयण गदुमा १३४८। सत्थिअणदावत्तपमुहा जे के वि दिव्वपासादा ।
 सोलसभेदा रम्मा देति हुते आलयगदुमा १३४९। दीवदुमा साहाप-
 बालफलकुसुममकुरादीहि । दोवा इव पञ्जलिदा पासादे देति
 उज्जोव १३५०। भायणअगा कचणनहुरयणविणिम्मियाइ धवलाइ ।
 भिंगारकलसगगरिचामरपोढादिय देति १३५१। वरलीतरुपुच्छल-
 दुम्भवाण सोलससहस्सभेदाण । मालागदुमा देति हु कुसुमाणं
 विविहमालाओ १३५२। तेजगा मज्झदिणदिणयरकोडीणकिरण-
 संकासा । णत्तवत्तचइसरपहुदोणं कतिसहरणा १३५३।

म. पु २/३७-३९ मद्याङ्गा मधुमैरेयसीध्वरिष्टासवादिक्वात् । रसभेदास्त-
 तामोदात् वितरन्त्यमृतोपमात् १३७। कामोद्दोषनसाधर्म्यात् मद्य-
 मित्युपचर्यते । तारवो रसभेदोऽयं य सेव्यो भोगभूमिजै १३८। मद-
 स्य करण मद्य पानशौण्डेयदाहृतम् । तद्वर्जनीयमार्याणाम् अन्तं करण-
 मोहइम् १३९। = इनमें से पानांग जातिके कल्पवृक्ष भोगभूमिजोको
 मधुर, सुस्वादु, छह रसोसे युक्त, प्रशस्त, अतिशीत और तुष्टि एव पुष्टि-
 को करनेवाले, ऐसे बत्तीस प्रकारके पेय द्रव्यको दिया करते हैं। (इसी-
 का अपर नाम मद्यांग भी है, जिसका लक्षण अन्तमे किया है) १३७३।
 त्र्यांग जातिके कल्पवृक्ष उत्तम बीणा, पट्ट, पटह, मृदग, भालर,
 शख, दुदुभि, भंभा, भेरी और काहल इत्यादि भिन्न-भिन्न प्रकारके
 वादियोंको देते हैं १३७४। भूषणांग जातिके कल्पवृक्ष ककण, कटि-
 सूत्र, हाग, केयूर, मजोर, कटक, कुण्डल, किरोट और मुकुट इत्यादि
 आभूषणोंको प्रदान करते हैं १३७५। वे वस्त्रांग जातिके कल्पवृक्ष
 नित्य चीनपट एव उत्तम क्षौमादि वस्त्र तथा अन्य मन और नयने-
 को आनन्दित करनेवाले नाना प्रकारके वस्त्रादि देते हैं १३७६।
 भोजनांग जातिके कल्पवृक्ष सोलह प्रकारका आहार व सोलह प्रकार-
 के व्यजन, चौदह प्रकारके मूप (दाल आदि), एक सौ आठ प्रकारके
 खाद्य पदार्थ, खाद्य पदार्थोंके तीन सौ तिरैसठ प्रकार, और तिरैसठ
 प्रकारके रसभेदोंको पृथक्-पृथक् दिया करते हैं १३७७-१३८८। आल-
 यांग जातिके कल्पवृक्ष, स्वस्तिक और नन्धावर्त इत्यादिक जो
 सोलह प्रकारके रमणीय दिव्य भवन होते हैं उनको दिया करते हैं ।
 १३४९। दीपांग जातिके कल्पवृक्ष प्रासादोंमें शाखा, प्रवाल (नवजात
 पत्र), फल फूल और अकुरादिके द्वारा जलते हुए दीपकोंके समान
 प्रकाश देते हैं १३५०। भाजनांग जातिके कल्पवृक्ष सुवर्ण एव बहुतसे
 रत्नोंसे निर्मित धवन झारी, कलश, गगन, चामर, और आसनादिक
 प्रदान करते हैं १३५१। मालांग जातिके कल्पवृक्ष वल्ली, तरु, गुच्छ,
 और लताओसे उत्पन्न हुए सोलह हजार भेदरूप पुष्पोंकी विविध
 मालाओंको देते हैं १३५२। तेजांग जातिके कल्पवृक्ष मध्यदिनके
 करोड़ों सूर्योकी किरणोंके समान होते हुए नक्षत्र, चन्द्र, और सूर्य-
 दिक्की कान्तिका सहरण करते हैं १३५३। (म पु १/१३९-४८)
 (पानांग जातिके कल्पवृक्षको मद्यांग भी कहते हैं) इनमें मद्यांग
 जातिके वृक्ष फलती हुई सुगन्धीसे युक्त तथा अमृतके समान मीठे
 मधु-मैरेय, सीधु, अरिप और आसव आदि अनेक प्रकारके रस देते
 हैं १३७। कामोद्दोषनकी समानता होनेसे शीघ्र ही इन मधु आदिको
 उपचारसे मद्य कहते हैं। वास्तवमें ये वृक्षोंके एक प्रकारके रस हैं
 जिन्हें भोगभूमिमें उत्पन्न होनेवाले आर्य पुरुष सेवन करते हैं १३८।
 मद्यांगी लाग जिस मद्यका पान करते हैं, वह नशा करने वाला है
 और अन्त करणको महित करने वाला है, इसलिए आर्य पुरुषोंके
 लिए सर्वथा व्याज्य है १३९।

* वृक्षों व कमलों आदिका अवस्थान, विस्तार व चित्र
 —दे० लोक ।

१. कोकमें वर्णित सब वृक्ष व कमल आदि पृथिवी-
 कायिक होते हैं

ति प ४/गाथा नं. गंगाणईण मज्जे उब्भत्सदि एउ मणिमओ कूडो ।
 १२०५। विद्यत्तियकमलायारो रम्मा वेरुत्तियणालसजुत्तो १०० १२०६।
 चामोयरकेसरेहि संजुत्तो १२०७। ते सव्वे कप्पदुमा ण वणफदी णो
 वेतरा सव्वे । णवरि पुढविसरूवा पुण्णफल देति जीवाणं १३५४।
 सहिदो विद्यसिअकुसुमेहि सुहसचयरयणरचिदेहि १६६९। दहमज्जे
 अरविदयणाल बादालकोसमुत्तिव्व । इगिकोस बाह्वलं तस्स सुणालं
 ति रजदमयं १६६७। कदो यरिदुरयण णालो वेरुत्तियरयणणिम्म-
 विदो । तस्सुवरि दरवियसियपउम चउकोसमुत्तिव्व १६६८। सोहेदि
 तस्स खंधो फुरतवरकिरणपुस्सरागमओ १२१५५। साहासुं पत्ताणि
 मरगयवेरुत्तियणीलइदाणि । विविहाइ कक्केयणचामोयरविइदुम-
 मयाणि १२१५७। सम्मलितरुणो अकुर कुसुमफलाणि विचित्तरय-
 णाणि । पणपवणसोहिदाणि णिरुवमरूवाणि रेठंति १२१५८। साम-
 लिरुक्खसरिच्छ जवूक्खवाण वणण सयलं १२१६६।

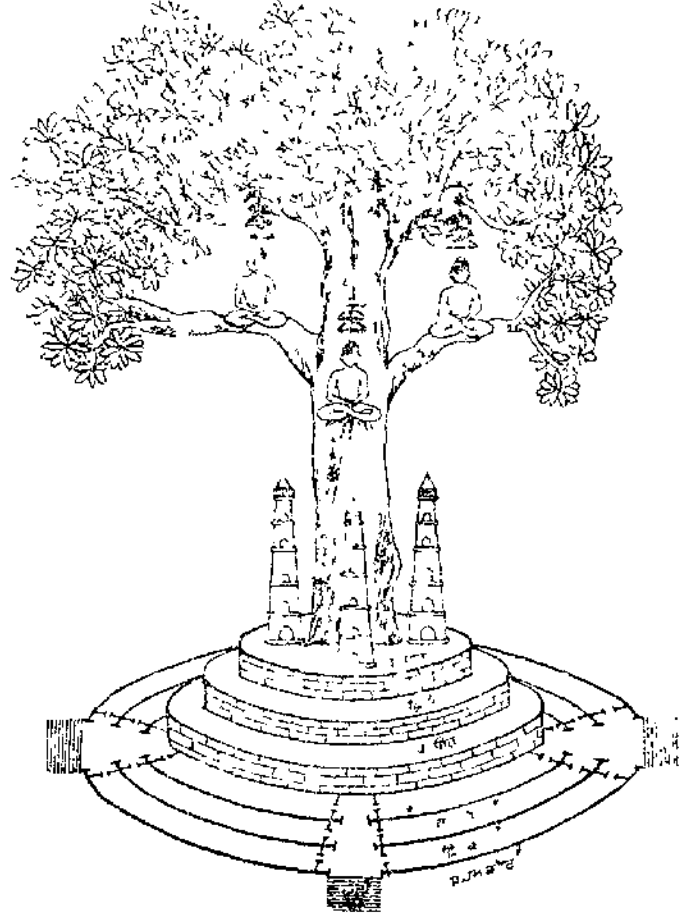
ति प ८/४०६ सयलितमदिराणं पुरदो णग्गोहपायवा होति । एककेवक
 पुढमिमया पुब्बोदिद जवुदुमसरिसा ४०५। = १ गंगा नदीके बीचमें
 एक मणिमय कूट प्रकाशमान है १२०७। यह मणिमय कूट विकसित
 कमलके आकार, रमणीय और वैदूर्यमणि नालमें संयुक्त है १२०६।
 यह सुवर्णमय परागसे संयुक्त है १२०७। (ति, प ४/३६३-३६५) ।
 २ ये सब कल्पवृक्ष न तो वनस्पति ही हैं और न कोई व्यन्तर देव
 हैं, किन्तु विशेषता यह है कि ये सब पृथिवीरूप होते हुए जीवोंको
 उनके पुण्य कर्मका फल देते हैं १३५४। (म पु १/१४९), (अन ध /
 १/३८/५८ पर उद्धृत । ३, पद्य द्रह शुभ सचय युक्त रत्नोंसे रचे गये
 विकसित फूलोंसे सहित है १६६९। तालाबके मध्यमें व्यालीस
 कोस ऊँचा और एक कोस मोटा कमलका नाल है। इसका मृणाल
 रजतमय और तीन कोस बाह्यसे युक्त है १६६७। उस कमलका
 कन्द अरिष्ट रत्नमय और नाल वैदूर्य मणिसे निर्मित है। इसके
 ऊपर चार कोस ऊँचा विकसित पत्र है १६६८। (सो कमल पृथिवी
 साररूप है वनस्पति रूप नाही है—(त्रि, सा/भाषाकार) (त्रि, सा/
 ५६६) । ४ उस शास्त्रमाली वृक्षका प्रकाशमान और उत्तम किरणोंसे
 संयुक्त पुत्रराजमय स्कन्ध शोभायमान है १२१५५। उसकी शाखाओं-
 में मरकत, वैदूर्य, इन्द्रनील, कर्कतन, सुवर्ण और मूँगेसे निर्मित
 विविध प्रकारके पत्ते हैं १२१५७। शास्त्रमाली वृक्षके विचित्र रत्नस्वरूप
 और पाँच वर्णोंसे शोभित अनुपम रूपवाले अंकुर, फूल एव फल
 शोभायमान हैं १२१५८। जम्बूवृक्षोंका सम्पूर्ण वर्णन शास्त्रमाली वृक्षों-
 के ही समान है १२१६६। ५ समस्त इन्द्र मन्दिरोंके आगे न्यग्रोध
 वृक्ष होते हैं। इनमें एक एक वृक्ष पृथिवीस्वरूप और पूर्वोक्त जम्बू-
 वृक्षके सदृश है। (८/४०४) ।

स. सि ३/सूत्र/पृष्ठ/पक्ति उत्तरकुरुणा मध्ये जम्बूवृक्षोऽनादिनिघन'
 पृथिवीपरिणामोऽकृत्रिम सपरिवार । (१/२१२/६) जम्बूद्वीपे यत्र
 जम्बूवृक्ष स्थित, तत्र धातकीखण्डे धातकीवृक्ष सपरिवार । (३३/
 २२७/६) । यत्र जम्बूवृक्षस्तत्र पुष्कर सपरिवारम् । (३४/२२८/४) ।
 = उत्तरकुरुमें अनादि निघन, पृथिवीसे बना हुआ, अकृत्रिम और
 परिवार वृक्षोंसे युक्त जम्बूवृक्ष है। जम्बूद्वीपमें जहाँ जम्बूवृक्ष स्थित
 है, धातकी खण्ड द्वीपमें परिवार वृक्षोंके साथ वहाँ धातकी वृक्ष
 स्थित है। और पुष्कर द्वीपमें वहाँ अपने परिवार वृक्षोंके साथ
 पुष्कर वृक्ष है।

त्रि सा ६/६८८ णाणारयणुवसाहा पवालसुमणा मिदिगसरिसफला । पुढ-
 विमया दसत्तुगा मज्झग्गे व्खच्छदुद्वारा । = वह जम्बूवृक्ष नाना

प्रकार रत्नमयी उपशाखाओंमें भूंगा समान फूलोंसे तथा मृदग समान फलोंसे युक्त है। पृथिवीकायमयी है, चरनप्रतिरूप नहीं है।

चैत्यवृक्ष मूर्ति - ति प/१८/२०२-२१०।



२. चैत्य वृक्ष निर्देश

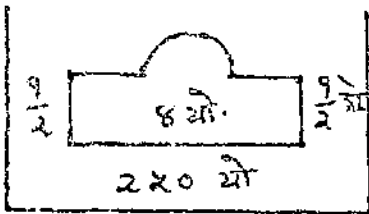
१. जिन प्रतिमाओंके आश्रय स्थान होते हैं

ति. प/३/३८ चैतनतरुण मूल पत्तकम् चउदिसामु १चेत्रम्। चेट्टति जिणपण्डिता पलियकठिया सुण्हि महणिज्जा।३८। = चैत्यवृक्षोंके मूलमें चारों दिशाओंमें प्रत्येक दिशामें पद्यासनसे स्थित और देवामें प्रजननीय पाँच-पाँच जिन प्रतिमाएँ विराजमान होती हैं।३८। (ति. प/३/१३७), (त्रि सा/२१५)।

ति प/४/८० मणिमयजिणपण्डिताओ अट्ठमहापण्डिहेर सञ्जुत्ता। एस्केकसि चैतद्दुमम्मि चत्तारि चत्तारि।८०। = एक-एक चैत्य वृक्षके आश्रित आठ महाप्रातिहार्योंसे संयुक्त चार चार मणिमय जिन प्रतिमाएँ होती हैं।८०। (त्रि सा/२४४, १००२)।

२. चैत्य वृक्ष का स्वरूप व विस्तार

ति. प/३/३१-३६ तञ्जाहिरे असोयं मत्तच्छदचपचूदवनपुण्णा। णिय-णाणातरुजुत्ता चेट्टति चैत्तरुमाहवा।३१। चैत्तदुमस्थलरु द दोष्णि समा जोयणाणि पण्णासा। चत्तारो मज्झम्मि य अते कोसद्ध-मुच्छेहो।३२। छद्देधूसुहुरु दा चउजोयण उच्छिदाणि पीढाणि। पीढोवरि बहुमज्जे रत्ता चेट्टति चैत्तदुमा।३३। पत्तेक सववाण अवगाहं कासमेकमुद्धिट्ठं। जोयणखदुच्छेहो साहादीहत्तण च चत्तारि।३४। विविहवररणसाहा विचित्तकुसुमोवसोमिदा सव्वे। वरमरणयत्तरपत्ता दिव्वतरु ते विरायति।३५। विविहकुरुचेचइया विविहकला विविहररणपरिणामा। छत्तादिच्छत्तजुत्ता वटाजलादि-रमणिज्जा।३६। = [भवनवासी देवोंके भवनोके बाहर वेदियों है] वेदियोंके बाह्य भागमें चैत्यवृक्षोंसे सहित और अपने नाना वृक्षोंसे युक्त पवित्र अशोक वन, सप्तच्छदवन, चम्पकवन और आम्रवन स्थित है।३१। चैत्यवृक्षोंके स्थल-



का विस्तार २५० योजन तथा ऊँचाई मध्यमें चार योजन और अन्तमें अर्द्ध कोसप्रमाण होती है।३२। पीठोकी भूमिका विस्तार छह योजन और ऊँचाई चार योजन होती है। इन पीठोंके ऊपर बहुमध्य भागमें रमणीय चैत्य वृक्ष स्थित है।३३। प्रत्येक वृक्षका अवगाह एक कोस, स्कन्धका उत्सेध एक योजन और शाखाओंकी लम्बाई योजनप्रमाण कहो गयो है।३४। वे सब दिव्य वृक्ष विविध प्रकारके उत्तम रत्नोंकी शाखाआसे युक्त, विचित्र पुष्पोंसे अलंकृत और उत्कृष्ट मरकत मणि-मय उत्तम पत्रासे व्याप्त होते हुए अतिशय शोभाको प्राप्त होते हैं।३५। विविध प्रकारके अकुरोंसे मण्डित, अनेक प्रकारके फलोंसे युक्त, नानाप्रकारके रत्नोंसे निर्मित छत्रके ऊपर छत्रसे संयुक्त घण्टाजाल आदिते रमणीय है।३६।

ति प/४/८०६-८१४ का भावार्थ २. समवशरणोंमें स्थित चैत्यवृक्षोंके आश्रित तीन-तीन कोठोंसे वेष्टित तीन पीठोंके ऊपर चार-चार मान-स्तम्भ होते हैं।८०६। जो वाभियों क्रीडनशालाओं व नृत्यशालाओं व उपवनभूमियोंसे शोभित हैं।८०७-८१२। (इसका चित्र दे. 'समवशरण') चैत्य वृक्षोंकी ऊँचाई अपने-अपने तीर्थचरोकी ऊँचाई-से १२ गुणी है।८०६।

ति प/४/८०६-८१४ का भावार्थ २. समवशरणोंमें स्थित चैत्यवृक्षोंके आश्रित तीन-तीन कोठोंसे वेष्टित तीन पीठोंके ऊपर चार-चार मान-स्तम्भ होते हैं।८०६। जो वाभियों क्रीडनशालाओं व नृत्यशालाओं व उपवनभूमियोंसे शोभित हैं।८०७-८१२। (इसका चित्र दे. 'समवशरण') चैत्य वृक्षोंकी ऊँचाई अपने-अपने तीर्थचरोकी ऊँचाई-से १२ गुणी है।८०६।

३. चैत्यवृक्ष पृथिवीकायिक होते हैं

ति प/४/३७ आदिगिहणेण हीणा पुट्टिमिन्ना सव्वम्भवणचैत्तदुमा। जोवुत्पत्तिलयाण होति णिमित्ताणि ते णियमा।३७। = (भवनवासी देवोंके भवनोमें स्थित) ये सब चैत्यवृक्ष प्रातिअन्तसे रहित तथा पृथिवीकायिके परिणामरूप होते हुए नियमसे जीवोंकी उत्पत्ति और विनाशके निमित्त होते हैं।३७। [इसी प्रकार पाण्डुवृक्षके चैत्या-लयमें तथा व्यन्तरदेवोंके भवनोमें स्थित जो चैत्यवृक्ष हैं उनके सम्बन्धमें भी जानना] (ति प/४/१०८), (ति. प/६/२६) (और भी दे ऊपरका शोधक)

४. चैत्यवृक्षोंके भेद निर्देश

ति प/३/१३६ सस्सत्थसत्तवण्णं सपलजन्व य वेत्तसव डवा। तह पीयगु-सरिसा पलासरायहदुमा वमत्त।१३६।

ति प/६/२८ कमसो असोप्रचपयणागद्धुमत्तव्वर य णग्गोहे। कटयुरुक्खो तुलसी कदव विदओ ति ते अट्ठ।२८। = अमुरकुमारादि दस प्रकारके भवनवासी देवोंके भवनोमें क्रमसे—अश्वत्थ (पीपल), सप्त-पर्ण, शाहमली, जामुन, चैतस, कदम्ब तथा प्रियगु, शिरीष, पलाश और राजद्रुय ये दश प्रकारके चैत्यवृक्ष होते हैं।१३६। किन्नर आदि आठ प्रकारके व्यन्तर देवोंके भवनोमें क्रमसे—अशोक, चम्पक, नाग-दुम, तम्बूर, न्यग्रोव (बट), कण्टकवृक्ष, तुलसी और कदम्ब वृक्ष ये आठ प्रकारके होते हैं।२८।

ति. प/४/८०६ एवकेकाए उववणखिदिए तरवो यसोयसत्तदला। चपय-चूदा सुदरभूदा चत्तारि चत्तारि।८०६। = समवशरणोंमें ये अशोक, सप्तच्छद, चम्पक व आम्र ऐसे चार प्रकारके होते हैं।८०६।

५. चैत्यवृक्ष देवोंके चिह्न स्वरूप हैं

ति. प./४/१३५ ओलगासालापुरदो चैतदुमा होति विविहरयणमया । असुरपहुदि कुलाणं ते चिण्हाई इमा होति । १३५ = (भवनवासी देवोंके भवनोमें) ओलगासालाओके आगे विविध प्रकारके रत्नोसे निर्मित चैत्यवृक्ष होते हैं । वे ये चैत्यवृक्ष असुरादि देवोंके कुलोसे चिह्नरूप होते हैं ।

६. अशोकवृक्ष निर्देश

ति. प./४/११५-११६ जेसि तरुणमूले उत्पण्ण जाण केवल गाणं । उप-सहस्रपहुदिजिणाणं ते चिय असोयरुक्ख त्ति । ११५। णग्गोहसत्तपण्णं साल सरलं पियंगु तं चैव । सिरिसं णागतरुक्ख वि य अक्खा धुली पलास त्तद्वं । ११६। पाडलज्जबूपिपलदहिवणो णंदितिलयचूदा य । कंकलि चंपवउलं मेसयसिगं धव साल । ११७। सोईति असोयतरु पल्लवकुसुमाणदाहि साहाहि । लंबंतमालदामा घटाजालादिरमणिज्जा । ११८। णियणियजिणउदएणं बारसगुणिदेहि सरिसउच्छेहा । उसह-जिणपहुदीणं असोयरुक्खा चियर त्ति । ११९। = ऋषभ आदि तीर्थंकरोंको जिनवृक्षोंके नीचे केवलज्ञान उत्पन्न हुआ है (दे. तीर्थंकर/५) वे ही अशोकवृक्ष हैं । ११५। न्यग्रोध, सप्तपर्ण, साल, सरल, प्रियंगु, शिरीष, नागवृक्ष, अक्ष (बहेड़ा), धूलिपलाश, तदू, पाटल, जम्बू, पीपल, दधिपर्ण, नन्दी, तिलक, आम्र, ककैलि (अशोक), चम्पक, बकुल, मेघशृंग, धव और शाल ये २४ तीर्थंकरोंके २४ अशोकवृक्ष हैं, जो लटकतो हुई मालाओसे युक्त और घण्टासमूहादिकसे रमणीक होते हुए पल्लव एवं पुष्पोसे सुकी हुई शाखाओसे शोभायमान होते हैं । ११६-११८। ऋषभादि तीर्थंकरोंके उपर्युक्त चौबीस अशोकवृक्ष बारहमे गुणित अपने-अपने जिनको (तीर्थंकरकी) ऊँचाईसे युक्त होते हुए शोभायमान हैं । ११९। [प्रत्येक तीर्थंकरकी ऊँचाई—दे. तीर्थंकर/५]

वृक्षमूल—१. वर्षाकालमें वृक्षके नीचे ध्यान लगाना वृक्षमूल योग कहलाता है—दे. कायकलेश । २. वृक्षमूल आदि वनस्पति—दे. वनस्पति ।

वृत्त—Circle—(जं. प./प्र. १०५); (ध. ५./प्र. २८)
—दे. गणित/II/७ ।

वृत्तविष्कंभ—Diameter, width of a ring वृत्तविष्कंभ निकालनेकी प्रकृति—दे. गणित/II/७ ।

वृत्ति—१. न्या. वि./वृ./२/३०/६२/१४ वृत्तिः वर्तनं समवायो । =वृत्ति अर्थात् वर्तन या समवाय । गुण गुणीकी अभिन्नता । २ गोचरी आदि पाँच भिक्षा वृत्ति—दे. भिक्षा/१ ।

वृत्ति परिसंख्यान—

भ. आ./मू./२१८-२२१/४३३ गत्तापच्चाणं उज्जु वीहि गोमुत्तियं च पैल-विय । सब्बकावहं पि य पदंगवीधी य गोपरिया । २१८। पडियणिय-सणभिक्षा परिमाण दत्तिवासपरिमाणं । पिडेहणं य पाणेसणा य जायूय दुग्गलया । २१९। ससिट्ठ फल्लिह परिक्खा पुण्फोबहिद व सुद्धगोत्रहिदं । २२०। पत्तस्स वापगस्स य अत्रगहो बहुविहो ससत्तीए । इच्छेवमादिविधिणा णादव्वा वुत्तिपरिसंखा । २२१। = जिस मार्गसे आहारार्थ गमन किया है, उसी मार्गसे लौटते समय, अथवा सरल रास्तेसे जाते समय, अथवा गोमूत्रबद मोड़ोसहित भ्रमण करते हुए; अथवा सन्दूक या पेटोके समान चतुष्कोण रूपसे भ्रमण करते हुए, अथवा शंखके समान आवर्तोंसहित भ्रमण करते हुए, अथवा पक्षियोंकी पंक्तिकी भाँति भ्रमण करते हुए, अथवा जिस श्रावकके घरमें आहार ग्रहण करनेका संकल्प किया है उसीमें, इत्यादि प्रकारसे आहार मिलेगा तो ग्रहण करूँगा अन्यथा नहीं

। २१८। एक-दो आदि फाटको तक प्राप्त ही अथवा विवक्षित फाटमें प्राप्त ही, अथवा विवक्षित घरके आँगनमें प्राप्त ही, अथवा विवक्षित फाटककी भूमिमें प्राप्त ही, (घरमें प्रवेश न करके फाटककी भूमिमें ही यदि प्राप्त होगा तो), अथवा एक या दो बार परोसा ही, अथवा एक या दो आदि दातार्थों द्वारा दिया गया ही, अथवा एक या दो आदि ग्रहण ही, अथवा पिण्डरूप ही द्रवरूप नहीं, अथवा द्रवरूप ही पिण्डरूप नहीं, अथवा विवक्षित धान्यादिरूप आहार मिलेगा तो ग्रहण करूँगा अन्यथा नहीं । २१९। कुलत्वादि धान्योंसे मिश्रित ही, अथवा धालीके मध्य भात रखकर उसके चारो ओर शाक पुरसा होगा तो, अथवा मध्यमें अन्न रखकर चारो तरफ व्यंजन रखे होंगे तो, अथवा व्यंजनोंके बीचमें पुष्पोके समान अन्न रखा होगा तो, अथवा मोठ आदि धान्यसे अमिश्रित तथा चटनी वगैरह व्यंजनोसे मिश्रित ही, अथवा लेखड (हाथकी चिकना करनेवाला आहार) ही, अथवा अलेवड ही, अथवा भारतके सिक्थो सहित या रहित ही भोजन मिलेगा तो खूँगा अन्यथा नहीं । २२०। सुवर्ण या मिट्टी आदिके पात्रमें पुरसा ही, अथवा बालिका या तरुणी आदि विवक्षित दातारके हाथसे ही, अथवा भूषण-रहित या ब्राह्मणी आदि विवक्षित स्त्रीके हाथसे ही आहार मिलेगा तो ग्रहण करूँगा अन्यथा नहीं । इत्यादि नानाप्रकारके नियम करना वृत्तिपरिसंख्यान नामका तप है । २२१।

मू. आ./३५५ गीयरपमाणदायगभायणणाणविधाण ज गणं । तह एसणस्स गहणं विविधस्स वृत्तिपरिसंखा । ३५५। = गृहोका प्रमाण, भोजनदाताका विशेष, कौसे आदि पात्रका विशेष, मोठ, सत्तू आदि भोजनका विशेष, इनमें अनेक तरहके विकल्पकर भोजन ग्रहण करना वृत्तिपरिसंख्यान है । ३५५। (अन. ध./७/२६/६७५)

स. सि /१/११/४३८/७ भिक्षार्थिनो मुनेरेकागारादिविषय, सकल्प चिन्तावरोधो वृत्तिपरिसंख्यानम् । = भिक्षाके इच्छुक मुनिका एक घर आदि विषयक संकल्प अर्थात् चिन्ताका अवरोध करना वृत्तिपरिसंख्यान तप है ।

रा. वा./१/११/४/६१८/२४ एकागारसप्तवेशमैरथ्याद्धं ग्रामादिविषय, संकल्पो वृत्तिपरिसंख्यानम् । = एक अथवा सात घर, एक-दो आदि गली, आधे ग्राम आदिके विषयमें संकल्प करना कि एक या दो घरसे ही भोजन खूँगा अधिकसे नहीं, सो वृत्तिपरिसंख्यान तप है । (चा. सा./१३५/१)

ध. १३/५,४,२६/५७/४ भोजन-भायण-घर-वाड-दादारा वुत्ती णाम । तित्से वुत्तीए परिसंखाणं गहणं वुत्तिपरिसंखाण णाम । एदम्मि वुत्तिपरिसंखाणे पडिबद्धो जो अवग्गहो सो वुत्तिपरिसंखाण णाम तवो त्ति भणिदं होदि । = भोजन, भाजन, घर बार (सुहल्ला) और दाता, इनकी वृत्ति संज्ञा है । उस वृत्तिका परिसंख्यान अर्थात् ग्रहण करना वृत्तिपरिसंख्यान है । इस वृत्तिपरिसंख्यानमें प्रतिबद्ध जो अवग्रह अर्थात् परिमाण नियन्त्रण होता है वह वृत्तिपरिसंख्यान नामका तप है, यह उक्त कथनका तात्पर्य है ।

त. सा /७/१२ एकवस्तुदशागारपानमुद्गादिगोचरः । संकल्प, क्रियते यत्र वृत्तिसंख्या हि तत्तप. । १२। = मैं आज एक वस्तुका ही भोजन करूँगा, अथवा दश घरसे अधिक न फिरेगा, अथवा अमुक पान-मात्र ही करूँगा या सूँग ही खाऊँगा इत्यादि अनेक प्रकारके संकल्प को वृत्तिपरिसंख्या तप कहते हैं ।

का अ/मू /४४५ एगादि-गिहपमाणं किच्चा संकल्प-कम्पियं विरस । भोजनं पसुञ्च भुंजहि वित्तिपमाणं तवो तस्स । = जो मुनि आहारके लिए जानेसे पहिले अपने मनमें ऐसा संकल्प कर लेता है कि आज एक घर या दो घर तक जाऊँगा अथवा नीरस आहार मिलेगा तो आहार ग्रहण करूँगा, और वैसा आहार मिलनेपर पशुकी तरह उसे चर लेता है, उस मुनिके वृत्तिपरिसंख्यान तप होता है ।

२. वृत्ति परिसंख्यान तपका प्रयोजन

स सि./१६/१६/४३८/८ वृत्तिपरिसंख्यानमाशानिवृत्त्यर्थमवगन्तव्यम् ।
= वृत्तिपरिसंख्यान तप आशाकी निवृत्तिके अर्थ किया जाता है ।
(रा. वा. १६/१६/४/६१५/२५); (चा. सा. १/३५/२)

ध १३/५.४.२६/५७/६ एसा कैसि कायववा । सगतवोविसेसेण भव्वजण-
मुवसमेदूण सगरस-रुहिर-माससोसणवुवारण इंदियसंजममिच्छंतेहि
साह्मि कायववा भायण-भोजणादिविसयरागादिविरहरणचिकेहि
वा । = प्रश्न—यह किसको करना चाहिए ? उत्तर—जो अपने तप
विशेषके द्वारा भव्यजनको शान्त करके अपने रस, रुधिर और मास-
के शोषण द्वारा इन्द्रिय संयमकी इच्छा करते हैं, उन साधुओंको
करना चाहिए, अथवा जो भाजन और भोजनादि विषय रागादिको
दूर करना चाहते हैं, उन्हें करना चाहिए (चा. सा. १/३५/१)

भ आ./वि./६/३२/१८ आहारसंज्ञया जयो वृत्तिपरिसंख्यानं । = आहार
संज्ञाका जय करना वृत्तिपरिसंख्यान नामका तप है ।

३. वृत्तिपरिसंख्यान नित्य करनेका नियम नहीं

भ. आ. मू./वि./१४७/४६६ अणुपुव्वेणाहारं संवट्ठतो य सल्लिहह देहं ।
दिवसुग्गहिणण तवेण चावि सल्लेहण कुणइ १२४७ । दिवसुग्गहिणेण
तवेण चावि एकैकदिनं प्रतिगृहीतेन तपसा च. एकस्मिन्दिनेऽनशनं,
एकस्मिन्दिने वृत्तिपरिसंख्यान इति । = क्रमसे आहार कमी करते-
करते क्षपक अपना देह कृश करता है । प्रतिदिन जिसका नियम
किया है ऐसे तपश्चरणसे अर्थात् एक दिन अनशन, दूसरे दिन वृत्ति-
परिसंख्यान इस क्रमसे क्षपक सब्बेखना करता है, अपना देह कृश
करता है ।

४. वृत्तिपरिसंख्यान तपके अतिचार

भ. आ./वि./४८७/७०७/८ वृत्तिपरिसंख्यानस्यातिचारा । गृहसप्रक्रमेव
प्रविशामि, एकमेव पाटकं दरिद्रगृहमेक । एवंभूतेन दायकेन दायि-
कया वा दत्त गृहीष्यामीति वा कृतसंकल्प । गृहसप्रकादिकादधिक-
प्रवेश । पाटान्तरप्रवेशश्च । परं भोजयामीत्यादिक । = "मैं सात
घरोंमें ही प्रवेश करूँगा, अथवा एक दरवाजेमें प्रवेश करूँगा, किंवा
दरिद्रीके घरमें ही आज प्रवेश करूँगा, इस प्रकारके दातासे अथवा
इस प्रकारकी स्त्रीसे यदि दान मिलेगा तो लगे" — ऐसा संकल्प कर
सात घरोंसे अधिक घरोंमें प्रवेश करना, दूसरोंको मैं भोजन कराऊँगा
इस हेतुसे भिन्न पाटकमें प्रवेश करना, ये वृत्तिपरिसंख्यानके अति-
चार हैं ।

वृत्तिमत्त्व—वृत्तिता सम्बन्धसे पदार्थमें अन्वयवाला । जैसे—'भूतले
घटोऽस्ति' यहाँ विवक्षित भूमिपर घटका वृत्तिमत्त्व है ।

वृत्तिमान—वृत्तिकाला या वृत्तिसहित । जैसे द्रव्य अपने गुणोंकी
वृत्तिसहित होनेके कारण वृत्तिमान है ।

वृत्तिविलास—कन्नड भाषाके 'धर्म परोक्षा' ग्रन्थके कर्ता एक जैन
कवि । समय—वि. श. १२ । (समाधितंत्र/प्र. ६/पं जुगल किशोर)

वृद्ध

भ आ./मू./१०७०/१०६६ थेरा वा तरुणा वा बुद्धा सीलेहि होति बुद्धीहि ।
थेरा वा तरुणा वा तरुणा सीलेहि तरुणेहि १०७० । = मनुष्य वृद्ध हो
अथवा तरुण यदि उसके क्षमा आदि शील गुण वृद्धिगत है तो वह
वृद्ध है और यदि ये गुण वृद्धिगत नहीं हैं तो वह तरुण है । (केवल
वय अधिक होनेसे वृद्ध नहीं होता ।)

ज्ञा १५/४.६.१० स्वतत्त्वनिष्कषोद्भूत विवेकालोकवद्धितम् । गेषां
कोधमय चक्षुस्ते वृद्धा विदुषा मता । ४ । तप श्रुतधृतिध्यानविवेक-
यमसयमे । ये वृद्धास्तेऽत्र शस्यन्ते न पुन' पल्लिताङ्कुरैः । ५ । हीना-
चरणसंभ्रान्तो वृद्धोऽपि तरुणायते । तरुणोऽपि सतां धत्ते श्रिय
सत्सगवासित. १० । = जिनके आत्मतत्त्वरूप कसौटीसे उत्पन्न भेद-

ज्ञानरूप आलोकसे बढाया हुआ ज्ञानरूपी नेत्र है उनको विद्वानोंने
वृद्ध कहा है । ४ । जो मुनि तप, शास्त्राध्ययन, धैर्य, विवेक (भेद-
ज्ञान), यम तथा सयमादिकसे वृद्ध अर्थात् बड़े हुए हैं वे ही वृद्ध
होते हैं । केवल अवस्था मात्र अधिक होनेसे या केश सफेद होनेसे ही
कोई वृद्ध नहीं होता । ५ । जो वृद्ध होकर भी हीनाचरणोंसे व्याकुल
हो भ्रमता फिरे वह तरुण है और सत्सगतिसे रहता है वह तरुण
होनेपर भी सत्पुरुषोंकी-सी प्रतिष्ठा पाता है । १० ।

भ आ./वि./११६/२७६/८ वाचनामनुयोगं वा शिक्षयत् अवमरत्न-
त्रयस्याभ्युरथातव्यं तन्मूलेऽध्ययनं कुर्वाद्भि सर्वैरेव । = जो ग्रन्थ
और अर्थ को पढ़ता है अथवा सदादि अनुयोगों का शिक्षण
देता है, वह व्यक्ति यदि अपने से रत्नत्रय में हीन भी हो तो भी
उसके आने पर जो जी उसके पास अध्ययन करते हैं वे सर्वजन खड़े
हो जावे ।

प्र. सा./ता./वृ./२६३/३५४/१५ यद्यपि चरित्र गुणेनाधिका न भवन्ति
तपसा वा तथापि सम्यग्ज्ञानगुणेन ज्येष्ठत्वाच्छ्रुतविनयार्थ-
मभ्युत्थेया ।

प्र. सा./ता./वृ./२६७/३५८/१७ यदि बहुश्रुतानां पार्ष्वे ज्ञानादिगुण-
वृद्धयर्थं स्वयं चारित्रगुणाधिकाऽपि वन्दनादिक्रियासु वर्तन्ते तदा
दोषो नास्ति । यदि पुन. केवल ख्यातिपूजाभार्यं वर्तन्ते तदाति-
प्रसगाद्दोषो भवति । = चारित्र व तप में अधिक न होते हुए भी
सम्यग्ज्ञान गुण से ज्येष्ठ होनेके कारण श्रुतकी विनय के अर्थ वह
अभ्युत्थानादि विनय के योग्य है । यदि कोई चारित्र गुण में अधिक
होते हुए भी ज्ञानादि गुण की वृद्धि के अर्थ बहुश्रुत जनों के पास
वन्दनादि क्रिया में वर्तता है तो कोई दोष नहीं है । परन्तु यदि
केवल ख्याति पूजा व लोभ के अर्थ ऐसा करता है तब अति दोष का
प्रसंग प्राप्त होता है ।

प्र सा. मू./२६६ गुणदोधिगस्स विणयं पडिच्छगो जो वि होमि समणो
त्ति. । होज्जं गुणधरो जदि सो हांदि अणतसंसारो । = जो श्रमण
में अधिक गुण वाले हैं तथापि हीन गुणवालों के प्रति (वन्दनादि)
क्रियाओं में वर्तते हैं वे मिथ्या उपयुक्त होते हुए चारित्र से भ्रष्ट
होते हैं ।

वृद्धि—

रा. वा./४/४२/४/२५०/१८ अनुवृत्तपूर्वस्वभावस्य भावान्तरेण आधिक्यं
वृद्धिः । = पूर्व स्वभावको कायम रखते हुए भावान्तररूपसे अधि-
कता हो जाना वृद्धि है । २. चय अर्थात् Common difference,

२. अन्य सम्बन्धित विषय

१. षट् वृद्धियोंके लिये नियत सहनानियाँ । — दे० गणित/II/३/४ ।

२. गुणहानि-वृद्धि । — दे० गणित/II/५/३ ।

वृष—स्व. स्तो./५/१३ वृषो धर्मः । = वृष अर्थात् धर्म ।

वृषभ—द्र. स. ग. टी./१/६/१ वृषभो प्रधान । = १. वृषभ अर्थात्
प्रधान ।

स्व. स्तो. टी./१/३ वृषो धर्मस्तेन भाति शोभते स वा भाति प्रगटी-
मवति यस्मादसौ वृषभः । = वृष नाम धर्मका है । उसके द्वारा
शोभाको प्राप्त होता है या प्रगट होता है इसलिए वह वृषभ कह-
लाता है—अर्थात् आदिनाथ भगवात् ।

ति. प./४/२१५ सिंगमुहकण्णजिहालयणभूआदिएहि गोसरिसो । बसहो
त्ति तेण भण्णह रयणामरजीहिया तत्थ १२१५ । = (गंगा नदीका)
वह कूटमुख सींग, मुख, कान, जिह्वा, लोषन और भ्रुकुटी आदिक-
से गौके सदृश है, इसलिए उस रत्नमयी जिहिका (जृम्भिका)
को वृषभ कहते हैं । (ह. पु./५/१४०-१४१), (त्रि. सा./५/५६);
(ज. ५/३/१५१) ।

वृषभ गिरि—ति. प १४/२६८-२६९ सेसा वि पत्र रूडा नामेण होति म्लेच्छखण्ड ति । उत्तरतियखण्डेषु मज्जिमखण्डस बहु-मज्जे १२६५ चक्रौण माणमलणो णाणाचक्रहरणामखण्डो । मूलोव-रिमज्जेसु रयणमओ होदि वसहगिरि १२६६। = (भरत क्षेत्रके आर्यखण्डकी छोड़कर) शेष पाँचों ही खण्ड म्लेच्छखण्ड नाम-से प्रसिद्ध है । उत्तर भारतके तीन खण्डोंमें-से मध्यखण्डके बहु-मध्य भागमें चक्रवर्तियोंके मानका मर्दन करनेवाला, नाना चक्र-वर्तियोंके नामोंसे व्याप्त और मूलमें ऊपर एवं मध्यमें रत्नोंसे निर्मित ऐसा वृषभ गिरि है १२६८-२६९। (त्रि. सा ७१०) । इसी प्रकार ऐरावत क्षेत्रमें जानना । —दे० लोक/३/३ ।

वृषभसेन—म. पु/सर्ग/श्लो पूर्वभव न ७ में पूर्वविदेहमें प्रीति-वर्धन राजाका सेनापति । (८/२११), पूर्वभव न. ६ में उत्तरवृरुमें मनुष्य । (८/२१२) । पूर्वभव न. ६ में ऐशान स्वर्गमें प्रभाकर नामका देव । (८/२१४), पूर्वभव नं ४ में अकम्पनसेनिक । (८/२१६) । पूर्वभव न ३ में अधोप्रैवैयकमें अहमिन्द्र । (१/१०६२), पूर्वभव न २ में राजा वज्रसेनका पुत्र 'पीठ' । (११/१३) । पूर्व-भव नं १ में सर्वार्थमिहिरमें अहमिन्द्र । (११/१६०) । वर्तमान भवमें ऋषभदेवका पुत्र भरतका छोटा भाई । (१६/२) । [युगपत् सर्व भव—४०/३६७-३६९] । पुरिमताल नगरका राजा था । भग-वात् ऋषभदेवके प्रथम गणधर हुए । (२४/१७१) । अन्तमें मोक्ष सिधारे । (४०/३६९) ।

वेणा—१. भरतक्षेत्रमें आर्यखण्डकी एक नदी (दे० मनुष्य/४) । २ बम्बई प्रान्तमें सितारा जिलाकी एक नदी । वर्तमान नाम 'वेणया' । (ध. १/प्र ३१/हि L., Java)

वेणु—१. विजयार्थकी उत्तरश्रेणीका नगर (दे० विद्याधर) । २. मानुषोत्तर पर्वतके रत्नकूटका स्वामी गरुडकुमारदेव—दे० लोक/५/१० । ३. आर्यमली वृक्ष का रक्षक देव ।—दे. लोक/३/१३ ।

वेणुधारी—मानुषोत्तर पर्वतके सर्वरत्न कूटका स्वामी सुपर्णकुमार देव —दे० लोक/५/१० । २. आर्यमली वृक्ष का रक्षक देव—(दे० लोक/३/१३) ।

वेणुन—हालार और बरडो प्रान्तके नीचकी पर्वत श्रेणीको 'बरडो' कहते हैं । इसी श्रेणीके किसी पर्वतका नाम वेणुन है । (नेमि चरित/प्र./प्रेमी जी) ।


वेणुपुर—दक्षिणके कर्नाटक देशका मूडबिद्री नामक ग्राम । (विशेष दे० मूडबिद्री) ।

वेणुमति—मानुषोत्तर पर्वतके सर्वरत्नकूटका स्वामी एक भवनवासी सुपर्णकुमार देव—दे० लोक/७ ।

वेणुवती—पूर्वी आर्यखण्डकी एक नदी । —दे० मनुष्य/४ ।

वेत्ता—जोवको वेत्ता कहनेकी विवक्षा—दे० जीव/१/३ ।

वेत्रवती—१ 'मेघदूत'की अपेक्षा यह मालवादेशकी नदी है । और 'नेमिचरित'की अपेक्षा द्वारिकाके प्राकारके पास है । गोमती नदीका ही दूसरा नाम 'वेत्रवती' प्रतीत होता है । (नेमिचरित/ प्र./प्रेमी जी) । २ वर्तमानकी मालवा देशकी वेत्ता नदी (म. पु./ प. ४६/पं, पद्मलाल) ।

वेत्रासन—मूढके समान अयोलीकका आकार  (ज. प/प्र. २१) ।

वेद—व्यक्तिमें पाये जानेवाले स्त्रीत्व, पुरुषत्व व नपुंसकत्वके भाव वेद कहलाते हैं । यह दो प्रकारका है—भाव व द्रव्यवेद । जीवके उपरोक्त भाव तो भाववेद है और शरीरमें स्त्री, पुरुष व नपुंसकके अगोपग विशेष द्रव्यवेद है । द्रव्यवेद जन्म पर्यन्त नहीं बदलता

पर भाववेद कषाय विशेष होनेके कारण क्षणमात्रमें बदल सकता है । द्रव्य वेदसे पुरुषको ही मुक्ति सम्भव है पर भाववेदसे तीना-को मोक्ष हो सकती है ।

१	भेद, लक्षण व तद्गत शंका समाधान
१	वेद सामान्यका लक्षण १ लिंगके अर्थमें । २ शास्त्रके अर्थमें ।
२	वेदके भेद ।
*	स्त्री आदि वेदोंके लक्षण । —दे० वह-रह नाम ।
३	द्रव्य व भाववेदके लक्षण ।
*	साधुके द्रव्यभाव लिंग । —दे० लिंग ।
४	अपगत वेदका लक्षण ।
५	वेदके लक्षणों सम्बन्धी शकालें ।
२	वेद निर्देश
१	वेद मार्गणामे भाववेद इष्ट है ।
२	वेद जीवका औदयिक भाव है ।
*	वेद कषाय रागरूप है । —दे० कषाय/४ ।
*	जीवको वेद व्यपदेश । —दे० जीव/२/३ ।
*	वेद व मैथुन सशामे अन्तर । —दे० सज्ञा ।
३	अपगत वेद कैसे सम्भव है ।
४	तीना वेदोंकी प्रवृत्ति क्रमसे होती है ।
*	तीनों वेदोंके बन्ध योग्य परिणाम । —दे० मोहनीय/३/६ ।
*	वेद मार्गणामे ऋगोंका बन्ध उदय सत्त्व । —दे० वह-वह नाम ।
*	पुरुषादि वेद कर्मोंका बन्ध उदय सत्त्व—दे० वह-वह नाम ।
*	मार्गणा स्थानोंमें आयके अनुसार व्यय होनेका नियम । —दे० मार्गणा ।
३	तीनों वेदोंके अर्थमें प्रयुक्त शब्दोंका परिचय
१	स्त्री पुरुष व नपुंसकका प्रयोग ।
२	तिर्यच व तिर्यचनीका प्रयोग ।
३	तिर्यच व योनिमती तिर्यचका प्रयोग ।
४	मनुष्य मनुष्यणी व योनिमती मनुष्यका प्रयोग ।
५	उपरोक्त शब्दोंके सैद्धान्तिक अर्थ ।
४	द्रव्य व भाववेदमें परस्पर सम्बन्ध
१	दोनोंके कारणभूत कर्म भिन्न ह ।
२	दोनों कहीं समान होते हैं और कहीं असमान ।
३	चारों गतियोंकी अपेक्षा दोनोंमें समानता और असमानता ।
४	भाववेदमें परिवर्तन सम्भव है ।
५	द्रव्यवेदमें परिवर्तन सम्भव नहीं ।
*	साधुके द्रव्य व भावलिंग सम्बन्धी चर्चा व समन्वय । —दे० लिंग ।

५	गति आदिकी अपेक्षा वेद मार्गणाका स्वामित्व
*	वेद मार्गणा में गुणस्थान मार्गणास्थान आदिरूप २० प्ररूपणाएँ। —दे० सद्।
*	वेद मार्गणाके स्वामी सम्बन्धी सत् संख्या क्षेत्र-काल भाव व अल्पबहुत्व रूप ८ प्ररूपणाएँ। —दे० वह-वह नाम।
१	नरकमें केवल नपुंसकवेद होता है।
२	भोगभूमिज तिर्यच मनुष्योंमें तथा सभी देवोंमें दो ही वेद होते हैं।
३	कर्मभूमिज विकलैन्द्रिय व सम्मूर्च्छिम तिर्यचोंमें केवल नपुंसकवेद होता है।
४	कर्मभूमिज सक्षी असक्षी तिर्यच व मनुष्यतीनों वेदवाले होते हैं।
५	एकेन्द्रियोंमें वेदभावको सिद्धि।
६	चींटी आदि नपुंसकवेदी ही कैसे।
७	विग्रहगतिमें अव्यक्त वेद होता है।
६	वेदमार्गणमें सम्यक्त्व व गुणस्थान
१	सम्यक्त्व व गुणस्थान स्वामित्व निर्देश।
२	अप्रशस्त वेदोंमें क्षायिक सम्यग्दृष्टि अत्यन्त अल्प होते हैं।
*	सम्यग्दृष्टि मरकर स्त्रियोंमें भी उत्पन्न नहीं होते हैं। —दे० जन्म/३।
*	मनुष्यणीमें १४ गुणस्थान कैसे। —दे० वेद/७/६।
*	ऊपरके गुणस्थानोंमें वेदका उदय कैसे। —दे० सज्ञा।
३	अप्रशस्ते वेदके साथ आहारक आदि ऋद्धियोंका निषेध।
७	स्त्री प्रव्रज्या व मुक्ति निषेध
१	स्त्रीको तद्भवसे मोक्ष नहीं।
२	फिर भी भवान्तरमें मुक्तिकी अभिलाषासे जिन-दीक्षा लेती है।
३	तद्भव मुक्तिनिषेधमें हेतु उसका चंचल व प्रमाद-बहुल स्वभाव।
४	तद्भव मुक्तिनिषेधमें हेतु सचेतता।
*	स्त्रीको भी कदाचित् नग्न रहनेकी आज्ञा। —दे० लिंग/१/४।
५	आर्यिकाको महाव्रती कैसे कहते हो।
६	फिर मनुष्यणीको १४ गुणस्थान कैसे कहे गये।
७	स्त्रीके सबल्लिगमें हेतु।
८	मुक्तिनिषेधमें हेतु उत्तम संहननादिका अभाव।
*	मुक्ति निषेधमें हेतु शुक्लध्यानका अभाव। —दे० शुक्लध्यान/३।
९	स्त्रीको तीर्थकर कहना युक्त नहीं।

१. भेद, लक्षण व तद्गत शंका-समाधान

१. वेद सामान्यका लक्षण—लिंगके अर्थमें।

- स. सि./२/५२/२००/४ वेद्यत इति वेद लिङ्गमित्यर्थः। =जो वेदा जाता है उसे वेद कहते हैं। उसका दूसरा नाम लिंग है। (रा. वा./२/५२/१/१६७/२); (घ. १/१.१.४/१४०/५)।
- पं. सं./प्रा./१/१०१ वेदस्सुदरिणाए बालत्त पुण णियच्छदे बहुसो। इत्थी पुरिस णरंसय वेयति तदो ह्वदि वेदो १०१। =वेदकर्मकी उदीरणा होनेपर यह जीव नाना प्रकारके बालभाव अर्थात् चाचल्यको प्राप्त होता है; और स्त्रीभाव, पुरुषभाव एवं नपुंसकभावका वेदन करता है। अतएव वेद कर्मके उदयसे होनेवाले भावको वेद कहते हैं। (घ. १/१.१.४/गा. ५६/१४१); (गो. जी./मू./२७२/५६३)।
- घ १/१.१.४/पृष्ठ/पक्ति—वेद्यत इति वेदः। (१४०/४)। अथवात्मप्रवृत्तेः समोहोत्पादो वेदः। (१४०/७)। अथवात्मप्रवृत्तेर्मैथुनसंमोहोत्पादो वेदः। (१४१/१)।
- घ. १/१.१.१०१/३४१/१ वेदं वेदः। =१, जो वेदा जाय अनुभव किया जाय उसे वेद कहते हैं। २, अथवा आत्माकी चैतन्यरूप पर्यायमें सम्मोह अर्थात् रागद्वेष रूप चित्तविक्षेपके उत्पन्न होनेको मोह कहते हैं। यहाँपर मोह शब्द वेदका पर्यायवाची है। (घ. ७/२.१.३/७); (गो. जी./जी. प्र./२७२/५६४/३)। ३, अथवा आत्माकी चैतन्यरूप पर्यायमें मैथुनरूप चित्तविक्षेपके उत्पन्न होनेको वेद कहते हैं। ४, अथवा वेदन करनेको वेद कहते हैं।
- घ. ५/१.७.४२/२२२/५ मोहणीयदब्बकम्मकखंधो तज्जणिदजीवपरिणामो वा वेदो। =मोहनीयके द्रव्यकर्म स्कन्धको अथवा मोहनीय कर्मसे उत्पन्न होनेवाले जीवके परिणामको वेद कहते हैं।

२ शास्त्रके अर्थमें

- घ १३/५.५.५०/२५६/५ अशेषपदार्थान् वेत्ति वेदिष्याति अवेदीदिति वेदः सिद्धान्तः। एतेन सूत्रकण्ठग्रन्थकथाया वितथरूपाया वेदत्वमपास्तम्। =अशेष पदार्थोंको जो वेदता है, वेदेगा और वेद चुका है, वह वेद अर्थात् सिद्धान्त है। इससे सूत्रकण्ठों अर्थात् ब्राह्मणोंकी ग्रन्थकथा वेद है, इसका निराकरण किया गया है। (श्रुतज्ञान ही वास्तवमें वेद है।)

२. वेदके भेद

- ष. खं/१/१.१/सूत्र १०१/३४० वेदाणुवादेण अत्थि इत्थिवेदा पुरिसवेदा णरुंसयवेदा अवगदवेदा चेदि १०१। =वेदमार्गणाके अनुवादसे स्त्री-वेद, पुरुषवेद; नपुंसकवेद और अपगतवेदवाले जीव होते हैं। (१०१)
- पं. सं./प्रा./१/१०४ इत्थि पुरिस णरंसय वेया खलु दब्बभावदो होंति। =स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुंसक ये तीनों ही वेद निश्चयसे द्रव्य और भावकी अपेक्षा दो प्रकारके होते हैं।
- स. सि./२/६/१५६/६ लिङ्गं त्रिभेदं, स्त्रीवेदं पुंसवेदो नपुंसकवेद इति। =लिंग तीन प्रकारका है—स्त्री वेद, पुरुषवेद और नपुंसकवेद। (रा. वा./६/७/११/६०४/६); (द्र. सं./टी/१३/३७/१०)।
- स. सि./२/५२/२००/४ तद् द्विविधं-द्रव्यलिङ्गं भावलिङ्गं चेदि। =इसके दो भेद हैं—द्रव्यलिंग और भावलिंग। (स. सि./६/४७/४६२/३); (रा. वा./२/६/३/१०६/१); (रा. वा./६/४७/४/६३५/१०); (प. घ./उ./१०७६)।

३. द्रव्य व भाव वेदके लक्षण

- स. सि./२/५२/२००/५ द्रव्यलिङ्गं योनिमेहनादिनामकर्मोदयनिर्व-तितम्। नोकषायोदयापादितवृत्ति भावलिङ्गम्। =जो योनि मेहन आदि नाम कर्मके उदयसे रचा जाता है वह द्रव्यलिंग है और जिसकी

स्थिति नोकषायके उदयमे प्राप्त होती है वह भावलिग है। (गो. जी./ मू./२७१/६६१), (प. घ./उ./१०८०-१०८२)।

रा वा/२/६/३/१०६/२ द्रव्यलिङ्ग नामकर्मोदयापादितं भावलिङ्ग-मात्मपरिणाम. स्त्रीपुनपुंसकान्योन्याभिनाषलक्षण'। स पुनश्चारित्र-मोहविकल्पस्य नोकषायस्य स्त्रीवेदपुवेदनपुंसकवेदस्योदयाद्भवति। = नामकर्मके उदयसे होनेवाला द्रव्यलिग है और भावलिग आत्मपरिणामरूप है। वह स्त्री पुरुष व नपुंसक इन तीनोंमें परस्पर एक दूसरेकी अभिलाषा लक्षण वाला होता है और वह चारित्रमोहके विकल्परूप स्त्री पुरुष व नपुंसकवेद नामके नोकषायके उदयसे होता है।

४. अपगतवेदका लक्षण

पं. सं./प्रा./१/१०८ करिसत्तणेट्वावग्गोसरिसपरिणामवेदणुम्मुक्का। अवगम्यवेशा जीवा सयसंभवणंतवरसोक्खा। १०८ = जो कारीष अर्थात् कण्डेकी अग्नि तृणकी अग्नि और इष्टपाककी अग्निके समान क्रमशः स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुंसकवेदरूप परिणामोके वेदनसे उन्मुक्त है और अपनी आत्मामें उत्पन्न हुए श्रेष्ठ अनन्त सुखके धारक या भोक्ता हैं, वे जीव अपगत वेदों कहलाते हैं। (घ. १/१.१, १०१/गा, १७३/३४३); (गो. जी./मू./२७६/५६७)।

घ. १/१.१.१०१/३४२/३ अपगतास्त्रयोऽपि वेदसत्ताया येषा तेषपगत-वेदा'। प्रक्षीणान्तर्दाह इति यावत्। = जिनके तीनों प्रकारके वेदोंसे उत्पन्न होनेवाला सन्ताप या अन्तर्दाह दूर हो गया है वे वेदरहित जीव हैं।

५. वेदके लक्षणों सम्बन्धी शंकाएँ

घ. १/१.१.४/१४०/५ वेद्यत इति वेद'। अष्टकर्मोदयस्य वेदव्यपदेशः प्राप्नोति वेद्यत्व प्रत्यविशेषादिति चेन्न, 'सामान्यचोदनाश्च विशेषेष्ववतिष्ठन्ते' इति विशेषावगते 'रूढितन्त्रा व्युत्पत्ति' इति वा। अथवात्मप्रवृत्ते' संमोहोत्पादो वेद'। अत्रापि मोहोदयस्य सकलस्य वेदव्यपदेश' स्यादिति चेन्न, अत्रापि रूढिवशाद्देवनाम्नां कर्मणासु-दयस्यैव वेदव्यपदेशात्। अथवात्मप्रवृत्तेर्मैथुनसंमोहोत्पादो वेद'। = जो वेदा जाय उसे वेद कहते हैं। प्रश्न—वेदका इस प्रकारका लक्षण करनेपर आठ कर्मोंके उदयको भी वेद सज्ञा प्राप्त हो जायेगी, क्योंकि, वेदनको अपेक्षा वेद और आठ कर्म दोनों ही समान हैं; उत्तर—ऐसा नहीं है, १. क्योंकि, सामान्यरूपसे की गयी कोई भी प्ररूपणा अपने विशेषोंमें पायी जाती है, इसलिए विशेषका ज्ञान हो जाता है। (घ. ७/२.१.३७/७६/३) अथवा २, रौढिक शब्दोंकी व्युत्पत्ति रूढिके अधीन होती है, इसलिए वेद शब्द पुरुषवेदादिमें रूढ होनेके कारण 'वेद्यते' अर्थात् जो वेदा जाय इस व्युत्पत्तिसे वेदका ही ग्रहण होता है, ज्ञानावरणादि आठ कर्मोंके उदयका नहीं। अथवा आत्मप्रवृत्तिमें सम्मोहके उत्पन्न होनेको वेद कहते हैं। प्रश्न—इस प्रकारके लक्षणके करनेपर भी सम्पूर्ण मोहके उदयको वेद सज्ञा प्राप्त हो जावेगी, क्योंकि, वेदकी तरह शेष मोह भी व्यामोहको उत्पन्न करता है; उत्तर—ऐसी शंका नहीं करनी चाहिए, क्योंकि, रूढिके बलसे वेद नामके कर्मके उदयको ही वेद सज्ञा प्राप्त है। अथवा आत्मप्रवृत्तिमें मैथुन की उत्पत्ति वेद है।

दे० वेद/२/१ (यद्यपि लोकमें मेहनादि लिगोंको स्त्री पुरुष आदि पना प्रसिद्ध है, पर यहाँ भाव वेद इष्ट है द्रव्य वेद नहीं)।

२. वेद निर्देश

१. वेदमार्गणामें भाववेद इष्ट है

रा वा/५/६/४/२७४/२२ ननु लोके प्रतीत योनिमृदुस्तनादिस्त्रीवेद-लिङ्गम्, न, तस्य नामकर्मोदयनिमित्तत्वात्, अतः पंसोऽपि स्त्री-

वेदोदय। कदाचिद्योषितोऽपि पुंवेदोदयोऽप्याभ्यन्तरविशेषात्। शरीराकारस्तु नामकर्मनिर्वातित। एतेनेतरौ व्याख्यातौ।

रा. वा./२/६/३/१०६/२ द्रव्यलिङ्ग' नामकर्मोदयापादित तदिह नाधि-कृतम् आत्मपरिणामप्रकरणात्। भावलिङ्गमात्मपरिणाम'। = प्रश्न—लोकमें योनि व मृदुस्तन आदिको स्त्री वेद या लिग कहते हैं, आप दूसरी प्रकार लक्षण कैसे करते हैं? उत्तर—नहीं, क्योंकि, १. वह नामकर्मोदयसे उत्पन्न होता है, अतः कदाचित् अन्तरंग परिणामो-की विशेषतासे द्रव्य पुरुषको स्त्रीवेदका और द्रव्य स्त्रीको पुरुषवेदका उदय देखा जाता है (दे० वेद/४) शरीरोंके आकार नामकर्मसे निर्मित है, इसलिए अन्य प्रकारसे व्याख्या की गयी है। २ यहाँ जीवके औदयिकादि भावोंका प्रकरण है, इसलिए नामकर्मोदयापादित द्रव्य लिगका यहाँ अधिकार नहीं है। भावलिग आत्म परिणाम है, इसलिए उसका ही यहाँ अधिकार है।

घ. १/१.१.१०१/३४५/१ न द्रव्यवेदस्याभावस्तेन विकाराभावात्। अधिकृतोऽत्र भाववेदस्ततस्तद्भावादपगतवेदो नान्यथेति। = यद्यपि एवं गुणस्थानसे आगे द्रव्यवेदका सज्ञाव पाया जाता है; परन्तु केवल द्रव्यवेदसे ही विकार उत्पन्न नहीं होता है। यहाँपर तो भाववेदका अधिकार है। इसलिए भाववेदके अभावसे ही उन जीवोंको अपगतवेद जानना चाहिए, द्रव्यवेदके अभावसे नहीं।—(विशेष दे. शीर्षक न ३)।

घ. २/१.६/५१३/५ इत्थिवेदो अवगदवेदो वि अस्थि, एत्थ भाववेदेण पयदं ग दव्ववेदेण। कि कारणं। भावगदवेदो वि अस्थि त्ति वयणादो। = मनुष्य स्त्रियोंके (मनुष्यणियोंके) स्त्रीवेद और अपगत वेद स्थान भी होता है। यहाँ भाववेदसे प्रयोजन है, द्रव्य वेदसे नहीं। इसका कारण यह है कि यदि यहाँ द्रव्यवेदसे प्रयोजन होता तो अपगत वेदरूप स्थान नहीं बन सकता था, क्योंकि, द्रव्यवेद चौदहवे गुणस्थानके अन्ततक होता है। परन्तु 'अपगत वेद भी होता है' इस प्रकार वचन निर्देश नीचे गुणस्थानके अवेद भागसे किया गया है (दे. प. खं, १/१.१/सूत्र १०४/३४४)। जिससे प्रतीत होता है कि यहाँ भाववेदसे प्रयोजन है द्रव्यसे नहीं।

घ. १/१.४.२.६.१२/११४/६ देवणेइयाणं उक्कस्साउअब्धस्स तीहि वेदेहि विरोहो णत्थि त्ति जाणावणट्ठ इत्थिवेदस्स वा पुरिवेदस्स वा णवुसयवेदस्स वा त्ति भणिद। एत्थ भाववेदस्स गृहणमण्णा दव्विक्थिवेदेण वि णेरइयाणमुक्कस्साउअस्स बध्पसंणादो। ण च तेण स तस्स वयो, आ पचमीत्ति सीहा इत्थीओ जति छट्ठियुद्वि त्ति एदेण सुत्तेण सह विरोहादो। ण च देवाण उक्कस्साउव दव्विक्थि-वेदेण सह वज्जम्ह, णियमा णिग्गथलिगेणे त्ति सुत्तेण सह विरोहादो। ण च दव्विक्थीण णिग्गथत्तमत्थि'। = देवो और नारकियोंकी उत्कृष्ट आयुके बन्धका तीनों वेदोंके साथ विरोध नहीं है, यह जत-लानेके लिए 'इत्थिवेदस्स वा पुरिवेदस्स वा णवुसयवेदस्स वा' ऐसा उपरोक्त सूत्र नं. १२ में कहा है। यहाँ भाववेदका ग्रहण करना चाहिए, क्योंकि १. द्रव्यवेदका ग्रहण करनेपर द्रव्य स्त्रीवेदके साथ भी नारकियोंकी उत्कृष्ट आयुके बन्धका प्रसंग आता है। परन्तु उसके साथ नारकियोंकी उत्कृष्ट आयुका बन्ध होता नहीं है, क्योंकि, पाँचवी पृथिवी तक सिंह और छठी पृथिवी तक स्त्रियाँ जाती हैं इस सूत्रके साथ विरोध आता है। (दे. जन्म/६/४)। देवोंकी भी उत्कृष्ट आयु द्रव्य स्त्रीवेदके साथ नहीं बँधती, क्योंकि, अन्यथा 'अच्युत कल्पसे ऊपर नियमत निर्ग्रन्थ लिगसे ही उत्पन्न होते हैं इस सूत्रके साथ विरोध आता है। (दे० जन्म/६/३.६) और द्रव्य स्त्रियों (व द्रव्य नपुंसको) के निर्ग्रन्थता सम्भव नहीं है (दे. वेद/७/४)।

दे. मार्गणा—(सभी मार्गणाओंकी प्ररूपणाओंमें भाव मार्गणाएँ इष्ट है द्रव्य मार्गणाएँ नहीं)।

२. वेद जीवका भौदयिक भाव है

रा. वा./२/६/३/१०६/२ भावलिङ्गमात्मपरिणाम । स पुनश्चारित्रमोह-विकल्पस्य नोकषायस्य स्त्रीवेदपुंवेदनपुंसकवेदस्योदयाद्भवतीत्यौ-दयिक' । = भावलिङ्ग आत्मपरिणाम रूप है। वह चारित्रमोहके विकल्प रूप जो स्त्री पुरुष व नपुंसकवेद नामके नोकषाय उनके उदयसे उत्पन्न होनेके कारण औदयिक है (पं. घ./३./१०७५); (और भी. दे. उदय/६/२)।

३. अपगत वेद कैसे सम्भव है

घ. १/१,७,४२/२२२/३ एत्थ चोदगो भगदि—जोणिमेहणादीहि समण्णिदं सरीर वेदो, ण तस्स विणासो अस्थि, संजदाणं मरणप्पसंगा। ण भाववेदविणासो वि अस्थि, सरीरे अविणट्ठे तब्भावस्स विणासवि-रोहा। तदो णावगदवेदत्तं जुज्जदे इदि। एत्थ परिहारो उच्चदे—ण सरीरमिस्थिपुरिसवेदो, णामकम्मजणिदस्स सरीरस्स मोहणीयत्त-विरोहा। ण मोहणीयजणिदमवि सरीर, जीवविवाइणो मोहणीयस्स पोगलविवाइत्तविरोहा। ण सरीरभावो वि वेदो, तस्स तदो पुध-भूदस्स अपुवल्भा। परिसेसादा मोहणीयद्वक्कम्मवखंधो तज्जणि-दजोवपरिणामो वा वेदो। तत्थ तज्जणिदजोवपरिणामस्स वा परिणामेण सह कम्मखंधस्स वा अभावेण अवगदवेदो होदि त्ति तेण णेस दोसो त्ति सिद्धं । = प्रश्न—योनि और लिङ्ग आदिसे सयुक्त शरीर वेद कहलाता है। सो अपगतवेदियोंके इस प्रकारके वेदका विनाश नहीं होता, क्योंकि ऐसा माननेसे अपगतवेदी सयत्तोंके मरणका प्रसंग प्राप्त होता है। इसी प्रकार उनके भाववेदका विनाश भी नहीं है, क्योंकि, शरीरके विनाशके विना उसके धर्मका विनाश माननेमें विरोध आता है। इसलिए अपगतवेदता युक्ति संगत नहीं है। उत्तर—न तो शरीर स्त्री या पुरुषवेद है, क्योंकि नामकर्मजनित शरीरके मोहनीयपनेका विरोध है। न शरीर मोहनीयकर्मसे ही उत्पन्न होता है, क्योंकि, जीवविपाकी मोहनीय कर्मके पुद्गलविपा-की होनेका विरोध है। न शरीरका धर्म ही वेद है, क्योंकि शरीरसे पृथग्भूत वेद पाया नहीं जाता। पारिशेष न्यायसे मोहनीयके द्रव्य कर्मस्कन्धको अथवा मोहनीय कर्मसे उत्पन्न होनेवाले जीवके परिणामको वेद कहते हैं। उनमें वेद जनित जीवके परिणामका अथवा परिणामके सहित मोहकर्म स्कन्धका अभाव होनेसे जीव अपगत वेदी होता है। इसलिए अपगतवेदता माननेमें उपर्युक्त कोई दोष नहीं आता, यह सिद्ध हुआ।

४. तीनों वेदोंकी प्रवृत्ति क्रमसे होती है

घ. १/१,१,१०२/३४२/१० उभयोर्वेदयोरक्रमेणैकस्मिन् प्राणिनि सत्त्वं प्राप्नोतीति चेन्न, विरुद्धयोरक्रमेणैकस्मिन् सत्त्वविरोधात् । = प्रश्न—इस प्रकार तो दोनों वेदोंका एक जीवमें अस्तित्व प्राप्त हो जायेगा। उत्तर—नहीं, क्योंकि, विरुद्ध दो धर्मोंका एक साथ एक जीवमें सद्भाव माननेमें विरोध आता है।—(विशेष दे० वेद/४/३)।
घ. १/१,१,१०७/३४६/७ त्रयाणां वेदानां क्रमेणैव प्रवृत्तिर्नाक्रमेण पर्यायत्वात् । = तीनों वेदोंकी प्रवृत्ति क्रमसे ही होती है, युगपत् नही, क्योंकि वेद पर्याय है।

३. तीनों वेदोंके अर्थमें प्रयुक्त शब्दोंका परिचय

१. स्त्री पुरुष व नपुंसकका प्रयोग

दे० वेद/५ (नरक गतिमें, सर्व प्रकारके एकेन्द्रिय व विकलेन्द्रियोंमें तथा सम्मूर्च्छन मनुष्य व पंचेन्द्रिय तिर्यचोमें एक नपुंसक वेद ही होता है। भोगभूमिज मनुष्य व तिर्यचोमें तथा सर्व प्रकारके देवोंमें स्त्री व पुरुष ये दो वेद होते हैं। कर्मभूमिज मनुष्य व पंचेन्द्रिय तिर्यचोमें स्त्री पुरुष व नपुंसक तीनों वेद होते हैं।)

दे० जन्म/३/३ (सम्यग्दृष्टि जीव सब प्रकारकी स्त्रियोंमें उत्पन्न नहीं होते।)

२. तिर्यच व तिर्यचनीका प्रयोग

घ १/१,१,२६/२०६/४ तिररचोष्वपर्यायान्नाद्या मिथ्यादृष्टिसासादना एव सन्ति, न शेषास्तत्र तन्निरूपकार्षाभावात् । तत्रासंयतसम्यग्दृष्टी-नामुत्पत्तेरभावात् । = तिर्यचनियोंके अपर्यायकालमें मिथ्यादृष्टि और सासादन ये दो गुणस्थान ही होते हैं, शेष तीन गुणस्थान नहीं होते, क्योंकि तिर्यचनियोंमें असंयत सम्यग्दृष्टिकी उत्पत्ति नहीं होती।

दे० वेद/६ (तिर्यचनियोंमें क्षायिक सम्यग्दर्शन नहीं होता।)

दे० वेद/५ (कर्मभूमिज व तिर्यचनियोंमें तीनों वेद सम्भव हैं; पर भोगभूमिज तिर्यचोमें स्त्री व पुरुष दो ही वेद सम्भव हैं।)

३. तिर्यच व योनिमति तिर्यचका प्रयोग

दे० तिर्यच/२/१,२ (तिर्यच चौथे गुणस्थानमें क्षायिक सम्यग्दृष्टि होते हैं, परन्तु पाँचवें गुणस्थानमें नहीं होते। योनिमति पंचेन्द्रिय तिर्यच चौथे व पाँचवें दोनों ही गुणस्थानोंमें क्षायिक सम्यग्दृष्टि नहीं होते।)

दे० वेद/६ (क्योंकि, योनिमति पंचेन्द्रिय तिर्यचोमें क्षायिक सम्यग्दृष्टि मरकर उत्पन्न नहीं होते।)

घ. ८/३, ६४/११४/३ जोणिणोसु पुरिसवेदबंधो परोदओ । = योनिमती तिर्यचोमें पुरुष वेदका बन्ध परोदयसे होता है।

४. मनुष्य व मनुष्यणीका प्रयोग

गो जो./जी प्र/७०४/११४१/२२ क्षायिकसम्यक्त्वं तु असंयतादिचतु-र्गुणस्थानमनुष्याणा असंयतदेशसंयतोपचारमहाव्रतमानुषीणां च कर्मभूमिवेदकसम्यग्दृष्टीनामेव । = क्षायिक सम्यग्दर्शन, कर्मभूमिज वेदक सम्यग्दृष्टि असंयतादि चार गुणस्थानवर्ती मनुष्योंको तथा असंयत और देशसंयत और उपचारसे महाव्रतधारी मनुष्यणीको ही होता है।

दे० वेद/५—(कर्मभूमिज मनुष्य और मनुष्यणीमें तीनों वेद सम्भव हैं। परं भोगभूमिज मनुष्योंमें केवल स्त्री व पुरुष ये दो ही वेद सम्भव हैं।)

दे० मनुष्य/१/१, २ (पहले व दूसरे गुणस्थानमें मनुष्य व मनुष्यणी दोनों ही पर्याय व अपर्याय दोनों प्रकारके होते हैं, पर चौथे गुण-स्थानमें मनुष्य तो पर्याय व अपर्याय दोनों होते हैं और मनुष्यणी केवल पर्याय ही होती है। १५-१६ गुणस्थान तक दोनों पर्याय ही होते हैं।)

दे० वेद/६/१/गो जी, (योनिमति मनुष्य पाँचवें गुणस्थानसे ऊपर नहीं जाता।)

दे० आहारक/४/३ (मनुष्यणी अर्थात् द्रव्य पुरुष भाव स्त्रीके आहारक व आहारक मिश्र काय योग नहीं होते हैं, क्योंकि अप्रशस्त वेदोंमें उनको उत्पत्ति नहीं होती।)

५. उपरोक्त शब्दोंके सैद्धान्तिक अर्थ

[वेद मार्गणामें सर्वत्र स्त्री आदि वेदी कहकर निरूपण किया गया है (शोर्षक नं. १)। तहाँ सर्वत्र भाव वेद ग्रहण करना चाहिए (दे० वेद/२/१)। गति मार्गणामें तिर्यच, तिर्यचनी और योनि-मती तिर्यच इन शब्दोंका तथा मनुष्य व मनुष्यणी व योनिमती मनुष्य इन शब्दोंका प्रयोग उपलब्ध होता है। तहाँ 'तिर्यच' व 'मनुष्य' तो जैसा कि अगले सन्दर्भमें स्पष्ट बताया गया है भाव पुरुष व नपुंसक लिंगीके लिए प्रयुक्त होते हैं। तिर्यचनी व मनु-ष्यणी शब्द जैसा कि प्रयोगोंपरसे अष्ट है द्रव्य पुरुष भाव स्त्रीके

लिए प्रयुक्त है। यद्यपि मनुष्यणी शब्दका प्रयोग द्रव्य स्त्री अर्थमें भी किया गया है, पर वह अत्यन्त गौण है, क्योंकि, ऐसे प्रयोग अत्यन्त अल्प हैं। योनिमती तिर्यंच व योनिमती, मनुष्य ये शब्द विशेष विचारणीय हैं। तहाँ मनुष्यणीके लिए प्रयुक्त किया गया तो स्पष्ट ही द्रव्यस्त्रीको सूचित करता है, परन्तु तिर्यंचोमें प्रयुक्त यह शब्द द्रव्य व भाव दोनों प्रकारकी स्त्रियोंके लिए समझा जा सकता, क्योंकि, तहाँ इन दोनोंके ही आलापोमें कोई भेद सम्भव नहीं है। कारण कि तिर्यंच पुरुषोंकी भाँति तिर्यंच स्त्रियों भी पाँचवें गुणस्थानसे ऊपर नहीं जातीं। इसी प्रकार द्रव्य स्त्रीके लिए भी पाँचवें गुणस्थान तक जानेका विधान है।]

क. पा. ३/३-२२/४२६/२४१/१२ मणुस्सो त्ति बुत्ते पुरिसणवंसयवेदो-इल्लाण गहणं। मणुस्सिणो त्ति बुत्ते इत्थिवेदोदयजीवाण गहणं।
—सूत्रमें मनुष्य ऐसा कहनेपर उससे पुरुषवेद और नपुंसकवेदके उदयवाले मनुष्योका ग्रहण होता है। 'मनुष्यिनी' ऐसा कहनेपर उससे स्त्रीवेदके उदयवाले मनुष्य जीवोका ग्रहण होता है। (क. पा. २/२-२२/३३८/२१२/१)।

४. द्रव्य व भाव वेदोंमें परस्पर सम्बन्ध

१. दोनोंके कारणभूत कर्म भिन्न हैं

६. सं. प्रा. १/१/१०३ उदयाद् नोकसायाण भाववेदो य होइ जंतूणं। जोणी य लिग्गमाई णामोदय दव्ववेदो हु १०३। = नोकषायोके उदयसे जीवोके भाववेद होता है। तथा योनि और लिग आदि द्रव्यवेद नामकर्मके उदयसे होता है। १०२। (त सा. २/१७६), (गो. जी/सू. २/७१/५६१), (और भी दे० वेद/१/३ तथा वेद/२)।

२. दोनों कहीं समान होते हैं और कहीं असमान

पं सं प्रा १/१/१०२. १०४ तिव्वेद एव सव्वे वि जीवा दिट्ठा हु दव्व-भावादो। ते चैव हु विवरीया सभवति जहाकम सव्वे १०२। इत्थी पुरिस णउंसय वेया खलु दव्वभावदो होत्ति। ते चैव य विवरीया हवति सव्वे जहाकमसो १०४। = द्रव्य और भावकी अपेक्षा सर्व ही जीव तीनों वेदवाले दिखाई देते हैं और इसी कारण वे सर्व ही यथाक्रमसे विपरीत वेदवाले भी सम्भव हैं। १०२। स्त्रीवेद पुरुषवेद और नपुंसकवेद निश्चयसे द्रव्य और भावकी अपेक्षा दो प्रकारके होते हैं और वे सर्व ही विभिन्न नोकषायोके उदय होनेपर यथा-क्रमसे विपरीत वेदवाले भी परिणत होते हैं। १०४। [अर्थात् कभी द्रव्यसे पुरुष होता हुआ भावसे स्त्री और कभी द्रव्यसे स्त्री होता हुआ भावसे पुरुष भी होता है—दे० वेद/२/१]

गो. जी/सू. २/७१/५६१ पुरिच्छिखसव्वेदोदयेण पुरिसिच्छिखसव्वो भावे। णामोदयेण दव्वे पाएण समा कहि विसमा १२७१। = पुरुष स्त्री और नपुंसक वेदकर्मके उदयसे जीव पुरुष स्त्री और नपुंसक रूप भाव-वेदोको प्राप्त होता है और निर्माण नामक नामकर्मके उदयसे द्रव्य वेदोको प्राप्त करता है। तहाँ प्राय करके तो द्रव्य और भाव दोनों वेद समान होते हैं, परन्तु कहीं-कहीं परिणामोकी विचित्रताके कारण ये असमान भी हो जाते हैं। १२७१। —(विशेष दे० वेद/२/१)।

१. चारों गतियोंकी अपेक्षा दोनोंमें समानता व असमानता

गो. जी/जो. प्र २/७१/५६१/२ एते द्रव्यभाववेदा प्रायेण प्रचुरवृत्त्या देवनारकेषु भोगभूमिसर्वतिर्यंगमनुष्येषु च समा द्रव्यभावाभ्यां सम-वेदोदयाद्भिता भवन्ति। त्वचिरकर्मभूमि-मनुष्यतिर्यंगतिद्वये विभवाः—विसदशा अपि भवन्ति। तद्यथा—द्रव्यत पुरुषे भाव-पुरुष भावस्त्री भावनपुंसक। द्रव्यस्त्रियां भावपुरुषे भावस्त्री

भावनपुंसक। द्रव्यनपुंसके भावपुरुषे भावस्त्री भावनपुंसक इति विषमत्व द्रव्यभावयोरनियम कथित। कुत द्रव्यपुरुषस्य क्षपकभ्रंश्यारूढानिचृत्तिकरणसवेदभागपर्यन्तं वेदत्रयस्य परमागमे "सेसोदयेण वि तथा भाणुवजुत्ता य ते दु सिज्भति।" इति प्रतिपादकत्वेन सभवात्। = ये द्रव्य और भाववेद दोनों प्रायः अर्थात् प्रचुररूपसे देव नारकियोमें तथा सर्व ही भोगभूमिज मनुष्य व तिर्यंचोमें समान ही होते हैं, अर्थात् उनके द्रव्य व भाव दोनों ही वेदोका समान उदय पाया जाता है। परन्तु क्वचित् कर्मभूमिज मनुष्य व तिर्यंच इन दोनों गतियोमें विषम या विसदशा भी होते हैं। वह ऐसे कि द्रव्यवेदसे पुरुष होकर भाववेदसे पुरुष, स्त्री व नपुंसक तीनों प्रकारका हो सकता है। इसी प्रकार द्रव्यसे स्त्री और भावसे स्त्री, पुरुष व नपुंसक तथा द्रव्यसे नपुंसक और भावसे पुरुष स्त्री व नपुंसक। इस प्रकार की विषमता होनेसे तहाँ द्रव्य और भाववेदका कोई नियम नहीं है। क्योंकि, आगममें नवें गुणस्थानके सवेदभाग पर्यन्त द्रव्यसे एक पुरुषवेद और भावसे तीनों वेद है ऐसा कथन किया है।—दे० वेद/७। (पं. ध/उ./१०६२-१०६५)।

४. भाववेदमें परिवर्तन सम्भव है

ध. १/१.२.१०७/३४६/७ कषायवन्नान्तर्मुहूर्तस्थापिनो वेदो आजन्मः आमरणात्तदुदयस्य सत्त्वात्। = [पर्यायरूप होनेके कारण तीनों वेदोकी प्रवृत्ति क्रमसे होती है—(दे० वेद/२/४), परन्तु यहाँ इसनी विशेषता है कि] जैसे त्रिवक्षित कषाय केवल अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त रहती है, वैसे सभी वेद केवल एक-एक अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त ही नहीं रहते हैं, क्योंकि, जन्मसे लेकर मरणतक भी किसी एक वेदका उदय पाया जाता है।

ज. ४/१.२.६१/३६६/४ वेदतरसकंतीए अभावादो। = भोगभूमिमें वेद परिवर्तनका अभाव है।

५. द्रव्य वेदमें परिवर्तन सम्भव नहीं

गो जी/जो प्र. २/७१/५६१/१८ पुवेदोदयेन निर्माणनामकर्मोदययुक्ताङ्गो-पाङ्गनोर्कोदयवशेन शमश्रुकुर्चशिशनादिलिङ्गाद्भुतशरीर-विशिष्टो जीवो भवप्रथमसमयमादि कृत्वा तद्भवचरमसमयपर्यन्तं द्रव्यपुरुषो भवति। भवप्रथमसमयमादि कृत्वा तद्भवचरमसमय-पर्यन्तं द्रव्यस्त्री भवति। • भवप्रथमसमयमादि कृत्वा तद्भवचरम-समयपर्यन्तं द्रव्यनपुंसक जीवो भवति। = पुरुषवेदके उदयसे तथा निर्माण नामकर्मके उदयसे युक्त अंगोपात्र नामकर्मके उदयके वशसे मछ दाढी व लिग आदि चिह्नोंसे अंकित शरीर विशिष्ट जीव, भवके प्रथम समयको आदि करके उस भवके अन्तिम समयतक द्रव्य पुरुष होता है। इसी प्रकार भवके प्रथम समयसे लेकर उस भवके अन्तिम समयतक द्रव्य-स्त्री व द्रव्य नपुंसक होता है।

५. गति आदिकी अपेक्षा वेद मार्गणाका स्वामित्व

१. नरकमें केवल नपुंसक वेद होता है

ष ख १/१.२/सू. १०५/३४५ णेरइया चवुसु इणिसु सुद्धा णवुसयवेदा। १०५। = नारकी जीव चारो ही गुणस्थानोंमें शुद्ध (केवल) नपुंसक-वेदो होते हैं—(और भी दे० वेद/५/३)।

पं. ध/उ/१०५६ नारकाणा च सर्वेषा वेदकश्चैको नपुंसक। द्रव्यतो भावतरचापि न स्त्रीवेदो न वा पुमात्। १०५६। = सम्पूर्ण नारकियोके द्रव्य व भाव दोनों प्रकारसे एक नपुंसक ही वेद होता है उनके न स्त्री वेद होता है और न पुरुष वेद। १०५६।

२. भोगभूमिज तिर्यच मनुष्योमें तथा सभी देवोमें दो ही वेद होते हैं

प ख. १/१,१/सूत्र ११०/३७ देवा चतुसु दृष्टाणेषु दुवेदा. इत्थिवेदा पुरिसवेदा ११०। = देव चार गुणस्थानों में स्त्री और पुरुष इस प्रकार दो वेदवाले होते हैं।

म आ./११२६ देवा य भोगभूमा असखवासाउगा मणुयतिरिगा। ते हाति दोसु वेदेषु पत्थि तैसि तद्वियवेदो ११२६। = चारों प्रकारके देव तथा अमख्यगत रफकी आयुवाले मनुष्य और तिर्यच. इनके दो (स्त्री व पुरुष) दो वेद होते हैं, तीसरा (नपुंसकवेद) नहीं। (व १/१,१,११०/३४७/१२)।

त सू. व स सि./२/४१/१०६ न देवा ५१। न तेषु नपुंसकानि सन्ति। = देवोंमें नपुंसकवेदी नहीं होते। (रा वा /२/४१/१५६/२७) (त सा /२/५०)।

गो. जो /नू /६०/२१४.। सुरभोगभूमा पुरिसिच्छीवेदगा चैव ६३। = देव तथा भोगभूमिज मनुष्य व तिर्यच केवल पुरुष व स्त्री वेदी ही होते हैं।

प ध/उ/१०५७-१०८५ यथा द्विविजनारीणा नारीवेदोऽस्ति नेतर। देवाना चापि सर्वेषा पाक पुवेद एव हि १०५७। भोगभूमौ च नारीणां नारीवेदी न चैतर। पुवेद केवल पुसा नान्यो वाप्योन्यसभव। १०५५. = जैसे सम्पूर्ण देवागनाओंके केवलस्त्री वेदका उदय रहता है अन्य वेदका नहीं, वैसे ही सभी देवोंके एक पुरुषवेदका ही उदय है अन्यका नहीं १०८७। भोगभूमिमें स्त्रियोंके स्त्री वेद तथा पुरुषवेद ही होता है अन्य नहीं। स्त्रीवेदीके पुरुषवेद और पुरुषवेदीके स्त्री-वेद नहीं होता है १०५५। - और भी दे०/वेद/४/३)।

३. कर्मभूमिज विकलेन्द्रिय व सम्मूर्च्छिम तिर्यच व मनुष्य केवल नपुंसक वेदी होते हैं

प ख. १/१,१/सूत्र १०६/३४४ तिरिक्खा सुद्धा णुंसगवेदा एइदिय-प्पहुडि जाव चउरिदिया त्ति १०६। - तिर्यच एकेन्द्रिय जीवोंसे लेकर चतु-रिन्द्रिय तक शुद्ध (केवल) नपुंसकवेदी होते हैं १०६।

मू आ./११२८ एइदिय विगलियिणारय सम्मूर्च्छिमा य खलु सव्वे। वेदो णवुसगा ते णादव्वा होति णियमादु ११२८। = एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय, नारकी सम्मूर्च्छिम असञ्जी व सञ्जी तिर्यच तथा सम्मूर्च्छिम मनुष्य नियमसे नपुंसक लिंगी होते हैं। (त्रि.सा /३३१)।

त. सू./२/५० नारक संमूर्च्छिनो नपुंसकानि ५०। = नारक और सम्मूर्च्छिम नपुंसक होते हैं। (त. सा./२/५०), (गो जो /मू /६३/२१४)

घ. १/१,१,११०/३४७/११ तिर्यङ्मनुष्यलब्धपर्याप्तान् सम्मूर्च्छिमपञ्चे-द्विप्राश्च नपुंसका एव। = लब्धपर्याप्त तिर्यच और मनुष्य तथा सम्मूर्च्छिम पचेन्द्रिय जीव नपुंसक ही होते हैं।

प. ध./उ/१०६०-१०६१ तिर्यगजातौ च सर्वेषा एकाक्षाणा नपुंसक-वेदो विकलत्रयाणा वनीव. स्यात् केवल. किल १०६०। पञ्चाक्षा-सङ्गिना चापि तिरश्चा स्यान्नपुंसक। द्रव्यतो भावत्तश्चापि वेदो नान्य कदाचन १०६१। = तिर्यचजातियोंमें भी निश्चय करके द्रव्य और भाव दानोंकी अपेक्षासे सम्पूर्ण एकेन्द्रियोंके, विकलेन्द्रियोंके और (सम्मूर्च्छिम) असञ्जी पचेन्द्रियोंके केवल एक नपुंसक वेद हाता है, अन्य वेद कभी नहीं होता १०६०-१०६१।

४. कर्मभूमिज सञ्जी असञ्जी तिर्यच व मनुष्य तीनों वेदवाले होते हैं

प ख. १/१,१/सूत्र १०७-१०६/३४६ तिरिक्खा तिवेदा असण्णिपचिदिय-प्पहुडि जाव सज्जासज्जा त्ति १०७। मणुससा तिवेदा मिच्छाइ-ट्ठिप्पहुडि जाव अणियट्ठि त्ति १०५। तेण परमवगदवेदा चेदि १०६।

= तिर्यच असञ्जी पचेन्द्रियसे लेकर समयतः सयत गुणस्थान तक तीनों वेदोंमें युक्त होते हैं १०७। मनुष्यमिच्छादृष्टि गुणस्थानसे लेकर अनिवृत्तिकरण गुणस्थान तक तीनों वेदवाले होते हैं १०५। नवमें गुणस्थानके सबेदभागके आगे सभी गुणस्थानवाले जी० वेद रहित होते हैं १०६।

मू आ./११३० पचिदिया दु सेसा सण्णि असण्णि य तिरिय मणुसा य। ते होति इत्थिपुरिसा णपुंसगा चाचि देवेहि ११३०। = उपरोक्त सर्व विकल्पोंसे शेष जो सञ्जी असञ्जी पचेन्द्रिय तिर्यच और मनुष्य स्त्री पुरुष व नपुंसक तीनों वेदवाले होते हैं ११३०।

त सू./२/५२ शेषास्त्रिवेदा ५२। = शेषके सब जीव तीन वेद वाले होते हैं। (त. सा./२/५०)।

गो जो /मू /६३/२१४ णर तिरिये तिण्णि होति। = नर और तिर्यचो-में तीनों वेद होते हैं।

त्रि सा /१३१ तिवेदा गम्भणरतिरिया। = गर्भज मनुष्य व तिर्यच तीनों वेदवाले होते हैं।

पं. ध/उ/१०६२ कर्मभूमौ मनुष्याणा मानुषीणा तयैव च। तिरश्चा वा तिरश्चीना त्रयो वेदास्तथोदयात् १०६२। = कर्मभूमिमें मनुष्योंके और मनुष्यनियोंके तथा तिर्यचोंके और तिर्यचनियोंके अपने-अपने उदयके अनुसार तीनों वेद होते हैं १०६२। [अर्थात् द्रव्य वेदकी अपेक्षा पुरुष व स्त्री वेदी हाते हुए भी उनके भाववेदकी अपेक्षा तीनोंमेंसे अन्यतम वेद पाया जाता है १०६३-१०६५।]

५. एकेन्द्रियोंमें वेदभावकी सिद्धि

प. १/१,१,१०३/३४३/५ एकेन्द्रियाणं न द्रव्यवेद उपलभ्यते, तदनुपलब्धो कथं तरय तत्र सत्त्वमिति चेन्माभूत्तत्र द्रव्यवेद, तस्यात्र प्राधान्या-भावात्। अथवा नानुपलब्ध्या तदभाव सिद्धयेत्, सकलप्रमेयव्याप्यु-पलम्भबलेन तस्सिद्धिः। न स छद्मस्थेष्वस्ति। एकेन्द्रियाणामप्रतिप-न्नस्त्रीपुरुषाणा कथं स्त्रीपुरुषविषयाभिलाषे घटत इति चेन्न. अप्रति-पन्नस्त्रीवेदेन भूमिगृहान्तवृद्धिमुपगतैर्न मूना पुरुषेण व्यभिचारात्। = प्रश्न—एकेन्द्रिय जीवोंके द्रव्यवेद नहीं पाया जाता है, इसलिए द्रव्यवेदकी उपलब्धि नहीं होनेपर एकेन्द्रिय जीवोंमें नपुंसक वेदका अस्तित्व कैसे बतलाया? उत्तर—एकेन्द्रियोंमें द्रव्यवेद मत होओ, क्योंकि, उसकी यहाँपर प्रधानता नहीं है। अथवा द्रव्यवेदकी एकेन्द्रियोंमें उपलब्धि नहीं होती है, इसलिए उसका अभाव सिद्ध नहीं होता है। किन्तु सम्पूर्ण प्रमेयोंमें व्याप्त होकर रहनेवाले उपलम्भ-प्रमाण (केवलज्ञानसे) उसकी सिद्धि हो जाती है। परन्तु वह उप-लम्भ (केवलज्ञान) छद्मस्थोंमें नहीं पाया जाता है। प्रश्न—जो स्त्रीभाव और पुरुषभावसे सर्वथा अनभिज्ञ है ऐसे एकेन्द्रियोंकी स्त्री और पुरुष विषयक अभिलाषा कैसे बन सकती है? उत्तर—नहीं, क्योंकि, जो पुरुष स्त्रीवेदसे सर्वथा अज्ञात है और भृगृहके भीतर वृद्धिको प्राप्त हुआ है, ऐसे पुरुषके साथ उक्त कथनका व्यभिचार देखा जाता है।

६. चीटी आदि नपुंसक वेदी ही कैसे

घ. १/१,१,१०६/३४६/२ पिपीलिकानामण्डदर्शनात् तै नपुंसक इति चेन्न, अण्डाना गर्भे एवोत्पत्तिरिति नियमाभावात्। = प्रश्न—चीटियोंके अण्डे देखे जाते हैं, इसलिए वे नपुंसकवेदी नहीं हो सकते हैं? उत्तर—अण्डोंकी उत्पत्ति गर्भमें ही होती है। ऐसा कोई नियम नहीं।

७. विग्रह गतिमें भी अव्यक्तवेद होता है

घ. १/१,१,१०६/३४६/३ विग्रहगतौ न वेदाभावस्तत्राप्यव्यक्तवेदस्य सत्त्वात्। = विग्रहगतिमें भी वेदका अभाव नहीं है, क्योंकि, वहाँ भी अव्यक्त वेद पाया जाता है।

६. वेदमार्गणामे सम्यक्त्व व गुणस्थान

१. सम्यक्त्व व गुणस्थान स्वामित्व निर्देश

दे० वेद/५/नं. [नरक गतिमें नपु सक वेदी १-४ गुणस्थान वाले होते हैं। १। तिर्यच त्ते नो वेदोवाले १-४ गुणस्थान वाले होते हैं। १। मनुष्य तीनों वेदोंमें १-६ गुणस्थानवाले होते हैं। और इससे आगे वेद रहित होते हैं। १। देव स्त्री व पुरुष वेदमें १-४ गुणस्थान वाले होते हैं। २।]

दे० नरक/४/ न [नरककी प्रथम पृथिवीमें क्षायिक औपशमिक व क्षायोपशमिक तीनों सम्यक्त्व सम्भव हैं, परन्तु शेष छ पृथिवियोंमें क्षायिक रहित दो ही सम्भव हैं। २। प्रथम पृथिवी सम्यग्दृष्टि पर्याप्तिक व अपर्याप्तिक दोनों अवस्थाओंमें होते हैं पर शेष छ पृथिवियोंमें पर्याप्तिक ही होते हैं। ३।]

दे तिर्यच/२/नं. [तिर्यच व योनिमति तिर्यच १-५ गुण स्थानवाले होते हैं। तिर्यचकी चौथे गुणस्थानमें क्षायिक सम्यक्त्व सम्भव है, परन्तु पाँचवें गुणस्थानमें नहीं। योनिमती तिर्यचकी चौथे व पाँचवें दोनों ही गुणस्थानोंमें क्षायिकसम्यग्दर्शन सम्भव नहीं। १। तिर्यच तो चौथे गुणस्थानमें पर्याप्त व अपर्याप्त दोनों सम्भव हैं, परन्तु योनिमति तिर्यच केवल पर्याप्त ही सम्भव है। पाँचवें गुणस्थानमें दोनों ही पर्याप्त होते हैं अपर्याप्त नहीं। २।]

दे मनुष्य/३/नं. [मनुष्य व मनुष्यणी दोनों ही सयत व क्षायिक सम्यग्दृष्टि होने सम्भव हैं। १। मनुष्य तो सम्यग्दृष्टि पर्याप्त व अपर्याप्त दोनों प्रकारके होते हैं, परन्तु मनुष्यणी सम्यग्दृष्टि केवल पर्याप्त ही होते हैं। शेष ५-१४ गुणस्थानोंमें दोनों पर्याप्त ही होते हैं। २।]

दे देव./३/नं. [कल्पवासी देवोंमें क्षायिक औपशमिक व क्षायोपशमिक तीनों सम्यक्त्व सम्भव हैं, परन्तु भवनात्रिक देवों व सर्व देवियोंमें क्षायिक रहित दो ही सम्यक्त्व सम्भव हैं। १। कल्पवासी देव तो असंयत सम्यग्दृष्टि गुणस्थानमें पर्याप्त व अपर्याप्त दोनों होते हैं, पर भवनात्रिकदेव व सर्व देवियाँ नियमसे पर्याप्त ही होते हैं। २।]

क. पा. ३/३-२२/३४२६/२४१/१३ जहा अप्ससत्थ वेदोदरण मणपञ्चवणाणादीर्ण ण संभवो तथा दंसणमोहणीयखवणाए तत्थ कि संभवो अत्थि णत्थि त्ति संदेहेण बुलंतहियस्स सिस्ससदेहविणासणट्ठं मणुसस्स मणुसिणीए वा त्ति भणिदं । = जिस प्रकार अप्रशस्त वेदके उदयके साथ मन पर्यय ज्ञानादिकका होना सम्भव नहीं है—(दे शीर्षक नं. ३) इसी प्रकार अप्रशस्त वेदके उदयमें दर्शनमोहनीयकी क्षणका क्या सम्भव है या नहीं है, इस प्रकार सन्देहसे जिसका हृदय बुल रहा है उस शिष्यके सन्देहको दूर करनेके लिए सूत्रमें 'मणुसस्स मणुसिणीए वा' यह पद कहा है। [मनुष्यका अर्थ पुरुष व नपुंसक वेदी मनुष्य है और मनुष्यणीका अर्थ स्त्रीवेदी मनुष्य है।—दे. वेद/३/५। अत तीनों वेदोंमें दर्शनमोहकी क्षणका सम्भव है।]

गो. जी./जी./प्र./७१४/११६३/११ असयततैरश्चया प्रथमोपशमकवेदकसम्यक्त्वद्वयं, असंयतमानुष्या प्रथमोपशमवेदकक्षायिकसम्यक्त्वत्रय च सभवति तथापि एको भुज्यमानपर्याप्तालाप एव। योनिमतीना पञ्चमगुणस्थानादुपरि गमनासंभवात् द्वितीयोपशमसम्यक्त्व नास्ति । = असयत तिर्यचोंमें प्रथमोपशम व वेदक ये दो ही सम्यक्त्व होते हैं और मनुष्यणीके प्रथमोपशम, वेदक व क्षायिक ये तीनों सम्यक्त्व सम्भव हैं। तथापि तहाँ एक भुज्यमान पर्याप्त आलाप ही होता है। योनिमती मनुष्य या तिर्यचका तो पंचमगुणस्थानसे ऊपर जाना असम्भव होनेसे यहाँ द्वितीयोपशम सम्यक्त्व नहीं होता।

२. अप्रशस्त वेदोंमें क्षायिक सम्यग्दृष्टि अत्यन्त अल्प होते हैं

ष. ख ५/१,८/सू ७५/२७८ णवरि विसेसो, मणुसिणीसु असंजद संजदासजद-मत्तपमत्तसजददट्ठाणे सवत्थोवो खइयसन्माइट्ठी। ७५।

ध ५/१,८,७५/२७८/१० कुदो। अप्ससत्थवेदोदरण दंसणमोहणीय खवेत-जीवाणं बहूणमणुवलभा। = केवल विशेषता यह है कि मनुष्यणीयो-में असंयत सम्यग्दृष्टि, सयतासयत, प्रमत्तसयत और अप्रमत्तसयत गुणस्थानमें क्षायिकसम्यग्दृष्टि जीव सबसे कम है। ७५। क्योंकि, अप्रशस्त वेदके उदयके साथ दर्शनमोहनीयकी क्षण करनेवाले जीव बहुत नहीं पाये जाते हैं।

३. अप्रशस्तवेदके साथ आहारक आदि ऋद्धियोंका निषेध

दे/वेद/६/१—मे क. पा —(अप्रशस्तवेदके उदयके साथ मन पर्यय ज्ञान आदिका होना सम्भव नहीं।)

दे. आहार /४/३—(भाव पुरुष द्रव्य स्त्रीको यद्यपि संयम होता है, परन्तु उनको आहारक ऋद्धि नहीं होती। द्रव्य स्त्रीको तो संयम ही नहीं होता, तहाँ आहार ऋद्धिका प्रश्न ही क्या।)

गो. जी./मू. व जी. प्र./७१५/११६४/२,६ मणुसिणि पमत्तविरदे आहार-दुगं तु णत्थि णियमेण। ७१५। तुशब्दात् अशुभवेदोदये मन पर्यय-परिहारविशुद्धी अपि न। = मनुष्यणीको प्रमत्तविरत गुणस्थानमें नियमसे आहार व आहारक मिश्र योग नहीं होते। 'तु' शब्दसे अशुभ वेदके उदयमें मन पर्ययज्ञान व परिहारविशुद्धि संयम भी नहीं होता, ऐसा समझना चाहिए।

गो. जी./मू. व जी. प्र./७२४/११६०/२, ५ णवरि य संद्विच्छीणं णत्थि हु आहारगण दुगं। ७२४।—भावषण्डद्रव्यपुरुषे भावस्त्रीद्रव्यपुरुष च प्रमत्तसंयते आहारकतन्मिभालापौ न। = इतनी विशेषता है कि नपुंसक व स्त्री वेदीको आहारकद्विक नहीं होते हैं। तात्पर्य यह कि भावनपुंसक द्रव्यपुरुषमें अथवा भावस्त्री द्रव्यपुरुषमें प्रमत्तसंयत गुणस्थानमें आहार व आहारकमिश्र ये आलाप नहीं होते हैं।

७. स्त्रीप्रव्रज्या व मुक्तिनिषेध

१. स्त्रीको तद्भवसे मोक्ष नहीं होता

शी. पा/मू/२६ सुणहाण य गोपसुमहिल्लण दीसदे मोक्खो। जे एोधंति चउत्थं पिच्छज्जता जणेहिं सव्वेहिं। २६। = श्वान, गर्दभ, गौ आदि पशु और स्त्री इनको मोक्ष होते हुए किसने देखा है। जो चौथे मोक्ष पुरुषार्थका शोधन करता है उसको ही मुक्ति होती है। २६। प्र. सा./प्रक्षेपक/२२५-८/३०४ यदि दसणेण सुद्धा सुत्तज्जफ्यणेण चावि संजुत्ता। घोर चरदिय चरिय इत्थिस्स ण णिज्जरा भणिदा। ८। = सम्यग्दर्शनसे शुद्धि, सूत्रका अध्ययन तथा तपश्चरणरूप चारित्र इन कर सयुक्त भी स्त्रीको कर्मोंकी सम्पूर्ण निर्जरा नहीं कही गयी है।

मो. पा/टी./१२/३१३/११ स्त्रीणामपि मुक्तिर्न भवति महाव्रताभावात्। = महाव्रतोंका अभाव होनेसे स्त्रियोंको मुक्ति नहीं होती।—(और भी दे. शीर्षक नं. ४)

दे. शीर्षक नं. ४—(सावरण होनेके कारण उन्हें मुक्ति नहीं है।)

दे. मोक्ष/४/५—(तीनों ही भाव लिगोसे मोक्ष सम्भव है, पर द्रव्यसे केवल पुरुषवेदसे ही होता है।)

२. फिर भी भवान्तरमें मुक्तिकी अभिलाषासे जिन दीक्षा लेती हैं

प्र. सा/ता. वृ/प्रक्षेपक २२५-८/३०५/७ यदि पूर्वोक्तदोषाः सन्त. स्त्रीणां तर्हि सीतारुक्मिणीकुन्तीत्रौपदीसुभद्राप्रभृतयो जिनदीक्षा गृहीत्वा विशिष्टतपश्चरणेन कथं षोडशस्वर्गे गता इति चेत्। परिहारमाह-तत्र दोषो नास्ति तस्मात्स्वर्गादागत्य पुरुषवेदेन मोक्षं यास्यन्त्यग्रे।

तद्भवमोक्षो नास्ति भवान्तरे भवतु को दोष इति । = प्रश्न—यदि स्त्रियोंके पूर्वोक्त सब दोष होते हैं (दे. आनेके शोर्षक) तो सीता, रुक्मिणी, कुन्ती, द्रौपदी, सुभद्रा आदि सतियाँ जिनदीक्षा ग्रहण करके विशिष्ट तपश्चरणके द्वारा १६वें स्वर्गमें कैसे चली गयीं ? उत्तर—इसमें कोई दोष नहीं है, इसलिए कि स्वर्गसे आकर, आने पुरुषवेदसे मोक्षको प्राप्त करेंगे। स्त्रीको तद्भवसे मोक्ष नहीं है, परन्तु भवान्तरसे मोक्ष हो जानेमें क्या दोष है।

३. तद्भव मुक्ति निषेधमें हेतु चंचलस्वभाव

प्र. सा./मू./प्रक्षेपक गाथा/२२५-३ से ६/३०२ पड़डोपमादमइया एतासि वित्ति भासया पमदा । तम्हा ताओ पमदा पमादबहुलोत्ति णिद्विट्ठा । ३। संति धुवं पमदाणं मोहपदासा भयं दुगुच्छा य । चित्ते चित्ता माया तम्हा तासि ण णिव्वाणं । ४। ण विणा वट्टदि णारो एक्कं वा तेसु जीवलोयम्हि । ण हि संउडं च गत्तं तम्हा तासि च संवरण । ५। चित्तस्सावो तासि सित्थिबलं अत्तवं च पक्खलणं । विज्जदि सहसा तासु । ६। = स्त्रियाँ प्रमादकी मूर्ति हैं। प्रमादकी बहुलतासे ही उन्हें प्रमदा कहा जाता है। उन प्रमदाओको नित्य मोह, प्रद्वेष, भय, दुर्गुच्छा आदिरूप परिणाम तथा चित्तमें चित्र-विचित्र माया बनी रहती हैं, इसलिए उन्हें मोक्षकी प्राप्ति नहीं होती। ४। स्त्रियाँ कभी भी दोष रहित नहीं होतीं इसलिए उनका शरीर सदा बखसे ढका रहता है। ५। स्त्रियोंको चित्तकी चंचलता व शिथिलता सदा बनी रहती है। ६। (यो. सा./अ./५/४५-४८)

४. तद्भव मुक्ति निषेधमें हेतु सचेतता

सू. पा./मू./२२ लिंगं इत्थीण हवदि भूजइ पिडं सुएयकालम्मि । अज्जिय वि एकवस्था वत्थावरणेण भंजेइ । २२। = स्त्रीका लिंग ऐसा है—एक काल भोजन करे, एक बख धरे और भोजन करते समय भी बखको न उतारे।

प्र. सा./मू./प्रक्षेपक/२२५-२/३०२ णिच्छयदो इत्थीणं सिद्धी ण हि जम्हा दिट्ठा । तम्हा तप्पडिरुवं वियप्पियं लिंगमिस्थीणं । २। = क्योंकि, स्त्रियोंको निश्चयसे उसी जन्मसे सिद्धि नहीं कही गयी है, इसलिए स्त्रियोंका लिंग सावरण कहा गया है। २। (यो. सा./अ./५/४४)

दे. मो./४/५—(सग्रन्थ लिंगसे मुक्ति सम्भव नहीं)

घ. १/१.१.६३/३३३/१ अस्मादेवार्षाद् द्रव्यस्त्रीणां निवृत्ति' सिद्धवेदिति चेन्न, सवासस्त्वादप्रत्याख्यानगुणस्थितानां संयमानुपपत्तेः । भाव-संयमस्तासां सवाससामप्यविरुद्ध इति चेत्, न तासां भावसंयमोऽस्ति भावसंयमाविनाभावविरुद्धयुपादानान्यथानुपपत्तेः । = प्रश्न—इसी आगमसे (मनुष्यगणियोंमें संयत गुणस्थानके प्रतिपादक सूत्र नं. ६३ से) द्रव्य स्त्रियोंका मुक्ति जाना भी सिद्ध हो जायेगा ? उत्तर—नहीं, क्योंकि, बखसहित होनेसे उनके संयत्तासंयत गुणस्थान होता है अतएव उनके संयमकी उत्पत्ति नहीं हो सकती। प्रश्न—बख सहित होते हुए भी उन द्रव्यस्त्रियोंके भावसंयमके होनेमें कोई विरोध नहीं आना चाहिए ? उत्तर—उनके भावसंयम नहीं है, क्योंकि, अन्यथा अर्थात् भावसंयमके माननेपर, उनके भाव असंयमका अविनाभावी बख आदिका ग्रहण करना नहीं बन सकता है।

घ. ११/४.२.६.१२/११४/११ ण च दव्वत्थीणं णिगंत्थत्तमत्थि, चेलादि-परिच्छाएण विणा तासि भावणिग्गंत्ताभावादो । ण च दव्वत्थिण-वंसपवेदेण चेलादिचागो अत्थि, छेदसुत्तेण सह विरोहादो । = द्रव्य स्त्रियोंके निर्ग्रन्थता सम्भव नहीं है, क्योंकि, बखआदि परित्यागके बिना उनके भावनिर्ग्रन्थताका अभाव है। द्रव्य स्त्रीवेदी व नपुंसक-वेदी बखआदिका त्याग करके निर्ग्रन्थ लिंग धारण कर सकते हैं, ऐसी आशका भी ठीक नहीं है, क्योंकि, वैसा स्वीकार करनेपर छेदसूत्रके साथ विरोध होता है।

५. आर्थिकाको महाव्रती कैसे कहते हो

प्र. सा./ता. वृ./प्रक्षेपक गाथा/२२५-५/३०४/२४ अथ मत्तं—यदि मोक्षो नास्ति तर्हि भवदीयमते किमर्थमज्जिकाना महाव्रतारोपणम् । परिहारमाह—तदुच्चारणेण कुलव्यवस्थानिमित्तम् । न चोपचारः साक्षाद्भवितुमर्हति...। किंतु यदि तद्भवे मोक्षो भवति स्त्रीणां तर्हि शतवर्षदीक्षिताया अज्जिकाया अवादिने दीक्षितः साधुः कथं वन्द्यो भवति । सैव प्रथमतः किं न वन्द्या भवति साधो । = प्रश्न—यदि स्त्रीको मोक्ष नहीं होता तो आर्थिकाओको महाव्रतीका आरोप किस लिए किया जाता है। उत्तर—साधुसंघकी व्यवस्थात्रके लिए उपचारसे वे महाव्रत कहे जाते हैं और उपचारमें साक्षात् होनेकी सामर्थ्य नहीं है। किन्तु यदि तद्भवसे स्त्री मोक्ष गयी होती तो १०० वर्षकी दीक्षिता आर्थिकाके द्वारा आजका नव-दीक्षित साधु वन्द्य कैसे होता। वह आर्थिका ही पहिले उस साधुकी वन्द्या क्यों न होती। (मो. पा./टी./१२/३३३/१८); (और भी दे. आहारक/४/३, वेद/३/४ गो जी.)

६. फिर मनुष्यणीको १४ गुणस्थान कैसे कहे गये

घ १/१.१.६३/३३३/४ कथं पुनस्तासु चतुर्दश गुणस्थानानिति चेन्न, भाव-स्त्रीविशिष्टमनुष्यगती तत्सत्त्वाविरोधात् । भाववेदो वादरक्षायान्नो-पर्यस्तीति न तत्र चतुर्दशगुणस्थाना संभव इति चेन्न, अत्र वेदस्य प्राधान्याभावात् । गतिस्तु प्रधाना न साराद्विनश्यति । वेदविशेषणार्थां गतौ न तानि संभवन्तीति चेन्न, विनष्टेऽपि विशेषणे उपचारेण तद्वचपदेशमादधानमनुष्यगती तत्सत्त्वाविरोधात् । = प्रश्न—तो फिर 'स्त्रियोंमें चौदह गुणस्थान होते हैं यह कथन कैसे बन सकता है ? उत्तर—नहीं, क्योंकि, भावस्त्रीमें अर्थात् स्त्री वेदयुक्त मनुष्यगतिमें चौदह गुणस्थानोंके सद्भाव मान लेनेमें कोई विरोध नहीं आता है। प्रश्न—बादर कषाय गुणस्थानके ऊपर भाववेद नहीं पाया जाता है, इसलिए भाववेदमें १४ गुणस्थानोंका सद्भाव नहीं हो सकता है ? उत्तर—नहीं, क्योंकि, यहाँपर वेदकी प्रधानता नहीं है, किन्तु गति प्रधान है, और वह पहिले नष्ट नहीं होती है। प्रश्न—यद्यपि मनुष्यगतिमें १४ गुणस्थान सम्भव हैं, फिर भी उसे वेद विशेषणसे युक्त कर देनेपर उसमें चौदह गुणस्थान सम्भव नहीं हो सकते ? उत्तर—नहीं, क्योंकि, विशेषणके नष्ट हो जानेपर भी उपचारसे उस विशेषण युक्त सज्ञाको धारण करनेवाली मनुष्य गतिमें चौदह गुणस्थानोंका सद्भाव मान लेनेमें कोई विरोध नहीं आता है।

७. स्त्रीके सवस्त्र लिंगमें हेतु

प्र. सा./मू./प्रक्षेपक गाथा/२२५/५-६ ण विणा वट्टदि णारी एक्कं वा तेसु जीवलोयम्हि । ण हि संउडं च गत्तं तम्हा तासि च संवरणं । १। अत्तवच पक्खलणं । विज्जदि सहसा तासु अ उप्पादो सुहममणु-आणं । ६। लिंग हि य इत्थीणं थर्गतरे णाहिकखपदेसेसु । भणिदो सुहुमुप्पदो तासि कह सजमो होदि । ७। तम्हा तं पडिरुवं लिंगं तासि णिणेहि णिद्विट्ठं । ६। = १ स्त्रियाँ कभी दोषके बिनर नहीं रहतीं इसीलिए उनका शरीर बखसे ढका रहता है और विरक्त अवस्थामें बखसहित लिंग धारण करनेका ही उपदेश है। १। (यो. सा./अ./५/४७) । २ प्रतिमास चित्तशुद्धि विनाशक रक्त स्रवण होता है। ६। (यो. सा./अ./५/४८), (दे. शुक्लध्यान/३/५) । ३. शरीरमें बहुत-से सूक्ष्म जीवोंकी उत्पत्ति होती है। ६। उनके काँव, योनि और स्तन आदि अवयवोंमें बहुत-से सूक्ष्म जीव उत्पन्न होते रहते हैं, इसलिए उनके पूर्ण सयम नहीं फल सकता। ७। (सू. पा./मू./२४); (यो. सा./अ./५/४८-४९); (मो. पा./टी./१२/३३३/१२) । ४ इसीलिए 'जिनेन्द्र भगवान्ने स्त्रियोंके लिए सावरण लिंगका निर्देश किया है।

८. सुक्ति निषेधमें हेतु उत्तम सहननादिका अभाव

प्र सा./ता वृ/प्रक्षेपक २२५-५/३०४/१८ किंच यथा प्रथमसहनना-
भावास्त्रो सप्तमनरक न गच्छति तथा निर्वाणमपि । पुवेद वेदंता
पुरिसा जे खत्रगमेडिमास्तहा । सेसोदयेण वि तहा भाणुत्रजुत्ता य ते
दु सिज्जति । इति गाथाकथितार्थाभिप्रायेण भावस्त्रीणा कथं
निर्वाणमिति चेत् । तासा भावस्त्रीणा प्रथमसहननमस्ति द्रव्यस्त्रीवेदा-
भावात्तद्भवमायपरिणामप्रतिबन्धकतीव्रकामोद्रेकोऽपि नास्ति ।
द्रव्यस्त्रीणा प्रथमसहनन नास्तोति, वस्मान्नागमे कथितमास्त इति
चेत् । = प्रश्न—जिस प्रकार प्रथम सहननके अभावसे स्त्री सप्तम नरक
नहीं जाती है, उसी प्रकार निर्वाणकी भी प्राप्त नहीं करती है । सिद्ध-
भक्तिमें कहा है कि द्रव्यसे पुरुषवेदको अथवा भावसे तीनों वेदोंको
अनुभव करता हुआ जीव क्षपकभेणोपर आरूढ ध्यानसे सयुक्त होकर
सिद्धि प्राप्त करता है । इस गाथामें कहे गये अभिप्रायसे भावस्त्रियोंको
निर्वाण कैसे हो सकता है ? उत्तर—भावस्त्रीको प्रथमसहनन भी
होता है और द्रव्य स्त्रीवेदके अभावसे उसको मोक्षपरिणामका प्रति-
बन्धक तीव्र कामोद्रेक भी नहीं होता है । परन्तु द्रव्य स्त्रीको प्रथम
सहनननहीं होती, क्योंकि, आगममें उसका निषेध किया है ।

—दे. सहनन ।

९. स्त्रीको तीर्थकर कहना युक्त नहीं

प्र सा./ता वृ/प्रक्षेपक २२५-५/३०५/३ किंतु भवन्मते मल्लितीर्थकर-
त्रीति कथ्यते तदप्ययुक्तम् । तीर्थकरा हि सम्यग्दर्शनविशुद्ध्यादि-
षण्डशभावना पूर्वभवे भावयित्वा पश्चाद्भवन्ति । सम्यग्दृष्टे-
स्त्रीवेदकर्मणो बन्ध एव नास्ति कथं स्त्री भविष्यतीति । किं च यदि
मल्लितीर्थकरो बान्यः कोऽपि वा स्त्रीभूत्वा निर्वाण गत तर्हि स्त्री-
रूपप्रतिमाराधना किं न क्रियते भवद्भिः । = किन्तु आपके मतमें
मल्लितीर्थकरको स्त्री कहा है, सो भी अयुक्त है, क्योंकि, तीर्थकर
पूर्वाभवमें षण्डशकारण भावनाओंको भाकर होते हैं । ऐसे सम्यग्दृष्टि
जीव स्त्रीवेद कर्मका बन्ध ही नहीं करते, तब वे स्त्री कैसे बन सकते
हैं । [सम्यग्दृष्टि जीव स्त्रियोगे उत्पन्न नहीं होते — दे० जन्म/३] ।
और भी यदि मल्लितीर्थकर या कोई अन्य स्त्री होकर निर्वाणको
प्राप्त हुआ है तो आप लोग स्त्रीरूप प्रतिमाकी भी आराधना क्यों
नहीं करते ।

दे० तीर्थकर/२/२ (तीर्थकर प्रकृतिका बन्ध यद्यपि तीनों वेदोंमें होता
है पर उसका उदय एक पुरुषवेदमें ही सम्भव है ।)

वेदक—त सा./भापा/२७२/३२६/७ वेदक कहिए उदयका भोक्ता ।
२ वेदकका सत्त्वकाल—दे० काल/६ ।

वेदक सम्यग्दर्शन—१ वेदक व कृतकृत्य वेदक सम्यग्दर्शन
निर्देश ।—दे० सम्यग्दर्शन । IV/४ । २—वेदक व क्षायोपशमिक
सम्यक्त्वमें अन्तर ।—दे० क्षायोपशम/२ ।

वेदन—त्या, वि./वृ/१/३/५७/२१ वेदनम् ज्ञानम् । = वेदन अर्थात्
ज्ञान ।

वेदना—

१ सुख दुःख अर्थमें

स सि/१६/३२/४४०/५ वेदनाशब्दः सुखे दुःखे च वर्तमानोऽपि आर्तस्थ-
प्रकृतत्वाद्दुःखवेदनाया प्रवर्तते । = 'वेदना' शब्द यद्यपि सुख और
दुःख दोनों अर्थमें विद्यमान है पर यहाँ आर्तध्यानका प्रकरण होनेसे
उससे दुःखवेदना ली गयी है । (रा वा/१६/३२/१/६२५/२०) ।

रा. वा./६/११/१२/५२१/६ विदेशे चेतनार्थस्य ग्रहणात् । विदे चुरादिण्य-
न्तस्य चेतनार्थस्येदं वेद्यमिति । = विद्, विद्म, विन्ति और विद्यति
ये चार विद् धातुएँ क्रमशः ज्ञान, लाभ, विचार और सद्भाव अर्थको
कहती हैं । यहाँ चेतनार्थक विद् धातुसे चुरादिण्यन्त प्रत्यय करके
वेद्य शब्द बना है ।

ध १२/४,२,१०,१/३०२/७ अनुभवन् वेदना । = अनुभव करनेका नाम
वेदना है ।

दे. उपलब्धि—(चेतना, अनुभूति, उपलब्धि व वेदना ये शब्द एकार्थ-
वाची हैं ।)

२. कर्म व नोकर्मके अर्थमें

ध ११/४,२,१०,१/३०२/४ वेद्यते वेदिष्यत इति वेदनाशब्दसिद्धः । अट्ठ-
विहकम्मपोगलसखंधो वेयणा । णोकम्मपोगला वि वेदिज्जति त्ति
तेसिं वेयणासण्णा किण्ण इच्छज्जदे । ण, अट्ठविहकम्मपरुवणाए
परुविज्जमाणए णोकम्मपरुवणाए संभवाभावादो । = जिसका वर्त-
मानमें अनुभव किया जाता है, या भविष्यमें किया जायेगा वह
वेदना है, इस निरुक्तिके अनुसार आठ प्रकारके कर्म पुद्गलस्कन्धको
वेदना कहा गया है । = प्रश्न—नोकर्म भी तो अनुभवके विषय होते
हैं, फिर उनकी वेदना संज्ञा क्यों अभीष्ट नहीं है । उत्तर—नहीं,
क्योंकि, आठ प्रकारके कर्मकी प्रस्तुपणाका निरुपण करते समय
नोकर्म प्रस्तुपणाकी सम्भावना ही नहीं है ।

ध १४/५,६,६५/४५/३ वेद्यन्त इति वेदना । जीवादो पुधभूदा कम्मणो-
कम्मबंधपाओगलसंधा अब्धणिज्जा गाम । तेसिं कथं वेदणाभावो
जुज्जवे । ण, दव्वत्तेत्तकालभावेहि वेदणापाओगोसु दव्वट्टिउयण-
यमस्सिदूण वेदणासद्दपवुत्तीए अब्भुवगमादो । वेदनात्वमात्मा स्वरूपं
येषा ते वेदनात्मान पुद्गला इह गृहीतव्या । कुदो । अण्णोसिं बध-
णिज्जत्ताभावादो । ते च बधणिज्जा पोगला खंधसमुद्दिट्ठा, खंध-
सरूवाणंताणं तपरमाणुपोगलसमुदयसमागमेण बंधपाओगपोगलस-
मुप्पत्तीदो । = जो वेदे जाते हैं उन्हें वेदन कहते हैं, जीवसे पृथग्भूत
बन्धयोग्य कर्म और नोकर्म स्कन्ध बन्धनीय कहलाते हैं ।
प्रश्न—वे वेदनरूप कैसे हो सकते हैं ? उत्तर—नहीं, क्योंकि,
जो द्रव्य क्षेत्र काल और भावकी अपेक्षा वेदनायोग्य है, उनमें
द्रव्याधिक नयकी अपेक्षा वेदना शब्दकी प्रवृत्ति स्वीकार की
गयी है । वेदनपना जिनका आत्मा अर्थात् स्वरूप है वे
वेदनात्मा कहलाते हैं । यहाँ इस पदसे पुद्गलको ग्रहण करना
चाहिए, क्योंकि अन्य कोई पदार्थ बन्धनीय नहीं हो सकते । वे
बन्धनीय पुद्गल स्कन्धसमुद्दिष्ट अर्थात् स्कन्ध स्वरूप कहे गये हैं,
क्योंकि स्कन्धरूप अनन्तानन्त परमाणुपुद्गलोंके समुदायरूप समा-
गमसे बन्धयोग्य पुद्गल होते हैं ।

२. निक्षेपोंकी अपेक्षा वेदनाके भेद व लक्षण

ध. १०/४,२,१,३,७/५ तव्वदिरित्तोआगमदव्ववेयणा कम्मणोकम्म-
भेएण दुविहा । तत्थ कम्मवेयणा णाणावरणादिभेएण अट्ठविहा ।
णोकम्मणोआगमदव्ववेयणा सच्चित्त-अचित्त-मिस्सभेएण तिविहा ।
तत्थ सच्चित्तदव्ववेयणा कम्मणोकम्मभेएण दुविहा । तत्थ सच्चित्तदव्व-
वेयणा सिद्धजीवदव्व । अचित्तदव्ववेयणा पोगलकालागास-धम्ममा-
धम्मदव्वणि । मिस्सदव्ववेयणास सारिजीवदव्व, कम्मणोकम्मजीव-
समवायस्स जीवजीवेहितो पुधभावदसणादो । = [नाम, स्थापना,
आदि निक्षेपो रूप भेद तो यथायोग्य निक्षेपोक्त जानने] तद्व्यति-
रिक्त नोआगम द्रव्यवेदना कर्म और नोकर्मके भेदसे दो प्रकारकी है ।
उनमेंसे कर्मवेदना ज्ञानावरण आदिके भेदसे आठ प्रकारकी है तथा
नोकर्म नोआगम द्रव्यवेदना सच्चित्त, अचित्त और मिश्रके भेदसे तीन
प्रकारकी है । उनमेंसे सच्चित्त द्रव्यवेदना सिद्धजीव द्रव्य है । अचित्त
द्रव्यवेदना पुद्गल, काल, आकाश, धर्म और अधर्म द्रव्य है । मिश्र
द्रव्यवेदना संसारी जीवद्रव्य है, क्योंकि, कर्म और नोवर्मका जीव-
के साथ हुआ सम्बन्ध जीव और अजीवसे भिन्न रूपसे देखा जाता है ।

३. बध्यमान द्रव्यको वेदना संज्ञा कैसे

ध १२/४,२,१०,३/३०४/६ सिया बज्जमाणिया वेयणा होदि, तत्तो
अण्णाणादि फलुप्पत्तिदसणादो । बज्जमाणस्स कम्मस्स फलम-

कुणतस्स कथं वेयणाववएसो । ण, उत्तरकाले फलदाहत्तण्णहाणुवव-
त्तीदो बंधसमए वि वेदनभावसिद्धीए । = कथंचित् बध्यमान वेदना
होती है, क्योंकि, उससे अज्ञानादिरूप फलकी उत्पत्ति देखी जाती
है । प्रश्न—चूँकि बाँधा जानेवाला कर्म उस समय फलको करता
नहीं है, अतः उसकी वेदना सज्ञा कैसे हो सकती है ? उत्तर—नहीं,
क्योंकि, इसके बिना वह उत्तरकालमें फलदाता बन नहीं सकता,
अतएव बन्धसमयमें भी उसे वेदना सिद्ध है ।

* वेदना नामका आर्तध्यान—दे० आर्तध्यान ।

वेदनाभय—दे० भय ।

वेदनासन्निकर्ष—दे०, सन्निकर्ष ।

वेदना समुद्घात—

रा. वा./१/२०/१२/७७/१३ वातिकादिरोगविषादिव्यसंबन्धसंता-
पापादितवेदनाकृतो वेदनासमुद्घातः । = वात पित्तादि विकार
जनित रोग या विषयान आदिकी तीव्रवेदनासे आरम प्रदेशोंका बाहर
निकलना वेदना समुद्घात है ।

घ. ४/१.३.२/२६/७ तथ वेदनसमुद्घादो णाम अक्खि-सिरोवेदनादीहि
जीवाणमुक्खसेण सरीरतिगुणविष्फुज्जणं । = नेत्र वेदना, शिरोवेदना,
आदिके द्वारा जीवोंके प्रदेशोंका उत्कृष्टतः शरीरसे तिगुणे प्रमाण
विसर्पणका नाम वेदनासमुद्घात है । (घ. ७/२.६.१/२६६/८) ;
(घ. ११/४.२.६.१/१८/७) ।

द्र सं./टी/१०/२५/३तीववेदनानुभवान्मूलशरीरमस्थक्त्वा आत्मप्रदेशानां
बहिर्निगमनमिति वेदनासमुद्घातः । = तीव्र पीडाके अनुभवसे मूल
शरीर न छोड़ते हुए जो आत्माके प्रदेशोंका शरीरसे बाहर निकलना
सो वेदना समुद्घात है ।

२. वेदना समुद्घातमें प्रदेशोंका विस्तार

घ. ११/४.२.६.१/१८/७ वेयणावसेण जीवपदेसाणं विक्खंभुस्सेहेहि तिगुण-
विधंजणं वेयणासमुद्घादो णाम । ण च एस णियमो सव्वेसि जीव-
पदेसा वेयणाए तिगुणं चैव विपुज्जंति त्ति, किंतु सगविकलंभादो तर-
तमसरुवेण द्विदवेयणावसेण एगदोपदेसादीहि वि बद्धी होदि ।
= १—वेदनाके वशसे जीव प्रदेशोंके विष्कम्भ और उत्सेधकी
अपेक्षा तिगुणे प्रमाणमें फैलनेका नाम वेदना समुद्घात है । (घ. ७/
२.६.१.२६६/८) ; (ऊपरवाला लक्षण) ; (गो. जी./जी. प्र./५८४/१०२५/
८) । २. परन्तु सबके जीवप्रदेश वेदनाके वशसे तिगुणे ही फैलते
हों, ऐसा नियम नहीं है । किन्तु तरतम रूपसे स्थित वेदनाके वशसे
अपने विष्कम्भकी अपेक्षा एक दो प्रदेशादिकोसे भी वृद्धि होती है ।

३. निगोद जीवको यह सम्भव नहीं

घ. ११/४.२.६.१२/२१/२ निगोदेषुपज्जमाणस्स अइत्तिव्ववेयणाभावेण
सरीरतिगुणवेयणसमुद्घादस्स अभावादो । = निगोद जीवोंमें
उत्पन्न होनेवाले जीवके अतिशय तीव्र वेदनाका अभाव होनेसे विव-
क्षित शरीरसे तिगुणा वेदना समुद्घात सम्भव नहीं है ।

४. जीव प्रदेशोंके खण्डित होनेकी संभावना

स्या. मं./६/१०२/१६ शरीरसंबन्धात्मप्रदेशेभ्यो हि कतिपयात्मप्रदेशानां
खण्डितशरीरप्रदेशोऽवस्थानादात्मनः खण्डनम् । तच्चात्र विद्यत एव ।
अन्यथा शरीरात् पृथग्भूतावयवस्य कम्पोपलब्धिर्न स्यात् । न च
खण्डितावयवानुप्रविष्टस्यात्मप्रदेशस्य पृथगात्मत्वप्रसङ्गः, तत्रैवानु-
पवेशात् । .. कथं खण्डितावयवयोः संघट्टनं पश्चाद् इति चेत्,
एकान्तेन छेदान्भ्युपगमात् । पचनान्ततन्तुवद् छेदस्यापि स्वीकारात् ।
= शरीरसे सम्बद्ध आत्म-प्रदेशोंमें कुछ आत्मप्रदेशोंके खण्डित
शरीरमें रहनेकी अपेक्षासे आत्माका खण्डन होता है, अन्यथा
तत्तवार आदिसे कटे हुए शरीरके पृथग्भूत अवयवोंमें कम्पन न
देखा जाता । खण्डित अवयवोंमें प्रविष्ट आत्मप्रदेशोंमें पृथक् आत्मा-

का प्रसंग भी नहीं आता है, क्योंकि, वे फिरसे पहले ही शरीरमें
लौट आते हैं । प्रश्न—आत्माके अवयव खण्डित हो जानेपर पीछे
फिर एक कैसे हो जाते हैं ? उत्तर—हम उनका सर्वथा विभाग
नहीं मानते । कमलनालके तन्तुओंकी तरह आत्माके प्रदेशोंका
छेद स्वीकार करते हैं ।

* अन्य सम्बन्धित विषय

* बढ़ाद्युष्क व अबद्धाद्युष्क सबको होता है । —दे० मरण/५/७ ।

* वेदना व मारणान्तिक समुद्घातमें अन्तर ।

* वेदना समुद्घातका स्वामित्व । —दे० क्षेत्र/३ ।

* वेदना समुद्घातकी दिशाएँ व काल स्थिति । —दे० समुद्घात ।

वेदनीय—बाह्य सामग्रीके संयोग व वियोग द्वारा जीवके बाह्य
सुख-दुःखको कारण वेदनीयकर्म दो प्रकारका होता है—सुखको
कारणभूत सातावेदनीय और दुःखको कारणभूत असाता वेदनीय ।
क्योंकि बाह्य पदार्थोंमें इष्टानिष्टकी कल्पना मोहके आधीन है,
इसलिए इस कर्मका व्यापार भी मोहनीयके सहवर्ती है ।

१. वेदनीय कर्मका सामान्य लक्षण

स. सि १८/३/३०/४ वेदयति वेद्यत इति वा वेदनीयम् ।

स. सि १८/३/३०/१ वेद्यस्य सदसत्त्वक्षणस्य सुखदुःखसंवेदनम् । = जो
वेदन कराता है या जिसके द्वारा वेदन किया जाता है वह वेदनीय
कर्म है । सत्-असत् लक्षणवाले वेदनीयकर्मकी प्रकृति सुख व दुःख-
का संवेदन कराना है । (रा वा १८/३/३०/१+४/४६७/३),
(घ. ६/२.६-१.७/१०/७.६), (गो क/मू/१४/१०) ; (गो. क./-
जी. प्र./२०/१३/१४) ।

घ ६/१.६-१.७/१०/६ जीवस्स सुह-दुःखखाणुहवणणिवघणो पोग्गलवत्वंधो
मिच्छत्तादिपचचयवसेण कम्मपज्जयपरिणदो जीवसमवेदो वेद-
णीयमिदि भण्णदे । = जीवके सुख और दुःखके अनुभवनका
कारण, मिथ्यात्व आदिके प्रत्ययोके वशसे कर्मरूप पर्यायसे परिणत
और जीवके साथ समनाय सम्बन्धको प्राप्त पुद्गलस्कन्ध 'वेदनीय'
इस नागसे कहा जाता है ।

घ. १३/५.६.१६/२०/७ जीवस्स सुह-दुःखत्वापयं कम्मं वेयणीयं णाम ।
= जीवके सुख और दुःखका उत्पादक कर्म वेदनीय है । (घ. १५/३/-
६/६), (द्र. सं./टी/३३/६२/१०) ।

२. वेदनीय कर्मके भेद-प्रभेद

घ. खं./६/१.६-१/सूत्र १७-१८/३४ वेदणीयस्स कम्मस्स दुवे पयडीओ
। १७। सादावेदणीयं चैव असादावेदणीयं चैव । १८। = वेदनीय
कर्मकी दो प्रकृतियाँ हैं । १७। सातावेदनीय और असातावेदनीय,
ये दो ही वेदनीय कर्मकी प्रकृतियाँ हैं । १८। (घ खं./१२/४.२.१४/-
सूत्र ६-७/४८९) ; (घ. खं./१३/५०५/सूत्र ८७-८८/३५६) ; (म. वं./
१/१५/२८), (मू. आ./१२२६), (त. सू १८/८), (पं. सं./प्रा./२/-
४) ; (त. सा./५/२७) ; (गो. क/जी. प्र./२५/१७/७) ।

घ. १२/४.२.१४.७/४८१/४ सादावेदणीयमसादावेदणीयमिदि दो चैव
सहावा, सुहदुःखवेयणाहिंत्तो पुधभूदाए अण्णस्से वेयणाए अणुव-
त्तंभादो । सुहभेदेण दुहभेदेण च अणत्तवियप्येण वेयणीयकम्मस्स
अणत्ताओ सत्तीओ किण्ण पहिदाओ । सच्चमेदं जदि पज्जवट्ठियणओ
अवलंविदो किंतु एत्थ दव्वट्ठियणओ अवलंविदो त्ति वेयणी-
यस्स ण तत्तियमेत्तसत्तीओ, दुवे चैव । = सातावेदनीय और
असातावेदनीय इस प्रकार वेदनीयके दो ही स्वभाव हैं, क्योंकि,
सुख व दुःखरूप वेदनाओंसे भिन्न अन्य कोई वेदना पायी नहीं
जाती । प्रश्न—अनन्त विकल्प रूप सुखके भेदसे और दुःखके

भेदसे वेदनीय कर्मकी अनन्त शक्तियाँ क्यों नहीं कही गयी हैं ? उत्तर—यदि पर्यायाधिक नयका अवलम्बन किया गया होता तो यह कहना सत्य था, परन्तु तूँ कि यहाँ द्रव्याधिक नयका अवलम्बन किया गया है, अतएव वेदनीयकी उतनी मात्र शक्तियाँ सम्भव नहीं हैं, किन्तु दा ही शक्तियाँ सम्भव हैं ।

३. साता-असाता वेदनीयके लक्षण

स. सि./८/२५४/४ यदुदयाद्देवादिगतिषु शरीरमानसमुखप्राप्तिस्तत्सद्वेद्यम् । प्रशस्तं वेद्यं सद्देद्यमिति । यत्फलं दुःखमनेकविधं तदद्वेद्यम् । अप्रशस्तं वेद्यमसद्देद्यमिति । = जिसके उदयसे देवादि गतियोंमें शरीर और मन सम्बन्धी सुखकी प्राप्ति होती है वह सद्देद्य है । प्रशस्त वेद्यका नाम सद्देद्य है । जिसके फलस्वरूप अनेक प्रकारके दुःख मिलते हैं वह असद्देद्य है । अप्रशस्त वेद्यका नाम असद्देद्य है । (गो. क./मू./१४/१०); (गो. क./जो. प्र./३३/२७/१६) ।

रा. वा./८/२-२/२७२/२० देवादिषु गतिषु बहुप्रकारजातिविशिष्टासु यस्यादयात् अनगृह्यतात् द्रव्यसंबन्धापेक्षत् प्राणिनां शरीरमानसानेकविधमुखपरिणामस्तत्सद्देद्यम् । प्रशस्तं वेद्यं सद्देद्यम् । नारकादिषु गतिषु नानाप्रकारजातिविशेषावकीर्णसु कायिकं बहुविधं मानसं वाति दुःसहं जन्मजरा मरणप्रियविप्रयोगप्रियसंयोगव्याधिवधबन्धादिजनितं दुःखं यस्य फलं प्राणिनां तदसद्देद्यम् । अप्रशस्तं वेद्यम् असद्देद्यम् । = बहुत प्रकारकी जाति-विशिष्ट देव आदि गतियोंमें इष्ट सामग्रिके सन्निधानकी अपेक्षा प्राणियोंके अनेक प्रकारके शारीरिक और मानसिक सुखोंका, जिसके उदयसे अनुभव होता है वह सातावेदनीय है और जिसके उदयसे नाना प्रकार जातिरूप विशेषोंसे अवकीर्ण नरक आदि गतियोंमें बहुत प्रकारके कायिक मानस अतिदुःसह जन्म जरा-मरण प्रियविषय अप्रियसंयोग व्याधि वध और बन्ध आदिसे जन्म दुःखका अनुभव होता है वह असातावेदनीय है ।

घ. ६/१.६-१.९/३५/३ सादं सुहं, तं वेदावेदि भुंजावेदि त्ति सादावेदनीयं । असादं दुःखं, तं वेदावेदि भुंजावेदि त्ति असादावेदनीयं । = साता यह नाम सुखका है, उस सुखको जो वेदन कराता है अर्थात् भाग कराता है, वह सातावेदनीय कर्म है । असाता नाम दुःखका है, उसे जो वेदन या अनुभव कराता है उसे असाता वेदनीय कर्म कहते हैं । (घ. १३/५.५.८८/३५/२) ।

गो. क./जो. प्र./२५/१७/८ रतिमोहनीयोदयबलेन जीवस्य सुखकारणोन्द्रयावपयानुभवर्णं कारयति तत्सातावेदनीयं । दुःखकारणोन्द्रयविषयानुभवनं कारयति अरतिमोहनीयोदयबलेन तदसातावेदनीयं । = रतिमोहनीय कर्मके उदयसे सुखके कारणभूत इन्द्रियोंके विषयोंका जो अनुभव कराता है वह सातावेदनीय कर्म है । दुःखके कारणभूत इन्द्रियोंके विषयोंका अनुभव, अरतिमोहनीय-कर्मके उदयसे जो कराता है वह असातावेदनीय कर्म है ।

४. सातावेदनीयके बन्ध योग्य परिणाम

त. सू./६/१२ भूतवत्यनुकम्पादानसरागसंयमादियोगः क्षान्तिः शौचमिति सद्देद्यस्य । १२ ।

स. सि./६/१२/३३१/पंक्ति 'आदि'शब्देन संयमासंयमाकामनिर्जराबालतपोऽनुशोधः । २ । --इति शब्दः प्रकारार्थः । के पुनस्ते प्रकाराः । अर्हत्पूजाकरणतत्परताभालवृद्धतपस्विवैयर्थ्यादयः । = भूत-अनुकम्पा, व्रती अनुकम्पा, दान और सराग संयम आदिका योग तथा क्षान्ति और शौच ये साता वेदनीयकर्मके आस्रव हैं । सूत्रमें सरागसंयमके आगे दिये गये आदि पदसे संयमासंयम अकामनिर्जरा और बालतपका ग्रहण होता है । सूत्रमें आया हुआ 'इति' शब्द प्रकारवाची है । वे प्रकार ये हैं, —अर्हत्तकी पूजा

करनेमें तरपरता तथा बाल और वृद्ध तपस्वियोंकी वैयावृत्त्य आदिका करना । (रा. वा./८/१२/७/५२२/२६:१३/५२३/१३); (त. सा./४/२५-२६); (गो. क./मू./८०९/६००) ।

५. असातावेदनीयके बन्धयोग्य परिणाम

त. सू./६/११ दुःखशोक्तापाक्रन्दनवधपरिदेवनान्यात्मपरोभयस्थान्यसद्देद्यस्य । ११ । = अपनेमें अथवा परमें अथवा दोनोंमें विद्यमान दुःख, शोक, ताप, आक्रन्दन, वध और परिदेवन ये असातावेदनीय कर्मके आस्रव हैं । (त. सा./४/२०) ।

रा. वा./६/१९/१५/२२१/१२ इमे शोकादयः दुःखविकल्पा दुःखविकल्पानामुपलक्षणार्थमुपादीयन्ते, ततोऽन्वेषामपि संग्रहो भवति । के पुनस्ते । अशुभप्रयोगपरपरिवाद - पैशुन्य - अनुकम्पाभाव - परपरितापनाञ्जो - पाङ्गच्छेदन-भेदन-ताडन-त्रासन-तर्जन-भर्त्सन-तक्षण-विशंसन-बन्धन-रोधन-मर्दन-दमन-बाहन-विहेडन-होपण-कायरौक्ष्य-परनिन्दास-प्रशंसासंक्लेशप्रादुर्भावनामुर्वहमानता-निर्दयत्व-सत्त्वव्यपरोपण-महारम्भपरिग्रह - विश्रम्भोपघात-वकशोलतापापकर्मजीविश्वानर्थदण्ड-विषमिश्रण - शरजालपाशवागुरापञ्जरयन्त्रापायसर्जन-मलाभियोग - शस्त्रप्रदान-पापमिश्रभावाः । एते दुःखादयः परिणामा आत्मपरो-भयस्था असद्देद्यस्यासवा वेदितव्याः । = उपरोक्त सूत्रमें शोकादिका ग्रहण दुःखके विकल्पोंके उपलक्षण रूप है । अतः अन्य विकल्पोंका भी संग्रह हो जाता है । वे विकल्प निम्न प्रकार हैं—अशुभप्रयोग, परपरिवाद, पैशुन्य पूर्वक अनुकम्पाभाव, परपरिताप, अगोपांग-च्छेदन, भेदन, ताडन, त्रासन, तर्जन, भर्त्सन, तक्षण, विशंसन, बन्धन, रोधन, मर्दन, दमन, बाहन, विहेडन, होपण, शरीरको रूखा कर देना, परनिन्दा, आत्मप्रशंसा, संक्लेशप्रादुर्भाव, जीवनको यों ही बुरबाद करना, निर्दयता, हिंसा, महाआरम्भ, महापरिग्रह, विश्वासघात, कुटिलता, पापकर्मजीवित्व, अनर्थदण्ड, विषमिश्रण चाण-जल पाश रस्सी पिंजरा, यन्त्र, आदि हिंसाके साधनोंका उत्पादन, जबरदस्ती शस्त्र देना, और दुःखादि पापमिश्रित भाव । ये सब दुःख आदिक परिणाम अपनेमें, परमें और दोनोंमें रहने वाले होकर असातावेदनीयके आस्रवके कारण होते हैं । (त. सा./४/२१-२४) ।

भ. आ./वि./४४६/६५३/१८ पर उद्भूत—अन्वेषां यो दुःखमज्ञोऽनुकम्पां त्यक्त्वा तीव्रं तीव्रसंक्लेशयुक्तः । बन्धच्छेदेऽस्ताडनभारणैश्च दाहै राधैश्चापि नित्यं करोति । सौख्यं कांक्षन्नात्मनो दुष्टचित्तो नीचो नाचं कर्म कुर्वन्सदैव । पश्चात्तापं तापिना यः प्रयाति बन्धात्येषांऽसा तन्वेद्यं सदैवम् । —रोगाभिभवाद्गुणवृद्धिचेष्टः कथमेव हितोद्योगं कुर्यात् । = जो मूर्ख मनुष्य दयाका त्याग कर तीव्र संक्लेश परिणामों होकर अन्य प्राणोंको बाँधना, तोड़ना, पीटना, प्राण लेना, खानेके और पानेके पदार्थोंसे बंचित रखना ऐसे ही कार्य हमेशा करता है । ऐसे कार्यमें ही अपनेको सुखी मानकर जो नीच पुरुष ऐसे ही कार्य हमेशा करता है, ऐसे कार्य करते समय जिनके मनमें पश्चात्ताप होता नहीं, उसीको निरन्तर असातावेदनीय कर्मका बन्ध होता है, जिससे उसका देह हमेशा रोग पीड़ित रहता है, तब उसको बुद्धि व क्रियाएँ नष्ट होती हैं । वह पुरुष अपने हितका उद्योग कुछ भी नहीं कर सकता ।

६. साता-असाताके उदयका ज. उ. काल व अन्तर

घ. १३/५.४.२४/५३/११ सादावेदनीयस्स उदयकालो अंतोमुहुत्तमेत्तो फिट्टिदूण देसूणपुव्वकोडिमेत्तो होदि चे—ण, सजागिकेवलि मोत्तण अण्णसथ उदयकालस्स अंतोमुहुत्तणियंमेषुवगमादो । = प्रश्न—इस तरह तो सातावेदनीयका उदयकाल अन्तर्मुहूर्त विनष्ट होकर कुछ कम पूर्वकोटि प्रमाण प्राप्त होता है ? उत्तर—नहीं, क्योंकि, सयोगिकेवली गुणस्थानको छोड़कर अन्यत्र उदयकालका अन्तर्मुहूर्त प्रमाण नियम ही स्वीकार किया गया है ।

ध. १५/१४/पंक्ति — सादस्स जहण्णएण एयसमओ, उक्कस्सेण छम्मासा। असादस्स जहण्णएण एयसमओ, उक्कस्सेण तेत्तोससागरो-वमग्गि अंतोमुहुत्तंभहियाणि। कुट्ठो। सत्तमपुट्टविषवेसादो पुट्टं पच्छा च असादस्स अंतोमुहुत्तमेतकालमुदीरणुत्तलंभादो। (६२/२)। सादस्स जहण्णएण एयसमओ, उक्कस्सेण तेत्तोसं सागरोवमाणि सादि-रेयाणि। सादस्स गदियाणुवादेण जहण्णमंतरंमंतोमुहुत्तं, उक्कस्सं पि अंतोमुहुत्तं चैव। असादस्स जहण्णमंतरमेयसमओ उक्कस्सं छम्मासा। मणुसगदीए असादस्स उदीरणंतरं जहण्णएण एयसमओ, उक्कस्सेण अंतोमुहुत्तं। (६५/६)। = सातावेदनीयकी उदीरणाका काल जघन्यसे एक समय और उत्कर्षसे छह मास है। असाता-वेदनीयकी उदीरणाका काल जघन्यसे एक समय और उत्कर्षतः अन्तर्मुहूर्तसे अधिक तेत्तोस सागरोपम प्रमाण है, क्योंकि, सातवीं पृथिवीमें प्रवेश करनेसे पूर्व और पश्चात् अन्तर्मुहूर्त मात्र काल तक असातावेदनीयकी उदीरणा पायी जाती है। सातावेदनीयकी उदीरणामें अन्तरकाल जघन्यसे एक समय और उत्कर्षसे साधिक तेत्तोस सागरोपम प्रमाण है। गतिके अनुवादसे सातावेदनीयकी उदीरणाका अन्तरकाल जघन्य व उत्कृष्ट भी अन्तर्मुहूर्त ही है। असातावेदनीयका जघन्य अन्तर एक समय और उत्कृष्ट छह मास प्रमाण है। मनुष्य गतिमें असाताकी उदीरणाका अन्तर जघन्यसे एक समय और उत्कर्षसे अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है।

ध. १२/४.२.१३.५५/४००/२ वेयणीयउक्कस्साणुभागबंधस्स टिठ्ठीदी बारसमुहुत्तमत्ता। — वेदनीयके उत्कृष्ट अनुभागकी स्थिति बारह मुहूर्त मात्र है।

७. अन्य कर्मोंको वेदनीय नहीं कहा जा सकता

ध. ६/१.६-१.७/१०/७ वेद्यत इति वेदनीयम्। एदीए उप्पत्तीए सव्व-कम्मणं वेदणीयत्तं पसज्जेदे। ण एस दोसो, रुद्धिवसेण कुसलसहो व्व अपिपदपोगलपुंजे चैव वेदणीयसहूपउत्तीदो। — प्रश्न—'जो वेदन किया जाय वह वेदनीय कर्म है' इस प्रकारकी व्युत्पत्तिके द्वारा तो सभी कर्मोंके वेदनीयपनेका प्रसंग प्राप्त होता है! उत्तर— यह कोई दोष नहीं, क्योंकि, रुद्धिके वशसे कुशल शब्दके समान विवक्षित पुद्गल पुंजमें ही वेदनीय, इस शब्दकी प्रवृत्ति पायी जाती है। जैसे 'कुशल' शब्दका अर्थ 'कुशलको लानेवाला' ऐसा होने-पर भी वह 'चतुर' अर्थमें प्रयोग होता है, इसी प्रकार सभी कर्मोंमें वेदनीयता होते हुए भी वेदनीय संज्ञा एक कर्म विशेषके लिए ही रूढ़ है।)

ध. १०/४.२.३.३/१६/६ वेदणा णाम सुह-दुक्खाणि, लोमे तथा संबवहार-दंसणादो। ण च ताणि सुहदुक्खाणि वेयणीयपोगलसर्वंधं मोत्तुण अणकम्मदव्वे हितो उप्पज्जति, फलाभावेण वेयणीय-कम्माभावपसंगादो। तम्हा सव्वकम्मणं पडित्तेहं काउण पत्तोदयवेयणीयदव्वं चैव वेयणा त्ति उत्तं। अट्ठणं कम्ममाणमु-दयगदपोगलसर्वंधो वेदणा त्ति किमट्ठं एत्थ ण चेप्पदे। ण, एदम्हि अहिप्पाए तदसंभवादो। ण च अण्णम्हि उजुमुदे अण्णस्स उजुमुदस्स संभवो, भिण्णविसयाणं णयाणमेयविसयस्सविरो-हादो। — वेदनाका अर्थ सुख दुःख है, क्योंकि, लोकमें वैसा व्यवहार देखा जाता है। और वे सुख-दुःख वेदनीय रूप पुद्गलस्कन्धके सिवा अन्य कर्म द्रव्योंसे नहीं उत्पन्न होते हैं, क्योंकि, इस प्रकार फलका अभाव होनेसे वेदनीय कर्मके अभावका प्रसंग आता है। इसलिए प्रकृतमें सब कर्मोंका प्रतिषेध करके उदयगत वेदनीय द्रव्यको ही वेदना ऐसा कहा है। प्रश्न—आठ कर्मोंका उदयगत पुद्गलस्कन्ध वेदना है, ऐसा यहाँ क्यों नहीं ग्रहण करते—दे, वेदना। उत्तर—नहीं, क्योंकि, वेदनाको स्वीकार करनेवाले ऋजुसूत्र नयके अभिप्रायमें वैसा मानना सम्भव नहीं है। और अन्य ऋजुसूत्रमें अन्य ऋजुसूत्र सम्भव

नहीं है, क्योंकि, भिन्न-भिन्न विषयोंवाले, नयोंका एक विषय माननेमें विरोध आता है।—दे, नय/११/३/३।

ध. १२/५.५.८८/३५७/४ अण्णाणं पि दुक्खप्पाययं दिस्सदि त्ति तस्स वि असादावेदणीयत्तं विण्ण पसज्जेदे। ण, अणियमेण दुक्खप्पायस्स असादत्ते संते खग्गमोग्गारादीणं पि असादावेदणीयत्तपसंगादो। — प्रश्न—अज्ञान भी तो दुःखका उत्पादक देखा जाता है, इसलिए, उसे भी असाता वेदनीय क्यों न माना जाये? उत्तर—नहीं, क्योंकि, अनियमसे दुःखके उत्पादकको असाता वेदनीय मान लेनेपर तलवार और सुद्गर आदिको भी असाता वेदनीय मानना पड़ेगा।

८. वेदनीयका कार्य बाह्य सामग्री सम्पादन है

ध. ६/१.६-१.१५/३६/पंक्ति—दुक्खुत्तमहेउदव्वसंपादणे तस्स वावारादो। १।... ण च सुहदुक्खहेउदव्वसंपादयमणं कम्ममत्थि त्ति अणुव-लंभादो। ७। = दुःख उपशमनेके कारणभूत सुदृव्योंके सम्पादनमें सातावेदनीय कर्मका व्यापार होता है। सुख और दुःखके कारणभूत द्रव्योंका सम्पादन करनेवाला दूसरा कोई कर्म नहीं है।

ध. १२/५.५.८८/३५७/२ दुक्खपडिकारहेउदव्वसंपादयं...कम्मं सादावेद-णीयं णाम। ...दुक्खसमणहेउदव्वानमवसारयं च कम्ममसादावेदणीयं णाम। = दुःखके प्रतिकार करनेमें कारणभूत सामग्रीका मिलनेवाला कर्म सातावेदनीय है और दुःख प्रशमन करनेमें कारणभूत द्रव्योंका अपसारक कर्म असातावेदनीय कहा जाता है।

ध. १५/३/६/६ दुक्खुत्तमहेउदव्वदिसंपत्ती वा सुहं णाम। तत्थ वेयणीयं णिक्खं, तदुत्पत्तिकारणत्तादो। = दुःखोपशान्तिके कारणभूत द्रव्यादिकी प्राप्ति होना, इसे सुख कहा जाता है। उनमें वेदनीय कर्म निबद्ध है, क्योंकि वह उनकी उत्पत्तिका कारण है।

पं. ध./पू./५=१ सत्तेसोदयभावःस गृहधनधान्यं कलत्रपुत्रांश्च। स्वयमिह करोति जीवो भुनक्ति वा स एव जीवश्च। ५२१। = सातावेदनीयके उदयसे प्राप्त होनेवाले घर धनधान्य और स्त्री पुत्र वगैरहको जीव स्वयं ही करता है तथा स्वयं ही भोगता है।

दे, प्रकृतिबंध/३/३ (अघाती कर्मोंका कार्य संसारकी निमित्तभूत सामग्रीका प्रस्तुत करना है।)

वर्णव्यवस्था/१/४ (राज्यादि सम्पदाकी प्राप्तिमें साता वेदनीयका व्यापार है।)

९. उपघात नाम कर्म उपरोक्त कार्यमें सहायक है

ध. ६/१.६-१.२५/५६/५ जीवस्स दुक्खुत्तमहेउदव्वसंपादणे असादावेदणीयस्स वावारा-चे, होदु तत्थ तस्स वावारा, किंतु उपघातकम्मं पि तस्स सहकारि-कारणं होदि, तदुदयणिमित्तपोगलदव्वसंपादणादो। = जीवके दुःख उत्पन्न करनेमें तो असातावेदनीय कर्मका व्यापार होता है। [फिर यहाँ उपघात कर्मको जीव पीड़ाका कारण कैसे बताया जा रहा है!] उत्तर—तहाँ असाता वेदनीयका व्यापार रहा आवे, किन्तु उपघात-कर्म भी उस असातावेदनीयका सहकारी कारण होता है, क्योंकि, उसके उदयके निमित्तसे दुःखकर पुद्गल द्रव्यका सम्पादन होता है।

१०. सातावेदनीय कथंचित् जीवपुद्गल विपाकी है

ध. ६/१.६-१.१८/३६/२ एवं संते सादावेयणीयस्स पोगलविवाहत्तं होइ त्ति णासंकणिज्जं, दुक्खवसमेणुपण्णसुवस्थियकणस्स दुक्खा-विणाभाविस्स उवयारेणैव लद्धसुहसण्णस्स जीवादो पुष्पभूदस्स हेवुत्त-णेण सुत्ते तस्स जीवविवाहत्तसुहहेवुत्तणमुवदेसादो। तो वि जीव-पोगलविवाहत्तं सादावेदणीयस्स पावेदि त्ति चेण, इट्ठत्तादो। तहोवएसो णत्थि त्ति चैण, जीवस्स अस्थिक्खण्णहाणुववत्तीदो तहोव-वैसत्थित्तिस्सो। ण च सुह-दुक्खहेउदव्वसंपादयमणं कम्ममत्थि त्ति अणुवलंभादो। = [सुखके हेतुभूत बाह्य सामग्री सम्पादनमें

सातावेदनीयका व्यापार होता है] इस व्यवस्थाके माननेपर साता-वेदनीय प्रकृतिके पुद्गलविपाकित्व प्राप्त होगा, ऐसी भी आशंका नहीं करनी चाहिए, क्योंकि दुःखके उपशमसे उत्पन्न हुए दुःखके अविनाभावी उपचारसे ही सुख सज्ञाको प्राप्त और जीवसे अपृथग्भूत ऐसे स्वास्थ्यके बणका हेतु होनेसे सूत्रमें सातावेदनीय कर्मके जीव-विपाकित्वका और सुख हेतुत्वका उपदेश दिया गया है। यदि कहा जाय कि उपर्युक्त व्यवस्थानुसार तो सातावेदनीय कर्मके जीव-विपाकीपना और पुद्गलविपाकीपना प्राप्त होता है, सो भी कोई दोष नहीं है, क्योंकि, यह बात हमें इष्ट है। यदि कहा जाये कि उक्त प्रकारका उपदेश प्राप्त नहीं है, सो भी नहीं, क्योंकि, जीवका अस्तित्व अन्यथा बन नहीं सकता है, इसलिए उस प्रकारके उपदेशको सिद्धि हो जाती है। सुख और दुःखके कारणभूत द्रव्योका सम्पादन करने-वाला दूसरा कोई कर्म नहीं है, क्योंकि वैसा पाया नहीं जाता।

* वेदनीय कर्म जीव विपाकी है—दे. प्रकृति बन्ध/२।

११. अघाती होनेसे केवल वेदनीय वास्तवमें सुखका विपक्षी नहीं है

प घ/३/१११४-१११५ कर्माष्टकं विपक्षि स्यात् सुखस्यैकगुणस्य च। अस्ति किञ्चिन्न कर्मैकं तद्विपक्षं तत् पृथक् ११११४। वेदनीय हि कर्मैकमस्ति चेतद्विपक्षि च। न यतोऽस्यास्त्यघातित्वं प्रसिद्धं परमागमात् ११११५। =आत्माके सुख नामक गुणके विपक्षी वास्तवमें आठो ही कर्म है, पृथक्से कोई एक कर्म नहीं। ११११४। यदि ऐसा कहो कि उसका विपक्षी एक वेदनीय कर्म ही है तो यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि, परमागममें इस वेदनीय कर्मको अघातियापना प्रसिद्ध है। ११११५।—(और भी दे माक्ष/३/३)

१२. वेदनीयका व्यापार कथंचित् सुख-दुःखमें होता है

ष खं ११/सू ३, १७/पृष्ठ ६, ११ वेयणीय सुहृदुःखम्हि णिबद्धं। सादासादाणमप्याणम्हि णिबद्धो ११। =वेदनीय सुख व दुःखमें निबद्ध है। सातावेदनीय और असाता वेदनीय आत्मामें निबद्ध है। ११।

प्र. सा/त, प्र/७६ विच्छिन्न हि रुदसद्वेद्योदयप्रच्यावितसद्वेद्योदय-प्रवृत्तयानुभयत्वादुद्भूतविपक्षतया। =विच्छिन्न होता हुआ असाता वेदनीयका उदय जिसे च्युत कर देता है, ऐसे सातावेदनीयके उदयसे प्रवर्तमान होता हुआ अनुभवमें आता है, इसलिए इन्द्रिय सुख विपक्षकी उत्पत्तिवाला है।

दे अनुभाग/३/४ (वेदनीय कर्म कथंचित् घातिया प्रकृति है।)
वे. वेदनीय/१/३ (साता सुखका अनुभव कराता है और असातावेदनीय दुःखका।)

१३. मोहनीयके सहवर्ती ही वेदनीय कार्यकारी है अन्यथा नहीं

घ १३/५, ४, २४/५३/२ वेदिदं पि असादवेदनीय ण वेदिदं, सगसहकारि-कारणघादिकम्माभावेण दुःखजगणसत्तिरोहादो। =असाता वेदनीयसे वेदित होकर भी (केवली भगवत्) वेदित नहीं है, क्योंकि अपने सहकारिकारणभूत घाति कर्मोका अभाव हो जानेसे उसमें दुःखको उत्पन्न करनेकी शक्ति माननेमें विरोध है। —और भी दे० केवली/ ४/११/१।

दे० अनुभाग/३/३ (घातिया कर्मोके बिना वेदनीय अपना कार्य करने-को समर्थ नहीं है, इसलिए उसे घातिया नहीं कहा गया है।)

१४. वेदनीयके बाह्य व अन्तरंग व्यापारका समन्वय

घ. १३/५, ५, ६३/३३४/४ इदुत्थसमागमो अणिदुत्थविओगो च सुहं णाम। अणिदुत्थ समागमो इदुत्थ वियोगो च दुःख णाम। =इष्ट अर्थके समागम और अनिष्ट अर्थके वियोगका नाम सुख है। तथा अनिष्ट अर्थके समागम और इष्ट अर्थके वियोगका नाम दुःख है। [और मोहके कारण बिना पदार्थ इष्टानिष्ट होता नहीं है।—दे० राग/२/५।

घ. १५/३/६/६ सिरोवेयणादी दुःखं णाम। तस्स उवसमो तदणुपत्ती वा दुःखुवसमहेउदव्वावि संपत्ती वा सुहं णाम। तत्थ वेयणीयं णिबद्धं, तदुपत्तिकारणत्तादो। =सिरकी वेदना आदिका नाम दुःख है। उक्त वेदनाका उपशान्त हो जाना अथवा उसका उत्पन्न ही न होना, अथवा दुःखोपशान्तिके कारण भूत द्रव्यादिककी प्राप्ति होना, इसे सुख कहा जाता है। उसमें वेदनीय कर्म निबद्ध है।

दे० वेदनीय/ १० (दुःखके उपशमसे प्राप्त और उपचारसे सुख संज्ञाको प्राप्त जीवके स्वास्थ्यका कारण होनेसे ही साता वेदनीयको जीव विपाकी कहा है अन्यथा वह पुद्गल विपाकी है।)

दे० अनुभाग/३/३, ४ (मोहनीय कर्मके साथ रहते हुए वेदनीय घातिया बत है, अन्यथा वह अघातिया है।)

दे० सुख/२/१० (दुःख अवश्य असाताके उदयसे होता है, पर स्वाभाविक सुख असाताके उदयसे नहीं होता। साता जनित सुख भी वास्तवमें दुःख ही है।)

दे० वेदनीय/३ (बाह्य सामग्री के सन्निधानमें ही सुख-दुःख उत्पन्न होता है।)

* अन्य सम्बन्धित विषय—

१. वेदनीय कर्मके उदाहरण। —दे० प्रकृतिबन्ध/३।
२. साता असाताका उदय युगपत् भी सम्भव है। —दे० केवली/४, ११, १२, १।
३. वेदनीय प्रकृतिमें दसों करण सम्भव है। —दे० करण/२।
४. वेदनीयके बन्ध उदय सत्त्व। —दे० वह वह नाम।
५. वेदनीयका कथंचित् घाती-अघातीपना। —दे० अनुभाग/३।
६. तीर्थंकर व केवलीमें साता असाताके उदय आदि सम्बन्धी। —दे० केवली/४।
७. वेदनीयके अभावसे सासारिक सुख नष्ट होता है। स्वाभाविक सुख नहीं। —दे० सुख/२/११।
८. असाताके उदयमें औषधियाँ आदि भी सामर्थ्यहीन हो जाती हैं। —दे० कारण/III/५/४।

वेदान्त—

१	वेदान्त सामान्य
१	सामान्य परिचय
२	प्रवर्तक, साहित्य व समय
३	जैन व वेदान्तकी तुलना
४	द्वैत व अद्वैत दर्शनका समन्वय
५	भर्तृ प्रपंच वेदान्त

२ शंकर वेदान्त या ब्रह्माद्वैत

- १ शंकर वेदान्तका तत्त्व विचार
- २ माया व सृष्टि
- ३ इन्द्रिय व शरीर
- ४ पंचीकृत विचार
- ५ मोक्ष विचार
- ६ प्रमाण विचार

३ भास्कर वेदान्त या द्वैताद्वैत

- १ सामान्य विचार
- २ तत्त्व विचार
- ३ मुक्ति विचार

४ रामानुज वेदान्त या विशिष्टाद्वैत

- १ सामान्य परिचय
- २ तत्त्व विचार
- ३ ज्ञान व इन्द्रिय विचार
- ४ सृष्टि व मोक्ष विचार
- ५ प्रमाण विचार

५ निंबार्क वेदान्त या द्वैताद्वैतवाद

- १ सामान्य विचार
- २ तत्त्व विचार
- ३ शरीर व इन्द्रिय

६ माध्व वेदान्त या द्वैतवाद

- १ सामान्य परिचय
- २ तत्त्व विचार
- ३ द्रव्य विचार
- ४ गुण कर्मादि शेष पदार्थ विचार
- ५ सृष्टि व प्रलय विचार
- ६ मोक्ष विचार
- ७ कारण कार्य विचार
- ८ ज्ञान व प्रमाण विचार

७ शुद्धाद्वैत (शैव दर्शन)

- १ सामान्य परिचय
- २ तत्त्व विचार
- ३ सृष्टि व मुक्ति विचार

१. वेदान्त सामान्य

१. सामान्य परिचय

स्या म./परि च/४३८ १, उत्तर मीमांसा या ब्रह्ममीमांसा ही वेदांत है। वेदोंके अन्तिम भागमें उपदिष्ट होनेके कारण ही इसका नाम वेदान्त है। यह अद्वैतवादी है। २, इनके साधु ब्राह्मण ही होते हैं। वे चार प्रकारके होते हैं—कुटीचर, बहूदक, हस और परमहस। ३ इनमेंसे कुटीचर मठमें रहते हैं, त्रिदण्डी होते हैं, शिखा व ब्रह्मसूत्र रखते हैं। गृहत्यागी होते हैं। यजमानोंके अथवा कदाचित् अपने पुत्रके यहाँ भोजन करते हैं। ४ बहूदक भी कुटीचरके समान हैं, परन्तु ब्राह्मणोंके घर नीरस भोजन लेते हैं। विष्णुका जाप करते हैं, तथा नदीमें स्नान करते हैं। ५ हस साधु ब्रह्म सूत्र व शिखा नहीं रखते। कषाय वस्त्र धारण करते हैं, दण्ड रखते हैं, गाँवमें एक रात और नगरमें तीन रात रहते हैं। धुँआ निकलना वन्द्य है। जाय तब ब्राह्मणोंके घर भोजन करते हैं। तप करते हैं और देश विशेषमें भ्रमण करते हैं। ६, आत्मज्ञानी हो जानेपर वही हस परमहस कहलाते हैं। ये चारों वर्णोंके घर भोजन करते हैं। शंकरके वेदान्तकी तुलना Bradley के सिद्धान्तोंसे की जा सकती है। इसके अन्तर्गत समय-समयपर अनेक दार्शनिक धाराएँ उत्पन्न होती रही जो अद्वैतका प्रतिकार करती हुई भी किन्हीं-किन्हीं बातोंमें दृष्टिभेदको प्राप्त रही। उनमेंसे कुछके नाम ये हैं—भर्तृ प्रपञ्च वेदान्त (ई श ७), शंकर वेदान्त या ब्रह्माद्वैत (ई श ८), भास्कर वेदान्त, रामानुज वेदान्त या विशिष्टाद्वैत (ई श ११), माध्ववेदान्त या द्वैतवाद (ई श, १२-१३), बल्लभ वेदान्त या शुद्धाद्वैत (ई श १५), श्रीकण्ठ वेदान्त या अविभागद्वैत (ई श, १७)।

२. प्रवर्तक साहित्य व समय

स्या म./परि च/४३८ १ वेदान्तका कथन महाभारत व गीतादि प्राचीन ग्रन्थोंमें मिलता है। तत्पश्चात् औडुलोमि, आश्वमथ्य, कासकस्न, काष्णार्जिनि, बादरि, आत्रेय और जैमिनी वेदान्त दर्शनके प्रतिपालक हुए। २ वेदान्त साहित्यमें बादरायणका ब्रह्मसूत्र सर्व प्रधान है। जिसका समय ई० ४०० है। ३, तत्पश्चात् बोधायन व उपवर्षने उनपर वृत्ति लिखी है। ४ द्रविडाचार्य टक व भर्तृ प्रपञ्च (ई. श. ७) भी टीकाकारोंमें प्रसिद्ध हैं। ५ गौडपाद (ई० ७८०) उनके शिष्य गोविन्द और उनके शिष्य शंकराचार्य हुए। इनका समय ई० ८०० है। शंकराचार्यने ईशा, केन, कठ आदि १० उपनिषदोंपर तथा भगवद्गीता व वेदान्त सूत्रोंपर टीकाएँ लिखी हैं। ६ मण्डन और मण्डन मिश्र भी शंकरके समकालीन थे। मण्डनने ब्रह्म सिद्धि आदि अनेक ग्रन्थ रचे। ७ शंकरके शिष्य सुरेश्वर (ई० ८२०) थे। इन्होंने नैष्कर्म्य सिद्धि, बृहदारण्यक उपनिषद् भाष्य आदि ग्रन्थ लिखे। नैष्कर्म्य आदिके चिन्तुख आदिने टीकाएँ लिखी। ८ पद्मपाद (ई० ८२०) शंकराचार्यके दूसरे शिष्य थे। इन्होंने पंचपद आदि ग्रन्थोंकी रचना की। ९ वाचस्पति मिश्र (ई० ८४०) ने शंकर भाष्यपर भावती और ब्रह्मसिद्धिपर तत्त्व समीक्षा लिखी। १० सुरेश्वरके शिष्य सर्वज्ञात्म मुनि (ई० ९००) थे, जिन्होंने सक्षेप शारीरिक नामक ग्रन्थ लिखा। ११ इनके अतिरिक्त आनन्दबोध (ई० श० ११-१२) का न्याय मरकन्द और न्याय दीपावली, श्री हर्ष (ई० ११५०) का खण्डन खण्ड खाद्य, चिन्तुखाचार्य (ई० १२५०) की चिन्तुखी, विद्यारण्य (ई० १३५०) की पंचशती और जीवन्मुक्ति-विवेक, मधुसूदन सरस्वती (ई० श० १६ की) अद्वैत सिद्धि, अप्पय दीक्षित (ई० श० १७) का सिद्धान्त लेश और सदानन्दका वेदान्त सार महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है।

१. जैन व वेदान्तकी तुलना

(जैनमत भी किसी न किसी अपेक्षा वेदान्तके सिद्धान्तोको स्वीकार करता है, सग्रह व व्यवहारनयके आश्रयपर विचार करनेसे यह रहस्य स्पष्ट हो जाता है। जैसे—पर सग्रह नयकी अपेक्षा एक सत् मात्र ही है इसके अतिरिक्त अन्य किसी चोजकी सत्ता नहीं। इसीका व्यवहार करनेपर वह सत् उत्पाद व्यय ध्रौव्य रूप तीन शक्तियोंसे युक्त है, अथवा जीव व अजीव दो भेद रूप है। सत् ही वह एक है, वह सर्व व्यापक, ब्रह्म है। उत्पाद व्यय ध्रौव्य रूप शक्ति उसकी माया है। जीव व अजीव पुरुष व प्रकृति है। उत्पादादि त्रयसे ही उसमें परिणमन या चंचलता होती है। उसीसे सृष्टिकी रचना होती है। इत्यादि (दे० सा०ख्य) इस प्रकार दोनोमे समानता है। परन्तु अनेकान्तवादी होनेके कारण जैन तो इनके विपक्षी नयो-को भी स्वीकार करके अद्वैतके साथ द्वैत पक्षका भी ग्रहण कर लेते हैं। परन्तु वेदान्तो एकान्तवादी होनेके कारण द्वैतका सर्वथा निरास करते हैं। इस प्रकार दोनोमे भेद है। वेदान्तवादी सग्रहनयाभासी है। (दे० अनेकान्त/२/६)।

४. द्वैत व अद्वैत दर्शनका समन्वय

प. वि./६/२६ द्वैतं सस्तिरेव निश्चयवशादद्वैतमेवामृतं, संक्षेपादुभयत्र जलितमिदं पर्यन्तकाष्टागतम्। निर्गत्यादिपराच्छन्नैः शबलितादन्य-त्समासन्वते, य' सोऽसन्न इति स्फुट व्यबहृते ब्रह्मादिनामेति च। २६।
—निश्चयसे द्वैत ही ससार तथा अद्वैत ही मोक्ष है, यह दोनोके विषयमें संक्षेपसे कथन है, जो चरम सीमाको प्राप्त है। जो भ्रूव्य जीव धीरे-धीरे इस प्रथम (द्वैत) पदसे निकलकर दूसरे अद्वैत पदका आश्रय करता है वह यद्यपि निश्चयतः वाच्य वाचक भावका अभाव हो जानेके कारण सज्ञा (नाम) से रहित हो जाता है, फिर भी व्यवहारसे वह ब्रह्मादि (पर ब्रह्म परमात्मा आदि) नामको प्राप्त करता है।

दे. द्रव्य/४ वस्तु स्वरूपमें द्वैत व अद्वैतका विधि निषेध व उसका समन्वय।

दे उत्पाद/२ (नित्य पक्षका विधि निषेध व उसका समन्वय)।

५. भर्तृप्रपंच वेदांत

स्या. म./परि-च/पृ. ४४० भर्तृप्रपंच नामक आचार्य द्वारा चलाया गया। इसका अपना कोई ग्रन्थ इस समय उपलब्ध नहीं है। भर्तृ-प्रपंच वैश्वानरके उपासक थे। शंकरकी भाँति ब्रह्मके पर अपर दो भेद मानते थे।

२. शंकर वेदांत या ब्रह्माद्वैत

१. शंकर वेदांतका तत्त्व विचार

षड्दर्शन समुच्चय/६८/६७); (भारतीय दर्शन) १. सत्ता तीन प्रकार है—पारमार्थिक, प्रातिभासिक व व्यावहारिक। इनमें-से ब्रह्म ही एक पारमार्थिक सत् है। इसके अतिरिक्त घट, पट आदि व्यावहारिक सत् है। वास्तवमें ये सब रस्सीमें सर्पकी भाँति प्रातिभासिक है। २. ब्रह्म, एक निर्विशेष, सर्वव्यापी, स्वप्रकाश, नित्य, स्वयं सिद्ध चैतन तत्त्व है। ३. मायासे अवच्छिन्न होनेके कारण इसके दो रूप हो जाते हैं—ईश्वर व प्राज्ञ। दोनोमें समष्टि व व्यष्टि, एक व अनेक, निश्चिद्ध सत्त्व व मलिन सत्त्व, सर्वज्ञ व अज्ञ, सर्वेश्वर व अनोश्वर, समष्टि-का कारण शरीर और व्यष्टिका कारण शरीर आदि रूपसे दो भेद है। ईश्वर, नियन्ता, अव्यक्त, अन्तर्यामी, सृष्टिका रचयिता व जोवोंको उनके कर्मानुसार फलदाता है। ४. साख्य प्ररूपित बुद्धि व पाँचो ज्ञानेन्द्रियोंसे मिलकर एक विज्ञानमय कोश बनता

है। इसीमें विरा हुआ चैतन्य उपचारसे जीव कहलाता है, जो कर्ता, भोक्ता, सुख, दुख, जन्म मरण आदि सहित है। ५. इस शरीर युक्त चैतन्य (जीव) में ही ज्ञान, इच्छा व क्रिया रूप शक्तियाँ रहती हैं। वास्तवमें (चैतन्य) ब्रह्म इन सबसे अतीत है। ६. जगत् इस ब्रह्मका विवर्तमात्र है। जो जल-बुद्बुदवत् उसमें-से अभिव्यक्त होता है और उसीमें लय हो जाता है।

२. माया व सृष्टि

(तत्त्व बोध), (भारतीय दर्शन) १. सत्त्वादि तीन गुणोंकी साम्या-वस्थाका नाम अव्यक्त प्रकृति है। व्यक्त प्रकृतिमें सत्त्व गुण ही प्रधान होनेपर उसके दो रूप हो जाते हैं—माया व अविद्या। विशुद्ध सत्त्व प्रधान माया और मलिन सत्त्व प्रधान अविद्या है। २. मायासे अव-च्छिन्न ब्रह्म ईश्वर तथा अविद्यासे अवच्छिन्न जीव कहाता है। ३. माया न सत् है न असत्, बल्कि अनिर्वचनीय है। समष्टि रूपसे एक होती हुई भी व्यष्टि रूपसे अनेक है। मायावच्छिन्न ईश्वर सकल्प मात्रसे सृष्टिकी रचना करता है। चैतन्य तो नित्य, सूक्ष्म व अपरि-णामी है। जितने भी सूक्ष्म व स्थूल पदार्थ हैं वे मायाके विकास हैं। त्रिगुणोंकी साम्यावस्थामें माया कारण शक्तिरूपसे विद्यमान रहती है। पर तमोगुणका प्राधान्य होनेपर उसकी विक्षेप शक्तिके सम्पन्न चैतन्यसे आकाशकी, आकाशसे वायुकी, वायुसे अग्निकी, अग्निसे जलकी, और जलसे पृथिवीकी क्रमशः उत्पत्ति होती है। इन्हे अप-चीकृत भूत कहते हैं। इन्हींसे आगे जाकर सूक्ष्म व स्थूल शरीरोंकी उत्पत्ति होती है। ४. अविद्याकी दो शक्तियाँ हैं—आवरण व विक्षेप। आवरण द्वारा ज्ञानकी हीनता और विक्षेप द्वारा राग द्वेष होता है।

३. इन्द्रिय व शरीर

(तत्त्व बोध), (भारतीय दर्शन) १. आकाशादि अपंचीकृत भूतोंके पृथक्-पृथक् सात्त्विक अंशोंसे क्रमशः ओत्र, त्वक्, चक्षु, जिह्वा, और घ्राण इन्द्रियकी उत्पत्ति होती है। २. इन्हीं पाँचके मिलित सात्त्विक अंशोंमें बुद्धि, मन, चित्त व अहंकारकी उत्पत्ति होती है। ये चारो मिलकर अंतःकरण कहलाते हैं। ३. बुद्धि व पाँच ज्ञानेन्द्रियोंके सम्मेलको ज्ञानमय कोष कहते हैं। इसमें विरा हुआ चैतन्य ही जीव कहलाता है। जो जन्म मरणादि करता है। ४. मन व ज्ञानेन्द्रियोंके सम्मेलको मनोमय कोष कहते हैं। ज्ञानमय कोषकी अपेक्षा यह कुछ स्थूल है। ५. आकाशादिके व्यष्टिगत राजसिक अंशोंसे पाँच कर्मेन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं। ६. और इन्हीं पाँचोंके मिलित अंशसे प्राण-की उत्पत्ति होती है। वह पाँच प्रकारका होता है—प्राण, अपान, व्यान, उदान और समान। नासिकामें स्थित वायु प्राण है, गुदाकी ओर जानेवाला अपान है, समस्त शरीरमें व्याप्त व्यान है, कण्ठमें स्थित उदान और भोजनका पाक करके बाहर निकलनेवाला समान है। ७. पाँच कर्मेन्द्रियों व प्राणके सम्मेलसे प्राणमय कोष बनता है। ८. शरीरमें यही तीन कोष काम आते हैं। ज्ञानमय कोषसे ज्ञान, मनोमय कोषसे इच्छा तथा प्राणमय कोषसे क्रिया होती है। ९. इन तीनों कोषोंके सम्मेलसे सूक्ष्म शरीर बनता है। इसीमें वास-नाएँ रहती हैं। यह स्वप्नावस्था रूप तथा अनुपभोग्य है। १०. समष्टि रूप सूक्ष्म शरीरसे आच्छादित चैतन्य सूत्रात्मा या हिरण्य-गर्भ या प्राण कहा जाता है तथा उसीके व्यष्टि रूपसे आच्छादित चैतन्य तैजस कहा जाता है। ११. पचीकृत उपरोक्त ५च भूतोंसे स्थूलशरीर बनता है। इसे ही अन्नमय कोष कहते हैं। यह जागृत स्वरूप तथा उपभोग्य है। वह चार प्रकारका है—जरायुज, अण्डज, स्वेदज, व उद्भिज (बनस्पति)। १२. समष्टि रूप स्थूल शरीरसे आच्छादित चैतन्य वैश्वानर या विशट कहा जाता है। तथा व्यष्टि रूप स्थूल शरीरसे आच्छादित चैतन्य विश्व कहा जाता है।

४. पंचीकृत विचार

(तत्त्व बोध), (भारतीय दर्शन) प्रत्येक भूतका आधा भाग ग्रहण करके उसमें शेष चार भूतोंके $\frac{1}{2}-\frac{1}{5}$ भाग मिला देनेसे वह पंचीकृत भूत कहलाता है। जैसे— $\frac{1}{2}$ आकाश + $\frac{1}{5}$ वायु + $\frac{1}{5}$ तैजस + $\frac{1}{5}$ जल + $\frac{1}{5}$ पृथिवी, इन्हीं पंचीकृत भूतोंसे समष्टि व व्यष्टि रूप स्थूल शरीरोंकी उत्पत्ति होती है।

५. मोक्ष विचार

(तत्त्व बोध): (भारतीय दर्शन) अविद्या वश ईश्वर व प्राज्ञ, सूत्रात्मा व तैजस, वैश्वानर व विश्व आदिमें भेदकी प्रतीति होती है। तत्त्वमसि ऐसा गुरुका उपदेश पाकर उन सर्व भेदोंसे परे उस अद्वैत ब्रह्मकी ओर लक्ष्य जाता है। तब पहले 'साऽहं' और पीछे 'अहं ब्रह्म'की प्रतीति होनेसे अज्ञानका नाश होता है। चित्त वृत्तियाँ नष्ट हो जाती हैं। चित्तप्रतिबिम्ब ब्रह्मसे एकाकार हो जाता है। यही जीव व ब्रह्मका ऐक्य है। यही ब्रह्म साक्षात्कार है। इस अवस्थाकी प्राप्तिके लिए श्रवण, मनन, निदिध्यासन, व अष्टांग योग साधनकी आवश्यकता पड़ती है। यह अवस्था आनन्दमय तथा अवाङ्मनसगोचर है। तत्पश्चात् प्रारब्ध कर्म शेष रहने तक शरीरमें रहना पड़ता है। उस समय तक वह जीवन्मुक्त कहलाता है। अन्तमें शरीर छूट जानेपर पूर्ण मुक्ति हो जाती है।

६. प्रमाण विचार

(भारतीय दर्शन) १. प्रमाण छह है—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, आगम, अर्थापत्ति व अनुपलब्धि। पिछले चारके लक्षण मीमांसकों वत है। चित्त वृत्तिका इन्द्रिय द्वारसे बाहर निकलकर विषयाकार हो जाना प्रत्यक्ष है। पर ब्रह्मका प्रत्यक्ष चित्त वृत्तिसे निरपेक्ष है। २. इस प्रत्यक्षके दो भेद हैं—सविकल्प व निर्विकल्प अथवा जीव-साक्षी व ईश्वर साक्षी अथवा ज्ञप्तिगत व ज्ञेयगत अथवा इन्द्रियज व अतीन्द्रियज। सविकल्प व निर्विकल्प तो नैयायिकों वत है। अन्त-करणकी उपाधि सहित चैतन्यका प्रत्यक्ष जीव साक्षी है जो नाना रूप है। इसी प्रकार मायोपहित चैतन्यका प्रत्यक्ष ईश्वर साक्षी है जो एक रूप है। ज्ञप्तिगत स्वप्रकाशक है और ज्ञेयगत ऊपर कहा गया है। पाँचों इन्द्रियोंका ज्ञान इन्द्रिय प्रत्यक्ष और सुख-दुःखका वेदन अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष है। ३. व्याप्ति ज्ञानसे उत्पन्न अनुमतिके कारणको अनुमान कहते हैं। वह केवल अन्वय रूप ही होता है व्यतिरेक रूप नहीं। नैयायिकोंकी भौति तृतीय लिग परामर्शका स्वीकार नहीं करते।

३. भास्कर वेदान्त या द्वैताद्वैत

१. सामान्य परिचय

स्या./सं म./परि-च./४४१ ई.श १० में भट्ट भास्करने ब्रह्मसूत्रपर भाष्य रचा। इनके यहाँ ज्ञान व क्रिया दोनों मोक्षके कारण है। ससारमें जीव अनेक रहते हैं। परन्तु मुक्त होनेपर सब ब्रह्ममें लय हो जाते हैं। ब्रह्म व जगत्में कारण कार्य सम्बन्ध है, अतः दोनों ही सत्य हैं।

२. तत्त्व विचार

(भारतीय दर्शन) १. मूल तत्त्व एक है। उसके दो रूप हैं—कारण ब्रह्म व कार्य ब्रह्म। २. कारण ब्रह्म एक, अखण्ड, व्यापक, नित्य, चैतन्य है और कार्य ब्रह्म जगत् स्वरूप व अनित्य है। ३. स्वतः परिणामी होनेके कारण वह कारण ब्रह्म ही कार्य ब्रह्ममें परिणमित हो जाता है। ४. जीव व जगत्का प्रपञ्च ये दोनों उसी ब्रह्मकी शक्तियों हैं। प्रलयावस्थामें जगत्का सर्व प्रपञ्च और मुक्तावस्थामें जीव

स्वयं ब्रह्ममें लय हो जाते हैं। जीव उस ब्रह्मकी भोवतृष्णक्ति है और आकाशादि उसके भोग्य। ५. जीव अणु रूप व नित्य है। कर्तृत्व उसका स्वभाव नहीं है। ६. जड़ जगत् भी ब्रह्मका ही परिणाम है। अन्तर केवल इतना है कि जीवमें उसकी अभिव्यक्ति प्रत्यक्ष है और उसमें अप्रत्यक्ष।

३. मुक्ति विचार

(भारतीय दर्शन) १. विद्याके निरन्तर अभ्याससे ज्ञान प्रगट होता है और आजीवन शम, दम आदि योगानुष्ठानोंके करनेसे शरीरका पतन, भेदका नाश, सर्वज्ञत्वकी प्राप्ति और कर्तृत्वका नाश हो जाता है। २. निवृत्ति मार्गके क्रममें इन्द्रियों मनमें, बुद्धि आत्मामें और अन्तमें वह आत्मा भी परमात्मामें लय हो जाता है। ३. मुक्ति दो प्रकार की है—सद्योमुक्ति व क्रममुक्ति। सद्योमुक्ति साक्षात् ब्रह्मको उपासनासे तत्क्षण प्राप्त होती है। और क्रममुक्ति, कार्य ब्रह्म द्वारा सत्कृत्योंके कारण देवयान मार्गसे अनेकों लोकोंमें घूमते हुए हिरण्य-गर्भके साथ-साथ होती है। ४. जीवन्मुक्ति कोई चीज नहीं। बिना शरीर छूटे मुक्ति असम्भव है।

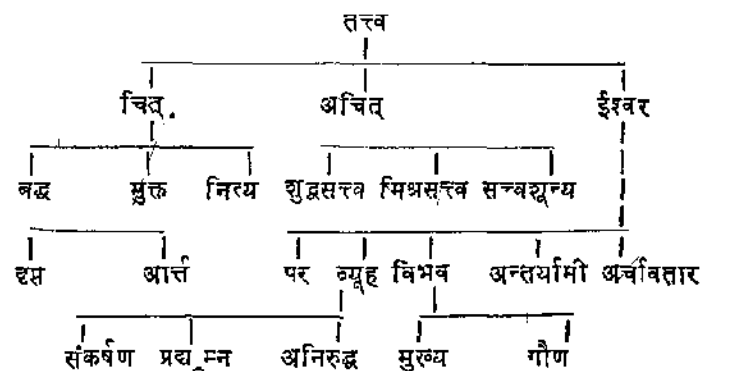
४. रामानुज वेदान्त या विशिष्टाद्वैत

१. सामान्य परिचय

(भारतीय दर्शन) यामुन मुनिके शिष्य रामानुजने ई. १०५० में श्री भाष्य व वेदान्तसारकी रचना द्वारा विशिष्टाद्वैतका प्रचार किया है। क्योंकि यहाँ चित्त व अचित्तको ईश्वरके विशेष रूपसे स्वीकार किया गया है। इसलिए इसे विशिष्टाद्वैत कहते हैं। इसके विचार बहुत प्रकारसे निम्बार्क वेदान्तसे मिलते हैं। (दे. वेदान्त/५)

२. तत्त्व विचार

भारतीय दर्शन



१. मम बुद्धिसे भिन्न ज्ञानका आश्रयभूत, अणु प्रमाण, निरवयव, नित्य, अव्यक्त, अचिन्त्य, निर्विकार, आनन्दरूप जीवात्मा चित्त है। यह ईश्वरको बुद्धिके अनुसार काम करता है। २. संसारी जीव बद्ध है इनमें भी प्रारब्ध कर्मका आश्रय लेकर मोक्षकी प्रतीक्षा करनेवाले दृप्त और शीघ्र मोक्षकी इच्छा करनेवाले आर्त हैं। अनुष्ठान विशेष द्वारा बैकुण्ठको प्राप्त होकर वहाँ भगवान्की सेवा करते हुए रहनेवाला जीव मुक्त है। यह सर्व लोकोंमें अपनी इच्छासे विचरण करता है। कभी भी संसारमें न आनेवाला तथा सदा ईश्वरके आधीन रहनेवाला नित्य जीव है। भगवान्के अवतारके समान इसके भी अवतार स्वेच्छासे होते हैं। ३. अचित्त जड़ तत्त्व व विचारवान् होता है। रजतम गुणसे रहित तथा आनन्दजनक शुद्धसत्त्व है। बैकुण्ठ धाम तथा भगवान्के शरीरोंके निर्माणका कारण है। जड़ है या अजड़ यह नहीं कहा जा सकता। त्रिगुण मिश्रित तथा बद्ध पुरुषोंके ज्ञान व आनन्दका आवरक मिश्रसत्त्व है। प्रकृति, महत्, अहंकार, मन,

इन्द्रिय, विषय, व भूत इस हीके परिणाम है। यही अविद्या या माया है। त्रिगुण शून्य तथा सृष्टि प्रलयका कारण काल सत्त्वशून्य है। ४, चित् अचित् तत्त्वोका आधार, ज्ञानानन्द स्वरूप, सृष्टि व प्रलय कर्ता, भक्त प्रतिपालक व दुष्टोका निग्रह करनेवाला ईश्वर है। नित्य आनन्द स्वरूप व अपरिणामी 'पर' है। भक्तोकी रक्षा व दुष्टोका निग्रह करनेवाला व्यूह है। सकर्षणसे सहार, प्रयुग्मनसे धर्मोपदेश व वर्गोकी सृष्टि तथा अनिरुद्धसे रक्षा, तत्त्वज्ञान व सृष्टि होती है। भगवान्का साक्षात् अवतार मुख्य है और शक्त्यावेश अवतार गौण। जीवोके अन्त करणकी वृत्तियोका नियामक अन्तर्यामी है और भगवान्की उपास्य मूर्ति अर्चावतार है।

३. ज्ञान व इन्द्रिय विचार

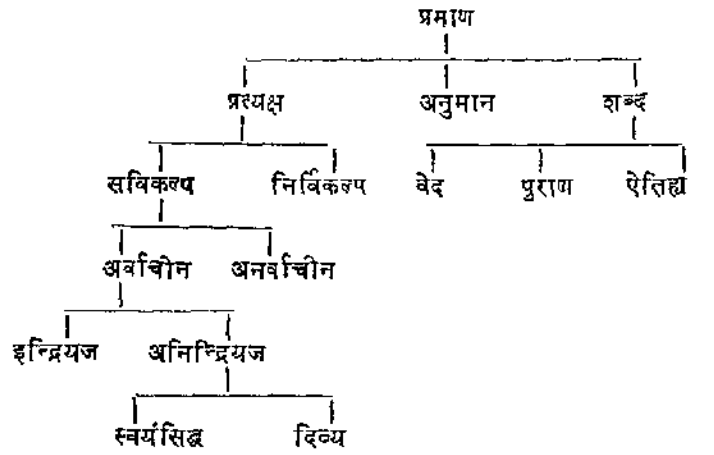
(भारतीय दर्शन) १. ज्ञान स्वयं गुण नहीं द्रव्य है। सुख, दुःख, इच्छा, प्रयत्न ये ज्ञानके ही स्वरूप हैं। यह नित्य आनन्द स्वरूप व अजड़ है। आत्मा संकोच विस्तार रूप नहीं है पर ज्ञान है। आत्मा स्व प्रकाशक और ज्ञान पर प्रकाशक है। अचित्तके ससर्गसे अविद्या, कर्म, व वासना व रुचिसे वेष्टित रहता है। भ्रष्ट जीवोका ज्ञान अव्यापक, नित्य जीवोका सदा व्यापक और मुक्त जीवोका सादि अनन्त व्यापक होता है। २, इन्द्रिय अपुप्रमाण है। अन्य लोकोमे भ्रमण करते समय इन्द्रिय जीवके साथ रहती है। मोक्ष होनेपर छूट जाती है।

४. सृष्टि व मोक्ष विचार

(भारतीय दर्शन) १ भगवान्के संकल्प विकल्पसे मिथसत्त्वकी साम्यावस्थामे वैषम्य आनेपर जब वह कर्मोन्मुख होती है तो उससे महत् अहंकार, मन ज्ञानेन्द्रिय व कर्मोन्द्रिय उत्पन्न होती है। मुक्त जीवोकी छोड़ी हुई इन्द्रियों जो प्रलय पर्यन्त संसारमें पडी रहती है, उन जीवोके द्वारा ग्रहण कर ली जाती है जिन्हे इन्द्रियों नहीं होती। २, भगवान्के नाभि कमलसे ब्रह्मा, उनसे क्रमशः देवर्षि, ब्रह्मर्षि, ६ प्रजापति, १० दिक्पाल, १४ इन्द्र, १४ मनु, ८ वसु, ११ रुद्र, १२ आदित्य, देवयोनि, मनुष्यगण, तिर्यगगण, और स्थावर उत्पन्न हुए (विशेष दे, वेदान्त/ ६)। ३, लक्ष्मीनारायणकी उपासनाके प्रभावसे स्थूल शरीरके साथ-साथ सूक्ष्म वृष्कृतके भोगका भी नाश होता है। तब यह जीव सुषुम्ना नाडीमे प्रवेश कर ब्रह्म-रन्ध्रसे निकलता है। सूर्यको किरणोके सहारे अग्नि लोकमे जाता है। मार्गमे—दिन, शुक्ल पक्ष, उत्तरायण व सवत्सरके अभिमानी देवता इसका सत्कार करते है। फिर ये सूर्यमण्डलको भेदकर पहले सूर्यलोकमें पहुँचते है। वहाँसे आगे क्रम पूर्वक चन्द्रविद्युत् वरुण, इन्द्र व प्रजापतियो द्वारा मार्ग दिखाया जानेपर अतिवाहक गणोके साथ चन्द्रादि लोकोसे होता हुआ वैकुण्ठकी सीमामें 'विरजा' नामके तीर्थमे प्रवेश करता है। यहाँ सूक्ष्म शरीरको छोडकर दिव्य शरीर धारण करता है, जिसका स्वरूप चतुर्भुज है। तत्र इन्द्र आदिकी आज्ञासे वैकुण्ठमे प्रवेश करता है। तहाँ 'एरमद' नामक अमृत सरोवर व 'सोमसवन' नामक अश्वत्थ को देखकर ५०० दिव्य अप्सराओसे सत्कारित होता हुआ महा रुद्रके निकट अपने आचार्यके पलंगके पास जाता है। वहाँ साक्षात् भगवान्को प्रणाम करता है। तथा उसकी सेवामे जुट जाता है। यही उसकी मुक्ति है।

५. प्रमाण विचार

भारतीय दर्शन



१. प्रथम ज्ञान स्वतः प्रमाण है। इन्द्रियज्ञान प्रत्यक्ष है। योगज प्रत्यक्ष स्वयंसिद्ध और भगवत्प्रसादसे प्राप्त दिव्य है। २. व्याप्तिज्ञान अनुमान है। पाँच अवयवोका पक्ष नहीं। ३, २, वा २ जितने भी अवयवोसे काम चले प्रयोग किये जा सकते है। उपमान अर्थापत्ति आदि सब अनुमानमें गभित है।

५. निम्बार्क वेदान्त या द्वैताद्वैत वाद

१. सामान्य परिचय

ई श. १२ में निम्बार्काचार्यने स्थापना की। वेदान्त पारिजात, सौरभ व सिद्धान्त रत्न इसके प्रमुख ग्रन्थ है। भेदाभेद या द्वैताद्वैत वादी है। इनके यहाँ शूद्रोको ब्रह्म-विद्याका अधिकार नहीं। पापियोको चन्द्रगति नहीं मिलती। दक्षिणायणमें मरनेपर विद्वानोको ब्रह्म प्राप्ति होती है। यमालयमें जानेवालोको दुखका अनुभव नहीं होता। विष्णुके भक्त है। राधा-कृष्णको प्रधान मानते है। रामानुज वेदान्तसे कुछ मिलता-जुलता है। --दे० वेदान्त/ ४।

२. तत्त्व विचार

१, तत्त्व तीन है—जीवात्मा, परमात्मा व प्रकृति। तीनोंको पृथक्-पृथक् माननेसे भेदवादी है और परमात्माका जीवात्मा व प्रकृतिके साथ सागर तरंग वत् सम्बन्ध माननेसे अभेदवादी है। २, जीवात्मा तीन प्रकारका है सामान्य, बद्ध व मुक्त। सामान्य जीव सर्व प्राणियोमें पृथक्-पृथक् है। बन्ध व मोक्षकी अपेक्षा परमात्मा पर निर्भर है। अणुरूप होते हुए भी इसका अनुभवात्मक प्रकाश सारे शरीरमे व्याप्त है, आनन्दमय नहीं है पर नित्य है। शरीरसे शरीरान्तरमें जाने वाला तथा चतुर्गतिमे आत्मवृद्धि करने वाला बद्ध-जीव है। मुक्त जीव दो प्रकारका है—नित्य व सादि। गरुड आदि भगवान् नित्य मुक्त है। सत्कर्मों द्वारा पूर्व जन्मके कर्मोको भोगकर ज्योतिको प्राप्त जीव सादि मुक्त है। ईश्वरकी लीलासे भी कदाचित् सकल्प मात्रसे शरीर उत्पन्न करके भोग प्राप्त करते है। पर संसारमें नहीं रहते। ३ परमात्मा स्वभावसे ही अविद्या अस्मिता, राग-द्वेष, तथा अभिनिवेश इन पाँच दोषोसे रहित है। आनन्द स्वरूप, अमृत, अभय, ज्ञाता, द्रष्टा, स्वतन्त्र, नियता विश्वका व जीवोको जन्म, मरण, दुख, सुखका कारण, जीवोको कर्मानुसार फलदायक, पर स्वयं पुण्य पाप रूप कर्मोसे अतीत, सर्वशक्तिमात् है। जगत्के आकार रूपसे परिणत होता है। वैकुण्ठमें भी जीव इसीका ध्यान करते है। प्रलयावस्थामें यह जीव

इसीमें लीन हो जाता है। ४. प्रकृति तीन प्रकार है—अप्राकृत, प्राकृत और काल। तीनों ही नित्य व विभु है। त्रिगुणोंसे अतीत अप्राकृत है। भगवान्का शरीर इसीसे बना है। त्रिगुणरूप प्राकृत है। ससारके सभी पदार्थ इसीसे बने है। इन दोनोंसे भिन्न काल है।

३. शरीर व इन्द्रिय

पृथिवीसे मांस व मन, जलसे सूत्र, शोणित व प्राण; तेजसे हड्डी, मज्जा व वाक् उत्पन्न होते हैं। मन पार्थिव है। प्राण अणु प्राण है तथा अवस्थान्तरको प्राप्त वायु रूप है। यह जीवका उपकरण है। इन्द्रिय ग्यारह है—पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय, और मन। स्थूल शरीरकी गरमीका कारण इसके भीतर स्थित सूक्ष्म शरीर है। (विशेष दे० वेदान्त/२)।

६. माध्य वेदान्त या द्वैतवाद

१. सामान्य परिचय

ई. श. १२-१३ में पूर्ण प्रज्ञा माध्य देव द्वारा इस मतका जन्म हुआ। न्याय सुधा व पदार्थ संग्रह इसके मुख्य ग्रन्थ हैं। अनेक तत्त्व माननेसे भेदवादी है।

२. तत्त्व विचार

पदार्थ १० है—द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, विशिष्ट, अंशो, शक्ति, सादृश्य व अभाव।

३. द्रव्य विचार

१. द्रव्य दो-दो भागोंमें विभाजित है—गमन प्राप्य, उपादान कारण, परिणाम व परिणामी दोनों स्वरूप, परिणाम व अभिव्यक्ति। उसके २० भेद हैं—परमात्मा, लक्ष्मी, जीव, अव्याकृत-आकाश, प्रकृति, गुणत्रय, महत्तत्त्व, अहंकार, बुद्धि, मन, इन्द्रिय, तन्मात्रा, भूत, ब्रह्माण्ड, अविद्या, वर्ण, अन्धकार, वासना, काल तथा प्रतिबिम्ब। २. परमात्मा—यह शुद्ध, चित्स्वरूप, सर्वज्ञाता, सर्वद्रष्टा, नित्य, एक, दोष व विकार रहित, सृष्टि, सहार, स्थिति, बन्ध, मोक्ष आदिका कर्ता, ज्ञान शरीरी तथा मुक्त पुरुषसे भी परे है। जीवो व भगवान्के अवतारोंमें यह ओत-प्रोत है। मुक्त जीव तो स्वेच्छासे शरीर धारण करके छोड़ देता है। पर यह ऐसा नहीं करता। इसका शरीर अप्राकृत है। ३. लक्ष्मी—परमात्माकी कृपासे लक्ष्मी, उत्पत्ति, स्थिति व लय आदि सम्पादन करती है। ब्रह्मा आदि लक्ष्मीके पुत्र हैं। नित्य मुक्त व आप्त काम है। लक्ष्मी परमात्माकी पत्नी समझी जाती है। श्री, भू, दुर्गा, नृणा, ह्री, महालक्ष्मी, दक्षिणा, सीता, जयती, सत्या, रुक्मिणी, आदि सब लक्ष्मीकी मूर्तियाँ हैं। अप्राकृत शरीर धारिणी है। ४. जीव—ब्रह्मा आदि भी ससारी जीव है। यह असंख्य है। अज्ञान, दुःख, भय आदिसे आवृत है। एक परमाणु प्रदेशमें अनन्त जीव रह सकते हैं। इसके तीन भेद हैं—मुक्ति योग्य, तमो योग्य व नित्य ससारी। ब्रह्मा आदि देव, नारदादि ऋषि, विश्वामित्रादि पितृ, चक्रवर्ती व मनुष्योत्तम मुक्ति योग्य ससारी हैं। तमो योग्य ससारी दो प्रकार हैं—चतुर्गुणोपासक, एकगुणोपासक है। उपासना द्वारा कोई इस शरीरमें रहते हुए भी मुक्ति पाता है। तमोयोग्य जीव पुनः अपि चार प्रकार हैं—दैत्य, राक्षस, पिशाच तथा अधम मनुष्य। नित्य ससारी जीव सदैव सुख भोगते हुए नरकादिमें घूमते रहते हैं। ये अनन्त हैं। ५. अव्याकृत आकाश—यह नित्य व विभु है, परन्तु भूताकाशसे भिन्न है। वैशेषिकके दिक् पदार्थ वत है। ६. प्रकृति—

जड़, परिणामी, सत्त्वादि गुणत्रयसे अतिरिक्त, अव्यक्त व नाना रूपा है। नवीन सृष्टिका कारण तथा नित्य है। लिंग शरीरकी समष्टि रूप है। ७. गुणत्रय—सत्त्व, रजस् व तनस् ये तीन गुण हैं। इनकी साम्यावस्थाको प्रलय कहते हैं। रजो गुणसे सृष्टि, सत्त्व गुणसे स्थिति, तथा तमोगुणसे सहार होता है। ८. महत्—त्रिगुणोंके अंशोंके मिश्रणसे उत्पन्न होता है। बुद्धि तत्त्वका कारण है। ९. अहंकार—इसका लक्षण सारथ्य वत है। यह तीन प्रकारका है—वैकारिक, तैजस व तामस। १०. बुद्धि—महत्से बुद्धिकी उत्पत्ति होती है। यह दो प्रकार है—तत्त्व रूप व ज्ञान रूप। ११. मनस्—यह दो प्रकार है—तत्त्वरूप व तत्त्वभिन्न। प्रथमकी उत्पत्ति वैकारिक अहंकारसे होती है। तत्त्व-भिन्न मन इन्द्रिय है। वह दो प्रकार है—नित्य व अनित्य। परमात्मा आदि सब जीवोंके पास रहनेवाला नित्य है। बद्ध जीवोंका मन अचेतन व मुक्त जीवोंका ज्ञेयन है। अनित्य मन ब्रह्म पदार्थ है। तथा सर्व जीवोंके पास है। यह पाँच प्रकार है—मन, बुद्धि, अहंकार, चित्त व चेतना। मन सकल विकल्पात्मक है। निश्चयात्मिका बुद्धि है। परमे स्वकी मति अहंकार है। स्मरणका हेतु चित्त है। कार्य करनेकी शक्ति स्वरूप चेतना है। १२. इन्द्रिय—तत्त्वभूत व तत्त्वभिन्न दोनों प्रकारकी ज्ञानेन्द्रियाँ व कर्मेन्द्रियाँ, नित्य व अनित्य दो-दो प्रकारकी हैं। अनित्य इन्द्रियाँ तैजस अहंकारकी उपज हैं। और नित्य इन्द्रियाँ परमात्मा व लक्ष्मी आदि सब जीवोंके स्वरूप भूत हैं। ये साक्षी कहलाती हैं। १३. तन्मात्रा—शब्द स्पर्शादि रूप पाँच हैं। ये दो प्रकार हैं। तत्त्व रूप व तत्त्वभिन्न। तत्त्व रूपको उपज तामस अहंकारसे है। (सारथ्य वत)। १४. भूत—पाँच तन्मात्राओंसे उत्पन्न होने वाले आकाश पृथिवी आदि पाँच भूत हैं। (सारथ्य वत)। १५. ब्रह्माण्ड—पचास कोटि योजन विस्तार ब्रह्माण्ड २४ उपादानोंसे उत्पन्न होता है। विष्णुका धीज है। घड़ेके दो कपालों वत इसके दो भाग हैं। ऊपरला भाग 'धौ' और निचला भाग 'पृथिवी' कहलाता है। इसीमें चौदह भुवनोंका अवस्थान है। भगवान्ने महत् आदि तत्त्वोंके अंशको उदरमें रखकर ब्रह्माण्डमें प्रवेश किया है। तब उसकी नाभिमें कमल उत्पन्न हुआ, जिससे चतुर्मुख ब्रह्माकी उत्पत्ति हुई। तत्पश्चात् देवता, मन, आकाश आदि पाँच भूतोंकी क्रमशः उत्पत्ति हुई। १६. अविद्या—पाँच भूतोंके पश्चात् सूक्ष्म मायासे भगवान्ने स्थूल अविद्या उत्पन्न की, जिसको उसने चतुर्मुखमें धारण किया। इसकी पाँच श्रेणियाँ हैं—मोह, महामोह, तामिस्र, अन्ध तामिस्र, तथा तम, विपर्यय, आग्रह, क्रोध मरण, तथा शार्वर क्रमशः इनके नामान्तर हैं। १७. वर्णतत्त्व—सर्व शब्दोंके मूल भूत वर्ण ५१ हैं। यह नित्य है तथा समवाय सम्बन्धसे रहित है। १८. अन्धकार—यह भाव रूप द्रव्य है। जड़ प्रकृतिसे उत्पन्न होता है। इतना धनीभूत हो सकता है कि हथियारोंसे काटा जा सके। १९. वासना—स्वप्नज्ञानके उपादान कारणको वासना कहते हैं। स्वप्न ज्ञान सत्य है। जाग्रतावस्थाके अनुभवोंसे वासना उत्पन्न होती है, और अन्तःकरणमें टिक जाती है। इस प्रकार अनादिकी वासनाएँ संस्कार रूपसे वर्तमान हैं, जो स्वप्नके विषय बनते हैं। 'मनोरथ' प्रयत्न सापेक्ष है और 'स्वप्न' अदृष्ट सापेक्ष। यही दोनोंमें अन्तर है। २०. काल—प्रकृतिसे उत्पन्न, क्षण लव आदि रूप काल अनित्य है, परन्तु इसका प्रवाह नित्य है। २१. प्रतिबिम्ब—बिम्बसे पृथक्, क्रियावात्, तथा बिम्बके सदृश प्रतिबिम्ब है। परमात्माका प्रतिबिम्ब दैत्योंमें है। यह दो प्रकार है—नित्य व अनित्य। सर्व जीवोंमें परमात्माका प्रतिबिम्ब नित्य है तथा दर्पणमें मुखका प्रतिबिम्ब अनित्य है। छाया, परिवेष, चन्द्रचाप, प्रतिसूर्य, प्रतिध्वनि, स्फटिकका लौहित्य इत्यादि भी प्रतिबिम्ब कहलाते हैं।

४. गुण कर्मादि शेष पदार्थ विचार

१. द्रव्यके लिए दे० उपरोक्त शीर्षक । २. दोषसे भिन्न गुण है। यह अनेक है—जैसे रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, सख्या, परिमाण, सयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, द्रवत्व, गुरुत्व, लघुत्व, मृदुत्व, काठिन्य, स्नेह, शब्द, बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म, सस्कार, आलोक, शम, दम, कृपा, तितिक्षा, बल, भय, लज्जा, गांभीर्य, सौन्दर्य, धैर्य, स्थैर्य, शौर्य, औदार्य, सौभाग्य आदि । रूप, रस, गन्ध, स्पर्श व शब्द ये पाँच गुण पृथिवीमें पाकज है और अन्य द्रव्योंमें अपाकज । ये लोग पीछुपाक वाद (दे० वैशेषिक) नहीं मानते । ३. पुण्य पापका असाधारण व साक्षात् कारण कर्म है, जो तीन प्रकार है—विहित, निषिद्ध और उदासीन । वेद विहित क्रियाएँ विहित कर्म है । यह दो प्रकार है—फलेच्छा सापेक्ष 'काम्य कर्म तथा ईश्वरको प्राप्त करनेके लिए 'अकाम्य' कर्म । काम्य कर्म दो प्रकार है—प्रारब्ध और अप्रारब्ध । अप्रारब्ध भी दो प्रकार है—इष्ट व अनिष्ट । वेद निषिद्ध कार्य निषिद्ध कर्म है । उत्क्षेपण, अपक्षेपण, आकुचन, प्रसारण, गमन, भ्रमण, वमन, भोजन, विदारण इत्यादि साधारण कर्म उदासीन कर्म है । कर्मकेअन्य प्रकार भी दो भेद है—नित्य और अनित्य । ईश्वरके सृष्टि सहार आदि नित्य कर्म है । अनित्य वस्तु भूत शरीरादिके कार्य अनित्य कर्म है । ४. सामान्य—दो प्रकारका है—नित्य और अनित्य । अन्य प्रकारसे जाति व उपाधि इन दो भेदो रूप है । ब्राह्मणत्व आदि जाति सामान्य है । और प्रमेयत्व जीवत्व आदि उपाधि सामान्य है । यावद्वस्तु भावि जाति नित्य सामान्य है और ब्राह्मणत्वादि यावद्वस्तु भावि जाति अनित्य सामान्य है । सर्वज्ञत्व रूप उपाधि नित्य सामान्य है और प्रमेयत्वादि अनित्य सामान्य है । ५. देखनेमें भेद न होनेपर भी भेदके व्यवहारका कारण गुण गुणोंका भेद विशेष है । नित्य व अनित्य दो प्रकारका है । ईश्वरादि नित्य द्रव्योंमें नित्य और घटादि अनित्य द्रव्योंमें अनित्य है । ६. विशेषणके सम्बन्धसे विशेषका जो आकार वही विशिष्ट है । यह भी नित्य व अनित्य है । सर्वज्ञत्वादि विशेषणोंसे विशिष्ट परब्रह्म नित्य है और दण्डसे विशिष्ट दण्डो अनित्य । ७. हाथ, वितस्ति आदिसे अतिरिक्त पट, गगन आदि, प्रत्यक्ष सिद्ध पदार्थ अशी है । यह भी नित्य व अनित्य दो प्रकार है । आकाशादि नित्य अशी है और पट आदि अनित्य । ८. शक्ति चार प्रकार है ।—अचिन्त्य शक्ति, सहज शक्ति, आधेय और पद शक्ति । परमात्मा व लक्ष्मी आदि की अणिमा महिमा आदि शक्तियाँ अचिन्त्य है । कार्यमात्रके अनुकूल स्वभाव रूप शक्ति ही सहज शक्ति है जैसे—दण्ड आदिमें घट बनानेकी शक्ति । यह नित्य द्रव्योंमें नित्य और अनित्य द्रव्योंमें अनित्य होती है । आहित या स्थापित आधेय शक्ति कहलाती है जैसे प्रतिमामें भगवान् । पद व उसके अर्थमें वाच्य वाचकपनेकी शक्ति पदशक्ति है । वह दो प्रकार है—मुख्या व पर-मुख्या । परमात्मामें सब शब्दोंकी शक्ति परमुख्या है, और शब्द में केवल मुख्या । ९. यह उसके सदृश है 'ऐसे व्यवहारका कारण पदार्थ 'सादृश' कहलाता है । यह नाना है । नित्य द्रव्यमें नित्य और अनित्य द्रव्यमें अनित्य है । १०. ज्ञानमें निषेधात्मक भाव 'अभाव' है । वह चार प्रकार है—प्राक्, प्रध्वंस, अन्योन्य व अत्यन्त । कार्यकी उत्पत्तिसे पूर्व अभावको प्रागभाव, उसके नाश हो जानेपर प्रध्वंसाभाव है । सार्वकालिक परस्परमें अभाव अन्योन्याभाव है । वह नित्य व अनित्य दो प्रकार है । अनित्य पदार्थोंमें परस्पर अभाव अनित्य है और नित्य पदार्थोंमें नित्य । अप्रामाणिक वस्तुमें अत्यन्ताभाव—जैसे शशशू ग ।

५. सृष्टि व प्रलय विचार

१. सृष्टिका क्रम निम्न प्रकार है—इच्छा युक्त परमात्मा 'प्रकृति' के गर्भमें प्रवेश करके उसके त्रिगुणोंमें विषमता उत्पन्न करनेके द्वारा उसे

कार्योन्मुख करता है । फल स्वरूप महत्से ब्रह्माण्ड पर्यन्त तत्त्व तथा देवताओंकी सृष्टि होती है । फिर चेतन अचेतन अशोको उदरमें निक्षेपकर हजार वर्ष पश्चात् नाभिमें एक कमल उत्पन्न होता है, जिससे चतुर्मुख ब्रह्मा उत्पन्न होते हैं । ब्रह्माके सहस्र वर्ष पर्यन्त तपश्चरणसे प्रसन्न परमात्मा पचभूत उत्पन्न करता है, फिर सूक्ष्म रूपेण चौदह लोकोंका चतुर्मुखमें प्रवेशकर स्थूल रूपेण चौदह लोकोंको उत्पन्न करते हैं । बादमें सब देवता अण्डके भीतरसे उत्पन्न होते हैं । (और भी दे० वेदान्त ४) २. धर्म सकटमें पड जानेपर दश अवतार होते हैं—मत्स्य, कूर्म, वराह, नृसिंह, वामन, राम, परशुराम, श्री कृष्ण, बुद्ध, कर्कवी । श्रीकृष्ण स्वयं भगवान् है और शेष अवतार परमात्माके अक्ष । ३. प्रलय दो प्रकार है—महाप्रलय व अवान्तर प्रलय । महाप्रलयमें प्रकृतिके तीन गुणोंका व महत् आदि तत्त्वोंका तथा समस्त देवताओंका विध्वंस, भगवान्के मुखसे प्रगटी ज्वालामें हो जाता है । एक वटक पत्रपर शून्य नामके नारायण शयन करते हैं, जिनके उदरमें सब जीव प्रवेश करके रहते हैं । अवान्तर प्रलय दो प्रकार है—दैनिक तथा मनुप्रलय । दैनिकमें तीनों लोकोंका नाश होता है । पर इन्द्रादिक महर्लोकको चले जाते हैं । मनुप्रलयमें भू लोकमें मनुष्यादि मात्रका नाश होता है, अन्य दोनों लोकोंके वासी महर्लोकको चले जाते हैं ।

६. मोक्ष विचार

१. भक्ति, कीर्तन, जप वतादिसे मोक्ष होता है । वह चार प्रकार है—कर्मक्षय, उत्कान्तिलय, अचिरादि मार्ग और भोग । इनमेंसे नं. २ व ३ वाला मोक्ष मनुष्योंको ही होता है, देवताओं आदिको नहीं । २. अपरोक्ष ज्ञान उत्पन्न होनेपर समस्त नवीन पुण्य व पाप कर्मोंका नाश हो जाता है । कल्पों पर्यन्त भोग करके प्रारब्ध कर्मका नाश होता है । प्रारब्ध कर्मके नाशके पश्चात् सुषुम्नानाडी या ब्रह्मनाडी द्वारा देहसे निकल कर आत्मा ऊपर उठता है । तब या तो चतुर्मुख (ब्रह्मा) तक और या परमात्मा तक पहुँच जाता है । यही कर्मक्षय मोक्ष है । अत्यन्त दीर्घ कालके लिए देव योनिमें चले जाना अतिकान्ति मुक्ति है, यह वास्तविक मुक्ति नहीं । क्रम मुक्ति—उत्तरोत्तर देहोंमें क्रमशः लय होते-होते, चतुर्मुखके मुखमें जब जीव प्रविष्ट होता है तब ब्रह्माके साथ-साथ विरजा नदीमें स्नान करनेसे उसके लिंग शरीरका नाश हो जाता है । इसके नाश होनेपर जीवत्वका भी नाश सम्पन्न जाता है ।—(विशेष दे० वेदान्त/६) । ४. भोगमोक्ष—अपनी-अपनी उपासनाकी तारतम्यताके अनुसार सामीप्य, सालोक्य, सारूप्य, और सायुज्य, इन चार प्रकारके मोक्षोंमें ब्रह्मादिकोंके भोगोंमें भी तारतम्यता रहती है, पर वे ससारमें नहीं आते ।

७. कारण कार्य विचार

कारण दो प्रकार है—उपादान व अपादान या निमित्त । परिणामी कारणको उपादान कहते हैं । कार्यकी उत्पत्तिसे पूर्व वह सत् है और उत्पत्तिके पश्चात् असत् । उपादान व उपादेयमें भेद व अभेद दोनों हैं । गुण क्रिया आदिमें अभेद है और द्रव्यके साथ न रहनेवालोंमें भेद व अभेद दोनों ।

८. ज्ञान व प्रमाण विचार

१. आत्मा, मन, इन्द्रिय व विषयोंके सन्निकर्षसे होनेवाला आत्माका परिणाम ज्ञान है । वह सविकल्प ही होता है । ममता रूप, व अपरोक्ष रूप । ममता रूप ससारका और अपरोक्ष रूप मोक्षका कारण है । तथा वैराग्य आदिसे उत्पन्न होता है । ऋषिलोग अन्तर्दृष्टि, मनुष्य ब्रह्म दृष्टि और देवता लोग सर्वदृष्टि है । २. स्व प्रकाशक होनेके कारण ज्ञान स्वतः प्रमाण है । वह तीन प्रकार है—प्रत्यक्ष अनुमान व शब्द । ३. प्रत्यक्ष आठ प्रकार है— साक्षी, यथार्थ

ज्ञान, तथा 'इन्द्रियोसे साक्षात् उत्पन्न ज्ञान' । ४, अनुमान तीन प्रकार है—केवलान्वयी, केवलव्यतिरेकी और अन्वयव्यतिरेकी । पाँच अक्षरवोका नियम नहीं । यथावसर हीनाधिक भी हो सकते हैं । ५ शब्द—दो प्रकार है—पौरुषेय व अपौरुषेय । आश्रोक्त पौरुषेय है और वेद वाक्य अपौरुषेय हैं ।

७. शुद्धाद्वैत (शैव दर्शन)

१. सामान्य परिचय

ई श. १६ में इसको स्थापना हुई । बलभ, श्रीकण्ठ व भास्कर इसके प्रधान संस्थापक थे । श्रीकण्ठकृत शिवसूत्र व भास्कर कृत वार्तिक प्रधान ग्रन्थ है । इनके मतमें ब्रह्मके पर अपर दो रूप नहीं माने जाते । पर ब्रह्म ही एक तत्त्व है । ब्रह्म अशी और जड व अजड जगत् इसके दो अंश है ।

२. तत्त्व विचार

१. शिव ही केवल एक सत् है । शंकर वेशान्त मान्य माया व प्रकृति सर्वथा कुछ नहीं है । उस शिवकी अभिव्यक्ति १६ प्रकारसे होती है—परम शिव, शक्ति, सदाशिव, ईश्वर, शुद्धविद्या, माया, मायाके पाँच कुंचक या कला, विद्या, राग, काल, नियति, पुरुष, प्रकृति, महात्मा बुद्धि, अहंकार, मन, पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच तन्मात्राएँ, और पाँच भूत । उनमेंसे पुरुष आदि तत्त्व तो सार्वभूत हैं । शेष निम्न प्रकार है ।—२. एक व्यापक, निरर्थ, चैतन्य, स्वरूप शिव है । जड व चेतन सबमें यही ओतप्रोत है । आत्मा, परमेश्वर व परासंविद इसके अपरनाम हैं । ३. सृष्टि, स्थिति व संहार (उत्पाद, धौव्य व्यय) यह तीन उस शिवकी शक्तियाँ हैं । सृष्टि शक्ति द्वारा वह स्वयं विश्वाकार होता है । स्थिति शक्तिसे विश्वका प्रकाशक, संहार शक्तिसे सबको अपनेमें लय कर लेता है । इसके पाँच भेद हैं—चित्, आनन्द, ज्ञान, इच्छा व क्रिया । ४. 'अहं' प्रत्यय द्वारा सदा अभिव्यक्त रहनेवाला सदाशिव है । यहाँ इच्छा शक्तिका प्राधान्य है । ५. जगत्की क्रमिक अभिव्यक्ति करता हुआ वहो सदाशिव ईश्वर है । यहाँ 'इदं अहं' की भावना होनेके कारण ज्ञान शक्तिका प्राधान्य है । ६. 'अहं इदं' यह भावना शुद्धविद्या है । ७. 'अहं' पुरुष रूपमें और 'इदं' प्रकृति रूपमें अभिव्यक्त होकर द्वैत को स्पष्ट करते हैं यही शिवकी माया है । ८. इस मायाके कारण वह शिव पाँच कचुकोमें अभिव्यक्त होता है । सर्व कर्तासे असर्व कर्ता होनेके कारण कलावान् है, सर्वज्ञसे असर्वज्ञ होनेके कारण विद्यावान्, अपूर्णताके बोधके कारण रागी, अनिरयत्वके बोधके कारण काल सापेक्ष तथा सकुचित ज्ञान शक्तिके कारण नियतिवान् हो जाता है । ९. इन पाँच कचुकोसे आवेष्टित पुरुष संसारो हो जाता है ।

३. सृष्टि व मुक्ति विचार

१. जैसे बट बीजमें बट वृक्षकी शक्ति रहती है वैसे ही शिवमें ३५ तत्त्व सदा शक्तिरूपसे विद्यमान हैं । उपरोक्त क्रमसे वह शिव ही संसारो होता हुआ सृष्टिकी रचना करता है । २. पाँच कचुकोसे आवृत्त पुरुषकी शक्ति सकुचित रहती है । सूक्ष्म तत्त्वमें प्रवेश करनेपर वह अपनेको प्रकृतिके सूक्ष्म रूपके बराबर समझता हुआ 'यह मैं हूँ' ऐसे द्वैतकी प्रतीति करता है । इस प्रतीतिमें 'यह' और 'मैं' समान महत्त्ववाले होते हैं । तत्पश्चात् 'यह मैं हूँ' की प्रतीति होती है । यहाँ 'यह' प्रधान है और 'मैं' गौण । आगे चलकर 'यह' 'मैं' में अन्तर्लीन हो जाता है । तब 'मैं हूँ' ऐसी प्रतीति होती है । यहाँ भी 'मैं' और 'हूँ' का द्वैत है । यही सदाशिव तत्त्व है । पश्चात् इससे भी सूक्ष्म भूमिमें प्रवेश करनेपर केवल 'अहं'की प्रतीति होती है यही शक्ति तत्त्व है ।

यह परम शिवकी उन्मीलनावस्था है । यहाँ आनन्दका प्रथम अनुभव होता है । यह प्रतीति भी पीछे परम शिवमें लीन होनेपर शून्य प्रतीति रह जाती है । यहाँ वास्तवमें सर्व चिन्मय दीखने लगता है । यही वास्तविक द्वैत है । ३. जबतक शरीरमें रहता है तबतक जीवन्मुक्त कहाता है । शरीर पतन होनेपर शिवमें प्रविष्ट हो जाता है । यहाँ आकर 'एकमेवाद्वितीयं' नेह नानास्ति किंचन' तथा 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'का वास्तविक अनुभव होता है ।

वेदिका—पर्वत नदी द्वीप आदिको घेरे रहनेवाली दीवारको वेदिका कहते हैं । लोकमें इनका अवस्थान व विस्तार—दे० लोक/७ ।

वेदिका बद्ध—कायोत्सर्गका एक अतिचार—दे० व्युत्सर्ग/१ ।

वेदिम—ब्रह्म निक्षेपका एक भेद—दे० निक्षेप/५/६ ।

वेदी—Boundary wall —दे० लोक ३/११;६/४ ।

वेद्य—दे० वेदना/१ ।

वेल्ब—मानुषोत्तर पर्वतका एक कूट व उसका रक्षक एक भवनवासी देव—दे० लोक/५/१० ।

वेश्या—वेश्या गमन निषेध—दे० ब्रह्मचर्य/३ ।

वैकालिक—गो जी/जी. प्र/३६७/७६०/६ विशिष्टा काला विकालास्तेषु भवानि वैकालिकानि । दश वैकालिकानि वर्णयन्तेऽस्मिन्निति दशवैकालिकं तत्त्व मुनिजनानां आचरणगोचरविधि पिण्डशुद्धिलक्षणं च वर्णयति । = विशेषरूप कालको विकाल कहते हैं । उस कालके होनेपर जो होते हैं वे वैकालिक कहलाते हैं । इसमें दश वैकालिकका प्ररूपण है, इसलिए इसका नाम दशवैकालिक प्रकीर्णक है । इसमें मुनियोंके आचार व आहारकी शुद्धता और लक्षणका प्ररूपण है ।

वैक्रियिक—देवो और नारकियोंके चक्षु अगोचर शरीर विशेषको वैक्रियिक शरीर कहते हैं । यह छोटे बड़े हलके भारी अनेक प्रकारके रूपोंमें परिवर्तित किया जा सकता है । किन्हीं योगियोंको ऋद्धिके बलसे प्रगटा वैक्रियिक शरीर वास्तवमें औदारिक ही है । इस शरीरके साथ होनेवाला आराम प्रदेशोंका कम्पन वैक्रियिक काययोग है और कुछ आत्मप्रदेशोंका शरीरसे बाहर निकल कर फैलना वैक्रियिक समुद्रात है ।

१	वैक्रियिक शरीर निर्देश
१	वैक्रियिक शरीरका लक्षण ।
२	वैक्रियिक शरीरके भेद व उनके लक्षण ।
३	वैक्रियिक शरीरका स्वामित्व ।
४	कौन कैसे विक्रिया करे ।
५	वैक्रियिक शरीरके उ. ज. प्रदेशोंका स्वामित्व ।
६	मनुष्य तिर्यचोंका वैक्रियिक शरीर वास्तवमें अप्रधान है ।
७	तिर्यच मनुष्योंमें वैक्रियिक शरीरके विधि निषेधका समन्वय ।
८	उपपाद व लब्धि प्राप्त वैक्रियिक शरीरोंमें अन्तर ।
९	वैक्रियिक व आहारकमें कथंचित् प्रतिघातीपना ।
*	इस शरीरकी अवगाहना व स्थिति ।—दे वह वह नाम
*	पाँचों शरीरोंमें उत्तरोत्तर सूक्ष्मता । —दे शरीर/१ ।

*	वैक्रियिक शरीर नामकर्मका बंधउदय सत्त्व । —दे. वह वह नाम ।
*	वैक्रियिक शरीरको संघातन परिशातन कृति । (—दे. घ. ६/४,२,५४/३५६-४५१)
*	विक्रिया ऋद्धि । —दे. ऋद्धि/३ ।
२	वैक्रियिक व मिश्र काययोग निर्देश
१	वैक्रियिक व मिश्र काय योगके लक्षण ।
२	वैक्रियिक व मिश्र काययोगका स्वामित्व ।
*	पर्याप्तको मिश्रयोग क्यों नहीं । —दे. काय/३ ।
*	भाव मार्गणा इष्ट है । —दे. मार्गणा ।
*	इसके स्वामियोके गुणस्थान मार्गणास्थान जीव समाप्त आदि २० प्ररूपणार्थ । —दे. सत् ।
*	इसके स्वामियोके सत् संख्या क्षेत्र स्पर्श काठ अन्तर भाव व अल्पबहुत्व । —दे. वह वह नाम ।
*	इस योगमें कर्मोका बन्ध उदय सत्त्व । —दे. वह वह नाम ।
३	वैक्रियिक समुद्घात निर्देश
१	वैक्रियिक समुद्घातका लक्षण ।
*	इसमें आत्मप्रदेशोका विस्तार । —दे. वैक्रियिक/१/८ ।
*	इसकी दिशा व अवस्थिति । —दे. समुद्रात ।
*	इसका स्वामित्व । —दे. क्षेत्र/३ ।
*	इसमें मन वचन योगकी सम्भावना । —दे. योग/४ ।

१. वैक्रियिक शरीर निर्देश

१. वैक्रियिक शरीरका लक्षण

स सि./२/३६/१६१/६ अष्टगुणैश्वर्ययोगादेकानेकाणुमहच्छरीरविनिध-
करणं विक्रिया, सा प्रयोजनमस्येति वैक्रियिकम् । =अणिमा
महिमा आदि आठ गुणोके (दे. ऋद्धि/३) ऐश्वर्यके सम्बन्धसे एक,
अनेक, छोटा, बड़ा आदि नाना प्रकारका शरीर करना विक्रिया
है । वह विक्रिया जिस शरीरका प्रयोजन है वह वैक्रियिक शरीर है ।
(रा. वा. २/३६/६/ १४६/७) ; (घ. १/१,१,४६/२६१/६)
ष खं. १४/६,६/मू. २३५/३२६ 'विविहृद्धिगुणजुत्तमिदि वेउविव्यं ।
५३५ । =विविधगुण ऋद्धियोसे युक्त है (दे० ऋद्धि/३), इसलिये
वैक्रियिक है । २३८ । (रा. वा. २/४६/८/१५३/१३), (दे० वैक्रियिक/
२/१) ।

२. विक्रियाके भेद व उनके लक्षण

रा. वा. २/४७/४/१५२/७ सा द्वेषा—एकत्वविक्रिया पृथक्त्वविक्रिया
चेति । तत्रैकत्वविक्रिया स्वशरीरात्पृथग्भावेन सिंहव्याघ्रहसकुररादि-
भावेन विक्रिया । पृथक्त्वविक्रिया स्वशरीरादन्यत्वेन प्रासादमण्ड-
पादिविक्रिया । =वह विक्रिया दो प्रकारकी है—एकत्व व पृथक्त्व ।
तहाँ अपने शरीरको ही सिंह व्याघ्र हिरण हंस आदि रूपसे बना
लेना एकत्व विक्रिया है और शरीरसे भिन्न मकान मण्डप आदि बना
देना पृथक्त्व विक्रिया है ।

३. वैक्रियिक शरीरका स्वामित्व

त. सू. २/४६,४७ औपपादिक वैक्रियिकम् । ४६। लब्धिप्रत्ययं च । ४७।
=वैक्रियिक शरीर उपपाद जन्मसे पैदा होता है । तथा लब्धि
(ऋद्धि) से भी पैदा होता है ।
रा. वा. २/४६/८/१५३/२३ वैक्रियिक देवनारकाणाम्, तेजोवायुकायिक-
पञ्चेन्द्रियतिर्यङ्मनुष्याणां च केषांचिद् । =देव नारकियोको, (पर्याप्त)
तेज व वायु कायिकोको तथा किन्ही किन्ही (पर्याप्त) पचेन्द्रिय
तिर्यङ्को व मनुष्योको वैक्रियिक शरीर होता है । (गो. जी./मू./
२३३/४६६) ।
घ. ४/१,४,६६/२४६/३ तेउक्काइयपञ्जत्ता चैव वेउविव्यसरीर उट्ठावेति,
अपञ्जतेसु तदभावा । ते च पञ्जत्ता कम्मभूमोसु चैव होति च्ति ।
=तेजस्कायिक पर्याप्त जीव ही वैक्रियिक शरीरको उत्पन्न करते
है, क्योंकि अपर्याप्त जीवोमे वैक्रियिक शरीरके उत्पन्न करनेकी
शक्तिका अभाव है । और वे पर्याप्त जीव कर्मभूमिमें ही होते है ।
वे. शरीर/२ (पाँचो शरीरके स्वामित्वकी ओव आदेश प्ररूपणा/) ।

४. कौन कैसी विक्रिया करे

रा. वा. २/४७/४/१५२/६ सा उभयी च विद्यते भवनवासिव्यन्तरज्यो-
तिष्ककल्पवासिनाम् । वैमानिकाना आसर्वार्थसिद्धे प्रशस्तरूपै-
कत्वविक्रियेव । नारकाणा त्रिशूलचक्रासिमुद्गरपरशुभिडवाला-
दानेकायुधैकत्वविक्रिया न पृथक्त्वविक्रिया आ षष्ठ्या । सप्तम्या
महामोकोटकप्रमाणलोहितकुन्धुरूपैकत्वविक्रिया नानेकप्रहरण-
विक्रिया, न च पृथक्त्वविक्रिया । तिरश्चा मयूरादीना कुमारादिभावं
प्रतिविशिष्टैकत्वविक्रिया न पृथक्त्वविक्रिया । मनुष्याणा तपोवि-
द्यादिप्राधान्यात् प्रतिविशिष्टैकत्वपृथक्त्वविक्रिया । = भवनवासी
व्यन्तर ज्योतिषी और सोलह स्वर्गके देवोके एकत्व व पृथक्त्व दोनों
प्रकारकी विक्रिया होती है । ऊपर अवेयक आदि सर्वार्थसिद्धि
पर्यन्तके देवोके प्रशस्त एकत्व विक्रिया ही होती है । छठवे नरक
तकके नारकियोके त्रिशूल चक्र तलवार मुद्गर आदि रूपसे जो
विक्रिया होती है वह एकत्व विक्रिया ही है न कि पृथक्त्व विक्रिया ।
सातवें नरकमें गाय बरानर कीडे लोहू आदि रूपसे एकत्वविक्रिया
ही होती है, आयुधरूपसे पृथक् विक्रिया नहीं होती । तिर्यङ्कोमें
मयूर आदिके कुमार आदि भावरूप एकत्व विक्रिया ही होती है
पृथक्त्व विक्रिया नहीं होती । मनुष्योके तप और विद्याकी प्रधानतासे
एकत्व व पृथक्त्व दोनों विक्रिया होती है ।

घ. ६/४,१,७१/३५५/२ गेरइएसु वेउविव्यपरिसादनकदी गस्थि पुध-
विउव्वणाभावादो । =नारकियोमे वैक्रियिक शरीरकी परिशातन
कृति नहीं होती, क्योंकि उनके पृथक् विक्रियाका अभाव है ।
गो. जी./जी. प्र । २३३/४६७/३ येषां जीवानां औदारिकशरीरमेव
विगूर्वणात्मक विक्रियात्मक भवेत् ते जीवा अपृथग्विक्रियया परि-
णमन्तीत्यर्थः । भोगभूमिजा चक्रवर्तिनश्च पृथग् विगूर्वन्ति । =जिन
जीवोके औदारिक शरीर ही विक्रियात्मक होते है अर्थात् तिर्यङ्
और मनुष्य अपृथक् विक्रियाके द्वारा ही परिणमन करते है ।
परन्तु भोगभूमिज और चक्रवर्ती पृथक् विक्रिया भी करते है ।

५. वैक्रियिक शरीरके उ. ज. प्रदेशोका स्वामित्व

ष. खं. १४/५,६/सूत्र ४३१-४४४/४११-४१३ उक्कस्सपदेण वेउविव्यसरीरस्स
उक्कस्ससय पवेसग्ग कस्स । ४३१। अण्णदरस्स आरणअच्चुदकप्प-
वासियदेवस्स वावीससागरोवमड्डिदियस्स । ४३२। तेणे पढमसमय-
आहारएण पढमसमयतव्ववत्थेण उक्कस्सजोगेण आहारिदो । ४३३।
उक्कस्सियाए वड्ढोए वड्ढिदो । ४३४। अतोसुहुत्तेण सव्वलहुं सव्वाहि
पञ्जत्तीहि पञ्जत्तपदो । ४३५। तस्स अप्पाओ भासद्धाओ । ४३६।
अप्पाओ मणजोगद्धाओ । ४३७। गस्थि अविच्छेदा । ४३८। अप्पवरं

विउविवदो १४३६। थोवावसेसे जीविवदवव र्ति जोगजवमउभरमुवविरि-
मतोमुहुत्तद्वमच्चिदो १४४०। चरिमे जीवगुणहाणिद्वान्तरे आवलि-
याए असखेजदिभागमच्चिदो १४४१। चरिमहुचरिमसमए उरकस्स-
जोग गदो १४४२। तस्स चरिमसमयतभवत्थस्स तस्स वेउविवय-
सरीरस्स उरकस्सपदेसग्ग १४४३। तव्वदिरिस्तमणुक्कस्स १४४४।

प. ख १४/५,६/सूत्र ४८३-४८६/४२४-४२५ जहणणवेउविवयसरीरस्स
जहणणय पदेसग्ग कस्स १४८३। अण्णहरस्स देवणेरइयस्स असण्णि-
पच्छायदस्स १४८४। पढमसमयआहारयस्स पढमसमयतभवत्थस्स
जहणणजोगिस्स तस्स वेउविवयसरीरस्स जहणणय पदेसग्ग १४८५।
तव्वदिरिस्तमजहण्ण १४८६। = उत्कृष्ट पदकी ओक्षा वैक्रियिकशरीर-
के उत्कृष्ट प्रदेशाप्रका स्वामी कौन है १४२१। जो बाईस सागरकी
स्थितिवाला आरण, अच्युत, कल्पवासी अन्यतरदेव है १४२२। उसी
देवने प्रथमसमयमें आहारक और तद्भवस्थ हाकर उत्कृष्ट योगसे
आहारको ग्रहण किया है १४३३। उत्कृष्ट वृद्धिसे वृद्धिको प्राप्त हुआ है
१४३५। सर्वलघु अन्तर्मुहूर्तकाल द्वारा सब पर्याप्तियोंमें पर्याप्त हुआ
है १४३५। उसके बोलनेके काल अबप है १४३६। मनायोगके काल अबप
है १४३७। उसके अविच्छेद नहीं है १४३८। उसने अत्यन्त विक्रिया की
है १४३९। जीवितव्यके स्तोक शेष रहनेपर वह योग्यवमध्यके ऊपर
अन्तर्मुहूर्त काल तक रहा १४४०। अन्तिम जीवगुणहानिस्थानान्तरमें
आवलिसे असंख्यातवे भागप्रमाण कालतर्क रहा १४४१। चरम और
द्विचरम समयमें उत्कृष्ट योगको प्राप्त हुआ १४४२। अन्तिम समयमें
तद्भवस्थ हुआ, वह जीव वैक्रियिक शरीरके, उत्कृष्ट प्रदेशाप्रका स्वामी
है १४४३। उससे व्यतिरिक्त अनुत्कृष्ट है १४४४। जघन्य पदकी वैक्रि-
यिक शरीरके जघन्य प्रदेशाप्रका स्वामी कौन है १४८३। अजघ्णियोंमें
आकर उत्पन्न हुआ जो अन्यतरदेव और नारकी जीव है १४८४। प्रथम
समयमें आहारक और तद्भवस्थ हुआ जघन्य योगवाला वह जीव
वैक्रियिक शरीरके प्रदेशाप्रका स्वामी है १४८५। उससे अन्यतर
अजघन्य प्रदेशाप्र है १४८६।

६. मनुष्य तिर्यचोंके वैक्रियिकशरीर अधधान है

ध १/१.१.६५/२६६/६ तिर्यच्चो मनुष्याश्च वैक्रियिकशरीरा श्रूयन्ते
तत्कथ धटत इति चेन्न, औदारिकशरीर द्विविध विक्रियात्मकम-
विक्रियात्मकमिति । तत्र यद्विक्रियात्मक तद्वैक्रियिकमिति तत्रोक्त
न तदत्र परिगृह्यते विविधगुणैर्भावत् । अत्र विविधगुणैर्भावत्क
परिगृह्यते, तच्च देवनारकाणामेव । = प्रश्न—तिर्यच और मनुष्य
भी वैक्रियिक शरीरवाले सुने जाते हैं, (इसलिए उनके भी वैक्रियिक
काययोग होना चाहिए) । उत्तर—नहीं, क्योंकि, औदारिक शरीर
दो प्रकारका है, विक्रियात्मक और अविक्रियात्मक । उनमें जो
विक्रियात्मक औदारिक शरीर है वह मनुष्य और तिर्यचोंके वैक्रि-
यिक रूपमें कहा गया है । उसका यहाँपर ग्रहण नहीं किया है, क्योंकि
उसमें नाना गुण और ऋद्धियोंका अभाव है । यहाँपर नाना गुण और
ऋद्धियुक्त वैक्रियिक शरीरका ही ग्रहण किया है और वह देव और
नारकियोंके ही होता है । (ध ६/४.१.६६/३२७/१२)

ध ६/४.१.६६/३२७/१२ णत्थि तिरिक्खमणुस्सेसु वेउविवयसरीर, एवेसु
वेउविवयसरीराणामकम्मोदयाभावादो । = तिर्यच व मनुष्योंके
वैक्रियिकशरीर सम्भव नहीं है, क्योंकि, इनके वैक्रियिकशरीर नाम-
कर्मका उदय नहीं पाया जाता ।

७. तिर्यच व मनुष्योंमें वैक्रियिक शरीरके विधिनियेषक समन्वय

रा. वा २/४८/५/१५३/२५ आह चोदक — जीवस्थाने योगभङ्गं सप्र-
विधकाययोगस्वामिप्ररूपणायाम् — “औदारिककाययोग औदारिक-
मिश्रकाययोगश्च तिर्यचमनुष्याणाम्, वैक्रियिककाययोगो वैक्रियिक-
मिश्रकाययोगश्च देवनारकाणाम्” उक्त, इह तिर्यचमनुष्याणाम-

पीत्युच्यते, तदिदमार्षविरुद्धमिति, अत्रोच्यते—न, अन्यत्रोपदेशात् ।
व्याख्याप्रज्ञप्तिदण्डवेषु शरीरभङ्गं वायुगौदारिकवैक्रियिकतैजसकार्म-
णानि चत्वारि शरीराण्युक्तानि मनुष्याणां पञ्च । एवमप्यायोर्यस्तयो-
र्विरोध, न विरोध, अभिप्रायकत्वात् । जीवस्थाने सर्वदैवदारकाणां
पूर्वकाल वैक्रियिकदर्शनान् तद्योगविधिरित्याभिप्रायः । नैव तिर्यच-
मनुष्याणां लब्धिवत्प्रत्ययं वैक्रियिक सर्वेषां सर्वकालमस्ति कादाचित्क-
त्वात् । व्याख्याप्रज्ञप्तिदण्डवेषु त्वस्तिस्वमात्रमभिप्रेत्यः । तम् । = प्रश्न—
जीव स्थानके योगभग प्रकरणमें तिर्यच और मनुष्योंके औदारिक और
आदैरिकमिश्र तथा देव और नारकियोंके वैक्रियिक और वैक्रियिक-
मिश्र काय योग बताया है (दे वैक्रियिक/२), पर यहाँ तो तिर्यच
और मनुष्योंके भी वैक्रियिकका विधान किया है । इस तरह परस्पर
विरोध आता है । उत्तर—व्याख्याप्रज्ञप्ति दण्डके शरीर भगमें वायु-
कायिकके आदारिक, वैक्रियिक, तैजस और कार्मणि ये चार शरीर
तथा मनुष्योंके आहारक सहित पाँच शरीर बताये हैं (दे शरीर/
२/२) । भिन्न-भिन्न अभिप्रायोसे लिखे गये उक्त सन्दर्भोंमें परस्पर
विरोध भी नहीं है । जीवस्थानमें जिस प्रकार देव और नारकियोंके
सर्वदा वैक्रियिक शरीर रहता है, उस तरह तिर्यच और मनुष्योंके
नहीं होता, इसलिए तिर्यच और मनुष्योंके वैक्रियिक शरीरका
विधान नहीं किया है । जब कि व्याख्या प्रज्ञप्तिमें उसके सद्भावमात्र-
से ही उसका विधान कर दिया है ।

८. उपपाद व लब्धिप्राप्त वैक्रियिक शरीरोंमें अन्तर

रा. वा २/४७/३/१५२/१ उपपादो हि निश्चयेन भवति जन्मनिमित्त-
त्वात्, लब्धिस्तु कादाचित्को जातस्य स्त उत्तरकाल तपोविशेषाद्य
पेश्वत्वादिति, अयमनयोर्विशेषः । = उपपाद तो जन्मके निमित्तवश
निश्चित रूपमें होता है और लब्धि किसीकी ही विशेष तप आदि
करनेपर कभी होती है । यही इन दोनोंमें विशेष है ।

गा. जी. भाषा/१४३/६४५/३ इहा ऐसा अर्थ जानना— जो देवनिर्के मूल
शरीर तो अन्यक्षेत्रविषे तिष्ठै है अर विहारकर क्रियारूप शरी-
अन्य क्षेत्र विषे तिष्ठै है । तथा दोऊनिके बीच आत्माके प्रदेश सूच्य
गुलका असख्यातवा भागमात्र प्रदेश ऊँचे चौड़े फेले हैं अर यह
मुन्यताकी अपेक्षा संख्यात योजन लवे कहे हैं (दे वैक्रियिक/३) ।
बहुरि देव अपनी-अपनी इच्छाते हस्ती घोटक दरयादिक रूप
विक्रिया करे ताकी अवगाहना एक जीवकी अपेक्षा सख्यात धनागुल
प्रमाण है । (गा. जी. भाषा/१४३/६४७/१८)

९. वैक्रियिक व आहारक शरीरमें कथंचित् प्रतिघातीपना

स. सि. २/४०/१६३/११ ननु च वैक्रियिकाहारकयोरपि नास्ति प्रति
घात । सर्वत्राप्रतिघाताऽत्र विवक्षितः । यथा तैजसकार्मणयोरा
लोकान्तात् सर्वत्र नास्ति प्रतिघातः न तथा वैक्रियिकाहारक्याः
= वैक्रियिक और आहारकका भी प्रतिघात नहीं होता, फिर यही
तैजस और कार्मण शरीरको ही अप्रतिघात क्यों कहा (दे शरीर,
१/५) । उत्तर—इस सूत्रमें सर्वत्र प्रतिघातका अभाव विवक्षित है
जिस प्रकार तैजस और कार्मण शरीरका लोकपर्यन्त सर्वत्र प्रतिघात
नहीं होता, वह बात वैक्रियिक और आहारक शरीरको नहीं है ।

२. वैक्रियिक व मिश्रकाययोग निर्देश

१. वैक्रियिक व मिश्रकाययोगके लक्षण

प. म. प्रा. १/१५-६६ विविहगुणइद्धिजुत्त वेउविवयमहवविकिरि-
चैव । तिस्रो भव च णेय वेउविवयकायजोगो सो १६५। अतोमुहुत्त-
मज्ज वियाण मिसस च अपरिपुणो त्ति । जो तेण सपओगो वेउ-
विवयमिससकायजोगो सो १६६। = विविध गुण और ऋद्धियोंसे
युक्त, अथवा विशिष्ट क्रियावाले शरीरको वैक्रियिक कहते हैं । उसमें

उत्पन्न होनेवाला जो योग है, उसे वैक्रियिककाययोग जानना चाहिए। १२५। वैक्रियिक शरीरकी उत्पत्ति प्रारम्भ होनेके प्रथम समयसे लगा-कर शरीर पर्याप्त पूर्ण होनेतक अन्तर्मुहूर्तके मध्यवर्ती अपरिपूर्ण शरीरकी वैक्रियिकमिश्र काय कहते हैं। उसके द्वारा होनेवाला जो संयोग है (दे. योग/१) वह वैक्रियिकमिश्र काययोग कहलाता है। अर्थात् देव नारकियोंके उत्पन्न होनेके प्रथम समयसे लेकर शरीर-पर्याप्त पूर्ण होनेतक कर्मणशरीरकी सहायतासे उत्पन्न होनेवाले वैक्रियिक काययोगको वैक्रियिकमिश्र काययोग कहते हैं। (ध १/१.१.५६/गा १६२-१६३/२६१), (गो जी./मू./२३२-२३४/४६६, ४६७) ध १/१.१.५६/२६१/६ तदवष्टम्भत समुत्पन्नपरिस्पन्देन योग वैक्रियिककाययोग । कर्मणवैक्रियकस्कन्धत समुत्पन्नवोर्येण योग वैक्रियिकमिश्रकाययोग । = उस (वैक्रियिक) शरीरके अवलम्बन से उत्पन्न हुए परिस्पन्द द्वारा जो प्रयत्न होता है उसे वैक्रियिक काययोग कहते हैं। कर्मण और वैक्रियिक वर्गणाओके निमित्तसे उत्पन्न हुई शक्तिसे जो परिस्पन्दके लिए प्रयत्न होता है, उसे वैक्रियिकमिश्र काययोग कहते हैं।

गो. जी./जी. प्र./२२३/४६६/१६ वैश्विककायार्थं तद्रूपपरिणमनयोग-शरीरवर्गणास्कन्धाकर्षणशक्तिविशिष्टारमप्रदेशपरिस्पन्द स वैश्विककाययोग इति ज्ञेय ज्ञातव्य । अथवा वैक्रियिककाय एव वैक्रियिककाययोग कारणे कार्योपचारात्।

गो. जी./जी. प्र./२३४/४६८/१ वैक्रियिककायमिश्रेण सह यः सप्रयोग कर्मनोकर्मिकर्षणशक्तिसगतापर्याप्तकालमात्रारमप्रदेश - परिस्पन्दरूपो योग स वैक्रियिककायमिश्रयोग । अपर्याप्तयोगे मिश्रकाययोग इत्यर्थः । = वैक्रियिक शरीरके अर्थ तिस शरीररूप परिणमने योग्य जो आहारक वर्गणारूप स्कन्धके ग्रहण करनेकी शक्ति, उस सहित आत्मप्रदेशोंके चंचलपनेको वैक्रियिक काययोग कहते हैं। अथवा कारणमें कार्यके उपचारसे वैक्रियिक काय ही वैक्रियिक काय योग है। वैक्रियिक कायके मिश्रण सहित जो संप्रयोग अर्थात् कर्म व नोकर्मको ग्रहण करनेकी शक्ति, उसको प्राप्त अपर्याप्त कालमात्र आत्म-प्रदेशोंके परिस्पन्दनरूप योग, वह वैक्रियिक मिश्र काययोग है। अपर्याप्त योगका नाम मिश्रयोग है, ऐसा तात्पर्य है।

२. वैक्रियिक व मिश्रयोगका स्वामिस्व

ध. ख./१/१.१/सूत्र/५४ वेडविव्यकायजोगो वेडविव्यमिस्सकायजोगो-देवणेरइयाणं। (५८/२६६)। वेडविव्यकायजोगो सण्णिमिच्छा-इट्ठिप्पहुडि जाव असंजदसम्माइट्ठि त्ति। (६२/३०५)। वेड-विव्यकायजोगो पज्जत्ताण वेडविव्यमिस्सकायजोगो अपज्ज-त्ताणं। (७७/३१७)। = देव और नारकियोंके वैक्रियिककाययोग और वैक्रियिक मिश्रकाययोग होता है। ५८। वैक्रियिककाययोग और वैक्रियिकमिश्रकाययोग सही मिथ्यादृष्टिसे लेकर असद्यत सम्यग्दृष्ट तक होते हैं। ६२। वैक्रियिककाययोग पर्याप्तकोके और वैक्रियिकमिश्रकाययोग अपर्याप्तकोके होता है। ७७।—(और भी दे० वैक्रियिक/१/३)।

३. वैक्रियिक समुद्घात निर्देश

१. वैक्रियिक समुद्घातका लक्षण

रा. वा./१/२०/१२/७७/१६ एकत्वपृथक्त्वानानाविधविक्रियशरीरवाक्-प्रचारप्रहरणादिविक्रियाप्रयोजनो वैक्रियिकसमुद्घात' । = एकत्व पृथक् आदि नाना प्रकारकी विक्रियाके निमित्तसे शरीर और वचनके प्रचार, प्रहरण आदिकी विक्रियाके अर्थ वैक्रियिक समुद्घात होता है।

ध. ४/१.३.२/२६/८ वेडविव्यसमुद्घादो णाम देवणेरइयाण वेड-विव्यशरीरोदहल्लाण सामावियमागार छड्डिय उण्णागारेणच्छण । = वैक्रियिक शरीरके उदयवाले देव और नारकी जीवोंका अपने स्वाभाविक आकारको छोड़कर अन्य आकारसे रहने तकका नाम वैक्रियिक समुद्घात है।

ध. ७/२.६.१/२६६/१० विविहद्विरस माहण्णेण सखेज्जासखेज्जजोय-णाणि सरीरेण ओट्ठहिय अवट्ठाणं वेडविव्यसमुद्घादो णाम । = विविध ऋद्धियोंके माहात्म्यसे संख्यात व असंख्यात योजनों-को शरीरमें व्याप्त कर के जीवप्रदेशोंके अवस्थानको वैक्रियिक समुद्घात कहते हैं।

द्र स./टी./१०/२६/५ मूलशरीरमपरित्यज्य किमपि विकर्तुमात्म-प्रदेशाना बहिर्गमनमिति विक्रियासमुद्घात' । = किसी प्रकारकी विक्रिया उत्पन्न करनेके लिए अर्थात् शरीरको छोटा-बड़ा या अन्य शरीर रूप करनेके लिए मूल शरीरका न त्याग कर जो आत्माका प्रदेशोंका बाहर जाना है उसको 'विक्रिया' समुद्घात कहते हैं।

वैखरी वाणी—दे० भाषा।

वैजयंत—१ विजयार्थकी दक्षिण व उत्तर श्रेणीके दो नगर। —दे० विद्याधर। २ एक ग्रह—दे० ग्रह। ३. एक यक्ष—दे० यक्ष। ४. स्वर्गके पंच अनुत्तर विमानोंमेंसे एक। —दे० स्वर्ग/३.६। ५ जम्बूद्वीपकी वेदिकाका दक्षिण द्वार—दे० लोक/३/१।

वैजयंती—१. अपर विदेहके सुप्रभ क्षेत्रकी प्रधान नगरी। —दे० लोक/५/२। २ नन्दीश्वर द्वीपकी पश्चिम दिशामें स्थित एक वापी —दे० लोक/५/११। ३. रुचक पर्वत निवासिनी दिवकुमारी देवी व महत्तरिका—दे० लोक/५/१३।

वैडूर्य—१ मध्यलोकके अन्तमें सप्तम सागर व द्वीप। —दे० लोक/५/१। २ सुमेरु पर्वतका अपरनाम सुवैडूर्य चूलिका है—दे० सुमेरु। ३. महा हिमवात् पर्वतका एक कूट व उसका रक्षक देव। —दे० लोक/५/४। ४. पञ्चदशमे स्थित एक कूट—दे० लोक/५/७। ५. मानुषोत्तर पर्वतका एक कूट—दे० लोक/५/१०। ६. रुचक पर्वतका एक कूट—दे० लोक/५/१३। ७ सौधर्म स्वर्गका १४ वाँ पटल—दे० स्वर्ग/५/३।

वैतरणी—१. नरककी एक नदी। २ भरतक्षेत्र आर्य खण्डकी एक नदी—दे० मनुष्य/४।

वैतराणी—असुरकुमार जातिका एक भवनवासी देव—दे० असुर।

वैताड्य—भरत और ऐरावत क्षेत्रके मध्यमें पूर्वापर लम्बायमान विजयार्थ पर्वतको, तथा ३२ विदेहोंके ३२ विजयार्थोंको वैताड्य कहते हैं। हैमवत् आदि अन्य क्षेत्रके मध्य शब्दवाच् आदि कूटाकार पर्वत वैताड्य कहलाते हैं। —दे० लोक/६,७।

वैतृष्णा—दे० उपेक्षा।

वैतृष्ण्य—समताका पर्यायवाची—दे० सामायिक/१।

वैदर्भ—भरत क्षेत्र आर्य खण्डका एक देश—दे० मनुष्य/४।

वैदिक दर्शन—वैदिक दर्शन व उनका विकास-क्रम—दे० दर्शन।

वैदिश—वर्तमान भेलसा नामके ग्राम। (यु. अ./प्र. ३६/प. जुगल किशोर)।

वैद्यसार—आ. पूज्यपाद (ई. श. ६) कृत आयुर्वेद विषयक संस्कृत ग्रन्थ। —दे० पूज्यपाद।

वैधर्म्य—१. स भं. त./५३/३—वैधर्म्य च साध्याभावाधिकरणा-दृष्टित्वेन निश्चितत्वम्। = साध्यके अभावके अधिकरणमें जिसका

अवृत्तित्व अर्थात् न रहना निश्चित ही उसको वैधर्म्य कहते हैं।
२ उदाहरणका एक भेद—दे० उदाहरण।

वैधर्म्यसमा—दे० साधर्म्यसमा।

वैनयिक—१. वैनयिक मिथ्यात्वका स्वरूप

स. सि /८/१/३७५/८ सर्वदेवताना सर्वसमयाना च सम्यग्दर्शनं वैनयिकम् । = सब देवता और सब मतोंको एक समान मानना वैनयिक मिथ्यादर्शन है। (रा. वा. ८/१/२८/५६४/२१), (त. सा. ४/८/८)।

ध. ८/३/६/२०/७ अह्निय-पारत्तियसुहाइ स्ववाइ' पि विणयादो च्चव, ण णाण-दंसण-तवोववासकिलेसेहितो त्ति अह्नियवेसो वेणइय-मिच्छत्तं । = ऐहिक एवं पारलौकिक सुख सभी विनयसे ही प्राप्त होते हैं, न कि ज्ञान, दर्शन, तप और उपवास जनित बलेशोंसे, ऐसे अभिनिवेशका नाम वैनयिक मिथ्यात्व है।

द. सा. मू. १८/१८-१९ सव्वेसु य तित्थेसु य वेणइयाण समुम्भवो अत्थि । सज्जा मुडियसीसा सिहियो णंया य केइ य । १८। दृष्टे गुणवते वि य समया भत्ती य सव्वदेवणां । णमणं इडुव्व जणे परिकल्पि य तेहि मूढेहि । १९। = सभी तीर्थंकरोंके तीर्थोंमें वैनयिकोंका उद्भव होता रहा है। उनमें कोई जटाधारो, कोई मुण्डे, कोई शिखाधारी और कोई नग्न रहे हैं। १८। चाहे दुष्ट हो चाहे गुणवान् दोनोंमें समानतासे भक्ति करना और सारे ही देवोंको दण्डवत् नमस्कार करना, इस प्रकारके सिद्धान्तोंको उन मूर्खोंने लोगोंमें चलाया । १९।

भावसग्रह/८८, ८९ वेणइयमिच्छादिद्वी हवइ फुडं तावसो हु अण्णाणी । णिगुणजणं पि विणओ पउज्जमाणो हु गयविबेओ । ८८। विणयादो इह मावख किज्जइ पुणु तेण गह्हाईणं । अमुणिय गुणागुणेण य विणय मिच्छत्तनडिण ८९। = वैनयिक मिथ्यादृष्टि अन्वित्रेकी तापस होते हैं। निर्गुण जनोकी यहाँ तक कि गंधेकी भी विनय करने अथवा उन्हें नमस्कार आदि करनेसे मोक्ष होता है, ऐसा मानते हैं। गुण और अवगुणसे उन्हें कोई मतलब नहीं।

गो. क. मू. ८/८८/१०७० मणवयणकायदाणगविणवो सुरणिवइणाणि जदिवुड्ढे । बाले पिदुम्मि च कायवो चेदि अट्ठचळ । ८८। = देव, राजा, ज्ञानी, यत्, वृद्ध, बालक, माता, पिता इन आठोंकी, मन-बचन, काय व दान, इन चारों प्रकारोंसे विनय करनी चाहिए । ८८। (ह. पु. १०/५६)।

अन. ध. २/६/१२३ शिवपूजादिमात्रेण मुक्तिमभ्युपगच्छताम् । नि शङ्कं भूतघातोऽयं नियोग कोऽपि दुर्विधे । ६। = शिव या गुरुकी पूजादि मात्रसे मुक्ति प्राप्त हो जाती है, जा ऐसा मानने वाले हैं, उनका दुर्वेव नि शक होकर प्राणिवधमें प्रवृत्त हो सकता है। अथवा उनका सिद्धान्त जीवोंको प्राणिवधकी प्रेरणा करता है।

भा. पा. टी. १/३३/२८३/२१ मातृपितृनृपलोकविनयेन मोक्षक्षेपिणा तापसानुसारिणा द्वात्रिंशन्मतानि भवन्ति । = माता, पिता, राजा व लोक आदिके विनयसे मोक्ष माननेवाले तापसानुसारी मत ३२ होते हैं।

२. विनयवादियोंके ३२ भेद

रा. वा. ८/१/१२/५६२/१० वशिष्ठपाराशरजतुर्कर्णबाल्मीकिरोमहर्षिणि-सत्यदत्तव्यासैलापुत्रौपमन्यवेन्द्रदत्तायस्थूलादिमार्गभेदात् वैनयिका-द्वात्रिंशद्गणना भवन्ति । = वशिष्ठ, पाराशर, जतुर्कर्ण, बाल्मीकि, रोमहर्षिणि, सत्यदत्त, व्यास, एलापुत्र, औपमन्यु, ऐन्द्रदत्त, अय-स्थूल आदिकोंके मार्गभेदसे वैनयिक ३२ होते हैं। (रा. वा. ८/१-२०/१२/७४/७), (ध. १/१, २/१०८/३), (घ. ६/४, १, ४५/२०३/७)।

ह. पु. १०/६० मनोवाकायदानाना मात्राद्यष्टकयोगत । द्वात्रिंशत्परि-सख्याता वैनयिक्यो हि दृश्य ६०। = [देव, राजा आदि आठकी मन, बचन, काय व दान इन चार प्रकारोंसे विनय करनी चाहिए—दे० पहले शीर्षकमें गो. क. मू. ८/८८]। इसलिए मन, बचन, काय और दान इन चारका देव आदि आठके साथ संयोग करनेपर वैनयिक मिथ्यादृष्टियोंके ३२ भेद हो जाते हैं।

* अन्य सम्बन्धित विषय

१. सम्यक् विनयवाद । —दे० विनय/१/५ ।
२. द्वादशांग श्रुतज्ञानका पौंचवों अंग । —दे० श्रुतज्ञान/III ।
३. वैनयिक मिथ्यात्व व मिश्रगुणस्थानमें अन्तर । —दे० मिश्र/२ ।

वैभाविक शक्ति—दे० विभाव/१ ।

वैभाषिक—दे० बौद्ध दर्शन ।

वैमनस्क—चतुर्थ नरकका पौंचवों पटल—दे० नरक/५/११ ।

वैमानिक देव—दे० स्वर्ग/१ ।

वैयधिकरण्य—

रत्नो, वा. ४/१/३३/न्या. ४५६/५५१/१६ पर भाषाकार द्वारा उद्धृत—
गुणपदनेकत्रावस्थितिवैयधिकरण्यम् । = एक वस्तुमें एक साथ दो विरोधी धर्मोंके स्वीकार करनेसे, नैयायिक लोग अनेकान्तवादियों पर वैयधिकरण्य दोष उठाते हैं।

स. भ. त. ८/२/१ अस्तित्वस्याधिकरणमन्यन्नास्तित्वस्याधिकरणमन्य-दित्यस्तित्वनास्तित्वयोर्वैयधिकरण्यम् । तच्च विभिन्नकरणवृत्ति-त्वम् । = अस्तित्वका अधिकरण अन्य होता है और नास्तित्वका अन्य होता है, इस रीतिसे अस्तित्व और नास्तित्वका वैयधिकरण्य है। वैयधिकरण्य भिन्न-भिन्न अधिकरणमें वृत्तित्वरूप है। [अर्थात् इस अनेकान्त वादमें अस्तित्व और नास्तित्व दोनों एक ही अधि-करणमें हैं। इसलिए नैयायिक लोग इसपर वैयधिकरण्य नामका दोष लगाते हैं।]

वैयाकरणी—१. वैशेषिक दर्शन शब्दार्थ परसे सिद्धान्तका निर्धारण करनेके कारण वैयाकरणी है—दे० वैशेषिक दर्शन । २. वैयाकरणी मत शब्द सामभिरूढ व एवभूत नयाभासी है—दे० अनेकान्त/२/६ ।

वैयावृत्य—

१. व्यवहार लक्षण

८. क. आ. १/१२२ व्यापत्तिव्यपनोद पदयो सवाहनं च गुणरागात् ।
वैयावृत्य यावात्पुपग्रहोऽन्योऽपि सय्यमिना । १२२। = गुणोंमें अनु-
रागपूर्वक समयो पुरुषोंके खेदका दूर करना, पाँव दबाना तथा और भी जितना कुछ उपकार करना है, सो वैयावृत्य कहा जाता है।

स. सि. ६/२४/३३६/३ गुणवद्दु खोपनिपाते निरवद्येन विधिना तद-
पहरणं वैयावृत्यम् ।

स. सि. ६/२०/४३६/७ कायचेष्टया द्रव्यान्तरेण चोपासनं वैयावृत्यम् ।
= १. गुणी पुरुषोंके दुःखमें आ पड़नेपर निर्दोष विधिसे उसका दुःख दूर करना वैयावृत्य भावना है। (रा. वा. ६/२४/६/५३०/४), (चा. सा. ५/१), (त. सा. ७/२८), (भा. पा. टी. १/७७/२२१/६)।
२. शरीरकी चेष्टा या दूसरे द्रव्य द्वारा उपासना करना वैयावृत्य तप है। (रा. वा. ६/२४/२/६२३/६)।

रा. वा. ६/२४/१५-१६/६२३/३१ तेषामाचार्यादीना व्याधिपरीषह-
मिथ्यात्वाद्य पनिपाते प्राप्सुकौषधिभक्तपानप्रतिश्रयपीठफलकसंस्तर-
णादिभिर्धर्मोपकरणैस्तस्प्रतीकार. सम्यक्त्वप्रत्यवस्थापनमित्येवमादि-
वैयावृत्यम् । १५। बाह्यस्वीषधभक्तपानादिरसभवेऽपि स्वकायेन
श्लेष्मसिद्धान्तकाद्यन्तर्मलापकर्षणादि तदानुकूर्यानुष्ठानं च वैया-

वृत्त्यमिति कथ्यते १६६। = उन आचार्य आदिपर व्याधि परीषह मिथ्यात्व आदिका उपद्रव हानेपर उसका प्रासुक औषधि आहार-पान आश्रय-चौकी तन्त्रा और साथरा आदि धर्मोपकरणोंसे प्रती-कार करना अथवा सम्यक्त्व मार्गमें दृढ करना वैयावृत्य है १६५। औषधि आदिके अभावमें अपने हाथसे खकार नाक आदि भीतरी मन्का साफ करना आर उनके अनुकूल वातावरणको बना देना आदि भी वैयावृत्य है १६६। (चा सा./१६२/१)।

ध. ८३/४१/८८/८ व्यापृते यत्क्रियते तद्वैयावृत्यम् । = व्यापृत अर्थात् रागादिसे व्याकुल साधुके विषयमें जो कुछ किया जाता है उसका नाम वैयावृत्य है ।

ध. १३/४२/२६/६३/६ व्यापदि यत्क्रियते तद्वैयावृत्यम् । = आपत्तिके समय उसके निवारणार्थ जो किया जाता है वह वैयावृत्य नामका तप है ।

चा सा./१७०/३ कायर्षोडादुष्परिणामव्युदासार्थं कालचेष्टया द्रव्या-न्तरेणापदेशेन च व्यावृत्तस्य यत्कर्म तद्वैयावृत्यम् । = शरीरकी पीडा अथवा दुष्ट परिणामोंको दूर करनेके लिए शरीरकी चेष्टामें, किसी औषध आदि अथवा द्रव्यमें, अथवा उपदेश देकर प्रवृत्त होना अथवा कोई भी क्रिया करना वैयावृत्य है । (अन. ध. १७/७८/७११)।

का अ./१७/४४६ जा उवयरदि जदीण उवसग्ग जराड खीणक्यायण । पुयादिसु णिरवेत्थ वेज्जावच्च तयो तस्स १४५६। = जो मुनि उपसर्ग-में पीडित है और बुडापे आदिके कारण जिनकी काय क्षीण हो गयी हो । जो अपनी पूजा प्रतिष्ठाकी अपेक्षा न करके उन मुनियोंका उप-कार करता है, उसके वैयावृत्य तप होता है ।

२. निश्चय लक्षण

का अ./१७/४६० जो ब्रावरड मरुवे समदमभावम्मि मुद उवजुत्तो । लायववहारविपरदो वेयवच्च पर तम्म । = विशुद्ध उपयोगमें युक्त हुआ जो मुनि शमदम भाव रूप अपने आत्मस्वरूपमें प्रवृत्ति करता है और नाक व्यवहारमें भिरक्त रहता है, उसके उत्कृष्ट वैयावृत्य तप हाता है ।

२. वैयावृत्यके पात्रोंकी अपेक्षा १० भेद

सू. आ./३६० गुणधीए उवम्भाए तवरिस सिस्से य दुब्बले । साहुगणे कुले सवे समणुणे य चापदि १३१०। = गुणाधिकमें, उपाध्यायोंमें, तपस्वियोंमें, शिष्योंमें, दुर्बलोंमें, साधुओंमें, गणमें, साधुओंके कुल-में, चतुर्विध सत्रमें, मनोज्ञमें, इन दसमें उपद्रव आनेपर वैयावृत्य करना कर्त्तव्य है ।

त. सू./६/२४ आचार्योपाध्यायतपस्विशेख्लानगणकुलसवसाधुमनो-ज्ञानाम् १२४। = आचार्य, उपाध्याय, तपस्वी, शैक्ष (शिष्य), ख्लान (रोगी), गण, कुल, सध, साधु और मनोज्ञ इनकी वैयावृत्य-के भेदसे वैयावृत्य दस प्रकारका है १२४। (ध. १३/४२/२६/६३/६), (चा. सा./१६०/३), (भा. पा./टी./७८/२२४/१६)।

३. वैयावृत्य योग्य कुछ कार्य

भ. आ./सू./३०५-३०६/५१६ सेज्जागासणिसेज्जा उवधीपडिलेहणा-उवग्गहिदे । आहारो सहवायणविकिचणुव्वत्तणादीसु ३०५। अद्वान तेण सावयरायणदीरावेगासिवे उमे । वेज्जावच्च उत्तं संगहणार-वखणोवेद ३०६। = शयनस्थान-बैठनेका स्थान, उपकरण इनका शोधन करना, निर्दोष आहार-औषध देकर उपकार करना, स्वा-ध्याय अथवा व्याख्यान करना, अशक्त मुनिका मैला उठाना, उसे करवट दिलाना बैठाना वगैरह कार्य करना ३०५। थके हुए साधुके पांव हाथ व अंग दबाना, नदीसे रुके हुए अथवा रोग पीडितका उपद्रव निरा आदिसे दूर करना, दुर्भिक्ष पीडितको सुभिक्ष देशमें

लाना ये सब कार्य वैयावृत्य कहलाते हैं । (सू. आ./३६१-३६२), (वसु. भा./३३०-३४०), (और भी दे० वैयावृत्य/१), (और भी दे० सलेखना/५)।

४. वैयावृत्यका प्रयोजन व फल

भ. आ./सू./३०६-३१०/५२३ गुणपरिणामो सङ्घा वच्छल्लं भत्तिपत्त-लभो य । सचाण तवपूगा अज्जोच्छित्ती समाधी य ३०६। आणा सज्जमसाखिल्लवा य दाण च अविदिगिछा य । वेज्जावच्चस्स गुणा पभावणा कज्जपुण्णाणि ३३०। = गुणग्रहणके परिणाम अर्द्धा, भक्ति, वात्सल्य, पात्रकी प्राप्ति, विच्छिन्न सम्यक्त्व आदिका पुनः सधान, तप, पूजा, तीर्थ, अव्युच्छित्ति, समाधि ३०६। जिनाज्ञा, संयम, सहाय, दान, निर्विकल्पिता, प्रभावना, कार्य निर्वहण ये वैयावृत्य-के १८ गुण हैं । (भ. आ./सू./३२४-३२८)।

स. सि./६/२४/४४२/११ समाध्याधानविचिकित्साभावप्रवचनवात्स-ल्याद्यभिव्यक्त्यर्थम् । = यह समाधिकी प्राप्ति, विचिकित्साका अभाव और प्रवचन वात्सल्यकी अभिव्यक्तिके लिए किया जाता है । (रा. वा./६/२४/१७/२२४/१), (चा. सा./१६२/४)।

दे. धर्म/७/६ (सम्यग्दृष्टिको वैयावृत्य निर्जराकी निमित्त है)।

५. वैयावृत्य न करनेमें दोष

भ. आ./सू./३००-३०८/५२१ अणिसुहिद्वल्लविरिओ वेज्जावच्च जिणोव-देशेण । जदि ण करेदि समथो सतो सो होदि णिदम्मो ३०७। तित्थयराणाकोधो मुदधम्मविराधणा अणायारो । अप्पापरोपवयण च नेण णिज्जुहिदं होदि ३०८। = समर्थ होते हुए तथा अपने बलको न छिपाते हुए भी जिनोपाद्रष्ट वैयावृत्य जो नहीं करता है वह धर्म-भ्रष्ट है ३०७। जिनाज्ञाका गग, शास्त्र कथित धर्मका नाश, अपना साधुवर्गका व आगमका रण, ऐसे महादोष वैयावृत्य न करनेसे उत्पन्न होते हैं ३०८। (और भी दे. सावय/८)।

भ. आ./सू./१४६६/१३६३ वेज्ज वच्चस्स गुणा जे पुव्वं विच्छरेण अवखादा । तेसि फडिओ सो होड जो उवेखेज्ज त खवय १४६६। = वैयावृत्यके गुणोंका पहले (तीर्थक न ४ में) विस्तारसे वर्णन किया है । जो क्षपककी उपेक्षा करता है वह उन गुणोंसे भ्रष्ट होता है १४६६।

६. वैयावृत्यकी अत्यन्त प्रधानता

भ. आ./सू. व. वि./३२६/५४१ एदे गुणा महल्ला वेज्जावच्चुज्जदस्स बहुया य । अप्पट्ठिवो हु जायदि सङ्गाय चैव कुव्वतो ३२६। आत्मप्रयोजनपर एव जायने स्वाध्यायमेव कुर्वन् । वैयावृत्यकरस्तु स्व पर बोद्धरतीति मन्वते । = वैयावृत्य करनेवालेकी उपरोक्त (दे. तीर्थक/४) बहुतसे गुणोंकी प्राप्ति होती है । केवल स्वाध्याय करनेवाला स्वतः की ही अस्मोन्नति कर सकता है, जब कि वैयावृत्य करनेवाला स्वयंको व अन्यको दोनोंको उन्नत बनाता है - (और भी दे. सलेखना/५)।

भ. आ./सू. लारा टीका/३२६/५४२/७ स्वाध्यायकारिणोऽपि विपपुपनि-पाते तन्मुखप्रेक्षित्वात् । = स्वाध्याय करनेवालेपर यदि विपत्ति आयेगी तो उसकी वैयावृत्य वालेके मुखकी तरफ ही देखना पड़ेगा ।

दे. सयत्/३/२- [वैयावृत्य करनेकी प्रेरणा दी गयी है]।

७. वैयावृत्यमें शेष १५ भावनाओंका अन्तर्भाव

ध. ८/१.४१/८८/८ जेण सम्मत्त-णाण-अरहंत-बहुसुदभत्ति-पवयणवच्छ-रलादिणा जीवो जुज्जइ वेज्जावच्चे सो वेज्जावच्चजोगो देसणविसु-उम्हादि. तेण जुस्तदा वेज्जावच्चजोगुत्तदा । ताए एव विहाएएक्काए वि तित्थयरणामकम्म ब्रधइ । एत्थ सेसकारणाण जहासभवेण अत-त्तमावो वत्तवो । = जिस सम्यक्त्व, ज्ञान, अरहन्तभक्ति, बहुश्रुतभक्ति एवं प्रवचनवत्सलत्वादिसे जीव वैयावृत्यमें लगता है वह वैयावृत्य-

योग अर्थात् दर्शन विशुद्धतादि गुण है, उनसे सयुक्त होनेका नाम वैद्यावृत्त्ययोगयुक्तता है। इस प्रकारकी उस एक ही वैद्यावृत्त्ययोग-युक्ततासे तीर्थंकर नामकर्म बंधता है। यहाँ शेष कारणोंका यथा-सम्भव अन्तर्भाव कहना चाहिए।

८. वैद्यावृत्त्य गृहस्थोंको मुख्य और साधुको गौण है

प्र. सा./मू./२५३-२५४ वेज्जावच्चणिमित्तं गिलाणगुरुबालवुड्डसमणानं । लोणगजणसभासा ण णिदिदा वा सुहोवजुदा । २५३। एसा पसस्थभूवा समणानं वा पुणो घरत्थाण । चरिया परेत्ति भण्णिदा ताएव परं लहदि सोक्खं । २५४।

प्र. सा./त प्र./२५४ एवमेष प्रशस्तचर्या रागसंगत्वाद्गौणः श्रमणानां, गृहिणां तु क्रमतः परमनिर्वाणसौख्यकारणत्वाच्च मुख्यः ।—रोगी, गुरु, बाल तथा वृद्ध श्रमणोंकी वैद्यावृत्त्यके निमित्त शुभोपयोगयुक्त लौकिकजनोंके साथकी बातचीत निन्दित नहीं है । २५३। यह प्रशस्तभूत चर्या रागसहित होनेके कारण श्रमणोंको गौण होती है और गृहस्थोंको क्रमशः परमनिर्वाण सौख्यका कारण होनेसे मुख्य है। ऐसा शास्त्रोंमें कहा है।

* अन्य सम्बन्धित विषय

- * एक वैद्यावृत्त्यसे ही तीर्थंकरत्वका बन्ध सम्भव है —दे० भावना/९।
- * सल्लेखनाग्न शपकके योग्य वैद्यावृत्त्यकी विशेषताएँ —दे० सल्लेखना/५।
- * वैद्यावृत्त्यका अर्थ सावद्य कर्मयोग्य नहीं —दे० सावद्य/८।

वैर—साम्यभावके प्रभावसे जाति विरोधी भी जीव अपना वैर छोड़ देते हैं।—दे० सामायिक/३७।

वैरकुमार—वृ. कथाकोष/कथानं १२/पृष्ठ—इसके पिता सोमदत्त-ने इसके गर्भमें रहनेपर ही दीक्षा ले ली थी। इसकी माता इसको ध्यानस्थ अपने पतिके चरणोंमें छोड़ गयी। तब दिवाकर नामके विद्याधरने इसे उठा लिया । ६१। अपने मामासे विद्या प्राप्त की। एक विद्याधर कन्यासे विवाह किया और अपने छोटे भाईको युद्धमें हराया । ६२-६३। जिसके कारण माता रुष्ट हो गयी, तभी अपने विद्याधर पितासे अपनी कथा सुनकर पिता सोमदत्तके पासमें दीक्षा ले ली । ६४-६५। बौद्धोंके रथसे पहले जैनोंका रथ चलवाकर प्रभावना की । ६६-७१।

वैराग्य—

रा. वा./७/१२/४/५३६/१३ विरागस्य भावः कर्म वा वैराग्यम्=(विषयों-से विरक्त होना विराग है। दे० विराग) विरागका भाव या कर्म वैराग्य है।

द्र. स/टा./३५/११२/८ पर उद्भूत—संसारदेहभोगेसु विरक्तभावो य वैरगं।=संसार देह तथा भोगोंमें जो विरक्त भाव है सो वैराग्य है।

दे. सामायिक/१। (माध्यस्थ्य, समता, उपेक्षा, वैराग्य, साम्य, अप्रुहा, वैतुष्य, परमशान्ति, ये सब एकार्थवाची हैं।)

१. वैराग्य की कारणभूत भावनाएँ

त. सू./७/१२ जगत्कायस्वभावौ वा संवेगवैराग्यार्थम् । १२।
स. सि./७/१२/३५०/५ जगत्स्वभावस्तावदनादिरनिघ्नो वेत्तासनभ्रूरी-मृदङ्गनिभः । अत्र जीवा अनादिसंसारोऽनन्तकालं नानायोगेनिषु दुःखं भाजं भोजं पर्यटन्ति । न चात्र किञ्चिन्नियतमस्ति जलबुद्बुदापमं जीवितम्, विद्युन्मेषादिविकारचपला भोगसंपद इति । एवमादिजगत्स्वभावचिन्तनात्संसारोऽसंवेगो भवति । कायस्वभावश्च अनित्यता

दुःखहेतुत्वं निःसारता अशुचित्वमिति । एवमादिकायस्वभावचिन्तनाद्विषयरानिवृत्तेर्वैराग्यमुपजायते । इति जगत्कायस्वभावौ भावयितव्यौ ।—संवेग और वैराग्यके लिए जगतके स्वभाव और शरीरके स्वभावकी भावना करनी चाहिए । १२। जगतका स्वभाव यथा—यह जगत् अनादि है, अनिघ्न है, वेत्तासन, भ्रूरी और मृदंगके समान है(दे. लोक/२) । इस अनादि संसारमें जीव अनन्त कालतक नाना योनियोंमें दुःखको पुनः पुनः भोगते हुए भ्रमण करते हैं। इसमें कोई भी वस्तु नियत नहीं है। जीव जलके बुलबुलेके समान है, और भोग सम्पदाएँ बिजली और इन्द्रधनुषके समान चंचल हैं। इत्यादिरूपसे जगतके स्वभावका चिन्तन करनेसे संसारमें संवेग या भय उत्पन्न होता है। कायका स्वभाव यथा—यह शरीर अनित्य है, दुःखका कारण है, निःसार है और अशुचि है इत्यादि। इस प्रकार कायके स्वभावका चिन्तन करनेसे विषयोसे आसक्ति हटकर वैराग्य उत्पन्न होता है। अतः जगत और कायके स्वभावकी भावना करनी चाहिए। (रा. वा./७/१२/४/५३६/१५)।

दे. अनुप्रेक्षा—(अनित्य अशरण आदि १२ भावनाओंका पुनः पुनः चिन्तन करना वैराग्यके अर्थ होता है इसीलिए वे १२ वैराग्य भावना कहलाती हैं)।

* सम्यग्दृष्टि विरागी है —दे. राग/६।

वैराग्यमाला—आ. श्रीचन्द्र (ई. १४६८-१५१९) द्वारा रचित एक उपदेशात्मक संस्कृत ग्रन्थ।

वैरात्रिक—मू. आ/भाषा/२७० आधी रातके बाद दो घड़ी नींद जानेपर वहाँसे लेकर दो घड़ी रात रहे तबतक कालको वैरात्रिक काल कहते हैं।

वैरिसिंह—एक राजा। समय—वि. ६०० (ई. ८४३)। (सा. ध/पं; आशाधरका परिचय/६)।

वैरोठी—१, भगवात् अनन्तनाथकी शासक यक्षिणी—दे. तीर्थंकर/५/३। २ एक विद्या (—दे. विद्या)।

वैवस्वत यम—इक्ष्वाकु वंशके एक राजा थे (रामाक्षणा द्वारा सशोधित इक्ष्वाकु वंशावली)।

वैशाख—वृ. कथाकोष/कथानं ८/पृष्ठ—पाटलीपुत्र नगरके राजा विशाखका पुत्र था। सात दिनकी नव विवाहिता परनीको छोड़ मित्र सुनिदत्त सुनिको आहार दानकर दीक्षा ले ली। २८। स्त्री मरकर-क्यतरी हुई, जिसके उपसर्गके कारण एक महीना तक उपवास करना पड़ा। चेतनाने परदा डालकर आहार दिया। अन्तमें मोक्ष पधारे । २९।

वैशेषिक—१. सामान्य परिचय

(वैशेषिक लोग भेदवादी हैं, ये द्रव्य, गुण, पर्याय तथा वस्तुके सामान्य व विशेष अंशोंकी पृथक्-पृथक् सत्ता स्वीकार करके समवाय सम्बन्धसे उनकी एकता स्थापित करते हैं। ईश्वरको सृष्टि व प्रलयका कर्ता मानते हैं। शिवके उपासक हैं, प्रत्यक्ष व अनुमान दो प्रमाण स्वीकार करते हैं। इनके साधु वैरागी होते हैं।)

२. प्रवर्तक, साहित्य व समय

इस मतके आद्य प्रवर्तक कणाद ऋषि थे, जिन्हें उनकी कापोती वृत्तिके कारण कण भक्ष तथा उलूक ऋषिका पुत्र होनेके कारण औलूक्य कहते थे। इन्होंने ही वैशेषिक सूत्रकी रचना की थी। जिसपर अनेकों भाष्य व टीकाएँ प्राप्त हैं, जैसे—प्रशस्तपाद भाष्य, रावण भाष्य, भारद्वाज वृत्ति। इनमेंसे प्रशस्तपाद भाष्य प्रधान है जिसपर अनेकों वृत्तियाँ लिखी गयी हैं, जैसे—व्योमशेखरकृत व्योमवती, श्रीधरकृत न्यायकन्दली, उदयनकृत किरणावली, श्री वत्सकृत लीलावती, जगदीश भट्टाचार्यकृत भाष्य सूक्ति तथा शंकर मिश्रकृत

कणाद रहस्य। इसके अतिरिक्त भी शिवादित्यकृत सप्त पदार्थों, लोणाक्षिभास्करकृत तर्ककौमुदी, विश्वनाथकृत भाषा परिच्छेद, तर्कसंग्रह, तर्कामृत आदि वैशेषिक दर्शनके महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ हैं। इनमेंसे वैशेषिक सूत्रकी रचना ई. श. १ का अन्त तथा प्रशस्तपद भाष्यकी रचना ई. श. ५-६ अनुमान की जाती है। [स. म/परि-ग/पृ. ४१८]

३. तत्त्व विचार

(वैशे. सू/अधिकार १-५) (षट् दर्शन समुच्चय/६०-६६/६३-६६) (भारतीय दर्शन) १ पदार्थ ७ है—द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय व अभाव। २. द्रव्य ६ है—पृथिवी, जल, तेजस्, वायु, आकाश, काल, दिक्, आत्मा तथा मनस्। प्रथम ४ नित्य व अनित्यके भेदसे दो-दो प्रकार है और शेष पाँच अनित्य है। नित्यरूप पृथिवी आदि तो कारण रूप तथा परमाणु है और अनित्य पृथिवी आदि उस परमाणुके कार्य है। इनमें क्रमसे एक, दो, तीन व चार गुण पाये जाते हैं। नित्य द्रव्योंमें आत्मा, काल, दिक् व आत्माकाश तो विभु है और मनस् अभौतिकपरमाणु है। आकाश शब्दका समवाय कारण है। समय व्यवहारका कारण काल, और दिशा-विदिशाका कारण दिक् है। आत्मा व मनस् नैयायिकोंकी भौति है। (दे. न्याय/१/५)। ३. कार्यका असमवायि कारण गुण है। वे २४ हैं—रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, गुरुत्व, द्रव्यत्व, स्नेह, शब्द, ज्ञान, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म तथा संस्कार। प्रथम ४ भौतिक गुण हैं, शब्द आकाशका गुण है, ज्ञानसे संस्कार पर्यन्त आत्माके गुण है और शेष आपेक्षिक धर्म है। धर्म व अधर्म दोनों गुण जीवके पुण्य पापात्मक भाग्यके वाचक हैं। इन दोनोंको अदृष्ट भी कहते हैं। ४. कर्म—क्रियाको कर्म कहते हैं। वह पाँच प्रकारकी है—उत्क्षेपण, अवक्षेपण, आकुंचन, प्रसारण, व गमनागमन। वह कर्म तीन प्रकारका है—सत्प्रत्यय, असत्प्रत्यय और अप्रत्यय। जीवके प्रयत्नसे उत्पन्न कायिक चेष्टा सत्प्रत्यय है, बिना प्रयत्नकी चेष्टा असत्प्रत्यय है और पृथिवी आदि जडपदार्थोंमें होनेवाली क्रिया अप्रत्यय है। ५. अनेक वस्तुओंमें एकत्वकी बुद्धिका कारण सामान्य है। यह नित्य है तथा दो प्रकार है—पर सामान्य या सत्ता सामान्य, अपर सामान्य या सत्ता विशेष। सर्व व्यापक महा सत्ता पर सामान्य है तथा प्रत्येक वस्तु व्यापक द्रव्यत्व गुणत्व आदि अपर सामान्य है, क्योंकि अपनेसे ऊपर-ऊपरकी अपेक्षा इनमें विशेषता है। ६. द्रव्य, गुण, कर्म आदिमें परस्पर विभाग करनेवाला विशेष है। ७. अयुत सिद्ध पदार्थोंमें आधार आधेय सम्बन्धको समवाय कहते हैं जैसे—द्रव्य व गुणमें सम्बन्ध, यह एक व नित्य है। ८. अभाव चार प्रकारका है प्रागभाव, प्रवसाभाव, अन्योन्याभाव व अत्यन्ताभाव (दे. वह-वह नाम)। ९. ये लोक नैगम नयाभासी हैं।—(दे अनेकांत/२/६)

४. ईश्वर, सृष्टि व प्रलय

१. यह लोग सृष्टि कर्ता वादी है। शिवके उपासक है (दे. परमात्मा/३/५)। २. आहारके कारण घट आदि कार्य द्रव्योंके अवयवोंमें क्रिया विशेष उत्पन्न होनेसे उनका विभाग हो जाता है तथा उनमेंसे संयोग गुण निकल जाता है। इस प्रकार वे द्रव्य नष्ट होकर अपने-अपने कारण द्रव्य परमाणुओंमें लय हो जाते हैं। इसे ही प्रलय कहते हैं। इस अवस्थामें सृष्टि निष्क्रिय होती है। समस्त आत्माएँ अपने अदृष्ट, मनस् और संस्कारोंके साथ विद्यमान रहती हैं। ३. ईश्वरकी इच्छा होनेपर जीवके अदृष्ट तथा परमाणु कार्योन्मुख होते हैं, जिसके कारण परस्परके संयोगसे द्विअणुक आदि स्थूल पदार्थोंकी रचना हो जाती है। परमाणु या द्विअणुकोके मिलनेसे स्थूल द्रव्य नहीं होते त्रिअणुकोके मिलनेसे ही होते हैं। यही सृष्टिकी रचना है। सृष्टिकी

प्रक्रियामें ये लोग पीलुपाक सिद्धान्त मानते हैं—(दे आगे नं. ५)। ४. पूर्वोपाजित कर्मोंके अभावसे जीवके शरीर, योनि, कुल आदि होते हैं। वही संसार है। उस अदृष्टके विषय समाप्त हो जानेपर मृत्यु और अदृष्ट समाप्त हो जानेपर मुक्ति हो जाती है।

५. पीलुपाक व पिठरपाक सिद्धान्त

(भारतीय दर्शन) १ कार्य वस्तुएँ सभी छिद्रवाली (Porous) होती हैं। उनके छिद्रोंमें तैजस द्रव्य प्रवेश करके उन्हें पका देता है। वस्तु ज्यों की त्यों बनी रहती है। यह पिठरपाक है। २. कार्य व गुण पहले समवायि कारणमें उत्पन्न होते हैं। पीछे उन समवायि कारणोंके संयोगसे कार्य द्रव्योंकी उत्पत्ति होती है, जैसे—घटको आगमें रखनेसे उस घटका नाश हो जाता है फिर, उसके परमाणु पककर लाल रंगसे युक्त होते हैं, पीछे इन परमाणुओंके योगसे घड़ा बनता है और उसमें लाल रंग आता है। यह पीलुपाक है।

६. ज्ञान प्रमाण विचार

(वैशे. द./अधिकार ८-९), (षट्दर्शन समुच्चय/६७/६६), (भारतीय दर्शन) १ नैयायिकोंवत् बुद्धि व उपलब्धि का नाम ही ज्ञान है। ज्ञान दो प्रकार है—विद्या व अविद्या। प्रमाण ज्ञान विद्या है और संशय आदिको अविद्या कहते हैं। २. प्रमाण २ है—प्रत्यक्ष, अनुमान। नैयायिकों वत् इन्द्रिय ज्ञान प्रत्यक्ष है, अनुमानका स्वरूप नैयायिकोंवत् है। योगियोंको भूत, भविष्यग्राही प्रातिभ ज्ञान आर्ष है। ३. अविद्या—चार प्रकारकी है—संशय, विपर्यय, अनध्यवसाय, तथा स्वप्न। संशय, विपर्यय व अनध्यवसायके लिए दे वह वह नाम निद्राके कारण इन्द्रियाँ मनमें विलीन हो जाती हैं और मन मनोबह नाडीके द्वारा पुरीतव नाडीमें चला जाता है। तहाँ अदृष्टके सहारे, संस्कारों व वात पित्त आदिके कारण उसे अनेक विषयोंका प्रत्यक्ष होता है। उसे स्वप्न कहते हैं।

७. साधु चर्चा

(स. म/परि-ग/पृ. ४१०) इनके साधु, दण्ड, कमण्डलु, या तुम्बी, कमण्डल, लँगोटी व यज्ञोपवीत रखते हैं, जटाएँ बढ़ाते हैं तथा शरीरपर भस्म लगाते हैं। नीरस भोजन या कन्दमूल खाते हैं। शिवका ध्यान करते हैं। कोई-कोई स्त्रीके साथ भी रहते हैं। परन्तु उत्कृष्ट स्थितिमें नग्न व रहित ही रहते हैं। प्रातःकाल दौंते, पैर आदिकी साफ करते हैं। नमस्कार करनेवालोंको 'ॐ नमः शिवाय' तथा संन्यासियोंको 'नमः शिवाय' कहते हैं।

८. वैशेषिकों व नैयायिकोंमें समानता व असमानता

स्या मं/परि-ग/पृ. ४१०-४११/—१. नैयायिक व वैशेषिक बहुतसी मान्यताओंमें एक मत हैं। उद्योतकर आदिके लगभग सभी प्राचीन न्यायशास्त्रोंमें वैशेषिक सिद्धान्तोंका उपयोग किया गया है। २. पीछे वैशेषिक लोग आत्मा अनात्मा व परमाणुका विशेष अध्ययन करने लगे और नैयायिक तर्क आदिका। तब इनमें भेद पड़ गया है। ३. दोनों ही वेदको प्रमाण मानते हैं। वैशेषिक लोक प्रत्यक्ष व अनुमान ही ही प्रमाण मानते हैं, पर नैयायिक उपमान व शब्दको भिन्न प्रमाण मानते हैं। ४. वैशेषिक सूत्रोंमें द्रव्य गुण कर्म आदि प्रमेयकी और न्याय सूत्रोंमें तर्क, अनुमान आदि प्रमाणोंकी चर्चा प्रधान है। ५. न्याय सूत्रमें ईश्वर की चर्चा है पर वैशेषिक सूत्रोंमें नहीं। ६. वैशेषिक लोग मोक्ष को नि श्रेयस या मोक्ष कहते हैं। और नैयायिक लोग—अपवर्ग। ७. वैशेषिक लोग पीलुपाक वादी हैं और नैयायिक लोग पीठरपाक वादी।

★ वैदिक दर्शनोंका स्थूलसे सूक्ष्मकी ओर विकासक्रम—दे. दर्शन।

९. जैन व वैशेषिक मतकी तुलना

वैशेषिकोंकी भौतिक जैन भी पर्यायार्थिक व सद्भूत व्यवहार नयकी दृष्टिसे द्रव्यके गुण व पर्यायोंको, उसके प्रदेवोंको तथा उसके सामान्य व विशेष सर्व भावोंको पृथक्-पृथक् मानते हुए द्रव्य, क्षेत्र, काल व भाव रूप चतुष्टयसे वस्तुमें भेद करते हैं (दे नय/IV/३ व V/४, ५) परन्तु उसके साथ-साथ द्रव्यार्थिक नयकी दृष्टिसे उसका विरोधी अभेद पक्ष भी स्वीकार करनेके कारण जैन तो अनेकान्तवादी है (दे नय/V/१,२), परन्तु वैशेषिक लोग अभेद पक्षको सर्वथा स्वीकार न करनेके कारण एकान्तवादी है। यही दानोमें अन्तर है।)

वैश्य—न पु/मर्ग/स्नाक—वैश्याश्च ऋषिवापिज्यपाशुपाल्योप-जोविता । (१६/१०४) । ऊरुभ्या दर्शयन् यात्राम् असाक्षीद् वणिज प्रभु । जलस्थलादियात्राभि तद्वृत्तिर्वात्तया यत । (१६/२४४) । वणिजोऽर्थाजिनान्याययाव । (३८/४६) । =जो खेती, व्यापार तथा पशुपालन आदिके द्वारा जीविका करते थे वे वैश्य कहलाते थे। (१६/१८४) । भगवान्ने अपने ऊरुओंसे यात्रा दिखलाकर अर्थात् परदेश जाता सिधनाकर वैश्यकी रचना की मो ठीक ही है, क्योंकि, जल, स्थल आदि प्रदेशोंमें यात्रा कर व्यापार करना ही उनकी मुख्य आजीविका है। (१६/२४४) । न्याय पूर्वक धन कमानेसे वैश्य होता है। (३८/४६) ।

वैश्रवण—१ लोकपाल देवोंका एक भेद—दे० लोकपाल । २ आकाशोपपन्न देवोंमेंसे एक—दे० देव/III/३ । ३ विजयार्थकी वणिग श्रेणीका एक नगर—दे० विद्याधर । ४, हिमवात् पर्वतका एक कूट व उसका रक्षक देव—दे० लोक/४/४ । ५, विजयार्थ पर्वतका एक कूट व उसका रक्षक देव—दे० लोक/४/४ । ६ पद्म हृदके वनमें स्थित एक कूट—दे० लोक/४/७ । ७ रुचक पर्वतका एक कूट—दे० लोक/४/९ । ८ पूर्व विदेहका एक वधर व उसका कूट तथा रक्षक देव—दे० लोक/४/३ । ९ मानुषोत्तर पर्वतके कनककूटका रक्षक सुपर्ण, कुमार देव—दे० लोक/४/१० ।

वैश्ववण—१ प. पु/७/१लोक—यक्षपुरके धनिक विश्ववसका पुत्र था । २२६। विद्याधरोंके राजा इन्द्र द्वारा प्रवत्त लकाका राज्य किया, फिर रावण द्वारा परास्त किया गया । २४६। अन्तमें दीक्षित हो गया । २५१। २, म. पु/६६/१लोक—कच्छकावती देशके वीतशोक नगरका राजा था । २। तप कर तीर्थकर प्रकृतिका बन्ध किया और मरकर अपराजित विमानमें अहमिन्द्र हुआ । १४-१६। यह मल्लिनाथ भगवान्का पूर्वका दूसरा भव है ।—दे० मल्लिनाथ ।

वैश्वानर—अपर नाम विशालनयन था । यह चतुर्थ रुद्र हुए है—
—दे० शलाका पुरुष/७ ।

वैष्णव दर्शन—१. दर्शनकी अपेक्षा भेद परिचय—इस दर्शनमें भक्तिको बहुत महत्त्व दिया जाता है। इसके चार प्रधान विभाग हैं—श्री सम्प्रदाय, हंस सम्प्रदाय, ब्रह्म सम्प्रदाय, रुद्र सम्प्रदाय । श्री सम्प्रदाय विशिष्टाद्वैतवादी है जो रामानन्दी भी कहलाते हैं। (दे० वेदान्त/४) । हंस सम्प्रदाय द्वैताद्वैत या भेदाभेदवादी है। इन्हे हरिव्यासी भी कहते हैं (दे० वेदान्त/III, V) । ब्रह्म सम्प्रदाय द्वैतवादी है इन्हे मध्य या गौडिया भी कहते हैं (दे० वेदान्त/४) । रुद्र सम्प्रदाय शुद्धाद्वैत वादी है। इसे विष्णु स्वामी या बल्लभ सम्प्रदाय भी कहते हैं ।—दे० वेदान्त/७ ।

२. शक्ति व भक्ति आदिकी अपेक्षा भेद व परिचय

शक्तिसंग तन्त्रके अनुसार इसके १० भेद हैं—वैखानस, श्री राधा-बल्लभ, गोकुलेश, वृन्दावनी, रामानन्दी, हरिव्यासी, निम्बार्क, भागवत, पाचरात्र और वीर वैष्णव । १. वैखानस मुनिके उप-

देशानुसार दीक्षित होनेवाले ये स्मार्त वैष्णव कहे जाते हैं । २ श्री राधावल्लभोंके आदिप्रवर्तक १५०३ ई में हरिवंश गोस्वामी हुए । ये लोग जप, त्याग आदि व्यवहारमें सलग्न रहते हैं । ३ गोकुलेश कृष्णकी केलि या रामलीलाके उपासक हैं । गौओंसे प्रेम करते हैं । अपने शरीरको लताओं, आभूषणों व सुगन्धित द्रव्योंसे सजाते हैं । शक्तिके उपासक हैं । ४ वृन्दावनी विष्णुके भक्त हैं । अपनेको पूर्णकाम मानते हैं । स्त्रियोंके ध्यानमें रत रहते हैं । शरीरपर सुगन्धित द्रव्योंका प्रयोग करते हैं । सारूप्य मुक्तिको स्वीकार करते हैं । ५ रामानन्दी शक्ति व शिवके साम-रस्य प्रयुक्त आनन्दमें मग्न रहते हैं । रामानन्द स्वामी द्वारा ई १३०० में इसका जन्म हुआ था । ६ हरिव्यासी विष्णु भक्त व जितेन्द्रिय हैं । यम नियम आदि अष्टांग योगका अभ्यास करते हैं । ई १४१० में हरिराम शुक्लने इसकी स्थापना की थी । ७ निम्बार्क विष्णुके भक्त हैं । पूजाके ब्राह्म स्वरूपमें नियम पूर्वक लगे रहते हैं । शरीर पर वस्त्रोंको स्वच्छ रखते हैं । ८ भागवत विष्णुके भक्त और शिवके कट्टर द्वेषी हैं । इन्द्रिय वशी है । ९ पाचरात्र शिवके द्वेषी व 'गण्डा' को श्रीकृष्णके नामसे पूजने वाले हैं । पचरात्र वत करते हैं । १० वीर विष्णु केवल विष्णुके भक्त तथा अन्य सर्व देवताओंके द्वेषी हैं ।

वैसादुश्य—दे० त्रिमदश ।

वैस्त्रसिक क्रिया—दे० क्रिया/२/१ ।

वैस्त्रसिक बंध—दे० बन्ध/१ ।

वैस्त्रसिक शब्द—दे० शब्द ।

व्यंजन—

स. सि/१/१८/११६/० व्यञ्जनमव्यक्त शब्दादिजात ।

स. सि/१/४४/४४४/१ व्यञ्जन वचनम् । = १ अव्यक्त शब्दादिके समूह-को व्यञ्जन कहते हैं। (रा वा/१/१८/१-१६६/२७) । २. व्यञ्जनका अर्थ वचन है। (रा वा/१/४४/१-६३४/१०) ।

ध १३/५.५.४५/आ/१/२/२४८ व्यञ्जन त्वर्द्धमात्रकम् । = व्यञ्जन अर्थ मात्रा वाला होता है ।

★ व्यञ्जनकी अपेक्षा अक्षरोंके भेद-प्रभेद—दे अक्षर ।

★ निमित्तज्ञान विशेष—दे० निमित्त/२ ।

व्यंजन नैगम नय—दे० नय/III/२ ।

व्यंजन पर्याय—दे० पर्याय/३ ।

व्यंजन शुद्धि—भ आ/वि/११३/२६१/१० तत्र व्यञ्जनशुद्धिर्नाम यथा गणधरादिभिर्द्वात्रिंशद्दोषवर्जितानि सूत्राणि कृतानि तेषा तथैव पाठ । शब्दश्रुतस्यापि व्यजते ज्ञायते अनेनेति ग्रहे ज्ञानशब्देन गृहीतत्वात् तन्मूल ही श्रुतज्ञानं । = गणधरादि आचार्योंने नत्तीस दोषोंसे रहित सूत्रोंका निर्माण किया है, उनको दोष रहित पढ़ना व्यञ्जन शुद्धि है। शब्दके द्वारा ही हम वस्तुको जान लेते हैं। ज्ञानोत्पत्तिके लिए शब्द कारण है। समस्त श्रुतज्ञान शब्दकी भित्ति-पर खड़ा हुआ है। अतः शब्दोंको 'ज्ञायतेऽनेन' इस विग्रहसे ज्ञान कह सकते हैं।—(विशेष दे० उभय शुद्धि) ।

व्यंजनावग्रह—दे० अवग्रह ।

व्यंतर—भूत, पिशाच जातिके देवोंको जैनागममें व्यंतर देव कहा गया है। ये लोग वैक्रियिक शरीरके धारी होते हैं। अधिकतर मध्य-लोकके सूने स्थानोंमें रहते हैं। मनुष्य व तिर्यचोंके शरीरमें प्रवेश करके उन्हें लाभ हानि पहुँचा सकते हैं। इनका काफी कुछ वैभव व परिवार होता है।

१	व्यंतर देव निर्देश
१	व्यंतरदेवका लक्षण ।
२	व्यंतरदेवोंके भेद ।
*	किन्नर किंपुरुष आदिके उत्तर भेद —दे० वह-वह नाम ।
*	व्यंतर भरकर कहीं जन्मे और कौन स्थान प्राप्त करे । दे० जन्म/६ ।
*	व्यंतरोंका जन्म, दिव्य शरीर, आहार, सुख, दुःख सम्यक्त्वादि । —दे० देव /II/२/३ ।
३	व्यंतरोंके आहार व श्वासका अन्तराल ।
४	व्यंतरोंके ज्ञान व शरीरकी शक्ति विक्रिया आदि ।
५	व्यंतरदेव मनुष्योंके शरीरोंमें प्रवेश करके उन्हें विकृत कर सकते हैं ।
६	व्यंतरोंके शरीरोंके वर्ण व चैत्य वृक्ष ।
*	व्यंतरोंकी आयु व अवगाहना । —दे० वह-वह नाम ।
*	व्यंतरोंमें सम्भव कषाय, लेश्या, वेद, पर्याप्ति आदि । —दे० वह-वह नाम ।
*	व्यंतरोंमें गुणस्थान, मार्गणास्थान आदि की २० प्ररूपणा । —दे० सत् ।
*	व्यंतरों सम्बन्धी सत् सख्या क्षेत्र स्पर्शन काल अंतर भाव व अल्पबहुत्व । —दे० वह-वह नाम ।
*	व्यंतरोंमें कर्मोंका बन्ध उदय सत्त्व । —दे० वह-वह नाम ।
२	व्यंतर इन्द्र निर्देश
१	व्यंतर इन्द्रोंके नाम व संख्या ।
२	व्यंतरेद्रोंका परिवार ।
३	व्यंतरोंकी देवियोंका निर्देश
१	१६ इन्द्रोंकी देवियोंके नाम व संख्या ।
२	श्री ही आदि देवियोंका परिवार ।
४	व्यंतर लोक निर्देश
१	व्यंतर लोक सामान्य परिचय ।
२	निवासस्थानोंके भेद व लक्षण ।
३	व्यंतरोंके भवनों व नगरों आदिकी संख्या ।
४	भवनों व नगरों आदिका स्वरूप ।
५	मध्यलोकमें व्यंतरों व भवनवासियोंका निवास ।
६	मध्यलोकमें व्यंतर देवियोंका निवास ।
७	द्वीप समुद्रोंके अधिपति देव ।
८	भवनों आदिका विस्तार ।

१. व्यंतरदेव निर्देश

१. व्यंतरदेवका लक्षण

स. सि./४/११/२४३/१० विविधदेशान्तराणि श्रेषा निवासस्ते 'व्यन्तरा.' इत्यन्वर्था सामान्यसङ्घेयमष्टानामपि विकल्पानाम् । = जिनका नाना प्रकारके देशोंमें निवास है, वे व्यन्तरदेव कहलाते हैं । यह सामान्य संज्ञा सार्थक है जो अपने आठों ही भेदोंमें लागू है । (रा. वा./४/११/२/२९/१५) ।

२. व्यंतरदेवोंके भेद—

स. सू./४/११ व्यन्तरा' किन्नरकिंपुरुषमहोरगगन्धर्वयक्षराक्षसभूत-पिशाचा. (११) = व्यन्तरदेव आठ प्रकारके हैं—किन्नर, किंपुरुष, महोरग, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, भूत और पिशाच (ति. प./६/२५) ; (त्रि. सा./२५१) ।

३. व्यंतरोंके आहार व श्वासका अन्तराल

ति प/६/८८-८९ पल्लाउजुदे देवे कालो असणस्स पंच दिवसाणि । दोण्णि च्चिचय णादव्वो दसवाससहस्सआउम्मि ॥८८॥ पल्लिदोवमा-उजुत्तो पचमुहुत्तेहि एदि उस्सासो । सो अजुदाउजुदे वेतरदवम्मि अ सत्त पाणेहि ॥८९॥ = पर्यप्रमाण आयुसे युक्त देवोंके आहारका काल ५ दिन, और १०,००० वर्षप्रमाण आयुवाले देवोंके आहारका काल दो दिन मात्र जानना चाहिए ॥८९॥ व्यन्तर देवोंमें जो पत्न्य-प्रमाण आयुसे युक्त है वे पाँच मुहूर्त्तोंमें और जो दश हजार प्रमाण आयुसे संयुक्त है वे सात प्राणो (उच्छ्वास निश्वासपरिमित काल विशेष दे० गणित/II/१/४) में उच्छ्वासको प्राप्त करते हैं ॥८९॥ (त्रि. सा./३०१) ।

४. व्यंतरोंके ज्ञान व शरीरकी शक्ति विक्रिया आदि

ति प/६/गा. अवरा आहिधरिच्छी अजुदाउजुदस्स पंचकोसाणि । उक्किट्ठा पण्णासा हेट्ठोवरि परस्माणस्स ॥९०॥ पल्लिदोवमाउ-जुत्तो वेतरदेवो तलम्मि उवरिम्मि । अवधीए जोयणाणं एक्कं लक्ख पलोएदि ॥९१॥ दसवास सहस्साऊ एक्कसयं माणुसाण मारेदुं । पोसेदु पि समत्थो एक्केवको वेतरो देवो ॥९२॥ पण्णाधियसय-दंडप्पमाणविकव्वंभबहुलजुत्त सो । खेत्तं णिय सत्तीए उक्खणिदुण्णं खवेदि अण्णत्थ ॥९३॥ पल्लइदि भाजेहि लक्खडाणि पि एक्कपल्लाऊ । मारेदुं पोसेदु तेसु समत्थो ठिदं लोय ॥९४॥ उक्कस्से रूवसदं देवो विकरेदि अजुदमेत्ताऊ । अवरं सगरूवाणि मज्झिमयं विविहरूवाणि ॥९५॥ ऐसा वेतरदेव णियणिय ओहीण जेत्तिर्यं खेत्त । पूर ति तेत्तिर्यं पि हु पत्तोक्क विकरणवसेण ॥९६॥ संखेज्जजोयणाणि संखेज्जाऊ य एक्कसमयेण । जादि असंखेज्जाणि ताणि असंखेज्जाऊ य ॥९७॥ = नीचे व ऊपर देखनेवाले दश हजार वर्षप्रमाण आयुसे युक्त व्यन्तर देवोंके जवन्य अवधिकों विषय पाँच कोश और उत्कृष्ट ५० कोश मात्र हैं ॥९०॥ पत्न्योपमप्रमाण आयुसे युक्त व्यन्तरदेव अवधिज्ञानसे नीचे व ऊपर एक लाख योजन प्रमाण देखते हैं ॥९१॥ दश हजार प्रमाण आयुका धारक प्रत्येक व्यन्तर देव एक सौ मनुष्योंको मारने व पालनेके लिए समर्थ है ॥९२॥ वह देव एक सौ पचास धनुषप्रमाण विस्तार व बाह्यसे युक्त क्षेत्रको अपनी शक्तिसे उखाड़कर अन्ध्र फेंक सकता है ॥९३॥ एक पत्न्यप्रमाण आयुका धारक प्रत्येक व्यन्तर देव अपनी भुजाओंसे छह खण्डोंको उलट सकता है और उनमें स्थित लोगोंको मारने व पालनेके लिए भी समर्थ है ॥९४॥ दश हजार वर्षमात्र आयुका धारक व्यन्तर देव उत्कृष्टरूपसे सौ रूपोंकी और जघन्य रूपसे सात रूपोंकी विक्रिया करता है । मध्यमरूपसे वह देव सातसे ऊपर और सौ से नीचे विविध रूपोंकी विक्रिया करता है ॥९५॥ बाकीके व्यन्तर देवोंमेंसे प्रत्येक देव अपने-अपने अवधिज्ञानोंका जितना क्षेत्र है

उतने मात्र क्षेत्रको विक्रिया बलसे पूर्ण करते है ।६६। सख्यात वर्ष-प्रमाण आयुसे युक्त व्यन्तर देव एक समयमे सख्यात योजन और असख्यात वर्षप्रमाण आयुसे युक्त असख्यात योजन जाता है ।६७।

५. व्यन्तरदेव मनुष्योंके शरीरोंमें प्रवेश करके उन्हें विकृत कर सकते हैं

भ. आ/सू/१६७७/१७४१ यदि वा एसण कीरेज्ज विधो तो तत्थ देवदा कोई । आदाय तं कलेवरमुट्ठिज्ज रमिज्ज बोधेज्ज ।१६७७। =यदि यह विधि न की जावेगी अर्थात् क्षपकके मृत शरीरके अंग बाँधे या छेदे नहीं जायेगे तो मृत शरीरमे क्रीडा करनेका स्वभाव-वाला कोई देवता (भूत अथवा पिशाच) उसमे प्रवेश करेगा । उस प्रेतको लेकर वह उठेगा, भागेगा, क्रीडा करेगा ।१६७७।

स्या, म/११/१३५/१० यदपि च गयाश्राद्धादियाचनमुपलभ्यते, तदपि तादृशविप्रलम्भकविभगज्ञानिव्यन्तरादिकृतमेव निश्चयम् । =बहुत-से पितर पुत्रोंके शरीरमें प्रविष्ट होकर जो गया आदि तीर्थस्थानोंमे श्राद्ध करनेके लिए कहते है, वे भी कोई ढगनेवाले विभगज्ञानके धारक व्यन्तर आदि नीच जातिके देव ही हुआ करते है ।

६. व्यन्तरोंके शरीरोंके वर्ण व चैत्य वृक्ष

ति प/६/गा, नं. (त्रि, सा./२५२-२६३)

नाम गा २५	वर्ण गा. ५५-५६	वृक्ष गा २८	नाम गा २५	वर्ण गा, ५७-५८	वृक्ष गा २८
किन्नर किम्पुरुष महोरग गन्धर्व	प्रियगु सुवर्ण श्याम सुवर्ण	अशोक चम्पक नागद्रुम तुम्बुर	यक्ष राक्षस भूत पिशाच	श्याम श्याम श्याम कज्जल	न्यग्रोध कण्टक वृक्ष तुलसी कदम्ब

२. व्यन्तर इन्द्र निर्देश

१. व्यन्तरोंके इन्द्रोंके नाम व संख्या

ति. प/६/गा ताणं किपुरुसा किणरा दुवे इदा ।३५। इय किपुरिसा-णिदा संपुरुसो ताण सह महापुरिसो ।३७। महोरगया । महाकाओ अतिकाओ इंदा ।३६। गधन्वा । गोदरदी गोदरसा इंदा ।४१। ताण वे माणिपुण्णभद्दिदा ।४३। रत्तवमइदा भीमो महाभीमो ।४५। भूदिदा सरूवो पडिखो ।४७। पिशाचइदा य कालमहाकाला ।४६। सोलस-मोम्हिदाण किणरपहुणेण होति ।५०। पडमुच्चारिदणासा दक्खिणइंदा हवति एदेसु । चरिद उच्चारिदणामा उत्तरइदा पभावजुदा ।५६। (त्रि सा./२७३-२७४) ।

देवका नाम	दक्षिणेद्र	उत्तरेद्र	देवका नाम	दक्षिणेद्र	उत्तरेद्र
किन्नर किपुरुष महोरग गधर्व	किपुरुष सर्पुरुष महाकाय गातरति	किन्नर महापुरुष अतिकाय गीतरस	यक्ष राक्षस भूत पिशाच	मणिभद्र भीम स्वरूप काल	पूर्णभद्र महाभीम प्रतिरूप महाकाल

इस प्रकार किन्नर आदि सोलह व्यन्तर इन्द्र है ।५०।

२. व्यन्तरेन्द्रोंका परिवार

ति, प/६/६८ पडिइदा सामणिय तणुरवत्ता होति तिणिण परिसाओ । सत्ताणीय-पइणा अभियोगं ताण पत्तेय ।६८। =उन उपरोक्त इन्द्रोंमे-से प्रत्येकके प्रतीन्द्र, सामानिक, तनुरक्ष, तीनी पारिषद, सात अनीक, प्रकीर्णक और आभियोग्य इस प्रकार ये ८ परिवार देव होते है (और भी दे० ज्योतिष/१/५) ।

दे० व्यन्तर/३/१ (प्रत्येक इन्द्रके चार-चार देवियाँ और दो-दो महत्तरिकाएँ होती है ।)

प्रत्येक इन्द्रके अन्य परिवार देवोंका प्रमाण — (ति. प/६/६६ ७६); (त्रि सा/२७६-२८२) ।

न०	परिवार देवका नाम	गणना	न०	परिवार देवका नाम	गणना
१	प्रतीन्द्र	१	८	प्रत्येक अनीककी प्रथम कक्षा	२८०००
२	सामानिक	४०००	९	द्वि० आदि कक्षा	दूनी दूनी
३	आत्मरक्ष	१६०००	१०	हाथी (कुल)	३५५६०००
४	अभ्यन्तर पारि०	८०००	११	सातों अनीक	२४८२०००
५	मध्य पारि०	१०,०००	१२	प्रकीर्णक	असख्य
६	बाह्य पारि०	१२,०००		आभियोग्य व किल्बिष	" (त्रि.सा.)
७	अनीक	७			"

३. व्यन्तरोंकी देवियोंका निर्देश

२. १६ इन्द्रोंकी देवियोंके नाम व संख्या

(ति प/६/३५-५४), (त्रि, सा./२५८-२७८) ।

नं०	इन्द्रका नाम	गणिका		वह्निभिका	
		न० १	न० २	न० १	न० २
१	किपुरुष	मधुरा	मधुरालापा	अवतसा	केतुमती
२	किन्नर	सुस्वरा	मृदुभाषिणी	रत्तिसेना	रत्तिप्रिया
३	सर्पुरुष	पुरुषाकाता	सोम्या	राहिणी	नवमी
४	महापुरुष	पुरुषदर्शिनी	भोगा	ह्री	पुष्पवती
५	महाकाय	भोगवती	भुजया	भोगा	भोगवती
६	अतिकाय	भुजगप्रिया	बिमला	आनन्दिता	पुष्पगधी
७	गीतरति	सुधीषा	अनिन्दिता	सरस्वती	स्वरसेना
८	गीतरस	सुस्वरा	सुभद्रा	नन्दिनी	प्रियदर्शना
९	मणिभद्र	भद्रा	मालिनी	कुन्दा	बहुपुत्रा
१०	पूर्णभद्र	पद्ममालिनी	सर्वश्री	तारा	उत्तमा
११	भीम	सर्वसेना	रुद्रा	पद्मा	वसुमित्रा
१२	महाभीम	रुद्रवती	भूता	रत्नाढ्या	वचनप्रभा
१३	स्वरूप	भूतकान्ता	महाबाह	रूपवती	बहुरूपा
१४	प्रतिरूप	भूतरक्ता	अम्बा	सुमुखी	सुसीमा
१५	काल	कला	रसा	कमला	कमलप्रभा
१६	महाकाल	सुरसा	सदर्शिका	उत्पला	सदर्शना

२ श्री ह्रीं आदि देवियोंका परिवार

ति. प. ४/गा का भावार्थ—हिमवान् आदि ६ कुन्धर्ग पर्वतोंके पञ्च आदि ६ ह्रदोंमें श्री आदि ६ व्यंतर देवियों सपरिवार रहती है। तहाँ श्री देवीके सामानिक देव ४००० (गा. १६७४), त्रायस्त्रिंश १०८ (गा. १६८६), अर्धतर पारिषद ३२००० (गा. १६७८), मध्यम पारिषद ४०,००० (गा. १६७९) ब्राह्म पारिषद ४८००० (गा. १६८०), आत्परक्ष १६००० (गा. १६७६), सप्त अनोकमें प्रत्येक की सात-सात कक्षा है। प्रथम कक्षामें ४००० तथा द्वितीय आदि उत्तरोत्तर दूने-दूने है। (गा. १६८३)। ह्रीं देवीका परिवार श्रीके परिवारसे दूना है (गा. १७२६)। [धृतिका ह्रीसे भी दूना है।] कीर्तिका धृतिके समान है। (गा. २३३३) बुद्धिका कीर्तिकासे ब्राह्म अर्थात् ह्रीके समान। (गा. २३४५) और लक्ष्मीका श्रीके समान है (गा. २३६१)।—(विशेष दे० लोक/३/६)।

४. व्यंतर लोक निर्देश

१. व्यंतर लोक सामान्य परिचय

ति. प. ६/५ रज्जुकदी गुणितव्या णवणउदिसहस्स अधियलवखेण । तम्मज्जे तिवियप्पा बेतरदेवाण होंति पुरा । ५। = राजुकके वर्गको १६६००० से गुणा करनेपर जो प्राप्त हो उसके मध्यमें तीन प्रकारके पुर होते हैं । ५।

त्रि. सा. २६५ चित्तवहरादु जावय मेरुदय तिरिय लोयवित्थार । भोम्मा हवंति भवणे भवणपुरावासगे जोगे । २६६। = चित्रा और वज्रा पृथिवीकी मध्यसंधिसे लगाकर मेरु पर्वतकी ऊँचाई तक, तथा तिर्यक् लोकके विस्तार प्रमाण लम्बे चौड़े क्षेत्रमें व्यंतर देव भवन भवनपुर और आवासोमें वास करते हैं । २६६।

का. अ. मू. १४५ खरभाय पकभाए भावणदेवाण होंति भवणाणि । वितरदेवाण तहां दुण्ह पि य तिरियलोयम्मि । १४५। = खरभाग और पकभागमें भवनवासी देवोंके भवन हैं और व्यंतरोंके भी निवास हैं। तथा इन दोनोंके तिर्यकलोकमें भी निवास स्थान हैं। १४५। [पकभाग=८४००० यो., खरभाग=१६००० यो., मेरुकी पृथिवीपर ऊँचाई=६६००० यो. । तीनोंका योग=१६६००० यो. । तिर्यक् लोकका विस्तार १ राजु^२ । कुल घनक्षेत्र=१ राजु^२×१६६००० यो.] ।

२. निवासस्थानोंके भेद व लक्षण

ति. प. ६/६-७ भवणं भवणपुराणि आवासा इय भवेंति तिवियप्पा । ६। रयणप्पहपुद्धवीए भवणाणि दीउवहिउवरिम्मि । भवणपुराणि वहगिरि प्हुदीणं उवरि आवासा । ७। = (व्यंतरोंके) भवन, भवनपुर व आवास तीन प्रकारके निवास कहे गये हैं । ६। इनमेंसे रत्नप्रभा पृथिवीमें अर्थात् खर व पक भागमें भवन, द्वीप व समुद्रोंके ऊपर भवनपुर तथा द्रष्ट एव पर्वतादिके ऊपर आवास हाते हैं। (त्रि. सा. २६४-२६५) ।

म. पु. ३१/११३ वटस्थानवटस्थांश्च कूटस्थान् कोटरोटजान् । अक्षपाटाद् क्षपाटाश्च विद्धि न सार्धं सर्वगान् । ११३। = हे सार्ध (भरतेश) । वटके वृक्षोंपर, छोटे छोटे गड्ढोंमें, पहाड़ोंके शिखरोंपर, वृक्षोंकी खोली और पत्तोंकी झोपडियोंमें रहनेवाले तथा दिन रात भ्रमण करनेवाले हम लोगोंको आप सब जगह जानेवाले समझिए ।

३. व्यंतरोंके भवनों व नगरों आदिकी संख्या

ति. प. ६/गा. एवविहुरूवाणि तीस सहस्साणि भवणाणि । २०। चोइस-सहस्समेंत्ता भवणा भूदाण रत्नसाण पि । सोलससहस्ससत्वा सेसाण णत्थि भवणाणि । २६। जोयणसदत्तियकदीभजिदे पदरस्स सत्तभा-गम्मि । ज लद्ध त माण बेतरलोए जिणपुराण । = १ इस प्रकारके रूपवाले ये प्रासाद तीस हजार प्रमाण हैं । २०। तहाँ (खरभागमें) भूतोंके १४००० प्रमाण और (पकभागमें) राक्षसोंके १६००० प्रमाण भवन हैं । २६। (ह. पु. ४/६२), (त्रि. सा. २६०), (ज. प. ११/१३६) । २. जगत्तरके सख्यातभागमें ३०० योजनके वर्गका भाग देनेपर जो लब्ध आवे उतना व्यन्तरलोकमें जिनपुरोंका प्रमाण है । १०२।

४. भवनों व नगरों आदिका स्वरूप

ति. प. ६/गा का भावार्थ । १. भवनोंके बहुमध्य भागमें चार वन और तोरण द्वारो सहित कूट होते हैं । ११। जिनके ऊपर जिनमन्दिर स्थित हैं । १२। इन कूटोंके चारों ओर सात आठ मजिले प्रासाद होते हैं । १८। इन प्रासादोंका सम्पूर्ण वर्णन भवनवासी देवोंके भवनोंके समान है । २०। (विशेष दे० भवन/४/५) ; त्रि. सा. २६६) । २. आठों व्यंतरदेवोंके नगर क्रमसे अंजनक वज्रधातुक, सुवर्ण, मन शिलक, वज्र, रजत, हिमलक और हरिताल इन आठ द्वीपोंमें स्थित हैं । ६०। द्वीपकी पूर्वादि दिशाओंमें पाँचपाँच नगर होते हैं, जो उन देवोंके नामोंसे अंकित हैं। जैसे किन्नरप्रभ, किन्नरक्रान्त, किन्नरावर्त, किन्नरमध्य । ६१। जम्बूद्वीपके समान इन द्वीपोंमें दक्षिण इन्द्र दक्षिण भागमें और उत्तर इन्द्र उत्तर भागमें निवास करते हैं । ६२। सम चौकोण रूपसे स्थित उन पुरोंके सुवर्णमय कोट विजय देवके नगरके कोटके (दे० अगला सन्दर्भ) चतुर्थ भागप्रमाण है । ६३। उन नगरोंके बाहर पूर्वादि चारों दिशाओंमें अशोक, सम्रच्छद, चम्पक तथा आस्रवृक्षोंके वन हैं । ६४। वे वन १०००,०० योजन लम्बे और ५०,००० योजन चौड़े हैं । ६५। उन नगरोंमें दिव्य प्रासाद हैं । ६६। [प्रासादोंका वर्णन ऊपर भवन व भवनपुरके वर्णनमें किया है ।] (त्रि. सा. २८३-२८६) ।

ह. पु. ५/५ श्लोकका भावार्थ—विजयदेवका उपरोक्त नगर १२ योजन चौड़ा है । चारों ओर चार तोरण द्वार हैं । एक कोटसे वेष्टित है । ३६७-३६९। इस कोटकी प्रत्येक दिशामें २५-२५ गोपुर हैं । ४००। जिनकी १७-१७ मजिल हैं । ४०२। उनके मध्य देवोंकी उत्पत्तिका स्थान है जिसके चारों ओर एक वेदिका है । ४०३-४०४। नगरके मध्य गोपुरके समान एक विशाल भवन है । ४०५। उसकी चारों दिशाओंमें अन्य भी अनेक भवन हैं । ४०६। (इस पहले मण्डलकी भौति इसके चारों तरफ एकके पश्चात् एक अन्य भी पाँच मण्डल हैं) । सभीमें प्रथम मण्डलकी भौति ही भवनोकी रचना है । पहले, तीसरे व पाँचवें मण्डलोंके भवनोका विस्तार उत्तरोत्तर आधा-आधा है । दूसरे, चौथे व छठे मण्डलोंके भवनोका विस्तार क्रमशः पहले, तीसरे व पाँचवेंके समान है । ४०७-४०९। बीचके भवनमें विजयदेवका सिंहासन है । ४११। जिसकी दिशाओं और विदिशाओंमें उसके सामानिक आदि देवोंके सिंहासन हैं । ४१२-४१५। भवनके उत्तरमें सुधर्मा सभा है । ४१७। उस सभाके उत्तरमें एक जिनालय है, पश्चिमोत्तरमें उपपार्श्व सभा है । इन दोनोंका विस्तार सुधर्मा सभाके समान है । ४१८-४१९। विजयदेवके नगरमें सब मिलकर ५४६७ भवन हैं । ४२०।

ति. प. ४/२४५-२४६ का भावार्थ—लवण समुद्रकी अर्धतर वेदीके ऊपर तथा उसके बहुमध्य भागमें ७०० योजन ऊपर जाकर आकाशमें क्रमसे ४२००० व २०००० नगरियाँ हैं ।

५. मध्यलोकमें व्यन्तरो व भवनवासियोंके निवास

ति. प./४/गा. नं०

ति. प./४/गा.	स्थान	देव	भवनादि	ति. प./४/गा.	स्थान	देव	भवनादि
				२११३	देवकुरुके दिग्गज पर्वत	वरुण(वाहनदेव)	भवन
				२१२४	उत्तर कुरुके २ यमक ..	पर्वतके नाम वाले देव	"
२५	जम्बूद्वीपकी जगतीका अन्यन्तर भाग	महोरग	भवन	२१३१-२१३५	उत्तरकुरुके दिग्गजेन्द्र पर्वत	वाहनदेव	"
७७	उपरोक्त जगतीका विजय द्वारके ऊपर आकाशमें	विजय	नगर	२१५८-२१६०	देवकुरुमें शालमली वृक्ष व उसका परिवार	सपरिवार वेणु युगल	"
८६	उपरोक्त ही अन्य द्वारोपर	अन्य देव	नगर	२१६७	उत्तरकुरुमें सपरिवार जंबू वृक्ष	सपरिवार	"
१४०	विजायार्धके दोनो पार्श्व	आभियोग्य	श्रेणी	२१६९	विदेहके कच्छा देशके विजयार्ध के आठ कूट	वाहनदेव	"
१४३	उपरोक्त श्रेणीका दक्षिणोत्तर भाग	सौधमेंद्रके वाहन	"	२२६१-२३०३	[इसी प्रकार शेष ३१ विजयार्ध]	"	"
१६४	विजयार्धके ८ कूट	व्यंतर	भवन	२३०६-२३११	विदेहके आठ वक्षारोके तीन-तीन कूट	व्यंतर	नगर
२७५	वृषभगिरिके ऊपर	वृषभ	भवन	२३१५-२३२४	पूर्व व अपर विदेहके मध्य व पूर्व पश्चिममें स्थित देवारण्यक व भूतारण्यक वन	सौधमेंद्रका परिवार	भवन
१६५४	हिमवान् पर्वतके १० कूट	सौधमेंद्रके परिवार	नगर	२३२६	नील पर्वतके आठ कूट	"	"
१६६३	पद्म हृदके कूट	व्यंतर	नगर	२३३०	रम्यक क्षेत्रका नाभिगिरि	कूटोंके नामवाले	"
१३६५	पद्म हृदके जलमें स्थित कूट	व्यंतर	नगर	२३३६	रुक्मि पर्वतके ७ कूट	"	"
१६७२-१६८८	पद्म द्रहके कमल	सपरिवार श्री देवी	भवन	२३४३	हैरण्यवत क्षेत्रका नाभिगिरि	प्रभास	"
१७१२	हैमवत क्षेत्रका शब्दवान् पर्वत	शाली	"	२३५१	शिखरी पर्वतके १० कूट	कूटोंके नामवाले	"
१७२६	महाहिमवान् पर्वतके ७ कूट	कूटोंके नामवाले	नगर	२३५६	रेरावत क्षेत्रके विजयार्ध, वृषभ-गिरि आदि पर	(भरत क्षेत्रवत्)	"
१७३३	महा पद्म द्रहके बाह्य ५ कूट	व्यंतर	नगर	२३६५	लवण समुद्रके ऊपर आकाशमें स्थित ४२००० व २८००० नगर	वेलंधर व भुजग	नगर
१७४५	हरि क्षेत्रमें विजयवान् नाभिगिरि	चारण	भवन	२४५६	उपरोक्त ही अन्य नगर	देव	"
१७६०	निषध पर्वतके आठ कूट	कूटोंके नामवाले	नगर	२४६३	लवणसमुद्रमें स्थित आठ पर्वत	वेलंधर	"
१७६८	निषध पर्वतके तिगिह्र हृदके बाह्य ५ कूट	व्यंतर	नगर	२४७३-२४७६	लवणसमुद्रमें स्थित मागध व प्रभास द्वीप	मागध प्रभास	भवन
१८३६-१८३६	सुमेरु पर्वतका पाण्डुक वनकी पूर्व दिशामें	लोकपाल सोम	भवन	२५३६	घातकी खण्डके २ इष्वाकार पर्वतोंके तीन-तीन कूट	व्यंतर	"
२८४३	उपरोक्त वनकी दक्षिण दिशा	यम	"	२७१६	जम्बूद्वीपवत् सर्व पर्वत आदि	"	"
१८४७	" " " पश्चिम "	वरुण	"	२७७५	मानुषोत्तर पर्वतके १८ कूट	"	"
१८५१	" " " उत्तर "	कुबेर	"	ति. प./४/गा.			
१६१७	" " " की वापियोंके चहुँ ओर	देव	भवन	७६-८१	मन्दीश्वर द्वीपके ६४ वनोमेसे प्रत्येकमें एक-एक भवन	व्यंतर	भवन
१६४३-१६४५	सुमेरु पर्वतके सोमनस वनकी चारो दिशाओमें	उपरोक्त ४ लोकपाल	पुर	१२५	कुण्डल गिरिके १६ कूट	कूटोंके नामवाले	नगर
१६८४	उपरोक्त वनका बलभद्र कूट	बलभद्र	पुर	१३८	कुण्डल गिरिकी चारो दिशाओ-में ४ कूट	अधिपति	"
१६६४	सुमेरु पर्वतके नन्दन वनकी चारो दिशाओमें	उपरोक्त ४ लोकपाल	भवन	१७०	रुचकवर पर्वतकी चारो दिशाओमें चार कूट	चार दिग्गजेन्द्र	आवास
१६६८	उपरोक्त वनका बलभद्र कूट	बलभद्र	"	१८०	असख्यात द्वीप समुद्र जाकर द्वितीय जम्बूद्वीप	विजय आदि देव	नगर
२०४२-२०४४	सौमनस गजदन्तके ६ कूट	कूटोंके नाम-वाले देव	"	२०६	पूर्व दिशाके नगरके प्रासाद	विजय	भवन
२०५३	विश्व प्रभ गजदन्तके ६ कूट	"	"	२३६	"	अशोक	"
२०५८	गन्धमादन गजदन्तके ६ कूट	"	"	२३७	दक्षिणादि दिशाओमें	वैजयतादि	नगर
२०६१	माल्यवान् " " ८ कूट	"	"	ति. प./४/गा.			
२०८४	देवकुरुके २ यमक पर्वत	पर्वतके नाम	व	५०	सब द्वीप समुद्रोंके उपरिम भाग	उन उनके स्वामी	नगर
२०८२	देवकुरुके १० द्रहोके कमल	द्रहोके नामवाले	"				
२०६६	देवकुरुके काचन पर्वत	काचन	"				
२१०५-२१०८	" " दिग्गज पर्वत	यम (वाहनदेव)	"				

६. मध्यलोकमें व्यंतर देवियोंका निवास

ति. प./४/ गा.	स्थान	देवी	भवनादि	ति. प./४/ गा.	स्थान	देवी	भवनादि
२०४	गंगा नदीके निर्गमन स्थानकी समभूमि	दिवकुमारिया	भवन	२०४३	सौमनस गजदन्त विमलकूट	श्रीवत्समित्रा	निवास
२०६	गंगा नदीमें स्थित कमलाकार कूट	बला	"	२०५४	विद्युत्प्रभ गजदन्तका स्वस्तिक कूट	बला	"
२५१	जम्बूद्वीपकी जगतीमें गंगा नदी के बिलद्वारपर	दिवकुमारी	"	२०५६	" का कनककूट	वारिषेणा	"
२५८	सिन्धु नदीके मध्य कमलाकार कूट	अवना या लवणा	"	२०६२	गन्धमादन गजदन्तपर लोहितकूट	भोगवती	"
२६२	हिमवातके मूलमें सिन्धुकूट	सिन्धु	"	"	" स्फटिक कूट	भोगकृति	"
१६५१	हिमवात पर्वतके ११ मे से ६ कूट	कूटके नामवाली	"	२१०२	माण्यवात् गजदन्तपर सागरकूट	भोगवती	"
१६७२	पद्म हृदके मध्य कमलपर	श्री	"	"	" रजतकूट	भोगमालिनी	"
१७२८	महा पद्म हृदके " " "	ह्री	"	२१६६	शारमलोवृक्ष स्थलकी चौथी भूमिके चार तोरण द्वार	वेणु युगलकी देवियाँ	"
१७६२	तिगिध " " " " "	धृति	"	ज. प./६/ ३१-४३	जम्बूवृक्ष स्थलकी भी चौथी भूमिके चार तोरण द्वार	आदर युगलकी देवियाँ	"
१६७६	सुमेरु पर्वतके सौमनस वनकी चारो दिशाओमें ८ कूट	मेघकरा आदि ८	निवास	ति. प./४/ १४४-१७२	देवकुरु व उत्तरकुरुके २० वृहोके कमलोंपर	सपरिवार नील-कुमारी आदि	भवन
२०४३	सौमनस गजदन्तका काचन कूट	सुवत्सा	"		रुचकवर पर्वतके ४४ कूट	दिवकन्याएँ	"

७. द्वीप समुद्रोंके अधिपति देव

(ति. प./४/३८-४६); (ह. पु./४/६३७-६४६); (त्रि. सा./६६१-६६५)

संकेत—द्वी=द्वीप; सा=सागर, ← = जो नाम इस ओर लिखा है वही यहाँ भी है।

द्वीप या समुद्र	ति. प./४/३८-४६		ह. पु./४/६३७-६४६		त्रि. सा./६६१-६६५	
	दक्षिण	उत्तर	दक्षिण	उत्तर	दक्षिण	उत्तर
जंबू द्वी०	आदर	अनादर	अनावृत	←	←	←
लवण सा	प्रभास	प्रियदर्शन	सुस्थित	←	←	←
धातकी	प्रिय	दर्शन	प्रभास	←	←	←
कालोद्	काल	महाकाल	←	←	←	←
पुष्करार्ध	पद्म	पुण्डरीक	←	←	पद्म	पुण्डरीक
मानुषोत्तर	चक्षु	सुचक्षु	←	←	←	←
पुष्करार्ध	×	×	×	×	चक्षुमात्	सुचक्षु
पुष्कर सा०	श्रीप्रभु	श्रीधर	←	←	←	←
वारुणीवर द्वी०	वरुण	वरुणप्रभ	←	←	←	←
" सा०	मध्य	मध्यम	←	←	←	←
क्षीरवर द्वी०	पाण्डुर	पुष्पदन्त	←	←	←	←
" सा०	विमल प्रभ	विमल	विमल	विमलप्रभ	←	←
घृतवर द्वी०	सुप्रभ	घृतवर	सुप्रभ	महाप्रभ	←	←
" सा०	उत्तर	महाप्रभ	कनक	कनकाभ	कनक	कनकप्रभ
क्षौद्रवर द्वी०	कनक	कनकाम	पूर्ण	पूर्णप्रभ	पुण्य	पुण्यप्रभ
" सा०	पूर्ण	पूर्णभद्र	गन्ध	महागन्ध	←	←
नदीश्वर द्वी०	गन्ध	महागन्ध	नन्दी	नन्दीप्रभ	←	←
" सा०	नन्दि	नदिप्रभु	भद्र	सुभद्र	←	←
अरुणवर द्वी०	चन्द्र	सुभद्र	अरुण	अरुणप्रभ	←	←
" सा०	अरुण	अरुणप्रभ	सुगन्ध	सर्वगन्ध	←	←
अरुणाभास द्वी०	सुगन्ध	सर्वगन्ध	×	×	×	×
अन्य—	→ कथन नष्ट है ←					

८. भवनों आदिका विस्तार

१. सामान्य प्ररूपणा

ति प./६/गा का भावार्थ—१. उत्कृष्ट भवनोका विस्तार और बाह्व्य क्रमसे १२००० व ३०० योजन है। जधन्य भवनोका २५ व १ योजन अधवा १ कोश है। १८-१०। उत्कृष्ट भवनपुरोका ५१०००.०० योजन और जधन्यका १ योजन है। १२१। [त्रि सा/३०० मे उत्कृष्ट

भवनपुरका विस्तार १०००.०० योजन बताया है।] उत्कृष्ट आवास १२२०० योजन और जधन्य ३ कोश प्रमाण विस्तारवाले है। (त्रि. सा./२१५-३००)। [नोट—ऊँचाई सर्वत्र लम्बाई व चौडाईके मध्यवर्ती जानना, जैसे १०० यो लम्बा और ५० यो. चौडा हो तो ऊँचा ७५ यो होगा। कूटाकार प्रासादोका विस्तार मूलमें ३, मध्यमें २ और ऊपर १ होता है। ऊँचाई मध्य विस्तारके समान होती है।

२. विशेष प्ररूपणा

ति. प./६/गा.	स्थान	भवनदि	ज. उ.म.	आकार	लम्बाई	चौडाई	ऊँचाई
२५-२८	जबूटोपकी जगतीपर	भवन	ज.	चौकोर	१०० घ	५० घ	७५ घ.
३०	जगतीपर	"	उ.	"	३०० घ.	१५० घ.	२२५ घ.
३२	"	"	म.	"	२०० घ.	१०० घ	१५० घ
७४	विजय द्वार	पुर	"	"	×	२ यो.	४ यो.
७७	"	नगर	"	"	१२००० यो०	६००० यो.	"
१६६	विजयार्ध	प्रासाद	"	"	१ को.	१/२ को.	३/४ को.
२२५	गंगाकुण्ड	"	"	कूटाकार	×	३००० घ.	२००० घ
१६६३	हिमवात्	भवन	"	चौकोर	×	३१ १/४ यो.	६२ १/४ यो.
१६७४	पत्र हद	"	"	"	१ को	१/२ को.	३/४ को.
१७२६	अन्य हद	भवन	"	"	→ पत्र हदसे उत्तरोत्तर दूना ←		
१७५६	महाहिमवान आदि	भवन	"	"	→ हिमवानसे उत्तरोत्तर दूना ←		
१८३६-३७	पांडुकवन	प्रासाद	"	"	३० को.	१५ को	१ को.
१६४४	सौमनस	पुर	"	"	→ पांडुकवनवालेसे दुगुने ←		
१६६५	नन्दन	भवन	"	"	→ सौमनस वालेसे दुगुने ←		
२०५०	यमकगिरि	प्रासाद	"	"	×	१२५ को.	२५० को.
२१०७	दिग्गजेंद्र	"	"	"	१२५ को.	६२ १/४ को.	९३ ३/४ को.
२१६२	शाबमली वृक्ष	"	"	"	१ को	१/२ को.	३/४ को.
२१८५	" स्थल	"	"	"	"	"	"
२५४०	इष्याकार	भवन	"	"	→ निषध पर्वतवत् ←		
८०	नंदीश्वरके वनोंमें	प्रासाद	"	"	३१ यो	३१ यो.	६२ यो.
१४७	रुचकवर द्वी.	भवन	"	"	→ गौतमदेवके भवनके समान ←		
१८१	द्वि. जम्बूद्वीप विजयादिके	नगर	"	"	१२००० यो.	(६००० यो)	×
१८५	उपरोक्त नगरके	भवन	"	"	६२ यो.	३१ यो.	"
१८६	उपरोक्त नगरके मध्यमें	प्रासाद	"	"	×	१२५ यो.	२५० यो.
१६५	उपरोक्त नगरके प्रथम दो मडल	"	"	"	→ मध्य प्रासादवत् ←		
१६५	तु० चतु० मडल	"	"	"	→ मध्य प्रासादसे आधा ←		
२३२-२३३	चैत्य वृक्षके बाहर	"	"	"	×	३१ १/४ यो.	६२ १/४ यो.
ति प./६/गा.	व्यंतरोंकी गणिकाओके	नगर	"	"	८४००० यो.	८४००० यो.	×

व्यकलन—घटाजा या Substraction,—(दे० गणित/II/१/१०)।

व्यक्त राग—दे० राग/३।

व्यक्ति—

न्या. सू./२/२/६४ व्यक्तिगुणविशेषाश्रयो सूक्ति ६४।

न्या. सू./भा./१/२/६/१४५/१६ व्यक्तिरत्नलाभ'। = १. इन्द्रियोंसे ग्रहण करने योग्य विशेषगुणोंको आश्रयरूप सूक्ति व्यक्ति है। २. अधवा स्वरूपके लाभको व्यक्ति कहते हैं।

न्या. वि./वृ/१/११५/४२६/१६ व्यक्तिश्च दृश्यमानं रूपं 'व्यज्यत इति व्यक्ति' इति व्युत्पत्ते'। = जो व्यक्त होता है उसे व्यक्ति कहते हैं ऐसी व्युत्पत्ति होनेके कारण दृश्यमान रूप व्यक्ति है।

जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश

न्या. वि /वृ. १/३४/२५०/१४ अनभिव्यक्ति अप्रतिपत्ति । = अप्रतिपत्ति
अर्थात् वस्तुके स्वरूपका ज्ञान न होना अनभिव्यक्ति है ।

व्यतिकर —

स्या मं/२४/२६२/११ येन स्वभावेन सामान्य तेन विशेष, येन विशेष-
स्तेन सामान्यमिति व्यतिकर । = पदार्थ, जिस स्वभावसे सामान्य
है उमी स्वभावसे विशेष है और जिस स्वभावसे विशेष है उसीसे
सामान्य है अनेकान्तवादमें यह बात दर्शाकर नैयायिक लोग इस
सिद्धान्तमें व्यतिकर दोष उठाते हैं ।

स. भ. त. /५२/८ परस्परविषयगमन व्यतिकर । = जिस अवच्छेदक
स्वभावसे अस्तित्व है उससे नास्तित्व क्यों न बन बैठे और जिस
स्वभावसे नास्तित्व नियत किया है उससे अस्तित्व व्यवस्थित हो
जाय । इस प्रकार परस्परमें व्यवस्थापक धर्मोंका विषयगमन करनेमें
अनेकान्त पक्षमें व्यतिकर दोष आता है, ऐसा नैयायिक कहते हैं ।

व्यतिक्रम—सामायिक पाठ । अमितगति/६ व्यतिक्रम शीलव्रतैर्वि-
लङ्घनम् । = शील व्रतोंका उल्लंघन करना व्यतिक्रम है ।

व्यतिरेक —

रा. वा. /४/४२/११/२५२/१६ अथ के व्यतिरेका । याग्विज्ञानव्यावृत्ति-
लिङ्गसमधिगम्यपरस्परविलक्षण उत्पत्तिस्थितिविपरिणामवृद्धिक्षय-
विनाशधर्मिण गतीन्द्रियकाययोगवेदकषायज्ञानसयमदर्शनलेश्या-
सम्यक्त्वादय । = व्यावृत्ताकार अर्थात् भेद चोतक बुद्धि और
शब्दप्रयोगके विषयभूत परस्पर विलक्षण उत्पत्ति, स्थिति, विपरिणाम,
वृद्धि, हास, क्षय, विनाश, गति, इन्द्रिय, काय, योग, वेद, कषाय,
ज्ञान, दर्शन, सयम, लेश्या, सम्यक्त्व आदि व्यतिरेक धर्म हैं ।

प. सु. /४/४ अर्थान्तरगतो बिसदृशपरिणामो व्यतिरेको गोमहिषादिवत् ।
= भिन्न-भिन्न पदार्थोंमें रहनेवाले विलक्षण परिणामको व्यतिरेक
विशेष कहते हैं, जैसे गौ और भैंस ।

दे० अन्वय—(अन्वय व व्यतिरेक शब्दसे सर्वत्र विधि निषेध जाना
जाता है ।)

२. व्यतिरेकके भेद

पं. ध. /पू/भाषाकार/१४६ द्रव्यक्षेत्र काल व भावसे व्यतिरेक चार प्रकारका
होता है ।—विशेष दे० सप्तभंगी ।

३. द्रव्यके धर्मों या गुणोंमें परस्पर व्यतिरेक नहीं है

पं. ध. /पू/श्लो ननु च व्यतिरेकत्व भवतु गुणाना सदन्वयत्वेऽपि । तद-
नेकत्वप्रसिद्धौ भावव्यतिरेकत सतामिति चेत् १४५। तत्र यतोऽस्ति
विशेषो व्यतिरेकस्यान्वयस्य चापि यथा । व्यतिरेकिणो ह्यनेकेऽप्येक
स्यादन्वयी गुणो नियमात् १४६। भवति गुणांश कश्चित् स भवति
नान्यो भवति स चाप्यन्य । सोऽपि न भवति तदन्यो भवति
तदन्योऽपि भावव्यतिरेक १४७। तत्त्वक्षणं यथा स्याज्ज्ञानं जीवो य
एव तावांश्च । जीवो दर्शनमिति वा तदभिज्ञानात् एव तावांश्च
१४५। = प्रश्न—स्वतः सत् रूप गुणोंमें सत् सत् यह अन्वय बराबर
रहते हुए भी, उनमें परस्पर अनेकताकी प्रसिद्धि होनेपर उनमें भाव-
व्यतिरेक हेतुक व्यतिरेकत्व होना चाहिए ? १४५। उत्तर—यह कथन
ठीक नहीं है, क्योंकि अन्वयका और व्यतिरेकका परस्परमें भेद
है । जैसे—नियमसे व्यतिरेकी अनेक होते हैं और अन्वयी गुण एक
होता है १४६। [भाव व्यतिरेक भी गुणोंमें परस्पर नहीं होता है,
बल्कि] जो कोई एक गुणका अविभागी प्रतिच्छेद है, वह वह ही
होता है, अन्य नहीं हो सकता, और वह दूसरा भी वह पहिला नहीं
हो सकता, किन्तु जो उससे भिन्न है वह उससे भिन्न ही रहता
है १४७। उसका लक्षण और गुणोंमें भावव्यतिरेकका अभाव इस
प्रकार है, जैसे कि जो ही और जितना ही जीव ज्ञान है वही तथा
उतना ही जीव एकत्व प्रत्यभिज्ञान प्रमाणसे दर्शन भी है १४५।

* पर्याय व्यतिरेकी होता है —दे पर्याय/२।

* अन्वय व्यतिरेकमें साध्यमाधक भाव —दे सप्तभंगी/४/५।

व्यतिरेक व्यास अनुमान—दे अनुमान ।

व्यतिरेकी दृष्टांत—दे दृष्टांत ।

व्यतिरेकी हेतु—दे हेतु ।

व्यधिकरण—किसी एक धर्ममें एक धर्म रहता है और अन्य कोई
धर्म नहीं रहता । तब वह अभावभूत धर्म उस पहले धर्मका व्यधि-
करण कहलाता है । जैसे पदत्व धर्म घटत्वका व्यधिकरण है ।

व्यभिचार—

रा. वा. /१/२२/१/५३/५ अतस्मिस्तदिति ज्ञान व्यभिचार' । = अतत्को
तत् रूपसे ग्रहण करना व्यभिचार है ।

२. व्यभिचारी हेत्वाभास सामान्यका लक्षण

प. सु. /६/३० विपक्षेऽप्यविरुद्धवृत्तिरनेकान्तिक' । ३०। = जो हेतु पक्ष,
विपक्ष व सपक्ष तीनोंमें रहे उसे अनैकान्तिक कहते हैं ।

न्या. दी. /३/४४०/५६/११ सव्यभिचारोऽनैकान्तिक' (न्या. सू. सू. /
१/२/५) यथा—'अनित्य शब्द प्रमेयत्वात्' इति । प्रमेयत्वं हि हेतु
साध्यभूतमित्येव व्यभिचरति, गगनादौ विपक्षे नित्यत्वेनापि सह
वृत्ते । ततो विपक्षाद्ब्यावृत्त्यभावादनेकान्तिक । पक्षसपक्षविपक्ष-
वृत्तिरनेकान्तिक' । = जो हेतु व्यभिचारी ही नो अनैकान्तिक है ।
जैसे—'शब्द अनित्य है, क्योंकि वह प्रमेय है', यहाँ 'प्रमेयत्व' हेतु
अपने साध्य अनित्यत्वका व्यभिचारी है । कारण, आकाशादि विपक्ष-
में नित्यत्वके साथ भी वह रहता है । अतः विपक्षसे व्यावृत्ति न होनेसे
अनैकान्तिक हेत्वाभास है १४०। जो पक्ष, सपक्ष और विपक्षमें रहता है
वह अनैकान्तिक हेत्वाभास है ६२।

३. व्यभिचारी हेत्वाभासके भेद

न्या. दी. /३/४६३/१०१ स द्विविध—निश्चितविपक्षवृत्तिक' शङ्कित-
विपक्षवृत्तिकश्च । = वह दो प्रकारका है—निश्चित विपक्षवृत्ति और
शङ्कित विपक्षवृत्ति ।

४. निश्चित व शङ्कित विपक्ष वृत्तिके लक्षण

प. सु. /६/३१-३४ निश्चितविपक्षवृत्तिरनित्य शब्द प्रमेयत्वात् घटवत्
१३१। आकाशे नित्येऽप्यस्य निश्चयात् १३२। शङ्कितवृत्तिस्तु नास्ति
सर्वज्ञो वक्तृत्वात् १३३। सर्वज्ञत्वेन वक्तृत्वाविरोधात् १३४। = जो हेतु
विपक्षमें निश्चित रूपसे रहे उसे निश्चित विपक्षवृत्ति अनैकान्तिक
कहते हैं । जैसे—शब्द अनित्य है, क्योंकि प्रमेय है जैसे घटा १३१-३२।
जो हेतु विपक्षमें सहायरूपसे रहे उसे शङ्कितवृत्ति अनैकान्तिक कहते
हैं । जैसे—सर्वज्ञ नहीं है, क्योंकि, वक्ता है ।

न्या. दी. /६/४६२/१०१ तत्राद्यो यथा धूमवानय प्रदेशोऽग्निमत्त्वादिति ।
अत्र अग्निमत्त्व पक्षीकृते सद्विद्यमानधूमे पुरोवृत्तिनि प्रदेशे वर्तते,
सपक्षे धूमवति महानसे च वर्तते, विपक्षे धूमरहितत्वेन निश्चितेऽह-
गारावस्थापन्नाग्निमतिप्रदेशे वर्तते इति निश्चयान्निश्चितविपक्षवृ-
त्तिक । द्वितीयो यथा, गर्भस्थो मैत्रीतनय' श्यामो भवितुमर्हति
मैत्रीतनयत्वादितरतत्तनयवदिति । अत्र मैत्रीतनयत्व हेतु पक्षीकृते
गर्भस्थे वर्तते, सपक्षे इतरतत्पुत्रे वर्तते, विपक्षे अश्यामे वर्ततापीति
शङ्काया अनिवृत्ते' शङ्कितविपक्षवृत्तिक । अपरमपि शङ्कितविपक्षवृत्ति-
कस्योदाहरणम्, अर्हत्सर्वज्ञो न भवितुमर्हति वक्तृत्वात् रथ्यापुरुष-
वदिति । वक्तृत्वस्य हि हेतो पक्षीकृते अर्हति, सपक्षे रथ्यापुरुषे यथा-
वृत्तिरस्ति तथा विपक्षे सर्वज्ञेऽपि वृत्ति सभाव्येत, वक्तृत्वज्ञातृत्वयो-
र्विरोधात् । यदि येन सह विरोधि तत्त्वल्लु तद्वति न वर्तते । न च

वचनज्ञानयोर्लोकै विरोधोऽस्ति, प्रच्युत ज्ञानवत् एव वचनभौष्टव स्पष्ट दृष्टम् । ततो ज्ञानोत्कर्षवति सर्वज्ञे वचनोत्कर्षे कानुपपत्तिरिति । = २ उनमें पहलेका (निश्चितविपक्षवृत्तिका) उदाहरण यह है—'यह प्रदेश धूमवाला है, क्योंकि वह अग्निवाला है ।' यहाँ 'अग्नि' हेतु पक्षभूत सदिग्ध धूमवाले सामनेके प्रदेशमें रहता है, और सपक्ष रसोईघरमें रहता है तथा विपक्ष धूमरहित रूपसे निश्चित रूपसे निश्चित अगारस्वरूप अग्निवाले प्रदेशमें भी रहता है, ऐसा निश्चय है, अतः वह निश्चित विपक्ष वृत्ति अनैकान्तिक है । २, दूसरेका (शक्ति विपक्ष वृत्तिका) उदाहरण यह है—'गर्भस्थ मैत्रीका पुत्र श्याम होना चाहिए, क्योंकि मैत्रीका पुत्र है, दूसरे मैत्रीके पुत्रोकी तरह' यहाँ 'मैत्रीका पुत्रपना' हेतु गर्भस्थ मैत्रीके पुत्रमें रहता है, सपक्ष दूसरे मैत्रीपुत्रोंमें रहता है, और विपक्ष अश्याम—गोरे पुत्रमें भी रहे इस शकाकी निवृत्ति न होनेमें अर्थात् विपक्षमें भी उसके रहनेकी शका बनी रहनेसे वह शक्ति विपक्षवृत्ति है । ३ शक्ति विपक्षवृत्तिका दूसरा भी उदाहरण है— अहंत सर्वज्ञ नहीं होना चाहिए, क्योंकि वे वक्ता है, जैसे राह चलता पुरुष । यहाँ 'वक्तापन' हेतु जिस प्रकार पक्षभूत अहंतमें और सपक्षभूत रथ्यापुरुषमें रहता है उसी प्रकार सर्वज्ञमें भी उसके रहनेकी सम्भावना की जाय, क्योंकि वक्तापन और ज्ञातापनका कोई विरोध नहीं है । जिसका जिसके साथ विरोध होता है, वह उसवालेमें नहीं रहता है, और वचन तथा ज्ञानका लोकमें विरोध नहीं है, बल्कि तानीके ही वचनमें चतुराई अथवा सुन्दरता स्पष्ट देखनेमें आती है । अतः विशिष्ट ज्ञानवान् सर्वज्ञमें विशिष्ट वक्तापनके होनेमें क्या आपत्ति है ? इस तरह वक्तापनकी विपक्षभूत सर्वज्ञमें भी सम्भावना होनेसे वह शक्ति विपक्षवृत्ति नामका हेत्वाभास है ।

* उपग्रह आदि व्यभिचार—दे नय/III/६/८ ।

व्यय—दे, उत्पाद व्यय धौव्य ।

व्यवच्छेद—न्या, वि/वृ/१/४६/६ व्यवच्छेदो निरासः । = निराकरण या निवृत्ति करना व्यवच्छेद है ।

* अन्ययोग आदि व्यवच्छेद—दे, एव ।

व्यवसाय—

न्या, वि./वृ./१/७/१४०/१७ अवसायोऽधिगमस्तदभावो व्यवसायो विशब्दस्याभावार्थत्वात् विमलादिवत् । = अधिगम अर्थात् ज्ञानको अवसाय कहते हैं । उसका अभाव व्यवसाय है, क्योंकि, 'वि' उपसर्ग अभावार्थक है, जैसे 'विमल' का अर्थ मल रहित है ।

द्र. स/४२/१८१/४ व्यवसायात्मकं निश्चयात्मकमित्यर्थः । = व्यवसायात्मक अर्थात् निश्चयात्मक ।

दे, अवाय—(अवाय, व्यवसाय, बुद्धि, विज्ञप्ति, आमंडा, और प्रत्यामंडा ये पर्यायवाची नाम हैं ।)

* कृषि व्यवसायकी उत्तमता—दे, सावद्य/६ ।

व्यवस्था—रा वा./५/१/२६/४३५/२ अवतिष्ठन्ते पदार्था अनया आकृत्येत्यवस्था, विविधा अवस्था व्यवस्था विविधसंनिवेशो, वेत्ताद्यासनाकार इत्यर्थः । = जिस आकृतिके द्वारा पदार्थ ठहराये जाते हैं वह अवस्था कहलाती है । विविध अवस्था व्यवस्था है । वेत्तासनादि आकाररूप विविध संनिवेश, यह इसका अर्थ है ।

नोट—(किसी विषयमें स्थितिको व्यवस्था कहते हैं और उससे विपरीतको अव्यवस्था कहते हैं ।)

व्यवस्था पद—दे, पद ।

व्यवस्था हानि—दे हानि ।

व्यवहार—* मनुष्य व्यवहार—दे मनुष्य व्यवहार ।

व्यवहारत्व गुण—भ आ/सू/४४८/६७३ पचविहं व्यवहारं जो जाणइ तच्चादो सवित्थार । बहुसो य दिट्ठक्यपट्ठवणो व्यवहारव होइ ४४८८ = पाँच प्रकारके प्रायश्चित्तोंको जो उनके स्वरूपसहित सविस्तार जानते हैं । जिन्होंने अन्य आचार्योंको प्रायश्चित्त देते हुए देखा है, और स्वयं भी जिन्होंने दिया है, ऐसे आचार्योंको व्यवहारवान् आचार्य कहते हैं ।

व्यवहारद्रव्य—दे नय/V/४/२/४ ।

व्यवहार नय—दे नय/V/४-६ ।

व्यवहार पत्य—दे गणित/II/१/५,६ ।

व्यवहार सत्य—दे, सत्य/१ ।

व्यवहारावलंबी—दे, साधु/२ ।

व्यसन—

प वि/१/१६, ३२ चूतमांससुरावेश्याखेटचौर्यपराङ्मना । महापापानि सप्तैति व्यसनानि त्यजेद्बुधः । १६ । न परमियन्ति भयन्ति व्यसना-न्यपराण्यपि प्रभूतानि । त्यक्त्वा सत्पथमपथप्रवृत्तय क्षुद्रबुद्धीनाम् ३२ । = १ जूआ, मास, मद्य, वेश्या, शिकार, चोरी और परखी, इस प्रकार ये सात महापापरूप व्यसन हैं । बुद्धिमात् पुरुषको इन सबका त्याग करना चाहिए । (पं वि/६/१०), (वसु श्रा./५६); (चा, पा/टी/२१/४३/पर उद्धृत), (ला, सं/२/११३) । २, केवल इतने ही व्यसन नहीं हैं, किन्तु दूसरे भी बहुतसे हैं । कारण कि अपमति पुरुष समीचीन मार्गको छोड़कर कुत्सित मार्गमें प्रवृत्त हुआ करते हैं । ३२ ।

* अन्य सम्बन्धित विषय

१. वेदया व्यसनका निषेध —दे, ब्रह्मचर्य/३ ।
२. परखी गमन निषेध —दे, ब्रह्मचर्य/३ ।
३. चोरी व्यसन —दे, अस्तेय ।
४. चूत आदि अन्य व्यसन —दे, वह वह नाम ।

व्याकरण—१. आगम ज्ञानमें व्याकरणका स्थान—दे, आगम/३ ।
२. वैयाकरणो लोग शब्द, समभिरूढ व एवंभूत नयाभासी हैं ।—दे, अनेकांत/२/६ ।

व्याकरण—१. आ पूज्यपाद देवनान्द (ई. श. ५) द्वारा रचित ३००० सूत्र प्रमाण संस्कृत की जैनेन्द्र व्याकरण । टीकार्ये—पूज्यपाद कृत जैनेन्द्र न्यास, प्रभाचन्द्र नं. ४ कृत शब्दाम्भोज भास्कर, अभयनन्द कृत महावृत्ति, श्रुतकीर्ति कृत पंचवस्तु । (जै/१/३०७) (ती/२/२३०) । २ पूज्यपाद ई. श. ५ कृत मुग्धबोध व्याकरण । ३ हैमचन्द्र सूरि (ई. १०८८-११७३) कृत प्राकृत तथा गुजराती व्याकरण । ४ नयसेन (ई. ११२५) कृत कन्नड व्याकरण । (ती/१/२६६) । ५ श्रुतसागर (ई. १४८१-१४६६) कृत प्राकृत व्याकरण । ६ शुभचन्द्र (ई. १५१६-१५५६) कृत प्राकृत व्याकरण ।

व्याख्या—नन्दा भद्रा आदि व्याख्याएँ—दे, बौचना ।

व्याख्या प्रज्ञप्ति—५ द्वादशांगका एक भेद—दे, श्रुतज्ञान/III ।
२. आ अमितगति (ई. ६८३-१०२३) द्वारा रचित एक संस्कृत ग्रन्थ । (दे. अमित गति) । ३. आ अपपदेव (वि. श. ७) कृत ६०,००० श्लोक प्रमाण कर्म विषयक प्राकृत ग्रन्थ । (दे, परिशिष्ट) ।

जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश

भा० ३-७८

व्याघात—

घ. ७/२.२.६७/१५१/८ अथवा कायजोगद्धाखरण मणजोगेआगदे विदियसमए वाघादिदस्स पुणरवि कायजोगो चैव आगदो ।

घ. ७/२.२.१२६/१६०/१० क्रोधस्स वाघादेण एगसमओ पत्थि, वाघादिदे वि क्रोधस्सेव समुप्पत्तीदो । =अथवा काययोगके कालके क्षयसे मनोयोगको प्राप्त होकर द्वितीय समयमे व्याघात (मरण) को प्राप्त हुए उसको फिर भी काययोग ही प्राप्त हुआ । क्रोधके व्याघातसे एक समय नहीं पाया जाता, क्योंकि, व्याघात (मरण) को प्राप्त होनेपर भी पुन क्रोधकी ही उत्पत्ति होती है ।

ल. सा./भाषा/६०/६२/१ जहाँ स्थिति काण्डकघात होइ सो व्याघात कहिए ।—(विशेष दे. अपकर्षण/४)

व्याघ्रभृति—एक अक्रियावादी—दे. अक्रियावाद ।

व्याघ्रहस्ती—पुत्राट सघकी गुर्वावलीके अनुसार आप पक्षसेनेके शिष्य और नागहस्तिके गुरु थे ।—दे. इतिहास/७/८ ।

व्याघ्री—भरत क्षेत्रमें आर्यखण्डकी एक नदी—दे. मनुष्य/४ ।

व्याज—Interest (घ. ५/प्र. २८)

व्यापक—घ. ४/१.३.१/८/२ आभासं गगणं देवपथं गोज्जकाचरिदं अवगाहनलक्षणं आधेर्यं वियापगमाधारो भूमि ति एयट्ठो । =१. आकाश, गगन, देवपथ, गुह्यकाचरित (यज्ञोंके विचरणका स्थान), अवगाहनलक्षण, आधेर्य, व्यापक, आधार और भूमि ये सब नोआगम ब्रह्म क्षेत्रके एकार्थवाचक नाम हैं—दे. क्षेत्र/१/१३ । २ जोव शरीरमे व्यापक है पर सर्व व्यापक नहीं है—दे. जीव/३ ।

व्यापकानुपलब्धि—अनुमानका एक भेद—दे. अनुमान/१ ।

व्यापार—

रा. वा./१/१/१/३/२८ व्यापृतिव्यापारः अर्थप्रापणसमर्थं क्रियाप्रयोग । = 'व्यापृतिव्यापारः' इस व्युत्पत्तिके अनुसार अर्थ प्राप्त करनेकी समर्थ क्रिया प्रयोगको व्यापार कहते हैं ।

प्र. सा./ता. वृ./२०५/२७६/८ चिन्मत्कारप्रतिपक्षभूत आरम्भो व्यापारः । = चिन्मत्कार मात्र जो ज्ञाता दृष्टाभाव उससे प्रतिपक्षभूत आरम्भका नाम व्यापार है ।

व्याप्ति—न्या. दी./३/६६४/१०४/२ व्याप्तिर्हि साध्ये बह्वादादी सत्येव साधन धूमादिरस्ति, असति तु नास्तीति साध्यसाधननियतसाहचर्यलक्षणं । एतामेव साध्यं विना साधनस्याभावाद्बिनाभावमिति च व्यपदिश्यन्ते । =साध्य अग्नि आदिके होनेपर ही साधन धूमादिक होते हैं तथा उनके नहीं होनेपर नहीं होते, इस प्रकारके साहचर्यरूप साध्य साधनके नियमको व्याप्ति कहते हैं । इस व्याप्तिको ही साध्यके बिना साधनके न होनेसे अबिनाभाव कहते हैं ।—(विशेष दे. तर्क व दृष्टान्त/१/१)

घ. घ./३/१६४ व्याप्तिर्वं साहचर्यस्य नियमः स यथा मिथः । सति यत्र य स्यादेव न स्यादेवासतीह यः । १८६४ । =परस्परमें सहचर नियमको व्याप्ति कहते हैं, वह इस प्रकार है, कि यहाँपर जिसके होनेपर जो होवे और जिसके न होनेपर जो नहीं ही होवे ।—(विशेष दे. तर्क)

*** अन्य सम्बन्धित विषय**

१. व्यतिरेक व्याप्त अनुमान । —दे. अनुमान ।
२. अव्याप्त, अतिव्याप्त लक्षण । —दे. लक्षण ।
३. अन्वय व्यतिरेक व्याप्त दृष्टान्त । —दे. दृष्टान्त ।
४. अन्वय व्यतिरेक व्याप्त हेतु । —दे. हेतु ।
५. व्याप्त व्यापक सम्बन्ध । —दे. सम्बन्ध ।
६. कारण कार्यमें परस्पर व्याप्ति । —दे. कारण/१/३ ।

व्याप्य—१ व्याप्य व्यापक सम्बन्ध—दे. सम्बन्ध । २. व्याप्य हेतु—दे. हेतु । ३. व्याप्यासिद्ध हेत्वाभास—दे. असिद्ध ।

व्यामोह—सो पा/टी/२७/३२२/१५ व्यामोहं पुत्रकलत्रमित्रादिस्नेहः । वामाना स्त्रीणा वा ओहो वामोह तत्तथोक्तं समाहारो द्वन्द्वः । =पुत्र कलत्र मित्रादिका स्नेह व्यामोह है । अथवा वाम अर्थात् स्त्रियोंका ओह वाम ओह है । वाम+ओह ऐसा यहाँपर द्वन्द्व समास है ।

व्यावृत्ति—

न्या. वि./वृ./२/३१/६३/७ व्यावृत्ति स्वलक्षणानां विच्छेदः । =अपने लक्षणोंका विच्छेद व्यावृत्ति है ।

स्या./मं/४/१७/१ व्यतिवृत्तिः व्यावृत्तिः, सजातीयविजातीयैभ्यः सर्वथा व्यवच्छेदः ।

स्या./मं./१४/१६६/७ व्यावृत्तिर्हि विवक्षितपदार्थे इतरपदार्थप्रतिषेधः । =सजातीय और विजातीय पदार्थोंसे सर्वथा अलग होनेवाली प्रतीतिको व्यावृत्ति अथवा विशेष करते हैं । अथवा विवक्षित पदार्थ-मे दूसरे पदार्थके निषेधको व्यावृत्ति कहते हैं ।

दे. पर्याय/१/१/२ (पर्याय, व्यावृत्ति, विशेष व अपवाद ये एकार्थ-वाची हैं ।)

व्यास—Diameter (घ. ५/प्र. २८) ।—दे. गणित/II/७/४ ।

व्यास—१. पां. पु./सर्ग/श्लोक—भीष्मका सौतेला भाई था । धीवरकी कन्यासे उत्पन्न पाराशरका पुत्र था । (७/११४-११७) । इसके तीन पुत्र थे—घृतराष्ट्र, पाण्डु व विदुर । (७/११७) । अपर नाम धृतरथ्य था (८/१७) । २. महाभारत आदि पुराणोंके रचयिता । समय—अर्यन्त प्राचीन । ३. योगदर्शनके भाष्यकार । समय—ई. स. ४ (दे० योगदर्शन) । ४. व्यास एलापुत्र एक विनयवादी था । —दे० वैनयिक ।

व्युच्छिन्ति—घ./८/३/४/पृष्ठ/पंक्ति एदम्मि गुणदृष्टाणे एदासि पयडीणं नद्य वोच्छेदो होदि ति कहिदे हेटिठल गुणदृष्टाणाणि तासि पयडीणं बंधसामिग्रणि ति सिद्धीदो । किच्च वोच्छेदो दुविहो उत्पादाणुच्छेदो अणुत्पादाणुच्छेदो । उत्पाद सत्त्व, अनुच्छेदो विनाशः अभाव नीरूपिता इति यावत् । उत्पाद एव अनुच्छेदः उत्पादानुच्छेद, भाव एव अभाव इति यावत् । एसो दब्बट्टियणय-व्ववहारो । ण च एसो एयतेण चप्पलओ, उत्तरकाले अप्पिदपज्जायस्स विणासेण विसिट्ठदव्वस्स पुविहलकाले वि उवलंभादो । (५/७) । अनुत्पाद असत्त्व, अनुच्छेदो विनाशः, अनुत्पाद एव अनुच्छेदः (अनुत्पादानुच्छेद) असत् अभाव इति यावत्, सत् असत्त्वविरोधात् । एसो पज्जवट्टियणयववहारो । एत्थं पुण उत्पादाणुच्छेदम-स्सिद्धुण जेण सुत्तकारेण अभावव्ववहारो कदो तेण भावो चैव पयडिबधस्स परूविदो । तेणेदस्स गंधस्स बंधसामित्तविचयसण्णा घडदि ति । (६/८) । =१. इस गुणस्थानमें इतनी प्रकृतियोंका बन्धव्युच्छेद होता है, ऐसा कहनेपर उससे नीचेके गुणस्थान उन प्रकृतियोंके बन्धके स्वामी है यह स्वयमेव सिद्ध हो जाता है । २. दूसरी बात यह है कि व्युच्छेद दो प्रकारका है—उत्पादानुच्छेद और अनुत्पादानुच्छेद । उत्पादका अर्थ सत्त्व और अनुच्छेदका अर्थ विनाश, अभाव अथवा नीरूपीपना है । उत्पाद ही अनुच्छेद सो उत्पादानुच्छेद (इस प्रकार यहाँ कर्मधारय समास है) । उक्त कथनका अभिप्राय भाव या सत्त्वको ही अभाव बतलाना है । यह द्रव्याधिक नयके आश्रित व्यवहार है, और यह सर्वथा मिथ्या भी नहीं है, क्योंकि, उत्तरकालमें विवक्षित पर्यायके विनाशसे विशिष्ट द्रव्य पूर्वकालमें भी पाया जाता है । अनुत्पादका अर्थ असत्त्व और अनुच्छेदका अर्थ विनाश है । अनुत्पाद ही अनु-

च्छेद अर्थात् असत्का अभाव होना अनुत्पादानुच्छेद है। क्योंकि सत्के असत्त्वका विरोध है। यह पर्यायार्थिक नयके आश्रित व्यवहार है। ३ यहाँपर चूँकि सूत्रकारने उत्पादानुच्छेदका (अर्थात् पहले भेदका) आशय करके ही अभावका व्यवहार किया है, इसलिए प्रकृतिबन्धका सद्भाव ही निरूपित किया गया है। इस प्रकार इस ग्रन्थका बन्धस्वामित्वविचय नाम संगत है।

गो. क./जी. प्र. १४/५०/४ बन्धव्युच्छिस्तौ द्वौ नयौ इच्छन्ति—उत्पादानुच्छेदोऽनुत्पादानुच्छेदश्चेति। तत्र उत्पादानुच्छेदो नाम द्रव्यार्थिक तेन सत्त्वावस्थायामेव विनाशमिच्छति। असत्त्वे बुद्धि-विषयातिक्रान्तभावेन वचनगीचरातिक्रान्ते सति अभावव्यवहारा-नुपपत्तेः। तस्मात् भाव एव अभाव इति सिद्धं। अनुत्पादानुच्छेदो नाम पर्यायार्थिक तेन असत्त्वावस्थायामभावव्यपदेश-मिच्छति। भावे उपलभ्यमाने अभावत्वविरोधात्। अत्र पुनः सूत्रे द्रव्यार्थिकनय. उत्पादानुच्छेदोऽवलम्बित उत्पादस्य विद्यमानस्य अनुच्छेद. अविनाश. यस्मिन् असौ उत्पादानुच्छेदो नयः। इति द्रव्यार्थिकनयापेक्षया स्वस्वगुणस्थानचरमसमये बन्धव्युच्छिस्तौ. बन्धविनाशः। पर्यायार्थिकनयेन तु अनन्तरसमये बन्धनाशः।—व्युच्छिस्तिका कथन दो नयसे किया जाता है—उत्पादानुच्छेद और अनुत्पादानुच्छेद। तहाँ उत्पादानुच्छेद नाम द्रव्यार्थिकनयका है। इस नयसे सत्त्वकी अवस्थामें ही विनाश माना जाता है, क्योंकि बुद्धिका विषय न बननेपर तब वह अभाव वचनके अगोचर हो जाता है, और इस प्रकार उस अभावका व्यवहार ही नहीं हो सकता। इसलिए सद्भावमें ही असद्भाव कहना योग्य है यह सिद्ध हो जाता है। अनुत्पादानुच्छेद नाम पर्यायार्थिक नयका है। इस नयसे असत्त्वकी अवस्थामें अभावका व्यपदेश किया जाता है। क्योंकि, सद्भावके उपलब्ध होनेपर अभावपनेके होनेका विरोध है। यहाँ सूत्रमें द्रव्यार्थिक नय अर्थात् उत्पादानुच्छेदका अवलम्बन लेकर वर्णन किया गया है। उत्पादका अर्थात् विद्यमानका अनुच्छेद या विनाश जिसमें होता है अर्थात् सद्भावका विनाश जहाँ होता है, वह उत्पादानुच्छेद नय है। इस प्रकार द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षासे अपने-अपने गुणस्थानके चरम समयमें बन्धव्युच्छिस्तौ अर्थात् बन्धका विनाश होता है। पर्यायार्थिक नयसे उस चरम समयके अनन्तर वाले अगले समयमें बन्धका नाश होता है, ऐसा समझना चाहिए।

व्युच्छेद—दे० व्युच्छिस्तौ।

व्युत्सर्ग—बाहरमें क्षेत्र वास्तु आदिका और अभ्यन्तरमें कषाय आदिका अथवा नित्य व अनित्यत कालके लिए शरीरका त्याग करना व्युत्सर्ग तप या व्युत्सर्ग प्रायश्चित्त है। व्युत्सर्ग प्रायश्चित्तका अपर नाम कायोत्सर्ग है जो दैवसिक, रात्रिक, चातुर्मासिक आदि दोषोके साधनार्थ विधि पूर्वक किया जाता है। शरीरपरसे ममत्व बुद्धि छोड़कर, उपसर्ग आदिको जीतता हुआ, अन्तर्मुहूर्त या एक दिन मास व वर्ष पर्यंत निरचल खड़े रहना कायोत्सर्ग है।

१. कायोत्सर्ग निर्देश

१. कायोत्सर्गका लक्षण

नि. सा./मू./१२१ कायाईपरदब्बे थिरभावं परिहरत्तु अम्पणं। तस्स हवे तणुसग्ग जो भायइ णिण्विअप्पेण। १२१। = काय आदि पर-द्रव्योंमें स्थिर भाव छोड़कर, जो आत्माको निर्विकल्परूपसे ध्याता है, उसे कायोत्सर्ग कहते हैं। १२१।

मू. आ./२८ देवस्सियणियमादिषु जहुत्तमाणेण उत्तकालम्हि। जिण-गुणचित्तणजुत्तो काओसग्गो तणुविसग्गो। २८। = दैवसिक निश्चित

क्रियाओमें यथोक्त कालप्रमाण पर्यंत उत्तम क्षमा आदि जिनगुणोंकी भावना सहित देहमें ममत्वको छोड़ना कायोत्सर्ग है।

रा. वा./६/२४/१२/५३०/१४ परिमितकालविषया शरीरे ममत्वनिवृत्ति-कायोत्सर्ग। = परिमित कालके लिए शरीरसे ममत्वका त्याग करना कायोत्सर्ग है। (चा. सा./५६/३)।

भा. आ./वि./६/३२/२१ देहे ममत्वनिरास कायोत्सर्ग। = देहमें ममत्वका निरास करना वायोत्सर्ग है।

यो. सा./अ./५/५२ ज्ञात्वा योऽचेतनं काय नश्वर कर्मनिर्मितं। न तस्य वर्तते कार्ये कायोत्सर्गं करोति स'। ५२। = देहको अचेतन, नश्वर व कर्मनिर्मित समझकर जो उसके पोषण आदिके अर्थ कोई कार्य नहीं करता, वह कायोत्सर्गका धारक है।

का. अ./मू./४६७-४६८ अवलमल्लित्तगतो दुस्सहवाहीसु णिप्प-डीयारो। सुहधोवणादि-विरओ भोयणसेज्जादिणिरवेक्खो। ४६७। ससख्वचित्तणरओ दुज्जणसुयणाण जो हु मउभरथो। देहे वि णिम्ममत्तो काओसग्गो तओ तस्स। ४६८। = जिस मुनिका शरीर ज्वल और मलसे लिप्त हो, जो दुस्सह रोगके हो जानेपर भी उसका इलाज नहीं करता हो, मुख धोना आदि शरीरके संस्कारसे उदासीन हो, और भोजन शय्या आदिकी अपेक्षा नहीं करता हो, तथा अपने स्वरूपके चिन्तनमें ही लीन रहता हो, दुर्जन और सज्जनमें मध्यस्थ हो, और शरीरसे भी ममत्व न करता हो उस मुनिके कायोत्सर्ग नामका तप होता है।

नि. सा./ता. वृ./७० सर्वेषां जनानां कायेषु बह्व्यः क्रिया विद्यन्ते, तासां निवृत्ति कायोत्सर्ग, स एव गुप्तिर्भवति। = सब जनोंको काय-सम्बन्धी बहुत क्रियाएँ होती हैं; उनकी निवृत्ति सो कायोत्सर्ग है। वही गुप्ति है।

दे० कृतिकर्म/३/२ (खड़े-खड़े या बैठे बैठे शरीरका तथा कषायोंका त्याग करना कायोत्सर्ग है।)

२. कायोत्सर्गके भेद व उनके लक्षण

मू. आ./६७३-६७७ उट्ठिदउट्ठिद उट्ठिदणिविट्ठ उवविट्ठ-उट्ठिठो चव। उवविट्ठदणिविट्ठोवि य काओसग्गो चदुट्ठाणो। ६७३। धम्म सुक्क च दुवे भायदि ज्जाणाणि जो ठिदो सत्तो। एसो काओसग्गो इह उट्ठिदउट्ठिदो णाम। ६७४। अट्ठं रुहं च दुवे भायदि ज्जाणाणि जो ठिदो सत्तो। एसो काओसग्गो उट्ठिद-णिविट्ठोदो णाम। ६७५। धम्म सुक्क च दुवे भायदि ज्जाणाणि जो णि-सण्णो दु। एसो काओसग्गो उवविट्ठउट्ठिदो णाम। ६७६। अट्ठं रुहं च दुवे भायदि ज्जाणाणि जो णिसण्णो दु। एसो काओसग्गो णिसण्णि-दणिसण्णोदो णाम। ६७७। = अस्थितस्थित, उस्थितनिविष्ट, उप-विष्टोत्थित और उपविष्ट निविष्ट, इस प्रकार कायोत्सर्गके चार भेद हैं। ६७३। जो कायोत्सर्गसे खडा हुआ धर्म शुक्ल ध्यानोको चिन्तवन करता है वह उस्थितोत्थित है। ६७४। जो कायोत्सर्गसे खडा हुआ आर्त रौद्र ध्यानोको चिन्तवन करता है वह उस्थित-निविष्ट है। ६७५। जो बैठे हुए धर्म व शुक्लध्यानोका चिन्तवन करता है वह उपविष्टोत्थित है। ६७६। और जो बैठा हुआ आर्त रौद्र ध्यानोका चिन्तवन करता है वह उपविष्टोपविष्ट है। ६७७। (अन. ध. ८/१२३/८३३)।

भा. आ./वि./११६/२७८/२७ उस्थितोत्थितं, उस्थितनिविष्टम्, उपविष्टो-त्थितं, उपविष्टोपविष्ट इति चत्वारो विकल्पा। घमें शुक्ले वा परि-णतो यस्तिष्ठति तस्य कायोत्सर्ग उस्थितोत्थितो नाम। द्रव्यभावो-स्थानसमन्वितत्वादुत्थानप्रकर्ष उस्थितोत्थितशब्देनोच्यते। तत्र द्रव्योत्थानं शरीरं स्थाणुवदूर्ध्वं अविलमवस्थान। ध्येयैकवस्तु-निष्ठता ज्ञानमयस्य भावस्य भावोत्थानं। आर्त रौद्रयोः परिणतो यस्तिष्ठति तस्य उस्थितनिविष्टो नाम कायोत्सर्गः। शरीरोत्थाना-

दुःस्थितत्व शुभपरिणामोद्गतिरूपस्थोत्थानस्याभावान्निषण्ण इत्यु-
च्यते। अतएव विरोधाभावो भिन्ननिमित्तत्वादुत्थानासनयो एकत्र
एकदा। यस्त्वासीन एव धर्मशुक्लध्यानपरिणतिसुपैति तस्य उद्विष्ट-
निषण्णो भवति परिणामोत्थानात्क्यानुत्थानाच्च। यस्तु निषण्णो-
ऽशुभध्यानपरस्तस्य निषण्णनिषण्णक। कायाशुभपरिणामाभ्या
अनुत्थानात्। = कायोत्सर्गके उद्विष्टोत्थित, उद्विष्टनिविष्ट,
उपविष्टोत्थित, और उपविष्टोपविष्ट ऐसे चार भेद कहे हैं। धर्म व
शुक्लध्यानमे परिणत होकर जो खड़े होते हैं उनका कायोत्सर्ग
उद्विष्टोत्थित नामवाला है। क्योंकि द्रव्य व भाव दोनोंका उत्थान
होनेके कारण यहाँ उत्थानका प्रकर्ष है जो उद्विष्टोत्थित शब्दके द्वारा
कहा गया है। तहाँ शरीरका खम्बेके समान खड़ा रहना द्रव्योत्थान
है तथा ज्ञानका एक ध्येय वस्तुमें एकाग्र होकर ठहरना भावोत्थान
है। आर्त और रौद्रध्यानसे परिणत होकर जो खड़े हाते हैं उनका
कायोत्सर्ग उद्विष्टनिविष्ट है। शरीरके उत्थानसे उद्विष्ट और शुभ-
परिणामोकी उद्गतिरूप उत्थानके अभावसे निविष्ट है। शरीर व
भावरूप भिन्न-भिन्न कारण होनेसे उद्विष्टावस्था और आसनावस्थामे
यहाँ विरोध नहीं है। जो मुनि बैठकर ही धर्म और शुक्लध्यानमें
लवलीन होता है उसका उपविष्टोत्थित कायोत्सर्ग है, क्योंकि
उसके परिणाम तो खड़े हैं, पर शरीर नहीं खड़ा है। जो मुनि बैठ-
कर अशुभध्यान कर रहा है वह निषण्णनिषण्ण कायोत्सर्ग युक्त
समझना चाहिए। क्योंकि, वह शरीरसे बैठा हुआ है और परि-
णामोसे भी उत्थानशील नहीं है।

* कायोत्सर्ग बैठे व खड़े दोनों प्रकारसे होता है

—दे० व्युत्सर्ग/१/२।

३. मानसिक व कायिक कायोत्सर्ग विधि

मू. आ./गा वोसरिदवाहुजुगलो चदुरगुलअंतरेण समपादो। सब्बग-
चलणरहिओ काउसग्गो विसुद्धो दु १६५०। जे केई उवसग्गो देव माणु-
सतिरिक्खचेदणिया। ते सब्बे अधिआसे काओसग्गे ठिदो संते १६५१।
काओसग्गम्मि ठिदो चिचिदु हरियावधस्स अतिवार। त सब्ब
समाणित्ता धम्म सुक्क च चित्तेज्जो १६५१। =जिसने दोनों बाहु
लम्बी को है, चार अंगुलके अन्तर सहित समपाद है तथा हाथ
आदि अंगोका चालन नहीं है वह शुद्ध कायोत्सर्ग है १६५०। देव,
मनुष्य, तिर्यंच व अचेतनकृत जितने भी उपसर्ग है सबको कायो-
त्सर्गमें स्थित हुआ मैं अच्छी तरह सहन करता हूँ १६५१। कायोत्सर्गमें
तिष्ठा ईर्यापथके अतिचारके नाशको चिन्तवन करता मुनि उन सब
नियमोको समाप्त कर धर्मध्यान और शुक्लध्यानका चिन्तवन करो।
१६५१। (भ आ/वि./१२६/२७८/२०), (अन ध./८/७६/८०४)।

भ. आ/वि/१०६/७२६/१६ मनसा शरीरे ममेदभावनिवृत्ति मोनस
कायोत्सर्ग। प्रलम्बभुजस्य, चतुरङ्गुलमात्रपादान्तरस्य निश्चलाव-
स्थानं कायेन कायोत्सर्ग। =मनसे शरीरमें ममेद बुद्धिकी निवृत्ति
मानस कायोत्सर्ग है और (‘मैं शरीरका त्याग करता हूँ ऐसा वचनो-
च्चार करना वचनकृत कायोत्सर्ग है’)। बाहु नीचे छोड़कर चार
अंगुलमात्र अन्तर दोनों पाँवोंमें रखकर निश्चल खड़े होना वह
शरीरके द्वारा कायोत्सर्ग है।

अन. ध./६/२२-२४/८६६ जिनेन्द्रमुद्रया गाथा ध्यायेत् प्रीतिविकस्वरे।
हृत्पंकजे प्रवेशान्तर्निरुध्य मनसानिलम् १२२। पृथग् द्विद्वयैकगाथा-
वाचिन्तान्ते रेचयेच्छने। नवकृत्व. प्रयोक्तैव दहृद्यह सुधोर्महत्।
१२३। वाचाप्युपांशु व्युत्सर्गे कार्यो जप्य स वाचिक। पुण्य शतगुणं
चैच सहस्रगुणमावहेत् १२४। =व्युत्सर्गके समय अपनी प्राणवायुको

भीतर प्रविष्ट करके, उसे आनन्दसे विकसित हृदयकमलमे रोककर,
जिनेन्द्र मुद्राके द्वारा गमोकार मन्त्रकी गाथाका ध्यान करना चाहिए
१२३। गाथाके दो-दो और एक अशको पृथक्-पृथक् चिन्तवन
करके अन्तमे उस प्राणवायुको धीरे-धीरे बाहर निकालना चाहिए।
इस प्रकार नौ बार प्रयोग करनेवालेके चिरसंचित महान् कर्मराशि
भस्म हो जाती है १२३। प्राणायाममें असमर्थ साधु वचनके द्वारा
भी उस मन्त्रका जाप कर सकता है, परन्तु उसे अन्य कोई न सुने
इस प्रकार करना चाहिए। परन्तु वाचनिक और मानसिक जपोंके
फलमे महान् अन्तर है। दण्डकोके उच्चारणकी अपेक्षा सौगुना
पुण्य सचय वाचनिक जापमे होता है और हजारगुणा मानसिक
जापमे १२४।

४. कायोत्सर्गके योग्य दिशा व क्षेत्र

भ. आ/मू/५५०/७६३ पाचीणोदीचिसुहो चेदिमहुत्तो व कुणदि
एगते। आलोयणपत्तीय काउसग्ग अणाबाधे १५५०। =पूर्व अथवा
उत्तर दिशाकी तरफ मुँह करके किवा जिनप्रतिमाकी तरफ मुँह
करके आलाचनाके लिए क्षपक कायोत्सर्ग करता है। यह कायोत्सर्ग
वह एकान्त स्थानमें, अबाधित स्थानमें अर्थात् जहाँ दूसरोका आना-
जाना न हो ऐसे अमार्गमे करता है।

५. कायोत्सर्गके योग्य अवसर

मू. आ/६६३-६६५ भत्ते पाणे गामतरे य चवुमासिवरिसचरिमेसु।
णाऊण ठत्ति धीरा घणिदं दुक्खवखयद्वाए १६६३। तह दिवसिय-
रादियपविखयचवुमासिवरिसचरिमेसु। त सब्ब समाणित्ता धम्म
सुक्क च भायेज्जो १६६५। =भक्त, पान, ग्रामान्तर, चातुर्मासिक,
वार्षिक, उत्तमार्थ, इनको जानकर धीरपुरुष अतिशयकर दुखके
क्षयके अर्थ कायोत्सर्गमे तिष्ठते हैं १६६३। इसी प्रकार दैवसिक,
रात्रिक, पाक्षिक, चातुर्मासिक, वार्षिक व उत्तमार्थ इन सब नियमो-
को पूर्ण कर धर्मध्यान और शुक्लध्यानको ध्याये १६६५।

दे० अगला शीर्षक—(हिंसा आदि पापोंके अतिचारोंमें, भक्त पान व
गोचरीके पश्चात्, तीर्थ व निषद्यका आदिकी वन्दनार्थ जानेपर, लघु
व दीर्घ शंका करनेपर, ग्रन्थको आरम्भ करते समय व पूर्ण हो
जानेपर, ईर्यापथके दोषोकी निवृत्तिके अर्थ कायोत्सर्ग किया
जाता है।)

६. यथा अवसर कायोत्सर्गके कालका प्रमाण

मू. आ/६६६-६६९ सवरच्छरमुक्कस्स भिण्णसुहुत्तं जहण्णयं होदि।
सेसा काओसग्गो होति अणेगेसु ठाणेसु १६६६। अट्टसदं देवसियं कल्लं
पविखयं च तिण्णिसया। उस्सासा कायव्वा नियमता अप्पमत्तण।
१६६७। चाटुम्मासे चउरो सदाई सवत्थरे य पच्चसदा। काओसग्गु-
स्सासा पच्चसु ठाणेसु पादव्वा १६६८। पाणिवह मुसावाए अदत्त मेहुण
परिग्गहे चे य। अट्टसद उस्सासा काओसग्गमिह कादव्वा १६६९।
भत्ते पाणे गामतरे य अरहहत समयसेज्जासु। उच्चारैस्ससवणे पणवीस
होति उस्सासा १६६०। उडुवेसे णिडुवेसे सज्जाए वंदणेय परिधाणे।
सत्तावीसुस्सासा काओसग्गमिह कादव्वा १६६१। = कायोत्सर्ग एक
वर्षका उत्कृष्ट और अन्तर्मुहूर्त प्रमाण जघन्य होता है। शेष कायो-
त्सर्ग दिन-रात्रि आदिके भेदसे बहुत है १६६६।

०	अवसर	उच्छ्र- वास
१	दैवसिक प्रतिक्र.	१०८
२	रात्रिक "	५४
३	पाक्षिक "	३००
४	चातुर्मासिक "	४००
५	वार्षिक "	५००
६	हिंसादिरूप अतिचारोमें	१०८
७	गोचरीसे आनेपर	२५
८	निर्वाण भूमि	२५
९	अर्हत शय्या	२५
१०	.. निषण्णिका	२५
११	श्रमण शय्या	२५
१२	लघु व दीर्घ शका	२५
१३	ग्रन्थके आरम्भमें	२७
१४	ग्रन्थकी समाप्ति	२७
१५	वन्दना	२७
१६	अशुभ परिणाम	२७
१७	कायोत्सर्गके श्वास भूल जानेपर	८-

अधिक

नोट—सर्व प्रतिक्रमणोंमें यह कायोत्सर्ग वीर भक्तिके पश्चात् किया जाता है।

(भ. आ./वि./११६/२७८/२२); (चा. सा/१५८/१); (अन. घ./८/७२-७३/८०१)।

७. कायोत्सर्गका प्रयोजन व फल

मू. आ./६६२,६६६ काओसग्ग इरियावहादिचारस्स मोवखमग्गम्मि । नोसट्ठत्तदेहा करंति दुक्खक्खयट्ठए ।६६२। काओसग्गम्मिह कदे जह भिज्जदि अंगुवंगसंधीओ । तह भिज्जदि कम्मरय काउसग्गस्स करणेण ।६६६। = ईर्ष्यापथके अतिचारको सोधनेके लिए (तथा सप-रोक्त सर्व अवसरोपर यथायोग्य दोषोको सोधनेके लिए) मोक्ष-मार्गमें स्थित शरीरमें ममत्वको छोड़नेवाले मुनि दु खके नाश करने-के लिए कायोत्सर्ग करते हैं ।६६२। कायोत्सर्ग करनेपर जैसे अंगो-पागोकी संधियाँ भिद जाती हैं उसी प्रकार इससे कर्मरूपी धूलि भी अलग हो जाती है ।६६६। (अन. घ./८/७६/८०४)।

★ कायोत्सर्ग व धर्मध्यानमें अन्तर—दे० धर्मध्यान/३।

★ कायोत्सर्ग व कायगुप्तिमें अन्तर—दे० गुप्ति/१/७।

८. कायोत्सर्ग शक्ति अनुसार करना चाहिए

मू. आ./६६७,६७१-६७२ बलवीरियमासेज्ज य खेत्ते काले सरीरसहडणं । काओसग्ग कुज्जा इमे दु दोसे परिरहरो ।६६७। णिवक्कं सवित्सेस बलाणुरुव वयाणुरुव च । काओसग्ग धीरा करंति दुक्खक्खयट्ठए ।६७१। जो पुण तीसदिसरिसो सत्तरिवरिसेण पारणायसमो । विसमो य क्खुवादी णिविण्णाणो य सो य जडो ।६७२। = बल और आत्म शक्तिका आश्रयकर क्षेत्र काल और सहनन इनके बलकी अपेक्षा कर कायोत्सर्गके कहे जानेवाले दोषोका त्याग करता हुआ कायोत्सर्ग करे ।६६७। मायाचारीसे रहित (दे, आगे इसके अतिचार) विशेषकर सहित, अपनी शक्तिके अनुसार, बाल आदि अवस्थाके अनुकूल धीर पुरुष दु.खके क्षयके लिए कायोत्सर्ग करते हैं ।६७१। जो तीस वर्ष प्रमाण यौवन अवस्थावाला समर्थ साधु ७० वर्षवाले असक्त वृद्धके

साथ कायोत्सर्गकी पूर्णता करके समान रहता है वृद्धकी बराबरी करता है, वह साधु शान्त रूप नहीं है, मायाचारी है, विज्ञानरहित है, चारित्ररहित है और मूर्ख है ।६७२।

९. मरणके बिना कायका त्याग कैसे ?

भ. आ./वि./११६/२७८/१३ ननु च आयुषो निरवशेषगलने आत्मा शरीरमुत्सृजति नान्यदा तत्त्वमुच्यते कायोत्सर्ग इति । अनपा-यित्वेऽपि शरीरे अशुचित्वं तथा नित्यत्व, अपायित्वं, दुर्बलत्वं, असारत्वं, दु.खहेतुत्व, शरीरगतममताहेतुकममन्तसंसारपरिभ्रमणं इत्यादिकान्सप्रधार्य दोषान्नेद मम नाहमस्येति सकल्पवत्तदादरा-भावात्कायस्य त्यागो घटत एव । यथा प्राणेभ्योऽपि प्रियतमा कृता-पराधावस्थिता ह्येकस्मिन्मन्दिरे त्यक्तेत्युच्यते तस्यामनुरागाभावात्स-मेद भावव्यावृत्तिमपेक्ष्य एवमिहापि । किंच शरीरापार्यायनारकरणा-नुत्सुकश्च यतिस्तस्माच्च ज्यते कायत्यागः । = प्रश्न-१ आयुके निरवशेष समाप्त हो जानेपर आत्मा शरीरको छोड़ती है, अन्य समय-में नहीं, तब अन्य समयमें कायोत्सर्गका कथन कैसा । उत्तर—शरीर-का बिछोह न होते हुए भी, इसके अशुचित्व, अनित्यत्व, विनाश-शील, असारत्व, दु.खहेतुत्व, अनन्तसंसार परिभ्रमणहेतुत्व इत्यादि दोषोका विचारकर 'यह शरीर मेरा नहीं है और मैं इसका स्वामी नहीं हूँ' ऐसा सकल्प मनमें उत्पन्न हो जानेसे शरीरपर प्रेमका अभाव होता है, उससे शरीरका त्याग सिद्ध होता है । जैसे प्रियतमा परनीसे कुछ अपराध हो जानेपर, पतिके साथ एक ही घरमें रहते हुए भी, पतिका प्रेमका हट जानेके कारण वह त्यागी हुई कही जाती है । इसी प्रकार यहाँ भी समझना । २. और भी दूसरी बात यह है कि शरीरके अपायके कारणको हटानेमें यति निरुत्सुक रहते हैं, इसलिए उनका कायत्याग योग्य ही है ।

१०. कायोत्सर्गके अतिचार व उनके लक्षण

भ. आ./वि./११६/२७१/८ कायोत्सर्गं प्रपन्नः स्थानदोषान् परिहरेत् । के ते इति चेदुच्यते । १ तुरग इव कुण्ठीकृतपादेन अवस्थानम्, २. लतेवेतस्ततश्चलतोऽवस्थान, ३. स्तम्भवत्स्तब्धशरीर कृत्वा स्थान, ४. रत्नभोपाश्रयेण वा कुड्याश्रयेण वा मालावलम्बन-शिरसा वावस्थानम्, ५. लम्बिताधरतया, स्तनगतदृष्ट्या वायस इव इतस्ततो नयनोद्वर्तनं कृत्वावस्थानम्, ६. खलीनावपीडितमुखहय इव मुखचालनं सपादगतोऽवस्थान, ७. युगावन्तब्धबलीवर्द्ध इव शिरोऽध पातयता, ८. कपित्थफलग्राहीव विकाशिकरतलं, संकुञ्चित्ताडगुलिपञ्चकं वा कृत्वा, ९. शिरश्चालनं कुर्वन्, १०. मूक इव हुकारं संपाचावस्थान, ११ मूक इव नासिकया वस्तुपदर्शयता वा, १२. अङ्गुलिस्फोटनं, १३. भ्रून्तन वा कृत्वा, १४. शबरवधुरिव स्वकौपीनवैशाच्छादनपुरोगं, १५. शृङ्खलाबद्धपाद इवावस्थानं, १६. पीतमदिर इव परवशगतशरीरो वा भूत्वावस्थानं इत्यमी दोषाः । = १. मुनियोको उत्थित कायोत्सर्गके दोषोका त्याग करना चाहिए । उन दोषोका स्वरूप इस प्रकार है—१. जैसे घोडा अपना एक पाँव अकड लँगडा करके खडा हो जाता है वैसे खडा होना घोटकपाद दोष है । २. बेलकी भँति इधर-उधर हिलना लतावक्र दोष है । ३. स्तम्भवत् शरीर अकडाकर खडे होना स्तम्भस्थिति दोष है । ४. खम्बेके आश्रय स्तम्भावन्तम्भ । ५. भित्तिके आधारसे कुड्याभित्त । ६. अथवा मस्तक ऊपर करके किसी पदार्थका आश्रय देकर खडा होना मालिकोद्वहन दोष है । ७. अधरोष्ठ लम्बा करके खडे होना या, ८. स्तनकी ओर दृष्टि देकर खडे होना स्तन दृष्टि । ९. कौवेकी भँति दृष्टिको इतस्ततः फेकते हुए खडे होना काकावलोकन दोष है । १०. लगामसे पीडित घोडेवत् मुखको हिलाते हुए खडे होना खलीनित्त दोष है । ११. जैसे बैल अपने कन्धसे जूयकी मान नीचे करता है उसपर कन्धे भुकाते हुए खडा होना युगकन्धर

दोष है। १२. कैथका फल पकड़नेवाले मनुष्यकी भौंति हाथका तलभाग पसारकर या पौंचो अंगुली सिकोडकर अर्थात् मुट्टी बाँधकर खड़े होना कपित्थमुष्टि है। सिरको हिलाते हुए खड़े होना सिरचालन दोष है। १३. गंगेकी भौंति हुकार करते हुए खड़े होना अंगुलीसे नाक या किसी वस्तुकी ओर संकेत करते हुए खड़े होना मूकसंज्ञा दोष है। १४. अंगुली चलाना या चुटकी बजाना अंगुलिचालन है। १५. भौह टेढ़ी करना या नचाना भ्रूक्षेप दोष है। १६. भीलकी स्त्रीकी भौंति अपने गुहा प्रदेशको हाथसे ढक्ते हुए खड़े होना शबरीगुह्यगृहन दोष है। १७. बेटोसे जकड़े मनुष्यकी भौंति खड़े होना शृंखलित दोष है। १८. मध्यपायोवत् शरीरको इधर-उधर झुकाते हुए खड़े होना उन्मत्त दोष है। ऐसे ये कायोत्सर्गके दोष हैं (अन. ध./५/११२-११६, शेष दे० आगे)।

चा. सा./१५६/२ व्युत्सृष्टबाहुयुगले सर्वाङ्गचलनरहिते कायोत्सर्गेऽपि दोषाः स्युः। घोटकपाद, लतावक्र, स्तम्भावष्टम्भ, कुडयाभ्रित, मालिकोद्ग्रहन, शबरीगुह्यगृहन, शृंखलित, लम्बित उत्तरित, स्तनदृष्टि, काकालोकन, खलीनित, युगकन्धर, कपित्थमुष्टि, शीर्षप्रकम्पित, मूकसंज्ञा, अङ्गुलिचालन, भ्रूक्षेप, उन्मत्त, पिशाच, अष्टदिगवलोकन, श्रोत्रोन्नमन, श्रोत्रावनमन, निष्ठीवन, अङ्गस्पर्शनमिति द्वात्रिंशद्दोषा भवन्ति। — जिसमें दोनों भुजाएँ लम्बी छोड़ दी गयी है, चार अंगुलके अन्तरसे दोनों पैर एकसे रखे हुए हैं और शरीरके अगोपंग सब स्थिर हैं ऐसे कायोत्सर्गके भी ३२ दोष होते हैं — घोटकपाद, लतावक्र, स्तम्भावष्टम्भ, कुडयाभ्रित, मालिकोद्ग्रहन, शबरीगुह्यगृहन, शृंखलित, लम्बित, उत्तरित, स्तनदृष्टि, काकालोकन, खलीनित, युगकन्धर, कपित्थमुष्टि, शीर्षप्रकम्पित, मूकसंज्ञा, अंगुलिचालन, भ्रूक्षेप, उन्मत्त, पिशाच, पूर्वदिशावलोकन, आग्नेयदिशावलोकन, दक्षिणदिशावलोकन, नैऋत्यदिशावलोकन, पश्चिमदिशावलोकन, वायव्यदिशावलोकन, उत्तरदिशावलोकन, ईशानदिशावलोकन, श्रोत्रोन्नमन, श्रोत्रावनमन, निष्ठीवन, और अगस्पर्श। [इनमेंसे कुछके लक्षण ऊपर भ-आ/वि में दे दिये गये हैं, शेषके लक्षण स्पष्ट हैं। अथवा निम्न प्रकार हैं।]

अन. ध./५/११५-१२१ लम्बित नमनं मूर्ध्नि स्तस्योत्तरितमुन्मत्तम्। उन्मत्तस्य स्थितिर्वक्ष्यते स्तनदावस्तनोन्नतिः। ११५। शीर्षप्रकम्पनम्। ११७। शिरः प्रकम्पित संज्ञा-०। ११८। ऊर्ध्वं नयनं शिरोध्वजवृद्ध्याद्यधः। ११९। निष्ठीवनं वपुस्पर्शा न्यूनत्वं दिग्बेक्षणम्। मायाप्रायास्थितिश्चित्रा वयोपेक्षा विवर्जनम्। १२०। व्याक्षेपासक्तचित्तत्वं कालापेक्षाव्यतिक्रमः। लोभाकुलत्वं मूढत्वं पापकर्मकसर्गता। १२१। = १. शिरको नीचा करके खड़े होना लम्बित दोष है। २. शिरको ऊपरको उठाकर खड़े होना उत्तरित दोष है। ३. बालकको दूध पिलानेको उच्यत स्त्रीवत् बक्षस्थलके स्तनभागको ऊपर उठा कर खड़े होना स्तनोन्नति दोष है। ४. कायोत्सर्गके समय शिर हिलाना शीर्षप्रकम्पित, ५. श्रोत्रको ऊपर उठाना श्रोत्रोन्नमन। ६. श्रोत्रको नीचेकी तरफ झुकाना श्रोत्रावनमन या श्रोत्रावनमन दोष है। ११५-११९। ७. धूकना आदि निष्ठीवन। ८. शरीरको इधर-उधर स्पर्श करना वपुस्पर्श। ९. कायोत्सर्गके योग्य प्रमाणसे कम काल तक करना होना या न्यून। १०. आठों दिशाओंकी तरफ देखना दिग्बलोकन। ११. लोगोको आश्चर्योत्पादक ढंगसे खड़े होना मायाप्रायास्थिति। १२. और वृद्धावस्थाके कारण कायोत्सर्गको छोड़ देना वयोपेक्षाविवर्जन नामक दोष है। १२०। १३. मनमें विक्षेप होना या चलायमान होना व्याक्षेपासक्तचित्तता। १४. समयको कमीके कारण कायोत्सर्गके अंशको छोड़ देना कालापेक्षा व्यतिक्रम। १५. लोभ वश चित्तमें विक्षेप होना लोभाकुलता। १६. कर्तव्य अकर्तव्यके विवेकसे शून्य होना मूढता और कायोत्सर्गके समय हिसादिके परिणामोका उत्कर्ष होना पापकर्मकसर्गता नामक दोष है। १२१।

११. वन्दनाके अतिचार व उनके लक्षण

मू. आ./६०३-६०७ अणादिद्वं च थद्वं च पविद्वं परिपीडितं। दोलाहयमकुसिथं तथा कच्छभरिगिय। ६०३। मच्छ्रवत्तं मणोदुट्टं वेदिआबद्धमेव य। भयदोसो वभयत्त इडिद्वारव गारवं। ६०४। तेणिवं पडिणिवं चावि पदुट्टं तज्जिद तथा। सद्दं च हीलिवं चावि तह तिवलिवदकंचिवं। ६०५। दिट्टमदिद्वं चावि य सगस्स करमोयणं। आलद्धमणालद्धं च हीणमुत्तरचूलियं। ६०६। मूर्गं च ददुदुरं चावि चुल्लुलिवमपच्छिमं। वत्तोसवोसविसुद्धं किदियम्मं पउचवे। ६०७। = अनाहत, स्तम्भ, प्रविष्ट, परिपीडित, दोलायित, अकुशित, कच्छपरिगित, मत्स्योद्वर्त, मनोदुष्ट, वेदिकाबद्ध, भय, विभ्य, ऋद्धिगौरव, अन्य गौरव, स्तेनित, प्रतिनीत, प्रदुष्ट, तजित, शब्द, हीलित, त्रिवलित, कुचित, दृष्ट, अदृष्ट, सधकरमोचन, आलब्ध, अनालब्ध हीन, उत्तरचूलिका, मूक, ददुर, चल्लित, इन वत्तोस दोषोंसे रहित विशुद्ध कृतिकर्म जो साधु करता है, उसके बहुत निर्जरा होती है। ६०३-६०७। (चा. सा./१५५/३)।

अन. ध./५/१६८-११९/५२२ अनाहतमत्तात्पर्यं वन्दनायां मदोद्भृतिः। स्तम्भमत्वासन्नभावः प्रविष्ट परमेष्ठिनाम्। १६८। हस्ताभ्यां जानुनोः स्वस्य संस्पर्शं परिपीडितम्। दोलायितं चलद् कायो दोलावत् प्रत्ययोऽथवा। १६९। भालेडकुशावदकुष्ठविन्यासोऽडकुशितं मतम्। निषेदुषं कच्छपवद्विड्वा कच्छपरिहितम्। १७०। मत्स्योद्वर्तं स्थिति-मत्स्योद्वर्तवत् त्वेकपाश्वरतं। मनोदुष्टं वेदकृतिर्गुवाद्युपरि चेतसि। १७१। वेदिबद्धं स्तनोत्पीडो दोम्यां वा जानुबन्धनम्। भयं क्रिया सप्तभयाद्विभ्यत्ता विभ्यतो गुरोः। १७२। भक्तो गणो मे भावीति वन्दारोऽर्च्यं द्विगौरवम्। गौरव स्वस्य महिमन्याहारादावथ स्पृहा। १७३। स्याद्वन्दने चोरिकया गुवादि स्तेनितं मलं। प्रतिनीतं गुरोरञ्जा-खण्डन प्रातिकूल्यतः। १७४। प्रदुष्टं वन्दमानस्य द्विष्टोऽकृत्वा क्षमां त्रिधा। तजितं तर्जनान्येषा स्वेन स्वस्याथ सुरिभिः। १७५। शब्दो जल्पक्रियान्येषामुपहासादि हेतितम्। त्रिवलितं कटिप्रोवाहद्वभङ्गो भृकुटिर्नवा। १७६। करामशोऽथ जान्वन्तं शेषः शीर्षस्य कुञ्चितम्। दृष्टं पश्यन् दिशं स्तौति पश्यन्स्वान्येषु सुष्ठु वा। १७७। अदृष्टं गुरुद्वं मार्गत्यागो वाप्रतिलेखनम्। विष्टि सवस्येयमिति धी. संघकर-मोचनम्। १७८। उपध्यात्त्या क्रियालब्धमनालब्धं तदाशया। हीन-न्यूनार्थिकं चूला चिरेणोत्तरचूलिका। १७९। मूको मुखान्तवन्दारो-हुङ्काराद्यथ कुवत्। दुर्वरो ध्वनिनान्येषां स्वेन च्छादयतो ध्वनीत्। १८०। द्वात्रिंशो वन्दने गोत्या दोषः सुललिताह्वयः। इति दोषोऽङ्क-ता कार्या वन्दना निर्जरायिना। १८१। = १. वन्दनामें तत्परता या आदरका अभाव अनाहत दोष है, २. आठ मदीके वश होकर अहकार सहित वन्दना करना स्तम्भ दोष है, ३. अहंतादि परमेष्ठियोंके अत्यन्त निकट होकर वन्दना करना प्रविष्ट दोष है, ४. वन्दनाके समय जघाओका स्पर्श करना परिपीडित दोष है, ५. हिडोलेकी भौंति शरीरका अथवा मनका डोलना दोलायित दोष है। १६८-१६९। ६. अकुशकी भौंति हाथको मस्तकपर रखना अकुशित दोष है, ७. बेटे-बैठे इधर उधर रौंगना कच्छपरिगित दोष है। १७०। ८. मछलीकी भौंति कटिभागको ऊपरको निकालना मत्स्योद्वर्त दोष है, ९. आचार्य आदिके प्रति आक्षेप या खिन्नता होना मनोदुष्ट दोष है। १७१। १०. अपनी छातीके स्तनभाग मर्दन करना अथवा दोनों भुजाओंसे दोनों घुटने बाँधकर बैठना वेदिकाबद्ध दोष है, ११. सप्तभय युक्त होकर वन्दनादि करना भयदोष, १२. आचार्य आदिके भयसे करना विभ्य दोष है। १७२। १३. चतुः प्रकार सचको अपना भक्त बनानेके अभि-प्रायसे वन्दनादि करना ऋद्धि गौरव, १४. भोजन, उपकरण आदिकी चाहसे करना गौरव दोष है। १७३। १५. गुरुजनोंसे छिपाकर करना स्तेनित, १६. और गुरुको आज्ञासे प्रतिकूल करना प्रतिनीत दोष है। १७४। १७. तीनों योगोंसे द्वेषीको क्षमा धारण कराये बिना या

उसे क्षमा किये बिना करना प्रदुष्ट, और १८, तर्जनी अंगुलीके द्वारा अन्य साधुओंको भय दिखाते हुए अथवा आचार्य आदिसे स्वयं तर्जित होकर वन्दनादि करना तर्जित दोष है। १९, वन्दनाके बीचमें भातषीत करना शब्द, २०, वन्दनाके समय दूसरोंको धक्का आदि देना या उनकी हँसी आदि करना हेतिलि, २१, कटि प्रोवा मस्तक आदिपर तीन बल पड़ जाना त्रिबलित दोष है। २२, दोनों घुटनोंके बीचमें सिर रखना कुञ्चित, २३, दिशाओंकी तरफ देखना अथवा दूसरे उसकी ओर देखे तब अधिक उत्साहसे स्तुति आदि करना दृष्ट दोष है। २४, गुरुकी दृष्टिसे ओभल होकर अथवा पीछेसे प्रतिलेखना न करके वन्दनादि करना अदृष्ट, २५, 'संघ जबरवस्ती मुझसे वन्दनादि कराता है' ऐसा विचार आना 'संघकर मोचन दोष है। २६, उपकरणादिका लोभ हो जानेपर क्रिया करना आलम्ब, २७, उपकरणादिकी आशासे करना अनालम्ब, २८, मात्राप्रमापकी अपेक्षा हीन अधिक करना हीन, २९, वन्दनाको थोड़ी ही देरमें ही समाप्त करके उसकी चूलिका रूप आलोचनादिको अधिक समय तक करना उत्तर चूलिका दोष है। ३०, मन मनमें पढ़ना ताकि दूसरा न सुने अथवा वन्दना करते करते बीच-बीचमें इशारे आदि करना मूक दोष है, ३१, इतनी जोर जोरसे पाठका उच्चारण करना जिससे दूसरोंको बाधा हो सो दुर्दर दोष है। ३२, पाठको पंचम स्वरमें गा गाकर बोलना मुललित या चल्ललित दोष है। इस प्रकार ये वन्दनाके ३२ दोष कहे। १११।

२. व्युत्सर्ग तप या प्रायश्चित्त निर्देश

१. व्युत्सर्ग तप व प्रायश्चित्तका लक्षण

स. सि./१/२०/४३६/८ आत्माऽऽत्मोयसंकल्पस्यागो व्युत्सर्गः ।
 स. सि./१/२२/४४०/८ कायोत्सर्गादिकरणं व्युत्सर्गः ।
 स. सि./१/२६/४४३/१० व्युत्सर्जनं व्युत्सर्गस्त्यागः । = १. अहंकार और ममकाररूप संकल्पका त्याग करना व्युत्सर्ग तप है। २. कायोत्सर्ग आदि करना व्युत्सर्ग प्रायश्चित्त है। (रा. वा./१/२२/६/६२१/२८); (त. सा./७/२४) । ३. व्युत्सर्जन करना व्युत्सर्ग है। जिसका नाम त्याग है। (रा. वा./१/२६/१/६२४/२६) ।
 घ. ८/३,४१/५५/२ सरीराहारेसु हु मणवयणपवुत्तीओ ओसारिय ज्जेयम्मि एअग्गेण चित्तणिरोहो विओसग्गो णाम । = शरीर व आहारमें मन एवं वचनकी प्रवृत्तियोंकी हटाकर ध्येय वस्तुकी ओर एकाग्रतासे चित्तका निरोध करनेको व्युत्सर्ग कहते हैं।
 घ. १३/५,४,२६/६१/२ भागेण सह कायमुज्झिक्कूण सुहुत्त-विबस-पक्ख-मासादिकालमच्छणं उवसग्गो णाम पायच्छित्तं । = कायका उत्सर्ग करके ध्यानपूर्वक एक मुहूर्त, एक दिन, एक पक्ष और एक महीना आदि काल तक स्थित रहना व्युत्सर्ग नामका प्रायश्चित्त है। (चा. सा./१४२/३); (अन. घ./७/२१/६६५) ।
 अन. घ./७/१५/७२९ बाह्याभ्यन्तरदोषा ये विविधा बन्धहेतवः । यस्तेषा-मुत्तमः सर्गः स व्युत्सर्गो निरुच्यते । १४४। = बन्धके हेतुघृत विविध प्रकारके बाह्य और अभ्यन्तर दोषोंका उत्तम प्रकारसे त्याग करना, यह 'व्युत्सर्ग' की निरुक्ति है।

२. व्युत्सर्ग तपके भेद-प्रभेद

मू. आ./४०६ दुविहो य विउसग्गो अब्भतर बाहिरो मुण्येव्वो। ४०६। व्युत्सर्ग दो प्रकारका है—अभ्यन्तर व बाह्य। (त. सू. १/२६); (त. सा./७/२६) ।

चा. सा./५४/पंक्ति अभ्यन्तरोपधिव्युत्सर्गं स द्विविधं-यावज्जीवं, नियत-कालश्चेति । (१५४/३) । तत्र यावज्जीवं त्रिविधं-भक्तप्रत्याख्या-नेङ्गिनीमरणप्रायोपगमनभेदात् । (१५४/३) । नियतकालो द्विविधं—

नित्यनैमित्तिकभेदेन । (१५५/१) । = अभ्यन्तर उपधिका व्युत्सर्ग दो प्रकारका है—यावज्जीव व नियतकाल। तहाँ यावज्जीव व्युत्सर्ग तीन प्रकार है—भक्तप्रत्याख्या, इंगिनी, और प्रायोपगमन। नियत-काल दो प्रकारका है—नित्य व नैमित्तिक। (अन. घ./७/१६-१८/७२९); (भा. पा./टो./७८/२२५/१६) ।

३. बाह्य व अभ्यन्तर व्युत्सर्गके लक्षण

मू. आ./४०६ अभ्यन्तरः क्रोधादिः बाह्यं क्षेत्रादिक द्रव्यं । ४०६। = अभ्यन्तर उपधिरूप क्रोधादिका त्याग करना अभ्यन्तर व्युत्सर्ग है और बाह्य उपधि रूप क्षेत्र वास्तु आदिका त्याग करना बाह्योपधि व्युत्सर्ग है। ४०६। विशेष (दे० ग्रन्थ/२) ।
 स. सि./१/२६/४४३/११ अनुपातं वास्तुधनधान्यादि बाह्योपधिः । क्रोधादिरात्मभावोऽभ्यन्तरोपधिः । कायत्यागश्च नियतकालो यावज्जीवं वाभ्यन्तरोपधित्याग इत्युच्यते । = आत्मासे एकत्वको नहीं प्राप्त हुए ऐसे वास्तु, धन और धान्य आदि बाह्य उपधि हैं और क्रोधादि आत्मभाव अभ्यन्तर उपधि हैं। (इनका त्याग बाह्य व अभ्यन्तर उपधि व्युत्सर्ग है) । तथा नियत काल तक या याव-ज्जीवन तक कायका त्याग करना भी अभ्यन्तर उपधित्याग कहा जाता है। (रा. वा./१/२६/३-४/६२४/३०); (त. सा./७/२६); (चा. सा./१५४/१); (अन. घ./७/१३,१६/७२०) ।
 चा. सा./१५४/२ नित्य आवश्यकदयः । नैमित्तिकं पार्वणी क्रिया निषद्याक्रियाचारश्च । = [काय सम्बन्धी अभ्यन्तर व्युत्सर्ग नियत व अनियतकालको अपेक्षा दो प्रकारका है। तहाँ अनियतकाल व्युत्सर्ग भक्तप्रत्याख्या, इंगिनी व प्रायोपगमन विधिसे शरीरको त्यागनेकी अपेक्षा तीन प्रकारका है। (इन तीनोंके लक्षण दे. सल्लेखना/२) । नियतकाल व्युत्सर्ग नित्य व नैमित्तिकके भेदसे दो प्रकारका है—(दे. व्युत्सर्ग/२/२)] इन दोनोंमेंसे आवश्यक आदि क्रियाओंका करना नित्य है तथा पर्वके दिनोंमें होनेवाली क्रियाएँ करना व निषद्या आदि क्रिया करना नैमित्तिक है। (अन. घ./७/१७-१८/७२२) ।
 भा. पा./टो./२२५/१६ नियतकालो यावज्जीवं वा कायस्य त्यागोऽभ्यन्त-रोपधिव्युत्सर्गः । बाह्यस्त्वनेकप्रायो व्युत्सर्गः । = कायका नियतकालके लिए अथवा यावज्जीवन त्याग करना अभ्यन्तरोपधि व्युत्सर्ग है। बाह्योपधि व्युत्सर्ग अनेक प्रकारका है।

* बाह्य व अभ्यन्तर उपधि—दे. ग्रन्थ/२ ।

४. व्युत्सर्गतपका प्रयोजन

स. सि./१/२६/४४३/१२ निस्संगस्वनिर्भयत्वजोविताशाव्युदासावर्थः ।
 रा. वा./१/२६/१०/६२५/१४ निसङ्गस्व निर्भयत्वं जीविताशाव्युदासाः, दोषोच्छेदो, मोक्षमार्गप्रभावनापरत्वमित्येवमावर्थो व्युत्सर्गोऽभि-धीयते द्विविधः । = निःसंगत्व, निर्भयत्व, जीविताशाका त्याग, दोषोच्छेद और मोक्षमार्गप्रभावना, तत्परत्व आदिके लिए दोनों प्रकारका व्युत्सर्ग करना आवश्यक है। (चा. सा./१६६/५), (भा. पा./टो./७/२२५/१७)

५. व्युत्सर्गतपके अतिचार

भ. आ./वि/४८७/७०७/२३ व्युत्सर्गातिचारः । कुतो भवति शरीरममता-यामनिवृत्तिः । = शरीरपरसे ममता हटाना व्युत्सर्ग तप है। परन्तु ममत्व दूर नहीं करना यह व्युत्सर्ग तपका अतिचार है।

६. व्युत्सर्ग तप व प्रायश्चित्तमें अन्तर

रा. वा./१/२६/८/६२७/७ अथ मतमेतत्—प्रायश्चित्ताभ्यन्तरो व्युत्सर्ग-स्ततः पुनस्तस्य वचनमनर्थकमिति; तन्न-किं कारणम् । तस्य प्रतिद्व-न्द्विभावात्, तस्य हि व्युत्सर्गस्यातिचारः प्रतिद्वन्द्वी विद्यते, अयं

पुनरनपेक्ष क्रियते इत्यस्ति विशेष । = प्रश्न—प्रायश्चित्तके भेदोंमें व्युत्सर्ग कह दिया गया । पुनः तपके भेदोंमें उसे गिनाना निरर्थक है । उत्तर—ऐसा नहीं है, क्योंकि इनमें भेद है । प्रायश्चित्तमें गिनाया गया व्युत्सर्ग, अतिचार होनेपर उसकी शुद्धिके लिए किया जाता है, पर व्युत्सर्ग तप स्वयं निरपेक्षभावसे किया जाता है ।

७. व्युत्सर्गतप व परिग्रहत्याग व्रतमें अन्तर

रा वा १६/६/६/६२५/१ स्यादेतत्—महाव्रतोपदेशकाले परिग्रहनिवृत्तिरुक्ता, तत् पुनरिदं वचनमनर्थकमिति, तन्न, कि कारणम् । तस्य धनहिरण्यवसनादिविषयत्वात् । = प्रश्न—महाव्रतोंका उपदेश देने समय परिग्रहत्याग कह दिया गया । अब तप प्रकरणमें पुन व्युत्सर्ग कहना अनर्थक है । उत्तर—ऐसा नहीं है, क्योंकि, परिग्रहत्याग व्रतमें सोना-चाँदी आदिके त्यागका उपदेश है, अतः यह उससे पृथक् है ।

८. व्युत्सर्गतप व त्याग धर्ममें अन्तर

रा वा १६/६/१६/१६८/६ स्यान्मतम्—वक्ष्यते तपोऽभ्यन्तर षड्विधम्, तत्रोत्सर्गलक्षणेन तपसाग्रहणमस्य सिद्धमित्यनर्थकं त्यागग्रहणमिति; तन्न, कि कारणम् । तस्यान्यार्थत्वात् । तद्धि नियतकाल सर्वोत्सर्गलक्षणम्, अथ पुनस्त्याग यथाशक्ति अनियतकाल क्रियते इत्यस्ति भेद । = प्रश्न—ग्रह प्रकारके अभ्यन्तर तपमें उत्सर्ग लक्षणवाले तपका ग्रहण किया गया है, अतः यहाँ दस धर्मोंके प्रकरणमें त्यागधर्मका ग्रहण निरर्थक है । उत्तर—नहीं, क्योंकि, वहाँ तपके प्रकरणमें तो नियतकालके लिए सर्वत्याग किया जाता है और त्याग धर्ममें अनियतकालके लिए यथाशक्ति त्याग किया जाता है ।

रा वा १६/२६/७/६२६/४ स्यादेतत्—दशविधधर्मोऽन्तरीभूतस्त्याग इति पुनरिदं वचनमनर्थकमिति, तन्न; कि कारणम् । प्रासुकनिरवद्याहारद्विनिवृत्तितन्त्रत्वात् तस्य । = प्रश्न—दश धर्मोंमें त्याग नामका धर्म अन्तर्भूत है अतः यहाँ व्युत्सर्गका व्याख्यान करना निरर्थक है । उत्तर—ऐसा नहीं है, क्योंकि, त्याग धर्म प्रासुक औषधि व निरव्यय आहारादिका अमुक समय तक त्यागके लिए त्याग धर्म है । अतः यह उससे पृथक् है ।

*** व्युत्सर्ग प्रायश्चित्त किसको कब दिया जाता है**

व्युदास—दे अभाव । —दे. प्रायश्चित्त/४ ।

व्युत्क्रांत—प्रथम नरकका ११ वॉ पदल । दे. नरक/६ ।

व्युपरत क्रिया निवृत्ति—दे. शुक्लध्यान ।

व्युष्टि-क्रिया—दे. संस्कार/२ ।

घणमुख—औदारिक शरीर में इनका प्रमाण ।—दे. औदारिक/१/७ ।

व्रत—यावज्जीवन हिंसादि पापोंकी एकदेश या सर्वदेश निवृत्तिको व्रत कहते हैं । वह दो प्रकारका है—भावकोके अणुव्रत या एकदेशव्रत तथा साधुओंके महाव्रत या सर्वदेशव्रत होते हैं । इन्हे भावनासहित निरतिचार पालनेसे साधकको साक्षात् या परम्परा मोक्षकी प्राप्ति होती है, अतः मोक्षमार्गमें इनका बहुत महत्त्व है ।

१	व्रत सामान्य निर्देश
१	व्रत सामान्यका लक्षण ।
२	निश्चयसे व्रतका लक्षण ।
*	व्यवहार निश्चय व्रतोंमें आरंभ संवरपना । —दे. संवर ।
*	निश्चय व्यवहार व्रतोंकी मुख्यता गौणता । —दे. चारित्र/४-७ ।

*	व्रत निश्चयसे एक है । व्यवहारसे पांच है । —दे. छेदोपस्थापना ।
३	व्रत सामान्यके भेद ।
*	गुण व शीत व्रतोंके भेद व लक्षण । —दे. वह वह नाम ।
४	व्रतोंमें सम्यक्त्वका स्थान ।
*	निश्चय व्रत ही यथार्थ है । —दे. व्रती ।
*	संयम व व्रतमें अन्तर । —दे. संयम/२ ।
*	व्रतके योग्य पात्र । —दे. अगला शीर्षक ।
५	व्रत दान व ग्रहण विधि ।
*	व्रत ग्रहणमें द्रव्य क्षेत्रादिका विचार । —दे. व्रत/१/६.८ तथा अपवाद/२ ।
६	व्रत गुरु साक्षीमें लिया जाता है ।
७	व्रतभंगका निषेध ।
*	कथंचित् व्रतभंग की आज्ञा—दे. धर्म/६/४ व चारित्र/६/४ ।
८	व्रतभंग शोधनार्थ प्रायश्चित्त ग्रहण ।
९	अक्षयव्रत आदि कुछ व्रतोंके नाम-निर्देश ।
*	अक्षयनिधि आदि व्रतोंके लक्षण । —दे. वह वह नाम ।
*	व्रत धारण का कारण व प्रयोजन—दे. प्रव्रज्या/१/७ ।
३	व्रतकी भावनाएँ व अतिचार
१	प्रत्येक व्रतमें पाँच पाँच भावनाएँ व अतिचार ।
*	भावनाओंका प्रयोजन व्रतकी स्थिरता —दे. व्रत/२/१ ।
*	पृथक्-पृथक् व्रतोंके अतिचार —दे. वह वह नाम ।
२	व्रत रक्षार्थ कुछ भावनाएँ ।
३	ये भावनाएँ मुख्यतः मुनियोंके लिए हैं ।
४	कथंचित् श्रावकोंको भी भानेका निर्देश ।
५	व्रतोंके अतिचार छोड़ने योग्य हैं ।
३	महाव्रत व अणुव्रत निर्देश
१	महाव्रत व अणुव्रतके लक्षण ।
२	स्थूल व सूक्ष्मव्रतका तात्पर्य ।
३	महाव्रत व अणुव्रतोंके पाँच भेद ।
४	रात्रिभुक्ति त्याग छोटा अणुव्रत है ।
*	श्रावक व साधुके योग्य व्रत । —दे. वह वह नाम ।
*	स्त्रीके महाव्रत कहना उपचार है । —दे. वेद/७/५ ।
*	मिथ्यावृष्टिको व्रत कहना उपचार है । —दे. चारित्र/६/८ ।
५	अणुव्रतकी स्वावरधात आदिकी आज्ञा नहीं ।
६	महाव्रतको महाव्रत व्यपदेशका कारण ।
७	अणुव्रतको अणुव्रत व्यपदेशका कारण ।
८	अणुव्रतमें कथंचित् महाव्रतपना ।
*	अणुव्रतको महाव्रत नहीं कह सकते । —दे. सामायिक/३ ।
९	महाव्रतमें कथंचित् एकदेश व्रतपना ।
१०	अणुव्रत और महाव्रतके फलोंमें अन्तर ।

१. व्रत सामान्य निर्देश

१. व्रत सामान्यका लक्षण

त.सू./७/१ हिंसावृत्तस्तेयावृत्तपरिग्रहेभ्यो विरतिर्व्रतम् ।१। = हिंसा, अमृत्य, चोरी, अन्नह्न और परिग्रहमे (यावज्जीवन दे भ आ/वि तथा द्र सं /टो) निवृत्त होना व्रत है ।१। (ध ८/३, ४१/८२/४), (भ. आ /वि /११/२५/११७१/१६), (भ आ /वि /४२१/६१४/१६, २०) (द्र सं /टो/३५/१०१/१)।

स.सि./७/१/३४२/६ व्रतमभिसधिकृतो नियमः, इदं कर्तव्यमिदं न कर्तव्यमिति वा । = प्रतिज्ञा करके जो नियम लिया जाता है वह व्रत है । यथा 'यह करने योग्य है, यह नहीं करने योग्य है' इस प्रकार नियम करना व्रत है । (रा. वा. १/१/३/५३१/१५), (चा. सा /८/३)।

प. प्र /टो /२/५२/१७३/५ व्रतं कोऽर्थः । सर्वनिवृत्तिपरिणामः । = सर्व निवृत्तिके परिणामको व्रत कहते हैं ।

सा. ध /२/२० संकल्पपूर्वक सेव्ये नियमोऽशुभकर्मणः । निवृत्तिर्वा व्रतं स्वात्मा प्रवृत्ति शुभकर्मणि ८०। = किन्ही पदार्थोंके सेवनका अथवा हिंसादि अशुभकर्मोंका नियत या अनियत कालके लिए संकल्पपूर्वक त्याग करना व्रत है । अथवा पात्रदान आदि शुभ कर्मोंमें उसी प्रकार संकल्पपूर्वक प्रवृत्ति करना व्रत है ।

२. निश्चयसे व्रतका लक्षण

द्र. स/टो /३५/१००/१३ निश्चयेन विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावनिजात्मतत्त्व-भावनेत्पन्नसुखसुधास्वादबलेन समस्तशुभाशुभरागादि-विकल्पनिवृत्तिर्व्रतम् । = निश्चयनयकी अपेक्षा विशुद्ध ज्ञानदर्शन रूप स्वभाव धारक निज आत्मतत्त्वकी भावनासे उत्पन्न सुखरूपी अमृतके आस्वादि-के बलसे सब शुभ व अशुभ राग आदि विकल्पोंसे रहित होना व्रत है ।

प. प्र./२/६/७/१८६/२ स्वात्मना कृत्वा स्वार्थमनिर्वर्तनं इति निश्चयव्रतं । = शोल अर्थात् अपने आत्मासे अपने आत्मामें प्रवृत्ति करना, ऐसा निश्चय व्रत ।

प. ध./७/१/१०. सर्वतः सिद्धमेवैतद्व्रतं ब्राह्म दयाङ्गिषु । व्रतमन्तः कषायार्णो त्यागः सैवात्मनि कृपा ।७५३। अर्थाद्ब्रागादयो हिंसा चास्त्र-धर्मो व्रतच्युतिः । अहिंसा तत्परित्यागो व्रतं धर्मोऽथवा किला १७५५। ततः शुद्धोपयोगो यो मोहकर्मोदयाहते । चारित्र्यपरनामैतद्व्रतं निश्चयतः परम् १७५५। = १. प्राणियोंपर दया करना बहिरंग व्रत है, यह बात सब प्रकार सिद्ध है । कषायोंका त्याग करना रूप स्वदया अन्तरंग व्रत है ।७५३। २. राग आदिका नाम ही हिंसा अधर्म और अव्रत है, तथा निश्चयसे उसके त्यागका ही नाम अहिंसा व्रत और धर्म है ।७५५। (और भी दे अहिंसा/२/१) । ३. इसलिए जो मोह-नीय कर्मके उदयके अभावमें शुद्धोपयोग होता है, यही निश्चयनयसे, चारित्र्य है दूसरा नाम जिसका ऐसा उत्कृष्ट व्रत है ।७५८।

३. व्रत सामान्यके भेद

त.सू./७/२ देशसर्वतोऽणुमहती ।२। = देशत्यागरूप अणुव्रत और सर्व-त्यागरूप महाव्रत, ऐसे दो प्रकार व्रत हैं । (र. क. भा. /५०) ।

र. क. भा. /५१ गृहिणां त्रेधा तिष्ठत्यणुगुणशिक्षाव्रतात्मकं चरणं । पञ्चत्रिचतुर्भेदं त्रय यथासंख्यमाख्यातं ।५१। = गृहस्थोंका चारित्र्य पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत इस प्रकार १२ भेदरूप कहा गया है । (चा. सा. /१३/७); (प. वि/६/२४/७/५); (वसु. भा./२०७); (सा. ध./२/१६) ।

४. व्रतोंमें सम्यक्त्वका स्थान

भ. आ /वि /११६/२७७/१६ पर उद्धृत — प चवदाणि जदीषां अणुव्रदाश्च देसविरदाण । ण हु सम्मत्तण विणा तो सम्मत्त पढमवाए । = मुनियोंके अहिंसादि पाँच महाव्रत और श्रावकोंके पाँच अणुव्रत, ये सम्यग्दर्शनके बिना नहीं होते हैं, इसलिए प्रथमत आचार्योंने सम्यक्त्वका वर्णन किया है ।

चा. सा /५/६ एव विधाद्वाङ्गविशिष्ट सम्यक्त्वं तद्विक्लपयोरणुव्रतमहा-व्रतयोर्नामापि न स्यात् । = इस प्रकार आठ अर्थात् पूर्ण सम्यग्दर्शन होता है । यदि सम्यग्दर्शन न हो तो अणुव्रत तथा महाव्रतोंका नाम तक नहीं होता है ।

अ. ग. भा /२/२७ द्वितीय कुरुते स्थान मिथ्यादृष्टिरभीप्सितम् । अन्यत्र गमकारीव धोरैर्युक्तो व्रतैरपि ।२७। = धोर व्रतोंसे सहित भी मिथ्या-दृष्टि वांछित स्थानको, मार्गसे उलटा चलनेवालेकी भाँति, अति दूर करता है ।

दे धर्म/२/६ (सम्यक्त्व रहित व्रतादि अकिंचित्कर हैं, बाल व्रत हैं) । दे. चारित्र/६/८ (मिथ्यादृष्टिके व्रतोंको महाव्रत कहना उपचार है) । दे अगला शीर्षक (पहिले तत्त्वज्ञानी होता है पीछे व्रत ग्रहण करता है) ।

५. व्रतदान व ग्रहण विधि

भ. आ /वि /४२१/६१४/११ ज्ञातजीवनिकायस्य दातव्यानि नियमेन व्रतानि इति षष्ठ स्थितिकल्पः । अचेलताया स्थित उद्देशिकरज-पिण्डपरिहरणोद्यतः गुरुभक्तिकृतविनीतो व्रतारोपणार्हो भवति । .. इति व्रतदानक्रमोऽयं स्वयमासीनेषु गुरुषु, अभिमुखं स्थिताभ्यो विरतिभ्यः श्रावकश्राविकाद्वर्गाय व्रतं प्रयच्छेत् स्वयं स्थितः सूरिः स्वयामदेशे स्थिताय विरताय व्रतानि दद्यात् । .. ज्ञात्वा श्रद्धाय पापेभ्यो विरमण व्रतं — । = जिसको जीवोंका स्वरूप मात्स्य हुआ है ऐसे मुनिको नियमसे व्रत देना यह व्रतारोपण नामका छटा स्थिति कल्प है । जिसने पूर्ण नियन्त्रण अवस्था धारण की है, उद्देशिकाहार और राजपिंडका त्याग किया है, जो गुरु भक्त और विनयी है, वह व्रतारोपणके लिए योग्य है । (यहाँ इसी अर्थकी दोस्तक एक गाथा उद्धृत की है) व्रत देनेका क्रम इस प्रकार है — जब गुरु बैठते हैं और आर्थिकाएँ सम्मुख होकर बैठती हैं, ऐसे समयमें श्रावक और श्राविकाओंको व्रत दिये जाते हैं । व्रत ग्रहण करनेवाला मुनि भी गुरुके बायीं तरफ बैठता है । तब गुरु उसको व्रत देते हैं । व्रतोंका स्वरूप जानकर तथा श्रद्धा करके पापोंसे विरक्त होना व्रत है । (इसलिए गुरु उसे पहले व्रतोंका उपदेश देते हैं — (दे० इसी मूल टीकाका अगला भाग) । व्रत दान सम्बन्धी कृतिकर्मके लिए — दे० कृतिकर्म) ।

मो. मा. प्र /७/३५१/१७ व ३५२/७ जैन धर्मविषे तौ यहू उपदेश है, पहलें तौ तत्त्वज्ञानी होय, पीछे जाका त्याग करै, ताका दोष पहिचानै । त्याग किए गुण होय, ताको जानै । बहुदि अपने परिणामनिको ठीक करै । वर्तमान परिणामनि हीके भरोसे प्रतिज्ञा न करि बैठै । आगामी निर्वाण होता जानै तौ प्रतिज्ञा करै । बहुदि शरीरकी शक्ति वा द्रव्य क्षेत्र काल भावादिकका विचार करै । ऐसे विचारि पीछे प्रतिज्ञा करनी. सो भी ऐसी करनी जिस प्रतिज्ञातै निरादरपना न होय, परिणाम चढते रहै । ऐसी जैनधर्मकी आम्नाय है । सम्यग्दृष्टि प्रतिज्ञा करै है, सो तत्त्वज्ञानादि पूर्वक ही करै है ।

६. व्रत गुरु साक्षीमें लिया जाता है

दे. व्रत/१/५ (गुरु और आर्थिकाओं आदिके सम्मुख, गुरुकी बायीं ओर बैठकर श्रावक व श्राविकाएँ व्रत लेते हैं) ।

जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश

दे व्रत/१/७ (गुरु साक्षीमें लिया गया व्रत भंग करना योग्य नहीं) ।
दे. सस्कार/२ (व्रतारोपण क्रिया गुरुकी साक्षीमें होती है) ।

७. व्रत भंगका निषेध

भ. आ/सू/१६३३/१४८० अरहंतसिद्धकेवल अविउत्ता सर्वसंघस-
विलसस । पञ्चखण्डस कदस भंजणादो वरं मरणं । १६३३ = पच-
परमेष्ठी, देवता और सर्व संघकी साक्षीमें कृत आहारके प्रत्याख्यान-
का त्याग करनेसे अच्छा तो मर जाना है । १६३३ (अ. ग. आ./
१२/४४) ।

सा ध./७/१२ प्राणान्तैऽपि न भङ्क्तव्यं गुरुसाक्षिभित् व्रतं । प्राणान्त-
स्तक्षणे तु ह्यं व्रतभङ्गो भवे भवे । ६२ = प्राणान्त होनेकी सम्भावना
होनेपर भी गुरु साक्षीमें लिये गये व्रतको भंग नहीं करना चाहिए ।
क्योंकि, प्राणोंके नाशसे तो तक्षण ही दुःख होता है, पर व्रत भंगसे
भव-भवमें दुःख होता है ।

दे. दिग्व्रत/३ (मरण हो तो हो पर व्रत भंग नहीं किया जाता) ।

भो मा. प्र./७/पृष्ठ/पंक्ति—प्रतिज्ञा भंग करनेका महा पाप है । इससे
तो प्रतिज्ञा न लेनी ही भली है । (३५१/१४) । ...मरण पर्यन्त कष्ट
होय तो होहु, परन्तु प्रतिज्ञा न छोडनी । (३५२/५) ।

८. व्रत भंग शोधनार्थ प्रायश्चित्त ग्रहण

सा. ध./२/७६ समीक्ष्य व्रतमादेयमात्तं पाष्यं प्रयत्नत । छिन्नं दर्पात्र-
मादाहा प्रत्यवस्थाप्यमज्जसा । ७६ = द्रव्य क्षेत्रादिको देखकर व्रत
लेना चाहिए, प्रयत्नपूर्वक उसे पालना चाहिए । फिर भी किसी
मदके आवेशसे या प्रमादसे व्रत छिन्न हो जाये तो उसी समय
प्रायश्चित्त लेकर उसे पुनः धारण करना चाहिए ।

९. अक्षयव्रत आदि कुछ व्रतोंके नाम निर्देश

ह. पु./३४/श्लो. नं.—सर्वतोभद्र (६२), वसन्तभद्र (६६), महासर्वतो-
भद्र (६७), त्रिलोकसार (६६), वज्रमध्य (६२), मृदङ्गमध्य (६४),
सुरजमध्य (६६), एकावली (६७), द्विकावली (६८), मुक्तावली
(६६), रत्नावली (७१), रत्नमुक्तावली (७२), कमकावली (७४),
द्वितीय रत्नावली (७६), सिंहनिष्क्रोडित (७८-८०), नन्दीश्वरव्रत
(८४), मेरुपत्तिकाव्रत (८६), शातकुम्भव्रत (८७), चान्द्रायण व्रत
(९०), सप्तसप्तमत्पोवत (९१), अष्ट अष्टम वा नवमम आदि व्रत
(९२), आचाम्ल वर्द्धमान व्रत (९५), श्रुतव्रत (९७), दर्शनशुद्धि
व्रत (९८), तपः शुद्धि व्रत (९९), चारित्रशुद्धि व्रत (१००), एक
कल्याणव्रत (११०), पंच कल्याण व्रत (१११), शील कल्याणकव्रत
(११२), भावना विधि व्रत (११२), पंचविंशति कल्याण भावना-
विधि व्रत (११४), दुःखहरण विधि व्रत (११८), कर्मक्षय विधि
व्रत (१२१), जिनेन्द्रगुण संपत्ति विधि व्रत (१२२), दिव्य लक्षण
पंक्ति विधि व्रत (१२३), धर्मचक्र विधि व्रत, परस्पर कल्याणविधि
व्रत (१२४) । (चा. सा./१५१/१ पर उपरोक्तसे केवल १० व्रतोंका
निर्देश है) ।

वसु भा/श्लोक नं.—पंचमी व्रत (३५५), रोहिणीव्रत (३६३),
अश्विनी व्रत (३६६), सौर्य्य सम्पत्ति व्रत (३६८), नन्दीश्वर
पंक्ति व्रत (३७३), विमान पंक्ति व्रत (३७६) ।

व्रत विधान संग्रह—[उपरोक्त सर्वके अतिरिक्त निम्न व्रतोंका अधिक
उल्लेख मिलता है ।]—अक्षयनिधि, अनस्तमी, अष्टमी, गन्ध-
अष्टमी, निःशर्य्य अष्टमी, मनचिन्ती अष्टमी, अष्टाहिका, आचार-
वर्धन, एसोनव, एसोदश, कंजिक, कर्मचूर, कर्मनिर्जरा, श्रुत-
कल्याणक, क्षमावणी, ज्ञानपञ्चीसी, चतुर्दशी, अनन्त चतुर्दशी,
कली चतुर्दशी, चौतीस अतिशय, तीन चौबीसी, आदिनाथ
जयन्ती, आदिनाथ निर्वाण जयन्ती, आदिनाथ शासन जयन्ती,
वीर जयन्ती, वीर शासन जयन्ती, जिन पूजा पुरन्धर, जिन

मुखावलोकन, जिनरात्रि, ज्येष्ठ, णमोकार पैतीसी, तपो विधि,
तपो शुद्धि, त्रिलोक तीज, रोट तीज, तीर्थकर व्रत, तैला व्रत
त्रिगुणसार, त्रेपन क्रिया, दश निनियानी, दशलक्षण, अक्षयफल-
दशमी, उडंड दशमी, चमक दशमी, छहार दशमी, भावदशमी,
तमोर दशमी, पान दशमी, फल दशमी, फूलदशमी, बारा दशमी,
भण्डार दशमी, सुगन्ध दशमी, सौभाग्य दशमी, दीपमालिका,
द्वादशीव्रत, काजी बारस, श्रावण दशमी, धनकलश, नवविधि,
नक्षत्रमाला, नवकार व्रत, पचपोरिया, आकाश पंचमी, ऋषि
पंचमी, कृष्ण पंचमी, कोकिल पंचमी, गारुड पंचमी, निर्जर
पंचमी, श्रुतपंचमी, श्वेत पंचमी, लक्षण पंक्ति, परमेष्ठीगुण व्रत,
पल्लव विधान, पुष्पाजली, बारह तप, बारह बिजोरा, बेला,
तीर्थकर बेला, शिवकुमार बेला, षष्ठम बेला, भावना व्रत, पंच-
विंशति-भावना, भावना पञ्चीसी, सुरजमध्य, मुष्टि-विधान, मेघ-
माला, मौन व्रत, रक्षा नन्धन, रत्नत्रय, रविवार, दुग्धरसी,
नित्यरसी, षट् रसी, रुक्मणी, रुद्रवसंत, लब्धिविधान, वसन्त-
भद्र, शीलव्रत, श्रुतज्ञानव्रत, पच-श्रुतज्ञान, श्रुतस्कन्ध, षष्ठीव्रत,
चन्दन षष्ठी, षोडशकारण, सकट हरण, कौमार सप्तमी, नन्द-
सप्तमी, निर्दोष सप्तमी, मुकुट सप्तमी, मोक्षसप्तमी, शीलसप्तमी,
समन्वित चौबीसी, समवशरण, सर्वार्थसिद्धि, भाद्रवन-सिंह-निष्क्रो-
डित, सुखकारण, सुदर्शन, सौवीर भुक्ति ।

नोट—[इनके अतिरिक्त और भी अनेको व्रत-विधान प्रसिद्ध है, तथा
इनके भी अनेकों उत्तम-मध्यम आदि भेद है । उनका निर्वेश-वे०
वह-वह नाम ।]

२. व्रतकी भावनाएँ व अतिचार

१. प्रत्येक व्रतमें पाँच-पाँच भावनाएँ व अतिचार

त. सू./७/३२४ तत्स्थैर्यार्थं भावना पञ्च-पञ्च । ३। व्रतशीलेषु पञ्च-पञ्च
यथाक्रमम् । ३। = उन व्रतको स्थिर करनेके लिए प्रत्येक व्रतकी
पाँच-पाँच भावनाएँ होती हैं । ३। व्रतों और शीलोमें पाँच-पाँच
अतिचार हैं जो क्रमसे इस प्रकार हैं । ३। (विशेष देखो उस-उस
व्रतका नाम) । (त. सा./४/६२) ।

त. सा./४/८३ सम्यक्त्वव्रतशीलेषु तथा सत्त्वस्वभावविधौ । अतोचाराः
प्रवक्ष्यन्ते पञ्च-पञ्च यथाक्रमम् । ८३। = सम्यक्त्व व्रत शील तथा
सत्त्वस्वभावकी विधिमें यथाक्रम पाँच-पाँच अतिचार कहते हैं ।

२. व्रत रक्षणार्थ कुछ भावनाएँ

त. सू./७/६-१२ हिसादिष्विहामुत्रापायानव्यदर्शनम् । ६। दुःखमेव
वा । १०। मैत्रीप्रमोदकारुण्यमाध्यस्थानि च सत्त्वगुणाधिकविलश्य-
मानाविनेषेषु । ११। जगत्कारुण्यस्वभावौ वा संवेगवैराग्यार्थं । १२।
= १ हिसादि पाँच दोषोंमें ऐहिक और पारलौकिक अपाय और
अवयका दर्शन भावने योग्य है । १। अथवा हिसादि दुःख ही हैं
ऐसी भावना करनी चाहिए । १०। २. प्राणीमात्रमें मैत्री, गुणा-
धिकोंमें प्रमोद, विलश्यमानोंमें करुणा वृत्ति, और अविनेषोंमें
माध्यस्थ भावकी भावना करनी चाहिए । ११। (ज्ञा./२७/४) ;
(सामागिक पाठ/अमितगति/१) । ३. संवेग और वैराग्यके लिए
जगत्के स्वभाव और शरीरके स्वभावकी भावना करनी चाहिए
। १२।—(विशेष दे० वैराग्य) ।

३. ये भावनाएँ मुख्यतः मुनियोंके लिए हैं

त. सा./४/६२ भावना संप्रतीयन्ते मुनीनां भावित्वात्मनाम् । ६२। = ये
पाँच-पाँच भावनाएँ मुनिजनोंकी होती हैं ।

४. कथञ्चित् श्रावकोंके लिए भी भानेका निर्देश

ला. सं. १/५/१८६-१८६ सर्वसागरधर्मेषु देशशब्दोऽनुवर्तते । तेनान-
गारयोग्याया कर्त्तव्यास्ता अपि क्रिया. १८६। यथा समितय'
पञ्च सन्ति तिस्रश्च गुप्तय । अहिंसाव्रतरक्षार्थं कर्त्तव्या देशतोऽपि
तैः १८६। न चाशङ्क्यमिमा, पञ्च भावना मुनिगोचरा । न
पुनर्भावनीयास्ता देशतोऽत्र धारिभिः १८७। यतोऽत्र देशशब्दो हि
सामान्यादनुवर्तते । ततोऽणुव्रतसङ्घे व्रतत्वान्नाव्यापको भवेत् १८८।
अलं विकल्पसकल्पै कर्त्तव्या भावना इमा । अहिंसाव्रतरक्षार्थं
देशतोऽणुव्रतादिवत् १८९। = गृहस्थोके धर्मके साथ देश शब्द लगा
हुआ है, इसलिए मुनियोंके योग्य कर्त्तव्य भी एक देशरूपसे उसे
करने चाहिए १८४। जैसे कि अहिंसाव्रतकी रक्षाके लिए श्रावकको
भी साधुकी भौति समिति और गुप्तिका पालन करना चाहिए
१८५। यहाँपर यह शका करनी योग्य नहीं कि अहिंसाव्रतकी
'समिति, गुप्ति आदि रूप' ये पाँच भावनाएँ तो मुनियोंका
कर्त्तव्य है, इसलिए देशव्रतियोंको नहीं करनी चाहिए १८७।
क्योंकि यहाँ देश शब्द सामान्य रीतिसे चला आ रहा है जिससे
कि यह व्रतकी भौति समिति गुप्ति आदिमें भी एक देश रूपसे
व्यापक रहता है १८८। अधिक कहनेसे क्या, श्रावकको भी अहिंसा-
व्रतकी रक्षाके लिए ये भावनाएँ अणुव्रतकी तरह ही अवश्य करनी
योग्य है १८९। — (और भी दे० अगला शीर्षक) ।

५. व्रतोंके अतिचार छोड़ने योग्य हैं

सा. ध. १/४/१५ सुखत् वर्धं बधच्छेदमतिभाराधिरोषणं । भुक्तिरोधं
च दुर्भावाद्भावनाभिस्तदाविशेत् १५। = दुर्भाविसे किये गये बध
बन्धन आदि अहिंसा व्रतके पाँच अतिचारोंको छोड़कर श्रावकोंको
उसकी पाँच भावनाओंरूप समिति गुप्ति आदिका भी पालन करना
चाहिए ।

व्रत-विधान सग्रह पृ २१ पर उद्धृत—“व्रतानि पुण्याय भवन्ति जन्तो-
र्न सातिचाराणि निषेवितानि । शस्यानि किं कापि फलन्ति लोके
मलोपलीढानि कदाचनापि ; = जीवको व्रत पुण्यके कारणसे होते है,
इसलिए उन्हें अतिचार सहित नहीं पालना चाहिए, क्या लोकमें
कहीं मल लिप्त धान्य भी फल देते है ।

दे० व्रत/१/७,८ (किसी प्रकार भी व्रत भंग करना योग्य नहीं। परि-
स्थिति वश भंग हो जाने अथवा दोष लग जानेपर तुरत प्रायश्चित्त
लेकर उसकी स्थापना करनी चाहिए ।)

३. महाव्रत व अणुव्रत निर्देश

१. महाव्रत व अणुव्रतके लक्षण

चा. पा. सू. २/४ थूले तसनायवहे थूले मीषे अदत्त थूले य । परिहारो
परमहिला परिग्रहार्थपरिमाण २४। = स्थूल हिंसा मृषा व अदत्त-
ग्रहणका त्याग, पर-स्त्री तथा बहुत आरम्भ परिग्रहका परि-
माण ये पाँच अणुव्रत है २४। (बसु आ २/२०८) ।

त. सू. १/७/२ देशसर्वतोऽणुमहती २। = हिंसादिकसे एक देश निवृत्त
होना अणु-व्रत और सब प्रकारसे निवृत्त होना महाव्रत है ।

र. क. आ १/२. ७२ प्राणातिपातवितथव्याहारस्तेयकाममूर्च्छोभ्यः ।
स्थूलेभ्य पापेभ्यो व्युपरमणमणुव्रतं भवति १५२। पञ्चाना पापानां
हिंसादीनां मनोवच काये । कृतकारितानुमोदैः स्यागस्तु महाव्रतं
महती ७२। = हिंसा, असत्य, चोरी, काम (कुशील) और
मूर्च्छा अर्थात् परिग्रह इन पाँच स्थूल पापोंसे विरक्त होना अणु-
व्रत है १५२। हिंसादिक पाँचों पापोंका मन, वचन काय व कृत-
कारित अनुमोदनासे त्याग करना महापुरुषोंका महाव्रत है १५२।

सा. ध. १/४/५ विरतिः स्थूलवधादेर्मनोवचोऽङ्गकृतकारितानुमते । क्वचिद-
परेऽप्यननुमते पञ्चाहिंसाद्यणुव्रतानि स्युः ७। = स्थूल वध आदि
पाँचों स्थूल पापोंका मन वचन कायसे तथा कृत कारित अनुमोदना-
से त्याग करना अणुव्रत है ।

प. ध. उ १/७२०-७२१ तत्र हिंसाव्रतस्तेयान्नह्यकृत्स्नपरिग्रहात् । देशतो
विरतिः प्रोक्त गृहस्थानामणुव्रतम् ७२०। सर्वतो विरतिस्तेषां हिंसा-
दीनां व्रत महत् । नैतस्सागारिभिः कर्तुं शक्यते लिङ्गमर्हताम् ७२१।
= सागर व अनागर दोनों प्रकारके धर्ममें हिंसा भूठ चोरी कुशील
और सम्पूर्ण परिग्रहसे एक देश विरक्त होना गृहस्थोंका अणुव्रत
कहा गया है ७२०। उन्हीं हिंसादिक पाँच पापोंका सर्वदेशसे त्याग
करना महाव्रत कहलाता है । यह जिनरूप मुनिलिग गृहस्थोंके द्वारा
नहीं पाला जा सकता ७२१।

२. स्थूल व सूक्ष्म व्रतका तात्पर्य

सा. ध. १/४/६ स्थूलहिंसाद्याश्रयत्वात्स्थूलानामपि दृष्टं शां । तत्त्वेन वा
प्रसिद्धत्वाद्वादि स्थूलमिष्यते ६। = हिंसा आदिके स्थूल आश्रयोंके
आधारपर होनेवाले, अथवा साधारण मिथ्यादृष्टि लोगोंमें प्रसिद्ध,
अथवा स्थूलरूपसे किये जानेवाले हिंसादि स्थूल कहलाते है । अर्थात्
लोक प्रसिद्ध हिंसादिकी स्थूल कहते है, उनका त्याग ही स्थूल व्रत
है ।—विशेष दे० शीर्षक न. ६ ।

दे. श्रावक/४/२ [मद्य मांस आदि त्याग रूप अष्ट मूल गुणोंमें व सप्त
व्यसनोमें ही पाक्षिक श्रावकके स्थूल अणुव्रत गर्भित है ।]

३. महाव्रत व अणुव्रतोंके पाँच भेद

भ. आ. सू. २/०८०/१७६६ पाणवधमुसावादादत्तादाणपरदारगमणेहि ।
अपरिमिदिच्छादो वि य अणुव्रतयाइ विरमणाइ । = प्राण वध,
असत्य, चोरी, परस्त्री सेवन, परिग्रहमें अमर्यादित इच्छा, इन पापों-
से विरक्त होना अणुव्रत है २०८०।

चा. पा. सू. ३/३० हिंसाविरइ अहिंसा असत्त्वविरई अदत्तविरई य । तुरियं
अब भविरई पचम संगम्नि विरई य । = हिंसासे विरति. सो अहिंसा
और इसी प्रकार असत्य विरति, अदत्तविरति, अब्रह्मविरति और
पाँचवी परिग्रह विरति है ३०।

मू. आ. ४/४ हिंसाविरदी सत्त्व अदत्तपरिवर्जण च ब्रभं च । सगविमुत्ती
य तथा महव्यया पच पण्णत्ता ४। = हिंसाका त्याग, सत्य, चोरीका
त्याग, ब्रह्मचर्य, और परिग्रहत्याग ये पाँच महाव्रत कहे गये है ४।

दे. शीर्षक नं १—[अणुव्रत व महाव्रत दोनों ही हिंसादि पाँचों पापों-
के त्यागरूपसे लक्षित है ।]

४. रात्रिभुक्ति त्याग छठा अणुव्रत है

स. सि. १/७/२४३/११ ननु च षष्ठमणुव्रतमस्ति रात्रिभोजनविरमणं
तदिहोपसंख्यातव्यम् । न, भावनाम्बन्धभावात् । अहिंसाव्रतभाषना
हि वक्ष्यन्ते । तत्रालोकितपानभोजनभावना कायति । = प्रश्न—
रात्रिभोजनविरमण नाम छठा अणुव्रत है, उसकी यहाँ परिगणना
करनी थी ? उत्तर—नहीं, क्योंकि, उसका भावनाओंमें अन्तर्भाव
हो जाता है । आगे अहिंसाव्रतकी भावनाएँ कहेगे । उनमें एक
आलोकित पान-भोजन नामकी भावना है, उसमें उसका अन्तर्भाव
होता है । (रा वा १/१२/५३४/२८) ।

पाक्षिकादि प्रतिक्रमण पाठमें प्रतिक्रमणभक्ति—'आधावरे छट्टे अणुव्रत
सब भते ! राईभोजनं पचक्षरामि । = छठे अणुव्रत-रात्रिभोजनका
प्रत्याख्यान करता हूँ ।

चा. सा १/२३/३ पचधाणुव्रतं रात्र्यभुक्तिः षष्ठमणुव्रतं । = पाँच प्रकार-
का अणुव्रत है और 'रात्रिभोजन त्याग' यह छठा अणुव्रत है ।

५. अणुव्रतको स्थावर घात आदिकी भी अनुमति नहीं है

क पा. १/११/गा ५५/१०५ मज्जिमककहा वि य उतासमाणं सदार-संतोसो । तसत्रहविरड्मिक्खा थावरघादो त्ति णाणुमदो ॥५५॥ = सयतधर्मको जो कथा है उसमें थावरकोको (केवल) स्वदारसतोप और त्रसवध विरतिकी शिक्षा दी गयी है । पर इससे उन्हें स्थावर घातकी अनुमति नहीं दी गयी है ।

सा ध. ४/११ यन्मुवत्यङ्गमहिसेव तन्मुमुक्षुरुपासक । एकाक्षवध-मण्डुजमेव स्यात्तावज्जर्गभोगकृत ॥११॥ = जो अहिंसा ही मोक्षका साधन है उसका मुमुक्षु जनको अवश्य सेवन करना चाहिए । भोगो-पभोगमें होनेवाली एकेन्द्रिय जीवोंकी हिंसाको छोड़कर अर्थात् उससे बचे शेष एकेन्द्रिय जीवोंकी हिंसाका त्याग भी अवश्य कर देना चाहिए ।

६. महाव्रतको महाव्रत व्यपदेशका कारण

भ. आ. / मू. १/११५/११७० सार्धं ति जं महत्थ आयरिद्धा च ज महत्त्वेहि । ज च महत्त्वाइ सय महत्त्वदाइ हवे ताइ ॥११५॥ = महान् मोक्षरूप अर्थकी सिद्धि करते हैं । महान् तीर्थंकरादि पुरुषोंने इनका पालन किया है, सब पापयोगोका त्याग होनेसे स्वतः महान् है, पूज्य है, इसलिए इनका नाम महाव्रत है ॥११५॥ (मू. आ. / २६४), (चा. पा. / मू. ३१) ।

७. अणुव्रतको अणुव्रत व्यपदेशका कारण

स सि ७/२०/३५८/६ अणुशब्दोऽल्पवचन । अणूनि वतान्यस्य अणु-व्रतोऽगारीत्युच्यते । कथमस्य व्रतानामणुत्वम् । सर्वसावधानिवृत्त्य-सभवात् । कुतस्तर्ह्यसौ निवृत्त । त्रसप्राणिव्यपरोपरोपणाद्विवृत्त अगारीत्याद्यमणुव्रतम् । स्नेहमोहादिवशाद् गृहविनाशे ग्रामविनाशे वा कारणमित्यभिमतादसत्यवचनान्निवृत्तौ गृहीति द्वितीयमणुव्रतम् । अन्यभोडाकर पार्थिवभयादिवशादवश्य परित्यक्तमपि प्रदत्त तत् प्रतिनिवृत्तादर भावक इति तृतीयमणुव्रतम् । उपात्ताया अनुपात्ता-याश्च पराङ्गनाया सङ्गान्निवृत्तरतिगृहीति चतुर्थमणुव्रतम् । धन-धान्यक्षेत्रादीनामिच्छावशात् कृतपरिच्छेदो गृहीति पञ्चममणुव्रतम् । = अणु शब्द अल्पवाची है । जिसके व्रत अणु अर्थात् अल्प है, वह अणुव्रतवाला अगारी कहा जाता है । प्रश्न—अगारीके व्रत अल्प कैसे है । उत्तर—अगारीके पूरे हिंसादि दोषोका त्याग सम्भव नहीं है, इसलिए उसके व्रत अल्प है । प्रश्न—तो यह किसका त्यागी है । उत्तर—यह त्रसजीवोंकी हिंसाका त्यागी है, इसलिए इसके पहिला अहिंसा अणुव्रत होता है । गृहस्थ स्नेह और मोहादिके वशासे गृह-विनाश और ग्रामविनाशके कारण असत्य वचनसे निवृत्त है इसलिए उसके दूसरा सत्याणुव्रत होता है । भावक राजाके भय आदिके कारण दूसरेको पीडाकारी जानकर बिना दी हुई वस्तुको लेनेसे उसकी प्रीति घट जाती है, इसीलिए उसके तीसरा अचौर्याणुव्रत होता है । गृहस्थके स्वीकार की हुई या बिना स्वीकार की हुई परस्वी-का सग करनेसे रति हट जाती है, इसलिए उसके परस्त्रीत्याग नाम-का चौथा अणुव्रत होता है । तथा गृहस्थ धन, धान्य और क्षेत्र आदिका स्वेच्छासे परिमाण कर लेता है, इसलिए उसके पाँचवाँ परिग्रहपरिमाण अणुव्रत होता है । (रा. वा. ७/२०/-/५४७/४) ।

८. अणुव्रतमें कथंचित् महाव्रतपना

वे. दिग्गत, देशव्रत—[की हुई मर्यादासे बाहर पूर्ण त्याग होनेसे भावक-के अणुव्रत भी महाव्रतपनेको प्राप्त होते हैं ।]

वे. सामायिक/३ [सामायिक कालमें भावक साधु तुल्य है ।]

९. महाव्रतमें कथंचित् देशव्रतपना

व्र. सं. टी. / ५७/२३०/४ प्रसिद्धमहाव्रतानि कथमेकदेशरूपाणि, जातानि । इति चेदुच्यते—जोवघातनिवृत्तौ सरयामपि जीवरक्षणे प्रवृत्तिरस्ति ।

तथैवामस्यवचनपरिहारेऽपि सत्यवचनप्रवृत्तिरस्ति । तथैव चादत्ता-दानपरिहारेऽपि दत्तादाने प्रवृत्तिरन्तीत्येकदेशप्रवृत्त्यपेक्षया देश-व्रतानि तेषामेव देशव्रताना त्रिगुणिलक्षणनिर्विकल्पसमाधिकार-त्याग । = प्रश्न—प्रसिद्ध अहिंसादि महाव्रत एकदेशरूप कैसे ह-गये । उत्तर—अहिंसा, सत्य और अचौर्य महाव्रतमें यद्यपि जीव-घातकी, असत्य बोलनेकी तथा अदत्त ग्रहणकी निवृत्ति है, परन्तु जीवरक्षाकी, सत्य बोलने और दत्तग्रहणकी प्रवृत्ति है । इस एकदेश-प्रवृत्तिकी अपेक्षा ये एक देशव्रत हैं । त्रिगुणिलक्षण निर्विकल्प समाधि-कालमें इन एक देशव्रतोंका भी त्याग हो जाता है [अर्थात् उनक-विकल्प नहीं रहता । —दे० चारित्र/७/१०] । [प. प्र. टी. / २/५२-१७३/७), (दे० सवर/२/५) ।

दे० धर्म/३/२ [व्रत व अत्रसे अतीत तीसरी भूमिका ही यथार्थ व्रत है ।]

१०. अणु व महाव्रतोंके फलोंमें अन्तर

चा. सा. १/२/६ सम्यग्दर्शनमणुव्रतयुक्त स्वर्गाय महाव्रतयुक्त मोक्षाय च । = अणुव्रत युक्त सम्यग्दर्शन स्वर्गका और महाव्रत युक्त मोक्षका कारण है ।

व्रतचर्या क्रिया—दे. सस्कार/२ ।

व्रत प्रतिमा—

र. क. आ. १/३८ निरतिक्रमणमणुव्रतपञ्चकमपि शीलसप्तकं चापि । धारयते नि शक्यो योऽसौ व्रतिना मतो व्रतिक ॥३८॥ = जो शक्य रहित होता हुआ अतिचार रहित पाँचो अणुव्रतोंको तथा शील सप्तक अर्थात् तीन गुणव्रतों और चार शिक्षाव्रतोंको भी धारण करता है, ऐसा पुरुष व्रतप्रतिमाका धारी माना गया है । (व. आ. / २०७), (का. आ. / मू. / ३३०), (द. स. टी. / ४५/१६५/४) ।

सा ध. ४/१-६४ का भावार्थ—पूर्ण सम्यग्दर्शन व मूल गुणो सहित निरतिचार उत्तर गुणोंको धारण करनेवाला व्रतिक भावक है । १। तहाँ अहिंसाणुव्रत गौ आदिका वाणिज्य छोडे । यह न हो सके तो उनका बन्धनादि न करे । यह भी सम्भव न हो तो निर्दयतासे बन्धन आदि न करे ॥६॥ कषायवश कदाचित् अतिचार लगते है ॥७॥ रात्रि भोजनका पूर्ण त्याग करता है ॥२७॥ अन्तराय टालकर भोजन करता है ॥३०॥ भोजनके समय ॥३४॥ व अन्य आवश्यक क्रियाओंके समय मौन रखता है ॥३५॥ सत्याणुव्रत—भूठ नहीं बोलता, भूठी गवाही नहीं देता, धरोहर सम्बन्धी भूठ नहीं बोलता परन्तु स्वपर आपदाके समय भूठ बोलता है ॥३६॥ सत्यसत्य, असत्यसत्य, सत्यासत्य तो बोलता है पर असत्यासत्य नहीं बोलता ॥४०॥ सावध वचन व पाँचो अतिचारोंका त्याग करता है ॥४५॥ अचौर्याणुव्रत कहीपर भी गडा हुआ या पडा हुआ धन आदि अदत्त ग्रहण नहीं करता ॥४८॥ अपने धनमें भी सशय हो जानेपर उसे ग्रहण नहीं करता ॥४९॥ अतिचारोंका त्याग करता है ॥५०॥ ब्रह्मचर्याणुव्रत—स्वदारके अति-रिक्त अन्य सब स्त्रियोंका त्याग करता है ॥५१-५२॥ इस व्रतके पाँचो अतिचारोंका त्याग करता है ॥५५॥ परिग्रहपरिमाणव्रत—एक घर या खेतके साथ अन्य घर या खेत जोडकर उन्हें एक गिनना, एक गाय रखनेके लिए गर्भवती रखना, अपना अधिक धन सम्बन्धियोंको दे देना इत्यादि क्रियाओंका त्याग करता है ॥६४॥

सा. ध. ५/१५-२३ भोगोपभोग परिमाण व्रतके अन्तर्गत सर्व अभक्ष्यका त्याग करता है ॥१५-१६॥ १५ प्रकारके खर कर्मोंका त्याग करता है ॥२१-२३॥

सा. ध. ६/१५-२६ अनवद्य व्यापार करे ॥१५॥ उद्यानमें भोजन करना, पुष्प तोडना आदिका त्याग करे ॥२०॥ अनेक प्रकारके पूजन विधान आदि करे ॥२३॥ दान देनेके पश्चात् स्वयं भोजन करे ॥२४॥ आगम चर्चा करे ॥२६॥

* व्रत व अन्य प्रतिमाओंमें अन्तर

—दे, वह वह नाम ।

व्रत शुद्धि—दे, शुद्धि ।

व्रतारोपण योग्यता—दे, व्रत/१/५ ।

व्रतावरण क्रिया—दे, सस्कार/२ ।

व्रती—

स. सि./६/१२/३३०/११ व्रतान्यहिसादीनि वक्ष्यन्ते, तद्वन्तो व्रतिन ।
=अहिसादिक व्रतोका वर्णन आगे करेंगे । (कोशमें उनका वर्णन
व्रतके विषयमें किया जा चुका है) । जो उन व्रतीसे युक्त है वे व्रती
कहलाते हैं । (रा. वा./६/१२/२/५२२/१४) ।

२. व्रतीके भेद व उनके लक्षण

त. सू./७/१६ अगार्यनगरश्च ।१६। =उस व्रतीके अगारी और अनगारी
ये दो भेद हैं ।

स. सि./६/१२/३३०/१२ ते द्विविधा । अगार प्रति निवृत्तौत्सुक्या
संयता गृहिणश्च संयतासयता । =वे व्रती दो प्रकारके हैं—पहले
वे जो घरसे निवृत्त होकर संयत हो गये हैं । और दूसरे गृहस्थ
संयतासंयत । (रा. वा./६/१२/२/५२२/११) ।

त. सा./४/७६ अनगारस्तथागारी स द्विधा परिकथ्यते । महाव्रता-
नगार स्यादगारी स्यादणुव्रत ।७६। =वे व्रती अनगार और अगारी-
के भेदसे दो प्रकारके हैं । महाव्रतधारियोंको अनगार और अणु-
व्रतियोंको अगारी कहते हैं । (विशेष दे, वह वह नाम अथवा साधु
वै श्रावक)

३. व्रती निःशक्य ही होता है

भ आ./पू./१२१४/१२१३ णित्सल्लसेव पुणो महव्वदाइ सव्वाहं ।
वदमुवहम्मदि तोहि दु णिदणमिच्छत्तमायाहि ।१२१४। =शक्य
रहित यतिके सम्पूर्ण महाव्रतीका संरक्षण होता है । परन्तु जिन्होंने
शक्योका आश्रय लिया है, उनके व्रत माया मिथ्या व निदान इन
तीनसे नष्ट हो जाते हैं ।

त. सू./७/१८ नि शक्यो व्रती ।१८। =जो शक्य रहित है वह व्रती
है । (चा. सा./७/५) ।

स. सि./७/१८/३५६/६ अत्र चोच्यते—शक्याभावान्नि शक्यो व्रताभि-
संबन्धाद् व्रती, न निःशक्यत्वाद् व्रती भवितुमर्हति । न हि
देवदत्तो दण्डसम्बन्धाच्छत्री भवतीति । अत्रोच्यते—उभयविशेषण-
विशिष्टस्येष्टत्वात् । न हिसाद्युपरतिमात्रव्रताभिसंबन्धाद् व्रती
भवत्यन्तरेण शक्याभावम् । सति शक्यापगमे व्रतसंबन्धाद् व्रती
विवक्षितो यथा बहुक्षीरघृतो गोमानिति व्यपदिश्यते । बहु क्षीरघृता-
भावात्सतोष्वपि गोषु न गोमास्तथा सशक्यत्वात्सत्स्वपि व्रतेषु न
व्रती । यस्तु नि शक्य' स व्रती । =प्रश्न—शक्य न होनेसे निःशक्य
होता है और व्रतके धारण करनेसे व्रती होता है । शक्यरहित होने-
से व्रती नहीं हो सकता । जैसे—देवदत्तके हाथमें लाठी होनेसे वह
छत्री नहीं हो सकता । उत्तर—व्रती होनेके लिए दोनो विशेषणोंमें
युक्त होना आवश्यक है । यदि किसीने शक्योका त्याग नहीं किया
और केवल हिसादि दोषोको छोड़ दिया है तो वह व्रती नहीं हो
सकता । यहाँ ऐसा व्रती दृष्ट है जिसने शक्योका त्याग करके व्रतीको
स्वीकार किया है । जैसे जिसके यहाँ बहुत घी दूध होता है, वह गाय
वाला कहा जाता है । यदि उसके घी दूध नहीं होता और गायें हैं तो
वह गायवाला नहीं कहलाता । उसी प्रकार जो सशक्य है, व्रतोंके
होनेपर भी वह व्रती नहीं हो सकता । किन्तु जो निःशक्य है वह
व्रती है । (रा. वा./७/१८/५-७/५४६/४) ।

ज्ञा/१६/६३ व्रती नि शक्य एव स्यात्सशक्यो व्रतवातकः...।६३। =व्रती
तो निःशक्य ही होता है । सशक्य व्रतका वातक होता है । (भ.
आ/वि/१२६/२७७/१३) ।

अ ग. भा/७/१६ यस्यास्ति शक्य हृदये त्रिधेयं, व्रतानि नश्यन्त्य-
खिलानि तस्य । स्थिते शरीरं ह्यवगाह्य काण्डे, जनस्य सौख्यानि
कुतस्तनानि ।१६। =जिसके हृदयमें तीन प्रकारकी यह शक्य है उसके
समस्त व्रत नाशको प्राप्त होते हैं । जैसे—मनुष्यके शरीरमें बाण घुसा
हो तो उसे सुख कैसे हो सकता है ।१६।

* सब व्रतोंको एक देश धारनेसे व्रती होता है मात्र एक
या दोसे नहीं—दे, श्रावक/३/६ ।

इति तृतीयः खण्डः

[परिशिष्ट]

पंचसंग्रह—इस नाम के चार ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं,—दो प्राकृत गाथाबद्ध हैं और दो संस्कृत श्लोकबद्ध। प्राकृत वालों में एक दिगम्बरीय है और एक श्वेताम्बरीय। ३२५। इन दोनों पर ही अनेकों टीकायें हैं। संस्कृत वाले दोनों दिगम्बरीय प्राकृत के रूपान्तर मात्र होने से। ३२६। दिगम्बरीय हैं। पाँच पाँच अधिकारों में विभक्त होने से तथा कर्मस्तव आदि आगम प्राभृती का संग्रह होने से इनका 'पंचसंग्रह' नाम सार्थक है। ३४३। गोमट्टसार आदि कुछ अन्य ग्रन्थ भी इस नाम से अपना उल्लेख करने में गौरव का अनुभव करते हैं। इन सबका क्रम से परिचय दिया जाता है।

१. दिगम्बरीय प्राकृत पंचसंग्रह—सबसे अधिक प्राचीन है। इसके पाँच अधिकारों के नाम हैं—जीवसमास, प्रकृतिसमुत्कीर्तना, कर्मस्तव, शतक और सप्तिका। षट्खण्डागमका और कषायपाहुडका अनुसरण करने वाले प्रथम दो अधिकारों में जीवसमास, गुणस्थान मार्गणा स्थान आदि का तथा मूलोत्तर कर्म प्रकृतियों का विवेचन किया गया है। कर्मस्तव आदि अपर तीन अधिकार उस उस नाम वाले आगम प्राभृती को आत्मसात् करते हुए कर्मों के बन्ध उदय सत्त्व का विवेचन करते हैं। ३४३। इसमें कुल १३२४ गाथायें तथा ५०० श्लोक प्रमाण गद्य भाग है। समय—इसके रचयिताका नाम तथा समय ज्ञात नहीं है। तथापि अकलंक भट्ट (ई. ६२०-६८०) कृत राज-वार्तिक में इसका उल्लेख प्राप्त होने से इसका समय वि. श. ८ से पूर्व ही अनुमान किया जाता है/३५१। (जै./१/पृष्ठ)। डा. A. N. Up. ने इसे वि. श. ५-८ में स्थापित किया है। (पं. स./प्र. ३६)।

२. श्वेताम्बरीय प्राकृत पंचसंग्रह—श्वेताम्बर आम्नाय का प्राकृत गाथाबद्ध यह ग्रन्थ भी दिगम्बरीय की भाँति ५ अधिकारों में विभक्त है। उनके नाम तथा विषय भी लगभग वही हैं। गाथा संख्या १००५ है। इसके रचयिता चन्द्रर्षि महत्तर माने गए हैं, जिन्होंने इस पर स्वयं ८००० श्लोक प्रमाण 'स्वोपज्ञ' टीका लिखी है। इसके अतिरिक्त आ. मलयगिरि (वि. श. १२) कृत एक संस्कृत टीका भी उपलब्ध है। मूल ग्रन्थ को आचार्य ने महान या यथार्थ कहा है। ३५१। समय—चन्द्रर्षि महत्तर का काल वि. श. १० का अन्तिम चरण निर्धारित किया गया है। ३६६। (दे. चन्द्रर्षि), (जै./१/३५१ ३६६)।

३-४. संस्कृत पंचसंग्रह—दो उपलब्ध हैं। दोनों ही दिगम्बरीय प्राकृत पंचसंग्रह के संस्कृत रूपान्तर मात्र हैं। इनमें से एक चित्रकूट (चिचौड़) निवासी श्रीपाल सुत उड्डा की रचना है और दूसरा आ. अमित गति की। पहले में १२४२ और दूसरे में ७०० अनुष्टुप पद्य हैं, और साथ साथ क्रमशः १४५६ और १००० श्लोक प्रमाण गद्य भाग है। समय—आ. अमितगति वाले की रचना वि. स. १०७३ में होनी निश्चित है। उड्डा वाले का रचनाकाल निम्न तथ्यों पर से वि. १०१२ और १०४७ के मध्य कभी होना निर्धारित किया गया है। क्योंकि एक ओर तो इसमें अमृतचन्द्राचार्य (वि. ६६२-१०१२) कृत तत्त्वार्थसार का एक श्लोक इसमें उद्धृत पाया जाता है और दूसरी ओर इसका एक श्लोक आ. जयसेन नं. ४ (वि. १०५०) में उद्धृत है। तीसरी ओर गोमट्टसार (वि. १०४०) का

प्रभाव जिस प्रकार अमितगति कृत पंचसंग्रह पर दिखाई देता है उस प्रकार इस पर दिखाई नहीं देता है। इस पर से यह अनुमान होता है कि गोमट्टसार की रचना उड्डा कृत पंचसंग्रह के पश्चात् हुई है। (जै./१/३७२-३७५)।

५-६. पंचसंग्रह की टीकायें—५ दिगम्बरीय पंचसंग्रह पर दो टीकायें उपलब्ध हैं। एक वि. १५२६ की है जिसका रचयिता अज्ञात है। दूसरी वि. १६२० की है। इसके रचयिता भट्टारक सुमतिकीर्ति हैं। ४४८। परन्तु भ्रान्तिवश इसे मुनि पद्मनन्द की मान लिया गया है। वास्तव में ग्रन्थ में इस नाम का उल्लेख ग्रन्थकार के प्रति नहीं, प्रत्युत उस प्रकरण के रचयिता की ओर संकेत करता है जिसे ग्रन्थकर्त्ता भट्टारक सुमतिकीर्ति ने पद्मनन्द कृत 'जंबूदीव पण्यति' से लेकर ग्रन्थ के 'शतक' नामक अन्तिम अधिकार में ज्यों का त्यों आत्मसात् कर लिया है। ४४६। पंचसंग्रह के आधार पर लिखी गयी होने से भले इसे टीका कहो, परन्तु विविध ग्रन्थों से उद्धृत गाथाओं तथा प्रकरणों की बहुलता होने से यह टीका तो नाममात्र ही है। ४४८। लेखक ने स्वयं टीका न कहकर 'आराधना' नाम दिया है। ४४५। चूर्णियों की शैली में लिखित इसमें ५४६ गाथा प्रमाण तो पद्यभाग है और ४००० श्लोक प्रमाण गद्य भाग है। (जै./१/पृष्ठ संख्या), (ती./३/३७६)। ६. इन्हीं भट्टारक सुमतिकीर्ति द्वारा रचित एक अन्य भी पंचसंग्रह वृत्ति प्राप्त है। यह वास्तव में अकेले सुमतिकीर्ति की न होकर इनकी तथा ज्ञानभूषण की साझी है। वास्तव में पंचसंग्रह की न होकर गोमट्टसार की टीका है। क्योंकि इसका मूल आधार 'पंचसंग्रह' नहीं है, बल्कि गोमट्टसार की 'जीवप्रबोधिनी' टीका के आधार पर लिखित 'कर्म प्रकृति' नामक ग्रन्थ है। ग्रन्थकार ने इसे 'सधुगोमट्टसार अपर नाम 'पंचसंग्रह' कहा है। समय—वि. १६२०। (जै./१/४७१-४८०)।

७. अन्यान्य पंचसंग्रह—इनके अतिरिक्त भी पंचसंग्रह नामक कई ग्रन्थों का उल्लेख प्राप्त होता है। जैसे 'गोमट्टसार' के रचयिता श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती ने उसे 'पंचसंग्रह' कहा है। श्रीहरि दामोदर बेलकर ने अपने जिनरत्न कोश में 'पंचसंग्रह दीपक' नाम के किसी ग्रन्थ का उल्लेख किया है, जो कि इनके अनुसार गोमट्टसार का इन्द्र वामदेव द्वारा रचित संस्कृत पद्यानुवाद है। पाँच अधिकारों में विभक्त इसमें १४६८ पद्य हैं। (पं. सं./प्र. १४/A. N. Up.)।

पद्मति टीका—इन्द्रनन्दी कृत श्रुतावतार के कथनानुसार आ. शाम-कुण्ड ने 'कषायपाहुड' तथा 'षट्खण्डागम' के आद्य पाँच खण्डों पर 'पद्मति' नामक एक टीका लिखी थी, जिसकी भाषा संस्कृत तथा प्राकृत का मिश्रण थी, परन्तु शामकुण्ड क्योंकि कुन्द कुन्द का ही कोई बिगडा हुआ नाम प्रतीत होता है इसलिए कुछ विद्वानों का ऐसा अनुमान है कि आ. कुन्द कुन्द कृत 'परिकर्म टीका' का ही यह कोई अपर नाम है। (जै./१/३७४)।

परिकर्म टीका—इन्द्रनन्दि कृत श्रुतावतार के कथनानुसार आ कुन्दकुन्द ने षट्खण्डागम के आद्य ५ खंडों पर १२००० श्लोक प्रमाण इस नाम की एक टीका रची थी। २६४। धवला टीका में इसके उद्धरण प्राय 'जीवस्थान' नामक प्रथम खंड के द्वितीय अधिकार 'द्रव्य प्रमाणानुगम' में आते हैं, जिस पर से यह अनुमान होता है कि इस टीका में जीवों की संख्या का प्रतिपादन बहुलता के साथ किया गया है। धवलाकार ने कई स्थानों पर 'परिकर्म सूत्र' कहकर इस टीका का ही उल्लेख किया है, ऐसा प्रतीत होता है। २६५। कुन्द कुन्द की समयसार आदि अन्य रचनाओं की भांति यह ग्रन्थ गाथाबद्ध नहीं है, तदपि प्राकृत भाषाबद्ध अवश्य है। प. कैलाशचन्द्र इसे कुन्दकुन्द कृत मानते हैं। (जै १/१/पृष्ठ संख्या)।

बप्पदेव—इन्द्रनन्दि कृत श्रुतावतार श्लोक न. १७१-१७६ के अनुसार भागीरथी और कृष्णा नदी के मध्य अर्धति धारवाड या नेलगांव जिले के अन्तर्गत उरकलिका नगरी के समीप 'मगणवल्ली' ग्राम में आ शुभनन्दि तथा शिवनन्दि (ई श २-३) से सिद्धान्त का श्रवण करके आपने कथायपाहुड सहित, षट्खण्डागम के आद्य पाँच खंडों पर ६०,००० श्लोक प्रमाण और उसके महाबन्ध नामक षष्ठम खंड पर ५००० श्लोक प्रमाण व्याख्या लिखी थी। (जै १/२/३७१), (ती १/२/६५)। इन्होंने षट्खण्डागम से 'महाबन्ध' नामक षष्ठम खंड को पृथक् करके उसके स्थान पर उक्त 'व्याख्या प्रज्ञप्ति' का संक्षिप्त रूप उसमें मिला दिया था। समय—इनके गुरु शुभनन्दि की बी नि श ५ का विद्वान कल्पित करके डा नेमिचन्द्र ने प्रयापि बी नि श. ५-६ (ई. श. १) में प्रतिष्ठित किया है, परन्तु इन्द्रनन्दि कृत श्रुतावतार के अनुसार ये वि. श. ७ (ई. श ६-७) के विद्वान हैं। (जै १/१/३८६)।

मलयगिरि—'कर्म प्रकृति/२६३', सित्तरि या सप्ततिका। ३१८। पचसंग्रह। ३६०। आदि श्वेताम्बर ग्रन्थों के टीकाकार एक प्रसिद्ध श्वेताम्बराचार्य। समय—'कर्म प्रकृति' की टीकाये गर्गधि (वि.श १०) और पचसंग्रह की रचना गुजरात के चालुक्यवंशी नरेश के शासन-

काल में होने की सूचना उपलब्ध होने से इनको हम वि. श. १२ के पूर्वार्ध में स्थापित कर सकते हैं। ३६०। (जै १/१/पृष्ठ संख्या)।

महाबन्ध—३०,००० श्लोक प्रमाण यह सिद्धान्त ग्रन्थ आ भूतबली (ई. ६६-१५६) द्वारा रचित षट्खण्डागम का अन्तिम खंड है, जो अत्यन्त विशाल तथा गम्भीर होने के कारण एक स्वतन्त्र ग्रन्थ के रूप में प्रसिद्ध हो गया है। विवरणात्मक बौली में अति विस्तार युक्त तथा सुबोध होने के कारण किसी भी आचार्य ने इस पर कोई टीका नहीं लिखी। आ. वीरसेन स्वामी ने भी ५ खंडों पर तो विस्तृत टीका लिखी, परन्तु इस षष्ठम खंड पर टीका लिखने की आवश्यकता नहीं समझी। (जै १/१/१५२)। इस ग्रन्थ में स्वामित्व भागा-भाग आदि अनुयोग द्वारों के द्वारा विस्तार को प्राप्त प्रकृति, स्थिति, अनुभाग व प्रदेश बन्ध का और उनके बन्धकों तथा बन्धनीयों का विवेचन निबद्ध है। (जै १/१/१५३)। इस ग्रन्थ की प्रारम्भिक भूमिका 'सत्कर्म' नाम से प्रसिद्ध है, जिस पर 'सत्कर्म पत्रिका' नामक व्याख्या उपलब्ध है। (दे. सत्कर्म पत्रिका)।

विशेषावश्यक भाष्य—आ जिनभद्र गणी क्षमाश्रमण द्वारा रचित यह एक विशालकाय सिद्धान्त विषयक श्वेताम्बर ग्रन्थ है। ग्रन्थ समाप्ति में इसका समाप्ति काल वि ६६६ बताया गया है। परन्तु पं. सुखलाल जी के अनुसार यह इसका लेखन काल है। ग्रन्थ का रचना काल उसमें पूर्व लगभग वि. ६५० में स्थापित किया जा सकता है। (जै १/२/३३१)।

व्याख्या प्रज्ञप्ति—षट्खण्डागम के छ' खंडों से अधिक वह अति-रिक्त खंड जिसे आ. भूतबली ने छोड़ दिया था, और जिसे आ. बप्पदेव (वि श. ७) ने ६०,००० श्लोक प्रमाण व्याख्या लिखकर पूरा किया था। वाटग्राम (बडौदा) के जिनमन्दिर में इसे प्राप्त करके हा श्री वीरसेन स्वामी ने 'सत्कर्म' नाम से धवला के परिशिष्ट रूप एक अतिरिक्त खंड की रचना की थी। (दे सत्कर्म) (इन्द्रनन्दि श्रुतावतार श्ल १७३-१८१); (जै १/१/२७६), (ती १/२/६६)।

समाप्त